श्री त्रिदण्डिदेवग्रन्थमालायास्तृतीयं प्रसूनम्

॥ श्रीः ॥

वैदिक योग संग्रहः

सोऽयम्

श्री १००८ श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्य्योभयवेदान्तप्रवर्तकाचार्य श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य सत्सम्प्रदायाचार्य्य जगद्गुरु भगवदनन्तपादीय श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य्य श्रीत्रिदण्डिस्वामिना सम्पादितः ।

तथा च

बलिपुर (बलिया) मण्डलान्तर्गत बाजिदपुर ग्रामवासिना पं० श्री मदन मोहन द्विवेदिना व्याकरणाचार्य्य काव्यतीर्थ साहित्यरत्नोपाधिभृता संशोधितः, तदात्मजेन श्री रामजी द्विवेदिना टीकेदारेण प्रकाशितः ।

द्वितीय संस्करणम् १०००

मूल्यम् १)५०

वि० सं० २०३७

भूमिका

अखिल भारतीय प्रिय सज्जनों को यह विदित है कि ऐहिक या पारमार्थिक जो सुख है उसका निदान कारण योगाभ्यास ही है। परन्तु आज कल आलस्य और प्रमाद के कारण से बहुत से लोग यह कहते हैं कि कलियुग में योगाभ्यास नहीं करना चाहिये। लेकिन यह कथन अति निर्मूल है क्योंकि कलियुग ही में ताम्रपर्णी नदी के किनार पर कुरुका पुरी में श्री परांकुश मुनि स्वामी जो इमली के पेड़ के नीचे सोलह वर्ष तक समाधिस्थ रहे हैं श्री शंकराचार्य्य भी इसी युग में योगाभ्यास किये हैं तथा रामानुजाचार्य्य भी योगी थे नहीं तो यामुनाचार्य के मरने पर उनका अभीष्ट कैसे जानते और तीनों अंगुलियों का मोचन कैसे करते तथा यादवाद्रि में जैनियों के साथ शास्त्रार्थ करते समय हजार मुख वाला होकर कैसे उत्तर देते। और भी इस कलियुग में बहुत से योगाभ्यास किये हैं और योगबल से ऐहिक सुख भोग करके प्रभु को प्राप्त किये हैं। अतः उस योग के जानने के लिये मेरा मन लालायित था इतने ही में एक श्री त्रिदण्ड ग्रहण किये हुये सच्चे परोपकारी द्वितीय श्री भाष्यकार के समान विद्वान् परिव्राजक स्वामी मुझको मिले और अत्यन्त प्रार्थना करने से भक्त का मनोरथ पूर्ण करने के लिये उपनिषदों से निकाल करके "वैदिक योग संग्रह" नाम के इस अमूल्य पुस्तक को बनाये, जिसको देखने से थोड़ी सी भी गुरु की

सहायता से योग की क्रिया हस्तामलकवत् ज्ञात हो जाती है। इस ग्रन्थ में उपनिषदों के अनुसार मन्त्रयोग, लय योग, हठयोग तथा राज योग का लक्षण और अजपा गायत्री की विधि तथा अनहद नाद श्रवण करने का नियम और फल लिखा है और संक्षेप से मठ का भी लक्षण दिखाया गया है। तथा सहज से मरण जानने का उपाय और चक्र पद्म कूर्म मयूर, कुक्कुट, वीर, स्वस्तिक, भद्र, सिंह मुक्त, गोमुख इन एकादश आसनों का वर्णन और करने का फल निरूपण किया गया है। तथा महामुद्रा खेचरी मुद्रा, मूलबन्ध; जालन्धर बन्ध, उड्डीयानबन्ध महाबन्ध; महावेध, विपरीतकरणी वज्रोली शक्ति चालन इन मुद्राओं का निरूपण किया गया है। और मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा इन षट्चक्रों का स्थान और वहा के कमलों को दिखा करके सोलह आधारों का वर्णन किया गया है। इसके बाद इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी हस्ति, जिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलंबुषा, कुहू, शङ्खिनी, इन दश नाडियों का तथा प्राण, अपान समान उदान, व्यान, नाग, कूर्म कृकल देवदत्त; धनंजय इन दश वायुओं का और पृथ्वी, जल, तेज वायु, आकाश; इन पाँचों तत्वों का स्थान यथार्थ रूप से निरूपण किया गया है। नेति धौति बस्ति नौलि त्राटक कपालभाति, इन षट् कर्मों के करने की रीति तथा इन सबों के करने का फल दिखाया गया है और क्रम से यम नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान समाधि इन राजयोग के आठों अंगों को वेदानुसार निरूपण किया गया है। वेद से विरुद्ध जो योग शास्त्र सिद्धान्त है उसका खण्डन लिखा गया है और समस्त योगों का मुख्य फल मोक्ष ही है ये सब बातें वैदिक प्रमाण देकर लिखी गई

है। जो कोई इसको पढ़ेगा उसको स्वतः मालूम हो जायेगा। यदि प्रिय सुज्जन लोग इसका अनुष्ठान करेंगे तो अवश्य ही फिर भारत पुर्ववत् समस्त देशों का शिरोमणि हो जायेगा। इसी अभिप्राय से भगवद्दासानुदास स्वयंसेवक मैंने इस अपूर्व पुस्तक को संशोधित कर लागत मात्र मूल्य रखकर श्रद्धालु लोगों को पुस्तक उपलब्ध कराने का प्रयास किया।

* * * *

इस पुस्तक के प्रथम संस्करण का प्रकाशन सम्वत् १९८६ में हुआ था। पुनः योग के प्रेमी भक्तजनों के अनुराग एवं अनेकों बार की प्रेरणा से इस पुस्तक के प्रकाशक बलिया जनपद के बाजिदपुर ग्रामवासी श्री रामजी द्विवेदी ठीकेदार द्वारा प्रकाशन का सम्पूर्ण व्यय देने पर इसके द्वितीय संस्करण का प्रकाशन हुआ। एतदर्थ मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूं।

निवेदक :—

पण्डित मदन मोहन द्विवेदी
व्याकरणाचार्य, काव्यतीर्थ, साहित्य रत्न,
बाजिदपुर, बलिया

श्री १००८ श्रीदण्डि स्वामी जी महाराज

है। जो को
प्रिय सज्जन
पुर्ववत् सम
भगवद्दासा
लागत मात्र
का प्रयास

इ
हुआ था
की प्रेरणा
ग्रामवासी
व्यय देने
मैं उन्हें

॥ श्री फणीन्द्राय नमः ॥

अथ वैदिक योग संग्रहः

ध्यात्वा नारायणं देवं नत्वा गुरु पदाम्बुजम्।
बालानां सुख बोधाय क्रियते योग संग्रहः॥

श्रीमन्नारायण भगवान् को ध्यान करके और श्री गुरुजी महाराज के चरणारविन्दों को साष्टांग करके जो परमात्मा को नहीं जानते हैं उन बालकों के सुख से योगतत्व के ज्ञान के लिये वैदिक योगों का संग्रह मैं करता हूँ॥ १॥

...नं सख्य महदाह्वय भट्टनाथ
श्रीभक्तिसारकुलशेखरयोगिवाहान्।

भक्तांघ्रिरेणु परकाल यतीन्द्र मिश्रान्
श्रीमत्परांकुश मुनिं प्रणतोऽस्मि नित्यम् ॥ २ ॥

भूतयोगी, सरोयोगी, महायोगी, भट्टनाथ स्वामी, भक्तिसार स्वामी, कुलशेखर स्वामी, योगिवाहन स्वामी, भक्तांघ्रिरेणु स्वामी, परकाल स्वामी, परांकुशमुनि स्वामी और संन्यासियों में श्रेष्ठ योगाचार्य्य शेषावतार जो श्री भाष्यकार स्वामी जी हैं इन योगेश्वरों को मैं नित्य साष्टांग करता हूँ ॥ २ ॥ अब योगियों के मठ के लक्षण कहता हूँ।

सुशोभनं मठं कुर्यात् सूक्ष्मद्वारं तु निर्व्रणम् ।
सुष्टुलिप्तं गोमयेन सुधया वा प्रयत्नतः ॥
(योग तत्वोपनिष० श्रुति ३२)

मत्कुणैर्मशकैर्लूतैर्वर्जितंच प्रयत्नतः ॥
दिनेदिने च संमृष्टं संमार्जन्या विशेषतः ॥ ३३ ॥
वासितंच सुगन्धेन धूपितं गुग्गुलादिभिः ॥ ३४ ॥

जिसका छोटा द्वार हो और छिद्र न हो और भली प्रकार चिकन गोबर से लिपा हो ऐसा सुन्दर मठ बनावे ॥ ३२ ॥ मशक मत्कुणलूता आदि जीव न हों और नित्य प्रति झाड़ू लगता हो॥३३॥ सुगन्ध से वासित हो ऐसा गुगुल धप आदि के गन्ध से सुगन्धित मठ बनावे ॥ ३४ ॥

पर्वताग्रे नदीतीरे बिल्वमूले वनेऽथवा ।
मनोरमे शुचौ देशे मठं कृत्वा समाहितः ॥
(जाबाल दर्शनोप० खण्ड ५ श्रुति ४)

जाबाल दर्शनोपनिषद् में लिखा है कि पर्वत के अग्र भाग पर तथा नदी के तीर पर श्रीफल के नीचे या वन में अथवा मनोहर शुद्ध देश में समाहित होकर मठ बनावे ॥ ४ ॥

फलमूलोदकान्वितं तपोवनं प्राप्य रम्यदेशे ब्रह्मघोषसमन्विते स्वधर्मनिरतब्रह्मवित्समावृते फलमूलपुष्पवारिभिः सुसम्पूर्णे देवायतने नदीतीरे ग्रामे नगरे वापि सुशोभनमठं नात्युच्चनीचं तमल्प द्वारं गोमयादि लिप्तं सर्वरक्षा समन्वितं कृत्वा तत्र वेदान्त श्रवणं कुर्वन्योगं समारभेत ॥
(शाण्डिल्योपनिषद् श्रु० ५)

शाण्डिल्योपनिषद् में लिखा है कि फल कन्द मूल और जल से युक्त तपोवन में जाकर वेद के शब्द से युक्त तथा अपने धर्म में निरत ब्रह्म ज्ञानियों से युक्त और फल कन्द मूल पुष्प जलों से परिपूर्ण सुन्दर देवालय में या नदी के तीर पर अथवा ग्राम या नगर में अत्यन्त उच्च या नीच न हो तथा छोटा द्वार वाला गोमय आदि से लिपा हुआ और चारों ओर प्रकोटा से युक्त सुन्दर मठ को बनवाकर उसमें वेदान्त श्रवण करता हुआ योगाभ्यास प्रारम्भ करे ॥ ५ ॥ अब वैदिक जो चार प्रकार के योग हैं उनको दिखाता हूँ।

योगोहि बहुधा ब्रह्मन्भिद्यते व्यवहारतः ।
मन्त्रयोगोलयश्चैव हठोऽसौ राजयोगतः ॥
(योग तत्वोपनिषद् श्रु० १९)

योग तत्वोपनिषद् में लिखा है कि हे ब्रह्मन् मन्त्र योग, लययोग हठयोग और राजयोग इस भेद से योग चार प्रकार का है॥१९॥ अब चारों योगों के पूर्वाभ्यास में जो विघ्न हैं उनको दिखाता हूँ।

प्रथमाभ्यास काले तु विघ्नाःस्युश्चतुरानन ।
आलस्यं कत्थनं धूर्त गोष्ठी मन्त्रादि साधनम् ॥
(योग तत्वोपनिषद् श्रु० ३०)

धातुस्त्री लौल्यकादीनि मृग तृष्णामयानि वै ।
ज्ञात्वा सुधीस्त्यजेत्सर्वान्विघ्नान्पुण्यप्रभावतः ॥३१॥

हे चतुरानन पहले अभ्यास में ये सब विघ्न होते हैं आलस्य, बातें बोलना धूर्तों की गोष्ठी और मन्त्र आदि का साधन करना ॥ ३० ॥ द्रव्य स्त्री की जो तृष्णा है इन समस्त विघ्नों को पुण्य के प्रभाव से मृग तृष्णा के समान जान कर ज्ञानी परित्याग करे ॥ ३१ ॥

लवणं सर्षपं चाम्लमुष्णं रूक्षंच तीक्ष्णकम् ।
शाकजातं रामठादि वह्नि स्त्री पथ सेवनम् ॥
(योग तत्वोपनिषद् श्रु० ४७)

प्रातः स्नानोपवासादिकाय क्लेशांश्च वर्जयेत् ।
अभ्यासकाले प्रथमं शस्तं क्षीराज्य भोजनम् ॥४८॥
गोधूम मुद्ग शाल्यन्नं योग वृद्धि करं विदुः ॥४९॥

रामरस, सरिसो, खट्टा,गरम रूखा, तीता, पत्ति के साग हींग और आग स्त्री तथा मार्ग में बहुत चलना ॥ ४७ ॥ प्रातःकाल अत्यन्तशीतल जल में स्नान करना और अधिक उपवास आदिक से देह को क्लेश देना ये सब योगी परित्याग कर दे। पहले २ अभ्यास काल में दूध का क्षीर खाना श्रेष्ठ है ॥ ४८ ॥ गेहूं, मूंग, चावल आदि शुद्ध अन्न योग को वृद्धि करनेवाला जानना ॥ ४९ ॥ अब प्रथमोपस्थित मन्त्रयोग को दिखाता हूँ।

मातृकादि युतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत् ।
क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादि गुणान्वितम् ॥
(योग तत्वोपनिषद् श्रु० २१)

मातृका आदि अथवा मूल मन्त्र या द्वयमन्त्र या चरम मन्त्र को जो बारह वर्ष जपता है वह अणिमा आदि गुणों से युक्त ज्ञान को पाता है ॥ २१ ॥ जप की विधि ग्रन्थ के विस्तार के भय से मैं नहीं लिखता हूँ जिसको देखना हो वह मेरा बनाया हुआ ॥ यतीन्द्र धर्म मार्तण्ड ॥ नाम का ग्रन्थ है उसको देख लेवे।

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।

हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥

(योग चूडामण्युप० श्रु० ३१)

षट् शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः ।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवोजपति सर्वदा ॥ ३२ ॥
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा ।
अस्याः संकल्प मात्रेण सर्वं पापैः प्रमुच्यते ॥ ३३ ॥
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥ ३४ ॥

ध्यानबिन्दूपनिषद् के ।६१।६२।६३।६४ मन्त्र में और योग चूडामण्युपनिषद् में लिखा है कि हकार करके सांस बाहर निकलता है और सकार करके भीतर पैठता है इस प्रकार से हंस हंस इस मन्त्र को जीव सर्वदा जपता है॥३१॥नित्य प्रति दिन रात में२१६०० मन्त्र को जीव सदा जपता है ॥ ३२ ॥ यह योगियों को मोक्ष देने-वाली अजपा नाम की गायत्री है इसके संकल्प मात्र से योगी समस्त पापों से छूट जाता है ॥ ३३ ॥ इस अजपा के समान विद्या और इसके समान जप या ज्ञान न कोई पहले था न होने वाला है ॥३४॥ संकल्प की विधि यह है कि सूर्योदय से पहले शयन से उठकर हाथ पैर मुख धोकर शुद्ध वस्त्र पहन करके शुद्ध आसन पर बैठ आचमन करे और इस प्रकार से संकल्प करे कि (ओं श्री भगवदाज्ञया भगवत्कैंकर्य रूपमद्य प्रातःकालमारभ्य द्वितीय प्रातःकालपर्यन्तं नासा-

पुट निःसृतोच्छ्वास निःश्वासात्मकं षट्शताधिकैकविंशति सहस्र संख्याकमजपागायत्रीजपमहोरात्रेणाहं करोमि भगवते च निवेदयामि) इस विधि से संकल्प करने से अपूर्व २ शब्द सुनाता है सो लिखा है।

स एव जपकोट्यानादमनुभवति एवं सर्वहंसवशान्नादो दशविधो जायते। चिणीति प्रथमः, चिञ्चिणीति द्वितीयः, घण्टानादस्तृतीयः, शंखनादश्चतुर्थः पञ्चमस्तन्त्री नादः, षष्ठ-स्तालनादः, सप्तमो वेणु नादः; अष्टमो मृदंगनादः, नवमो भेरीनादः, दशमो मेघनादः, नवमं परित्यज्य दशममेवा-भ्यसेत् ॥

(हंसोपनिषद् खं० २ श्रु० २)

साधक पुरुष हंस मन्त्र के करोड़ जप करने से नाद का अनुभव करता है इस प्रकार हंस मन्त्र के बश से दश प्रकार के शब्द उत्पन्न होता है। पहले चिणी शब्द होता है। दूसरा चिञ्चिणी। तीसरा घण्टा का शब्द। चौथा शंख का शब्द। पांचवां वीणा का शब्द। छठवां ताल का शब्द। सातवां बंसी का शब्द। आठवां मृदंग का शब्द। नौवां भेरी का शब्द। दशवां मेघ का शब्द होता है। इन दशों शब्दों को हंस मंत्र के साधक पुरुष सुनता है तिनमें से आदि के नव शब्दों को छोड़ करके दशवां जो मेघ का शब्द है उसका ही सर्वदा मुमुक्षु जन अभ्यास करें। २ । इन दश प्रकार के शब्दों का फल भी लिखा है।

प्रथमे चिञ्चिणीगात्रं द्वितीये गात्रभंजनम् ।
तृतीये खेदनं याति चतुर्थे कम्पते शिरः ॥
पञ्चमे स्रवते तालु षष्ठेऽमृतनिषेवणम् ।
सप्तमे गूढ विज्ञानं परा वाचा तथाष्टमे ॥
अदृश्यं नवमे देहं दिव्यं चक्षुस्तथा मलम् ।
दशमे परमं ब्रह्म भवेद्ब्रह्मात्मसंनिधौ ॥

(हंसोपनिषद् श्रु० २)

पहला चिणी का शब्द श्रवणकाल में सब देह में चुनचुनाहट मालूम होता है। दूसरा चिञ्चिणी शब्द सुनने पर सब शरीर टूटने लगता है। तीसरा घण्टा के शब्द विषे चित्त में खिन्नता होती है। चौथा शंख के शब्द विषे शिर कांपता है। पांचवां वीणा का शब्द सुनने पर तालु श्रवता है छठवां ताल के शब्द विषे अमृत पीता है। सातवां बंसी के शब्द विषे छिपे हुए पदार्थों का ज्ञान होता है। आठवां मृदङ्ग के शब्द विषे परा वाचा की प्राप्ति होती है। नौवां भेरी के शब्द सुनने पर मलरहित दिव्य दृष्टि और अन्तर्ध्यान होने की शक्ति होती है। और दशवां मेघ के शब्द सुनने पर परब्रह्म को पाता है ॥२॥ अब अत्यन्त गोपनीय को दिखाता हूं (अत्यन्त आकाश मण्डल के सफा रहने पर एकान्त स्थान में जा करके दिन में सूर्य को और रात्रि में चन्द्रमा को पीछे करके और अपने दोनों भुजाओं को ऊपर उठाकर सावधानी से अपनी छाया के बलों को (ओं नमोनारायनाय) इस मन्त्र को १०८बार जपता हुआ देखे जिसमें पलक न गिरे

फिर मन्त्र जपता हुआ सामने आकाश में देखे वहां सफेद छाया पुरुष दिखाई पड़ेगा इस प्रकार जो सर्वदा इस क्रिया को करता है वह भूत भविष्य वर्तमान इन तीनों कालों को जानता है। यदि आकाश में छाया पुरुष काला दिखाई दे तो ६ महीने के भीतर अपनी मृत्यु जानना चाहिये और पीला दीखे तो रोग, लाल दीखे तो भय, नीला दीखे तो हानि होती है यदि नाना वर्ण दीखे तो योगी सिद्धियों को प्राप्त करता है। यदि छाया पुरुष के पैर गुल्फ पेट भुजा न दीखे तो निश्चय अपना मृत्यु जानना चाहिये। यदि वाम भुजा न दीखे तो अपनी स्त्री का मरण और दक्षिण भुजा न दीखे तो बन्धुओं का मरण तथा एक महीने के अन्दर अपनी भी मृत्यु जानना चाहिये। सिर न दीखे तो महीने भर में और जंघा कंधा ये न दीखे तो आठ दिन में तथा छाया पुरुष समस्त न दीखे तो उसी क्षणमें अपना मरण जानना चाहिये। अब लय योग को संक्षेप से कहता हूं।

लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः ।
गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्भुञ्जन्ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम् ॥

(योगत० श्रु० २३)

प्राणायामादिक क्रम से विनाहि वैष्णवी मुद्रा के अभ्यास से आत्मा में चित्त को विलय करना लययोग है वह करोड़ों कहा गया है चलते ठहरते सोते खाते हुये सर्वदा निष्कल परमात्मा का ध्यान करे॥ ३॥ चित्तवृत्ति के लक्ष्य को शरीर के भीतर करके आधा खुले हुये नेत्रों की दृष्टि को नासिका के अग्र भाग में एक टक स्थापन करके स्थित होना वैष्णवी मुद्रा है।

क्षेत्रज्ञः परमात्माच तयोरैक्यं यदा भवेत् ।
तदैक्ये साधिते ब्रह्मश्चित्त'याति विलीनताम् ॥

(योगशिखोप० अ० १ श्रु० १३४)

पवनःस्थैर्य्यमायाति लययोगोदये सति ।
लयात् संप्राप्यते सौख्यं स्वात्मानन्द परं पदम्॥१३५॥

हे चतुरानन ! जीवात्मा परमात्मा का जब ऐक्य हो जाता है तब चित विलय को पाता है ॥ १३४ ॥ और लययोग उदय होने पर पवन स्थिर हो जाता है तथा साधक पुरुष लययोग से श्रेष्ठ जो स्वात्मानन्द सुख है उसको पाता है ॥ १३५ ॥ अब मरण जानने का उपाय संक्षेप से कहता हूं । जिस मनुष्य का रात्रि में बाम नाक के स्वर और दिन में दक्षिण स्वर सर्वदा चले उस पुरुष की ६ महीने के भीतर मृत्यु होती है । जो मनुष्य अपना जीभ नाक और आकाश ध्रुव तारा अरुन्धती चन्द्रमा तथा शुक्र को कहने से न देखे वह अवश्य वर्ष दिन के बाद काल के मुख में जाता है ।

जिस मनुष्य को जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब कटा हुआ दक्षिण दिशा में दीखे वह ६ महीने में मरता है । और पश्चिम में तीन महीना में उत्तर में दो महीना में पूर्व में कटा हुआ दीखे तो एक महीना में मरता है यदि प्रतिबिम्ब के मध्य में छिद्र दीखे तो दश दिन में और यदि सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब धून सा दीखे तो उसी दिन मरता है ।

अब हठयोग को संक्षेप से दिखाता हूं क्योंकि बिना हठ योग के राजयोग सिद्ध जल्दी नहीं होता है ।

हकारेण तु सूर्यः स्याट्ठकारेणेन्दुरुच्यते ।
सूर्याचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते ॥

(योगशिखो० अ० १ श्रु० १३३)

हकार से सूर्य स्वर कहा जाता है और ठकार से चन्द्र स्वर कहा जाता है इन दोनों सूर्य और चन्द्र स्वर की एकता को हठ्योग कहते हैं । ॥ ३३ ॥

अब चारों योगों के उपयोगी और हठ्योग के प्रधान अंग जो आसन हैं उनको निरूपण करता हूं । चौराशी लाख योनि हैं उतने ही आसन भी उन्हीं के शरीर चेष्टानुसार हैं । चौराशी लाख आसनों के भेद मनुष्यों से न जाने जायेंगे इससे योगाचार्य्यों ने चौराशी आसन योग के लिये स्थापन किये हैं इन चौराशी आसनों में भी ग्यारह ही आसन को बराहोपनिषद् के पांचवां अध्याय में कहा है इससे मैं भी उन्हीं आसनों को निरूपण करता हूं ।

एकादशासनानिस्युश्चक्रादि मुनिसत्तम ।
चक्रं पद्मासनं कूर्मं मयूरं कुक्कुटं तथा ॥

(बराहोप० अ० ५ श्रु० १५)

वीरासनं स्वस्तिकं च भद्रं सिंहासनं तथा ॥
मुक्तासनं गोमुखं च कीर्तितंयोग वित्तमैः ॥ १६ ॥

हे मुनिसत्तम चक्र आदि ग्यारह आसन योग का है उनके ये

नाम हैं १ चक्रासन २ पद्मासन ३ कूर्मासन ४ मयूरासन ५ कुक्कुटासन ॥ १५ ॥ और ६ वीरासन ७ स्वस्तिकासन ८ भद्रासन ९ सिंहासन १० मुक्तासन ११ गोमुखासन ये एकादश आसन योगवेत्ताओं ने कहा है ॥ १६ ॥

सव्योरुदक्षिणेगुल्फे दक्षिणं दक्षिणेतरे ।
निदध्यादृजुकायस्तु चक्रासनमिदं मतम ॥

(वरा० अ० ५ श्रुति १७)

अब चक्रासन को वर्णन करता हूँ कि बाम जङ्घा को दक्षिण गुल्फ (टकना) पर और दक्षिण जंघा को बाम गुल्फ पर स्थापना करके देह को कोमल रक्खे इसको चक्रासन कहते हैं ॥ १७ ॥

अंगुष्ठेन निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण च ।
ऊर्वोरुपरि शाण्डिल्य कृत्वा पाद तले उभे ॥
पद्मासनं भवेदेतत् सर्वेषामपिपूजितम ॥

(शाण्डिल्योप० श्रु० ३)

अब पद्मासन को कहता हूँ कि बाम जंघा पर दाहिना पैर को उत्तान रख करके दाहिना जंघा पर बाम पैर को उत्तान रखे इसके बाद दाहिने हाथ को पीठ के पीछे से घुमा के दाहिना पैर के अंगूठे को ग्रहण करे और बायें हाथ को भी पीठ के पीछे से घुमा

के बायें पैर के अंगूठे को ग्रहण करे तो इसको पद्मासन कहते हैं यह सब में श्रेष्ठ है ॥ ३ ॥

गुदं निरुध्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः ।
कूर्मासनं भवेदेत दिति योगविदो विदुः ॥ १ ॥

अब कूर्मासन को कहता हूं कि दाहिना ढकना से गुदा के बाम भाग को और बायां गुल्फ से दक्षिण भाग को रोक कर जो सावधानी से बैठा जाता है उसको कूर्मासन योगी लोग कहते हैं ॥ १ ॥

अवष्टभ्य धरां सम्यक् तलाभ्यां तु करद्वयोः ।
हस्तयोः कूर्परौ चापि स्थापयेन्नाभि पार्श्वयोः ॥

(शाण्डिलल्योप० श्रु० १०)

समुन्नत शिरःपादो दण्डवद्व्योम्नि संस्थितः ।
मयूरासनमेतत्तु सर्व पाप प्रणाशनम् ॥ ११ ॥

अब मयूरासन को कहता हूं कि दोनों हाथों के तरवों से पृथ्वी का अवलम्बन करके दोनों हाथों के केहुनी को नाभि के दोनों बगल में स्थापन करे ॥ १० ॥ और शिर तथा पैर को उठा करके दण्ड के समान आकाश में स्थित हो तो समस्त पाप को नाश करने वाला इसको मयूरासन योगी जन कहते हैं ॥ ११ ॥ यह समस्त पेट के रोग को दूर करता है ।

पद्मासनं तु संस्थाप्य जान्वोरन्तरे करौ ।
निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटासनम् ॥१॥

अब कुक्कुटासन को कहता हूं दोनों जंघों के ऊपर दोनों पैरों को रख करके पैर और जंघों के बीच में दोनों हाथों को लगा कर और उन दोनों हाथों को भूमि में स्थापन करके आकाश में स्थित रहे तो इसको कुक्कुटासन कहते हैं ॥ १ ॥

एकं पाद मथैकस्मिन्विन्यस्योरुणि संस्थितः ।
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमुदीरितम् ॥

(शाण्डिल्यो० श्रु० ४)

दाहिना पैर को बाम जंघा पर और बाम पैर को दाहिना जंघा पर रखने से वीरासन होता है ॥ ४ ॥

जानूर्वोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे ।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥

(शाण्डि० श्रु० १)

पैर और जंघा के बीच में दोनों तरवों को लगा कर जो सावधानी पूर्वक बैठा जाता है उसको स्वस्तिक आसन कहते हैं॥१॥

गुल्फौ तु वृषणस्याधः सीवन्या पार्श्वयोः क्षिपेत् ।

पादपार्श्वे तु पाणिभ्यां दृढं बध्वा सुनिश्चलम् ।
भद्रासनं भवेदेतत्सर्व व्याधि विषापहम् ॥

(शाण्डि० श्रु० ८)

अब भद्रासन कहता हूं कि अण्डकोश के नीचे सीवनी के दोनों पार्श्व भाग में क्रम से बाम गुल्फ को बाम पार्श्व में और दक्षिण गुल्फ को दक्षिण पार्श्व भाग में स्थापन करके दोनों पार्श्व भागों को दोनों हाथों से दृढ़ बांध कर स्थित रहे तो इसको सम्पूर्ण रोगों का नाशक भद्र आसन कहते हैं ॥ ८ ॥

दक्षिणं सव्य गुल्फेन दक्षिणेन तथेतरम् ।
हस्तौ च जान्वोः संस्थाप्य स्वांगुलीश्च प्रसार्य च ॥

(शाण्डि० श्रु० ५)

व्यक्त वक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ।
सिंहासनंभवेदेतत्पूजितं योगिभिः सदा ॥ ६ ॥

अण्डकोष के नीचे सीवनी नाड़ी के दाहिना भाग को बाम गुल्फ से और बाम भाग को दाहिना गुल्फ से दबाकर बैठे और दोनों जंघों के ऊपर दोनों हाथों को रखकर अपनी अंगुलियों को फैलाः इसके बाद मुख को खोल कर सावधानी से नाक के अग्र भाग पः देखे इसको सिंहासन कहते हैं यह सदा योगियों से पूजित है ॥६॥५॥

संपीड्य सीविनीं सूक्ष्मां गुल्फेनैव तु सव्यतः ।
सव्यं दक्षिण गुल्फेन मुक्तासनमुदीरितम् ॥

(शा० श्रु० ६)

सूक्ष्म सीवनी के दक्षिण भाग को बाम गुल्फ से और बाम भाग को दाहिना गुल्फ से दबाकर बैठा जाय उसको मुक्त आसन कहते हैं ॥ ६ ॥

सव्ये दक्षिण गुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ।
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखं यथा ॥

(शा० श्रु० २)

गोमुख आसन को कहता हूं कि कटि के बाम भाग में दाहिना टकना और दक्षिण भाग में बाम टकना को लगाकर जो गौ के मुख के समान आकार हो जाता है उसको गोमुख आसन कहते हैं ॥२॥ पूर्वोक्त आसनों के करने से देह में कोई भी रोग नहीं होता है इससे पहले अवश्य आसन करना चाहिये । अब शक्ति चालन करने के लिये मुद्राओं का वर्णन करता हूं ।

महामुद्रा नभो मुद्रा ओड्याणञ्च जलन्धरम् ।
मूलबन्धंच यो वेत्ति सयोगी मुक्ति भाजनम् ॥

(योग चू० श्रु० ४५)

महामुद्रा १ खेचरी मुद्रा २, उड्डीयान बन्ध ३, जालन्धर बन्ध ४, मूलबन्ध ५ इन पाँचों को जो योगी करता है वह मुक्ति भाजन होता है ॥ ४५ ॥

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा ।
हस्ताभ्यामनुधारयन्प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षि युगलं बध्वा शनैः रेचयेत् ।
सेयं व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते ॥

(योगचू० श्रु० ६६)

छाती पर ठुड्डी को जोर से धारण करके बाम पैर की एड़ी से लिंग और गुदा के बीच में योनि के स्थान को अत्यन्त जोर से दबावे इसके बाद दाहिना पैर लम्बा करके और दाहिना पैर के मध्य भाग को दोनों हाथों से पकड़ के दृढ़ रोके तब पेट में पूरक विधि से वायु भरे कुछ काल यथाशक्ति वायु को रोक कर धीरे-धीरे छोड़ दे तो इसको योगी जन समस्त रोग नाशक महामुद्रा कहते हैं ॥ ६६ ॥

चन्द्रांशेन समभ्यस्य सूर्यांशेनाभ्यसेत्पुनः ।
या तुल्या तु भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥६७॥

(बाम अंग से पहले अभ्यास करके पीछे दाहिने अंग से करे

जब दोनों ओर के अभ्यास से प्राणायाम की मात्रा बराबर हो जाय तब महामुद्रा को विसर्जन कर दे ॥ ६७ ॥

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः
अतिभुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥६८॥

क्षयकुष्ट गुदावर्त्त गुल्माजीर्ण पुरोगमाः ।
तस्य रोगाः क्षयं यान्ति महामुद्रांतु योऽभ्यसेत् ॥६९॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरीनृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन नदेयायस्य कस्यचित् ॥ ७० ॥

महामुद्रा के अभ्यास दृढ़ हो जाय तो पथ्यापथ्य का विचार कुछ नहीं रहता है और सब रस नीरस हो जाता है और घोर विष भी खाया हुआ अमृत के समान पच जाता है ॥ ६८ ॥ तथा कुष्ट, क्षय, भगन्दर गुल्म पेचिस आदि समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं॥६९॥ अभ्यासी को महासिद्धि करनेवाली यह महामुद्रा कही है इसको बड़े यत्न से गुप्त रखना चाहिये जिस किसी को न देना चाहिये ॥७०॥

कपाल कुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥

(योग चू० श्रु० ५१)

जीभ को उलटा फिराय के कंठ के मूल में जो छिद्र हैं उसमें घुसावे और भ्रू मध्य में निश्चल दृष्टि करे तो इसको खेचरी मुद्रा कहते हैं ॥ ५१ ॥

तालुमूलं समुत्कृष्य सप्तवासरमात्मवित् ।
स्वगुरूक्तप्रकारेण मलंसर्वं विशोधयेत् ।

(योगकुण्डल्यु० श्रु० २८)

योग कुण्डल्युपनिषद् में लिखा है कि आत्मवेत्ता पुरुष तालु मूल से जीभ को धीरे से कुछ बाहर निकाल करके अंगूठा और तर्जनी से सात दिन तक जीभ को प्रातःकाल दोहन और चालन करके मल शुद्ध करें ॥ २८ ॥

स्नुहिपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्ध निर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ २९ ॥

ततः सैन्धव पथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत्
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोम मात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३० ॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्योद्युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलं सिराबद्धं प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

सेहुंड़ के पत्ते के समान अत्यन्त तीक्ष्ण चिकन निर्मल शस्त्र

से जीभ के नीचे की नस को रोम मात्र छेदन करे ॥ २९ ॥ और तिसके पीछे सेंधे और हरे के चूर्ण कटा हुआ स्थान पर मले ऐसे साय प्रातः सात दिन करके फिर पूर्वोक्त विधि से रोम मात्र काटे ॥ ३० ॥ इस रीति से छः महीना तक नित्य करे तो जीभ के मूल की नाड़ी जो जीभ को कपाल कुहर में नहीं जाने देती है सो कट जाती है ॥ ३१ ॥

न रोगो मरणं तस्य ननिद्रा नक्षुधा तृषा ।
नच मूर्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्तिखेचरीम् ॥

(योगचू० श्रु० ५३)

पीड्यते नच रोगेण लिप्यतेनसकर्मभिः ।
बाध्यतेनचकेनापि योमुद्रांवेत्ति खेचरीम् ॥ ५४ ॥

जो खेचरी मुद्रा को जानता है उसको रोग, मरण, निद्रा, क्षुधा, तृषा और मूर्च्छा ये सब नहीं होते हैं ॥५३॥ जो खेचरी को करता है वह रोग से पीड़ित नहीं होता है और न कर्म से लिप्त होता है और न किसी से बांधा जाता है ॥ ५४ ॥

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्त्तव्यस्तूड्डीयानकः ।
बन्धोयेन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयतेयतः ॥

(योग सि० अ० १ श्रु० १०६)

तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।
उड्डीयानं तु सहजं गुरुणाकथितं सदा ॥१०७॥

अभ्यसेदेतदतन्द्रस्तु वृद्धोऽपि तरुणोभवेत् ।
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि त्राणं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥१०८॥

षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥१०९॥

कुम्भक के अन्त में और रेचक के आदि में उड्डीयानबन्ध करना चाहिये । जिस बन्ध से प्राण वायु सुषुम्ना नाड़ी में उड़ जाता है ॥ १०६ ॥ उसको योगी लोग उड्डीयानबन्ध कहते हैं । सहज उड्डीयानबन्ध को गुरु के उपदेश से जो सदा ॥१०७॥ बिना आलस्य के करता है, वह वृद्ध भी तरुण के तुल्य आचरण करता है। नाभि के ऊपर और नीचे के पेट को सावधानी से पीठ में सटा वे तो इसको उड्डीयान कहते हैं ॥ १०८ ॥ छः महीना इस बन्ध का बारम्बार अभ्यास करे तो मृत्यु को जीतता है इसमें सन्देह नहीं है ॥ १०९ ॥

पूरकान्तेतु कर्त्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ॥१०९॥

कण्ठ संकोचरूपोऽसौ वायुमार्ग निरोधकः ।
कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद्दृढमिच्छया ॥११०॥

बन्धो जालन्धराख्योऽयममृताप्याय कारकः ॥१११॥

पूरक के अन्त में जालन्धर बन्ध करना चाहिये ।।१०६।। कण्ठ संकोच और हवा रोकने वाला जालन्धर बन्ध है कण्ठ के बिल संकोच करके ठोढी को अपने छाती पर दृढ़ रीति से स्थापन करे ।। ११० । तो अमृत को रोकने वाला इसको जालन्धर कहते हैं ।। १११ ।।

गुदंपाष्ण्यांतु संपीड्य पायुमाकुञ्चयेद्बलात् ।
बारम्वारं यथाचार्ध्वं समायाति समीरणः ।।

(योगशि० अ० १ श्लो० १०४)

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेनचैकताम् ।।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ।।१०५।।

पार्ष्णि से गुदा मार्ग को भली प्रकार पीड़ित करके वायु को बल से इस प्रकार बारम्बार आकर्षण करे कि जिससे वह सुषुम्ना के ऊपर के भाग में पहुँच जाय यह मूल बन्ध कहा जाता है ।।१०४।। प्राण और अपान ये दोनों वायु तथा नाद और बिन्दु ये दोनों मूल बन्ध से एकता होकर योगी को योग की सिद्धि को देते हैं इसमें सन्देह नहीं है ।।१०५।। अब महाबन्ध १ महावेध २ विपरीतकरणी ३ बज्रोली ४ शक्तिचालन ५ इन पांच मुद्राओं को दिखाता हूं ।

पार्ष्णिवामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम् ।।

(योगत० श्लो० ११२)

चिबुकं हृदिविन्यस्य पूरयेद्वायुना पुनः ।
कुम्भकेन यथाशक्ति धारयित्वातु रेचयेत् ।।११३।।

वामांगेनसमभ्यस्य दक्षांगेन ततोऽभ्यसेत् ।
प्रसारितस्तु यःपादस्तमूरूपरि नामयेत् ।।११४।।

अयमेव महाबन्ध उभयत्रैनमभ्यसेत् ।। ११५ ।।

बाम पैर की एड़ी को गुदा और लिंग के बीच में लगावे और दहिने पैर को पसार करे दोनों हाथों से बीच में दृढ़ पकड़े।।११२।। और ठोढ़ी को हृदय में जमाकर हवा से पेट को भरे इसके बाद यथाशक्ति कुम्भक करके रेचक करे ।। ११३ ।। बाम अंग से अभ्यास करके फिर दक्षिण अङ्ग से अभ्यास करे और फैलाये हुये दाहिने पैर को बाम जंघा के ऊपर रख दे ।। ११४ ।। तो इसको महाबन्ध कहते हैं ।। ११५ ।।

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वापूरकमेकधीः ।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कर्णमुद्रया ।।

(योगत० श्लो० ११६)

पुटद्वयं समाक्रम्य वायुःस्फुरति सत्वरम् ।
अयमेव महावेधः सिद्धैरभ्यस्यतेऽनिशम् ।। ११७ ।।

महाबन्ध मुद्रा में स्थित योगी एकाग्र बुद्धि से पूरक करके जालन्धर मुद्रा से वायुओं के गति को रोक दे ।।११६।। तो शीघ्र ही प्राण और अपान वायु सुषुम्ना नाड़ी में चला जाता है इसका अभ्यास सदा सिद्ध लोग करते हैं इसको महावेध मुद्रा कहते हैं ।। ११७ ।। इसके करने से अणिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति होती है ।

करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी ।
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जाठराग्निविवर्धनी ।।

(योगत० श्लो० १२२)

आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ।
अल्पाहारो यदिभवेदग्निर्देहं हरेत्क्षणात् ।।१२३।।

अधः शिरश्चोर्ध्वं पादः क्षणंस्यात्प्रथमे दिने ।
क्षणाच्चकिञ्चिदधिकमभ्यसेत्तु दिनेदिने ।। १२४ ।।

बलीत्र पलितञ्चैव षण्मासार्धान्न दृश्यते ।
याममात्रं तु यो नित्य मभ्यसेत्सतुकालजित्।।१२५।।

विपरीत करणी नाम की मुद्रा समस्त रोगों का नाश करने वाली है और सदा अभ्यास करने वालों के जठरानल को बढ़ाने

वाली है ।। १२२ ।। इस मुद्रा के अभ्यास करने वालों को अधिक भोजन करना चाहिये नहीं तो थोड़ा भोजन करने से क्षण भर में अग्नि देह को भस्म कर देता है ।।१२३।। अब क्रिया को कहता हूं कि पहला दिन नीचे शिर और ऊपर पैर करके क्षण भर ठहरे फिर प्रतिदिन एकएक क्षण बढ़ायके अभ्यास करे ।।१२४।। जो इस मुद्रा का तीन महीना अभ्यास करता है उसका लटका हुआ चाम औ पका हुआ बाल नहीं देखने में आता है और जो रोज-रोज एक-एक पहर पर्यन्त विपरीतकरणी को करता है वह मृत्यु को जीतता है ।। १२५ ।।

स्वेच्छयावर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलीं यो विजानाति सयोगी सिद्धिभाजनम् ।।१।।

जो योगोक्त नियम नहीं जानता हुआ भी अपनी इच्छा से बज्रोली को करता है वह सिद्धि को पाता है ।। १ ।।

तत्रवस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभंयस्यकस्यचित् ।
क्षीरञ्चैकंद्वितीयंतु नारीच वशवर्तिनी ।।२।।

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथवानारी वज्रोली सिद्धिमाप्नुयात् ।।३।।

इस मुद्रा में हर किसी को दो वस्तु दुर्लभ है ये दो अवश्य चाहिये स्त्री संगम के बाद पीने के लिये दुध और वश में रहनेवाली

स्त्री । स्त्री संगम करके मंद-मंद अपने इन्द्रिय से स्खलित वीर्य को रज के साथ खींच ले तो वज्रोली सिद्धि होती है ॥२।।३।

वज्रोली से पहले जो क्रिया की जाती है उसको कहता हूं कि— चांदी या सीसा के लिंग के छेद में पैठने के योग्य खोंखरी छेद वाली चौदह अंगुल की शलाई बनवा कर लिंग के छिद्र में पैठाने का अभ्यास करे। पहले दिन एक अंगुल मात्र पैठावे दूसरे दिन दो अंगुल और तीसरे दिन तीन अंगुल पैठावे इस प्रकार बारह अंगुल के प्रवेश होने पर लिंग का मार्ग शुद्ध हो जाता है फिर बारह अंगुल के उसी प्रकार की शलाई बनवावे जो दो अंगुल टेढ़ी हो और ऊर्ध्वमुखी हो उसको भी दस अंगुल लिंग के छिद्र में प्रवेश करे और जो टेढ़ा दो अंगुल मात्र है उसको बाहर रक्खे फिर सोनार के अग्निधमन के नाल की सदृश नाल को लेकर जो लिंग के बाहर टेढ़ा दो अंगुल मात्र है उसके बीच में पैठा कर फूंके तो लिंग के मार्ग की शुद्धि होती है तब इस मार्ग से जल के आकर्षण का अभ्यास करे इसके बाद वीर्य का आकर्षण करे तो वज्रोली सिद्धि होती है और जिसको खेचरी सिद्ध हो उसको वज्रोली सिद्धि होती है। जिनकी अपनी विवाही स्त्री न हो वह केवल जलही के आकर्षण करे उसी से वीर्य स्तम्भन हो जाता है। कभी भी पर स्त्री के संगम से वीर्याकर्षण न करे क्योंकि पर स्त्री को छूना भी शास्त्र में मना है।

कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्ति रष्टधा कुण्डलाकृतिः ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥

(योग चू० श्रु० ३६)

येनद्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥३७॥

प्रबुद्धा वह्नि योगेन मनसा मरुतासह ।
सूचीवद्गात्रमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ॥३८॥

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया गृहम् ।
कुण्डलिन्यां तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेन ॥३९॥

कन्द स्थान के ऊपर आठ वृत्त करके वेष्टित कुण्डल के समान कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्म द्वार के मुख को अपने मुख से आच्छादित करके रहती है ॥३६॥ जिस सुषुम्ना द्वार करके अनामय पद मिलता है उस ब्रह्म द्वार को कुण्डलिनी मुख से ढांक कर सोई हुई है ॥३७॥ अग्नि के संयोग से जगी हुई वह मन और प्राण वायु के साथ सूची के समान गात्र को लेकर सुषुम्ना नाम के मध्य नाड़ी से ऊपर को जाती है ॥३८॥

जैसे चाभीसे घर के किवाड़ खोला जाता है वैसे ही योगी कुण्डलिनी में मोक्ष के द्वार को खोलता है ॥३९॥

कृत्वासम्पुटितौ करौ दृढतरं बध्वातु पद्मासनम् ।
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानञ्च तच्चेष्टितम् ।
वारम्वारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितम् ।

मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावादतः ॥

(योगचू० श्रु० ४०)

दोनों हाथ के अञ्जली बांध के दोनों अञ्जली को हृदय में दृढ़ स्थापन करके पद्मासन करे और ठोडी को हृदय में दृढ़तर लगाय के परमात्मा के शुभ विग्रह को ध्यान करे और वारम्वार अपान वायु को ऊपर खींच कर पूरक करे इसके बाद यथा शक्ति कुम्भक करके धीरे-धीरे रेचक करे इस प्रकार से कुण्डलिनी का बोध होता है और योगी को अपरिमित ज्ञान होता है कुण्डलिनी के प्रबोध करने वाली यही शक्ति चालन मुद्रा है ॥४०॥ इस मुद्रा के करने से जो पसीना हो उसको देह में मिला दे और लवण खट्टा मीठा तीता न खा केवल दूध खाय। करे तो एक वर्ष के ऊपर अवश्य सिद्ध होता है।

षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
स्वदेहे यो न जानाति तस्य सिद्धिः कथं भवेत् ॥

(योग चू० श्रु० ३)

मूलाधार चक्र १ स्वाधिष्ठान चक्र २ मणिपूरक चक्र ३ अनाहत चक्र ४ विशुद्ध चक्र ५ आज्ञा चक्र ६ इन छः चक्रों को और प्रथम आधार पादांगुष्ठ है इस पर एकाग्र दृष्टि करके ज्योति चैतन्य करे इससे दृष्टि स्थिर होती है १। दूसरा आधार मूलाधार इसे पैर की एड़ी से दबाना इससे जठराग्नि दीप्त होता है२। तीसरा गुह्याधार इसके संकोच विकास के अभ्यास करने से अपान वायु वज्र

नाड़ी में पैठता है ३। चौथा बिन्दु आधार इसके आकर्षण के अभ्यास से वज्रोली करने की सामर्थ्य होती है ४। पांचवां उड्डीयान बन्ध आधार है इसके करने से मल मूत्र कृमि का नाश होता है ५। छठवां नाभि मण्डल आधार है जिसमें नारायण का ध्यान करने से नाद उत्पन्न होता है ६। सातवां हृदय आधार है इसमें प्राण वायु को रोकने से हृदय कमल विकसित होता है ७। आठवां कण्ठ आधार है इसमें ठोढ़ी हृदय पर दृढ़ लगावे तो वायु स्थिर होता है ८। नौवां क्षुद्रघंटिका आधार है उस तक जीभ पहुंचावे तो अमृत रस मिलता है ९। दशवां जीभ का मूल आधार है इसमें खेचरी मुद्रा करने से खेचरी सिद्धि होती है १०। ग्यारहवां जीभ का अधोभाग आधार है जिसमें जिह्वाग्र से मथन करके दिव्य कविता शक्ति होती है ११। बारहवां ऊर्ध्वदन्त मूल आधार है जिसमें जिह्वाग्र स्थापन करने से रोग दूर होता है १२। तेरहवां नाक के अग्र भाग आधार है जिसमें दृष्टि स्थिर करने से मन स्थिर होता है १३। चौदहवां नासिका मूल आधार है जिसमें दृष्टि स्थिर करने से छः महीने में ज्योति प्रत्यक्ष होती है १४। पन्द्रहवां भ्रूमध्य आधार है जिसमें अचल दृष्टि के अभ्यास करने से सूर्य्य के किरणों के समान ज्योति प्रकाश होती है १५। सोलहवां नेत्र आधार है जिनके मूल में अंगुली से मीसने पर वर्तुलाकार बिन्दु समान इन्द्र धनुष के तुल्य ज्योति दिखाई देती है उसको देखने का अभ्यास करने से ज्योति प्रत्यक्ष होती है १६। इन सोलह आधारों को और तीन लक्ष्यों को तथा पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश इन पांचों तत्वों को जो योगी अपने देह में नहीं जानता है उसको योग सिद्धि नहीं होती है ॥३॥

चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानञ्च षड्दलम् ।
नाभौ दशदलं पद्मं हृदये द्वादशारकम् ॥
(योग चू० श्रु० ४)

षोडशारं विशुद्धाख्यं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा ।
सहस्रदल संख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथि ॥ ५ ॥

आधार चक्र जो गुदा द्वार है उसमें चार दल वाला कमल और स्वाधिष्ठान चक्र जो लिंग मूल है उसमें छः दल वाला कमल और मणिपूर चक्र जो नाभि मूल है उसमें दश दल वाला कमल और अनाहत चक्र जो हृदय में है वहां पर बारह दल वाला कमल और विशुद्ध चक्र जो कण्ठ स्थान में है वहां पर सोलह दल वाला कमल और आज्ञा चक्र जो भ्रूमध्य में है वहां पर दो दल वाला कमल वर्तमान है इसके ऊपर जो ब्रह्मरन्ध्र मार्ग है वहां पर हजार दल वाला कमल है॥ ४ ॥ ५ ॥

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते ॥ ६ ॥
कामाख्यंतु गुदस्थाने पङ्कजन्तु चतुर्दलम् ।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्यासिद्ध वन्दिता ॥७॥
तस्यमध्ये महा लिंगं पश्चिमाभि मुख स्थितं ।

नाभौतु मणिवद्बिम्बं यो जानाति स योगवित् ॥८॥

पहला जो मूलाधार चक्र और दूसरा जो स्वाधिष्ठान चक्र इन दोनों के बीच में योनि स्थान है और यही काम रूप पीठ भी है॥६॥ गुदा मार्ग में जो चार दल वाला कामाख्य कमल है उसके बीच में योनि है जिसकी वन्दना सिद्ध जन करते हैं यही कामाख्या पीठ है ॥७॥ योनि के बीच में सुषुम्णा द्वार के सम्मुख स्थित महालिंग है उसके नाभि में मणि के समान देदीप्यमान बिम्ब है यही कुण्डलिनी मोक्ष द्वार है। इसे जो सम्यक् प्रकार से जानता है वह योग वेत्ता है ॥८॥

तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ।
त्रिकोणं तत्पुरं वह्नेरधोमेढ्रात्प्रतिष्ठितम् ॥ ९ ॥
समाधौ परमं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।
तस्मिन्दृष्टे महायोगे यातायातो न विद्यते ॥१०॥

लिंग स्थान से नीचे स्थित तपाया हुआ सोना के समान वर्ण और बिजुली के समान चमक दमक वाला जो त्रिकोण है वही कालाग्नि का स्थान है ॥९॥ इसी त्रिकोण विषय समाधि में अनन्त सब संसार में व्याप्त होने वाली परम ज्योति प्रकट होती है उस ज्योति को जो योगी देख लेता है उसका फिर से जन्म मरण नहीं होता है ॥१०॥

स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः ।
स्वाधिष्ठानाश्रयादस्मान्मेढ्रमेवाभिधीयते ॥
(योग चू० श्रु० ११)

तन्तुना मणिवत्प्रोतो योऽत्र कन्दः सुषुम्नया ।
तन्नाभि मण्डले चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ॥१२॥
द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपाप विवर्जिते ।
तावज्जीवो भ्रमत्येव यावत्तत्वं न विन्दति ॥१३॥

स्वशब्द प्राण का बोधक है इसका आश्रय लिंग मूल है प्राण का अधिष्ठान होने से इसे मेढ्र कहते हैं ॥११॥ जैसे डोरा में मणि गुथा रहता है वैसे ही सुषुम्ना नाड़ी में कन्द गुथा हुआ है उस नाभि मण्डल में मणि पूरक चक्र है ॥१२॥ पुण्य पाप से रहित बारह दल वाला अनाहत चक्र में जब तक जीव योग से तत्व को नहीं जानता है तब तक संसार में आता जाता रहता है ॥१३॥

ऊर्ध्वं मेढ्रादधोनाभेः कन्दे योनिः खगाण्डवत् ।
तत्रनाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणांद्विसप्ततिः ॥१४॥
तेषु नाडी सहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता ।
प्रधानाः प्राण वाहिन्यो भूयस्तासु दशस्मृताः ॥१५॥

लिंग से ऊपर और नाभि के नीचे कन्द समस्त नाड़ियों का उत्पत्ति स्थान पक्षि के अण्ड के तुल्य आकार वाला है और वहां ही पर बहत्तर हजार नाड़ी उत्पन्न हुए हैं ॥ १४ ॥ उन बहत्तर हजार नाड़ियों में मुख्य बहत्तर ही हैं इनमें भी प्राण वायु को चलाने वाली प्रधान दश ही नाड़ी हैं ॥ १५ ॥

इडाच पिंगला चैव सुषुम्ना च तृतीयका ।
गांधारी हस्तिजिह्वा च पूषाचैव यशस्विनी ॥१६॥
अलम्बुषा कुहूश्चैव शंखिनी दशमीस्मृता ।
एतन्नाडी महाचक्रं ज्ञातव्यंयोगिभिः सदा ॥१७॥

इडा १ पिङ्गला २ सुषुम्ना ३ गान्धारी ४ हस्तिजिह्वा ५ पूषा ६ यशस्विनी ७ अलंबुषा ८ कुहू ९ शंखिनी १० ये मुख्य नाड़ियों के नाम हैं यह नाड़ी महा चक्र योगियों को सदा जानना चाहिये ॥ १६ ॥ १७ ॥

इडा वामेस्थिता भागे दक्षिणे पिङ्गला स्थिता ।
सुषुम्ना मध्यदेशे तु गान्धारी वाम चक्षुषि ॥१८॥
दक्षिणे हस्ति जिह्वाच पूषा कर्णे च दक्षिणे ।
यशस्विनी वामकर्णे चानने चाप्यलम्बुषा ॥१९॥
कुहूश्च लिंग देशे तु मूलस्थाने तु शंखिनी ।

एकां द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ति नाड्यः क्रमात् ॥२०॥

वाम नाक में इडा नाड़ी और दाहिना नाक में पिङ्गला नाड़ी और इन दोनों के बीच में सुषुम्ना नाड़ी तथा वाम नेत्र में गान्धारी नाड़ी रहती है ॥१८॥ और दाहिना नेत्र में हस्तिजिह्वा नाड़ी तथा दाहिना कान में पूषा नाड़ी वाम कान में यशस्विनी नाड़ी और मुख में अलम्बुषा नाड़ी रहती है ॥१९॥ और लिंग देश में कुहू नाड़ी तथा गुदा में शंखिनी नाड़ी रहती है इस प्रकार ये दश नाड़ी प्राण वायु के एक एक द्वार को आश्रय करके रहते हैं ॥२०॥ जब वाम नाक से स्वांस आता हो तो शुभ कर्म करे तथा दाहिना नाक से स्वांस आता हो तो क्रूर कर्म करे और सुषुम्ना का प्रवाह हो तो योग के कर्म करे तो सिद्ध होता है।

प्राणापान समानाख्या व्यानोदानौच वायवः ।
नागः कूर्मोऽथकृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥
(योग सू० श्रु० २२)

हृदि प्राणः स्थितो नित्य मपानो गुदमण्डले ।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः ॥
व्यानः सर्व शरीरेतु प्रधानाः पञ्चवायवः ॥२४॥

उद्‌गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने तथा ।
कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ॥२५॥

न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनञ्जयः ।
एते नाडीषु सर्वासु भ्रमन्ते जीवजन्तवः ॥२६॥

प्राण १ अपान २ समान ३ उदान ४ व्यान ५ नाग ६ कूर्म ७ कृकल ८ देवदत्त ९ धनञ्जय १० ये दश वायु शरीर में हैं ॥२२॥ हृदय में प्राण वायु और गुदा मार्ग में अपान वायु नाभि देश में समान वायु और कण्ठ के मध्य में उदान वायु रहता है ॥२३॥ और व्यान वायु सब शरीर में रहता है इस प्रकार से ये पांच वायु प्रधान है ॥२४॥ उगिलना नाग वायु का कर्म है सोना जागना यह कूर्म वायु का कर्म छींकना कृकर वायु का कर्म है और जम्भाना देवदत्त वायु का कर्म है ॥२५॥ और धनञ्जय वायु समस्त शरीर में व्याप्त रहता है मरे शरीर को भी चार घटि पर्यन्त यह नहीं छोड़ता है जीव रूपी ये सब नाड़ियों में घूमा करते हैं ॥ २६ ॥ दश नाड़ी और दश वायु को कह करके अब पांचो तत्वों के आकार और स्थान को कहता हूं।

पादादि जानु पर्यन्तं पृथिवी स्थानमुच्यते ।
पृथिवी चतुरस्रं तु पीतवर्णं लवर्णकम् ॥
(योगत० श्रु० ८४)

पैर से जंघा पर्यन्त पृथिवी का स्थान है और लवर्ण चार कोना पीत रंग पृथ्वी का है ॥८४॥

आजानोः पायुपर्यन्तं अपां स्थानं प्रकीर्तितम् ।
आपोऽर्ध चन्द्रं शुक्लञ्च वंबीजं परिकीर्तितम् ॥
(योगत० श्रु० ८८)

जंघा से गुदा पर्यन्त जल का स्थान है और वंबीज आधा चन्द्रमा के सदृश शुक्ल वर्ण जल का है ॥८८॥

आपायोर्हृदयान्तञ्च वह्नि स्थानं प्रकीर्तितम् ।
वह्निस्त्रिकोणं रक्तञ्च रेफाक्षर समुद्भवम् ॥
(योगत० श्रु० ९१)

गुदा से हृदय पर्यन्त अग्नि का स्थान और रंबीज त्रिकोणाकार लाल वर्ण अग्नि का है ॥९१।

आहृदयाद् भ्रुवोर्मध्यं वायुस्थानं प्रकीर्तितम् ।
वायुःषट्कोणकं कृष्णं यकाराक्षर भासुरम् ॥
(योगत० श्रु० ९४)

हृदय से लेकर भ्रू पर्यन्त वायु का स्थान है और यंबीजषट्कोणाकार तथा काला वर्ण वायु का है ॥९४॥

आभ्रूमध्यात्तु मूर्धान्तमाकाशस्थानमुच्यते ।

व्योमवृत्तञ्च धूम्रञ्च हकाराक्षर भासुरम् ॥
(योगत श्रु० ९७)

भ्रूमध्य से लेकर मस्तक पर्यन्त आकाश का स्थान है और हंबीज शून्यकार विचित्र वर्ण आकाश का है ॥९७॥ दर्पण में मुख को देखकर श्वांस को छोड़े और आकारों को देखकर पण्डित जन तत्व निर्णय करे। मध्य में पृथ्वी तत्व और नीचे जल और ऊपर अग्नि और तिरछा वायु तत्व चलता है और दोनों नाक के स्वर चलता हो तो आकाश तत्व जानना चाहिये। पृथिवी-तत्व बारह अंगुल जल तत्व सोलह अंगुल, अग्नि तत्व चार अंगुल, वायु तत्व आठ अंगुल चलता है और आकाश तत्व सबसे मिला जुला हुआ चलता है। अब इन सबों का पीत आदि जो वर्ण है उसको जानने के लिये उपाय लिखता हूं।

सम्बद्धासन मेढ्रमङ्घ्रि युगलं कर्णाक्षिनासापुट
द्वाराद्यङ्गुलिभिर्नियम्य पवनं वक्त्रेण वा पूरितम् ।
बध्वा वक्षसि बह्वपानसहितं मूर्ध्नि स्थिरं धारयेदेवं
यान्ति विशेषतत्त्वसमतां योगीश्वरास्तन्मयः ॥
(योगसू० श्रु० ११४)

वाम पैर के एड़ी को लिंग के नीचे योनि स्थान में दबा कर के दाहिना पैर के एड़ी को लिंग के ऊपर दृढ़ लगा कर आसन बांधे

इसके बाद मुख से वायु को खींच कर पूरक करे और दोनों कानों को दोनों अंगूठों से और दोनों नेत्रों को तर्जनी अंगुलियों से और दोनों नासिका के पुटों को मध्य की अंगुलियों से और मुख के छिद्र को अनामिका कनिष्ठा इन अंगुलियों से रोक दे और छाती पर ठोढ़ी को जमाकर मस्तक में वायु को रोके तो तत्वों के पीत आदि जो वर्ण है सो ज्ञात हो जाता है और योगेश्वर लोग परमात्मा को भी प्राप्त कर लेते हैं ॥११४॥ अब षट् क्रियाओं को कहता हूं।

मेदश्लेष्माधिकः पूर्वं षटकर्माणि समाचरेत्।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥१॥

जिस पुरुष के मेदा और श्लेष्मा आदि अधिक होय वह पुरुष प्राणायाम से पहले छः कर्मों को करे और जिसको मेदा आदिक अधिक न हो वह पुरुष नहीं करे तो अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होता है ॥१॥

नेतिर्धौतिस्तथाबस्ति त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते ॥१॥

नेति १ धौति २ बस्ति ३ त्राटक ४ नौलि ५ कपाल भाति ६ इस भेद से बुद्धिमानों ने ये छः कर्म योग में कहे हैं। ये छः कर्म गुप्त करने योग्य हैं और देह के मल को दूर करते हैं ॥१॥

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत्।

मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥१॥

वस्त्र सीने वाला तागा लेकर बीता भर के पचीस गुणीत करके गुंथन करे और उसमें मोम लगावे और चिकन करे इसके बाद उस रस्सी के पिछले भाग में पचीस तागा वाला एक बीता के सूत जो गुंथा न हो उसको लगादे पश्चात जल से में करके गुंथा हुआ अग्र भाग को नाक के छिद्र में प्रवेश करे और जब वह गला में स्पर्श करे तो मुख में दहने हाथ की मध्यमा और तर्जनी अंगुली प्रवेश करके धीरे-धीरे बाहर निकास ले जब गुंथा हुआ भाग मुख से बाहर आ जाय तो नाक में स्थित जो तागा का पिछला भाग उसको दूसरे हाथ से पकड़ कर के दो तीन बार चलावे पश्चात शनैः शनैः मुख से बाहर निकास लेवे तो इसे नेति कर्म सिद्ध जन कहते हैं ॥१॥

कपाल शोधि नीचैव दिव्य दृष्टि प्रदायिनी।
जत्रूर्ध्वजात रोगौघ नेतिराशु निहन्तिच ॥२॥

यह नेति क्रिया कपाल तथा नासिका आदि के मल दूर करके दिव्य दृष्टि देती है और कण्ठ से ऊपर के समस्त रोग समूह को शीघ्र नष्ट करती है ॥ २ ॥

चतुरंगुल विस्तारं हस्तपंचदशायतम्।
गुरूपदिष्ट मार्गेण सिक्तं वस्त्रंशनैर्ग्रसेत्।
पुन प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौति कर्म तत् ॥१॥

चार अंगुल चौड़ा और पन्द्रह हाथ लम्बा सूक्ष्म वस्त्र लेकर गुरु के उपदेश किये मार्ग से गरम जल या दूध में सींच कर शनैःशनैः मुख द्वारा पहला दिन एक हाथ दूसरा दिन दो हाथ इस प्रकार से एक एक हाथ बढ़ा करके भोजन के समान लिले और उसके एक किनारे को दांत से दबाकर नौलि कर्म करे पश्चात शनैः शनैः बाहर निकाल डाले तो इसे सिद्धों ने धौति कर्म कहा है ॥१॥

कासश्वास प्लीह कुष्ठं कफ रोगाश्च विंशतिः।
धौतिकर्म प्रभावेण प्रयान्त्येव न संशयः ॥ २ ॥

कास श्वास पील्हा कुष्ठ और बीस प्रकार के कफ रोग ये सब धौति कर्म के प्रभाव से नष्ट होते हैं इसमें सन्देह नहीं है ॥२॥

नाभिदघ्ने जले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात्क्षालनं बस्ति कर्म तत् ॥१॥

कनिष्ठिका अंगुली के पैठने योग्य छेद वाला छः अंगुल लम्बा कोमल बांस के नल को लेकर गुदा द्वार में चार अंगुल प्रवेश करके दो अंगुल बाहर रखे पश्चात नाभि भर स्वच्छ जल में उत्कटासन में बैठ कर गुदा द्वार को आकुञ्चन करके पेट में जल को चढ़ावे पश्चात् नौलि कर्म करके बाहर छोड़ दे जो किञ्चित मात्र पेट में जल रह जावे तो मयूरासन से बाहर निकास देवे तो इसको बस्ति कर्म कहते हैं ॥१॥ धौति और बस्ति कर्म करके शीघ्र भोजन करना चाहिये नहीं तो रोग उत्पन्न होता है।

गुल्म प्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः।
बस्ति कर्म प्रभावेण क्षीयन्ते सकलामयाः ॥ २ ॥

बस्ति कर्म के प्रभाव से गुल्म प्लीहा जलोदर और वात पित्त कफ से उत्पन्न हुये सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं।

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्म लक्ष्यं समाहितः।
अश्रु सम्पात पर्यन्त माचार्यैस्त्राटकंस्मृतम् ॥ १ ॥

एकाग्र चित्त करके मनुष्य निश्चल दृष्टि से लघु पदार्थ को तब तक देखे जब तक अश्रुपात न हो तो इसको यामुनाचार्य आदि त्राटक कहते हैं ॥ १ ॥

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटनम्।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटक पेटकम् ॥ २ ॥

यह त्राटक कर्म नेत्र रोग नाशक और आलस्य निद्रा आदि का केवाड़ है जैसे सुवर्ण की पेटी संसार में यत्न से रखते हैं वैसे ही इस त्राटक को सदा गुप्त रखना चाहिये ॥२॥

अमन्दा वर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः।
नतांसो भ्रामयत्येषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्षते ॥ १ ॥

गर्दन को नीचे करके दोनों हाथ जांघों पर धरे पश्चात् दोनों नालों

को उठा करके जल भ्रम के समान पेट को शीघ्रता से बारम्बार बांयें दाहिने से फिरावे तो इसको सिद्ध लोग नौलि कहते है ॥१॥

मन्दाग्निसंदीपन पाचनादि संधापिकानन्दकरी सदैव ।
अशेषदोषामय शोषणी च हठक्रियामौलिरियंहिनौलिः ॥२॥

यह नौलि क्रिया मंदाग्नि को बढ़ाय के भोजन किये अन्नादिकों को शीघ्र परिपाक करने वाली समस्त वातादि-रोगों को सुखाने वाली सदा आनन्द देने वाली है इससे यह नौलि हठ क्रियाओं में शिरोमणि है ॥२॥

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोष विशोषणी ॥ १ ॥

लोहार के भाथी की नांई शीघ्र शीघ्र जो प्राण का रेचक पूरक करना है तिसका नाम कपाल भाति क्रिया है इससे बीस प्रकार के कफ रोग दूर होवे हैं ॥१॥ इस क्रिया से प्रथम शरीर की शुद्धि करके प्राणायाम करने से शीघ्र ही प्राणों का निरोध हो जाता है। इससे जिसका मेदा और श्लेष्मा अधिक हो वह इन षट् कर्मों को अवश्य करे। अब सब योगों में राजा जो राज योग है और जिसमें सम्पूर्ण योग अन्तर्भाव होता है उस योग को उपनिषदों के अनुसार मैं निरूपण करता हूं।

योऽपान प्राणयोरैक्यं स्वरजो रेतसोस्तथा ।

सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्म परमात्मनोः ॥

(योग शि० सू० ६८)

एवंतुद्वन्द्व जालस्य संयोगो योग उच्यते ॥६६॥

योग शिखोपनिषद में लिखा है कि प्राण वायु और अपान वायु के एकता तथा अपना रज और रेत तथा सूर्य नाड़ी और चन्द्र नाड़ी तथा जीवात्मा और परमात्मा इन सबों के संयोग को योग कहते हैं ॥६८॥६६॥ श्रीमद्भगवद्गीता में भी राज योग का लक्षण लिखा है कि ॥ समत्वं योग उच्यते ॥

(भगवद्गी० अ० २ श्लोक० ४८)

समता को योग कहते हैं ॥४८॥ और पातञ्जल योग सूत्र में भी लिखा है कि

योगश्चित्त वृत्ति निरोधः ॥

(योगद० अ० १ पा०१ सू० २)

पांच प्रकार की चित्तवृत्तियों को जो रोकना है तिसका नाम राज योग है ॥२॥ सो तिन पांच वृत्तियों के नाम और लक्षण भी श्री पतंजलि जी ने कहा है

प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रास्मृतयः

(यो० पा० १ सू० ६)

प्रमाण १ विपर्यय २ विकल्प ३ निद्रा ४ स्मृति ५ ये पांच चित्त की वृत्तियां है ॥६॥ तिनमें ॥

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि

(यो० पा० १ सू० ७)

प्रत्यक्ष अनुमान आगम ये तीन प्रमाण हैं ॥७॥

तीन में इन्द्रिय और अर्थ के व्यवधान रहित संयोग से घट पट आदिक अर्थों का जो विशेष रूप कर के ज्ञान होता हैं उसको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। और धूमादिक लिंग से दूरस्थ अग्नि आदिक पदार्थों का जो सामान्य रूप से ज्ञान होता है उसको अनुमान प्रमाण कहते हैं। तथा यथार्थ वक्ता पुरुष का जो वाक्य है उसको आगम प्रमाण कहते हैं। इन तीनों प्रमाणों में और सब अन्तर्भूत हो जाते हैं ॥

विपर्ययोमिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठितम् ।

(यो० पा० १ सू० ८)

अपने स्वरूप से विरुद्ध जो मिथ्या ज्ञान बुद्धि में स्थित हो उसको विपर्यय कहते है। ८॥

शब्द ज्ञानानुपाती वस्तु शून्यो विकल्पः ॥

(यो० पा० १ सू० ६)

शब्द जन्य ज्ञान के अनुसार जो वस्तु है शून्य हो उसको विकल्प कहते हैं ॥६॥ तथा।

अभाव प्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा

(यो० पा० १ सू० १०)

[जाग्रत तथा स्वप्न वृत्तियों के] अभाव के कारण तमोगुण को विषय बनाने वाली वृत्ति निद्रा है।

अनुभूत विषयासंप्रमोषः स्मृतिः

(यो० पा० १ सू० ११)

प्रत्यक्षादिक प्रमाण कर के अनुभव किये हुये पदार्थों का जो अन्य काल में संस्कार द्वारा स्मरण होता है उसको स्मृति कहते हैं ॥११। इन पांच वृत्तियों के रोकने का उपाय भी कहा है।

अभ्यास वैराग्याभ्यांतन्निरोधः ॥

(यो० पा० १ सू० १२)

अभ्यास और वैराग्य से चित्त की वृत्तियाँ रुकती है।१२। और

तत्रस्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥

(यो० पा० १ सू० १३)

चित्त वृत्तियों के निरोध के उपाय जो यम नियमादिक उनमें प्रयत्न करना अभ्यास है ॥१३॥ और

दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम् ॥

(यो० अ० १ पा० १ सू० १५)

जो स्त्री अन्न पान आदि सुख देखे जाते हैं और जो गुरुमुख से सुने जाते हैं इन दोनों विषयों को तृष्णा त्यागकर मन को वश करने को वशीकार संज्ञा वैराग्य कहते हैं ॥१५॥ और

तत्परं पुरुष ख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥

(यो० अ० १ पा० १ सू० १६)

पुरुष ख्याति से और वशीकार संज्ञक वैराग्य से श्रेष्ठ तब जो तीन गुणों के विषयों की तृष्णा से रहित होता है उसको गुण वैतृष्ण्य संज्ञक पर वैराग्य कहते हैं ॥१६॥ अब राज योग के आठों अंगों को दिखाता हूं ।

यमश्च नियमश्चैव तथा चासनमेव च ।
प्राणायामस्तथा पश्चात्प्रत्याहारस्थापरम ॥

(वराहो० अ० ५ श्लो० ११)

धारणाच तथा ध्यानं समाधिश्चाष्टमो भवेत् ॥१२॥

वराहोपनिद् में लिखा है कि यम १ नियम २ आसन ३ प्राणायाम ४ प्रत्याहार ५ और ॥ ११ ॥ धारणा ६ ध्यान ७ समाधि ८ ये आठ राजयोग के अंग हैं ॥ १२ ॥ तद् योग दर्शन में भी लिखा है ।

यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावंगानि ।

(यो० अ० १ पा० २ सू० २९)

यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि ये आठ योग के अंग हैं ॥२९॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ।
क्षमाधृतिर्मिताहारः शौचंचेतियमा दश ॥

(वरा० अ० ५ श्लो० १३)

अहिंसा १ सत्य २ अस्तेय ३ ब्रह्मचर्य ४ दया ५ कोमलता ६ क्षमा ७ धीरता ८ मिताहार ९ शौच १० ये दश यम हैं ॥१३॥ और श्री शाण्डिल्योपनिषद् में तथा जाबाल दर्शनोपनिषद् में दश यम कहा है इससे योग दर्शन में जो पांच ही कहा है वह वेद विरुद्ध होने से त्याज्य है इस बात को भगवान वेद व्यास जी ने भी

॥ एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥

(ब्र० सू० अ० २ पा० १ सू० ३)

इस शारीरिक सूत्र करके कहे हैं और श्री भाष्यकार भी उस सूत्र के भाष्य में यह कहे हैं कि जो वेद से विरुद्ध योग शास्त्र का सिद्धान्त है वह इस सूत्र से खण्डन हो गया यहां पर बहुत से अल्पज्ञ लोग यह कहते हैं कि

॥ एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥

(ब्र० सू० अ० २ पा० १ सू० ३)

इस शारीरिक सूत्र करके श्री वेद व्यास जी ने समस्त योग शास्त्र का खण्डन किया है इससे योगाभ्यास नहीं करना चाहिये परन्तु बुद्धिमानों को विचार करना चाहिये कि यदि श्री वेद व्यास जी का योग शास्त्र के खण्डन में तात्पर्य रहता तो अपने बनाये हुये पुराणों में और महाभारत में बृहद्रूप से योग का वर्णन और योगाभ्यास करने को क्यों लिखते और यह भी बात है कि जब उपनिषदों में योग का वर्णन है तो परम वैदिक भगवान वेद व्यास जी योग को कैसे खण्डन कर सकते हैं । इससे योग शास्त्र में जो वेद से विरुद्ध बातें हैं उसी को वेद व्यास जी खण्डन किये हैं इसी से पूर्वाचार्यों ने योगाभ्यास किया है अतः वैदिक मत वालों को अवश्य योगाभ्यास करना चाहिये । इस विषय में ग्रन्थ के विस्तार के भय से अधिक मैं नहीं लिखता हूं । अब अहिंसा आदिक को निरूपण करता हूं ।

तत्र हिंसा नाम मनो वाक्काय कर्मभिः सर्व भूतेषु सर्वदा क्लेश जननम् ॥

(शाण्डिल्योप० श्रु० १)

सर्वदा मन वाणी शरीर के कर्म से सब जीवों को दुःख देना इसको हिंसा कहते हैं और इससे जो विरुद्ध हो उसको अहिंसा कहते हैं ॥ १ ॥

सत्यं नाम मनो वाक्काय कर्मभिर्भूत हित यथार्थाभि भाषणम ।

(शा० श्रु० १)

मन वाणी शरीर के कर्म से जीवों के हितार्थ जो कहा जाता है उसको सत्य कहते हैं ॥ १ ॥

अस्तेयं नाम मनोवाक्काय कर्मभिः परद्रव्येषु निःस्पृहा ॥

(शा० श्रु० १

मन वाणी और शरीर के कर्मों से पर द्रव्य में स्पृहा न करना इसको अस्तेय कहते हैं ॥ १ ॥

ब्रह्मचर्यं नाम सर्वावस्थासु मनो वाक्काय कर्मभिः सर्वत्र मैथुन त्यागः ॥

(शा० श्रु० १

सब अवस्थाओं में मन वाणी और शरीर के कर्मों से मैथुन त्याग देना इसको ब्रह्मचर्य कहते हैं ॥ १ ॥

दया नाम सर्वभूतेषु सर्वत्रानुग्रहः ।

(शा० श्रु० १)

सर्वत्र सब जीवों पर अनुग्रह करना इसको दया कहते हैं॥१॥

आर्जवं नाम मनो वाक्काय कर्मणांविहिता विहिते-षुजनेषु प्रवृत्तौनिवृत्तौ वा एक रूपत्वम् ॥

(शा० श्रु० १)

वेद विहित या अविहित कायिक वाचिक और मानसिक कर्मों में प्रवृत्त हों या निवृत्त हों उन जनों में जो एक रूपता उसको आर्जव कहते हैं ॥ १ ॥

क्षमा नाम प्रियाप्रियेषु सर्वेषु ताडनपूजनेषु सहनम् ॥

(शा० श्रु० १)

प्रिय या अप्रिय करे ताड़े या पूजे इन सबों को सह लेना इसको क्षमा कहते हैं ॥ १ ॥

धृतिर्नामार्थ हानौ स्वेष्ट बन्धु वियोगे तत्प्राप्तौ सर्वत्र चेतः स्थापनम् ॥

(शा० श्रु० १)

अर्थ के लाभ और हानि में तथा अपने इष्ट बन्धु के वियोग और प्राप्ति में सर्वदा चित्त को दृढ़स्थापन करना इसको धृति कहते हैं ॥ १ ॥

मिताहारो नाम चतुर्थांशावशेष सुस्निग्ध मधुराहारः ॥

(शा० श्रु० १)

पेट के चौथा भाग बचा के सुन्दर स्निग्ध और मीठा भोजन करना इसको मिताहार कहते हैं ॥ १ ॥

शौचं नाम द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरं चेति । तत्र मृज्जलाभ्यां बाह्यं ॥ मनः शुद्धिरान्तरम् । तदध्यात्मविद्यया लभ्यम् ॥

(शा० श्रु० १)

शौच बाह्य और आभ्यन्तर इस भेद से दो प्रकार के होते हैं उसमें मिट्टी और जल से बाह्य शौच होता है। और मन की शुद्धि से आभ्यन्तर शौच होता है। वह आभ्यन्तर शौच ब्रह्म विद्या से प्राप्त होता है ॥ १ ॥ अब यम साधन से जो फल होता उसको कहता हूं।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥

(यो० अ० १ पा० २ सू० ३५)

जो योगी हिंसा को त्याग देता है उसके समीप में अन्य सब जीवों का वैर भाव छूट जाता है ॥ ३५ ॥

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।

(यो० अ० १ पा० २ सू० ३६)

जो योगी सर्वदा सच्चा बोलता है उसकी वाणी क्रिया और मनोरथ सब सच्चे होते हैं ॥ ३६ ॥

अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥

(यो० अ० १ पा० २ सू० ३७)

जब साधक पुरुष चोरी को त्याग देता है तब उसको सब स्थान में रत्न प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥

(यो० अ० १ पा० सू० ३८)

जो योगी ब्रह्मचर्य पालन करता है उसको बल प्राप्त होता है ॥३८॥ जो योगी जीवों पर सर्वदा दया रखता है उसको संसार में निर्दयी कोई भी नहीं मिलता है। जो योगी कोमल स्वभाव वाला हो जाता है उसके समीप में अन्य सब जीव भी कोमल ही रहते हैं। जो योगी क्षमा रखता है उसके पास में क्रोधी भी नर शान्त हो

प्रकार से उद्विग्न नहीं होता है। जो सर्वदा मिताहार करता है उसको कभी भी रोग अत्यन्त पीड़ित नहीं करता है। अब शौच का फल कहता हूं।

शौचात्स्वांगजुगुप्सापरैरसंसर्गः ॥

(यो० अ० १ पा० २ सू० ४०)

बाह्य शौच से अपने अंगों में घृणा और दूसरे से अपना शरीर मिलाने में संकोच करके सदा अलग रहता है ॥ ४० ॥

सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रिय जयात्म दर्शन-योग्यत्वानि च ॥

(यो० अ० १ पा० २ सू० ४१)

और आभ्यन्तर शौच से अन्तःकरण शुद्ध होता है तथा मन की प्रसन्नता होती है और चित्त का ऐकाग्र्य होता है तथा इन्द्रियों को जीतता है इसके बाद आत्म दर्शन के योग्य होता है ॥४१॥

तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।

सिद्धान्त श्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्चजपो व्रतम् ।

एतेहि नियमाःप्रोक्ता दशधैव महामते ।

वराहोपनिषद् में लिखा है कि, तप १ सन्तोष २ आस्तिकता ३ दान ४ ईश्वर की पूजा ५ सिद्धान्त श्रवण ६ लज्जा ७ मति ८ जप ९ और व्रत १० हैं महामते ये दस प्रकार के नियम हैं ॥१४॥ इससे विरुद्ध योग दर्शन में जो पांच ही नियम लिखा है वह वैदिक मतवालों को नहीं मानना चाहिये ।

अब तप आदिक को निरूपण करता हूं ।

तत्र तपोनामविध्युक्तकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः शरीर शोषणम् ॥

(शा० श्रु० २)

वेद विहित कृच्छ्र चान्द्रायण आदि से देह को सुखा देना इसको तपस्या कहते हैं ॥२॥

संतोषोनामयदृच्छालाभ संतुष्टिः ॥

(शा० श्रु० २)

जो प्रारब्धानुसार अनिच्छित लाभ हो उससे सन्तुष्ट रहे उसको सन्तोष कहते हैं ॥२॥

आस्तिक्यं नाम वेदोक्तधर्माधर्मेषुविश्वासः ॥

(शा० श्रु० २)

वेदोक्त धर्म और अधर्म में विश्वास करना इसको आस्तिक्य कहते हैं ॥२॥

दानं नामन्यायार्जितस्य धनधान्यादेःश्रद्धयार्थिभ्यः प्रदानम् ॥

(शा० श्रु० २)

न्याय से उपार्जित धन अन्न आदिक जो श्रद्धा से दुखियों को दिया जाता है उसको दान कहते हैं ॥२॥

ईश्वर पूजनं नाम प्रसन्नस्वभावेन यथा शक्ति विष्णुरुद्रादि पूजनम् ॥

(शा० श्रु० २)

प्रसन्न स्वभाव से यथा शक्ति विष्णु आदि देवों की मूर्तियों के पूजन को ईश्वर पूजन कहते हैं ॥२॥ यहां पर आधुनिक अल्पज्ञ लोग यह कहते हैं कि मूर्ति पूजा वेद में नहीं लिखी हुई है परन्तु जो लोग वेदाध्ययन किये होंगे उनको मालूम हो गया होगा कि वेद में मूर्ति पूजा के विषय में बहुत से प्रमाण हैं परन्तु ग्रन्थ के विस्तार के भय से मैं नहीं लिखता हूं यदि किसी प्रिय सज्जन को सन्देह हो तो मेरा बनाया हुआ वैदिक मूर्ति पूजादर्श ॥ नाम के पुस्तक को देखें ।

सिद्धान्तश्रवणंनामवेदान्तार्थ विचारः ॥

(शा० श्रु० २)

वेदान्त के अर्थ का विचार करना इसको सिद्धान्त श्रवण कहते हैं ॥२॥

ह्रीर्नामवेदलौकिक मार्ग कुत्सितकर्मणि लज्जा ॥

(शा० श्रु० २)

वैदिक और लौकिक मार्ग से निन्दित जो कर्म उसमें लज्जा करना इसको ह्री कहते हैं ।

मतिर्नामवेदविहित कर्ममार्गेषु श्रद्धा ॥

(शा० अ० १ श्रु० २)

वैदिक मार्गों में श्रद्धा करना इसको मति कहते हैं ॥२॥

जपोनामविधिवद्गुरूपदिष्ट वेदाविरुद्ध मंत्राभ्यासः ? तद्द्विविधंवाचिकंमानसं चेति । मानसंतु मनसाध्यान-युक्तम् । वाचिकंद्विविधमुच्चैरुपांशुभेदेन । उच्चैरुच्चारणं यथोक्तफलम् । उपांशु सहस्रगुणम् । मानसं कोटिगुणम् ॥

(शा० अ० १ श्रु० २)

विधियुक्त गुरु के उपदेश किया हुआ वैदिक मंत्र का अभ्यास करना इसको जप कहते हैं, सो यह जप वाचिक मानस भेद से दो प्रकार के हैं । ध्यान करते हुये जो मन से जपा जाता है उसको

मानस जप कहते हैं । उच्चैः और उपांशु भेद से दो प्रकार के वाचिक जप होता है । उच्च स्वर से जो उच्चारण किया जाता है उसको उच्चैः जप कहते हैं यह यथोक्त फल देता है । ओठ चले और दूसरे को न सुनाई दे उसको उपांशु जप कहते हैं यह हजार गुना फल देता है । और मन में जो जपा जाता है उसको मानस जप कहते है यह करोड़ गुना फल देता है ॥२॥

व्रत नाम वेदोक्त विधि निषेधानुष्ठाननैयत्यम् ॥

(शा० अ० १ श्रु २)

सर्वदा वेदोक्त विधि और निषेध का अनुष्ठान करना इसको व्रत कहते हैं ॥२॥ अब तप आदिक का फल कहता हूं ।

कायेन्द्रिय सिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ।

(यो० अ० १ पा० २ सू० ४३)

तप से अशुद्धि का नाश होने से शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होती है ॥४३॥

सन्तोषादनुत्तम सुखलाभः ॥

(यो० अ० १ पा० २ सू० ४२)

सन्तोष से जिससे उत्तम अन्य सुख नहीं है ऐसा सुख प्राप्त होता है ॥४२॥ आस्तिकता से उसको कहीं भी नास्तिक नहीं मिलता है ।

दान देने से उसको सर्वदा दानी मिलते हैं।

समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात् ॥

(यो० अ० १ पा० २ सू० ४५)

ईश्वर के पूजन करने से समाधि सिद्धि होती है ॥४५॥ और सिद्धान्त श्रवण करने से सन्देह दूर होता है। जिस योगी की लज्जा सिद्ध हो जाती है उसको निर्लज्ज नहीं मिलता है। जिसकी मति सिद्ध हो जाती है उसके लिये कोई भी कार्य असाध्य नहीं मालूम होता है। और जप से—

स्वाध्यायादिष्ट देवता संप्रयोगः ॥

(यो० अ० १ पा० २ सू० ४४)

स्वाध्याय अर्थात् इष्ट मन्त्र के जप से इष्ट देवता के साथ और दर्शन होता है। तथा जिस योगी का व्रत सिद्ध हो जाता है– उसका शरीर समाधि के योग्य हो जाता है। अब आसन को कहता हूं।

तत्रस्थिर सुखमासनम् ॥

(यो० अ० १ पा० २ सू० ४६)

जिसमें सुख पूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हो वही आसन है ॥४६॥

प्रयत्न शैथिल्यानन्त समापत्तिभ्याम् ॥

(यो० अ० १ पा० १ सू० ४७)

प्रयत्न की शिथिलता और अनन्त भगवान् में एकाग्र चित्त करने से आसन जित् होता है ॥४७॥

ततोद्वन्द्वाभिघातः ॥

(यो० अ० १ पा० २ सू० ४८)

आसन जित् होने से शीत उष्ण आदि द्वन्द्वों से शरीर में बाधा नहीं होती है ॥४८॥ इस प्रकार से यम नियम आसन को वर्णन करके अब प्राणायाम को कहता हूं कि शुद्ध देश में पहले वस्त्र मृग चर्म और कुशा एक के ऊपर एक बिछा कर उत्तराभिमुख बैठ कर के आचमन और अंगन्यास करे इसके बाद गुरु के उपदेश की रीति से परमात्मा को स्मरण करता हुआ प्राणायाम करे।

प्राणश्च देहगो वायुरायामः कुम्भकःस्मृतः ॥

(योग कुण्ड० अ० १ श्लो० १६)

बाहर और भीतर जो वायु आता जाता है उसके रोकने को प्राणायाम कहते हैं ॥१६॥ पातञ्जल योग दर्शन में भी लिखा है।

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥

(यो० अ० १ पा० २ सू० ४९)

आसन में स्थित होकर बाहर भीतर आने जाने वाले दोनों वायु के रोकने को प्राणायाम कहते हैं ॥४९॥

स एवद्विविधः प्रोक्तःसहितः केवलस्तथा।

यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत् ॥

(योग कु० अ० १ श्लो० २०)

प्राण वायु के रोकना रूप जो कुम्भक है वह दो प्रकार का है एक सहित कुम्भक दूसरा केवल कुम्भक और जब तक केवल कुम्भक सिद्ध न हो तब तक सहित कुम्भक का अभ्यास करे ॥२०॥ केवल कुम्भक सिद्ध होने पर तीनों लोक में योगी के लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता है। अस्तु पहले सहित कुम्भक को दिखाता हूं।

सूर्योज्जायी शीतलीभस्त्रीचैव चतुर्थिका।

भेदैरेव समं कुम्भो यः स्यात्सहित कुम्भकः ॥

(योग कु० अ० १ श्लो० २१)

सूर्य भेदन १ उज्जायी २ शीतली ३ और चौथी भस्त्रिका ४ इन सबों से युक्त जो कुम्भक हो उसको सहित कुम्भक कहते हैं ॥ २१ ॥ अब इन सबों के लक्षण और अनुष्ठान को मैं दिखाता हूं।

पवित्रेनिर्जने देशे शर्करादि विवर्जिते।

धनुःप्रमाण पर्यन्ते शीताग्नि जलवर्जिते ॥

(योग कु० अ० १ श्लो० २२)

पवित्रेनात्युच्चनीचे ह्यासने सुखदे सुखे।

बद्धपद्मासनं कृत्वा सरस्वत्यास्तु चालनम् ॥ २३ ॥

धनुष भर के अन्दर शीत उष्ण और जल न हो तथा कंकण पत्थर न हो ऐसे निर्जन देश में ॥२२॥ अत्यन्त उच्च या नीच न हो ऐसा पवित्र सुख देने वाला कोमल आसन पर बैठ कर पद्मासन करके सरस्वती का चालन करे ॥२३॥

दक्षनाड्यासमाकृष्य बहिष्ठं पवनं शनैः।

यथेष्टं पूरयेद्वायुं रेचयेदिडया ततः ॥

(योग कु० अ० १ श्लो० २४)

पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदमुदाहृतम् ॥

दहिना नाक से बाहर के वायु को धीरे-२ खींच करके पूरक करे इसके बाद यथा शक्ति कुम्भक कर के बाम नाक से रेचक करे अर्थात् धीरे-२ वायु को छोड़ दे। इसको सूर्य भेदन कुम्भक कहते हैं इसको बारम्बार करना चाहिये ॥२४॥

चतुष्कं वातदोषंतु कृमि दोषं निहन्ति च ॥ २५ ॥

यह सूर्य भेदन कुम्भक चार प्रकार के बात दोष का और पेट में पैदा हुआ जो कृमि दोष है उसका नाश करता है ॥२५॥

मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ॥ २६ ॥
यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ।
पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ॥ २७ ॥
गच्छतस्तिष्ठतः कार्यमुज्जायाख्यंतु कुम्भकम् ॥ २८ ॥

मुख को बन्द करके दोनों नाकों से धीरे-धीरे वायु को खींचे ॥२६॥ जिसमें शब्द करता हुआ वह वायु कण्ठ से हृदय पर्यन्त स्पर्श करे और पूर्ववत् दाहिना नाक से खींच कर वायु को यथा शक्ति कुम्भक करके बाम नाक से रेचक करे ॥२७॥ इसका नाम उज्जायी कुम्भक है। इसको चलते बैठते सब काल में करना चाहिये ॥२८॥

शीर्षोदिता नल हरं गलश्लेष्महरं परम ।
सर्वा रोगहरं पुण्यं देहानल विवर्धनम् ।
नाडी जलोदरं धातु गत दोष विनाशनम् ॥२८॥

यह उज्जायी कुम्भक शिर की गर्मी को हटाता है तथा गला के कफ रोग को दूर करता है और सम्पूर्ण रोगों को दूर करके जठराग्नि बढ़ाता है तथा नाड़ी गत जलोदर रोग को और समस्त धातुओं के दोषों को दूर करता है ॥२८॥

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भकादनु ।

शनैस्तु घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेदनिलं सुधीः ॥ ३० ॥

पक्षी की चंचु के समान जीभ को मुख से कुछ बाहर निकाल कर के जीभ से वायु को भीतर खींचे इसके बाद पूर्ववत्कुम्भक कर के धीरे धीरे सुधी नाक के छेदों से रेचक करे तो इसको शीतली कुम्भक कहते हैं ॥३०॥

गुल्मप्लीहादिकान्दोषान् क्षयं पित्तं ज्वरतृषाम् ।
विषाणि शीतलीनाम कुम्भकोऽयं निहन्ति च ॥ ३१ ॥

यह शीतली कुम्भक गुल्म प्लीहा आदि रोग ज्वर पित्त क्षय क्षुधा तृषा और सर्प आदि का विष इन सबों को नष्ट करता है ॥३१॥

ततः पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरः सुधीः ।
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥ ३२ ॥
यथालगति कण्ठात्तु कपाले सस्वनं ततः ।
वेगेन पूरयेत् किंचिद्धृत्पद्मावधिमारुतम् ॥ ३३ ॥
पुनर्विरेचयेत्तद्वत् पूरयेच्च पुनः पुनः ।
यथैव लोहकाराणां भस्त्रावेगेन चाल्यते ॥ ३४ ॥
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं शनैः ।
यथा श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण पूरयेत् ॥ ३५ ॥

यथोदरं भवेत्पूर्णं पवनेन तथा लघु ।
धारयन्नासिकामध्यं तर्जनीभ्यां बिना दृढम् ॥ ३६ ॥
कुम्भकं पूर्ववत्कृत्वा रेचयेदिडयानिलम् ॥ ३७ ॥

भली प्रकार पद्मासन को बांध कर गर्दन और पेट को बराबर करके बुद्धिमान मुख को रोक कर धीरे-धीरे नाक से वायु को छोड़े ॥३२॥ जिसमें शब्द सहित वायु कण्ठ से मस्तक को स्पर्श करे। फिर वेग से हृदय के कमल पर्यन्त वायु को पूर्ण करे ॥३३॥ फिर उसी प्रकार जैसे लोहार की भाथी वेग से चलती है वैसे बारम्बार रेचक और पूरक करे ॥३४॥ इस प्रकार अपने शरीर में स्थित पवन को जब तक देह में श्रम हो तब तक बुद्धिमानी से चलावे पश्चात् सूर्य नाड़ी से पूरक करे ॥३५॥ जिसमें वायु से शीघ्र ही पेट भर जाय। पेट भर जाने पर तर्जनी और मध्यमा अंगुली को बराके अंगूठा अनामिका और कनिष्ठिका इन अंगुलियों से नाकों के छिद्रों को बन्द कर के कुम्भक करे पश्चात् बाम नासिका से रेचक करे इसका नाम भस्त्रिका कुम्भक है ॥३७॥

कुण्डली बोधकं पुण्यं पापघ्नं शुभदं सुखम ।
ब्रह्मनाडीमुखान्तस्थ कफाद्यर्गलनाशनम् ॥३८॥
गुणत्रय समुद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम ।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ॥३९॥

कुण्डलीनी का ज्ञान और पवित्र सुख तथा पाप का नाश

ब्रह्म नाड़ी के मुख में स्थित कफ आदि का भी भस्त्रा के करने से नाश होता है ॥३८॥ और तीनों गुणों से उत्पन्न तीनों ग्रन्थियों का नाश होता है इससे भस्त्रा नाम के कुम्भक को अवश्य करना चाहिये ॥३९॥ अब सीत्कारी १ भ्रामरी २ मूर्च्छा ३ और प्लावनी ४ इन चारों कुम्भकों को दिखाता हूं।

सीत्कांकुर्यात्तथावक्त्रे घ्राणेनैव विजृम्भिकाम् ।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥ १ ॥

सीत्कार पूर्वक मुख से वायु को खींच करके पूरक करे फिर यथा शक्ति कुम्भक करके नांक से रेचक करे इसको सीत्कारी कुम्भक कहते हैं। इसके अभ्यास करने से योगी द्वितीय कामदेव हो जाता है ॥ १ ॥

वेगाद्घोषं पूरकं भृङ्गनादंभृङ्गीनादं रेचकं मन्द मन्दम् ।
योगीन्द्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानन्द-
लीला ॥ १ ॥

जैसे भँवरा का शब्द होता है वैसे ही वेग से शब्द करता हुआ पूरक करे पश्चात् यथा शक्ति कुम्भक कर करे जैसे भ्रमरीका शब्द होता है वैसे ही शब्द करता हुआ धीरे-धीरे रेचक करे तो इसको भ्रामरी कुम्भक कहते हैं। इसके अभ्यास करने से योगीन्द्रों के चित्त में कोई अद्भुत आनन्द की लीला होती है ॥ १ ॥

पूरकान्ते गाढतरं बद्ध्वा जालन्धरं शनैः।

रेचयेन्मूर्छनाख्येयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा ॥ १ ॥

पूरक प्राणायाम के अन्त में गाढ़ रीति से जालन्धर बन्ध को बांधकर यथा शक्ति कुम्भक कर के धीरे-धीरे रेचक करे तो इस को मूर्च्छा कुम्भक कहते हैं। यह मुर्च्छा मन की मूर्च्छा को करती है और उत्तम सुख को देती है ॥ १ ॥

अन्तः प्रवर्तितोदार मारुता पूरितोदरः।

पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत् ॥ १ ॥

बाहर के वायु को जब तक भली प्रकार से पेट भर न जाय तब तक भीतर खींचे, इसको प्लावनी कुम्भक कहते हैं इसके अभ्यास करने से योगी जन अगाध जल में कमल पत्र के समान ऊपर ऊपर तैरता है ॥१॥ अब रेचक पूरक कुम्भक को दिखाता हूं।

बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरकोहि सः।

सम्पूर्ण कुम्भवद्वायोर्धारणं कुम्भको भवेत्।

बहिर्विरेचनं वायो रुदराद्रेचकःस्मृतः ॥

(जाबा० खं० ६ श्रु० १३)

बाहर के वायु को खींच कर पेट को और समस्त शरीर को

पूर्ण भर देना इसको पूरक कहते हैं। घट के समान समस्त वायु को जहां के तहां रोक देना इसको कुम्भक कहते हैं और शरीर के भीतर के वायु को निकाल देना इसको रेचक कहते हैं ॥१३॥

जानुप्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम्।

अंगुलिस्फोटनं कुर्यात्सामात्रा परिगीयते ॥

(योग त० श्रु० ४०)

न तो शीघ्रता से और न तो विलम्ब से जंघा के चारों तरफ प्रदक्षिणा कर के हाथ से एक चुटकी बजावे तो इसे मात्रा कहते हैं ॥ ४१ ॥

इडयावायुमारोप्य शनैः षोडश मात्रया ॥

कुम्भयेत्पूरितं पश्चाच्चतुः षष्ठ्यातु मात्रया ॥४१॥

रेचयेत्पिंगला नाड्या द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः ॥४२॥

वाम नासिका से सोलह मात्रा काल पर्यन्त पूरक प्राणायाम करे इसके बाद चौसठि मात्रा काल पर्यन्त कुम्भक प्राणायाम करे ॥४१॥ और दाहिना नांक से बत्तीस मात्रा काल पर्यन्त रेचक प्राणायाम करे ॥४२॥

प्रातर्मध्यं दिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान्।

शनै रशीति पर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥४३॥

सूर्योदय से पहले प्रातः काल में १ और मध्याह्न काल में २ तथा सायं काल में ३ और अर्द्ध रात्रि में ४ इन चारों समय में अस्सी अस्सी कुम्भक करे ॥४३॥ यथेष्ट वायु के धारण करने से केवल कुम्भक सिद्ध होता है और इसके सिद्ध होने पर योगी को कुछ दुर्लभ नहीं रहता है।

प्रस्वेदो जायते पूर्वं मर्दनं तेन कारयेत् ॥

(योगत० श्रु० १५)

ततोऽपि धारणाद्वायोः क्रमेणैव शनैः शनैः।

कम्पोभवति देहस्य आसनस्थस्य देहिनः ॥५२॥

ततोऽधिकतराभ्यासाद्दार्दुरीस्वेन जायते।

यथा च दर्दुरोभाव उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छति ॥५३॥

पद्मासनस्थितो योगी तथा गच्छति भूतले।

ततोधिकतराभ्यासाद्भूमित्यागश्च जायते ॥५४॥

पहले २ कुम्भक प्राणायाम करने से शरीर में पसीना आता है उसको देह ही में मिला देना चाहिये ॥५१॥ इससे अधिक अभ्यास करने से साधक का शरीर कांपता है ॥५२॥ इससे भी अधिक अभ्यास करने से बेंग के समान पृथ्वी पर कूद २ कर चलता

है ॥५३॥ इससे भी अधिक अभ्यास करने से आकाश में चलता है ॥५४॥

आसनेन रुजं हन्ति प्राणायामेन पातकम्।

विकारमानसं योगी प्रत्याहारेणमुञ्चति।

(योगचू० श्रु० १०९)

धारणाभिर्मनो धैर्यं याति चैतन्यमद्भुतम्।

समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम् ११०।

आसन से शरीर के सब रोग नष्ट होता है और प्राणायाम करने से समस्त पाप और प्रत्याहार से मानसिक सब विकार नष्ट होते हैं ॥१०९॥ धारणा से मन में धैर्य ध्यान से अद्भुत चैतन्य ज्ञान और समाधि से शुभाशुभ कर्म से रहित मोक्ष प्राप्त होता है ॥११०॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।

(यो० अ० १ पा० २ सू० ५२)

प्राणायाम के अभ्यास से प्रकाश का आवरण जो माया है सो नष्ट हो जाती है ॥५२॥

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः।

प्रत्याहारद्विषट्केन जायते धारणाशुभा ।

(यो० चू० श्रु० १११)

धारणा द्वादश प्रोक्तं ध्यानं योग विशारदैः ॥
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ।११२॥

बारह प्राणायाम के एक प्रत्याहार कहा जाता है और बारह प्रत्याहार के एक धारणा होती है ॥१११॥ और बारह धारणा के एक ध्यान योगेश्वरों ने कहा है तथा १२ ध्यान की एक समाधि होती है ॥११२॥

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।
प्राणायामवियुक्तेभ्यः सर्वरोगसमुद्भवः ॥

(यो० चू० श्रु० ११६)

हिक्काकासस्तथा श्वासः शिरः कर्णाक्षिवेदना ।
भवन्ति विविधारोगाः पवनव्यत्ययक्रमात् ॥११७॥
यथा सिंहोगजोव्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः ।
तथैव सेवितो वायुरन्य था हन्ति साधकम् ॥११८॥
युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं प्रपूरयेत् ।
युक्तं युक्तं प्रबध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥११९॥

योगचूड़ामण्युपनिषद् में लिखा है कि निरन्तर प्राणायाम के करने से सब रोग नष्ट हो जाता है और विधि हीन विच्छिन्न प्राणायाम से सब रोग उत्पन्न होते हैं ॥११६॥ वेद विरुद्ध प्राणायाम से वायु विरुद्ध होकर हिक्की कास श्वास और शिर कर्ण नेत्र आदि अंगों में व्यथा होती है ॥११७॥ जैसे सिंह गज व्याघ्र ये सब धीरे-धीरे वश में होते हैं वैसे ही धीरे-धीरे प्राण वायु को रोके अन्यथा साधक को नष्ट कर देता है ॥११८॥ धीरे-धीरे पूरक कुम्भक और रेचक करे तो सिद्धि को पाता है ॥११९॥ अब मैं प्रत्याहार निरूपण करता हूं।

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथा क्रमम् ।
यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥

(योगचू० श्रु० १२०)

स्वभाव से ही यथा क्रम जो नेत्र आदिक इन्द्रियां रूप आदिक विषयों में विचरती हैं उन सबों को जो विषयों से निवारण किया जाता है उसको प्रत्याहार कहते हैं ॥१२०॥
प्रत्याहार का लक्षण श्री पतंजलिजी ने भी कहा है।

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्यस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणाम् प्रत्याहारः ।

(यो० अ० १ पा० २ सू० ५४)

अपने अपने विषयों के सम्बन्ध के अभाव से श्रोत्रादिक इन्द्रियों की जो चित्त के स्वरूप के अनुसार स्थित होता है उसका नाम प्रत्याहार है ॥५४॥

स पञ्चविधः । विषयेषु विचरतामिन्द्रियाणां बलादाहरणं प्रत्याहारः । यद्यत्पश्यति तत्तत्सर्वमात्मेति प्रत्याहारः । नित्यविहितकर्म फलत्यागः प्रत्याहारः । सर्वविषयपरांमुखत्वं प्रत्याहारः । अष्टादश सु मर्मस्थानेषु क्रमाद्धारणम् प्रत्याहारः । पादांगुष्ठगुल्म जंघा जानू रूपायु मेढ् नाभि हृदय कण्ठकूप तालु नासाक्षि भ्रूमध्य ललाट मूर्ध्नां स्थानानि । तेषु क्रमादारोहावरोहक्रमेण प्रत्याहरेत् ।

(शा० अ० १ श्रु० ८)

वह प्रत्याहार पांच प्रकार के हैं। विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों को विवेकरूप बल से रोक देना इसको प्रत्याहार कहते हैं ॥१॥ जो २ देखता है वह सब आत्म स्वरूप है ऐसा जो ज्ञान उसको प्रत्याहार कहते हैं ॥२॥ वेदविहित नित्यकर्मों के फल त्याग को प्रत्याहार कहते हैं ॥३॥ सब विषयों से पराङ्मुख रहना इसको प्रत्याहार कहते हैं ॥४॥ और अठारह मर्मस्थानों में वायु को धारण करना इसको प्रत्याहार कहते हैं ॥५॥

पैर १ अंगूठा २ गुल्फ ३ जंघा ४ जानु ५ उरु ६ गुदामार्ग ७ लिंग ८ नाभि ९ हृदय १० कण्ठ ११ कण्ठकूप १२ तालु १३ नासिका १४ नेत्र १५ भ्रूमध्य १६ ललाट १७ शिर १८ इन अठारह स्थानों में क्रम से धारणा करे तो प्रत्याहार सिद्ध होता है ॥८॥ प्रत्याहार का फल भी लिखा है।

ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ।

(यो० अ० १ पा० २ सू० ५५)

प्रत्याहार के अभ्यास से इन्द्रियां अत्यन्त वश में हो जाती हैं ॥५॥ अब धारणा को संक्षेप में दिखाता हूं।

अथातः संप्रवक्ष्यामि धारणा पञ्च सुव्रत ।
देहमध्यगते व्योम्नि बाह्याकाशंतु धारयेत् ॥

॥ जा द० ८ श्रु० १ ॥

प्राणे बाह्यानलं तद्वत् ज्वलने चाग्निमौदरे ।
तोयं तोयांशके भूमिं भूमिभागे महामुने ॥२॥
धारणैषा परा प्रोक्ता सर्वपापविशोधिनी ॥३॥

हे सुव्रत ! प्राणायाम कहने के बाद अब पांच धारणा को कहता हूं । देह के बीच में जो दहराकाश है उसमें बाह्य आकाश को धारणा करे ॥१॥ और हे महामुने प्राणवायु में वाह्य वायु को तथा पेट में रहने वाला जठराग्नि में वाह्य अग्नि को तथा ॥१॥ जल के अंश में जल को और पृथ्वी के भाग में पृथ्वी को धारणा करे ॥२॥ इसको धारणा कहते हैं यह समस्त पापों को दूर करने वाली है ॥३॥

जान्वन्तं पृथिवी ह्यंशो ह्यपांपाय्वन्तमुच्यते ।
हृदयान्तस्तथाग्न्यंशो भ्रूमध्यान्तोऽनलांशकः ॥४॥
आकाशांशस्तथा प्राज्ञ मूर्धान्तः परिकीर्तितः ॥५॥

सब शरीर में पैर से जंघा पर्यन्त पृथिवी का भाग है और जंघा से गुदा पर्यन्त जल का भाग है तथा गुदा से हृदय पर्यन्त अग्नि का भाग है हृदय से भ्रूमध्य पर्यन्त वायु का भाग है ॥४॥ और भ्रूमध्य से शिर पर्यन्त आकाश का भाग है ॥५॥ इन सब भागों में परमेश्वर को धारणा करे और श्री पतञ्जलिजी भी इसका लक्षण किये हैं ।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥

(यो० पा० ३ सू० १)

चित्त को किसी देश में बांधना इसको धारणा कहते हैं ॥१॥

एवं च धारणा पंच कुर्याद्योगी विचक्षणः ।
ततो दृढ शरीरःस्यान्मृत्युस्तस्य न विद्यते ॥

(योगत० श्रु० १०२)

जो ज्ञानी योगी इस प्रकार से पांच धारणा को करता है उसका शरीर दृढ़ मजबूत होता है और मरण उसका नहीं होता है ॥१०२॥ अब ध्यान को संक्षेप से दिखाता हूं ।

तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानम् ॥

(यो० अ० १ पा० ३ सू० २)

उस धारणा में बुद्धि और चित्त को एकाग्र हो जाना इसको ध्यान कहते हैं ॥२॥ अथवा वैदिक योग की रीति से चित्त में आत्म तत्व का स्मरण करना इसको ध्यान कहते हैं ।

समभ्यसेत्तथा ध्यानं घटिका षष्ठिमेव च ।
वायुं निरुध्य चाकाशे देवतामिष्टदामिति ॥

(योगत० श्रु० १०४)

शिर में वायु को कुम्भक करके जालन्धर बन्ध बांधे इसके

बाद इष्ट मनोरथ को देनेवाले लक्ष्मीनारायण को साठ घटी ध्यान करे ॥१०४॥

श्रीवत्सकौस्तुभोरस्कं मुक्तामणि विभूषितम् ॥
शुद्धस्फटिक संकाशं चन्द्रकोटिसमप्रभम् ॥
एवं ध्यायेन्महाविष्णुं सर्वदा विनयान्वितः ॥

(ध्यान विन्दूपनिषद् श्रु० २६)

श्रीवत्स तथा कौस्तुभ और मुक्ता मणि से वक्षस्थल सुशोभित तथा शुद्ध स्फटिक के सदृश और करोड़ चन्द्रमा की प्रभा के तुल्य जो श्री महाविष्णु भगवान् हैं उनको विनययुक्त सर्वदा ध्यान करे ॥२६॥ ध्यान करने का फल भी ध्यान विन्दु उपनिषद् में लिखा है ।

आत्मानमरणिंकृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत् ॥

(ध्या० श्रु० २२)

आत्मा को अरणि करके और प्रणव को उत्तरारणि करके ध्यान रूप मथन के अभ्यास से परमात्मा देव को देखे ॥२२॥

यदि शैल समं पापं विस्तीर्णं बहु योजनम् ।

भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन ॥

(ध्या० श्रु० १)

यदि पर्वत के समान ऊंचा और बहुत योजन पर्यन्त विस्तृत भी पाप हो तो ध्यान करने से नष्ट हो जाता है और कोई भी उपाय नहीं है ॥१॥

दिन द्वादशकेनैव समाधिं समवाप्नुयात् ॥

(योगत० श्रु० १०६)

बारह दिन ध्यानके अभ्यास से समाधि प्राप्त होती है॥१०६॥ अब सब अंगों का फल रूप जो समाधि है उसको वर्णन करता हूं ।

समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः ।
यदि स्वदेहमुत्स्रष्टुमिच्छाचेदुत्सृजेत्स्वयम ॥१०७॥

जीवात्मा और परमात्मा की समतावस्था को समाधि कहते हैं यदि समाधि लेनेवाला पुरुष अपना देह छोड़ना चाहे तो स्वयं छोड़ सकता है ॥१०७॥

अथनोचेत्समुत्स्रष्टुं स्वशरीरं प्रियं यदि ॥१०८॥
सर्वलोकेषु विहरन्नणिमादिगुणान्वितः ।

कदाचित्स्वेच्छया देवो भूत्वा स्वर्गे महीयते ॥१०९॥
मनुष्योवापि यक्षो वास्वेच्छयापीक्षणाद्भवेत् ।
सिंहोव्याघ्रो गजोवाश्वः स्वेच्छया बहुतामियात्॥११०॥
यथेष्टमेव वर्तेत यद्वा योगी महेश्वरः ।
अभ्यासभेदतो भेदः फलन्तु सममेव हि ॥१११॥

(योगत०)

यदि प्रिय अपना शरीर छोड़ने की इच्छा न हो तो ॥१०८॥ अणिमादि गुणों से युक्त समस्त लोकों में विहार करता हुआ कभी अपनी इच्छा से देवता होकर स्वर्गलोक में पूजा जाता है ॥१०९॥ और योगी के देखने से मनुष्य और यक्ष उत्पन्न होते हैं और हाथी घोड़ा सिंह व्याघ्र आदि अपनी इच्छा से बहुत सा हो जाता है ॥ ११० ॥ अथवा योगी जो चाहता है वह हो जाता है । अभ्यास के भेद से योग भिन्न-२ मालूम होता है फल तो सब योगों का मोक्ष है ॥१११॥ यहां पर बहुत से लोग यह कहते हैं कि निष्काम कर्म करने से और ज्ञान से तथा अनन्यभक्ति आदि से मोक्ष होता है योग से नहीं होता है । परन्तु बुद्धिमानों को पक्षपात रहित "योगतत्त्वोपनिषद्, तेजोबिन्दूपनिषद्, हंसोपनिषद्, योगचूडामण्युपनिषद्, शाण्डिल्योपनिषद्, योगशिखोपनिषद्, योगकुण्डल्युपनिषद् और जाबालदर्शनोपनिषद्" को देखना चाहिये जिसमें स्पष्ट योग से मोक्ष कहा है । और भी अन्य उपनिषदों में कहीं पर स्पष्ट रूप

से और कहीं पर गुप्त रूप से योग से मोक्ष कहा है । इससे मुमुक्षु जनों को अवश्य योगाभ्यास करना चाहिये । जो लोग निष्काम कर्म आदिक से मोक्ष मानते हैं वह सत्य है, परन्तु प्रिय सज्जनों को विचार करना चाहिये कि खड्ग आदि शस्त्रों से शत्रु का पराजय होता है यह सब लोग कहते हैं तो क्या बिना युद्ध और बल के खड्ग आदिक से शत्रु का पराजय हो सकता है । कभी भी नहीं, वैसे ही बिना योग के केवल निष्काम कर्म आदिक से कभी भी मोक्ष नहीं हो सकता है इसीसे पूर्वाचार्यों ने योगाभ्यास किया है अतः समस्त मुमुक्षु प्रिय सज्जनों को अवश्य योगाभ्यास करना चाहिये । शमिति ॥

श्रीवत्सवंशकलशोदधिपूर्णचन्द्रम् ।
श्रीकृष्णसूरिपदपङ्कजभृङ्गराजम् ॥
श्रीरंगवेङ्कटगुरूत्तमलब्धबोधम् ।
भक्त्या भजामि गुरुवर्यमनन्तसूरिम् ॥ १ ॥
श्रीवत्सवंशकलशोदधिपूर्णचन्द्रम् ।
आर्यस्य धातुशरणस्य कृपैकपात्रम् ॥
ज्ञानादिसद्गुणनिधिं करुणानिधानं ॥
श्रीरामकृष्णगुरुवर्यमहं प्रपद्ये ॥ २ ॥

સમરીતિર્દાતેજા: પરબ્રહ્મ સનાતન: ।
જયતાજ્જાનકીનાથો વેદવેદ્યો મહામતિ: ॥

ankurnagpal108@gmail.com.

॥ श्रीः ॥

हठयोगप्रदीपिका ।

सहजानन्दसंतानचिन्तामणि-
स्वात्मारामयोगीन्द्रविरचिता ।

श्रीयुतब्रह्मानन्दविरचितज्योत्स्नाभिध-
संस्कृतटीकया,
लाँखग्रामनिवासिपंडितमिहिरचन्द्रकृत-
भाषाटीकया च समेता ।

सेऽयं
क्षेमराज-श्रीकृष्णदासश्रेष्ठिना
मुम्बय्यां
स्वकीये 'श्रीवेङ्कटेश्वर' (स्टीम्) मुद्रणयन्त्रालये
मुद्रयित्वा प्रकाशिता ।

संवत् २००९ शके १८७४.

प्रस्तावना.

देखो ! इस असारसंसारसे मोक्षके अर्थ तथा सर्व मनोगत अभीष्ट सिद्धिद योगविषयमें हठविद्या है जो प्राणियोंके हितार्थ योगिराज शिवजीने पार्वतीके प्रति महाकाल योगशास्त्रमें वर्णन की है, उसी हठविद्याका सेवन करके ब्रह्माजी ब्रह्मपदको प्राप्त हुए हैं, श्रीकृष्णचन्द्रजीने गीतामें अर्जुनको और श्रीमद्भागवतमें उद्धवको उपदेश किया है। प्रायः ब्रह्मा, विष्णु, महेश, नारद, याज्ञवल्क्य इन सभीने इसका सेवन किया है. मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथजीने प्रथम शिवजीसे हठयोग श्रवण किया, इन्हीं गोरखनाथजीकी कृपासे स्वात्मारामयोगीन्द्रने सर्व मुमुक्षुओंके मोक्षप्राप्त्यर्थ "हठयोगप्रदीपिका" नामक ग्रन्थ चार उपदेशोंमें रचित किया, प्रथमोपदेशमें यम, नियम सहित हठका प्रथमभाग आसन, द्वितीयोपदेशमें प्राणायामप्रकरण, तृतीयोपदेशमें मुद्राप्रकरण, चतुर्थोपदेशमें प्रत्याहारादिरूप समाधिक्रम वर्णन किये हैं, उक्त ग्रन्थ "ज्योत्स्ना" नामक संस्कृतटीका सहित तथा सर्व मुमुक्षुओंके लाभार्थ हमने पं. मिहिरचन्द्रजीके द्वारा याथातथ्य भाषाटीका भी कराकर स्वच्छतापूर्वक छापके प्रकाशित किया है।

आशा है कि, सर्वसज्जन इसके द्वारा हठयोगका रहस्य जानकर लाभ उठावेंगे और हमारे परिश्रमको सफल करेंगे।

आपका कृपाकांक्षी—

खेमराज श्रीकृष्णदास,

अध्यक्ष "श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम-प्रेस-मुम्बई.

अथ हठयोगप्रदीपिकाविषयानुक्रमणिका।

द्वितीयोपदेशः २.

चतुर्थोपदेशः ४.

इति हठयोगप्रदीपकाविषयानुक्रमणिका समाप्ता ।

॥ श्रीः ॥

अथ हठयोगप्रदीपिका.

संस्कृतटीका–भाषाटीकासमेता ।

प्रथमोपदेशः १

श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या ॥
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ॥ १ ॥

गुरुं नत्वा शिवं साक्षाद्ब्रह्मानंदेन तन्यते ॥
हठप्रदीपिकाज्योत्स्ना योगमार्गप्रकाशिका ॥ १ ॥

इदानींतनानां सुबोधार्थमस्याः सुविज्ञाय गोरक्षसिद्धांतहार्दम् ।
मया मेरुशास्त्रिप्रमुख्याभियोगात्स्फुटं कथ्यतेऽत्यंतगूढोऽपि भावः २॥

मुमुक्षुजनहितार्थं राजयोगद्वारा कैवल्यफलां हठप्रदीपिकां विधित्सुः परमकारुणिकः स्वात्मारामयोगींद्रस्तत्प्रत्यूहनिवृत्तये हठयोगप्रवर्तक-श्रीमदादिनाथनमस्कारलक्षणं मंगलं तावदाचरति–श्रीआदिनाथायेत्या-दिना ॥ तस्मै श्रीआदिनाथाय नमोऽस्त्वित्यन्वयः । आदिश्चासौ नाथश्च आदिनाथः सर्वेश्वरः शिव इत्यर्थः । श्रीमान् आदिनाथः तस्मै श्रीआ-दिनाथाय । श्रीशब्द आदिर्यस्य सः श्रीआदिः श्रीआदिश्चासौ नाथश्च श्रीआदिनाथः तस्मै श्रीआदिनाथाय । श्रीनाथाय विष्णव इति वार्थः । श्रीआदिनाथायेत्यत्र यणभावस्तु 'अपि माषं मषं कुर्याच्छंदोभंगं त्यजे-द्गिराम्' इति छंदोविदां संप्रदायादुच्चारणसौष्ठवाच्चेति बोध्यम् । वस्तु-तस्तु असंहितपाठस्वीकारापेक्षया श्रीआदिनाथायेति पाठस्वीकारेऽप्रवृत्त-नित्यविध्युद्देश्यतावच्छेदकानाक्रांतत्वेन परिनिष्ठितत्वासंभवात् संप्रत्युदा-हृतदृष्टांतद्वयस्यापीदृग्विषयवैषम्यान्नित्यसाहित्यभंगजनितदोषस्यशाब्दि-कानुमतत्वाच्चासंमृष्टविधेयांशतारूपदोषस्य साहित्यकारैरुक्तत्वेऽपि । क्वचित्तैरपि स्वीकृतत्वेन शाब्दिकाचार्यैरेकाजित्यादौ कर्मधारयस्वीका-

रेण सर्वथानाहतत्वाच्च लाघवातिशय इति सुधियो विभावयंतु । नमः प्रह्वीभावोऽस्तु । प्रार्थनायां लोट् । तस्मै कस्मै इत्यपेक्षायामाह—येनेति । येन आदिनाथेन उपदिष्टा गिरिजायै हठयोगविद्या हश्च ठश्च हठौ सूर्यचंद्रौ तयोर्योगो हठयोगः । एतेन हठशब्दवाच्ययोः सूर्यचंद्राख्ययोः प्राणापानयोरैक्यलक्षणः प्राणायामो हठयोग इति हठयोगस्य लक्षणं सिद्धम् । तथा चोक्तं गोरक्षनाथेन सिद्धसिद्धांतपद्धतौ— "हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चंद्र उच्यते । सूर्याचंद्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते॥" इति । तत्प्रतिपादिका विद्या हठयोगविद्या हठयोगशास्त्रमिति यावत् । गिरिजायै आदिनाथकृतो हठविद्योपदेशो महाकालयोगशास्त्रादौ प्रसिद्धः । प्रकर्षेण उन्नतःप्रोन्नतःमंत्रयोगहठयोगादीनामधरभूमीनामुत्तरभूमित्वाद्राजयोगस्य प्रोन्नतत्वम् । राजयोगश्च सर्ववृत्तिनिरोधलक्षणोऽसंप्रज्ञातयोगः । तमिच्छोर्मुमुक्षोरधिरोहिणीव अधिरुह्यतेऽनयेत्यधिरोहिणी निःश्रेणीव विभ्राजते विशेषेण भ्राजते शोभते । यथा प्रोन्नतसौधमारोढुमिच्छोरधिरोहिण्यनायासेन सौधप्रापिका भवति एवं हठदीपिकापि प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरनायासेन राजयोगप्रापिका भवतीति । उपमालंकारः । इंद्रवज्रारूपं वृत्तम् ॥ १ ॥

नत्वा साम्बं ब्रह्मरूपं भाषायां योगबोधिका ॥
मया मिहिरचंद्रेण तन्यते हठदीपिका ॥ १ ॥

मोक्षके अभिलाषी जनोंके हितार्थ राजयोगकेद्वारा मोक्ष है फल जिसका ऐसी हठयोगप्रदीपिकाको रचतेहुए परमदयालु स्वात्माराम योगीन्द्र ग्रंथमें विघ्ननिवृत्तिके लिये हठयोगकी प्रवृत्तिके कर्ता जो श्रीमान् आदिनाथ (शिव) जी हैं उनके नमस्काररूप मंगलको ग्रंथके प्रारंभमें करते हैं कि, श्रीमान् जो आदिनाथ अर्थात् सनातन स्वामी शिवजी हैं उनको नमस्कार हो अथवा श्रीशब्द है आदिमें जिसके ऐसा जो नाथ (विष्णु) वा श्री लक्ष्मीसे युक्त जो नाथ विष्णु हैं उनके अर्थ नमस्कार हो । कदाचित् कहो कि, श्रीआदिनाथाय इस पदमें श्रीशब्दके ईकारको यणूविधायक सूत्रसे यकार क्यों नहीं होता सो ठीक नहीं, क्योंकि छंदके ज्ञाताओंका यह संप्रदाय है कि, चाहे माषके स्थानमें भी मषपदको लिखे परंतु छंदका भंग न करे और उच्चारण करनेमें भी सुगमता है इससे सूत्रसे प्राप्त भी यकार ग्रंथकारने नहीं किया सिद्धांत तो यह है कि, श्रीआदिनाथाय इसपाठकी अपेक्षा श्र्यादिनाथाय यह पाठ लाघवसे युक्त है क्योंकि आदिनाथाय इस पाठमें व्याकरणके किसी सूत्रकी प्राप्ति नहीं है इससे यह परिनिष्ठित (सिद्ध हुआ) है और श्रीआदिनाथाय इस पाठमें 'इकोयणचि' इस सूत्रकी प्राप्तिकी शंका बनी रहती है—और जो दो दृष्टान्त

दिये हैं (माष मत्र-उच्चारणमें सुगमता) वे भी ऐसे विनयसे विषम हैं अर्थात् सूत्रकी व्याप्तिको नहीं हटा सकते और व्याकरणशास्त्रके ज्ञाता साहित्य (छंद) के भंगका जो दोष उसको नहीं मानते-और असंमृष्ट (शास्त्रसे अशुद्ध) विधानरूप दोष यद्यपि साहित्यके रचनेवालोंने कहा है तथापि कहीं २ उन्होंने भी मानाहै-और व्याकरणशास्त्रके आचार्योंने (एकोज्) इस पाठके स्थानमें कर्मधारय समास करके (एकाज्) असंमृष्ट विधानको नहीं माना है-इससे श्र्यादिनाथाय इस पाठमेंही लाघव है इस बातका बुद्धिमान् मनुष्य विचार करे-तात्पर्य यह है कि, उस आदिनाथको नमस्कारहै जिसने पार्वतीके प्रति हठयोगविद्याका उपदेश किया और जिसप्रकार शिवजीने पार्वतीके प्रति हठयोगका उपदेश किया है वह प्रकार महाकाल योगशास्त्रमें प्रसिद्ध है और हठयोगविद्या शब्दका यह अर्थ है कि, ह (सूर्य) ठ (चंद्रमा) इन दोनोंका जो योग (एकता) अर्थात् सूर्य-चंद्रमारूप जो प्राण अपान हैं उनकी एकतासे जो प्राणायाम वह हठयोग कहाताहै सोई सिद्धसिद्धांतपद्धतिमें गोरक्षनाथ आचार्यने इस वचनसे कहाहै कि, हकारसे सूर्य और ठकारसे चंद्रमा कहा जाता है सूर्य और चंद्रमाके योगसे हठयोग कहाता है-उस हठयोगका जिससे प्रतिपादन हो उस विद्याको हठयोगविद्या कहते हैं अर्थात् हठयोगशास्त्रका नाम हठयोगविद्या है-और वह हठयोगविद्या सबसे उत्तम जो राजयोग अर्थात् संपूर्ण वृत्तियोंका निरोधरूप जो असंप्रज्ञातलक्षण समाधि है उसके अभिलाषी मुमुक्षुको अधिरोहिणी (नसैनी) के समान विराजती है जैसे ऊँचे महलपर विना परिश्रमही नसैनी पहुँचा देती है. इसीप्रकार यह हठयोगविद्याभी सर्वोत्तम राजयोगपर चढनेके लिये मुमुक्षुको अनायाससे राजयोगमें प्राप्त कर देतीहै इस श्लोकमें उपमा अलंकार और इंद्रवज्राछंद है-भावार्थ यह है कि, जिन श्रीआदिनाथ (शिवजी) ने पार्वतीके प्रति वह हठयोगविद्या कही है जो सर्वोत्तम राजयोगपर चढनेके लिये अधिरोहिणीके समान है उस श्रीआदिनाथको नमस्कार हो अर्थात् उसको नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वात्मारामेण योगिना ॥
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ॥ २ ॥

एवं परमगुरुनमस्कारलक्षणं मंगलं कृत्वा विघ्नबाहुल्ये मंगलबाहुल्यस्यापेक्षितत्वात्स्वगुरुनमस्कारात्मकं मंगलमाचरन्नस्य ग्रन्थस्य विषयप्रयोजनादीन्प्रदर्शयति-प्रणम्येति ॥ श्रीमंतं गुरुं श्रीगुरुं नाथं श्रीगुरुनाथं स्वगुरुमिति यावत् । प्रणम्य प्रकर्षेण भक्तिपूर्वकं नत्वा स्वात्मारामेण योगिना योगोऽस्यास्तीति तेन । केवलं राजयोगाय केवलं राजयोगार्थं हठविद्योपदिश्यत इत्यन्वयः । हठविद्याया राजयोग एव मुख्यं फलं न

सिद्धये इति केवलपदस्याभिप्रायः। सिद्धयस्त्वानुषंगिक्यः। एतेन राजयोगफलसहितो हठयोगोऽस्य ग्रंथस्य विषयः। राजयोगद्वारा कैवल्यं चास्य फलम्। तत्कामश्चाधिकारी। ग्रन्थविषययोः प्रतिपाद्यप्रतिपादक भावः सम्बंधः। ग्रन्थस्य कैवल्यस्य च प्रयोज्यप्रयोजकभावः सम्बंधः। ग्रन्थाभिधेयस्य सफलयोगस्य कैवल्यस्य च साध्यसाधनभावः सम्बंध इत्युक्तम् ॥ २ ॥

भाषार्थ-इसप्रकार परमगुरुको नमस्कार करके अधिक विघ्नोंकी आशंकामें अधिकही मंगलकी अपेक्षा होती है इस अभिप्रायसे अपने गुरुके नमस्काररूप मंगलको करते हुए ग्रंथकार ग्रंथके विषय , संबन्ध, प्रयोजन, अधिकारियोंको दिखाते हैं कि, श्रीमान् जो अपने गुरुनाथ (स्वामी) हैं उनको भक्तिपूर्वक नमस्कार करके स्वात्माराम नामका जो मैं योगी हूँ वह केवल राजयोगकी प्राप्तिके लिये हठविद्याका उपदेश (कथन) करता हूं-अर्थात् हठविद्याका मुख्य फल केवल राजयोगही है सिद्धि नहीं है। क्योंकि सिद्धि तो यत्नके विना प्रसंगसेही होजाती है । इससे यह सूचित किया कि, राजयोगरूप फलसहित हठयोग इस ग्रंथका विषय है और राजगोगद्वारा मोक्ष फल (प्रयोजन) है और फलका अभिलाषी अधिकारी है और ग्रन्थ और विषयका प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध है अर्थात् ग्रंथ विषयका प्रतिपादक है और विषय प्रतिपाद्य है और ग्रंथ और मोक्षका प्रयोज्य प्रयोजकभाव संबंध है क्योंकि ग्रन्थभी हठयोगकेद्वारा मोक्षका कारण है, और ग्रन्थ और अभिधेय (विषय) फल योग और मोक्ष इनका साध्यसाधनभाव संबंध है ये सब बात इस श्लोकमें कही है। भावार्थ-यह है कि, मैं स्वात्माराम योगी अपने श्रीगुरुनाथको भलीप्रकार नमस्कार करके केवल राजयोगके लिये हठविद्याका उपदेश करता हूँ ॥ २ ॥

भ्रांत्या बहुमतध्वांते राजयोगमजानताम् ॥
हठप्रदीपिकां धत्ते स्वात्मारामः कृपाकरः ॥ ३ ॥

ननु मंत्रयोगसगुणध्याननिर्गुणध्यानमुद्रादिभिरेव राजयोगसिद्धौ किं हठविद्योपदेशेनेत्याशंक्य व्युत्थितचित्तानां मंत्रयोगादिभी राजयोगासिद्धेर्हठयोगादेव राजयोगसिद्धिं वदन् ग्रंथं प्रतिजानीते-भ्रांत्येति ॥ मंत्रयोगादिबहुमतरूपे ध्वांते गाढांधकारे या भ्रांतिर्भ्रमस्तया । तैस्तैरुपायैराजयोगार्थं प्रवृत्तस्य तत्रतत्र तदलाभात्‌वक्ष्यति च ' विना राजयोगम्' इत्यादिना। तथा राजयोगम् अजानतां न जानंतीत्यजानंतः तेषाम्

अजानतां पुंसां राजयोगज्ञानमिति शेषः।करोतीति करःकृपायाःकरःकृपा-करः । कृपाया आकर इति वा । तादृशः । अनेक हठप्रदीपिकाकरणे अज्ञानुकंपैव हेतुरित्युक्तम् । स्वात्मन्यारमते इति स्वात्मारामः हठस्य हठ-योगस्य प्रदीपिकेव प्रकाशकत्वात् हठप्रदीपिका ताम् । अथवा हठ एव प्रदीपिका राजयोगप्रकाशकत्वात् । तां धत्ते विधत्ते करोतीति यावत् । स्वात्माराम इत्यनेन ज्ञानस्य सप्तमभूमिकां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युक्तम् । तथा च श्रुतिः-'आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' इति। सप्त भूमयश्चोक्ता योगवासिष्ठे-'ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदा-हृता । विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनुमानसा ॥ सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका । परार्थाभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥ इति । अस्यार्थः । शुभेच्छा इत्याख्या यस्याः सा शुभेच्छाख्या । विवेकवै-राग्ययुता शमादिपूर्विका तीव्रमुमुक्षा प्रथमा ज्ञानस्य भूमिः भूमिका उदा-हृता कथिता योगिभिरिति शेषः १।विचारणा श्रवणमननात्मिका द्वितीया ज्ञानभूमिः स्यात् २। अनेकार्थग्राहकं मनो यदाऽनेकार्थान्परित्यज्य सदे-कार्थवृत्तिप्रवाहवद्भवति तदा तनुमानसं यस्यां सा तनुमानसा निदिध्या-सनरूपा तृतीया ज्ञानभूमिः स्यादिति शेषः ३ । इमास्तिस्रः साधनभू-मिकाः । आसु भूमिषु साधक इत्युच्यते । तिसृभिर्भूमिकाभिः शुद्धसत्त्वेऽ-न्तःकरणेऽहं ब्रह्माऽस्मीत्याकारिकाऽपरोक्षवृत्तिरूपा सत्त्वापत्तिनामिका चतुर्थी ज्ञानभूमिः स्यात् । चतुर्थीयं फलभूमिः । अस्यां योगी ब्रह्मविदि-त्युच्यते । इयं संप्रज्ञातयोगभूमिका ४। वक्ष्यमाणास्तिस्रोऽसंप्रज्ञातयोग-भूमयः । सत्त्वापत्तेरनंतरा सत्त्वापत्तिसंज्ञिकायां भूमावुपस्थितासु सिद्धिषु असंसक्तस्यासंसक्तिनामिका पंचमी ज्ञानभूमिः स्यात् । अस्यां योगी स्वयमेव व्युत्तिष्ठते । एतां भूमिं प्राप्तो ब्रह्मविद्वर इत्युच्यते ५ । परब्रह्मा-तिरिक्तमर्थं न भावयति यस्यां सा परार्थाभाविनी षष्ठी ज्ञानभूमिःस्यात् । अस्यां योगी परप्रबोधित एव व्युत्थितो भवति । एतां प्राप्तो ब्रह्मविद्व-रीयानित्युच्यते ६ । तुर्यगा नाम सप्तमी भूमिः स्मृता । अस्यां योगी स्वतः परतो वा न व्युत्थानं प्राप्नोति । एतां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्यु-

च्यते । तत्र प्रमाणभूता श्रुतिरत्रैवोक्ता ।'पूर्वमयमेव जीवन्मुक्त इत्युच्यते स एवाऽत्र स्वात्मारामपदेनोक्तः' इत्यलं बहूक्तेन ॥ ३ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि, मंत्रयोग सगुणध्यान-निर्गुणध्यान- मुद्रा आदिसेही राजयोग सिद्ध होजायगा हठयोगविद्याके उपदेशका क्या फल है सो ठीक नहीं, क्योंकि जिनका चित्त व्युत्थित (चंचल) है उनको मंत्रयोग आदिसे राजयोगकी सिद्धि नहीं होसकती इससे हठयोगके द्वाराही राजयोगकी सिद्धिको कहते हुये ग्रंथकार ग्रंथके आरंभकी प्रतिज्ञा करते है कि, मंत्रयोग आदि अनेक मतोंका जो गाढ अंधकार उसके विषे भ्रमसे राजयोगको जो नहीं जानते हैं उनको भी राजयोगका ज्ञान जिससे हो ऐसी हठयोगप्रदीपिकाको कृपाके कर्ता (दयालु) स्वात्माराम योगी अर्थात अपने आत्मामें रमणकर्ता स्वात्माराम करते है अर्थात् हठयोगके प्रकाशक ग्रंथको रचते हैं। अथवा राजयोगके प्रकाशक जो हठ (सूर्य चन्द्र) उनके प्रकाशक ग्रंथको रचते हैं -स्वात्माराम इस पदसे यह सूचित किया है कि, ज्ञानकी सातवी भूमिकाको प्राप्त ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ है सोई इस श्रुतिमें लिखा है कि, आत्मामे है क्रीडा और रमण जिसका ऐसा जो क्रियावान् है वह ब्रह्मज्ञानिओंमें श्रेष्ठ है और सात भूमि योगवासिष्ठमें कही है कि, शुभेच्छा १, विचारणा, २, तनुमानसा, ३, सत्त्वापत्ति ४, असंसक्ति ५, परार्थाभाविनी ५, तुर्यगा ७ ये सात ज्ञानभूमि योग की हैं इन सातोंमें शुभेच्छा है नाम जिसका और विवेक और वैराग्यसे युक्त और शमदम आदि हैं पूर्व जिसके और तीव्र (प्रबल) है मोक्षकी इच्छा जिसमें ऐसी ज्ञानकी भूमि प्रथम योगीजनोंने कही है १-और श्रवण मनन आदिरूप विचारणा ज्ञानकी दूसरी भूमि होती है २- अनेक विषयोंका ग्राहक मन अनेक विषयोंको त्यागकर एक (ब्रह्म) विषयमें ही वृत्तिके प्रवाहवाला होजाय तनु (सूक्ष्म) है मन जिसमें ऐसी वह निदिध्यासनरूप तनुमानसा नामकी तीसरी भूमि होती है ३ ये तीन साधनभूमि कहाती है इन भूमियोंमें योगी साधक कहाता है। इन तीन भूमियोसे शुद्ध हुये अंतःकरणमें मैं ब्रह्महूँ यह जो ब्रह्माकार अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) वृत्ति) है वह सत्त्वापत्ति नामकी चौथी भूमि कहाती है ४ इन चारोंसे अगली जो तीन भूमि हैं ये असंप्रज्ञात योगभूमि कहाती हैं-सत्त्वापत्तिके अनंतर इसी सत्त्वापत्ति भूमिमें उपस्थित (प्राप्त) हुई जो सिद्धि हैं उनमें असंसक्त योगीको असंसक्ति नाम की पांचवीं ज्ञानभूमि होती है। इस भूमिमें योगी स्वयंही व्युत्थित होता (उठता) है वह ब्रह्मज्ञानिओंमें श्रेष्ठ कहाता है। ५ जिसमें परब्रह्मसे भिन्नकी भावना (विचार) न रहे वह परार्थभाविनी नामकी छठी भूमि होती है-इसमें योगी दूसरेके उठानेसेही उठाता है और ब्रह्मज्ञानियोंमें अत्यंत श्रेष्ठ कहाता है ६-और जिसमें तुरीय पदमें योगी पहुँचजाय वह तुर्यगा नामकी सातवीं ज्ञानभूमि है इसमें योगी स्वयं वा अन्य पुरुषसे नहीं उठता है इसमें प्राप्त हुआ योगी ब्रह्मज्ञानियोंमें अत्यंत श्रेष्ठसेभी

उत्तम कहाता है इसमें प्रमाणरूप यह श्रुतिही कही है कि, पहिली भूमियोंमें इसकोही जीवन्मुक्ति कहते हैं और उसकोही इस सातवीं भूमिमें स्वात्माराम कहते हैं-इसप्रकार अधिक कहनेसे पूर्ण हुये अर्थात् अधिक नहीं कहते हैं। भावार्थ यह है कि, अनेक मतोंके किये हुए अंधकारमें राजयोगको जो नहीं जानसकते उनके लिये दयाके समुद्र स्वात्माराम "हठयोगप्रदीपिका" को करते हैं ॥ ३ ॥

हठविद्यां हि मत्स्येंद्रगोरक्षाद्या विजानते ॥
स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते तत्प्रसादतः ॥ ४ ॥

महत्सेवितत्वाद्धठविद्यां प्रशंसन्स्वस्यापि महत्सकाशाद्धठविद्यालाभाद्गौरवं द्योतयति-हठविद्यां हीति॥ हीति प्रसिद्धम्। मत्स्येंद्रश्च गोरक्षश्च तौ आद्यौ येषां ते मत्स्येंद्रगोरक्षाद्याः आद्यशब्देन जालंधरनाथभर्तृहरिगोपीचंद्रप्रभृतयो ग्राह्याः। ते हठविद्यां हठयोगविद्यां विजानते विशेषेण साधनलक्षणभेदफलैर्जानंतीत्यर्थः। स्वात्मारामः स्वात्मारामनामा। अथवा शब्दः समुच्चये। योगी योगवान् तत्प्रसादतः गोरक्षप्रसादाज्जानी इत्यन्वयः। परममहता ब्रह्मणापीयं विद्या सेवितेत्यत्र योगियाज्ञवल्क्यस्मृतिः-'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।' इति वक्तृत्वं च मानसव्यापारपूर्वकं भवतीति मानसो व्यापारोऽर्थादागमः। तथा च श्रुतिः-'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति' इति। भगवतेयं विद्या भागवतानुद्धवादीन् प्रत्युक्ता। शिवस्तु योगी प्रसिद्ध एव। एवं च सर्वोत्तमैर्ब्रह्मविष्णुशिवैः सेवितेयं विद्या। न च ब्रह्मसूत्रकृता व्यासेन योगी निराकृत इति शंकनीयम्। प्रकृतिस्वातंत्र्यविद्धिभेदांशमात्रस्य निराकरणात्। न तु भावनाविशेषरूपयोगस्य। भावनायाश्च सर्वसंमतत्वात्तां विना सुखस्याप्यसंभवात्। यथोक्तं भगवद्गीतासु 'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना। न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम्॥' इति। नारायणतीर्थैरप्युक्तम्- 'स्वातंत्र्यसत्यत्वमुखं प्रधाने सत्यं च चिद्भेदगतं च वाक्यैः। व्यासो निराचष्ट न भावनाख्यं योगं स्वयं निर्मितब्रह्मसूत्रैः॥ अपि चात्मपदं योगं व्याकरोन्मतिमान्स्वयम्। भाष्यादिषु ततस्तत्र आचार्यप्रमुखैर्मतः॥ मतो

योगो भगवता गीतायामधिकोऽन्यतः । कृतः शुकादिभिस्तस्मादत्र संतोऽतिसादराः ॥' इति । 'वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् । अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ इति भगवदुक्तेः । किं बहुना 'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ।' इति वदता भगवता योगजिज्ञासोरप्यौत्कृष्ट्यं वर्णितं किमुत योगिनः । नारदादिभक्तश्रेष्ठयाज्ञवल्क्यादिज्ञानिमुख्यैश्चास्याः सेवनाद्भक्तज्ञानिनामप्यविरुद्धेत्युपरम्यते ॥ ४ ॥

भाषार्थ–महान् पुरुषोंके माननेसे हठविद्याकी प्रशंसा करतेहुये ग्रंथकार अपनेकोभी महत्पुरुषोंसेही हठविद्याका लाभ हुआ है इससे अपनाभी गौरव (बडाई) द्योतन करते कि, मत्स्येंद्र और गोरक्ष आदि हठविद्याको निश्चयसे विशेषकर जानते हैं यहां आद्य-शब्दके पढनेसे जालंधरनाथ, भर्तृहरि, गोपीचंद आदि भी जानते हैं यह सूचित किया– अर्थात् साधन, लक्षणभेद, फल इनको भी जानते हैं अथवा स्वात्माराम योगी भी गोरक्ष-आदिके प्रसादसे हठविद्याको जानता है–और सबके परम महान् ब्रह्मानेभी इस विद्याका सेवन किया है इसमें यह योगीयाज्ञवल्क्यकी स्मृति प्रमाण है कि, सबसे पुराने योगके वक्ता हिरण्यगर्भ हैं अन्य नहीं हैं–और कहना तभी होता है जब मानसव्यापार (मनसे विचार) पहिले होचुका हो वह मानसव्यापार आगम (वेद) लेना सोई इस श्रुतिमें लिखा है कि, जिसका मनसे ध्यान करता है उसकोही वाणीसे कहता है–भगवान्ने भी यह विद्या उद्धवआदिभागवतोंके प्रति कही है और शिवजी तो योगी प्रसिद्धही हैं–इससे ब्रह्मा विष्णु शिव इन्होंनेभी इस हठयोग विद्याका सेवन किया है–कदाचित् कहो कि, ब्रह्म-सूत्रोंके कर्ता व्यासने योगका खंडन किया है सो ठीक नहीं, क्योंकि प्रकृतिको स्वतन्त्र मानते हुए उन्होंने भेदरूप आशंकाका ही खण्डन किया है कुछ भावना विशेषरूप योगका खंडन नहीं किया है–और भावना तो व्यासको भी इससे संमत है कि, भावनाके विना सुख नहीं हो सकता सोई भगवद्गीतामें कहा जो योगी नहीं है उसको बुद्धि नहीं है और न उसको भावना होती है–और भावनाके विना शांति नहीं होती और शांतिसे योग जिसको नहीं उसको सुख कहांसे होसकता है । नारायणतीर्थोंने भी कहा है कि, स्वतंत्र सत्यता है मुख्य जिसमें ऐसा सत्य जो चेतनाके भेदसे प्रधान (प्रकृति) में प्रतीत होताहै उसका खण्डन वाक्योंसे व्यासजीने किया है कुछ अपने रचेहुए ब्रह्मसूत्रोंसे वर्णन किये भावना नामके योगका खण्डन व्यासजीने नहीं किया है । और आत्माके प्रापकयोगका कथन बुद्धिमान् व्यासजीने स्वयं किया है और तिसीसे भाष्य आदिमें आचार्य आदिकोंने माना है और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने गीतामें अधिक योग माना है–और शुकदेव आदिकोंमें भी योगको रचाहै–तिससे इस योगमें बहुत सन्तोंका अत्यन्त आदरहै–और भगवान्ने गीतामेंभी कहाहै कि, वेद-यज्ञ-तप-और दान इनमें जो पुण्य फल कहाहै-उस सबको योगी इस योगको

जानकर लंघन-करताहै-और उत्तम जो सनातनका स्थान (ब्रह्म) है उसको प्राप्त होताहै-और योगकोजाननेका अभिलाषी भी शब्दब्रह्मसे अधिक होताहै यह कहते हुए भगवान्‌ने योगके जिज्ञासुको भी उत्तम वर्णन किया है-योगी तो उत्तम क्यों न होगा और भक्तोंमें श्रेष्ठनारद आदि मुनियोंमें मुख्य याज्ञवल्क्य आदिकोंने भी इस हठविद्याका सेवन कियाहै इससे भक्त और ज्ञानियोंकाभी इस विद्याके संग कुछ विरोध नहीं-इससे अधिक वर्णन करनेसे उपरामको प्राप्त होते हैं । भावार्थ-यह है कि, मत्स्येन्द्र और गोरक्षनाथ आदि हठविद्याको जानतेहैं और उनकी कृपासे स्वात्माराम योगी (मैं) जानताहूँ ॥ ४ ॥

श्रीआदिनाथमत्स्येंद्रशाबरानंदभैरवाः ॥
चौरंगीमीनगोरक्षविरूपाक्षबिलेशयाः ॥ ५ ॥

हठयोगे प्रवृत्तिं जनयितुं हठविद्यया प्राप्तैश्वर्यान्सिद्धानाह-श्रीआदि-नाथेत्यादिना ॥ आदिनाथः शिवः सर्वेषां नाथानां प्रथमो नाथः । ततो नाथसंप्रदायः प्रवृत्त इति नाथसंप्रदायिनो वदंति । मत्स्येंद्राख्यश्च आदि-नाथशिष्यः । अत्रैवं किंवदंती । कदाचिदादिनाथः कस्मिंश्चिद्द्वीपे स्थितः तत्र विजनमिति मत्वा गिरिजायै योगमुपदिष्टवान् । तीरसमीपनीरस्थः कश्चन मत्स्यः तं योगोपदेशं श्रुत्वा एकाग्रचित्तो निश्चलकायोऽवतस्थे । तं तादृशं दृष्ट्वानेन योगः श्रुत इति तं मत्वा कृपालुरादिनाथो जलेन प्रोक्षि-तवान् । स च प्रोक्षणमात्राद्दिव्यकायो मत्स्येंद्रः सिद्धोऽभूत् । तमेव मत्स्येंद्रनाथ इति वदंति । शाबरनामा कश्चित्सिद्धः । आनंदभैरवनामान्यः। एतेषामितरेतरद्वंद्वः । छिन्नहस्तपादं पुरुषं हिंदुस्थानभाषायां चौरंगीति वदंति । कदाचिदादिनाथाल्लब्धयोगस्य भुवं पर्यटतो मत्स्येंद्रनाथस्य कृपावलोकनमात्रात्कुत्रचिदरण्ये स्थितश्चौरंग्यंकुरितहस्तपादो बभूव । स च तत्कृपया संजातहस्तपादोऽहमिति मत्वा तत्पादयोः प्रणिपत्य ममानु-ग्रहं कुर्विति प्रार्थितवान् । मत्स्येंद्रोपि तमनुगृहीतवान् तस्यानुग्रहाच्चौ-रंगीति प्रसिद्धः सिद्धः सोऽभूत् । मीनो मीननाथः गोरक्षो गोरक्षनाथः विरूपाक्षनामा बिलेशयनामा च चौरंगीप्रभृतीनां द्वंद्वसमासः ॥ ५ ॥

भाषार्थ-अब हठयोगमें श्रोताओंकी प्रवृत्तिके हेतु उन सिद्धोंका वर्णन करते हैं कि, जिनको हठविद्यासे ऐश्वर्य मिलाहै और श्रीआदिनाथ अर्थात् सब नाथोंमें प्रथम शिवजी, शिवजीसेही नाथसंप्रदाय चलाहै । यह नाथसंप्रदायी लोग कहतेहैं-और उनके शिष्य मत्स्येन्द्र-यहां यह इतिहास है किसी समयमें आदिनाथ किसी द्वीपमें स्थित थे वहां

-जनरहित देश समझकर पार्वतीके प्रतियोगका उपदेश करतेथे तीरके समीर जलमें टिका हुआ कोई मत्स्य उस योगोपदेशको सुनकर एकाग्रचित्त होकर निश्चल देह टिकताभया । निश्चलकाय उस मत्स्यको देखकर और इसने योगका श्रवण किया यह मानकर कृपालु आदिनाथजीने उसके ऊपर जलका सिंचन किया प्रोक्षण करनेसेही वह मत्स्येन्द्र सिद्ध होगया उसकोही मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं और शाबर नामका सिद्ध और आनंदभैरव और चौरंगी सिद्ध किसी समय आदिनाथसे मिलाहै योग जिनको ऐसे योगेन्द्रनाथ भूमिमें रटतेथे उन्होंने कृपासे किसी वनमें टिकेहुए चौरंगीको देखा उनके देखनेसेही चौरंगीके हाथ और पाद जम आये क्योंकि हिंदुस्थानकी भाषामें जिसके हाथ पैर कटजांय उसे चौरंगी कहते हैं वह चौरंगी इन्हींकी कृपासे मेरे हाथ पैर हुए यह मानकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके यह प्रार्थना करता भया कि, मेरे ऊपर अनुग्रह करो । मत्स्येन्द्रने भी उसके ऊपर अनुग्रह किया उससे वह चौरंगी नामका सिद्ध प्रसिद्ध भया । और मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्षनाथ, बिलेशयनाथ ये सिद्ध हठयोगविद्याके हुए और ॥ ५ ॥

मंथानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कंथडिः ॥
कोरंटकः सुरानंदः सिद्धिपादश्च चर्पटिः ॥६॥
कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरंजनः ॥
कपाली बिंदुनाथश्च काकचंडीश्वराह्वयः ॥७॥
अल्लामः प्रभुदेवश्च घोडा चोली च टिंटिणिः ॥
भानुकी नारदेवश्च खंडः कापालिकस्तथा ॥८॥
इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः ॥
खंडयित्वा कालदंडं ब्रह्मांडे विचरंति ते ॥९॥

मन्थान इति ॥ मंथानः भैरवः योगीति मंथानप्रभृतीनां सर्वेषां विशेषणम् ॥६॥ कानेरीति ॥ काकचंडीश्वर इत्याह्वयो नाम यस्य स तथा अन्ये स्पष्टाः ॥ ७ ॥ अल्लाम इति ॥ तथाशब्दः समुच्चये ॥८॥ इत्यादय इति पूर्वोक्ता आदयो येषां ते तथा । आदिशब्देन तारानाथादयो ग्राह्याः । महांतश्च ते सिद्धाश्च अप्रतिहतैश्वर्या इत्यर्थः । हठयोगस्य प्रभावात्सामर्थ्यादिति हठयोगप्रभावतः । पंचम्यास्तसिल् । कालो मृत्युः तस्य दंडनं

दंडः देहप्राणवियोगानुकूलो व्यापारः तं खंडयित्वा छित्त्वा। मृत्युं जित्वे-त्यर्थः। ब्रह्मांडमध्ये विचरंति विशेषेणाऽव्याहतगत्या चरंतीत्यर्थः। तदुक्तं भागवते-'योगेश्वराणां गतिमाहुरंतर्बहिस्त्रिलोक्याः पवनांतरात्मनाम्' इति ९

भाषार्थ-मन्थान-भैरव-सिद्धि-बुद्ध-कन्थडि-कोरंटक सुरानन्द-सिद्ध-पाद-चर्पटी-कानेरी-पूज्यपाद-नित्यनाथ निरंजन-कपालि,बिन्दुनाथ- काकचण्डीश्वर--अल्लाम--प्रभु--देव- घोडा-चोली-टिंटिणि-भानुकी,नारदेव-खण्ड-कापालिक ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ इत्यादि पूर्वोक्त महा-सिद्ध यहां आदिपदसे तारानाथ आदि लेने हठयोगके प्रभावसे कालके दण्डको खण्डन करके अर्थात् देह और प्राण वियोगके जनक मृत्युको जीतकर ब्रह्मांडके मध्यमें विचरते हैं अर्थात् अपनी इच्छाके अनुसार ब्रह्मांडमें चाहे जहां जा सकते हैं सोई भागवतमें इस वचनसे कहाहै कि, पवनके मध्यमें हैं मन जिनका ऐसे योगीश्वरोंकी गति त्रिलोकीके भीतर और बाहर होती है ॥ ९ ॥

अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः ॥
अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः ॥ १० ॥

हठस्याशेषतापनाशकत्वमशेषयोगसाधकत्वं च मठकमठरूपकेणाह अशेषेति ॥ अशेषाः आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदेन त्रिविधाः। तत्राध्यात्मिकं द्विविधम्। शारीरं मानसं च। तत्र शारीरं दुःखं व्याधिजं मानसं दुःखं कामादिजम्। आधिभौतिकं व्याघ्रसर्पादिजनितम् आधि-दैविकं ग्रहादिजनितम्। ते च ते तापाश्च तैस्तप्तानां संतप्तानां पुंसां हठो हठयोगः सम्यगाश्रीयत इति समाश्रयः आश्रयः आश्रयभूतो मठः मठ एव। तथा हठः अशेषयोगयुक्तानां अशेषयोगयुक्ताः मंत्रयोगकर्मयो-गादियुक्तास्तेषामाधारभूतः कमठः एवम्। त्रिविधतापतप्तानां पुंसाम् आश्रयो हठः। यथा च विश्वाधारः कमठः एवं निखिलयोगिनामाधारो हठ इत्यर्थः ॥ १० ॥

भाषार्थ-अब हठयोगको संपूर्ण तापोंका नाशक और संपूर्ण योगोंका साधक मठ कमठ-रूपसे वर्णन करते हैं कि, सम्पूर्ण आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक तीन प्रकारके ताप उनसे तपायमान मनुष्योंको हठयोग समाश्रय मठ (रहनेका घर) रूप है । उन तापोंमें आध्यात्मिक ताप दोप्रकारका है-शरीर और मानस । उनमें शरीरका दुःख व्याधिसे होताहै और मनका दुःख काम आदिसे होताहै और व्याघ्र सर्प आदिसे उत्पन्न हुये दुःखको आधिभौतिक कहतेहैं और सूर्य आदि ग्रहोंसे उत्पन्न हुये दुःखको आधिदैविक कहते हैं

इन तीन प्रकारके तापोंसे तप्त मनुष्योंको हठयोग इसप्रकार सुखदायी है। जैसे सूर्यसे तपायमान मनुष्योंको घर होताहै और अशेष (सम्पूर्ण) योगोंसे युक्त जो पुरुष है उनका आधार इसप्रकार हठयोग है जैसे सम्पूर्ण जगत्का आधार कमठ है अर्थात् कच्छपरूप भगवान्रूप है। भावार्थ यह है कि, सम्पूर्ण तापोंसे तपायमान मनुष्योंका आश्रय मठरूप और सम्पूर्ण योगियोंका आधार (आश्रय) कमठरूप हठयोग है ॥ १० ॥

हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ॥
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता ॥ ११ ॥

अथाखिलविद्यापेक्षया हठविद्याया अतिगोप्यत्वमाह—हठविद्येति ॥ सिद्धिमणिमाद्यैश्वर्यमिच्छता यद्वा सिद्धिं कैवल्यसिद्धिमिच्छता वाञ्छता योगिना हठयोगविद्या परमत्यंतं गोप्या गोपनीया गोपनार्हास्तीति। तत्र हेतुमाह—यतो गुप्ता हठविद्या वीर्यवत्यप्रतिहतैश्वर्यजननसमर्था स्यात्। कैवल्यजननसमर्था कैवल्यसिद्धिजननसमर्था वा स्यात्। अथ योगाधिकारी। 'जिताक्षाय शांताय सक्ताय मुक्तौ विहीनाय दोषैरसक्ताय मुक्तौ। अहीनाय दोषेतरैरुक्तकर्त्रे प्रदेयो न देयो हठश्चेतरस्मै ॥ याज्ञवल्क्यः—'विध्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसंकल्पवर्जितः। यमैश्च नियमैर्युक्तः सर्वसंगविवर्जितः ॥ कृतविद्यो जितक्रोधः सत्यधर्मपरायणः। गुरुशुश्रूषणरतः पितृमातृपरायणः॥ स्वाश्रमस्थः—सदाचारो विद्वद्भिश्च सुशिक्षितः ॥' इति। 'शिश्नोदररतायैव न देयं वेषधारिणे' इति कुत्रचित्। अत्र योगचिंतामणिकाराः यद्यपि-'ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीशूद्राणां च पावनम्। शांतये कर्मणामन्यद्योगान्नास्ति विमुक्तये ॥' इत्यादि पुराणवाक्येषु प्राणिमात्रस्य योगेऽधिकार उपलभ्यते। तथापि मोक्षरूपं फलं योगे विरक्तस्यैव भवति। अतस्तस्यैव योगाधिकार उचितः। तथा च वायुसंहितायाम्—"दृष्टे तथानुश्रविके विरक्तं विषये मनः। यस्य तस्याधिकारोऽस्मिन्योगे नान्यस्य कस्यचित् ॥" सुरेश्वराचार्याः—'इहामुत्र विरक्तस्य संसारं प्रजिहासतः। जिज्ञासोरेव कस्यापि योगेऽस्मिन्नाधिकारिता ॥' इत्याहुः। वृद्धैरप्युक्तम्—"नैतद्देयं दुर्विनीताय जातु ज्ञानं गुप्तं तद्धि सम्यक्फलाय। अस्थाने हि स्थाप्यमानैव वाचां देवी कोपान्निर्दहेन्नो विराय ॥' इति ॥ ११ ॥

भाषार्थ-अब संपूर्ण विद्याओंकी अपेक्षा हठयोग विद्याको अत्यंत गुप्त करने योग्य वर्णन करते हैं-सिद्धि अर्थात् अणिमा आदि ऐश्वर्य वा मोक्षके अभिलाषी योगीको हठविद्या अत्यंत गुप्त करने योग्यहै क्योंकि, गुप्त कीहुई हठविद्या वीर्यवाली होती है अर्थात् ऐसे ऐश्वर्यको पैदा करती है कि, जो कदाचित् न डिगसकै और प्रकाश करनेसे वीर्यसे रहित हो जाती है अब प्रसंगसे योगके अधिकारीका वर्णन करते हैं कि जितेन्द्रिय शान्त भोगोंमें आसक्त न हो और दोषोंसे रहितहो और मुक्तिका अभिलाषी हो और दोषोंसे अन्य जो संसारके धर्म हैं उनसे हीन न हो और आज्ञाकारी हो उसको ही हठयोगविद्या देनी अन्यको नहीं। याज्ञवल्क्यने भी कहाहै कि, शास्त्रोक्त कर्मोंसे युक्त कामना और संकल्पसे रहित यम और नियमसे युक्त और सम्पूर्ण संगोंसे वर्जित और विद्यासे युक्त क्रोधरहित सत्य और धर्ममें परायण गुरुकी सेवामें रत पिता और माताका भक्त अपने गृहस्थ आदि आश्रममें स्थित श्रेष्ठ आचारी और विद्वानोंने जिसको भलीप्रकार शिक्षा दी हो ऐसा पुरुष योगका अधिकारी होताहै और यह भी कहीं लिखा है कि, जो योगीका वेषधारी कामदेव और उदरके वशीभूत हो उसको योगका उपदेश न करे ? इस विषयमें योगचिंतामणिके कर्ता तो यह कहतेहैं कि, यद्यपि इत्यादि पुराणवचनोंमें प्राणिमात्रको योगमें अधिकार मिलता है कि, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र स्त्री इनको पवित्र करनेवाला कर्मोंकी शांतिके लिये और मुक्तिके अर्थ योगसे अन्य नहीं है तो भी मोक्षरूप जो फलहै वह योगसे विरक्तकोही होताहै इससे विरक्तकोही योगका अधिकार उचितहै सोही वायुसंहितामें लिखाहै कि, लौकिक और वेदोक्त विषयोंमें जिसका मन विरक्त है उसकाही इस योगमें अधिकार है अन्य किसीका नहीं है। सुरेश्वराचार्यने भी कहाहै कि इस लोक और परलोकके विषयोंमें जो विरक्त मनुष्य संसारके त्यागका अभिलाषी है ऐसे किसीही जिज्ञासु पुरुषका योगमें अधिकारहै-इति। वृद्धोंने भी कहा है कि, यह योग दुर्विनीत (क्रोधी) को कदाचित् न देना क्योंकि गुप्त रक्खाहुआ योग भली प्रकारके फलको देताहै और अस्थान (कुपात्र) में स्थापन करतेही क्रोधहुयी वाणी उसी समय दग्ध करती है कुछ चिरकालमें नहीं, भावार्थ यह है कि, सिद्धिका अभिलाषी योगी हठविद्याको भलीप्रकार गुप्त रक्खै क्योंकि गुप्त रखनेसे वीर्यवाली और प्रकाश करनेसे वीर्यरहित होती है ॥ ११ ॥

सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे ॥
धनुः प्रमाणपर्यंतं शिलाग्निजलवर्जिते ॥
एकांते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ॥१२॥

अथ हठाभ्यासयोग्यं देशमाह सार्धेन -सुराज्य इति ॥ राज्ञः कर्म भावो वा राज्यं तच्छोभनं यस्मिन्स सुराज्यस्तस्मिन्सुराज्ये। 'यथा राजा

तथा प्रजा' इति महदुक्तेः राज्ञः शोभनत्वात्प्रजानामपि शोभनत्वं सूचितम् । धार्मिके धर्मवति । अनेन हठाभ्यासिनोऽनुकूलाहारादिलाभः सूचितः । सुभिक्ष इत्यनेनानायासेन तल्लाभः सूचितः । निरुपद्रवे चौरव्याघ्राद्युपद्रवरहिते । एतेन देशस्य दीर्घकालवासयोग्यता सूचिता । धनुःप्रमाणं धनुःप्रमाणं चतुर्हस्तमात्रं तत्पर्यंतं शिलाग्निजलवर्जिते शिला प्रस्तरः अग्निर्वह्निः जलं तोयं तैर्वर्जिते रहिते यत्रासनं ततश्चतुर्हस्तमात्रे शिलाग्निजलानि न स्युरित्यर्थः । तेन शीतोष्णविकाराभावः सूचितः। एकांते विजने। अनेन जनसमागमाभावात्कलहाद्यभावः सूचितः। जनसंमर्दे तु कलहादिकं स्यादेव। तदुक्तं भागवते–'वासे बहूनां कलहो भवेद्वार्ता द्वयोरपि' इति। तादृशे मठिकामध्ये। अल्पो मठो मठिका। अल्पीयसि कन् । तस्याः मध्ये हठयोगिना हठाभ्यासी योगी हठयोगी तेन । शाकपार्थिवादित्वत्समासः । स्थातव्यं स्थातुं योग्यम्। मठिकामध्य इत्यनेन शीतातपादिजनितक्लेशाभावः सूचितः । अत्र 'युक्ताहारविहारेण हठयोगस्य सिद्धये।' इत्यर्धं केनचित्क्षिप्तत्वान्न व्याख्यातम् । मूलश्लोकानामेव व्याख्यानम् । एवमग्रेऽपि ये मया न व्याख्याताः श्लोका हठप्रदीपिकायामुपलभ्येरंस्ते सर्वे क्षिप्ता इति बोद्धव्यम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ–अब डेढ श्लोकसे हठयोगाभ्यासके योग्यदेशका वर्णन करतेहैं कि, जिस देशमें अच्छा राजा हो क्योंकि जैसा राजा वैसीही प्रजा इस महान् पुरुषोंके वचनसे शोभन राजाके होनेपर प्रजाभी शोभन होगी यह सूचित समझना। और जो देश धर्मवान् हो इससे यह सूचित किया कि, धार्मिक देशमें हठयोगके अभ्यासीको अनुकूल भोजन आदिका लाभ होता रहेगा और जिस देशमें भिक्षा अच्छी मिलती हो इससे यह सूचित किया कि, विना परिश्रम भिक्षाका लाभ होगा और जो चोर और व्याघ्र आदिके उपद्रवोंसे रहित हो इससे यह सूचित किया कि, वह देश दीर्घ कालतक वसने योग्य है और जहां आसन हो उसके चारों तरफ धनुष प्रमाण पर्यंत (४ हाथभर) शिला अग्नि जल ये न हों इससे शीत उष्णके विकारका अभाव सूचित किया और जो एकांत (विजन) हो इससे जनोंके समागमाभावसे कलह आदिका अभाव सूचित किया, क्योंकि जहां जनोंका समूह होताहै वहां कलह आदि होतेही हैं सोही भागवतमें कहाहै कि, बहुत मनुष्योंके वासमें कलह होताहै और दोमनुष्योंकी भी बात होने लगतीहैं ऐसे पूर्वोक्त वेदमें जो

मठिका (छोटा गृह) उसके मध्यमें हठयोगका अभ्यासी योगी अपनी स्थिति करने योग्यहै इससे शीत धूप आदिके क्लेशका अभाव सूचित किया। यहां किसीने यह आधाश्लोक प्रक्षिप्त (बनाकर) लिखा है उसका हमने अर्थ नहीं लिखा कि, वह प्रक्षिप्त है, क्योंकि मूलके श्लोकोंकाही व्याख्यान हमने कियाहै इसी प्रकार आगे भी जिन श्लोकोंका हमने व्याख्यान नहीं किया और वे हठदीपिकामें मिलजांय तो वे सब प्रक्षिप्त जानने। भावार्थ यह है कि, जहां सुंदर राज्य हो जो धार्मिक हो जहाँ सुभिक्ष हो उपद्रव न हो और जहां धनुषके प्रमाणपर्यंत शिला अग्नि जल ये न हों और जो एकांत हो ऐसे देशमें छोटासा मठ बनाकर हठयोगी रहै ॥ १२ ॥

अल्पद्वारमरंध्रगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतं
सम्यग्गोमयसांद्रलिप्तममलं निःशेषजंतूज्झितम् ॥
बाह्ये मंडपवेदिकूपरुचिरं प्राकारसंवेष्टितं
प्रोक्तंयोगमठस्यलक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः ॥१३॥

अथ मठलक्षणमाह-अल्पद्वारमिति ॥ अल्पं द्वारं यस्मिंस्तत्तादृशम्। रंध्रो गवाक्षादिः गर्तो निम्नप्रदेशः विवरो मूषकादिबिलं ते न संति यस्मिंस्तत्तादृशम्। अत्युच्चं च तन्नीचं चात्युच्चनीचं तच्च तदायतं चात्युच्चनीचायतम्। विशेषणं विशेष्येण बहुलमित्यत्र बहुलग्रहणाद्विशेषणानां कर्मधारयः। ननूच्चनीचायतशब्दानां भिन्नार्थकानां कथं कर्मधारयः। तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारय इति तल्लक्षणादिति चेन्न। मठे तेषां सामानाधिकरण्यासंभवात्। न चात्युच्चनीचायतं नात्युच्चनीचायतं नशब्देन समासान्नलोपाभावः नेति पृथक् पदं वा। अत्युच्चे आरोहणे श्रमः स्यादतिनीचेऽवरोहणे श्रमो भवेत्। अत्यायते दूरं दृष्टिर्गच्छेत्तन्निराकरणार्थमुक्तं नात्युच्चनीचायतमिति। सम्यक्समीचीनतया गोमयेन गोपुरीषेण सांद्रं यथा भवति तथा लिप्तम्। अमलं निर्मलं निःशेषा निखिला ये जंतवो मशकमत्कुणाद्यास्तैरुज्झितं त्यक्तं रहितं बाह्ये मठाद्बहिःप्रदेशे मंडपः शालाविशेषः वेदिः परिष्कृता भूमिः कूपो जलाशयविशेषः तै रुचिरं रमणीयं प्राकारेण वरणेन सम्यग्वेष्टितं परितो भित्तियुक्तमित्यर्थः। हठाभ्यासिभिः हठयोगाभ्यसनशीलैः सिद्धैः। इदं पूर्वोक्तमल्पद्वारादिकं योगमठस्य लक्षणं स्वरूपं प्रोक्तं कथितम्। नंदिकेश्वर-

पुराणे त्वेवं मठलक्षणमुक्तम्–'मंदिरं रम्यविन्यासं मनोज्ञं गंधवासितम् । धूपामोदादिसुरभि कुसुमोत्करमंडितम् ॥ मुनितीर्थनदीवृक्षपाद्मनीशैल-शोभितम् । चित्रकर्मनिबद्धं च चित्रभेदविचित्रितम् ॥ कुर्याद्योगगृहं धीमान्सुरम्यं शुभवर्त्मना । दृष्ट्वा चित्रगताञ्छांतान्मुनीन्याति मनःशमम्॥ सिद्धान्दृष्ट्वा चित्रगतान्मतिरभ्युद्यते भवेत् । मध्ये योगगृहस्याथ लिखे-त्संसारमंडलम् ॥ श्मशानं च महाघोरं नरकांश्च लिखेत्क्वचित् । तान्दृष्ट्वा भीषणाकारान्संसारे सारवर्जिते ॥ अनवसादो भवति योगी सिद्ध्यभि-लाषुकः । पश्यंश्चव्याधितान् जंतून्नत.न्मत्तांश्चलद्रूणान्' ॥ १३ ॥

भाषार्थ–अब मठके लक्षणका वर्णन करतेहैं कि, जिसका छोटा द्वार हो और जिसमें गवाक्ष आदि रंध्र (छिद्र) न हों और गर्त (गढा) न हो और जिसमें मूसे आदिका विवर (बिल) न हो और न अत्यन्त ऊँचाहो और न अत्यन्त नीचाहो और न अत्यन्त विस्तारसे युक्त हो–क्योंकि अत्यंत ऊंचेपर चढनेमें और अत्यन्त नीचेसे उतरनेमें श्रम होताहै और अत्यन्त विस्तार संयुक्तमें दूर दृष्टि जातीहै इससे इन सब आसनोंका निषेध किया है । कदाचित् कहो कि अत्युच्च नीच आयत इन तीनों शब्दोंका अर्थ भिन्न २ है इससे इनका कर्मधारय समास कैसे होगा क्योंकि कर्म धारय समास उन पदोंका हुआ करै है जिनका अर्थ एक हुआ करताहै सोई इस सूत्रमें लिखा है कि, समानाधिकरण तत्पुरुषको कर्मधारय कहते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि मठमें तीनों पदोंका सामानाधिकरण्य है अर्थात् अत्युच्च नीच आयतरूप जो मठ उससे भिन्न मठ हो क्योंकि अत्युच्चनीचआयत शब्दके संग नशब्दको समास होताहै और न लोप नहीं होता अथवा न यह पृथक्ही पद है–इससे यह विशेषण विशेष्यके संग समासको प्राप्त होताहै इस सूत्रसे कर्मधारय समास करनेमें कोई भी शंका नहीं है । और जो मठ भलीप्रकार चिकने गोबरसे लिपा हो और निर्मल (स्वच्छ) हो और जो मशक मत्कुण आदि जंतुओंसे रहित हो–और जो मठके बाहर देशमें मंडप वेदी कूप इनसे शोभित हो और जो भलीप्रकार प्राकार (परकोटा) से वेष्टित (भीतसे युक्त) हो यह पूर्वोक्त योगमठका लक्षण हठयोगके अभ्यास करनेवाले सिद्धोंने कहाहै । नंदिकेश्वर पुराणमें तो यह मठका लक्षण कहाहै कि, जिस मंदिरकी रचना रमणीय हो, जो मनको प्रिय हो, सुगंधितहो, धूपकी अत्यन्त गंधसे सुगंधितहो, पुष्पोंके समूहसे मंडित हो और जो मुनि तीर्थ नदी वृक्ष कमलिनी पर्वत इनसे शोभित हो और जिसमें चित्राम निकसेहों और जो चित्रोंके भेदसे विचित्र हो बुद्धिमान् मनुष्य ऐसे रमणीय योगघरको शुभ मार्गसे करै-क्योंकि चित्रामोंमें लिखे शांत मुनियोंको

देखकर मन शांत होताहै और चित्रामोंके सिद्धोंको देखकर बुद्धिमें उद्यम बढता है। योगघरके मध्यमें संसारके मंडलको लिखै और कहीं २ श्मशान और घोर नरकोंको लिखै क्योंकि उन भयानक नरकोंको देखकर सिद्धिके अभिलाषी योगीको असार संसारमें अनवसाद (अनिश्चय) होताहै क्योंकि नरकोंमें रोगी उन्मत्त व्रणी (घाववाले) जंतु दीखते हैं-अर्थात् योगमें प्रवृत्ति न होगी तो ऐसेही नरक मुझे भी मिलैंगे। भावार्थ यह है कि, जिसका छोटासा द्वारहो जिसमें छिद्र गढे बिल न हों और जो अत्यन्त ऊंचा विस्तृत न हो और जो भलीप्रकार चिकने गोमयसे लिपाहो और जो स्वच्छ हो और जिसमें कोई जीव न हो और जिसके बाहर मंडपवेदी कूप हो और शोभित हो और जिसके चारों तर्फ प्राकार (भीत) हो यह योगमठका लक्षण हठयोगके अभ्यास कर्ता सिद्धोंने कहाहै ॥१३॥

एवंविधे मठे स्थित्वा सर्वचिंताविवर्जितः ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण योगमेव समभ्यसेत् ॥१४॥

मठलक्षणमुक्त्वा मठे यत्कर्तव्यं तदाह-एवंविध इति ॥ एवं पूर्वोक्ता विधा प्रकारो यस्य तथा पूर्वोक्तलक्षण इत्यर्थः। तस्मिन्स्थित्वा स्थितिं कृत्वा सर्वा याश्चितास्ताभिर्विशेषेण वर्जितो रहितोऽशेषचिन्तारहितः। गुरुणोपदिष्टो यो मार्गः हठाभ्यासप्रकाररूपस्तेन सदा नित्यं योगमेवाभ्यसेत् एवंशब्देनाभ्यासांतरस्य योगे विघ्नकरत्वं सूचितम्। तदुक्तं योगबीजे-'मरुज्जयो यस्य सिद्धस्तं सेवेत गुरुं सदा। गुरुवक्त्रप्रसादेन कुर्यात्प्राणजयं बुधः ॥' राजयोगे-'वेदांततर्कोक्तिभिरागमैश्च नानाविधैः शास्त्रकदंबकैश्च। ध्यानादिभिः सत्करणैर्न गम्यश्चिंतामणिर्ह्येकगुरुं विहाय ॥' स्कंदपुराणे- 'आचार्याद्योगसर्वस्वमवाप्य स्थिरधीः स्वयम्। यथोक्तं लभते तेन प्राप्नोत्यपि च निर्वृतिम् ॥ सुरेश्वराचार्यः-'गुरुप्रसादाल्लभते योगमष्टांगसंयुतम्। शिवप्रसादाल्लभते योगसिद्धिं च शाश्वतीम् ॥ यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशंते महात्मनः ॥ इति श्रुतिश्च 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इति च ॥ १४ ॥

भाषार्थ-मठके लक्षण कहकर मठमें करने योग्य कर्माको कहते हैं कि, सम्पूर्ण चिंताओंसे रहित मनुष्य इसप्रकारके मठमें स्थित होकर गुरुने उपदेश किया जो मार्ग उससे सदैव योगका अभ्यास करै। और यहां एवं पदसे यह सूचित किया कि, अन्य कर्मका अभ्यास विघ्नकारी होता है सोई योगबीजमें कहाहै कि, जिसने वायुको जीत रक्खाहो

उस गुरुकी सदैव सेवा करे और बुद्धिमान् मनुष्य गुरुके मुखारविंदके प्रसादसे प्राणोंका जय करे । राजयोगमें भी लिखाहै कि, वेदांत और तर्कोंके वचन वेद और नाना प्रकारके शास्त्रोंके समूह और ध्यान आदि और वशीभूत इन्द्रियें इनसे चिन्तामणि (योग) की प्राप्ति एक गुरुको छोडकर नहीं होती अर्थात् गुरुके द्वारा ही योगकी प्राप्ति होती है । स्कंद-पुराणमें भी लिखा है कि, स्थिर बुद्धि मनुष्य आचार्य गुरुसे योगके सर्वस्व (पूर्ण) को जानकर यथोक्त (शास्त्रोक्त फलको) प्राप्त होताहै और निर्वृति (आनंद) कोभी प्राप्त होताहै सुरेश्वराचार्यने भी कहाहै कि, गुरुके प्रसादसे अष्टांगसहित योगको प्राप्त होताहै और शिवजीके प्रसादसे सनातनकी जो योगसिद्धि उसको प्राप्त होताहै जिसकी देवतामें परम भक्ति है और जैसी देवतामें है वैसी ही भक्ति गुरुमें है उस महात्माको शास्त्रमें कहे ये सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं और श्रुतिमें भी कहा है कि, वही पुरुष जानताहै जो आचार्यवाला है । भावार्थ यह है कि, इस पूर्वोक्त प्रकारके मठमें स्थित होकर संपूर्ण चिंता-ओंसे रहित मनुष्य गुरुके उपदेश किये मार्गसे सदैव योगका अभ्यास करे ॥ १४ ॥

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः ॥
जनसंगश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ॥ १५ ॥

अथ योगाभ्यासप्रतिबंधकानाह–अत्याहार इति ॥ अतिशयित आहारोऽत्याहारः । क्षुधापेक्षयाधिकभोजनम् । प्रयासः श्रमजननानुकूलो व्यापारः । प्रकृष्टो जल्पः प्रजल्पो बहुभाषणं शीतोदकेन प्रातः स्नाननक्तभोजनफलाहारादिरूपनियमस्य ग्रहणं नियमग्रहः । जनानां संगो जनसंगः कामादिजनकत्वात् । लोलस्य भावः लौल्यं चांचल्यम् । षड्भिरत्याहारादिभिरभ्यासप्रतिबंधकैः । योगो विनश्यति विशेषेण नश्यति ॥ १५ ॥

भावार्थ–अब योगाभ्यासके प्रतिबंधकोंको कहते हैं कि, अत्याहार अर्थात् क्षुधासे अधिक भोजन प्रयास अर्थात् परिश्रम जिसमें हो ऐसा व्यापार प्रजल्प (बहुत बोलना) नियमोंका ग्रहण अर्थात् शीतल जलसे प्रातःकालस्नान, रात्रिमें ही भोजन फलाहार आदिका नियम करना और जनोंका संग क्योंकि वहभी काम आदिको पैदा करताहै और चंचलता इन अत्याहार आदि छः इसे योग विशेषकर नष्ट होताहै ॥ १५ ॥

उत्साहात्साहसाद्धैर्यात्तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात् ॥
जनसंगपरित्यागात्षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति ॥ १६ ॥

अथ योगसिद्धिकरानाह-उत्साहादिति ॥ विषयप्रवणं चित्तं निरोत्स्याम्येवेत्युद्यमम् उत्साहः। साध्यत्वासाध्यत्वे परिभाव्य सहसा प्रवृत्तिः साहसम् । यावज्जीवनं सेत्स्यत्येवेत्यखेदो धैर्यम् । विषया मृगतृष्णाजलवदसंतः, ब्रह्मैव सत्यमिति वास्तविकं ज्ञानं तत्त्वज्ञानं योगानां वास्तविकं ज्ञानं वा । शास्त्रगुरुवाक्येषु विश्वासो निश्चयः श्रद्धेति यावत् । जनानां योगाभ्यासप्रतिकूलानां यः संगस्तस्य परित्यागात् । षड्भिरेभिर्योगः प्रकर्षेणाविलंबेन सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

भाषार्थ-अब योगके साधकोंको कहते हैं कि, विषयोंमें लगे चित्तकोभी रोकलूंगा यह उद्यमरूप उत्साह और साध्य असाध्यको विचार कर शीघ्र प्रवृत्तिरूप साहस और धैर्य जीवन पर्यंतमें तो सिद्ध होहीगा इस खेदके अभावको धैर्य कहते हैं और मृगतृष्णाके जलकी तुल्य विषय मिथ्या है और ब्रह्मही सत्य है यह वास्तविक (सत्य) ज्ञानरूप तत्त्वज्ञान और निश्चय अर्थात् शास्त्र और गुरुके वाक्योंमें विश्वास श्रद्धा और योगाभ्यासके विरोधी-जनोंका जो समागम परित्याग इन छः वस्तुओंसे योग शीघ्र सिद्ध होता है ॥ १६ ॥

अथ यमनियमाः ।

"अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः ॥
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश ॥ १ ॥
तपः संतोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ॥
सिद्धांतवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपो हुतम् ॥ २ ॥
नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः" ॥

भाषार्थ-हिंसाका त्याग, सत्य, चोरीका त्याग, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धीरता, दया, नम्रता, प्रमितभोजन और शुचिता ये दश यम कहाते हैं-और तप, संतोष, आस्तिकता, (परलोकको मानना)-दान, ईश्वरका पूजन, सिद्धांतवाक्योंका श्रवण, लज्जा, बुद्धि, तप और होम ये दश नियम योगशास्त्रके पंडितोंने कहे हैं ॥ १ ॥ २ ॥ ये अढाई श्लोक प्रक्षिप्त हैं ।

हठस्य प्रथमांगत्वादासनं पूर्वमुच्यते ॥
कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चांगलाघवम् ॥ १७ ॥

आदावासनकथने संगतिं सामान्यतस्तत्फलं चाह-हठस्येति ॥ हठस्य 'आसनं कुंभकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा । अथ नादानुसंधानम्'

इति वक्ष्यमाणानि चत्वार्यंगानि । प्रत्याहारादिसमाध्यंतानां नादानुसंधानेऽतर्भावः । तन्मध्ये आसनस्य प्रथमांगत्वात्पूर्वमासनमुच्यत इति संबंधः । तदासनस्थैर्यं देहस्य मनसश्चाञ्चल्यरूपरजोधर्मनाशकत्वेन स्थिरतां कुर्यात् । 'आसनेन रजो हंति' इति वाक्यात् । आरोग्यं चित्तविक्षेपकरोगाभावः । रोगस्य चित्तविक्षेपकत्वमुक्तं पातंजलसूत्रे-'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रांतिदर्शनालब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेंऽतरायाः' इति । अंगानां लाघवं लघुत्वं गौरवरूपतमोधर्मनाशकत्वमप्येतेनोक्तम् । चकारात्क्षुद्वृद्ध्यादिकमपि बोध्यम् ॥ १७ ॥

भाषार्थ-प्रथम आसनके कथनमें संगतिको और आसनके फलको कहतेहैं कि, हठयोगका प्रथम अंग होनेसे आसनको प्रथम कहते हैं कि, ये योगके चार अंग कहेंगे कि, आसन कुंभक (प्राणायाम) विचित्र मुद्राओंको करना और नादका अनुसंधान और प्रत्याहारसे समाधिपर्यंतोंका अंतर्भाव नादमें है उन चारोंमें आसन प्रथम अंग है इससे उसकाही पहिले वर्णन करते हैं कि, तिस आसनकी स्थिरता इसलिये करे कि, देह और मनकी चंचलतारूप जो रजोगुणका धर्म उसका नाशक आसनहै क्योंकि इस वचनमें यह लिखाहै कि, योगी आसनसे रजोगुणको नष्ट करताहै और आरोग्यकारकहै अर्थात् चित्तको विक्षेपक रोग नहीं होताहै क्योंकि पतंजलिके इस सूत्रमें रोगकोभी चित्तका विक्षेपक कहाहै कि, व्याधि-उत्थान-संशय-प्रमाद-आलस्य-अविरति-भ्रांति-दर्शन-अलब्धभूमि (पूर्वोक्त भूमियोंका न मिलना) अनवस्थित (चञ्चलता) ये चित्तके विक्षेपरूप विघ्न हैं और अंगोंका लाघव क्योंकि वह लाघव गौरवरूप तमोगुणके धर्मका नाशक है और चकारके पढनेसे क्षुधाकी वृद्धि आदिभी समझने अर्थात् ऐसा आसन हो जो स्थिर नीरोग अंगोंका लाघव उत्पन्न करे और जिससे क्षुधा न वढै ॥ १७ ॥

वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभिर्मत्स्येन्द्राद्यैश्च योगिभिः ॥
अंगीकृतान्यासनानि कथ्यंते कानिचिन्मया ॥ १८ ॥

वसिष्ठादिसंमतासनमध्ये श्रेष्ठानि मयोच्यंत इत्याह-वसिष्ठाद्यैरिति ॥ वसिष्ठ आद्यो येषां याज्ञवल्क्यादीनां तैर्मुनिभिर्मननशीलैः चकारान्मंत्रादिपरैः । मत्स्येंद्र आद्यो येषां जालंधरनाथादीनां तैः । योगिभिः हठाभ्या-

सिभिः । चकारान्मुद्रादिपरैः । अंगीकृतानि चतुरशीत्यासनानि तन्मध्ये कानिचित् श्रेष्ठानि मया कथ्यंते । यद्यप्युभयोरपि मननहठाभ्यासौ स्त-स्तथापि वसिष्ठादीनां मननं मुख्यं मत्स्येंद्रादीनां हठाभ्यासो मुख्य इति पृथग्ग्रहणम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ-वसिष्ठ आदिकोंके समेत जो आसन हैं उनमें श्रेष्ठ २ आसनोंके वर्णनकी प्रतिज्ञा करतेहैं कि, वसिष्ठ है आदिमें जिनके ऐसे मननके कर्ता मुनियोंने और चकारके पढनेसे मन्त्रके ज्ञाताओंने और मत्स्येंद्रहै आदिमें जिनके ऐसे योगियों (जालंधरनाथ आदि) ने अर्थात् हठयोगके अभ्यासियोंने और चकारके पढनेसे मुद्रा आदिके ज्ञाताओंने अंगीकार किये जो चौराशी ८४ आसन हैं उनमें कितनेक श्रेष्ठ आसनोंको मैं कहताहूं यद्यपि दोनोंको मनन और हठयोगका अभ्यास था तथापि वसिष्ठ आदिकोंका तो मनन मुख्य रहा और मत्स्येंद्र आदिकोंका हठयोगका अभ्यास मुख्य रहा इससे दोनोंको पृथक् पृथक् पढा है ॥ १८ ॥

जानूर्वोरंतरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे ॥
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥ १९ ॥

तत्र सुकरत्वात्प्रथमं स्वस्तिकासनमाह-जानूर्वोरिति ॥ जानु च ऊरुश्च । अत्र जानुशब्देन जानुसंनिहितो जंघाप्रदेशो ग्राह्यः। जंघोर्वोरिति पाठस्तु साधीयान् । तयोरंतरे मध्ये उभे पादयोस्तले तलप्रदेशौ कृत्वा ऋजुकायः समकायः यत्र समासीनो भवेत्तदासनं स्वस्तिकं स्वस्तिकाख्यं प्रचक्षते वदंति । योगिन इति शेषः । श्रीधरेणोक्तम्-'ऊरुजंघांतरावाय प्रपदे जानुमध्यगे। योगिनो यदवस्थानं स्वस्तिकं तद्विदुर्बुधाः॥' इति १९ ॥

भाषार्थ-स्वस्तिक आसनको कहते हैं कि, जानु (गोडे) और जंघाओंके बीचमें चरणतल अर्थात् दोनों तलवाओंको लगाकर जो सावधानीपूर्वक बैठना उसे स्वस्तिक आसन कहते हैं ॥ १९ ॥

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ॥
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखाकृति ॥ २० ॥

गोमुखासनमाह-'सव्य इति॥' सव्ये वामे पृष्ठस्य पार्श्वे संप्रदायात्कटेरधोभागे दक्षिणं गुल्फं नितरां योजयेत् । गोमुखस्याकृतिर्यस्य तत्ता-दृशं गोमुखसंज्ञकमासनं भवेत् ॥ २० ॥

भाषार्थ-गोमुख आसनको कहते हैं कि, कटिके वामभागमें दहना गुल्फ टकना और दक्षिणभागमें वामटकनेको लगाकर जो गोमुखके समान आकार होजाता है उसे गोमुख-आसन कहते हैं ॥ २० ॥

एकं पादं तथैकस्मिन्विन्यसेदूरुणि स्थितम् ॥
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमितीरितम् ॥ २१ ॥

वीरासनमाह-एकमिति ॥ एकं दक्षिणं पादम् । तथा पादपूरणे । एकस्मिन्वामोरुणि स्थितं विन्यसेत् । इतरस्मिन्वामे पादे ऊरुं दक्षिणं विन्यसेत् । तद्वीरासनमितीरितं कथितम् ॥ २१ ॥

भाषार्थ-वीरासनको कहते हैं कि, एकचरणको वाम जंघापर और दूसरेको दक्षिण जंघापर रखकर वीरासन होता है ॥ २१ ॥

गुदं निरुध्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः ॥
कूर्मासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः ॥ २२ ॥

कूर्मासनमाह-गुदमिति ॥ गुल्फाभ्यां गुदं निरुध्य नियम्य व्युत्क्रमेण यत्र समाहितः स्थितो भवेत् । एतत्कूर्मासनं भवेत् । इति योगविदो विदुरित्यन्वयः ॥ २२ ॥

भाषार्थ-कूर्मासनको कहते हैं दोनों टकनोंसे गुदाको बिपरीत क्रमसे अर्थात् दक्षिससे वामभाग वामसे दक्षिण भागको रोककर जो सावधानीसे बैठजाय उसे कूर्मासन कहते हैं ॥ २२ ॥

पद्मासनं तु संस्थाप्य जानूर्वोरंतरे करौ ॥
निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटासनम् ॥ २३ ॥

कुक्कुटासनमाह-पद्मासनं त्विति ॥ पद्मासनं तु ऊर्वोरुपरि उत्तान-चरणस्थापनरूपं सम्यक्‌ स्थापयित्वा । जानुपदेन जानुसंनिहितो जंघा-प्रदेशः । तच्च ऊरुश्च जानूरू तयोरंतरे मध्ये करौ निवेश्य भूमौ संस्था-प्य । करावित्यत्रापि संबध्यते । व्योमस्थं खस्थं पद्मासनसदृशं यत्तत्कु-क्कुटासनम् ॥ २३ ॥

भाषार्थ-अब कुक्कुटासनको कहते हैं कि, पद्मासनको लगाकर अर्थात् जंघाओंके ऊपर उत्तान (खडे) दोनों चरणोंको स्थापन करके और जानु (गोडे) और जंघाओंके मध्यभागमें दोनों हाथोंको लगाकर और उन दोनों हाथोंको भूमिमें स्थापन करके

आकाशमें स्थित रहे पद्मासनके समान जो यह आसन है सो कुक्कुटासन कहाता है अर्थात् मुरगेके समान स्थिति करनी ॥ २३ ॥

कुक्कुटासनबंधस्थो दोर्भ्यां संबध्य कंधराम् ॥
भवेत्कूर्मवदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकम् ॥ २४ ॥

उत्तानकूर्मकासनमाह—कुक्कुटासनेति ॥ कुक्कुटासनस्य यो बंधः पूर्वश्लोकोक्तस्तस्मिन् स्थितः दोर्भ्यां बाहुभ्यां कंधरां ग्रीवां संबध्य कूर्मवदुत्तानो यस्मिन्भवेदेतदासनमुत्तानकूर्मकं नाम ॥२४॥

भाषार्थ—अब कूर्मासनको कहते हैं कि, कुक्कुटासनके बंधनमें स्थित होकर अर्थात् कुक्कुटासनको लगाकर और दोनों भुजाओंसे कन्धरा (ग्रीवा) को भली प्रकार बांधकर कूर्म (कच्छप) के समान उत्तान (सीधा) हो जाय तो वह उत्तानकूर्मासन कहाता है ॥ २४ ॥

पादांगुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि ॥
धनुराकर्षणं कुर्याद्धनुरासनमुच्यते ॥ २५ ॥

धनुरासनमाह—पादांगुष्ठाविति ॥ पाणिभ्यां पादयोरंगुष्ठौ गृहीत्वा श्रवणावधि कर्णपर्यंतं धनुष आकर्षणं यथा भवति तथा कुर्यात् । गृहीतांगुष्ठमेकं पाणिं प्रसारितं कृत्वा गृहीतांगुष्ठमितरं पाणिं कर्णपर्यंतमाकुंचितं कुर्यादित्यर्थः । एतद्धनुरासनमुच्यते ॥ २५ ॥

भाषार्थ—अब धनुरासनको कहते हैं कि, दोनों पादोके अंगूठोंको हाथोंसे पकडकर श्रवण (कान) पर्यंत धनुषके समान आकर्षण करे (खींचें) उसको धनुरासन कहते हैं ॥ २५ ॥

वामोरुमूलार्पितदक्षपादं जानोर्बहिर्वेष्टित-
वामपादम् ॥ प्रगृह्य तिष्ठेत्परिवर्तितांगः
श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात् ॥ २६ ॥

मत्स्येंद्रासनमाह—वामोर्विति ॥ वामोरुमूलेऽर्पितः स्थापितो यो दक्षपादः तं संप्रदायात्पृष्ठतोगतवामपाणिना गुल्फस्योपरिभागे परिगृह्य जानोर्दक्षिणपादजानोर्बहिःप्रदेशे वेष्टितो यो वामपादस्तं वामपादजानोर्बहिर्वेष्टितदक्षिणपाणिनांगुष्ठे प्रगृह्य । परिवर्तितांगः वामभागेन पृष्ठतो

मुखं यथा स्यादेवं परिवर्तितं परावर्तितमंगं येन स तथा तादृशो यत्र तिष्ठेत् स्थितिं कुर्यात्तदासनं मत्स्येंद्रनाथेनोद्दिष्टं कथितं स्यात् । तदुद्दिष्टत्वात्तन्नाम्नैवोच्यत इति । एवं दक्षोरुमूलेऽपि वामपादं पृष्ठतो गतदक्षिणपाणिना प्रगृह्य वामजानोर्बहिर्वेष्टितदक्षपादं दक्षिणपादजानोर्बहिर्वेष्टितवामपाणिना प्रगृह्य । दक्षभागेन पृष्ठतो मुखं यथा स्यादेवं परिवर्तितांगश्चाभ्यसेत् ॥ २६ ॥

भाषार्थ-अब मत्स्येंद्रासनको कहते हैं कि, वामजंघाके मूलमें दक्षिण पादको रखकर और जानुसे बाहर वाम पादको हाथसे लपेटकर और पकडकर और परिवर्तित अंग होकर अर्थात् वाम भागसे पीठकी तर्फ मुखको करके जिस आसनमें टिकै वह मत्स्येन्द्रनाथका कहा मत्स्येन्द्रासन होता है । इसीप्रकार दक्षिणजंघाके मूलमें वामपादको रखकर और पीठपर गये दक्षिण हाथसे उसको ग्रहण करके और वामजानुसे बाहर हाथसे लपेटे दक्षिण पादको दक्षिण पादकी जानुसे बाहर लपेटे फिर उसको वाम हाथसे ग्रहण करके और दक्षिणभागसे पीठकी तरफ मुखको करके भी हठयोगका अभ्यास करै अर्थात् यह भी एक मत्स्येन्द्रासन है ॥ २६ ॥

मत्स्येंद्रपीठं जठरप्रदीप्तिं प्रचंडरुग्मंडलखंडनास्त्रम् ॥
अभ्यासतः कुंडलिनीप्रबोधं चंद्रस्थिरत्वं च ददाति पुंसाम् २७

मत्स्येंद्रासनस्य फलमाह-मत्स्येंद्रेति ॥ प्रचंडं दुःसहं रुजां रोगाणां मंडलं समूहः तस्य खंडने छेदनेऽस्त्रमस्त्रमिव तादृशं मत्स्येंद्रपीठं मत्स्येंद्रासनम् अभ्यासतः प्रत्यहमावर्तनरूपादभ्यासात् पुंसां जठरस्य जठराग्नेः प्रकृष्टां दीप्तिं वृद्धिं ददाति । तथा कुंडलिन्या आधारशक्तेः प्रबोधं निद्राभावं तथा चन्द्रस्य तालुन उपरिभागे स्थितस्य नित्यं क्षरतः स्थिरत्वं क्षरणाभावं च ददातीत्यर्थः ॥ २७ ॥

भाषार्थ-अब मत्स्येन्द्रासनके फलको कहते हैं कि, यह मत्स्येंद्रासन जठराग्निको दीपन (अधिक) करता है क्योंकि यह आसन प्रचंडरोगोंका जो समूह उसके नाशके लिये अस्त्रके समान है और कुण्डलिनी जो आधारशक्ति है उसके प्रबोध (जागरण) अर्थात् निद्राके अभावको और तालुके ऊपरके भागमें स्थित जो चन्द्र (नित्यझरै है) उसकी स्थिरताको अर्थात् झरनेके अभावको पुरुषोंको देता है अर्थात् करता है ॥ २७ ॥

प्रसार्य पादौ भुवि दंडरूपौ दोर्भ्यां पदाग्रद्वितयं गृहीत्वा ॥
जानूपरिन्यस्तललाटदेशो वसेदिदं पश्चिमतानमाहुः ॥२८॥

पश्चिमतानासनमाह-प्रसार्येति ॥ भुवि भूमौ दंडस्य रूपमिव रूपं ययोस्तौ दंडाकारौ श्लिष्टगुल्फौ प्रसार्य प्रसारितौ कृत्वा । दोर्भ्यामाकुंचिततर्जनीभ्यां भुजाभ्यां पदोः पदयोश्चाग्रे अग्रभागौ तयोर्द्वितयं द्वयमंगुष्ठप्रदेशयुग्मं बलादाकर्षणपूर्वकं यथा जान्वधोभागस्य भूमेरुत्थानं न स्यात्तथा गृहीत्वा । जानोरुपरिन्यस्तो ललाटदेशो येन तादृशो यत्र वसेत् । इदं पश्चिमताननामकमासनमाहुः ॥ २८ ॥

भाषार्थ-अब पश्चिमतानासनको कहते हैं कि, दंडके समान है रूप जिनका ऐसे और मिले हैं गुल्फ जिनके ऐसे दोनोंचरणोंको भूमिपर फैलाकर और आकुंचित (झुकडी) है तर्जनी जिनकी ऐसी भुजाओंसे दोनों पादोंके दोनों अग्रभागोंको ग्रहण करके अर्थात् अँगूठोंको इसप्रकार पकडकर जैसे जानुओंके अधोभाग भूमिसे ऊपर न उठें और जानुओंके ऊपर रक्खा है ललाट (मस्तक) भाग जिसने ऐसा होकर जहां पुरुष वसे उस आसनको पश्चिमतान आसन कहते हैं ॥ २८ ॥

इति पश्चिमतानमासनाग्र्यं पवनं पश्चिमवाहिनं करोति ॥
उदयं जठरानलस्य कुर्यादुदरे कार्श्यमरोगतां च पुंसाम् २९॥

अथ तत्फलम्-इतीति ॥ इति पूर्वोक्तमासनेष्वग्र्यं मुख्यं पश्चिमतानं पवनं प्राणं पश्चिमवाहिनं पश्चिमेन पश्चिममार्गेण सुषुम्नामार्गेण वहतीति पश्चिमवाही तं तादृशं करोति । जठरानलस्य जठरे योऽनलोऽग्निस्तस्योदयं वृद्धिं कुर्यात् । उदरे मध्यप्रदेशे कार्श्यं कृशत्वं कुर्यात् । अरोगतामारोग्यं चकारान्नाडीवलनादिसाम्यं कुर्यात् ॥ २९ ॥

भाषार्थ-अब इस आसनके फलको कहते हैं कि, संपूर्ण आसनोंमें मुख्य यह पश्चिमताननामका आसन प्राणरूप पवनको पश्चिमवाही करता है अर्थात् सुषुम्ना नाडीके मार्गसे प्राण बहने लगता है और जठराग्निको उत्पन्न करता है अर्थात् बढाताहै और उदरके मध्यमें कृशताको करता है और पुरुषोंकी अरोगता (रोगका अभाव) करता है और चकारसे नाडियोंके वलन आदिकी समताको करता है ॥ २९ ॥

धरामवष्टभ्य करद्वयेन तत्कूर्परस्थापितनाभिपार्श्वः ॥
उच्चासनो दंडवदुत्थितःस्यान्मायूरमेतत्प्रवदंति पीठम्॥ ३०॥

अथ मयूरासनमाह-धरामिति ॥ करद्वयेन करयोर्द्वयं युग्मं तेन धरां भूमिमवष्टभ्यावलंब्य प्रसारितांगुली भूमिसंलग्नतलौ सन्निहितौ करौ

कृत्वेत्यर्थः। तस्य करद्वयस्य कूर्परयोर्भुजमध्यसंधिभागयोः स्थापिते धृते नाभेः पार्श्वे पार्श्वभागौ येन स उच्चासन उच्चमुन्नतमासनं यस्यैतादृशः। खे शून्ये दंडवद्दंडेन तुल्यमुत्थित ऊर्ध्वं स्थितो यत्र भवति तन्मायूरं मयूरस्यैतत्संबंधित्वात्तन्नामकं प्रवदंति। योगिन इति शेषः ॥३०॥

भावार्थ-अब मयूरासनको कहते हैं कि, दोनों हाथोंसे भूमिका अवलंबन करके अर्थात् फलाये हुये हाथोंसे भूमिका स्पर्श करके और उन हाथोंका जो कूर्पर (भुजा, करका संधि-भाग) जिसको मणिवन्ध वा गट्टा कहते हैं उसके ऊपर नाभिके दोनों पार्श्वभागोंको स्थापित करके वह दंडके समान उठा हुआ उच्चासन होता है इस आसनको योगीजन मायूर कहते हैं अर्थात् मयूरके समान इसमें स्थिति होती है ॥ ३० ॥

हरति सकलरोगानाशु गुल्मोदरादी-
नभिभवति च दोषानासनं श्रीमयूरम् ॥
बहु कदशनभुक्तं भस्म कुर्यादशेषं
जनयति जठराग्निं जारयेत्कालकूटम् ॥३१॥

मयूरासनगुणानाह-हरतीति ॥ गुल्मो रोगविशेषः उदरं जलोदरं ते आदिनी येषां प्लीहादीनां ते तथा तान्सकलरोगान् सकला ये रोगास्ता-नाशु झटिति हरति नाशयति। श्रीमयूरमासनमिति सर्वत्र संबध्यते। दोषान्वातपित्तकफानालस्यादींश्चाभिभवति तिरस्करोति। बह्वतिशयितं कदशनं कदन्नं यद्भुक्तं तदशेषं समस्तं भस्म कुर्यात्पाचयेदित्यर्थः। जठराग्निं जठरानलं जनयति प्रादुर्भावयति। कालकूटं विषं कालकूट-वदपकारकान्नं समस्तं जारयेज्जीर्णं कुर्यात्पाचयेदित्यर्थः ॥ ३१ ॥

भावार्थ-अब मयूरासनके गुणोंको कहते हैं कि, गुल्म और जलोदर आदि और जो प्लीहा तिल्ली आदि सब रोग हैं उनको शीघ्र हरता है और संपूर्ण जो वात पित्त कफ आलस्य आदि दोष हैं उनका तिरस्कार करता है। और अधिक वा कुत्सित अन्न जो भक्षण करलिया होय तो उस संपूर्णको भस्म करता है और जठराग्निको बढाता है और कालकूट (विष) को भी जीर्ण करता है अर्थात् विषके समान अपकार करनेवाला जो अन्न है उसकोभी पचाता है ॥ ३१ ॥

उत्तानं शववद्भूमौ शयनं तच्छवासनम् ॥
शवासनं श्रांतिहरं चित्तविश्रांतिकारकम् ॥ ३२ ॥

शवासनमाहार्धेन—उत्तानमिति॥शवेन मृतशरीरेण तुल्यं शववदुत्तानं भूमिसंलग्नं पृष्ठं यथा स्यात्तथा शयनं निद्रायामिव सन्निवेशो यत्तच्छवासनं शवाख्यमासनम्। शवासनप्रयोजनमाह—उत्तरार्धेन। शवासनं श्रांतिहरं श्रांतिं हठाभ्यासश्रमं हरतीति श्रांतिहरं चित्तस्य विश्रांतिर्विश्रामस्तस्याः कारकम्॥ ३२॥

भाषार्थ—अब शवासन और उसके फलको कहते हैं कि, शव (मृतके समान) भूमिपर पीठको लगाकर उत्तान (सीधा) शयन निद्राके तुल्य जिसमें हो वह शवासन होता है। और यह शवासन हठयोगके परिश्रमको हरता है और चित्तकी विश्रांति (विश्राम) को करता है अर्थात् इसके करनेसे चित्त स्थिर होजाता है॥ ३२॥

चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च॥
तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम्॥ ३३॥

वक्ष्यमाणासनचतुष्टयस्य श्रैष्ठ्यं वदन्नाह-चतुरशीतीति॥ शिवेनेश्वरेण चतुरधिकाशीतिसंख्याकान्यासनानि कथितानि चकारान्चतुरशीतिलक्षाणि च। तदुक्तं गोरक्षनाथेन—'आसनानि च तावंति यावंत्यो जीवजातयः॥एतेषामखिलान्भेदान्विजानाति महेश्वरः॥चतुरशीतिलक्षाणामेकैकं समुदाहृतम्। ततः शिवेन पीठानां षोडशोनं शतं कृतम्॥' इति तेभ्यः शिवोक्तचतुरशीतिलक्षासनानां मध्ये प्रशस्तानि यानि चतुरशीत्यासनानि तेभ्य आदाय गृहीत्वा। सारभूतं श्रेष्ठभूतं चतुष्कमहं ब्रवीमीत्यन्वयः ३३॥

भाषार्थ—अब चार आसनोंकी श्रेष्ठताका वर्णन करते हैं कि शिवजीने चौरासी आसन कहे हैं और चकारके पढनेसे उनके चौरासी लाख लक्षण कहे हैं सोई गोरक्षनाथने कहाहै कि, जितनी जीवोंकी जाति हैं उतनेही आसन हैं इनके संपूर्ण भेदोंको शिवजी जानते हैं. उनमेंभी एक २ चौरासी लक्ष कहा हैं तिससे शिवजीने चौरासी आसनही किये हैं, उनमें श्रेष्ठ जो चौरासी आसन हैं उनमेंसे लेकर श्रेष्ठ जो चार आसन हैं उनको मैं कहता हूँ॥ ३३॥

सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम्॥
तत्रापि च सुखे तिष्ठेत्सिद्धासने सदा॥ ३४॥

तदेव चतुष्कं नाम्ना निर्दिशति—"सिद्धमिति॥" सिद्धं सिद्धासनम्। पद्मं पद्मासनम्, सिंहं सिंहासनम्, भद्रं भद्रासनम् इति चतुष्टयं श्रेष्ठमिति-

श्रेष्ठेन प्रशस्यं तत्रापि चतुष्टये सुखे सुखकरे सिद्धासने सदा तिष्ठेत् एतेन सिद्धासनं चतुष्टयेऽप्युत्कृष्टमिति सूचितम् ॥ ३४ ॥

भाषार्थ-उन चारोंकेही नामोंको दिखाते हैं कि, सिद्धासन-पद्मासन-सिंहासन और भद्रासन ये चार आसन अत्यंत श्रेष्ठ हैं। उन चारोंमें सुखका कर्ता जो सिद्धासन है उसमें सदैव योगी टिकै-इससे यह सूचित किया कि, इन चारोंमेंभी सिद्धासन उत्तम है ॥ ३४ ॥

योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
न्मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ॥
स्थाणुः संयमितेंद्रियोऽचलदृशा पश्येद्भ्रुवोरंतरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥ ३५ ॥

आसनचतुष्टयेऽप्युत्कृष्टत्वात्प्रथमं सिद्धासनमाह-योनिस्थानकमिति ॥ योनिस्थानमेव योनिस्थानकम् । स्वार्थे कप्रत्ययः । गुदोपस्थयोर्मध्यमप्रदेशे पदं योनिस्थानं तत् अंघ्रिर्वामश्चरणस्तस्य मूलेन पार्ष्णिभागेन घटितं संलग्नं कृत्वा । स्थानांतरं एकं पादं दक्षिणं पादं मेढ्रेंद्रियस्योपरिभागे दृढं यथास्यात्तथा विन्यसेत् । हृदये हृदयसमीपे हनुं चिबुकं सुस्थिरं सम्यक्स्थिरं कृत्वा हनुहृदययोश्चतुरंगुलमंतरं यथा भवति तथा कृत्वेति रहस्यम् । संयमितानि विषयेभ्यः परावृत्तानींद्रियाणि येन स तथा । अचला या दृक् दृष्टिस्तया भ्रुवोरंतरं मध्यं पश्येत् । हि प्रसिद्धं मोक्षस्य यत्कपाटं प्रतिबंधकं तस्य भेदं नाशं जनयतीति तादृशं सिद्धानां योगिनाम् । आस्तेऽत्रास्यतेऽनेनेति वा आसनं सिद्धासननामकमिदं भवेदित्यर्थः ॥ ३५ ॥

भाषार्थ-अब चारों आसनोंमें उत्तम जो सिद्धासन उसके स्वरूपका वर्णन करते हैं कि, गुदा और लिंग इन्द्रियका मध्यभाग जो योनिस्थान है उससे वाम चरणके मूल (ऐडी) को मिलाकर और दक्षिण दूसरे पादको दृढ रीतिसे लिंग इन्द्रियके ऊपर रक्खे और हृदयके समीपभागमें हनु चिबुक वा (ठोडी) को भलीप्रकार स्थिर करके अर्थात् हनु और हृदयका चार अंगुलका अन्तर रखकर भलीप्रकार विषयोंसे रोकी हैं इंद्रियें जिसने ऐसा स्थाणु (निश्चल) योगी अपनी अचल (एकरस) दृष्टिसे भ्रुकुटीके मध्यभागको देखता रहै। यह मोक्षके कपाट (अवरोध वा रोक) का जो भेदन (नाश) उसका करनेवाला योगिजनोंने सिद्धासन कहाहै-अर्थात् सिद्धयोगी इस आसनसे बैठते हैं ॥ ३५ ॥

मेढ्रादुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि ॥
गुल्फांतरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं भवेत् ॥ ३६ ॥

मत्स्येंद्रसंमतं सिद्धासनमुक्त्वाऽन्यसंमतं वक्तुमाह-मतांतरे त्विति ॥ तदेव दर्शयति-मेढ्रादिति ॥ मेढ्रादुपस्थादुपर्यूर्ध्वभागे सव्यं वामगुल्फं विन्यस्य तथा सव्यवदुपरि मुख्यपादस्योपरि न तु सव्यगुल्फस्य। गुल्फांतरं दक्षिणगुल्फं च निक्षिप्य वसेदिति शेषः। इदं सिद्धासनं मतांतराभिमतमित्यभेद इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

भाषार्थ-अब मत्स्येन्द्रके संमत सिद्धासनको कहकर अन्य योगियोंके संमत सिद्धासनको कहते हैं कि, मतांतरमें तो यह लिखा है कि, लिंग इंद्रियके ऊपरके भागमें वामगुल्फको रखकर और तैसेही सव्य (वाम) पादके ऊपर दक्षिण गुल्फको रखकर बैसे तो यह भी किसी २ ने सिद्धासन कहा है ॥ ३६ ॥

एतत्सिद्धासनं प्राहुरन्ये वज्रासनं विदुः ॥
मुक्तासनं वदंत्येके प्राहुर्गुप्तासनं परे ॥ ३७ ॥

तत्र प्रथमं महासिद्धसंमतमिति स्पष्टीकर्तुमस्यैव मतभेदान्नामभेदानाहएतदिति ॥ एतत्पूर्वोक्तं सिद्धासनं सिद्धासननामकं प्राहुः । केचिदित्यध्याहारः। अन्ये वज्रासनं वज्रासनसंज्ञकं विदुः जानंति। एके मुक्तासनं मुक्तासनाभिधं वदंति। परे गुप्तासनं गुप्तासनाख्यं प्राहुः। अत्रासनाभिज्ञाः। यत्र वामपादपार्ष्णिं योनिस्थाने नियोज्यदक्षिणपादपार्ष्णिमेंढ्रादुपरि स्थाप्यते तत्सिद्धासनम्। यत्र वामपादपार्ष्णिं योनिस्थाने नियोज्य दक्षिणपादपार्ष्णिमेंढ्रादुपरि स्थाप्यते तद्वज्रासनम्। यत्र तु दक्षिणसव्यपार्ष्णिद्वयमुपर्यधोभागेन संयोज्य योनिस्थानेन संयोज्यते तन्मुक्तासनम् । यत्र च पूर्ववत्संयुक्तं पार्ष्णिद्वयं मेढ्रादुपरि निधीयते तद्गुप्तासनमिति ॥ ३७ ॥

भाषार्थ-इसकोही कोई सिद्धासन कहते हैं और कोई वज्रासन कहते हैं और कोई मुक्तासन और कोई गुप्तासन कहते हैं अर्थात् इस सिद्धासनके ही ये भी नाम हैं और आसनके जो भलीप्रकार ज्ञाता हैं वे इन चारों आसनोंमें यह भेद (फरक) कहते हैं कि जिसमें वाम पादकी पार्ष्णिको लिंगके स्थानपर लगाकर और दक्षिणपादकी पार्ष्णि (एडी)को लिंगके ऊपर रखकर स्थित हो वह सिद्धासन कहाताहै और जहां वाम पार्ष्णिको लिंगके

स्थानमें और दक्षिण पादकी पार्ष्णिको लिंगके ऊपर लगाकर स्थिति करै वह वज्रासनभी कहाता है अर्थात् इन दोमें भेद नहीं है और जहां दक्षिण और वाम पादकी दोनों पार्ष्णियोंको ऊपर नीचे मिलाकर योनिके स्थानमें लगाकर स्थित है वह मुक्तासन कहाता है और जहां पूर्वोक्त रीतिसे मिलाई दोनों पार्ष्णियोंको लिंगसे ऊपर रखकर स्थितहो. वह गुप्तासन कहाता है ॥ ३७ ॥

यमेष्विव मिताहारमहिंसां नियमेष्विव ॥

मुख्यं सर्वासनेष्वेकं सिद्धाः सिद्धासनं विदुः ॥ ३८॥

अथ सप्तभिः श्लोकैः सिद्धासनं प्रशंसति—यमेष्वित्यादिभिः ॥ यमेषु मिताहारमिव । मिताहारो वक्ष्यमाणः 'सुस्निग्धमधुराहारः' इत्यादिना । नियमेषु अहिंसामिव सर्वाणि यान्यासनानि तेषु सिद्धाः एकं सिद्धासनं मुख्यं विदुरिति संबंधः ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—अब सात श्लोकोंसे सिद्धासनकी प्रशंसा करते हैं कि, जैसे दश प्रकारके यमोंमें प्रमित भोजन मुख्य है और नियमोंमें अहिंसा मुख्य है इसीप्रकार संपूर्ण आसनोंमें सिद्धासन सिद्धोंने मुख्य कहा है। और प्रमित भोजन इस वचनसे कहेंगे कि, भली प्रकार स्निग्ध (चिकना) और मधुर आदि जो भोजन वह मिताहार कहाता है ॥ ३८ ॥

चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत् ॥

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम् ॥ ३९ ॥

चतुरशीतीति॥ चतुरधिकाशीतिसंख्याकानि यानि पीठानि तेषु सिद्धमेव सिद्धासनमेव सदा सर्वदाभ्यसेत् । सिद्धासनस्य सदाभ्यासे हेतुगर्भं विशेषणम् । द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनं शोधकम् ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—चौरासी जो आसन हैं उनमें सदैव सिद्धासनका अभ्यास करै क्योंकि यह आसन बहत्तर हजार नाडियोंके मलोंका शोधक है ॥ ३९ ॥

आत्मध्यायी मिताहारी यावद्द्वादशवत्सरम् ॥

सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात् ॥ ४० ॥

आत्मध्यायीति॥आत्मानं ध्यायतीत्यात्मध्यायी मित आहारोऽस्यास्तीति मिताहारी यावंतो द्वादश वत्सराः यावद्द्वादशवत्सरम् । 'यावदवधारणे' इत्यव्ययीभावः समासः । द्वादशवत्सरपर्यंतमित्यर्थः । सदा सर्वदा सिद्धासनस्याभ्यासाद्योगी योगाभ्यासी निष्पत्तिं योगसिद्धिमा—

प्नुयात्प्राप्नुयात्। योगांतराभ्यासमंतरेण सिद्धासनाभ्यासमात्रेण सिद्धिं प्राप्नुयादित्यर्थः ॥ ४० ॥

भाषार्थ-आत्माके ध्यानका कर्ता और मिताहारी होकर द्वादशवर्ष पर्यंत सदैव सिद्धासनके अभ्यास करनेसे योगी योगकी सिद्धिको प्राप्त होता है अर्थात् अन्ययोगोंके अभ्यासके विनाही केवल सिद्धासनकेही अभ्याससे सिद्धिको प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

किमन्यैर्बहुभि पीठैः सिद्धे सिद्धासने सति ॥
प्राणानिले सावधाने बद्धे केवलकुंभके ॥ ४१ ॥

किमन्यैरिति ॥ सिद्धासने सिद्धे सत्यन्यैर्बहुभिः पीठैरासनैः किम्। न किमपीत्यर्थः। सावधाने प्राणानिले प्राणवायौ केवलकुंभके बद्धे सति ॥ ४१ ॥

भाषार्थ-सिद्धासनके सिद्ध होनेपर अन्य बहुतसे आसनोंसे क्या फल है अर्थात् कुछ नहीं है और इस सिद्धासनसे सावधान प्राणवायुके केवल कुम्भक प्राणायाम बँधनेपर अन्य सब आसन वृथा समझने ॥ ४१ ॥

उत्पद्यते निरायासात्स्वयमवोन्मनी कला ॥
तथैकस्मिन्नेव दृढे सिद्धे सिद्धासने सति ॥
बंधत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते ॥ ४२ ॥

उत्पद्यत इति ॥ उन्मनी उन्मन्यवस्था सा कलेवाह्लादकत्वाचंद्रलेखेव निरायासादनायासात्स्वयमेवोत्पद्यत उदेति-तथेति। तथोक्तप्रकारेणैकस्मिन्नेव सिद्धे दृढे बद्धे सति बंधत्रयं मूलबंधोड्डीयानबंधजालंधरबंधरूपमनायासात् 'पार्ष्णिमार्गेण संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम्' इत्यादिवक्ष्यमाणमूलबंधादिष्वायासस्तं विनैव स्वयमेवोपजायते स्वत एवोत्पद्यत इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

भाषार्थ-और इस सिद्धासनके प्रतापसेही चंद्रमाकी कलाके समान उन्मनी कला विनापरिश्रम उत्पन्न होजाती है और तिसीप्रकार एक दृढ सिद्धासनके सिद्ध होनेपर मूलबन्ध उड्डीयानबन्ध जालंधरबंधरूप तीनों बंध विनाश्रम स्वयंही होजाते हैं अर्थात् पार्ष्णिके मार्गसे योनि (लिंग) को भली प्रकार दबाकर गुदाका संकोच करै इत्यादि वचनोंसे जो मूलबंध आदिमें परिश्रम कहा है उसके किये बिनाही तीनों बंध सिद्ध होजाते हैं ॥ ४२ ॥

नासनं सिद्धसदृशं न कुंभः केवलोपमः ॥
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः ॥ ४३ ॥

नासनमिति ॥ सिद्धेन सिद्धासनेन सदृशमासनम् । नास्तीति शेषः । केवलेन केवलकुंभकेनोपमीयत इति केवलोपमः कुंभः कुंभको नास्ति । खेचरीमुद्रासमा मुद्रा नास्ति । नादसदृशो लयो लयहेतुर्नास्ति ॥ ४३ ॥

भाषार्थ–सिद्धासनके समान अन्य आसन नहीं है और केवल कुम्भकके समान कुम्भक नहीं है और खेचरी मुद्राके समान मुद्रा नहीं है और नादके समान अन्य ब्रह्ममें लयका हेतु नहीं है ॥ ४३ ॥

अथ पद्मासनम् ।

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ॥
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते ॥४४॥

पद्मासनं वक्तुमुपक्रमते–अथेति ॥ पद्मासनमाह–वामोरूपरीति ॥ वामो य ऊरुस्तस्योपरि दक्षिणम् । चकारः पादपूरणे । संस्थाप्य सम्यगुत्तानं स्थापयित्वा वामं सव्यं चरणं तथा दक्षिणचरणवद्दक्षो दक्षिणो य ऊरुस्तस्योपरि संस्थाप्य पश्चिमेन भागेन पृष्ठभागेनेति । विधिर्विधानं करयोरित्यर्थात् । तेन कराभ्यां हस्ताभ्यां दृढं यथा स्यात्तथा पादांगुष्ठौ धृत्वा गृहीत्वा । दक्षिणं करं पृष्ठतः कृत्वा । वामोरुस्थितदक्षिणचरणांगुष्ठं गृहीत्वा वामकरं पृष्ठतः कृत्वा । दक्षिणोरुस्थितवामचरणांगुष्ठं गृहीत्वेत्यर्थः । हृदये हृदयसमीपे । सामीपिकाधारे सप्तमी । चिबुकं हनुं निधायोरसश्चतुरंगुलांतरे चिबुकं निधायेति रहस्यम् । नासाग्रं नासिकाग्रमालोकयेत्पश्येद्यत्रैतद्यमिनां योगिनां व्याधेर्विनाशं करोतीति व्याधिविनाशकारि पद्मासनमेतन्नामकं प्रोच्यते सिद्धैरिति शेषः ॥ ४४ ॥

भाषार्थ–अब पद्मासनको कहते हैं कि, वाम जंघाके ऊपर सीधे दक्षिण चरणको भलीप्रकार स्थापन करके और तिसीप्रकार सीधे वाम चरणको दक्षिण जंघाके ऊपर भलीप्रकार स्थापन करके और पृष्ठभागसे जो विधि उससे दोनों हाथोंसे दृढ रीति चरणोंके अँगूठोंको ग्रहण (पकड) कर अर्थात् पृष्ठपर किये दक्षिणहाथसे वाम

जंघापर स्थित दक्षिण चरणके अँगूठेको ग्रहण करके और पृष्टपर किये वाम हाथसे दक्षिण जंघापर स्थित वाम चरणके अँगूठेको ग्रहण करके और हृदयके समीप चार अंगुलके अंतर चिबुक (हनु वा टोडी) रखकर अपनी नासिकाके अग्रभागको देखता रहे अर्थात् ऐसी स्थिति जिसमें हो यह योगियोंकी संपूर्ण व्याधियोंका विनाशकारक पद्मासन सिद्धोंने कहा है अर्थात् इस आसनके लगानेसे संपूर्ण व्याधि नष्ट होती है ॥ ४४ ॥

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ॥
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ ॥ ४५ ॥

मत्स्येंद्रनाथाभिमतं पद्मासनमाह-उत्तानाविति ॥ उत्तानौ ऊरुसंलग्नपृष्ठभागौ चरणौ पादौ प्रयत्नतः प्रकृष्टाद्यत्नादूरुसंस्थावूर्वोः सम्यक् तिष्ठत इत्यूरुसंस्थौ तादृशौ कृत्वा। ऊर्वोर्मध्ये ऊरुमध्ये। तथा चार्थे: पाणी करावुत्तानौ कृत्वा। ऊरुसंस्थोत्तानपादोभयपार्ष्णिसंलग्नपृष्ठं सव्यं पाणिमुत्तानं कृत्वा। तदुपरि दक्षिणं पाणिं चोत्तानं कृत्वेत्यर्थः, ततस्तदनंतरं। दृशौ दृष्टी ॥ ४५ ॥

भाषार्थ-अब मत्स्येंद्रनाथके कहे पद्मासनको कहते हैं कि, उत्तान चरणोंको बडे यत्नसे जंघाओंपर स्थित करके अर्थात् जंघाओंपर लगा है पृष्ठभाग जिनका ऐसे चरणोंको उत्तम यत्नसे जंघाओंपर स्थित करके और जंघाओंके मध्यमें उत्तान (सीधे) हाथोंको रखकर तात्पर्य यह है कि, जंघाओंपर स्थित जो चरणोंकी दोनों पार्ष्णि उसमें लगा है पृष्ठभाग जिसका ऐसे वामहाथको उत्तान करके और उसके ऊपर दक्षिण पार्ष्णिको उत्तान करके और फिर दृष्टि (नेत्रों) को ॥ ४५ ॥

नासाग्रे विन्यसेद्राजदंतमूले तु जिह्वया ॥
उत्तंभ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः ॥ ४६ ॥

नासाग्र इति। नासाग्रे नासिकाग्रे विन्यसेद्विशेषेण निश्चलतया न्यसेदित्यर्थः ॥ राजादंतानां दंष्ट्राणां सव्यदक्षिणभागे स्थितानां मूले उभे मूलस्थाने जिह्वया उत्तंभ्य ऊर्ध्वं स्तंभयित्वा। गुरुमुखादवगंतव्योऽयं जिह्वाबंधः चिबुकं वक्षसि निधायेति शेषः। शनैर्मंदंमंदं पवन वायुमुत्थाप्य। अनेन मूलबंधः प्रोक्तः। मूलबंधोऽपि गुरुमुखादेवावगंतव्यः वस्तुतस्तु जि ाबंधेनैवायं चरितार्थ इति हठरहस्यविदः ॥ ४६ ॥

भावार्थ—अपनी नासिकाके अग्रभागमें निश्चलरूपसे लगा दे और राजदन्तों (डाड) के मूलोंको जिह्वासे ऊपर स्तंभन (थांबना) करके और चिबुकको वक्षःस्थलपर रखकर यह जिह्वाका बन्धन गुरुके मुखसे जानने योग्य है—और शनैः २ पवनको उठाकर इससे मूलबन्ध कहा है यह भी गुरुके मुखसेही जानने योग्य है हठरहस्य (सिद्धांत वा तत्त्व) के ज्ञाता तो यह कहते हैं कि, जिह्वाके बन्धसेही मूलबन्ध हो सकता है ॥ ४६ ॥

इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ॥
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते भुवि ॥४७॥

इदमिति ॥ एवं यत्रास्यते तदिदं पद्मासनं पद्मासनाभिधानं प्रोक्तम् आसनज्ञैरिति शेषः । कीदृशं सर्वेषां व्याधीनां विशेषेण नाशनं येन-केनापि भाग्यहीनेन दुर्लभम् । धीमता भुवि भूमौ लभ्यते प्राप्यते ॥४७॥

भावार्थ—इस पूर्वोक्त प्रकारसे आसन लगाकर जहां बैठे वह संपूर्ण व्याधियोंका नाशक योगिजनोंने पद्मासन कहा है और दुर्लभ आसन जिसकिसी बुद्धिमान् मनुष्योंको पृथिवीमें मिलता है अर्थात् विरलाही कोई इसको जानता है । अथवा जिस किसी मूर्खको दुर्लभ है और बुद्धिमान्को तो भूमिके विषे मिलसकता है ॥ ४७ ॥

कृत्वासंपुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यायंश्च तच्चेतसि ॥
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोत्सारयन्पूरितं
न्यंचन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥४८॥

एतच्च महायोगिसंमतमिति सूचयितुमन्यदपि पद्मासने कृत्यविशेष-माह—कृत्वेति ॥ संपुटितौ संपुटीकृतौ करावुत्संगस्थाविति शेषः । दृढ-तरमतिशयेन दृढं सुस्थिरं पद्मासनं बद्ध्वा कृत्वेत्यर्थः । चिबुकं हनुं गाढं दृढं यथा स्यात्तथा वक्षसि वक्षःसमीपे संनिधाय संनिहितं कृत्वा चतुरंगुलांतरेणेति योगिसंप्रदायाज्ज्ञेयम् । जालंधरबंधं कृत्वेत्यर्थः । तच्च स्वेष्टदेवतारूपं ब्रह्म वा । ओंतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' इति भगवदुक्तेः । चेतसि चित्ते ध्यायन् चिंतयन् । अपान-मनिलम् अपानवायुं ऊर्ध्वं प्रोत्सारयन्मूलबंधं कृत्वा सुषुम्नामार्गेण प्राणमूर्ध्वं नयन् पूरितं पूरकेण अंतर्धारितं प्राणं न्यंचन्नीचैर-धोंचन् गमयन् । अंतर्भावितण्यर्थोऽचतिः । प्राणापानयोरैक्य-

कृत्वेत्यर्थः । नरः पुमानतुलं बोधं निरुपमज्ञानं शक्तिप्रभावाच्छक्ति-राधारशक्तिः कुंडलिनी तस्याः प्रभावात्सामर्थ्यादुपैति प्राप्नोति । प्राणापानयोरैक्ये कुंडलीनोबोधो भवति । कुंडलिनीबोधे सुषुम्न-मार्गेण प्राणो ब्रह्मरंध्रं गच्छति । तत्र गते चित्तस्थैर्यं भवति चित्तस्थैर्ये संयमादात्मसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

भाषार्थ-यह पद्मासन बडे २ योगियोंको संमत है इस बातको स्पष्ट करते हुऐ ग्रंथ कार पद्मासनके विषे अन्य भी कृत्यको कहते हैं कि, दोनों हाथोंको संपुटित करके उत्संग (गोदी) में स्थित करके और दृढरीतिसे पद्मासनको बांधकर और चिबुकको दृढरीतिसे वक्षःस्थलके समीप करके-यह चार अंगुलका अंतर योगियोंकी संप्रदायसे जानना-अर्थात् इस पूर्वोक्त प्रकारसे जालंधर बन्धको करके उस २ अपने इष्टदेव वा ब्रह्मका चित्तके विषे वारंवार ध्यान करता हुआ योगी ओं तत् सत् यह तीन प्रकारका ब्रह्मनिर्देश (रूप) कहा है क्योंकि यह भगवान्ने गीतामें कहा है। अपानवायुको ऊपरको प्रोत्सारित (चढाता) करता और मूल बंधको करके सुषुम्नाके मार्गसे प्राणवायुको ऊपरको चढाता हुआ और पूरित कियेअर्थात् पूरक प्राणायामसे अंतर्धारण किये प्राणवायुको नीचे गमन करता हुआ-अर्थात् प्राण और अपानकी एकताको करके मनुष्य शक्ति (आधारशक्ति कुन्डलिनी) के प्रभावसे सर्वोत्तम ज्ञानको प्राप्त होता है-अर्थात् प्राण अपानकी एकताके होनेसे कुन्ड-लिनीका बोध (प्रकाश) होता है कुन्डलिनीका बोध होनेपर सुषुम्नाके मार्गसे प्राण ब्रह्मरंध्रमें प्राप्त होजाता है और उसमें जानेसे चित्तकी स्थिरता होजाती है-चित्तकी स्थिरता होनेपर संयमसे आत्माका साक्षात्कार होता है अर्थात् आत्मज्ञान होजाता है। भावार्थ यह है कि, दोनों हाथ संपुटित-और भलीप्रकार दृढ पद्मासन लगाय और अपने वक्षःस्थलपर चिबुकको लगाकर और उसमें वारंवार इष्टदेवका ध्यान करता हुआ और अपान वायुको ऊपरको पहुँचाता और पूरित किये प्राण वायुको नीचेको करता हुआ मनुष्य शक्तिके प्रभावसे उत्तम ज्ञानको प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

पद्मासने स्थितो योगी नाडीद्वारेण पूरितम् ॥
मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ४९ ॥

पद्मासन इति-पद्मासने स्थितो योगी योगाभ्यासी पूरितं पूरकेणा-तर्नीतं मारुतं वायुं सुषुम्नामार्गेण मूर्धानम् । नीतमिति शेषः । धारयेत्स्थि-रीकुर्यात्स मुक्तः । अत्र संशयो नास्तीत्यन्वयः ॥ ४९ ॥

भाषार्थ-पद्मासनमें स्थित योगका अभ्यासी नाडीवेद्वारा पूरित अर्थात् पूरकसे अंतर्गत (मध्यमें) किये वायुको सुषुम्नाके मार्गसे मस्तक पर्यंत पहुँचाकर जो स्थिर करे वह मुक्त है इसमें संशय नहीं है ॥ ४९ ॥

अथ सिंहासनम् ।

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्या पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥
दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके ॥५०॥

सिंहासनमाह-गुल्फौ चेति ॥ वृषणस्याधः अधोभागे सीवन्याःपार्श्वयोः सीवन्या उभयभागयोः क्षिपेत्प्रेरयेत्स्थापयेदिति यावत् । गुल्फस्थापनप्रकारमेवाह-दक्षिण इति । सीवन्या दक्षिणे भागे सव्यगुल्फं स्थापयेत् सव्यके सीवन्याः सव्यभागे दक्षिणगुल्फं स्थापयेत ॥ ५० ॥

भाषार्थ-अब सिंहासनका वर्णन करते हैं कि, वृषणों (अंडकोष) के नीचे सीवनी नाडीके दोनों पार्श्वभागोमें गुल्फोंको लगावे और दक्षिण पार्श्वमें वाम गुल्फको और वाम पार्श्वमें दक्षिणगुल्फको लगावे ॥ ५० ॥

हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वांगुलीः संप्रसार्य च ॥
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ॥ ५१ ॥

हस्ताविति ॥ जान्वोरुपरि हस्तौ तु संस्थाप्य सम्यक् जानुसंलग्नतलौ यथा स्यातां तथा स्थापयित्वा । स्वांगुलीः हस्तांगुलीः संप्रसार्य सम्यक् प्रसारयित्वा । व्यात्तवक्त्रः संप्रसारितलोलजिह्वमुखः सुसमाहितः एकाग्रचित्तः नासाग्रं नासिकाग्रं यस्मिन्निरीक्षेत ॥ ५१ ॥

भाषार्थ-और जानुओंके ऊपर हाथोंके तलोंको भलीप्रकार लगाकर और अपने हाथोंकी अंगुलियोंको प्रसारित करके अर्थात् फैलाकर-चंचल है जिह्वा जिसमें ऐसे मुखको वा (खोल) कर भलीप्रकार सावधान हुआ मनुष्य अपनी नासिकाके अग्रभागको देखे ॥ ५१ ॥

सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिपुंगवैः ॥
बन्धत्रितयसंधानं कुरुते चासनोत्तमम् ॥ ५२ ॥

सिंहासनमिति । एतत्सिंहासनं भवेत् । कीदृशं योगिपुंगवैः योगिश्रेष्ठैः पूजितं प्रस्तुतमासनेषूत्तमं सिंहासनं बंधानां मूलबंधादीनां त्रितयं तस्य संधानं संनिधानं कुरुते ॥ ५२ ॥

भाषार्थ-योगियोंमें जो श्रेष्ठ उनका पूजित यह सिंहासन होता है और सपूर्ण आसनोंमें उत्तम यह आसन मूलबंध आदि तीनों बंधोंके संधान (संनिधान समीपकरण) को करता है ॥ ५२ ॥

अथ भद्रासनम् ।

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥
सव्यगुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे ॥५३॥

भद्रासनमाह-गुल्फाविति ॥ वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः सीवन्या उभयतः । गुल्फौ पादग्रंथी क्षिपेत । क्षेपणप्रकारमेवाह-सव्यगुल्फमिति । सव्ये सीवन्याः पार्श्वे सव्यगुल्फं क्षिपेत । तथा पादपूरणे । दक्षगुल्फं तु दक्षिणे सीवन्याः पार्श्वे क्षिपेत् ॥ ५३ ॥

भाषार्थ-अब भद्रासनका वर्णन करते हैं कि, वृषणोंके नीचे सीवनीके दोनों पार्श्वभागोंमें इसप्रकार गुल्फोंको रक्खै कि, वामगुल्फको सीवनीके वामपार्श्वमें और दक्षिणगुल्फको दक्षिणपार्श्वमें लगाकर स्थित करे ॥ ५३ ॥

पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां बद्ध्वा सुनिश्चलम् ॥
भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविनाशनम् ॥ ५४ ॥

पार्श्वपादाविति ॥ पार्श्वपादौ च पार्श्वसमीपगतौ पादौ पाणिभ्यां भुजाभ्यां दृढं बद्ध्वा । परस्परसंलग्नांगुलिभ्यामुदरसंलग्नतलाभ्यां पाणिभ्यां बद्ध्वेत्यर्थः । एतद्भद्रासनं भवेत् । कीदृशं सर्वेषां व्याधीनां विशेषेण नाशनम् ॥ ५४ ॥

भाषार्थ-और सीवनीके पार्श्वभागोंके समीपमें गये पादोंको भुजाओंसे दृढ बांधकर अर्थात् परस्पर मिलीहुई जिनकी अंगुलि हों और जिनका तल हृदयपर लगा हो ऐसे हाथोंसे निश्चल रीतिसे थामकर जिसमें स्थित हो संपूर्ण व्याधियोंका नाशक वह भद्रासन होता है ॥ ५४ ॥

गोरक्षासनमित्याहुरिदं वै सिद्धयोगिनः ॥
एवमासनबंधेषु योगींद्रो विगतश्रमः ॥ ५५ ॥

गोरक्षेति ॥ सिद्धाश्च ते योगिनश्च सिद्धयोगिनः इदं भद्रासनं गोरक्षासनमित्याहुः गोरक्षेण प्रायशोऽभ्यस्तत्वाद्गोरक्षासनमिति वदंति। आसनान्युक्तानि । तेषु यत्कर्तव्यं तदाह । एवमिति । एवमुक्तेष्वासन ू

बंधेषु बंधनप्रकारेषु विगतः श्रमो यस्य स विगतश्रम आसनानां बंधेषु श्रमरहितः । योगिनामिंद्रो योगींद्रः ॥ ५५ ॥

भाषार्थ-और सिद्ध जो योगी हैं वे इसकोही गोरक्षासन कहते है अर्थात् पूर्वोक्त गोरक्षनाथने प्रायः इसका अभ्यास किया है इससे इसको गोरक्षासन कहते हैं आसनोंको कहकर उनके कर्तव्यको कहते हैं कि, इसप्रकार आसनोंके बांधनेमे विगत (नष्ट) है श्रम जिसका ऐसा योगीन्द्र (श्रेष्ठयोगी)-॥ ५५ ॥

अभ्यसेन्नाडिकाशुद्धिं मुद्रादिपवनक्रियाम् ॥
आसनं कुंभकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा ॥५६॥

अभ्यसेदिति ॥ नाडिकानां नाडीनां शुद्धिम् । 'प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितम्' इति वक्ष्यमाणरूपा मुद्रा आदिर्यस्याः सूर्यभेदादेस्तादृशीम् । पवनस्य प्राणवायोः क्रियां प्राणायामरूपां चाभ्यसेत् । अथ हठाभ्यसनक्रममाह-आसनमिति ॥ आसनमुक्तलक्षणं चित्रं नानाविधं कुंभकं 'सूर्यभेदनमुज्जायी' इत्यादिवक्ष्यमाणम् । मुद्रा इत्याख्या तस्य तन्मुद्राख्यं महामुद्रादिरूपकरणं हठसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकम् । तथा चार्थे ॥ ५६ ॥

भाषार्थ-नाडियोंकी शुद्धिका अभिलाषी और नियमित (रुके) प्राणको इडा नामकी नाडीसे पीवै आगे कही हुई यह मुद्रा है आदिमें जिसके ऐसी प्राणवायुकी क्रिया (प्राणायाम) का अभ्यास करै । अब हठाभ्यासके क्रमको कहते हैं कि, पूर्वोक्त आसन और चित्र (नानाप्रकारका) कुम्भक प्राणायाम और मुद्रा है नाम जिसका ऐसा करण ये हठ सिद्धिमें प्रकृष्ट (उत्तम) उपकारी हैं इस श्लोकमें तथाशब्द च शब्दके अर्थमें है ॥ ५६ ॥

अथ नादानुसंधानमभ्यासानुक्रमो हठे ॥
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ॥
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्रकार्या विचारणा ॥५७॥

अथेति ॥ अथैतत्त्रयानुष्ठानानंतरं नादस्यानाहतध्वनेरनुसंधानमनुचिंतनं हठे हठयोगेऽभ्यासोऽभ्यसनं तस्यानुक्रमः पौर्वापर्यक्रमः । हठसिद्धेरवधिमाह-ब्रह्मचारीति । ब्रह्मचर्यवान् मिताहारो वक्ष्यमाणः सोऽस्यास्तीति मिताहारी त्यागी दानशीलो विषयपरित्यागी वा योगपरायणः योगाभ्यासनपरः । अब्दाद्वर्षादूर्ध्वं सिद्धः सिद्धहठो

भवेत् । अत्रोक्तेऽर्थे विचारणा स्यान्न वेति संशयप्रयुक्ता न कार्या । एतन्निश्चितमेवेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

भाषार्थ-इन पूर्वोक्त आसन आदि तीनोके करनेके अनंतर नादका अनुसंधान (चिंतन) अर्थात् कानोंको दबाकर जो अनाहत ताडनाके विना ध्वनि सदैव अन्तः होती रहती है उसका विचार यह सम्पूर्ण हठयोगमें अभ्यासका क्रम है अर्थात् इस क्रमसे हठ-योगका अभ्यास करे। अब हठयोगकी सिद्धिकी अवधिको कहते हैं कि ब्रह्मचारी और प्रमित भोजी त्यागी (दानी वा विषयोंका त्यागी) योगमें परायण (योगका अभ्यासी) मनुष्य एक वर्षके अनंतर सिद्ध होजाता है इसमें यह विचार नहीं करना कि होगा वा न होगा अर्थात् निश्चयसे सिद्ध होजाता है ॥ ५७ ॥

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः ॥
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ॥ ५८ ॥

पूर्वश्लोके मिताहारीत्युक्तं तत्र योगिनां कीदृशो मिताहार इत्यपेक्षायामाह-'सुस्निग्धेति॥' सुस्निग्धोऽतिस्निग्धः स चासौ मधुरश्च तादृश आहारश्चतुर्थांशविवर्जितश्चतुर्थभागरहितः । तदुक्तमभियुक्तैः-'द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत् । वायोः संचारणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ' इति । शिवो जीव ईश्वरो वा । भोक्ता देवो महेश्वरः ' इति वचनात् । तस्य संप्रीत्यै सम्यक्प्रीत्यर्थं यो भुज्यते स मिताहार इत्युच्यते ।५८।

भाषार्थ-पूर्व श्लोकमें जो मिताहारी कहाहै उसके लिये योगियोंके मिताहारको कहते हैं कि, भलीप्रकार स्निग्ध (चिकना) और मधुर जो आहार वह चतुर्थांशसे रहित जिस भोजनमें शिवजी (जीव वा ईश्वर) के प्रीतिके अर्थ भक्षण किया जाय वह मिताहार कहाता है सोई इस वचनसे पंडितोंने कहाहै कि, उदरके दो भाग अन्नसे पूर्ण करे (भरे) और एक भागको जलसे पूर्ण करे और चौथे भागको प्राण वायुके चलनेके लिये शेष रक्खे और देव जो महेश्वर वह भोक्ता है देह नहीं ॥ ५८ ॥

कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाकसौवीरतैलतिलसर्षप-मद्यमत्स्यान् ॥ आजादिमांसदधितक्रकुलत्थकोलपि-ण्याकहिंगुलशुनाद्यमपथ्यमाहुः ॥ ५९ ॥

अथ योगिनामपथ्यमाह द्वाभ्याम्-कट्विति ॥ कटु कारवेल्ल इत्यादि अम्लं ।चिंचाफलादि तीक्ष्णं मरीचादि लवणं प्रसिद्धम् उष्णं गुडादि

हरितशाकं पत्रशाकं सौवीरं कांजिकं तैलं तिलसर्षपादिस्नेहः तिलाः प्रसिद्धाः सर्षपाः सिद्धार्थाः मद्यं सुरा मत्स्यो झषः। एषामितरेतरद्वंद्वः । एतानपथ्यानाहुः । अजस्येमाजं तदादिर्यस्य सौकरादेस्तदाजादि तच्च तन्मांसं च आविकां दधि दुग्धपरिणामविशेषः तक्रं गृहीतसारं दधि कुलत्थादिर्द्विदलविशेषः कोलं कोल्यः फलं बदरम् । 'कर्कन्धूर्बदरी कोलिः' इत्यमरः । पिण्याकं तिलपिंडं हिंगु रामठं लशुनम् । एषामितरेतरद्वंद्वः । एतान्याद्यानि यस्य तत्तथा । आद्यशब्देन पलांडुगृंजनमादकद्रव्यमाषान्नादिकं ग्राह्यम् । अपथ्यमहितम् । योगिनामिति शेषः । आहुर्योगिन इत्यध्याहारः ॥ ५९ ॥

भाषार्थ–अब दो श्लोकोंसे योगियोंके अपथ्यको कहते हैं कि, करेला आदि कटु और इमली आदि अम्ल (खट्टा) और मिर्च आदि तीक्ष्ण लवण और गुड आदि उष्ण और हरित शाक (पत्तोंका शाक) सौवीर (कांजी) तैल तिल मदिरा मत्स्य इनको अपथ्य कहते हैं और अजा (बकरी) आदिका मांस दही तक्र (मठा) कुलथी कोल (बेर) पिण्याक (खल , हींग लहसन ये सब हैं आद्य (पूर्व) जिनके ऐसे पलांडु (सलगम) गाजर मादक द्रव्य उडद ये सब योगीजनोंने योगियोंके अपथ्य कहे हैं ॥ ५९ ॥

भोजनमहितं विद्यात्पुनरस्योष्णीकृतं रूक्षम् ॥
अतिलवणमम्लयुक्तं कदशनशाकोत्कटं वर्ज्यम् ॥६०॥

भोजनमिति ॥ पश्चादग्निसंयोगेनोष्णीकृतं यद्भोजनं सूपौदनरोटिकादिरूक्षं घृतादिहीनम् अतिशयितं लवणं यस्मिंस्तदतिलवणं यद्वा लवणमतिक्रांतमतिलवणं चाकूवा इति लोके प्रसिद्धं शाकं यवक्षारादिकं च। लवणस्य सर्वथा वर्जनीयत्वादुत्तरपक्षः साधुः । तथा दत्तात्रेयः–'अथ वर्ज्यानि वक्ष्यामि योगविघ्नकराणि च लवणं सर्षपं चाम्लमुग्रं तीक्ष्णं च रूक्षकम् ॥ अतीव भोजनं त्याज्यं तिनिद्राति भाषणम् ।' इति स्कंदपुराणेऽपि–'त्यजेत्कट्वम्ललवणं क्षीरभोजी सदा भवेत' इति । अम्लयुक्तमम्लद्रव्येण युक्तम् । अम्लद्रव्येण युक्तमपि त्याज्यं किमुत साक्षादम्लम् । अत्र तृतीयपदं पललं वा तिलपिण्डमिति केचित्पठंति तस्यायमर्थः । पललं मांसं तिलपिण्डं पिण्याकं कदशनं कदन्नं यावनालकोद्रवादि शाकं विहितेतरशाक मात्रम् । उत्कटं विदाहि मिरचीति लोके प्रसिद्धम् । मिरचा इति हिंदुस्थानभाषायाम् । कदशनादीनां समाहारद्वंद्वः । अतिलवणादिकं वर्ज्यं वर्जनार्हम् । दुष्टमिति

पाठे दुष्टं पूतिपर्युषितादि। अहितमिति योजनीयम् ॥ ६० ॥

भावार्थ-और इस योगीको ये भोजन अहित है कि, अग्निके संयोगसे पुनः (दुबारा) उष्ण किया जो दाल चावल आदि और रूखा अर्थात् घृत आदिसे रहित जिसमें अधिक लवण हो वा जो लवणका भी अवलंबनकारी हो जैसे चाकूत्रा नामका शाक वा जौंका खार न दोनों पक्षोंमें इससे उत्तरार्ध श्रेष्ठ है कि, लवण सर्वथा वर्जित है सोई दत्तात्रेयने कहा है कि, इसके अनंतर वर्जितोंको और इस योगमें विघ्नकारियोंको कहताहूँ कि लवण सरसों अम्ल उग्र (सौहांजना) तीक्ष्ण रूखा अत्यन्त भोजन ये भोजन और अत्यन्त निद्रा और अत्यंत भाषण ये त्याज्य हैं। स्कंदपुराणमें भी लिखा है कि, कटु, अम्ल, लवण इनको त्यागदे और सदैव दूधका भोजन करे। अम्लसे युक्त भी पदार्थ त्यागने योग्य है तो साक्षात् अम्ल क्यों न होगा। इसमें तीसरा पद कोई यह पढते हैं कि, पललं वा तिलपिंड यह अर्थ है कि मांस और खलको वर्जदे और कुत्सित अन्न (यावनाल कोदूआदि) और शास्त्रोक्तसे अन्न शाक और उत्कट (विदाहि) जिससे उदरमें जलन हो ऐसे मिर्च आदि ये सब अति लवण आदि वर्जित हैं। और वर्ज्य इसके स्थानमें दुष्टं यह पाठ होय तो वह दुष्ट पूति (दुर्गंधि) और पर्युषित (बासी) आदिभी अहित है ॥ ६० ॥

वह्निस्त्रीपथिसेवानामादौ वर्जनमाचरेत् ॥६१॥

तथाहि गोरक्षवचनम्-

"वर्जयेद्दुर्जनप्रांतं वह्निस्त्रीपथिसेवनम्।

प्रातःस्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं तथा" ॥

एवं योगिनां सदा वर्ज्यान्युक्त्वाभ्यासकाले वर्ज्यान्याहार्धेन-वह्नीति ॥ वह्निश्च स्त्री च पंथाश्च तेषां सेवा वह्निसेवनस्त्रीसंगतीर्थयात्रा-गमनादिरूपास्तासां वर्जनमादावभ्यासकाल आचरेत्। सिद्धेऽभ्यासे तु कदाचित्। शीते वह्निसेवनं गृहस्थस्य ऋतौ स्वभार्यागमनं तीर्थयात्रादौ मार्गगमनं च न निषिद्धमित्यादिपदेन सूच्यते। तत्र प्रमाणं गोरक्षवचनमवतारयति-तथाहीति तत्पठति-वर्जयेति। दुर्जन-प्रांतं दुर्जनसमीपवासम्। दुर्जनप्रीतिमिति क्वचित्पाठः। वह्निस्त्रीपथि-सेवनं व्याख्यातं प्रातःस्नानं उपवासश्चादिर्यस्य फलाहारादेः तच्च तयोः समाहारद्वंद्वः। प्रयभ्यासिनः प्रातःस्नाने शीतविकारोत्पत्तेः। उपवा-

सादिना पित्ताद्युत्पत्तेः। कायक्लेशविधिं कायक्लेशकरं विधिं क्रियां बहुसूर्यनमस्कारादिरूपां बहुभारोद्वहनादिरूपां च। तथा समुच्चये। अत्र प्रतिपदं वर्जयेदिति क्रियासंबंधः ॥ ६१ ॥

भावार्थ-इसप्रकार योगियोंको जो सदैव कालमें वर्जित हैं उनको कहकर योगके समयमें जो वर्जित हैं उनको कहते हैं कि, वह्नि स्त्री मार्ग इनकी सेवा अर्थात् अग्निकी सेवा स्त्रीसंग तीर्थयात्रागमन इनका वर्जन अभ्यासके समयमें करे और अभ्यासके सिद्ध होनेपर कदाचित्ही वर्जदे। शीतकालमें अग्निका सेवन गृहस्थको ऋतुके समय स्वभार्यागमन और तीर्थयात्रा आदिमें मार्ग गमन निषिद्ध नहीं है यह आदि पदसे सूचित किया। उसमें प्रमाणरूप गोरक्षका वचन कहते हैं कि, दुर्जनके समीपका वास और कहीं यह पाठ है कि, दुर्जनके संग प्रीति और अग्नि स्त्री मार्ग इनका सेवन और प्रातःकालस्नान और उपवास आदि। यहां आदि पदसे फलाहार और कायाके क्लेशकी विधिको अर्थात् अनेकबार सूर्यनमस्कार आदिको और अधिक भारका लेजाना आदिको वर्जदे। इस श्लोकमें तथा पद समुच्चयका बोधक है ॥ ६१ ॥

गोधूमशालियवषाष्टिकशोभनान्नं क्षीराज्यखंडनवनीतसितामधूनि ॥ शुंठीपटोलकफलादिकपंचशाकंमुद्गादिदिव्यमुदकंच यमींद्रपथ्यम् ॥ ६२ ॥

अथ योगिपथ्यमाह-गोधूमेत्यादिना ॥ गोधूमाश्च शालयश्च यवाश्च षाष्टिकाः षष्ट्या दिनैर्ये पच्यंते तंदुलविशेषास्ते शोभनमन्नं पवित्रान्नंश्यामाकनीवारादि तच्चैतेषां समाहारद्वंद्वः। क्षीरं दुग्धमाज्यं घृतं खंडः शर्करा नवननीतं मथितदधिसारं सिता तीव्रादौ खंडशर्करेति लोके प्रसिद्धा मिसरीति हिंदुस्थानभाषायाम्। मधु क्षौद्रमेषामितरेतरद्वंद्वः। शुंठी प्रसिद्धा पटोलफलं परवर इति भाषायां प्रसिद्धं शाकं तदादिर्यस्य कौशातक्यादेस्तत्पटोलकफलादिकं "शेषादिभाषा" इति कप्प्रत्ययः। पंचानां शाकानां समाहारः पंचशाकम्। तदुक्तं वैद्यके-'सर्वशाकमचाक्षुष्यं चाक्षुष्यं शाकपंचकम्। जीवंतीवास्तुमूल्याक्षी मेघनादपुनर्नवा' ॥ इति। मुद्गा द्विदलविशेषा आदिर्यस्य तन्मुद्गादि आदिपदेन आढकी ग्राह्या। दिव्यं निर्दोषमुदकं जलम्। यम एषामस्तीति यमिनः तेष्विंद्रो देवश्रेष्ठो योगींद्रस्तस्य पथ्यं हितम् ॥ ६२ ॥

सिता (मिसरी) मधुर (सहत) सूँठ पटोल फल (परवल) आदि, पांच शाक मूंग आदि, पदसे आढकी और दिव्य जल अर्थात् निर्दोष जल ये योगियोंमें जो इंद्र हैं उनके पथ्य हैं वैद्यकमें भी ये पांच शाक पथ्य कहे हैं कि, संपूर्ण शाक अचाक्षुष्य हैं अर्थात् नेत्रोंको हितकारी नहीं हैं किंतु ये पांच शाकही चाक्षुष्य हैं कि, जीवन्ती वास्तु (बथुवा) मूल्याक्षी मेघनाद और पुनर्नवा ॥ ६२ ॥

पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम् ॥
मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् ॥ ६३ ॥

अथ योगिनो भोजननियममाह-पुष्टमिति ॥ पुष्टं देहपुष्टिकरमोदनादि सुमधुरं शर्करादिसहितं स्निग्धं सघृतं गव्यं गोदुग्धघृतादियुक्तं गव्यालाभे माहिषं दुग्धादि ग्राह्यम् । धातुप्रपोषणं लड्डुकापूपादि मनोभिलषितं पुष्टादिषु यन्मनोरुचिकरं तदेव योगिना भोक्तव्यम् । मनोभिलषितमपि किमविहितं भोक्तव्यं नेत्याह-योग्यमिति । विहितमेवेत्यर्थः। योगी भोजनं पूर्वोक्तविशेषेण विशिष्टमाचरेत्कुर्यादित्यर्थः । न तु सक्तुभर्जितान्नादिना निर्वाहं कुर्यादिति भावः ॥ ६३ ॥

भावार्थ--अब योगिके भोजनोंका नियम कहते हैं कि ओदन आदि देह पुष्टिकारक और शर्करा आदि मधुर और घृतसहित भोजन और दुग्ध आदि गव्य यदि गौके घृत आदि न मिले भैंसके ग्रहण करने और धातुपोषक (लड्डू पूआ आदि) इनमें जो अपने मनको वाञ्छित हो उस योग्य अर्थात् शास्त्रविहित भोजनको योगी करे और सत्तु भुने अन्न आदिसे निर्वाह न करे ॥ ६३ ॥

युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोपि वा ॥
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतंद्रितः ॥ ६४ ॥

योगाभ्यासिनो वयोविशेषारोग्याद्यपेक्षा नास्तीत्याह-युवेति ॥ युवा तरुणः वृद्धो वृद्धावस्थां प्राप्तः अतिवृद्धोऽतिवार्द्धकं गतो वा । अभ्यासादासनकुंभकादीनामभ्यसनात्सिद्धिं समाधितत्फलरूपामाप्नोति । अभ्यासप्रकारमेव वदन्विशिनष्टि-सर्वयोगेष्विति।सर्वेषु योगेषु योगांगेष्वतंद्रितोऽनलसःयोगांगाभ्यासात्सिद्धिमाप्नोतीत्यर्थः। जीवनसाधने कृषिवाणिज्यादौ जीवनशब्दप्रयोगवत्साक्षात्परंपरया वा योगसाधनेषु योगांगेषु योगशब्दप्रयोगः ॥ ६४ ॥

भावार्थ-अब इस बातका वर्णन करते हैं कि, योगके अभ्यासीको अवस्था विशेष और दुर्बल आरोग्य आदिकी अपेक्षा नहीं है कि, युवा हो वृद्ध वा अतिवृद्ध हो रोगी हो वा

अभ्यासले आसन कुम्भक आदिके करनेसे समाधि और उसके फलको प्राप्त होता है। अभ्यासके स्वरूपको कहते हैं कि, सम्पूर्ण जो योगके अंग उनमें आलस्य न करै यहां योगके साधन योगांगोंमें इसप्रकार योग शब्दका प्रयोग है जैसे जीवनके साधन कृषि वाणिज्य आदिमें जीवनशब्दका प्रयोग होता है ॥ ६४ ॥

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् ॥

न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ॥ ६५ ॥

अभ्यासादेव सिद्धिर्भवतीति द्रढयन्नाह द्वाभ्याम्-क्रियायुक्तस्येति ॥ क्रिया योगांगानुष्ठानरूपा तया युक्तस्य सिद्धिर्योगसिद्धिःस्यात् । अक्रियस्य योगांगानुष्ठानरहितस्य कथं भवेन्न कथमपीत्यर्थः । ननु योगशास्त्राध्ययनेन योगसिद्धिः स्यान्नेत्याह—नेति ॥ शास्त्रस्य योगशास्त्रस्य पाठमात्रेण केवलेन पाठेन योगस्य सिद्धिर्न प्रजायते नैव जायत इत्यर्थः ॥६६॥

भाषार्थ--अब अभ्याससे सिद्धि होती है इस बातको दृढ करनेके लिये दो २ श्लोकोंको कहते हैं कि, योगांगोंके करनेमें जो युक्त उस पुरुषको योगसिद्धि होती है और जो योगांगोंको नहीं करता उसको योगकी सिद्धि नहीं होती कदाचित् कहो कि, योगशास्त्रके पढनेसे सिद्धि होजायगी सो ठीक नहीं क्योंकि योगशास्त्रके केवल पढनेसे योगसिद्धि नहीं होती ॥ ६५ ॥

न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा ॥

क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः ॥ ६६ ॥

नेति ॥ वेषस्य काषायवस्त्रादेः धारणं सिद्धेर्योगसिद्धेः कारणं न । तस्य योगस्य कथा वा कारणं न । किं तर्हि सिद्धेः कारणमित्यत आह क्रियैवेति ॥ ६६ ॥

भाषार्थ--गेरुसे रंगे वस्त्र आदिका धारण सिद्धिका कारण नहीं और योगशास्त्रकी कथा भी सिद्धिका कारण नहीं यह सत्य है इसमें संशय नहीं ॥ ६६ ॥

पीठानि कुंभकाश्चित्रा दिव्यानि करणानि च ॥

सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि ॥ ६७ ॥

इति श्रीसहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठयोगप्रदीपिकायामासनविधिकथनं नाम प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥

योगांगानुष्ठानस्यावधिमाह-पीठानीति ॥ पीठान्यासनानि चित्रा अनेकविधाः कुंभकाः सूर्यभेदादयः दिव्यान्युत्कृष्टानि करणानि महामुद्रादीनि हठसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकत्वं कारणत्वं हठाभ्यासे सर्वाणि पीठकुंभककरणानि राजयोगफलावधि राजयोग एव फलं तदवधि तत्पर्यंतं कर्तव्यानीति शेषः ॥ ६७ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकायां ब्रह्मानंदकृतायां ज्योत्स्नाभिधायां टीकायां प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥

भाषार्थ-अब योगांगोंके करनेकी अवधिको कहते हैं कि, पूर्वोक्त आसन और अनेक प्रकारके कुम्भक आदि प्राणायाम महामुद्रा आदि दिव्य करण ये संपूर्ण हठयोगके अभ्यासमें राजयोगके फलपर्यंत करने योग्य हैं अर्थात् ये राजयोगमें प्रकृष्ट उपकारक हैं क्योंकि प्रकृष्ट जो उपकारक वही करण होता है ॥ ६७ ॥

इति श्रीसहजानंदसंतानचिन्तामणिस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितहठयोगप्रदीपिकायां लाँखग्रामनिवासि पं. मिहिरचंद्रकृतभाषाविवृतिसहितायामासनविधिकथनं नाम प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोपदेशः २.

अथासने दृढे योगी वशी हितमिताशनः ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान्समभ्यसेत् ॥ १ ॥

अथासनोपदेशानंतरं प्राणायामान्वक्तुमुपक्रमते-अथेति ॥ अथेति मंगलार्थः । आसने दृढे सति वशी जिताक्षः हितं पथ्यं च तन्मितं च पूर्वोपदेशोक्तलक्षणं तत्तादृशमशनं यस्य स हितमिताशनः गुरुणोपदिष्टो यो मार्गः प्राणायामाभ्यासप्रकारस्तेन प्राणायामान् वक्ष्यमाणान्सम्यगुत्साहसाहसधैर्यादिभिरभ्यसेत् । दृढे स्थिरे कुक्कुटादिविवर्जिते सिद्धासनादाविति वा योजना ॥ १ ॥

भाषार्थ-- आसनों उपदेशको कहकर प्राणायामोंके कहनेका प्रारंभ करते हैं । इस श्लोकमें अथ शब्द मंगलके लिये है वा अनंतरका वाचक कहे इसके अनंतर आसनोंकी दृढता होनेपर जीती हैं इंद्रियें जिसने हित (पथ्य) और पूर्वोक्त प्रमित है भोजन जिसका ऐसा योगी गुरुके उपदेश किये मार्गसे आगे वर्णन किये प्राणायामोंका भलीप्रकार अभ्यास करे--अर्थात् उत्साह--साहस--धीरता आदिसे प्राणायामोंके करनेमें मनको लगावै ॥ १ ॥

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ॥
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥ २ ॥

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोऽपि प्रवर्तते' इति महदुक्तेः प्रयोजनाभावेन प्रवृत्त्यभावात्प्राणायामप्रयोजनमाह—चले वात इति ॥ वाते चले सति चित्तं चलं भवेत् । निश्चले वाते निश्चलं भवेच्चित्तमित्यत्रापि संबध्यते वाते चित्ते च निश्चले योगी स्थाणुत्वं स्थिरदीर्घजीवित्वमिति यावत् । ईशत्वं वाप्नोति । ततस्तस्माद्वायुं प्राणं निरोधयेत्कुंभयेत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि, प्रयोजनके विना मंद भी प्रवृत्त नहीं होता--इस महापुरुषोंके वचनसे प्रयोजनके अभावसे प्राणायामोंमें योगीकी प्रवृत्ति नहीं होगी--इसलिये प्राणायामोंका प्रयोजन कहते हैं कि, प्राणवायुके चलायमान होनेसे चित्तभी चलायमान होता है--और प्राणवायुके निश्चल होनेपर चित्त भी निश्चल होता है--और प्राणवायु और चित्त इन दोनोंके निश्चल होनेपर योगी स्थाणुरूपको प्राप्त होता है अर्थात् स्थिर और दीर्घ कालतक जीता है तिससे योगी प्राणवायुका निरोध करै अर्थात् कुम्भक प्राणायामोंको करै ॥ २ ॥

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते ॥
मरणं तस्यनिष्क्रांतिस्ततो वायुं निरोधयेत ॥ ३ ॥

यावदिति ॥ देहे शरीरे यावत्कालं वायुः प्राणः स्थितः तावत्कालपर्यंतं जीवनमुच्यते लोकैः । देहप्राणसंयोगस्यैव जीवनपदार्थत्वात् । तस्य प्राणस्य निष्क्रांतिर्देहाद्वियोगे मरणमुच्यते । ततस्तस्माद्वायुं निरोधयेत् ॥ ३

भाषार्थ—जबतक शरीरमें प्राणवायु स्थित है तबतकही जगत् जीवनको कहता है क्योंकि देह और प्राणका जो संयोग है वही जीवन कहाता है और उस प्राणवायुका जो देहसे वियोग (निकसना) उसकोही मरण कहते हैं तिससे जीवनके लिये प्राणवायुके निरोध (रोकना) रूप प्राणायामको करै ॥ ३ ॥

मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः ॥
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत् ॥ ४ ॥

मलशुद्धेर्हठसिद्धिजनकत्वं व्यतिरेकेणाह—मलाकुलास्विति ॥ नाडीषु मलैराकुलासु व्याप्तासु सतीषु मारुतः प्राणो मध्यगः सुषुम्नामार्गवाही स्यात् । अपि तु शुद्धमलास्वेव मध्यगो भवतीत्यर्थः । उन्मनीभाव उन्मन्या

भावो भवनं कथं स्यान्न कथमपीत्यर्थः । कार्यस्य कैवल्यरूपस्य सिद्धि र्निष्पत्तिः कथं भवेन्न कथंचिदपीत्यर्थः ॥ ४ ॥

भाषार्थ-अब मलकी शुद्धि हठयोगसिद्धिका जनक है इस बातको निषेधमुखसे वर्णन करते हैं कि, जबतक नाडी मलसे व्याकुल (व्याप्त) हैं तबतक प्राण मध्यग नहीं होस-सकता अर्थात् सुषुम्ना नाडीके मार्गसे नहीं चल सकता किंतु मलशुद्धि होनेपर ही मध्यग होसकता है तो मलसेयुक्त नाडियोंके विद्यमान रहते उन्मनीभाव कैसे होसकता है और मोक्षरूप कार्यकी सिद्धि कैसे होसक्ती है अर्थात् नहीं होसक्ती । सुषुम्नानाडीके प्राणसंचार होनेको उन्मनीभाव कहते हैं ॥ ४

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ॥
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥ ५ ॥

अन्वयेनापि मलशुद्धेर्हठसिद्धिहेतुत्वमाह-शुद्धिमेतीति ॥ यदा यस्मि न्काले मलैराकुलं व्याप्तं सर्वं समस्तं नाडीनांचक्रं समूहः शुद्धिं मलरा-हित्यमेति प्राप्नोति तदैव तस्मिन्नेव काले योगी योगाभ्यासी प्राणस्य ग्रहणे क्षमः समर्थो जायते ॥ ५ ॥

भाषार्थ-और मलोंसे व्याकुल सम्पूर्ण नाडियोंका समूह जब शुद्धिको प्राप्त होता है उसी कालमें योगी प्राणवायुके संग्रहण (रोकना) में समर्थ होता है, इस श्लोकसे यह बात वर्णनकी कि, अन्वयसेही मलशुद्धि--हठयोग सिद्धिकी हेतु है अर्थात् इन पूर्वोक्त अन्वयव्यतिरेक कारणोंसे योगी मलशुद्धिकेलिये प्राणायामोंका सदैव अभ्यास करै ॥५॥

प्राणायामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्त्विकया धिया ॥
यथा सुषुम्नानाडीस्था मलाः शुद्धिं प्रयांति च ॥६॥

मलशुद्धिः कथं भवतीत्याकांक्षायां तच्छोधकं प्राणायाममाह प्राणा-याममिति ॥ यतो मलशुद्धिं विना प्राणसंग्रहणे क्षमो न भवति ततस्त-स्मादीश्वरप्रणिधानोत्साहसाहसादिप्रयत्नाभिभूतविक्षेपालस्यादिराजस-तामसधर्मया सात्त्विकया प्रकाशप्रसादशीलया धिया बुद्धया नित्यं प्राणायामं कुर्यात । यथा येन प्रकारेण सुषुम्नानाड्यां स्थिता मलाः शुद्धिमपगमं प्रयांति नश्यंतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

भाषार्थ-अब मलशुद्धिके हेतु प्राणायामको कहते हैं जिसकारण योगी मलशुद्धिके विना कारणोंके संग्रहणमें समर्थ नहीं होता तिससे सात्त्विक बुद्धिसे प्राणायामको नित्य

करे अर्थात् ईश्वरका प्रणिधान उत्साह साहस आदि यत्नोंसे तिरस्कारको प्राप्त भये हैं विक्षेप आलस्य आदि रजोगुणी धर्म जिसके ऐसी सात्विक अर्थात् प्रकाशमान और प्रसन्न बुद्धिसे सदैव प्राणायाममें उसप्रकार तत्पर रहै जिसप्रकारसे सुषुम्ना नाडीमें स्थित संपूर्ण मलशुद्धिको प्राप्त होय अर्थात् नष्ट होजाय ॥ ६ ॥

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चंद्रेण पूरयेत् ।
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥ ७ ॥

मलशोधकप्राणायामप्रकारमाह द्वाभ्याम्—बद्धपद्मासन इति ॥ बद्धं पद्मासनं येन तादृशो योगी प्राणं प्राणवायुं चंद्रेण चंद्रनाड्येड्या पूरयेत्।शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति धारयित्वा कुंभयित्वा।भूयःपुनःसूर्येण सूर्यनाड्या पिंगलया रेचयेत् । बाह्यवायोः प्रयत्नविशेषादुपादानं पूरकः । जालंधरादिबंधपूर्वकं प्राणनिरोधः कुंभकः । कुंभितस्य वायोः प्रयत्नविशेषाद्गमनं रेचकः । प्राणायामांगरेचकपूरकयोरेवेमे लक्षणे इति । 'भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ' इति गौणरेचकपूरकयोर्नाव्याप्तिः । तयोर्लक्ष्यत्वाभावात् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—अब मलके शोधक प्राणायामके प्रकारको कहते हैं कि, बांधा है पद्मासन जिसने ऐसा योगी प्राणवायुको चंद्रनाडी (इडा) से पूर्ण करे अर्थात् चढावे फिर उसको अपनी शक्तिके अनुसार धारण करके अर्थात् कुम्भक प्राणायाम करके फिर सूर्यकी नाडी (पिंगला) से प्राणवायुका रेचन करे अर्थात् छोडदे । बाहरकी वायुका जो प्रयत्न विशेषसे ग्रहण उसे पूरक कहते हैं और जालंधर आदि बंधपूर्वक जो प्राणोंका निरोध उसे कुम्भक कहते हैं और कुंभित प्राणवायुका जो प्रयत्न विशेषसे गमन उसे रेचक कहते हैं ये रेचक और पूरकके लक्षण उन्हीं रेचक पूरकोंके हैं जो प्राणायामोंके अंग है इससे वचनमें गौण रेचक पूरक कहे हैं उनमें अव्याप्ति नहीं क्योंकि वे लक्ष्यही नहीं कि लोहकारकी भस्त्राके समान रेचक और पूरकको संभ्रमसे करै ॥ ७ ॥

प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ॥
विधिवत्कुंभकं कृत्वा पुनश्चंद्रेण रेचयेत् ॥ ८ ॥

प्राणमिति ॥ सूर्येण सूर्यनाड्या पिंगलया प्राणमाकृष्य गृहीत्वा शनैर्मंदंमंदमुदरं जठरं पूरयेत् । विधिवद्बंधपूर्वकं कुंभकं कृत्वा पुनर्भूयश्चंद्रेणेडया रेचयेत् ॥ ८ ॥

भाषार्थ-और सूर्यकी नाडी पिंगलासे प्राणका आकर्षण (खींचना) करके शनैः शनैः उदरको पूरण करे फिर विधिसे कुम्भक (धारण) करके चंद्रमाकी इडा नामकी नाडीसे रेचन करे अर्थात् प्राणवायुको छोडदे ॥ ८ ॥

येन त्यजेत्तेन पीत्वा धारयेदतिरोधतः ॥
रेचयेच्च ततोऽन्येन शनैरेव न वेगतः ॥ ९ ॥

उक्ते प्राणायामे विशेषमाह-येनेति ॥ येन चंद्रेण सूर्येण वा त्यजे-द्रेचयेत्तेन पीत्वा तेनैव पूरयित्वा । अतिरोधतोऽतिशायितेन रोधेन स्वेदकंपादिजननपर्यंतेन । सार्वविभक्तिकस्तासिल् । येन पूरकस्ततोऽन्येन शनैरेचयेन्न तु वेगतः । वेगाद्रेचने बलहानिः स्यात् । येन पूरकः कृतस्तेन रेचको न कर्तव्यः । येन रेचकः कृतस्तेनैव पूरकः कर्तव्य इति भावः ॥ ९ ॥

भाषार्थ-अब उक्त प्राणायाममें विशेष विधिको कहते हैं कि, जिस चन्द्रमा वा सूर्यकी नाडीसे प्राणवायुका त्याग (रेचन) करे उसी नाडीसे पान (पूरण) करके अत्यंतरोधन (रोकना) से अर्थात् स्वेद और कम्पके पर्यंत धारण करे । फिर जिससे पूरक किया हो उससे अन्य नाडीसे शनैः शनैः रेचन करे वेगसे नहीं क्योंकि वेगसे रेचन करनेमें बलकी हानि होती है अर्थात् जिस नाडीसे पूरक किया हो उससे रेचक न करे और जिससे रेचक किया हो उसीसे पूरकको तो करले ॥ ९ ॥

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचये-
त्पीत्वा पिंगलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया ॥
सूर्याचंद्रमसोरनेन विधिनाभ्यासं सदा तन्वतां
शुद्धा नाडिगणा भवंति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥ १० ॥

बद्धपद्मासन इत्याद्युक्तमर्थं पिंडीकृत्यानुवदन्प्राणायामस्यावांतरफल-माहप्राणमिति ॥ चेदिडया वामनाड्या प्राणं पिबेत्पूरयेत्तर्हि नियमितं कुंभितं प्राणं भूयः पुनरन्यया पिंगलया रेचयेत् । पिंगलया दक्षनाड्या समीरणं वायुं पीत्वा पूरयित्वाथो पूरणानंतरं बद्ध्वा कुंभयित्वा वामयेडया त्यजेद्रेचयेत् । सूर्यश्च चंद्रमाश्च सूर्याचंद्रमसौ तयोः "देवताद्वंद्वे च" इत्यानङ् । अनेनोक्तेन विधिना प्रकारेण सदा नित्यमभ्यासं चंद्रेणापूर्य कुंभयित्वा सूर्येण रेचयेत्सूर्येणापूर्य कुंभयित्वा

च चंद्रेण रेचयेदित्याकारकं तन्वतां विस्तारयतां यमिनां यमवतां नाडीगणा नाडीसमूहा मासत्रयादूर्ध्वतो मासानां त्रयं तस्मादुपरि शुद्धा मलरहिता भवंति ॥ १० ॥

भाषार्थ-पूर्वोक्त आठ श्लोकोंसे वर्णन किये तात्पर्यको एकत्र करके अनुवाद करते हुए ग्रन्थकार प्राणायामके अवान्तर फलको कहते हैं, यदि योगी इडासे अर्थात् :वामनाडीसे प्राणका पान (पूरण) करै तो नियमित कुंभित उस प्राणको फिर दूसरी पिंगला नाडीसे रेचन करै और यदि पिंगलासे प्राणको पीवै अर्थात् दक्षिण नाडीसे वायु पूरण करै तो उस प्राणवायुको बांधकर अर्थात् कुंभित करके इडारूप वामनाडीसे प्राणवायुका रेचन करै । इस पूर्वोक्त सूर्य और चन्द्रमाकी विधिमें अर्थात् चन्द्रमासे पूर्ण और कुम्भक करके सूर्यसे रेचन करै और सूर्यसे पूरण और कुम्भक करके चन्द्रमासे रेचन करै इस पूर्वोक्त विधिसे सदैव अभ्यास करते हुए योगिजनोंके नाडियोंके गण तीनमासके अनंतर शुद्ध होते हैं अर्थात् निर्मल होजाते हैं ॥ १० ॥

प्रातर्मध्यंदिने सायमर्धरात्रे च कुंभकान् ॥
शनैरशीतिपर्यंतं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ ११ ॥

अथ प्राणायामाभ्यासकालं तदवधिं चाह-प्रातरिति ॥ प्रातररुणोदयमारभ्य सूर्योदयाद्घटिकात्रयपर्यंते प्रातःकाले मध्यंदिने मध्याह्ने पंचधा विभक्तस्य दिनस्य मध्यभागे सायंसंध्या त्रिनाडीप्रमितार्कास्तादधस्तादूर्ध्वं चेत्युक्तलक्षणे सन्ध्याकाले रात्रेरर्धमर्धरात्रं तस्मिन्नर्धरात्रे रात्रेर्मध्ये मुहूर्तद्वयेच शनैरशीतिपर्यंतमशीतिसंख्यावधि चतुर्वारं वारचतुष्टयं 'कालाध्वनोरत्यंतसंयोगे' इति द्वितीया । चतुर्षु कालेष्वेकैकस्मिन्कालेऽशीतिप्राणायामाः कार्याः । अर्धरात्रे कर्तुमशक्तश्चेत्त्रिसंध्यं कर्तव्या इति संप्रदायः । चतुर्वारं कृताश्चेद्दिनेदिने ३२० विंशत्यधिकशतत्रयपरिमिताः प्राणायामा भवंति । वारत्रयं कृताश्चेच्चत्वारिंशदधिकशतद्वय २४० परिमिता भवंति । ॥ ११ ॥

भाषार्थ-अब प्राणायामके अभ्यास काल और उसकी अवधिको कहते हैं--कि, प्रातःकाल अर्थात् अरुणोदयसे लेकर सूर्योदयसे तीन घडी दिनचढे तक और मध्याह्नमें अर्थात् पांच भाग किये दिनके मध्य भागमें और सायंकाल अर्थात् सूर्यास्तसे पूर्व और सूर्यास्तके अनंतर तीन घडीरूप संध्याके समयमें और अर्द्धरात्रमें अर्थात् रात्रिके मध्यभागके दो मुहुर्तोंमें शनैः शनैः इन पूर्वोक्त चारों कालोंमें चारवार अशीति (८०) प्राणायाम करै यदि अर्द्धरात्रमें करनेको असमर्थ होय तो तीन कालमेंही अस्सी २ प्राणायाम करे,

चारवार करे तो (३२०) तीनसौ बीस प्राणायाम होते हैं--तीनवार करे तो (२४०) दो सौ चालीस होते हैं ॥ ११ ॥

कनीयसि भवेत्स्वेदः कंपो भवति मध्यमे ॥
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबंधयेत् ॥ १२ ॥

कनिष्ठमध्यमोत्तमानां प्राणायामानां क्रमेण व्यापकविशेषमाह-कनीयसीति ॥ कनीयसि कनिष्ठे प्राणायामे स्वेदः प्रस्वेदो भवेद्भवति । स्वेदानुमेयः कनिष्ठः । मध्यमे प्राणयामे कंपो भवति । कंपानुमेयो मध्यमः।उत्तमे प्राणायामे स्थानं ब्रह्मरंध्रमाप्नोति।स्थानप्राप्त्यनुमेय उत्तमः। ततस्तस्माद्वायुं प्राणं निबंधयेन्नितरां बंधयेत् । कनिष्ठादीनां लक्षणमुक्तं लिंगपुराणे-'प्राणायामस्य मानं तु मात्राद्वादशकं स्मृतम् । नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्धात ईरितः । मध्यमस्तु द्विरुद्धातश्चतुर्विंशति-मात्रकः। मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्धातः षट्त्रिंशन्मात्र उच्यते ॥ प्रस्वेदकंपनो-स्थानजनकश्च यथाक्रमम् । आनंदो जायते चात्र निद्रा घूमस्तथैव च ॥ रोमांचो ध्वनिसंविद्धिरंगमोटनकंपनम् । भ्रमणस्वेदजल्पाद्यं संविन्मूर्छां जयेद्यदा ॥ तदोत्तम इति प्रोक्तः प्राणायामः सुशोभनः।" इति ॥ घूमाश्चितांदोलनम् । गोरक्षोऽपि-'अधमे द्वादश प्रोक्ता मध्यमे द्विगुणाः स्मृताः । उत्तमे त्रिगुणा मात्राः प्राणायामे द्विजोत्तमैः ॥' उद्धातलक्षणं तु-'प्राणेनोत्सर्पमाणेन अपानः पीड्यते यदा । गत्वा चोर्ध्वं निवर्तेत एतदुद्धातलक्षणम् ।' मात्रामाह याज्ञवल्क्यः-'अंगुष्ठांगुलिमोक्षं त्रिस्त्रि-र्जानुपरिमार्जनम् । तालत्रयमपि प्राज्ञा मात्रासंज्ञां प्रचक्षते ॥' स्कंद-पुराणे-'एकश्वासमयी मात्रा प्राणायामो निगद्यते ।' एतद्व्याख्यातं योगचिंतामणौ-'निद्रावशंगतस्य पुंसो यावता कालेनैकः श्वासो गच्छत्यागच्छति च तावत्कालः । प्राणायामस्य मात्रेत्युच्यत इति ॥ अर्धश्वासाधिकद्वादशश्वासावच्छिन्नः कालः । प्राणायामकालः । षड्भिः श्वासैरेकं पलं भवति । एवं च सार्धश्वासपलद्वयात्मकः कालः प्राणायामकालः सिद्धः । सार्धद्वादशमात्रामितः प्राणायामो यः स एवोत्तमः प्राणायाम इत्युच्यते' न च पूर्वोदाहृतलिंगपुराणगोरक्षवाक्य विरोधः । तत्र द्वादशमात्रकस्य प्राणायामस्याधमत्वोक्तेरिति शंकनीयं 'जानु प्रदक्षिणीकुर्यान्न द्रुतं न विलंबितम् । प्रदद्याच्छोटिकां यावत्ता-वन्मात्रेति गीयते ॥' इति स्कंदपुराणात् । 'अंगुष्ठांगुलिमोक्षं च जानोश्च परिमार्जनम् । प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते ॥

इति च स्कंदपुराणात् । 'अंगुष्ठो मात्रा संख्यायते तदा' ॥ इति दत्तात्रेयवचनाच्च । लिंगपुराणगोरक्षादिवाक्येष्वेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वेन विवक्षितत्वात् । याज्ञवल्क्यादिवाक्येषु छोटिकात्रयावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वेन विवक्षणात् त्रिगुणस्याधमस्योत्तमत्वं तत्राप्युक्तमित्यविरोधः । सर्वेषु योगसाधनेषु प्राणायामो मुख्यस्तत्सिद्धौ प्रत्याहारादीनां सिद्धेः । तदसिद्धौ प्रत्याहाराद्यसिद्धेश्च । वस्तुतस्तु प्राणायाम एव प्रत्याहारादिशब्दैर्निगद्यते । तथा चोक्तं योगचिंतामणौ–प्राणायाम एवाभ्यासक्रमेण वर्धमानः प्रत्याहारध्यानधारणासमाधिशब्दैरुच्यत इति । तदुक्तं स्कंदपुराणे–"प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहार उदाहृतः । प्रत्याहारद्विषट्केन धारणा परिकीर्तिता ॥ भवेदीश्वरसंगत्यै ध्यानं द्वादशधारणम् । ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥ यत्समाधौ परं ज्योतिरनंतं स्वप्रकाशकम् । तस्मिन्दृष्टे क्रियाकांडयातायातं निवर्तते ॥" इति ॥ तथा–'धारणा पंचनाडीभिर्ध्यानं स्यात्षष्टिनाडिकम् । दिनद्वादशकेनैव समाधिः प्राणसंयमात्' इति च । गोरक्षादिभिरप्येवमेवोक्तम् । अत्रैवं व्यवस्था । किंचिदूनद्विचत्वारिंशद्विपलात्मकः कनिष्ठप्राणायामकालः । अयमेवैकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया द्वादशमात्रकः कालः । किंचिदूनचतुरशीतिविपलात्मको मध्यमप्राणायामकालः । अयमेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया चतुर्विंशतिमात्रकः कालः । पंचविंशत्युत्तरशतविपलात्मक उत्तमः प्राणायामकालः । अयमेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया षट्त्रिंशन्मात्रककालः । छोटिकात्रयावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया तु द्वादशमात्रक एव । बंधपूर्वकं पंचविंशत्युत्तरशतविपलपर्यंतं यदा प्राणायामस्थैर्यं भवति तदा प्राणो ब्रह्मरंध्रं गच्छति । ब्रह्मरंध्रं गतः प्राणो यदा पंचविंशतिपलपर्यंतं तिष्ठति तदा प्रत्याहारः । यदा पंचघटिकापर्यंतं तिष्ठति तदा धारणा । यदा षष्टिघटिकापर्यंतं तिष्ठति तदा ध्यानम् । यदा द्वादशदिनपर्यंतं तिष्ठति तदा समाधिर्भवतीति सर्वं रमणीयम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ–अब कनिष्ठ मध्यम उत्तम रूप तीन प्रकारके प्राणायामोंमें क्रमसे व्यापक जो विशेष उसका वर्णन करते हैं–कि कनिष्ठ प्राणायाममें स्वेद होता है अर्थात् प्राणायाम करते पसीना आजाय तो वह प्राणायाम कनिष्ठ (निकृष्ट) जानना और मध्यम प्राणायाममें कम्प होता है अर्थात् देहमें कम्प हो जाय तो वह प्राणायाम मध्यम होता है–

और उत्तम प्राणायाम करनेसे योगी ब्रह्मरंध्ररूप उत्तम स्थानको प्राप्त होता है-अर्थात् ब्रह्मरंध्रमें वायु पहुँचजाय तो उत्तम प्राणायाम जानना तिससे प्राणवायुका निरंतर बंधन करै अर्थात् रोके। कनिष्ठ आदि प्राणायामोंका लक्षण लिंगपुराणमें कहा है कि, प्राणायामका प्रमाण द्वादश १२ मात्राका कहा है. एकबार है प्राणवायुका उद्घात (उठाना) जिसमें ऐसा द्वादशमात्राका प्राणायाम नीच होता है और जिसमें दोबार उद्घात हो वह चौवीस मात्राका प्राणायाम मध्यम होता है और जिसमें तीनवार उद्घात होय वह छत्तीस मात्राका प्राणायाम मुख्य होता है और तीनोंमें क्रमसे प्रस्वेद, कम्पन और उत्थान होते हैं। और प्राणायामोंमें आनंद निद्रा और चित्तका आंदोलन रोमांच ध्वनिका ज्ञान अंगका मोटन और कम्पन होते हैं और जब योगी श्रम स्वेद भाषण संवित् (ज्ञान) मूर्च्छा इनको जीतले तब वह शोभन प्राणायाम उत्तम कहा है। गोरक्षने भी कहाहै कि अधमप्राणायाम द्वादश, मध्यममें चौवीस, उत्तममें ३६ छत्तीस मात्रा द्विजोत्तमोंने कही है। उद्घातका लक्षण तो यह कहा है कि, ऊपरको चढतेहुए प्राणसे जब अपानवायु पीडित होता है और ऊपरको गया प्राण लोटता है यह उद्घातका लक्षण है, मात्राकी संज्ञा याज्ञवल्क्यने यह कही है कि, अंगुष्ठ और अंगुलीको तीनवार मोक्ष (बजाना वा त्याग) और तीनवार जानुका मार्जन अर्थात् गोडेपर हाथफेरना और तीनताल इनको बुद्धिमान् मनुष्य मात्रा कहते हैं। स्कंदपुराणमें लिखा है कि, एक श्वासकी जो मात्रा उसे प्राणायाम कहते हैं अर्थात् शयन करते हुए मनुष्यका श्वास जितने कालसे आवै वा जाय उतना काल प्राणायामकी मात्रा कहाता है। आधे श्वाससहित द्वादश श्वासके कालको प्राणायामका काल कहते हैं। छः श्वासका एक पल होता है इससे आधेश्वाससहित दो पलका जो काल वही प्राणायामका काल सिद्ध हुआ साढे बारह मात्रा है प्रमाण जिसका वही प्राणायाम उत्तम प्राणायाम कहाता है, कदाचित् कोई शंका करै कि, जिस पूर्वोक्तलिंगपुराणके वचनमें द्वादशमात्राका अधम प्राणायाम कहा है उसका विरोध होगया सो ठीक नहीं क्योंकि जानुको न शीघ्र न विलम्बसे प्रदक्षिणा करके एक चुटकी बजावे इतनेमें जितना काल लगे उतने कालको मात्रा कहते हैं अंगुष्ठ और अंगुलिका मोक्षजानुका मार्जन और चुटकी बजाना जितने कालमें होय उसे मात्रा कहते हैं। अंगुष्ठ जो है सो मात्राका बोधक है। इन स्कंदपुराण और दत्तात्रेयके वचनोंसे एक छोटिका (शिखा) युक्त जो काल वह मात्रा प्रतीत होता है और याज्ञवल्क्य आदिके वचनोंमें तीन छोटिका युक्त कालको मात्रा कहा है इससे त्रिगुणितको त्रिगुणित अधमको उत्तमता वहां भी कही है इससे कुछ विरोध नहीं। संपूर्ण योगके साधनोंमें प्राणायाम मुख्य है क्योंकि प्राणायामकी सिद्धिमें प्रत्याहार आदि सिद्ध होते हैं और प्राणायामकी असिद्धिमें प्रत्याहार-

सिद्ध नहीं होते । सिद्धान्त तो यह है कि प्राणायामही प्रत्याहार शब्दोंसे कहा जाता है । सोई योगचिंतामणिमें कहा है कि, अभ्यासके क्रमसे बढता हुआ प्राणायामही प्रत्याहार ध्यान धारणा समाधि शब्दसे कहा जाता है सोई स्कंदपुराणमें कहा है कि, द्वादशप्राणायामोंका प्रत्याहार और द्वादश प्रत्याहारोंकी धारणा और ईश्वरके संगमके लिये द्वादश धारणाओंका एक ध्यान होता है और द्वादशध्यानोंकी समाधि इसलिये कहाती है कि, समाधिमें अनंत स्वप्रकाशक ज्योति (ब्रह्म) दीखता है जिसके दीखनेसे कर्मकाण्ड और जन्म मरण निवृत्त होजाते हैं । और पांच नाडियोंकी धारणा और ६० नाडि (घडि) ओंका ध्यान होता है । और बारहदिन प्राणायाम करनेसे समाधि होती है इस वचनसे गोरक्षआदिनेभी ऐसेही कहा है । यहां यह व्यवस्था है कि जिसमें कुछ कम ४२ विपलहों यह कनिष्ठ प्राणायामका काल है और यही एक छोटिकाके कालको जब मात्रा कहते हैं तब द्वादश पलरूप होता है और कुछ कम चौराशी ८४ विपलका मध्यम प्राणायामका काल है और यही पूर्वोक्त मात्राके प्रमाणसे २४ चौवीसमात्राका होता है और १२५ सवासौ विपलका उत्तम प्राणायामका काल होता है और पूर्वोक्त मात्राके प्रमाणसे छत्तीस ३६ मात्राका होता है और जब तीन छोटिकाके कालको मात्रा मानते हैं तबतो यहभी द्वादश मात्राका होता है। जब बन्धपूर्वक सवासौ विपल पर्यंत प्राणायामकी स्थिरता होजाय तब प्राण ब्रह्मरंध्रमें चला जाता है ब्रह्मरंध्रमें गया प्राण जब २५ पल पर्यंत टिकजाय तब प्रत्याहार होता है और जब पांचघडी पर्यंत टिकजाय तब धारणा होती है और जब ६० घडी पर्यंत टिकजाय तब ध्यान होता है और जब प्राण १२ बारह दिन तक ब्रह्मरंध्रमें टिकजाय तब समाधि होती है इससे सम्पूर्ण रमणीय है अर्थात् पूर्वोक्त कोई दोष नहीं । भावार्थ यह है कि कनिष्ठ प्राणायाममें स्वेद मध्यममें कम्प होता है और उत्तम प्राणायाममें प्राण ब्रह्मरंध्रमें पहुंचता है इससे योगी प्राणायामका बन्धन करै ॥ १२ ॥

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ॥
दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ॥ १३ ॥

प्राणायामानभ्यसतःस्वेदे जाते विशेषमाह–जलेनेति॥ श्रमात्प्राणायामाभ्यासश्रमाज्जातं तेन जलेन प्रस्वेदेन गात्रस्य शरीरस्य मर्दनं तैलाभ्यंगवदाचरेत्कुर्यात्। तेन मर्दनेन गात्रस्य दृढता दार्ढ्यं लघुता जाड्याभावो जायते प्रादुर्भवति ॥ १३ ॥

भाषार्थ-अब प्राणायामके अभ्याससे स्वेद होनेपर विशेष कहते हैं कि, प्राणायामके परिश्रमसे उत्पन्न हुआ जो जल उससे अपने गात्रोंका मर्दन करे उससे शरीरकी दृढता और लघुता होती है अर्थात् जडता नहीं रहती ॥ १३ ॥

अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ॥
ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ॥ १४ ॥

अथ प्रथमोत्तराभ्यासयोः क्षीरादिनियमानाह—अभ्यासकाल इति ॥ क्षीरं दुग्धमाज्यं घृतं तद्युक्तं भोजनं क्षीराज्यभोजनम् । शाकपार्थिवादिवत्समासः।केवले कुंभके सिद्धेऽभ्यासो दृढो भवति। स्पष्टमन्यत् ॥१४॥

भाषार्थ-अब पहिले और पिछले अभ्यासोमें दुग्ध आदिके नियमोंका वर्णन करते हैं कि, पहिले अभ्यासकालमें दुग्ध और घीसहित भोजन श्रेष्ठ कहा है फिर अभ्यासके दृढ होनेपर अर्थात् कुम्भकके सिद्ध होनेपर पूर्वोक्त नियममें आग्रह न करे ॥ १४ ॥

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैःशनैः ॥
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हंति साधकम् ॥ १५ ॥

सिंहादिवच्छनैरेव प्राणं वशयेन्न सहसेत्याह—यथेति॥यथा येन प्रकारेण सिंहो मृगेंद्रो गजो वनहस्ती व्याघ्रः शार्दूलः शनैः शनैरेव वश्यः स्वाधीनो भवेन्न सहसा तथैव तेनैव प्रकारेण सेवितोऽभ्यस्तो वायुःप्राणो वश्यो भवेत् । अन्यथा सहसा गृह्यमाणः साधकमभ्यासिनं हंति सिंहादिवत् ॥ १५ ॥

भाषार्थ-सिंह आदिके समान शनैः २ प्राणको वशमें करे शीघ्र न करे इस बातका वर्णन करते हैं जैसे सिंह गज (वनका हाथी) व्याघ्र (शार्दूल) ये शनैः २ वशमें होसकते हैं शीघ्र नहीं. तिसी प्रकार अभ्यास किया प्राण शनैः २ ही वशमें होता है शीघ्रता करनेसे सिंह आदिके समान साधकको अपने समान नष्ट कर देता है ॥ १५ ॥

प्राणायामादियुक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ॥
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ॥ १६ ॥

युक्तायुक्तयोः फलमाह—प्राणायामेति ॥ आहारादियुक्तियुपूर्वको जालंधरादिबंधयुक्तिविशिष्टःप्राणायामो युक्त इत्युच्यते।तेन सर्वरोगक्षयः सर्वेषां रोगाणां क्षयो नाशो भवेत् । अयुक्त उक्तयुक्तिरहितो योऽभ्यास-

अयुक्तेन प्राणायामेन सर्वरोगसमुद्भवः सर्वेषां रोगाणां सम्यगुद्भव उत्पत्तिर्भवेत् ॥ १६ ॥

भाषार्थ–अब युक्त और अयुक्त प्राणायामोंके फल कहते हैं। आहार आदि और जालंधर आदि बंध इनकी युक्तियोंसहित जो प्राणायाम उसे युक्त कहते हैं उस युक्त प्राणायामके करनेसे संपूर्ण रोगोंका क्षय होजाता है और अयुक्त प्राणायामके अभ्याससे अर्थात् पूर्वोक्त युक्तिरहित प्राणायामके करनेसे संपूर्ण रोगोंकी उत्पत्ति होती है ॥ १६ ॥

हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ॥
भवंति विविधा रोगाः पवनस्य प्रकोपतः ॥ १७ ॥

अयुक्तेन प्राणायामेन के रोगा भवंतीत्यपेक्षायामाह–हिक्केति॥हिक्काश्वासकासा रोगविशेषाः शिरश्च कर्णौ चाक्षिणी च शिरःकर्णाक्षि शिरःकर्णाक्षिणि वेदनाः शिरःकर्णाक्षिवेदना। विविधा नानाविधा रोगा ज्वरादयः पवनस्य वायोः प्रकोपतो भवंति ॥ १७ ॥

भाषार्थ–अब अयुक्त प्राणायाम करनेमें जो रोग होते हैं उनका वर्णन करते हैं कि, हिक्का (हुचकी) श्वास कास और शिर नेत्र कर्ण इनकी पीडा और ज्वर आदि नानाप्रकारके रोग प्राणवायुके कोपसे होते हैं ॥ १७ ॥

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ॥
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १८ ॥

यतः पवनस्य प्रकोपतो विविधा रोगा भवंत्यतः किं कर्त्तव्यमत आह–युक्तं युक्तमिति॥वायुं युक्तं त्यजेत्। रेचनकाले शनैःशनैरेव रेचयेन्न वेगत इत्यर्थः। युक्तं युक्तं न चाल्पं नाधिकं च पूरयेत्। युक्तं युक्तं च जालंधरबंधादियुक्तं बध्नीयात्कुंभयेत्। एवमभ्यसेच्चेत्सिद्धिं हठसिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १८ ॥

भाषार्थ–जिससे वायुके कोपसे अनेक रोग होते हैं इससे जो योगीको कर्तव्य है उसका वर्णन करते हैं कि युक्तयुक्त प्राणवायुको त्यागै अर्थात् रेचनके समयमें शनैः २ ही प्राणका रेचन करै शीघ्र न करै और युक्त २ ही वायुको पूर्ण करै अर्थात् न अल्प न अधिक और जालंधर बंध आदि युक्त वायुको युक्त २ ही बांधे अर्थात् कुम्भक करै इस प्रकार योगी अभ्यास करै तो हठयोगकी सिद्धिको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि बाह्यतः ॥
कायस्य कृशता कांतिस्तदा जायेत निश्चितम् ॥ १९ ॥

युक्तं प्राणायाममभ्यसतो जायमानाया नाडीशुद्धेर्लक्षणमाह-द्वाभ्याम् ॥ यदा त्विति ॥ यदा तु यस्मिन्काले तु नाडीनां शुद्धिर्मलराहित्यं स्यात्तदा बाह्ये बाह्यानि । सार्वविभक्तिकस्तसिः । चिह्नानि लक्षणानि तथाशब्देनांतराण्यपि चिह्नानि भवंतीत्यर्थः । तान्येवाह-कायस्येति ॥ कायस्य देहस्य कृशता कार्श्यं कांतिः । सुरुचिर्निश्चितं जायते ॥ १९ ॥

भाषार्थ-युक्त प्राणायामके अभ्यासीको जो सिद्धि होती है उसके लक्षण दोश्लोकोसे कहते हैं कि जिस कालमें नाडियोंकी शुद्धि होती है उस समय बाह्य और भीतरके ये चिह्न होते हैं कि कायाकी कृशता और कांति (तेज) उस समय निश्चयसे होते हैं ॥१९॥

यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ॥
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥२०॥

यथेष्टमिति ॥ वायोः प्राणस्य यथेष्टं बहुवारं धारणं कुंभकेषु । अनलस्य जठराग्नेः प्रदीपनं प्रकृष्टा दीप्तिर्नादस्य ध्वनेरभिव्यक्तिः प्राकट्यमारोग्यमरोगता नाडिशोधनान्नाडीनां शोधनान्मलराहित्या-ज्जायते ॥ २० ॥

भाषार्थ-यथेष्ट (अनेकवार) वायुका जो धारण है वह जठराग्निको भली प्रकार दीपन है अर्थात् जठराग्निके दीपनसे यथेष्ट वायुके धारणके अनुमान करना और नादकी जो अभिव्यक्ति अर्थात् अन्तर्ध्वनिकी प्रतीति और रोगोंका अभाव यह नाडियोंके शोधनसे अर्थात् मलरहित करनेसे होता है ॥ २० ॥

मेदःश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ॥
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥२१॥

मेदआद्याधिक्ये उपायांतरमाह-मेदःश्लेष्माधिक इति ॥ मेदश्च श्लेष्मा च मेदःश्लेष्माणौ तावधिकौ यस्य स तादृशः पुरुषः । पूर्वं प्राणायामाभ्यासात्प्राक्तु प्राणायामाभ्यासकाले । षट् कर्माणि वक्ष्यमाणानि समाचरेत्सम्यगाचरेत् । अन्यस्तु मेदःश्लेष्माधिक्यरहितस्तु तानि षट् कर्माणि नाचरेत् तत्र हेतुमाह-दोषाणां वातपित्तकफानां समस्य भावः समभावः समत्वं तस्माद्दोषाणां समत्वादित्यर्थः ॥ २१ ॥

भाषार्थ-मेदा आदि जिस पुरुषके अधिक हों उसके लिये अन्य उपायका वर्णन करते हैं कि, जिस पुरुषके मेदा और श्लेष्मा अधिक होय वह पुरुष प्राणायामके अभ्याससे

पहिले छः कर्मोंको करे । और मेदा और श्लेष्माकी अधिकतासे जो रहितहो वह उन छः ६ कर्मोंको दोषोंकी समानता होनेसे न करे ॥ २१ ॥

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा ॥
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते ॥२२॥

षट् कर्माण्युपदिशति-धौतिरिति ॥ स्पष्टम् ॥ २२ ॥

भाषार्थ-छः कर्मोंको वर्णन करते हैं कि, धौती १ बस्ति २ नेति ३ त्राटक ४ नौलिक ५ और कपालभाति ६ बुद्धिमानोंने ये छः कर्म योगमार्गमें कहे हैं ॥ २२ ॥

कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोधनकारकम् ॥
विचित्रगुणसंधायि पूज्यते योगिपुंगवैः ॥ २३ ॥

इदं रहस्यमित्याह-कर्मषट्कमिति ॥ घटस्य शरीरस्य शोधनं मलापनयनं करोतीति घटशोधनकारकमिदमुद्दिष्टं कर्मणां षट्कं धौत्यादिकं गोप्यं गोपनीयम् । यतः ॥ विचित्रगुणसंधायीति ॥ विचित्रं विलक्षणं गुणं षट्कर्मरूपं संधातुं कर्तुं शीलमस्येति विचित्रगुणसंधायि योगिपुंगवैर्योगिश्रेष्ठैः पूज्यते सत्क्रियते । गोपनाभावे तु षट्कर्म-कमन्यैरपि विदितं स्यादिति योगिनः पूज्यत्वाभावः प्रसज्जेतेति भावः ॥ एतेनेदमेव कर्मषट्कस्य मुख्यं फलमिति सूचितम् । मेदःश्लेष्मादि-नाशस्य प्राणायामैरपि संभवात् । तदुक्तम् । 'षट्कर्मयोगमाप्नोति पवनाभ्यासतत्परः ।' इति पूर्वोत्तरग्रंथस्याप्येवमेव स्वारस्याच्च ॥ २३ ॥

भाषार्थ-ये छः कर्म गुप्त करने योग्य हैं और देहको शुद्ध करते हैं और विचित्रगुणके संधानको करतेहैं इससे योगियोंमें श्रेष्ठ इनकी प्रशंसा करते हैं यदि ये गुप्त न रक्खे जाँय तो अन्यभी इनको करसकेंगे तो योगियोंकी पूज्यता न रहैगी-इससे योगियोंको सर्वोत्तम बनानाही षट्कर्मका फल है-क्योंकि मेदा श्लेष्माका नाश तो प्राणायामोंसेभी होसकता है सोई इस वचनमें लिखा है कि प्राणायामके अभ्यासमें तत्पर मनुष्य षट्कर्मके योगको प्राप्त होता है पूर्व और उत्तर ग्रंथकी भी इसी प्रकार संगति होसकती है ॥ २३ ॥

तत्र धौतिः ।

चतुरंगुलविस्तारं हस्तपंचदशायतम् ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ॥
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौति कर्म तत् ॥२४॥

धौतिकर्माह-चतुरंगुलमिति ॥ चतुर्णामंगुलानां समाहारश्चतुरंगुलं चतुरंगुलं विस्तारो यस्य तादृशं हस्तानां पंचदशैरायतं दीर्घं सिक्तं जलार्द्रं किंचिदुष्णं वस्त्रं पटं तच्च सूक्ष्मं नूतनंष्णीषादेः खंडं ग्राह्यम् । गुरुणोपदिष्टो यो मार्गो वस्त्रग्रसनप्रकारस्तेन शनैर्मंदंमंदं किंचित्किंचिद्ग्रसेत् । द्वितीये दिने हस्तद्वयं तृतीये दिने हस्तत्रयम् । एवं दिनवृद्धया हस्तमात्रमाधिकं ग्रसेत् । पुनरिति॥ तस्य प्रांतं राजदंतमध्ये हठे संलग्नं कृत्वा नौलीकर्मणोदरस्थवस्त्रं सम्यक् चालयित्वा । पुनः शनैः प्रत्याहरेच्च तद्वस्त्रमुद्गिरेन्निष्कासयेच्च । तद्धौतिकर्मोदितं कथितं सिद्धैः ॥ २४ ॥

भाषार्थ-अब छःमें धौति कर्मको कहते हैं कि चार अंगुल-जिसका विस्तार हो और १५ पंद्रह हाथ जो आयत (दीर्घ) हो-अर्थात् चार अंगुल चौडा और पंद्रह हाथ लंबा जो वस्त्र उसको उष्ण जलसे सींचकर-गुरुके उपदेश किये मार्गसे शनैः २ ग्रसै अर्थात् प्रथम दिन एक हाथ, दूसरे दिन दो हाथ, तीसरे दिन तीन हाथ, इसप्रकार एक २ हाथकी वृद्धिसे उसके ग्रसनेका अभ्यास करै और वह वस्त्र भी सूक्ष्म लेना उचित है उस वस्त्रके प्रान्त (छोर) को अपनी डाढोंमे भलीप्रकार दाबकर नौली कर्मसे उदरमे टिकै उस वस्त्रको भलीप्रकार चलाकर उस वस्त्रका शनैः २ प्रत्याहरण करै अर्थात् निकाले । यह सिद्धोंने धौतीकर्म कहा है ॥ २४ ॥

कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः ॥
धौतिकर्मप्रभावेन प्रयांत्येव न संशयः ॥ २५ ॥
नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ॥
आधाराकुञ्चनं कुर्य्यात्क्षालनं वस्तिकर्म तत् ॥२६॥

धौतिकर्मणः फलमाह-कासश्वासेति॥कासश्च श्वासश्च प्लीहश्च कुष्ठं च । समाहारद्वंद्वःकासादयो रोगविशेषाः विंशतिसंख्याकाः कफरोगाश्च।धौतीति । धौतिकर्मणःप्रभावेन गच्छंत्येव न संशयः। निश्चितमेतादित्यर्थः। अथ वस्तिकर्माह । नाभिदघ्नेति॥नाभिपरिमाणं नाभिदघ्नम् । परिमाणे दघ्नच् प्रत्ययः । तस्मिन्नाभिदघ्ने नाभिपरिमाणे जले नद्यादितोये पायुर्गुदं तस्मिन्न्यस्तो नालो वंशनालो येन कनिष्ठिकाप्रवेशयोग्यरंध्रयुक्तं षडंगुलदीर्घं वंशनालं गृहीत्वा चतुरंगुलं पायौ प्रवेशयेत् अंगुलिद्वयमितं बहिः स्थापयेत्। उत्कटमासनं यस्य स उत्कटासनः।पार्ष्णिद्वये स्फिचौ विन्यस्य

पादांगुलिभिः स्थितिरुत्कटासनम् । आधारस्याकुंचनं तथा जलमंतः प्रविशेत्तथा संकोचनं कुर्यात् । अन्तः प्रविष्टं जलं नौलिककर्मणा चालयित्वा त्यजेत् । क्षालनं बस्तिकर्मोच्यते । धौतिबस्तिकर्मद्वयं भोजनात्प्रागेव कर्तव्यम् । तदनंतरं भोजने विलंबोऽपि न कार्यः । केचित्तु । पूर्वं मूलाधारेण वायोराकर्षणमभ्यस्य जले स्थित्वा पायौ नालप्रवेशनमंतरेणैव बस्तिकर्माभ्यसंति तथा करणे सर्वं जलं बहिर्नायाति । अतो नानारोगधातुक्षयादिसंभवाच्च तथा बस्तिकर्म नैव विधेयम् । किमन्यथा स्वात्मारामः पायौ न्यस्तनाल इति ब्रूयात् ॥ २५ ॥ २६ ॥

भाषार्थ-अब धौतीकर्मके फलको कहते हैं-कास-श्वास प्लीहा-कुष्ठ-और बीस प्रकारके कफरोग धौतीकर्मके प्रभावसे नष्ट होते हैं इसमें संशय नहीं । अर्थात् यह निश्चित है । अब वस्तीकर्मको कहते हैं कि, नाभिप्रमाणका जो नदी आदिका जल उसमें स्थित गुदाके मध्यमें ऐसे बाँसके नालको रक्खे जिसका छिद्र कनिष्ठिका अंगुलिके प्रवेश योग्य हो और छः अंगुल उस बाँसके नालको लेकर चार अंगुल उसकोॆ गुदामें प्रवेश करे और दो अंगुल बाहिर रक्खे और उत्कट आसन रक्खे अर्थात् दोपार्ष्णियोंसे ऊपर अपने स्फिच (चूतड) पादोंकी अंगुलियोंसे बैठनेको उत्कष्ट आसन कहते हैं । उक्त आसनमें बैठाहुआ मनुष्य आधाराकुंचन करे अर्थात् जैसे वंशनालके द्वारा वंशनालमें जल प्रविष्ट हो तैसे आकुंचन करे। भीतर प्रविष्ट हुए जलको नौली कर्मसे चलाकर त्याग दे-इस उदरके क्षालन (धोना) को बस्तिकर्म कहते हैं ये धौति बस्ति दोनों कर्म भोजनसे पूर्वही करने और इनके करनेके अनन्तर भोजनमें विलंबभी न करना । कोई तो पहिले मूलाधारसे प्राणवायुके आकर्षण (खींचना) का अभ्यास करके और जलमें स्थित होकर गुदामें नाल प्रवेशके विनाही बस्तिकर्मका अभ्यास करते हैं-उस प्रकार बस्तिकर्म करनेसे उदरमें प्रविष्टहुआ संपूर्ण जल बाहर नहीं आसक्ता और उसके न आनेसे धातुक्षय आदि नानारोग होते हैं-इससे उसप्रकार बस्तिकर्म न करना क्योंकि अपनी गुदामें रक्खा है नाल जिसने ऐसे स्वात्माराम अन्यथा क्यों कहते ? ॥ २५ ॥ २६ ॥

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः ॥
बस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयंते सकलामयाः ॥ २७॥

बस्तिकर्मगुणानाह द्वाभ्याम्-गुल्मप्लीहोदरमिति ॥ गुल्मश्च प्लीहश्च रोगविशेषावुदरं जलोदरं च तेषां समाहारद्वंद्वः। वातश्च पित्तं च कफश्च तेभ्य उद्भवा एकैकस्माद्द्वाभ्यां सर्वेभ्यो वा जाताः सकलाःसर्वे आमया रोगा बस्तिकर्मणः प्रभावः सामर्थ्यं तेन क्षीयंते नश्यंति ॥ २७ ॥

भाषार्थ-अब वस्तिकर्मके गुणोंको दो श्लोकोसे वर्णन करते हैं कि वस्तिकर्मके प्रभावसे गुल्म (गुम) प्लीहा-उदर (जलोदर) और वात-पित्त-कफ इनके द्वन्द्व वा एकसे उत्पन्न हुए संपूर्ण रोग नष्ट होते हैं ॥ २७ ॥

धात्विंद्रियांतःकरणप्रसादं दद्याच्च कांतिं दहनप्रदीप्तिम् ॥
अशेषदोषोपचयं निहन्यादभ्यस्यमानं जलवस्तिकर्म ॥ २८ ॥

धात्विति अभ्यस्यमानमनुष्ठीयमानं जले वस्तिकर्म जलवस्तिकर्मका कर्तृ। दद्यादनुष्ठातुरिति शेषः। धातवो 'रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः' इत्युक्ता इंद्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पंच कर्मेंद्रियाणि च श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि पंच ज्ञानेंद्रियाणि च अंतःकरणानि मनोबुद्धिचित्ताहंकाररूपाणि तेषां परितापविक्षेपशोकमोहगौरवावरणदैन्यादिराजसतामसधर्मविनिवर्तनेन सुखप्रकाशलाघवादिसात्त्विकधर्माविर्भावः प्रसादस्तं कांतिं द्युतिं दहनस्य जठराग्नेः प्रदीप्तिं प्रकृष्टां दीप्तिं च तथा। अशेषाः समस्ता ये दोषा वातपित्तकफास्तेषामुपचयम्। एतदपचयस्याप्युपलक्षणम्। उपचयापचयौ निहन्यान्नितरां हन्यात्। दोषसाम्यरूपमारोग्यं कुर्यादित्यर्थः ॥२८॥

भाषार्थ-अभ्यास किया हुआ यह वस्तिकर्म करनेवाले पुरुषके धातु अर्थात् रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, शुक्र, और वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, ये पांच कर्मेन्द्रिय श्रोत्र-त्वक्-जिह्वा-घ्राण-चक्षु ये पांच ज्ञानेन्द्रिय और मन बुद्धि चित्त अहंकार रूप अंतःकरण इनकी प्रसन्नताको करता है अर्थात् इनके परिताप विक्षेप शोक मोह गौरव आवरण दैन्य आदि रजोगुण तमोगुण धर्मोंको दूर करके सुखका प्रकाश लाघव आदि सात्विक धर्मोंको प्रकट करता है और देहकी कांति और जठराग्निकी दीप्तिको देता है-और संपूर्ण-जो--वात--पित्त कफ आदि दोष हैं उनकी वृद्धिको नष्ट करता है--और इन दोषोंके अपचय (न्यूनता) कोभी नष्ट करता है--अर्थात् दोषोंकी साम्यरूप आरोग्यताको करता है ॥ २८ ॥

अथ नेतिः।

सूत्रं वितस्तिसुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ॥
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥ २९ ॥

अथ नेतिकर्माह-सूत्रमिति ॥ वितस्ति वितस्तिमितं वितस्तिरित्युपलक्षणमधिकस्यापि। यावता सूत्रेण सम्यक् नेतिकर्म भवेत्तावद्-

ग्राह्यम् । सुस्निग्धं सुष्ठु स्निग्धं ग्रंथ्यादिरहितं सूत्रं तच्च नवधा दशधा पंचदशधा वा गुणितं सुदृढं ग्राह्यम् । नासा नासिका सैव नालः सच्छिद्रत्वात्तस्मिन्प्रवेशयेत । मुखान्निर्गमयेन्निष्कासयेत् । तत्प्रकारस्त्वेवम्-सूत्रप्रांतं नासानाले प्रवेश्येतरनासापुटमंगुल्या निरुध्य पूरकं कुर्यात् । पुनश्च मुखेन रेचयेत । पुनःपुनरेवं कुर्वतो मुखे सूत्रप्रांतमायाति । तत्सूत्रप्रांतं नासाबहिःस्थसूत्रप्रांतं च गृहीत्वा शनैश्चालयेदिति । चकारादेकस्मिन्नासानाले प्रवेश्येतरस्मिन्निर्गमयेदित्युक्तं तत्प्रकारस्त्वेकस्मिन्नासानाले सूत्रप्रांतं प्रवेश्येतरनासापुटमंगुल्या निरुध्य पूरकं कुर्यात्पश्चादितरनासानालेन रेचयेत् । पुनःपुनरेवं कुर्वत इतरनासानाले सूत्रप्रांतमायाति तस्य पूर्ववच्चालनं कुर्यादिति । अयं प्रकारस्तु बहुवारं कुर्वतः कदाचिद्भवति । एषोक्ता सिद्धैरणिमादिगुणसंपन्नैः । तदुक्तम्-'अवाप्ताष्टगुणैश्वर्याः सिद्धाः संद्भिर्निरूपिताः' इति । नेतिर्निगद्यते नेतिरिति कथ्यते ॥ २९ ॥

भाषार्थ-अब नैतिककर्मका वर्णन करते हैं कि, वितस्ति (विलायद) परिमित भलीप्रकार स्निग्ध (चिकने) सूत्रको नासिकाके नालमें प्रविष्ट करके मुखमें निकाल दे यह सिद्धोंने नेति कही है । यहां जितने सूत्रसे नेतिकर्म होसके उतना सूत्र लेना कुछ वितस्तिका नियम नहीं । और वह सूत्र नव दश वा पंद्रह तारका लेना--उस नेति करनेका प्रकार तो इसप्रकार है कि, सूत्रके प्रान्तभागको नासाके नालमें प्रविष्ट करके और दूसरी नासाके पुटको अंगुलिसे रोककर--पूरकप्राणायाम करे फिर मुखसे वायुका रेचन करे--वारंवार इसप्रकार करते हुए मनुष्यके मुखमें सूत्रका प्रान्त आजाता है-मुखमें आये सूत्रके प्रान्त (छोर) को और नासिकाके बाहर टिके सूत्रप्रान्तको शनैः २ चलावे इसको नेति कर्म कहते हैं--और चकारके पढनेसे एक नासिकाके नालमें प्रवेश करके दूसरी नासिकाके नालमें प्रवेश करले यह समझना. उसका प्रकार यह है कि, एक नासिकाके नालमें सूत्रके तांतको प्रवेश करके इतर नासिकाके पुटको अंगुलिसे दाबकर पूरक प्राणायाम करे फिर इतर नासिकाके नालसे प्राणका रेचन करे । वारंवार इसप्रकार करते हुए मनुष्यकी दूसरी नासिकाके नालमें सूत्रका प्रांत आजाता है--उसका पूर्वके समानही चालन करे परन्तु यह प्रकार बहुतवार करनेवाले पुरुषको कदाचित्ही होता है । अणिमा आदि गुणोंसे युक्त सिद्धोंने यह नेति कही है -सोई इस वचनसे कहा है कि, जिनको अणिमा आदि आठ प्रकारका ऐश्वर्य होवे वे सज्जनोंने सिद्ध कहे हैं ॥ २९ ॥

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ॥
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहंति च ॥३०॥

नेतिगुणानाह—कपालशोधिनीति ॥ कपालं शोधयति शुद्धं मलरहितं करोतीति कपालशोधिनी। चकारान्नासानालादीनामपि। एवशब्दोऽवधारणे। दिव्यां सूक्ष्मपदार्थग्राहिणीं दृष्टिं प्रकर्षेण ददातीति दिव्यदृष्टिप्रदायिनी नेतिक्रिया जत्रुणोः स्कंधसंध्योरूर्ध्वमुपरिभागे जातो जत्रूर्ध्वजातः स चासौ रोगाणामोघश्च तमाशु झटिति निहंति। चकारः पादपूरणे। 'स्कंधो भुजशिरोंऽसोऽस्त्री संधी तस्यैव जत्रुणि।' इत्यमरः ॥ ३० ॥

भाषार्थ—अब नेतिके गुणोंको कहते हैं कि, यह नेतिक्रिया कपालको शुद्ध करती है और चकारसे नासिका आदिके मलको दूर करती है और दिव्य दृष्टिको देती है और जत्रुके अर्थात् स्कंधकी संधिके ऊपरले भागके रोगोंका जो समूह उसको शीघ्र नष्ट करती है, क्योंकि इस अमरकोशमें स्कंध भुजा शिर इनकी संधिको जत्रु कहा है ॥ ३० ॥

अथ त्राटकम्।

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ॥
अश्रुसंपातपर्यंतमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥३१॥

त्राटकमाह—निरीक्षेदिति ॥ समाहितः एकाग्रचित्तः निश्चलाचासौ दृक् च दृष्टिस्तया सूक्ष्मं च सूक्ष्मलक्ष्यमश्रूणां सम्यक् पातः पतनं तत्पर्यंतम्। अनेन निरीक्षणस्यावधिरुक्तः। निरीक्षेत्पश्येत्। आचार्यैर्मत्स्येंद्रादिभिरिदं त्राटकं त्राटककर्म स्मृतं कथितम् ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—अब त्राटकका वर्णन करते हैं कि, समाहित अर्थात् एकाग्रचित्त हुआ मनुष्य निश्चल दृष्टिसे सूक्ष्म लक्ष्यको अर्थात् लघुपदार्थको तबतक देखै जबतक अश्रुपात न होवे यह मत्स्येन्द्र आदि आचार्योंसे त्राटक कर्म कहा है ॥ ३१ ॥

मोचनं नेत्ररोगाणां तंद्रादीनां कपाटकम् ॥
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ॥३२॥

त्राटकगुणानाह—मोचनमिति ॥ नेत्रस्य रोगा नेत्ररोगास्तेषां मोचनं नाशकं तंद्रा आदिर्येषामालस्यादीनां तेषां कपाटवदंतर्धायकमभिभावकमित्यर्थः। तंद्रा तामसश्चित्तवृत्तिविशेषः। त्राटकं त्राटकाख्यं कर्म यत्नतः प्रयत्नतः प्रयत्नाद्गोप्यं गोपनीयम्। गोपने दृष्टांतमाह—

यथेति ॥ हाटकस्य सुवर्णस्य पेटकं पेटी इति लोके प्रसिद्धं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्वत् ॥ ३२ ॥

भाषार्थ-अब त्राटकके गुण कहते हैं कि, यह त्राटक कर्म नेत्रके रोगोंका नाशक है और तंद्रा आलस्य आदिका कपाट है अर्थात् कपाटके समान तंद्रा आदिका अन्तर्द्धान (तिरस्कार) करता है तमोगुणी जो चित्तकी वृत्ति उसे तन्द्रा कहते हैं । यह त्राटक-कर्म इसप्रकार यत्नसे गुप्त करने योग्य है जैसे सुवर्णकी पेटी जगत्में गुप्त करने योग्य होती है ॥ ३२ ॥

अथ नौलिः ।

अमंदावर्तवेगेन तुंदं सव्यापसव्यतः ॥
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्षते ॥ ३३ ॥

अथ नौलिकर्माह-अमंदेति ॥ नतौ नम्रीभूतावंसौ स्कंधौ यस्य स नतांसः पुमानमंदोऽतिशयितो य आवर्तस्तस्येव जलभ्रमस्येव वेगो जवस्तेन तुंदमुदरम् । 'पिचंडकुक्षी जठरोदरं तुंदं स्तनौ कुचौ' । इत्यमरः । सव्यं चापसव्यं च सव्यापसव्ये दक्षिणवामभागौ तयोः सव्यापसव्यतः । सप्तम्यर्थे तसिः । भ्रामयेद् भ्रमंतं प्रेरयेत् । सिद्धैरेषा नौलिः प्रचक्षते कथ्यते ॥ ३३ ॥

भाषार्थ-अब नौलिका वर्णन करते हैं कि, नवाये हैं कांधे जिसने ऐसा मनुष्य अत्यन्त है वेग जिसका ऐसे आवर्त (जलभ्रम) के समान वेगसे अपने तुंद (उदर) को सव्य और अपसव्य (अर्थात्) दक्षिणवामभागोंसे भ्रमावै सिद्धोंने यह नौलिकर्म कहा है ॥ ३३ ॥

मंदाग्निसंदीपनपाचनादिसंधापिकानंदकरी सदैव ॥
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रिया मौलिरियंच नौलिः ॥ ३४ ॥

नौलिगुणानाह-मंदाग्नीति ॥ मंदश्चासावग्निर्जठराग्निस्तस्य दीपनं सम्यग्दीपनं च पाचनं च भुक्तान्नपरिपाकश्च मंदाग्निसंदीपनपाचने ते आदिनी यस्य तन्मंदाग्निसंदीपनपाचनादि तस्य संधापिका विधात्री । आदिशब्देन मलशुद्ध्यादि । सदैव सर्वदैवानंदकरी सुखकरी । अशेषाः समस्ताश्च ते दोषाश्च वातादय आमयाश्च रोगास्तेषां शोषणी शोषण-कर्त्री । हठस्य क्रियाणां धौत्यादीनां मौलिर्मौलिरिवोत्तमा धौतिबस्त्यो-र्नौलिसापेक्षत्वात् । इयमुक्ता नौलिः ॥ ३४ ॥

भाषार्थ-अब नौलिके गुणोंको कहते हैं कि, मंदाग्निका भलीप्रकार दीपन और अन्न आदिका पाचन और सर्वदा आनंद इनको यह नौलि करती है और दोष (संचित) जो वात आदि दोष और रोग इनका शोषण (नाश) करती है और यह नौलि धौति आदि जो हठयोगकी क्रिया हैं उन सबकी मौलि (उत्तम) रूप है ॥ ३४ ॥

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ॥
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ॥ ३५ ॥

अथ कपालभातिं तद्गुणं चाह—भस्त्रावदिति ॥ लोहकारस्य भस्त्राग्नेधं-मनसाधनीभूतं चर्म तद्वत्संभ्रमेण सह वर्तमानौ ससंभ्रमौ शीघ्रौ रेचपूरौ रेचकपूरकौ कपालभातिरिति विख्याता । कीदृशी । कफदोषविशोषणी कफस्य दोषा विंशतिभेदभिन्नाः । तदुक्तं निदाने—'कफरोगाश्च विंशतिः' इति । तेषां विशोषणी विनाशिनी ॥ ३५ ॥

भाषार्थ-अब कपालभाति और उसके गुणोंको कहते हैं कि, लोहकारी भस्त्राके समान संभ्रमसे अर्थात् एकबार अत्यन्त शीघ्रतासे रेचक पूरक प्राणायामको करना वह योगशास्त्रमें कफदोषका नाशक कपालभाति विख्यात है ॥ ३५ ॥

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ॥
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ॥ ३६ ॥

षट्कर्मणां प्राणायामस्योपकारकत्वमाह—षट्कर्मेति ॥ षट्कर्मभिर्धौति-प्रभृतिभिर्निर्गताः । स्थौल्यं स्थूलस्य भावः स्थूलत्वम् । कफदोषा विंश-तिसंख्याका मलादयश्च यस्य स तथा 'शेषाद्विभाषा' इति कप्प्रत्ययः । आदिशब्देन पित्तादयः। प्राणायामं कुर्यात् । ततस्तस्मात्षट्कर्मपूर्वका-त्प्राणायामादनायासेनाश्रमेण सिद्ध्यति । योग इति शेषः । षट्कर्मा-करणे तु प्राणायामे श्रमाधिक्यं स्यादिति भावः ॥ ३६ ॥

भाषार्थ-अब इन छः पूर्वोक्त कर्मोंको प्राणायामकी उपकारकताका वर्णन करते हैं कि, धौति आदि छः कर्मोंसे दूर भये हैं स्थूलता बीस प्रकारके कफदोष और मल पित्त आदि जिसके ऐसा पुरुष षट्कर्म करनेके अनंतर प्राणायाम करे तो अनायाससे (विनापरिश्रम) प्राणायाम सिद्ध होता है । यदि षट्कर्मोंको न करके प्राणायामोंको करे तो अधिक परिश्रम होता है इससे षट्कर्मके अनंतरही प्राणायाम करना उचित है ॥ ३६ ॥

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यंति मला इति ॥
आचार्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न संमतम् ॥ ३७ ॥

मतभेदेन षट्कर्मणामनुपयोगमाह—प्राणायामैरिति ॥ प्राणायामैरेव । एवशब्दः षट्कर्मव्यवच्छेदार्थः । सर्वे मलाः प्रशुष्यंति । मला इत्युपलक्षणं स्थौल्यकफपित्तादीनाम् इति हेतोः केषांचिदाचार्याणां याज्ञवल्क्यादीनामन्यत्कर्म षट्कर्म न संमतं नाभिमतम् । आचार्यलक्षणमुक्तं वायुपुराणे । 'आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयेदपि । स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते ॥' इति ॥ ३७ ॥

भाषार्थ-अब मतभेदसे छः कर्मके अनुपयोगको कहते हैं कि, प्राणायामके करनेसेही संपूर्ण मल शुष्क होते हैं और स्थौल्य कफ आदिकी निवृत्तिभी प्राणायामोंसेही होसकती हैं इससे किन्ही किन्ही आचार्योंको प्राणायामोंसे अन्य जो धौति आदि कर्म हैं वे सम्मत नहीं हैं । वायुपुराणमें आचार्यका लक्षण यह कहा है कि, जो शास्त्रके अर्थका संग्रह करे और शास्त्रोक्तको स्वयं करे और अन्योंसे करावै वह आचार्य कहाता है ॥ ३७ ॥

उदरगतपदार्थमुद्वमंति पवनमपानमुदीर्य कंठनाले ॥
क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा गजकरणीति निगद्यते हठज्ञैः ३८॥

गजकरणीमाह—उदरगतमिति॥अपानं पवनमपानवायुं कंठनाले कंठो नाल इव कंठनालस्तस्मिन्नुदीर्योत्क्षिप्योदरे गतःप्राप्तःस चासौ पदार्थश्च भुक्तपीतान्नजलादिस्तं पदार्थमुद्वमंत्युद्गिरंति यथा योगिन इत्यध्याहारः । क्रमेण यः परिचयोऽभ्यासस्तेनावश्यं स्वाधीनं नाडीनां चक्रं यस्यां सा तथा । सा क्रिया हठज्ञैर्हठयोगाद्यभिज्ञैर्गजकरणीति निगद्यते कथ्यते । क्रमपरिचयवश्यनाडिमार्गं इति क्वचित्पाठस्तस्यायमर्थःक्रमपरिचयेन वश्यो नाड्याःशंखिन्याः मार्गः कंठपर्यंतो यस्यां सा तथा ॥ ३८ ॥

भाषार्थ-अब गजकरणीका वर्णन करते हैं कि, अपान वायुको ऊपरको उठाकर अर्थात् कंठके नालमें पहुँचाकर उदरमें प्राप्त हुये अन्न जल आदि पदार्थको जिससे योगीजन उद्वमन करते हैं इसका क्रमसे जो अभ्यास तिससे वशीभूत (स्वाधीन) हैं नाडियोंका समूह जिसके ऐसी उस क्रियाका नाम हठयोगके ज्ञाता आचार्योंने गजकरणी कहा है और कहीं क्रमपरिचय वश नाडिमार्ग यहभी पाठ है । उसका यह अर्थ है कि, क्रमसे किये अभ्याससे वशीभूत है शंखिनी नाडीका कंठपर्यंत मार्ग जिसमें ऐसी गजकरणी कहाती है ॥ ३८ ॥

ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः ॥
अभूवन्नंतकभयात्तस्मात्पवनमभ्यसेत् ॥ ३९ ॥

प्राणायामोऽवश्यमभ्यसनीयः सर्वोत्तमैरभ्यस्तत्वान्महाफलत्वाच्चेति सूचयन्नाह चतुर्भिः ॥ ब्रह्मादय इति ॥ ब्रह्मा आदिर्येषां ते ब्रह्मादयस्तेऽपि । किमुतान्य इत्यर्थः । त्रिदशाः देवाः अंतयतीत्यंतकः कालस्तस्माद्भयमंतकभयं तस्मात्पवनस्य प्राणवायोरभ्यासो रेचकपूरककुंभकभेदभिन्नप्राणायामानुष्ठानरूपस्तस्मिंस्तत्परा अवहिता अभूवन्नासन् । तस्मात्पवनमभ्यसेत्प्राणमभ्यसेत् ॥ ३९ ॥

भाषार्थ-अब प्राणायामके अवश्य अभ्यास और सर्वोत्तमोंके कर्तव्य और फलका वर्णन करते हैं कि, ब्रह्मा आदि देवताभी अन्तकके भयसे अर्थात् काल जीतनेके लिये प्राणवायुके अभ्यासमें तत्पर हुए अर्थात् रेचक कुम्भक पूरक भेदोंसे भिन्न २ जो प्राणायाम इनके करनेमें सावधान रहें तिससे प्राणायामके अभ्यासको अवश्य करै ॥ ३९ ॥

यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निराकुलम् ॥
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥ ४१ ॥

यावदिति ॥ यावद्यावत्कालपर्यंतं मरुत्प्राणानिलो देहे शरीरे बद्धः श्वासोच्छासक्रियाशून्यः । यावच्चित्तमंतःकरणं निराकुलमविक्षिप्तं समाहितम् । यावद्भ्रुवोर्मध्ये दृष्टिरंतःकरणवृत्तिः । दृष्टिरत्र ज्ञानसामान्यार्थः । तावत्कालपर्यंतं कलयतीति कालोऽतकस्तस्माद्भयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः । तथा च वक्ष्यति-"खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा । साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥" इति । स्वाधीनो भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

भाषार्थ-यावत्कालपर्यंत प्राणवायु शरीरमें बद्ध है अर्थात् श्वास और उच्छ्वास क्रियासे शून्य है और इतने अन्तःकरण निराकुल अर्थात् विक्षेपरहित वा सावधान है और इतने भ्रुकुटियोंके मध्यमें अन्तःकरणकी वृत्ति है तावत्कालपर्यंत कालसे भय किसी प्रकार नहीं होसकता है अर्थात् योगी स्वाधीन होजाता है सोई आगे कहेंगे कि, उच योगीको कोई खा नहीं सकता न कोई कर्म बांध सकता न कोई उसे साधसकता जो योगी समाधिसे युक्त है ॥ ४० ॥

विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते ॥
सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥ ४१ ॥

विधिवदिति ॥ विधिवत्प्राणसंयामैरासनजालंधरबंधादिविधियुक्तप्राणयामैर्नाडीचक्रे नाडीनां चक्रं समूहस्तस्मिन्विशोधिते निर्मले सति

मारुतो वायुः सुषुम्ना इडापिंगलयोर्मध्यस्था नाडी तस्या वदनं मुखं भित्त्वा सुखादनायासाद्विशति। सुषुम्नांतरिति शेषः ॥ ४१ ॥

भाषार्थ–विधिपूर्वक अर्थात् आसन जालंधरबन्ध आदि पूर्वक किये हुए प्राणायामोंसे नाडियोंके समूहके भलीप्रकार शोधन हुयेपर प्राणवायु इडा और पिंगलाके मध्यमें वर्तमान सुषुम्ना नाडीके मुखको भलीप्रकार भेदन करके सुषुम्नाके मुखमें सुखसे प्रविष्ट होजाता है ॥ ४१ ॥

मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ॥
यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी ॥ ४२ ॥

मारुत इति ॥ मारुते प्राणवायौ मध्ये सुषुम्नामध्ये संचारः सम्यक्चरणं गमनं मूर्धपर्यंतं यस्य स मध्यसंचारस्तस्मिन् सति मनसः स्थैर्यं ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो जायते प्रादुर्भवति। यो मनसः सुस्थिरीभावः सुष्ठु स्थिरीभवनं सैव मनोन्मन्यवस्था। मनोन्मनीशब्द उन्मनीपर्यायः तथाग्रे वक्ष्यति–'राजयोगः समाधिश्च' इत्यादिना ॥ ४२ ॥

भाषार्थ–जब प्राणवायुका सुषुम्नाके मध्यमें संचार होनेपर मनकी स्थिरता होजाती है अर्थात् ध्यान करने योग्य वस्तुके आकारकी वृत्तियोंका प्रवाह होजाता है वह जो मनका भलीप्रकार स्थिर होजाना है उसकोही मनोन्मनी अवस्था कहते हैं यहाँ मनोन्मनी शब्द उन्मनीका पर्याय है यही बात राजयोग और समाधियोगसे आगे कहेंगे ॥ ४२ ॥

तत्सिद्धये विधानज्ञाश्चित्रान्कुर्वंति कुंभकान् ॥
विचित्र कुंभकाभ्यासाद्विचित्रां सिद्धिमाप्नुयात् ॥ ४३ ॥

विचित्रेषु कुंभकेषु प्रवृत्तिं जनयितुं तेषां मुख्यफलमवांतरफलं चाह–तत्सिद्धये इति ॥ विधानं कुंभकानुष्ठानप्रकारस्तज्जानंतीति विधानज्ञास्तत्सिद्धये उन्मन्यवस्थासिद्धये चित्रान्सूर्यभेदनादिभेदेन नानाविधान्कुंभकान्कुर्वंति। विचित्राश्च ते कुंभकाश्च विचित्रकुंभकास्तेषामभ्यासादनुष्ठानाद्विचित्रामणिमादिभेदेन नानाविधां विलक्षणां वा जन्मौषधिमंत्रतपोजाताम्। तदुक्तं भागवते–'जन्मौषधितपोमंत्रैर्यावतीरिह सिद्धयः। योगेनाप्नोति ताः सर्वा नान्यैर्योगगतिं व्रजेत् ॥' इति। आप्नुयात्प्राप्नुयात् परंपरयेति भावः ॥ ४३ ॥

भाषार्थ–विचित्र कुंभकप्राणायामोंमें प्रवृत्ति होनेके लिये उनके मुख्य फल और अवांतरफलको कहते हैं–कुंभक प्राणायामकी विधिके ज्ञाता योगीजन उन्मनी अवस्थाकी

सिद्धिके लिये अनेक प्रकारके अर्थात् सूर्यभेदन आदिसे भिन्न २ प्राणायामोंको करते हैं, क्योंकि विचित्र कुंभकप्राणायामोंके अभ्याससे विचित्रही सिद्धिको प्राप्त होजाता है अर्थात् जन्म, औषधी, मंत्र, तप इनसे उत्पन्न हुई विलक्षण सिद्धि कुंभक प्राणायामोंसे होती है। सोई भागवतमें कहा है कि, उत्तम जन्म औषधी तप और मंत्र इनसे जितनी सिद्धि होती है उन सबको योगी योगसे प्राप्त होता है और अन्य कर्मोंसे योगकी गति प्राप्त नहीं होती और उस गतिकी प्राप्ति प्रत्याहार आदिकी परम्परासे समझनी ॥ ४३ ॥

अथ कुंभकभेदाः।

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्टकुंभकाः ॥४४॥

अथाष्टकुंभकान्नामभिर्निर्दिशति- सूर्यभेदनमिति ॥ स्पष्टम् ॥ ४४ ॥

भाषार्थ-अब आठ कुंभक प्राणायामोंको नाम लेलेकर दिखाते हैं कि, सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा, प्लाविनी ये आठप्रकारके कुंभक-प्राणायाम जानने ॥ ४४ ॥

पूरकांते तु कर्तव्यो बंधो जालंधराभिधः ॥
कुंभकांते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियानकः ॥ ४५ ॥

अथ हठसिद्धावनन्यासिद्धां पारमहंसीं सर्वकुंभकसाधारणयुक्तिमाह त्रिभिः ॥ पूरकांत इति ॥ जालंधर इत्यभिधा नाम यस्य स जालंधराभिधो बंधो बध्नाति प्राणवायुमिति बंधः कंठाकुंचनपूर्वकं चिबुकस्य हृदि स्थापनं जालंधरबंधः पूरकांते पूरकस्यांते पूरकानंतरं झटिति कर्तव्यः। तुशब्दात्कुंभकादावुड्डियानकस्तु कुंभकांते कुंभकस्यांते किंचित्कुंभकशेषे रेचकस्यादौ रेचकादौ रेचकात्पूर्वं कर्तव्यः। प्रयत्नविशेषेण नाभिप्रदेशस्य पृष्ठत आकर्षणमुड्डियानबंधः ॥ ४५ ॥

भाषार्थ-अब हठसिद्धिकेविषे परमहंसोंकी उस सर्वकुम्भक साधारण युक्तिको तीन श्लोकोंसे कहते हैं जो अन्यसे सिद्ध न होसके कि, पूरकप्राणायामके अंतमें जालंधरहै नाम जिसका वह बंध करना अर्थात् कंठके आकुंचनको करके चिबुकको हृदयमें स्थापनरूप जालंधरबंधसे प्राणवायुका बंधन करै और तुशब्दसे कुंभककी आदिमें भी जालंधर बंध करै और कुंभकके अंतमें अर्थात् कुंभकके किंचित् शेष रहनेपर और रेचकप्राणायामकी आदिमें उड्डियान बंधको करै प्रयत्न विशेषसे नाभिप्रदेशका पीठसे जो आकर्षण उसे उड्डियानबंध कहते हैं ॥ ४५ ॥

अधस्तात्कुंचनेनाशु कंठसंकोचने कृते ॥
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥ ४६ ॥

अधस्तादिति ॥ कंठस्य संकोचनं कंठसंकोचनं तस्मिन्कृते सति जालंधरबंधे कृते सतीत्यर्थः । आश्वव्यवहितोत्तरमेवाधस्तादधःप्रदेशादाकुंचनेनाधाराकुंचनेन मूलबंधेनेत्यर्थः । मध्ये नाभिप्रदेशे पश्चिमतः पृष्ठतस्तानं ताननमाकर्षणं तेनोड्डियानबंधेनेत्यर्थः । उक्तरीत्या कृतेन बंधत्रयेण प्राणो वायुर्ब्रह्मनाडीं सुषुम्नां गच्छतीति ब्रह्मनाडिगः सुषुम्नानाडिगामी स्यादित्यर्थः अत्रेदं रहस्यम् । यदि श्रीगुरुमुखाज्जिह्वाबंधः सम्यक् परिज्ञातस्तर्हि जिह्वाबंधपूर्वकेन जालंधरबंधेनैव प्राणायामः सिध्यति । वायुप्रकोपेनैवमधातुवपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नतेत्यादीनि सर्वाणि लक्षणानि जायंत इति मूलबंधोड्डियानबंधौ नोपयुक्तौ । तयोर्जिह्वाबंधपूर्वकेण जालंधरबंधेनान्यथा सिद्धत्वात् । जिह्वाबंधो न विदितश्चेदधस्तात्कुंचनेनेति श्लोकोक्तरीत्या प्राणायामाः कर्तव्याः । त्रयोऽपि बंधा गुरुमुखाज्ज्ञातव्याः । मुलबंधस्तु सम्यगज्ञातो नानारोगोत्पादकः । तथा हि । यदि मूलबंधे कृते धातुक्षयो विष्टंभोऽग्निमांद्यं नादमांद्यं गुटिकासमूहाकारमजस्यैव पुरीषं स्यात्तदा मूलबंधः सम्यक् न ज्ञात इति बोध्यम् । यदि तु धातुपुष्टिः सम्यक् मलशुद्धिरग्निदीप्तिः सम्यक् नादाभिव्यक्तिश्च स्यात्तदा ज्ञेयं मूलबंधः सम्यक् जातः इति ॥ ४६ ॥

भाषार्थ–कंठका संकोचन करनेपर अर्थात् जालंधर बंध किये पीछे शीघ्रही नीचेके प्रदेशसे आकुंचन होनेसे अर्थात् आकुंचनसे मूलबंध होनेसे हुआ जो मध्यमें पश्चिमतान अर्थात् पृष्ठसे नाभिप्रदेशमें प्राणका आकर्षण रूप उड्डियान बंधसे प्राण ब्रह्मनाडीगत होजाता है । सुषुम्ना नाडीमें पहुँच जाता है, यहां यह रहस्य अर्थात् गोप्य वस्तु है कि, यदि गुरुमुखसे जिह्वाबंध भलीप्रकार जानलिया होय तो जिह्वाबंधके करनेके अनंतरही जालंधर बंधसे प्राणायाम सिद्ध होता है अर्थात् वायुके प्रकोपनसेही धातुओंकी प्रसन्नता देशमें कृशता और मुखकी प्रसन्नता आदि संपूर्ण लक्षण होजाते हैं इससे मूलबंध उड्डियान बन्ध करनेका कुछ उपयोग नहीं और जिह्वाबन्ध न जाना होय तो इस श्लोकमें उक्त रीतिसे प्राणायाम करने और ये तीनों बन्ध गुरुमुखसे जानने योग्य हैं, क्योंकि भलीप्रकार न जाना हुआ मूलबंध नानारोगोंको पैदा करता है सोई दिखाते हैं कि, यदि मूलबंध कियेपर धातुका क्षय विष्टंभ मंदाग्नि नादकी मंदता और गुटिकाके समूहकेसा है आकार

जिसका ऐसा बकरीके समान पुरीष (मल) होय तो यह जानना कि, मूलबंध भली-प्रकार नहीं हुआ और यदि धातुओंकी पुष्टि भलीप्रकार मलशुद्धि और अग्निका दीपन और भलीप्रकार नादकी प्रकटता होय तो यह जानना कि, मूलबन्ध भलीप्रकार हुआ है, भावार्थ यह है कण्ठके संकोच कियेपर नीचेके प्रदेशसे प्राणके आकुंचनसे पश्चिमतान करनेपर नाभिप्रदेशमें पृष्ठसे प्राणके आकर्षणसे प्राण सुषुम्नामें पहुँच जाता है ॥४६॥

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कंठादधो नयेत् ।
योगी जराविमुक्तः सन्षोडशाब्दवयो भवेत् ॥ ४७ ॥

अपानमिति ॥ अपानमपानवायुमूर्ध्वमुत्थाप्याधाराकुंचनेन प्राणं प्राणवायुं कंठादधःअधोभागे नयेत्प्रापयेद्यःस योगी योगोऽस्यास्तिअभ्य-स्यत्वेनेति योगी योगाभ्यासी जरया वार्धक्येन विमुक्तो विशेषेण मुक्तः सन् । षोडशानामब्दानां समाहारःषोडशाब्दं षोडशाब्दं वयो यस्य स तादृशो भवेत् । यद्यपि 'पूरकांते तु कर्तव्यः' इत्यादिना त्रयाणां श्लोकानामेक एवार्थःपर्यवस्यति तथापि 'पूरकांते तु कर्तव्यः' इत्यनेन बंधानां काल उक्तः । 'अधस्तात्कुंचनेन' इत्यनेन बंधानां स्वरूपमु-क्तम् । 'अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य' इत्यनेन बंधानां फलमुक्तमिति विशेषः । जालंधरबंधे मूलबंधे च कृते नाभेरधोभाग आकर्षणाख्यो बंध उड्डिया-नबंधो भवत्येवेत्यस्मिञ्छ्लोके नोक्तः । तथाचोक्तं ज्ञानेश्वरेण गीताषष्ठा-ध्यायव्याख्यायाम् । 'मूलबंधे जालंधरबंधे च कृते नाभेरधोभाग आक-र्षणाख्यो बंधः स्वयमेव भवति ॥ ४७ ॥

भाषार्थ-अपानवायुको ऊर्ध्व (ऊपर) को उठाकर आधाराकुंचनसे प्राणवायुको जो कंठके अधोभागमें स्थापन करे वह योगी जरासे विमुक्त होताहै और षोडश वर्षका है देह जिसका ऐसा होता है. यद्यपि पूर्वोक्त तीनों श्लोकोंका अंतमें एकही अर्थ होता है तथापि (पूरकान्ते) इस प्रथम श्लोकसे बन्धोंका समय कहा है और (अधस्तात्कुंचनेन) इस दूसरे श्लोकसे बन्धोंका स्वरूप कहा (अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य) इस तीसरे श्लोकसे बन्धोंका फल कहा है यह विशेष जानना और जालंधरबंध और मूलबंध करनेपर नाभिके भागमें आकर्षण नामका बन्ध जो उड्डियान बंध है वह स्वयंही होजाता है इससे इस श्लोकमें नहीं कहा, सोई ज्ञानेश्वरने गीतामें छठे अध्यायकी व्याख्यामें कहा है मूलबन्ध जालंधरकिये पीछे आकर्षण नामका बन्ध स्वयंही होजाता है ॥ ४७ ॥

भोजनानंतरं कुर्यान्मोक्षशास्त्रावलोकनम्। पुराणश्रवणं वापि नामसंकीर्तनं विभोः ॥ १९ ॥ सायंसंध्याविधिं कृत्वा योगं पूर्ववदभ्यसेत् ॥ यदा त्रिघटिकाशेषो दिवसोऽभ्यासमाचरेत् ॥ २० ॥ अभ्यासानंतरं कार्या सायंसंध्या सदा बुधैः। अर्धरात्रे हठाभ्यासं विदध्यात्पूर्ववद्यमी ॥ २१ ॥ विपरीतां तु करणीं सायंकालार्धरात्रयोः। नाभ्यसेद्भोजनादूर्ध्वं यतः सा न प्रशस्यते ॥ ॥ २२ ॥" अथोद्देशानुक्रमणं कुंभकान्विवक्षुस्तत्र प्रथमोदितं सूर्यभेदनं तद्गुणांश्चाह त्रिभिः–आसन इति ॥ सुखं ददातीति सुखदं तस्मिन्सुखदे। 'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः। नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥' इत्युक्तलक्षणे विविक्तदेशे सुखासनस्थः शुचिः 'समग्रीवशिरःशरीरम्' इति श्रुतेश्च चैलाजिनकुशोत्तर आसने। आस्तेऽस्मिन्नित्यासनम्। आस्यतेऽनेनेति वा तस्मिन् योगी योगाभ्यासी। आसनं स्वस्तिकवीरसिद्धपद्माद्यन्यतमं मुख्यत्वात्सिद्धासनमेव वा बद्ध्वा बंधनेन संपाद्यैव कृत्वैवेत्यर्थः। तत आसनबंधानंतरं दक्षा दक्षिणभागस्था या नाडी पिंगला तया बहिःस्थं देहाद्बहिर्वर्तमानं पवनं वायुं शनैर्मंदंमंदमाकृष्य पिंगलया मंदंमंदं पूरकं कृत्वेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

भाषार्थ–अब सूर्यभेदन आदि आठ कुंभकोंके वर्णन करनेके अभिलाषी आचार्य सबसे प्रथम जो सूर्यभेदन उसका वर्णन करते हैं और हम कुछ योगाभ्यासका क्रम यहांपर लिखते हैं कि योगियोंकी योगसिद्धिके लिये योगाभ्यासको कहते हैं उससे अर्थात् प्रातःकालमें उठकर और शिरपर अपने गुरुका और हृदयमें अपने इष्टदेवका वर्णन करके दंतधावन और भस्मधारण करै शुद्धदेश और रमणीय मठमें कोमल आसन बिछाकर उसपर बैठकर और ईश्वर और गुरुका मनसे स्मरण करके देश और कालका कथन करके अर्थात् विधिपूर्वक संकल्प करके कि, अद्येत्यादि श्रीपरमेश्वरकी प्रसन्नतापूर्वक समाधि और उसके फलकी सिद्धिके लिये आसनपूर्वक प्राणायामोंको करताहूँ और आसनकी सिद्धिके लिये अनंत जो नागेश देव हैं उनको प्रणाम करै कि, फणियोंसे शोभायमान सहस्रों फणोंपर धारण किया है विश्वमंडल जिसने ऐसे अनंत नागराजको नमस्कार है। फिर आसनोंका अभ्यास करै और परिश्रम होय तो शवासन करै और उसका अन्तमें अभ्यास करै और श्रम न होय तो शवासनका अभ्यास न करै और विपरीत है नाम जिसका ऐसी करणीका कुंभकसे पूर्व अभ्यास करै जालंधरकी प्रसन्नता (सिद्धि) के लिये कुंभकसे पूर्व आचमन करके कर्मका अंग जो प्राणिसंयम उसको करै। कूर्मपुराणमें शिवके वचनानुसार योगींद्रोंको नमस्कार करके, कूर्मपुराणमें शिवका वाक्य यह है कि, शिष्योंसहित योगींद्र और गणेश

गुरु और सूक्ष्म शिवजीको नमस्कार करके भलीप्रकार सावधान हुआ योगी योगाभ्यास करै और अभ्यासके समय कुंभकसे बंधपूर्वक सिद्ध पीठ (आसन) बांधकर पहिले दिन दश प्राणायाम करै । फिर दिन दिनमें (प्रतिदिन) पांच २ की वृद्धिसे प्राणायाम करै इस प्रकार अस्सी प्राणायामोंको भलीप्रकार सावधान मनुष्य करै । प्रथम योगीन्द्र चन्द्र और सूर्यका अभ्यास करै और बुद्धिमान् मनुष्योंने यह अनुलोम विलोमरूपसे दोप्रकारका कहा है और एकाग्रबुद्धि होकर बन्ध पूर्वक सूर्यभेदनका अभ्यास करके फिर उज्जायीको करै फिर सीत्कारी और शीतलीको करै फिर भस्त्रिकाका अभ्यास करके अन्य प्राणायामको करै वा न करै और प्राणोंको बांधकर गुरुमुखसे कहे क्रमके अनुसार मुद्राओंका भलीप्रकार अभ्यास करै फिर पद्मासनको बांधकर नादका अनुचिंतन (स्मरण) करै और आदरपूर्वक ईश्वरार्पणबुद्धिसे संपूर्ण अभ्यासको करै और अभ्याससे उठकर उष्ण जलसे स्नानकर और संक्षेपसे किये नित्यके कर्मको स्नान करके बुद्धिमान् मनुष्य समाप्त करै और मध्याह्नमें भी तिसीप्रकार अभ्यास करनेके अनंतर कुछ विश्राम करके भोजन करै । योगियोंको पथ्य भोजन करावे अपथ्य कदापि न करावे । इलायची वा लोग भोजनके अंतमें भक्षण करै और कोई आचार्य कपूर और सुंदर तांबूलके भोजनको कहते हैं और प्राणायामके अभ्यासी योगियोंको चूनेसे रहित तांबूल श्रेष्ठ होता है केचित्पदके पढनेसे यह चिंतामणिका वचन उत्तम नहीं है क्योंकि चन्द्र और सूर्य शीत उष्णके हेतु हैं भोजनके अनंतर मोक्षशास्त्रको देखै (विचारै) और शब तीन घटी दिन शेष रहै तब फिर अभ्यास करै और अभ्यासके अनंतर बुद्धिमान् मनुष्य सायंसन्ध्याको करै फिर योगी अर्द्धरात्रके समय पूर्वके समान हठयोगका अभ्यास करै और सायंकाल और अर्द्धरात्रके समयमें विपरीत करणीका अभ्यास न करै, क्योंकि भोजनके अनंतर विपरीतकरणी श्रेष्ठ नहीं कही है । अब प्रासंगिकको समाप्त करके श्लोकार्थको कहते हैं कि, सुखदायी आसनपर योगी पूर्वोक्त अर्थात् शुद्ध देशमें न अत्यंत ऊंचा और न अत्यंत नीचा और जिसपर क्रमसे वस्त्र मृगचर्म बिछेहों ऐसे आसनको बांधकर जिसमें "ग्रीवा शरीर शिर ये समान रहैं" इस श्रुतिके अनुसार ऐसे आसनको बांधकर अर्थात् स्वस्तिक वीर सिद्ध पद्म कोईसे आसनसे बैठकर फिर दक्षिण नाडी (पिंगला) से देहसे बाहर वर्तमान जो पवन उसको शनैः २ खींचकर अर्थात् पिंगला नाडीसे पूरकप्राणायामको करके ॥ ४८ ॥

आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुंभयेत् ॥
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्पवनं शनैः ॥४९॥

आकेशादिति ॥ केशानामर्मादीकृत्याकेशं तस्मान्नखाग्रानामर्यादीकृत्येत्यानखाग्रं तस्माच्च निरोधस्य वायोरवरोधस्यावधिर्मर्यादा यस्मिन्कर्मणि तत्तथा कुंभयेत् । केशपर्यंतं नखाग्रपर्यंतं च वायोर्निरोधो यथा भवेत्तथातिप्रयत्नेन कुंभकं कुर्यादित्यर्थः । ननु 'हठान्निरुद्धः प्राणोऽयं रोमकूपेषु निःसरेत् । देहं विदारयत्येष कुष्ठादि जनयत्यपि ॥ ततः प्रत्यापितव्योऽसौ क्रमेणारण्यहस्तिवत् । वन्यो गजो गजारिर्वा क्रमेण मृदुतामियात् । करोति शास्त्रनिर्देशान्न च तं परिलंघयेत् । तथा प्राणो हृदिस्थोऽयं योगिनां क्रमयोगतः ॥ गृहीतः सेव्यमानस्तु विश्रंभमुपगच्छति' इति वाक्याद्विरुद्धमिति प्रयत्नेन कुंभकं कुर्यादिति कथमुक्तमिति चेन्न । 'हठान्निरुद्धः प्राणोऽयम्' इति वाक्यस्य बलादचिरेण प्राणजयं करिष्यामीति बुद्ध्यारंभः ॥ एवंच बह्वभ्यासासक्तपरत्वात्क्रमेणारण्यहस्तिवदिति दृष्टांतस्वारस्याच्च । अत एव सूर्यचंद्रमसोरभ्यासे धारयित्वा यथाशक्ति निधारयेदिति निरोधत इति चोक्तं संगच्छते । तस्मात्कुंभकस्त्वतिप्रयत्नपूर्वकं कर्तव्यः ! यथायथातियत्नेन कुंभकः क्रियते तथा तथा तस्मिन्गुणाधिक्यं भवेत्।यथायथा च शिथिलःकुंभकःस्यात्तथातथा गुणाल्पत्वं स्यात् । अत्र योगिनामनुभवोऽपि मानम् । पूरकस्तु शनैःशनैः कार्यः वेगाद्वा कर्तव्यःवेगादपि कृते पूरके दोषाभावात् । रेचकस्तु शनैः शनैरेव कर्तव्यः । वेगात्कृते रेचके बलहानिप्रसंगात् । 'ततः शनैशनैरेव रेचयेन्न तु वेगतः ।' इत्याद्यनेकधा ग्रंथकारोक्तेश्च । ततो निरोधावधि कुंभकानंतरं शनैःशनैर्मंदंमंदं सव्ये वामभागे स्थिता नाडी सव्यनाडी तया सव्यनाड्या इडया पवनं वायुं रेचयेद्बहिर्निःसारयेत् । पुनः शनैरित्युक्तिस्तु शनैरेव रेचयेदित्यवधारणार्था । तदुक्तं-'विस्मये च विषादे च दैन्ये चैवावधारणे । तथा प्रसादने हर्षे वाक्यमेकं द्विरुच्यते ॥ इति ॥ ४९ ॥

भाषार्थ-और नखाग्रसे लेकर केशोंपर्यंत जबतक निरोध होय अर्थात् संपूर्ण शरीरमें पवन रुकजाय तावत्पर्यंत कुंभकप्राणायाम करै कदाचित् कोई शंका करै कि, हठसे रोका यह प्राण रोमकूपोंके द्वारा निकसजायगा देह कटजायगा वा कुष्ठ आदि रोग होजायँगे तिससे इसको यत्नसे प्रतीतिके द्वारा इस प्रकार रखना चाहिये जैसे वनके हस्तीको वशमें रखते हैं कि, वनका हाथी वा सिंह क्रमसे मृदु होजाताहै और स्वामीकी आज्ञाका उलंघन

नहीं करता और शास्त्रोक्त अपने स्वामीकी आज्ञाको करताहै तिसीप्रकार हृदयमें स्थित यह प्राण भी क्रमसेही योगियोंको ग्रहण करना चाहिये क्योंकि सेवा करनेसे प्राण विश्वासको प्राप्त होजाताहै । इस वाक्यके विरुद्ध आपका कथन है इससे कैसे कहतेहो कि, यत्नसे कुंभकको करे यह किसीकी शंका ठीक नहीं क्योंकि 'हठसे रोकाहुआ प्राण' इस वाक्यका इस बुद्धिसे आरंभहै कि, बलसे शीघ्रही मैं प्राणका जय करूँगा इससे उसके लियेही यह वचनहै कि, जो बहुत अभ्यास करनेमें असमर्थ है इसीसे क्रमसे वनके हस्तीके समान यह दृष्टान्त भी ठीक लगसक्ताहै इसीसे सूर्य और चन्द्रमा नाडीके अभ्याससे धारण करके (रोककर) यथाशक्ति धारण करे यह भी पूर्वोक्त संगत होताहै तिससे अत्यंत प्रयत्नसे कुंभकप्राणायाम करना क्योंकि जैसे जैसे प्रयत्नसे कुंभक किया जाताहै तैसा तैसाही उसमें अधिक गुण होता है और जैसा जैसा शिथिल होताहै तैसा तैसाही अल्पगुण होताहै और इसमें योगियोंका अनुभव भी प्रमाण है पूरकप्राणायाम तो शनैः वा वेगसे करना क्योंकि वेगसे किये भी पूरकमें दोष नहीं-और रेचक तो शनैः करना क्योंकि वेगसे रेचक करनेमें बलकी हानि होती है तिससे शनैः २ ही रेचक करे वेगसे न करे-इत्यादि अनेक ग्रंथकारोंकी युक्तिसे पूर्वोक्त शंका ठीक नहीं है-फिर प्राणके निरोध पर्यंत कुंभकके अनंतर सव्य नाडीसे अर्थात् वामभागमें स्थित-इडानाडीके द्वारा प्राणवायुका शनैः २ रेचन करे इस श्लोकमें पुनः जो शनैः पद पढा है वह अवधारणके लिये है सोई इस वचनमें कहाहै कि, विस्मय विषाद दीनता और अवधारण (निश्चय) इनमें एक शब्दका दोवार निश्चय किया जाता है । भावार्थ यहहै कि नखके अग्रभागसे लेकर केशोंपर्यंतके पवनको रोककर कुंभक करे फिर वामभागमें स्थित इडा नाडीसे शनैः २ पवनका रेचक करे ॥ ४९ ॥

कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत् ॥
पुनःपुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम् ॥ ५० ॥

कपालशोधनमिति ॥ कपालस्य मस्तकस्य शोधनं शुद्धिकरं वातजा दोषा वातदोषा अशीतिप्रकारास्तान् हंतीति वातदोषघ्नं कृमीणामुदरे जातानां दोषो विकारस्तं हरतीति कृमिदोषहृत् पुनःपुनर्भूयोभूयः कार्यम् । सूर्येणापूर्य कुंभयित्वा चन्द्रेण रेचनमिति रीत्येदमुत्तममुत्कृष्टं सूर्यभेदनं सूर्यभेदनाख्यमुक्तम् । योगिभिरिति शेषः ॥ ५० ॥

भाषार्थ-यह सूर्यभेदन नामका कुंभक मस्तकको शुद्ध करताहै और अस्सी प्रकारके वातदोषोंको हरताहै-और उदरमें पैदाहुआ जो कृमि उनको नष्ट करताहै-इससे यह उतम सूर्यभेदन वारंवार करना-अर्थात् सूर्यनाडीसे पूरक और कुंभक करके चंद्रनाडीसे रेचन करे-इस रीतिसे किया हुआ यह सूर्यभेदन योगीजनोंने उतम कहाहै ॥ ५० ॥

अथोज्जायी।

मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः॥

यथा लगति कंठात्तु हृदयावधि सस्वनम्॥५१॥

उज्जायिनमाह सार्धेन-मुखमिति॥ मुखमास्यं संयम्य संवृतं कृत्वा मुद्रयित्वेत्यर्थः। कंठात्तु कंठादारभ्य हृदयावधि हृदयमवधिर्यस्मिन्कर्मणि तत्तथा स्वनेन सहितं यथा स्यात्तथा। इमे क्रियाविशेषणे। लगति श्लिष्यते पवन इत्यर्थात्। तथा तेन प्रकारेण नाडीभ्यामिडापिंगलाभ्यां पवनं वायुं शनैर्मंदमाकृष्याकृष्टं कृत्वा पूरयित्वेत्यर्थः॥५१॥

भाषार्थ-अब डेढ श्लोकसे उज्जायी नामके कुंभकको कहते हैं मुखका संयमन (दाबना) करके और इडा और पिंगला नाडीसे शनैः शनैः इस प्रकार पवनका आकर्षण करे जिस प्रकार वह पवन कण्ठसे हृदय पर्यंत शब्द करती हुई लगे॥५१॥

पूर्ववत्कुंभयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः॥

श्लेष्मदोषहरं कंठे देहानलविवर्धनम्॥५२॥

पूर्ववदिति॥ प्राणं पूर्ववत्पूर्वेण सूर्यभेदनेन तुल्यं पूर्ववत्। 'आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुंभयेत्' इत्युक्तरीत्या कुंभकं कुर्यात्। ततः कुंभकानंतरमिडया वामनाड्या रेचयेत्त्यजेत्। उज्जायिगुणानाह सार्धश्लोकेन श्लेष्मदोषहरमिति। कंठे कंठप्रदेशे श्लेष्मणो दोषाः श्लेष्मदोषाः कासादयस्तान् हरतीति श्लेष्मदोषहरम्। देहानलस्य देहमध्यगतानलस्य जाठरस्य विवर्धनं विशेषेण वर्धनं दीपनमित्यर्थः॥५२॥

भाषार्थ-फिर सूर्यभेदनके समान प्राणका कुंभक करे फिर कुंभक करनेके अनंतर इडा वामनाडीसे प्राणका रेचन करे अर्थात् मुखके द्वारा बाहिर देशमें पवनको निकासे। अब डेढ श्लोकसे उज्जायीके गुणोंको कहते हैं कि कण्ठमें जो श्लेष्म-कफके दोष हैं उनको हरता है-और जठराग्निको बढाताहै-अर्थात् दीपन करता है॥५२॥

नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम्॥

गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुंभकम्॥५३॥

नाडीति॥ नाडी शिरा जलं पीतमुदकमुदरं तुंदमासमंताद्दधते वर्तमाना धातव आधातवः। एषामितरेतरद्वंद्वः। तेषु गतः प्राप्तो यो दोषः

विकारस्तं विशेषेण नाशयतीति नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् । गच्छता गमनं कुर्वता तिष्ठता स्थितेन वापि पुंसा उज्जाय्याख्यमुज्जायीत्याख्या यस्य तत् । तु इत्यनेन नास्य वैशिष्ट्यं द्योतयति । कार्यं कर्तव्यम् । उज्जापीति क्वचित्पाठः । गच्छता तिष्ठता तु बंधरहितः कर्तव्यः । कुंभकशब्दास्त्रिलिंगः । पुंलिंगपाठे तु विशेषणेऽपि पुंलिंगः पाठः कार्यः ॥५३॥

भावार्थ–नाडी जलोदर और संपूर्ण देहमें वर्तमान जो धातु इनमें जितने दोषहैं उनको नष्ट करताहै–और यह उज्जायी नामका कुंभक, गमन करते हुए वा बैठे हुए–मनुष्यको भी करने योग्य है अर्थात् इसमें पूर्वोक्त बंधोंकी आवश्यकता नहीं ॥ ५३ ॥

अथ सीत्कारी ।

सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृंभिकाम् ॥
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥ ५४ ॥

सीत्कारीकुंभकमाह–सीत्कामिति ॥ वक्त्रे मुखे सीत्कां सीदिव सीत्का सीदिति शब्दः सीत्कारस्तां कुर्यात् । ओष्ठयोरंतरे संलग्नया जिह्वया सीत्कारपूर्वकं मुखेन पूरकं कुर्यादित्यर्थः । घ्राणेनैव नासिकयैवेत्यनेनोभाभ्यां नासापुटाभ्यां रेचकः कार्य इत्युक्तम् । एवशब्देन वक्त्रस्य व्यवच्छेदः । वक्त्रेण वायोर्निःसारणं त्वभ्यासानंतरमपि न कार्यम् । बलहानिकरत्वात् । विजृंभिकां रेचकं कुर्यादित्यत्रापि संबध्यते । कुंभकस्त्वनुक्तोऽपि सीत्कार्याः कुंभकत्वादेवावगंतव्यः । अथ सीत्कार्याः प्रशंसा । एवमुक्तप्रकारेणाभ्यासः पौनः पुन्येनानुष्ठानं स एव योगः योगसाधनत्वात्तेन द्वितीय एव द्वितीयकः कामदेवः कंदर्पः । रूपलावण्यातिशयेन कामदेवसादृश्यात् ॥५४॥

भावार्थ–अब सीत्कारी कुंभकका वर्णन करते हैं–तिसीप्रकार सीतका (सीत्कार) को करै अर्थात् दोनों ओष्ठोंके मध्यमें लगीहुई–जिह्वासे–सीत्कार करताहुआ मुखसे प्राणायाम करै–और घ्राणसेही अर्थात् नासिकाके दोनों पुटोंसे रेचक करै–यहां एव शब्दसे यह सूचन किया है कि, मुखसे रेचक न करै और मुखसे वायुका निकासना तो अभ्यासके अनंतर भी न करै क्योंकि उससे बलकी हानि होतीहै–यहां विजृंभिका शब्दसे रेचक प्राणायामका ग्रहण है–अब सीत्कारीकी प्रशंसाको कहते हैं कि, इस पूर्वोक्त प्रकारके अभ्याससे अर्थात् बारम्वार करनेसे रूपयोगसे योगी ऐसा होजाता है मानो दूसरा कामदेव है अर्थात् रूप और शोभामें कामदेवके समान होजाता है ॥ ५४ ॥

योगिनी चक्रसामान्यसृष्टिसंहारकारकः ॥
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ॥५५॥

योगिनीति ॥ योगिनीनां चक्रं योगिनीचक्रं योगिनीसमूहः तस्य सामान्यः संसेव्यः। सृष्टिः प्रपंचोत्पत्तिः संहारस्तल्लयः तयोः कारकः कर्ता। क्षुधा भोक्तुमिच्छा न। तृषा जलपानेच्छा न। निद्रा सुप्तसिर्न। आलस्यं कायचित्तगौरवात्प्रवृत्त्यभावः। कायगौरवं कफादिना चित्त-गौरव तमोगुणेन। नैव प्रजायते नैव प्रादुर्भवति। एवमभ्यासयोगेनेति प्रजायत इति च प्रति वाक्यं संबध्यते ॥ ५५ ॥

भाषार्थ-योगिनियोंका जो समूह उसके भलीप्रकार सेवने योग्य होता है और सृष्टिकी उत्पत्ति और लय (संसार) इनका कर्त्ता होता है और सीत्कारी प्राणायामके करनेवालेको क्षुधा तृषा और निद्रा आलस्य अर्थात् देह और चित्तके गौरवसे कार्यमें प्रवृ-त्तिका अभाव उनमें देहका गौरव कफ आदिसे और चित्तका गौरव तमोगुणसे जानना नहीं होते हैं ॥ ५५ ॥

भवेत्सत्त्वं च देहस्य सर्वोपद्रववर्जितः ॥
अनेन विधिना सत्यं योगींद्रो भूमिमंडले ॥ ५६ ॥

भवेदिति देहस्य शरीरस्य सत्त्वं बलं च भवेत्। अनेनोक्तेन विधि-नाभ्यासविधिना योगींद्रो योगिनामिंद्र इव योगींद्रो भूमिमंडले सर्वै-रुपद्रवैर्वर्जितः सर्वोपद्रववर्जितो भवेत्सत्यम्। सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायाद्यदुक्तं फलं तत्सत्यमेवेत्यर्थः ॥ ५६ ॥

भाषार्थ-और देहका बल बढता है इस पूर्वोक्त विधिके करनेसे योगीजनोंमें इंद्र और भूमिके मण्डलमें संपूर्ण उपद्रवोंसे रहित होता है यह सीत्कारी कुंभक प्राणायामका फल सत्य है अर्थात् इसमें संदेह नहीं है ॥ ५६ ॥

अथ शीतली।

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुंभसाधनम् ॥
शनकैर्घ्राणरंध्राभ्यां रेचयेत्पवनं सुधीः ॥५७॥

शीतलीकुंभकमाह-जिह्वयेति ॥ जिह्वयोष्ठयोर्बहिर्निर्गतया विहंगमा-धरचंचुसदृशया वायुमाकृष्य शनैः पूरकं कृत्वेत्यर्थः। पूर्ववत्सूर्यभेदन-वत्कुंभस्य कुंभकस्य साधनं विधानं कृत्वेत्यध्याहारः। सुधीः शोभना धीर्यस्य सः घ्राणस्य रंध्रे ताभ्यां नासापुटविवराभ्यां शनकैः शनैरेव।

'अंत्ययसर्गेनामित्यामक न् । पवनं वायुं रेचयेत् ॥ ५७ ॥

भाषार्थ--अब शीतली कुम्भकका वर्णन करते हैं कि, ओष्ठोंसे बाहिर निकसी हुई उस जिह्वासे जो पक्षीकी चंचुके समान हो वायुका आकर्षण करके अर्थात् शनैः २ पूरक प्राणायामको करके और फिर सूर्यभेदनके समान कुम्भकके साधन विधिको करके शोभन है बुद्धि जिसकी ऐसा योगी नासिकाके छिद्रोंमेंसे शनैः २ पवनका रेचन करे अर्थात् रेचक प्राणायामको करे ॥ ५७ ॥

गुल्मप्लीहादिकान्रोगाञ्ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषाम् ॥
विषाणि शीतली नाम कुंभिकेयं निहंति हि ॥५८॥

शीतलीगुणानाह--गुल्मेति ॥ गुल्मश्च प्लीहश्च गुल्मप्लीहौ रोगविशेषावादी येषां ते गुल्मप्लीहादिकास्तान् रोगानामयान् ज्वरं ज्वराख्यं रोगं पित्तं पित्तविकारं क्षुधां भोक्तुमिच्छां तृषां जलपानेच्छां विषाणि सर्पादिविषजनितविकारान् । शीतली नामेति प्रसिद्धार्थकमव्ययम् । इयमुक्ता कुंभिका निहंति नितरां हंति । कुंभशब्दः स्त्रीलिंगोऽपि । तथा च श्रीहर्षः-'उदरस्य कुंभीमिव शातकुंभजां' इति ॥ ५८ ॥

भाषार्थ--अब शीतलीके गुणोंको कहते हैं कि, शीतली है नाम जिसका ऐसा यह कुम्भक प्राणायाम गुल्म प्लीहा आदि रोग ज्वर पित्त क्षुधा तृषा और सर्प आदिका विष इन सबको नष्ट करता है अर्थात् इसके कर्ताका देह स्वाभाविक शीतल रहता है ॥ ५८ ॥

अथ भस्त्रिका ।

ऊर्वोरुपरि संस्थाप्य शुभे पादतले उभे ॥
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ५९ ॥

भस्त्राकुंभकस्य पद्मासनपूर्वकमेवानुष्ठानात्तदादौ पद्मासनमाह--ऊर्वोरिति॥ उपर्युत्ताने शुभे शुद्धे उभे द्वे पादयोस्तलेऽधः प्रदेशे ऊर्वोः संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा वसेत् । एतत्पद्मासनं भवेत् कीदृशं सर्वेषां पापानां प्रकर्षेण नाशनम् । अत्रोपरीत्यव्ययमुत्तानवाचकम् । तथा च कारकेषु मनोरमायाम्-' उपर्युपरि बुद्धिनाम् ' इत्यत्रोपरिबुद्धिनामित्यस्योत्तानबुद्धिनामिति व्याख्यानं कृतम् ॥५९॥

भाषार्थ--अब पद्मासन और भस्त्रिका नामसे कुम्भक प्राणायामको कहते हैं कि, जंघाओंके ऊपर दोनों पादोंके शुभ (सीधे) तलोंको भलीप्रकार स्थापन करके जो टिकना यह

पद्मासन सब पापोंका नाशक होता है यहां उपरि यह अव्यय उत्तानका वाची है इसीसे कारककी मनोरमामें कहा है कि, ' उपर्युपरि बुद्धीनां ' इसके व्याख्यानमें उत्तानबुद्धियोंके ऊपर २ ईश्वरकी बुद्धि चरती है ॥ ५९ ॥

सम्यक्पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरं सुधीः ॥
मुखं संयम्य यत्नेन घ्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥ ६० ॥

भस्त्रिकाकुंभकमाह-सम्यगिति ॥ ग्रीवा च उदरं च ग्रीवोदरम्। प्राण्यंगत्वादेकवद्भावः। समं ग्रीवोदरं यस्य स समग्रीवोदरः सुस्थिता धीर्यस्य स सुधीः पद्मासनं सम्यक् स्थिरं बद्ध्वा मुखं संयम्य संवृतं कृत्वा यत्नेन प्रयत्नेन घ्राणेन घ्राणस्यैकतरेण रंध्रेण प्राणं शरीरांतः-स्थितं वायुं रेचयेत् ॥ ६० ॥

भाषार्थ-भलीप्रकार ऐसे पद्मासनको बांधकर जिसमें ग्रीवा और उदर समान (बराबर) हों बुद्धिमान् मनुष्य मुखका संयम (वोचना) करके घाणके द्वारा अर्थात् नासिकाके एक छिद्रमेंसे प्राणवायुका रेचन करे ॥ ६० ॥

यथा लगति हृत्कंठे कपालावधि सस्वनम् ॥
वेगेन पूरयेच्चापि हृत्पद्मावधि मारुतम् ॥ ६१ ॥

रेचकप्रकारमाह-यथेति ॥ हृच्च कंठश्च हृत्कंठं तस्मिन् हृत्कंठे। समाहारद्वंद्वः। कपालावधि कपालपर्यंतं स्वनेन सहितं सस्वनं यथा स्यात्तथा येन प्रकारेण लगति। प्राण इति शेषः। तथा रेचयेत्। हृत्पद्ममवधिर्यस्मिन् कर्मणि तत् हृत्पद्मावधि वेगेन तरसा मारुतं वायुं पूरयेत्। चापीति पादपूरणार्थम् ॥ ६१ ॥

भाषार्थ-उस प्राणका इसप्रकार रेचन करे जैसे वह प्राण शब्द सहित हृदय और कंठमें कपालपर्यंत लगै-फिर वेगसे हृदयके कमलपर्यंत वायुको वारंवार पूर्ण करै अर्थात् पूरक प्राणायाम करै ॥ ६१ ॥

पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनःपुनः ॥
यथैव लोहकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥ ६२ ॥

पुनरिति ॥ तद्वत्पूर्ववत्पुनर्विरेचयेत्पुनःपुनः पूरयेच्चेत्यन्वयः। उक्तेऽर्थे दृष्टांतमाह-यथैवेति ॥ लोहकारेण लोहविकाराणां कर्त्रा भस्त्राग्नेर्धमनसाधनीभूतं चर्म यथैव येन प्रकारेण वेगेन चाल्यते ॥ ६२ ॥

भाषार्थ-फिर तिसीप्रकार प्राणवायुका वेगसे रेचन करै और तिसीप्रकार पूर्ण कर

अर्थात् पूरक करे और वे भी वारंवार इसप्रकार वेगसे पूरक रेचक करने जैसे लोहकार भस्त्राको चलाता है ॥ ६२ ॥

तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया ॥
यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत् ॥ ६३ ॥

तथैवेति ॥ तथैव तेनैव प्रकारेण स्वशरीरस्थं स्वशरीरं स्थितं पवनं प्राणं धिया बुद्धया चालयेत् । रेचकपूरकयोर्निरंतरावर्तनेन चालनस्यावधिमाह यदा श्रम इति ॥ यदा यस्मिन् काले देहे शरीरे श्रमो रेचकपूरकयोर्निरंतरावर्तनेनायासो भवेत्तदा तस्मिन् काले सूर्येण सूर्यनाडया पूरयेत् ॥ ६३ ॥

भाषार्थ—तैसेही अपने शरीरमें स्थित पवनको बुद्धिसे चलावै और रेचक और पूरककी अवधि यह है कि, जब रेचक पूरकके करनेसे शरीरमें श्रम हो तब सूर्यनाडीसे पूर्ण करे ६३

यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु ॥
धारयेन्नासिकां मध्यतर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥ ६४ ॥

यथेति ॥ यथा येन प्रकारेण पवनेन वायुना लघु क्षिप्रमेवोदरं पूर्णं भवेत्तथा तेन प्रकारेण सूर्यनाडया पुरयेत । 'लघुक्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः । पूरकानंतरं यत्कर्तव्यं तदाह—धारयेदिति ॥ मध्यतर्जनीभ्यां मध्यमातर्जनीभ्यां विनांगुष्ठानामिकाकनिष्ठिकाभिर्नासिकां दृढं धारयेत् । अंगुष्ठेन दक्षिणनासापुटं निरुध्यानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां वामनासापुटं निरुध्य नासिकां दृढं गृह्णीयादित्यर्थः ॥ ६४ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार पवनसे शीघ्रही उदर पूर्ण हो (भर) जाय है तिसीप्रकार सूर्यनाडीसे पूर्ण करे । अब पूरकके अनंतर जो कर्तव्य है उसका वर्णन करते हैं कि–मध्यमा और तर्जनी अंगुलियोंके विना अर्थात् अंगुष्ठ अनामिका कानिष्ठिका इन तीनोंसे वाम नासिकाके पुटको दृढतासे रोककर प्राणवायुको ग्रहण करै अर्थात् कुम्भक प्राणायामसे धारण करै ॥ ६४ ॥

विधिवत्कुंभकं कृत्वा रेचयेदिडयानिलम् ॥
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥ ६५ ॥

विधिवदिति॥बंधपूर्वकं कुंभकं कृत्वेडया चन्द्रनाडयाऽनिलं वायुं रेचयेत् । भस्त्राकुंभकस्यैवं परिपाटी । वामनासिकापुटं दक्षिणभुजानामिकाकनिष्ठिकाभ्यांनिरुध्य दक्षिणनासिकापुटेन भस्त्रावद्वेगेन रेचकपूरकाःकार्याः

श्रमे जाते तेनैव नासापुटेन पूरकं कृत्वांगुष्ठेन दक्षिणं नासापुटं निरुध्य यथाशक्ति कुंभकं धारयेत्। पश्चादिडया रेचयेत्। पुनर्दक्षिणनासापुटमंगुष्ठेन निरुध्य वामनासिकापुटेन भस्त्रावज्झटिति रेचकपूरकाः कर्तव्याः। श्रमे जाते तेनैव नासिकापुटेन पूरकं कृत्वानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां वामनासिकापुटं निरुध्य यथाशक्ति कुंभकं कृत्वा पिंगलया रेचयेदित्येका रीतिः। वामनासिकापुटमनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां दक्षिणनासिकापुटेन पूरकं कृत्वा झटित्यंगुष्ठेन निरुध्य वामनासापुटेन रेचयेत्। एवं शतधा कृत्वा श्रमे जाते तेनैव पूरयेत्। बंधपूर्वकं कृत्वेडया रेचयेत्। पुनर्दक्षिणनासापुटमंगुष्ठेन निरुध्य वामनासापुटेन पूरकं कृत्वा झटिति वामनासिकापुटमनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां निरुध्य पिंगलया रेचयेद्भस्त्रावत्पुनःपुनरेवं कृत्वा रेचकपूरकावृत्तिश्रमे जाते वामनासापुटेन पूरकं कृत्वानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां धृत्वा कुंभकं कृत्वा पिंगलया रेचयेदिति द्वितीया रीतिः। भस्त्रिकागुणानाह वातपित्तेति॥ वातश्च पित्तं च श्लेष्मा च वातपित्तश्लेष्माणस्तान्हरतीति तादृशे शरीरे देहे योऽग्निर्जठरानलस्तस्य विशेषेण वर्धनं दीपनम्॥ ६६॥

भाषार्थ-विधिपूर्वक कुंभकको करके इडानामकी चन्द्रनाडीसे वायुका रेचन करै इस भस्त्राकुंभककी यह परिपाटी (क्रम) है कि वाम नासिकाके पुटको दक्षिणभुजाकी अनामिका कनिष्ठिकाओंसे रोककर दक्षिण नासिकाके पुटसे भस्त्राके समान वेगपूर्वक रेचक पूरक करने-फिर श्रम होनेपर उसी नासिकाके पुटसे पूरक करके अँगूठेसे दक्षिण नासिकाके पुटको रोककर यथाशक्ति कुंभक प्राणायामसे वायुको धारण करै फिर इडासे रेचन करै फिर दक्षिण नासिकाके पुटको अँगूठेसे रोककर वामनासा पुटसे भस्त्राके समान शीघ्र २ रेचक पूरक करनेसे श्रम होनेपर तिसी नासिकाके पुटसे पूरक करके अनामिका कनिष्ठिकासे नासिकाके वामपुटको रोककर यथाशक्ति कुंभकको कर पिंगला नाडीसे प्राणका रेचन करै एक तो यह रीति है-और नासिकाके वामपुटको अनामिका कनिष्ठिकासे रोककर नासिकाके दक्षिण पुटसे पूरक करके शीघ्र अंगूठेसे रोककर नासिकाके वामपुटसे रेचन करै इसप्रकार शत १०० वार करके श्रम होनेपर उससे ही पूरण करै-और बंधपूर्वक करके इडानाडीसे रेचन करै-फिर नासिकाके दक्षिण पुटको अँगूठेसे रोककर नासिकाके वामपुटसे पूरक करके शीघ्रही नासिकाके वामपुटको अनामिका कनिष्ठिकासे रोककर पिंगलासे भस्त्राके समान रेचन करै वारंवार इसप्रकार करके रेचक पूरककी आवृत्तिमें जब श्रम होजाय अर्थात् थकावट होजाय तब वामनासिका पुटसे पूरक करके अनामिका और कनिष्ठिकासे धारण

करनेके अनंतर कुम्भक प्राणायामको करके पिंगलासे रेचन करै यह दूसरी रीतिहै-अब भस्त्रिका कुंभकके गुणोंको कहते हैं कि वात पित्त श्लेष्मा (कफ) इनको हरतीहै और शरीरकी अग्नि (जठराग्नि) को बढातीहै ॥ ६५ ॥

कुंडलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम् ॥
ब्रह्मनाडीमुखे संस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥ ६६ ॥

कुंडलीति क्षिप्रं शीघ्रं कुंडल्याः सुप्ताया बोधकं बोधकर्तृ पुनातीति पवनं पवित्रकारकं सुखं ददातीति सुखदं हितं त्रिदोषहरत्वात्सर्वेषां हितं सर्वदा च हितं सर्वेषां कुंभकानां सर्वदा हितत्वेऽपि सूर्यभेदनोज्जायिनावुष्णौ प्रायेण हितौ। सीत्कारीशीतल्यौ शीतले प्रायेणोष्णे हिते। भस्त्राकुंभकः समशीतोष्णः सर्वदा हितः सर्वेषां कुंभकानां सर्वरोगहरत्वेऽपि सूर्यभेदनं प्रायेण वातहरम्। उज्जायी प्रायेण श्लेष्महरः। सीत्कारीशीतल्यौ प्रायेण पित्तहरे। भस्त्राख्यः कुंभकः त्रिदोषहर इति बोध्यम् ब्रह्मनाडी सुषुम्ना ब्रह्मप्रापकत्वात्। तथा च श्रुतिः 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वगन्या उत्क्रमणे भवंति ॥' इति। तस्या मुखेऽग्रभागे संस्थः सम्यक् स्थितो यः कफादिरूपोऽर्गलः प्राणगतिप्रतिबंधकस्तस्य नाशनं नाशकर्तृ ॥ ६६ ॥

भाषार्थ-और शीघ्रही सोती हुई कुंडलीका बोधकहै और पवित्र करताहै और सुखका दाताहै और हित है यद्यपि संपूर्ण कुम्भक सब कालमें हित होतेहैं तथापि सूर्यभेदन और उज्जायी ये दोनों उष्ण हैं इससे शीतके समय हितकारी है और शीत्कारी शीतली ये दोनों शीतल हैं इससे उष्णकालमें हितहैं-और भस्त्रा कुम्भक न शीतलहै न उष्णहै इससे सब कालमें हित है। यद्यपि संपूर्ण कुम्भक सब रोगोंको हरतेहैं तथापि सूर्यभेदन प्रायसे वातको हरताहै और उज्जायी प्रायसे कफको हरता है और शीत्कारी शीतली ये दोनों प्रायसे पित्तको हरते हैं और भस्त्रानामका कुंभक त्रिदोष (संनिपात) को हरताहै यह और ब्रह्मलोक प्राप्त करनेवाली जो सुषुम्ना नामकी ब्रह्मनाडीहै सोई इस श्रुतिमें लिखा है कि एकसौ एक १०१ हृदयकी नाडी हैं उनमेंसे एक नाडी मूर्द्धा और मस्तकके सम्मुख गयी है उस नाडीके द्वारा जो ऊर्ध्व लोकमें जाता है वह मोक्षको प्राप्त होता है और अन्य सब नाडी जहां तहां क्रमको छोडकर गयी है उस ब्रह्मनाडीके मुख (अग्रभाग) में भलीप्रकार स्थित जो कफ आदि अर्गल अर्थात् प्राणकी गतिका प्रतिबंधक उसका नाशकहै ॥ ६६ ॥

सम्यग्गात्रसमुद्भूतं ग्रंथित्रयविभेदकम् ॥
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुंभकं त्विदम् ॥ ६७ ॥

सम्यगिति॥सम्यग्दृढीभूतं गात्रे गात्रमध्ये सुषुम्नायामेव सम्यगुद्भूतं समुद्भूतं जातं यद्ग्रंथीनां त्रयं ग्रंथित्रयं ब्रह्मग्रंथिविष्णुग्रंथिरुद्रग्रंथिरूपं तस्य विशेषेण भेदजनकम् । अत एव इदं भस्त्रा इत्याख्या यस्येति भस्त्राख्यं कुंभकं तु विशेषेणैव कर्तव्यमवश्यकर्तव्यमित्यर्थः । सूर्यभेदनादयस्तु यथासंभवं कर्तव्याः ॥ ६७ ॥

भाषार्थ-भलीप्रकार (दृढ) जो गात्र (सुषुम्ना) नाडीके मध्यमें भलीप्रकार उत्पन्न हुई जो तीन ग्रंथि अर्थात् ब्रह्मग्रंथि विष्णुग्रंथि रुद्रग्रंथिरूप जो तीन गाँठ हैं उनका विशेषकर भेदजनकहै इसीसे यह भस्त्रा नामका कुम्भक प्राणायाम विशेषकर करने योग्यहै और सूर्यभेदन आदि यथासंभव (जब तब) करने योग्य हैं अर्थात् आवश्यक नहीं है ॥ ६७ ॥

अथ भ्रामरी ।

वेगाद्घोषं पूरकं भृंगनादं भृंगीनादं रेचकं मंदमंदम् ॥
योगींद्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानंदलीला॥६८॥

भ्रामरीकुंभकमाह-वेगादिति॥वेगात्तरसा घोषं सशब्दं यथा स्यात्तथा भृंगस्य भ्रमरस्य नाद इव नादो यस्मिन्कर्मणि तत्तथा पूरकं कृत्वा । भृंग्यो भ्रमर्यस्तासां नाद इव नादो यस्मिंस्तथा मंदंमंदं रेचकं कुर्यात् । पूरकानंतरं कुंभकस्तु भ्रामर्याः कुंभकत्वादेव सिद्धो विशेषाच्च नोक्तः । पूरकरेचकयोस्तु विशेषोऽस्तीति तावेवोक्तौ । एवमुक्तरीत्याभ्यसनमभ्यासस्तस्य योगो युक्तिस्तस्माद्योगींद्राणां चित्ते काचिदनिर्वाच्या आनंदे लीला क्रीडा आनंदलीला जातोत्पन्ना भवति ॥ ६८ ॥

भाषार्थ-अब भ्रामरी कुम्भकका वर्णन करतेहैं कि, वेगसे शब्दसहित जैसे हो तैसे भ्रमरके समान है शब्द जिसमें उस प्रकारसे कुम्भक प्राणायामको करके फिर भ्रमरीके समान है शब्द जिसमें उस प्रकार मंद २ रेचक प्राणायामको करै यहां पूरकके अनंतर कुम्भकको भी करै कदाचित् कहो कि, वह कहा क्यों नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि वह बिना कहे भी इससे सिद्ध है कि, भ्रामरी भी कुम्भक ही है इससे विशेषकर कुम्भक नहीं कहाहै और पूरक रेचक इन दोनोंमें तो विशेष है इससे वे दोनोंही कहे हैं इस पूर्वोक्त रीतिके द्वारा जो अभ्यास योग (करने) से योगींद्रोंको चित्तमें कोई (अपूर्व) आनंदमें लीला

(क्रीडा) उत्पन्न होतीहै अर्थात् इस भ्रामरी कुम्भकके अभ्याससे योगियोंके चित्तमें आनंद होताहै ॥ ६८ ॥

अथ मूर्च्छा ।

पूरकांते गाढतरं बद्ध्वा जालंधरं शनैः ॥
रेचयेन्मूर्च्छनाख्येयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा ॥ ६९ ॥

मूर्च्छाकुंभकमाह–पूरकांत इति ॥ पूरकस्यांतेऽवसानेऽतिशयेन गाढतरं जालंधराख्यं बंधं बद्ध्वा शनैर्मंदंमंदं रेचयेत् । इयं कुंभिकामूर्च्छनाख्या मूर्च्छना इत्याख्या यत् इति मूर्च्छनाख्या कीदृशी मनो मूर्च्छयतीति मनोमूर्च्छा एतेन मूर्च्छनाया विग्रहदर्शनपूर्वकं फलमुक्तम् । पुनःकीदृशी सुखप्रदा सुखं प्रदातीति सुखप्रदा ॥ ६९ ॥

भाषार्थ–अब मूर्च्छा नामके कुम्भकको कहते हैं कि, पूरक प्राणायामके अन्तमें (पीछे) अत्यंत गाढरीतिसे पूर्वोक्त जालंधर बंधको बांधकर शनैः २ प्राणवायुका रेचन करै यह कुंभिका मूर्च्छना नामकी कहाती है और मनकी मूर्च्छाको करतीहै और उत्तम सुखको देती है ॥ ६९ ॥

अथ प्लाविनी ।

अन्तः प्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः ॥
पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत् ॥ ७० ॥

प्लाविनीकुंभकमाह–अंतरिति॥अंतः शरीरांतः प्रवर्तितः पूरित उदारोऽतिशयितो यो मारुतः समीरस्तेनासमंतात्पूरितमुदरं येन स पुमानगाधेऽप्यतलस्पर्शेऽपि पयसि जले पद्मपत्रवत्पद्मपत्रेण तुल्यं सुखादनायासात् प्लवते तरति गच्छति ॥ ७० ॥

भाषार्थ–अब प्लाविनी नामके कुंभकका वर्णन करतेहैं कि, शरीरके मध्यमें प्रवृत्त किया (भरा) उदार (अधिक) जो पवन उससे चारों ओरसे पूर्ण है उदर जिसका ऐसा योगी अगाधजलमें भी इसप्रकार प्लवता (तरता) है जैसे कमलका पत्र अर्थात् बिना आश्रयकेही जलके ऊपर तर जाताहै ॥ ७० ॥

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुंभकैः ॥
सहितः केवलश्चेति कुंभको द्विविधो मतः ॥ ७१ ॥

अथ प्राणायामभेदानाह-प्राणायाम इति ॥ प्राणस्य शरीरांतःसंचारिवायोरायमनं निरोधनमायामः प्राणायामः । प्राणायामलक्षणमुक्तं गोरक्षनाथेन-' प्राणः स्वदेहजीवायुरायामस्तन्निरोधनमिति ' । रेचकश्च पूरकश्च कुंभकश्च तैर्भेदैस्त्रिधा त्रिप्रकारकः रेचकप्राणायामः पूरकप्राणायामः कुंभकप्राणायामश्चेति । रेचकलक्षणमाह याज्ञवल्क्यः-'बहिर्यद्रेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः' इति । रेचकप्राणायामलक्षणम्-' निष्क्रम्य नासाविवरादशेषं प्राणं बहिः शून्यमिवानिलेन । निरुध्य संतिष्ठति रुद्धवायुः स रेचको नाम महानिरोधः ॥ ' पूरकलक्षणम्-' बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको हि सः । ' पूरकप्राणायामलक्षणम्-' बाह्ये स्थितं प्राणपुटेन वायुमाकृष्य तेनैव शनैः समंतात् । नाडीश्च सर्वाः परिपूरयेद्यः स पूरको नाम महानिरोधः ॥' कुंभकलक्षणम्-संपूर्य कुंभवद्वायोर्धारणं कुंभको भवेत् ।' अयं कुंभकस्तु पूरकप्राणायामादभिन्नः । भिन्नस्तु । ' न रेचको नैव च पूरकोऽत्र नासापुटे संस्थितमेव वायुम् । सुनिश्चलं धारयेते क्रमेण कुंभाख्यमेतत्प्रवदंति तज्ज्ञाः' अथ प्रकारांतरेण प्राणायामं विभजते ॥ सहित इति ॥ कुंभको द्विविधः सहितः केवलश्चेति । मतोऽभिमतो योगिनामिति शेषः । तत्र सहितो द्विविधः । रेचकपूर्वकः कुंभकपूर्वकश्च । तदुक्तम्-' आरेच्यापूर्य वा कुर्यात्स वै सहितकुंभकः । ' तत्र रेचकपूर्वको रेचकप्राणायामादभिन्नः । पूरकपूर्वकः कुम्भकः पूरकप्राणायामादभिन्नः केवलकुंभकः कुंभकप्राणायामादभिन्नः । प्रागुक्ताः सूर्यभेदनादयः पूरकपूर्वकस्य कुंभकस्य भेदा ज्ञातव्याः ॥ ७१ ॥

भाषार्थ-अब प्राणायामके भेदोंको कहते हैं कि, रेचक प्राणायाम पूरक प्राणायाम कुंभक प्राणायाम इन भेदोंसे प्राणायाम तीन प्रकारका योगियोंने कहाहै प्राणायामका लक्षण गोरक्षनाथने यह कहाहै कि, अपने देहकी जो जीवनकी अवस्था उसको प्राण कहते हैं और उस अवस्थाके अवरोधको आयाम कहते हैं अर्थात् अवस्थाके अवरोधका नाम प्राणायाम है और रेचकका लक्षण याज्ञवल्कने यह कहा है कि उदरसे बाहिर जो वायुका रेचन उसको रेचक कहते हैं और रेचक प्राणायामका यह लक्षण है कि संपूर्ण प्राणको नासिकाके छिद्रमेंसे बाहिर निकासे और प्राणवायुको रोककर इसप्रकार टिकै कि मानो देह प्राणवायुसे शून्य है यह महान् निरोध रेचकनाम प्राणायाम कहाताहै और पूरकका लक्षण यह है कि बाहिरसे जो उदरमें वायुका पूरण वह पूरक होताहै और

पूरक प्राणायामका लक्षण यह है कि, बाहिर टिकीहुई पवनको नासिकाके पुटसे आकर्षण करके उसी नासिकाके पुटसे शनैः २ संपूर्ण नाडियोंको जो पूर्ण करदे उस महानिरोधको पूरकनाम प्राणायाम कहते हैं। कुंभकका लक्षण यह है कि कुंभ (घट) के समान वायुको पूर्ण करके जो धारण वह कुंभक होताहै वह कुंभक प्राणायाम तो पूरक प्राणायामसे अभिन्न अर्थात् दोनों एकही हैं भिन्नतो यह है कि, रेचक करै न पूरक करै किंतु नासिकाके पुटमें टिके हुए वायुकोही भलीप्रकार निश्चल रीतिपूर्वक क्रमसे जो धारण करना प्राणायामके ज्ञाता इसको कुंभक कहते हैं। अब अन्यप्रकारसे प्राणायामके विभाग करते हैं कि, कुम्भक दो प्रकारका योगीजनोंने मानाहै एक सहित और दूसरा केवल अर्थात् रेचकपूरक और पूरकपूर्वक सोई कहाहै कि वायुका आसमंतात् रेचन वा पूरणकरके जो प्राणायाम करै वह सहितकुम्भक होताहै उन तीनोंमें रेचकपूर्वक प्राणायाम रेचकप्राणायाम रूपहै और पूरकपूर्वक कुम्भक परकप्राणायामसे अभिन्नरूपहै और केवल कुम्भक कुंभकप्राणायामसे अभिन्नरूपहै पूर्वोक्त सूर्यभेदन आदि जो प्राणायामहै वे पूरकपूर्वक कुंभकके भेद जानने। भावार्थ यह है कि, रेचकपूरक कुम्भकके भेदसे प्राणायाम तीन प्रकारकाहै और सहित केवलके भेदसे कुम्भक दो प्रकारका है ॥ ७१ ॥

यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत् ॥
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ॥ ७२ ॥

सहितकुंभकाभ्यासस्यावधिमाह—यावदिति ॥ केवलस्य केवलकुंभकस्य सिद्धिः केवलसिद्धिर्यावत्पर्यंतं स्यात्तावत्पर्यंतं सहितकुंभकं सूर्यभेदादिकमभ्यसेदनुतिष्ठेत् । सुषुम्नाभेदानंतरं यदा सुषुम्नांतर्घटशब्दा भवंति तदा केवलकुंभकः सिद्ध्यति तदनंतरं सहितकुंभका दश विंशतिर्वा कार्याः अशीतिसंख्यापूर्तिः केवलकुंभकैरेव कर्तव्या । सति सामर्थ्ये केवलकुंभका अशीतेरधिकाः कार्याः । केवलकुंभकस्य लक्षणमाह—रेचकमिति ॥ रेचकं पूरकं मुक्त्वा त्यक्त्वा सुखमनायासं यथा स्यात्तथा वायोर्धारणं वायुधारणं यत् ॥ ७२ ॥

भाषार्थ—अब सहितकुम्भकके अभ्यासकी अवधिको कहते हैं कि, केवल कुम्भकप्राणायामकी सिद्धि जबतक होय तबतक सूर्यभेदन आदि सहित कुम्भकका अभ्यास करै सुषुम्नानाडीके भेदके अनंतर सुषुम्नाके अंतर जब जलपूरित घटके समान शब्द होय तब केवल कुम्भक सिद्ध होता है उसके अनंतर दश वा बीश सहितकुंभक करने अस्सी संख्याका पूरण केवल कुम्भकोंसेही करना सामर्थ्य होयतो अस्सीसे अधिकभी केवल कुम्भक करने अब केवल कुम्भकके लक्षणोंको कहते हैं कि, रेचक और पूरकको छोडकर सुखसे जो वायुका धारण उसे केवलकुंभक कहते हैं ॥ ७२ ॥

प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुंभकः ॥
कुंभके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ॥ ७३ ॥

प्राणायाम इति॥स वै मिश्रितः केवलकुंभकः प्राणायाम इत्ययमुक्तः केवलं प्रशंसंति॥केवल इति॥रेचो रेचकः रेचश्च पूरकश्च रेचपूरकौ ताभ्यां वर्जिते रहिते केवले कुंभके सिद्धे सति ॥ ७३ ॥

भाषार्थ-वह मिश्रितप्राणायाम और केवल कुम्भकप्राणायाम इस पूर्वोक्त प्रकारसे कहा रेचक और पूरकसे वर्जित (विना) केवल कुम्भकके सिद्ध होनेपर ॥ ७३ ॥

न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥
शक्तः केवलकुंभेन यथेष्टं वायुधारणात् ॥ ७४ ॥

नेति॥तस्य योगिनस्त्रिषु लोकेषु दुर्लभं दुष्प्रापं किंचित्किमपि यथेष्टं यथेच्छं वायोर्धारणं चापि न विद्यते। तस्य सर्वं सुलभमित्यर्थः॥ शक्त इति॥ केवलकुंभकेन कुंभकाभ्यासेन शक्तः समर्थो यथेष्टं यथेच्छं वायोर्धारणं तस्माद्वायुधारणात् ॥ ७४ ॥

भाषार्थ-उस केवल कुंभक प्राणायाम करनेवाले योगीको तीनों लोकोमें कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है अर्थात् त्रिलोकीकी संपूर्ण वस्तु सुलभ हैं-और केवल कुंभकके अभ्यासमें जो समर्थ है वह अपनी इच्छाके अनुसार प्राणवायुके धारणसे ॥ ७४ ॥

राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ॥
कुंभकात्कुंडलीबोधः कुंडलीबोधतो भवेत् ॥ ७५ ॥

राजेति॥राजयोगपदं राजयोगात्मकं पदं लभते। अत्र संशयो न। निश्चितमेतदित्यर्थः। कुंभकाभ्यासस्य परंपरया कैवल्यहेतुत्वमाह। कुंभकादिति॥कुंभकात्कुंभकाभ्यासात्कुंडल्याधारशक्तिस्तस्या बोधो निद्राभंगो भवेत्। कुंडल्या बोधः कुंडलीबोधस्तस्मात्कुंडलीबोधतः ॥ ७५॥

भाषार्थ-राजयोगपदको भी योगी प्राप्त होताहै इसमें संशय नहीं. अब कुम्भकप्राणायामके अभ्यासको परम्परासे मोक्षका हेतु वर्णन करते हैं-कि कुम्भक प्राणायामके अभ्याससे आधार शक्तिरूप कुण्डलीका बोध होताहै-अर्थात् निद्राका भंग होताहै और कुण्डलीके बोधसे ॥ ७५ ॥

अनर्गला सुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते ॥
हठं विना राजयोगं राजयोगं विना हठः ॥
न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत् ॥ ७६ ॥

अनर्गलेति ॥ सुषुम्नानाड्यनर्गला कफाद्यर्गलरहिता भवेत् । हठस्य हठाभ्यासस्य सिद्धिः प्रत्याहारादिपरंपरया कैवल्यरूपा सिद्धिर्जायते । हठयोगराजयोगसाधनयोः परस्परोपकार्योपकारकत्वमाह—हठं विनेति ॥ हठं हठयोगं विना राजयोगो न सिध्यति राजयोगं विना हठो न सिध्यति ततोऽन्यतरस्य सिद्धिर्नास्ति । तस्मान्निष्पत्तिं राजयोगसिद्धिमामर्यादी-कृत्य या निष्पत्तिस्तस्या राजयोगसिद्धिपर्यंतं युग्मं हठयोगराजयोगद्व-यमभ्यसेदनुतिष्ठेत् । हठातिरिक्ते साक्षात्परंपरया वा राजयोगसाधनेऽत्र राजयोगशब्दः । जीवनसाधने लांगले जीवनशब्दप्रयोगवत् । राजयोग-साधनं चतुर्थोपदेशे वक्ष्यमाणमुन्मनीशांभवीमुद्रादिरूपमपरोक्षानुभूतावुक्तं पंचदशांगरूपं दशांगरूपं च । वाक्यसुधायामुक्तं दृश्यानुविद्धादिरूपं च ॥ ७६ ॥

भाषार्थ-सुषुम्नानाडी अनर्गल होजातीहै अर्थात् कफ आदि बंधनसे रहित होजाती है और हठयोगके अभ्यासकी सिद्धि प्रत्याहार आदिकी परम्परासे होजातीहै अर्थात् मोक्ष-सिद्धि होजाती है। अब हठयोग और राजयोगके जो साधन है उनका परस्पर उपकार्य उपकारक भावका वर्णन करते हैं कि, हठयोगके विना राजयोग सिद्ध नहीं होता और राजयोगके विना हठयोग सिद्ध नहीं होता जिससे एकके विना एककी सिद्धि नहीं होती तिससे राजयोगसिद्धि पर्यंत हठयोग और राजयोग दोनोंका अभ्यास करै अर्थात् राजयो-गसिद्धिका यत्न करै यहां राजयोगपर उस राजयोगके साधन (हेतु) का वाचक है जो हठयोगसे भिन्न हो और साक्षात् वा परम्परासे राजयोगका कारण हो जैसे जीवनके साधन लांगलमें जीवन शब्दका प्रयोग होताहै वह राजयोगका साधन उन्मनी और शाम्भवी मुद्रामें कहेंगे और अपरोक्षानुभूतिमें पंचदशांग और दशांग रूप कहाहै और वाक्यसुधामें दृश्यानुविद्ध आदिरूप कहाहै ॥ ७६ ॥

कुंभकप्राणरोधांते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम् ॥
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ॥ ७७ ॥

हठाभ्यासाद्राजयोगप्राप्तिप्रकारमाह—कुंभकेति॥कुंभकेन प्राणस्य यो रोधस्तस्यांते मध्ये चित्तमंतःकरणं निराश्रयं कुर्यात् । संप्रज्ञातसमाधौ जातायां ब्रह्माकारस्थितेः परं वैराग्येण विलयं कुर्यादित्यर्थः। एवमुक्तरी

त्याभ्यासस्य योगो युक्तिस्तेन 'योगः संनहनोपायध्यानसंगातियुक्तिषु' इति कोशः। राजयोगपदं राजयोगात्मकं पदं व्रजेत्प्राप्नुयात् ॥ ७७ ॥

भाषार्थ-अब हठयोगके अभ्याससे राजयोगप्राप्तिका प्रकार कहते हैं कि, कुम्भक-प्राणायामसे प्राणका रोध करनेके अंत (मध्य) में अन्तःकरणको निराश्रय करदे अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधिके होनेपर ब्रह्माकार स्थितिके अनन्तर वैराग्यसे चित्तका लय करदे इस पूर्वोक्त रीतिसे किये अभ्यासके योगसे राजयोग पदको प्राप्त होता है यहां योगपद इस कोशके अनुसार युक्तिका बोधक है ॥ ७७ ॥

वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ॥
अरोगता बिंदुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ७८

इति हठयोगप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

हठसिद्धिज्ञापकमाह-वपुःकृशत्वमिति ॥ वपुषो देहस्य कृशत्वं कार्श्यं वदने मुखे प्रसन्नता प्रसादो नादस्य ध्वनेः स्फुटत्वं प्राकट्यं नयने नेत्रे सुष्ठु निर्मले अरोगस्य भावोऽरोगता आरोग्यं बिंदोर्धातोर्जयः क्षयाभावरूपः। अग्नेरौदर्यस्य दीपनं दीप्तिर्नाडीनां विशेषेण शुद्धिर्मलापगमः एतद्धठस्य हठाभ्याससिद्धेर्भाविन्या लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम् ॥ ७८ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ज्योत्स्नाभिधायां ब्रह्मानंदकृतायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

भाषार्थ-अब हठयोगसिद्धिके लक्षणोंको कहते हैं कि देहकी कृशता मुखमें प्रसन्नता नादकी प्रकटता और दोनों नेत्रोंकी निर्मलता रोगका अभाव विन्दुका जय (अर्थात् नाडियोंमें मलका अभाव ये हठयोगसिद्धिके लक्षण हैं अर्थात् ये चिह्न होयँ तो यह जानना कि, इसको हठयोगकी सिद्धि होजायगी ॥ ७८ ॥

इति श्रीहठयोगप्रदीपिकायां पण्डितमिहिरचन्द्रकृतभाषाविवृत्तिसहितायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोपदेशः ३.

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ॥
सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली ॥ १ ॥

अथ कुंडल्याः सर्वयोगाश्रयत्वमाह-सशैलेति ॥ शैलाश्च वनानि च शैलवनानि तैः सह वर्तमानाः सशैलवनास्ताश्च ता धात्र्यश्च भूमयस्ता-

साम् । धात्र्या एकत्वेऽपि देशभेदाद्भेदमादाय बहुवचनम् । अहीनां सर्पाणां नायको नेताहिनायकः शेषो यथा यद्वदाधार आश्रयस्तथा तद्वत् । सर्वेषां योगस्य तंत्राणि योगतंत्राणि योगोपायास्तेषां कुंडल्यांधारशक्तिराश्रयः । कुंडलीबोधं विना सर्वयोगोपायानां वैयर्थ्यादिति भावः ॥ १ ॥

भाषार्थ-अब इसके अनंतर कुण्डली सर्व योगोंका आश्रय है इसका वर्णन करते हैं कि जैसे संपूर्ण पर्वत वनोंसहित जितनी भूमि हैं उनका आश्रय (आधार) जैसे सर्पोंका नायक शेष है तिसी प्रकार योगके समस्त उपायोंका आधार भी कुण्डली है क्योंकि कुण्डलीके बोध विना योगके संपूर्ण उपाय व्यर्थ हैं यद्यपि भूमि एक है-तथापि देशभेदसे भूमिके भेदको मानकर बहुवचन (धात्रीणाम्) यहां दिया है ॥ १ ॥

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंडली ॥
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रंथयोऽपि च ॥ २ ॥

कुंडलीबोधस्य फलमाह द्वाभ्याम्-सुप्तेति ॥ सुप्ता कुंडली गुरोः प्रसादेन यदा जागर्ति बुध्यते तदा सर्वाणि पद्मानि षट्चक्राणि भिद्यंते भिन्नानि भवंति । ग्रंथयोऽपि च ब्रह्मग्रंथिविष्णुग्रंथिरुद्रग्रंथयो भिद्यंते भेदं प्राप्नुवंतीत्यन्वयः ॥ २ ॥

भाषार्थ-अब कुण्डलीके बोधका दो श्लोकोंसे फल कहते हैं जब गुरुकी प्रसन्नतासे सोती हुई कुण्डली जागती है तब संपूर्ण पद्म अर्थात् हृदयके षट्चक्र भिन्न होजाते हैं अर्थात् खिल जाते हैं और ब्रह्मग्रंथि विष्णुग्रंथिरूप तीनों ग्रंथि भी खुल जाती हैं ॥ २ ॥

प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ॥
तदा चित्तं निरालंबं तदा कालस्य वंचनम् ॥ ३ ॥

प्राणस्येति ॥ तदा शून्यपदवी सुषुम्ना प्राणस्य वायो राज्ञां पंथा राजपथं राजपथमिवाचरति राजपथायते राजमार्गायते । सुखेन गमनसंभवात् । तदा चित्तमालंबनमाश्रयस्तस्मान्निर्गतं निरालंबं निर्विषयं भवति । तदा कालस्य मृत्योर्वंचनं प्रतारणं भवति ॥ ३ ॥

भाषार्थ-और तिसीप्रकार प्राणकी शून्यपदवी (सुषुम्ना) राजपद (सडक) के समान होजाती है अर्थात् प्राण उसमेंको सुखसे गमन करने लगता है-और उसीसमय चित्तभी निरालंब होजाता है अर्थात्--विषयोंका अनुरागी नहीं रहता और उसीसमय कालका वंचन होता है अर्थात् मृत्युका भय दूर होजाता है ॥ ३ ॥

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः ॥
श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ॥
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ५ ॥

सुषुम्नापर्यायानाह-सुषुम्नेति ॥ इत्युक्ताः शब्दा एकस्य एकार्थस्य वाचकाः एकवाचकाः । पर्याया इत्यर्थः स्पष्टः श्लोकार्थः ॥ तस्मादिति ॥ यस्मात्कुंडलीबोधेनैव षट्चक्रभेदादिकं भवति तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सर्वेण प्रयत्नेन ब्रह्म सच्चिदानंदलक्षणं तस्य द्वारं प्राप्त्युपायः सुषुम्ना तस्या मुखेऽग्रभागे सुखेन सुषुम्नाद्वारं पिधाय सुप्तामीश्वरीं कुंडलीं प्रबोधयितुं प्रकर्षेण बोधयितुं मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासमावृत्तिं समाचरेत्सम्यगाचरेत् ॥ ४ ॥ ५ ॥

भाषार्थ-अब सुषुम्नानाडीके पर्यायोंको कहते हैं कि, सुषुम्ना, शून्यपदवी, ब्रह्मरंध्र, महापथ, श्मशान, शांभवी, मध्यमार्ग ये संपूर्ण शब्द एक अर्थके वाचक हैं अर्थात् इन सबका सुषुम्ना नाडी अर्थ है जिससे कुण्डलीके बोधसेही षट्चक्र भेद आदि होते हैं इससे संपूर्ण प्रयत्नसे सच्चिदानंदरूप ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय जो सुषुम्ना उसके अग्रभागमें सुषुम्नाके द्वारको ढककर सोतीहुई जो ईश्वरी (कुण्डली) है उसका प्रबोध (जगाना) करनेके लिये मुद्राओंका अभ्यास करे अर्थात् महामुद्रा आदिको करे ॥ ४ ॥ ५ ॥

महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी ॥
उड्यानं मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः ॥ ६ ॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ॥
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥ ७ ॥

मुद्रा उद्दिशति-महामुद्रेत्यादिना सार्धेन ॥ सार्धार्थः स्पष्टः ॥ मुद्राफलमाह सार्द्धद्वाभ्याम्-इदमिति ॥ इदमुक्तं मुद्राणां दशकं जरा च मरणं च जरामरणे तयोर्नाशनं निवारकम् ॥ ६ ॥ ७ ॥

भाषार्थ-महामुद्रा, महाबंध, महावेध, खेचरी, उड्यान, मूलबंध, जालंधरबंध, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालन, ये पूर्वोक्त दशमुद्रा जरा और मरणको नष्ट करती हैं ॥ ६ ॥ ७ ॥

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ॥
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥ ८ ॥

आदिनाथेति ॥ आदिनाथेन शंभुनोदितं कथितम् । दिवि भवं दिव्यमुत्तमम् । अष्टौ च तान्यैश्वर्याणि चाष्टैश्वर्याणि अणिमामहिमागरिमालघिमाप्राप्तिप्राकाम्येशतावशिताख्यानि । तत्राणिमासंकल्पमात्रेण प्रकृत्यपगमे परमाणुवद्देहस्य सूक्ष्मता १ । महिमा प्रकृत्यापूरेणाकाशादिवन्महद्भावः २ । गरिमा लघुतरस्यापि तूलादेः पर्वतादिवद्गुरुभावः ३ । लघिमा गुरुतरस्यापि पर्वतादेस्तूलादिवल्लघुभावः ४ । प्राप्तिः सर्वभावसान्निध्यम् । यथा भूमिस्थ एवांगुल्यग्रेण स्पृशति चंद्रमसम् ५ । प्राकाम्यमिच्छानभिघातः । यथा उदक इव भूमौ निमज्जत्युन्मज्जति च ६ । ईशता भूतभौतिकानां प्रभवाप्ययसंस्थानविशेषसामर्थ्यम् ७ । वशित्वं भूतभौतिकानां स्वाधीनकरणम् ८ । तेषां प्रदायकं प्रकर्षेण ददातीति तथा तं सर्वे च ते सिद्धाश्च कपिलादयस्तेषां वल्लभं प्रियं मरुतां देवानामपि दुर्लभं दुष्प्रापं किमुतान्येषामित्यर्थः ॥ ८ ॥

भाषार्थ–और आदिनाथने कहे जो उत्तम आठ ऐश्वर्य उनको भलीप्रकार देती है और संपूर्ण जो कपिल आदि सिद्ध हैं उनको प्रिय हैं और देवताओंकोभी दुर्लभ है वे आठ ऐश्वर्य ये हैं कि--अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशता, वशिता उनमें अणिमा वह सिद्धि होती है कि, योगीके संकल्पमात्रसे प्रकृतिके दूर होनेपर परमाणुके समान सूक्ष्म देह होजाय उसे अणिमा १ कहते हैं और प्रकृतिके आपूरको करके अर्थात् अपने देहमें भरके आकाशके समान महान् स्थूल होजानेको महिमा २ सिद्धि कहते हैं । और तूल (रुई) आदि लघुपदार्थकोभी पर्वत आदिसे समान जो गुरु (भारी) होजाना है उसे गरिमा ३ कहते हैं और अत्यंत गुरु (पर्वत आदि) का जो तूल आदिके समान लघु (हलका) होना हैं उसे लघिमा ४ कहते हैं और संपूर्ण पदार्थोंके जो समीप पहुंचना जैसे कि भूमिपर स्थित योगी अंगुलिके अग्रसे चंद्रमाका स्पर्श करले इसे प्राप्ति ५ कहते हैं और इच्छाका अनभिघात अर्थात् जलके समान भूमिमें प्रविष्ट होजाय और निकस आवै इसको प्राकाम्य ६ कहते हैं । पांचों महाभूत और उनसे उत्पन्न भौतिकपदार्थ इनकी उत्पत्ति और प्रलय और पालनके सामर्थ्यको ईशता सिद्धि ७ कहते हैं और भूत भौतिक पदार्थोंको अपने अधीन करनेको वशिता ८ सिद्धि कहते हैं ये आंठों सिद्धि पूर्वोक्त दशों मुद्राओंके करनेसे होती हैं ॥ ८ ॥

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकम् ॥
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥९॥

गोपनीयमिति ॥ प्रयत्नेन प्रकृष्टेन यत्नेन गोपनीयम्। गोपनीयत्वे दृष्टांतमाह-यथेति ॥ रत्नानां हीरकादीनां करंडकं रत्नकरंडकं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्वत्। कस्यापि जनमात्रस्य यद्वा कस्यापि ब्रह्मणोऽपि नैव वक्तव्यं नैव वाच्यं किमुतान्यस्य। तत्र दृष्टांतः कुलस्त्रियाः सुरतं कुलस्त्रीसुरतं संगमनं यथा तद्वत् ॥ ९ ॥

भाषार्थ-ये पूर्वोक्त दशों मुद्रा इसप्रकार प्रयत्नसे गुप्त करने योग्य हैं जैसे हीरा आदि-रत्नोंका करंड (पेटारी) गुप्त करने योग्य होतीहै और किसी मनुष्यको वा ब्रह्माको भी इसप्रकार नहीं कहनी अन्यकी तो कौन कथा है जैसे कुलीनस्त्रीके सुरत (संगम) को किसीको नहीं कहते हैं ॥ ९ ॥

अथ महामुद्रा।

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ॥
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ १० ॥

दशविधमुद्रादिषु प्रथमोद्दिष्टत्वेन महामुद्रां तावदाह-पादमूलेनेति ॥ वामेन सव्येन पादस्य मूलं पादमूलं पार्ष्णिस्तेन पादमूलेन वामपाद-पार्ष्णिनेत्यर्थः। योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्याकुंचितवाम-पादपार्ष्णिना योनिस्थानं दृढं संयोज्येत्यर्थः। दक्षिणं सव्येतरं पदं चरणं प्रसारितं भूमिसंलग्नपार्ष्णिकमूर्ध्वांगुलिकं दंडवत्कृत्वा कराभ्यां संप्रदायादाकुंचिततर्जनीभ्यां दृढं गाढं धारयेदंगुष्ठप्रदेशे गृह्णी-यात् ॥ १० ॥

भाषार्थ-अब दसोंमुद्राओंमें प्रथम जो महामुद्रा उसका वर्णन करते हैं कि, वामपादके मूल (तल) से अर्थात् पार्ष्णिसे योनिस्थानको अर्थात् गुदा और लिंगके मध्यभागको भलीप्रकार पीडित (दबाना) करके और दक्षिणपादको प्रसारित (फैलाना) करके अर्थात् दक्षिणपादकी पार्ष्णि (ऐड) को भूमिसे मिलाकर और उसकी अंगुलियोंको ऊप-रको करके और उस दक्षिणपादको सुकडीहुई दोनों हाथोंकी तर्जनीओंसे दृढरीतिसे (खूब) अंगूठेके स्थानमें धारण करै अर्थात् जोरसे पकडले ॥ १० ॥

कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ॥
यथा दंडहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥ ११ ॥

कंठ इति ॥ कंठे कंठदेशे बंधनं सम्यगारोप्य कृत्वा । जालंधरबंधं कृत्वेत्यर्थः । वायुं पवनमूर्ध्वत उपरि सुषुम्नायां धारयेत् । अनेन मूलबंधः सूचितः । स तु योनिसंपीडनेन जिह्वाबंधनेन चरितार्थ इति सांप्रदायिकाः । यथा दंडेन हतस्ताडितो दंडहतः सर्पः कुंडली दंडाकारः दंडस्याकार इवाकारो यस्य स तादृशः । वक्राकारं त्यक्त्वा सरल इत्यर्थः । प्रकर्षेण जायते भवति ॥ ११ ॥

भाषार्थ–और कंठके प्रदेशमें भलीप्रकार जालंधरनामके बंधको करके वायुको ऊर्ध्वदेश (सुषुम्ना) मेंही धारण करे अर्थात् मूलबंध करे और सांप्रदायिक अर्थात् संप्रदायके ज्ञाता तो यह कहते हैं कि, वह मूलबंध तो योनिका संपीडन और जिह्वाके बंधनसे चरितार्थ है अर्थात् पृथक् मूलबंध करनेका कुछ प्रयोजन नहीं है ऐसा करनेसे जैसे दंडसे हताहुआ सर्प (कुण्डली) दंडके समान आकारवाला होजाताहै अर्थात् वक्रताको त्यागकर भलीप्रकार सरल होजाताहै ॥ ११ ॥

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत् ॥
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ १२ ॥

ऋज्वीभूतेति ॥ तथा कुंडल्याधारशक्तिः सहसा शीघ्रमेव ऋज्वी संपद्यते तथाभूता ऋज्वीभूता सरला भवेत् । तदा सेति । द्वे पुटे इडापिंगले आश्रयो यस्याः सा मरणावस्था जायते । कुंडलीबोधे सति सुषुम्नायां प्रविष्टे प्राणे द्वयोः प्राणवियोगात् ॥ १२ ॥

भाषार्थ–तिसीप्रकार आधार शक्ति रूप जो कुंडली है वह शीघ्रही ऋज्वीभूत (सरल) होजाती है और उस समय इडा और पिंगलारूप जो दोनों पुट हैं वे आश्रय जिसके ऐसी वह मरणकी अवस्था होजाती है अर्थात् कुण्डलीका बोध होनेपर सुषुम्नानाडीमें प्राणका प्रवेश होजाता है इससे इडा और पिंगला दोनोंका प्राणवियोग (मरण) होजाताहै ॥ १२ ॥

ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ॥ १३ ॥
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ॥
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयंते मरणादयः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ॥ १४ ॥

तत इति ॥ इयमिति ॥ ततस्तदनंतरं शनैःशनैरेव रेचयेत्। वायुमिति संबध्यते वेगतस्तु वेगान्न रेचयेत्। वेगतो रेचने बलहानिप्रसंगात्। खल्विति वाक्यालंकारे। इयं महामुद्रा महासिद्धैरादिनाथादिभिः प्रदर्शिता प्रकर्षेण दर्शिता। महामुद्राया अन्वर्थतामाह महांतश्च ते क्लेशाश्च महाक्लेशाः अविद्यास्मितरागद्वेषाभिनिवेशाः पंच ते आद्यो येषां ते शोकमोहादीनां ते दोषाः क्षीयंते। मरणमादिर्येषां जरादीनां तेऽपि च क्षीयंते नश्यंति। यतस्तेनैव हेतुना विशिष्टा बुधा विबुधास्तेषूत्तमा विबुधोत्तमा महामुद्रां वदंति। महाक्लेशान्मरणादींश्च दोषान्मुद्रयति शमयतीति महामुद्रेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः ॥ १३ ॥ १४ ॥

भाषार्थ-तिससे शनैः २ प्राणवायुका रेचन करै, वेगसे न करै क्योंकि वेगसे रेचन करनेमें बलकी हानी होती है तिससेही देवताओंमें उत्तम इसको महामुद्रा कहते हैं और वह महामुद्रा आदिनाथ आदिमहासिद्धोंने भलीप्रकार दिखाई है। अब महामुद्राके अन्वर्थनामका वर्णन करते हैं कि, अविद्या, स्मित, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूप पांचों महाक्लेश और मरण आदि दुःख इस मुद्राके करनेसे क्षीण (नष्ट) होजाते हैं तिससेही देवताओंमें श्रेष्ठ इसको महामुद्रा कहते हैं अर्थात् महाक्लेशोंके नष्ट करनेसेही इसक देवताओंने महामुद्रा नाम रक्खा है ॥ १३ ॥ १४ ॥

चंद्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत् ॥
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ १५ ॥

महामुद्राभ्यासक्रममाह-चंद्रांग इति ॥ चंद्रेण चंद्रनाड्योपलक्षितमंगं चंद्रांगं तस्मिन् चंद्रांगे वामांगे। तुशब्दः पादपूरणे। सम्यगभ्यस्य सूर्येण पिंगलयोपलक्षितमंगं सूर्यांगं तस्मिन् सूर्यांगे दक्षांगे पुनर्वामांगाभ्यासानंतरं यावद्यावत्कालपर्यंतं तुल्या वामांगे कुंभकाभ्याससंख्यासमा संख्या भवेत्तावदभ्यसेत्। ततः संख्यासाम्यानंतरं मुद्रां महामुद्रां विसर्जयेत्। अत्रायं क्रमः। आकुंचितवामपादपार्ष्णिं योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितदक्षिणपादांगुष्ठमाकुंचिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो वामांगेऽभ्यासः। अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्वामांगे तिष्ठति। आकुंचितदक्षपादपार्ष्णिं योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितवामपादांगुष्ठमाकुंचिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो दक्षांगेऽभ्यासः अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्दक्षांगे तिष्ठति ॥ १५ ॥

भाषार्थ-अब महामुद्राके अभ्यासका क्रम कहते हैं कि--चंद्रनाडी (इडा) से उपलक्षित (ज्ञान) जो अंग उसे चंद्रांग कहते हैं अर्थात् वाम अंगकेविषे भलीप्रकार अभ्यास करके सूर्य नाडी (पिंगला) से उपलक्षित जो दक्षिण अंग उसके विषे अभ्यास करे और जबतक कुम्भक प्राणायामोंके अभ्यासकी संख्या समान (तुल्य) हो तबतक भलीप्रकार अभ्यास करे फिर संख्याओंकी समानताके अनंतर महासमुद्राका विसर्जन करदे, यहां यह क्रम जानना कि, संकुचित किये वामपादकी पार्ष्णिको योनिस्थानमें युक्त (मिला) करके प्रसारित (पसारे) दक्षिण पादके अँगूठेको आकुंचित (सुकडी) तर्जनीयोंसे ग्रहण करके जो अभ्यास उसे वामांगमें अभ्यास कहते हैं इस अभ्यासमें पूरित किया (भराहुआ) वायु वामांगमें टिकता है और आकुंचित किये दक्षिणपादकी पार्ष्णिको योनिस्थानमें संयुक्त करके और प्रसारित (फैलाये) किये वामपादके अँगूठेको आकुंचित की हुई दोनों हाथोंकी तर्जनियोंसे ग्रहण करके जो अभ्यास उसे दक्षांगमें अभ्यास कहते हैं इस अभ्यासमें पूरित किया वायु दक्षिण अंगमें टिकता है ॥ १५ ॥

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ॥
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति ॥ १६ ॥

महामुद्रागुणानाह त्रिभिः-न हीति ॥ हि यस्मान्महामुद्राभ्यासिन इत्यध्याहारः पथ्यमपथ्यं वा न । पथ्यापथ्यविचारो नास्तीत्यर्थः । तस्मात्सर्वे भुक्ता रसाः कट्वम्लादयो जीर्यंते इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः नीरसा निर्गतो रसो येभ्यस्ते यातयामाः पदार्था जीर्यन्ति । घोरमिति। दुर्जरं भुक्तमन्नं विषं क्ष्वेडमपि पीयूषमिवामृतमिव जीर्यति जीर्णं भवति । किमुतान्यदिति भावः ॥ १६ ॥

भाषार्थ-अब तीन श्लोकोंसे महामुद्राके गुणोंको कहते हैं कि, जिससे महामुद्रा अभ्यास करनेवाले योगीको पथ्य और अपथ्यका विचार नहीं है तिससे नीरस (बिगडे हुये) भी संपूर्ण भक्षण किये कटु अम्ल आदि रस जीर्ण हो (पच) जाते हैं और भक्षण किया विषके समान घोर अन्नभी अमृतके समान जीर्ण होजाता है अर्थात् पचनेके अयोग्यभी पचजाता है तो योग्य क्यों न पचेगा ? ॥ १६ ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ॥
तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ १७ ॥

क्षयेति ॥ यः पुमान् महामुद्रामभ्यसेत्तस्य क्षयो राजरोगः, कुष्ठगुदावर्त गुल्मा रोगविशेषाः। अजीर्णं भुक्तान्नापरिपाकस्तानि पुरोगमान्यग्रेसराणि

येषां महोदरज्वरादीनां तथा तादृशा दोषा दोषजनिता रोगाः क्षयं नाशं यांति प्राप्नुवंति ॥ १७ ॥

भाषार्थ-जो पुरुष महामुद्राका अभ्यास करताहै, क्षय, गुदावर्त गुल्मरूप रोग विशेष अजीर्ण अर्थात् भोजन किये अन्नका अपरिपाक ये हैं मुख्य जिनमें ऐसे महोदर, ज्वर आदि-दोष उनके क्षय हो जातेहैं अर्थात् नहीं रहते हैं ॥ १७ ॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ॥
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ १८ ॥

महामुद्रापसंहरंस्तस्या गोप्यत्वमाह-कथितेति ॥ इयमेषा महामुद्रा कथितोक्ता । मयेति शेषः। कीदृशी नृणामभ्यसतां नराणां महत्यश्च ताः सिद्धयश्चाणिमाद्यास्तासां करी कर्त्रीयम् । प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तेन प्रयत्नेन गोपनीया गोपनार्हा यस्यकस्यचिद्यस्य कस्याप्यनाधिकारिणोऽसंबंधस्य । सामान्ये षष्ठी । न देया दातुं योग्या न भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

भाषार्थ-अब महामुद्राको समाप्त करते हुए उसको गुप्त करने योग्य वर्णन करते हैं कि, यह पूर्वोक्त जो महामुद्रा वर्णन की है वह मनुष्योंको महासिद्धिकी करनेवाली है और बडे यत्नसे गुप्त करने योग्य है और जिस किसी अनधिकारी पुरुषको न देनी ॥ १८ ॥

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ॥
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १९ ॥

महाबंधमाह-पार्ष्णिमिति ॥ वामस्य सव्यस्य पादस्य चरणस्य पार्ष्णिं गुल्फयोरधोभागम् 'तद्ग्रंथी घुटिके गुल्फौ पुमान्पार्ष्णिस्तयोरधः' इत्यमरः। योनिस्थाने गुदमेढ्रयोरंतराले नियोजयेन्नितरां योजयेत् । वामः सव्यो य ऊरुस्तस्योपरि दक्षिणं चरणं पादं संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा। तथाशब्दः पादपूरणे ॥ १९ ॥

भाषार्थ-अब महाबंधका वर्णन करते हैं कि, वामचरणकी पार्ष्णिको योनिस्थानमें अर्थात् गुदा और लिंगके मध्यभागमें लगावे और वामजंघा ऊपर दक्षिण पादको रख कर बैठे ॥ १९ ॥

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ॥
निष्पीड्य वायुमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥ २० ॥

पूरयित्वेति॥ततस्तदनंतरं वायुं पूरयित्वा हृदये चुबुकं दृढं निष्पीड्य गाढं संस्थाप्य । एतेन जालंधरबंधः प्रोक्तः । योनिं गुदमेढ्रयोरंतरालमाकुंच्य । अनेन मूलबंधःसूचितः । स तु जिह्वाबंधेन गतार्थत्वान्न कर्तव्यः। मनः स्वांतं मध्ये मध्यनाड्यां नियोजयेत्प्रवर्तयेत् ॥ २० ॥

भाषार्थ-इसपूर्वोक्त आसन बांधनेके अनंतर वायुको पूरण करके और हृदयमें दृढतासे (खूब) चुबुक (ठोढी) को अर्थात् इस जालंधर बंधको करके और योनि (गुदा लिंगकेमध्य) को संकुचित करके अर्थात् मूलबंधको करके परन्तु यह मूलबन्ध जिह्वाके बन्धनसेही सिद्ध है इससे करने योग्य नहीं है फिर मनको मध्य नाडीकेविषे प्रविष्ट करे ॥ २० ॥

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ॥
सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ॥ २१ ॥

धारयित्वेति ॥ शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति धारयित्वा कुंभयित्वा शनैर्मंदं मंदमनिलं वायुं रेचयेत् । सव्यांगे वामांगे समभ्यस्य सम्यगावर्त्य दक्षांगे दक्षिणांगे पुनर्यावत्तुल्यामेव संख्यां तावदभ्यसेत् ॥ २१ ॥

भाषार्थ-फिर वायुको यथाशक्ति धारण करके अर्थात् कुंभक प्राणायामको करके शनैः २ वायुका रेचन करै इसप्रकार वाम अंगमें भलीप्रकार अभ्यास करके दक्षिण अंगमें फिर अभ्यास करै और वह अभ्यास तबतक करै जबतक वामांग अभ्यासकी जो संख्या उसकी तुल्यताहो ॥ २१ ॥

मतमत्र तु केषांचित्कंठबंधं विवर्जयेत् ॥
राजदंतस्थजिह्वाया बंधः शस्तो भवेदिति ॥ २२ ॥

अथ जालंधरबंधे कंठसंकोचस्यानुपयोगमाह-मतमिति॥केषांचित्त्वाचार्याणामिदं मतम् । किं तदित्याह । अत्र जालंधरबंधे कंठस्य बंधनं बंधः संकोचस्तं विवर्जयेद्विशेषेण वर्जयेत् । कुतः यतो दंतानां राजानो राजदंता राजदंतेषु तिष्ठतीति राजदंतस्था राजदन्तस्था चासौ जिह्वा च तस्यां राजदंतस्थजिह्वायां बंधस्तदुपरिभागस्य संबंधः शस्तः । कंठाकुंचनापेक्षया प्रशस्तो भवेदिति हेतोः ॥ २२ ॥

भाषार्थ-अब जालंधरबंधमें कंठके संकोचका अनुपयोग वर्णन करते हैं कि, किन्हीं आचार्योंका यह मत है कि, इस जालंधरबंधमें कंठका जो बन्धन (संकोच) उसको

विशेषकर वर्जदे, क्योंकि राजदंतों (दाढ) के ऊपर स्थित जो जिह्वा उसका बंधही जालं-धर बंधमें प्रशस्त होताहै अर्थात् कंठ संकोचकी अपेक्षा वह उतम होता है ॥ २२ ॥

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ॥
अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः ॥२३॥

अयं त्विति ॥ अयं तु राजदंतस्थजिह्वायां बंधस्तु सर्वाश्च ता नाड्यश्च सर्वनाड्यो द्वासप्ततिसहस्रसंख्याकास्तासां सुषुम्नातिरिक्ता-नामूर्ध्वमुपरि वायोर्गतिरूर्ध्वगतिस्तस्या निरोधकः प्रतिबंधकः । एतेन 'बध्नाति हि शिराजालम्' इति जालंधरोक्तं फलमनेनैव सिद्धमिति सूचितम् । महाबंधस्य फलमाह—अयं खल्विति ॥ अयमुक्तः खलु प्रसिद्धः महासिद्धीः प्रकर्षेण ददातीति तथा ॥ २३ ॥

भाषार्थ-यह राजदंतोंमें स्थित जिह्वाका बंध, बहत्तर सहस्र ७२००० सुषुम्नासे भिन्न नाडियोंकी जो ऊर्ध्वगति अर्थात् नाडियोंमें जो प्राणवायुका ऊर्ध्वगमन उसका प्रतिबंधक है इससे यह सूचित किया कि, नाडियोंके जालको जो बंधन करै उसे जालंधरबन्ध कहते हैं यह जालंधर बन्धको फल इससेही सिद्ध है। अब महाबन्धके फलको कहते हैं कि, यह महाबन्ध निश्चयसे महासिद्धियोंको भलीप्रकार देता है ॥ २३ ॥

कालपाशमहाबंधविमोचनविचक्षणः ॥
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥२४॥

कालेति ॥ कालस्य मृत्योः पाशो वागुरा तेन यो महाबंधो बंधनं तस्य विशेषेण मोचने मोक्षणे विचक्षणः प्रवीणः । तिसृणां नदीनां वेणीसमुदायः स एव संगमः प्रयागस्तं धत्ते विधत्ते । केदारं भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं केदारशब्दवाच्यं तं मनः स्वांतं प्रापयेत् । 'गतिबुद्धि' इत्यादिना अणौ कर्तुर्मनसो णौ कर्मत्वम् ॥ २४ ॥

भाषार्थ-और मृत्युके पाशका जो महाबंध उसके छुटानेमें विशेषकर प्रवीण है और तीन नदियोंका संगम जो प्रयाग है उसको करता है और मनको भ्रकुटियोंके मध्यमें जो शिवजीका स्थानरूप केदार है उसमें प्राप्त करता है अर्थात् पहुँचता है ॥ २४ ॥

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ॥
महामुद्रामहाबंधौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥२५॥

महावेधं वक्तुमादौ तस्योत्कर्षं तावदाह—रूपेति ॥ रूपं सौंदर्यं चक्षुः-

प्रियो गुणो लावण्यं कांतिविशेषः। तदुक्तम् मुक्ताफलेषु छायास्तरल-त्वमिवान्तरम्। प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते' इति। ताभ्यां संपन्ना विशिष्टा स्त्री युवती पुरुषं भर्तारं विना यथा यादृशी निष्फला तथा महामुद्रा च महाबंधश्च तौ महावेधेन। विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तर-पदयोर्लोपो वक्तव्यः' इति भाष्यकारोक्तेर्महच्छब्दस्य लोपः। वर्जितौ रहितौ निष्फलौ व्यर्थावित्यर्थः॥ २५॥

भाषार्थ-अब महावेधके कहनेके लिये प्रथम उसकी उत्तमताको कहते हैं कि, रूप (सुंदरता) और इसवचनमें कहेहुए लावण्यको मोतियोमें छाया (प्रतिबिंबकी) तरलताके समान स्त्रीके अंगोंमें अंतर जो प्रतीत होता है वह यहां लावण्य कहाता है. इन दोनों पूर्वोक्त रूप और लावण्यसे युक्त स्त्री, पुरुषके विना निष्फल है. तिसीप्रकार महामुद्रा और बंध ये दोनों भी महावेधके विना निष्फल हैं. इस श्लोकमें वेधपदसे महावेध लेते हैं; क्योंकि इस भाष्यकारके वचनसे प्रत्ययके विनाभी पूर्व और उत्तरपदका लोप कहना। महच्छ-ब्दका लोप होता है॥ २५॥

अथ महावेधः।

महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः॥
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया॥२६॥

महावेधमाह-महाबंधेति॥ महाबंधे महाबंधमुद्रायां स्थितो महाबंध-स्थितः। एका एकाग्रा धीर्यस्य स एकाग्रधीर्योगी योगाभ्यासी पूरकं नासापुटाभ्यां वायोर्ग्रहणं कृत्वा कंठे मुद्रा कंठमुद्रा तया जालंधरमुद्रया वायूनां प्राणादीनां गतिमूर्ध्वाधोगमनादिरूपां निभृतं निश्चलं यथा भवति तथावृत्य निरुध्य कुंभकं कृत्वेत्यर्थः॥ २६॥

भाषार्थ-अब महावेधका वर्णन करते हैं कि, महाबंधमुद्रामें स्थित अर्थात् करता हुआ योगी एकाग्रबुद्धिसे पूरक प्राणायामको करके अर्थात् योगमार्गसे नासिकाके पुटोंसे वायुका ग्रहण करके कंठमुद्रा (जालंधर मुद्रा) से प्राणआदि वायुओंको जो उर्ध्व अधोगतिरूप गमन है उसको निश्चल रीतिसे रोककर अर्थात् कुंभक प्राणायामको करके॥ २६॥

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः॥
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः॥२७॥

समहस्तेति॥ भूमौ भुवि हस्तयोर्युगं समं हस्तयुगं यस्य स समहस्तयुगः भूमिसंलग्नतलौ सरलौ हस्तौ यस्य तादृशः सन्नित्यर्थः।

स्फिचौ कटिप्रोथौ । 'स्त्रियां स्फिचौ कटिप्रोथौ' इत्यमरः । भूमिसंलग्नतलयोर्हस्तयोरवलंबनेन योनिस्थानसंलग्नपार्ष्णिना वामपादेन सह भूमेः किंचिदुत्थापितौ शनैर्मंदं संताडयेत्सम्यक् ताडयेत् । भूमावेव पुटयोर्द्वयमिडापिंगलयोर्युग्मं नासिकाभ्यां लंघ्य मध्ये सुषुम्नामध्ये गच्छतीति मध्यगो वायुः स्फुरति ॥ २७ ॥

भावार्थ-भूमिपर लगा है तल जिनका ऐसे मरल हाथोंको अपने जो स्फिच (चूतड) हैं उनको भूमिपर लगेहुए हाथोंके आश्रय और योनिस्थानमें लगीहुई पार्ष्णि जिसकी ऐसे वामपादसहित पूर्वोक्त स्फिचोंको भूमिसे ऊपर किंचित् उठाकर शनैः २ भलीप्रकार ताडै, इस प्रकार करनेसे इडा और पिंगलारूप दोनों नाडियोंका उल्लंघन (छोड) करके सुषुम्नाके मध्यमें वायु चलने लगता है अर्थात् सुषुम्नामें प्राणवायुकी गति होजाती है ।। २७ ।।

सोमसूर्याग्निसंबंधो जायते चामृताय वै ॥
मृतावस्था समुत्पन्नाततो वायुं विरेचयेत् ॥२८॥

सोमेति ॥ सोमश्च सूर्यश्चाग्निश्च सोमसूर्याग्नयः सोमसूर्याग्निशब्दैस्तदधिष्ठिता नाड्य इडापिंगलासुषुम्ना ग्राह्यास्तेषां संबंधः । तद्वायुसंबंधात्तेषां संबंधः । अमृताय मोक्षाय जायते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । मृतस्य प्राणवियुक्तस्यावस्था मृतावस्था समुत्पन्ना भवति । इडापिंगलयोः प्राणसंचाराभावात् । ततस्तदनंतरं वायुं विरेचयेन्नासिकापुटाभ्यां शनैस्त्यजेत् ॥ २८ ॥

भावार्थ-फिर चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि अर्थात् ये तीनों देवता हैं क्रमसे अधिष्ठाता जिनके ऐसी इडा पिंगला सुषुम्ना नाडियोंका संबंध मोक्षका हेतु निश्चयसे होजाता है अर्थात् तीनों नाडियोंका वायु एक हो जाताहै तब इडा और पिंगलाके मध्यमें प्राणसंचारके अभावसे मरण अवस्था उत्पन्न होजाती है, क्योंकि, इडा पिंगलामें जो प्राणोंका संचार उसका नामही जीवन है, फिर मरण अवस्थाकी उत्पत्तिके अनंतर वायुको विरेचन करदे अर्थात् नासिकाके पुटोंमेंसे शनैः २ त्यागदे ॥ २८ ॥

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ॥
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ २९ ॥

महावेध इति ॥ अयं महावेधोऽभ्यासात्पुनःपुनरावर्तनान्महासिद्धयोऽणिमाद्यास्तासां प्रदायकः प्रकर्षेण समर्थकः । वली जरया चर्मसंकोचः

पलितं जरसा केशेषु शौक्ल्यं वेपः कंपस्तान् हंतीति वलीपालितवेपघ्नः । अत एव साधकेष्वभ्यासिषूत्तमाः साधकोत्तमास्तैः सेव्यतेऽभ्यस्य तइत्यर्थः ॥ २९ ॥

भाषार्थ-यह महावेध अभ्यास करनेसे अणिमा आदि महासिद्धियोंको भलीप्रकार देताहै और वली अर्थात् वृद्ध अवस्थासे चर्मका संकोच और पलित अर्थात् वृद्धतासे केशोंकी शुक्लता और देहका कंपना इनको नष्ट करता है इसीसे साधकों (अभ्यासी) में जो उत्तम हैं वे इस महावेधका अभ्यासरूप सेवन करते हैं ॥ २९ ॥

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ॥
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ३० ॥

महामुद्रादीनां तिसृणामतिगोप्यत्वमाह—एतादिति ॥ एतत्त्रयं महामुद्रादित्रयं महागुह्यमतिरहस्यम् । अत्र हेतुगर्भाणि विशेषणानि हि यस्माज्जरा वार्धकं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगः तयोर्विशेषेण नाशनं वह्नेर्जाठरस्य वृद्धिर्दीप्तिस्तस्याः करं कर्तृ अणिमा आदिर्येषां तेऽणिमादयस्ते च ते गुणाश्च तान् प्रकर्षेण ददातीत्यणिमादिगुणप्रदम् । चकार आरोग्यबिन्दुजयादिसमुच्चयार्थः एवशब्दोऽवधारणार्थः ॥ ३० ॥

भाषार्थ-अब महामुद्रा आदि पूर्वोक्त तीनोंको अत्यंत गुप्त करने योग्य वर्णन करते हैं कि, ये तीनों मुद्रा अत्यन्त गुप्त करने योग्य हैं और जोरा और मृत्युको विशेषकर नष्ट करती हैं और जठराग्निको बढाती हैं और अणिमा आदि सिद्धियोंको देती हैं अर्थात् अणिमा आदि गुणोंको भलीप्रकार उत्पन्न करती हैं और चकारके पढनेसे आरोग्य और बिंदुका जय समझना और इस श्लोकमें एव पद निश्चयका बोधक है ॥ ३० ॥

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ॥
पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ॥
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ३१ ॥

अथैतत्त्रयस्य पृथक्साधनविशेषमाह—अष्टधेति ॥ दिने दिने प्रतिदिनम् । यामे यामे प्रहरे प्रहरे पौनःपुन्ये द्विर्वचनम् । अष्टभिः प्रकारैरष्टधा क्रियते । चशब्दोऽवधारणे । एतत्त्रयमित्यत्रापि संबध्यते । कीदृशं पुण्यस्य संभारः समूहस्तस्य संधायि, पुनः कीदृशं पापानामोघः पूरः समूह इति यावत् । तस्य भिदुरं कुलिशमिव नाशनं सदा सर्वदा यदाभ्यस्तं तदैव पापनाशम् ॥ सम्यक् सांप्रदायिकी शिक्षा गुरूपदेशो विद्यते येषां ते तथा । एवं दिने दिने यामे यामेऽष्टधेत्युक्तरीत्या पूर्वसाधनं स्वल्पस्वल्पमेव कार्यम् ॥ ३१ ॥

भाषार्थ-अब इन तीनोंके पृथक् २ साधन विशेषको कहते है कि, प्रहर २ में और दिन २ में वारंवार आठप्रकारसे ये तीनों मुद्रा की जाती हैं. यहां भी एव शब्द निश्चयका वाची है और ये तीनों मुद्रा पुण्यके समूहको करती हैं और पापोंका जो समूह है उसको छेदन सदैव करती हैं और भलीप्रकार गुरुकी है शिक्षा जिनको ऐसे पुरुषोंको पूर्वोक्त आठप्रकारका जो प्रहर २ और दिन २ में साधन है वह अल्प २ (थोडा २) ही करना योग्य है अधिक २ नहीं ॥ ३१ ॥

अथ खेचरी ।

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ३२ ॥

खेचरीं विवक्षुरादौ तत्स्वरूपमाह-कपालेति ॥ कपाले मूर्ध्नि कुहरं सुषिरं तस्मिन्कपालकुहरे विपरीतं प्रतीपं गच्छतीति विपरीतगा पराङ्मुखीभूता जिह्वा रसना स्यात् । भ्रुवोरंतर्गता भ्रुवोर्मध्ये प्रविष्टा दृष्टिर्दर्शनं स्यात् । सा खेचरी मुद्रा भवति । कपालकुहरे जिह्वाप्रवेशपूर्वकं भ्रुवोरंतर्दर्शनं खेचरीति लक्षणं सिद्धम् ॥ ३२ ॥

भाषार्थ-अब खेचरीमुद्राके कथनका अभिलाषी आचार्य प्रथम खेचरीके स्वरूपका वर्णन करते हैं कि, कपालके मध्यमें जो छिद्र है उसमें विपरीत (उलटी) हुई जिह्वा तो प्रविष्ट होजाय और भ्रुकुटियोंके मध्यमें दृष्टिका प्रवेश होजाय तो वह खेचरीमुद्रा होती है अर्थात् कपालके छिद्रमें जिह्वाके प्रवेश पूर्वक जो भ्रुकुटियोंके मध्यका दर्शन उसे खेचरी मुद्रा कहते हैं ॥ ३२ ॥

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ॥
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥ ३३ ॥

खेचरीसिद्धेर्लक्षणमाह-छेदनेति ॥ छेदनं अनुपदमेव वक्ष्यमाणम् । चालनं हस्तयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां रसनां गृहीत्वा सव्यापसव्यतः परिवर्तनं, दोहः करयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां गोदोहनवत्तद्दोहनं तैः कलां जिह्वां तावद्वर्धयेद्दीर्घां कुर्यात् । तावत् कियत् । यावत्सा कला भ्रूमध्यं बहिर्भ्रुवोर्मध्यं स्पृशति यदा तदा खेचर्याः सिद्धिः खेचरीसिद्धिर्भवति ॥ ३३ ॥

भाषार्थ-अब खेचरीमुद्राकी सिद्धिके लक्षणका वर्णन करते हैं कि, छेदन जिसका आगे शीघ्रही वर्णन करेंगे और चालन अर्थात् हाथके अँगूठे और तर्जनीसे जिह्वाको पकडकर वाम और दक्षिणरूपसे परिवर्तन (हलाना) और पूर्वोक्त अँगूठे और तर्ज-

नीसे गोदोहनके समान जिह्वाका दोहन इन तीनोसे कला (जिह्वा) को तबतक बढावै जबतक वह कला भृकुटियोंके मध्यका स्पर्श करै फिर स्पर्श होनेपर खेचरी मुद्राकी सिद्धिको जानै ॥ ३३ ॥

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ॥
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३४ ॥

तत्साधनमाह–स्नुहीति ॥ स्नुही गुडा तस्याः पत्रं दलं स्नुहीपत्रेण सदृशं स्नुहीपत्रनिभं सुतीक्ष्णमतितीक्ष्णं स्निग्धं च तन्निर्मलं च स्निग्धनिर्मलं शस्त्रं छेदनसाधनं समादाय सम्यगादाय गृहीत्वा ततः शस्त्रग्रहणानंतरं तेन शस्त्रेण रोमप्रमाणं रोममात्रं समुच्छिनेत्सम्यगुच्छिनेच्छिंद्यात् । रसनामूलशिरामिति कर्माध्याहारः । 'मिश्रेयाप्यथ सीहुंडो वज्रस्नुक्स्त्री स्नुही गुडा' इत्यमरः ॥ ३४ ॥

भाषार्थ–अब खेचरीकी सिद्धिके साधनोंका वर्णन करतेहैं कि, स्नुही (सेहुंड) के पत्तेके समान जो अत्यंत तीक्ष्ण शस्त्र है चिकने और निर्मल उस शस्त्रको ग्रहण करके उससे जिह्वाके मूलकी नाडीको रोममात्र छेदन करदे ॥ ३४ ॥

ततः सैंधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ॥
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५॥

तत इति ॥ ततश्छेदनानंतरं चूर्णिताभ्यां चूर्णीकृताभ्यां सैंधवं सिंधुदेशोद्भवं लवणं पथ्यं हरीतकी ताभ्यां प्रघर्षयेत्प्रकर्षेण घर्षयेच्छिन्नं शिराप्रदेशम् । सप्तदिनपर्यंतं छेदनं सैंधवपथ्याभ्यां घर्षणं च सायंप्रातर्विधेयम् । योगाभ्यासिनो लवणनिषेधात्खदिरपथ्याचूर्णं गृह्णंति मूले सैंधवोक्तिस्तु हठाभ्यासात्पूर्वं खेचरीसाधनाभिप्रायेण । सप्तानां दिनानां समाहारः सप्तदिनं तस्मिन् प्राप्ते गते सति अष्टमे दिन इत्यर्थात् । ये प्राप्त्यर्थास्ते गत्यर्थाः । पूर्वच्छेदनापेक्षयाधिकं रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ १५ ॥

भाषार्थ–और छेदनके अनंतर चूर्ण किये (पीसे हुये) सैंधव (लवण) और हरडेसे जिह्वाके मूलको भलीप्रकार घिसे सातदिनतक प्रतिदिन छेदन और घिसनेको पूर्वोक्तप्रकारसे प्रातःकाल और सायंकालको करै और योगके अभ्यासीको लवणका निषेध है इससे यहां खदिर (कत्था) और पथ्याका चूर्ण लेना योगियोंको कहाहैं और मूलग्रंथमें तो सैंधवका कथन हठयोगके अभ्याससे पूर्व खेचरीकी सिद्धिके अभिप्रायसे है।

फिर सात दिनके बीतनेपर आठवेंदिन रोममात्रका छेदन करै अर्थात् प्रथमछेदनेसे अधिक रोममात्रका छेदन करे ॥ ३५ ॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ॥
षण्मासाद्रसनामूलशिराबंधः प्रणश्यति ॥ ३६ ॥

एवमिति॥एवं क्रमेण पूर्वं रोममात्रच्छेदनं सप्तदिनपर्यंतं तावदेव सायं-प्रातश्छेदनं घर्षणं च । अष्टमे दिनेऽधिकं छेदनमित्युक्तक्रमेण षण्मासं षण्मासपर्यंतं नित्ययुक्तः सन् समाचरेत्सम्यगाचरेत् । छेदनघर्षणे इति कर्माध्याहारः । षण्मासादनंतरं रसना जिह्वा तस्या मूलमधोभागो रस-नामूलं तत्र या शिरा कपालकुहररसनासंयोगे प्रतिबंधिकाभूता नाडी तया बंधो बंधनं प्रणश्यति प्रकर्षेण नश्यति ॥ ३६ ॥

भाषार्थ-इसप्रकार क्रमसे प्रथम रोममात्रका छेदन और उसकाही सातदिनपर्यंत सायंकाल प्रातःकालके समय घर्षणको प्रतिदिन युक्तहुआ छः मासपर्यंत करै और आठवें दिन पूर्व किये छेदनसे अधिक रोममात्रका छेदन करके पूर्वोक्त घर्षणको करता रहै इस-रीतिसे छः मासके अनंतर जिह्वाके मूलभागमें जो शिराबन्ध है अर्थात् जिससे जिह्वा कपाल छिद्रमें नहीं पहुंच सकती वह बन्धन है वह भलीप्रकार नष्ट होजाता है ॥ ३६ ॥

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ॥
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ३७ ॥

छेदनादिना जिह्वावृद्धौ यत्कर्तव्यं तदाह-कलामिति ॥ कलां जिह्वां पराङ्मुखमास्यं यस्याः सा तथा तां पराङ्मुखीं प्रत्यङ्मुखीं कृत्वा तिसृणां नाडीनां पंथाः त्रिपथस्तस्मिंस्त्रिपथे कपालकुहरे परियोजयेत्सं-योजयेत् । सा त्रिपथे परियोजनरूपा खेचरी मुद्रा तद्व्योमचक्रमित्यु-च्यते । व्योमचक्रशब्देनोच्यते ॥ ३७ ॥

भाषार्थ-अब छेदन आदिसे जिह्वाको वृद्धि होनेपर करने योग्य कर्मको कहते हैं कि, जिह्वाको पराङ्मुख करके अर्थात् पश्चिमको लौटाकर तीनों नाडियोंका मार्ग जो कपालका छिद्र है उसमें संयुक्त करदे वही खेचरी मुद्रा होती है और उसको ही व्योमचक्र कहते हैं ॥ ३७ ॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ॥
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ३८ ॥

अथ खेचरीगुणाः॥रसनामिति॥ ऊर्ध्वं तालूपरि विवरं गच्छतीति तां ताहशीं रसनां जिह्वां कृत्वा क्षणार्धं क्षणस्य मुहूर्तस्य अर्धं क्षणार्धं घटिकामात्रमपि खेचरी मुद्रा तिष्ठति चेत्तर्हि योगी विषैः सर्पवृश्चिकादिविषैर्विमुच्यते विशेषेण मुच्यते । व्याधिर्धातुवैषम्यं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगो जरा वृद्धावस्था ता आदयो येषां वल्यादीनां तैश्च विमुच्यते । 'उत्सवे च प्रकोष्ठे च मुहूर्ते नियमे तथा । क्षणशब्दो व्यवस्थायां समयेऽपि निगद्यते' इति नानार्थः ॥ ३८ ॥

भाषार्थ-अब खेचरीके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, जिह्वाको तालुके ऊपरले छिद्रमें करके जो योगी क्षणार्धभी टिकता है अर्थात् एक घटिकामात्र भी स्थित रहता है (यहां क्षण पदसे इसवचनके अनुसार मुहूर्तका ग्रहण है) वह योगी धातुओंकी विषमतारूप व्याधि और मृत्यु अर्थात् प्राण और देहका वियोग और वृद्ध अवस्था आदिकोंसे और सर्प बिच्छू आदिके विषोंसे विशेषकर छूट जाता है ॥ ३८ ॥

न रोगो मरणं तंद्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥३९॥

न रोग इति॥यःखेचरीं मुद्रां वेत्ति तस्य रोगो न मरणं न तंद्रा तामसांतःकरणवृत्तिविशेषः न निद्रा न क्षुधा न तृषा न पिपासा न मूर्च्छा चित्तस्य तमसाभिभूतावस्थाविशेषश्च न भवेत् ॥ ३९ ॥

भाषार्थ-जो योगी खेचरीमुद्राको जानता है उसको रोग, मरण और अंतःकरणकी तमोगुणी वृत्तिरूप तंद्रा और निद्रा क्षुधा तृषा और चित्तकी तमोगुणीअवस्थारूप मूर्च्छा ये सब नहीं होते हैं ॥ ३९ ॥

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ॥
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥४०॥

पीड्यत इति ॥ यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति स रोगेण ज्वरादिना न पीड्यते ॥ ४० ॥

भाषार्थ-जो खेचरीको जानता है वह रोगसे पीडित नहीं होता है और न कर्मसे लिप्त होता है और न कालसे बाधा जाता है ॥ ४० ॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ॥
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥ ४१ ॥

चित्तमिति ॥ यस्माद्धेतोश्चित्तमंतःकरणं खे भ्रुवोरंतरवकाशे चरति जिह्वा खे तत्रैव गता सती चरति । तेन हेतुना एषा कथिता मुद्रा खेचरी नाम खेचरीति प्रसिद्धा । नामेति प्रसिद्धावव्ययम् । सिद्धैः कपिलादिभिर्निरूपिता । खे भ्रुवोरंतर्व्योम्नि चरति गच्छति चित्तं जिह्वा च यस्यां सा खेचरीत्यवयवशः सा व्युत्पादिता । उक्तेषु त्रिषु श्लोकेषु व्याध्यादीनां पुनरुक्तिस्तु तेषां श्लोकानां संगृहीतत्वान्न दोषाय ॥४१॥

भाषार्थ-जिससे चित्त (अंतःकरण) भ्रुकुटियोंके मध्यरूप आकाशमें विचरता है और जिह्वाभी भ्रुकुटियोंके मध्यमेंही जाकर विचरती है तिसीसे सिद्धों (कपिल आदि) की निरूपण कीहुई यह मुद्रा खेचरी इस नामसे प्रसिद्ध है भ्रुकुटियोंके मध्यरूप आकाशमें जिसमुद्राके करनेसे जिह्वा विचरे उसे खेचरी कहते हैं । इस व्यत्पत्तिसे सिद्धोंने यह अन्वर्थमुद्रा वर्णन की है. इन पूर्वोक्त तीनों श्लोकोंमें व्याधिआदिकी जो पुनरुक्ति है वह इसलिये दूषित नहीं है कि, ये तीनों श्लोक संगृहीत (किसीके रचेहुए) हैं अर्थात् मूलके नहीं हैं ॥ ४१ ॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः ॥
न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याः श्लेषितस्य च ॥४२॥

खेचर्येति ॥ येन योगिना खेचर्या मुद्रया लंबिकाया ऊर्ध्वमिति लंबिकोर्ध्वतः । सार्वविभक्तिकस्तसिः । लंबिका तालु तस्या ऊर्ध्वत उपरिभागे स्थितं विवरं छिद्रं मुद्रितं पिहितम् । कामिन्या युवत्याः श्लेषितस्यालिंगितस्यापि । च शब्दोऽप्यर्थे । तस्य बिंदुर्वीर्यं न क्षरते न स्खलति ॥ ४२ ॥

भाषार्थ-जिस योगीने खेचरीमुद्रासे लंबिका (तालु) के ऊपरका छिद्र ढकलिया है कामिनीके स्पर्श करनेपरभी उस योगीका बिंदु (वीर्य) क्षरित (पडता) नहीं होता अर्थात् अपने मस्तकरूप स्थानसे नहीं गिरता है ॥ ४२ ॥

चलितोऽपि यदा बिंदुः संप्राप्तो योनिमंडलम् ॥
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥४३॥

चलित इति ॥ चलितोऽपि स्खलितोऽपि बिंदुर्यदा यस्मिन् काले योनिमंडलं योनिस्थानं संप्राप्तः संगतस्तदैव योनिमुद्रया मेढ्राकुंचनरूपया । एतेन वज्रोलीमुद्रा सूचिता । निबद्धो नितरां बद्धः शक्त्याकर्षणशक्त्याहृतः प्रकृष्ट ऊर्ध्वं व्रजति । सुषुम्नामार्गेण बिंदुस्थानं गच्छति ॥ ४३ ॥

भावार्थ-और चलायमानहुआभी विंदु जिससमय योनिके मंडलमें प्राप्त होजाता है तोभी लिंगके संकोचनरूप योनिमुद्रासे अर्थात् वज्रोलीसे निरंतर बँधाहुआ बिंदु आकर्षण-शक्तिसे खिंचा हुआ सुषुम्ना नाडीके मार्गसे ऊर्ध्व (विंदुके स्थानमें) को चलाजाता है ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ४४ ॥

ऊर्ध्वजिह्व इति ॥ ऊर्ध्वा लंबिकोर्ध्वविवरोन्मुखा जिह्वा यस्य स ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो निश्चलो भूत्वा । सोमस्य लंबिकोर्ध्वविवरगलित-चंद्रामृतस्य पानं सोमपानं यः पुमान् करोति । योगं वेत्तीति योगवित् स मासस्यार्धं मासार्धं तेन मासार्धेन पक्षेण मृत्युं मरणं जयति अभि-भवति । न संदेहः । निश्चितमेतदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

भावार्थ-तालुके ऊपरके छिद्रके उन्मुख है जिह्वा जिसकी ऐसा जो योगी वह सोमपान करता है अर्थात् ऊर्ध्व छिद्रमेंसे गिरतेहुए चंद्रामृतको पीता है योगका ज्ञाता वह एकही मासार्द्धसे अर्थात् पक्षभरसे मृत्युको जीतता है इसमें सन्देह नहीं है अर्थात् यह निश्चित है ॥ ४४ ॥

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ॥
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ४५ ॥

नित्यमिति ॥ यस्य योगिनः शरीरं नित्यं प्रतिदिनं सोमकलापूर्णं चंद्रकलामृतपूर्णं तस्य तक्षकेण सर्पविशेषेणापि दष्टस्य दंशितस्य योगिनः शरीरे विषं गरलं तज्जन्यं दुःखं न सर्पति न प्रसरति ॥ ४५ ॥

भावार्थ--जिस योगीका शरीर नित्य (सदैव) चंद्रकलारूप अमृतसे पूर्ण रहता है तक्षक सर्पसे डसेहुयेभी उसके शरीरमें विष नहीं फैलता अर्थात् सर्पका विष नहीं चढता ॥ ४५ ॥

इंधनानि यथा वह्निस्तलवर्त्ति च दीपकः ॥
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुंचति ॥ ४६ ॥

इंधनानीति ॥ यथा वह्निः इंधनानि काष्ठादीनि न मुंचति दीपको दीपः तैलवर्तिं च तैलयुक्तां वर्त्तिं न मुंचति । तथा सोमकलापूर्णं चन्द्रकलामृतपूर्णं देहं शरीरं देही जीवो न मुंचति न त्यजति ॥ ४६ ॥

भाषार्थ-जैसे अग्नि काष्ठआदि इंधनोंको और दीपक तैल और बत्तीको नहीं त्यागतेहैं अर्थात् उनके विना नहीं रहतेहैं तैसेही देही (जीवात्मा) सोमकलासे पूर्ण देहको नहीं त्यागताहै अर्थात् सोमकलासे पूर्ण देह सदैव बना रहताहै ॥ ४६ ॥

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ॥
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः ॥ ४७ ॥

गोमांसमिति ॥ गोमांसं पारिभाषिकं वक्ष्यमाणं यो भक्षयेन्नित्यं प्रतिदिनममरवारुणीमपि वक्ष्यमाणां पिबेत्तं योगिनम् । अहमिति ग्रंथकारोक्तिः । कुले जातः कुलीनः तं सत्कुलोत्पन्नं मन्ये । तदुक्तं ब्रह्मवैवर्ते—कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत् । जायते योगवान्यत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत् ॥ दृष्टः संभाषितः स्पृष्टः पुंप्रकृत्योर्विवेकवान् । भवकोटिशतापात्तं पुनाति वृजिनं नृणाम् ॥' ब्रह्मांडपुराणे । 'गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च । ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते ॥' राजयोगे वामदेवं प्रति शिववाक्यम्-'राजयोगस्य माहात्म्यं को विजानाति तत्त्वतः । तज्ज्ञानी वसते यत्र स देशः पुण्यभाजनम् । दर्शनादर्चनादस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः । अज्ञा मुक्तिपदं यांति किं पुनस्तत्परायणाः ॥ अंतर्योगं बहिर्योगं यो जानाति विशेषतः । त्वया मयाप्यसौ वंद्यः शेषैर्वंद्यस्तु किं पुनः ॥' इति । कूर्मपुराणे-'एककालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव वा । ये युंजंते महायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वराः ॥' इति । इतरे वक्ष्यमाणगोमांसभक्षणामरवारुणीपानरहिता अयोगिनस्ते कुलघातकाः कुलनाशकाः सत्कुले जातस्य जन्मनो वैयर्थ्यात् ॥ ४७ ॥

भाषार्थ-जो योगी प्रतिदिन गोमांस (जो आगे कहेंगे) को भक्षण करताहै और प्रतिदिन अमरवारुणी (जो आगे कहेंगे) को पीताहै उसकोही हम श्रेष्ठकुलमें उत्पन्न मानतेहैं अन्य सब मनुष्य कुलघातक (नाशक) हैं क्योंकि श्रेष्ठकुलमें उनका जन्म निरर्थक है सोई ब्रह्मवैवर्त्तमें कहाहै कि, योगीके माता पिता कृतार्थ हैं और उसके देश और कुलको धन्य है जहां योगवान् पैदा होताहै और योगीको दिया दान अक्षय होताहै पुरुष और प्रकृतिका विवेकी योगीजन दर्शन, भाषण स्पर्श करनेसे मनुष्योंके कोटियों जन्मोंके पापोंसे पवित्र करतेहैं। ब्रह्माण्डपुराणमें लिखाहै कि, सहस्र गृहस्थी और सौ वानप्रस्थ और सहस्र ब्रह्मचारियोंसे योगाभ्यासी अधिक होताहै और राजयोगके विषयमें वामदेवके प्रति शिवजीका वाक्य है कि, राजयोगके यथार्थ माहात्म्यको कौन जान सकताहै ? राज-

योगका ज्ञानी जहां वसताहै वह देश पुण्यात्मा है इसके दर्शन और पूंजनसे इक्कीस कुल सहित मूर्ख भी मुक्तिके पदको प्राप्त होतेहैं, योगमें तत्पर तो क्यों न होंगे जो अंतर्योग और बहिर्योगको विशेषकर जानताहै वह मुझे और तुझेभी नमस्कार करने योग्य है और शेषमनुष्योंको वन्दना करने योग्य तो क्यों न होगा । कूर्मपुराणमें लिखाहै कि, एकसमय वा द्विकालमें वा त्रिकालमें वा नित्य जो महायोगका अभ्यास करते हैं वे महेश्वर (शिव) जानने । इन वचनोंसे योग सर्वोत्तम है ॥ ४७ ॥

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ॥
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ४८ ॥

गोमांसशब्दार्थमाह–गोशब्देनेति ॥ गोशब्देन गोइत्याकारकेण शब्देन गोपदेनेत्यर्थः । जिह्वा रसनोदिता कथिता । तालुनीति सामीपिकाधारे सप्तमी । तालुसमीपोर्ध्वविवरे तस्या जिह्वायाः प्रवेशो गोमांसभक्षणं गोमांसभक्षणशब्दवाच्यं तत्तु तादृशं गोमांसभक्षणं तु महापातकानां स्वर्णस्तेयादीनां नाशनम् ॥ ४८ ॥

भाषार्थ–अब गोमांस शब्दके अर्थको कहते हैं कि, गोपदसे जिह्वा कही जातीहै और तालुके समीप जो ऊर्ध्वछिद्र उसमें जो जिह्वाका प्रवेश उसको गोमांसभक्षण कहते हैं–वह गोमांसभक्षण महापातकोंका नाश करनेवाला है ॥ ४८ ॥

जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ॥
चंद्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥ ४९ ॥

अमरवारुणीशब्दार्थमाह–जिह्वेति । जिह्वायाः प्रवेशो लंबिकोर्ध्वविवरे प्रवेशनं तस्मात्संभूतो यो वह्निरूष्मा तेनोत्पादितो निष्पादितः । अत्र वह्निशब्देनौष्ण्यमुपलक्ष्यते । यः सारः चंद्राद्भ्रुवोरंतर्वामभागस्थात्सोमात्स्रवति गलति सा अमरवारुणी स्यादमरवारुणीपदवाच्या भवेत् ॥ ४९ ॥

भाषार्थ–अब अमरवारुणी शब्दके अर्थको कहते हैं कि, तालुके ऊर्ध्व छिद्रमें जिह्वाके प्रवेशसे उत्पन्न हुई जो वह्नि (ऊष्मा) उससे उत्पन्न हुआ जो सार चंद्रमासे झरताहै अर्थात् भ्रुकुटियोंके मध्यमें वामभागमें स्थित चंद्रमासे बिंदुरूप सार गिरताहै उसको अमरवारुणी कहते हैं ॥ ४९ ॥

चुम्बंती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यंदिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ॥
व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम् ॥५०॥

चुंबतीति ॥ यदि लंबिकाग्रं लंबिकोर्ध्वविवरं चुंबंती स्पृशन्ती । अनिशं निरंतरम् । अत एव रसस्य सोमकलामृतस्य स्यंदः स्यंदनं प्रस्रवणमस्यामस्तीति रसस्यंदिनी यस्य जिह्वा । क्षारेण लवणरसेन सहिता सक्षारा । कटुकं मरिचादि आम्लं चिंचाफलादि दुग्धं पयस्तैः सदृशी समाना । मधु क्षौद्रमाज्यं घृतं ताभ्यां तुल्या समा तथाशब्दः समुच्चये । एतैर्विशेषणै रसस्यानेकरसत्वान्मधुरत्वास्त्रिग्धत्वाच्च जिह्वाया अपि रसस्यंदने तथात्वमुक्तम् । तर्हि तस्य व्याधीनां रोगाणां हरणमपगमो जराया वृद्धावस्थाया अंतःकरणं नाशनं शस्त्राणामायुधानामागमः स्वाभिमुखागमनं तस्योदीरणं निवारणम् । अष्टौ गुणा अणिमादयस्ते अस्य संजाता इत्यष्टगुणितममरत्वममरभावः । सिद्धानामंगनाः सिद्धांगनाः सिद्धाश्चता अंगनाश्चेति वा तासामाकर्षणमाकर्षणशक्तिः स्यात् ॥ ५० ॥

भाषार्थ-यदि रस (सोमकलाका अमृत) का स्यंदन (झरना) करनेवाली और लवणके रसके समान और मरीच आदि कटु और इमली आदि अम्ल और दूध इनके सदृश और मधु (सहत) और घृत इनकी तुल्य इन सब विशेषणोंमें रसमें अनेक रस और मधुरता और स्निग्धता (चिकनाई) कही उस रसके झरनेवाली जिह्वाकोभी वैसीही कही समझना अर्थात् पूर्वोक्तप्रकारकी जिह्वा तालुके ऊपर वर्तमानछिद्रका वारंवार चुंबन (स्पर्श) करे तो उस मनुष्यकी व्याधियोंका हरण और वृद्ध अवस्थाका अन्त करना और सन्मुख आये शस्त्रका निवारण और अणिमा आदि आठ सिद्धि हैं जिसमें ऐसा अमरत्व (देवत्व) और सिद्धोंकी अंगनाओंका वा सिद्धरूप अंगनाओंका आकर्षण (बुलाना) उसको ये फल होते हैं ॥ ५० ॥

मूर्ध्नःषोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिंतयन् ॥
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ॥५१॥

मूर्ध्नं इति ॥ रसनां जिह्वां विवरे कपालकुहरे नियम्य संयोज्य। ऊर्ध्वमुत्तानमास्यं यस्य सः। ऊर्ध्वास्य इत्यनेन विपरीतकरणी सूचिता। परां शक्तिं कुंडलिनीं चिंतयन्ध्यायन्सन् प्राणान्साधनभूतान्। षोडश पत्राणि दलानि यस्य तत् षोडशपत्रं तच्च तत्पद्मं कंठस्थाने वर्तमानं तस्मिन्गलितं हठाद्धठयोगादवाप्तं प्राप्तं विमलं निर्मलं धारामयं धारारूपमुत्कल्लोलमुत्तरंगं च तत्कलाजलं सोम, कलारसं यः पुमान् पिबेत् धयेत्स योगी निर्गता व्याधयो ज्वरादयो यस्मात्स निर्व्याधिः सन् यद्वा निर्गता त्रिविधा आधिर्मानसी व्यथा यस्मात्स तादृशः सन् मृणालं बिसमिव कोमलं मृदु वपुः शरीरं यस्य स मृणालकोमलवपुश्च सन् चिरं दीर्घकालं जीवति प्राणान् धारयति। हठाद्धठयोगात्। प्राणात्साधनभूतादवाप्तमिति वा योजना। प्राणैरिति क्वचित्पाठः॥ ५१॥

भाषार्थ–जो योगी, जिह्वाको कपालके छिद्रमें लगाकर और ऊपरको मुख करके इससे विपरीत करणी सूचित की--और परमशक्ति जो कुण्डलिनी उसका ध्यान करता हुआ प्राणवायुके साधन और हठयोगसे प्राप्त और षोडश हैं पत्र जिसके ऐसे पद्ममें मस्तकसे पतित और निर्मल और धारारूप और ऊपरको हैं तरंग जिसके ऐसे चंद्रकलाके जलको पीता है व्याधिसे रहित और मृणाल (बिस) के समान कोमल है वपु (देह) जिसका ऐसा वह योगी चिरकालतक जीता है॥ ५१॥

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धांतरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम्॥
चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः॥५२॥

यत्प्रालेयमिति॥ मेरुवत्सर्वोन्नता सुषुम्ना मेरुस्तस्य मूर्धोपरिभागस्तस्यांतरे मध्ये तिष्ठतीति मेरुमूर्धांतरस्थं यत्प्रालेयं सोमकलाजलं प्रहितं निहितं यस्मिंस्तत्तथा तच्च तत्सुषिरं विवरं तस्मिन्विवरे सुधीः शोभना रजस्तमोभ्यामनभिभूतसत्त्वा धीर्बुद्धिर्यस्य सः। तत्त्वमात्मतत्त्वं प्रवदति प्रकर्षेण वदति। 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः। आत्मनो विभुत्वे खेचरीमुद्रायां तत्राभिव्यक्तिस्तस्मिंस्तत्त्वमित्युक्तम्। निम्नगानां गंगायमुनासरस्वतीनर्मदादिशब्दवाच्यानामिडापिंगलासुषुम्नागांधारीप्रभृतीनां तत्तस्मिन्विवरे तत्समीपे मुखमग्रमस्ति चंद्रात्सोमाद्वपुषः

शरीरस्य सारः स्रवति क्षरति तेन चंद्रसारक्षरणेन नराणां मनुष्याणां मृत्युर्मरणं भवति। अतो हेतोस्तत्पूर्वोदितं सुकरणं शोभनं करणं खेचरीमुद्राख्यं बध्नीयात्। सुकरणे बद्धे चंद्रसारस्रवणाभावान्मृत्युर्न स्यादिति भावः अन्यथा सुकरणबंधनाभावे कायस्य देहस्य सिद्धी रूपलावण्यबलवज्रसंहननरूपा न स्यात्॥ ५२॥

भाषार्थ-मेरुके समान सबसे ऊँची जो सुषुम्ना नाडी उसके मूर्द्धा (ऊपरके भाग) के मध्यमें टिकाहुआ जो प्रालेय अर्थात् सोमकलाका जल है और जिसमें वह जल स्थित है ऐसा विवर (छिद्र) है उस विवरमें रजोगुण तमोगुणसे नहीं हुआ है तिरस्कार जिसका ऐसी बुद्धिवाले मनुष्य आत्मतत्त्वको कहते हैं क्योंकि श्रुतिमें लिखा है कि, सुषुम्नाकी शिखाके मध्यमें परमात्मा स्थित है-क्योंकि आत्मा विभु (व्यापक) है और खेचरी-मुद्रामें उस विवरमें आत्मा प्रकट होताहै इससे उसमें तत्त्व है यह कहना ठीक है-और गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा आदि शब्दोंका अर्थ जो इडा, पिंगला सुषुम्ना, गांधारी आदि नाडी हैं उनके मुखभी उसी छिद्रके समीपमें हैं और चंद्रमासे जो देहका सारांश झरताहै उससेही मनुष्योंकी मृत्यु होती है तिससे शोभन करणरूप खेचरीमुद्राको बांधे (करे) क्योंकि खेचरीमुद्राके करनेसे चंद्रमाके सारके न झरनेसे मृत्यु न होगी और अन्यथा अर्थात् खेचरीमुद्राके न करनेसे देहका जो रूप, लावण्य, बल वज्रके समान संहनन (दृढता) रूपसिद्धि न होगी। भावार्थ यह है कि, जो सोमकलाका जल सुषुम्नाके मध्यमें स्थित है वह जल जिस छिद्रमें है उस छिद्रमेंही बुद्धिमान् मनुष्य परमात्माको कहतेहैं और उसी छिद्रमें समीप इडा पिंगला आदि नाडियोंका मुख है और चंद्रमासे जो देहका सारांश झरताहै उससे मनुष्योंकी मृत्यु होतीहै तिससे खेचरी मुद्राको करे क्योंकि न करनेसे देहकी सिद्धि नहीं होसकती अर्थात् पुष्ट न होगा॥ ५२॥

सुषिरं ज्ञानजनकं पंचस्रोतःसमन्वितम्॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिञ्शून्ये निरंजने॥ ५३॥

सुषिरमिति॥ पंच यानि स्रोतांसीडादीनां प्रवाहास्तैःसमन्वितं सम्यगनुगतम्॥ "सप्तस्रोतः समन्वितम्" इति क्वचित्पाठः। ज्ञानजनकमलौकिकबोधितात्मसाक्षात्कारजनकं यत्सुषिरं विवरं तस्मिन्सुषिरेऽजनमविद्या तत्कार्यं शोकमोहादि च निर्गतं यस्मात्तन्निरंजनं तस्मिन्निरंजने शून्ये सुषिरावकाशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरीभवति। 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इत्यात्मनेपदम्॥ ५३॥

भावार्थ-इडा आदि नाडियोंके जो पांच स्रोत (प्रवाह) हैं उनसे युक्त जो सुषिर (छिद्र) है वह ज्ञानका उत्पादक है अर्थात् आत्माके प्रत्यक्षका जनक है-शोक मोह आदिसे रहित रूप निरंजन और शून्यरूप जो है उसके विषे खेचरीमुद्रा स्थिर होती है अर्थात् खेचरीमुद्राकी महिमासे उस छिद्रमें मनके प्रवेशसे आत्मज्ञान होताहै ॥ ५३ ॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ॥

एको देवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी ॥५४॥

एकमिति ॥ सृष्टिमयं सृष्टिरूपं प्रणवाख्यं बीजमेकं मुख्यम् । तदुक्तं मांडूक्योपनिषदि 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्' इति । खेचरी मुद्रा एका मुख्या । निरालंब आलंबनशून्य एको मुख्यो देवः । आलंबनपरित्यागेनात्मनः स्वरूपावस्थानात् । उन्मन्यवस्थैका मुख्या । 'एकेमुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः । बीजादिषु प्रणवादिवन्मुद्रासु खेचरी मुख्येत्यर्थः ॥५४॥

भावार्थ-सृष्टिरूप जो प्रणव (ॐ) नामका बीज है वह मुख्य है सोई मांडूक्य उपनिषद्में कहा है कि, यह सम्पूर्ण जगत् ॐ इस अक्षररूप है-और खेचरीमुद्राभी एक (मुख्य) है और निरालंब अर्थात् आलंबनशून्य देव परमात्मा भी एकही है-और मनोन्मनी अवस्था भी एकही है । यहां एक शब्द इस अमरके अनुसार मुख्यका बोधक है अर्थात् बीज आदिमें जैसे प्रणव मुख्य है ऐसेही मुद्राओंमें खेचरीभी मुख्य है ॥ ५४ ॥

अथोड्डीयानबन्धः ।

बद्धो येन सुषम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः

तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥ ५५ ॥

उड्डीयानबंधं विवक्षुस्तावदुड्डीयानशब्दार्थमाह-बद्ध इति ॥ यतो यस्माद्धेतोर्येन बंधेन बद्धो निरुद्धः प्राणःसुषुम्नायां मध्यनाड्यामुड्डीयते सुषुम्नां विहायसा गच्छति तस्मात्कारणादयं बंधो योगिभिर्मत्स्येंद्रादिभिरुड्डीयनमाख्याभिधा यस्य स उड्डीयनाख्यः समुदाहृतः सम्यग्व्युत्पत्त्योदाहृतः कथितः । सुषुम्नायामुड्डीयतेऽनेन बद्धः प्राण इत्युड्डीयनम् । उत्पूर्वात् 'डीङ्-विहायसा गतौ' इत्यस्मात्करणे ल्युट् ॥ ५५ ॥

भावार्थ--अब उड्डीयानबंधको कहनेके अभिलाषी आचार्य प्रथम उड्डीयान शब्दके अर्थको कहते हैं कि, जिस बंधसे बँधाहुआ प्राण मध्य नाडीरूप सुषुम्नाके विषे उडजाय अर्थात् आकाशमेंसे सुषुम्नामें प्रविष्ट हो जाय तिसकारणसे यह बंध मत्स्येंद्र आदि योगियोंने उड्डीयान नामका कहा है अर्थात् सुषुम्नामें जिससे प्राण उडै इस व्युत्पत्तिसे इसका उड्डीयान नाम रक्खा है ॥ ५५ ॥

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगाः ॥
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बंधोऽभिधीयते ॥ ५६ ॥

उड्डीनमिति॥ महांश्चासौ खगश्च महाखगः प्राणः। सर्वदा देहावकाशे गतिमत्त्वात्। यस्माद्बंधादविश्रांतं यथा स्यात्तथोड्डीनं विहंगमगतिं कुरुते। सुषुम्नायामित्यध्याहार्यम्। तदेव बंधविशेषमुड्डीयानमुड्डीयाननाम कं स्यात्। तत्र तस्मिन्विषये बंधोऽभिधीयते बंधस्वरूपं कथ्यते मयेति शेषः ५६

भाषार्थ-सदैव देहके अवकाशमें गति है जिसकी ऐसा महाखगरूप प्राण जिस बंधसे निरंतर उड्डीन (पक्षीके समान गति) को सुषुम्नामें करता है वही बंध उड्डीयान नामका होता है उसमें मैं बंधके स्वरूपको कहता हूँ ॥ ५६ ॥

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ॥
उड्डीयानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी ॥ ५७ ॥

उड्डीयानबंधमाह-उदर इति॥ उदरे तुंदे नाभेरूर्ध्वं चकारादधःउपरिभागेऽधोभागे च पश्चिमं तानं पश्चिममाकर्षणं नाभेरूर्ध्वाधोभागौ यथा पृष्ठसँलग्नौ स्यातां तथा तानं ताननं नामाकर्षणं कारयेत्कुर्यात्। णिजर्थोऽविवक्षितः। असौ नाभेरूर्ध्वाधोभागयोस्तानरूप उड्डीयान उड्डीयानाख्यो बंधः। कीदृशः मृत्युरेव मातंगो गजस्तस्य केसरी सिंहः सिंह इव निवर्तकः॥ ५७ ॥

भाषार्थ-उदर (पेटके तुंद) में नाभिके ऊपर नीचे पश्चिम तान करै अर्थात् नाभिके ऊपरके और निचले भागको इस प्रकार तान (आकर्षण) करै जैसे वे दोनों भाग पृष्ठमें लगजांय यह नाभिके ऊर्ध्व अधोभागका तान उड्डीयान नामका बन्ध होता है और यह बंध मृत्युरूपी हस्तीको केसरी है अर्थात् नाशक है ॥ ५७ ॥

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ॥
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ ५८ ॥

उड्डीयानं त्विति॥ गुरुर्हितोपदेष्टा तेन गुरुणा उड्डीयानं तु सदा सर्वदा सहजं स्वाभाविकं कथितं प्राणस्य बहिर्गमनम्। सर्वदा सर्वस्यैव जायमानत्वात्। यस्तु यः पुरुषस्तु सततं निरंतरमभ्यसेत्। उड्डीयानमित्यत्रापि संबध्यते। स तु वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि तरुणायते तरुण इवाचरति तरुणायते ५८

भाषार्थ-हितके उपदेष्टा गुरुने उड्डीयान सदैव स्वाभाविक कहा है अर्थात् प्राणका बहिर्गमन स्वभावसे सबको होता है परन्तु जो पुरुष इसका निरंतर अभ्यास करता है वृद्धभी तरुण (युवा) के समान आचरण करता है ॥ ५८ ॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ५९ ॥

नाभेरिति॥नाभेरूर्ध्वमुपरिभागेऽधश्चाप्यधोभागेऽपि प्रयत्नतः प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तस्मात्प्रयत्नतः। यत्नविशेषात्तानं पश्चिमतानं कुर्यात् । पूर्वार्धेनोड्डीयानस्वरूपमुक्तम्। अथ तत्प्रशंसा। षण्मासं षण्मासपर्यंतम् उड्डीयानमित्यध्याहारः। अभ्यसेत्पुनःपुनरनुतिष्ठेत्स मृत्युं जयत्येव संशयो न। अत्र संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ५९)

भाषार्थ-नाभिके ऊपर और नीचे भलीप्रकार यत्नसे तान करै अर्थात् यत्न विशेषसे पश्चिमतान करै और षण्मास (छःमास) पर्यंत इस उड्डीयानबंधका वारंवार अभ्यास करै तो मृत्युको जीतता है इसमें संशय नहीं है ॥ ५९ ॥

सर्वेषामेव बंधानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ॥
उड्डियाने दृढे बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ६० ॥

सर्वेषामिति ॥ सर्वेषां बंधानां मध्ये उड्डीयानकः उड्डीयानबंध एव। स्वार्थे कप्रत्ययः। उत्तमः उत्कृष्टः हि यस्मादुड्डीयाने बंधे दृढे सति स्वाभाविकी भावसिद्धैव मुक्तिर्भवेत्।उड्डीयानबंधे कृते विहंगमगत्या सुषुम्नायां प्राणस्य मूर्ध्नि गमनात्। 'समाधौ मोक्षमाप्नोति'इति वाक्यात्सहजैव मुक्तिः स्यादिति भावः ॥ ६० ॥

भाषार्थ-संपूर्ण बंधोंके मध्यमें उड्डीयान बंध उत्तम है, क्योंकि उड्डीयान बंधके दृढ होनेपर स्वाभाविकी मुक्ति होती है अर्थात् उड्डीयान बंधके करानेसे पक्षीके समान गतिसे सुषुम्नाविषे प्राण मस्तकमें चलाजाता है उस समाधिमें इस वाक्यके अनुसार अनायाससे मुक्ति होजाती है ॥ ६० ॥

अथ मूलबंधः।

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम् ॥
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥

मूलबंधमाह-पार्ष्णिभागेनेति ॥ पार्ष्णेर्भागो गुल्फयोरधः प्रदेशस्तेन योनिं योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा गुदं पायुमाकुंचयेत्संकोचयेत् । अपानमधोगतिं वायुमूर्ध्वमुपर्याकृष्याकृष्टं कृत्वा मूलबंधोऽभिधीयते कथ्यते। पार्ष्णिभागेन योनिस्थानसंपीडनपूर्वकं गुदस्याकुंचनं मूलबंध इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

भाषार्थ-अब मूलबंधमुद्राका वर्णन करते हैं कि, पार्ष्णिके भाग (गुल्फोंका अधःप्रदेश) से योनिस्थानको अर्थात् गुदा और लिंगके मध्यभागको भलीप्रकार पीडित (दवा) करके गुदाका संकोच करे और अपान वायुका ऊपरको आकर्षण करै यह मूलबंध होताहै ऐसा योगशास्त्रको जाननेवाले आचार्य कहतेहैं ॥ ६१ ॥

अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ॥
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबंधं हि योगिनः ॥६२॥

अधोगतिमिति ॥ यः अधोगतिम् अधोऽर्वाग्गतिर्यस्य स तथा तमपानमपानवायुमाकुंचनेन मूलाधारस्य संकोचनेन बलाद्धठादूर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तमूर्ध्वगं सुषुम्नायामूर्ध्वगमनशीलं कुरुते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । योगिनो योगाभ्यासिनस्तं मूलबंधं मूलस्य मूलस्थानस्य बंधनं मूलबन्धस्तं मूलबंधमित्यन्वर्थं प्राहुः । अनेन मूलबंधशब्दार्थ उक्तः । पूर्वश्लोकेन तु तस्य बंधनप्रकार उक्त इत्यपौनरुक्त्यम् ॥६२॥

भाषार्थ-जो बन्ध अधः (नीचेको) गति है जिसकी ऐसे अपान वायुको बलसे ऊर्ध्वगामी करता है अर्थात् जिसके करनेसे अपान सुषुम्नामें पहुँच जाता है योगके अभ्यासी उस बन्धको मूलबन्ध कहते हैं अर्थात् मूलस्थानका जिससे बन्धन हो वह मूलबन्ध अन्वर्थनामसे कहाताहै इस श्लोकसे मूलबन्ध शब्दका अर्थ कहा और पिछले श्लोकसे बन्धनक प्रकार कहाहै इससे पुनरुक्तिदोष नहीं है ॥ ६२ ॥

गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात् ॥
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥६३॥

अथ योगबीजोक्तरीत्या मूलबंधमाह-गुदमिति ॥ पार्ष्ण्या गुल्फयोरधोभागेन गुदं वायुं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा संयोज्येत्यर्थः । तुशब्दः पूर्वस्मादस्य विशेषत्वद्योतकः । यथा येन प्रकारेण समीरणो वायुरूर्ध्वं सुषुम्नाया उपरिभागे याति गच्छति तथा तेन प्रकारेण बलाद्धठाद्वारं वारं पुनःपुनर्वायुमपानमाकुंचयेद्गुदस्याकुंचनेनाकर्षयेत् । अयं मूलबंध इति वाक्याध्याहारः ॥ ६३ ॥

भाषार्थ-अब योगबीजमें कही हुई रीतिसे मूलबन्धको कहते हैं कि, पार्ष्णिसे गुदाको भलीप्रकार पीडित करके वायुको बलसे इसप्रकार वारंवार आकर्षण करै जैसे जो सुषुम्नाके ऊपरले भागमें पहुंचजाय यह मूलबन्ध कहाताहै इस श्लोकमें तु यह शब्द पिछले मूलबंधसे विशेष जतानेके लिये है ॥ ६३ ॥

प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकताम् ॥
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥६४॥

अथ मूलबंधगुणानाह—प्राणापानाविति ॥ प्राणश्चापानश्च प्राणापानावूर्ध्वाधोगती वायू । नादोऽनाहतध्वनिः बिंदुरनुस्वारस्तौ मूलबंधेनैकतां गत्वैकीभूय योगस्य संसिद्धिः सम्यक् सिद्धिस्तां योगसंसिद्धिं यच्छतो दद्तः। अभ्यासिन इति शेषः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न । संदेहो नास्तीत्यर्थः । अयं भावः । मूलबंधे कृतेऽपानः प्राणेन सहैकीभूय सुषुम्नायां प्रविशति । ततो नादाभिव्यक्तिर्भवति ततो नादेन सह प्राणापानौ हृदयोपरि गत्वा नादस्य बिंदुना सहैक्यं बिंदुनाधाय मूर्ध्नि गच्छतः, ततो योगसिद्धिः ॥ ६४ ॥

भाषार्थ—अब मूलबंधके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, नीचेको है गति जिनकी ऐसे प्राण और अपान दोनों वायु और अनाहत (स्वाभाविक) ध्वनि और बिंदु (अनुस्वार) ये दोनों मूलबन्धसे एकताको प्राप्त होकर योगाभ्यासीको योगकी सिद्धिको भलीप्रकार देते हैं इसमें संशय नहीं है, तात्पर्य यह है कि, मूलबन्धके करनेसे अपान प्राणके संग एकताको प्राप्त होकर सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाताहै फिर नादकी प्रकटता होती है फिर नादके संग प्राण अपान हृदयके ऊपर जाकर और नादके संग बिंदुकी एकताको करके मस्तकमें चले जाते हैं फिर योगसिद्धि होजाती है ॥ ६४ ॥

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ॥
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबंधनात् ॥६५॥

अपानप्राणयोरिति ॥ सततं मूलबंधनान्मूलबंधमुद्राकरणादपानप्राणयोरैक्यं भवति । मूत्रपुरीषयोः संचितयोः क्षयः पतनं भवति । वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि युवा तरुणो भवति ॥ ६५ ॥

भाषार्थ--निरंतर मूलबन्धमुद्राके करनेसे अपान और प्राणकी एकता और देहमें संचित हुये मूत्र और मलका क्षय होताहै तिससे वृद्धभी मनुष्य युवा होजाताहै ॥ ६५ ॥

अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमंडलम् ॥
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥६६॥

अपान इति । मूलबंधनादपाने अधोगमनशीले वायौ ऊर्ध्वगे ऊर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तस्मिन्तादृशे सति वह्निमंडलं वह्नेर्मण्डलं त्रिकोणं नाभे-

धोभागेऽस्ति। तदुक्तं याज्ञवल्क्येन-'देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजांबूनदप्रभम्। त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदाम् ॥ मंडलं तु पतंगानां सत्यमेतद्ब्रवीमि ते। तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावके॥' इति। तदा तस्मिन्काले वायुना अपानेनाहता संगता सत्यनलशिखा जठराग्निशिखा दीर्घा आयता जायते। 'वर्धते' इति क्वचित्पाठः॥ ६६॥

भाषार्थ-मूलबन्ध करनेसे अधोगामी अपान जब ऊर्ध्वगामी होकर अग्निमंडलमें पहुँच जाता है अर्थात् नाभिके अधोभागमें वर्तमान त्रिकोण जठराग्निके मंडलमें प्रविष्ट होजाता है उस समय अपानवायुसे ताडित की हुई जो जठराग्निकी शिखा है वह दीर्घ होजाती है अर्थात् बढ जाती है सो याज्ञवल्क्यने कहा है कि, तपाये हुये सुवर्णके समान अग्निका स्थान मनुष्योंके देहके मध्यमें त्रिकोण और पशुओंके देहमें चतुष्कोण है और पक्षियोंके देहमें गोल है यह आपके प्रति मैं सत्य कहता हूँ और अग्निके मध्यमें सदैव सूक्ष्म शिखा टिकती है॥ ६६॥

ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्॥
तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा॥ ६७॥

तत इति॥ ततस्तदनंतरं वह्निश्चापानश्च वह्न्यपानौ। उष्णं स्वरूपं यस्य स तथा तमनलं शिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपं प्राणमूर्ध्वगतिमनिलं यातो गच्छतः। ततोऽनलशिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपकादिति वा योजना। तेन प्राणसंगमनेन देहे जातो देहजो ज्वलनोऽग्निरत्यंतमधिकं दीप्तो भवति। तथेति पादपूरणे। अपानस्योर्ध्वगमने दीप्त एव ज्वलनः प्राणसंगत्याऽत्यंतं प्रदीप्तो भवतीत्यर्थः॥ ६७॥

भाषार्थ-फिर अग्नि और अपान ये दोनों अग्निकी दीर्घ शिखासे उष्णरूप हुये उर्ध्वगति प्राणमें पहुंच जातेहैं तिस प्राणवायुके समागमसे देहमें उत्पन्नहुई जठराग्नि अत्यंत प्रज्वलित होजाती है अर्थात् अपानकी ऊर्ध्वगतिसे दीहुई अग्नि अत्यंत प्रदीप्त होजाती है॥ ६७॥

तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते॥
दंडाहता भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्॥ ६८॥

तेनेति॥ तेन ज्वलनस्यात्यंतं प्रदीपनेन संतप्ता सम्यक् तप्ता सती सुप्ता निद्रिता कुंडलिनी शक्तिः संप्रबुध्यते सम्यक् प्रबुद्धा भवति।

दंडेनाहता दंडाहता चासौ भुजंगीव सर्पिणीव निश्वस्य निश्वासं कृत्वा ऋजुतां सरलतां व्रजेद्गच्छेत् ॥ ६८ ॥

भाषार्थ–तिस अग्निके अत्यंत दीपनसे भलीप्रकार तपायमान हुई कुण्डलिनी शक्ति इसप्रकार भलीप्रकारसे प्रबुद्ध होजाती है और कोमल होजाती है जैसे दंडसे हतीहुई सार्पिणी कोमल होजाती है ॥ ६८ ॥

बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यंतरं व्रजेत् ॥
तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥६९॥

बिलं प्रविष्टेति ॥ ततो ऋजुताप्राप्त्यनंतरं बिलं विवरं प्रविष्टा भुजंगीव ब्रह्मनाडी सुषुम्ना तस्या अंतरं मध्यं गच्छेत्तस्माद्धेतोर्योगिभिर्योगाभ्यासिभिर्मूलबंधो नित्यं प्रतिदिनं सदा सर्वस्मिन्काले कर्तव्यः कर्तुं योग्यः ॥ ६९ ॥

भाषार्थ–उसके अनंतर बिलमें प्रविष्ट सर्पिणीके समान ब्रह्मनाडी (सुषुम्ना) के मध्यमें कुण्डलिनी प्रविष्ट होजाती है तिससे योगाभ्यासियोंको मूलबंध प्रतिदिन करने योग्य है ॥ ६९ ॥

कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ॥
बंधो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ ७० ॥

जालंधरबंधमाह–कंठमिति ॥ कंठे गले बिलमाकुंच्य हृदये वक्षःसमीपे चतुरंगुलांतरितप्रदेशे चिबुकं हनुं दृढं स्थिरं स्थापयेत् स्थितं कुर्यात् । अयं कंठाकुंचनपूर्वकं चतुरंगुलांतरितहृदयसमीपेऽधोनमनयत्नपूर्वकं चिबुकस्थापनरूपो जालंधर इत्याख्यायत इति जालंधराख्यो जालंधरनामा बंधः । कीदृशः ? जरा वृद्धावस्था मृत्युर्मरणं तयोर्विनाशको विशेषेण नाशयतीति विनाशको विनाशकर्ता ॥ ७० ॥

भाषार्थ–अब जालंधरबंधको कहते हैं कि, कंठके बिलका संकोच करके वक्षःस्थलके समीपरूप हृदयमें चार अंगुलके अंतरपर चिबुक (ठोडी) को दृढरीतिसे स्थापन करे, कंठके आकुंचनपूर्वक चार अंगुलके अन्तरपर हृदयके समीपमें नीचेको नमनपूर्वक चिबुकका स्थापनरूप यह जालंधर नामका बन्ध कहा है और यह बन्ध जरा और मृत्युका विनाशक है ॥ ७० ॥

बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभो जलम् ॥
ततो जालंधरो बंधः कंठदुःखौघनाशनः ॥ ७१ ॥

जालंधरपदस्यार्थमाह-बध्नातीति ॥ हि यस्माच्छिराणां नाडीनां जालं समुदायं बध्नाति । अधो गंतुं शीलमस्येत्यधोगामी नभसः कपालकुहरस्य जलममृतं च बध्नाति प्रतिबध्नाति । ततस्तस्माज्जालंधरो जालंधरनामकोऽन्वर्थो बंधः जालं दशाजालं जलानां समूहो जालं धरतीति जालंधरः । कीदृशः कंठे गलप्रदेशे यो दुःखौघो विकारजातो दुःखसमूहस्तस्य नाशनो नाशकर्ता ॥ ७१ ॥

भाषार्थ-अब जालंधरपदके अर्थको कहते हैं कि, जिससे यह बन्ध शिरा. (नाडी) ओंके समूहरूप जालको बांधता है और कपालके छिद्ररूप नभका जो जल है उसका प्रतिबन्ध करता है तिससे यह जालंधर नामका अन्वर्थ बंध जालंधरबंध कहाता है क्योंकि जाल नाम समुदाय और जलोंके समूहको कहते हैं और यह जालंधरबंध कंठमें जो दुःखोंका समूह है उसका नाशक है ॥ ७१ ॥

जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे ॥
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ७२ ॥

जालंधरगुणानाह-जालंधर इति ॥ कंठस्य गलबिलस्य संकोचनं संकोचं आकुंचनं तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्य स कंठसंकोचलक्षणः तस्मिन् तादृशे जालंधरे जालंधरसंज्ञके बंधे कृते सति पीयूषममृतमग्नौ जाठरेऽनले न पतति न सरति ॥ वायुश्च प्राणश्च न कुप्यति नाड्यंतरे वायोर्गमनं प्रकोपस्तं न करोतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

भाषार्थ-अब जालंधरबंधके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, कंठका संकोच है स्वरूप जिसका ऐसे जालंधरबंधके करनेपर पूर्वोक्त अमृत जठराग्निमें नहीं पडता है और वायुका भी कोप नहीं होता अर्थात् अन्य नाडियोंमें वायुका गमन नहीं होता है ॥ ७२ ॥

कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेद्दृढम् ॥
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनम् ॥ ७३ ॥

कंठसंकोचनेनेति । दृढं गाढं कंठसंकोचनेनैव कंठसंकोचनमात्रेण द्वे नाड्यौ इडापिंगले स्तंभयेदयं जालंधर इति कर्तृपदाध्याहारः । इदं कंठस्थाने स्थितं विशुद्धाख्यं चक्रं मध्यचक्रं मध्यमं चक्रं ज्ञेयम् । कीदृशं षोडशाधारबंधनं षोडशसंख्याका ये आधारा अंगुष्ठाधाराद्ब्रह्मरंध्रांतास्तेषां बंधनं बंधनकारकम् । 'अंगुष्ठगुल्फजानूरुसीवनीलिंगनाभयः ।

हृद्ग्रीवा । कंठदेशश्च लंबिका नासिका तथा ॥ भ्रूमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरंध्रकम् । एते हि षोडशाधाराः कथिता योगिपुंगवैः ॥' तेष्वाधारेषु धारणायाः फलविशेषस्तु गोरक्षसिद्धांतादवगंतव्यः ॥ ७३ ॥

भाषार्थ-यह जालंधरबंध दृढतासे कंठके संकोच करनेसेही इडा पिंगलारूप दोनों नाडियोंका स्तंभन करता है और कंठस्थानमें स्थित इन सोलह आधारोंका बंधन करनेवाला मध्य चक्र (विशुद्धनाम) जानना । अंगुष्ठ, गुल्फ, जानु, ऊरु, सीविनी, लिंग, नाभि, हृदय, ग्रीवा, कंठदेश, लंबिका, नासिका, भ्रुकुटियोंका मध्य, मस्तक, मूर्द्धा, ब्रह्मरंध्र योगियोंमें श्रेष्ठोंने ये सोलह आधार कहे हैं इन आधारोंमें धारणाका फल विशेष तो गोरक्षसिद्धांत ग्रंथसे जानना ।। ७३ ।।

मूलस्थानं समाकुंच्य उड्डियानं तु कारयेत् ॥
इडां च पिंगलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥७४॥

उक्तस्य बंधत्रयस्योपयोगमाह—मूलस्थानमिति । मूलस्थानमाधारभूतमाधारस्थानं समाकुंच्य सम्यगाकुंच्य उड्डियानं नाभेः पश्चिमतानरूपं बंधं कारयेत्कुर्यात । णिजर्थोऽविवक्षितः । इडां पिंगलां गंगां यमुनां च बद्ध्वा । जालंधरबंधेनेत्यर्थः । 'कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेत्' इत्युक्तेः । पश्चिमे पथि सुषुम्नामार्गे वाहयेद्गमयेत्प्राणमिति शेषः ॥ ७४ ॥

भाषार्थ-अब पूर्वोक्त तीनों बन्धोंके उपयोगका वर्णन करते हैं कि मूलस्थानको अर्थात् आधारभूत आधारस्थानका भलीप्रकार संकोच करके नाभिके पश्चिमतानरूप उड्डीयानबंधको करै और जालंधरबंधसे अर्थात् कंठके संकोचसेही इडा और पिंगलारूप दोनों नाडियोंको स्तंभन करै फिर प्राणको पश्चिममार्गमें (सुषुम्नामें) प्राप्त करै ॥ ७४ ॥

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनालयम् ॥
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ७५ ॥

अनेनेति ॥ अनेनैवोक्तेनैव विधानेन पवनः प्राणो लयं स्थैर्यं प्रयाति । गत्यभावपूर्वकं रंध्रे स्थितिः प्राणस्य लयः । ततः प्राणस्य लयान्मृत्युजरारोगादिकम् । तथा चार्थे । न जायते नोद्भवति । आदिपदेन वलीपलिततंद्रालस्यादि ग्राह्यम् ॥ ७५ ॥

भाषार्थ-इस पूर्वोक्त विधानसेही प्राण लय (स्थिरता) को प्राप्त हो जाता है, गमनकी निवृत्ति होनेपर ब्रह्मरंध्रमें स्थितिही प्राणका लय होता है उस प्राणके लयसे मृत्यु, जरा, रोग और आदिपदसे वलीपलित, तंद्रा, आलस्य आदि नहीं होते हैं ।। ७५ ।।

बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ॥
सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥७६॥

बंधत्रयमिति ॥ इदं पूर्वोक्तं बंधत्रयं श्रेष्ठं षोडशाधारबंधेऽतिप्रशस्तं महासिद्धैर्मत्स्येंद्रादिभिश्चकाराद्वसिष्ठादिमुनिभिःसेवितं सर्वेषां हठतंत्राणां हठोपायानां साधनं सिद्धिजनकं योगिनो गोरक्षाद्या विदुर्जानंति ॥७६॥

भाषार्थ-ये पूर्वोक्त तीनों बन्ध श्रेष्ठ हैं अर्थात् षोडशाधार बन्धमें अत्यंत उत्तम हैं और मत्स्येंद्र आदि योगिजन और वसिष्ठ आदि मुनियोंके सेवित हैं और सम्पूर्ण जो हठयोगके उपाय है उनका साधन है यह बात गोरक्ष आदि योगीजन जानतेहैं ॥ ७६ ॥

यत्किंचित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिणः ॥
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडो जरायुतः ॥ ७७ ॥

विपरीतकरणीं विवक्षुस्तदुपोद्घातत्वेन पिंडस्य जराकरणं तावदाह-यत्किंचिदिति॥ दिव्यमुत्कृष्टं सुधामयं रूपं यस्य स तथा तस्माद्दिव्यरूपिणश्चंद्रात्सोमात्ताल्लुमूलस्थाद्यात्किंचिद्यात्किमप्यमृतं पीयूषं स्रवते पतति तत्सर्वं सर्वं तत्पीयूषं सूर्यो नाभिस्थोऽनलात्मकः ग्रसते ग्रासीकरोति । तदुक्तं गोरक्षनाथेन-'नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मकः । अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चंद्रमाः॥वर्षत्यधोमुखश्चंद्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः। करणं तच्च कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यते॥' इति । तेन सूर्यकर्तृकामृतग्रसनेन पिंडो देहो जरायुतः जरसा युक्तो भवति ॥ ७७ ॥

भाषार्थ-अब विपरीत करणीके कथनका अभिलाषी आचार्य प्रथम उसके उपोद्घातरूप होनेसे पिंडके जराकरणका वर्णन करतेहैं कि, दिव्य (सर्वोत्तम) सुधामय है रूप जिसमें ऐसे तालुके मूलमें स्थित चंद्रमासे जो कुछ अमृत झरताहै उस सम्पूर्ण अमृतको नाभिमें स्थित अग्निरूप सूर्य ग्रस लेताहै सोई गोरक्षनाथने कहाहै कि, नाभिके देशमें अग्निरूप सूर्य स्थित है और तालुके मूलमें अमृतरूप चंद्रमा स्थित है अधोमुख होकर चन्द्रमा जिस अमृतको वर्षताहै और ऊर्ध्वमुख होकर सूर्य उस अमृतको ग्रस लेताहै उसमें वह करण (मुद्रा) करना चाहिये जिससे अमृतकी नष्टता न हो अर्थात् पुष्टि रहै फिर सूर्यके किये उस अमृतके ग्रसनेसे बिंदु (देह) वृद्ध अवस्थासे युक्त होजाता है ॥ ७७ ॥

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनम् ॥
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७८ ॥

तत्रेति ॥ तत्र तद्विषये सूर्यस्य नाभिस्थानलस्य मुखं वंच्यतेऽनेनेति तादृशं दिव्यमुत्तमं करणं वक्ष्यमाणमुद्राख्यमस्ति तद्गुरूपदेशतःगुरूपदेशाज्ज्ञेयं ज्ञातुं शक्यम् । शास्त्रार्थानां कोटिभिः न तु नैव ज्ञातुं शक्यम् ॥ ७८ ॥

भाषार्थ-उस अमृतकी रक्षा करनेमें जिसे सूर्यके मुखकी वंचना होय ऐसा आगे कह-नेयोग्य मुद्रारूप करण है और वह करण गुरुके उपदेशसे जानने योग्य है और कोटियों शास्त्रोंके अर्थसे जाननेको शक्य नहीं है ॥ ७८ ॥

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ॥
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ७९ ॥

विपरीतकरणीमाह-ऊर्ध्वं नाभेरिति ॥ ऊर्ध्वमुपरिभागे नाभिर्यस्य स ऊर्ध्वनाभिस्तस्योर्ध्वनाभेरधःअधोभागे तालु तालुस्थानं यस्य सोऽधस्तालुस्तस्याधस्तालोर्योगिन ऊर्ध्वमुपरिभागे भानुर्दहनात्मकः सूर्यो भवति । अधः अधोभागे शश्यमृतात्मा चंद्रो भवति । प्रथमांतपाठे तु यदा ऊर्ध्व-नाभिरधस्तालुर्योगी भवति तदोर्ध्वं भानुरधःशशी भवति । यदातदापद-योरध्याहारेणान्वयः।इयं विपरीताख्या विपरीतनामिका करणी। ऊर्ध्वाधः स्थितयोश्चंद्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणेनान्वर्था।गुरुवाक्येन गुरोर्वाक्येनैवलभ्यते प्राप्यते नान्यथा ॥ ७९ ॥

भाषार्थ-अब विपरीतकरणीमुद्राके स्वरूपका वर्णन करतेहैं कि ऊपरके भागमें है नाभि जिसके और अधोभागमें है तालु जिसके ऐसा जो योगी उसके ऊपरके भागमें तो अग्निरूप सूर्य होजाय और अधोभागमें अमृतरूप चंद्रमा हो जाय और जब 'ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुः' यह प्रथमांत पाठ है तब यदा तदा पदोंके अध्याहारसे इसप्रकार अन्वय करना कि, जब ऊप-रके भागमें नाभि और नीचेके भागमें तालु जिसके ऐसा योगी होजाय तब ऊपर सूर्य और नीचे चंद्रमा होजाते हैं यह विपरीत (उलटी) नामकी करणी ऊपर और नीचे स्थित जो चंद्रमा सूर्य हैं उनके नीचे ऊपर क्रमसे करनेसे अन्वर्थ है अर्थात् विपरीतकरणीका अर्थ तभी घटसकताहै जब पूर्वोक्त मुद्रा कीजाय और यह विपरीतकरणी गुरुके वाक्यसे मिल सक्तीहै अन्यथा नहीं ॥ ७९ ॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ॥
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥८०॥

नित्यमिति ॥ नित्यं प्रतिदिनमभ्यासोऽभ्यसनं तस्मिन् युक्तस्याबहितस्य जठराग्निरुदराग्निस्तस्य विवर्धिनी विशेषेण वर्धिनीति विपरीतकरणीविशेषणम् ॥ तस्य साधकस्य विपरीतकरण्यभ्यासिन आहारो भोजनंबहुलो यथेच्छः संपाद्यः संपादनीयः। च पादपूरणे ॥ ८० ॥

भाषार्थ-प्रतिदिनके अभ्यासमें युक्त जो योगी है उसकी जठराग्निको यह विपरीतकरणी बढाती है और इसीसे उस विपरीतकरणीके अभ्यासी योगीको यथेच्छ अधिक भोजन संपादन करनेयोग्य है अर्थात् अल्पभोजन न करे ॥ ८० ॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ॥
अधः शिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥८१॥

अल्पाहार इति ॥ यद्यल्पाहारः अल्पो भोक्तुमिष्टान्नस्याहारो भोजनं यस्य तादृशो भवेत्स्यात्तदाऽग्निर्जठरानलो देहं क्षणमात्राद्दहेत्। शीघ्रं दहेदित्यर्थः । ऊर्ध्वाधःस्थितयोश्चंद्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणक्रियामाह-अधःशिरा इति। अधः अधोभागे भूमौ शिरो यस्य सोऽधःशिरा कराभ्यां कटिप्रदेशमवलंब्य बाहुमूलादारभ्य कूर्परपर्यंताभ्यां बाहुभ्यां स्कंधाभ्यां गलपृष्ठभागशिरःपृष्ठभागाभ्यां च भूमिमवष्टभ्याधः शिरा भवेत्। ऊर्ध्वमुपर्यंतरिक्षे पादौ यस्य स ऊर्ध्वपादः प्रथमदिने आरंभदिने क्षणं क्षणमात्रं स्यात् ॥ ८१ ॥

भाषार्थ-क्योंकि, यदि विपरीतकरणीका अभ्यासी योगी अल्पाहारी हो अर्थात् अल्पभोजन कियाजाता है तो जठराग्नि उसी क्षणमात्रमें देहको भस्म करदेती है। अब ऊपर नीचे स्थित चन्द्रमा सूर्यके नीचे ऊपर करनेकी क्रियाको कहते हैं कि, प्रथम दिनमें क्षणभर नीचेको शिर करै अर्थात् भुजा दोनों स्कंध गल और शिर पृष्ठभाग (पीठ) से भूमिका स्पर्श करके नीचे शिर किये स्थित हो और ऊपरको पाद करै अर्थात् प्रारम्भके दिन क्षणमात्र इसप्रकार स्थित रहै ॥ ८१ ॥

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ॥
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥८२॥

क्षणादिति ॥ दिनेदिने प्रतिदिनं क्षणात्किंचिदधिकं द्विक्षणं त्रिक्षणम्

एकदिनवृद्ध्याऽभ्यसेदभ्यासं कुर्यात् ॥ विपरीतकरणीगुणानाह वलि-तमिति ॥ वलितं चर्मसंकोचः पलितं केशेषु शौक्ल्यं च, षण्णां मासानां समाहारः षण्मासं तस्मादूर्ध्वमुपरि नैव दृश्यते नैवावलोक्यते । साध-कस्य देह इति वाक्याध्याहारः । यस्तु साधको याममात्रं प्रहरमात्रं नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्कालं मृत्युं जयतीति कालजिन्मृत्युजेता भवेत् । एतेन योगस्य प्रारब्धकर्मप्रतिबंधकत्वमपि सूचितम् । तदुक्तं विष्णुधर्मे–'स्वदेहारंभकस्यापि कर्मणः संक्षयावहः । यो योगः पृथि-वीपाल शृणु तस्यापि लक्षणम्' ॥ इति । विद्यारण्यैरपि जीवन्मुक्ता-वुक्तम्–"यथा प्रारब्धकर्म तत्त्वज्ञानात्प्रबलं तथा तस्मादपि कर्मणो योगाभ्यासः प्रबलः । अत एव योगिनामुद्दालकवीतहव्यादीनां स्वेच्छया देहत्याग उपपद्यत" इति । भागवतेऽप्युक्तम्–' देहं जह्यात्समाधिना ' इति ॥ ८२ ॥

भाषार्थ–फिर प्रतिदिन क्षणसे कुछ२ अभ्यास अधिक करै अर्थात् दो क्षण, तीन क्षण, काल एक २ दिनकी वृद्धिसे अभ्यासको बढाता रहै. अब विपरीतकरणीके गुणोंको कहते हैं कि, पूर्वोक्त प्रकारके करनेसे वलीपलित छः मासके अनंतर नहीं दीखते हैं अर्थात् यौवन अ-वस्था होजाती है और जो साधक प्रतिदिन प्रहरमात्र अभ्यास करता है वह मृत्युको जीतता है. इससे यह भी सूचित किया कि, योग प्रारब्धकर्मकाभी प्रतिबन्धक है सोई विष्णुधर्ममें कहा है कि, अपने देहके आरंभककर्मकाभी नाशक जो योग है हे पृथ्वीपाल ! उस योगको तू सुन और विद्यारण्यने जीवन्मुक्तिग्रंथमें यह कहा है कि, तत्त्वज्ञानसे प्रारब्धकर्म जैसे प्रबल है ऐसेही प्रारब्धकर्मसे योगाभ्यास प्रबल हैं इसीसे उद्दालक, वीतहव्य आदि योगियोंने अपनी इच्छासे देहका त्याग किया. भागवतमेंभी लिखा है कि, समाधिसे देहको त्यागै ॥ ८२ ॥

अथ वज्रोलि ।

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ॥
वज्रोलिं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ ८३ ॥

वज्रोल्यां प्रवृत्तिं जनयितुमादौ तत्फलमाह–स्वेच्छयेति ॥ योऽभ्यासी वज्रोलीं वज्रोलीमुद्रां विजानाति विशेषेण स्वानुभवेन जानाति स योगी योगे योगशास्त्रे उक्ता योगोक्तास्तैर्योगोक्तैर्नियमैर्ब्रह्मचर्यादिभिर्विना ऋते स्वेच्छया निजेच्छया वर्तमानोऽपि व्यवहरन्नपि सिद्धिभाजनं सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति ॥ ८३ ॥

भाषार्थ-वज्रोलीमुद्राकी प्रवृत्तिको उत्पन्न करनेके लिये प्रथम वज्रोलीके फलका वर्णन करते हैं कि, जो योगाभ्यासी वज्रोलीमुद्राको अपने अनुभवसे जानता है वह योगी योगशास्त्रमें कहेहुये नियमोंके विना अपनी इच्छाके अनुसार व्यवहार करताहुआभी अणिमा आदि सिद्धियोंका भोक्ता है अर्थात् ब्रह्मचर्य आदि नियमोंके विनाभी उसको सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ८३ ॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ॥
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ ८४ ॥

तत्साधनोपयोगि वस्तुद्वयमाह-तत्रेति ॥ तत्र वज्रोल्यभ्यासे वस्तुनोर्द्वयं वस्तुद्वयं वक्ष्ये कथयिष्ये। कीदृशं वस्तुद्वयं यस्यकस्यचित् यस्यकस्यापि धनहीनस्य दुर्लभं दुःखेन लब्धुं शक्यं दुःखेनापि लब्धुमशक्यमिति वा। 'दुःस्यात्कष्टनिषेधयोः' इति कोशात् ॥ किं तद्वस्तुद्वयमित्यपेक्षायामाह क्षीरमिति। एकं वस्तु क्षीरं पानार्थं मेहनानंतरमिंद्रियनैर्बल्यात्तद्बलार्थं क्षीरपानं युक्तम्। केचित्तु अभ्यासकाले आकर्षणार्थमित्याहुः। तस्यांतर्गतस्य घनीभावे निर्गमनासंभवात्तदयुक्तम्। द्वितीयं तु वस्तु वशवर्तिनी स्वाधीना नारी वनिता ॥ ८४ ॥

भाषार्थ-अब वज्रोलीमुद्राके साधक दो वस्तुओंका वर्णन करते हैं कि, उस वज्रोलीकी सिद्धिमें जिसकिसी निर्धन पुरुषको दुर्लभ जो दो वस्तु हैं उनको मैं कहता हूँ उन दोनोंमें एक दूध है और दूसरी वशवर्तिनी नारी है अर्थात् मैथुनके अनंतर निर्बल हुई इंद्रियोंकी प्रबलताके लिये दूधका पान योग्य है और कोई यह कहते हैं कि, अभ्यासकालमें आकर्षणाके लिये दूधका पान उत्तम है सो ठीक नहीं, क्योंकि अंतर्गत हुए दूधका आकर्षण नहीं हो सकता है ॥ ८४ ॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत् ॥
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥ ८५ ॥

वज्रोलीमुद्राप्रकारमाह-मेहनेनेति ॥ मेहनेन स्त्रीसंगानंतरं विंदोः क्षरणेन साधनभूतेन पुरुषः पुमानथवा नार्यपि योषिदपि शनैर्मंदं सम्यक् यत्नपूर्वकमूर्ध्वाकुंचनमूर्ध्वमुपर्याकुंचनं मेढ्राकुंचनेन विंदोरुपर्याकर्षणमभ्यसेद्वज्रोलीमुद्रासिद्धिमाप्नुयात्सिद्धिं गच्छेत् ॥ ८५ ॥

भाषार्थ-अब वज्रोलीमुद्राके प्रकारका वर्णन करते हैं कि, पुरुष अथवा स्त्री मेहन (बिंदुका झरना) से शनैः २ भलीप्रकार यत्नसे ऊपरको आकुंचन (संकोच) का अभ्यास

करे अर्थात् लिंग इंद्रियके आकुंचनसे बिंदुके ऊपर खींचनेका अभ्यास करे तो वज्रोलीमुद्रा सिद्धिको प्राप्त होती है ॥ ८५ ॥

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे ॥
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ८६ ॥

अथ वज्रोल्याः पूर्वांगप्रक्रियामाह—यत्नत इति ॥ शस्तः प्रशस्तो यो नालस्तेन शस्तनालेन सीसकादिनिर्मितेन नालेन शनैः शनैर्मंदंमंदं यथाग्नेर्धमनार्थं फूत्कारः क्रियते तादृशं फूत्कारं वज्रकंदरे मेढ्रविवरे वायोः संचारः सम्यग्वज्रकंदरे चरणं गमनं तत्कारणात्तद्धेतोः प्रकुर्वीत प्रकर्षेण पुन पुनः कुर्वीत ॥ अथ वज्रोलीसाधनप्रक्रिया । सीसकनिर्मितां स्निग्धां मेढ्रप्रवेशयोग्यां चतुर्दशांगुलमात्रां शलाकां कारयित्वा मेढ्रे प्रवेशनमभ्यसेत् । प्रथमदिने एकांगुलमात्रां शलाकां प्रवेशयेत् । द्वितीयदिने द्व्यंगुलमात्रां तृतीयदिने त्र्यंगुलमात्राम् । एवं क्रमेण वृद्धौ द्वादशांगुलमात्रप्रवेशे मेढ्रमार्गः शुद्धो भवति । पुनस्तादृशीं चतुर्दशांगुलमात्रां द्व्यंगुलमात्रवक्रामूर्ध्वमुखीं कारयित्वा तां द्वादशांगुलमात्रां प्रवेशयेत् । वक्रमूर्ध्वमुखं द्व्यंगुलमात्रं बहिःस्थापयेत् । ततः सुवर्णकारस्य अग्निधमनसाधनभूतनालसदृशं नालं गृहीत्वा तदग्रं मेढ्रप्रवेशितद्वादशांगुलस्य नालस्य वक्रोर्ध्वमुखद्व्यंगुलमध्ये प्रवेश्य फूत्कारं कुर्यात् । तेन सम्यक् मार्गशुद्धिर्भवति । ततो जलस्य मेढ्रेणाकर्षणमभ्यसेत् जलाकर्षणे सिद्धे पूर्वोक्तश्लोकरीत्या बिंदोरूर्ध्वाकर्षणमभ्यसेत् । बिंद्वाकर्षणे सिद्धे वज्रोलीमुद्रासिद्धिः इयं जितप्राणस्यैव सिध्यति नान्यस्य खेचरीमुद्राप्राणजयोभयसिद्धौ तु सम्यक् भवति ॥ ८६ ॥

भाषार्थ—अब वज्रोली मुद्राकी पूर्वाङ्ग क्रियाका वर्णन करतेहैं कि, सीसे आदिकी उत्तमनालीसे शनैः २ इसप्रकार लिंगके छिद्रमें वायुके संचार (भलीप्रकार प्रवेश) के लिये यत्नसे फूत्कारको करै. जैसे अग्निके प्रज्वलनार्थ फूत्कारको करते हैं । अब वज्रोलीकी साधनप्रक्रियाको कहते हैं कि, सीसेसे बनीहुई लिंगके प्रवेशके योग्य चौदह अंगुलकी शलाई बनवाकर उसके लिंगमें प्रवेशका अभ्यास करै । पहिले दिन एक अंगुलमात्र प्रवेश करै दूसरे दिन दो अंगुल मात्र और तीसरे दिन तीन अंगुलमात्र प्रवेश करै इसप्रकार क्रमसे वृद्धि करनेपर बारह अंगुल शलाकाके प्रवेश होनेके अनंतर लिंगका मार्ग शुद्ध होजाताहै फिर उसीप्रकारकी और चौदह अंगुलकी ऐसी शलाई बनवावे जो दो अंगुल टेढी हो और ऊर्ध्वमुखी हो उसकोभी बारह अंगुल भर लिंगके

छिद्रमें प्रवेश करे, टेढा और ऊर्ध्वमुख जो दो अंगुल मात्र है उसको बाहर रक्खे फिर सुनारके अग्निधमनेके नालकी सदृश नालको लेकर उस नालके अग्रभागको लिंगमें प्रवेश किये बारह अंगुलके नालका टेढा और ऊर्ध्वमुख दो अंगुल है उसके मध्यमें प्रवेश करके फूत्कार करै तिससे भलीप्रकार लिंगके मार्गकी शुद्धि होतीहै फिर लिंगसे जलके आकर्षणका अभ्यास करै जलके आकर्षणकी सिद्धि होनेपर पूर्वोक्तश्लोकमें कही हुई रीतिके अनुसार बिंदुके ऊपरको आकर्षणका अभ्यास करै बिंदुके ऊर्ध्व आकर्षणकी सिद्धि होनेपर वज्रोलीमुद्राकी सिद्धि होतीहै यह मुद्रा उस योगीको ही सिद्ध होतीहै जिसने प्राणवायुको जीत लियाहै अन्यको नहीं होती है और खेचरीमुद्रा और प्राणका जय होनेपर तो भली-प्रकार सिद्ध होतीहै। भावार्थ यह है कि, लिंगके छिद्रमें वायुके संचार करनेके लिये उत-मनालसे शनैः २ यत्नपूर्वक फूत्कारको करे ॥ ८६ ॥

नारीभगे पतद्बिंदुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ॥
चलितं च निजं बिंदुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८७ ॥

एवं वज्रोल्यभ्यासे सिद्धे तदुत्तरं साधनमाह—नारीभग इति॥नारीभगे स्त्रीयोनौ पततीति पतन् पतंश्चासौ बिंदुश्च पतद्बिंदुस्तं पतद्बिंदुं रतिकाले पतंतं बिंदुमभ्यासेन वज्रोलीमुद्राभ्यासेनोर्ध्वमुपर्याहरेदाकर्षयेत्। पतना-त्पूर्वमेव। यदि पतनात्पूर्वं बिंदोराकर्षणं न स्यात्तर्हि पतितमाकर्षयेदि-त्याहचलितं चेति। चलितं नारीभगे पतितं निजं स्वकीयं बिंदुं चकारात्तद्रजः ऊर्ध्वमुपर्याकृष्याहृत्य रक्षयेत् स्थापयेत् ॥ ८७ ॥

भाषार्थ—अब वज्रोलीमुद्राकी सिद्धिके अनंतरका जो साधन है उसका वर्णन करते हैं कि, नारीके भग (योनि) में पडते हुये बिंदु (वीर्य) का अभ्याससे ऊपरको आकर्षण करै अर्थात् पडनेसे पूर्वही ऊपरको खींचले यदि पतनसे पूर्व बिंदुका आकर्षण न हो सकै तो पतितहुये बिंदुका आकर्षण करै कि चलितहुआ अपना बिंदु और चकारसे स्त्रीका रज इनकी ऊपरको आकर्षण करके रक्षा करै अर्थात् मस्तकरूप जो वीर्यका स्थान है उसमें स्थापन करे ॥ ८७ ॥

एवं संरक्षयेद्बिंदुं मृत्युं जयति योगवित् ॥
मरणं बिंदुपातेन जीवनं बिंदुधारणात् ॥ ८८ ॥

वज्रोलीगुणानाह—एवमिति ॥ एवमुक्तरीत्या बिंदुं यः संरक्षयेत् सम्यक् रक्षयेत् स योगवियोगाभिज्ञो मृत्युं जयत्यभिभवति। यतो बिंदोः

शुक्रस्य पातेन पतनेन मरणं भवति। बिंदोर्धारणं बिंदुधारणं तस्मा- द्बिंदुधारणाज्जीवनं भवति। तस्माद्बिंदुं संरक्षयेदित्यर्थः ॥ ८८ ॥

भाषार्थ-अब वज्रोलीके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, इसप्रकार जो योगी बिंदुकी भली- प्रकार रक्षा करताहै योगका ज्ञाता वह योगी मृत्युको जीतताहै क्योंकि, बिंदुके पडनेसे मरण और बिंदुकी रक्षासे जीवन होताहै तिससे बिंदुकी रक्षा करै ॥ ८८ ॥

सुगंधो योगिनो देहे जायते बिंदुधारणात् ॥
यावद्बिंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥८९॥

सुगंध इति॥ योगिनो वज्रोल्यभ्यासिनो देहे बिंदोः शुक्रस्य धारणं तस्मात्सुगंधः शोभनो गंधो जायते प्रादुर्भवति। देहे यावद्बिंदुः स्थिर- स्तावत्कालभयं मृत्युभयं कुतः। न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ८९ ॥

भाषार्थ-वज्रोलीके अभ्यासकर्ता योगीके देहमें बिंदुके धारण करनेसे सुगंध होजाती है और देहमें जबतक बिंदु स्थिर है तबतक कालका भय कहां अर्थात् कालका भय नहीं रहताहै ॥ ८९ ॥

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ॥
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ९० ॥

चित्तायत्तमिति॥ हि यस्मान्नृणां शुक्रं वीर्यं चित्तायत्तं चित्ते चले चलत्वाच्चित्ते स्थिरे स्थिरत्वाच्चित्ताधीनं जीवितं जीवनं शुक्रायत्तं शुक्रे स्थिरे जीवनाच्छुक्रे नष्टे मरणं शुक्राधीनं तस्माच्छुक्रं बिंदुं मनश्च मानसं च प्रकृष्टाद्यत्नादिति प्रयत्नतः रक्षणीयमेव। अवश्यं रक्षणीय- मित्यर्थः। एवशब्दो भिन्नक्रमः ॥ ९० ॥

भाषार्थ-जिससे मनुष्योंका शुक्र (वीर्य) चित्तके आधीन है अर्थात् चित्तके चलाय- मान होनेपर चलायमान और चित्तके स्थिर होनेपर स्थिर होजाताहै इससे चित्तके वशी- भूत है और मनुष्योंका जीवन शुक्रके आधीन है अर्थात् शुक्रकी स्थिरतासे जीवन और शुक्रकी नष्टतासे मरण होताहै इससे जीवन शुक्रके आधीन है तिससे शुक्र (बिंदु) और मनकी भली प्रकार यत्नसे रक्षा करै ॥ ९० ॥

ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिंदु च रक्षयेत् ॥
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ ९१ ॥

ऋतुमत्या इति। एवं पूर्वोक्तेनाभ्यासेन ऋतुर्विद्यते यस्याः सा ऋतुमती

तस्या ऋतुमत्या ऋतुस्नातायाः स्त्रियो रेतः निजं स्वकीयं बिंदुं च रक्षयेत्। पूर्वोक्ताभ्यासं दर्शयति मेद्रेणेति। अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगो योगसाधनत्वात्तं वेत्तीत्यभ्यासयोगवित् मेद्रेण शुद्धेंद्रियेण सम्यग्यत्नपूर्वकमूर्ध्वमुपर्याकर्षयेत् रजो बिंदुं चेति कर्माध्याहारः। अयं श्लोकः क्षिप्तः॥ ९१॥

भाषार्थ-ऋतु हुआ है जिसके ऐसी स्त्रीके रज (वीर्य) की और अपने बिंदुकीभी इसी। पूर्वोक्त अभ्याससे रक्षा करे अर्थात् ऋतुस्नानके अनंतर रज और वीर्य दोनोकी रक्षा करे पूर्वोक्त अभ्यासकोही दिखाते हैं कि, वज्रोलीके अभ्यासरूप योगका ज्ञाता योगी लिंग इंद्रियसे रज और बिंदुका भलीप्रकार ऊपरको आकर्षण करे (खींचे) यह श्लोक क्षेपक है अर्थात् मूलका नहीं है॥ ९१॥

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः॥
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम्॥ ९२॥

सहजोल्यमरोल्यौ विवक्षुस्तयोर्वज्रोलीविशेषत्वमाह-सहजोलिश्चेति। वज्रोल्या भेदो विशेषः सहजोलिरमरोलिश्च। तत्र हेतुः-एकतः एकत्वादेकफलत्वादित्यर्थः। एकशब्दाद्भावप्रधानात्पंचम्यास्तसिः। सहजोलिमाह जल इति। गोः पुरीषाणि गोमयानि दग्धानि च तानि गोमयानि च दग्धगोमयानि तेषु संभव उत्पत्तिर्यस्य तद्दग्धगोमयसंभवं शोभनं भस्म विभूतिः तत् जले तोये निक्षिप्य तोयमिश्रं कृत्वेत्युत्तरश्लोकेनान्वेति॥ ९२॥

भाषार्थ-अब सहजोली और अमरोलीके मुद्राओंका वर्णन करते हैं कि, वज्रोलीमुद्राके भेदविशेषही सहजोली और अमरोली हैं, क्योंकि तीनोंका फल एक है उन दोनोंमें सहजोलीमुद्राका वर्णन करते हैं कि, दग्ध किये हुये गोमयोंका जो सुंदर भस्म है उसको जलमें डालकर अर्थात् जलमिश्रित उस भस्मको करै॥ ९२॥

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनम्॥
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात्॥ ९३॥

वज्रोलीति॥ वज्रोलीमुद्रार्थं मैथुनं तस्मादूर्ध्वमनंतरं सुखेनैवानंदेनैवासीनयोरुपविष्टयोः क्षणाद्रत्युत्सवान्मुक्तस्त्यक्तो व्यापारो रतिक्रिया याभ्यां तौ मुक्तव्यापारौ तयोर्मुक्तव्यापारयोः स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ तयोः स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनं शोभनान्यंगानि स्वांगानि मूर्धललाटनेत्रहृदयस्कंधभुजादीनि तेषु लेपनम्॥ ९३॥

भावार्थ-वज्रोलीमुद्राकी सिद्धिके लिये किये हुए मैथुनके अनंतर आनंदसे बैठेहुये और उत्साहसे त्याग दिया है रतिका व्यापार जिन्होंने ऐसे स्त्री और पुरुष दोनों पूर्वोक्त भस्मको अपने मस्तक, शिर, नेत्र, हृदय, स्कंध, भुजा आदि अंगोंपर लेपन करे ॥ ९३ ॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ॥
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥९४॥

सहजोलिरिति ॥ इयमुक्ता क्रिया सहजोलिरिति प्रोक्ता कथिता योगिभिर्मत्स्येंद्रादिभिः । कीदृशी सदा श्रद्धेया सर्वदा श्रद्धातुं योग्या । अयं सहजोल्याख्यो योग उपायः शुभकरः शुभं श्रेयः करोतीति शुभकरः । 'योग संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' इत्यभिधानात् । कीदृशो योगः भोगेन युक्तोऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ ९४ ॥

भावार्थ-यह पूर्वोक्त भस्मलेपनरूप क्रिया मत्स्येंद्र आदि योगीजनोंने सहजोलिमुद्रा कहा है और यह योगीजनोंको सदैव श्रद्धा करने योग्य है, यह सहजोलि नामका योग (उपाय) शुभकारी जानना और भोगसे युक्त भी यह योग मोक्षका दाता है ॥ ९४ ॥

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ॥
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ॥९५॥

अयं योग इति ॥ अयमुक्तो योगः पुण्यं विद्यते येषां ते पुण्यवंतः सुकृतिनस्तेषां पुण्यवतां धीराणां धैर्यवतां तत्त्वं वास्तविकं पश्यंतीति तत्त्वदर्शिनस्तेषां तत्त्वदर्शिनां मत्सरान्निष्क्रान्ता निर्मत्सरास्तेषां निर्मत्सराणामन्यशुणद्वेषरहितानाम् । 'मत्सरोन्यशुणद्वेषः' इत्यमरः । तादृशानां पुंसां सिध्येत सिद्धिं गच्छेत् । मत्सरशालिनां मत्सरवतां तु न सिध्येत् ॥ ९५ ॥

भाषार्थ-और यह सहजोलिरूप योग पुण्यवान् और धीर और तत्त्व (ब्रह्म) के जो द्रष्टा हैं और अन्यके गुणोंमें द्वेषरहित (निर्मत्सर) है ऐसे पुरुषोंकोही सिद्ध होता है और जो मत्सरी हैं अन्यके गुणोंमें द्वेष (वैर) के कर्ता हैं उनको सिद्ध नहीं होता है ॥ ९५ ॥

पित्तोल्वणत्वात्प्रथमांबुधारां विहाय निःसारतयांत्यधारा ॥ निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खंडमतेऽमरोली ॥ ९६ ॥

अथामरोली ।

अमरोलीमाह-पित्तोल्वणत्वादिति ॥ पित्तेनोल्वणात्कटा पित्तोल्वण

तस्या भावःपित्तोल्वणत्वं तस्मात्। यथा प्रथमा पूर्वा याऽम्बुनःशिवांबुनो धारा तां विहाय शिवांबुनिर्गमनसमये किंचित्पूर्वां धारां त्यक्त्वा निर्गतः सारो यस्याःसा निःसारा तस्या भावो निःसारता तया निःसारतया निःसारत्वेनांत्यधारा अन्त्या चरमा या धारा तां विहाय किंचिदंत्यां धारां त्यक्त्वा। शीतला पित्तादिदोषसारत्वरहिता या मध्यधारा मध्यमा धारा सा निषेव्यते नितरां सेव्यते। खंडो योगविशेषो मतोऽभिमतो यस्य स खंडमतस्तस्मिन् खंडमते कापालिकस्यायं कापालिकस्तस्मिन् कापालिके खण्डकापालिकसंप्रदाय इत्यर्थः। अमरोली प्रसिद्धेति शेषः ॥९६॥

भाषार्थ-अब अमरोलीमुद्राका वर्णन करते हैं कि, पित्त है उल्वण (अधिक) जिसमें ऐसी जो प्रथम शिवांबु (बिंदु) की धारा है उसको और नहीं है सार अंश जिसमें ऐसी जो अन्त्यधारा है उसको छोडकर अर्थात् पहली और पिछली धारोंको किंचित् २ त्यागकर पित्त आदि दोष और सारतासे रहित शीतल मध्य धाराका जिस रीतिसे नित्य सेवन (पान) कियाजाय वह क्रिया योगविशेष जो खंड उसके माननेवाले कापालिक मतमें अर्थात् खंडकापालिक मतमें अमरोली नामकी मुद्रा प्रसिद्ध है ॥ ९६ ॥

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिनेदिने ॥
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥ ९७ ॥

अमरीमिति॥अमरीं शिवांबु यः पुमान् नित्यं पिबेत्। नस्यं कुर्वन् श्वासेनामर्या घ्राणांतर्ग्रहणं कुर्वन् सन् दिनेदिने प्रतिदिनं वज्रोलीं'मेहनेन शनैः'इति श्लोकेनोक्तां सम्यगभ्यसेत्साऽमरोलीतिकथ्यते।कापालिकैरिति शेषः।अमरीपानामरी।नस्यपूर्विका वज्रोल्यमरोलीशब्देनोच्यत इत्यर्थः॥९७

भाषार्थ-जो पुरुष शिवांबुरुप अमरीको नासिकासे नित्य पीता है अर्थात् नासिकाके छिद्रद्वारा अमरीको अंतर्गत करता है और मैथुनसे प्रतिदिन वज्रोलीका भलीप्रकार अभ्यास करता है उस मुद्राको कापालिक अमरोली कहते हैं अर्थात् नासिकाके छिद्रसे पान की अमरी वज्रोलीके अनंतर अमरोली कहाती है ॥ ९७ ॥

अभ्यासान्निःसृतां चांद्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ॥
धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ९८ ॥

अभ्यासादिति ॥ अभ्यासादमरोल्यभ्यासान्निःसृतां निर्गतां चांद्रीं चंद्रस्येयं चांद्री तां चांद्रीं सुधां विभूत्या भस्मना सह साकं मिश्रयेत्संयोजयेत्। उत्तमांगेषु शिरःकपालनेत्रस्कंधकण्ठहृदयभुजादिषु धारयेत्।

भस्ममिश्रितां चांद्रीमिति शेषः । दिव्या अतीतानागतवर्तमानव्यवहित-विप्रकृष्टपदार्थदर्शनयोग्या दृष्टिर्यस्य स दिव्यदृष्टिर्दिव्यदृक् प्रजायते प्रकर्षेण जायते अमरीसेवनप्रकारविशेषाः शिवांबुकल्पादवगंतव्याः ॥९८॥

भाषार्थ-अमरोलीमुद्राके अभ्याससे निकसी जो चंद्रमाकी सुधा (अमृत) है उसको विभूति (भस्म) के संग मिलाकर शिर, कपाल, नेत्र, स्कंध, कंठ, हृदय, भुजा आदि उत्तम अंगोंमें धारण करै तो मनुष्य दिव्यदृष्टि होजाता हैं अर्थात् भूत, भविष्यत् , वर्तमान, व्यवहित और विप्रकृष्ट (दूर) के जो पदार्थ उनके देखनेयोग्य दृष्टि होजाती हैं और अमरीसेवनके विशेष भेद तो शिवांबुकल्पग्रंथसे जानने ॥ ९८ ॥

पुंसो बिंदु समाकुंच्य सम्यगभ्यासपाटवात् ॥
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥९०॥

पुंसो वज्रोलीसाधनमुक्त्वा नार्यास्तदाह-पुंसो बिंदुमिति॥सम्यगभ्यासस्य सम्यगभ्यसनस्य पाटवं पटुत्वं तस्मात्पुंसः पुरुषस्य बिंदुं वीर्यं समाकुंच्य सम्यगाकृष्य नारी स्त्री यदि रजो वज्रोल्या वज्रोलीमुद्रया रक्षेत् सापि नारी योगिनी प्रशस्तयोगवती ज्ञेया 'पुंसो बिंदुसमायुक्तम्' इति पाठे तु एतद्रजसो विशेषणम् ॥ ९९ ॥

भाषार्थ-पुरुषको वज्रोलीके साधनको कहकर नारीकी वज्रोलीके साधनको वर्णन करते हैं कि, भलीप्रकारसे कियेहुये अभ्यासकी चतुरतासे पुरुषके बिंदुका भलीप्रकार आकर्षण करके यदि नारी वज्रोलीमुद्रासे अपने रजकी रक्षा करै तो वह भी योगिनी जाननी (पुंसो बिंदुसमायुक्तं) यह पाठ होय तो यह अर्थ समझना कि, पुरुषके बिंदुसे युक्त अपने रजकी रक्षा करै तो वह नारी योगिनी होती है ।। ९९ ॥

तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ॥
तस्या शरीरे नादश्च बिंदुतामेव गच्छति ॥ १०० ।

नारीकृताया वज्रोल्याः फलमाह-तस्या इति ॥तस्या वज्रोल्यभ्यसनशीलाया नार्या रजः किंचित् किमपि स्वल्पमपि नाशं न गच्छति नष्टं न भवति पतनं न प्राप्नोतीत्यर्थः। अत्र संशयो न संदेहो न । तस्या नार्याः शरीरे नादश्च बिंदुतामेव गच्छति मूलाधारादुत्थितो नादो हृदयोपरि बिंदुभावं गच्छति । बिंदुना सहैकीभवतीत्यर्थः । अमृतसिद्धौ-'बीजं च पौरुषं प्रोक्तं रजश्च स्त्रीसमुद्भवम् । अनयोर्बाह्ययोगेन सृष्टिः संजायते नृणाम् ॥यदाभ्यंतरयोगः स्यात्तदा योगीति गीयते । बिंदुश्चंद्रमयः प्रोक्तो

रजः सूर्यमयं तथा ॥ अनयोः संगमादेव जायते परमं पदम् । स्वर्गदो मोक्षदो बिंदुर्धर्मदोऽधर्मदस्तथा ॥ तन्मध्ये देवताः सर्वास्तिष्ठंते सूक्ष्मरूपतः' इति ॥ १०० ॥

भाषार्थ-अब नारीकी कीहुई वज्रोलीके फलको कहते हैं कि, वज्रोलीके अभ्यास करनेमें शीलवती उस नारीका किंचित् भी रज नष्ट नहीं होता है अर्थात् अपने स्थानसे पतित नहीं होता इसमें संशय नहीं है और उस नारीके शरीरमें नादभी बिंदुरूपको प्राप्त होजाता है अर्थात् मूलाधारसे उठाहुआ नाद हृदयके ऊपर बिंदुके संग एक होजाता है अमृतसिद्धि-ग्रंथमें लिखा है कि पुरुषके वीर्यको बीज और नारीके वीर्यको रज कहते हैं इन दोनोंका देहसे बाहर योग होनेसे मनुष्योंके संतान होती है यदि दोनोंका भीतरही योग होजाय तो वह योगी कहा जाता है उन दोनोंमें बिंदु चंद्रमय है और रज सूर्यमय है इन दोनोंके संगमसे परम पद होता है और यह बिंदु स्वर्ग, मोक्ष, धर्म और अधर्मका दाता है उस बिंदुके मध्यमें सूक्ष्मरूपसे संपूर्ण देवता टिकते हैं ॥ १०० ॥

स बिंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ॥
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥१०१॥

स बिंदुरिति ॥ स पुंसो बिंदुस्तद्रजो नार्या रजश्चैव वज्रोलीमुद्राया अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगस्तेनैकीभूय मिलित्वा स्वदेहगौ स्वदेहे गतौ सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः दत्तः ॥ १०१ ॥

भाषार्थ-पुरुषका वह बिंदु और नारीका वह रज दोनों एक होकर वज्रोलीमुद्राके अभ्यासयोगसे यदि अपने देहहीमें स्थित रहजायँ तो संपूर्ण सिद्धियोंको देते हैं ॥१०१॥

रक्षेदाकुंचनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ॥
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम् ॥१०२॥

रक्षेदिति ॥ या नार्याकुंचनाद्योनिसंकोचनादूर्ध्वमुपरिस्थाने नीत्वा रजो रक्षेत् । हीति प्रसिद्धं योगशास्त्रे । सा योगिन्यतीतानागतं भूतं भविष्यं च वस्तु वेत्ति जानाति ॥ ध्रुवमिति निश्चितम् । खेऽतरिक्षे चरतीति खेचर्यंतरिक्षचरी भवेत् ॥ १०२ ॥

भाषार्थ-जो नारी अपनी योनिके संकोचसे रजको ऊर्ध्वस्थानमें लेजाकर रजकी रक्षा करे वह योगिनी होती है और भूत, भविष्यत्, वर्तमान वस्तुको जान सकती है और यह निश्चित है कि वह खेचरी होती है अर्थात् उसको आकाशमें गमन करनेका सामर्थ्य होजाता है ॥ १०२ ॥

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ॥
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥१०३॥

देहसिद्धिमिति ॥ वज्रोल्या अभ्यासस्य योगो युक्तिस्तस्माद्देहस्य सिद्धिं रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वरूपां लभते । अयं योगो वज्रोल्यभ्यासयोगः पुण्यकरोऽदृष्टविशेषजनकः । कीदृशो योगः भुज्यत इति भोगो विषयस्तस्मिन् भुक्तेऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ १०३ ॥

भावार्थ–और वज्रोलीके अभ्यासयोगसे रूप, लावण्य, वज्रोलीकी तुल्यतारूप देहकी सिद्धिको प्राप्त होती है और यह वज्रोलीके अभ्यासका योग पुण्यका उत्पादक है और भोगोंके भोगनेपर भी मुक्तिको देता है ॥ १०३ ॥

अथ शक्तिचालनम् ।

कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी ॥
कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥१०४॥

शक्तिचालनं विवक्षुस्तदुपोद्घाततया कुंडलीपर्यायान् तथा मोक्षद्वारविभेदनादिकं चाह सप्तभिः–कुटिलांगीति ॥ कुटिलांगी १, कुंडलिनी २, भुजंगी ३, शक्तिः ४, ईश्वरी ५, कुण्डली ६, अरुंधती ७, चैते सप्त शब्दाः पर्यायवाचका एकार्थवाचकाः ॥ १०४ ॥

भावार्थ–शक्तिचालनमुद्रा कहनेके अभिलाषी आचार्य कुंडलिनीके पर्याय और कुंडलिनीसे मोक्षद्वारविभेदन (खोलना) आदिका वर्णन करते हैं कि, कुटिलांगी १, कुंडलिनी २, भुजंगी ३, शक्ति ४, ईश्वरी ५, कुंडली ६, अरुंधती ७, ये सात शब्द पर्यायवाचक हैं अर्थात् सातोंका एकही अर्थ है ॥ १०४ ॥

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ॥
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥१०५॥

उद्घाटयेदिति ॥ यथा येन प्रकारेण पुमान् कुंचिकया कपाटार्गलोत्सारणसाधनीभूतया हठाद्बलात्कपाटमररमुद्घाटयेदुत्सारयेत् । हठादिति देहलीदीपकन्यायेनोभयत्र संबध्यते।तथा तेन प्रकारेण योगी हठाद्धठाभ्यासात्कुंडलिन्या शक्त्या मोक्षद्वारं मोक्षस्य द्वारं प्रापकं सुषुम्नामार्गं विभेदयेद्विशेषेण भेदयेत् । 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति श्रुतेः ॥१०५॥

भावार्थ–जैसे पुरुष कपाटों (किवाँड) के अर्गल (ताला) आदिको

हठ (बल) से कुंचिका (ताली) से उद्घाटन करता है, तिसीप्रकार योगीभी हठयोगके अभ्याससे कुंडलिनीमुद्राकेद्वारा अर्थात् मोक्षके दाता सुषुम्नाके मार्गको भेदन करता है क्योंकि श्रुतिमें लिखा है कि, सुषुम्ना मार्गसे ऊपर (ब्रह्मलोक) को जाता हुआ मोक्षको प्राप्त होता है ॥ १०५ ॥

येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ॥
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ १०६ ॥

येनेति ॥ आमयो रोगजन्यं दुःखं दुःखमात्रोपलक्षणं तस्मान्निर्गतं निरामयं दुःखमात्ररहितं ब्रह्मस्थानं ब्रह्माविर्भावजनकं स्थानं ब्रह्मस्थानं ब्रह्मरंध्रम्। 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः। येन मार्गेण सुषुम्नामार्गेण गंतव्यं गमनार्हमस्ति तद्द्वारं तस्य मार्गस्य द्वारं प्रवेशमार्गं मुखेनास्येनाच्छाद्य रुद्ध्वा परमेश्वरी कुंडलिनी प्रसुप्ता निद्रितास्ति ॥ १०६ ॥

भाषार्थ-रोगसे उत्पन्न हुआ दुःखरूप आमय जिसमें नहीं है ऐसा ब्रह्मस्थान जिस मार्गसे जाने योग्य होता है अर्थात् जिसमार्गसे ब्रह्मस्थानको जाते हैं क्योंकि श्रुतिमें लिखाहै कि, उस सुषुम्नाकी शिखाके मध्यमें परमात्मा स्थित है उस सुषुम्ना मार्गके द्वारको मुखसे आच्छादन करके अर्थात् रोककर परमेश्वरी (कुंडलिनी) सोती है ॥ १०६ ॥

कंदोर्ध्वे कुंडली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ॥
बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥ १०७॥

कंदोर्ध्वमिति ॥ कुंडली शक्तिः कंदोर्ध्वे कंदस्योपरिभागे योगिनां मोक्षाय सुप्ता मूढानां बंधनाय सुप्ता । योगिनस्तां चालयित्वा मुक्ता भवंति। मूढास्तदज्ञानाद्बद्धास्तिष्ठंतीति भावः। तां कुंडलिनीं यो वेत्ति स योगवित्। सर्वेषां योगतंत्राणां कुंडल्याश्रयत्वादित्यर्थः ॥ १०७॥

भाषार्थ-कंदके ऊपरभागमें सोतीहुई कुंडलिनी योगीजनोंके मोक्षार्थ होती है और वह पूर्वोक्त कुण्डलिनी मूढोंके बन्धनार्थ होती है अर्थात् योगीजन कुण्डलिनीको चलाकर मुक्त होजाते हैं और उसके अज्ञानी मूढ बन्धनमें पडे रहते हैं उस कुण्डलिनीको जो जानता है वही योगका ज्ञाता है क्योंकि संपूर्ण योगके तंत्र कुण्डलिनीके अधीन हैं ॥ १०७ ॥

कुंडली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ॥
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः॥ १०८॥

कुंडलीति ॥ कुंडली शक्तिः सर्पवद्भुजगवत्कुटिल आकारः स्वरूपं यस्याः सा कुटिलाकारा परिकीर्तिता कथिता योगिभिः । सा कुंडली शक्तिर्येन पुंसा चालिता मूलाधारादूर्ध्वं नीता स मुक्तोऽज्ञानबंधान्निवृत्तः। अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न संदेहो नास्तीत्यर्थः । 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति श्रुतेः ॥ १०८ ॥

भावार्थ-योगीजनोंने जो सूर्यके समान कुटिल है आकार जिसका ऐसी कहीहै वह कुण्डली शक्ति जिसने चलादी है अर्थात् मूलाधारसे ऊपर पहुँचादी है वह मुक्त है अर्थात् बन्धनसे निवृत्त है इसमें संशय नहीं है क्योंकि पूर्वोक्त श्रुति है कि, उस सुषुम्नासे ऊपरको जाताहुआ योगी मोक्षको प्राप्त होता है ॥ १०८ ॥

गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंडां तपस्विनीम् ॥
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥१०९॥

गंगायमुनयोरिति ॥ गंगायमुनयोराधाराधेयभावेन तयोर्भावनाद्गंगायमुनयोरभेदेन भावनाद्वा गंगायमुने इडापिंगले तयोर्मध्ये सुषुम्नामार्गे तपस्विनी निरशनस्थितेः । बालरंडां बालरंडाशब्दवाच्यां कुंडलीं बलात्कारेण हठेन गृह्णीयात् । तत्तस्या गंगायमुनयोर्मध्ये ग्रहणं विष्णोर्हरेर्व्यापकस्यात्मनो वा परमं पदं परमपदप्रापकम् ॥ १०९ ॥

भावार्थ-गंगा यमुना हैं आधार जिनके वा गंगा यमुनारूप जो इडा पिंगला नाडी हैं उनके मध्यसे अर्थात् सुषुम्नाके मार्गमें तपस्विनी अर्थात् भोजनरहित बालरण्डा हैं उसको बलात्कार (हठयोग) से ग्रहण करे वह कुण्डलीका जो बलात्कारसे ग्रहण है वही व्यापकरूप विष्णुके परमपदका प्रापक है ॥ १०९ ॥

इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ॥
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरंडा च कुंडली ॥ ११० ॥

गंगायमुनादिपदार्थमाह-इडेति ॥ इडा वामनिःश्वासा नाडी भगवत्यैश्वर्यादिसंपन्ना गंगा गंगापदवाच्या, पिंगला, दक्षिणनिःश्वासा यमुना यमुनाशब्दवाच्या नदी । इडापिंगलयोर्मध्ये मध्यगता या कुण्डली सा बालरंडा बालरंडाशब्दवाच्या ॥ ११० ॥

भावार्थ-अब गंगा यमुना आदि पदार्थोंका वर्णन करते हैं कि, इडा अर्थात् वामनिःश्वासकी नाडी भगवती गंगा कहाती है और पिंगलाके अर्थात् दक्षिणनिःश्वासकी नाडी यमुना नदी कहाती है और इडा और पिंगला मध्यसे वर्तमान जो कुण्डली है वह बालरण्डा कहाती है ॥ ११० ॥

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ॥
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥ १११ ॥

शक्तिचालनमाह-पुच्छे इति ॥ सुप्तां निद्रितां भुजंगीं तां कुंडलिनीं पुच्छे प्रगृहीत्वोद्बोधयेत्प्रबोधयेत्सा, शक्तिः कुंडली निद्रां विहाय हठादूर्ध्वंतिष्ठत इत्यन्वयः। एतद्रहस्यं तु गुरुमुखादवगंतव्यम् ॥ १११ ॥

भाषार्थ-अब शक्तिचालनमुद्राका वर्णन करतेहैं कि सोती हुई भुजगी (कुंडली) के पुच्छको ग्रहण करके उस भुजगीका प्रबोधन करे (जगावे) तो वह कुंडली निद्राको त्यागकर हठसे ऊपरको स्थित होजाती है इसका रहस्य (गुप्तक्रिया) गुरुमुखसे जानने योग्य है ॥ १११ ॥

अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ॥
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ११२

अवस्थिता इति ॥ अवस्थितावाक् स्थिता मूलाधारस्थिता फणावती भुजंगी सा कुंडलिनी सूर्यादापूर्य सूर्यात्पूरणं कृत्वा परिधाने युक्तिस्तया परिधानयुक्त्या प्रगृह्य गृहीत्वा। सायं सूर्यास्तसमये प्रातः सूर्योदयवेलायां नित्यमहरहः प्रहरस्य यामस्यार्धं प्रहरार्धं प्रहरार्द्धमेव प्रहरार्धमात्रं परिचालनीया परितश्चालयितुं योग्या। परिधानयुक्तिर्देशिकाद्बोध्या ॥ ११२ ॥

भाषार्थ-नीचे मूलाधारमें स्थित वह फणावती कुंडलिनी सूर्यसे पूरण करनेके अनंतर परिधानमें जो युक्ति है उससे ग्रहण करके सायंकाल और प्रातःकालके समय प्रतिदिन आधे प्रहर पर्यंत चारों तर्फ चालन करने योग्य है परिधानकी युक्ति गुरुमुखसे जाननी चाहिये ॥ ११२ ॥

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ॥
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणम् ॥ ११३ ॥

कंदसंपीडनेन शक्तिचालनं विवक्षुरादौ कंदस्य स्थानं स्वरूपं चाह-ऊर्ध्वमिति ॥ मूलस्थानाद्वितस्तिमात्रं वितस्तिप्रमाणमूर्ध्वमुपरिनाभिमेढ्रयोर्मध्ये। एतेन कंदस्य स्थानमुक्तम्। तथा चोक्तं गोरक्षशतके-"ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कंदयोनिः खगांडवत्। तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः" इति। याज्ञवल्क्यः-"गुदात्तु द्व्यंगुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यंगुलादधः। देहमध्यं तनोर्मध्यमनुजानामितीरितम् ॥

कंदस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवांगुलम् । चतुरंगुलविस्तारमायामं च तथाविधम् ॥ अंडाकृतिवदाकारभूषितंच त्वगादिभिः । चतुष्पदां तिरश्चां च द्विजानां तुंदमध्यगम् " इति । गुदाद्व्द्यंगुलोपर्येकांगुलं मध्यं तस्मान्नवांगुलं कंदस्थानं मिलित्वा द्वादशांगुलप्रमाणं वितस्तिमात्रं जातम् । चतुर्णामंगुलीनां समाहारश्चतुरंगुलं चतुरंगुलप्रमाणं विस्तारम् विस्तारो दैर्घ्यस्याप्युपलक्षणम् । चतुरंगुलं दीर्घं च मृदुलं कोमलं धवलं शुभ्रं वेष्टितं वेष्टनाकारीकृतं यदंबरं वस्त्रं तस्य लक्षणं स्वरूपमिव लक्षणं स्वरूपं यस्य तादृशं प्रोक्तं कथितम् । कंदस्वरूपं योगिभिरिति शेषः ॥ ११३ ॥

भाषार्थ-कंदके पीडनेसे शक्तिचालनके कथनाभिलाषी आचार्य प्रथम कंदके स्थान और स्वरूपका वर्णन करते हैं कि, मूलस्थानसे वितस्तिभर ऊपर अर्थात् नाभिस्थल और लिंगके मध्यमें इसवर्णनसे कंदका स्थान कहा सोई गोरक्षनाथने कहाहै कि लिंगसे ऊपर और नाभिसे नीचे पक्षियोंके अंडेके समान कंदकी योनि है उसमें बहत्तर सहस्र नाडी उत्पन्नहुई हैं. याज्ञवल्क्यने कहाहै कि, गुदासे दो अंगुल ऊपर लिंगसे दो अंगुल नीचे मनुष्योंके देह (तनु) का मध्य कहा है मनुष्योंका कंदस्थान देहके मध्यसे नौअंगुल ऊपर चार अंगुल चौडा और चार अंगुल लंबा है और त्वचा आदिसे अंडाकारके समान शोभित है और चतुष्पद और तिरछी योनियोंके और पक्षियोंके तुंद मध्यमें होताहै अर्थात् गुदाके दो अंगुलोंसे ऊपर एक अंगुलका मध्य और उससे नौ अंगुल कंदस्थान हुआ. ये सब मिलकर बारह अंगुलका प्रमाण जिसका ऐसा वितस्तिमात्र हुआ और वह कंदस्थान चार अंगुल और कोमल और धवल और वेष्टित किये (लपेटे) वस्त्रके समान है रूप जिसका ऐसा योगीजनोंने कहाहै । भावार्थ यह है कि, मूलस्थानसे ऊपर वितस्तिमात्र चार अंगुलभर कोमल शुक्ल लपेटे हुये वस्त्रके समान कंदस्थान योगीजनोंने कहा है ॥११३ ॥

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ॥११४॥

सतीति ॥ वज्रासने कृते सति कराभ्यां हस्ताभ्यां गुल्फौ पादग्रन्थी तयोर्देशौ तयोः समीपे गुल्फाभ्यां किंचिदुपरि । ' तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ'इत्यमरः।पादौ चरणौ दृढं गाढं धारयेत् गृह्णीयात्। चकारा-द्धृताभ्यां पादाभ्यां तत्र कंदस्थाने कंदं प्रपीडयेत्प्रकर्षेण पीडयेत्। गुल्फा-

दूर्ध्वं कराभ्यां पादौ गृहीत्वा नाभेरधोभागे कंदं पीडयेदित्यर्थः ॥११४॥

भाषार्थ-वज्रासन करनेके अनंतर हाथोंसे गुल्फोंके समीपके स्थानमें दोनों चरणोंको दृढतासे धारण करै अर्थात् गुल्फोंके कुछैक ऊपरके भागमें चरणोंको हाथोंसे खूब पकडे और हाथोंसे पकडे हुये पादोंसे कंदके स्थानमें कंदको पीडित करै अर्थात् गुल्फसे ऊपर पादोंको हाथोंसे पकडकर नाभिके अधोभागमें कंदको पीडित करै (दाबै) ॥ ११४ ॥

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीम्॥
कुर्यादनंतरं भस्त्रां कुंडलीमाशु बोधयेत् ॥ ११५ ॥

वज्रासन इति॥वज्रासने स्थितो योगी कुंडलीं चालयित्वा शक्तिचालनमुद्रां कृत्वेत्यर्थः। अनंतरं शक्तिचालनानंतरं भस्त्रां भस्त्राख्यं कुंभकं कुर्यात्। एवंरीत्या कुंडलीं शक्तिमाशु शीघ्रं बोधयेत्प्रबुद्धां कुर्यात्। वज्रासने शक्तिचालनस्य पूर्वं विधानेऽपि पुनर्वज्रासनोपपादनं शक्तिचालनानंतरं भस्त्रायां वज्रासनमेव कर्तव्यमिति नियमार्थम् ॥११५ ॥

भाषार्थ-वज्रासनमें स्थित (बैठाहुआ) योगी कुंडलीको चलाकर अर्थात् शक्तिचालन मुद्राको करके उसके अनंतर अर्थात् शक्तिचालनके पीछे भस्त्रानामके कुंभक प्राणायामको करै, इसरीतिसे कुंडलीका शीघ्र प्रबोधन करै यद्यपि वज्रासनमें शक्तिका चालन पहिले कह आयेहैं फिर जो वज्रासनका कथन है वह इसनियमके लिये है कि, शक्तिचालनके अनंतर भस्त्रामें वज्रासनही करना, अन्य नहीं ॥ ११५ ॥

भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः ॥
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ११६ ॥

भानोरिति॥भानोर्नाभिदेशस्थस्य सूर्यस्याकुंचनं कुर्यात्। नाभेराकुंचनेनैव तस्याकुंचनं भवति।ततो भानोराकुंचनात्कुंडलीं शक्तिं चालयेत्। एवं यः करोति मृत्योर्वक्त्रं मुखं गतस्यापि प्राप्तस्यापि तस्य पुंसो मृत्युभयं कालभयं कुतः। न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ११६ ॥

भाषार्थ-नाभिदेशमें स्थित सूर्यका आकुंचन करै और वह सूर्यका आकुंचन नाभिके आकुंचनसेही होताहै, फिर सूर्यके आकुंचनसे कुण्डली शक्तिका चालन करै, जो योगी इसप्रकारकी क्रियाको करताहै मृत्युके मुखमें गये हुयेभी उस योगीको कालका भय किसप्रकार हो सकताहै ? अर्थात् मृत्युका भय नहीं रहता ॥ ११६ ॥

मुहूर्तद्वयपर्यंतं निर्भयं चालनादसौ ॥
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता ॥ ११७ ॥

मुहूर्तद्वयमिति॥मुहूर्तयोर्द्वयं युग्मं घटिकाचतुष्टयात्मकं तत्पर्यंतं तदवधि निर्भयं निःशंकं चालनादसौ शक्तिः सुषुम्नायां समुद्गता सती किंचिदूर्ध्वमाकृष्यते आकृष्टा भवति ॥ ११७ ॥

भाषार्थ-दो मुहूर्त अर्थात् चार घडीपर्यंत निर्भय (अवश्य) चलायमान करनेसे सुषुम्नामें प्राप्त हुई यह शक्ति (कुण्डली) किंचित् (कुछ) ऊपरको खिंच जातीहै ॥ ११७ ॥

तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं ध्रुवम् ॥
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः॥ ११८ ॥

तेनेति॥तेनोर्ध्वमाकर्षणेन कुंडली तस्याःप्रसिद्धायाः सुषुम्नाया मुखं प्रवेशमार्गं ध्रुवं निश्चितं जहाति त्यजति। तस्मान्मार्गत्यागादयं प्राणवायुः स्वतःस्वयमेव सुषुम्नां व्रजति गच्छति । सुषुम्नामुखात्प्रागेव कुण्डलिन्या निर्गतत्वादिति भावः ॥ ११८ ॥

भाषार्थ-तिस ऊपरको आकर्षण करनेसे उस प्रसिद्ध सुषुम्नाके मुख अर्थात् प्रवेशके मार्गको निश्चयसे त्याग देतीहैं तिसमार्गके त्यागसे प्राणवायु स्वतः (स्वयं) ही सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाताहै क्योंकि, कुण्डलिनी तो सुषुम्नाके मुखपरसे पहिलेही चली गई, अवरोधके अभाव होनेसे प्राणका स्वयंही प्रवेश होजाताहै ॥ ११८ ॥

तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुंधतीम् ॥
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ ११९ ॥

तस्मादिति॥यस्माच्छक्तिचालनेन प्राणःसुषुम्नां व्रजति तस्मात्सुखेन सुप्ता सुखसुप्ता तां सुखसुप्तामरुंधतीं शक्तिं नित्यं प्रतिदिनं संचालयेत्सम्यक् चालयेत् । तस्याः शक्तेः संचालनेनैव संचालनमात्रेण योगी रोगैः कासश्वासजरादिभिः प्रमुच्यते प्रकर्षेण मुक्तो भवति ॥ ११९ ॥

भाषार्थ-जिससे शक्तिके चालनसे प्राण सुषुम्नामें प्राप्त होताहै तिससे सुखसे सोई हुई अरुंधती (कुंडलिनी) को नित्य भलीप्रकार चलायमान करै क्योंकि तिसशक्तिके चलायमान करनेसेही रोगी कास श्वास जरा आदि रोगोंसे निवृत्त होजाताहै ॥ ११९ ॥

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ॥
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ १२० ॥

येनेति ॥ येन योगिना शक्तिः कुण्डली संचालिता स योगी सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति। अत्रास्मिन्नर्थे बहूक्तेन बहुप्रशंसनेन किं, न किमपीत्यर्थः। कालं मृत्युं लीलया क्रीडयानायासेनैव जयत्यभिभवतीत्यर्थः ॥ १२० ॥

भाषार्थ-जिसयोगीने शक्ति चलायमान करली है वह योगी अणिमा आदि सिद्धियोंका पात्र होजाताहै और इसमें अधिक कहनेसे क्या है कालकोभी लीलासे अर्थात् अनायाससे जीत लेताहै ॥ १२० ॥

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ॥
मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्यभ्यासयोगिनः ॥१२१॥

ब्रह्मचर्येति ॥ ब्रह्मचर्यं श्रोत्रादिभिः सहोपस्थसंयमस्तस्मिन् रतस्य तत्परस्य नित्यं सर्वदा हितं पथ्यं मितं चतुर्थांशवर्जितमश्नातीति तस्य कुण्डल्यभ्यासः शक्तिचालनाभ्यासः स एव योगः सोऽस्यास्तीति स तथा तस्य मंडलाच्चत्वारिंशद्दिनात्मकादनंतरं सिद्धिः प्राणायामसिद्धिर्दृश्यते ॥ "नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणोऽतिदीर्घीकृतश्चंद्राभः परिपूरितामृततनुः प्राग्घंटिकायास्ततः। छित्त्वा कालविशालवह्निवशगं भ्रूरंध्रनाडीगतं तत्कायं कुरुते पुनर्नवतरं छिन्नं ध्रुवं स्कंधवत् ॥" ॥१२१॥

भाषार्थ-श्रोत्र आदि इंद्रियोंसहित लिंगके संयममें तत्पर जो योगी है और नित्य हितकारी प्रमित अर्थात् चतुर्थांशसे न्यून भोजन करताहै शक्तिचालनके अभ्यासी उस योगीको मंडल (४० दिन) के अनन्तर प्राणायामकी सिद्धिको देखतेहैं सोई कहा है कि, नासिकाके दक्षिणमार्गमें बहनेवाले पवनसे अत्यंत बढाया और घंटिका (कण्ठ) से पूर्व चंद्रमाके समान अमृत है शरीर जिसका ऐसा प्राण जिसके अनंतर विशालकाल और अग्नि ये वशमें हुई उसकुण्डलीके अभ्यासशील योगीकी कायाको भ्रुकुटीके छिद्रमें वर्तमान नाडीमें पहुँचकर और कायाका छेदन करके इस प्रकार पुनः अत्यन्त नवीन करताहै जैसे छेदन धरनेसे वृक्षका स्कंध (डाला) नवीन होजाता है ॥ १२१ ॥

कुंडलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ॥
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ १२२ ॥

कुंडलीमिति ॥ कुंडलीं चालयित्वा शक्तिचालनं कृत्वा। अथानंतरमेव भस्त्रां भस्त्राख्यं कुंभकं कुर्यात्। नित्यं प्रतिदिनम्। एवमुक्तप्रकारे-

मुहूर्तद्वयपर्यंतं निर्भयं चालनादसौ ॥
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता ॥ ११७ ॥

मुहूर्तद्वयमिति॥मुहूर्तयोर्द्वयं युग्मं घटिकाचतुष्टयात्मकं तत्पर्यंतं तदवधि निर्भयं निःशंकं चालनादसौ शक्तिः सुषुम्नायां समुद्गता सती किंचिदूर्ध्वमाकृष्यते आकृष्टा भवति ॥ ११७ ॥

भाषार्थ-दो मुहूर्त अर्थात् चार घडीपर्यंत निर्भय (अवश्य) चलायमान करनेसे सुषुम्नामें प्राप्त हुई यह शक्ति (कुण्डली) किंचित् (कुछ) ऊपरको खिंच जातीहै ॥ ११७ ॥

तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं ध्रुवम् ॥
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः॥ ११८ ॥

तेनेति॥तेनोर्ध्वमाकर्षणेन कुंडली तस्याःप्रसिद्धायाः सुषुम्नाया मुखं प्रवेशमार्गं ध्रुवं निश्चितं जहाति त्यजति। तस्मान्मार्गत्यागादयं प्राणवायुः स्वतःस्वयमेव सुषुम्नां व्रजति गच्छति । सुषुम्नामुखात्प्रागेव कुण्डलिन्या निर्गतत्वादिति भावः ॥ ११८ ॥

भाषार्थ-तिस ऊपरको आकर्षण करनेसे उस प्रसिद्ध सुषुम्नाके मुख अर्थात् प्रवेशके मार्गको निश्चयसे त्याग देतीहै तिसमार्गके त्यागसे प्राणवायु स्वतः (स्वयं) ही सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाताहै क्योंकि, कुण्डलिनी तो सुषुम्नाके मुखपरसे पहिलेही चली गई, अवरोधके अभाव होनेसे प्राणका स्वयंही प्रवेश होजाताहै ॥ ११८ ॥

तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुंधतीम् ॥
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ ११९ ॥

तस्मादिति॥यस्माच्छक्तिचालनेन प्राणःसुषुम्नां व्रजति तस्मात्सुखेन सुप्ता सुखसुप्ता तां सुखसुप्तामरुंधतीं शक्तिं नित्यं प्रतिदिनं संचालयेत्सम्यक् चालयेत् । तस्याः शक्तेः संचालनेनैव संचालनमात्रेण योगी रोगैः कासश्वासजरादिभिः प्रमुच्यते प्रकर्षेण मुक्तो भवति ॥ ११९ ॥

भाषार्थ-जिससे शक्तिके चालनसे प्राण सुषुम्नामें प्राप्त होताहै तिससे सुखसे सोई हुई अरुंधती (कुंडलिनी) को नित्य भलीप्रकार चलायमान करै क्योंकि तिसशक्तिके चलायमान करनेसेही रोगी कास श्वास जरा आदि रोगोंसे निवृत्त होजाताहै ॥ ११९ ॥

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ॥
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ १२० ॥

येनेति ॥ येन योगिना शक्तिः कुण्डली संचालिता स योगी सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति। अत्रास्मिन्नर्थे बहूक्तेन बहुप्रशंसनेन किं, न किमपीत्यर्थः। कालं मृत्युं लीलया क्रीडयानायासेनैव जयत्यभिभवतीत्यर्थः ॥ १२० ॥

भाषार्थ-जिसयोगीने शक्ति चलायमान करली है वह योगी अणिमा आदि सिद्धियोंका पात्र होजाताहै और इसमें अधिक कहनेसे क्या है कालकोभी लीलासे अर्थात् अनायाससे जीत लेताहै ॥ १२० ॥

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ॥
मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्यभ्यासयोगिनः ॥१२१॥

ब्रह्मचर्येति ॥ ब्रह्मचर्यं श्रोत्रादिभिः सहोपस्थसंयमस्तस्मिन् रतस्य तत्परस्य नित्यं सर्वदा हितं पथ्यं मितं चतुर्थांशवर्जितमश्नातीति तस्य कुण्डल्यभ्यासः शक्तिचालनाभ्यासः स एव योगः सोऽस्यास्तीति स तथा तस्य मंडलाच्चत्वारिंशद्दिनात्मकादनंतरं सिद्धिः प्राणायामसिद्धिर्दृश्यते ॥ "नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणोऽतिदीर्घीकृतश्चंद्राभः परिपूरितामृततनुः प्राग्घंटिकायास्ततः। छित्त्वा कालविशालवह्निवशगं भ्रूरंध्रनाडीगतं तत्कायं कुरुते पुनर्नवतरं छिन्नं ध्रुवं स्कंधवत् ॥" ॥ १२१॥

भाषार्थ-श्रोत्र आदि इंद्रियोंसहित लिंगके संयममें तत्पर जो योगी है और नित्य हितकारी प्रमित अर्थात् चतुर्थांशसे न्यून भोजन करताहै शक्तिचालनके अभ्यासी उस योगीको मंडल (४० दिन) के अनन्तर प्राणायामकी सिद्धिको देखतेहैं सोई कहा है कि, नासिकाके दक्षिणमार्गमें बहनेवाले पवनसे अत्यंत बढाया और घंटिका (कण्ठ) से पूर्व चंद्रमाके समान अमृत है शरीर जिसका ऐसा प्राण जिसके अनंतर विशालकाल और अग्नि ये वशमें हुई उसकुण्डलीके अभ्यासशील योगीकी कायाको भ्रुकुटीके छिद्रमें वर्तमान नाडीमें पहुँचकर और कायाका छेदन करके इस प्रकार पुनः अत्यन्त नवीन करताहै जैसे छेदन धरनेसे वृक्षका स्कंध (डाला) नवीन होजाता है ॥ १२१ ॥

कुंडलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ॥
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ १२२ ॥

कुंडलीमिति ॥ कुंडलीं चालयित्वा शक्तिचालनं कृत्वा। अथानंतरमेव भस्त्रां भस्त्राख्यं कुंभकं कुर्यात्। नित्यं प्रतिदिनम्। एवमुक्तप्रकारे-

णाभ्यसतो यमिनो योगिनो यमभीर्यमाद्भयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः । योगिनो देहत्यागस्य स्वाधीनत्वादिति तात्पर्यम् ॥ १२२ ॥

भाषार्थ–कुण्डलीको चलायमान करके उसके अनन्तरही विशेषकर भस्त्रानामके कुम्भकप्राणायामको करै, इसप्रकार प्रतिदिन अभ्यास करताहुआ जो यमी (योगी) है उसको यमका भय कहां रहताहै, क्योंकि योगीके देहका त्याग अपने अधीन होताहै ॥ १२२ ॥

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने ॥
कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्यभ्यसनादृते ॥ १२३ ॥

द्वासप्ततीति ॥ द्वाभ्यामधिका सप्ततिः द्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि द्वासप्ततिसहस्राणि तेषां तत्संख्याकानां नाडीनां मलशोधने कर्तव्ये सति कुण्डल्यभ्यसनाच्छक्तिचालनाभ्यासादृते विना कुतः प्रक्षालनोपायः । न कुतोऽपि । शक्तिचालनाभ्यासेनैव सर्वासां नाडीनां मलशोधनं भवतीत्यभिप्रायः ॥ १२३ ॥

भाषार्थ–बहत्तर सहस्र नाडियोंकी मलशुद्धिके करनेमें शक्तिचालनके विना प्रक्षालन (धोना) का अन्य कौन उपाय है अर्थात् कोई नहीं है. शक्तिचालनमुद्राके करनेसेही संपूर्ण नाडियोंके मलकी शुद्धि होती है ॥ १२३ ॥

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ॥
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥ १२४ ॥

इयं त्विति ॥ इयं मध्यमा नाडी सुषुम्ना योगिनां दृढाभ्यासेनासनं स्वस्तिकादि प्राणसंयामः प्राणायामः मुद्रा महामुद्रादिका तैः सरला ऋज्वी भवेत् ॥ १२४ ॥

भाषार्थ–यह सुषुम्नारूप मध्यमनाडी योगियोंके दृढअभ्याससे स्वस्तिक आदि आसन प्राणायाम और महामुद्रा इनके करनेसे सरल होजाती है ॥ १२४ ॥

अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ॥
रुद्राणी वा यदा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥ १२५ ॥

अभ्यास इति ॥ समाधिनेतरवृत्तिनिरोधरूपेणैकाग्र्येण मनो धृत्वांतःकरणं धारणानिष्ठं कृत्वाभ्यासे मनःस्थितौ यत्ने विगता निद्रा येषां ते तथा तेषाम् । निद्रापदमालस्योपलक्षणम् । अनलसानामित्यर्थः । रुद्राणी शांभवी मुद्रा वा अथवा परान्या उन्मन्यादिका भद्रां शुभां सिद्धिं योगसिद्धिं प्रयच्छति ददाति । एतेन हठयोगोपकारको राजयोगः प्रोक्तः ॥ १२५ ॥

भाषार्थ-अन्यविषयोंसे वृत्तिके रोकनेसे चित्तकी एकाग्रतारूप समाधिसे मनको धारणामें स्थित करके अभ्यास करनेमें जो निद्रा और आलस्यसे रहित हैं उनको शांभवी मुद्रा वा अन्यउन्मनी आदि मुद्रा शोभन योगसिद्धिको देती हैं इससे यह कहा कि, हठयोग राजयोगका उपकारक है ॥ १२५ ॥

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ॥
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥ १२६ ॥

राजयोगं विना आसनादीनां वैयर्थ्यमौपचारिकश्लेषेणाह-राजयोगमिति॥वृत्त्यंतरनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकनिर्विकल्पकवृत्ती राजयोगः। 'हठं विना राजयोगः' इत्यत्र सूचितस्तत्साधनाभ्यासो वा तं विना तमृते पृथ्वीशब्देन स्थैर्यगुणःराजयोगादासनं लक्ष्यते। राजयोगं विना परमपुरुषार्थफलासिद्धिरिति हेतुरग्रेऽपि योजनीयः राजयोगं विना निशेव निशा कुंभको न राजते निशायां प्रायेण राजजनसंचाराभावात्। निशाशब्देन प्राणसंचाराभावलक्षणः कुंभको लक्ष्यते। राजयोगं विना मुद्रा महामुद्रादिरूपा विचित्रापि विविधापि विलक्षणापि वा न राजते न शोभते। पक्षांतरे। राज्ञो नृपस्य योगो राजयोगो राजसंबंधस्तं विना पृथ्वी भूमिर्न राजते। 'शास्तारं विना भूमौ नानोपद्रवसंभवात्'। राजा चन्द्रः। 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' इति श्रुतेः। तस्य योगं संबंधं विना निशा रात्रिर्न राजते। राजयोगं विना नृपसंबंधं विना मुद्रा राजभिः पत्रेषु क्रियमाणश्चिह्नविशेषः। विचित्रापि। पृथ्वीपक्षे रत्नादिजनकत्वेन विलक्षणापि। निशापक्षे ग्रहनक्षत्रादिभिर्विचित्रापि। मुद्रापक्षे रेखाभिर्विचित्रापि न राजते ॥ १२६ ॥

भाषार्थ-अब राजयोगके विना आसन आदिकी निष्फलताको उपचारसे वर्णन करते हैं कि, अन्यवृत्तियोंको रोककर आत्मविषयक जो धारावाहिक निर्विकल्प मनकी वृत्ति उसे राजयोग कहते हैं और वह राजयोग-'हठके विना राजयोग वृथा है' इस वचनमें सूचित कर आये हैं उस राजयोगके वा उसके साधनोंके विना पृथ्वी (स्थिरता) शोभित नहीं होतीहै यहां पृथ्वीशब्दसे स्थिरता और राजयोगपदसे आसन लेना अर्थात् राजयोगके विना परमपुरुषार्थ (मोक्ष) रूप मोक्ष नहीं होसकता. यह हेतु आगेभी सम्पूर्ण वाक्योंमें समझना और राजयोगके विना निशा शोभित नहीं होती अर्थात् निशाके समान कुंभकप्राणायाम शोभित नहीं होता है, क्योंकि जैसे निशामें राजपुरुषोंका संचार नहीं होता है इसीप्रकार कुंभकमें प्राणोंका संचार नहीं होताहै इससे निशापदसे कुंभक लेते हैं और राज-

योगके विना विचित्र भी मुद्रा अर्थात् अनेक प्रकारकी वा विलक्षण महामुद्रा आदि मुद्रा शोभित नहीं होतीहै । पक्षांतरमें इस श्लोकका यह अर्थ है कि, राजाके संबन्ध विना रत्न आदिके उत्पन्न करनेवालीभी पृथ्वीकी शोभा नहीं है क्योंकि राजाकी शिक्षाके विना नाना-उपद्रव भूमिमें होते हैं और राजा (चन्द्रमा) के सम्बन्ध विना ग्रहनक्षत्रोंसे विचित्रभी निशाकी शोभा नहीं होती है इस श्रुतिसे यहां राजपदसे चन्द्रमा लेते हैं कि, 'सोम हम ब्राह्मणोंका राजाहै' और राजाके योगविना मुद्राकी शोभा नहीं अर्थात् रेखा आदिसे विचित्रभी मुद्रा राजाके हाथसे किये हुये चिह्नविशेषरूप राजसम्बन्धके विना ग्रहण करने योग्य नहीं होती है ॥ १२६ ॥

मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत ॥
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥ १२७ ॥

मारुतस्येति॥मारुतस्य वायोः सर्वं विधिं कुंभकमुद्राविधानं मनोयुक्तं मनसा युक्तं समभ्यसेत्सम्यगभ्यसेत् । मनीषिणा बुद्धिमता पुंसा इतरत्र मारुतस्य विधेरन्यस्मिन्विषये मनोवृत्तिर्मनसो वृत्तिः प्रवृत्तिर्न कर्तव्या न कार्या ॥ १२७ ॥

भाषार्थ-प्राणवायुकी जो कुंभकमुद्रा आदि संपूर्ण विधि है उसकी मनसे युक्त होकर (मन लगाकर) भलीप्रकार अभ्यास करे और प्राणवायुकी विधिसे अन्य जो विषय उनमें मनकी प्रवृत्तिको न करै ॥ १२७ ॥

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना ॥
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥ १२८ ॥

मुद्रा उपसंहरति॥इतीति॥आदिनाथेन सर्वेश्वरेण शंभुना शं सुखं भवत्यस्मादिति शंभुस्तेन । इत्युक्तरीत्या दश दशसंख्याका मुद्राः प्रोक्ताः कथिताः । तासु मुद्रासु मध्ये एकैकापि प्रत्येकमपि या काचन मुद्रा यमिनां यमवतां योगिनां महासिद्धिप्रदायिन्यणिमादिप्रदात्री वा॥१२८॥

भाषार्थ-अब मुद्राओंकी समाप्तिका वर्णन करते हैं कि, आदिनाथ, (महादेव) ने ये दश मुद्रा कही हैं उन मुद्राओंमें एक २ भी मुद्रा (प्रत्येक) अर्थात् जो कोई मुद्रा योगीजनोंको अणिमा आदि महासिद्धियोंकी प्रदायिनी (देनेवाली) है ॥ १२८ ॥

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ॥
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥ १२९ ॥

मुद्रोपदेष्टारं गुरुं प्रशंसति-उपदेशमिति ॥ य पुमान्मुद्राणां महामुद्रादीनां संप्रदायाद्योगिनां गुरुपरंपरारूपादागतं सांप्रदायिकमुपदेशं दत्ते ददाति। स एव स पुमानेव श्रीगुरुः श्रीमान् गुरुः सर्वगुरुभ्यः श्रेष्ठ इत्यर्थः। स्वामी प्रभुः स एव साक्षात्प्रत्यक्ष ईश्वर एव सः। ईश्वराभिन्न एव स इत्यर्थः ॥ १२९ ॥

भाषार्थ-सांप्रदायिक (योगियों गुरुपरम्परासे चले आये) महामुद्रा आदिके उपदेशको जो पुरुष देता है वही श्रीमान् गुरु अर्थात् सब गुरुओंमें श्रेष्ठ है और वही स्वामी अर्थात् प्रभु है और वही साक्षात् परमेश्वरस्वरूप है ॥ १२९ ॥

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ॥
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवंचनम् ॥१३०॥

इति श्रीस्वात्मारामयोगींद्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां मुद्राविधानं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

तस्येति ॥ तस्य मुद्राणामुपदेष्टुर्गुरोर्वाक्यपरो वाक्यमासनकुंभकाद्यनुष्ठान विषयकं युक्ताहारविहारचेष्टादिविषयकं च तस्मिन् परस्तत्परः तत्परश्चादरवान्। आदरश्च विहिततपःकरणं भूत्वा संभूय मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासः पौनःपुन्येनावर्तनं तस्मिन् मुद्राभ्यासे समाहितः सावधानः पुरुषोऽणिमादिगुणैरणिमादिसिद्धिभिः सार्धं साकं कालस्य मृत्योर्वंचनं प्रतारणं लभते प्राप्नोति ॥ १३० ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानंदकृतायां ज्योत्स्नाभिधायां मुद्राकथनं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

भाषार्थ-तिन मुद्राओंके उपदेशकर्ता गुरुके वाक्यमें अर्थात् आसन कुंभक आदिके अनुष्ठान विषयकी और युक्ताहार विहारकी चेष्टा आदि विषयोंकी आज्ञामें तत्पर (आदरवान्) और शास्त्रोक्त तप करनेरूप उस आदरके अनंतर बारंबार महामुद्रा आदिके अभ्यासमें सावधान होकर मनुष्य अणिमा आदि सिद्धियों सहित कालके वंचनको प्राप्त होता है अर्थात् उसको सिद्धि और कालसे निर्भयता ये दोनों प्राप्त होते हैं ॥१३०॥

इति श्रीस्वात्मारामयोगींद्रविरचितायां हठयोगप्रदीपिकायां पं० मिहरचंद्रकृतभाषाविवृतिसहितायां मुद्राविधानं नाम तृतीयोपदेशः समाप्तः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोपदेशः ४.

नमः शिवाय गुरवे नादबिंदुकलात्मने ॥
निरंजनपदं याति नित्यं यत्र परायणः ॥ १ ॥

प्रथमद्वितीयतृतीयोपदेशोक्तानामासनकुंभकमुद्राणां फलभूतं राजयोगं विवक्षुः स्वात्मारामः श्रेयांसि बहुविघ्नानीति तत्र विघ्नबाहुल्यस्य संभवा त्तन्निवृत्तये शिवाभिन्नगुरुनमस्कारात्मकं मंगलमाचरति ॥ नम इति ॥ शिवाय सुखरूपायेश्वराभिन्नाय वा । तदुक्तम् । 'नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरुरूपिणे' इति गुरवे देशिकाय यद्वा गुरवे सर्वांतर्यामितया निखिलोपदेष्ट्रे शिवायेश्वराय । तथा च पातंजलसूत्रम्–'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' । नमः प्रह्वीभावोऽस्तु । कीदृशाय शिवाय गुरवे नादबिंदुकलात्मने कांस्यघंटानिर्ह्रादवदनुरणनं नादः। बिंदुरनुस्वारोत्तरभावी ध्वनिः । कला नादैकदेशस्ता आत्मा स्वरूपं यस्य स तथा तस्मै । नादबिंदुकलात्मना वर्तमानायेत्यर्थः । तत्र नादबिंदुकलात्मनि शिवे गुरौ नित्यं प्रतिदिनं परायणोऽवहितः पुमान् । एतेन नादानुसंधानपरायण इत्युक्तं पूर्वपादेन गुरुशिवयोरभेदश्च सूचितः । अंजनं मायोपाधिस्तद्रहितं निरंजनं शुद्धं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं ब्रह्म याति प्राप्नोति । तथा च वक्ष्यति–' नादानुसंधानसमाधिभाजम्' इत्यादिना ॥ १ ॥

भावार्थ–प्रथम, द्वितीय, तृतीय उपदेशोंमें कहे जो आसन कुंभक मुद्रा हैं उनका फलरूप जो राजयोग है उसके कथनका अभिलाषी स्वात्माराम ग्रंथकार ' श्रेयकर्मोंमें बहुत विघ्न हुआ करते हैं ' इस न्यायसे अनेक विघ्नोंका संभव होसकता है उन विघ्नोंकी निवृत्तिके लिये शिवरूप गुरुके नमस्कारात्मक मंगलको करते हैं कि, शिवरूप अर्थात् सुखरूप वा ईश्वररूप सोई कहा है कि, हे नाथ ! हे भगवन् ! शिवरूप गुरु जो आप हैं उनको नमस्कार है गुरुको अथवा सबके उपदेशक अंतर्यामिरूपसे शिवरूपसे ईश्वरको । सोई पातंजलसूत्रमें कहा है कि, कालसे अवच्छेदके न होनेसे वह ईश्वर पहिले सब आचार्योंकाभी गुरु है उस गुरु वा ईश्वरको नमस्कार है. जो गुरु नादबिंदुकलारूप है कांसीके घंटाके समान जो अनुरणन अर्थात् शब्द उसको नाद कहते हैं और अनुस्वारके अनंतर जो ध्वनि होती है उसको बिंदु कहते हैं और नादके एकदेशको कला कहते हैं ये तीनों जिस गुरु वा ईश्वरके रूप हैं अर्थात् जो नाद बिंदु कलारूपसे वर्तमान हैं और ' जिस जिस नाद बिंदु कलारूप शिवरूप गुरुमें प्रतिदिन परायण (सावधान)

मनुष्य' इस कथनसे नादके अनुसंधानमें परायण और पूर्व पादसे शिव और गुरुका भेद सूचित किया उस मायोपाधिरूप अंजनसे रहित शुद्ध ब्रह्मपदको प्राप्त होता है जिसको योगीजन प्राप्त होते हैं उसको पद कहते हैं सोई कहेंगे नादका जो अनुसंधानी और जो समाधिका ज्ञाता है वह योगी है--भावार्थ यह है कि, शिवरूप और नाद बिंदुकला जिसकी आत्मा है ऐसे उस गुरुको नमस्कार है जिसमें प्रतिदिन तत्पर मनुष्य शुद्धरूप ब्रह्मपदको प्राप्त होता है ॥ १ ॥

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमम् ॥
मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानंदकरं परम् ॥ २ ॥

समाधिक्रमं प्रतिजानीते-अथेति ॥ अथासनकुंभकमुद्राकथनानंतरमिदानीमस्मिन्नवसरे समाधिक्रमं प्रत्याहारादिरूपं प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण विविच्य वक्ष्यामीत्यन्वयः । कीदृशं समाधिक्रमम् । उत्तमं श्रीआदिनाथोक्तसंपादनकोटिसमाधिप्रकारेषूत्कृष्टम् । पुनः कीदृशं मृत्युं कालं हंति निवारयतीति मृत्युघ्नं स्वेच्छया देहत्यागजनकं तत्त्वज्ञानोदयमनोनाशवासनाक्षयैः सुखस्य जीवन्मुक्तिसुखस्योपायम् । प्राप्तिसाधनं पुनः कीदृशं परं ब्रह्मानंदकरं प्रारब्धकर्मक्षये सति जीवब्रह्मणोरभेदे नात्यंतिकब्रह्मानंदप्राप्तिरूपविदेहमुक्तिकरम् । तत्र निरोधः समाधिना चित्तस्य ससंस्काराशेषवृत्तिनिरोधे शांतघोरमूढावस्थानिवृत्तौ 'जीवन्नेवेह विद्वान् हर्षशोकाभ्यां विमुच्यते' इत्यादिश्रुत्युक्तनिर्विकारस्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिर्भवति । परममुक्तिस्तु प्राप्तभोगांतेऽतःकरणगुणानां प्रतिप्रसवेनोपाधिकरूपात्यंतिकनिवृत्तावात्यंतिकं स्वरूपावस्थानं प्रतिप्रसवासिद्धम् । व्युत्थाननिरोधसमाधिसंस्कारा मनसि लीयंते । मनोऽस्मितायामस्मिता महति महान् प्रधान इति चित्त गुणानां प्रतिप्रसवः प्रतिसर्गः स्वकारणे लयः । ननु जीवन्मुक्तस्य व्युथाने ब्राह्मणोऽहं मनुष्योऽहमित्यादिव्यवहारदर्शनाच्चित्तादिभिरौपाधिकभावजननादम्लेन दुग्धस्येव स्वरूपच्युतिः स्यादिति चेन्न । संप्रज्ञातसमाधावनुभूतात्मसंस्कारस्य तात्त्विकत्वनिश्चयात् । अतात्त्विकान्यथाभावस्याविकारित्वाप्रयोजकत्वात् । अम्लेन दुग्धस्य दधिभावस्तु तात्त्विक इति । दृष्टांतवैषम्याच्च पुरुषस्य त्वंतःकरणोपाधिकोऽहं

ब्राह्मण इत्यादिव्यवहारः स्फटिकस्य जपाकुसुमसन्निधानोपाधिरूपक एव न तात्त्विकः जपाकुसुमापगमे स्फटिकस्य स्वस्वरूपस्थितिवदंतःकरणस्य सकलवृत्तिनिरोधे स्वरूपावस्थितिरच्युतैव पुरुषस्य ॥ २ ॥

भाषार्थ--अब आचार्य समाधिका जो क्रम उसके वर्णनकी प्रतिज्ञा करते हैं कि, इसके अनंतर अर्थात् आसन कुंभकमुद्रा वर्णन करनेके अनंतर इदानीं (इस अवसरमें) प्रत्याहार आदिरूप उस समाधिके क्रमको प्रकर्षतासे (पृथक्) कहता हूँ जो समाधिका क्रम आदिनाथकी कहीहुई संपादन कोटीरूप समाधियोंके प्रकारों (भेदों) में उत्तम है और जो मृत्युका निवारणकर्ता है अर्थात् अपनी इच्छासे देहके त्यागका जनक है और जो उत्पत्ति, मनका नाश, वासनाका क्षय इन तीनोंके होनेपर जीवन्मुक्तिरूप सुखका उपाय (साधन) है और जो परमब्रह्मानंदका कर्ता है अर्थात् प्रारब्ध कर्मका क्षय होनेपर जीव ब्रह्मको अभेदका ज्ञान होनेसे आत्यंतिक ब्रह्मानंदकी प्राप्तिरूप जो मुक्ति उसको करता है। वहां प्रथम समाधिसे चित्तका निरोध होता है और संस्कारसहित सम्पूर्णवृत्तियोंका निरोध होनेपर शांत घोर मूढ अवस्थाओंकी निवृत्ति होतसंते इत्यादि श्रुतिओंमें कहीहुई कि, ‘ जीवताहुआही ज्ञानी हर्षशोकसे छूटजाता है ’ निर्विकार स्वरूपमें स्थितिरूप जीवन्मुक्ति होजातीहै और परममुक्ति तो यह है कि, प्राप्त हुये भोगके अन्तमें अन्तःकरणके गुणोंका प्रतिप्रसव होनेसे औपाधिकरूपकी अत्यन्त निवृत्ति होनेपर आत्यंतिक स्वरूपमें अवस्थान प्रतिप्रसवसे सिद्ध है और व्युत्थान निरोध समाधि संस्कार ये सब मनमें लीन होजाते हैं और मन अस्मितामें अस्मिता महान्में महान् प्रधानमें लीन होजाता है. इसप्रकार चित्तके गुणोंका प्रतिप्रसव अर्थात् अपने २ कारणमें लयरूप प्रतिसर्ग होता है, कदाचित् कोई शंका करे कि, समाधिसे व्युत्थान (उठना) के समय मैं ब्राह्मण हूं मैं मनुष्य हूँ इत्यादि व्यवहारके देखनेसे चित्त आदिसे औपाधिक भावके पैदा होनेसे अम्लसे दूधके समान अपने ब्रह्मस्वरूपसे च्युति (पतन) होजायगा--सो ठीक नहीं है क्योंकि संप्रज्ञात समाधिमें अनुभूत (ज्ञात) जो आत्मसंस्कार उसके तात्त्विकत्व (यथार्थता) का निश्चय होजाता है और अतात्त्विक जो अन्यथाभाव है वह अधिकारित्वका प्रयोजक नहीं होता है--अम्लसे जो दूधका दधिभाव है वह तात्त्विक है इससे दृष्टांतभी विषम है--मनुष्यको तो अन्तःकरणरूप उपाधिसे मैं ब्राह्मण हूं इत्यादि व्यवहार होता है--और वह स्फटिकको जपाकुसुमकी संनिधानरूप उपाधिके समानही है तात्त्विक नहीं है--जपाकुसुमके हटानेपर स्फटिककी अपने स्वरूपमें स्थितिके समान अन्तःकरणकी सम्पूर्ण वृत्तियोंके निरोध होनेपर अपने स्वरूपमें स्थिति नष्ट नहीं होती है अर्थात् जीवन्मुक्तिकी अवस्थामें मनुष्य ब्रह्मरूपमें स्थित रहता है--भावार्थ यह है कि, इसके अनन्तर उत्तम मृत्युके नाशक - सुखका उपाय और परम ब्रह्मानन्दका जनक जो समाधिका क्रम उसको मैं अब वर्णन करता हूँ ॥ २ ॥

राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी ॥
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥ ३ ॥
अमनस्कं तथाद्वैतं निरालंबं निरंजनम् ॥
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥

समाधिपर्यायान् विशेषेणाह-राजयोग इत्यादिना श्लोकद्वयेन ॥ स्पष्टम् ॥ ३ ॥ ॥ ४ ॥

भाषार्थ-अब समाधिके पर्यायोंका वर्णन करते हैं कि, राजयोग-समाधि-उन्मनी-मनोन्मनी-अमरत्व-लय-तत्त्व-शून्याशून्यपरंपद-अमनस्क-अद्वैत-निरालंब-निरंजन-जीवन्मुक्ति-सहजा-तुर्या-ये सब एक समाधिकेही वाचक हैं। इन सब भेदोंका आगे वर्णन करेंगे ॥ ३ ॥ ४ ॥

सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ॥
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥ ५ ॥
यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ॥
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ॥ ६ ॥
तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः ॥
प्रनष्टसर्वसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥ ७ ॥

त्रिभिः समाधिमाह-सलिल इति ॥ यदेति ॥ तत्सममिति ॥ यद्वद्यथा सैंधवं सिंधुदेशोद्भवं लवणं सलिले जले योगतः संयोगात्साम्यं सलिलसाम्यं सलिलैक्यत्वं भजति प्राप्नोति तथा तद्वदात्मा च मनश्चात्ममनसी तयोरात्ममनसोरैक्यमेकाकारता । आत्मनि धारितं मन आत्माकारं सदात्मसाम्यं भजति तादृशमात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते समाधिशब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥ ५ ॥ ॥ ६ ॥ ॥ ७ ॥

भाषार्थ-जिसप्रकार सिंधुदेशमें उत्पन्न हुआ लवण जलकेविषे संयोगसे साम्यको भजता है अर्थात् जलका संयोग होनेसे जलके सङ्ग एकताको प्राप्त होजाता है तिसीप्रकारसे जो आत्मा और मनकी एकता है अर्थात् आत्मामें धारण किया हुआ मन आत्माकार होनेसे आत्मरूपको प्राप्त होजाता है उसी प्रकार आत्मा मनकी एकताको समाधि कहते हैं। जब प्राण भलीप्रकार क्षीण होजाता है और मनकाभी लय होजाता है उस समयमें

हुई जो समरसता उसकोभी समाधि कहते हैं और जीवात्मा और परमात्मा इन दोनोंकी एकतारूप कोही समता कहते हैं और उससमय नष्ट हुये हैं सम्पूर्ण संकल्प जिसमें उसको समाधि कहते हैं ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः ॥
ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते ॥८॥

अथ राजयोगप्रशंसा-राजयोगस्येति ॥ राजयोगस्यानंतरमेवोक्तस्य माहात्म्यं प्रभावं तत्त्वतो वस्तुतः को वा जानाति ? न कोऽपि जानातीत्यर्थः। तत्त्वतो वक्तुमशक्यत्वेऽप्येकदेशेन राजयोगप्रभावमाह- ज्ञानं स्वस्वरूपापरोक्षानुभवः मुक्तिर्विदेहमुक्तिः स्थितिर्निर्विकारस्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिः सिद्धिरणिमादिर्गुरुवाक्येन गुरुवचसा लभ्यते। राजयोगादिति शेषः ॥ ८ ॥

भाषार्थ-अब राजयोगकी प्रशंसाका वर्णन करते हैं कि, इसके अनंतर कहे हुये राजयोगके माहात्म्यको यथार्थरूपसे कौन जानता है अर्थात् कोई भी नहीं जानता है तत्त्वसे कहनेके अयोग्य भी एकदेशरूपसे राजयोगके प्रभावको वर्णन करते हैं कि, ज्ञान अर्थात् अपने आत्मास्वरूपका अपरोक्ष अनुभव और विदेहमुक्ति और निर्विकारस्वरूपमें अवस्थितिरूप जीवन्मुक्ति और अणिमाआदि सिद्धि ये सब गुरुके वाक्यसे प्राप्त हुये राजयोगकेद्वारा प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ॥
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥ ९ ॥

दुर्लभ इति ॥ विशेषेण सिन्वंत्यवबध्नंति प्रमातारं स्वसंगेनेति विषया ऐहिका दारादय आमुष्मिकाः सुधादयस्तेषां त्यागो भोगेच्छाभावो दुर्लभः। तत्त्वदर्शनमात्मापरोक्षानुभवः दुर्लभं सहजावस्था तुर्यावस्था सद्गुरोः 'दृष्टिं' स्थिरा यस्य विनैव दृश्यम्' इति वक्ष्यमाणलक्षणस्य करुणां दयां विनेति सर्वत्र संबध्यते। दुर्लभा लब्धुमशक्या 'दुःस्यात्कष्टनिषधयोः' इति कोशः। गुरुकृपया तु सर्वं सुलभमिति भावः ॥ ९ ॥

भाषार्थ-अपने प्रमाता (भोक्ता) को जो अपने संगसे विशेष करके बांधे उन्हें विषय कहते हैं और वे विषय इसलोकके स्त्री आदि और परलोकके अमृत आदि होते हैं उन विषयोंका त्याग दुर्लभ है और आत्माके अपरोक्षानुभवरूप तत्त्वका दर्शन दुर्लभ है-- और सहजावस्था (तुरीया अवस्था) दुर्लभ है अर्थात् ये पूर्वोक्त तीनों

सद्गुरुकी दयाके विना दुर्लभ हैं और गुरुकी दयासे तो संपूर्ण सुलभ है और सद्गुरुका स्वरूप यह कहेंगे कि, 'देखनेयोग्य पदार्थके विनाही जिसकी दृष्टि स्थिर हो' वह सद्गुरु होता है ॥ ९ ॥

विविधैरासनैः कुंभैर्विचित्रैः करणैरपि ॥
प्रबुद्धायां महाशक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते ॥१०॥

विविधैरिति ॥ विविधैरनेकविधैरासनैर्मत्स्येंद्रादिपीठैर्विचित्रैर्नानाविधैः कुम्भकैः । विचित्रैरिति काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र संबध्यते । विचित्रैरनेकप्रकारकैः । करणैर्हठसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकैर्महामुद्रादिभिर्महाशक्तौ कुंडलिन्यां प्रबुद्धायां गतनिद्रायां सत्यां प्राणो वायुः शून्ये ब्रह्मरंध्रे प्रलीयते लयं प्राप्नोति। व्यापाराभावः प्राणस्य प्रलयः १०

भाषार्थ-अनेक प्रकारके मत्स्येंद्र आदि आसन और विचित्र २ कुम्भक प्राणायाम और विचित्र अर्थात् अनेक प्रकारके हठसिद्धिमें कहे हुये महामुद्रा आदि इनसे जब महाशक्ति (कुण्डलिनी) प्रबुद्ध होजाती है अर्थात् निद्राको त्याग देती है तब प्राणवायु शून्य (ब्रह्मरंध्र) में लय होजाता है और व्यापारके अभावकोही प्राणका लय कहते हैं ॥ १० ॥

उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः ॥
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥११॥

उत्पन्नेति ॥ उत्पन्नो जातः शक्तिबोधः कुण्डलीबोधो यस्य तस्य त्यक्तानि परिहृतानि निःशेषाणि समग्राणि कर्माणि येन तस्य योगिनः। आसनेन कायिकव्यापारे त्यक्ते प्राणेंद्रियेषु व्यापारस्तिष्ठति । प्रत्याहारधारणाध्यानसंप्रज्ञातसमाधिभिर्मानसिकव्यापारे त्यक्ते बुद्धौ व्यापारस्तिष्ठति ' असंगो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतेरपरिणामी शुद्धः पुरुषः सत्त्वगुणात्मिका परिणामिनी बुद्धिरिति ॥११ ॥

भाषार्थ-उत्पन्न हुआ है कुण्डलिनीरूप शक्तिका बोध जिसको और त्याग दिये हैं संपूर्ण कर्म जिसने ऐसे योगीको स्वयंही सहजावस्था होजाती है-क्योंकि आसन बांधनेसे देहके व्यापारका त्याग होनेपर प्राण और इन्द्रियोंमें व्यापार बना रहता है और प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-संप्रज्ञातसमाधि इनसे मानसिक व्यापारके त्याग होनेपर बुद्धिमें व्यापार टिकता है, क्योंकि इस श्रुतिमें असंग यह पुरुष है यह कहा है इससे पुरुष

अपरिणामी और शुद्ध है और सत्त्वगुणरूप बुद्धि परिणामवाली है और उत्तमवैराग्यसे व दीर्घकालतक संप्रज्ञात समाधिके अभ्याससे बुद्धिके व्यापार कभी त्याग होनेपर नीर्विकार-स्वरूपमें स्थिति होजाती है वही सहजावस्था, तुर्यावस्था, जीवन्मुक्ति अन्यप्रयत्नके विनाही होजाती है क्योंकि इस श्रुतिमें लिखा है कि, जिससे त्यागता है उसकोभी त्यागकर बुद्धिसे संगरहित होजाय ॥ ११ ॥

सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे ॥
तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् ॥ १२ ॥

परवैराग्येण दीर्घकालसंप्रज्ञाताभ्यासेनैव वा बुद्धिव्यापारे परित्यक्ते निर्विकार स्वरूपावस्थितिर्भवति सैव सहजावस्था तुर्यावस्था जीवन्मुक्तिः स्वयमेव प्रयत्नांतरं विनैव प्रजायते प्रादुर्भवति । 'येन त्यजसि तत्त्यजेति निःसंगः प्रज्ञया भवेत्' इति च श्रुतेः ॥ सुषुम्नेति । प्राणे वायौ सुषुम्नावाहिनि मध्यनाडाप्रवाहिनि सति मानसेऽतःकरणे शून्ये देशकालवस्तुपरिच्छेदहीने ब्रह्मणि विशति सति तदा तस्मिन् काले योगाविच्चित्तवृत्तिनिरोधज्ञः सर्वाणि कर्माणि समारब्धानि निर्मूलानि करोति निर्मूलयति 'निर्मूलशब्दात् तत्करोति' इति णिच् ॥ १२ ॥

भाषार्थ-प्राणवायु जब सुषुम्नामें बहने लगता है और मन, देश, काल, वस्तुके परिच्छेदसे शून्यब्रह्ममें प्रविष्ट होजाता है उस समय चित्तवृत्तिके निरोधका ज्ञाता योगी प्रारब्धसहित संपूर्णकर्माको निर्मूल (नष्ट) करदेता है ॥ १२ ॥

अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जितः ॥
पतितं वदने यस्य जगदेतच्चराचरम् ॥ १३ ॥

समाध्यभ्यासेन प्रारब्धकर्मणोऽप्यभिभवाज्जितकालं योगिनं नमस्करोति अमरायेति ॥ न म्रियत इत्यमरः । तस्मा अमराय चिरंजीविने तुभ्यं योगिने नमः । सोऽपि दुर्वारोऽपि कालो मृत्युस्त्वया योगिना जितोऽभिभूतः । इदं वाक्यं नमस्करणे हेतुः । स कः यस्य कालस्य वदने मुखे एतद्दृश्यमानं चराचरं स्थावरजंगमं जगत्संसारः पतितः सोऽपि जगद्भक्षकोऽपीत्यर्थः ॥ १३ ॥

भाषार्थ-समाधिके अभ्याससे प्रारब्धकर्मकाभी तिरस्कार हो जाता है इससे जिसने कालकोभी जीत लिया है उस योगीको सब नमस्कार करते हैं कि, तिस अमर (चिरजीवी) आपको नमस्कार है, जिसने दुःखसे निवारण करने योग्यभी वह काल (मृत्यु) जीत लिया जिस कालके मुखमें यह स्थावर जंगमरूप चराचर जगत् पतित है ॥ १३ ॥

चित्ते समत्वमापन्ने वायौ व्रजति मध्यमे ॥
तदामरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते ॥ १४ ॥

पूर्वोक्तममरोल्यादिकं समाधिसिद्धावेव सिद्ध्यतीति समाधिनिरूपणानंतरं समाधिसिद्धौ तत्सिद्धिरित्याह-चित्त इति ॥ चित्तेऽतःकरणे समत्वं ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहत्वं आपन्ने प्राप्ते सति वायौ प्राणे मध्यमे सुषुम्नायां व्रजति सतीति चित्तसमत्वे हेतुः । तदा तस्मिन् काले अमरोली वज्रोली सहजोली च पूर्वोक्ताः प्रजायंते नाजितप्राणस्य न चाजितचित्तस्य सिद्ध्यंतीति भावः ॥ १४ ॥

भाषार्थ-पूर्वोक्त अमरोली आदि मुद्रा समाधिके सिद्ध होनेपरही सिद्ध हो जाती हैं इससे समाधिनिरूपणके अनंतर समाधिके सिद्ध होनेपर उनकीभी सिद्धिका वर्णन करते हैं, कि जब अंतःकरणरूप चित्त ध्यान करने योग्य वस्तुके आकारवृत्ति प्रवाहको प्राप्त होजाता है अर्थात् ब्रह्माकार होजाता है और प्राणवायु सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाता है अर्थात् इसप्रकार चित्तकी समता होनेपर उसकालमें अमरोली, वज्रोली, सहजोली ये पूर्वोक्त मुद्रा भलीप्रकार होजाती हैं और जिसने प्राण और चित्तको नहीं जीता उसको सिद्ध नहीं होती है ॥ १४ ॥

ज्ञानं कुतो मनसि संभवतीहताव-
त्प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत् ॥
प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो
मोक्षं स गच्छति नरो न कथंचिदन्यः ॥ १५ ॥

हठाभ्यासं विना ज्ञानं मोक्षश्च न सिद्ध्यतीत्याह-ज्ञानमिति ॥ यावत्प्राणो जीवति । अपिशब्दादिंद्रियाणि जीवंति न तु म्रियंते । यावन्मनो न म्रियते किंतु जीवत्येव । इडापिंगलाभ्यां वहनं प्राणस्य जीवनं स्वस्वविषयग्रहणमिंद्रियाणां जीवनं नानाविषयाकारवृत्त्युत्पादनं मनसो जीवनं तत्तद्भावतत्तन्मरणमत्र विवक्षितम् । ननु स्वरूपतस्तेषां नाशस्तवन्मनस्यंतःकरणे ज्ञानमात्मापरोक्षानुभवः कुतः संभवति न । कर्तापि प्राणेंद्रियमनोवृत्तीनां ज्ञानप्रतिबंधकत्वादिति भावः । प्राणो मनः इदं द्वयं यो योगी विलयं नाशं नयेत्स मोक्षमात्यंतिकस्वरूपावस्थानलक्षणं गच्छति प्राप्नोति । ब्रह्मरंध्रे निर्व्यापारस्थितिः प्राणस्य लयः । ध्येयाकारावेशात् । विषयांतरेणापारेण मनसो लयोऽन्यः । अलीनप्राणोऽलीनमनाश्च कथंचिदुपायशतेनापि न मोक्षं प्राप्नोती-

स्यर्थः । तदुक्तं योगबीजे–नानाविधैर्विचारैस्तु न साध्यं जायते मनः । तस्मात्तस्य जयः प्रायः प्राणस्य जय एव हि' इति । नानामार्गैं सुखःदुःखप्रायं कैवल्यं परमं पदं 'सिद्धमार्गेण लभ्येत नान्यथा शिव भाषितम्' इति च । सिद्धमार्गो योगमार्गः । एतेन योगं विना ज्ञानं मोक्षश्च न सिद्ध्यतीति सिद्धम् । श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिषु चेदं प्रसिद्धम् । तथाहि अथ 'तद्दर्शनाभ्युपायो योग' इति तद्दर्शनमात्मदर्शनम् । 'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' इति । 'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगाद्वेद' इति 'यदा पंचावतिष्ठंते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम् ॥ तां योगमिति मन्यंते स्थिरामिंद्रियधारणाम् । अप्रमत्तस्तदा भवति' इति । 'यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दयोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् । अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ ब्रह्मणे त्वा महस ओमित्यात्मानं युंजीतेति त्रिरुन्नतः स्थाप्य समशरीरः हृदींद्रियाणि मनसा सन्निवेश्य ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि' इति । 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' इत्याद्याः श्रुतयः ॥ यतिधर्मप्रकरणे मनुः–'भतभाव्यनवेक्षेत योगेन परमात्मनः । देहद्वयं विहायाशु मुक्तो भवति बंधनात् ॥' याज्ञवल्क्यस्मृतौ–इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् । अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥' महर्षिमातंगः–'अग्निष्टोमादिकान् सर्वान् विहाय द्विजसत्तम । योगाभ्यासरतः शांतः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीशूद्राणां च पावनम् । शांतये कर्मणामन्यद्योगान्नास्ति विमुक्तये ॥' दक्षस्मृतौ व्यतिरेकमुखेनोक्तम्–'स्वसंवेद्यं हि तद्ब्रह्म कुमारी स्त्रीसुखं यथा । अयोगी नैव जानाति जात्यंधो हि यथा घटम्' इत्याद्याः स्मृतयः ॥ महाभारते योगमार्गे व्यासः–'अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकांक्षिणी । तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम् ॥ यदि वा सर्वधर्मज्ञो यदि वाप्यकृती पुमान् । यदि वा धार्मिकः श्रेष्ठो यदि वा पापकृत्तमः ॥ यदि वा पुरुषव्याघ्रो यदि वा क्लैब्यधारकः । नरः सेव्यं महादुःखं जरामरणसागरम् ॥ अपि जिज्ञासमानोऽपि शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥' इति ॥ भगवद्गीतायाम्–'युंजन्नेव सदात्मानं योगी नियतमानसः । शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ यत्सांख्यैः प्राप्यते

स्थानम्' इत्यादि च॥ आदित्यपुराणे-'योगात्संजायते ज्ञानं योगो मय्ये-कचित्तता॥' स्कंदपुराणे-'आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्च योगादृते नहि। स च योगश्चिरं कालमभ्यासादेव सिद्ध्यति॥' कूर्मपुराणे शिववाक्यम्-'अतःपरं प्रवक्ष्यामि योगं परमदुर्लभम्। येनात्मानं प्रपश्यंति भानुमंतमिवेश्वरम्। योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपंजरम्॥ प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति॥' गरुडपुराणे-'तथा यतेत मतिमान्यथा स्यान्निर्वृतिः परा। योगेन लभ्यते सा तु न चान्येन तु केनचित्॥ भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम्। परावरप्रसक्ता धीर्यस्य निर्वेदसंभवा॥स च योगाग्निना दग्धसमस्तक्लेशसंचयः।निर्वाणं परमं नित्यं प्राप्नोत्येव न संशयः॥संप्राप्तयोगसिद्धिस्तु पूर्णो यस्त्वात्मदर्शनात्। न किंचिद्दृश्यते कार्यं तेनैव सकलं कृतम्॥आत्मारामःसदा पूर्णः सुखमात्यंतिकं गतः। अतस्तस्यापि निर्वेदः परानंदमयस्य च॥तपसा भावितात्मानो योगिनः संयतेंद्रियाः। प्रतरंति महात्मानो योगेनैव महार्णवम्॥' विष्णुधर्मेषु-'यच्छ्रेयः सर्वभूतानां स्त्रीणामप्युपकारकम्। अपि कीटपतंगानां तन्नः श्रेयः परं वद॥ इत्युक्तः कपिलः पूर्वं देवैर्देवर्षिभिस्तथा। योग एव परं श्रेयस्तेषामित्युक्तवान् पुरा॥' वासिष्ठे-'दुःसहो राम संसारविषवेगविषूचिका।योगगारुडमंत्रेण पावनेनोपशाम्यति॥'ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यैरप्यपरोक्षप्रमाणं भवतीति किमर्थमतिश्रमसाध्ये योगे प्रयासः कार्यः। न च वाक्यजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वे प्रमाणासंभव इति वाच्यम्।तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानमपरोक्षम्।अपरोक्षविषयकत्वात्। चाक्षुषघटादिप्रत्ययवदित्यनुमानस्य प्रमाणत्वात्।न च विषयगतापरोक्षत्वस्य नीरूपत्वाद्धेतुत्वासिद्धिरितिवाच्यम्। अज्ञानविषयचित्ततत्तादात्म्यापन्नत्वान्यतररूपस्य तस्य सुनिरूपत्वात्।यथा हि घटादौ चक्षुःसन्निकर्षेणांतःकरणवृत्तिदशायांतदधिष्ठानचैतन्याज्ञाननिवृत्तौ तच्चैतन्यस्याज्ञानविषयतातद्घटस्याज्ञानविषयचैतन्यतादात्म्यापन्नत्वं चापरोक्षत्वम्।तथा तत्त्वमस्यादिवाक्येन शुद्धचैतन्याकारांतःकरणवृत्त्युत्पत्तौ सति तदज्ञानस्य विवृत्तत्वेनैव तत्त्वस्याज्ञानविषयत्वाच्चैतस्यस्यापरोक्षत्वमिति न हेत्वासिद्धिः। न चाप्रयोजकत्वं ज्ञानगम्यत्वापरोक्षत्वं प्रत्यक्षपरोक्षविषयकत्वेन प्रयोजकत्वात्। नत्विन्द्रियजन्यत्वं मनस इंद्रियत्वाभावेन सुखादिपरत्वे व्यभिचारात्।अथवाभिव्यक्तचैतन्याभिन्नतया भासमानत्वं विषयस्यापरोक्षत्वम्।अभिव्यक्तत्वं च निवृत्त्यावर-

शकत्वं परोक्षवृत्तिस्थले चावरणनिवृत्त्यभावान्नातिव्याप्तिः।सर्पादिभ्रमजनकदोषवतस्तु नायं सर्पः किंतु रज्जुरिति वाक्येन जायमाना वृत्तिस्तु नावरणं निवर्तयतीति तत्र परोक्ष एव विषयः।वेदांतवाक्यजन्यं च ज्ञानमावरणनिवर्तकत्वादपरोक्षमेव तन्मननादेः पूर्वमुत्पन्नम् । ज्ञाननिवर्तकप्रमाणासंभावनादिदोषसामान्याभावविशिष्टस्यैव तस्याज्ञाननिवर्तकत्वात् । किंच 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति श्रुतिप्रतिपन्नमुपनिषन्मात्रागम्यत्वं योगगम्यत्वेनोपपन्नं स्यात् । तस्मात्तत्त्वमस्यादिवाक्यादेवापरोक्षमिति चेन्न । अनुमानस्याप्रयोजकत्वात् । न च प्रत्यक्षं प्रति निरुक्ताक्षसामान्यं प्रतींद्रियत्वेन कारणतया तज्जन्यत्वस्यैव प्रयोजकत्वान्नित्यानित्यसाधारणप्रत्यक्षत्वे तु न किंचित्प्रयोजकत्वमिति । तन्मते तु प्रत्यक्षविशेषे इंद्रियं कारणं तद्विशेषे च शब्दविशेष इत्येवं कार्यकारणभावद्वयं स्यात् । न च मनसोऽनिंद्रियत्वं मनस इंद्रियत्वे बाधकाभावादिंद्रियाणां मनो नाथ इति मनुष्यामिवोद्दिश्य मनुष्याणामयं राजेत्यादिवदिंद्रियेष्वेव किंचिदुत्कर्षं ब्रवीति । न तु तस्याप्यनिंद्रियत्वं तत्त्वं च षट्खंडोपाधिविशेष एव । अत एव 'कर्मेंद्रियं तु पाय्वादि मनोनेत्रादि धींद्रियम्' इति 'प्रत्यक्षं स्यादैंद्रियकमप्रत्यक्षमतींद्रियम्' इति च शाक्तिप्रमाणभूतकोशेऽपींद्रियाप्रमाणकज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वं वदन् मनस इंद्रियत्वज्ञापकत्वं संगच्छते । 'इंद्रियाणि दशैकं च' इति गीतावचनं मनस इंद्रियत्वे प्रमाणम् । किंच तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानं शाब्दम् । शब्दजन्यत्वाद् 'यजेत' इत्यादिवाक्यजन्यज्ञानवदित्यनेनापरोक्षविरोधिशाब्दत्वसाधकेन सत्प्रतिपक्षः।न चेदमप्रयोजकम् । शाब्दं प्रत्येव शब्दस्य जनकत्वेन लाघवमूलकानुकूलतर्कात्।त्वन्मते तु शब्दादपि प्रत्यक्षस्वीकारेण कार्यकारणभावद्वयकल्पने गौरवम्। अपि च मनननिदिध्यासनाभ्यां पूर्वमप्युत्पन्नम्।तव मते परोक्षमपि नाज्ञाननिवर्तकमित्यज्ञाननिवृत्तिं प्रति बाधज्ञानत्वेनैव हेतुत्वमिति गौरवम् । मम तु समाध्यभ्यासपरिपाकेनासंभावनादिसकलमलरहितेनांतःकरणेनात्मनि दृष्टे सति दर्शनमात्रादेवाज्ञाने निवृत्ते न कश्चिद्द्वारवावकाशः। 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः । यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञ' इत्यारभ्याज्ञाननिवृत्त्यर्थकेन 'मृत्युमुखात्प्रमुच्यते' इत्यंतेन कठवल्लीस्थश्रुत्युपदेशेन संमतोऽयमर्थ इति न कश्चिदत्र विवादः इति।यदि तु मननादेः

पूर्वमुत्पन्नं ज्ञानं परोक्षमेवेति न प्रतिबद्धत्वकृतगौरवमिति मतमाद्रियते तदपि श्रवणादिभिर्मनःसंस्कारे सिद्धेऽव्यवहितोत्तरमात्मदर्शनसंभवात्तदुत्तरं वाक्यस्मरणादिकल्पनं महद्गौरवापादकमेव। ननु न वयं केवलेन तर्केण शब्दजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वं वदामः किंतु श्रुत्यापि। तथाहि–'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति श्रुत्या चौपनिषदत्वं पुरुषस्य नोपनिषज्जन्यबुद्धिविषयत्वमात्रं प्रत्यक्षादिगम्येप्यौपनिषदत्वे व्यवहारापत्तेः। यथा हि द्वादशकपालेऽष्टानां कपालानां सत्त्वेऽपि द्वादशकपालसंस्कृतेनाष्टाकपालादिव्यवहारः। यथा द्विपुत्रादावेकपुत्रादिव्यवहारस्तथात्रापि। नान्यत्र तथा व्यवहार इति। उपनिषन्मात्रगम्यत्वमेव प्रत्ययार्थः। तच्च मनोगम्यत्वेऽनुपपन्नमिति चेन्न। नहि प्रत्ययेनोपनिषद्भिन्नं सर्वं कारणत्वेन व्यावर्त्यते। शब्दापरोक्षवादिना त्वयाप्यात्मपरोक्षे मनआदीनां करणत्वस्यांगीकारात्। किंतु पुराणादिशब्दांतरमेव 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः' इति स्मरणात्स चार्थो ममापि संमत इति न किंचिदेतत्। प्रमाणांतरव्यावृत्तौ तात्पर्यकल्पनं चात्मपरोक्षे शब्दस्य प्रमाणत्वे सिद्ध एव वक्तुमुचितम्। शब्दांतरव्यावृत्तितात्पर्यं तु श्रुत्यादिसंमतत्वात्कल्पयितुमुचितमेव। एवं स्थिते मनसैवानुद्रष्टव्यं मनसैवेदमाप्तव्यम्' इत्यादिश्रुतयोऽप्यांजस्येन प्रतिपादिता भवेयुः। यत्तु कैश्चिदुक्तम्। दर्शनवृत्तिं प्रति मनोमात्रस्योपादानत्वपरायत्ताः श्रुतयाने विरुध्यंत इति तदतीव विचारासहम्। यतः प्रमाणकांक्षायां प्रवृत्तास्ताः कथमुपादानपरा भवेयुः। 'कामः संकल्पो विचिकित्सा' इत्यादिश्रुत्या सावधारणया सर्वासां वृत्तीनां मनोमात्रोपादानकत्वे बोधिते आकांक्षाभावेनोपादानतात्पर्यकत्वेन वर्णयितुं कथं शक्येरन्। पूर्वं द्वितीयवल्यां प्रणवस्य ब्रह्मबोधकत्वेनोक्तेस्तस्याप्यपरोक्षहेतुत्वमिति शंकां निवारयितुं मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इत्यादिसावधारणवाक्यानीत्येव वर्णयितुं शक्यानि स्युरित्य लमतिवाग्जालेन। वस्तुतस्तु योगिनां समाधौ दूरविप्रकृष्टपदार्थज्ञानं सर्वशास्त्रप्रसिद्धं न परोक्षम्। तदानीं परोक्षसामग्र्यभावात्। नापि स्मरणम्। तेषां पूर्वविशिष्यानानुभवात्। नापि सुखादिज्ञानवत्साक्षिरूपम्। अपसिद्धांतात् नाप्यप्रमाणकं प्रमासामान्ये करणनियमात्। नापि चक्षुरादिजन्यम्। तेषामसन्निकर्षात्। तस्मान्मानसिकी प्रमैव सा वाच्येति मनस इन्द्रियत्वं प्रमाणत्वं च दूरमपह्नवमेवेति। येऽपि योगश्रुत्योः समुच्चयं कल्पयंति तेषामपि पूर्वोक्तदूषणगणस्तदवस्थ एव।

तस्माद्योगजन्यसंस्कारसचिवमनोमात्रगम्य आत्मेति सिद्धम् । न च कामिनीं भावयतो व्यवहितकामिनीसाक्षात्कारस्येव भावनाजन्यत्वेनात्मसाक्षात्कारस्याप्रमात्वप्रसंगः। अबाधितविषयत्वात् दोषजन्यत्वाभावाच्च । कामिनीसाक्षात्कारस्य तु बाधितविषयत्वाद्दोषजन्यत्वाच्चाप्रामाण्यं न । भावनाजन्यत्वात् । न च भावनासमाधेर्ज्ञापकत्वे प्रमाणांतरापातः । तस्या मनःसहकारित्वात्प्रमाणनिरूपणानिपुणैर्नैयायिकादिभिरपि योगजप्रत्यक्षस्यालौकिकप्रत्यक्षेऽतर्भावः कृतः । योगजालौकिकसन्निकर्षेण योगिनो व्यवहितविप्रकृष्टसूक्ष्मार्थमात्मानमपि यथार्थं पश्यंति । तथा च पातंजले सूत्रे—"ऋतंभरा तत्र प्रज्ञाश्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषयाविशेषार्थत्वात् " तत्र समाधौ या प्रज्ञास्याः श्रुतं श्रवणं शाब्दबोधः । अनुमननमनुमानं यौक्तिकज्ञानं तद्रूपप्रज्ञाभ्यामन्यविषया । कुतः । विशेषार्थत्वात । विशेषो निर्विकल्पोऽर्थो विषयो यस्याः सा तथा तस्या भावस्तथात्वं तस्माच्छब्दस्यापदार्थतावच्छेदकपुरस्कारेणैवानुमानस्य व्यापकत्वावच्छेदकपुरस्कारेणैव बीजनकत्वनियमेन तद्ग्रहणे योग्यविशेष्यमात्रपरत्वादित्यर्थः। अत्र बादरायणकृतं भाष्यम्—श्रुतमागमविज्ञानं तत्सामान्यविषयं नह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुं कस्मान्नहि विशेषेण कृतसंकेतः शब्द इत्यारभ्य समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव सविशेषो भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वेति॥ योगबीजे-'ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽपि जितेंद्रियः । विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये॥' किंच—'तदेव सक्तः सह कर्मणेति लिंगं मनो यत्र निषिक्तमस्य' इति श्रुतेः । 'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' इति स्मृतेश्च देहावसानसमये यत्र रागाद्युद्बुद्धो भवति तामेव योनिं जीवः प्राप्नोतीति योगहीनस्य जन्मांतरं स्यादेव मरणसमये समुद्भूतवैक्लव्यस्यायोगिना वारयितुमशक्यत्वात्।तदुक्तं योगबीजे 'देहावसानसमये चित्ते यद्यद्विभावयेत् । तत्तदेव भवेज्जीव इत्येवं जन्मकारणम्॥ देहांते किं भवेज्जन्म तन्न जानंति मानवाः। तस्माज्ज्ञानं च वैराग्यं जपश्च केवलं श्रमः ॥ पिपीलिका यदा लग्ना देहे ज्ञानाद्विमुच्यते । असौ किं वृश्चिकैर्दष्टो देहांते वा कथं सुखी ॥ ' इति । योगिनां तु योगबलेनांतकालेऽप्यात्मभावनया मोक्ष एवेति न स्याज्जन्मांतरम्। तदुक्तं भगवता-'प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।' इत्यादिना । 'शतं चैका हृदयस्य नाड्यः' इत्यादि श्रुतेश्च । न च तत्त्वमस्यादिवाक्यस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वे तद्विचारस्य वैयर्थ्यमेवेति

शंक्यम्। वाक्यविचारजन्यज्ञानस्य योगद्वाराऽपरोक्षज्ञानसाधनत्वात्। अत्र च योगबीजे गौरीश्वरसंवादो महानास्ति ततः किंचिल्लिख्यते। देव्युवाच॥ ज्ञानिनस्तु मृता ये वै तेषां भवति कीदृशी गतिः कथय देवेश कारुण्यामृतवारिधे॥ ईश्वर उवाच॥ देहांते ज्ञानिना पुण्यात्पापात्फलमवाप्यते। यादृशं तु भवेत्तत्तद्भुक्त्वा ज्ञानी पुनर्भवेत्॥ पश्चात्पुण्येन लभते सिद्धेन सह संगतिम्। ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा॥ ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम्॥ देव्युवाच॥ ज्ञानादेव हि मोक्षं च वदंति ज्ञानिनः सदा। न कथं सिद्धयोगेन योगः किं मोक्षदो भवेत्॥ ईश्वर उवाच॥ ज्ञानेनैव हि मोक्षो हि तेषां वाक्यं तु नान्यथा। सर्वे वदंति खड्गेन जयो भवति तर्हि किम्॥ विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात्। तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत्॥' इत्यादि। ननु जनकादीनां योगमंतरेणाप्यप्रतिबद्धज्ञानमोक्षयोः श्रवणात्कथं योगादेवाप्रतिबद्धज्ञानं मोक्षश्चेति चेत्। उच्यते। तेषां पूर्वजन्मानुष्ठितयोगजसंस्काराज्ज्ञानप्राप्तिरिति पुराणादौ श्रूयते। तथाहि-'जैगीषव्यो यथा विप्रो यथा चैवासितादयः। क्षत्रिया जनकाद्यास्तु तुलाधारादयो विशः॥ संप्राप्ताः परमां सिद्धिं पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः। धर्मव्याधादयः सप्त शूद्राः पैलवकादयः॥ मैत्रेयी सुलभा शार्ङ्गी शांडिली च तपस्विनी। एते चान्ये च बहवो नीचयोनिगता अपि॥ ज्ञाननिष्ठां परां प्राप्ताः पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः॥' इति। किंच। पूर्वजन्मानुष्ठितयोगाभ्यासपुण्यतारतम्येन केचिद्ब्रह्मत्वं केचिद्ब्रह्मपुत्रत्वं केचिद्देवर्षित्वं केचिद्ब्रह्मर्षित्वं केचिन्मुनित्वं केचिद्भक्तत्वं च प्राप्ताः संति। तत्रोपदेशमंतरेणैवात्मसाक्षात्कारवंतो भवेयुः। तथाहि-हिरण्यगर्भवसिष्ठनारदसनत्कुमारवामदेवशुकादयो जन्मसिद्धा इत्येव पुराणादिषु श्रूयते। यत्तु ब्राह्मण एव मोक्षाधिकारीति श्रूयते पुराणादौ तद्योगिपरम्। तदुक्तं गरुडपुराणे-"योगाभ्यासो नृणां येषां नास्ति जन्मांतराहृतः। योगस्य प्राप्तये तेषां शूद्रवैश्यादिकक्रमः॥ स्त्रीत्वाच्छूद्रत्वमभ्येति ततो वैश्यत्वमाप्नुयात्। ततश्च क्षत्रियो विप्रः कृपाहीनस्ततो भवेत्॥ अनूचानः स्मृतो यज्वा

कर्मन्यासी ततः परम् । ततो ज्ञानित्वमभ्येति योगी मुक्तिं क्रमाल्लभेदित्यर्थः । इत्थं च योगे सर्वाधिकारश्रवणाद्योगोत्पन्नतत्त्वज्ञानेन सर्व एव मुच्यते इति सिद्धम् । योगिनस्तु भ्रष्टस्यापि न शूद्रादिक्रमः । 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ अथवा योगिनामेव' इत्यादि भगवद्वचनादित्यलम् ॥ १५ ॥

भाषार्थ-अब हठाभ्यासके विना ज्ञान और मोक्ष सिद्ध नहीं होते इसका वर्णन करते हैं कि, जबतक प्राण और इंद्रिय जीवते हैं और मनभी नहीं मरता है अर्थात् जीवता है इडा और पिंगलामें प्राणके बहनेको प्राणका जीवन और अपने २ विषयोंका ग्रहण करना इंद्रियोंका जीवन और नाना प्रकारके विषयोंको उत्पन्न करना मनका जीवन कहाताहै-और तिस २ भावको प्राप्त हो जानाही यहां तिस २ का मरण विवक्षित है कुछ स्वरूपसे इनका नाश विवक्षित नहीं है-तबतक मनरूप अन्तःकरणमें अपरोक्षानुभवरूप ज्ञान कैसे हो सकता है अर्थात् कदाचित्भी नहीं हो सकताहै, क्योंकि प्राण, इंद्रिय, मन इनकी जो वृत्ति हैं वे ज्ञानकी प्रतिबन्धक होती हैं-और जो योगी प्राण और मन इन दोनोंका विशेषकर लय करदेता है वह योगी आत्यंतिक स्वरूपमें स्थितिरूप मोक्षको प्राप्त होताहै-और ब्रह्मरंध्रमें जो विना व्यापार प्राणकी स्थिति वही प्राणका लय कहाता है और ब्रह्मसे भिन्न विषयोंमें व्यापाररहित होनाही मनका लय कहाता है और जो अन्य है अर्थात् जिसके प्राण और मनका लय नहीं हुआहै वह योगी सैकड़ों उपायोंसेभी किसीप्रकार मोक्षको प्राप्त नहीं होताहै सोई योगबीजमें कहाहै कि, नानाप्रकारके विचारोंसे तो मन साध्य नहीं होताहै तिससे तिस मनका जयही प्राणका जय है अनेकप्रकारके मार्गोंसे बहुधा जिसमें सुख दुःख है वह जन्म होताहै और योगमार्गसे कैवल्य (मोक्ष) रूप परमपद मिलताहै अन्यथा नहीं मिलताहै यह शिवजीका कथन है इससे यह सिद्धभया कि, योगके विना ज्ञान और मोक्ष सिद्ध नहीं होते हैं और श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदिकोंमें भी यही प्रसिद्ध है कि इसके अनंतर आत्मदर्शनका उपाय योग है और अध्यात्मयोगकी प्राप्तिसे देवको मानकर धीरमनुष्य हर्ष और शोकको त्यागताहै और श्रद्धा भक्ति ध्यान योगसे आत्माको जानता भया-और जब मनसहित पांचों ज्ञान इंद्रिय विषयोंसे रहित टिकती हैं और बुद्धि भी चेष्टा न करती हो उसको परमगति योगीजन कहते हैं-और उस स्थिर इंद्रियोंकी धारणाकोही योग मानते हैं और उससमय योगी अप्रमत्त होजाताहै और जीव दयावान् आत्मतत्व (आत्मज्ञान) से योगी ब्रह्मतत्त्वको देखताहै तब अज और नित्य जो संपूर्णतत्त्वोंसे विशुद्ध देव है उसको जानकर संपूर्णबंधनोंसे छुटता है ब्रह्मरूप तेज तुम आत्माकी ओंकाररूपसे उपासना करै-और तिन उन्नत (सीधे) और सम शरीरको स्थापन करके और मन सहित इंद्रियोंको हृदयमें प्रविष्ट करके ब्रह्मनामसे भयके दाता संपूर्ण स्रोतोंको विद्वान् योगी तरै-ओंकाररूपसे आत्माका ध्यान करो-और

यतिधर्म प्रकरणमें मनुने लिखा है कि, परमात्माके योगसे भूत और भावी पदार्थोंको देखै तो स्थूल सूक्ष्मरूप दोनों देहोंको शीघ्र त्यागकर बन्धनसे छुट जाता है--याज्ञवल्क्यस्मृतिमें लिखा है कि, यज्ञ, आचार, इंद्रियोंका दमन, अहिंसा, दान, स्वाध्याय, कर्म--इनका यही परमधर्म है कि, योगसे आत्माको देखना--मातंगमहर्षिका वाक्य है ब्राह्मण अग्निष्टोम आदि संपूर्ण यज्ञोंको छोडकर योगाभ्यासमें तत्पर हुआ शांत होकर परब्रह्मको प्राप्त होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री और शूद्र इनके लिये पवित्रकर्मोंकी शांति और मुक्तिके अर्थ योगसे अन्य कोई वस्तु नहीं है--दक्षस्मृतिमें निषेधमुखसे कहा है कि, स्वसंवेद्य (स्वयं जानाजाय) जो वह ब्रह्म उसको योगीसे भिन्न इस प्रकार नहीं जानते हैं जैसे कुमारी (कन्या) स्त्रीके सुखको और जन्मांध वटको नहीं जानता है--इत्यादि स्मृतियोंमें और महाभारतमें भी योगमार्गमें व्यासने कहा है कि, वर्णावकृष्ट (पतित) वा धर्मकांक्षिणी नारी हो वे दोनों भी इस मार्गसे परमगतिको प्राप्त होते हैं संपूर्णधर्मोंका ज्ञाता हो वा अकृती (पुण्यहीन) हो धार्मिक हो वा अत्यंत पापी हो पुरुष हो वा नपुंसक हो ऐसा मनुष्यभी जरामरणसमुद्रके महादुःखके सेवनके जाननेका अभिलाषी शब्दब्रह्मका अवलम्बन करता है भगवद्गीतामें भी लिखा है कि, वशीभूत है मन जिसके ऐसा मनुष्य सदा इसप्रकार आत्मयोगको करता हुआ मेरेमें स्थितिरूप और मोक्ष है परम जिसमें ऐसे शान्तिरूप स्थानको प्राप्त होता है जो स्थान सांख्योंको प्राप्त होता है उसीमें योगीभी जाते हैं--आदित्यपुराणमें लिखा है, कि योगसे ज्ञान होताहै और मेरेमें एक रस चित्त रखनेको योग कहते हैं। स्कंदपुराणमें लिखा है कि, आत्मज्ञानसे मुक्ति होती है वह आत्मज्ञान योगके विना नहीं हो सकता और वह योग चिरकालके अभ्याससेही सिद्ध होता है--कूर्मपुराणमें शिवजीका वाक्य है कि, इससे आगे परमदुर्लभ योगको कहताहूँ जिससे सूर्यके समान ईश्वर आत्माको योगी देखते हैं और योगरूप अग्नि शीघ्रही सम्पूर्ण पापके पंजरको दग्ध करती है और प्रसन्न ज्ञान होता है और ज्ञानसे मोक्ष होजाता है--गरुणपुराणमें कहा है कि, बुद्धिमान् मनुष्य तिसप्रकार यत्न करे जैसे परमसुखहो और वह सुख योगसे मिलता है अन्य किसीसे नहीं--संसारके तापोंसे तपायमान मनुष्योंके लिये योग परम औषध है जिसकी निर्वेद (वैराग्य) से उत्पन्न हुई बुद्धि परअवरमें प्रसक्त है योगरूप अग्निसे दग्धहुये हैं समस्त क्लेशसंचय जिसके ऐसा वह परमनिर्वाणपदको सदैव प्राप्त होता है इसमें संशय नहीं है--प्राप्त हुईही है योगसिद्धि जिसको उसको और आत्माके दर्शनसे पूर्ण जो है उसको कुछभी कर्तव्य नहीं देखते उसने सब कर लिया--आत्माराम और सदा पूर्णरूप और आत्यंतिक सुखको प्राप्त है इससे परमानंदरूप उसको निर्वेद (सुख) हो जाता है--तपसे जाना है आत्मा जिन्होंने और वशमें हैं इन्द्रियें जिनके ऐसे महात्म

योगीजन योगसेही महासमुद्र (जगत्) को तर जाते हैं--और विष्णुधर्मोंमें लिखा है कि, जो सब भूतोंका श्रेय है और स्त्रियोंका और कीट पतंगोंका भी उपकार है उस परमश्रेयको हमारे प्रति कहो. इस प्रकार देव और देवर्षियोंने कहा है जिनको ऐसे कपिलमुनि पहिले समयमें योगकोही श्रेय कहते भये--वासिष्ठमें लिखा है कि, हे राम ! संसारके विषका जो वेग उसकी विसूचिका दुःसह है वह योगरूप और पवित्र गारुडमंत्रसेही शांत होती है कदाचित् कोई शंका करै कि तत्त्वमसि आदि महावाक्योंसे भी अपरोक्ष प्रमाण (ज्ञान) होता है तो किसलिये अत्यंतश्रमसे साध्ययोगमें प्रयास कहते हो--कदाचित् कहो कि वाक्यसे जन्य ज्ञानके अपरोक्ष होनेमें प्रमाणका असंभव है सो नहीं--क्योंकि, तत्त्वमसि आदि वाक्योंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान अपरोक्ष है--अपरोक्ष विषयक होनेसे--चक्षुसे हुये घट आदिके प्रत्यक्षकी तुल्य यह अनुमान प्रमाण है कदाचित् कहो कि, विषयकी अपरोक्षताके नीरूप (रूपहीन) होनेसे हेतुकी असिद्धि है सो ठीक नहीं. क्योंकि अज्ञानका विषय चित्, और चित्तके संग तादात्म्यरूपको प्राप्तत्व, ये दोनों हैं रूप जिसके ऐसी जो विषयकी अपरोक्षता वह भलीप्रकार निरूपण करने योग्य है जैसे घट आदिमें जब चक्षुकी संनिकर्ष दशामें उसके अधिष्ठानरूप चैतन्यकी अज्ञाननिवृत्तिके होनेपर उसका चैतन्य अज्ञानका विषय होना, और उस घटका अज्ञान विषय चैतन्यके संग तादात्म्यकी प्राप्ति होना, ये दोनों अपरोक्ष हैं-तिसीप्रकार तत्त्वमसि आदि वाक्योंसे शुद्ध चैतन्याकार वृत्तिके होनेपर उसके अज्ञानकी निवृत्ति होनेसेही तत्त्व अज्ञानका विषय नहीं रहा इससे चैतन्य अपरोक्ष है; इससे हेतुकी असिद्धि नहीं है-कदाचित् कहो कि, हेतु अप्रयोजक है अर्थात् अपने साध्यको सिद्ध नहीं करसकता, अपरोक्षता ज्ञानसे होती है इससे प्रत्यक्ष जो परोक्ष उसका विषयक होनेसे हेतु प्रयोजक है कुछ इन्द्रियजन्यही अपरोक्ष नहीं होता, क्योंकि मन इंद्रिय नहीं है उसकोभी सुख आदिकी विषयकता होनेसे व्यभिचार होजायगा अथवा अभिव्यक्त (प्रकट) चैतन्यके अभिन्नरूपसे जो भासमान होना वही विषयकी अपरोक्षता है और आवरणकी निवृत्ति होनेकोभी अभिव्यक्त कहते हैं-और परोक्ष वृत्तिके स्थलमें आवरण निवृत्तिका अभाव है इससे वहां अतिव्याप्तिरूप दोष नहीं है-जो मनुष्य रज्जु आदिमें सर्प आदि भ्रमके उत्पादक दोषवाला है उसको जो यह सर्प नहीं किंतु रज्जु है इस वाक्यसे उत्पन्न हुई जो वृत्ति वह आवरणको निवृत्त नहीं करती है इससे वहां परोक्षही विषय है और वेदांतके वाक्योंसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है आवरणका निवर्तक होनेसे वह अपरोक्षही है क्योंकि वह मनन आदिसे पूर्व उत्पन्न हुआ है और ज्ञाननिवर्तक प्रमाणकी असंभावना

आदि सम्पूर्ण दोषोंके अभाव विशिष्टही उस वेदांतवाक्योंसे जन्यज्ञानको अज्ञानकी निवर्तकताहै और उस उपनिषदोंसे प्रतिपादन किये पुरुषको पूछताहूँ इस श्रुतिसे प्रतिपन्न (सिद्ध) उपनिषद मात्रसे जो जाना जाताहै वह योगसेही जानाजायगा तिससे तत्त्वमसि आदि वाक्यसेही अपरोक्षज्ञान होताहै-सो ठीक नहीं है, क्योंकि अनुमान अप्रयोजक है, क्योंकि प्रत्यक्षके प्रति और पूर्वोक्त अक्ष (इन्द्रिय) सामान्यके प्रति इन्द्रियरूपसे कारणताहै इससे इंद्रियसे जन्यत्वही प्रयोजक है और नित्य अनित्य ; साधारण प्रत्यक्षमें तो कुछ प्रयोजक नहीं होताहै और उनके मतमें तो किसी प्रत्यक्षमें इंद्रिय कारण है और किसी प्रत्यक्षमें शब्दविशेष कारण है इसप्रकार दो कार्य कारणभाव होजायँगे अर्थात् एक कार्यके दो कारण मानने पडेंगे-कदाचित् कहो कि मन इंद्रिय नहीं है सो भी नहीं क्योंकि, मन इंद्रियोंका नाथ है यह वचन मनुष्यके समान उद्देश करके मनुष्योंका यह राजाहै इसके समान मनुष्योंमें ही कुछ उत्कर्षको कहताहै कुछ मनको इंद्रियभिन्न नहीं कहताहै और तत्त्व तो यह है कि, मन इंद्रियोंमें एक अखंडोपाधिरूपही है इसीसे पायु (गुदा) आदि कर्मेंद्रिय और नेत्र आदि ज्ञानेंद्रिय हैं और जो प्रत्यक्षहो वह ऐंद्रियक और जो अप्रत्यक्ष हो वह अतींद्रिय कहाताहै इन शक्तिके निर्णायक कोशोंमें इंद्रियाप्रमाणक ज्ञानको अप्रत्यक्ष कहते हुये मनको इंद्रिय होना प्रतीत कराते हैं और दश और एक इंद्रिय है यह गीता वचनभी मनके इंद्रिय होनेमें प्रमाण है और तत्त्वमसि आदि वाक्योंसे पैदा हुआ ज्ञान-शब्दसे उत्पन्न है, शब्दसे उत्पन्न होनेसे,-यज्ञ करे इत्यादि वाक्योंसे उत्पन्न ज्ञानके समान-इस अप्रत्यक्ष विरोधि शब्दजन्यके साधक अनुमानसे सत्प्रतिपक्षभी है विरोधि पदार्थके साधक हेतुको सत्प्रतिपक्ष कहतेहैं-कदाचित् कहो कि, यह अनुमान अप्रयोजक है सोभी नहीं क्योंकि शब्दजन्य ज्ञानकाही शब्द जनक होताहै यह लाघवमूलक अनुकूल तर्क इस अनुमानमेंहै तेरे मतमें तो शब्दसेभी प्रत्यक्षके स्वीकार करनेसे दो कार्य कारण भाव होजायँगे इससे गौरवहै-और मनन, निदिध्यासनसे पहिले भी उत्पन्न है और तेरे मतमें परोक्षभी उक्तज्ञान अज्ञानका निवर्तक नहीं होगा इससे अज्ञाननिवृत्तिके प्रति बाधज्ञानरूपसेही हेतु मानना पडेगा यह भी गौरव है. मेरे मतमें तो समाधिका जो अभ्यास उसके परिपाकसे असंभावना आदि संपूर्ण मलोंसे रहित अर्थात् अन्तःकरणसे आत्माके देखनेपर और दर्शनमात्रसेही अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है इससे कोई भी गौरवका अवकाश नहीं है-और संपूर्ण भूतोंमें यह गुप्त आत्मा प्रकाशित नहीं होता है, परन्तु सूक्ष्मदर्शी मनुष्य इस आत्माको सूक्ष्म और मुख्य जो बुद्धि उससे देखते हैं-धीर मनुष्य वाणी और मनको रोकै इन वचनोंसे लेकर अज्ञानकी निवृत्ति है अर्थ जिसका ऐसे इस कठवल्लीके मृत्युके मुखसे छुटताहै मृत्युके उपदेशकोभी

यह बात संमत है इससे इसमें कोई विवाद नही है-और यदि मनन आदिसे पूर्व उत्पन्न हुआ ज्ञान परोक्षही है इससे प्रतिबन्धका किया गौरव नहीं है इस मतको मानोगे तो तब भी श्रवण आदिसे मनका संस्कार सिद्ध होनेपर उसके अनन्तर कालहीमें आत्माका दर्शन संभवहै इससे उसके अनन्तर वाक्योंके स्मरण आदिकी कल्पना करनेमें भी महान् गौरवहै-कदाचित् शंका करो कि हम केवल तर्कसे शब्दजन्य ज्ञानको अपरोक्ष नहीं कहते हैं किंतु श्रुति भी कहती हैं सोई दिखातेहैं कि, उस उपनिषदोंसे कहे हुये पुरुषको मैं पूछता हूँ इस श्रुतिसे जो पुरुषको औपनिषदरूप कहाहै वह कुछ उपनिषदोंसे उत्पन्न जो बुद्धि उसकी विषयमात्र नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदिसे जानने योग्यमें औपनिषद् यह व्यवहार होजायगा जैसे बारह कपालोंमें आठ कपालोंके होनेपरभी द्वादश कपालोंमें संस्कार किये पदार्थमें आठ कपालोंमें संस्कृत यह व्यवहार नहीं होताहै और जैसे द्विपुत्र मनुष्यमें एकपुत्र व्यवहार नहीं होताहै तैसेही यहां भी समझना और अन्यत्र तैसा व्यवहार नहीं होताहै इससे उपनिषदमात्रसे जानने योग्यही यहां प्रत्ययका अर्थ है और मनसे जानने योग्य आत्माको मानोगे तो वह सिद्ध नहीं होगा यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्ययसे, उपनिषदसे भिन्न जो सबकारण हैं उनकी निवृत्ति (निषेध) नहीं होती है, क्योंकि शब्दके अपरोक्षवादी अपने भी आत्माके परोक्षज्ञानमें मन आदि करण माने हैं किन्तु प्रत्ययसे पुराण आदि जो अन्य शब्द हैं उनकीही व्यावृत्ति होती है, क्योंकि श्रुतिके वाक्योंसे आत्मा सुनने योग्य है यह कहाहै और वह अर्थ मुझे भी संमत है इससे आपका कथन तुच्छ है और प्रमाणांतरकी व्यावृत्तिमें श्रुतिके तात्पर्यकी कल्पना तभी कहनी योग्य है जब शब्दरूप प्रमाण सिद्ध होजाय और पुराण आदि शब्दांतरकी व्यावृत्तिमें तात्पर्य तो श्रुति आदिका संमत होनेसे कल्पना करनेको उचितही है ऐसा सिद्ध होनेपर यह आत्मा मनसेही देखने योग्य है इत्यादि श्रुतिभी अनायाससे लगसकती है जो किसीने यह कहा है कि, दर्शनवृत्तिके प्रति जो मनमात्रकोही उपादान कहती हैं उन श्रुतियोंके संग कुछ विरोध नहीं है । यह उनका कहना तो अत्यंतही विचारमें नहीं आसकता क्योंकि,प्राणकी आकांक्षामें प्रवृत्त हुई ये श्रुति उपादानमें तत्पर कैसे होसकती हैं क्योंकि काम, संकल्प, विचिकित्सा (संदेह) ये सब मनहीसे हैं इत्यादि श्रुतिसे निश्चयपूर्वक सब वृत्तियोंका मनकोही उपादान कारण बोधन करदिया तब आकांक्षाके अभावसे उपादानमें तात्पर्यको श्रुति कैसे वर्णन करसकती है । पहिले दूसरी वल्लीमें ओंकारको ब्रह्मबोधक कहा है इससे ओंकारभी अपरोक्षज्ञानका हेतु होजायगा, इस शंकाके निवारण करनेके लिये मनसे ही

आत्मा देखने योग्य है. इत्यादि निश्चायक वचन हैं इसरीतिसे संपूर्ण श्रुति वर्णन करने (लगाने) को शक्य हैं इसप्रकार वाक्जालसे अलं है अर्थात् वाणीके जालको समाप्त करते हैं सिद्धांत तो यह है कि, योगियोंको समाधिकेविषे दूर और विप्रकृष्टपदार्थोंका जो ज्ञान है संपूर्ण शास्त्रोंमें प्रसिद्ध वह ज्ञान परोक्ष नहीं है, क्योंकि उससमय कोई परोक्षकी सामग्री नहीं है और स्मरण भी नहीं है क्योंकि उनका पहिले पृथक् २ अनुभव नहीं है और सुखआदिके ज्ञान समान वह साक्षिस्वरूपभी नहीं है क्योंकि इसमें सिद्धांतका विघात. है और प्रमाणरहितभी नहीं है क्योंकि संपूर्ण प्रमाणोंमें कारणका नियम है और चक्षुआदिसे उत्पन्न भी वह ज्ञान नहीं है क्योंकि चक्षुआदिका उस समय संनिकर्ष नहीं है तिससे वह मानसिक प्रमाही कहनी चाहिये इससे मन प्रमाणरूप और इंद्रिय है यह निर्दोष है—और भी जो योग और श्रुतिके समुच्चयकी कल्पना करते हैं उनके भी मतमें पूर्वोक्त दूषणोंका गण तदवस्थही है तिससे यह सिद्धभया कि, योगजन्य संस्कार है सहायक जिसका ऐसे मनसेही आत्मा जानने योग्य है कदाचित् कोई कहै कि, कामिनीकी भावना करनेवाले पुरुषको जैसे व्यवहित (दूरस्थित) कामिनीका साक्षात्कार अप्रमा होता है उसीप्रकार भावनासे उत्पन्न आत्मसाक्षात्कारभी अप्रमा होजायगा सोभी ठीक नहीं क्योंकि आत्मसाक्षात्कारका विषय (आत्मा) बाधित नहीं है और न दोषसे जन्य है कामिनीका साक्षात्कार तो बाधित विषयक है और दोषजन्यभी है इससे अप्रमाण है तिससे भावनासे जन्य आत्मसाक्षात्कार अप्रमाण नहीं है कदाचित् कहो कि, भावनाको समाधिका ज्ञापक मानोगे तो यह भी एक प्रमाण होजायगा सो ठीक नहीं क्योंकि, भावना मनकी सहकारिणी है इससे प्रमाणके निरूपणमें अनिपुण नैयायिक आदिकोंने भी योगजप्रत्यक्षका अलौकिक प्रत्यक्षमें अन्तर्भाव किया है और योगसे उत्पन्न हुये अलोकिक संनिकर्षसे योगिजन व्यवहित विप्रकृष्ट और सूक्ष्म पदार्थरूप भी आत्माको यथार्थरीतिसे देखते हैं-सोई इस पातंजलसूत्रमें कहा है कि, उक्त समाधिमें जो सत्यप्रज्ञा (बुद्धि) है उसके शाब्दबोध और अनुमानसे अर्थात् युक्ति सिद्धज्ञान है उनसे वह प्रज्ञा अन्यविषयक होजाती है अर्थात् भिन्न अर्थकोभी विषय करलेती है क्योंकि उसका विषय निर्विकल्प अर्थ है-तिससे शब्द पदार्थ वृत्तिधर्म (घटत्व आदि) पुरस्कारके) विनाही और अनुमानव्यापकमें वर्तमान धर्मके पुरस्कार (ज्ञान) सेही बोधके जनक नियमसे है इससे अर्थके ग्रहणमें योग्य विशेष्यमेंही तत्पर है अर्थात् योगविषयकोही ग्रहण करते हैं यहां व्यासजीका रचा यह भाष्य है कि, श्रुतनाम आगमविज्ञान है-वह आगमविज्ञान सामान्य विषय हैं क्योंकि आगम विशेषको नहीं कहसकता, क्योंकि विशेषरूपसे शब्दका संकेत नहीं होता है--इससे आरम्भ करके समाधि प्रज्ञासे भलीप्रकार ग्रहण करने योग्य

यह विदेय है और वह पुरुषगत है वा भूतसूक्ष्मगत है–योगबीजमें कहा है कि, ज्ञाननिष्ठहो वा विरक्तहो धर्मज्ञहो वा जितेंद्रियहो योगके विना देव भी हे प्रिये ! मोक्षको प्राप्त नहीं होता है और यह श्रुति भी है कि, कर्मके संग उसीबातके करनेमें यह मनुष्य असक्त है जिसमें इसका मनरूप लिंग प्रविष्ट है और स्मृति भी है कि सत् असत् योनियोंके जन्मोंमें इसको गुणोंका संगही कारण है--देहके मरणसमयमें जिसविषयमें राग आदिसे उद्बुद्ध होता है उसीयोनिको जीव प्राप्त होता हैं इससे योगहीनका अन्य जन्म होता है, क्योंकि, मरणके समयमें हुई जो विक्लवता उसको अयोगी नहीं हटा सकता है सोई योगबीजमें कहा है कि, देहके अन्तसमयमें जिस २ को विचारता है वही वह जीव होजाता है यही जन्मका कारण है देहके अन्तमें कौन जन्म होगा यह मनुष्य नहीं जानते हैं--तिससे ज्ञान, वैराग्य, जप ये केवल श्रम हैं जब पिपीलिका (चेंटी) देहमें लग जाती है और ज्ञानसे छुटजाती है तो वृश्चिकोंसे डसा हुआ यह जीव देहके अन्तमें कैसे सुखी हो सकता है--योगियोंको तो योगके बलसे अन्तकालमें भी आत्मविचारसे मोक्षही होता है जन्मांतर नहीं होता है, सोई भगवान्ने कहा है कि मरण समयमें अचल मनसे भक्तिसे युक्त वा योगके बलसे मोक्ष होता हैं और यह श्रुतिभी हैं कि एकसौ एक हृदयकी नाडी हैं कदाचित् कहो कि, तत्वमसि आदि वाक्यको अपरोक्षज्ञानका जनक मानोगे तो उसका विचार करना व्यर्थ है,--सो ठीक नहीं क्योंकि वाक्यके विचारसे उत्पन्न जो ज्ञान है वह योगके द्वारा अपरोक्ष साधन है इसविषयमें योगबीजमें गौरी और महादेवका बहुत संवाद हैं उसमेंसे कुछ यहां लिखते हैं कि पार्वती बोली जो ज्ञानी मरते हैं उनकी कैसी गति होती है--हे देवेश ! हे दयारूप अमृतके समुद्र ! इसको कहो, ईश्वर बोले कि, देहके अन्तमें ज्ञानीको पुण्य पापसे जो फल प्राप्त होता है उसको भोगकर फिर ज्ञानी होजाता है फिर पुण्यसे सिद्धोंके संग संगतिको प्राप्त होता है फिर सिद्धोंकी कृपासे योगी होताहै अन्यथा नहीं होता, फिर संसार नष्ट होजाता है अन्यथा नहीं । यह शिवका कथन है. पार्वती बोली ज्ञानी सदा ज्ञानसेही मोक्षको कहते हैं तो सिद्धयोगसे योग मोक्षका दाता कैसे होजाता है ? ईश्वर बोले ज्ञानसे मोक्ष होता है यह उनका वचन अन्यथा नहीं हैं--जैसे सब कहते हैं कि, खड्गसे जय होता है तो युद्ध और वीर्यके विना जयकी प्राप्ति कैसे होगी--तैसेही योगरहित ज्ञानसे मोक्ष नहीं होता है इत्यादि--कदाचित् कोई शंका करै कि, जनक आदिकोंको योगके विनाही प्रतिबंधरहित ज्ञान और मोक्ष सुने जाते हैं तो कैसे योगसेही प्रतिबंधरहित ज्ञान और मोक्ष होंगे--इसशंकाका उत्तर देते हैं कि, उनको पूर्वजन्ममें किये योगसे उत्पन्न जो

संस्कार उससे ज्ञानकी प्राप्ति पुराण आदिमें सुनी जाती है सोई दिखाते हैं कि जैसे जैगीषव्य ब्राह्मण और असित आदि ब्राह्मण और जनक आदि क्षत्रिय और तुलाधार आदि वैश्य ये पूर्वजन्ममें किये अभ्यासके योगसे परमसिद्धिको प्राप्त हुये और धर्मव्याध आदि सात शूद्र पैलवकआदि--और मैत्रेयी सुलभा शार्ङ्गी शांडिली ये तपस्विनी--ये और अन्य बहुतसे नीचयोनिमें गतभी पूर्वजन्ममें किये अभ्यासके योगसे परमज्ञान निष्ठाको प्राप्त हुये-और पूर्वजन्ममें किये योगके पुण्यके अनुसार कोई ब्रह्मा कोई ब्रह्माके पुत्र कोई देवर्षि कोई ब्रह्मर्षि कोई मुनि कोई भक्तरूपको प्राप्त हुये हैं-और उपदेशके विनाही आत्मसाक्षात्कार वाले हो जायँगे सोई दिखाते हैं कि हिरण्यगर्भ, वसिष्ठ, नारद, सनत्कुमार, वामदेव, शुक आदिये पुराण आदिमें जन्मसेही सिद्ध सुने हैं और जो पुराण आदिमें यह सुना है कि ब्राह्मणही मोक्षका अधिकारी है-वह योगीसे भिन्नके विषयमें समझना सोई गरुडपुराणमें कहा है कि, जन्मांतरमें किया योगाभ्यास जिन मनुष्योंको नहीं है उनको योगप्राप्तिके लिये शूद्र वैश्य आदिका क्रम है वे स्त्रीसे शूद्र होते हैं और शूद्रसे वैश्य होते हैं और दयासे रहित क्षत्रिय होजाते हैं फिर अनूचान (विद्यावान्)-यज्ञका कर्ता-फिर कर्मसन्यासी होते हैं फिर ज्ञानी योगी होकर क्रमसे मुक्तिको प्राप्त होजाते हैं अर्थात् शूद्र वैश्य आदि क्रमसे योगी होकर मुक्तिको प्राप्त होजाते हैं इसप्रकार सब जातियोंका अधिकार सुननेसे योगसे उत्पन्न तत्त्वज्ञानके द्वारा सब मुक्त होते हैं यह सिद्ध भया-और भ्रष्टभी योगीको तो शूद्र आदिका क्रम नहीं है क्योंकि भगवान्का यह वचन है कि, योगसे भ्रष्टमनुष्य, शुद्ध जो धनी उनके कुलमें पैदा होता है अथवा बुद्धिमान् योगियोंके कुलमें पैदा होता है-इति अलम्--भावार्थ--यह है कि, जबतक प्राण जीवै और मन न मरे तबतक इसलोकमें ज्ञान कहांसे होसकता है और जो मनुष्य प्राण और मनका लयकरदे वह मोक्षको प्राप्त होता है अन्यमनुष्य किसीप्रकार भी प्राप्त नहीं होता है ॥ १५ ॥

ज्ञात्वा सुषुम्नासद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम् ॥
स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरंध्रे निरोधयेत् ॥ १६ ॥

प्राणमनसार्लयं विना मोक्षो न सिध्यतीत्युक्तम् । तत्र प्राणलयेन मनसोऽपि लयः सिध्यतीति तल्लयरीतिमाह-ज्ञात्वेति ॥ सदैव सर्वदेव सुस्थाने शोभने स्थाने 'सुराज्ये धार्मिके देशे' इत्याद्युक्तलक्षणे स्थित्वा स्थितिं कृत्वा वसतिं कृत्वेत्यर्थः । सुषुम्ना मध्यनाडी तस्याः सद्भेदं शोभनं भेदनप्रकारं ज्ञात्वा गुरुमुखाद्विदित्वा वायुं प्राणं मध्यगं मध्यनाडीसंचारिणं कृत्वा ब्रह्मरंध्रे मूर्धावकाशे निरोधयेन्नितरां रुद्धं कुर्यात् । प्राणस्य ब्रह्मरंध्रे निरोधो लयःप्राणलये जाते मनोऽपि लीयते

तदुक्तं वासिष्ठे—'अभ्यासेन परिस्पंदे प्राणानां क्षयमागते । मनः प्रशममायाति निर्वाणमवशिष्यते ॥' इति । प्राणमनसोर्लये सति भावनाविशेषरूपसमाधिसहकृतेनांतःकरणेनाबाधितात्मसाक्षात्कारो भवति तदा जीवन्नेव मुक्तः पुरुषो भवति ॥ १६ ॥

भाषार्थ—प्राण और मनके लयबिना मोक्ष सिद्ध नहीं होता यह कहा उनमें प्राणके लयसे मनकाभी लय सिद्ध होता है इससे प्राणके लयकी रीतिका वर्णन करते हैं कि, सदैव उत्तमस्थानमें अर्थात् उत्तमराज्य और धार्मिकदेशमें स्थित होकर सुषुम्ना नाडीके भेदनको भलीप्रकार गुरुमुखसे जानकर और प्राणवायुको मध्यनाडीमें गत (संचारी) करके ब्रह्मरंध्र (मूर्द्धाके अवकाश) में निरुद्ध करे (रोकै) प्राणका ब्रह्मरंध्रमें जो निरोध वही लय है और प्राणके लय होनेपर मनका भी लय होजाता है सोई वासिष्ठमें कहा है कि अभ्याससे जब प्राणोंकी क्रियाका क्षय होजाताहै तब मन शांत होजाता है और निर्वाणही शेष रहजाता है और प्राण और मनका लय होनेपर भावना विशेषरूप समाधि है सहकारी जिसकी ऐसे अंतःकरणसे अबाधित आत्मसाक्षात्कार जब होजाता है तब पुरुष जीवन्मुक्त होजाता है ॥ १६ ॥

सूर्याचंद्रमसौ धत्तः कालं रात्रिंदिवात्मकम् ॥
भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ॥ १७ ॥

प्राणलये कालजयो भवतीत्याह—सूर्याचंद्रमसाविति ॥ सूर्यश्च चंद्रमाश्च सूर्याचंद्रमसौ ॥ "देवताद्वंद्वे च" इत्यानङ् । रात्रिश्च दिवा च रात्रिंदिवम् 'अचतुर' इत्यादिना निपातितः । रात्रिंदिवं आत्मा स्वरूपं यस्य स रात्रिंदिवात्मकस्तं रात्रिंदिवात्मकं कालं समयं धत्तो विधतः कुरुतः । सुषुम्ना सरस्वती कालस्य सूर्याचंद्रमोभ्यां कृतस्य, रात्रिंदिवात्मकस्य समयस्य भोक्त्री भक्षिका विनाशिका । एतद्गुह्यं रहस्यमुदाहृतं कथितम् । अयं भावः । सार्धं घटिकाद्वयं सूर्यो वहति सार्धं घटिकाद्वयं चंद्रो वहति । यदा सूर्यो वहति तदा दिनमुच्यते । यदा चंद्रो वहति तदा रात्रिरुच्यते । पंचघटिकामध्ये रात्रिंदिवात्मकः कालो भवति । लौकिकाहोरात्रमध्ये योगिनां द्वादशाहोरात्रात्मकः कालव्यवहारो भवति । तादृशकालमानेन जीवानामायुर्मानमस्ति । यदा सुषुम्नामार्गेण वायुर्ब्रह्मरंध्रे लीनो भवति । तदा रात्रिंदिवात्मकस्य कालस्याभावादुक्तम् 'भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य' इति । यावद्ब्रह्मरंध्रे वायुर्लीयते तावद्योगिन आयुर्वर्धते दीर्घकालाभ्य-

स्तसमाधिर्योगी पूर्वमेव मरणकालं ज्ञात्वा ब्रह्मरंध्रे वायुं नीत्वा कालं निवारयति स्वेच्छया देहत्यागं च करोतीति ॥ १७ ॥

भाषार्थ-अब प्राणका लय होनेपर कालका जय होताहै इसको वर्णन करतेहैं कि सूर्य और चंद्रमा, रात्रिदिन हैं स्वरूप जिसके ऐसे कालको करतेहैं और सुषुम्ना जो नाडी है वह सरस्वतीरूप नाडी सूर्य और चंद्रमाके किये रात्रिदिनरूप कालको भक्षण करनेवाली है अर्थात् नाशिका है यह गुप्त वस्तु कही है तात्पर्य यह है कि, अढाई घडीतक सूर्य बहताहै और अढाई घडीतक चंद्रमा बहताहै जब सूर्यस्वर बहताहै वह दिन कहाता है और जब चंद्रमा बहताहै तब रात्रि कहातीहै. इसप्रकार पांच घडीके मध्यमेंही रात्रिदिनरूप काल होजाताहै लौकिक अहोरात्रके मध्यमें योगियोंके बारह अहोरात्र होतेहैं और उसी लौकिक कालके मानसे जीवोंकी आयुका प्रमाण है जब सुषुम्नाके मार्गसे वायु ब्रह्मरन्ध्रमें लीन होजाताहै तब रात्रिदिनरूप कालके अभावसे कहा है कि, सुषुम्ना कालकी भोक्री है जितने कालतक वायु ब्रह्मरन्ध्रमें लीन रहता है उतनेही कालतक योगियोंकी आयु बढतीहै बहुत कालतक कियाहै समाधिका अभ्यास जिसने ऐसा योगी पहिलेही अपने मरणसमयको जानकर और ब्रह्मरन्ध्रमें प्राण वायुको लेजाकर कालका निवारण करताहै और अपनी इच्छासे देहका त्याग करता है ॥ १७ ॥

द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पंजरे ॥
सुषुम्ना शांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः ॥१८॥

द्वासप्ततीति ॥ पंजरे पंजरवच्छिरास्थिभिर्बद्धे शरीरे द्वाभ्यामधिका सप्ततिः द्वासप्ततिः द्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीनां शिराणां द्वाराणि वायुप्रवेशमार्गाः संति सुषुम्ना मध्यनाडी शांभवी शक्तिरस्ति शं सुखं भवत्यस्माद्भक्तानामिति शंभुरीश्वरस्तस्येयं शांभवी। ध्यानेन शंभुप्रापकत्वात्। शंभोराविर्भावजनकत्वाद्वा शांभवी। यद्वा शं सुखरूपो भवति तिष्ठतीति शंभुरात्मा तस्येयं शांभवी चिदभिव्यक्तिस्थानत्वाद्ध्यानेनात्मसाक्षात्कारहेतुत्वाच्च। शेषा इडापिंगलादयस्तु निरर्थका एव निर्गतोऽर्थः प्रयोजनं यासां ता निरर्थकाः। पूर्वोक्तप्रयोजनाभावात् ॥ १८ ॥

भाषार्थ-इस मनुष्यके पंजरमें अर्थात् पंजरके समान शिरा अस्थियोंसे बँधेहुये शरीरमें बहत्तर सहस्र नाडियोंके द्वार हैं अर्थात् वायुप्रवेश होनेके मार्ग हैं उनमें सुषुम्ना जो मध्यनाडी है वह शांभवी शक्ति है अर्थात् तिससे भक्तोंको सुखहो ऐसे शम्भु (शिवजी) की शक्ति है क्योंकि वह नाडी ध्यानसे शम्भुको प्राप्त करती है वा शम्भुकी प्रकटताको पैदा

करती है इसीसे शांभवी कहाती है अथवा शं (सुख) रूप जो टिके उस आत्माको शम्भु कहतेहैं उसकी जो शक्ति वह शांभवी कहाती है क्योंकि वह चैतन्यकी अभिव्यक्ति (प्रकटता) का स्थान है और ध्यानसे आत्माके साक्षात्कारका हेतु भी सुषुम्ना है और शेष जो इडा पिंगला आदि नाडी हैं वे सब निष्प्रयोजन हैं अर्थात् उनसे पूर्वोक्त प्रयोजन सिद्ध नहीं होताहै ॥ १८ ॥

वायुः परिचितो यस्मादग्निना सह कुंडलीम् ॥
बोधयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधतः ॥ १९ ॥

वायुरिति ॥ यस्मात्परिचितोऽभ्यस्तो वायुस्तस्मादग्निना जठराग्निना सह कुण्डलीं शक्तिं बोधयित्वा अनिरोधतोऽप्रतिबंधात्सुषुम्नायां सरस्वत्यां प्रविशेत् वायोः सुषुम्नाप्रवेशार्थमभ्यासः कर्तव्य इत्यर्थः ॥ १९ ॥

भावार्थ–जिससे परिचित अर्थात् अभ्यास किया वायु जठराग्निके संग कुण्डलीशक्तिको बोधन (जगा) करके निरोध (रोक) के अभावसे सरस्वतीरूप सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाताहै इससे वायुका सुषुम्नामें प्रवेशके लिये अभ्यास करना उचित है ॥ १९ ॥

सुषुम्नावाहिनि प्राणे सिद्ध्यत्येव मनोन्मनी ॥
अन्यथा त्वितराभ्यासाः प्रयासायैव योगिनाम् ॥ २० ॥

सुषुम्नेति ॥ प्राणे सुषुम्नावाहिनि सति मनोन्मनी उन्मन्यवस्था सिद्ध्यत्येव । अन्यथा प्राणे सुषुम्नावाहिन्यसति तु इतराभ्यासाः सुषुम्नेतराभ्यासा योगिनां योगाभ्यासिनां प्रयासायैव श्रमायैव भवंतीत्यर्थः ॥ २० ॥

भावार्थ–जब प्राण सुषुम्नामें बहने लगताहै तब मनोन्मनी अवश्य सिद्ध होजातीहै और प्राणके सुषुम्नावाही न होनेपर तो सुषुम्नाके अभ्याससे भिन्न जितने अभ्यास योगियोंके हैं वे सब वृथा हैं अर्थात् परिश्रमके ही जनक होनेसे उनसे कोई अर्थ सिद्ध नहीं होताहै ॥ २० ॥

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ॥
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ॥ २१ ॥

पवन इति ॥ येन योगिना पवनः प्राणवायुर्बध्यते बद्धः क्रियते तेनैव योगिना मनो बध्यते । येन मनो बध्यते तेन पवनो बध्यते । मनःपवनयोरेकतरे बद्धे उभयं बद्धं भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

भावार्थ–योगी जिससे पवनका बंधन करलेताहै उसीसे मनको भी बंधन करलेता है

और जिस कारणसे मनका बंधन करसकता है उसी रीतिसे प्राणकोभी बांध सकता है अर्थात् मन और पवन इन दोनोंमेंसे एकके बन्धनसे दोनोंका बन्धन हो सकता है ॥ २१ ॥

हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः ॥
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यतः ॥ २२ ॥

हेतुद्वयं तु चित्तस्येति ॥ चित्तस्य प्रवृत्तौ हेतुद्वयं कारणद्वयमस्ति किं तदित्याह-वासना भावनाख्यः संस्कारः समीरणः प्राणवायुश्च तयोर्वासनासमीरणयोरेकस्मिन्विनष्टे सति क्षीणे सति तौ द्वावपि विनश्यतः । अयमाशयः । वासनाक्षये समीरणचित्ते क्षीणे भवतः । समीरणे क्षीणे चित्तवासने क्षीणे भवतः । चित्ते क्षीणे समीरणवासने क्षीणे भवतः । तदुक्तं वासिष्ठे-'द्वे बीजे रामचित्तस्य प्राणस्पंदनवासने । एकस्मिंश्च तयोर्नष्टे क्षिप्रं द्वेअपि नश्यतः ॥' तत्रैव व्यतिरेकेणोक्तम्-'यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः । न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति ॥ न यावद्याति विज्ञानं न तावच्चित्तसंक्षयः । यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनम् ॥ यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्त्वागमः कुतः । यावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः ॥ तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च । मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितान्यतः । त्रय एते समं यावन्न स्वभ्यस्ता मुहुर्मुहुः तावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्भवत्यपि समाश्रितैः ॥' इति ॥ २२ ॥

भाषार्थ-चित्तकी प्रवृत्तिमें दो हेतु हैं एक तो वासना अर्थात् भावना नामका संस्कार और प्राणवायु, वासना और प्राणवायु इन दोनोंमेंसे एकके नष्ट होनेपर वे दोनोंभी नष्ट हो जाते हैं-यहां यह आशय है कि, वासनाके क्षय होनेपर-पवन और चित्त नष्ट होजाते हैं-और पवनके क्षीण होनेपर चित्त और वासना नष्ट होजातेहैं-और चित्तके क्षीण होनेपर पवन और वासना क्षीण होजातेहैं-सोई वासिष्ठमें कहाहै कि, हे राम ! प्राणकी क्रिया और वासना ये दोनों चित्तके बीज हैं उन दोनोंके मध्यमें एकके नष्ट होनेपर वे दोनोंभी नष्ट होजातेहैं-और वासिष्ठमें ही व्यतिरेक (निषेध) के द्वारा कहा है कि जबतक मनका लय नहीं होता तबतक वासनाका क्षय नहीं होताहै और इतने वासनाका क्षय नहीं होता तब तक चित्त शांत नहीं होताहै और जबतक विज्ञान नहीं होता तबतक चित्तका संक्षय नहीं होता है-और जबतक चित्त शांत नहीं होता तबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता है और जबतक वासनाका नाश न हो तबतक तत्त्वका आगमन कहां-और जबतक तत्त्वका आगम (प्राप्ति) न हो तबतक वासनाका क्षय नहीं होता-इससे तत्त्वज्ञान मनका नाश-और

वासनाका क्षय ये तीनों परस्पर कारण होकर दुःखसे साध्यरूप होकर स्थित हैं इससे जब-तक इन तीनोंका समरीतिसे वारंवार अभ्यास न किया जाय तबतक अन्य कारणोंसे तत्त्व (ब्रह्मज्ञान) की संप्राप्ति नहीं होती है ॥ २२ ॥

मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते ॥
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ॥ २३ ॥

मन इति ॥ यत्र यस्मिन्नाधारे मनो लीयते तत्र तस्मिन्नाधारे पवनो विलीयत इत्यन्वयः ॥ २३ ॥

भाषार्थ–जिसमें मनका लय होता है वहांही पवनका लय हो जाता है और जहां पवनका लय होता है वहां ही मनभी लीन हो जाता है ॥ २४ ॥

दुग्धांबुवत्संमिलितावुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि॥
यतो मरुत्तत्र मनःप्रवृत्तिर्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः ॥२४॥

दुग्धांबुवदिति ॥ दुग्धांबुवत्क्षीरनीरवत्संमिलितौ सम्यक् मिलितौ तावुभौ द्वावपि मानसमारुतौ मानसं च मारुतश्च मानसमारुतौ चित्त-प्राणौ तुल्यक्रियौ तुल्या समा क्रिया प्रवृत्तिर्ययोस्तादृशौ भवतः तुल्य-क्रियत्वमेवाह–यत इति । यतः यत्र सार्वविभक्तिकस्तसिः । यस्मिन् चक्रे मरुद्वायुः प्रवर्तते तत्र तस्मिन् चक्रे मनःप्रवृत्तिः मनसः प्रवृत्तिर्भ-वति । यतो यस्मिन् चक्रे मनः प्रवर्तते तत्र तस्मिश्चक्रे मरुत्प्रवृत्ति-र्वायोः प्रवृत्तिर्भवतीत्यर्थः । तदुक्तं वासिष्ठे–'अविनाभाविनी नित्यं जंतूनां प्राणचेतसी । कुसुमादेवाग्निमिश्रे तिलतैले इवास्थिते ॥ कुरुतश्च विनाशेन कार्यं मोक्षाख्यमुत्तमम्' इति ॥ २४ ॥

भाषार्थ--दूध और जलके समान मिलेहुये मन और पवनरूप जो चित्त और प्राण हैं वे दोनों तुल्यक्रिय हैं अर्थात् दोनोंकी प्रवृत्ति तुल्य होती है अर्थात् जिस नाडियोंके चक्रमें वायु प्रवृत्त होताहै उसी चक्रमें मनकी प्रवृत्ति होती है और जिस चक्रमें मन प्रवृत्त होता है उसी चक्रमें वायुकी प्रवृत्ति होती है सोई वासिष्ठमें कहा है कि, प्राणियोंके प्राण और चित्त दोनों अविनाभावी हैं अर्थात् एकके विना एक नहीं होसकता है और पुष्प और सुगं-धके समान मिलेहुए तिल और तेलके समान स्थित हैं और ये अपने विनाशसे मोक्षरूप उत्तम कार्यको करते हैं ॥ २४ ॥

तत्रैकनाशादपरस्य नाश एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः ॥
अध्वस्तयोश्चेंद्रियवर्गवृत्तिः प्रध्वस्तयोर्मोक्षपदस्य सिद्धिः॥२५॥

तत्रेति॥ तत्र तयोर्मानसमारुतयोर्मध्ये एकस्य मानसस्य मारुतस्य वा नाशाल्लयादपरस्यान्यस्य मारुतस्य मानसस्य वा नाशो लयो भवति। एकप्रवृत्तेरेकस्य मानसस्य मारुतस्य वा प्रवृत्तेर्व्यापारादपरप्रवृत्तिरपरस्य मारुतस्य मानसस्य वा प्रवृत्तिर्व्यापारो भवति। अध्वस्तयोरलीनयोर्मानसमारुतयोः सतोरिंद्रियवर्गवृत्तिरिंद्रियसमुदायस्य स्वस्वविषये प्रवृत्तिर्भवति। प्रध्वस्तयोः प्रलीनयोस्तयोः सतोर्मोक्षपदस्य मोक्षाख्यपदस्य सिद्धिर्निष्पत्तिर्भवति। तयोर्लये पुरुषस्य स्वरूपेऽवस्थानादित्यर्थः। 'तत्रापि साध्यः पवनस्य नाशः षडंगयोगादिनिषेवणेन। मनोविनाशस्तु गुरोः प्रसादान्निमेषमात्रेण सुसाध्य एव'॥ योगबीजे मूलश्लोकस्यायमुत्तरः श्लोकः॥ २५॥

भाषार्थ-उन दोनों पवन और मनके मध्यमें एक मन वा पवनके नाशसे दूसरे पवन वा मनका नाश होता है और एक मन वा पवनके व्यापारसे दूसरे मन वा पवनका व्यापार होता है और जबतक मन और पवन नष्ट नहीं होते तबतक संपूर्ण इन्द्रियोंका समुदाय अपने २ विषयमें प्रवृत्त होता है और जब मन और प्राणका अधिकार लय होजाता है तब मोक्षरूप पदकी सिद्धि होती है, क्योंकि इन दोनोंका लय होनेपर पुरुषकी अपने स्वरूपमें स्थिति होजाती है और इस मूलके श्लोकका उत्तरश्लोक योगबीजमें यह लिखा है कि, षडंगयोग आदिके सेवनसे पवनका नाश साधन करने योग्य है और मनका बिनाश तो गुरुके प्रसादद्वारा निमेषमात्रसे सुसाध्य है॥ २५॥

रसस्य मनसश्चैव चंचलत्वं स्वभावतः॥
रसो बद्धो मनो बद्धं किं न सिद्ध्यति भूतले॥२६॥

रसस्येति॥ रसस्य पारदस्य मनसो मानसस्य स्वभावतः स्वभावाच्चंचलत्वं चांचल्यमस्ति। रसः पारदो बद्धश्चेन्मनश्चित्तं बद्धं भवति। ततोभूतले पृथिवीतले किं न सिद्ध्यति सर्वं सिद्ध्यतीत्यर्थः॥ २६॥

भाषार्थ-और रस (पारा) और मन ये दोनों स्वभावसे चंचल हैं। यदि रस और मन ये दोनों बंधजायँ तो भूतलमें ऐसी वस्तु कौन है जो सिद्ध न हो सकै अर्थात् सब पदार्थ सिद्ध होसकते हैं॥ २६॥

मूर्च्छितो हरते व्याधीन्मृतो जीवयति स्वयम्॥
बद्धः खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च पार्वति॥२७॥

तदेवाह-मूर्च्छित इति॥ औषधिविशेषयोगेन गतचापलो रसो मूर्च्छितः कुम्भकांते रेचकनिवृत्तो वायुर्मूर्च्छित इत्युच्यते। हे पार्वतीति

पार्वतीसुबोधायेश्वरवाक्यम्। मूर्च्छितो रसः पारदो वायुः प्राणश्च व्याधीन् रोगान् हरते; नाशयति। भस्मीभूतो रसो ब्रह्मरंध्रे लीनो वायुश्च मृतः स्वयमात्मना स्वसामर्थ्येनेत्यर्थः। जीवयति दीर्घकालं जीवनं करोति। क्रियाविशेषेण गुटिकाकारकृतो रसः बद्धो भ्रूमध्यादौ धारणाविशेषेण धृतो वायुश्च बद्धः खेचरतामाकाशगामिं धत्ते विधत्ते करोतीत्यर्थः। तदुक्तं गोरक्षकशतके-'यद्भिन्नांजनपुंजसन्निभमिदं वृत्तं भ्रुवोरंतरे तत्त्वं वायुमयं पकारसहितं तत्रेश्वरो देवता। प्राणं तत्र विलाप्य पंचघटिकं चित्तान्वितं धारयेदेषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायुना धारणा' इति॥ २७॥

भाषार्थ-औषधिविशेषके योगसे नष्ट हुई है चपलता जिसकी ऐसा रस मूर्च्छित कहाता है और कुंभकके अंतमें रेचकसे निवृत्त वायुको मूर्च्छित कहते हैं. हे पार्वती! मूर्च्छित कियाहुआ पारद और प्राणवायु संपूर्ण रोगोंको नष्ट करता है और माराहुआ अर्थात् भस्म कियाहुआ पारा और 'ब्रह्मरंध्रमें लीन प्राणवायु, यह अपने सामर्थ्यसे मनुष्यको दीर्घकालतक जिवा सकता है और बद्ध किये हुए वे दोनों अर्थात् क्रियाविशेषसे गुटिकाकार किया हुआ पारा और भ्रुकुटिके धारणविशेषसे धारण किया हुआ प्राणवायु ये दोनों आकाशगतिको करते हैं अर्थात् वह योगी पक्षियोंके समान आकाशमें उडसकता है सोई गोरक्षकशतकमें कहा है कि, भिन्नांजन पुंजके समान अर्थात् पिसे हुए अंजनके समूहके तुल्य गोलाकार वायुरूप और पकार रहित तत्त्व (प्राण) भ्रुकुटियोंके मध्यमें है उस तत्त्वका ईश्वर देवता है उस ईश्वरमें प्राणको चित्तसहित लय करके पांच घटी पर्यंत धारण करे, यह वायुके संग चित्तकी धारणा योगीजनोंका आकाशमें गमन करती है॥ २७॥

मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिंदुः स्थिरो भवेत्॥
बिंदुस्थैर्यात्सदा सत्त्वं पिंडस्थैर्यं प्रजायते॥ २८॥

मनःस्थैर्य इति॥ मनसः स्थैर्ये सति वायुः प्राणः स्थिरो भवेत्। ततो वायुस्थैर्याद्बिंदुर्वीर्यं स्थिरो भवेत्। बिंदोः स्थैर्यात्सदा सर्वदा सत्त्वं बलं पिंडस्थैर्यं देहस्थैर्यं प्रजायते॥ २८॥

भाषार्थ-मनकी स्थिरता होनेपर प्राणभी स्थिर होता है और वायुकी स्थिरतासे वीर्यकी स्थिरता होती है और वीर्यकी स्थिरतासे सदैव बल होता है और उससेही देहकी स्थिरता होती है॥ २८॥

इंद्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः॥
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः॥ २९॥

इंद्रियाणामिति ॥ इंद्रियाणां श्रोत्रादीनां मनोऽतःकरणं नाथः प्रवर्तकः । मनोनाथो मनसो नाथो मारुतः प्राणः । मारुतस्य प्राणस्य लयो मनोविलयो नाथः । लयो मनोलयः नादमाश्रितो नादे मनो लीयत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

भाषार्थ-श्रोत्र आदि इंद्रियोंका नाथ (प्रवर्त्तक) अन्तःकरण-मनहै और मनका नाथ प्राणहै और प्राणका नाथ मनका लयहै और वह मनका लय नादके आश्रित है अर्थात् नादमें मनका लय होताहै ॥ २९ ॥

सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो मास्तु वापि मतांतरे ॥
मनःप्राणलये कश्चिदानंदः संप्रवर्तते ॥ ३० ॥

सोऽयमिति ॥ सोऽयमेव चित्तलय एव मोक्षाख्यो मोक्षपदवाच्यः । मतांतरेऽन्यमते मास्तु वा । चित्तलयस्य सुषुप्तावपि सत्त्वान्मनःप्राणयोर्लये सति कश्चिदनिर्वाच्य आनंदः संप्रवर्तते सम्यक् प्रवृत्तो भवति । अनिर्वाच्यानंदाविर्भावे जीवन्मुक्तिसुखं भवत्येवेति भावः ॥ ३० ॥

भाषार्थ-सो यही चित्तका लय मोक्षरूप है अर्थात् इसकोही मोक्ष कहते हैं अथवा मतांतरमें इसको मोक्ष मत मानो, क्योंकि चित्तका लय सुषुप्तिमें भी होताहै तो भी मन और प्राणके लय होनेपर जो कुछ अकथनीय आनंद प्रकट होताहै उस अनिर्वचनीय आनंदके प्रकट होनेपर जीवन्मुक्ति रूप सुख अवश्य होताहै ॥ ३० ॥

प्रनष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः ॥
निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनाम् ॥ ३१ ॥

प्रनष्टेति ॥ श्वासश्च निश्वासश्च श्वासनिश्वासौ प्रनष्टौ लीनौ श्वासनिश्वासौ यस्मिन् स तथा बाह्यवायोरंतःप्रवेशनं श्वासः अंतःस्थितस्य वायोर्बहिर्निःसरणं निश्वासः प्रध्वस्तः प्रकर्षेण ध्वस्तो नष्टो विषयाणां शब्दादीनां ग्रहो ग्रहणं यस्मिन् निर्गता चेष्टा कायक्रिया यस्मिन् निर्गतो विकारोऽतःकरणक्रिया यस्मिन् एतादृशो योगिनां लयोऽतःकरणवृत्तेर्ध्येयाकारा वृत्तिर्जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते ॥ ३१ ॥

भाषार्थ-जिसमें श्वास और निःश्वास भलीप्रकार नष्ट होजाय अर्थात् बाहरकी पवनका जो भीतर प्रवेश वह श्वास, और भीतरकी पवनका बाहर निकासना यह निःश्वास, यह दोनों जिसमें न रहैं और इंद्रियोंसे विषयोंका ग्रहण करनाभी जिससे भलीप्रकार नष्ट होजाय, और देहकी क्रियारूप चेष्टाभी जिसमें न रहै, और अन्तःकरणका क्रियारूप विकारभी

जिसमें न हो, ऐसा जो योगियोंका लय है अर्थात् ध्यान करने योग्य वस्तुके आकारकी जो अन्तःकरणवृत्ति है वह सबसे उत्तमहै ॥ ३१ ॥

उच्छिन्नसर्वसंकल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः ॥
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः ॥३२॥

उच्छिन्नेति ॥ उच्छिन्ना नष्टाः सर्वे संकल्पा मनःपरिणामा यस्मिन् स तथा निर्गतः शेषो येभ्यस्तानि निःशेषाण्यशेषाणि चेष्टितानि यस्मिन् स तथा स्वेनैवावगंतुं बोधुं शक्यः स्वावगम्यः वाचामगोचरो विषयः कोऽपि विलक्षणो लयः जायते योगिनां प्रादुर्भवति ॥ ३२ ॥

भाषार्थ–जिसमें मनके परिणाम रूप संपूर्ण संकल्प नष्ट होगये हों और जिसमें संपूर्ण चेष्टित न रहे हों अर्थात् कर चरण आदिका व्यापार निवृत्त हो और जो अपने आपही जानने योग्य हो अर्थात् जिसको अन्य पुरुष न जानसके और जो वाणीकाभी अगोचर हो अर्थात् वाणीभी जिसको न कहसके ऐसा विलक्षण लय योगीजनोंको प्रगट (उत्पन्न) होताहै ॥ ३२ ॥

यत्र दृष्टिर्लयस्तत्र भूतेंद्रियसनातनी ॥
सा शक्तिर्जीवभूतानां द्वे अलक्ष्ये लयं गते ॥ ३३ ॥

यत्र दृष्टिरिति ॥ यत्र यस्मिन्विषये ब्रह्मणि दृष्टिरंतःकरणवृत्तिस्तत्रैव लयो भवति । भूतानि पृथिव्यादीनि इंद्रियाणि श्रोत्रादीनि सनातनानि शाश्वतानि यस्यां सा सत्कार्यवादेऽविद्यायां कार्यजातस्य सत्त्वात् । जीवभूतानां प्राणिनां शक्तिर्विद्या इमे द्वे अलक्ष्ये ब्रह्मणि लयं गते योगिनामिति शेषः ॥ ३३ ॥

भाषार्थ–जिस ब्रह्मरूप विषयमें अन्तःकरणकी वृत्ति होतीहै उसमें मन लय होताहै और पृथ्वी आदि पंच महाभूत और श्रोत्र आदि इंद्रिय ये जिसमें न हो वह अविद्या क्योंकि सत्कार्यवाद मतमें अविद्यामें सम्पूर्ण कार्यका समूह रहता है. सत्कार्यवाद यहहै कि, घट आदिकार्य सत्रूप है-और प्राणियोंकी शक्तिरूप विद्या, ये अविद्या और विद्यारूप दोनों अलक्ष्य ब्रह्ममेंही योगियोंके लय हो जातेहैं ॥ ३३ ॥

लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लयलक्षणम् ॥
अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषयविस्मृतिः ॥ ३४ ॥

लय इति ॥ लय इति प्राहुर्वदंति बहवः । लयस्य लक्षणं लयस्वरूपं

कीदृशमिति प्रश्नपूर्वकं लयस्वरूपमाह-अपुनरिति । अपुनर्वासनोत्थानात्पुनर्वासनास्थानाभावाद्विषयाविस्मृतिर्विषयाणां शब्दादीनां ध्येयाकारस्य विषयस्य वा विस्मृतिर्लयो लयशब्दार्थ इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

भाषार्थ-बहुतसे मनुष्य लय ऐसा कहते हैं परन्तु लयका लक्षण (स्वरूप) क्या है ऐसा कोई पूछै तो शब्द आदि सम्पूर्ण विषयोंकी वा ध्यान करनेयोग्य विषयकी जो विस्मृति उसको लय कहते हैं क्योंकि उस मनमें फिर वासना नहीं उठती हैं वा वह मन फिर वासनाओंका स्थान नहीं रहता है ॥ ३४ ॥

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ॥
एकैव शांभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥ ३५ ॥

वेदेति॥वेदाश्चत्वारःशास्त्राणि षट् पुराणान्यष्टादश सामान्या गणिका इव वेश्या इव । बहुपुरुषगम्यत्वात । एका शांभवी मुद्रैव कुलवधूरिव कुलस्त्रीव गुप्ता । पुरुषविशेषगम्यत्वात् ॥ ३५ ॥

भाषार्थ-चारों वेद और छहोंशास्त्र और अष्टादश १८ पुराण वे सब सामान्य गणिका (वेश्या) के समान हैं क्योंकि ये अनेक पुरुषोंके जानने योग्य हैं-और एक पूर्वोक्त शांभवीमुद्राही कुलवधूके समान गुप्त हैं क्योंकि उसको कोई बिरला मनुष्यही जानसकता है ३५

अंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ॥
एषा सा शांभवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ॥ ३६ ॥

चित्तलयाय प्राणलयसाधनीभूतां मुद्रां विवक्षुस्तत्र शांभवीं मुद्रामाह-अंतर्लक्ष्यमिति ॥ अंतः आधारादिब्रह्मरंध्रांतेषु चक्रेषु मध्ये स्वाभिमते चक्रे लक्ष्यमंतःकरणवृत्तिः । बहिर्देहाद्बहिःप्रदेशे दृष्टिः चक्षुःसंबंधः कीदृशी दृष्टिः निमेषोन्मेषवर्जिता निमेषः पक्ष्मसंयोगः उन्मेषः पक्ष्मसंयोगविश्लेषः ताभ्यां वर्जिता रहिता चित्तस्य ध्येयाकारावेशे निमेषोन्मेषवर्जिता दृष्टिर्भवति । सोक्तैषा मुद्रा शांभवी शंभोरियं शांभवी शिवप्रिया शिवाविर्भावजानिका वा भवति । कीदृशी वेदशास्त्रेषु गोपिता वेदेषु ऋगादिषु शास्त्रेषु सांख्यपातंजलादिषु गोपिता रक्षिता ॥ ३६ ॥

भाषार्थ-चित्तके लयार्थ प्राणलयका साधन जो शांभवीमुद्रा उसके कथनके अभिलाषी आचार्य -प्रथम शांभवीमुद्राका वर्णन करते हैं कि, भीतरके जो आधार आदि चक्र हैं उनके मध्यमें अपनेको अभीष्ट जो चक्रहो उसमें लक्ष्य (अंतःकरणकी (वृत्ति) हो और बाहिरके विषयोंमें जो दृष्टि हो वह निमेष और उन्मेषसे वर्जित हो अर्थात् पक्ष्म (पलक) के

संयोग और वियोगसे हीन हो, क्योंकि चित्तमें ध्यान करनेके योग्य जो वस्तु उसके आकारके आवेश होनेसे निमेष उन्मेष रहित प्रकाशितही नेत्र बने रहतेहों--वेद और शास्त्रोंमें गुप्त यह मुद्रा अर्थात् ऋग्वेद आदि वेद और सांख्य पातंजल आदिशास्त्रोंमें भी छिपीहुई यह मुद्रा शांभवी कहाती है कि, इससे शंभुका आविर्भाव (प्रकटता) होता है वा यह मुद्रा शंभु भगवान्ने कही है ॥ ३६ ॥

अंतर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ॥
मुद्रेयं खलु शांभवी भवति सा लब्धा प्रसादाद्गुरोः
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्त्वं परं शांभवम्॥ ३७॥

शांभवीं मुद्रामभिनीय दर्शयति—अंतर्लक्ष्यमिति ॥यदा यस्यामवस्थायामंतः अनाहतपद्मादौ यल्लक्ष्यं सगुणेश्वरमूर्त्यादिकं तत्त्वमस्यादिवाक्यलक्ष्यं जीवेश्वराभिन्नमहं ब्रह्मास्मीति वाक्यार्थभूतं ब्रह्म वा तस्मिन्विलीनौ विशेषेण लीनौ चित्तपवनौ मनोमारुतौ यस्य स तथा योगी वर्तते निश्चलतारया निश्चला स्थिरा तारा कनीनिका यस्य तादृश्या दृष्ट्या बहिर्देहाद्बहिःप्रदेशे पश्यन्नपि चक्षुःसंबंधं कुर्वन्नपिअपश्यन् बाह्यविषयग्रहणमकुर्वन् वर्तते आस्ते । खल्विति वाक्यालंकारे । इयमुक्ता शांभवी मुद्रा शांभवीनामिका मुद्रयति क्लेशानि मुद्रा गुरोर्देशिकस्य प्रसादात्प्रीतिपूर्वकादनुग्रहाल्लब्धा प्राप्त चेत्तदिदमिति वक्तुमशक्यं शांभवं शांभवीमुद्रायां भासमानं पदं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदमात्मस्वरूपं शून्याशून्यविलक्षणं ध्येयाकारवृत्तेःसद्भावाच्छून्यविलक्षणं तस्या अपि भानाभावादशून्यविलक्षणं तत्त्वं वास्तविकं वस्तु स्फुरति प्रतीयते । तथाचोक्तम्—'अन्तर्लक्ष्यमनन्यधीरविरतं पश्यन्मुद्रा संयमी दृष्टयुन्मेषनिमेषवर्जितमियं मुद्रा भवेच्छाम्भवी॥गुप्तेयं गिरिशेन तंत्रविदुषा तंत्रेषु तत्त्वार्थिनामेषा स्याद्यमिनां मनोलयकरी मुक्तिप्रदा दुर्लभा ॥ १ ॥ ऊर्ध्वदृष्टिरधोदृष्टिरूर्ध्ववेधो ह्यधःशिराः । राधायंत्रविधानेन जीवन्मुक्तो भवेत्क्षितौ । २ । ॥ ३७ ॥'

भाषार्थ-अब शांभवीमुद्राके स्वरूपको घटाकर दिखाते हैं कि, जिस कालमें योगी इसप्रकार वर्ते अर्थात् स्थित रहे कि, भीतर अनाहत (निश्चल) पद्म आदिमें जो सगुण मूर्ति आदि लक्ष्य है वा तत्त्वमसि आदि महावाक्योंसे लक्ष्य जो जीव ईश्वरके अभेदरूप मैं ब्रह्म हूँ इस वाक्यका अर्थरूप ब्रह्म है उसमेंही विशेषकर जिसके चित्त

और पवन (प्राण) ये दोनों लीनहों और निश्चय हैं तारे जिसमें ऐसी दृष्टि (नेत्र) से देहसे बाहिरके देशमें देखताहुआभी अदृष्टाके समान हो अर्थात् बाहिरके विषयको न जानताहुआ अधोदृष्टि रहताहै-यह पूर्वोक्त शांभवी नामकी मुद्रा है और जो क्लेशोंको छिपाले उसे मुद्रा कहते हैं-यदि यह मुद्रा गुरुके प्रसादसे प्राप्त होजाय तो वह शांभव शम्भुभगवान्का तत्त्व जिसको इसप्रकार नहीं बता सकते कि, यहहै शांभवीमुद्रामें भासमान वह योगियोंको प्राप्त होनेयोग्य आत्मरूप तत्त्व अर्थात् ध्येयाकार वृत्तिके होनेसे शून्यसे विलक्षण और अन्तमें ध्येयाकार वृत्तिकेभी अभावसे अशून्यसे विलक्षण वास्तविक वस्तु योगीजनोंके मनमें स्फुरती है अर्थात् प्रतीत होती है-सोई कहा है कि अनन्यबुद्धि होकर अर्थात् अन्यविषयमें बुद्धिको न लगाकर भीतरके लक्ष्य (ब्रह्म) को दृष्टिके उन्मेष निमेषसे वर्जित नेत्रोंसे निरंतर आनंदसे देखताहुआ संयमी (योगी) होयतो यह शांभवी मुद्रा होती है और तंत्रके ज्ञाता गिरीश (शिव) ने यह गुप्त रक्खी है और यह दुर्लभमुद्रा तत्त्वके अभिलाषी योगीजनोंके मनको लय करती है और मुक्तिको भलीप्रकार देती है और ऊर्ध्व और अधोदृष्टि होकर और ऊर्ध्ववेध और अधः-शिर होकर स्थित योगी इस राधायंत्रके विधानसे भूमिमें रहताहुआभी जीवन्मुक्ति होताहै-भावार्थ यह है कि, भीतरके लक्ष्यमें लयहुये हैं चित्त पवन जिसके और निश्चल हैं तारा जिसके ऐसी दृष्टिसे बाहिरके विषयको देखताहुआभी न देखनेके समान हो ऐसे योगीकी यह शांभवीमुद्रा होती है यदि यह गुरुके प्रसादसे प्राप्त हो जाय तो योगीको शून्य अशून्यसे विलक्षण जो शंभुका पदरूप परम तत्त्व है वह प्रतीत होताहै ॥ ३७ ॥

श्रीशांभव्याश्च खेचर्या अवस्थाधामभेदतः ॥
भवेच्चित्तलयानंदः शून्ये चित्सुखरूपिणि ॥ ३८ ॥

श्रीशांभव्या इति ॥ श्रीशांभव्याः श्रीमत्याः शांभवीमुद्रायाः खेचरीमुद्रायाश्चावस्थाधामभेदतः अवस्थाऽवस्थितिर्धाम स्थानं तयोर्भेदाच्छांभव्यां बहिर्दृष्ट्या बहिःस्थितिः खेचर्यां भ्रूमध्यदृष्ट्याऽवस्थितिः। शांभव्यां हृदयभावनादेशः खेचर्यां भ्रूमध्य एव देशः। तयोर्भेदाभ्यां शून्ये देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्ये सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्ये या चित्सुखरूपिणी चिदानंदस्वरूपिण्यात्मनि चित्तलयानंदो भवेत्स्यात्। श्रीशांभवीखेचर्योरवस्थाधामरूपसाधनांशे भेदः, नतु चित्तलयानंदरूपफलांश इति भावः ॥ ३८ ॥

भाषार्थ-इस पूर्वोक्त श्रीमती शांभवीमुद्राके और खेचरीमुद्राके द्वारा अवस्था और धाम स्थान) के भेदसे अर्थात् शांभवीमुद्रामें बाहिर दृष्टिसे बहिःस्थिति और खेचरीमुद्रामें

भ्रुकुटीके मध्यमें दृष्टिसे स्थिति होती है और शांभवीमें हृदय भावनाका देश है और खेचरीमें भ्रुकुटीका मध्यही देश है इन दोनों भेदोंसे देश काल वस्तुके परिच्छेदसे और सजातीय विजातीय स्वगतरूप भेदसे शून्य (रहित) चिदानंद स्वरूप आत्मामें चित्तके लयका आनंद होता है अर्थात् दोनों शांभवी खेचरीमुद्राओंका अवस्था और धामरूप साधन अंशमें तो भेद है और चित्तलयके आनंदरूप फलके अंशमें भेद नहीं है ॥ ३८ ॥

तारे ज्योतिष संयोज्य किंचिदुन्नमयेद्भ्रुवौ ॥
पूर्वयोगं मनो युंजन्नुन्मनीकारकः क्षणात् ॥ ३९ ॥

उन्मनीमुद्रामाह—तारे इति ॥ तारे नेत्रयोः कनीनिके ज्योतिषि तारयोर्नासाग्रे योजनात्प्रकाशमाने तेजसि संयोज्य संयुक्ते कृत्वा भ्रूवौ किंचित्स्वल्पमुन्नयेदूर्ध्वं नयेत् । पूर्वक्तोऽन्तर्लक्ष्यबहिर्दृष्टिरित्याकारको योगी युक्तिर्यस्मिन् तत्तादृशं मनोऽन्तःकरणं युंजन् युक्तं कुर्वन् योगी क्षणान्मुहूर्तादुन्मनीकारण उन्मन्यवस्थाकारको भवति ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—अब उन्मनीमुद्राका वर्णन करते हैं कि, नेत्रोंकी कनीनिकारूप तारोंको ज्योतिमें अर्थात् तारोंको नासिकाके अग्रभागमें संयोग करनेसे प्रकाशमान जो तेज उसमें संयुक्त करके भ्रुकुटियोंको किंचित् (कुछेक) ऊपरको करदे और पूर्वोक्त जो अन्तःलक्ष्य बहिःदृष्टि (भीतर लक्ष्य बाहिर दृष्टि) रूप योग है जिसमें ऐसा अन्तःकरण (मन) उसको युक्त करता हुआ योगी क्षणमात्रमें उन्मनी अवस्थाका कारक होताहै अर्थात् पूर्वोक्त अवस्थासे स्थित योगीकी उन्मनीमुद्रा होती है ॥ ३९ ॥

केचिदागमजालेन केचिन्निगमसंकुलैः ॥
केचित्तर्केण मुह्यंति नैव जानंति तारकम् ॥ ४० ॥

उन्मनीमंतराऽन्यस्तरणोपायो नास्तीत्याह—केचिदिति ॥ केचिच्छास्त्रतंत्रादिविदः आगच्छंति बुद्धिमारोहंत्यर्था एभ्य इत्यगमाः शास्त्रतंत्रादयस्तेषां जालैर्जालवद्बंधनसाधनैस्तदुक्तैः फलैर्मुह्यंति मोहं प्राप्नुवंति । तत्रासक्ता बध्यंत इति भावः । केचिद्वैदिका निगमसंकुलैर्निगमानां निगमोक्तानां संकुलैः फलबाहुल्यैर्मुह्यंति केचिद्वैशेषिकादयस्तर्केण स्वकल्पितयुक्तिविशेषेण मुह्यंति। तारयतीति तारकं तरणोपायं नैव जानंति उक्तोन्मन्येव तरणोपायस्तं न जानंतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

भाषार्थ—अब इसका वर्णन करते हैं कि, उन्मनीके विना अन्य तरनेका उपाय नहीं है कि, कोई शास्त्र और तन्त्र आदिके ज्ञाता आगमनके जालसे अर्थात् जिससे

बुद्धिमें पदार्थ आजाय उन्हें आगम कहते हैं वे शास्त्र और तंत्ररूपोंके समूहसे मोहको प्राप्त होजाते हैं अर्थात् जालके समान बंधनके कर्ता जो शास्त्रतंत्रमें कहे हुये फल उनमेंही मोहित रहते हैं उनमें आसक्त हुये बंध जाते हैं--और कोई निगम (वेद) में कहे जो फलोंके समुदाय उससेही मोहित रहते हैं--और कोई वैशेषिक आदि अपनी कल्पना कियेहुये जो युक्तिरूप विशेषतर्क उनसेही मोहित रहते हैं--परन्तु तारकको नहीं जानते हैं अर्थात् संसारसमुद्रके तरनेका उपाय जो पूर्वोक्त उन्मनी उसको नहीं जानते हैं--भावार्थ यह है कि, कोई शास्त्र और तंत्रके जालसे कोई वेदोक्त फलोंसे कोई तर्कसे--मोहित रहते हैं परन्तु उन्मनीरूप तारकको नहीं जानते हैं ॥ ४० ॥

अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
श्चंद्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निष्पंदभावेन यः ॥
ज्योतीरूपमशेषबीजमखिलं देदीप्यमानं परं
तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम् ॥४१॥

अर्धोन्मीलितेति ॥ अर्धम् उन्मीलिते अर्धोन्मीलिते अर्धोन्मीलिते लोचने येन स अर्धोन्मीलितलोचनः अर्धोद्घाटितलोचन इत्यर्थः । स्थिरं निश्चलं मनो यस्य स स्थिरमना नासाया नासिकाया अग्रेऽग्रभागे नासिकायां द्वादशांगुलपर्यंते वा दत्ते प्रहिते ईक्षणे येन स नासाग्रदत्तेक्षणः । तथाह वाशिष्ठे:-'द्वादशांगुलपर्यंते नासाग्रे विमलेंऽबरे। संविद्दृशोः प्रशाम्यंत्योः प्राणस्पंदो निरुध्यते॥' इति । निस्पंदस्य निश्चलस्य भावो निस्पंदभावः कायेंद्रियमनसां निश्चलत्वं तेन चन्द्राकौं चंद्रसूर्यावपि लीनतां लीनस्य भावो लीनता लयस्तमुपनयन्प्रापयन्कायेंद्रियमनसः निश्चलत्वेन प्राणसंचारमपि स्तंभयन्नित्यर्थः । तदुक्तं प्राक्-'मनो यत्र विलीयेत' इत्यादिपूर्वोक्तविशेषणसंपन्नो योगी ज्योतीरूपं ज्योतिरिवा-खिलप्रकाशकं रूपं यस्य स तथा तमशेषबीजमाकाशाद्युत्पत्तिद्वारा सर्वकारणमखिलं पूर्णं देदीप्यमानमतिशयेन दीप्यत इति देदीप्यमानं तत्तथा स्वप्रकाशकं परं कायेंद्रियमनसां साक्षिणं तत्त्वमनारोपितं वास्तविकमित्यर्थः । तदिदमिति वक्तुमशक्यं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं परमं सर्वोत्कृष्टं वस्तु आत्मस्वरूपमेति प्राप्नोति । उन्मन्यवस्थायां स्वस्वरूपावस्थितो योगी भवतीत्यर्थः । अत्राधिकं किं वाच्यम् । अपरं वस्तु प्राप्नोतीत्यत्र किं वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

भाषार्थ-आधे उन्मीलित किये (खोले) हैं नेत्र जिसने और निश्चल है मन जिसका और नासिकाके बारह अंगुलपर्यंत अग्रभागमें लगाये हैं नेत्र जिसने-सोई वसिष्ठने कहा है कि, द्वादश अंगुल पर्यंत निर्मल जो नासिकाके अग्रभागमें आकाश उसमें यदि ज्ञान, दृष्टि दोनों भलीप्रकार शांत होजायँ तो प्राणोंका स्पंद (गति) रुक जाती है-ऐसा योगी और देह इंद्रिय मन इनके निस्पंदभाव (निश्चलता) से चंद्रमा और सूर्यकी भी लीनताको करताहुआ अर्थात् देह, मन, इंद्रियोंकी निश्चलतासे प्राणके संचारको भी रोकताहुआ सोई कहभी आये हैं कि, जहां मनभी विलय हो जाता है--इसपूर्वोक्त प्रकारका योगाभ्यासी ज्योतिके समान सबका प्रकाशक--और आकाश आदिकी उत्पत्तिके द्वारा सबका कारण और अखिल (पूर्ण) रूप और अत्यंत प्रकाशमान और देह इंद्रिय मन इनका साक्षीरूप पर--और वास्तविक तत्त्वस्वरूप--जो वह पद है जिनको यह नहीं कह सकते कि,--वह यह है--और योगीजन जिसमें जाय उसे पद कहते हैं-उस परम (सबसे उत्तम) आत्मस्वरूपको प्राप्त होता है अर्थात् उन्मनी अवस्थामें योगी अपने स्वरूपमें स्थित होता है--इसमें अधिक और क्या कहने योग्य है अन्यवस्तुओंकी तो अवश्यही प्राप्ति होती है--भावार्थ यह है कि, जिसके आधे नेत्र खुले हों मन स्थिरहो नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि हो और जिसने देह आदिकी निश्चलतासे प्राणकोभी लीन करालियाहो ऐसा योगी, ज्योतिस्वरूप सबके कारण, पूर्ण देदीप्यमान साक्षीरूप जो तत्त्व उस परमपदको प्राप्त होता है इसमें अधिक क्या कहने योग्य हैं ॥ ४१ ॥

दिवा न पूजयेल्लिंगं रात्रौ चैव न पूजयेत् ॥
सर्वदा पूजयेल्लिंगं दिवारात्रिनिरोधतः ॥ ४२ ॥

उन्मनीभावनायाः कालनियमभावमाह-दिवा नेति ॥ दिवा सूर्यसंचारे लिंगं सर्वकारणमात्मानम् । 'एतस्मादात्मान आकाशः संभूतः' इत्यादि श्रुतेः । न पूजयेत न भावयेत् । ध्यानमेवात्मपूजनम् । तदुक्तं वासिष्ठे-ध्यानोपहार एवात्मा ध्यानमस्य महार्चनम् । विना तेनेतरेणायमात्मा लभ्यत एव नो' इति । रात्रौ चंद्रसंचारे च नैव पूजयेन्नैव भावयेत् । चंद्रसूर्यसंचारे चित्तस्थैर्याभावात् । 'चले वाते चलं चितम्' इत्युक्तत्वात् । दिवारात्रिनिरोधतः सूर्यचंद्रौ निरुध्य । ल्यब्लोपे पंचमी तस्यास्तसिल् । सर्वदा सर्वस्मिन् काले लिंगमात्मानं पूजयेद्भावयेत् । सूर्यचंद्रयोर्निरोधे कृते सुषुम्नांतर्गते प्राणे मनःस्थैर्यात् तदुक्तम्-'सुषुम्नांतर्गते वायौ मनःस्थैर्यं प्रजायते' इति ॥ ४२ ॥

भाषार्थ-अब उन्मनीभावनामें कालके नियमका अभाव वर्णन करते हैं कि दिनमें

अर्थात् सूर्यके संचारमें लिंगका पूजन न करै अर्थात् सबके कारण लिंगरूप आत्माका ध्यान करै सोई कहा है कि, इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ और यहां ध्यानही पूजनशब्दसे लेना पुष्प आदिसे पूजन नहीं सोई वासिष्ठमें वसिष्ठजीने कहा है कि, आत्माका उपहार (भेंट) ध्यानही है और ध्यानही इसका अर्चन (पूजा) है उसके विना यह आत्मा प्राप्त नहीं होता है और रात्रिमें अर्थात् चंद्रमाके वारमेंभी लिंगरूप आत्माका पूजन न करै क्योंकि, चंद्र और सूर्यके वारमें चित्तकी स्थिरता नहीं रहती है कहभी आये हैं कि प्राणवायुके चलायमान होनेसे चित्तभी चलायमान होजाता है और दिवा और रात्रिके निरोधको करके सबकालमें लिंगका पूजन करै क्योंकि सूर्य और चंद्रका विरोध होनेपर प्राण सुषुम्नाके अंतर्गत होजाता है और उससे मनकी स्थिरता होजाती है उससमय लिगरूप आत्माका ध्यान करै सोई कहा है कि, सुषुम्नाके अंतर्गत सूर्यके होनेपर मनकी स्थिरता होजाती है-भावार्थ यह है कि, सूर्य और चंद्रमाके संचारमें आत्माका ध्यान करै और सूर्य और चंद्र संचारको रोककर सबकालमें आत्माका ध्यान करै ॥ ४२ ॥

सव्यदक्षिणनाडिस्थो मध्ये चरति मारुतः ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्स्थाने न संशयः ॥ ४३ ॥

खेचरीमाह– सव्येति ॥ सव्यदक्षिणनाडिस्थो वामतदितरनाडिस्थो मारुतो वायुर्यत्र मध्ये चरति यस्मिन्मध्यप्रदेशे गच्छति तस्मिन्स्थाने तस्मिन्प्रदेशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरा भवति । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इत्यात्मनेपदम् । न संशयः उक्तेऽर्थे संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

भाषार्थ–अब खेचरीमुद्राका वर्णन करते हैं कि, इडा पिंगला नामकी जो सव्य दक्षिण नाडी हैं उनमें स्थित प्राणवायु जिस मध्य प्रदेशमें गमन करता है उसी स्थानमें खेचरीमुद्रा स्थिर होजाती है इसमें संशय नहीं है ॥ ४३ ॥

इडापिंगलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं पुनःपुनः ॥ ४४ ॥

इडापिंगलयोरिति ॥ इडापिंगलयोः सव्यदक्षिणनाड्योर्मध्ये यच्छून्यं खम् । कर्तृ । अनिलं प्राणवायुं यत्र ग्रसेत् शून्ये प्राणस्य स्थिरीभाव एव ग्रासः । तत्र तस्मिञ्छून्ये खेचरी मुद्रा तिष्ठते । पुनः पुनः सत्यमिति योजना ॥ ४४ ॥

भाषार्थ-इडा पिंगला जो सव्य दक्षिण नाडी हैं उनके मध्यमें जो शून्य (आकाश) है वह शून्य जिसमें प्राणवायुको ग्रसले और शून्यमें प्राणकी जो स्थिरता उसकोही ग्रास कहते हैं उस शून्यमें खेचरीमुद्रा स्थिर होती है यह बात वारंवार सत्य है ॥ ४४ ॥

सूर्याचंद्रमसोर्मध्ये निरालंबांतरं पुनः ॥
संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी ॥ ४५ ॥

सूर्याचंद्रमसोरिति ॥ सूर्याचंद्रमसोरिडापिंगलयोर्मध्ये निरालंबं यदंतरमवकाशस्तत्र । पुनः पादपूरणे । व्योम्नां खानां चक्रे समुदाये । भ्रूमध्ये सर्वखानां समन्वयात् । तदुक्तम्-'पंचस्रोतःसमन्विते' इति । या संस्थिता सा मुद्रा खेचरीनाम ॥ ४५ ॥

भाषार्थ-सूर्य और चंद्रमा अर्थात् इडा और पिंगलाके मध्यमें जो निरालंब अंतर (अवकाश) है उस आकाशोंके समुदायरूप चक्रमें क्योंकि, भ्रुकुटीके मध्यमें सब आकाशोंका समन्वय (मेल) है सोई कहा है कि, पांच स्रोतोंसे युक्त भ्रूका मध्य है उस उक्त अवकाशमें जो भलीप्रकार स्थित हो वह खेचरी नामकी मुद्रा होती है ॥ ४५ ॥

सोमाद्यत्रोदिता धारा साक्षात्सा शिववल्लभा ॥
पूरयेदतुलां दिव्यां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे ॥ ४६ ॥

सोमादिति ॥ सोमाच्चंद्राद्यत्र यस्यां खेचर्यां धाराऽमृतधारा उदितोद्भूता सा खेचरी साक्षाच्छिववल्लभा शिवस्य प्रियेति पूर्वेणान्वयः । अतुलां निर्मलां निरुपमां दिव्यां सर्वनाड्युत्तमां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे पूरयेत् जिह्वयेति शेषः ॥ ४६ ॥

भाषार्थ-जिस खेचरीमुद्रामें चंद्रमासे अमृतकी धारा उत्पन्न होती है वह खेचरीमुद्रा साक्षात् शिवजीको वल्लभ (प्यारी) है और अतुल अर्थात् जिसकी उपमा न हो और दिव्यरूप अर्थात् सब नाडियोंमें उत्तम जो सुषुम्ना है उसको पश्चिम मुखके विषे जिह्वासे पूर्ण करै ॥ ४६ ॥

पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत् ॥
अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी संप्रजायते ॥ ४७ ॥

पुरस्ताच्चैवेति ॥ पुरस्ताच्चैव पूर्वतोऽपि पूर्येत । सुषुम्नां प्राणेनेति शेषः । यदि तर्हि निश्चिताऽसंदिग्धा खेचरी खेचर्याख्या मुद्रा भवेदिति । यदि तु पुरस्तात्प्राणेन पूर्येत जिह्वामात्रेण पश्चिमतः पूर्येत तर्हि मूढाव-

स्याजनिका। न निश्चिता खेचरी स्यादिति भावः । खेचरीमुद्राप्यभ्यस्ता सती उन्मनी संप्रजायते चित्तस्य ध्येयाकारावेशात्तुर्यावस्था भवतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

भाषार्थ-और पूर्वमुखके विषेभी पूर्ण करै अर्थात् सुषुम्नाको प्राणसे पूर्ण करै तो निश्चयसे अर्थात् निःसंदेह खेचरी नामकी मुद्रा होती है और यदि पूर्वमुखमें प्राणसे पूर्ण न करै और पश्चिम मुखमें केवल जिह्वासेही पूर्ण करदे तो खेचरीमुद्रा मूढ अवस्थाको पैदा करती है इससे वह निश्चित नहीं है और अभ्यास कीहुई खेचरीमुद्राभी उन्मनी होजाती है अर्थात् चित्तके ध्येयाकार होनेसे तुर्यावस्था होजाती है ॥ ४७ ॥

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते ॥
ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते ॥ ४८ ॥

भ्रुवोरिति ॥ भ्रुवोर्मध्ये भ्रुवोरंतराले शिवस्थानं शिवस्येश्वरस्य स्थानं शिवस्य सुखरूपस्यात्मनोऽवस्थानमिति शेषः । तत्र तस्मिन् शिवे मनो लीयते शिवाकारवृत्तिप्रवाहवद्भवति तच्चित्तलयरूपं तुर्यं पदं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभ्यश्चतुर्थाख्यं ज्ञातव्यम् । तत्र तस्मिन् पदे कालो मृत्युर्न विद्यते । यद्वा सूर्यचंद्रयोर्निरोधादायुःक्षयकारकः कालः समयो न विद्यत इत्यर्थः ॥ तदुक्तम् । 'भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य' इति ॥ ४८ ॥

भाषार्थ-दोनों भ्रुकुटियोंके मध्यमें शिवरूप ईश्वरका वा सुखरूप आत्माका स्थान है उस शिव वा आत्मामें मन लीन होताहै अर्थात् मनकी वृत्तिका प्रवाह शिवाकार होजाताहै और वह चित्तका लय तुर्यपद अर्थात् जाग्रत् स्वप्न सुषुप्तिसे चौथा पद जानना और उस पदमें काल (मृत्यु) नहीं है अथवा सूर्य और चंद्रके निरोधसे अवस्थाके क्षयका कारक समय नहीं है सोई कह आये हैं कि, सुषुम्ना कालके भोगनेवाली है ॥ ४८ ॥

अभ्यसेत्खेचरीं तावद्यावत्स्याद्योगनिद्रितः ॥
संप्राप्तयोगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन ॥ ४९ ॥

अभ्यसेदिति ॥ तावत्खेचरीं मुद्रामभ्यसेत् यावद्योगनिद्रितः । योगः सर्ववृत्तिनिरोधः सैव निद्रा योगनिद्राऽस्य संजाता इति योगनिद्रितः तादृशःस्यात् । संप्राप्ता योगनिद्रा येन स संप्राप्तयोगनिद्रस्तस्य कदाचन कस्मिंश्चिदपि समये कालो मृत्युर्नास्ति ॥ ४९ ॥

भाषार्थ-योगी जबतक योगनिद्रित हो अर्थात् संपूर्ण वृत्तियोंका निरोधरूप जो योग वह निद्रारूप जिसको हो वह योगनिद्रित कहाताहै तबतक खेचरीमुद्राका अभ्यास करै और

जिस योगीको योगनिद्रा भलीप्रकार प्राप्त होगई हो उसकी किसी कालमें भी मृत्यु नहीं होती ॥ ४९ ॥

निरालंबं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥
स बाह्याभ्यंतरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् ॥ ५० ॥

निरालंबमिति ॥ यो निरालंबमालंबशून्यं मनः कृत्वा किंचिदपि न चिंतयेत् खेचरीमुद्रायां जायमानायां ब्रह्माकारामपि वृत्तिं परवैराग्येण परित्यजेदित्यर्थः । स योगी बाह्याभ्यंतरे बाह्ये बहिर्भवे आभ्यंतरेऽभ्यंतर्भवे च व्योम्न्याकाशे घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् । निश्चितमेतत् । यथाकाशे घटो बहिरंतश्चाकाशपूर्णो भवति तथा खेचर्यामालंबनपरित्यागेन योगी ब्रह्मणा पूर्णस्तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ५० ॥

भाषार्थ–जो योगी निरालंब (निराश्रय) मनको करके किंचित् भी चिंता नहीं करताहै अर्थात् खेचरीमुद्राके सिद्ध होनेपर ब्रह्माकार वृत्तिकाभी परमवैराग्यसे त्याग करता है वह योगी बाहिर और भीतरके आकाशमें घटके समान निश्चयकर टिकताहै अर्थात् जैसे घट आकाशके विषय बाहिर और भीतर आकाशसे पूर्ण होताहै तिसीप्रकार खेचरीमुद्राके होनेपर आलंबनके परित्यागसे योगीभी ब्रह्मसे पूर्ण टिकताहै ॥ ५० ॥

बाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्ये न संशयः ॥
स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह ॥ ५१ ॥

बाह्येति ॥ बाह्यो देहाद्बहिर्भवो वायुर्यथा लीनो भवति खेचर्याम् । तस्यांतःप्रवृत्त्यभावात् तथा मध्यो देहमध्यवर्ती वायुर्लीनो भवति तस्य बहिःप्रवृत्त्यभावात् । न संशयः । अस्मिन्नर्थे संदेहो नास्तीत्यर्थः । स्थीयते स्थिरीभूयतेऽस्मिन्निति स्थानं स्वस्य प्राणस्य स्थानं स्थैर्याधिष्ठानं ब्रह्मरंध्रं तत्र मनसा चित्तेन सह पवनः प्राणः स्थिरतां निश्चलतामेति प्राप्नोति ॥ ५१ ॥

भाषार्थ–खेचरीमुद्राके विषय देहसे बाहिरका पवन जिसप्रकार लीन होताहै क्योंकि, उसकी भीतर प्रवृत्ति नहीं होती, तिसीप्रकार देहके मध्यका वायुभी लीन होजाताहै क्योंकि, उसकी बाहिर प्रवृत्ति नहीं होती इसमें संशय नहीं है किंतु मनसहित पवन प्राणकी स्थिरताका स्थान जो ब्रह्मरंध्र है उसमें निश्चलताको प्राप्त होजाताहै ॥ ५१ ॥

एवमभ्यसमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम् ॥
अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ॥ ५२ ॥

एवमिति ॥ एवमुक्तप्रकारेण वायुमार्गे प्राणमार्गे सुषुम्नायामित्यर्थः दिवानिशं रात्रिंदिवमभ्यसमानस्याभ्यासं कुर्वतो योगिनोऽभ्यासाद्यत्र यस्मिन्नाधारे वायुः प्राणो जीर्यते क्षीयते लीयत इत्यर्थः । तत्रैव वायोर्लयाधिष्ठाने मनश्चित्तं लीयते जीर्यत इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

भाषार्थ-इसपूर्वोक्त प्रकारसे प्राणरूप वायुका मार्ग जो सुषुम्ना उसमें रात्रिदिन अभ्यास करतेहुए योगीके अभ्याससे जिस आधारमें प्राणवायु जीर्ण हो जाता है अर्थात् लय हो जाता है उसीवायुके लयाधिष्ठान (स्थान) में मनभी लीन हो जाता है ॥ ५२ ॥

अमृतैः प्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम् ॥
सिद्ध्यत्येव महाकायो महाबलपराक्रमः ॥ ५३ ॥

इति खेचरी ।

अमृतैरिति ॥ अमृतैः सुषिरनिर्गतैः पादतलं च मस्तकं च पादतलमस्तकम् । 'द्वंद्वश्च प्राणितूर्यसेनांगानाम्' इत्येकवद्भावः । पादतलमस्तकमभिव्याप्येत्यापादतलमस्तकं देहमाप्लावयेदाप्लावितं कुर्यात् । महानुत्कृष्टः कायो यस्य स महाकायः महांतौ बलपराक्रमौ यस्येत्येतादृशो योगी सिद्ध्यत्येव । अमृतप्लावनेन सिद्धो भवत्येव ॥ ५३ ॥

भाषार्थ-योगी पादतल और मस्तक पर्यंत देहको सुषिर (चन्द्रमा) से निकसे जो अमृत उनसे सेचन करै तो उत्तम है काया जिसकी और अधिक बल पराक्रम जिसके ऐसा योगी पूर्वोक्त अमृतके स्नानसे शुद्ध हो जाता है ॥ ५३ ॥

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम् ॥
मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम् ॥ ५४ ॥

शक्तिमध्य इति ॥ शक्तिः कुण्डलिनी तस्या मध्ये मनः कृत्वा तस्यां मनो धृत्वा तदाकारं मनः कृत्वेत्यर्थः । शक्तिं मानसमध्यगां कृत्वा । शक्तिध्यानावेशाच्छक्तिं मनस्येकीकृत्य तेन कुण्डलीं बोधयित्वेति यावत् । 'प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह' इति गोरक्षोक्तेः मनसांतःकरणेन मन आलोक्य बुद्धिं मनसाऽवलोकनेन स्थिरीकृत्वेत्यर्थः । परमं पदं सर्वोत्कृष्टं स्वरूपं धारयेद्धारणाविषयं कुर्यादित्यर्थः ॥ ५४ ॥

भाषार्थ-शक्ति (कुण्डलिनी) के मध्यमें मनको धरकर अर्थात् कुण्डलीके आकारका मनको करके और शक्तिको मनके मध्यमें करके अर्थात् शक्ति ध्यानके आवेशसे शक्तिको

मनमें एककरके और उससे कुण्डलीका बोधन करके सोई गोरक्षने कहा है कि, मन और पवन सहित कुण्डली वह्निके योगसे प्रवुद्ध होती है और अन्तःकरणरूप मनसे मनको देखकर अर्थात् मनसे देखनेके द्वारा बुद्धिको स्थिर करके सर्वोत्तम स्वरूप जो परमपद है उसकी धारणा करै अर्थात् ब्रह्ममें मनको लगावै ॥ ५४ ॥

खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ॥
सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ ५५ ॥

खमध्य इति॥खमिव पूर्णं ब्रह्म खं तन्मध्ये आत्मानं स्वस्वरूपं कुरु । ब्रह्माहमिति भावयेत्यर्थः। आत्ममध्ये स्वस्वरूपे च खं पूर्णं ब्रह्म कुरु । अहं ब्रह्मेति च भावयेत्यर्थः । सर्वं च खमयं कृत्वा ब्रह्ममयं विभाव्य किमपि न चिंतयेत् । अहं ब्रह्मेतिध्यानमपि परित्यजेदित्यर्थः ॥ ५५ ॥

भाषार्थ-आकाशके समान पूर्ण जो ब्रह्म उसके विषे अपने आत्माको करके अर्थात् ब्रह्म मैं हूँ, ऐसी भावना करके अपने रूप स्वरूप आत्मामें पूर्ण ब्रह्मको करो-मैं ब्रह्महूँ ऐसी भावना कर, और संपूर्ण प्रपंचको ब्रह्ममय करके अर्थात् ब्रह्मरूप विचारकर किसीकीभी चिंता न करै अर्थात् मैं ब्रह्महूँ इस ध्यानकाभी परित्याग करदे ॥ ५५ ॥

अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यः कुंभ इवांबरे ॥
अन्तःपूर्णो बहिपूर्णः पूर्णः कुंभ इवार्णवे ॥ ५६ ॥

एवं समाहितस्य स्वरूपे स्थितिमाह-अन्तःशून्य इति ॥ अन्तः अन्तकरणे शून्यः । ब्रह्मातिरिक्तवृत्तेरभावाद्द्वितीयशून्यः । बहिरंतःकरणाद्बहिरपि शून्यः । द्वितीयादर्शनात् । अंबरे आकाशे कुम्भो घटो यथांतबहिःशून्यस्तद्वदंतःकरणे हृदाकाशे वायुपूर्णः ब्रह्माकारवृत्तेः सद्भावाद्ब्रह्मवासत्वाद्वा । बहिःपूर्णोऽतःकरणाद्बहिर्हृदवकाशाद्बहिर्वा पूर्णः। सत्तया ब्रह्मातिरिक्तवृत्तेरभावाद्ब्रह्मपूर्णत्वाद्वा । अर्णवे समुद्रे कुम्भो घटो यथा सर्वतो जलपूर्णो भवत्येवं समाधिनिष्ठो योगी ब्रह्मपूर्णो भवतीत्यर्थः॥५६॥

भाषार्थ-इसप्रकार समाधिमें स्थित योगीकी अपने स्वरूपमें स्थितिका वर्णन करते हैं कि, अन्तःकरणमें शून्यहो अर्थात् ब्रह्मसे अतिरिक्त वृत्तिके अभावसे दूसरेकी प्रतीति न होती हो और दूसरेके न देखनेसे अन्तःकरणसे बाहिर भी इसप्रकार शून्य हो जैसे आकाशमें स्थित घट भीतर और बाहिर जलसे शून्य होता है-और तिसी प्रकार हृदयके आकाशरूप अन्तःकरणमें ब्रह्माकार वृत्तिके होनेसे वा ब्रह्मकी वासनासे वायुसे

पूर्ण हो और अंतःकरणसे वा हृदयाकाशसे बाहिरभी पूर्ण हो अर्थात् सत्तारूपसे वा ब्रह्मातिरिक्त वृत्तिके अभावसे वा ब्रह्मरूपसे इसप्रकार पूर्ण हो जैसे समुद्रके विषे डुबाहुआ कुंभ चारोंतरफसे जलपूर्ण होताहै इसीप्रकार समाधिके स्थित पुरुषभी ब्रह्मसे पूर्ण होताहै ॥५६॥

बाह्यचिंता न कर्तव्या तथैवांतरचिंतनम् ॥
सर्वाचिंतां परित्यज्य न किंचिदपि चिंतयेत् ॥५७॥

बाह्यचिंतेति ॥ समाहितेन योगिनेत्यध्याहारः । बाह्यचिंता बाह्यविषया चिन्ता न कर्तव्या तथैव बाह्यचिंताकरणवदांतरचिंतनमांतराणां मनसा परिकल्पितानामाशामोदकसौधवाटिकादीनां चिंतनं न कर्तव्यमिति लिंगविपरिणामेनान्वयः । सर्वचिंतां बाह्याभ्यंतरचिंतनं परित्यज्य किंचिदपि न चिंतयेत्परवैराग्येणात्माकारवृत्तिमपि परित्यजेत् । तत्त्यागे स्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिर्भवतीति भावः ॥ ५७ ॥

भाषार्थ--समाधिमें स्थित योगी बाहिरके माला चंदन आदि विषयोंकी चिंता न करै और तिसीप्रकार अंतःकरणमें मनसे कल्पना किये जो आशामोदक, श्वेतमंदिर, वाटिका आदि हैं उनका भी चिन्तन न करै इस प्रकार बाहर भीतरकी संपूर्ण चिंताओंका परित्याग करके किंचित् भी चिंता न करे अर्थात् परमवैराग्यसे ब्रह्माकारवृत्तिकाभी परित्याग करदे क्योंकि ब्रह्माकारवृत्तिका त्याग अपने स्वरूपमें स्थितरूप मुक्ति जीवन समयमें ही हो जाती है ॥ ५७ ॥

संकल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं
संकल्पमात्रकलनैव मनोविलासः ॥
संकल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्प-
माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शांतिम् ॥ ५८ ॥

बाह्याभ्यंतरचिंतापरित्यागे शांतिश्च भवतीत्यत्र वसिष्ठवाक्यं प्रमाणयति-संकल्पेति ॥ संकल्पो मानसिको व्यापारः स एव संकल्पमात्रं तस्य कलनैव रचनैवेदं दृश्यमानं समग्रं जगत् बाह्यप्रपंचो मनोमात्रकल्पित इत्यर्थः । मनसो मानसस्य विलासो नानाविषयाकारकल्पना आशामोदकसौधवाटिकादिकल्पनारूपो विलासः संकल्पमात्रकलनैव । मानसः प्रपंचोऽपि संकल्पमात्ररचनैवेत्यर्थः । संकल्पमात्रे बाह्याभ्यंतरप्रपंचे या मतिः सत्यत्वबुद्धिस्तामुत्सृज । तर्हि किं कर्तव्यमित्यत

आह-निर्विकल्पमिति। विशिष्टकल्पना विकल्पः। आत्मनि कर्तृत्व-भोक्तृत्वसुखित्वसजातीयविजातीयस्वगतभेददेशकालवस्तुपरिच्छेदकल्पनारूपः तस्मान्निष्क्रांतो निर्विकल्पस्तमात्मानमाश्रित्य धारणादिविषयं कृत्वा हे राम! निश्चयमसंदिग्धं शांतिं परमोपरतिमवाप्नुहि। ततः सुखमपि प्राप्स्यसीति भावः। तदुक्तं भगवता व्यतिरेकेण-'न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम्' इति॥ ५८॥

भाषार्थ-बाह्य और अभ्यंकर चिंताओंके परित्यागसे शांति भी होती है इसमें वसिष्ठके वाक्यका प्रमाण देते हैं कि, मानसिक व्यापाररूप जो संकल्प है उसकी रचनारूपही यह दृश्यमान संपूर्ण जगत् है अर्थात् बाह्य प्रपंच मनसेही कल्पित है और आशामोदक श्वेतमंदिर वाटिका आदि नाना प्रकारके विषयोंकी कल्पनाका जो विलास है वहभी संकल्पकीही रचना है अर्थात् मानसप्रपंचभी संकल्पकीही रचनारूप है इससे हे राम! संकल्प मात्रमें जो मति अर्थात् बाह्य और आभ्यंतरके प्रपंचमें सत्यत्व बुद्धिहै उसको त्याग दे कदाचित् कहो ।५८, फिर क्या करूं इससे कहते हैं कि, निर्विकल्पके आश्रय होकर अर्थात् आत्माके विषे जो कर्ता भोक्ता सुखी दुःखी--सजातीय--विजातीय--स्वगत भेद--देश--काल--वस्तु--परिच्छेदरूप विशिष्ट कल्पना है उनसे रहित जो निर्विकल्परूप अर्थात् पूर्वोक्त विशिष्ट कल्पनासे शून्य आत्मा है उसकोही धारणाका विषय करके हे राम! निश्चयसे तू शांतिको प्राप्त हो उस शांतिसे फिर सुखको भी प्राप्त हो जायगा--सोई भगवान्ने गीतामें कहा है किविचारहीन पुरुषको शांति नहीं होती है और अशांत मनुष्यको सुख कहांसे होता है॥ ५८॥

कर्पूरमनले यद्वत्सैंधवं सलिले यथा॥
तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते॥ ५९॥

कर्पूरमिति॥ यद्वद्यथाऽनलेऽग्नौ संधीयमानं संयोज्यमानं कर्पूरं विलीयते विशेषेण लीयते लीनं भवति। अग्न्याकारं भवति। यथा सलिले जले संधीयमानं सैंधवं लवणं विलीयते लवणाकारं परित्यज्य जलाकारं भवति तथा तद्वत्तत्त्वे आत्मनि संधीयमानं कार्यमानं मनो विलीयते आत्माकारं भवति॥ ५९॥

भाषार्थ-जैसे कपूर अग्निमें संयोग करनेसे विशेषकर लीन होता है अर्थात् अग्निके आकार होजाता है और जैसे जलमें संयुक्त किया सैंधव लवण विलीन होता है अर्थात् लवणके आकारको त्यागकर जलाकर होजाता है--तिसी प्रकार तत्त्वरूप आत्मामें संयुक्त किया मन विलीन होता है। अर्थात् आत्माकार हो जाता है॥ ५९॥

ज्ञेयं सर्वं प्रतीतं च ज्ञानं च मन उच्यते॥
ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पंथा द्वितीयकः॥६०॥

मनसो विलये जाते द्वैतमपि लीयत इत्याह त्रिभिः-ज्ञेयमिति ॥ सर्वं सकलं ज्ञेयं ज्ञानार्हं प्रतीतं च ज्ञातं च ज्ञानं च इदं सर्वं मन उच्यते। सर्वस्य मनःकल्पनामात्रत्वान्मनःशब्देनोच्यते। ज्ञानं ज्ञेयं च समं मनो विलियते मनसा सार्धं नष्टं यदि तर्हि द्वितीयकः द्वितीय एव द्वितीयकः पंथा मनोविषयो नास्ति। द्वैतं नास्तीति फलितार्थः ॥ ६० ॥

भाषार्थ-अब मनके लय होनेपर द्वैतकाभी लय वर्णन करते हैं कि, संपूर्ण जो ज्ञेय (ज्ञानके योग्य) अर्थात् ज्ञात प्रतीयमान है और ज्ञान यह सब मन कहाता है क्योंकि ये सब मनकी कल्पनामात्र हैं यदि ज्ञान और ज्ञेय मन सहित नष्ट हो जायँ तो दूसरा मार्ग नहीं है अर्थात् मनका विषय जो द्वैत है वह नहीं रहता है ॥ ६० ॥

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किंचित्सचराचरम् ॥
मनसो ह्युन्मनीभावाद्द्वैतं नवोपलभ्यते ॥ ६१ ॥

मनोदृश्यमिति ॥ इदमुपलभ्यमानं यत्किंचिद्यत्किमपि चरं जंगममचरं स्थावरं चरं चाचरं च चराचरे ताभ्यां सह वर्तत इति सचराचरं यज्जगत्सर्वं मनोदृश्यं मनसा दृश्यम्। मनःसंकल्पमात्रमित्यर्थः। मनःकल्पनासत्त्वे प्रतीतिस्तदभावे चाप्रतीतेर्भ्रम एव सर्वं जगत्। भ्रमस्य प्रतीतिकशरीरत्वात्। न च बौद्धमतप्रसंगः। भ्रमाधिष्ठानस्य ब्रह्मणः सत्यत्वाभ्युपगमात्। मनस उन्मनीभावाद्विलयाद्द्वैतं भेदः नैवोपलभ्यते नैव प्रतीयते। द्वैतभ्रमहेतोर्मनःसंकल्पस्याभावात्। हि तद्द्वैतावश्यम् ॥ ६१ ॥

भाषार्थ-यह दीखता हुआ जो स्थावर, जंगम (चराचर) रूप सहित जगत् जो कुछ है वह सब मनसे देखने योग्य है अर्थात् मनसे कल्पित है अर्थात् मनकी कल्पना होनेपर प्रतीत होताहै और कल्पनाके अभावमें प्रतीत नहीं होता है इससे भ्रमरूपही है और भ्रमका शरीर प्रतीतिमात्र होता है कदाचित् कहो कि, ऐसे कहोगे तो बौद्धमतका प्रसंग होजायगा सो ठीक नहीं क्योंकि, भ्रमके अधिष्ठान ब्रह्मको सत्य मानतेहैं-और उक्त मनके उन्मनीभाव (विलय) से द्वैत (भेद) प्रतीतही नहीं होताहै क्योंकि, द्वैत भ्रमका हेतु जो मनका संकल्प है उसका अभाव है ॥ ६१ ॥

ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद्विलयं याति मानसम् ॥
मनसो विलये जाते कैवल्यमवशिष्यते ॥ ६२ ॥

ज्ञेयमिति ॥ ज्ञेयं ज्ञानविषयं यद्वस्तु सर्वं चराचरं यद्दृश्यं तस्य परित्यागान्नामरूपात्मकस्य तस्य परिवर्जनाद्विलयं सच्चिदानंदरूपात्माकारं

भवति । मनसो विलये जाते सति कैवल्यं केवलस्यात्मनो भावः कैवल्यमवशिष्यते अद्वितीयात्मस्वरूपमवशिष्टं भवतीत्यर्थः ॥ ६२ ॥

भाषार्थ–ज्ञानका विषय जो चराचररूप दृश्य है उसके परित्यागसे अर्थात् नामरूपात्मक जगत्के वर्जित करनेसे मन विलयको प्राप्त होजाता है अर्थात् सच्चिदानंदरूप आत्माकार होजाता है और मनका विलय होनेपर कैवल्य शेष रहजाता है अर्थात् अद्वितीय आत्मारूपही शेष रहजाता है ॥ ६२ ।

एवं नानाविधोपायाः सम्यक्स्वानुभवान्विताः ॥
समाधिमार्गाः कथिताः पूर्वाचार्यैर्महात्मभिः ॥६३॥

एवमिति ॥ एवमंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिरित्याद्युक्तप्रकारेण महान् समाधिपरिशीलनशुद्ध आत्मांतःकरणं येषां ते महात्मानस्तैर्महात्मभिः पूर्वे च ते आचार्याश्च पूर्वाचार्या मत्स्येंद्रादयस्तैः समाधेश्चित्तवृत्तिनिरोधस्य मार्गाः प्राप्त्युपायाः कथिताः । कीदृशाः समाधिमार्गाः । नानाविधोपायाः नानाविधा उपायाः साधनानि येषां ते तथा सम्यक् समीचीनतया संशयविपर्ययराहित्येन यः स्वानुभव आत्मानुभवस्तेनान्विता युक्ताः ॥ ६३ ॥

भाषार्थ–इसप्रकार नानाप्रकारके उपाय (साधन) है–जिनके और भलीप्रकार जो स्वानुभव अर्थात् संशय और विपर्यसे रहित आत्मानुभव उससे युक्त चित्तवृत्तिनिरोधरूप समाधिके मार्ग अर्थात् प्राप्तिके उपाय पहिले महात्मा आचर्योंने कहै हैं अर्थात् समाधिके अभ्याससे महान् (शुद्ध) है आत्मा (अन्तःकरण) जिनका ऐसे महात्मा मत्स्येंद्र आदि पूर्वाचार्योंने अपने अनुभवसे पूर्वोक्त समाधिके मार्ग वर्णन किये हैं ॥ ६३ ॥

सुषुम्नायै कुंडलिन्यै सुधायै चन्द्रजन्मने ॥
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने ॥६४॥

सुषुम्नादिभ्यः कृतकृत्यस्ताः प्रणमति–सुषुम्नायै इति ॥ सुषुम्नामध्यनाडी तस्यै कुंडलिन्यै आधारशक्त्यै चन्द्राद्भ्रूमध्यस्थाज्जन्म यस्याः तस्यै सुधायै पीयूषायै मनोन्मन्यै तुर्यावस्थायै चिच्चैतन्यमात्मा स्वरूपं यस्याः सा तथा तस्यै । महती जडानां कायेंद्रियमनसां चैतन्यसंपादकत्वात्सर्वोत्तमा या शक्तिश्चिच्छक्तिः पुरुषरूपा तस्यै । तुभ्यमिति प्रत्येकं संबध्यते । नमः प्रह्वीभावोऽस्तु ॥ ६४ ॥

भाषार्थ–सुषुम्ना आदि नाडियोंसे कृतकृत्य हुये आचार्य उनको प्रणाम करते हैं कि, मध्यनाडीरूप सुषुम्नाको और आधारशक्तिरूप कुण्डलिनीको और चन्द्रमासे है जन्म

जिह्वका ऐसी सुधाको और तुर्यावस्थारूप उस मनोन्मनीको नमस्कार है जो मनोन्मनी देह इंद्रिय मनरूप जो जड पदार्थ हैं उनकोभी चेतनताकी सम्पादक होनेसे सबसे वडी शक्ति (चित् शक्ति पुरुष) रूप है और जो चेतन आत्मा स्वरूप है--इस श्लोकमें तुमको नमस्कार है इस पदका सर्वत्र संबन्ध है ॥ ६४ ॥

अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि संमतम् ॥
प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते ॥ ६५ ॥

नानाविधान्समाध्युपायानुक्त्वा नादानुसंधानरूपं मुख्योपायं प्रतिजानीते-अशक्येति॥ अव्युत्पन्नत्वादशक्यस्तत्त्वबोधस्तत्त्वज्ञानं येषां ते यथा तेषां मूढानामनधीतानां संमतम् । अपिशब्दात्किमुताधीतानामिति गम्यते । गोरक्षनाथेन प्रोक्तमित्यनेन महदुक्तत्वादुपादेयत्वं गम्यते । नादस्यानाहतध्वनेरुपासनेऽनुसंधानरूपं सेवनमुच्यते कथ्यते ॥ ६५ ॥

भाषार्थ-अनेक प्रकारके समाधिके उपायोंको कहकर नादानुसंधान रूप मुख्य जो उपाय है उसके वर्णनकी प्रतिज्ञा करते हैं कि, अव्युत्पन्न (मूर्ख) होनेसे जिसका तत्त्वज्ञान अशक्य हैं उन मूढोंकोभी जो संमत हैं और अतिशब्दसे पठित मनुष्योंको तो संमत क्यों न होगा ऐसे गोरक्षनाथके कहेहुये नादोपासन अर्थात् अनाहतध्वनिका सेवन वर्णन करते हैं और यह नादका अनुसन्धान गोरक्षनाथ महान् पुरुषने कहा है इससे अवश्य करने योग्य है ॥ ६५ ॥

श्रीआदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकाराः कथिता जयंति ॥
नादानुसंधानकमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥ ६६ ॥

श्रीआदिनाथेनेति ॥ श्रीआदिनाथेन शिवेन कथिताः प्रोक्ताः पादेन चतुर्थांशेन सह वर्तमानाः कोटिसंख्याकालयप्रकाराश्चित्तलयसाधनभेदा जयंत्युत्कर्षेण वर्तंते । वयं तु नादानुचिंतनमेव एकं केवलं लयानां लयसाधनानां मध्ये मुख्यतममतिशयेन मुख्यं मन्यामहे जानीमहे उत्कृष्टानां लयसाधनानां मध्ये उत्कृष्टतमत्वाद्गोरक्षाभिमतत्वाच्च नादानुसंधानमेव अवश्यं विधेयमिति भावः ॥ ६६ ॥

भाषार्थ-श्रीआदिनाथ (शिवजी) ने सवाकरोड चित्तके लयके प्रकार कहे हैं और वे सर्वोत्तम रूपसे वर्तते हैं हम तो एक नादानुसंधान (नादकासेवन) कोही केवल अत्यंत मुख्य लयसे साधनोंमें मानते हैं क्योंकि, वह सबसे उत्तम है और गोरक्षनाथको अभिमत है इससे अवश्य करने योग्य है ॥ ६६ ॥

मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय शांभवीम् ॥
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमंतःस्थमेकधीः ॥ ६७ ॥

शांभवीमुद्राया नादानुसंधानमाह- मुक्तासन इति । मुक्तासने सिद्धासने स्थितो योगी शांभवीं मुद्राम् 'अंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिः' इत्यादिनोक्तां संधाय कृत्वा । एकधीरेकाग्रचित्तः सन् दक्षिणे कर्णेऽन्तस्थसुषुम्नानाड्यां संतमेव नादं शृणुयात् । तदुक्तं त्रिपुरसारसमुच्चये-'आदौ मत्तालिमालाजनितरवसमस्तारसंस्कारकारी नादोऽसौ वांशिकस्यानिलभरितलसद्वंशनिःस्वानतुल्यः । घंटानादानुकारी तदनु च जलधिध्वानधीरो गभीरो गर्जन्पर्जन्यघोषः पर इह कुहरे वर्तते ब्रह्मनाड्या' इति ॥ ६७ ॥

भाषार्थ-अब शांभवी मुद्रासे नादानुसंधानका वर्णन करते हैं कि, मुक्तासन सिद्धासनमें स्थित योगी भीतर लक्ष्य और बाहिर दृष्टि इत्यादि ग्रंथसे कही हुई शांभवीमुद्राको करके और एकाग्रचित्त होकर दक्षिणकर्णके विषे सुषुम्नानाडीमें वर्तमान जो देहके भीतरका शब्द है उसको सुनै सोई त्रिपुरसारसमुच्चयमें कहा है कि, तारके संस्कारका कर्ता नाद प्रथमतो उन्मत्त भ्रमरोंके समूहका जो शब्द उसके समान और फिर पवनसे भरेहुये शोभित वंशके शब्दकी तुल्य और फिर घंटाके शब्द समान और समुद्रके शब्दकी तुल्य धीर और फिर गर्जतेहुये मेघका जो शब्द उसके समान गंभीर ऐसा पूर्वोक्त नाद इस देहमें सुषुम्नानाडीके छिद्रमें वर्तता है ॥ ६७ ॥

श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम् ॥
शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः ॥ ६८ ॥

पराङ्मुखीमुद्रया नादानुसंधानमाह-श्रवणेति ॥ श्रवणपुटे नयनयोर्नेत्रयोर्युगलं युग्मं घ्राणशब्देन घ्राणपुटे मुखमास्यमेषाम् । द्वंद्वे प्राण्यंगत्वादेकवद्भावे प्राप्तेऽपि सर्वस्यापि द्वंद्वैकवद्भावस्य वैकल्पिकत्वान्न भवति।तेषां निरोधनं करांगुलिभिः कार्यम् । निरोधनं चेत्थम्-अंगुष्ठाभ्यामुभौ कर्णौ तर्जनीभ्यां च चक्षुषी ।नासापुटौ तथान्याभ्यां प्रच्छाद्य करणानि च' इति। चकारात्तदन्याभ्यां मुखं प्रच्छाद्येति समुच्चीयते। शुद्धा प्राणायामैर्मलरहिता या सुषुम्नासरणिः सुषुम्नापद्धतिस्तस्याममलो नादः स्फुटं व्यक्तं श्रूयते ६८।

भाषार्थ-अब पराङ्मुखीनाडीसे नादके अनुसंधानका वर्णन करते हैं कि, कर्ण और नेत्र और घ्राण इन तीनोंके युगल (दोनों छिद्र) और मुख इनका निरोध करै अर्थात् हाथकी अंगुलियोंसे इनको रोकै और निरोध भी इस वचनके अनुसार करै कि

अंगुष्ठोंसे दोनों कानोंका और तर्जनियोंसे दोनों नेत्रोंका और मध्यमाओंसे नासापुटोंका और चकारके पढनेसे तर्जनियोंसे मुखका आच्छादन करे इसप्रकारका इंद्रियोंका निरोध करनेसे प्राणायामोंसे मलरहित जो सुषुम्नाका मार्ग है उसमें स्फुट (प्रत्यक्ष) अमल (स्पष्ट) नाद सुनताहै ॥ ६८ ॥

आरंभश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च ॥
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ॥६९॥

अथ नादस्य चतस्रोऽवस्थाः प्राह-आरंभश्चेति ॥ आरंभावस्था घटावस्था परिचयावस्था निष्पत्त्यवस्था इति । सर्वयोगेषु सर्वेषु चित्तवृत्तिनिरोधोपायेषु शांभव्यादिषु व्यवस्थाचतुष्टयं स्यात् । तथैवतथापिचाः पादपूरणार्थाः ॥ ६९ ॥

भाषार्थ-अब नादकी चार अवस्थाओंका वर्णन करतेहैं कि, आरंभ अवस्था-घटावस्था-परिचयावस्था और निष्पत्ति अवस्था ये चारअवस्था संपूर्ण चित्तवृत्तिके निरोधरूपयोगोंमें होतीहैं अर्थात् शांभवीमुद्रादिकोंमें ये चारही अवस्था होती हैं ॥ ६९ ॥

अथारंभावस्था ।

ब्रह्मग्रंथेर्भवेद्भेदो ह्यानंदः शून्यसंभवः ॥
विचित्रः क्वणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः ॥७०॥

तत्रारंभावस्थामाह-ब्रह्मग्रंथेरिति ॥ ब्रह्मग्रंथेरनाहतचक्रे वर्तमानाया भेदः प्राणायामाभ्यासेन भेदनं यदा भवेत्तदेति यत्तदोरध्याहारः । आनंदयतीत्यानंदः आनंदजनकःशून्ये हृदाकाशे संभवतीति शून्यसंभवो हृदाकाशोत्पन्नो विचित्रो नानाविधः क्वणो भूषणनिनदः स एव क्वणकः भूषणनिनदसदृश इत्यर्थः । 'भूषणानां तु शिंजितम् । निक्वाणो निक्वणः क्वाणः क्वणः क्वणनमित्यपि' इत्यमरः । अनाहतो ध्वनिरनाहतो निर्ह्रादो देहे देहमध्ये श्रूयते श्रवणविषयो भवतीत्यर्थः॥७०

भाषार्थ-उन चारोंमें आरंभावस्था जो सबसे प्रथम है उसका वर्णन करतेहैं कि अनाहतचक्रमें वर्तमान ब्रह्मग्रंथिका जब प्राणायामोंके अभ्याससे भेद होताहै तब आनंदका उत्पादक और हृदयाकाशरूप शून्यमें उत्पन्न-और अनेकविध और भूषणोंके शब्दकी तुल्य अनाहत अर्थात् विना ताडनासे उत्पन्न ध्वनि (शब्द) देहके मध्यमें सुनता है-इस श्लोकमें क्वणशब्दसे भूषणोंका शब्द-इस अमरके श्लोकसे लेना कि, भूषणोंके शब्दको शिंजित-निक्वाण-निक्वण-क्वाण-क्वण क्वणन कहतेहैं ॥ ७० ॥

दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगंधस्त्वरोगवान् ॥
संपूर्णहृदयः शून्य आरंभो योगवान्भवेत् ॥ ७१ ॥

दिव्यदेह इति ॥ शून्ये हृदाकाशे य आरंभो नादारंभस्तस्मिन् सति हृदाकाशविशुद्धाकाशभ्रूमध्याकाशाः शून्यातिशून्यमहाशून्यशब्दैर्व्य- वह्रियंते योगिभिः। संपूर्णहृदयः प्राणवायुना सम्यक् पूर्णं हृदयं यस्य स तथा आनंदेन पूर्णे हृदये योगवान् योगी दिव्यो रूपलावण्यबल- संपन्नो देहो यस्य स दिव्यदेहः तेजस्वी प्रतापवान् दिव्यगंधः दिव्य उत्तमो गंधो यस्य स तथा आरोगवान् रोगरहितो भवेदिति संबंधः॥७१

भाषार्थ-हृदाकाशरूप शून्यमें आरंभ (नादका प्रारंभ) होनेपर अर्थात् यदि हृदयमें नादकी प्रतीति होय तो-प्राणवायुसे भलीप्रकार पूर्ण है हृदय जिसका और आनंदसे पूर्ण हृदयके होनेपर योगी-रूपलावण्यसे संपन्नरूप दिव्यदेह होताहै और तेजस्वी (प्रतापी) और उत्तम गंधवान् और रोगोंसे रहित होताहै यहां शून्यसे हृदयाकाश इसलिये कहाहै कि हृदाकाश विशुद्धाकाश भ्रुकुटिमध्यका आकाश इन तीनोंका क्रमसे शून्य अतिशून्य महाशून्य शब्दोंसे व्यवहार योगीजन करते हैं ॥ ७१ ॥

अथ घटावस्था।

द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ॥
दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तदा ॥ ७२ ॥

घटावस्थामाह-द्वितीयायामिति ॥ द्वितीयायां घटावस्थायां वायुः प्राणः घटीकृत्य आत्मना सहापानं नादबिंदू चैकीकृत्य मध्यगो मध्यचक्रगतः कण्ठस्थाने मध्यचक्रम्। तदुक्तमत्रैव जालंधरबंधे- 'मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनम्' इति यदा भवेदित्यध्याहारः। तदास्यामवस्थायां योगी योगाभ्यासी दृढमासनं यस्य स दृढासनः स्थिरासनो ज्ञानी पूर्वापेक्षया कुशलबुद्धिर्देवसमो रूपलावण्याधिक्या- द्देवतुल्यो भवेत्। तदुक्तमीश्वरोक्ते राजयोगे-'प्राणापानौ नादबिंदू जीवात्मपरमात्मनोः। मिलित्वा घटते यस्मात्तस्मात्स घट उच्यते॥' इति ॥ ७२ ॥

भाषार्थ-अब घटावस्थाको कहते हैं कि, दूसरी घटावस्थामें प्राण वायु अपने संग अपान और नाद बिंदु इनको एक करके कण्ठस्थानके विषे वर्तमान जो मध्यचक्र उसमें गत हो (पहुँच) जाता है सोई जालंधर बन्धमें कह आये हैं कि, सोलह आधार हैं बंधन जिसका ऐसा यह मध्यचक्र जानना अर्थात् जब यह पूर्वोक्त अवस्था होजाय तो

योगी उस अवस्थामें दृढ (स्थिर) आसन और ज्ञानी अर्थात् पूर्वकी अपेक्षासे कुशलबुद्धि और रूप लावण्यकी अधिकतासे देवतुल्य होजाता है सोई ईश्वरोक्त राजयोगमें कहा है कि, जिससे प्राण अपान नाद बिंदु जीवात्मा परमात्मा इनको मिलकर यह घटती है तिससे घटावस्था कहाती है ॥ ७२ ॥

विष्णुग्रंथेस्ततो भेदात्परमानंदसूचकः ॥
अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत् ॥ ७३ ॥

विष्णुग्रंथेरिति ॥ ततो ब्रह्मग्रंथिभेदनानंतरं विष्णुग्रंथेः कण्ठे वर्तमानाया भेदात्कुंभकैर्भेदनात्परमानंदस्य भाविनो ब्रह्मानंदस्य सूचको ज्ञापकः। अतिशून्ये कण्ठावकाशे विमर्दोऽनेकनादसंमर्दो भेर्याः शब्द इव शब्दो भेरीशब्दो भेरीनादश्च तदा तस्मिन्काले भवेत् ॥ ७३ ॥

भाषार्थ-फिर ब्रह्मग्रंथिभेदनके अनन्तर कण्ठके विषे वर्तमान जो विष्णुग्रंथि है उसके भेदसे अर्थात् कुंभकप्राणायामोंसे विष्णुग्रंथिके खुलनेपर होनेवाला जो परमानन्द (ब्रह्मानन्द) है उसका सूचक (ज्ञापक) अतिशून्यरूप कण्ठाकाशमें विमर्द अर्थात् भेरीके शब्द समान अनेकनादोंका संमर्द और भेरीका शब्द उस समय होते हैं ॥ ७३ ॥

अथ परिचयावस्था ।

तृतीयायां तु विज्ञेयो विहायोमर्दलध्वनिः ॥
महाशून्यं तदा याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ॥ ७४ ॥

परिचयावस्थामाह सार्धद्वाभ्याम्-तृतीयायामिति ॥ तृतीयायां परिचयावस्थायां विहायोमर्दलध्वनिर्विहायसि भ्रूमध्याकाशे मर्दलस्य वाद्यविशेषस्य ध्वनिरिव ध्वनिर्विज्ञेयो विशेषेण ज्ञानार्हो भवति। तदा तस्यामवस्थायां सर्वसिद्धिसमाश्रयं सर्वासां सिद्धीनामणिमादीनां समाश्रयं स्थानम् । तत्र संयमादणिमादिप्राप्तेः महाशून्यं भ्रूमध्याकाशं याति गच्छति प्राण इति शेषः ॥७४॥

भाषार्थ-अब अढाई श्लोकोंसे परिचयावस्थाका वर्णन करते हैं कि, तीसरी परिचयावस्थामें भ्रुकुटिके मध्यरूप आकाशमें मर्दलनाम वाद्यविशेष (ढोल) की ध्वनि विशेष करके जाननी और उस अवस्थामें प्राणवायु संपूर्ण अणिमा आदि सिद्धियोंका समाश्रय जो (स्थान) महाशून्य है, भ्रूमध्याकाशरूप उसमें पहुंच जाता है क्योंकि महाशून्यमें वायुका संयम करनेसे अणिमा आदि सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है ॥ ७४ ॥

चित्तानंदं तदा जित्वा सहजानंदसंभवः ॥
दोषदुःखजराव्याधिक्षुधानिद्राविवर्जितः ॥ ७५ ॥

चित्तानंदमिति ॥ चित्तानंदं नादविषयांतःकरणवृत्तिजन्यं सुखं जित्वाभिभूय सहजानंदसंभवः सहजानंदः स्वाभाविकात्मसुखं तस्य संभव आविर्भावः स दोषा वातपित्तकफा दुःखं तज्जन्या वेदना आध्यात्मिकादि च जरा वृद्धावस्था व्याधिर्ज्वरादिः क्षुधा बुभुक्षा निद्रा स्वाप एतैर्विवर्जितो रहितस्तदा योगी भवतीति ॥ ७५ ॥

भाषार्थ-और उस योगीका नादका विषय जो अंतःकरणकी वृत्ति है उससे उत्पन्न रूप जो चित्तका आनंद है उसका तिरस्कार करनेके अनंतर स्वाभाविक आत्मसुखरूप जो सहजानंद है उसका आविर्भाव (प्रकटता) होता है--फिर वह योगी वातपित्तकफरूप दोषोंका दुःख, वृद्ध अवस्था, और आध्यात्मिक दुःख, और ज्वर आदि व्याधि क्षुध (भोजनकी इच्छा) निद्रा-इनसे विवर्जित उस समय होता है ॥ ७५ ॥

रुद्रग्रंथिं यदा भित्त्वा शर्वपीठगतोऽनिलः ॥
निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत् ॥ ७६ ॥

तदा कदेत्यपेक्षायामाह-रुद्रेति ॥ यदा रुद्रग्रंथिं भित्त्वा आज्ञाचक्रे रुद्रग्रंथिः 'शर्वस्येश्वरस्य पीठं स्थानं भ्रूमध्यं तत्र गतः प्राप्तोऽनिलः प्राणो भवति तदा । निष्पत्त्यवस्थामाह-निष्पत्ताविति ॥ निष्पत्तौ निष्पत्त्यवस्थायाम् । ब्रह्मरंध्रे गते प्राणे निष्पत्त्यवस्था भवति । वैणवः वेणोरयं वैणवो वंशसंबंधी शब्दो निनादः क्वणंती शब्दायमाना या वीणा तस्याः क्वणः शब्दो भवेत् ॥ ७६ ॥

भाषार्थ-जिस समय बाण उस रुद्रग्रंथिका भेदन करके जो रुद्रग्रंथि आज्ञाचक्रमें होती है शर्व (ईश्वर) का पीठ (स्थान) जो भ्रुकुटीका मध्य है उसमें प्राप्त हो जाता है-अब निष्पत्तिअवस्थाका वर्णन करते हैं कि, निष्पत्तिअवस्थामें अर्थात् प्राणके ब्रह्मरंध्रमें पहुंचनेपर ऐसा वेणु (वंश) के शब्दके तुल्य शब्द होता है जैसा शब्द करती हुई वीणाका शब्द होता है ॥ ७६ ॥

एकीभूतं तदा चित्तं राजयोगाभिधानकम् ॥
सृष्टिसंहारकर्तासौ योगीश्वरसमो भवेत् ॥ ७७ ॥

एकीभूतमिति ॥ तदा तस्यामवस्थायां चित्तमंतःकरणमेकीभूतमेक-

विषयीभूतम्। विषयविषयिणोरभेदोपचारात्। तद्राजयोगाभिधानकं राजयोग इत्यभिधानं यस्य तद्राजयोगाभिधानकं चित्तस्यैकाग्रतैव राजयोग इत्यर्थः॥ सृष्टिसंहारेति। असौ नादानुसंधानपरो योगी सृष्टिसंहारकर्ता सृष्टिं संहारं च करोतीति तादृशः। अतएवेश्वरसम ईश्वरतुल्यो भवेत्॥ ७७॥

भाषार्थ-उस निष्पत्तिअवस्थामें चित्त एकीभूत होजाता है अर्थात् विषय और विषयी (ज्ञान) इनका अभेद (एकता) होनेसे राज है नाम जिसका ऐसा यह चित्त होजाता है क्योंकि, चित्तकी एकाग्रताकोही राजयोग कहते हैं और वह योगी सृष्टि और संहारका कर्ता ईश्वरके समान होजाता है अर्थात् नादके अनुसंधानसे रचना और संहारका कर्ता ईश्वररूप होजाता है॥ ७७॥

अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रैवाखंडितं सुखम्॥
लयोद्भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते॥ ७८॥
राजयोगमजानंतः केवलं हठकर्मिणः॥
एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयासफलवर्जितान्॥ ७९॥

अस्तु वेति॥ राजयोगमिति॥ उभौ प्राग्व्याख्यातौ॥ ७८॥ ७९॥

भाषार्थ-यद्यपि इन दोनों श्लोकोंका अर्थ पहिले लिख आये हैं तथापि यहांभी किंचित् लिखते हैं कि, मुक्ति हो वा मत हो इस नादानुसंधान करनेमेंही अखंड सुख होता है और लयसे उत्पन्न हुआ यह सुख राजयोगसे प्राप्त होता है॥७८॥ और जो योगी राजयोगको नहीं जानते हैं और हठयोगकी क्रियाको करते हैं उन अभ्यासियोंको मैं परिश्रमके फलसे वर्जित मानताहूँ अर्थात् उनको हठयोगका फल नहीं होता है॥ ७९॥

उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भ्रूध्यानं मम संमतम्॥
राजयोगपदं प्राप्तुं सुखोपायोऽल्पचेतसाम्॥
सद्यः प्रत्ययसंधायी जायते नादजो लयः॥ ८०॥

उन्मन्यवाप्तय इति॥ शीघ्रं त्वरितमुन्मन्या उन्मन्यवस्थाया अवाप्तये प्राप्त्यर्थं भ्रूध्यानं भ्रुवोर्ध्यानं भ्रूमध्ये ध्यानं मम स्वात्मारामस्य संमतम्। राजयोगो योगानां राजा तदेव पदं राजयोगपदं तुर्यावस्थाख्यं प्राप्तुं लब्धुं पूर्वोक्तभ्रूमध्यानरूपः सुखोपायः सुखसाध्यः उपायः सुखोपायः अल्पचेतसामल्पबुद्धीनामपि। किमुतान्येषामित्यभिप्रायः। नादजः नादाज्जातो लयश्चित्तविलयः सद्यः शीघ्रं प्रत्ययं प्रतीतं संदधातीति प्रत्ययसंधायी प्रतीतिकरो जायते प्रादुर्भवति॥ ८०॥

भावार्थ–उन्मनीअवस्थाकी शीघ्र प्राप्तिके लिये मुझ स्वात्मारामयोगीको भ्रुकुटियोंके मध्यमें जो ध्यान है वह संमत है और सब योगोंका राजारूप जो राजयोग है उस तुर्यअवस्थानामके राजयोगकी प्राप्तिके लिये पूर्वोक्त भ्रुकुटियोंका ध्यानही अल्पबुद्धियोंके लिये सुख (सरल) उपाय है–और नादसे उत्पन्नभया जो चित्तका विलय है वह शीघ्रही प्रतीतिको करनेवाला होता है ॥ ८० ॥

नादानुसंधानसमाधिभाजां योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम् ॥
आनंदमेकं वचसामगम्यं जानाति तं श्रीगुरुनाथ एकः॥८१॥

नादानुसंधानेति ॥ नादस्यानाहतध्वनेरनुसंधानमनुचिंतनं तेन समाधिश्चित्तैकाग्र्यं तं भजंतीति नादानुसंधानसमाधिभाजस्तेषां योगिषु योगयुक्तेष्वीश्वराः समर्थास्तेषां हृदि हृदये वर्धते इति वर्धमानस्तं वर्धमानं वचसां वाचामगम्यम् । इदमिति वक्तुमशक्यं तं योगशास्त्रप्रसिद्धमेकं मुख्यमानंदमाह्लादमेकोऽनन्यः श्रीगुरुनाथः श्रीमान् गुरुरेव नाथो जानाति वेत्ति । एतेन नादानुसंधानानंदो गुरुगम्य एवेति सूचितम् ॥ ८१ ॥

भावार्थ–अनाहतध्वनिरूप जो नाद है उसके अनुसंधान (स्मरण) से जो चित्तकी एकाग्रतारूप समाधि है उसके कर्ता जो योगीश्वर (योगियोंमें जो उत्तम) हैं उनके हृदयमें बढताहुआ और वाणी जिसको 'यह है' इसप्रकार नहीं कहसकता है–ऐसा जो योगशास्त्रमें प्रसिद्ध एक (मुख्य) आनंद होता है एक श्रीगुरुनाथ अर्थात् श्रीयुत गुरुस्वामीही जानते हैं–इससे यह सूचित किया कि नादके अनुसंधानका आनंद गुरुकी दयासेही प्रतीत हो सकता है अन्य प्रकारसे नहीं हो सकता ॥ ८१ ॥

कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोति ध्वनिं मुनिः ॥
तत्रचित्तं स्थिरीकुर्याद्यावत्स्थिरपदं व्रजेत् ॥ ८२ ॥

नादानुसंधानात्प्रत्याहारादिक्रमेण समाधिमाह–कर्णावित्यादिभिः ॥ मुनिर्मननशीलो योगी हस्ताभ्यामित्यनेन हस्तांगुष्ठौ लक्ष्यते । ताभ्यां कर्णौ श्रोत्रे पिधाय । हस्तांगुष्ठौ श्रोत्रविवरयोः कृत्वेत्यर्थः । यं ध्वनिमनाहतनिःस्वनं शृणोत्याकर्णयति तत्र तस्मिन् ध्वनौ चित्तं स्थिरीकुर्यादस्थिरं स्थिरं संपद्यमानं कुर्यात् । यावत्स्थिरं पदं स्थिरपदं तुर्याख्यं गच्छेत् । तदुक्तम्–तुर्यावस्था चिदभिव्यंजकनादस्य वेदनं प्रोक्तमिति नादानुसंधानेन वायुस्थैर्यमणिमादयोऽपि भवतीति । उक्तं च त्रिपुरसारसमुच्चये–"विजितो भवतीह तेन वायुः सहजो यस्य समुत्थितः प्रणादः। अणिमादि-

भवंति तस्यामितपुण्यं च महागुणोदयस्य॥सुरराजतनूजवैरिरंध्रे विनिरुध्य स्वकरांगुलिद्वयेन। जलधेरिव धीरनादमंतः प्रसरंतं सहसा शृणोतिमर्त्यः॥ इति।सुरराज इंद्रस्तस्य तनूजोऽर्जुनस्तस्य वैरी कर्णस्तद्रंध्रे स्पष्टमन्यत्॥८२

भाषार्थ-नादके अनुसंधानसे प्रत्याहार आदिके क्रमसे समाधिका वर्णन करते हैं कि मननका कर्ता योगी हाथोंके अंगूठोंसे कर्णोंको ढककर अर्थात् अंगूठोंको कर्णोंके छिद्रोंमें लगाकर जिस अनाहतध्वनिको सुनता है उस अनाहतध्वनिमें अस्थिर भी चित्तको तबतक स्थिर करै जबतक तुर्यावस्थारूप स्थिरपदको प्राप्त न हो-सोई कहा है कि, तुर्यावस्था, चेतनका अभिव्यंजक (ज्ञापक) जो नाद उसका ज्ञानरूप है और नादके अनुसंधानसे वायुकी स्थिरता और अणिमा आदि सिद्धिभी होती हैं--और त्रिपुर सारसमुच्चयमें भी कहाहै कि जिस योगीके देहमें स्वाभाविक नाद भलीप्रकार उठता है वह वायुको जीत-लेता है और उसको अणिमा आदिगुण, और उस महोदयको अतुल पुण्य होते हैं, अपने हाथकी दो अंगुलियोंसे कर्णोंके छिद्रोंको रोककर--समुद्रके समान धीर जो नाद देहके भीतर फैलाता है उसको मनुष्य (योगी) शीघ्रही सुनता है॥ ४२॥

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम्॥
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत्॥८३॥

अभ्यस्यमान इति॥अभ्यस्यमानोऽनुसंधीयमानोऽयं नादोऽनाहताख्यो बाह्यध्वनिं बहिर्भवं शब्दमावृणुते श्रुत्योर्विषयम्। योगी नादाभ्यासी पक्षान्मासार्धादखिलं सर्वं विक्षेपं चित्तचांचल्यं जित्वाऽभिभूय सुखी स्वानंदो भवेत्॥ ८३॥

भाषार्थ-अभ्यास कियाहुआ अर्थात् अनुसंधान किया यह नाद बाहिरका जो शब्द है उसका आवरण करता है अर्थात् बाह्यके शब्दकोभी योगी सुनलेता है और वह नादका अभ्यासी योगी एक पक्षभरसेही चित्तकी चंचलता रूप संपूर्ण विक्षेपको जीतकर सुखी होता है अर्थात् आत्मानंदरूप सुखको प्राप्त होता है॥ ८३॥

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्॥
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः॥ ८४॥

श्रूयत इति॥ प्रथमाभ्यासे पूर्वाभ्यासे नानाविधोऽनेकविधो महान् जलधिजीमूतभेर्यादिसदृशो नादोऽनाहतस्वनः श्रूयते आकर्ण्यते। ततोऽनंतरमभ्यासे नादानुसंधानाभ्यासे वर्धमाने सति सूक्ष्मसूक्ष्मकःसूक्ष्मःसूक्ष्म एव श्रूयते श्रवणविषयो भवति॥ ८४॥

भाषार्थ-प्रथम २ अभ्यासमें अनेकप्रकारका अर्थात् समुद्र मेघ भेरीके शब्दकी तुल्य

महान् (भारी) नाद सुना जाता है और उसके अनंतर अभ्यासके होनेपर सूक्ष्म २ शब्द सुना जाता है ॥ ८४ ॥

आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसंभवाः ॥
मध्ये मर्दलशंखोत्था घंटाकाहलजास्तथा ॥ ८५ ॥

नानाविधं नादमाह द्वाभ्याम्-आदाविति॥आदौ वायोर्ब्रह्मरंध्रे गमनसमये जलधिः समुद्रो जीमूतो मेघो भेरी वाद्यविशेषः। 'भेरी स्त्री दुंदुभिः पुमान्' इत्यमरः। झर्झरो वाद्यविशेषः। 'वाद्यप्रभेदा डमरुमड्डुडिंडिमझर्झराः। मर्दलः पणवोऽन्येऽपि' इत्यमरः। जलधिप्रमुखेभ्यः संभव इव संभवो येषां ते तथा मध्ये ब्रह्मरंध्रे वायोः स्थैर्यानंतरं मर्दलो वाद्यविशेषः शंखो जलजस्ताभ्यामुत्था इव मर्दलशंखोत्थाः।घण्टाकाहलौ वाद्यविशेषौ ताभ्यां जाता इव घण्टाकाहलजाः ॥ ८५ ॥

भाषार्थ-अब दो श्लोकोंसे नाना प्रकारके नादका वर्णन करते हैं कि प्रथम २ प्राणवायुके ब्रह्मरंध्रमें गमनसमयमें समुद्र, मेघ, भेरी (धौंस) जो बाजे हैं और झर्झरी (झांझ) जो वाद्यविशेष हैं उनके शब्दके समान शब्द ब्रह्मरंध्रमें सुने जाते हैं और मध्यमें अर्थात् सुषुम्नामें प्राणवायुकी स्थिरताके अनंतर मर्दल शंख, इनके शब्दके तुल्य शब्द सुने जाते हैं तिसप्रकार घंटा और काहलनामके जो बाजे हैं उनके शब्दकी सदृश शब्द भी प्रतीत होते हैं ॥ ८५ ॥

अंते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनाः ॥
इति नानाविधा नादाः श्रूयंते देहमध्यगाः ॥ ८६ ॥

अंते त्विति॥अंते तु प्राणस्य ब्रह्मरंध्रे बहुस्थैर्यानंतरं तु किंकिणी क्षुद्रघंटिका वंशो वेणुःवीणा तंत्री भ्रमरो मधुपः तेषां निःस्वना इति पूर्वोक्ताः नानाविधा अनेकप्रकारका देहस्य मध्ये गताः प्राप्ताः श्रूयंते ॥ ८६ ॥

भाषार्थ-फिर प्राणकी ब्रह्मरंध्रमें स्थिरताके अंतमें किंकिणी--वंश - वीणा--भ्रमर इनके शब्दके तुल्य शब्द सुनेजाते हैं-इस प्रकार देहके मध्यमें नाना प्रकारके शब्द सुनेजाते हैं ८६॥

महति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ ॥
तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥ ८७ ॥

महतीति॥मेघश्च भेरी च ते आदी यस्य स मेघभेर्यादिकस्तस्मिन्। मेघभेरीशब्दौ तज्जन्यनिर्घोषपरौ। महति बहुले ध्वनौ निनादे श्रूयमाणे आकर्ण्यमाने सत्यपि तत्र तेषु नादेषु सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरमतिसूक्ष्मं नादमेव

परामृशेच्चिन्तयेत् सूक्ष्मस्य नादस्य चिरस्थायित्वात्तत्रासक्तचित्तश्चिरं स्थिरमतिर्भवेदिति भावः ॥ ८७ ॥

भाषार्थ-मेघ, भेरी, आदिका जो महान् शब्द है उसकी तुल्य शब्दके सुननेपरभी उन शब्दोंमें सूक्ष्मसेभी सूक्ष्म जो नाद है उसका चिंतन करे क्योंकि सूक्ष्मनाद चिरकालतक रहताहै उसमें आसक्त हुआहै चित्त जिसका ऐसा मनुष्यभी चिरकालतक स्थिरमति होजाता है ॥ ८७ ॥

घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने ॥
रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत् ॥ ८८ ॥

घनमिति ॥ घनं महांतं नादं मेघभेर्यादिकमुत्सृज्य घने वा नादे रममाणं घनसूक्ष्मान्यतरनादग्रहणपरित्यागाभ्यां क्रीडंतमपि क्षिप्तं रजसात्यंतचंचलं मनोऽन्यत्र विषयांतरे न चालयेन्न प्रेरयेत् । क्षिप्तं मनो विषयांतरासक्तं न समाधीयते नादेषु रममाणं तु समाधीयत इति भावः ॥ ८८ ॥

भाषार्थ-मेघ, भेरी आदिके महान् नादको त्यागकर सूक्ष्ममें वा सूक्ष्मनादको त्यागकर महान्नादमें रमण करतेहुये रजोगुणसे अत्यंत चंचल चित्तको अर्थात् महान्, सूक्ष्म शब्दके ग्रहण वा परित्यागसे क्रीडा करतेहुये मनको चलायमान न करे-क्योंकि, विषयांतरोंमें आसक्त मन समाधान नहीं होसकताहै और नादमें रमताहुआ जो मन उसका समाधान होसकता है ॥ ८८ ॥

यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ॥
तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्धं विलीयते ॥ ८९ ॥

यत्रेति ॥ वा अथवा यत्रकुत्रापि नादे यस्मिन्कस्मिंश्चिद्घने सूक्ष्मे वा नादे प्रथमं पूर्वं मनो लगति लग्नं भवति तत्रैव तस्मिन्नेव नादे सुस्थिरीभूय सम्यक् स्थिरं भूत्वा तेन नादेन सार्धं साकं विलीयते लीनं भवतीत्यर्थः । अत्र पूर्ववाक्येन प्रत्याहारो द्वितीयेन धारणा तृतीयेन ध्यानद्वारा समाधिरुक्तः ॥ ८९ ॥

भाषार्थ-अथवा जिस किसी घन वा सूक्ष्म नादमें प्रथम मन लगे उसी नादमें भलीप्रकार स्थिर होकर उसी नादके संग लय होजाताहै-यहां पूर्व वाक्यसे प्रत्याहार दूसरेके धारणा और तीसरेसे ध्यानके द्वारा समाधि कही है ॥ ८९ ॥

मकरंदं पिबन्भृंगो गंधं नापेक्षते यथा ॥
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्न हि कांक्षते ॥ ९० ॥

मकरंदमिति ॥ मकरंदं पुष्परसं पिबन् धयन् भृंगो भ्रमरो गंधं यथा नापेक्षते नेच्छति । तथा नादासक्तं नाद आसक्तं चित्तमंतःकरणं विषयान् विषिण्वंत्यवबध्नंति प्रमातारं स्वसंगेनेति विषयाः स्रक्चंदनवनितादयस्तान् न कांक्षते नेच्छति । हीति निश्चये ॥ ९० ॥

भाषार्थ-जैसे मकरंद (पुष्पका रस) का पान करताहुआ भ्रमर पुष्पके गंधकी अपेक्षा नहीं करताहै तिसीप्रकार नादमें आसक्त हुआ चित्त भी अपने बंधनके कर्ता जो स्रक् चंदन आदि विषय हैं उनकी आकांक्षा नहीं करताहै यह निश्चित है ॥ ९० ॥

मनो मत्तगजेंद्रस्य विषयोद्यानचारिणः ॥
नियन्त्रणे समर्थोऽयं निनादनिशितांकुशः ॥ ९१ ॥

मन इति ॥ विषयः शब्दादिरेवोद्यानं वनं तत्र चरतीति विषयोद्यानचारी तस्य मन एव मत्तगजेंद्रः दुर्निवारत्वात् । तस्य निनाद एवानाहतध्वनिरेव निशितांकुशः तीक्ष्णांकुशः नियंत्रणे परावर्तने समर्थः शक्तः । एतैः श्लोकैः । 'चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् । यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ॥' इंद्रियाणां विषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहार इत्युक्तलक्षणः प्रत्याहारः प्रोक्तः ॥ ९१ ॥

भाषार्थ-शब्द आदि विषयरूप जो उद्यान उसमें विचरता हुआ जो मनरूप उन्मत्त गजेंद्र है उसके परावर्तन (लौटाना) में यह-नादरूप जो तीक्ष्ण अंकुश है वही समर्थ है-इन श्लोकोंसे इंद्रियोंका विषयोंसे वह प्रत्याहार कहाहै जो इस श्लोकमें कहाहै कि विषयोंमें क्रमसे चरते हुये जो नेत्र आदि इंद्रिय है उनकी जो विषयोंसे निवृत्ति उसको प्रत्याहार कहतेहैं ॥ ९१ ॥

बद्धं तु नादबंधेन मनः संत्यक्तचापलम् ॥
प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा ॥ ९२ ॥

बद्धं त्विति ॥ नाद एव बंधः बध्यतेऽनेनेति बंधः बंधनसाधनं तेन स्वशक्त्या स्वाधीनकरणेन बद्धं बंधनमिव प्राप्तम् । नादधारणादावासक्तमित्यर्थः । अत एव सम्यक् त्यक्तं चापलं क्षणेक्षणे विषयग्रहणपरित्यागरूप येन तत्तथा मनः सुतरां स्थैर्यं प्रयाति नितरां धारणमेति तत्र दृष्टांतमाह-छिन्नौ पक्षौ यस्य तादृशः खे गच्छतीति खगः पक्षी यथा । एतेन-'प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेंद्रियम् । वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थैर्यं शुभाश्रये ॥' शुभाश्रये चित्तस्थापनं धारणेत्युक्तलक्षणा धारणा प्रोक्ता ॥ ९२ ॥

भाषार्थ—नादरूप जो बंधनका साधन है उससे अपनी शक्तिके अनुसार बंधनको प्राप्त हुआ मन अर्थात् नादकी धारणा आदिमें आसक्त हुआ चित्त और इसीसे भलीप्रकार त्याग-दीहै क्षण २ में विषयोंका ग्रहणरूप चपलता जिसने ऐसा मन निरन्तर स्थिरताको प्राप्त होताहै अर्थात् धारणाको प्राप्त इस प्रकार होताहै जैसे छेदन किये हैं पक्ष जिसके ऐसा पक्षी होजाताहै इस श्लोकसे शुभ आश्रयमें चित्तका स्थापनरूप उस धारणाको कहाहै जो इस वचनमें कहीहै कि प्राणायामसे पवनको और प्रत्याहारसे इंद्रियोंको वशमें करके शुभाश्रय (ब्रह्मरंध्र) में चित्तकी स्थिरताको करै ॥ ९२ ॥

सर्वचिंतां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ॥
नाद एवानुसंधेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥९३॥

सर्वचिंतामिति ॥ सर्वेषां बाह्याभ्यंतरविषयाणां या चिंता चिंतनं तां परित्यज्य त्यक्त्वा सावधानेनैकाग्रेण चेतसा योगानां साम्राज्य साम्राजो भावः। योगशब्दोऽर्शाद्यजंतः। राजयोगित्वमिति यावत्। इच्छता वांछता पुंसा नाद एवानाहतध्वनिरेवानुसंधेयोऽनुचिंतनीयः। नादाकारवृत्तिप्रवाहः कर्तव्य इत्यर्थः। एतेन 'तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्य-संततिश्चान्यनिस्पृहा। तद्ध्यानं प्रथमैरंगैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप ॥' तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानमित्युक्तलक्षणं ध्यानमुक्तम् ॥ ९३ ॥

भाषार्थ—बाह्य और भीतरके जो संपूर्ण विषय हैं उनकी चिंताको त्यागकर सावधान (एकाग्र) चित्तसे राजयोगका अभिलाषी योगी नादकाही अनुसंधान करै अर्थात् नादाकार वृत्तिका प्रवाह करै इससे वह चित्तकी प्रत्ययैकतानतारूप ध्यान कहा जो इस वचनमें कहाहै कि ब्रह्मरूप प्रत्यककी जो एकाग्र (एकरस) सन्तति और अन्य विषयोंकी निःस्पृहा वह ध्यान है नृप ! छः प्रथम अंगोंसे प्राप्त होताहै अर्थात् उसकी प्राप्तिके छः अंग-कारणहैं ॥ ९३ ॥

नादोंतरंगसारंगबंधने वागुरायते ॥
अंतरंगकुरंगस्य वधे व्याधायतेऽपि च ॥९४॥

नादोंऽतरंगेति ॥ नादः अंतरंगं मन एव सारंगो मृगस्तस्य बंधने चांचल्यहरणे वागुरायते वागुरेवाचरति वागुरा जालम्। यथा वागुरा-बंधनेन सारंगस्य चांचल्यं हरति तथा नादोंऽतरंगस्य स्वशक्त्या-चांचल्यं हरतीत्यर्थः। अंतरंगं मन एव सारंगो हरिणस्तस्य बंधने नानावृत्त्युत्पादनापनयनमेव मनसो बंधस्तस्मिन् व्याधायते व्याध इवाचरति। यथा व्याधो वागुराबद्धं मृगं हंति एवं नादोऽपि स्वासक्तं मनो हंतीत्यर्थः ॥ ९४ ॥

भाषार्थ-नाद अंतरंग (मन) जो सारंग मृग उसके बंधन (चंचलताका हरण) में वागुरा (मृगबंधनमें जाल) के समान है अर्थात् जैसे वागुराके बंधनसे मृगकी चंचलता हरी जाती है इसीप्रकार नादभी मनकी चंचलताको अपनी शक्तिसे हरताहै और नादही अंतरंग (मन) हरिणके बंधनमें व्याधके समान है अर्थात् जैसे व्याध वागुरामें बन्धेहुये मृगको हरताहै इसीप्रकार अपनेमें आसक्त हुये मनको नादभी हरताहै अर्थात् नानावृत्ति जो मनमें उत्पन्न होतीहैं उनको दूर करताहै ॥ ९४ ॥

अंतरंगस्य यमिनो वाजिनः परिघायते ॥
नादोपास्तिरतो नित्यमवधार्या हि योगिना ॥९५॥

अंतरंगस्येति यमिनो योगिनोऽतरंगं मनस्तस्य चपलत्वाद्वाजिनोऽश्वस्य परिघायते वाजिशालाद्वारपरिघ इवाचरति नाद इति शेषः । यथा वाजिशालापरिघो वाजिनोऽन्यत्र गतिं रुणद्धि तथा नादोऽतरंगस्येत्यर्थः । अतः कारणाद्योगिना नादस्योपास्तिरुपासना नित्यं प्रत्यहमवधार्यावधारणीया । हीति निश्चयेऽव्ययम् ॥ ९५ ॥

भाषार्थ-और योगीजनका जो अंतरंग (मन) रूप वाजी है उसके परिघ अर्थात् घुडशालाके द्वारमें अवरोधक लोहदंडके समान नाद है . निदान जैसे वाजिशालाका परिघ वाजीकी अन्यत्र गतिको रोकताहै इसीप्रकार नादभी मनकी अन्यत्र विषयादिकोंमें जो गति है उसको रोकैहै इस कारणसे योगीजन निश्चल करके नादकी उपासनाका निश्चय करें ॥ ९५ ॥

बद्धं विमुक्तचांचल्यं नादगंधकजारणात् ॥
मनः पादमाप्नोति निरालंबाख्यखेऽटनम् ॥ ९६ ॥

बद्धमिति ॥ नाद एव गंधक उपधातुविशेषस्तेन जारणं जारणीकरणं नादगंधकसंबंधेन चांचल्यहरणं तस्माद्बद्धं नादैकासक्तम् । पक्षे गुटिकाकृतिं प्राप्तम् अत एव विमुक्तं त्यक्तं चांचल्यमनेकविषयाकारपरिणामरूपं येन । पक्षे विमुक्तलौल्यं मनःपारदं मन एव पारदं चंचलं निरालंबं ब्रह्म तदेवाख्या यस्य तन्निरालंबाख्यं तदेव खमपरिच्छिन्नत्वात्तस्मिन्नटनं गमनं तदाकारवृत्तिप्रवाहम् । पक्षे आकाशगमनं प्राप्नोति । यथा बद्धं पारदमाकाशगमनं करोति । एवं बद्धं मनो ब्रह्माकारवृत्तिप्रवाहमविच्छिन्नं करोतीत्यर्थः ॥ ९६ ॥

भाषार्थ-नादरूप जो गंधक उससे जारण (भस्म) करनेसे अर्थात् नाद गंधकके संयोगसे चंचलताके हरनेसे बद्ध (एकनादमेंही आसक्त) और-पाराके पक्षमें गुटिकारूप हुआ समझना और जारणसेही त्यागदिया है विषयाकार परिणामरूप चांचल्य जिसने

और पाराके पक्षमें त्यागदी है स्वाभाविक चंचलता जिसने वह समझना ऐसा मनरूप पारद (चंचलरूप) निरालंब नामके आकाशरूप अपरिच्छिन्न ब्रह्ममें गमनको अर्थात् ब्रह्माकार वृत्तिके प्रवाहको प्राप्त होता है और पाराके पक्षमें आकाशगमनको प्राप्त होना समझना तात्पर्य यह है कि, इसप्रकार बंधाहुआ मन निरवच्छिन्न (एकरस) ब्रह्माकार वृत्तिके प्रवाहको करता है ॥ ९६ ॥

नादश्रवणतः क्षिप्रमंतरंगभुजंगमः ॥

विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति ॥ ९७ ॥

नादेति ॥ नादस्यानाहतस्वनस्य श्रवणतः श्रवणात् क्षिप्रं द्रुतमंतरंगं मन एव भुजंगमः सर्पश्चपलत्वान्नादप्रियत्वाच्च भुजंगमरूपत्वं मनसः सर्वं विश्वं विस्मृत्य विस्मृतिविषयं कृत्वैकाग्रो नादाकारवृत्तिप्रवाहवान् सन्कुत्रापि विषयांतरे नहि धावति नैव धावनं करोति । ध्यानोत्तरैः श्लोकैः । 'तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्। मनसा ध्याननिष्पाद्यःसमाधिः सोऽभिधीयते॥' इति विष्णुपुराणोक्तलक्षणेन 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' इति पातंजलसूत्रोक्तलक्षणेन च संप्रज्ञातलक्षणः समाधिरुक्तः ॥ ९७ ॥

भाषार्थ-अनाहत शब्दरूप नादके श्रवणसे शीघ्रही मनरूप भुजंगम (सर्प) यहां चपल और नादप्रिय होनेसे मनको भुजंगम समझना संपूर्ण विश्वका विस्मरण करके एकाग्र हुआ अर्थात् नादाकारवृत्तिप्रवाही होकर किसी विषयमें नहीं दौडता है ध्यानसे पीछे कहेहुये श्लोकोंसे इस विष्णुपुराणके वचन और इस पातंजल सूत्रमें क्रमसे कहीहुई समाधि और संप्रज्ञात समाधि कही है कि, उसकाही कल्पनाहीन जो स्वरूपका ग्रहण मनसे है वही ध्यानसे उत्पन्न होता है और उसकोही समाधि कहते हैं उस आत्माकाही जो अर्थमात्र निर्भास स्वरूप शून्यके समान है उसको संप्रज्ञात समाधि कहते हैं ॥ ९७ ॥

काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति ॥

नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते ॥ ९८ ॥

काष्ठ इति॥काष्ठे दारुणि प्रवर्तितः प्रज्वालितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति ज्वालारूपं परित्यज्य तन्मात्ररूपेणावतिष्ठते यथा तथा नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते । राजसतामसवृत्तिनाशात्सत्त्वमात्रावशेषं संस्कारशेषं च भवति । तत्र च मैत्रायणीयमंत्रः । 'यथा निरिंधनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति।तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति' इति९८।

भाषार्थ-काष्ठमें प्रवृत्त की अर्थात् जलाईहुई अग्नि ज्वालारूपको त्यागकर जैसे काष्ठके संग शांत होजाती है अर्थात् काष्ठरूप रहजाती है तिसीप्रकार नादमें प्रवृत्त किया चित्त

नादके संग लीन होजाता है अर्थात् रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियोंके नाशसे सत्तामात्र वा संस्कारमात्र शेष रहजाताहै इसमें मैत्रायणीय शाखाका यह मंत्र प्रमाण है कि जैसे इंधनरहित अग्नि अपने योनिरूप काष्ठमें शांत होता है इसीप्रकार वृत्तियोंके क्षयसे चित्तभी अपनी योनि (ब्रह्म) में शांत होजाता है ॥ ९८ ॥

घंटादिनादसक्तस्तब्धांतःकरणहरिणस्य ॥
प्रहरणमपि सुकरं शरसंधानप्रवीणश्चेत् ॥ ९९ ॥

घंटादीति ॥ घंटा आदिर्येषां शंखमर्दलझर्झरदुंदुभिजीमूतादीनां ते घंटादयस्तेषां नादस्तेषु सक्तः । अत एव स्तब्धो निश्चलो योऽतःकरणमेव हरिणो मृगस्तस्य प्रहरणं नानावृत्तिप्रतिबंधनमंतःकरणपक्षे । हरिणपक्षे तु प्रहरणं हननमपि शरवद्द्रुतगामिनो वायोः संधानसुषुम्नामार्गेण ब्रह्मरंध्रे निरोधनपक्षे शरस्य बाणस्य संधानं धनुषि योजनं तस्मिन् प्रवीणः कुशलश्चेत्सुकरं सुखेन कर्तुं शक्यम् ॥ ९९ ॥

भाषार्थ–घंटा आदि जिनके ऐसे जो शंख मर्दल, झर्झर, दुंदुभी आदिके नाद हैं उनमें आसक्त और निश्चल जो अन्तःकरणरूप मृग उसका प्रहार करनाभी सुकर है यदि बाणके संधानमें मनुष्य प्रवीण हो यहां अन्तःकरणका प्रहार नाना वृत्तियोंका प्रतिबन्धरूप लेना और हरिणपक्षमें हनन लेना और बाणका सन्धानभी बाणके समान शीघ्रगामी जो वायु उसका सुषुम्नामार्गसे ब्रह्मरंध्रमें प्रवेश करलेना और हरिणपक्षमें धनुषपर बाणका योजन (लगाना) लेना ॥ ९९ ॥

अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते ॥
ध्वनेरंतर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यांतर्गतं मनः ॥
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १०० ॥

अनाहतस्येति ॥ अनाहतस्य शब्दस्यानाहतस्वनस्य यो ध्वनिर्निर्हाद उपलभ्यते श्रूयते तस्य ध्वनेरंतर्गतं ज्ञेयं ज्योतिःस्वप्रकाशचैतन्यं ज्ञेयस्यांतर्गतं ज्ञेयाकारतामापन्नं मनोऽतःकरणं तत्र ज्ञेये मनो विलयं याति परवैराग्येण सकलवृत्तिशून्यं संस्कारशेषं भवति।तद्विष्णोर्विभोरात्मनः परममंतःकरणवृत्त्युपाधिराहित्यान्निरुपाधिकं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं स्वरूपम् ॥ १०० ॥

भाषार्थ--अनाहत अर्थात् विना ताडनाके उत्पन्न जो शब्द उसकी जो ध्वनि प्रतीत होती है. उसध्वनिके अन्तर्गतही ज्ञेयरूप प्रकाशमान चैतन्य है और उस ज्ञेयके अन्तर्गत अन्तःकरणरूप मन है और उस ज्ञेयमेंही मन विलयको प्राप्त होताहै अर्थात् परमवैराग्यसे

संपूर्ण वृत्तियोंसे शून्य होकर संस्कारमात्र शेष रहजाताहै और वही विष्णु (व्यापक) आत्माका परमपद है अर्थात् योगिजनोंकी प्राप्तिके योग्य अन्तःकरणकी वृत्तिरूप उपाधिसे रहित आत्मारूप है ॥ १०० ॥

तावदाकाशसंकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते ॥
निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मेति गीयते ॥ १०१ ॥

तावदिति ॥ यावच्छब्दोऽनाहतध्वनिः प्रवर्तते श्रूयते तावदाकाशस्य सम्यक्कल्पनं भवति। शब्दस्याकाशगुणत्वाद्गुणिनोरभेदाद्वा मनसा सह शब्दस्य विलयान्निःशब्दं शब्दरहितं यत्परं ब्रह्म परब्रह्मशब्दवाच्यं परमात्मेति गीयते परमात्मशब्देन स उच्यते। सर्ववृत्तिविलये यः स्वरूपेणावस्थितः स एव परब्रह्मपरमात्मशब्दाभ्यामुच्यत इति भावः ॥ १०१ ॥

भाषार्थ-जितने अनाहत ध्वनिरूप शब्द सुनेजातेहैं उतनीही आकाशकी भलीप्रकार कल्पना होती है क्योंकि शब्द आकाशरूप है और गुणगुणीका अभेद है और मन सहित जब शब्दका विलय होजाताहै तब शब्दरहित जो परब्रह्महै वही परमात्मा शब्दसे कहाजाताहै अर्थात् संपूर्ण वृत्तियोंका लय होनेपर जो स्वरूपसे स्थित है वही परब्रह्म परमात्मास्वरूप है ॥ १०१ ॥

यत्किंचिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा ॥
यस्तत्त्वांतो निराकारः स एव परमेश्वरः ॥ १०२ ॥

यत्किंचिदिति ॥ नादरूपेणानाहतध्वनिरूपेण यत्किंचिच्छ्रूयते आकर्ण्यते सा शक्तिरेव यस्तत्त्वान्तस्तत्त्वानामंतो लयो यस्मिन् सः तथा निराकार आकाररहितः स एव परमेश्वरः सर्ववृत्तिक्षये स्वरूपावस्थितो यः स आत्मेत्यर्थः। काष्ठे प्रवर्तितो वह्निरित्यादिभिः श्लोकैः राजयोगापरपर्यायोऽसंप्रज्ञातः समाधिरुक्तः ॥ १०२ ॥

भाषार्थ-जो कुछ नादरूपसे सुनाजाता है वह शक्तिही है और जिसमें तत्त्वोंका लय होताहै वह निराकार परमेश्वरहै अर्थात् संपूर्ण वृत्तियोंका लय होनेपर जो स्वरूपावस्थित है वही आत्माहै-इन पूर्वोक्त पांचश्लोकोंसे राजयोग नामकी असंप्रज्ञातसमाधि कहीहै ॥१०२॥

सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये ॥
राजयोगसमारूढः पुरुषः कालवंचकः ॥ १०३ ॥

सर्वे इति ॥ हठश्च लयश्च हठलयौ तयोरुपाया हठलयोपाया हठोपाया आसनकुंभकमुद्रारूपा लयोपाया नादानुसंधानशांभवीमुद्रादयः।

राजयोगस्य मनसः सर्ववृत्तिनिरोधलक्षणस्य सिद्धये निष्पत्तये प्रोक्ता इति शेषः।राजयोगसमारूढः सम्यगारूढः प्राप्तवान् यः पुरुषः स कालवंचकः कालं मृत्यु वंचयति जयतीति तादृशः स्यादिति शेषः ॥१०३॥

भाषार्थ-हठ और लयके जो संपूर्ण उपाय हैं अर्थात् आसन कुंभक मुद्रा आदि हठके उपाय और नादानुसंधान शांभवीमुद्रा आदि-लयके उपाय हैं वे संपूर्ण मनकी सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोधरूप जो राजयोग उसकी सिद्धिके लियेही कहे हैं और उस राजयोगमें भलीप्रकार आरुढ (प्राप्त) जो पुरुष है वह कालका वंचक अर्थात् मृत्युका जीतनेवाला होजाताहै ॥ १०३ ॥

तत्त्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभिः ॥
उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते ॥ १०४ ॥

तत्त्वमिति ॥ तत्त्वं चित्तं बीजं बीजवदुन्मन्यवस्थांकुराकारेण परिणमानत्वात् । हठः प्राणापानयोरैक्यलक्षणः प्राणायामः क्षेत्रे इव प्राणायामे उन्मनी कल्पलतिकोत्पत्तेरौदासीन्यं परवैराग्यं जलं तस्या उत्पत्तिकारणत्वात् । परवैराग्यहेतुकः संस्कारविशेषश्चित्तस्यसंप्रज्ञात इति तल्लक्षणात् । एतैस्त्रिभिरुन्मन्यसंप्रज्ञातावस्था सैव कल्पलतिका सकलेष्टसाधनत्वात्सद्यएव शीघ्रमेव प्रवर्तते प्रवृत्ता भवति उत्पन्ना भवति ॥ १०४ ॥

भाषार्थ-तत्त्व (चित्त) ही बीज है, क्योंकि चित्तही उन्मनी अवस्थारूप जो अंकुर है उसके आकारसे परिणामको प्राप्त होताहै और प्राण अपानकी एकतारूप जो हठ है, वही क्षेत्रहै क्योंकि क्षेत्रके समान प्राणायाममेंही उन्मनीरूप कल्पलता उत्पन्न होती है और उदासीनता (परम वैराग्य) जलहै क्योंकि उदासीनताही उन्मनी कल्पलताकी उत्पत्तिका कारण है क्यों कि, असंप्रज्ञात समाधिका यह लक्षण कहा है कि, परम वैराग्यका हेतु जो चित्तका संस्कारविशेष है वही असंप्रज्ञात समाधि है-इन बीज, क्षेत्र, जल रूप पूर्वोक्त तीनोंसे असंप्रज्ञात अवस्थारूप उन्मनी कल्पलता शीघ्रही उत्पन्न होजाती है-संपूर्ण इष्टकी साधक होनेसे उन्मनीको कल्पलता कहते हैं ॥ १०४ ॥

सदा नादानुसंधानात्क्षीयंते पापसंचयाः ॥
निरंजने विलीयेते निश्चितं चित्तमारुतौ ॥ १०५ ॥

सदेति ॥ सदा सर्वदा नादानुसंधानान्नादानुचिंतनात्पापसंचयाः पापसमूहाः क्षीयंते नश्यंति निरंजने निर्गुणे चैतन्ये निश्चितं ध्रुवं चित्तमारुतौ मनःप्राणौ विलीयेते विलीनौ भवतः ॥ १०५ ॥

भाषार्थ-सदैव नादके अनुसन्धानसे पापोंके समूह क्षीण होते हैं और निर्गुण चैतन्यमें चित्त और पवन ये दोनों अवश्य लीन होजाते हैं अर्थात् मन और प्राण इन दोनोंका ब्रह्ममें लय होजाताहै ॥ १०५ ॥

शंखदुंदुभिनादं च न शृणोति कदाचन ॥
काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम् ॥ १०६ ॥

उन्मन्यवस्थां प्राप्तस्य योगिनः स्थितिमाहाष्टभिः-शंखदुंदुभीति ॥ शंखो जलजो दुंदुभिर्वाद्यविशेषस्तयोर्नादं घोषं कदाचन कस्मिंश्चिदपि समये न शृणोति । शंखदुंदुभीत्युपलक्षणं नादमात्रस्य । उन्मन्यवस्थया देहो ध्रुवं काष्ठवज्जायते । निश्चेष्टत्वादित्यर्थः ॥ १०६ ॥

भाषार्थ-अब आठश्लोकोंसे उन्मनीअवस्थाको प्राप्त जो योगी है उसकी स्थितिका वर्णन करतेहैं कि, वह योगी शंख-दुंदुभी-इनके शब्दको कदाचित्भी नहीं सुनता है यहां शंख दुंदुभी-शब्दमात्रके उपलक्षक हैं-और उन्मनी अवस्थासे देह काष्ठके समान चेष्टारहित होजाता है ॥ १०६ ॥

सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिंताविवर्जितः ॥
मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः ॥ १०७ ॥

सर्वेति ॥ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छामरणलक्षणः पंच व्युत्थानावस्थास्ताभिर्विशेषेण मुक्तो रहितः सर्वा याश्चिताः स्मृतयस्ताभिर्विवर्जितो विरहितो यः योगः सकलवृत्तिनिरोधोऽस्यास्तीति योगी तुर्यावस्थावान् स मुक्तो जीवन्नेव मुक्तः । सकलवृत्तिनिरोधे आत्मनः स्वरूपावस्थानात् । तदुक्तं पातंजलसूत्रे-'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' इति । स्पष्टमन्यत् ॥ १०७ ॥

भाषार्थ-और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा, मरणरूप जो पांच व्युत्थानावस्था है उनसे विशेषकरके रहित होताहै और सम्पूर्ण चिंताओंसे विवर्जित जो योगी है अर्थात् सम्पूर्ण वृत्तियोंके निरोधरूप योगमें स्थित है वह जीवन्मुक्त है इसमें संशय नहीं है-क्योंकि सम्पूर्ण वृत्तियोंके निरोधमें आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित होजाताहै सोई पातंजल सूत्रमें कहाहै कि, उस समय द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित होताहै ॥ १०७ ॥

खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा ॥
साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥ १०८

खाद्यत इति ॥ समाधिना युक्तो योगी कालेन मृत्युना न खाद्यते न भक्ष्यते न हन्यत इत्यर्थः । कर्मणा कृतेन शुभेनाशुभेन वा न बाध्यते

जन्ममरणादि जनने न क्लिश्यते । तथा च समाधिप्रकरणे पातंजलसूत्रम् । 'ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः' इति । केनापि पुरुषांतरेण यंत्रमंत्रादिना वा न साध्यते साधयितुं शक्यते ॥ १०८ ॥

भाषार्थ–समाधिसे युक्त योगीको मृत्युभी भक्षण नहीं करता है और शुभ अशुभ रूप किये हुये कर्मोंसे जन्म मरण आदि क्लेशभी नहीं होतेहैं और न वह योगी किसी उपायसे साध्य हो सकताहै अर्थात् कोई पुरुष यंत्र मंत्र आदिसे साध नहीं सकता–सोई समाधिप्रकरणमें पतंजलिका सूत्र है कि, उस समाधिके समय क्लेशकी निवृत्ति होतीहै ॥ १०८ ॥

न गंधं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम् ॥
नात्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना ॥ १०९ ॥

न गंधमिति ॥ समाधिना युक्तो योगी गंधं सुरभिमसुरभिं वा न रसं मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्तभेदात् षड्विधं न रूपं शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशचित्रभेदात्सप्तविधं न स्पर्शं शीतमुष्णमनुष्णाशीतं वा न निःस्वनं शंखदुंदुभिजलधिजीमूतादिनिनादं बाह्यमाभ्यंतरं वा न आत्मानं देहं न परं पुरुषांतरं वेत्तीति सर्वत्रान्वेति । 'आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे, परमात्मनि' इत्यमरः ॥ १०९ ॥

भाषार्थ–समाधिसे युक्त योगी सुरभि, असुरभिरूप गंध और मधुर, आम्ल, लवण, कटुक, कषाय तिक्तरूप छः प्रकारका रस और शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश, चित्ररूप सातप्रकारका रूप और शीत, उष्ण, अनुष्णाशीतरूप, तीनप्रकारका स्पर्श और शंख, दुंदुभी, समुद्र, मेघ इनका बाह्य शब्द; और नादरूप भीतरका शब्द और अपना देह अन्य अन्य पुरुष इन पूर्वोक्त गंध आदिको नहीं जानताहै ॥ १०९ ॥

चित्तं न सुप्तं नो जाग्रत्स्मृतिविस्मृतिवर्जितम् ॥
न चास्तमेति नोदेति यस्यासौ मुक्त एव सः ॥ ११० ॥

चित्तमिति ॥ यस्य योगिनश्चित्तमंतःकरणं न सुप्तम् । आवरकस्य तमसोऽभावात्त्रिगुणेऽतःकरणे यदा सत्त्वरजसी अभिभूय समस्तकरणावरकं तम आविर्भवति तदांतःकरणस्य विषयाकारपरिणामाभावात्तत्सुप्तमित्युच्यते।नो जाग्रत् इंद्रियैरर्थग्रहणाभावात्।स्मृतिश्च विस्मृतिश्च स्मृतिविस्मृती ताभ्यां वर्जितम् । वृत्तिसामान्याभावादुद्बोधकाभावाच्च स्मृतिवर्जितम् । स्मृत्यनुकूलसंस्काराभावाद्विस्मृतिवर्जितम् । न चास्तं नाशमेति प्राप्नोति । संस्कारशेषस्य चित्तस्य सत्त्वात् । नोदेत्युद्भवति वृत्त्यनुत्पादनात् । सोऽसौ मुक्त एव जीवन्मुक्त एव ॥ ११० ॥

भाषार्थ-जिस योगीका चित्त आच्छादक तमोगुणके अभावसे सोवता न हो क्योंकि त्रिगुण अन्तःकरणमें जिस समय सत्त्वगुण और रजोगुणका तिरस्कार करके सब इंद्रियोंका आच्छादक तमोगुण अधिक होताहै उससमय अन्तःकरणका विषयाकाररूप परिणाम न होनेसे सुप्त अवस्था (शयन) कहाती है और इंद्रियोंसे विषयोंका ग्रहण होनेसे योगीको जाग्रत्‌भी न हो, और स्मरण विस्मरणसे वर्जित हो अर्थात् संपूर्ण वृत्तियोंके और उद्बोधकके अभावसे स्मृतिरहित हो और स्मृतिका जनक जो संस्कार उसके अभावसे विस्मृतिसे रहित हो और संस्कारशेष चित्तके होनेसे नाशकोभी प्राप्त न हो और वृत्तियोंकी उत्पत्तिके अभावसे उदय (उत्पन्न) भी न होताहो वहभी योगी मुक्तही है ॥ ११० ॥

न विजानाति शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ॥
न मानं नापमानं च योगी युक्तः समाधिना ॥ १११ ॥

न विजानातीति ॥ समाधिना युक्तो योगी शीतं च उष्णं च शीतोष्णम् । समाहारद्वंद्वः । शीतमुष्णं वा पदार्थं न दुःखं दुःखजनकं परकृतं ताडनादिकं न सुखं सुखसाधनं सुरभिचंदनाद्यनुलेपनादिकम् । तथा चार्थे । मानं परकृतं सत्कारं न अपमानमनादरं च न विजानातीति क्रियापदं प्रतिवाक्यमन्वेति ॥ १११ ॥

भाषार्थ-समाधिसे युक्त योगी शीत, उष्ण पदार्थको और ताडना आदि दुःखको और सुरभि चंदनआदिके लेपनरूप सुखको और मान अपमानको अर्थात् दूसरेके किये सत्कार और अनादरको नहीं जानताहै ॥ १११ ॥

स्वस्थो जाग्रदवस्थायां सुप्तवद्योऽवतिष्ठते ॥
निःश्वासोच्छ्वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः ॥ ११२ ॥

स्वस्थ इति ॥ स्वस्थः प्रसन्नेंद्रियांतःकरणः । एतेन तंद्रामूर्च्छादिव्यावृत्तिः । जाग्रदवस्थायामित्यनेन स्वप्नसुषुप्त्योर्निवृत्तिः । सुप्तवत् सुप्तेन तुल्यं कार्येंद्रियव्यापारशून्यो यो योगी अवतिष्ठते स्थितो भवति । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम् । निश्वासोच्छ्वासहीनः बाह्यवायोः कोष्ठे ग्रहणं निश्वासः कोष्ठस्थितस्य वायोर्बहिर्निःसारणमुच्छ्वासस्ताभ्यां हीनश्चावतिष्ठत इत्यत्रापि संबध्यते स निश्चितं निःसंदिग्धं मुक्त एव । जीवन्मुक्तस्वरूपमुक्तं दत्तात्रेयेण-'निर्गुणध्यानसंपन्नः समाधिं च ततोऽभ्यसेत् । दिनद्वादशकेनैव समाधिं समवाप्नुयात् ॥ वायुं निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवेद्ध्रुवम् ॥' इति ॥ ११२ ॥

भाषार्थ-जो योगी स्वस्थअवस्थामें अर्थात् इंद्रिय और अन्तःकरणकी प्रसन्नता स्थित होकर जाग्रत् अवस्थामेंभी देह और इंद्रियोंके व्यापारसे शून्य सुप्तके समान और बाहिरकी

वायुका देहमें ग्रहणरूप निःश्वास और देहमें स्थित वायुका बाहिर निकासनेरूप उच्छ्वास इन दोनोंसे रहित होकर निश्चल टिकताहै वह योगी निश्चयसे मुक्तही है और दत्तात्रेयने जीवन्मुक्तका रूप यह कहा है कि, निर्गुणके ध्यानमें संपन्न मनुष्य समाधिका अभ्यास करे फिर बारह दिनसेही समाधिको प्राप्त होताहै और बुद्धिमान् मनुष्य वायुको रोककर निश्चयसे जीवन्मुक्त होताहै ॥ ११२ ॥

अवध्यः सर्वशस्त्राणामशक्यः सर्वदेहिनाम् ॥
अग्राह्यो मंत्रयंत्राणां योगी युक्तः समाधिना॥११३॥

अवध्य इति । समाधिना युक्तो योगी । सर्वशस्त्राणामिति संबंधसामान्ये षष्ठी । सर्वशस्त्रैरित्यर्थः । अवध्यो हंतुमशक्य इत्यर्थः । सर्वदेहिनामित्यत्रापि संबंधमात्रविवक्षायां षष्ठी । अशक्यः सर्वदेहिभिः बलेन शक्यो न भवतीत्यर्थः । मंत्रयंत्राणां वशीकरणमारणोच्चाटनादिफलैर्मंत्रयंत्रैरग्राह्यः वशीकर्तुमशक्यः । एवं प्राप्तयोगस्य योगिनो विघ्ना बहवः समायांति । तन्निवारणार्थं तज्ज्ञानस्यापेक्षितत्वात्तेऽपि प्रदर्श्यंते । दत्तात्रेयः—'आलस्यं प्रथमो विघ्नो द्वितीयस्तु प्रकथ्यते । पूर्वोक्तधूर्तगोष्ठी च तृतीयो मंत्रसाधनम् ॥ चतुर्थो धातुवादः स्यादिति योगविदो विदुः' इति । मार्कंडेयपुराणे 'उपसर्गाः प्रवर्तंते दृष्टा ह्यात्मनि योगिनः । ये तांस्ते संप्रवक्ष्यामि समासेन निबोध मे ॥ काम्याः क्रियास्तथा कामान्मनुष्यो योऽभिवांछति । स्त्रियो दानफलं विद्यां मायां कुप्यं धनं वसु ॥ देवत्वममरेशत्वं रसायनवयः क्रियाम् । मेरुं प्रयतनं यज्ञं जलाग्न्यावेशनं तथा ॥ श्राद्धानां शक्तिदानानां फलानि नियमास्तथा । तथोपवासात्पूर्वाच्च देवपित्रर्चनादपि ॥ आतीथिभ्यश्च कर्मभ्य उपसृष्टोऽभिवांछति ॥ विघ्नमित्थं प्रवर्तंत यत्नाद्योगी निवर्तयेत्॥ ब्रह्मासंगि मनः कुर्वन्नुपसर्गैः प्रमुच्यते ॥' इति । पद्मपुराणे—'यदैभिरंतरायैर्न क्षिप्यतेऽस्य हि मानसम् । तदाग्रे तमवाप्नोति परं ब्रह्मातिदुर्लभम् । योगभास्करे—'सात्त्विकीं धृतिमालंब्य योगी सत्त्वेन सुस्थिरः । निर्गुणं मनसा ध्यायन्नुपर्गैः प्रमुच्यते ॥ एवं योगमुपासीनः शक्रादिपदनिस्पृहः । सिद्ध्याद्वासना त्यागी जीवन्मुक्तो भवेन्मुनिः ॥ विस्तरस्य भिया नोक्ताः संति विघ्ना ह्यनेकशः । ध्यानेन विष्णुहरयोर्वारणीया हि योगिना' इति ॥ ११३ ॥

भाषार्थ—और समाधिसे युक्त योगी संपूर्णशस्त्रोंसे वध करनेके अयोग्य होता है और सब देहधारियोंको वश आदि करनेमें अशक्य है और वशीकरण, मारण, उच्चाटन हैं फल जिनके ऐसे मंत्र यंत्रोंसेभी वशमें करने अयोग्य है इसप्रकारके योगीको अनेकप्रका-

रके जो विघ्न होते हैं उनको दिखाते हैं-दत्तात्रेयने कहाहै कि, पहिला विघ्न आलस्य और दूसरा धूर्तोंकी सभा और तीसरा मंत्रसाधन और चौथा धातुवाद ये योगके ज्ञाताओंने विघ्न कहे हैं और मार्कंडेयपुराणमें ये विघ्न कहे हैं कि, योगीकी आत्मामें देखनेसे जो विघ्न होते हैं उनको मैं तेरे प्रति संक्षेपसे कहताहूँ तू उनको सुन-कामनाकेलिये कर्म और कामनाओंकी जो मनुष्य वांछा करता है स्त्री, दानका फल, विद्या, माया, गुप्त और प्रकट धन, देव और इन्द्र होना और रसायनरूप देहकी क्रिया, मेरु, यत्न, यज्ञ, जल और अग्निमें प्रवेश, श्राद्ध और शक्तिसे दान, फल और नियम और उपवास वापीकूपतडागादि पूर्त, देव और पितरोंका पूजन, अतिथि और कर्म इनसे युक्त हुआ योगी जो कुछ वांछा करता है उसके योगमें विघ्न प्रवृत्त हो जाता है इससे योगी यत्नोंसे विघ्नको निवृत्त करै, ब्रह्ममें आसक्त मनको करताहुआ योगी विघ्नोंसे छूटता है और पद्मपुराणमें लिखा है कि, जब इन विघ्नोंसे जिस योगीके मनमें विक्षेप न हो वह अति दुर्लभ उस परब्रह्मको प्राप्त होताहै योगभास्करमें लिखा है कि, सात्त्विकी धीरताको करके सद्‍गुरुसे भलीप्रकार स्थिर और मनसे निर्गुणका ध्यान करता हुआ योगी विघ्नोंसे अवश्य छूटताहै इसप्रकार योगका उपासक और इन्द्र आदिके पदकी इच्छासे रहित और सिद्धि आदिकोंकी वासनाका त्यागी मुनि जीवन्मुक्त होता है. विघ्न अनेक प्रकारके हैं परन्तु विस्तारके भयसे यहां नहीं कहे हैं और वे सब विघ्न विष्णु और शिवजीके ध्यानसे योगियोंको निवारण करने योग्य हैं ११३॥

यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो मध्यमार्गे
यावद्बिंदुर्न भवति दृढप्राणवातप्रबंधात् ॥
यावद्ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं ॥
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दंभमिथ्याप्रलापः ॥ ११४॥

इति श्रीसहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्मारामयोगींद्रविरचितायां हठयोगप्रदीपिकायां समाधिलक्षणं नाम चतुर्थोपदेशः ॥ ४ ॥

इति हठयोगप्रदीपिका समाप्ता ॥

अयोगिनां ज्ञानं निराकुर्वन्योगिनामेव ज्ञानं भवतीत्याह-यावदिति ॥ मध्यमार्गे सुषुम्नायां चरन्गच्छन् मारुतःप्राणवायुःयावत् यावत्कालपर्यंतं न प्रविशति प्रकर्षेण ब्रह्मरंध्रपर्यंत न विशति ब्रह्मरंध्रं गतस्य स्थैर्याद्ब्रह्मरंध्रं गत्वा न स्थिरो भवतीत्यर्थः। सुषुम्नायामसंचरन् वायुरसिद्ध इत्युच्यते । तदुक्तममृतसिद्धौ-'यावद्धि मार्गतो वायुर्निश्चलो नैव मध्यगः । असिद्धं

तं विजानीयाद्वायुं कर्मवशानुगम् ॥ ' इति । प्राणयति जीवयतीति प्राणः स चासौ वातश्च प्राणवातःतस्य प्रबंधात्कुंभकेन स्थिरीकरणाद्विंदुर्यावद्‌दृढः स्थिरो न भवति प्राणवातस्थैर्ये बिंदुस्थैर्यमुक्तमत्रैव प्राक् । मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिंदुः स्थिरो भवेत् ।' इति । तदभावे त्वसिद्धत्वं योगिनः । उक्तममृतसिद्धौ–'तावद्बद्धोऽप्यसिद्धोऽसौ नरः सांसारिको मतः । यावद्भवति देहस्थो रसेंद्रो ब्रह्मरूपकः ॥ असिद्धं तं विजानीयान्नरमब्रह्मचारिणम् । जरामरणसंकीर्णं सर्वक्लेशसमाश्रयम् ॥' इति । यावत्तत्त्वं चित्तं ध्याने ध्येयं चित्तं न सहजसदृशं स्वाभाविकध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो नैव जायते नैव भवति प्राणवातप्रबंधादिति देहलीदीपकन्यायेनात्रापि संबध्यते । वायुस्थैर्ये चित्तस्थैर्यमुक्तममृतसिद्धौ–'यदासौ ध्रियते वायुर्मध्यमार्गे मध्ययोगतः । तदा बिंदुश्च चित्तं च ध्रियते वायुना सह ॥' तदभावेऽप्यसिद्धत्वमुक्तममृतसिद्धौ–'यावत्प्रस्यंदते चित्तं बाह्याभ्यंतरवस्तुषु । असिद्धं तद्विजानीयाच्चित्तं कर्मगुणान्वितम् ॥'इति । तावद्यज्ज्ञानं शाब्दं वदति कश्चित् तदिदं ज्ञानं कथं दंभमिथ्याप्रलापःदंभेन ज्ञानकथनेनाहं लोके पूज्यो भविष्यामीति धिया मिथ्याप्रलापो मिथ्याभाषणं दंभपूर्वकं मिथ्याभाषणमित्यर्थः । प्राणबिंदुचित्तानां जयाभावे ज्ञानस्याभावात्संसृतिर्दुर्वारा । तदुक्तममृतसिद्धौ-'चलत्येष यदा वायुस्तदा बिंदुश्चलःस्मृतः । बिंदुश्चलति यस्यांगे चित्तं तस्यैव चंचलम्॥चले बिंदौ चले चित्ते चले वायौ च सर्वदा ॥ जायते म्रियते लोकः सत्यं सत्यमिदं वचः ॥' इति । योगबीजेऽप्युक्तम्–'चित्तं प्रनष्टं यदि भासते वै तत्र प्रतीतो मरुतोऽपि नाशः । न वा यदि स्यान्न तु तस्य शास्त्रं नात्मप्रतीतिर्न गुरुर्न मोक्षः॥'इति।एतेन प्राणबिंदुमनसां जये तु ज्ञानद्वारा योगिनो मुक्तिःस्यादेवेति सूचितम् । तदुक्तममृतसिद्धौ–'यामवस्थां व्रजेद्वायुर्बिंदुस्तामधिगच्छति । यथाहि साध्यते वायुस्तथा बिंदुप्रसाधनम् ॥ मूर्च्छितो हरति व्याधिं बद्धः खेचरतां नयेत् । सर्वसिद्धिकरो लीनो । निश्चलो मुक्तिदायकः ॥ यथावस्था भवेद्बिंदोश्चित्तावस्था तथा तथा ॥' ननु–'योगास्त्रयो मया प्रोक्ताः नृणां श्रेयोविधित्सया । ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित ॥' इति भगवदुक्तास्त्रयो

मोक्षोपायांतरेषु सत्सु कथं योग एव मोक्षोपायत्वेनोक्त इति चेन्न । तेषां योगांगेष्वंतर्भावात् । तथाहि-'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः' इति श्रुत्या परमपुरुषार्थसाधनात्मसाक्षात्कारहेतुतया श्रवणमनननिदिध्यासनान्युक्तानि तत्र श्रवणमनने नियमांतर्गते स्वाध्यायेऽतर्भवतः । स्वाध्यायश्च मोक्षशास्त्राणामध्ययनम् । स च तात्पर्यार्थनिश्चयपर्यवसायी ग्राह्यः । तात्पर्यार्थनिर्णयश्च श्रवणमननाभ्यां भवतीति श्रवणमननयोः स्वाध्यायेऽतर्भावः । नियमविवरणे याज्ञवल्क्येन-'सिद्धांतश्रवणं प्रोक्तं वेदांतश्रवणं बुधैः' इति स्पष्टमेव श्रवणस्य नियमांतर्गतिरुक्ता-'अधीतवेदं सूत्रं वा पुराणं सेतिहासकम् । पदेष्वध्ययनं यश्च सदाभ्यासो जपः स्मृतः ॥' इति युक्तिभिरनवरतमनुचिंतनलक्षणस्य सदाभ्यासरूपस्य मननस्यापि नियमांतर्गतिरुक्ता । विजातीयप्रत्ययनिरोधपूर्वकसजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपस्य निदिध्यासनस्य उक्तलक्षणे ध्यानेऽतर्भावः । तस्यापि तत्परिपाकरूपसमाधिनात्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षहेतुत्वमीश्वरार्पणबुद्ध्या निष्कामकर्मानुष्ठानलक्षणस्य कर्मयोगस्य 'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' इति पतंजलिप्रोक्ते नियमांतर्गते क्रियायोगेऽतर्भावः तत्र तप उक्तमीश्वरगीतायाम्-'उपवासपराकादिकृच्छ्रचांद्रायणादिभिः । शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम् ॥' इति । स्वाध्यायोऽपि तत्रोक्तः-'वेदांतशतरुद्रीयप्रणवादिजपं बुधाः । सत्त्वशुद्धिकरं पुंसां स्वाध्यायं परिचक्षते ।' इति ॥ ईश्वरप्रणिधानं च तत्रोक्तम्-'स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाङ्मनःकायकर्मभिः । सुनिश्चला भवेद्भक्तिरेतदीश्वरपूजनम् ॥' इति । क्रियायोगश्च परंपरया समाधिनात्मसाक्षात्कारद्वारैव मोक्षहेतुरिति समाधिभावनार्थः । क्लेशतनूकरणार्थश्चेत्युत्तरसूत्रेण स्पष्टीकृतं पतंजलिना । भज्यते सेव्यते भगवदाकारमंतःकरणं क्रियतेऽनयेति भक्तिरिति करणव्युत्पत्त्या 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् अर्चनं । वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ इति ॥ नवधोक्ता साधनभक्तिरभिधीयते । तस्या ईश्वरप्रणिधानरूपे नियमेऽतर्भावः । तस्याश्च समाधिहेतुत्वं चोक्तं पतंजलिना-'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इति । ईश्वरविषयकात्प्रणिधानाद्भक्तिविशेषात्समाधिलाभः समाधिफलं भवतीति सूत्रार्थः । भजनमंतःकरणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिरिति भावव्युत्पत्त्या फलभूता भक्तिरभिधीयते । सैव प्रेमभक्तिरित्युच्यते

तल्लक्षणमुक्तं नारायणतीर्थैः-'प्रेमभक्तियोगस्तु ईश्वरचरणारविंदविषय-कैकांतिकात्यंतिकप्रेमप्रवाहोऽविच्छिन्नः' इति । मधुसूदनसरस्वतीभिस्तु-'द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकारतारूपा सविकल्पकवृत्तिर्भक्तिः' इति । 'तस्यास्तु श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि' इति श्रुतेः । 'भक्त्या मामभिजानाति' इति स्मृतेश्च । आत्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षहेतुत्वम् । भक्तास्तु सुखस्यैव पुरुषार्थत्वाद्दुःखासंभिन्नानिरतिशयसुखदारारूपा प्रेमभक्तिरेव पुरुषार्थं इत्याहुः । तस्यास्तु संप्रज्ञातसमाधावंतर्भावः । एवं च अष्टांगयोगातिरिक्तं किमपि परमपुरुषार्थसाधनं नास्तीति सिद्धम् ॥ ११४ ॥

ग्राह्यमेव विदुषां हितं यतो भाषणं समयदर्श्यसंस्कृतम् ।
रक्ष गच्छति पयो न लेहितं ह्यंब इत्यभिहितं शिशोर्यथा ॥ १ ॥
सदर्थद्योतनकरी तमःस्तोमविनाशिनी ॥
ब्रह्मानंदेन ज्योत्स्नेयं शिवांघ्रियुगुलेऽर्पिता ॥ २ ॥

इति श्रीहठयोगप्रदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानंदकृतायां ज्योत्स्नाभिधायां समाधिनिरूपणं नाम चतुर्थोपदेशः ॥ ४ ॥

टीकाग्रंथसंख्या ॥ २४५० ॥

भाषार्थ-अब अयोगियोंको ज्ञानका निराकरण करतेहुए योगियोंकोही ज्ञानकी उत्पत्तिका वर्णन करते हैं कि, जबतक सुषुम्नाके मार्गमें बहताहुआ प्राणवायु ब्रह्मरंध्रमें प्रविष्ट होकर स्थिर नहीं होता, क्योंकि सुषुम्नामें नहीं बहते हुए प्राणवायुको असिद्ध कहतेहैं. सोई अमृतसिद्धिमें कहा कि, जबतक अपने मार्गसे वायु सुषुम्नामें प्राप्त होकर निश्चल न हो-कर्मवशके अनुयायी उस वायुको असिद्ध जानै और जीवनका आधाररूप जो प्राण उसके दृढबंधन अर्थात् कुम्भकसे दृढ करनेसे जबतक बिंदु (वीर्य) स्थिर नहीं होताहै और प्राणवायुकी स्थिरतासे बिंदुकी स्थिरता इसी ग्रंथमें कह आये हैं कि, मनकी स्थिरतासे वायु और वायुकी स्थिरतासे बिंदुकी स्थिरता होतीहै वह न होय तो योगी असिद्ध होताहै सोई अमृतसिद्धिमें कहा है कि, तबतक बुद्ध और असिद्ध यह सांसारिक जन मानाहै इतने रसेंद्र जो ब्रह्मरूप है वह देहमें स्थित हो अर्थात् अपने स्थानसे पतित होकर देहमें आजाय और ब्रह्मचर्यसे हीन उस मनुष्यको असिद्ध जानै और जरामरणसे युक्त और संपूर्ण क्लेशोंका आश्रय होताहै और जबतक चित्तरूप तत्त्व-ध्यानमें ध्येय चित्त नहीं होताहै अर्थात् स्वाभाविक ध्येयाकार जो वृत्तियोंका प्रवाह उससे सहज सदृश प्राणके बंधनसे नहीं होताहै और वायुकी स्थिरतासे चित्तकी स्थिरता अमृतसिद्धिमें कही है कि, जब यह वायु सुषुम्नाके योगसे प्रविष्ट होजाताहै तब बिंदु और चित्त ये दोनों वायुके संग होकर मरजाते हैं और इसके अभावमें असिद्धताभी

अमृतसिद्धिमें कही है कि, इतने बाह्य और भीतरकी वस्तुमें चित्तका स्पंदन (चेष्टा) होताहै, कर्मके गुणोंसे युक्त उस चित्तको असिद्ध जानै तबतक सो यह ज्ञान दंभमिथ्या-प्रलाप होताहै अर्थात् मैं जगत्में पूज्य हूंगा इसप्रकार दंभपूर्वक ज्ञानके कथनसे बुद्धिसे मिथ्याभाषणही होताहै क्योंकि प्राण, बिन्दु, चित्त इनके जयके अभावसे ज्ञानका अभाव होताहै और उससे जन्ममरणरूप संसारकी निवृत्ति नहीं होसकती है सोई अमृतसिद्धिमें कहा है कि, जब यह प्राणवायु चलता है तब बिंदुभी चल कहा है और जिसके अन्नमें बिंदु चंचल है उसका चित्तभी चंचल होता है और बिंदु, चित्त, वायु इन तीनोंके चंचल होनेपर संपूर्ण जगत् उत्पन्न होता है और मरता है, यह वचन सत्य है योगबीजमेंभी कहा है कि, यदि चित्त नष्ट हुआ भासै तो वहां वायुकाभी नाश प्रतीत होता है यदि चित्त वायुका नाश न होय तो उसको शास्त्रका ज्ञान और आत्माकी प्रतीति और गुरु और मोक्ष ये नहीं होते हैं-इससे यह सूचित किया कि-प्राण, बिंदु, मन इन तीनोंके जयमें ज्ञानके द्वारा योगीकी मुक्ति होही जाती है-सोई अमृतसिद्धिमें कहा है कि, जिस अवस्थाको वायु प्राप्त होता है उसी अवस्थाको बिंदुभी प्राप्त होजाता है और जिसप्रकार वायु साध्य किया जाता है उसी प्रकारसे बिंदु साध्य किया जाता है और मूर्च्छित हुआ वायु व्याधि-योंको हरता है और बंधन किया वायु आकाशगतिको देता है और लयको प्राप्त हुआ निश्चल वायु संपूर्ण सिद्धियोंको करता है और मुक्तिको देता है और जैसी जैसी अवस्था बिंदुकी होती है तैसी२ही अवस्था चित्तकी होती है-कदाचित् कोई शंका करे कि, मनुष्योंके कल्याण करनेकी इच्छासे ज्ञान कर्म भक्ति ये तीन योग मैने कहे हैं अन्य कोई उपाय किसी शास्त्रमें भी नहीं है इस भगवान्के वाक्यसे तीन मोक्षके उपाय हैं तो योगही मोक्षका उपाय कैसे कहा ? सो ठीक नहीं,क्योंकि उनका योगके अंगोंमें अंतर्भाव है-सोई दिखाते हैं कि,आत्मा देखने, सुनने, मानने, निदिध्यासन करने योग्य है। इस श्रुतिसे परम पुरुषार्थका साधन जो आत्माका साक्षात्कार है उसके हेतु श्रवण, मनन, निदिध्यासन कहे हैं, उन तीनोंमें श्रवण मनन ये दोनों नियमके अंतर्गत होनेसे स्वाध्याय (पठन) में अंतर्गत होते हैं और मोक्षशास्त्रके अध्यनको स्वाध्याय कहते हैं और वह अध्ययनभी तात्पर्यार्थके निश्चयपर्यंत लेना वह तात्पर्यार्थके निर्णयका श्रवण मननसे होता है इससे श्रवण मननका स्वाध्यायमें अंतर्भाव है-और नियमोंके विवरमें याज्ञवल्क्यने कहा है कि, बुद्धिमान् मनुष्योंने वेदां-तका श्रवण सिद्धांतश्रवण कहा है इससे स्पष्टही श्रवणका नियममें अंतर्भाव कहा है-और जिसने वेद पढा हो, सूत्र वा पुराण वा इतिहास पढे हों इनके अध्ययन और उत्तम अभ्यासको जप कहते हैं इस युक्तिसे निरंतर अनुचिंतन है लक्षण जिसका ऐसा जो उत्तम अभ्यास रूप मनन है उसकाभी नियममें अन्तर्भाव कहाहै--और विजातीय प्रती-तिके निरोधपूर्वक सजातीय प्रत्ययका प्रवाहरूप जो निदिध्यासन है उसकाभी पूर्वोक्त यानमें अन्तर्भाव है. क्योंकि वहभी तिसके परिपाकरूप समाधिसे आत्मसाक्षात्कारके द्वारा मोक्षका हेतु है-और ईश्वरार्पण बुद्धिसे निष्काम कर्मका अनुष्ठानरूप जो कर्मयोग है उसका नियमके अंतर्गत इस पतंजलिके कहेहुए क्रियायोगमें अंतर्भाव है कि, तप, स्वाध्याय, ईश्वरका प्रणिधान (स्मरण) इनको क्रियायोग कहते हैं और वे तीनों ईश्वर-

गीतामें इन वचनोंसे कहे हैं कि, उपवास पराक और कृच्छ्रचांद्रायण आदि व्रत इनसे जो शरीरका शोषण वही तपस्वियोंने उत्तम तप कहा है और मनुष्योंके अंतःकरणकी शुद्धिका कर्ता जो वेदान्त, शतरुद्रीय प्रणव आदिका जप है वही बुद्धिमान् मनुष्योंने स्वाध्याय कहा है और स्तुति, स्मरण, पूजा इनसे और वाणी मन काया कर्म इनसे जो भलीप्रकार निश्चल भक्ति वही ईश्वरपूजन कहाता है और क्रियायोग परंपरासे समाधिसे आत्म-साक्षात्कारके द्वाराही मोक्षका हेतु होनेसे समाधिकी भावनाकेलिये और क्लेशोंको दूर करनेकेलिये है. यह बात उत्तरसूत्रसे पतंजलिने स्पष्ट की है जिससे अंतःकरण भगवान्‌के आकार होजाय उसे भक्ति कहते हैं, इसकारण व्युत्पत्तिसे वह नौ ९ प्रकारकी साधनभक्ति कही वह इस श्लोकमें वर्णन की है कि विष्णुका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दासता, मित्रता और आत्माका निवेदन, यह नौ प्रकारकी भक्ति होती है और उस भक्तिका ईश्वरके प्रणिधानरूप नीयममें अंतर्भाव है और उस भक्तिकी हेतुता समाधिमें पतंजलिने इस सूत्रसे कही है कि, ईश्वरविषयक जो भक्तिविशेषरूपप्रणिधान उससे समाधिका लाभ (फल) होता है और अंतःकरणा भगवदाकारतारूप जो भजन उसे भक्ति कहते हैं. इस भावव्युत्पत्तिसे तो फलभूत भक्ति कही है उसकोही प्रेमभक्ति कहते हैं उसका लक्षण नारायणतीर्थोंने यह कहाहै कि, ईश्वरके चरणारविंदमें जो एकाग्र-तासे निरवच्छिन्न अत्यंत प्रेमका प्रवाह उसको प्रेमभक्ति कहते हैं और मधुसूदनसरस्वति-योंने तो भक्तिका यह लक्षण कहा है कि, द्रव होकर मनकी जो भगवदाकाररूप सविक-ल्पवृत्ति उसको भक्ति कहते हैं वह भी आत्मासाक्षात्कारके द्वारा मोक्षका हेतु है क्योंकि इन श्रुति और स्मृतियोंमें यह लिखा है कि--श्रद्धा, भक्ति, ध्यान, योगसे आत्माको जानो और भक्तिसे मुझे जानता है और भक्त तो यह कहते हैं, कि, सुखही पुरुषार्थ है इससे दुःखसे असंभिन्न जो सर्वोत्तम सुखरूप प्रेमभक्ति है वही पुरुषार्थ है उस भक्तिका संप्रज्ञात समाधिमें अन्तर्भाव है—इससे यह सिद्ध भया कि, अष्टांगयोगसे भिन्न परम पुरुषार्थका कोईभी साधन नहीं है भावार्थ यह है कि, इतने गमन करते हुए प्राणवायु सुषुम्नाके मार्गमें प्रविष्ट न हों, और प्राणवायुके दृढबन्धनसे इतने विंदु स्थिर न हों और इतने चित्त ध्यानके विषय ध्येयकी तुल्य न हों तबतक ज्ञान दंभसे मिथ्याप्रलापरूप होता है ११४

इति श्रीस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां श्रीयुतपण्डित--रामरत्नाङ्गजलाँखग्रामनिवासिपण्डित–मिहिरचंद्रकृतभाषाविवृत्तिसहितायां समाधिलक्षणं नाम चतुर्थोपदेशः समाप्तिमगात् ॥ श्रीरस्तु ॥

पुस्तक मिलनेका पता–खेमराज श्रीकृष्णदास,
"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम्–प्रेस बंबई.

हठयोगप्रदीपिका ।

संस्कृतटीका और भाषाटीकासे सहित ।

॥ श्रीः ॥

हठयोगप्रदीपिका ।

सा च

सहजानन्दसंतानचिन्तामणिस्वात्माराम-
योगीन्द्रविरचिता

ब्रह्मानन्दकृतज्योत्स्नाभिधया टीकया समलंकृता

दाधीचकुलोत्पन्नेन स्ववासिना श्रीधरेण कृतया

मनोभिलाषिण्या भाषाव्याख्ययोपेता च ।

मुम्बईनगरे

प्रबोधरत्नाकरसमाख्ये मुद्रणयन्त्रालये

मुनि ७ वसुधा १ पुराण १८ प्रमिते शालीवाहनशके १८१७

परलोकनिवासिनो जटाशंकरात्मजश्रीधरस्य धर्मपत्न्या

ताराबाई संज्ञया

मुद्रयित्वा प्रकाशिता ।

तृतीयं संस्करणम् ।

मूल्यं रूप्यकद्वयम् २

विज्ञापन.

यह ग्रंथ निचें लिखे पत्ते पर नगद दाँम देनेंसें मिलेगा.

मुंबईमें.

भुलेश्वरचकला अनंतवाडी गल्लीके सांमनें "**यदुवंशीय पुस्तकालय**" मे. रामवाडीके पास पंडित **ज्येष्ठारामसुकुंदजी** तथा **हरिप्रसादभगीरथजी**की दुकानमे. कालिकादेवीरस्तेपर, **रामदासकाशीदास** मोदीकी कंपनीकी दुकानमे. मिलेगा.

॥ श्री ॥

भारतमार्तंड श्रीमद्वेदान्तभट्टाचार्यप्रसिद्धपंडितशिरोमणि श्रीगट्टूलालजीकी तरफसूं प्रसिद्ध किये भये ग्रंथ विक्रयार्थ सिद्ध हैं.

			कि. रु.	आ.	ट. आ.	पै.
१	वेदांतचिंतामणि.	संस्कृत	०	८	१	०
२	श्रीवल्लभस्तुतिरत्नावलीपर टीका	,,	१	०	१	६
३	सत्सिद्धांतमार्तंड	,,	५	०	६	०
४	मारुतशक्ति (सहस्राक्षका खंडन)	,,	५	०	८	०
५	गुजराती नवाख्याननी श्रीजीवनजी महाराजकृत टीकापर टीप्पण.	गुजराती	३	०	६	०
६	वैष्णव व्रतोत्सवकी टीप (वार्षिक)	,,	०	१	०	६
७	भुकुंडचरित्र	,,	०	२	०	६
८	सुमनोबिनोद [गद्यपद्यात्मकविषयो]	,,	१	०	२	०
९	हृदयदूतसार [ग्रंथकारनाचरित्रसहित]	,,	०	३	०	६
१०	नीतिनिदर्शन.	,,	०	४	०	६
११	श्रीमद्भगवद्गीता समश्लोकी [न्यासध्यानसहित]		१	०	२	०
१२	कामंदकीनीतिसार [सार्थ तथा सटीक सर्ग १ लो]	,,	०	५	०	६
१३	वैराग्यशतक अप्पयदीक्षितकृत. भाषांतर	,,	०	४	०	६
१४	कच्छमहोदय, भाषांतर	,,	०	४	०	६
१५	बृहत्कथासार लंबक पेहेलो कथापीठ	,,	२	४	२	०
१६	दशावतारस्तोत्र	,,	०	४	०	६
१७	रसिकवल्लभ दयारामकृत	,,	०	१०	१	०
१८	प्रहलादाख्यान भाणदासकृत	,,	०	१०	१	०
१९	आर्यसमुदय प्रथमस्तबक	,,	५	०	८	०

उपर लिखे भये ग्रंथ मुंबई भुलेश्वरचकला अनंतवाडी गल्लीके सामने हमारे "यदुवंशिय पुस्तकालय" में या कालिकादेवीरस्तेपर "रामदास काशीदास मोदीकी कंपनी" की दुकानमे नगद दाम देनेसे मिलसकेंगे. वेल्यु पेबल रु. १० तक आने २ जादें पडेगे.

गोवर्धनदास लक्ष्मीदास,
अप्रसिद्ध और प्राचीन ग्रंथप्रकाशक—मुंबई.

प्रस्तावना.

योगविषयमैं हठप्रदीपिका अतिसुंदर है. स्वात्माराम योगींद्रनें या समयके मनुष्यनकूं सुबोधके लियैं जो शिवजीनैं पार्वतीजीकूं हठविद्याको उपदेश कियो ये प्रसंग महा-काल योगशास्त्रमैं वर्णन किया है और परम महान् ब्रह्माजीनैंबी ये हठविद्या सेवन करी है. जिस ऊपर योगीयाज्ञवल्क्यस्मृती है "हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः" और श्रीकृष्णनैं अर्जुनकूं गीताजीमैं योग कह्यो है और श्रीमद्भागवतमैं उद्धवजीकूं कह्यो है और शिवजी तो योगी प्रशिद्ध हैं या प्रकार सर्वोत्तम ब्रह्मा विष्णु शिव इनन्नें ये विद्या सेवन करी है यातैं या विद्याकूं नारदादिक और श्रीशुकादिक और याज्ञवल्क्या-दिक ज्ञानीनमैं मुख्य इनन्नें सेवन करी है और शिवजीसूं मत्स्येंद्रनाथनैं योग श्रवण कियो. मत्स्येंद्रनाथ और गोरक्षनाथ ये दोनों हठविद्याके जानवेवाले हुये और गोरक्ष-नाथकी कृपासूं स्वात्माराम योगींद्र हठविद्या प्राप्त हुये. जा स्वात्मारामनैं मुमुक्षू जननकें हितके लियें हठप्रदीपिकानामक योगका ग्रंथ किया है. जिसमैं उपदेश ४ च्यार हैं तिनमैं प्रथम उपदेशमैं यमनियमसहित आसनप्रकर्ण कह्यो है हठको प्रथमांग आसन है यातैं प्रथम आसन कहै और ये आसन देहको और मनको चाञ्चल्यरूप जो रजोधर्म ताकूं नाशकरकें स्थिरता करें हें यातें प्रथम आसन कहे.

दूसरें उपदेशमैं प्राणायामको प्रकर्ण कह्यो हे और प्राणायामके करनेसूं मलशुद्धी होय हे और मलशुद्धी हुयेसूं हठसिद्धी होय हे और प्राणायामसूं वायु स्थिर होय हे और वायुके स्थिर होयवेसूं चित्त स्थिर होय है और वायु और चित्त इन दोनोनके स्थिर होयवेसूं योगी दीर्घजीवी होय और ईशताकूंबी प्राप्त होय है और मनकी स्थिरता-सूं सर्व सिद्धी होय हैं यातें प्राणायामविधान कह्यो.

और तृतीय उपदेशमैं महामुद्रादिक दशमुद्रा कही हैं. मुद्रानके उपदेशकर्त्ता गुरू-नके वाक्यमैं तत्पर रहै और आसन कुंभकादिकनकूं करै और आहार विहार चेष्टादिक विषयनमैं तत्पर रहै और महामुद्रादिकनको अभ्यास वारंवार आवर्तन तामैं सावधान रहे तो अणिमादिक सिद्धीनकरकैं सहित मृत्युकूं बचाय जाय.

और चतुर्थ उपदेशमैं प्रत्याहारादिरूप समाधिक्रम कह्यो है. वो समाधिक्रम केसो है. बहोत उत्तम है और आदिनाथ शिवजीनें संपादन किये कोटिनसमाधिके प्रकार

तिनमें उत्कृष्ट है और कालकूं निवारण करवेवालो है और योगींकूं स्वेच्छापूर्वक देहत्याग करवेमें योग्य है और तत्त्वज्ञानके उदयकरकें वासनाको क्षयपूर्वक जीवन्मुक्तिसुखको उपाय है और प्रारब्धकर्मको क्षय करकैं जीव और ब्रह्मको अभेदकरकें आत्यंतिक ब्रह्मानंदप्राप्तिरूप मुक्तिको करवेवालो है एसो समाधिक्रम कह्यो है.

एसी ये हठप्रदीपिका योगमार्गके जानवेवारे लोगोंकूं बहोत योग्य है याके ऊपर ब्रह्मानंदकी करीहुई जोत्स्नाभिधा टीका संस्कृत है सो हठप्रदीपिका प्राचीन हे. हमनैं बडे श्रमसूं ये संपादन करी है सो ये हमनें लोगोंकूं उपयोगके तांई छपायी है कारण ये है के योगवर्णन श्रीमद्भागवतादिकनमैं किया है और योगका काम सब शास्त्रमैं पडता हैं और लोग योगकूं जानते नहीं हैं. कारण योगशास्त्र सहसा मिलते नहीं हे इस्सें योगमार्ग प्रवर्त नही हुया यातैं हमनैं लोगोंकूं ये उपयोग होनेकेवास्ते हठप्रदीपिका मूल और संस्कृत टीका और इसका भाषांतर टीका हमनैं बनायकरकें और खूब श्रमसूं शुद्ध करकै हमने छपाया है सो सब सज्जन पुरुषनकूं मेरे ऊपर कृपाकरकै इसकूं मान्य करवेमें आवे ॥

तृतीयावृत्तिकी भूमिका.

ईश्वर कृपासें इस ग्रंथकी दो आवृत्ति खप जानेंसें सज्जनोंनें मेरे पतीके श्रमका सार्थक किया उससैं मै उनका बडा आभार मानती हूं और यह लोकमान्य ग्रंथ सांप्रत दुष्प्राप्य होनेसें बहोत सज्जनोंने पुनरपि छपवाय सिद्ध करके मेरे परलोकवासी पतीके नामके साथ मेराभी नाम ग्रंथद्वारा अमर करनेका बडा आग्रह करनेंसें इस ग्रंथकी यह त्रतियात्रती छपवा प्रसिद्ध करी हे सो आप महाशयोनें जिसतरा पूर्व प्रकाशित इस ग्रंथकी दोनों आवृत्तिकों उत्तेजन दे हमकों कृतार्थ किया तद्वत् इस आवृत्तिकोभी उत्तेजन दे आप मुजे कृतार्थ करेंगे ऐशी पूर्ण आशा है.

इस तृतीयावृत्तिके छपानेका यत्न शेठ **ईश्वरदास त्रिभुवनदास** सट्टावाले तथा पं० **माधवजी रामप्रसादके** सहायतासें और फारम वगैरा तपासनेका शेठ **गोवर्धनदास लक्ष्मीदास** प्राचीन ग्रंथ प्रकाशकने श्रम लेनेंसें सिद्ध हुवा वास्ते में उनकी बडी उपकृत भइ हूं.

आपकी कृपाकांक्षिणी
परलोकवासी पं. श्रीधरजटाशंकरकी धर्मपत्नि
ताराबाई.

हठयोगप्रदीपिकानुक्रमणिका.

॥ अथ प्रथमोपदेशः ॥

इति प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥

॥ अथ द्वितीयोपदेशः ॥

॥ इति द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

॥ अथ तृतीयोपदेशः ॥

॥ श्रीः ॥

॥ हठयोगप्रदीपिका ॥

॥ टीकाभाषाभ्यां समेता ॥

प्रथमोपदेशः ।

मू० श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या॥
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ॥ १ ॥

॥ टीका ॥

श्रीगणेशाय नमः ॥ गुरुं नत्वा शिवं साक्षाद्ब्रह्मानंदेन तन्यते ॥ हठप्रदीपिकाज्योत्स्ना योगमार्गप्रकाशिका ॥ १ ॥ इदानींतनानां सुबोधार्थमस्याः सुविज्ञाय गोरक्षसिद्धांतहार्दम् । मया मेरुशास्त्रिप्रमुख्याभियोगात्स्फुटं कथ्यतेऽत्यंतगूढोऽपि भावः ॥ २ ॥ मुमुक्षुजनहितार्थं राजयोगद्वारा कैवल्यफलां हठप्रदीपिकां विधित्सुः परमकारुणिकः स्वात्मारामयोगींद्रस्तत्प्रत्यूहनिवृत्तये हठयोगप्रवर्तकश्रीमदादिनाथनमस्कारलक्षणं मंगलं तावदाचरति॥ श्रीआदिनाथायेत्यादिना ॥ तस्मै श्रीआदिनाथाय नमोऽस्त्वित्यन्वयः । आदिश्चासौ नाथश्च आदिनाथः सर्वेश्वरः शिव इत्यर्थः । श्रीमान् आदिनाथः तस्मै श्रीआदिनाथाय । श्रीशब्द आदिर्यस्य सः श्रीआदिः श्रीआदिश्चासौ नाथश्च श्रीआदिनाथः तस्मै श्रीआदिनाथाय । श्रीनाथाय विष्णव इति वार्थः । श्रीआदिनाथायेत्यत्र यणभावस्तु ' अपि माषं मषं कुर्याच्छंदोभंगं त्यजेद्गिराम् ' इति च्छंदोविदां संप्रदायादुच्चारणसौष्ठवाच्चेति बोध्यम् । वस्तुवस्तु असंहितपाठस्वीकारापेक्षया श्रीआदिनाथायेति पाठस्वीकारेऽप्रवृत्तनित्यविध्यु-

॥ भाषा ॥

श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीगुरुचरणकमलेभ्यो नमः ॥ मोक्षकी इच्छावालेनके हितके लिये राजयोगद्वारा मोक्षफल जामें ऐसी जो हठप्रदीपिका ताय कऱ्यो चाहे ऐसे जो परमकरुणावान् स्वात्माराम योगींद्र सो हठयोगप्रवर्तक श्रीमान् आदिनाथ शिवजीकूं नमस्कारपूर्वक मंगलाचरण करै है ॥ श्रीआदिनाथायेति ॥ श्रीआदिनाथ जो शिवजी तिनके अर्थ नमस्कार हो. अथवा श्री आदिमे जिनके ऐसे जो नाथ श्रीविष्णु तिनके अर्थ नमस्कार हो. जा शिवजीने हठयोगविद्या पार्वतीजीकूं कही. (ह) कहिये सूर्य (ठ) कहिये

सू० प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वात्मारामेण योगिना ॥
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ॥ २ ॥

॥ टीका ॥

द्देश्यतावच्छेदकानाक्रांतत्वेन परिनिष्ठितत्वसंभवात् संप्रत्युदाहृतदृष्टांतद्वयस्यापीदृग्विषयवैषम्यान्नित्यसाहित्यभंगजनितदोषस्य शाब्दिकाननुमतत्वाच्चासंमृष्टविधेयांशतारूपदोषस्य साहित्यकारैरुक्तत्वेऽपि क्वचित्तैरपि स्वीकृतत्वेन शाब्दिकाचार्यैरेकाजित्यादौ कर्मधारयस्वीकारेण सर्वथानादृतत्वाच्च लाघवातिशय इति सुधियो विभावयंतु । नमः प्रह्वीभावोऽस्तु । प्रार्थनायां लोट् । तस्मै कस्मै इत्यपेक्षायामाह ॥ येनेति ॥ येन आदिनाथेन उपदिष्टा गिरिजायै हठयोगविद्या हश्च ठश्च हठौ सूर्यचंद्रौ तयोर्योगो हठयोगः । एतेन हठशब्दवाच्ययोः सूर्यचंद्राख्ययोः प्राणापानयोरैक्यलक्षणः प्राणायामो हठयोग इति हठयोगस्य लक्षणं सिद्धं । तथा चोक्तं गोरक्षनाथेन सिद्धसिद्धांतपद्धतौ । हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चंद्र उच्यते । सूर्याचंद्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते ॥ इति । तत्प्रतिपादिका विद्या हठयोगविद्या हठयोगशास्त्रमिति यावत् । गिरिजायै आदिनाथकृतो हठविद्योपदेशो महाकालयोगशास्त्रादौ प्रसिद्धः । प्रकर्षेण उन्नतः प्रोन्नतः मंत्रयोगहठयोगादीनामधरभूमीनामुत्तरभूमित्वाद्राजयोगस्य प्रोन्नतत्वम् । राजयोगश्च सर्ववृत्तिनिरोधलक्षणोऽसंप्रज्ञातयोगः । तमिच्छोर्मुमुक्षोरधिरोहिणीव अधिरुह्यतेऽनयेत्यधिरोहिणी निःश्रेणीव विभ्राजते विशेषेण भ्राजते शोभते । यथा प्रोन्नतसौधमारोढुमिच्छोरधिरोहिण्यनायासेन सौधप्रापिका भवति एवं हठदीपिकापि प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरनायासेन राजयोगप्रापिका भवतीति । उपमालंकारः । इंद्रवज्राख्यं वृत्तम् ॥ १ ॥

एवं परमगुरुनमस्कारलक्षणं मंगलं कृत्वा विघ्नबाहुल्ये मंगलबाहुल्यस्याप्यपे-

॥ भाषा ॥

चंद्रमा जो प्राण ओर अपान इन दोनोंनकूं ऐक्य करवेवालो प्राणायाम ताकूं हठयोग कहे हे. हठयोगकूं प्रतिपादन करे सो हठयोगविद्या. ये विद्या प्रकर्षकरके उन्नत जो राजयोग सो मंत्रयोग हठयोगकूं आदिले अठारे योग हैं वे अधरभूमी हे. उनके ऊंची भूमी राजयोग हे राजयोग समाधीकूं कहे हे. ये सबके ऊपर हे यापें चढवेकूं इच्छाकरें जो मुमुक्षु तिनकूं ये हठविद्या प्रकाशे हे. केसी जेसें ऊंचे स्थानपे चढवेवारेकूं निसेनी कहा काष्ठकी चढवेकी ऐसें ये हठप्रदीपिका प्रकाशे हे. ॥ १ ॥

अब अपने गुरुकूं नमस्काररूप मंगलाचरण कर ग्रंथके विषय प्रयोजनादिक दिखा-

मू० भ्रांत्या बहुमतध्वांते राजयोगमजानताम् ॥

॥ टीका ॥

क्षितत्वात्स्वगुरुनमस्कारात्मकं मंगलमाचरन्नस्य ग्रंथस्य विषयप्रयोजनादीन्प्रदर्शयति । प्रणम्येति । श्रीमंतं गुरुं श्रीगुरुं नाथं श्रीगुरुनाथं स्वगुरुमिति यावत् । प्रणम्य प्रकर्षेण भक्तिपूर्वकं नत्वा स्वात्मारामेण योगिना योगोऽस्यास्तीति तेन । केवलं राजयोगाय केवलं राजयोगार्थं हठविद्योपदिश्यत इत्यन्वयः । हठविद्याया राजयोग एव मुख्यं फलं न सिद्धय इति केवलपदस्याभिप्रायः । सिद्धयस्त्वानुषंगिक्यः । एतेन राजयोगफलसहितो हठयोगोऽस्य ग्रंथस्य विषयः । राजयोगद्वारा कैवल्यं चास्य फलं । तत्कामश्चाधिकारी । ग्रंथविषययोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः संबंधः । ग्रंथस्य कैवल्यस्य च प्रयोज्यप्रयोजकभावः संबंधः । ग्रंथाभिधेयस्य सफलयोगस्य कैवल्यस्य च साध्यसाधनभावः संबंध इत्युक्तम् ॥ २ ॥

ननु मंत्रयोगसगुणध्याननिर्गुणध्यानमुद्रादिभिरेव राजयोगसिद्धौ किं हठविद्योपदेशेनेत्याशंक्य व्युत्थितचित्तानां मंत्रयोगादिभी राजयोगासिद्धेर्हठयोगादेव राजयोगसिद्धिं वदन् ग्रंथं प्रतिजानीते ॥ भ्रांत्येति ॥ मंत्रयोगादिबहुमतरूपे ध्वांते गाढांधकारे या भ्रांतिर्भ्रमस्तया । तैस्तैरुपायै राजयोगार्थं प्रवृत्तस्य तत्रतत्र तदलाभात् । वक्ष्यति च 'विना राजयोग' इत्यादिना । तथा राजयोगं अजानतां न जानंतीत्यजानंतः तेषां अजानतां पुंसां राजयोगज्ञानमिति शेषः । करोतीति करः कृपायाः करः कृपाकरः । कृपाया आकर इति वा । तादृशः । अनेन हठप्रदीपिकाकरणे अज्ञानुकंपैव हेतुरित्युक्तम् । स्वात्मन्यारमते इति स्वात्मारामः हठस्य हठयोगस्य प्रदीपिके प्रकाशकत्वात् हठप्रदीपिका ताम् । अथवा हठ एव प्रदीपिका राजयोगप्रकाशकत्वात् । तां धत्ते विधत्ते करोतीति यावत् । स्वात्माराम इत्यनेन ज्ञानस्य सप्तमभूमिकां प्राप्तो

॥ भाषा ॥

बेहे ॥ प्रणम्येति ॥ अपने श्रीमान् गुरुनाथ ताय नमस्कार करकें योगी स्वात्माराम करकें केवल राजयोगके अर्थ हठविद्या कहीजाय हे राजयोग फलसहित हठयोग या ग्रंथको विषय हे । राजयोगद्वारा कैवल्य याको फल हे । याकी कामना करे सोई अधिकारी । ओर ग्रंथ विषय इनको प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव है सो संबंध है ॥ २ ॥

मंत्रयोग सगुणध्यान निर्गुणध्यान मुद्रादिकनकरकें राजयोगसिद्धि होय जाय, फिर हठविद्याके उपदेशकरकें कहा प्रयोजन के मंत्रयोगादिकनकरकें राजयोग नही सिद्ध होय हे हठयोगसेंही राजयोगसिद्धि हे ये कहे हे ॥ भ्रांत्येति ॥ मंत्रयोगादिक बहुमतरूप

हठप्रदीपिकां धत्ते स्वात्मारामः कृपाकरः ॥ ३ ॥

॥ टीका ॥

ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युक्तं । तथा च श्रुतिः । 'आत्मक्रीडा आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' इति । सप्त भूमयश्चोक्ता योगवासिष्ठे। 'ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता । विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनुमानसा ॥ सत्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका । परार्थाभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥' इति। अस्यार्थः । शुभेच्छा इत्याख्या यस्याः सा शुभेच्छाख्या । विवेकवैराग्ययुता शमादिपूर्विका तीव्रमुमुक्षा प्रथमा ज्ञानस्य भूमिः भूमिका उदाहृता कथिता योगिभिरिति शेषः । १ । विचारणा श्रवणमननात्मिका द्वितीया ज्ञानभूमिः स्यात् ।२। अनेकार्थग्राहकं मनो यदाऽनेकार्थान्परित्यज्य सदेकार्थवृत्तिप्रवाहवद्भवति तदा तनुमानसे यस्यां सा तनुमानसा निदिध्यासनरूपा तृतीया ज्ञानभूमिः स्यादिति शेषः। ३ । इमास्तिस्रः साधनभूमिकाः । आसु भूमिषु साधक इत्युच्यते। तिसृभिर्भूमिकाभिकाभिः शुद्धसत्वेंऽतःकरणेऽहं ब्रह्माऽस्मीत्याकारिकाऽपरोक्षवृत्तिरूपा सत्वापत्तिनामिका चतुर्थी ज्ञानभूमिः स्यात् । चतुर्थीयं फलभूमिः । अस्यां योगी ब्रह्मविदित्युच्यते । इयं संप्रज्ञातयोगभूमिका । ४ । वक्ष्यमाणास्तिस्रोऽसंप्रज्ञातयोगभूमयः । सत्वापत्तेरनंतरा सत्वापत्तिसंज्ञिकायां भूमावुपस्थितासु सिद्धिषु असंसक्तस्यासंसक्तिनामिका पंचमी ज्ञानभूमिःस्यात्। अस्यां योगी स्वयमेव व्युत्तिष्ठते। एतां भूमिं प्राप्तो ब्रह्मविद्वर इत्युच्यते।५। परब्रह्मातिरिक्तमर्थं न भावयति यस्यां सा परार्थाभाविनी षष्ठी ज्ञानभूमिः स्यात् । अस्यां योगी परप्रबोधित एव व्युत्थितो भवति । एतां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरीयानित्युच्यते । ६ । तुर्यगा नाम सप्तमी भूमिः स्मृता । अस्यां योगी स्वतः परतो वा न व्युत्थानं प्राप्नोति । एतां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युच्यते । तत्र प्रमाणभूता श्रुतिरत्रैवोक्ता । 'पूर्वमयमेव जीवन्मुक्त इत्युच्यते, स एवाऽत्र स्वात्मारामपदेनोक्तः' इत्यलं बहूक्तेन ॥ ३ ॥

॥ भाषा ॥

जो वह अंधकार तामे जो भ्रांति भ्रम ताकरिकें राजयोगकूं नही जाने ऐसे पुरुषोंकूं राजयोगज्ञान हे सो कृपाके करवेवारे स्वात्माराम हे सो हठयोगके प्रकाशकी करवेवाली हठप्रदीपिका ताय करें है स्वात्मारामका अर्थ ये है अपने आत्मामें रमणकरे ओर ज्ञानकी सात भूमिका ताय प्राप्त होय ब्रह्मवेत्तानमे श्रेष्ठ होय वो स्वात्माराम होय हैं. योगवासिष्ठमे ज्ञानकी सात भूमी कहे है ज्ञानभूमि १ विचारणा २ तनुमानसा ३ सत्वापत्ति ४ संसक्तिनामिका ५ पदार्थाभाविनी ६ तुर्यगा ७ ये सात ज्ञानभूमिकाके अर्थ विवेक वैराग्य-

मू० हठविद्यां हि मत्स्येंद्रगोरक्षाद्या विजानते ॥
स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते तत्प्रसादतः ॥ ४ ॥

॥ टीका ॥

महत्सेवितत्वाद्धठविद्यां प्रशंसन्स्वस्यापि महत्सकाशाद्धठविद्यालाभाद्गौरवं द्योतयति ॥ **हठविद्यां हीति** ॥ हीति प्रसिद्धं मत्स्येंद्रश्च गोरक्षश्च तौ आद्यौ येषां ते मत्स्येंद्रगोरक्षाद्याः आद्यशब्देन जालंधरनाथभर्तृहरिगोपीचंद्रप्रभृतयो ग्राह्याः । ते हठविद्यां हठयोगविद्यां विजानते विशेषेण साधनलक्षणभेदफलैर्जानंतीत्यर्थः । स्वात्मारामः **स्वात्मारामनामा** । अथवा शब्दसमुच्चये । योगी योगवान् तत्प्रसादतः गोरक्षप्रसादाज्जानीत इत्यन्वयः । परममहता ब्रह्मणापीयं विद्या सेवितेत्यत्र योगियाज्ञवल्क्यस्मृतिः । 'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः ।' इति वक्तृत्वं च मानसव्यापारपूर्वकं भवतीति मानसो व्यापारोऽर्थादागमः। तथा च श्रुतिः । 'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति' इति । भगवतेयं विद्या भागवतानुद्धवादीन् प्रत्युक्ता। शिवस्तु योगी प्रसिद्ध एव । एवं च सर्वोत्तमैर्ब्रह्मविष्णुशिवैः सेवितेयं विद्या । न च ब्रह्मसूत्रकृता व्यासेन योगी निराकृत इति शंकनीयम् । प्रकृतिस्वातंत्र्यविद्भिर्भेदांशमात्रस्य निराकरणात् । न तु भावनाविशेषरूपयोगस्य । भावनायाश्च सर्व-

॥ भाषा ॥

युक्त शमदमादिक पूर्व जामे तीव्र मुमुक्षारूपा प्रथमा १ श्रवणमननरूपा द्वितीया २ अनेक अर्थनकूं ग्रहण करवेवालो मन हे जब अनेक अर्थनकूं त्याग करके सत् एकार्थ वृत्तिप्रवाह किसी होय सो तृतीया ३ ये तीन तो साधनभूमि हे इन तीनो साधनभूमीने करके जब अंतःकरण शुद्धसत्व होय तब 'अहं ब्रह्मास्मि' में ब्रह्म हूं या प्रकार कहे हे योगी. चतुर्थी सत्वापत्ति ज्ञानभूमि येही फलभूमि यामे प्राप्त हुयो जो योगी ताकूं ब्रह्मविद् या प्रकार कहे हे ४ याके अनंतर या सत्वापत्ति भूमीमेंही समीप उठी हुई जे सिद्धि तिनमें नहीं आसक्त होय वाय असंसक्तिक नाम पांचमी ज्ञानभूमि कहे हें यामे योगी प्राप्त होय ताकूं ब्रह्मवेत्तानमे ब्रह्मविद्वर कहे हैं ५ जामें परब्रह्म सुंव्यतिरिक्त अर्थकूं नहीं भावना करे वो परार्थाभाविनी नाम छटी ज्ञानभूमि हे यामें प्राप्त हुये योगीकूं दूसरो बोध करावे जब उठे हे यामें प्राप्त योगीकूं ब्रह्मविद्वरीयान् कहे हैं ६ तुर्यगा नाम सातमी भूमी यामे योगी प्राप्त होय ताकूं ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहे हें पहलें ये जीवन्मुक्त कहे हें सोही यामें स्वात्माराम पद कहें है ॥ ३ ॥

महात्मानकरकें सेवन करी जाय हे यातें हठविद्याकूं श्लाघा करत आपकूंबी महा

मू० श्रीआदिनाथमत्स्येंद्रशाबरानंदभैरवाः ॥
चौरंगीमीनगोरक्षविरूपाक्षबिलेशयाः ॥ ५ ॥

॥ टीका ॥

संमतत्वात्तां विना सुखस्याप्यसंभवात् । तथोक्तं भगवद्गीतासु ' नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चाऽयुक्तस्य भावना । न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम् ॥ ' इति । नारायणतीर्थैरप्युक्तम् । 'स्वातंत्र्यसत्यत्वमुखं प्रधाने सत्यं च चिद्भेदगतं च वाक्यैः । व्यासो निराचष्ट न भावनाख्यं योगं स्वयं निर्मितब्रह्मसूत्रैः ॥ अपि चात्मप्रदं योगं व्याकरोन्मतिमान्स्वयम् । भाष्यादिषु ततस्तत्र आचार्यप्रमुखैर्मतः ॥ मतो योगो भगवता गीतायामधिकोऽन्यतः । कृतः शुकादिभिस्तस्मादत्र संतोऽतिसादराः ॥ 'इति । 'वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टं । अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ 'इति भगवदुक्तेः । किं बहुना 'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते । 'इति वदता भगवता योगजिज्ञासोरप्यौत्कृष्ट्यं वर्णितं किमुत योगिनः । नारदादिभक्तश्रेष्ठैर्याज्ञवल्क्यादिज्ञानिमुख्यैश्चास्याः सेवनाद्भक्तज्ञानिनामप्यविरुद्धेत्युपरम्यते ॥ ४ ॥

हठयोगे प्रवृत्तिं जनयितुं हठविद्यया प्राप्तैश्वर्यान्सिद्धानाह ॥ श्रीआदिनाथेत्यादिना॥ आदिनाथः शिवः सर्वेषां नाथानां प्रथमो नाथः । ततो नाथसंप्रदायः प्रवृत्त इति नाथसंप्रदायिनो वदंति । मत्स्येंद्राख्यश्च आदिनाथशिष्यः । अत्रैवं किंवदंती । कदाचिदादिनाथः कस्मिंश्चिद्द्वीपे स्थितः तत्र विजनमिति मत्वा गिरिजायै योगमुपदिष्टवान् । तीरसमीपनीरस्थः कश्चन मत्स्यः तं योगोपदेशं श्रुत्वा एकाग्रचित्तो निश्चलकायोऽवतस्थे । तं तादृशं दृष्ट्वानेन योगः श्रुत इति तं मत्वा कृपालुरादि-

॥ भाषा ॥

त्मानते हठविद्याको लाभ हुये सो गौरवता कहे हैं ॥ हठविद्यां हीति ॥ मत्स्येंद्र गोरक्ष ये हें आदिमें जिनके ऐसै जालंधरनाथ भर्तृहरि गोपीचंद्रकूं आदिलेके जो हे ते हठविद्याताय विशेषकर साधन लक्षण भेदफलकरजाने है योगवान् स्वात्माराम जो में हूं सो गोरक्षके कृपातें जानुहूं ये विद्या परम महान् ब्रह्माजीबी सेवन करते हुये और भगवाननेंबी उद्धवादिकन प्रति कही हे ओर शिवजी तो योगी प्रसिद्धही हैं या प्रकार सर्वोत्तम ब्रह्मा विष्णु शिव इनकरकें सेवित ये विद्या हे ॥ ४ ॥

हठयोगमें प्रवृत्तिहोयवेकूं हठविद्याकरकै प्राप्त हुये हें ऐश्वर्य जिनें ऐसे जो सिद्ध तिनै कहें हैं ॥ श्रीआदिनाथेत्यादिना ॥ श्रीआदिनाथ शिवजी संपूर्णनाथनके मध्यमें प्रथम

मू० मंथानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कंथडिः ॥
कोरंटकः सुरानंदः सिद्धपादश्च चर्पटिः ॥ ६ ॥
कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरंजनः ॥
कपाली बिंदुनाथश्च काकचंडीश्वराह्वयः ॥ ७ ॥

॥ टीका ॥

नाथो जलेन प्रोक्षितवान् । स च प्रोक्षणमात्राद्दिव्यकायो मत्स्येंद्रः सिद्धोऽभूत् । तमेव मत्स्येंद्रनाथ इति वदंति । शावरनामा कश्चित्सिद्धः । आनंदभैरवनामान्यः । एतेषामितरेतरद्वंद्वः । छिन्नहस्तपादं पुरुषं हिंदुस्थानभाषायां चौरंगीति वदंति । कदाचिदादिनाथाल्लब्धयोगस्य भुवं पर्यटतो मत्स्येंद्रनाथस्य कृपावलोकनमात्रात्कुत्रचिदरण्ये स्थितश्चौरंग्यंकुरितहस्तपादो बभूव । स च तत्कृपया संजातहस्तपादोऽहमिति मत्वा तत्पादयोः प्रणिपत्य ममानुग्रहं कुर्विति प्रार्थितवान् । मत्स्येंद्रोपि तमनुगृहीतवान् तस्यानुग्रहाच्चौरंगीति प्रसिद्धः सिद्धः सोऽभूत् । मीनो मीननाथः गोरक्षो गोरक्षनाथः विरूपाक्षनामा बिलेशयनामा च । चौरंगीप्रभृतीनां द्वंद्वसमासः ॥ ५ ॥
मन्थान इति । मंथानः भैरवः योगीति मंथानप्रभृतीनां सर्वेषां विशेषणम् ॥ ६ ॥
कानेरीति । काकचंडीश्वर इत्याह्वयो नाम यस्य स तथा । अन्ये स्पष्टाः ॥ ७ ॥

॥ भाषा ॥

नाथहै इनतेंही नाथसंप्रदाय प्रवृत्त हुयो ओर मत्स्येंद्र आदिनाथके शिष्य हें कैसें कोईसमयमें महादेवजी कोई द्वीपमें स्थित हे तहां पार्वतीजीके अर्थ योग कहरहेहे वहां तीरसमीप जलमें कोई मत्स्य योगोपदेश सुनकर एकाग्रचित्त निश्चलकाय होय गयो ताय देखकर शिवजीने विचार्यो याने योग श्रवण कियो ताय ऐसो मानकर कृपालु आदिनाथने जलकरके प्रोक्षण कियो वा जलके प्रोक्षणमात्रतें दिव्यदेह मत्स्येंद्र सिद्ध हुयो ताय मत्स्येंद्रनाथ कहेहैं शाबरनाथ आनंदभैरवनाथ चौरंगी ये आदिनाथतें योग प्राप्त हुये पीछें कदी पृथ्वीमें विचर रहेहे तिनके कृपालोकनतेंही कोई एक वनमें चौर हातपाम जाके कटहुये सो हातपामसहित होगयो जब वो इनकी कृपा करकें मेरै हात पाम हुये ऐसें मनमें मान उनके चरणमे नमस्कार कर कह्यो मोपे कृपा करो यह प्रार्थना करतो हुयो तब मत्स्येंद्र अनुग्रह करते भये उनकी अनुग्रहतें चौरंगी या नामकर प्रसिद्ध हुयो ओर मीननाथ गोरक्षनाथ विरूपाक्ष बिलेशय ॥ ५ ॥

मंथान इति । मंथान भैरव योगी सिद्धि बुद्ध कंथडि कोरंटक सुरानंद सिद्धपाद चर्पटी ॥ ६ ॥
कानेरीति । कानेरी पूज्यपाद नित्यनाथ निरंजन कपाली बिंदुनाथ काकचंडीश्वर ॥ ७ ॥

सू० अल्लामः प्रभुदेवश्च घोडा चोली च टिंटिणिः ॥
भानुकी नारदेवश्च खंडः कापालिकस्तथा ॥ ८ ॥
इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः ॥
खंडयित्वा कालदंडं ब्रह्मांडे विचरंति ते ॥ ९ ॥
अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः ॥
अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः ॥ १० ॥

॥ टीका ॥

अल्लाम इति । तथाशब्दः समुच्चये ॥ ८ ॥

इत्यादय इति । इति पूर्वोक्ता आदयो येषां ते तथा । आदिशब्देन तारानाथादयो ग्राह्याः । महांतश्च ते सिद्धाश्च अप्रतिहतैश्वर्या इत्यर्थः । हठयोगस्य प्रभावात्सामर्थ्यादिति हठयोगप्रभावतः । पंचम्यास्तसिल् । कालो मृत्युः तस्य दंडनं दंडः देहप्राणवियोगानुकूलो व्यापारः तं खंडयित्वा छित्त्वा । मृत्युं जित्वेत्यर्थः । ब्रह्मांडमध्ये विचरंति विशेषेणाव्याहतगत्या चरंतीत्यर्थः । तदुक्तं भागवते । ' योगेश्वराणां गतिमाहुरंतर्बहिस्त्रिलोक्याः पवनांतरात्मनाम् । ' इति ॥ ९ ॥

हठस्याशेषतापनाशकत्वमशेषयोगसाधकत्वं च मठकमठरूपकेणाह ॥अशेषेति ॥ अशेषाः आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदेन त्रिविधाः । तत्राध्यात्मिकं द्विविधं । शारीरं मानसं च । तत्र शारीरं दुःखं व्याधिजं मानसं दुःखं कामादिजं । आधिभौतिकं व्याघ्रसर्पादिजनितं । आधिदैविकं ग्रहादिजनितं । ते च ते तापाश्च तैस्तप्तानां संतप्तानां पुंसां हठो हठयोगः सम्यगाश्रीयत इति समाश्रयः आश्रयः आश्रयभूतो मठः मठ एव । तथा हठः अशेषयोगयुक्तानां अशेषयोगयुक्ताः मंत्रयोगकर्मयोगादियुक्तास्तेषामाधारभूतः कमठः एवं । त्रिविधतापतप्तानां पुंसां आश्रयो हठः । यथा च विश्वाधारः कमठः एवं निखिलयोगिनामाधारो हठ इत्यर्थः ॥ १०॥

॥ भाषा ॥

अल्लाम इति । अल्लाम प्रभुदेव घोडा चोली टिंटिणि भानुकी नारदेव खंड कापालिक ॥८॥

इत्यादय इति । ये हैं आदिमें जिनके ऐसे तारानाथादिक ओरबी महांत सिद्ध अखंड ऐश्वर्य जिनके ते सब हठयोगके प्रभावतें मृत्युको दंड ताय छेदन कर कहा मृत्युकूं जीतकर ब्रह्मांडमें विचरें हैं अखंडगतीकरकें ॥ ९ ॥

अशेषेति । आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक इन भेदनकर तीन प्रकारकी

मू० हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ॥
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता ॥ ११ ॥

॥ टीका ॥

अथाखिलविद्यापेक्षया हठविद्याया अतिगोप्यत्वमाह॥ हठविद्येति॥ सिद्धिमणिमाद्यैश्वर्यमिच्छता यद्वा सिद्धिं कैवल्यसिद्धिमिच्छता वांछता योगिना हठयोगविद्या परमत्यंतं गोप्या गोपनीया गोपनार्हास्तीति । तत्र हेतुमाह । यतो गुप्ता हठविद्या वीर्यवत्यप्रतिहतैश्वर्यजननसमर्था स्यात् । कैवल्यजननसमर्था कैवल्यसिद्धिजननसमर्था वा स्यात् । अथ योगाधिकारी । 'जिताक्षाय शांताय सक्ताय मुक्तौ विहीनाय दोषैरसक्ताय मुक्तौ । अहीनाय दोषेतरैरुक्तकर्त्रे प्रदेयो न देयो हठश्चेतरस्मै ॥' याज्ञवल्क्यः । 'विध्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसंकल्पवर्जितः । यमैश्च नियमैर्युक्तः सर्वसंगविवर्जितः॥कृतविद्यो जितक्रोधः सत्यधर्मपरायणः । गुरुशुश्रूषणरतः पितृमातृपरायणः ॥स्वाश्रमस्थः सदाचारो विद्वद्भिश्च सुशिक्षितः॥' इति । 'शिश्नोदररतायैव न देयं वेषधारिणे' इति कुत्रचित् । अत्र योगचिंतामणिकाराः यद्यपि । 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीशूद्राणां च पावनं । शांतये कर्मणामन्यद्योगान्नास्ति विमुक्तये ॥' इत्यादि पुराणवाक्येषु प्राणिमात्रस्य योगेऽधिकार उपलभ्यते । तथापि मोक्षरूपं फलं योगे विरक्तस्यैव भवति । अतस्तस्यैव योगाधिकार उचितः । तथा च वायुसंहितायां । 'दृष्टे तथानुश्रविके विरक्तं विषये मनः । यस्य तस्याधिकारोऽस्मिन्योगे नान्यस्य कस्यचित् ॥' सुरेश्वराचार्यः । 'इहामुत्र विरक्तस्य संसारं प्रजिहासतः । जिज्ञासोरेव कस्यापि योगेऽस्मिन्नधिकारिता॥' इत्याहुः । वृद्धैरप्युक्तं । 'नैतद्देयं दुर्विनीताय जा-

॥ भाषा ॥

ताप हे तामें अध्यात्म दो प्रकारकी ताप शरीरमें रोगादिककरकें व्यथा होय सो शारीर दुःख और मनमें कामादिककरकें ताप होय जाकूं मानस दुःख कहें हें ओर व्याघ्रसर्पादिकनकरके ताप होय वाकूं आधिभौतिक कहैं हें ओर ग्रहादिकनकर हुई जो पीडा ताकूं आधिदैविक कहें हैं इन सब तापनकर तपित हो रहे जे पुरुष तिनकूं हठयोग आश्रयभूत मठ हे मठ गुफाकूं कहे हे मंत्रयोग कर्मयोगादिकनकर युक्त जे पुरुष तिनकै आधारभूत कमठ कहा कूर्मचक्र ओर जैसें विश्वको कूर्म आधार है ऐसेंहीं सर्व योगनको आधार हठयोग है ॥ १० ॥

याके अनंतर सर्व विद्यानकी अपेक्षाकरकें हठविद्याकूं अतिगोप्यपनो है ताय कहें हें ॥ हठविद्येति ॥ अणिमा महिमा गरिमा लघिमा प्राप्ति प्राकाम्य ईशित्व वशित्व ये आठ

सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे ॥
धनुःप्रमाणपर्यंतं शिलाग्निजलवर्जिते ॥
एकांते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ॥ १२ ॥

॥ टीका ॥

तु ज्ञानं गुप्तं तद्धि सम्यक्फलाय । अस्थाने हि स्थाप्यमानैव वाचां देवी कोपान्निर्दहेन्नो चिराय ॥ ' इति ॥ ११ ॥

अथ हठाभ्यासयोग्यं देशमाह सार्धेन ॥ सुराज्य इति ॥ राज्ञः कर्म भावो वा राज्यं तच्छोभनं यस्मिन्स सुराज्यस्तस्मिन्सुराज्ये । 'यथा राजा तथा प्रजा' इति महदुक्तेः राज्ञः शोभनत्वात्प्रजानामपि शोभनत्वं सूचितम् । धार्मिके धर्मवति । अनेन हठाभ्यासिनोऽनुकूलाहारादिलाभः सूचितः । सुभिक्ष इत्यनेनानायासेन तल्लाभः सूचितः । निरुपद्रवे चौरव्याघ्राद्युपद्रवरहिते । एतेन देशस्य दीर्घकालवासयोग्यता सूचिता । धनुषः प्रमाणं धनुःप्रमाणं चतुर्हस्तमात्रं तत्पर्यंतं शिलाग्निजलवर्जिते शिला प्रस्तरः अग्निर्वन्हिः जलं तोयं तैर्वर्जिते रहिते । यत्रासनं ततश्चतुर्हस्तमात्रे शिलाग्निजलानि न स्युरित्यर्थः । तेन शीतोष्णविकाराभावः सूचितः । एकांते विजने । अनेन जनसमागमाभावात्कलहाद्यभावः सूचितः । जनसंमर्दे

॥ भाषा ॥

विभूती हें जो ये आठ सिद्धि इच्छाकरे अथवा कैवल्यसिद्धि इच्छाकरे ता योगीकरकें हठ विद्या अत्यंत गोप्यकरनो योग्य है. क्योंकि गुप्त रही हठविद्या अखंड ऐश्वर्य प्रगट करवेमें समर्थ होय ओर कैवल्यसिद्धि प्रगट करवेमें समर्थ होय ओर जो प्रकाश हुई विद्या सती निर्वीर्य हो जाय है ॥ ११ ॥

हठाभ्यासके योग्य देश ताय कहें हें सार्द्धेन ॥ सुराज्ये इति ॥ राजाको कर्म भाव राज्य सर्व शोभन जामें ऐसो सुराज्य होय धर्मवान् होय ओर राजा हठाभ्यासीकूं अनुकूल आहारादिक लाभ होय जामें ओर सुकाळ होय ओर चौर व्याघ्रादिक उपद्रवरहित हौंय ओर जहां आसन होय तहांसुं धनुष्यप्रमाण अर्थात् च्यार हात मात्र पर्यत शिळा, अग्नि, जल ये न हौंय ओर एकांत होय मनुष्यनको समागम न होय जनोंनके समागमतें कलह होय हे यातें ऐसी जगें मठिका अल्प छोटीसी बनायकें ताके मध्यमें हठयोगी अर्थात् हठाभ्यासको करवेवाळो जो योगी ताकरकें स्थित होयवेकूं योग्य है मठमें बेठेंसुं शीत, उष्ण, बर्षा इनको क्लेश नही होय हैं ॥ १२ ॥

अल्पद्वारमरंध्रगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतं ॥
सम्यग्गोमयसांद्रलिप्तममलं निःशेषजंतूज्झितम् ॥
बाह्ये मंडपवेदिकूपरुचिरं प्राकारसंवेष्टितं ॥
प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः ॥ १३ ॥

॥ टीका ॥

तु कलहादिकं स्यादेव । तदुक्तं भागवते । 'वासे बहूनां कलहो भवेद्वार्ता द्वयोरपि ' इति । तादृशे मठिकामध्ये । अल्पो मठो मठिका । अल्पीयसि कन् । तस्याः मध्ये हठयोगिना हठाभ्यासी योगी हठयोगी तेन । शाकपार्थिवादिवत्समासः । स्थातव्यं स्थातुं योग्यं । मठिकामध्य इत्यनेन शीतातपादिजनितक्लेशाभावः सूचितः । अत्र 'युक्ताहारविहारेण हठयोगस्य सिद्धये । 'इत्यर्धं केनचित्क्षिप्तत्वान्न व्याख्यातम् । मूलश्लोकानामेव व्याख्यानम् । एवमग्रेऽपि ये मया न व्याख्याताः श्लोका हठप्रदीपिकायामुपलभ्येरंस्ते सर्वे क्षिप्ता इति बोद्धव्यम् ॥ १२ ॥

अथ मठलक्षणमाह ॥ अल्पद्वारमिति ॥ अल्पं द्वारं यस्मिंस्तत्तादृशं । रंध्रो गवाक्षादिः गर्तो निम्नप्रदेशः विवरो मूषकादिबिलं ते न संति यस्मिंस्तत्तादृशं । अत्युच्चं च तन्नीचं चात्युच्चनीचं तच्च तदायतं चात्युच्चनीचायतं । विशेषणं विशेष्येण बहुलमित्यत्र बहुलग्रहणाद्विशेषणानां कर्मधारयः । ननूच्चनीचायतशब्दानां भिन्नार्थकानां कथं कर्मधारयः । तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारय इति तल्लक्षणादिति चेन्न । मठे तेषां सामानाधिकरण्यासंभवात् । न चात्युच्चनीचायतं नात्युच्चनीचायतं नशब्देन समासान्नलोपाभावः नेति पृथक्पदं वा । अत्युच्चे आरोहणे श्रमः स्यादतिनीचेऽवरोहणे श्रमो भवेत् । अत्यायते दूरं दृष्टिर्गच्छेत्तन्निराकरणार्थमुक्तं नात्युच्चनीचायतमिति । सम्यक्समीचीनतया गोमयेन गोपुरीषेण सांद्रं यथा भवति तथा लिप्तं । अमलं निर्मलं निःशेषा निखिला ये जंतवो मशकमत्कुणाद्यास्तैरुज्झितं त्यक्तं रहितं बाह्ये मठाद्बहिःप्रदेशे मंडपः शालाविशेषः वेदिः परिष्कृता भूमिः कूपो जलाशयविशेषः तैः रुचिरं रमणीयं प्राकारेण वरणेन सम्यग्वेष्टितं परितो

॥ भाषा ॥

याके अनंतर मठको लक्षण कहैं हैं ॥ अल्पद्वारमिति ॥ छोटो द्वार जामें होय ओर जाली, झरोखा, मोखा, नीची ऊंची पृथ्वी मूसादिकनको बिलो जामें न होय ओर अति नीचो अति उंचो अति चोडोबी स्थान न होय (क्यो) चढवेमे उतरवेमे श्रम होय

एवंविधे मठे स्थित्वा सर्वचिंताविवर्जितः ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण योगमेव समभ्यसेत् ॥ १४ ॥

॥ टीका ॥

भितियुक्तमित्यर्थः । हठाभ्यासिभिः हठयोगाभ्यसनशीलैः सिद्धैः । इदं पूर्वोक्तमल्पद्वारादिकं योगमठस्य लक्षणं स्वरूपं प्रोक्तं कथितम् । नंदिकेश्वरपुराणे त्वेवं मठलक्षणमुक्तं । 'मंदिरं रम्यविन्यासं मनोज्ञं गंधवासितं । धूपामोदादिसुरभि कुसुमोत्करमंडितं ॥ मुनितीर्थनदीवृक्षपद्मिनीशैलशोभितम् । चित्रकर्मनिबद्धं च चित्रभेदविचित्रितम् ॥ कुर्याद्योगगृहं धीमान्सुरम्यं शुभवर्त्मना । दृष्ट्वा चित्रगतांच्छांतान्मुनीन्याति मनःशमम् ॥ सिद्धान्दृष्ट्वा चित्रगतान्मतिरभ्युद्यमे भवेत् । मध्ये योगगृहस्याथ लिखेत्संसारमंडलं ॥ श्मशानं च महाघोरं नरकांश्च लिखेत्कचित् । तान्दृष्ट्वा भीषणाकारान्संसारेसारवर्जिते । अनवसादो भवति योगी सिद्ध्यभिलाषुकः । पश्यंश्च व्याधितान् जंतून्नतान्मत्तांश्चलद्व्रणान् ' ॥ १३ ॥

मठलक्षणमुक्त्वा मठे यत्कर्तव्यं तदाह ॥ एवंविध इति ॥ एवं पूर्वोक्ता विधा प्रकारो यस्य स तथा पूर्वोक्तलक्षण इत्यर्थः । तस्मिन्स्थित्वा स्थितिं कृत्वा सर्वा याश्चितास्ताभिर्विशेषेण वर्जितो रहितोऽशेषचिन्तारहितः । गुरुणोपदिष्टो यो मार्गः हठाभ्यासप्रकाररूपस्तेन सदा नित्यं योगमेवाभ्यसेत् । एवशब्देनाभ्यासांतरस्य योगे विघ्नकरत्वं सूचितं । तदुक्तं योगबीजे । 'मरुज्जयो यस्य सिद्धस्तं सेवेत गुरुं सदा । गुरुवक्त्रप्रसादेन कुर्यात्प्राणजयं बुधः ॥' राजयोगे । 'वेदांततर्कोक्तिभिरागमैश्चनानाविधैः शास्त्रकदंबकैश्च । ध्यानादिभिः सत्करणैर्न गम्यश्चितामणिरेकगुरुं विहाय ॥' स्कंदपुराणे । 'आचार्याद्योगसर्वस्वमवाप्य स्थिरधीःस्वयम् । यथोक्तं लभते

॥ भाषा ॥

चोडेमे दूरदृष्टी जाय यासुं सुंदर गोंवरसुं सघन लिप्यो होय ओर निर्मल होय सर्व जंतू मच्छर खटमलादिक कछूबी न होय ओर मठके बहार मंडपशाला, वेदीकीसीनाई, एक कूप जलाशय वृक्षावली पुष्पावली इनकरकें रमणीय स्थल होय च्यारोमेर भींतियुक्त होय हठाभ्यासमे शील स्वभाव जिनको ऐसे जो सिद्ध तिनें छोटे द्वारें जामें होय ऐसे जोगमठके लक्षण स्वरूप कह्यो हे ॥ १३ ॥

मठलक्षण कहकरकें मठमें कहाकरवो योग्य ताय कहैं हैं ॥ एवंविधे इति ॥ या प्रकारके मठमैं स्थित होयकरकें सर्व चिंता कर वर्जित होय ओर गुरूकरकें उपदेश दियो गयो जो हठाभ्यासप्रकाररूप मार्ग ताकरकें सदा सर्वदा योगाभ्यास करे ॥ १४ ॥

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः ॥
जनसंगश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ॥ १५ ॥
उत्साहात्साहसाद्धैर्यात्तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात् ॥
जनसंगपरित्यागात्षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति ॥ १६ ॥

॥ टीका ॥

तेन प्राप्नोत्यपि च निर्वृतिं ॥' सुरेश्वराचार्यः । 'गुरुप्रसादाल्लभते योगमष्टांगसंयुतम् । शिवप्रसादाल्लभते योगसिद्धिं च शाश्वतीम् ॥ यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशंते महात्मनः ॥ ' इति । श्रुतिश्च ' आचार्यवा न्पुरुषो वेद ' इति च ॥ १४ ॥

अथ योगाभ्यासप्रतिबंधकानाह ॥ अत्याहार इति ॥ अतिशयित आहारो-ऽत्याहारः क्षुधापेक्षयाधिकभोजनम् । प्रयासः श्रमजननानुकूलो व्यापारः । प्रकृष्टो जल्पः प्रजल्पो बहुभाषणं शीतोदकेन प्रातःस्नाननक्तभोजनफलाहारादिरूपनियमस्य ग्रहणं नियमग्रहः । जनानां संगो जनसंगः । कामादिजनकत्वात् । लोलस्य भावः लौल्यं चांचल्यं । षड्भिरत्याहारादिभिरभ्यासप्रतिबंधात् । योगो विनश्यति विशे-षेण नश्यति ॥ १५ ॥

अथ योगसिद्धिकरानाह ॥ उत्साहादिति ॥ विषयप्रवणं चित्तं निरोत्स्या-म्येवेत्युद्यम् उत्साहः।साध्यत्वासाध्यत्वे परिभाव्य सहसा प्रवृत्तिः साहसम्।यावज्जी-वनं सेत्स्यत्येवेत्यखेदो धैर्यम्।विषया मृगतृष्णाजलवदसंतः, ब्रह्मैव सत्यमिति वास्त-

॥ भाषा ॥

अब योगाभ्यासके प्रतिबंधकनकूं कहेहैं ॥ अत्याहार इति ॥ अत्याहार कहा फिर भूक नलगे या लियें अधिक भोजन करले सो अत्याहार ओर श्रम जामें बोहोत होय सो प्रया-स बोहोत बोलवो सो प्रजल्प ओर शीतल जलकर प्रातःस्नान रात्रिमें भोजन फलाहार इनकूं आदिलेकें जो नियम ग्रहण करनो सो ओर जननके संग ओर चांचल्यता इन छयो-गनकरकें योग विनाश होय हे ॥ १५ ॥

अब योगसिद्धीके करवेवारेनकूं कहै हैं ॥ उत्साहादिति ॥ उत्साह १ साहस २ धैर्य ३ तत्त्वज्ञान ४ निश्चय ५ जनसंगपरित्याग ६ इनका अर्थ विषययुक्त चित्तकूं रोक-नोई या उद्यममें सो उत्साह ओर ये साधनयोग्य है ओर ये नही साधनके योग्य है ऐसे विचार नही कर सहसा प्रवृत्ति होना सो साहस ओर धैर्यता और विषय मृगतृष्णाजल

॥ अथ यमनियमाः ॥

" अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः ॥
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश ॥ १ ॥
तपः संतोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ॥
सिद्धांतवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपो हुतम् ॥ २ ॥
नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः " ॥
हठस्य प्रथमांगत्वादासनं पूर्वमुच्यते ॥
कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चांगलाघवम् ॥ १७ ॥

॥ टीका ॥

विकं ज्ञानं तत्त्वज्ञानं योगानां वास्तविकं ज्ञानं वा । शास्त्रगुरुवाक्येषु विश्वासो निश्चयः श्रद्धेति यावत् । जनानां योगाभ्यासप्रतिकूलानां यः संगस्तस्य परित्यागात् । षड्भिरेभिर्योगः प्रकर्षेणाविलंबेन सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

आदावासनकथने संगतिं सामान्यतस्तत्फलं चाह ॥हठस्येति॥ हठस्य । 'आसनं कुंभकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा । अथ नादानुसंधानम्' इति वक्ष्यमाणानि चत्वार्यंगानि । प्रत्याहारादिसमाध्यंतानां नादानुसंधानेऽतर्भावः। तन्मध्ये आसनस्य प्रथमांगत्वात्पूर्वमासनमुच्यत इति संबंधः । तदासनस्थैर्यं देहस्य मनसश्चाञ्चल्यरूपरजोधर्मनाशकत्वेन स्थिरतां कुर्यात् । 'आसनेन रजो हंति' इति वाक्यात् । आरोग्यं चित्तविक्षेपकरोगाभावः । रोगस्य चित्तविक्षेपकत्वमुक्तं पातंजलसूत्रे । 'व्याधिस्त्यानसंशयप्र-

॥ भाषा ॥

कीसीनाई असत्य है ब्रह्मही सत्य है ये वास्तव ज्ञान सो तत्त्वज्ञान ओर शास्त्र गुरुवाक्य इनमें विश्वास श्रद्धा सो निश्चय और योगाभ्यासमें विघ्नकर्ता जननके संगको परित्याग इन छयोगनकरकें हठाभ्यासीके योग प्रकर्षकरकें शीघ्रही सिद्धि होय ॥ १६ ॥

अब आसननको फल कहे हे ॥ हठस्येति ॥ हठके चार अंग हैं आसन १ कुंभक २ मुद्राकरणं ३ ओर नादको अनुसंधान ४ ये अगाडी कहेंगे इनके मध्यमें आसन प्रथमांग हे यातें पूर्व आसन कहे हैं ये आसन जो हे सो देहको मनको चंचलरूप जो रजोगुण धर्म ताय दूरकरकें स्थिरता करे हे ओर रोगकूंबी दूर करे हे ओर अंगनमें गौरवरूप तमोगुण धर्म हें ताय दूरकरे हे ओर अंगनकूं लघुता करे हे ओर क्षुधा प्यासकी वृद्धीकूंबी दूर करे हे ॥ १७ ॥

वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभिर्मत्स्येंद्राद्यैश्च योगिभिः ॥
अंगीकृतान्यासनानि कथ्यंते कानिचिन्मया ॥ १८ ॥
जानूर्वोरंतरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे ॥
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥ १९ ॥

॥ टीका ॥

मादालस्याविरतिभ्रांतिदर्शनालब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽतरायाः ' इति । अंगानां लाघवं लघुत्वं गौरवरूपतमोधर्मनाशकत्वमप्येतेनोक्तम् । चकारात्क्षुद्वृद्ध्यादिकमपि बोध्यम् ॥ १७ ॥

वसिष्ठादिसंमतासनमध्ये श्रेष्ठानि मयोच्यंत इत्याह ॥ **वसिष्ठाद्यैरिति** ॥ वसिष्ठ आद्यो येषां याज्ञवल्क्यादीना तैर्मुनिभिर्मननशीलैः । चकारान्मंत्रादिपरैः । मत्स्येंद्र आद्यो येषां जालंधरनाथादीनां तैः । योगिभिः हठाभ्यासिभिः । चकारान्मुद्रादिपरैः । अंगीकृतानि चतुरशीत्यासनानि तन्मध्ये कानिचित् श्रेष्ठानि मया कथ्यंते । यद्यप्युभयोरपि मननहठाभ्यासौ स्तस्तथापि वसिष्ठादीनां मननं मुख्यं मत्स्येंद्रादीनां हठाभ्यासो मुख्य इति पृथग्ग्रहणम् ॥ १८ ॥

तत्र सुकरत्वात्प्रथमं स्वस्तिकासनमाह ॥ **जानूर्वोरिति**॥ जानु च ऊरुश्च । अत्र जानुशब्देन जानुसंनिहितो जंघाप्रदेशो ग्राह्यः । जंघोर्वोरिति पाठस्तु साधीयान् । तयोरंतरे मध्ये उभे पादयोस्तले तलप्रदेशौ कृत्वा ऋजुकायः समकायः यत्र समासीनो भवेत्तदासनं स्वस्तिकं स्वस्तिकाख्यं प्रचक्षते वदंति । योगिन इति शेषः । श्रीधरेणोक्तं । ' ऊरुजंघांतराधाय प्रपदे जानुमध्यगे । योगिनो यदवस्थानं

॥ भाषा ॥

वसिष्ठाद्यैरिति ॥ वसिष्ठ आदिमें जिनके ऐसे याज्ञवल्क्यादिक मननमें हे शील जिनके मंत्रादिकनमें परायण मुनी तिनकरकें ओर मत्स्येंद्र जालंधरादिक हठाभ्यासी योगी तिनकरकें ओर मुद्रादिकनमे परायण तिनकर अंगीकार किये चोराशी आसन तिनके मध्यमेंसुं कोईएक श्रेष्ठ आसन तिने में कहुहुं ओर वसिष्ठ याज्ञवल्क्यादिकनकूं मननमें मुख्यपनो हे ओर मत्स्येंद्रादिक हठाभ्यासमें मुख्य हें यातें दोनोंनके नाम न्यारे न्यारे आसन ग्रहण किये ॥ १८ ॥

सबमें सुगम हे यातें प्रथम स्वस्तिकासन कहें हैं ॥ **जानूर्वोरिति** ॥ जानु ऊरू इनके मध्यमें दोनो पामके तलु आनकूं करकें फिर सरल देहकर बेठजाय ताय स्वस्तिक आसन कहें हैं॥ १९॥

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ॥
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखाकृति ॥ २० ॥
एकं पादं तथैकस्मिन्विन्यसेदुरुणि स्थितम् ॥
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमितीरितम् ॥ २१ ॥
गुदं निरुद्ध्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः ॥
कूर्मासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः ॥ २२ ॥

॥ टीका ॥

स्वस्तिकं तद्विदुर्बुधाः ॥' इति ॥ १९ ॥

गोमुखासनमाह ॥ सव्य इति ॥ सव्ये वामे पृष्ठस्य पार्श्वे संप्रदायात्कटेरधोभागे दक्षिणं गुल्फं नितरां योजयेत् । गोमुखस्याकृतिर्यस्य तत्तादृशं गोमुखसंज्ञकमासनं भवेत् ॥ २० ॥

वीरासनमाह ॥ एकमिति ॥ एकं दक्षिणं पादं । तथा पादपूरणे । एकस्मिन्वामोरुणि स्थितं विन्यसेत् । इतरस्मिन्वामे पादे ऊरुं दक्षिणं विन्यसेत् । तद्वीरासनमितीरितं कथितम् ॥ २१ ॥

कूर्मासनमाह ॥ गुदमिति ॥ गुल्फाभ्यां गुदं निरुद्ध्य नियम्य व्युत्क्रमेण यत्र सम्यगाहितः स्थितो भवेत् । एतत्कूर्मासनं भवेत् । इति योगविदो विदुरित्यन्वयः ॥ २२ ॥

॥ भाषा ॥

अब गोमुख आसन कहें है ॥ सव्येति ॥ वांई ओर कटिके नीचें दक्षिण गुल्फ अर्थात् टकना ताय धरकें ओर जेमनी कटिके नीचे वांये पामको टकना धरके बेठजाय गोमुख कीसी आकृति जाकी सो गोमुखसंज्ञक आसन होय है ॥ २० ॥

वीरासन कहें हैं ॥ एकमिति ॥ जैमनो पाम ताकूं वांये उरूमें स्थितकरकें फिर वांयो पाम दाक्षिण उरू धरतीमें धरकैं स्थित होय जाय याये वीरासन कहें हैं ॥ २१ ॥

अब कूर्मासन कहें है ॥ गुदमिति ॥ दोनों पामनकी एडीनतें गुदाकूं रोककर सावधान स्थित होयजाय ये कूर्मासन हे याके भेद अगाडी कहेंगे ॥ २२ ॥

मू० पद्मासनं तु संस्थाप्य जानूर्वोरंतरे करौ ॥
निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटासनम् ॥ २३ ॥
कुक्कुटासनबंधस्थो दोर्भ्यां संबध्य कंधराम् ॥
भवेत्कूर्मवदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकम् ॥ २४ ॥
पादांगुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि ॥
धनुराकर्षणं कुर्याद्धनुरासनमुच्यते ॥ २५ ॥

॥ टीका ॥

कुक्कुटासनमाह ॥ **पद्मासनं त्विति** ॥ पद्मासनं तु ऊर्वोरुपरि उत्तानचरणस्थापनरूपं सम्यक् स्थापयित्वा । जानुपदेन जानुसंनिहितो जंघाप्रदेशः । तच ऊरुश्च जानूरू तयोरंतरे मध्ये करौ निवेश्य भूमौ संस्थाप्य । करावित्यत्रापि संबध्यते । व्योमस्थं खस्थं पद्मासनसदृशं यत्तत्कुक्कुटासनम् ॥ २३ ॥

उत्तानकूर्मकासनमाह ॥ **कुक्कुटासनेति** ॥ कुक्कुटासनस्य यो बंधः पूर्वश्लोकोक्तस्तस्मिन् स्थितः दोर्भ्यां बाहुभ्यां कंधरां ग्रीवां संबध्य कूर्मवदुत्तानो यस्मिन्भवेत्तदासनमुत्तानकूर्मकं नाम ॥ २४ ॥

धनुरासनमाह ॥ **पादांगुष्ठौ त्विति** ॥ पाणिभ्यां पादयोरंगुष्ठौ गृहीत्वा श्रवणावधि कर्णपर्यंतं धनुष आकर्षणं यथा भवति तथा कुर्यात् । गृहीतांगुष्ठमेकं पाणिं प्रसारितं कृत्वा गृहीतांगुष्ठमितरं पाणिं कर्णपर्यंतमाकुंचितं कुर्यादित्यर्थः । एतद्धनुरासनमुच्यते ॥ २५ ॥

॥ भाषा ॥

अब कुक्कुटासन कहें हे ॥ **पद्मासनं त्विति** ॥ दोनों पामके ऊरूनके ऊपर उंचें चरणस्थापन करकें दोनों हाथ जानु ऊरूनके बीचमें करकें पृथ्वीमें स्थापन कर हाथनके बल भूमिसें उठ अधरस्थित होय जाय ये कुक्कुटासन हें ॥ २३ ॥

उत्तानकूर्मासन कहे हें ॥ **कुकुटासनेति** ॥ कुक्कुटासनको जो बंध पूर्व कह्यो तेसेंही स्थित होय वेसीही भुजानकर नाड पकडकर कूर्मकीसी नाई उत्तान जामें होय सो ये उत्तानकूर्मक नाम आसन कहें हैं ॥ २४ ॥

अब धनुरासन कहें हैं ॥ **पादांगुष्ठौ त्विति** ॥ दोनों हस्तकर दोनों पामके अंगुठा ग्रहण करके कर्णपर्यंत धनुषके आकर्षणकीसीनाई करे ओर ग्रहण कीनो हे अंगुष्ठ जामें

मू० वामोरुमूलार्पितदक्षपादं जानोर्बहिर्वेष्टितवामपादम् ॥
प्रगृह्य तिष्ठेत्परिवर्तितांगः श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात् २६
मत्स्येंद्रपीठं जठरप्रदीप्तिं प्रचंडरुग्मंडलखंडनास्त्रम् ॥
अभ्यासतः कुंडलिनीप्रबोधं चंद्रस्थिरत्वं च ददाति पुंसाम् २७

॥ टीका ॥

मत्स्येंद्रासनमाह॥वामोर्विति॥वामोरुमूलेऽर्पितः स्थापितो यो दक्षपादः तं संप्रदायात्पृष्ठतोगतवामपाणिना गुल्फस्योपरिभागे परिगृह्य । जानोर्दक्षिणपादजानोर्बहिः प्रदेशे वेष्टितो यो वामपादस्तं वामपादजानोर्बहिर्वेष्टितदक्षिणपाणिनांगुष्ठे प्रगृह्य । परिवर्तितांगः वामभागेन पृष्ठतो मुखं यथा स्यादेवं परिवर्तितं परावर्तितमंगं येन स तथा तादृशो यत्र तिष्ठेत् स्थितिं कुर्यात्तदासनं मत्स्येंद्रनाथेनोदितं कथितं स्यात् । तदुदितत्वात्तन्नामकमेव वदंति । एवं दक्षोरुमूलार्पितवामपादं पृष्ठतोगतदक्षिणपाणिना प्रगृह्य वामजानोर्बहिर्वेष्टितदक्षपादं दक्षिणपादजानोर्बहिर्वेष्टितवामपाणिना प्रगृह्य । दक्षभागेन पृष्ठतो मुखं यथा स्यादेवं परिवर्तितांगश्चाभ्यसेत् ॥ २६ ॥

मत्स्येंद्रासनस्य फलमाह॥मत्स्येंद्रेति॥प्रचंडं दुःसहं रुजां रोगाणां मंडलं समूहः तस्य खंडने छेदनेऽस्त्रमस्त्रमिव तादृशं मत्स्येंद्रपीठं मत्स्येंद्रासनम् । अभ्यासतः प्रत्य-

॥ भाषा ॥

ऐसो एक हस्त फैलायकरकें ओर ग्रहण कीनो हे अंगुष्ठ जामें एसो दूसरो हस्त ताय कर्णपर्यंत आकुंचित करे ये धनुरासन कहैं है ॥ २५ ॥

मत्स्येंद्रासन कहैं हें ॥ वामोरुमूलेति ॥ वांये ऊरूके मूलमें धन्यो जो जेमनो पाम ताय पीठमाहूतें गयो जो हस्त ताकर एढीको ऊपरलो भाग ताय ग्रहणकरके फिर जैमने पामके जानूके बहिःप्रदेशमे वेष्टित जो वामपादको जानू ताके बहार वेष्टित जैमनो हस्त कर अंगूठा पकड कर वर्त्त रह्यो है अंग जाको ऐसो योगी या आसनमें स्थिति करे ये आसन मत्स्येंद्रनाथनें कह्यो हे यातें याहि नामकर आसन कहैं हें ऐसेंही जैमने पामके ऊरूके मूलमें धन्यो जो वामपाद ताय पृष्ठमाहूतें दक्षिण हस्तकर ग्रहणकर वामजानूके बहार वेष्टित दक्षिणपामको जानुके बहार वेष्टित वामहस्तकर ग्रहणकरकें स्थित होय ऐसें अभ्यास करें ये मत्स्येंद्रासन हे ॥ २६ ॥

अब मत्स्येंद्रासनको फल कहैं हैं ॥ मत्स्येंद्रेति ॥ प्रचंड दुःसह ऐसे जो रोगनको मंडलरूप समूह ताके छेदन करवेकूं अस्त्रकीसी नाई मत्स्येंद्रासन हे ओर जो नित्य याको आवर्तनरूप अभ्यास करो करैं जिन पुरुषनकूं उदरमें जो जाठराग्नि ताकी प्रकृष्ट वृद्धि

मू० प्रसार्य पादौ भुवि दंडरूपौ दोर्भ्यां पदाग्रद्वितयं गृहीत्वा ॥
जानूपरि न्यस्तललाटदेशो वसेदिदं पश्चिमतानमाहुः॥२८॥
इति पश्चिमतानमासनाग्र्यं पवनं पश्चिमवाहिनं करोति ॥
उदयं जठरानलस्य कुर्यादुदरे कार्श्यमरोगतां च पुंसाम्॥२९

॥ टीका ॥

इमावर्तनरूपादभ्यासात् पुंसां जठरस्य जठराग्नेः प्रकृष्टां दीप्तिं वृद्धिं ददाति । तथा कुंडलिन्या आधारशक्तेः प्रबोधं निद्राभावं तथा चंद्रस्य तालुन उपरिभागे स्थितस्य नित्यं क्षरतः स्थिरत्वं क्षरणाभावं च ददातीत्यर्थः ॥ २७ ॥

पश्चिमतानासनमाह ॥ प्रसार्येति ॥ भुवि भूमौ दंडस्य रूपमिव रूपं ययोस्तौ दंडाकारौ श्लिष्टगुल्फौ प्रसार्य प्रसारितौ कृत्वा । दोर्भ्यामाकुंचिततर्जनीभ्यां भुजाभ्यां पदोः पदयोश्चाग्रे अग्रभागौ तयोर्द्वितयं द्वयमंगुष्ठप्रदेशयुग्मं बलादाकर्षणपूर्वकं यथा जान्वधोभागस्य भूमेरुत्थानं न स्यात्तथा गृहीत्वा । जानोरुपरि न्यस्तो ललाटदेशो येन तादृशो यत्र वसेत् । इदं पश्चिमताननामकमासनमाहुः॥२८॥

अथ तत्फलम् ॥ इतीति ॥ इति पूर्वोक्तमासनेष्वग्र्यं मुख्यं पश्चिमतानं पवनं प्राणं पश्चिमवाहिनं पश्चिमेन पश्चिममार्गेण सुषुम्नामार्गेण वहतीति पश्चिमवाही तं तादृशं करोति । जठरानलस्य जठरे योऽनलोऽग्निस्तस्योदयं वृद्धिं कुर्यात् । उदरे मध्यप्रदेशे कार्श्यं कृशत्वं कुर्यात् । अरोगतामारोग्यं चकारान्नाडीवलनादिसाम्यं कुर्यात् ॥ २९ ॥

॥ भाषा ॥

देवे हे ओर तेसेंही कुंडलिनी जो आधारशक्ती ताकूं प्रबोध अर्थात् निद्राको अभाव करें हे ओर तेसेंही फिर चंद्र जो तालुवेके उपरि भागमें स्थित नित्य क्षरो करे हे ताकूं क्षरणको अभाव स्थिर करे है ॥ २७ ॥

अब पश्चिमतान आसन कहें है ॥ प्रसार्येति ॥ दोनों हस्त पृथ्वीमें दंडकीसीनाई लंबे करै दोनों पाम लंबे करे भुजानकर दोनों पामनके अग्रभागके दोनों अंगूठा बलतें खेंचे रहै फिर जानूनके ऊपर ललाटधरकैं स्थित होय जाय ये पश्चिमतान नाम आसन हें ॥ २८ ॥

अथ फलम् ॥ इतीति ॥ पहलें कहे जो आसन तिनमें मुख्य हे यह पश्चिमतान आसन सो सुषुम्नामार्गकरकें बहरह्यो जो प्राण ताय सुषुम्ना कर वहनलगै ऐसो प्राणकूं करदे ओर उदरमें जो अग्नि ताकी वृद्धि करें हें ओर उदरके मध्यदेशमें कृशता करें है ओर आरोग्य करै हे ओर प्रकारतें नाडीवलनादिककूं समान करै है ॥ २९ ॥

मू० धरामवष्टभ्य करद्वयेन तत्कूर्परस्थापितनाभिपार्श्वः ॥
उच्चासनो दंडवदुत्थितः स्यान्मयूरमेतत्प्रवदंति पीठम् ॥ ३० ॥
हरति सकलरोगानाशु गुल्मोदरादीनभिभवति च दोषाना-
सनं श्रीमयूरम् ॥ बहु कदशनभुक्तं भस्म कुर्यादशेषं जन-
यति जठराग्निं जारयेत्कालकूटम् ॥ ३१ ॥

॥ टीका ॥

अथ मयूरासनमाह ॥ धरामिति ॥ करद्वयेन करयोर्द्वयं युग्मं तेन धरां भूमिं अवष्टभ्यावलंब्य प्रसारितांगुली भूमिसंलग्नतलौ सन्निहितौ करौ कृत्वेत्यर्थः । तस्य करद्वयस्य कूर्परयोर्भुजमध्यसंधिभागयोः स्थापिते धृते नाभेः पार्श्वे पार्श्वभागौ येन स उच्चासन उच्चमुन्नतमासनं यस्यैतादृशः खे शून्ये दंडवद्दंडेन तुल्यमुत्थित ऊर्ध्वं स्थितो यत्र भवति तन्मायूरं मयूरस्येदं तत्संबंधित्वात्तन्नामकं प्रवदंति । योगिन इति शेषः ॥ ३० ॥

मयूरासनगुणानाह ॥ हरतीति ॥ गुल्मो रोगविशेषः उदरं जलोदरं ते आदिनी येषां प्लीहादीनां ते तथा तान्सकलरोगान् सकला ये रोगास्तानाशु झटिति हरति नाशयति । श्रीमयूरमासनमिति सर्वत्र संबध्यते । दोषान्वातपित्तकफानालस्यदांश्चाभिभवति तिरस्करोति । बहतिशयितं कदशनं कदन्नं यद्भुक्तं तदशेषं समस्तं भस्म कुर्यात्पाचयेदित्यर्थः । जठराग्निं जठरानलं जनयति प्रादुर्भावयति । कालकूटं विषं कालकूटवदपकारकान्नं समस्तं जारयेज्जीर्णं कुर्यात्पाचयेदित्यर्थः ॥ ३१ ॥

॥ भाषा ॥

अब मयूरासन कहें है ॥ धरामिति ॥ दोनों भुजा पृथ्वीमें धरकरकैं दोनों भुजानकी मध्य संधिखोनीके यहांतक धारण कियो हे नाभिको पार्श्वभाग जाने ओर उंचो हे आसन जाको पृथ्वीतें उंचो उठ करकैं ऊर्ध्व स्थित जामे होय ताकूं मयूरासन कहें है मयूरके संबंधि कहे हे ॥ ३० ॥

अब मयूरासनके गुण कहे हें ॥ हरतीति ॥ जलोदर प्लीहकूं आदिले सकल रोगनकूं शीघ्र हरे ओर वात पित्त कफ इने ओर आलस्यकूं देवेवारे तिने तिरस्कार करे हे ओर बहोत कुत्सित अन्न भोजन कियो होय ताय भस्म करे ओर जाठराग्निकूं प्रगट करे विषकी समान अपकार करवेवारे अन्नकूं पचायदे ॥ ३१ ॥

मू० उत्तानं शववद्भूमौ शयनं तच्छवासनम् ॥
शवासनं श्रांतिहरं चित्तविश्रांतिकारकम् ॥ ३२ ॥
चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च ॥
तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम् ॥ ३३ ॥
सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ॥
श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेत्सिद्धासने सदा ॥ ३४ ॥

॥ टीका ॥

शवासनमाहार्धेन ॥ उत्तानमिति ॥ शवेन मृतशरीरेण तुल्यं शववदुत्तानं भूमिसंलग्नं पृष्ठं यथा स्यात्तथा शयनं निद्रायामिव सन्निवेशो यत्तच्छवासनं शवाख्यमासनम् । शवासनप्रयोजनमाह । उत्तरार्धेन । शवासनं श्रांतिहरं श्रांतिं हठाभ्यासश्रमं हरतीति श्रांतिहरं चित्तस्य विश्रांतिर्विश्रामस्तस्याः कारकम् ॥ ३२ ॥

वक्ष्यमाणासनचतुष्टयस्य श्रेष्ठत्वं वदन्नाह ॥चतुरशीतीति॥ शिवेनेश्वरेण चतुरधिकाशीतिसंख्याकान्यासनानि कथितानि चकाराच्चतुरशीतिलक्षणानि च । तदुक्तं गोरक्षनाथेन । ‘ आसनानि च तावंति यावंत्यो जीवजातयः । एतेषामखिलान्भेदान्विजानाति महेश्वरः ॥ चतुरशीतिलक्षाणि एकैकं समुदाहृतम् । ततः शिवेन पीठानां षोडशोनं शतं कृतम् ॥’ इति । तेभ्यः शिवोक्तचतुरशीतिलक्षासनानां मध्ये प्रशस्तानि यानि चतुरशीत्यासनानि तेभ्य आदाय गृहीत्वा । सारभूतं श्रेष्ठभूतं चतुष्कमहं ब्रवीमीत्यन्वयः ॥ ३३ ॥

तदेव चतुष्कं नाम्ना निर्दिशति ॥ सिद्धमिति ॥ सिद्धं सिद्धासनं । पद्मं

॥ भाषा ॥

शवासनमाह ॥ उत्तानमिति ॥ शवकीसीनाई पीठ पृथ्वीमै लगाय शयन करजाय निद्रा कीसीनाई स्थित होय सो शवासन आसन है याके करवेको प्रयोजन कहा ये आसन हठाभ्यासके श्रमकूं दूर करे हे ओर चित्तकूं विश्रामको करवेवारो हे ॥ ३२ ॥

कहेंगे च्यार आसन तिनकूं श्रेष्ठपनो कहे हें ॥ चतुरशीतीति ॥ चोराशी लक्ष आसन हें जितने जीवजाती हें तितनेही आसन हें उनके भेद शिवजी जाने हे उनमेंतें चोराशी विख्यात हे चोराशीनमेंतै ग्रहण करकै सारभूत श्रेष्ठ च्यार आसन मे कहूहूं इनकूं चतुष्क नाम करकै कहे हें ॥ ३३ ॥

सिद्धमिति ॥ सिद्धासन १ पद्मासन २ सिंहासन ३ भद्रासन ४ ये च्यार आसन श्रेष्ठ हें

मू० योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेन्मेंढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ॥ स्थाणुः संयमितेंद्रियोऽचलदृशा पश्येद्भ्रुवोरंतरं ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥ ३५ ॥

॥ टीका ॥

पद्मासनं । सिंहं सिंहासनं । भद्रं भद्रासनं । इति चतुष्टयं श्रेष्ठमतिशयेन प्रशस्यं तत्रापि चतुष्टये सुखे सुखकरे सिद्धासने सदा तिष्ठेत् । एतेन सिद्धासनं चतुष्टयेप्युत्कृष्टमिति सूचितम् ॥ ३४ ॥

आसनचतुष्टयेप्युत्कृष्टत्वात्प्रथमं सिद्धासनमाह ॥ योनिस्थानकमिति ॥ योनिस्थानमेव योनिस्थानकं । स्वार्थे कप्रत्ययः । गुदोपस्थयोर्मध्यमप्रदेशे पदं योनिस्थानं तत् अंघ्रिर्वामश्चरणस्तस्य मूलेन पार्ष्णिभागेन घटितं संलग्नं कृत्वा । स्थानांतरं एकं पादं दक्षिणं पादं मेंढ्रेंद्रियस्योपरिभागे दृढं यथा स्यात्तथा विन्यसेत् । हृदये हृदयसमीपे हनुं चिबुकं सुस्थिरं सम्यक्स्थिरं कृत्वा हनुहृदययोश्चतुरंगुलमंतरं यथा भवति तथा कृत्वेति रहस्यं । संयमितानि विषयेभ्यः परावृत्तानींद्रियाणि येन स तथा । अचला या दृक् दृष्टिस्तया भ्रुवोरंतरं मध्यं पश्येत् । हि प्रसिद्धं मोक्षस्य यत्कपाटं प्रतिबंधकं तस्य भेदं नाशं जनयतीति तादृशं सिद्धानां योगिनां । आस्तेऽत्रास्यतेऽनेनेति वा आसनं सिद्धासननामकमिदं भवेदित्यर्थः ॥ ३५ ॥

॥ भाषा ॥

विख्यात हें ये सुखके करवेवारे इन च्यारोनमेंतेंबी सुखकारी सिद्धासन हे ये च्यारोनमें श्रेष्ठ हे याए सदा करोकरे ॥ ३४ ॥

च्यारो आसनमें उत्कृष्ट हे यातें प्रथम सिद्धासन कहें हें ॥ योनिस्थानकमिति ॥ गुदा ओर उपस्थ इनको मध्यदेश सो योनीस्थान है वांये पामकी एडी योनीस्थानमें लगाय स्थित करे ऐसेंही जेमनो पाम इंद्रियके ऊपर भागमें एडी लगाय स्थित करे ओर हृदयके च्यार अंगुल उपर चिबुक जो ठोडी स्थित करे विषयनतें इंद्रियनकूं एक अचल-दृष्टी कर भ्रुकुटीको मध्य देखे निश्चय मोक्षको कपाट, ताकूं दूर करे हे ये आसन सिद्धासन नाम कह्यो है ॥ ३५ ॥

मतांतरे तु ॥

मेंढ्रादुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि ॥
गुल्फांतरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं भवेत् ॥ ३६ ॥
एतत्सिद्धासनं प्राहुरन्ये वज्रासनं विदुः ॥
मुक्तासनं वदंत्येके प्राहुर्गुप्तासनं परे ॥ ३७ ॥
यमेष्विव मिताहारमहिंसां नियमेष्विव ॥
मुख्यं सर्वासनेष्वेकं सिद्धाः सिद्धासनं विदुः ॥ ३८ ॥

॥ टीका ॥

मत्स्येंद्रसंमतं सिद्धासनमुक्त्वाऽन्यसंमतं वक्तुमाह ॥ मतांतरे त्विति ॥ तदेव दर्शयति ॥ मेंढ्रादिति ॥ मेंढ्रादुपस्थादुपर्यूर्ध्वभागे सव्यं वामगुल्फं विन्यस्य तथा सव्यवदुपरि मुख्यपादस्योपरि न तु सव्यगुल्फस्य । गुल्फांतरं दक्षिणगुल्फं च निक्षिप्य वसेदिति शेषः । इदं सिद्धासनं मतांतराभिमतमित्यभेद इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

तत्र प्रथमं महासिद्धसंमतमिति स्पष्टीकर्तुमस्यैव मतभेदान्नामभेदानाह ॥ एतदिति ॥ एतत्पूर्वोक्तं सिद्धासनं सिद्धासननामकं प्राहुः । केचिदित्यध्याहारः । अन्ये वज्रासनं वज्रासनसंज्ञकं विदुः जानंति । एके मुक्तासनं मुक्तासनाभिधं वदंति । परे गुप्तासनं गुप्तासनाख्यं प्राहुः । अत्रासनाभिज्ञाः । यत्र वामपादपार्ष्णि योनिस्थाने नियोज्य दक्षिणपादपार्ष्णिर्मेंढ्रादुपरि स्थाप्यते तत्सिद्धासनं । यत्र वामपादपार्ष्णि योनिस्थाने नियोज्य दक्षिणपादपार्ष्णिर्मेंढ्रादुपरि स्थाप्यते तद्वज्रासनं । यत्र तु दक्षिणसव्यपार्ष्णिद्वयमुपर्यधोभागेन संयोज्य योनिस्थानेन संयोज्यते तन्मुक्तासनं । यत्र च पूर्ववत्संयुक्तं पार्ष्णिद्वयं मेंढ्रादुपरि निधीयते तद्गुप्तासनमिति॥३७॥

अथ सप्तभिः श्लोकैः सिद्धासनं प्रशंसति ॥ यमेष्वित्यादिभिः ॥ यमेषु मिता-

॥ भाषा ॥

मत्स्येंद्रसंमत सिद्धासन कह करकें मतांतरकें संमत कहें हें ॥ मेंढ्रादिति ॥ उपस्थतें उपरि भागमें वामो गुल्फ धरकरके वामपामके ऊपर दक्षिण पाम धरकें स्थित होय ये सिद्धासन मतांतरके अभिमत हे ॥ ३६ ॥

एतदिति ॥ पूर्व कह्यो जो सिद्धासन ताय सिद्धासन कोई कहें हैं ओर कोई वज्रासनसंज्ञक जाने हें कोई मुक्तासन नाम कहें हें ओर कोई गुप्तासन कहे हैं ॥ ३७ ॥

अब सात श्लोकनकर सिद्धासनकी प्रशंसा करें हें ॥ यमेष्वित्यादिभिः ॥ यमनके

चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत् ॥
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम् ॥ ३९ ॥
आत्मध्यायी मिताहारी यावद्द्वादशवत्सरम् ॥
सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात् ॥ ४० ॥
किमन्यैर्बहुभिः पीठैः सिद्धे सिद्धासने सति ॥
प्राणानिले सावधाने बद्धे केवलकुंभके ॥ ४१ ॥

॥ टीका ॥

हारमिव । मिताहारो वक्ष्यमाणः । 'सुस्निग्धमधुराहारः' इत्यादिना । नियमेषु अहिंसामिव । सर्वाणि यान्यासनानि तेषु सिद्धाः एकं सिद्धासनं मुख्यं विदुरिति संबंधः ॥ ३८ ॥

॥ चतुरशीतीति ॥ चतुरधिकाशीतिसंख्याकानि यानि पीठानि तेषु सिद्धमेव सिद्धासनमेव सदा सर्वदाभ्यसेत् । सिद्धासनस्य सदाभ्यासे हेतुगर्भं विशेषणं । द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनं शोधकम् ॥ ३९ ॥

आत्मध्यायीति॥आत्मानं ध्यायतीत्यात्मध्यायी मित आहारोऽस्यास्तीति मिताहारी यावंतो द्वादश वत्सराः यावद्द्वादशवत्सरं । 'यावदवधारणे' इत्यव्ययीभावः समास । द्वादशवत्सरपर्यंतमित्यर्थः । सदा सर्वदा सिद्धासनस्याभ्यासाद्योगी योगाभ्यासी निष्पत्तिं योगसिद्धिमाप्नुयात्प्राप्नुयात् । योगांतराभ्यासमंतरेण सिद्धासनाभ्यासमात्रेण सिद्धिं प्राप्नुयादित्यर्थः ॥ ४० ॥

किमन्यैरिति ॥ सिद्धासने सिद्धे सत्यन्यैर्बहुभिः पीठैरासनैः किं । न किमपी-

॥ भाषा ॥

बीचमे नियमित आहार कीसीनाई ओर नियमनमें अहिंसा कीसीनाई योगी संपूर्ण आसननमें सिद्धासन मुख्य कहें हें ॥ ३८ ॥

चतुरशीतीति ॥ चौराशी आसननमेंसुं सिद्ध ये सिद्धासन हे याये सदां अभ्यास करे क्यों के बहत्तर हजार नाडीनके मैलकूं शोधन करे हे ॥ ३९ ॥

आत्मध्यायीति ॥ आत्माये ध्यावे सो आत्मध्यायी ओर प्रमाणको भोजन करे सो मिताहारी ऐसो होय द्वादश वर्षपर्यंत सर्वदा सिद्धासनको अभ्यास करै तो योगाभ्यासी योगसिद्धि प्राप्त होय ओर योगांतराभ्यास विनाहि या सिद्धासनके अभ्यास मात्र करकेंहिं सिद्धि प्राप्त होय ॥ ४० ॥

किमन्यैरिति ॥ जो सिद्धासन सिद्ध होय जाय तो फिर ओर आसन बोह्ोतनकरकें कहा

मू॰ उत्पद्यते निरायासात्स्वयमेवोन्मनी कला॥
तथैकस्मिन्नेव दृढे सिद्धे सिद्धासने सति ॥
बंधत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते ॥ ४२ ॥
नासनं सिद्धसदृशं न कुंभः केवलोपमः ॥
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः ॥ ४३ ॥

अथ पद्मासनं ॥

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा ॥
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ॥

॥ टीका ॥

त्यर्थः । सावधाने प्राणानिले प्राणवायौ केवलकुंभके बद्धे सति ॥ ४१ ॥

उत्पद्यत इति ॥ उन्मनी उन्मन्यवस्था सा कलेवाह्लादकत्वाच्चंद्रलेखेव निरायासादनायासात्स्वयमेवोत्पद्यत उदेति ॥ तथेति ॥ तथोक्तप्रकारेणैकस्मिन्नेव सिद्धे दृढे बद्धे सति बंधत्रयं मूलबंधोड्डीयानबंधजालंधरबंधरूपमनायासात् 'पार्ष्णिमार्गेण संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम्' इत्यादिवक्ष्यमाणमूलबंधादिष्वायासस्तं विनैव स्वयमेवोपजायते स्वत एवोत्पद्यत इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

नासनमिति ॥ सिद्धेन सिद्धासनेन सदृशमासनं । नास्तीति शेषः । केवलेन केवलकुंभकेनोपमीयत इति केवलोपमः कुंभः कुंभको नास्ति । खेचरीमुद्रासमा मुद्रा नास्ति नादसदृशो लयो लयहेतुर्नास्ति ॥ ४३ ॥

पद्मासनं वक्तुमुपक्रमते ॥ अथेति ॥ पद्मासनमाह ॥ वामोरूपरीति ॥ वामो य ऊरुस्तस्योपरि दक्षिणं । चकारः पादपूरणे । संस्थाप्य सम्यगुत्तानं स्थापयित्वा

॥ भाषा ॥

कछु नही सावधान होय प्राणवायु पुरकरेचकविना केवल कुंभककर बद्धक होय तो-॥४१॥

तुर्य अवस्था ये आल्हादकूं देवे हे चंद्रलेखाकीसी नाई सो अनायासतेंही आपही प्रगट होय जाय ओर कहे प्रकारकर एक सिद्धासन सिद्ध होय तो बंधत्रय अर्थात् मूलबंध उड्डियानबंध जालंधरबंध ये तीनों बंध अगाडी खोलेगे सो इन तीनों बंधनमें श्रम करे बिना अपने आप तीनों बंध प्रगट होय जाय ॥ ४२ ॥

नासनमिति । सिद्धासनकी समान आसन नही. कुंभकसमान प्राणायाम नही. ओर खेचरीसमान मुद्रा नही. ओर नादसमान लय नही. कहा लयको हेतु नही है ॥ ४३ ॥

अब पद्मासन कहे है ॥ वामोरूपरीति ॥ वाम जो ऊरु ताके ऊपरि दक्षिण चरण स्था-

मू० अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते॥४४॥
उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ॥
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ ॥ ४५ ॥
नासाग्रे विन्यसेद्राजदंतमूले तु जिव्हया ॥

॥ टीका ॥

वामं सव्यं चरणं तथा दक्षिणचरणवद्दक्षो दक्षिणो य ऊरुस्तस्योपरि संस्थाप्य प-श्चिमेन भागेन पृष्ठभागेनेति । विधिर्विधानं करयोरित्यर्थात् । तेन कराभ्यां हस्ता-भ्यां दृढं यथा स्यात्तथा पादांगुष्ठौ धृत्वा गृहीत्वा । दक्षिणं करं पृष्ठतः कृत्वा । वामोरुस्थितदक्षिणचरणांगुष्ठं गृहीत्वा वामकरं पृष्ठतः कृत्वा । दक्षिणोरुस्थितवाम-चरणांगुष्ठं गृहीत्वेत्यर्थः । हृदये हृदयसमीपे । सामीपिकाधारे सप्तमी । चिबुकं हनुं निधायोरसश्चतुरंगुलांतरे चिबुकं निधायेति रहस्यं । नासाग्रं नासिकाग्रमालो-कयेत्पश्येद्यत्रैतद्यमिनां योगिनां व्याधेर्विनाशं करोतीति व्याधिविनाशकारि पद्मा-सनमेतन्नामकं प्रोच्यते सिद्धैरिति शेषः ॥ ४४ ॥

मत्स्येंद्रनाथाभिमतं पद्मासनमाह ॥ उत्तानाविति ॥ उत्तानौ ऊरुसंलग्नपृष्ठभा-गौ चरणौ पादौ प्रयत्नतः प्रकृष्टाद्यत्नादूरुसंस्थावूर्वोः सम्यक् तिष्ठत इत्यूरुसंस्थौ ता-दृशौ कृत्वा । ऊर्वोर्मध्ये उरुमध्ये । तथा चार्थे । पाणी करावुत्तानौ कृत्वा । ऊरु-संस्थोत्तानपादोभयपार्ष्णिसंलग्नपृष्ठं सव्यं पाणिमुत्तानं कृत्वा तदुपरि दक्षिणं पाणिं चोत्तानं कृत्वेत्यर्थः । ततस्तदनंतरं दृशौ दृष्टी-॥ ४५ ॥

नासाग्र इति । नासाग्रे नासिकाग्रे विन्यसेद्विशेषेण निश्चलतया न्यसेदित्यर्थः ॥

॥ भाषा ॥

पन करकें वाम चरण दक्षिण ऊरूके उपरि स्थापन करकें दक्षिण हस्त पीठमाऊंकर वाम उ-रूकें उपरि स्थित चरणको अंगुष्ठ ताय ग्रहण करे ओर ऐसेही वामहस्त पृष्ठभाग कर दक्षिण उरूके उपरि स्थित वामचरणको अंगुष्ठ ग्रहण करकें ओर हृदयसमीप ढोढी धरकें नासिकाको अग्र ताय देखे ये योगीनकी व्याधीकूं दूर करे ऐसो पद्मासन सिद्धनने कह्यो है ॥ ४४ ॥

अब मत्स्येंद्रनाथके संमत पद्मासन कहें हैं ॥ उत्तानाविति ॥ ऊरूनमें लग रह्यो हे पृष्ठभाग जिनको ऐसे चरण ऊरूनमें स्थित करकें दोनो हस्त सूधे एढीनके ऊपर पहलें बांयो हस्त ताके ऊपरि जेमनो हस्त धरे ता पीछै दृष्टी-॥ ४५ ॥

नासिकाके अग्रपे निश्चल राखे फिर डाढानको मूल दक्षिण वाम भागमें स्थित दोन

मू० उत्तंभ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः ॥ ४६ ॥
इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ॥
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते भुवि ॥ ४७ ॥
कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनं गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यायंश्च तच्चेतसि ॥ वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोत्सारयन्पूरितं न्यंचन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥ ४८ ॥

॥ टीका ॥

राजदंतानां दंष्ट्राणां सव्यदक्षिणभागे स्थितानां मूले उभे मूलस्थाने जिव्हया उत्तंभ्य ऊर्ध्वं स्तंभयित्वा । गुरुमुखादवगंतव्योऽयं जिव्हाबंधः चिबुकं वक्षसि निधायेति शेषः। शनैर्मंदमंदं पवनं वायुमुत्थाप्य । अनेन मूलबंधः प्रोक्तः । मूलबंधोऽपि गुरुमुखादेवावगंतव्यः । वस्तुतस्तु जिव्हाबंधेनैवायं चरितार्थ इति हठरहस्यविदः ॥ ४६ ॥

इदमिति ॥ एवं यत्रास्यते तदिदं पद्मासनं पद्मासनाभिधानं प्रोक्तं । आसनज्ञैरिति शेषः । कीदृशं सर्वेषां व्याधीनां विशेषेण नाशनं येनकेनापि भाग्यहीनेन दुर्लभं । धीमता भुवि भूमौ लभ्यते प्राप्यते ॥ ४७ ॥

एतच्च महायोगिसंमतमिति स्पष्टयितुमन्यदपि पद्मासने कृत्य विशेषमाह ॥ कृत्वेति ॥ संपुटितौ संपुटीकृतौ करावुत्संगस्थाविति शेषः । दृढतरमतिशयेन दृढं सुस्थिरं पद्मासनं बध्वा कृत्वेत्यर्थः । चिबुकं हनुं गाढं दृढं यथा स्यात्तथा वक्षसि वक्षःसमीपे सन्निधाय संनिहितं कृत्वा चतुरंगुलांतरेणेति योगिसंप्रदायाज्ज्ञेयं । जालंधरबंधं कृत्वेत्यर्थः । तत्स्वस्वेष्टदेवतारूपं ब्रह्म वा । 'ओंतत्सदिति निर्देशो

॥ भाषा ॥

मूलस्थानमें जिव्हा कर ऊर्ध्व स्तंभनकरके गुरुमुखतें जिव्हाबंध जानना योग्य हे. फिर ढोढी वक्षःस्थलमें चतुरंगुल अंतर रहे ऐसी धरकर शनेशने मंदमंद पवन उठाय करके ये मूलबंध हे सोबी गुरुमुखतें जानना योग्य हे ॥ ४६ ॥

इदमिति । ये पद्मासन कैसो हे सर्वव्याधीनकूं नाश करे हे ये भाग्यहीनकर दुर्लभ हे. पृथ्वीमे पुण्यवान् धीमान् पुरुषोंको प्राप्त होय हैं ॥ ४७ ॥

ये महायोगीनके संमत हे याते ओरबी पद्मासनमें कृत्य विशेष कहें हें ॥ कृत्वेति ॥ दोनों हस्तसंपुटकर गोदमें स्थितकरके फिर अतिस्थिर पद्मासन बांधकर चिबुक कहिये ढोढी

मू० पद्मासने स्थितो योगी नाडीद्वारेण पूरितम् ॥
मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ४९ ॥

अथ सिंहासनं ॥

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥
दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके ॥ ५० ॥

॥ टीका ॥

ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ' इति भगवदुक्तेः । चेतसि चित्ते ध्यायन् चिंतयन् । अपानमनिलं अपानवायुं ऊर्ध्वं प्रोत्सारयन्मूलबंधं कृत्वा सुषुम्नामार्गेण प्राणमूर्ध्वं नयन् पूरितं पूरकेण अंतर्धारितं प्राणंन्यंचन्नीचैरधोंचन् गमयन् । अंतर्भावितण्यर्थोऽचतिः । प्राणापानयोरैक्यं कृत्वेत्यर्थः । नरः पुमानतुलं बोधं निरुपमज्ञानं शक्तिप्रभावाच्छक्तिराधारशक्तिः कुंडलिनी तस्याः प्रभावात्सामर्थ्यादुपैति प्राप्नोति । प्राणापानयोरैक्ये कुंडलिनीबोधो भवति । कुंडलिनीबोधे सुषुम्नामार्गेण प्राणो ब्रह्मरंध्रं गच्छति। तत्र गते चित्तस्थैर्यं भवति चित्तस्थैर्ये संयमादात्मसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

पद्मासन इति ॥ पद्मासने स्थितो योगी योगाभ्यासी पूरितं पूरकेणांतर्नीतं मारुतं वायुं सुषुम्नामार्गेण मूर्धानं । नीत्वेति शेषः । धारयेत्स्थिरीकुर्यात्स मुक्तः अत्र संशयो नास्तीत्यन्वयः ॥ ४९ ॥

सिंहासनमाह ॥ गुल्फौ चेति॥वृषणस्याधः अधोभागे सीवन्याः पार्श्वयोः सीवन्या उभयभागयोः क्षिपेत्प्रेरयेत्स्थापयेदिति यावत् । गुल्फस्थापनप्रकारमेवाह ॥

॥ भाषा ॥

हृदयसमीप स्थितकर ये जालंधर बंध करकें फिर अपने अपने इष्टदेवरूप अथवा ब्रह्म ताय चित्तमें ध्यान चिंतन करत अपानवायु ताय ऊपरि चढावत मूलबंध कर सुषुम्नामार्गकरके प्राण ऊपरि प्राप्त करे ओर पूरक करकें अंतर धारण कऱ्यो जो प्राण ताय नीचें प्राप्त करत प्राण ओर अपना इनकूं ऐक्य करकें पुरुष अतुलबोध ओर नहीं हें उपमा जाकी ऐसो ज्ञान शक्ति अर्थात् कुंडलिनीके प्रभावतें प्राप्त होय ओर प्राण अपानके ऐक्यतें कुंडलिनीको बोध होय हे ॥ ४८ ॥

कुंडलिनीको बोध होतेंही सुषुम्नामार्गकरकें प्राण ब्रह्मरंध्रकूं जायहे प्राण ब्रह्मरंध्रकूं जाय हें तब चित्त स्थिर होय तब संयमतें आत्मसाक्षात्कार होय है इत्यर्थः पद्मासनमें स्थित योगी पूरककरकें भीतर प्राप्त हुयो जो वायु ताय सुषुम्नामार्गकरकें मस्तकमें ले जायकर स्थिर करे सो मुक्त होय यामें संशय नाहीं ॥ ४९ ॥

अब सिंहासन कहें हें ॥ गुल्फौ चेति ॥ वृषणके नीचैं सीवनिके दक्षिणभागमें वांये

मू० हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वांगुलीः संप्रसार्य च ॥
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ॥ ५१ ॥
सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिपुंगवैः ॥
बंधत्रितयसंधानं कुरुते चासनोत्तमम् ॥ ५२ ॥

अथ भद्रासनं ॥

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥
सव्यगुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे ॥ ५३ ॥

॥ टीका ॥

दक्षिण इति । सीवन्या दक्षिणे भागे सव्यगुल्फं स्थापयेत् सव्यके सीवन्याः सव्यभागे दक्षिणगुल्फं स्थापयेत् ॥ ५० ॥

हस्ताविति ॥ जान्वोरुपरि हस्तौ तु संस्थाप्य सम्यक् जानुसंलग्नतलौ यथा स्यातां तथा स्थापयित्वा । स्वांगुलीः हस्तांगुलीः संप्रसार्य सम्यक् प्रसारयित्वा । व्यात्तवक्त्रः संप्रसारितललज्जिव्हमुखः सुसमाहितः एकाग्रचित्तः नासाग्रं नासिकाग्रं यस्मिन्निरीक्षेत ॥ ५१ ॥

सिंहासनमिति । एतत्सिंहासनं भवेत् । कीदृशं योगिपुंगवैः योगिश्रेष्ठैः पूजितं प्रस्तुतमासनेषूत्तमं सिंहासनं बंधानां मूलबंधादीनां त्रितयं तस्य संधानं संनिधानं कुरुते ॥ ५२ ॥

भद्रासनमाह ॥ गुल्फाविति ॥ वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः सीवन्या उभयतः । गुल्फौ पादग्रंथी क्षिपेत् । क्षेपणप्रकारमेवाह । सव्यगुल्फमिति । सव्ये सीवन्याः पार्श्वे सव्यगुल्फं क्षिपेत् । तथा पादपूरणे । दक्षगुल्फं तु दक्षिणे सीवन्याः पार्श्वे क्षिपेत् ॥ ५३ ॥

॥ भाषा ॥

पामकी एडी स्थापन करे ओर सीवनिके वामभागमे दक्षिणपामकी एडी स्थापन करै ॥ ५० ॥

हस्ताविति ॥ फिर जानुके उपरि दोनों हस्त ओंधे धरकर अंगुली फेलाया कर मुख फाडकर जिव्हा बहार निकास एकाग्र चित्त होय नासिकाको अग्र ताय देखे ॥ ५१ ॥

सिंहासनमिति । ये सिंहासन केसोहे योगीनमें श्रेष्ठ तिनकर पूजित आसननमें उत्तम सिंहासन सो मूलबंधादिक तीन तिनकूं प्रगट करे हें ॥ ५२ ॥

अब भद्रासन कहें हें ॥ गुल्फौ चेति॥ वृषणके नीचे सीवनिके वाम भागमें वाम पामकी एढी धरे ओर सीवनिके दक्षिणभागमें जेमने पामकी एढी धरे ॥ ५३ ॥

मू० पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बध्वा सुनिश्चलम् ॥
भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविनाशनम् ॥ ५४ ॥
गोरक्षासनमित्याहुरिदं वै सिद्धयोगिनः ॥
एवमासनबंधेषु योगींद्रो विगतश्रमः ॥ ५५ ॥
अभ्यसेन्नाडिकाशुद्धिं मुद्रादिपवनक्रियाम् ॥
आसनं कुंभकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा ॥ ५६ ॥

॥ टीका ॥

पार्श्वपादाविति ॥ पार्श्वपादौ च पार्श्वसमीपगतौ पादौ पाणिभ्यां भुजाभ्यां दृढं बध्वा । परस्परसंलग्नांगुलिभ्यामुदरसंलग्नतलाभ्यां पाणिभ्यां बध्वेत्यर्थः । एतद्भद्रासनं भवेत् । कीदृशं सर्वेषां व्याधीनां विशेषेण नाशनम् ॥ ५४ ॥

गोरक्षेति ॥ सिद्धाश्च ते योगिनश्च सिद्धयोगिनः इदं भद्रासनं गोरक्षासनमित्याहुः । गोरक्षेण प्रायशोऽभ्यस्तत्वाद्गोरक्षासनमिति वदंति । आसनान्युक्तानि । तेषु यत्कर्तव्यं तदाह । एवमिति । एवमुक्तेष्वासनबंधेषु बंधनप्रकारेषु विगतः श्रमो यस्य स विगतश्रम आसनानां बंधेषु श्रमरहितः । योगिनामिंद्रो योगींद्रः ॥ ५५ ॥

अभ्यसेदिति ॥ नाडिकानां नाडीनां शुद्धिं । 'प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितम्' इति वक्ष्यमाणरूपा मुद्रा आदिर्यस्याः सूर्यभेदादेस्तादृशीं । पवनस्य प्राणवायोः क्रियां प्राणायामरूपां चाभ्यसेत् । अथ हठाभ्यसनक्रममाह ॥ आसनमिति ॥आसनमुक्तलक्षणं चित्रं नानाविधं कुंभकं 'सूर्यभेदनमुज्जापी' त्यादिवक्ष्यमाणं । मुद्रा इत्याख्या तस्य तन्मुद्राख्यं महामुद्रादिरूपकरणं हठसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं । तथा चार्थे ॥ ५६॥

॥ भाषा ॥

पार्श्वपादाविति ॥ फिर पार्श्वसमीप आये जे पाम तिने दोनो भुजानकरकें बांध ले ये भद्रासन केसो हे संपूर्ण व्याधीनकूं विशेषकरके नाश करे हे ये भद्रासनको बंध एकसो हे यामें वामें फरक नहीं हें निश्चय ॥ ५४ ॥

गोरक्षेति ॥ सिद्धयोगी या भद्रासनकूं गोरक्षासन कहें हें गोरक्षनाथनें अधिककरकें भद्रासनको अभ्यास कियो हे यातें उनके नामतें प्रसिद्ध हे कहे हे जे आसनबंधनप्रकार तिनमें श्रमरहित एसे जो योगींद्र– ॥ ५५ ॥

अभ्यसेदिति ॥ सो नाडीनकी शुद्धी जातें होय मुद्राहे आदि जाकी सूर्यचंद्रभेद जाके एसी प्राणायामरूप जो क्रिया ताय अभ्यासकरे हे ओर चित्रविचित्र आसन ओर कुंभक ओर मुद्राकरणो ये तीनो हठसिद्धीमें उपकारकें करवेवाली हैं ॥ ५६ ॥

मू० अथ नादानुसंधानमभ्यासानुक्रमो हठे ॥
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ॥
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥ ५७ ॥
सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः ॥
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ॥ ५८ ॥

॥ टीका ॥

अथेति । अथैतत्त्रयानुष्ठानानंतरं नादस्यानाहतध्वनेरनुसंधानमनुचिंतनं हठे हठयोगेऽभ्यासोऽभ्यसनं तस्यानुक्रमः पौर्वापर्यक्रमः । हठसिद्धेरवधिमाह ॥ ब्रह्मचारीति ॥ ब्रह्मचर्यवान् मिताहारो वक्ष्यमाणः सोऽस्यास्तीति मिताहारी त्यागी दानशीलो विषयपरित्यागी वा योगपरायणः योगाभ्यसनपरः । अब्दाद्वर्षादूर्ध्वं सिद्धः सिद्धहठो भवेत् । अत्रोक्तेऽर्थे विचारणा स्यान्न वेति संशयप्रयुक्ता न कार्या । एतन्निश्चितमेवेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

पूर्वश्लोके मिताहारीत्युक्तं तत्र योगिनां कीदृशो मिताहार इत्यपेक्षायामाह ॥ सुस्निग्धेति ॥ सुस्निग्धोऽतिस्निग्धः स चासौ मधुरश्च तादृश आहारश्चतुर्थांशविवर्जितश्चतुर्थभागरहितः । तदुक्तमभियुक्तैः । 'द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत् । वायोः संचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेदि' ति । शिवो जीव ईश्वरो वा । 'भोक्ता देवो महेश्वरः' इति वचनात् । तस्य संप्रीत्यै सम्यक्प्रीत्यर्थं यो भुज्यते स मिताहार इत्युच्यते ॥ ५८ ॥

॥ भाषा ॥

अथेति ॥ आसन । कुंभक । मुद्राकरण । इन तीनोंनके करे पीछै नादको अनुसंधान करनो हठयोगके अभ्यासको अनुक्रम अर्थात् पूर्वापरक्रम येही. हे अब हठसिद्धीकी अवधी कहें हैं ब्रह्मचर्यमे रहे ओर प्रमाणको आहार करे त्यागी दानमें शील होय. ओर विषयनको परित्यागकरे. ओर योगमें परायण होय. योगांगके अभ्यासमें परायण रहे तो वर्षतें ऊपरि हठसिद्ध होय ये कह्यो जो अर्थ तामें विचार संदेहयुक्त नही करनो योग्य हे ये निश्चय हे ॥ ५७ ॥

सुस्निग्धेति ॥ योगीनको मिताहार केसो होय ? अति स्निग्ध ओर मधुर आहार होय चतुर्थ आहार रहित होय अर्थात् दोय भाग अन्नकर उदर भरे एक भाग जलकरकें भरे एक भाग खाली रहे वायुके चलवेके लियें शिवकहिये जीव वा ईश्वर ताकी प्रीतीके अर्थ जो यारीत भोजन करे सो मिताहारी कहे हें ॥ ५८ ॥

मू० कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाक-
सौवीरतैलतिलसर्षपमद्यमत्स्यान् ॥
आजादिमांसदधितक्रकुलत्थकोल-
पिण्याकहिंगुलशुनाद्यमपथ्यमाहुः ॥ ५९ ॥
भोजनमहितं विद्यात्पुनरस्योष्णीकृतं रूक्षम् ॥
अतिलवणमम्लयुक्तं कदशनशाकोत्कटं वर्ज्यम् ॥६०॥

॥ टीका ॥

अथ योगिनामपथ्यमाह द्वाभ्यां ॥ कट्विति ॥ कटु कारवेल्ल इत्यादि अम्लं चिंचाफलादि तीक्ष्णं मरीचादि लवणं प्रसिद्धं उष्णं गुडादि हरीतशाकं पत्रशाकं सौवीरं कांजिकं तैलं तिलसर्षपादिस्नेहः तिलाः प्रसिद्धाः सर्षपाः सिद्धार्थाः मद्यं सुरा मत्स्यो झषः । एषामितरेतरद्वंद्वः । एतानपथ्यानाहुः । अजस्येदमाजं तदादिर्यस्य सौकरादेस्तदाजादि तच्च तन्मांसं चाजादिमांसं दधि दुग्धपरिणामविशेषः तक्रं गृहीतसारं दधि कुलत्थादिर्द्विदलविशेषः कोलं कोल्याः फलं बदरं । 'कर्कंधूर्बदरी कोलिरि'त्यमरः । पिण्याकं तिलपिंडं हिंगु रामठं लशुनं । एषामितरेतरद्वंद्वः । एतान्याद्यानि यस्य तत्तथा । आद्यशब्देन पलांडुगृंजनमादकद्रव्यमाषान्नादिकं ग्राह्यं । अपथ्यमहितं । योगिनामिति शेषः । आहुर्योगिन इत्यध्याहारः ॥ ५९ ॥

भोजनमिति । पश्चादग्निसंयोगेनोष्णीकृतं यद्भोजनं सूपौदनरोटिकादि रूक्षं घृतादिहीनं अतिशयितं लवणं यस्मिंस्तदतिलवणं यद्वा लवणमतिक्रांतमतिलवणं चाकूवा इति लोके प्रसिद्धं शाकं यवक्षारादिकं च । लवणस्य सर्वथा वर्जनीयत्वादुत्तरपक्षः

॥ भाषा ॥

अब योगीनको अपथ्य दोन श्लोकोनसें कहे हें ॥ कट्विति कटु निंबादि कडुवो पदार्थ अम्ल आमलीकूं आदिले । तीक्ष्ण मरीचादि लवण उष्ण अतिउष्ण ओर गुडादि हरितशाक पत्रशाक कांजि तैल तिल सर्षप सिरस्यों मद्य सुरा मत्स्य इनें अपथ्य कहें हें. बकरीकूं आदिले इनको मांस दही दूध छाछ कुलथा वेर तिलपिंड लशुन ये हें आदिमे जिनके धीपा गाजर उडदादि ये सब योगीनकूं अपथ्य हें अहित हें ॥ ५९ ॥

भोजनमिति ॥ पहलें पाककर लियो फिर ठंडोजान अग्निके संयोगकर उष्णाकियो जो पदार्थ सो अहित जानना ओर रूखो घृतरहित अन्न अधिकलवण जामें होय सो ओर अत्यंत भोजन अत्यंत निद्रा अत्यंत भाषण बोलवो बास्यो अन्न दूषित अन्न गंध जामें आयगयो होय एसो अन्न ये सब योगीकूं अहितकारी जानना ॥ ६० ॥

मू० वह्निस्त्रीपथिसेवानामादौ वर्जनमाचरेत् ॥ ६१ ॥
तथाहि गोरक्षवचनं ॥
"वर्जयेद्दुर्जनप्रांतं वह्निस्त्रीपथिसेवनम् ॥
प्रातःस्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं तथा ॥ "

॥ टीका ॥

साधुः । तथा च दत्तात्रेयः । 'अथ वर्ज्यानि वक्ष्यामि योगविघ्नकराणि च । लवणं सर्षपं चाम्लमुग्रं तीक्ष्णं च रूक्षकं ॥ अतीव भोजनं त्याज्यमतिनिद्रातिभाषणम् ।' इति । स्कंदपुराणेऽपि। 'त्यजेत्कट्वम्ललवणं क्षीरभोजी सदा भवेत्' इति । अम्लयुक्तमम्लद्रव्येण युक्तं । अम्लद्रव्येण युक्तमपि त्याज्यं किमुत साक्षादम्लं। अत्र तृतीयपदं पललं वा तिलपिंडमिति केचित्पठंति तस्यायमर्थः । पललं मांसं तिलपिंडं पिण्याकं कदशनं कदन्नं यावनालकोद्रवादि शाकं विहितेतरशाकमात्रं उत्कटं विदाहि मिरचीति लोके प्रसिद्धं । मिरचा इति हिंदुस्थानभाषायां । कदशनादीनां समाहारद्वंद्वः । अतिलवणादिकं वर्ज्यं वर्जनार्हं । दुष्टमिति पाठे दुष्टं पूतिपर्युषितादि। अहितमिति योजनीयं ॥ ६० ॥

एवं योगिनां सदा वर्ज्यान्युक्त्वाभ्यासकाले वर्ज्यान्याहार्धेन ॥ वह्नीति ॥ वह्निश्च स्त्री च पंथाश्च तेषां सेवा वह्निसेवनस्त्रीसंगतीर्थयात्रागमनादिरूपास्तासां वर्जनमादावभ्यासकाल आचरेत् । सिद्धेऽभ्यासे तु कदाचित् । शीते वह्निसेवनं गृहस्थस्य ऋतौ स्वभार्यागमनं तीर्थयात्रादौ मार्गगमनं च न निषिद्धमित्यादिपदेन सूच्यते । तत्र प्रमाणं गोरक्षवचनमवतारयति ॥ तथाहीति तत्पठति ॥ वर्जयेदिति ॥ दुर्जनप्रांतं दुर्जनसमीपवासं । दुर्जनप्रीतिमिति क्वचित्पाठः । वह्निस्त्रीपथिसेवनं व्याख्यातं प्रातःस्नानं उपवासश्चादिर्यस्य फलाहारादेः तच्च तयोः समाहारद्वंद्वः । प्रथमाभ्यासिनः प्रातःस्नाने शीतविकारोत्पत्तेः। उपवासादिना पित्ताद्युत्पत्तेः । कायक्लेशविधिं कायक्लेशकरं विधिं क्रियां बहुसूर्यनमस्कारादिरूपां बहुभारोद्वहनादिरूपां च । तथा समुच्चये । अत्र प्रतिपदं वर्जयेदिति क्रियासंबंधः ॥ ६१ ॥

॥ भाषा ॥

वह्नीति ॥ योगी अभ्यासकालमें प्रथमही अग्निसेवन स्त्रीसंग तीर्थयात्रादि मार्गमें गमनादिक तिनकूं वर्जित करे जब अभ्यास सिद्ध होय जाय तब कदाचित् शीतकालमें अग्नितपनो ओर गृहस्थ होय तो ऋतुकालमें स्वभार्यागमन तीर्थयात्रादिकमें मार्ग चलनो ये निषिद्ध नही ॥ यामें प्रमाण गोरक्षवचनको हे ॥ वर्जयेदिति ॥ दुर्जनके पास बेठनो वा दुर्जनतें प्रीती ओर अग्निको संगतपनो ओर स्त्रीसंग ओर मार्गगमन प्रातःकालको स्नान

मू० गोधूमशालियवषाष्टिकशोभनान्नं क्षीराज्यखंडनवनीत-
सितामधूनि ॥ शुंठीपटोलकफलादिकपंचशाकं मुद्गा-
दि दिव्यमुदकं च यमींद्रपथ्यम् ॥ ६२ ॥
पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम् ॥
मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् ॥ ६३ ॥

॥ टीका ॥

अथ योगिपथ्यमाह ॥ गोधूमेत्यादिना ॥ गोधूमाश्च शालयश्च यवाश्च षाष्टिकाः षष्ट्या दिनैर्ये पच्यंते तंदुलविशेषास्ते शोभनमन्नं पवित्रान्नं श्यामाकनीवारादि तच्चैतेषां समाहारद्वंद्वः। क्षीरं दुग्धमाज्यं घृतं खंडः शर्करा नवनीतं मथितदधिसारं सिता तीव्रपदी खंडशर्करेति लोके प्रसिद्धा मिसरीति हिंदुस्थानभाषायां। मधु क्षौद्रं एषामितरेतरद्वंद्वः। शुंठी प्रसिद्धा पटोलफलं परवर इति भाषायां प्रसिद्धं शाकं तदादिर्यस्य कोशातक्यादेस्तत्पटोलकफलादिकं "शेषाद्विभाषे" ति कप्प्रत्ययः। पंचानां शाकानां समाहारः पंचशाकं। तदुक्तं वैद्यके। 'सर्वशाकमचाक्षुष्यं चाक्षुष्यं काशपंचकं। जीवंतीवास्तुमूल्याक्षी मेघनाद पुनर्नवा ॥' इति। मुद्गा द्विदलविशेषा आदिर्यस्य तन्मुद्गादि आदिपदेन आढकी ग्राह्या। दिव्यं निर्दोषमुदकं जलं। यम एषामस्तीति यमिनः तेष्विंद्रो देवश्रेष्ठो यो योगींद्रस्तस्य पथ्यं हितं ॥ ६२ ॥

अथ योगिनो भोजननियममाह ॥ पुष्टमिति ॥ पुष्टं देहपुष्टिकरमोदनादि

॥ भाषा ॥

ओर व्रतादिक फलाहारादिक ये दोनों प्रथम अभ्यासके करवेवालेकूं प्रातःस्नानतें शीतविकारकी उत्पत्ति होय हे उपवासादिकनतें पित्तादिरोगकी उत्पत्ती होय हे ओर कायक्लेशकी करवेवारी क्रिया बोहोतसी सूर्यनारायणकूं नमस्कारादिरूपा वा बहोत भारको उठावनो इत्यादिक सब वर्जित करे ॥ ६१ ॥

अब योगीकूं पथ्यवस्तु कहें हें ॥ गेंहुं चांवल जव शाठी चांवल पवित्रअन्न शमा नीवार दूध दही घृत शर्करा माखन मिश्री सहत शूंठी परवर पनस जिमीकंद सूरण रतालु पत्रशाक चोंलाई मूंग अहेड निर्दोष फलादिक ग्रहणकरणो ओर निर्दोष उदक जल ये योगींद्रकूं पथ्य हें हित हें ॥ ६२ ॥

अब योगीकूं भोजनको नियम कहें हें ॥ पुष्टमिति ॥ देहकी पुष्टी करें एसो ओदनादि शर्करासहित होय घृत दूध गौको होय न मिले तो भैंसको दुग्धादि ग्राह्य धातुकूं पोषण करें

मू० युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा ॥
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतंद्रितः ॥ ६४ ॥
क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् ॥
न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ॥ ६५ ॥

॥ टीका ॥

सुमधुरं शर्करादिसहितं स्निग्धं सघृतं गव्यं गोदुग्धघृतादियुक्तं गव्यालाभे माहिषं दुग्धादि ग्राह्यं। धातुप्रपोषणं लड्डुकापूपादि मनोभिलषितं पुष्टादिषु यन्मनोरुचिकरं तदेव योगिना भोक्तव्यं। मनोभिलषितमपि किमविहितं भोक्तव्यं नेत्याह। योग्यमिति। विहितमेवेत्यर्थः। योगी भोजनं पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टमाचरेत्कुर्यादित्यर्थः। न तु सक्तुभर्जितान्नादिना निर्वाहं कुर्यादिति भावः ॥ ६३ ॥

योगाभ्यासिनो वयोविशेषारोग्याद्यपेक्षा नास्तीत्याह ॥ युवेति ॥ युवा तरुणः वृद्धो वृद्धावस्थां प्राप्तः अतिवृद्धोऽतिवार्द्धकं गतो वा। अभ्यासादासनकुंभकादीनामभ्यसनात्सिद्धिं समाधितत्फलरूपामाप्नोति। अभ्यासप्रकारमेव वदन्विशिनष्टि॥ सर्वयोगेष्विति ॥ सर्वेषु योगेषु योगांगेष्वतंद्रितोऽनलसः। योगांगाभ्यासात्सिद्धिमाप्नोतीत्यर्थः। जीवनसाधने कृषिवाणिज्यादौ जीवनशब्दप्रयोगवत्साक्षात्परंपरया वा योगसाधनेषु योगांगेषु योगशब्दप्रयोगः ॥ ६४ ॥

अभ्यासादेव सिद्धिर्भवतीति द्रढयन्नाह द्वाभ्यां ॥ क्रियायुक्तस्येति ॥ क्रिया योगांगानुष्ठानरूपा तया युक्तस्य सिद्धिर्योगसिद्धिः स्यात्। अक्रियस्य योगांगानुष्ठानरहितस्य कथं भवेन्न कथमपीत्यर्थः। ननु योगशास्त्राध्ययनेन योगसिद्धिः

॥ भाषा ॥

लडु पूआदिक मनकूं रुचि करे सोही योगीकरकें भोजनकरनो योग्य हे योग्य होय अयोग्यवस्तू हे मनवांछित हे तो नही भोजन करे ओर सक्तुही खायकर रहजाय अथवा चनादिक खायकेंही निर्वाह करलें एसो योगी कदापि नही करे ॥ ६३ ॥

युवेति ॥ युवान होय वृद्ध होय अतिवृद्ध होय आसन कुंभकादिकनके अभ्यास करतें सिद्धि समाधि प्राप्त होय हे ओर सर्व योगमें योगांगमें आलस्यरहित होय अभ्यासतेंही सिद्धि होय हे ॥ ६४ ॥

क्रियायुक्तस्येति ॥ योगयोगके अंगनकी क्रिया ताकरकें युक्त ताकूं योगसिद्धी होय हे ओर जो क्रियारहित हें ताकूं कैंसें सिद्धी होय ? नही होय ओर योगशास्त्रके केवल पाठमात्रकरकें योगकी सिद्धि नही होय इत्यर्थः ॥ ६५ ॥

मू० न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा ॥
क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः ॥ ६६ ॥
पीठानि कुंभकाश्चित्रा दिव्यानि करणानि च ॥
सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि ॥ ६७ ॥
॥इति श्रीसहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्मारामयोगींद्रविरचितायां हठयोगप्रदीपिकायामासनविधिकथनं नाम प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥

॥ टीका ॥

स्यान्नेत्याह ॥ नेति ॥ शास्त्रस्य योगशास्त्रस्य पाठमात्रेण केवलेन पाठेन योगस्य सिद्धिर्न प्रजायते नैव जायत इत्यर्थः ॥ ६५ ॥

नेति ॥ वेषस्य काषायवस्त्रादेः धारणं सिद्धेर्योगसिद्धेः कारणं न । तस्य योगस्य कथा वा कारणं न । किं तर्हि सिद्धेः कारणमित्यत आह ॥ क्रियैवेति ॥ ६६ ॥

योगांगानुष्ठानस्यावधिमाह ॥ पीठानीति॥ पीठान्यासनानि चित्रा अनेकविधाः कुंभकाः सूर्यभेदादयः दिव्यान्युत्कृष्टानि कारणानि महामुद्रादीनि हठसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकत्वं कारणत्वं हठाभ्यासे सर्वाणि पीठकुंभककरणानि राजयोगफलावधि राजयोग एव फलं तदवधि तत्पर्यंतं कर्तव्यानीति शेषः ॥ ६७ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकायां ब्रह्मानंदकृतायां ज्योत्स्नाभिधायां टीकायां प्रथमोपदेशः॥१॥

॥ भाषा ॥

नेति ॥ योगसिद्धीको कारण वस्त्रादिक धारणकर वेष बनाय लेनो ये नही हे अथवा योगकी कथा कहलेनों ये सिद्धीको कारण नही हे सिद्धीको कारण क्रियाकरनो येही हे ये सत्य हे यामें संदेह नही हे ॥ ६६ ॥

पीठानीति ॥ चित्रविचित्र आसन ओर कुंभक ओर उत्कृष्ट महामुद्रादिक ये हठसिद्धीमें प्रकर्षकरकें कारण हें हठाभ्यासमे आसन कुंभक मुद्रा ये संपूर्ण राजयोगफल प्राप्त होय तब तलक करनो योग्य हे ॥ ६७ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकायां ज्योतिर्विच्छ्रीधरकृतभाषाटीकायां प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥

मू० अथासने दृढे योगी वशी हितमिताशनः ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान्समभ्यसेत् ॥ १ ॥
चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ॥
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥ २ ॥
यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते ॥
मरणं तस्य निष्क्रांतिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ३ ॥

॥ टीका ॥

अथासनोपदेशानंतरं प्राणायामान्वक्तुमुपक्रमते ॥ अथेति ॥ अथेति मंगलार्थः । आसने दृढे सति वशी जिताक्षः हितं पथ्यं च तन्मितं च पूर्वोपदेशोक्तलक्षणं तत्तादृशमशनं यस्य स हितमिताशनः गुरुणोपदिष्टो यो मार्गः प्राणायामाभ्यासप्रकारस्तेन प्राणायामान् वक्ष्यमाणान्सम्यगुत्साहसाहसधैर्यादिभिरभ्यसेत् । दृढे स्थिरे कुक्कुटादिविवर्जिते सिद्धासनादाविति वा योजना ॥ १ ॥

'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोऽपि प्रवर्तते' इति महदुक्तेः प्रयोजनाभावेन प्रवृत्त्यभावात्प्राणायामप्रयोजनमाह ॥ चले वात इति ॥ वाते चले सति चित्तं चलं भवेत् । निश्चले वाते निश्चलं भवेच्चित्तमित्यत्रापि संबध्यते । वाते चित्ते च निश्चले योगी स्थाणुत्वं स्थिरदीर्घजीवित्वमिति यावत् । ईशत्वं वाप्नोति । ततस्तस्माद्वायुं प्राणं निरोधयेत्कुंभयेत् ॥ २ ॥

यावदिति ॥ देहे शरीरे यावत्कालं वायुः प्राणः स्थितः तावत्कालपर्यंतं जी-

॥ भाषा ॥

आसनको उपदेश कहे के अनंतर प्राणायाम कहवेकूं आरंभ करें हें ॥ अथेति ॥ जा योगीके आसन दृढ होय गयो होय इंद्रिय जानें जीत लीनी होय पूर्व कह्या ये ऐसो पथ्य हितकारी प्रमाणको आहारको करवेवालो होय सो योगी गुरूनकर उपदेश दियो जो मार्ग ताकरकें प्राणायाम अभ्यास करे ॥ १ ॥

अब प्राणायामको प्रयोजन कहें हे ॥ चले वात इति ॥ जो वायु चलायमान होय तो चित्तबी चलायमान होय ओर जो वात निश्चल होय तो चित्तबी निश्चल होय जाय ओर जो वात ओर चित्त ये निश्चल होय तो योगी स्थिर दीर्घजीवी होय वा ईशभाव प्राप्त होय तातें वायू जो प्राण ताय रोके ॥ २ ॥

यावदिति ॥ शरीरमें जबतांई वायु स्थित हे तबतांई जीवन हे ता प्राणको देहकौ वि-

मू० मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः ॥
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत् ॥ ४ ॥
शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ॥
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥ ५ ॥
प्राणायामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्विकया धिया ॥

॥ टीका ॥

वनमुच्यते लोकैः । देहप्राणसंयोगोस्यैव जीवनपदार्थत्वात् । तस्य प्राणस्य निष्क्रांतिर्देहाद्वियोगे मरणमुच्यते । ततस्तस्माद्वायुं निरोधयेत् ॥ ३ ॥

मलशुद्धेर्हठसिद्धिजनकत्वं व्यतिरेकेणाह ॥ मलाकुलास्विति ॥ नाडीषु मलैराकुलासु व्याप्तासु सतीषु मारुतः प्राणो मध्यगः सुषुम्नामार्गवाही नैव स्यात् । अपि तु शुद्धमलास्वेव मध्यगो भवतीत्यर्थः । उन्मनीभाव उन्मन्या भावो भवनं कथं स्यान्न कथमपीत्यर्थः । कार्यस्य कैवल्यरूपस्य सिद्धिर्निष्पत्तिः कथं भवेन्न कथंचिदपीत्यर्थः ॥ ४ ॥

अन्वयेनापि मलशुद्धेर्हठसिद्धिहेतुत्वामाह ॥ शुद्धिमेतीति ॥ यदा यस्मिन्कले मलैराकुलं व्याप्तं सर्वं समस्तं नाडीनां चक्रं समूहः शुद्धिं मलराहित्यमेति प्राप्नोति तदैव तस्मिन्नेव काले योगी योगाभ्यासी प्राणस्य ग्रहणे क्षमः समर्थो जायते ॥ ५ ॥

मलशुद्धिःकथं भवतीत्याकांक्षायां तच्छोधकं प्राणायाममाह । प्राणायाममिति। यतो मलशुद्धिं विना प्राणसंग्रहणे क्षमो न भवति ततस्तस्मादीश्वरप्रणिधानोत्साहसा-

॥ भाषा ॥

योग होय जब मरण कहैं हैं तातें वायुको निरोध कुंभक करे ॥ ३ ॥

मलाकुलास्विति ॥ मलनकरकें नाडी व्याप्त होय तब पवन सुषुम्ना नाडीकरके नहीं चले फिर उन्मनीभाव अर्थात् तूर्य अवस्थामें कैसें प्राप्त होय फिर मोक्षकी सिद्धी कैसें होय कै मलशुद्धी विना नही होय ॥ ४ ॥

शुद्धिमेतीति ॥ जा कालमें मलनकरकें युक्त समस्त नाडीनको समूह सो मलरहित होय जाय तब योगाभ्यासी प्राणवायुके ग्रहण करवेमें समर्थ होय है ॥ ५ ॥

मलशुद्धी कैसें होय ये अपेक्षा हुई तब मलशोधक प्राणायाम कहैं है ॥ प्राणायाममिति ॥ मलशुद्धीविना प्राणके ग्रहण करवेमें समर्थ नहीं होय तातें ईश्वरके ध्यानमें

मू० यथा सुषुम्नानाडीस्था मलाः शुद्धिं प्रयांति च ॥ ६ ॥
बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चंद्रेण पूरयेत् ॥
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥ ७ ॥
प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ॥
विधिवत्कुंभकं कृत्वा पुनश्चंद्रेण रेचयेत् ॥ ८ ॥

॥ टीका ॥

हसादिप्रयत्नाभिभूतविक्षेपालस्यादिराजसतामसधर्मया सात्विकया प्रकाशप्रसादशीलया धिया बुद्ध्या नित्यं प्राणायामं कुर्यात् । यथा येन प्रकारेण सुषुम्नानाड्यां स्थिता मलाः शुद्धिमपगमं प्रयांति नश्यंतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

मलशोधकप्राणायामप्रकारमाह द्वाभ्यां ॥ **बद्धपद्मासन** इति ॥ वद्धं पद्मासनं येन तादृशो योगी प्राणं प्राणवायुं चंद्रेण चंद्रनाड्येडया पूरयेत् । शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति धारयित्वा कुंभयित्वा । भूयः पुनः सूर्येण सूर्यनाड्या पिंगलया रेचयेत् । बाह्यवायोः प्रयत्नविशेषादुपादानं पूरकः । जालंधरादिबंधपूर्वकं प्राणनिरोधः कुंभकः । कुंभितस्य वायोः प्रयत्नविशेषाद्गमनं रेचकः । प्राणायामांगरेचकपूरकयोरेवेमे लक्षणे इति । 'भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ' इति गौणरेचकपूरकयोर्नाव्याप्तिः । तयोर्लक्ष्यत्वाभावात् ॥ ७ ॥

प्राणमिति॥ सूर्येण सूर्यनाड्या पिंगलया प्राणमाकृष्य ग्रहीत्वा शनैर्मंदंमंदमुदरं जठरं पूरयेत् । विधिवद्बंधपूर्वकं कुंभकं कृत्वा पुनर्भूयश्चंद्रेणेडया रेचयेत् ॥ ८ ॥

॥ भाषा ॥

उत्साह साहसादिक यत्न करवेसें विक्षेप करवेवाले आलस्यादिक राजस तामस ये दूर होय प्रकाश और प्रसन्नता करवेमें शील स्वभाव जाको एसी सात्विक बुद्धिकरकें नित्य प्राणायाम करे जा प्रकारकरकें सुषुम्नानाडीमें स्थित जो मैल हैं ते नाशकूं प्राप्त होय हें ॥ ६ ॥

बद्धपद्मासन इति ॥ कियो हे पद्मासन जाने एसो योगी प्राणवायुकूं चंद्रनाडी जो इडा ताकरकें पूरण करें फिर यथाशक्ति धारणकरकें फिर रेचक करे सूर्यनाडी पिंगलाकरकें बोहोत यत्नतें बाहारके वायुकूं ऊपर ग्रहण करे ताकूं पूरक कहे हें और जालंधरादिकबंधपूर्वक प्राणकूं रोकनो ताकूं कुंभक कहें हें फिर वो धारण कियो जो वायु ताकूं यत्नविशेषतें अर्थात् होलें होलें छोडै ताकूं रेचक कहें हें ॥ ७ ॥

प्राणमिति ॥ सूर्यनाडी पिंगलाकरकें प्राणकूं खेंचकरकें मंदमंद उदरमें पूरक करे

मू० येन त्यजेत्तेन पीत्वा धारयेदतिरोधतः ॥
रेचयेच्च ततोऽन्येन शनैरेव न वेगतः ॥ ९ ॥
प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचये-
त्पीत्वा पिंगलया समीरणमथो बध्वा त्यजेद्वामया ॥
सूर्याचंद्रमसोरनेन विधिनाभ्यासं सदा तन्वतां
शुद्धा नाडिगणा भवंति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः॥१०॥

॥ टीका ॥

उक्ते प्राणायामे विशेषमाह ॥ येनेति ॥ येन चंद्रेण सूर्येण वा त्यजेद्रेचयेत्तेन पीत्वा तेनैव पूरयित्वा । अतिरोधतोऽतिशायितेन रोधेन स्वेदकंपादिजननपर्यंतेन । सार्वविभक्तिकस्तसिल् । येन पूरकस्ततोऽन्येन शनै रेचयेन्न तु वेगतः ॥ वेगाद्रेचने बलहानिः स्यात् । येन पूरकः कृतस्तेन रेचको न कर्तव्यः । येन रेचकः कृतस्तेनैव पूरकः कर्तव्य इति भावः ॥ ९ ॥

बद्धपद्मासन इत्याद्युक्तमर्थं पिंडीकृत्यानुवदन्प्राणायामस्यावांतरफलमाह ॥ प्राणमिति ॥ चेदिडया वामनाड्या प्राणं पिबेत्पूरयेत्तर्हि नियमितं कुंभितं प्राणं भूयः पुनरन्यया पिंगलया रेचयेत् । पिंगलया दक्षनाड्या समीरणं वायुं पीत्वा पूरयित्वाथो पूरणानंतरं बध्वा कुंभयित्वा वामयेडया त्यजेद्रेचयेत् । सूर्यश्च चंद्रमाश्च सूर्याचंद्रमसौ तयोः । "देवताद्वंद्वे च" त्यानङ् । अनेनोक्तेन विधिना प्रकारेण सदा नित्यमभ्यासं चंद्रेणापूर्य कुंभयित्वा सूर्येण रेचयेत्सूर्येणापूर्य कुंभयित्वा च चंद्रेण रेचयेदित्याकारकं तन्वतां विस्तारयतां यमिनां यमवतां नाडीगणा नाडीसमूहा मासत्रयादूर्ध्वतो मासानां त्रयं तस्मादुपरि शुद्धा मलरहिता भवंति ॥ १० ॥

॥ भाषा ॥

फिर विधिवत् बंधपूर्वक कुंभककरकें फिर चंद्र जो इडा ताकरकें रेचन करे ॥ ८ ॥

येनेति ॥ जा चंद्रकरकें अथवा सूर्यकरकें रेचन करे ताईकरकें पूरण करे अति रोधकरकें धारण करे जब तलक प्रस्वेद कंपा होय तब तांई फिर जाकरकें पूरक करे तातें अन्य नाडीकर शनै शनै रेचक करे वेगतें रेचक नकरे वेगतें रेचक करवेमें बलकी हानि होय जाकरकें पूरक करे ताकरकें रेचन नही करवो योग्य है और जाकरकें रेचक करे ताकरकें पूरक कर्त्तव्य है ॥ ९ ॥

प्राणमिति ॥ इडा जो वामनाडी ताकरकें प्राणकूं पूरक करे फिर कुंभक कियो जो प्राण ताय फेर दूसरी पिंगलाकरकें दक्षिण नाडीकरकें वायू रेचन करे फिर दक्षिण

**मू॰ प्रातर्मध्यंदिने सायमर्धरात्रे च कुंभकान् ॥
शनैरशीतिपर्यंतं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ ११ ॥
कनीयसि भवेत्स्वेदः कंपो भवति मध्यमे ॥**

॥ टीका ॥

अथ प्राणायामाभ्यासकालं तदवधिं चाह ॥ प्रातरिति ॥ प्रातररुणोदयमारभ्य सूर्योदयाद्घटिकात्रयपर्यंते प्रातःकाले मध्यंदिने मध्याह्ने पंचधा विभक्तस्य दिनस्य मध्यभागे सायंसंध्या त्रिनाडीप्रमितार्कास्तादधस्तादूर्ध्वं चेत्युक्तलक्षणे संध्याकाले रात्रेरर्धमर्धरात्रं तस्मिन्नर्धरात्रे रात्रेर्मध्ये मुहूर्तद्वये च शनैरशीतिपर्यंतमशीतिसंख्यावधि चतुर्वारं वारचतुष्टयं 'कालाध्वनोरत्यंतसंयोगे' इति द्वितीया । चतुर्षु कालेष्वेकैकस्मिन्कालेऽशीतिप्राणायामाः कार्याः । अर्धरात्रे कर्तुमशक्तश्चेत्रिसंध्यं कर्तव्या इति संप्रदायः । चतुर्वारं कृताश्चेद्दिनेदिने ३२० विंशत्यधिकशतत्रयपरिमिताः प्राणायामा भवंति । वारत्रयं कृताश्चेच्चत्वारिंशदधिकशतद्वय २४० परिमिता भवंति॥११॥

कनिष्ठमध्यमोत्तमानां प्राणायामानां क्रमेण व्यापकविशेषमाह ॥ **कनीयसीति ॥** कनीयसि कनिष्ठे प्राणायामे स्वेदः प्रस्वेदो भवेद्भवति । स्वेदानुमेयः कनिष्ठः । मध्यमे प्राणायामे कंपो भवति । कंपानुमेयो मध्यमः । उत्तमे प्राणायामे स्थानं

॥ भाषा ॥

जो पिंगला ताकरकें वायू पूरण करकें फिर कुंभक करे फिर वाम इडाकरकें रेचक करे सूर्य चंद्रमाकी ये पूर्व कही जो विधि ताकरकें नित्य जो अभ्यास चंद्रकरकें वायू पूरनो कुंभक कर सूर्यकरकें रेचन कर देतो ओर सूर्यकरकें वायू पूरनो कुंभक कर फिर चंद्रकरकें रेचन करनो यारीतसुं अभ्यास करवेवारे योगी तिनकी नाडीनके समूह तीन मासतें ऊपरि शुद्ध होय हें ॥ १० ॥

अब प्राणायामके अभ्यासको काल ओर प्राणायामकी अवधि कहे हें ॥ **प्रातरिति ॥** अरुणोदयतें लेकर सूर्योदयतें तीन घडीपर्यंत प्रातःकाल होय हे सो प्रातःकालमें ओर मध्यान्हकालमें दिनके पांच विभाग कर मध्यभाग होय तामें संध्या सूर्यास्तके पहलेंकी तीन घडी तीन घडी पीछेंकी सायंसंध्या होय हे सो संध्याकालमें ओर अर्द्धरात्रीमें मुहूर्तद्वय समयमें इन च्यारों समयमें एक एक कालमें अशी ८० अशी प्राणायाम करनो योग्य है अर्धरात्रिमें करवेकूं असमर्थ होय तो संध्यातांई कर्तव्य हे दिनदिनमें च्यारों समयके ३२० प्राणायाम होय हें ओर जो तीनपोतहीं करे तो २४० प्राणायाम होय हें ॥ ११ ॥

कनीयसीति ॥ कनिष्ठ प्राणायाममें पसीना आवे हे ओर मध्यम प्राणायाममें कंप

मू० उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबंधयेत् ॥ १२ ॥

॥ टीका ॥

ब्रह्मरंध्रमाप्नोति । स्थानप्राप्त्यनुमेय उत्तमः । ततस्तस्माद्वायुं प्राणं निबंधयेन्नितरां बंधयेत् । कनिष्ठादीनां लक्षणमुक्तं लिंगपुराणे । 'प्राणायामस्य मानं तु मात्राद्वादशकं स्मृतम् । नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्घात ईरितः ॥ मध्यमस्तु द्विरुद्घातश्चतुर्विंशतिमात्रकः । मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्घातः षट्त्रिंशन्मात्र उच्यते ॥ प्रस्वेदकंपनोत्थानजनकश्च यथाक्रमम् । आनंदो जायते चात्र निद्रा घूमस्तथैव च ॥ रोमांचो ध्वनिसंविद्धिरंगमोटनकंपनम् । भ्रमणस्वेदजल्पाद्यं संविन्मूर्छा जयेद्यदा ॥ तदोत्तम इति प्रोक्तः प्राणायामः सुशोभनः।' इति । घूमश्चित्तांदोलनम् । गोरक्षोऽपि। 'अधमे द्वादश प्रोक्ता मध्यमे द्विगुणाः स्मृताः । उत्तमे त्रिगुणा मात्राः प्राणायामे द्विजोत्तमैः ॥' उद्घातलक्षणं तु । 'प्राणेनोत्सर्पमाणेन अपानः पीड्यते यदा । गत्वा चोर्ध्वं निवर्तेत एतदुद्घातलक्षणम् ।' मात्रामाह याज्ञवल्क्यः । 'अंगुष्ठांगुलिमोक्षं त्रिस्त्रिर्जानुपरिमार्जनम् । तालत्रयमपि प्राज्ञा मात्रासंज्ञां प्रचक्षते ॥' स्कंदपुराणे ।' एकश्वासमयी मात्रा प्राणायामो निगद्यते । 'एतद्व्याख्यातं योगचिंतामणौ । निद्रावशंगतस्य पुंसो यावता कालेनैकः श्वासो गच्छत्यागच्छति च तावत्कालप्राणायामस्य मात्रेत्युच्यत इति । अर्धश्वासाधिकद्वादशश्वासावच्छिन्नः कालः प्राणायामकालः । षड्भिः श्वासैरेकं पलं भवति । एवं च सार्धश्वासपलद्वयात्मकः कालः प्राणायामकालः सिद्धः । सार्धद्वादशमात्रामितः प्राणायामो यः स एवोत्तमः प्राणायाम इत्युच्यते । न च पूर्वोदाहृतलिंगपुराणगोरक्षवाक्यविरोधः । तत्र द्वादशमात्रकस्य प्राणायामस्याधमत्वोक्तेरिति शंकनीयं । 'जानुं प्रदक्षिणीकुर्यान्न द्रुतं न विलंबितं । प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते ॥' इति स्कंदपुराणात् । 'अंगुष्ठांगुलिमोक्षं च जानोश्च परिमार्जनं । प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते ॥' इति च स्कंदपुराणात् ।' अंगुष्ठो मात्रा संख्यायते तदा' इति दत्तात्रेयवचनाच्च । लिंगपुराणगोरक्षादिवाक्येष्वेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वेन विवक्षितत्वात् । याज्ञवल्क्यादिवाक्येषु छोटि-

॥ भाषा ॥

होय हे उत्तम प्राणायाममें ब्रह्मरंध्र प्राप्त होय हे तातें योगी वायुकूं निरंतर बंध करै ओर कछूक कम बेंयालीस विपल कुंभक रहे सो कनिष्ठ प्राणायाम काल ओर कछूक ऊन चोराशी विपल कुंभक रहे सो मध्यम प्राणायाम काल ओर बंधपूर्वक एकसो पच्चीस विपल कुंभक रहे ताकूं उत्तम प्राणायाम काल कहें हें जब प्राणायाम स्थिर

मू० जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ॥
दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ॥ १३ ॥

॥ टीका ॥

कात्रयावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वेन विवक्षणात् त्रिगुणस्याधमस्योत्तमत्वं तत्राप्युक्तमित्यविरोधः । सर्वेषु योगसाधनेषु प्राणायामो मुख्यस्तत्सिद्धौ प्रत्याहारादीनां सिद्धेः । तदसिद्धौ प्रत्याहाराद्यसिद्धेश्च । वस्तुतस्तु प्राणायाम एव प्रत्याहारादिशब्दैर्निगद्यते । तथा चोक्तं योगचिंतामणौ । प्राणायाम एवाभ्यासक्रमेण वर्धमानः प्रत्याहारध्यानधारणासमाधिशब्दैरुच्यत इति । तदुक्तं स्कंदपुराणे । 'प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहार उदाहृतः । प्रत्याहाराद्विषट्केण धारणा परिकीर्तिता ॥ भवेदीश्वरसंगत्यै ध्यानं द्वादशधारणं । ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥ यत्समाधौ परं ज्योतिरनंतं स्वप्रकाशकम् । तस्मिन्दृष्टे क्रियाकांडयातायातं निवर्तते ॥' इति ॥ तथा । 'धारणा पंचनाडीभिर्ध्यानं स्यात्षष्टिनाडिकम् । दिनद्वादशकेन स्यात्समाधिः प्राणसंयमात् ॥' इति च । गोरक्षादिभिरप्येवमेवोक्तम् । अत्रैवं व्यवस्था । किंचिदूनद्विचत्वारिंशद्विपलात्मक कनिष्ठप्राणायामकालः । अयमेवैकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया द्वादशमात्रकः कालः । किंचिदूनचतुरशीतिविपलात्मको मध्यमप्राणायामकालः । अयमेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया चतुर्विंशतिमात्रकः काल । पंचविंशत्युत्तरशतविपलात्मक उत्तमः प्राणायामकालः । अयमेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वाविवक्षया षट्त्रिंशन्मात्रककालः । छोटिकात्रयावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया तु द्वादशमात्रक एव । बंधपूर्वकं पंचविंशत्युत्तरशतविपलपर्यंतं यदा प्राणायामस्थैर्यं भवति तदा प्राणो ब्रह्मरंध्रं गच्छति । ब्रह्मरंध्रं गतः प्राणो यदा पंचविंशतिपलपर्यंत तिष्ठति तदा प्रत्याहारः । यदा पंचघटिकापर्यंतं तिष्ठति तदा धारणा । यदा षष्टिघटिकापर्यंतं तिष्ठति तदा ध्यानं । यदा द्वादशदिनपर्यंतं तिष्ठति तदा समाधिर्भवतीति सर्वं रमणीयम् ॥१२॥

प्राणायामानभ्यसतः स्वेदे जाते विशेषमाह ॥ जलेनेति ॥ श्रमात्प्राणायामा-

॥ भाषा ॥

होय तब प्राण ब्रह्मरंध्रकूं प्राप्त होय हें ओर ब्रह्मरंध्रमें गयो जो प्राण पच्चीस पलपर्यंत स्थित रहे तब प्रत्याहार कहें हें ओर जब पच्चीस पलतांई स्थित रहे तब धारणा होय हे ओर जब छ घडीतांई स्थिर रहे तब ध्यान होय हे और जब बारह दिनतांई स्थित रहे तब समाधि होय हे ॥ १२ ॥

जलेनेति ॥ प्राणायामके अभ्यास तें हुयो जो पसीना ताकरकें शरीरको मर्दन तैला-

मू० अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ॥
ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ॥ १४ ॥
यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैःशनैः ॥
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हंति साधकम् ॥ १५ ॥
प्राणायामादियुक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ॥
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ॥ १६ ॥

॥ टीका ॥

भ्यासश्रमाज्जातं तेन जलेन प्रस्वेदेन गात्रस्य शरीरस्य मर्दनं तैलाभ्यंगवदाचरेत्कुर्यात् । तेन मर्दनेन गात्रस्य दृढता दार्ढ्यं लघुता जाड्याभावो जायते प्रादुर्भवति ॥ १३ ॥

अथ प्रथमोत्तराभ्यासयोः क्षीरादिनियमानाह ॥ अभ्यासकाल इति । क्षीरं दुग्धमाज्यं घृतं तद्युक्तं भोजनं क्षीराजभोजनं । शाकपार्थिवादिवत्समासः । केवले कुंभके सिद्धेऽभ्यासो दृढो भवति । स्पष्टमन्यत् ॥ १४ ॥

सिंहादिवच्छनैरेव प्राणं वशयेन्न सहसेत्याह ॥ यथेति ॥ यथा येन प्रकारेण सिंहो मृगेंद्रो गजो वनहस्ती व्याघ्रः शार्दूलः शनैः शनैरेव वश्यः स्वाधीनो भवेन्न सहसा तथैव तेनैव प्रकारेण सेवितोऽभ्यस्तो वायुः प्राणो वश्यो भवेत् । अन्यथा सहसा गृह्यमाणः साधकमभ्यासिनं हंति सिंहादिवत् ॥ १५ ॥

युक्तायुक्तयोः फलमाह ॥ प्राणायामेति ॥ आहारादियुक्तिपूर्वको जालंधरादिबंधयुक्तिविशिष्टः प्राणायामो युक्त इत्युच्यते । तेन सर्वरोगक्षयः सर्वेषां रो-

॥ भाषा ॥

भ्यंगकीसीनांई करे ता मर्दनकरकें शरीरकूं दृढता ओर लघुता नाम जडताको अभाव होय हे ॥ १३ ॥

अभ्यास काल इति ॥ योगी प्रथम अभ्यासकालमें दूध घृत इनकर युक्त भोजन करे. ओर केवल कुंभकसिद्ध अभ्यास दृढ होय जाय तब नियमको कछु आग्रह नहीहे १४

यथेति । जा प्रकारकरकें सिंह वनहस्ती शार्दूल ये शनें शनें वशीभूत होय हें इनके सहसा नही होय है ओर या प्रकारकरकें सेवन कर्‍यो जो वायूसे वशीभूत होय हे अन्यथा सहसा ग्रहण करे तो साधककूं सिंहादिकनकीसीनाई नाश करे ॥ १५ ॥

प्राणायामेति । आहारादिक युक्त जालंधरादिक बंधयुक्त प्राणायामकरकें सर्व रोगनको

मू० हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ॥
भवंति विविधा रोगाः पवनस्य प्रकोपतः ॥ १७ ॥
युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं चपूरयेत् ॥
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १८ ॥
यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि बाह्यतः ॥
कायस्य कृशता कांतिस्तदा जायेत निश्चितम् ॥ १९ ॥

॥ टीका ॥

गाणां क्षयो नाशोभवेत् । अत्युक्त उक्तयुक्तिरहितो योऽभ्यासस्तद्युक्तेन प्राणायामेन सर्वरोगसमुद्भवः सर्वेषां रोगाणां सम्यगुद्भव उत्पत्तिर्भवेत् ॥ १६ ॥

अयुक्तेन प्राणायामेन के रोगा भवंतीत्यपेक्षायामाह ॥ हिक्केति ॥ हिक्काश्वासकासा रोगविशेषाः शिरश्च कर्णौ चाक्षिणी च शिरःकर्णाक्षि शिरःकर्णाक्षिणि वेदनाः शिरःकर्णाक्षिवेदना विविधा नानाविधा रोगा ज्वरादयः पवनस्य वायोः प्रकोपतो भवंति ॥ १७ ॥

यतः पवनस्य प्रकोपतो विविधा रोगा भवंत्यतः किं कर्तव्यमत आह॥ युक्तं युक्तमिति ॥ वायुं प्राणं युक्तं युक्तं त्यजेत् । रेचनकाले शनैःशनैरेव रेचयेन्न वेगत इत्यर्थः । युक्तं युक्तं न चाल्पं नाधिकं च पूरयेत् । युक्तं युक्तं च जालंधरबंधादियुक्तं बध्नीयात्कुंभयेत् । एवमभ्यसेच्चेत्सिद्धिं हठसिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १८ ॥

युक्तं प्राणायाममभ्यसतो जायमानाया नाडीशुद्धेर्लक्षणमाह द्वाभ्यां ॥ यदा त्विति ॥ यदा तु यस्मिन्काले तु नाडीनां शुद्धिर्मलराहित्यं स्यातदा बाह्यतो बा-

॥ भाषा ॥

क्षय होय हे ओर जो युक्ति कही हैं उन युक्तीकर रहित जो योगाभ्याससहित प्राणायाम ताकरकें सर्व रोगनकी उत्पत्ति होय हे ॥ १६ ॥

हिक्केति । हिचकी श्वास कास मस्तक कर्ण नेत्र इनमें वेदना ओर नाना प्रकारके रोग-ज्वरादिक वायुके कोपकर होय हैं ॥ १७ ॥

युक्तं युक्तमिति ॥ वायुकूं रेचनकालमें शनैंशनैं रेचन कर वेग करे नही ओर पूरक अल्पबी नही करे ओर अधिकबी नहीं करे योग्य योग्य करे ओर जालंधरबंधादियुक्त योग्य ही कुंभक करे या प्रकार करे हठसिद्धी प्राप्त होय हे ॥ १८ ॥

नाडी शुद्धीनकूं लक्षण दो श्लोकोंनसें कहे हे॥यदा त्विति॥जब नाडीनकी शुद्धि होय

मू० यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ॥
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥ २० ॥
मेदःश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ॥
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥ २१ ॥
धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा ॥
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते ॥ २२ ॥
कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोधनकारकम् ॥

॥ टीका ॥

यानि । सार्वविभक्तिकस्तसिः । चिह्नानि लक्षणानि तथाशब्देनांतराण्यपि चिह्नानि भवंतीत्यर्थः । तान्येवाह ॥ कायस्येति ॥ कायस्य देहस्य कृशता कार्श्यं कांतिः सुरुचिर्निश्चितं जायेत ॥ १९ ॥

यथेष्टमिति । वायोः प्राणस्य यथेष्टं बहुवारं धारणं कुंभकेषु । अनलस्य जठराग्नेः प्रदीपनं प्रकृष्टा दीप्तिर्नादस्य ध्वनेरभिव्यक्तिः प्राकट्यमारोग्यमरोगता नाडिशोधनान्नाडीनां शोधनान्मलराहित्याज्जायते ॥ २० ॥

मेदआद्याधिक्ये उपायांतरमाह ॥ मेदःश्लेष्माधिक इति ॥ मेदश्च श्लेष्मा च मेदःश्लेष्माणौ तावधिकौ यस्य स तादृशः पुरुषः । पूर्वं प्राणायामाभ्यासात्प्राक् तु प्राणायामाभ्यासकाले । षट् कर्माणि वक्ष्यमाणानि समाचरेत्सम्यगाचरेत् । अन्यस्तु मेदःश्लेष्माधिक्यरहितस्तु तानि षट् कर्माणि नाचरेत् तत्र हेतु माह । दोषाणां वातपित्तकफानां समस्य भावः समभावः समत्वं तस्माद्दोषाणां समत्वादित्यर्थः ॥२१

षट् कर्माण्युपदिशति ॥ धौतिरिति ॥ स्पष्टम् ॥ २२ ॥

इदं रहस्यमित्याह ॥ कर्मषट्कमिति ॥ घटस्य शरीरस्य शोधनं मलापनयनं

॥ भाषा ॥

हे तब बहार चिन्ह होय हें देहकूं कृशता ओर कांति निश्चैही होय हें ॥ १९ ॥

यथेष्टमिति । वायुकूं बोहोत वेर कुंभकमें धारण करे तो जाठराग्निको दीपन होय नादकी प्रगटता ओर आरोग्य ये सर्व नाडीनकी शुद्धीतें होय हे ॥ २० ॥

मेदःश्लेष्माधिक इति ॥ मेद श्लेष्म दोनो अधिक जाके होय वो पुरुष प्राणायामके अभ्यासतें पूर्व षट्कर्म अगाडी कहेंगे तिनें करे ओर जो वात पित्त कफ इनकोही समको भाव होय मेद श्लेष्म ये अधिक जाके नही होय सो न करे ॥ २१ ॥

अब षट्कर्म कहें हें ॥ धौतिरिति॥ धौति१ बस्ति२ नेति ३ त्राटक४नौलिक ५ कपाल

मू० विचित्रगुणसंधायि पूज्यते योगिपुंगवैः ॥ २३ ॥
तत्र धौतिः ॥
चतुरंगुलविस्तारं हस्तपंचदशायतम् ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ॥ २४ ॥
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत् ॥

॥ टीका ॥

करोतीति घटशोधनकारकमिदमुद्दिष्टं कर्मणां षट्कं धौत्यादिकं गोप्यं गोपनीयं । यतः ॥ विचित्रगुणसंधायीति ॥ विचित्रं विलक्षणं गुणं षट्कर्मरूपं संधातुं कर्तुं शीलमस्येति विचित्रगुणसंधायि योगिपुंगवैर्योगिश्रेष्ठैः पूज्यते सत्क्रियते । गोपनाभावे तु षट्कर्मकमन्यैरपि विहितं स्यादिति योगिनः पूज्यत्वाभावः प्रसज्जेतेति भावः ॥ एतेनेदमेव कर्मषट्कस्य मुख्यं फलमिति सूचितं । मेदःश्लेष्मादिनाशस्य प्राणायामैरपि संभवात् । तदुक्तं । ‘ षट्कर्मयोगमाप्नोति पवनाभ्यासतत्परः ।’ इति पूर्वोत्तरग्रंथस्याप्येवमेव स्वारस्याच्च ॥ २३ ॥

धौतिकर्माह ॥ चतुरंगुलमिति ॥ चतुर्णामंगुलानां समाहारश्चतुरंगुलं चतुरंगुलं विस्तारो यस्य तादृशं हस्तानां पंचदशैरायतं दीर्घं सिक्तं जलार्द्रं किंचिदुष्णं वस्त्रं पटं तच्च सूक्ष्मं नूतनोष्णीषादेः खंडं ग्राह्यं । गुरुणोपदिष्टो यो मार्गो वस्त्रग्रसनप्रकारस्तेन शनैर्मंदंमंदं किंचित्किंचिद्ग्रसेत् । द्वितीये दिने हस्तद्वयं तृतीये दिने हस्तत्रयं । एवं दिनवृद्ध्या हस्तमात्रमधिकं ग्रसेत् ॥ २४ ॥

पुनरिति ॥ तस्य प्रांतं राजदंतमध्ये हठे संलग्नं कृत्वा नौलीकर्मणोदरस्थवस्त्रं सम्यक् चालयित्वा । पुनः शनैः प्रत्याहरेच्च तद्वस्त्रमुद्गिरेन्निष्कासयेच्च । तद्धौतिकर्मोदितं कथि-

॥ भाषा ॥

भाति ६ ये षट्कर्मके नाम हैं ॥ २२ ॥

कर्मषट्कमिति ॥ ये षट् कर्म गुप्त करवेके योग्य हे शरीरके मैलकूं दूर करे हे ओर चित्र विचित्र गुण करवेकूं स्वभाव जाको सो उत्तम योगिनकरकें सत्कार कियो जाय हे२३

अब धौतिकर्म कहें हे ॥ चतुरंगुलमिति ॥ चार अंगुल चोडो ओर पंद्रह अंगुल लंबो ओर कछूक उष्ण जलकरकें आर्द्र होय सूक्ष्म होय नवीन पगडीको टूक होय ऐसो वस्त्र ले फिर गुरूने दिषायो वस्त्रग्रास करवेको प्रकार ताकरके मंद मंद किंचित् किंचित् ग्रास करे द्वितीय दिन दो हाथ तृतीय दिन तीन हाथ ऐसें नित्य एक हाथ या दो हाथ ग्रास करे२४

पुनरिति । ता वस्त्रको प्रांत कहिये एक विलस्तको छोड पिछाडीको ताय दांतनके बीचमें

मू॰ कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः ॥ २५ ॥
धौतिकर्मप्रभावेन प्रयांत्येव न संशयः ॥
नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ॥ २६ ॥

॥ टीका ॥

तं सिद्धैः । धौतिकर्मणः फलमाह ॥ कासश्वासेति ॥ कासश्च श्वासश्च प्लीहश्च कुष्टं च । समाहारद्वंद्वः । कासादयो रोगविशेषाः विंशतिसंख्याकाः कफरोगाश्च ॥ २५ ॥

धौतीति ॥ धौतिकर्मणः प्रभावेन गच्छंत्येव न संशयः । निश्चितमेतदित्यर्थः । अथ बस्तिकर्माह । नाभिदघ्नेति ॥ नाभिपरिमाणं नाभिदघ्नं । परिमाणे दघ्नच् प्रत्ययः । तस्मिन्नाभिदघ्ने नाभिपरिमाणे जले नद्यादितोये पायुर्गुदं तस्मिन्न्यस्तो नालो वंश नालो येन कनिष्ठिकाप्रवेशयोग्यरंध्रयुक्तं षडंगुलदीर्घं वंशनालं गृहीत्वा चतुरंगुलं पायौ प्रवेशयेत् । अंगुलिद्वयमितं बहिः स्थापयेत् । उत्कटमासनं यस्य स उत्कटासनः । पार्ष्णिद्वये स्फिचौ विन्यस्य पादांगुलिभिः स्थितिरुत्कटासनं । आधारस्याकुंचनं यथा जलमंतः प्रविशेत्तथा संकोचनं कुर्यात् । अंतः प्रविष्टं जलं नौलिककर्मणा चालयित्वा त्यजेत् । क्षालनं बस्तिकर्मोच्यते । धौतिबस्तिकर्मद्वयं भोजनात्प्रागेव कर्तव्यं । तदनंतरं भोजने विलंबोऽपि न कार्यः । केचित्तु । पूर्वं मूलाधारेण वायोराकर्षणमभ्यस्य जले स्थित्वा पायौ नालप्रवेशनमंतरेणैव बस्तिकर्माभ्यसंति । तथा करणे सर्वं जलं बहिर्नायाति । अतो नानारोगधातुक्षयादिसंभवाच्च तथा बस्तिकर्म नैव विधेयम् । किमन्यथा स्वात्मारामः पायौ न्यस्तनाल इति ब्रूयात् ॥ २६ ॥

॥ भाषा ॥

दाव होठसुं लगाय फिर नौलीकर्म करे नौलीके करवेसुं वस्त्र छातीपे जमोहुयो नीचे उदरमें उतर जाय फिर वस्त्रकूं उदरमें भ्रमाले नोलीसुई भ्रम जाय पुनः शनैं शनैं वस्त्रकूं निकासे ये धौतिकर्म कहें हें याके करेतें कास श्वास प्लीह कुष्ठादिक विषरोग हें ते ओर कफ रोग– ॥ २५ ॥

धौतिति । ये सर्व रोग धौतिक कर्मके प्रभावकरके निश्चेही दूर होंय॥अब बस्तिकर्म कहें हें ॥ नाभिदघ्नेति ॥ नाभिमात्र जलमें स्थित होय छोटी अंगुली जामें माय जाय इतनों छिद्र होय और छै अंगुल लंबो ऐसो एक वांसको नाल लेकरकें च्यार अंगुल गुदामें प्रवेश करे ओर दो अंगुल बहार राखै फिर उत्कटासन करकें आधारकूं आकुंचनकर जल भीतर प्रवेश होय फिरवा जलकूं नौलीकर्म कर भ्रमाय त्याग करे ये बस्तिकर्म हे धौ-

मू० आधाराकुंचनं कुर्यात्क्षालनं बस्तिकर्म तत् ॥
गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः ॥
बस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयंते सकलामयाः ॥ २७ ॥
धात्विंद्रियांतःकरणप्रसादं दद्याच्च कांतिं दहनप्रदीप्तिम् ॥
अशेषदोषोपचयं निहन्यादभ्यस्यमानं जलबस्तिकर्म॥२८

॥ टीका ॥

बस्तिकर्मगुणानाह द्वाभ्याम् ॥गुल्मप्लीहोदरमिति॥ गुल्मश्च प्लीहश्च रोगविशेषावुदरं जलोदरं च तेषां समाहारद्वंद्वः । वातश्च पित्तं च कफश्च तेभ्य उद्भवा एकैकस्माद्द्वाभ्यां सर्वेभ्यो वा जाताः सकलाः सर्वे आमया रोगा बस्तिकर्मणः प्रभावः सामर्थ्यं तेन क्षीयंते नश्यंति ॥ २७ ॥

धात्विति ॥ अभ्यस्यमानमनुष्ठीयमानं जले बस्तिकर्म जलबस्तिकर्म ॥ कर्तृ । दद्यादनुष्ठातुरिति शेषः । धातवो रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातव इत्युक्ता इंद्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पंच कर्मेंद्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिव्हाघ्राणानि पंच ज्ञानेंद्रियाणि च अंतःकरणानि मनोबुद्धिचित्ताहंकाररूपाणि तेषां परितापविक्षेपशोकमोहगौरवावरणदैन्यादिराजसतामसधर्मविनिवर्तनेन सुखप्रकाशलाघवादिसात्विकधर्माविर्भावः प्रसादस्तं कांतिं द्युतिं दहनस्य जठराग्नेः प्रदीप्तिं प्रकृष्टां दीप्तिं च तथा। अशेषाः समस्ता ये दोषा वातपित्तकफास्तेषामुपचयम् । एतदपचयस्याप्युपलक्षणं । उपचयापचयौ निहन्यान्नितरां हन्यात्। दोषसाम्यरूपमारोग्यं कुर्यादित्यर्थः२८

॥ भाषा ॥

ति बस्तिकर्म ये दोनो भोजनतें पूर्व करनो योग्य हे ये करे पीछैं भोजनमें विलंब नही करनो योग्य हे ॥ २६ ॥

आधारेति । अब बस्तिकर्मके गुण दोयश्लोकनसें कहें हें।।गुल्मप्लीहोदरमिति॥ गुल्म प्लीह जलोदर वात पित्त कफ इनतें उत्पन्न हुये सकल रोग ते बस्तिकर्मके प्रभाव कर नाश होय हे ॥ २७ ॥

धात्विति ॥ जलमें बस्तिकर्मकूं अभ्यास करे ताकै सात धातू रस असृक् मांस मेद अस्थी मज्जा शुक्र ये और पांच ज्ञानेंद्री पांच कर्मेंद्री और अंतःकरण मन बुद्धी चित्त अहंकार इनके ताप विक्षेप शोकादि मोह गौरव आवरण दीनता राजसतामसका धर्म ये सब निवृत्त होय हें ओर प्रसन्नता कांती जाठराग्निदीप्ती ताय देवें हें ओर समस्त जे वात पित्त कफ तिनकी वृद्धि दूर करें हें ओर आरोग्यता करे हे ॥ २८ ॥

अथ नेतिः ॥

सू० सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ॥
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥ २९ ॥
कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ॥
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहंति च॥ ३० ॥

॥ टीका ॥

अथ नेतिकर्माह॥सूत्रमिति ॥ वितस्ति वितस्तिमितं वितस्तिरित्युपलक्षणमधिकस्यापि । यावता सूत्रेण सम्यक् नेतिकर्म भवेत्तावद् ग्राह्यं । सुस्निग्धंसुष्ठु स्निग्धं ग्रंथ्यादिरहितं सूत्रं तच्च नवधा दशधा पंचदशधा वा गुणितं सुदृढं ग्राह्यं । नासा नासिकैव नालः सच्छिद्रत्वात्तस्मिन्प्रवेशयेत् । मुखान्निर्गमयेन्निष्कासयेत् । तत्प्रकारस्त्वेवं । सूत्रप्रांतं नासानाले प्रवेश्येतरनासापुटमंगुल्या निरुध्य पूरकं कुर्यात् । पुनश्च मुखेन रेचयेत् । पुनःपुनरेवं कुर्वतो मुखे सूत्रप्रांतमायाति । तत्सूत्रप्रांतं नासाबहिःस्थसूत्रप्रांतं च गृहीत्वा शनैश्चालयेदिति । चकारादेकस्मिन्नासानाले प्रवेश्येतरस्मिन्निर्गमयेदित्युक्तं तत्प्रकारस्त्वेकस्मिन्नासानाले सूत्रप्रांतं प्रवेश्येतरनासापुटमंगुल्या निरुध्य पूरकं कुर्यात्पश्चादितरनासानालेन रेचयेत् । पुनःपुनरेवं कुर्वत इतरनासानाले सूत्रप्रांतमायाति तस्य पूर्ववच्चालनं कुर्यादिति । अयं प्रकारस्तु बहुवारं कुर्वतः कदाचिद्भवति । एषोक्ता सिद्धैरणिमादिगुणसंपन्नैः । तदुक्तं । 'अवाप्ताष्टगुणैश्वर्याः सिद्धाः सद्भिर्निरूपिताः' इति । नेतिर्निगद्यते नेतिरिति कथ्यते ॥ २९ ॥

नेतिगुणानाह ॥ कपालशोधिनीति ॥ कपालं शोधयति शुद्धं मलरहितं करोतीति कपालशोधिनी । चकारान्नासानालादीनामपि । एवशब्दोऽवधारणे । दिव्यां

॥ भाषा ॥

अब नेतीकर्म कहें हें ॥ सूत्रमिति ॥ विलस्त मात्र सचिक्कण होय ग्रंथ्यादि रहित होय ऐसो सूत्र लेनो वा नो गुणो दश गुणो पंद्रह गुणो दृढ ग्रहण करनो फिर नासिकामें प्रवेश करे फिर मुखमेंतें निकासे याको प्रकार ये हे सूत्रको अंत नासिकामें प्रवेशकरके दूसरी नासापुट अंगुलीकरकें रोककर पूरक करे फिर मुखकरकें रेचन करे वारंवार ऐसें करे तो मुखमें सूत्रको छोड आय जाय वो सूत्रको छोड और नासिकाके बहार स्थित जो सूत्रको छोड ये दोनो छोड पकडकरकें शनै शनै चलावे ये नेती सिद्धननें कही हे ॥ २९ ॥

अब नेतीके गुण कहें हें ॥ कपालशोधिनीति ॥ ये नेती क्रिया कपालके मैलकूं शुद्ध करे हे और नासिकादिकनके मैलकूं बी दूर करे हे और सूक्ष्म पदार्थ जासुं दीख-

अथ त्राटकम् ॥

मू० निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ॥
अश्रुसंपातपर्यंतमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥ ३१ ॥
मोचनं नेत्ररोगाणां तंद्रादीनां कपाटकम् ॥
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ॥ ३२ ॥

॥ टीका ॥

सूक्ष्मपदार्थग्राहिणीं दृष्टिं प्रकर्षेण ददातीति दिव्यदृष्टिप्रदायिनी नेतिक्रिया जत्रुणोः स्कंधसंध्योरूर्ध्वमुपरिभागे जातो जत्रूर्ध्वजातः स चासौ रोगाणामोघश्च तमाशु झटिति निहंति । चकारः पादपूरणे । 'स्कंधो भुजशिरो ऽसोऽस्त्री संधी तस्यैव जत्रुणि ।' इत्यमरः ॥ ३० ॥

त्राटकमाह ॥ निरीक्षेदिति ॥ समाहितः एकाग्रचित्तः निश्चला चासौ दृक्च दृष्टिस्तया सूक्ष्मं च तल्लक्ष्यं च सूक्ष्मलक्ष्यमश्रूणां सम्यक् पातः पतनं तत्पर्यंतं । अनेन निरीक्षणस्यावधिरुक्तः । निरीक्षेत्पश्येत् । आचार्यैर्मत्स्येंद्रादिभिरिदं त्राटकं त्राटककर्म स्मृतं कथितम् ॥ ३१ ॥

त्राटकगुणानाह ॥ मोचनमिति ॥ नेत्रस्य रोगा नेत्ररोगास्तेषां मोचनं नाशकं तंद्रा आदिर्येषामालस्यादीनां तेषां कपाटकं कपाटवदंतर्धायकमभिभावकमित्यर्थः । तंद्रा तामसश्चित्तवृत्तिविशेषः । त्राटकं त्राटकाख्यं कर्म यत्नतः प्रयत्नतः प्रयत्नाद्गोप्यं गोपनीयं । गोपने दृष्टांतमाह ॥ यथेति ॥ हाटकस्य सुवर्णस्य पेटकं पेटी इति लोके प्रसिद्धं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्वत् ॥ ३२ ॥

॥ भाषा ॥

नलमें ऐसी दिव्यदृष्टि देवे हे और कंधानकी संधीके ऊपरले भागमें उत्पन्न हुयो जो रोगनको समूह ताय दूर करे हे ॥ ३० ॥

अब त्राटक कहें हें ॥ निरीक्षेदिति ॥ एकाग्र चित्त होय निश्चल दृष्टीकर सूक्ष्म लक्ष्य जो कछूही पदार्थ ताय देखो करे जब तलक जल नेत्रमें नही आवे तब तलक देखो करे नेत्रमें जल आवे तब बंध होय जाय मत्स्येंद्रादिकनने ये त्राटक कर्म कह्यो हे ॥ ३१ ॥

अब त्राटकके गुण कहें हें ॥ मोचनमिति ॥ नेत्रके रोगनकूं नाशको करवेवालो हे और आलस्य बहोत निद्रादिकनके कपाटसरीखो हे. ओर तंद्राकूं अर्थात् तमोगुणी चित्तकी वृत्ती जो क्रोधादिक तिनकूं दूर करे है. ओर जैसें सुवर्णकी पेटीकूं छिपायके राखें हें तैसेंही या त्राटक कर्मकूं बडे यत्नतें गोप्य राखे ॥ ३२ ॥

अथ नौलिः ॥

मू० अमंदावर्तवेगेन तुंदं सव्यापसव्यतः ॥
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते ॥ ३३ ॥
मंदाग्निसंदीपनपाचनादिसंधापिकानंदकरी सदैव ॥
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलिः ३४
भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ॥

॥ टीका ॥

अथ नौलिकर्माह ॥ अमंदेति ॥ नतौ नम्रीभूतावंसौ स्कंधौ यस्य स नतांसः पुमानमंदोऽतिशयितो य आवर्तस्तस्येव जलभ्रमस्येव वेगो जवस्तेन तुंदमुदरं । 'पिचंडकुक्षी जठरोदरं तुंदं स्तनौ कुचौ ।' इत्यमरः । सव्यं चापसव्यं च सव्यापसव्ये दक्षिणवामभागौ तयोः सव्यापसव्यतः । सप्तम्यर्थे तसिः । भ्रामयेद्भ्रमंतं प्रेरयेत् । सिद्धैरेषा नौलिः प्रचक्ष्यते कथ्यते ॥ ३३ ॥

नौलिगुणानाह ॥ मंदाग्नीति ॥ मंदश्चासावग्निर्जठराग्निस्तस्य दीपनं सम्यग्दीपनं च पाचनं च भुक्तान्नपरिपाकश्च मंदाग्निसंदीपनपाचने ते आदिनी यस्य तन्मंदाग्निसंदीपनपाचनादि तस्य संधापिका विधात्री । आदिशब्देन मलशुद्ध्यादि । सदैव सर्वदैवानंदकरी सुखकरी । अशेषाः समस्ताश्च ते दोषाश्च वातादय आमयाश्च रोगास्तेषां शोषणी शोषणकर्त्री हठस्य क्रियाणां धौत्यादीनां मौलिर्मौलिरिवोत्तमा धौतिबस्त्योर्नौलिसापेक्षत्वात् । इयमुक्ता नौलिः ॥ ३४ ॥

अथ कपालभातिं तद्गुणं चाह ॥ भस्त्रावदिति॥ लोहकारस्य भस्त्राग्नेर्धमनसाध-

॥ भाषा ॥

अब नौलि कहें हें ॥ अमंदेति ॥ नीचे करे हें दोनो कंधा जाने ऐसो पुरुष अधिक जो जलको भ्रमर ताकीसीनाई वेगकरकें उदरकूं वांयो जेमनो भागकरकें भ्रमावे सिद्धनकरकें नौलि ये कही हें ॥ ३३ ॥

नौलीके गुण कहे हें ॥ मंदाग्नीति ॥ मंद जाठराग्नीकूं बढायवेवाली और भोजन कियो जो अन्न ताके परिपाकादिकनकूं करवेमाली और आनंदके करवेवाली और समस्त जे दोष रोग वातादिकनकूं सुकायवेवारी हठकी क्रिया धौत्यादिक तिनमें मुकुटकीसीनाई उत्तम हे और धौती और बस्ती इन दोनोनमें नौली करणी पडे हे यातें ये नौली कही है ॥ ३४ ॥

अब कपालभाति और याके गुण कहें हें ॥ भस्त्रावदिति ॥ लुहारकी धोंकनी कीसी-

मू० कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ॥ ३५ ॥
षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ॥
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ॥ ३६ ॥
प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यंति मला इति ॥
आचार्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न संमतम् ॥ ३७ ॥

॥ टीका ॥

नीभूतं चर्म तद्वत्संभ्रमेण सहवर्तमानौ ससंभ्रमावमंदौ यौ रेचपूरौ रेचकपूरकौ कपालभातिरिति विख्याता । कीदृशी कफदोषविशोषणी कफस्य दोषा विंशतिभेदभिन्नाः । तदुक्तं निदाने । ' कफरोगाश्च विंशतिः ' इति । तेषां विशोषणी विनाशिनी ॥ ३५ ॥

षट्कर्मणां प्राणायामत्वोपकारकत्वमाह ॥ षट्कर्मेति ॥ षट्कर्मभिर्धौतिप्रभृतिभिर्निर्गताः । स्थौल्यं स्थूलस्य भावः स्थूलत्वं । कफदोषा विंशतिसंख्याका मलादयश्च यस्य स तथा 'शेषाद्विभाषा' इति क प्रत्ययः । आदिशब्देन पित्तादयः। प्राणायामं कुर्यात् । ततस्तस्मात्षट्कर्मपूर्वकात्प्राणायामादनायासेनाश्रमेण सिद्ध्यति । योग इति शेषः । षट्कर्माकरणे तु प्राणायामे श्रमाधिक्यं स्यादिति भावः ॥ ३६ ॥

मतभेदेन षट्कर्मणामनुपयोगमाह ॥ प्राणायामैरिति ॥ प्राणायामैरेव । एवशब्दः षट्कर्मव्यवच्छेदार्थः । सर्वे मलाः प्रशुष्यंति । मला इत्युपलक्षणं स्थौल्यकफपित्तादीनाम् इति हेतोः केषांचिदाचार्याणां याज्ञवल्क्यादीनामन्यत्कर्म षटकर्म न संमतं नाभिमतं । आचार्यलक्षणमुक्तं वायुपुराणे । ' आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयेदपि । स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते ॥ ' इति ॥ ३७ ॥

॥ भाषा ॥

नाई शीघ्र जो रेचक पूरक करे ताकूं कपालभाति कहें हें और ये कपालभाति कफके दोष वीश हे तिने सुखायवेवारी हे ॥ ३५ ॥

षट्कर्मेति । धौतिकूं आदिले जो षट् कर्म तिनकरकें निकसे हें स्थूल भाव कफ दोष मलादिक पित्तादिक जाके ऐसो होय फिर प्राणायाम करे इनके करेतें विना श्रमकरें योग सिद्ध होय हे ॥ ३६ ॥

प्राणायामैरिति । प्राणायामनकर संपूर्ण मैल दूर होय हें और याज्ञवल्क्यादिकनके और कर्मरूपी ये षट्कर्म संमत नही हें. ॥ ३७ ॥

मू० उदरगतपदार्थमुद्वमंति पवनमपानमुदीर्य कंठनाले ॥
क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा गजकरणीति निगद्यते हठज्ञैः ३८
ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः ॥
अभूवन्नंतकभयात्तस्मात्पवनमभ्यसेत् ॥ ३९ ॥
यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निराकुलम् ॥
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥ ४० ॥

॥ टीका ॥

गजकरणीमाह ॥ उदरगतमिति ॥ अपानं पवनमपानवायुं कंठनाले कंठो नाल इव कंठनालस्तस्मिन्नुदीर्योत्क्षिप्योदरे गतः प्राप्तः स चासौ पदार्थश्च भुक्तपीतान्नजलादिस्तं परयोद्वमंत्युद्गिरंति यया योगिन इत्यध्याहारः। क्रमेण यः परिचयोऽभ्यासस्तेनावश्यं स्वाधीनं नाडीनां चक्रं यस्यां सा तथा। सा क्रिया हठज्ञैर्हठयोगाद्यभिज्ञैर्गजकरणीति निगद्यते कथ्यते। क्रमपरिचयवश्यनाडिमार्ग इति क्वचित्पाठस्तस्यायमर्थः क्रमपरिचयेन वश्यो नाड्याः शंखिन्या मार्गः कंठपर्यंतो यस्यां सा तथा ॥ ३८ ॥

प्राणायामोऽवश्यमभ्यसनीयः सर्वोत्तमैरभ्यस्तत्वान्महाफलत्वाच्चेति सूचयन्नाह चतुर्भिः ॥ ब्रह्मादय इति ॥ ब्रह्मा आदिर्येषां ते ब्रह्मादयस्तेऽपि। किमुतान्य इत्यर्थः। त्रिदशा देवाः अंतयतीत्यंतकः कालस्तस्माद्भयमंतकभयं तस्मात्पवनस्य प्राणवायोरभ्यासो रेचकपूरककुंभकभेदभिन्नप्राणायामानुष्ठानरूपस्तस्मिंस्तत्परा अवहिता अभूवन्नासन्। तस्मात्पवनमभ्यसेत्प्राणमभ्यसेत् ॥ ३९ ॥

यावदिति ॥ यावद्यावत्कालपर्यंतं मरुत्प्राणानिलो देहे शरीरे बद्धः श्वासोच्छ्वा-

॥ भाषा ॥

अब गजकरणी कहे हें ॥ उदरगतमिति ॥ अपान जो वायु ताकूं कंठनालमें चढाय फिर उदरमें प्राप्त हुयो जो भुक्तपीत भोजन पान कियो अन्न जलादिक ताय निकाल डारे या क्रमकरकें जो अभ्यास ताकरकें वशीभूत हे नाडीनको समूह जामें ऐसी क्रिया सो हठके जानवेवारे योगीनकरकें गजकरणी कही हे ॥ ३८ ॥

ब्रह्मादय इति ॥ ब्रह्मा हें आदिमें जिनके ऐसे देवता तेवी कालके भयतें पवनाभ्यासमें तत्पर होते भये. तातें पवनाभ्यास करे ॥ ३९ ॥

यावदिति ॥ जबतांई वायु शरीरमें रुको रहे. जबतांई अंतःकरण व्याकूल नही

मू० विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते ॥
सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥ ४१ ॥
मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ॥
यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी ॥ ४२ ॥
तत्सिद्धये विधानज्ञाश्चित्रान्कुर्वंति कुंभकान् ॥

॥ टीका ॥

सक्रियाशून्यः । यावच्चित्तमंतःकरणं निराकुलमविक्षिप्तं समाहितम् । यावद्भ्रुवोर्मध्ये दृष्टिरंतःकरणवृत्तिः । दृशिरत्र ज्ञानसामान्यार्थः । तावत्तावत्कालपर्यंतं कलयतीति कालोऽतकस्तस्माद्भयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः । तथा च वक्ष्यति । 'खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा । साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥' इति । स्वाधीनो भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

विधिवदिति॥ विधिवत्प्राणसंयामैरासनजालंधरबंधादिविधियुक्तप्राणायामैर्नाडीचक्रे नाडीनां चक्रं समूहस्तस्मिन्विशोधिते निर्मले सति मारुतो वायुः सुषुम्ना इडापिंगलयोर्मध्यस्था नाडी तस्या वदनं मुखं भित्त्वा सुखादनायासाद्विशति । सुषुम्नांतरिति शेषः ॥ ४१ ॥

मारुत इति ॥ मारुते प्राणवायौ मध्ये सुषुम्नामध्ये संचारः सम्यक्चरणं गमनं मूर्धपर्यंतं यस्य स मध्यसंचारस्तस्मिन् सति मनसः स्थैर्यं ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो जायते प्रादुर्भवति । यो मनसः सुस्थिरीभावः सुष्ठुस्थिरीभवनं सैव मनोन्मन्यवस्था। मनोन्मनीशब्द उन्मनीपर्यायः । तथाग्रे वक्ष्यति । 'राजयोगः समाधिश्च' इत्यादिना॥४२॥

विचित्रेषु कुंभकेषु प्रवृत्तिं जनयितुं तेषां मुख्यफलमवांतरफलं चाह । **तत्सि-**

॥ भाषा ॥

होय. जबताई भ्रुकुटीनके मध्यमें दृष्टी रहे. तबताई कालतें भय कहांतें होयहे तो नहीं ही होयहे ॥ ४० ॥

विधिवदिति ॥ आसन जालंधरबंधादिक विधियुक्त जो प्राणायाम तिनकरकें नाडीनको समूह शुद्ध होय जब वायु इडा पिंगलाके मध्यमै सुषुम्ना नाडी ताको मुखभेदकरके सुषुम्नाके भीतर सुखपूर्वक प्रवेश करे हे ॥ ४१ ॥

मारुत इति ॥ जब वायु सुषुम्नाके भीतर गमन करे तब मनकूं स्थैर्य होय हे अर्थात ध्यानके योग्य आकारमें वृत्तिप्रवाह होय हे जो मनकूं स्थिर भाव होय सोहि मनोन्मनी अवस्था कहें हें तूर्य अवस्थाकूं उन्मनी और मनोन्मनी अवस्था कहें हें ॥ ४२ ॥

तत्सिद्धय इति ॥ और जे कुंभकके अनुष्ठान प्रकारकूं जाने हें ते उन्मनी अवस्था

मू० विचित्रकुंभकाभ्यासाद्विचित्रां सिद्धिमाप्नुयात् ॥ ४३ ॥

अथ कुंभकभेदाः ॥

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी सीतली तथा ॥
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्ट कुंभकाः ॥ ४४ ॥
पूरकांते तु कर्तव्यो बंधो जालंधराभिधः ॥
कुंभकांते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डिनायकः ॥ ४५ ॥

॥ टीका ॥

द्धयइति ॥ विधानं कुंभकानुष्ठानप्रकारस्तज्जानंतीति विधानज्ञास्तत्सिद्धये उन्मन्यवस्थासिद्धये चित्रान्सूर्यभेदनादिभेदेन नानाविधान्कुंभकान्कुर्वंति । विचित्राश्च ते कुंभकाश्च विचित्रकुंभकास्तेषामभ्यासादनुष्ठानाद्विचित्रामणिमादिभेदेन नानाविधां विलक्षणां वा जन्मौषधिमंत्रतपोजातां । तदुक्तं भागवते । ' जन्मौषधितपोमंत्रैर्यावतीरिह सिद्धयः । योगेनाप्नोति ताः सर्वा नान्यैर्योगगतिं व्रजेत् ॥ ' इति । आप्नुयात्प्रत्याहारादिपरंपरयेति भावः ॥ ४३ ॥

अथाष्टकुंभकान्नामभिर्निर्दिशति ॥ सूर्यभेदनमिति ॥ स्पष्टम् ॥ ४४ ॥

अथ हठसिद्धावनन्यसिद्धां पारमहंसीं सर्वकुंभकसाधारणयुक्तिमाह त्रिभिः ॥ पूरकांत इति ॥ जालंधर इत्यभिधा नाम यस्य स जालंधराभिधो बंधो बध्नाति प्राणवायुमिति बंधः कंठाकुंचनपूर्वकं चिबुकस्य हृदि स्थापनं जालंधरबंधः पूरकांते पूरकस्यांते पूरकानंतरं झटिति कर्तव्यः । तुशब्दात्कुंभकादावुड्डियानकस्तु कुंभकांते कुंभकस्यांते किंचित्कुंभकशेषे रेचकस्यादौ रेचकादौ रेचकात्पूर्वं कर्तव्यः । प्रयत्न-

॥ भाषा ॥

की सिद्धिके अर्थ विचित्र जें सूर्यभेदनादि भेदकरकें नानाप्रकारके कुंभक तायकरें हें और विचित्र कुंभकके अभ्यासतें विचित्र सिद्धी प्राप्त होय है ॥ ४३ ॥

अब कुंभकके भेद कहें हें ॥ सूर्यभेदनमिति ॥ सूर्यभेदनं १ उज्जायी २ सीत्कारी ३ सीतली ४ भस्त्रिका ५ भ्रामरी ६ मूर्छा ७ प्लाविनी ८ ये आठ कुंभक हें ॥ ४४ ॥

पूरकांत इति ॥ आदिमें मूलबंध करे फिर पूरकके अंतमें शीघ्रही जालंधरबंध करे नाड नीचीकर ठोडीकूं हृदयके ऊपरि स्थापन करनो ये जालंधरबंध हे और कुंभकके अंतमें कछूक कुंभक शेष रहे रेचककी आदिमें उड्डीयानबंध करे यत्नतें नाभीकूं पीछैं खेंचनों ये उड्डियान बंध हे ॥ ४५ ॥

मू० अधस्तात्कुंचनेनाशु कंठसंकोचने कृते ॥
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥ ४६ ॥

॥ टीका ॥

विशेषेण नाभिप्रदेशस्य पृष्ठत आकर्षणमुड्डियानबंधः ॥ ४५ ॥

अधस्तादिति ॥ कंठस्य संकोचनं कंठसंकोचनं तस्मिन्कृते सति जालंधरबंधे कृते सतीत्यर्थः । आश्वव्यवहितोत्तरमेवाधस्तादधःप्रदेशादाकुंचनेनाधाराकुंचनेन मूलबंधेनेत्यर्थः । मध्ये नाभिप्रदेशे पश्चिमतः पृष्ठतस्तानंताननमाकर्षणं तेनोड्डियानबंधेनेत्यर्थः । उक्तरीत्या कृतेन बंधत्रयेण प्राणो वायुर्ब्रह्मनाडीं सुषुम्नां गच्छतीति ब्रह्मनाडिगः सुषुम्नानाडिगामी स्यादित्यर्थः । अत्रेदं रहस्यं । यदि श्रीगुरुमुखाज्जिह्वाबंधः सम्यक् परिज्ञातस्तर्हि जिव्हाबंधपूर्वकेन जालंधरबंधेनैव प्राणायामः सिध्यति । वायुप्रकोपेनैवमधातुवपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नतेत्यादीनि सर्वाणि लक्षणानि जायंत इति मूलबंधोड्डियानबंधौ नोपयुक्तौ । तयोर्जिव्हाबंधपूर्वकेण जालंधरबंधेनान्यथा सिद्धत्वात् । जिव्हाबंधो न विदितश्चेदधस्तात्कुंचनेनेति श्लोकोक्तरीत्या प्राणायामाः कर्तव्याः । त्रयोऽपि बंधा गुरुमुखाज्ज्ञातव्याः । मूलबंधस्तु सम्यगज्ञातो नानारोगोत्पादकः । तथा हि । यदि मूलबंधे कृते धातुक्षयो विष्टंभोऽग्निमांद्यं नादमांद्यं गुटिकासमूहाकारमजस्येव पुरीषं स्यात्तदा मूलबंधः सम्यक् न ज्ञात इति बोध्यं । यदि तु धातुपुष्टिः सम्यक् मलशुद्धिरग्निदीप्तिः सम्यक् नादाभिव्यक्तिश्च स्यात्तदा ज्ञेयं मूलबंधः सम्यक् जात इति ॥ ४६ ॥

॥ भाषा ॥

अधस्तादिति ॥ अधोदेशतें मूलबंध कर आधारको आकुंचनकरकें फिर जालंधरबंध करे फिर उड्डियानबंध करे इन तीनो बंधकरकें वायु ब्रह्मनाडी जो सुषुम्ना ताय प्राप्त होय. ओर ये रहस्य कहे हें जो गुरुमुखतें जिव्हाबंध जानतो तो जिव्हाबंधपूर्वक जालंधरबंधकरकेंही प्राणायाम सिद्ध होय हे. और वायुप्रकोप नही होय आधीन देह रहे कृश रहे मुख प्रसन्न रहे ये सर्व चिन्ह होय हें मूलबंध उड्डियानबंध उपयोगी नही हे. इन दोनोनकूं जिव्हाबंधपूर्वक जालंधरबंधकरकें सिद्ध होय जाय. और जो जिव्हाबंध नही आतो होय तो ‘ अधस्तात् कुंचनेन ’ या श्लोकमें कही जो रीती ता रीती कर प्राणायाम करनो योग्य हैं तीनो बंध गुरुमुखतें जाननो योग्य हे. और मूलबंध अच्छीतरें नही जानते होय तो नानारोगनकूं प्रगट करे. विना आये जो मूलबंध करे तो धातुक्षय विष्टंभ अग्नीको मंदपनो नादको मंदपनो और गुटिकाके समूह आकार होय

मू० अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कंठादधो नयेत् ॥
योगी जराविमुक्तः सन्षोडशाब्दवयो भवेत् ॥ ४७ ॥
अथ सूर्यभेदनम् ॥
आसने सुखदे योगी बध्वा चैवासनं ततः ॥

॥ टीका ॥

अपानमिति ॥ अपानमपानवायुमूर्ध्वमुत्थाप्याधाराकुंचनेन प्राणं प्राणवायुं कंठादधः अधोभागे नयेत्प्रापयेद्यः स योगी योगोऽस्यास्ति अभ्यस्यत्वेनेति योगी योगाभ्यासी जरया वार्धक्येन विमुक्तो विशेषेण मुक्तः सन् । षोडशानामब्दानां समाहारः षोडशाब्दं षोडशाब्दं वयो यस्य स तादृशो भवेत् । यद्यपि 'पूरकांते तु कर्तव्यः' इत्यादिना त्रयाणां श्लोकानामेक एवार्थः पर्यवस्यति तथापि 'पूरकांते तु कर्तव्यः' इत्यनेन बंधानां काल उक्तः । 'अधस्तात्कुंचनेन' इत्यनेन बंधानां स्वरूपमुक्तम् । 'अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य' इत्यनेन बंधानां फलमुक्तमिति विशेषः । जालंधरबंधे मूलबंधे च कृते नाभेरधोभाग आकर्षणाख्यो बंध उड्डियानबंधो भवत्येवेत्यस्मिञ्श्लोके नोक्तः । तथाचोक्तं ज्ञानेश्वरेण गीताषष्ठाध्यायव्याख्यायां । मूलबंधे जालंधरबंधे च कृते नाभेरधोभाग आकर्षणाख्यो बंधः स्वयमेव भवति ' इति ॥ ४७ ॥

' योगाभ्यासक्रमं वक्ष्ये योगिनां योगसिद्धये । उषःकाले समुत्थाय प्रातःकालेऽथवा बुधः ॥ १ ॥ गुरुं संस्मृत्य शिरसि हृदये स्वेष्टदेवताम् । शौचं कृत्वा दंतशुद्धिं विदध्याद्भस्मधारणम् ॥ २ ॥ शुचौ देशे मठे रम्ये प्रतिष्ठाप्यासनं मृदु । तत्रोपविश्य संस्मृत्य मनसा गुरुमीश्वरम् ॥ ३ ॥ देशकालौ च संकीर्त्य संकल्प्य विधिपूर्वकम् । अद्येत्यादि श्रीपरमेश्वरप्रसादपूर्वकं समाधितत्फलसिद्ध्यर्थमासनपूर्वकान् प्राणायामादीन् करिष्ये । अनंतं प्रणमेद्देवं नागेशं पीठसिद्धये ॥ ४ ॥ मणिभ्राजत्फणासहस्रविधृतविश्वंभरामंडलायानंताय नागराजाय नमः । ततोऽभ्यसेदासनानि श्रमे जाते शवासनम् । अंते समभ्यसेत्तत्तु श्रमाभावे तु नाभ्य-

॥ भाषा ॥

बकरियाकीसी मेंगनी होय तब ये मूलबंध अछी तरें नही जानें हे. ऐसो जाननो जब धातु पुष्ट होय सुंदर मैलकी शुद्धी होय जाठराग्निकी दीप्ती होय सुंदर नादकी प्रगटता होय तब जाननो मूलबंध सुंदर जाने हे ॥ ४६ ॥

अपानमिति ॥ अपानवायुकूं ऊपर उठायकरकें आधारकूं आकुंचनकरकें वायुकूं कंठतें नीचै लेजाय वो योगी वृद्ध अवस्थातें छूटकें षोडश वर्षकोसो होय जाय ॥ ४७ ॥

आठ प्रकारके कुंभक तिनमें प्रथम सूर्यभेदन और याके गुण कहें हें ॥ आसन

मू० दक्षनाड्या समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः ॥ ४८ ॥

॥ टीका ॥

सेत् ॥ ५ ॥ करणीं विपरीताख्यां कुंभकात्पूर्वमभ्यसेत् । जालंधरप्रसादार्थं कुंभकात्पूर्वयोगतः ॥ ६ ॥ विधायाचमनं कृत्वा कर्मांगं प्राणसंयमम् । योगींद्रादीन्नमस्कृत्य कौर्माच्च शिववाक्यतः ॥ ७ ॥' कूर्मपुराणे शिववाक्यं । 'नमस्कृत्याथ योगींद्रान्सशिष्यांश्च विनायकं । गुरुं चैवाथ मां योगी युंजीत सुसमाहितः ॥ ८ ॥ बध्वाभ्यासे सिद्धपीठं कुंभकाबंधपूर्वकम् । प्रथमे दश कर्तव्याः पंचवृद्ध्या दिनेदिने ॥ ९ ॥ कार्या अशीतिपर्यंतं कुंभकाः सुसमाहितैः । योगींद्रः प्रथमं कुर्यादभ्यासं चंद्रसूर्ययोः ॥ १० ॥ अनुलोमविलोमाख्यमेतं प्राहुर्मनीषिणः । सूर्यभेदनमभ्यस्य बंधपूर्वकमेकधीः ॥ ११ ॥ उज्जायिनं ततः कुर्यात्सीत्कारीं शीतलीं ततः । भस्त्रिकां च समभ्यस्य कुर्यादन्यान्नवापरान् ॥ १२ ॥ मुद्राः समभ्यसेद्बध्वा गुरुवक्त्राद्यथाक्रमम् । ततः पद्मासनं बध्वा कुर्यान्नादानुचिंतनम् ॥ १३ ॥ अभ्यासं सकलं कुर्यादीश्वरार्पणमादृतः । अभ्यासादुत्थितः स्नानं कुर्यादुष्णेन वारिणा ॥ १४ ॥ स्नात्वा समापयेन्नित्यं कर्म संक्षेपतः सुधीः । मध्याह्नेऽपि तथाभ्यस्य किंचिद्विश्रम्य भोजनं ॥ १५ ॥ कुर्वीत योगिनां पथ्यमपथ्यं न कदाचन । एलां वापि लवंगं वा भोजनांते च भक्षयेत् ॥ १६ ॥ केचित्कर्पूरमिच्छंति तांबूलं शोभनं तथा । चूर्णेन रहितं शस्तं पवनाभ्यासयोगिनां ॥ १७ ॥ इति चिंतामणेर्वाक्यं स्वारस्यं भजते नहि । केचित्पदेन यस्मात्तु तयोः शीतोष्णहेतुना ॥ १८ ॥ भोजनानंतरं कुर्यान्मोक्षशास्त्रावलोकनम् । पुराणश्रवणं वापि नामसंकीर्तनं विभोः ॥ १९ ॥ सायंसंध्याविधिं कृत्वा योगं पूर्ववदभ्यसेत् ॥ यदा त्रिघटिकाशेषो दिवसोऽभ्यासमाचरेत् ॥ २० ॥ अभ्यासानंतरं कार्या सायंसंध्या सदा बुधैः । अर्धरात्रे हठाभ्यासं विदध्यात्पूर्ववद्यमी ॥ २१ ॥ विपरीतां तु करणीं सायंकालार्धरात्रयोः । नाभ्यसेद्भोजनादूर्ध्वं यतः सा न प्रशस्यते ॥ २२ ॥' अथोद्देशानुक्रमणं कुंभकान्विवक्षुस्तत्र प्रथमोदितं

॥ भाषा ॥

इति ॥ योगी सुखदेवे ऐसो पवित्र देश तामें स्थित होय आपको आसन स्थिर होय अत्यंत ऊंचो नही होय अति नीचो नही होय एकांतमें सुखपूर्वक आसनमें स्थित होय फिर स्वस्तिकासन वीरासन सिद्धासन पद्मासन औरबी आसन हें सबमें मुख्य आसन सिद्धासन हे ताय बांधकरकें आसन बांधेके पीछें दक्षिणभागमें स्थित नाडी पिंगलाकरकें देहतें बहार वर्तमान वायु ताय शनै शनै खेंचकरकें पूरक करें ॥ ४८ ॥

मू० आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुंभयेत् ॥
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्पवनं शनैः ॥ ४९ ॥

॥ टीका ॥

सूर्यभेदनं तद्गुणांश्चाह त्रिभिः ॥ **आसन** इति ॥ सुखं ददातीति सुखदं तस्मिन्सुखदे ।'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः । नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥' इत्युक्तलक्षणे विविक्तदेशे सुखासनस्थः शुचिः 'समग्रीवशिरःशरीरं' इति श्रुतेश्च चैलाजिनकुशोत्तर आसने । आस्तेऽस्मिन्नित्यासनं आस्यतेऽनेनेति वा तस्मिन् योगी योगाभ्यासी । आसनं स्वस्तिकवीरसिद्धपद्माद्यन्यतमं मुख्यत्वात्सिद्धासनमेव वा बध्वैव बंधनेन संपाद्यैव कृत्वैवेत्यर्थः । तत आसनबंधानंतरं दक्षादक्षिणभागस्था या नाडी पिंगला तया बहिःस्थं देहाद्बहिर्वर्तमानं पवनं वायुं शनैर्मंदंमंदमाकृष्य पिंगलया मंदंमंदं पूरकं कृत्वेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

आकेशादिति ॥ केशाना मर्यादीकृत्याकेशं तस्मान्नखाग्राना मर्यादीकृत्येत्यानखाग्रं तस्माच्च निरोधस्य वायोरवरोधस्यावधिर्मर्यादा यस्मिन्कर्मणि तत्तथा कुंभयेत् । केशपर्यंतं नखाग्रपर्यंतं च वायोर्निरोधो यथा भवेत्तथातिप्रयत्नेन कुंभकं कुर्यादित्यर्थः । ननु 'हठान्निरुद्धः प्राणोऽयं रोमकूपेषु निःसरेत् । देहं विदारयत्येष कुष्ठादि जनयत्यपि ॥ ततः प्रत्यापितव्योऽसौ क्रमेणारण्यहस्तिवत् । वन्यो गजो गजारिर्वा क्रमेण मृदुतामियात् ॥ करोति शास्त्रनिर्देशान्न च तं परिलंघयेत् । तथा प्राणो हृदिस्थोऽयं योगिनां क्रमयोगतः ॥ गृहीतः सेव्यमानस्तु विश्रंभमुपग-

॥ भाषा ॥

आकेशादिति ॥ केशपर्यंत नखाग्रपर्यंत वायुको निरोध करे अर्थात अतियत्नकर कुंभक करे तो रुको हुयो वायु रोमनमेंसुं निकस देहकूं विदीर्ण करे हे और कुष्ठादि रोगकूं प्रगट करे हे. जेसें वनमें हाथि सिंव इनकूं होलेहोले पकडे रीतसुं तो सुखपूर्वक पकडले और जो जल्दी करे तो दुःख होय जाय पकडवेमेबी नही आवे ऐसेंही यत्नकरकें कुंभक करे ॥ औ में शीघ्रही प्राणवायुको जय करूंगो या बुद्धीकर बहुत अभ्यासमें परायण होय यातें कह्यो वनके हाथी कीसीनाई क्रमतें करे और कहुं ऐसोबी कहें हें अतियत्नकरकें कुंभक करे जेसो अधिक करे तेसो गुण अधिक होय जेसो जेसो शिथिल कुंभक होय तेसो तेसो गुण अल्प होय यामें योगीनको अनुभव प्रमाण हे पूरक तो शनें शनें करनो योग्य हे अथवा वेगतेंबी करे तो दोष नहीं और रेचक तो शनें शनें वेगतें रेचक करे तो बलहानी होय यातें वामनाडी जो इडा ताकरकें वायुकूं मंदमंद रेचक करे ॥ ४९ ॥

मू० कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत् ॥
पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम् ॥ ५० ॥
अथोज्जायी ॥
मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ॥
यथा लगति कंठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ॥ ५१ ॥

॥ टीका ॥

च्छति' इति वाक्यविरुद्धमिति प्रयत्नेन कुंभकं कुर्यादिति कथमुक्तमिति चेन्न । 'हठान्निरुद्धः प्राणोऽयम्' इति वाक्यस्य बलादचिरेण प्राणजयं करिष्यामीति बुद्ध्यारंभः॥ एवंच बव्हभ्यासासक्तपरत्वात्क्रमेणारण्यहस्तिवदिति दृष्टांतस्वारस्याच्च । अत एव सूर्याचंद्रमसोरभ्यासे धारयित्वा यथाशक्ति निधारयेदिति निरोधत इति चोक्तं संगच्छते । तस्मात्कुंभकस्त्वतिप्रयत्नपूर्वकं कर्तव्यः । यथायथातियत्नेन कुंभकः क्रियते तथातथा तस्मिन्गुणाधिक्यं भवेत् । यथायथा च शिथिलः कुंभकः स्यात्तथातथा गुणाल्पत्वं स्यात् । अत्र योगिनामनुभवोऽपि मानं। पूरकस्तु शनैः शनैः कार्यः वेगाद्वा कर्तव्यः । वेगादपि कृते पूरके दोषाभावात्।रेचकस्तु शनैः शनैरेव कर्तव्यः। वेगात्कृते रेचके बलहानिप्रसंगात् । ततः शनैःशनैःरेव रेचयेन्न तु वेगतः । इत्याद्यनेकधा ग्रंथकारोक्तेश्च। ततो निरोधावधि कुंभकानंतरं शनैःशनैःर्मंदंमंदं सव्ये वामभागे स्थिता नाडी सव्यनाडी तया सव्यनाड्या इडया पवनं वायुं रेचयेद्बहिर्निःसारयेत् । पुनः शनैरित्युक्तिस्तु शनैरेव रेचयेदित्यवधारणार्था । तदुक्तं। 'विस्मये च विषादे च दैन्ये चैवावधारणे । तथा प्रसादने हर्षे वाक्यमेकं द्विरुच्यते ॥' इति॥४९॥

कपालशोधनमिति॥ कपालस्य मस्तकस्य शोधनं शुद्धिकरं वातजा दोषा वातदोषा अशीतिप्रकारास्तान् हंतीति वातदोषघ्नं कृमीणामुदरे जातानां दोषो विकारस्तं हरतीति कृमिदोषहृत् । पुनःपुनर्भूयोभूयः कार्यं । सूर्येणापूर्य कुंभयित्वा चंद्रेण रेचनमिति रीत्येदमुत्तममुत्कृष्टं सूर्यभेदनं सूर्यभेदनाख्यमुक्तं । योगिभिरिति शेषः ५०

उज्जायिनमाह सार्धेन ॥ मुखमिति ॥ मुखमास्यं संयम्य संयतं कृत्वा

॥ भाषा ॥

सूर्यभेदनके गुण कहें हें ॥ कपालशोधनमिति ॥ मस्तककी शुद्धी करे हे और वातें उत्पन्न हुये जे अशी दोष तिने दूर करे हे. और उदरमें पडगये जे कीडा तिनके विकार दोषनकूं दूर करे हे. यातें ये वारंवार करे सूर्यकरकें पवनपूरक करे चंद्रकरकें वायुकूं रेचन करे यारीतकर उत्कृष्ट हे योगीनकरकें प्रथम सूर्यभेदन कह्यो हे ॥ ५० ॥

अब दूसरो उज्जायिकुंभक कहें हें ॥ मुखमिति ॥ मुख मूंदकरकें पवन कंठतें ले कर

मू० पूर्ववत्कुंभयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ॥
श्लेष्मदोषहरं कंठे देहानलविवर्धनम् ॥ ५२ ॥
नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् ॥
गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुंभकम् ॥ ५३ ॥

॥ टीका ॥

मुद्रयित्वेत्यर्थः । कंठात्तु कंठादारभ्य हृदयावधि हृदयमवधिर्यस्मिन्कर्मणि तत्तथा स्वनेन सहितं यथा स्यात्तथा । उभे क्रियाविशेषणे । लगति श्लिष्यति पवन इत्यर्थात् । तथा तेन प्रकारेण नाडीभ्यामिडापिंगलाभ्यां पवनं वायुं शनैर्मंदमाकृष्याकृष्टं कृत्वा पूरयित्वेत्यर्थः ॥ ५१ ॥

पूर्ववदिति॥प्राणं पूर्ववत्पूर्वेण सूर्यभेदनेन तुल्यं पूर्ववत् । 'आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुंभयेत् ।' इत्युक्तरीत्या कुंभयेद्रोधयेत् । ततः कुंभकानंतरमिडया वामनाड्या रेचयेत्त्यजेत् । उज्जायिगुणानाह सार्धश्लोकेन॥श्लेष्मदोषहरमिति॥ कंठे कंठप्रदेशे श्लेष्मणो दोषाः श्लेष्मदोषाः कासादयस्तान् हरतीति श्लेष्मदोषहरस्तं देहानलस्य देहमध्यगतानलस्य जाठरस्य विवर्धनं विशेषेण वर्धनं दीपनमित्यर्थः ॥५२॥

नाडीति ॥ नाडी शिरा जलं पीतमुदकमुदरं तुंदमासमंताद्देहे वर्तमाना धातव आधातवः । एषामितरेतरद्वंद्वः । तेषु गतः प्राप्तो यो दोषो विकारस्तं विशेषेण नाशयतीति नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् । गच्छता गमनं कुर्वता तिष्ठता स्थितेन वापि पुंसा उज्जाय्याख्यमुज्जायीत्याख्या यस्य तत् । तु इत्यनेन नास्य वैशिष्ट्यं द्योतयति । कार्यं कर्तव्यं । उज्जापीति क्वचित्पाठः । गच्छता तिष्ठता तु बंधरहितः कर्तव्यः । कुंभकशब्दस्त्रिलिंगः । पुंलिंगपाठे तु विशेषणेष्वपि पुंलिंगः पाठः कार्यः ॥ ५३ ॥

॥ भाषा ॥

हृदयपर्यंत शब्दसहित लगे ऐसो इडाकरकें पिंगलाकरकें वायुकूं शनैं शनैं खैंच करके पूरक करे फिर केशपर्यंत नखपर्यंत कुंभक करे ता पीछैं इडा जो वांई नासिका ताकरके रेचन करे ॥ ५१ ॥

उज्जायीके गुण कहें हें ॥ श्लेष्मदोषहरमिति ॥ कंठमें कफके दोष तिनें हरे हे. और देहमें भीतर जाठराग्नीकूं दीपन करे हे ॥ ५२ ॥

नाडीति ॥ नाडीमें जलकी व्यथा देहमें वर्तमान धातूनमें दोष विकार ताय नाश करे और गमन करे और स्थित होय ता पुरुषकरकें उज्जायी करनो योग्य हे ॥ ५३ ॥

अथ सीत्कारी ॥

मू० सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृंभिकाम् ॥
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥ ५४ ॥
योगिनीचक्रसामान्यः सृष्टिसंहारकारकः ॥
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ॥ ५५ ॥

॥ टीका ॥

सीत्कारीकुंभकमाह ॥ सीत्कामिति ॥ वक्त्रे मुखे सीत्कां सीदेव सीत्का सीदिति शब्दःसीत्कारस्तां कुर्यात् । ओष्ठयोरंतरे संलग्नया जिह्वया सीत्कारपूर्वकं मुखेन पूरकं कुर्यादित्यर्थः । घ्राणेनैव नासिकयैवेत्यनेनोभाभ्यां नासापुटाभ्यां रेचकःकार्यइत्युक्तम् । एवशब्देन वक्त्रस्य व्यवच्छेदः । वक्त्रेण वायोर्निःसारणं त्वभ्यासानंतरमपि न कार्यं । बलहानिकरत्वात् । विजृंभिकां रेचकं कुर्यादित्यत्रापि संबध्यते । कुंभकस्त्वनुक्तोऽपि सीत्कार्याः कुंभकत्वादेवावगंतव्यः । अथ सीत्कार्याः प्रशंसा । एवमुक्तप्रकारेणाभ्यासः पौनःपुन्येनानुष्ठानं स एव योगः योगसाधनत्वात्तेन द्वितीय एव द्वितीयकः कामदेवः कंदर्पः । रूपलावण्यातिशयेन कामदेवसादृश्यात् ॥ ५४ ॥

योगिनीति ॥ योगिनीनां चक्रं योगिनीचक्रं योगिनीसमूहः तस्य सामान्यः संसेव्यः । सृष्टिःप्रपंचोत्पत्तिः संहारस्तल्लयः तयोः कारकः कर्ता । क्षुधा भोक्तुमिच्छा न । तृषा जलपानेच्छा न । निद्रा सुषुप्तिर्न । आलस्यं कायचित्तगौरवात्प्रवृत्त्यभावः । कायगौरवं कफादिना चित्तगौरवं तमोगुणेन । नैव प्रजायते नैव प्रादुर्भवति । एवमभ्यासयोगेनेति प्रजायत इति च प्रतिवाक्यं संबध्यते ॥ ५५ ॥

॥ भाषा ॥

अब तीसरो सीत्कारी कुंभक कहें हें ॥ सीत्कारमिति ॥ मुखमें ओष्ठनके मध्यमें लगी जिव्हा ताकर सीत्कारकरकें पवनकूं मुखकर पूरक करे फिर दोनो नासिकाके पुटनकरकें रेचक करे और मुखकरकें वायुको निकासनो अभ्यासके पीछेबी नही करनो बलकी हानी करे हे, यातें विजृंभिका रेचक करे अर्थात् मुख नही खोले दोनो नासिका कर रेचन करनो याकूं विजृंभिका रेचक कहें हें. और कुंभक यामें कह्यो नही हे तोबी सीत्कार पूरककर कुंभक करले और या प्रकार वारंवार करेंतें रूप लावण्यकी अधिकताकर दुसरे कामदेव कीसीनाई होय जाय ॥ ५४ ॥

योगिनीति ॥ योगिनीयोनके समूहकूं सेवन करवेकूं योग्य होय. और सृष्टिसंहारको कर्ता हों. और क्षूधा तृषा निद्रा आलस्य ये नही होंय ॥ ५५ ॥

मू० भवेत्सत्वं च देहस्य सर्वोपद्रववर्जितः ॥
अनेन विधिना सत्यं योगींद्रो भूमिमंडले ॥ ५६ ॥

अथ शीतली ॥

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुंभसाधनम् ॥
शनकैर्घ्राणरंध्राभ्यां रेचयेत्पवनं सुधीः ५७ ॥
गुल्मप्लीहादिकान् रोगाञ्ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषाम् ॥
विषाणि शीतलीनाम कुंभिकेयं निहंति हि ॥ ५८ ॥

॥ टीका ॥

भवेदिति ॥ देहस्य शरीरस्य सत्वं बलं च भवेत्। अनेनोक्तेन विधिनाभ्यासविधिना योगींद्रो योगिनामिंद्र इव योगींद्रो भूमिमंडले सर्वैरुपद्रवैर्वर्जितः सर्वोपद्रववर्जितो भवेत्सत्यम् । सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायाद्यदुक्तं फलं तत्सत्यमेवेत्यर्थः॥५६॥
शीतलीकुंभकमाह॥ जिव्हयेति । जिव्हयोष्ठयोर्बहिर्निर्गतया विहंगमाधरचंचुसदृशया वायुमाकृष्य शनैः पूरकं कृत्वेत्यर्थः । पूर्ववत्सूर्यभेदनवत्कुंभस्य कुंभकस्य साधनं विधानं कृत्वेत्यध्याहारः । सुधीः शोभमा धीर्यस्य सः घ्राणस्य रंध्रे ताभ्यां नासापुटविवराभ्यां शनकैः शनैरेव।' अव्ययसर्वनाम्नां-' इत्यकच्। पवनं वायुं रेचयेत्॥५७॥
शीतलीगुणानाह ॥ गुल्मेति ॥ गुल्मश्च प्लीहश्च गुल्मप्लीहौ रोगविशेषावादी येषां ते गुल्मप्लीहादिकास्तान् रोगानामयान् ज्वरं ज्वराख्यं रोगं पित्तं पित्तविकारं क्षुधां भोक्तुमिच्छां तृषां जलपानेच्छां विषाणि सर्पादिविषयजनितविकारान् । शीतलीनामेति प्रसिद्धार्थिकमव्ययं । इयमुक्ता कुंभिका निहंति नितरां हंति । कुंभशब्दःस्त्री-

॥ भाषा ॥

भवेदिति ॥ शरीरकूं बल होय और कही जो ये अभ्यासविधि ताकरकें योगीनमें इंद्र कीसीनाई पृथ्वीमें सर्वोपद्रवर्जित होय जो ये कह्यो हे सो फल सत्य हे ॥ ५६ ॥
अब चोथो शीतलीकुंभक कहें हें ॥ जिव्हयेति । पक्षींकी नीचली चोंचकी समान अपनी जिव्हा होठनके बहार निकास वायुकूं खेंचके पूरकरकें फिर पहलें सूर्यभेदनमें कह्यो तेसेंही कुंभकको साधन करे फिर सुंदर हे बुद्धी जाकी सो नासिकाके छिद्रनकरके शनै शनै वायुकुं रेचक करे ॥ ५७ ॥
शीतलीके गुण कहें हें ॥ गुल्मेति । गुल्म प्लीह ये रोग हें आदिमें जिनके ऐसे रोग और ज्वर पित्तको विकार और भोजनकी इच्छा जलपानकी इच्छा और सर्पके काटेको विष औरबी विष इन सबनकूं ये शीतलीनाम कुंभिका दूर करे हे ॥ ५८ ॥

अथ भस्त्रिका ॥

मू० ऊर्वोरुपरि संस्थाप्य शुभे पादतले उभे ॥
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ५९ ॥
सम्यक्पद्मासनं बध्वा समग्रीवोदरं सुधीः ॥
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥ ६० ॥
यथा लगति हृत्कंठे कपालावधि सस्वनम् ॥
वेगेन पूरयेच्चापि हृत्पद्मावधि मारुतम् ॥ ६१ ॥

॥ टीका ॥

लिंगोऽपि । तथा च श्रीहर्षः । ' उदस्य कुंभीरथ शातकुंभजा ' इति ॥ ५८ ॥

भस्त्राकुंभकस्य पद्मासनपूर्वकमेवानुष्ठानात्तदादौ पद्मासनमाह ॥ ऊर्वोरिति ॥ उपर्युत्ताने शुभे शुद्धे उभे द्वे पादयोस्तलेऽधःप्रदेशे ऊर्वोः संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा वसेत् । एतत्पद्मासनं भवेत् । कीदृशं सर्वेषां पापानां प्रकर्षेण नाशनं । अत्रोपरीत्यव्ययमुत्तानवाचकं । तथा च कारकेषु मनोरमायां 'उपर्युपरि बुद्धीनामि'-त्यत्रोपरिबुद्धीनामित्यस्योत्तानबुद्धीनामिति व्याख्यानं कृतम् ॥ ५९ ॥

भस्त्रिकाकुंभकमाह ॥ सम्यगिति ॥ ग्रीवा च उदरं च ग्रीवोदरं । प्राण्यंगत्वादेकवद्भावः । समं ग्रीवोदरं यस्य स समग्रीवोदरः सुस्थिता धीर्यस्य स सुधीः पद्मासनं सम्यक् स्थिरं बध्वा मुखं संयम्य संयतं कृत्वा यत्नेन प्रयत्नेन घ्राणेन घ्राजस्यै कतरेण रंध्रेण प्राणं शरीरांतःस्थितं वायुं रेचयेत् ॥ ६० ॥

रेचकप्रकारमाह ॥ यथेति ॥ हृच्च कंठश्च हृत्कंठं तस्मिन् हृत्कंठे । समाहारद्वंद्वः । कपालावधि कपालपर्यंतं स्वनेन सहितं सस्वनं यथा स्यात्तथा येन प्रकारेण

॥ भाषा ॥

अब पांचमो भस्त्राकुंभकको भेद कहें हें ॥ ऊर्वोरिति ॥ ऊरूनके उपरि दोनों पामनके तलुआ उत्तानपूर्वक स्थापनकरकें स्थित होय ये पद्मासन हे केसो हे संपूर्ण पापनके नाशको करवेवालो हे ॥ ५९ ॥

सम्यगिति ॥ समान हे ग्रीवा उदर जाके सुंदर हे बुद्धी जाकी एसो पुरुष स्थिर पद्मासन बांधकरकें मुख मूदकरकें यत्नसुं नासिकाके एकमाऊंकें रंध्रकर वायुकूं रेचक करे ॥ ६० ॥

कपालपर्यंत शब्दसहित हृदय कंठमें वायुलगे तेसो रेचन करे फिर हृदयकमलपर्यंत वेगकरकें वायुकूं पूरक करे ॥ ६१ ॥

मू० पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः ॥
यथैव लोहकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥ ६२ ॥
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया ॥
यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत् ॥ ६३ ॥
यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु ॥
धारयेन्नासिकां मध्यातर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥ ६४ ॥

॥ टीका ॥

लगति । प्राण इति शेषः । तथा रेचयेत् । हृत्पद्ममवधिर्यस्मिन् कर्मणि तत् हृत्पद्मावधि वेगेन तरसा मारुतं वायुं पूरयेत् । चापीति पादपूरणार्थम् ॥ ६१ ॥

पुनरिति ॥ तद्वत्पूर्ववत्पुनर्विरेचयेत्पुनः पुनः पूरयेच्चेत्यन्वयः । उक्तेऽर्थे दृष्टांतमाह ॥ यथैवेति ॥ लोहकारेण लोहविकाराणां कर्त्रा भस्त्राग्नेर्धमनसाधनीभूतं चर्म यथैव येन प्रकारेण वेगेन चाल्यते ॥ ६२ ॥

तथैवेति ॥ तथैव तेनैव प्रकारेण स्वशरीरस्थं स्वशरीरे स्थितं पवनं प्राणं धिया बुद्ध्या चालयेत् । रेचकपूरकयोर्निरंतरावर्तनेन चालनस्यावधिमाह ॥ यदा श्रम इति ॥ यदा यस्मिन् काले देहे शरीरे श्रमो रेचकपूरकयोर्निरंतरावर्तनेनायासो भवेत्तदा तस्मिन् काले । यथेति ॥ ६३ ॥

यथेति ॥ यथा येन प्रकारेण पवनेन वायुना लघु क्षिप्रमेवोदरं पूर्णं भवेत्तथा तेन प्रकारेण सूर्यनाड्या पूरयेत् । 'लघुक्षिप्रमरं द्रुतमि' त्यमरः । पूरकानंतरं यत्कर्तव्यं तदाह ॥ धारयेदिति ॥ मध्यतर्जनीभ्यां मध्यमातर्जनीभ्यां विनांगुष्ठानामिकाकनिष्ठिकाभिर्नासिकां दृढं धारयेत् । अंगुष्ठेन दक्षिणनासापुटं निरुध्यानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां वामनासापुटं निरुध्य नासिकां दृढं गृह्णीयादित्यर्थः ॥ ६४ ॥

॥ भाषा ॥

पुनरिति ॥ पहलें कीसीनाई फिर रेचक करे फिर पूरक करे फिर रेचक करे जैसें लुहार चामकी धोकनीकूं जेसे वेगकरकें चलावे हे तेसेंही वेगकर पूरक रेचक करे ॥ ६२ ॥

यदा श्रम इति ॥ पूरक और रेचक इनको निरंतर एसें आवर्तन करतें करतें जा कालमें देहमें श्रम होय ताई कालमें जा प्रकार कर वायुकरकें शीघ्रही उदर भर जाय ता प्रकारकर सूर्यनाडीकरकें पूरक करे ॥ ६३ ॥

धारयेदिति । पूरक करे पीछें अंगूठाकरकें जेमनी नासापुट रोककरकें और अनामि-

**मू० विधिवत्कुंभकं कृत्वा रेचयेदिडयानिलम् ॥
वातपितश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥ ६९ ॥**

॥ टीका ॥

विधिवदिति ॥ बंधपूर्वकं कुंभकं कृत्वेडया चंद्रनाड्याऽनिलं वायुं रेचयेत् । भस्त्राकुंभकस्यैवं परिपाटी । वामनासिकापुटं दक्षिणभुजानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां निरुध्य दक्षिणनासिकापुटेन भस्त्रावद्वेगेन रेचकपूरकाः कार्याः । श्रमे जाते तेनैव नासापुटेन पूरकं कृत्वांगुष्ठेन दक्षिणं नासापुटं निरुध्य यथाशक्ति कुंभकं धारयेत् । पश्चादिडया रेचयेत् । पुनर्दक्षिणनासापुटमंगुष्ठेन निरुध्य वामनासिकापुटेन भस्त्रावज्झटिति रेचकपूरकाः कर्तव्याः । श्रमे जाते तेनैव नासिकापुटेन पूरकं कृत्वानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां वामनासिकापुटं निरुध्य यथाशक्ति कुंभकं कृत्वा पिंगलया रेचयेदित्येका रीतिः । वामनासिकापुटमनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां दक्षिणनासिकापुटेन पूरकं कृत्वा झटित्यंगुष्ठेन निरुध्य वामनासापुटेन रेचयेत् । एवं शतधा कृत्वा श्रमे जाते तेनैव पूरयेत् । बंधपूर्वकं कृत्वेडया रेचयेत् । पुनर्दक्षिणनासापुटमंगुष्ठेन निरुध्य वामनासापुटेन पूरकं कृत्वा झटिति वामनासिकापुटमनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां निरुध्य पिंगलया रेचयेद्भस्त्रावत् । पुनःपुनरेवं कृत्वा रेचकपूरकावृत्तिश्रमे जाते वामनासापुटेन पूरकं कृत्वानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां धृत्वा कुंभकं कृत्वा पिंगलया रेचयेदिति द्वितीया रीतिः । भस्त्रिकागुणानाह ॥ वातपित्तेति ॥ वातश्च पित्तं च श्लेष्मा च वातपित्तश्लेष्माणस्तान्हरतीति तादृशं शरीरे देहे योऽग्निर्जठरानलस्तस्य विशेषेण वर्धनं दीपनम् ॥ ६९ ॥

॥ भाषा ॥

का कनिष्ठिकाकरकें वाम नासापुटकूं रोककरकें द्वढ नासिकाग्रहण करे ॥ ६४ ॥

विधिवदिति ॥ बंधपूर्वक कुंभककरकें फिर चंद्र जो इडानाडी ताकरकें वायुकूं रेचक करे या भस्त्राकुंभककी ये रीत हे सो जानो वांई नासिकापुटकूं दक्षिण भुजाकी अनामिकाकनिष्ठिकाकर रोक ले फिर दक्षिण नासिकाके पुटकरकें धोंकनीकीसीनाई वेगकरकें रेचक पूरक करे फिर श्रम होय तब ताई नासापूटकरकें पूरक करे अंगूठाकर जेमनी नासिका मूंदकरकें जेसी शक्ति होंय तेसो कुंभक करे फिर इडाकरकें रेचक करे फिर दक्षिण नासापूटकूं अंगूठाकूं रोंक वाम नासापुटकरकें धोंकनीकीसीनाई शीघ्रही रेचक पूरक करे फिर श्रम होय तो वांई नासिकापुटकरकें फिर पूरक करे फिर अनामिका कनिष्ठिकाकर वामनासापुट रोंककरकें कुंभक करे फिर पिंगलाकर रेचक करे ये एक-

मू० कुंडलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम् ॥
ब्रह्मनाडीमुखेसंस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥ ६६ ॥

॥ टीका ॥

कुंडलीति । क्षिप्रं शीघ्रं कुंडल्याः सुप्ताया बोधकं बोधकर्तृ पुनातीति पवनं पवित्रकारकं सुखं ददातीति सुखदं हितं त्रिदोषहरत्वात्सर्वेषां हितं सर्वदा च हितं सर्वेषां कुंभकानां सर्वदा हितत्वेऽपि सूर्यभेदनोज्जायिनावुष्णौ प्रायेण हितौ । शीत्कारीशीतल्यौ शीतले प्रायेणोष्णे हिते । भस्त्राकुंभकः समशीतोष्णः सर्वदा हितः सर्वेषां कुंभकानां सर्वरोगहरत्वेऽपि सूर्यभेदनं प्रायेण वातहरं । उज्जायी प्रायेण श्लेष्महरः । सीत्कारीशीतल्यौ प्रायेण पित्तहरे । भस्त्राख्यः कुंभकः त्रिदोषहर इति बोध्यं । ब्रह्मनाडी सुषुम्ना ब्रह्मप्रापकत्वात् । तथा च श्रुतिः । 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वगन्या उत्क्रमणे भवंति ॥' इति तस्या मुखेऽग्रभागे संस्थः सम्यक् स्थितो यः कफादिरूपोऽर्गलः प्राणगतिप्रतिबंधकस्तस्य नाशनं नाशकर्तृ ॥ ६६ ॥

॥ भाषा ॥

रीति हे अब दुसरी रीति कहें हें वाम नासापुटकूं अनामिका कनिष्ठिकाकर रोककर दक्षिण नासिकाके पुटकर पूरककरकें शीघ्रही अंगुठासुं रोककर वांई नासिकाके पुटकर रेचक करे या प्रकार सोपोत करे फिर श्रम होय तो वाईकरकें पूरक करे बंधपूर्वक पूरककरकें इडाकरकें रेचक करे दक्षिण नासिकाको पुट अंगूठाकरकें रोककर वाम नासापुटकर पूरककरकें शीघ्र वामनासिकापुटकूं अनामिका कनिष्ठिकासुं रोककरकें पिंगलाकरकें रेचक करे धोकनीकीसीनाई वारंवार एसेंकरकें रेचक पूरक कर श्रम होय तो वामनासापुटकरकें पूरककरकें अनामिकाकनिष्ठिकाकरकें कुंभक कर पिंगलाकरकें रेचक करे ये दूसरी रीति हे भस्त्रिकाके गुण कहें हें ॥ वात पित्त श्लेष्म इनें दूर करे हें और शरीरमें जठराग्नीकूं दीपन करे हे ॥ ६९ ॥

कुण्डलीति॥ और शीघ्रही कुंडली सूतीकूं बोधकरे हे और पवित्रको करवेवारो हे सुखको करवेवारो हे और त्रिदोषकूं हरे हें यातें सर्वको हितकारि हे और सब कुंभकनकूं हितकारी हे कैसें सो कहें हें सूर्यभेदन उज्जायी ये दोनो उष्ण हे शीतकालमें करे हितकारी हें और सीत्कारी और शीतली ये दोनों शीतल हें ये गरमीनमें अधिक हितकारी हें और भस्त्राकुंभक ये समान हे शीत उष्ण जामे एसो हे सब समे हितकारी हे और सबलें सबलें कुंभक सर्व रोगकूं हरें हें सूर्यभेदन तो बोहोत करकें वात रोगकूं हरे हे और उज्जायी अधिक कर

मू० सम्यग्गात्रसमुद्भूतंग्रथित्रयविभेदकम् ॥
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुंभकं त्विदम् ॥ ६७ ॥

अथ भ्रामरी ॥

वेगाद्धोषं पूरकं भृंगनादं भृंगीनादं रेचकं मंदमंदम् ॥
योगींद्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानंदलीला ६८

॥ टीका ॥

सम्यगिति । सम्यग्दृढीभूतं गात्रे गात्रमध्ये सुषुम्नायामेव सम्यगुद्भूतं समुद्भूतं जातं यद्ग्रंथीनां त्रयं ग्रंथित्रयं ब्रह्मग्रंथिविष्णुग्रंथिरुद्रग्रंथिरूपं तस्य विशेषेण भेदजनकं । अत एव इदं भस्त्रा इत्याख्या यस्येति भस्त्राख्यं कुंभकं तु विशेषेणैव कर्तव्यं अवश्यकर्तव्यमित्यर्थः । सूर्यभेदनादयस्तु यथासंभवं कर्तव्याः ॥ ६७ ॥

भ्रामरीकुंभकमाह ॥ **वेगादिति** ॥ वेगात्तरसा घोषं सशब्दं यथा स्यात्तथा भृंगस्य भ्रमरस्य नाद इव नादो यस्मिन्कर्मणि तत्तथा पूरकं कृत्वा। भृंग्यो भ्रमर्यस्तासां नाद इव नादो यस्मिंस्तत्तथा मंदंमंदं रेचकं कुर्यात् । पूरकानंतरं कुंभकस्तु भ्रामर्याः कुंभकत्वादेव सिद्धो विशेषाच्च नोक्तः । पूरकरेचकयोस्तु विशेषोऽस्तीति तावेवोक्तौ। एवमुक्तरीत्याभ्यसनमभ्यासस्तस्य योगो युक्तिस्तस्माद्योगींद्राणां चित्ते काचिद्निर्वाच्या आनंदे लीला क्रीडा आनंदलीला जातोत्पन्ना भवति ॥ ६८ ॥

॥ भाषा ॥

श्लेष्मकूं हरे हे, और सीत्कारी शीतली ये दोनो पित्तकूं हरे हे. और भस्त्राख्य कुंभक त्रिदोषकूं हरे ये जानना. और ब्रह्मकूं प्राप्तकी करवेवारी हे. यातें सुषुम्नाकूं ब्रह्मनाडी कहे हैं ता सुषुम्ना नाडीके मुखमें अर्थात् अग्रभागमें स्थित जो कफादिकरूप जो आगल वायुकी गतीकूं रोकवेवाली ताकूं नाश करे हे ॥ ६६ ॥

सम्यगिति । दृष्ट शरीरमें जो सुषुम्ना नाडी तामें उत्पन्न हुई जो तीन ग्रंथी ब्रह्मग्रंथी विष्णुग्रंथी रुद्रग्रंथी तिनकूं विशेषकरकें भेदन करे हे यातें ये भस्त्रानामककुंभक हे. सो अवश्य करनो योग्य हे. और सूर्यभेदनादिक जेसो बने तेसोई करनो ॥ ६७ ॥

अब छटो भ्रामरीनाम कुंभक कहे हैं ॥ **वेगादिति** ॥ जो पूरक वेगसुं करे तो भ्रमरकोसो नाद होय हे और जो होले करे तो भ्रमरीकोसो नाद होय हे. जो वेगसूं भ्रमरकोसो नाद जामें होय तेसो पूरककरकें फिर भ्रमरीकोसो नाद जामें तेसो मंदमंद रेचक करे रेचक पूरक इनकी विशेषता हे यातें येही लिखे हैं और पूरकके पीछें कुंभकतो भ्रामरीकूं कुंभक स्वभावसिद्ध हे यातें विशेष नहीं लिख्यो या रीतकर अभ्यासके योगतें योगींद्रनके चित्तमें नही कहवेमें आवे एसी आनंद लीला होय हे ॥ ६८ ॥

अथ मूर्छा ॥

मू० पूरकांते गाढतरं बध्वा जालंधरं शनैः ॥
रेचयेन्मूर्छनाख्येयं मनोमूर्छा सुखप्रदा ॥ ६९ ॥

अथ प्लाविनी ॥

अंतः प्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः ॥
पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत् ॥ ७० ॥
प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुंभकैः ॥
सहितः केवलश्चेति कुंभको द्विविधो मतः ॥ ७१ ॥

॥ टीका ॥

मूर्छाकुंभकमाह ॥ पूरकांत इति ॥ पूरकस्यांतेऽवसानेऽतिशयेन गाढतरं जालंधराख्यं बंधं बध्वा शनैर्मंदंमंदं रेचयेत् । इयं कुंभिका मूर्छनाख्या मूर्छना इत्याख्या यत इति मूर्छनाख्या कीदृशी मनो मूर्छयतीति मनोमूर्छा एतेन मूर्छनाया विग्रहदर्शनपूर्वकं फलमुक्तम्।पुनः कीदृशी सुखप्रदा सुखं प्रददातीति सुखप्रदा॥६९॥

प्लाविनीकुंभकमाह ॥ अंतरिति ॥ अंतः शरीरांतः प्रवर्तितः पूरित उदारोऽतिशयितो यो मारुतः समीरस्तेनासमंतात्पूरितमुदरं येन स पुमानगाधेऽप्यतलस्पर्शेऽपि पयसि जले पद्मपत्रवत्पद्मपत्रेण तुल्यं सुखादनायासात् प्लवते तरति गच्छति७०

अथ प्राणायामभेदानाह ॥ प्राणायाम इति ॥ प्राणस्य शरीरांतःसंचारिवायोरायमनं निरोधनमायामः प्राणायामः । प्राणायामलक्षणमुक्तं गोरक्षनाथेन । 'प्राणः स्वदेहजीवायुरायामस्तन्निरोधनमिति' । रेचकश्च पूरकश्च कुंभकश्च तैर्भेदैस्त्रिधा

॥ भाषा ॥

अब सातवो कुंभक मूर्छानाम कहें हें ॥ पूरकांते इति ॥ पूरककरके अंतमें जालंधरनाम बंध बांधकरकें शनैं शनैं रेचक करे ये कुंभिका मूर्छनानाम हे मनकुं मूर्छा करे हे जासुं मनोमूर्छा कहे हें केसी हे ये सुखके देनेवाली हे ॥ ६९ ॥

अब आठवो प्लाविनीकुंभक कहें हें ॥ अंतरिति ॥ शरीरके भीतर भर्यो जो अधिक वायू ताकरकें च्यारोंमेंरतें भर लियो हे उदर जानें एसों पुरुष अगाध जलमें कमलके पत्र कीसीनाई सुखतें गमन करे ॥ ७० ॥

अब प्राणायामके भेद कहें हें ॥ प्राणायाम इति ॥ प्राण जो शरीरके भीतर वायू ताकूं रोकनो जाकूं प्राणायाम कहें हें. सो प्राणायाम रेचक पूरक कुंभक इन भेदनकर तीन प्रकारको हे उदरमें तें वायुकूं रेचन करे ताकूं रेचक कहें हें और बहारतें वायुकूं उदरमें भरे ताकूं पूरक कहे हें. और पूरककरकें वायुकूं घटकीसीनाई धारण करे

मू० यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत् ॥
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ॥ ७२ ॥

॥ टीका ॥

त्रिप्रकारकः रेचकप्राणायामः पूरकप्राणायामः कुंभकप्राणायामश्चेति । रेचकलक्षणमाह याज्ञवल्क्यः । 'बहिर्यद्रेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः' इति रेचकप्राणायामलक्षणं । 'निष्क्रम्य नासाविवरादशेषं प्राणं बहिः शून्यमिवानिलेन।निरुध्य संतिष्ठति रुद्धवायुः स रेचकोनाम महानिरोधः॥' पूरकलक्षणं॥ 'बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको हि सः ।' पूरकप्राणायामलक्षणं। 'बाह्ये स्थितं प्राणपुटेन वायुमाकृष्य तेनैव शनैः समंतात् । नाडीश्च सर्वाः परिपूरयेद्यः स पूरको नाम महानिरोधः ॥' कुंभकलक्षणं। 'संपूर्य कुंभवद्वायोर्धारणं कुंभको भवेत् ।' अयं कुंभकस्तु पूरकप्राणायामादभिन्नः । भिन्नस्तु । 'न रेचको नैव च पूरकोऽत्र नासापुटे संस्थितमेव वायुम् । सुनिश्चलं धारयते क्रमेण कुंभाख्यमेतत्प्रवदंति तज्ज्ञाः ॥' अथ प्रकारांतरेण प्राणायामं विभजते ॥ सहित इति ॥ कुंभको द्विविधः । सहितः केवलश्चेति । मतोऽभिमतो योगिनामिति शेषः । तत्र सहितो द्विविधः । रेचकपूर्वकः कुंभकपूर्वकश्च । तदुक्तं । 'आरेच्यापूर्य वा कुर्यात्स वै सहितकुंभकः ।' तत्र रेचकपूर्वको रेचकप्राणायामादभिन्नः । पूरकपूर्वकः कुंभकः पूरकप्राणायामादभिन्नः केवलकुंभकः कुंभकप्राणायामादभिन्नः । प्रागुक्ताः सूर्यभेदनादयः पूरकपूर्वकस्य कुंभकस्य भेदा ज्ञातव्या ॥ ७१ ॥

सहितकुंभकाभ्यासस्यावधिमाह॥यावदिति॥ केवलस्य केवलकुंभकस्य सिद्धि-

॥ भाषा ॥

ताकूं कुंभक कहें हें और कुंभक दो प्रकारको हे एक सहित और दूसरो केवल ये योगीनके संमत हे, तामें सहित दो प्रकारको हे रेचकपूर्वक और कुंभकपूर्वक. रेचकपूर्वक रेचक प्राणायामतें न्यारो नही हे. पूरकपूर्वक कुंभक पूरक प्राणायामतें अभिन्न हे. केवल कुंभक कुंभक प्राणायामतें न्यारो नही हे. ये पहलें सूर्यभेदनादिक कहे हें. उनमेंसूं पूरकपूर्वक कुंभकके भेद जान लेनो योग्य हे ॥ ७१ ॥

यावदिति ॥ केवलकुंभककी सिद्धी जबतलक होय तबतलक सहित कुंभक सूर्यभेदादिक करे सुषुम्नाके भेदनके पीछें सुषुम्नाके भीतर घटकोसो शब्द होय तब केवल कुंभक सिद्ध होय ताके पीछें सहित कुंभक दश करे फिर बीस करे एसे अरशीसंख्या तक करनो फिर सामर्थ्य होय तो अरशीतें अधिक करे अब केवलकुंभकको लक्षण कहें हें ॥ रेचक पूरक त्यागकरकें सुखपूर्वक वायूकुं धारण करे सो केवलकुंभक कहें हें ॥ ७२ ॥

मू० प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुंभकः ॥
कुंभके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ॥ ७३ ॥
न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥
शक्तः केवलकुंभेन यथेष्टं वायुधारणात् ॥ ७४ ॥
राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ॥
कुंभकात्कुंडलीबोधः कुंडलीबोधतो भवेत् ॥ ७५ ॥

॥ टीका ॥

केवलसिद्धिर्यावत्पर्यंतं स्यात्तावत्पर्यंतं रहितकुंभकं सूर्यभेदादिकमभ्यसेदनुतिष्ठेत् । सुषुम्नाभेदानंतरं यदा सुषुम्नांतर्घटशब्दा भवंति तदा केवलकुंभकः सिद्ध्यति तदनंतरं सहितकुंभका दश विंशतिर्वा कार्याः अशीतिसंख्यापूर्तिः केवलकुंभकैरेव कर्तव्या । सति सामर्थ्ये केवलकुंभका अशीतेरधिकाः कार्याः । केवलकुंभकस्य लक्षणमाह ॥ रेचकमिति ॥ रेचकं पूरकं मुक्त्वा त्यक्त्वा सुखमनायासं यथा स्यात्तथा वायोर्धारणं वायुधारणं यत् ॥ ७२ ॥

॥ प्राणायाम इति ॥ स वै मिश्रितः केवलकुंभकः प्राणायाम इत्ययमुक्तः केवलं प्रशंसंति ॥ केवल इति ॥ रेचो रेचकः रेचश्च पूरकश्च रेचपूरकौ ताभ्यां वर्जिते रहिते केवले कुंभके सिद्धे सति ॥ ७३ ॥

नेति॥तस्य योगिनस्त्रिषु लोकेषु दुर्लभं दुष्प्रापं किंचित्किमपि ययेष्टं यथेच्छं वायोर्धारणं वापि न विद्यते । तस्य सर्वं सुलभमित्यर्थः ॥ शक्त इति ॥ केवलकुंभकेन कुंभकाभ्यासेन शक्तः समर्थो यथेष्टं यथेच्छं वायोर्धारणं तस्माद्वायुधारणात् ॥ ७४ ॥

राजेति ॥ राजयोगपदं राजयोगात्मकं पदं लभते । अत्र संशयो न । निश्चितमेतदित्यर्थः।कुंभकाभ्यासस्य परंपरया कैवल्यहेतुत्वमाह ॥ कुंभकादिति ॥ कुंभकात्कुंभकाभ्या-

॥ भाषा ॥

प्राणायाम इति ॥ रेचक पूरक इनकरकें वर्जित केवल कुंभक सिद्ध होय जाय॥ ७२ ॥

नेति ॥ ता योगीकूं तीनों लोकनमें दुर्लभ कछू नही हे केवल कुंभकके अभ्यासकरके समर्थ होय यथायोग्य वायूके धारण करे तें ॥ ७४ ॥

राजेति । राजयोग पद प्राप्त होय हे यामें संदेह नही हे. निश्चय होय. और कुंभककें अभ्यासतें कुंडलनी जो आधार शक्ति ताको बोध होय. और कुंडलनीके बोधतें निद्रा आलस्यादिक मिटे हें ॥ ७९ ॥

मू० अनर्गला सुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते ॥
हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठः ॥
न सिध्यति ततो युग्ममा निष्पत्तेः समभ्यसेत् ॥ ७६ ॥
कुंभकप्राणरोधांते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम् ॥
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ॥ ७७ ॥

॥ टीका ॥

सात्कुंडल्याधारशक्तिस्तस्या बोधो निद्राभंगो भवेत् । कुंडल्या बोधः कुंडलीबोधस्तस्मात्कुंडलीबोधतः ॥ ७५ ॥

अनर्गलेति ॥ सुषुम्नानाड्यनर्गला कफाद्यर्गलरहिता भवेत् । हठस्य हठाभ्यासस्य सिद्धिः प्रत्याहारादिपरंपरया कैवल्यरूपा सिद्धिर्जायते । हठयोगराजयोगसाधनयोः परस्परोपकार्योपकारकत्वमाह ॥ हठं विनेति ॥ हठं हठयोगं विना राजयोगो न सिध्यति राजयोगं विना हठो न सिध्याति ततोऽन्यतरस्य सिद्धिर्नास्ति । तस्मान्निष्पत्तिं राजयोगसिद्धिमा मर्यादीकृत्य या निष्पत्तिस्तस्या राजयोगसिद्धिपर्यंतं युग्मं हठयोगराजयोगद्वयमभ्यसेदनुतिष्ठेत् । हठातिरिक्ते साक्षात्परंपरया वा राजयोगसाधनेऽत्र राजयोगशब्दः । जीवनसाधने लांगले जीवनशब्दप्रयोगवत् । राजयोगसाधनं चतुर्थोपदेशे वक्ष्यमाणउन्मनीशांभवीमुद्रादिरूपमपरोक्षानुभूतावुक्तं पंचदशांगरूपं दशांगरूपं च । वाक्यसुधायामुक्तं दृश्यानुविद्धादिरूपं च ॥ ७६ ॥

हठाभ्यासाद्राजयोगप्राप्तिप्रकारमाह ॥ कुंभकेति ॥ कुंभकेन प्राणस्य यो रोधस्तस्यांते मध्ये चित्तमंतःकरणं निराश्रयं कुर्यात् । संप्रज्ञातसमाधौ जातायां ब्रह्माकारस्थितेः परं वैराग्येण विलयं कुर्यादित्यर्थः । एवमुक्तरीत्याभ्यासस्य योगो युक्तिस्तेन । 'योगः संनहनोपायध्यानसंगतियुक्तिष्वि' ति कोशः । राजयोगपदं राजयोगात्मकं पदं व्रजेत्प्राप्नुयात् ॥ ७७ ॥

॥ भाषा ॥

और सुषुम्नानाडीके कफादिक आगल दूर होय जाय. और हठसिद्धि होय कहां मोक्ष होय. हठयोग विना राजयोगसिद्धि नही होय. और राजयोग विना हठयोग नही सिद्ध होय और राजयोगसिद्धि न होय तबताई हठयोग और राजयोग ये दोनोनको अभ्यास करे ॥ ७६ ॥

कुंभकेति ॥ कुंभककरकें प्राणको रोकनो ताके अंतमें चित्तकूं आश्रयरहित करे. या रीत कर अभ्यासयोगकरकें राजयोगपद ताय प्राप्त होय ॥ ७७ ॥

मू० वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले॥
अरोगता बिंदुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्७८
इति हठप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

॥ टीका ॥

हठसिद्धिज्ञापकमाह ॥ वपुःकृशत्वमिति ॥ वपुषो देहस्य कृशत्वं कार्श्यं वदने मुखे प्रसन्नता प्रसादो नादस्य ध्वनेः स्फुटत्वं प्राकट्यं नयने नेत्रे सुष्ठु निर्मले अरोगस्य भावोऽरोगता आरोग्यं बिंदोर्धातोर्जयः क्षयाभावरूपः अग्नेरौदर्यस्य दीपनं दीप्तिर्नाडीनां विशेषेण शुद्धिर्मलापगमः एतद्धठस्य हठाभ्याससिद्धेर्भाविन्या लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम् ॥ ७८ ॥

॥ इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ज्योत्स्नाभिधायां ब्रह्मानंदकृतायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

॥ भाषा ॥

वपुःकृशत्वमिति ॥ देहकूं कृशता होय और मुखमें प्रसन्नता नादकी प्रगटकता नेत्र निर्मल होय और रोगरहित होय धातुको जय होय उदरमें जाठराग्नीकी दीप्ती कहा वृद्धि होय. और नाडीनकी शुद्धि होय ये हठयोगको लक्षण हे ॥ ७८ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकायां भाषाव्याख्यायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

मू० सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ॥
सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली ॥ १ ॥
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंडली ॥
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रंथयोऽपि च ॥ २ ॥
प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ॥
तदा चित्तं निरालंबं तदा कालस्य वंचनम् ॥ ३ ॥

॥ टीका ॥

अथ कुंडल्याः सर्वयोगाश्रयत्वमाह ॥सशैलेति॥ शैलाश्च वनानि च शैलवनानि तैः सह वर्तमानाः सशैलवनास्ताश्च ता धात्र्यश्च भूमयस्तासां । धात्र्या एकत्वेऽपि देशभेदाद्भेदमादाय बहुवचनं । अहीनां सर्पाणां नायको नेताहिनायकः शेषो यथा यद्वदाधार आश्रयस्तथा तद्वत् । सर्वेषां योगस्य तंत्राणि योगतंत्राणि योगोपायास्तेषां कुंडल्याधारशक्तिराश्रयः । कुंडलीबोधं विना सर्वयोगोपायानां वैयर्थ्यादिति भावः ॥ १ ॥

कुंडलीबोधस्य फलमाह द्वाभ्यां ॥ सुप्तेति ॥ सुप्ता कुंडली गुरोः प्रसादेन यदा जागर्ति बुध्यते तदा सर्वाणि पद्मानि षट्चक्राणि भिद्यंते भिन्नानि भवंति । ग्रंथयोऽपि च ब्रह्मग्रंथिविष्णुग्रंथिरुद्रग्रंथयो भिद्यंते भेदं प्राप्नुवंतीत्यन्वयः ॥ २ ॥

प्राणस्येति ॥ तदा शून्यपदवी सुषुम्ना प्राणस्य वायो राज्ञां पंथा राजपथं राजपथमिवाचरति राजपथायते राजमार्गायते । सुखेन गमनसंभवात् । तदा चित्तमालंबनमाश्रयस्तस्मान्निर्गतं निरालंबं निर्विषयं भवति । तदा कालस्य मृत्योर्वंचनं प्रतारणं भवति ॥ ३ ॥

॥ भाषा ॥

अब कुंडलीकूं सर्व उपायनको आधार कहें हें ॥ सशैलेति ॥ जेसें पर्वत वन नगर ग्रामसहित जो पृथ्वी तिनको आधार सर्पनके नायक शेषजी हे तेसेंही संपूर्ण जो योगके उपाय तिनकी कुंडली आधार हे विना कुंडलीके जागें सब योगनके उपाय व्यर्थ होय हें ॥ १ ॥

अब कुंडलीके जागवेको फल कहें हें ॥ सुप्तेति ॥ सूति हुई कुंडली गुरूनके अनुग्रहकरकें जाग उठै तब संपूर्ण जे षट्चक्र ते भेदकूं प्राप्त होंय हें याके पीछें ब्रह्मग्रंथि विष्णुग्रंथि रुद्रग्रंथि ये तीनो ग्रंथिभेदनकूं प्राप्त होंय हें ॥ २ ॥

प्राणस्येति ॥ तब सुषुम्ना नाडी वायुकूं राजमार्गकीसीनाई आचरण करे हें और

मू० सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः ॥
श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ॥
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ५ ॥
महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी ॥
उड्यानं मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः ॥ ६ ॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ॥
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥ ७ ॥

॥ टीका ॥

सुषुम्नापर्यायानाह ॥ सुषुम्नेति ॥ इत्युक्ताः शब्दा एकस्य एकार्थस्य वाचकाः एकवाचकाः । पर्याया इत्यर्थः । स्पष्टः श्लोकार्थः ॥ ४ ॥

तस्मादिति ॥ यस्मात्कुंडलीबोधेनैव षट्चक्रभेदादिकं भवति तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सर्वेण प्रयत्नेन ब्रह्म सच्चिदानंदलक्षणं तस्य द्वारं प्राप्त्युपायः सुषुम्ना तस्या मुखेऽग्रभागे मुखेन सुषुम्नाद्वारं पिधाय सुप्तामीश्वरीं कुंडलीं प्रबोधयितुं प्रकर्षेण बोधयितुं मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासमावृत्तिं समाचरेत्सम्यगाचरेत् ॥ ५ ॥

मुद्रा उद्दिशति । महामुद्रेत्यादिना सार्धेन ॥ सार्धार्थः स्पष्टः ॥ ६ ॥

मुद्राफलमाह सार्धद्वाभ्यां ॥ इदमिति ॥ इदमुक्तं मुद्राणां दशकं जरा च मरणं च

॥ भाषा ॥

तब चित्तबी निर्विषय होय हे. और तब काल जो मृत्यु ताकूंबी तिर जाय अर्थात् मृत्युकूं बचायजाय ॥ ३ ॥

सुषुम्नेति ॥ सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्र महामार्ग श्मशान शांभवी मध्यमार्ग ये सुषुम्नाके पर्यायवाचक शब्द हे ॥ ४ ॥

तस्मादिति ॥ कुंडलीके बोधतें षट्चक्रभेदादिक होय हैं तातें संपूर्ण यत्नकरकें ब्रह्मको द्वार सुषुम्ना ताको मुख कहा अग्रभागमें सुषुम्नाको द्वार ताय रोककर सूती हुई जो कुंडली ताय प्रकर्षकरकें बोध करवेकूं महामुद्रादिकनको अभ्यास करे ॥ ५ ॥

महामुद्रेत्यादिना ॥ महामुद्रा १ महाबंध २ महावेध ३ खेचरी ४ उड्डीयान ५ मूलबंध ६ और जालंधर नाम बंध ७ ॥ ६ ॥

विपरीत नाम जाको एसी करणी ८ वज्रोली ९ शक्तिचालन १० ये दश मुद्रा हैं

मू० आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ॥
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥ ८ ॥

॥ टीका ॥

जरामरणे तयोर्नाशनं निवारकम् ॥ ७ ॥

आदिनाथेनेति ॥ आदिनाथेन शंभुनोदितं कथितं । दिवि भवं दिव्यमुत्तमं । अष्टौ च तान्यैश्वर्याणि चाष्टैश्वर्याणि अणिमामहिमागरिमालघिमाप्राप्तिप्राकाम्येशतावशिताख्यानि । तत्राणिमा संकल्पमात्रेण प्रकृत्यपगमे परमाणुवद्देहस्य सूक्ष्मता । १ । महिमा प्रकृत्यापूरेणाकाशादिवन्महद्भावः ।२ । गरिमा लघुतरस्यापि तूलादेः पर्वतादिवद्गुरुभावः । ३ । लघिमा गुरुत्तरस्यापि पर्वतादेस्तूलादिवल्लघुभावः ।४। प्राप्तिः सर्वभावसान्निध्यम् । यथा भूमिस्थ एवांगुल्यग्रेण स्पृशति चंद्रमसम् । ५ । प्राकाम्यमिच्छानभिघातः । यथा उदक इव भूमौ निमज्जत्युन्मज्जति च । ६ । ईशता भूतभौतिकानां प्रभवाप्ययसंस्थानविशेषसामर्थ्यम् । ७ । वशित्वं भूतभौतिकानां स्वाधीनकरणं । ८ । तेषां प्रदायकं प्रकर्षेण ददातीति तथा तं सर्वे च ते सिद्धाश्च कपिलादयस्तेषां वल्लभं प्रियं मरुतां देवानामपि दुर्लभं दुष्प्रापं किमुतान्येषामित्यर्थः ॥ ८ ॥

॥ भाषा ॥

जरामरणकूं नाश करें हें ॥ ७ ॥

और ये दिव्य आदिनाथ जो शिवजी तिननें कह्योहुयो मुद्रानको दशक हे. सो आठ ऐश्वर्य अणिमा १ महिमा २ गरिमा ३ लघिमा ४ प्राप्ति ५ प्राकाम्य ६ ईशिता ७ वशिता ८ ये आठ सिद्धि हें इनें देवे हे ॥ अब इन आठों सिद्धिनके लक्षण कहें हें ॥ योगीके संकल्पमात्रकरकें प्रकृति दूर होय जाय. परमाणुकीसीनाई देह सूक्ष्म होय जाय ताकूं अणिमा कहें हें ॥ १ ॥ और जो प्रकृतिके आपूरकरकें अर्थात् प्रकृतीकूं अपने भीतर भर ले फिर आकाशादिककीसीनाई स्थूल महान् होय जाय ताकूं महिमा कहें हें ॥ २ ॥ बोहोत हलको रुईकूं आदिलेके तिनकूं पर्वतादिकनकोसो भारीपन होनो ताकूं गरिमा कहें हें ॥ ३ ॥ जो भारी पर्वतादिक हें तिनकूं रुईकीसीनाई लघु कहा हलको होय ताकूं लघिमा कहें हें ॥ ४ ॥ और जो सर्व पदार्थ सन्निध होय जाय अर्थात् जेसें पृथ्वीमें तो ठाडो होय और अंगुलीके अग्रकरकें चंद्रमाकूं स्पर्श करे ताकूं प्राप्ति कहें हें ॥ ५ ॥ और इच्छाको अनभिघात जेसें जलमें डूबे निकसि आवे तेसें पृथ्वीमें कदी दीखवें दीखवे लगे जानो कदी नही दीखनो ताकूं प्राकाम्य कहें हें ॥ ६ ॥ और भूत भौतिक पदार्थनको जन्ममरणकी

मू० गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकम् ॥
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥ ९ ॥
॥ अथ महामुद्रा ॥
पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणं ॥
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ १० ॥
कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ॥
यथा दंडहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥ ११ ॥

॥ टीका ॥

गोपनीयमिति ॥ प्रयत्नेन प्रकृष्टेन यत्नेन गोपनीयं । गोपनीयत्वे दृष्टांतमाह ॥ यथेति ॥ रत्नानां हीरकादीनां करंडकं रत्नकरंडकं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्वत् । कस्यापि जनमात्रस्य यद्वा कस्यापि ब्रह्मणोऽपि नैव वक्तव्यं नैव वाच्यं किमुतान्यस्य । तत्र दृष्टांतः । कुलस्त्रियाः सुरतं कुलस्त्रीसुरतं संगमनं यथा तद्वत्॥९॥

दशविधमुद्रादिषु प्रथमोद्दिष्टत्वेन महामुद्रां तावदाह ॥ पादमूलेनेति ॥ वामेन सव्येन पादस्य मूलं पादमूलं पार्ष्णिस्तेन पादमूलेन वामपादपार्ष्णिनेत्यर्थः । योनिं योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्याकुंचितवामपादपार्ष्णिना योनिस्थानं दृढं संयोज्येत्यर्थः । दक्षिणं सव्येतरं पदं चरणं प्रसारितं भूमिसंलग्नपार्ष्णिकमूर्ध्वांगुलिकं दंडवत्कृत्वा कराभ्यां संप्रदायादाकुंचितकरतर्जनीभ्यां दृढं गाढं धारयेदंगुष्ठप्रदेशे गृह्णीयात् ॥ १० ॥

कंठ इति ॥ कंठे कंठदेशे बंधनं सम्यगारोप्य कृत्वा । जालंधरबंधं कृत्वेत्यर्थः ।

॥ भाषा ॥

रचना करवेमें समर्थ होय ताकूं ईशता कहें हें ॥ ७ ॥ और भूत भौतादिकनकूं अपने आधीन करणो ताकूं वशित्व सिद्धि कहें हें ॥ ८ ॥ इनकूं देवेवारो हे और सिद्ध जो कपिलादिक तिनकूं प्रिय हे मरुत् जे देवता तिनकूंबी दुर्लभ हे ॥ ८ ॥

यथेति ॥ जेसें रत्नकी पेटीकूं गोप्य राखें हें तेसेंहि गोप्य राखे काहूंकूं कहे नही जेसें कुलकी स्त्रीके मैथुन संगमकूं नही कहे हे. तेसें येबी नही कहवेकूं योग्य हे ॥ ९ ॥

अब पहली महामुद्राकूं कहें हें ॥ पादमूलेनेति ॥ वामपादकी एडीकरकें गुदा शिश्नइंद्री इनको मध्यम भाग जो योनिस्थान ताय रोककरकें जेमनो पाद फेलाय लंबो करदे पृथ्वीमें एडी लगाय अंगुली ऊंची दंडकीसीनाई करकें अंगुठा तर्जनी कर दक्षिण पामको अंगूठा पकड धारण करे ॥ १० ॥

कंठ इति ॥ फिर कंठमें जालंधर बंध बांधकरकें फिर वायूकूं उपरि सुषुम्नामें धारण करे

मू० ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत् ॥
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ १२ ॥
ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ॥ १३ ॥
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ॥
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयंते मरणादयः ॥

॥ टीका ॥

वायुं पवनमूर्ध्वंत उपरि सुषुम्नायां धारयेत् । अनेन मूलबंधः सूचितः । स तु योनिसंपीडनेन जिव्हाबंधनेन चरितार्थ इति सांप्रदायिकाः । यथा दंडेन हतस्ताडितो दंडहतः सर्पः कुंडली दंडाकारः दंडस्याकार इवाकारो यस्य स तादृशः । दंडाकारं त्यक्त्वा सरल इत्यर्थः । प्रकर्षेण जायते भवति ॥ ११ ॥

ऋज्वीभूतेति॥तथा कुंडल्याधारशक्तिः सहसा शीघ्रमेव।ऋज्वी संपद्यते तथाभूता ऋज्वीभूता सरला भवेत् । तदा सेति ॥ द्वे पुटे इडापिंगले आश्रयो यस्याः सा मरणावस्था जायते। कुंडलीबोधे सति सुषुम्नायां प्रविष्टे प्राणे द्वयोः प्राणवियोगात् ॥ १२॥

तत इति ॥ इयमिति ॥ ततस्तदनंतरं शनैःशनैरेव रेचयेत् । वायुमिति संबध्यते वेगतस्तु वेगान्न रेचयेत्। वेगतो रेचने बलहानिप्रसंगात्। खल्विति वाक्यालंकारे । इयं महामुद्रा महासिद्धैरादिनाथादिभिः प्रदर्शिता प्रकर्षेण दर्शिता । महामुद्राया अन्वर्थमाह । महांतश्च ते क्लेशाश्च महाक्लेशा अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंच त आदयो

॥ भाषा ॥

या कर मूलबंधबी होय हे जहां योनिस्थानकूं पीडन करकें जिव्हा बंधनकरकें मूलबंध होय जाय. जेसें सर्प दंडके प्रहारकरकें दंडाकार त्याग कर सरल होजाय हे तेसेंहीं जानन्नो ॥ ११ ॥

ऋज्वीभूतेति ॥ तेसेंही कुंडली जो आधारशक्ति सो शीघ्रही सरल होय और कुंडलीके बोधतेंही सुषुम्नामें प्रवेश प्राणको होय हे दोनोनकूं प्राणके वियोगतें इडा पिंगला ये दोनों हे आश्रय जाके एसी मरणावस्था होय हे ॥ १२ ॥

ततइति ॥ इयमिति ॥ ता पीछें शनैं शनैं रेचन करे वायुकूं वेगतें नही करे बलकी हानि होय हे यातें ये महामुद्रा आदिनाथादिक महासिद्धननें दिखाई हे महाक्लेश अविद्या रागद्वेषादिक शोकमोहादिकनके दोष क्षीण होय हें. और मरण जरादिक तेबी क्षीण होय

मू० महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ॥ १४ ॥
चंद्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत् ॥
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ १५ ॥

॥ टीका ॥

येषां ते तत्कार्याणां शोकमोहादीनां ते दोषाः क्षीयंते । मरणमादिर्येषां जरादीनां तेऽपि च क्षीयंते नश्यंति । यतस्तेनैव हेतुना विशिष्टा बुधा विबुधास्तेषूत्तमा विबुधोत्तमा महामुद्रां वदंति । महाक्लेशान्मरणादींश्च दोषान्मुद्रयति शमयतीति महामुद्रेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः ॥ १३ ॥ १४ ॥

महामुद्राभ्यासक्रममाह ॥ चंद्रांग इति ॥ चंद्रेण चंद्रनाड्योपलक्षितमंगं चंद्रांगं तस्मिन् चंद्रांगे वामांगे । तुशब्दः पादपूरणे । सम्यगभ्यस्य सूर्येण पिंगलयोपलक्षितमंगं सूर्यांगं तस्मिन् सूर्यांगे दक्षांगे पुनर्वामांगाभ्यासानंतरं यावद्यावत्कालपर्यंतं तुल्या वामांगे कुंभकाभ्याससंख्यासमा संख्या भवेत्तावदभ्यसेत् । ततःसंख्यासाम्यानंतरं मुद्रां महामुद्रां विसर्जयेत् । अत्रायं क्रमः । आकुंचितवामपादपार्ष्णि योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितदक्षिणपादांगुष्ठमाकुंचिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो वामांगेऽभ्यासः । अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्वामांगे तिष्ठति । आकुंचितदक्षपादपार्ष्णि योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितवामपादांगुष्ठमाकुंचिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो दक्षांगेऽभ्यासः । अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्दक्षांगे तिष्ठति ॥ १५ ॥

॥ भाषा ॥

यातें बडे बडे ज्ञानी याये महामुद्रा कहें हें ॥ १३ ॥ १४ ॥

या महामुद्राको अभ्यासक्रम कहें हें ॥ चंद्रांग इति ॥ चंद्रांग जो वामांग तामें अभ्यासकरकें फिर सूर्यांग जो दक्षांग तामें अभ्यास करे और वामांगके अभ्यास करे पछि जबतांई वामांगमें कुंभकके अभ्यासकी संख्या समान होय तावत् पर्यंत अभ्यास करे और जब संख्या समान होय जाय तापीछें महामुद्रा विसर्जन कर दे यामें ये क्रम हे वांये पामकी एडीकूं योनिस्थानमें लगायकर जेमने पामकूं लंबो फेलाय वाके अंगूठाकूं तर्जनी अंगुली अंगूठासूं पकडकरकें अभ्यास करे ताकूं वामांगमें अभ्यास कहें हें या अभ्यासमें पूर्‍यो जो वायू सो वामांगमें स्थित रहे हे और फिर जेमने पामकूं समेट वाकी एडीकूं योनिस्थानमें लगायकरकें वांयो पाम लंबो कर वाके अंगूठाकूं आकुंचित तर्जनी अंगूठासूं पकडकर अभ्यास करे ताकूं दक्षिणांगमें अभ्यास कहें हें या अभ्यासमें पूर्‍यो हुयो जो वायू सो दक्षांगमेंही रहे है ॥ १५ ॥

मू० नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ॥
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति ॥ १६ ॥
क्षयकुष्टगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ॥
तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ १७ ॥
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ॥
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्यकस्यचित् ॥ १८ ॥

॥ टीका ॥

महामुद्रागुणानाह त्रिभिः ॥ नहीति ॥ हि यस्मान्महामुद्राभ्यासिन इत्यध्याहारः । पथ्यमपथ्यं वा न । पथ्यापथ्यविचारो नास्तीत्यर्थः । तस्मात्सर्वे भुक्ता रसाः कट्वम्लादयो जीर्यंते इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः । नीरसा निर्गतो रसो येभ्यस्तेयातयामाः पदार्था जीर्यंते । घोरमिति दुर्जरं भुक्तमन्नं विषं क्ष्वेडमपि पीयूषमिवामृतमिव जीर्यति जीर्णं भवति । किमुतान्यदिति भावः ॥ १६ ॥

क्षयेति॥यः पुमान् महामुद्रामभ्यसेत्तस्य क्षयो राजरोगः कुष्ठगुदावर्तगुल्मा रोगविशेषाः । अजीर्णं भुक्तान्नापरिपाकस्तानि पुरोगमान्यग्रेसराणि येषां महोदरज्वरादीनां तथा तादृशा दोषा दोषजनिता रोगाः क्षयं नाशं यांति प्राप्नुवंति ॥१७॥

महामुद्रामुपसंहरंस्तस्या गोप्यत्वमाह ॥ कथितेति ॥ इयमेषा महामुद्रा क-

॥ भाषा ॥

महामुद्राके गुण कहें हें ॥ नहीति ॥ महामुद्राके अभ्यासीकूं पथ्य अपथ्यको विचार नही तातें संपूर्ण रस कटु अम्लादिक जो भोजन करे सोई जीर्ण होय जाय और रस जाको सूक गयो होय एक दो दिनको होय पदार्थ सो जीर्ण होय जाय और दुर्जर होय घोर विष भोजन कियो होय सोबी अमृतकीसीनाई जीर्ण होय ॥ १६ ॥

क्षयेति ॥ जो पुरुष महामुद्राकूं अभ्यास करे ताकूं क्षयरोग कोढ गुल्मरोग अजीर्ण ये हें अग्रमें जिनकें एसे ज्वरादिक प्रमेह उदररोग एसे एसे रोगदोष नाशकूं प्राप्त होय ॥ १७ ॥

कथितेति ॥ अभ्यासके करवेवाले मनुष्यनकूं महान् सिद्धि आणिमादिक तिनकी करवेवाली ये महामुद्रा मेनें कही हे ये गोप राखनो योग्य हे जाकाऊ अनधिकारीकूं नही देनो योग्य हे ॥ १८ ॥

मू० पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ॥
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १९ ॥
इति महाबंधः ॥
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ॥
निष्पीड्य वायुमाकुंच्य मनो मध्ये नियोजयेत् ॥ २० ॥
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ॥
सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ॥ २१ ॥

॥ टीका ॥

थितोक्ता । मयेति शेषः । कीदृशी नृणामभ्यसतां नराणां महत्यश्च ताः सिद्धयश्चाणिमाद्यास्तासां करी कर्त्रीयम् । प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तेन प्रयत्नेन गोपनीया गोपनार्हा यस्यकस्यचिद्यस्यकस्याप्यनधिकारिणोऽसंबंधस्य । सामान्ये षष्ठी । न देया दातुं योग्या न भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

महाबंधमाह॥पार्ष्णिमिति॥ वामस्य सव्यस्य पादस्य चरणस्य पार्ष्णिं गुल्फयोरधोभागम् । 'तद्ग्रंथी गुल्फौ पुमान्पार्ष्णिस्तयोरधः' इत्यमरः । योनिस्थाने गुदमेढ्रयोरंतराले नियोजयेन्नितरां योजयेत् । वामः सव्यो य ऊरुस्तस्योपरि दक्षिणं चरणं पादं संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा । तथाशब्दः पादपूरणे ॥ १९ ॥

पूरयित्वेति ॥ ततस्तदनंतरं वायुं पूरयित्वा हृदये चुबुकं दृढं निष्पीड्य गाढं संस्थाप्य । एतेन जालंधरबंधः प्रोक्तः । योनिं गुदमेढ्रयोरंतरालमाकुंच्य । अनेन मूलबंधः सूचितः । स तु जिह्वाबंधेन गतार्थत्वान्न कर्तव्यः । मनः स्वांतं मध्ये मध्यनाड्यां नियोजयेत्प्रवर्तयेत् ॥ २० ॥

धारयित्वेति ॥ शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति धारयित्वा कुंभयित्वा शनैर्मंदं-

॥ भाषा ॥

अत्र दूसरी महाबंध मुद्रा कहे हे ॥ पार्ष्णिमिति ॥ वांये पामकी एडी योनिस्थानमें लगायके फिर वांये पामको ऊरु ताके उपरि जेमनो पाम धरकरकें ॥ १९ ॥

पूरयित्वेति ॥ ता पीछैं वायुकूं पूरककरकें फिर हृदयमें ठोडी दृढ लगायकरकें ये जालंधरबंध कह्यो और वा एडीकरकें योनिस्थानकूं नेंक दाबकें याकरकें मूलबंध कह्यो मनकूं मध्यनाडीमें प्रवर्त करे ॥ २० ॥

धारयित्वेति ॥ यथाशक्ति कुंभककरकें फिर मंद मंद वायुकूं रेचक करे फेर वामांगमें आवर्तनकरकें फिर दक्षिणांगमें जितनें तुल्य संख्या होय तितनें अभ्यास करे ॥ २१ ॥

मू० मतमत्र तु केषांचित्कंठबंधं विवर्जयेत् ॥
राजदंतस्थजिह्वाया बंधः शस्तो भवेदिति ॥ २२ ॥
अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ॥
अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः ॥ २३ ॥
कालपाशमहाबंधविमोचनविचक्षणः ॥

॥ टीका ॥

मंदमनिलं वायुं रेचयेत् । सव्यांगे वामांगे समभ्यस्य सम्यगावर्त्य दक्षांगे दक्षिणांगे पुनर्यावत्तुल्यामेव संख्यां तावदभ्यसेत् ॥ २१ ॥

अथ जालंधरबंधे कंठसंकोचस्यानुपयोगमाह ॥ मतमिति ॥ केषांचित्त्वाचार्याणामिदं मतम् । किंतदित्याह । अत्र जालंधरबंधे कंठस्य बंधनं बंधः । संकोचस्तं विवर्जयेद्विशेषेण वर्जयेत् । कुतः यतो दंतानां राजानो राजदंता राजदंतेषु तिष्ठतीति राजदंतस्था राजदंतस्था चासौ जिह्वा च तस्यां राजदंतस्थजिह्वायां बंधस्तदुपरिभागस्य संबंधः शस्तः । कंठाकुंचनापेक्षया प्रशस्तो भवेदिति हेतोः॥२२॥ अयंत्विति ॥ अयं तु राजदंतस्थजिह्वायां बंधस्तु सर्वाश्च ता नाड्यश्च सर्वनाड्यो द्वासप्ततिसहस्रसंख्याकास्तासां सुषुम्नातिरिक्तानामूर्ध्वमुपरि वायोर्गतिरूर्ध्वं गतिस्तस्या निरोधकः प्रतिबंधकः । एतेन ' बध्नाति हि शिराजालमि ' ति जालंधरोक्तं फलमनेनैव सिद्धमिति सूचितम् महाबंधस्य फलमाह ॥ अयं खल्विति ॥ अयमुक्तः खलु प्रसिद्धः महासिद्धीः प्रकर्षेण तदातीति तथा ॥ २३ ॥

कालेति॥कालस्य मृत्योः पाशो वागुरा तेन यो महाबंधो बंधनं तस्य विशेषेण

॥ भाषा ॥

मतमिति ॥ कोई आचार्यनको मत ये हे कहा जालंधर बंधमें कंठको बंध ताय विशेष कर वर्जित करे अर्थात् ढोढीकूं हृदय पे स्थापित नही करनो क्यों राजदंत जो अग्रदंत सामनेंई दो दांत हें तिनकूं राजदंत कहें हें राजदंतमें स्थित जो जिव्हा तामें बंध दांतनके ऊपर जिव्हाकूं लगानो ये प्रशस्त हे ॥ २२ ॥

अयंत्विति ॥ ये जो जिव्हाबंध हे सो सुषुम्नानाडीरहित जे संपूर्ण बहत्तर हजार नाडी तिनके ऊपर वायुकी गतीको निरोध करे हे याकरकें नसाजाल बंध जाय हे तातें ही जालंधरबंध कहें हे. अब याको फल कहें हें ये महाबंध महासिद्धी देवें हे ॥ २३ ॥

कालेति ॥ और मृत्युकी पाशकरकें जो बंधन ताकूं दूर करवेंमें निपुण इडा पिंगला सु-

मू० त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ २४ ॥
रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ॥
महामुद्रामहाबंधौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ २५ ॥

अथ महावेधः ॥

महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ॥
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया ॥ २६ ॥

॥ टीका ॥

मोचने मोक्षणे विचक्षणः प्रवीणः । तिसृणां नदीनां वेणी समुदायः स एव संगमः प्रयागस्तं धत्ते विधत्ते । केदारं भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं केदारशब्दवाच्यं तं मनः स्वांतं प्रापयेत् । 'गतिबुद्धी' त्यादिना अणौ कर्तुर्मनसो णौ कर्मत्वम् ॥ २४ ॥

महावेधं वक्तुमादौ तस्योत्कर्षं तावदाह ॥ रूपेति ॥ रूपं सौंदर्यं चक्षुःप्रियो गुणो लावण्यं कांतिविशेषः । तदुक्तं 'मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवांतरम् । प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते' इति । ताभ्यां संपन्ना विशिष्टा स्त्री युवती पुरुषं भर्तारं विना यथा यादृशी निष्फला तथा महामुद्रा च महाबंधश्च तौ महावेधेन । 'विनापि प्रत्ययपूर्वोत्तरपदयोर्लोपो वक्तव्य' इति भाष्यकारोक्तेर्महच्छब्दस्य लोपः । वर्जितौ रहितौ निष्फलौ व्यर्थावित्यर्थः ॥ २५ ॥

महावेधमाह ॥ महाबंधेति ॥ महाबंधे महाबंधमुद्रायां स्थितो महाबंधस्थितः । एका एकाग्रा धीर्यस्य स एकाग्रधीर्योगी योगाभ्यासी पूरकं नासापुटाभ्यां वायोर्ग्रहणं कृत्वा कंठे मुद्रा कंठमुद्रा तया जालंधरमुद्रया वायूनां प्राणादीनां गतिम्

॥ भाषा ॥

षुम्ना इन तीनो नदीनको संगम ताय धारण करे हें और मनकूं केदार जो भ्रुकुटीनके बीचमें शिवस्थान ताय प्राप्त करे हे ॥ २४ ॥

रूपेति ॥ रूप लावण्य कांति गुन इन शोभानकर युक्त स्त्री होय युवा न होय वो जेसें भर्त्तार विना निष्फल तेसेंही महामुद्रा महाबंध ये दोनो महावेधकर रहित होंय तों निष्फल हें कहा व्यर्थ हें ॥ २५ ॥

अब तीसरी महावेध मुद्रा कहें हें ॥ महावेधेति ॥ महावेध मुद्रामें स्थित एकाग्र हे बुद्धि जाकी एसो योगी नासिकाके पुटकरकें पूरककरकें कंठमें मुद्रा जो जालंधर मुद्रा ताकरकें वायुकी ऊपर नीचें गमन रूप जो गती ताय रोक कुंभककरकें ॥ २६ ॥

मू० समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ॥
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ २७ ॥
सोमसूर्याग्निसंबंधो जायते चामृताय वै ॥
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ २८ ॥
महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ॥

॥ टीका ॥

ध्वाधोगमनादिरूपां निभृतं निश्चलं यथा भवति तथावृत्य निरुध्य कुंभकं कृत्वेत्यर्थः ॥ २६ ॥

समहस्तेति ॥ भूमौ भुवि हस्तयोर्युगं हस्तयुगं समं हस्तयुगं यस्य स समहस्तयुगः भूमिसंलग्नतलौ सरलौ हस्तौ यस्य तादृशः सन्नित्यर्थः । स्फिचौ कटिप्रोथौ । 'स्त्रियां स्फिचौ कटिप्रोथावि' त्यमरः । भूमिसंलग्नतलयोर्हस्तयोरवलंबनेन योनिस्थानसंलग्नपार्ष्णिना वामपादेन सह भूमेः किंचिदुत्थापितौ शनैर्मंदं संताडयेत्सम्यक् ताडयेत् । भूमावेव पुटयोर्द्वयमिडापिंगलयोर्युग्ममतिक्रम्योल्लंघ्य मध्ये सुषुम्नामध्ये गच्छतीति मध्यगो वायुः स्फुरति ॥ २७ ॥

सोमेति ॥ सोमश्च सूर्यश्चाग्निश्च सोमसूर्याग्नयः सोमसूर्याग्निशब्दैस्तदधिष्ठिता नाड्य इडापिंगलासुषुम्ना ग्राह्यास्तेषां संबंधः । तद्वायुसंबंधात्तेषां संबंधः । अमृताय मोक्षाय जायते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । मृतस्य प्राणवियुक्तस्यावस्था मृतावस्था समुत्पन्ना भवति । इडापिंगलयोः प्राणसंचाराभावात् । ततस्तदनंतरं वायुं विरेचयेन्नासिकापुटाभ्यां शनैस्त्यजेत् ॥ २८ ॥

महावेध इति ॥ अयं महावेधोऽभ्यासात्पुनःपुनरावर्तनान्महासिद्धयोऽणिमाद्या-

॥ भाषा ॥

समहस्तेति ॥ पृथ्वीमें लगरहे हैं तलुआ जिनके ऐसे दोनो हाथ समान धरकरकें फिर योनिस्थानमें लगरही हे एढी जाकी ता पामकर सहित दोनो हाथके सहारे कछूक उठकरकें फिर मंद मंद ताडन करे भूमिमें इडा पिंगला दोनोनकूं उल्लंघनकरकें सुषुम्नाके मध्यमें वायु प्राप्त होय ॥ २७ ॥

सोमेति ॥ सोम सूर्य अग्नि इनमें अधिष्ठित नाडी इडा पिंगला सुषुम्ना तिनको संबंध मोक्षके अर्थ होय हे निश्चयता प्राण वियोगकी अवस्था मृतावस्था उत्पन्न होय हे अर्थात् मरोसो होजाय ता पीछैं वायुकूं नासिका पुटनकरकें शनैं शनैं रेचक करे ॥ २८ ॥

महावेध इति ॥ ये जो महावेध हे सो अभ्यास करेतें महासिद्धी जो अणिमादिक

मू० वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ २९ ॥
एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ॥
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ३० ॥
अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ॥
पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ॥

॥ टीका ॥

स्तासां प्रदायकः प्रकर्षेण समर्धकः । वली जरया चर्मसंकोचः पलितं जरसा केशेषु शौक्ल्यं वेपः कंपस्तान् हंतीति वलीपलितवेपघ्नः । अत एव साधकेष्वभ्यासिषूत्तमाः साधकोत्तमास्तैः सेव्यतेऽभ्यस्यत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

महामुद्रादीनां तिसृणामतिगोप्यत्वमाह ॥ एतदिति ॥ एतत्त्रयं महामुद्रादित्रयं महागुह्यमतिरहस्यम् । अत्र हेतुगर्भाणि विशेषणानि हि यस्माज्जरा वार्धकं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगः तयोर्विशेषेण नाशनं वह्नेर्जाठरस्य वृद्धिर्दीप्तिस्तस्याः करं कर्तृ अणिमा आदिर्येषां तेऽणिमादयस्ते च ते गुणाश्च तान् प्रकर्षेण ददातीत्यणिमादिगुणप्रदम् । चकार आरोग्यबिंदुजयादिसमुच्चयार्थः एवशब्दोऽवधारणार्थः॥ ३० ॥

अथैतत्त्रयस्य पृथक्साधनविशेषमाह ॥ अष्टधेति ॥ दिने दिने प्रतिदिनं । यामे यामे प्रहरे प्रहरे पौनःपुन्ये द्विर्वचनम् । अष्टभिः प्रकारैरष्टधा क्रियते चशब्दोऽवधारणे । एतत्त्रयमित्यत्रापि संबध्यते । कीदृशं पुण्यसंभारः समूहस्तस्य संधायि विधायि पुनः कीदृशं पापानामोघः पूरः समूह इति यावत् । तस्य भिदुरं कुलिशमिव नाशनं सदा सर्वदा यदाभ्यस्तं तदैव पापनाशनम् ॥

॥ भाषा ॥

तिनकूं देवेमें समर्थ हे और वली पलित कंप अर्थात् बुढो होय जाके देहमें त्रिवलीसी पडे जाकूं वली कहे हें और बुढापेकर केश सुपेद होय जाय ताकूं पलित कहें हें. और बुढापेसूं देह कांपन लगे तासूं कंप कहें हें इन तीनोनकूं नाश करे हे यातें अभ्यासीनमें जे उत्तम हें तिनकरकें अभ्यास करिये हे ॥ २९ ॥

एतदिति ॥ ये महामुद्राकूं आदिले तीन मुद्रा महा गोप्य हें और बुढापेकूं मृत्यूकूं विशेष दूर करे हे. और जाठराग्नीकूं वृद्धी करे हे. अणिमादिक सिद्धीकूं देवे हे ॥ ३० ॥

अष्टधेति ॥ एक दिनमें आठ प्रहर होय हे सो नित्य प्रहर प्रहरमें आठ करे और

मू० सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ३१ ॥

अथ खेचरी ॥

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ३२ ॥
छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ॥
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥ ३३ ॥

॥ टीका ॥

सम्यक् संप्रदायिकी शिक्षा गुरूपदेशो विद्यते येषां ते तथा । एवं दिने दिने यामे यामेऽष्टधेत्युक्तरीत्या पूर्वसाधनं स्वल्पस्वल्पमेव कार्यम् ॥ ३१ ॥

खेचरीं विवक्षुरादौ तत्स्वरूपमाह ॥ कपालेति ॥ कपाले मूर्ध्नि कुहरं सुषिरं तस्मिन्कपालकुहरे विपरीतं प्रतीपं गच्छतीति विपरीतगा पराङ्मुखीभूता जिह्वा रसना स्यात् । भ्रुवोरंतर्गता भ्रुवोर्मध्ये प्रविष्टा दृष्टिर्दर्शनं स्यात् । सा खेचरी मुद्रा भवति । कपालकुहरे जिव्हाप्रवेशपूर्वकं भ्रुवोरंतर्दर्शनं खेचरीति लक्षणं सिद्धं ॥३२॥

खेचरीसिद्धेर्लक्षणमाह ॥ छेदनेति ॥ छेदनं अनुपदमेव वक्ष्यमाणं । चालनं हस्तयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां रसनां गृहीत्वा सव्यापसव्यतः परिवर्तनं दोहः करयोरंगुष्ठतर्जनीभ्यां गोदोहनवत्तद्दोहनं तैः कलां जिव्हां तावद्वर्धयेद्दीर्घां कुर्यात् । तावत् कियत् । यावत्सा कला भ्रूमध्यं बहिर्भ्रुवोर्मध्यं स्पृशति यदा तदा खेचर्याः सिद्धिः खेचरीसिद्धिर्भवति ॥ ३३ ॥

॥ भाषा ॥

पुण्यके समूहकूं वढावे हे फिर पापनको ओव समूह ताकूं वज्रकीसीनाई नाशको करवेवारो हे शिक्षावान पुरुषनकूं या प्रकार दिन दिनमें प्रहर प्रहरमें आठ प्रकार यारीती कर पूर्व साधन अल्प अल्पही करनो योग्य हे ॥ ३१ ॥

अब खेचरी चोथी मुद्रा कहें हें ॥ कपालेति ॥ कपालमें जो छिद्र तामें विपरीत जिव्हा प्रवेश करे और भृकुटीके मध्यमें नेत्रनकरकें देखनो ये खेचरी मुद्रा हे ॥ ३२ ॥

अब खेचरीकी सिद्धिको लक्षण कहें हें ॥ छेदनेति ॥ छेदन अगाडी कहेंगे और चालन हस्तके अंगुठा तर्जनी कर जिव्हाकूं पकडकरके हलानो सो चालन और दोनो हाथके अंगूठा तर्जनी कर गौके थनकूं दुहें हें तेसेंही खेंच खेंचके जिव्हाकूं बढावे कहा लंबी करे कितनी जबतक बहार निकास भृकुटीके मध्यकूं स्पर्श करे तबतांई बढावे तब खेचरीकी सिद्धी होय ॥ ३३ ॥

मू० स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ॥
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥३४॥
ततः सैंधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ॥
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥
एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ॥
षण्मासाद्रसनामूलशिलाबंधः प्रणश्यति ॥ ३६॥

॥ टीका ॥

तत्साधनमाह ॥ स्नुहीति ॥ स्नुही गुडा तस्याः पत्रं दलं स्नुहीपत्रेणसदृशं स्नुहीपत्रनिभं सुतीक्ष्णमतितीक्ष्णं स्निग्धं च तन्निर्मलं च स्निग्धनिर्मलं शस्त्रं छेदनसाधनं समादाय सम्यगादाय गृहीत्वा ततः शस्त्रग्रहणानंतरं तेन शस्त्रेण रोमप्रमाणं रोममात्रं समुच्छिनेत्सम्यगुच्छिनेच्छिद्यात् । रसनामूलशिरामिति कर्माध्याहारः । ‘ मिश्रेयाप्यथ सिंहुंडो वज्रस्नुक् स्त्री स्नुही गुडे ’ त्यमरः ॥ ३४ ॥

तत इति ॥ ततश्छेदनानंतरं चूर्णिताभ्यां चूर्णीकृताभ्यां सैंधवं सिंधुदेशोद्भवं लवणं पथ्यं हरीतकी ताभ्यां प्रघर्षयेत्प्रकर्षेण घर्षयेच्छिन्नं शिराप्रदेशं । सप्तदिनपर्यंतं छेदनं सैंधवपथ्याभ्यां घर्षणं च सायंप्रातर्विधेयं । योगाभ्यासिनो लवणनिषेधात्खदिरपथ्याचूर्णं गृह्णंति । मूले सैंधवोक्तिस्तु हठाभ्यासात्पूर्वं खेचरीसाधनाभिप्रायेण । सप्तानां दिनानां समाहारः सप्तदिनं तस्मिन् प्राप्ते गते सति अष्टमे दिन इत्यर्थात् । ये प्राप्त्यर्थास्ते गत्यर्थाः । पूर्वं छेदनापेक्षयाधिकं रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥

एवमिति ॥ एवं क्रमेण पूर्वं रोममात्रच्छेदनं सप्तदिनपर्यंतं तावदेव सायंप्रातश्छे-

॥ भाषा ॥

अब खेचरीको साधन कहे हें ॥ स्नुहीति ॥ थूहरके पत्रकी तुल्य अति तीक्ष्ण होय सचिक्कण होय निर्मल होय एसो शस्त्र लेकरकें जिव्हाके नीचे नसकूं रोममात्र छेदन करे ॥ ३४ ॥

तत इति ॥ छेदन करे पीछे लवण सेंधो और हरडे इनको चूर्णकरके छेदनकीजे मलदेवे सायंकाल प्रातःकाल दोनो समे योगीकूं लवणको निषेध हे यातें खदिर हरडे इन दोनोनकूं पीसके मलदेवे सातादिन तांई फिर सातदिन पीछें आठमे दिन फिर अधिक छेदन करे ॥ ३५ ॥

एवमिति ॥ या क्रमकरकें फिर सात दिन लवण हरडेकर घर्षण करे योगाभ्यासी पु-

**मू० कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ॥
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ३७ ॥
रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ॥
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ३८ ॥**

॥ टीका ॥

दनं घर्षणं च। अष्टमे दिनेऽधिकं छेदनमित्युक्तक्रमेण षण्मासं षण्मासपर्यंतं नित्ययुक्तः सन् समाचरेत्सम्यगाचरेत्। छेदनघर्षणे इति कर्माध्याहारः। षण्मासादनंतरं रसना जिह्वा तस्या मूलमधोभागो रसनामूलं तत्र या शिरा कपालकुहररसनासंयोगे प्रतिबंधिकाभूता नाडी तया बंधो बंधनं प्रणश्यति प्रकर्षेण नश्यति ॥ ३६ ॥

छेदनादिना जिह्वावृद्धौ यत्कर्तव्यं तदाह ॥ कलामिति ॥ कलां जिह्वां पराङ्मुखमास्यं यस्याः सा तथा तां पराङ्मुखीं प्रत्यङ्मुखीं कृत्वा तिसृणां नाडीनां पंथाः त्रिपथस्तस्मिंस्त्रिपथे कपालकुहरे परियोजयेत्संयोजयेत्। सा त्रिपथे परियोजनरूपा खेचरी मुद्रा तद्व्योमचक्रमित्युच्यते। व्योमचक्रशब्देनोच्यते ॥ ३७ ॥

अथ खेचरीगुणाः ॥ रसनामिति ॥ ऊर्ध्वं तालुपरि विवरं गच्छतीति तां तादृशीं रसनां जिह्वां कृत्वा क्षणार्धं क्षणस्य मुहूर्तस्य अर्धं क्षणार्धं घटिकामात्रमपि खेचरी मुद्रा तिष्ठति चेत्तर्हि योगी विषैः सर्पवृश्चिकादिविषैर्विमुच्यते विशेषेण मुच्यते। व्याधिर्धातुवैषम्यं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगो जरा वृद्धावस्था ता आदयो येषां वल्यादीनां तैश्च विमुच्यते। 'उत्सवे च प्रकोष्ठे च मुहूर्ते नियमे तथा। क्षणशब्दोऽव्यवस्थायां समयेऽपि निगद्यते' इति नानार्थः ॥ ३८ ॥

॥ भाषा ॥

दिन अधिक छेदन करे एसें छै महीनापर्यंत नित्य युक्तीसुं करे तो छै महीना पीछें जिव्हाकी मूलमें जो नाडी अर्थात् कपालके छिद्रमें जिव्हाके संयोगकूं नहीं होय वे नाडीकरकें बंध नाशकूं प्राप्त होय ॥ ३६ ॥

कलाभिति ॥ जिव्हा तिरछिकरकें तीनो नाडीनको मार्ग जो कपालको छिद्र तामें योजना करे ये खेचरी मुद्रा होय हे याहीकूं व्योमचक्र कहें हें ॥ ३७ ॥

अब खेचरीके गुण कहें हें ॥ **रसनामिति** ॥ तालुएके उपरि छिद्रमें जाय एसी जिव्हाकरकें एक घडीमात्र खेचरीमुद्रा स्थित रहे तो योगी सर्प वींछू इनकूं आदिलेकर जो जंतू तिनके बिषकर छूट जाय. और व्याधी मृत्यु और बुढापो ये हें आदि जिनके एसे त्रिवली पलितं इनकरकें छूट जाय ॥ ३८ ॥

मू० न रोगो मरणं तंद्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ३९ ॥
पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ॥
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ४० ॥
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ॥
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥ ४१ ॥
खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः ॥
न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याश्लेषितस्य च ॥ ४२ ॥

॥ टीका ॥

न रोग इति ॥ यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति तस्य रोगो न मरणं न तंद्रा तामसांतःकरणवृत्तिविशेषः न निद्रा न क्षुधा न तृषा पिपासा न मूर्च्छा चित्तस्य तमसाभिभूतावस्थाविशेषश्च न भवेत् ॥ ३९ ॥

पीड्यत इति ॥ यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति स रोगेण ज्वरादिना न योज्यते॥४०॥

चित्तमिति ॥ यस्माद्धेतोश्चित्तमंतःकरणं खे भ्रुवोरंतरवकाशे चरति जिह्वां खे तत्रैव गता सती चरति । तेन हेतुना एषा कथिता मुद्रा खेचरी नाम खेचरीति प्रसिद्धा । नामेति प्रसिद्धावव्ययम् । सिद्धैः कपिलादिभिर्निरूपिता । खे भ्रुवोरंतव्योम्नि चरति गच्छति चित्तं जिह्वा च यस्यां सा खेचरीत्यवयवशः सा व्युत्पादिता । उक्तेषु त्रिषु श्लोकेषु व्याध्यादीनां पुनरुक्तिस्तु तेषां श्लोकानां संगृहीतत्वान्न दोषाय ॥ ४१ ॥

खेचर्येति ॥ येन योगिना खेचर्या मुद्रया लंबिकाया ऊर्ध्वमिति लंबिकोर्ध्वतः ।

॥ भाषा ॥

नरोग इति ॥ जो खेचरीमुद्राए जानै है ताके रोग मरण आलस्य निद्रा क्षुधा तृषा मूर्च्छा ये विशेषकरकें नही होय ॥ ३९ ॥

पीड्यत इति ॥ जो खेचरी मुद्राकूं जाने है सो रोगकरकें नही पीडायमान होय कर्मकरकें लिप्त नही होय कालकरकें बाधाकूं नही प्राप्त होय ॥ ४० ॥

चित्तमिति ॥ अंतःकरण भ्रुकुटीके भीतर जो छिद्र तामें विचरे और जिव्हा भ्रुकुटीके मध्यमें विचरे ताकरकें कपिलादिक सिद्धनकरकें ये खेचरी कहें हें ॥ ४१ ॥

खेचर्येति ॥ जा योगीनें तालुवेके उपरि जो छिद्र ताय खेचरी मुद्राकरकें ढक दियो तो

मू० चलितोऽपि यदा बिंदुः संप्राप्तो योनिमंडलम् ॥
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥ ४३ ॥
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ॥
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ४४ ॥
नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरे यस्य योगिनः ॥

॥ टीका ॥

सार्वविभक्तिकस्तसिः । लंबिका तालु तस्या ऊर्ध्वत उपरिभागे स्थितं विवरं छिद्रं मुद्रितं पिहितम् । कामिन्या युवत्याश्लेषितस्यालिंगितस्यापि । च शब्दोऽप्यर्थे । तस्य बिंदुर्वीर्यं न क्षरते न स्खलति ॥ ४२ ॥

चलित इति ॥ चलितोऽपि स्खलितोऽपि बिंदुर्यदा यस्मिन् काले योनिमंडलं योनिस्थानं संप्राप्तः संगतस्तदैव योनिमुद्रया मेढ्राकुंचनरूपया । एतेन वज्रोली मुद्रा सूचिता । निबद्धो नितरां बद्धः शक्त्याकर्षणशक्त्याहृतः प्रकृष्ट ऊर्ध्वं व्रजति । सुषुम्नामार्गेण बिंदुस्थानं गच्छति ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वजिह्व इति ॥ ऊर्ध्वालंबिकोर्ध्वविवरोन्मुखा जिह्वा यस्य स ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो निश्चलो भूत्वा । सोमस्य लंबिकोर्ध्वविवरगलितचंद्रामृतस्य पानं सोमपानं यः पुमान् करोति । योगं वेत्तीति योगवित् स मासस्यार्धं मासार्धं तेन मासार्धेन पक्षेण मृत्युं मरणं जयति अभिभवति । न संदेहः । निश्चितमेतदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

नित्यमिति ॥ यस्य योगिनः शरीरं नित्यं प्रतिदिनं सोमकलापूर्णं चंद्रकलापू-

॥ भाषा ॥

स्त्रीकरकें आलिंगन हो रह्यो ताको बिंदु नही स्खलित होय ॥ ४२ ॥

चलित इति ॥ और जो बिंदु स्खलित होय गयो जा कालमें योनिमंडलमें प्राप्त हुयो फिर वो योगी मेढ्रकूं आकुंचन जामें करे सो मुद्रा योनिमुद्रा याकरकें वज्रोली मुद्रा दिखायदिनी बंध्यो हुयो और शक्तिकरकें खिच्यो हुयो सुषुम्नामार्गकरकें ऊपरकूं खेंच ले अर्थात बिंदुस्थानकूं प्राप्त होय हे ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वजिव्हेति ॥ तालूके ऊपरि छिद्रके सन्मुख जिव्हा लगाय स्थिर होय जो तालूके ऊपर छिद्रमेंसूं पडे एसो जो चंद्रामृत भ्रुकुटीनके मध्यमें चंद्रमा रहे तामेंतें अमृत स्रवे हे ता चंद्रामृतकूं पान करे योगवेत्ता सो मासको अर्द्ध जो पक्ष ताकरकें मृत्युकूं जीतले यामें संदेह नही निश्चय हे ॥ ४४ ॥

नित्यमिति ॥ और जा योगीको शरीर नित्य प्रति चंद्रामृतकरकें पूर्ण होय ता यो-

मू० तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ४५ ॥
इंधनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्ति च दीपकः ॥
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुंचति ॥ ४६ ॥
गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ॥
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ॥ ४७ ॥

॥ टीका ॥

तपूर्णं तस्य तक्षकेण सर्पविशेषेणापि दष्टस्य दंशितस्य योगिनः शरीरे विषं गरलं तज्जन्यं दुःखं न सर्पति न प्रसरति ॥ ४५ ॥

इंधनानीति ॥ यथा वह्निः इंधनानि काष्ठादीनि न मुंचति दीपको दीपः तैलवर्ति च तैलयुक्तां वर्त्ति न मुंचति । तथा सोमकलापूर्णं चंद्रकलामृतपूर्णं देहं शरीरं देही जीवो न मुंचति न त्यजति ॥ ४६ ॥

गोमांसमिति ॥ गोमांसपरिभाषिकं वक्ष्यमाणं यो भक्षयेन्नित्यं प्रतिदिनममरवारुणीमपि वक्ष्यमाणां पिबेत्तं योगिनं । अहमिति ग्रंथकारोक्तिः । कुले जातः कुलीनः तंसत्कुलोत्पन्नं मन्ये । तदुक्तं ब्रह्मवैवर्ते । ‘ कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत् । जायते योगवान्यत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत् । दृष्टः संभाषितः स्पृष्टः पुंप्रकृत्योर्विवेकवान् । भवकोटिशतापातं पुनाति वृजिनं नृणाम् ॥’ ब्रह्मांडपुराणे । ‘ गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च । ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते ॥’ राजयोगे वामदेवंप्रति शिववाक्यं । ‘राजयोगस्य माहात्म्यं को विजानाति तत्त्वतः । तज्ज्ञानी वसते यत्र स देशः पुण्यभाजनम् । दर्शनादर्चनादस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः।अज्ञा मुक्तिपदं यांति किं पुनस्तत्परायणाः । अंतर्योगं बहिर्योगं यो जानाति विशेषतः ।

॥ भाषा ॥

गीको शरीर तक्षक सर्पकरकें डस्यो हुयो ताकूं विष नही प्रभाव करे और दुःखवी नही होय ॥४५॥

इंधनानीति ॥ जेसें अग्नि काष्ठकूं नही छोडे हे और दीपक तेलसहित जो वत्ती ताय नही छोडे हे तेंसेंही चंद्रामृतकरकें पूर्ण जो देह ताय जीव नही त्याग करे ॥ ४६ ॥

गोमांसमिति ॥ जो योगी गोमांस नित्य प्रति भक्षण करे अमरवारुणीको नित्य पान करे ता योगीकूं ग्रंथकर्ता कहें हें में उत्तम कुलमें उत्पन्न हुयो मानुहूं और जो गोमांस भक्षण अमर वारुणी इनके भक्षण पानकर रहित हे वो अयोगी हे ते कुलके नाश करवे-

मू० गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ॥
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ४८ ॥
जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ॥
चंद्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥ ४९ ॥
चुंबंती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्पंदिनी ॥

॥ टीका ॥

त्वया मयाप्यसौ बंधः शेषैर्वेद्यस्तु किं पुनः ॥'इति । कूर्मपुराणे । 'एककालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव वा । ये युंजते महायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वराः॥'इति । इतरे वक्ष्यमाणगोमांसभक्षणामरवारुणीपानरहिता अयोगिनस्ते कुलघातकाः कुलनाशकाः सत्कुले जातस्य जन्मनो वैयर्थ्यात् ॥ ४७ ॥

गोमांसशब्दार्थमाह ॥ गोशब्देनेति । गोशब्देन गोइत्याकारकेन शब्देन गोपदेनेत्यर्थः । जिह्वा रसनोदिता कथिता तालुनीति सामीपिकाधारे सप्तमी । तालुसमीपोर्ध्वविवरे तस्या जिह्वायाः प्रवेशो गोमांसभक्षणं गोमांसभक्षणशब्दवाच्यं तत्तु तादृशं गोमांसभक्षणं तु महापातकानां स्वर्णस्तेयादीनां नाशनम् ॥ ४८ ॥

अमरवारुणीशब्दार्थमाह ॥ जिह्वेति ॥ जिह्वायाः प्रवेशो लंबिकोर्ध्वविवरे प्रवेशनं तस्मात्संभूतो यो वह्निरूष्मा तेनोत्पादितो निष्पादितः । अत्र वह्निशब्देनौष्ण्यमुपलक्ष्यते । यः सारः चंद्राद्भ्रुवोरंतर्वामभागस्थात्सोमात्स्रवति गलति सा अमरवारुणी स्यादमरवारुणीपदवाच्या भवेत् ॥ ४९ ॥

चुंबंतीति ॥ यदि चेल्लंबिकाग्रं लंबिकोर्ध्वविवरं चुंबंती स्पृशन्ती । अनिशं निरं-

॥ भाषा ॥

वाले हैं सत्कुलमें उत्पन्न हुये तोहु उनको जन्म वृथा है ॥ ४७ ॥

गोमांस शब्दको अर्थ कहें हैं ॥ गोशब्देनेति ॥ गोपदकरकें यहां जिव्हा कही हे. तालुके समीपमे जो छिद्र तामें जिव्हाको प्रवेश ताकूं गोमांसभक्षण कहे हैं. एसो जो गोमांस भक्षण सो महापातकनकूं नाश करे हे ॥ ४८ ॥

अमरवारुणी शब्दको अर्थ कहे हैं ॥ जिह्वेति ॥ तालुवेके ऊपर छिद्रमें जिव्हाको प्रवेश तातें हुयो जो अग्नि कहा ऊष्मा ताकरके उत्पन्न हुयो जो सार भ्रुकुटीके भीतर वामभागमें स्थित जो चंद्रमा तातें स्रवे हे सो अमरवारुणी कहें हैं ॥ ४९ ॥

चुंबंतीति ॥ जो तालुवेके ऊपर छिद्रकूं निरंतर स्पर्श करे और चंद्रामृतको स्राव जामें

मू० सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ॥
व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्यस्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम् ॥ ९० ॥
मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिंतयन् ॥
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति॥ ९१॥

॥ टीका ॥

तरं । अत एव रसस्य सोमकलामृतस्य स्पंदः स्पंदनं प्रस्रवणमस्यामस्तीति रसस्पं-दिनी यस्य जिह्वा । क्षारेण लवणरसेन सहिता सक्षारा कटुकं मरीचादि आम्लं चिं-चाफलादि दुग्धं पयस्तैः सदृशी समाना । मधु क्षौद्रमाज्यं घृतं ताभ्यां तुल्या समा-तथाशब्दः समुच्चये । एतैर्विशेषणै रसस्यानेकरसत्वान्मधुरत्वास्निग्धत्वाच्च जिह्वाया अपि रसस्पंदने तथात्वमुक्तम् । तर्हि तस्य व्याधीनां रोगाणां हरणमपगमो जराया वृद्धावस्थाया अंतःकरणं नाशनं शस्त्राणामायुधानामागमः स्वाभिमुखागमनं तस्यो-दीरणं निवारणम् । अष्टौ गुणा अणिमादयस्ते अस्य संजाता इत्यष्टगुणितममरत्व-ममरभावः । सिद्धानामंगनाः सिद्धांगनाः सिद्धाश्च ता अंगनाश्चेति वा तासामाकर्ष-णमाकर्षणशक्तिः स्यात् ॥ ९० ॥

मूर्ध्न इति ॥ रसनां जिह्वां विवरे कपालकुहरे नियम्य संयोज्य । ऊर्ध्वमुत्तान-

॥ भाषा ॥

होय एसी जिव्हा और लवणसहित मरिचादि चिंचाफलादि दुग्ध इन कर समान मधु स-हत घी इनकर समान अर्थात् जिव्हामें मूलछेदनके पीछैं एसे एसे स्वाद अमृतके स्राव ग्रहणतें स्वभावतें ही होंय तब वा योगीकूं रोगनको दूर होनो वृद्धावस्थाको नाश और शस्त्रनको अपने सम्मुख आगमन तिनकूं निवारण करणो आठोंसिद्धीनकी प्राप्त होनो और देवभाव होनो सिद्धांगनानको आकर्षण करनो इतनी शक्ति होय जाय ॥ ९० ॥

मूर्ध्न इति ॥ जिव्हाकूं कपालके छिद्रमें लगायकरकें फिर ऊंचो मुखकरकें यामें विप-रीत करणी दिखाय दीनी कुंडलिनीकूं ध्यान करत साधनभूत प्राण तातें भ्रुकुटीके मध्यमें द्विदल कमलमेंतें नीचे कंठमें वर्तमान षोडशदल कमल तामें पडो हठयोगतें प्राप्त हुयो निर्मल धारामय तरंगसहित चंद्रामृतरस ताय जो पुरुष पीवे सो योगी ज्वरादिक

मू० यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धांतरस्थं
तस्मिंस्तत्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ॥
चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कायसिद्धिः ॥ ९२ ॥

॥ टीका ॥

मास्यं यस्य सः । ऊर्ध्वास्य-इत्यनेन विपरीतकरणी सूचिता । परां शक्तिं कुंडलिनीं चिंतयन्ध्यायन्सन् प्राणान्साधनभूतान् । षोडश पत्राणि दलानि यस्य तत् षोडशपत्रं तच्च तत्पद्मं कंठस्थाने वर्तमानं तस्मिन्गलितं हठाद्धठयोगादवाप्तं प्राप्तं विमलं निर्मलं धारामयं धारारूपमुत्कल्लोलमुत्तरंगं च तत्कलाजलं सोमकलारसं यः पुमान् पिबेत् धयेत्स योगी निर्गता व्याधयो ज्वरादयो यस्मात्स निर्व्याधिः सन् यद्वा निर्गता त्रिविधा आधिर्मानसी व्यथा यस्मात्स तादृशः सन् मृणालं बिसमिव कोमलं मृदु वपुः शरीरं यस्य स मृणालकोमलवपुश्च सन् चिरं दीर्घकालं जीवति प्राणान् धारयति । हठाद्धठयोगात् । प्राणात्साधनभूतादवाप्तमिति वा योजना प्राणैरिति क्वचित्पाठः ॥ ९१ ॥

यत्प्रालेयमिति ॥ मेरुवत्सर्वोन्नता सुषुम्ना मेरुस्तस्य मूर्धोपरिभागस्तस्यांतरे मध्ये तिष्ठतीति मेरुमूर्धांतरस्थं यत्प्रालेयं सोमकलाजलं प्रहितं निहितं यस्मिंस्तत्तथा तच्च तत्सुषिरं विवरं तस्मिन्विवरे सुधीः शोभना रजस्तमोभ्यामनभिभूतसत्त्वा धीर्बुद्धिर्यस्य सः । तत्त्वमात्मतत्त्वं प्रवदति प्रकर्षेण वदति । 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः । आत्मनो विभुत्वे खेचरीमुद्रायां तत्राभिव्यक्तिस्तस्मिंस्तत्त्व-

॥ भाषा ॥

व्याधीकर रहित होय और कमलके गाबेकोसो कोमल देह जाको एसो होय दीर्घ काल तांई जीवे ॥ ९१ ॥

यत्प्रालेयमिति ॥ मेरु पर्वतकीसीनाई संपूर्णतें ऊंची सुषुम्ना ताके उपरिभागमें स्थित जो चंद्रामृतरूप जल सो हे स्थित जामें एसो छिद्र तामें सतोगुणी हे बुद्धी जाकी सो आत्मतत्व कहें हे. और गंगा यमुना सरस्वती नर्मदा जो इडा पिंगला सुषुम्ना गांधारीकूं आदिले जो नाडी तिनकूं ता विवरमें अग्रपनो हे सो चंद्रमंडलतें शरीरको सार स्रवे हे. ता चंद्रामृतके स्रावकरकें मनुष्यनकी मृत्यु होय हे. यातें प्रथम कह्याए हें सुकरण नाम खेचरी मुद्रा ताय बांधे या खेचरीके बांधेतें चंद्रामृत नही स्रवे तब मृत्यु नही होय जो खेचरी मुद्राको अभाव कहा नहीं बांधे तो देहकी सिद्धिरूप लावण्य बल वज्रकीसी नाई दृढ होनो ये नहीं होय ॥ ९२ ॥

मू० सुषिरं ज्ञानजनकं पंचस्रोतःसमन्वितम् ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् शून्ये निरंजने ॥ ५३ ॥
एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ॥
एको देवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी ॥ ५४ ॥

॥ टीका ॥

मित्युक्तम् । निम्नगानां गंगायमुनासरस्वतीनर्मदादिशब्दवाच्यानामिडापिंगलासुषुम्नागांधारीप्रभृतीनां तत्तास्मिन्विवरे तत्समीपे मुखमग्रमस्ति चंद्रात्सोमाद्वपुषःशरीरस्य सारः स्रवति क्षरति तेन चंद्रसारक्षरणेन नराणां मनुष्याणां मृत्युर्मरणं भवति । अतो हेतोस्तत्पूर्वोदितं सुकरणं शोभनं करणं खेचरीमुद्राख्यं बध्नीयात् । सुकरणे बद्धे चंद्रसारस्रवणाभावान्मृत्युर्न स्यादिति भावः अन्यथा सुकरणबंधनाभावे कायस्य देहस्य सिद्धी रूपलावण्यबलवज्रसंहननरूपा न स्यात् ॥ ५२ ॥

सुषिरमिति ॥ पंच यानि स्रोतांसीडादीनां प्रवाहास्तैः समन्वितं सम्यगनुगतम् । सप्तस्रोतःसमन्वितमिति क्वचित्पाठः । ज्ञानजनकमलौकिकबोधितात्मसाक्षात्कारजनकं यत्सुषिरं विवरं तस्मिन्सुषिरेऽजनमविद्या तत्कार्यं शोकमोहादि च निर्गतं यस्मात्तन्निरंजनं तस्मिन्निरंजने शून्ये सुषिरावकाशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरीभवति । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्चे' त्यात्मनेपदम् ॥ ५३ ॥

एकमिति ॥ सृष्टिमयं सृष्टिरूपं प्रणवाख्यं बीजमेकं मुख्यं । तदुक्तं मांडूक्योपनिषदि । 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमि' ति । खेचरी मुद्रा एका मुख्या । निरालंब आलंबनशून्य एको मुख्यो देवः । आलंबनपरित्यागेनात्मनः स्वरूपावस्थानात् । उन्मन्यवस्थैका मुख्या । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः । बीजादिषु प्रणवादिवन्मुद्रासु खेचरी मुख्येत्यर्थः ॥ ५४ ॥

॥ भाषा ॥

सुषिरमिति ॥ पांच जो इडा पिंगला सुषुम्ना गांधारी हस्तिजिव्हा इन पांच नाडीनको प्रवाह ऊपर है ये ऊपरकूं वेंहे हें सो इनके प्रवाह कर संयुक्त और आत्माकूं साक्षात्कार प्रगट करे ऐसो विवर हे सो अविद्या और अविद्याके कार्यशोक मोहादिक ये जाते दूर होंय पोलरूप जो विवर तामें खेचरी मुद्रा स्थिर होय ॥ ५३ ॥

एकमिति ॥ सृष्टिरूप बीज प्रणव नाम एकही हैं. सब बीजनमें मुख्य हे. और सर्व देवतानमें देव भगवान् मुख्य हैं. जेसें मनोन्मनी अवस्था मुख्य हे. तेसेंही मुद्रानमें खेचरी मुद्रा मुख्य हे ॥ ५४ ॥

अथोड्डीयानबंधः ॥

मू० बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥ ५५ ॥
उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगः ॥
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बंधोऽभिधीयते ॥ ५६ ॥
उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ॥
उड्डीयानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी ॥ ५७ ॥

॥ टीका ॥

उड्डीयानबंधं विवक्षुस्तावदुड्डीयानशब्दार्थमाह ॥ बद्ध इति ॥ यतो यस्माद्धेतोर्येन बंधेन बद्धो निरुद्धः प्राणः सुषुम्नायां मध्यनाड्यामुड्डीयते सुषुम्नां विहायसा गच्छति तस्मात्कारणादयं बंधो योगिभिर्मत्स्येंद्रादिभिरुड्डीयनमाख्याभिधा यस्य स उड्डीयनाख्यः समुदाहृतः सम्यग्व्युत्पत्त्योदाहृतः कथितः । सुषुम्नायामुड्डीयतेऽनेन बद्धः प्राण इत्युड्डीयनम् । उत्पूर्वा 'डीङ् विहायसा गतावि' त्यस्मात्करणे ल्युट्॥५५॥

उड्डीनमिति ॥ महांश्चासौ खगश्च महाखगः प्राणः । सर्वदा देहावकाशे गतिमत्त्वात् । यस्माद्बंधादविश्रांतं यथा स्यात्तथोड्डीनं विहंगमगतिं कुरुते । सुषुम्नायामित्यध्याहार्यम् । तदेव बंधविशेषमुड्डीयानमुड्डीयाननामकं स्यात् । तत्र तस्मिन्विषये बंधोऽभिधीयते बंधस्वरूपं कथ्यते मयेति शेषः ॥ ५६ ॥

उड्डीयानबंधमाह ॥ उदर इति ॥ उदरे तुंदे नाभेरूर्ध्वं चकारादधः उपरिभागेऽधोभागे च पश्चिमं तानं पश्चिममाकर्षणं नाभेरूर्ध्वाधोभागौ यथा पृष्ठसंलग्नौ स्यातां तथा तानंताननं नामाकर्षणं कारयेत्कुर्यात् । णिजर्थोऽविवक्षितः । असौ नाभेरूर्ध्वाधोभागयोस्ताननरूप उड्डीयान उड्डीयानाख्यो बंधः । कीदृशः मृत्युरेव मातंगो गजस्तस्य केसरी सिंहः सिंह इव निवर्तकः ॥ ५७ ॥

॥ भाषा ॥

उड्डियानबंधकूं कह्यो चाहे है सो प्रथम उड्डियान शब्दको अर्थ कहें हें ॥ बद्ध इति ॥ जा हेतुतें वा जा बंधनकरके रुको हुयो वायु सुषुम्नामें मध्यनाडीकरकें उड जायकें सुषुम्ना आकाशमार्गकरकें गमन करे तातें ये बंध योगी मत्स्येंद्रादिनकरकें उड्डियानबंध कह्यो हे॥५५॥

उड्डीयानमिति ॥ महान् जो खग कोन प्राण सो जा बंध करेतें श्रम जामें न होय सुषुम्नामें होय पक्षीनकी गती करे वा बंधनकूं उड्डियान नाम कहें हें तामें बंधस्वरूप कह्यो हे ॥५६॥

उदर इति ॥ नाभिको उपरलो भाग नीचलो भाग इनकूं उदरमें पीठमें लग जाय एसो

मू० उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ॥
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ ५८ ॥
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ५९ ॥
सर्वेषामेव बंधानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ॥
उड्डियाने दृढे बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ६० ॥

॥ टीका ॥

उड्डीयानं त्विति ॥ गुरुर्हितोपदेष्टा तेन गुरुणा उड्डीयानं तु सदा सर्वदा सहजं स्वाभाविकं कथितं प्राणस्य बहिर्गमनम् । सर्वदा सर्वस्यैव जायमानत्वात् । यस्तु यः पुरुषस्तु सततं निरंतरमभ्यसेत् । उड्डीयानमित्यत्रापि संबध्यते । स तु वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि तरुणायते तरुण इवाचरति तरुणायते ॥ ५८ ॥

नाभेरिति ॥ नाभेरूर्ध्वमुपरिभागेऽधश्चाप्यधोभागेऽपि प्रयत्नतः प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तस्मात्प्रयत्नतः । यत्नविशेषात्तानं पश्चिमतानं कुर्यात् । पूर्वार्धेनोड्डीयानस्वरूप मुक्तं । अथ तत्प्रशंसा । षण्मासं षण्मासपर्यंतं । उड्डीयानमित्यध्याहारः । अभ्यसेत्पुनःपुनरनुतिष्ठेत्स मृत्युं जयत्येव संशयो न । अत्र संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

सर्वेषामिति ॥ सर्वेषां बंधानां मध्ये उड्डियानकः उड्डियानबंध एव । स्वार्थे कप्रत्ययः । उत्तमः उत्कृष्टः हि यस्मादुड्डियाने बंधे दृढे सति स्वाभाविकी स्वभावसिद्धैव मुक्तिर्भवेत् । उड्डियानबंधे कृते विहंगमगत्या सुषुम्नायां प्राणस्य मूर्ध्नि गमनात्। 'समाधौ मोक्षमाप्नोती' ति वाक्यात्सहजैव मुक्तिः स्यादिति भावः ॥ ६० ॥

॥ भाषा ॥

पीछेकूं खेंचे ये बंधन उड्डियान नाम हे. केसो हे मृत्युरूपी हाथीकूं सिंहकीसीनाई निवर्त करवेवारो हे ॥ ५७ ॥

उड्डियानं त्विति ॥ हितके उपदेशकर्ता गुरु ता गुरुकरकें सहजस्वभाव कह्यो हुयो उड्डियान ताय अभ्यास करे निरंतर तो वृद्ध पुरुषबी तरुण होय जाय ॥ ५८ ॥

नाभेरिति नाभीको उपरिभाग नीचलो भाग यत्नतें पीठमें लगे एसो तान करे अर्थात् पीछेंकूं खेंचे या उड्डियानकूं छे महिनापर्यंत एसें अभ्यास करे वारंवार तो मृत्युकूं जीतले यामें संदेह नहीं ॥ ५९ ॥

सर्वेषामिति ॥ संपूर्ण बंधननके मध्यमें उड्डियान बंधन उत्तम हे ये उड्डियान बंधन दृढ

अथ मूलबंधः ॥

मू० पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम् ॥
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥
अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ॥
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबंधं हि योगिनः ॥ ६२ ॥
गुदं पाष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात् ॥

॥ टीका ॥

मूलबंधमाह ॥ **पार्ष्णिभागेनेति** ॥ पार्ष्णेर्भागो गुल्फयोरधःप्रदेशस्तेन योनिं योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा गुदं पायुमाकुंचयेत्संकोचयेत् । अपानमधोगतिं वायुमूर्ध्वमुपर्याकृष्याकृष्टं कृत्वा मूलबंधोऽभिधीयते कथ्यते । पार्ष्णिभागेन योनिस्थानसंपीडनपूर्वकं गुदस्याकुंचनं मूलबंध इत्युच्यत इत्यर्थः॥६१॥

अधोगतिमिति ॥ यः अधोगतिं अधोऽर्वाग्गतिर्यस्य स तथा तमपानमपानवायुमाकुंचनेन मूलाधारस्य संकोचनेन बलाद्धठादूर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तमूर्ध्वगं सुषुम्नायामूर्ध्वगमनशीलं कुरुते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । योगिनो योगाभ्यासिनस्तं मूलबंधं मूलस्य मूलस्थानस्य बंधनं मूलबंधस्तं मूलबंधमित्यन्वर्थं प्राहुः । अनेन मूलबंधशब्दार्थ उक्तः । पूर्वश्लोकेन तु तस्य बंधनप्रकार उक्त इत्यपौनरुक्त्यम् ॥ ६२ ॥

अथ योगबीजोक्तरीत्या मूलबंधमाह ॥ **गुदमिति** ॥ पाष्ण्योर्गुल्फयोरधोभागेन गुदं वायुं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा संयोज्येत्यर्थः । तुशब्दः पूर्वस्मादस्य

॥ भाषा ॥

होय जाय तो स्वभावसिद्धही मुक्ति होय उड्डियानके करेतें पक्षीनकीसी गतीकरकें सुषुम्नामें होय प्राणकूं मस्तकमें लेजायेतें समाधीमें मोक्ष होय हे या प्रकार स्वाभाविकी मुक्ति होय ॥ ६० ॥

अब मूलबंध कहें हें ॥ **पार्ष्णिभागेनेति** ॥ एडीकर योनिस्थानकूं दाबकरकें गुदाकूं संकोचकरे फिर अपान जो वायु कोन नीचेकूं जाय जो वायु ताय ऊपर चढावे ये मूलबंध कह्यो हे ॥ ६१ ॥

अधोगतिमिति ॥ नीचें गती जाकी एसो जो अपानवायु ताकूं मूलाधार संकोचककरकें बलतें ऊर्ध्वगमन करे अर्थात् सुषुम्नामें प्राप्त करे योगाभ्यासी याकूं मूलबंधन कहें हें मूलस्थानको बंधन जामें होय सो मूलबंध कहें हें ॥ ६२ ॥

योगबीजमें कही जो रीती ताकरकें मूलबंध कहें हें ॥ गुदमिति ॥ एडीकरकें

मू० वारंवारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ ६३ ॥
प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकताम् ॥
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥ ६४ ॥
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ॥

॥ टीका ॥

विशेषत्वद्योतकः । यथा येन प्रकारेण समीरणो वायुरूर्ध्वं सुषुम्नाया उपरिभागे याति गच्छति तथा तेन प्रकारेण बलाद्धठाद्वारंवारं पुनःपुनर्वायुमपानमाकुंचयेद्गुद-स्याकुंचनेनाकर्षयेत् । अयं मूलबंध इति वाक्याध्याहारः ॥ ६३ ॥

अथ मूलबंधगुणानाह ॥ प्राणापानाविति ॥ प्राणश्चापानश्च प्राणापानावूर्ध्वा-धोगती वायू । नादोऽनाहतध्वनिः बिंदुरनुस्वारस्तौ मूलबंधेनैकतां गत्वैकीभूय योगस्य संसिद्धिः सम्यक् सिद्धिस्तां योगसंसिद्धिं यच्छतो ददतः । अभ्यासिन इति शेषः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न । संदेहो नास्तीत्यर्थः । अयं भावः । मूलबंधे कृतेऽपानः प्राणेन सहैकीभूय सुषुम्नायां प्रविशति । ततो नादाभिव्यक्तिर्भवति ततो नादेन सह प्राणापानौ हृदयोपरि गत्वा नादस्य बिंदुना सहैक्यं बिंदुनाधाय मूर्ध्नि गच्छतः । ततो योगसिद्धिः ॥ ६४ ॥

अपानप्राणयोरिति ॥ सततं मूलबंधनान्मूलबंधमुद्राकरणादपानप्राणयोरैक्यं

॥ भाषा ॥

गूदाकूं दाबकरकें फिर जा प्रकार कर वायु सुषुम्नाके उपरिभागमें प्राप्त होय ता प्रकार कर बलतें वारंवार अपान वायुकूं गुदाकूं आकुंचन करकें खेंचे ये मूलबंध हे ॥६३॥

अब मूलबंधके गुण कहें हें ॥ प्राणापानाविति ॥ प्राण अपान प्राण तो ऊर्ध्वगति वा-यु और अपान अधोगती वायु और नाद कहा मेघकीसी ध्वनि और बिंदु कहा अनुस्वार ये च्यारों मूलबंधकरकें एकत्र होय योगकी सिद्धी ताय देवे. यामें संदेह नही. याको ये भाव हे मूलबंध करेतें अपानवायु प्राणवायुकरकें सहित एक होय सुषुम्नामें प्रवेश करे तातें नाद प्रगट होय ता नादकरकें सहित प्राण और अपान दोनो वायु हृदयके ऊपर जाय नादकूं बिंदुकरकें सहित ऐक्यकरकें मस्तकमें प्राप्त होय तातें योगसिद्धि होय हे ॥ ६४ ॥

अपानप्राणयोरिति ॥ निरंतर मूलबंध मुद्रा करेतें अपानवायु और प्राणवायु

मू० युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबंधनात् ॥ ६५ ॥
अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमंडलम् ॥
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽहता ॥ ६६ ॥
ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ॥
तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥ ६७ ॥

॥ टीका ॥

भवति । मूत्रपुरीषयोः संचितयोः क्षयः पतनं भवति । वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि युवा तरुणो भवति ॥ ६५ ॥

अपान इति ॥ मूलबंधनादपाने अधोगमनशीले वायौ ऊर्ध्वगे ऊर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तस्मिन्तादृशे सति वह्निमंडलं वह्नेर्मंडले त्रिकोणं नाभेरधोभागेऽस्ति । तदुक्तं याज्ञवल्क्येन । ‘ देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजांबूनदप्रभम् । त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदाम् । मंडलं तु पतंगानां सत्यमेतद्ब्रवीमि ते । तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावके ’ इति । तदा तस्मिन्काले वायुना अपानेनाहता संगता सत्यनलशिखा जठराग्निशिखा दीर्घा आयता जायते । वर्धत इति क्वचित्पाठः॥६६॥

तत इति ॥ ततस्तदनंतरं वह्निश्चापानश्च वह्न्यपानौ । उष्णं स्वरूपं यस्य स तथा तमनलं शिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपं प्राणमूर्ध्वगतिमनिलं यातो गच्छतः । ततोऽनलशिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपकादिति वा योजना । तेन प्राणसंगमनेन देहे जातो देहजो ज्वलनोऽग्निरत्यंतमधिकं दीप्तो भवति । तथेति पादपूरणे । अपानस्योर्ध्वगमने दीप्त एव ज्वलनः प्राणसंगत्याऽत्यंतं प्रदीप्तो भवतीत्यर्थः ॥ ६७ ॥

॥ भाषा ॥

इनकूं ऐक्यता होय जाय हे. तब संचय कियो हुयो मूत्र और पुरीष इनको पतन होय. या मूलबंधके करेतें बूढो पुरुष युवान होय जाय ॥ ६५ ॥

अपान इति ॥ मूलबंधन करेतें अपानवायु ऊपर चलन लगे तब नाभितें नीचे त्रिकोण हे वो अग्निको मंडल हे वामें अग्नी रहे हे वा अग्निमंडलमें अपानवायु जाय हे तब वायुकरकें मिली हुई जाठराग्निकी शिखा कोन ज्वाला बढ जाय हे ॥ ६६ ॥

तत इति ॥ ता पीछें अग्नि और अपानवायु ये दोनो उष्णस्वरूप जाको एसो प्राणवायु तामें जाय हे ताकरकें देहमें होय एसो अग्नि अत्यंत अधिक दीप्त होय हे ॥ ६७ ॥

मू० तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ॥
दंडाहता भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥ ६८ ॥
बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यंतरं व्रजेत् ॥
तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभीः सदा ॥ ६९ ॥
कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ॥
बंधो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ ७० ॥

॥ टीका ॥

तेनेति ॥ तेनज्वलनस्यात्यंतं प्रदीपनेन संतप्ता सम्यक् तप्ता सती सुप्ता निद्रिता कुंडलिनी शक्तिः संप्रबुध्यते सम्यक् प्रबुद्धा भवति । दंडेनाहता दंडाहता चासौ भुजंगीव सर्पिणीव निश्वस्य निश्वासं कृत्वा ऋजुतां सरलतां व्रजेद्गच्छेत् ॥ ६८ ॥

बिलं प्रविष्टेति ॥ ततो ऋजुताप्राप्त्यनंतरं बिलं विवरं प्रविष्टा भुजंगीव ब्रह्मनाडी सुषुम्ना तस्या अंतरं मध्यं गच्छेत्तस्माद्धेतोर्योगिभिर्योगाभ्यासिभिर्मूलबंधो नित्यं प्रतिदिनं सदा सर्वस्मिन्काले कर्तव्यः कर्तुं योग्यः ॥ ६९ ॥

जालंधरबंधमाह ॥ कंठमिति ॥ कंठे गले बिलमाकुंच्य हृदये वक्षःसमीपे चतुरंगुलांतरितप्रदेशे चुबुकं हनुं दृढं स्थिरं स्थापयेत् स्थितं कुर्यात् । अयं कंठाकुंचनपूर्वकं चतुरंगुलातरितहृदयसमीपेऽधोनमनयत्नपूर्वकं चुबुकस्थापनरूपो जालंधर इत्याख्यायत इति जालंधराख्यो जालंधरनामा बंधः । कीदृशः जरा वृद्धावस्था मृत्युर्मरणं तयोर्विनाशको विशेषेण नाशयतीतिविनाशको विनाशकर्ता ॥ ७० ॥

॥ भाषा ॥

तेनेति ॥ ता अग्निको अत्यंत दीपनताकरकें तापकूं प्राप्त हुई और सूती हुई जो कुंडलिनी शक्ति सो जाग उठै हे. जैसें दंडके प्रहारकरकें सूती सर्पिणी बडे बडे श्वास लेकर सूधी सरल होय जाय ॥ ६८ ॥

बिलं प्रविष्टेति ॥ तापीछैं बिलेमें प्रवेश कर जाय सर्पिणी ताकीसीनाई कूंडलिनी सुषुम्नामें प्रवेश कर जाय ता कारणतें योगाभ्यासीनकरकें मूलबंध दिनदिन प्रति सर्वकालमें करनो योग्य हे ॥ ६९ ॥

अब जालंधर बंध कहें हैं ॥ कंठमिति ॥ कंठकूं नीचो नमाय हृदयके च्यार अंगुल अंतरये ढोढी यत्न कर दृढ स्थिर स्थापन करे ये जालंधर नाम बंध हे ये कैसो हे वृद्धावस्था और मृत्यु इनकूं नाश करे हे ॥ ७० ॥

मू० बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलम् ॥
ततो जालंधरो बंधः कंठदुःखौघनाशनः ॥ ७१ ॥
जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे ॥
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ७२ ॥
कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेद्दृढम् ॥

॥ टीका ॥

जालंधरपदस्यार्थमाह ॥ बध्नातीति ॥ हि यस्माच्छिराणां नाडीनां जालं समुदायं बध्नाति । अधो गंतुं शीलमस्येत्यधोगामी नभसः कपालकुहरस्य जलममृतं च बध्नाति प्रतिबध्नाति । ततस्तस्माज्जालंधरो जालंधरनामकोऽन्वर्थो बंधः जालं दृशाजालं जलानां समूहो जालं धरतीति जालंधरः । कीदृशः कंठे गलप्रदेशे यो दुःखौघो विकारजातो दुःखसमूहस्तस्य नाशनो नाशकर्ता ॥ ७१ ॥

जालंधरगुणानाह ॥ जालंधर इति ॥ कंठस्य गलबिलस्य संकोचनं संकोच आकुंचनं तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्य स कंठसंकोचलक्षणः तस्मिन् तादृशे जालंधरे जालंधरसंज्ञके बंधे कृते सति पीयूषममृतमग्नौ जाठरेऽनले न पतति न सरति । वायुश्च प्राणश्च न कुप्यति नाड्यंतरे वायोर्गमनं प्रकोपस्तं न करोतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

कंठसंकोचनेनेति ॥ दृढं गाढं कंठसंकोचनेनैव कंठसंकोचनमात्रेण द्वे नाड्यौ इडापिंगले स्तंभयेदयं जालंधर इति कर्तृपदाध्याहारः । इदं कंठस्थाने स्थितं

॥ भाषा ॥

अब जालंधर पदको अर्थ कहें हें ॥ बध्नातीति ॥ नाडीनको जाल जो समूह ताय बांधे और नीचेकूं गमन करे एसो कपालको कुहर जो छिद्र ताको जल जो अमृत ताय बांधे तातें ये जालंधरबंध हे जलनको समूह होय ताकूं जाल कहें हें जाल जो नशनको जाल ताय धारन करे यातें जालंधर कहे हे ये जालंधर बंध कंठमें जो दुःखनको समूह विकारमात्र कंठके ताकूं नाश करे हे ॥ ७१ ॥

अब जालंधरके गुण कहे हें ॥ जालंधर इति ॥ कंठके नीचै नमानो येही स्वरूप जाको एसो जालंधर बंध करे तब ऊपरसुं अमृत जाठराग्नीमें नही पडे तब प्राणवायु नाडीके भीतर गमन कर प्रकोप नही करे ॥ ७२ ॥

कंठसंकोचनेनेति ॥ दृढ कंठके संकोचनमात्रकरकें दोनो नाडी इडा पिंगला तिनै स्तंभन करे ये जालंधर बंध हे कंठस्थानमें स्थित विशुद्ध नाम चक्र हें सोमध्यम चक्र जानno

मू० मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनम् ॥ ७३ ॥
मूलस्थानं समाकुंच्य उड्डियानं तु कारयेत् ॥
इडां च पिंगलां बध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥ ७४ ॥
अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ॥
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ७५ ॥

॥ टीका ॥

विशुद्धाख्यं चक्रं मध्यचक्रं मध्यमं चक्रं ज्ञेयं । कीदृशं षोडशाधारबंधनं षोडशसंख्याका ये आधारा अंगुष्ठाधारादिब्रह्मरंध्रांतास्तेषां बंधनं बंधनकारकम् । 'अंगुष्ठगुल्फजानूरुसीवनीलिंगनाभयः । हृद्ग्रीवा कंठदेशश्च लंबिका नासिका तथा ॥ भ्रुमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरंध्रकम् । एते हि षोडशाधाराः कथिता योगिपुंगवैः ॥' तेष्वाधारेषु धारणायाः फलविशेषस्तु गोरक्षसिद्धांतादवगंतव्यः ॥ ७३ ॥

उक्तस्य बंधत्रयस्योपयोगमाह ॥ मूलस्थानमिति ॥ मूलस्थानमाधारभूतमाधारस्थानं समाकुंच्य सम्यगाकुंच्य उड्डियानं नाभेः पश्चिमतानरूपं बंधं कारयेत्कुर्यात् । णिजर्थोऽविवक्षितः । इडां पिंगलां गंगां यमुनां च बध्वा । जालंधरबंधेनेत्यर्थः । कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेदि' त्युक्तेः । पश्चिमे पथि सुषुम्नामार्गे वाहयेद्गमयेत्प्राणमिति शेषः ॥ ७४ ॥

अनेनेति ॥ अनेनैवोक्तेनैव विधानेनैव पवनः प्राणो लयं स्थैर्यं प्रयाति । गत्यभावपूर्वकं रंध्रे स्थितिः प्राणस्य लयः । ततः प्राणस्य लयान्मृत्युर्जरारोगादिकम् ।

॥ भाषा ॥

योग्य हे केसो हें चक्र षोडश संख्या जिनकी ऐसे आधार अंगुष्ठकूं आदिले ब्रह्मरंध्र तक सोले हे सोलेनकूं गिनावे हे अंगुष्ठ गुल्फ जानू ऊरू सीवनी लिंग नाभि हृदय ग्रीवा कंठदेश लंबिका नासिका भ्रुमध्य ललाट मूर्धा ब्रह्मरंध्र ये सोले आधार योगीनमें श्रेष्ठ तिनकरकें कही है. इन आधारमें धारणाको फलविशेष हें सो गोरक्षसिद्धांततें जान लेनो ॥ ७३ ॥

मूलस्थानमिति ॥ मूलस्थानकूं नाभिको पश्चिमतानरूप उड्डियान बंध करे और जालंधर बंध कर इडा पिंगलाकूं बांधकरके अर्थात् कंठ नमाय दोनो नाडीनकूं स्तंभन करे फिर पश्चिममार्ग जो सुषुम्नामार्ग तामें प्राणवायुकूं प्राप्त करे ॥ ७४ ॥

अनेनेति ॥ या विधानकरकें प्राणवायु स्थिर होय जाय अर्थात् वायुकी गति बंध होय

मू० बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ॥
सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ ७६ ॥
यत्किंचित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिणः ॥
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडो जरायुतः ॥ ७७ ॥

॥ टीका ॥

तथा चार्थे । न जायते नोद्भवति । आदिपदेन वलीपलिततंद्रालस्यादि ग्राह्यम् ॥ ७५ ॥

बंधत्रयमिति ॥ इदं पूर्वोक्तं बंधत्रयं श्रेष्ठं षोडशाधारबंधेऽतिप्रशस्तं महासिद्धैर्मत्स्येंद्रादिभिश्चकाराद्वसिष्ठादिमुनिभिः सेवितं सर्वेषां हठतंत्राणां हठोपायानां साधनं सिद्धिजनकं योगिनो गोरक्षाद्या विदुर्जानंति ॥ ७६ ॥

विपरीतकरणीं विवक्षुस्तदुपोद्घातत्वेन पिंडस्य जराकरणं तावदाह ॥ **यत्किंचिदिति** ॥ दिव्यमुत्कृष्टं सुधामयं रूपं यस्य स तथा तस्माद्दिव्यरूपिणश्चंद्रात्सोमात्तालुमूलस्थाद्यत्किंचिद्यत्किमप्यमृतं पीयूषं स्रवते पतति तत्सर्वं सर्वं तत्पीयूषं सूर्यो नाभिस्थोऽनलात्मकः ग्रसते ग्रासीकरोति । तदुक्तं गोरक्षनाथेन । 'नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मकः । अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चंद्रमाः ॥ वर्षत्यधोमुखश्चंद्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः । करणं तच्च कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यते ॥' इति । तेन सूर्यकर्तृकामृतग्रसनेन पिंडो देहो जरायुतः जरसा युक्तो भवति ॥ ७७ ॥

॥ भाषा ॥

रंध्रमें स्थिति रहें ताकूं प्राणलय होनो कहें हें ता प्राणके लयतें मृत्यु जरा रोग देहकी त्रिवली श्वेत वाल होनो मूर्छा आलस्यादिक ये नहीं होंय ॥ ७५ ॥

बंधत्रयमिति ॥ ये पहलें कह्या ए जो तीन बंध सो श्रेष्ठ हें मत्स्येंद्रादिक महासिद्धनकर वसिष्ठादिक मुनीनकरकें सेवन करे गये. और संपूर्ण हठके उपायनकी सिद्धीकूं प्रगट करवेवाले हें. या प्रकार गोरक्षकूं आदि लेकें जे सिद्ध हें ते जाने हे ॥ ७६ ॥

यत्किंचिदिति ॥ तालूके मूलमें स्थित दिव्यरूप जाको एसो चंद्रमा तामेंतें कछूक अमृत स्रवे हे वा अमृतकूं नाभिमें स्थित जो अग्निरूप सूर्य सो ग्रास करे हे ता सूर्यके अमृत ग्रास करेतें ये देह जरा जो वृद्धावस्था ताकर युक्त होय हे ॥ ७७ ॥

मू० तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनम् ॥
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७८ ॥
ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ॥
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ७९ ॥
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ॥
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥ ८० ॥

॥ टीका ॥

तत्रेति ॥ तत्र तद्विषये सूर्यस्य नाभिस्थानलस्य मुखं वंच्यतेऽनेनेति तादृशं दिव्यमुत्तमं करणं वक्ष्यमाणमुद्राख्यमस्ति तद्गुरूपदेशतः गुरूपदेशाज्ज्ञेयं ज्ञातुं शक्यं । शास्त्रार्थानां कोटिभिः न तु नैव ज्ञातुं शक्यम् ॥ ७८ ॥

विपरीतकरणीमाह ॥ ऊर्ध्वं नाभेरिति ॥ ऊर्ध्वमुपरिभागे नाभिर्यस्य स ऊर्ध्वनाभिस्तस्योर्ध्वनाभेरधः अधोभागे तालु तालुस्थानं यस्य सोऽधस्तालुस्तस्याधस्तालोर्योगिन ऊर्ध्वमुपरिभागे भानुर्दहनात्मकः सूर्यो भवति । अधः अधोभागे शश्यमृतात्मा चंद्रो भवति । प्रथमांतपाठे तु यदा ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुर्योगी भवति तदोर्ध्वं भानुरधः शशी भवति । यदातदापदयोरध्याहारेणान्वयः । इयं विपरीताख्या विपरीतनामिका करणी । ऊर्ध्वाधःस्थितयोश्चंद्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणेनान्वर्था गुरूवाक्येन गुरोर्वाक्येनैव लभ्यते प्राप्यते नान्यथा ॥ ७९ ॥

नित्यमिति ॥ नित्यं प्रतिदिनमभ्यासो ऽभ्यसनं तस्मिन् युक्तस्यावहितस्य जठ-

॥ भाषा ॥

तत्रेति ॥ या प्रकर्णमें नाभिमें स्थित जा अग्निरूपी सूर्यको मुख वंचाय जानो जाकरकें एसो दिव्य उत्तम जो करण मुद्रा अगाडी कहेंगे जो विपरीतकरणी मुद्रा हे सो गुरूनके उपदेशतें जानवेकूं योग्य हे. ओर कोटिन शास्त्रनके अर्थनकर नही जानवेकूं समर्थ हे ॥ ७८ ॥

अब विपरीतकरणी मुद्रा कहें हें ॥ ऊर्ध्वं नाभेरिति ॥ उपरि भागमें नाभि जाके और अधोभागमें तालुस्थान जाके एसे योगीके उपरि भागमें दहनरूप सूर्य होय हे और अधोभागमें अमृतरूपी चंद्रमा होय हें ये विपरीत नाम करणी हे ऊपर चंद्रमा नीचें सूर्य ताको ऊपर सूर्य नीचें चंद्रमा करनो ये गुरूनके वाक्यकरकें प्राप्त होय हे और प्रकार नहीं होय ॥ ७९ ॥

नित्यमिति ॥ याको नित्य अभ्यास करे ताकी जाठराग्निकूं वृद्धी करवेवाली विप-

मू० अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ॥
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ ८१ ॥
क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ॥
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥ ८२ ॥

॥ टीका ॥

राग्निरुदराग्निस्तस्य विवर्धिनी विशेषेण वर्धिनीति विपरीतकरणीविशेषणम् । तस्य साधकस्य विपरीतकरण्यभ्यासिन आहारो भोजनं बहुलो यथेच्छः संपाद्यः संपादनीयः । चः पादपूरणे ॥ ८० ॥

अल्पाहार इति ॥ यद्यल्पाहारः अल्पो भोक्तुमिष्टान्नस्याहारो भोजनं यस्य तादृशो भवेत्स्यात्तदाऽग्निर्जठरानलो देहं क्षणमात्राद्दहेत् । शीघ्रं दहेदित्यर्थः । ऊर्ध्वाधः स्थितयोश्चंद्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणक्रियामाह ॥ अधःशिरा इति ॥ अधः अधोभागे भूमौ शिरो यस्य सोऽधःशिराः कराभ्यां कटिप्रदेशमवलंब्य बाहुमूलादारभ्य कूर्परपर्यंताभ्यां बाहुभ्यां स्कंधाभ्यां गलपृष्ठभागशिरःपृष्ठभागाभ्यां च भूमिमवष्टभ्याधःशिरा भवेत् । ऊर्ध्वमुपर्यंतरिक्षे पादौ यस्य स ऊर्ध्वपादः प्रथमदिने आरंभदिने क्षणं क्षणमात्रं स्यात् ॥ ८१ ॥

क्षणादिति ॥ दिनेदिने प्रतिदिनं क्षणात्किंचिदधिकं द्विक्षणं त्रिक्षणं एकदिनवृद्ध्याऽभ्यसेदभ्यासं कुर्यात् ॥ विपरीतकरणीगुणानाह ॥ वलितमिति ॥ वलितं चर्मसंकोचः पलितं केशेषु शौक्ल्यं च । षण्णां मासानां समाहारः षण्मासं तस्मादूर्ध्व-

॥ भाषा ॥

रीतकरणी है विपरीतकरणीके अभ्यास करवेवालेकूं भोजन बोहोत इच्छापूर्वक करनो योग्य हे ॥ ८० ॥

अल्पाहार इति ॥ जो विपरीतकरणी करवेवालो थोडो भोजन करे तो प्रज्वलित हुई जाठराग्नि देहकूं शीघ्र जलाय दे अब क्रिया कहे हें पृथ्वीमें मस्तक धरकरकें दोनो भुजा कटिमें प्रवेशकरकें ऊपर अंतरिक्षमें पामकरकें स्थित होय आरंभके प्रथम दिनतो क्षणमात्र रहे ॥ ८१ ॥

क्षणादिति ॥ फिर दिनदिन प्रतिक्षणतें कछू अधिक दूसरे दिन दो क्षण तीसरे दिन तीन क्षण एसें दिनवृद्धीकर अभ्यास करे अब विपरीतकरणीके गुण कहें हें याके करवेवालेके देहमें वली चर्ममें पडजाय सो और श्वेतकेश छे महीना पीछे नहीं दीखें जो

अथ वज्रोली ॥

मू० स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ॥
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ ८३ ॥
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ॥
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ ८४ ॥

॥ टीका ॥

मुपरि नैव दृश्यते नैवावलोक्यते । साधकस्य देह इति वाक्याध्याहारः ॥ यस्तु साधको याममात्रं प्रहरमात्रं नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्कालं मृत्युं जयतीति कालजिन्मृत्युजेता भवेत् । एतेन योगस्य प्रारब्धकर्मप्रतिबंधकत्वमपि सूचितम् । तदुक्तं विष्णुधर्मे । 'स्वदेहारंभकस्यापि कर्मणः संक्षयावहः । यो योगः पृथिवीपाल शृणु तस्यापि लक्षण' मिति । विद्यारण्यैरपि जीवन्मुक्तावुक्तम् । यथा प्रारब्धकर्मतत्त्वज्ञानात्प्रबलं तथा तस्मादपि कर्मणो योगाभ्यासः प्रबलः । अत एव योगिनामुद्दालकवीतहव्यादीनां स्वेच्छया देहत्याग उपपद्यत इति। भागवतेऽप्युक्तं। 'देहं जह्यात्समाधिने'ति॥८२॥

वज्रोल्यां प्रवृत्तिं जनयितुमादौ तत्फलमाह ॥ स्वेच्छयेति ॥ योऽभ्यासी वज्रोलीं वज्रोलीमुद्रां विजानाति विशेषेण स्वानुभवेन जानाति स योगी योगे योगशास्त्रे उक्ता योगोक्तास्तैर्योगोक्तैर्नियमैर्ब्रह्मचर्यादिभिर्विना ऋते स्वेच्छया निजेच्छया वर्तमानोऽपि व्यवहरन्नपि सिद्धिभाजनं सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति ॥ ८३ ॥

तत्साधनोपयोगि वस्तुद्वयमाह॥तत्रेति ॥ तत्र वज्रोल्यभ्यासे वस्तुनोर्द्वयं वस्तुद्वयं

॥ भाषा ॥

विपरीतकरणी ऐसें अभ्यास करत करत एक प्रहर मात्रकरकें लग जाय तब वो योगी मृत्युकों जीतवेवारो होय जाय. याकरकें ये दिखायो योग प्रारब्धकर्मकूं दूर करे हे. जैसें प्रारब्धकर्म तत्त्वज्ञानतें प्रबल हे तेसेंही ता प्रारब्धकर्मतें योगाभ्यास प्रबल हे. उद्दालक और वीतहव्यादिक योगीनकूं स्वेच्छाकरकें देह त्याग कह्यो हे. यातें योग श्रेष्ठ हे ॥८२॥

अब वज्रोलीके आदिमें याको फल कहे हें ॥ स्वच्छयेति ॥ जो योगाभ्यासी वज्रोली मुद्राकूं विशेषकर अपने अनुभव करकें जाने सो योगी योगशास्त्रमें कहे जे ब्रह्मचर्यादिक करे विना अपनी इच्छाकरकें वर्तमान रहे अणिमादिक अष्टसिद्धीनके भोगवेवारो होय ॥ ८३ ॥

तत्रेति ॥ वज्रोलीके अभ्यासमें दोय वस्तु कहें हें जा काउ निर्धन पुरुषकूं दुर्लभ हें

मू० मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत् ॥
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥ ८५ ॥
यत्नतः शस्तनालेन फुत्कारं वज्रकंदरे ॥
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ८६ ॥

॥ टीका ॥

वक्ष्ये कथयिष्ये । कीदृशं वस्तुद्वयं यस्यकस्यचित् यस्यकस्यापि धनहीनस्य दुर्लभं दुःखेन लब्धुं शक्यं दुःखेनापि लब्धुमशक्यमिति वा । 'दुःस्यात्कष्टनिषेधयोरि' ति कोशात् ॥ किं तद्वस्तुद्वयमित्यपेक्षायामाह ॥ क्षीरमिति ॥ एकं वस्तु क्षीरं पानार्थं मेहनानंतरमिंद्रियनैर्बल्यात्तद्बलार्थं क्षीरपानम् युक्तम् । केचित्तु अभ्यासकाले आकर्षणार्थमित्याहुः । तस्यांतर्गतस्य घनीभावे निर्गमनासंभवात्तदयुक्तं । द्वितीयं तु वस्तु वशवर्तिनी स्वाधीना नारी वनिता ॥ ८४ ॥

वज्रोलीमुद्राप्रकारमाह ॥ मेहनेनेति ॥ मेहनेन स्त्रीसंगानंतरं बिंदोः क्षरणेन साधनभूतेन पुरुषः पुमानथवा नार्यपि योषिदपि शनैर्मंदं सम्यक् यत्नपूर्वकमूर्ध्वाकुंचनमूर्ध्वमुपर्याकुंचनं मेढ्राकुंचनेन बिंदोरुपर्याकर्षणमभ्यसेद्वज्रोलीमुद्रासिद्धिमाप्नुयात्सिद्धिं गच्छेत् ॥ ८५ ॥

अथ वज्रोल्याः पूर्वांगप्रक्रियामाह॥ यत्नत इति ॥ शस्तः प्रशस्तो यो नालस्तेन शस्तनालेन सीसकादिनिर्मितेन नालेन शनैः शनैर्मंदंमंदं यथाग्नेर्धमनार्थं फूत्कारः क्रियते तादृशं फूत्कारं वज्रकंदरे मेढ्रविवरे वायोः संचारः सम्यग्वज्रकंदरे चरणं गमनं तत्कारणात्तद्धेतोः प्रकुर्वीत प्रकर्षेण पुनः पुनः कुर्वीत । अथ वज्रोलीसाधनप्र-

॥ भाषा ॥

एक तो दूध पीवेके अर्थ स्त्री संगके पीछै इंद्रिय निर्बल होय जाय हे याते दूधपान करनो योग हे द्वितीय वस्तु अपनै आज्ञाकारी वशवर्तिनी स्त्री ॥ ८४ ॥

अब वज्रोली मुद्राको प्रकार कहें हें ॥ मेहनेनेति ॥ स्त्रीसंगके पीछै बिंदुको क्षरण कहा पडनो ताकूं पुरुष अथवा स्त्रीबी यत्नपूर्वक इंद्रीकूं ऊपर आकुंचनकरके वीर्यकूं ऊपरि खेंच लेवेको अभ्यास करे तो वज्रोली मुद्राकी सिद्धी प्राप्त होय ॥ ८५ ॥

अब वज्रोली मुद्राकी पूर्वांग क्रिया कहें हे ॥ यत्नत इति ॥ चांदीकी बनी हुई नाल शनै शनै जेसें अग्नीके सिलगायवेकूं फूंक मारे तेसोही फूत्कार इंद्रीके छिद्रमें वायूको संचार वारंवार करे । अब वज्रोलीकी साधनप्रक्रिया कहें है. सीसेकी बनी होय सचिक्कण होय इंद्रीमें प्रवेशके योग्य होय ऐसी चोधे अंगुलकी शलाका कराय-

मू० नारीभगे पतद्बिंदुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ॥
चलितं च निजं बिंदुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८७ ॥

॥ टीका ॥

क्रिया । सीसकनिर्मितां स्निग्धां मेढ्रप्रवेशयोग्यां चतुर्दशांगुलमात्रां शलाकां कारयित्वा तस्या मेढ्रे प्रवेशनमभ्यसेत् । प्रथमदिने एकांगुलमात्रां प्रवेशयेत् । द्वितीयदिने द्व्यंगुलमात्रां तृतीयदिने त्र्यंगुलमात्राम् । एवं क्रमेण वृद्धौ द्वादशांगुलमात्रप्रवेशे मेढ्रमार्गः शुद्धो भवति । पुनस्तादृशीं चतुर्दशांगुलमात्रां द्व्यंगुलमात्रवक्रामूर्ध्वमुखां कारयित्वा तां द्वादशांगुलमात्रां प्रवेशयेत् । वक्रमूर्ध्वमुखं द्व्यंगुलमात्रं बहिः स्थापयेत् । ततः सुवर्णकारस्य अग्निधमनसाधनीभूतनालसदृशं नालं गृहीत्वा तदग्रं मेढ्रप्रवेशितद्वादशांगुलस्य नालस्य वक्रोर्ध्वमुखद्व्यंगुलमध्ये प्रवेश्य फूत्कारं कुर्यात् । तेन सम्यक् मार्गशुद्धिर्भवति । ततो जलस्य मेढ्रेणाकर्षणमभ्यसेत् । जलाकर्षणे सिद्धे पूर्वोक्तश्लोकरीत्या बिंदोरूर्ध्वाकर्षणमभ्यसे । बिंद्वाकर्षणे सिद्धे वज्रोलीमुद्रासिद्धिः । इयं जितप्राणस्यैव सिध्यति नान्यस्य । खेचरीमुद्राप्राणजयोभयसिद्धौ तु सम्यक् भवति ॥ ८६ ॥

एवंवज्रोल्यभ्यासे सिद्धे तदुत्तरं साधनमाह॥नारीभग इति॥ नारीभगे स्त्रीयो-

॥ भाषा ॥

करकें ताकूं इंद्रीमें प्रवेश करवेको अभ्यास करे पहिले दिन एक अंगुल प्रवेश करे दूसरे दिन दो अंगुल प्रवेश करे तीसरे दिन तीन अंगुल प्रवेश करे या रीतकर क्रमसूं बारे अंगुल मात्रा प्रवेश होय तब इंद्रियमार्ग शुद्ध होय वो चोघे अंगुलकी शलाका तामें दोय अंगुल टेढी ओर ऊंचो मुख जाको एसी करायले फिर वो द्वादश अंगुल भीतर प्रवेश करे और टेढी ऊंचो मुख जाको वो दो अंगुल बहार स्थापन करे ता पीछैं सुनारकी अग्नी सिलगायवेकी नाल ताकीसदृश नाल ग्रहणकरकें ता नालको अग्रभाग इंद्रीमें प्रवेश कियो जो द्वादशांगुलकी नाल ताको टेढी ऊंचे मुखकी बहार स्थित दो अंगुलकी नाल ताके मध्यमें प्रवेश करके फिर फूत्कार करे ताकरकें भलि प्रकार इंद्रियमार्ग शुद्ध होय. तापीछै इंद्रीसूं जलको उपर चढायवेको अभ्यास करे जब जलको आकर्षण होयवे लगजाय अछी तरहसूं तब पहले श्लोकमें कही जो रीती ताकरकें वीर्यके आकर्षणको अभ्यास करे जब वीर्यको आकर्षण खेंच लेनो सिद्ध होय जाय तब वज्रोली मुद्रा सिद्ध होय है. जाके खेचरी मुद्रा ओर प्राणजय ये दोनो सिद्धी जाकूं होंय ताकूं वज्रोली मुद्रा सिद्ध होय औरकूं नही होय ॥ ८६ ॥

एसें वज्रोली मुद्राको अभ्यास सिद्ध होय जाय ताके अगाडीको साधन कहें हें ॥ नारी-

मू० एवं संरक्षयेद्बिंदुं मृत्युं जयति योगवित् ॥
मरणं बिंदुपातेन जीवनं बिंदुधारणात् ॥ ८८ ॥
सुगंधो योगिनो देहे जायते बिंदुधारणात् ॥
यावद्बिंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥ ८९ ॥

॥ टीका ॥

नौ पततीति पतन् पतंश्चासौ बिंदुश्च पतद्बिंदुस्तं पतद्बिंदुं रतिकाले पतंतं बिंदुमभ्यासेन वज्रोलीमुद्राभ्यासेनोर्ध्वमुपर्याहरेदाकर्षयेत् । पतनात्पूर्वमेव । यदि पतनात्पूर्वं बिंदोराकर्षणं न स्यात्तर्हि पतितमाकर्षयेदित्याह ॥ चलितं चेति ॥ चलितं नारीभगे पतितं निजं स्वकीयं बिंदुं चकाराच्चद्रजः ऊर्ध्वमुपर्याकृष्याहृत्य रक्षयेत् स्थापयेत्॥८७॥

वज्रोलीगुणानाह ॥ एवमिति ॥ एवमुक्तरीत्या बिंदुं यः संरक्षयेत् सम्यक् रक्षयेत् स योगविद्योगाभिज्ञो मृत्युं जयत्यभिभवति । यतो बिंदोः शुक्रस्य पातेन पतनेन मरणं भवति । बिंदोर्धारणं बिंदुधारणं तस्माद्बिंदुधारणाज्जीवनं भवति । तस्माद्बिंदुं संरक्षयेदित्यर्थः ॥ ८८ ॥

सुगंध इति ॥ योगिनो वज्रोल्यभ्यासिनो देहे बिंदोः शुक्रस्य धारणं बिंदुधारणं तस्मात्सुगंधः शोभनो गंधो जायते प्रादुर्भवति । देहे यावद्बिंदुः स्थिरस्तावत्कालभयं मृत्युभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ८९ ॥

॥ भाषा ॥

भगे इति ॥ रतिकालमें स्त्रीकी योनिमें जानें पड्यो और पडे नही जा पहलें जो बिंदु नाम वीर्य ताय वज्रोलीके अभ्यासकरकें ऊपरि आकर्षण करे जो पडे पहलें बिंदुको आकर्षण न होय तो नारीके भगमें गिरपड्यो जो अपनो बिंदु ताय और स्त्रीको जो रज ताकूंबी ऊपर खेंचकर स्थापन करे ॥ ८७ ॥

अब वज्रोलीके गुण कहें हें ॥ एवमिति ॥ या रीतकर जो बिंदुकूं स्थिर करे सो योगवेत्ता होय हे. और वो मृत्युकूं जय करे. और बिंदुजो वीर्य ताके पतनकरकें तो मरण होय हे. और जो वीर्यकूं यारीतसूं धारण करे तातें जीवन होय हे. तातें बिंदुकूं या रीतकर स्थित करे ॥ ८८ ॥

सुगंध इति ॥ वज्रोलीके अभ्यास करवेवालेके देहमें वीर्यके धारणतें बोहोत सुंदर सुगंध प्रगट होय हे. और जबतांई बिंदु स्थिर रहे तबतांई कालको भय नहीं होय ॥८९॥

मू० चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ॥
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ९० ॥
ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिंदुं च रक्षयेत् ॥
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ ९१ ॥
सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ॥
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ ९२ ॥

॥ टीका ॥

चित्तायत्तमिति ॥ हि यस्मान्नृणां शुक्रं वीर्यं चित्तायत्तं चित्ते चले चलत्वाच्चित्ते स्थिरे स्थिरत्वाच्चित्ताधीनं जीवितं जीवनं शुक्रायत्तं शुक्रे स्थिरे जीवनाच्छुक्रे नष्टे मरणं शुक्राधीनं तस्माच्छुक्रं बिंदुं मनश्च मानसं च प्रकृष्टाद्यत्नादिति प्रयत्नतः रक्षणीयमेव । अवश्यं रक्षणीयमित्यर्थः । एवशब्दो भिन्नक्रमः ॥ ९० ॥

ऋतुमत्या इति ॥ एवं पूर्वोक्तेनाभ्यासेन ऋतुर्विद्यते यस्याः सा ऋतुमती तस्या ऋतुमत्या ऋतुस्नातायाः स्त्रियो रेतः निजं स्वकीयं बिंदुं च रक्षयेत् । पूर्वोक्ताभ्यासं दर्शयति ॥ मेढ्रेणेति ॥ अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगो योगसाधनत्वात्तं वेत्तीत्यभ्यासयोगवित् मेढ्रेण गुह्येंद्रियेण सम्यग्यत्नपूर्वकमूर्ध्वमुपर्याकर्षयेत् । रजो बिंदुं चेति कर्माध्याहारः । अयं श्लोकः क्षिप्तः ॥ ९१ ॥

सहजोल्यमरोल्यौ विवक्षुस्तयोर्वज्रोलीविशेषत्वमाह ॥ **सहजोलिश्चेति** ॥ वज्रोल्या भेदो विशेषः सहजोलिरमरोलिश्च । तत्र हेतुः एकतः एकत्वादेकफलत्वादित्यर्थः । एकशब्दाद्भावप्रधानात्पंचम्यास्तसिः । सहजोलिमाह ॥ जलेष्विति ॥ गोः पुरीषाणि गोमयानि दग्धानि च तानि गोमयानि च दग्धगोमयानि तेषु संभव

॥ भाषा ॥

चित्तायत्तमिति ॥ निश्चय ही जो चित्त चलायमान होय तो मनुष्यनको वीर्य चलजाय. और जो चित्त स्थिर होय तो वीर्यबी स्थिर होय. चित्तके आधीन वीर्य हे. और शुक्र जो स्थिर होय तो जीवन स्थिर होय. जो शुक्र नष्ट होय जाय तो मरण होय. तीं शुक्राधीन जीवन हे. तातें शुक्र और बिंदु इने यत्नतें अवश्य रक्षा करनो योग्य हे ॥ ९० ॥

ऋतुमत्या इति ॥ ऋतुमती स्त्रीको रज और अपनो बिंदु ताय यारीतसूं स्थिर करे इंद्रीकरकें यत्नपूर्वक रज और बिंदुकूं ऊपर आकर्षण करे सो वज्रोलीके अभ्यासयोगवेत्ता जाननो ॥ ९१ ॥

अब सहजोलि अमरोली कहें हें ॥ सहजोलिश्चेति ॥ वज्रोलीके भेदविशेष सह-

मू० वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनम् ॥
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥ ९३ ॥
सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ॥
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥ ९४ ॥
अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ॥
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ॥ ९५ ॥

॥ टीका ॥

उत्पत्तिर्यस्य तद्दग्धगोमयसंभवं शोभनं भस्म विभूतिः तत् जले तोये निक्षिप्य तोयमिश्रं कृत्वोत्तर उत्तर श्लोकेनान्वेति ॥ ९२ ॥

वज्रोलीति ॥ वज्रोलीमुद्रार्थं मैथुनं तस्मादूर्ध्वमनंतरं सुखेनैवानंदेनैवासीनयोरुपविष्टयोः क्षणाद्रत्युत्सवान्मुक्तस्त्यक्तो व्यापारो रतिक्रिया याभ्यां तौ मुक्तव्यापारौ तयोर्मुक्तव्यापारयोः स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ तयोः स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनं शोभनान्यंगानि स्वांगानि मूर्धललाटनेत्रहृदयस्कंधभुजादीनि तेषु लेपनम् ॥ ९३ ॥

सहजोलिरिति ॥ इयमुक्ता क्रिया सहजोलिरिति प्रोक्ता कथिता योगिभिर्मत्स्येंद्रादिभिः । कीदृशी सदा श्रद्धेया सर्वदा श्रद्धातुं योग्या । अयं सहजोल्याख्यो योग उपायः शुभकरः शुभं श्रेयः करोतीति शुभकरः । 'योगः संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिष्वि' त्यभिधानात् । कीदृशो योगः भोगेनः युक्तोऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ ९४ ॥

अयं योग इति ॥ अयमुक्तो योगः पुण्यं विद्यते येषां ते पुण्यवंतः सुकृतिनस्तेषां-

॥ भाषा ॥

जोली अमरोली हे. क्यों जो वज्रोलीके फल सोई इनके फल हें यातें और गोबर जलाय बांकी भस्म श्वेत होय हे. सुंदर होय हे. यातें वा भस्मकूं जल मिलायकरकें ॥ ९२ ॥

वज्रोलीति ॥ वज्रोलीके अर्थ मैथुनकरे पीछै आनंदपूर्वक बेठे क्षणमात्र रतिके उत्सवतें त्याग कीनी हे रतिक्रिया जिनने ऐसे जो स्त्रीपुरुष तिनकूं सुंदर अंग जो मस्तक ललाट नेत्र हृदय स्कंध भुजादिकनमें लेपन करनो योग्य हे ॥ ९३ ॥

सहजोलिरिति ॥ मत्स्येंद्रादिक योगीनकरकें ये क्रिया सहजोली नाम कही हे यै श्रद्धा करवेके योग्य हे. और शुभकों करे हे. और जो स्त्रीसंगकरकें युक्त हे तोबी ये योग मोक्षको देवेवारो हे ॥ ९४ ॥

अयं योग इति ॥ ये योग पुण्यवाननकूं धैर्यवाननकूं तत्त्वदर्शीनकूं दूसरेके गुण दोष-

अथामरोली ॥

मू० पित्तोल्बणत्वात्प्रथमांबुधारां विहाय निःसारतयांत्यधारा ॥
निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खंडमतेऽमरोली९६
अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने ॥
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥ ९७ ॥

॥ टीका ॥

पुण्यवतां धीराणां धैर्यवतां तत्त्वं वास्तविकं पश्यंतीति तत्त्वदर्शिनस्तेषां तत्त्वदर्शिनां मत्सरान्निष्क्रांता निर्मत्सरास्तेषां निर्मत्सराणामन्यगुणद्वेषरहितानाम् । 'मत्सरोऽन्य गुणद्वेषः' इत्यमरः । तादृशानां पुंसां सिध्येत सिद्धिं गच्छेत् । मत्सरशालिनां मत्सरवतां तु न सिध्येत् ॥ ९५ ॥

अमरोलीमाह ॥ पित्तोल्बणत्वादिति ॥ पित्तेनोल्बणोत्कटा पित्तोल्बणा तस्या भावः पित्तोल्बणत्वं तस्मात् । यथा प्रथमा पूर्वा यांऽबुनः शिवांबुनो धारा तां विहाय शिवांबुनिर्गमनसमये किंचित्पूर्वां धारां त्यक्त्वा । निर्गतः सारो यस्याः सा निःसारा तस्या भावो निःसारता तया निःसारतया निःसारत्वेनांत्यधारा अंत्या चरमा या धारा तां विहाय किंचिदंत्यां धारां त्यक्त्वा । शीतला पित्तादिदोषसारत्वरहिता या मध्यधारा मध्यमा धारा सा निषेव्यते नितरां सेव्यते । खंडो योगविशेषो मतोऽभिमतो यस्य स खंडमतस्तस्मिन् खंडमते कापालिकस्यायं कापालिकस्तस्मिन् कापालिके खंडकापालिकसंप्रदाय इत्यर्थः । अमरोली प्रसिद्धेति शेषः ॥ ९६ ॥

अमरोलीमिति ॥ अमरीं शिवांबु यः पुमान् नित्यं पिबेत् । नस्यं कुर्वन् श्वासे-

॥ भाषा ॥

कर रहित होय तिनकूं सिद्ध होय हे और दूसरेके गुण ऐश्वर्यादिककूं देखकर द्वेषादिक करे ओर जरोकरें तिनकूं नही होय ॥ ९९ ॥

अब अमरोली कहें हें ॥ पित्तोल्बणत्वादिति ॥ शिवांबुके निर्गमन समयमें पित्त करकें उत्कटभाव जाको एसी जो प्रथम धारा किंचित् उष्णता जामें ताय त्यागकरकें फिर नही हें सार जामें एसी अंत्यधारा ताय त्यागकरकें फिर शीतल पित्तादिक दोषकरकें रहित जो मध्यधारा सो निरंतर सेवन करै. योग हे अभिमत जाके एसी जो कापालिका क्रिया सोही अमरोली या नामकर प्रसिद्ध है ॥ ९६ ॥

अमरोलीमिति ॥ जो पुरुष अमरी जो अमरवारुणी ताकूं नासिकाके अंतमें ग्रहण

मू० अभ्यासान्निःसृता चांद्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ॥
धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ९८ ॥
पुंसो बिंदुं समाकुंच्य सम्यगभ्यासपाटवात् ॥
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥ ९९ ॥

॥ टीका ॥

नामर्या घ्राणांतर्ग्रहणं कुर्वन् सन् दिनेदिने प्रतिदिनं वज्रोलीं 'मेहनेन शनैरि' ति श्लोकेनोक्तां सम्यगभ्यसेत्साऽमरोलीति कथ्यते । कापालिकैरिति शेषः । अमरीपातामरी । नस्यपूर्विका वज्रोल्यमरोलीशब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥ ९७ ॥

अभ्यासादिति ॥ अभ्यासादमरोल्यभ्यासान्निःसृतां निर्गतां चांद्रीं चंद्रस्येयं चांद्री तां चांद्रीं सुधां विभूत्या भस्मना सह साकं मिश्रयेत्संयोजयेत् । उत्तमांगेषु-शिरःकपालनेत्रस्कंधकंठहृदयभुजादिषु धारयेत् । भस्ममिश्रितां चांद्रीमिति शेषः । दिव्या अतीतानागतवर्तमानव्यवहितविप्रकृष्टपदार्थदर्शनयोग्या दृष्टिर्यस्य स दिव्यदृष्टिर्दिव्यदृक् प्रजायते प्रकर्षेण जायते । अमरीसेवनप्रकारविशेषाः शिवांबुकल्पादवगंतव्याः ॥ ९८ ॥

पुंसो वज्रोलीसाधनमुक्त्वा नार्यास्तदाह ॥ पुंसो बिंदुमिति॥ सम्यगभ्यासस्य सम्यगभ्यसनस्य पाटवं पटुत्वं तस्मात्पुंसः पुरुषस्य बिंदुं वीर्यं समाकुंच्य सम्यगाकृष्य नारी स्त्री यदि रजो वज्रोल्या वज्रोलीमुद्रया रक्षेत् । सापि नारी योगिनी प्रशस्तयोगवती ज्ञेया । पुंसो बिंदुसमायुक्तमिति पाठे तु एतद्रजसो विशेषणम्॥९९॥

॥ भाषा ॥

करत अमरीकूं पान करे और दिन दिन प्रति वज्रोलीकूं अभ्यास करे सो कापालिककी अमरोली कही हें ॥ ९७ ॥

अभ्यासादिति ॥ अमरोलीके अभ्यासतें निकसी चंद्रमाकी सुधा ताय पहली कही जो भस्म तामें मिलायकरकें उत्तम अंग जो मस्तक नेत्र स्कंध हृदय भुजादिकनमें धारण करे तो भूत भविष्य वर्तमान देखवेके योग्य दृष्टि जाकी एसो दिव्यदृष्टि होय जाय ॥९८॥

अब पुरुषकूं वज्रोली साधन कहकरकें अब स्त्रीकूं वज्रोली साधन कहे हें ॥ पुंसो बिंदुमिति ॥ जो स्त्री अभ्यासकी चातुर्यतातें पुरुषके बिंदुकूं खेंचकरकें अपने रजकूं वज्रोली मुद्राकरकें रक्षा करे वा स्त्रीकूं योगिनी नाम योग हे विद्यमान जाके एसी योगवती माननो ॥ ९९ ॥

मू० तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ॥
तस्याः शरीरे नादश्च बिंदुतामेव गच्छति ॥ १०० ॥
स बिंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ॥
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥ १ ॥

॥ टीका ॥

नारीकृताया वज्रोल्याः फलमाह ॥ तस्या इति॥ तस्या वज्रोल्यभ्यसनशीलाया नार्या रजः किंचित् किमपि स्वल्पमपि नाशं न गच्छति नष्टं न भवति पतनं न प्राप्नोतीत्यर्थः । अत्र संशयो न संदेहो न । तस्या नार्याः शरीरे नादश्च बिंदुतामेव गच्छति मूलाधारादुत्थितो नादो हृदयोपरि बिंदुभावं गच्छति । बिंदुना सहैकीभवतीत्यर्थः । अमृतसिद्धौ । ' बीजं च पौरुषं प्रोक्तं रजश्च स्त्रीसमुद्भवम् । अनयोर्बाह्ययोगेनः सृष्टिः संजायते नृणाम् ॥ यदाभ्यंतरयोगः स्यात्तदा योगीति गीयते । बिंदुश्चंद्रमयः प्रोक्तो रजः सूर्यमयं तथा ॥ अनयोः संगमादेव जायते परमं पदम् । स्वर्गदो मोक्षदो बिंदुर्धर्मदोऽधर्मदस्तथा ॥ तन्मध्ये देवताः सर्वास्तिष्ठंते सूक्ष्मरूपतः ' ॥ इति ॥ १०० ॥

स बिंदुरिति ॥ स पुंसो बिंदुस्तद्रजो नार्या रजश्चैव वज्रोलीमुद्राया अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगस्तेनैकीभूय मिलित्वा स्वदेहगौ स्वदेहे गतौ सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः दत्तः ॥ १ ॥

॥ भाषा ॥

स्त्रीकरकें करीगई जो वज्रोली ताको फल कहें हें ॥ तस्या इति ॥ वज्रोलीके अभ्यासमें शील स्वभाव जाको ता स्त्रीको रज कछूबी अल्पबी नष्ट पतन नही होय. यामें संदेह नही. ता स्त्रीके शरीरमें नाद बिंदुभावकूं प्राप्त होय जाय. मूलाधारतें उठ्यो जो नाद सो हृदयके उपरि बिंदुकरकें साहित ऐक्य होय हे. पुरुषको बीज और स्त्रीको रज इनको बाहार योग होय ताकरकें तो मनुष्यनकै सृष्टि होय हे. और जब अभ्याससूं भीतर रज बिंदुको योग होय तब वाकूं योगी कहें हें. और बिंदु तो चंद्रमय हे. और रज सूर्यमय हे. इनके संगमतें परम पद होय हे. ये बिंदुसंगम स्वर्ग मोक्ष धर्म इनको देवेवारो हे तेसेंही सूक्ष्मरूपकरकें बिंदु रजके संगममें समग्र देवता स्थित रहें हें ॥ १०० ॥

स बिंदुरिति ॥ पुरुषको बिंदु और स्त्रीको रज ये दोनो वज्रोलीके अभ्यासतें मिलकरकें अपने देहमें प्राप्त होंय तो सर्व सिद्धी देवे हें ॥ १ ॥

मू० रक्षेदाकुंचनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ॥
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेध्रुवम् ॥ २ ॥
देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ॥
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भूक्तेऽपि मुक्तिदः ॥ ३ ॥

अथ शक्तिचालनम् ॥

कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी ॥
कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥ ४ ॥

॥ टीका ॥

रक्षेदिति ॥ या नार्याकुंचनाद्योनिसंकोचनादूर्ध्वमुपरिस्थाने नीत्वा रजो रक्षेत् । हीति प्रसिद्धं योगशास्त्रे । सा योगिन्यतीतानागतं भूतं भविष्य च वस्तु वेत्ति जानाति । ध्रुवमिति निश्चीतं । खेंऽतरिक्षे चरतीति खेचर्यंतरिक्षचरी भवेत् ॥ २ ॥

देहसिद्धिमिति ॥ वज्रोल्या अभ्यासस्य योगो युक्तिस्तस्माद्देहस्य सिद्धिं रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वरूपां लभंते । अयं योगो वज्रोल्यभ्यासयोगः पुण्यकरोऽदृष्टविशेषजनकः । कीदृशो योगः भुज्यत इति भोगो विषयस्तस्मिन् भुक्तेऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ ३ ॥

शक्तिचालनं विवक्षुस्तदुपोद्घाततया कुंडलीपर्यायान् तया मोक्षद्वारविभेदनादिकं चाह सप्तभिः ॥ कुटिलांगीति ॥ कुटिलांगी १ कुंडलिनी २ भुजंगी ३ शक्तिः ४ ईश्वरी ५ कुंडली ६ अरुंधती ७ चैते सप्त शब्दाः पर्यायवाचका एकार्थवाचकाः ॥ ४ ॥

॥ भाषा ॥

रक्षेदिति ॥ जो स्त्री योनिकूं संकोचन करेतें उपरि स्थानमें लेजायकर रजकी रक्षाकरे योगशास्त्रमें वाकूं योगिनी कहें हैं. और वो स्त्री भूत भविष्य वस्तुकूं जाने हे. निश्चय ही और ख जो अंतरिक्ष तामें विचरे एसी नाम वैमानिक गतीकूं प्राप्त होनेवारी होय ॥२॥

देहसिद्धिमिति ॥ वज्रोलीके अभ्यासकी युक्तीतें देहकी सिद्धी कोनसी रूप लावण्य बल वज्रकासो संहननभाव ताय प्राप्त होय ये वज्रोली अभ्यासरूपी योग सो पुण्यको करवेवालो हे फिर कैसो हे योग विषयभोग भोगे हें तोवी ये मोक्षको देवेवारो हे ॥ ३ ॥

अब शक्तिचालन कहें हें ॥ कुटिलांगीति ॥ कुटिलांगी १ कुंडलिनी २ भुजंगी ३ शक्तिः ४ ईश्वरी ५ कुंडली ६ अरुंधती ७ ये सात शब्द एक अर्थके वाचक हे ॥ ४ ॥

मू० उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ॥
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥ ५ ॥
येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ॥
मुखेनाच्छाद्य तद्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ ६ ॥
कंदोर्ध्वे कुंडली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ॥
बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥ ७ ॥

॥ टीका ॥

उद्घाटयेदिति ॥ यथा येन प्रकारेण पुमान् कुंचिकया कपाटार्गलोत्सारणसाधनीभूतया हठाद्बलात्कपाटमररमुद्घाटयेदुत्सारयेत् । हठादिति देहलीदीपन्यायेनोभयत्र संबध्यते । तथा तेन प्रकारेण योगी हठाद्धठाभ्यासात्कुंडलिन्या शक्त्या मोक्षद्वारं मोक्षस्य द्वारं प्रापकं सुषुम्नामार्गं विभेदयेद्विशेषेण भेदयेत् । 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेती' ति श्रुतेः ॥ ५ ॥

येनेति ॥ आमयो रोगजन्यं दुःखं दुःखमात्रोपलक्षणं तस्मान्निर्गतं निरामयं दुःखमात्ररहितं ब्रह्मस्थानं ब्रह्माविर्भावजनकं स्थानं ब्रह्मस्थानं ब्रह्मरंध्रं । 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः । येन मार्गेण सुषुम्नामार्गेण गंतव्यं गमनार्हमस्ति तद्वारं तस्य मार्गस्य द्वारं प्रवेशमार्गं मुखेनास्येनाच्छाद्य रुध्वा परमेश्वरी कुंडलिनी । प्रसुप्ता निद्रितास्ति ॥ ६ ॥

कंदोर्ध्वमिति ॥ कुंडली शक्तिः कंदोर्ध्वे कंदस्योपरिभागे योगिनां मोक्षाय सुप्ता मूढानां बंधनाय सुप्ता । योगिनस्तां चालयित्वा मुक्ता भवंति । मूढास्तदज्ञानाद्बद्धास्तिष्ठंतीति भावः । तां कुंडलिनीं यो वेत्ति स योगवित् । सर्वेषां योगतंत्राणां कुंडल्याश्रयत्वादित्यर्थः ॥ ७ ॥

॥ भाषा ॥

उद्घाटयेदिति ॥ जा प्रकारकर पुरुष बलतें कूंचीकरकें किवाड खोले हे तैसें ही योगी हठाभ्यासतें कुंडलिनी शक्तिकरकें मोक्षको द्वार सुषुम्नामार्ग ताय भेदन करे ॥ ५ ॥

येनेति ॥ दुःखमात्रकरकें रहित जो ब्रह्मरंध्र सो जा सुषुम्नाके मार्गकरकें जायवेकूं योग्य ता मार्गको द्वार कुंडलिनीको प्रवेश करवेको मार्ग हे ता मार्गके द्वारकूं अपने मुखकर रोककरकें परमेश्वरी कुंडलिनी सूती हुई स्थित हे ॥ ६ ॥

कंदोर्ध्व इति ॥ कुंडली शक्ति कंदके उपरिभागमें योगीनके मोक्षके अर्थ सूती और

मू० कुंडली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ॥
सा शक्तिश्चालिता येन स युक्तो नात्र संशयः ॥ ८ ॥
गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंडा तपस्विनी ॥
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥
इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ॥
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरंडा च कुंडली ॥ ११० ॥

॥ टीका ॥

कुंडलीति ॥ कुंडली शक्तिः सर्पवद्भुजगवत्कुटिल आकारः स्वरूपं यस्याः सा कुटिलाकारा परिकीर्तिता कथिता योगिभिः । सा कुंडली शक्तिर्येन पुंसा चालिता मूलाधारादूर्ध्वं नीता स मुक्तोऽज्ञानबंधान्निवृत्तः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न संदेहो नास्तीत्यर्थः । 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेती'ति श्रुतेः ॥ ८ ॥

गंगायमुनयोरिति ॥ गंगायमुनयोराधाराधेयभावेन तयोर्भावनाद्गंगायमुनयोरभेदेन भावनाद्वा गंगायमुने इडापिंगले तयोर्मध्ये सुषुम्नामार्गे तपस्विनी निरशनस्थितेः। बालरंडां बालरंडाशब्दवाच्यां कुंडलीं बलात्कारेण हठेण गृह्णीयात् । तत्तस्या गंगायमुनयोर्मध्ये ग्रहणं विष्णोर्हरेर्व्यापकस्यात्मनो वा परमं पदं परमपदप्रापकम् ॥ ९ ॥

गंगायमुनादिपदार्थमाह ॥ इडेति ॥ इडा वामनिःश्वासा नाडी भगवत्यैश्वर्यादिसंपन्ना गंगा गंगापदवाच्या पिंगला दक्षिणनिःश्वासा यमुना यमुनाशब्दवाच्या

॥ भाषा ॥

मूढनके बंधनके अर्थ सूती हे योगी वा कुंडलिनीकूं चलायकरकें मुक्त होय हें और मूढ पुरुष कुंडलिनीकूं जाने नही तातें बंधनमें स्थित रहें हें ता कुंडलिनीकूं जो जाने हे सो योगवेत्ता जाननो. क्यों संपूर्ण योगतंत्रनकूं कुंडलीको आश्रयपनो हे ॥ ७ ॥

कुंडलीति ॥ कुंडली शक्ति सर्पकीसीनाई कुटिल हे आकार स्वरूप जाको एसी योगीनकरकें कही हे कुंडली जा पुरुषने चलायमान करी अर्थात् मुलाधारतें ऊपर प्राप्तकीनी सो मुक्त कहीये हे यामें संदेह नही ॥ ८ ॥

गंगायमुनयोरिति ॥ गंगा यमुना जो इडा पिंगला इनके मध्यमें सुषुम्ना हे सो केसी हे तपस्विनी हे और बालरंडा हे सो ये बलात्कारकरकें कुंडलीकूं ग्रहण करे हे और विष्णु जो हरि व्यापक आत्मा ताको परमपद ताय प्राप्तकी करवेवाली ॥ ९ ॥

गंगायमुना यापदको अर्थ बतावते है. ॥इडेति॥ इडा जो वामश्वासा नाडी भगवती कहा

मू० पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ॥
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥ ११ ॥
अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम्॥
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया १२
ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ॥

॥ टीका ॥

नदी । इडापिंगलयोर्मध्ये मध्यगता या कुंडली सा बालरंडा बालरंडाशब्द-वाच्या ॥ ११० ॥

शक्तिचालनमाह ॥ पुच्छे इति ॥ सुप्तां निद्रितां भुजगीं तां कुंडलिनीं पुच्छे प्रगृहीत्वोद्बोधयेत्प्रबोधयेत्सा शक्तिः कुंडली निद्रां विहाय हठादूर्ध्वं तिष्ठत इत्यन्वयः। एतद्रहस्यं तु गुरुमुखादवगंतव्यम् ॥ ११ ॥

अवस्थिता इति ॥ अवस्थितार्वाक् स्थिता मूलाधारस्थिता फणावती भुजंगी सा कुंडलिनी सूर्यादापूर्य सूर्यात्पूरणं कृत्वा परिधाने युक्तिस्तया परिधानयुक्त्या प्रगृह्य गृहीत्वा । सायं सूर्यास्तसमये प्रातः सूर्योदयवेलायां नित्यमहरहः प्रहरस्य यामस्यार्धं प्रहरार्धं प्रहरार्धमेव प्रहरार्धमात्रं मुहूर्तद्वयमात्रं परिचालनीया परितश्चाल-यितुं योग्या । परिधानयुक्तिर्देशिकाद्बोध्या ॥ १२ ॥

कंदसंपीडनेन शक्तिचालनं विवक्षुरादौ कंदस्य स्थानं स्वरूपं चाह ॥ ऊर्ध्वमिति॥

॥ भाषा ॥

ऐश्वर्यादिकनकर संपन्न हे वाकूं गंगा कहे हैं और पिंगला जो दक्षिणश्वासा ताकूं यमुना कहें हें और इडा पिंगलाके जो मध्यमें हे कुंडली सो बालरंडा हे ॥ ११० ॥

अब शक्तिचालन कहें हे ॥ पुच्छे इति ॥ सूती जो भुजंगी कोन कुंडलिनी ताय पूंछ पकडकर बोध करावे फिर वो कुंडलिनी निद्रा छोडकर हठतें ऊपर स्थिर रहे हे ये रहस्य गुरुमुखतें जाननो योग्य हे ॥ ११ ॥

अवस्थिता इति ॥ मूलाधारमें स्थित फल हें विद्यमान जाके भुजंगी सोई कुंडली सू-र्यतें पूरणकरकें फिर परिधान युक्ती कर ग्रहणकरकें सूर्यास्तसमयमें और सूर्योदयवेलामें नित्य प्रतिप्रहरको अर्धमात्र च्यार घडीमात्र च्यारोंमेर चलायवेकूं योग्य हे परिधानयुक्ति गुरुमुखतें जाननो योग्य हे ॥ १२ ॥

कंदकूं पीडनकरकें शक्तिचालन कह्यो चांय हें सो आदौ कहिये प्रथम कंदको स्थान

मू० मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणम् ॥ १३ ॥
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेदृढम् ॥
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ॥ १४ ॥
वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीम् ॥

॥ टीका ॥

मूलस्थानाद्वितस्तिमात्रं वितस्तिप्रमाणमूर्ध्वमुपरि नाभिमेढ्रयोर्मध्ये । एतेन कंदस्य स्थानमुक्तं । तथाचोक्तं गोरक्षशतके । "ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कंदयोनिः खगांडवत् । तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिरि"ति । याज्ञवल्क्यः । "गुदात्तु द्व्यंगुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यंगुलादधः । देहमध्यं तनोर्मध्यमनुजानामितीरितम् । कंदस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवांगुलम् । चतुरंगुलविस्तारमायामं च तथाविधम् । अंडाकृतिवदाकारभूषितं च त्वगादिभिः । चतुष्पदां तिरश्चां च द्विजानां तुंदमध्यगमि"ति । गुदाद्व्यंगुलोपर्येकांगुलं मध्यं तस्मान्नवांगुलं कंदस्थानं मिलित्वा द्वादशांगुलप्रमाणं वितस्तिमात्रं जातम् । चतुर्णामंगुलीनां समाहारश्चतुरंगुलं चतुरंगुलप्रमाणं विस्तारम् । विस्तारो दैर्घ्यस्याप्युपलक्षणम् । चतुरंगुलं दीर्घं च मृदुलं कोमलं धवलं शुभ्रं वेष्टितं वेष्टनाकारीकृतं यदंबरं वस्त्रं तस्य लक्षणं स्वरूपमिव लक्षणं स्वरूपं यस्य तादृशं प्रोक्तं कथितम् । कंदस्वरूपं योगिभिरिति शेषः ॥ १३ ॥

सतीति ॥ वज्रासने कृते सति कराभ्यां हस्ताभ्यां गुल्फौ पादग्रंथी तयोर्देशौ प्रदेशौ तयोः समीपे गुल्फाभ्यां किंचिदुपरि । 'तद्ग्रंथी घुटिके गुल्फावि'त्यमरः । पादौ चरणौ दृढं गाढं धारयेत् गृह्णीयात् । चकाराद्धृताभ्यां पादाभ्यां तत्र कंदस्थाने कंदं प्रपीडयेत्प्रकर्षेण पीडयेत् । गुल्फादूर्ध्वं कराभ्यां पादौ गृहीत्वा नाभेरधोभागे कंदं पीडयेदित्यर्थः ॥ १४ ॥

वज्रासन इति ॥ वज्रासने स्थितो योगी कुंडलीं चालयित्वा शक्तिचालनमुद्रां

॥ भाषा ॥

स्वरूप ताय कहे हैं ॥ ऊर्ध्वमिति ॥ मूलस्थानतें वितस्तिमात्र प्रमाण ऊपरि नाभि और मेढ्र इनके मध्यमें कंदको स्थान हे मनुष्यनके देहके मध्यमें नवांगुल कंदस्थान हे च्यार अंगुल चोडो पक्षीके अंडाकोसो आकार और कोमल हे श्वेत हे वेष्टनकरकें वस्त्राकोसो हे स्वरूप जाको ऐसो योगीनकरकें कंदस्वरूप कह्यो हे ॥ १३ ॥

सतीति ॥ वज्रासनकरकें हस्तसूं एढीनके ऊपर टकनानमें पाम पकडकरकें नाभिके नीचें कंदकूं पीडायमान करे ॥ १४ ॥

वज्रासन इति ॥ वज्रासनमें स्थित जो योगी कुंडलीनीकूं चलायमानकरकें अर्थात्

मू० कुर्यादनंतरं भस्त्रां कुंडलीमाशु बोधयेत् ॥ १५ ॥
भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः ॥
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ १६ ॥
मुहूर्तद्वयपर्यंतं निर्भयं चालनादसौ ॥
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता ॥ १७ ॥
तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं ध्रुवम् ॥
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥ १८ ॥

॥ टीका ॥

कृत्वेत्यर्थः । अनंतरं शक्तिचालनानंतरं भस्त्रां भस्त्राख्यं कुंभकं कुर्यात् । एवंरीत्या कुंडलीं शक्तिमाशु शीघ्रं बोधयेत्प्रबुद्धां कुर्यात् । वज्रासने शक्तिचालनस्य पूर्वं विधानेऽपि पुनर्वज्रासनोपपादनं शक्तिचालनानंतरं भस्त्रायां वज्रासनमेव कर्तव्यमिति नियमार्थम् ॥ १५ ॥

भानोरिति ॥ भानोर्नाभिदेशस्थस्य सूर्यस्याकुंचनं कुर्यात् । नाभेराकुंचनेनैव तस्याकुंचनं भवति । ततो भानोराकुंचनात्कुंडलीं शक्तिं चालयेत् । एवं यः करोति मृत्योर्वक्त्रं मुखं गतस्यापि प्राप्तस्यापि तस्य पुंसो मृत्युभयं कालभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ १६ ॥

मुहूर्तद्वयमिति ॥ मुहूर्तयोर्द्वयं युग्मं घटिकाचतुष्टयात्मकं तत्पर्यंतं तदवधि निर्भयं निःशंकं चालनादसौ शक्तिः सुषुम्नायां समुद्गता सती किंचिदूर्ध्वमाकृष्यते आकृष्टा भवति ॥ १७ ॥

तेनेति ॥ तेनोर्ध्वमाकर्षणेन कुंडली तस्याः प्रसिद्धायाः सुषुम्नाया मुखं प्रवेश-

॥ भाषा ॥

शक्तिचालन मुद्राकरकें ताके पीछें भस्त्रा नाम जो कुंभक ताय करे या रीतकर कुंडली शक्तिकूं शीघ्र बोध करावे अर्थात् जगावे ॥ १५ ॥

भानोरिति ॥ नाभिदेशमें स्थित जो सूर्य ताकूं आकुंचन करे नाभिकूं आकुंचनकरकें ही सूर्यको आकुंचन होय हे सूर्यके आकुंचनतें कुंडली शक्तिकूं चलावे तो मृत्युके मुखमें प्राप्त हुयो जो पुरुष ताकूं कालभय नही होय ॥ १६ ॥

मुहूर्तद्वयमिति ॥ च्यार घड़ीपर्यंत निर्भय होय चालनतें ये शक्ति सुषुम्नामें उठती सती कछुक ऊपरकूं खिचे हे ॥ १७ ॥

तेनेति ॥ ऊपरकूं खिचवेकरकें कुंडलीनी सुषुम्नाको अपनो प्रवेशको मार्ग ताय निश्चय

मू० तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुंधतीम् ॥
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ १९ ॥
येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ॥
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ २० ॥
ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ॥
मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्यभ्यासयोगिनः ॥ २१ ॥

॥ टीका ॥

मार्गं ध्रुवं निश्चितं जहाति त्यजति । तस्मान्मार्गत्यागादयं प्राणवायुः स्वतः स्वयमेव सुषुम्नां व्रजति गच्छति । सुषुम्नामुखात्प्रागेव कुंडलिन्या निर्गतत्वादिति भावः ॥ १८ ॥

तस्मादिति ॥ यस्माच्छक्तिचालनेन प्राणः सुषुम्नां व्रजति तस्मात्सुखेन सुप्ता सुखसुप्ता तां सुखसुप्तामरुंधतीं शक्तिं नित्यं प्रतिदिनं संचालयेत्सम्यक् चालयेत् । तस्याः शक्तेः संचालनेनैव संचालनमात्रेण योगी रोगैः कासश्वासजरादिभिः प्रमुच्यते प्रकर्षेण मुक्तो भवति ॥ १९ ॥

येनेति ॥ येन योगिना शक्तिः कुंडली संचालिता स योगी सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति । अत्रास्मिन्नर्थे बहुक्तेन बहुप्रशंसनेन किं । न किमपीत्यर्थः । कालं मृत्युं लीलया क्रीडयानायासेनैव जयत्यभिभवतीत्यर्थः ॥ २० ॥

ब्रह्मचर्येति ॥ ब्रह्मचर्यं श्रोत्रादिभिः सहोपस्थसंयमस्तस्मिन् रतस्य तत्परस्य

॥ भाषा ॥

त्याग करे हे ता मार्गके त्यागतें ये प्राणवायु आपसूं आपही सुषुम्नामें गमन करे हे ॥१८॥

तस्मादिति ॥ तातें सुखकरकें सुती अरुंधती जो कुंडली ताय दिनदिनप्रति नित्य चलावे ता शक्तिके चलायवे मात्रकरकें योगी रोग जो कास श्वास जरादिकनकरकें छुट जाय ॥ १९ ॥

येनेति ॥ जा योगीकरकें शक्ति कुंडली चालन करी जाय वो योगी अणिमादिक सिद्धीनको पात्र होय हे यामें बहोत प्रशंसाकरकें कहा हे कालकूं सहजही जीतले अर्थात् तिरस्कार कर दे ॥ २० ॥

ब्रह्मचर्येति ॥ श्रोत्रादिक इंद्रीनकरकें सहित उपस्थ इंद्रीको रोकनो तामें तत्पर होय नित्य हित पथ्य करे होय प्रमाणको चतुर्थांशकर वर्जित एसो भोजन करे कुंडली शक्ती

मू० कुंडलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ॥
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ २२ ॥
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने ॥
कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्यभ्यसनादृते ॥ २३ ॥
इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ॥

॥ टीका ॥

नित्यं सर्वदा हितं पथ्यं मितं चतुर्थांशवर्जितमश्नातीति तस्य कुंडल्यभ्यासः शक्तिचालनाभ्यासः स एव योगः सोऽस्यास्तीति स तथा तस्य मंडलाच्चत्वारिंशद्दिनात्मकादनंतरं सिद्धिः प्राणायामसिद्धिर्दृश्यते ॥ "नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणोऽतिदीर्घीकृतश्चंद्राभः परिपूरितामृततनुः प्राग्घंटिकायास्ततः । छित्वा कालविशालवह्निवशगं भ्रूरंध्रनाडीगतं तत्कायं कुरुते पुनर्नवतरं छिन्नं ध्रुवं स्कंधवत्" ॥ २१ ॥

कुंडलीमिति ॥ कुंडलीं चालयित्वा शक्तिचालनं कृत्वा । अथानंतरमेव भस्त्रां भस्त्राख्यं कुंभकं कुर्यात् । नित्यं प्रतिदिनं । एवमुक्तप्रकारेणाभ्यसतो यमिनो योगिनो यमभीर्यमाद्भयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः । योगिनो देहत्यागस्य स्वाधीनत्वादिति तात्पर्यम् ॥ २२ ॥

द्वासप्ततीति ॥ द्वाभ्यामधिका सप्ततिः द्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि द्वासप्ततिसहस्राणि तेषां तत्संख्याकानां नाडीनां मलशोधने कर्तव्ये सति कुंडल्यभ्यसनाच्छक्तिचालनाभ्यासादृते विना कुतः प्रक्षालनोपायः । न कुतोऽपि । शक्तिचालनाभ्यासेनैव सर्वासां नाडीनां मलशोधनं भवतीत्यभिप्रायः ॥ २३ ॥

इयं त्विति ॥ इयं मध्यमा नाडी सुषुम्ना योगिनां दृढाभ्यासेनासनं स्वस्तिकादि

॥ भाषा ॥

चालनको अभ्यास सोई हे योग जाके ता एसे योगीकूं चालीस दिनको मंडल ताके अनंतर प्राणायामसिद्धी दीखे हे ॥ २१ ॥

कुंडलीमिति ॥ शक्तिचालनकरकें ता पीछैं भस्त्रानाम कुंभक करे नित्य या प्रकारकरकें अभ्यास कर रह्यो जो योगी ताकूं यमराजतें भय नही होय योगीकूं देहत्याग करनो स्वाधीनपनो हे यातें ॥ २२ ॥

द्वासप्ततीति ॥ बहत्तर हज्जार नाडीनको मलशोधन कियो चाहैं तो शक्तिचालनके अभ्यास विना मलशोधनको उपाय नही होय. शक्तिचालनके अभ्यासकरकें ही संपूर्ण नाडीनको मलशोधन होय हे ॥ २३ ॥

इयं त्विति ॥ योगिनकूं दृढ अभ्यासकरकें आसन प्राणायाम महामुद्रादिकनकरकें ये

मू० आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥ २४ ॥
अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ॥
रुद्राणी वा यदा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥ २५ ॥
राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ॥
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥ २६ ॥

॥ टीका ॥

प्राणसंयामः प्राणायामः मुद्रा महामुद्रादिका तैः सरला ऋज्वी भवेत् ॥ २४ ॥

अभ्यास इति ॥ समाधिनेतरवृत्तिनिरोधरूपेणैकाग्र्येण मनो धृत्वांतःकरणं धारणानिष्ठं कृत्वाभ्यासे मनःस्थितौ यत्ने विगता निद्रा येषां ते तथा तेषां । निद्रापदमालस्योपलक्षणम् । अनलसानामित्यर्थः । रुद्राणी शांभवी मुद्रा वा अथवा परान्या उन्मन्यादिका भद्रां शुभां सिद्धिं योगसिद्धिं प्रयच्छति ददाति । एतेन हठयोगोपकारको राजयोगः प्रोक्तः ॥ २५ ॥

राजयोगं विना आसनादीनां वैयर्थ्यमौपचारिकश्लेषेणाह ॥ राजयोगमिति ॥ वृत्त्यंतरनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकनिर्विकल्पकवृत्ती राजयोगः । ‘ हठं विना राजयोगः ’ इत्यत्र सूचितस्तत्साधनाभ्यासो वा तं विना तमृते पृथ्वीशब्देन स्थैर्यगुणः राजयोगादासनं लक्ष्यते । राजयोगं विना परमपुरुषार्थफलासिद्धेरिति हेतुरग्रेऽपि योजनीयः राजयोगं विना निशेव निशा कुंभको न राजते निशायां प्रायेण राजजनसंचाराभावात् । निशाशब्देन प्राणसंचाराभावलक्षणः कुंभको लक्ष्यते । राजयोगं विना मुद्रा महामुद्रादिरूपा विचित्रापि विविधापि विलक्षणापि वा न राजते न शोभते । पक्षांतरे । राज्ञो नृपस्य योगो राजयोगो राजसंबंधस्तं विना पृथ्वी भूमिर्न राजते । शास्तारं विना भूमौ नानोपद्रवसंभवात् । राजा

॥ भाषा ॥

मध्यमा नाडी सुषुम्ना सरल होय हे ॥ २४ ॥

अभ्यास इति ॥ समाधि जो एकाग्रकरकें मनकूं अभ्यासमें धारणकरकें गई हे निद्रा आलस्य जिनको तिनकुं रुद्राणी मुद्रा जो कुंडली सो शुभ जो योगसिद्धी ताय देवे हे ॥२५॥

राजयोगमिति ॥ राजयोग विना आसन नही शोभाकूं प्राप्त होय हें और राजयोग विना निशा जो कुंभक सो नही शोभे हे. राजयोग विना चित्रविचित्र मुद्रा नही शोभे हे ॥ २६ ॥

मू० मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ॥
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥ २७ ॥
इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना ॥
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥ २८ ॥
उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ॥
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥ २९ ॥

॥ टीका ॥

चंद्रः । 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजे'ति श्रुतेः । तस्य योगं संबंधं विना निशा रात्रिर्न राजते । राजयोगं विना नृपसंबंधं विना मुद्रा राजभिः पत्रेषु क्रियमाणश्चिह्नविशेषः । विचित्रापि । पृथ्वीपक्षे रत्नादिजनकत्वेन विलक्षणापि । निशापक्षे ग्रहनक्षत्रादिभिर्विचित्रापि । मुद्रापक्षे रेखाभिर्विचित्रापि न राजते ॥ २६ ॥

मारुतस्येति ॥ मारुतस्य वायोः सर्वं विधिं कुंभकमुद्राविधानं मनोयुक्तं मनसा युक्तं समभ्यसेत्सम्यगभ्यसेत् । मनीषिणा बुद्धिमता पुंसा इतरत्र मारुतस्य विधेरन्यस्मिन्विषये मनोवृत्तिर्मनसो वृत्तिः प्रवृत्तिर्न कर्तव्या न कार्या ॥ २७ ॥

मुद्रा उपसंहरति ॥ इतीति ॥ आदिनाथेन सर्वेश्वरेण शंभुना शं सुखं भवत्यस्मादिति शंभुस्तेन । इत्युक्तरीत्या दश दशसंख्याका मुद्राः प्रोक्ताः कथिताः । तासु मुद्रासु मध्ये एकैकापि प्रत्येकमपि याकाचन मुद्रा यमिनां यमवतां योगिनां महासिद्धिप्रदायिन्यणिमादिप्रदात्री वा ॥ २८ ॥

मुद्रोपदेष्टारं गुरुं प्रशंसति ॥ उपदेशमिति ॥ यः पुमान्मुद्राणां महामुद्रादीनां

॥ भाषा ॥

मारुतस्येति ॥ मारुत जो वायु ताकी सर्वविधि कुंभक मुद्रा विधान सो मनकरकें युक्त अभ्यास करे बुद्धिमान पुरुषकरकें प्राणायाम विधितें और विषयमें मनकी वृत्तिकी प्रवृत्ति नही करनो योग्य हे ॥ २७ ॥

इतीति ॥ आदिनाथ सर्वेश्वर शंभुकरकें दश मुद्रा कही हें तिन मुद्रानमें एक एक मुद्रा योगीनकूं महासिद्धी जो अणिमादिक तिनकी देवेवारी हें ॥ २८ ॥

उपदेशमिति ॥ जो पुरुष महामुद्रादिकनकी संप्रदाय जो योगीनकी गुरुपरंपरातें उपदेश देवे सो पुरुष सर्वगुरूनतें श्रेष्ठ स्वामी सोही साक्षात् प्रत्यक्ष ईश्वर हें ॥ २९ ॥

मू० तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ॥
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवंचनम् ॥ १३० ॥
इति श्रीस्वात्मरामयोगींद्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां
मुद्राविधानंनाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

॥ टीका ॥

संप्रदायाद्योगिनां गुरुपरंपरारूपादागतं सांप्रदायिकमुपदेशं दत्ते ददाति । स एव स पुमानेव श्रीगुरुः श्रीमान् गुरुः सर्वगुरुभ्यः श्रेष्ठ इत्यर्थः । स्वामी प्रभुः स एव साक्षात्प्रत्यक्ष ईश्वर एव सः । ईश्वराभिन्न एव स इत्यर्थः ॥ २९ ॥

तस्येति ॥ तस्य मुद्राणामुपदेष्टुर्गुरोर्वाक्यपरो वाक्यमासनकुंभकाद्यनुष्ठानविषयकं युक्ताहारविहारचेष्टादिविषयकं च तस्मिन् परस्तत्परः तत्परश्चादरवान् । आदरश्च विहिततपःकरणं भूत्वा संभूय मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासः पौनःपुन्येनावर्तनं तस्मिन् मुद्राभ्यासे समाहितः सावधानः पुरुषोऽणिमादिगुणैरणिमादिसिद्धिभिः सार्धं साकं कालस्य मृत्योर्वंचनं प्रतारणं लभते प्राप्नोति ॥ १३० ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानंदकृतायां ज्योत्स्नाभिधायां मुद्राकथनं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

॥ भाषा ॥

तस्येति ॥ मुद्रानको उपदेशकर्त्ता गुरूको वाक्य जो आसन कुंभकादिकनको करवेकी रीत योग्य आहार विहार चेष्टादिक विषयरूप जो वाक्य तामें तत्पर आदरवान् होयकरके महामुद्रादिकनको अभ्यास तामें सावधान होय अणिमादिक सिद्धीनकरके सहित काल जो मृत्यु ताको वंचन जो तिरणो सो प्राप्त होय ॥ १३० ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाभाषाव्याख्यायां मुद्राकथनंनाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

मू० नमः शिवाय गुरवेनादबिंदुकलात्मने ॥
निरंजनपदं याति नित्यं यत्र परायणः ॥ १ ॥
अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमम् ॥
मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानंदकरं परम् ॥ २ ॥

॥ टीका ॥

प्रथम द्वितीयतृतीयोपदेशोक्तानामासनकुंभकमुद्राणां फलभूतं राजयोगं विवक्षुः **स्वात्मारामः** श्रेयांसि बहुविघ्नानीति तत्र विघ्नबाहुल्यस्य संभवात्तन्निवृत्तये शिवाभिन्नगुरुनमस्कारात्मकं मंगलमाचरति ॥ **नम इति** ॥ शिवाय सुखरूपायेश्वराभिन्नाय वा । तदुक्तं । 'नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरुरूपिणे' इति । गुरवे देशिकाय यद्वा गुरवे सर्वांतर्यामितया निखिलोपदेष्ट्रे शिवायेश्वराय । तथा च पातंजलसूत्रं । 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' । नमः प्रह्वी भावोऽस्तु । कीदृशाय शिवाय गुरवे नादबिंदुकलात्मने कांस्यघंटानिर्ह्रादवदनुरणनं नादः । बिंदुरनुस्वारोत्तरभावी ध्वनिः । कला नादैकदेशस्ता आत्मा स्वरूपं यस्य स तथा तस्मै । नादबिंदुकलात्मना वर्तमानायेत्यर्थः । तत्र नादबिंदुकलात्मनि शिवे गुरौ नित्यं प्रतिदिनं परायणोऽवहितः पुमान् । एतेन नादानुसंधानपरायण इत्युक्तं पूर्वपादेन गुरुशिवयोरभेदश्च सूचितः । अंजनं मायोपाधिस्तद्रहितं निरंजनं शुद्धं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं ब्रह्म याति प्राप्नोति । तथा च वक्ष्यति । 'नादानुसंधानसमाधिभाजमि'त्यादिना ॥ १ ॥

समाधिक्रमं प्रतिजानीते ॥ अथेति ॥ अथासनकुंभकमुद्राकथनानंतरमिदानीम-

॥ भाषा ॥

प्रथम द्वितीय तृतीय जे उपदेश तिनमें कहे आसन कुंभक मुद्रा इनको फलभूत राजयोग ताय कह्यो चांहे एसे **स्वात्माराम** हें सो विघ्नकी निवृत्तीके अर्थ शिवजी और गुरु इनमें अभेद जितायो जामें एसो गुरुनमस्काररूप मंगल आचरण करें हें ॥ **नमः शिवायेति** ॥ सुखरूप ईश्वरतें अभिन्न और गुरू कहिये उपदेशके देवेवारे एसे शिवस्वरूप जो गुरू तिनके अर्थ नमस्कार हो केसे हें शिवरूप गुरू घंटानादको सो शब्द जाको एसो नादबिंदु जो अनुस्वार और कला नादको एकदेश ये हे आत्मा कहिये स्वरूप जाको और शिवस्वरूप गुरूनमें नित्यप्रति परायण जो पुरुष सो मायाकी उपाधिरहित शुद्ध योगीनकरकें प्राप्त होयवेके योग्य पद जो ब्रह्मपद ताय प्राप्त होय ॥ १ ॥

अथेति ॥ आसन कुंभक मुद्रा इनके कहेके अनंतर अब प्रत्याहारादिरूप समाधि-

॥ टीका ॥

स्मिन्नवसरे समाधिक्रमं प्रत्याहारादिरूपं प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण विविच्य वक्ष्यामी-त्यन्वयः । कीदृशं समाधिक्रमं । उत्तमं श्रीआदिनाथोक्तसंपादनकोटिसमाधिप्र-कारेषूत्कृष्टं । पुनः कीदृशं मृत्युं कालं हंति निवारयतीति मृत्युघ्नं स्वेच्छया देह-त्यागजनकं तत्त्वज्ञानोदयमनोनाशवासनाक्षयैः सुखस्य जीवन्मुक्तिसुखस्योपाय प्राप्तिसाधनं पुनः कीदृशं परं ब्रह्मानंदकरं प्रारब्धकर्मक्षये सति जीवब्रह्मणोरभेदे नात्यंतिकब्रह्मानंदप्राप्तिरूपविदेहमुक्तिकरं । तत्र निरोधः समाधिना चित्तस्य ससं-स्काराशेषवृत्तिनिरोधे शांतघोरमूढावस्थानिवृत्तौ ' जीवन्नेवेह विद्वान् हर्षशोकाभ्यां विमुच्यते ' इत्यादिश्रुत्युक्तनिर्विकारस्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिर्भवति । परम-मुक्तिस्तु प्राप्तभोगांतेऽतःकरणगुणानां प्रतिप्रसवेनौपाधिकरूपात्यंतिकनिवृत्तावा-त्यंतिकं स्वरूपावस्थानं प्रतिप्रसवासिद्धं । व्युत्थाननिरोधसमाधिसंस्कारा मनसि लीयंते । मनोऽस्मितायामस्मिता महति महान् प्रधान इति चित्तगुणानां प्रति-प्रसवः प्रतिसर्गः स्वकारणे लयः । ननु जीवन्मुक्तस्य व्युत्थाने ब्राह्मणोऽहं मनुष्योऽहमित्यादिव्यवहारदर्शनाच्चित्तादिभिरौपाधिकभावजननादम्लेन दुग्धस्येव स्वरूपच्युतिः स्यादिति चेन्न । संप्रज्ञातसमाधावनुभूतात्मसंस्कारस्य तात्विकत्वनि-श्चयात् । अतात्विकान्यथाभावस्याविकारित्वाप्रयोजकत्वात् । अम्लेन दुग्धस्य दधिभावस्तु तात्विक इति । दृष्टांतवैषम्याच्च पुरुषस्य त्वंतःकरणोपाधिकोऽहं ब्रा-ह्मण इत्यादिव्यवहारः स्फटिकस्य जपाकुसुमसन्निधानोपाधिरूपक एव न तात्वि-कः । जपाकुसुमापगमे स्फटिकस्य स्वस्वरूपस्थितिवदंतःकरणस्य सकलवृत्तिनिरोधे स्वरूपावस्थितिरच्युतैव पुरुषस्य ॥ २ ॥

॥ भाषा ॥

क्रम ताय विवेचनाकरकें कहूं हूं केसो हे समाधिक्रम श्री आदिनाथने कहे संपादन करे कोटिन समाधिके प्रकार तिनमें श्रेष्ठ हे फिर केसो हे समाधिक्रम मृत्यु जो काल ताकूं निवारण करे योगी समाधिके प्रभावतेंही अपनी इच्छापूर्वक देहत्याग करे हे और तत्त्वज्ञानको उदय मनकी वासनाको क्षय इनकरकें जीवन्मुक्ति सुखको उपाय कहा प्रा-प्तीको साधन हे फिर केसो हे समाधिक्रम प्रारब्ध कर्मको क्षय होय फिर जीव और ब्र-ह्मको भेद दूर होय फिर आत्यंतिक ब्रह्मानंदकी प्राप्तिको करवेवारो हे ॥ २ ॥

मू० राजयोग समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी ॥
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥ ३ ॥
अमनस्कं तथाद्वैतं निरालंबं निरंजनम् ॥
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥
सलिले सैंधवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ॥
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥ ५ ॥
यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ॥
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ॥ ६ ॥
तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मापरमात्मनोः ॥
प्रनष्टसर्वसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥ ७ ॥

॥ टीका ॥

समाधिपर्यायान् विशेषेणाह ॥ राजयोग इत्यादिना श्लोकद्वयेन ॥ स्पष्टम् ३।४ त्रिभिःसमाधिमाह ॥ सलिल इति ॥ यदेति ॥ तत्सममिति ॥ यद्वद्यथा सैंधवं सिंधुदेशोद्भवं लवणं सलिले जले योगतः संयोगात्साम्यं सलिलसाम्यं सलिलैक्यत्वं भजति प्राप्नोति तथा तद्वदात्मा च मनश्चात्ममनसी तयोरात्ममनसोरैक्यमेकाकारता । आत्मनि धारितं मन आत्माकारं सदात्मसाम्यं भजति तादृशमात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते समाधिशब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

॥ भाषा ॥

अब समाधिके पर्याय कहें हें ॥ राजयोगेति श्लोकद्वयेन ॥ राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्वं, लय, शून्याशून्यपरंपद ॥ ३ ॥ अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा और तुर्या ये सब समाधीकेही वाचक हें ये भेद आगे कहे हें ॥ ४ ॥

सलिल इति ॥ यदेति ॥ तत्सममिति ॥ जेंसें सिंधुदेशमें हुयो सो सेंधव लवण सो जलमें योगकरकें जलकोई समान भाव होय जाय हे तेसेंही आत्मामें लगायो जो मन सो आत्माकी समान होय हे और आत्मा और मन इनके ऐक्य होनो ताकूं समाधी कहे हें ॥ ५ ॥ जब प्राण क्षीण होय मनमें लीन होय तब अमरभावकूं प्राप्त होय ताकूंबी समाधि कहें हें ॥ ६ ॥ और जीवात्मा और परमात्माको सम ऐक्यभाव होय हे तब नष्ट होय हें सर्व संकल्प जाके ताकूं समाधि कहें हें ॥ ७ ॥

मू॰ राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः ॥
ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ८ ॥
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ॥
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥ ९ ॥
विविधैरासनैः कुंभैर्विचित्रैः करणैरपि ॥
प्रबुद्धायां महाशक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते ॥ १० ॥

॥ टीका ॥

अथ राजयोगप्रशंसा ॥ राजयोगस्येति ॥ राजयोगस्यानंतरमेवोक्तस्य माहात्म्यं प्रभावं तत्त्वतो वस्तुतः को वा जानाति। न कोऽपि जानातीत्यर्थः। तत्त्वतो वक्तुमशक्यत्वेऽप्येकदेशेन राजयोगप्रभावमाह। ज्ञानं स्वस्वरूपापरोक्षानुभवे मुक्तिर्विदेहमुक्तिः स्थितिर्निर्विकारस्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिः सिद्धिरणिमादिर्गुरुवाक्येन गुरुवचसा लभ्यते। राजयोगादिति शेषः ॥ ८ ॥

दुर्लभ इति ॥ विशेषेण षिण्वंत्यवबध्नंति प्रमातारं स्वसंगेनेति विषया ऐहिका दारादय आमुष्मिकाः सुधादयस्तेषां त्यागो भोगेच्छाभावो दुर्लभः। तत्त्वदर्शनमात्मापरोक्षानुभवः दुर्लभं सहजावस्था तुर्यावस्था सद्गुरोः 'दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्यमि' ति वक्ष्यमाणलक्षणस्य करुणां दयां विनेति सर्वत्र संबध्यते। दुर्लभा लब्धुमशक्या 'दुः स्यात्कष्टनिषेधयोरि' ति कोशः। गुरुकृपया तु सर्वं सुलभमिति भावः ॥ ९ ॥

विविधैरिति ॥ विविधैरनेकविधैरासनैर्मत्स्येंद्रादिपीठैर्विचित्रैर्नानाविधैः कुंभकैः। विचित्रैरिति काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र संबध्यते। विचित्रैरनेकप्रकारैः करणैर्हठसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकैर्महामुद्रादिभिर्महाशक्तौ कुंडलिन्यां प्रबुद्धायां गत-

॥ भाषा ॥

अब राजयोगकी प्रशंसा कहें हें ॥ राजयोगस्येति ॥ राजयोगको माहात्म्य जो प्रभाव ताय तत्वकरकें कोई नही जाने हे. ज्ञानमुक्ति स्थिति जो जीवन्मुक्ति और सिद्धी जो अणिमादिक ये सब गुरूनके वाक्यकरकें राजयोगतें प्राप्त होय हे ॥ ८ ॥

दुर्लभ इति ॥ उत्तम गुरूनकी कृपाविना विषय त्याग भोगवेकी इच्छाको अभाव दुर्लभ हे. तत्वदर्शन आत्माको परोक्ष अनुभव दुर्लभ हे. सहजावस्था जो तुर्यावस्था सोबी दुर्लभ हे. और गुरुकी कृपाकरकें तो संपूर्ण सुलभ है ॥ ९ ॥

विविधैरिति ॥ नानाप्रकारके आसन मत्स्येंद्रादिक और नानाप्रकारके कुंभक और

मू० उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः ॥
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥ ११ ॥
सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे ॥
तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् ॥ १२ ॥

॥ टीका ॥

निद्रायां सत्यां प्राणो वायुः शून्ये ब्रह्मरंध्रे प्रलीयते प्रलयं प्राप्नोति । व्यापाराभावः प्राणस्य प्रलयः ॥ १० ॥

उत्पन्नेति ॥ उत्पन्नो जातः शक्तिबोधः कुंडलीबोधो यस्य तस्य त्यक्तानि परिहृतानि निःशेषाणि समग्राणि कर्माणि येन तस्य योगिनः । आसनेन कायिकव्यापारे त्यक्ते प्राणेंद्रियेषु व्यापारस्तिष्ठति । प्रत्याहारधारणाध्यानसंप्रज्ञातसमाधिभिर्मानसिकव्यापारे त्यक्ते बुद्धौ व्यापारस्तिष्ठति 'असंगो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतेरपरिणामी शुद्धः पुरुषः सत्त्वगुणात्मिका परिणामिनि बुद्धिरिति ॥ ११ ॥

परवैराग्येण दीर्घकालसंप्रज्ञाताभ्यासेनैव वा बुद्धिव्यापारे परित्यक्ते निर्विकारस्वरूपावस्थितिर्भवति सैव सहजावस्था तुर्यावस्था जीवन्मुक्तिः स्वयमेव प्रयत्नांतरं विनैव प्रजायते प्रादुर्भवति । 'येन त्यजसि तत्त्यजेति निःसंगः प्रज्ञया भवेदि' ति च श्रुतेः । सुषुम्नेति ॥ प्राणे वायौ सुषुम्नावाहिनि मध्यनाडीप्रवाहिनि सति

॥ भाषा ॥

नानाप्रकारकी महामुद्रादिक इनकरकें महाशक्ति जो कुंडलिनी सो जब जाग उठे हे तब प्राणवायु शून्य जो ब्रह्मरंध्र तामें लयकूं प्राप्त होय हे ॥ १० ॥

उत्पन्नेति ॥ उत्पन्न हुयो है कुंडलीको बोध जिनके दूर किये हैं समग्र कर्म जाने ता योगीके आसनकरकें देहके व्यापार दूर होय जाय और प्राणेंद्रिय इनमें व्यापार स्थित रहे हे और प्रत्याहार धारणा ध्यान संप्रज्ञात समाधि इनकरकें मनके व्यापार दूर होय जाय तब बुद्धीमें व्यापार स्थित रहे हें तब सत्वगुणरूपा बुद्धी होय हे वैराग्यकरकें दीर्घ काल संप्रज्ञातके अभ्यासकरकें बुद्धीके व्यापार दूर होय जाय तब निर्विकार स्वरूपमें स्थिति होय हे याकूं सहजाऽवस्था कहें हे. और याहीकूं तुर्यावस्था कहें हें और या योगीकूं जीवन्मुक्ति अपने आप और यत्नकरे विनाई प्राप्त होय हे ॥ ११ ॥

सुषुम्नेति ॥ और जब प्राणवायु सुषुम्ना जो मध्यनाडी तामें चलन लगे हे तब अंतःकरण शून्य जो ब्रह्म तामें प्रवेश करजाय ता कालमें योगवेत्ता संपूर्ण जे प्रारब्धकर्म तिनें निर्मूल करे हे ॥ १२ ॥

मू० अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जितः ॥
पतितं वदने यस्य जगदेतच्चराचरम् ॥ १३ ॥
चित्ते समत्वमापन्ने वायौ व्रजति मध्यमे ॥
तदामरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते ॥ १४ ॥
ज्ञानं कुतो मनसि संभवतीह ताव-
त्प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत् ॥

॥ टीका ॥

मानसेंऽतःकरणे शून्ये देशकालवस्तुपरिच्छेदहीने ब्रह्मणि विशति सति तदा तस्मिन् काले योगविच्चित्तवृत्तिनिरोधज्ञः सर्वाणि कर्माणि समारब्धानि निर्मूलानि करोति निर्मूलयति निर्मूलशब्दा 'त्तत्करोती'ति णिच् ॥ १२ ॥

समाध्यभ्यासेन प्रारब्धकर्मणोऽप्यभिभवाज्जितकालं योगिनं नमस्करोति ॥ अमरायेति ॥ न म्रियत इत्यमरः। तस्मा अमराय चिरंजीविने तुभ्यं योगिने नमः। सोऽपि दुर्वारोऽपि कालो मृत्युस्त्वया योगिना जितोऽभिभूतः । इदं वाक्यं नमस्करणे हेतुः । स कः यस्य कालस्य वदने मुखे एतद्दृश्यमानं चराचरं स्थावरजंगमं जगत्संसारः पतितः । सोऽपि जगद्भक्षकोऽपीत्यर्थः ॥ १३ ॥

पूर्वोक्तममरोल्यादिकं समाधिसिद्धावेव सिद्ध्यतीति समाधिनिरूपणानंतरं समाधिसिद्धौ तत्सिद्धिरित्याह ॥ चित्त इति ॥ चित्तेंऽतःकरणे समत्वं ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहत्वं आपन्ने प्राप्ते सति वायौ प्राणे मध्यमे सुषुम्नायां व्रजति सतीति चित्तसमत्वे हेतुः । तदा तस्मिन् काले अमरोली वज्रोली सहजोली च पूर्वोक्ताः प्रजायंते नाजितप्राणस्य न चाजितचित्तस्य सिद्ध्यंतीति भावः ॥ १४ ॥

हठाभ्यासं विना ज्ञानं मोक्षश्च न सिद्ध्यतीत्याह ॥ ज्ञानमिति ॥ यावत्प्राणो

॥ भाषा ॥

अब समाधिके अभ्यासकरकें प्रारब्धकर्मकूं तिरस्कार करे हे यातें जीत्यो हे काल जाने ता योगीकूं नमस्कार करें हें ॥ अमरायेति ॥ जा कालके मुखमें थावर जंगम सहित संसार पड्यो हे वो काल जगतकूं भक्षण करे हे और काऊतें निवारण नही होय सो काल मृत्यु तुम योगीनकरकें तिरस्कार कियो गयो एसे अमरयोगी जो तुम ता तुह्मारे अर्थ नमस्कार हो॥ १३॥

चित्त इति ॥ चित्तजो अंतःकरण सो आत्मामें समभावकूं प्राप्त होय जाय और प्राणवायु सुषुम्नामें चलवे लगजाय तब अमरोली वज्रोली सहजोली प्रगट होय हें ॥ १४ ॥

हठाभ्यास विना ज्ञान मोक्ष नही सिद्ध होय हे ये कहें हें ॥ ज्ञानमिति ॥ इडा पिंग-

मू० प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो
मोक्षं स गच्छति नरो न कथंचिदन्यः ॥ १९ ॥

॥ टीका ॥

जीवति । अपिशब्दादिंद्रियाणि जीवंति न तु म्रियंते । यावन्मनो न म्रियते किंतु जीवत्येव । इडापिंगलाभ्यां वहनं प्राणस्य जीवनं स्वस्वविषयग्रहणमिंद्रियाणां जीवनं नानाविषयाकारवृत्त्युत्पादनं मनसो जीवनं तत्तद्भावतत्तन्मरणमत्र विवक्षितम् । ननु स्वरूपतस्तेषां नाशस्तावन्मनस्यंतःकरणे ज्ञानमात्मापरोक्षानुभवः कुतः संभवति न । कर्तापि प्राणेंद्रियमनोवृत्तीनां ज्ञानप्रतिबंधकत्वादिति भावः । प्राणो मनः इदं द्वयं यो योगी विलयं नाशं नयेत्स मोक्षमात्यंतिकस्वरूपावस्थानलक्षणं गच्छति प्राप्नोति । ब्रह्मरंध्रे निर्व्यापारस्थितिः प्राणस्य लयः । ध्येयाकारावेशात् । विषयांतरेणापारेण मनसो लयोऽन्यः । अलीनप्राणोऽलीनमनाश्च कथंचिदुपायशतेनापि न मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः । तदुक्तं योगबीजे । 'नानाविधैर्विचारैस्तु न साध्यं जायते मनः । तस्मात्तस्य जयः प्रायः प्राणस्य जय एव ही' ति । नानामार्गैः सुखदुःखमार्यं कैवल्यं परमं पदं 'सिद्धमार्गेण लभ्येत नान्यथा शिवभाषितमि'ति च । सिद्धमार्गो योगमार्गः । एतेन योगं विना ज्ञानं मोक्षश्च न सिद्ध्यतीति सिद्धं । श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिषु चेदं प्रसिद्धं । तथाहि अथ तद्दर्शनाभ्युपायो योग इति तद्दर्शनमात्मदर्शनं । 'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरोहर्षशोकौ जहाती'ति । 'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेद'इति 'यदा पंचावतिष्ठंते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम् ॥ तां योगमिति मन्यंते स्थिरामिंद्रियधारणाम् । अप्रमत्तस्तदा भवती'ति । 'यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दयोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् । अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः । ब्रह्मणे त्वा महस ओमित्यात्मानं युंजीतेति त्रिरुन्नतः स्थाप्य समशरीरः हृदींद्रियाणि मनसा सन्निवेश्य ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत

॥ भाषा ॥

लान कर वायु चले ये प्राणको जीवन हे और इंद्रिय अपने अपने विषयनकूं ग्रहण करे ये इंद्रीनको जीवन हे और अनेक विषयनकी वृत्तीनकूं प्रगट करनो ये मनको जीवन हे तो जब तांई प्राण जीवे हैं इंद्रिय जीवे हैं जब तांई मन जीवे हे ये सब जब तांई मरें नही तब तलक ज्ञान जो आत्माको परोक्ष अनुभव नही होय और प्राण और मन इन दोनोनकूं जो योगी नाश करदे सो योगी मोक्षकूं प्राप्त होय और नही लीन हे प्राण जाको और नही लीन हे मन जाको वो पुरुष सौ उपाय करकेंबी मोक्षकूं नही प्राप्त होय ॥ १९ ॥

॥ टीका ॥

विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानी'ति । ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानमित्याद्याः श्रुतयः । यतिधर्मप्रकरणे मनुः । 'भूतभाव्यानवेक्षेत योगेन परमात्मनः । देहद्वयं विहायाशु मुक्तो भवति बंधनात् ॥' याज्ञवल्क्यस्मृतौ । 'इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणां । अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥' महर्षिमातंगः । 'अग्निष्टोमादिकान् सर्वान् विहाय द्विजसत्तमः । योगाभ्यासरतः शांतः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ब्राह्मणक्षत्रियवैशां स्त्री शूद्राणां च पावनम् । शांतये कर्मणामन्यद्योगान्नास्ति विमुक्तये ॥' दक्षस्मृतौ व्यतिरेकमुखेनोक्तं । 'स्वसंवेद्यं हि तद्ब्रह्म कुमारी स्त्रीसुखं यथा । अयोगी नैव जानाति जात्यंधो हि यथा घटमि' त्याद्याः स्मृतयः । महाभारते योग मार्गे व्यासः । 'अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकांक्षिणी । तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम् ॥ यदि वा सर्वधर्मज्ञो यदि वाप्यकृती पुमान । यदि वा धार्मिकः श्रेष्ठो यदि वा पापकृत्तमः ॥ यदि वा पुरुषव्याघ्रो यदि वा क्लैब्यधारकः । नरःसेव्यं महादुःखं जरामरणसागरम् । अपि जिज्ञासमानोऽपि शब्दब्रह्मातिवर्तते' इति । भगवद्गीतायां ।'युंजन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः । शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानमि' त्यादि च । आदित्यपुराणे । 'योगात्संजायते ज्ञानं योगो मय्येकचित्तता ।' स्कंदपुराणे । 'आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्च योगादृते नहि । स च योगश्चिरं कालमभ्यासादेव सिद्ध्यति ॥' कूर्मपुराणे शिववाक्यम् । 'अतःपरं प्रवक्ष्यामि योगं परमदुर्लभं । येनात्मानं प्रपश्यंति भानुमंतमिवेश्वरम् । योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपंजरम् । प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति ॥' गरुडपुराणे । तथा यतेत मतिमान्यथा स्यान्निर्वृत्तिः परा । योगेन लभ्यते सा तु न चान्येन तु केनचित् ॥ भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम् । परावरप्रसक्ता धीर्यस्य नैवदसंभवा ॥ स च योगाग्निना दग्धसमस्तक्लेशसंचयः । निर्वाणं परमं नित्यं प्राप्नोत्येव न संशयः ॥ संप्राप्तयोगसिद्धिस्तु पूर्णो यस्त्वात्मदर्शनात् । न किंचिद्दृश्यते कार्यं तेनैव सकलं कृतम् । आत्मारामः सदा पूर्णः सुखमात्यंतिकं गतः । अतस्तस्यापि निर्वेदः परानंदमयस्य च ॥ तपसा भावितात्मानो योगिनः संयतेंद्रियाः । प्रतरंति महात्मानो योगेनैव महार्णवम् ॥' विष्णुधर्मेषु । 'यच्छ्रेयः सर्वभूतानां स्त्रीणामप्युपकारकम् । अपि कीटपतंगानां तन्नः श्रेयः परं वद ॥ इत्युक्तः कपिलः पूर्वं देवैर्देवर्षिभिस्तथा । योग एव परं श्रेयस्तेषामित्युक्तवान् पुरा ॥' वासिष्ठे । 'दुःसहा राम संसारविषवेगविषूचिका । योगगारुडमंत्रेण पावनेनोपशाम्यति ॥ ' ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यैरप्यपरोक्षप्रमाणं भवतीति किमर्थमतिश्रमसाध्ये योगे प्रयासः

॥ टीका ॥

कार्यः । न च वाक्यजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वे प्रमाणासंभव इति वाच्यम् । तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानमपरोक्षम् । अपरोक्षविषयकत्वात् । चाक्षुसघटादिप्रत्यक्षवदित्यनुमानस्य प्रमाणत्वात् । न च विषयगतापरोक्षत्वस्य नीरूपत्वाद्धेत्वसिद्धिरिति वाच्यम् । अज्ञानविषयचित्त्वतत्तादात्म्यापन्नत्वान्यतररूपस्य तस्य सुनिरूपत्वात् । यथा हि घटादौ चक्षुःसन्निकर्षेणांतःकरणवृत्तिदशायां तदधिष्ठानचैतन्याज्ञाननिवृत्तौ तच्चैतन्यस्याज्ञानविषयता तद्घटस्याज्ञानविषयचैतन्यतादात्म्यापन्नत्वं चापरोक्षत्वम् । तथा तत्त्वमस्यादिवाक्येन शुद्धचैतन्याकारांतःकरणवृत्त्युत्थापने सति तदज्ञानस्य निवृत्तत्वेनैव तत्त्वस्याज्ञानविषयत्वाच्चैतन्यस्यापरोक्षत्वमिति न हेत्वसिद्धिः । न चाप्रयोजकत्वं ज्ञानगम्यत्वापरोक्षत्वं प्रत्यक्षपरोक्षविषयकत्वेन प्रयोजकत्वात् । नत्विंद्रियजन्यत्वं मनस इंद्रियत्वाभावेन सुखादिपरत्वेऽव्यभिचारात् । अथवाभिव्यक्तचैतन्याभिन्नतया भासमानत्वं विषयस्यापरोक्षत्वम् । अभिव्यक्तत्वं च निवृत्त्यावरणकत्वं परोक्षवृत्तिस्थले वावरणनिवृत्त्यभावन्नातिव्याप्तिः । सर्पादिभ्रमजनकदोषवतस्तु नायं सर्पः किंतु रज्जूरिति वाक्येन जायमाना वृत्तिस्तु नावरणं निवर्तयतीति तत्र परोक्ष एव विषयः । वेदांतवाक्यजन्यं च ज्ञानमावरणनिवर्तकत्वादपरोक्षमेव तन्मननादेः पूर्वमुत्पन्नम् । ज्ञाननिवर्तकप्रमाणासंभावनादिदोषसामान्याभावविशिष्टस्यैव तस्याज्ञाननिवर्तकत्वात् । किंच 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी' ति श्रुतिप्रतिपन्नमुपनिषन्मात्रागम्यत्वं योगगम्यत्वेनोपपन्नं स्यात् । तस्मात्तत्त्वमस्यादिवाक्यादेवापरोक्षमिति चेन्न । अनुमानस्याप्रयोजकत्वात् । न च प्रत्यक्षं प्रति निरुक्ताक्षसामान्यं प्रतींद्रियत्वेन कारणतया तज्जन्यत्वस्यैव प्रयोजकत्वान्नित्यानित्यसाधारणप्रत्यक्षत्वे तु नकिंचित्प्रयोजकत्वमिति, तन्मते तु प्रत्यक्षविशेषे इंद्रियं कारणं तद्विशेषे च शब्दविशेष इत्येवं कार्यकारणभावद्वयं स्यात् । न च मनसोऽनिंद्रियत्वं मनस इंद्रियत्वे बाधकाभावादिंद्रियाणां मनोनाथ इति मनुष्यमिवोद्दिश्य मनुष्याणामयं राजेत्यादिवदिंद्रियेष्वेव किंचिदुत्कर्षं ब्रवीति । न तु तस्याप्यनिंद्रियत्वं तत्त्वं च षट्स्वखंडोपाधिविशेष एव । अत एव 'कर्मेंद्रियं तु पाय्वादि मनोनेत्रादि धींद्रियमि' ति 'प्रत्यक्षं स्यादैंद्रियकमप्रत्यक्षमतींद्रियमि'ति च शक्तिप्रमाणभूतकोशेऽपींद्रियाप्रमाणकज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वं वदन् मनस इंद्रियत्वज्ञापकत्वं संगच्छते । 'इंद्रियाणि दशैकं चे' ति गीतावचनं मनस इंद्रियत्वे प्रमाणम् । किंच तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानं शाब्दम् । शब्दजन्यत्वा 'द्यजेते' त्यादिवाक्यजन्यज्ञानवदित्यनेनापरोक्षविरोधिशाब्दत्वसाधनेन सत्प्रतिपक्षः । न चेदमप्रयोजकम् । शाब्दं प्रत्येव शब्दस्य जनकत्वेन लाघवम्-

॥ टीका ॥

लकानुकूलतर्कात् । त्वन्मते तु शब्दादपि प्रत्यक्षस्वीकारेण कार्यकारणभावद्वयकल्पने गौरवम् । अपि च मननिदिध्यासनाभ्यां पूर्वमप्युत्पन्नम् । तव मते परोक्षमपि नाज्ञाननिवर्तकमित्यज्ञाननिवृत्तिं प्रति बाधज्ञानत्वेनैव हेतुत्वमिति गौरवम् । मम तु समाध्यभ्यासपरिपाकेनासंभावनादिसकलमलरहितेनांतःकरणेनात्मनि दृष्टे सति दर्शनमात्रादेवाज्ञाने निवृत्ते न कश्चिद्गौरवावकाशः । 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः । यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञ' इत्यारभ्याज्ञाननिवृत्त्यर्थकेन 'मृत्युमुखात्प्रमुच्यते । इत्येतेन कठवल्लीस्थमृत्यूपदेशेन संमतोऽयमर्थ इति न कश्चिदत्र विवादः' इति यदि तु मननादेः पूर्वमुत्पन्नं ज्ञानं परोक्षमेवेति न प्रतिबद्धत्वकृतगौरवमिति मतमाद्रियते तदपि श्रवणादिभिर्मनःसंस्कारे सिद्धेऽव्यवहितोत्तरमात्मदर्शनसंभवात्तदुत्तरं वाक्यस्मरणादिकल्पनं महद्गौरवापादकमेव । ननु न वयं केवलेन तर्केण शब्दजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वं वदामः किंतु श्रुत्यापि । तथाहि । 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामी' ति श्रुत्या चौपनिषदत्वं पुरुषस्य नोपनिषज्जन्यबुद्धिविषयत्वमात्रं प्रत्यक्षादिगम्येप्यौपनिषदत्वे व्यवहारापत्तेः । यथा हि द्वादशकपालेऽष्टानां कपालानां सत्त्वेऽपि द्वादशकपालसंस्कृतेनाष्टाकपालादिव्यवहारः । यथा द्विपुत्रादावेकपुत्रादिव्यवहारः । तथात्रापि । नान्यत्र तथा व्यवहार इति । उपनिषन्मात्रगम्यत्वमेव प्रत्ययार्थः । तच्चमनोगम्यत्वेऽनुपपन्नमिति चेन्न । नहि प्रत्ययेनोपनिषद्भिन्नं सर्वं कारणत्वेन व्यावर्त्यते । शब्दापरोक्षवादिना त्वयाप्यात्मपरोक्षे मनआदीनां करणत्वस्यांगीकारात् । किंतु पुराणादिशब्दांतरमेव 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः' इति स्मरणात्स चार्थो ममापि संमत इति न किंचिदेतत् । प्रमाणांतरव्यावृत्तौ तात्पर्यकल्पनं चात्मपरोक्षे शब्दस्य प्रमाणत्वे सिद्ध एव वक्तुमुचितम् । शब्दांतरव्यावृत्तितात्पर्यं तु श्रुत्यादिसंमतत्वात्कल्पयितुमुचितमेव । एवं स्थिते 'मनसैवानुद्रष्टव्यं मनसैवेदमाप्तव्यमि' त्यादिश्रुतयोऽप्यांजस्येन प्रतिपादिता भवेयुः । यत्तु केश्चिदुक्तं । दर्शनवृत्तिं प्रति मनोमात्रस्योपादानत्वपरायत्ताः श्रुतयो न विरुध्यंत इति तदतीव विचारासहम् । यतः प्रमाणाकांक्षायां प्रवृत्तास्ताः कथमुपादानपरा भवेयुः । 'कामः संकल्पो विचिकित्से' त्यादिश्रुत्या सावधारणया सर्वासां वृत्तीनां मनोमात्रोपादानकत्वे बोधिते आकांक्षाभावेनोपादानतात्पर्यकत्वेन वर्णयितुं कथं शक्येरन् । पूर्वं द्वितीयवल्ल्यां प्रणवस्य ब्रह्मबोधकत्वेनोक्तेस्तस्याप्यपरोक्षहेतुत्वमिति शंका

॥ टीका ॥

निवारयितुं 'मनसैवानुद्रष्टव्यमि' त्यादि सावधारणवाक्यानीत्येव वर्णयितुं शक्यानि स्युरित्यलमतिवाग्जालेन । वस्तुतस्तु योगिनां समाधौ दूरविप्रकृष्टपदार्थज्ञानं सर्वशास्त्रप्रसिद्धं न परोक्षं । तदानीं परोक्षसामग्र्यभावात् । नापि स्मरणं । तेषां पूर्वविशिष्यानुभवात् । नापि सुखादिज्ञानवत्साक्षिरूपं । अपसिद्धांतात् । नाप्यप्रमाणकं प्रमासामान्ये करणनियमात् । नापि चक्षुरादिजन्यं । तेषामसन्निकर्षात् । तस्मान्मानसिकी प्रमैव सा वाच्येति मनस इंद्रियत्वं प्रमाणत्वं च दूरमपह्नवमेवेति । येऽपि योगश्रुत्योः समुच्चयं कल्पयंति तेषामपि पूर्वोक्तदूषणगणस्तदवस्थ एव । तस्माद्योगजन्यसंस्कारसचिवमनोमात्रगम्य आत्मेति सिद्धं । न च कामिनीं भावयतो व्यवहितकामिनीसाक्षात्कारस्येव भावनाजन्यत्वेनात्मसाक्षात्कारस्याप्रमात्वप्रसंगः । अबाधितविषयत्वात् दोषजन्यत्वाभावाच्च । कामिनीसाक्षात्कारस्य तु बाधितविषयत्वाद्दोषजन्यत्वाच्चाप्रामाण्यं न । भावनाजन्यत्वात् । न च भावनासमाधेर्ज्ञापकत्वे प्रमाणांतरापातः । तस्या मनःसहकारित्वात्प्रमाणनिरूपणानिपुणैर्नैयायिकादिभिरपि योगजप्रत्यक्षस्यालौकिकप्रत्यक्षेंऽतर्भावः कृतः । योगजालौकिकसन्निकर्षेण योगिनो व्यवहितविप्रकृष्टसूक्ष्मार्थमात्मानमपि यथार्थं पश्यंति । तथा च पातंजले सूत्रे । "ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषयाविशेषार्थत्वात्" तत्र समाधौ या प्रज्ञास्याः श्रुतं श्रवणं शाब्दबोधः । अनुमननमनुमानं यौक्तिकज्ञानं तद्रूपप्रज्ञाभ्यामन्यविषया । कुतः । विशेषार्थत्वात् । विशेषो निर्विकल्पोऽर्थो विषयो यस्याः सा तथा तस्या भावस्तथात्वं तस्माच्छब्दस्यापदार्थतावच्छेदकपुरस्कारेणैवानुमानस्य व्यापकत्वावच्छेदकपुरस्कारेणैव धीजनकत्वनियमेन तद्ग्रहणे योग्यविशेष्यमात्रपरत्वादित्यर्थः । अत्र वादरायणकृतं भाष्यं । श्रुतमागमविज्ञानं तत्सामान्यविषयं नह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुं कस्मान्नहि विशेषेण कृतसंकेतः शब्द इत्यारभ्य समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव सविशेषो भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वेति । योगबीजे । 'ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽपि जितेंद्रियः । विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये ।' किंच । 'तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिंगं मनो यत्र निषिक्तमस्ये' ति श्रुतेः । 'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' इति स्मृतेश्च देहावसानसमये यत्र रागाद्युद्बुद्धो भवति तामेव योनिं जीवः प्राप्नोतीति योगहीनस्य जन्मांतरं स्यादेव मरणसमये समुद्भूतवैक्लव्यस्यायोगिना वारयितुमशक्यत्वात् । तदुक्तं योगबीजे । 'देहावसानसमये चित्ते यद्यद्विभावयेत् । तत्तदेव भवेज्जीव इत्येवं जन्मकर-

॥ टीका ॥

रणम् । देहांते किं भवेज्जन्म तन्न जानंति मानवाः । तस्माज्ज्ञानं च वैराग्यं जपश्च केवलं श्रमः । पिपीलिका यदा लग्ना देहे ज्ञानाद्विमुच्यते । असौ किं वृश्चिकैर्दष्टो देहांते वा कथं सुखी ॥' इति । योगिनां तु योगबलेनांतकालेऽप्यात्मभावनया मोक्ष एवेति न स्याज्जन्मांतरं । तदुक्तं भगवता । 'प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।' इत्यादिना । 'शतं चैका हृदयस्य नाड्यः' इत्यादि श्रुतेश्च । न च तत्त्वमस्यादिवाक्यस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वे तद्विचारस्य वैयर्थ्यमेवेति शक्यम् । वाक्यविचारजन्यज्ञानस्य योगद्वाराऽपरोक्षज्ञानसाधनत्वात् । अत्र च योगबीजे गौरीश्वरसंवादो महानस्ति ततः किंचिल्लिख्यते । 'देव्युवाच । ज्ञानिनस्तु मृता ये वै तेषां भवति कीदृशी । गतिः कथय देवेश कारुण्यामृतवारिधे ॥ ईश्वर उवाच ॥ देहांते ज्ञानिना पुण्यात्पापात्फलमवाप्यते । यादृशं तु भवेत्तत्तद्भुक्त्वा ज्ञानी पुनर्भवेत् ॥ पश्चात्पुण्येन लभते सिद्धेन सह संगतिम् । ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा । ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम् ॥ देव्युवाच ॥ ज्ञानादेव हि मोक्षं च वदंति ज्ञानिनः सदा ॥ न कथं सिद्धयोगेन योगः किं मोक्षदो भवेत् ॥ ईश्वर उवाच ॥ ज्ञानेनैव हि मोक्षो हि तेषां वाक्यं तु नान्यथा ॥ सर्वे वदंति खड्गेन जयो भवति तर्हि किम् । विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात् । तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत् ॥' इत्यादि । ननु जनकादीनां योगमंतरेणाप्यप्रतिबद्धज्ञानमोक्षयोः श्रवणात्कथं योगादेवाप्रतिबद्धज्ञानं मोक्षश्चेति चेत् । उच्यते । तेषां पूर्वजन्मानुष्ठितयोगजसंस्काराज्ज्ञानप्राप्तिरिति पुराणादौ श्रूयते । तथाहि ॥ 'जैगीषव्यो यथा विप्रो यथा चैवासितादयः । क्षत्रिया जनकाद्यास्तु तुलाधारादयो विशः । संप्राप्ताः परमां सिद्धिं पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः । धर्मव्याधादयः सप्त शूद्राः पैलवकादयः । मैत्रेयी सुलभा शार्ङ्गी शांडिली च तपस्विनी । एते चान्ये च बहवो नीचयोनिगता अपि । ज्ञाननिष्ठां परां प्राप्ताः पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः ॥' इति । किंच । पूर्वजन्मानुष्ठितयोगाभ्यासपुण्यतारतम्येन केचिद्ब्रह्मत्वं केचिद्ब्रह्मपुत्रत्वं केचिद्देवर्षित्वं केचिद्ब्रह्मर्षित्वं केचिन्मुनित्वं केचिद्भक्तत्वं च प्राप्ताः संति । तत्रोपदेशमंतरेणैवात्मसाक्षात्कारवंतो भवेयुः । तथाहि । हिरण्यगर्भवसिष्ठनारदसनत्कुमारवामदेवशुकादयो जन्मसिद्धा इत्येव पुराणादिषु श्रूयते । यत्तु ब्राह्मण एव मोक्षाधिकारीति श्रूयते पुराणादौ तद्योगिपरं । तदुक्तं गरुडपुराणे । "योगाभ्यासो नृणां येषां नास्ति जन्मांतरादृतः । योगस्य प्राप्तये तेषां

मू० ज्ञात्वा सुषुम्नासद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम् ॥
स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरंध्रे निरोधयेत् ॥ १६ ॥
सूर्याचंद्रमसौ धत्तः कालं रात्रिंदिवात्मकम् ॥
भोक्री सुषुम्ना कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ॥ १७ ॥

॥ टीका ॥

शूद्रवैश्यादिकक्रमः । स्त्रीत्वाच्छूद्रत्वमभ्येति ततो वैश्यत्वमाप्नुयात् । ततश्च क्षत्रियो विप्रः कृपाहीनस्ततो भवेत् । अनूचानः स्मृतो यज्वा कर्मन्यासी ततः परम् । ततो ज्ञानित्वमभ्येति योगी मुक्तिं क्रमाल्लभेदि' ति । शूद्रवैश्यादिक्रमाद्योगी भूत्वा मुक्तिं लभेदित्यर्थः । इत्थं च योगे सर्वाधिकारश्रवणाद्योगोत्पन्नतत्त्वज्ञानेन सर्व एव मुच्यंत इति सिद्धं । योगिनस्तु भ्रष्टस्यापि न शूद्रादिक्रमः । ' शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ अथवा योगिनामेवे' त्यादि भगवद्वचनादित्यलम् ॥ १५ ॥

प्राणमनसोर्लयं विना मोक्षो न सिध्यतीत्युक्तं । तत्र प्राणलयेन मनसोऽपि लयः सिध्यतीति तल्लयरीतिमाह ॥ ज्ञात्वेति ॥ सदेव सर्वदैव सुस्थाने शोभने स्थाने 'सुराज्ये धार्मिके देशे' इत्याद्युक्तलक्षणे स्थित्वा स्थितिं कृत्वा वसतिं कृत्वेत्यर्थः । सुषुम्ना मध्यनाडी तस्याः सद्भेदं शोभनं भेदनप्रकारं ज्ञात्वा गुरुमुखाद्विदित्वा वायुं प्राणं मध्यगं मध्यनाडीसंचारिणं कृत्वा ब्रह्मरंध्रे मूर्धावकाशे निरोधयेन्नितरां रुद्धं कुर्यात् । प्राणस्य ब्रह्मरंध्रे निरोधो लयः प्राणलये जाते मनोऽपि लीयते । तदुक्तं वासिष्ठे । 'अभ्यासेन परिस्पंदे प्राणानां क्षयमागते । मनः प्रशममायाति निर्वाणमवशिष्यते ॥' इति । प्राणमनसोर्लये सति भावनाविशेषरूपसमाधिसहकृतेनांतःकरणेनाबाधितात्मसाक्षात्कारो भवति तदा जीवन्नेव मुक्तः पुरुषो भवति ॥ १६ ॥

प्राणलये कालजयो भवतीत्याह ॥ सूर्याचंद्रमसाविति ॥ सूर्यश्च चंद्रमाश्च सूर्या-

॥ भाषा ॥

ज्ञात्वेति ॥ सदा सर्वदा सुंदर राज्यहोय धर्मात्मा देश होय सुंदर स्थान होय तहां निवास करकें फिर सुषुम्ना मध्यनाडीके सुंदर भेदन प्रकार गुरुमुखसें जानकरकें प्राणवायुकूं मध्यनाडी सुषुम्नामें चलन लगे एसो करकें फिर ब्रह्मरंध्रमें लय करदे प्राणको लय होतेंही मनकोबी लय होय है ॥ १६ ॥

अब प्राणको लय होय तब कालकोबी जय होय है ये कहें हैं ॥ सूर्याचंद्रमसावि-

मू० द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पंजरे ॥
सुषुम्ना शांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः ॥ १८ ॥

॥ टीका ॥

चंद्रमसौ ॥ "देवताद्वंद्वे च" त्यानङ् । रात्रिश्च दिवा च रात्रिंदिवं । 'अचतुर' त्यादिना निपातितः । रात्रिंदिवं आत्मा स्वरूपं यस्य स रात्रिंदिवात्मकस्तं रात्रिंदिवात्मकं कालं समयं धत्तो विधत्तः कुरुतः । सुषुम्ना सरस्वती कालस्य सूर्याचंद्रमोभ्यां कृतस्य रात्रिंदिवात्मकस्य समयस्य भोक्त्री भक्षिका विनाशिका । एतद्गुह्यं रहस्यमुदाहृतं कथितं । अयं भावः । सार्धं घटिकाद्वयं सूर्यो वहति सार्धं घटिकाद्वयं चंद्रो वहति । यदा सूर्यो वहति तदा दिनमुच्यते । यदा चंद्रो वहति तदा रात्रिरुच्यते । पंचघटिकामध्ये रात्रिंदिवात्मकः कालो भवति । लौकिकाहोरात्रमध्ये योगिनां द्वादशाहोरात्रात्मकः कालव्यवहारो भवति । तादृशकालमानेन जीवानामायुर्मानमस्ति । यदा सुषुम्नामार्गेण वायुर्ब्रह्मरंध्रे लीनो भवति तदा रात्रिंदिवात्मकस्य कालस्याभावादुक्तं 'भोक्त्री सुषुम्ना कालस्ये'ति । यावद्ब्रह्मरंध्रे वायुर्लीयते तावद्योगिन आयुर्वर्धते । दीर्घकालाभ्यस्तसमाधिर्योगी पूर्वमेव मरणकालं ज्ञात्वा ब्रह्मरंध्रे वायुं नीत्वा कालं निवारयति स्वेच्छया देहत्यागं च करोतीति॥१७॥

द्वासप्ततीति ॥ पंजरे पंजरवच्छिरास्थिभिर्बद्धे शरीरे द्वाभ्यामधिकासप्ततिः

॥ भाषा ॥

ति ॥ सूर्य चंद्रमा ये दोनो रात्रि दिवस रूप जो समय ताय करें हें और सुषुम्ना जो सरस्वती सो सूर्यचंद्रमाकरके कियो गयो जो रात्रिदिवात्मक काल समय ताकूं नाशके करवेवाली हे. ये गोप्य कह्यो हे याको भाव ये हे. ढाई घडी सूर्य चले हे और ढाई घडी चंद्रस्वर चले जब सूर्य चले हे तबतो दिन कहे हें और जब चंद्र चले हे तब रात्रि कहे हें पांच घडीको रात्रिदिवात्मक काल होय हे लौकिक मनुष्यनको रात्रिदिन तामें द्वादशदिन रात्रिरूप काल होय हे एसें कालके प्रमाणकरके जीवनको आयु प्रमाण हे जब सुषुम्नामार्गकरकें वायु ब्रह्मरंध्रमें लीन होय हे तब रात्रिदिवसात्मक कालको अभाव रहे हे यातेंही सुषुम्ना कालकी नाशकर्त्ता कही जबताईं ब्रह्मरंध्रमें वायु लीन होय तितनें योगीकी आयु बढे. और दीर्घकाल तांई समाधिको अभ्यास करवेवालो योगी पूर्वही मरणकाल जानकरकें ब्रह्मरंध्रमें वायुकूं प्राप्तकरकें कालकूं निवारण करे फिर देहत्याग अपनी इच्छासूं करे हें ॥ १७ ॥

द्वासप्ततीति ॥ पिंजराकीसीनाईं नसेंकरके बंधो जो शरीर तामें बहत्तर हजार नाडीनके

मू० वायुः परिचितो यस्मादग्निना सह कुंडलीम् ॥
बोधयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधतः ॥ १९ ॥
सुषुम्नावाहिनि प्राणे सिद्ध्यत्येव मनोन्मनी ॥
अन्यथा त्वितराभ्यासाः प्रयासायैव योगिनाम् ॥ २० ॥

॥ टीका ॥

द्वासप्ततिः द्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीनां शिराणां द्वाराणि वायुप्रवेशमार्गाः संति सुषुम्ना मध्यनाडी शांभवी शक्तिरस्ति शं सुखं भवत्यस्माद्भक्तानामिति शंभुरीश्वरस्तस्येयं शांभवी । ध्यानेन शंभुप्रापकत्वात् । शंभोराविर्भावजनकत्वाद्वा शांभवी । यद्वा शं सुखरूपो भवति तिष्ठतीति शंभुरात्मा तस्येयं शांभवी चिदभिव्यक्तिस्थानत्वाद्ध्यानेनात्मसाक्षात्कारहेतुत्वाच्च । शेषा इडापिंगलादयस्तु निरर्थका एव निर्गतोऽर्थःप्रयोजनं यासां ता निरर्थकाः । पूर्वोक्तप्रयोजनाभावात् ॥ १८ ॥

वायुरिति ॥ यस्मात्परिचितोऽभ्यस्तो वायुस्तस्मादग्निना जठराग्निना सह कुंडलीं शक्तिं बोधयित्वा अनिरोधतोऽप्रतिबंधात्सुषुम्नायां सरस्वत्यां प्रविशेत् वायोः सुषुम्नाप्रवेशार्थमभ्यासः कर्तव्य इत्यर्थः ॥ १९ ॥

सुषुम्नेति ॥ प्राणे सुषुम्नावाहिनि सति मनोन्मनी उन्मन्यवस्था सिद्ध्यत्येव । अन्यथा प्राणे सुषुम्नावाहिन्यसति तु इतराभ्यासाः सुषुम्नेतराभ्यासा योगिनां योगाभ्यासिनां प्रयासायैव श्रमायैव भवंतीत्यर्थः ॥ २० ॥

॥ भाषा ॥

द्वार वायुके प्रवेशमार्ग हे. और सुषुम्ना शांभवी शक्ती हे भक्तनकूं शं जो सुख सो जातें होय सो शंभू ईश्वर ताकी ये शक्ती तासूं शांभवी नाम हे ध्यानकरकें शंभूकूं प्राप्त करे हे वा शंभूकूं प्रगट करे हे यातें शांभवी नाम हे. अथवा शं कहिये सुखरूप स्थित होय सो शंभू नाम आत्मा ताकी शक्ति यें चैतन्यकूं ध्यानकरकें ही आत्मसाक्षात्कार करे हे याते शांभवी नाम हे. और जे इडा पिंगलादिक नाडीतें गयो हे प्रयोजन जिनको एसी निरर्थक हे ॥ १८ ॥

वायुरिति ॥ अभ्यास कियो जो वायु तातें जाठराग्निकरकें सहित कुंडली ये बोधकरायकरकें और काऊकरकें रुके नही एसे वायुकूं कुंडली सरस्वतीमें प्रवेश करे वायुकूं सुषुम्नामें प्रवेशके अर्थ अभ्यास करनो योग्य हे ॥ १९ ॥

सुषुम्नेति ॥ प्राणवायु सुषुम्नामें चलने लगजाय तब मनोन्मनी उन्मनी अवस्था सिद्ध

मू० पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ॥
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ॥ २१ ॥
हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः ॥
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यतः ॥ २२ ॥

॥ टीका ॥

पवन इति ॥ येन योगिना पवनः प्राणवायुर्बध्यते बद्धः क्रियते तेनैव योगिना मनो बध्यते । येन मनो बध्यते तेन पवनो बध्यते । मनःपवनयोरेकतरे बद्धे उभयं बद्धं भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

हेतुद्वयं तु चित्तस्येति ॥ चित्तस्य प्रवृत्तौ हेतुद्वयं कारणद्वयमस्ति किं तदित्याह वासना भावनाख्यः संस्कारः समीरणः प्राणवायुश्च तयोर्वासनासमीरणयोरेकस्मिन्विनष्टे सति क्षीणे सति तौ द्वावपि विनश्यतः । अयमाशयः । वासनाक्षये समीरणचित्ते क्षीणे भवतः । समीरणे क्षीणे चित्तवासने क्षीणे भवतः । चित्ते क्षीणे समीरणवासने क्षीणे भवतः । तदुक्तं वासिष्ठे । 'द्वे बीजे राम चित्तस्य प्राणस्पंदनवासने । एकस्मिंश्च तयोर्नष्टे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः ॥' तत्रैव व्यतिरेकेणोक्तं । 'यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः । न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति ॥ न यावद्याति विज्ञानं न तावच्चित्तसंशयः । यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनम् । यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्त्वागमः कुतः ॥ यावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः । तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च ॥ मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितान्यतः । त्रय एते समं यावन्न स्वभ्यस्ता मुहुर्मुहुः ॥ तावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्भवत्यपि समाश्रितैः' ॥ इति ॥ २२ ॥

॥ भाषा ॥

होय हे. नही तो प्राण सुषुम्नामें नही वहे तो सुषुम्ना विना और जे अभ्यास हें ते योगीनके श्रमके अर्थ हें ॥ २० ॥

पवन इति ॥ जा योगीकरकें प्राणवायु बद्ध कियो जाय ता योगीकरकें मन बद्ध होय हे. और जाकरकें मन बद्ध होय हे ताकरकें प्राणवायु बद्ध होय हे ॥ २१ ॥

हेतुद्वयं तु चित्तस्येति ॥ चित्तकी प्रवृत्तिमें दोय कारण हे कोनसे एकतो वासना और एक प्राणवायु इन दोनोंनमेंसें एकबी क्षीण होय तो दोनोही नाशकूं प्राप्त होंय ये. भाव हे वासनाको क्षय होय तो प्राण और चित्त दोनोंही क्षीण होंय. और प्राण क्षीण होय तो चित्त और वासना ये दोनो क्षीण होय हें. और चित्त क्षीण होय तब प्राणवायु और वासना ये दोनों क्षीण होय हें ॥ २२ ॥

मू० मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते ॥
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ॥ २३ ॥
दुग्धांबुवत्संमिलितावुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि ॥
यतो मरुत्तत्र मनःप्रवृत्तिर्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः ॥ २४ ॥
तत्रैकनाशादपरस्य नाश एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः ॥
अध्वस्तयोश्चेंद्रियवर्गवृत्तिः प्रध्वस्तयोर्मोक्षपदस्य सिद्धिः॥२५

॥ टीका ॥

मन इति ॥ यत्र यस्मिन्नाधारे मनो लीयते तत्र तस्मिन्नाधारे पवनो विलीयत इत्यन्वयः ॥ २३ ॥

दुग्धांबुवदिति ॥ दुग्धांबुवत्क्षीरनीरवत्संमिलितौ सम्यक् मिलितौ तावुभौ द्वावपि मानसमारुतौ मानसं च मारुतश्च मानसमारुतौ चित्तप्राणौ तुल्यक्रियौ तुल्या समा क्रिया प्रवृत्तिर्ययोस्तादृशौ भवतः । तुल्यक्रियत्वमेवाह । यत इति । यतःयत्र सार्वविभक्तिकस्तसिः । यस्मिन् चक्रे मरुद्वायुः प्रवर्तते तत्र तास्मिन् चक्रे मनःप्रवृत्तिः मनसः प्रवृत्तिर्भवति । यतो यस्मिन् चक्रे मनःप्रवर्तते तत्र तस्मिन् चक्रे मरुत्प्रवृत्तिः वायोः प्रवृत्तिर्भवतीत्यर्थः । तदुक्तं वासिष्ठे । 'अविनाभाविनी नित्यं जंतुनां प्राणचेतसी । कुसुमामोदवन्मिश्रे तिलतैले इवास्थिते । कुरुतश्च विनाशेन कार्यं मोक्षाख्यमुत्तममि'ति ॥ २४ ॥

तत्रेति ॥ तत्र तयोर्मानसमारुतयोर्मध्ये एकस्य मानसस्य मारुतस्य वा नाशाल्ल-

॥ भाषा ॥

मन इति ॥ जा आधारमें मन लीन होय ताही आधारचक्रमें पवन लीन होय और जामे पवन लीन होय तामें मन लीन होय हे ॥ २३ ॥

दुग्धांबुवदिति ॥ और जल दुधकीसी नाई मिले हुये चित्त और प्राण ये दोनो समान हे प्रवृत्ति जिनकी एसे होंय हें अब इनकी समान प्रवृत्ति कहें हें जा चक्रमें वायु वर्त्ते हे तामें मनकी प्रवृत्ति होय हें और जा चक्रमें मन वर्त्ते हे ता चक्रमें वायुकी प्रवृत्ति होय हे ॥२४॥

तत्रेति ॥ मन और प्राणवायु इन दोनोंनमेंसूं एकके लयतें दूसरोबी लय होय जाय एसेंही एक मनकी अथवा पवनकी प्रवृत्ति होय तो दूसरेकी बी प्रवृत्ति होय जाय मन और पवन ये दोनो नही लीन होय तो इंद्रीनके समूहकूं अपने अपने विषयमें प्रवृत्ति होय हे. और मन प्राणवायु ये दोनों प्रकर्षकरके लीन होय जाय तो मोक्षपदकी सिद्धी

मू० रसस्य मनसश्चैव चंचलत्वं स्वभावतः ॥
रसो बद्धो मनो बद्धं किं न सिद्ध्यति भूतले ॥ २६ ॥
मूर्छितो हरते व्याधीन्मृतो जीवयति स्वयम् ॥
बद्धः खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च पार्वति ! ॥ २७ ॥

॥ टीका ॥

पादपरस्यान्यस्य मारुतस्य मानसस्य वा नाशो लयो भवति। एकप्रवृत्तेरेकस्य मानसस्य मारुतस्य वा प्रवृत्तेर्व्यापाराद्परप्रवृत्तिरपरस्य मारुतस्य मानसस्य वा प्रवृत्तिर्व्यापारो भवति । अध्वस्तयोरलीनयोर्मानसमारुतयोः सतोरिंद्रियवर्गवृत्तिरिंद्रियसमुदायस्य स्वस्वविषये प्रवृत्तिर्भवति । प्रध्वस्तयोः प्रलीनयोस्तयोः सतोर्मोक्षपदस्य मोक्षाख्यपदस्य सिद्धिर्निष्पत्तिर्भवति । तयोर्लये पुरुषस्य स्वरूपेऽवस्थानादित्यर्थः । 'तत्रापि साध्यः पवनस्य नाशः षडंगयोगादिनिषेवणेन । मनोविनाशस्तु गुरोः प्रसादान्निमेषमात्रेण सुसाध्य एव ॥' योगबीजे मूलश्लोकस्यायमुत्तरः श्लोकः ॥ २५ ॥

रसस्येति ॥ रसस्य पारदस्य मनसो मानसस्य भावतः स्वभावाचंचलत्वं चांचल्यमस्ति । रसः पारदो बद्धश्चेन्मनश्चित्तं बद्धं भवति । ततो भूतले पृथिवीतले किं न सिद्ध्यति सर्वं सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

तदेवाह ॥ मूर्छित इति ॥ औषधिविशेषयोगेन गतचापलो रसो मूर्छितः कुंभकांते रेचकनिवृत्तो वायुर्मूर्छित इत्युच्यते । हे पार्वतीति पार्वतीसुबोधायेश्वरवाक्यं । मूर्छितो रसः पारदो वायुः प्राणश्च व्याधीन् रोगान् हरते नाशयति । भस्मीभूतो रसो ब्रह्मरंध्रे लीनो वायुश्च मृतः स्वयमात्मना स्वसामर्थ्येनेत्यर्थः । जीवयति दीर्घकालं जीवनं करोति । क्रियाविशेषेण गुटिकाकारकृतो रसः बद्धो भ्रूमध्यादौ धारणाविशेषेण धृतो वायुश्च बद्धः खेचरतामाकाशगतिं धत्ते विधत्ते करोतीत्यर्थः ।

॥ भाषा ॥

होय अर्थात् इन दोनोंनके लय होयवेसूं पुरुषकूं स्वरूपमें स्थिति होय है ॥ २५ ॥

रसस्येति ॥ पारेकूं और मनकूं स्वभावतेंही चंचलपनो हे. और पारो बंध जाय और मन बद्ध हो जाय तो पृथ्वीतलमें वा प्राणीकूं सर्वसिद्धी होय हे ॥ २६ ॥

वही कहतेहै मूर्छित इति ॥ औषधीके योगकरकें चपलता जाकी जाती रही एसो पारो सो मूर्छित बाजे हे. और कुंभकके अंतमें रेचक करे ये वायु मूर्छित कहें हें. शिवजी कहें हें हे पार्वती ! मूर्छित पारदकी भस्म रोगनकूं दूर करे हे. और मूर्छित वायु फिर ब्रह्मरंध्रमें

मू० मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिंदुः स्थिरो भवेत् ॥
बिंदुस्थैर्यात्सदा सत्त्वं पिंडस्थैर्यं प्रजायते ॥ २८ ॥
इंद्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ॥
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ॥ २९ ॥
सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो मास्तु वापि मतांतरे ॥
मनः प्राणलये कश्चिदानंदः संप्रवर्तते ॥ ३० ॥

॥ टीका ॥

तदुक्तं गोरक्षकशतके । 'यद्भिन्नांजनपुंजसन्निभमिदं वृत्तं भ्रुवोरंतरे तत्त्वं वायुमयं पकारसहितं तत्रेश्वरो देवता । प्राणं तत्र विलाप्य पंचघटिकं चित्तान्वितं धारयेदेषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायुना धारणे'ति ॥ २७ ॥

मनःस्थैर्य इति ॥ मनसः स्थैर्ये सति वायुः प्राणः स्थिरो भवेत् । ततो वायुस्थैर्याद्बिंदुर्वीर्यं स्थिरो भवेत् । बिंदोः स्थैर्यात्सदा सर्वदा सत्त्वं बलं पिंडस्थैर्यं देहस्थैर्यं प्रजायते ॥ २८ ॥

इंद्रियाणामिति ॥ इंद्रियाणां श्रोत्रादीनां मनोऽतःकरणं नाथः प्रवर्तकः । मनोनाथो मनसो नाथो मारुतः प्राणः । मारुतस्य प्राणस्य लयो मनोविलयो नाथः । स लयो मनोलयः नादमाश्रितो नादे मनो लीयत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

सोऽयमिति॥सोऽयमेव चित्तलय एव मोक्षाख्यो मोक्षपदवाच्यः । मतांतरेऽन्यमते मास्तु वा । चित्तलयस्य सुषुप्तावपि सत्त्वान्मनःप्राणयोर्लये सति कश्चिदनि-

॥ भाषा ॥

लीन हुयो मृतपुरुषकूं अपनी सामर्थ्यकरकें दीर्घकालतांई जिवावे हे. और क्रियासूं गुटिकाके आकारकरकें बंधो हुयो पारो मोढेमें धारण करेसूं आकाश गती करे हे. और धारणकरकें भृकुटीके मध्यमें धारण कियो और बंधो हुयो वायु आकाश गतीकूं करे हे ॥ २७ ॥

मनःस्थैर्य इति ॥ मन स्थिर होय तो प्राण स्थिर होय हे. और वायुके स्थिर हुयेतें वीर्य स्थिर होय हे. वीर्य स्थिर होयवेसूं सर्वदा बल देह स्थिर होय हें ॥ २८ ॥

इंद्रियाणामिति ॥ इंद्रिय जे श्रोत्रादिक तिनको अंतःकरण नाथ हे. अर्थात् प्रवर्त्तको करवेवालो हे. और मनको नाथ प्राण हे. और प्राणको नाथ लय और लय जो हे सो नादकूं आश्रय करे हे. अर्थात नादमें मन लीन होय हे ॥ २९ ॥

सोयमिति ॥ नादमें चित्तको लय सोही मोक्ष हे. और मतांतरमें एसो कहे हें सुषुप्ती

मू॰ प्रनष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः ॥
निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनाम् ॥ ३१ ॥
उच्छिन्नसर्वसंकल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः ॥
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः ॥ ३२ ॥

॥ टीका ॥

र्वाच्य आनंदः संप्रवर्तते सम्यक् प्रवृत्तो भवति । अनिर्वाच्यानंदाविर्भावे जीवन्मुक्तिसुखं भवत्येवेति भावः ॥ ३० ॥

प्रनष्टेति ॥ श्वासश्च निश्वासश्च श्वासनिश्वासौ प्रनष्टौ लीनौ श्वासनिश्वासौ यस्मिन् स तथा बाह्यवायोरंतःप्रवेशनं श्वासः अंतःस्थितस्य वायोर्बहिर्निःसरणं निश्वासः प्रध्वस्तः प्रकर्षेण ध्वस्तो नष्टो विषयाणां शब्दादीनां ग्रहो ग्रहणं यस्मिन् निर्गता चेष्टा कायक्रिया यस्मिन् निर्गतो विकारोंऽतःकरणक्रिया यस्मिन् एतादृशो योगिनां लयोंऽतःकरणवृत्तेर्ध्येयाकारा वृत्तिर्जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते ॥ ३१ ॥

उच्छिन्नेति ॥ उच्छिन्ना नष्टाः सर्वे संकल्पा मनःपरिणामा यस्मिन् स तथा निर्गतः शेषो येभ्यस्तानि निःशेषाण्यशेषाणि चेष्टितानि यस्मिन् स तथा स्वेनैवावगंतुं बोद्धुं शक्यः स्वावगम्यः वाचामगोचरो विषयः कोऽपि विलक्षणो लयः जायते योगिनां प्रादुर्भवति ॥ ३२ ॥

॥ भाषा ॥

अवस्थामें चित्तको लय हे सोबीमोक्ष हे. ताये कहे हें ये मोक्ष नहीं हें. क्योंके मन प्राण इनको लय होय हे तब कोईसूंबी नही कहवेमें आवे एसो आनंद प्रवृत्त होय हे. जब अनिर्वाच्य आनंद प्रगट होय हे तब जीवन्मुक्ती सुख होय हें. यामें संदेह नहीं हे ॥ ३० ॥

प्रनष्टेति ॥ दूर हुयो हे श्वास निश्वास जामें बहारकी वायुकूं भीतर खेंचनों सो श्वास और भीतरकी वायुकूं बहार निकासनो सो निश्वास और दूर हुयो हे विषयनकूं ग्रहण करनो जामे देहकी क्रिया जामे दूर हुई निर्विकार एसो योगीनको लय अंतःकरणकी वृत्तीकूं ब्रह्मप्राप्तीके अर्थ संपूर्णतें उत्कर्षकरकें वर्ते हें ॥ ३१ ॥

उच्छिन्नेति ॥ नष्ट हुये हें संपूर्ण संकल्प जामें निवृत्त हुई हे संपूर्ण चेष्टा जामें और आपकरकें ही जानवेकूं समर्थ और वाणीसूं कहवेमे नही आवे एसो विलक्षण लय योगीनकूं प्रगट होय हे ॥ ३२ ॥

मू० यत्र दृष्टिर्लयस्तत्र भूतेंद्रियसनातनी ॥
सा शक्तिर्जीवभूतानां द्वे अलक्ष्ये लयं गते ॥ ३३ ॥
लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लयलक्षणम् ॥
अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषयविस्मृतिः ॥ ३४ ॥
वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ॥
एकैव शांभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥ ३५ ॥

॥ टीका ॥

यत्र दृष्टिरिति ॥ यत्र यस्मिन्विषये ब्रह्मणि दृष्टिरंतःकरणवृत्तिस्तत्रैव लयो भवति । भूतानि पृथिव्यादीनि इंद्रियाणि श्रोत्रादीनि सनातनानि शाश्वतानि यस्यां सा सत्कार्यवादेऽविद्यायां कार्यजातस्य सत्त्वात् । जीवभूतानां प्राणिनां शक्तिर्विद्या इमे द्वे अलक्ष्ये ब्रह्मणि लयं गते योगिनामिति शेषः ॥ ३३ ॥

लय इति ॥ लय इति प्राहुर्वदंति बहवः । लयस्य लक्षणं लयस्वरूपं कीदृशमिति प्रश्नपूर्वकं लयस्वरूपमाह ॥ अपुनरिति ॥ अपुनर्वासनोत्थानात्पुनर्वासनास्थानाभावाद्विषयविस्मृतिर्विषयाणां शब्दादीनां ध्येयाकारस्य विषयस्य वा विस्मृतिर्लयो लयशब्दार्थ इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

वेदेति ॥ वेदाश्चत्वारः शास्त्राणि षट् पुराणान्यष्टादश सामान्या गणिका इव वेश्या इव । बहुपुरुषगम्यत्वात् । एका शांभवी मुद्रैव कुलवधूरिव कुलस्त्रीव गुप्ता । पुरुषविशेषगम्यत्वात् ॥ ३५ ॥

॥ भाषा ॥

यत्र दृष्टिरिति ॥ जा ब्रह्ममें अंतःकरणकी वृत्ती होय ता ब्रह्ममें लय होय हे. और पंचमहाभूत और दशो इंद्रिय ये निरंतर जामें रहें एसी अविद्या और प्राणीनकी शक्ती विद्या ये दोनो योगीनके ब्रह्ममें लय होय हे ॥ ३३ ॥

लय इति ॥ बहोतसे जन या लयकूं लय कहें हें और लयको स्वरूप कहा हे सो कहें हें. फिर वासनाको उदय नहो तातें शब्दादिक विषयनकी विस्मृति होय ताकूं लय कहें हें ॥ ३४ ॥

वेदेति ॥ च्यारों वेद और छै शास्त्र अठारे पुराण ये वेश्याकीसी नाई हे. क्यों बोहोत पुरुषनकूं प्राप्त हें. यातें और शांभवी मुद्रा एकही हे ये कुलकी स्त्रीकीसीनाई गोप राखवेकूं योग्य हे ॥ ३५ ॥

मू० अंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ॥
एषा सा शांभवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ॥ ३६ ॥
अंतर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ॥
मुद्रेयं खलु शांभवी भवति सा लब्धा प्रसादाद्गुरोः
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्वं परं शांभवम् ॥३७॥

॥ टीका ॥

चित्तलयाय प्राणलयसाधनीभूतां मुद्रां विवक्षुस्तत्र शांभवीं मुद्रामाह ॥ अंतर्लक्ष्यमिति ॥ अंतः आधारादिब्रह्मरंध्रांतेषु चक्रेषु मध्ये स्वाभिमते चक्रे लक्ष्यमंतःकरणवृत्तिः । बहिर्देहाद्बहिःप्रदेशे दृष्टिः चक्षुःसंबंधः । कीदृशी दृष्टिः निमेषोन्मेषवर्जिता निमेषः पक्ष्मसंयोगः उन्मेषः पक्ष्मसंयोगविश्लेषः ताभ्यां वर्जिता रहिता चित्तस्य ध्येयाकारावेशे निमेषोन्मेषवर्जिता दृष्टिर्भवति । सोक्तैषा मुद्रा शांभवी शंभोरियं शांभवी शिवप्रिया शिवाविर्भावजनिका वा भवति । कीदृशी वेदशास्त्रेषु गोपिता वेदेषु ऋगादिषु शास्त्रेषु सांख्यपातंजलादिषु गोपिता रक्षिता ॥ ३६ ॥

शांभवीं मुद्रामभिनीय दर्शयति ॥ अंतर्लक्ष्यमिति ॥ यदा यस्यामवस्थायामंतः अनाहतपद्मादौ यल्लक्ष्यं सगुणेश्वरमूर्त्यादिकं तत्त्वमस्यादिवाक्यलक्ष्यं जीवेश्वराभि-

॥ भाषा ॥

अंतर्लक्ष्यमिति ॥ भीतर आधारसूं लेके ब्रह्मरंध्रपर्यंत जे चक्र तिनके मध्यमें अपुनकूं वांछित चक्र तामें जो लक्ष्य कोन ब्रह्म तामें अंतःकरणकी वृत्ति और देहतें बहार जो दृष्टि सो पलकनको खोलनो मूदनो तिनकरकें वर्जित दृष्टि होय सो ये शांभवी मुद्रा हे केसी हे. ऋग्वेदकूं आदि ले वेदनमें और शास्त्रजो सांख्य पातंजलादिक तिनमें गुप्त हे ॥ ३६ ॥

अंतर्लक्ष्येति ॥ जब भीतर अनाहत चक्रादिनमें जो लक्ष्य जो सगुण ईश्वरकी मूर्ति अथवा ब्रह्म तामें लीन हुयो हे मन और प्राण जाके एसो योगी स्थिर हे भीतरली दृष्टि जाकी एसी दृष्टिकरकें देहके बहार नीचो ऊंचो देखे हे तोहु बहारके विषयनकूं नही ग्रहण करे हे, ये शांभवी मुद्रा हे सो ये गुरुनकी कृपासूं प्राप्त होय हे तब शांभवीमें प्रकाशमान पद और वास्तव वस्तु सो प्रतीतमें आवे हे ॥ ३७ ॥

मू० श्रीशांभव्याश्च खेचर्या अवस्थाधामभेदतः ॥
भवेच्चित्तलयानंदः शून्ये चित्सुखरूपिणि ॥ ३८ ॥
तारे ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयेद्भ्रुवौ ॥

॥ टीका ॥

अयमहं ब्रह्मास्मीति वाक्यार्थभूतं ब्रह्म वा तस्मिन्विलीनौ विशेषेण लीनौ चित्तपवनौ मनोमारुतौ यस्य स तथा योगी वर्तते निश्चलतारया निश्चला स्थिरा तारा कनीनिका यस्यां तादृश्या दृष्ट्या बहिर्देहाद्बहिःप्रदेशे पश्यन्नपि चक्षुःसंबंधं कुर्वन्नपि अपश्यन् बाह्यविषयग्रहणमकुर्वन् वर्तते आस्ते । खल्विति वाक्यालंकारे । इयमुक्ता शांभवी मुद्रा शांभवीनामिका मुद्रयति क्लेशानिति मुद्रा गुरोर्देशिकस्य प्रसादात्प्रीतिपूर्वकादनुग्रहाल्लब्धा प्राप्ता चेत्तदिदमिति वक्तुमशक्यं शांभवं शांभवीमुद्रायां भासमानं पदं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदमात्मस्वरूपं शून्याशून्यविलक्षणं ध्येयाकारवृत्तेः सद्भावाच्छून्यविलक्षणं तस्या अपि मानाभावादशून्यविलक्षणं तत्त्वं वास्तविकं वस्तु स्फुरति प्रतीयते । तथाचोक्तं । 'अन्तर्लक्षमनन्यधीरविरतं पश्यन्मुदा संयमी दृष्ट्यन्मेषनिमेषवर्जितमियं मुद्रा भवेच्छाम्भवी ॥ गुप्तेयं गिरिशेन तंत्रविदुषा तंत्रेषु तत्त्वार्थिनामेषा स्याद्यमिनां मनोलयकरी मुक्तिप्रदा दुर्लभा ॥ १ ॥ ऊर्ध्वदृष्टिरधोदृष्टिरूर्ध्ववेधो ह्यधःशिराः । राधायंत्रविधानेन जीवन्मुक्तो भवेत्क्षितौ । २ । ॥ ३७ ॥

श्रीशांभव्या इति ॥ श्रीशांभव्याः श्रीमत्याः शांभवीमुद्रायाः खेचरीमुद्रायाश्चावस्थाधामभेदतः अवस्थाऽवस्थितिर्धाम स्थानं तयोर्भेदाच्छांभव्यां बहिर्दृष्ट्या बहिःस्थितिः खेचर्यां भ्रूमध्यदृष्ट्याऽवस्थितिः । शांभव्यां हृदयभावनादेशः खेचर्यां भ्रूमध्य एव देशः । तयोर्भेदाभ्यां शून्ये देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्ये सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्ये या चित्सुखरूपिणि चिदानंदस्वरूपिण्यात्मनि चित्तलयानंदो भवेत्स्यात् । श्रीशांभवीखेचर्योरवस्थाधामरूपसाधनांशेभेदः, नतु चित्तलयानंदरूपफलांश इति भावः ॥ ३८ ॥

उन्मनीमुद्रामाह ॥ तारे इति ॥ तारे नेत्रयोः कनीनिके ज्योतिषी तारयोर्नासाग्रे

॥ भाषा ॥

श्रीशांभव्या इति ॥ श्रीशांभवीमुद्राके और खेचरीमुद्राके अवस्था और धाम इनके भेदकरके रहित चैतन्य आनंदरूप आत्मा तामें चित्तको लय ताको आनंद होय हे ॥ ३८ ॥

उन्मनी मुद्रा कहे हे ॥ तारे इति ॥ दृष्टी नासिकाके अग्रमें युक्त करेमूं प्रकाश-

मू० पूर्वयोगं मनो युंजन्नुन्मनीकारकः क्षणात् ॥ ३९
केचिदागमजालेन केचिन्निगमसंकुलैः ॥
केचित्तर्केण मुह्यंति नैव जानंति तारकम् ॥ ४० ॥
अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
श्चंद्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निस्पंदभावेन यः ॥

॥ टीका ॥

योजनात्प्रकाशमाने तेजिसि संयोज्य संयुक्ते कृत्वा भ्रुवौ किंचित्स्वल्पमुन्नयेदूर्ध्वं नयेत् । पूर्वः पूर्वोक्तोऽतर्लक्ष्यबहिर्दृष्टिरित्याकारको योगो युक्तिर्यस्मिन् तत्तादृशं मनोऽतःकरणं युंजन् युक्तं कुर्वन् योगी क्षणान्मुहूर्तादुन्मनीकारण उन्मन्यवस्था-कारको भवति ॥ ३९ ॥

उन्मनीमंतराऽन्यस्तरणोपायो नास्तीत्याह ॥ केचिदिति ॥ केच्छिास्त्रतंत्रा-दिविदः आगच्छंति बुद्धिमारोहंत्यर्था एभ्य इत्यागमाः शास्त्रतंत्रादयस्तेषां जालै-र्जालवद्बंधनसाधनैस्तदुक्तैः फलैर्मुह्यंति मोहं प्राप्नुवंति । तत्रासक्ता बध्यंत इति भावः । केचिद्वैदिका निगमसंकुलैर्निगमानां निगमोक्तानां संकुलैः फलबाहुल्यैर्मु-ह्यंति । केचिद्वैशेषिकादयस्तर्केण स्वकल्पितयुक्तिविशेषेण मुह्यंति । तारयतीति तारकस्तं तारकं तरणोपायं नैव जानंति । उक्तोन्मन्येव तरणोपायस्तं न जानंती-त्यर्थः ॥ ४० ॥

अर्धोन्मीलितेति ॥ अर्धं उन्मीलिते अर्धोन्मीलिते अर्धोन्मीलिते लोचने येन

॥ भाषा ॥

मान तेज होय हे तामेंही दृष्टीकूं युक्त करकें कछूक भृकुटीकूं ऊंची चढावे पहलें कह्यो अंतर्लक्ष्य बहिर्दृष्टि योग जामें एसो अंतःकरणकूं युक्त करे तो योगी क्षणमात्रमें उन्मनी अवस्था होय हे ॥ ३९ ॥

उन्मनी विना और तिरवेको उपाय नही हे कहें हें ॥ केचिदिति ॥ जे कोई शास्त्र तंत्रादिकनके वेत्ता हें ते शास्त्र तंत्रादिकनके फल तिनकरकें मोहकूं प्राप्त होय हें और जो कोई वेदके जानवेवारे हें ते वेदमें कहे जे बहोतसे फल तिनकरकें मोहकूं प्राप्त होय रहे न्यायशास्त्री हें ते तर्ककरकें मोहकूं प्राप्त होय रहे हें और पूर्व कही जो उन्मनीही तरणको उपाय ताय नही जाने हे ॥ ४० ॥

अर्धोन्मीलितेति ॥ आधे खोले हें नेत्र जाने और स्थिर हे मन जाको और नासि-

मू॰ ज्योतीरूपमशेषबीजमखिलं देदीप्यमानं परं
तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम् ॥४१॥
दिवा न पूजयेल्लिंगं रात्रौ चैव न पूजयेत् ॥
सर्वदा पूजयेल्लिंगं दिवारात्रिनिरोधतः ॥ ४२ ॥

॥ टीका ॥

स अर्धोन्मीलितलोचनः अर्धोद्घाटितलोचन इत्यर्थः । स्थिरं निश्चलं मनो यस्य स स्थिरमना नासाया नासिकाया अग्रेऽग्रभागे नासिकायां द्वादशांगुलपर्यंते वा दत्ते प्रहिते ईक्षणे येन स नासाग्रदत्तेक्षणः । तथाह वसिष्ठः । 'द्वादशांगुलपर्यंते नासाग्रे विमलेंऽबरे । संविद्दृशोः प्रशाम्यंत्योः प्राणस्पंदो निरुध्यते' इति । निस्पंदस्य निश्चलस्य भावो निस्पंदभावः कार्येंद्रियमनसां निश्चलत्वं तेन चंद्रार्कौ चंद्रसूर्यावपि लीनतां लीनस्य भावो लीनता लयस्तमुपनयन्प्रापयन्कार्येंद्रियमनसां निश्चलत्वेन प्राणसंचारमपि स्तंभयन्नित्यर्थः । तदुक्तं प्राक् । 'मनो यत्र विलीयेते' त्यादिपूर्वोक्तविशेषणसंपन्नो योगी ज्योतीरूपं ज्योतिरिवाखिलप्रकाशकं रूपं यस्य स तथा तमशेषबीजमाकाशाद्युत्पत्तिद्वारा सर्वकारणमखिलं पूर्णं देदीप्यमानमतिशयेन दीप्यत इति देदीप्यमानं तत्तथा स्वप्रकाशकं परं कार्येंद्रियमनसां साक्षिणं तत्त्वमनारोपितं वास्तविकमित्यर्थः । तदिदमिति वक्तुमशक्यं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं परमं सर्वोत्कृष्टं वस्तु आत्मस्वरूपं एति प्राप्नोति । उन्मन्यवस्थायां स्वस्वरूपावस्थितो योगी भवतीत्यर्थः । अत्राधिकं किं वाच्यं । अपरं वस्तु प्राप्नोतीत्यत्र किं वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

उन्मनीभावनायाः कालनियमाभावमाह ॥ दिवा नेति ॥ दिवा सूर्यसंचारे लिंगं

॥ भाषा ॥

काके अग्रभागमें लगाये हें नेत्र जाने और कर्मेंद्रिय और मन इनके निश्चल भावकरके चंद्रमा सूर्य ये लय करत योगी ज्योतीकीसीनाई अखिल विश्वकूं प्रकाश करवेवालो संपूर्णको कारण पूर्णरूप अतिशयकर प्रकाशके करवेवालो स्वप्रकाश करवेवालो वास्तव वस्तुरूप योगीनकरकें प्राप्त होयवेके योग्य संपूर्णतें उत्कृष्ट परमपद जो आत्मस्वरूप ताय प्राप्त होय हे. और वस्तु प्राप्त होय ताको कहनो कहा ॥ ४१ ॥

दिवा नेति ॥ सूर्यस्वर चले तामें आत्माकूं ध्यान नही करे. और चंद्रस्वर चले तामेंबी आत्माकूं ध्यान नही करे. क्यों चंद्र सूर्य वायू चले तब स्थिर चित्त नही रहे हे. तासूं सूर्य चंद्र ये दोनोनकूं रोककरकें आत्माकूं सर्वकालमें ध्यान करे इनके रोकेतें सुषु-

अथ खेचरी ॥

मू० सव्यदक्षिणनाडिस्थो मध्ये चरति मारुतः ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् स्थाने न संशयः ॥ ४३ ॥
इडापिंगलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं पुनः पुनः ॥ ४४ ॥

॥ टीका ॥

सर्वकारणमात्मानं । 'एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यादिश्रुतेः । न पूजयेत् न भावयेत् । ध्यानमेवात्मपूजनं । तदुक्तं वासिष्ठे । 'ध्यानोपहार एवात्मा ध्यानमस्य महार्चनम् । विना तेनेतरेणायमात्मा लभ्यत एव नो' इति । रात्रौ चंद्रसंचारे च नैव पूजयेनैव भावयेत् । चंद्रसूर्यसंचारे चित्तस्थैर्याभावात् । 'चले वाते चलं चित्तमि' त्युक्तत्वात् । दिवारात्रिनिरोधतः सूर्यचंद्रौ निरुध्य । ल्यब्लोपे पंचमी तस्यास्तसिल् । सर्वदा सर्वस्मिन् काले लिंगं आत्मानं पूजयेद्भावयेत् । सूर्यचंद्रयोर्निरोधे कृते सुषुम्नांतर्गते प्राणे मनःस्थैर्यात् । तदुक्तं । 'सुषुम्नांतर्गते वायौ मनःस्थैर्यं प्रजायते' इति ॥ ४२ ॥

खेचरीमाह ॥ सव्येति ॥ सव्यदक्षिणनाडिस्थो वामतदितरनाडिस्थो मारुतो वायुर्यत्र मध्ये चरति यस्मिन्मध्यप्रदेशे गच्छति तस्मिन्स्थाने तस्मिन्प्रदेशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरा भवति । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्चे'त्यात्मनेपदम् । न संशयः उक्तेऽर्थे संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

इडापिंगलयोरिति ॥ इडापिंगलयोः सव्यदक्षिणनाड्योर्मध्ये यच्छून्यं खं । कर्तृ । अनिलं प्राणवायुं यत्र ग्रसेत् । शून्ये प्राणस्य स्थिरीभाव एव ग्रासः । तत्र तस्मिञ्छून्ये खेचरी मुद्रा तिष्ठते । पुनः पुनः सत्यमिति योजना ॥ ४४ ॥

॥ भाषा ॥

म्नामें अंतर्गत प्राण होंय हे तब मन स्थिर होय हे यातें ॥ ४२ ॥

अब खेचरीमुद्रा कहें हें ॥ सव्येति ॥ वामदक्षिण नाडीनमें स्थित वायु जा भृकुटीके मध्यदेशमें गमन करें हे ताही स्थानमें खेचरी मुद्रा स्थित रहे हे ॥ ४३ ॥

इडापिंगलयोरिति ॥ इडा पिंगलाके मध्यमें जो आकाश सो प्राणवायुकूं ग्रास करे हे. शून्य जो आकाश तामें प्राणवायु स्थिर होय हे. ताकूं ही ग्रास कहे हें. ता शून्यमें खेचरी मुद्रा स्थित रहे हे. ये सत्य हे ॥ ४४ ॥

मू० सूर्याचंद्रमसोर्मध्ये निरालंबांतरं पुनः ॥
संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी ॥ ४५ ॥
सोमाद्यत्रोदिता धारा साक्षात्सा शिववल्लभा ॥
पूरयेदतुलां दिव्यां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे ॥ ४६ ॥
पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत् ॥
अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी संप्रजायते ॥ ४७ ॥

॥ टीका ॥

सूर्याचंद्रमसोरिति ॥ सूर्याचंद्रमसोरिडापिंगलयोर्मध्ये निरालंबं यदंतरमवकाशस्तत्र । पुनः पादपूरणे । व्योम्नां खानां चक्रे समुदाये । भ्रूमध्ये सर्वखानां समन्वयात् । तदुक्तं 'पंचस्रोतःसमन्विते' इति । या संस्थिता सा मुद्रा खेचरीनाम ॥ ४५ ॥

सोमादिति ॥ सोमाच्चंद्राद्यत्र यस्यां खेचर्यां धाराऽमृतधारा उदितोद्भूता सा खेचरी साक्षाच्छिववल्लभा शिवस्य प्रियेति पूर्वेणान्वयः । अतुलां निर्मलां निरुपमां दिव्यां सर्वनाड्युत्तमां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे पूरयेत् । जिह्वयेति शेषः ॥ ४६ ॥

पुरस्ताच्चैवेति ॥ पुरस्ताच्चैव पूर्वतोऽपि पूर्येत । सुषुम्नां प्राणेनेति शेषः । यदि तर्हि निश्चिताऽसंदिग्धा खेचरी खेचर्याख्या मुद्रा भवेदिति । यदि तु पुरस्तात्प्राणेन न पूर्येत जिह्वामात्रेण पश्चिमतः पूर्येत तर्हि मूढावस्थाजनिका । न निश्चिता खेचरी स्यादिति भावः । खेचरीमुद्राप्यभ्यस्ता सती उन्मनी संप्रजायते चित्तस्य ध्येयाकारावेशात्तुर्यावस्था भवतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

॥ भाषा ॥

सूर्याचंद्रमसोरिति ॥ सूर्य चंद्रमा जो इडा पिंगला तिनके मध्यमें जो सबले आकाशनको समूह तामें जो स्थित सो मुद्रा खेचरी नाम कहें हें ॥ ४५ ॥

सोमादिति ॥ चंद्रमातें जा खेचरीमें अमृतधारा प्रगट हुई वो खेचरी शिवजीकूं बडी प्यारी हे. निर्मल और सर्वनाडीनमें उत्तम एसी सुषुम्ना ताय भीतर मुखमें जिह्वाकरकें रोक देवे ॥ ४६ ॥

पुरस्ताच्चैवेति ॥ बहारतें सुषुम्नाकूं प्राणकरकें जो रोक देवे तो निश्चैंही खेचरी नाम मुद्रा होय हे और जो बहार प्राणकरकें नही रोके भीतरही जिह्वामात्रकरकें रोक देवे तो मूढ अवस्थाकूं प्रगट करे हे. निश्चै खेचरी मुद्रा नही होय. खेचरी मुद्राबी अभ्यास करे तें उन्मनी होय हे. और चित्तकूं ध्यान करवेके योग्य वस्तूके आवेशसूं तुर्यावस्था होय हे ॥ ४७ ॥

मू० भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते ॥
ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते ॥ ४८ ॥
अभ्यसेत्खेचरीं तावद्यावत्स्याद्योगनिद्रितः ॥
संप्राप्तयोगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन ॥ ४९ ॥
निरालंबं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥
स बाह्याभ्यंतरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् ॥ ५० ॥

॥ टीका ॥

भ्रुवोरिति ॥ भ्रुवोर्मध्ये भ्रुवोरंतराले शिवस्थानं शिवस्येश्वरस्य स्थानं शिवस्य सुखरूपस्यात्मनोऽवस्थानमिति शेषः । तत्र तस्मिन् शिवे मनो लीयते । शिवाकारवृत्तिप्रवाहवद्भवति तच्चित्तलयरूपं तुर्यं पदं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभ्यश्चतुर्थाख्यं ज्ञातव्यम् । तत्र तस्मिन् पदे कालो मृत्युर्न विद्यते । यद्वा सूर्यचंद्रयोर्निरोधादायुःक्षयकारकः कालः समयो न विद्यत इत्यर्थः । तदुक्तं । 'भोक्त्री सुषुम्ना कालस्ये' ति ॥ ४८ ॥

अभ्यसेदिति ॥ तावत्खेचरीं मुद्रामभ्यसेत् । यावद्योगनिद्रितः । योगः सर्ववृत्तिनिरोधः सैव निद्रा योगनिद्राऽस्य संजाता इति योगनिद्रितः तादृशः स्यात् । संप्राप्ता योगनिद्रा येन स संप्राप्तयोगनिद्रस्तस्य कदाचन कस्मिंश्चिदपि समये कालो मृत्युर्नास्ति ॥ ४९ ॥

निरालंबमिति ॥ यो निरालंबमालंबशून्यं मनः कृत्वा किंचिदपि न चिंतयेत् खेचरीमुद्रायां जायमानायां ब्रह्माकारामपि वृत्तिं परवैराग्येण परित्यजेदित्यर्थः । स योगी बाह्याभ्यंतरे बाह्ये बहिर्भवे आभ्यंतरेऽभ्यंतर्भवे च व्योम्न्याकाशे घटवत्ति-

॥ भाषा ॥

भ्रुवोरिति ॥ भ्रुकुटीके मध्यमें शिवजीको स्थान हे ता शिवमें मन लीन होय हे वो चित्तलयरूप जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति इनतें तुर्य पद जाननो योग्य हैं. ता पदमें काल जो मृत्यु सो नही प्राप्त होय हे ॥ ४८ ॥

अभ्यसेदिति ॥ संपूर्ण वृत्तीनको निरोध जबतांई होय तबतांई खेचरी मुद्राको अभ्यास करे सर्ववृत्ती जाकी रुक गई ताकूं कदेबी काऊ समयके बीचमेंबी काल जो मृत्यु सो नहीं होय ॥ ४९ ॥

निरालंबमिति ॥ जो योगी आश्रयरहित मनकरकें कछूबी चिंतमन न करे सो योगी बहार भीतर आकाशमें घटकीसी नाई स्थित निश्चयही रहे हे. जेसें घटमें भीतर और

मू० बाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्ये न संशयः ॥
स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह ॥ ५१ ॥
एवमभ्यसमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम् ॥
अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ॥ ५२ ॥
अमृतैः प्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम् ॥

॥ टीका ॥

ष्ठति ध्रुवं । निश्चितमेतत् । यथाकाशे घटो बहिरंतश्चाकाशपूर्णो भवति तथा खेचर्यामालंबनपरित्यागेन योगी ब्रह्मणा पूर्णस्तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ५० ॥

बाह्येति ॥ बाह्यो देहाद्बहिर्भवो वायुर्यथा लीनो भवति खेचर्यां । तस्यांतःप्रवृत्त्यभावात् । तथा मध्यो देहमध्यवर्ती वायुर्लीनो भवति । तस्य बहिःप्रवृत्त्यभावात् । न संशयः । अस्मिन्नर्थे संदेहो नास्तीत्यर्थः । स्थीयते स्थिरीभूयतेऽस्मिन्निति स्थानं स्वस्य प्राणस्य स्थानं स्थैर्याधिष्ठानं ब्रह्मरंध्रं तत्र मनसा चित्तेन सह पवनः प्राणः स्थिरतां निश्चलतामेति प्राप्नोति ॥ ५१ ॥

एवमिति ॥ एवमुक्तप्रकारेण वायुमार्गे प्राणमार्गे सुषुम्नायामित्यर्थः । दिवानिशं रात्रिंदिवमभ्यसमानस्याभ्यासं कुर्वतो योगिनोऽभ्यासाद्यत्र यस्मिन्नाधारे वायुः प्राणो जीर्यते क्षीयते लीयत इत्यर्थः । तत्रैव वायोर्लयाधिष्ठाने मनश्चित्तं लीयते जीर्यत इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

अमृतैरिति ॥ अमृतैः सुषिरनिर्गतैः पादतलं च मस्तकं च पादतलमस्तकं । 'द्वंद्वश्च

॥ भाषा ॥

बहार आकाश पूर्ण हे तेसेंही खेचरी में आलंबन परित्यागकरकें योगी ब्रह्मकरकें पूर्ण स्थित रहे हे ॥ ५० ॥

बाह्येति ॥ देहतें बहार जो वायु हे सो जेसें लीन होय हे खेचरीमें ता वायुकूं भीतर प्रवृत्तिको अभाव हे तेसेंही देहमें रहे जो वायु सो लीन होय हे ता वायुकूं बहार प्रवृत्तिको अभाव हे यामें संदेह नही हे प्राणके स्थिर होयवेको स्थान ब्रह्मरंध्र तामें मनकरके सहित प्राण स्थिर होय जाय हे ॥ ५१ ॥

एवमिति ॥ या प्रकारकरकें वायुमार्ग जो सुषुम्ना तामें रात्रिदिन अभ्यास कर रह्यो ता योगीकूं अभ्यासतें जा आधारमें वायु लीन होय हे, और वायु जामें लीन होय हे तामेंही मन लीन होय हे ॥ ५२ ॥

अमृतैरिति ॥ पामतें लेकर मस्तक पर्यंत देहकूं अमृतकरकें सींच देवे उत्कृष्ट हे

मू० सिद्ध्यत्येव महाकायो महाबलपराक्रमः ॥ ९३ ॥
इति खेचरी ॥
शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम् ॥
मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम् ॥ ९४ ॥
खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ॥
सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥ ९५ ॥

॥ टीका ॥

प्राणितूर्यसेनांगानामि'त्येकवद्भावः । पादतलमस्तकमभिव्याप्येत्यापादतलमस्तकं देहमाप्लावयेदाप्लावितं कुर्यात् । महानुत्कृष्टः कायो यस्य स महाकायः महांतौ बलपराक्रमौ यस्येत्येतादृशो योगी सिद्ध्यत्येव । अमृताप्लावनेन सिद्धो भवत्येव ॥ ९३॥

शक्तिमध्य इति ॥ शक्तिः कुंडलिनी तस्या मध्ये मनः कृत्वा तस्यां मनो धृत्वा तदाकारं मनः कृत्वेत्यर्थः । शक्तिं मानसमध्यगां कृत्वा । शक्तिध्यानावेशाच्छक्तिं मनस्येकीकृत्य तेन कुंडलीं बोधयित्वेति यावत् । 'प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सहे'ति गोरक्षोक्तेः । मनसांतः करणेन मन आलोक्य बुद्धिं मनसाऽवलोकनेन स्थिरीकृत्वेत्यर्थः । परमं पदं सर्वोत्कृष्टं स्वरूपं धारयेद्धारणाविषयं कुर्यादित्यर्थः ॥ ९४ ॥

खमध्य इति ॥ खमिव पूर्णं ब्रह्म खं तन्मध्ये आत्मानं स्वस्वरूपं कुरु । ब्रह्माहमिति भावयेत्यर्थः । आत्ममध्ये स्वस्वरूपे च खं पूर्णं ब्रह्म कुरु । अहं ब्रह्मेति च भावयेत्यर्थः । सर्वं च खमयं कृत्वा ब्रह्ममयं विभाव्य किमपि न चिंतयेत् । अहं ब्रह्मेति ध्यानमपि परित्यजेदित्यर्थः ॥ ९५ ॥

॥ भाषा ॥

देह जाको महान हे बल पराक्रम जाके एसो योगी वा अमृतके सींचवेकरकें सिद्ध होय हे ॥ ९३ ॥

शक्तिमध्य इति ॥ कुंडलिनीमें मन धारणकरकें और मनमें कुंडली धारणकरकें कुंडलिनीके ध्यानावेशतें शक्ति मनकी हे एसें कुंडलिनी और मनकूं एककरकें कुंडलीकूं बोध करायकरकें अंतःकरणकरकें मनकूं देखकरकें सर्वोत्कृष्ट स्वरूप ताय धारण करे ॥ ९४ ॥

खमध्य इति ॥ आकाशकीसी नाई पूर्ण ब्रह्म हे सो ब्रह्ममें अपनो स्वरूप जो आत्मा ताय करे ब्रह्माहं या प्रकार भावना करे और अपनो स्वरूप जो आत्मा तामें पूर्णब्रह्म करे अहंब्रह्म या प्रकार भावना करे फिर संपूर्ण ब्रह्ममय भावनाकरकें फिर कछूबी चिंतमन न करे अर्थात् अहंब्रह्म ये जो ध्यान तायबी त्याग करदे ॥ ९५ ॥

मू० अंतःशून्यो बहिः शून्यः शून्यः कुंभ इवांबरे ॥
अंतः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णः कुंभ इवार्णवे ॥ ५६ ॥
बाह्यचिंता न कर्तव्या तथैवांतरचिंतनम् ॥
सर्वचिंतां परित्यज्य न किंचिदपि चिंतयेत् ॥ ५७ ॥
संकल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं

॥ टीका ॥

एवं समाहितस्य स्वरूपे स्थितिमाह ॥ अंतःशून्य इति॥ अंतः अंतःकरणे शून्यः । ब्रह्मातिरिक्तवृत्तेरभावाद्द्वितीयशून्यः । बहिरंतःकरणाद्बहिरपि शून्यः । द्वितीयादर्शनात् । अंबरे आकाशे कुंभो घटो यथांतर्बहिःशून्यस्तद्वदंतःकरणे हृदाकाशे वायुपूर्णः ब्रह्माकारवृत्तेः सद्भावाद्ब्रह्मवासत्वाद्वा । बहिःपूर्णोऽतःकरणाद्बहिर्हृदवकाशाद्बहिर्वा पूर्णः । सत्तया ब्रह्मातिरिक्तवृत्तेरभावाद्ब्रह्मपूर्णत्वाद्वा । अर्णवे नमुद्रे कुंभो घटो यथा सर्वतो जलपूर्णो भवत्येवं समाधिनिष्ठो योगी ब्रह्मपूर्णो भवतीत्यर्थः ॥ ५६ ॥

बाह्यचिंतेति ॥ समाहितेन योगिनेत्यध्याहारः । बाह्यचिंता बाह्यविषया चिंता न कर्तव्या तथैव बाह्यचिंताकरणवदांतरचिंतनमांतराणां मनसा परिकल्पितानामाशामोदकसौधवाटिकादीनां चिंतनं न कर्तव्यमिति लिंगविपरिणामेनान्वयः । सर्वचिंतां बाह्याभ्यंतरचिंतनं परित्यज्य किंचिदपि न चिंतयेत्परवैराग्येणात्माकारवृत्तिमपि परित्यजेत् । तत्त्यागे स्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिर्भवतीति भावः ॥ ५७ ॥

बाह्याभ्यंतरचिंतापरित्यागे शांतिश्च भवतीत्यत्र वसिष्ठवाक्यं प्रमाणयति । सं-

॥ भाषा ॥

अंतःशून्य इति ॥ अंतःकरणमें बी शून्यहे क्यों ब्रह्मतें न्यारो कछू नही हे. और अंतःकरणतें बहारबी शून्य हे क्यों ब्रह्मतें दूसरो दीखेही नही हे यातें यामें दृष्टांत हे जेसें आकाशमें घट घटके भीतरबी आकाश हे और घटके बहारबी आकाश हे और अंतःकरणमेंबी पूर्ण क्यों ब्रह्मको सद्भाव हे. यातें और बहारबी पूर्ण हे क्यों ब्रह्मकरकें पूर्ण हे. यातें यामें दृष्टांत जेसें समुद्रमें कुंभ बहारबी जलभर रह्यो और भीतरबी जलभर रह्यो एसेंही समाधिनिष्ठ योगी ब्रह्मकरकें पूर्ण होय हे ॥ ५६ ॥

बाह्यचिंतेति ॥ योगीकूं बहारकी विषय चिंता नही करनो योग्य हे. एसेंही भीतर मनकरकें कल्पना करे जाय अनेक चिंतमन सो नही करनो योग्य हे. बहार भीतरकी चिंता परित्यागकरकें कछूबी नही चिंतमन करे ॥ ५७ ॥

बहार भीतर चिंताके परित्याग करवेमें शांतिहोय हे यामें वसिष्ठको वाक्य रामजी

संकल्पमात्रकलनैव मनोविलासः ॥
संकल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्प-
माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शांतिम् ॥ ५८ ॥
कर्पूरमनले यद्वत्सैंधवं सलिले यथा ॥
तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ॥ ५९ ॥
ज्ञेयं सर्वं प्रतीतं च ज्ञानं च मन उच्यते ॥

॥ टीका ॥

कल्पेति । संकल्पो मानसिको व्यापारः स एव संकल्पमात्रं तस्य कलनैव रचनैवेदं दृश्यमानं समग्रं जगत् बाह्यप्रपंचो मनोमात्रकल्पित इत्यर्थः । मनसो मानसस्य विलासो नानाविषयाकारकल्पना आशामोदकसौधवाटिकादिकल्पनारूपो विलासः संकल्पमात्रकलनैव । मानसः प्रपंचोऽपि संकल्पमात्ररचनैवेत्यर्थः । संकल्पमात्रे बाह्याभ्यंतरप्रपंचे या मतिःसत्यत्वबुद्धिस्तामुत्सृज । तर्हि किं कर्तव्यमित्यत आह । निर्विकल्पमिति । विशिष्टकल्पना विकल्पः । आत्मनि कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वसजातीयविजातीयस्वगतभेददेशकालवस्तुपरिच्छेदकल्पनारूपः तस्मान्निष्क्रांतो निर्विकल्पस्तमात्मानमाश्रित्य धारणादिविषयं कृत्वा हेराम! निश्चयमसंदिग्धं शांतिं परमोपरतिमवाप्नुहि । ततः सुखमपि प्राप्स्यसीति भावः । तदुक्तं भगवता व्यतिरेकेण । 'न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखमि'ति ॥ ५८ ॥

कर्पूरमिति ॥ यद्वद्यथाऽनलेऽग्नौ संधीयमानं संयोज्यमानं कर्पूरं विलीयते विशेषेण लीयते लीनं भवति । अग्न्याकारं भवति । यथा सलिले जले संधीयमानं सैंधवं लवणं विलीयते लवणाकारं परित्यज्य जलाकारं भवति तथा तद्वत्तत्त्वे आत्मनि संधीयमानं कार्यमानं मनो विलीयते आत्माकारं भवति ॥ ५९ ॥

मनसो विलये जाते द्वैतमपि लीयत इत्याह त्रिभिः ॥ ज्ञेयमिति ॥ सर्वं सकलं

॥ भाषा ॥

प्रति कह्यो ताको प्रमाण दे हैं ॥ संकल्पेति ॥ बाह्य प्रपंच मनोमात्र कल्पित हे. और मनको जो प्रपंच अनेक विकार रूप सोवी संकल्पमात्रकरकें ही रचना हे. और बहार भीतर जो प्रपंच तामें जो सत्यबुद्धि ताय त्याग करो भेदरहित जो आत्मा ताय आश्रय लेकरके हे राम ! निस्संदेह शांति सुख ताय तुम प्राप्त होओगे ॥ ५८ ॥

कर्पूरमिति ॥ जैसें अग्नीमें युक्त कियो कपूर अग्नीके आकार होय जाय हे और जलमें धर्‍यो लवण सो लवणके आकारकूं परित्यागकरकें जलाकार होय जाय हे. तैसेंही मनकूं आत्मामें लगावें तो मन आत्माकार होय हे ॥ ५९ ॥

ज्ञेयमिति ॥ संपूर्ण ज्ञानके योग्य प्रतीतमें आप रह्यो. ओर ज्ञान सो मनकूंही कहें हे.

मू० ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पंथा द्वितीयकः ॥ ६० ॥
मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किंचित्सचराचरम् ॥
मनसो ह्युन्मनीभावाद्द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥ ६१ ॥
ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद्विलयं याति मानसम् ॥
मनसो विलये जाते कैवल्यमवशिष्यते ॥ ६२ ॥

॥ टीका ॥

ज्ञेयं ज्ञानार्हं प्रतीतं च ज्ञातं च ज्ञानं च इदं सर्वं मन उच्यते । सर्वस्य मनःकल्पनामात्रत्वान्मनः शब्देनोच्यते । ज्ञानं ज्ञेयं च समं मनो विलीयते मनसा सार्धं नष्टं यदि तर्हि द्वितीयकः द्वितीय एव द्वितीयकः पंथा मनोविषयो नास्ति । द्वैतं नास्तीति फलितार्थः ॥ ६० ॥

मनोदृश्यमिति ॥ इदमुपलभ्यमानं यत्किंचिद्यत्किमपि चरं जंगममचरं स्थावरं चरं चाचरं च चराचरे ताभ्यां सहवर्तत इति सचराचरं यज्जगत्सर्वं मनोदृश्यं मनसा दृश्यं । मनःसंकल्पमात्रमित्यर्थः । मनःकल्पनासत्वे प्रतीतेस्तदभावे चाप्रतीतेर्भ्रम एव सर्वं जगत् । भ्रमस्य प्रतीतकशरीरत्वात् । न च बौद्धमतप्रसंगः । भ्रमाधिष्ठानस्य ब्रह्मणः सत्यत्वाभ्युपगमात् । मनस उन्मनीभावाद्विलयाद्द्वैतं भेदः नैवोपलभ्यते नैव प्रतीयेत । द्वैतभ्रमहेतोर्मनःसंकल्पस्याभावात् । हि तद्धेतावव्ययम्॥६१॥

ज्ञेयमिति ॥ ज्ञेयं ज्ञानविषयं यद्वस्तु सर्वं चराचरं यद्दृश्यं तस्य परित्यागान्नामरूपात्मकस्य तस्य परिवर्जनाद्विलयं सच्चिदानंदरूपात्माकारं भवति । मनसो विलये जाते सति कैवल्यं केवलस्यात्मनो भावः कैवल्यमवशिष्यते । अद्वितीयात्मस्वरूपमवशिष्टं भवतीत्यर्थः ॥ ६२ ॥

॥ भाषा ॥

मनको लय होतें ही द्वैत जो प्रपंच ताकोबी लय होय हे ॥ ६० ॥

मनोदृश्यमिति ॥ स्थावर जंगम सहित जो जगत् सो संपूर्ण मनके संकल्पमात्रकरकें हे सो मनके लयतें प्रपंचभेद नही प्रतीतमें आवे हे ॥ ६१ ॥

ज्ञेयमिति ॥ स्थावर जंगम सहित दृश्यवस्तु जो जगत् ताके परित्याग करेतें मनबी सच्चिदानंदरूप आत्माकार होय हे. और मनके लय होतेंही अद्वितीय आत्मस्वरूप अवशेष रहे हे ॥ ६२ ॥

मू॰ एवं नानाविधोपायाः सम्यक्स्वानुभवान्विताः ॥
समाधिमार्गाः कथिताः पूर्वाचार्यैर्महात्मभिः ॥ ६३ ॥
सुषुम्नायै कुंडलिन्यै सुधायै चंद्रजन्मने ॥
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने ॥ ६४ ॥
अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि संमतम् ॥

॥ टीका ॥

एवमिति ॥ एवमंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिरित्याद्युक्तप्रकारेण महान् समाधिपरिशीलनशुद्ध आत्मांतःकरणं येषां ते महात्मानस्तैर्महात्मभिः पूर्वे च ते आचार्याश्च पूर्वाचार्या मत्स्येंद्रादयस्तैः समाधेश्चित्तवृत्तिनिरोधस्य मार्गाः प्राप्त्युपायाः कथिताः । कीदृशाः समाधिमार्गाः । नानाविधोपायाः नानाविधा उपायाः साधनानि येषां ते तथा सम्यक् समीचीनतया संशयविपर्ययराहित्येन यः स्वानुभव आत्मानुभवस्तेनान्विता युक्ताः ॥ ६३ ॥

सुषुम्नादिभ्यः कृतकृत्यस्ताः प्रणमति ॥ सुषुम्नायै इति ॥ सुषुम्ना मध्यनाडी तस्यै कुंडलिन्यै आधारशक्त्यै चंद्राद्भ्रूमध्यस्थाज्जन्म यस्यातस्यै सुधायै पीयूषायै मनोन्मन्यै तुर्यावस्थायै चिच्चैतन्यमात्मा स्वरूपं यस्याः सा तथा तस्यै । महती जडानां कार्येंद्रियमनसां चैतन्यसंपादकत्वात्सर्वोत्तमा या शक्तिश्चिच्छक्तिः पुरुषरूपा तस्यै । तुभ्यमिति प्रत्येकं संबध्यते । नमः प्रह्वीभावोऽस्तु ॥ ६४ ॥

नानाविधान्समाध्युपायानुक्त्वा नादानसंधानुरूपं मुख्योपायं प्रतिजानीते ॥

॥ भाषा ॥

एवमिति ॥ या प्रकार समाधिकरकें शुद्ध हे अंतःकरण जिनके एसे महात्मा पूर्व आचारी तिनने नानाप्रकारके साधन जिनके संदेह रहित आत्माको अनुभव ताकरकें युक्त समाधिके मार्ग कहे हें ॥ ६३ ॥

सुषुम्नायै इति ॥ सुषुम्ना जो मध्यनाडी ताके अर्थ नमस्कार हे. और कुंडलिनीके अर्थ नमस्कार हे. सुधारूप तुमारे अर्थ नमस्कार हे. भृकुटीके मध्यमें चंद्रमातें जन्म जाको एसी चंद्रजन्मा तुमारे अर्थ नमस्कार हे. और मनोन्मनी तुमारे अर्थ नमस्कार हे. और चैतन्य हे स्वरूप जाको और संपूर्णमें उत्तम शक्ति पुरुषरूप ता तुमारे अर्थ नमस्कार हो ॥ ६४ ॥

अब नानाप्रकारके समाधिके उपाय तिनें कहकरकें अब नादको अनुसंधानरूप मुख्य उपाय

मू० प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते ॥ ६५ ॥
श्रीआदिनाथेन सपादकोटि
लयप्रकाराः कथिता जयंति ॥
नादानुसंधानकमेकमेव
मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥ ६६ ॥
मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय शांभवीम् ॥
श्रुणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमंतस्थमेकधीः ॥ ६७ ॥

॥ टीका ॥

अशक्येति ॥ अव्युत्पन्नत्वादशक्यस्तत्त्वबोधस्तत्वज्ञानं येषां ते तथा तेषां मूढानामनधीतानां संमतम् । अपिशब्दात्किमुताधीतानामिति गम्यते । गोरक्षनाथेन प्रोक्तमित्यनेन महदुक्तत्वादुपादेयत्वं गम्यते । नादस्यानाहतध्वनेरुपासनेऽनुसंधानरूपं सेवनमुच्यते कथ्यते ॥ ६५ ॥

श्रीआदिनाथेनेति ॥ श्रीआदिनाथेन शिवेन कथिताः प्रोक्ताः पादेन चतुर्थांशेन सह वर्तमानाः कोटिसंख्याका लयप्रकाराश्चित्तलयसाधनभेदा जयंत्युत्कर्षेण वर्तंते । वयं तु नादानुसंधानकं नादानुचिंतनमेव एकं केवलं लयानां लयसाधनानां मध्ये मुख्यतममतिशयेन मुख्यं मन्यामहे जानीमहे उत्कृष्टानां लयसाधनानां मध्ये उत्कृष्टतमत्वाद्गोरक्षाभिमतत्वाच्च नादानुसंधानमेव अवश्यं विधेयमिति भावः ॥ ६६ ॥

शांभवीमुद्राया नादानुसंधानमाह ॥ मुक्तासन इति ॥ मुक्तासने सिद्धासने स्थित-

॥ भाषा ॥

ताय कहें हें ॥ अशक्येति ॥ नही उत्पन्न हें तत्त्वज्ञान जिनकूं और नही अध्ययन किये हें जिनने एसेनकूं संमत हे. और जो अध्ययनके करवेवाले हे तिनकूं प्राप्त होय ताको कहा कहनो. ये गोरक्षनाथनें कह्यो हे. और नादकी उपासनामें अनुसंधानरूप सेवन कहिये हे॥६५

श्रीआदिनाथेनेति ॥ श्रीआदिनाथ शिवजीनें सवाकोटि चित्तके लय होयवेके साधनभेद कहे हे. ते उत्कर्षकरकें वर्त्ते हे ओर हमतो नादको वारंवार चिंतमन सोही केवल लय साधननके मध्यमें अधिक मुख्य जाने हे. और गोरक्षके अभिमत हे यातें नादको अनुसंधानही अवश्य करनो योग्य हे ॥ ६६ ॥

मुक्तासन इति ॥ सिद्धासनमें स्थित योगी शांभवी मुद्राकरकें एकाग्रचित्तहोत दक्षिण कर्णमें सुषुम्ना नाडीमें स्थित जो नाद ताय श्रवण करे ॥ ६७ ॥

---

१ अत्र संध्यभावः स्वाभाविकोऽवैयाकरणविषयकः

मू० श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम् ॥
शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः ॥ ६८ ॥
आरंभश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च ॥
निष्पत्तिःसर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ॥ ६९ ॥

॥ टीका ॥

तो योगी शांभवीं मुद्रा'मंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिरि'त्यादिनोक्तां संधाय कृत्वा । एकधीरेकाग्रचित्तः सन् दक्षिणे कर्णेऽतस्थसुषुम्नानाड्यां संतमेव नादं शृणुयात् । तदुक्तं त्रिपुरासारसमुच्चये । 'आदौ मत्तालिमालाजनितरवसमस्तारसंस्कारकारी नादोऽसौ वांशिकस्यानिलभरितलसद्वंशनिःस्वानतुल्यः । घंटानादानुकारी तदनु च जलधिध्वानधीरो गभीरो गर्जन्पर्जन्यघोषः पर इह कुहरे वर्तते ब्रह्मनाड्या' इति॥६७॥

पराङ्मुखीमुद्रया नादानुसंधानमाह ॥ श्रवणेति ॥ श्रवणपुटे नयनयोर्नेत्रयोर्युगलं युग्मं प्राणशब्देन घ्राणपुटे मुखमास्यमेषां । द्वंद्वे प्राण्यंगत्वादेकवद्भावे प्राप्तेऽपि सर्वस्यापि[1] द्वंद्वैकवद्भावस्य वैकल्पिकत्वान्न भवति । तेषां निरोधनं करांगुलिभिः कार्यम् । निरोधनं चेत्थं । 'अंगुष्ठाभ्यामुभौ कर्णौ तर्जनीभ्यां च चक्षुषी । नासापुटौ तथान्याभ्यां प्रच्छाद्य करणानि चे' ति । चकारात्तदन्याभ्यां मुखं प्रच्छाद्येति समुच्चीयते । शुद्धा प्राणायामैर्मलरहिता या सुषुम्नासरणिः सुषुम्नापद्धतिस्तस्याममलो नादः स्फुटं व्यक्तं श्रूयते ॥ ६८ ॥

अथ नादस्य चतस्रोऽवस्थाः प्राह ॥ आरंभश्चेति ॥ आरंभावस्था घटावस्था परिचयावस्था निष्पत्त्यवस्था इति । सर्वयोगेषु सर्वेषु चित्तवृत्तिनिरोधोपायेषु शांभव्यादिषु व्यवस्थाचतुष्टयं स्यात् । चचैवतथापिचाः पादपूरणार्थाः ॥ ६९ ॥

॥ भाषा ॥

श्रवणेति ॥ कर्णयुगल नेत्रयुगल नासिका मुख इनकूं हाथकी अंगुष्ठ अंगुलिनकरकें रोकले फिर प्राणायामकरकें मलरहित जो सुषुम्नाको मार्ग तामें निर्मल नाद प्रगट श्रवण करवेंमे आवे हे ॥ ६८ ॥

आरंभश्चेति ॥ आरंभावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था, निष्पत्त्यवस्था संपूर्ण योगनमें ये च्यार अवस्था हें ॥ ६९ ॥

---

१ इयं हि टीकाकर्तुरसत्कल्पना—यत्—महाविभाषायाः सामान्यतो द्वन्द्वे प्रवृत्तौ समाहारस्यैकत्वादेकत्वे सिद्धे पुनर्द्वन्द्वश्चेति योगारम्भणवैयर्थ्यान्यथानुपपत्त्या प्राणितूर्यसेनांगेषु नित्यैकत्वभवनज्ञापनेन प्रकृतवैकल्पिकत्वादिति व्याख्यानमसंगतम् । अपि च—छन्दःसंनिवेशनसारल्यार्थमनेकवद्भाव इति वक्तुं शक्यम् ॥

अथारंभावस्था ॥

मू० ब्रह्मग्रंथेर्भवेद्भेदो ह्यानंदः शून्यसंभवः ॥
विचित्रः क्वणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः ॥ ७० ॥
दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगंधस्त्वरोगवान् ॥
संपूर्णहृदयः शून्य आरंभो योगवान् भवेत् ॥ ७१ ॥

अथ घटावस्था ॥

द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ॥

॥ टीका ॥

तत्रारंभावस्थामाह ॥ ब्रह्मग्रंथेरिति ॥ ब्रह्मग्रंथेरनाहतचक्रे वर्तमानाया भेदः प्राणायामाभ्यासेन भेदनं यदा भवेत्तदेति यत्तदोरध्याहारः । आनंदयतीत्यानंदः आनंदजनकः शून्ये हृदाकाशे संभवतीति शून्यसंभवो हृदाकाशोत्पन्नो विचित्रो नानाविधः क्वणो भूषणनिनदः स एव क्वणकः । भूषणनिनदसदृश इत्यर्थः । 'भूषणानां तु शिंजितम् । निक्वाणो निक्वणः क्वाणः क्वणः क्वणनमित्यपी' त्यमरः । अनाहतो ध्वनिरनाहतो निर्ह्रादो देहे देहमध्ये श्रूयते श्रवणविषयो भवतीत्यर्थः ॥७०॥

दिव्यदेह इति ॥ शून्ये हृदाकाशे य आरंभो नादारंभस्तस्मिन् सति हृदाकाशविशुद्धाकाशभ्रूमध्याकाशाः शून्यातिशून्यमहाशून्यशब्दैर्व्यवह्रियंते योगिभिः । संपूर्णहृदयः प्राणवायुना सम्यक् पूर्णं हृदयं यस्य स तथा आनंदेन पूर्णे हृदये योगवान् योगी दिव्यो रूपलावण्यबलसंपन्नो देहो यस्य स दिव्यदेहः तेजस्वी प्रतापवान् दिव्यगंधः दिव्य उत्तमो गंधो यस्य स तथा अरोगवान् रोगरहितो भवेदिति संबंधः ॥ ७१ ॥

घटावस्थामाह ॥ द्वितीयामिति ॥ द्वितीयायां घटावस्थायां वायुः प्राणः घटी-

॥ भाषा ॥

अथारंभावस्था ताय कहे हें ॥ ब्रह्मग्रंथेरिति ॥ ब्रह्मग्रंथीको भेदन जब होय हे तब आनंदको देवेवालो हृदयाकाशमें उत्पन्न हुयो नाना प्रकारके भूषणनके शब्दकी सदृश अनाहत ध्वनी देहमें श्रवण करवेमें आवे हे ॥ ७० ॥

दिव्यदेह इति ॥ शून्यहृदयाकाशमें नादको आरंभ होय हे और प्राणवायुकरके भर रह्यो हे हृदय जाको अथवा आनंदकरके पूर्ण हे हृदय जाको एसो योगी दिव्यदेह और तेजस्वी दिव्य हे गंध जाके और रोगरहित होय हे ॥ ७१ ॥

अब घटावस्था कहे हें ॥ द्वितीयामिति ॥ घटावस्थामें प्राणवायु और नादकूं एक-

मू० दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तदा ॥ ७२ ॥
विष्णुग्रंथेस्ततो भेदात्परमानंदसूचकः ॥
अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत् ॥ ७३ ॥

अथ परिचयावस्था ।

तृतीयायां तु विज्ञेयो विहायो मर्दलध्वनिः ॥
महाशून्यं तदा याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ॥ ७४ ॥

॥ टीका ॥

कृत्य आत्मना सहापानं नादबिंदू चैकीकृत्य मध्यगो मध्यचक्रगतः कंठस्थाने मध्यचक्रं । तदुक्तमत्रैव जालंधरबंधे । 'मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनमि' ति । यदाभवेदित्यध्याहारः । तदास्यामवस्थायां योगी योगाभ्यासी दृढमासनं यस्य स दृढासनः स्थिरासनो ज्ञानी पूर्वापेक्षया कुशलबुद्धिर्देवसमो रूपलावण्याधिक्याद्देवतुल्यो भवेत् । तदुक्तमीश्वरोक्ते राजयोगे । 'प्राणापानौ नादबिंदू जीवात्मपरमात्मनोः । मिलित्वा घटते यस्मात्तस्मात्स घट उच्यते ॥' इति ॥ ७२ ॥

विष्णुग्रंथेरिति ॥ ततो ब्रह्मग्रंथिभेदनानंतरं विष्णुग्रंथेः कंठे वर्तमानाया भेदात्कुंभकैर्भेदनात्परमानंदस्य भाविनो ब्रह्मानंदस्य सूचको ज्ञापकः । अतिशून्ये कंठावकाशे विमर्दोऽनेकनादसंमर्दो भेर्याः शब्द इव शब्दो भेरीशब्दो भेरीनादश्च तदा तस्मिन्काले भवेत् ॥ ७३ ॥

परिचयावस्थामाह सार्धद्वाभ्यां ॥ तृतीयायामिति ॥ तृतीयायां परिचयावस्थायां विहायोमर्दलध्वनिर्विहायसि भ्रूमध्याकाशे मर्दलस्य वाद्यविशेषस्य ध्वनिरिव ध्वनिर्विज्ञेयो विशेषेण ज्ञानार्हो भवति । तदा तस्यामवस्थायां सर्वसिद्धिसमाश्रयं सर्वासां सिद्धीनामणिमादीनां समाश्रयं स्थानम् । तत्र संयमादणिमादिप्राप्तेः महाशून्यं भ्रूमध्याकाशं याति गच्छति प्राण इति शेषः ॥ ७४ ॥

॥ भाषा ॥

करकें कंठस्थानमें मध्यचक्र तामें स्थित होय तब या अवस्थामें योगी दृढ हे आसन जाको और ज्ञानी और रूपलावण्यमें अधिक होय जाय यातें देवतुल्य एसो होय हे ॥ ७२ ॥

विष्णुग्रंथेरिति ॥ ब्रह्मग्रंथी भेदनके अनंतर कंठमें वर्तमान जो विष्णुग्रंथीके कुंभककरकें भेदन तातें ब्रह्मानंदको जाननो होय हे. अनेक नादनको संमर्द होय और भेरीको नाद जो शब्द ताकोसो शब्द सो भेरीनाद शब्द ता कालमें होय हे ॥ ७३ ॥

अब परिचयावस्था कहें हें ॥ तृतीयायामिति ॥ तीसरी जो परिचयावस्था तामें भृकु-

मू० चित्तानंदं तदा जित्वा सहजानंदसंभवः ॥
दोषदुःखजराव्याधिक्षुधानिद्राविवर्जितः ॥ ७५ ॥
रुद्रग्रंथिं यदा भित्त्वा शर्वपीठगतोऽनिलः ॥
निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत् ॥ ७६ ॥
एकीभूतं तदा चित्तं राजयोगाभिधानकम् ॥

॥ टीका ॥

चित्तानंदमिति ॥ चित्तानंदं नादविषयांतःकरणवृत्तिजन्यं सुखं जित्वाभिभूय सहजानंदसंभवः सहजानंदः स्वाभाविकात्मसुखं तस्य संभव आविर्भावः स दोषा वातपित्तकफा दुःखं तज्जन्या वेदना आध्यात्मिकादि च जरा वृद्धावस्था व्याधिर्ज्वरादिः क्षुधा बुभुक्षा निद्रा स्वाप एतैर्विवर्जितो रहितस्तदा योगी भवतीति॥७५॥

तदा कदेत्यपेक्षायामाह ॥ रुद्रेति ॥ यदा रुद्रग्रंथिं भित्त्वा आज्ञाचक्रे रुद्रग्रंथिः शर्वस्येश्वरस्य पीठं स्थानं भ्रूमध्यं तत्र गतः प्राप्तोऽनिलःप्राणो भवति तदा । निष्पत्त्यवस्थामाह ॥ निष्पत्ताविति ॥ निष्पत्तौ निष्पत्त्यवस्थायां ; ब्रह्मरंध्रे गते प्राणे निष्पत्त्यवस्था भवति । वैणवः वेणोरयं वैणवो वंशसंबंधी शब्दो निनादः क्वणंती शब्दायमाना या वीणा तस्याः क्वणः शब्दो भवेत् ॥ ७६ ॥

एकीभूतमिति ॥ तदा तस्यामवस्थायां चित्तमंतःकरणमेकीभूतमेकविषयीभूतम् । विषयविषयिणोरभेदोपचारात् । तद्राजयोगाभिधानकं राजयोग इत्यभिधानं

॥ भाषा ॥

टीके मध्यमें जो आकाश तामें वाजेनको सो शब्द जानवेकूं योग्य होय हे ताई अवस्थामें संपूर्ण सिद्धी जे अणिमादिक तिनको आश्रयरूप स्थान भ्रुकुटीके मध्यमें आकाश ता-प्रति प्राणवायु प्राप्त होय हे ॥ ७४ ॥

चित्तानंदमिति ॥ अंतःकरणकी वृत्तीतें हुयो सुख ताय तिरस्कारकरकें स्वाभाविक आत्मसुखको उदय होय हे तब दोष दुःख जरा व्याधी क्षुधा निद्राकरकें वार्जित योगी होय हे ॥७५॥

रुद्रेति ॥ आज्ञाचक्रमें रुद्रग्रंथि हे सो जब रुद्रग्रंथिकूं भेदकरकें शिवजीको स्थान भ्रुकुटिमध्य तामें प्राणवायु प्राप्त होय हे तब योगी कहे गुण तेसो होय हे अब निष्पत्ति अवस्था कहें हें ॥ ब्रह्मरंध्रमें प्राणवायु जाय तब निष्पत्ति अवस्था होय हे जब निष्पत्ति अवस्था होय तब वांशकोसो शब्द और शब्दायमान वीणाकोसो शब्द होय हे ॥ ७६ ॥

एकीभूतमिति ॥ ता अवस्थामें अंतःकरण एकविषयीभूत हो जाय हे. चित्तके एकाग्रताकूं ही राजयोग कहें हें. नादके अनुसंधानमें परायण जो योगी सो सृष्टि और संहार

मू० सृष्टिसंहारकर्तासौ योगीश्वरसमो भवेत् ॥ ७७ ॥
अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रैवाखंडितं सुखम॥
लयोद्भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते ॥ ७८ ॥
राजयोगमजानंतः केवलं हठकर्मिणः ॥
एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयासफलवर्जितान् ॥ ७९ ॥
उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भ्रूध्यानं मम संमतम् ॥
राजयोगपदं प्राप्तं सुखोपायोऽल्पचेतसाम् ॥
सद्यः प्रत्ययसंधायी जायते नादजो लयः ॥ ८० ॥

॥ टीका ॥

यस्य तद्राजयोगाभिधानकं चित्तस्यैकाग्रतैव राजयोग इत्यर्थः ॥ सृष्टिसंहारेति ॥ असौ नादानुसंधानपरो योगी सृष्टिसंहारकर्ता सृष्टिं संहारं च करोतीति तादृशः । अतएवेश्वरसम ईश्वरतुल्यो भवेत् ॥ ७७ ॥

अस्तु वेति ॥ राजयोगमिति ॥ उभौ प्राग्व्याख्यातौ ॥ ७८ ॥ ७९ ॥

उन्मन्यवाप्तय इति ॥ शीघ्रं त्वरितमुन्मन्या उन्मन्यवस्थाया अवाप्तये प्राप्त्यर्थं भ्रुध्यानं भ्रुवोर्ध्यानं भ्रूमध्ये ध्यानं मम स्वात्मारामस्य संमतम् । राजयोगो योगानां राजा तदेव पदं राजयोगपदं तुर्यावस्थाख्यं प्राप्तुं लब्धुं पूर्वोक्तभ्रूध्यानरूपः सुखोपायः सुखसाध्यः उपायः सुखोपायः अल्पचेतसामल्पबुद्धीनामपि । किमुतान्येषामित्यभिप्रायः । नादजः नादाज्जातो लयश्चित्तविलयः सद्यः शीघ्रं प्रत्ययं प्रतीतं संदधातीति प्रत्ययसंधायी प्रतीतिकरो जायते प्रादुर्भवति ॥ ८० ॥

॥ भाषा ॥

करे हे. एसो योगी यातेंही ईश्वरकी तुल्य होय हे ॥ ७७ ॥

अस्तु वेति ॥ मुक्तिहो वा मत हो यामेंही अखंड सुख हे. लयतें हुयो जो सुख सोवी राजयोगतें प्राप्त होय हे ॥ ७८ ॥

राजयोगमिति ॥ राजयोगकूं नही जाने हे और केवल हठकर्मकूं करे हें जे अभ्यासी हें तिने श्रमके फलकरकें वर्जित मानूं हुं ॥ ७९ ॥

उन्मन्यवाप्तय इति ॥ शीघ्रही उन्मनी अवस्थाकी प्राप्तिके अर्थ भ्रुकुटीनके मध्यमें जो ध्यान सो स्वात्माराम जो मे सो मेरे संमत हे. राजयोगपद जो तुर्यावस्था ताय प्राप्त होयवेकूं भ्रुकुटीमध्य ध्यान अल्पबुद्धीवारेनकूं सुखपूर्वक उपाय हे. और नादतें हुयो जो चित्तको लय सो शीघ्रही प्रतीतिको करवेवारो होय हे ॥ ८० ॥

मू० नादानुसंधानसमाधिभाजां योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम्॥
आनंदमेकं वचसामगम्यं जानाति तं श्रीगुरुनाथ एकः८१
कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोति ध्वनिं मुनिः॥
तत्र चित्तं स्थिरीकुर्याद्यावत्स्थिरपदं व्रजेत्॥ ८२॥

॥ टीका ॥

नादानुसंधानेति ॥ नादस्यानाहतध्वनेरनुसंधानमनुचिंतनं तेन समाधिश्चित्तैकाग्र्यं तं भजंतीति नादानुसंधानसमाधिभाजस्तेषां योगिषु योगयुक्तेष्वीश्वराः समर्थास्तेषां हृदि हृदये वर्धत इति वर्धमानस्तं वर्धमानं वचसां वाचामगम्यं। इदमिति वक्तुमशक्यं तं योगशास्त्रप्रसिद्धमेकं मुख्यमानंदमाह्लादमेकोऽनन्यः श्रीगुरुनाथः श्रीमान् गुरुरेव नाथो जानाति वेत्ति। एतेन नादानुसंधानानंदो गुरुगम्य एवेति सूचितम्॥ ८१॥

नादानुसंधानात्प्रत्याहारादिक्रमेण समाधिमाह ॥ कर्णावित्यादिभिः ॥ मुनिर्मननशीलो योगी हस्ताभ्यामित्यनेन हस्तांगुष्ठौ लक्ष्येते । ताभ्यां कर्णौ श्रोत्रे पिधाय। हस्तांगुष्ठौ श्रोत्रविवरयोः कृत्वेत्यर्थः। यं ध्वनिमनाहतनिःस्वनं शृणोत्याकर्णयति तत्र तस्मिन् ध्वनौ चित्तं स्थिरीकुर्यादस्थिरं स्थिरं संपद्यमानं कुर्यात्। यावत्स्थिरं पदं स्थिरपदं तुर्याख्यं गच्छेत्। तदुक्तं। तुर्यावस्था चिदभिव्यंजकनादस्य वेदनं प्रोक्तमिति नादानुसंधानेन वायुस्थैर्यमणिमादयोऽपि भवंतीति। उक्तं च त्रिपुरासारसमुच्चये। 'विजितो भवतीह तेन वायुः सहजो यस्य समुत्थितः प्रणादः। अणिमादिगुणा भवंति तस्यामितपुण्यं च महागुणोदयस्य । सुरराजतनूजवैरिरंध्रे विनिरुध्य स्वकरांगुलिद्वयेन । जलधेरिव धीरनादमंतः प्रसरंतं सहसा शृणोति मर्त्यः' इति। सुरराज इंद्रस्तस्य तनूजोऽर्जुनस्तस्य वैरी कर्णस्तद्रंध्रे स्पष्टमन्यत् ॥८२॥

॥ भाषा ॥

नादानुसंधानेति ॥ नादको वारंवार चिंतमनकरकें जो चित्तकी एकाग्रता ताय भजैं एसे जे योगीश्वर तिनकें हृदयमें वढ रह्यो वाणीकरकें कहवेमें नही आवे एसो मुख्य आनंद ताय एक श्री गुरुनाथ ही जाने हे. और नही जाने या कहवेमें ये हे नादके अनुसंधानको आनंद गुरूनतेंही जानो जाय हे॥ ८१॥

कर्णावित्यादि॥ योगी हाथके अंगुठानकूं कर्णमें धरके अर्थात् कान मुंदकरकें ध्वनी जो अनाहत शब्द श्रवण करे ताध्वनिमें चित्त स्थिर करे जब तांई तुर्यपदकूं प्राप्त होय॥८२॥

मू० अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम् ॥
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत् ॥ ८३ ॥
श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् ॥
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः ॥ ८४ ॥
आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसंभवाः ॥
मध्ये मर्दलशंखोत्था घंटाकाहलजास्तथा ॥ ८५ ॥

॥ टीका ॥

अभ्यस्यमान इति ॥ अभ्यस्यमानोऽनुसंधीयमानोऽयं नादोऽनाहताख्यो बाह्यं ध्वनिं बहिर्भवं शब्दमावृणुते श्रुत्योर्विषयं । योगी नादाभ्यासी पक्षान्मासार्धादखिलं सर्वं विक्षेपं चित्तचांचल्यं जित्वाऽभिभूय सुखी स्वानंदो भवेत् ॥ ८३ ॥

श्रूयत इति ॥ प्रथमाभ्यासे पूर्वाभ्यासे नानाविधोऽनेकविधो महान् जलधिजीमूतभेर्यादिसदृशो नादोऽनाहतस्वनः श्रूयते आकर्ण्यते । ततोऽनंतरमभ्यासे नादानुसंधानाभ्यासे वर्धमाने सति सूक्ष्मसूक्ष्मकः सूक्ष्मः सूक्ष्म एव श्रूयते श्रवणविषयो भवति ॥ ८४ ॥

नानाविधं नादमाह द्वाभ्याम् ॥ आदाविति ॥ आदौ वायोर्ब्रह्मरंध्रगमनसमये जलधिः समुद्रो जीमूतो मेघो भेरा वाद्यविशेषः । 'भेरी स्त्री दुंदुभिः पुमानि' त्यमरः। झर्झरो वाद्यविशेषः । 'वाद्यप्रभेदा डमरुमड्डुडिंडिमझर्झराः । मर्दलः पणवोऽन्येऽपी' त्यमरः । जलधिप्रमुखेभ्यः संभव इव संभावो येषां ते तथा मध्ये ब्रह्मरंध्रे वायोः स्थैर्यानंतरं मर्दलो वाद्यविशेषः शंखो जलजस्ताभ्यामुत्था इव मर्दलशंखोत्थाः । घंटाकाहलौ वाद्यविशेषौ ताभ्यां जाता इव घंटाकाहलजाः ॥ ८५ ॥

॥ भाषा ॥

अभ्यस्यमान इति ॥ अभ्यास कियो हुयो नादबाहिरके शब्दकूं आवरण करे हे. और नादाभ्यासी योगी पक्षमात्रमें संपूर्ण चित्तको चांचल्यता ताय जीतकरकें सुखी होय ॥ ८३ ॥

श्रूयत इति ॥ प्रथम अभ्यासमें अनेक प्रकारको महान् समुद्र और मेघ और भेरीकूं आदिलेके जे शब्द तिनकीसदृश नाद श्रवण करिये हे ता पीछें नादानुसंधानको अभ्यास बढे जब सूक्ष्म सूक्ष्मही श्रवण करवेमें आवे हे ॥ ८४ ॥

नानाप्रकारको नाद कहे हें ॥ आदाविति ॥ जब वायु ब्रह्मरंध्रकूं गमन करे हे ता समयमें आदिमेंतो समुद्र मेघ भेरी डमरु इनके शब्दकोसो शब्द होय हे. और मध्यमें पणव और

मू० अंते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनाः ॥
इति नानाविधा नादाः श्रूयंते देहमध्यगाः ॥ ८६ ॥
महति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ ॥
तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥ ८७ ॥
घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने ॥
रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत् ॥ ८८ ॥

॥ टीका ॥

अंते त्विति ॥ अंते तु प्राणस्य ब्रह्मरंध्रे बहुस्थैर्यानंतरं तु किंकिणी क्षुद्रघंटिका वंशो वेणुः वीणा तंत्री भ्रमरो मधुपः तेषां निःस्वना इति पूर्वोक्ताः नानाविधा अनेकप्रकारका देहस्य मध्ये गताः प्राप्ताः श्रूयंते ॥ ८६ ॥

महतीति ॥ मेघश्च भेरी च ते आदी यस्य स मेघभेर्यादिकस्तस्मिन् । मेघभेरी-शब्दौ तज्जन्यनिर्घोषपरौ। महति बहुले ध्वनौ निनादे श्रूयमाणे आकर्ण्यमाने सत्यपि तत्र तेषु नादेषु सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरमतिसूक्ष्मं नादमेव परामृशेच्चिंतयेत् । सूक्ष्मस्य नादस्य चिरस्थायित्वात्तत्रासक्तचित्तश्चिरं स्थिरमतिर्भवेदितिभावः ॥ ८७ ॥

घनमिति ॥ घनं महांतं नादं मेघभेर्यादिकमुत्सृज्य घने वा नादे रममाणं घन-सूक्ष्मान्यतरनादग्रहणपरित्यागाभ्यां क्रीडंतमपि क्षिप्तं रजसात्यंतचंचलं मनोऽन्यत्र विषयांतरे न चालयेन्न प्रेरयेत् । क्षिप्तं मनो विषयांतरासक्तं न समाधीयते नादेषु रममाणं तु समाधीयत इति भावः ॥ ८८ ॥

॥ भाषा ॥

शंख घंटा काहलको रव जो हे सो इनके शब्दकोसो शब्द होय हे ॥ ८५ ॥

अंतेत्विति ॥ और अंतमें तो प्राणकूं ब्रह्मरंध्रमें बहोत स्थिर हुयेके अनंतरतो किंकिणी जो क्षुद्रघंटिका वेणु वीणा भ्रमर इनके शब्दकेसे शब्द नानाप्रकारके देहमध्यमें प्राप्त हुये श्रवण करवेमें आवे हे ॥ ८६ ॥

महतीति ॥ मेघ भेरी इनकूं आदिले वाजे इनके शब्द श्रवण करे तब नादनमें सू-क्ष्मसूंबी सूक्ष्म नाद ताय चिंतमन करे ॥ ८७ ॥

घनमिति ॥ मेघ भेरी इनकूं आदि ले तिनको महान् नाद ताय महान्नादमें छोडक-रकें और सूक्ष्ममें सूक्ष्म नाद ताय छोडकरकें रजोगुणकरकें अत्यंत चंचल मन ताय और विषयनमें प्रेरणा न करे ॥ ८८ ॥

मू० यत्रकुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ॥
तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्धं विलीयते ॥ ८९ ॥
मकरंदं पिबन्भृंगो गंधं नापेक्षते यथा ॥
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्नहि कांक्षते ॥ ९० ॥
मनोमत्तगजेंद्रस्य विषयोद्यानचारिणः ॥
नियन्त्रणे समर्थोऽयं निनादनिशितांकुशः ॥ ९१ ॥

॥ टीका ॥

यत्रेति ॥ वा अथवा यत्रकुत्रापि नादे यस्मिन्कस्मिंश्चिद्घने सूक्ष्मे वा नादे प्रथमं पूर्वं मनो लगति लग्नं भवति तत्रैव तस्मिन्नेव नादे सुस्थिरीभूय सम्यक् स्थिरं भूत्वा तेन नादेन सार्धं साकं विलीयते लीनं भवतीत्यर्थः । अत्र पूर्ववाक्येन प्रत्याहारा द्वितीयेन धारणा तृतीयेन ध्यानद्वारा समाधिरुक्तः ॥ ८९ ॥

मकरंदमिति ॥ मकरंदं पुष्परसं पिबन् धयन् भृंगो भ्रमरो गंधं यथा नापेक्षते नेच्छति । तथा नादासक्तं नाद आसक्तं चित्तमंतःकरणं विषयान् विषण्वंत्यवबध्नंति प्रमातारं स्वसंगेनेति विषयाः स्रक्चंदनवनितादयस्तान् न कांक्षते नेच्छति । हीति निश्चये ॥ ९० ॥

मन इति ॥ विषयः शब्दादिरेवोद्यानं वनं तत्र चरतीति विषयोद्यानचारी तस्य मन एव मत्तगजेंद्रः । दुर्निवारत्वात् । तस्य निनाद एवानाहतध्वनिरेव निशितांकुशः तीक्ष्णांकुशः नियत्रणे परावर्तने समर्थः शक्तः । एतैः श्लोकैः । 'चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् । यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ॥' इंद्रियाणां विषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहार इत्युक्तलक्षणः प्रत्याहारः प्रोक्तः ॥ ९१ ॥

॥ भाषा ॥

यत्रेति ॥ जा काउ महान्नादमें और सूक्ष्मनादमें पूर्व मन लगो होय ताही नादमें स्थिर होयकरकें ता नादकरकें सहित लीन होय हे ॥ ८९ ॥

मकरंदमिति ॥ जैसे भ्रमर पुष्पको रस ताय पानकरत गंधकूं नही इच्छा करे हे तेसेंही नादमें आसक्त हुयो चित्त सो विषय जे पुष्प चंदन स्त्रियादिक तिने नही कांक्षा करे हे निश्चय होय ॥ ९० ॥

मन इति ॥ विषयरूपी वनमें विचरे ताको मन सोही हुयो मतवालो गजेंद्र ताके पीछें बगदायवेमें समर्थ तीक्ष्ण अंकुशरूप नादही हे ॥ ९१ ॥

मू० बद्धं तु नादबंधेन मनः संत्यक्तचापलम् ॥
प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा ॥ ९२ ॥
सर्वचिंतां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ॥
नाद एवानुसंधेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥ ९३ ॥
नादोऽतरंगसारंगबंधने वागुरायते ॥
अंतरंगकुरंगस्य वधे व्याधायतेऽपि च ॥ ९४ ॥

॥ टीका ॥

बद्धं त्विति ॥ नाद एव बंधः बध्यतेऽनेनेति बंधः बंधनसाधनं तेन स्वशक्त्या स्वाधीनकरणेन बद्धं बंधनमिव प्राप्तं । नादधारणादावासक्तमित्यर्थः । अत एव सम्यक् त्यक्तं चापलं क्षणेक्षणे विषयग्रहणपरित्यागरूपं येन तत्तथा मनः सुतरां स्थैर्यं प्रयाति नितरां धारणमेति । तत्र दृष्टांतमाह । छिन्नौ पक्षौ यस्य तादृशः खे गच्छतीति खगः पक्षी यथा । एतेन । 'प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेंद्रियम् ॥ वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थैर्यं शुभाश्रये ॥' शुभाश्रये चित्तस्थापनं धारणेत्युक्तलक्षणा धारणा प्रोक्ता ॥ ९२ ॥

सर्वचिंतामिति ॥ सर्वेषां बाह्याभ्यंतरविषयाणां या चिंता चिंतनं तां परित्यज्य त्यक्त्वा सावधानेनैकाग्रेण चेतसा योगानां साम्राज्यं सम्राजो भावः । योगशब्दोऽर्शाद्यजंतः । राजयोगित्वमिति यावत् । इच्छता वांछता पुंसा नाद एवानाहतध्वनिरेवानुसंधेयोऽनुचिंतनीयः । नादाकारवृत्तिप्रवाहः कर्तव्य इत्यर्थः । एतेन । 'तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्यसंततिश्चान्यनिस्पृहा । तद्ध्यानं प्रथमैरंगैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप ॥' तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानमित्युक्तलक्षणं ध्यानमुक्तम् ॥ ९३ ॥

नादोऽतरंगेति ॥ नादः अंतरंगं मन एव सारंगो मृगस्तस्य बंधने चांचल्यहरणे वागुरायते वागुरेवाचरति वागुरा जालं । यथा वागुरा बंधनेन सारंगस्य चांचल्यं

॥ भाषा ॥

बद्धं त्विति ॥ नादरूपी बंधनकरकें बंधो हुयो भली प्रकार त्याग कियो हे चपलता जाने एसो मन अधिककर स्थिरताकूं प्राप्त होय हे. छिन्न हुये हें पक्ष जाके एसो पक्षी स्थिर होय हे तेसें ॥ ९२ ॥

सर्वचिंतामिति ॥ एकाग्रचित्तकरकें संपूर्ण बहारभीतरकी चिंता ताय परित्यागकरकें राजयोगपदकूं इच्छा करे ता पुरुषकरकें नादही अनुसंधान करनो योग्य हे ॥ ९३ ॥

नादोऽतरंगेति ॥ये नाद अंतरंग मनरूपी जो सारंग मृग ताके बांधवेमें वा चंचलता ताई

मू० अंतरंगस्य यमिनो वाजिनः परिघायते ॥
नादोपास्तिरतो नित्यमवधार्या हि योगिना ॥ ९५ ॥
बद्धं विमुक्तचांचल्यं नादगंधकजारणात् ॥
मनः पारदमाप्नोति निरालंबाख्यखेऽटनम् ॥ ९६ ॥

॥ टीका ॥

हरति तथा नादोंऽतरंगस्य स्वशक्त्या चांचल्यं हरतीत्यर्थः । अंतरंगं मन एव सारंगो हरिणस्तस्य बंधने नानावृत्त्युत्पादनापनयनमेव मनसो बंधस्तस्मिन् व्याधायते व्याध इवाचरति । यथा व्याधो वागुराबद्धं मृगं हंति एवं नादोऽपि स्वासक्तं मनो हंतीत्यर्थः ॥ ९४ ॥

अंतरंगस्येति ॥ यमिनो योगिनोंऽतरंगं मनस्तस्य चपलत्वाद्वाजिनोऽश्वस्य परिघायते वाजिशालाद्वारपरिघ इवाचरति नाद इति शेषः । यथा वाजिशालापरिघो वाजिनोऽन्यत्र गतिं रुणद्धि तथा नादोंऽतरंगस्येत्यर्थः । अतःकारणाद्योगिना नादस्योपास्तिरुपासना नित्यं प्रत्यहमवधार्यावधारणीया । हीति निश्चयेऽव्ययम् ॥ ९५ ॥

बद्धमिति ॥ नाद एव गंधक उपधातुविशेषस्तेन जारणं जारणीकरणं नादगंधकसंबंधेन चांचल्यहरणं तस्माद्बद्धं नादैकासक्तं । पक्षे गुटिकाकृतिं । प्राप्तं अत एव विमुक्तं त्यक्तं चांचल्यमनेकविषयाकारपरिणामरूपं येन । पक्षे विमुक्तलौल्यं मनः पारदं मन एव पारदं चंचलं निरालंबं ब्रह्म तदेवाख्या यस्य तन्निरालंबाख्यं त-

॥ भाषा ॥

दूर करवेमें जालकीसीनाई हे जेसें जालके बंधनकरकें सारंगको चांचलपनो दूर होय हे तेसेंही नाद अंतरंग मनकी चांचल्यताकूं अपनी शक्तिकरकें दूर करे हे अंतरंग मन सोही हुयो हरिण ताके बंधनमें व्याधकीसीनाई आचरण करे हे ॥ ९४ ॥

अंतरंगस्येति ॥ योगीको अंतरंग मनरूपी घोडा ताय रोकवेकी लोहेकी आगलकीसीनाई नाद हे जेसें घोडाशालाके द्वारमें लोहेकी आगल लगाय घोडाकी बहारगतीकूं रोके हे तेसेंही अंतरंग मनकूं विषयनतें रोकवेवालो नाद हे यातें योगी करकें नादउपासना नित्यप्रति निश्चयकरकें धारण करनो योग्य हे ॥ ९५ ॥

बद्धमिति ॥ नादके जारणतें बंधो हुयो और दूर होय गयो हे चंचलता जाको एसो मन निरालंब ब्रह्माकार वृत्तिको प्रवाह अखंड करे हे. जेसें गंधकके जारणतें बंधो हुयो पारदको गुटिका मुखमें राखेतें आकाशगती करे हे तेसेंही ॥ ९६ ॥

मू॰ नादश्रवणतः क्षिप्रमंतरंगभुजंगमः ॥
विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुत्रचिन्नहि धावति ॥ ९७ ॥
काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति ॥
नादेप्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते ॥ ९८ ॥
घंटादिनादसक्तस्तब्धांतःकरणहरिणस्य ॥
प्रहरणमपि सुकरं शरसंधानप्रवीणश्चेत् ॥ ९९ ॥

॥ टीका ॥

देव खमपरिच्छिन्नत्वात्तस्मिन्नटनं गमनं तदाकारवृत्तिप्रवाहम् । पक्षे आकाशगमनं प्राप्नोति । यथा बद्धं पारदमाकाशगमनं करोति, एवं बद्धं मनो ब्रह्माकारवृत्तिप्रवाहमविच्छिन्नं करोतीत्यर्थः ॥ ९६ ॥

नादेति ॥ नादस्यानाहतस्वनस्य श्रवणतः श्रवणात् क्षिप्रं द्रुतमंतरंगं मन एव भुजंगमः सर्पश्चपलत्वान्नादप्रियत्वाच्च भुजंगमरूपत्वं मनसः । सर्वं विश्वं विस्मृत्य विस्मृतिविषयं कृत्वैकाग्रो नादाकारवृत्तिप्रवाहवान् सन्कुत्रापि विषयांतरे नहि धावति नैव धावनं करोति । ध्यानोत्तरैः श्लोकैः । 'तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत् । मनसा ध्याननिष्पाद्यः समाधिः सोऽभिधीयते' इति विष्णुपुराणोक्तलक्षण 'स्तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिरि' ति पातंजलसूत्रोक्तलक्षणेन च संप्रज्ञातलक्षणः समाधिरुक्तः ॥ ९७ ॥

काष्ठ इति ॥ काष्ठे दारुणि प्रवर्तितः प्रज्वालितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति ज्वालारूपं परित्यज्य तन्मात्ररूपेणावतिष्ठते यथा तथा । नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते । राजसतामसवृत्तिनाशात्सत्त्वमात्रावशेषं संस्कारशेषं च भवति । तत्र च मैत्रायणीयमंत्रः । 'यथा निरिंधनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति । तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यती' ति ॥ ९८ ॥

घंटादीति ॥ घंटा आदिर्येषां शंखमर्दलझर्झरदुंदुभिजीमूतादीनां ते घंटादयः

॥ भाषा ॥

नादेति ॥ अनाहत नादके श्रवणकरकें शीघ्र अंतरंग मनरूपी सर्प संपूर्ण विस्मरण होयकरकें एकाग्रचित्त होय कहूंबी विषयांतरमें नही डोरे ॥ ९७ ॥

काष्ठ इति ॥ काष्ठमें प्रवर्त हुयो अग्नि काष्ठकरकें सहित ज्वालारूप परित्यागकरकें शांति होय हे तेसेंही नादमें प्रवर्त्त हुयो चित्त नादकरकें सहित लीन होय हे ॥ ९८ ॥

घंटादीति ॥ घंटादिकनके शब्दनमें आसक्त यातेंही निश्चल अंतःकरणरूप हरिणको

मू० अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते ॥
ध्वनेरंतर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यांतर्गतं मनः ॥
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १०० ॥
तावदाकाशसंकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते ॥
निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मेति गीयते ॥ १ ॥

॥ टीका ॥

स्तेषां नादस्तेषु सक्तः । अत एव स्तब्धो निश्चलो योऽतःकरणमेव हरिणो मृगस्तस्य प्रहरणं नानावृत्तिप्रतिबंधनमंतःकरणपक्षे । हरिणपक्षे तु प्रहरणं हननमपि शरवद्द्रुतगामिनो वायोः संधानसुषुम्नामार्गेण ब्रह्मरंध्रे निरोधनपक्षे शरस्य बाणस्य संधानं धनुषि योजनं तस्मिन् प्रवीणः कुशलश्चेसुत्करं सुखेन कर्तुं शक्यम् ॥ ९९ ॥
अनाहतस्येति ॥ अनाहतस्य शब्दस्यानाहतस्वनस्य यो ध्वनिर्निर्ह्राद उपलभ्यते श्रूयते तस्य ध्वनेरंतर्गतं ज्ञेयं ज्योतिः स्वप्रकाशचैतन्यं ज्ञेयस्यांतर्गतं ज्ञेयाकारतामापन्नं मनोंऽतःकरणं तत्र ज्ञेये मनो विलयं याति परवैराग्येण सकलवृत्तिशून्यं संस्कारशेषं भवति । तद्विष्णोर्विभोरात्मनः परममंतःकरणवृत्त्युपाधिराहित्यान्निरुपाधिकं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं स्वरूपम् ॥ १०० ॥
तावदिति ॥ यावच्छब्दोऽनाहतध्वनिः प्रवर्तते श्रूयते तावदाकाशस्य सम्यक्कल्पनं भवति । शब्दस्याकाशगुणत्वाद्गुणगुणिनोरभेदाद्वा मनसा सह शब्दस्य विलयान्निःशब्दं शब्दरहितं यत्परं ब्रह्म परं ब्रह्मशब्दवाच्यं परमात्मेति गीयते परमात्मशब्देन स उच्यते । सर्ववृत्तिविलये यः स्वरूपेणावस्थितः स एव परब्रह्मपरमात्मशब्दाभ्यामुच्यत इति भावः ॥ १ ॥

॥ भाषा ॥

प्रहार नानावृत्तिनको रोकनो सहज हे ॥ ९९ ॥
अनाहतस्येति ॥ अनाहत शब्दकी जो ध्वनी श्रवण करे हे ता ध्वनीके भीतर स्वप्रकाश चैतन्य तामें अंतर्गत प्राप्त मन सो मन चैतन्यमें लय होय हे सो विष्णुको परमपद योगीनकरके प्राप्त होय हे ॥ १०० ॥
तावदिति ॥ जितनें नाद श्रवण करवेमें आवे हे तब तलक आकाश रहे हे. जब मन करकें सहित शब्दको लय होय हे और नादके लय हो तेंहीं चित्त अपने स्वरूपकरकें स्थित होय हे शब्दरहित जो ब्रह्म हे ताय परमात्मा कहे हें ॥ १ ॥

मू० यत्किंचिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा ॥
यस्तत्त्वांतो निराकारः स एव परमेश्वरः ॥ २ ॥
सर्वेहठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये ॥
राजयोगसमारूढः पुरुषः कालवंचकः ॥ ३ ॥
तत्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभिः ॥
उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते ॥ ४ ॥

॥ टीका ॥

यत्किंचिदिति ॥ नादरूपेणानाहतध्वनिरूपेण यत्किंचिच्छ्रूयते आकर्ण्यते सा शक्तिरेव यस्तत्त्वांतस्तत्त्वानामंतो लयो यस्मिन् सः तथा निराकार आकाररहितः स एव परमेश्वरः सर्ववृत्तिक्षये स्वरूपावस्थितो यः स आत्मेत्यर्थः । काष्ठे प्रवर्तितो वह्निरित्यादिभिः श्लोकैः राजयोगापरपर्यायोऽसंप्रज्ञातः समाधिरुक्तः ॥ २ ॥

सर्वे इति ॥ हठश्च लयश्च हठलयौ तयोरुपाया हठलयोपाया हठोपाया आसनकुंभकमुद्रारूपा लयोपाया नादानुसंधानशांभवीमुद्रादयः । राजयोगस्य मनसः सर्ववृत्तिनिरोधलक्षणस्य सिद्धये निष्पत्तये प्रोक्ता इति शेषः । राजयोगसमारूढः सम्यगारूढः प्राप्तवान् यः पुरुषः स कालवंचकः कालं मृत्युं वंचयति जयतीति तादृशः स्यादिति शेषः ॥ ३ ॥

तत्त्वमिति ॥ तत्त्वं चित्तं बीजं बीजवदुन्मन्यवस्थांकुराकारेण परिणममानत्वात्। हठः प्राणापानयोरैक्यलक्षणः प्राणायामः क्षेत्रे इव प्राणायामे उन्मनी कल्पलतिको-

॥ भाषा ॥

यत्किंचिदिति ॥ नादरूप करकें जो कछू श्रवण करवेमें आवे हे सो शक्ती है ओर जो तत्त्वनको लय जामें और आकाररहित होय सोही परमेश्वर हे ॥ २ ॥

सर्वे इति ॥ ये संपूर्ण हठ लयके उपाय आसन कुंभक मुद्रा ये हठके उपाय हें और नादानुसंधान शांभवीमुद्रादिक ये लयके उपाय हें ये राजयोग जो सर्ववृत्तीनको रोकनो ताकी सिद्धीके अर्थ कहें हें राजयोगकूं प्राप्त हुयो जो पुरुष सो मृत्युकूं जीतवेवारो होय हे ॥ ३ ॥

तत्त्वमिति ॥ तत्त्वतो चित्त और बीज उन्मनी अवस्थाको अंकुर ओर हठ प्राणायाम और क्षेत्र उदासीनता जल इन तीनोंमकरकें उन्मनीअवस्था सोहि कल्पलतिका संपूर्ण इष्टकी करवेवाली सो शीघ्रही उत्पन्न होय हे ॥ ४ ॥

मू० सदा नादानुसंधानात्क्षीयंते पापसंचयाः ॥
निरंजने विलीयेते निश्चितं चित्तमारुतौ ॥ ५ ॥
शंखदुंदुभिनादं च न श्रृणोति कदाचन ॥
काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम् ॥ ६ ॥
सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिंताविवर्जितः ॥
मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ७ ॥

॥ टीका ॥

त्पत्तेरौदासीन्यं परवैराग्यं जलं तस्या उत्पत्तिकारणत्वात् । परवैराग्यहेतुकः संस्कारविशेषश्चित्तस्यासंप्रज्ञात इति तल्लक्षणात् । एतैस्त्रिभिरुन्मन्यसंप्रज्ञातावस्था सैव कल्पलतिका सकलेष्टसाधनत्वात्सद्य एव शीघ्रमेव प्रवर्तते प्रवृत्ता भवति उत्पन्ना भवति ॥ ४ ॥

सदेति ॥ सदा सर्वदा नादानुसंधानान्नादानुचिंतनात्पापसंचयाः पापसमूहाः क्षीयंते नश्यंति निरंजने निर्गुणे चैतन्ये निश्चितं ध्रुवं चित्तमारुतौ मनःप्राणौ विलीयेते विलीनौ भवतः ॥ ६ ॥

उन्मन्यवस्थां प्राप्तस्य योगिनः स्थितिमाहाष्टभिः ॥ शंखदुंदुभीति ॥ शंखो जलजो दुंदुभिर्वाद्यविशेषस्तयोर्नादं घोषं कदाचन कस्मिंश्चिदपि समये न शृणोति । शंखदुंदुभीत्युपलक्षणं नादमात्रस्य । उन्मन्यवस्थया देहो ध्रुवं काष्ठवज्जायते । निश्चेष्टत्वादित्यर्थः ॥ ६ ॥

सर्वेति ॥ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छामरणलक्षणाः पंच व्युत्थानावस्थास्ताभिर्विशेषेण मुक्तो रहितः सर्वा याश्चिंताः स्मृतयस्ताभिर्विवर्जितो विरहितो यः योगः सकलवृ-

॥ भाषा ॥

सदेति ॥ सदा सर्वदा नादके अनुसंधानतें पापनको समूह नाशकूं प्राप्त होय हे निर्गुण चैतन्यमें निश्चेंही चित्त और वायु ये दोनो लीन होय हे ॥ ५ ॥

शंखदुंदुभीति ॥ उन्मनी अवस्थाकरकें योगीको देह काष्ठकीसी नाई निश्चेष्टावान् होजाय हे. तब शंखदुंदुभीनको नाद ताय कोई समयमें नही श्रवण करेहें ॥ ६ ॥

सर्वेति ॥ जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति मूर्छा मरण ये पांच अवस्थानकरकें रहित होय. और संपूर्ण चिंताकरकें रहित होय. और मृतकीसी नाई स्थित होय सो तुर्य अवस्थावान् योगी जीवतोही मुक्त हे ॥ ७ ॥

मू० खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा ॥
साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥ ८ ॥
न गंधं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम् ॥
नात्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना ॥ ९ ॥
चित्तं न सुप्तं नो जाग्रत्स्मृतिविस्मृतिवर्जितम् ॥

॥ टीका ॥

त्तिनिरोधोऽस्यास्तीति योगी तुर्यावस्थावान् स मुक्तो जीवन्नेव मुक्तः । सकलवृत्तिनिरोधे आत्मनः स्वरूपावस्थानात् । तदुक्तं पातंजले सूत्रे । 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानमि'ति । स्पष्टमन्यत् ॥ ७ ॥

खाद्यत इति ॥ समाधिना युक्तो योगी कालेन मृत्युना न खाद्यते न भक्ष्यते । न हन्यत इत्यर्थः । कर्मणा कृतेन शुभेनाशुभेन वा न बाध्यते जन्ममरणादिजनने न क्लेश्यते । तथा च समाधिप्रकरणे पातंजलसूत्रं । 'ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिरि'ति । केनापि पुरुषांतरेण यंत्रमंत्रादिना वा न साध्यते साधयितुं शक्यते ॥ ८ ॥

न गंधमिति ॥ समाधिना युक्तो योगी गंधं सुरभिमसुरभिं वा न रसं मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्तभेदात् षड्विधं न रूपं शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशचित्रभेदात्सप्तविधं न स्पर्शं शीतमुष्णमनुष्णाशीतं वा न निःस्वनं शंखदुंदुभिजलधिजीमूतादिनिनादं बाह्यमाभ्यंतरं वा न आत्मानं देहं न परं पुरुषांतरं वेत्तीति सर्वत्रान्वेति । 'आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनी'त्यमरः ॥ ९ ॥

चित्तमिति ॥ यस्य योगिनश्चित्तमंतःकरणं न सुप्तं । आवरकस्य तमसोऽभावा

॥ भाषा ॥

खाद्यत इति ॥ समाधिकरकें मुक्त योगी मृत्युकरकें नहीं नाशकूं प्राप्त होय हे. कियेहुये जे शुभ अशुभ कर्मकरकें जन्ममरणादिककरकें जे क्लेशते नही ही होय. कोई पुरुषकरकें अथवा यंत्र तंत्र मंत्रादिककरकें नही साधन करवेकूं समर्थ होय हे ॥ ८ ॥

न गंधमिति ॥ समाधिकरकें युक्त योगी गंध दुर्गंध ताय नही जाने हें. और मीठो कडवो कषायलो तीखो लवण अम्ल इनकूं नही जाने हें. और रूप जो श्वेत नील लाल हरित पीलों इनें नही जाने हें. और स्पर्श जो शीत उष्ण इनकूं नही जाने. और शब्द शंख नगाडे समुद्र मेघादिकनके शब्द और आत्मा जो देह ताय और पुरुषांतर इनकूं नही जाने हे ॥ ९ ॥

चित्तमिति ॥ जा योगीको चित्तसूतो न होय जागतोबी न होय और स्मृतीबी न होय

मू० न चास्तमेति नोदेति यस्यासौ मुक्त एव सः ॥ १० ॥
न विजानाति शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ॥
न मानं नापमानं च योगी युक्तः समाधिना ॥ ११ ॥
स्वस्थो जाग्रदवस्थायां सुप्तवद्योऽवतिष्ठते ॥
निःश्वासोच्छ्वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः ॥ १२ ॥

॥ टीका ॥

त्रिगुणेंऽतःकरणे यदा सत्त्वरजसी अभिभूय समस्तकरणावरकं तम आविर्भवति तदांतःकरणस्य बिषयाकारपरिणामाभावात्तत्सुप्तमित्युच्यते । नो जाग्रत् इंद्रियैरर्थग्रहणाभावात् । स्मृतिश्च विस्मृतिश्च स्मृतिविस्मृती ताभ्यां वर्जितं । वृत्तिसामान्याभावादुद्बोधकाभावाच्च स्मृतिवर्जितम् । स्मृत्यनुकूलसंस्काराभावाद्विस्मृतिवर्जितं । न चास्तं नाशमेति प्राप्नोति । संस्कारशेषस्य चितस्य सत्त्वात् । नोदेत्युद्भवति । वृत्त्यनुत्पादनात् । सोऽसौ मुक्त एव जीवन्मुक्त एव ॥ १० ॥

न विजानातीति ॥ समाधिना युक्तो योगी शीतं च उष्णं च शीतोष्णं । समाहारद्वंद्वः । शीतमुष्णं वा पदार्थं न दुःखं दुःखजनकं परकृतं ताडनादिकं न सुखं सुखसाधनं सुरभिचंदनाद्यनुलेपनादिकं । तथा चार्थे । मानं परकृतं सत्कारं न अपमानमनादरं च न विजानातीति क्रियापदं प्रतिवाक्यमन्वेति ॥ ११ ॥

स्वस्थ इति ॥ स्वस्थः प्रसन्नेंद्रियांतःकरणः । एतेन तंद्रामूर्छादिव्यावृत्तिः । जाग्रदवस्थायामित्यनेन स्वप्नसुषुप्त्योर्निवृत्तिः । सुप्तवत् सुप्तेन तुल्यं कायेंद्रियव्यापारशून्यो यो योगी अवतिष्ठते स्थितो भवति । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम् । निश्वासोच्छ्वासहीनः बाह्यवायोः कोष्ठे ग्रहणं निश्वासः कोष्ठस्थितस्य वायोर्बहिर्निःसारणमुच्छ्वासस्ताभ्यां हीनश्चावतिष्ठत इत्यत्रापि संबध्यते । स निश्चितं निःसं-

॥ भाषा ॥

विस्मृतीबी नहोय नाशकूंबी प्राप्त नहोय और उदयबी नहोय एसो योगी जीवन्मुक्त हे ॥ १० ॥

न विजानातीति ॥ समाधियुक्त योगी शीत उष्ण सुख मान अपमान इनकूं नही जाने हे ॥ ११ ॥

स्वस्थ इति ॥ प्रसन्न हे अंतःकरण जाको एसो योगी जाग्रद् अवस्थामें सुप्तकीतुल्य स्थित होय श्वासनिश्वासकरकें रहित स्थित होय सो जीवन्मुक्त हे ॥ १२ ॥

मू० अवध्यः सर्वशस्त्राणामशक्यः सर्वदेहिनाम् ॥
अग्राह्यो मंत्रयंत्राणां योगी युक्तः समाधिना ॥ १३ ॥

॥ टीका ॥

दिग्धं मुक्त एव । जीवन्मुक्तस्वरूपमुक्तं दत्तात्रेयेण । 'निर्गुणध्यानसंपन्नः समाधिं च ततोऽभ्यसेत् । दिनद्वादशकेनैव समाधिं समवाप्नुयात् । वायुं निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवेद्ध्रुवम्' इति ॥ १२ ॥

अवध्य इति ॥ समाधिना युक्तो योगी । सर्वशस्त्राणामिति संबंधसामान्ये षष्ठी । सर्वशस्त्रैरित्यर्थः । अवध्यो हंतुमशक्य इत्यर्थः । सर्वदेहिनामित्यत्रापि संबंधमात्रविवक्षायां षष्ठी । अशक्यः सर्वदेहिभिः बलेन शक्यो न भवतीत्यर्थः । मंत्रयंत्राणां वशीकरणमारणोच्चाटनादिफलैर्मंत्रयंत्रैरग्राह्यः वशीकर्तुमशक्यः । एवं प्राप्तयोगस्य योगिनो विघ्ना बहवः समायांति । तन्निवारणार्थं तज्ज्ञानस्यापेक्षितत्त्वात्तेऽपि प्रदर्श्यंते । दत्तात्रेयः । 'आलस्यं प्रथमो विघ्नो द्वितीयस्तु प्रकथ्यते । पूर्वोक्तधूर्तगोष्ठी च तृतीयो मंत्रसाधनम् । चतुर्थो धातुवादः स्यादिति योगविदो विदुरि'ति । मार्कंडेयपुराणे । 'उपसर्गाः प्रवर्तंते दृष्टा ह्यात्मनि योगिनः । ये तांस्ते संप्रवक्ष्यामि समासेन निबोध मे । काम्याः क्रियास्तथा कामान्मनुष्यो योऽभिवांछति । स्त्रियो दानफलं विद्यां मायां कुप्यं धनं वसु । देवत्वममरेशत्वं रसायनवयः क्रियाम् । मेरुं प्रयतनं यज्ञं जलाग्न्यावेशनं तथा । श्राद्धानां शक्तिदानानां फलानि नियमास्तथा । तथोपवासात्पूर्ताच्च देवपित्रर्चनादपि । अतिथिभ्यश्च कर्मभ्य उपसृष्टोऽभिवांछति । विघ्नमित्थं प्रवर्तंत यत्नाद्योगी निवर्तयेत् । ब्रह्मासंगि मनः कुर्वन्नुपसर्गैः प्रमुच्यते ॥' इति । पद्मपुराणे । 'यदैभिरंतरायैर्न क्षिप्यतेऽस्य हि मानसं । तदाग्रे तमवाप्नोति परं ब्रह्मातिदुर्लभम् ।' योगभास्करे । 'सात्विकीं धृतिमालंब्य योगी सत्त्वेन सुस्थिरः । निर्गुणं मनसा ध्यायन्नुपसर्गैः प्रमुच्यते॥ एवं योगमुपासीनः शक्रादिपदनिस्पृहः । सिद्ध्यादिवासनात्यागी जीवन्मुक्तो भवेन्मुनिः । विस्तरस्य भिया नोक्ताः संति विघ्ना ह्यनेकशः । ध्यानेन विष्णुहरयोर्वारणीया हि योगिने'ति ॥ १३ ॥

॥ भाषा ॥

अवध्य इति ॥ समाधिकरकें युक्त योगी सबले शस्त्रनकरकें नाश होयवेकूं अशक्य हे और सर्व देहधारीनकर पराक्रमकरकें समर्थ नही हे और मंत्र यंत्र तंत्रादिकनकर वशीकरण मरणादिक करवेकूं समर्थ नही ॥ १३ ॥

मू० यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो मध्यमार्गे यावद्बिंदुर्न भवति दृढप्राणवातप्रबंधात् ॥

॥ टीका ॥

अयोगिनां ज्ञानं निराकुर्वन्योगिनामेव ज्ञानं भवतीत्याह ॥ यावदिति ॥ मध्यमार्गे सुषुम्नायां चरन् गच्छन् मारुतः प्राणवायुः यावत् यावत्कालपर्यंतं न प्रविशति प्रकर्षेण ब्रह्मरंध्रपर्यंतं न विशति । ब्रह्मरंध्रं गतस्य स्थैर्याद्ब्रह्मरंध्रं गत्वा न स्थिरो भवतीत्यर्थः । सुषुम्नायामसंचरन् वायुरसिद्ध इत्युच्यते । तदुक्तममृतसिद्धौ । 'यावद्धि मार्गतो वायुर्निश्चलो नैव मध्यगः । असिद्धं तं विजानीयाद्वायुं कर्मवशानुगमि' ति । प्राणयति जीवयतीति प्राणः स चासौ वातश्च प्राणवातः तस्य प्रबंधात्कुंभकेन स्थिरीकरणाद्बिंदुर्वीर्यं दृढः स्थिरो न भवति प्राणवातस्थैर्ये बिंदुस्थैर्यमुक्तमत्रैव प्राक्। 'मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिंदुः स्थिरो भवेदि' ति। तदभावे त्वसिद्धत्वं योगिनः। उक्तममृतसिद्धौ । 'तावद्बद्धोऽप्यसिद्धोऽसौ नरः सांसारिको मतः । यावद्भवति देहस्थो रसेंद्रो ब्रह्मरूपकः । असिद्धं तं विजानीयान्नरमब्रह्मचारिणम् । जरामरणसंकीर्णं सर्वक्लेशसमाश्रयमि'ति । यावत्तत्वं चित्तं ध्याने ध्येयचित्तं न सहजसदृशं स्वाभाविकध्येयाकारवृत्तिप्रवाहानैव जायते नैव भवति प्राणवातप्रबंधादिति देहलीदीपन्यायेनात्रापि संबध्यते। वायुस्थैर्ये चित्तस्थैर्यमुक्तममृतसिद्धौ । 'यदासौ म्रियते वायुर्मध्यमां मध्ययोगतः । तदा बिंदुश्च चित्तं च म्रियते वायुना सह । तदभावेऽह्यसिद्धत्वमुक्तममृतसिद्धौ । 'यावत्प्रस्यंदते चित्तं बाह्याभ्यंतरवस्तुषु । असिद्धं तद्विजानीयाचित्तं कर्मगुणान्वितमि' ति । तावद्यज्ज्ञानं शाब्दं वदति कश्चित् तदिदं ज्ञानं कथं दंभमिथ्याप्रलापः दंभेन ज्ञानकथनेनाहं लोके पूज्यो भविष्यामीति धिया मिथ्याप्रलापो मिथ्याभाषणं दंभपूर्वकं मिथ्याभाषणमित्यर्थः । प्राणबिंदुचित्तानां जयाभावे ज्ञानस्याभावात्संसृतिर्दुर्वारा । तदुक्तममृतसिद्धौ । 'चलत्येष यदा वायुस्तदा बिंदुश्चलः स्मृतः । बिंदुश्चलति यस्यांगे चित्तं तस्यैव चंचलम् । चले बिंदौ चले चित्ते चले वायौ च सर्वदा । जायते म्रियते लोकः सत्यं सत्यमिदं वचः ॥' इति। योगबीजेऽप्युक्तम् । 'चित्तं प्रनष्टं यदि भासते वै तत्र प्रतीतो मरुतोऽपि नाशः । न वा यदि स्यान्न तु तस्य शास्त्रं नात्मप्रतीतिर्न गुरुर्न मोक्षः ॥ इति । एतेन प्राणबिंदुमनसां जये तु ज्ञा-

॥ भाषा ॥

यावदिति ॥ सुषुम्नामार्गमें गमन करत प्राणवायु जबतांई ब्रह्मरंध्रपर्यंत नही प्रवेश करे है. और प्राणवायुकूं कुंभककरके स्थिर करवेतें वीर्य जबतांई स्थिर नही होय. और

मू॰ यावद्ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दंभमिथ्याप्रलापः ॥ १४ ॥
इति श्रीसहजानंदसंतानचिंतामणिस्वात्मारामयोगींद्रविरचि
तायां हठप्रदीपिकायां समाधिलक्षणं नाम चतुर्थोपदेशः ॥ ४ ॥
मूलश्लोकसंख्या ॥ ३९३ ॥ ॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

॥ टीका ॥

नद्वारा योगिनो मुक्तिः स्यादेवेति सुचितम् । तदुक्तममृतसिद्धौ । 'यामवस्थां व्रजेद्वायुर्बिंदुस्तामधिगच्छति । यथाहि साध्यते वायुस्तथा बिंदुप्रसाधनम् । मूर्छितो हरति व्याधिं वृद्धः खेचरतां नयेत् । सर्वसिद्धिकरो लीनो निश्चलो मुक्तिदायकः । यथावस्था भवेद्बिंदोश्चित्तावस्था तथा तथा ॥' ननु । 'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया । ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचिदि'ति भगवदुक्तास्त्रयो मोक्षोपायास्तेषु सत्सु कथं योग एव मोक्षोपायत्वेनोक्त इतिचेन्न । तेषां योगांगेष्वंतर्भावात् । तथाहि । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यःश्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः' इति श्रुत्या परमपुरुषार्थसाधनात्मसाक्षात्कारहेतुतया श्रवणमनननिदिध्यासनान्युक्तानि तत्र श्रवणमनने नियमांतर्गते स्वाध्यायेंऽतर्भवतः । स्वाध्यायश्च मोक्षशास्त्राणामध्ययनम् । स च तात्पर्यार्थनिश्चयपर्यवसायो ग्राह्यः । तात्पर्यार्थनिर्णयश्च श्रवणमननाभ्यां भवतीति श्रवणमननयोः स्वाध्यायेंऽतर्भावः । नियमविवरणे याज्ञवल्क्येन । 'सिद्धांतश्रवणं प्रोक्तं वेदांतश्रवणं बुधैरि'ति स्पष्टमेव श्रवणस्य नियमांतर्गतिरुक्ता । 'अधीतवेदं सूत्रं वा पुराणं सेतिहासकम् । पदेष्वध्ययनं यश्च सदाभ्यासो जपः स्मृतः ॥' इति युक्तिभिरनवरतमनुचिंतनलक्षणस्य सदाभ्यासरूपस्य मननस्यापि नियमांतर्गतिरुक्ता । विजातीयप्रत्ययनिरोधपूर्वकसजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपस्य निदिध्यासनस्य उक्तलक्षणे ध्यानेंऽतर्भावः । तस्यापि तत्परिपाकरूपसमाधिनात्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षहेतुत्वमीश्वरार्पणबुद्ध्या निष्कामकर्मानुष्ठानलक्षणस्य कर्मयोगस्य 'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' इति पतंजलिप्रोक्ते नियमांतर्गते क्रियायोगेंऽतर्भावः । तत्र तप उक्तमीश्वरगीतायाम् ।

॥ भाषा ॥

जबतांई तत्त्वके चिंतमनमें चित्त ब्रह्मके आकार वृत्तिप्रवाह नहीं होय तबतांई जो ज्ञान कहे ज्ञानके कहवेकरकें में पूजवेके योग्य होय जाउंगो या बुद्धीकरकें कहे तो वी क-

॥ टीका ॥

'उपवासपराकादिकृच्छ्रचांद्रायणादिभिः । शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तममि'- ति । स्वाध्यायोऽपि तत्रोक्तः । 'वेदांतशतरुद्रीयप्रणवादिजपं बुधाः । सत्त्वशुद्धिकरं पुंसां स्वाध्यायं परिचक्षते' इति । ईश्वरप्रणिधानं च तत्रोक्तं । 'स्तुतिस्मरणपूजा- भिर्वाङ्मनःकायकर्मभिः । सुनिश्चला भवेद्भक्तिरेतदीश्वरपूजनमि'ति । क्रियायोगश्च परंपरया समाधिनात्मसाक्षात्कारद्वारैव मोक्षहेतुरिति समाधिभावनार्थः । क्लेशतनू- करणार्थश्चेत्युत्तरसूत्रेण स्पष्टीकृतं पतंजलिना । भजते सेव्यते भगवदाकारमंतःक- रणं क्रियतेऽनयेति भक्तिरिति करणव्युत्पत्त्या 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं । अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनमि'ति । नवधोक्ता साधनभ- क्तिरभिधीयते । तस्या ईश्वरप्रणिधानरूपे नियमेंऽतर्भावः । तस्याश्च समाधिहेतुत्वं चोक्तं पतंजलिना । ईश्वरप्रणिधानाद्वे'ति । ईश्वरविषयकात्प्रणिधानाद्भक्तिविशे- षात्समाधिलाभः समाधिफलं भवतीति सूत्रार्थः । भजनमंतःकरणस्य भगवदाका- रतारूपं भक्तिरिति भावव्युत्पत्त्या फलभूता भक्तिरभिधीयते । सैव प्रेमभक्तिरि- त्युच्यते । तल्लक्षणमुक्तं नारायणतीर्थैः । 'प्रेमभक्तियोगस्तु ईश्वरचरणारविंदविष- यकैकांतिकात्यंतिकप्रेमप्रवाहोऽविच्छिन्नः' इति । मधुसूदनसरस्वतीभिस्तु । 'द्रवी- भावपूर्विका मनसो भगवदाकारतारूपा सविकल्पकवृत्तिर्भक्तिरि'ति । 'तस्यास्तु श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेही'ति श्रुतेः । 'भक्त्या मामभिजानाती'ति स्मृतेश्च । आ- त्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षहेतुत्वम् । भक्तास्तु सुखस्यैव पुरुषार्थत्वाद्दुःखासंभिन्ननिर- तिशयसुखदारारूपा प्रेमभक्तिरेव पुरुषार्थ इत्याहुः । तस्यास्तु संप्रज्ञातसमाधावंत र्भावः । एवं च अष्टांगयोगातिरिक्तं किमपि परमपुरुषार्थसाधनं नास्तीति सिद्धम् ॥ ११४ ॥

ग्राह्यमेव विदुषां हितं यतो भाषणं समयदर्श्यसंस्कृतम् । रक्ष गच्छति पयो न लेहितं ह्यंब इत्यभिहितं शिशोर्यथा ॥ १ ॥ सदर्थद्योतनकरी तमःस्तोमविनाशिनी ॥ ब्रह्मानंदेन ज्योत्स्नेयं शिवांघ्रियुगलेऽर्पिता ॥ २ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानंदकृतायां ज्योत्स्नाभिधायां समाधि- निरूपणं नाम चतुर्थोपदेशः ॥ ४ ॥ टीकाग्रंथसंख्या ॥ २४५० ॥

॥ भाषा ॥

हनो कपटपूर्वक मिथ्याभाषण जाननो या अष्टांग योगतें न्यारो कछूबी परम पुरुषार्थ साधन नहीं हें ॥ १४ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां दध्यङ्कुलोत्पन्नजटाशंकरात्मजश्रीधरकृतायां **मनोभिलाषिण्यभिधायां** समाधिनिरूपणं नाम चतुर्थोपदेशः ॥४॥ भाषाग्रंथसंख्या ॥ १६९७ ॥

इदं पुस्तकं १८१७ परिमिते शालिवाहन शके तथा १९५१ परिमिते विक्रमादित्यसंवत्सरे वैशाख मासे कृष्णपक्षे प्रतिपत्तिथौ गुरु वासरे मुम्बापुर्यां 'प्रबोधरत्नाकरा'ख्ये मुद्रणालये मुद्राप्य शास्त्रितः संशोध्य प्राकाश्यमनायि ।

अनेन श्रीराधारमणः प्रीयताम् ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥

॥ श्री ॥

शिवस्वरोदय.

श्रीशिवपार्वती संवाद.

ताकौ

अतिउत्तम भाषाटीका बनवायकर

पंडित श्रीधर शिवलालजीके

" ज्ञानसागर " छापखानेके

मालिकनें

स्वकीय यंत्रालयमें मुद्रित किया.

मुंबई.

फाल्गुन कृष्ण. १ संवत् १९५२ सन १८९६.

S.9598

जाहिरात.

समस्त सज्जन लोगोंको जाहिर करनेमें आता है की "योगचिंतामणी" नामक वैद्यक ग्रंथ हमारे यहां कैदीनोंसे छपता है जिसकी तीन आवृत्ति छपचूकी और बिकभीगयी, परंतु कईएक महाशयोंकी सूचनाबहोत दीनोंसे चली आती है की, यह जो बचानिकायुक्त ग्रंथ है सो यदि सरल हिंदीभाषामें होवे, और संपूर्ण श्लोकोंका खुलासेवार अर्थ लिखाजावे तो इसका उपयोग लोगोंको बहोतही होगा ऐसी सूचनासे हमने अबकी आवृत्तीमें विपुल द्रव्य खर्च करके सुचनानुसार ग्रंथ तैयार किया जोकि पुस्तक पहेलेसे डेढा बढगया तोभी लोगोंको सुगम पडनेके अर्थ कीमत रु० १॥ टपाल ४ आना रख्खाहै.

नवरात्रपद्धति—अतिउत्तम छपके तैयारहै. जिसमें चारों वर्णोंनें नवरात्र पूजन करनेका क्रम लिखा है. किंमत ६ आना टपालखर्च. १ आना.

चांद्रायणव्रतकथा—भाषाटीकासह किंमत १॥ आना, टपालखर्च ॥ आधा आना.

अंत्येष्टि—इसमें मरणसे लेकर वर्षश्राद्धतकके सब विषय हैं. किं० ५ आना टपाल खर्च १ आना.

पंडित श्रीधर शिवलाल.

प्रस्तावना.

इस असार संसारमें कुछभीअपने देहका साधनकर लेना चाहीये यहबात सत्य है, तथापी कलिकालमें समाधि जप तपादि साधन अत्यंत दुर्घट होपडे हैं तो धन, यश मोक्षको देनेवाला यह शिवपार्वती संवादरुप जो 'स्वरोदय' शास्त्रहै इससे मनुष्योंके वांछितार्थ अवश्य सिद्ध होवेंगे ऐसा बिचार कर प्राचीन हस्तलिखित पुस्तक तलाशकर उसपरस यह भाषांतर बनवाकर लोकहितार्थ सादर कियाहै आशाहै, कीं, इसमें कहे हुये विधिकें अनुसार जो लोग इसका उपयोग करेंगे तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष यह करतलामल तुल्य होवेंगे, क्योंकी साक्षात् शिवजीके मुखसे निकलेहुए विषय हैं. इस शास्त्रको 'निगम ऐसी संज्ञा है. निगम उसको कहिये की जो–(आगतं शिववक्त्रात्तुगतंच गिरिजामुखे) तो इस ग्रंथको गुरुमुखसे समझकर इसक उपयोग करें यह मेरी प्रार्थना है.

पंडित श्रीधर शिवलाल.

ज्ञानसागर छापखाना.

॥ श्रीः ॥

अनुक्रमाणिका.

०५

इति शिवस्वरोद अनुक्रमणिका समाप्ता.

॥ श्रीः ॥

शिवस्वरोदयः ।

भाषाटीकासमेतः

श्रियःकान्तंपरंदेवं नत्वासर्वोत्तमंमया ॥
शिवस्वरोदयस्यैषाभाषाटीकाविरच्यते ॥ १ ॥

श्रीगणेशायनमः ॥ महेश्वरंनमस्कृत्यशैलजांग
णनायकं॥गुरुंचपरमात्मानंभजेसंसारतारणं ॥१॥

अर्थ–महादेवको नमस्कार कर पार्वती गणेश गुरु इन-
को नमन कर संसारतारक परमात्माको भजताहूं ॥ १ ॥

॥ श्रीदेव्युवाच ॥ देवदेवमहादेवकृपांकृत्वाम-
मोपरी॥सर्वसिद्धीकरंज्ञानंकथयस्वममप्रभो ॥२॥

अर्थ–पार्वती महादेवजीसे पूछतीहैं. हे देवनकेदेव महा-
देव मेरेपर कृपा करके हे प्रभो मेरेवास्ते सर्व सिद्धिकारक
ज्ञान कहो ॥ २ ॥

कथंब्रह्मांडमुत्पन्नंकथंवापरिवर्तते ॥
कथंविलीयतेदेववदब्रह्मांडनिर्णयं ॥ ३ ॥

अर्थ–ब्रह्मांड कैसे उत्पन्न भया और कैसे स्थित हो रहाहै
और कैसे प्रलय होताहै हे देव ब्रह्मांडके निर्णयको कहो॥३॥

॥ ईश्वरउवाच ॥ तत्वाद्ब्रह्मांडमुत्पन्नंतत्वेनपरिव
र्तते॥तत्वेविलीयतेदेवितत्वाद्ब्रह्मांडनिर्णयः ॥४॥

अर्थ—महादेवजी बोले तत्त्वसे ब्रह्मांड उत्पन्न भया तत्त्वसेही पालना होती है तत्त्वमेंही लीन होताहै हे देवी ऐसे तत्त्वसेही ब्रह्मांडका निर्णय है ॥ ४ ॥

॥ देव्युवाच ॥ तत्वमेवपरंमूलंनिश्चितंतत्ववादिभिः ॥ तत्वस्वरूपंकिंदेवतत्वमेवप्रकाशय॥५॥

अर्थ—पार्वती पूछतीहै हेदेव तत्त्वदर्शी जनोनें तत्त्वही परम मुल निश्चित कियाहै सो तत्त्वका क्या स्वरूपहै. यह, तुमही प्रकाशकरो ॥ ५ ॥

ईश्वरउवाच॥निरंजनोनिराकारएकोदेवोमहेश्वरः तस्मादाकाशमुत्पन्नमाकाशाद्वायुसंभवः ॥ ६ ॥

अर्थ—शिवजी बोले, निर्लेप निराकार एक महेश्वर देव है तिस्से, आकाश उत्पन्न भया आकाशसे वायु उत्पन्न भया६

वायोस्तेजस्ततश्चापस्ततःपृथ्वीसमुद्भवः ॥ एतानिपंचतत्वानिविस्तीर्णानिचपंचधा ॥ ७ ॥

अर्थ—वायुसे अग्नि अग्निसे जल जलसे पृथ्वी उत्पन्न भई है येही पांचतत्त्व पांचप्रकारसे पंचीकरण होके विस्तृत होरहेहै।

एतैर्ब्रह्मांडमुत्पन्नंतैरेवपरिवर्तते ॥
विलीयतेचतत्रैवतत्रैवरमतेपुनः ॥ ८ ॥

अर्थ—तिनसे ब्रह्मांड उत्पन्न भया तिनसेंही स्थिति पालना होती है तिनमेंही लीन हो जाता है फिर सूक्ष्म रूपसे तहांही रमण करता है ॥ ८ ॥

पंचतत्वमयंदेहंपंचतत्वानिसुंदरि ॥
सूक्ष्मरूपेणवर्ततेज्ञायतेतत्वयोगिभिः ॥ ९ ॥

अर्थ—हे सुंदरी पांच तत्त्वोंकाही देह है तहां शरीरमें सू-

क्ष्मरूप करके पांच तत्त्वही वर्त्ततेहैं वे तत्त्व योगीजनोंसे जाने जाते हैं ॥ ९ ॥

अतःपरंप्रवक्ष्यामिशरीरस्थंस्वरोदयं ॥ हंसचार स्वरूपेणभवेज्ज्ञानंत्रिकालजं ॥ १० ॥

अर्थ अब इससे आगे शरीरमें स्थित हुए स्वरोदय, स्वरकी उत्पत्तिको कहुंगा. इसके हंसचार स्वरूप करके त्रिकालका ज्ञान होता है ॥ १० ॥

गुह्याद्गुह्यतरंसारमुपकारप्रकाशनं॥ इदंस्वरोदयंज्ञानंज्ञानानांमस्तकेमणिः ॥ ११ ॥

अर्थ—यह स्वरोदय ज्ञान गुह्य वस्तुओंसेभी गुह्य, गुप्त है उपकारका प्रकाशक सारहै सब ज्ञानोंका शिरोमणी है॥११॥

सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरंज्ञानंसुबोधंसत्यप्रत्ययं ॥ आश्चर्यंनास्तिकेलोकेआधारंत्वास्तिकेजने ॥ १२ ॥

अर्थ—यह सूक्ष्मसेभी अति सुक्ष्म स्वरोदय सुंदर बोधकारकहै सत्यका निश्चय करानेवाला है नास्तिक जनोंमें आश्चर्य है आस्तिक जनोंका आधारहै ॥ १२ ॥

॥अथशिष्यलक्षणं॥ शांतेशुद्धेसदाचारेगुरुभक्त्यैकमानसे॥दृढचित्तेकृतज्ञेचदेयंचैवस्वरोदयं॥१३॥

अर्थ—अब शिष्यका लक्षण कहतेहैं शांत स्वभाववाला, शुद्ध अंतःकरण वाला, श्रेष्ठ आचरणवाला गुरुकी भक्तिमें एकाग्र मनवाला दृढचित्त कृत ऐसे शिष्यको स्वरोदय शास्त्र देना चाहिये ॥ १३ ॥

दुष्टेचदुर्जनेक्रुद्धेअसत्येगुरुतल्पगे ॥
हीनसत्वेदुराचारेस्वरज्ञानंनदीयते ॥ १४ ॥

अर्थ—दुष्ट दुर्जन क्रोधि नास्तिक. गुरुस्त्रीके संग मैथुन करनेंवाला धीरज रहित दुराचारी ऐसे जनको स्वरका ज्ञान न देना ॥ १४ ॥

श्रृणुत्वंकथितंदेवीदेहस्थंज्ञानमुत्तमं ॥
येनविज्ञानमात्रेणसर्वज्ञत्वंप्रणीयते ॥ १५ ॥

अर्थ—हेदेवी देहमें स्थितहुये मेरेसे कहे हुए उत्तम स्वरोदय ज्ञानको सुन इसके जाननें मात्रसे सर्वज्ञता होतीहै ॥ १५ ॥

स्वरेवेदाश्चशास्त्राणिस्वरेगांधर्वमुत्तमं ॥
स्वरेचसर्वंत्रैलोक्यंस्वरमात्मस्वरूपकम् ॥ १६ ॥

अर्थ—स्वरमें संपूर्ण वेद और शास्त्रहै स्वरमें उत्तम गान विद्या है स्वरमें ही संपूर्ण त्रिलोकीहै स्वरही आत्मस्व रूपहै ॥ १६ ॥

स्वरहीनंचदैवज्ञंनाथहीनंयथागृहं ॥ शास्त्रहीनं
यथावक्ताशिरोहीनंचयद्वपुः ॥ १७ ॥

अर्थ—स्वरविद्यासे हीन ज्योतिषी, स्वामीसे हीन घर शास्त्रसे हीन मुख, शिरकेविना देह, ये सब कचहु नहीं है, ॥ १७ ॥

नाडीभेदंतथाप्राणंतत्वभेदंतथैवच॥ सुषुम्नामि
श्रभेदेचयोजानातिसमुक्तिगः ॥ १८ ॥

अर्थ—नाडीभेद प्राणतत्त्वोंका भेद सुषुम्ना आदि मिश्रित तीन नाडियोंका भेद इनको जो जानता है वह मोक्षको प्राप्त होताहै ॥ १८ ॥

साकारेवानिराकारेशुभंवायुबलेकृते ॥ कथयं
तिशुभंकेचित्स्वरज्ञानंवरानने ॥ १९ ॥

अर्थ—हे वरानने वायुका साकार अथवा निराकार बल लक्षण होनेंमें स्वरके ज्ञानकोही कित्तेक जन शुभाशुभ कहतेहैं ॥ १९ ॥

ब्रह्मांडखंडपिंडाद्यंस्वरेणैवहिनिर्मितं ॥ सृष्टिसंहारकर्ताचस्वरःसाक्षान्महेश्वरः ॥ २० ॥

अर्थ—ब्रह्मांडके खंड तथा पिंड. शरीर आदिक स्वरसे-ही रचे हुयहैं सृष्टिके संसारको करनेंवाला महेश्वरभी साक्षात् स्वर स्वरूपहै ॥ २० ॥

स्वरज्ञानात्परंगुह्यंस्वरज्ञानात्परंधनं ॥ स्वरज्ञानात्परंज्ञानंनवादृष्टंनवाश्रुतं ॥ २१ ॥

अर्थ—स्वरके ज्ञानसे उत्तम गुह्य स्वर ज्ञानसे उत्तम धन स्वर ज्ञानसे उत्तम ज्ञान न तो देखा न सुना ॥ २१ ॥

लक्ष्मिप्राप्तिःस्वरबलेकीर्तिःस्वरबलेसुखं ॥ शत्रुंहन्यात्स्वरबलेतथामित्रसमागमः ॥ २२ ॥

अर्थ—स्वरके बल होनेंमे शत्रुको मारदेवै तथा मित्रका समागम होजावे स्वरके बल होनेमें लक्ष्मीकी प्राप्ति स्वरके बल होनेंसे कीर्ति तथा सुख होता है ॥ २२ ॥

कन्यासिद्धिःस्वरबलेस्वरबलेराजदर्शनं ॥ स्वरेणदेवतासिद्धिःस्वरबलेक्षितिपोवशः ॥ २३ ॥

अर्थ—स्वरके बलसे कन्याकी प्राप्ति अर्थात विवाह होवे राजाका दर्शन होवे स्वरसेही देवताकी सिद्धी और स्वरसे राजाको वशमें करना होताहै. ॥ २३ ॥

स्वबलेगम्यतेदेशेभोज्यंस्वरबलेतथा ॥ लघुदीर्घंस्वरबलेमलंचैवनिवारयेत् ॥ २४ ॥

अर्थ—स्वरके बलसे देशान्तरमें जाना और उत्तम भोजन प्राप्त होताहै स्वरके बलसे लघुशंका और मलका त्याग भी होताहै ॥ २४ ॥

सर्वशास्त्रपुराणादिस्मृतिवेदांगपूर्वकं ॥
स्वरज्ञानात्परंतत्वंनास्तिकिंचिद्वरानने ॥ २५ ॥

अर्थ—हे वरानने संपूर्ण शास्त्र पुराण आदि स्मृति और वेदांग इत्यादिक कछुभी स्वरज्ञानसे परै उत्तम तत्त्व नहींहै ॥ २५ ॥

नामरूपादिकाःसर्वेमिथ्यासर्वेषुविभ्रमः ॥
अज्ञानमोहितामूढायावत्तत्वंनविद्यते ॥ २६ ॥

अर्थ—जबतक तत्त्व नहीं जाना जाताहैं तबतक सबोंमें नाम रूप आदिक मिथ्या भ्रम रहता है और अज्ञानमोहित जनभी तबतकहै ॥ २६ ॥

इदंस्वरोदयंशास्त्रंसर्वशास्त्रोत्तमोत्तमं ॥
आत्मघटप्रकाशार्थंप्रदीपकलिकोपमं ॥ २७ ॥

अर्थ—यह स्वरोदय शास्त्र संपूर्ण उत्तम शास्त्रोंमेंभी श्रेष्ठ है आत्मरूपी घटको प्रकाश करनेंमें दीपककी कलिका अर्थात् लोयके समान है ॥ २७ ॥

यस्मैकस्मैपरस्मैवाप्रोक्तंचप्रश्नहेतवे ॥
तस्मादेतत्स्वयंज्ञेयमात्मनैवात्मनात्मनि ॥ २८ ॥

अर्थ—यह शास्त्र पूछनेंसेही जिस किसीकेवास्ते नहीं देना किंतु आपही अपनेंवास्ते अपनी बुद्धि करके अपने शरीरमें जानै ॥ २८ ॥

नतिथिर्नचनक्षत्रंनवारोग्रहदेवता ॥

नचविष्टिर्व्यतीपातवैधृताद्यास्तथैवच ॥ २९ ॥

अर्थ–तिथी नक्षत्र वार ग्रह देवता भद्रा व्यतीपात वैधृत इत्यादिक दोष इस स्वरोदय शास्त्रमें नहीहै ॥ २९ ॥

कुयोगोनास्तिहेदेविभविताकदाचन ॥
प्राप्तेस्वरबलेशुद्धेसर्वमेवशुभंफलम् ॥ ३० ॥

हे देवी इसमें कोई बुरा योगभी नही है और कभी बुरा योग होगाभी नहीं स्वरके शुद्ध बल प्राप्त होनेपर सबहि शुभ फल होते हैं ॥ ३० ॥

देहमध्येस्थितानाड्योबहुरूपाःसुविस्तरात् ॥
ज्ञातव्याश्चबुधैर्नित्यंस्वदेहज्ञानहेतवः ॥ ३१ ॥

अर्थ–देहके बीचमें बहुतसे रूपवाली नाडियां विस्तार पूर्वक स्थितहो रहीहैं वे सब पंडित जनोंनें अपने देहके ज्ञानकेवास्ते जाननी चाहिये ॥ ३१ ॥

नाभिस्थानककंदोर्त्थंअंकुरादेवानिर्मिताः ॥
द्विसप्ततिसहस्राणिदेहमध्येव्यवस्थिताः ॥ ३२ ॥

अर्थ–नाभि स्थानमें स्थित हुए कंदके ऊपर अंकुर स्वरूपसे निकसी हुई बहत्तर ७२ नाडियां देहके मध्यमें व्यवस्थित हो रही हैं ॥ ३२ ॥

नाडिस्थाकुंडलीशक्तिर्भुजंगाकारशायिनी ॥
ततोदशोर्ध्वगानाड्योदशैवाधःप्रतिष्ठिताः ३३॥

अर्थ–नाडियोंमें स्थित हुई कुंडली शक्तिहै सो सर्पके आकार सोती हुई है तिससे ऊपरकी तर्फ गई हुई दशनाडी हैं और दशनाडी नीचेको गई हैं ॥ ३३ ॥

द्वेद्वेतिर्यग्गतेनाड्योचतुर्विंशतिसंख्यया ॥

प्रधानादशनाडयस्तुदशवायुप्रवाहकाः ॥ ३४ ॥

अर्थ—और दोदो नाडी तिरछी गई है ऐसे चौवीस नाडीय हैं तहां दशनाडी तो प्रधान है और दश वायुको वहानें वालीहै ॥ ३४ ॥

तिर्यगूर्ध्वमधस्थावावायुदेहसमान्विताः ॥
चक्रवत्संस्थितादेहेसर्वेप्राणसमाश्रिताः ॥ ३५ ॥

अर्थ—तिरछी ऊंची और नींची स्थित हुई नाडियां वायु और देहके आश्रित हैं देहमें चक्रकी तरंह संयुक्त हैं तबही, प्राणोंके आश्रय है ॥ ३५ ॥

तासांमध्येदशश्रेष्ठादशानांतिस्रउत्तमाः ॥
इडाचपिंगलाचैवसुषुम्णाचतृतीयका ॥ ३६ ॥

अर्थ—तिन्होंके विषे दशनाडी श्रेष्ठ हैं उनमेभी तीन नाडी उत्तम है इडा पिंगला तीसरी शुषुम्ना है ॥ ३६ ॥

गांधारीहस्तिनीजिव्हापूषाचैवयशस्विनी ॥
अलंबुषाकुहुश्चैवशंखिनीदशमीतथा ॥ ३७ ॥

अर्थ—और गांधारी हस्तिजिव्हा पूषा यशस्विनी अलं-बुषा कुहु, दशवीं शंखिनी हैं ॥ ३७ ॥

इडावामेस्थिताभागेदक्षिणेपिंगलातथा ॥
सुषुम्णामध्यदेशेतुगांधारीवामचक्षुषि ॥ ३८ ॥

अर्थ—इडानाडी शरीरके वाम भागमें स्थितहै पिंगला दाहिने भागमें स्थितहै सुषुम्ना मध्यभागमें स्थितहै गांधारी वायें नेत्रमें स्थितहै ॥ ३८ ॥

दक्षिणेहस्तिजिव्हाचपूषाकर्णेचदक्षिणे ॥
यशस्विनीवामकर्णेआननेचाप्यलंबुषा ॥ ३९ ॥

अर्थ–दहिनें नेत्रमें हस्ति जिव्हा नाडी स्थित है पूषा कानमें स्थितहै अलंबुषा मुखमें स्थितहै ॥ ३९ ॥

कुहुश्चलिंगदेशेतुमूलस्थानेतुशंखिनी ॥
एवंद्वारंसमाश्रित्यतिष्ठंतिदशनाडिकाः ॥ ४० ॥

अर्थ–कुहूलिंग देशामें स्थितहै और शंखिनी गुदास्थानमें है ऐसे शरीरके द्वारोंकै आश्रित हुई ये दशनाडीटिक रहीहैं४०

इडापिंगलासुषुम्नाचप्राणमार्गेसमाश्रिताः ॥
एताहिदशनाड्यस्तुदेहमध्येव्यवस्थिताः ॥४१॥

अर्थ–इडा पिंगला सुषुम्ना ये तीनों नाडी शरीरके मध्यमें स्थित हैं ॥ ४१ ॥

नामानिनाडिकानांतुवातानांतुवदाम्यहम् ॥
प्राणोऽपानःसमानश्चउदानोव्यानएवच ॥४२॥

अर्थ–नाडियोकें नाम तो कह दिये अब नाडियोंके आश्रित हुई वायुओंके नामोंको कहते हैं प्राण अपान समान उदान व्यान ॥ ४२ ॥

नागःकूर्मोथकृकलोदेवदत्तोधनंजयः ॥ हृदिप्रा
णोवसेन्नित्यमपानोगुदमंडले ॥ ४३ ॥

अर्थ–और नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय, ये नामहै हृदयमें नित्य प्राण वसताहै आपानवायु, गुदामें रहताहै ॥ ४३ ॥

समानोनाभिदेशेतुउदानःकंठमध्यगः ॥
व्यानोध्यापीशरीरेषुप्रधानादशवायवः ॥ ४४ ॥

अर्थ–समान नाभिमें स्थितहै उदान कंठके मध्यमें

स्थितहै व्यान वायु संपूर्ण शरीरमें व्याप्त होके स्थित रहताहै ऐसे शरीरमें दशवायु प्रधानहै ॥ ४४ ॥

प्राणाद्याःपंचविख्यातानागाद्याःपंचवायवः ॥
तेषामपिचपंचानांस्थानानिचवदाम्यहम् ॥४५॥

प्राण आदि पांच वायुओंके स्थान कह दिये अब नाग आदि जो पांचवायु हैं तिनकेभी स्थानोंको कहतेहैं ॥ ४५ ॥

उद्गारेनागआख्यातःकूर्मउन्मीलनेस्मृतः ॥
कृकलःक्षुतकृज्ज्ञेयोदेवदत्तोविजृंभणे ॥ ४६ ॥

अर्थ—नागवायु उद्गार, अढकार लेनेंमें है कूर्मवायु आंखिनके खोलनें मीचनेमें है कृकलवायु छींक लेनेंमें है देवदत्तवायु जंभाई लेनेंमें है ॥ ४६ ॥

नजहातिमृतंवापिसर्वव्यापीधनंजयः ॥
एतेनाडीषुसर्वासुभ्रमंतेजीवरूपिणः ॥ ४७ ॥

अर्थ—संपूर्ण शरीरमें व्याप्त होके रहनेंवाला धनंजय मृत शरीरमेंभी रहताहै जीवरूपी ये दशवायु संपूर्ण नाडियोंमें भ्रमते रहतेहैं ॥ ४७ ॥

प्रकटंप्राणसंचारंलक्षयेद्देहमध्यतः ॥ इडापिंग
लासुषुम्नाभिर्नाडीभिस्तिसृभिर्बुधः ॥ ४८ ॥

अर्थ—देहके मध्यमें प्रकट रूप प्राणका संच्यारहै उसको बुद्धिमान इडा पिंगला सुषुम्ना इन तीन नाडियों करके पहिचाने ॥ ४८ ॥

इडावामेचविज्ञेयापिंगलादक्षिणेस्मृता ॥
इडानाडीस्थितावामाततोव्यस्ताचपिंगला ४९॥

अर्थ—इडा शरीरके वामभागमें जाननी पिंगला दहिनें

भागमें जाननी इडा नाडी वामावर्त्तसे स्थितहै पिंगला दक्षिणावर्त्त, दक्षिणस्वरू से स्थितहै ॥ ४९ ॥

इडायांतुस्थितश्चंद्रःपिंगलायांचभास्कर ॥
सुषुम्नाशंभुरूपेणशंभुर्हंसस्वरूपतः ॥ ५० ॥

अर्थ–इडामें चंद्रमा स्थितहै पिंगलामें सूर्य स्थितहै सुषुम्ना शिव स्वरूपसे स्थितहै शिवजी हंस स्वरूपसे स्थितहैं ॥५०॥

हकारोनिर्गमेप्रोक्तःसकारेणप्रवेशनम् ॥
हकारःशिवरूपेणसकारःशक्तिरुच्यते ॥ ५१ ॥

अर्थ–हकार स्वरके निकसनेंमें कहाहै सकार अंदर स्वर प्रवेश होनेंमें कहाहै. हकार शिवरूपहै सकार शक्ति रूप कहाताहै ॥ ५१ ॥

शक्तिरूपस्थितेचंद्रोवामनाडीप्रवाहकः ॥
दक्षनाडीप्रवाहश्चशंभुरूपोदिवाकरः ॥ ५२ ॥

अर्थ–बांईनाडीका प्रवाह करनेंवाला चंद्रमा शक्तिरूप करके स्थितहै दक्षिण नाडीका प्रवाह करनेंवाला सूर्य शिवरूपसे स्थितहै ॥ ५२ ॥

श्वासेसकारसंस्थेतुयद्दानंदीयतेबुधैः ॥ तद्दानं
जीवलोकेस्मिन्कोटिकोटिगुणंभवेत् ॥ ५३ ॥

अर्थ–सकारविषें स्थित हुये श्वासके समय जो बुद्धिमानोंसे दान दिया जाताहै वह दान इस जीवलोकमें कोटि कोटि अनंत गुना फल देताहै ॥ ५३ ॥

अनेनलक्षयेद्योगीचैकचित्तःसमाहितः ॥ सर्व
मेवविजानीयान्मार्गेवैचंद्रसूर्ययोः ॥ ५४ ॥

अर्थ–एकाग्र चित्तसे सावधान हुआ योगि इसही प्रकारसे देखै यह योगी सर्वको चंद्रमा और सूर्यकेही मार्गमें जानें ॥ ५४ ॥

ध्यायेत्तत्वंस्थिरेजीवेअस्थिरेनकदाचन ॥
इष्टसिद्धिर्भवेत्तस्यमहालाभोजयस्तथा ॥ ५५ ॥

अर्थ–जोस्थिर जीव होनेंके समयही तत्त्वका ध्यान करै. अस्थिर जीवके समय कर्म न करै तिसके वांछितकी सिद्धि होति है यह लाभ और जय होताहै ॥ ५५ ॥

चंद्रसूर्यसमभ्यासंयेकुर्वंतिसदानराः ॥ अतीतानागतज्ञानंतेषांहस्तगतंभवेत् ॥ ५६ ॥

अर्थ–जो मनुष्य चंद्रमा और सूर्यके स्वरोंका सदैव अच्छी तरंहसे अभ्यास करतेहैं उनकी भूत भविष्यत् वर्त्तमानको ज्ञान हस्तगत अर्थात् भले प्रकारसे होताहै ॥५६॥

वामेचामृतरूपास्याज्जगदाप्यायनंपरम् ॥
दक्षिणेचरभागेनजगदुत्पादयेत्सदा ॥ ५७ ॥

अर्थ–वामभागमें स्थित इडा नाडी अमृत स्वरूप है जगत्को पुष करनेंवालीहै दक्षिण भागमें चर भागसें स्थित पिंगला सदा जगत्को उत्पन्न करतीहै ॥ ५७ ॥

मध्यमाभवतिक्रूरादुष्टासर्वत्रकर्मसु ॥ सर्वत्रशुभकार्येषुवामाभवतिसिद्धिदा ॥ ५८ ॥

अर्थ–मध्यमें रहनेंवाली सुषुम्नानाडी क्रूरहै सब शुभकर्मोंमे सिद्धिको देनेंवालीहै ॥ ५८ ॥

निर्गमेतुशुभावामाप्रवेशेदक्षिणाशुभा ॥
चंद्रसमस्तुविज्ञेयोरविस्तुविषमःसदा ॥ ५९ ॥

अर्थ–घरके निकसनके समय वांयींनाडी अच्छीहै और प्रवेशके समय दहिनीनाडी शुभहै चंद्रमा सम कहाताहै, सूर्य विषम कहाताहै ॥ ५९ ॥

चंद्रःस्त्रीपुरुषःसूर्यश्चंद्रोगौरोसितोरविः ॥
चंद्रनाडीप्रवाहेनसौम्यकार्याणिकारयेत् ॥ ६० ॥

अर्थ--चंद्रमा गौर और सूर्य श्यामवर्ण जानना चंद्रमाकी नाडीके प्रवाहमें सौम्य कार्योंको करै ॥ ६० ॥

सूर्यनाडीप्रवाहेणरौद्रकर्मणिकारयेत् ॥ सुषुम्नायाःप्रवाहेणभक्तिमुक्तिफलानिच ॥ ६१ ॥

अर्थ–सूर्यकी नाडीके प्रवाहमें क्रूरकर्म करना सुपुम्नाके प्रवाहमें भक्ति और मुक्तिको देनेंवाले कर्मोंको करै ॥ ६१ ॥

आदौचंद्रःसितेपक्षेभास्करस्तुसितेतरे ॥
प्रतिपत्तोदिनान्याहुस्त्रीणित्रीणिक्रमोदयः ॥ ६२ ॥

अर्थ–शुक्लपक्षमें पहले तीन दिनतक चंद्रमा और कृष्ण पक्षमें प्रतिपदाआदि तीनदिन सूर्यका स्वर चलताहै यह क्रमसे उदय जानना ॥ ६२ ॥

सार्धद्विघटिकेज्ञेयःशुक्लेकृष्णेशशीरविः ॥ वहत्येकदिनेनैवयथाषष्टिघटिक्रमात् ॥ ६३ ॥

अर्थ–शुक्लपक्षमें ढाई २॥ घटी चंद्रमा और कृष्णपक्षमें ढाई २॥ घटी पहले दिनके उदयमें सूर्यका स्वर चलता है ऐसे क्रमसे एकही दिनकी साठ ६० घडियों वहतेहैं॥ ६३ ॥

वहेयुस्तद्धटीमध्येपंचतत्वानिनिर्दिशेत् ॥
प्रतिपत्तोदिनान्याहुर्विपरीतेविपर्ययः ॥ ६४ ॥

अर्थ–और तिस एक २ की घडियोंके मध्य पांचोंतत्त्व

वहतेहै ऐसा जानना और प्रातिपदासे जो तीन २ दिन कहेहैं उनमें जो विपरीत अर्थात् सूर्यके दिनोंमें चंद्रमा और चंद्रमाके दिनोमे सूर्य होवे तो शुभकार्यमें वर्ज देवै ॥ ६४॥

शुक्लपक्षेभवेद्वामाकृष्णपक्षेचदक्षिणा ॥ जानीयात्प्रतिपत्पूर्वंयोगीतद्यतमानसः ॥ ६५ ॥

अर्थ—शुक्लपक्षमें पहले प्रातिपदासे लेके बायींनाडी और कृष्णपक्षमें पहले दहींनि नाडीको योगिजन एकाग्र चित्तसे जानें ॥ ६५ ॥

शशांकंवारयेद्रात्रौदिवावार्योदिवाकरः ॥ इत्यभ्यासरतोनित्यंसयोगीनात्रसंशयः ॥ ६६ ॥

अर्थ—रात्रीमें चंद्रमाके निवारण करै और दिनमें सूर्यके स्वरको निवारण करै ऐसे अभ्यासमें प्रयुक्त रहनें वाला योगी उत्तम योगी है इसमें संदेह नहीं ॥ ६६ ॥

सूर्येणबध्यतेसूर्यश्चंद्रश्चंद्रेणबध्यते ॥ योजानातिक्रियामेतांत्रैलोक्यंवशयेतक्षणात् ॥ ६७ ।

अर्थ—सूर्यका स्वरकरके सूर्य बंद होताहै और चंद्रमाके स्वरकरके चंद्रमाका स्वर बंद होताहै ऐसी इस क्रियाको जो जानताहै उसके वशमें त्रिलोकी क्षणमात्रमेंहै ॥ ६७ ॥

गुरुशुक्रबुधेंदूनांवासरेवामनाडिका ॥ सिद्धिदासर्वकार्येषुशुक्लपक्षेविशेषतः ॥ ६८ ॥

अर्थ—बृहस्पती शुक्र बुध सोम इन वारोंमें जब बायीं नाडीं चलीहो तब कियेहुए संपूर्ण काम सिद्ध होंतहै और जो शुक्र पक्षमें ऐसाही हो तो, अधिक शुभहै ॥ ६८ ॥

अर्कांगारकसौरीणांवासरेदक्षनाडिका ॥

स्मर्त्तव्याचरकार्येषुकृष्णपक्षेविशेषतः ॥ ६९ ॥

अर्थ—सूर्य मंगल शनि इन वारोंमें चलतीहुई दहिनीनाडी शुभहै और चरकार्योंमें तथा कृष्णपक्षमें अति शुभदायी है६९

प्रथमंवहतेवायुर्द्वितीयंचतथानलः ॥ तृतीयंवह तेभूमिश्चतुर्थंवारुणंवहेत् ॥ ७० ॥

अर्थ— प्रथम वायुतत्त्व वहताहै. दूसरा अग्नितत्त्व और तीसरे पृथ्वीतत्त्व वहताहै चौथे जलतत्त्व वहताहै ॥ ७० ॥

सार्धद्विघटिकेपंचक्रमेणैवोदयंतिच ॥ क्रमा देकैकनाड्यातुतत्वानांपृथगुद्भवः ॥ ७१ ॥

अर्थ—एक स्वरकी ढाई घटीमें ये पांचोंतत्त्व इस, क्रमसे प्रकट होतेहै क्रमसे एक २ नाडीविषें क्रमसे पांचोंतत्त्व उ· त्पन्न होतेहै ॥ ७१ ॥

अहोरात्रस्यमध्येतुज्ञेयाद्वादशसंक्रमाः ॥ वृषक र्कटकन्यालिमृगमीनानिशाकरे ॥ ७२ ॥

अर्थ—दिन रातिमें बारह संक्रांति जाननी तहां वृष कर्क कन्या वृश्चिक मकर मीन ये चंद्रमाकी राशि है ॥ ७२ ॥

मेषसिंहौचकुंभश्चतुलाचमिथुनंधनम् ॥ उदये दक्षिणेज्ञेयःशुभाशुभविनिर्णयः ॥ ७३ ॥

अर्थ—मेष सिंह कुंभ तुला मिथुन धन ये दहिनें स्वरके उदयमेंहै ऐसे वस्तुका, शुभाशुभ निर्णय करना ॥ ७३ ॥

तिष्ठेत्पूर्वोत्तरेचन्द्रोभानुःपश्चिमदक्षिणे ॥ दक्षना ड्याःप्रसारेतुनगच्छेद्याम्यपश्चिमौ ॥ ७४ ॥

अर्थ—पूर्व और उत्तर दिशामें चंद्रमा ठरताहै पश्चिम और

दक्षिण दिशामें सूर्य ठहरताहै. दहिनीनाडी चलतीहो तब दक्षिण ओर पश्चिम दिशामें गमन नकरै ॥ ७४ ॥

वामाचारप्रवाहेतुनगच्छेत्पूर्वउत्तरे ॥ परिपंथि भयंतस्यगतोऽसौननिवर्त्तते ॥ ७५ ॥

अर्थ—वांयींनाडी चलतीहो तब पूर्व उत्तर दिशामें न जावे जानेंवालेको चोर शत्रु आदिकोंका भय होताहे तहां गया फिर उलटा नहीं आसकता ॥ ७५ ॥

तस्मात्तत्रनगन्तव्यंबुधैःसर्वहितैषिभिः ॥ तदा तत्रतुसंयातेमृत्युरेवनसंशयः ॥ ७६ ॥

अर्थ—इसलिये सर्वके हितकी इच्छावाले बुद्धिमान् जनोंनें तिस समय नहीं जाना उस समय जो तिन दिशाओंमें जानेंसें मृत्युही होतीहै इसमें संदेहनहीं ॥ ७६ ॥

शुक्लपक्षेद्वितीयायामर्केवहतिचंद्रमाः ॥ दृश्य तेलाभदःपुंसासौम्येसौख्यंप्रजायते ॥ ७७ ॥

अर्थ—शुक्लपक्षकी द्वितीयाको सूर्यके स्वरके समय, चंद्रमाका स्वर वहे तो पुरुषोंको सुख होताहै तिस समय सौम्य कार्य करनेंमें सुख होताहै ॥ ७७ ॥

सूर्योदयेयदासूर्यश्चंद्रश्चंद्रोदयेभवेत्॥ सिद्ध्यं तिसर्वकार्याणिदिवारात्रिगतांन्यपि ॥ ७८ ॥

अर्थ—सूर्योदयमें सूर्यका स्वर चलताहो और चंद्रमाके उदयमें चंद्रमाका स्वर चलताहै उस दिनके तथा रात्रीके किये, सब कार्य सिद्ध होतेहै ॥ ७८ ॥

चंद्रकालेयदासूर्यःसूर्येचंद्रोदयेभवेत् ॥ उद्वेगः कलहोहानिःशुभंसर्वंनिवारयेत् ॥ ७९ ॥

अर्थ–चंद्रमाके उदयमें सूर्यका स्वर चलताहै सूर्यके उदयमें चंद्रमाका स्वर चलताहो तो उद्वेग कलह तथा हानि होतीहै तहां शुभकर्म नकरै ॥ ७९ ॥

सूर्यस्यवाहेप्रवदंतिविज्ञाज्ञानंह्यगम्यस्यतुनिश्चयेन ॥ श्वासेनयुक्तस्यतुशीतरश्मेःप्रवाहकालेफलमन्यथास्यात् ॥ ८० ॥

अर्थ–सूर्यका स्वर चालताहो तब अगम्य अर्थात् जो नहीं प्राप्तहोसक्तीहो तिस वस्तुका निश्चय ज्ञान होताहै और चंद्रमाके स्वरसे युक्त पुरुषको यह ज्ञान नहींहो सक्ता ॥ ८० ॥

यदाप्रत्यूषकालेनविपरीतोदयोभवेत् ॥ चंद्रस्थानेवहत्यर्कोरविस्थानेचचंद्रमाः ॥ ८१ ॥

अर्थ–अब विपरीत स्वरके लक्षण कहतेहैं जो यदि च्यारघटीके तडके प्रातःकालसे लेके स्वरोंका विपरीत उदय होवे चंद्रमाके स्थानमें सूर्यका स्वरहो और सूर्यके स्थानमें चंद्रमाहो तो यह फलहै कि. ॥ ८१ ॥

प्रथमेमनसोद्वेगंधनहानिर्द्वितीयके ॥
तृतीयेगमनंप्रोक्तंइष्टनाशचतुर्थके ॥ ८२ ॥

अर्थ–पहले समयमें मनका उद्वेग दुसरे समथ धनकी हानि तीसरे समयमें कहीं गमन होवे चौथे समयमें विपरीत स्वर होवे तो इष्टवस्तुका नाश होताहै ॥ ८२ ॥

पंचमेराजविध्वंसंषष्ठेसर्वार्थनाशनम् ॥ सप्तमे व्याधिदुःखानिअष्टमेमृत्युमादिशेत् ॥ ८३ ॥

अर्थ–पांचवे वार राज्यका विध्वंस छठे वार संपूर्ण

द्रव्थका नाश सातवेंमें बीमारीके दुःखका आना आठवेंमें मृत्यु होतीहै ॥ ८३ ॥

कालत्रयेदिनान्यष्टौविपरीतंयदावहेत ॥
तदादुष्टफलंप्रोक्तंकिंचिन्न्यूनेतुशोभनम् ॥ ८४ ॥

अर्थ–आठ दिनतक जो तीनों कालोमें विपरीत स्वर चलता रहे तो अशुभ फल होताहै और कछु थोडे दिनतक होवे तो शुभफल होताहै ॥ ८४ ॥

प्रातर्मध्यान्हयोश्चंद्रःसायंकालेदिवाकरः ॥
तदानित्यंजयोलाभोविपरीतेतुदुःखदम् ॥ ८५ ॥

अर्थ–प्रातःकाल तथा मध्यान्हमें चंद्रमाका स्वर होवे और सायंकालमें सूर्यका स्वर होवे तो नित्य जयलाभ होताहै इस्से विपरीत होनेमें दुःख होताहै ॥ ८५ ॥

वामेवादक्षिणेवापियत्रसंक्रमतेशिवः ॥ कृत्वात
त्पादमादौचयात्राभवतिसिद्धिदा ॥ ८६ ॥

अर्थ–वामा अथवा दहिना कोईसा स्वर चलता होवे तब उसही पैरको आगे रखके गमन करे तो वह यात्रा सिद्धीको देनेंवाली होतीहै ॥ ८६ ॥

चंद्रःसमपदःकार्योरविस्तुविषमःसदा ॥
पूर्णपादपुरस्कृत्ययात्राभवतिसिद्धिदा ॥ ८७ ॥

अर्थ–चंद्रमाकेस्वरमें २–४–६–आदि सम पैर आगे रक्खे और सूर्यके स्वरमें १–३–५–आदि विषम पैर आगे रक्खे ऐसे यथोक्त पूर्णपैर आगे रखके चलनेंसे यात्रा सिद्धिको देनेंवाली·होतीहै ॥ ८७ ॥

चंद्रचारेचतुष्पादेपंचपादस्तुभास्करे ॥
एवंचगमनंश्रेष्ठंसाधयेद्भुवनत्रयं ॥ ८८ ॥

अर्थ—चंद्रमाका स्वर चलताहो तब बाये४पैर आगे रखकर और सूर्यका स्वर चलते समय दहिनें, पांच पैर आगे रख के जो गमन किया जाताहै वह त्रिलोकीको साधताहै॥८८॥

यत्रांगेवहतेवायुस्तदंगस्यकरस्तलं ॥
सुप्तोत्थितोमुखंस्पृष्ट्वालभतेवांछितंफलं॥ ८९ ॥

अर्थ—सोके उठनेंके समय जौ नासा स्वर चलताहो उसी अंगके हाथकी हथोलीसे मुखको स्पर्श करके खडा होवे तो मनोवांछित फल मिले ॥ ८९ ॥

परदत्तेतथाग्राह्येगृहान्निर्गमनेपिच ॥
यदंगेवहतेनाडीग्राह्यंतेनकरांघ्रिणा ॥ ९० ॥

अर्थ—अन्यको दान देनेंमें तथा अन्यसे [कछु] ग्रहण करनेंमें घरसे गमन करनेंमें जिस अंगका स्वर चलताहै उसी हाथ पैरसे करना ॥ ९० ॥

नहानिःकलहोनैवकंटकैर्नापिभिद्यते ॥
निवर्ततेसुखेनैवसर्वोपद्रववर्जितः ॥ ९१ ॥

अर्थ— ऐसे करनेंवालेके हानि कलह नहीं होतेहै और (कंटक) शत्रुवोंकरके छेदन नहीं होताहै निरंतर सुखसे रहता है संपूर्ण उपद्रवोंसे रहित रहता है ॥ ९१ ॥

गुरुबंधुनृपामात्याअन्येपिशुभदायिनः ॥
पूर्णांगेखलुकर्तव्याःकार्यसिद्धिमभीप्सिताः ९२

अर्थ— गुरु बंधुजन राजा मंत्री, ये तथा शुभदायी जन इन सबोंके पूर्ण अंगमें करै अर्थात् जौ नासा स्वर पूर्ण चलताहो उसीतर्फ करै ॥ ९२ ॥

अरिचौराधमर्णाद्याअन्येषांचैवनिग्रहाः ॥
कर्त्तव्याःखलुरिक्तायांजयलाभसुखार्थिभिः ॥९३

अर्थ—शत्रु चोर कर्जामांगनेंवाला इनका तथा अन्य दुष्टो का निग्रह करना होवे तो इनको जो नासी खाली नाडी होवे उसहीतर्फ करै जय लाभ सुख तनकी इच्छावाले जननें ऐसेही करना ॥ ९३ ॥

दूरदेशेविधातव्यंगमनंतुहिमद्युतौ ॥
अभ्यर्णदेशेतुदीप्तेतरणावितिकेचन ॥ ९४ ॥

अर्थ—दूरदेशमें जाना होवे तो चंद्रमाके स्वरमें गमनकरै और समीपदेशमें जाना होवे तो सूर्यके स्वरमें गमन करै ऐसे कितेक जन कहतेहै ॥ ९४ ॥

यत्किंचित्पूर्वमुद्दिष्टंलाभादेश्चसमागमः ॥
तत्सर्वपूर्णनाडीषुजायतेनिर्विकल्पकं ॥ ९५ ॥

अर्थ—पहले जो [कछु] लाभ आदिका समागम कहा है वह संपूर्ण पूर्णस्वरके चलनेंमें निंःसंदेह होताहै ॥ ९५ ॥

शून्यनाड्यांविपर्यस्तंयत्पूर्वप्रतिपादितं ॥
जायतेनान्यथाचैवयथासर्वज्ञभाषितं ॥ ९६ ॥

अर्थ—और जो कछु पहले कहाहै वह लाभादिक खाली नाडी चलनेंमें विपरीत फल देताहै यह शिवजीका कहाहुआवचनहै सो अन्यथा नहींहोताहै ॥ ९६ ॥

व्यवहारेखलोच्चाटेद्वेषिविद्यादिवंचकः ॥
कुपितस्वामिचौराद्याःपूर्णस्थास्युर्भयंकराः ९७॥

अर्थ—व्यवहार दुष्टपुरुषका उच्चाटन शत्रु किसी विद्यासे ठग नेंवाला क्रोधहुआ स्वामी चोर ये सब पूर्णस्वर चलताहै तो भय करनेंवालेहैं ॥ ९७ ॥

दूराध्वनिशुभश्चंद्रोनिर्विघ्नोनष्टसिद्धिदाः ॥
प्रवेशकार्यहेतौचसूर्यनाडिप्रशस्यते ॥ ९८ ॥

अर्थ–दूर मार्गमें जानेंविषें चंद्रमाका स्वर शुभ मनोवांछित फलकी सिद्धि करताहै और प्रवेशके कार्योंमें सूर्यकी नाडी शुभ कहीहै ॥ ९८ ॥

चंद्रचारेविषंहंतिसूर्येबालावशंनयेत् ॥
सुषुम्णायांभवेन्मोक्षएकदेवस्त्रिधास्थितः ॥९९॥

अर्थ–चंद्रमाका स्वर चलनेंके समय विषको दूरकर देवै और सूर्यका स्वर चलनेंमें स्त्रीको वशमें करै सुषुम्नामें मोक्ष होताहै ऐसे ए स्वर तीन प्रकारसें स्थितहै ॥ ९९ ॥

अयोग्येयोग्यतानाड्यायोग्येस्थानेप्ययोग्यता ॥
कार्यानुबंधनोजीवःयथारुद्रस्तथाचरेत् ॥ १०० ॥

अर्थ–अयोग्य कार्यमें नाडीकी योग्यताहो और योग्य कार्यमें अयोग्यता हो तो उस कार्यमें यह पुरुष बंध जाताहै इसलिये जैसा स्वर चले वैसाही आचरण करना ॥ १०० ॥

शुभान्यशुभकार्याणिक्रियंतेहर्निशंयदा ॥
तदाकार्यनिरोधेनकार्यंनाडीप्रचालनं ॥ १०१ ॥

अर्थ–रातिमें तथा दिनमें जैसा शुभ अशुभ कर्म किया जावे तब उस कार्यके अनुसारही नाडीका संच्यार करना योग्यहै ॥ १०१ ॥

प्रथमइडानाडीस्थिरकर्मण्यलंकारेदूराध्वगमनेत
था ॥ आश्रमेहर्म्यप्रासादेवस्तुनांसंग्रहेपिच१०२

अर्थ–अब इडानाडीके कार्योंको कहतेहैं. स्थिरकर्म आभूषण विवाह दूर मार्गमें जाना आश्रम हवेली मंदिर इनका कार्य तथा वस्तुओंका संग्रहमें ॥ १०२ ॥

वापीकूपतडागादिप्रतिष्ठास्तंभदेवयोः ॥
यात्रादानेविवाहेचवस्त्रालंकारभूषणे ॥ १०३ ॥

अर्थ-बावडी कूप तलाव आदि तथा देवता और स्तंभ आदिकी प्रतिष्ठामें विवाहविषें वस्त्र अलंकार आदिसे भूषित होनेंमें ॥ १०३ ॥

शांतिकेपौष्टिकंचैवदिव्योषधिरसायने ॥
स्वस्वामिदर्शनेमैत्रेवाणिज्येकणसंग्रहे ॥ १०४ ॥

अर्थ-शांतिके कर्म तथा पुष्टिके कर्मोंमें दिव्य औषधी, रसायनमें अपनें स्वामीके दर्शनमें मित्रतामें वणिजमें धान्य राशि करनेंमें ॥ १०४ ॥

गृहप्रवेशेसेवायांकृष्यांवैबीजवापने ॥
शुभकर्मणिसंधौचनिर्गमेचशुभंशशी ॥ १०५॥

अर्थ-गृह प्रवेशमें सेवामें खेतीमें बीज वोवनेंमें अन्य शुभकर्ममें मिलाप करनेंमें चंद्रमाका स्वर, इडानाडी शुभहै१०५

विद्यारंभादिकार्येषुबान्धवानांचदर्शने ॥
जनमोक्षेचधर्मेचदीक्षायामंत्रसाधने ॥ १०६ ॥

अर्थ-विद्याका आरंभ बंधुजनोंका दर्शन मनुष्यका छुटना धर्मदीक्षा मंत्रसाधन ॥ १०६ ॥

कालविज्ञोनसूत्रेतुचतुःपदग्रहागमे ॥ कालव्याधिचिकित्सायांस्वामिसंबोधनेतथा ॥ १०७ ॥

अर्थ-कालका ज्ञान सूत्र, चौपाये पशुओंको घरमेंलाना कालकी व्याधिकी चिकित्सा, स्वामीका बुलाना इन सब कार्येमेंभी इडानाडी शुभ कहीहै ॥ १०७ ॥

गजाश्वारोहणेधन्विगजाश्वानांचबंधने ॥
परोपकरणेचैवनिधीनांस्थापनेतथा ॥ १०८ ॥

अर्थ-हाथी तथा घोडेकी सवारीमें धनुषविद्या हाथी

और अश्वोंके बांधनेंमें किसीके उपकार करनेंमें द्रव्यादि खजानाके स्थापन करनेंमें ॥ १०८ ॥

गीतवाद्यादिनृत्यादौगीतशास्त्रविचारणे ॥
पुरग्रामनिवेशेचतिलकक्षेत्रधारणे ॥ १०९ ॥

अर्थ–गीत बाजा नृत्य आदिकोंमें गीत शास्त्रके विचारनेंमें पुर ग्रामादिकोंमें प्रवेश समय राज्याभिषेकमें ॥१०९॥

आर्तिशोकविषादेचज्वरितेमूर्छितोपिवा ॥
स्वजनस्वामिसम्बन्धेधान्यादिदारुसंग्रहे ॥११०॥

अर्थ–पीडा शोक, विषाद ज्वर मूर्च्छा स्वजन तथा स्वामी आदिकोंसें मिलना धान्य वा काष्ठआदिका संग्रह इन सबोंमें ॥ ११० ॥

स्त्रीणांदंतादिभूषायांवृष्टेरागमनेतथा ॥
गुरुपूजाविषादीनांचालनेचवरानने ॥१११ ॥
इडाचसिद्धिदाप्रोक्तायोगाभ्यासादिकर्मसु ॥
तत्रापिवर्जयेद्वायुंतेजआकाशमेवच ॥ ११२ ॥

अर्थ–और स्त्रियोंको दंत आदिका भूषण वर्षाका आना गुरुकी पूजा विष आदिका उतारना. हे वरानने इस सबोंमें इडानाडी सिद्धिको देनेंवाली कहीहै और योगाभ्यास आदिकोंमेंभी सिद्धि दायिनीहै तहां इडानाडीमेंभी वायुतत्त्व और आकाशतत्त्वको वर्जि देवै ॥ १११ ॥ ११२ ॥

सर्वकार्याणिसिध्यंतिदिवारात्रिगतांन्यपि ॥ सर्वेषुशुभकार्येषुचंद्रवारःप्रशस्यते ॥ ११३ ॥

अर्थ–दिन रात्रीमें प्राप्तभये सब काम सिद्ध होतेहैं संपूर्ण शुभ कार्योंमें चंद्रमाका स्वर शुभ कहाहै ॥ ११३ ॥

पिंगलाकठिनक्रूरविद्यानांपठनेतथा ॥
स्त्रीसंगवेश्यागमनेमहानौकादिरोहणे ॥ ११४ ॥

अर्थ-अब पिंगलाके कार्योंको कहतेहै. कठिन और क्रूर मरणोच्चाटनआदि विद्याओंमें स्त्रीसंग तथा वेश्यागमनमें महा नौका अर्थात् जिहाजआदिपै चढनेंमें पिंगला नाडी शुभ कहीहै ॥ ११४ ॥

भ्रष्टकार्येसुरापानेवीरमंत्राद्युपासने ॥
विव्हलोध्वंसदेशादिविषदानेचवैरिणां ॥ ११५ ॥

अर्थ-भ्रष्टकार्य मदिरापान, वीर मंत्रआदिकी उपासना विव्हलपना देशका विध्वंस वैरियोंको विषदेना ॥ ११५ ॥

शास्त्राभ्यासेचगमनेमृगयापशुविक्रये ॥
इष्टिकाकाष्ठपाषाणेरत्नघर्षणदारणे ॥ ११६ ॥

अर्थ-शास्त्रका अभ्यास गमन सिकार खेलनें जाना पशुओंका वेचना ईट काष्ठ पत्थर रत्न इनका घिसना तथा फोडना ॥ ११६ ॥

गत्याभ्यासेयंत्रतंत्रेदुर्गपर्वतरोहणे ॥
द्यूतेचौर्य्येगजाश्वादिरथसाधनवाहने ॥ ११७ ॥

अर्थ-गतिका अभ्यास यंत्र तंत्र किला तथा पर्वत आ. दिपै चढना जुवा, चोरी हाथी घोडा रथ इन वाहनोंका साधन करना ॥ ११७ ॥

खरोष्ट्रमहिषादीनांगजाश्वारोहणेतथा ॥
नदीजलौघतरणेभैषजेलिपिलेखने ॥ ११८ ॥

अर्थ-गधा ऊंट भैंसाआदि तथा हाथी घोडा आदिपै चढना नदी जलके समूहको तिरना औषधलेना लीपना लिखना. ॥ ११८ ॥

मारणेमोहनेस्तंभेविद्वेषोच्चाटनेवशे ॥
प्रेरणाकर्षणेक्षोभेदानेचक्रयविक्रये ॥ ११९ ॥

अर्थ—मारण मोहन स्तंभन विद्वेषण उच्चाटन, वशीकरण, प्रेरणा आकर्षन क्रोध दान खरीदना ॥ ११९ ॥

खड्गहस्तेवैरियुद्धेभोगेवाराजदर्शने ॥
भोज्येस्नानेव्यवहारेक्रूरेदीप्तरविःशुभः ॥ १२० ॥

अर्थ—हाथमें तलवार लेना वैरीकेसंग युद्ध करना भोग और राजाका दर्शन भोजन करना स्नान करना क्रूर व्यवहार करना इन सब कार्योमें सूर्यका स्वर चलना शुभहै१२०

भुक्तमात्रेणमंदाग्नौस्त्रीणांवश्यादिकर्मणि ॥
शयनंसूर्यवाहेनकर्तव्यंसर्वदाबुधैः ॥ १२१ ॥

अर्थ—भोजन करनेसें मंद अग्नीविषे प्रदीप्त अग्निकरनेंमें स्त्री वशिकरणमें पिंगलानाडी शुभहै इसलिये, बुद्धिमान् जनोंनें यह संपूर्ण कार्य सूर्यके स्वरमें करना ॥ १२१ ॥

क्रूराणिसर्वकर्माणिचराणिविविधानिच ॥
तानिसिध्यंतिसूर्येणनात्रकार्याविचारणा ॥ १२२

अर्थ—अनेक प्रकारके जो क्रूरकर्म है और जो अनेक चरकर्महै वे संपूर्ण सूर्यके स्वरमें सिद्ध होतेहै इसमें कछु विचार नहीं करना ॥ १२२ ॥

॥ अथसुषुम्णालक्षणम् ॥

वामेक्षणंक्षणंदक्षेयदावहतिमारुतः ॥
सुषुम्णासाचविज्ञेयासर्वकार्यहरास्मृता ॥ १२३ ॥

अर्थ—अब सुषुम्णाके लक्षण कहतेहै. जब क्षणमात्रमें बायां और क्षणमात्रमें दहिना स्वर वहै तब वह सुषुम्णा

नाडी जाननी यह सब कार्यको हरनेंवाली कही है ॥१२३॥

तस्यांनाड्यांस्थितोवन्हिज्वलंतंकालरूपतः ॥
विषवत्तंविजानीयात्सर्वकार्यविनाशनं ॥ १२४ ॥

अर्थ–तिस नाडीमें स्थित हुआ अग्नितत्त्व कालरूपसे ज्वलित रहताहै उसको संपूर्ण कार्योका नाशक विषवाला अग्नि जानना ॥ १२४ ॥

यदानुक्रममुल्लंघ्ययस्यनाडिद्वयंवहेत् ॥
तदातस्यविजानीयादशुभंनात्रसंशयः ॥ १२५ ॥

अर्थ–जब जिस पुरुषकी दोनों नाडी अपनें २ यथाक्रमको उलंघके वहतीहैं तब उसको अशुभ फल जानों इसमें कछु संशय नहीं ॥ १२५ ॥

क्षणंवामेक्षयंवायुर्विषमंभावमादिशेत् ॥
विपरीतफलंज्ञेयंज्ञातव्यंचवरानने ॥ १२६ ॥

अर्थ–जो यदि वायु क्षणमात्रही बायें स्वरमें वहके नष्ट होजावे यह विषमभाव कहताहै हेवराननें, तहां विपरीत फल जानना ॥ १२६ ॥

उभयोरेवसंचारंविषुवंतंविदुर्बुधाः ॥
नकुर्यात्क्रूरसौम्यानितत्सर्वंनिफलंभवेत् ॥१२७॥

अर्थ–बुद्धिमान् जन दोनों नाडियोंके एकवार संचारको विषवान् कहतेहैं तहां क्रूर तथा सौम्य किये हुए सब कर्म निष्फल होतेहैं ॥ १२७ ॥

जीवतेमरणेप्रश्नेलाभालाभौजयाजयौ ॥
विषमेविपरीतेवासंस्मरेज्जगदीश्वरं ॥ १२८ ॥

अर्थ–जीवना मरना प्रश्न लाभ हानि जय हार विषम

तथा विपरीत स्वर इन सबौंमें ईश्वरका स्मरण करना चाहिये ॥ १२८ ॥

ईश्वरेचिंततेकार्येयोगाभ्यासादिकर्मसु ॥
अन्यत्रतुनकर्तव्यंजयलाभसुखेषुभिः ॥ १२९ ॥

अर्थ—योगाभ्यासादि कर्योमें ईश्वरविषे कार्य चिंतवन-किये पीछे तहां जय लाभ सुखकी इच्छावाले जनोंको अन्य कछु कर्त्तव्य नहींहै ॥ १२९ ॥

सूर्येणवहमानायांसुषुम्णायांमुहुर्मुहुः ॥
शापंदद्याद्वरंदद्यात्सर्वथाचरदन्यथा ॥ १३० ॥

अर्थ—सूर्य करके जब वारंवार सुषुम्णानाडी वहती होय तब शापदो अथवा वरदो वह सब विपरीत होताहै ॥ १३० ॥

नाडिसंक्रमणेकालेतत्वसंक्रमणेतथा ॥
शुभंकिंचिन्नकर्तव्यंपुण्यदानादिकंशुभम् ॥ १३१

अर्थ—नाडियोंके संचलन परस्पर मेलमें और तत्त्वोंके संचलनमें, कच्छु शुभकर्म न करै और पुण्य दानआदि कभी न करना ॥ १३१ ॥

विषमस्योदयेयत्रमनसापिनचिंतयेत् ॥
यात्राहानिकरीतस्यमृत्युःक्लेशोनसंशयः ॥ १३२ ॥

अर्थ—विषम स्वर चलताहो तब किसी कार्यको मनसेभी चिंतवन नकरै तिस पुरुषको यात्रा हानी करनेंवाली होतीहै मृत्यु अथवा क्लेश होताहै इसमे संदेह नहीं ॥ १३२ ॥

पुरोवामोर्द्धतश्चंद्रोदक्षाधःपृष्ठितोरविः ॥
पूर्णरिक्तविवेकोयंज्ञातव्योदैशिकैःसदा ॥ १३३ ॥

अर्थ—चंद्रमाके स्वरका वेग तो सन्मुख वा वायेंतर्फ तथा

ऊपरको होवे और सूर्यके स्वरका प्रहर पिछेको वा दहिनी तर्फ वा नीचेंको होवे तो यह पूर्ण विवेक है इस्से विपरीत प्रवाहमें पंडितजनोंने सदैव रिक्त, खाली जानना ॥ १३३ ॥

उर्ध्ववामाग्रतोदूतोज्ञेयोवामपथिस्थितः
पृष्टेदक्षेतथाधस्थःसूर्यवाहागतःशुभः ॥ १३४ ॥

अर्थ—चंद्रमाके स्वर चलते समय ऊपरकी तर्फ वा बायीं तर्फ तथा आगेको बैठाहु आ दूत शुभहै सूर्यके स्वर चलते समय पीठ पीछे दहिनें वा नींचेको बैटाहुआ दूत शुभहै ॥ १३४ ॥

अनादिर्विषमःसंधिर्निराहारोनिराकुलम् ॥
परेसूक्ष्मेविलीयेतसासंध्यासद्भिरुच्यते ॥ १३५ ॥
॥ इतिनाडिभेदः ॥

अर्थ—अनादि विषम संधिजो सुषुम्णानाडी है सो निराहार निराकुल हुई सूक्ष्मकत्त्वविषे लीनहोजावे तब सज्जनोंनें वह संध्यासमय कही है ॥ १३५ ॥ यहां नाडी भेद समाप्त.

॥ देव्युवाच " देवदेवमहादेवसर्वसंसारतारक ॥
स्थितंत्वदीयेहृदयेरहस्यंवदमेप्रभो ॥ १३६ ॥

अर्थ—पार्वती देवी पूछती भई. हे देवदेव महादेव हे संसारतारक आपके हृदयमें जो रहस्य वस्तु है उसको मेरे आगे कहो ॥ १३६ ॥

॥ ईश्वरउवाच ॥ स्वरज्ञानरतोयोगीसयोगीपरमो मतः॥पंचतत्वाद्भवेत्सृष्टिस्तत्वेतत्वंविलीयते १३७

अर्थ—शिवजी कहनें लगे. हे देवी जो स्वरके ज्ञानमें रत योगीहै वही योगी श्रेष्ठहै सृष्टी पंचतत्त्वोंसेही तत्त्वमेंही तत्त्व लीन हो जातेहै ॥ १३७ ॥

तत्वानानामविज्ञेयंसिद्धियोगेनयोगिनां ॥
भूतानांदुष्टचिन्हानिजानंतिचस्वरोत्तमः॥१३८॥

अर्थ—इसालिये, योगीजनोंनें सिद्धयोग करके तत्त्वोंका नाम जानना योग्यहै उत्तम स्वर ज्ञानी पुरुष भूतोंके दुष्ट चिन्होंको जानताहै ॥ १३८ ॥

पृथिव्यापस्तथातेजोवायुराकाशमेवच ॥
पंचभूतात्मकंसर्वंयोजानातिसपूजितः ॥१३९॥

अर्थ—पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश ऐसे इन पांच तत्त्वोंका आत्मभूत विश्वको जो जानताहै वह पूजितहै १३९

सर्वलोकस्यजीवानांनदेहोतत्वभिन्नकः ॥
भूलोकात्सत्यपर्यंतंनाडिभेदंपृथक्पृथक् ॥१४०॥

अर्थ—संपूर्ण लोगोंका देह तत्त्वोंसे भिन्न नहींहै भूलोकसें सत्यलोकपर्यंत सबका शरीर पंचतत्वात्मक है परंतु नाडीका भेद अलग रहै ॥ १४० ॥

वामेवादक्षिणेवापिउदयात्पंचकीर्तितं ॥
अष्टधातत्वविज्ञानंशृणुवक्ष्यामिसुंदरि ॥ १४१ ॥

अर्थ—बायें अथवा दहिनें स्वरमें पांचतत्त्व उदय कहेहैं हे सुंदरि, तिन तत्त्वोंका विज्ञान आठ प्रकारसे सूनों मैं कहताहूं ॥ १४१ ॥

प्रथमेतत्वसंख्यानंद्वितीयेश्वाससंधयः ॥
तृतीयेस्वरचिन्हानिचतुर्थेस्थानमेवच ॥ १४२ ॥

अर्थ—प्रथम भेदतत्त्वोंकी संख्या दूसरा भेदश्वासकी संधी तीसरा भेदस्वरोंके चिन्हहै चौथे भेदविषें स्वरोंका स्थान जानना ॥ १४२ ॥

पंचमेतस्यवर्णश्चषष्ठेतुप्राणमेवच ॥
सप्तमेस्वादसंयुक्तःअष्टमेगतिलक्षणं ॥ १४३ ॥

अर्थ–पांचवें भेदमें तिसका वर्ण छठेमें प्राण और सातवेंमें स्वादका संयोग और आठवें भेदमें स्वरकी गतिका लक्षण ॥ १४३ ॥

एवमष्टविधंप्राणंविषुवंतंचराचरं ॥
स्वरात्परतरंदेविनान्यथात्वंबुजानने ॥ १४४ ॥

अर्थ–ऐसे आठ प्रकारका प्राण चराचर जगत्में व्यापक है हे देवि हे कमलनेत्रे स्वर ज्ञानसे अन्यज्ञान (अधिक) नहींहै ॥ १४४ ॥

निरीक्षितव्यंयत्नेनयदाप्रत्यूषकालतः ॥
कालस्यवंचनार्थायकर्मकुर्वंतियोगिनः ॥१४५॥

अर्थ–प्राप्त कालसें आदि ले सदैव यतन करके स्वर देखना क्योंकी योगीजन कालको हटानेंके वास्ते यह स्वरका कर्म करतेहै ॥ १४५ ॥

श्रुत्योरंगुष्ठकौमध्यांगुल्यौनासापुटद्वये ॥
वदनप्रांतकेचान्यांगुलींदद्याच्चनेत्रयोः ॥१४६॥

अर्थ–कानोंमें दोनों अंगूठे देने और दोनों नासिकाके पुटोंमें मध्यकी दो अंगूली और मुखप्रांत, होठोंके बीचमें अन्य तर्जनी अंगुलीको और अन्य दो अंगुलीयोंको नेत्रोंमें लगाके ॥ १४६ ॥

अस्यांतस्तुपृथिव्यादितत्वज्ञानंभवेत्क्रमात् ॥
पीतश्वेतारुणश्यामैर्बिंदुभिर्निरुपाधिभिः ॥१४७॥

अर्थ–फिर इस समाधिके बीचमें क्रमसे पृथ्वी आदि तत्त्वोंका ज्ञान होताहै उपाधि रहित पृथ्वी १ पीत जल २

श्वेत तेज ३ लाल वायु ४ कालाबिंदूरूप वर्ण पृथ्वि आदि कोंका दिखताहै आकाशका चित्रविचित्र वर्ण दिखताहै १४७

दर्पणेनसमालोक्यतत्रश्वासंचानिःक्षिपेत् ॥
आकारैस्तुविजानीयात्तत्वभेदंविचक्षणः॥१४८॥

अर्थ—पंडितजन ऐसे समाधि त्याग, दर्पणमें मुखको देख श्वासको छोडै फिर इन आकारोसे पृथ्वी आदि तत्त्वोंका पहिचानें ॥ १४८ ॥

चतुरस्रंचार्द्धचंद्रंत्रिकोणंवर्तुलंस्मृतं ॥
बिंदुभिस्तुनभोज्ञेयासाकारैस्तत्वलक्षणं ॥१४९॥

अर्थ—चतुरस्र, त्रिकोण गोल, ऐसी बिंदुवोंके आकार दिखनेंसे आकाशतत्त्वका लक्षण जानना ॥ १४९ ॥

मध्येपृथ्वीअधश्चापश्चोर्ध्वेवहतिचानलः ॥
तिर्यग्वायुप्रवाहश्चनभोवहतिसंक्रमे ॥ १५० ॥

अर्थ—मध्यमें वृथ्वी और नीचेको जल तथा ऊपरको अग्निस्वर वहताहै और वायुका तिरछा स्वर वहता है और दोनों स्वर मिलेहुए चलतेहों तो आकाशका स्वर जानना१५०

आपःश्वेताक्षितिःपीतारक्तवर्णोहुताशनः ॥
मारुतोनीलजीमूतआकाशःसर्ववर्णके ॥ १५१ ॥

अर्थ—जल श्वेतवर्णहै पृथ्वी पीलावर्णवालीहै अग्नी लाल-वर्णवालाहै वायु नीला मेघके समान वर्णवालाहै आकाश विचित्रवर्णवालाहै ॥ १५१ ॥

स्कंधद्वयेस्थितोवन्हिर्नाभिमूलेप्रभंजनः ॥
जानुदेशेक्षितितोयंपादांतेमस्तकेनभः ॥ १५२ ॥

अर्थ—अग्नि दोनों कंधोपर स्थितहै वायु नाभिके मूलमें

स्थितहै पैरोंके अंतमें जल स्थितहै और आकाश मस्तकमें स्थितहै ॥ १५२ ॥

माहेयंमाधुरंस्वादंकषायंजलमेवच ॥
तिक्तंतेजःसमीरोम्लआकाशःकटुकंतथा १५३॥

अर्थ—पृथ्वीतत्त्वका मधुर स्वादहै जल कसैलाहै अग्नि तत्त्व कडुवाहै वायुतत्त्व खट्टाहै आकाश कटुक मिरचसरीखा चर्चरा स्वादवालाहै ॥ १५३ ॥

अष्टांगुलंवहेद्वायुरनलश्चतुरंगुलः ॥
द्वादशांगुलमाहेयंषोडषांगुलवारुणः ॥ १५४ ॥

अर्थ—वायुका स्वर आठ अंगल वहताहै अग्नि स्वर चार अंगुल वहताहै पृथ्वीतत्त्व बारह अंगुलतक वहताहै जलका स्वर सोलाह अंगुल वहताहै ॥ १५४ ॥

ऊर्ध्वंमृत्युरधःशांतितिर्यगुच्चाटनंतथा ॥
मध्येस्तंभंविजानीयात्सर्वत्रनभमध्यमम् ॥१५५॥

अर्थ—ऊपरके स्वर चले तो मृत्यु नीचेको चले तो शांति तिरछा चले तो उच्चाटन मध्यमें स्वर चले तो स्तंभ रोकना ये कार्य करनें और आकाशतत्त्व सब तर्फसे मध्यमहै १५५

पृथिव्यांस्थिरकर्माणिचरकर्माणिवारुणे ॥
तेजसिक्रूरकर्माणिमारणोच्चाटनेनिले ॥ १५६ ॥

अर्थ—पृथ्वीके स्वरमें स्थिरकर्म और जलके स्वरमें चरकर्म करै अग्नितत्त्वमें क्रूरकर्म और मारण उच्चाटन, कर्म वायुतत्त्वमें करै ॥ १५६ ॥

व्योम्निकिंचिन्नकर्तव्यमभ्यसेद्योगसेवनम् ॥
शून्यतासर्वकार्येषुनात्रकार्याविचारणा ॥१५७॥

अर्थ—आकाशतत्त्वके स्वरमें कछु शुभऽशुभ कार्य न करै किंतु योग सेवनका अभ्यास करै इस तत्त्वमें सब कार्योंमें शून्यता होतीहै इसमें कछु विचार न करना ॥ १५७ ॥

चिरंलाभेक्षितेर्ज्ञेयस्तत्क्षणात्तोयतत्वतः ॥ हानिस्थावन्हिवाताभ्यांनभसोनिःफलोभवेत् ॥१५८॥

अर्थ—पृथ्वीतत्त्व वहता हो तो चिरकालमें लाभहो जलतत्त्वमें तात्काल सिद्धि होतीहै अग्नि और वायु तत्वमें हानि, आकाशतत्वमें निष्फल कार्य जानना ॥ १५८ ॥

पीतःशनैर्मध्यवाहीहनुर्यावद्गुरुध्वनिः ॥
कवोष्णःपार्थिवोवायुःस्थिरकार्यप्रसाधकः १५९

अर्थ—पीतबर्ण और शनै २ तथा मध्यम चलनेंवाला ठोडीपर्यंत भारा शद्ववाला कछुक गरम २ ऐसा पृथ्वीका स्वरास्थिर कार्यको सिद्धकरनेंवाला कहाहै ॥ १५९ ॥

अधोवाहीगुरुध्यानःशीघ्रगःशीतलःसितः ॥
यःषोडशांगुलोवायुःसआपःशुभकर्मकृत् १६०॥

अर्थ—नीचेको वहनेंवाला भाराशद्ववाला शीघ्रचलनेंवाला शीतल सफेदवर्णवाला और सोलह अंगुलपर्यंत जिसका प्रवाह हो ऐसा जलतत्वका स्वर स्थिर कार्यको सिद्धकरनें-वाला कहाहै ॥ १६० ॥

आवर्तगश्चात्युष्णश्चशोणाभश्चतुरंगुलः ॥
ऊर्ध्ववाहीचयःक्रूरकर्मकारीसतैजसः ॥ १६१ ॥

अर्थ—भौं हरीसाके चलनेंवाला लालवर्णवाला चार अंगुलतक उपरको प्रवाहवाला ऐसा अग्नितत्त्वका स्वर क्रूर-कर्मोंको करनेंवाला कहाहै ॥ १६१ ॥

उष्णःशीतःकृष्णवर्णःतिर्यग्गामीचाष्टांगुलः ॥

वायुःपवनसंज्ञोयंचरकर्मसुसिद्धिदः ॥ १६२ ॥

अर्थ—जो गरम और टंडाहो कृष्णवर्णहो आठ अंगुलतक तिरछा चले ऐसा यह वायुका स्वर चरकर्मोंविषे सिद्धिदायकहै ॥ १६२ ॥

यःसमीरंसमरसःसर्वतत्वगुणावहः
अंबरंतंविजानीयाद्योगीनांयोगदायकं १६३

अर्थ—जो स्वर समान रसहो और सब तत्त्वोंके गुणको वहै वह आकाशस्वर होताहै वही योगियोंको योगका दाताहै १६३

तथापीतःश्चतुःष्कोणंमधुरंमध्यमाश्रितं ॥
भोगदंपार्थिवंतत्वंप्रवाहेद्वादशांगुलं ॥ १६४ ॥

अर्थ—पितवर्णवाला तथा चतुष्कोण होवे मधुरहो मध्यमें वहताहो बारह अंगुलतक जिसका प्रवाहहो ऐसा पृथ्वीका तत्व भोगदेनेंवालाहै ॥ १६४ ॥

श्वेतमर्द्धेंदुसंकाशंस्वादुःकाषायमार्द्रकं ॥
लाभकृद्वारुणंकृत्वंप्रवाहेषोडशांगुलं ॥ १६५ ॥

अर्थ—सफेद आधाचंद्रमाके समान आकारवाला कसैला, गीला ऐसा वरुणका तत्व लाभकार कहै वह सोलह अंगुल पर्यंत प्रवाहवालाहै ॥ १६५ ॥

नीलंचवर्तुलाकारंस्वाद्वम्लंतिर्यगाश्रितं ॥
चपलंमारुतंतत्वंप्रवाहेष्टांगुलंस्मतं ॥ १६६ ॥

अर्थ—नीलवर्ण गोल आकार स्वादुसहित खटा तिरछा चलनेंवाला चपल आठ अंगुल प्रवाहवाला ऐसा वायुका स्वर जानना ॥ १६६ ॥

वर्णाकारंस्वादुवाहंअव्यक्तंसर्वगामिनां ॥

मोक्षदंनाभसंतत्वंसर्वकार्येषुनिःफलं ॥ १६७ ॥

अर्थ–जिसके वर्णआकार स्वाद ये प्रकट नहींहों ऐसे आकाशतत्वको मोक्षको देनेंवालेको पहिचाने यह सब कार्यों में निष्फलहै ॥ १६७ ॥

पृथ्वीजलेशुभेतत्वेतेजोमिश्रफलोदयं ॥
हानिमृत्युकरौपुंसामशुभौव्योममारुतौ ॥१६८॥

अर्थ–पृथ्वी और जल ये दोनों तत्व शुभहैं अग्नितत्व मध्यमफल देताहै और आकाश तथा वायुतत्व पुरुषोंकिं हानि तथा मृत्यु करनेंवाले है ॥ १६८ ॥

आपूर्वंपश्चिमेपृथ्वीतेजश्चदक्षिणेतथा ॥
वायुश्चोत्तरदिग्ज्ञेयोमध्यकोणगतंनभः ॥ १६९ ॥

अर्थ–पूर्वसे लेके पश्चिमतक पृथ्वीतत्वहै अग्नितत्व दक्षिण दिशामें जानना आकाशतत्व मध्यकोणमें जानना ॥ १६९ ॥

चंद्रेपृथ्वीजलेस्यातांसूर्येचाग्निर्यदाभवेत् ॥
तदासिद्धिर्नसंदेहोसौम्यासौम्येषुकर्मसु ॥१७०॥

अर्थ–चंद्रमाके स्वरविषें पृथ्वी और जलतत्व वहताहो सूर्यके स्वरमें अग्नितत्व वहताहो तब सौम्य और क्रूर कर्मोविषें सिद्धि जाननी इसमें संदेह नहीं ॥ १७० ॥

लाभपृथ्वीकृतोस्यान्हिशायांलाभकृज्जलं ॥
वन्हौमृत्युःक्षयंवायौनभस्थानंदहेत्क्वचित्॥१७१॥

अर्थ–पृथ्वीतत्व चले तो दिनमें लाभ होवे रात्रीमें जलतत्व चले तो लाभ होय अग्नितत्वमें मृत्यु वायुतत्वमें क्षय और आकाशतत्वमें कभी स्थानका दाहभी होजाताहै१७१

जीवितव्येजयेलाभेकृष्यांचधनकर्मणि ॥

मंत्रार्थेयुद्धप्रश्नेचगमनागमनेतथा ॥ १७२ ॥
आयातिवारुणेतत्वेतत्रशत्रुःशुभाक्षितौ ॥
प्रयातिवायुतोन्यत्रहानिमृत्युनभोनले ॥ १७३ ॥

अर्थ–जीवन, जय लाभ रेवती धनका कर्म मंत्र युद्ध, गमन आगमन इन कार्योंमें जलतत्व चलता हो तो शत्रुका आगमन जानै पृथ्वीतत्व चलता हो तो शुभफल होय वायु तत्व होय तो शत्रु अन्यजगंह चलाजाय आकाश और अग्नि तत्व होय तो हानी तथा मृत्यु होय ॥ १७२ ॥ १७३ ॥

पृथिव्यांमूलचिंतास्यात्जीवस्यजलवातयोः ॥
तेजसिधातुचिंतास्यात्शून्यमाकाशतोवदेत्१७४

अर्थ–पृथ्वीतत्वमें मूलचिंता जाननी जल तथा वायुतत्वमें जीवचिंता अग्नितत्व चलता हो तो धातुचिंता कहनी आकाशतत्व होय तो, शून्य कछु चिंता नहींहै ऐसा जानना ॥१७४॥

पृथिव्यांबहुपादास्युर्द्विपदस्तायेवायुतः ॥
तेजसिचचतुष्पादोनभसिपादवर्जितः ॥ १७५ ॥

अर्थ–पृथ्वीतत्व चलता होय तो बहुत पैरवालोंकी चिंता जाननी जलतत्वमें दो पैरवाले जीवकी चिंता जलतत्वमें चौपाये पशुकी चिंता और आकाशतत्वमें पैर रहित वस्तुकी चिंता जानना ॥ १७५ ॥

कुजोवन्हीरविःपृथ्वीसौरीरायःप्रकीर्तितः ॥
वायुस्थानस्थितोराहुर्दक्षरंध्रप्रवाहकाः ॥ १७६ ॥

अर्थ–दक्षिण स्वरके प्रवाहविषें अग्नितत्वमें मंगल और पृथ्वीतत्वमें सूर्य जलतत्वमें शनिश्चर और वायुतत्वमें राहु जानना ॥ १७६ ॥

जलंचंद्रोबुधःपृथ्वीगुरुर्वातःसितोनलः ॥

वामनाड्यांस्थिताःसर्वेसर्वकार्येषुनिश्चितां १७७

अर्थ–और बायां स्वर चलता हो तब जलतत्वमें चंद्रमा पृथ्वीतत्वमें बुध वायुमें बृहस्पति अग्नितत्वमें शुक्र जानना ये सब ग्रह संपूर्ण कार्योंमें इसी प्रकारसे इन तत्वोंमें निश्चय रहतेहैं ॥ १७७ ॥

प्रवासिप्रश्नआदित्येयदिराहुर्गतानिले ॥
तदासौचलितोज्ञेयःस्थानांतरमपेक्षिते ॥ १७८ ॥

अर्थ–कोई परदेशमें गयाहो उसका प्रश्न करे तहां प्रश्न समय सूर्यके स्वरमें राहु स्थित होवे तो वह परदेशी पुरुष पहिले स्थानसे चलदिया और दूसरी जगंह गया चाहताहै ऐसा जानना ॥ १७८ ॥

आयातिवारुणेतत्वेतत्रेवास्तिशुभंक्षितौ ॥
प्रवासीपवनेन्यत्रमृत्युरेवानलेवदेत् ॥ १७९ ॥

अर्थ–और जलके तत्व चलते समय प्रश्न करै तो परदेशी शीघ्रही आवे पृथ्वीतत्वमें शुभ फलहै वायुतत्व हो परदेशी अन्यजगंह गया जानना अग्नितत्वमें मृत्यु जाननी इसमें संदेह नहींहै ॥ १७९ ॥

पार्थिवेमूलविज्ञानंजीवज्ञानंजलेतथा ॥
आग्नेयांधातुविज्ञानंव्योम्निशून्यंविनिर्दिशेत् १८०

अर्थ–पृथ्वीतत्वमें मूलचिंता जाननी जलतत्वमें जीवचिंता अग्नितत्वमें धातुचिंता आकाशतत्वमें सून्य कछु चिंता न जाननी ॥ १८० ॥

तुष्टिपुष्टीरतिक्रीडाजयहास्यधराजले ॥
तेजोवायोश्वसुप्ताख्योज्वरकंपःप्रवासिनः॥१८१॥

अर्थ–परदेशीके प्रश्नसमय पृथ्वी वा जलतत्व होवे तो

तुष्टि पुष्टि रमण क्रीडा विजय हास्य यह फलहै अग्नि वा वायुतत्व होवे तो सुस्ती आदि रोग ज्वर कंप ये परदेशीके जाननें ॥ १८१ ॥

गतायुर्मृत्युराकाशेतत्वस्थानेप्रकीर्तिताः ॥
द्वादशैताःप्रयत्नेनज्ञातव्यादैशिकैःसदा ॥१८२॥

अर्थ—आकाशतत्वमें आयुरहित परदेशीकी मृत्यु कहना ऐसे ये बारह प्रश्न स्वरोदयके देशकालको जाननेंवालोंने यतनसे तत्वोंके स्थानपर कहेहै ॥ १८२ ॥

पूर्वायांपश्चिमेयाम्येउत्तरस्यांयथाक्रमं ॥
पृथिव्यादीनिभूतानिबलिष्ठानिविनिर्दिशेत्१८३

अर्थ—पूर्व, पश्चिम दक्षिण उत्तर इन दिशाओंमें पृथ्वी आदितत्व यथाक्रमसे बलिष्ठ कहेहै ॥ १८३ ॥

पृथिव्यापःस्तथातेजोवायुराकाशमेवच ॥
पंचभूतात्मकोदेहोज्ञातव्यश्चवरानने ॥ १८४ ॥

अर्थ—हेवरानने, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ऐसे क्रमसे कहै इन पांचतत्वोंकाही शरीर जानना ॥ १८४ ॥

अस्थिमांसंत्वचानाडीरोमंचैवतुपंचमं ॥
पृथ्वीपंचगुणाप्रोक्ताब्रह्मज्ञानेनभाषितं ॥ १८५ ॥

अर्थ—हड्डी मांस त्वचा नाडी पांचवा रोम ऐसे इन पांच गुणोंवाली पृथ्वी कहीहै यह ब्रह्मज्ञानियोंका कथनहै॥१८५॥

शुक्रशोणितमज्जाश्चमूत्रंलालंचपंचमम् ॥
आपःपंचगुणाःप्रोक्ताब्रह्मज्ञानेनभाषितम् ॥१८६

अर्थ—वीर्य शोणित, स्त्रीका रज, मज्जा मूत्र पांचवा लाल ये पांच गुण जलके है ऐसा ब्रह्मज्ञानियोंका कथनहै ॥ १८६ ॥

क्षुधातृषातथानिद्राकांतिरालस्यमेवच ॥
तेजःपंचगुणंप्रोक्तंब्रह्म० ॥ १८७ ॥

अर्थ—क्षुधा, तृषा, निद्रा कांति, आलस्य ये पांच गुण अग्निके है ऐसा ब्रह्मज्ञानियोंका कथनहै ॥ १८७ ॥

धावनंचलनंगंधंसंकोचनप्रसारणे ॥
वायोःपंचगुणाःप्रोक्ताब्रह्म० ॥ १८८ ॥

अर्थ—भाजना चलना, गंध, सुकडना फैलना ये पांच गुण वायुकेहै ॥ १८८ ॥

रागद्वेषस्तथालज्जाभयमोहश्चपंचमः ॥
नभपंचगुणंप्रोक्तंब्रह्मज्ञानेनभाषितं ॥ १८९ ॥

अर्थ—रागद्वेष लज्जा भय, पांचवा मोह ये पांचगुण आकाशके है ऐसा ब्रह्मज्ञानियोंका कथनहै ॥ १८९ ॥

भूम्याःपलानिपंचाशच्चत्वारिंशदपस्तथा ॥
अग्नेस्त्रिंशत्पुनर्वायोर्विंशतिर्नभसोदश ॥ १९० ॥

अर्थ—शरीरमें पृथ्वी पचाश पल प्रमाणहै जल ४० पल है अग्निका तीस पल प्रमाणहैं वायु वीस पल और आकाश दश पल प्रमाणहै ॥ १९० ॥

पार्थिवेचिरकालेचलाभश्चापंक्षणाद्भवेत् ॥
जायतेपवनात्स्वल्पःसिद्धयोथग्नौविनश्यति १९१

अर्थ—पृथ्वीतत्वमें बहुत कालमें लाभ होवे जलतत्वमें तात्काल वायुमें स्वल्प लाभ अग्नितत्वमें सिद्धहुआ कार्यभी नष्ट हो जाताहै ॥ १९१ ॥

पृथ्व्याःचअपांदागुणास्तेजोवेद्विवायुतः ॥
नभएकगुणंचैवतत्वज्ञानामिदंभवेत् ॥ १९२ ॥

अर्थ–पृथ्वीके रूप, आदि, पांचगुणहै जलके चार गुणहै अग्निके दो गुण और आकाश एकही गुणवाला है ऐसे यह तत्वज्ञानहै ॥ १९२ ॥

फूत्कारकृत्प्रस्फुटिताविदीर्णापतिताधरा ॥
ददातिसर्वकार्येषुअवस्थाशदृसंफलं ॥ १९३ ॥

अर्थ–फूत्कार करनेंवाली फूटी हुई फटीहुई गिरीहुई ऐसी पृथ्वी है सो सब कार्योंमें अवस्थाके सदृश फल देतीहै१९३

धनिष्ठारोहिणीज्येष्ठानुराधाश्रवणस्तथा ॥
अभिजीच्चोत्तराषाढापृथ्वीतत्वमुदाहृतम्॥१९४॥

अर्थ–धनिष्टा रोहिणी ज्येष्ठा अनुराधा श्रवण अभिजित् उत्तराषाढा ये नक्षत्र पृथ्वीतत्वहै ॥ १९४ ॥

पूर्वाषाढातथाश्लेषामूलमार्द्राचरेवती ॥
उत्तराभाद्रपदाचैवजलंशतभिषाप्रिये ॥ १९५ ॥

अर्थ–हे प्रिये, पूर्वाषाढा आश्लेषा मूल आर्द्रा, रेवती उत्तरा भाद्रपदा शतभिषा ये जलतत्वहै ॥ १९५ ॥

भरणीकृत्तिकापुष्येमघापूर्वाचफल्गुनी ॥
पूर्वाभाद्रपदास्वातीतेजस्तत्वमितिप्रिये ॥१९६॥

अर्थ–हे प्रिये भरणी कृत्तिका पुष्य मघा पूर्वाफाल्गुनी पूर्वाभाद्रपदा स्वाती ये अग्नितत्वहै ॥ १९६ ॥

विशाखोत्तरफल्गुन्यौहस्तचित्रेपुनर्वसु ॥
अश्विनीमृगशीर्षेचवायुस्तत्वमुदाहृतं ॥ १९७ ॥

अर्थ–विशाखा उत्तराफाल्गुनी हस्त चित्रा पुनर्वसु अश्विनी मृगशिर ये वायुतत्व कहतेहै ॥ १९७ ॥

वहन्नाडीस्थितोदूतोयत्पृच्छतिशुभाशुभं ॥

तत्सर्वसिद्धिदंप्रोक्तंशून्येशून्येनसंशयः ॥ १९८ ॥

अर्थ–जो नासास्वर चलताहो उसीतर्फ कोई दूत आयकेबैठे अथवा जो शुभाशुभफल पूछे वह संपूर्ण सिद्ध होता है और शून्यनाडीकीतर्फ बैठे शून्यफलजानना इसमेंसंदेहनहीं१९८

तत्वेरामोजयंप्राप्तःसुतत्वेचधनंजयः ॥
कौरवानिहताःसर्वेयुद्धेतत्वविपर्यतः ॥ १९९ ॥

अर्थ–शुभतत्वमें रामचंद्र विजयपाये शुभतत्वमेंहीं अर्जुन विजयपाये और तत्वोंकेहीं विपरीतसे सब कौरव युद्धमें मारेगये ॥ १९९ ॥

जन्मांतरायसंस्कारात्प्रसादादथवागुरोः ॥
केनविज्ञायतेतत्वेवासनातिमलात्मना ॥२००॥

अर्थ–पूर्वजन्मके संस्कारसे अथवा गुरुकी प्रसन्नतासे कीन्हींक शुद्ध अंतःकरणवालोंको तत्वज्ञानकी वासना बोध होता है ॥ २०० ॥

॥ अथपंचतत्वध्यानं ॥

लंबीजंधरणीध्यायेचतुरस्रंतुपीतभं ॥
सुगंधंस्वर्णवर्णत्वंआरोग्यंदेहलाघवं ॥ २०१ ॥

अर्थ–लं, ऐसाबीजको पृथ्वी तत्वरूप ध्यान करै पृथ्वीको चकोर और पीतवर्णवाली चितवनकरै और सुंदर गंधयुक्त तथा सुवर्णसरीखी कांतिका ध्यान करै ॥ ऐसे इसका ध्यान करने वालेको शरीरके हलकापनकी प्राप्ति होती है ॥२०१॥

वंबीजंवारुणंध्यायेतअर्धचंद्रंशशिप्रभं ॥
क्षुतृषादिहिमुख्यत्वंजलमध्येचमज्जनं ॥ २०२ ॥

अर्थ–वं, ऐसे इस बीजको जलतत्वरूप ध्यावे और आधाचंद्रमाके समान आकारवालो ध्यावै ऐसे इसका ध्यान

करै इसका ध्यान करनेंवाला पुरुष क्षुधा तृषाको सहै जलमें गोतामार डूबके रहनेंकी सामर्थ्यवाला होवे ॥ २०२ ॥

रंबीजंशिखिनंध्यायेत्त्रिकोणमरुणप्रभं ॥
बव्हन्नपानभोक्तृत्वंमातयाग्निसहिष्णुता ॥२०३

अर्थ—रंबीजको अग्निसे उत्पन्नहुवेको त्रिकोण और लालवर्णवालेको ध्यावे इस्से बहुत खानापिना घाम अग्नि आदिका सहना हो सकताहै ॥ २०३ ॥

यंबीजंपवनंध्यायेद्वर्तुलंशामलप्रभं ॥
आकाशगमनाद्यंचपक्षिवद्गमनंतथा ॥ २०४ ॥

अर्थ—यं यह बीज वायुतत्वमें ध्यान करनेको योग्यहै गोल और श्यामवर्णवालाहै इस्से आकाशमें गमन आदी पक्षीकी तरंह उडना आदी होसकताहै ॥ २०४ ॥

हंबीजंगगनंध्यायेन्निराकारंबहुप्रभं ॥
ज्ञानंत्रिकालविषयमैश्वर्यमणिमादिकं ॥ २०५ ॥

अर्थ—हं, इस बीजको आकाशतत्वमें निराकार और बहुत कांतिवालेको ध्यावे इसके अभ्याससे त्रिकालकाज्ञान तथा अणिमा आदी आठ सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है ॥ २०५ ॥

स्वरज्ञानीनरोयत्रधनंनास्तिततःपरं ॥
गम्यतेस्वरज्ञानेनअनायासंफलंलभेत् ॥ २०६ ॥

अर्थ—जहां स्वरज्ञानीपुरुष होवे तहां उससे परै कोई धन नहीं है क्योंकि जो कोई स्वरके ज्ञानसे गमन कहताहै उसको परिश्रमके बिनाही फलकी प्राप्ति होतीहै ॥ २०६ ॥

॥ देव्युवाच ॥ देवदेवमहादेवमहाज्ञानंस्वरोदये ॥
त्रिकालंविषमंचैवकथंभवतिशंकर ॥ २०७ ॥

॥ इतिपंचतत्वध्यानं ॥

अर्थ–ऐसे सुन पार्वतीबोली हे देव देव महादेव आपनें जो यह स्वरोदय महाज्ञान कहा सो त्रिकाल विषय, भूत भविष्यत् वर्त्तमानके हालको कैसे माॡम कहताहै ॥ २०७ ॥

॥ अथयुद्धविजयः ॥

॥ ईश्वर० ॥ अर्थकालोजयप्रश्नशुभाशुभामितित्रिधा॥ सतुत्रिकालविज्ञानंनान्यद्भवतिसुंदरी २०८

अर्थ–शिवजी बोले, हें सुंदरी, प्रयोजनकी समय जयके प्रश्न शुभाशुभ ऐसे तीन प्रकारका ज्ञानहै सो यह तीन प्रकारका ज्ञान स्वरोदयके विना अन्य किसीसे नहीं होताहै ॥ २०८ ॥

॥ अथ युद्धविषयविचार ॥

तत्वेशुभाशुभंकार्यंतत्वेजयपराजयं ॥
तत्वेसमर्घमाहर्घंतत्वेत्रिपदमुच्यते ॥ २०९ ॥

अर्थ–तत्वमेंही शुभाशुभ कार्य तत्वमें जय पराजय तत्वमें सुभिक्ष दुर्भिक्षका विचारहै ऐसे त्रिपद तत्वहै अर्थात् इन तीनों कार्योंको पहिचाननें वाला कहा है ॥ २०९ ॥

॥ देव्युवाच० ॥ देवदेवमहादेवसर्वसंसारसागरे॥
किन्नराणांपरंमित्रंसर्वकार्यार्थसाधकं ॥ २१० ॥

अर्थ–पार्वती पूछतीहै. हे देवदेव महादेव, इस संसार सागरमें मनुष्योंका परम मित्र और सब कार्योंको सिद्ध करनेंवाला क्याहै ॥ २१० ॥

॥ ईश्वरउ० ॥ प्राणएवपरंमित्रंप्राणएवपरःसखा ॥
प्राणतुल्यपरोबंधुर्नास्तिनास्तिवरानने ॥ २११ ॥

अर्थ–शिवजी कहतेहै. प्राणही परममित्र है प्राणही परम सखाहै हे वरानने, प्राणोंके समान परे बंधुनहींहै॥ २११ ॥

॥देव्युवा०॥कथंप्राणस्थितोवायुःसदेहंप्राणरूप
कं॥ तत्वेषुसंचरन्प्राणोज्ञायतेयोगिभिःकथं २१२

अर्थ—पार्वती पूछतीहै, प्राणोंमें वायु कैसे स्थितहै और देह क्या प्राणरूपही है और तत्वों विषें विचरताहूआ प्राणवायुयोगीजनोंसे कैसे जाना जाताहै ॥ २१२ ॥

॥शंकरउ०॥कायानगरमध्येतुमारुतोरक्षपालकः॥
प्रवेशोदशभिःप्रोक्तोनिर्गमेद्वादशांगुलः॥२१३॥

अर्थ—शिवजी कहतेहै, इस शरीररूपी नगरमें वायु यह प्राण रक्षपाल चौकसी करनेंवाला है सो वह भीतरको प्रवेश होनेंके समय दश अंगुलका और बाहिर निकसनेंके समय बारह अंगुलका कहाहै ॥ २१३ ॥

गमनेतुचतुर्विंशन्नेत्रवेदास्तुधावने ॥
मैथुनेपंचषष्ठिश्चशयनेचशतांगुलम् ॥ २१४ ॥

अर्थ—और गमन समय चौविस अंगुल भाजनेंके समय बियालीस ४२ अंगुल मैथून करनेंके समय पैसट अंगुल सोनेंके समय सो१००अंगुल प्राणवायुकी गती जानना २१४॥

प्राणस्यतुगतिर्देविस्वभावाद्वादशांगुलम् ॥
भोजनेवमनेचैवगतिरष्टादशांगुलम् ॥ २१५ ॥

अर्थ—हे देवी, स्वभावसेही प्राणवायुकी गती बारह अंगुलकी है भोजन करनेंके समय तथा वमन करनेंके समय प्राणकी गती अठारह अंगुल हो जातीहै ॥ २१५ ॥

एकांगुलकृतेनूनंप्राणेनिष्कमतामता ॥
आनंदस्तुद्वितीयेस्यात्कविशक्तिस्तृतीयके २१६

अर्थ—जो यदि योगीजन प्राणाकी गती एक अंगुल कम करलेवे तो निष्कामताकी सिद्धि हो जाती है और दो

अंगुल कम करनेंसे आनंद प्राप्त होताहै तीन अंगुल कम करनेंसे कविताकी शक्ति हो जातीहै ॥ २१६ ॥

वाचासिद्धिःचतुर्थेश्चदूरदृष्टिस्तुपंचमे ॥
षष्ठेत्वाकाशगमनंचंढवेगश्चसप्तमे ॥ २१७ ॥

अर्थ-चारअंगुल कम करनेंसे वाणीकी सिद्धि और पांच अंगुल कम करनेंसे दूरतक दृष्टि पहुंचनी छह अंगुल कम करनेंसे आकाशमें गमन और सात अंगुलतक करनेंसे प्रचंड वेग हो जाताहै ॥ २१७ ॥

अष्टमेसिद्धयश्चाष्टौनवमेनिधयोनव ॥
दशमेदशमूर्तिश्चछायानैकादशेभवेत् ॥ २१८ ॥

अर्थ-आठ अंगुल कम करले तो अष्टसिद्धि और नव अंगुल कम करले तो नवविधि दश अंगुल कम करले तो दश प्रकारके रूप, और ग्यारह अंगुल कम करलेवे तो शरीरकी छायाका अभाव प्राप्त हो जाताहै ॥ २१८ ॥

द्वादशेहंसचारश्चगंगामृतरसंपिबेत् ॥
आनखाग्रंप्राणपूर्णेकस्यभक्ष्यंचभोजनं ॥ २१९ ॥

अर्थ-बारह अंगुलश्वास कमचले तोगंगामृतरूप रसको पीता है ऐसे मस्तकसे लेके नखपर्यंत जो योगी प्राणोंको पूर्ण करलेताहै उसको फिर भोजन करनेंकी कछु अपेक्षा नहीं रहतीहै ॥ २१९ ॥

एवंप्राणविधिःप्रोक्तःसर्वकार्यफलप्रदः ॥
ज्ञायतेगुरुवाक्येनाविद्याशास्त्रस्यकोटिभिः ॥ २२०

अर्थ-ऐसे सब कार्योंके फलको देनेंवाली प्राणविधि कहीहै इसका ज्ञान गुरुके वचनसे होताहै विद्या और करोडों शास्त्रोंसे नहीं होता ॥ २२० ॥

प्रातश्चंद्रोरविःसायंयदिदैवाच्चलभ्यते ॥
मध्यान्होमध्यरात्रेचपरतस्तुप्रवर्त्तते ॥ २२१ ॥

अर्थ–जो यदि दैवयोगसे प्रातःकाल चंद्रमा और सायं काल सूर्यस्वर न मिले तो मध्यान्हसे अथवा आधी रात्रीसे पीछे प्रवर्त्त होतेहै ॥ २२१ ॥

दूरयुद्धेजयीचंद्रःसमीपेतुदिवाकरः ॥
वहनाड्यांगतःपादंसर्वसिद्धिंप्रजायते ॥ २२२ ॥

अर्थ–दूर देशमें युद्ध करना होवे तो चंद्रमा विजयकारी है समीपदेशके युद्धादिकमें सूर्यविजयकारीहै और जौनसा-स्वर चलताहो उसी स्वरको आगे करके गमनकरे तो वह गमन सब सिद्धियोंको देनेवालाहै ॥ २२२ ॥

यात्रारंभेविवाहेचप्रवेशेनगरादिके ॥
शुभकार्येषुसर्वेषुचंद्रवारःप्रशस्यते ॥ २२३ ॥

अर्थ–यात्रारंभ विवाह नगर आदिका प्रवेश इत्यादिक शुभ कार्य चंद्रमाकास्वर चलतेसमय सिद्ध होतेहै ॥ २२३ ॥

अयनतिथिदिनेशस्वीयतत्वेअयुक्तेयदिवहति कदाचिद्दैहयोगेनपुंसां ॥ सजयतिरिपुसैन्यंस्तंभमात्रःस्वरेणप्रभवतिनचविघ्नंकेशवस्यापिलोके ॥ २२४ ॥

अर्थ–अयन, तिथि वार इनके स्वामियोंसे युक्त हुए आप-नें स्वरका तत्व जो यदि पुरुषोंके दैवयोगसे वहता होय तो वह पुरुष शत्रुकी सेनाको स्वरके स्तंभ रोकनेंसेही जीतता है और विष्णुके लोकमें प्राप्त होनेंविषेंभी उसकै विघ्न नहीं होताहै ॥ २२४ ॥

जीवंरक्षजीवंरक्षजीवांगेपरिधायच ॥
जीवोजयतियोयुद्धेजीवन्जयतिमेदिनी २२५॥

अर्थ-जो पुरुष जीवांग, हृदयको वस्त्रसे आच्छादितकर युद्धमें जीवंरक्ष जीवंरक्ष ऐसा जपताहै वह संपूर्ण पृथ्वीको जीत लेताहै ॥ २२५ ॥

भूमौजलेचकर्तव्यंगमनंशांतिकर्मतु ॥
वन्हौवायुप्रदीप्तेषुखेःपुनर्नोभविष्यति ॥२२६ ॥

अर्थ-शांतिके कर्मोंमें पृथ्वी वा आकाशतत्वमें गमन करै और क्रूर युद्ध आदिकर्मोंमें अग्नि तथा वायुतत्वके चलतेसमय गमन करै ॥ २२६ ॥

जीवेनशस्त्रंबध्नातिजीवेनैवविकाशयेत् ॥
जीवेनप्रक्षिपेच्छस्त्रंयुद्धेजयतिसर्वदा ॥ २२७ ॥

अर्थ-जीव करके शस्त्रको बांधै यानें जौ नासास्वर चलताहो उसही अंगमें शस्त्रको धारणकरै और जीवसे, जोनासास्वर चलताहो उसही हाथसे शस्त्रको खोले और उसहीसे शत्रुकेप्रति फेकैं वह पुरुष युद्धमें सदा जीतताहै ॥२२७॥

आकृष्यप्राणपवनंसमारोहेतवाहनं ॥
समुत्तरेत्पदंदद्यात्सर्वकार्याणिसाधयेत् ॥२२८॥

अर्थ-जो पुरुष प्राणवायुको ऊपरीको खींचके सवारी पैचढै और श्वास उनरते समय, रकाव, आदिपै पैर धरे वह सब कार्योंको साधताहै ॥ २२८ ॥

अपूर्णेशत्रुसामग्रीपूर्णेवास्वबलंयथा ॥
कुरुतेपूर्वतत्वस्थोजयत्येकोवसुंधरां ॥ २२९ ॥

अर्थ-खालीस्वरमें शत्रुकी सेना आदिसामग्री तैयार होवे और पूर्ण स्वरमें अपनी सेनाको तैयार करै ऐसे पूर्ण तत्वमें

स्थितहुआ पुरुष अकेलाही पृथ्वीको जीत लेताहै ॥ २२९ ॥

यन्नाडीवहतेचांगेतस्यामेवाधिदेवता ॥
सन्मुखोपिदिशातेषांसर्वकामफलप्रदा ॥२३०॥

अर्थ–शरीरमें जौनसीनाडी स्वर चलताहै और उसही नाडीमें नाडीका अधिपति देवताहो और तिनकी दिशा सन्मुख होय तो वह दिशा सब कामोंको सिद्ध करनेंवालीहै २३०

आदौतुक्रियतेमुद्रापश्चात्युद्धंसमाचरेत् ॥
सर्पमुद्राकृतायेनतस्यसिद्धिर्नसंशयः ॥ २३१ ॥

अर्थ–पहले तो मुद्राको करै पीछे युद्ध करै जो पुरुष सर्प मुद्रा करताहै उसकी सिद्धि होतीहै इसमें संदेह नहीं ॥२३१॥

चंद्रप्रवाहेप्यथसूर्यवाहेभटासमायांतीचयोद्धुकामाः॥ समीरणस्तत्वविदांप्रतोयाशून्येतिसातुप्रतिकार्यनाशम् ॥ २३२ ॥

अर्थ–चंद्रमाके स्वरमें अथवा सूर्यके स्वरमें शूर वीर योद्धायुद्ध करनेंको जातेहै तहां वायूतत्व, अथवा पूर्णस्वर चलताहुआ शुभहै ऐसे तत्ववेत्ताओंका निश्चयहै और खालीस्वर कार्यको नाश करनेंवाला कहाहै ॥ २३२ ॥

यांदिशंवहतेवायुर्युद्धंतद्दिशिदापयेत् ॥
जयत्वेवनसंदेहशक्रोपियदिचाग्रतः ॥ २३३ ॥

अर्थ–जिस दिशाको बांयी या दहिनी तर्फ वायुस्वर चलताहो उसी दिशामें युद्धकेवास्ते जावे तो यदि आगे इंद्र होवे तो उसकेभी जीतके आवताहै ॥ २३३ ॥

यत्रनाड्यांवहेद्वायुस्तदंगेप्राणमेवच ॥
आकृष्यगच्छेत्कर्णांतंजयत्येवपुरंदरम् ॥ २३४ ॥

अर्थ—जौनसास्वर चलताहो उसी अंगविषें प्राणको स्वरको कर्णपर्यंत खींचके गमनकरे तो युद्धमें इंद्रकोभी जीत सकताहै ॥ २३४ ॥

प्रतिपक्षप्रहारेभ्यःपूर्णांगंयोभिरक्षते ॥
नतस्यारिपुभिःशक्तिर्बलिष्ठैरपिहन्यते ॥ २३५ ॥

अर्थ—जो पुरुष युद्धमें शत्रुके प्रहारोंसे अपनें पूर्ण अंगकी रक्षा करताहै अर्थात् जो नासास्वर चलताहो उस अंगकी रक्षाकरताहै उसकी शक्ति, बलवाले शत्रुओंसेभी हत नहीं होती ॥ २३५ ॥

अंगुष्ठतर्जनीवंशेपादांगुष्ठेस्तथाध्वनिः ॥
युद्धकालेचकर्तव्यंलक्षयोद्धाजयीभवेत् ॥२३६ ॥

अर्थ—जो पुरुष युद्धके समय अंगुठा ओर तर्जनी अंगुलीकी पोरीविषें शब्द करै अथवा पैरोंके अंगूठेमें ध्वनि करै कुडकावे वह लाखों योद्धा ओंको जीतताहै ॥ २३६

निशाकरेरवौवारमध्येयस्यसमीरणः ॥
स्थितोरक्षेपिगंतानिजयकांक्षिमतस्तदा ॥ २३७

अर्थ—जिस पुरुषके चंद्रमाके स्वरमें अथवा सूर्यके स्वरमें वायुतत्व चलताहो उस समय जयकी इच्छा करनेंवाला पुरुष गमन करे तो सब दिशाओंकी रक्षा करताहै ॥ २३७ ॥

श्वासप्रवेशकालेचदूतोजल्पतिवांछितं ॥
तस्यार्थसिद्धिमायातिनिर्गमेनैवसुंदरि ॥२३८ ॥

अर्थ—हे सुंदरी, जिस मनुष्यके भीतरको श्वास प्रवेश होतेहुए कोई दूत उसकी वांछित बातको कहै तो उसका वह प्रयोजन सिद्ध होताहै और श्वासके निर्गमन समय कार्य सिद्ध नहीं होता ॥ २३८ ॥

लाभादिन्यपिकार्याणिपृष्टानिकथितानिच ॥
जीवेविंशतिसिद्ध्यंतिहानिर्निःसरणेभवेत्॥२३९

अर्थ—लाभआदिक संपूर्णही कहेहुए अथवा पूछेहुए कार्य स्वरप्रदेश होतेसमय सिद्ध होतेहै और स्वरके बाहिर निकसनेंके समय हानि होतीहै ॥ २३९ ॥

नरेदक्षास्वकीयाचस्त्रियांवामाप्रशस्यते ॥
कुंभकोयुद्धकालेचतिस्रोनाड्यःस्त्रयोगतिः॥२४०

अर्थ—पुरुषकै अपनी दहिनीनाडी और स्त्रीके बार्यीनाडी स्वर चलता शुभ कहाहै युद्धकालमें कुंभकनाडी श्रेष्ठहै ऐसे तीन नाडी है और इनकी गतिभी तीनही है ॥ २४० ॥

हकारस्यसकारस्यविनाभेदंस्वरःकथं ॥
सोहंहंसपदेनैवजीवोजयतिसर्वदा ॥ २४१ ॥

अर्थ—हकार और सकारके भेदविना स्वरज्ञान कैसे होवे किंतु सोहं, हंस, इन दोनों पदोंसेही जीव सदा जयको प्राप्त होता है ॥ २४१ ॥

शून्यांगंपूरितंकृत्वाजीवांगंगोपयेज्जयः ॥
जीवांगंघातमाप्नोतिशून्यांगंरक्षतेसदा॥ २४२॥

अर्थ—शून्यअंगको अर्थात् जो नासास्वर न चालताहो उसको पूर्ण करके जीवांगकी, अर्थात् जो स्वर पूर्ण चलताहो उस अंगविषें जयकी रक्षाकरे क्योंकि जीवांगमेंही घात प्राप्त होताहै और शून्य स्वरवाला अंग सदा रक्षा करताहै॥२४२॥

वामेवायदिवादक्षेयदिपृच्छतिपृच्छकः ॥
पूर्णेघातोनजायेतशून्येघातंविनिर्दिशेत्॥२४३॥

अर्थ—जो कोई दूत बायांस्वर चलते समय अथवा दहिनास्वर चलते समय युद्धकी बात पूछे तहां पूर्णस्वर चलताहो तो

घात न जानना और शून्य स्वर होवे तो घात बतलाना ॥२४३॥

भूतत्वेनोदरेघातःपदस्थानेंबुनाभवेत् ॥
उरस्थानेनितत्वेनकरस्थानेचवायुना ॥ २४४ ॥

अर्थ—पृथ्वीतत्व होवे तो उदरमें घात जलतत्व होय तो पैरमें घात अग्नितत्व होय तो जांघोंमें घात वायुतत्व होय तो हाथमें घात शस्त्र लगना बताहै ॥ २४४ ॥

सिरसिव्योमतत्वेवाज्ञातव्योघातनिर्णयः ॥
एवंपंचविधोघातःस्वरशास्त्रप्रकाशितः ॥ २४५ ॥

अर्थ—आकाशतत्व होय तो शिरमें घात जानना ऐसे पांच प्रकारका घात स्वरोदय शास्त्रमें कहाहै ॥ २४५ ॥

युद्धकालेयदाचंद्रःस्थायीजयतिनिश्चितं ॥
यदासूर्यप्रवाहस्तुयायीविजयतेतथा ॥ २४६ ॥

अर्थ—युद्धकालमें जो चंद्रमाका स्वर चलताहो तो निश्चय स्थायी अर्थात् अपनें देशमें स्थितहुआ राजा जीतताहै और सूर्यस्वर चलताहोवे तो यायी अपनें देशसे दूसरेके देशमें जाके युद्ध करनेंवाला जीतताहै ॥ २४६ ॥

जयमध्येतुसंदेहोनाडीमध्येतुलक्षयेत् ॥
सुषुम्नायगतःप्राणंसमरेशत्रुसंकटे ॥ २४७ ॥

अर्थ—जयके मध्यमें जीतनेंमें जो संदेह होवे तो मध्यकी नाडीको देखे जो यदि सुषुम्णा नाडी विषें प्राणवायु चलताहोय तो युद्धमें शत्रुको संकट होवे ॥ २४७ ॥

यस्यांनाड्यांभवेत्चारःतादृशंयुद्धसंश्रयेत् ॥
तदासौजयमाप्नोतिनात्रकार्याविचारणा॥२४८॥

अर्थ—जौनसी नाडी चलतीहोवे उसही दिशामें युद्धसम-

य खडा होना कि जैसे चंद्रमाकी पूर्व और उत्तरदिशा और सूर्यकी दक्षिण तथा पश्चिमपिशा कहींहै तिनमेंही खडा होनेंसे जयप्राप्त होता है इसमें संदेह नहीं है ॥ २४८ ॥

यदिसंग्रामकालेतुवामनाडीयदाभवेत् ॥
स्थापनोविजयंविंद्यात्रिपुवश्योदयोपिच ॥ २४९

अर्थ—जो यदि युद्धसमयमें बामनाडी चले तो युद्धमें स्थायी देशवासीका जय होवे और यायी परदेशसे आया- हुआ शत्रु वशमें होवे ॥ २४९ ॥

यदिसंग्रामकालेचसूर्यस्तुव्यावृतोवहेत् ॥
तदाजयीजयंविंद्यात्सदेवासुरमानवान् ॥ २५० ॥

अर्थ—और जो यदि युद्धकालमें निरंतर सूर्यकास्वर बहता होय तो यायी गमन करनेंवालेकीही देवता तथा असुर वा मनुष्योंमें जय होतीहै ॥ २५० ॥

रणेहरतिशत्रुस्तंवामायांप्रविशेन्नरः ॥
स्थानंविषवचाराभ्यांजयसूर्येणधावति ॥ २५१ ॥

अर्थ—जो मनुष्य बायांस्वर चलतेसमय युद्धमें प्रवेश हो. ता है उसको उसका शत्रु मार देताहै और सुषुम्णानाडी चलते समय गमन करनेंवालेको स्थान मिलताहै सूर्यके स्वर चलतेसमय विजय मिलताहै ॥ २५१ ॥

युद्धेद्वयेकृतेप्रश्नेपूर्वस्यप्रथमोजयः ॥
रिक्तेचैवद्वितीयेतुजयीभवतिनान्यथा ॥ २५२ ॥

अर्थ—यदि कोई दोजनोंके युद्धका एकही वार प्रश्णकरे तो पूर्णस्वर चलता होय तो पहलेकी जय और खालीस्वर चलता होय तो दूसरेकी जय बताना इसमें संदेह नहीं ॥ २५२ ॥

पूर्वानाडीगतःपृष्ठेशून्यांगंवदताग्रतः ॥

शून्यस्थानेकृतेशत्रुम्रियतेनात्रसंशयः ॥ २५३ ॥

अर्थ-जो यदी पूर्णस्वर चलतेहुए युद्धमें गमन किया जावे तो शत्रु पीड देके चलाजावे और शून्यनाडीके समय गमन कियाहो तो शत्रु सामनें आवे और शत्रूको शून्यस्थान जौनसा स्वर न चलताहो उस अंगकीतर्फ करे तो शत्रुको मृत्यु होताहै इसमें संदेह नहीं ॥ २५३ ॥

वामभागेसमंनामयस्यतस्यजयोभवेत् ॥
पृच्छकोदक्षिणेभागेविजयीविषमाक्षरः ॥ २५४ ॥

अर्थ-जो कोई बायींतर्फ बैठके सम अक्षरोंको उच्चारण करके प्रश्ण करै उसकी जय होतीहै और पृच्छक दहिनें भागमें स्थितहोके विषमअक्षर उच्चारण करे तो जय होवे२५४

यदापृछतिचंद्रस्थस्तदासंध्यांनमादिशेत् ॥
पृच्छद्यदातुसूर्यस्यतदाजानीहविग्रहः ॥ २५५ ॥

अर्थ-जो यदि प्रश्ण समय चंद्रमाका स्वर चलताहोय तो संधि मेल होवे सूर्यके स्वरमें प्रश्ण करे तो विग्रह युद्ध होना कहै ॥ २५५ ॥

पार्थिवेचसमंयुद्धंसिद्धिर्भवातिदारुणे ॥
युद्धेहितेजसीभंगोमृत्युर्वायोनभस्यापि ॥ २५६ ॥

अर्थ-जो यदि पृथ्वीतत्व होय तो बराबरयुद्ध होना कहै जलतत्वमें सिद्धि होवे अग्नितत्वमें अंगभंगआदि होना और वायु तथा आकाशतत्वमें मृत्यु होवे ॥ २५६ ॥

निमित्तकप्रसादाद्धायदानज्ञायतेनिलः ॥
पृच्छाकालेतदाकुर्यादिदंयत्नेनबुद्धिमान् २५७

अर्थ-जो यदि प्रश्णसमय किसी निमित्तसे अथवा प्रमा-

दसे स्वरका निश्चय ज्ञान नहीं होवे तो बुद्धिमान् जन यत-
नसे यह करे ॥ २५७ ॥

निश्चलांधारणांकृत्वापुष्पंहस्तान्निपातयेत् ॥
पूर्णांगेपुष्पपतनंशून्येचतत्परंभवेत् ॥ २५८ ॥

अर्थ—अचलधारण करके अपनें हाथसें पुष्पको पृथ्वीमें
गिरै पूर्णांग अर्थात् शरीरके सन्मुख पुष्पपडे तो शुभफल
कहै और दूर गिरे तो अशुभ फल मानना ॥ २५८ ॥

तिष्ठंत्युपविशन्वापिप्राणमाकर्णयन्निजं ॥
मनोभंगमकुर्वाणःसर्वकार्येषुजीवति ॥ २५९ ॥

अर्थ—खडा होताहुआ तथा बैठताहुआ अपनें प्राणोंको
एकाग्र मनसे भीतरको खींचताहुआ पुरुष सब कार्योंमें
जीवताहै अर्थात् शुभफलको प्राप्त होताहै ॥ २५९ ॥

नकालोविविधंघोरंनशस्त्रंनचपन्नगाः ॥
नशत्रुव्याधिचौराद्याःशून्यस्थंनाशितुक्षमाः २६०

अर्थ—काल अनेक प्रकारके घोर शस्त्र सर्प शत्रु व्याधि
चोर इत्यादि ये मब शुन्यमें स्थितहुए खालीस्वरवाले पुरु-
षको मारनेंमें समर्थ नहींहै ॥ २६० ॥

जीवेनस्थापयेद्वायुर्जीवेनारंभयेत्पुनः ॥
जीवेनक्रीडतोनित्यंद्यूतंजयतिसर्वथा ॥ २६१ ॥

अर्थ—जीवस्वरसे अर्थात् वहतेहुए स्वरसे वायुको स्थित
करै और जीवसेही वायुका आरंभ करै और जीव स्वरमेंही
क्रीडा जूवाआदिका प्रारंभ करै ऐसा पुरुष जूवामें नित्य
जीतताहै ॥ २६१ ॥

स्वरज्ञानीबलादग्रेनिष्फलंकोटिधाभवेत् ॥
इहलोकेपरत्रापिस्वरज्ञानीबलीसदा ॥ २६२ ॥

अर्थ–स्वरज्ञानीके बलके आगे अन्य किरोडों प्रकारकेभी बल निस्फल होजातेहै इस लोकमें तथा परलोकमेंभी स्वरज्ञानी पुरुष सदा बली रहताहै ॥ २६२ ॥

दशलक्षायुतंलक्षंदेशाधिपबलंकचित् ॥
शतक्रतुसुरेंद्राणांबलंकोटिगुणंभवेत् ॥ २६३ ॥

अर्थ–किसीको दश अथवा सौ किसीको दक्षहजार किसीको लक्षका बल रहताहै कहीं देशके राज्यका बलहै और इनसेभी किरोड गुना बल इंद्र तथा ब्रह्माआदि अन्य देवताओंके है तैसेही स्वरज्ञानीकोभी कोटिगुना बल रहताहै २६३

देव्यु० ॥ परस्परमनुष्याणांयुद्धेप्रोक्तोजयस्तथा ॥
यमयुद्धेसमुत्पन्नेमनुष्याणांकथंजयः ॥ २६४ ॥

अर्थ–पार्वती पूछती है आपनें मनुष्योंके परस्पर युद्धमें तो जय कहा और जब धर्मराजके संग मनुष्यका युद्ध होवे तब किस प्रकार जय होवे ॥ २६४ ॥

ईश्वर० ॥ ध्यायेदेवस्थिरोजीवंजुहुयाज्जावसंगमे ॥
इष्टसिद्धिर्भवेत्तस्यमहालाभोजयस्तथा ॥ २६५ ॥

अर्थ–शिवजी कहते है हेपार्वती जो मनुष्य स्थिर स्वस्थ होके देवका ध्यान करे पीछे जीव संगम अर्थात् कुंभक नाडीमें जीव स्वरका होमकरै उस मनुष्यके इष्टकी सिद्धि होती है महालाभ और जयकी प्राप्ति होती है ॥ २६५ ॥

निराकारात्समुत्पन्नंसाकारंसकलंजगत् ॥
तत्साकारंनिराकारंज्ञानेभवतितत्क्षणं ॥ २६६ ॥

अर्थ–निराकार ईश्वरसे संपूर्ण साकार जगत् उत्पन्न भयाहै सो वह साकार जगत् ईश्वरके ज्ञान होतेही तिसी क्षणमें निराकार होताहै अर्थात् संसारबंधनसें छूटताहै २६६

देव्यु० ॥ नरयुद्धंयमयुद्धंत्वयाप्रोक्तंमहेश्वर ॥
इदानींदेवदेवानांवशीकरणकंवद ॥ २६७ ॥

अर्थ-श्रीपार्वती बोली हे महादेवजी आपने मनुष्य युद्ध तथा यमयुद्धभी कहा अब देवताओंके देवोंकाभी उत्तम वशीकरण कहो ॥ २६७ ॥

ईश्वर० ॥ चंद्रसूर्येणचारुष्यस्थापयेज्जीवमंडलं ॥
आजन्मवशगारामाकथितेयंतपोधनैः ॥ २६८ ॥

अर्थ-शिवजी कहते हैं स्त्रीके चंद्रस्वरको अपनें सूर्यस्वर करके आकर्षण कर पीछे उसस्वरको जीव मंडलमें स्थित रखे तो जन्मभर पुरुषके वशमें स्त्री रहती है ऐसे तपस्वी लोगोंनें कहाहै ॥ २६८ ॥

जीवेनगृह्यतेजीवोजीवोजीवस्यदीयते ॥
जीवस्थानेगतोजीवोवालाजीवांतकारकः २६९

अर्थ-जो पुरुष अपने जीव स्वर अर्थात् चलतेहुये स्वरसे स्त्रीके जीव स्वरको ग्रहण करे और अपनें जीव स्वरको स्त्रीके जीवस्वरमें देवे ऐसे जीव स्थानमें प्राप्तहुआ जीव स्वर स्त्रीके जीवको वशमें करताहै ॥ २६९ ॥

रात्र्यांतयामवेलायांप्रसुप्तेकामिनीजने ॥
ब्रह्मजीवंपिवेद्यस्तुवालाप्राणहरोनरः ॥ २७० ॥

अर्थ-रात्रीके पिछले प्रहरमें जबकि स्त्री सोती होवे तब जो मनुष्य स्त्रीके ब्रह्मस्वर, सुषुम्नास्वरको अपने स्वरसे पीताहै वह स्त्रियोंके प्राणोंको वशमें कर लेताहै ॥ २७० ॥

अष्टाक्षरंजपित्वातुतस्मिन्कालेक्रमेसति ॥
तत्क्षणंदीयतेचंद्रोमोहमायातिकामिनी ॥ २७१

अर्थ—फिर वह कालव्यतीत हो लेवे तब अष्टाक्षर मंत्रको जपके तिसी क्षणमें अपना चंद्रस्वरको जो स्त्रीको देताहै उसके वशमें कामिनी होजाती है ॥ २७१ ॥

शयनेवाप्रसंगेवायुवत्यालिंगनेपिवा ॥
यत्सूर्येणपिबेच्चंद्रःसभवेन्मकरध्वजः ॥ २७२ ॥

अर्थ—शयनमें अथवा रतिसमय अथवा स्त्रीके आलिंगन समय जो पुरुष अपनें सूर्यस्वर करके स्त्रीके चंद्रस्वरको पीताहै वह कामदेवके समान स्त्रियोंको प्रिय होताहै॥ २७२ ॥

शिवोवालिंगतेशक्त्याप्रसंगेदक्षिणेपिवा ॥
तत्क्षणादापयेद्यस्तुमोहयेत्कामिनीशतं ॥ २७३

अर्थ—जो यदि रतिसमय शिव, सूर्यस्वर पुरुषका हो, स्त्रीका शक्ति चंद्रस्वर होवे ऐसे दोनुवोका स्वर मिलजाय अथवा स्त्रीके दहिनें स्वरमें अपनें चंद्रस्वरको प्रविष्ट करे ऐसा पुरुष सौ स्त्रियोंको तिसी क्षणमें मोह लेताहै ॥ २७३ ॥

सप्तनवत्रयःपंचवारात्संगस्तुसूर्यगे ॥
चंद्रेद्वितूर्यषट्कृत्वावश्याभवतिकामिनी ॥२७४॥

अर्थ—स्त्रीके सूर्यस्वरमें अपनें चंद्रस्वरको दियें पीछे जो सात वा नव तथा तीनवा पांचवार संग करै और स्त्रीके चंद्रस्वरमें अपनें सूर्यस्वरको करके दो चार छह वार संग करनेंसे स्त्री वशमें हो जाती है ॥ २७४ ॥

सूर्यचंद्रौसमाकृष्यसूर्याक्रांत्याधरोष्ठयोः ॥
कामिन्यास्तुमुखंस्पृष्ट्वावारंवारमिदंचरेत् ॥ २७५

अर्थ—अपने सूर्य तथा चंद्र स्वरको सर्पकी चालकी तरह आकर्षण कर अपनें मुखसे स्त्रीके मुखको अधरोष्ठोपर स्पर्श-

कर वारंवार इस आचरणको करे अर्थात् पूर्वोक्त प्रकारसे चंद्र और सूर्य स्वरका मेल करै ॥ २७५ ॥

आप्राणमितियमस्यया वन्निद्रावशंगता ॥
पश्चाज्जाग्रतवेळायांचोप्यतेगल्यचक्षुषी ॥ २७६

अर्थ–जवतक स्त्री निद्राके बशमें रहै तबतक उसके मुख पद्मका चुंबन करता रहै और जाय उठे उस समय नेत्र वा गलेका चुंबन करै ॥ २७६

अनेनविधिनाकामीवशयेत्सर्वकामिनी ॥
इदंनवाच्यमन्यस्मिन्नित्याज्ञापरमेश्वरी ॥ २७७॥

इतिवशीविकःप्रकरण ॥

अर्थ–इस विधिसे कामीपुरुष सब स्त्रियोंको वशमें करै हे परमेश्वरि यह वशीकारण किसीके आगे न कहना यह मेरी नित्य आज्ञा है ॥ २७७ ॥

॥ अथगर्भप्रकरणं ॥

ऋतुकालेभवेन्नारीपंचमेन्हियदाभवेत् ॥
सूर्यचंद्रमसोयोगेसेवनात्पुत्रसंभवः ॥ २७८ ॥

अर्थ–स्त्रीको ऋतुकाल, रजस्वला हुए पीछे जब पांचवा दिन आवे तव स्त्रीका चंद्र, बायांस्वर चलताहो और पुरुषका दहिना सूर्यस्वर चलताहो तब रतिकरनेंसे पुत्र उत्पन्न होताहै ॥ २७८ ॥

शंखवल्लीगवांदुग्धंपृथ्व्यापोवहतेयदा ॥
ऋतुस्नातापिबेन्नारीऋतुदानंतुयोजयेत्॥२७९॥

अर्थ–जिस समय ऋतुकालमें पृथ्वी और जलतत्त्व वह ताहो तब स्त्री ऋतुस्नान करके गौके दूधमें शंखवल्लीको पीवे पीछे पुरुष ऋतुदानदे वे भोग करै ॥ २७९ ॥

भर्तुरग्रेवदेद्वाक्यंभोगंदेहित्रिभिर्वचः ॥
रूपलावण्यसंपन्नोनरसिंहप्रसूयते ॥ २८० ॥

अर्थ—तहां भोगसमय स्त्री अपनें भर्तारसे तीन वार भोग मागनेंका वचन कहै ऐसे करनेंसें रूप लावण्यसंयुक्त मनुष्योंमें सिंहसरीखा पराक्रमी पुत्र उत्पन्न होताहै ॥ २८० ॥

सुषुम्णासूर्यवाहेनऋतुदानंतुयोजये ॥
अंगहीनःपुमान्यस्तुजायतेत्रासविग्रहः ॥२८१॥

अर्थ—जो मनुष्य सुषुम्णानाडीमें सूर्यके प्रवाहमें स्त्रीसंग करताहै उसके अंगहीन बुरेरूपवाला पुत्र उत्पन्न होताहै २८१

विषमांकेदिवारात्रोविषमांकेदिवाधिपः ॥
चंद्रतोषाग्नितत्वेषुवंध्यापुत्रमवाप्नुयात् ॥ २८३ ॥

अर्थ—ऋतुसमयके अनंत पांचआदि विषम दिनोंमें दिनमें अथवा रात्रीमें पुरुषका सूर्यस्वर चले और स्त्रीका चंद्रस्वरमें जल वा अग्नितत्व चलता होवे तब स्त्रीसंग करनेंसें वंध्याभी पुत्रको प्राप्त होती है ॥ २८२ ॥

ऋत्वारंभेरविःपुंसांस्त्रयींचैवसुधाकरः ॥
उभयोःसंगमेप्राप्तेवंध्यापुत्रमवाप्नुयात् ॥ २८३ ॥

अर्थ—ऋतुसमयमें पुरुषोंका सूर्यस्वर होवे और स्त्रियोंकों चंद्रस्वरहोवे तब दोनुवोंके संगम होनेंसे वंध्यास्त्रीभी पुत्रको प्राप्त होतीहै ॥ २८३ ॥

ऋत्वारंभेरविःपुंसांशुक्रांतेचसुधाकरः ॥
अनेनक्रमयोगेननादत्तेकामिनीतदा ॥ २८४ ॥

अर्थ—जो यदि स्त्रीसंग करतेहुए तो पुरुषका सूर्यस्वर चलता होवे और वीर्यपातके समय चंद्रस्वर चलनें लगजावे

तब इस क्रमयोगसे स्त्री गर्भको ग्रहण नहीं करतीहै ॥ २८४ ॥

चंद्रनाडीयदाप्रश्नेगर्भेकन्यातदाभवेत् ॥
सूर्योवहेत्तदापुत्रोद्वयोर्गर्भोविहन्यते ॥ २८५ ॥

अर्थ—जो कोई चंद्रस्वर चलतेहुए गर्भका प्रश्न करे उसके कन्या होती बतलावे सूर्यस्वर चलता होय तो पुरुष और दोनोस्वर सुषुम्णानाडी चलती होवे तो गर्भपात होना कहै ॥ २८५ ॥

चंद्रेस्त्रीपुरुषःसूर्येमध्यमार्गेनपुंसकः ॥
गर्भप्रश्नेतदादूतःपूर्णेपुत्रःप्रजायते ॥ २८६ ॥

अर्थ—प्रश्नसमय चंद्रस्वर चलता होय तो कन्या और सूर्यस्वर चलता होय तो पुत्र दोनों स्वर चलते होवे तो नपुंसक पैदा होता है परंतु जो यदि पूछनेवाला दूत पूर्ण, जौनसास्वर चलता हो उसी हाथकीतर्फ आयके वैठा हो तो पुत्र पैदा होवे ॥ २८६ ॥

पृथ्वीपुत्रीजलेपुत्रःकन्यकातुप्रभंजने ॥
तेजसागर्भपातस्यान्नभसापिनपुंसकः ॥ २८७ ॥

अर्थ—पृथ्वीतत्व चलता होवे तो पुत्रि और जलतत्व चलताहो तो पुत्र पैदा होवे और वायुतत्व चलता होवे तो कन्या अग्नितत्त्वमें गर्भपात और आकाशतत्त्वमें नपुंसक जानना ॥ २८७ ॥

शून्येशून्यंयुगेयुग्मंगर्भपातश्चसंक्रमे ॥
तत्वविद्भिस्समाख्यातमेवंज्ञेयंचसुंदरि ॥ २८८ ॥

अर्थ—हे सुंदरी शून्यस्वरमें शून्य और दो २ स्वर वहते होवे तो योग्य जोडा सुषुम्णानाडी वहती होतो गर्भपात ऐसे तत्त्ववेत्ताजनोंनें कहाहै ॥ २८८ ॥

गर्भाधानंमारुतेस्याच्चदुःखीविख्यातोवावारुणे सौख्ययुक्तः॥ गर्भस्रावीस्वप्नजीवीचवन्हौभोगी भव्योपार्थिवेनार्थयुक्तः ॥ २८९ ॥

अर्थ—जो यदि वायुतत्त्वमें गर्भाधान होवे तो दुःखवाला पुत्र होवे जलतत्त्वमें दिशाओंमें विख्यात और सुखसेयुक्त होताहै अग्नितत्त्वमें गर्भाधान होवे तो गर्भपात हो अथवा स्वल्प आयुवाला होवे पृथ्वीतत्त्वमें हो तो द्रव्य और भोग आदिसे युक्त रहनेवाला होवे ॥ २८९ ॥

धनवान्सौख्ययुक्तस्यभोगवानर्थसंस्थितिः ॥
स्यान्नित्यंवारुणेतत्वेव्योम्निगर्भेविनश्यति॥२९०

अर्थ—जलतत्वमें जो गर्भाधान हुआ हो वह बालक धनवान् सुखी भोगयुक्त होताहै और जो आकाशतत्वमें गर्भाधान हुआ हो वह गर्भ नष्ट हो जाताहै ॥ २९० ॥

माहेंद्रेसुसुतोत्पत्तिःवारुणेदुहिताभवेत् ॥
शेषेतुगर्भहानिस्याज्जातमात्रस्यवामृतिः ॥२९१॥

अर्थ—पृथ्वीतत्वमें गर्भाधान हो तो पुत्र उत्पन्न होवे जलतत्वमें कन्या और अन्य तत्वोंमें गर्भकी हानि होतीहै अथवा जन्मतेही मर जाताहै ॥ २९१ ॥

रविमध्येगतश्चंद्रश्चंद्रमध्येगतोरविः ॥
ज्ञातव्यंगुरुतःशीघ्रंनवेद्यंशास्त्रकोटिभिः ॥२९२॥

अर्थ—सूर्यस्वरमें चंद्रमाकी गति करनी और चंद्रस्वरमें सूर्यकी गति गुरुसे शीघ्रही सीखनी चाहिये यह बात किरोडों शास्त्रोंमें नहीं आती है ॥ २९२ ॥ इति गर्भप्रकरणम्॥

अथ संवत्सर प्रकरणम् ।

चैत्रशुक्लप्रतिपदिप्रातस्ज्ञात्वाविभेदतः ॥

पश्येद्विचक्षणोयोगीदक्षिणेउत्तरायणे ॥ २९३ ॥

अर्थ—चैत्रशुक्लपक्षकी प्रतिपदाको प्रातःकालसमय तत्वों-के भेदसे पंडितजन दक्षिणायन उत्तरायनको देखै अर्थात् वर्षदिनके हालको विचारै ॥ २९३ ॥

चंद्रोदयस्यवेलायांवहमानाथतावतः ॥
पृथिव्यापस्तथावायुःसुभिक्षंसर्वसस्यजं ॥२९४॥

अर्थ—जो यदि उससमय चंद्रस्वरमें पृथ्वी तत्व चलता हो अथवा जल तथा वायुतत्व चलता होय तो सुभिक्ष होवे संपूर्ण खेतीयां निपजैं ॥ २९४ ॥

तेजोव्योम्निभयंघोरदुर्भिक्षंकालतत्वतः ॥
एवंतत्वंकालज्ञेयंसर्वेमासेदिनेतथा ॥ २९५ ॥

अर्थ—अग्नि वा आकाशतत्व होवे तो घोर भह होय दु-र्भिक्ष होय ऐसेही वर्षमें तथा मास प्रवेशमें वा दिनमें तत्वोंके अनुसार फलोंको जानें ॥ २९५ ॥

मध्यमाभवतिक्रूरादुष्टासर्वत्रकर्मसु ॥
देशभंगमहारोगाःक्लेशकष्टादिदुःखदा॥ २९६ ॥

अर्थ—मध्यमा सुषुम्णानाडी क्रूर है सब कर्मोंमें दुष्ट है देश-भंग महारोग क्लेश कष्ट इत्यादिक दुःखोंको देनेंवाली है २९६

मेषसंक्रांतिवेलायांस्वरभेदंविचारयेत् ॥
संवत्सरफलंब्रूयात्लोकानांहितकाम्यया ॥२९७

अर्थ—और मेषसंक्रांतिके अर्क समयभी स्वरोंके भेद वि-चारै फिर लोगोंके हितकेवास्ते संवत्सरके फलको कहै२९७

पृथिव्यादिकतत्वेनदिनमासादिजंफलं ॥
शोभनंचतथादुष्टंव्योममारुतवन्हिभिः ॥ २९८ ॥

अर्थ—पृथ्वी आदि तत्वों मेसे महीने दिन आदि संपूर्ण वर्षका फल शुभ जाने और आकाश वायु अग्नि इन तत्वोंमें दुष्ट फल जानें ॥ २९८ ॥

सुभिक्षंराष्ट्रवृद्धिस्याद्बहुसस्यावसुंधरा ॥
बहुवृष्टिस्तथासौख्यंपृथ्वीतत्वंवहेद्यदि ॥ २९९ ॥

अर्थ—जो यदि पृथ्वीतत्व वहता होवे तो सुभिक्ष हो राज्यकी वृद्धि हो पृथ्वी पै बहुतसी खेती निपजै बहुतसी वर्षा और सुख होवे ॥ २९९ ॥

अतिवृष्टिसुभिक्षंस्यादारोग्यंसौख्यमेवच ॥
बहुसस्यंतथापृथ्वीआपतत्वंवहेद्यदि ॥ ३०० ॥

अर्थ—जलतत्व वहता हो तो अतिवर्षा होवे सुभीक्ष होय आरोग्य सुख होवे पृथ्वीपै बहुत धान्य निपजै ॥ ३०० ॥

दुर्भिक्षंराष्ट्रभंगंस्यादुत्पत्तिश्चविनश्यति ॥
अल्पाद्यल्पतरावृष्टिरग्नितत्वंवहेद्यदि ॥ ३०१ ॥

अर्थ—अग्नितत्व वहता होय तो दुर्भिक्ष हो राज्यभंग होवे उत्पन्न हुएकानाश बहुत थोडी वर्षा यह हाल होताहै ॥३०१॥

उत्पातोपद्रवाभीतिअल्पवृष्टिस्तुरीतयः ॥
मेषसंक्रांतिवेलायांव्योमतत्वंभवेद्यदि॥ ३०२ ॥
तत्रापिन्यूनताज्ञेयासस्यादीनांसुखस्यच॥३०३॥

अर्थ—जो यदि मेषसंक्रांतिके अर्क समय आकाशतत्व वहता होवे तो उत्पात उपद्रव भय स्वल्प वर्षा ईति अर्थात् तीडीमूंसे लगनें आदि छह विकार ये होते है और जो आकाशतत्व वहता हो तोभी उस वर्षमें खेतीआदिकोंका और सुखका अभाव जानना ॥ ३०२ ॥ ३०३ ॥

पूर्णप्रवेशनेश्वासेसुखंतत्वेनसिद्धिदा ॥
सूर्यचंद्रेन्यथाभूतेसंग्रहःसर्वेसिध्यतिः ॥ ३०४ ॥

अर्थ—पूर्णस्वर चलता होय तो तत्वोंके क्रमसे सस्यकी धान्यकी सिद्धि जानना और सूर्यका स्वरमें चंद्रमा तथा चंद्रमाके स्वरमें सूर्य ऐसे विपरीत चलनें लगजावें तो अन्नका संग्रह करनेंमें लाभ होताहै ॥ ३०४ ॥

विषमेवन्हितत्वेचेतज्ञायतेकेवलंनभः ॥
तत्कुर्याद्वस्तुसंग्राहोद्विमासेचमहर्घता ॥ ३०५ ॥

अर्थ—जो यदि विषम अर्थात् सूर्यस्वरमें अग्नितत्व अथवा केवल आकाशतत्व चलता होवे तो अन्नआदि वस्तुओंका संग्रह करना दो महीनोंमें मंहगी होवेंगी ॥ ३०५ ॥

रात्रोसंक्रमतेसूर्यश्चंद्रमंतेप्रसर्प्पति ॥
खानिलेवन्हियोगोपिरौरवंजगतीतले ॥३०६॥

॥ इति संवत्सरप्रकरणं ॥

अर्थ—जो यदि रात्रीको संक्रांतिअर्क होय तब सूर्यस्वर चलताहो और प्रातःकाल चंद्रस्वर चलताहो और इनमें आकाश वायु अग्नि ये तत्व वहते होवें तो पृथ्वीतलमें रौरव महादुःख अनर्थ होवें ॥ ३०६ ॥ इति संवत्सर प्रकरणम् ॥

॥ अथरोगप्रकरणं ॥

महीतत्वेस्वरोगंचजलेचजलमातरः ॥
तेजसिग्रामवाटीस्थशाकिनीपितृदोषतः॥३०७॥

अर्थ—प्रश्ण समय जो पृथ्वीतत्व चलता होवे तो उसकी प्रारब्धका रोग कहना जलतत्व वहता होवे तो जलकी मातृका देवता ओंका दोष जानना अग्नितत्व चलता होवे तो

ग्राम पर्वत आदिमें रहनेंवाली शाकिनी अथवा पितरोंका दोष बताना ॥ ३०७ ॥

आदौशून्यगतोदूतःपश्चात्पूर्णेविशेद्यदि ॥
मूर्छितेपिध्रुवंजीवेद्यदर्थंपरिपृछति ॥ ३०८ ॥

अर्थ–जो यदि पूछनेंवाला दूत पहले तो स्वर न चलता हो उस शून्य अंगकी तर्फ आय बैठा हो पीछे पूर्ण अंगकी तर्फ बैठे तो जिस रोगीका प्रश्ण किया हो वह मूर्छित हुआभी रोगी जीवताहै ॥ ३०८ ॥

यस्मिन्नंगेस्थितोजीवः तत्रस्थःपरिपृच्छति ॥
तदाजीवतिजीवोसौयदिरोगैरुपद्रुतः ॥ ३०९ ॥

अर्थ–जो यदि जिस अंगमें जीवस्वर स्थित हो उसी अंगकी तर्फ बैठके पूछे तोभी सेकडों रोग उपद्रवोंसे युक्त हुआभी रोगी जीवताहै ॥ ३०९ ॥

दक्षिणेनयदावायुर्दूतोरौद्राक्षरोवदेत् ॥
तदाजीवतिजीवेसौचंद्रेसमफलंभवेत् ॥ ३१० ॥

अर्थ–जो यदि दहिनास्वर चलता हो और दूत भयानक वचन बोले तो वह रोगी जीवेगा और चंद्रस्वर हो तोभी समान फल कहै ॥ ३१० ॥

जीवाकारंचवाधृत्वाजीवाकारंविलोक्यच ॥
जीवस्थोजीवितप्रश्नेतस्यस्याज्जीवितंफलं ॥ ३११

अर्थ–अथवा जोदूत जीवाकारको धारण करके और जीवाकारको देखकर जीवमें स्थित हुआ प्रश्ण करे तो उसको जीवनेंका फल कहै ॥ ३११ ॥

वामस्वरेतदादक्षःप्रवेशोयत्रवाहने ॥
तत्रस्थंपृच्छतेदूतःतस्यासिद्धिर्नसंशयः ॥ ३१२ ॥

अर्थ—वामास्वर अथवा दहिनास्वर जो भीतरको प्रवेश होते समय जो दूत प्रश्ण करै तो उस रोगीका आच्छाहोना जानना ॥ ३१२ ॥

प्रश्नेचाधःस्थितोजीवोनूनंजीवोहिजीवति ॥
उर्ध्वचारःस्थितोजीवोजीवोयातियमालयं ३१३

अर्थ—प्रश्ण समय स्वर नीचेको चलता हो तो अवश्य रोगी जीवताहै और स्वर ऊपरको संचारवाला होवे तो वह रोगी निश्चय धर्मराजके स्थानमें प्राप्त होताहै ॥ ३१३ ॥

विपरीताक्षरंप्रश्नेरिक्तायांपृच्छकोयदि ॥
विपर्ययंचविज्ञेयंविषमप्योदयेसति ॥ ३१४ ॥

अर्थ—जो यदि दूत प्रश्ण समय विपरीत अक्षर उच्चारणा करे और पूछनेंवाला रिक्तनाडीकी तर्फ स्थित हो और विषम सुषुम्णानाडीका प्रवाह होवे तो विपरीत फल जानना ३१४

चंद्रस्थानेस्थितोजीवःसूर्यस्थानेचपृच्छकः ॥
तदाप्राणविमुक्तोसौयादिवैद्यशतैर्वृतः ॥ ३१५ ॥

अर्थ—जो यदि अपना जीव प्राणवायु चंद्रमाके स्थानमें होवे और पृच्छकका सूर्य स्थानमें होवे तो सेंकडों वैद्योंसे युक्त हुआभी रोगी नहीं जीवता ॥ ३१५ ॥

पिंगलायास्थितोजीवेवामेदूतस्तुपृच्छति ॥
तदापिमृयतेरोगीयदित्रातामहेश्वरः ॥ ३१६ ॥

अर्थ—जो यदि पिंगलास्वर चलता हो और दूत वामें भागमें बैठा होवे तो शिवजी रक्षा करनेंवाला होय तोभी रोगी मरताहै ॥ ३१६ ॥

एकस्यभूतस्यविपर्ययेणरोगाभिभूतिर्भवतीहपुं

सां ॥ तयोर्द्वयोर्बंधुसुहृद्विपत्तिःपक्षद्वयेव्यत्यय तोमृतिस्यात् ॥ ३१७ ॥

अर्थ–एक तत्वके विपरीत होनेंसे पुरुषोंको रोग त्रास देताहै और दो तत्वोंके विपरीत होनेंसे बंधु मित्रोंकी विपत्ति होती है और एक महीनातक विपरीत तत्त्व रहें तों मृत्यु होती है ॥ ३१७ ॥ ॥ इति रोग प्रकरणम् ॥

॥ अथकालज्ञानं ॥

मासादौवत्सरादौचपक्षादौचयथाक्रमं ॥
क्षयकालंपरीक्षेतवायुचारवशात्सुधीः ॥ ३१८ ॥

अर्थ–पंडितजन महीनेकी आदिमें पक्षकी वर्षकी आदिमें क्रमसे स्वरचारके वशसे मरण समयकी परीक्षा करें ॥३१८॥

पंचभूतात्मकंदीपंशिवस्नेहेनसिंचितं ॥
रक्षेतसूर्यवातेनतेनजीवस्थिरोभवेत् ॥ ३१९ ॥

अर्थ–यह पंचभूतात्मक दीप देह शिवरूपी श्वासरूपी तेलसे सींचाहुआहै इसको सूर्यस्वर वायुसे जो रक्षित करताहै वह प्राणी स्थिर हुआ जीवताहै ॥ ३१९ ॥

मारुतंबंधयित्वातुसूर्यबंधयतेयदि ॥
अभ्यासाज्जीवतेजीवऽसूर्यकालेपिवंचिते ॥३२०

अर्थ–जो यदि प्राणवायुको बंधकरके दिनभर सूर्यस्वरके बंद करताहै ऐसे अभ्याससे सूर्य कालको टालनेंवाला वह योगी बहुत कालतक जीवताहै ॥ ३२० ॥

गगनात्स्रवतेचंद्रःकायापद्मानिसिंचयेत् ॥
कर्मयोगसदाभ्यासैरमरःशशिसंश्रयात् ॥३२१॥

अर्थ–ऐसे अभ्यासवाले योगीके चंद्रमा गगन अर्थात्

मस्तक मांहसे अमृतको गिराताहै फिर शरीररूपी कमलोंको सींचताहै ऐसे कर्मयोगके अभ्याससे चंद्रमाके आश्रय होनेसे योगी अमर होताहै ॥ ३२१ ॥

शशांकंवारयेद्रात्रौदिवावार्योदिवाकरः ॥
इत्यभ्यासरतोनित्यंसयोगीनात्रसंशयः ॥३२२॥

अर्थ–जो रात्रीमें चंद्रस्वरको निवारण करताहै और दिनमें सूर्यस्वरके निवारण करताहै ऐसे अभ्यासवाला जन उत्तम योगी है इसमें संदेह नहीं ॥ ३२२ ॥

अहोरात्रेयदैकत्रवहतेयस्यमारुतः ॥
तदातस्यभवेन्मृत्युःसंपूर्णेवत्सरद्वये ॥ ३२३ ॥

अर्थ–जिस पुरुषका श्वास राति दिन एकस्वरमेही चलता हो तो उसका मृत्यु तीन वर्षमें होवे ॥ ३२३ ॥

अहोरात्रेद्वयंयस्यापिंगलायांसदागतिः ॥
तस्यवर्षद्वयंप्रोक्तंजीवितंतत्ववेदिभिः ॥ ३२४ ॥

अर्थ–जिस पुरुषका श्वास दो दिनतक पिंगलानाडीमें रहै उसकी आयु तत्त्ववेत्ता जनोंनें दो वर्षकी कहीहै॥३२४॥

त्रिरात्रेवहतेयस्यवायुरेकपुटेस्थितः ॥
तदासंवत्सरायुष्यंप्रवदंतिमनीषिणः ॥ ३२५ ॥

अर्थ–तीन रात्रीतक जिसकी वायु एकही नासिकापुटमें वहै उसकी एक वर्षकी आयु पंडितजन कहतेहैं ॥ ३२५ ॥

रात्रौचंद्रोदिवासुर्योवहेयस्यानिरंतरं ॥
जानीयात्तस्यवैमृत्युःषण्मासाभ्यंतरेभवेत् ॥३२६

अर्थ–जिसकै निरंतर रात्रीमें चंद्रस्वर चले और दिनमें सूर्यस्वर चले उसकी छह महीनों भीतर मृत्यु जाननी३२६

लक्षंलक्षतिलक्षणेनसलिलंभानुर्यदादृश्यतेक्षीणे
दक्षिणपाश्चिमोत्तरपुरःषद्त्रिद्विमासैकृतः ॥
मध्येछिद्रमिदंभवेद्दशदिनंधूमाकुलंतद्दिनेसर्व
ज्ञैरपिभाषितंमुनिवरैराःयुप्रमाणंस्फुटं ॥ ३२७ ॥

अर्थ—कांसेके पात्रमें डालेहुए जलमें सूर्यका बिंब दिखानेंकी विधि कहतेहै—जिसको सूर्यका बिंब जलमे दक्षिण, पश्चिम, उत्तर पूर्व इन दिशाओंमें खंडित हुआ दीखे तो क्रमसे छह तीन दो एक महीनोंमें उसकी मृत्यु होतीहै और दित सूर्यबिंब के मध्यमें छिद्र दीखे तो दश दिनमेंमृत्यु हो धूमांसे आच्छा दित दीखे तो उसी दिन मृत्यु होवें ऐसे सर्व मुनिजनोंनें आयुका प्रमाण स्फुट कहा है ॥ ३२७ ॥

दूतोरक्तकषायकृष्णवसनोदंतक्षतोमुंडितोतैला
भ्यक्तशरीररज्जुककरीदीनश्चपूर्णाननः ॥ भस्मां
गारकपालपांशुमुसलीसूर्यास्तमायातियःशून्य
श्वासदिशिस्थितोगदयुतःकालानलःस्यादसौ ॥

अर्थ—जो यदि रोगीके प्रष्ण करनेंवाला दूत लाल, कषाय काले वस्त्र पहिनें हुए हो अथवा टूटे हुए दांतोवाला मुंडन करायें हुए तेल लगायें हुएहो अथवा हाथमें रस्सी ले रहा है दीन तथा जुवावदेनेंमें निपुण भस्म अंगार कपाल मूसल इनको ले रहा हो सूर्यअस्त होनेंके समय आवे और जो नसा स्वर न चलता हो उसतर्फ आयके बैठे रोगयुक्त ऐसा यह दूत काल अग्निके समान है ॥ ३२८ ॥

अकस्माच्चित्तविकृतिरकस्मात्पुरुषोत्तमः ॥
अकस्मादिंद्रियोत्पातःसंन्निपाताग्रलक्षणं॥३२९

अर्थ–जिस रोगीका अचानक चित्त बिगड जाय और अचानकसेही उत्तम पुरुष हो जाय अचानकही जिसके इंद्रियोंमें उत्पात हो तिसकै संन्निपातके पूर्वरूप लक्षण जानना ॥ ३२९ ॥

शरीरंशीतलंयस्यप्रकृतिर्विकृतीभवेत् ॥
तदारिष्टंसमासेनव्यासक्तस्तुनिबोधमे ॥ ३३० ॥

अर्थ–जिसका शरीर शीतल होवे और स्वभाव विगड जावे वह संक्षेपसे हुआ आरिष्ट विस्तार पूर्वक मुजसे सुनो ३३०

दुष्टशद्बेषुरमतेशुद्धशद्बेषुचाप्यति ॥
पश्चात्तापोभवेद्यस्यतस्यमृत्युर्नसंशयः ॥ ३३१ ॥

अर्थ–जो पुरुष दुष्ट खोटे २ शब्द कहै और शुद्ध, अच्छे शब्दभी कहै पश्चात्ताप करै ऐसा पुरुषकी मृत्यु होतीहै इसमें संदेह नहींहै ॥ ३३१ ॥

हुंकारःशीतलोयस्यफूत्कारोवन्हिसंनिभः ॥
महादाहोभवेद्यस्यतस्यमृत्युर्भवेत्ध्रुवं ॥ ३३२ ॥

अर्थ–जिसका हुंकार ठंढा होय और फुत्कार अग्निके समान हो उसकै महान् वैद्य रक्षा करनेंवाला हो तोभी निश्चय उसकी मृत्यु होतीहै ॥ ३३२ ॥

जिव्हांविष्णुपदंध्रुवंसुरपदंसन्मातृकामंडलमेता न्येवमरुंधतीममृतगुंशुक्रंध्रुवंवाक्षणम् ॥ एतेष्वे कमपिस्फूटंनपुरुषःपश्यत्पुरःप्रेषितःसोऽवश्यंविश तीहकालवदनंसंवत्सरादूर्ध्वतः ॥ ३३३ ॥

अर्थ–जोपुरुष जिव्हा आकाश ध्रुग, देवतोंका मार्ग मातृका मंडल अरुंधती चंद्रमा, शुक्र अगस्ति इनमांहसे एकको

कष्टसेभी नहीं देखे वह रोगी वर्ष दिनके अनंतर निश्चय मृत्युको प्राप्त होताहै ॥ ३३३ ॥

अरश्मिबिंबंसूर्यस्यवन्हेःशीतांशुमालिनः ॥
दृष्ट्वेकादशमासायुर्निश्चितोर्ध्वंनजीवति ॥३३४॥

अर्थ-जिस पुरुषको सूर्य चंद्रमाके बिंबकी किरण न दिखे और अग्निकोभी तेजरहित देखे ऐसा पुरुष ग्यारहमहीनें पीछे नहीं जीवता है ॥ ३३४ ॥

वाप्यांपुरीषमूत्रेयःसुवर्णंरजतंतथा ॥
प्रत्यक्षमथवास्वप्नेदशमासंनजीवति ॥ ३३५ ॥

अर्थ-जो मनुष्य सुपनेंमें अथवा जाग्रत अवस्थामें बावडीमें मलमूत्र चांदी सुवर्ण इनको देखे वह दश महीनेके अनंतर नहीं जीवता है ॥ ३३५ ॥

क्वचित्पश्यतियोदीपंसुवर्णंश्याममेववा ॥
विपरीतानिभूतानिनवमासंनजीवति ॥ ३३६ ॥

अर्थ-जो मनुष्य दीपकको कभी तो सुवर्ण सरीखा कांतिवाला देखे कभी कृष्णवर्ण देखें सब भूतोंको विपरीत देखे वह नव महीनेतक नहीं जीवता है ॥ ३३६ ॥

स्थूलांगोपिकृशःकृशोपिसहसास्थूलत्वमालंबते
प्राप्तोवाकनकप्रभांयदिभवेत्रोगेपिकृष्णच्छवि ॥
शूरोभीरुसुधीरधर्मनिपुणःशांतोविकारीपुमा
नित्येवंप्रकृतीरुशांतिचलनंमासाष्टमेसुंदरि॥३३७

अर्थ-जिस मनुष्यकी प्रकृति ऐसे चलायमान हो जावे की स्थूल अंगवालाभी कभी माडा हो जावे माडा अंगवाला कभी स्थूल हो जावे और जो क्रूर तथा कृष्णवर्णवाला हो वहभी रोगी अचानक सुवर्ण सरीखे वर्णवाला हो जावे

कभी शूर वीर होके डरपोक हो जावे और सुंदर धीरजवाला धार्मिक शांत हो फिर विकारवान् हो जाय ऐसा वह पुरुष आठ महीनोंतक जीवता है ॥ ३३७ ॥

पीडाभवेत्पाणितलेचजिव्हामूलंसमूलंरुधिरंचकृष्णा ॥ विद्धेनचग्लायतियत्रदृष्ट्याजीवेन्मनुष्यः सहिसप्तमासान् ॥ ३३८ ॥

अर्थ—जिस पुरुषकी हथेलीमें और जिव्हाके मूलमें पीड होवे रुधिर कालाहोजाय और जिसके शरीरमें सूई आदि चुभोनेकी पीडा नहीं मालूम होवे ऐसा मनुष्य सातही महीनोंतक जीवता है ॥ ३३८ ॥

मध्यांगुलीनांत्रितयंनवक्रंरोगंविनाशुष्यति यस्यकंठः॥मुहुर्मुहुःप्रश्नवशेनजाड्याषड्भिः समासैःप्रलयंप्रयाति ॥ ३३९ ॥

अर्थ—जिसका मध्यकी तीन अंगुली मुडें नहीं रोगके बिनाही जिसका कंठ सुखजावे और वारंवार पूछी हुई बातसे जडता कछु स्मरण नहीं रहै ऐसा पुरुष छह महीनोंमें मर जाताहै ॥ ३३९ ॥

नयस्यस्मरणंकिंचिद्विद्यतेस्तनचर्मणि ॥
सोवश्यंपंचमेमासिस्कंधारूढोभविष्यति॥ ३४०॥

अर्थ—जिस पुरुषकी स्तनोंकी त्वचा बधिर होजावे वह निश्चय पांच महीनोंतक स्कंधारूढ होगा अर्थात् मरेगा ३४०

यस्यनस्फुरतेज्योतिःपीडितेनयनद्वये ॥
मरणंयस्यनिर्दिष्टंचतुर्थेमासिनिश्चितं ॥ ३४१ ॥

अर्थ—जिस पुरुषकी आंखोंकी ज्योति प्रकाश न हो और दोनों नेत्रोंमें पीडा रहै वह अवश्य चौथे महीनेंमें मरेगा यह जानो ॥ ३४१ ॥

दंताश्चवृषणौयस्यनकिंचिदपिपीड्यते ॥
तृतीयेमासिसोवश्यंयमलोकंगमिष्यति ॥३४२॥

अर्थ–जिसके दांत और वृषण दाबनेंसे पीडीत न हो बधिर होजावे ऐसा वह पुरुष तीन महीनोंमें मरताहै ॥ ३४२ ॥

तारागणंपश्यतियोविरूपांयोनध्रुवंपश्यतिखेनिशायाम् ॥ इंद्रायुधंवास्वयमेवरात्रौमासद्वये तस्यवदंतिनाशं ॥ ३४३ ॥

अर्थ–जो पुरुष रात्रीमैं तारा गणोंको अच्छी तरहं प्रकाशित नहीं देखे और जो ध्रुवको नहीं देखे अथवा आपही रात्रीमे इंद्र धनुषको देखे वह दो महीनोंमें मरताहै ॥ ३४३ ॥

पादजानुगतंकर्मनकिंचिदपिचेष्टितम् ॥
मासांतेचमृतिस्तस्यकेनापिनाविलंघ्यते ॥३४४॥

अर्थ–जो पैरोंमें तथा गोडोंमें प्राप्त हुए कर्मकी कछुभी चेष्टा न करै उसकी एकही महीनामें मृत्यु होती है किसी प्रकारसे देरी नहीं होती ॥ ३४४ ॥

कनिष्ठांगुलिपर्वाणिकृष्णस्यान्मध्यमंयदा ॥
तदायुःप्रोच्यतेपुंसामष्टादशदिनावधि ॥ ३४५॥

अर्थ–जिसकें कनिष्ठ अंगुलीकी पोरी अथवा मध्यमा अंगुली काली हो जावे तिस पुरुषकी अठारह दिनकी आयु कहै ॥ ३४५ ॥

घृतेतैलेजलेवापिदर्पणेयस्तुपश्यति ॥
शिरोरहितमात्मानंपक्षमेकंसजीवति ॥ ३४६ ॥

अर्थ–जो पुरुष घृतमें तेलमें अथवा दर्पणमें अपनें शरीरको शिर रहित देखे वह पंदरह दिनतक जीवताहै ३४६

शैत्यंविदध्यात्तपनोपियस्यसंतापकारीकिलशीतरश्मी ॥ नज्ञायतेचेत्तुहिमंनचोष्णंसपक्षमेकंख्लुतिष्ठतीह ॥ ३४७ ॥

अर्थ–जिसको सूर्यसेभी ठंढक लगे और चंद्रमासे गरमी मालूम होवे शीतल वा गरम वस्तुको नहीं पिछानें वह पंद्रह दिनतक जीवताहै ॥ ३४७ ॥

स्नानमात्रस्ययस्यैतेत्रयःशुष्यंतितत्क्षणात् ॥
हृदयंहस्तपादौचदशरात्रंसजीवति ॥ ३४८ ॥

अर्थ–स्नानमात्र करतेही जिसके हाथ पैर हृदा ये तीन वस्तु सूख जावें वह दश दिनतक जीवताहै ॥ ३४८ ॥

स्वरूपंपरनेत्रेतुपुत्तिकायांनपश्यति ॥
यदासच्छिन्नदृष्टिश्चतदामृत्युर्नसंशयः ॥ ३४९ ॥

अर्थ–जो पुरुष अपनें रूपको दूसरेके नेत्रकी पुतलियोंमें नहीं देखताहै ऐसा छिन्न दृष्टिवाला पुरुष शीघ्रही मरताहै इसमें संशय नहीं ॥ ३४९ ॥

अथातःसंप्रवक्षामिछायापुरुषलक्षणं ॥
येनविज्ञानमात्रेणात्रिकालज्ञोभवेन्नरः ॥ ३५० ॥

अर्थ–अब छायापुरुषके लक्षणको कहैंगे इसके जाननेंसे मनुष्य त्रिकालज्ञ होताहै ॥ ३५० ॥

कालोदूरस्थितोवापियेनोपायेनलक्ष्यते ॥
तंवदामिसमासेनयथादिष्टंशिवागमे ॥ ३५१ ॥

अर्थ–दूर स्थित हुआ काल जिस उपायसे जानाजाताहै तिस उपायको शिवशास्त्रमे अर्थात् कहेहुएको संक्षेपसे कहते है ॥ ३५१ ॥

एकांतंविजनंगत्वाकृत्वादित्यंचपृष्ठतः ॥ निरी
क्षयेनिजछायांकंठदेशेसमाहितः ॥ ३५२ ॥

अर्थ–एकांत वनमें जाके सूर्यको पीठ पीछे कर सावधान हो अपनी छायाको कंठदेशमें देखे ॥ ६५२ ॥

ततश्चाकाशमीक्षेतह्रींपरब्रह्मणेनमः ॥
अष्टोत्तरशतंजप्त्वाततःपश्येतशंकरं ॥ ३५३ ॥

अर्थ–फिर आकशमें देखे ह्रींपरब्रह्मणेनमः इस मंत्रका अष्टोत्तर शत १०८ जप करके पीछे शिवजीको देख लेताहै ॥ ३५३ ॥

शुद्धस्फटिकसंकाशंनानारूपधरंहरं ॥
षण्मासाभ्यासयोगेनभूचराणांपतिर्भवेत् ॥
वर्षद्वयेनहेनाथकर्ताहर्तास्वयंप्रभुः ॥ ३५४ ॥

अथ–शुद्ध, सफेद मणिके समान कांतिवाले, अनेक रूपधारी महादेवको छह महीनोंके अभ्यास योगसे देखनेंसे भूचर प्राणियोंका पति हो जाताहै और ऐसेही दो वर्ष अभ्यास करनेसे आपही कर्त्ता हर्त्ता प्रभु हो जाताहै ॥ ३५४ ॥

त्रिकालज्ञत्वमाप्नोतिपरमानंदमेवच ॥
संतताभ्यासयोगेननास्तिकिंचित्सुदुर्लभं ॥ ३५५

अर्थ–निरंतर अभ्यास योग करनेंसे त्रिकालज्ञ होताहै और परमानंदको प्राप्त होताहै तिसको कछुभी दुर्लभ नहीं है ॥ ३५५ ॥

तद्रूपंकृष्णवर्णायपश्यतिव्योम्निनिर्मले ॥
षण्मासान्मृत्युमाप्नोतिसयोगीनात्रसंशयः ॥ ३५६

अर्थ–जो योगी तिस महादेवके रूपको निर्मल आका-

शमें कृष्णवर्ण देखे वह छह महीनों भीतर मरताहै इसमें संदेह नहीं ॥ ३५६ ॥

पीतेव्याधिभयंरक्तेनीलेहानिविनिर्दिशेत् ॥
नानावर्णःस्वसिद्धश्चगीयतेचमहात्मनः॥३५७॥

अर्थ—पीतवर्ण देखे तो व्याधि होवे लालमें भय नीलेमें हानि जानना और जो अनेक प्रकारके वर्ण दीखें तो वह योगी सिद्धियोंको प्राप्त होता है ॥ ३५७ ॥

पदेगुल्फेचजठरेविनाशोक्रमशोभवेत् ॥
विनश्यतोयदाबाहोस्सजंतुर्म्रियतेध्रुवं ॥३५८॥

अर्थ—जो यदि छायामें पैर घुटने उदर इनको नहीं देखे तो अथवा दोनों भुजा कटी दीखें तो निश्चय आप मरताहै ॥ ३५८ ॥

वामबाहुतथाभार्याविनश्यतिनसंशयः ॥
दक्षिणेबंधुनाशोहिमृत्युर्मासेविनिर्दिशेत्॥३५९

अर्थ—बायीं भुजा कटी दीखे तो स्त्री मरे दहीनी भुजा कटी दीखे तो एक महीनें भीतर बंधु मरै ॥ ३५९ ॥

अशिरोमासमरणंविनाजंघेदिनाष्टकं ॥
अष्टभिस्कंधनाशेनछायालोपेनतत्क्षणात्॥३६०

अर्थ—शिर नहीं दीखे तो प्राण एक महीनामें मरै जंघा नहीं देखे तो आठही दिनमें मरै और जो कंधे नहीं दीखें तोभी आठ दिनमें मरै संपूर्ण छायाका लोप हो जावे तो उसी दिन मृत्यु जानना ॥ ३६० ॥

प्रातःपृष्ठगतेरवोचानिमिषंच्छायांगुलीमंतरादृष्ट्वार्धे
नमृतिस्त्वनंतरमहोछायानरंपश्यति ॥ तत्कर्णास

करास्यपार्श्वहृदयाभावेक्षणाधोत्स्वयं दिङ्मूढो
हिनरःक्षिरोविगमतोमासांस्तुषट्जीवति॥३६१॥

अर्थ– प्रातःकाल सूर्यको पीठ पीछे कर छायाको देखे तहां अंगुलियोंको नहीं देखे तो एक निमिषमें मृत्यु होवे और जो छायाको तथा अपनेको नहीं देखे तो आधा क्षणमेंही मरै जो छाया पुरुषके कान कंधे हात मुख पांशु हृदा इनको नहीं देखे तो आधे क्षणमें मृत्यु होगी जो शिर नहीं दीखे तथा दिशाओंका ज्ञान नहीं रहे तो छह महीनोतक जीवता है ॥ ३६१ ॥ इति छाया पुरुष लक्षणम० ॥

एकादिषोडशाहानियदिभानुर्निरंतरं ॥
वहेद्यस्यचवैमृत्युःशेषाहेनचमासके ॥ ३६२ ॥

अर्थ–जिस पुरुषका नियमसे एक दिनसे लेके सोलह दिनपर्यंत सूर्यस्वरही चलता रहे उसकी पंदरह दिनमें मृत्यु होती है यह कालज्ञानमें कहाहै ॥ ३६२ ॥

संपूर्णोवहतेसूर्यश्चन्द्रमानैवदृश्यते ॥
पक्षेणजायतेमृत्युःकालज्ञानेनभाषितं ॥ ३६३ ॥

अर्थ–जिस पुरुषके सदा सूर्यस्वरही चले चंद्रमा कभी नहीं दीखे उसकी पंदरह दिनमें मृत्यु होतीहै ऐसा कालज्ञानमें कहाहै ॥ ३६३ ॥

मूत्रंपुरीषंवायुश्चसमकालंप्रवर्तते ॥
तदासौचलितोज्ञेयोदशाहेम्रियतेध्रुवं ॥ ३६४ ॥

अर्थ–जिस पुरुषका मलमूत्र वायु एकही वार निकसे तो वह चलित जानना दश दिनमें निश्चय मरताहै ॥ ३६४ ॥

संपूर्णवहतेचंद्रःसूर्योनैवचदृश्यते ॥
मासेनजायतेमृत्युःकालज्ञानेनभाषितं ॥३६५॥

अर्थ–जो निरंतर चंद्रमाकास्वर चलताहो सूर्यस्वर नहीं चलता होवे तो एक महीनेंमें मृत्यु होतीहै ऐसे कालज्ञान वालोंनें कहाहै ॥ ३६५ ॥

अरुंधतिंध्रुवंचैवतत्रीयांविष्णुपत्तथा ॥ आयुर्हीनानपश्यंतिचतुर्थमातृमंडलं ॥ ३६६ ॥

अर्थ– अरुंधती ध्रुव तीसरा विष्णुपद, चौथा मातृमंडल इनको आयुहीन पुरुष नहीं देखेते है ॥ ३६६ ॥

अरुंधतीभवेजिव्हाध्रुवोनासाग्रमेवच ॥
भ्रुवौविष्णुपदंज्ञेयंतारकंमातृमंडलं ॥ ३६७ ॥

अर्थ–जिव्हा अरुंधती है नासिकाका अग्रभाग और भ्रुवांको विष्णुपद कहतेहै ताराओंको मात्रमंडल जानना ॥३६७॥

नवभ्रुवंसप्तघोषंपंचतारांत्रिनासिकां ॥
जिव्हामेकदिनंप्रोक्तंम्रियतेमानवोध्रुवं ॥ ३६८ ॥

अर्थ–भ्रुकुटी न देखे तो नव दिन कानोकेअंदरका शब्द न सुने तो सात दिन तारा न देखे तो पांच दिन नासिका न देखे तो तीन दिन जिव्हा न देखे तो एक दिन मनुष्यका मरण समय कहाहै ॥ ३६८ ॥

कोणमक्ष्णोरंगुलीभ्यांकिंचित्पीडयानिरीक्षयेत् ॥
ययानदृश्यतेबिंदुर्दशाहेनभवेन्मृतिः ॥ ३६९ ॥

अर्थ–आखोंके कोईयोंको अंगुलियोंसे कछु दबाके देखै जो यदि मसलके दबानेंसे आंखमांहसे जलकी बिंदु न निकले तो दश दिन भीतर मृत्यु जाननी ॥ ३६९ ॥

तीर्थस्नानेनदानेनतपसासुव्रतेनवा ॥
जपैर्ध्यानेनयोगेनजायतेकालवंचना ॥ ३७० ॥

अर्थ—तीर्थोंका स्नान दान तप सुकृत जप ध्यान योग इन्हों करके काल वंचन हट सकताहै ॥ ३७० ॥

शरीरंनाशयंत्येतेदोषाधातुमलस्तथा ॥
समस्तवायुर्विज्ञेयोबलतेजोविवर्द्धनः ॥ ३७१ ॥

अर्थ—धातु तथा मलआदि दोष शरीरको नष्ट करतेहै और समस्त प्राणआदि वायु बल तथा तेजको बढानेंवाले जानने ॥ ३७१ ॥

रक्षणीयस्ततोदेहोयतोधर्मादिसाधनम् ॥
रोगाजाप्यत्वमायांतिसाध्याजाप्यस्त्वसाध्यतां ॥
आसाध्याजीवितंघ्नंतिनतत्रास्तिप्रतिक्रिया ३७२

अर्थ—जो कि यह देह धर्मादिकोंको सिद्ध करनेंवालाहै इसलियें यह देह रक्षित करनाही योग्यहै शरीरके साध्य रोगोंकी चिकित्सा न की जावे तो वे जाप्य, हो जाते है जाप्य संसक रोग चिकित्साकियेंविना असाध्यहो जातेहै फिर वे असाध्य रोग जीवनको नष्ट कर देतेहै उनकी कछु चिकित्सा नहीं है ॥ ३७२ ॥

येषांहृदिस्फुरंतिशास्त्रतमंद्वितीयास्तेजस्तमोनिव
हनाशकरंरहस्यं॥ तेषामखंडशशिरम्यसुकांतिभा
जांस्वप्नेपिनोभवतिकालभयंनराणां ॥ ३७३ ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंके हृदयसे सनातन अद्वितीय, तमोगुणके समूहको नाशकरनेंवाला रहस्य स्वरोदयज्ञान फुरताहै पूर्णचंद्रमाके समान कांतिवाले तिन पुरुषोंको सुपनेंमेंभी कालका भय नहीं होताहै ॥ ३७३ ॥

॥ अथनाडीज्ञानं ॥

इडागंगेतिविज्ञेयापिंगलायमुनानदी ॥

मध्येसरस्वतीविद्यात्प्रयागादिसमंतथा ॥३७४॥

अर्थ—इडानाडी गंगास्वरूप जाननी पिंगला यमुना नदी जाननी मध्यमें सुषुम्णा सरस्वती जाननी इन तीन नाडीयोंके समागमको प्रयाग जानना ॥ ३७४ ॥

आदौसाधनमाख्यातंसद्यःप्रत्ययकारकम् ॥
बद्धपद्मासनोयोगीबंधयेडुड्डियानकं ॥ ३७५ ॥

अर्थ—पहले साधनही तात्काल निश्चयका कारण कहाहै इसलीयें योगीजन पद्मासन बांधके उड्डियानक आसनको बांधै अर्थात् अपानवायुंकूं ऊपरको चढावे ॥ ३७५ ॥

पूरकःकुंभकश्चैवरेचकश्चतृतीयकः ॥
ज्ञातव्योयोगिभिर्नित्यंदेहसंसिद्धिहेतवे ॥३७६॥

अर्थ—पूरक कुंभक तीसरा रेचक ऐसे ये तीन प्राणायाम योगीजनकोनित्यप्रति देहकीशुद्धिकेवास्ते जानने चाहिये ७६

पूरकःकुरुतेपुष्टिःधातुसाम्यंतथैवच ॥
कुंभकेस्तंभनंकुर्याज्जीवरक्षाविवर्धनं ॥ ६७७ ॥

अर्थ—पूरक प्राणायाम बाहिरकी वायुको भीतरको खींचताहै तब पुष्टि अर्थात् देहको पोषताहै और धातुओंको समान करताहै कुंभकमें वायुका धारण करना यानें वायु बंद रखनी इससे जीवकी रक्षाकी वृद्धि होती है ॥ ३७७ ॥

रेचकोहरतेतापंकुर्याद्योगपदंव्रजेत् ॥
पश्चात्संग्रामवत्तिष्ठेल्लयबंधंचकारयेत् ॥ ३७८ ॥

अर्थ—रेचकमें बाहिरको वायु छोडी जातीहै यह प्राणायाम पापको हरताहै ऐसे प्राणायाम करनेंवालेको योगपद

की प्राप्ति होतीहै ऐसे प्राणायाम कर पीछे समान रूपसे स्थित रहै ऐसा योगी मृत्युको बंद करताहै ॥ ३७८ ॥

कुंभयेत्सहजंवायुंयथाशक्तिप्रकल्पयेत् ॥
रेचयेच्चंद्रमार्गेणसूर्येणापूरयेत्सुधीः ॥ ३७९ ॥

अर्थ–अपनें स्वाभाविक प्राणवायुको अपनी शक्तिके अनुसार कुंभक प्राणायाममें रोकै और चंद्रमाके स्वर करके वायुको छांडै सूर्यके स्वरसे चढावे ॥ ३७९ ॥

चंद्रंपिबतिसूर्यश्चसूर्यंपिबतिचंद्रमाः ॥
अन्योन्यकालभावेनजीवेदाचंद्रतारकं ॥ ३८० ॥

अर्थ–जो चंद्रमाके स्वरमें सूर्यस्वरको चलाने लगजावे औरसुर्यस्वर चलतें समय चंद्रमाका स्वर चलानें लगजावे ऐसा योगीजन परस्पर स्मरके कालका अभाव होनें करके चंद्रमा तथा तारागणोंकी स्थिति रहे तबतक जीवताहै ३८०

स्वीयांगेवहतेनाडीतन्नाडीरोधनंकुरु ॥
मुखबंधममुंचन्वैपवनंजायतेयुवा ॥ ३८१ ॥

अर्थ–जो योगीजन जोनसास्वर चलताहो उस नाडी-स्वरको बंदकर मुखको बंदकर वायुको नहीं छोडता रह-ताहै वह, वृद्धभी जुवान हो जाताहै ॥ ३८१ ॥

मुखनासाक्षिकर्णानामंगुलीभिर्निरोधयेत् ॥
तत्वोदयमितिज्ञेयंसन्मुखीकरणंप्रिये ॥ ३८२ ॥

अर्थ–मुख नासिका नेत्र कान इनको अंगुलियों करके रोकै इसीको तत्वोदय और प्रिय षणमुखीकरण जानना३८२

तस्यरूपंगतीखेदोमंडलंदक्षिणांत्विदं ॥
योवेत्तिमानवोलोकेसंसर्गादपिमार्गवित् ॥३८३॥

अर्थ–उस योगीका लक्षण यह है कि वह योगी तत्वोंका रूप गति स्वाद मंडल इनसाबोंके जानताहै और तत्वोंके संसर्ग, मिलापके मार्गकोभी जानताहै ॥ ३८३ ॥

निराशीनिष्फलंयोगीनकिंचिदपिचिंतयेत् ॥
वासनामुन्मनांकृत्वाकालंजयतिलीलया॥ ३८४

अर्थ–जो आशारहित निष्पाप योगी कछुभी वासना चितवन नहीं करताहै वह योगी अपनी लीला क्रीडासेहीत कालको व्यतीत करता है ॥ ३८४ ॥

विश्वस्ववेदिकाशक्तिर्नेत्राभ्यांपरिदृश्यते ॥
तत्रस्थंतुमनोयस्ययाममात्रंभवेदिह ॥ ३८५ ॥

अर्थ–तहां समाधिमें जिस योगीका मन एक प्रहर ठहरताहै उसको संपूर्ण जगत्को जाननेंकी शक्ति नेत्रोंसे होतीहै ॥ ३८५ ॥

तस्यायुर्वर्धतेनित्यंघटिकात्रयमानतः ॥
शिवेनोक्तंपुरातंत्रेसिद्धस्यगुणगव्हरे ॥ ३८६ ॥

अर्थ–उस योगीकी नित्यप्रति तीन घटी प्रमाण आयु बढती है यह पहले सिद्धोंके गूणगव्हर तंत्रमें शिवजीनें कहीहै ॥ ३८६ ॥

बद्धंपद्मासनस्थंगुदगतपवनंसंनिरुध्याधिमुच्चैः तंतस्यापानरंध्रेक्रमजितमनिलंप्राणशक्त्यानिरुध्य॥एकीभूतंसुषुम्णाविवरमुपगतंब्रह्मरंध्रेचनीत्वानिक्षिप्याकाशमार्गेशिवचरणरतायांतितेकेपिधन्याः ॥ ३८७ ॥

अर्थ–योगीजन पद्मासनको बांधके पीछे गुदामें स्थित

हुए अपान वायुको रोकके ऊपरको लेजाय अपानरंध्रमें क्रमसे जीती हुई तिस वायुको प्राणशक्तिसे रोकके दोनुवों-की एक गतिकर सुषुम्णानाडीके छिद्रमें प्राप्तकर पीछे ब्रह्मरंध्रमें प्राप्तकर पीछे शिवचरणमें रतहुए जो योगी-जन आकाश मार्गमें जाते हैं अर्थात् प्राण छोडते हैं वे धन्यहैं ॥ ३८७ ॥

एतज्जानातियोयोगीएतत्पढातिनित्यशः ॥
सर्वदुःखविनिर्मुक्तोलभतेवांछितंफलं ॥ ३८८ ॥

अर्थ—जो योगी इस शास्त्रको जानताहै और इसको नित्य पढताहै वह सब दुःखोसे विनिर्मुक्त हुआ वांछित फलको प्राप्त होता है ॥ ३८८ ॥

स्वरज्ञानंशिरोयस्यलक्ष्मीकरतलेभवेत् ॥
सर्वत्रचशरीरेपिसुखंतस्यसदाभवेत् ॥ ३८९ ॥

अर्थ—जिस मनुष्यमें स्वरज्ञान है उसके पैरोंके तलवोंमे लक्ष्मी है और सब शरीरोंमें उसको सदा सुख रहताहै३८९

प्रणवःसर्ववेदानांब्राह्मणोभास्करोयथा ॥
मृत्युलोकेतथापूज्यःस्वरज्ञानीपुमानपि ॥ ३९०

अर्थ—सब वेदोंमें जैसे ॐकार और ब्राह्मण तथा सूर्य जैसे पूजितहै इसी तरंह मृत्युलोकमें स्वरज्ञानी पुरुषभी पूज्य है ॥ ३९० ॥

नाडीत्रयंविजानातितत्वज्ञानंतथैवच ॥
नैवतेनभवेतुल्यंलक्षकोटिरसायनं ॥ ३९१ ॥

अर्थ—तीनों नाडी तथा तत्वज्ञानको जो जानताहै उसके समान लाखों किरोडों कोई रसायन नहीं है ॥ ३९१ ॥

एकाक्षरप्रदातारंनाडिभेदनिवेदकं ॥
पृथिव्यांनास्तितद्रव्यंयद्दत्त्वाचानृणोभवेत्॥३९२

अर्थ—नाडीभेदके एक अक्षरको देनेंवालेके समानभी कोई द्रव्य ऐसा नहीं है कि जिस्से अनृणी होवे ॥३९२॥

स्वरतत्वंतथायुद्धंदेविवश्यस्त्रियस्तथा ॥
गर्भमागमनंरोगंकालाख्यानंतथोच्यते ॥३९३॥

अर्थ—हे देवि इसमें क्रमसे स्वरज्ञान तत्वज्ञान स्त्रीवशीकरण गर्भ, गमन, आगमन, रोग, कालज्ञान, इत्यादिक, प्रकरण कहे है ॥ ३९३ ॥

एवंप्रवर्तितंलोकेप्रसिद्धंसिद्धयोगिभि ॥
चंद्रार्कग्रहणेजाप्यंपठतीसिद्धिदायकं ॥ ३९४ ॥

अर्थ—ऐसे लोकमें प्रवृत्त हुआ सिद्धयोगी जनोंसे प्रसिद्ध यह स्वरोदय चंद्र तथा सूर्यग्रहणमें जपना इसके पढनेंवालोंकै सिद्धि होती है ॥ ३९४ ॥

स्वस्थानेतुसमासीनोनिद्रामाहारमल्पकः ॥
चिंतयेत्परमात्मानंयोवेदसभविष्यति ॥ ३९५ ॥

इतिश्रीउमामहेश्वरसंवादेस्वरज्ञानं समाप्तम्
शुभम्भूयात् ।

अर्थ—आपनें स्थानमें बैठाहुआ स्वल्प निद्रा और स्वल्प आहारवाला योगीजन जो परमात्माका चिंतवन करताहैं वह कहैं सोही होगा ॥ ३९५ ॥

इति श्रीउमामहेश्वरसंवादे शिवस्वरोदये बेरीनिवासी बस्तीरामकृत भाषाटीका समाप्ता.

सं० १९५२ मि. माघशु. १५ शुक्रवार.

ॐ

श्रीमद्विज्ञानभिक्षुप्रणीत

योगसारसंग्रह

हिन्दी-अनुवाद सहित

अनुवादक

स्वामी सनातनदेव

मूल्य २)

ॐ

प्राक्कथन

आजसे प्रायः चार वर्ष पूर्व दिल्लीमें ही मुझे यह ग्रन्थरत्न देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। यह पुस्तक थियोसोफिकल पब्लिशिंग हाउस, अड्यार (मदरास) द्वारा प्रकाशित हुई है। आरम्भमे सम्पूर्ण ग्रन्थका डा० श्रीगंगानाथ झाका किया हुआ अंग्रेजी अनुवाद है और उसके पश्चात् सम्पूर्ण मूल ग्रन्थ है। पुस्तक बहुत उपयोगी जान पड़ी। ग्रन्थकार श्रीविज्ञानभिक्षुजी निःसन्देह साख्य और योगके बड़े मर्मज्ञ विद्वान् थे। उन्होने तो ब्रह्मसूत्रोका भी साख्यसम्मत भाष्य लिखा है। उनकी लेखनशैली अत्यन्त सुबोध और सरल है। योगसूत्रोके तात्पर्य-का ऐसा स्फुट विवेचन अन्यत्र अलभ्य ही है। डाक्टर झा तो इस ग्रन्थसे अत्यन्त प्रभावित जान पड़ते हैं। अपने अनुवादकी भूमिकामें वे लिखते हैं—'**In the whole course of my study I have not come across a better treatise to be placed in the hands of either 'students' of or 'aspirants' to 'Yoga'.** अर्थात् अपने सम्पूर्ण अध्ययनक्रममें मुझे ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं मिला जो योगविद्याके विद्यार्थियों अथवा अभ्या-सियोंके हाथोंमें देनेके लिये इससे अधिक उपयोगी हो। अतः इसे पढ़ लेनेपर मेरा सकल्प भी इसका हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत करनेका हो गया। आशा है, इससे हिन्दी भाषाभिज्ञ साधक एवं जिज्ञासुओंको योगविद्याका दार्शनिक ज्ञान प्राप्त करनेमें अवश्य कुछ सहायता मिलेगी।

ग्रन्थकार श्रीविज्ञानभिक्षुके जीवनवृत्तान्तके विषयमें अभीतक कोई विशेष सामग्री प्राप्त नहीं हो सकी है। डाक्टर झाके लेखसे भी केवल

इतना ही पता चलता है कि इनके रचे हुए ब्रह्ममीमांसाभाष्यके अन्तमें उसकी समाप्तिका संवत् १७७५ विक्रमी लिखा है। अतः यह बात तो निर्विवाद है कि ये विक्रमीय अठारहवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें विद्यमान थे इन्होंने योगसूत्रके व्यासभाष्य पर 'योगवार्तिक' नाम्नी विस्तृत टीका लिखी है तथा वेदान्तसूत्रोंपर 'विज्ञानामृतभाष्य' और सांख्यसूत्रोंपर 'सांख्यप्रवचनभाष्य'की रचना की है। कठ, कैवल्य, तैत्तिरीय, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य एव श्वेताश्वतर आदि कई उपनिषदोंपर आपका 'आलोक' नामक भाष्य है। इनके सिवा सांख्यकारिका, ईश्वरगीता और भगवद्गीतापर भी आपकी टीकाएँ सुनी जाती हैं। आपके स्वतन्त्र ग्रन्थोंमें उपदेशरत्नमाला, ब्रह्मादर्श, योगसारसंग्रह और सांख्यसारविवेक प्रधान हैं। इनके ग्रन्थोंसे यह बात स्पष्ट जान पड़ती है कि ये साख्य और योग के पक्षपाती थे। शाकर सिद्धान्तकी इन्होंने जहाँ-तहाँ कुछ आलोचना भी की है तथा कहीं-कहीं ज्ञानकी अपेक्षा योगका उत्कर्ष भी दिखाया है। नीचे इस ग्रन्थमें आये हुए ऐसे कुछ प्रसंगोकी आलोचना की जाती है।

पृष्ठ ३ और ११ पर आप लिखते हैं कि ज्ञानके द्वारा तो प्रारब्धके अतिरिक्त अन्य कर्मोंका ही नाश होता है, अतः ज्ञानीकी मुक्तिमें तो प्रारब्धक्षयकी अपेक्षा रहनेके कारण कुछ विलम्ब रहता है, किन्तु असम्प्रज्ञात योग प्राप्त होनेपर तो प्रारब्धका भी नाश हो जाता है, अतः उस योगीकी मुक्ति उसी समय हो जाती है। साथ ही पृष्ठ ८ और ९ पर आप असम्प्रज्ञात योगमे भी चित्तकी संस्कारमात्र स्थिति स्वीकार करते हुए उस अवस्था से योगीका व्युत्थान भी स्वीकार करते हैं, यथा— 'तदा संस्कारमात्रशेषं चित्तं तिष्ठति, अन्यथा व्युत्थानानुपपत्तेः।' इन दोनों बातोंकी संगति कैसे लगायी जाय—वह बात विचारणीय है। प्रारब्धके विषयमें योगसूत्रोंका ऐसा मत है—'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' (२।१३) अर्थात् मूलमे कर्माशय (प्रारब्ध) रहनेपर उसका परिणाम जन्म, आयु और भोगके रूपमे होता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि शरीर

आयु और भोग—ये तीनों प्रारब्धके ही परिणाम हैं। प्रारब्ध समाप्त हो जानेपर तो शरीर ही नहीं रहना चाहिये, क्योंकि शरीर रहते हुए तो आयु और भोग भी अवश्य रहेंगे। और व्युत्थानका अर्थ तो यही है कि उस अवस्थामें योगीको देहका अनुसन्धान रहता है। वह देहानुसन्धान किसी कालविशेषमें ही रहेगा, अतः आयु भी रहेगी ही। फिर देहानुसन्धान रहते हुए सुख-दुःखरूप भोग न रहे—यह असम्भव है। अतः ग्रन्थकारका उपर्युक्त कथन हमारे लिये संशयास्पद ही रह जाता है। पृष्ठ ३४ पर आपने असम्प्रज्ञात योगद्वारा प्रारब्धक्षयका क्रम लिखा है। वहाँ असम्प्रज्ञातयोगद्वारा निरोधसंस्कारोंकी वृद्धिके कारण निरोधकालकी वृद्धि दिखायी है और फिर असंप्रज्ञातकी चरमावस्था आनेपर समस्त संस्कारोंके दाहपूर्वक प्रारब्धका भी दाह बतलाया है। परन्तु यहाँ विचारणीय यह है कि यदि असम्प्रज्ञात योगकी चरमावस्था प्राप्त होनेपर ही प्रारब्धका दाह होता है तो उस अवस्थाके आने तक तो असम्प्रज्ञात योगीका भी प्रारब्ध रहता ही है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि असम्प्रज्ञात योगसे ही प्रारब्धका नाश होता है। क्रमशः प्रारब्धक्षय तो सभी देहधारियोंका हो जाता है। यदि असम्प्रज्ञात योगसे प्रारब्धनाश होता तो वह उसकी प्राप्ति होते ही हो जाना चाहिये था। अतः विचार करनेपर आपकी यह बात हमें युक्तिसंगत नहीं जान पड़ती। यदि कोई महानुभाव इसका उचित समाधान प्रस्तुत करने की कृपा करेंगे तो हम उनके आभारी होंगे और आगामी संस्करणमें इस शंकाका मार्जन भी कर देंगे।

इसके पश्चात् पृष्ठ १०६ पर आपने अन्यान्य दार्शनिकोंके मुक्तिसम्बन्धी विचारोंका समन्वय करते हुए अद्वैतवादियोंको 'वेदान्तिब्रुवा' की उपाधि देकर उनके मुक्तिसम्बन्धी सिद्धान्तकी आलोचना की है। वहाँ आपने श्रुति-स्मृतियोंके ऐसे वाक्य भी उद्धृत किये हैं जिनसे आपके मतानुसार मोक्षमें आनन्दका प्रतिषेध होता है। परंन्तु आपकी यह बात हमारी समझमें नहीं आयी। यदि अन्य दार्शनिकोंकी भाँति

अद्वैतवादियोके मतका भी आप समन्वय ही करते तो अधिक उपयुक्त होता। आपने जो वाक्य उद्धृत किये हैं उनसे मोक्षमें हर्ष-शोक अथवा सुख-दुःखका अभाव तो अवश्य सूचित होता है, परन्तु यह बात किसी वाक्यसे सूचित नहीं होती कि जो तत्त्व सद्रूप और चिद्रूप है वह आनन्दरूप नहीं है। यह बात तो निश्चित ही है कि सत्ताके बिना चित्ता (स्फुरण) का और चित्ताके बिना सत्ताका निश्चय नहीं होता। अतः सत्-चित् तो दृष्टिभेद से एक ही तत्त्वके दो पक्ष हैं। वस्तुतः ये तत्त्वके दो गुण नहीं, अपितु उसके विषयमे दो दृष्टियाँ है। अतः दृष्टिभेद होनेपर भी तत्त्वतः एक है। आपने जो वाक्य उद्धृत किये हैं उनके अनुसार वह तत्त्व सुख-दुःखसे रहित है। यहाँ सुख-दुःखके निषेध द्वारा उसकी आनन्दरूपता ही सूचित होती है। कोई भी वस्तु दूसरेके लिये तो अनुकूल होनेपर सुखरूप और प्रतिकूल होनेपर दुःखरूप होती है, किन्तु अपने लिये तो वह सर्वदा अनुकूल होनेके कारण सुखरूप ही होती है। परमतत्त्व परमात्मा सबका अपना-आप है, अतः स्वरूपतः वह सुखरूप या आनन्दरूप ही है। सांख्य या योगके अनुसार सुख सत्त्वगुणका कार्य है। परन्तु असली बात यह है कि सुख या आनन्द तो आत्मा का स्वरूप ही है। रजोगुण-तमोगुण मलिनस्वभाव हैं, इसलिये उनकी वृत्ति होनेपर वह सुख आच्छादित हो जाने के कारण दब जाता है। किन्तु सत्त्वगुण स्वच्छ एवं प्रकाशमय है, इसलिये सात्त्विक वृत्ति होने पर आत्माका स्वरूपभूत सुख वृत्तिमें भी प्रतिफलित होने लगता है। इस प्रतिफलित सुखको ही विषयसुख कहते हैं और स्वरूपभूत सुख ही आनन्द है। ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत वाक्योमे जिस सुखका निषेध किया है वह वृत्त्युपहित सुख है, स्वरूपभूत सुख या आनन्द नहीं। उसका लक्षण तो आपही के द्वारा उद्धृत श्रीमद्भागवतके इस वाक्यमें आया है—'सुखं दुःखसुखात्ययः' अर्थात् सुख-दुःखसे अतीत हो जाना ही सुख है। भला, यहाँ जिस सुखका लक्षण किया गया है, वह स्वरूपभूत सुख या आनन्द नहीं तो और क्या है? श्रुति इसीको 'रस'

कहती है; यथा—'रसो वै सः। रसँ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।' (तै० उ० २।७) यदि परमतत्त्व सुखरूप नहीं तो यहाँ उसे 'रस' कहने का क्या तात्पर्य है और उसे प्राप्त कर लेनेपर साधक 'आनन्दी' क्यों हो जाता है ? इसके सिवा 'आनन्दो ब्रह्मेति विजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' (तै० उ० ३।६), 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन' (तै० उ० २।९), 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' (तै० उ० २।७) 'यो वै भूमा तत्सुखं······भूमैव सुखम्' (छा० उ० ७।२३।१) इत्यादि अनेकों श्रुतियां परमतत्त्वकी आनन्दरूपताका प्रतिपादन करती हैं। जीवकी तद्रूपसे स्थिति ही उसका मोक्ष है, अतः उस अवस्थामें उसे परमानन्दकी प्राप्ति मानना किसी प्रकार असंगत नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार एक ओर अद्वैतवाद के प्रति जहाँ आपकी कुछ असहिष्णुता देखी जाती है, दूसरी ओर भक्तिपक्षमें आपकी ऐसी निष्ठा जान पड़ती है जैसी कि सामान्यतया सांख्य-योगवादियोंकी नहीं होती। ग्रन्थके आरम्भमे आपने जो नमस्कारात्मक मंगलाचरण किया है उससे ईश्वरका जगत्कर्तृत्व सूचित होता है, जबकि योग और सांख्य दोनों ही दर्शन केवल प्रकृतिको ही जगत्का स्वतन्त्र कारण मानते हैं। इसी प्रकार आगे सवितर्कादि सम्प्रज्ञात समाधिके भेदोंकी व्याख्या करते हुए आपने भगवान्के साकार विग्रह वैकुण्ठनाथ श्रीविष्णुभगवान्को आलम्बनरूपसे स्वीकार किया है। किन्तु सूक्ष्मतया विचार किया जाय तो भगवान्की साकारता तो भावग्राह्य ही है, योग या सांख्य के अनुसार भगवद्धाम या भगवद्विग्रहकी चिन्मयताके विषयमे कोई दार्शनिक व्यवस्था मिलना तो कठिन ही है। इसके सिवा आपने योगके उत्तम अधिकारियोंके लिये ईश्वरप्रणिधानको ही मुख्य साधन माना है, अष्टाग योग तो आपके मतानुसार मन्दाधिकारियोंका ही साधन है। आपकी यह व्याख्या भी आपकी भगवन्निष्ठाका ही परिचय देती है; योगसूत्रोंमें तो अधिकारिभेदसम्बन्धी ऐसी कोई

व्यवस्था देखी नहीं जाती। इससे जान पड़ता है कि आप सांख्य और योगके मर्मज्ञ होनेके साथ उच्चकोटिके भक्त भी थे।

डाक्टर श्रीगंगानाथ झाने मूल पाठके साथ टिप्पणीमे कुछ पाठान्तर भी दिये हैं। सामान्य पाठकोके लिये अनावश्यक होनेपर भी विद्वानोके लिये तो पाठान्तरोंका उपयोग होता ही है। अतः हमने भी उन्हें ज्यो का त्यो उद्धृत कर दिया है। ये पाठान्तर तीन प्रतियोके हैं, उन्हें टिप्पणीमें १पु. २पु. और ३पु. इन संकेतोंसे सूचित किया है। इन प्रतियो का परिचय इस प्रकार है—

१ पु.—काशीनिवासी श्रीगोविन्ददासजी द्वारा प्राप्त प्रति।

२ पु.—गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज काशीके पुस्तकालयकी प्रति।

३ पु.—डा० गंगानाथ झा की अपनी प्रति।

प्रस्तुत प्रस्तक वाराणसीमें छापी गयी है और मैं इन दिनों मे सर्वदा काशी से बाहर ही रहा हूँ। प्रूफ मेरे पास आते रहे हैं। परन्तु मैं उन्हें केवल एक बार ही देख सका हूँ। अतः बहुत सावधानी बर्तने पर भी छापेकी कुछ अशुद्धियाँ रह ही गयी हैं। उन्हें पुस्तकके अन्त में शुद्धिपत्रमे दिया जा रहा हैं। कृपालु पाठक उसके अनुसार संशोधन करके पुस्तक पढ़ने की कृपा करें।

इस प्रकार जैसी भी प्रभुकी प्रेरणा हुई यह तुच्छ पत्र-पुष्प सँजोकर तैयार किया है। इसे उन्हींके श्रीचरणोंमें समर्पित करता हूँ। प्रभु इसे स्वीकार कर अपने अमृतमय अनुग्रहकी वृष्टि करके अपने पादपद्मोंकी अहैतुकी प्रीति प्रदान करें—यही हमारी प्रार्थना है।

नं० ६ कुदसियाघाट, दिल्ली
माघ पूर्णिमा सं० २०१४ वि०

विनयावनत,
सनातनदेव

श्रीः

विषय-सूची

योगसारसंग्रह:

सर्वाशाः सर्वसन्देहाः सर्वेहाः सर्वसंश्रयाः ।
यद्योगेन वियुक्ताः स्युस्तं वन्दे पुरुषं परम् ॥

प्रथमोऽशः ।

यः सृष्ट्वाब्जजविष्णुशंकरमयं बुद्ध्याख्यसूत्रं मह-
त्तत्त्वं सत्वरजस्तमोमयमहामायामयाद्देहतः ।
अन्तर्यामितयोर्णनाभवदहो तेनैव कुर्वञ्जग-
च्चक्रव्यूहमिदं निजांशमशकान्बध्नाति तस्मै नमः ॥ १ ॥

प्रथम अंश

मंगलाचरण

जिन्होंने महामायारूप अपने सत्त्व-रज-तमोमय शरीर से इस बुद्धिसंज्ञक सूत्रात्मा महत्तत्त्व की, जो ब्रह्मा विष्णु और शंकरस्वरूप ही है, रचना की और फिर मकड़ी की तरह अन्तर्यामिरूपसे उस महामायाके द्वारा ही इस जगत्रूप चक्रव्यूह (जाले) की रचना कर इसके भीतर जो अपने ही अंशभूत जीवोंको मच्छरों की तरह फँसा देते हैं उन (परमात्मदेव) को नमस्कार है ॥१॥

पतञ्जलिव्यासमुखान्गुरूनन्यांश्च भक्तितः ।
नतोऽस्मि वाङ्मनःकायैरज्ञानध्वान्तभास्करान् ।। २।।
वार्त्तिकाचलदण्डेन मथित्वा योगसागरम् ।
उद्धृत्यामृतसारोऽयं[1] ग्रन्थकुम्भे निधीयते ।। ३ ।।

तत्र पुरुषस्यात्यन्तिकस्वरूपावस्थितेर्हेतुश्चित्तवृत्तिनिरोधो योग इति योगद्वयसाधारणं लक्षणम् । व्युत्थानकालीनश्च यत्किंचिच्चित्तवृत्तिनिरोधो नात्यन्तिकस्वरूपावस्थितिरूपमोक्षे हेतुः, जन्मबीजक्लेशाद्यनुच्छेदकत्वात्, अखिलवृत्तिसंस्कारानुच्छेदकत्वाच्च; अतस्तत्र नातिव्याप्तिः । प्रलयकालीनस्य च

अज्ञानान्धकारके लिये सूर्यरूप श्रीपतञ्जलि एवं व्यास आदि अन्यान्य गुरुजनोंको मैं मन वाणी और शरीरसे भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ ॥२॥

योगरूप समुद्रको योगवार्तिकाचलरूप[2] मँथानीके द्वारा मथकर उसका जो अमृतमय सार निकाला है वह इस ग्रन्थरूप घटमें रखा जाता है ॥३॥

द्विविध योगका साधारण लक्षण

चित्तकी वृत्तियोंका निरोध पुरुषकी आत्यन्तिकी स्वरूपस्थितिका हेतु है और यही [संप्रज्ञात एवं असंप्रज्ञात] दोनों प्रकारके योगोंका साधारण लक्षण है। व्युत्थान कालमे जो चित्तवृत्तियोका थोड़ा-सा निरोध होता है वह आत्यन्तिकी स्वरूपावस्थितिरूप मोक्षका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह जन्मके बीजभूत क्लेशादिका उच्छेद करनेवाला नहीं होता और न उससे सम्पूर्ण वृत्तियोके संस्कारोंका ही उच्छेद होता है। इसलिये उसमे इस लक्षणकी अतिव्याप्ति

---

१. सारोऽत्र—पा. २ पु० ।

२. श्री विज्ञानभिक्षुकृत योगसूत्रोंकी टीका का नाम योगवार्तिक है ।

वृत्तिनिरोधस्य व्यावर्तनाय आत्यन्तिकेति । स्वरूपावस्थिति-श्चौपाधिकरूपनिवृत्तिः । स्वरूपस्य [1]वाऽप्रच्यवः । तथा च स्मर्यते—"मुक्तिर्हित्वाऽन्यथाभावं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ।" इति । तत्र संप्रज्ञाताख्ययोगस्य मोक्षहेतुत्वं तत्त्वसाक्षात्कारद्वारा क्लेशाद्युच्छेदकत्वात् । असंप्रज्ञातयोगस्य[2] चाखिलवृत्तिसंस्कारदाहद्वारा प्रारब्धस्याप्यतिक्रमेणेति वार्तिकेऽस्माभिः प्रपञ्चितम् (यो. १. १७. १८.); संक्षेपतश्चाग्रेऽपि वक्ष्यामः । योगाङ्गेषु ज्ञानभक्ति-कर्मादिषु च योगशब्दो योगसाधनत्वान्मोक्षोपायत्वाच्च गौण इति ।

अथ का निरोद्धव्याश्चित्तवृत्तयः, को वा निरोध इति उच्यते । प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय इति (यो. १. ६.)

नही हो सकती । यहाँ 'आत्यन्तिक' शब्द प्रलयकालीन वृत्तिनिरोधका व्यावर्तन करनेके लिये है । जीवकी स्वरूपावस्थिति ही उसके औपाधिक स्वरूपकी निवृत्ति अथवा स्वरूपकी च्युति न होना है; ऐसी ही यह स्मृति भी है—'अन्यस्वरूपताको त्यागकर अपने स्वरूपमे स्थित होना ही मुक्ति है ।' दोनो प्रकारके योगोमे संप्रज्ञात योगकी मोक्षहेतुता तत्त्वसाक्षात्कारके द्वारा क्लेशादिका निवर्तक होनेके कारण है तथा असम्प्रज्ञात योग सम्पूर्ण वृत्तियोके संस्कारोंका दाह करके प्रारब्धका भी अतिक्रमण कर जानेके कारण मोक्षका हेतु है—इस बात का हमने योगवार्तिकमें विवेचन किया है तथा आगे भी इसका संक्षेपसे वर्णन किया जायगा । योगके साधन और मोक्षके उपाय होनेके कारण योगके अंगोंमे एवं ज्ञान भक्ति और कर्मादिमें भी 'योग' शब्दका गौण प्रयोग होता है ।

वृत्तियोंका निरूपण

अब यह बतलाया जाता है कि वे निरोध की जानेवाली कौन-कौन वृत्तियाँ है और क्या उनका निरोध है ? प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—ये पाँच प्रकारकी वृत्तियाँ हैं । इच्छा और

१. चा—पा. २ पु० । २. असंप्रज्ञाताख्यस्य योगस्य—पा. २ पु० ।

पञ्चविधाश्चित्तवृत्तयः। इच्छाकृत्यादिरूपवृत्तीनां चैतन्निरोधेनैव निरोधो भवति। तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।

इन्द्रियद्वारा या बुद्धेर्यथार्था वृत्तिः सा प्रत्यक्षं प्रमाणम्। ईश्वर-संग्रहाय सत्त्ववृत्तेः तज्जातीयत्वमत्र विवक्षणीयम्। बुद्धिवृत्तिश्च प्रदीपस्य शिखावद्बुद्धरग्रभागो येन चित्तस्यैकाग्रताव्यवहारो भवति। स एवाग्रभाग[1] इन्द्रियद्वारा बाह्यार्थं संयुज्य अर्थाकारेण परिणमते मूषानिक्षिप्तद्रुतताम्रवत्। तथा च सांख्यसूत्रम् 'भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः संबन्धार्थं सर्पतीति'(सां. ५. १०७.) इति। बुद्धिर्विषयेषु संबन्धार्थे सर्पति गच्छति इति हेतोर्वृत्तिर्न बुद्धेर्भागोऽग्नेः स्फुलिङ्गवद्विभक्तांशो बुद्धेरिच्छादिवद् गुणश्च न भवति, द्रव्यस्यैव क्रियासंभवादित्यर्थः। सा च वृत्तिः पुरुषे

कृति आदि रूप वृत्तियोका निरोध तो इन वृत्तियो के निरोधसे ही हो जाता है। इनमे प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये प्रमाण हैं।

इन्द्रियके द्वारा जो बुद्धिकी यथार्थ वृत्ति होती है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। ईश्वर की सत्ताका निश्चय करनेवाली वृत्तिको भी प्रमाण-वृत्तिमे ही सम्मिलित करनेके लिये उसे इसीकी जातिका कहना अभीष्ट है। बुद्धिकी वृत्ति दीपककी शिखाके समान बुद्धिका अग्रभाग है, जिससे कि चित्तका एकाग्रतारूप व्यवहार होता है। वह अग्रभाग ही मूषामे डाले हुए द्रवीभूत ताँबेके समान इन्द्रियके द्वारा बाह्य विषयसे मिलनेपर विषयाकारमे परिणत हो जाता है; जैसा कि साख्यसूत्र भी है—'वृत्ति चित्तके भाग और गुण दोनों हीसे भिन्न पदार्थ है, जो विषयसे-सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये जाती है।' तात्पर्य यह कि बुद्धि विषयोंसे सम्बन्ध करनेके लिये सरकती है—जाती है, इसलिये उसकी वृत्ति न तो अग्निकी चिनगारीके समान बुद्धिका भाग ही है और न इच्छादिके समान उसका गुण ही है, क्योकि क्रिया तो द्रव्य ही की

---

१ स एव च भाग—पा, २ पु.।

प्रतिबिम्बिता सती यद्भासते तदेव प्रमाणस्य फलं प्रमेत्युच्यते।
तदेव च द्रष्टुर्वृत्तिसारूप्यमप्युच्यते।

लिङ्गजन्या वृत्तिरनुमानं प्रमाणम्; शब्दजन्या वृत्तिश्च शब्दप्रमाणमिति। फलं तु सर्वत्र पौरुषेयो बोध एव, पुरुषार्थमेव करणानां प्रवृत्तेरिति।

विपर्ययवृत्तिश्च मिथ्याज्ञानं दोषजन्यम्। विकल्पवृत्तिस्तु 'राहोः शिरः' 'पुरुषस्य चैतन्यम्' इत्यादिरूपा। तस्याश्च विशेषदर्शनानिवर्त्यतामात्रेण विपर्ययाद् भेदः।

हो सकती है—ऐसा इसका तात्पर्य है। वही वृत्ति जो पुरुषमें प्रतिबिम्बित होकर भासती है, उसीको प्रमाणका फलरूप प्रमा कहते हैं। और वही द्रष्टाका वृत्तिसे सारूप्य कहा जाता है।

लिङ्गद्वारा उत्पन्न होनेवाली वृत्ति अनुमान प्रमाण है और शब्द द्वारा होनेवाली वृत्ति शब्द प्रमाण कही जाती है। इन सब प्रमाणोसे होनेवाला फल तो पुरुपसम्बन्धी बोध ही है; क्योंकि [बुद्धि आदि] करणोंकी प्रवृत्ति पुरुपके लिये ही है।

विपर्यय वृत्ति दोपजनित मिथ्या ज्ञान है। * तथा विकल्प वृत्ति 'राहुका शिर' 'पुरुपका चैतन्य' इत्यादि रूप ❁ है। विपर्ययसे इसका

* योगसूत्रोंमें विपर्ययका लक्षण इस प्रकार किया है—'विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्, (१।८) अर्थात् वस्तुके वास्तविक स्वरूपमें न रहनेवाला मिथ्याज्ञान ही विपर्यय है। रज्जुमें सर्प अथवा सीपीमें चाँदीकी प्रतीति इसके दृष्टान्त रूपसे कही जा सकती है। इसीको भ्रम कहते हैं।

❁ विकल्पका लक्षण करते हुए योगसूत्र कहता है—'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' अर्थात् जो शब्दज्ञान का अनुवर्तन करनेवाला किन्तु वस्तुशून्य हो, उसे विकल्प कहते हैं। शिरसे अतिरिक्त राहु और चैतन्यसे अतिरिक्त पुरुष कोई वस्तु नहीं हैं। अतः इन वाक्योंसे शब्द ज्ञान तो होता है किन्तु किसी वस्तु का बोध नहीं होता।

निद्रावृत्तिश्च 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्यादिस्मृतिहेतुरनुभवः सुषुप्तिकालीनः सुखादिविषयः। स्मृतिश्च संस्कारमात्रजन्या वृत्तिः। इति वृत्तयो व्याख्याताः।

निरोधो व्याख्यायते। निरोधो न नाशोऽभावसामान्यं वा, अभावानङ्गीकारात्, वक्ष्यमाणसंस्कारजनकत्वानुपपत्तेश्च। किं तु वृत्तितन्निरोधौ चित्तस्य स्वविषये प्रवृत्तिनिवृत्ती भावरूपे एव गतिप्रत्यागतिवत्पुरुषप्रयत्नजन्ये, प्रवृत्तिनिवृत्त्यो-रन्योन्याभावत्वे [1]विनिगमकाभावात्, प्रवृत्तिनिवृत्त्यौदासीन्य-

विशेषदर्शन होनेपर भी निवृत्त न होनेमें ही भेद है। *

'मैं सुखपूर्वक सोया' इस प्रकारकी स्मृतिका हेतुभूत जो सुखादिको विषय करनेवाला सुषुप्तिकालीन अनुभव है वही निद्रावृत्ति है तथा संस्कारमात्रसे उत्पन्न होनेवाली वृत्ति स्मृति है। इस प्रकार वृत्तियोंकी व्याख्या हुई।

निरोधनिरूपण

अब निरोधकी व्याख्या की जाती है। निरोध नाश या अभाव-सामान्यको नहीं कहते, क्योंकि उस अवस्थामें अभाव अंगीकार नहीं किया गया है और अभाव होनेपर तो आगे कहे जानेवाले संस्कारों का उत्पादक होना भी सम्भव नहीं होगा। प्रत्युत वृत्ति और उसके निरोध तो अपने विषयके प्रति चित्तकी भावरूपा प्रवृत्ति और निवृत्ति ही हैं, जो पुरुषके प्रयत्नसे होने वाली गति (जाने) और प्रत्यागति (लौटने) के ही समान हैं। यदि प्रवृत्ति और निवृत्ति एक-दूसरीकी अभावरूपा ही हों तो उनके स्वरूपका निर्णय करानेवाला कुछ भी नहीं रहेगा और न चित्तकी अवस्थाओंके प्रवृत्ति, निवृत्ति एवं उदासीनता—

---

[1] विनिगमनाभावात्—पा. २ पु.।

* विपर्यय या भ्रमकी निवृत्ति यथार्थ वस्तुका ज्ञान होनेपर हो जाती है, किन्तु विकल्पकी निवृत्ति तब भी नहीं होती।

रूपत्रैविध्यानुपपत्तेश्चेति । अतश्च भावत्वाविशेषाद् वृत्त्येव[1] निरोधेनापि संस्कारा जन्यते ; संस्कारवृद्धिं विनाऽनुदिनं योगस्य कालवृद्धौ नियामकान्तरासंभवादिति दिक् ।

योगसामान्यं लक्षितम् । तद्विशेष उच्यते । स योगो द्विविधः—संप्रज्ञातोऽसंप्रज्ञातश्च । तत्र सम्यक्प्रज्ञायते साक्षात्क्रियते ध्येयमस्मिन्निरोध इति संप्रज्ञातो ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधविशेषः । तथा च ध्येयसाक्षात्काराख्यफलोपहितनिरोधत्वं संप्रज्ञातत्वम् । एकाग्रताविशेषरूपधारणादित्रयकालीनानां निरोधानां प्रलयादिकालीननिरोधानां च व्यावर्तनायोपहितान्तम् । धारणादि-

ये तीन भेद ही हो सकेंगे । अतः भावत्वमें समानता होनेके कारण निरोधके समय भी वृत्तिके द्वारा ही संस्कारकी उत्पत्ति होती है, क्योंकि यह बात ध्यान देनेकी है कि संस्कारकी वृद्धि हुए बिना दिनोदिन योगमें कालकी वृद्धि होनेका कोई और कारण नहीं है ।

योग विशेषका निरूपण

योगसामान्यका लक्षण तो हो चुका, अब योगविशेषका वर्णन किया जाता है । वह योग दो प्रकारका है—संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात । जिस निरोधमें ध्येयका सम्यक् प्रज्ञान अर्थात् साक्षात्कार किया जाता है उसे संप्रज्ञात योग कहते हैं; यह ध्येयसे भिन्न वृत्तियोंका निरोधरूप है । इस प्रकार ध्येयसाक्षात्काररूप फलसे उपहित जो निरोधता है वही उसकी संप्रज्ञातता है । धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनो अवस्थाओं में होनेवाले एकाग्रता विशेषरूप निरोध और प्रलयादिके समय होनेवाले निरोधकी व्यावृत्तिके लिये इसे ध्येयसाक्षात्काररूप फलसे उपहित कहा गया है । धारणादि तीनो अवस्थाओंमें होनेवाला

---

१ वृत्त्या इव इति च्छेदः ।

त्रयकालीनस्तु निरोधो न साक्षात्कारहेतुः, विषयान्तरवासनायाः बलवत्तरतया प्रतिबन्धात्, योगजधर्मनाश्याधर्मेण प्रतिबन्धाच्चेति। संप्रज्ञातरूपो ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधश्च विषयान्तरसंचाराख्यप्रतिबन्धनिवृत्तिरूपतया विषयान्तरवासनाभिभवद्वारा च तथा धर्मविशेषद्वारा च ध्येयसाक्षात्कारे हेतुर्भवति। चित्तं हि[1] स्वत एव सर्वार्थग्रहणक्षमं विभु च भवति। तमसाऽऽवरणादेव तु न सदा सर्वं गृह्णाति। अतस्तमोवर्धकानां विषयान्तरसंचारवासनापापादीनां निरोधाख्ययोगतः क्षये स्वयमेव ध्येयं वस्तु साक्षात्क्रियते चित्तेनेति योगशास्त्रसिद्धान्तः। संप्रज्ञातस्य चातुर्विध्यमग्रे वक्ष्यते।

असंप्रज्ञातो लक्ष्यते। न किंचित्संप्रज्ञायतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या असंप्रज्ञातयोगः सर्ववृत्तिनिरोधः। तदा संस्कारमात्रशेषं चित्तं

योग साक्षात्कारका हेतु नहीं है, क्योंकि उसमे अन्य विषयोंकी वासनारूप अत्यन्त प्रबल प्रतिबन्ध रहता है तथा योगज धर्मसे नष्ट होनेवाला अधर्म भी उसका प्रतिबन्धक है। संप्रज्ञात योगरूप जो ध्येयातिरिक्त वृत्तियोंका निरोध है उसमे विषयान्तरके संचाररूप प्रतिबन्धकी निवृत्ति हो जाती है, अतः वह विषयान्तरकी वासनाओंको दबाकर धर्मविशेषके द्वारा ध्येयके साक्षात्कारमे हेतु होता है। चित्त तो स्वतः ही सम्पूर्ण विषयोंको ग्रहण करनेमें समर्थ और विभु है। तमोगुणसे आवृत होने के कारण ही वह सर्वदा सब कुछ ग्रहण नहीं कर सकता। अतः निरोधसंज्ञक योग के द्वारा विषयान्तरमें जानेवाली वासना और पाप आदि तमोवर्धक विकारोंके नष्ट हो जानेपर चित्तद्वारा स्वतः ही ध्येय वस्तुका साक्षात्कार कर लिया जाता है—यह योगशास्त्र का सिद्धान्त है। इस संप्रज्ञातयोग की चतुर्विधता का आगे वर्णन किया जायगा।

अब असम्प्रज्ञात योगका लक्षण किया जाता है। इसमें किसी भी

---

१ च—पा. २ पु.।

तिष्ठति, अन्यथा व्युत्थानानुपपत्तेः। तस्य च लक्षणं तत्त्वज्ञान-संस्कारादाहकत्वे सति सर्ववृत्तिनिरोधत्वम्। प्रलयादिकालीन-निरोधव्यावर्तनाय सत्यन्तम्।

इदानीमभ्यर्हितत्वादादौ योगफलमुच्यते। तत्र तावद्योगद्वय-साधारणं दृष्टं फलं वृत्तिनिरोधेन वृत्त्युत्थदुःखभोग-निवृत्तिः। अदृष्टं च फलं संप्रज्ञातस्य पूर्वोक्तद्वारैर्ध्येयसाक्षात्कारः, 'क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता-समापत्तिः' (यो. १. ४१.) इति सूत्रात्। ततश्चाविद्यादिक्लेशनि-

वस्तुका ज्ञान नहीं होता—इस व्युत्पत्तिसे सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोध असंम्प्रज्ञात योग है। उस समय चित्त संस्कारमात्र रह जाता है, नहीं तो व्युत्थान होना सम्भव नहीं था। अतः तत्त्वज्ञानके संस्कारोका दाहक न होकर भी सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोध हो जाना—यह इस योगका लक्षण है। इस लक्षणकी आवश्यकता प्रलयकालीन निरोध का इससे व्यावर्तन करनेके लिये है*।

योगका फल

अब अत्यन्त प्रयोजनीय होनेके कारण पहले इन योगोके फलका वर्णन किया जाता है। वृत्तिनिरोधके द्वारा वृत्तिजनित दुःखभोगकी निवृत्ति हो जाना—यह दृष्टफल तो [सप्रज्ञात और असंप्रज्ञात] दोनो ही योगोका समान है। किन्तु सम्प्रज्ञात योगका अदृष्ट फल है पूर्वोक्त साधनोंद्वारा ध्येय वस्तुका साक्षात्कार; जैसा कि 'जिसकी वृत्तियाँ क्षीण हो गयी है उस पुरुषकी ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्यमे स्वच्छ मणिके समान तत्स्थता (ध्येयमें स्थितिरूप) और तद्रूपतारूप समाधि होती है'

* क्योंकि प्रलयकालमे तत्त्वज्ञानके संस्कार नहीं रहते।

वृत्त्या मोक्षः । तथा सत्यां कामनायां भूतेन्द्रियप्रकृतिजयोत्थः स्वेच्छाभोगश्च[1] भवति । असंप्रज्ञातस्य त्वदृष्टं फलं तत्त्वज्ञानसाधारणानामखिलसंस्काराणां प्रारब्धकर्मणां च दाहाच्छीघ्रं स्वेच्छया मोक्षः[2] । तथा हि, तत्त्वज्ञानेन तावत् स्वसंस्कारः प्रारब्धकर्म च नातिक्रमितुं शक्यते, अविरोधात् 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये' (छा. ६. १४. २.) इति श्रुत्या ज्ञानिनो मोक्षे प्रारब्धनिमित्तकर्किचिद्विलम्बसिद्धेश्च ; ज्ञानेन प्रारब्धनाशे जीवन्मुक्तिश्रुतिस्मृतिविरोधाच्च; प्रारब्धकर्मणां ज्ञाननाश्यत्वस्य वेदान्तसूत्रेण प्रतिपिद्धत्वाच्च । योगस्य तु प्रारब्धकर्मनाशकत्वे[3] बाधकाभावेन,

इस सूत्रसे सिद्ध होता है । फिर अविद्यादिक्लेशोंकी निवृत्ति होनेपर मोक्ष होता है । और यदि कोई कामना रहती है तो भूत, इन्द्रिय और प्रकृतिके जयद्वारा उसे स्वेच्छाभोग भी प्राप्त होता है । तथा असम्प्रज्ञात योगका अदृष्ट फल है तत्त्वज्ञानमें सामान्यतया रहनेवाले सम्पूर्ण संस्कारोंके एवं प्रारब्धकर्मोंके भी दाहद्वारा स्वेच्छासे तत्काल मोक्ष प्राप्त हो जाना । बात यह है कि तत्त्वज्ञान तो अपने संस्कार और प्रारब्धकर्मोंका अतिक्रमण कर नहीं सकता, क्योंकि उनसे उसका विरोध नहीं है ? जैसा कि 'जबतक [जीवन्मुक्त] पुरुषकी उपाधि नहीं छूटती तभीतक उसे बिलम्ब है, उसके पश्चात् तो वह [परमतत्त्वसे] अभिन्न हो जाता है' इस श्रुतिसे ज्ञानीके लिये मोक्षमें प्रारब्धकर्मजनित कुछ विलम्ब सिद्ध होता है । यदि ज्ञानसे ही प्रारब्धका नाश माना जाय तो जीवन्मुक्तिसम्बन्धी श्रुति और स्मृतिका विरोध होगा तथा प्रारब्धकर्मोंके ज्ञानद्वारा नष्ट होनेका वेदान्तसूत्रोंने निषेध किया है । किन्तु योगके लिये तो प्रारब्धकर्मका नाश करनेमें कोई बाधक

---

१ स्वेच्छातो गतिश्च–पा. १ पु. । २ स्वेच्छाभोगश्च–इत्यधिकम् २ पु. ।
३ प्रारब्धनाशकत्वे–पा. १ पु. ।

"विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि ।
प्राप्नोति योगी योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिरात् ॥"

इति विलम्बाभावश्रवणेन च प्रारब्धकर्मनाशकत्वमस्ति । अतः प्रारब्धकर्मणोऽप्यतिक्रमेण शीघ्रमोक्षार्थिनो ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरमप्यसंप्रज्ञातयोगोऽपेक्ष्यत इति । अधिकं तु वार्तिकेऽस्माभिः प्रपञ्चितम् । एतेनासंप्रज्ञाताभावेऽपि प्रारब्धभोगानन्तरं ज्ञानिनां[1] मोक्षो भवत्येवेति सिद्धान्तो न विरुध्यते । तत्र च प्रमाणम् 'तस्य[2] तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये' इत्यादिश्रुतिः । अविद्याविनिवृत्तौ [3]बीजाभावात्पुनर्जन्मानुपपत्तिश्च । विमोक्ष्ये प्रारब्धकर्मणः सकाशाद्विमुक्तो भविष्यतीत्यर्थः ।

नहीं है तथा 'जिसे समाधि प्राप्त हो गयी है वह योगी योगाग्निके द्वारा कर्मराशिके भस्मीभूत हो जानेके कारण तत्काल उसी जन्ममें मुक्ति प्राप्त कर लेता है' इस वाक्यद्वारा योगीकी मुक्तिमे विलम्बका अभाव सुना गया है, अतः योगकी प्रारब्धकर्मनाशकता निश्चित ही है । इसलिये जिसे प्रारब्धकर्मका भी अतिक्रमण करके शीघ्र मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा हो उसे ज्ञानोत्पत्तिके पश्चात् भी असम्प्रज्ञात योगकी अपेक्षा है । इस विषयका विशेष विवेचन हमने योगवार्तिकमे किया है । इससे इस सिद्धान्तका भी कोई विरोध नही होता कि असम्प्रज्ञात योगके अभावमे भी ज्ञानी पुरुषोका प्रारब्धकर्मका भोग होनेके पश्चात् मोक्ष हो ही जाता है । इस विषयमे 'उसके मोक्षमे तभीतक विलम्ब है जबतक कि वह मुक्त नहीं होगा' इत्यादि श्रुति प्रमाण है । अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर बीज न रहनेके कारण उसका पुनर्जन्म होना तो सम्भव है नहीं । 'मुक्त नही होगा' अर्थात् प्रारब्धकर्मसे छूट नहीं जाता ।

---

1 ज्ञानिनो–पा. १ पु. । 2 तत्र–१ पु. ।
3 जीवा–पा. १ पु. ।

स्यादेतत् ।

"योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापजं रजः[1] ।
प्रसभं जायते ज्ञानं साक्षान्निर्वाणसिद्धिदम् ॥"

इत्यादिस्मृत्येकवाक्यतया योगस्य कर्मनाशकत्ववाक्यानि संप्रज्ञातयोगपराण्येव सन्त्विति ।

मैवम् । उक्तवाक्येन हि संप्रज्ञातयोगस्य ज्ञानप्रतिबन्धकपापमात्रनाशकत्वमवगम्यते, न सर्वकर्मनाशकत्वम्; तथा सति 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन' इत्यादिशास्त्रोक्तं ज्ञानस्य सर्वकर्मनाशकत्वमपि नोपपद्येत, ज्ञानहेतुना संप्रज्ञातयोगेनैव सर्वकर्मनाशात् । यत्तु योगस्य सर्वकर्मनाशकत्वं श्रूयते 'योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिरात्'इति तदसंप्रज्ञातयोगपरमेव । अतो

यहाँ यह शंका हो सकती है कि 'योगाग्नि तत्काल ही पापजनित सम्पूर्ण मलको भस्म कर देती है, और उससे तुरन्त ही साक्षात् मोक्षरूप सिद्धि देनेवाला ज्ञान उत्पन्न हो जाता है' इत्यादि स्मृतियों से एकवाक्यता की जाय तो योगके जो कर्मनाशकतापरक वाक्य हैं वे संप्रज्ञातयोगके ही विषयमें होने चाहिये ।

उत्तर—ऐसी बात नहीं है । उपर्युक्त वाक्यसे तो इतना ही जाना जाता है कि संप्रज्ञात योग ज्ञानके प्रतिबन्धक पापोंका ही नाश करनेवाला है; इससे उसकी सर्वकर्मनाशकता सूचित नहीं होती । ऐसा होनेपर तो 'हे अर्जुन ! ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्मीभूत कर देती है' इत्यादि शास्त्रद्वारा प्रतिपादित ज्ञानकी सर्वकर्मनाशकता ही उपपन्न नहीं होगी, क्योंकि फिर तो ज्ञानके हेतुभूत संप्रज्ञात योगसे ही सम्पूर्ण कर्मोंका नाश हो जायगा । योगकी जो 'योगाग्निदग्धकर्मचयोऽचिरात्' इत्यादि वाक्यद्वारा सर्वकर्मनाशकता सुनी जाती है, वह

---

१ पापपञ्जरम्—पा. २ पु. ।

नानयोर्वाक्ययोः संप्रज्ञातपरत्वेनैकवाक्यत्वं घटते। तस्मात्सं-प्रज्ञातयोगतज्जन्यज्ञानाभ्यामनाश्यस्य प्रारब्धकर्मणोऽसंप्रज्ञात-योगनाश्यत्वमेव 'योगाग्नि-' इत्यादिवाक्यार्थः।

किं च ज्ञानस्य योगस्य च कर्मनाशकत्वं सहकार्युच्छेदेन फलाक्षमीकरणमात्रम्। इदमेव च दाहः। तथा हि, ज्ञानेना-विद्यादिक्लेशक्षये सति क्लेशाख्यसहकार्युच्छेदादेव कर्मणा विपाक आरब्धुं न शक्यते, 'सति मूले तद्विपाकः—' (यो. २. १३.) इति सूत्रेण कर्मणां स्वमूले क्लेशे सत्येव विपाकारम्भवच-नाद्व्यासभाष्येण तथा व्याख्यानाच्च। अतो ज्ञानस्य कर्मनाश-कत्वदाहकत्ववचनं न्यायसिद्धानुवादमात्रम्।

तो असंप्रज्ञात योगके विषयमें ही है। अतः इन दोनों वाक्योंकी संप्रज्ञातयोगपरक होनेपर एकवाक्यता होनी सम्भव नहीं है। इसलिये जिस प्रारब्धकर्मका संप्रज्ञात योग और उससे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानसे नाश होना सम्भव नहीं है उसका असंप्रज्ञात योगद्वारा नाश हो सकना ही 'योगाग्नि' इत्यादि वाक्यका तात्पर्य है।

तथा ज्ञान और योगकी कर्मनाशकता तो सहकारी कारणके उच्छेदद्वारा कर्मोंको फलप्रदानमें असमर्थ कर देनामात्र ही है। और यही दाह कर देनेका भी तात्पर्य है। अभिप्राय यह कि ज्ञानके द्वारा अविद्यादि क्लेशोंका क्षय हो जानेपर इस क्लेशसंज्ञक सहकारी कारणका उच्छेद हो जानेसे ही कर्म अपना फल प्रदान करनेमें प्रवृत्त नहीं हो सकता; क्योंकि 'मूलमें क्लेशोंके रहनेपर ही कर्मोंका फल होता है' इस सूत्रद्वारा अपने मूलमें क्लेशोंके रहनेपर ही कर्मोंके फलप्रदानका आरम्भ बताया गया है और ऐसी ही इसकी व्यासभाष्यने व्याख्या भी की है। अतः ज्ञानकी कर्मनाशकता और दाहकताका वर्णन युक्ति-सिद्ध वस्तुका अनुवादमात्र ही है।

एवमेवासंप्रज्ञातयोगेनापि भोगहेतुवासनारूपः कर्मणां सहकार्येवोच्छिद्यते[1]। व्युथानसंस्काराणां निरोधसंस्कारैर्बलवत्तरैरुच्छेदस्य सूत्रभाष्याभ्यामुक्तत्वात्स्वानुभवसिद्धत्वाच्च। अतोऽसंप्रज्ञातयोगपरम्परया अखिलवासनाक्षये सति प्रारब्धफलकमपि कर्म फलसंपत्तये न समर्थं वासनाया अपि कर्मसहकारित्वस्य सूत्रभाष्ययोरवधृतत्वात्। ततश्चासमाप्तभोगकमेव प्रारब्धं कर्म स्वाश्रयचित्तनाशेन नश्यति, पुरुषप्रयोजनं विना चित्तस्यावस्थानाभावात् पुरुषार्थस्य चित्त[2]स्थितिहेतुत्वात्। तस्मादसंप्रज्ञातयोगस्य प्रारब्धकर्मदाहकत्वं युक्तितोऽपि सिद्धमिति दिक्।

तदेवं योगयोः फलमुक्तम्। इदानीं सम्प्रज्ञातयोगस्य अवान्तर-

इसी प्रकार असम्प्रज्ञात योगद्वारा भी भोगके हेतुभूत वासनारूप कर्मोंके सहकारी क्लेशका ही उच्छेद होता है, क्योंकि प्रबलतर निरोध संस्कारोंद्वारा व्युत्थानके संस्कारोंका उच्छेद हो जाता है—यह बात सूत्र और भाष्य दोनोंने कही है और अपने अनुभवसे भी सिद्ध है। अतः असंप्रज्ञात योगकी निरन्तरतासे सम्पूर्ण वासनाओंका क्षय हो जानेपर प्रारब्धरूपसे परिणत होनेवाला कर्म भी फलप्रदानमें समर्थ नहीं होता, क्योंकि सूत्र और भाष्य दोनों हीने वासनाको भी कर्मके सहकारीरूपसे निश्चय किया है। इसीसे जिसका भोग समाप्त नहीं हुआ ऐसा प्रारब्धकर्म भी अपने आश्रय चित्तका नाश होनेपर नष्ट हो जाता है, क्योंकि पुरुषके प्रयोजन बिना चित्तका स्थित रहना सम्भव नहीं है, कारण कि पुरुषका प्रयोजन ही चित्तकी स्थितिका हेतु है। अतः यह दिखला दिया गया कि युक्तिसे भी असंप्रज्ञात योगकी प्रारब्धकर्मदाहकता सिद्ध हो जाती है।

संप्रज्ञात योगके अवान्तर भेद

इस प्रकार दोनों तरहके योगोंका फल बतलाया गया। अब संप्र-

---

१ उत्साद्यते—पा. २ पु.। २ चिति—पा. २ पु.।

भेदा उच्यन्ते। तत्र संप्रज्ञातश्चतुर्विधः—वितर्कानुगतः, विचारानुगतः, आनन्दानुगतः, अस्मितानुगत इति। साक्षात्कारविशेषेषु तान्त्रिकं वितर्कादिपरिभाषाचतुष्टयम्। तैः सफलैः साक्षात्कारैः अनुगता उपहिताश्चित्तवृत्तिनिरोधा वितर्कानुगतादिसंज्ञका भवन्ति। वितर्कादिकं क्रमिकं भूमिकाचतुष्टयमुच्चारोहि[1]क्रमिकसोपानपरम्परावत्। अतो वितर्कादीनां[2] क्रमेणैव तदनुगतत्वेन निरोधस्यापि क्रमः कथ्यते, स्वतो निरोधे क्रमाभावात्। वितर्कादिक्रम औत्सर्गिकः। एकदा चित्तस्य परमसूक्ष्मप्रवेशस्य[3] प्रायशोऽसंभवात्। तथा च स्मर्यते—

"योगारम्भे मूर्तहरिममूर्तमथ चिन्तयेत्।
स्थूले[4] विनिर्जितं चित्तं ततः सूक्ष्मे शनैर्नयेत्॥" इति।

ज्ञात योगके अवान्तर भेदोंका वर्णन किया जाता है। संप्रज्ञात योग चार प्रकारका है—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत। ये वितर्कादि चारो परिभाषाएँ साक्षात्कारविशेषोंको सूचित करनेवाले लाक्षणिक शब्द हैं। उन फलसहित साक्षात्कारोंसे अनुगत—उपहित चित्तवृत्तियोंके निरोध वितर्कानुगत इत्यादि नामवाले होते हैं। ये वितर्कादि चार क्रमिक भूमिकाएँ ऊँचे चढ़नेवालेके लिये आवश्यक क्रमिक सोपानपरम्परा (सीढ़ी) के समान हैं। अतः वितर्कादिके क्रमके अनुसार ही, उनसे अनुगत रहनेके कारण, निरोधका भी क्रम बतलाया जाता है, स्वतः तो निरोधमें कोई क्रम है नहीं। यह वितर्कादि क्रम भी नाममात्रका ही है, क्योंकि एक साथ ही चित्तका अत्यन्त सूक्ष्म प्रवेश प्रायः असम्भव ही होता है। ऐसी ही स्मृति भी है—"योगके आरम्भमें पहले साकार भगवान्‌का और फिर निराकार का चिन्तन करे। पहले स्थूल आलम्बनमें एकाग्र हुए चित्तको ही फिर धीरे-धीरे सूक्ष्म आलम्बनमें ले जाय।"

---

१ उच्चारोहे–पा. २ पु.। २ वितर्काणां–पा. १ पु.।
३ सूक्ष्मे प्रदेशस्य–पा. २ पु.। ४ विनिर्मितं–पा. २ पु.।

तथा स्थूलादिविषयेषु रागादपि उत्तरोत्तरभूमिषु चित्तसमाधानं न संभवति । अतः स्थूलादिसाक्षात्कारेण तत्र तत्र दोषदृष्ट्या उत्तरोत्तरभूम्यारोहो राजमार्गः। यस्य तु कदाचिदीश्वरप्रसादादादावेवोत्तर[1]भूम्यारोहो भवति, तेन च पूर्वभूमिकाभ्यासस्तत्सिद्धिकामनां विना न कार्यः, उत्तरभूमिकारोहस्य फलस्य जातत्वात्। तदुक्तं भाष्यकारैः—'ईश्वरप्रसादादर्जितोत्तरभूमिकस्य नाधरभूमिषु[2] विनियोगस्तदर्थस्यान्यत एव सिद्धेः' इति।

एतच्च भूमिकाचतुष्टयमेकस्मिन्नेवालम्बने क्रमात्कर्तव्यम्, अन्यथा पूर्वपूर्वोपासनात्यागदोषापत्तेः । चित्तचाञ्चल्यदोष-

इसके सिवा स्थूल विषयोंमें राग रहनेके कारण भी आगे-आगेकी भूमियोंमें चित्तका समाहित होना सम्भव नहीं है। अतः स्थूलादि विषयोंका साक्षात्कार करके फिर उनमें दोषदृष्टि करते हुए आगे-आगे की भूमिकाओंमें आरूढ़ होना ही राजमार्ग है। किन्तु यदि कभी किसीको भगवत्कृपासे आरम्भमें ही आगेकी भूमिकापर अधिकार प्राप्त हो जाय तो उसे पूर्व भूमिकाओंका अभ्यास उनकी सिद्धिकी कामनाके बिना करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसे तो आगेकी भूमिकापर आरूढ़ होनेका फल प्राप्त हो चुका है। यही बात भाष्यकार (भगवान् व्यास) ने भी कही है—'भगवत्कृपासे जिसे आगेकी भूमिका प्राप्त है उसे नीचेकी भूमिकाओंमें लगनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसे तो उनका प्रयोजन अन्य प्रकार से ही प्राप्त हो चुका है।'

ये चारो भूमिकाएँ क्रमशः एक ही आलम्बनमें प्राप्त करनी चाहिये, नहीं तो पहली-पहली उपासनाका त्याग बैठनेका दोष प्राप्त होगा तथा चित्तकी चंचलताका दोष प्राप्त होनेकी भी नौबत आ जायगा। बात

१ प्रसादादेवोत्तर—पा. १ पु.। २ प्रसादाजितोत्तरभूमिषु—पा. २ पु.।

प्रसङ्गाच्च। तद्यथा, यद्विराट्शरीरं चतुर्भुजादिकं वा शरीरं[1] घटादिकं वा षड्विंशतितत्त्वसंघातं समष्टिव्यष्ट्यात्मकमधिकृत्य प्रथमं भावना प्रवर्तते तदालम्बनमित्युच्यते। तत्रालम्बने प्रथमं स्थूलाकारधारणाध्यानसमाधिभिर्यः स्थूलगताशेषविशेषाणामतीतानागतवर्तमानव्यवहितविप्रकृष्टानां गुणदोषरूपाणामश्रुतामतानां साक्षात्कारः स वितर्क इत्युच्यते। स्थूलशब्देन च भूतानीन्द्रियाणि चात्र गृह्यन्ते। तपोजपादिसाधनैर्ध्रुवादीनां चतुर्भुजादिसाक्षात्कारादयं साक्षात्कारो विलक्षणः। तेषां हि तपोध्यानादिना तुष्टः परमेश्वरः स्वयं शरीरं निर्माय पुरः प्रकटीभूय वागादिव्यवहारं चक्रे। योगिनस्तु योगबलेन वैकुण्ठश्वेतद्वीपादि-

ऐसी है कि योगीकी भावना आरम्भमे जिस बिराट् विग्रह, चतुर्भुजादि देवविग्रह अथवा घटादिके समान किसी छब्बीस तत्वो के समुदाय समष्टि या व्यष्टिरूप पदार्थको आश्रय बनाकर ही प्रवृत्त होती है, वही आलम्बन कहा जाता है। उस आलम्बनमे पहले जो स्थूल भागकी भूत, भविष्य, वर्तमान, ओझलमें रहनेवाली और दूरवर्ती गुण-दोष-रूपा सम्पूर्ण विशेषताओका, जिनको पहले न सुना हो और न जाना हो, साक्षात्कार होना है उसे ही 'वितर्क' कहते हैं। स्थूल शब्दसे यहाँ भूत और इन्द्रियाँ* ग्रहण की जाती हैं। तपस्या और जपादि साधनोंसे जो ध्रुवादिको चतुर्भुजादि भगवद्विग्रहोंका साक्षात्कार हुआ था उससे यह साक्षात्कार भिन्न प्रकारका है। उनके तो तप एवं ध्यानादिसे सन्तुष्ट होकर भगवान् स्वयं शरीर धारण करके उनके सामने प्रकट हुए थे और उनसे बातचीत आदि भी की थी। योगी लोग तो अपने

---

१ स्वशरीरं—पा. २ पु.।

* किन्हीं टीकाकारोंने इन्द्रियोंको आनन्दानुगत समाधिका आलम्बन माना है। इस मतका श्री विज्ञानभिक्षुने योगवार्तिक (१।१७) में खण्डन किया है।

स्थमेव चतुर्भुजादिशरीरमन्यत्र स्थिताः पश्यन्ति । तत्र च वाग्व्यवहारादिकं न संभवति । तथा[1] चतुर्भुजादिशरीरस्य बाह्याभ्यन्तराखिलगुणदोषादिकमतीतादिरूपं पश्यन्तीति विशेषः इति वितर्को व्याख्यातः ।

अथ विचारो व्याख्यायते । तत्रैवालम्बने स्थूलाकारसाक्षात्कारानन्तरं स्थूलाकारदृष्टिं त्यक्त्वा क्रमेण प्रकृतिपर्यन्तसूक्ष्माकारधारणादित्रयेण यः पूर्ववदशेषविशेषतस्तत्त्वात्सूक्ष्माकारसाक्षात्कारः स विचार इत्युच्यते । सूक्ष्मशब्दस्य कारणार्थकतया तत्र[2] तन्मात्राहंकारमहत्तत्त्वप्रकृतयः सूक्ष्मशब्देन गृह्यन्ते ।

ननु स्थूलालम्बने कथं सूक्ष्मदृष्टिर्यथार्था स्यादिति चेन्न । सर्वेषां शरीरघटादीनां षड्विंशतितत्त्वकार्यतया कार्यकारणाभेदेन

योगबलसे वैकुण्ठ और श्वेतद्वीपादिमें स्थित चतुर्भुजादि शरीरको ही अन्यत्र स्थित रहकर देख लेते हैं । वहाँ उनसे कोई वागादिका व्यवहार भी नहीं हो सकता । तथा उनमें इतनी विशेषता रहती है कि वे चतुर्भुजादि शरीरके बाहर-भीतर रहनेवाले भूत, वर्तमान और भावी सम्पूर्ण गुण-दोषादिको भी देख लेते हैं । यह वितर्ककी व्याख्या हुई ।

अब विचारकी व्याख्या की जाती है । उसी आलम्बनमें स्थूलाकारके साक्षात्कारके पश्चात् स्थूलाकार दृष्टिको त्यागकर फिर क्रमसे प्रकृतिपर्यन्त सूक्ष्माकार धारणादि तीनों (धारणा, ध्यान और समाधि) के द्वारा जो पूर्ववत् सम्पूर्ण विशेषताओंके सहित सूक्ष्माकारका साक्षात्कार है वह 'विचार' कहलाता है । 'सूक्ष्म' शब्द कारणवाचक है, अतः यहाँ सूक्ष्म शब्दसे तन्मात्र, अहंकार, महत्तत्व और प्रकृति ग्रहण की जाती हैं ।

यदि कहो कि स्थूल आलम्बनमें सूक्ष्म दृष्टि यथार्थ कैसे हो सकती है तो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि शरीर एवं घट आदि सभी पदार्थ छब्बीस तत्त्वोंके कार्य हैं, अतः कार्य और कारणका अभेद होनेके

१ तथाऽस्य—पा. २ पु. । २ अत्र—पा. २ पु. ।

षड्विंशतितत्त्वरूपत्वात्। तत्रापि कार्यरूपताया अस्थिरत्वेन कारणरूपताया एव सत्यत्वात्। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (छा. ६.) इति श्रुतेः।

ननु तथापि सूक्ष्माकारस्यादृष्टजातीयस्य कथं भावना स्यादिति चेत्।

न। श्रुतमतप्रकारैरेव सामान्यतो भावनासंभवात् अश्रुतामतविशेषस्य च योगजधर्मबलेन ग्रहणात्। एवं सर्वत्र। इति विचारो व्याख्यातः।

अथानन्दो व्याख्यायते। तत्रैवालम्बने सूक्ष्माकारसाक्षात्कारानन्तरं तामपि दृष्टिं त्यक्त्वा चतुर्विंशतितत्त्वानुगते सुखरूपपुरुषार्थे धारणादित्रयेण यः पूर्ववदशेषविशेषतः सुखाकार-

कारण वे सब छब्बीस तत्त्व रूप ही हैं। उसमें भी कार्यरूपता तो अस्थायी है, अतः कारणरूपता ही सत्य है; जैसा कि श्रुति कहती है—'विकार (घटादि कार्य) वाणीसे आरम्भ होनेवाला नाममात्र है, सत्य तो [कारणरूपा] मृत्तिका ही है।'

प्रश्न—यदि ऐसा भी हो तो भी जो दृष्टिका विषय नहीं हो सकता उस सूक्ष्माकारकी भावना कैसे हो सकती है ?

उत्तर—ऐसी बात नहीं है। यद्यपि सामान्य रूपसे तो सुनी और समझी हुई वस्तुओंकी ही भावना हो सकती है, तथापि योगबलके द्वारा बिना सुने और बिना समझे हुए पदार्थोंको भी ग्रहण किया जा सकता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये। यह विचार की व्याख्या हुई।

अब आनन्दकी व्याख्या की जाती है। उसी आलम्बनमें सूक्ष्माकारका साक्षात्कार करनेके पश्चात् उस दृष्टिको भी त्यागकर चौबीस तत्त्वोंमें अनुगत सुखरूप पुरुषार्थमें धारणादि तीनों करके जो पहले

साक्षात्कारः स आनन्द इत्युच्यते, ज्ञानज्ञेययोरभेदोपचारात्। यद्यपि प्रकृतेस्त्रिगुणात्मकत्वेन सुखवद्दुःखमोहावपि सर्वत्र स्तः, तथापि सुखरागेणैव संसारादात्मदर्शनप्रतिबन्धाच्च तदेव मुख्यतोऽशेषविशेषतो योगेन द्रष्टव्यम्, यथा तत्र दोषदर्शनेन दुःखदृष्ट्या वैराग्यं स्यादित्याशयेनानन्दमात्रे योग उपदिष्ट इति मन्तव्यम्। मोक्षधर्मे तु धर्मधर्म्यभेदेन धर्मान्तरवदानन्दमपि चतुर्विंशतितत्त्वेष्वेव प्रवेश्य संप्रज्ञातयोगस्य त्रैविध्यमेव प्रोक्तम्—

"वितर्कश्च विचारश्च विवेकश्चोपजायते।
मुनेः समादधानस्य प्रथमं योगमादितः॥" इति।

प्रथमं योगं संप्रज्ञातं समादधानस्य कुर्वतः मुनेः आदितः क्रमेण वितर्कादित्रयं जायत इत्यर्थः। तत्र च विवेको वक्ष्य-

ही के समान सम्पूर्ण विशेपताओंके सहित सुखका साक्षात्कार करना है वह 'आनन्द' कहलाता है, क्योंकि उपचारसे ज्ञान और ज्ञेयका अभेद स्वीकार किया गया है। यद्यपि प्रकृति त्रिगुणमयी होनेके कारण सुखकी तरह दुःख और मोह भी सर्वत्र है, तथापि सुखके रागसे ही संसारसे आत्मदर्शनका प्रतिबन्ध है, अतः योगद्वारा सम्पूर्ण विशेषताओंके सहित उसीका साक्षात्कार करना चाहिये, जिससे कि दोषदर्शनके द्वारा दुःखदृष्टि होकर वैराग्य हो जाय। इसी आशयसे आनन्दमात्रमे योगका उपदेश किया है—ऐसा समझना चाहिये। [1]मोक्ष धर्ममे तो धर्म और धर्मीका अभेद मानकर धर्मान्तरके समान आनन्दको भी चौबीस तत्वो के अन्तर्गत ही मानकर संप्रज्ञात समाधिके तीन भेद बतलाये हैं— 'प्रथम योगमें समाहित होनेवाले मुनिको आरम्भसे वितर्क, विचार और विवेककी उत्पत्ति होती है।' तात्पर्य यह कि प्रथम अर्थात् संप्रज्ञात योगमें समाहित—उसका अभ्यास करनेवाले मुनिको आरम्भसे—क्रमशः वितर्कादि तीन प्रकारके योग उत्पन्न होते हैं। इनमे विवेक आगे

1. महाभारत शान्तिपर्वका एक उपपर्व।

माणास्मितेति। इत्यानन्दो व्याख्यातः।

अथास्मिता व्याख्यायते। एवं भूमिकाक्रमेण स्थूलसूक्ष्मानन्दानां स्वरूपाणि दोषबहुलानि साक्षात्कृत्य तेभ्यो विरज्य तत्रैवालम्बने यः कूटस्थविभुचिन्मात्रत्वादिरूपैस्तेभ्यो विवेकत आत्माकारसाक्षात्कारः सोऽस्मितेत्युच्यते, 'देहादिभिन्नोऽस्मि' इत्येतावन्मात्रा[1]कारत्वात्। आत्मज्ञानानन्तरं च ज्ञातव्यं नास्तीत्यतोऽस्मिता चरमभूमिका भवति। अस्यैव चात्मसाक्षात्कारस्य पराकाष्ठा धर्ममेघसमाधिरित्युच्यते यस्योदये ज्ञानेऽप्यलं प्रत्ययरूपेण परवैराग्येण असंप्रज्ञातयोगो जायत इति।

अस्याश्चास्मितायाः द्वौ विषयौ चतुर्विंशतितत्त्वविवेकत आत्मसामान्यं पञ्चविंशतितत्त्वविवेकतः परमात्मा च। तयोरप्यौत्सर्गिको आत्मसामान्यं भूमिकाक्रमोऽस्ति,

बतायी जानेवाली अस्मिता है। इस प्रकार आनन्द की व्याख्या हुई।

अब अस्मिताकी व्याख्या की जाती है। इस प्रकार भूमिका क्रमसे स्थूल सूक्ष्म और आनन्द रूपोंका, जिनमें अनेकों दोष हैं, साक्षात्कार करके उनसे वैराग्य होनेपर उसी आलम्बनमे जो कूटस्थ विभु एवं चिन्मात्र आदि रूपसे विवेक करके आत्माका साक्षात्कार किया जाता है वह 'अस्मिता' कहलाता है, क्योंकि 'मैं देहादिसे भिन्न हूँ' इतना ही उसका आकार होता है। आत्मज्ञानके पश्चात् और कुछ जानने योग्य नहीं रहता, इसलिये अस्मिता ही अन्तिम भूमिका है। इस आत्मसाक्षात्कारकी पराकाष्ठा ही धर्ममेघ समाधि कही जाती है, जिसका उदय होनेपर ज्ञानमें भी अलंबुद्धिरूप पर वैराग्यके द्वारा असंप्रज्ञात योग प्राप्त होता है।

इस अस्मिताके विषय दो होते हैं—(१) चौबीस तत्वोंके विवेक द्वारा आत्मसामान्य (पुरुष), (२) पच्चीस तत्वोंके विवेक द्वारा परमात्मा। इन दोनों साक्षात्कारोंका भी पहले ही के समान भूमिका

१ एतन्मात्रा—पा० २ पु०

"चतुर्विंशतितत्त्वेभ्यः ख्यातो यः पञ्चविंशकः।
विवेकात्केवलीभूतः षड्विंशं[1] सोऽनुपश्यति ॥"

इति स्मृतेः। जीवापेक्षयापि परमात्मनः सूक्ष्मत्वाच्च। जीवस्य हि स्वरूपं[2] प्रत्यक्षमस्ति तत्रैव ज्ञानेऽपरिच्छिन्नकूटस्थत्वादि-ज्ञानस्यैवात्मसाक्षात्काररूपत्वात्। परमात्मनस्तु तदप्रत्यक्षमिति[3]। तत्रात्मसामान्यविषयको योगः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिशब्देन स्थले स्थले सूत्रभाष्ययोरुक्तः। परमात्मयोगस्तु 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'(यो. १. २३.) इति सूत्रेण तद्भाष्येण चोक्तः। तथा मात्स्यकौर्मयोरपि—

"योगी च त्रिविधो ज्ञेयो भौतिकः सांख्य एव च।
तृतीयोऽन्त्याश्रमी प्रोक्तो योगमुत्तममास्थितः॥

क्रम है, जैसा कि यह स्मृति कहती है—'चौबीस तत्वोके विवेक द्वारा जो पच्चीसवॉ तत्व ज्ञात होता है उससे भी अलग होकर जो केवली भावमे स्थित हैं वह छब्बीसवे तत्व (परमात्मा) का साक्षात्कार कर लेता है।' इसके सिवा जीवकी अपेक्षा परमात्मा सूक्ष्मतर भी है, [इसलिये भी यह आगेकी भूमिका है।] जीवका स्वरूप तो प्रत्यक्ष ही है; उस जीवके अनुभवमे ही ऐसा ज्ञान होना कि यह अपरिछिन्न और कूटस्थ है—बस, यही आत्मसाक्षात्कारका स्वरूप है। किन्तु परमात्माका ज्ञान जीवको प्रत्यक्ष नहीं है। इसीसे आत्मसामान्यविषयक योगका वर्णन तो सत्त्वपुरुषान्यताख्याति शब्दसे सूत्र और भाष्य दोनो ही में जगह-जगह किया है। परन्तु परमात्म योगका तो केवल 'ईश्वर-प्रणिधानाद्वा' इस सूत्र और इसके भाष्यद्वारा ही उल्लेख हुआ है। ऐसा ही मत्स्य और कूर्म पुराणोंमे भी कहा है—

'योगी तीन प्रकारका समझना चाहिये—(१) भौतिक, (२) साख्य और (३) अन्त्याश्रमी, जो उत्तम योगमें स्थित तृतीय योगी

---

१ षड्विंशः—पा. १ पु.। २ स्वरूपज्ञानं—पा. २ पु.।
३ तदप्यप्रत्यक्षमिति—पा. २ पु.।

प्रथमा भावना पूर्वे सांख्ये त्वक्षरभावना ।
तृतीये चान्तिमा[1] प्रोक्ता भावना पारमेश्वरी ॥" इति ।

अत्र भूतशब्दोऽखिलजडोपलक्षकः[2]। अन्त्याश्रमी परमहंसः। प्रथमा भूतभावना। पूर्वे प्रथमयोगिनि। सांख्ये तु मध्यमयोगिन्यक्षरभावना कूटस्थचित्सामान्यभावना। तृतीये च परमहंसेऽन्तिमा अन्ते कर्तव्या पारमेश्वरी परमात्मगोचरा भावनेत्यर्थः। अतः सर्वेषु संप्रज्ञातेषु मध्ये पारमेश्वरयोग एव श्रेष्ठः। तथा कौर्मेऽप्युक्तम्—

यत्र पश्यसि[3] चात्मानं नित्यानन्दं निरञ्जनम् ।
मामेकं स महायोगो भाषितः पारमेश्वरः ॥

कहा जाता है। पहले योगीमें प्रथमा (भूतसम्बन्धिनी) भावना रहती है, सांख्यमें अक्षरकी भावना रहती है और तीसरे योगमें परमेश्वर-सम्बन्धिनी अन्तिम भावना कही गयी है।

यहाँ 'भूत' शब्द सम्पूर्ण जड़वर्गका उपलक्षक है। अन्त्याश्रमी परमहंसको कहते हैं। प्रथमा—भूतसम्बन्धिनी भावना पूर्वमें प्रथम योगीमें रहती है। सांख्यमें अर्थात् मध्यम योगीमें अक्षर भावना—कूटस्थ चित्सामान्यकी भावना रहती है। तथा तीसरे—परमहंसमें अन्तिम—अन्तमें करने योग्य पारमेश्वरी अर्थात् परमात्माको विषय करनेवाली भावना रहा करती है—ऐसा इसका तात्पर्य है। अतः सब प्रकारके सम्प्रज्ञात योगोंमें पारमेश्वर योग ही श्रेष्ठ है। कूर्मपुराणमें भी ऐसा ही कहा है—

'जिस योगमें तुम मुझे एक नित्यानन्द, निरञ्जन आत्मा रूपसे देखते हो वह महायोग परमेश्वरसम्बन्धी कहा जाता है। सम्पूर्ण

---

१ चरमा-पा. २ पु.। २ लक्षणः-पा. १ पु.।
३ पश्यति-पा. २।३ पु.।

ये चान्ये योगिनां योगाः श्रूयन्ते ग्रन्थविस्तरे ।
सर्वे ते ब्रह्मयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥
यत्र साक्षात्प्रपश्यन्ति विमुक्ता विश्वमीश्वरम् ।
सर्वेषामेव योगानां स योगः परमो मतः ॥" इति ।

नन्वस्मितायाः कथमचेतनेषु घटाद्यालम्बनेषु संभव इति चेन्न । कारणरूपेण जीवेश्वरयोः सर्वत्रानुगमात्, मुक्तात्मनां च विभुत्वेन सर्वत्रानुगमादिति ।

तदेवं संप्रज्ञातयोगस्य चत्वारो भेदा निरूपिताः[1] । तेषु च वितर्काद्याश्चत्वारः स्थूलादिसाक्षात्काराः समापत्तिशब्देनापि तन्त्रे परिभाषिताः । तत्र च वितर्कानुगतविचारानुगतयोर्यौ वितर्कविचारौ विशेषणो तावपि प्रत्येकं द्विविधौ भवतः । तयो-

ग्रन्थोंमे योगियोंके और जितने भी योग सुने जाते हैं वे इस ब्रह्मयोगकी सोलहवीं कलाके समान भी नहीं हो सकते । जिस योगमें युक्त पुरुष साक्षात् विश्वात्माका साक्षात्कार करते हैं, वह सभी योगोमे श्रेष्ठ माना गया है ।'

यदि कहो कि घटादि अचेतन आलम्बनोंमे अस्मिताका साक्षात्कार होना कैसे सम्भव है, तो यह बात ठीक नहीं, क्योंकि कारण रूपसे जीव और ईश्वर सभी जगह अनुगत हैं तथा विभु होनेके कारण मुक्तात्मा भी सर्वत्र व्याप्त हैं ।

इस प्रकार संप्रज्ञात योगके चार भेदों का निरूपण हुआ । शास्त्र में ये स्थूलादि आलम्बनोंमें होनेवाले वितर्कादि चार साक्षात्कार 'समापत्ति' शब्दसे भी कहे गये हैं । इनमें वितर्कानुगत और विचारानुगत समापत्तियों मे होनेवाले वितर्क और विचारसंज्ञक साक्षात्कारोंमें से प्रत्येकविशेष रूपसे दो-दो प्रकारका है । उनमें वितर्क सवितर्क और

---

१ प्रदर्शिताः–पा. ३ पु. ।

वितर्कः सवितर्कनिर्वितर्करूपेण द्विधा। विचारश्च सविचारनिर्वि-
चाररूपेण द्विधा। तद्यथा। भूतेन्द्रियरूपस्थूलसाक्षात्कारो योवितर्क
इत्युक्तः स चेच्छब्दार्थज्ञानानां विकल्पेन मिश्रितो भवति तदा सवि-
तर्कसमापत्तिरित्युच्यते। तेन शून्या च निर्वितर्कसमापत्तिरिति।

अथ कः शब्दार्थज्ञानविकल्प इति। उच्यते। हरिरिति शब्दो
हरिरित्यर्थो हरिरिति ज्ञानम्, इत्येवं त्रयाणां शब्दार्थज्ञानानामे-
काकारत्वेनाभेदभ्रमः पूर्वोक्तविकल्परूपः शब्दार्थज्ञानविकल्पः।
तद्युक्तश्च स्थूलसाक्षात्कारः सवितर्कः सविकल्प[1] इति चोच्यते।
तच्छून्यश्च स्थूलसाक्षात्कारो निर्वितर्को निर्विकल्प इति चोच्यते।
निर्विशेषणात्मादिसाक्षात्कारो निर्विकल्प[2] इत्याधुनिकतार्किक-
प्रलापस्त्वप्रामाणिक एवेति मन्तव्यम्।

निर्वितर्करूपसे दो प्रकार का है तथा विचार सविचार एवं निर्विचार-
रूपसे दो प्रकार का। इसका विवरण इस प्रकार है—जो भूत और
इन्द्रियरूप स्थूल साक्षात्कार वितर्क कहा गया है वह यदि शब्द अर्थ
और ज्ञानके विकल्पसे मिला होता है तो वह सवितर्क समापत्ति कहा
जाता है और उनसे शून्य होनेपर निर्वितर्क समापत्ति कहलाता है।

अब यह बतलाया जाता है कि यह शब्द अर्थ और ज्ञानका
विकल्प क्या है। 'हरि' यह शब्द है, 'हरि' यह अर्थ है और 'हरि'
यह ज्ञान भी है—इस प्रकार शब्द अर्थ और ज्ञान इन तीनमें जो
अभेदरूपसे एकताका भ्रम हो रहा है वही पूर्वोक्त विकल्परूप शब्द
अर्थ और ज्ञानका विकल्प है। इससे युक्त जो स्थूल वस्तुका साक्षात्कार
है वह सवितर्क-सविकल्प कहा जाता है। तथा इससे शून्य स्थूल साक्षा-
त्कार निर्वितर्क-निर्विकल्प कहलाता है। विशेषणशून्य आत्मा आदिका
साक्षात्कार निर्विकल्प है—यह आज-कलके तार्किकोंका प्रलाप तो
अप्रामाणिक ही है—ऐसा समझना चाहिये।

---

१ वितर्क इति—पा. १ पु.। सविकल्प—पा. ३ पु.।

२ निर्विकल्पक—पा. २ पु.।

अत्र[1] शब्दादिविकल्पो विकल्पसामान्योपलक्षकः, युक्तिसाम्यात्। तेन च सवितर्का समापत्तिरपरप्रत्यक्षमुच्यते, विकल्परूपाविद्यालेशसंपर्कात्। निर्वितर्का तु समापत्तिः परप्रत्यक्षमुच्यते[2], आरोपसामान्याभावात्। इति वितर्कस्य द्वैविध्यमुक्तम्।

विचारस्य द्वैविध्यमुच्यते। तन्मात्रादिप्रकृतिपर्यन्तसूक्ष्मसाक्षात्कारो यो विचार इत्युक्तः स चेत्स्वस्वविकाराणां देशकालादीनां चानुभवेन मिश्रितो भवति तदा सविचारसमापत्तिरुच्यते। तेन शून्या च निर्विचारसमापत्तिरिति।

तदित्थं संप्रज्ञातस्य भेदा उक्ताः। सर्वे च ते[3] संप्रज्ञातयोगाः सालम्बनयोगा इति सबीजयोगा इति चोच्यन्ते, ध्येयरूपालम्बनयोगात्, तदाऽपि वृत्तिबीजसंस्कारोत्पत्तेश्चेति।

यहाँ शब्दादि विकल्प सामान्यतया विकल्पमात्रको उपलक्षित करानेवाला है, क्योंकि विकल्पमात्रमें एकही-सी युक्ति है। अतः सवितर्का समापत्ति अपर प्रत्यक्ष कही जाती है, क्योंकि उसके साथ वितर्करूप अज्ञानलेशका संपर्क रहता है, और निर्वितर्का समापत्ति पर प्रत्यक्ष कहलाता है, क्योंकि उसमें इस सामान्य आरोपका अभाव है। इस प्रकार वितर्कके दो प्रकारोंका निरूपण हुआ।

अब विचारकी द्विविधता बतलाते हैं। तन्मात्रोंसे लेकर प्रकृतिपर्यन्त सूक्ष्म तत्त्वोंका जो साक्षात्कार 'विचार' कहा जाता है, वह यदि अपने विकार देश-काल आदिके अनुभवसे मिला हुआ होता है तो सविचार समापत्ति कहलाता है और जो उससे शून्य हो उसे निर्विचार समापत्ति कहते हैं।

इस प्रकार यह सम्प्रज्ञात योगके भेदोंका निरूपण हुआ। ये सभी सम्प्रज्ञात योग सालम्बन योग हैं, इसलिये सबीज योग कहे जाते हैं, क्योंकि इनमें ध्येयरूप आलम्बनका सम्बन्ध रहता है और ऐसी स्थितिमें भी वृत्तिके बीजरूप संस्कारकी उत्पत्ति हो सकती है।

---

१ न च–पा. १ पु.। २ उच्यते–इति नास्ति १ पु.।
३ सर्वे चैते–पा. २। ३ पु.।

संप्रज्ञातयोगिनः चतुर्भूमिका भवन्ति। तद्यथा प्रथमकल्पिको[1] मधुभूमिकः प्रज्ञाज्योतिरतिक्रान्तभावनीयश्च। तत्र सवितर्कसमापत्तिमान् प्रथमः, शब्दार्थज्ञानविकल्पापरित्यागात्। निर्वितर्कसमापत्तिमान् द्वितीयः। स च ऋतंभरप्रज्ञ इत्युच्यते, तत्प्रज्ञायामसदारोपसंपर्कासंभवात्। इयं च भूमिका मधुमत्यप्युच्यते। मधुवत् तृप्तिहेतुना प्रज्ञया योगात्। ततश्च क्रमेण निर्विचारसमापत्तिनिष्ठया प्रकृतिपर्यन्तजयी तृतीयः। अस्यामेव च भूमिकायामानन्दानुगतस्य प्रवेशः। ततश्चास्मितानुगतयोगनिष्पत्तिपर्यन्तश्चतुर्थः। अस्याश्च भूमिकाया धर्ममेघाख्यसमाधिना परिसमाप्तिर्भवति। धर्ममेघसमाधिस्तु[2] तदोच्यते यदा सिद्धि-

संप्रज्ञात योगीकी चार भूमिकाएँ

संप्रज्ञात योगीकी चार भूमिकाएँ होती है यथा—प्रथमकल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति और अतिक्रान्तभावनीय। इनमे पहला योगी सवितर्क समापत्तिवाला होता है, क्योंकि वह शब्द अर्थ ज्ञानरूप विकल्पका त्याग नहीं करता। दूसरा निर्वितर्क समापत्तिवाला होता है। वही ऋतम्भरप्रज्ञावाला कहा जाता है, क्योंकि उसकी प्रज्ञा (बुद्धि) मे असत् वस्तुके आरोपका सम्पर्क होना सम्भव नहीं है। यह भूमिका मधुमती भी कही जाती है, क्योंकि इसमे मधुके समान तृप्तिकी हेतुभूता प्रज्ञासे योग हो जाता है। इसके पश्चात् निर्विचार समापत्तिकी स्थिति-द्वारा प्रकृतिपर्यन्त सूक्ष्म तत्त्वोपर अधिकार प्राप्त कर लेनेवाला योगी तीसरी भूमिकावाला कहा जाता है। इसी भूमिकामे आनन्दानुगत समापत्तिका प्रवेश होता है। फिर अस्मितानुगत योगकी निष्पत्तिपर्यन्त चौथी भूमिका होती है। इस भूमिकाकी परिसमाप्ति धर्ममेघसज्ञक समाधिके रूपमे होती है। धर्ममेघसमाधि उस समय कही जाती है जब

---

१ प्राथमिको—पा. २ पु.।   २ अ-पा. १ पु.।

कामनात्यागेन निरन्तरोत्पन्नात् सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिप्रवाहात् सवासनाविद्यानिवृत्त्या प्रयोजनाभावेन तस्यामपि ख्यातौ दुःखात्मिकायामलंप्रत्ययरूपं परवैराग्यं जायते यदुत्तरमसंप्रज्ञातयोग उदेतीति सर्वज्ञतादिजनकं प्रकृष्टं धर्मं मेहति वर्षतीति व्युत्पत्त्या धर्ममेघः समाधिरुच्यते । अस्यामवस्थायां जीवन्मुक्त इत्युच्यते ।

नन्वेवं किं सर्वज्ञतादिकं विना जीवन्मुक्तिपरममोक्षौ न स्तः ?

न न स्तः, भाष्यवाक्यात् । तद्यथा । सर्वज्ञत्वपर्यन्ताखिलयोगसिद्धिव्याख्यानानन्तरं भाष्यम्— "ईश्वरस्यानीश्वरस्य वा[१]

सिद्धियोंकी कामनाएँ त्याग देनेपर निरन्तर उत्पन्न हुए पुरुष-प्रकृतिके विवेकके प्रवाहद्वारा वासनासहित अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर कोई प्रयोजन न रहनेके कारण योगीको उस दुःखात्मिका विवेकख्यातिमें भी अलंबुद्धिरूप परवैराग्य प्राप्त होता है । उसके पश्चात् असंप्रज्ञात योगका उदय होता है । इस प्रकार यह सर्वज्ञतादिको उत्पन्न करनेवाले प्रकृष्ट धर्मरूप मेघकी वर्षा करती है, इस व्युत्पत्तिसे यह समाधि धर्ममेघ कही जाती है । इस अवस्थामें योगी 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है ।

प्रश्न—इस प्रकार सर्वज्ञतादिके बिना क्या जीवन्मुक्ति* और परममुक्ति√ की प्राप्ति नहीं होतीं ?

उत्तर—नहीं होतीं—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि भाष्यका ऐसा ही वचन है; जैसा कि सर्वज्ञत्वपर्यन्त सम्पूर्ण योगसिद्धियोंकी व्याख्या करनेके पश्चात् भाष्य कहता है—'ईश्वर (सिद्धियोंके सहित) हो अथवा अनीश्वर (सिद्धिसे रहित) या जिसे विवेकजनित ज्ञान प्राप्त

---

१ च—पा. २ पु. ।

* जीवित रहते हुए ही पुरुषख्यातिके कारण अपनेको मुक्तरूप अनुभव करना ।

√ देहत्यागके पश्चात् प्रकृति और प्राकृत पदार्थोंसे मुक्त हो जाना ।

प्राप्तविवेकजज्ञानस्येतरस्य वा न दग्धक्लेशबीजस्य ज्ञाने पुनरपेक्षा काचिदस्ति सत्त्वशुद्धिद्वारेण त्वेतत्समाधिजमैश्वर्यं ज्ञानं चोपक्रान्तम्। परमार्थतस्तु ज्ञानाददर्शनं निवर्तते। तस्मिन्निवृत्ते न सन्त्युत्तरक्लेशाः। क्लेशाभावात् कर्मविपाकाभावः। चरिताधिकाराश्चैतस्यामवस्थायां गुणा न पुरुषस्य [1]दृश्यत्वेनोपतिष्ठन्ते। तत्पुरुषस्य कैवल्यम्।" (यो. भा. ३. ५५.) इति।

अत्र विवेकजज्ञानं विवेकख्यातेः सिद्धिः सर्वज्ञता पूर्वसूत्रप्रोक्ता। सत्त्वशुद्धिस्तु भुक्तवैराग्यमिति। अतः सार्वज्ञ्यादिपर्यन्तधर्ममेघसमाध्यनुत्पादेऽपि अभिमानरागद्वेषादिरूपभवबीजदाहेनैव

हो गया है ऐसा कोई अन्य पुरुष हो, इस प्रकार जिसके क्लेशके बीजोका दाह हो गया है उस पुरुषको ज्ञानके लिये किसी और स्थिति की अपेक्षा नहीं रहती। चित्तकी शुद्धिके द्वारा ही इस समाधिजनित ऐश्वर्य और ज्ञानकी प्राप्ति बतायी गयी है। वस्तुतः तो ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है और उसके निवृत्ति होनेपर आगेके* क्लेश नहीं होते तथा क्लेश न रहनेपर कर्मोका परिणाम नहीं होता। इस प्रकार अधिकार समाप्त हो जानेके कारण इस अवस्थामे गुण पुरुषके दृश्यरूपसे सामने नहीं आते। यही पुरुषका कैवल्य है।

यह जो विवेकज ज्ञान है वह पूर्वसूत्रमें कही हुई विवेकख्यातिकी सर्वज्ञतारूप सिद्धि है और भोगी हुई वस्तुओके प्रति वैराग्य होना ही चित्तकी शुद्धि है। अतः सर्वज्ञतादिपर्यन्त धर्ममेघ समाधिकी उत्पत्ति न होनेपर भी अभिमान एवं राग-द्वेषादि संसारके बीजोका दाह हो जानेके

---

1 ज्ञेयत्वे–पा. १ पु.।

* अविद्यासे आगेके अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश संज्ञक चार क्लेश।

मुक्तिद्वयमिति सांख्यसिद्धान्तोऽत्राप्यनुमतः[1]। असंप्रज्ञातयोगस्तु अखिलवासनाक्षयेण प्रारब्धातिक्रमद्वारा झटिति स्वेच्छया मोक्ष एवोपयुज्यते न तु नियमेनेति प्रागेवोक्तम्। इति संप्रज्ञातः प्रपञ्चितः।

इदानीमसंप्रज्ञातः प्रपञ्च्यते। असंप्रज्ञातयोगो द्विविधः—उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च। शास्त्रोक्तोपायानुष्ठानादिहैव लोके योऽसंप्रज्ञातो जायते स उपायप्रत्ययः, प्रत्ययशब्दस्य कारणवाचित्वात्। उपायाश्च श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञारूपा इति (यो. १. २०,) सूत्रेणोक्ताः। तत्र श्रद्धा योगे प्रीतिः। वीर्यं चित्तस्य धारणा। स्मृतिर्ध्यानम्। समाधिर्योगस्य चरमाङ्गम्।

कारण ही दोनों प्रकारकी मुक्तियाँ हो सकती हैं—इसप्रकार यहाँ भी सांख्यके सिद्धान्तसे भाष्यका एक ही मत है। किन्तु यह बात तो पहले ही कही जा चुकी है कि असंप्रज्ञात योग तो सम्पूर्ण वासनाओंके क्षय-द्वारा प्रारब्धका भी अतिक्रमण करके स्वेच्छासे तत्काल ही मोक्ष दिलानेमें उपयोगी है, उसमे किसी नियमकी आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार सम्प्रज्ञात योगकी व्याख्या हुई।

असंप्रज्ञात योग

अब असंप्रज्ञात योगकी व्याख्या की जाती है। असंप्रज्ञात योग दो प्रकारका है। उपायप्रत्यय और भवप्रत्यय। शास्त्रोक्त उपायोंके अनु-ष्ठानद्वारा जो असंप्रज्ञातयोग इस लोकमें ही प्राप्त होता है वह उपाय-प्रत्यय कहा जाता है। यहाँ 'प्रत्यय' शब्द कारणवाची है। उपाय श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञारूप हैं—इस प्रकार प्रथमपादके बीसवें सूत्रमें बताये गये हैं। इनमे श्रद्धाका अर्थ है योगमे प्रीति होना, वीर्य चित्तकी धारणाको कहते हैं, स्मृति ध्यानका नाम है, समाधि योगका अन्तिम अंग है और प्रज्ञा संप्रज्ञातयोगजनित साक्षात्कारको

---

[1] अनुमन्तव्यः—पा. २ पु.। उपपादितः—पा. ३ पु.।

प्रज्ञा संप्रज्ञातयोगजन्यसाक्षात्कारः। एतानि क्रमेण वक्ष्यमाणपरवैराग्यद्वारेण असंप्रज्ञातस्योपाया भवन्ति। तेषां चोपायानामतिशीघ्रतीव्रतरानुष्ठानादासन्नतरोऽसंप्रज्ञातपर्यन्तयोगस्तत्फलं मोक्षश्च भवति। उपायानुष्ठानमान्द्येऽपि चेश्वरप्रणिधानादासन्नतरौ तौ भवतः, परमेश्वरप्रणिधानेन तदनुग्रहादिति।

अथ क ईश्वरः किं वा तत्प्रणिधानम्?

उच्यते। अविद्यादिपञ्चक्लेशैर्धर्माधर्मैस्तद्विपाकैः संस्कारसामान्यैश्च कालत्रयेऽप्यपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। स च 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (ब्र. १. १. १.) इत्यादिवेदान्तसूत्रैरशेषविशेषतो मीमांसितः। अतोऽत्र दिङ्मात्रेणोच्यते। तस्य साम्यातिशयशून्यमैश्वर्यं सार्वज्ञ्यं च, स च सर्वेषां ब्रह्मविष्णु-

कहते हैं। ये सब आगे बताये जानेवाले पर वैराग्यके द्वारा क्रमशः असंप्रज्ञात योगके कारण होते हैं। इन उपायोके अत्यन्त शीघ्र और तीव्रतर अनुष्ठानके द्वारा असंप्रज्ञातयोग और उसका फल मोक्ष अत्यन्त समीप हो जाते हैं। तथा इन उपायोके अनुष्ठानमे शिथिलता रहनेपर भी ईश्वरप्रणिधानके द्वारा वे समीपतर हो सकते हैं, क्योंकि परमात्माकी भक्ति होनेपर उनका अनुग्रह होता है।

ईश्वर और ईश्वरप्रणिधान

प्रश्न—अच्छा तो, यह ईश्वर कौन है और उसका प्रणिधान क्या है?

उत्तर—बतलाते हैं। अविद्यादि पाच क्लेश, धर्म-अधर्म और और उनके परिणाम तथा संस्कारमात्रसे जो तीनों कालोमें अस्पृष्ट है उस पुरुषविशेषका नाम ईश्वर है। उसका 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादि वेदान्तसूत्रों द्वारा सम्पूर्ण विशेषताओंके सहित विचार किया गया है। अतः यहाँ उसका केवल संकेतमात्र वर्णन किया जाता है। उसके ऐश्वर्य और सर्वज्ञतासे किसीके भी ऐश्वर्य और सर्वज्ञताकी

हरादीनामपि गुरुः पिता, अन्तर्यामिविधया वेदादिद्वारा[1] च ज्ञानचक्षुःप्रदश्च ; तस्य प्रणवो नाम ; प्रणवपूर्वकं च तदनुचिन्तनं साक्षात्कारपर्यवसायि प्रणिधानमिति । परमेश्वरे संयमोऽसंप्रज्ञातपर्यन्तयोगे मोक्षे च मुख्यकल्पः, आसन्नतरतासंपादनात् ; जीवात्मसंयमस्तु तत्रानुकल्प इति सिद्धम् । किं च, ईश्वरप्रणिधानाद्व्याध्यादिरूपा योगस्यान्तराया अपि न भवन्ति । अतोऽपि तदेव मुख्यकल्प इति । तथा चास्य मुख्यकल्पत्वं स्मर्यते—

"तस्मान्मुमुक्षोः सुसुखो मार्गः श्रीविष्णुसंश्रयः ।
चित्तेन चिन्तयन्नेव वञ्च्यते ध्रुवमन्यथा ॥" इति ।
तदेवमुपायप्रत्ययो व्याख्यातः ।

समानता या विशेषता नहीं है । वह ब्रह्मा विष्णु और महादेव आदि सभीका गुरु और पिता है, क्योंकि अन्तर्यामी होनेके कारण तथा वेदादिके द्वारा भी वही उन्हें ज्ञाननेत्र प्रदान करनेवाला है । प्रणव उसका नाम है, अतः प्रणवपूर्वक उसका निरन्तर चिन्तन ही साक्षात्काररूपमें सम्पूर्ण होनेवाला ईश्वरप्रणिधान है । अतः परमेश्वरमें संयम (धारणा, ध्यान और समाधि) करना असंप्रज्ञात योग और मोक्षका मुख्य साधन है; क्योंकि इससे उनकी अत्यन्त समीपता हो जाती है । जीवात्मामें संयम करना तो इसका गौण साधन है—यह बात सिद्ध ही है । इसके सिवा ईश्वरप्रणिधानसे व्याधि आदि योगके विघ्न भी नहीं होते । इसलिये भी वही मुख्य साधन है । तथा इसकी मुख्य साधनताके विषयमें यह स्मृति भी है—

'अतः मुमुक्षुके लिये भगवान् श्री विष्णुका आश्रय बड़ा सुखमय मार्ग है । बस, चित्तसे उनका चिन्तन ही करता रहे । नहीं तो निश्चय ही धोखा खायगा ।'

इस प्रकार उपायप्रत्ययकी व्याख्या हुई ।

---

१ वरादिद्वारा–पा. ३ पु. ।

अथ भवप्रत्ययो व्याख्यायते। प्राग्भवीयसाधनानुष्ठाना-दौत्पत्तिकज्ञानवैराग्याभ्यामिच्छामात्रेण योऽसंप्रज्ञातो विदेह-प्रकृतिलयानां देवताविशेषाणां जायते स भवप्रत्यय उच्यते, जन्ममात्रकारणकत्वात्। यथा हिरण्यगर्भादीनां योगनिद्रा-दिकम्। तत्र विदेहा नाम स्थूलदेहनिरपेक्षेण लिङ्गदेहेनाखिल-व्यवहारक्षमा हिरण्यगर्भादयः। ये तु प्रकृत्युपासनया तच्छबल-परमेश्वरोपासनया वा ब्रह्माण्डं भित्त्वा महत्तत्त्वपर्यन्तावरणान्य-तीत्य प्रकृत्यावरणं गता ईश्वरकोटयस्ते प्रकृतिलयाः उच्यन्त इति।

संप्रज्ञातयोगस्य तु भवप्रत्ययरूपविशेषो न संभवति, धारणाध्यानसमाधीनां संप्रज्ञातयोगस्यान्तरङ्गत्वेन तेषां निष्पत्तौ तस्मिन्नेव जन्मनि संप्रज्ञातावश्यंभावात्। अतः संप्रज्ञाते उपायप्रत्ययभवप्रत्ययविभागः सूत्रभाष्ययोर्न कृत इति।

अब भवप्रत्यय की व्याख्या की जाती है। पूर्वजन्मोंमें साधनोंका अनुष्ठान करनेसे जो विदेह और प्रकृतिलयसंज्ञक देवताविशेषोंको जन्मसिद्ध ज्ञान और वैराग्यके कारण इच्छामात्रसे ही असंप्रज्ञात योग प्राप्त हो जाता है वह भवप्रत्यय कहा जाता है, क्यों कि उसका कारण जन्ममात्र होता है, जैसे कि हिरण्यगर्भादिको योगनिद्रादि प्राप्त हैं। जो स्थूल देहके विना केवल लिंग देहसे ही व्यापार करनेमें समर्थ हैं वे हिरण्यगर्भादि 'विदेह' कहलाते हैं। और जो प्रकृति या प्रकृति-विशिष्ट परमात्माकी उपासनाके कारण ब्रह्माण्डका भेदन कर महत्तत्त्व-पर्यन्त सम्पूर्ण आवरणोंको पार करके प्रकृतिके आवरणमें पहुँच गये हैं वे ईश्वरकोटिके पुरुष 'प्रकृतिलय' कहे जाते हैं।

संप्रज्ञात योगका भवप्रत्ययरूप भेद नहीं हो सकता, क्योंकि धारणा ध्यान और समाधि संप्रज्ञातयोगके अन्तरंग साधन हैं, अतः उनके पूर्ण होनेपर उसी जन्ममें संप्रज्ञात योग अवश्य प्राप्त हो जाता है। इसीसे सूत्र और भाष्यमें संप्रज्ञातयोगके उपायप्रत्यय और भवप्रत्ययरूप विभाग नहीं किये।

स च द्विविधोऽप्यसंप्रज्ञातो ध्येयाभावान्निरालम्बनयोग उच्यते। अभ्यस्यमानश्च क्रमेणाखिलसंस्कारदाहकत्वान्निर्बीज-योग उच्यते।

असंप्रज्ञातयोगो हि निरोधरूपोऽपि नवनवसंस्कारातिशय-मभ्यासाज्जनयति, येन संस्कारतारतम्येन दिनपक्षमासादि-पर्यन्तकालवृद्धिः क्रमेण योगस्य भवति। स संस्कारो यथा यथाऽतिशेते तथा तथा तत्त्वज्ञानपर्यन्ताखिलवृत्तिसंस्कारांस्तनू-करोति। एवं क्रमेण चरमासंप्रज्ञातेऽखिलसंस्कारदाहो भवति। ततः प्रारब्धमपि कर्म न स्वविपाकसमाप्तौ समर्थम्, भोग-संस्कारसहकार्यभावात् 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च' (बृ. ४. ४. २.) इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायैर्जन्मादिविपाके पूर्वप्रज्ञाशब्दोक्तस्य प्राग्भवीयभोगसंस्कारस्य विद्याकर्मसहका-

यह असंप्रज्ञात योग दो प्रकारका होनेपर भी ध्येयका अभाव रहने के कारण निरालम्बयोग कहलाता है। तथा अभ्यास किया जानेपर क्रमशः सम्पूर्ण संस्कारोंका दाह करनेवाला होनेसे निर्बीज योग भी कहा जाता है।

असंप्रज्ञातयोग निरोधरूप होनेपर भी अभ्यासके द्वारा नवीन-नवीन संस्काररूप अतिशय (विशेषता) उत्पन्न करता है, जिससे कि संस्कारके तारतम्यानुसार योगकालकी क्रमशः दिन, पक्ष और मासादि-पर्यन्त वृद्धि हो जाती है। वह संस्कार जैसे-जैसे बढ़ता है वैसे-वैसे ही तत्त्वज्ञानपर्यन्त वृत्तिके सभी संस्कारोंको तनु (मंद) कर देता है। इस प्रकार क्रमशः असंप्रज्ञातकी चरमावस्था आनेपर सभी संस्कारोंका दाह हो जाता है। तब प्रारब्ध कर्म भी अपने भोगको पूर्ण करनेमें समर्थ नहीं रहता, क्योंकि भोगके सहकारी संस्कारोंका अभाव हो जाता है, कारण कि 'उसके प्रति विद्या और कर्म उपस्थित होते हैं तथा पूर्व-प्रज्ञा भी' इत्यादि श्रुति स्मृति और युक्तिसे जन्मादि भोगमें 'पूर्वप्रज्ञा' शब्दसे कहे हुए पूर्व जन्मके भोगसंस्कार विद्या और कर्मके सहकारी

रित्वसिद्धेः। ततश्चरिताधिकारं चित्तं प्रारब्धकर्मणा निरोधसंस्कारैश्च सह स्वकारणेऽत्यन्तं लीयते। या चेयं चित्तस्य महानिद्रा, इयमेव पुरुषस्य कैवल्यमात्यन्तिको दुःखात्मकाखिलदृश्यवियोगः, चित्तद्वारैव पुरुषस्य दृश्यरूपद्वितीयसंबन्धादिति। तथा च स्मर्यते—

"मनसोऽभ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदयः।" इति।

तत्त्वज्ञानमात्रान्मोक्षे तु प्रारब्धसमाप्त्यनन्तरं तत्त्वज्ञानसंस्कारोऽपि चित्तेन सहैव नश्यतीति विशेषः। इदमत्रावधेयम्। ज्ञानं योगश्चोभयमपि व्यापारभेदात्स्वातन्त्र्येण मोक्षकारणमत्र शास्त्रे विवक्षितम्। गीतादिषु चोक्तम्—

"यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥"
(गी. ५. ५.)

सिद्ध होते है। फिर तो अधिकार समाप्त हो जाने के कारण चित्त प्रारब्धकर्म और निरोध संस्कारोंके सहित अपने कारणमें सर्वथा लीन हो जाता है। यह जो चित्तकी महानिद्रा है वही पुरुषका कैवल्य—दुःखात्मक सम्पूर्ण दृश्यका आत्यन्तिक वियोग है, क्योंकि चित्तके द्वारा ही पुरुषको दृश्यरूप दूसरी वस्तुका सम्बन्ध होता है। ऐसी स्मृति भी है—'मनका अभ्युदय ही [आत्माका] नाश है और मनका नाश ही [आत्माका] अभ्युदय है।'

जहाँ तत्त्वज्ञानमात्र से मोक्ष माना जाता है वहाँ इतना अन्तर रहता है कि प्रारब्ध समाप्तिके अनन्तर चित्तके साथ ही तत्त्वज्ञानके संस्कारका भी नाश होता है। यह बात यहाँ ध्यानमें रखनी चाहिये कि यहाँ शास्त्रमें ज्ञान और योग दोनों हीको व्यापारभेदसे स्वतन्त्रतापूर्वक मोक्षका कारण बतलाना अभीष्ट है। गीताआदिमें भी 'सांख्यके द्वारा जो स्थान प्राप्त होता है उसपर योगसे भी पहुँच सकते हैं, जो पुरुष सांख्य और योगको एक देखता है वही [वास्तवमें] देखता है।'

इत्यादिभिः। सांख्यं विवेकसाक्षात्कारः। योगस्तु चित्तवृत्तिनिरोधः। अतः केवलज्ञानेन मोक्षे जनयितव्येऽभिमाननिवर्तकात्मसाक्षात्कारपर्यन्त एव संप्रज्ञातोऽपेक्ष्यते न तु वृत्त्यन्तरवासनाक्षयाद्यर्थं पुनः संप्रज्ञातपरम्पराऽपि, प्रारब्धसमाप्तौ सत्यां ज्ञानवासनावत्[1] इतरवासनानामपि चित्तेन सहैव विनाशादिति दिक्।

इत्यादि वाक्य से यही बात कही है। साख्य विवेकजनित साक्षात्कार है और योग चित्तकी वृत्तियोंका निरोध है। अतः जब मोक्ष केवल ज्ञानसे उत्पन्न होता है तो वहाँ अभिमानकी निवृत्ति करनेवाले आत्मसाक्षात्कारपर्यन्त हा संप्रज्ञात योगकी अपेक्षा होती है, अन्य वृत्तियों और वासना आदिके क्षयके लिये सम्प्रज्ञातयोगकी परम्पराकी भी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि [उस सिद्धान्तके अनुसार तो] प्रारब्धकी समाप्ति होनेपर ज्ञानकी वासनाके समान अन्य वासनाओंका भी चित्तके साथ ही नाश हो जाता है—यह बात यहाँ दिखायी गयी।

इति श्रीविज्ञानभिक्षुविरचिते योगसारसंग्रहे[2] योगस्वरूपस्य तत्प्रयोजनस्य च निरूपणं प्रथमोंऽशः।

---

१ संप्रज्ञातवासनावत्–पा. २ पु.। २ योगसारे–पा. २–३ पु.।

अथ द्वितीयोंऽशः।

योगस्य स्वरूपं निरूपितम् । इदानीं योगस्य साधनानि वक्ष्यामः। तत्र मन्दमध्यमोत्तमभेदेन त्रिविधा योगाधिकारिणो भवन्त्यारुरुक्षुयुञ्जानयोगारूढरूपाः। तेषां त्रिविधानि साधनानि सूत्रभाष्याभ्यामुक्तानि । तेषु मन्दमध्यमयोः साधनान्यग्रे वक्ष्यामः सौत्रक्रमात् । उत्तमाधिकारिणस्तु सौत्रक्रमेणैवादावुच्यन्ते ।

उत्तमाधिकारिणस्त एव ये पूर्वभवानुष्ठितबहिरङ्गसाधनतया तन्नैरपेक्ष्येणैव योगारूढाः । यथा जडभरतादयः। तेषां योगनिष्पत्तावभ्यासवैराग्ये एव मुख्यसाधनम् । न तु वक्ष्यमाणः क्रिया-

द्वितीय अंश

योगके साधन

योगके स्वरूपका निरूपण किया गया, अब हम योगके साधनोंका वर्णन करेंगे। योगके मन्द, मध्यम और उत्तम भेदसे आरुरुक्षु, युञ्जान और योगारूढरूप तीन प्रकार के अधिकारी होते हैं। उनके सूत्र और भाष्य द्वारा तीन ही प्रकारके साधन बताये गये हैं। उनमें मन्द और मध्यम अधिकारियोंके साधन तो सूत्रोंके क्रमानुसार हम आगे कहेंगे। पहले सूत्रोंके क्रमसे ही उत्तम अधिकारीके साधन बताये जाते हैं।

उत्तम अधिकारी तो वे ही हैं जो पूर्वजन्मोंसे अनुष्ठान किये हुए बहिरंग साधनोंके कारण अब उनकी अपेक्षाके बिना ही योगारूढ हो गये हैं, जैसे कि जडभरत आदि। उनके योगसम्पादनमें अभ्यास और वैराग्य ही मुख्य साधन हैं। उनके लिये आगे बतलाये जाने वाले

योगो वक्ष्यमाणानि योगबहिरङ्गाणि वाऽऽवश्यकानि, 'अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः' (यो १. १२.) इति सूत्रात् सोपकरणे अभ्यासवैराग्ये व्याख्याय [1]"उपदिष्टः समाहितचित्तस्य योगः; कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदर्थमिदमारभ्यते" इत्येव भाष्यकृता क्रियायोगादिरूपसाधनसूत्राणामवतारणाच्च। तथा,

" आरुरुक्षुयतीनां च कर्मज्ञाने उदाहृते।
आरूढयोगवृक्षाणां ज्ञानत्यागौ परौ मतौ॥ "

इति गारुडाच्च। जडभरतादीनां तथैवाचाराच्च।

त्यागोऽत्र प्रकृतत्वाद्योगान्तरायस्य कर्मणः। तदुक्तं मोक्षधर्मे—

क्रियायोग अथवा योगके बहिरंग साधनोंकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि भाष्यकारने 'अभ्यास और वैराग्य द्वारा उस चित्तका निरोध होता है।' इस सूत्र द्वारा साधन सामग्रीके सहित अभ्यास और वैराग्यकी व्याख्या कर फिर क्रिया योगादि साधनोंका प्रतिपादन करने-वाले सूत्रोंकी इस प्रकार अवतारणा (भूमिका) की है—'समाहित चित्त पुरुषके योगका तो उपदेश हो चुका, अब इस उद्देश्यसे कि व्युत्थितचित्त पुरुष भी किस प्रकार योगयुक्त हो सकता है यह (आगेका प्रकरण) आरम्भ किया जाता है।' तथा गरुड पुराणमें भी कहा है—'आरुरुक्षु यतियोंके लिये तो कर्म और ज्ञान बताये गये हैं। और जो योगवृक्षपर आरूढ़ हो चुके है उनके लिये तो ज्ञान और त्याग ही श्रेष्ठ माने गये हैं।' तथा जडभरत आदिने भी ऐसा ही आचार किया था।

'त्याग' शब्दसे यहाँ प्रकरणके अनुसार योगके विघ्नस्वरूप कर्मोंका त्याग समझना चाहिये। मोक्ष धर्ममें कहा भी है—'जीव कर्मसे

---

१ उद्दिष्टः—पा. २। ३। पु.।

"कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च[1] विमुच्यते ।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥"

इति । अनुगीतायां च—

"अपेतव्रतकर्मा तु केवलं ब्रह्मणि स्थितः ।
ब्रह्मभूतश्चरँल्लोके ब्रह्मचारीति कथ्यते ॥
ब्रह्मैव समिधस्तस्य ब्रह्माग्निर्ब्रह्म विष्टरः ।
आपो ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म स ब्रह्मणि समाहितः ॥" इति ।

गारुडे च—

"आसनस्थानविधयो न योगस्य प्रसाधकाः ।
विलम्बजननाः सर्वे विस्तराः परिकीर्तिताः ।
शिशुपालः सिद्धिमाप स्मरणाभ्यासगौरवात् ॥" इति ।

अत्र बाह्यकर्मणामेव योगान्तरायत्वात्[2] त्यागो विवक्षितो न त्वान्तरस्य ।

बँधता है और ज्ञानसे मुक्त हो जाता है, इसलिये पारदर्शी यतिजन कर्म नहीं करते ।' अनुगीतामें भी कहा है—'जो व्रत और कर्मोंसे रहित केवल ब्रह्ममें ही स्थित है, वह ब्रह्मभूत पुरुष लोकमें व्यवहार करते हुए भी 'ब्रह्मचारी' कहा जाता है । ब्रह्म ही उसकी समिधा है, ब्रह्म ही अग्नि है, ब्रह्म ही आसन है, ब्रह्म ही जल है और ब्रह्म ही गुरु है । इस प्रकार वह ब्रह्ममें ही समाहित है ।' गरुड पुराणमें भी कहा है—'आसन और स्थानकी विधियाँ योगको सिद्ध करानेवाली नहीं हैं । जितने भी विस्तार हैं वे सब उसमें देरी करनेवाले ही बताये गये हैं । शिशुपालने तो स्मरणके अभ्यासकी अधिकतासे ही मोक्ष प्राप्त कर लिया था' ।

योगके विघ्न होनेके कारण यहाँ बाह्य कर्मोंका ही त्याग बतलाना अभीष्ट है आन्तर कर्मोंका नहीं, क्योंकि मनु आदि स्मृतियोंमें 'कोई

1 तु—पा. २ । ३ पु. । 2 योगान्तरायतया—पा. १ । २ पु. ।

"एतानेके महायज्ञान्योगशास्त्रविदो जनाः ।
अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥"

इति [1]मन्वादिष्वनीहमानस्यापि योगिनोऽन्तर्यागविधानात्, आवश्यकभिक्षाटनस्नानादावन्तर्यागस्याविक्षेपकत्वेन फलेच्छाभिमानशून्यत्वेन च योगिनामबन्धकत्वाच्चेति दिक् ।

योगस्योत्तमाधिकारी च योगारूढो गीतायां लक्षितः—

"यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥" (गी.६.४.)

इति । योगारूढस्य च पारमहंस्येन योगाभ्यासो राजमार्गः, 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (बृ. ४. ४.), 'ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ

पुरुष योग शास्त्रके ज्ञाता होने पर भी बाहरसे निश्चेष्ट रहकर इन महायज्ञोंका अपनी इन्द्रियोंमें ही निरन्तर हवन करते रहते हैं' इत्यादि बाक्योंद्वारा कर्मत्यागी योगीके लिये भी आन्तर यागोका विधान किया है, कारण कि आन्तर याग [शरीर निर्वाहके लिये] आवश्यक भिक्षाटन और स्नान आदिमें विक्षेप करनेवाले नहीं हैं तथा फलकी इच्छा और अभिमानसे शून्य होनेके कारण योगियोंके लिये बन्धनके कारण भी नहीं हैं।

योगके उत्तम अधिकारी योगारूढ़का गीतामे इस प्रकार लक्षण किया है—'जब पुरुष इन्द्रियोके विषयोंमें तथा कर्मोंमें आसक्त नहीं होता और सब प्रकारके संकल्पोंको त्याग देता है तब योगारूढ कहा जाता है।' इस योगारूढके लिये भी संन्यासपूर्वक योगका अभ्यास करना राजमार्ग है, क्यो कि 'इसी लोककी इच्छा करते हुए परिव्राजक लोग संन्यास ग्रहण करते हैं' पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणासे

---

१ मन्त्रा-पा. पु ।

भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृ. ३. ५.), 'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्' (बृ. ४. ४.) इत्यादि श्रुतिस्मृत्योस्तद्दर्शनादिति ।

तत्राभ्यासश्चित्तस्य स्थितौ यत्नः । स्थितिश्च योगचरमाङ्गसमाधिर्निश्चलैकाग्रताधारारूपः,

" श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥"
(गी. २. ५२.)

इति गीतादिभ्यः । तस्यां स्थितौ यत्नः तदर्थः प्रयासो ध्येयाद्बहिर्गच्छतश्चित्तस्य पुनः पुनरानयनम् । तदुक्तं गीतायाम्—

" यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ "
(गी. ६. २६.) इति ।

ऊपर उठकर भिक्षाचर्या करते हैं' एवं 'अतः ऐसा जाननेवाला पुरुष शान्त, जितेन्द्रिय, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर अपनेमें ही आत्माका साक्षात्कार करे' इत्यादि श्रुति और स्मृतियोंसे यही बात देखी गयी है ।

उन [अभ्यास और वैराग्य] में चित्तको स्थितिमें रखनेका प्रयत्न अभ्यास है । यह स्थिति योगका अन्तिम अङ्ग समाधि है, जो निश्चल एकाग्रताकी धारारूप है । ऐसा ही गीताजी आदिसे भी सिद्ध होता है— 'जिस समय श्रुतिवाक्योंद्वारा डावाँ-डोल हुई तेरी बुद्धि निश्चल होकर समाधिमें अचल भावसे ठहर जायगी उस समय तू योग प्राप्त कर लेगा ।' उस स्थितिमें प्रयत्न—उसके लिये परिश्रम करना अर्थात् ध्येयसे बाहर जाते हुए चित्तको बार बार खींचकर लाना ही अभ्यास है । यही गीतामें भी कहा है—'यह चंचल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ निकलकर जाय इसे वहीं वहीं से रोककर आत्माके ही अधीन कर दे ।'

वैराग्यं च अलंबुद्धिः, न तु रागाभावमात्रम्, विषयासांनिध्यादिना रागाभावे विरक्तत्वापत्तेः। तच्च वैराग्यं द्विविधं परमपरं च।

तत्रार्जनरक्षणक्षयहिंसाद्यनन्तदोषदर्शननिमित्तकमैहिकामुष्मिकविषयेषु वैतृष्ण्यमपरं वैराग्यम्। तदपि चतुर्विधं यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा, वशीकारसंज्ञा चेति। तत्र वैराग्यसाधनस्य दोषदर्शनस्याभ्यासो यतमानसंज्ञानाम्नी वितृष्णावैराग्यस्य प्रथमभूमिका। ततो जितान्येतानीन्द्रियाणि[1] तानि च जेतव्यानीति व्यतिरेकावधारणावस्था व्यतिरेकसंज्ञा। ततश्च बाह्येन्द्रियविषयेषु रूपादिषु रागादिक्षये सति, एकस्मिन्नेव मनसि मानावमानादिविषयकरागद्वेषादिनिरसनमेकेन्द्रियसंज्ञा।

विषयोंमें अलंबुद्धि (पर्याप्तबुद्धि) का नाम वैराग्य है; यह रागका अभावमात्र नहीं है, क्योंकि फिर तो विषयों की सन्निधि आदि न होनेसे भी रागका अभाव होनेके कारण विरक्ति मान ली जायगी। और वह वैराग्य दो प्रकार का है--पर एवं अपर।

उपार्जन, रक्षण, क्षय और हिंसा आदि अनन्त दोषोंको देखनेके कारण जो लौकिक और पारलौकिक विषयोंमें तृष्णाका अभाव हो जाना है वह अपर वैराग्य है। वह भी चार प्रकारका है--यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा और वशीकारसंज्ञा। सो, वैराग्यके साधनभूत दोषदर्शनका अभ्यास ही यतमान संज्ञा नामकी वितृष्णा है, जो वैराग्यकी प्रथम भूमिका है। फिर 'ये इन्द्रियाँ तो जीत लीं और वे अभी जीतनी हैं'--इस प्रकार व्यतिरेकनिश्चयकी अवस्था व्यतिरेकसंज्ञा वैराग्य है। तदनन्तर बाह्य इन्द्रियोंके विषय रूपादिमें रागादिका अभाव हो जानेपर एकमात्र मनमें ही स्थित मानापमानविषयक राग-द्वेषादिको निकालते रहना एकेन्द्रियसंज्ञा वैराग्य है। अन्तमें

---

[1] जितानीन्द्रियाणि--पा. २। ३ पु.।

ततश्च विषयस्य मानावमानादेश्च सांनिध्यकालेऽपि सर्वेन्द्रियाणां चित्तस्य चाक्षोभो वशीकारसंज्ञेति। सर्वत्र संज्ञाशब्दोऽभिव्यक्त्यर्थः। तेन स्फुटता लभ्यते। एतेषु चतुर्विधवैराग्येषु[1] वशीकारसंज्ञैव योगारूढस्यानुष्ठेया, पूर्वस्य वैराग्यत्रयस्य युञ्जानावस्थायामेव सिद्धत्वादिति।

अपरं वैराग्यमुक्तम्। परं वैराग्यमुच्यते। आत्मानात्मविवेकसाक्षात्कारादनात्मत्वदृष्ट्या, ज्ञानफलस्य वाऽविद्यानिवृत्तेः सिद्ध्या, तत्त्वज्ञानपर्यन्तेषु सर्वदृश्येषु पूर्वोत्पन्नदोषदर्शनेनैव दोषान्तरदर्शननिरपेक्षेणालंबुद्धिः परं वैराग्यम्। एतदनन्तरमेव मोक्षस्यावश्यकतयाऽस्य परत्वमिति।

अभ्यासवैराग्ये व्याख्याते। एतयोश्च मध्ये वैराग्येण

इन्द्रियोंके विषय और मानापमानादिके सम्मुख रहनेके समय भी सम्पूर्ण इन्द्रियोंका और मनका क्षोभहीन रहना वशीकारसंज्ञा वैराग्य है। यहाँ 'संज्ञा' शब्द सभी जगह अभिव्यक्तिके अर्थमें है। इससे [उन उन स्थितियोंकी] अभिव्यक्ति सूचित होती है। इन चार प्रकारके वैराग्योंमेंसे योगारूढ़को केवल वशीकारसंज्ञा वैराग्यका ही अनुष्ठान करना चाहिये, क्योंकि पहले तीन वैराग्य तो युञ्जान अवस्थामें ही सिद्ध हो जाते हैं।

उपर वैराग्यका वर्णन हुआ। अब पर वैराग्य बतलाते हैं— आत्मा और अनात्माके विवेकका साक्षात्कार हो जानेसे अनात्मत्व-दृष्टिके द्वारा अथवा ज्ञानकी फलस्वरूप अविद्यानिवृत्तिकी निष्पत्तिद्वारा तत्वज्ञानपर्यन्त सभी दृश्योंमें, अन्य दोषदर्शनके बिना केवल पूर्वोत्पन्न दोष दृष्टिसे ही, अलंबुद्धि हो जाना पर वैराग्य है। इसके पश्चात् ही मोक्ष अवश्यम्भावी है, इसीसे इसे पर माना गया है।

[इस प्रकार] अभ्यास और वैराग्यकी व्याख्या हुई। इनमें

1 वैराग्यमध्ये—पा. २। ३ पु.।

विषयवृत्तिः कुण्ठीक्रियते, ध्येयगोचराभ्यासेन यद्धयेयाकार-वृत्तिप्रवाहो बलवान्दृढः क्रियत इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोध इति ।

इदानीमभ्यासस्यान्तरङ्गं साधनं परिकर्मादिकमुच्यते । परिकर्मशब्देन च स्थितिहेतुश्चित्तसंस्कार उच्यते, 'परिकर्माङ्ग-संस्कारः' इति 'परिकर्म प्रसाधनम्' इति चानुशासनात् ।

तत्र चित्तप्रसाद एकं परिकर्म। प्रसादश्च विषयकालुष्य-राहित्यम् । प्रसादे च हेतवः—सुखितेषु मैत्री, दुःखितेषु करुणा, पुण्यशीलेषु हर्षः, पापशीलेषूपेक्षा । इत्येवमादयो रागद्वेषनिवर्तनोपायाः । तदुक्तं गीतायाम्—

वैराग्यके द्वारा विषयवृत्ति कुण्ठित होती है और ध्येयविषयक अभ्याससे जो वृत्तिका ध्येयाकार प्रवाह है वह बलवान् और सुदृढ़ हो जाता है; अतः चित्तवृत्तियोंका निरोध इन दोनो ही के अधीन है ।

अभ्यासके अन्तरङ्ग साधन

अब अभ्यास के अन्तरंग साधन परिकर्मादिका वर्णन किया जाता है । 'परिकर्म' शब्दसे स्थितिका हेतुभूत चित्तसंस्कार कहा जाता है क्योंकि 'परिकर्म अङ्गसंस्कारको कहते हैं' तथा 'परिकर्मका अर्थ प्रसा-धन (सजावट) है' ऐसा कोशकारोका आदेश है ।

सो, चित्तप्रसाद एक परिकर्म है । प्रसादका अर्थ है विषयकी मलिनतासे शून्य होना । प्रसादके हेतु हैं—सुखियोंके प्रति मित्रताका भाव, दुःखियोंके प्रति करुणा, पुण्यवानोंके प्रति हर्ष और पापियोंके प्रति उपेक्षा । ये तथा और भी ऐसे ही राग-द्वेषकी निवृत्ति करनेवाले उपाय [प्रसादके साधन हैं] । गीताजी में कहा है—'संयतात्मा पुरुष

"रागद्वेषवियुक्तैस्तु[1] विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥"
(गी. २. ६४, ६५.)

इति । प्राणायामश्च चित्तप्रसादस्य द्वितीय उपाय इति ।

परिकर्मान्तरं[2] च विषयवती प्रवृत्तिः । विषया गन्धादयस्तन्मात्ररूपाः । अल्पेनाभ्यासयोगेन तत्साक्षात्कारो विषयवती प्रवृत्तिरुच्यते । तत्र नासाग्रे चित्तधारणयाऽल्पेनैव कालेन जायते या दिव्यगन्धसंवित्सा गन्धप्रवृत्तिः । एवं जिह्वाग्रे रससंवित् । तालुनि रूपसंवित् । जिह्वाया मध्ये स्पर्शसंवित् । जिह्वामूले शब्दसंवित् । एतत्सर्वं शास्त्रप्रामाण्यादवधारणीयम् । एतासां च प्रवृत्तीनां विवेकपर्यन्तयोगभूमिषु श्रद्धातिशयद्वारा

अपने अधीन एवं राग-द्वेषशून्य इन्द्रियोंसे विषयोंमे वर्तता हुआ चित्त-प्रसाद प्राप्त कर लेता है । चित्तका प्रसाद होनेपर उसके सब दुःखोंकी निवृत्ति हो जाती है । तथा उस प्रसन्नचित्त पुरुषकी बुद्धि तत्काल ही स्थिर हो जाती है ।' चित्त प्रसादका दूसरा उपाय है प्राणायाम ।

एक अन्य परिकर्म है विषयवती प्रवृत्ति । विषय है तन्मात्ररूप गन्धादि । थोड़ेसे योगाभ्यासके द्वारा उनका साक्षात्कार हो जाना विषयवती प्रवृत्ति कही जाती है । नासाग्रमें चित्तकी धारणा करनेसे जो थोडे ही समयमे दिव्य गन्धका ज्ञान होता है उसे गन्धप्रवृत्ति कहते हैं । इसी प्रकार जिह्वाग्रमे रससंवित्, तालुमें रूपसंवित्, जिह्वाके मध्यभागमे स्पर्शसंवित् और जिह्वाके मूलमें धारणा करनेसे शब्दसंवित् होती है । यह सब शास्त्रप्रामाण्यसे निश्चय कर लेना चाहिये । ये प्रवृत्तियाँ विवेक-ज्ञानकी प्राप्तिपर्यन्त योगकी सभी भूमिकाओंमे श्रद्धाकी वृद्धिके द्वारा

१ विमुक्तैस्तु—पा. २ पु. । २ परिकर्मोत्तरं—पा. २ पु. ।

चित्तस्थैर्यहेतुत्वम् । स्थैर्यसंस्कारद्वारा चैकस्य[1] हि शास्त्रीयार्थस्य साक्षात्कारे सति सर्वत्रैव शास्त्रार्थे श्रद्धावृद्ध्या स्थैर्यसंस्कारेण च चित्तस्थैर्यं युक्तमिति ।

तृतीयं परिकर्म विशोका ज्योतिष्मती । विगतः शोको यस्यामिति विशोका । यतश्च विशोका, अतो ज्योतिष्मतीनाम्नी प्रवृत्तिश्चित्तस्थैर्यहेतुर्भवति । ज्योतिष्मती च द्विविधा प्रवृत्तिः—बुद्धिसाक्षात्कारो विविक्तपुरुषसाक्षात्कारश्च । तयोश्च प्रकाशबाहुल्यात्तद्विषयकप्रवृत्त्योर्ज्योतिष्मतीत्वम् । नन्वात्मसाक्षात्कारानन्तरं चित्तस्थैर्यस्य किं प्रयोजनम्, अविद्यानिवृत्त्या कृतकृत्यत्वादिति चेन्न । जातेऽप्यात्मसाक्षात्कारेऽखिलसंस्कारदाहकासं-

चित्तकी स्थिरतामें कारण होती है । स्थिरताके संस्कारोंद्वारा जब किसी एक शास्त्रीय पदार्थका साक्षात्कार हो जाता है तो श्रद्धा बढ़ जानेसे स्थिरताके संस्कारोंद्वारा चित्तका सभी आलम्बनोंमें स्थिर हो जाना उचित ही है ।

तीसरा परिकर्म है विशोका ज्योतिष्मती । जिसमेंसे शोक विगत हो गया हो उसे विशोका कहते हैं । क्योंकि विशोका है, इसलिये ज्योतिष्मती नामकी प्रवृत्ति चित्तकी स्थिरताका हेतु होती है । यह ज्योतिष्मती प्रवृत्ति दो प्रकारकी होती है—बुद्धिका साक्षात्कार और [प्रकृति आदिसे पृथक्] पुरुषका साक्षात्कार । ये दोनों साक्षात्कार प्रकाशबहुल हैं, इसलिये उनसे सम्बद्ध प्रवृत्तियाँ ज्योतिष्मती कही जाती हैं । यदि कहो कि आत्मसाक्षात्कारके पश्चात् चित्तकी स्थिरताका क्या प्रयोजन रहता है, क्योंकि तब तो अविद्याकी निवृत्ति हो जानेसे वह कृतकृत्य ही हो जाता है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर भी जिसे सम्पूर्ण संस्कारोंको भस्म कर

---

१ चैकैकस्य—पा. २ । ३ पु. ।

प्रज्ञातार्थिनः परवैराग्यार्थं संप्रज्ञातपरम्पराया अपेक्षितत्वात्, जीवात्मसाक्षात्कारोत्तरमपि परमात्मसाक्षात्कारार्थिनः परमात्मयोगापेक्षणाच्चेति ।

चतुर्थं तु परिकर्म विरक्तचित्तचिन्तनम् । यदा हि विरक्ते नारदादिचित्ते चित्तं समाधीयते तदा तद्वदेव ध्यातृचित्तमपि विरक्तं स्थिरस्वभावं भवति; यथा कामुकचिन्तया चित्तं कामुकं भवतीति ।

पञ्चमं परिकर्म स्वप्ननिद्रान्यतरज्ञानचिन्तनम् । यदा हि जाग्रज्ज्ञाने स्वप्नज्ञानदृष्टिः क्रियते स्वरूपावरकत्वसाम्यादङ्कुरविषयकत्वसाम्याच्च, तदा तत्र विरक्तं सच्चित्तं स्थिरं भवति । एतदर्थमेव श्रुतिस्मृत्योः स्वप्नार्थेन प्रपञ्चो रूप्यते 'दीर्घस्वप्न-

देनेवाले असंप्रज्ञात योगकी अपेक्षा है उसे पर वैराग्यके लिये सम्प्रज्ञात योगकी परम्पराकी भी आवश्यकता है ही। इसके सिवा जीवात्माका साक्षात्कार हो जानेके पीछे भी जिसे परमात्माके साक्षात्कार की अपेक्षा है उसे भी परमात्मयोगकी आवश्यकता है ही।

चौथा परिकर्म है विरक्तपुरुषोंके चित्तका चिन्तन। जब चित्त नारदादि विरक्त पुरुषोके चित्तमे समाहित होता है तो ध्यान करनेवालोंका चित्त भी उसीके समान विरक्त और स्थिरस्वभाव हो जाता है, जिस प्रकार कामासक्त पुरुषका चिन्तन करनेसे चित्त कामुक हो जाता है।

पाँचवाँ परिकर्म है स्वप्न और निद्राके ज्ञानोंमेंसे किसी एकका चिन्तन। जिस समय साधक जाग्रत्-ज्ञानमें स्वप्नज्ञानकी भावना करता है, क्योंकि ये दोनों ही स्वरूपके आवरक और अस्थिरविषयक होनेमें समान हैं, उस समय चित्त विरक्त होकर स्थिर हो जाता है। इसीसे श्रुति और स्मृतिने दृश्य प्रपञ्चको 'इस संसारको एक लंबा स्वप्न समझो' इत्यादि वाक्यों द्वारा स्वप्नपदार्थरूपसे वर्णन किया है। इसी

मिमं विद्धि' इत्यादिभिः। तथा यदा जाग्रत्पुरुषेषु सुषुप्ति-दृष्टिः क्रियते स्वरूपावरणसाम्यात्, निद्रादोषेणान्तराऽन्तरा स्वप्नदर्शनवदन्तराऽन्तरैव जगद्दर्शनाच्च, तदा तेषां व्यवहारेषु विरक्तं सच्चित्तं स्थिरं भवति। तथा च स्मर्यते—

'यथा सुषुप्तः पुरुषो विश्वमात्मनि पश्यति।
आत्मानमेकदेशस्थं मन्यते स्वप्न उच्यते॥
एवं जागरणादीनि जीवस्थानानि चात्मनः।
मायामात्राणि विज्ञाय तद्द्रष्टारं स्मरेत्॥"

इत्यादिकमिति।

षष्ठं परिकर्म यथाभिमतध्यानं स्वाभिलषितहरिहरमूर्त्यादौ ध्यानम्। चित्तस्य रूपादिरागात्तत्र स्थितस्यान्यत्रापि विवेक-पर्यन्ते स्थितियोग्यता भवतीति।

प्रकार जब जाग्रत्-पुरुषोमे सोये हुए पुरुषकी दृष्टि की जाती है, क्यो कि दोनो ही के स्वरूपका समानरूपसे आवरण है तथा जिस प्रकार निद्रा दोषसे बीच-बीचमें स्वप्न देखा जाता है उसी प्रकार जाग्रत्का अनुभव भी बीच-बीच ही मे होता है, तब उनके व्यवहारोमें विरक्त होकर चित्त स्थिर हो जाता है। ऐसा ही स्मृति भी कहती है—'जिस समय पुरुष सो जाता है उस समय यह सम्पूर्ण विश्वको अपने ही मे देखता है, किन्तु जब स्वप्नावस्था आती है तो यह अपनेको एक देशमें ही स्थित मानता है। इसी प्रकार जीवात्माके जागरित आदि तीनों स्थानोंको मायामात्र जानकर उनके साक्षी परमात्माका स्मरण करे।' इत्यादि।

छठा परिकर्म है यथाभिमतध्यान अर्थात् अपने अभीष्ट विष्णु एवं शिव की मूर्ति आदिका ध्यान करना। रूपादिके रागवश जब चित्त उनमें ठहर जाता है तो अन्य स्थानोमे भी विवेकख्यातिपर्यन्त स्थिर होने की योग्यता हो जाती है।

एतानि परिकर्माण्युक्तानि। एतेषु चिन्तारूपाणां परिकर्मणामनुष्ठाने इच्छाविकल्प इति।

तदेवं योगद्वयसाधारणं साधनमभ्यासवैराग्याख्यमुक्तम्। अभ्यासस्य च साधनं परिकर्मोक्तम्।

तत्रायमवान्तरविभागो ग्रहीतृग्रहणग्राह्यरूपषड्विंशतितत्त्वाभ्यासो वशीकाराख्यमपरं वैराग्यं च संप्रज्ञातयोगसाधनम्। तत्र च वैराग्यं साक्षादेव वृत्तिनिरोधकारणम्। अभ्यासस्तु समाधिरूपाङ्गद्वारा। असंप्रज्ञाते तु परवैराग्यमेव साक्षात्कारणम्। वैराग्यरूपस्यैव ज्ञानस्याभ्यासस्तु वैराग्यनिष्पत्तिद्वारा कारणम्। परवैराग्यं च निष्पन्नतया विवेकख्यातावपि दुःखा-

यह परिकर्मोका वर्णन हुआ। इनमेसे चिन्तनरूप परिकर्मोके अनुष्ठानमे इच्छा ही *विकल्प है।

इस प्रकार दोनों प्रकारके योगोके सामान्य साधन अभ्यास और वैराग्य का निरूपण हुआ तथा अभ्यास के साधन परिकर्मोका भी वर्णन हो चुका।

इसमे एक अवान्तर विभाग और भी है—(१) गृहीता ग्रहण और ग्राह्यरूप छब्बीस तत्त्वोंका अभ्यास तथा (२) वशीकारसंज्ञा अपर वैराग्य। ये दोनो संप्रज्ञात योगके साधन हैं। इनमे वैराग्य तो सीधा ही वृत्तियो के निरोध का कारण है, किन्तु अभ्यास समाधिरूप योगके अंगद्वारा है। किन्तु असंप्रज्ञात योगमे तो पर वैराग्य ही साक्षात् कारण है। वहाँ वैराग्यरूप ज्ञानका अभ्यास ही वैराग्यकी पूर्णताके द्वारा उसका कारण बनता है। पर वैराग्य तो पूर्ण हो जाने पर दुःखरूपा विवेकख्यातिमे भी अलंबुद्धिरूप होता है—यह बात पहले कही जा चुकी है।

---

* अर्थात् अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार इनमेंसे किसीका अनुष्ठान किया जा सकता है।

त्मिकायामलंबुद्धिरित्युक्तम्। सालम्बनस्त्वभ्यासो विवेकसाक्षात्कारद्वारैवासंप्रज्ञातकारणं न साक्षादिति दिक्।

इत्युत्तमाधिकारिणो योगसाधननिरूपणम्।

अथ मध्यमाधिकारिणो युञ्जानस्य वानप्रस्थादेः प्रकृष्टक्रियायोगरूपं योगसाधनं निरूप्यते। तस्य च क्रियायोगो मुख्यतः साधनम्। अभ्यासवैराग्यादिकं तु यथाशक्तितोऽनुष्ठेयम्। प्रकृष्टक्रियायोगश्च तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि। तत्र तपःशास्त्रोक्तव्रतेन शीतोष्णादिद्वन्द्वसहनम्[1]। स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवादिजपो वा। ईश्वरप्रणिधानं त्वत्र परमगुरौ सर्वकर्मार्पणं तत्फलसंन्यासो वा। भाष्यकारैस्तथा व्याख्यातत्वादिति। अर्पणशब्दार्थश्च स्मृतिषूक्तः। यथा—

साथ ही ध्यान रहे कि सालम्बन अभ्यास विवेकख्यातिके द्वारा ही असंप्रज्ञात योगका कारण हो सकता है, साक्षात् रूपसे नहीं।

इस प्रकार उत्तम अधिकारीके योगसाधनोंका निरूपण हुआ।

मध्यम अधिकारीका योगसाधन

अब, मध्यम अधिकारी युञ्जान वानप्रस्थ आदिके लिये उत्कृष्ट क्रियायोगरूप योगसाधनका निरूपण किया जाता है। उसके लिये तो मुख्यतः क्रियायोग ही साधन है। अभ्यास और वैराग्यादिका तो उसे अपनी शक्तिके अनुसार ही अनुष्ठान करना चाहिये। वह उत्कृष्ट क्रियायोग है—तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान। उनमें तप है शास्त्रोक्त व्रतोंके द्वारा शीतोष्णादिको सहन करना, स्वाध्याय है मोक्षशास्त्रोंका अध्ययन और प्रणव आदिका जप तथा ईश्वरप्रणिधान है परम गुरु परमात्माको सम्पूर्ण कर्म समर्पित कर देना अथवा कर्मफलका संन्यास, क्योंकि इसी प्रकार भाष्यकार भगवान् व्यासने इनकी व्याख्या की है। 'अर्पण' शब्दका अर्थ स्मृतियोंमें भी किया गया है। यथा—

१. यज्ञदानादीनां तु तत्रैवान्तर्भावः इत्यधिकम्—२ पु.।

ज्ञानतोऽज्ञानतो वाऽपि यत्किंचित्कुरुते नरः ।
तत्सर्वं भगवानेव कुरुते योगमायया ॥
नाहं कर्ता सर्वमेतद् ब्रह्मैव[1] कुरुते तथा ।
एतद् ब्रह्मार्पणं प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥

इत्यादिना ।

कर्मफलार्पणं च कर्मफलानां परमेश्वरो भोक्तेति चिन्तनम् । 'ऋतं पिबन्तौ'(क. ३।१) इत्यादिश्रुतिभिः परमेश्वरस्यापि भोगसिद्धेः, 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (मु. ३।१।१) इति श्रुत्या चाभिमानपूर्वकस्य मुख्यभोगस्यैव परमेश्वरे प्रतिषेधात् । यदेव जीवान्कर्मफलानि भोजयन्परमेश्वरः प्रीणाति, तदेव परमेश्वरस्य कर्मफलभोगः । यथाऽर्थिभ्यो धनानि प्रयच्छन्दाता तद्धनभोक्ता तद्वत् । न तु साक्षादेव कर्मफलं स्वर्गनरकादिकमीश्वरो भुङ्क्ते, श्रुतिस्मृति-

'मनुष्य जानकर अथवा बिना जाने जो कुछ भी करता है वह योगमायासे स्वयं श्रीभगवान् ही करते है । अतः मैं करनेवाला नहीं हूँ । भगवान् ही यह सब कर रहे हैं—इसीको तत्त्वदर्शी ऋषियोंने ब्रह्मार्पण कहा है ।'

कर्मफलार्पणका अर्थ है—यह चिन्तन करना कि इन सब कर्मफलोंके भोक्ता परमेश्वर ही हैं। 'कर्मफलका भोग करते हुए' इत्यादि श्रुतियोंसे परमेश्वरका भी भोग सिद्ध होता है। 'उनमे अन्य (परमेश्वर) भोग न करके केवल देखता है' इत्यादि श्रुतिने तो उसके अभिमानपूर्वक मुख्य भोगका ही निषेध किया है। भगवान् जो जीवोंको कर्मफल भोग कराकर प्रसन्न होते हैं यही उनका कर्मफलभोग है। जिस प्रकार दाता पुरुष अर्थियोंको धन देकर ही उस धनका भोक्ता हो जाता है उसी प्रकार [यहाँ समझो] । ईश्वर कर्मोंके फल स्वर्ग-नरकादिका साक्षात् भोग नहीं करता । ऐसा माननेपर तो श्रुतिस्मृतियोंसे विरोध

1 हस्तैव-पा. २ पु. ।

विरोधात् । यद्यपीश्वरस्य नित्यानन्दभोगो नित्य एव, तथाऽपि जीवानां कर्मफलप्रदानेनाभिव्यक्ततया ह्यैश्वर्यानुगतानन्दभोगस्योत्पत्तिरौपचारिकी सिसृक्षोत्पत्तिवदिति ।

क्रियायां च योगशब्दो योगसाधनत्वाद्भक्तिज्ञानयोरिव गौणः ।

तस्य च क्रियायोगस्य योगवत्क्लेशतनूकरणमपि फलं भवति, 'समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च' (यो. २. २.) इति सूत्रात्। तत्र च समाधिशब्दोऽङ्गाङ्गिनोरभेदेन योगद्वयवाची। तत्र योगद्वयं प्रागेव व्याख्यातम् ।

क्लेशतनूकरणं तु सफलं व्याख्यायते। तत्र दुःखाख्यक्लेशनिदानत्वात्क्लेशाः पञ्च—अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा इति ।

होगा। यद्यपि भगवानका नित्यानन्दरूप भोग तो नित्य ही है, तथापि जीवोंको फलप्रदान करनेसे इसकी अभिव्यक्ति होती है; अतः सृष्टि करनेकी इच्छाकी उत्पत्तिके समान उनके ऐश्वर्यसे अनुगत आनन्दभोग की उत्पत्ति भी औपचारिकी (गौण) ही है।

'भक्ति' और 'ज्ञान' इन दोनों शब्दोंके साथ जैसे 'योग' शब्दका गौण प्रयोग होता है उसी प्रकार योग की साधन होनेके कारण 'क्रिया' शब्दके साथ 'योग' शब्दका संयोग गौण है।

उस क्रियायोगका योगकी तरह क्लेशोंको तनु (सूक्ष्म) कर देना भी एक फल है; जैसा कि 'यह [क्रिया योग] समाधि प्राप्त कराने और क्लेशोंको तनु करनेके लिये है' इस सूत्रसे सिद्ध होता है। यहाँ 'समाधि' शब्द अंग और अंगीके अभेदरूप दोनों ही योगोंका वाचक है। इन दोनों योगोंकी व्याख्या पहले ही की जा चुकी है।

अब फलके सहित क्लेशोंके तनूकरणकी व्याख्या की जाती है। दुःखसंज्ञक क्लेशरूप परिणामवाले होनेसे ये क्लेश पाँच हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। अनित्य, अपवित्र, दुःख और

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या । आत्मानात्मनोर्धर्मतः स्वरूपतश्चात्यन्तमभेदभ्रमोऽस्मिता । अविद्या तु भेदाभेदं सहत इति विशेषः । रागद्वेषौ च प्रसिद्धावेव । अभिनिवेशस्तु मरणादिभयम् । एतेषामुत्तरोत्तरेषु पूर्वं पूर्वं कारणम् । अतोऽविद्या सर्वक्लेशानां मूलत्वात्क्षेत्रमुच्यते । अविद्यासत्त्व एवैते भवन्ति ; अविद्यानाशाच्चैतेषां नाश इति ।

एते च क्लेशा व्याध्यादिवच्चित्तविक्षेपकत्वाद्योगस्यापि विरोधिनः । एतेषां तनुत्वं च विवेकख्यातिप्रतिबन्धाक्षमता । तच्च क्रियायोगस्य दृष्टादृष्टद्वारा फलं भवति । क्रियायोगेण हि चित्तशुद्धिः क्रियते । ततश्चाधर्माख्यकारणतानवादविद्यादेरपि तनुता भवति । तथाऽभिमानरागद्वेषादिप्राबल्ये क्रियायोगो न

अनात्म पदार्थोंमे नित्य, पवित्र, सुख और आत्मबुद्धि होना 'अविद्या' है। आत्मा और अनात्मामे धर्मतः तथा स्वरूपतः अत्यन्त अभेदका भ्रम होना 'अस्मिता' है। अविद्या तो भेदाभेदको भी सहन कर लेती है—इतनी [अस्मिता की अपेक्षा] उसमे विशेषता है। राग द्वेष तो प्रसिद्ध ही हैं। अभिनिवेश मरणादिके भयको कहते हैं। इनमें पीछे पीछेके क्लेशोंमें उनसे पहला-पहला क्लेश कारण है । अतः सब क्लेशोंका मूल होनेके कारण अविद्या इनका क्षेत्र कही जाती है। अविद्याके होनेपर ही ये सब होते है और अविद्याके नाशसे ही इनका नाश हो जाता है।

व्याधि आदिके समान चित्तमें विक्षेप करनेवाले होनेसे ये क्लेश भी योगके विरोधी हैं। विवेकख्यातिका प्रतिबन्ध करनेकी योग्यता न रहना ही इनकी तनुता है। दृष्ट और अदृष्ट क्रमके द्वारा यह क्रियायोगका ही फल होता है। क्रियायोगके द्वारा ही चित्तकी शुद्धि होती है और फिर अधर्मसंज्ञक कारणके तनु हो जानेसे अविद्यादिकी भी तनुता हो जाती है। तथा अभिमान और राग-द्वेषादिकी प्रबलता होनेपर क्रिया-

संभवति । संभवे वाऽङ्गविकलो भवति । अतः क्रियायोगः स्वनिष्पत्तये क्लेशतानवमपि संपादयतीति । एवं योगोऽपि क्रियायोगस्य दृष्टादृष्टोभयद्वारा फलं बोध्यम् । सत्त्वशुद्धिरदृष्टं द्वारम्, दृष्टं तु द्वारं चित्तस्य कर्मद्वारा नियमनादिकमिति ।

इदानीं क्लेशतानवस्य मोक्षपर्यन्तं फलं सूत्रगणोक्तं संकलय्य कथ्यते । क्रियायोगेण क्लेशतानवे सति, अन्तराऽन्तरा क्लेशैरप्रतिबद्धो विवेकख्यातिप्रवाहः साक्षात्कारपर्यवसायी भवति । ततश्चाविद्यादिक्लेशाः प्रसंख्यानाख्येन विवेकसाक्षात्कारेणाग्निना दग्धबीजकल्पाः प्ररोहसमर्था न भवन्ति । इयं जीवन्मुक्तावस्था । ततश्च प्रारब्धसमाप्तौ चित्ते प्रलीयमाने ते दग्धबीजकल्पा अप्यनागतावस्थाः सूक्ष्मक्लेशा अत्यन्तं प्रलीयन्ते । तन्निवृत्तौ

योग होना भी संभव नहीं है । और यदि होता भी है तो अंगहीन होता है । अतः अपनी निष्पत्ति के लिये क्रियायोग क्लेशकी तनुता भी कर लेता है । इस प्रकार दृष्ट और अदृष्ट दोनों क्रमोंसे योग भी क्रियायोग-का फल है—ऐसा समझना चाहिये । चित्तकी शुद्धि उसका अदृष्ट द्वार है और कर्मद्वारा चित्तका नियमन आदि उसका दृष्ट द्वार है ।

अब कई सूत्रोंद्वारा बतलाये गये क्लेशोंकी तनुताके मोक्षपर्यन्त फलका संकलन करके वर्णन किया जाता है । क्रियायोगके द्वारा जब क्लेशोंकी तनुता हो जाती है तो बीच-बीचमें क्लेशोंसे प्रतिबद्ध न होने-वाला विवेकख्यातिका प्रवाह साक्षात्कारमें पूर्ण होनेवाला हो जाता है । उस अवस्थामें प्रसंख्यानसंज्ञक विवेकसाक्षात्काररूप अग्निसे दग्धबीजसे होकर अविद्यादि क्लेश अंकुरित होनेमें समर्थ नहीं होते । यही जीवन्मुक्त अवस्था है । फिर प्रारब्धकी समाप्ति होनेपर चित्तका सर्वथा लय हो जानेसे वे दग्धबीज सदृश सूक्ष्म क्लेश भी, जो अबतक भविष्यके गर्भमें छिपे हुये थे, अत्यन्त लीन हो जाते हैं । उनके निवृत्त

पुनर्जन्मकारणाभावात्पुरुषः पुनरिदं दुःखं न भुङ्क्त इति परम-मुक्तिरिति।

ननु अनागतावस्थानामपि क्लेशानां ज्ञाननाश्यत्वमेव युक्तम्, किमिति कार्याक्षमतारूपदाहः कल्प्यत इति चेत्।

उच्यते। कार्याणामनागतावस्थैव कारणस्य शक्तिरुच्यते। तां च विहाय कारणं न तिष्ठति अग्न्यादौ दाहादिशक्तेर्यावद्द्रव्य-भावित्वात्। अतः क्लेशकर्मसंस्कारादीनामनागतावस्थानां बीज-शक्तिदाह एव[1] ज्ञानादिभिः क्रियते, न त्वतीतावस्थानाम्। तासां तु[2] नाशश्चित्तनाशादेव भवति, धर्मिनाशस्य धर्मनाशक-त्वादिति।

हो जाने पर पुनर्जन्मका कोई कारण न रहनेसे पुरुष पुनः इस दुःखको नहीं भोगता—यही उसकी परम मुक्ति है।

प्रश्न—जो क्लेश भविष्यके गर्भमें छिपे हुए हैं उनका भी ज्ञान द्वारा नष्ट होना ही उचित है, उनके कार्यकी अयोग्यतारूप दाहकी क्यों कल्पना की जाती है?

इसका उत्तर दिया जाता है—कार्योंकी अनागत (भावी) अवस्था ही कारण की शक्ति कही जाती है। उसे त्यागकर कारण नही रह सकता, क्योंकि अग्नि आदि मे जो दाहादि शक्ति है वह अग्नि आदि द्रव्यकी स्थितिपर्यन्त रहती है। अतः ज्ञानादिके द्वारा अनागत अवस्थामे स्थित क्लेश, कर्म और संस्कारादि की बीजशक्तिका ही दाह किया जाता है, अतीतावस्थामें स्थित हुओंकी शक्तिका नहीं। उनका नाश तो चित्तका नाश होने पर ही होता है, क्योंकि धर्मीका नाश ही धर्मका नाश करनेवाला होता है।

---

१ दाहकत्वमेव—पा. २। ३ पु।

२ न त्वतीतावस्था सा तु—पा. २। ३ पु।

अथ कथमविद्यादिक्लेशाद्बन्धः कथं वा तन्निवृत्त्या मोक्ष इति तयोः प्रकारः कथ्यते। अविद्यादिक्लेशेभ्य एव धर्माधर्मौ जायेते,

"यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥"
(गी. १८. १७.)

इत्यादिस्मृतेः। धर्माधर्माभ्यां च जन्मायुर्भोगरूपा विपाका जायन्ते। तेभ्यश्च सुखदुःखे। ततश्च पुरुषस्य तद्भोगरूपो बन्ध इति। विपाकमध्ये च भोगः शब्दाद्याकारा वृत्तिरिति भेदः।

ननु क्लेशानां दुःखाख्यहेयहेतुत्ववत्स्वर्गादिसुखहेतुत्वमपि धर्मादिद्वाराऽस्ति; तत्कथं क्लेशा उन्मूलनीया इति।

अब, अविद्यादि क्लेशोंके द्वारा किस प्रकार बन्धन होता है और किस प्रकार उनके नाशसे मोक्ष प्राप्त होता है—इस प्रकार उन (बन्ध और मोक्ष) का क्रम बताया जाता है। अविद्यादि क्लेशोंसे ही धर्म और अधर्मकी उत्पत्ति होती है, जैसा कि 'जिसे अहंकारका भाव नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नही होती वह इन सम्पूर्ण लोकोंक मारकर भी नहीं मारता और न बन्धन ही मे पड़ता है' इत्यादि स्मृतियों से सिद्ध होता है। धर्म और अधर्मसे ही जन्म, आयु और भोगरूप कर्मोंके फल होते हैं और उन्हींसे सुख-दुःख भी हुआ करते हैं। तथा उन्हीके द्वारा पुरुषका सुख-दुःख भोग रूप बन्धन होता है। कर्मफलमे जो भोग रहता है वह तो केवल शब्दादि विषयाकार वृत्ति ही है—इतना ही [सुख-दुःख-भोगरूप बन्धन से] उसका भेद है।

प्रश्न—क्लेश जिस प्रकार दुःखरूप हेयके हेतु हैं वैसे ही धर्मादिके द्वारा स्वर्गादि सुखके भी तो हेतु हैं, ऐसी अवस्थामें वे नष्ट कर डालने योग्य कैसे हो सकते हैं?

उच्यते । स्वर्गादिसुखमपि दुःखप्रचुरत्वाद् दुःखानुबन्धित्वाच्च दुःखमेव विवेकिना मन्तव्यम् । तथा च सांख्यसूत्राण्यपि— 'यथा दुःखात्क्लेशः पुरुषस्य न तथा सुखादभिलाषः,' 'कुत्रापि कोऽपि सुखीति,' 'तदपि दुःखशबलमिति दुःख-पक्षे निक्षिपन्ते विवेचकाः' (सां. ६. ६. ७, ८.) इति । सोऽयमविद्यातो बन्धप्रकारः कौर्मेऽप्युक्तः—

"रागद्वेषादयो दोषाः सर्वे भ्रान्तिनिबन्धनाः ।
कार्यो ह्यस्य भवेद्दोषः पुण्यापुण्यमिति श्रुतिः ।
तद्वशादेव सर्वेषां सर्वदेहसमुद्भवः ॥" इति ।

क्लेशेभ्यो बन्धप्रकार उक्तः। क्लेशनिवृत्तितो मोक्षप्रकार उच्यते आत्मानात्मविवेकसाक्षात्काराद्विद्यानिवृत्त्या तन्मूलकानां क्लेशान्तराणामपि निवृत्तिः । ततश्च कारणाभावाद्धर्मानुत्पत्तिः ।

उत्तर—बताते हैं, स्वर्गादि सुख भी दुःखबहुल हैं और उसके परिणाममें भी दुःख ही रहता है, अतः विवेकियोंको तो उसे भी दुःख-रूप ही मानना चाहिये । ऐसे ही ये साख्यसूत्र भी हैं—'जीवको दुःखसे जैसा क्लेश होता है सुखसे वैसी अभिलाषा जाग्रत् नही होती', 'कहीं-कहीं कोई-कोई ही सुखी होता है,' 'वह सुख भी दुःखसे मिला हुआ ही होता है, अतः विवेकीलोग उसे दुःखपक्षमे ही पटक देते हैं ।' अविद्याके द्वारा यह बन्धनका प्रकार कूर्मपुराणमे भी कहा है—

'राग-द्वेष आदि सम्पूर्ण दोष भ्रान्तिके ही कारण हैं और इसीका कार्य पाप-पुण्यरूप दोष है—ऐसी श्रुति कहती है । तथा पुण्य-पापके अधीन ही सब जीवोंके सब प्रकारके शरीर उत्पन्न होते हैं ।'

इस प्रकार क्लेशोद्वारा बन्धन के क्रमका निरूपण हुआ । अब क्लेशोंकी निवृत्तिद्वारा मोक्षका क्रम बताया जाता है । आत्मा और अनात्माके विवेक का साक्षात्कार होने से जब अविद्या निवृत्त हो जाती है तो अविद्यामूलक अन्य क्लेश भी निवृत्त हो जाते हैं । फिर तो कोई कारण न रहने से धर्म-अधर्मकी भी उत्पत्ति नही होती । तथा क्लेशरूप

अनारब्धफलकानां चोत्पन्नकर्मणां फलानुत्पादः क्लेशाख्यसहकार्युच्छेदात् । आरब्धफलकर्मणां च भोगेनैव नाशः । ततः प्रारब्धसमाप्त्या देहपाते कारणाभावान्न पुनर्जन्म । तदेव च दुःखनिवृत्तिरूपो मोक्ष इति ।

तदेवं चिकित्साशास्त्रवदेव चतुर्व्यूहप्रतिपादकं सांख्ययोगादि मोक्षशास्त्रम् । यथा हि रोगो रोगनिदानमारोग्यं भैषज्यमिति चत्वारो व्यूहाश्चिकित्साशास्त्रस्य प्रतिपाद्या भवन्ति, एवमत्रापि हेयं हेयहेतुर्हानं हानोपाय इति चत्वारो व्यूहाः प्रतिपाद्याः । तत्र हेयं दुःखम् । हेयहेतुरविद्या । हानं दुःखात्यन्तनिवृत्तिः । हानोपायो विवेकसाक्षात्कार इति । उपकरणानां ग्रहणाय सर्वत्र व्यूहपदमावश्यकम् ।

सहकारियों का उच्छेद हो जाने के कारण वे कर्मसंस्कार जिनका फल अभी प्रारम्भ नहीं हुआ, फलप्रद नहीं रहते और जिनका फल आरम्भ हो चुका है वे भोगसे ही नष्ट हो जाते है । फिर तो प्रारब्ध समात हो जानेसे देहपात होनेपर पुनः जन्म नहीं होता, क्योकि जन्मका कोई कारण शेष नहीं रहता । यही दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष है ।

इस प्रकार चिकित्सा शास्त्र के समान ही सांख्य एवं योगादि शास्त्र चतुर्व्यूहका प्रतिपादन करनेवाले हैं । जिस प्रकार रोग, रोगका कारण आरोग्य और औषध–ये चार व्यूह चिकित्साशास्त्र के प्रतिपाद्य हैं, उसी प्रकार यहाँ भी हेय, हेयका हेतु, हान और हानका उपाय—ये चार व्यूह प्रतिपाद्य हैं । इनमें हेय दुःख है, हेयका हेतु अविद्या है, हान दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति है और हान का उपाय विवेकसाक्षात्कार है । इन उपकरणों को एक साथ ग्रहण करने की दृष्टि से इन सब के साथ 'व्यूह' शब्द का प्रयोग अवश्यक है ।

ननु पुरुषस्य नित्यनिर्दुःखत्वात्कथं[1] दुःखहानिः पुरुषार्थ इति चेन्न। भोग्यत्वरूपस्वत्वसंबन्धेनैव दुःखहानस्य सांख्यादि-मते पुरुषार्थत्वात्। यद्यपि भोगः साक्षात्काररूपतया स्वरूपतो नित्य एव, तथाऽपि घटाकाशवद् दुःखभोगस्या-नित्यतया तन्निवृत्तिः पुरुषार्थः स्यादेव; दुःखभोगस्य दुःखप्रतिबिम्बावच्छिन्नचित्त्वरूपत्वादिति।

अत्राविद्याया हेयहेतुतायां द्वारतया द्रष्टृदृश्यसंयोगरूपं जन्म व्याख्याय सूत्रभाष्याभ्यामनेनैव प्रसङ्गेन द्रष्टृदृश्ययोः पुंप्रकृत्योः स्वरूपं प्रपञ्चितम्। मयाऽपि वार्त्तिके सांख्यभाष्ये च प्रपञ्चितम्। सांख्यसाराख्ये सांख्यप्रकरणे त्वस्माभिर्विस्तरतः

यदि कहो कि पुरुष तो नित्य निर्दुःख है, फिर दुःखहानि पुरुषका प्रयोजन कैसे हो सकती है? तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि सांख्यादि दार्शनिकों के मतमें भोग्यत्वरूप स्वत्व के सम्बन्ध से ही [अर्थात् विषयों की भोग्यता के साथ पुरुषका सम्बन्ध है इस विचार को लेकर ही] दुःख की निवृत्ति पुरुष का प्रयोजन होती है। यद्यपि साक्षात्कार (उपलब्धि) रूपसे तो स्वरूपतः भोग नित्य ही है, तथापि [घटरूप उपाधि के कारण उत्पन्न होने वाले] घटाकाश के समान दुःखभोग अनित्य है, अतः उसकी निवृत्ति पुरुषार्थ (पुरुषका प्रयोजन) हो ही सकती है, क्योंकि दुःखभोग तो दुःखरूप प्रतिबिम्ब से अवच्छिन्न चेतन-रूप ही है।

यहाँ अविद्या को हेय की हेतुतामें द्वाररूप से वर्णन करते हुए सूत्र और भाष्य दोनों ही ने द्रष्टा और दृश्य के संयोगरूप जन्म की व्याख्या करके इसी प्रसगमें द्रष्टा पुरुष और दृश्य प्रकृति के स्वरूप का निरूपण किया है। मैंने भी योगवार्तिक और सांख्यसूत्रों के भाष्य में ऐसी ही व्याख्या की है। सांख्यसारसंज्ञक सांख्यप्रकरण में हमने

१ निर्दुःखत्वात्—पा. २ पु.। नित्यादुःखत्वात्—पा. १ पु.।

प्रकृतिपुरुषौ विवेचितौ । अतो विस्तरभयान्नेह प्रकरणे प्रस्तूयेते ।

इति मध्यमाधिकारिणां योगसाधननिरूपणं तत्प्रसङ्गेन क्रियायोगस्य क्लेशतानवद्वारा मोक्षहेतुताया निरूपणं च ।

अथ मन्दाधिकारिणां योगमारुरुक्षोर्गृहस्थादेर्योगसाधनान्युच्यन्ते । तानि च यथोक्तस्य ज्ञानस्यापि साधनानीत्याशयेन सूत्रभाष्याभ्यां विवेकख्यातिसाधनविधयैव निर्दिष्टानि । तानि च यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधय इति । एतान्यष्टौ योगाङ्गानि भवन्ति । मन्दाधिकारिभिर्धारणादिरूपोऽभ्यासो यमनियमादिरूपः समग्रक्रियायोगश्च यथाक्रममनुष्ठेय इत्याशयेन पिण्डीकृत्य सर्वमेव मन्दाधिकारिभ्य उपदिश्यते ।

प्रकृति-पुरुषका विस्तृत विवेचन किया है । इस लिये विस्तार के भयसे इस प्रकरण में हम उसकी चर्चा नहीं करते ।

इस प्रकार मध्यम अधिकारियों के योगसाधनों का तथा उन्हीं के प्रसंगसे क्रियायोग और क्लेशों के तानवद्वारा उनकी मोक्षहेतुताका निरूपण हुआ ।

मन्द अधिकारीका योगसाधन

अब योगपर आरूढ़ होनेकी इच्छावाले गृहस्थ आदि मन्द अधिकारियोंके योगसाधनों का वर्णन किया जाता है । वे उपर्युक्त ज्ञानके भी साधन हैं, इसी आशयसे सूत्र और भाष्यमें उनका विवेकख्यातिके साधनरूपसे ही निर्देश किया है । वे हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान और समाधि । ये ही योगके आठ अंग हैं । मन्द अधिकारियोंको धारणादिरूप अभ्यास और यम-नियमादिरूप सम्पूर्ण क्रियायोगका क्रमशः अनुष्ठान करना होता है, इसीसे सब मिलाकर इनका मन्द अधिकारियोंके लिये ही उपदेश किया गया है ।

तत्रादौ यमनियमाद्यनुष्ठानं केवलं कर्मयोग उच्यते। उत्तम-मध्यमयोश्च केवलज्ञानज्ञानसमुच्चितकर्मणी[1] प्रागेवोक्ते। तत्र च ज्ञानकर्मणोः प्रत्येकसमुच्चयानुष्ठाने प्रमाणं विष्णुपुराणम्। यथा—

"सनकसनन्दनादयो[2] ब्रह्मभावनया युताः।
कर्मभावनयाऽन्ये च देवाद्याः स्थावराश्चराः।
हिरण्यगर्भादिषु च कर्मब्रह्मोभयात्मिका॥" इति।

तत्र यमनियमौ सूत्रभाष्याभ्यां प्रदर्शितौ, ईश्वरगीता-वाक्यैरेवात्र प्रदर्श्येते। यथा—

"अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ।
यमाः संक्षेपतः प्रोक्ताश्चित्तशुद्धिप्रदा नृणाम्॥

इनमें भी पहले-पहले जो केवल यम-नियमादिका अनुष्ठान है वह तो कर्मयोग कहा जाता है। उत्तम और मध्यम अधिकारियोंके लिये क्रमशः केवल ज्ञान और ज्ञानसमुच्चित कार्म तो पहले ही कहे जा चुके है। इन ज्ञान और कर्मके अलग-अलग एवं एक साथ अनुष्ठानके विषयमें विष्णुपुराण प्रमाण है, जैसे—

'सनक-सनन्दनादि तो केवल ब्रह्मभावसे सम्पन्न हैं, दूसरे जंगम, स्थावर एवं देवता आदि कर्मकी भावनासे पूर्ण हैं और हिरण्यगर्भादिमें तो कर्म एवं ब्रह्म दोनों ही प्रकारकी भावनाएँ रहती हैं।'

अब योगसूत्र और व्यासभाष्यद्वारा प्रदर्शित यम-नियमों का यहाँ ईश्वरगीताके वाक्योंसे ही दिग्दर्शन कराया जाता है। यथा—

यम—अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये संक्षेपसे मनुष्योंकी चित्तशुद्धि करनेवाले यम कहे गये हैं।

---

१ ज्ञानसमुच्चितज्ञानकर्मणी—पा. १ पु.। केवलज्ञानं ज्ञानसमुच्चितकर्मणी—पा. १ पु.।

२ सनन्दनादयो ब्रह्मन्—पा. २ पु.।

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ।
अक्लेशजननं प्रोक्ता त्वहिंसा परमर्षिभिः ॥
अहिंसायाः परो धर्मो नास्त्यहिंसापरं सुखम् ।
विधिना या भवेद्धिंसा सा त्वहिंसैव कीर्तिता ॥
सत्येन सर्वमाप्नोति सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
यथार्थकथनाचारः सत्यं प्रोक्तं द्विजातिभिः ॥
परद्रव्यापहरणं चौर्याद्वाऽथ बलेन वा ।
स्तेयं तस्यानाचरणादस्तेयं धर्मसाधनम् ॥
कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ।
सर्वत्र मैथुनत्यागं ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ॥
द्रव्याणामप्यनादानमापद्यपि यथेच्छया ।
अपरिग्रह इत्युक्तस्तं प्रयत्नेन पालयेत् ॥"

तपःस्वाध्यायसंतोषाः शौचमीश्वरपूजनम् ।
समासान्नियमाः प्रोक्ता योगसिद्धिप्रदायिनः ॥

मन, वचन और कर्म-द्वारा सर्वदा सभी जनोंको क्लेश न पहुँचाना—इसे महर्षियोंने 'अहिंसा' कहा है । अहिंसासे बड़ा और कोई धर्म नहीं है और अहिंसा ही परमसुख है । शास्त्रविधिसे जो हिंसा की जाती है वह तो अहिंसा ही कही गयी है । सत्यसे सब कुछ प्राप्त हो जाता है और सत्यमें ही सब कुछ प्रतिष्ठित है । विप्रवृन्दने यथार्थ कथन और यथार्थ आचरणको ही 'सत्य' कहा है । दूसरेके धनको चोरीसे अथवा बलात्कारसे ले लेना ही स्तेय है, और वैसा न करना ही 'अस्तेय' रूप धर्मका साधन है । मन, वचन और कर्मद्वारा सर्वत्र सर्वदा सभी प्राणियोंमें मैथुनका त्याग ही 'ब्रह्मचर्य' कहा जाता है । तथा आपत्कालमें भी इच्छानुसार द्रव्य ग्रहण न करना 'अपरिग्रह' है । उसका प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिये' ।

नियम—तप, स्वाध्याय, सन्तोष, शौच और ईश्वरपूजन ये संक्षेप से योगसिद्धि प्रदान करनेवाले नियम कहे गये हैं । उपवास,

उपवासपराकादिकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः ।
शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम् ॥
वेदान्तशतरुद्रीयप्रणवादिजपं बुधाः ।
सत्त्वशुद्धिकरं पुंसां स्वाध्यायं परिचक्षते ॥
स्वाध्यायस्य त्रयो भेदा वाचिकोपांशुमानसाः ।
उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यं प्राहुर्वेदार्थवादिनः ॥
यः शब्दबोधजननः परेषां शृण्वतां स्फुटम् ।
स्वाध्यायो वाचिकः प्रोक्त उपांशोरथ लक्षणम् ॥
ओष्ठयोः स्पन्दमात्रेण परस्याशब्दबोधकः ।
उपांशुरेष निर्दिष्टः साहस्रो वाचिकाज्जपः ॥
यत्पदाक्षरसंगत्या परिस्पन्दविवर्जितम् ।
चिन्तनं सर्वशब्दानां मानसं तं जपं विदुः ॥
यदृच्छालाभतो नित्यमलं पुंसो भवेदिति ।
या धीस्तामृषयः प्राहुः संतोषं सुखलक्षणम् ॥

पराक तथा कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रतोंद्वारा शरीरको सुखा देना—इसे तपस्वियोंने उत्तम 'तप' कहा है। वेदान्त (उपनिषद्) एवं शतरुद्रीय आदिके पाठ तथा प्रणवादि मन्त्रोंके जपको बुधजन मनुष्योंके अन्तः-करणकी शुद्धि करनेवाला 'स्वाध्याय' कहते हैं। स्वाध्यायके तीन भेद हैं—वाचिक, उपांशु और मानस। इनमें क्रमशः अगले-अगलेको वेदका मर्म जाननेवालोंने श्रेष्ठ कहा है। जो स्वाध्याय दूसरे सुनने-वालोंको स्पष्टतया शब्दबोध करानेवाला हो वह वाचिक कहलाता है। उपांशुका लक्षण यह है कि जो दूसरोंको शब्दबोध न करावे, केवल ओठोंके हिलनेमात्रसे किया जाय। यह उपांशुका स्वरूप बताया गया है। वाचिक स्वाध्यायकी अपेक्षा यह सहस्रगुण श्रेष्ठ है। जो पद और अक्षरोंकी संगतिके अनुसार, बिना किसी प्रकारका हलन-चलन किये, सभी शब्दोंका केवल चिन्तन करना है उसे मानस जप कहते हैं। पुरुष को जो दैववश प्राप्त हुए पदार्थसे ही सर्वथा अलंबुद्धि होना है

बाह्यमाभ्यन्तरं शौचं द्विधा प्रोक्तं द्विजोत्तमाः ।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं मनःशुद्धिरथान्तरम् [१]॥
स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाङ्मनःकायकर्मभिः ।
सुनिश्चला शिवे भक्तिरेतदीश्वरपूजनम् ॥" इति ।

अत्र यद्वैधहिंसाया अहिंसात्वमुक्तं तच्छौचाचमनाद्यपरिहार्यहिंसापरं गृहस्थादिकर्तव्यहिंसापरं वा । भाष्यकारैर्यज्ञादिषु हिंसाया अपि त्यागस्तु महाव्रतत्वेन विहितः । भाष्यकारोक्तं चेश्वरप्रणिधानं सर्वकर्मार्पणरूपमीश्वरगीतोक्तपूजनादीना[२]मुपलक्षणमिति ।

अनयोर्यमनियमयोर्मध्ये यमानां निवृत्तिमात्रतया देशकालाद्यपरिच्छिन्नत्वसंभवेन तन्निमित्तिका महाव्रतसंज्ञा सूत्र-

उसे ऋषियोंने सुखरूप 'सन्तोष' कहा है। ब्राह्मणोंने बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे दो प्रकारका 'शौच' बतलाया है। मृत्तिका और जलसे होनेवाला बाह्य शौच माना गया है और मनकी शुद्धि आन्तर शौच है। स्तुति, स्मरण और पूजाके द्वारा भगवान्में मन, कर्म और शरीर द्वारा निश्चल भक्ति होना—यही 'ईश्वरपूजन' है।'

यहाँ जो शास्त्रविहित हिंसाको अहिंसा बतलाया है वह शौच-आचमनादिमें होनेवाली अनिवार्य हिंसा है अथवा गृहस्थादिसे होनेवाली कर्त्तव्यरूप हिंसा समझनी चाहिये, क्योंकि भाष्यकारने यज्ञादिमें होनेवाली हिंसाका तो महाव्रतरूपसे त्याग ही बतलाया है। भाष्यकारने जो सर्वकर्मार्पणरूप ईश्वर-प्रणिधान कहा है वह ईश्वरगीतोक्त पूजनादिका ही उपलक्षण कराता है।

इन यम और नियमोंमें यम केवल निवृत्तिरूप हैं, अतः ये देशकालादिसे अपरिच्छिन्नरूपसे भी हो सकते हैं, इसीसे इस प्रकार होनेवाले

१ शुद्धिस्तथान्तरम्—प. २ पु. । २ पूजादीनां—पा. ३ पु. ।

कारेणोक्ता । नियमानां तु प्रवृत्तिरूपतया देशकालादियन्त्रि-तत्वेन नास्ति महाव्रतत्वरूपोऽवान्तरविशेषः ।

इति यमनियमौ व्याख्यातौ ।

आसनं व्याख्यायते । तत्र यावत्यो जीवजातयस्तासामुपवेशनेषु संस्थानविशेषाः[1] सर्व एवासनानि भवन्ति । तेषु मुख्यानि त्रीण्यासनानीश्वरगीतादिषूक्तानि । यथा—

> "आसनं स्वस्तिकं प्रोक्तं पद्ममर्धासनं तथा ।
> आसनानां तु सर्वेषामेतदासनमुत्तमम् ॥
> ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्राः कृत्वा पादतले उभे ।
> समासीतात्मनः पद्ममेतदासनमुत्तमम् ॥
> एकपादमथैकस्मिन्विन्यस्तोरुणि सत्तमाः ।
> आसीतार्धासनमिदं योगसाधनमुत्तमम् ॥

यमोंको सूत्रकारने 'महाव्रत' नामसे कहा है। किन्तु नियम प्रवृत्ति-रूप हैं, वे देश-कालादिसे परिच्छिन्न ही रहते हैं। अतः उनमे महा-व्रतत्वरूप अन्य विशेषता नहीं रह सकती।

इस प्रकार यम और नियमोंकी व्याख्या हुई।

आसन—अब आसनोंकी व्याख्या की जाती है। संसारमें जीवों-की जितनी जातियाँ हैं उनके बैठनेमें जितने प्रकारके संस्थानविशेष हैं वे ही सब आसन हैं। उनमे से मुख्य तीन आसनोंका ईश्वरगीता आदि ग्रन्थोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

'स्वस्तिक, पद्म और अर्ध जो आसन कहे गये हैं वे सभी आसनोंमे श्रेष्ठ हैं। विप्रप्रवर! साधकको अपने दोनो पैर दोनों जंघाओं पर रखकर बैठना चाहिये। यह उत्तम पद्मासन है। हे सत्तम! जब अपना एक पैर एक जंघापर रखकर बैठे तब यह योगका उत्तम साधन

---

१ संस्थानविशेषेषु—पा. २ पु.।

उभे कृत्वा पादतले जानूर्वोरन्तरेण हि ॥
समासीतात्मनः प्रोक्तमासनं स्वस्तिकं परम् ॥" इति ।

आसनस्य प्रपञ्चस्त्वत्र राजयोगप्रकरणत्वान्न क्रियते । आसन-नाडीशुद्ध्यादयस्तु हठयोगादिग्रन्थेष्वशेषतो द्रष्टव्याः । आसनं व्याख्यातम् ।

प्राणायामो व्याख्यायते । रेचकः पूरकः कुम्भकश्चेति त्रिविधः प्राणायामः । केवलकुम्भकश्चतुर्थः प्राणायामः । तदुक्तं नारदीये—

"रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः शून्यकस्तथा ।
एवं चतुर्विधः प्रोक्तः प्राणायामो मनीषिभिः ॥
जन्तूनां दक्षिणा नाडी पिङ्गला परिकीर्तिता ।
सूर्यदैवतका चैव पितृयोनिरिति स्मृता ॥

अर्धासन होता है । और जब अपने दोनो पैरोंके तलुओंको दोनों जाँघोंमें दबाकर बैठे तो यह श्रेष्ठ स्वस्तिक आसन होता है ।'

यह राजयोगका प्रसंग है, इसलिये यहाँ आसनोंका विशेष विस्तार नहीं किया जाता । आसन और नाडीशुद्धि आदि विषयोंका पूर्ण विवरण तो हठयोग आदिके ग्रन्थोंमें देखना चाहिये । यह आसनकी व्याख्या हुई ।

प्राणायाम—प्राणायामकी व्याख्या की जाती है । रेचक, कुम्भक और पूरक—तीन प्रकारका प्राणायाम होता है तथा केवल कुम्भक चतुर्थ प्राणायाम है । नारदीय पुराणमें ऐसा कहा है—

'रेचक, पूरक कुम्भक और शून्य इस तरह चार प्रकारका प्राणायाम बुद्धिमानोंने बताया है । जीवोंकी जो दायीं नाडी है वह पिंगला कही जाती है । वह सूर्य देवतावाली और पितृयोनि भी मानी गयी है ।

देवयोनिरिति ख्याता इडा नाडी तु वामगा[1] ।
तत्राद्यदैवतं चन्द्रः शृणुध्वं गदतो मम ॥
एतयोरुभयोर्मध्ये सुषुम्णा नाडिका स्मृता ।
अतिसूक्ष्मा गुह्यतमा ज्ञेया सा ब्रह्मदैवता ॥
वामेन रेचयेद्वायुं रेचनाद्रेचकः स्मृतः ।
पूरयेद्दक्षिणेनैव पूरणात्पूरकः स्मृतः ॥
स्वदेहे पूरितं[2] वायुं निगृह्य न विमुञ्चति ।
संपूर्णकुम्भवत्तिष्ठेत्कुम्भकः स हि विश्रुतः ॥
न गृह्णाति त्यजति न वायुमन्तर्बहिः स्थितम् ।
ज्ञेयं तच्छून्यकं नाम प्राणायामं यथास्थितम् ॥" इति ।

याज्ञवल्क्याद्यौ च,

"पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम् ।
प्राणायामस्त्रिधा ज्ञेयः कनीयोमध्यमोत्तमः ॥

इडा नामकी जो बायीं नाडी है वह देवयोनि कही गयी है। सुनिये, मैं बताता हूँ, उनका अधिदेव चन्द्रमा है। इन दोनोंके बीचमें सुषुम्ना नाडी मानी गयी है। उसे अति सूक्ष्म और गुह्यतम समझना चाहिये। उसका देवता ब्रह्मा है। बायीं नाडी से वायुको निकाल देना चाहिये। इसे रेचन (निःसरण) के कारण 'रेचक' प्राणायाम कहते हैं। फिर दायीं नाडीमे वायु भरे। पूरण (भरने) के कारण यह क्रिया 'पूरक' कहलाती है। इस प्रकार अपने शरीरमे भरे हुए उस वायुको रोककर जब योगी उसे नहीं छोडता और भरे हुए घड़े के समान स्थिर रहता है तो इसे ही 'कुम्भक' कहते हैं। फिर जब वह शरीरसे बाहर एवं भीतर स्थित वायुको न तो ग्रहण करता है और न त्यागता है तो इस यथास्थित प्राणायामको 'शून्य' समझना चाहिये'।

याज्ञवल्क्यादि स्मृतियोंमें भी कहा है—'पूरक, कुम्भक और उसके पश्चात् रेचक—इस क्रमसे कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम तीन प्रकारका

---

[1] वामतः—पा. १ पुं. । [2] पूरकं—पा. १ पु. ।

द्वादशमात्रः कनीयान्मध्यमो मात्राचतुर्विंशः ।
उत्तमः षट्त्रिंशन्मात्रो मात्राभेदाः स्मृतास्तज्ज्ञैः ॥"

इत्याद्युक्तम् ।

अत्र प्राणायामस्य पूरकादिक्रमकथनान्नारदाद्युक्तो रेचकादि-क्रमो वैकल्पिक इति ।

अस्मिंश्चतुर्विधप्राणायामे सूत्रकारेणायं विशेष उक्तः । आदौ यत्सहितं त्रयमभ्यस्यते, तच्च देशकालसंख्याभिरवधृतं भवति, तदा दीर्घसूक्ष्मसंज्ञकं भवति । तत्र रेचकस्य देशो नासिकाग्राद्बहिर्द्वादशाङ्गुलादिः । स च [1]इषीकातूलादिक्रियया

प्राणायाम समझना चाहिये । प्राणायामके मर्मज्ञोने इनकी मात्राओंके भेद इस प्रकार माने हैं—कनिष्ठ प्राणायाम बारह मात्राओंका होता है, मध्यम चौबीस मात्राओंका और उत्तम छत्तीस मात्राओंका होता है ।'

यहाँ (याज्ञवल्क्यस्मृति मे) प्रणायामका क्रम पूरक से आरम्भ किया है ; अतः ऊपर जो नारदपुराणोक्त क्रम रेचक से आरम्भ होनेवाला है उसे वैकल्पिक* समझना चाहिये ।

इस उपर्युक्त चार प्रकार के प्रणायामके विषय में सूत्रकारने विशेष बात यह कही है कि पहले जो तीन प्रकार के सहित◈ प्रणायाम का अभ्यास किया जाता है उसका देश, काल और संख्या के द्वारा निश्चय किया जाता है । तब उसकी दीर्घ या सूक्ष्म संज्ञा होती है । इनमे रेचकका देश नासिकाग्रसे लेकर बाहरी ओर द्वादश अङ्गुल आदि है । उसका रूईके रूएँ आदिकी क्रियासे निश्चय किया जा

---

१ ईषीका–पा. २ पु. ।

* अर्थात् अभ्यासी इन दोनों क्रमोंमें से किसी भी एक क्रमसे अभ्यास कर सकता है ।

◈ जिस प्राणायाममें रेचक, पूरक और कुम्भक तीनों रहते हैं उसे 'सहित प्राणायाम' कहा जाता है ।

निश्चेयः । पूरकस्य चामस्तकमापादतलमाभ्यन्तरो देश । स च पिपीलिकास्पर्शतुल्यस्पर्शेन निश्चेयः । कुम्भकस्य च रेचकपूरकयोर्बाह्याभ्यन्तरदेशौ समुच्चितावेव विषयः, उभयत्रैव प्राणस्य वृत्तिनिरोधात् । स चोक्तलिङ्गद्वयानुपलब्ध्या निश्चेयः[1] । एवं देशेनावधृतो व्याख्यातः ।

कालेनावधृतो यथा—'एतावत्क्षणं रेचकः कर्तव्यः' 'एतावत्क्षणं पूरकः कर्तव्यः' 'एतावत्क्षणं कुम्भकः कर्तव्यः' इत्येवमङ्गीकृतकालैरवधृत इति । संख्याभिरवधृतस्तु यथा मात्राणां द्वादशादिसंख्यात्रयेणावधृत इति । अत्र देशादित्रयाणां प्राणायामपरिच्छेदकत्वे विकल्प एव, न तु समुच्चयः; केवल-

सकता है । पूरकका देश मस्तकसे लेकर पादतल पर्यन्त शरीरके भीतर है । उसका चींटीके स्पर्शके समान वायुके स्पर्शद्वारा निश्चय किया जा सकता है । कुम्भकका देश तो रेचक और पूरक दोनों ही के बाह्य और आभ्यन्तर देश मिलकर हो सकते हैं, क्योंकि दोनो ही स्थानोंमें प्राणकी गतिका निरोध किया जा सकता है और उसका निश्चय उपर्युक्त दोनों लिंगोंकी उपलब्धि न होनेपर होता है । इस प्रकार देशके द्वारा निश्चित हुए प्राणायामकी व्याख्या हुई ।

काल के द्वारा निश्चित इस प्रकार है जैसे—'रेचक इतने क्षणतक करना चाहिये, पूरक इतने क्षणतक और कुम्भक इतने क्षणतक' इस प्रकार अङ्गीकार किये हुए कालों द्वारा इनका निश्चय करना । तथा मात्राओं की द्वादश आदि तीन प्रकार की संख्याओं से निश्चय किया हुआ प्राणायाम संख्या के द्वारा निश्चित कहलाता है । यहाँ देशादि (देश, काल और संख्या) इन तीनों को जो प्राणायाम का परिच्छेदक बताया गया है इसमें विकल्प ही समझना चाहिये,

---

1 कुम्भकस्य च पूरकदेश एव विषयः, त्रयाणां सहानुष्ठाने पूरकानन्तरमेव श्रवणात् । स चोक्तलिङ्गानुपलब्ध्या निश्चेयः—पा. ३ पु. ।

मात्राभिरपि प्राणायामपरिच्छेदस्य बहुशः स्मरणादिति । एवमभ्यासक्रमेण यदा देशकालसंख्याभिः परिच्छेद्यौ रेचक-पूरकौ विनैव मासस्संवत्सरादिस्थायी बहुदेशव्यापी[1] कुम्भको भवति, स केवलकुम्भकश्चतुर्थः प्राणायामः । तस्मिन्सत्या-काशगमनादिसिद्धयो जायन्ते । तदुक्तं वसिष्ठसंहितायाम्—

"रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ॥
सहितं केवलं वाऽपि कुम्भकं नित्यमभ्यसेत् ।
यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत् ॥

समुच्चय नहीं; [अर्थात् देश, काल और संख्या तीनो में से किसी एक के द्वारा भी प्राणायाम की दीर्घता या सूक्ष्मता का माप हो सकता है, तीनों ही के द्वारा उसका निश्चय करना आवश्यक नहीं है;] क्योंकि केवल मात्राओं द्वारा भी प्राणायाम के परिच्छेद का अनेक प्रकार से स्मृतियो में उल्लेख हुआ है । इस प्रकार अभ्यास करते-करते जब देश, काल और संख्या से परिच्छेद्य रेचक और पूरक के बिना ही मास और वर्षो तक रहनेवाला कुम्भक बहुदेशव्यापी हो जाता है तो वही केवल कुम्भक नामका चतुर्थ प्राणायाम कहा जाता है । उसके हो जाने पर आकाश गमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं । यही बात वसिष्ठसंहिता (योगवासिष्ठ) में इन वाक्यों द्वारा कही गयी है ।

"रेचक और पूरक को त्यागकर जो सुखपूर्वक वायुको धारण करना है वही केवल कुम्भक प्राणायाम कहा जाता है । नित्य ही सहित या केवल कुम्भकका अभ्यास करना चाहिये । जब तक केवल कुम्भक सिद्ध न हो तब तक सहित कुम्भकका अभ्यास करे । रेचक और पूरकसे

---

१ व्यापी-स्था. ३ पु. ।

केवले कुम्भके सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ।
न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते" ॥
इत्यादिभिरिति ।

प्राणायामे च मात्रा मार्कण्डेयपुराणादिषूक्ता—
"निमेषोन्मेषणे मात्रा तालो लघ्वक्षरं तथा ।
प्राणायामस्य संख्यार्थं स्मृता द्वादशमात्रिका[1] ॥"
इत्यादिभिः ।

मात्रा प्रमाणम् । द्वादशमात्रिका द्वादशगुणिता । इदं च द्वादशमात्रिकत्वं त्रिष्वेव सामान्यवचनात् । वसिष्ठसंहितादौ तु पूरकं षोडशमात्राभिः, कुम्भकं चतुःषष्टिमात्राभिः, रेचकं तु द्वात्रिंशन्मात्राभिरित्युक्तम् । अतो मुख्यकल्पानुकल्परूपेणात्र व्यवस्थेति ।

रहित जो केवल कुम्भक है उसके सिद्ध हो जानेपर उस योगीको तीनों लोकोंमे कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता ।'

प्राणायामके मापकी जो मात्रा है उसका मार्कण्डेय पुराण आदि ग्रन्थोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—'आँखोंके मूँदने और खोलनेमें, हाथोंसे ताली बजानेमें और एक लघु अक्षरके उच्चारणमे जितना समय लगता है उसे मात्रा कहते हैं । प्राणायामकी संख्या करनेके लिये ऐसी द्वादश मात्राएँ स्मृतियोंमे बतायी हैं ।'

'मात्रा' एक प्रमाण है । इससे बारह गुनी द्वादश मात्राएँ होती हैं । यह द्वादश मात्रा काल तीनोंही प्राणायामोंके लिए समान रूपसे कहा गया है । किन्तु वसिष्ठसंहिता आदि ग्रन्थोंमें तो पूरक सोलह मात्राओंसे, कुम्भक चौंसठ मात्राओंसे और रेचक बत्तीस मात्राओंसे करने का विधान है । अतः मुख्य कल्प (प्रधान विधि) और अनुकल्प (गौण विधि) मानकर इन दोनों ही वाक्योंकी गति लगायी जा सकती है ।

---

१ स्मृतिर्द्वादशमात्रिका–पा. १ पु. ।

अन्यश्च प्राणायामे विशेषो नारदीयादिषूक्तः—
"अगर्भश्च सगर्भश्च द्वितीयस्तु तयोर्वरः ।
जपध्यानं विनाऽगर्भः सगर्भस्तत्समन्वितः" ॥

इत्यादिभिः । तत्र जपमन्त्र ईश्वरगीतायामुक्तः—

"सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।
त्रिर्जपेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥" इति ।

योगियाज्ञवल्क्ये तु —

"मात्राप्रमाणयोगेन प्राणापाननिरोधनात् ।
ॐकारेण तु कर्तव्यः प्राणायामो यथोदितः ॥" इति ।

केवलप्रणवजपोऽयं परमहंसानाम् । ध्यानं च पूरकादिक्रमेण नाभिहृदयललाटेषु ब्रह्मविष्णुशिवरूपाणां स्मृतिषूक्तम् । परमहंसानां

नारदीय पुराणादिमें प्राणायामकी एक दूसरी विशेषता यह बतायी है—'प्राणायाम अगर्भ और सगर्भ भेदसे दो प्रकारका है । इनमें दूसरा श्रेष्ठ है । जप और ध्यानसे रहित प्राणायाम 'अगर्भ' कहलाता है और इनसे युक्त 'सगर्भ' कहा जाता है ।' सो ईश्वर-गीतामें जपमन्त्र इस प्रकार बताया गया है—'प्राणोंका संयम करके व्याहृति, प्रणव और शिरोमन्त्रके सहित गायत्रीका तीन बार जप करे । इसे ही प्राणायाम कहते हैं ।' तथा योगियाज्ञवल्क्यमें कहा है—'प्राण और अपानका निरोध करके मात्राओंके प्रमाणानुसार ओंकार जप करते हुए विधिवत् प्राणायाम करना चाहिये ।'

यह जो केवल प्रणवका जप है वह परमहंस संन्यासियों के लिये है। स्मृतियोंमें पूरक, कुम्भक और रेचक करते समय क्रमशः नाभि, हृदय और ललाट देशमें ब्रह्मा, विष्णु और शंकरके स्वरूपका ध्यान करना कहा है । तथा 'संयतचित्त यति प्रणवके द्वारा परब्रह्मका चिन्तन करे'

तु केवलमेव ब्रह्म ध्येयमुक्तम् 'प्रणवेन परब्रह्म[1] ध्यायीत नियतो यतिः' इत्यादिस्मृतिभिरिति दिक्।

इति प्राणायाम उक्तः।

प्रत्याहार उच्यते। नारदीये—

"विषयेषु प्रसक्तानि इन्द्रियाणि मुनीश्वराः।
समाहृत्य निगृह्णाति[2] प्रत्याहारस्तु स स्मृतः॥
अनिर्जित्येन्द्रियग्रामं यस्तु ध्यानपरो भवेत्।
मूढात्मानं च तं विद्याद्ध्यानं चास्य न सिध्यति॥"

इति।

इन्द्रियाणां निग्रहश्च वशीकरणम्, स्वेच्छानुविधायी करण-मिति यावत्। प्रत्याहार उक्तः।

यमादीनि चैतानि प्रत्याहारान्तानि योगाङ्गानि देह-

इत्यादि स्मृतियों द्वारा परमहंसके लिये केवल ब्रह्म ही ध्येय बतलाया गया है। ऐसा यहाँ समझना चाहिये। इस प्रकार प्राणायामका वर्णन हुआ।

प्रत्याहार—प्रत्याहारका वर्णन किया जाता है। नारदपुराणमें कहा है—'हे मुनीश्वरो! योगी जो विषयोंमें आसक्त इन्द्रियोंको सब ओर से हटाकर उनका निग्रह करता है वह प्रत्याहार कहलाता है। जो पुरुष इन्द्रियोंको अधीन किये विना ही ध्यानमें लग जाता है उसे तो मूढचित्त ही समझना चाहिये। उसे ध्यान सिद्ध भी नहीं हो सकता।'

इन्द्रियोंको अपने वशमें करना अर्थात् उन्हें अपनी इच्छाकी अनु-वर्तिनी बना लेना ही उनका निग्रह है। यह प्रत्याहारका वर्णन हुआ।

यमसे लेकर प्रत्याहार पर्यन्त जो ये योगके अंग हैं वे देह, प्राण

---

१ परं ब्रह्म–पा. २ पु.। २ निगृह्यानि–पा. १ पु.।
३ नुविधया–पा. १ पु.।

प्राणेन्द्रियाणां निग्रहरूपाणि । इतः परं चित्तनिग्रहरूपं धारणाद्यङ्गत्रयमभ्यर्हितं वक्तव्यम् ।

तत्र धारणोच्यते । 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (यो. ३. १.) । यत्र देशे ध्येयं चिन्तनीयं तत्र चित्तस्य स्थिरीकरणमिति यावत् । देशाश्चोक्ता ईश्वरगीतायाम्—

"हृत्पुण्डरीके नाभ्यां वा मूर्ध्नि पर्वतमस्तके ।

एवमादिप्रदेशेषु धारणा चित्तबन्धनम् ॥" इति ।

ननु मूर्त्यादियोगे देशो घटते; सत्त्वपुरुषान्यतायोगे शुद्ध-ब्रह्मयोगे वा कथं देशो घटतां ध्येयस्यापरिच्छिन्नत्वादिति चेत्, अग्नेरिन्धनवत्स्वस्वोपाधिवृत्तेरेव तदुभयदेशत्वादिति ।

और इन्द्रियोके निग्रहरूप ही हैं । इससे आगे योगके तीन प्रधान अंग धारणादिका, जो चित्तनिग्रह रूप हैं, वर्णन करना है ।

धारणा—उनमेसे धारणाका वर्णन किया जाता है । चित्तको किसी देश-विशेषमे बॉध देना धारणा है । अर्थात् जिस देशमे ध्येयका चिन्तन करना हो उसमे चित्तको स्थिर कर देना । ईश्वरगीतामे देश ये बताये हैं—'हृदयकमल, नाभि, मूर्धा अथवा पर्वतशिखर इत्यादि देशोंमें चित्तको बॉध देना धारणा है ।'

प्रश्न—देशकी बात तो मूर्त्ति आदिके सम्बन्धमें घट सकती है; सत्व और पुरुषकी अन्यताख्याति अथवा शुद्ध ब्रह्मसम्बन्धी योगमें देशका किस प्रकार सम्बन्ध रह सकता है, क्योंकि यहाँ तो ध्येय अपरिच्छिन्न होता है ।

उत्तर—जैसे अग्नि अपनी उपाधि ईंधन आदिमे रहती है उसी प्रकार अपनी-अपनी उपाधिमें उपलब्ध होना यही इन ब्रह्म और सत्त्व (सत्त्वादि गुणरूपा प्रकृति) दोनोंका देश सम्बन्ध समझना चाहिये ।*

---

* अर्थात् जिस प्रकार व्यापक होने पर भी ईंधन आदि को अग्निका आश्रय कहा जाता है वैसे ही यद्यपि ब्रह्म और प्रकृति दोनों ही व्यापक हैं तथापि जिस हृदय आदि उपाधिमें इनकी उपलब्धि होती है वही इनका देश है ।

यावत्कालावस्थित्या धारणादित्रयं भवति, स काल ईश्वर-गीतायामवधृतः—

"धारणा द्वादशायामा ध्यानं द्वादश धारणाः ।
ध्यानद्वादशकं यावत्समाधिरभिधीयते ॥" इति ।

द्वादश आयामाः प्राणायामा यावत्कालेन भवन्ति तावत्काल-परिमितं चित्तस्य यथोक्तैकाग्र्यं धारणेत्यर्थः । धारणोक्ता ।

ध्यानमुच्यते । तत्र देशे ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो वृत्त्यन्तरा-व्यवहितो ध्यानम् । यथा हृत्पुण्डरीकादौ चतुर्भुजादिचिन्तनम्, बुद्धिवृत्तौ वा तद्विवेकतश्चैतन्यचिन्तनम्, कारणोपाधौ ईश्वर-चिन्तनमिति । ईश्वरगीतायामप्येतदेवोक्तम्—

"देशावस्थितिमालम्ब्य बुद्धेर्या वृत्तिसंततिः ।
वृत्त्यन्तरैरसंस्पृष्टा तद्ध्यानं सूरयो विदुः ॥" इति ।

धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों कितने-कितने समय की स्थिति होनेपर सिद्ध होते हैं इसका निर्णय ईश्वरगीता में इस प्रकार किया है—'बारह आयाम की धारणा होती है, बारह धारणाएँ होनेपर ध्यान होता है और बारह ध्यान के बराबर स्थिति होनेपर समाधि कही जाती है ।' तात्पर्य यह है कि बारह आयाम अर्थात् बारह प्राणायाम जितने समय में होते हैं उतने समय तक चित्तकी पूर्वोक्त प्रकारकी एकाग्रता 'धारणा' कहलाती है । इस प्रकार धारणाका वर्णन हुआ ।

ध्यान—ध्यान का वर्णन किया जाता है । उस (धारणा के) देश में अन्य वृत्तियों से अव्यवहित जो ध्येयाकार वृत्तियोंका प्रवाह है वह 'ध्यान' कहलाता है । जैसे हृदयकमल आदि में चतुर्भुज आदि भगवद्विग्रहका चिन्तन करना अथवा बुद्धिवृत्तिमें उससे पृथक् करके चैतन्य का चिन्तन करना अथवा कारणरूपा उपाधि में ईश्वर का चिन्तन । यही बात ईश्वरगीता में भी कही है—'देशसम्बन्धिनी स्थिति का आश्रय लेकर जो अन्य वृत्तियोंसे असंस्पृष्ट बुद्धिकी वृत्तियोंका प्रवाह है उसीको विद्वान्लोग ध्यान समझते हैं' ।

ध्यानसमाध्योरपि कालनियम उक्त एवेति । ध्यानमुक्तम् ।

समाधिरुच्यते । तदेव ध्यानं यदा ध्येयावेशवशाद्ध्यानध्येय-ध्यातृभावद्दृष्टिशून्यं सद्ध्येयमात्राकारं भवति, तदा समाधि-रुच्यते । कालनियमश्चोक्त एव । ध्यानाच्चास्यान्योऽपि विशे-षोऽस्ति । अत्यन्ताभ्यर्हितादिविषयैरिन्द्रियसंनिकर्षे ध्यानस्य भङ्गो भवति, न तु समाधेरिति । तथा च स्मर्यते—

"तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो
न वेद किंचिद्बहिरन्तरं वा ।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्त-
मिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे ॥" इति ।

अत्र समाधिलक्षणे वृत्त्यन्तरनिरोधो न विशेषणं निरो-धस्याङ्गित्वात्, किं तूपलक्षणमेवेति मन्तव्यम् । एतत्कालीनेनैव

ध्यान और समाधि के कालो का नियम पहले बताया ही जा चुका है। यह ध्यान का वर्णन हुआ।

समाधि—अब समाधि का वर्णन किया जाता है। वही ध्यान जब ध्येय वस्तु के आवेश से ध्याता ध्येय और ध्यान दृष्टि से शून्य होकर केवल ध्येयमात्राकार हो जाता है तब समाधि कहा जाता है। इसके कालका नियम तो बताया ही जा चुका है। ध्यान से इसकी एक विशेषता और भी है। ध्यान का तो इन्द्रियों से अत्युत्कृष्ट विषयोंका सम्पर्क होने पर भंग हो जाता है, किन्तु समाधि का नही होता। ऐसा ही स्मृति (श्रीमद्भागवत) का वचन भी है— तब इस प्रकार आत्मा मे चित्त का निरोध हो जानेपर योगी किसी भी बाह्य अथवा आभ्यन्तर वस्तु को नहीं देखता, जिस प्रकार कि तीर बनानेवालेने तीरमें चित्त लगा रहने के कारण अपने पास होकर जाते हुए राजा को नहीं देखा'।

यहाँ समाधि के लक्षण मे अन्य वृत्तियों के निरोध को उसका विशेषण नहीं बतलाया गया, क्योंकि यहाँ निरोध तो अङ्गी ही है, उसे तो समाधि का उपलक्षण (सूचक) ही मानना चाहिये। इस समय

वृत्तिनिरोधेन ध्येयसाक्षात्कारो जन्यत इत्यतः समाधिः संप्रज्ञातयोगस्य चरमाङ्गं भवति ।

ननु यदि समाधिकाल एव वृत्त्यन्तरनिरोधरूपः संप्रज्ञात-योगो भवति, तदा निरोधस्यैवाङ्गित्वे किं नियामकमिति चेत् ?

उक्तमेव पुनः स्मार्यते । चित्तं स्वत एव सर्वार्थग्रहणसमर्थं विभुत्वात्प्रकाशस्वभावत्वाच्च दर्पणवत् । तथाऽपि विषयान्त-रावेशदोषादभीष्टार्थो भाव्यमानोऽपि न साक्षात्कर्तुं शक्यते । अतो विषयान्तरवृत्तिनिरोध एव प्रतिबन्धकाभावरूपतया ध्येयसाक्षात्कारे साक्षात्कारणं भवति । समाधिरपि तु तत्राङ्गमेव, साक्षात्कारे वृत्त्यन्तरनिरोधद्वारैव हेतुत्वादिति ।

होनेवाले वृत्तियो के निरोध से ही ध्येयका साक्षात्कार होता है, अतः समाधि तो सम्प्रज्ञात योगका चरम अंग है ।

प्रश्न—यदि समाधिके समय ही अन्य वृत्तियो का निरोधरूप सम्प्रज्ञात योग होता है तो उस अवस्था मे निरोधको ही समाधिका अङ्गी निश्चित करनेवाला कौन रहता है ।

उत्तर—यह बात पहले कही जा चुकी है। उसीका अब पुनः स्मरण कराया जाता है। चित्त स्वयं ही विभु और प्रकाशस्वरूप होने के कारण दर्पण के समान समस्त वस्तुओ को ग्रहण करने मे समर्थ है। किन्तु अन्यान्य विषयों के समावेश का दोष रहने के कारण यह भावना करने पर भी अपने अभीष्ट पदार्थ का साक्षात्कार नहीं कर सकता। अतः अन्य विषयोंमें जानेवाली वृत्तियों का निरोध ही प्रतिबन्ध-काभावरूप होनेके कारण ध्येयके साक्षात्कार में मुख्य कारण होता है । समाधि भी उसमे केवल अंग ही है, क्योंकि ध्येय के साक्षात्कार में वह वृत्त्यन्तरके निरोध द्वारा ही कारण होती है ।

तदेवं धारणादित्रयं व्याख्यातम् । एतच्च त्रयमेकस्मि-न्नालम्बने वर्तमानं संयम इत्युच्यते । तस्य च संयमस्य स्थूलादिक्रमेण विविक्तपरमात्मपर्यन्तं भूमिषु विनियोगः कर्तव्यः, 'तस्य भूमिषु विनियोगः' (यो. ३. ६.) इति सूत्रात्,

"स्थूले विनिर्जितं चित्तं ततः सूक्ष्मे शनैर्नयेत् ।"

इति स्मृतेश्च ।

अयं तूत्सर्ग एवेति प्रागेवोक्तम् । यतो यदीश्वरप्रसादा-त्सद्गुरुप्रसादाद्वाऽऽदावेव सूक्ष्मसूक्ष्मभूमिकायामवस्थितियोग्यता स्वचित्तस्य दृश्यते तदा न स्थूलादिपूर्वपूर्वभूमिकया मुमुक्षुभिः कालक्षेपः कर्तव्यः उत्तरभूमिकारोहरूपस्य पूर्वभूमिकाप्रयोजनस्या-न्यत एव सिद्धेः । तथा च स्मर्यते—

"सारभूतमुपासीत ज्ञानं यत्स्वार्थसाधकम् ।

संयम—इसप्रकार धारणादि अन्तरंग योगाङ्गोंकी व्याख्या हुई । ये ही तीनो जब एक ही आलम्बनमें रहते हैं तो 'संयम' कहलाते हैं । इस संयमका स्थूल तत्त्वोंसे लेकर सर्वातीत परमात्मा पर्यन्त सम्पूर्ण भूमियोंमे विनियोग करना चाहिये । 'उसका भूमियो में विनियोग करें' इस सूत्र और 'स्थूलमें जीते हुए चित्त को फिर धीरे-धीरे सूक्ष्म विषयोंमे ले जाय' इस स्मृतिद्वारा भी यही बात सिद्ध होती है ।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि यह सर्व साधारण के लिये सामान्य नियम है, क्योंकि यदि भगवान् या सद्गुरु की कृपासे अपने चित्तकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म भूमिकाओं मे स्थिर होनेकी योग्यता दिखायी दे तो स्थूलादिपूर्व-पूर्व भूमिकाओं में लगाकर मुमुक्षुओंको अपना समय नहीं खोना चाहिये; कारण कि उत्तर भूमिकाओं में आरूढ़ होनारूप जो पूर्व भूमिकाओ का पयोजन है वह तो इसे [भगवत्कृपा रूप] दूसरे ही उपाय से प्राप्त हो चुका है । ऐसा ही यह स्मृति भी कहती है—'जो अपने प्रयोजन की पूर्ति करनेवाला हो ऐसे एक ही सारभूत ज्ञानका

ज्ञानानां बहुता यैषा योगविघ्नकरी हि सा ॥
इदं ज्ञेयमिदं ज्ञेयमिति यस्तृषितश्चरेत् ।
आ स कल्पसहस्रेषु नैव ज्ञेयमवाप्नुयात् ॥" इति ।

अतोऽत्र प्रकृष्टाधिकारिणां परमात्मालम्बन एव संयम-प्रकारोऽस्माभिरुदाह्रियते । सत्त्वपुरुषान्यतालम्बनस्य तु संयमस्य प्रकारांस्तच्छेषतयैव वक्ष्यामः । तत्र परमात्मसंयमे नारदीय-हरिभक्तिसुधोदयस्थ प्रकारः कथ्यते । यथा—

नारद उवाच ।
"विलाप्य विस्तरं कृत्स्नं चिदेकरसबोधने ।
राजयोगं प्रवक्ष्यामि तं शृणुध्वं द्विजोत्तमाः ॥ १ ॥
वेदान्तेभ्यः सतां सङ्गात्सद्गुरोश्च स्वतस्तथा ।
ज्ञेयोऽन्तः प्रकृतेरन्य आत्मा सम्यङ् मुमुक्षुभिः ॥ २ ॥

आश्रय लेना चाहिये । यह जो ज्ञानों की अनेकता है वह तो योगमे विघ्न करनेवाली ही है । जो पुरुष 'यह भी मेरे जानने की वस्तु है, यह भी मेरे जानने की वस्तु है' इस प्रकार प्यासे की तरह भटकता रहता है वह हजारों कल्पों में भी अपने वास्तविक ज्ञेय को प्राप्त नहीं कर सकता ।'

अतः यहाँ उत्कृष्ट अधिकारियोंके लिये परमात्मारूप आलम्बन-मे ही संयम करने का प्रकार हम वर्णन करते हैं । सत्त्व और पुरुष की अन्यताको आलम्बन करनेवाले संयम की विधिका तो हम उसके अंगरूपसे वर्णन करेंगे । सो, अब नारदीय हरिभक्तिसुधोदयमें आये हुए परमात्मसंयम के प्रकार का वर्णन किया जाता है—

नारदजी बोले—'विप्रवर ! मैं चिदेकरस परमात्मा के ज्ञान के लिये सब प्रकार के विस्तार को त्यागकर राजयोगका वर्णन करता हूँ, आप उसे सुने ॥ १ ॥ मुमुक्षु पुरुष को वेदान्त, सत्पुरुषों के संग और सद्गुरु के द्वारा तथा स्वयं भी यह अच्छी तरह जान लेना चाहिये

इत्यात्मानं दृढं ज्ञात्वा सङ्गं सर्वं ततस्त्यजेत् ।
अद्वैतसिद्धौ यततामन्यसङ्गो ह्यरिः स्फुटम् ॥ ३ ॥

एकान्ते स्वासनो धीरः शुचिर्दक्षः समाहितः ।
यतेतोपनिषद्दृष्टमायाभिन्नात्मदर्शने ॥ ४ ॥

पराक्प्रवृत्ताक्षगणं योगी प्रत्यक्प्रवाहयेत् ।
रुद्ध्वा मार्गं तदत्यन्तं मुक्ताम्बौघमिवार्जुनः ॥ ५ ॥

स्थापयित्वा पदेऽक्षाणि स्वे स्वेऽन्तस्तु मनः शनैः ।
निवृत्तसैन्यं राजानं वेश्मेवान्तः प्रवेशयेत् ॥ ६ ॥

अन्तःस्थिते[1] च मनसि न चलन्तीन्द्रियाण्यपि ।
अभ्राणि स्तिमितानीव चोदकेऽन्यगतेऽनिले[2] ॥ ७ ॥

कि आत्मा प्रकृति से भिन्न है ॥२॥ इस प्रकार आत्मा को दृढ़तासे जान कर सब प्रकार का संग त्याग दे । जो लोग अद्वैत तत्त्वकी अनुभूति के लिये प्रयत्न करनेवाले है उनके लिये अन्य संग तो साक्षात् शत्रु ही है ॥ ३ ॥ साधक एकान्तमे सुखपूर्वक आसनमे बैठकर धैर्य, पवित्रता, दक्षता और सावधानीसे उपनिषत्प्रतिपादित मायातीत परमात्माका साक्षात्कार करने के लिये यत्न करे ॥ ४ ॥ अर्जुन ने जिस प्रकार छोड़ हुए बाणोंको रोक लिया था उसी प्रकार योगी को चाहिये कि बाहर की ओर जानेवाली इन्द्रियों को सर्वथा उनका मार्ग रोककर भीतरकी ओर ले जाय ॥ ५ ॥ सेनाको लौटाकर ले जानेवाला राजा जैसे अपने अन्तःपुरमें प्रवेश करता है वैसे ही इन्द्रियोंको अपने-अपने गोलकोंमे स्थितकर धीरे-धीरे मनको भीतरकी ओर ले जाय ॥ ६ ॥ मन भीतर स्थित हो जानेपर इन्द्रियाँ भी चंचल नहीं रहतीं, जिस प्रकार प्रेरक वायुके शान्त हो जानेपर बादल भी गतिशून्य-से हो जाते हैं ॥ ७ ॥

---

१ अन्तर्नीते च--पा. २. पु. । २ अखिले--पा. १. पु. ।

[1]ततो वपुरहंकारबुद्धिभ्योऽन्ये चिदात्मनि ।
तासां प्रवर्तयितरि स्वात्मनि स्थापयेन्मनः ॥८॥
मुधा कर्तृत्वभोक्तृत्वमानिनं तमथामलम् ।
सर्वात्मनि चिदानन्दघने विष्णौ सुयोजयेत् ॥९॥
सलिले करकाश्मेव[2] दीपोऽग्नाविव तन्मयः ।
जीवो मौढ्यात्पृथग्बुद्धौ युक्तो ब्रह्मणि लीयते ॥१०॥
अयं च जीवपरयोर्योगो योगाभिधो द्विजाः ।
[3]सर्वोपनिषदामर्थो मुनिगोप्यः परात्परः ॥११॥
एवं ब्रह्मणि युक्तात्मा सन्निरन्तरचिद्रसः[4] ।
आसीताभ्यन्तरं बाह्यं विलाप्य जगदात्मनि ॥१२॥
क्रमाद्विलापयन्नेव कठिनांशोपमं जगत् ।
विस्तरं स्वात्मविद्योगी निर्विशेषं विलापयेत् ॥१३॥

फिर शरीर, अहंकार और बुद्धि से भिन्न एवं उनके प्रेरक चेतनस्वरूप अपने आत्मामें मन को स्थापित करे ॥ ८ ॥ जो व्यर्थ ही अपने कर्तृत्व-भोक्तृत्वका अभिमान करता है ऐसे उस निर्मल आत्माको सर्वात्मा चिदानन्दघन भगवान् विष्णुमें सम्यक् प्रकारसे स्थित करे ॥ ९ ॥ जिस प्रकार ओला जलमें और दीपक अग्निमें मिलकर तद्रूप हो जाता है उसी प्रकार अज्ञानवश अपनेको पृथक् समझनेवाला जीव तत्त्वज्ञानसे युक्त होनेपर ब्रह्ममें लीन हो जाता है ॥ १० ॥ हे द्विजवर! यह जीव और परमात्माका योग ही योग कहलाता है। यही सम्पूर्ण उपनिषदोंका तात्पर्य है, मुनियोंद्वारा गोपनीय है और श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ है ॥ ११ ॥ इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर सभीका विश्वात्मामें लीन करके पर-ब्रह्मसे अभिन्न हो निरन्तर चिदानन्दरूपसे स्थित रहे ॥ १२ ॥ इस प्रकार क्रमशः इस कठिनांशरूप जगत्को लीनकर फिर वह आत्मज्ञ योगी विस्तृत निर्विशेष (सूक्ष्म या कारण) जगत्का भी लय कर

१ ततः पुनरहंकार—पा. २. पु. । २ करकाश्यैव—पा. २. पु. ।
३ स चो—पा. २. पु. । ४ सद्रसः—पा. २. पु. ।

एवं सततयुक्तात्मा क्रमाद्विष्णुमयो भवेत् ।
न हि सैन्धवशैलोऽपि क्षणादम्बुमयो भवेत् ॥१४॥
व्युत्थितोऽपि जगत्कृत्स्नं विष्णुरेवेति भावयन् ।
निर्ममो निरहंकारश्चरेच्छिथिलसंसृतिः ॥१५॥
एवं सततमभ्यासाल्लीनबुद्धेः परात्मनि ।
कर्माणि बुद्धिपूर्वाणि निवर्तन्ते स्वतो द्विजाः ॥१६॥
पूर्वाभ्यासबलात्कार्यो न लौक्यो न च वैदिकः ।
अपुण्यपापः सर्वात्मा जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥ १७ ॥
तद्देहपाते च पुनः सर्वगो[1] न स जायते ।
एवमद्वैतयोगेन विमुक्तिर्वो मयोदिता ॥ १८ ॥' इति ।

दे ॥ १३ ॥ इस तरह निरन्तर युक्तचित्त रहनेवाला वह मुनि क्रमशः विष्णुमय ही हो जाता है । [यह सब धीरे-धीरे ही होता है, क्योंकि] नमकका पहाड़ भी एक क्षणमें ही जलरूप नहीं हो सकता ॥ १४ ॥ उसे व्युत्थान अवस्थामें भी सम्पूर्ण जगत्के विषयमें 'यह विष्णु ही है' ऐसी भावना रखनी चाहिये तथा ममता और अहंकारसे शून्य रहकर संसारबन्धनको शिथिल रखते हुए व्यवहार करना चाहिये ॥ १५ ॥ द्विजगण ! इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करनेसे जिसकी बुद्धि परात्मामें लीन हो गयी है ऐसे उस तत्वदर्शीके बुद्धिपूर्वक कर्म स्वतः ही निवृत्त हो जाते हैं ॥ १६ ॥ वह लौकिक या वैदिक किसी भी प्रकारके कर्म नहीं करता । उसके सब कार्य केवल पूर्वाभ्यासके कारण ही होते हैं । वह पुण्य-पापसे रहित सर्वात्मा 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है ॥ १७ ॥ वह सर्वगत है, इसलिये देहपात होनेपर उसका पुनर्जन्म नहीं होता । इस प्रकार अद्वैतबोधके द्वारा मैंने तुम्हें मोक्षप्राप्तिका क्रम बतलाया' ॥ १८ ॥

---

१ सर्वतो—पा. १. पु. ।

एतेषां[1] वाक्यानां कठिनांशो व्याख्यायते। आदौ वेदान्तादिभ्य[2] आत्मानात्मसामान्यं सविकारप्रकृतितो विवेकेनावधार्यमित्येवं साधनैरात्मानं दृढं ज्ञात्वा[3] श्रवणमननाभ्यां निश्चित्य ततः सर्वसङ्गं त्यजेत्, योगेनात्मसाक्षात्काराय परमहंसाश्रमी भवेत्। अद्वैतसिद्धिर्वक्ष्यमाणाद्वितीयसाक्षात्कारः कैवल्यनिष्पत्तिर्वा।

संन्यस्य यत्कार्यं तदाह—एकान्त इति। उपनिषद्दृष्ट उपनिषत्सु श्रुतः। मायाभिन्नः प्रकृतिविविक्तः। अथ वा मायाशब्देनात्र जीवात्मा[4] विवक्षितः, ततोऽपि विवेकेनात्र परमात्मन एव ज्ञेयतया वक्ष्यमाणत्वात्परमात्मावरकत्वेन जीवेऽपि मायाशब्दप्रयोगौचित्याच्च।

अब इन वाक्योंके कठिन अंशकी व्याख्या की जाती है। पहले वेदान्तादिके द्वारा आत्मा और अनात्माके सामान्य स्वरूपको जानकर अर्थात् प्रकृति और उसके विकारसे आत्माको पृथक् करके जानना चाहिये। इस प्रकार साधनोंके द्वारा आत्माको दृढ़तापूर्वक जानकर—श्रवण और मननके द्वारा उसका निश्चय करके फिर सब प्रकारके संगका त्याग करे अर्थात् योगके द्वारा आत्मसाक्षात्कारकी प्राप्तिके लिये संन्यासाश्रम ग्रहण करे। अद्वैतसिद्धि, जिसका वर्णन आगे किया जायगा, दूसरा साक्षात्कार है, अथवा यह आत्माकी कैवल्यप्राप्ति है।

संन्यास लेकर जो कुछ करना चाहिये वह बात 'एकान्ते' इत्यादिसे कही गयी है। उपनिषद्दृष्ट—उपनिषदोंद्वारा सुने हुए तथा मायाभिन्न—प्रकृतिसे पृथक्। अथवा मायाशब्दसे यहाँ जीवात्माका उल्लेख करना अभीष्ट है, क्योंकि उससे भी पृथक् करके परमात्माको ही यहाँ ज्ञेयरूपसे कहा जायगा तथा परमात्माका आवरण करनेवाला होनेसे जीवके लिये भी माया शब्दका प्रयोग उचित ही है।

---

१ एषां—पा. १. पु.। २ वेदान्तेभ्य—पा. १. पु.।
३ तत्त्वं— पा. १. पु.। ४ अपीत्यधिकः २. पु.।

यत्नप्रकारमाह—परागित्यादिना । पराक् बहिः । प्रत्यक् अन्तरम् । तन्मार्गं बहिर्मार्गम् । अनेन श्लोकेन प्रत्याहार एवोक्तः । यमादयः प्राणायामान्ताश्च बहिरङ्गत्वेनानावश्यकत्वादत्र नोक्ताः । अथ वा 'एकान्ते स्वासनो धीरः' इत्यादिवाक्येनैव संक्षेपाद्यमाद्यङ्गचतुष्कमुक्तम् ।

प्रत्याहारमुक्त्वा संयमप्रकारमाह–ततो वपुरित्यादिद्वाभ्याम् । अत्र प्रथमश्लोकेनान्तर्यामिणः परमात्मनो देशे जीवात्मनि चित्तस्थापनरूपा धारणा प्रोक्ता[1] । मुधेत्यादिश्लोकेन च ध्यानसमाधी संक्षेपेणोक्तौ । तस्यार्थः । तं जीवात्मानं मुधा वृथा कर्तृत्वभोक्तृत्वादिषु स्वातन्त्र्याभिमानम् अमलमुपाधिविविक्तत्वाच्छुद्धं सर्वेषां यथोक्तानां देहादिजीवान्तानामात्मनि

'पराक्' इत्यादिसे उस प्रयत्नका प्रकार बताया गया है । 'पराक्' बाहरको कहते हैं और 'प्रत्यक्' भीतरको । 'तन्मार्ग' (उनके मार्ग) अर्थात् उनके बाह्य मार्गको । इस (पाँचवें) श्लोकद्वारा प्रत्याहारका ही वर्णन किया गया है । यमसे लेकर प्राणायामपर्यन्त योगके बाह्य अंग हैं, अतः अनावश्यक होनेके कारण यहाँ उनका वर्णन नहीं किया । अथवा यह समझना चाहिये कि 'एकान्ते स्वासनो धीरः' इत्यादि वाक्यसे ही संक्षेपमें यमादि चार अंगोंका वर्णन कर दिया गया है ।

प्रत्याहारका वर्णन करके फिर 'ततो वपुः' इत्यादि दो श्लोकोंद्वारा संयमकी विधि कही गयी है । यहाँ पहले श्लोकद्वारा तो परमात्माके देशस्वरूप जीवात्मामें चित्तको स्थापित करनारूप धारणाका वर्णन किया है तथा 'मुधा' इत्यादि (नवें) श्लोकसे संक्षेपमें ध्यान और समाधिका वर्णन किया गया है । उस श्लोकका तात्पर्य यह है—उस जीवात्माको, जो मुधा–वृथा ही कर्तृत्व भोक्तृत्वादिमें अपनी स्वतन्त्रताका अभिमान करता है, किन्तु जो उपाधिसे पृथक् होनेके कारण सर्वथा निर्मल–

---

१ धारणोक्ता—पा. २. पु. ।

परमात्मनि स्वोपाधिविविक्ते सु योजयेद् विलापयेत् । प्रलीनाखिलजीवकं परमात्मानं चिन्तयेदिति ।

ज्ञेयत्वोपपादनाय प्रलयस्यैव तात्त्विकत्वं दृष्टान्तेनाह— सलिल इति । जीवो लोकैर्मोहादेव परमात्मनः पृथग्बुद्धौ विभक्ततया[1] ज्ञायते, विभागस्य नैमित्तिकत्वेनाल्पकालावस्थायित्वादिना च विकारवद्वाचारम्भणमात्रत्वात् । तत्त्वतस्तु जीवो युक्तो योगाख्यसाधनवान् सलिलादौ करकादिरिव[2] ब्रह्मणि लीयते यतस्तन्मयः, तत्कार्य इत्यर्थः ।

शेषं स्पष्टप्रायमिति दिक् ।

तदेवमष्टौ योगाङ्गान्युक्तानि । तत्राङ्गतायामयं विशेषः सूत्रकारेणोक्तः । प्रत्याहारपर्यन्तपञ्चाङ्गापेक्षया धारणादित्रयं

बुद्ध है, परमात्मामें युक्त अर्थात् लीन करे, जो देहसे लेकर जीवपर्यन्त उपर्युक्त सभीका अन्तरात्मा है और अपनी उपाधियोंसे पृथक् है। तात्पर्य यह कि उस परमात्माका चिन्तन करे जिसमें सम्पूर्ण जीव लीन हैं ।

परमात्माके ज्ञेयत्वका उपपादन करनेके लिये 'सलिले' इत्यादि (दसवें) श्लोकसे दृष्टान्तपूर्वक प्रलयकी ही तात्त्विकता बतलाते हैं। लोगोंको मोहवश ही अपनी भेददृष्टिसे जीव परमात्मासे पृथक् जान पड़ता है; क्योंकि यह विकार तो नैमित्तिक है, अतः अल्पकालस्थायित्व आदि दोषोंके कारण यह वाणीका विलासमात्र ही है । तत्त्वतः तो यह युक्त—योगरूप साधनवाला जीव जल आदिमें ओले आदिके समान ब्रह्ममें लीन हो जाता है, अतः तन्मय—उस (ब्रह्म) का कार्य ही है ।

और सब प्रायः स्पष्ट ही है—सो दिखला दिया ।

सो, इस प्रकार आठ योगाङ्गोंका वर्णन हुआ । इनकी अंगतामें सूत्रकारने यह विशेषता बतायी है कि प्रत्याहारपर्यन्त पाँच अंगोंकी

१ विविक्ततया—पा. २. पु. । २ करका इव—पा. १. पु. ।

संप्रज्ञातयोगस्यान्तरङ्गं भवति, पञ्चाङ्गानां प्रायशो देहप्राणेन्द्रियसंस्काररूपत्वात्, धारणादित्रयस्य तु योगाश्रयचित्तसंस्कारत्वात्। किं च पञ्चाङ्गानामभावेऽपि[1] प्राग्भवीयैस्तैः कदाचिद्योगो भवति, धारणादित्रयस्य तु सहभावेनैवाङ्गतया तेन विना योगो न जायत इति। तदेवं धारणादित्रयमन्तरा[2] असंप्रज्ञातस्य निरालम्बनत्वात्, जन्मान्तरीयेण धारणादिनौत्पत्तिकज्ञानवैराग्याणां देवविशेषाणां भवप्रत्ययासंप्रज्ञातयोगस्योक्तत्वाच्चेति दिक्।

अपेक्षा धारणा आदि तीन अंग सम्प्रज्ञात योगके अन्तरंग साधन हैं, क्योंकि पहले पाँच अंग तो प्रायः प्राण और इन्द्रियोंके संस्काररूप ही हैं और धारणा आदि तीन अंग योगके आश्रयभूत चित्तका संस्कार करनेवाले हैं। इसके सिवा पूर्वजन्मका संस्कार होनेपर पहले पाँच अंगोंके अभावमें भी कभी-कभी इन तीनके द्वारा ही योग सिद्ध हो जाता है। किन्तु धारणादि तीन अंग तो एक साथ रहकर ही योगके अंग बनते हैं, अतः उनके बिना योग नहीं हो सकता। और इसी प्रकार निरालम्ब होनेके कारण असम्प्रज्ञात योग इन धारणादि तीन अङ्गोंके बिना भी हो सकता है, जैसे कि जन्मान्तरके धारणादिसे जिन्हें जन्मसे ही ज्ञान और वैराग्य प्राप्त है ऐसे देवविशेषोंको भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात योगकी प्राप्ति बतायी है; सो सब ध्यानमें रखना चाहिये।

इति विज्ञानभिक्षुविरचिते योगसारसंग्रहे
योगसाधननिरूपणं द्वितीयोऽशः।

———

1 पञ्चाङ्गानामैहिकानामभावेऽपि—पा. २. पु.।

2 तदपि धारणादित्रयमसंप्रज्ञातस्य च बहिरङ्गं भवति—पा. २. पु.।

अथ तृतीयोंऽशः ।

अतः परं संयमसिद्धयो वक्तव्याः। सिद्धिकामानां ज्ञानादिप्रतिबन्धकतृष्णोपशमाय तत्तत्संयमनिष्पत्त्यवधारणाय च, तथा मुमुक्षूणां हेयत्वप्रतिपादनाय । तथा च सर्वसिद्धान्ते सूत्रम् 'तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्' (यो. ३. ५०.) इति ।

अत्र विषयभेदेन अनन्तानां संयमानामनन्ताः सिद्धयः। तासु कियत्य एव सूत्रभाष्याभ्यामुक्ताः। अस्माभिस्तु

तृतीय अंश

संयमसिद्धियाँ

अब आगे संयमसे प्राप्त होनेवाली सिद्धियोका वर्णन करना है। जो सिद्धियोंकी इच्छावाले हैं उनके ज्ञानादि की प्रतिबन्धक तृष्णाकी निवृत्तिके लिए, अमुक संयम के द्वारा अमुक सिद्धि निष्पन्न होती है—इसका निश्चय करनेके लिए तथा मुमुक्षुओंके लिए ये सिद्धियाँ त्याज्य हैं—ऐसा प्रतिपादन करनेके लिए इनका वर्णन किया जाता है। सबके सिद्धान्तानुसार ऐसा ही यह सूत्र भी है—'उन सिद्धियोंसे भी वैराग्य होनेपर दोषके बीजका क्षय हो जानेसे कैवल्य प्राप्त होता है।'

यहाँ विषयोका भेद होने पर अनन्त संयमोंके द्वारा अनन्त सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं। उनमेसे कुछका ही सूत्र और भाष्य द्वारा वर्णन

ग्रन्थबाहुल्यभिया ताभ्योऽपि समुद्धृत्य सारतरा एव सिद्धय उच्यन्ते । तत्र संयमविषयसाक्षात्कारा एव संयमसिद्धितयाऽत्र कथ्यन्ते । संयमानां स्वस्वविषयसाक्षात्कार-हेतुतायाः सामान्यत एव लब्धत्वात् 'क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनतासमापत्तिः' (यो. १. ४१) इति सूत्रेण, तथा 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' (यो. ३. २६.) इत्यादिसूत्रेष्वन्यविषयकसंयमसिद्धितयाऽन्यज्ञानादेः कथनाच्च । किं तु स्वविषयसाक्षात्कारपर्यन्तस्य संयमस्य विषयान्तर-ज्ञानादिरेव सिद्धितया कथ्यत इति मन्तव्यम् । अन्यविषयक-संयमस्य प्रतिनियतान्यपदार्थज्ञानादिकं योगजधर्मद्वारा भवति, यज्ञविशेषात्स्वर्गविशेषवदिति ।

किया गया है । हम तो ग्रन्थविस्तारके भयसे उनमेंसे भी छाँटकर केवल अत्यन्त सारभूत सिद्धियोंका ही वर्णन करेंगे । वास्तवमें तो संयमके विषयोंके साक्षात्कार ही यहाँ संयमकी सिद्धियोंके रूपमें कहे गये हैं । संयम अपने-अपने विषयके साक्षात्कारके हेतु हैं—यह बात तो सामान्यतः इस सूत्रसे ही प्राप्त है—'जिसकी चित्तवृत्ति क्षीण हो गयी है उस योगीको स्वच्छ मणिके समान ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्यमें तत्स्थ एवं तदञ्जनतारूप समापत्ति प्राप्त होती है ।' इसके सिवा 'सूर्यमें संयम करनेसे सम्पूर्ण भुवनोंका ज्ञान हो जाता है' इत्यादि सूत्रोंमें अन्य विषयमें संयम करनेसे अन्य वस्तुके ज्ञानादिका भी वर्णन किया है । तथापि समझना यह चाहिये कि अपने विषयका साक्षात्कार होनेतक किये जानेवाले संयमसे जो विषयान्तरके ज्ञानादि होते हैं वे ही उसकी सिद्धिरूपसे कहे जाते हैं । अन्य विषयक संयमसे उस प्रतिनियत अन्य वस्तुके ज्ञानादि तो योगज धर्मद्वारा हुआ करते हैं, जैसे किसी विशेष यज्ञसे किसी विशेष स्वर्ग की प्राप्ति होती है ।

तत्र यस्मात्संयमादात्मसाक्षात्काररूपा सिद्धिर्भवति तदुभयमेवाभ्यर्हितत्वादादावुच्यते । तत्र सूत्रम्—'सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्' (यो. ३. ३५.) इति । भोगमध्ये बौद्धप्रत्ययविवेकेन पौरुषप्रत्यये संयमः कर्तव्य इत्याशयेन भोगोऽप्यत्र लक्ष्यते । तथा चायमर्थः । सत्त्वमुपाधिः कार्यकारणसाधारणः । पुरुषस्तद्वति साक्षी जीवेश्वरसाधारणः । तयोरत्यन्तासंकीर्णयोस्तमःप्रकाशवदत्यन्तविधर्मणोरपि यः परस्पर[1]प्रतिबिम्बवशात्प्रत्ययाविशेषः प्रत्यययोर्विवेकाग्रहणमेकत्व-

आत्मसाक्षात्कार करानेवाला संयम

अब, जिस संयमके द्वारा आत्मसाक्षात्काररूपा सिद्धि होती है, वह [संयम और सिद्धि] दोनो ही विशेष महत्त्वशाली होनेके कारण, पहले उसीका वर्णन किया जाता है। इस विषयमें यह सूत्र है—'प्रकृति और पुरुष, जो सर्वथा असंकीर्ण (बिना मिले हुए) हैं उनका अभेद-ज्ञान ही भोग (भोगका कारण) है; प्रकृति परार्थ है, अतः उसे छोड़कर स्वार्थ (अपने स्वरूपभूत तत्त्व) में संयम करनेसे पुरुषका ज्ञान हो जाता है।' भोगके बीचमें भी बुद्धिजनित प्रतीतिसे पृथक् करके पुरुषसम्बन्धी ज्ञानमें ही संयम करना चाहिये—इसी अभिप्रायसे यहाँ भोगको भी लक्षित कराया जाता है। इस प्रकार इसका तात्पर्य यह है—सत्त्व (प्रकृति) कार्य और कारणरूपमें समानभावसे रहनेवाली उपाधि है तथा पुरुष उस उपाधिसे युक्तमें साक्षी है, जो जीव और ईश्वरमें समान रूपसे स्थित है। उन अत्यन्त असंकीर्ण—अन्धकार और प्रकाशके समान अत्यन्त विरुद्ध धर्मवालोंमें भी प्रतिबिम्बके कारण जो प्रत्ययाविशेष अर्थात् प्रत्ययोंके पार्थक्यका अग्रहण अथवा एकत्वका भ्रम है,

---

[1] प्रतिबन्धकवशात्—पा. १. पु.।

भ्रमो वा शब्दाद्याकारवृत्तिरेव ज्ञानमित्येवं तप्तायःपिण्डवदेकतावृत्तिरूपः, स भोगो मुख्य इति विशेषः। तथा च भाष्यम्—'इष्टानिष्टगुणस्वरूपावधारणमविभागापन्नं भोग' इति। तयोः प्रत्यययोर्मध्ये संहत्यकारित्वात्परार्थो यः शब्दाद्याकार उपाधिसत्त्वस्य प्रत्ययस्तस्माद्भेदेन स्वार्थे ज्ञानरूपे पुरुषस्य प्रत्यये संयमात्तदुभयविवेकसाक्षात्कारपर्यन्तात्पुरुषज्ञानं कूटस्थविभुनित्यशुद्धमुक्तत्वादिनाऽऽत्मसाक्षात्कारो[1]भवति। अखिलप्रपञ्चात्पुरुषस्य विवेकोऽनुभूयत इति यावत्। अत्र परार्थत्वं स्वार्थत्वं च प्रत्यययोर्विवेकहेतुविधयोपन्यस्यते। तत्र परार्थत्वं परमात्रस्य भोगापवर्गसाधनत्वम्। स्वार्थत्वं स्वभोगापवर्गसाधनत्वम्। अत्र तु भोगो विषयानुभवमात्रमिति।

और जो 'शब्दादि विषयाकार वृत्ति ही ज्ञान है' इसके समान एवं तपाये हुए लोहपिंडमें अग्नि और लोहेकी एकतावृत्तिरूप भ्रमके समान है, वही विशेषरूपसे मुख्य भोग है। ऐसा ही भाष्यमें कहा है—'इष्ट, अनिष्ट और अविविक्त गुणोंके स्वरूपका निश्चय ही भोग है।' उन प्रत्ययोंमें जो शब्दाद्याकार उपाधिरूप सत्वका प्रत्यय है वह परस्पर मिलकर प्रवृत्त होनेके कारण परार्थ है। उससे पृथक् करके स्वार्थमें अर्थात् ज्ञानस्वरूप पुरुषके प्रत्ययमें उन दोनोंके विवेकसाक्षात्कारपर्यन्त संयम करनेसे पुरुषका ज्ञान अर्थात् कूटस्थ, विभु, नित्य, शुद्ध, मुक्त आदि रूपसे आत्माका साक्षात्कार होता है। तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण प्रपञ्चसे पुरुषके पार्थक्यका अनुभव हो जाता है। यहाँ परार्थत्व और स्वार्थत्वका प्रकृति और पुरुषके प्रत्ययोंके पार्थक्यमें हेतुरूपसे उल्लेख किया है। इनमें परमात्र (अपनेसे भिन्नमात्र) के भोग और मोक्षकी साधनता परार्थता है तथा अपने ही भोग और मोक्षकी साधनतामें स्वार्थता है। यहाँ विषयोंका अनुभवमात्र ही 'भोग' समझना चाहिये।

---

[1] कूटस्थशुद्धबुद्धमुक्तत्वादिनास्य साक्षात्कारो—पा. २. पु.।

ननु पौरुषेयप्रत्ययः पुरुषस्य स्वरूपमेव; अतः कथं तस्मात्साक्षात्कार[1]पर्यन्तस्य संयमस्य पुरुषज्ञानं फलं स्यात् तस्य प्रागेव सिद्धत्वादिति चेत्

न, घटाकाशवच्छब्दादिवृत्त्यवच्छिन्नचिदाकाशभागस्य वृत्तिविवेकेन साक्षात्कारात्; परिपूर्णत्वादिरूपैरखिलप्रपञ्चविवेकेन च तत्साक्षात्कारस्य सिद्धिरूपस्य भिन्नत्वादिति दिक्।

तमिमं संयमं विहायात्मसाक्षात्कारस्यान्य उपायो नास्ति। अत आत्मजिज्ञासुभिरयमेव संयमः संयमान्तराण्यणिमादिसिद्धिहेतुभूतानि विहाय कर्तव्य इति सांख्ययोगयो रहस्यं स्वानुभवसिद्धमुपदिष्टम्। एतस्मिंश्च संयमे

प्रश्न—पौरुष प्रत्यय तो पुरुषका स्वरूप ही है, अतः साक्षात्कार-पर्यन्त उस पौरुषप्रत्ययके संयमका फल पुरुषका ज्ञान कैसे हो सकता है? क्योंकि वह तो पहले ही से विद्यमान है।

उत्तर—ऐसी बात नहीं है। जिस प्रकार घटसे अवच्छिन्न आकाशका साक्षात्कार घटसे विवेक करनेपर होता है उसी प्रकार शब्दादिवृत्तियोंसे अवच्छिन्न चिदाकाशके भागका साक्षात्कार वृत्तियोंसे विवेक करनेपर होता है। और सम्पूर्ण प्रपञ्चका विवेक करनेपर परिपूर्णत्वादिरूपसे होनेवाला सिद्धिरूप जो परमात्माका साक्षात्कार है वह इससे भिन्न है—यह यहाँ दिखाया गया है।

इस संयम को छोड़कर आत्मसाक्षात्कार का कोई दूसरा उपाय नहीं है। अतः आत्मजिज्ञासुओंको अणिमादि सिद्धियों के हेतुभूत अन्य संयमों को छोडकर केवल यही संयम करना चाहिये। इस प्रकार यह अपने अनुभव से सिद्ध सांख्य और योग के रहस्य का उपदेश किया गया है। इस संयम के करने पर पुरुषज्ञानकी चिह्नस्वरूपा प्रातिभ, श्रावण,

---

१ तत्साक्षात्कार—पा. २. पु.।

क्रियमाणे, अन्या अपि सिद्धयः पुरुषज्ञानस्य लिङ्गभूता आदौ जायन्ते प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवात[1]संज्ञकाः।

तत्र दृष्टकारणं विनैव अकस्माद्व्यवहितविप्रकृष्टातीतानागतसूक्ष्माद्यर्थस्फुरणसामर्थ्यं प्रतिभा, तज्जन्यं ज्ञानं प्रातिभं मनसः सिद्धिः। तथा व्यवहितादिश्रवणं[2]श्रावणं श्रोत्रस्य सिद्धिः। तथा व्यवहितादिस्पर्शनं वेदनं त्वगिन्द्रियस्य सिद्धिः। तथा व्यवहितादिदर्शनमादर्शश्चक्षुषः सिद्धिः। तथा व्यवहितादिरसग्रहणमास्वादो रसनायाः सिद्धिः। तथा व्यहितादिगन्धग्रहणं वातो[3] घ्राणस्य सिद्धिरिति। एताः षडिन्द्रियस्य षट् सिद्धयः पुरुषसाक्षात्कारहेतोः प्रत्ययसमाधेरुपसर्गा

वेदन, आदर्श, आस्वाद और वात संज्ञक दूसरी सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती हैं।

सो, दृष्ट कारण के विना ही अकस्मात् व्यवहित (ओट में स्थित) विप्रकृष्ट (दूरवर्ती), भूत, भविष्यत् और सूक्ष्म वस्तुओं के स्फुरणकी सामर्थ्यका नाम प्रतिभा है, उससे होनेवाला ज्ञान ही प्रातिभ नामकी मानस सिद्धि है। इसी प्रकार व्यवहित आदि शब्दों को सुन लेना ही श्रावण नामकी श्रोत्रेन्द्रिय की सिद्धि है। तथा व्यवहित आदि वस्तुओं को स्पर्श करलेना त्वक् इन्द्रिय की वेदन नामकी सिद्धि है। व्यवहितादि वस्तुओं को देखलेना यह चक्षु इन्द्रियकी आदर्श नामकी सिद्धि है। व्यवहितादि रसोंको ग्रहण करलेना रसनाकी आस्वाद नामकी सिद्धि है। और व्यवहितादि गन्धोंको ग्रहण कर लेना ही घ्राणेन्द्रिय की वात नाम की सिद्धि है। ये, छः इन्द्रियों की छः सिद्धियाँ पुरुषके साक्षात्कारके हेतुभूत ज्ञानसमाधि की उपसर्ग अर्थात् विघ्न हैं,

---

१ वार्ता—पा.२.पु.। २ व्यवहितंश्रवणं—पा.१.पु.।
३ वार्ता—पा.२.पु.

अन्तरायाः। विषयभोगतः समाधिभ्रंशाद् व्युत्थितचित्तस्य बहिर्मुखस्य दृष्ट्यैव तु सिद्धयः पुरुषार्थसिद्धिरूपा उच्यन्ते 'ते समाधावुपसर्गा[1] व्युत्थाने सिद्धयः (यो. ३. ३७.) इति सूत्रात्। अत एता आत्मजिज्ञासुभिर्न कामनीयाः, कदाचिदकामत उपस्थिता अप्युपेक्षणीया इति।

इत्यात्मज्ञानरूपसिद्धिहेतोः संयमस्य कथनम्।

इतः परं वितर्कविचारानन्दास्मितानुगतसंप्रज्ञातानां हेतवो ये ग्रहीतृ[2]ग्रहणग्राह्येषु संयमास्तेषां सिद्धयो वक्तव्याः। तत्र ग्राह्यग्रहणग्रहीतृक्रमेणैवोत्सर्गतः संयमोत्पादात्प्रथमं ग्राह्यसंयमस्य सिद्धिरुच्यते। ग्राह्याणि भूतानि। तानि च कार्यकारणाभेदेन धर्मधर्म्यभेदेन च पञ्चरूपाणि

क्योकि विषय भोग के द्वारा ये समाधि को खण्डित कर देती हैं। अतः जो व्युत्थितचित्त या बहिर्मुख है उसी की दृष्टि से ये पुरुषार्थ की प्राप्ति-रूपा सिद्धियाँ कही जाती हैं, जैसा कि 'ये समाधि मे विघ्न किन्तु व्युत्थान मे सिद्धियाँ है' इस सूत्र से प्रकट होता है। अतः आत्मजिज्ञासुओं को इनकी इच्छा नही रखनी चाहिये अर्थात् न चाहने पर भी यदि ये आ जायँ तो इनकी उपेक्षा ही करनी चाहिये।

इस प्रकार आत्मज्ञान के हेतुभूत संयम का वर्णन हुआ।

ग्राह्यसंयमजनित सिद्धियाँ

अब आगे वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता मे अनुगत सम्प्रज्ञात समाधियो के हेतुभूत जो ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्योमे होनेवाले संयम और उनकी सिद्धियाँ हैं उनका वर्णन किया जाता है। इनमे भी स्वभाव से ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता के क्रमसे ही सयम होता है, अतः पहले ग्राह्यसंयमसे होनेवाली सिद्धि का वर्णन किया जाता है। ग्राह्य हैं भूत और वे कार्य-कारण तथा धर्म-धर्मीका अभेद होने से

१ ताः—इत्यधिकम् २ पु.। २ गृहीतृ—पा. २. पु. प्रामादिकः।

भवन्ति। रूपाणि च स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंज्ञानि। तत्र शब्दादयो विशेषा आकाशादयश्च भूतानां स्थूलं रूपम्। आकाशत्ववायुत्वादिसामान्यपञ्चकं च भूतानां स्वरूपाख्यं रूपम्। शब्दादितन्मात्रपञ्चकं तु सूक्ष्मं रूपम्। अनुगच्छतीत्यन्वयः; सत्त्वादिगुणत्रयात्मिका प्रकृतिरन्वयाख्यंरूपम्। गुणगतः पुरुषार्थो भोगापवर्गरूपोऽर्थवत्त्वाख्य[1]रूपमिति।

एतद्रूपपञ्चकसंघातरूपेषु भूतेष्वेतैः पञ्चरूपैः संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तात्तैरेव रूपैर्भूतजयरूपा सिद्धिर्भवति। 'स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः' (यो. ३. ४४.) इति सूत्रात्। जयश्च वशवर्तित्वं स्वेच्छानुसारतः प्रवर्तनम्। यद्यप्यहंकारबुद्धी अपि भूतकारणत्वेन भूतानुगततया भूतानां रूपं भवतः, तथापि

पाँच रूपोंवाले हैं। वे रूप हैं—स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्व। इनमें शब्दादि विशेष और आकाशादि भूत—ये भूतोंके स्थूल रूप हैं। आकाशत्व, वायुत्व आदि पाँच सामान्य भूतों का स्वरूपसंज्ञक रूप हैं। शब्दादि पाँच तन्मात्र भूतो का सूक्ष्म रूप हैं। जो अनुगमन करे उसे अन्वय कहते हैं, अतः सत्त्वादि तीन गुणोंवाली प्रकृति अन्वय नामका रूप है। तथा गुणों में जो भोग और मोक्षरूप पुरुष का प्रयोजन है वह अर्थवत्व-संज्ञक रूप है।

इन पाँच रूपोंके संघातभूत भूतोमे इन पाँच रूपो द्वारा साक्षात्कार-पर्यन्त संयम करने से उन रूपों के द्वारा ही भूतजयरूपा सिद्धि होती है, जैसा कि 'स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्वमे संयम करने से भूतजय होता है' इस सूत्र से प्रकट होता है। 'जय' का अर्थ है वशवर्ती होजाना अर्थात् अपनी इच्छा के अनुसार प्रवृत्त कर सकना। यद्यपि भूतों के कारण और भूतों मे अनुगत होने के कारण अहङ्कार और बुद्धि (महत्तत्व) भी भूतो के ही रूप है, तथापि यज्ञादि के

[1] रूपार्थवत्त्व—पा. २ पु.।

यज्ञादिफलवत्संयमसिद्धेर्वाचनिकतया भूतेषु बुद्धयहंकाररूपाभ्यां संयमस्य न तदुभयजयः फलमित्याशयेन तदुभयरूपसंयमो भूतेषु नोक्तः। इन्द्रियेषु वक्ष्यते।

ततश्च भूतजयादणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपद् भूतधर्मान-भिघातश्चेत्येतत्सिद्धित्रयं भवति।

तत्राणिमाद्या अष्टौ सिद्धयः स्मृतिषु परिगणिताः—

"अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः।
प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता।
गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति॥" इति।

तत्र स्वेच्छयाऽणुपरिमितशरीरो भवतीत्यणिमा। एवं महिमा। लघिमा तु गुरुतरशरीरोऽपि तूलादिवल्लघुर्भवति

फलों के समान संयमजनित सिद्धियाँ भी शब्द प्रमाण पर ही अवलम्बित हैं और भूतों में बुद्धि और अहङ्कारसे संयम करनेसे इन दोनों का जयरूप फल बताया नहीं गया। इसी आशय से भूतोंमें इन दो रूपों के संयम का भी उल्लेख शास्त्रोंमें नहीं हुआ। हाँ इन्द्रियों में अवश्य बतलाया जायगा।

फिर भूतजय होने पर अणिमादिका प्रादुर्भाव, कायसम्पद् और भूतोंके धर्मों से उपहत न होना—ये तीन सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

इनमें अणिमादि आठ सिद्धियोंकी गणना स्मृतियोंमें इस प्रकार करायी है (१) अणिमा, (२) महिमा और (३) लघिमामें शरीरकी सिद्धियाँ हैं। (४) प्राप्ति इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाली सिद्धि है। तथा शेष सिद्धियाँ हैं—(५) प्राकाम्य—श्रुत और दृष्ट पदार्थोंमें स्वच्छन्द गति होना, (६) ईशिता–शक्ति प्रेरित करना, (७) वशिता—गुणोंमें आसक्त न होना, और (८) कामावसायिता।

स्वेच्छासे अणुके समान शरीर हो जाना अणिमा सिद्धि है। इसी प्रकार शरीरका अत्यन्त महान् हो जाना महिमा है। बहुत भारी शरीर भी यदि रूईके समान हल्का हो जाय, जिससे कि आकाशमें

येनाकाशादिषु संचरति। इन्द्रियैः प्राप्तिस्तु भूमिष्ठ एव अङ्गुल्या चन्द्रमसं स्पृशतीत्यादिरूपा। प्राकाम्यं च श्रुतदृष्टेषु स्वर्गादिषु जलादिषु च गत्यप्रतिबन्धः। ईशिता च शक्तीनां भूतभौतिकानां स्वेच्छया प्रेरणम्। वशिता भूतभौतिकानां शक्तिप्रतिबन्धसामर्थ्यं स्वस्य च तदवशत्वम्[1]। यत्र कामावसायित्वसंज्ञा त्वष्टमी[2] सिद्धिः, विषस्यापि स्वेच्छयाऽमृतीकरणसामर्थ्यममृतस्यापि विषीकरण-सामर्थ्यमित्यादिरूपा। इत्यणिमाद्यष्टसिद्धयो व्याख्याताः[3]।

कायसंपच्च रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि।

भूतधर्मानभिघातस्तु पृथिव्यादिधर्मैः काठिन्यादिभिर्योगि-शरीरस्य गत्याद्यप्रतिघातः। तद्यथा—पृथिवी काठिन्येन

भी विचरने लगे तो इसे लघिमा सिद्धि कहते है। इन्द्रियोके द्वारा प्राप्ति सिद्धि ऐसी है कि पृथ्वीपर रहते हुए ही योगी अङ्गुलियोसे चन्द्रमा को स्पर्श कर ले। स्वर्गादि श्रुत और जल आदि दृष्ट स्थानोंमे गति न रुकना—यह प्राकाम्यसिद्धि है। भूत और भौतिक पदार्थोंकी शक्तियोंको अपनी इच्छासे प्रेरित करना ईशिता है। भूत और भौतिक पदार्थोंकी शक्तियोंको रोक देनेका सामर्थ्य और स्वयं उनके अधीन न होना वशिता सिद्धि है। कामावसायिता नामकी आठवीं सिद्धि है—यह अपनी इच्छासे विषको अमृतकर देनेकी और अमृतको विष बना देनेकी सामर्थ्यरूपा है। इस प्रकार अणिमादि आठ सिद्धियोंकी व्याख्या हुई।

रूप, लावण्य और वज्रके समान सुदृढ़ हो जाना—ये कायसम्पद् हैं।

पृथिवी आदिके जो कठिनता आदि धर्म है उनसे योगीके शरीरकी गति आदिका प्रतिबन्ध न होना—यह भूतोके धर्मोंसे उपहत

---

१ अवश्यत्वम्—पा. २ पु. २ कामावसायित्वमष्टमी—पा. २ पु.।
३ अष्टसिद्धिर्व्याता—पा. २ पु.।

शरीरक्रियां न प्रतिबध्नाति येन पर्वतमपि भित्त्वा स्थूलशरीरं गच्छति, शिलामपि वाऽनुप्रविश्य तिष्ठति। तथा आपः स्निग्धाः शरीरं न क्लेदयन्ति। अग्निरुष्णो न दहति। वायुर्गतिशीलो न चालयति। आकाशमनावरकमप्यावृणोति[1] येन सिद्धानामप्यदृश्यो भवति।

इति ग्राह्यसंयमस्य सिद्धय उक्ताः।

ग्रहणसंयमस्योच्यन्ते। गृह्यन्त एभिरिति ग्रहणान्येकादशेन्द्रियाणि। तान्यपि कार्यकारणाभेदेन धर्मधर्म्यभेदेन च पञ्चरूपाणि भवन्ति। रूपाणि च ग्रहणरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंज्ञानि।

न होना है। तात्पर्य यह कि पृथिवी अपनी कठिनता से योगीके शरीर की क्रिया को नहीं रोक सकती, जिससे कि उसका स्थूल शरीर पर्वत को भी पार करके चला जाता है और शिलामें भी घुसकर बैठ जाता है। इसी प्रकार द्रवीभूत जल उसके शरीर को गीला नहीं करता, उष्णस्वभाव अग्नि दग्ध नहीं करता, गतिशील वायु चलायमान नहीं करता और आवरक न होने पर भी आकाश उसका आवरण कर लेता है, जिससे कि वह सिद्धोंके लिये भी अदृश्य हो जाता है।

यह ग्राह्यसंयम से होनेवाली सिद्धियों का वर्णन हुआ।

ग्रहणसंयमजनित सिद्धियाँ

अब ग्रहण-संयमकी सिद्धियोंका वर्णन किया जाता है। विषय इनके द्वारा ग्रहण किये जाते हैं इसलिये ग्यारह इन्द्रियाँ ही ग्रहण हैं। वे भी कार्य-कारण और धर्म-धर्मीका अभेद होनेसे पाँच रूप हो जाती हैं। वे रूप ग्रहण, रूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व नामों वाले हैं।

---

१ अथावृणोति–पा. १ पु.।

तत्रेन्द्रियाणां वृत्तयो ग्रहणम् । इन्द्रियाणि स्वरूपम् । अहंकारः अस्मिता. अत्रैव बुद्धेरप्यन्तर्भावः । अन्वयश्च पूर्ववद्गुणत्रयात्मिका प्रकृतिः । अर्थवत्त्व तु पूर्ववत् । एतद्रूपपञ्चकसंघातरूपेष्विन्द्रियेषु एतैः पञ्चरूपैः संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तादिन्द्रियजयरूपा सिद्धिर्भवति, ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः' (यो. ३. ४७.) इति सूत्रात् । ततश्च मनोजवित्वं[1] विकरणभावः प्रधानजयित्वं चेत्येतत्सिद्धित्रयं भवति । तत्र कायस्यानुत्तमगतिलाभो मनोजवित्वं[2] येनोपासकादिभिः स्मृतमात्राः क्षणादेव सिद्धाः पुरो दृश्यन्ते । स्थूलदेहनिरपेक्ष्येणैवेन्द्रियाणां यथेच्छं व्यवहितादिसाधारणार्थेषु वृत्तिलाभो विकरणभावः । इन्द्रियाणां सर्वत्र विकीर्णतेति यावत् । सर्वप्रकृतीनां तद्विकाराणां च वशित्वं स्वेच्छया

इन्द्रियोंकी जो वृत्तियाँ हैं वे ग्रहण हैं, इन्द्रियाँ स्वरूप हैं और अहंकार अस्मिता है। इसीमें बुद्धिका भी अन्तर्भाव हो जाता है। पहले जैसे कहा जा चुका है त्रिगुणात्मिका प्रकृति अन्वय है और अर्थवत्त्व भी पहले ही की तरह समझना चाहिये। इस रूपपञ्चकके संघातस्वरूप इन्द्रियोंमें इन पाँच रूपोंके द्वारा साक्षात्कारपर्यन्त संयम करनेसे इन्द्रियजयरूपा सिद्धि होती है' जैसा कि 'ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व मे संयम करने से इन्द्रियजय होता है' इस सूत्रसे कहा गया है । ऐसा होनेपर मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानजयित्व ये तीन सिद्धियाँ होती है। शरीरको सर्वोत्तम गति प्राप्त हो जाना मनोजवित्व है, जिससे कि उपासकादि के द्वारा स्मरण किये जाते ही क्षणमात्रमे सिद्धगण उनके सामने दिखाई देने लगते हैं। स्थूलदेहके विना ही व्यवहितादि सामान्य विषयोंमें इच्छानुसार इन्द्रियोंकी वृत्ति हो जाना विकरणभाव है। अर्थात् इन्द्रियोंकी सर्वत्र विकीर्णता—व्यापक वृत्ति हो जाना। सभी प्रकृति (कारण) और उनके विकारों (कार्यों) की वशिता—इच्छानुसार

[1] मनोजयित्वं—पा. २ पु.। [2] मनोजयित्वं—पा. २ पु.।

प्रेरणसामर्थ्यं[1] प्रकृतिजय इति। एताश्च पञ्चरूपैरिन्द्रियसंयमस्य तिस्रः सिद्धयो मधुप्रतीका इत्युच्यन्ते।

इति ग्रहणसंयमस्य सिद्धय उक्ताः।

अथ ग्रहीतृसंयमस्योच्यन्ते। ग्रहीतुः कार्यकारणविलक्षणत्वान्निर्धर्मत्वाच्च रूपभेदो नास्ति। ग्रहीतरि पुरुषसामान्ये उपाधिसत्त्वाद्भेदेन संयमात्साक्षात्कारपर्यन्तात्सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञत्वं च भवति, 'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञत्वं[2] च' (यो. ३. ४९.) इति सूत्रात्। इयं च सिद्धिः सर्वकामावाप्त्याऽखिलशोकरहितत्वाद्विशोकेत्युच्यते। तत्र परमेश्वरवत्स्वे-

उन्हें प्रेरित करनेका सामर्थ्य प्रकृतिजय है। ये पञ्चरूपोंके द्वारा जो इन्द्रियोंकी तीन सिद्धियाँ हैं वे 'मधुप्रतीका' कही जाती हैं।

यह ग्रहणसंयमसम्बन्धी सिद्धियोंका वर्णन किया गया।

ग्रहीतृसंयमजनित सिद्धियाँ

अब ग्रहीतृसंयमकी सिद्धियोंका वर्णन किया जाता है। ग्रहीता कार्य-कारणसे विलक्षण है और उसका कोई धर्म भी नहीं है, इसलिये उसमें रूपभेद नहीं है। ग्रहीता अर्थात् पुरुषसामान्यमें, उपाधिकी सत्तासे भेददृष्टि रखते हुए, उसका साक्षात्कार होनेतक संयम करनेसे सम्पूर्ण भावोंका अधिष्ठातृत्व एवं सर्वज्ञत्व प्राप्त हो जाता है, यह बात 'प्रकृति और पुरुषका विवेकज्ञान होनेसे ही सम्पूर्ण भावोंका अधिष्ठातृत्व तथा सर्वज्ञत्व प्राप्त हो जाता है' इस सूत्रसे विदित होती है। सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्ति और सम्पूर्ण शोककी निवृत्ति हो जानेके कारण यह सिद्धि विशोका कही जाती है। परमेश्वर के समान

१ प्रेरणा सामर्थ्यं—पा. २ पु.।

२ ज्ञातृत्वमिति भाष्यसंमतः—पा. १ पु.।

च्छया सर्ववस्तुप्रेरणसामर्थ्यं सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्, प्रकृतिपुरुषादिषु अप्रतिहतेच्छत्वमिति यावत्। सर्वज्ञत्वं[1] तु वक्ष्यमाणम्। तदेव च सार्वज्ञ्यं विवेकजं ज्ञानं तारकमित्युच्यते, सत्त्वपुरुषविवेकसंयमजन्यत्वात्संसारतारकत्वाच्च। तच्च सार्वज्ञ्यं सूत्रेण लक्षितम्—'तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्' (यो. ३. ५४.) इति। तथा विष्णुपुराणेऽपि लक्षितम्—

"अन्धं तम इवाज्ञानं दीपवच्चेन्द्रियोद्भवम्।
यथा सूर्यस्तथा ज्ञानं यद्विप्रर्षे[2] विवेकजम्॥" इति।

पूर्वं परार्थप्रत्ययाद्भेदेन स्वार्थप्रत्यये संयमस्य तत्साक्षात्कारपर्यन्तस्य पुरुषसाक्षात्काररूपा सिद्धिरुक्ता। अत्र तु बुद्धिसत्त्वाद्भेदेन पुरुषे संयमस्य पुरुषसाक्षात्कारपर्यन्तस्य सार्वज्ञ्यादिसिद्धि-

अपनी इच्छामात्रसे सम्पूर्ण वस्तुओंको प्रेरित करनेका सामर्थ्य सम्पूर्ण भावोंका अधिष्ठातृत्व है अर्थात् प्रकृति और पुरुष आदिमें अप्रतिहत इच्छा प्राप्त हो जाना। सर्वज्ञताका वर्णन आगे किया जायगा। यह सर्वज्ञता ही विवेकज ज्ञान है, जो 'तारक' कहा जाता है, क्योंकि यह प्रकृति और पुरुषके विवेकमे संयम करनेसे उत्पन्न होनेवाला और संसारसे तारनेवाला है। उस सर्वज्ञताका ही इस सूत्रद्वारा लक्षण किया गया है—'यह तारक ज्ञान विवेकजनित है तथा सबको विषय करनेवाला, सर्वथा अविषय (किसीका भी विषय न होनेवाला) और क्रमशून्य है' तथा विष्णुपुराणमें भी इसका ऐसा लक्षण किया है—'अज्ञान घोर अन्धकार के समान है, इन्द्रियजनित ज्ञान दीपकके सदृश है, और हे ब्रह्मर्षे! यह जो विवेकज ज्ञान है वह सूर्यके समान है।'

परार्थ प्रत्ययसे पृथक् करके स्वार्थप्रत्ययमें उसके साक्षात्कारपर्यन्त संयम करनेसे पुरुषसाक्षात्काररूपा सिद्धि होती है—इसका पहले वर्णन किया गया है; किन्तु यहाँ बुद्धिसत्वसे पृथक् करके पुरुषसाक्षात्कारपर्यन्त

---

१ सार्वज्ञ्यं—पा. २ पु.। २ विमर्षे—पा. १ पु.।

रुच्यत इति भेदः। तदिदं ग्रहीतृसंयमस्य सिद्धिद्वयमुक्त्वा सूत्रकारेण तस्यैवान्या सर्वसिद्धिमूर्धन्या परमा सिद्धिरुक्ताऽस्ति—'तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्' (यो. ३. ५०.) इति। अस्यायमर्थः। क्लेशकर्मरूपाणां दोषाणां संसारबीजानामात्मज्ञानेन निःशेषतः क्षये सति तयोः सिद्ध्योरपि वैराग्यमलंप्रत्ययो जायते; तस्माद्वैराग्यात्कैवल्यरूपा सिद्धिरिति। तदुक्तं मोक्षधर्मे—

"वैराग्यं पुनरेतस्य मोक्षस्य परमो विधिः।
ज्ञानादेव तु वैराग्यं जायते येन मुच्यते॥" इति।

यदि च ज्ञानस्यापरिपाकात्सार्वज्ञ्यादिरागस्तिष्ठति तर्हि संयमस्योक्तसिद्धिद्वयं कैवल्याख्यसिद्ध्यन्तरायो भवतीत्याशयः।

तदेवं मुख्यसंयमानां सिद्धय उक्ताः। यथा च सर्वज्ञत्व-

पुरुषमे संयम करनेसे सर्वज्ञतादि की सिद्धि बतायी गयी है—यही इन दोनो का भेद है। इस प्रकार ग्रहीतृसंयमकी ये दो सिद्धियाँ बतलाकर सूत्रकारने उसी संयमकी सम्पूर्ण सिद्धियोमे शिरमौर एक अन्य परम सिद्धि बतलायी है—'उसमे भी वैराग्य हो जानेसे दोषोंके बीजका क्षय हो जाने पर कैवल्य होता है'। इस सूत्रका तात्पर्य यह है—संसारके बीजभूत क्लेश और कर्मरूप दोषोंका आत्मज्ञानसे सर्वथा क्षय हो जाने पर उन दोनो सिद्धियोमें वैराग्य—अलंप्रत्यय हो जाता है और उस वैराग्यसे कैवल्यरूपा सिद्धि होती है। मोक्षधर्ममे भी ऐसा कहा है—'इस मोक्षकी सर्वश्रेष्ठ विधि वैराग्य ही है और वैराग्य ज्ञानसे ही होता है, जिससे कि फिर मुक्ति हो जाती है'। तात्पर्य यह कि यदि ज्ञानकी परिपक्वता न होनेसे सर्वज्ञता आदिका राग रहता है तो इस संयमकी उपर्युक्त दोनों सिद्धियाँ कैवल्यसंज्ञक सिद्धि की विघ्न हो जाती है।

सिद्धिका प्रकार

इस प्रकार प्रधान संयमोंकी सिद्धियोंका वर्णन किया गया, तथा

पर्यन्तसिद्धिज्ञानं विनाऽपि मोक्षो भवति तथा प्रागेवोक्तम्। इदानीं सिद्धिप्रकारः कथ्यते। यदा मनुष्यादिशरीरेणैव देवभावं प्राप्नोति, यदा वाऽणिमादिसिद्धयः प्रादुर्भवन्ति, तदा किं संकल्प-योगजधर्माभ्यामतिरिक्तं कारणमपेक्षते न वेति संशये निर्णय-सूत्रम्—'जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्' (यो. ४. २.) इति। अस्यायमर्थः। मनुष्यादिशरीरस्य देवादिजात्यन्तररूपः परिणामः सत्त्वादिविशेषरूपाणां देवादिशरीरारम्भयोग्याणामापूरादेव भवति। तत्र चापूरणोऽधर्मादिप्रतिबन्धनिवृत्तिद्वारा योगिसंकल्प-योगजधर्मादिकं निमित्तमात्रं; न तु प्रकृतिप्रेरकं भवति, प्रकृतीनां स्वत एव सर्वपरिणामसामर्थ्यात्। अतो न प्रकृतिस्वातन्त्र्यक्षतिः।

जिस प्रकार सर्वज्ञत्वपर्यन्त सिद्धियोंके ज्ञान के बिना भी मोक्ष हो सकता है वह बात भी पहले ही बतला दी गयी है। अब सिद्धिप्राप्तिके प्रकारका वर्णन किया जाता है। जब योगी मनुष्यादि शरीरसे ही देवभाव प्राप्त कर लेता है और जब उसमें अणिमादि सिद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं तब उसे संकल्प और योगजनित धर्मोंसे अतिरिक्त अन्य कारणकी अपेक्षा होती है या नहीं—ऐसा सन्देह होनेपर निर्णय करनेवाला यह सूत्र है—'प्रकृतिके द्वारा पूर्ति की जानेपर वस्तुका एक जातिसे दूसरी जातिमें परिणाम होता है।' इस सूत्रका तात्पर्य यह है—मनुष्यादि शरीरका देवादि अन्य जातिरूप परिणाम देवादि शरीरका आरम्भ करनेयोग्य सत्त्वादि विशेष रूपोंकी पूर्त्ति होनेपर ही होता है। उस पूर्त्तिमें अधर्मादि प्रतिबन्धकी निवृत्तिद्वारा योगीके संकल्पज और योगज धर्मादि तो निमित्तमात्र ही हैं, वे प्रकृत्तिके प्रेरक नहीं होते, क्योंकि प्रकृतियाँ तो स्वयं ही सब प्रकारके परिणाममें समर्थ हैं। अतः इससे प्रकृतिकी (उपादान कारण) की स्वतन्त्रतामें किसी प्रकारकी बाधा नहीं आती। ऐसा ही यह सूत्र भी है—'निमित्त

तथा च सूत्रम्—'निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्' (यो. ४. ३.) इति ।

अत्र प्रकृत्यापूरेण प्रकृत्यपसारणमुपलक्ष्यते । जात्यन्तरपरिणामेन च अणिममहिमाद्या अपि सिद्धय उपलक्ष्यन्ते । तेन यथायोग्यं प्रकृत्यापूरणापसारणाभ्यां सर्वाः सिद्धय उत्पद्यन्ते । एतेन वामननृसिंहवराहादीनां क्षणेन प्रकृत्यापूरणादेव शरीरवृद्धिः । अगस्त्यादिपीयमानसमुद्रादेश्चाल्पत्वं प्रकृत्यपसरणादुपपन्नमिति । कायव्यूहादिकं तु देहान्तरादिप्रकृतीनां पृथगेवारम्भकसंयोगाद्भवतीति विशेषः ।

ननु यदा योगी कायव्यूहं करोति तदा किं तत्तद्देहप्रतिनियतानि चित्तानि चित्तप्रकृतितो निर्मिमीते किं वा एकेनैव निर्मातृचित्तेन सर्वाणि शरीराण्यधितिष्ठतीति संशये निर्णय-

कारण प्रकृतियों (उपादानकारणों) का प्रयोजक (कार्योन्मुख करनेवाला) नहीं है, वह तो किसानकी तरह उसके आवरणको हटाता है ।'

यहाँ प्रकृतिके द्वारा होनेवाली पूर्त्तिसे प्रकृतिका अपसरण भी उपलक्षित होता है तथा अन्य जातिमें परिणत होनेसे अणिमा-महिमा आदि सिद्धियाँ भी सूचित हो जाती हैं । इन प्रकृतिके द्वारा होनेवाली पूर्त्ति और प्रकृतिके अपसरणसे ही सारी सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं । इस प्रकृत्यापूरसे ही क्षणमात्र में वामन, नृसिंह और वराह आदिके शरीरोंकी वृद्धि हुई थी तथा अगस्त्यादिके द्वारा पिये जाते हुए समुद्रादिकी अल्पता भी प्रकृतिके अपसरणसे ही उपपन्न हुई थी । किन्तु कायव्यूहादि (एक ही योगीके अनेक शरीर) तो देहान्तरोंकी प्रकृतियोंके विभिन्न आरम्भक संयोगोंसे ही होते हैं—इतनी यहाँ विशेषता है ।

योगी जब अनेक शरीर धारण करता है तो उन विभिन्न शरीरोंमें रहनेवाले चित्तोंको वह अपने चित्तकी प्रकृतिसे बनाता है अथवा उस एकही निर्माता चित्तसे सम्पूर्ण शरीरोंमें अधिष्ठित हो जाता है ?

सूत्रम्—'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्' (यो. ४. ४.) इति। अस्यायमर्थः। अस्मितामात्रमहंकारस्तस्मात्कारणाद्बहून्येव शरीरप्रतिनियतानि मनांसि योगिसंकल्पाज्जायन्त इति। अन्यथा एकचित्तेन विरुद्धानां भोगसमाध्यादीनां नानादेहेष्वेकदा न संभवः। तथा श्रीरामरूपलीलाविग्रहे श्रीविष्णोः सर्वज्ञस्य निर्मातृचित्तेनाज्ञानस्वीकारश्च नोपपद्यत इति भावः। योगिनां नानाशरीरैर्विरुद्धनानाकार्यं तु स्मर्यते—

"प्राप्नोति विषयान्कश्चित्कश्चिदुग्रं तपश्चरेत्।
योगेश्वरः शरीराणि करोति विकरोति च॥" इति।

सर्वेषां तु निर्माणचित्तानामेकमेव निर्मातृचित्तं प्रवृत्तिनिवृत्त्योः प्रयोजकं भवति, 'प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्'

ऐसा संशय होनेपर इस प्रश्नका निर्णय करनेवाला यह सूत्र है—'वह अस्मितामात्रसे निर्माण (नूतन निर्मित शरीरोमे रहनेवाले) चित्तोंको बना लेता है।' इस सूत्रका तात्पर्य यह है—अस्मितामात्र है अहंकार, उस अहंकाररूप कारणसे ही योगीके संकल्प द्वारा पृथक्-पृथक् शरीरोंमे रहनेवाले बहुत-से मन उत्पन्न हो जाते हैं। नहीं तो, एक ही चित्त द्वारा अनेको शरीरोंमें भोग और समाधि आदि विरुद्ध धर्मोका एक साथ अनुभव करना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार सर्वज्ञ श्रीविष्णु भगवान्का अपने निर्माता चित्तसे श्रीरामरूप- लीलाविग्रहमे अज्ञान स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं हो सकता—ऐसा इसका भाव है। योगियोंके नाना शरीरों द्वारा विभिन्न विरोधी कर्मोंका स्मृतियोंमें इस प्रकार उल्लेख हुआ है—'योगीका कोई शरीर तो विषयोंको भोगता है और कोई बड़ी उग्र तपस्या करता है। इस प्रकार योगिराज अनेको शरीरोंको बनाते-बिगाड़ते रहते हैं।'

योगीका एक ही निर्माता चित्त अपने अनेको निर्माणचित्तों की प्रवृत्ति और निवृत्तियोका प्रयोजक होता है। यह बात 'चित्तोंकी विभिन्न

(यो. ४. ५) इति सूत्रात्। कादाचित्कं त्वेकेनापि चित्तेन नानाशरीराधिष्ठानमत्र न निराक्रियते योगिनां स्वतन्त्रेच्छत्वादिति[1]। एतेन हिरण्यगर्भादीनां जगत्सृष्ट्यादिरपि प्रकृत्यापूरादिना व्याख्याता। अत्र प्रकृत्यापूरेण जीवान्तराणां स्वस्वोपाधिसंयोगस्याप्युपलक्षणम्, येन योगी जीवान्तरसंयोगेन गजतुरगादीनि निर्मायैश्वर्यं भुङ्क्त इति।

यथा च[2] समाधिसिद्धयः प्रागुक्ता एवमेव जन्मादिसिद्धयोऽपि मन्तव्याः। विशेषस्त्वयं समाधिसंस्कृतं चित्तमेवात्मसाक्षात्कारद्वारा साक्षान्मोक्षहेतुर्न जन्मादिसिद्धमिति।

प्रवृत्तियाँ होने पर योगीका एक ही चित्त उन अनेकों चित्तोंका प्रयोजक होता है' इस सूत्रसे सिद्ध होती है। हम इस बात का निराकरण नहीं करते कि कभी-कभी योगी लोग एक चित्तके द्वारा भी विभिन्न शरीरोंमे अधिष्ठित हो सकते है, क्योंकि वे इच्छा करनेमें स्वतन्त्र हैं। इससे इस बातकी भी व्याख्या हो जाती है कि हिरण्यगर्भादिके जगत्सृष्टि आदि भी प्रकृत्यापूरसे हो जाते हैं। यहाँ प्रकृत्यापूरसे अन्यान्य जीवोंका अपनी-अपनी उपाधिसे संयोग होना भी उपलक्षित हो जाता है, जिससे कि योगी अन्य जीवोंके संयोग द्वारा हाथी-घोड़े आदिकी रचना करके ऐश्वर्यका भोग करता है।

पहले जिस प्रकार समाधिजनित सिद्धियोंका वर्णन किया गया है वैसे ही जन्मादिसे होनेवाली सिद्धियाँ भी समझनी चाहिये। इसमें अन्तर केवल इतना है कि समाधिके द्वारा शुद्ध हुआ चित्त ही आत्मसाक्षात्कारके द्वारा साक्षात् मोक्षका कारण होता है जन्मादिसे सिद्ध नहीं।

---

१ स्वतन्त्रेच्छात्वात्—पा. १ पु.। २ तथा च—पा. २ पु.।

तत्र 'जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः' (यो. ४. १.) इति सूत्रेण सिद्धयः पञ्चप्रकारा उक्ताः। तत्र देवानां जन्मसिद्धिरणिमादिरूपा, असुरादीनां चौषधसिद्धिर्महाबलत्वादिः[1], सुवर्णादिसिद्धिश्च। मन्त्रसिद्धिस्तु मन्त्रैराकाशगमनादिः। तपःसिद्धिश्च तपसा सङ्कल्पसिद्ध्यादिः। समाधिसिद्धयस्तु व्याख्याता इति। प्रह्लादादीनां भक्त्यादिजन्यसिद्धयश्च तपःसिद्धिमध्ये प्रवेशनीयाः, 'अक्षयः परमो धर्मो भक्तिलेशेन जायते[2]' इति स्मृतेः।

इति विज्ञानभिक्षुविरचिते योगसारसंग्रहे
योगसिद्धिनिरूपणं तृतीयोंऽशः।

'सिद्धियाँ जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधिसे होती हैं।' इस सूत्रने पाँच प्रकारकी सिद्धियाँ बतायी है। सो, देवताओंको तो अणिमादिरूप जन्मसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं तथा असुरादिको महाबलत्व और सुवर्णादिसिद्धिरूप औषधिसिद्धियाँ होती हैं। मन्त्रोंके द्वारा आकाशगमनादि करना मन्त्रसिद्धि है। तपके द्वारा संकल्पसिद्धि आदि हो जाना तपःसिद्धि है। समाधिसिद्धियोंकी व्याख्या तो पहले की ही जा चुकी है। प्रह्लादादिको जो भक्ति आदिसे उत्पन्न सिद्धियाँ प्राप्त थीं उन्हें भी तपःसिद्धियोंमें ही सम्मिलित कर लेना चाहिये, क्योंकि 'भक्तिके लेशमात्रसे अक्षय परम धर्म उत्पन्न होता है' ऐसा स्मृति कहती है।

---

१ महाबलवत्त्वादिः-पा. २ पु.

२ इति स्मृत्या तपोन्तरायेऽक्षयाऽपि भक्तिरधिकेत्येव विशेष इति दिक्। इत्यधिकम् २ पु.।

अथ चतुर्थोंऽशः ।

योगविभूतयः प्रतिपादिताः । इदानीं ज्ञानयोगयोर्मुख्यं फलं कैवल्यं प्रतिपाद्यते ।

तत्र सूत्रम्—'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति' (यो. ४. ३४.) इति । अत्र गुणशब्देन बुद्धिरूपतया परिणताः सत्त्वादय उक्ताः । कैवल्यमेकाकिता । सा चान्योन्यवियोगरूपतया गुणपुरुषयोरुभयोरेव भवति । तत्र विवेकख्यात्या परवैराग्येण पुरुपार्थशून्यानां गुणानां

चतुर्थ अंश

कैवल्य

योगकी विभूतियोका प्रतिपादन हो चुका । अब ज्ञान और योगके मुख्य फल कैवल्यका प्रतिपादन किया जाता है ।

इस विपयमें यह सूत्र है—'पुरुपके [भोग-मोक्षरूप] प्रयोजनसे निवृत्त हुए गुणोंका लीन हो जाना अथवा चितिशक्तिकी अपने स्वरूपमें स्थिति कैवल्य है ।' यहाँ 'गुण' शब्दसे बुद्धिरूपमें परिणत हुए सत्त्वादि अभिप्रेत हैं । कैवल्यका अर्थ है अकेलापन । एक-दूसरेकी वियोगरूपता होनेके कारण वह कैवल्य गुण और पुरुष दोनों हीका हो जाता है । सो उस अवस्थामें विवेकख्याति हो जानेपर परवैराग्यके द्वारा पुरुपप्रयोजनसे शून्य गुणोंका, जो पुरुपके उपकरणरूप होते

पुरुषोपकरणानामात्यन्तिकः प्रतिप्रसवः प्रलयः। तस्मात्पुरुषादत्यन्तवियोग इति यावत्। न तु नाशः, 'कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यपुरुषसाधारणत्वात्' (यो. २. २२.) इति सूत्रात्। एतदाद्यं कैवल्यं प्रकृतिधर्मः। द्वितीयं च कैवल्यं पुरुषस्य स्वरूपप्रतिष्ठा। सा च चितिशक्तिरेव प्रतिबिम्बरूपेण उपाधिवियुक्तेत्यर्थः। उभयपक्षेऽपि पुरुषस्य दुःखभोगनिवृत्तिरूपपुरुषार्थे पर्यवसानं भवति। अत एव 'हेयं दुःखमनागतम्' (यो. २. १६.) इति सूत्रम्।

अथ 'त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः' (सां. १.१.) इति सांख्यसूत्रं चानेन सूत्रेण सहाविरुद्धम्। वेदान्तिनस्तु परमात्मनि जीवात्मलयो मोक्ष इति वदन्ति। तैः सहास्माकं न विरोधः। समुद्रे नदीनामिव ब्रह्मणि जीवानामुपाधिलयेनाविभा-

हैं, प्रतिप्रसव–प्रलय अर्थात् उस पुरुषसे उनका अत्यन्त वियोग हो जाता है, न कि नाश जैसा कि इस सूत्रसे प्रकट होता है—'जिस पुरुषका प्रयोजन पूर्ण हो चुका है उसके प्रति नष्ट हो जानेपर भी गुणोंका नाश नहीं होता, क्योंकि उससे भिन्न पुरुषोंके लिये वे समानरूपसे पूर्ववत् रहते हैं।' यह पहला कैवल्य तो प्रकृतिका धर्म है। दूसरा कैवल्य है पुरुषकी अपने स्वरूपमे स्थिति। और वह है प्रतिबिम्बरूपसे उपाधिसे वियुक्त हुई स्वयं चितिशक्ति ही—ऐसा इसका तात्पर्य है। इन दोनों ही पक्षोमें पुरुषका दुःखभोगनिवृत्तिरूप एक ही फल में पर्यवसान होता है। इसीसे 'जो दुःख प्राप्त नहीं हुआ है वही हेय है' ऐसा सूत्र है।

इस प्रकार 'तीनों प्रकारके दुःखोकी आत्यन्तिकी निवृत्ति ही पुरुषका अन्तिम प्रयोजन है' इस साख्यसूत्रका इस सूत्रसे कोई विरोध नहीं है। वेदान्ती भी परमात्मामें जीवात्माके लय हो जानेको ही मोक्ष कहते हैं। उनसे भी हमारा विरोध नहीं है, क्योंकि समुद्रमे नदियोके लयके समान उपाधिका लय होने पर जीवोंका ब्रह्मसे अभेद हो जाना ही

गस्यैव लयशब्दार्थत्वात्, तस्य च पररूपेणाप्रतिष्ठत्व एव पर्यवसानात् । वैशेषिकास्त्वशेषविशेषगुणोच्छेदो मोक्ष इत्याहुः । तदप्यस्माकमविरुद्धम् । उपाधेर्विशेषणानामेवोपाधिमत्युपचारेण तदुच्छेदस्याप्युपचारात् । नैयायिकास्त्वात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिर्मोक्ष इतीच्छन्ति । तत्त्वस्मन्मतमेव, भोग्यभोक्तृभावसंबन्धेन दुःखनिवृत्तिः पुरुषार्थो न समवायेनेत्येवास्माकं विशेषात् ।

यत्तु नवीना वेदान्तिब्रुवा नित्यानन्दावाप्तिं परममोक्षं कल्पयन्ति तदेव च वयं न मृष्यामहे । ब्रह्ममीमांसादिसकलदर्शनेषु तादृशसूत्राभावात्, श्रुतिस्मृतिन्यायविरोधाच्च[1] । तत्र मोक्षे सुखप्रतिषेधिकाः[2] श्रुतयः 'विद्वान्हर्षशोकौ जहाति' (क. २. १२.)

'लय' शब्दका अर्थ है और इस प्रकारके लयका पर्यवसान जीवके अन्य रूपसे स्थित न रहनेमे ही है । वैशेषिकोंका कथन है कि सम्पूर्ण विशेष गुणोंका नाश हो जाना ही मोक्ष है । इस मतका भी हमारेसे कोई विरोध नहीं है, क्योकि उपाधिके विशेष गुणोंका ही उपाधिमान्मे उपचार (आरोप) होता है, अतः उनके उच्छेदका भी उसमें उपचार हो ही सकता है । नैयायिक तो दुःखकी आत्यन्तिकी निवृत्ति ही मोक्ष है ऐसा मानते हैं । यह तो हमारा ही मत है । उनसे हमारा इतना ही मतभेद है कि हम दुःखनिवृत्तिरूप पुरुषार्थको भोग्य-भोक्तृभाव सम्बन्धकी निवृत्तिद्वारा मानते हैं, समवाय सम्बन्धकी निवृत्तिद्वारा नहीं ।

किन्तु ये तथाकथित नवीन वेदान्ती जो नित्यानन्दकी प्राप्तिको ही परम मोक्षरूपसे कल्पना करते हैं वही हमें सह्य नहीं है, क्योंकि ब्रह्ममीमांसा आदि सभी दर्शनोंमें ऐसा कोई सूत्र नहीं है और यह श्रुति, स्मृति एवं युक्तिके भी विरुद्ध है । मोक्षमें सुखका प्रतिषेध करनेवाली ये श्रुतियाँ हैं—'विद्वान् हर्ष और शोकको त्याग देता है' 'शरीरसे छूट

---

१ विरुद्धत्वाच्च—पा. २ पु. । २ प्रतिबन्धिकाः—पा. १ पु. ।

'अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः' (छा. ८. १२ १.) इत्यादयः । स्मृतिश्च—

"यच्च किंचित्सुखं तच्च दुःखं सर्वमिति स्मरन् ।
संसारसागरं घोरं तरिष्यति सुदुस्तरम् ॥
"परमात्मनि संलीनो विद्याकर्मबलान्नरः ।
न सुखेन न दुःखेन कदाचिदपि युज्यते ॥" इत्यादिः ।

न्यायश्च मोक्षस्य जन्यत्वे विनाशित्वप्रसङ्गः, नित्यत्वे सिद्धतया न पुरुषार्थत्वम् । अथ नित्यसुखस्योपलब्धिरेव मोक्षो वाच्य इति चेन्न । उपलब्धेरपि नित्यानित्यविकल्पग्रस्तत्वात् । न च नित्यसुखगोचरस्याविद्यादियत्किंचिदावरणस्य भङ्ग एव पुरुषार्थो

जानेपर इसे प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते' इत्यादि । तथा ये स्मृतियाँ भी हैं—'जो कुछ भी सुख है वह सब दुःख ही है—ऐसा स्मरण करके जीव अत्यन्त दुस्तर घोर संसारसागरको पार कर जायगा ।' 'विद्या और कर्मके बलसे परमात्मामें लीन हुआ पुरुष सुख या दुःखसे कभी युक्त नहीं होता' इत्यादि ।

युक्तिसे भी यही सिद्ध होता है कि मोक्ष यदि जन्य है तो उसके नाशवान् होनेका प्रसंग होगा और यदि नित्यसिद्ध है तो वह पुरुषार्थ नहीं हो सकता । यदि नित्य सुखकी उपलब्धिको ही मोक्ष कहा जाय तो ऐसा होना सम्भव नहीं है, क्योंकि उपलब्धि तो स्वयं ही नित्य-अनित्यके विकल्पसे ग्रस्त है ।* तथा यह भी नहीं कहा जा सकता कि नित्यसुखको विषय करनेवाले अविद्यादि यत्किञ्चित् आवरणको भंग करना ही पुरुषार्थ है, क्योंकि लोकमें पुरुषार्थ तो केवल सुखानुभव

* अर्थात् नित्यसुखकी उपलब्धिको ही मोक्ष मानेंगे तो उसमें यह विकल्प होगा कि वह उपलब्धि नित्य है या अनित्य ।

वाच्यः, सुखानुभवस्यैव लोके पुरुषार्थत्वाच्चैतन्यनित्यत्वेनावरण-स्याप्यसंभवाच्चेत्यादिरिति ।

नन्वेवं मोक्षे परमानन्दश्रुतिस्मृतयः कथमुपपद्येरन्निति चेत् न, मोक्षशास्त्रपरिभाषयैव तदुपपत्तेः ।

"दुःखमेवास्ति न सुखं यस्मात्तदुपलभ्यते ।
दुःखार्तस्य प्रतीकारे सुखसंज्ञा विधीयते ।"
"दुःखं कामसुखापेक्षा सुखं दुःखसुखात्ययः ॥"

इत्यादिस्मृतिभिर्हि दुःखबहुलत्वेन सुखमपि दुःखतया परिभाष्य तादृशादुःखनिवृत्तिरेव सुखत्वेन परिभाषिताऽस्त्युपादेय-गुणत्वेनेति । अत एव सांख्यसूत्रम्—'दुःखनिवृत्तेर्गौणः' (सां ५. ६७.) इति 'विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम्' (सां ५. ६८)

ही है तथा चैतन्य नित्य होनेके कारण उसमें किसी प्रकारका आवरण होना भी सम्भव नहीं है ।

नवीनवेदान्ती—यदि ऐसा माना जाय तो मोक्षमें परमानन्दका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति और स्मृतियोंकी संगति कैसे होगी ?

उत्तर—ऐसा मत कहो, क्योंकि मोक्षका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंने जो परिभाषा की है उसीसे उनकी संगति लग जाती है—'[संसारमें] दुःख ही है, सुख नहीं, क्योंकि यहाँ केवल दुःख ही दिखायी देता है । दुःखार्त्त पुरुषके दुःखका मार्जन होनेपर ही उसकी सुख संज्ञा पड़ जाती है ।' 'वास्तवमें भोगजनित सुखकी अपेक्षा होना ही दुःख है और दुःख-सुखसे परे हो जाना ही सुख है ।' इस प्रकारके स्मृतिवाक्यों द्वारा दुःखबहुल होने के कारण सुखकी भी दुःखरूपसे ही परिभाषा करके वैसे दुःखकी निवृत्तिको ही उसके उपादेयत्वरूप गुणके कारण सुखरूपसे परिभाषा की है'। इसीसे ये सांख्यसूत्र भी है—'दुःखनिवृत्तिको ही गौणरूपसे [सुख कहा जाता है]' '[दुःख निवृत्तिरूप] मुक्ति की

इति च। आनन्दावाप्तिस्तु गौणो मोक्षो ब्रह्मलोके भवतीति दिक्।

तदेवं कैवल्यं संक्षेपेण[1] प्रतिपादितम्।

योगशास्त्रस्य सारार्थः संक्षेपेणायमारितः।
नातोऽधिको मुमुक्षूणामपेक्ष्यो योगदर्शने॥
सांख्यसारप्रकरणे विवेको बहु वर्णितः।
नातः प्रपञ्च्यते सोऽत्र ग्रन्थबाहुल्यभीतितः॥
ब्रह्मप्रकरणे ब्रह्मादर्शादावीश्वरोऽपि च।
वर्णितो वर्ण्यते नात्र ग्रन्थसंक्षेपकाम्यया॥
समानतन्त्रसिद्धान्तन्यायेनात्र[2] च दर्शने।
सांख्यानुसारतो ज्ञेयः सृष्ट्याद्यर्थोऽविरोधतः॥

प्रशंसा मन्दबुद्धियोंके लिये ही है'। अतः ब्रह्मलोकमें आनन्दकी प्राप्ति तो गौण मोक्ष ही है।

इस प्रकार संक्षेपमें कैवल्यका प्रतिपादन हुआ।

उपसंहार

यह संक्षेपसे योगशास्त्रके सार अर्थका निरूपण हुआ। मुमुक्षुओंके लिये योगदर्शनमें इससे अधिक और कुछ अपेक्षित नहीं है। हमने अपने सांख्यसारप्रकरण ग्रन्थमें विवेकका बहुत वर्णन किया है; अतः ग्रन्थविस्तारके भयसे यहाँ उसका विशेष विवेचन नहीं किया गया। ब्रह्मादर्श आदि ब्रह्मसम्बन्धी ग्रन्थमें हमने ईश्वरका भी वर्णन किया है, अतः ग्रन्थको संक्षिप्त रखनेकी इच्छासे यहाँ उसका भी वर्णन नहीं किया गया। [योग और सांख्यदर्शनोंके सिद्धान्त समान ही हैं—इस] समानतन्त्र सिद्धान्त न्यायसे इस दर्शन में भी सांख्यके अनुसार ही सृष्टि आदिक्रम समझने चाहिये, क्योंकि सांख्यसे इसका कोई विरोध नहीं है।

---

१ संक्षेपतः—पा. २ पु.। २ सिद्धतन्त्रान्तन्यायेनात्र—पा. २ पु.।

तैर्दूषितं चेश्वरादि प्रसाध्यमिह यद्भवेत्।
तत्रेश्वरो ब्रह्मशास्त्रे न्यायादौ च प्रसाधितः ॥
तेनाप्यसाधितः स्फोटशब्दो धीवैभवं तथा।
संक्षेपात्साध्यतेऽस्माभिः सांख्यदोषनिरासतः ॥

तत्र शब्दस्तावत्त्रिविधो भवति—वागिन्द्रियविषयः श्रोत्रविषयो बुद्धिमात्रविषयश्च। तेषु कण्ठताल्वादिस्थलावच्छिन्नः शब्दो वागिन्द्रियस्य विषयः, तत्कार्यत्वात्। वागिन्द्रियव्यवहितः श्रोत्रस्थश्च शब्दजः शब्दः श्रोत्रस्य विषयः, तद्ग्राह्यत्वात्। घट इत्यादि पदानि तु बुद्धिमात्रस्य विषयः, वक्ष्यमाणयुक्त्या बुद्धिमात्रग्राह्यत्वात्। तानि पदान्येवार्थस्फुटीकरणत्वात्स्फोट इत्युच्यते। तद्धि पदं वागिन्द्रियोच्चार्यप्रत्येकवर्णेभ्योऽतिरिक्तम्,

साख्यने जो योगप्रतिपादित ईश्वरादिका खण्डन किया है उसको सिद्ध करना यहाँ आवश्यक था, सो उसकी सिद्धि हम वेदान्त और न्यायशास्त्रमे कर चुके है। हाँ, स्फोट और बुद्धिवैभवका उन ग्रन्थोंमे भी विवेचन नहीं किया गया। अतः उनके विषयमें साख्यकी दोषदृष्टिका निराकरण करते हुए हम संक्षेपसे उन्हें सिद्ध करते हैं।

स्फोट

शब्द तीन प्रकारका होता है—(१) वागिन्द्रियका विषय (२) श्रोत्रका विषय और (३) केवल बुद्धिका विषय। इनमे कण्ठ-तालु आदि स्थानोंसे अवच्छिन्न शब्द तो वागिन्द्रियका विषय होता है, क्योंकि वह उन्हींका कार्य है। उस शब्दसे उत्पन्न हुआ और वागिन्द्रियसे व्यवहित, वह शब्द जो श्रोत्रेन्द्रियमें स्थित होता है उससे ग्राह्य होने के कारण श्रोत्रका विषय होता है। तथा घट इत्यादि जो पद हैं वे आगे बतायी जानेवाली युक्तिसे केवल बुद्धिके विषय हैं, क्योकि वे बुद्धिमात्रसे ग्राह्य हैं। अपने अर्थको स्फुट (प्रकट) करनेवाले होने से ये पद ही 'स्फोट' कहे जाते हैं। वह पद वागिन्द्रियसे उच्चारण किये जानेवाले प्रत्येक वर्णसे पृथक् ही है, क्योंकि

वर्णानामाशुतरविनाशितया मिलनाभावेनैकं पदमिति व्यवहार-गोचरत्वासंभवात्, अर्थस्मारकत्वासंभवाच्च। अस्य च स्फोटस्य कारणमेकः प्रयत्नविशेषः, प्रयत्नभेदेनोच्चारणे सत्येकपदव्यवहाराभावादर्थाप्रत्ययाच्च। तस्य च स्फोटस्य व्यञ्जक आनुपूर्वी-विशेषविशिष्टतयाऽन्त्यवर्णप्रत्ययः। अतश्च तद्बुद्धेरेव स्फोटग्राहकत्वम्, आनुपूर्व्या बुद्ध्यैव ग्रहणसंभवेन सामानाधिकरण्यप्रत्यासत्त्यैवानुपूर्वीप्रत्ययस्य स्फोटाख्यपदाभिव्यक्तिहेतुत्वे लाघवात्। अत एव स्फोटः श्रोत्रेण ग्रहीतुं न शक्यते। घात्तरटत्वादिरूपिण्या आनुपूर्व्याः श्रोत्रेण ग्रहणासंभवात् आशुतरविनाशितया वर्णानां मिलनासंभवात्। पूर्वपूर्ववर्ण-

वर्णतो उच्चारण के पश्चात् तत्काल नष्ट हो जाते हैं, अतः उनका परस्पर मिलन न होने के कारण वे 'पद' इस नामसे व्यवहार के विषय नहीं हो सकते और न वे किसी अर्थका स्मरण ही करा सकते हैं। इस स्फोटका कारण तो एक प्रयत्नविशेष है। यदि इसका उच्चारण विभिन्न प्रयत्नो से माना जाय तो इसका एक पदरूपसे व्यवहार न हो सकनेके कारण इससे कोई अर्थ भी प्रकट नहीं हो सकता। इस स्फोटका व्यञ्जक तो वर्णोंकी आनुपूर्वीविशेषसे विशिष्ट अन्तिम वर्णका प्रत्यय ही है। इसीसे तद्विषयक बुद्धिही स्फोटको ग्रहण करनेवाली है। आनुपूर्वीका ग्रहण केवल बुद्धिसे ही हो सकता है; अतः आनुपूर्वीके प्रत्ययसे सामानाधिकरण्यमे अत्यन्त समीपता होनेके कारण स्फोटसंज्ञक पदको ही अभिव्यक्तिका हेतु माननेमें लाघव है। इसीसे स्फोटको श्रोत्रसे ग्रहण नहीं किया जा सकता। [घटादि शब्दोंके उच्चारणमें] 'घ' के पश्चात् जा 'ट' आदिरूप आनुपूर्वी है उसका श्रोत्रसे तो ग्रहण हो नहीं सकता, क्यों कि उच्चारणके पश्चात् तुरन्त नष्ट हो जानेवाले होनेसे वर्णोंका परस्पर मेल नहीं हो सकता। पूर्व-पूर्व वर्णोंके संस्कार और उनकी स्मृतियाँ

संस्काराणां तत्स्मृतीनां चान्तःकरणनिष्ठानामन्तःकरणसहकारित्वस्यैवौचित्यादिति।

स्यादेतत्। स्फोटव्यञ्जकस्यानुपूर्वीविशिष्टचरमवर्णस्यैव पदत्वमर्थप्रत्यायकत्वरूपमस्तु, अलं स्फोटेन, तद्धेतोरेव तदस्त्विति न्यायात्। एतदेव सांख्यसूत्रेणोक्तम्—'प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः' (सां. ५. ५७.) इति। एकत्वप्रत्ययोऽप्यानुपूर्वीविशिष्टचरमवर्णस्यैकत्वेनोपपद्यत इति।

अत्रोच्यते। एवं सत्यवयव्युच्छेदप्रसङ्गः। असमवायिकारणसंयोगविशेषावच्छिन्नानामवयवानामेव जलाद्याहरणहेतुत्वकल्पनायां लाघवात्तद्धेतोरेव तदस्त्विति न्यायसाम्यात्। एको

तो अन्तःकरणमे रहती हैं, इसलिये पदके ग्रहणमे अन्तःकरणकी सहकारिताको स्वीकार करना ही उचित है।

शंका—ठीक है। किन्तु स्फोटको अभिव्यक्त करनेवाला जो आनुपूर्वीविशिष्ट अन्तिम वर्ण है वह भी तो अर्थका प्रत्यय करानेवाला पदरूप हो सकता है, फिर स्फोटकी क्या आवश्यकता है। इस विषय मे यह न्याय है कि यदि कार्यका प्रयोजन कारणसे ही सिद्ध हो जाय तो कार्य की अपेक्षा नहीं। यही बात इस साख्यसूत्रने भी कही है—'प्रतीति और अप्रतीतिके कारण शब्द स्फोटात्मक नहीं है।* पदकी एकत्वप्रतीति भी आनुपूर्वीविशिष्ट अन्तिम वर्णके एकत्वसे संगत हो ही जाती है।

उत्तर—इस विषयमे हमे यह कहना है कि ऐसा माननेपर तो अवयवीके उच्छेदका प्रसंग प्राप्त होगा। इस कथनकी समता इस न्यायसे की जा सकती है कि संयोगविशेषरूप असमवायी कारणसे अवच्छिन्न जो घटके अवयव हैं उन्हे ही जलादिके लानेमे हेतु माना जाय तो [अवयवी घटकी अपेक्षा] इस कल्पनामे लाघव (सुगमता) है, अतः ऐसा ही

---

* अर्थात् शब्द प्रतीत होनेवाला होता है और स्फोटकी प्रतीति नहीं होती। अतः शब्द स्फोटरूप नहीं हो सकता।

घट इत्यादिप्रत्ययानामप्येकं वनमित्यादिप्रत्ययवदुपपत्तेः। अथ परमाणूनां तत्संयोगानां चातीन्द्रियतया तद्रूपत्वेऽवयविनः प्रत्यक्षानुपपत्तिरित्यादिकमवयविसाधकमिति चेन्, तुल्यं स्फोटेऽपि। आनुपूर्व्याः क्षणाद्यतीन्द्रियघटिततयाऽऽनुपूर्वीविशिष्ट-चरमवर्णात्मकत्वे पदस्य प्रत्यक्षानुपपत्तिरित्यादिकं स्फोटसाधकमिति।

अपि च स्फोटशब्दोऽस्माभिः श्रुतिप्रमाणेनैव स्वर्गादिवत् कल्प्यत इत्यतस्तत्र लौकिकप्रमाणाभावेऽपि न क्षतिः। तथा हि—प्रणवस्याकारोकारमकाररूपमात्रात्रयं ब्रह्मादिदेवतात्रयात्मकमुक्त्वा प्रणवदेवतात्रयातिरिक्तपरब्रह्मात्मकचतुर्थमात्रां श्रुतय आमनन्ति। सा च चतुर्थी मात्रा वर्णत्रयादतिरिक्तः स्फोट एव संभवति।

मान लिया जाय। तथा 'एक वन' इत्यादि प्रत्ययोंके समान 'एक घट' इत्यादि प्रत्यय भी संगत हो ही सकते हैं। यदि कहो कि परमाणु और उनके संयोग तो अतीन्द्रिय होनेके कारण अव्यक्त हैं, अतः यदि अवयवी (घट) को तद्रूप ही माना जायगा तो वह प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा; यह बात उनसे पृथक् अवयवीको सिद्ध करनेवाली है—तो ऐसा ही स्फोटके विषयमे भी कहा जा सकता है। आनुपूर्वी तो अतीन्द्रिय क्षणादिसे निष्पन्न है, इसलिये यदि पदको आनुपूर्वीविशिष्ट अंतिम वर्णरूप मानेंगे तो उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। ये सब युक्तियाँ स्फोटको सिद्ध करनेवाली हैं।

इसके सिवा हम स्वर्गादिके समान स्फोट शब्दकी भी श्रुतिप्रमाणसे ही कल्पना करते हैं, अतः इस विषयमे लौकिक प्रमाण न होनेपर भी किसी प्रकारकी हानि नहीं है। यथा—श्रुतियाँ प्रणवकी ब्रह्मादि त्रिदेवरूपा अकार उकार और मकार रूप तीन मात्राओंका उल्लेख करके प्रणवके इन तीन देवताओंसे विलक्षण परब्रह्मरूपा चतुर्थ मात्राका प्रतिपादन करती हैं, और वह चतुर्थ मात्रा उक्त तीन वर्णोंसे भिन्न स्फोट

सैव चार्धमात्रेत्युच्यते। राशिवदविभक्तयोर्हि वर्णपदयोर्वर्ण एकमर्धं पदं वा तदर्धमित्युपपद्यते। यथा चावयवेभ्यो विविच्यावयवी न व्यवहार्यो[1] भवति, एवमेव प्रत्येकवर्णेभ्यो विविच्य पदमुच्चारयितुं न शक्यत इत्यतः स्मर्यते—

'अर्धमात्रा स्थिता नित्या याऽनुच्चार्या विशेषतः' इति।

ननु स्यादेवमर्धमात्रोपपत्तिः, नादबिन्द्वोस्तु किं स्वरूपम्?

उच्यते। प्रणवे उच्चार्यमाणे शङ्खनादवेणुनादादिवद्यः स्वरविशेषो भवति स नादः, या च नादस्योपरमावस्थाऽतिसूक्ष्मा सा शून्यतुल्यतया बिन्दुरुच्यत इति। तस्मादवयवेभ्योऽवयवीव वर्णेभ्योऽतिरिक्तं पदं तदेव स्फोट इति सिद्धम्।

ही हो सकती है। उसीको अर्धमात्रा भी कहा जाता है। पद और वर्ण एक ढेरीके समान होते हैं, उन्हे अलग-अलग नहीं किया जा सकता। अतः उनका एक अर्धभाग 'वर्ण' कहा जा सकता है और दूसरा अर्धभाग 'पद'। जिस प्रकार अवयवोंसे अलग करके अवयवी व्यवहारके योग्य नहीं हो सकता उसी प्रकार एक-एक वर्णसे अलग करके पदका उच्चारण नहीं हो सकता। इसीसे ऐसी स्मृति भी है—'देवी नित्य अर्धमात्रारूपसे स्थित है, जिसका पृथक् रूपसे उच्चारण नहीं हो सकता।'

शंका—इस प्रकार अर्धमात्राकी संगति तो लग जाती है, किन्तु नाद और बिन्दुका क्या स्वरूप है?

समाधान—बताते हैं। प्रणवका उच्चारण करने पर जो शंख और वंशी-नादादिके समान स्वरविशेष होता है वही 'नाद' है, तथा नादकी शान्तिकी जो अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था है वह शून्यके समान होनेके कारण 'बिन्दु' कही जाती है। अतः अवयवोंसे अवयवीके समान जो वर्णोंसे अतिरिक्त पद है वही स्फोट है—यह सिद्ध हुआ।

---

१ व्यवहारयोग्यो—पा. २ पु.।

नन्वेवं वाक्यमपि स्फोटः स्यादिति चेत्, बाधकाभावे सतीष्यतामिति दिक् ।

स्फोटो व्यवस्थापितः ।

मनोवैभवं व्यवस्थाप्यते । धर्माधर्मवासनाश्रयतया प्रतिपुरुषमन्तःकरणं नित्यम् । न च प्रकृतिधर्मा एव सन्त्वदृष्टादय इति वाच्यम्, अन्यनिष्ठादृष्टादिभिरन्यत्र सुखदुःखाद्युत्पादेऽतिप्रसङ्गात् । तच्च नाणु संभवति; योगिनां सर्वावच्छेदेनैकदाऽखिलसाक्षात्कारसम्भवात्, अयोगिनामपि दीर्घशष्कुलीभक्षणादावनेकेन्द्रियवृत्त्यनुभवाच्च । न च योगिनां योगजधर्म एव प्रत्यासत्तिः स्यात्, संयोगसंयुक्तसमवायादिलौकिकप्रत्यास-

यदि कहो कि इस प्रकार तो वाक्य भी स्फोट हो जायगा, तो इसपर हमे यही कहना है कि यदि इसका कोई बाधक प्रमाण नहीं हैं तो ऐसा ही सही।

इस प्रकार स्फोटका निर्णय हुआ ।

मनोवैभव

अब मनोवैभवका निर्णय किया जाता है । धर्म और अधर्मकी वासनाओंके आश्रय रूपसे प्रत्येक पुरुषके साथ अन्तःकरण नित्य ही है। अदृष्टादि प्रकृतिके ही धर्म हो सकते हैं—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे अन्य पुरुषके अदृष्टादिसे अन्य पुरुषमें सुख-दुःखकी उत्पत्तिका प्रसंग उपस्थित हो सकता है । वह अन्तःकरण भी अणु नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वगत होनेके कारण योगियोंको एक साथ ही उसके द्वारा सम्पूर्ण वस्तुओंका साक्षात्कार हो सकता है; तथा जो योगी नहीं हैं उन्हे भी पूड़ी आदि खानेके समय एक साथ अनेक इन्द्रियोंकी वृत्तियोंका अनुभव होता है । योगियोंका किसी योगज धर्मसे सम्बन्ध हो जाता है [इसलिये उन्हें एक साथ सबका अनुभव होने लगता है] ऐसा मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि (१) इस प्रकारका अनुभव तो संयोग, संयुक्त एवं समवाय आदि लौकिक सम्बन्धोंके द्वारा

त्यैवोपपत्तौ सन्निकर्षान्तरकल्पने गौरवात्, अन्योन्यं व्यभिचाराच्च; साक्षात्कारेष्ववान्तरजातिकल्पने गौरवाच्च[1]। अस्मन्मते च सर्वार्थग्रहणसमर्थस्यान्तःकरणस्य तमआख्यावरण-भङ्ग एव योगजधर्मादिभिः क्रियते, सुषुप्तौ तमसो वृत्तिप्रतिबन्ध-कत्वसिद्धेरिति।

नाप्यन्तःकरणं मध्यमपरिमाणमात्रं सम्भवति, प्रलये विना-शेनादृष्टाद्याधारतानुपपत्तेः। अतः परिशेषतोऽन्तःकरणं विभ्वेव सिध्यति। तथा च स्मर्यते—

"चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम्।
द्वाभ्यां शून्यतमं विद्धि चिदाकाशं वरानने॥" इति।

ही हो सकता है, तब किसी अन्य सम्बन्धकी कल्पनामें तो गौरव दोष प्राप्त होगा; (२) [लौकिक और अलौकिक दोनो सम्बन्धोका] परस्पर व्यभिचार होगा तथा (३) साक्षात्कारमे एक अवान्तर जातिकी कल्पना करनेसे गौरव दोष भी प्राप्त होगा। हमारे विचारसे तो सम्पूर्ण विषयोको ग्रहण करनेमे समर्थ इस अन्तःकरणके तमोगुणरूप आवरणका भंग ही योगजधर्मादिसे होता है। सुषुप्तिमे तमोगुण अन्तःकरणकी वृत्तियोंका प्रतिबन्धक है—यह बात सिद्ध ही है।

इसके सिवा अन्तःकरण मध्यम परिणाममात्र भी होना संभव नहीं है, क्योंकि तब तो प्रलयकालमें नष्ट हो जानेके कारण यह कल्पान्तरमें अदृष्टादिका आधार नहीं हो सकेगा। अतः परिशेषतः यह विभु ही सिद्ध होता है। ऐसा ही यह स्मृति भी कहती है—'हे सुमुखि! चित्ता-काश, चिदाकाश और आकाश—ये तीन प्रकारके आकाश हैं। इनमें चिदाकाशको शेष दो से सर्वथा शून्य जानो।'

---

१ जातिसांकर्यादतिगौरवाच्च—पा. २ पु.।

स्यादेतत्। अन्तःकरणस्य विभुत्वे परिच्छिन्नवृत्तिलाभस्यावरणेनोपपत्तावपि लोकान्तरगमनादिकं नोपपद्यते। अत एव सांख्यसूत्रम्—'न व्यापकं मनः करणत्वात्' (सां. ५. ६९.) इति, 'तद्गतिश्रुतेः' (सां. ५. ७०.) इति च। किं चैवं सति-लाघवाच्चैतन्यस्यैवावरणकल्पनमुचितम्; किमर्थं विभ्वन्तःकरणं परिकल्प्यते? तत्र ज्ञानप्रतिबन्धकमावरणं कल्प्यत इति।

अत्रोच्यते। गतिश्रुतिस्तावदात्मनीवान्तःकरणेऽपि प्राणेन्द्रियाद्युपाधिनोपपद्यते। कार्यकारणरूपेणान्तःकरणद्वैतात्कार्यान्तःकरणस्य स्वतोऽपि गतिरुपपद्यते। कार्यकारणरूपेणान्तःकरणद्वैतं सांख्यैरप्येष्टव्यम्। केवलकार्यत्वे 'अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादी-

शंका—ऐसा ही सही। किन्तु अन्तःकरणको विभु मानने पर यद्यपि इसकी परिच्छिन्न वृत्ति तो तमोगुण आदिके आवरणसे भी उपपन्न हो सकती है, तथापि लोकान्तरगमनादिकी उपपत्ति किसी प्रकार नहीं लग सकती। इसीसे ये साख्यसूत्र भी हैं—'करण होनेके कारण मन व्यापक नही हो सकता' तथा 'मनकी गतिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति होनेके कारण [वह विभु नहीं हो सकता]।' यदि ऐसी बात है तब तो लाघव होनेके कारण चैतन्यके ही आवरणकी कल्पना करनी उचित है, विभु अन्तःकरणकी कल्पना किस लिये की जाय? हॉ भी तो ज्ञानके प्रतिबन्धक आवरणको ही कल्पनाकी जाती है।

समाधान—इस विषयमे हमे कहना यह है कि गतिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति तो आत्माकी तरह अन्तःकरणके विषयमे भी प्राण एवं इन्द्रिय आदि उपाधिके कारण संगत हो सकती है। इसके सिवा कार्य और कारणरूपसे अन्तःकरण दो प्रकार का होनेसे कार्यरूप अन्तःकरणकी गति स्वतः ही उपपन्न हो जायगी। कार्य और कारणरूपसे अन्त करणकी द्विरूपता तो सांख्यवादियोंको भी अभीष्ट है; क्योंकि यदि उसे केवल कार्यरूप मानेंगे तो 'धर्मादि अन्तःकरण के धर्म है' इस सांख्यसूत्रकी

नाम्' (सां. ५. २५.) इति सांख्यसूत्रानुपपत्तेः; केवलनित्यत्वे च महदाद्युत्पत्तिसूत्रानुपपत्तेः।

यदुक्तं[1] चैतन्यस्यैवावरणकल्पनं युक्तमिति तदयुक्तम्, कूटस्थ-चैतन्यस्य ज्ञानप्रतिबन्धरूपावरणासंभवात्। न च चैतन्यस्यार्थ-सम्बन्ध एव प्रतिबिम्बादिरूपे प्रतिबन्धकं कल्पनीयमिति वाच्यम्, एवमप्यात्मदर्शनानुपपत्तेः। करणद्वारं विना स्वस्मिन्प्रतिबिम्बा-दिरूपेण स्वसंबन्धासंभवात्। अपि चेच्छाकृत्याद्याधारतयाऽन्तः-

संगति नहीं लगेगी * और यदि उसे केवल नित्य (कारण) मानें तो महदादिकी उत्पत्तिका प्रतिपादन करनेवाले सूत्रकी संगति नहीं लग सकती। ×

तुमने जो कहा कि चैतन्यके ही आवरणकी कल्पना करनी उचित है, सो ठीक नहीं, क्योंकि जो कूटस्थ चैतन्य है उसके ज्ञानके प्रतिबन्ध-रूप आवरणकी कल्पना तो सम्भव ही नहीं है। ऐसा कहना भी उचित नहीं कि चैतन्यका जो किसी वस्तुसे सम्बन्ध होता है उसीको प्रति-बिम्बादि रूपमे उसका प्रतिबन्धक मान लेना चाहिये, क्योंकि इस प्रकार भी अपना दर्शन होना उपपन्न नहीं हो सकता, कारण कि बिना किसी करणके अपनेमें प्रतिबिम्बरूपसे अपना ही सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है। इसके सिवा जब इच्छा और कृति आदिके आधाररूपसे

---

१ यत्तूक्तं—पा. २ पु.।

* क्योंकि इस सूत्रद्वारा धर्मादि (धर्म-अधर्म, वैराग्य-अवैराग्य, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य और ज्ञान-अज्ञान) को अन्तःकरणका धर्म या कार्य माना जाता है, अतः अन्तःकरण इनसे पूर्वसिद्ध होनेके कारण इनका कारण होना चाहिये।

× उस सूत्रके अनुसार प्रकृतिका कार्य महत्तत्व, महत्तत्वका कार्य अहंकार और अहंकारका कार्य मन या अन्तःकरण है।

करणे सिद्धे स्वप्नादावन्तर्दृश्यमानघटादयोऽपि तस्यैव परिणामाः कल्प्यन्ते, कार्यकारणयोः सामानाधिकरण्यौचित्यात् । त एव च घटाद्याकारपरिणामाश्चैतन्ये भासन्ते । तद्विभागेनैव बाह्यघटादिकं भासते । अतस्तादृशपरिणामप्रतिबन्धकमेवावरणमित्येव युक्तम्[१] । किं च बाह्यकरणस्यावरणदर्शनेनान्तरावरणस्यापि करणनिष्ठत्वं चानुमीयते । आत्मनोऽनावृतत्वं श्रुतिस्मृतिभ्यां चेति ।

नन्वन्तःकरणस्य विभुत्वे सति कथं कार्यत्वं स्यादिति चेत् । न, विभ्व्या अपि आकाशप्रकृतेः कार्याकाशरूपपरिच्छिन्नपरिणामवद्गुणान्तरभेदेनान्तःकरणप्रकृतेरपि परिच्छिन्नान्तःकरणरूपपरिणामोपपत्तेः । श्रुतिस्मृतिप्रामाण्याच्चैतदिष्यत इति दिक् ।

अन्तःकरण सिद्ध हो जाता है तो स्वप्नादि अवस्थाओंमें भीतर ही दिखाई देनेवाले घटादि भी उसीके परिणाम मान लिये जाते हैं, क्योंकि कार्य और कारणका एक ही अधिकरण होना उचित है। [अन्तःकरणके] वे ही घटादिरूप परिणाम चैतन्यमें भासते हैं तथा उससे पृथग्रूपसे बाह्य घटादिका भी भान होता है। अतः उस प्रकारके परिणामका प्रतिबन्धक ही आवरण होता है—ऐसा मानना ही उचित है। इसके अतिरिक्त बाह्य करणोंका आवरण देखा जाता है—इससे भी आन्तर आवरणके अन्तःकरणगत होनेका ही अनुमान होता है। तथा आत्माकी आवरणहीनता अनेकों श्रुति-स्मृतियोंसे भी सिद्ध है ही।

यदि कहो कि विभु मानने पर अन्तःकरणकी कार्यरूपता कैसे सिद्ध हो सकेगी, तो ऐसा कहना भी उचित नहीं, जिस प्रकार कारणाकाश विभु होने पर भी उससे कार्याकाशरूप परिच्छिन्न परिणाम हो जाता है उसी प्रकार गुणान्तरके भेद द्वारा कारणरूप [विभु] अन्तःकरणसे परिच्छिन्न अन्तःकरणरूप परिणाम हो ही सकता है। यह बात श्रुति और स्मृतियोंके प्रमाणोंसे तो इष्ट ही है, सो दिखाया जा चुका है।

---

१ ०वरणम् । तन्नैव युक्तम्—इत्यपपाठः ।

मनोवैभवं व्यवस्थापितम्।

क्षणरूपः कालो व्यवस्थाप्यते । तत्र न्यायवैशेषिकाभ्यां मन्यते—आत्मवदखण्डो नित्य एकः कालोऽस्ति ; लाघवात्स एव तदुपाध्यवच्छिन्नः सन्क्षणमुहूर्ताहोरात्रमाससंवत्सरादिव्यवहारं कुरुते, न पुनः क्षणनामा पृथक्पदार्थोऽस्तीति । सांख्यैस्तु 'दिक्कालावाकाशादिभ्यः' (सां. २, १२.) इति सूत्रान्महाकालो वा क्षणादिर्वा पृथक्पदार्थो नास्ति, किं त्वाकाशमेवोपाधिभिर्विशिष्टं क्षणादिमहाकालान्तव्यवहारं कुरुत इति मन्यते । तदेतन्मतद्वयमप्यसमञ्जसम्, स्थिरेण केनाप्युपाधिना महाकालाकाशाभ्यां क्षणव्यवहारस्यासंभावत्। तथा हि—उत्तरदेशसंयोगावच्छिन्नपरमाण्वा-

इस प्रकार मनोवैभवकी व्यवस्था हुई ।

काल

अब क्षणरूप कालका निर्णय किया जाता है । इस विषयमे न्याय और वैशेषिक तो ऐसा मानते हैं कि आत्माके समान अखण्ड और नित्य एक काल है । लाघवसे वह एक ही काल उपाधियोसे अवच्छिन्न होकर क्षण, मुहूर्त्त, दिन, रात्रि, मास और वर्ष आदि व्यवहारका निर्वाह करने लगता है, उससे पृथक् क्षण नामका कोई पदार्थ नही है । तथा सांख्यवादी 'दिशा और काल आकाशादिसे होते हैं' इस सूत्रके अनुसार ऐसा मानते हैं कि महाकाल या क्षणादि कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, अपितु उपाधियोंसे विशिष्ट आकाश ही क्षणसे लेकर महाकालतक का व्यवहार करता है । किन्तु ये दोनों ही मत ठीक नहीं हैं, क्योकि ऐसी कोई स्थिर उपाधि नहीं है जिसके द्वारा महाकाल या आकाशसे क्षण आदिका व्यवहार हो सके । तात्पर्य यह कि [नैयायिक और सांख्य इन] अन्य वादियोंको महाकाल या आकाशकी उपाधिरूपसे परवर्ती देशके संयोगसे अवच्छिन्न परमाणु आदिकी क्रिया अथवा ऐसीही कोई

दिक्रियाऽन्यद्वैताद्दशं किंचिन्महाकालाकाशयोः क्षणरूपतायामुपाधिः परैरिष्यते। तत्रोक्तसंयोगविशिष्टक्रियादिकं चेद्विशेष्यविशेषणतत्सम्बन्धमात्रं तर्हि त्रयाणामपि परैः स्थिरत्वाभ्युपगमान्न तैः क्षणव्यवहारः सम्भवति। यदि च तत्तेभ्योतिरिक्तमिष्यते तर्हि तस्य विशिष्टसंज्ञामात्रम्। तदेव चास्माभिः सर्वेभ्यः स्थिरपदार्थेभ्योऽतिरिक्तं क्षणाख्यः काल इष्यते। न तु तन्महाकाल आकाशं वा तेनैव क्षणव्यवहारोपपत्तौ तदवच्छिन्नस्यान्यस्य क्षणव्यहारहेतुत्वकल्पनावैयर्थ्यात्। स च विशिष्टादिरस्थिरः क्षणः प्रकृतेरेवातिभङ्गुरः[1] परिणामविशेष इत्यतो न प्रकृतिपुरुषातिरिक्ततत्वापत्तिः। तस्यैव च क्षणस्या-

अन्य वस्तु अभीष्ट है। सो उक्त संयोगसे विशिष्ट क्रियादि यदि विशेष्य, विशेषण या उनका सम्बन्धमात्र हो तब तो उनके द्वारा इन तीनों की स्थिरता स्वीकृत समझी जायगी, अतः इनसे क्षणरूप व्यवहार सम्भव नहीं होगा।* और यदि वह क्रिया इनसे भिन्न है तो यह उसकी एक विशिष्ट संज्ञामात्र है। उसीको हम सम्पूर्ण स्थिर पदार्थोंसे भिन्न क्षणसंज्ञक काल मानते है। वह न तो महाकाल है और न आकाश ही है। जब उसीसे क्षणरूप व्यवहार उपपन्न हो जाता है तब उससे अवच्छिन्न किसी अन्यको क्षणव्यवहारके हेतुरूपसे कल्पना करना तो व्यर्थ ही है। इस प्रकारके विशेषणोंवाला क्षण प्रकृतिका ही अत्यन्त भङ्गुर (नाशवान्) परिणामविशेष होनेके कारण स्वभावसे ही अस्थिर है। अतः इससे उसके प्रकृति और पुरुषसे भिन्न कोई अन्य तत्त्व होनेका प्रसंग उपस्थित नहीं

---

१ अतिभङ्गुरायाः—पा. २ पु.।

* क्षण तो कालका अत्यन्त सूक्ष्म भाग है, अतः किसी स्थिर उपाधिके द्वारा उसका व्यवहार उपपन्न नहीं हो सकता।

[१]वयवविशेषैर्मुहूर्ताहोरात्रादिद्विपरार्धान्तव्यवहारो भवति, न त्वखण्डो महाकालोऽस्ति, प्रमाणाभावात् । इदानीमद्येत्यादिव्यवहाराणां क्षणप्रचयेनैवोपपत्तेः । कालनित्यताश्रुतिस्मृतयस्तु प्रवाहनित्यतापरा इति । तस्मादावश्यकत्वात्क्षणात्मक एव कालो नाखण्डो महाकालोऽस्ति ; नाप्याकाशं कालव्यवहारहेतुरिति सिद्धम् ।

एवमन्येऽप्यस्मच्छास्त्रसिद्धान्ताः सांख्यादिप्रतिषिद्धाः सुबुद्धिभिरुपपदनीया इति दिक् ॥

होता । उस क्षणके अवयवों (संघातविशेषों) से ही मुहूर्त्त, दिन, रात आदिसे लेकर द्विपरार्धपर्यन्त कालका व्यवहार होता है । कोई अखण्ड महाकाल नहीं है, क्योंकि इस विषयमें कोई प्रमाण नहीं मिलता । अब, आज आदि व्यवहार भी क्षणोंके संघातसे ही संगत हो जाते हैं तथा कालकी नित्यता का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति-स्मृतियाँ तो क्षणप्रवाहकी नित्यताको सूचित करनेवाली हैं । अतः आवश्यक होनेके कारण काल क्षणात्मक ही है, अखण्ड महाकाल नामकी कोई वस्तु नहीं है और न आकाश ही कालव्यवहारका हेतु है—यह सिद्ध हुआ ।

इसी प्रकार सांख्यादि दर्शनोंसे प्रतिषिद्ध हमारे अन्य शास्त्रीय सिद्धान्तोंकी भी बुद्धिमान् पाठकों को संगति लगा लेनी चाहिये ।

—: * :—

इति विज्ञानभिक्षुविरचिते योगसारसंग्रहे

कैवल्यादिनिरूपणं चतुर्थोंऽशः ।

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

श्रीभगवदर्पणमस्तु

---

१ प्रचयविशेषैः—पा. २ पु. ।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	१३	योग	निरोध
२०	१७	जिससे कि दोष	जिससे कि उसमें दोष
२२	१८	आत्मस । मान्य-	आत्मसामान्य-
२२	६	त्रिविधी	त्रिविधो
२५	३	चेच्छब्दाथ-	चेच्छब्दार्थ-
३७	४	-मुक्तनि	-मुक्तानि
३६	७	आषो	आपो
४०	२४	पुत्रैषणा	'पुत्रैषणा
४२	७	वितृष्णावैरा-	वितृष्णा वैरा-
४३	६	वैराग्यनुक्तम्	वैराग्यमुक्तम्
४३	१८	उपर	अपर
५२	११	रागषाद्वेभि-	रागद्वेषाभि-
५४	१६	कमद्वारा	कर्मद्वारा
५४	११	तन्निवृत्ता	तन्निवृत्तौ
५४	२४	सवथा	सर्वथा
५६	१७	लोकोंक	लोकोंको
५७	२१	ऐसी	ऐसा
५६	१३	मनमें	मतमें
६०	१४	भोगसाधनो	योगसाधनों

६०	२२	गारण	धारणा
६१	१३	कार्म	कर्म
७४	टिप्पणी २ में	ब्रह्य	ब्रह्म
७८	१३	अन्तरंग	तीन
८३	४	सवसङ्ग	सर्वसङ्ग
८३	१६	दूसरा	अद्वैत
८५	११	धारण । दि	धारणादि
८५	१२	बुद्ध	शुद्ध
९६	६	-संयमाद्भुत-	-संयमाद्भूत-
९६	१६	तोन	तीन
१०६	३	न्त्रौपद	चौषध
१०६	१४	औषधि	औषध
१०७	१	गणोंका	गुणोंका

श्रीरमापतये नमः

योगरसायनम् ।

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यब्रह्मानंदस्वामिना

विरचितम्

तदिदं

मुंबय्यां

पांडुरंग जावजी इत्यनेन

निर्णयसागरमुद्रणालयाधिपतिना मुद्रयित्वा प्रसिद्धिं नीतम् ।

(पञ्चमावृत्तिः)

शकाब्दाः १८५१, सन १९२९.

मूल्यं १० आना.

स्वामी ब्रह्मानंदजी.

प्रस्तावना.

ॐ सर्वमहाशय सज्जनोंको विदित होकि योगविद्या जीवात्माकी उन्नतिका एक मुख्य साधन है । वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहासादिग्रंथोंमें सर्वत्र योगका प्रतिपादन कियाहै । भारतवर्षके सिवाय चीन, तिबेत, जापान, अमेरिकादिदेशोंमें तथा वेदांत, बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णवादिसर्वमतोंमें योगका आदर है । महादेव, मत्स्येन्द्र, गोरक्ष, पतंजलि, वसिष्ठ, वामदेवादिक बडेबडे देवता ऋषिमुनियोंनें योगका साधन किया इतिहासोंमें प्रसिद्ध है । और जो जो मनुष्यशक्तिसे विलक्षण उत्कृष्ट गुण ऋषिमुनियोंमें सुननेमें आतेहैं सो सर्व योगविद्याके प्रभावसे हि उनको प्राप्त हुयेथे जिनको सुनकर आजकलके श्रद्धाहीन लोक उनको असंभव बतलाते हैं । सो इस योगविद्याके प्रतिपादक पातंजल, गोरक्षसंहिता,

योगियाज्ञवल्क्यसंहिता, शिवसंहिता, योगबीज, हठप्रदीपिकादिक अनेक ग्रंथ विद्यमान हैं सो तिनमें भिन्नभिन्न प्रकरणोंमें योगके साधनोंका वर्णन किया है। सो साधक पुरुषोंको सुगम बोधके लिये तिन सर्वयोगके ग्रंथोमेंसे सार निकालकर यह योगरसायन नामक ग्रंथ निर्माण किया गया है। इस ग्रंथमें क्रमसे योगके आठ अंगोंका विधिपूर्वक निरूपण किया है। इसमें विशेषता यह है कि, जगहजगहपर अपने अनुभवके अनुसार सर्व योगयुक्तियोंका वर्णन किया गया है। सो इस ग्रंथके अनुसार जो पुरुष योगाभ्यास करेगा सो अवश्य सिद्धिको प्राप्त होवेगा। सो यह ग्रंथ ईश्वरदर्शन, योगकल्पद्रुम, विचारदीपक, मोक्षगीता, भजनमालादिक ग्रंथोंके रचनेहारे पुष्करतीर्थनिवासी स्वामिब्रह्मानंदने निर्माण किया है तथा बंबईनिवासी शेठ पांडुरंग जावजीने अपने प्रेसमें छपाकर प्रसिद्ध किया है इति।

स्वामिब्रह्मानंद.

ॐ

श्रीरमापतये नमः ।

योगरसायनम् ।

मंगलम् ।

योगनिद्रां समासाद्य यः शेते शेषविष्टरे ।
तस्य पादांबुजं नित्यं देवस्य प्रणमाम्यहम् ॥१॥

अर्थ—योगरूपी निद्राको ग्रहण करके जो शेषनागकी शय्यापर शयन करते हैं ऐसे जो दिव्यस्वरूप विष्णुभगवान् हैं तिनके चरणकमलोंके प्रति मैं सर्वदाकाल नमस्कार करताहुं इति ॥ १ ॥

योगिराजं शिवं चापि नत्वा गुरुपदांबुजम् ।
योगाचार्यानशेषेण योगं वक्ष्यामि सिद्धये ॥२॥

अर्थ—सर्व योगियोंके मुख्य अधिपति जो शिवजी हैं तिनको नमस्कार करके और अपने गुरुके चरणकमलोंको नमस्कार करके तथा योगविद्याके आचार्य जो मत्स्येन्द्रनाथ गोरक्षनाथ पतंजलि याज्ञवल्क्य आदिक हैं तिन सर्वको नमस्कारकरके साधकपुरुषोंको मोक्ष-

पदकी सिद्धिके लिये योगविद्याका निरूपण करताहुं इति ॥ २ ॥

प्राणापानसमायोगो योगश्चित्तात्मनोस्तथा ।
यत्र जीवेशयोर्योगस्तं योगं नित्यमभ्यसेत् ॥३॥

अर्थ—जिसकरके प्राण और अपानकी एकता होवेहै चित्त और आत्माकी एकता होवेहै तथा जीव और ईश्वरकी एकता होवेहै ऐसा जो योग है तिसका मुमुक्षुपुरुषोंको सर्वदाकाल अभ्यास करना योग्य है है इति ॥ ३ ॥

क्रियाजालान्यनेकानि प्रभवंति न मुक्तये ।
योगमेवाभ्यसेन्नित्यं बुधो मोक्षाय केवलम् ॥४॥

अर्थ—अनेकप्रकारकी जप तप तीर्थ दानादिक जो स्थूलक्रियायोंके समूह हैं सो मुक्तिके लिये साक्षात् समर्थ नहि होसके हैं अर्थात् तिनसे शीघ्र मुक्तिकी प्राप्ति नहि होवेहै यातें बुद्धिमान् पुरुषको संसारबंधनकी मुक्तिके लिये केवल योगकाहि अभ्यास करना चहिये इति ॥ ४ ॥

तत्त्वज्ञानेन कैवल्यं ज्ञानं योगमयं तथा ।
विना योगेन यज्ज्ञानं नैव तन्मोक्षकारणम् ॥५॥

अर्थ—तत्त्वज्ञानसें कैवल्यमोक्ष होवेहै और सो ज्ञान

योगरूपहि है और जो योगके विना शुष्कज्ञान है सो मुक्तिका कारण नहि होवे है इति ॥ ५ ॥

अणिमादिपदं येन प्राप्य जित्वा तथांतकम् ।
जीवन्मुक्तश्चरेद्योगी योगमार्गं तमाश्रयेत् ॥६॥

अर्थ—जिसकरके अणिमा महिमा आदिक सिद्धियोंको प्राप्त होयकर और कालको जीतकरके जीवन्मुक्त भया योगी स्वतंत्र जगत्में विचरताहै तिस योगमार्गका बुद्धिमान् पुरुषोंको अवश्य आश्रयण करना योग्य है इति ॥ ६ ॥

शुष्कशास्त्रविवादेषु नैवायुः क्षपयेद्बुधः ।
नहि दीपकवार्तायामंधकारो विनश्यति ॥ ७॥

अर्थ—शास्त्रोंके शुष्कविवादोंमें बुद्धिमान् पुरुषको सर्व आयु व्यतीत नहि करनी चाहिये क्योंकी जैसे दीपककी वार्ता करनेसे अंधकारका नाश नहि होवेहै तैसेहि केवल शास्त्रोंकी वार्ता करनेसे संसारबंधनकी निवृत्ति नहि होवेहै इति ॥ ७ ॥

इन्द्रियार्थेषु सक्तानां देहाध्यासवतां नृणाम् ।
आलस्यहतबुद्धीनां शास्त्रं स्यादवलंबनम् ॥ ८ ॥

अर्थ—इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त और शरीरमें अध्यासवाले तथा आलस्यकरके क्षीणभई बुद्धिवाले

जो पुरुष हैं सो अष्टांगयोगसाधनेका परिश्रम नहि करसकते हैं यातें तिनके लियेहि केवल शास्त्रका आलंबन है इति ॥ ८ ॥

तस्माच्छास्त्रं विचार्यादौ पश्चाद्योगं समभ्यसेत् ।
यथा पूर्वर्षयश्चक्रुर्वसिष्ठाद्याः शुकादयः ॥ ९ ॥

अर्थ—यातें विवेकी पुरुषको प्रथम शास्त्रोंका विचारकरके पश्चात् योगका अभ्यास करना चहिये जैसे कि वसिष्ठादिक और शुकदेवादिक पहलेके ऋषिमुनि करते भये हैं इति ॥ ९ ॥

शैववैष्णवशाक्तेषु मतेषु निखिलेष्वपि ।
सर्वत्र विहितो योगस्ततस्तं साधयेत्सुधीः १०

अर्थ—किंच शैव वैष्णव शाक्त आदिक सर्वमतोंमें सर्वत्र योगका विधान किया है यातें बुद्धिमान् पुरुषको तिस योगकी अवश्य साधना करनी योग्य है इति ॥ १० ॥

आलोड्य योगशास्त्राणि स्वस्यानुभवतस्तथा ।
सारभूतं प्रवक्ष्यामि विधानं योगसाधने ॥११॥

अर्थ—पातंजलदर्शन शिवसंहिता याज्ञवल्क्य-संहिता गोरक्षशतक हठयोगप्रदीपिका आदि अनेक योगशास्त्रोंको मथन करके तथा अपने अनुभवके

अनुसार योगसाधन करनेकी जो विधि है तिसको संक्षेपसे सारभूत निरूपण करताहूं इति ॥ ११ ॥

तत्र योगविधौ ज्ञेयं द्वाराणां तु चतुष्टयम् ।
विनेशानुग्रहाज्जंतोर्दुर्लभं यस्य कस्यचित् १२

अर्थ—तहां प्रथम योगसाधनमें चार द्वार जानने चहिये जो कि ईश्वरकी अनुग्रहके विना हरएक जीवको प्राप्त होने अतिकठिन हैं इति ॥ १२ ॥

प्रथमं विषयत्यागो द्वितीयमनुकूलता ।
तृतीयं गुरुसंयोगश्चतुर्थं चेशचिंतनम् ॥ १३ ॥

अर्थ—प्रथम तो स्त्रीआदिकविषयोंका परित्याग होना और दुसरे सर्वप्रकारसे योगसाधनकी सामग्रीकी अनुकूलता होनी तथा तीसरे योगविद्याके जाननेवाले गुरुका समागम होना और चौथा ईश्वरका आराधन करना इति ॥ १३ ॥

द्वाराण्येतानि योगस्य चत्वारि मुनयो विदुः ।
नैतैर्विना भवेत्सिद्धिर्जन्मकोटिशतैरपि ॥१४॥

अर्थ—यह चार योगके मुनिलोकोंने मुख्य द्वार कथन कियेहैं क्योंकि इनकेविना कोटिजन्मोंमेंभी योगकी सिद्धि नहि होसके है इति ॥ १४ ॥

तथाष्टावेव योगस्य ज्ञेयान्यंगानि साधकैः।
येषां साधनतो जंतुः कैवल्यं पदमश्नुते ॥ १५ ॥

अर्थ—तथा योगके आठ अंग साधकपुरुषोंको जानने चहिये जिनके साधन करनेसे यह जीव कैव-ल्यमोक्षपदको प्राप्त होवेहै इति ॥ १५ ॥

यमश्च नियमश्च स्यादासनं प्राणसंयमः ।
प्रत्याहारस्तथा पश्चाद्धारणा ध्यानमेव च ॥१६॥
समाधिरिति योगस्य विदुरंगानि योगिनः ।
लक्षणं च क्रमात्तेषामुच्यते मुनिसंमतम् ॥१७॥

अर्थ—यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि यह योगके आठ अंग योगी लोकोंने कथन किये हैं अब क्रमसे तिन आठोंके पतंजलि याज्ञवल्क्य आदि मुनिलोकोंके मतके अनुसार भिन्न भिन्न लक्षण निरूपण करतेहैं इति ॥ १६ ॥१७॥

अथ यमः ।

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ ।
यमः पंचविधः प्रोक्तो मुनिभिर्योगचिन्तकैः१८

अर्थ—अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अप-रिग्रह इस भेदतें योगके जाननेहारे मुनिलोकोंने पांच प्रकारका यम कथन किया है इति ॥ १८ ॥

अहिंसा सर्वभूतानां सर्वथा द्रोहवर्जनम् ।
सत्यं स्याज्जीवजातस्य हितं वाक्यं प्रियं च यत् ॥

अर्थ—तिनमें मन वाणी शरीरकरके सर्वप्रकारसे सर्वभूतप्राणियोंको जो दुःख नहि देनाहै सो अहिंसा कहियेहै तथा जो सर्वजीवोंका हितकारक और प्रिय वचन बोलना है सो सत्य कहियेहै इति ॥ १९ ॥

अस्तेयं परद्रव्याणामनादानं विनाज्ञया ।
सर्वथा मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यमुदीरितम् ॥ २० ॥

अर्थ—पराई वस्तुवोंका मालिककी आज्ञाकेविना जो ग्रहण नहि करनाहै सो अस्तेय कहियेहै तथा सर्वप्रकारसे जो मैथुनका परित्याग करनाहै सो ब्रह्मचर्य ऋषिलोकोंनें कथन किया है इति ॥ २० ॥

योगोपकरणादन्यपदार्थानामसंग्रहः ।
अपरिग्रहणं तद्धि कथितं मुनिपुंगवैः ॥ २१ ॥

अर्थ—तथा योगसाधनकी उपयोगी सामग्रीके सिवाय विशेष पदार्थोंका जो संग्रह नहि करना है सो अपरिग्रह श्रेष्ठ मुनिलोकोंने कथन किया है इति॥२१॥

अहिंसया भवेन्मैत्री सत्येनामोघवाक्यता ।
अस्तेयाद्रत्नलाभश्च बलं स्याद्ब्रह्मचर्यतः ॥ २२ ॥

अपरिग्रहणादात्मविचारो जायते ध्रुवम् ।
योगिनो यतचित्तस्य यमानां परिपाकतः॥२३॥

अर्थ—अब यमोंके भिन्न भिन्न फल कथन करते हैं अहिंसा पालन करनेसे सर्वभूत प्राणियोंसे मित्रता होवेहै और सत्यभाषण करनेसे अमोघवाणी होवेहै तथा अस्तेयसे नानाप्रकारके मनोवांछित पदार्थोंकी प्राप्ति होवेहै और ब्रह्मचर्यसे मानसिकशक्तिकी वृद्धि होवेहै तथा अपरिग्रहसे अध्यात्मविचारकी उत्पत्ति होवे है इस प्रकारसे चित्तके जीतनेवाले योगीको यमोंकी परिपक्वावस्थामें उक्त फलोंकी प्राप्ति होवे है इति ॥ २२ ॥ २३ ॥

अथ नियमः ।

शौचं तोषस्तपश्चैव जपश्चेश्वरचिंतनम् ।
पंचधा नियमश्चापि विज्ञेयः साधकोत्तमैः॥२४॥

अर्थ—शौच संतोष तप जप और ईश्वरका चिंतन इसभेदसे नियमभी साधकपुरुषोंको पांचप्रकारकाहि जानना चाहिये इति ॥ २४ ॥

शौचं शुद्धिर्हि देहस्य मनसश्च निगद्यते ।
यथालाभेन तुष्टिस्तु संतोषः परिकीर्तितः २५

अर्थ—तिनमें शरीर और मनकी जो शुद्धि है सो

शौच कहिये है तथा प्रारब्धयोगसे जो द्रव्यादिक प्राप्त होवे उसीमें जो तृप्ति माननी है सो ऋषिलोकोंने संतोष कथन किया है इति ॥ २५ ॥

तपश्चान्द्रायणादीनां व्रतानां यद्विधारणम् ।
प्रणवादिपवित्रस्य मंत्रस्यावर्तनं जपः ॥ २६ ॥

अर्थ—चांद्रायणादिक व्रतोंका जो विधिपूर्वक धारण करना है सो तप कहिये है तथा ओंकार आदिक पवित्रमंत्रका जो वारंवार उच्चारण करना है सो जप कहिये है इति ॥ २६ ॥

मनसा भक्तिभावेन यदीशस्य निरंतरम् ।
स्मरणं सर्वगत्वेन तदेवेश्वरचिंतनम् ॥ २७ ॥

अर्थ—नम्रता और प्रेमभावसे सर्वदाकाल मनसे जो ईश्वरका सर्वव्यापकरूपसे स्मरण ध्यान करना है सो ईश्वरका चिंतन कहिये है इति ॥ २७ ॥

शौचाद्देहे विरागः स्यात्संतोषादुत्तमं सुखम् ।
तपसा सिद्धिलाभश्च जपाद्देवसमागमः ॥२८॥
ईश्वराराधनात्सिद्धिः समाधेर्जायते ध्रुवम् ।
योगिनो नियमानां च परिपाके न संशयः २९

अर्थ—अब नियमोंके फल निरूपण करते हैं शौच पालन करनेसे अपने तथा पराये शरीरको मलिन

समझकर ग्लानिसे वैराग्य होवे है और संतोषसे शांतिजन्य परमसुखकी प्राप्ति होवे है तथा तप करनेसे अणिमादिक सिद्धियोंकी प्राप्ति होवे है और जप करनेसे इष्टदेवका समागम होवे है तथा ईश्वरके आराधनसे समाधिकी सिद्धि होवे है इस प्रकारसे नियमोंकी परिपक्वावस्थामें योगीको उक्त फलोंकी प्राप्ति होवे है इति ॥ २८ ॥ २९ ॥

यमैश्च नियमैश्चापि योग्यः स्याद्योगसाधने ।
अनादरेण चैतेषां न क्वचित्सिद्धिभाग्भवेत् ३०

अर्थ—उक्त रीतिसे यम और नियमोंकरके युक्त भयाहि योगी पुरुष योगसाधन करनेमें योग्य होवे है और यमनियमोंके अनादर करनेसे कदाचित्भी सिद्धिको नहि प्राप्त होसके है इति ॥ ३० ॥

तस्मादतिप्रयत्नेन सेवनीया निरंतरम् ।
यमाश्च नियमाश्चापि योगेप्सुभिरखंडिताः ३१

अर्थ—यातें योगसिद्धिकी इच्छावाले साधकपुरुषोंको अतिप्रयत्नसे यम और नियमोंका सर्वदाकाल अखंडित सेवन करना योग्य है इति ॥ ३१ ॥

अथासनम् ।

आसनानि बहून्याहुर्मुनयो जीवभेदतः ।
तेषां चतुष्कमादाय सारभूतमिहोच्यते ॥ ३२॥

अर्थ—नानाप्रकारके जीवोंकी बैठकके अनुसार पूर्वके मुनिलोकोंने बहुतप्रकारके आसन कथन किये हैं सो तिनमेंसे सारभूत चार आसन लेकरके यहां कथन करते हैं इति ॥ ३२ ॥

सिद्धासनं भवेदाद्यं द्वितीयं पद्मसंज्ञितम् ।
तृतीयं स्वस्तिकं प्रोक्तं वीराख्यं च चतुर्थकम् ३३

अर्थ—तिनमें पहला सिद्धासन दूसरा पद्मासन तीसरा स्वस्तिकासन और चौथा वीरासन कहिये है इति ॥ ३३ ॥

सिद्धं प्राणाधिरोहे स्यात् ध्यानकाले तु पद्मकम्
स्वस्तिकं जपवेलायां वीरं स्यात्सुखसंस्थितौ३४

अर्थ—तिनमें सिद्धासन तो प्राणके चडानेके कालमें करना चाहिये और पद्मासन ध्यानकालमें करना चहिये तथा स्वस्तिकासन जप करनेके बखत करना चहिये और वीरासन साधारण सर्वदा सुखसे बैठनेके कालमें करना चहिये इति ॥ ३४ ॥

गुदावृषणयोर्मध्ये वामपार्ष्णि नियोजयेत् ।
दक्षपादाग्रभागं च वामजंघांतरे न्यसेत् ॥३५॥
हस्तयुग्मं न्यसेदंके सिद्धासनमितीरितम् ।
कुंडलीबोधकं शीघ्रं समाधेश्चोपकारकम् ॥३६॥

अर्थ—गुदा और अंडकोशके मध्यभाग सीवनीमें वामपादकी एडीको लगाय कर दहने पादका अग्रभाग वामजंघाके अंदर स्थापन करे तथा दोनों हाथ संपुटकरके गोदमें स्थापन करे यह सिद्धासन कुंडलीके शीघ्र जगानेवाला और समाधि चडानेमें परम उपयोगी पूर्वके योगीलोकोंने कथन किया है इति ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

वामोरूपरि दक्षांघ्रिं विन्यसेत्तस्य चोपरि ।
दक्षोरौ वामपदं च संस्थाप्याञ्जलिसंपुटम् ३७
स्वांके निधाय नासाग्रं पश्येन्निश्चलमानसः ।
पद्मासनं भवेदेतद्योगसिद्धिकरं परम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—वामऊरुके ऊपर दहना पाद रखकर तिसके ऊपर दहने ऊरुपर वामपादको स्थापन करे और अपने अंकमें दोनों हाथ संपुटकरके धरकर नासाके अग्रभागमें निश्चल मनसे दृष्टि जमावे सो यह शीघ्रही योगकी सिद्धि करनेवाला पद्मासन कहिये है इति ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

दक्षजंघांतरे वामं वामजंघांतरे तथा ।
विन्यसेच्चरणं दक्षं स्वस्तिकं चैतदुच्यते ॥ ३९ ॥

अर्थ—दहनी जंघाके बीचमें वामपादको और

वामजंघाके बीचमें दहने पादको स्थापन करे इसका नाम स्वस्तिकासन कहिये है इति ॥ ३९ ॥

दक्षिणोरुतले पादं वामं विन्यस्य दक्षिणम् ।
वामोरूपरि संयोज्यं वीरासनमितीरितम् ४०

अर्थ—दहने ऊरुके नीचे वामपादको रखकरके दहना पाद वामऊरुके ऊपर स्थापना करे इसको योगीलोकोंने वीरासन कथन किया है इति ॥ ४० ॥

ज्ञेयं सर्वासनेष्वेतन्मुख्यं पीठचतुष्टयम् ।
साधकैरनिशं सेव्यं योगार्थिभिरतंद्रितैः ॥४१॥

अर्थ—सर्व आसनोंमें यह चार आसन मुख्य जानने चाहिये योगसिद्धिके अभिलाषी साधकपुरुषोंको आलससे रहित होकरके निरंतर इनका सेवन करना योग्य है इति ॥ ४१ ॥

स्थिरं स्यादासनं यस्य स योगं कर्तुमर्हति ।
शरीराचलताभावे नहि चित्तं स्थिरं भवेत् ४२

अर्थ—जिस पुरुषका आसन स्थिर होवेहै सोई योगका साधन करसकता है क्योंकि शरीरकी अचलताके विना मन कबी स्थिर नहि होसकता है इति ४२

आसनं त्वेकतानेन कृतं दुःखावहं भवेत् ।
शनैरभ्यासतस्तस्माद्वर्द्धयेदासने स्थितिम् ४३॥

अर्थ—आसनको एकदम अधिक देरतक करनेसे शरीरमें परिश्रम होता है यातें धीरेधीरे अभ्यास करके आसनको बढाना चहिये इति ॥ ४३ ॥

यदा प्रहरपर्यंतं स्थिरं स्यादेकमासनम् ।
तदा योग्यं विजानीयादासनं योगसाधने ४४

अर्थ—जिस कालमें एक प्रहरपर्यंत एकहि आसन स्थिर होजावे तब आसनको योगकी साधना करनेमें योग्य समझना चहिये ॥ ४४ ॥

आसने स्थिरतां याते मनःस्थैर्यं भवेद्ध्रुवम् ।
प्राणस्यापि गतिर्नूनं शिथिला संप्रजायते ॥४५

अर्थ—अब आसनका फल कहतेहैं जब आसनकी स्थिरता होवेहै तो निश्चय करके मनभी स्थिर होजावेहै और प्राणवायुकी गतिभी निश्चयकरके मंद होजाती है इति ॥ ४५ ॥

इन्द्रियाणां च चापल्यं शांतिमायाति निश्चितम्
ततो योगस्य सिद्धिः स्यात् तस्मादासनमभ्यसेत्

अर्थ—तथा आसनकी स्थिरता होनेसे इंद्रियोंकी जो स्वाभाविक चंचलता है सोभी शांत होजाती है और इसप्रकारसे मन प्राण इंद्रियोंकी स्थिरता होनेसे शीघ्रहि योगकी सिद्धि होवेहै यातें योगसाधनाकी

इच्छावाले साधकपुरुषोंको प्रथम आसनका अवश्य अभ्यास करना योग्य है इति ॥ ४६ ॥

भ्रमणं तीर्थयात्रासु नैव कार्यं हि योगिना ।
स्थित्वा स्थाने सदैकस्मिन् योगारंभं समाचरेत्

अर्थ—योगाभ्यासी पुरुषको तीर्थोंकी यात्रामें भ्रमण नहि करना चहिये किंतु योगसिद्धिपर्यंत सर्व-दाकाल एकस्थानमेंही निवास करके योगाभ्यासका साधन करना योग्य है ॥ ४७ ॥

अथ प्राणायामः ।

प्राणायाममथेदानीं कथयामि समासतः ।
यस्य ज्ञानाद्भवेद्योगी योगसिद्धेस्तु भाजनम्

अर्थ—अब प्राणायामकी विधि संक्षेपसे कथन करते हैं जिसके जाननेसे योगी पुरुष योगसिद्धियोंका पात्र होवे है इति ॥ ४८ ॥

प्राणायामस्य भेदास्तु कथिता मुनिपुंगवैः ।
बहवो योगतंत्रेषु साधकानां हिताय वै ॥४९॥

अर्थ—पूर्वके मुनिवरोंने योगके ग्रंथोंमें प्राणायामके बहुत प्रकारके भेद साधक लोकोंके हितके लिये कथन किये हैं इति ॥ ४९ ॥

द्वावेव तेषु सर्वेषु प्राणायामौ वरौ मतौ ।
चंद्रभेदनसंज्ञश्च भस्त्रिकासंज्ञकस्तथा ॥ ५० ॥

अर्थ—तिन प्राणायामके सर्व भेदोंमेंसे चंद्रभेदन और भस्त्रिका यह दो प्राणायामही योगीलोकोंने श्रेष्ठ मुख्य मानेहैं इति ॥ ५० ॥

संध्यादिकर्मवेलायां चंद्रभेदनमिष्यते ।
भस्त्रिका योगकाले स्यादिति ज्ञेयं विचक्षणैः५१

अर्थ—तिनमें संध्यादिककर्म करनेके कालमें तो चंद्रभेदन करना चहिये और योगाभ्यास करनेमें भस्त्रिका प्राणायाम करना चहिये ऐसा बुद्धिमान् पुरुषोंको जानना योग्यहै इति ॥ ५१ ॥

वामनासिकया प्राणं पूरयेच्चंद्रमार्गतः ।
कुंभयित्वोदरे सम्यक् सूर्यद्वारेण रेचयेत् ॥५२

अर्थ—अब प्रथम चंद्रभेदनकी रीति कथन करते हैं पहले चंद्रमाके मार्ग वामनासापुटसे प्राणका पूरण करे और तिस पूरक कियेहुये प्राणको पेटमें भलीप्रकारसे अपनी शक्तिअनुसार रोककरके पीछे सूर्यद्वारा दहने नासापुटसे रेचन करदेवे इति ॥ ५२ ॥

पुनः पिंगलया पीत्वा कुंभयित्वा यथाबलम् ।
शनैर्विरेचयेत्प्राणं वामरंध्रेण युक्तितः ॥ ५३ ॥

अर्थ—इस प्रकार एक प्राणायाम करके फिर दूसरी वार दहनी नासापुट पिंगलासे प्राणको पूरक करे और

यथाशक्ति पेटमें कुंभक करके पीछे युक्तिसे धीरेधीरे वामनासापुटसे रेचन करदेवे इति ॥ ५३ ॥

प्रणवं वाथ गायत्रीं मनसा कुंभकावधि ।
जपेदेकांतगः सोयं चंद्रभेदनमुच्यते ॥ ५४ ॥

अर्थ—और प्राणके कुंभकपर्यंत मनसे ओंकारका अथवा गायत्रीमंत्रका एकांतमें बैठकरके जप करे इसको चंद्रभेदन प्राणायाम कहते हैं इति ॥ ५४ ॥

वामनासापुटात्प्राणं रेचयेत्तेन वै पिबेत् ।
पीतं विरेचयेत्तूर्णं दक्षनासापुटेन तम् ॥ ५५ ॥
ततस्तेनैव पीत्वाऽथ वामरंध्रेण रेचयेत् ।
वामेनैव ततः पीत्वा दक्षरंध्रेण रेचयेत् ॥ ५६ ॥

अर्थ—अब भस्त्रिका प्राणायामकी रीति निरूपण करतेहैं पहले वामनासापुटसे प्राणको रेचन करके उसीसे शीघ्रही पीजावे और फिर तिसकों शीघ्रही दहने नासापुटसे रेचन करदेवे तथा फिर उसी पुटसे पीकरके वामपुटसे रेचन करदेवे और फिर वामपुटसे पीकरके दहनेपुटसे रेचन करदेवे इति ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

एवं पुनः पुनः कुर्याद्रेचपूरौ द्रुतं द्रुतम् ।
भस्त्रावल्लोहकारस्य क्षणमात्रं विचक्षणः ॥५७॥

अर्थ—इसप्रकार जैसे लुहारकी धोकनी चलतीहै

तैसेही चतुरपुरुष शीघ्र शीघ्र दोनो नासापुटोंसे वारी वारी थोडीदेर रेचक पूरक करे इति ॥ ५३ ॥

ततो विरेचयेद्वायुं निखिलं वामरंध्रतः ।
किंचित्कालं बही रुद्ध्वा वामेनैव पिबेत्ततः ५८

अर्थ—पीछे संपूर्ण पेटके प्राणवायुको वामनासापुटसे रेचन करदेवे और किंचित् काल तिसको बाहिर रोककर फिर उसी वामनासापुटसेही पूरक करलेवे इति ॥ ५८ ॥

कुंभयेदुदरे पीतं प्राणं धृत्या यथाबलम् ।
शनैर्विरेचयेत्पश्चाद् दक्षरंध्रेण बुद्धिमान् ॥५९॥

अर्थ—तिस पूरक कियेहुये प्राणको धीरजसे अपनी शक्तिअनुसार कुंभक करे और पीछे धीरेधीरे दहने नासापुटसे रेचन करदेवे इति ॥ ५९ ॥

पूर्ववद्भस्त्रिकां कृत्वा दक्षरंध्रेण रेचयेत् ।
किंचित्कालं बही रुद्ध्वा ततस्तेनैव पूरयेत् ॥६०॥
कुंभयित्वा यथाशक्ति प्राणं वामेन रेचयेत् ।
वामदक्षक्रमेणैवं प्राणायामं समभ्यसेत् ॥६१॥

अर्थ—इसप्रकार एक प्राणायाम करके फिर दूसरी वार पहलेकी न्यांई थोडी देर भस्त्रिका करके नासाके दहने रंध्रसे प्राणको रेचन करे और किंचित्काल ति-

सको बाहिर रोककर फिर दहने रंध्रसेही पूरक करलेवे और यथाशक्ति पेटमें कुंभक करके फिर वामनासापुटसे शनैः शनैः रेचन करदेवे इसप्रकार उक्तरीतिसे वामे और दहने रंध्रसे क्रमकरके प्राणायामका अभ्यास करे अर्थात् पहला प्राणायाम वामनासापुटसे करे और दूसरा दहनेसे फिर तीसरा वामेसे और चौथा दहनेसे करे इसप्रकार क्रमसे करे इति ॥ ६० ॥ ६१ ॥

भस्त्रिकाकुंभकोयं स्याच्छीघ्रं प्राणजयप्रदः ।
कुंडलीचक्रभावघ्नस्त्रिदोषशमनः परः ॥ ६२ ॥

अर्थ—इस प्राणायामको भस्त्रिकाकुंभक कहते हैं इसके अभ्यास करनेसे शीघ्रही प्राणका जय होवेहै और कुंडली शक्तिका चक्र सरल होवेहै तथा कफ पित्त वात तीनों दोषोंकी शांति होवेहै इति ॥ ६२ ॥

अस्यैवांतर्भवंत्यन्ये प्राणायामा यतोऽखिलाः ।
तस्मादस्यैव कर्तव्यः सदाभ्यासः सुसाधकैः ६३

अर्थ—और जो दूसरे शीतकारी शीतली आदिक प्राणायाम हैं सो सर्वही इस भस्त्रिकाके अंतर्भूत होजातेहैं यातें श्रेष्ठ साधकपुरुषोंको केवल इसी भस्त्रिका प्राणायामकाही सर्वकाल अभ्यास करना योग्यहै इति ॥ ६३ ॥

कुंभकस्य तु मध्येपि पिबेद्वायुं विचक्षणः ।
एकवारं द्विवारं वा कुंभकस्य विवृद्धये ॥ ६४ ॥

अर्थ—बुद्धिमान् पुरुषको चहिये कि कुंभकके बीचमेंभी एकवार अथवा दोवार नासिकाद्वारा बाहिरसे प्राणवायुको पीजावे तो कुंभककी विशेष वृद्धि होवेहै इति ॥ ६४ ॥

नाभौ संचिंतयेद्योगी सूर्यमंडलमुज्ज्वलम् ।
तेन प्राणनिरोधः स्याच्चिरकालं न संशयः ॥६५॥

अर्थ—तथा योगीको चहिये कि कुंभककालमें अपने नाभिचक्रमें प्रकाशवान् सूर्यमंडलका ध्यान करे तो तिससे मनकी वृत्ति अंतर्मुख होनेसे प्राणका चिरकालपर्यंत निरोध होवे है इति ॥ ६५ ॥

सायं प्रातश्च कुर्वीत प्राणयामं तु साधकः ।
घटिकात्रितयं नित्यं पथ्यपूर्वकमेकधीः ॥ ६६ ॥

अर्थ—उक्तरीतिसे प्रातः तथा सायंकाल तीन घटिकापर्यंत नित्यही पथ्यपूर्वक साधकपुरुषको एकाग्रचित्त होकर प्राणायामका अभ्यास करना योग्य है इति ॥ ६६ ॥

रसमम्लं तथा क्षारं विदाहि कटुकं तथा ।
त्यक्त्वा भुंजीत गोधूमं मुद्गं वा तंडुलं तथा ६७

अर्थ—खाटा रस लवणादि विशेष क्षार मरिचादि दाहकारक और निंबादि कटु पदार्थोंका परित्यागकरके गेहूं मूंग तथा चावलोंका भोजन करना चहिये इति

घृतं नवीनं सेवेत निशायां च पयः पिबेत् ।
सैंधवं चाल्पमश्नीयात् तथैव मधुरं रसम्॥६८॥

अर्थ—ताजा घृतका सेवन करे और रात्रीको दूधका पान करे तथा सैंधव निमक थोडा खावे और मीठा रसभी थोडा खाना चहिये इति ॥ ६८ ॥

एतद्धि योगिनां पथ्यं नापथ्यं तु कदाचन ।
पथ्याभावे भवेद्योगी नानारोगसमन्वितः ६९

अर्थ—येही पदार्थ योगीलोकोंके लिये पथ्य हैं योगीको अपथ्य कबी सेवन नहीं करना चहिये क्योंकि पथ्यके नहीं पालन करनेसे योगीके शरीरमें नानाप्रकारके ज्वरादि रोगोंकी उत्पत्ति होवे है इति॥ ६९॥

इत्थं मासद्वयं कुर्यात् त्रिमासं वा गतालसः ।
यावत्पंचशतं मात्राः कुंभकस्य भवंति हि ७०

अर्थ—इस प्रकार उक्तरीतिसे दो अथवा तीन मासपर्यंत प्राणायामका अभ्यास करना चहिये जबतक कुंभककी पांचसौ मात्रा अनायाससे होजावें इति॥७०॥

एकादिगणनां कुर्यान्न द्रुतं न विलंबितम् ।
मनसा कुंभकाले तु मात्रास्ताः परिकीर्तिताः७१

अर्थ—कुंभककालमें एक दो तीन चार पांच इस प्रकारसे न तो शीघ्र और न विलंबसे जो मनमें गिनती करनी है तिसको मात्रा कहते हैं इति ॥ ७१ ॥

मात्राणां तु भवेत्संख्या यदा पंचशताधिका ।
तदायोग्यं विजानीयात् कुंभकं शक्तिबोधने७२

अर्थ—जिसकालमें मात्रायोंकी पांचसौसे अधिक संख्या होजावे तो तिसकालमें कुंभकको कुंडलिनीके जगानेमें योग्य समझना चहिये इति ॥ ७२ ॥

गतिं विज्ञाय नाडीनां कुंडलीस्थानमेव च ।
सम्यग्योगी ततो युक्त्या शक्तिबोधनमाचरेत्॥

अर्थ—पहले नाडियोंकी गति तथा कुंडलीका स्थान भलीप्रकारसे जानकरके पश्चात् युक्तिसे योगी कुंडलीको जागृत करे इति ॥ ७३ ॥

अस्ति नाभेरधः कंदो देहमध्यगतः सदा ।
कुक्कुटांडसमाकारः सर्वनाडीसमाश्रयः ॥ ७४ ॥

अर्थ—नाभिके नीचे शरीरके मध्यभागमें कंदका स्थान है और कुक्कुटके अंडेके समान तिसका आकार है तथा शरीरकी सर्व नाडियोंका सो आश्रयभूत है इति ॥ ७४ ॥

तस्मादूर्ध्वमधस्तिर्यङ् निर्गताः सर्वनाडिकाः।
देहं व्याप्यावतिष्ठंते भूमंडलमिवापगाः ॥७५॥

अर्थ—तिस कंदसे ऊपर नीचे और तिरछियां सर्व नाडियां निकली हैं जैसे पृथवीमंडलमें नदियां व्यापक होय रही हैं तैसेही सो नाडियां नीचे ऊपर तिरछी सर्व शरीरमें व्यापक होय रही हैं इति ॥ ७५ ॥

तासु सर्वासु वै तिस्रः प्रधाना नाडिका मताः।
इडा च पिंगला चैव सुषुम्नेति प्रकीर्तिताः ॥७६॥

अर्थ—तिन सर्वनाडियोंमें इडा पिंगला और सुषुम्ना यह तीन नाडियां योगीलोकोंने मुख्य मानी हैं इति ॥ ७६ ॥

इडा वामे स्थिता नित्यं पिंगला दक्षिणे तथा।
सुषुम्ना मध्यगा ज्ञेया योगसिद्धिप्रदायिनी७७

अर्थ—तिनमें इडा नामकी नाडी वामभागमें है और पिंगला दक्षिणभागमें है तथा सुषुम्ना दोनोंके मध्यमें जाननी चहिये सो सुषुम्नाही योगकी सिद्धि देनेवाली है इति ॥ ७७ ॥

कंदमध्याद्विनिर्गत्य मेरुदंडेन संगता।
सुषुम्ना पृष्ठमार्गेण ब्रह्मरंध्रमुपागता ॥ ७८ ॥

अर्थ—सो सुषुम्ना पूर्वोक्त कंदसे निकलकर मेरु-

दंडसे मिलीहुई शरीरके पृष्ठभागसे ब्रह्मरंध्रमें गई है इति ॥ ७८ ॥

ततश्चैषा परावृत्त्या भ्रूकंठहृदयादिषु ।
क्रमाच्चक्रेषु गच्छंती नाभिमूलमुपाश्रिता॥७९॥

अर्थ—और सो ब्रह्मरंध्रसे होकर शरीरके अग्रभागसे नीचेको भ्रूमध्य कंठ हृदयादि चक्रोंमें क्रमसे होती हुई नाभिके नीचे कंदमें फिर जाय मिली है इति ॥ ७९ ॥

कंदोपरिगता नित्यं शक्तिः कुंडलिनी परा ।
सार्द्धत्रिवलयाकारा संसुप्तभुजगोपमा ॥ ८० ॥

अर्थ—कंदके ऊपरके भागमें कुंडलिनी शक्तिका स्थान है और साडेतीन बलनके आकारसे सोये हुये सर्पके समान कुंडलाकार है इति ॥ ८० ॥

सूक्ष्मा तडित्प्रतीकाशा जीवशक्तिसमाश्रया ।
मूलप्रकृतिरूपा सा सर्वप्राणिषु संगता॥ ८१ ॥

अर्थ—सो कुंडलिनी शक्ति अतिसूक्ष्म बिजलीके समान प्रकाशरूप और जीवात्माका आधारभूत है तथा मूलप्रकृतिस्वरूप है और सर्व प्राणधारी जीवोंके शरीरोंमें रहतीहै इति ॥ ८१ ॥

तस्याः प्राणस्तथापानो वहत्यूर्ध्वमधस्तथा ।
मध्ये सा बीजभूता तु संस्थिता परमेश्वरी॥८२॥

अर्थ—तिस कुंडलिनीसे प्राण ऊपरको वहता है और अपान नीचेको वहता है और मध्यमें सो परमेश्वरकी शक्तिरूप कुंडलिनी बीजरूपसे स्थित होय रही है इति ॥ ८२ ॥

येन मार्गेण गच्छंति प्राणा मूर्द्धनि योगिनः ।
मुखेनाच्छाद्य तद्वारं सुप्ता सा नागकन्यका ८३

अर्थ—जिस मार्गसे योगीके प्राण ऊपर मस्तकमें जाते हैं तिसके द्वारको अपने मुखसे रोककरके सो कुंडलिनी सोय रही है इति ॥ ८३ ॥

यावत्सा निद्रिता देहे तावद्योगो न सिद्ध्यति ।
अतस्तद्बोधने युक्तिः सम्यगत्र निरूप्यते ॥८४॥

अर्थ—जबतक सो कुंडलिनी शरीरमें सोय रही है तबतक योग सिद्ध नहि होसकता है इसलिये उसके जगानेके लिये सम्यक् प्रकारसे यहां युक्ति निरूपण करते हैं इति ॥ ८४ ॥

प्रथमो मूलबंधः स्यादुड्डियानो द्वितीयकः ।
जालंधरस्तृतीयश्च शक्तिबोधनहेतवः ॥ ८५ ॥

अर्थ—प्रथम मूलबंध दूसरा उड्डियानबंध और

तीसरा जालंधरबंध यह तीन प्रकारके बंध कुंडलिनीके जगानेमें हेतुभूत हैं इति ॥ ८५ ॥

सिद्धासने स्थितोऽपानं बलादूर्ध्वं विकर्षयेत् ।
आधाराकुंचनेनायं मूलबंधोऽभिधीयते ॥८६॥

अर्थ—सिद्धासनपर बैठकरके आधारचक्रको आकुंचन करके जोरसे अपान वायुको ऊपरकी तरफ खेंचे इसको मूलबंध कहतेहैं इति ॥ ८६ ॥

नाभेः पश्चिमतानं हि बलात्कुर्यात्पुनः पुनः ।
उड्डियानो भवेद्बंधः प्राणोड्डयनकारकः ॥ ८७ ॥

अर्थ—पेटकी नाभिको वारंवार पीठकी तरफको जोरसे ताननेसे उड्डियानबंध होता है इससे प्राणोंका मेरुदंडद्वारा ऊपरको गमन होता है इति ॥ ८७ ॥

चिबुकं कंठकूपस्य न्यसेदुपरि भागतः ।
बंधो जालंधरः प्रोक्तः शिराजालनिरोधकः ८८

अर्थ—कंठकूपके ऊपरके भागमें मुखकी ठोडीको जमानेसे जालंधरबंध होताहै इस नाडियोंकी ऊर्ध्व-गतिका निरोध होवेहै इति ॥ ८८ ॥

बंधत्रयमिदं योगे योगिनामुपकारकम् ।
कुंडलीबोधकं शीघ्रं ब्रह्मरंध्रगतिप्रदम् ॥ ८९ ॥

अर्थ—यह तीनप्रकारके बंध योगाभ्यासमें योगि-

योंके बहुत उपकारक हैं और कुंडलीको शीघ्रही बोधनकरके प्राणोंको ब्रह्मरंध्रमें पहुंचाते हैं इति ॥८९॥

ज्ञात्वा बंधत्रयं योगी कुंडलीं बोधयेत्ततः ।
यस्याः प्रभेदाद्भिद्यंते चक्राणि ग्रंथयोपि च ९०

अर्थ—इन बंधोंको भलीप्रकारसे जानकरके पश्चात् योगी कुंडलिनीको जागृत करे जिसके जगानेसे षट्चक्रोंका तथा मेरुदंडकी सर्वग्रंथियोंका भेदन होवे है इति ॥ ९० ॥

पूर्ववद्भस्त्रिकां कृत्वा रेचयेत्पवनं सुधीः ।
बहिरेवाथ तं रुद्ध्वा कुर्यादुड्यानबंधनम् ॥९१॥
बलादपानमाकृष्य ततो वायुं प्रपूरयेत् ।
कुंभयित्वा यथाशक्ति शनैरेव विरेचयेत् ९२

अर्थ—पूर्वोक्त रीतिसे थोडा भस्त्रिका करके प्राणवायुको रेचन करे और तिस रेचन कियेहुये प्राणको बाहिरही रोककरके पीछे उड्डियानबंध करे और उड्डियानकरते वकत जोरसे अपानवायुको ऊपरकी तरफको आकर्षण करे पीछे शीघ्रही बाहिरवाले प्राणका पूरक करलेवे और शक्तिअनुसार कुंभक करके फिर रेचन करदेवे इति ॥ ९१ ॥ ९२ ॥

सिद्धासने समासीनः सायं प्रातश्च साधकः ।
वामदक्षक्रमेणैवं मुहूर्त्तद्वयमभ्यसेत् ॥ ९३ ॥

अर्थ—इसप्रकार सिद्धासनपर बैठकर सायंकाल तथा प्रातःकाल क्रमसे वामनासापुट और दक्षिणनासापुटसे चार घटिकापर्यंत साधक पुरुषको नित्य अभ्यास करना चहिये इति ॥ ९३ ॥

उड्डियाने कृते बंधे मूलबंधोपि जायते ।
तेनापानो व्रजेदूर्ध्वं प्राणस्य सदनं प्रति ॥९४॥

अर्थ—उड्डियानबंधके करनेसे मूलबंधभी स्वतःही होजावे है क्योंकि जैसे मूलबंधसे अपानवायुका ऊपरको आकर्षण होवे है तैसेही उड्डियानबंधमें नाभिको ऊपरकी तरफ ताननेसे अपानका आकर्षण होवे है सो इससे अपानवायु ऊपरको प्राणके घरमें जाता है इति ॥ ९४ ॥

ततः कुंभकयोगेन प्राणोऽपानगृहं व्रजेत् ।
द्वयोः संघर्षणादग्निर्वर्धते देहमध्यगः ॥ ९५ ॥

अर्थ—और फिर प्राणका पूरक करके कुंभक करनेसे प्राणवायु नीचेको अपानके घरमें जाता है इसप्रकार प्राण और अपान दोनोंके घर्षणसे शरीरके मध्यभागमें रहनेहारी अग्निकी वृद्धि होवे है इति॥९५॥

ततो वह्निप्रतापेन प्राणसंघर्षणेन च ।
दंडाहता भुजंगीव कुंडली संप्रबुद्ध्यते ॥ ९६ ॥

अर्थ—और तिस अग्निके तापसे तथा प्राणोंके संघर्षणसे जैसे दंड लगानेसे सर्पिणी कुंडल छोडकर सीधी होजावे है तैसेही कुंडलिनी शक्ति निद्राको छोडकर सीधी होजावे है इति ॥ ९६ ॥

प्रबुद्धा सा जहात्याशु ब्रह्मरंध्रमुखं ध्रुवम् ।
सुषुम्नायां तदा प्राणो विशेदूर्ध्वं न संशयः९७

अर्थ—जागृतभई कुंडली ब्रह्मरंध्रके मार्गके द्वारको छोड देती है और तिसकालमें सुषुम्नामें ऊपरको प्राणका प्रवेश निश्चयकरके होवे है इति ॥ ९७ ॥

ततस्तु हृदयांभोजे प्राणस्य गमनं भवेत् ।
वायोः संस्पर्शयोगेन ज्ञातव्यं साधकोत्तमैः९८

अर्थ—सुषुम्नामें प्रवेश होनेके पीछे प्राणका प्रथम हृदयकमलमें गमन होवे है सो तिसकालमें हृदयमें प्राणवायुके अंदरसे स्पर्श होनेसे साधकपुरुषोंको जानलेना चहिये कि अब कुंडलिनी जागृत होकर हृदयतक आयगई है इति ॥ ९८ ॥

हृदयात्कंठमायाति कंठाद्भ्रूमध्यमेव च ।
भ्रूमध्याद्ब्रह्मरंध्रं च व्रजेत्प्राणः शनैःशनैः॥९९॥

अर्थ—तिसके पीछे नित्य प्रति अभ्यास करते रहनेसे धीरे धीरे हृदयसे कंठमें प्राणोंका आगमन होवे है और फिर कंठसे भ्रूमध्यमें आगमन होवे है और फिर भ्रूमध्यसे ब्रह्मरंध्रमें प्राणोंका प्रवेश होवे है इति ॥ ९९ ॥

यथायथैवापानस्य बलादाकर्षणं भवेत् ।
तथातथा भवेदूर्ध्वं शीघ्रं प्राणस्य रोहणम् १००

अर्थ—पूर्वोक्त उड्डियानबंधसे जैसे जैसे अपानका जोरसे ऊपरको आकर्षण किया जावे है तैसे तैसेही शीघ्र प्राणका ऊपरको आरोहण होवे है इति ॥१००॥

यदा चक्राणि भित्त्वासौ प्राणो मूर्धानमाव्रजेत्
तदा तत्रैव ध्यानेन स्थिरं कुर्याद्विचक्षणः १०१

अर्थ—जिसकालमें आधारादि षट् चक्रोंको उल्लंघनकरके प्राणवायु शिरमें पहुंच जावे तो तिसकालमें चतुरपुरुष तिसको तहां ब्रह्मरंध्रमें चंद्रमंडलका ध्यान करके स्थिर करे इति ॥ १०१ ॥

पूर्वमार्गमिमं प्राहुः सुषुम्नाया मुनीश्वराः ।
येन याता विमुच्यंते जन्मसंसारबंधनात् १०२

अर्थ—इसप्रकार षट्चक्रोंद्वारा प्राणको ब्रह्मरंध्र लेजानेको योगविद्याके जाननेवाले मुनीश्वर लोक

सुषुम्नाका पूर्वमार्ग कहते हैं तथा कोई बंकनालमार्गभी इसको कहते हैं इसमार्गसे अंतकालमें प्राणोंको छोडनेसे योगीलोक जन्ममरणरूप संसारबंधनसे मुक्त होजाते हैं इति ॥ १०२ ॥

अथ पश्चिममार्गस्य भेदनं संनिरूच्यते ।
मेरुदंडं प्रविश्याशु येन प्राणः प्रलीयते ॥१०३

अर्थ—अब सुषुम्नाका दूसरा जो पश्चिममार्ग है तिसके खोलनेकी विधि निरूपण करते हैं जिससे मेरुदंडमें प्राणप्रवेश होकरके ब्रह्मरंध्रमें जायकर लीन होते हैं इति ॥ १०३ ॥

पूर्ववद्भस्त्रिकां कृत्वा रेचयेदनिलं शनैः ।
रुद्ध्वा तं बहिरेवाशु कुर्यादुड्डयानबंधनम् ॥१०४

अर्थ— पूर्वोक्तरीतिसे थोडा भस्त्रिका करके प्राणवायुको एकनासापुटसे रेचन कर देवे और तिनको बाहिरही रोककर जलदीसे उड्डियानबंध करे इति १०४

नाभेः पश्चिमतानं तु तथा कुर्यात्प्रयत्नतः ।
यथा स्यान्मेरुदंडेन संलग्नं नाभिमंडलम् ॥१०५

अर्थ—उड्डियानबंध करतेवकत नाभिको इसतरे जोरसे पीछेको तानकर हटाना चहिये कि जिसतरे नाभिस्थान पीठके मेरुदंडसे लगजावे इति ॥ १०५ ॥

कृत्वाऽथ पूरकं शीघ्रं कुंभकं कारयेद्बुधः ।
मनसा चिंतयेच्चापि पृष्ठे प्राणस्य रोहणम् ॥१०६

अर्थ—फिर जलदी बाहिरवाले प्राणको पूरककरके कुंभक करे और तिसकालमें मनसेभी प्राणोंका मेरुदंडमें चडना चिंतन करे इति ॥ १०६ ॥

दिनैः कतिपयैरेवमभ्यासं कुर्वतो ध्रुवम् ।
मेरुदंडे विशेत्प्राणो वंशरंध्रे यथानिलः ॥१०७॥

अर्थ—कुछ दिन इसप्रकारसे अभ्यास करनेसे योगीके प्राण मेरुदंडमें प्रवेश करजाते हैं जैसे कि वांसके छिद्रमें वायु प्रवेश करे है इति ॥ १०७ ॥

दिनानुदिनमभ्यासे क्रियमाणे यथाक्रमम् ।
ऊर्ध्वमूर्ध्वं व्रजेत्प्राणो भित्त्वा ग्रंथिसमुच्चयम् ॥

अर्थ—फिर दिनदिन क्रमपूर्वक अभ्यास करनेसे मेरुदंडमें मार्गकी ग्रंथियोंके समूहको साफ करता हूया प्राण ऊपरऊपरको गमन करता है इति ॥ १०८ ॥

अंगे पिपीलिकारोहे यथा स्पर्शः प्रतीयते ।
मेरुदंडे तथा वायोःस्पर्शः स्यादूर्ध्वरोहणे १०९

अर्थ—जिसप्रकार शरीरपर कीडीके चडनेसे स्पर्श मालूम पडता है तैसेही मेरुदंडमें प्राणके ऊपर चडनेमें स्पर्श प्रतीत होवे है इति ॥ १०९ ॥

ब्रह्मरंध्रं व्रजेत्प्राणो यदा पश्चिममार्गतः ।
पूरयेत्तत्र तं नित्यं संतताभ्यासयोगतः ॥११०॥

अर्थ—जिसकालमें मेरुदंडके मार्गसे प्राण ब्रह्मरं-ध्रमें पहुंच जावे तो फिर निरंतर अभ्यास करके तिसको तहां पूरण करे इति ॥ ११० ॥

तदा भस्त्रां परित्यज्य कुर्यात्कुंभं तु केवलम् ।
यथा स्यात्प्राणसंचारो विशेषात्पश्चिमे पथि ॥

अर्थ—तिसकालमें भस्त्राका परित्याग करके केवल कुंभकही करना चहिये जिससे विशेषकरके प्राणोंका पश्चिममार्गमें प्रचार होवे इति ॥ १११ ॥

वर्द्धमाने ततोऽभ्यासे प्राणस्त्यक्त्वा गमागमौ ।
ब्रह्मरंध्रे लयं याति मनश्चानु विलीयते ॥११२॥

अर्थ—उक्तरीतिसे अभ्यासके बढनेसे और अत्यंत अल्पाहार करनेसे नासिकाद्वारसे आनाजाना छोडकर प्राण ब्रह्मरंध्रमें जायकर स्थिर होजाते हैं तथा प्राणोंके साथ मनभी लीन होजावे है इति ॥ ११२ ॥

प्राणे मूर्धनि संप्राप्ते नादध्वनिरनुत्तमः ।
श्रूयते योगिनो वक्त्रे संस्रवेदमृतं तथा ॥ ११३

अर्थ—जिसकालमें प्राणवायु मस्तकमें पहुंचता है तो तिसकालमें योगीको सुंदर अनाहतनादकी ध्वनि

सुन पडती है और मुखमें तालुसे अमृत टपकता है इति ॥ ११३ ॥

आनंदानुभवस्तत्र जायते योगिनो महान् ।
स एव तं विजानाति मया वक्तुं न शक्यते ११४

अर्थ—तथा तिसकालमें योगीको परम आनंदका अनुभव होवेहै तिस आनंदको सो योगी आपही जानताहै मैं तिस आनंदका कथन नहि करसकता हुं इति ॥ ११४ ॥

नैव तं विषयासक्ता विदुर्नो शास्त्रचिंतकाः ।
योगजं परमानंदं योगिनोऽनुभवंति यम् ११५

अर्थ—तिस आनंदको विषयासक्त पुरुष जान नहि सकते हैं तथा केवल शास्त्रोंके पठनपाठन करनेवाले पंडित लोकभी नहि जान सकते हैं जिस आनंदका समाधिकालमें योगीलोक अनुभव करते हैं इति ११५

मुहूर्तार्धं मुहूर्तं वा स्थित्वा मूर्धनि योगवित् ।
ततोऽवतारयेत्प्राणं सुषुम्नापूर्वमार्गतः ॥ ११६ ॥

अर्थ—उक्तरीतिसे प्राणोंको ब्रह्मरंध्रमें चढायकरके तहां एक घटिका अथवा दो घटिका ठहरायकरके फिर योगविद्याके जाननेवाला योगी सुषुम्नाके पूर्वमार्गसे प्राणोंको धीरेधीरे नीचे उतारलेवे इति॥११६॥

स्थापयेच्च यथास्थानं स्वदेहे तं विचक्षणः ।
शनैरेव समुत्थाय विश्रांतोऽथ सुखं चरेत् ११७

अर्थ—और फिर चतुरपुरुष अपने शरीरमें क्रमसे सर्व अंगोंमें मनसे प्राणोंको स्थापन करे पीछे धीरेसे आसनसे उठकर थोडी देर आरामकरके पश्चात् मरजीमुजब चले फिरे इति ॥ ११७ ॥

कुंभकाभ्यासतो नित्यं ध्यानयोगाच्च मूर्धनि ।
स्थितिं संवर्धयेद्योगी समाधिः स्याद्यथा चिरम्

अर्थ—केवल कुंभकके विशेष अभ्याससे और ब्रह्म-रंध्रमें ध्यानके बलसे योगी पुरुष मस्तकमें प्राणोंकी स्थितिको वढावे जिससे चिरकालपर्यंत समाधि होसके इति ॥ ११८ ॥

प्राणस्य त्वखिलं कर्म मनोयुक्तं समभ्यसेत् ।
मनसोविकलीभावे प्राणो न स्थिरतां व्रजेत्११९

अर्थ—पूर्वोक्त प्राणके चडाने उतारनेकी सर्व क्रिया मनकी एकाग्रताके साथ करनी चहिये क्योंकि मनके चंचल होनेसे प्राणकी स्थिरता नहि होसके है इति ॥ ११९ ॥

अथ प्रत्याहारः ।

प्रत्याहारमथो वक्ष्ये यथोक्तं मुनिपुंगवैः ।
साधनाद्यस्य योगीन्द्रो निर्विघ्नं सिद्धिमृच्छति॥

अर्थ—अब योगका पांचवा अंग जो प्रत्याहार है तिसको पूर्वके मुनिलोकोंके कथनके अनुसार वर्णन करते हैं जिस प्रत्याहारके साधन करनेसे योगीपुरुष निर्विघ्न योगसिद्धिको प्राप्त होवे है इति ॥ १२० ॥

इन्द्रियाणि चरंतीह विषयेषु स्वभावतः ।
यत्नादाहरणं तेषां प्रत्याहारो निगद्यते ॥१२१॥

अर्थ—श्रोत्रादिक इन्द्रियां शब्दादिक विषयोंमें स्वभावसेही विचरती हैं तिनको यत्नसे जो विषयोंकी तरफसे निवृत्त करना है सो प्रत्याहार कहिये है इति ॥ १२१ ॥

इन्द्रियाण्यवशीकृत्य यस्तु योगं समभ्यसेत् ।
भिन्नभांडांबुवत्तस्य योगः क्षरति संततम्१२२

अर्थ—इन्द्रियोंको नहि जीतकरके जो पुरुष योगका अभ्यास करताहै तिसका फूटेहुये घडेसे जलकी न्यांई योग निरंतर क्षरता जावे है इति ॥ १२२ ॥

विषयेषु समासक्तो न योगं कर्तुमर्हति ।
तस्माद्विषयसंत्यागो योगिनां परमो हितः १२३

अर्थ—विषयोंमें फसाहुया पुरुष योगाभ्यासको ठीक नहि करसकता है यातें योगी लोकोंको विषयोंका परित्याग करना परम हितकारक है ॥ १२३ ॥

तस्मात्सर्वमनाहृत्य योगोपकरणं विना ।
निःसंगो निर्जनस्थाने योगमेव सदाऽभ्यसेत् ॥

अर्थ—यातें योगीको चहिये कि योगाभ्यासकी उपयोगी वस्तुवोंके सिवाय और सर्व पदार्थोंका परित्याग करके सर्वसे असंग होकर एकांतस्थानमें सर्वदाकाल केवल योगकाही अभ्यास करे इति ॥ १३१ ॥

शब्दादिविषया लोके सुलभाः सर्वयोनिषु ।
दुर्लभं मानुषं देहं मत्वाऽऽसक्तिं न कारयेत् १३२

अर्थ—क्योंकी शब्दस्पर्शादिक जो विषय हैं सो तो पशु, पक्षिआदिक सर्व योनियोंमें सुलभ हैं परंतु यह मनुष्यका शरीर मिलना जीवको बडा दुर्लभ है यातें ऐसा समझकरके विषयोंमें आसक्ति नहि करनी चहिये इति ॥ १३२ ॥

घृतासेकाद्यथा वह्नेर्ज्वाला भूयोभिवर्धते ।
विषयासेवनाज्जंतोस्तथा तृष्णाभिवर्धते ॥१३३

अर्थ—जैसे घृतकी आहुती डालनेसे अग्निकी ज्वाला पुनः पुनः बढती जावे है तैसेही विषयोंके सेवन करनेसे जीवकी नित्यंप्रति तृष्णा अधिक अधिक बढती है इति ॥ १३३ ॥

जितं तेन जगत्सर्वं येनेन्द्रियगणो जितः ।
इन्द्रियाणां वशो यस्मादेतद्विश्वमशेषतः ॥१३४

अर्थ—अब प्रत्याहारका फल कहते हैं कि जिस पुरुषने अपनी इन्द्रियां जीती हैं तिसने मानो सारा जगत्ही जीत लिया है क्यों कि संपूर्ण जगत् इन इन्द्रियोंकेही वशीभूत होय रहा है इति ॥ १३४ ॥

जितेन्द्रियस्य चेतस्तु स्वतः शांतं प्रजायते ।
तेन सिद्धिर्हि योगस्य शीघ्रं भवति निश्चितम् ॥

अर्थ—तथा जितेन्द्रियपुरुषका चित्तभी स्वतः हि शांत होय जावे है और चित्तके शांत होनेसे शीघ्रही योगकी सिद्धि होवे है इति ॥ १३५ ॥

तस्मादिन्द्रियवर्गस्य प्रत्याहारं प्रयत्नतः ।
कृत्वा धीरमना योगी भवेदभ्यासतत्परः १३६

अर्थ—यातें धैर्ययुक्तमनवाले योगीको प्रयत्नसे सर्व इन्द्रियोंको विषयोंसे निवृत्त करके निरंतरही योगाभ्यासमें तत्पर होना योग्य है इति ॥ १३६ ॥

अथ धारणा

धारणायाः स्वरूपं तु सम्यगत्र निरूप्यते ।
यस्यास्त्वभ्यासतो योगी सर्वसिद्धीश्वरो भवेत्

अर्थ—अब योगका छटा अंग जो धारणा है ति-

सका भलीप्रकारसे स्वरूप निरूपण करते हैं जिस धारणाके अभ्याससे योगी अणिमादिक सर्वसिद्धियोंका अधिपति होवे है इति ॥ १३७ ॥

सर्वतो विनियम्यैकदेशे चित्तस्य बंधनम् ।
पुनः पुनः प्रयत्नेन धारणा सा निगद्यते ॥ १३८

अर्थ—संसारके सर्व बाह्यपदार्थोंसे रोककरके चित्तको किसी एकस्थानमें वारंवार प्रयत्नसे जो निरोध करना है सो धारणा कहिये इति ॥ १३८ ॥

देशा बहुविधाः प्रोक्ता धारणाया मुनीश्वरैः ।
स्वशरीरे तथा बाह्यपदार्थेषु यथारुचि ॥१३९॥

अर्थ—तिस धारणा करनेके स्थान पूर्वके मुनिलोकोंने बहुत प्रकारके कथन किये हैं सो अपने शरीरमें तथा बाहिरके पदार्थोंमें जहां चित्तकी रुचि होवे तहांही धारणा करे इति ॥ १३९ ॥

भ्रुवोर्मध्ये च नासाग्रे नाभौ वा हृदयांबुजे ।
शरीरे धारणां कुर्यादेकांते सुसमाहितः ॥१४०

अर्थ—दोनों भ्रुवोंका मध्यभाग नासिकाका अग्रभाग नाभिचक्र और हृदयकमल इन स्थानोंमेंसे किसी एक स्थानमें एकांत बैठकर स्थिरचित्तसे अपने शरीरमें धारणा करनी चहिये इति ॥ १४० ॥

चंद्रे ध्रुवादितारासु गिरिशृंगेऽथवा तरौ ।
देवताप्रतिमायां वा बहिश्चित्तं विधारयेत्॥१४१

अर्थ—चंद्रमंडलमें ध्रुवादिक किसी ताराओंमें अथवा पर्वतके शिखरपर वा वृक्षकी शाखापर वा देवताकी प्रतिमामें इन स्थानोंमें किसी एक स्थानमें दृष्टि जमाकर शरीरके बाहिर चित्तको धारणा करे इति ॥ १४१ ॥

धारणां कुर्वतश्चित्तं चलं गच्छेद्यतो यतः ।
ततस्ततो नियम्याशु धारणादेशमानयेत्१४२॥

अर्थ—धारणा करने कालमें स्वभावसे चंचल जो चित्त है सो जहां जहां पदार्थोंमें जावे तहांतहांसे निरोध करके तिसको धारणाके स्थानमें लाना चहिये इति ॥ १४२ ॥

यततो योगिनश्चैवं यदा स्याद्धारणा दृढा ।
कर्मबंधाद्विनिर्मुक्तो भवेत्सिद्धस्तदा ध्रुवम्१४३

अर्थ—इसप्रकार यत्न करतेहूये योगीकी जिसकालमें धारणा दृढ हो जावे है तो तिसकालमें सो सर्वकर्मोंके बंधनोंसे रहित भया निश्चयकरके सिद्धभावको प्राप्त होवे है इति ॥ १४३ ॥

नासाग्रे हृदयाम्भोज भ्रूमध्ये च विशेषतः ।
कुर्वाणोधारणांयोगी ज्योतिःपश्यति चिन्मयम्

अर्थ—नासाके अग्रभागमें और हृदयकमलमें तथा विशेषकरके भ्रूमध्यमें धारणा करनेसे योगीको चिन्मय ब्रह्म ज्योतिका दर्शन होवे है इति ॥ १४४ ॥

नाभिचक्रे यदा कुर्याद्धारणां योगविद्यदि ।
शरीराभ्यन्तरे सर्वं संस्थानं तु विलोकयेत् १४५

अर्थ—तथा जिसकालमें योगीपुरुष नाभिचक्रमें धारणा करता है तो तिसकालमें अपने शरीरके अंदरकी सर्व रचनाको प्रत्यक्ष देख लेवे है इति ॥१४५॥

यदा तु धारयेद्योगी चित्तमादित्यमंडले ।
तस्य सर्वं भवेन्नूनं त्रैलोक्यं दृष्टिगोचरम् १४६

अर्थ—तथा जब सूर्यमंडलमें योगी चित्तकी धारणा करता है तो तिसको तीनों लोकोंके सर्व पदार्थ देखनेमें आते हैं इति ॥ १४६ ॥

धारणां कुर्वतश्चंद्रमंडले योगिनोऽखिलम् ।
नक्षत्राणामवस्थानं क्षिप्रं प्रत्यक्षतामियात् १४७

अर्थ—और जब चंद्रमंडलमें योगी धारणा करे है तो तिसको सर्व नक्षत्रोंकी भिन्नभिन्न स्थितिका शीघ्रही प्रत्यक्ष ज्ञान होवे है इति ॥ १४७ ॥

तारकाणां गतिं सर्वां ध्रुवे कुर्वँस्तु धारणाम् ।
सम्यग्योगी विजानीयादचिरं स्थिरमानसः१४८

अर्थ—तथा जब ध्रुवतारामें योगी धारणा करता है तो सर्वतारागणोंकी भिन्नभिन्न गतिको शीघ्रही भली-प्रकारसे जान लेवे है इति ॥ १४८ ॥

वृक्षाग्रे पर्वताग्रे वा धारणां कुर्वतः सदा ।
भवेदाकाशगामित्वं सूक्ष्मदेहेन योगिनः॥१४९

अर्थ—तथा जब वृक्षकी शाखामें या पर्वतके शिखिरमें योगी धारणा करता है तो स्थूलशरीरसे बाहिर निकल कर सूक्ष्म शरीरकरके आकाशमें गमन कर जावेहै इति ॥ १४९ ॥

पृथिव्यां धारणां कृत्वा योगी तन्मयतां गतः ।
निधिं पश्यति दूरस्थं पातालं स्वेच्छया व्रजेत् ५०

अर्थ—तथा जब पृथिवीमें अचल धारणा करके योगी तन्मयभावको प्राप्त होजावे है तो जमीनमें दूर गडेहूये धनको देखता है तथा अपनी इच्छासे पातालमें भी चला जावे है अर्थात् उसको पृथिवी मार्ग दे देती है इति ॥ १५० ॥

जले जलमयीं कुर्याद्धारणां योगविद्यदि ।
जलस्तंभो भवेत्तस्य मीनवत्सलिले चरेत् १५१

अर्थ—तथा जब जलमें जलमयरूपसे योगी धारणा करताहै तो उसको जलके स्तंभन करनेकी शक्ति

होजावे है सो जैसे मीन कच्छपादिक जलके जंतु जलमें रहते हैं तैसेही सो योगीभी जलमें विचरने लगता है इति ॥ १५१ ॥

वह्निधारणया योगी नाग्निना दह्यते क्वचित् ।
स्वदेहमथवा दग्ध्वा सूक्ष्मदेहेन वै चरेत् ॥१५२॥

अर्थ—तथा जब योगी अग्निकी तन्मय धारणा करता है तो उसके शरीरको कबी अग्नि जलाय नहि सकता है अथवा उसकी इच्छा होवे तो अपने स्थूल शरीरको भसकरके सूक्ष्म शरीरसे विचरता है इति ॥ १५२ ॥

वायुधारणया योगी वायुवद्व्योमगो भवेत् ।
सूक्ष्मरंध्रेषु सर्वत्र प्रविशेदविरोधतः ॥ १५३ ॥

अर्थ—और जब योगी वायुकी तन्मय धारणा करता है तो वायुके समान आकाशमें चला जावे है तथा सर्वजगा सूक्ष्म छिद्रोंमें रोकटोकके विनाही प्रवेश करजावे है इति ॥ १५३ ॥

व्योमधारणया तद्वद्व्योमवद्व्यापको भवेत् ।
सर्वमात्मन्यवेक्षेत जगदेतच्चराचरम् ॥ १५४ ॥

अर्थ—तथा तैसेही आकाशकी तन्मयरूपसे धारणा करनेसे योगी आकाशकी न्याईं सर्वजगा व्यापक होजा-

वेहैं तथा सर्व चराचर जगत्‌को अपने आपमें देखता है इति ॥ १५४ ॥

विषया धारणायास्तु सत्यन्येपि सहस्रशः ।
स्वयंबुद्ध्या विजानीयाद्यथाकार्यं यथाक्रमम् ५५

अर्थ—इसीप्रकारसे औरभी धारणा करनेके हजारों स्थान हैं परंतु जहां जैसा कार्य होवे और जिसक्रमसे धारणा करनी होवे सो योगी पुरुषको तिस कालमें स्वयं अपनी बुद्धिसे विचारके धारणा करलेनी चहिये इति ॥ १५५ ॥

योगिनां क्षीणपापानां नित्यमेकांतवासिनाम्
युक्ताहारविहाराणां सिद्धा भवति धारणा१५६

अर्थ—जिन योगीपुरुषोंके सर्व पाप क्षीण होजाते हैं और जो सर्वदाकाल एकांतस्थानमें निवास करते हैं तथा जिनका खानपानादिक व्यवहार योगाभ्यासके सर्वथा अनुकूल युक्तिपूर्वक होता है तिनको ही उक्त धारणाकी सिद्धि होवे है इति ॥ १५६ ॥

अथ ध्यानम्

अथ ध्यानं प्रवक्ष्यामि मुक्तिसाधनमुत्तमम् ।
यत्कृत्वा न पुनर्जंतुर्जातु मातुः स्तनं पिबेत्१५७

अर्थ—अब योगका सप्तम अंग जो ध्यान है ति-

सका निरूपण करतेहैं सो ध्यानही जीवकी मुक्तिका परम श्रेष्ठ साधन है जिस ध्यानके करनेसे यह जीव फिर कबी माताके स्तनको पान नहिं करता अर्थात् जन्ममरणसे छूट जाताहै इति ॥ १५७ ॥

सगुणं निर्गुणं चैव द्विधा ध्यानं प्रकीर्तितम् ।
सगुणं व्यक्तियुक्तं स्यादव्यक्तं निर्गुणं भवेत् ॥

अर्थ—सो ध्यान सगुण और निर्गुणभेदसे दोप्रकारका योगीलोकोंनें कथन किया है तिनमें व्यक्तियुक्तध्यानको सगुण कहते हैं और अव्यक्तध्यानको निर्गुण कहते हैं इति ॥ १५८ ॥

स्वकीयहृदयांभोजे दलैर्द्वादशभिर्युते ।
चिंतयेत्सुस्थिरो भूत्वा संपूर्णं चंद्रमंडलम्॥१५९

अर्थ—अब प्रथम सगुणध्यान निरूपण करते हैं प्रथम अपने हृदयमें द्वादशदल कमलका ध्यान करके तिसके बीचमें स्थिर चित्त होकर संपूर्ण चंद्रमंडलका चिंतन करे इति ॥ १५९ ॥

तन्मध्ये संस्मरेद्योगी स्वर्णसिंहासनं महत् ।
रत्नैर्नानाविधैर्युक्तं कोमलास्तरणान्वितम्॥१६०

अर्थ—फिर तिस चंद्रमंडलके बीचमें नानाप्रका-

रके रत्नोंसें जडित और कोमल बिछोनेयुक्त सुवर्णके सिंहासनका चिंतन करे इति ॥ १६० ॥

तस्योपरि समासीनं सूर्यकोटिसमप्रभम् ।
नारायणं चतुर्बाहुं शंखचक्रगदाधरम् ॥ १६१ ॥
शरदाकाशसंकाशं पीतवाससमच्युतम् ।
वनमालालसत्कंठं मकराकारकुंडलम् ॥ १६२ ॥
मणिमेखलया युक्तं किरीटोज्ज्वलमस्तकम् ।
प्रसन्नवदनं देवं सर्वकामवरप्रदम् ॥ १६३ ॥
सार्वज्ञ्यादिगुणोपेतं विष्णुमव्ययमीश्वरम् ।
ध्यायेदनन्यधीरेवमापादतलमस्तकम् ॥ १६४ ॥

अर्थ—तिस सिंहासनके ऊपर श्रीविष्णु भगवान् विराजमान हैं कोटिसूर्यके समान जिनके शरीरकी प्रभा है चार भुजोंमें शंख चक्र गदा पद्म धारण कियेहूये हैं शरदृतुके आकाशके समान जिनके शरीरका स्वच्छ नीलरंग है पीतांबर पहरे हूये वनमाला और कौस्तुभ-मणि कंठमें शोभायमान है मकरके आकारवाले कुंडल कानोंमें धारण कियेहैं कमरमें मणियोंकी तडागी और मस्तकपर रत्नजडित मुकुट प्रकाशवान् है मंदमंद हसता हूया प्रसन्न मुख है और सर्व मनोवांछित कामना तथा वरोंके देनेहारे हैं सर्व जगत्के ईश्वर अविनाशी

स्वरूप और सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्त्वादि गुणोंकरके युक्त हैं इस प्रकारके एकाग्र चित्त होकर चरणोंसे लेकर मस्तकपर्यंत विष्णुपरमात्माका अभेदभावनासे ध्यान करे इति ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

अथवा चिंतयेद्योगी शिवं तत्र समाहितः ।
कोटिचंद्रप्रतीकाशं कर्पूरोज्ज्वलकांतिकम् १६५
भस्मभूषितसर्वांगं नागालंकृतविग्रहम् ।
व्याघ्रचर्मपरीतांगं जटामंडितमस्तकम् ॥१६६॥
चतुर्भुजं प्रसन्नास्यं चंद्रभालं त्रिलोचनम् ।
मृगशूलवराभीतिकरं सर्वज्ञमीश्वरम् ॥ १६७ ॥
गंगावारिलसत्केशं कुंडलोज्ज्वलकर्णकम् ।
ध्यायेद्देवं स्थिरो भूत्वा सर्वांगं सर्वकामदम्१६८

अर्थ—अथवा जो योगीको शिवजीकी भक्ति इष्ट होवे तो हृदयकमलमें पूर्वोक्त सिंहासनके ऊपर स्थिर चित्त होकर शिवजीका ध्यान करे जैसे कि तिस सिंहासनके ऊपर श्रीशंकर विराजमान हैं कोटिचंद्रमाके समान जिनका तेज है कर्पूरके समान निर्मल श्वेत जिनके शरीरका वर्ण है सर्वअंगोंमें भस्म धारण करी है कमर भुजा तथा गलेमे नागोंकें भूषणोंसे शरीर शोभायमान होय रहा है व्याघ्रचर्मका वस्त्र पहरे हूये हैं

शिरपर जटाजूट शोभा देरहा है चार भुजा प्रसन्नवदन मस्तकमें चंद्रमा और तीन नेत्र हैं चारि हाथोंमें मृग त्रिशूल वरदान और अभयदान धारण किये हैं तथा शिरकी जटामें गंगाजलकी धारा चल रही है कानोंमें कुंडल शोभायमान होय रहे हैं सर्वज्ञ सर्वजगत्के ईश्वर और सर्वकामनायोंके देनेहारे हैं इसप्रकारसे स्थिर चित्त होयकर चरणसे लेकर मस्तकपर्यंत सर्वांग संपूर्ण शिवजीका ध्यान करना चहिये इति ॥ ६५ ॥ ६६ ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

सगुणं ध्यानमित्येतद्विष्णोश्चैव शिवस्य वा।
कृत्वायोगी भवेद्विष्णोःशिवस्यापि समःस्वयम्

अर्थ—यह जो विष्णुभगवान् और शिवजीका सगुण ध्यान कथन कियाहै इसके करनेसे योगी आप भी विष्णु अथवा शिवके समान हो जावे है इति ॥ १६९

पुष्पसंयोगतस्तैले यथा गंधः प्रवर्तते।
योगिदेहे तथा ध्यानाज्जायते गुणसंक्रमः॥१७०

अर्थ—फूलोंके संयोगसे जैसे तेलमें सुगंध प्रवेश कर जावे है तैसेही विष्णु अथवा शिवका ध्यान करनेसे उनके सर्वज्ञादि गुणोंका योगीके शरीरमेंभी प्रवेश होवे है इति ॥ १७० ॥

सर्वज्ञः सत्यसंकल्पः सर्वशक्तिसमन्वितः।
जीवन्मुक्तश्चरेद्योगी सायुज्यं चांततो व्रजेत् ७१

अर्थ—सो ध्यानकी परिपक्कतासे सर्वज्ञ सत्यसंकल्प सर्वशक्तिमान् और जीवन्मुक्त भया योगी विचरता है तथा शरीरके अंतकालके अनंतर विष्णुलोक अथवा शिवलोकमें सायुज्य मुक्तिको प्राप्त होवे है इति॥१७१॥

अथ निर्गुणध्यानम्

पद्मासने स्थितो योगी स्थिरकायः समाहितः।
निमील्यनयने पश्येद्भ्रुवोर्मध्यं सदाधिया१७२

अर्थ—पद्मासनमें बैठकर शरीरको स्थिर रखकरके और चित्तको एकाग्रकरके दोनों नेत्रोंको बंद करके अंदरसे मनकी वृत्तिरूप दृष्टिसे दोनों भ्रुवोंके मध्यभागमें निरंतर देखना चहिये इति ॥ १७२ ॥

दृश्यते प्रथमाभ्यासे नभः कृष्णं तु केवलम्।
ततस्तारानिभं तेजो दृश्यते तु कदाकदा।१७३।

अर्थ—प्रथम अभ्यासकालमें केवल काले रंगका आकाश देखनेमें आता है और पीछे कुछदिनोंके बाद् ताराके समान कबीकबी तेज नजरमें आता है इति ॥ १७३ ॥

नानावर्णयुतं पश्चाद्स्थिरं दृष्टिगं भवेत्।
ततोऽर्धचंद्रसंकाशं शून्यचक्रसमं ततः॥१७४॥

अर्थ—तिसके पीछे नानाप्रकारके रंगोंसे युक्त चंचल तेज दृष्टिमें आवे है अर्थात् तिस कालमें जो तत्त्व शरीरमें चलता होवे उसी तत्त्वका रंग तेजमें दीखता है और तिसके बाद अर्धचंद्राकार ज्योति नजरमें आवे है तिसके अनंतर चारों तरफ तेज और बीचसे खाली चक्रके समान देखनेमें आवे है इति ॥ १७४ ॥

पूर्णचक्रसमं पश्चात् सूर्यमंडलसंनिभम् ।
दृश्यते परमं ज्योतिर्ब्रह्मभूतं निरामयम् १७५॥

अर्थ—तिसके पीछे कुछ दिन अभ्यास बढनेसे पूर्णचक्रके आकार तेज नजर आवे है और तिसके पीछे साक्षात् सूर्यमंडलके समान ब्रह्मरूप परमानंदमय ज्योति देखनेमें आवे है इति ॥ १७५ ॥

परमानंदसंदोहमज्ञानध्वांतनाशनम् ।
योगिनो मनसस्तुष्टिकरं क्लेशहरं परम् ॥१७६॥

अर्थ—सो ब्रह्ममय ज्योति परमानंदके देनेवाला अज्ञानरूप अंधेरेको नाश करनेवाला और सर्वक्लेशोंके दूर करनेवाला योगीके मनको परम संतोष करता है इति ॥ १७६ ॥

क्षणं दृष्टिगतं भूत्वा पुनस्तत्प्रविलीयते ।
ततोऽभ्यासे दृढीभूते स्थिरं भवति कालतः१७७

अर्थ—और सो तेज क्षणमात्र दृष्टिगोचर होकरके फिर शीघ्रही लीन हो जावेहै और फिर अभ्यासके दृढ होजानेसे सो तेज दृष्टिके आगे स्थिर होजाता है इति ॥ १७७ ॥

दिनानुदिनमित्येवं निर्विघ्नाभ्यासतो दृढम् ।
क्रमाद्विस्तारमायाति तज्ज्योतिः परमं महत् ॥

अर्थ—उक्तप्रकारके दिनदिन निर्विघ्न अभ्यासके बढनेसे सो परम महान् ज्योति क्रमसे विस्तारको प्राप्त होता जाता है इति ॥ १७८ ॥

आदौ गृहगतं सर्वं वस्तु ध्याने निरीक्ष्यते ।
ततो बाह्यं ततो दूरं ततो दूरतरं पुनः ॥ १७९ ॥

अर्थ—जब दीर्घकालसे ध्यानसे सो तेज विस्तारको प्राप्त होने लगता है तो पहले अपने घरके अंदरकी पडीहुई वस्तु सब देखनेमें आतीहैं और फिर बाहिरकी वस्तु नजर आती हैं और पीछे दूरकी वस्तु देखनेमें आतीहैं तथा तिसके पीछे बहुत योजन दूरके पदार्थ देखनेमें आते हैं इति ॥ १७९ ॥

नानावनानि रम्याणि निर्मलानि सरांसि च ।
समीपस्थानि दृश्यंते गिरीणां शिखराणि च ॥

अर्थ—तथा नानाप्रकारके दूरके रमणीय वन और

निर्मल सरोवर तथा हिमालयादि पर्वतोंके शिखर अपने समीपस्थितकी न्याई देखनेमें आते हैं इति १८०

सिद्धा महर्षयश्चैव दृश्यंतेऽबरचारिणः ।
तारकामंडलं सर्वं देवतायतनानि च ॥ १८१ ॥

अर्थ—तथा आकाशमें विचरनेवाले सिद्धलोक और महर्षिलोक तथा सर्व ताराओंका मंडल और देवतायोंके स्थान समीप देखनेमें आतेहैं इति ॥१८१॥

एवं क्रमेण कालेन योगिनोऽभ्यासयोगतः ।
दिव्या दृष्टिर्भवत्येव त्रैलोक्यालोकने क्षमा १८२

अर्थ—इसप्रकारसे शनैः शनैः क्रमसे दीर्घकालके अभ्यासयोगसे योगीको तीनों लोकोंके देखनेवाली दिव्यदृष्टि होजाती है इति ॥ १८२ ॥

स्वयं ज्योतिर्मयो भूत्वा योगी तद्गतमानसः ।
ब्रह्मण्येव लयं याति परे ज्योतिःस्वरूपिणि १८३

अर्थ—तथा सो योगी तिस ज्योतिके ध्यानकी तत्परायणतासे आपभी ज्योतिःस्वरूप हुया परम ज्योतिःस्वरूप ब्रह्ममें लयको प्राप्त होवे है इति ॥ १८३ ॥

अथ समाधिः

समाधिमधुना वक्ष्ये भवपाशनिकृंतनम् ।
समाधानं हि चित्तस्य समाधिं मुनयो विदुः१८४

अर्थ—अब योगका आठवां अंग जो समाधि है तिसको कथन करते हैं चित्तका जो समाधान अर्थात् स्थिर शांत अवस्था है तिसको मुनिलोक समाधि कहते हैं इति ॥ १८४ ॥

समाधिर्हठयोगेन राजयोगेन वा भवेत् ।
द्विविधोपि विधिस्तस्य सम्यगत्र निरूप्यते १८५

अर्थ—सो समाधि हठयोगद्वारा तथा राजयोगद्वारा दोप्रकारसे होवे है सो उसकी दोनों प्रकारकी विधिको यहां भली प्रकारसे निरूपण करते हैं इति ॥ १८५ ॥

गुदमेढ्रांतरे वामपादपार्ष्णि नियोजयेत् ।
सीवनीमध्यभागे तु संस्थितः कोमलासने १८६

अर्थ—तिन दोनोंमें प्रथम हठयोग समाधिकीविधि कथन करते हैं गुदा और लिंगके बीचमें सीवनीके मध्यभागमें अर्थात् दोअंगुल गुदाकी तरफ और दो-अंगुल लिंगकी तरफ छोडकरके बराबर मध्यभागमें बायें पैरकी एडीको भलीप्रकारसे जमायकर पूर्वोक्त-सिद्धासनकी विधिसे रुईकी गद्दी आदिक कोमला-सनपर बैठे इति ॥ १८६ ॥

सीवनीपार्ष्णिसंबंधं दृढं कुर्यात्तथाऽचलम् ।
तस्मिँस्तु शिथिलेऽपानः सम्यगूर्ध्वं न गच्छति॥

अर्थ—सीवनी और एडीके संबंधको दृढ और अचल करके बैठना चहिये क्योंकि एडीके शिथिल होनेसे अथवा चलायमान होनेसे अपानकी गति ऊपरकी तरफ ठीकठीक नहि होती है इति ॥ १८७ ॥

सरलं मेरुदंडं च जिह्वाग्रं दंतमध्यगम् ।
कृत्वा ध्यानं ततःकुर्यात् भ्रूमध्ये स्थिरमानसः ।

अर्थ—और पृष्ठके मेरुदंडको सीधा रखकर तथा जिव्हाके अग्रभागको अगले दांतोंमें थोडासा दबाकर दोनों भ्रुवोंके मध्यमें स्थिर चित्तसे ध्यान करे इति ॥ १८८ ॥

अनेनापानवायुस्तु व्रजेदूर्ध्वं न संशयः ।
निबद्धो मूलबंधेन नीचैर्गतिनिरोधतः ॥ १८९ ॥

अर्थ—इसप्रकार मूलबंधसे रुकाहुया नीचेकी गतिके निरोध होनेसे अपान वायु धीरेधीरे उलटकर ऊपरकी तरफको चढने लगता है इति ॥ १८९ ॥

मूलाधारात्समुत्थाय स्वाधिष्ठानालयं व्रजेत् ।
शनैरभ्यासयोगेन तस्मादुपरि गच्छति॥१९०॥

अर्थ—सो अपानवायु प्रथम मूलाधारचक्रसे उठकरके स्वाधिष्ठानचक्रमें आता है और तहांसे धीरेधीरे

अभ्यासके बलसे स्वाधिष्ठानचक्रको भेदन करके ऊपरको चडता है इति ॥ १९० ॥

नाभिचक्रसमीपे तु संभूय परितः शनैः ।
कुंडलीं बोधयित्वाथ क्रमादूर्ध्वं प्रधावति १९१॥

अर्थ—और फिर नाभिचक्रके नीचे सर्वतरफसे एकठा होवे है तथा पीछे कुंडलिनी शक्तिको जगाय करके शनैः शनैः क्रमसे ऊपरको चडता है इति ॥१९१॥

ततः कतिपयैरेवं दिनैर्नाभिं विलंघ्य वै ।
हृदयं कंठदेशं च समायाति समीरणः ॥१९२॥

अर्थ—तिसके अनंतर कितनेक दिनोंमें अभ्यास करनेसे सो अपानवायु नाभिचक्रको उल्लंघन करके ऊपर हृदयचक्रमें आवे है और तिसके पीछे कुछदिनोंमें कंठचक्रमें आवे है इति ॥ १९२ ॥

ततो बुद्ध्या नयेदूर्ध्वं भ्रूमध्यं योगवित्तमः ।
ब्रह्मरंध्रं ततो नीत्वा तत्रैव स्थिरतां नयेत् १९३

अर्थ—इसप्रकार मूलबंधके अभ्याससे जब सो अपानवायु प्राणको साध लेता हूया कंठमें आय जावे तो फिर वहांसे योगविद्याके जाननेवाला योगी ध्यानसे तिसको भ्रूमध्यमें लेजावे तथा फिर भ्रूमध्यसे ध्यानसे ऊपर ब्रह्मरंध्रमें लेजायकर तहां ब्रह्मरंध्रमें धारणकरके प्राणको स्थिर करदेवे इति ॥ १९३ ॥

स्थित्वा तत्र यथाशक्ति भ्रूमध्यं पुनरानयेत् ।
प्राणं प्रवेशयेद्देहे क्रमादवतरन् सुधीः ॥ १९४ ॥

अर्थ—और यथाशक्ति ब्रह्मरंध्रमें प्राणोंको स्थिरकरके फिर भ्रूमध्यमें ध्यानकरके धीरेधीरे प्राणोंको नीचे उतारलेवे और फिर भ्रूमध्यसे कंठमें कंठसे हृदयमें हृदयसे नाभिमें और नाभिसे आधार चक्रमें क्रमसे उतारकरके सर्वशरीरमें जहांका तहां प्राणोंको प्रवेश करके स्थापन करदेवे इति ॥ १९४ ॥

एवं कुर्यात्सदाभ्यासं प्रतिदिनमतंद्रितः ।
यथा मूर्धनि प्राणस्य सर्वस्यारोहणं भवेत् ॥ १९५

अर्थ—इसप्रकार उक्तरीतिसे मूलबंधद्वारा निरालस होकर नित्यही प्राणोंके चडानेका अभ्यास करना चहिये कि जिससे सर्वशरीरका प्राण खिंचकर ऊपर मस्तकमें चडजावे इति ॥ १९५ ॥

अन्नाहारं परित्यज्य केवलं दुग्धभुग्भवेत् ।
शरीरलघुताभावे प्राणाकृष्टिर्न जायते ॥ १९६ ॥

अर्थ—इस प्राण चडानेके अभ्यास कालमें अन्नव्यंजनादि भोजनका परित्याग करके योगीपुरुषको केवल दूधकाही पान करना चहिये क्योंकि अन्नका भोजन करनेसे शरीरके हलके नहि होनेसे सर्वशरीरसे

प्राणोंका आकर्षण भलीप्रकारसे नहि होय सके है इति ॥ १९६ ॥

प्राणस्यारोहणे तत्र चतस्रो गतयः क्रमात् ।
भवंति योगिनो देहे नित्यमभ्यासयोगतः १९७

अर्थ—उक्तरीतिसें नित्य अभ्यास करनेसे प्राणके ऊपर चडनेकालमें योगीके शरीरमें चारप्रकारकी प्राणकी क्रमसे गति अर्थात् चाल होवे है इति ॥१९७॥

पिपीलिकासमा पूर्वं ततो दर्दुरसंनिभा ।
गतिः सर्पोपमा पश्चाद्धंसस्य तदनंतरम् ॥१९८॥

अर्थ—प्रथम अभ्यासमें कीडीकी चाल जैसी प्राणोंकी ऊपरको गति होवे है और फिर कुछदिनोंमें मेडक जैसी गति होवे है अर्थात् जैसे मेडक कूद कूद कर चलता है तैसेही प्राण एकचक्रसे दूसरेमें और दूसरेसे तीसरे चक्रमें चडता है तिसके पीछे सर्पकी चालके समान प्राणकी गति होवे है जैसे सर्प लंबा होकर चलता है तैसेही प्राण पादांगुष्ठसे लेकर सर्वचक्रोंसे एकाकार होकर ऊपरको चडता है और तिसके अनंतर हंसकी चालके समान प्राणकी गति होवे है अर्थात् जैसे हंसपक्षी पैर उठाकर चलता है तैसेही प्राण शरीरके नीचेके भागसे उठकर शीघ्रही ऊपर मस्तकमें चढ जाता है ॥ १९८ ॥

यदा हंसगतिः सम्यक् क्रमात्प्राणस्य जायते ।
तदा शरीरात्प्राणस्य सम्यगाकर्षणं भवेत् १९९

अर्थ—जिस कालमें अभ्यासकरके क्रमसे प्राणकी हंसके समान गति होवे है तो तिसकालमें शरीरसे प्राणोंका भलीप्रकारसे ठीक आकर्षण होवे है इति १९९

सर्वांगेभ्यः समाकृष्टो यदा प्राणानिलो व्रजेत् ।
ब्रह्मरंध्रमशेषेण समाधिर्जायते तदा ॥ २०० ॥

अर्थ—जिसकालमें शरीरके सब अंगोंसे खिंचा हूया प्राणवायु संपूर्ण मस्तकमें चडजावे है तो तिसकालमें समाधि हो जावे है इति ॥ २०० ॥

देहः शून्यो भवेत्सर्वो जगद्विस्मरणं भवेत् ।
स्वप्रकाशे परानंदे मनोवृत्तिर्विलीयते ॥ २०१ ॥

अर्थ—तिसकालमें सर्वशरीर प्राणोंसे रहित शून्य होजावे है और सर्व बाह्यप्रपंचका विसरण होजावे है तथा योगीकी मनोवृत्ति स्वयंप्रकाशस्वरूप परमानंदरूप ब्रह्ममें लीन होजावे है इति ॥ २०१ ॥

निमग्नस्तन्मयो भूत्वा तस्मिन्नानंदसागरे ।
दीर्घकाले गते योगी क्षणमात्रं हि मन्यते ॥२०२

अर्थ—तिस आनंदस्वरूप समुद्रमें तन्मय होकर निमग्न भया सो योगी बहुतकाल बीत जानेपरभी एक क्षणमात्र मानता है इति ॥ २०२ ॥

शिष्यो विज्ञातसंकेतो योगिनं बोधयेत्ततः ।
कर्णनादैः शिरस्तालैरुष्णवारिनिषेचनैः ।२०३।

अर्थ—फिर जब समाधि उतारनी होवे तो प्राणोंके उतारनेकी युक्तिके जाननेवाला जो शिष्य पास होवे सो कानोंमें ऊंचे शब्द बोलनेसे किंवा शिरमें हाथकी हथेलीसे थबथबानेसे अथवा शिरमें थोडा गरमजल डालनेसे योगीको समाधिसे जगावे इति ॥ २०३ ॥

शिष्यं विनापि शक्नोति योगी प्राणावरोहणम् ।
स्वयं कर्तुं न संदेहः कालेनाभ्यासपाटवात् २०४

अर्थ—यह समाधिसे प्राणोंका नीचे उतारना दीर्घकालके अभ्यासकी होशियारीसे शिष्यके बिना योगी अपने आपभी करसकता है इति ॥ २०४ ॥

अवतार्य ततो योगी प्राणं संकल्पयोगतः ।
स्थापयित्वा यथास्थानं स्वस्थदेहः सुखं चरेत् ॥

अर्थ—उक्तरीतिसे शिष्यके द्वारा अथवा अपने आप ब्रह्मरंध्रसे संकल्पके बलसे नीचे भ्रूमध्यादि चक्रोंमें ध्यानक्रमसे प्राणोंको नीचे उतारकर तिनको सर्वशरीरमें अपने अपने स्थानमें यथायोग्य स्थित करे जब सर्वशरीर स्वस्थ होजावे तो फिर मरजीसे उठे बैठे आराम करे इति ॥ २०५ ॥

अथवोत्कर्षयेत्प्राणं पूर्वोक्तविधिना सुधीः ।
पश्चिमेनैव मार्गेण नित्यं केवलकुंभकात् ॥२०६

अर्थ—अब दूसरे प्रकारसे हठयोगसमाधिकी विधि कथन करते हैं अथवा पूर्व प्राणायामके प्रकरणमें जो सुषुम्नाके पश्चिममार्ग खोलनेकी विधि कथन करी है उस विधिसे केवल कुंभकका नित्यं प्रति अभ्यास करके पश्चिममार्ग मेरुदंडसे प्राणोंको ऊपर चडावे इति ॥ २०६ ॥

आपूर्य कुंभितो वायुः पृष्ठमार्गेण मस्तकम् ।
अल्पमल्पं व्रजेदादौ पश्चात्पूर्णं प्ररोहति ॥२०७

अर्थ—पश्चिममार्गके अभ्यासमें बाहिरसे पूरक करके कुंभक किया हूया प्राणवायु पहले थोडा थोडा मस्तकमें चडता है और पीछे कुंभकका अभ्यास ठीक हो जानेसे संपूर्ण प्राण ऊपर ब्रह्मरंध्रमें चडजाता है इति ॥ २०७ ॥

यदा तु कुंभिते प्राणे रेचनं नैव जायते ।
तदा पश्चिममार्गेण समाधिर्जायते ध्रुवम्॥२०८

अर्थ—जिसकालमें प्राणके कुंभक करनेसे फिर रेचन नहि होवे है अर्थात् प्राण अंदरका अंदर ही लीन होकर पृष्ठमार्गसे ऊपरको चढजावे है तो तिसकालमें पश्चिममार्गसे समाधि होजावे है इति ॥ २०८ ॥

समाध्यभ्यासतःप्राणो योगिनोवशितामियात्
स यथा प्रेरयत्येनं तत्रैवायाति सत्वरम् ॥२०९॥

अर्थ—इसप्रकार समाधिके दीर्घकाल अभ्यास करनेसे सर्वशरीरका प्राण योगीके वशमें होजाता है और सो योगी जिसकालमें जहां प्राणको लेजाना चाहता है उसी स्थानमें सर्व शरीरका प्राण खिंचकर शीघ्रही चला आता है इति ॥ २०९ ॥

संकल्पानुविधायित्वं यदा प्राणस्य जायते।
तदा विचित्रसामर्थ्यं योगिनो भवति ध्रुवम् ॥

अर्थ—उक्तरीतिसे जिसकालमें सर्व शरीरका प्राण संकल्पका अनुसारी होजावे है तो तिसकालमें निश्चय करके योगीके शरीरमें नानाप्रकारकी विलक्षण सामर्थ्य उत्पन्न होवे है इति ॥ २१० ॥

बहिर्देशे यदा योगी धारणां कुरुते चिरम्।
त्यक्त्वा देहं व्रजेत्प्राणो बहिरेव न संशयः२११॥

अर्थ—जब अपने शरीरसे बाहिर दीपक तारा मणि वृक्ष शाखादि देशमें योगी चिरकालपर्यंत धारणा करता है तो उसकालमें शरीरको छोडकरके प्राण बाहिरही निकल जाता है इति ॥ २११ ॥

कायः शवत्वमायाति योगी वायुसमो भवेत्।
देहबंधाद्विनिर्मुक्तःस्वातंत्र्यं परमं व्रजेत्॥२१२॥

अर्थ—प्राणके बाहिर निकलजानेसे योगीका शरीर मुरदे जैसा होजाता है और सो योगी वायुके समान सूक्ष्म होजावे है तथा देहरूपी बंधनसे मुक्त भया परम स्वतंत्र भावको प्राप्त होवे है इति ॥ २१२ ॥

अणुवत्सूक्ष्मरूपोसौ विचरेद्भुवनत्रये।
इयमेवाणिमा नाम सिद्धिः सिद्धैरुदीरिता२१३

अर्थ—और अणुके समान सूक्ष्मरूप होकर सो योगी तीनों भुवनोंमें विचरता है इसी सूक्ष्म शरीरकी गतिको सिद्धलोक अणिमा सिद्धि कहते हैं इति ॥ २१३ ॥

स्वदेहे परदेहे वा जीविते वा मृतेऽथवा।
यत्रांतर्गंतुमीहेत प्रविशत्यचिरं ध्रुवम् ॥२१४॥

अर्थ—इसप्रकार शरीरसे बाहिर निकलकर योगी फिर अपने शरीरमें अथवा किसी दूसरे शरीरमें जीते हुये शरीरमें अथवा किसी मृतक शरीरमें जहां अंदर प्रवेश करना चाहे उसीमें शीघ्रही निश्चयकरके प्रवेश कर जावे है इति ॥ २१४ ॥

प्रविश्य धनिनां देहे नृपादीनामवारितः।
भुक्त्वा भोगानशेषेण स्वदेहं पुनराविशेत् २१५

अर्थ—अथवा राजाआदिक धनी लोकोंके शरीरमें विनारोकठोकके प्रवेश करके और तिनके सर्वभोगोंको भोग करके फिर अपनी देहमें प्रवेश कर जावे है इति ॥ २१५ ॥

आकाशे दीर्घमध्वानं गत्वा दृष्ट्वा च तद्गतान् ।
पदार्थानखिलाँस्तूर्णं स्वदेहं पुनराविशेत् २१६

अर्थ—अथवा आकाशमें ऊपर बहुत दूर मार्गतक जायकरके और वहां आकाशमें रहनेहारे सर्व पदार्थोंको शीघ्रही देखकरके फिर अपनी देहमें प्रवेश करजावे इति परंतु जातेवक्त अपने शरीरका यथायोग्य बंदोबस्त करके जाना चहिये इति ॥ २१६ ॥

स्वदेहे वृद्धतां याते क्षीणे वा व्याधिसंयुते ।
हित्वा देहं विशेदन्यं कायं वा नवयौवनम् २१७

अर्थ—अथवा जो अपना शरीर बहुत वृद्ध हो गया होय वा अति क्षीण होगया होय अथवा कोई असाध्य रोगकरके पीडित होगया होय तो उस अपने शरीरको छोडकरके दूसरे किसीके नवीन यौवनसंपन्न मृतकशरीरमें प्रवेश करजावे इति ॥ २१७ ॥

जीवन्मुक्तिरियं प्रोक्ता जीवतां बंधहारिणी ।
शास्त्रावलोकनेनैव जीवन्मुक्तो न जायते २१८

अर्थ—इसप्रकार जीतेजीही जो स्थूलशरीरके बंधनसे छूट जाना है तिसीको पूर्वके ऋषिलोकोंने जीवन्मुक्ति कथन करी है क्योंकि वेदांतादि शास्त्रोंके पठनमात्रसे यह पुरुष जीवन्मुक्त नहि होसकता है इति ॥ २१८ ॥

सिद्धयोऽन्याश्च कालेन जायंते स्वयमेव हि ।
योगिनो नित्ययुक्तस्य मुक्तस्य देहबंधनात् २१९

अर्थ—उक्तप्रकारसे अणिमासिद्धि प्राप्त होनेके अनंतर योगाभ्यासमें तत्पर और स्थूल शरीररूपी बंधनसे मुक्त भया जो योगी है तिसको काल पायकरके महिमा लघिमा आदिक दूसरी सिद्धियांभी स्वतः ही प्राप्त होजाती हैं इति ॥ २१९ ॥

अथ राजयोगसमाधिः

राजयोगसमाधेस्तु भेदा बहुविधा मताः ।
तेषु मार्गद्वयं वक्ष्ये सत्वरं योगसिद्धिदम् ॥२२०

अर्थ—इसप्रकार पूर्वोक्तरीतिसे हठयोग विषयक समाधिका निरूपण करके अब राजयोग समाधिका वर्णन करते हैं सो राजयोग समाधिके योगी लोकोंने बहुत प्रकारके भेद कथन किये हैं तिन सर्व भेदोंमेंसे शीघ्रही योगसिद्धिके देनेहारे मुख्य दो प्रकारके मार्ग यहां निरूपण करते हैं इति ॥ २२० ॥

खेचरीमुद्रया वापि नादश्रवणतस्तथा ।
निर्विकल्पसमाधिःस्यात् कालेनाभ्यासयोगतः

अर्थ—खेचरी मुद्राकरके अथवा नाद श्रवण कर-नेसे दीर्घकालके अभ्याससे निर्विकल्प समाधि होवे है इति ॥ २२१ ॥

खेचरीसाधनं तत्र प्रथमं परिकीर्त्यते ।
मुख्या सा सर्वमुद्रासु सेविता योगिपुंगवैः२२२

अर्थ—तिनमें प्रथम खेचरी साधनका प्रकार कथन करते हैं क्योंकि सर्व मुद्रायोंमें खेचरी मुद्रा मुख्य है और श्रेष्ठ योगी पुरुषोंने आदरसे इस मुद्राका सेवन किया है इति ॥ २२२ ॥

जिह्वाधो नाडिका सूक्ष्मा जिह्वांतर्गतिरोधिका।
छेदयेत्तां क्रमाद्धीरःसूक्ष्मशस्त्रेण युक्तितः २२३

अर्थ—जिन्हाके नीचे जो सूक्ष्म नाडी है सो तालु-रंध्रमें जिह्वाके प्रवेश होनेमें प्रतिबंधरूप है इस लिये धैर्यवान् पुरुष प्रथम उस नाडीको सूक्ष्म शस्त्र करके क्रमसे युक्तिपूर्वक छेदन करे इति ॥ २२३ ॥

यावज्जिह्वा परावृत्य संस्पृशेन्नैव घंटिकाम् ।
शिरां संछेदयेत्तावदल्पमल्पं न वै सकृत् २२४

अर्थ—जबतक जिन्हा उलटी लोटकर कंठकी

घंटिकाको स्पर्श न करे तबतक तिस नाडीका छेदन करना चहिये और सो छेदन एकबारही नहि करना किंतु थोडा थोडा करना चहिये इति ॥ २२४ ॥

छेदस्थाने शिवाचूर्णं सैंधवेन समन्वितम् ।
दद्यादल्पं प्रतिच्छेदं व्रणस्तेन प्रपूर्यते ॥ २२५ ॥

अर्थ—छेदन करीहुई नाडीकी जगापर थोडा सेंधा निमकमें हरडका चूर्ण मिलाकर हरएक छेदनके वकत लगाना चहिये इस चूर्णके नित्य दो तीन बार लगानेसे नाडीका चार पांच दिनमें जखम भरजाता है इति ॥ २२५ ॥

व्रणे पूर्णे पुनश्छेदो रोपणं छेदनं पुनः ।
एवंक्रमेण षण्मासात् शिराबंधो विनश्यति २२६

अर्थ—पहलेका व्रण भरजावे तब दूसरा छेदन करना चहिये इसप्रकार क्रमसे छेदन करनेसे छे महीनेके अंदर जिव्हाकी नाडीका बंधन ठीक कटजाता है इति ॥ २२६ ॥

छेदनानंतरं कुर्याच्चालनं दोहनं तथा ।
जिह्वाग्रं करयुग्मेन गृहीत्वा घृतयोगतः ॥२२७॥

अर्थ—पांच छे महीनेमें जब नाडीछेदनका काम पूर्ण होजावे तो पीछे दोनों हाथोंसे जिव्हाके अग्र-

भागको अंगुलियोंसे पकड करके थोडा घृत लगाकर चालन और दोहन करना चहिये अर्थात् बाहिर खेंच खेंचकर जिव्हाको लंबी करनी चहिये इति ॥ २२७ ॥

क्रमेण वृद्धिमायातां निष्पीड्यांगुलितः शनैः ।
जिह्वां प्रवेशयेद्योगी कपालकुहरे ततः ॥ २२८ ॥

अर्थ—जब कुछ दिनोंमें क्रमसे जिव्हा लंबी हो जावे तो तिसको योगी अंगुलियोंसें दबाकरके धीरे धीरे उलटा करके गलेके अंदर ऊपरकी तरफ कपालके छिद्रमें प्रवेश करे इति ॥ २२८ ॥

तर्जन्या घंटिकां पूर्वं गृहीत्वाकर्षयेद्बहिः ।
ततःप्रवेशयेज्जिह्वां शीघ्रं विशति नान्यथा २२९

अर्थ—प्रथम तर्जनी अंगुलीसे तालुकी घंटिकाको पकडकर बाहिरकी तरफ खेंचना चहिये और फिर जिव्हाको अंदरकी तरफ प्रवेश करना चहिये क्योंकि घंटिकाको पहले खेंचे विना जिव्हा कपालछिद्रमें जलदी प्रवेश नहि करती है इति ॥ २२९ ॥

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
ध्यानं भ्रूमध्यदेशे च मुद्रा भवति खेचरी २३०

अर्थ—जिस कालमें उलटकरके जिव्हा कपालके छिद्रमें प्रवेश करजावे और भ्रूमध्यमें ध्यान लगाया

जावे तो खेचरी मुद्रा पूर्ण होजाती है अर्थात् खेचरी लगाकर भ्रूमध्यमें ध्यान करना चहिये इति ॥२३०॥

यथायथा भवेद्दीर्घा जिह्वा यत्नेन योगिनः ।
तथातथा गुणाधिक्यं विज्ञेयं योगसाधने ॥२३१

अर्थ—जैसेजैसे यत्नकरके योगीकी जिव्हा ज्यादा लंबी होवेहै तैसे तैसेही योगसाधनेमें अधिक गुण जानना चहिये इति ॥ २३१ ॥

खेचरीमुद्रिकाभ्यासं नित्यमेव समाचरेत् ।
संध्ययोरुभयोर्योगी जितप्राणो मिताशनः२३२

अर्थ—उक्तरीतिसे जब खेचरी मुद्रा पूर्ण होजावे तो प्राणको जय किया हूया और मिताहार करने-वाला योगी प्रातःकाल तथा सायंकाल दोनों वकत तीन चार घटिकापर्यंत तिसका नित्यही अभ्यास करे इति ॥ २३२ ॥

दिनैः कतिपयैरेवमभ्यासं कुर्वतः सदा ।
योगिनो योगनिद्रा वै समुदेति सुखप्रदा २३३

अर्थ—इस प्रकारसे कितनेक दिन अभ्यास कर-नेसे योगीको आनंदके देनेहारी योगनिद्रा शुरू होवेहै अर्थात् निद्राकी न्यांई जागृतावस्थामें चित्तका लय होने लगता है इति ॥ २३३ ॥

योगनिद्राचिराभ्यासान्निर्विकल्पः प्रजायते।
विस्मृत्य सकलं बाह्यं समाधिस्थो भवेन्नरः २४३

अर्थ—और तिस योगनिद्राके दीर्घकालपर्यंत अभ्यास करनेसे योगी निर्विकल्पावस्थाको प्राप्त होवे है तथा सर्व बाह्यपप्रंचको भूल करके राजयोगसमाधिमें स्थित होजावे है इति ॥ २३४ ॥

अथवा खेचरीकाले कुर्यात्केवलकुंभकम्।
प्राणस्यारोहणं तेन मेरुदंडे प्रजायते॥ २३५ ॥

अर्थ—अथवा खेचरी मुद्राद्वारा हठयोग समाधिभी होसकती है सो जब हठसमाधि करनेकी योगीकी इच्छा होवे तो खेचरीके अभ्यासकालमें खेचरी लगाकर केवल कुंभक प्राणायामका अभ्यास करे तो तिसकरके पश्चिममार्ग मेरुदंडसे प्राणोंका ऊपरको आरोहण होवे है इति ॥ २३५ ॥

क्रमेणाभ्यासतो नित्यं प्राणो हित्वा गमागमौ।
ब्रह्मरंध्रे लयं याति समाधिस्थो भवेन्नरः ॥२३६

अर्थ—और फिर नित्यं प्रति क्रमसे केवल कुंभकका अभ्यास करनेसे नासिकाद्वारसे आना जाना छोडकर प्राण ब्रह्मरंध्रमें जायकर लीन हो जाते हैं तो योगी हठयोग समाधिमें स्थित होजाता है इति २३६

खेचरीमुद्रिकाभ्यासादानंदः स्याद्दिनेदिने ।
सर्वसंकल्पसंत्यागाज्जगद्विस्मरणं भवेत् ॥२३७॥

अर्थ—उक्तरीतिसे खेचरी मुद्राके दीर्घकालपर्यंत अभ्यास करनेसे योगीको दिनदिनमें अधिक आनंदकी प्राप्ति होवे है तथा सर्व प्रकारके संकल्पोंके परित्याग होनेसे बाह्य जगत्का विसरण होजावे है इति ॥ २३७ ॥

निर्विकल्पसमाधाने मनसो विलयो भवेत् ।
बाह्यविस्मरणादंतर्दृष्टिः समुपजायते ॥ २३८ ॥

अर्थ—अब निर्विकल्प समाधि होवे है तो मनका विलय होजावे है और बाह्यप्रपंचके विसरण होनेसे योगीको अंतरहृदयमें प्रकाशरूप दृष्टि उत्पन्न होवे है इति ॥ २३८ ॥

अंतर्दृष्टिप्रकाशे तु त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
दृश्यते स्वसमीपस्थं करामलकवत्स्वयम् ॥२३९॥

अर्थ—और जब उस अंतरदृष्टिका प्रकाश दीर्घकालके अभ्याससे फैल जावे है तो योगीको तीनों लोकोंके चराचरात्मक सर्व पदार्थ करामलककी न्यांई अपने समीप स्थित स्वयमेव देखनेमें आते हैं इति ॥

बाह्यं विस्मृत्य निद्रायां स्वप्नं पश्येन्नरो यथा।
समाधिसमये तद्वद्योगी विश्वं प्रपश्यति ॥२४०

अर्थ—जिस प्रकार निद्राकालमें बाह्य प्रपंचको भूलकर मनुष्य स्वप्नको देखता है तैसेही समाधिकालमें योगी बाह्यप्रपंचको भूलकर अंतरदृष्टिसे जगत्को देखता है इति ॥ २४० ॥

स्वप्नदृष्टपदार्थौघो मृषा भवति निश्चितम्।
समाधौ त्वमृषा सर्वं वस्तु कार्यकरं तथा २४१

अर्थ—परंतु स्वप्न और समाधिमें इतना भेद है कि स्वप्नमें देखे हूये पदार्थसमूह प्रायः करके मिथ्या होते हैं और समाधिकालमें देखीहुई सर्ववस्तु सत्य और काम करनेवाली होती हैं इति ॥ २४१ ॥

खेचरीयोगतो योगी शिरश्चंद्रादुपागतम्।
रसं दिव्यं पिबेन्नित्यं सर्वव्याधिविनाशनम् २४२

अर्थ—किंच खेचरी मुद्राके अभ्यासमे योगी मस्तकमें रहनेहारे चंद्रमासे झरता हूया जो सर्वरोगोंके दूर करनेवाला दिव्य रस है तिसका नित्य पान करता है इति ॥ २४२ ॥

प्रथमं लवणं पश्चात् क्षारं क्षीरोपमं ततः।
द्राक्षारससमं पश्चात् सुधासारमयं ततः २४३॥

अर्थ—तिस रसका स्वाद प्रथम लवण जैसा होता है और पीछे क्षार जैसा होता है तिसके पीछे दूधके समान होवे है और पीछे दाखके रसके बराबर होवे है तथा अंतमें अमृत जैसा मधुर प्रतीत होवे है इति ॥२४३॥

अमृतास्वादनाद्देहो योगिनो दिव्यतामियात् ।
जरारोगविनिर्मुक्तश्चिरं जीवति भूतले ॥ २४४

अर्थ—तिस अमृतरसके खेचरीद्वारा नित्य पान करनेसे योगीका शरीर दिव्य भावको प्राप्त होवे है और वृद्धपणा तथा सर्व रोगोंसे रहित भया योगी पृथिवीमें चिरकालपर्यंत जीवता है इति ॥ २४४ ॥

अथ नादसमाधिः ।

अथ नादानुसंधानं प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम् ।
यस्यानुष्ठानतो योगी परं ब्रह्माधिगच्छति २४५

अर्थ—अब योगसंप्रदायके क्रमके अनुसार नादानुसंधानका निरूपण करते हैं जिस नादानुसंधान करनेसे योगी परब्रह्मभावको प्राप्त होवे है इति॥२४५॥

पद्मासनं समास्थाय स्वस्तिकं वा यथासुखम् ।
कर्णरंध्रयुगं पश्चादंगुलिभ्यां निरोधयेत्॥२४६॥

अर्थ—पद्मासन अथवा स्वस्तिकासनसे सुखपूर्वक बैठ करके पीछे दोनों अंगुष्ठ अथवा तर्जनीअंगुलियोंसे दोनों कानोंके छिद्रोंको बंद करे इति ॥ २४६ ॥

निमील्य नयने चित्तं कृत्वैकाग्रमनन्यधीः।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमंतर्गतं शुभम् ॥२४७॥

अर्थ—और दोनों नेत्रोंको निमीलन करके तथा चित्तको एकाग्र करके दहने कानकी तरफ चित्तवृत्तिको लगायकरके शरीरके अंदरसे उठती जो नादकी शुभध्वनि है तिसको श्रवण करे इति ॥ २४७ ॥

कर्णयोस्त्वेकतानेन रोधनं नैव कारयेत्।
त्यक्त्वात्यक्त्वांगुलिंमध्येनादाभ्यासंसमाचरेत्

अर्थ—नादके श्रवणकालमें कानोंको निरंतर बंद नहि रखना चहिये किंतु बीच बीचमें थोडी थोडी देरके बाद अंगुलियोंको छोडकर नादका अभ्यास करना चाहिये क्योंकि कानोंके एकदम बंदकर रखनेसे कानोंमें दरद हो जाताहै यातें धीरेधीरे ज्यादा ज्यादा बंद करनेका अभ्यास करना चहिये इति॥२४८॥

अधस्ताद्भुजयोर्दद्यादाधारं काष्ठनिर्मितम्।
श्रवणे तेन नादस्य नैव बाहुश्रमो भवेत् २४९

अर्थ—नाद श्रवणकालमें दोनों भुजोंके नीचे लकडीका बनाहूया आधार रखना चहिये जिसको वैरागन या आसा कहते हैं तो तिसकरके नादके सुननेसें बाहु थकती नहि हैं इति ॥ २४९ ॥

श्रूयते प्रथमाभ्यासे ध्वनिर्नादस्य मिश्रितः ।
ततोभ्यासे स्थिरीभूते श्रूयते तु पृथक् पृथक् ॥

अर्थ—प्रथम अभ्यासकालमें तो नादकी ध्वनि-मिलीहुई सुन पडती है और जब बहुत दिनोंमें अभ्यासकी स्थिरता हो जावे है तो फिर सर्व नाद जुदा जुदा सुननेमें आते हैं इति ॥ २५० ॥

घंटानादसमः पूर्वं ततः शंखसमो ध्वनिः ।
वीणारवसमः पश्चात् तालनादोपमस्ततः २५१

अर्थ—पहले घंटाके शब्दके समान नादकी ध्वनि होवे है फिर शंखकी आवाजकी न्याई होवे है पीछे वीणाके बजने जैसी ध्वनि होवे है और फिर तालके शब्दके समान प्रतीत होवे है इति ॥ २५१ ॥

वंशीशब्दनिभश्चाथो मृदंगसदृशो ध्वनिः ।
भेरीरवसमः पश्चान्मेघगर्जनसंनिभः ॥ २५२ ॥

अर्थ—तिसके अनंतर वंसीकी आवाजके बराबर ध्वनि सुननेमें आवे है और पीछे मृदंगके शब्दके समान होवे है तिसके पीछे नगारेकी आवाज जैसी होवे है तथा सबके पीछे मेघकी गर्जन जैसी ध्वनि प्रतीत होवे है इति ॥ २५२ ॥

क्रमेणाभ्यासतश्चैवं श्रूयतेऽनाहतो ध्वनिः ।
पृथग्विमिश्रितश्चापि मनस्तत्र नियोजयेत् २५३

अर्थ—इस प्रकार क्रमसे जुदा जुदा अथवा मिली-हूई नादकी ध्वनि अभ्यास करनेसे सुननेमें आती हैं उसमें मनको लगाकर श्रवण करना चहिये इति २५३

नादारंभे भवेत्सर्वगात्राणां भंजनं ततः ।
शिरसः कंपनं पश्चात् सर्वदेहस्य कंपनम् २५४

अर्थ—नादके आरंभकालमें प्रथम शरीरके सर्व अंगोंमें टूटन जैसी प्रतीत होवेहै और तिसके पीछे ज्यादा अभ्यासके बढनेसे शिर कांपने लगता है और फिर कुछ दिनोंमें सारा शरीरही कांपने लगता है इति ॥ २५४ ॥

अमृतास्वादनं पश्चाज्जिह्वाग्रे संप्रवर्तते ।
रोमांचश्च तथानंदः प्रकर्षेणोपजायते ॥ २५५ ॥

अर्थ—तिसके अनंतर कुछ दिनोंमें जिव्हाके अग्रभागमें अमृतका स्वाद प्रतीत होवे हैं और शरीरमें रोमांच तथा विशेषकरके आनंदका अनुभव होवे हैं इति ॥ २५५ ॥

नादश्रवणतो योऽसावानंदो योगिनो भवेत् ।
शक्यते स गिरा वक्तुं मया नात्र कथंचन २५६

अर्थ—नादके श्रवणकालमें योगीको जो आनंद प्राप्त होवे हैं तिस आनंदको मैं यहां अपनी बाणीसे किसी प्रकारसे कथन नहि करसकता हुं इति ॥ २५६ ॥

आरंभो योगनिद्रायास्ततः समुपजायते ।
सर्वं देहादि विस्मृत्य समाधिस्थो भवेन्नरः २५७

अर्थ—तिसके अनंतर योगनिद्राका प्रारंभ होवे हैं अर्थात् नादकी ध्वनिमें चित्त लीन होवे हैं और तिस योगनिद्राके दीर्घकालपर्यंत अभ्यास करनेसे देहादिक सर्व बाह्य प्रपंचको भूल करके योगी राजयोगसमाधिमें स्थित होय जावे हैं इति ॥ २५७ ॥

अथवा नादयोगेन शरीरे कृशतां गते ।
सर्वांगेभ्यो भवेत्तूर्णं प्राणस्याकर्षणं ध्रुवम् २५८
तं ध्यानेनोर्ध्वमानीय ब्रह्मरंध्रे प्रवेशयेत् ।
तत्रैव स्थिरतां नीत्वा समाधिस्थो भवेन्नरः२५९

अर्थ—अथवा नाद श्रवणके अभ्याससे हठयोग समाधिभी हो सकती हैं सो जैसे नाद श्रवणके अधिक अभ्यास करनेसे जब शरीर अत्यंत कृश होजावे तो मूलबंध लगाय कर बैठनेसे शरीरके नीचेके सर्व अंगोंसे प्राणका निश्चयकर आकर्षण होवे हैं और फिर तिस खिंचे हूये प्राणको नाभि हृदय कंठादि चक्रोंमें पूर्वोक्त रीतिसे ध्यानसें ऊपरको लायकरके ब्रह्मरंध्रमें प्रवेश करे और तिसको तहांही ब्रह्मरंध्रमें स्थिर करदेवे तो योगी हठयोग समाधिमें स्थित होजावे हैं इति ॥ २५८ ॥ २५९ ॥

नादश्रवणतो नित्यमंतर्लीनं भवेन्मनः ।
नच बाह्यं विजानाति कूपे मग्न इव द्विपः २६०

अर्थ—उक्त प्रकारसे नादके नित्यं प्रति श्रवण करनेसे मनकी वृत्ति अंतर्मुख होकर लीन होजावे है और मनके अंतर्लीन होनेसे योगीको बाह्य प्रपंचकी कुछ खबर नहि रहती जैसे गहरे कूयेमें पडे हूये हाथीको बाहिरकी कुछ खबर नहि रहती है इति ॥ २६० ॥

अंतर्लीनमना योगी जगत्सर्वं प्रपश्यति ।
सर्वगुप्तपदार्थानां प्रत्यक्षत्वं च जायते ॥२६१॥

अर्थ—चिरकालपर्यंत मनके अंतर्लीन होनेसे योगीको अंतर्दृष्टिके प्रकाशमें सर्व जगत् देखनेमें आता है तथा गडीहुई निधि आदिक सर्व गुप्त पदार्थोंका प्रत्यक्ष अनुभव होवे है इति ॥ २६१ ॥

अंतर्धानस्य शक्तिश्च योगिनो भवति ध्रुवम् ।
सङ्कल्पानुविधायित्वं शरीरस्योपजायते ॥२६२॥

अर्थ—और योगीको दूसरोंके सामने अदृश्य होनेकी शक्ति होवे है तथा शरीरकी स्थिति अपने संकल्पके अनुसार होजावे है इति ॥ २६२ ॥

यथा संकल्पयेद्देहं यथारूपं यथागुणम् ।
तथैव जायते सद्यः शरीरं योगिनो ध्रुवम् २६३

अर्थ—शरीरके संकल्पानुसारी होनेसे जिस कालमें योगी जैसे स्वरूप वा जैसे गुणवाले शरीरका संकल्प करता है उसी प्रकारका उसी कालमें योगीका शरीर बन जावे है इति ॥ २६३ ॥

एकस्मिन्नेव काले च शरीराणि बहून्यपि ।
निर्माय विहरेल्लोके पुनश्चैको भवेत्क्षणात् २६४

अर्थ—तथा एककालमेंही योगी संकल्पके बलसें अपने अनेक शरीरोंको निर्माण करके जगत्में विहार करता है और फिर क्षणमात्रमें तिन सर्व शरीरोंका उपसंहार करके एकलाही रह जाता है इति ॥ २६४ ॥

भूतं भव्यं भविष्यं च वेत्ति सर्वं सकारणम् ।
ध्यानमात्रेण सर्वेषां भूतानां च मनोगतम् २६५

अर्थ—किंच भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालकी बातको हेतुके सहित जान लेता है तथा क्षणभरके ध्यानसे सर्व जीवजंतुवोंके मनकी बातको जान लेवे है इति ॥ २६५ ॥

स्वर्गेऽतरिक्षे पाताले तथा भूमंडलेऽखिले ।
अव्याहतगतिर्योगी स्वेच्छया विचरेच्चिरम् २६६

अर्थ—तथा स्वर्गलोक अंतरिक्षलोक पाताललोक और सर्व पृथिवीमंडलमें अखंडित गतिवाला हूया

योगी अपनी इच्छानुसार दीर्घकालपर्यंत विचरता है इति ॥ २६६ ॥ इसप्रकार नादश्रवणका फल वर्णन करके अब प्रसंगसे त्राटक मुद्राका निरूपण करते हैं ॥

त्राटकाभ्यासतश्चापि कालेन क्रमयोगतः ।
राजयोगसमाधिः स्यात् तत्प्रकारोऽधुनोच्यते॥

अर्थ—खेचरी और नादके समान त्राटकके अभ्यास करनेसेभी धीरेधीरे क्रमसे राजयोगसमाधिकी सिद्धि होवे है सो अब त्राटकका प्रकारभी यहां निरूपण करते हैं इति ॥ २६७ ॥

श्वेतमृत्स्ना प्रलिप्तायां भित्तौ कृत्वा मसीमयम् ।
वर्तुलाकारकं बिंदुं दूरस्थस्तं विलोकयेत् ॥२६८॥

अर्थ—प्रथम सुपेद मृत्तिका अर्थात् कलीचूनासे लिपीहूई भीतपर पैसेके बराबर स्याहीसे गोलाकार एक बिंदु बनावे और फिर चार पांच हाथ दूर बैठकर उसको देखनेका अभ्यास करे इति ॥ २६८ ॥

सुखासने समासीनो निर्जनस्थानगः सदा ।
निमेषवर्जितं नेत्रं शनैस्तत्र नियोजयेत् ॥ २६९

अर्थ—अभ्यासकरने कालमें पद्मासन या स्वस्तिकासनसे सुखपूर्वक एकांत स्थानमें बैठना चहिये और निमेषकेविना एकटक नेत्रोंको उस बिंदुमें लगाना चहिये इति ॥ २६९ ॥

दृष्ट्या समं मनश्चापि लक्ष्यस्थाने प्रवेशयेत् ।
लक्ष्यं विहाय नैवान्यचिंतयेन्नावलोकयेत् २७०

अर्थ—तथा दृष्टिकेसाथ मनकोभी बिंदुस्थानमें लगाना चहिये बिंदुको छोडकर और किसी तरफ देखना नहि चहिये तथा मनसेभी कुछ चिंतन नहि करना चहिये इति ॥ २७० ॥

दिवा निरीक्षयेद्बिंदुं रात्रौ नक्षत्रमुज्ज्वलम् ।
दीपं वा दूरतो धृत्वा क्रमान्नित्यं समभ्यसेत् ७१

अर्थ—दिनको तो स्याहीके बिंदुकी तरफ देखना चहिये और रात्रीको जो बिंदुकी तरफ देखना अनुकूल नहि पडे तो आकाशमें किसी प्रकाशवान् तारेकी तरफ या कुछ दूरपर अचल दीपकको रखकर उसकी ज्योतकी तरफ देखनेका अभ्यास करना चहिये इति ॥ २७१ ॥

यथा धन्वी स्वकं लक्ष्यं वेधयत्यचलेक्षणः ।
तथैव त्राटकाभ्यासं कुर्यादेकाग्रमानसः ॥२७२

अर्थ—जैसे धनुषधारी पुरुष अचल दृष्टिसे अपने लक्ष्यको वेधन करता है तैसेही एकाग्र मनसे योगीको त्राटकका अभ्यास करना चहिये इति ॥ २७२ ॥

यदा मुहूर्तपर्यंतं निमेषोन्मेषवर्जिता ।
स्थिरा दृष्टिर्भवेत्तत्र सिद्धः स्यात्त्राटकस्तदा २७३

अर्थ—जिस कालमें दो घटिकापर्यंत निमेष उन्मेषसेबिना तिस बिंदुमें दृष्टि स्थिर होजावे तो तब त्राटककी सिद्धि जाननी चहिये इति ॥ २७३ ॥

दृश्यते प्रथमाभ्यासे तेजो बिंदुसमीपगम् ।
चक्षुषो रश्मिजालानि प्रसरंति समंततः २७४॥

अर्थ—त्राटकके अभ्यास करनेमें प्रथम बिंदुके आसपास तेजकी प्रतीति होवे है और फिर थोडे दिन पीछे नेत्रोंकी रश्मिया बिंदुके चारों तरफ फैल जाती हैं इति ॥ २७४ ॥

तेजसा संवृतं लक्ष्यं क्षणं लुप्तं भवेत्ततः ।
क्षणं दृष्टिगतं भूत्वा पुनर्लुप्तं भवेत्क्षणात् २७५

अर्थ—और फिर तेजकरके ढकाहूया सो बिंदु बीचमें कबी क्षणभर दीखना बंद होजाता है फिर क्षणभर दीखने लगता है और फिर क्षणभरमें लोप हो जाता है इति ॥ २७५ ॥

वर्धमाने ततोऽभ्यासे लक्ष्यं हित्वा शनैःशनैः ।
दृष्टिरंतर्मुखत्वेन लीयते मनसा समम् ॥२७६॥

अर्थ—और जब बहुत कालतक करनेसे त्राटकका अभ्यास बढजाता है तो फिर अपने लक्ष्यरूप बिं-

दुको छोडकरके धीरेधीरे योगीकी दृष्टि अंतर्मुख भई मनके सहित लीन हो जाती है इति ॥ २७६ ॥

यथैवावस्थितं तत्र शरीरं योगिनो भवेत् ।
तथैव प्रतिमाकारं निश्चलं जायते ध्रुवम्॥२७७॥

अर्थ—तिस कालमें योगीका शरीर जिस प्रकारसे बैठा होता है उसी प्रकारसे चित्रमें लिखी हूई मूर्तिके समान बाह्य ज्ञानसे रहित निश्चल हो जाता है इति॥२७७

क्षणमंतर्मुखो भूत्वा पुनरुत्थानकं व्रजेत् ।
ततो निरीक्षयेल्लक्ष्यं पुनरंतर्मुखो भवेत् ॥२७८॥

अर्थ—इसप्रकार पहले क्षणमात्र अंतर्मुख होय करके योगी फिर उत्थानको प्राप्त होवे है और फिर उस बिंदुकी तरफ अचल देखते रहनेसे फिर अंतर्मुख होजावे है इति ॥ २७८ ॥

एवं कुर्वन्सदाभ्यासं त्राटकस्य विधानतः ।
चिराभ्यासवशाद्योगी समाधिस्थो भवेद्ध्रुवम् ॥

अर्थ—इस रीतिसे निरंतर विधिपूर्वक चिरकाल-पर्यंत त्राटकके अभ्यास करनेसे योगी निश्चय करके राजयोग समाधिमें स्थित होजावे है इति ॥ २७९ ॥

समाध्यभ्यासतो नित्यं जायतेंऽतर्मनोलयः ।
अंतर्दृष्टिप्रकाशश्च तस्य संजायते क्रमात्२८०॥

अर्थ—और समाधिके नित्यं प्रति अभ्यास करनेसे योगीका मन अंतरलीन होवे है तथा मनके अंतरलीन होनेसे क्रमसे योगीको अंतर्दृष्टिका प्रकाश उत्पन्न होवे है इति ॥ २८० ॥

करामलकवद्विश्वं तेन योगी प्रपश्यति ।
दूरतो दर्शनं दूरश्रवणं चापि जायते ॥ २८१ ॥

अर्थ—तिस अंतर्दृष्टिके प्रकाशसे करामलककी न्यांई योगी सर्व जगत्को देखता है और अपने आपही दूरके पदार्थ समीप दीखने लगते हैं और दूरकी वार्ता समीप सुन पडती हैं इति ॥ २८१ ॥

यदुक्तं खेचरीयोगे यच्चोक्तं नादचिंतने ।
तत्सर्वं त्राटकाभ्यासाद् योगिनो भवति ध्रुवम्

अर्थ—औरभी जो खेचरी मुद्रा तथा नादश्रवणमें फल वर्णन किये हैं सोभी सबी त्राटकके अभ्याससे योगीको प्राप्त होजाते हैं इति ॥ २८२ ॥

अणिमादिगुणैर्युक्तो विचरेद्भुवनत्रये ।
स्वेच्छया देहमुत्सृज्य कैवल्यं पदमश्नुते ॥२८३॥

अर्थ—इस रीतिसे अणिमामहिमादिक सिद्धियों-करके युक्त भया सो योगी तीनों भुवनोंमें स्वतंत्र विचरता है और जिस कालमें उसकी विदेहमुक्त

होनेकी इच्छा होवे है तो तिस कालमें अपनी इच्छासे शरीरको परित्याग करके कैवल्य मोक्षपदको प्राप्त होजावे है इति ॥ २८३ ॥

एतत्संक्षेपतः प्रोक्तं योगस्यांगाष्टकं क्रमात् ।
सर्वेषां योगतंत्राणां सारभूतमसंशयम् ॥२८४॥

अर्थ—यह पूर्वोक्त रीतिसे संक्षेपसे योगके यम-नियमादिक आठ अंगोंका क्रमसे निरूपण किया है सो यह योगके सर्व ग्रंथोंका सारभूत है इसमें कुछ संशय नहि है इति ॥ २८४ ॥

नात्र किंचिदयुक्तं वा नाधिकं किंचिदीरितम् ।
यथानुभूतं दृष्टं च तदेवात्र निरूपितम् ॥२८५॥

अर्थ—इस ग्रंथमें किंचित्मात्रभी अयुक्त तथा अधिक नहि कथन किया है जिस प्रकारका स्वयं अनुभव किया तथा शास्त्रोंमें देखा है सोई यहां निरूपण किया है इति ॥ २८५ ॥

तस्मादास्तिकभावेन कुर्याद्योगस्य साधनम् ।
अवश्यं सिद्धिमाप्नोति निर्वेदान्न जहाति चेत् ॥

अर्थ—यातें साधकपुरुषको आस्तिकभावसे इस ग्रंथके अनुसार योगका अभ्यास करना चहिये और सो अवश्य करके सिद्धिको प्राप्त होवेगा जो कदा-

चित् अभ्यासके परिश्रमसे उपराम होकर बीचमें नहि छोडेगा तो इति ॥ २८६ ॥

प्रायशो योगयुक्तीनां संनिवेशोऽत्र विद्यते ।
तथापि गुरुवक्त्रेण विज्ञेयास्ता विचक्षणैः ॥२८७॥

अर्थ—यद्यपि प्रायः करके योगकी सर्व युक्तियां इस ग्रंथमें लिखी हूई हैं तथापि बुद्धिमान् साधक पुरुषोंको तिन युक्तियोंको योगाभ्यासी गुरुके मुखसेही सीखनी चहिये इति ॥ २८७ ॥

हठयोगस्य सम्प्रोक्तो राजयोगस्य वै तथा ।
विधिरत्र समासेन क्रमादभ्यासमाचरेत् २८८॥

अर्थ—प्राणोंका चडानारूप जो हठयोग है और मनका विलयरूप जो राजयोग है तिन दोनोंकी विधि संक्षेपसे इस ग्रंथमें कथन करी है सो तिन दोनोंका क्रमसे अभ्यास करना योग्य है इति ॥ २८८ ॥

सततं तु हठाभ्यासं नैव कुर्याद्विचक्षणः ।
साधयित्वा हठं पूर्वं राजयोगं ततोऽभ्यसेत्२८९

अर्थ—बुद्धिमान् योगी पुरुषको चहिये कि सर्वदा काल हठयोगकाही अभ्यास न करता रहे किंतु हठयोगको प्रथम सिद्ध करके पीछे विशेषकरके राजयोगकाही अभ्यास करे इति ॥ २८९ ॥

सर्वेषु योगमार्गेषु शरीरं कृशतां व्रजेत् ।
भयं तत्र न कुर्वीत युक्त्या रक्षेत्कलेवरम् २९०

अर्थ—हठयोग हो अथवा राजयोग हो योगके सर्व मार्गोंमें अच्छीतरे अभ्यास करनेसे शरीर अवश्य कृश होजाता है सो तिसमें साधक पुरुषको भय नही करना चहिये किंतु युक्तिसे शरीरकी रक्षा करनी चहिये इति ॥ २९० ॥

वर्जयेदशनं रूक्षं स्नानं शीतांबुना तथा ।
पद्भ्यां पर्यटनं चैव स्त्रियं चापि विशेषतः २९१॥

अर्थ—योगीको अभ्यास करने कालमें रूखा भोजन नहि खाना चहिये और शीतकालमें ठंडे पानीसे स्नानभी नहि करना चहिये तथा पैरोंसे चलकर देशाटनभी नहि करना चहिये और स्त्रीका संग तो अवश्य नहि करना चहिये इति ॥ २९१ ॥

नातिशीते न चात्युष्णे नातिवर्षति तोयदे ।
अभ्यासं वर्द्धयेद्योगी नो चेद्रोगभयं ध्रुवम् २९२

अर्थ—पौष माघके अतिशीतकालमें और ज्येष्ठ आषाढके अतिउष्ण कालमें तथा अत्यंत वर्षा पडने कालमें योगीको अभ्यासको अधिक नहि बढाना चहिये किंतु साधारण रीतिसे करते रहना चहिये क्योंकि

अतिशीतादि कालमें ज्यादा अभ्यास बढानेसे शरीरसे अवश्य रोग होनेका डर रहता है इति ॥ २९२ ॥

देशेऽनुकूले काले च समे स्थाने च निर्मले ।
वर्धयन्नित्यमभ्यासं ध्रुवं सिद्धिमवाप्नुयात् २९३॥

अर्थ—अपनी प्रकृतिके अनुकूल पवित्रदेशमें और शीतोष्ण समकालमें तथा सर्व दोषोंसे रहित निर्मल शुद्ध स्थानमें योगी नित्यं प्रति अभ्यासको बढावे तो निश्चयकरके सिद्धिको प्राप्त होवे है इति ॥ २९३ ॥

प्राणस्यारोहणे वापि परकायप्रवेशने ।
शरीरमोक्षणे चादौ भोजनं परिवर्जयेत् २९४॥

अर्थ—समाधिमें प्राणके मस्तकपर चडाने कालमें और परशरीर प्रवेश करने कालमें तथा देहत्याग करने कालमें योगीको थोडे दिन पहले भोजनका परित्याग कर देना चहिये इति ॥ २९४ ॥

निरशनादग्निस्तूर्णं जाठरो दाहकृद्भवेत् ।
काले तदुपशांत्यर्थं क्षीरं नीरान्वितं पिबेत् २९५

अर्थ—भोजनके नहि करनेसे जठराग्निसें पेटमें विशेष दाह उत्पन्न होवे है तो तिसके शांत करनेके लिये अनुकूल समयानुसार दूधमें पानी मिलाकर पीना चहिये या मनक्का दाख गुलकंदादिक ठंडी वस्तु खानी चहिये इति ॥ २९५ ॥

स्वतो वा परतो वापि प्रबंधं सर्वमादितः।
स्थानशिष्याशनादीनां कृत्वा योगं समभ्यसेत्

अर्थ—द्रव्यकी अनुकूलता होय तो अपने आपसे नहि तो किसी धनवान् मित्र या सेवककी सहायतासे अपने अभ्यासलायक स्थानका और ऊपरकी सेवा करनेवाले शिष्य या नौकरका तथा भोजनादि खर्चका सर्वप्रकारसे अनुकूल पहलेसे बंदोबस्त करके पीछे योगाभ्यासका प्रारंभ करना चहिये क्योंकि बिना ठीक बंदोबस्तसे दीर्घकालपर्यंत अखंडित अभ्यास नहि चल सकता है इति ॥ २९६ ॥

योगाभ्यासे प्रवृत्तस्तु शीघ्रं सिद्धिं न कामयेत्।
कालेन दुरिते क्षीणे स्वतःसिद्धिः प्रजायते ॥९७॥

अर्थ—योगाभ्यासमें प्रवृत्त भये योगीको शीघ्रही सिद्धिकी वांछा नहि करनी चहिये किंतु धीरे धीरे अभ्यास करते रहनेसे काल पायकर सर्व संचित पापोंका नाश होजानेसे अपने आपही सिद्धिकी प्राप्ति होवे है इति ॥ २९७ ॥

शास्त्रवाक्येषु विश्वासो गुरुपादाब्जसेवनम्।
भक्तिर्विष्णौ शिवे वापि योगस्य सिद्धिहेतवः॥

अर्थ—योगशास्त्रोंके वचनोंमें पूर्ण विश्वास होना और योगवेत्ता गुरुके चरणकमलोंकी निष्कपटतासे सेवा करनी तथा विष्णु अथवा शिवमें पूर्ण भक्ति होनी इतनी वार्ता योगकी सिद्धिमें कारणभूत हैं इति २९८

पथ्याशिनो विरक्तस्य शांतस्यैकांतवासिनः ।
दृढचित्तस्य धीरस्य योगः सिद्ध्यति सत्वरम् ॥

अर्थ—जो योगी पुरुष निरंतर योगाभ्यासके अनुकूल पथ्यभोजन करता है और सांसारिक विषयोंसें और व्यवहारोंसे विरक्त रहता है तथा रागद्वेषसे रहित शांत चित्तवाला होता है और सर्वदा काल एकांतस्थानमें निवास करता है और दृढचित्तवाला तथा धीरजवान् है तिसको योगकी सिद्धि शीघ्र होवे है इति ॥ २९९ ॥

विघ्ना बहुविधा योगे भवंतीति विनिश्चितम् ।
तथापि साधयेद्योगी योगं धृतिपरायणः ॥३००

अर्थ—योगाभ्यासमें प्रवृत्त भये योगीको बहुत प्रकारके शरीररोगादिक विघ्न आयकर अभ्याससे चलायमान करते हैं यह बात निश्चित है तोभी धीरजपरायण होकर योगीको अवश्य योगका साधन करना चहिये इति ॥ ३०० ॥

प्रणवस्य जपं कुर्याद्योगारंभे सदा बुधः ।
तदर्थमीश्वरं चापि चिंतयेच्चेतसा मुहुः ॥३०१॥
सर्वज्ञं सर्वगं शुद्धं दयालुं सर्वकारणम् ।
विघ्नास्तेन विनश्यंति तमांस्यर्कोदये यथा ॥३०२

अर्थ—बुद्धिमान् योगी पुरुषको विघ्नोंकी निवृत्तिके लिये योगाभ्यासके आरंभकालमें नित्यं प्रति ओंकारका जप करना चहिये तथा तिस ओंकारका वाच्यार्थ जो ईश्वर है तिसका मनसे चिंतन करना चहिये सो ईश्वर सर्व जीवोंके कर्मोंके जाननेहारा हैं और पृथिवी आकाश पाताल सर्व जगामें व्यापक है तथा सर्वत्र व्यापक हूयाभी सर्व दोषोंसे रहित शुद्ध निर्मल है और जीवोंके सर्व अपराधोंको क्षमा करनेवाला दयालु है तथा इस चराचर जगत्के रचनेहारा परम कारण है इस प्रकारसे जप करतेवकत वारंवार मनसे चिंतन करना चहिये तो तिसकरके सर्व विघ्नोंका नाश होवे है जैसे सूर्यके उदय होनेसे सर्व अंधेरेका नाश होवे है इति ॥ ३०१ ॥ ३०२ ॥

अभ्यासानंतरं कुर्याद्गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्नपि ।
चिंतनं हंसमंत्रस्य योगसिद्धिकर परम् ॥३०३॥

अर्थ—तथा योगाभ्यास करने कालसे पीछे चलते बैठते सोते सर्वदा काल योगीको हंसमंत्रका चिंतन करना चहिये तिससेभी सर्व विघ्नोंकी निवृत्तिपूर्वक शीघ्र योगकी सिद्धि होवे है इति ॥ ३०३ ॥

हकारेण बहिर्याति सकारेण पुनर्विशेत् ।
प्राणः सर्वशरीरेषु श्वासोच्छ्वासक्रमेण वै ३०४॥

अर्थ—सर्व पशु पक्षी मनुष्यादि शरीरोंमें जो श्वास और प्रश्वासकी गतिसे प्राण चलता है सो हंशब्दसे तो बाहिरको आता है और सःशब्दसे अंदरको प्रवेश करता है इति ॥ ३०४ ॥

हंसोहंसोहमित्येवं पुनरावर्त्तनक्रमात् ।
सोहं सोहं भवेन्नूनमिति योगविदो विदुः ३०५॥

अर्थ—इस प्रकारसे हंसो हंसो शब्दको बारबार फिरानेसे उलटकर सोहं सोहं हो जाता है जेसे बहुतवार मरा मरा कहनेसे राम राम हो जाता है ऐसे योगविद्याके जाननेहारे योगी लोक जानते हैं इति ॥३०५॥

अजपानाम गायत्री निरंतरजपात्मिका ।
गिरिजायै पुरा प्रोक्ता शिवेनेयं सुसिद्धिदा ॥

अर्थ—यह अजपानामकी गायत्री है अर्थात् इसको अजपा गायत्री कहते हैं सो इसका बिना जप

किये अपने आपही निरंतर जप होता है और यह प्रथम महादेवने पार्वतीके प्रति सर्व सिद्धियोंके देनेवाली उपदेश करी है इति ॥ ३०६ ॥

अस्याश्चिंतनतो नित्यं सर्वदुष्कृतराशयः ।
योगिनां नाशमायांति तृणभारा यथाग्निना ॥

अर्थ—इस अजपा गायत्रीके नित्यं प्रति चिंतन करनेसे योगी पुरुषोंके सर्व जन्मजन्मांतरोंके पापसमूह नष्ट होजाते हैं जैसे अग्निके लगनेसे घासके भारे जलकर नष्ट होजाते हैं इति ॥ ३०७ ॥

क्रमेणाभ्यासयोगेन जायतेंऽतर्मनोलयः ।
प्राणश्च क्षीणतां याति योगनिद्रा प्रजायते ३०८

अर्थ—दीर्घकालपर्यंत विधिपूर्वक इसके अभ्यास करनेसे मन अंदर लीन होजाताहै और मनके लीन होनेसे प्राणकी गतिभी क्षीण होजाती है तथा योगनिद्रा उत्पन्न होती है इति ॥ ३०८ ॥

नित्यमंतर्मुखत्वेन परमानंदमात्मनः ।
अनुभूय चिरं योगी कैवल्यपदमश्नुते ॥ ३०९ ॥

अर्थ—और इसके अभ्यास करनेसे सर्वदा काल अंतर्मुख वृत्ति होनेसे योगी आत्माके परम आनंदका

चिरकालपर्यंत अनुभव करके पीछे देहांतकालमें परमपद कैवल्य मोक्षको प्राप्त होवे है इति ॥ ३०९ ॥

यस्त्वेवमुक्तमार्गेण योगाभ्यासं समाचरेत् ।
नरो वाप्यथवा नारी स याति परमां गतिम् ॥

अर्थ—जो पुरुष पूर्वोक्त रीतिसे अष्टांग योगका नित्यं प्रति अभ्यास करता है सो पुरुष हो अथवा स्त्री हो दोनोंही परमगति मोक्षपदको प्राप्त होते हैं इति ॥ ३१० ॥

योगाभ्यासे प्रवृत्तस्य योगिनः श्रद्धयान्विता ।
परिचर्यां प्रकुर्वंति शिष्या वा धनिनश्च ये ३११
ते तस्य पुण्ययोगेन क्षीणपापकदंबकाः ।
अनायासेन गच्छंति ब्रह्मणः सदनं परम् ३१२॥

अर्थ—तथा योगाभ्यासमें प्रवृत्त भये योगी पुरुषकी जो शिष्यवर्ग अथवा धनवान् सेवक लोक अनुकूल अन्न पान स्थान वस्त्रादिकोंसे श्रद्धापूर्वक सेवा करते हैं सोभी तिस योगीके पुण्यके भागी होनेसे सर्वपापोंसे रहित भये देहांतमें अनायाससेही ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं इति ॥ ३११ ॥ ३१२ ॥

शृणुयादपि यो नित्यं पठेद्वा योगपुस्तकम् ।
श्रद्धया संयुतः सोपि सर्वपापैर्विमुच्यते ३१३ ॥

अर्थ—तथा जो पुरुष श्रद्धापूर्वक योगके पुस्तकका श्रवण अथवा पठन करता है सोभी सर्वपापोंसे मुक्त होजावे है इति ॥ ३१३ ॥

इतीदं पुष्करक्षेत्रे ब्रह्मानंदेन योगिना ।
साधकानां हितार्थाय कृतं योगरसायनम् ३१४

अर्थ—इतिशब्द ग्रंथकी समाप्तिका वाचक है सो यह योगरसायन नामक ग्रंथ योगसाधना करनेहारे जिज्ञासु जनोंके हितार्थ स्वामी ब्रह्मानंद योगीने पुष्करतीर्थमें निर्माण किया है इति ॥ ३१४ ॥

योगात्मा योगकृद्योगी योगिध्येयपदाम्बुजः ।
योगसिद्धिप्रदोऽनेन प्रीयतामीश्वरो हरिः ३१५॥

अर्थ—योगस्वरूप और योगविद्याके निर्माणकर्त्ता तथा स्वयं महायोगी और सर्वयोगियों करके ध्यान करने योग्य चरणारविंद तथा सर्वदा काल योगसाधकोंको योगकी सिद्धि देनेहारे और सर्व जगत्के ईश्वर जो विष्णु परमात्मा हैं सो इस योगरसायनके अर्पणसे प्रसन्न होवो इति ॥ ३१५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीपुष्करतीर्थनिवासिब्रह्मानंदस्वामिविरचितं योगरसायनं संपूर्णम् ॥

ॐ

योगसन्ध्या ।

(साधन करनेवालोंको अमृतकी लता)
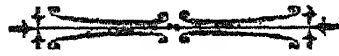
जिसको

वेदशास्त्रसंपन्न धर्ममूर्त्ति श्रीयुत जगन्नाथ चैतन्य ब्रह्मचारी-
जीके चरणारविन्दाऽनुरागी अष्टांगयोगमें कुशल

श्रीसदाशिव नारायण ब्रह्मचारीने

निर्मित किया ।

वही

खेमराज श्रीकृष्णदासने

बम्बई

खेतवाडी ७ वीं गली खम्बाटा लैन,

निज "श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम्-मुद्रणयन्त्रालयमें

मुद्रित कर प्रकाशित किया ।

संवत् १९६९, शके १८३४.

भूमिका।

मोहमय यह अपार संसार सागर अनादि और अनन्त है, जिसके पार होनेके वास्ते ऋषिलोगोंने चिरकाल पर्यंत घोर तपश्चर्या की है। वही मार्ग हम लोगोंको भी श्रेयस्कर है, इससे लोगोंको उचित है कि इस भवसागरसे पार होनेका उपाय तप, जप, दान तीर्थ आदि करें।

तप आदिकके करनेसे इस लोक और परलोक दोनोंमें सुख होताहै। इस लोकमें तो लोगोंमें प्रतिष्ठा मान मर्यादा, शरीरमें अरोग्यता, यशकी वृद्धि और कान्ति होतीहै। एकको देखकर दूसरेको भी श्रद्धा होतीहै, यह भी एक उत्तम परमार्थ जीवोंके कल्याणार्थ है, और अन्तमें कर्माऽनुसार स्वर्गलोककी प्राप्ति या मोक्ष होताहै। यह सब धर्म गृहस्थके ही वास्ते हैं, कारण कि जब गृहस्था-श्रमका धर्म शुद्ध रहेगा अर्थात् स्वधर्मरूपी तप, प्रणव, गायत्री या गुरूपदेशसे प्राप्त हुए मन्त्रका जप, पर्वकाल आदिपर वित्तानुसार सत्पात्रोंको दान, और प्रयाग, काशी, गया आदि तीर्थोंकी यात्रा अथवा किसीका अनिष्ट न देखना, जैसा "तीर्थं परं किञ्च मनो विशुद्धम्" इस प्रकारके गृहस्थसे जो सन्तान उत्पन्न हो यदि ब्रह्मचर्यादि व्रतको धारण करेगा तो विना परिश्रम ही धर्मके प्रभावसे चिरकालपर्यन्त सुखसे रहकर अन्तमें ब्रह्मलोकको प्राप्त होगा। जब गृहस्थाश्रम शुद्ध न हो तो सन्तान शुद्ध कहांसे होगा कि जिससे धर्माऽचरणकी वृद्धि हो, इस लिये गृहस्थको चाहिये कि स्वधर्मका प्रतिपालन करे। इसीसे कहा है कि "धन्यो गृहस्थाश्रमः"

इस "**योगसन्ध्या**" नामक ग्रंथमें तीन प्रकरण हैं।

प्रथममें—प्रणवप्रतिपादन अर्थात् प्रणव क्या वस्तु है? किस तरह जाना-जाताहै? जाननेसे क्या लाभ है? और अंतमें उसके उच्चारण होनेसे मुक्ति होतीहै। सगुण उपासनासे निर्गुणका बोध, प्रतिमा आदि क्रमसे मूर्ति सम्पादन और ध्यानादिका क्रम व चित्तशांत्यर्थ उपाय आदि विषय वर्णित हैं।

दूसरेमें—योगाभ्यास अर्थात् अष्टाङ्गयोग यम १, नियम २, आसन ३, प्राणायाम ४, प्रत्याहार ५, धारणा ६, ध्यान ७और समाधिका वर्णन है। इसका विवरण थोडेमें सारांशमात्र कहागया है । योगमें मुख्य प्राणायाम है, जहां तक प्राणायाम शुद्ध नहीं होता तहां तक उस पुरुषके चित्तकी चंचलता दूर नहीं होती । इसीसे सब कर्मोंने "आचम्य प्राणानायम्य" कहा है, और सन्ध्याके पूर्व ही प्राणायाम कहके अनंतर आचमनादि कृत्य कहे हैं । अभिप्राय यह है कि प्राणायाम ही मुख्यकरके जन्मजन्मान्तरोंके कल्मषोंका नाशक और चित्तशुद्धिकारक है ।

योगाभ्यास करनेसे मनुष्य बहुत दिनोंतक सुखपूर्वक जी सकताहै, शरीर शिथिल नहीं होताहै, बाल नहीं पकते और त्वचादिकोंका सिकुडना नहीं होता "वलीपलितवेपन्नः" ।

तीसरे प्रकरणमें सन्ध्या है, जो सन्ध्या इस देशमें आचाराऽदर्शाऽनुसार प्रचलित है, उसको उल्लंघन न करके उसमें जिन २ विषयोंकी जिस २ जगहमें योजना करनेकी आवश्यकता थी उसकी योजना प्रमाण सहित मैंने करदी है, अवलोकन करनेसे ज्ञात होगा ।

परिश्रमसे प्राप्त हुई इस विद्याको सज्जनोंके दृष्टिगोचर करताहूं, आशा है कि यह सज्जनोंके चित्तका विनोद करनेवाली होगी ।

अयि गीर्वाणवाग्विदः !

परब्रह्मात्मकोऽयमोंकारोऽक्षरो लोकोभयानन्ददायकः सकलशास्त्रोत्पत्तिकारणभूतश्चातो विद्वद्भिरवश्यमाराधनीयः । यद्यपि परमात्मप्रापकमार्गाश्शास्त्रे बहवस्सन्ति तथाप्योंकाराराधनं सर्वोत्कृष्टमेव । उक्तञ्च ब्रह्मसूत्रे–"ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानमिति" सकल शास्त्रान्यतमाभ्यासजनितजनानुरागानुमोदनाद्वैहिका-

नेकसुखम्, अनुभवतामेतदाराधनतो महत्पदवीं प्राप्नुवतां-भवतामाचरणे जनस्तदनुरागी भविष्यतीति।

मैंने इस द्वितीयाऽवृत्तिमें पहिलेसे और भी विषय पुष्ट करदिया है।

इस ग्रन्थमें जहां कहीं दृष्टिदोषसे अथवा प्रेसके दोषसे अक्षर, मात्रा, शब्दादिकी त्रुटि होगई हो उसको सज्जन लोग कृपा कर सुधारलेंगे।

मैंने लोकोपकारार्थ इस पुस्तकके पुनर्मुद्रणादि सर्वाधिकार "**श्रीवेङ्कटेश्वर**" छापेखानेके स्वत्वाधिकारी सेठ **खेमराज श्रीकृष्णदासजी** को सादर समर्पण किया है। दूसरे कोई इसके छापनेका साहस न करें।

योगाऽभिलाषी-

श्रीसदाशिव नारायण चैं० ब्रह्मचारी,

बलुआघाट,

प्रयागराज.

अथ योगसन्ध्याकी अनुक्रमणिका।

योगसन्ध्याकी अनुक्रमणिका ।

इति योगसन्ध्याकी अनुक्रमणिका ।

॥ ॐ ॥

भाषाटीकासहिता
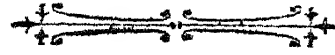
श्रीपरब्रह्मस्वरूपाय शिवाय गुरवे नमः ।

मंगलाचरणम् ।

जगद्व्याताय शान्ताय शिवायोङ्काररूपिणे ।
नमो विधाय लोकेभ्यो योगसन्ध्यां समारभे ॥

जो ओंकाररूप शिव चराचरमें व्याप्त हैं और शुद्ध शान्त स्वरूप हैं, उन परब्रह्म अविनाशी श्रीसदाशिवजीको नमस्कार करके लोकोंके कल्याणार्थ मैं योगसन्ध्याको आरम्भ करताहूँ ।

ब्रह्मस्तुतिः ।

यो देवेभ्यऽआतपति यो देवानाम्पुरोहितः ।
पूर्व्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥ १॥

जो परमात्मा सब देवताओंके ऊपर तपताहै अर्थात् जिसने अपने तेजके प्रभावसे सबको भयभीतकर रक्खाहै (वशमें कररक्खाहै) और जो देवताओंको उपदेश करनेवाला है अर्थात् जिसके योग्य जो कार्य है उसको उसमें योजना करनेवाला है जैसे सूर्यको सबका प्रकाशककार्य, वर्षाधिपति इन्द्रको देवोंके स्वा-

मित्र और यमको जीवोंके पुण्य पाप का निर्णयकर्ता, दंडका देनेवाला नियमित किया । ऐसे अन्योंको भी अथवा यज्ञादिकका उपदेश करनेवाला और तपके कर्मका बतलानेवाला है और जो देवताओंके पहिले उत्पन्न हुआ अर्थात् सृष्टिके पहिले विद्यमान था ऐसे प्रकाशमान परब्रह्मको नमस्कार है ।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै । तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

जिस परमात्माने सृष्टिके आदिमें ब्रह्माजीको उत्पन्न किया और जिसने उस ब्रह्माको वेदोंका संप्रदान किया अर्थात् ब्रह्माजीके हृदयमें वेदोंका प्रकाश किया उस बुद्धिके प्रकाश करनेवाले देवकी शरणको मैं मुमुक्षु प्राप्त होताहूं ।

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः । हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्व्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥

जो महर्षि (सर्वज्ञ) रुद्र संसारका स्वामी देवादिप्रपंचकी उत्पत्ति और स्थितिका कारण है और जिस रुद्र परमात्माने हिरण्यगर्भको सृष्टिके आदिमें उत्पन्न कियाहै वह परमेश्वर हमको सुन्दर बुद्धिसे संयोग करे अर्थात् सात्विक बुद्धिसे मिलावे ।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति

तपाᳪंसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति

तत्ते पदᳪं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥

ॐ

अवतीत्योम् ।
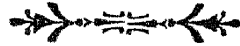
जो पालन करे अर्थात् त्रिविधतापोंका निवारण करे उसका नाम ॐ है ।

ॐकारके मुख्य दश नाम ।

ॐकारं[1] प्रणवं[2] चैव सर्वव्यापिनमेव[3] च ॥ अनन्तञ्च[4] तथा तारं[5] शुक्लं[6] वैद्युतमेव[7] च ॥ तुर्यं[8] हंसं[9] परब्रह्म[10] इति नामानि जानते ॥

इस **ॐकार** ईश्वरके दश नाम मुख्य हैं, और जैसा नाम है तदनुसार गुण भी हैं, इन नामोंके भाष्यकारोंने बहुत प्रकारसे अर्थ कियेहैं परन्तु विस्तारके भयसे नहीं लिखे ।

कठवल्लीउपनिषद् ।

एतदेवाक्षरं ब्रह्म चैतदेवाक्षरं परम् । एतदेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् । एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥

यही अक्षर अपरब्रह्म (सगुण) और परब्रह्म (निर्गुण) है इसी अक्षर ब्रह्मको जाननेसे ब्रह्मलोक प्राप्त होकर मनुष्य मुक्त होजाताहै । यही उत्तम आधार है । यही उत्तम तारक है । इसको जानके ब्रह्मलोकमें पूजित होताहै ।

पाद्मे–

चतस्रस्तस्य मात्राः स्युरकारोकारकौ तथा ।
मकारश्चावसानेऽर्द्धमात्रेति परिकीर्तिता ॥

उसकी अर्थात् इस प्रणवकी चार मात्रा है **अकार, उकार, मकार** और अन्तमें **कारणरूप** आधी मात्रा है ।

अकार उच्यते रुद्रो मकारश्च पितामहः ।
उकार उच्यते विष्णुस्तत्परं ज्योतिरोमिति ॥

अकार **रुद्र म**कार **ब्रह्मा** और **उ**कार **विष्णु** कहे जाते हैं, तीनों मिलके **ॐ** हुआ इसीको **परम ज्योति** कहते हैं । कहीं **अ**कार **विष्णु म**कार **महादेव** और कहीं अन्य प्रकार भी कहा है ।

---

१ यह चार मात्राका वर्णन नृसिंहतापनीयोपनिषद्में है ।

वायुपुराणे–मात्राश्चात्र चतस्रस्तु विज्ञेयाः परमार्थतः । तत्र युक्तश्च यो योगी तस्य सालोक्यतां व्रजेत् ॥

मार्कण्डेयपु०–"मात्रा सार्द्धाश्च तिस्रश्च विज्ञेयाः परमार्थतः । तत्र युक्तस्तु यो योगी स तल्लयमवाप्नुयात् ॥ व्यक्ता तु प्रथमा मात्रा द्वितीयाऽव्यक्तसंज्ञिता । मात्रा तृतीया चिच्छक्तिरर्धमात्रा परं पदम् ॥"

ध्यानबिन्दूपनिषदि–"ह्रस्वो दहति पापानि दीर्घः संपत्प्रदोऽव्ययः । अर्धमात्रा-समायुक्तः प्रणवो मोक्षदायकः ॥" ब्रह्मविद्योपनिषदि "तिस्रो मात्रास्तथा ज्ञेयाः सोमसूर्याऽग्निरूपिणः । शिखा तु दीपसंकाशा तस्मिन्नुपरि वर्त्तते । अर्धमात्रा तथा ज्ञेया प्रणवस्योपरि स्थिता ॥

२ सारसंग्रहे–"ऋग्वेदः स्यादकारान्त उकारान्तं यजुर्मतम् । सामवेदो मकारान्तः सर्वग्राही ततो ध्रुवः । अकारः सोमरूपोऽथ उकारः सूर्य एव तु । मकारश्च महावह्निरिति तेजस्त्रयात्मकः ॥" देवीभागवते–'अकारो भगवान् ब्रह्माप्युकारः स्याद्धरिः स्वयम् । मकारो भगवान्रुद्रोऽप्यर्द्धमात्रा महेश्वरी ॥ उत्तरोत्तरभावेनाऽप्युत्तमत्वं स्मृतं बुधैः ॥"

पूर्वत्र भूश्च ऋग्वेदो ब्रह्माष्टवसवस्तथा । गार्हपत्यश्च गायत्री गङ्गा प्रातःसवस्तथा ॥ द्वितीया च भुवो विष्णू रुद्रोनुष्टुब् यजुस्तथा । यमुना दक्षिणाग्निश्च माध्यन्दिनसवस्तथा ॥ तृतीया च सुवः सामान्यादित्यश्च महेश्वरः । अग्निराहवनीयश्च जगती च सरस्वती ॥ तृतीयं सवनं प्रोक्तमथर्वत्वेन यन्मतम् । चतुर्थी यावसानेऽर्द्धमात्रा सा सोमलोकगा ॥ अथर्वाङ्गिरसः संवर्तकोऽग्निर्मरुतस्तथा । विराट् सभ्यावसथ्यौ च शुतुद्रिर्यज्ञपुच्छकः ॥ प्रथमा रक्तवर्णा स्याद्द्वितीया भास्वरी मता । तृतीया विद्युदाभा स्याच्चतुर्थी शुक्लवर्णिनी ॥

(अ) पहिली अकाररूप मात्रामें **भूर्लोक, ऋग्वेद, ब्रह्मदेव, आठवसु, गार्हपत्य अग्नि, गंगा नदी, गायत्री छन्द** और प्रातः सवन ये निवास करतेहैं (उ) दूसरी उकारमात्रामें **भुवर्लोक, विष्णु, रुद्र, अनुष्टुप्छन्द, यजुर्वेद, यमुना नदी, दक्षिणाग्नि** और **माध्यन्दिन** सवन ये देवता निवास करतेहैं (म) तीसरी मकारमात्रामें **स्वर्लोक सामवेद, आदित्य, महेश्वर, आहवनीयाग्नि, जगती छन्द, सरस्वती नदी, अथर्ववेद** और तृतीय सवन ये निवास करतेहैं (अर्द्धमात्रा) चौथी **अर्द्धमात्रा**में **सोमलोक, अथर्वाङ्गिरस गाथा, संवर्तक अग्नि, महर्लोक, विराट् सभ्य, आवसथ्य अग्नि, शुतुद्री नदी** और **यज्ञपुच्छ** ये देवता निवास करतेहैं ॥ पहिली मात्रा **रक्तवर्ण** (लाल) दूसरी **भास्वर** प्रकाशमय, तीसरी **बिजलीकी वर्ण** कीतरह और चौथी मात्रा **श्वेतवर्ण** है ॥

---

१ मतान्तरे—'कपिलगीतायां'—''ह्रस्वमात्रा दीर्घमात्राः प्लुतमात्रा प्रभेदतः।अर्द्धमात्राप्यनुचार्या मात्राः पंचकसंज्ञिताः॥१॥अकारश्च उकारश्च मकारश्च त्रिमात्रिकम्।ईकारश्चैव ऐकारः पंचकं मातृसंज्ञिकम् ॥ २ ॥ ग्रन्थान्तरोंमें और बहुत मात्रायें कही हैं ।

अपरं च इस महामन्त्रकी व्याख्या कहांतक कोई करेगा वेद शास्त्र पुराणादि सब इसके अभ्यन्तर हैं । इसी महामन्त्रकी वन्दना **शेष शारदा** और **ऋष्यादि** अहर्निश किया ही करतेहैं परन्तु वन्दना पूरी नहीं होती तो मनुष्य अल्पज्ञ कहांतक करेगा और लिखेगा केवल अपनी बुद्धिकी सीमा ही पहुंचाना है चाहे मनुष्य वेदशास्त्र सम्पन्न क्यों न हो परंतु विना तपस्याके इस मन्त्रका स्वाद दुर्लभ है "यथा–**अधीत्य** सर्वशास्त्राणि वेदान्साङ्गांश्च नारद । न जानाति तयोः सूक्ष्ममन्तरं विरतिं विना॥" हे नारद सब शास्त्रों और अंगसहित वेदोंको भी क्यों न पढले परन्तु जब तक अंतःकरणमें दृढ वैराग्य नहीं है तबतक वेदशास्त्रोंके तत्त्वको नहीं जान सकता अर्थात् **परब्रह्म** क्या है किस प्रकार जाना जाता है यह नहीं जान सकता ।

यही तारक मन्त्र है जिससे " न स पुनरावर्तते " अर्थात् जिसको जाननेसे फिर जन्म नहीं लेता इस लिये साधक (अभ्यासी) इसको साधनचतुष्टयसम्पन्न हो अभ्यास करे ॥

साधनचतुष्टय ।

(प्र०–नित्याऽनित्यवस्तुविवेकः) नित्य आत्मा और अनित्य देहादिप्रपञ्च । इस देहादिप्रपञ्चसे विरक्त होके आत्माको पहिचानना यह प्रथम साधन है ॥

(द्वि०—इहामुत्रार्थफलभोगविरागः) इह नाम इस लोकमें राज्यसम्पत्त्यादिसुख–अमुत्र नाम वैकुण्ठ कैलास गोलोकादि स्वर्गलोकोंका सुख । इन दोनों विषयोंको प्रत्यक्षादिप्रमाणोंसे नाशवान जानके विरक्त होना । यह दूसरा साधन है ॥

(तृ०–शमदमादिषट्कसम्पत्तिः) "शमः कः, मनोनिग्रहः" दुष्टवासनासे मनको लौटाना–"दमः कः, चक्षुरादिबाह्येन्द्रियनिग्रहः " रूपादिविषयोंसे नेत्र कान आदि इन्द्रियोंको रोकना–" तपः किम्, स्वधर्मानुष्ठानम् " ब्रह्मकर्म करना अथवा कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रत करना अर्थात् वर्णादि धर्ममें तत्परता–

---

१ योगवासिष्ठे–"आचक्ष्व शृणु वा तात नाना शास्त्राण्यनेकशः । तथापि तव स्वास्थ्यं न सर्वविस्मरणादृते॥" भागवते–"शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात्परे यदि । श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः ॥"

"तितिक्षा का, शीतोष्णसुखदुःखादिसहिष्णुत्वम्" ठण्ढा गर्म सुख दुःख इनको समान समझना अर्थात् सुख होने पर बहुत हर्ष नहीं करना और दुःख होने पर घबराना नहीं इसी प्रकार शीत उष्ण समझना और अपराध नहीं होते किसीने सताया हो तो भी क्रोध न करके सहन (क्षमा) करलेना— "श्रद्धा कीदृशी, गुरुवेदान्तवाक्यादिषु विश्वासः" सद्गुरुका कहा हुआ जो वेदवाक्य उसको विश्वाससे सत्य मानके स्वात्मरूपका अनुभव करना- "समाधानं किम्, चित्तैकाग्रता" चित्तको एकाग्र करना और प्रारब्ध योगसे जिस समयमें जो राज्यादिसुख अथवा नाना प्रकारके दुःख मिलें इन दोनों विषयोंमें हर्ष विषाद नहीं करता हुआ स्वस्थ अर्थात् परमानन्दमें रहना यह तीसरा साधन है।

(चौ०—मुमुक्षुत्वं चेति, मोक्षो मे भूयादितीच्छा) मोक्ष मेरी कब होगी ऐसी इच्छा रखना अर्थात् जन्ममरणसे अलग कब होऊँगा और बुद्धिसे परे जो ब्रह्म उनको कब देखूंगा उनको दिखलानेवाले सद्गुरु कब प्राप्त होंगे, ऐसे अनुतापसे दिनरात उदासीन रहना यह चौथा साधन है।

इस प्रकार साधक साधनचतुष्टयसम्पन्न हो प्रणवका निरन्तर ध्यान करनेसे त्रिविध तापको उल्लंघन (लांघ) करके परमानन्दको प्राप्त होता है। (त्रिविध तापोंके नाम) आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक इनकी व्याख्या यह है कि "आध्यात्मिक" दिन रात अन्तःकरणमें घर स्त्री आदिकी चिन्तासे क्षणभर भी मनका समाधान न हो अथवा कामक्रोधादिकोंसे सुखी या दुःखी होना अथवा शरीरमें ज्वरादि अनन्त रोगोंसे अत्यन्त दुःख पाना "आधिभौतिक" व्याघ्र वृश्चिक (बिच्छू) चोर चुगुलादिसे त्रास पाना "आधिदैविक" अनावृष्ट्यादिकोंसे अथवा दुष्कालादिसे दुःख पाना या भूतप्रेतादिसे व्याकुल होना। यह त्रिविध ताप दुःखका मूल और जन्म मरणका कारण है जहांतक कि प्रणवस्वरूपी परमात्माका ध्यान न किया जायगा तहांतक इन तापोंसे निवृत्त

१ सांख्यसूत्रे—"अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।" अर्थ—त्रिविध दुःखोंसे निवृत्त (छूटना) होना यही परमपुरुषार्थ है— 'अत्यन्त दुःखनिवृत्त्या कृतकृत्यता" अर्थ—अत्यन्त दुःख निवृत्त होनेसे मुक्ति होती है।

होना दुर्लभ है । साधनचतुष्टयसंपन्न अभ्यासीको तो प्रणवका पूरा आनन्द प्राप्त होताहै । यदि थोडे ही कालमें इस महामन्त्रका कुछ आनन्द देखनेकी इच्छा हो तो साधक एकान्त स्थान अर्थात् जहां पर दूसरेका शब्द श्रवणमें न आवे उस स्थलमें मनको एकरूप करके सिद्धासनसे या जिस आसनमें सुख पूर्वक बैठता हो बैठ, सीधा शरीर कर प्रणवका जप कुछ कालपर्यन्त नित्य किया करे परन्तु नेत्रोन्मीलन (आंख मूँद) करके अथवा नासिकाग्रदृष्टिसे प्रणवके रूपको देखता रहै जैसा कहा है ।

सिद्धासनं[१] समारुह्य समकायशिरोधरः ।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोङ्कारमव्ययम् ॥

इस तरहसे साधक अभ्यासको करता हुआ थोडेही कालमें अमृत सदृश आनन्दके बूंदोंका ग्रहण करने लगजाताहै । परन्तु इसमें भी चित्त शुद्ध किये विना कुछ नहीं (शून्यवत्)

इसलिये प्रथम मनको शुद्ध करना चाहिये क्योंकि यह मन बालककी तरह अज्ञान है अर्थात् जैसे बालकके साथ परिश्रम करनेसे बालक सुमार्गी होजाताहै इसी तरहसे महात्मा (सत्पुरुष) लोग मनके संग परिश्रम कर अर्थात् शनैः शनैः वैराग्यमार्गको दिखलाते२, दुःखरूपी विषयोंसे मनको हटाते२, परमात्माके विलक्षण चरित्रोंको दर्शाते २, इस जगत्के प्रपञ्चको धिक्कारते २ परमानन्दस्वरूपको प्राप्त करादेतेहैं फिर वह मन विषयोंको कदापि ग्रहण नहीं करता । यथा—

ततो मनः प्रगृह्णाति परमात्मानमव्ययम् ।
यत्तदृश्यमनाग्राह्यमस्थूलाद्युक्तिगोचरम् ॥

---

१ कूर्मपुराणे—"दम्भाहङ्कारसंयुक्तो निन्दापैशुन्यवर्जितः । अभ्यसेत्सततं [illegible]वाख्यं सनातनम् ॥" योगशिखोपनिषदि—"नासाग्रे दृष्टिमारोप्य हस्तपादौ च संयतौ मनस्सर्वत्र संगृह्य ॐकारं तत्र चिन्तयेत् ॥" श्रीमद्भागवते—"देशे शुचौ समे राजन्संस्थाप्यासनमात्मनः । स्थिरं समं सुखं तस्मिन्नासीतर्ज्वंग ओमिति ॥" ध्यानबिन्दूपनिषदि—हृत्पद्मकर्णिकामध्ये स्थिरज्योतिनिभाकृतिम् । अंगुष्ठमात्रमचलं ध्यायेदोंकारमीश्वरम् ॥"

यह मन अविद्याका अंश होनेसे इसमें जडता विशेष है क्योंकि इसीके संग होनेसे पुरुषको संसारकी प्राप्ति हुईहै ।

स विज्ञानात्मकस्तस्य मनः स्यादुपकारकम् ।
तेनाविवेकजस्तस्मात्संसारः पुरुषस्य तु ॥

यद्यपि यह विज्ञानात्मा है परन्तु मनका संग होनेसे अज्ञानके कारण इस पुरुषको संसारकी प्राप्ति हुईहै । इससे इसकी जडता (अज्ञानता) वैराग्यरूपी दंड और अविनाशी प्रणवस्वरूप श्रीसदाशिवजीके चरणके ध्यानरूपी अंकुशसे होजातीहै अर्थात् ध्यानके आनन्दसे मन स्वयं लय होजाताहै जैसे "बाघसे हरिण"

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत् ॥

इस श्रुतिके अनुसार अपने देहको अरणी करके ॐकारको उत्तर अरणी करे और ध्यानरूपी मथनीके अभ्याससे मथता छिपेहुए ॐकाररूपी परमेश्वरको अग्निकी तरह देखे यह ध्यानका क्रम है ।

अरण्योर्मथनाद्यद्वदग्निः सर्वत्र दाहकः ।
अविश्वासो न कर्तव्यः आविर्भावो निजात्मकः ॥

जैसे अरणी नामकी लकडी घिसनेसे सब काष्ठोंकी जलानेवाली अग्नि सर्व-काष्ठोंमें प्रकट होतीहै इसी प्रकार विश्वास करके ध्यान करनेसे अपना आत्मा अपनेको प्रकट दिखाई देताहै ॥

परन्तु विश्वास आदिका कारण मन ही है । जिस मनका वायुसे अधिक वेग, श्रेष्ठ नेष्टको स्वीकार करनेवाला, वासनाका रूप, सुख दुःखका मूल,

---

१ सांख्यसूत्रे—"महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः–अर्थ–प्रकृतिका प्रथम कार्य महत्तत्व है वह महत्तत्त्व निश्चय करनेवाली बुद्धिवृत्ति मन है ॥" योगवाशिष्ठे–स आत्मा सर्वगो राम नित्योदितमहावपुः । यन्मनाङ्मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते ॥ भागवते–"मनः सृजति वै देहान्गुणान्कर्माणि चात्मनः । तन्मनः सृजते माया ततो जीवस्य संसृतिः ॥ न्यायमुक्तावल्यां साक्षात्कारे सुखादीनां करणं मन उच्यते ।

जिसकी चंचलताका नियम नहीं ऐसे मनको बिना निदिध्यासके कैसे कोई वश करसकता है । यह मन दो प्रकारका है—यथा—मैत्रेय्युपनिषदि—

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।
अशुद्धं कामसंपर्काच्छुद्धं कामविवर्जितम् ॥

मन दो प्रकारका है एक शुद्ध और दूसरा अशुद्ध जो सकाम अर्थात् कामक्रोधयुक्त है वह मन अशुद्ध और इनसे रहित हो वह शुद्ध कहागयाहै ॥ और जब यही मन विचार करनेसे शुद्ध होताहै तब आप ही अद्वैत (आत्मा) की प्राप्ति होती है —योगवासिष्ठे—

मनो दृश्यमिदं सर्वं यत्किंचित्सचराचरम् ।
मनसो ह्युन्मनीभाव अद्वैतमेव लभ्यते ॥

संसारमें चर और अचर यह जो कुछ दीखताहै यह सब मनहीका दृश्य है अर्थात् वास्तवमें कुछ नहीं और मनके लय होजाने पर पुनः द्वैतभाव नहीं रहता अर्थात् आत्माका लाभ होताहै ॥ इस लिये हरएक प्रकारसे मनहीका निरोधं करना चाहिये ॥

यह मन हृदयमें अष्टदल कमल पर विचरता रहताहै यथा (ध्यानबिन्दूपनिषदि)

पूर्वदले पीतवर्णे यदा विश्रमते मनः ।
तदा धैर्ये तथौदार्ये धर्मकीर्त्तौ मतिर्भवेत् ॥ १ ॥

---

१ मार्कंडेयपुराणे—"निर्जितेन्द्रियवर्गस्तु त्यक्त्वा संगमशेषतः । मनो ब्रह्मणि संधास्ये तज्जये परमो जयः॥" पाद्मे—"मनः करोति कर्माणि पातकैर्लिप्यते मनः । मनश्चेदुन्मनी भूयान्न धर्मैर्नापि पातकैः । उदकेन भवेत्पंकः स च तेनैव शुद्ध्यति । मनः करोति वै कर्म मुच्यते मनसैव तत्" (गौडपादीयकारिका) मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम् । दुःखक्षयः प्रबोधश्चाऽप्यक्षया शान्तिरेव च ॥" योगवाशिष्ठे—"एकं एव मनो देवो ज्ञेयः सर्वार्थसिद्धिदः । अनेन विफलः क्लेशः सर्वेषां तज्जयं विना" ब्रह्मबिन्दूपनिषदि—"निरस्तविषयासङ्गं सन्निरुद्धं मनो हृदि । यदायात्युन्मनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥ तावदेव निरोधव्यं यावद्धृद्दिगतं क्षयम् ॥ एतज्ज्ञानं च मोक्षं च अतोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः ॥"

अग्निकोणदले रक्ते यदा विश्रमते मनः ।
तदा निद्रालुतालस्ये मंदा बुद्धिश्च जायते ॥ २ ॥
कृष्णवर्णे दक्षदले यदा विश्रमते मनः ।
तदा क्रोधे च द्वेषे च दुष्टत्वेऽपि मतिर्भवेत् ॥ ३ ॥
नैर्ऋत्ये नीलवर्णे च यदा विश्रमते मनः ।
तदा स्त्रीपुत्रवित्तादिमोहजाले भवेन्मतिः ॥ ४ ॥
पश्चिमे कपिले वर्णे यदा विश्रमते मनः ॥
तदा हास्ये विनोदे च ह्यानंदे च भवेन्मतिः ॥ ५ ॥
वायव्ये श्यामवर्णे च यदा विश्रमते मनः॥
तदा तीर्थाटनं कृत्वा वैराग्यं प्राप्नुयान्नरः ॥ ६ ॥
उत्तरे पीतवर्णे च यदा विश्रमते मनः ।
तदा शृङ्गारभोगादिकरणे च भवेन्मतिः ॥ ७ ॥
ऐशाने गौरवर्णे च यदा विश्रमते मनः ।
तदा दयाक्षमाशान्तिज्ञानादौ च भवेन्मतिः ॥ ८ ॥
सन्धौसन्धौ मिश्रवर्णे यदा विश्रमते मनः ।
तदा रोगादिभिर्ग्रस्तो जायते च सदा ध्रुवम् ॥९॥
मध्यभागे सदा वर्णे यदा विश्रमते मनः ।
तदा शान्तौ समाधौ च चैतन्ये च भवेन्मतिः॥ १०॥

इस प्रकार मनके चलनेकी गति है और इसीसे कहाभी है कि "नानाविधा मनोभेदाः" इस मनके अनेकों प्रकारके भेद हैं ॥ तथा च श्रुतिः—"कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एवेति" अर्थ—कामोंकी कल्पना, विचिकित्सा (संशय) श्रद्धा, अश्रद्धा, धीरजता, अधीरजता, विवेक, लज्जा और भय ये सब मनहीके कार्य हैं ॥ और भी कथन (मन क्या है

देवीभा०—इंद्रयणां च प्रवरमीश्वरांशमनूडकम् । प्रेरकं कर्मणां चैव दुर्निवार्यं च देहिनाम् ॥ अनिरूप्यमदृश्यं च ज्ञानभेदो मनः स्मृतम् । लोचनं श्रवणं घ्राणं त्वक् च रसननिन्द्रियम् । अङ्गिनामङ्गरूपं च प्रेरकं सर्वकर्मणाम् । रिपुरूपं मित्ररूपं सुखरूपं च दुःखदम् ॥ अर्थ—इंद्रियोंमें श्रेष्ठ ईश्वरका अंश अर्थात् ईश्वर परमात्माका विम्बभूत, इंद्रियविकार करनेवाला, देहधारियोंके स्वाधीन न रहनेवाला, निरूपण करनेमें अशक्य, देखनेमें आनेवाला और बुद्धिके भेदवाला मन है । उसको ज्ञानेंद्रिय कहतेहैं, नेत्र कान, नासिका, त्वचा, रसना इंद्रियोंका तथा अंगियोंका अवयवरूप और सब कर्मोंका प्रेरक है । इन्द्रियोंमें आसक्त होनेसे रिपुरूप दुःखदायी होता है । सद्विषयोंमें आसक्त होनेसे मित्ररूप सुखदायी है इस लिये इसकी समझ बहुत करके सद्गुरुहीसे प्राप्त होतीहै । अथवा पूर्णरीतिसे निदिध्यास करनेसे स्वयं मिलतीहै—जब इस मनको साधनादिसे शुद्ध कर एकदेश (एकाग्र) में लावे तब महामन्त्ररूपी धनुष और आत्मारूपी बाणसे निशानारूप ब्रह्ममें वेधे (लगावे-मारे) तब परमानन्दकी प्राप्ति होतीहै । जैसी श्रुति है—

प्रणवो[1] धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

परन्तु आत्मा क्रम २ से प्राप्त होता है ।

यथा श्रुतिः । तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः । एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥ २ ॥

जैसे तिलोंमें तेल, दधिमें घी, स्रोतोंमें जल, अरणियों (लकडी) में अग्नि ऐसे आत्मामें ही यह आत्मा ग्रहण किया जाताहै जो सत्य और तप-

---

१ भागवते—अक्षं दशप्राणमधर्मधर्मौ चक्रेऽभिमानं रथिनं च जीवम् । धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम् ।

२. घृतमिव पयसि निगूढं भूतेभूते च वसति विज्ञानम् । सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थानभूतेन ॥

स्यासे इसे देखताहै उस पुरुषसे यह देखा जाता है अर्थात् श्रवण मनन निदिध्यासके करनेसे ही आत्माको देख सकताहै। जैसा कहा है—

एवं सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

यह संपूर्ण भूतोंमें गुप्तरूप आत्मा प्रकाशित नहीं होता परन्तु संपूर्णमें वर्त्तमान है सूक्ष्मदर्शी अर्थात् श्रवण मनन निदिध्यासन साधना करनेवाले पुरुषोंको उग्र बुद्धिसे दीखताहै दूसरे मनुष्यको नहीं॥

इस विद्याके अभिलाषी पुरुष प्रथम तो पात्र हो और द्वितीय सत्पुरुषके समीप सत्संग करके अभ्यास करे तब वह अधिकारी होताहै, कारण कि विना पात्रत्वके उत्तम वस्तु देने पर ठहर नहीं सकती जैसा पिघला हुआ घी पत्तेपर रखनेसे पृथ्वीपर गिर पडताहै इसी तरह अधिकार प्राप्त हुए विना भार नहीं संभाल सकता अर्थात् जैसे अमीरोंको घृत दुग्ध अधिक सेवन करनेसे बादी करके शरीर फूल जाताहै आधा मील चलना कठिन होजाताहै और वही परिश्रम करनेवालेको वीरता देता है। पहलवान (मल्ल) होतेहैं इसका सारांश पाचनशक्ति है, पचनेसे अर्थात् शनैः २ अभ्यास करनेसे ज्ञानकी प्रबलता और कामक्रोधादिरूपी विकारोंसे आरोग्यता रहतीहै और न पचनेसे अर्थात् अभ्यास न करनेसे और केवल वाग्विलास ही रखनेसे अभावरूपी मन्दाग्नि उत्पन्न होकर नाना प्रकारके कामक्रोधादिकोंके दुःखरूपी रोगोंकी वृद्धि होती है जिससे फिर कहांका कहां चला जाता है—

जैसा कि वर्त्तमान कालमें अनधिकारियोंके घरमें भी बहुत ग्रन्थ रक्खेहैं तो क्या वह पढनेसे अधिकारी होगये, नहीं नहीं, उनको अभावरूपी मन्दाग्नि है और भी वर्त्तमान कालमें जिनको कामादिककी चेष्टा है वह पुरुष बहुत करके वेदान्ती और शाक्त होतेहैं क्योंकि धर्मशास्त्र ग्रन्थ माननेसे इच्छानुसार भोजन

---

१ तु. रा. " कहत कठिन समुझत कठिन साधन कठिन विवेक। होइ घुनाक्षरन्याय ज्यों पुनि प्रत्यूह अनेक॥" २ भागवते—"नाश्नतः पथ्यमेवान्नं व्याधयोऽभिभवन्ति हि। एवं नियमकृद्राजञ्शनैः क्षेमाय कल्पते॥"

और कामादिकका सेवन यथार्थ रीतिसे नहीं होता इससे उनको वेदान्तग्रन्थ अवलोकन करना, ब्रह्मज्ञानी मनसे बनना यह बहुत पसन्द आताहै तो क्या केवल वाग्विलासहींसे अधिकारी होताहै नहीं १ लक्षण होना चाहिये जैसा-

मोहो मद्यं मतिर्मुद्रा माया मीनो मनः पलम् ।
मूर्च्छनं मैथुनं यस्य तेनासौ शाक्त उच्यते ।

मोह जो देहाभिमान वही है मदिरा, विषयभोगकी चिन्ता वही है मुद्रा, माया जो भ्रान्ति वही है मछरी, और मनके संकल्प विकल्प वही है मांस-इन चारोंको मूर्छित करके अर्थात् आधीन करके शान्तभावकी प्राप्ति यही मैथुनका आनन्द प्राप्त है जिनको उन्हींको शाक्त कहते हैं, केवल मद मांसके खानेसे शाक्त नहीं होसकता । ये शाक्तके लक्षण हैं । ये अधिकारी कहे जाते हैं । और श्रुति भी है कि मद्य (शराब-दारू) सेवन निषिद्ध है जैसे छान्दोग्य उ०

हिरण्यस्य सुरां पिबꣳश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्म हा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमाश्चाचरꣳस्तैरिति श्रुतेः ।

सुवर्णका चुरानेवाला, मदिरा पीनेवाला, गुरुकी स्त्रीसे भोग करनेवाला और ब्राह्मणका वध करनेवाला यह चार महापातकी गिरतेहैं अर्थात् इनकी अधोगति होतीहै और पांचवां जो उक्त महापातकियोंके साथ आचरण व्यवहार करता है । और वेदान्तीके लक्षण यह हैं-

चिन्ताशून्यमदैन्यभैक्ष्यमशनं पानं सरिद्वारिषु स्वातन्त्र्येण निरङ्कुशास्थितिरभीर्निद्रा श्मशाने

---

१ मनुः-वर्षेवर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः । मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् । नच प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ।।" अर्थ-जो सौ वर्ष तक प्रत्येक वर्षमें अश्वमेध यज्ञ करता है और जो मरणपर्यंत मांसको नहीं खाता उन दोनोंके पुण्यका फल स्वर्गआदिके समान है । प्राणियोंका मारना स्वर्गका कारण नहीं है अर्थात् जीवहिंसा करनेसे स्वर्ग न प्राप्त होकर नरकमेंही जाता है, इससे मांसका खाना छोडदेना चाहिये । महानिर्वाणतन्त्रे-"पिबेन्नातिशयं मद्यं शोधितं वाप्यशोधितम् । त्याज्यो भवति कौलानां दंडनीयोऽपि भूभृतः ।।"

वने॥ वस्त्रं क्षालनशोषणादिरहितं दिग्वास्तु शय्या मही संचारो निगमान्तवीथिषु विदां क्रीडा परे ब्रह्मणि ॥१॥

जो चिन्ता और दीनतासे रहित, भिक्षा माँगकर खाते, नदियोंका जल पीते, स्वाधीन होकर किसीके वशमें नहीं रहते और निर्भय रहतेहैं, श्मशान या वनमें सोजातेहैं, वस्त्रके धोने और सुखानेसे रहित, दिगम्बर (नग्न) रहना, भूमिमें सोना, वेदान्तरूपी मार्गोंमें विचरना है जिनका, ऐसे ब्रह्मवेत्ता ब्रह्ममें रमण करतेहैं ॥

क्वचिन्मूढो विद्वान् क्वचिदपि महाराजविभवः क्वचिद्भ्रान्तः सौम्यः क्वचिदनगराचारकलितः । क्वचित्पात्रीभूतः क्वचिदवमतः क्वाप्यविदितश्चरत्येवं प्राज्ञः सततपरमानन्दसुखितः ॥२॥

कहीं मूर्ख, कहीं पंडित, कहीं महाराजाके समान विभवधारी, कहीं भ्रान्तचित्त (पागल), कहीं सावधान, कहीं जङ्गलियोंकेसे आचरण युक्त, कहीं सत्पात्रसे दीखते, कहीं अपमानके योग्य, कहीं छिपे हुए इस प्रकार परमानन्दसे युक्त सुखपूर्वक बुद्धिमान ब्रह्मज्ञानी विचरतेहैं । ये वेदान्ती कहे जाते हैं, इस प्रकारसे रहनेवालेको ब्रह्मज्ञानी कहना चाहिये ।

ऐसे स्थितिवाले यदि कर्म उपासनाका परित्याग करदें तो कुछ हानि नहीं ।

आत्मानमात्मना पश्यन्न किञ्चिदिह पश्यति ।
तदा कर्मपरित्यागे न दोषोस्ति मतं मम ॥

जब ज्ञानी आत्मासे आत्माको देखे और सब वस्तुका अभाव जानपडे तब कर्मको त्यागदेनेमें कुछ दोष नहीं यह हमारा मत है । (यह शिवसंहितामें श्रीशिवजीमहाराजका वचन है) । और भी मैत्रेय्युपनिषद्का वचन है—

मृता मोहमयी माता जातो बोधमयः सुतः ।
सूतकद्वयसंप्राप्तौ कथं संध्यामुपास्महे ॥

मोहरूपी माता मरी और बोध (ज्ञान) रूपी पुत्र उत्पन्न हुआ तो दो सूतकके लगनेसे कैसे सन्ध्योपासन करें ।

हृदाकाशे चिदाऽदित्यः सदा भासति भासति ।
नास्तमेति न चोदेति कथं सन्ध्यामुपास्महे ॥

हृदयरूपी आकाशमें चैतन्यरूपी सूर्य सदैव (हमेशा) प्रकाशमान है वह न कभी अस्त होताहै न उदय होता है तब हम सन्ध्या कैसे करें ॥ यह शुद्ध ज्ञानियोंके वास्ते ही क्रम है क्योंकि ऐसी स्थितिवाले कोई विरलेही होतेहैं यथा श्रुतिः "कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत" कोई धीर पुरुष आत्माको सर्वत्र देखतेहैं और यही पुरुष–

संवीतो येन केनाश्नन् भक्ष्यं वाभक्ष्यमेव वा ।
शयानो यत्र कुत्रापि सर्वात्मा मुच्यतेऽत्र सः ॥

जीवन्मुक्त किसी प्रकारके वस्त्र धारणकरे वा नग्न रहे भक्ष्य अथवा अभक्ष्य कुछ भी खाय, चाहे जहां शयन करे वह प्रारब्धकर्मके क्षय (नाश) होजानेसे मुक्त होजाताहै ।

तीर्थे चाण्डालगेहे वा यदि वा नष्टचेतनः ।
परित्यजन्देहमिमं ज्ञानादेव विमुच्यते ॥

तीर्थमें व चण्डालके घरमें देह त्याग करे अथवा ब्रह्मका चिंतन करता हुआ किंवा अचेतन होकर मृतक होजाय वह ज्ञानके बलसे मुक्त ही होजाताहै ।

परन्तु यह बात स्मरण रहे कि यह आचरण साधक अवस्थाके नहीं हैं अर्थात् जब साधनचतुष्टय सिद्ध नहीं हुआ और बीचहीमें उक्त आचरणको धारण कर लिया तो वह शुद्ध ज्ञान नहीं कहा जायगा किन्तु नीचे गिरनेका मार्ग लिया जैसा "प्रथम" साधन नित्यानित्यके निर्णयमें उनको नित्य, परमात्मा, अविनाशी यही निश्चयहो अनित्यका ख्याल ही नहीं होता अर्थात् सब प्रकारसे प्रपंचरहित आत्माहीको देखते रहते हैं– "दूसरा" इस लोकका सुखादि और वैकुंठ स्वर्गादिके सुखादिकोंकी कभी इच्छा उत्पन्न ही नहीं होती ऐसे ही

" तीसरा " शमदमादिमें भी अर्थात् मन कभी किसी प्रकारकी कल्पना ही नहीं करता तब निरोध किसका किया जाय कारण कि " वल्कलानि तथा पश्चाल्लभते सारमुत्तमम् " जैसे केला (कदली) के छिलकोंको निकालते २ उत्तम सार प्राप्त होजाय ऐसे मनके विकल्परूपी छिलकोंका नाश करके साररूपी आत्मा प्राप्त कर लियाहै जिन पुरुषोंने, पुनः उनको किसी प्रकारकी इच्छाका क्या प्रयोजन रहा, एवं सिद्ध अवस्थामें विचरते सुख दुःख, शीत उष्ण, मानाऽपमान, राग द्वेष आदिसे रहितहुए पुरुषकी उक्त स्थिति कही श्रुतिः-"तरति शोकमात्मवित् इति" ये ही पुरुष त्रिविध तापरूपी शोकोंसे तरताहै । "श्रुतिः मुण्डके-स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्या-ब्रह्मवित्कुले भवति । तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति । अर्थ-जो कोई निश्चय कर एक अद्वितीय ब्रह्महीको जानताहै वह ब्रह्मही होताहै और उसके कुलमें ब्रह्मका न जाननेवाला नहीं होता और शोकको तरताहै, पापको तरताहै अर्थात् इनसे निवृत्त होजाता है और गुहा अर्थात् बुद्धिके अज्ञानरूपी भ्रमसे छूटकर मुक्त होजाता है । वही ब्रह्मको प्राप्त होताहै और वह ब्रह्मरूप ही है । यथा श्रुतिः-

" ब्रह्मविदाप्नोति परम् । ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति ॥

जो गृहस्थ विना स्थितिके कर्म, उपासनाका त्याग कर वेदान्त पर प्रीति करताहै वह अवश्य ही अधोगतिका अधिकारी होताहै इसमें कुछ संदेह नहीं।

वेदान्तको संन्यासी, ब्रह्मचारी व गृहस्थही जिसने प्रपंचको त्याग दिया है वह सत्पुरुषके पास जाकर उपदेशले धारण करे तब तो ठीक है और दूसरेको तो वही मन्दाग्निही है इसीसे विना चित्तशुद्ध किये वेदान्तशास्त्रका अधिकारी नहीं होता, अर्थात् जब त्याग वैराग्यकी इच्छा करे तब सद्गुरुके पास जाकर वेदान्तशास्त्रको श्रवण करे । यथा शुकरहस्योपनिषदि-

---

१ पंचदश्यां-"य एवं ब्रह्मवेदैव ब्रह्मैव भवति स्वयम् । ब्रह्मणो नास्ति जन्मातः पुनरेष न जायते ॥

श्रवणं तु गुरोः पूर्वं मननं तदनंतरम् ।
निदिध्यासनमित्येतत्पूर्णबोधस्य कारणम् ॥

पहिले गुरुमुखसे श्रवण अथवा अध्ययन (पढना) करे पश्चात् उस श्रवण करीहुई विद्याको मनन (विचार) करे तदनन्तर अभ्यास पर आरुढ हो तब वह पूर्णबोधका अधिकारी होताहै तभी उसको आनंदानुभव प्राप्त होताहै । गुरुके पास जानेका क्रम–श्रुतिमुण्डके–

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।

वह समिध (गुरुके उपयोगवस्तु) हाथमें लिये नम्रतापूर्वक विशेष ज्ञानके लिये (परमपदप्राप्त्यर्थ) वेदशास्त्रसंपन्न दयावान ब्रह्मनिष्ठ अर्थात् तपश्चर्या करनेवाले गुरुके समीप शरणको प्राप्त होय । सेवामें तत्पर होजावे क्योंकि सद्गुरुकी प्रसन्नतासे आत्मदर्शनका लाभ होता है यथा महामुनिकपिलवचनम्–

अनेकजन्मसंस्कारात्सद्गुरुः सेव्यते बुधैः ।
संतुष्टः श्रीगुरुर्देव आत्मरूपं प्रदर्शयेत् ॥

बहुत जन्मोंके पुण्य उदय होनेसे पंडित लोग सद्गुरुकी सेवा करतेहैं तब वह श्रीगुरुदेव संतुष्ट (प्रसन्न) हो समझा बुझाके आत्मरूपको दिखातेहैं ।

---

१ योगशिखोपनिषदि–"कर्णधारं गुरुं प्राप्य तद्वाक्यं प्लववद् दृढम् । अभ्यासवासनाशक्त्या तरन्ति भवसागरम् ॥" २ गीतायां–"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया । उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।" गुरुलक्षणं ब्रह्मोत्तरखण्डे–"गुरवो निर्मलाः शांताः साधवो मितभाषिणः । कामक्रोधविनिर्मुक्ताः सदाचारा जितेन्द्रियाः ॥ एतैः कारुण्यतो दत्तो मन्त्रः क्षिप्रं प्रसिध्यति ॥" शिष्यलक्षणम्–नवरत्नेश्वरे–"शान्तो विनीतः शुद्धात्मा श्रद्धावान् धारणक्षमः । समर्थश्च कुलीनश्च प्राज्ञः सच्चरितो यती ॥ एवमादिगुणैर्युक्तः शिष्यो भवति नान्यथा ॥" पाद्मे–"श्रद्धालुर्मुक्तिमार्गेषु वेदान्तज्ञानलिप्सया । उपायनकरो भूत्वा गुरुं ब्रह्मविदं व्रजेत् ॥" आत्मपुराणे–"इदं सुदुर्लभं ज्ञानं जन्मकोटिशतायुतैः । प्राप्यते पुरुषव्याघ्रैर्गुरुशुश्रूषणादिना ॥"

कारण कि जाना हुआ भी अर्थात् पढा भी है तथापि विना गुरूके भ्रम नहीं निवृत्त होताहै। यथा—योगवाशिष्ठे—

स्वकण्ठेऽपि स्थितं वस्तु यथा न प्राप्यते भ्रमात्।
भ्रमान्ते प्राप्यते तद्वदात्मापि गुरुवाक्यतः॥

जिस प्रकार अपने कण्ठ (गला) में स्थित हुई मालादिक वस्तु भ्रमसे नहीं मिलती और भ्रमका विनाश होजाने पर मिल जाती है इसी प्रकार गुरुओंके उपदेशसे आत्माकी प्राप्ति होजातीहै और केवल पुस्तकोंको बाँच याद करलेनेसे कर्म उपासनाका भी त्याग होजाताहै जो कर्म उपासना मरणपर्यंत गृहस्थको त्यागना योग्य नहीं है। जैसी श्रुतिहै—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे॥

कर्मको करताही हुआ सैकडों वर्ष जीनेको चाहो, ऐसा ही करनेसे दुष्कृति (पाप) से लिप्त न होगे दूसरी तरह नहीं, किन्तु कर्महीसे तुम्हारी सद्गति होगी इसमें सन्देह नहीं। और केनोपनिषद्में कहाहै कि तप, दम कर्मादिसे ही ब्रह्मविद्या प्राप्त होतीहै यथा—

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्।

जिसकी अर्थात् ब्रह्मविद्याप्राप्त्यर्थ तप,दम,कर्म आदि उपाय हैं। शिक्षा आदि छः अंगों सहित वेद चार चरणवत्हैं और सत्य निवासस्थानहै।क्या पूर्वके ऋषिलोग

---

१ भागवते—"अथाग्रे ऋषयः कर्माणीहन्ते कर्महेतवे। ईहमानो हि पुरुषः प्रायोऽनीहां प्रपद्यते॥" अर्थ—इस कारण ऋषि भी मोक्षके लिये पहिले कर्म करते हैं क्योंकि निष्काम कर्म करनेवाला पुरुष ही प्रायः किसी प्रकारकी इच्छा न करनेवाला होता है"न चरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञो जितेंद्रियः। विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः॥"—जो मनुष्य इन्द्रियोंके न जीतनेके कारण जानबूझके वेदके कहेहुए कर्मोंको नहीं करता है वह कर्मलोप होनेके कारणसे वारंवार जन्ममरणका अधिकारी होता है कूर्मपुराणे—"कार्यमित्येव यत्कर्म्म नियतं संगवर्जितम्। क्रियते विदुषा कर्म्म तद्भवेदपि मोक्षदम्॥"

मूर्ख रहे जो अग्निहोत्र यज्ञादिक कर्मकाण्डको न त्यागकिया जो कि ऋषिलोग पूर्ण ब्रह्मज्ञानी और दश २ सहस्र वर्ष पर्यन्त समाधिस्थ रहते रहे अब तो विकारी मनकी प्रबलतासे अष्टोत्तरशत ईश्वरका नाम लेनेको भी सावकाश नहीं मिलता तो बांचनेसे ही अपनेको वेदान्तवेत्ता ब्रह्मज्ञानी मान लेते हैं यह बडी अज्ञानताहै ।

स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात् ।
साधनं प्रभवेत्पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम्² ॥

अपने २ वर्णाश्रमका धर्माचरण करनेसे तथा ईश्वरकी आराधना करनेसे मनुष्यको वैराग्यादि चार साधन प्राप्त होतेहैं । वर्णाश्रमका धर्म यही श्रेयस्कर और मुक्तिका दाता है । वर्णाश्रमके धर्ममें तत्पर रहते हुए ऊपर लिखे हुए क्रमसे जो पुरुष महामन्त्रका अभ्यास करेगा वह अवश्य ही आनन्दको प्राप्त होगा ।

ॐकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकारं तं नमाम्यहम् ॥

बिन्दु सहित ॐकार³को योगी निरन्तर ध्यान करतेहैं यह ॐकारका ध्यान मनोवांछित (इच्छानुसार) सिद्धि और मोक्ष दोनोंको देनेवाला है ।
तिस ॐकारको मेरा नमस्कार है ।

जो मनुष्य परब्रह्मस्वरूप समझकर ध्यान किया करेगा उसको अवश्य परमात्मा कैसा है यह जान पडेगा, कारण कि विना ध्यान किये चित्त स्थिर नहीं

१ श्रुतिः-"अहरहरनुष्ठीयमानैर्यज्ञादिभिर्विशुद्धेऽन्तःकरणे प्रत्यहं प्रकृष्यमाणा विद्योत्पद्यते" अर्थ-दिन २ प्रति अनुष्ठान कियेगये यज्ञ आदिकोंसे यज्ञ आदि उत्तम कर्मोंसे शुद्ध हुए अन्तःकरणमें प्रतिदिन वृद्धिको प्राप्त होनेवाली विद्या उत्पन्न होती है। २ कपिलगीतायां-"ज्ञानं विरागो नियमो। यमश्च स्वाध्यायवर्णाश्रमधर्मकर्मा-भक्तिः परेशस्य सतां प्रसंगो मोक्षस्य मार्गं प्रवदन्ति संतः॥" ३ वायुपुराणे-"इत्येतदक्षरं ब्रह्म परमोंकारसंज्ञितम् । यस्तु वेदयते सम्यक् तथा ध्यायति वा पुनः । संसारचक्रमुत्सृज्य मुक्तबन्धनबन्धनः । अचलं निर्गुणं स्थानं शिवं प्राप्नोत्यसंशयः ॥"

होता और जहाँ तक चित्त स्थिर नहीं होगा तहां तक ध्यानमें रूप नहीं दर्शित होसक्ता बिना दर्शित भये मन ठहरता नहीं तो स्वाद कहांसे मिलेगा और रूप देखते२ज्यों२ आनन्द भासित होगा त्यों २ यह मन सूक्ष्म दर्शी होता जायगा. जब मन सूक्ष्मदर्शी होजायगा तब परमात्मा निराकार, निरंजन, निरामय, निर्विकल्प अथवा साकार, व्यापक किस प्रकारसे है यह आपसे आपही भासित होगा परंतु जब शुद्ध मन करके ध्यान करेगा तभी वह आनंद देखेगा, क्योंकि यथा— पंचदश्याम्—

अनात्मबुद्धिशैथिल्यं फलं ध्यानाद्दिनेदिने ॥

ध्यान करनेसे दिन २ अनात्मबुद्धि अर्थात् आत्मा जाननेमें जो बुद्धिका विकार होताहै उसकी शिथिलता अर्थात् वह नष्ट होतीहै। विकार नष्ट होनेसे ध्यान आपही शुद्ध होगा और जो कोई चाहे कि अभ्यास भी न करना पडे, ईश्वरानुभव प्राप्त होजाय अर्थात् वाग्विलासहीसे समझलें तो यह कदापि नहीं होसकता क्योंकि परमात्मा तो—

मुंडकश्रुतौ।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

यह आत्मा नित्य सत्यसे प्राप्त होने योग्य है, तपसे प्राप्त होने योग्यहै, यथार्थ आत्मज्ञानके दर्शनसे प्राप्त होने योग्यहै और नित्य ब्रह्मचर्यसे प्राप्त होनेयोग्य

---

१ मैत्र्युपनिषदि—"चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्। यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम्। श्रीमद्भागवते—चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम्। गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये॥"

२ मैत्रायण्युपनिषदि—"तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात्संप्राप्यते मनः। मनसा प्राप्यते त्वात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्तते॥" पतञ्जलिः—"कायेन्द्रियसिद्धिरशुचिक्षयात्तपसः।"अर्थ— तपसे अशुचि (अज्ञान) के नाश होनेसे शरीर व इन्द्रियोंकी सिद्धि होतीहै अर्थात् अणिमादि सिद्धियोंका लाभ होताहै (अन्यच) "मनसश्चेन्द्रियाणामैकाग्र्यं परमं तपः।" मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता परम तप है॥ "तपःप्रवृद्धिर्मनसः प्रसन्नता सुरप्रसादोपि हि दैन्यसंक्षयः। द्रुतं प्रवेशश्च तथैव संयमे जितेन्द्रियस्येह [illegible]जायते॥"

है । तथा च श्रुतिः-अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्येति। अर्थ-उग्र तपकरके, ब्रह्मचर्यकरके, भक्तिकरके और विद्याकरके आत्माको ढूँढो । सांख्यसूत्रे-

तत्त्वाभ्यासान्नेतिनेतीतित्यागाद्विवेकसिद्धिः ।

'यह नहीं है, यह नहीं है' इस त्यागरूप तत्त्व अभ्याससे विवेककी सिद्धि है अर्थात् मैं शरीरसे भिन्न सुख दुःख काम क्रोध आदिसे रहित हूं ऐसा विचार कर स्थिति करनेसे आत्माका लाभ होताहै-केवल श्रवण करनेसे नहीं । यथा सांख्ये-

न श्रवणमात्रात्तत्सिद्धिरनादिवासनाया बलवत्त्वात् ।

अनादि (जिसकी संख्या नहीं) वासनाके बलवान् होनेसे केवल सुननेसे ही मोक्षको सिद्धि अर्थात् आत्मलाभ नहीं होता । यह आत्मलाभ उन्हीं पुरुषोंको होताहै जो शमादियुक्त हैं । यथा गौडपादीयकारिकायाम्--

वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः ।
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपंचोपशमोऽद्वयः ॥

राग, भय क्रोधादिसे रहित मुनि और वेदके जाननेवाले पुरुषोंकरके सब कल्पनासे रहित और द्वैतभेदके विस्ताररूप प्रपंचके अभाववालेसे अद्वैतरूप यह आत्मा देखा वा जाना जाताहै । और न मलिन चित्तवालेसे न तार्किकादि-कोंसे श्रुतिः-"नैषा तर्केण मतिरापनेया" इस लिये प्रथम सगुण उपासना करे अर्थात् शिव, विष्णु, शक्ति आदि जिस पर अनन्य प्रीति हो उसीको प्रणव-स्वरूप मानकर शिव विष्ण्वादिकी मूर्त्तिका ध्यान करे, अर्थात् प्रणवका जैप

---

१ योगचूडामण्युपनिषदि-"शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि योजपेत्प्रणवं सदा । न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥"ध्यानबिन्दूपनिषदि-"ह्रस्वो दहति पापानि दीर्घः संपत्प्रदो-ऽव्ययः । अर्धमात्रासमायुक्तः प्रणवो मोक्षदायकः ॥ तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टा-निनादवत् । अवाच्यं प्रणवस्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित् ॥" पतञ्जलिः-तस्य वाचकः प्रणवः-अर्थ उसका वाचक प्रणव है अर्थात् ईश्वरके प्राप्त होनेका मुख्य उपाय प्रणव है । जिसके द्वारा पदार्थका बोध हो उसको वाचक कहतेहैं। "तज्जपस्तदर्थभावनम्"-

करता हुआ प्रथम स्थूल मूर्तिका ध्यान करे साध्य होजानेपर उससे सूक्ष्म (छोटी) मूर्तिका ध्यान करे श्रीमद्भागवते–"श्रुत्वा स्थूलं तथा सूक्ष्मं रूपं भगवतो यतिः । स्थूले निर्जितमात्मानं शनैः सूक्ष्मं धिया नयेत्"--साधक भगवान्के स्थूल और सूक्ष्म इन दोनों स्वरूपोंको सुनकर पहिले मनको स्थूलमें लगावे पश्चात् स्थिर होजाने पर धीरे २ बुद्धिके द्वारा सूक्ष्म रूपमें लगावे । पुनः इसी क्रमसे उत्तरोत्तर सूक्ष्म दृष्टि करते २ मूर्तिका अभाव होजाने पर परमात्माका आनन्दाऽनुमव अर्थात् महान् प्रकाश दर्शित होगा और उस समय इच्छा करनेसे इष्टदेवका दर्शन यथार्थ होताहै और निराकार साकार समझनेकी बुद्धि उत्पन्न होगी । इसी अभ्याससे दिव्यदृष्टि सिद्ध होतीहै क्योंकि आत्माका अत्यंत सूक्ष्म रूप महान् प्रकाशमय होनेके कारण रूपके अभावसे प्रकाश ही प्रकाश देख पडताहै यथा श्रुतिः--"अणोरणीयान्" वह आत्मा परमाणुसे भी अत्यंत सूक्ष्म है इससे वह प्रकाश ही आत्मरूप समझा जायगा ।

विचारदर्पणे यो वै यत्नात्सूक्ष्मं विलोकयेत् ।
दृश्यते यत्र यद्रूपं नूनं तन्न स्वकात्पृथक् ॥

विचाररूपी दर्पण (सीसा-आदर्श-आईना) में उपाय करनेसे अर्थात् अभ्यास करनेसे ज्ञानदृष्टिसे देखनेमें जो रूप देख पडताहै और निश्चय होताहै वह रूप निःसंदेह अपने आत्मासे भिन्न नहीं है । यदि कोई विना अभ्यासके ही वार्ताओंसे समझा चाहे तो वहां वाग्विलासी बुद्धि नहीं पहुंच सकती कारण कि जब स्थूलहीको नहीं समझसकते तब सूक्ष्मको किसतरह समझेंगे जैसा श्वेताश्वतर उपनिषद्में जीवका आकार कहाहै–

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥

–प्रणवका जप करनेसे और अर्थ विचारनेसे समाधि होतीहै "ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च" तब परमात्माका ज्ञान होताहै और परमात्माके जाननेमें जितने आलस्य, संशय, जडतादि विघ्न हैं वह सब नाश होजातेहैं ।

१ श्रीमद्भागवते–"जितासनो जितश्वासो जितसंगो जितेन्द्रियः । स्थूले भगवतो रूपे मनः संधारयेद्धिया ॥"

केशके अग्र भाग (बालकी नोंक) का सौवां भाग उसका भी सौवां (शतांश) भाग (हिस्सा–विभाग) करके जो प्रमाण किया जाय वही सूक्ष्मता जीवकी है। इसपर मेरा ऐसा कथन है कि केशके अग्रभागके सौ टुकडे (कुटके) किस तरह होसकते हैं। पुनः उसका शतांश भाग समझना तो श्रवणमात्र और कथनमात्र है, अर्थात् नहीं समझा जाता। यहां पर बुद्धि किसी तरह नहीं पहुँच सकती–

कठवल्लीश्रुतिः।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।

न वाणीसे, न मनसे, न नेत्रसे, पानेको समर्थ है।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहेति श्रुतेः।

जिससे वाणियां अप्राप्त होके (न पहुँचकर) मन करके सहित निवृत्त होतीहैं अर्थात् हार (थक) जातीहैं।

हे भाइयो जिसमें बुद्धि नहीं पहुँच सकती उसको विना निदिध्यासहीके समझा चाहते हो क्योंकि जो सगुण उपासना अर्थात् मूर्त्तिमानका ध्यान जो समझने योग्य और प्रत्यक्ष देख रहे हो और सनातनसे मूर्त्तिपूजन, ध्यानका क्रम चला आया और अभी चला जाताहै उसमें चित्त नहीं लगता बल्कि निन्दामें तत्पर हो तो क्या कर्म उपासनाका त्याग करना, कामक्रोधादिककी गठरी शिर पर रखना, निन्दा करनेमें किसी देवताको छोडना नहीं, निदिध्याससे मतलब नहीं, अहं ब्रह्म अहं ब्रह्म बकते रहना क्या ब्रह्मवेत्ताके यही लक्षण हैं मैत्रेय्युपनिषदि–

अनुभूतिं विना मूढो वृथा ब्रह्मणि मोदते।
प्रतिबिम्बितशाखाग्रफलास्वादनमोदवत् ॥

जिन मूर्खोंको ब्रह्मका अनुभव-अर्थात् सम्यक् प्रकारका ज्ञान तो है नहीं केवल वाग्विलासहीसे ब्रह्मज्ञानी बनतेहैं उनको ऐसा समझना चाहिये कि जैसे

---

१ श्रीमद्भागवते–द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः। भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥

कोई नकली वृक्षके फलके स्वादकी इच्छामें प्रसन्न होताहै । इस वचनके व्योहा-रसे क्या लाभ है ?

कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीना च ये नराः ।
न तत्पदं प्राप्नुवन्ति पुनरायान्ति यान्ति च ॥

जो नर "अहं ब्रह्म २" कहनेमें तो कुशल हैं परन्तु आचरण शुद्ध नहीं हैं वे मुक्त नहीं होते पुनः २ जन्म लिया ही करतेहैं । योगवाशिष्ठे—

अहो नु चित्रं यत्सत्यं ब्रह्म तद्विस्मृतं नृणाम् ।
यदसत्यमविद्याख्यं तत्पुरः परिवल्गति ॥

अहहा यह बडी विचित्र और विचार (आश्चर्य) करनेकी बात है कि जो साक्षात् सत्यस्वरूप ब्रह्म है मनुष्योंने उसको तो विसार दिया और जो असत्य अज्ञान अर्थात् अविद्यारूप है यह साक्षात् अगाडी प्रकाशित होरहाहै । इससे हे भाइयो ! इस अज्ञानका परित्याग कर कामक्रोधादिकको शान्त करो । निन्दाको छोडो "सर्वचांडालनिन्दकः" मनुष्यकी निन्दा करनेवालेको चांडाल कहतेहैं और देवताओंकी निन्दा करनेसे तो बुद्धिकी भ्रष्टता ही है इसलिये बुद्धिको सुधारना चाहिये और सगुण उपासनामें चित्त लगाना चाहिये, सगुणहीसे निर्गुण होता है—

शर्करा जलसंयुक्ता शर्करात्वं हि गच्छति ।
सगुणं ध्यायतो नित्यं निर्गुणत्वं तथोच्यते ॥

जैसा जलमें मिलनेसे शकर पूर्वरूप जल होजातीहै ऐसीही नित्य प्रति सगुण (मूर्त्तिमान) के ध्यान करनेसे निर्गुण होजाताहै । देखिये, मूर्त्तिके विषयमें

---

१ पतञ्जलिः—"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या" अर्थ-अनित्यको नित्य समझना, अपवित्रको पवित्र समझना, दुःखको सुख समझना और अनात्माको आत्मा ज्ञान करानेवाली बुद्धिको अविद्या कहतेहैं।वैशेषिकसूत्रे—"इन्द्रियदो-षात्संस्कारदोषाच्चाविद्या।"अर्थ—इन्द्रियोंके दोषसे और संस्कारके दोषसे अविद्या होतीहै ।

२ (तु.रा.) "जो गुणरहित सगुण सो कैसे। जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे॥ फूले कमल सोह सर कैसे । निर्गुण ब्रह्म सगुण भए जैसे ॥"

जो भ्रम है अर्थात् ब्रह्म मूर्त्तिमान नहीं है, यह समझ किसी तरह ठीक नहीं पाई जाती। यदि यह कहाजाय कि श्रुतिः—"न तस्य प्रतिमा अस्ति" उस ब्रह्मकी प्रतिमा नहीं है, ऐसा वेदमें लिखा है तो यह भी वेदकी श्रुति है "अणोरणीयान्" परमाणुसे भी अत्यन्त सूक्ष्म (बारीक) है। अब विचार कीजिये कि परमाणुको ही देखना कठिन है तो उससे सूक्ष्मका पता किस तरह कहा जायगा कि अमुक स्वरूप है परन्तु वह अत्यन्त सूक्ष्म है "जब है" ऐसा सिद्ध हुआ तो मूर्त्तिमान् अवश्य है, चाहे वह जिस स्वरूपका हो, परन्तु अज्ञानताके कारण न दिखाई देनेसे स्वरूपकी हानि नहीं पाई जाती। और यह बात तो आजकल बली बुद्धिमान् भी मानते हैं कि जैसी कोई एक वस्तु बहुत अच्छी चमकीली बहुमूल्य (भारी कीमतकी) बडे दुर्गम बर्फोंके पहाडोंकी कन्दरा (गुफा) में निश्चयकरके है। जब वह बली बुद्धिमान् महाशय बहुतसा सामान लेकर खोजनेको अहंकारसे चले और चलते २ हलाकान होते २ किसी तरह बर्फोंके पहाडके पास पहुँचे तब अगणित बर्फोंकी सफेदी देखकर उनके हाथ पांव ठंडे होगये, पुनः किसी तरह साहस (हिम्मत) करके ऊपर चले वहां भी पुरुषार्थ कर बर्फ काटना कटाना प्रारम्भ किया, इस क्रमसे बहुत दिनोंमें पहले शिखर पर किसी प्रकार पहुँचे; वहां देखतेहैं तो उससे ऊँचे २ शिखर भयानक चमकीले दिखाई देने लगे, तब तो वह पछताने लगे कि हा! मैंने बिना समझे बूझे प्राण खोये। पुनः मरनेका संकल्प करके ऊपर चढे, किसी प्रकार शरीरकी हड्डी लिये (बहुत दुर्बल हो) दूसरे शिखर पर पहुँचे तो वहां पानीकी वर्षा होरहीहै, बडे बेग (जोर शोर) से वायु चलरहीहै, बिजलियोंकी चमचमाहट चारों तरफ दिखाई देती है, कहीं २ पहाडोंके ऊपर नीचे बडी २ ज्वाला देखपडतीहैं, यह चरित्र देख घबडागये मानो प्राण ही निकला चाहतेहैं। पुनः हिम्मत कर बुद्धिमानीसे विचार करने लगे, वह कंदरा जिसके लिये आयेथे किसी तरह मालूम ही नहीं होती, मार्ग भी इन उपाधियोंसे

---

१ यजु. अ. ३२ "न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।" हिरण्यगर्भ इत्येष मामाहि१७सीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः॥" जिसके नामका बहुत यश है उस परमेश्वरकी उपमा नहीं है॥

देखनेमें नहीं आता, न जाने कहां है और अब हमारा उत्साह भी किसी तरह आगे चलनेका नहीं होता, पुनः पछताने लगे हा! हम जानमालसे गये,हमारा घमंड हमको खागया, अबतो लौटना ही अच्छा है यदि जीतेहुए किसी तरह घरमें पहुँच जायँगे तो सब लोगोंसे यही कहेंगे कि न कोई कंदरा है न कोई चमकीली सूक्ष्म वस्तु है, हलाकानी २ है हां अलबत्ता अग्निकी ज्वालायें बहुतसी देखनेमें आई हैं परंतु मैं हलाकानी उठाते २ बेदम होगयाहूं अब थोडे ही दिनोंमें मरजाऊंगा, अब गौर कीजिये कि कष्ट उठाते २ शरीरका अंत होगया और उस निश्चय गुफाका पता न लगा पश्चात् यही कहना पडा कि नहीं है और भी छिद्रों (सुराख) से सूर्यकी किरणमें जो रज (कणिका) उडते दिखाई देतेहैं और वह इतने हलके हैं कि पकडनेमें नहीं आ सकते किन्तु दिखाई देतेहैं, इस रजका साठवां भाग परमाणु होता है, परंतु वह किसी तरह दिखाई नहीं देता, जब कि रजके साठ भाग हो सकतेहैं तब तो प्रमाण दिया, इससे परमाणुका सूक्ष्म रूप साबित हुआ ऐसे "अणोरणीयान्" परमाणुसे भी अत्यंत छोटा है तो क्या न दिखाई देनेसे स्वरूपकी हानि हुई, ऐसे शेष, शारदा, वेदादि सब कोई रात्रि दिन उस पर ब्रह्म सच्चिदानंदकी स्तुति करते २ शिथिल होजाने पर अर्थात् सूक्ष्मता देखते२ थकजाने पर यह कहना पडा कि "न तस्य प्रतिमा अस्ति" अभिप्राय यह है कि वह इतना सूक्ष्म है कि जिसकी प्रतिमा(उपमा) अथवा मूर्ति हम नहीं कह सके हैं। इसका यह मतलब है और यह नहीं है कि उसकी मूर्ति ही नहीं है। "ब्रह्मणो वा द्वे रूपे मूर्तञ्चामूर्तञ्च" अभिप्राय यही है कि पता न लगनेसे मूर्ति नहीं है और यों मूर्ति है, और देखिये केनोपनिषद्में कहा है जब देवासुर संग्राम (लडाई) हुआ उसमें देवताओंकी जय हुई कुछ काल व्यतीत होने पर एक समय हिमालयके शिखरपर अग्नि, वायु, इन्द्रादि सब देवता इकट्ठे होकर आपसमें अज्ञान वश हो कहने लगे कि आसुरोंको हमने जीता ऐसा अभिमान देखकर परमात्मशक्ति प्रति-

---

१ जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः। तस्य षाष्टितमो भागः परमाणुः स उच्यते। श्रीभागवते—चरमः सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतः सदा। परमाणुः स विज्ञेयो नृणामैक्यभ्रमो यतः।

पादन करनेके वास्ते वह परमात्मा प्रकट हुआ क्योंकि वह " सर्वस्य द्रष्टा " सबका देखनेवाला है ॥ श्रुतिः—तद्वैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति ।

सो इन देवताओंको जानता हुआ उन देवताओंके निमित्त प्रकट होता-हुआ पर उसको देवता न जानतेभये कि कौन यह पूजनीय है ।

इस श्रुतिसे निश्चय होताहै कि वह परब्रह्म स्वरूपवान् अर्थात् शिर मुख आदि अंगवाला था तब तो दिखाई दिया यदि निराकार होता तो कैसे भाषण करता क्योंकि इस ब्रह्मके परीक्षार्थ अग्नि, वायु गये थे । इनसे तृणद्वारा उस परब्रह्मसे वार्तालाप (बातचीत) हुआ अन्तमें इन्द्रके आते ही तिरोधान (गुप्त--न दिखाईदिये) हुआ अनन्तर इन्द्र अभिमान रहित हो स्तुति करनेलगे, तब भक्ति देख परमात्माने अपनी ब्रह्मविद्यारूपसे प्रकट हो उसका समाधान किया " यह केनोपनिषद्में है देखिये " और भी नारा-यणउपनिषद्में है--हृदयमें अधोमुख कमल है उसमें परमात्माका वास है इसकी व्याख्या बहुतसी कहकर अन्तमें यह कहा कि—

नीवारशूकवत्तन्वी पीता भास्वत्यणूपमा ।
तस्याः शिखाया मध्ये हि परमात्मा व्यवस्थितः ॥

नीवार (तीना, फसई एकतरहका धान) के शिरा (ढूंड) की तरह पीत (पीला) वर्ण परमाणुसदृश ज्वाला है उसकी ज्वालामें परमात्मा रहता है, वही ब्रह्मा, शिव, विष्णु आदि है । **श्रुतिः—**

स ब्रह्मा स शिवः स हरिः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ॥

वही परमात्मा ब्रह्मा, शिव, विष्णु, इन्द्र, अक्षर और परम स्वराट् है । देखिये सूक्ष्मतासे भी मूर्तिका प्रतिपादन हुआ चाहे वह जैसी हो । कठोपनिषदि—

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।

अंगुष्ठप्रमाण पुरुष अन्तरात्मा सर्वदा प्राणियोंके हृदयमें रहताहै ॥

सामवेद २६ ब्राह्मण ५ प्रपाठक १० खण्ड–

यदा देवतायतनानि कम्पन्ते, दैवतप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति खिद्यन्ति उन्मीलन्ति निमीलन्ति तदा इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् समूढमस्य पा ँ सुरे० ।

जिस राजाकी राज्यमें अथवा कहीं भी जिस कालमें देवमंदिर कांपते हुए मालूम हों (जाग्रतमें या स्वप्नमें) और देवप्रतिमा हँसती हुई, रोती हुई, नाचती हुई, टूटी हुई, उदासीन हुई और अकस्मात् नेत्रोंको फेरती हुई मालूम हो तब वह राजा (यजमान) अपने ऊपर अरिष्ट जानकर उस अरिष्ट शांतिके लिये " इदं विष्णु० " इत्यादिमन्त्र अथवा नामकरिके चरुपाक (होमद्रव्य) से हवन करे और भी मन्त्र कहा है । इससे देवकी मूर्ति और मंदिर साबित हुआ ।

यजु०–नमस्ते रुद्र मन्यव उतोत इषवे नमः । बहुभ्यामुत ते नमः ॥

हे रुद्र आपके मन्यवे अर्थात् क्रोधको नमस्कार है आपके हाथमें जो बाण है उसको नमस्कार है आपकी भुजाओंको नमस्कार है । प्रत्यक्ष मूर्तिमान् सिद्ध हुआ । और भी. यजुः अध्याय ८ ।

संवर्चसा पयसा सन्तनूभिरगन्महि मनसा स ँ शिवेन । त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायो ऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ।

हम बडे धनी हों इस इच्छासे सुन्दर मूर्तिके बनानेकी सामग्री (औजार) युक्त शिल्पी अर्थात् कारीगर चित्त लगाके सब अङ्ग (शिर, हाथ, पांव आदि) सहित परमात्माकी मूर्ति सुवर्णादि (सोना या अन्य धातुकी) की बनावे

अथवा दीवारमें रङ्गसे बनावे यदि बनानेमें कुछ भूल हुई हो तो उसको सुधारे ।

आदित्यं गर्भं पयसा समङ्ग्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम् । परिवृङ्धि हरसा माभिऽसंस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः ॥-यजु० अ० १३

परमेश्वरकी जो सोना आदिसे बनीहुई प्रतिमा उसको पहिले अग्निमें तपाके निर्मल करे पश्चात् दूधसे स्नान करावे और कभी इस प्रतिमा अर्थात् मूर्तिका अपमान न करे । अर्थात् भावनासे सदा पूजन करता रहे क्योंकि वह मूर्ति जो संस्कारसहित शोधन और स्थापन (बैठाना) कीगई है वह मूर्ति यजमानको धनादि सम्पत्ति सहित सौ वर्ष जिवातीहै ॥ इन मन्त्रोंसे धातुकी भी मूर्ति संस्कारसहित सिद्ध हुई ।

एह्यश्मानमातिष्ठाऽश्मा भवतु ते तनुः कृण्वन्तु विश्वेदेवा आयुष्टे शरदः शतम् ॥-अथर्व० कांड २

हे परमेश्वर आप आगमन कीजिये और इस अश्मानम् अर्थात् पाषाणकी मूर्त्तिमें निवास कीजिये, यह पत्थरकी मूर्त्ति आपका शरीर हो और सब देवता आपकी इस पत्थरसे बनी हुई मूर्त्तिमें निवासके लिये प्रार्थना करके अनन्त वर्ष तक स्थित करावें । इस आवाहनके मन्त्रसे पाषाणकी भी मूर्त्ति प्रतिपादित होतीहै, अभिप्राय यह है कि यदि मूर्त्तिपूजनका प्रमाण न होता और उसमें परब्रह्मस्वरूप शिव, विष्णु आदिका प्रभुत्व न व्यापता, तो आराधकोंके मनोरथ सिद्ध नहीं होते, ध्यानमें मूर्त्तिके प्रभावसे उस सच्चिदानन्दके अपरम्पार महिमाका अनुभव न होता तो क्यों मूर्त्तियोंके स्थापन पूजन इत्यादिका क्रम प्रचलित किया जाता । कारण कि परब्रह्म तो तपहीसे प्राप्त होताहै वह तपका मुख्य अंग मूर्त्तिपूजनादि है जैसा सृष्टिके आदिमें देवताओंके उत्पन्न होने पर देवताओंको तप करनेका क्रम अविनाशी श्रीसदाशिवजी महाराजने कहाहै ।

पाद्मे-

कायेन मनसा वाचा ध्यानपूजाजपादिभिः।
कामक्रोधादिरहितं तपः कुर्वन्तु भो सुराः॥

हे देवताओ शरीरको कृच्छ्र चांद्रायणादि व्रतसे दुबली (कृश) करके, मनकी चंचलताको त्याग करके अर्थात् एकाग्र चित्तसे, मुखद्वारा स्तुति (पाठ) करके, परब्रह्म स्वरूप शिवशक्ति आदिकी मूर्त्तिका ध्यान हृदयमें धारण करके, स्नान, चंदन, अक्षत, पुष्प इत्यादिसे पूजन करके, इष्टदैवतके मन्त्रको जप करके अथवा सामगायनादिसे, काम, क्रोध, लोभ, मोह और मात्सर्य आदि विकारोंसे रहित होके तपको करो॥

देखिये सगुण उपासनासे बहुत लोगोंने लाभ उठायाहै अगस्त्य, वामदेव, सनकादि, वशिष्ठ, व्यासादि ऋषि, ध्रुव, सगर, दिलीपादि राजा, हिरण्याक्ष, हिरण्यकश्यपादि दैत्य, और रावण, बाणासुरादि राक्षसोंने तपश्चर्याके प्रतापसे अपना अभीष्ट सिद्ध किया अर्थात् मूर्त्तिमानहीका ध्यान किया और उसी मूर्त्तिमान इष्टने प्रत्यक्ष (प्रकट) होकर वरप्रदान दिया यह बात पुराणोंसे विदित है उपरान्त जिस जिसने तपश्चर्या की वह मूर्त्तिमानहीकी की और मूर्त्तिमानही परमात्माने प्रकट हो उनका अभीष्ट सिद्ध किया और थोडाही कालका अर्सा हुआ कि श्रीमत्परमपूज्य शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, माधवाचार्य, और वल्लभाचार्य इत्यादि सत्पुरुष होगये जिनका मत अभीतक चला जाता है। इससे चित्तको समाधान कीजिये मन्दबुद्धिको कूडे कर्कटकी तरह बाहर फेंकिये, यह सगुण उपासना ही कल्पवृक्ष है इसका सेवन

---

१ मोह सकल व्याधिनकर मूला। जाते पुनि उपजहिं बहु शूला। काम वात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा। प्रीति करैं जो तीनिहु भाई। उपजै सन्निपात दुःखदाई।" अ० "कामः क्रोधश्च लोभश्च देहे तिष्ठंति तस्कराः। ज्ञानशस्त्रप्रहारेण तस्माज्जाग्रत जाग्रत।" महाभारते-शोकः क्रोधश्च लोभश्च कामो मोहः परासुता। ईर्षा मानो विचित्सा च कृपासूया जुगुप्सिता। द्वादशैते महादोषा मनुष्यप्राणनाशनाः॥"

करना चाहिये और वह परमात्मा सर्वव्यापक है "यः सर्वज्ञस्स सर्ववित्" सबका जाननेवाला सबमें है। वही सगुण निर्गुणरूप वही निराकार निर्विकार और साकार है। श्रुतिः-

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।

जो परमेश्वर एक सबको वशमें करनेवाला सब प्राणियोंका आत्मा वह भक्तोंके अर्थ एक रूपको बहुत प्रकारसे धारण करताहै। देखिये प्रत्यक्ष श्रुति कह रहीहै फिर कर्म उपासनाका क्यों त्याग करना कर्म उपासनासे ही जन्म जन्मान्तरके कल्मष नष्ट होतेहैं और शरीरका कर्म तो छूटता ही नहीं जैसा-

नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

पुनः सत्कर्म जो सुबुद्धिको उत्पन्न करनेवाला चित्तशुद्ध रखनेवाला उसको क्यों छोडना।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

राजा जनकादि कर्मसे ही सिद्धिको प्राप्त होगये कि जिनके पास ऋषिलोग भी उपदेश लेनेको जातेथे।

विना कर्म किये अंतःकरणकी मलिनता जाती नहीं और जहांतक अंतः-करण शुद्ध नहीं होगा तहांतक शुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होगी विना ज्ञानके मोक्ष हो नहीं सकता।

मोक्षस्य[1] नहि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा।
अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः॥

---

१ योगवाशिष्ठे-"न मोक्षो नभसः पृष्ठे न पाताले न भूतले सर्वाशासंक्षये चेतः क्षयो मोक्ष इतीर्यते॥" शिवगीतायां-"यस्तु शान्त्यादियुक्तः सन्मामात्मत्वेन पश्यति। स जायते परं ज्योतिरद्वैतं ब्रह्म केवलम्॥ आत्मस्वरूपावस्थानं मुक्तिरित्यभिधीयते" न्यायसूत्रे-"दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः (निरालंबोपनि०) नित्याऽनित्यविचारादनित्यसंसारसुखदुःखविषयसमस्तक्षेत्रममताबन्धक्षयो मोक्षः॥"

मोक्ष कोई कैलास वैकुण्ठकी तरह लोक नहीं है केवल हृदयकी अज्ञानता-रूप गांठका छूटजानाही मोक्ष कहाताहै । इसलिये जो कर्म ज्ञानको प्राप्त करदेनेवाला है उस कर्मका परित्याग न करना चाहिये क्योंकि कर्म और ज्ञान इनका परस्पर सम्बन्ध है । जैसा-योगवासिष्ठे-

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः ।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यते शाश्वती गतिः ॥

जैसे पक्षी आकाशमें दोनों पंखोंसे उडतेहैं इसी प्रकार ज्ञान और कर्मसे मुक्ति होतीहै । कर्म, उपासना, ज्ञान इनका बोध वेदहीसे होताहै वेदही कर्म करनेका उपदेश करताहै क्योंकि मूलरूप कर्मके पुष्ट हुए विना ज्ञानरूप फल कहांसे प्राप्त होगा । इससे ब्रह्महीसे उत्पन्न हुआ कर्म जानना चाहिये " कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि " यह कर्मरूपवृक्षको सींचनाही सुंदर पुष्ट ज्ञानरूप फलका लाभदायक होगा इससे कर्मसे अंतःकरण शुद्धकरे और उपासनासे चित्तको एकाग्र करे । यथा-

सगुणोपासनाभिस्तु चित्तैकाग्र्यं विधाय च ।

जहां तक चित्त शुद्ध न होगा तहांतक ज्ञानकी दृढप्राप्ति दुर्लभ है इस लिये वादाऽविवादको छोड निदिध्यास करना चाहिये, विना निदिध्यासके चाहे शास्त्र अवलोकन करते २ वादाऽविवाद करते २ आयुष्य पूर्ण होजावे परन्तु आनन्दाऽनुभव प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है जैसा-

भावाभावात्मकं तद्वत्कार्यकारणरूपधृक् ।
नात्मेति बोधयेच्छास्त्रमात्मानं बुद्ध्यते स्वयम् ॥

जैसे इच्छा, इच्छाका स्वरूप और इच्छाशक्ति अलग नहीं होती इसी तरह सर्वव्यापी आत्माका ज्ञान आत्मासे भिन्न नहीं होता अर्थात् आत्माका ज्ञान

---

१ योगवासिष्ठे-"न शास्त्रैर्नापि गुरुणा दृश्यते परमेश्वरः । दृश्यते स्वात्मनैवात्मा स्वया सत्त्वस्थया धिया (पिंगलोपनिषदि) विज्ञेयोऽक्षरतन्मात्रो जीवितं वापि चंचलम् । विहाय शास्त्रजालानि यत्सत्यं तदुपास्यताम् ।

शास्त्रादिके द्वाराही नहीं होता आत्माका ज्ञान आत्माहीसे आत्माहीको होता है। श्रुतिः कठोपनिषदि-

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यह आत्मा बहुत शास्त्रके पढनेसे प्राप्त नहीं होता, न स्मरण (याद) रखनेसे और न बहुत सुननेसे प्राप्त होताहै।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुꣳस्वाम्।

जिसके ऊपर यह आत्मा दया करताहै अर्थात् जो कोई काम क्रोध लोभ आदिसे रहित, मानाऽपमानको छोड नम्रतापूर्वक शांत भावसे उपासना अर्थात् भक्तिसे श्रवण मनन निदिध्यासन करताहै उसको यह आत्मा अपने शरीरको दिखाताहै अर्थात् प्राप्त होताहै। और इसी आत्माको अनेकों प्रकारसे आराधना करतेहैं। जैसा-

मनुः-एतमेके वदंत्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥

कोई यज्ञ करनेवाले अग्निभावसे उपासना करते, कोई मनुआदिके नामरूपसे उपासना करते, कोई इन्द्रादिदेवताओंके नामसे उपासना करते, कोई प्राणवायु रूपसे उपासना करते और कोई सनातन ब्रह्म कहकर उपासना करतेहैं श्रुतिः-"एकं सत्पुरुषा बहुधा वदन्ति" एकही परब्रह्मको[1] उत्तम पुरुष (विद्वान्, तप करनेवाले) बहुत प्रकारसे कहतेहैं। देखिये इसी विश्वव्यापी आत्माको अनेकों प्रकारसे यजन करतेहैं और वह परमात्मा जिस २ भावसे साधक देखनेकी इच्छा करताहै उसी २ प्रकारसे दिखाई देताहै क्योंकि उसमें अनन्त शक्ति हैं। अनंत उसका नाम है, उसका पता साधक जन्मजन्मांतरं तर करते २ शिथिल होजायगा परंतु क्या यह निश्चय होगा कि परमात्मा

---

१ "शम्भु विरंचि विष्णु भगवाना। उपजहिं जासु अंशते नाना॥"

ऐसा है अर्थात् लंबा चौडा, रूप, वर्ण, छोटा बडा आदि अमुकप्रकारका है "नहीं नहीं" साधक आनंदाऽनुभव ग्रहण करते २ देखते २ प्रफुल्लित (गद्गद्, मस्त) होकर अवाक् अगोचर इत्यादि परमानंद अवस्थाको प्राप्त हो लिंगशरीर जो कि मुक्ति न होने तक इस अज्ञानसे भ्रमित जीवका संग नहीं छोडती उसको त्यागकर अपने आनंदके समूहमें मिलजाताहै अर्थात् मुक्त होजाताहै। कहा भी है—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।

बहुतों जन्मोंकी तपश्चर्याके प्रभावसे मुक्ति होतीहै। पुनः वह इस मोहमयके प्रपंचको नहीं देखता—

सांख्ये—न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यनावृत्तिः।

जिसको साधनचतुष्टयादिके प्रतापसे मुक्ति[2] होगईहै वह फिर इस संसारमें नहीं आता है परन्तु वह आनंदके समूहका लाभ जभी होगा जब इन्द्रियोंके विषयोंको त्यागकर सद्गुरुकी सेवा शुद्धभावसे करके निदिध्यास करोगे—जैसा—

निर्मोहो निरहङ्कारः समः सङ्गविवर्जितः।
सदा शान्त्यादियुक्तः सन्नात्मन्यात्मानमीक्षते॥
यत्सदा ध्यानयोगेन तन्निदिध्यासनं स्मृतम्[3]॥

ममता और अहङ्काररहित, सब प्राणियोंमें समान दृष्टि, एकांतमें रहना, शांतस्वभाव क्रोधादिको त्यागकर निरन्तर ध्यानयोगसे आत्माको आत्माहीसे ध्यान करनेको निदिध्यासन कहतेहैं। इस प्रकार अभ्यास चिरकाल तक करनेसे जन्मजन्मांतरकी वासनाका नाश होताहै तब वह प्राणी मुक्त होताहै।

---

१ "पञ्चप्राणा दशेन्द्रियाणि मनोबुद्धिश्चेति सप्तदशकं सूक्ष्मशरीरम्। २ श्रीमद्भागवते—"सध्रीचीनं प्रतीचीनं परस्यानुपथं गताः। नाद्यापि ते निवर्तन्ते पश्चिमा यामिनीरिव॥"

३ पंचदश्यां—"तच्चिंतनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्। एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥" कपिलगीतायाम्—"आरंभं श्रवणं कृत्वा मनसा च विचारणम्। निदिध्यासनमभ्यासैः साक्षात्कारस्तदा भवेत्॥"

वासनानेककालीना[1] दीर्घकालं निरन्तरम् ।
सादरं चाभ्यस्यमाने सर्वथैव निवर्तते ॥

अनेककालकी जो वासना है वह बहुत समय तक निरंतर आदरपूर्वक ब्रह्मके अभ्यास करनेसे सब जाती रहतीहै ॥

हे भाइयो अवश्य अभ्यासकरना चाहिये क्योंकि यह मनुष्यका शरीर बडे पुण्यसे प्राप्त होताहै ।

सोपानभूतं मोक्षस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम् ।
यस्तारयति नात्मानं तस्मात्पापतरोऽत्र कः ॥

यह मनुष्यका[2] शरीर मोक्षपद पानेका सीढी है और बहुत कठिनतासे मिलताहै ऐसे शरीरको प्राप्त होकर जो अपने आत्माको इस संसारसे उद्धार नहीं करता उससे अधिक और कौन पापी है ।

अत्र जन्मसहस्राणां सहस्रैरपि कोटिभिः ।
कदाचिल्लभते जंतुर्मानुष्यं पुण्यसंचयात् ॥

इस संसारमें जीवोंके हजारों वा करोडों जन्मोंके बीतनेपर कभी दैवयोगसे अनेक जन्मके पुण्य इकट्ठे होनेसे मनुष्य होताहै इससे ऐसा समय पाकर जिसने मोक्षसाधन न किया उसका जन्म वृथा है क्योंकि–श्रीमद्भागवते–

स्वर्गिणो[3]ऽप्येतमिच्छन्ति लोकं निरयिणस्तथा ।

---

१ मुक्तिकोपनिषदि–जन्मान्तरशताभ्यस्तान्मिथ्या संसारवासना । सा चिराऽभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित् ॥" २ "बडे भाग मानुष तन पावा । सुर दुर्लभ सदग्रंथन्हि गावा ॥ साधनधाम मोक्षकर द्वारा । पाइ न जो परलोक संवारा ॥ नरतन पाय विषय मन देहीं । पलटि सुधाते शठ विष लेहीं ॥

३ वाराहपुराणे–"देवा अपि तपः कृत्वा ध्यायन्ते च वदन्ति च । कदा नो भारते वर्षे जन्म स्याद्भूतधारिणि॥"गरुडपुराणे–"मानुष्यं सर्वभूतानां भुक्तिमुक्तिफलं शुभम् । अतिसुकृतिनं लोके न भूतं न भविष्यति । गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिखंडे । स्वर्गाऽपवर्गस्य फलार्जनाय भवंति भूयः पुरुषाः पुरस्तात् ॥ भागवते–"लब्ध्वेह मानुषीं योनिं ज्ञानविज्ञानसम्भवाम् । आत्मानं यो न बुद्ध्येत न क्वचिच्छममाप्नुयात् ।"

साधकं ज्ञानभक्तिभ्यामुभयं तदसाधनम् ॥

जैसे नरकमें रहनेवाले पुरुष इस मनुष्यलोककी इच्छा करतेहैं इसी प्रकार स्वर्गके रहनेवाले देवता भी इस मनुष्यदेहमें जन्मकी अभिलाषा करते हैं क्योंकि वह मनुष्यलोक ज्ञानभक्तिद्वारा मोक्षका साधन होनेसे श्रेष्ठ है ।

धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते ।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम् ॥

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इनमेंसे जिस मनुष्यने एकका भी साधन न किया उसका जन्म बकरीके गलेके स्तनसमान निरर्थक है। इसलिये कर्म, उपासना ज्ञान इनका परस्पर संबंध अर्थात् कर्म, उपासना और ज्ञान ये आपसमें मिश्रित (मिले) हैं जैसे कर्म, उपासनासे ज्ञान उत्पन्न होताहै । पंचदश्याम्–"उपासनस्य सामर्थ्याद्विद्योत्पत्तिर्भवेत्ततः" उपासनाके बलसे ज्ञान होताहै । और उपासनामें कर्म और ज्ञान मिलेहैं क्योंकि विना कर्मके उपासना कैसे होगी कारण कर्म तो मूल है ज्ञान फलवत् है और फलमें बीज, बीजसे वृक्ष, वृक्षसे फल और उपासना मूलसे फलपर्यंत है–" निष्कामोपासना मुक्तिस्तापनीये समीरिता" निष्काम उपासना करनेवालेकी मुक्ति होती है । इससे उपासनाका जो शुद्धांश वही मुख्य ज्ञान है क्योंकि उपासनावाला तो अपने इष्टको सबमें देखताहै और सबको इष्टमें देखताहै तब यही श्रुति सिद्ध हुई कि–

ईशावास्ये ।

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

जिस कालमें जाननेवालेको प्राणिमात्रमें आत्मा ही है अर्थात् अपना इष्ट ही है ऐसे एकभावके देखनेवालेको क्या मोह और क्या शोक है । अब विचार कीजिये कि उपासनासे क्या हानि हुई केवल समझहीका अंतर है कर्म उपासनासेही ज्ञान पुष्ट होताहै और वर्तमान कालमें शुद्ध ज्ञान होना दुर्लभ है, इसलिये पहिले कर्म ही पुष्ट करना चाहिये कर्मसे अधोगति नहीं होती यह भी निश्चय है । इसीसे कर्मका त्याग न करे क्योंकि कर्मसे भक्ति उत्पन्न होती

है जब भक्ति उत्पन्न हुई तब मनुष्यका दुष्टाऽचरण नष्ट होजाताहै, जब आचरण शुद्ध होगया तब ज्ञान स्वयं होताहै और ज्ञान वैराग्य ही मोक्षका रूप है, ऐसा समझकर कर्म उपासनाको दृढतासे धारण करना चाहिये इनका स्वाद कालान्तरमें आताहै जब स्वाद माळूम होने लगताहै तब उस समयमें उस प्राणीको शांतभाव प्राप्त होताहै राग द्वेष छूटने लगते हैं और चित्त आपसे आप ही एकाग्र होने लगताहै, ध्यानकी दृढता होतीहै और ध्यान ही परमानंदका स्थान है, इस ध्यानके अभ्यासमें अनंत गुण हैं।

तद्गोपितं स्याद्धर्मार्थं धर्मो ज्ञानार्थमेव च ।
ज्ञानं तु ध्यानयोगार्थमचिरात्प्रविमुच्यते ॥

इस मनुष्यशरीरकी रक्षा धर्मके अर्थ करना, धर्म आत्माके ज्ञानके लिये करना और आत्माका ज्ञान ध्यानयोगके लिये करना क्योंकि ध्यानयोगसे मोक्षपानेमें विलंब नहीं होता । ध्यानके सदृश दूसरा कुछ नहीं—जैसा—

जातिमाश्रममङ्गानि देशकालमथापि वा ।
आसनादीनि कर्माणि ध्यानं नापेक्षते क्वचित् ॥

जाति, आश्रमका अंग अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इनके स्वधर्म, और देश काल अर्थात् देश २ के धर्म जैसा जम्बूद्वीपका आचार उपासना भिन्न है और अन्य द्वीपोंका भिन्न २ है इत्यादि और पद्मासन सिद्धासनादि साधन यह कोई भी ध्यानयोगके समान नहीं है—यथा शिवगीतायां—

संसारान्मुच्यते जन्तुः शिवतादात्म्यभावनात् ।
तथा दानं तपो वेदाध्ययनं चान्यकर्म वा ।

---

१ कैवल्योपनिषदि—"श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि ।" श्रद्धासे भक्तिसे ध्यानयोगसे आत्माको जानो ।" "भक्ति सुतंत्र सकल गुन खानी । बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी । खल कामादि निकट नहिं जाहीं । बसै भक्ति जाके उर माहीं ॥ (दे० भा०) भक्तिश्च द्विविधा साध्वि श्रुत्युक्ता सर्वसंमता । निर्वाणपददात्री च हरिरूपप्रदा नृणा म्॥"

सहस्रांशं तु नार्हंति सर्वदा ध्यानकर्मणः ॥

श्रीशिवजीके तादात्म्यध्यानसे अर्थात् "शिवोहं" इस प्रकार अंतःकरणकी एक वृत्ति करनेसे यह प्राणी संसारके पार होजाताहै जिस प्रकार दान, तप, वेदपाठ अथवा दूसरे कर्म हैं यह ध्यान करनेके सहस्र भागके भी समान नहीं होसकतेहैं। इसीसे सबमंत्र प्रयोगोंमें ध्यान कहा है, ध्यान करनेसे मन्त्राधिपति देवता का साक्षात्कार होताहै (परन्तु अब लोगोंने ध्यानके श्लोकको पाठ करके फल मानलियाहै) यह ध्यान लक्ष्यरखनेसे सर्वदा होता रहताहै-यथा-पंचदश्याम्-

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि ।
तदेव स्वादयत्यन्तः परसंगरसायनम् ॥

जिस स्त्रीका चित्त दूसरे पुरुषमें लगरहा है वह घरके कामकाजमें लगीहुई भी परपुरुषके विहारका स्वाद मनमें लेती रहतीहै इसी तरह परमात्माका ध्यान चित्तलगानेसे हो सकता है परंतु चित्तको प्रथम हठ करके लगाना चाहिये, क्योंकि यह चित्त विषयोंमें आसक्त (लिप्त) होनेसे कादर साहस रहित भ्रमित हो रहाहै जब इसको क्रम २ से हठात् ध्यानमें लगाया जायगा तब सावधानता प्राप्त होगी पहिले तो डरताही है-यथा-कपिलगीतायाम्-

स्त्रीणामादौ यथा भीतिः पुरुषस्यादिसङ्गमे ।
तथाऽसां चित्तविक्षेपः प्राप्तानां स्वामिमंदिरम् ॥

---

१ ब्रह्मोत्तरखण्डे-"तावन्मृत्युभयं घोरं तावज्जन्मजराभयम् । यावन्नो याति शरणं देही शिवपदाम्बुजम् । मनसा पिबतः पुंसः शिवध्यानरतामृतम् । भूयस्तृष्णा न जायेत संसारविषयासवे । विमुक्तं सर्वसङ्गैश्च मनो वैराग्ययंत्रितम्-यदा शिवपदे मग्नं तदा नास्ति पुनर्भवः ॥ बाराहोपनिषदि-"शिवो गुरुश्शिवो वेदाश्शिवो देवश्शिवः प्रभुः शिवोऽस्म्यहं शिवस्सर्वं शिवादन्यन्न किंचन ॥" (देवीभागवते) "यो हरिः स शिवः साक्षाद्यः शिवः स स्वयं हरिः।एतयोर्भेदमातिष्ठन्नरकाय भवेन्नरः॥"(दे०भा०विष्णुवचनं लक्ष्मीं प्रति) शिवस्याहं प्रियः प्राणः शंकरस्तु तथा मम । उभयोरंतरं नास्ति मिथः संसक्तचेतसोः । नरकं यान्ति ते नूनं ये द्विषन्ति महेश्वरम् ॥" "जरत सकल सुरवृंद विषम गरल जेहि पान किय । तेहि न भजसि मतिमंद को कृपाल संकर सरिस ॥"

नूतन (नई, जवान) स्त्रियोंको पहिले पुरुषके संबंधमें, जैसा भय लगताहै ऐसे ही चित्तकी वृत्तिको आत्मप्राप्तिके समयमें विक्षेप होताहै अर्थात् चित्तकी वृत्ति नहीं ठहरती जैसे स्वामीके मकानमें स्त्री नहीं ठहरा चाहती अर्थात् जहांतक उसको विषयका आनन्द नहीं मालूम होता तहांतक उसको भय लगतीहै और जब स्वाद प्राप्त होगया तब पतिसे प्रीति करलेतीहै ऐसे ही चित्तका हाल है । इसलिये जो कोई थोडा काल भी महामन्त्रकी आराधना किया करेगा उसको अवश्य चित्तकी विश्रान्ति प्राप्त होगी चित्तको विश्रान्ति प्राप्त करनेवाली षण्मुखी मुद्रा उपयोगी होती है ।

श्रुत्योरंगुष्ठकौ मध्याङ्गुल्यौ नासापुटद्वये ।
वदनप्रान्तके चान्यांगुलीर्दद्याच्च नेत्रयोः ॥

दोनों अंगूठोंसे दोनों कानोंको, दोनों तर्जनियोंसे दोनों नेत्रोंको, दोनों मध्यमाओंसे दोनों नाकके छिद्रोंको, दोनों अनामिका कनिष्ठिकासे मुखके दोनों ओठोंको बंद करे ।

निरुध्य मारुतं योगी यदैव कुरुते भृशम् ।
तदा तत्क्षणमात्मानं ज्योतीरूपं स पश्यति ॥

षण्मुखी मुद्रा लगाकर योगी वायुको रोककर वारंवार अभ्यास करे, तब आत्मा ज्योतिस्वरूप देखपडताहै ।

अकल्पितोद्भवं ज्योतिः स्वयंज्योतिः प्रकाशितम् ।
अकस्माद्दृश्यते ज्योतिस्तज्ज्योतिः परमात्मनि ॥

विना कल्पना किये जो ज्योति आपसे आप अकस्मात् दिखाईदे वह ज्योति परमात्माकी है ।

तज्ज्योतिर्हृदयस्थाने प्रत्यक्षं ब्राह्ममक्षरम् ।
पद्मगर्भे च यः पश्येत्स मुक्तो नात्र संशयः ॥

---

१ मैत्रेय्युपनिषदि-"यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति ॥ तथा वृत्तिक्षया-च्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥"

हृदयमें जो कमल है उसके बीचमें जो ज्योति वह अविनाशी ब्रह्म है उसके ध्यान करनेसे प्राणी मुक्त होजाताहै इसमें संदेह नहीं।

यः करोति सदाभ्यासं गुप्ताचारेण मानवः।
स वै ब्रह्मविलीनः स्यात्पापकर्मरतो यदि॥

जो मनुष्य सदा किसीको न दिखाकरके इस मुद्राका अभ्यास किया करताहै वह निश्चय करके ब्रह्ममें लीन होजाताहै वह पहिले चाहे पापकर्ममें लिप्त भी रहाहो इस मुद्राके अभ्याससे अवश्य चित्त मोहित होजाताहै क्योंकि नाना प्रकारके चित्र विचित्र ज्योतिःस्वरूपका दर्शन होताहै, महान् प्रकाश जिससे परमात्माका अपार अकथनीय महिमाका अनुभव हो वह देखपडताहै और तत्त्वोंका आकार अर्थात् पृथ्वीका चतुष्कोण पीतवर्ण, जलका अर्ध-चंद्राकार श्वेतवर्ण, अग्निका त्रिकोण रक्तवर्ण, वायुका नील हारितवर्ण वर्तुल (गोलाकार) और आकाशका चित्र विचित्र वर्ण दर्शित होताहै। और इन्हीं पंचतत्त्वोंसे सृष्टिकी उत्पत्ति और लय होतीहै। जैसा आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति होतीहै पुनः पृथ्वीजलमें, जल अग्निमें, अग्नि वायुमें और वायु आकाशमें लय होताहै और भी विशेष यह है कि यह पंचमहाभूत अहङ्कारमें, अहङ्कार महत्तत्त्वमें, महतत्त्व मूलप्रकृति मायामें और माया सबके आधारभूत परमात्मामें लय होतीहै। यही परमात्मा (श्रुतिः)—"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" एक ही अद्वितीय ब्रह्म है। यही सबका द्रष्टा और प्रकाशक है, इन्हींके महान् तेजांशसे सब भयभीत हो अपने २ कार्यमें तत्पर होरहेहैं " यथा श्रुतिः—

१ मैत्रेय्युपनिषदि—"हृत्पुंडरीकमध्ये तु भावयेत्परमेश्वरम्। साक्षिणं बुद्धिवृत्तस्य परमप्रेमगोचरम्।" शंखसंहितायाम्—"हृदिस्था देवताः सर्व्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः। हृदि ज्योतींषि भूयश्च हृदि सर्व्वं प्रतिष्ठितम्॥" मुंडके श्रुतिः—"अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यस्स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः ॐमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्॥ अर्थ—जैसे रथकी नाभि (पहियेके बीचका काष्ठ) में सीधे २ काष्ठ लगेहैं वैसे ही हृदयसे सब नाडियां फैली हुई हैं, उस हृद-यमें बुद्धिकी वृत्तियोंका साक्षी आत्मा रहताहै उसको ॐकारसे जप ध्यान करो जिससे अज्ञानरूपी अंधकारसे निवृत्त हो।

[१]भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्य्यः।
भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पंचम इति।

भयसे वायु चलताहै, भयसे सूर्य उदय होके सर्वत्र प्रकाश करतेहैं और भयकरके ही अग्नि, इन्द्र और मृत्यु दौडते हैं अर्थात् अपने २ कार्यको करतेहैं। कहां तक इन सच्चिदानंदकी महिमा वर्णनकीजाय कर्ता धर्ता, निरंजन, निर्लेप, अलख, निराकार, निर्विकार, साकार, व्यापक, सगुण, निर्गुण सब आप ही हैं, बुधजनोंकी बुद्धिमें चक्कर डालकर आप ही भ्रमातेहैं अर्थात् नाना प्रकारके सत् असत्के विषयोंका प्रसंग उठाकर किसीको आस्तिक, किसीको नास्तिक बनना पडताहै। अपनी २ बुद्धिको ही सिद्धान्त मानकर राग द्वेषसे सुखदुःखके भोक्ता होतेहैं, यह गुप्ती खेल (तमाशा) महामायाके द्वारा आप ही करतेहैं और निर्विकार पुकारे जातेहैं. भला कहिये कौन समझ सकता है, महामाया आपहीमें आश्रित रहतीहै और आपहीकी शक्तिसे अघटित घटनाको करती रहती है "अघटितघटनापटीयसी" अर्थात् जो न होने योग्य है उसका अनुभव करतीहै, इन्हीं महाराणीको महामाया, योगमाया, ब्रह्मविद्या, महाविद्या, नित्यादि नामों करके कहतेहैं।

शयाने पुरुषे निद्रा स्वप्नं बहुविधं सृजेत्।
ब्रह्मण्येवं निर्विकारे विकारान्कल्पयत्यसौ॥

जैसे सोते हुए पुरुषको निद्रा अनेक प्रकारके स्वप्नोंकी रचना करती है इसी तरह विकाररहित ब्रह्ममें स्थित यह माया भी बहुत प्रकारके विकारोंको कल्पना करतीहै। यह प्रकृति पुरुषका बिलगपना नहीं है यथा—यथाग्नौ

---

१ मद्भयाद्वाति वातोयं सूर्यस्तपति मद्भयात्। वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात्॥" श्रुतिः—न तत्र सूर्यो भाति न चंद्रतारकं नेमा विद्युतो भांति कुतोऽयमग्निः। तमेव भांतमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति—अर्थ—इस ब्रह्मको सूर्य प्रकाश नहीं कर सकते, चन्द्रतारा, बिजुली वा अग्नि भी नही प्रकाशते विशेष क्या यह संपूर्ण जगत उस स्वप्रकाश आत्मासे ही प्रकाशित होताहै उससे ही यह सब प्रकाशित है।

दाहिका शक्तिः पद्मे शोभा प्रभा रवौ । शश्वद्युक्ता न भिन्ना सा तथा प्रकृतिरात्मनि ॥ अर्थ जैसे अग्निमें जलानेकी शक्ति, कमलके फूलमें शोभा और सूर्यमें प्रभाशक्तिहै इसी तरह परमात्मामें प्रकृति सर्वकाल स्वाभाविक रहतीहै अर्थात् भिन्न नहीं परन्तु महामायाका प्रसार (फैलाव—विस्तार) इतना प्रचंड और बडा है कि जिसका महार्षियोंने सहस्रों वर्ष उग्र तप करके अर्थात् अन्न, जल रहित एकचित्त होके भी भेद नहीं पाया, अभिप्राय यह है कि सब देव मुनि आदि तप करनेवालोंको भी काम क्रोध मोहादिके चक्रमें डालकर बहुत काल पर्यंत भ्रमादियाहै "नूनं भगवतो माया योगिनामपि मोहिनी" (अबके जीवोंको कौन कहे जो रात दिन कामक्रोधके कीडे होरहेहैं) जो कोई शुद्ध, सत्त्व, नम्रबुद्धिसे उस भक्तवत्सल परमात्माकी आराधना महामन्त्रसे कालांतर पर्यंत दृढतासे करताहै उस पुरुषको अविनाशी आनंदघनकी कृपासे यह माया ब्रह्मका विवरण मालूम होके अपने आप स्वयंरूपको प्राप्त होताहै। परन्तु इन चरित्रोंका जाननेवाला योगी है जो कालको जीतताहै। हरएककी सामर्थ्य नहीं है (पर वह योगी नहीं जो अमीरोंको ईश्वर समझकर दिखाते फिरतेहैं)

खण्डयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति ते ।

योगी कालदंडको जीतकर त्रैलोक्यमें सुखपूर्वक विचरतेहैं क्योंकि आत्माका जन्म मरण तो है नहीं केवल पंचभूतोंका ही उत्पत्ति लय है क्योंकि इनकी उत्पत्ति और लयमें सृष्टिकी भी उत्पत्ति लय होतीहै। योगी इन सब भेदोंको अच्छी तरह जानताहै इसीसे योगी[१] श्रेष्ठ है और इसी षण्मुखी मुद्राके अभ्याससे दशविध नाद सुनाई देने लगताहै जिस नादको सुनकर मन अवश्य लयको प्राप्त होता है यह नादका अनुसंधान (सुनना) मनके लय करनेका अत्यन्त सुगम उपाय है (इसको योगप्रकरणमें लिखूँगा) और भी मनके

---

१ ब्रह्मवैवर्तपु० "कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत् । जायते योगवान्यत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत् । दृष्टः संभावितः स्पृष्टः पुंप्रकृत्योर्विवेकवान् । भवकोटिशतायातं पुनाति वृजिनं नृणाम् । (ब्रह्माण्डपु०) गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च । ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते" योगशिखोपनिषदि—योगात्परतरं पुण्यं योगात्परंतरं शिवम् । योगात्परतरं सूक्ष्मं योगात्परतरं नहि ॥"

शुद्ध करनेका उपाय सात्त्विक आहार है जैसा शुद्ध अन्न भोजन किया जावेगा तदनुसार ही मनकी वृत्ति होगी इससे कट्वम्लादि पदार्थका सेवन निषिद्धहै-
श्रुतिः छान्दोग्योपनिषदि-

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांऽ सं योऽणिष्ठस्तन्मनः ।

भोजन कियेहुए अन्नका तीन प्रकार विभाग होताहै प्रथम जो उसका स्थूल भाग है वह विष्ठा (मल) होताहै दूसरा मध्यम भाग मांस होताहै और तीसरा जो सूक्ष्म भाग है वह मन होताहै ॥

इसीसे पूर्वमें ऋषिलोग कन्द मूलादि भोजन करतेथे कि जिससे मनमें विकार न उत्पन्न हो, इसी वास्ते अनुष्ठानोंमें हविष्यान्न भोजन कहा है कि जिससे अनुष्ठानमें चित्त स्थिर रहे। परन्तु अब तो चटनी, अचार, मिर्चा, तैलादिके पदार्थ भोजनमें न मिलैं तो चित्त प्रसन्न ही नहीं होता और ये पदार्थ रोग, काम, क्रोधके उत्पन्न करनेवाले हैं परन्तु ये ही प्रिय होरहेहैं भला कहिये ऐसे जिह्वास्वादवालोंका चित्त कैसे स्थिर होसकताहै (कदापि नहीं)

शुद्ध अन्नके भोजन, अरण्य (वन-जंगल) में शान्त्यादियुक्तसे तप करनेसे अमरपद (मोक्ष) प्राप्त होताहै ॥

श्रुतिः मुण्डके-

तपःश्रद्धे ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः। सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥

---

१ पाद्मे-"अन्नं पुंसाशितं त्रेधा जायते जठराग्निना । मलः स्थविष्ठो भागः स्यान्मध्यमो मांसतां व्रजेत् ॥ मनः कनिष्ठो भागः स्यात्तस्मादन्नमयं मनः ॥" २ देवीभागवते-"आहारशुद्धया नृपते चित्तशुद्धिश्च जायते । शुद्धे चित्ते प्रकाशः स्याद्धर्मस्य नृपसत्तम ॥"

जो शान्त विद्वान भिक्षाके अन्नको भोजन करते हुए जंगलमें श्रद्धा सहित तपको करतेहैं वह सूर्यद्वार (उत्तरायणरूप द्वार) से विरज हुए अर्थात् पुण्य-पापरूप कर्मसे रहित होके जातेहैं जहां पर अमृतरूपसे अविनाशी स्वभाववाला पुरुष स्थित है ।

परंतु वर्तमानकालमें अरण्यका तप, भिक्षाका भोजन यह हमारे महाशयोंसे कब होसकताहै अर्थात् दुर्लभ है और तपसे ही ब्रह्म जाना जाता है इसकी व्याख्या पूर्वहीसे लिखता आताहूं श्रुतिः—"तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्वेति" तप करके ब्रह्मको जान । परंतु यदि ब्राह्मणादि भाई स्वधर्मरूपी तपको भी स्वीकार करें तो भी श्रेयस्कर है "स्वधर्मानुष्ठानमेव तपः" अपने २ धर्मका प्रतिपालन करना यह परम तप है, इसी को सनातन धर्म कहतेहैं, जैसा द्विजोंको ब्रह्मकर्म अर्थात् सन्ध्या गायत्रीका जप, देवताकी पूजा, वेदाध्ययन वैश्वदेव, अतिथिपूजन इत्यादि कर्म उपासना श्रद्धासे निष्काम करना यही तप है, यही ब्रह्मकर्म ब्रह्मको प्राप्त करदेनेवाला है, इससे स्वधर्मका परित्याग कभी भी न करना चाहिये "स्वधर्मे निधनं श्रेयः" अपने धर्ममें स्थित रहनेसे दुःख आपत्ति आनेसे भी चित्तमें घबडाहट नहीं प्राप्त होती, धैर्यता बनी रहती है, धर्मका त्याग भी कभी नहीं हो सकता परंतु जो महाशय स्वधर्ममें दृढतासे आरूढ रहेंगे उन्हीको आनंद प्राप्त होगा और स्वधर्मके त्यागदेनेमें नाना प्रकारके विकार उत्पन्न हो दुःखही दुःख मिलतेहै । एतदर्थ स्वधर्मका पालन, परोपकार, सत्पुरुषका १सङ्ग और शास्त्रका अवलोकन, सत्य२भाषण, दुराचारियोंका संग और

---

१ श्रीमद्भागवते—"भाग्योदयेन बहुजन्मसमार्जितेन सत्संगमं च लभते पुरुषो यदा वै । अज्ञानहेतुकृतमोहमहांधकारनाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः ॥"—अन्यच्च—"लघुर्जनः सज्जनसंगसंगात् करोति दुस्साध्यमपि सुसाध्यम् । पुष्पाश्रयाच्छम्भुशिरोधिरूढा पिपीलिका चुम्बति चन्द्रबिम्बम् ॥" "सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ।" "बडे भाग पाइय सतसंगा । विनाहिं प्रयास होय भवभंगा ॥"

२ देवीभागवते—"सत्येनाऽर्कः प्रतपति सत्ये तिष्ठति मेदिनी । सत्ये चोक्तः परो धर्मः स्वर्गः सत्ये प्रतिष्ठितः ॥ अश्वमेधसहस्रं तु सत्यं च तुलया धृतम् । अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेकं विशिष्यते ॥"

द्वेषका त्याग और उद्योगमें तत्पर रहना इत्यादि वाक्योंको सर्वदा धारण करना चाहिये ।

आठ प्रहर (२४ घंटा) के मध्यमें जिस समय सावकाश मिले उस समय उक्त लिखे हुए क्रमसे महामंत्र ओंकारका शुद्धरीति तथा सावधानतासे उच्चारण करताहुआ नित्य जो ध्यान किया करेगा वह अवश्य ही सब पापोंसे निवृत्त होके अन्तमें मोक्षका लाभ उठावेगा, क्योंकि नित्यप्रति अभ्यास करनेसे महा-मन्त्रमें प्रीति हो जायगी जब प्रीति होगई तो अवश्य ही अन्तमें उच्चारण होगा और जिससे इस महामन्त्रका देहान्तके समयमें उच्चारण होजावे तो उसको मोक्ष होना क्या दुर्लभ है । यथा श्रुतिः ईशावास्ये–

ॐ क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर ॐ क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर ।

जो पुरुष सावधान चित्त करके देहान्त पर्य्यंत प्रणव की उपासना करताहै वह पुरुष शरीर त्यागनेके समय अपने मनसे कहताहै कि हे "क्रतः" संकल्प विकल्प के कर्ता मन ॐकारको स्मरण करो अर्थात् जिस कालके साधनेके अर्थ समग्र आयुष्य प्रणवकी उपासना किया है वह काल अब उपस्थित (तैय्यार) है इससे ओंकारको स्मरण करो कि जिसके प्रभावसे ब्रह्मलोकमें ब्रह्मद्वारा प्रणवका उपदेश पाय अमृतत्वको प्राप्त होवोगे इसलिये हे मन ! अब इस कालमें अपने कल्याणार्थ ओंकारको स्मरण करो । प्रश्नोपनिषदि श्रुतिः ॥

स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कार-मभिध्यायीत कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ।

---

१ श्रुतिः–"पर्य्येण म्रियन्ते द्विषन्तः ॥" द्वेष करनेवाले सब तरफसे मरते हैं ।

२ गीतायां–ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् । " पाद्मे–यावज्जीवं जपेन्मन्त्रं प्रणवं ब्रह्मणो वपुः । ह्रस्वो दहति पापानि दीर्घः शांतिप्रदायकः ॥ प्लुतस्तु सर्व्वसिद्धिः स्यात्प्रणवस्त्रिविधः स्मृतः ॥" सूतसंहितायाम् " ओंकारः सर्व्वमंत्राणामुत्तमः परिकीर्त्तितः । ओंकारेण प्लवेनैव संसाराब्धिं तरिष्यति ॥" शिवपुराणे–"प्रणवः सर्ववेदादिः प्रणवः शिववाचकः । शिवो वा प्रणवो ह्येष प्रणवो वा शिवः स्मृतः ॥ वाच्यवाचकयोर्भेदो नात्यन्तं विद्यते यतः । तस्मादेकाक्षरं देवं शिवं परमकारणम् ।"

इस उपनिषद्में सत्यकामानामक ऋषिने अपने आचार्य पिप्पलाद ऋषिसे प्रश्न कियाहै कि हे भगवन् मनुष्योंमें जो कोई मरणपर्यंत सम्यक् प्रकारसे प्रणवकी उपासना करताहै वह कौनसे लोकको प्राप्त होताहै।

तस्मै स होवाच–एतद्वै सत्यकाम परञ्चापरञ्च ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ।

पिप्पलाद ऋषि कहतेहैं कि हे सत्यकाम यह जो परब्रह्म और अपरब्रह्म है वह ॐकार ही है. अर्थात् जो सत्य अक्षर पुरुष इत्यादि नामोंकरके परब्रह्म है और सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ जो प्राण (सूत्रात्मा) नाम करके अपरब्रह्म है वह दोनों प्रकारका ॐकार ही है इससे इस प्रकार जाननेवाला विद्वान् पुरुष इस ध्यानसे ही दोनोंमें से एकको पाताहै।

ओमिति ब्रह्म । ॐकार एवेदं सर्वम् ॥

ॐ यह ब्रह्म है। ॐ कार ही यह सर्व है। गौडपादीयकारिका।

युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥

ॐकार निर्भयरूप ब्रह्म है, ॐकारमें चित्त लगाना, प्रणवमें नित्य चित्त लगानेवालेको भय कहीं नहीं होता।

प्रणवो हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम्।
सर्वव्यापिनमोंकारं मत्वा धीरो न शोचति ॥

सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित सर्वव्यापी ईश्वररूप ॐकारको जानना, आकाशवत् सबमें व्यापक जानके धीर पुरुष (शुद्ध उपासक) शोकको प्राप्त नहीं होते अर्थात् परमात्मरूप जानकर साधनचतुष्टययुक्त उपासक अपने मनमें निश्चय कर निश्चल रहताहै कि मैं मोक्षस्वरूप ही हूं।

---

१ योगचूडामण्युपानिषदि–"प्रणवः सर्वदा तिष्ठेत्सर्वजीवेषु भोगतः । अभिरामस्तु सर्वासु ह्यवस्थासु ह्यधोमुखः ॥ ज्ञानिनामूर्ध्वगो भूयादज्ञाने स्यादधोमुखः ॥ एवं वै प्रणवस्तिष्ठेद्यस्तं वेद स वेदवित् ॥"

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः ।
ॐकारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः ॥

यह ॐकार मात्रारहित अर्थात् अकार उकार मकारादिमात्राओंसे रहित अमात्र (तुरीयपद) है और यह संख्या किया चाहे कि ओंकारमें कितनी मात्रायें पाई जातीहैं तो उसमें अनंत मात्रायें हैं ॐकारको जिसने सम्यक् प्रकारसे जानाहै वही मुनि है और दूसरे नहीं ॥

कोई भी जिज्ञासु पुरुष यह कल्पना न करे कि ॐकारमें तो तीन मात्रा अथवा चार मात्रा हद हैं अनंत मात्रा किस तरह होसकतीहैं ? यह मिथ्या भ्रम है क्योंकि जो सर्वज्ञ सबमें व्यापक अनंत है उसका भेद किस तरह मिल सकता है जैसा इनका नाम अनंत है ऐसे इनके अनंत उपासक अनंत प्रकारके हैं । थोडा समझानेके वास्ते ऋषियोंके भेदको लिखताहूं जैसे बाष्कल्य ऋषिके मतावलम्बी पुरुष ॐकारको एकमात्रारूपसे भजतेहैं और साल तथा काइत्थ आचार्योंके मतावलम्बी दोमात्रारूपसे, नारदऋषिके मतमें अढाई मात्रारूपसे और मौंडल किंवा मांडूक्य ऋषिके मतमें तीन मात्रारूपसे और पाराशरादि ऋषिके मतमें चारमात्रारूपसे और वशिष्ठऋषिके मतमें साढे चारमात्रारूपसे भजतेहैं और अन्य २ ऋषि अन्य २ प्रकारसे उपासतेहैं याज्ञवल्क्यजीने ॐकारको अमात्रारूप जानके भजन कियाहै ऐसे ही अन्य २ आचार्योंने भी जिसको जैसा २ अनुभव हुआहै उसी २ तरह उपासना कीहै । किसीने सोलह स्वरोंकी सोलह मात्रा मानी, किसीने व्यंजनोंकी संख्याप्रमाण मात्रा स्वीकार की. किसीने एक २ की संधि मिलाके मात्रा ग्रहण की । ऐसे बहुत भेद हैं क्योंकि इसी अक्षरसे संपूर्ण विश्व उत्पन्न हुआहै इससे भ्रम न करे अपरब्रह्मकी उपासना मात्रायुक्त है और परब्रह्मकी उपासना मात्रारहितहै ।

इस ॐकारके विषयमें बहुत प्रमाण हैं कहां तक कोई कहेगा ? यह ॐकार ही परब्रह्म है इससे इसकी उपासनामें अर्थात् सायुज्यमुक्तिप्राप्त्यर्थ प्रधान साधन योगमार्ग है अतः अब दूसरे प्रकरणमें योगमार्ग कहताहूं ॥ शम् ॥

॥ इति प्रणवज्ञानप्रकरणम् ॥

अथ योगाभ्यासप्रकरणम् ।
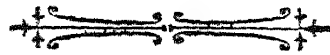
श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या । विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ॥

जिस श्रीआदिनाथ अर्थात् शिवजीने पार्वतीसे यह हठयोग विद्या कहीहै जो सर्वोत्तम राजयोगपर चढनेके लिये सीढी (पैरी) के समान उस श्रीआदिनाथको नमस्कार है।

पतञ्जलिः-

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

चित्तकी वृत्तियोंके रोकनेका नाम योग[1] है अथवा योगनाम प्राणायामादिकरनेसे चित्तकी वृत्तिका निरोध होताहै अर्थात् चित्तमें जो नाना प्रकारकी वासनायें उत्पन्न होतीहैं उनको विचारद्वारा रोकता हुआ प्राणायामादिके क्रमसे परमात्मामें प्राप्त होना इसका नाम योग है।

योगशिखोपनिषदि-

योऽपानप्राणयोरैक्यं स्वरजोरेतसोस्तथा । सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः ॥ एवन्तु द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते ॥

अपान और प्राणवायुकी एकताका नाम योग है, रज वीर्यकी एकता योग है, सूर्य और चंद्रकी एकता होना योग है, जीवात्मा और परमात्माका

---

१ देवीभाग० । न योगो नभसः पृष्ठे न भूमौ न रसातले । ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः ॥

मिलजाना योग है इस प्रकार इन दो २ का एकरूप होना योग कहाताहै इनकी एकता करनेकी जड प्राणायाम है ।

गोरक्षः–

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिश्चन्द्रो बिन्दू रजो रविः ।
अनयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥

बिन्दु शिव, रज शक्ति है और बिन्दु चंद्र, रज सूर्य हैं इनके संयोग अर्थात् एकता होनेसे योगसिद्धि होकर मोक्षको प्राप्त होताहै ।

योगचूडामण्युपनिषदि–

प्राणाऽपानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वश्च धावति ।
वामदक्षिणमार्गाभ्यां चञ्चलत्वान्न दृश्यते ॥
रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोप्याकृष्यते पुनः ।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणाऽपानेन कर्षति ॥
अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति ॥
ऊर्ध्वाधस्संस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित् ॥

प्राण और अपानवायुके वशमें होकर यह जीव नीचे और ऊपरको दौड़ताहै बायें और दहिने अर्थात् इडा, पिंगला मार्गसे चञ्चल होनेके कारण दिखाई नहीं देता । जैसे रस्सीसे बँधाहुआ बाज (शिकारी पक्षी) उडगया हुआ भी फिर खिंच आताहै ऐसे गुणों (रज सत तम) से बँधाहुआ यह जीव प्राण अपान वायुद्वारा खिंच आताहै । अपान प्राणको और प्राण अपानको खींचताहै इस प्रकार ऊपर और नीचे ठहरे हुए इन दोनों वायुओंके भेदको जो जानताहै वही योगका जाननेवाला है ।

हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चंद्र उच्यते ।
सूर्याचंद्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते ॥

"ह" कारको सूर्य "ठ" कारको चन्द्रमा कहतेहैं इन दोनोंका जो योग अर्थात् सूर्य चन्द्रमा जो इडा, पिंगला और प्राण, अपान हैं उनकी एकतासे

जो प्राणायाम करनाहै उसको हठयोग कहते हैं। इस हठयोगका अभिप्राय लोमविलोम अर्थात् इडा पिंगला नाडीको एककर सुषुम्नाद्वारा प्राणायाम करना, जिससे प्राण अपानकी एकता होकर समाधिका लाभ हो। यह समाधि यही है कि जिससे जन्मजन्मांतरोंके कल्मष नष्ट हो जीवात्मा परमात्माका ब्रह्मरन्ध्रमें एकभावसे सम्मिलन हो और काल जिसके हस्तगत होजाय अर्थात् जहां-तक इच्छा हो शरीरको धारण किये रहे अथवा परकायप्रवेशके क्रमसे अन्य २ शरीरोंमें कालांतर पर्यंत विचरा करै पश्चात् इच्छा शांत होनेपर जन्म मरण रहित होजावे अर्थात् समाधिवालेको सर्वाधिकार प्राप्त होताहै चाहे जैसा करे।

परन्तु यह अधिकार जो कि पर्वतकी गुफाओंमें बैठे समाधिस्थ होरहेहैं उन्हींको है-

हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठः।
न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत्॥

विना हठके राजयोग और विना राजयोगके हठयोग सिद्ध नहीं होता इस लिये जब तक राजयोग सिद्ध न हो तब तक दोनोंका अभ्यास करतारहे क्योंकि इन दोनोंका परस्पर संबन्ध है-

राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यपरं पदम्॥
अमनस्कं तथाद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम्।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकः॥

ये सब समाधिके ही नाम हैं इन सबका अभिप्राय एक ही है। हठयोगके [illegible] अवस्थाका नाम राजयोग है।

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना॥

विना श्रेष्ठ गुरुकी कृपा इस लोक और परलोकके सुखरूपी विषयका त्यागना आत्माका अनुभव और तुरीय अवस्था अर्थात् समाधिका लाभ ये दुर्लभ हैं। इससे सद्गुरुकी सेवामें तत्पर हो योगाभ्यास करे कि जिससे अजर अमर हो।

नासिकेतपुराणे-नासकेतवचनम् ।

अग्निहोत्रमिदं तात संसारस्य तु बंधनम् ।
जन्ममृत्युमहामोहाः संसारे पततां ध्रुवम् ॥
योगाभ्यासात्परं नास्ति संसारार्णवतारणम् ।
ब्रह्माद्या देवताः सर्वे इन्द्राद्याः कश्यपात्मजाः ॥
सर्वे योगवशात्सिद्धा गतास्ते परमां गतिम् ॥

हे पिता ! यह अग्निहोत्र संसारका बन्धन है और इस महामोहके संसारमें निश्चय करके जन्म मृत्यु हुआ ही करते हैं इससे योगसे परे संसाररूपी समुद्रसे पार होनेको दूसरा उपाय नहीं क्योंकि ब्रह्मा और कश्यपके पुत्र इन्द्रादिक सब देवता योगके प्रभावसे सिद्ध होकर श्रेष्ठ गतिको प्राप्त होगये ।

स्वर्गं गत्वा पुनर्जन्म संसारे भवति ध्रुवम् ॥
योगाभ्यासात्परं नास्ति न भूतो न भविष्यति ॥
न कार्यमग्निहोत्रं तु योगाभ्यासं कुरु प्रभो ॥

स्वर्गको जाके फिर संसारमें निश्चय जन्म होताहै इससे योगसे परे अन्य साधन न हुआ न होगा इस लिये हे प्रभो! अग्निहोत्रको छोडकर योगाभ्यास करो।

कूर्मपुराणे-

योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपंजरम् ।
प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति ॥

योगरूप अग्नि शीघ्रही पापके समूहको दग्ध करता है और ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञानसे मोक्ष होताहै ।

अत्रिसंहितायाम्-

योगात्संप्राप्यते ज्ञानं योगाद्धर्मस्य लक्षणम् ।
योगः परं तपो ज्ञेयस्तस्माद्युक्तः समभ्यसेत् ॥

न च तीव्रेण तपसा न स्वाध्यायैर्न चेज्यया।
गतिं गंतुं द्विजाः शक्ता योगात्संप्राप्नुवंति याम् ॥

योग करकेही ज्ञानकी प्राप्ति होती है, योगसेही धर्म प्राप्त होताहै। योगही परम तप है इससे योगका सदा अभ्यास करना उचित है। योगाभ्यास करके जिस गतिको प्राप्त होते है वह उग्र तप करके और मंत्रोंके जप करके वा यज्ञोंके अनुष्ठान करनेसे भी उस गतिको द्विजलोग प्राप्त होनेमें समर्थ नहीं होते।

गरुडपुराणे-

भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम्।

इस संसारके दुःखियोंको योगही उत्तम औषध है।

योगवाशिष्ठे-

दुःसहा राम संसारविषवेगा विसूचिका।
योगगारुडमंत्रेण पावनेनोपशाम्यति ॥

हे रामचन्द्रजी! यह संसाररूप विषविसूचिका (हैजा) का वेग बडा दुःखदाई है वह योगरूप गारुडके मंत्र करके शांतिको प्राप्त होता है अन्यथा नहीं।

योगबीजे-श्रीपार्वत्युवाच।

ज्ञानादेव हि मोक्षं च वदन्ति ज्ञानिनः सदा।
न कथं सिद्धयोगेन योगः किं मोक्षदो भवेत् ॥

पार्वतीजीने कहा कि हे ईश्वर! केवल ज्ञान करके ही मोक्षकी प्राप्ति होती है दूसरे साधनसे नहीं, ऐसे सब ज्ञानी लोग कहते हैं तो तुम सिद्ध हुए योगको ही किस प्रकारसे मोक्षका देनेहारा कहते हो।

ईश्वर उवाच।

ज्ञानेनैव हि मोक्षश्च तेषां वाक्यं तु नान्यथा।
सर्वे वदंति खड्गेन जयो भवति तर्हि किम् ॥

विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात् ।
तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत् ॥

हे प्रिये ! केवल ज्ञानसे ही मोक्षकी प्राप्ति होतीहै दूसरे साधनसे नहीं, यद्यपि यह उनका कहना यथार्थ है तथापि जैसे सब लोग कहतेहैं कि तलवारसे शत्रुका पराजय होताहै तो इस तरह कहनेसे क्या हुआ विना युद्ध और बलके केवल तलवारसे कहीं जीत होतीहै ? ऐसे ही विना योगाभ्यासके केवल ज्ञान[1] मुक्ति नहीं देसकताहै ।

योगबीजे-

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः ।
विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये ॥

ज्ञानी हो वा त्यागी हो वा धर्मवान् हो अथवा इन्द्रियोंको जीतनेवाला हो परन्तु योगके विना हे प्रिये ! देव भी मोक्षको नहीं प्राप्त होताहै" । श्रुतिः-

अथ तद्दर्शनाभ्युपायो योगः-अध्यात्मयोगा-
धिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥

उस आत्माके साक्षात्करनेमें एक योगही उपाय है दूसरा नहीं, योगाभ्यास द्वारा ही उस आत्मदेवको जानकर श्रेष्ठ पुरुष हर्षशोक (जन्ममरण) रूप संसारका परित्याग करतेहैं ।

महाभारते-

मोक्षपर्वमें भीष्मपितामहका वचन युधिष्ठरप्रति--

यथा चानिमिषाः स्थूला जालं भित्त्वा पुनर्जलम् ।
प्रविशंति यथा योगास्तत्पदं वीतकल्मषाः ॥

हे राजन् ! जिस प्रकारसे मोटा मगरमच्छ बलसे जालको तोडकर पुनः अपने निवासस्थान जलमें चला जाता है वैसेही योगी लोग प्रारब्ध कर्मरूप जालको योगरूप बलसे छेदन करके सब पापोंसे रहित हुए पुनः अपने निवासस्थान ब्रह्ममें एकीभावको प्राप्त होतेहैं ।

---

१ "रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना । तथा योगेन रहितो ब्रह्मज्ञानरतोऽपि वा ॥"

यथैव वागुरां छित्त्वा बलवन्तो यथा मृगाः।
प्राप्नुयुर्विमलं मार्गं विमुक्ताः सर्वबन्धनैः॥
अबलाश्च मृगा राजन् वागुरासु तथा परे।
विनश्यन्ति न संदेहस्तद्वद्योगबलादृते॥

जैसे बलवान् मृग जालको तोडकरके सब बन्धनोंसे मुक्त हुए इच्छानुसार सुन्दर रस्तेको चले जाते हैं। और जो बलसे हीन होतेहैं वे जालमें बंधे ही मृत्युको प्राप्त होतेहैं ? वैसेही जो पुरुष योगरूप बल करके युक्त हैं वह प्रारब्ध कर्मरूप जालको तोडकरके देहादि सब बन्धनोंसे रहित हुए ब्रह्म-भावरूप इच्छानुसार विमलमार्गको प्राप्त होतेहैं और जो योगबलकरके हीन हैं वह कर्मरूप जालमें ही पतितहुए नानाप्रकारकी योनियोंमें भ्रमणरूप मृत्युको प्राप्त होते हैं॥ इसी योगबलसे भीष्मपितामहने छः महीना रण-भूमिमें बाणशय्या पर स्थित होकर उत्तरायण सूर्य होने पर प्राणका त्याग किया, विना योगके किसीकी ऐसी सामर्थ नहीं है कि कालके नियमको उल्लंघन करे।

स्कन्दपुराणे–

आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्च योगादृते नहि।
स च योगीश्वरं कालमभ्यासादेव सिध्यति॥

आत्मज्ञानसे मुक्ति होती है वह आत्मज्ञान योगके विना नहीं हो सकता और वह योग चिरकालके अभ्याससे ही सिद्ध होताहै।

योगतत्त्वोपनिषदि–

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम्।
योगो हि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि॥
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत्॥

विना योगका ज्ञान निश्चय करके मोक्षका देनेवाला कैसे होसकता है और विना ज्ञानके योग भी मोक्ष देनेमें समर्थ नहीं है इसलिये मोक्षाऽभिलाषी ज्ञान और योग दोनोंको दृढता (मजबूती) से अभ्यास करे ।

शाण्डिल्योपनिषदि-

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं मुनीश्वर ।
योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥
तस्मिन्निरोधिते नूनमुपशान्तमनो भवेत् ।
मनःस्पन्दोपशान्त्यायं संसारः प्रविलीयते ॥

हे मुनीश्वर ! चित्तके नाश करनेके लिये योग और ज्ञान दो क्रम हैं, योगसे चित्तवृत्तिकी रुकावट होती है और ज्ञानसे यथार्थ वस्तु अर्थात् सत्का बोध होता है इससे चित्तकी वृत्तियोंके अवरोधसे निश्चय करके मन शान्त हो जाताहै और मनकी चंचलता शान्त होनेसे यह संसारी प्रपंच छूट जाताहै ।

ध्यानदीपे-

योगो[1] मुख्यस्ततस्तेषां धीदर्पस्तेन पश्यति ।

जिन मुमुक्षुपुरुषोंका चित्त नानाप्रकारके संकल्प विकल्पों करके चंचल है उनको योगाभ्यास ही चित्तकी एकाग्रताका मुख्य साधन है ।

बृहदारण्योपानषदि-

तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निष-
मस्य ॥

अन्तके समयमें इस पुरुषका मन जिस वस्तुके विषे आसक्त होता है उसी वस्तुके सहित कर्मोंको प्राप्त होताहै ।

---

१ श्रीमद्भागवते-"यथा वातरथो घ्राणमावृंक्ते गंध आशयात् । एवं योगरतं चेत आत्मानमविकारि यत् ॥"

योगबीजे-

देहावसानसमये चित्ते यद्यद्विभावयेत् ।
तत्तदेव भवेज्जीव इत्येवं जन्मकारणम् ॥
देहान्ते किं भवेज्जन्म तन्न जानन्ति मानवाः ।
तस्माज्ज्ञानं च वैराग्यं जपश्च केवलं श्रमः ॥
पिपीलिका यदा लग्ना देहे ज्ञानाद्विमुच्यते ।
असौ किं वृश्चिकैर्दष्टो देहान्ते वा कथं सुखी ॥

देहके अन्तसमयमें जीव जिस २ को विचारता है वही वह जीव होजाता है यही जन्मका कारण है । देहके अन्तमें कौन जन्म होगा यह मनुष्य नहीं जानते हैं जिससे ज्ञान, वैराग्य, जप ये केवल परिश्रम मात्र हैं । जब चींटी देहमें लगजाती है और ज्ञानसे छूट जाती है तो बिच्छुओंसे डसा हुआ यह जीव देहके अन्तमें कैसे सुखी होसकता है? अर्थात् चींटी शरीरमें लगनेसे विशेष घबराहट नहीं होती इससे सहन होजाताहै परन्तु मरण समयमें तो सहस्र बिच्छूडसनेके समान कष्ट होताहै वह सहन कैसे होगा ? अभिप्राय यह है कि योगी ही इन सब कष्टोंको सहन कर सावधानतासे प्राणको परब्रह्ममें लीन करता है दूसरे साधनवाले नहीं । मनकी चंचलता प्राणवायुके निरोधसे ही दूर होतीहै ।

योगबीजे-

नानाविधैर्विचारस्तु[1] न साध्यं जायते मनः ।
तस्मात्तस्य जयः प्रायः प्राणस्य जय एव हि ॥

अनेकों प्रकारके विचारोंसे मन साध्य नहीं होता है इससे प्राणवायुके जीतनेसे ही मन जीता जाताहै ।

---

१ योगरहस्ये–"चित्तं न साध्यं विविधैर्विचारैर्वितर्कवादैरपि वेदवादिभिः । तस्मात्तु तस्यैव हि केवलं जयः प्राणो हि विद्येत न कश्चिदन्यः" अन्यच्च–प्राणान्प्रपीड्येह स युक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत । दुष्टाश्वयुक्तामिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ॥"

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ।

जो कोई वायुको रोकता है वही मनको भी रोकता है ।

योगशिखोपनिषदि–

योगात्परतरं पुण्यं योगात्परतरं शिवम् ।
योगात्परतरं सूक्ष्मं योगात्परतरं नहि ॥

योगसे श्रेष्ठ न कोई पुण्य है, न कोई कल्याणदायक है और न कोई सूक्ष्म वस्तु है अर्थात् योगसे बढकर कुछ नहीं है । यह जो योगका माहात्म्य कहा गया है वह हठयोग ही है इस हठयोगके अधिकारी मनुष्यमात्र हैं जो कोई नियमसे इस योगका सेवन करता है वह अवश्यकरके मोक्षका अधिकारी होता है और जीवनपर्यंत मानके साथ सुख भोगता है और पुनः जन्म लेनेपर भी पवित्रकुलमें जन्म लेता है । गीतायाम्–

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ॥

योगसे भ्रष्ट मनुष्य पवित्र धनीके कुलमें जन्म लेता है अथवा बुद्धिमान् योगियोंके कुलमें होता है। अर्थात् योग करते २ योग सिद्ध न हुआ और शरीरका अन्त होगया तो यदि देहान्तके समय उसका चित्त धनादिकोंके सुखकी ओर गया तो वह पवित्र धनियोंके कुलमें जन्म ले सुख भोगताहै और देहांतके समय योगहीमें चित्त गया तो वह योगियोंके कुलमें उत्पन्न हो पुनः योगाभ्यासको करता हुआ सिद्धियोंके सहित परमपदका लाभ उठाताहै । और जो थोडा २ काल भी अभ्यास शुद्धतासे किया करताहै वह भी भाग्यवान्के घरमें जन्म लेताहै और उसकी वासना भी योगमें लगी रहतीहै उसके प्रभावसे किसी कालमें मुक्त अवश्य होजाताहै ।

योगवासिष्ठे–

द्वे बीजे राम चित्तस्य प्राणस्पन्दनवासना ।
एकस्मिंश्च तयोर्नष्टे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः ॥

हे राम ! प्राणकी क्रिया और वासना यह दोनों चित्तके बीज हैं, इन दोनोंके मध्यमें एकके नष्ट होने पर दोनों नष्ट होजातेहैं ।

मुक्तिकोपनिषदि-

अध्यात्मविद्याऽधिगमस्साधुसङ्गतिरेव च ।
वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ॥
एतास्ता युक्तयः पुष्टास्सन्ति चित्तजये किल ॥

वेदांतविद्यामें अभ्यास, सत्पुरुषोंकी संगति, संसारी वासनावोंका त्याग और प्राणायाम, यही युक्तियां चित्तवृत्तिके निरोधकरनेमें प्रबल हैं ।

योगवासिष्ठे-

तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च ।
मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितान्यतः ॥
त्रय एते समं यावन्न स्वभ्यस्ता मुहुर्मुहुः ।
तावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्भवत्यपि समाश्रितैः ॥

तत्त्वज्ञान, मनका नाश और वासनाका क्षय ये तीनों परस्पर कारण होकर दुःखसे साध्यरूप होकर स्थित हैं इससे जबतक इन तीनोंका भली भांति बारंवार अभ्यास न कियाजाय तबतक अन्य कारणोंसे ब्रह्मज्ञानकी संप्राप्ति नहीं होतीहै ।

मुक्तिकोपनिषदि-

जन्मान्तरशताभ्यस्ता मिथ्या संसारवासना ॥
सा चिराऽभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित् ॥
तस्मात्सौम्य प्रयत्नेन पौरुषेण विवेकिना ।
भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा त्रयमेव समाश्रय ॥

सैकडों जन्मोंसे झूंठी संसारी ममताका अभ्यास होरहाहै इसलिये विना बहुतकाल योगाभ्यास किये वह कहीं नष्ट नहीं होसकती । हे सौम्य ! इस

हेतुसे यत्न पुरुषार्थ (सामर्थ्य) और विचार इन तीनोंहीके आश्रय होकर योगबलसे वासनावोंको दूरहीसे त्यागदे ।

तस्माद्वासनया युक्तं मनो बद्धं विदुर्बुधाः ।
सम्यग्वासनया त्यक्तं मुक्तमित्यभिधीयते ॥

क्योंकि वासनाओंसे युक्त मनको पंडितलोग बँधाहुआ मन कहतेहैं और अच्छे प्रकार वासनासे रहित मनको मुक्त कहतेहैं ॥

योगबीजे-

तत्रापि साध्यः पवनस्य नाशः षडङ्गयोगादिनिषेवणेन । मनोविनाशस्तु गुरोः प्रसादान्निमेषमात्रेण सुसाध्य एव ॥

षडंगयोग अर्थात् आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिके अभ्याससे वायुका नाश साधन करना चाहिये और मनका विनाश तो गुरुके प्रसादद्वारा पलभरमें साध्य होसकताहै । अभिप्राय यह है कि जब पवन साध्य होजायगा तो मन आप ही शांत होगा, क्योंकि दोनोंका परस्पर संबन्ध है परन्तु यह मन विना योगके अन्य प्रकार साध्य होनेमें बडा कठिन है यह त्रैलोक्यकी सृष्टि इसी मनके आश्रयसे है जहांतक मनकी शुद्धि नहीं होती तहांतक प्राणी अनेक योनियोंमें भ्रमण करता हुआ दुःखको भोगताहै कभी कहीं सत्सङ्ग पडनेसे पुण्यके प्रभावसे स्वर्गादिका भोक्ता होताहै कभी खोटे आचरणसे नरकमें पडकर दुःख भोगताहै इसी प्रकार मनकी शुद्धि विना मारा पीटा इधरसे उधर भटकता फिरताहै । कहाभी है-

पाद्मे-

पुनर्देहान्तरं याति यथा कर्मानुसारतः ।
आमोक्षात्संचरत्येवं मत्स्यः कूलद्वयं यथा ॥

कर्मानुसार दूसरे देहको प्राप्त होता है जिस तरह नदीका मच्छ कभी इस किनारे और कभी दूसरे किनारे (तट) जाता है इसी तरह यह प्राणी मोक्ष न होने

तक अनेक योनियोंमें भ्रमण करता है । इससे मनके शुद्ध करनेका उपाय एक योग ही है, योगके आश्रित हो यह मन विकारोंसे नष्ट होजाता है परन्तु योग कुछ तमाशा नहीं है बडे क्लेशसे साध्य होता है, सब इन्द्रियोंके स्वादसे रहित हो सत्पुरुषकी संगति करते करते कालांतरमें योग शुद्ध रीतिसे होने लगता है, फिर वह पुरुष विषयोंकी तरफ नहीं देखता और गुफाओंमें काल व्यतीत करता हुआ जन्मजन्मांतरोंकी स्मरणशक्तिका अधिकारी होकर जरामरणसे रहित होताहै ।

विचार करनेकी बात है कि इंद्रियोंके स्वादका त्याग क्या सहज है? पुनः जब तक जितेन्द्रिय नहीं होगा तब तक सत्पुरुष कैसे मिलेंगे ? इन्द्रियोंके स्वाद लेते हुए योगाभ्यास कैसे होगा?

इसलिये योगका साधन कुछ कथन मात्रसे नहीं होसकता इसमें अत्यन्त परिश्रमका काम है इसका अभ्यासी क्लेश क्या वस्तु है यह ख्याल ही न करे और एक चित्तसे महामंत्रका स्मरण करता हुआ वासनाओंसे रहित, दुष्टोंसे अलग, आत्माके विचारमें मग्न, आलस्य रहित होकर सदा वायुकी आराधना नियमसे करता रहे तब वह योगीका लाभ उठाता है और उत्तम योगियोंका दर्शन आपसे आप होता रहता है । और इस शरीरके अन्तर जो लोक लोकांतर और तीर्थ हैं समस्तका दर्शन होता है ।

यथा–

देहेऽस्मिन्वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः ।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः ॥
ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तते पीठदेवताः ॥

प्राणीके इस शरीरमें सात द्वीप सहित सुमेरु है और नदी, समुद्र, पर्वत, क्षेत्र, क्षेत्रपाल, ऋषि, मुनि, सब नक्षत्र, ग्रह, पुण्यतीर्थ और पीठदेवता आदि सब इस शरीरमें वर्तमान हैं ।

---

१ विद्याप्रतीतिः स्वगुरुप्रतीतिरात्मप्रतीतिर्मनसः प्रबोधः । दिनेदिने यस्य भवेत्स योगी सुशोभनाभ्यासमुपैति सद्यः ॥"

सृष्टिसंहारकर्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ ।
नभो वायुश्च वह्निश्च जलं पृथ्वी तथैव च ॥

उत्पत्ति और नाशके करनेवाले चंद्रमा और सूर्य इस शरीरमें घूमते रहते हैं और आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी ये पांच तत्त्व सर्वदा शरीरमें वर्तमान हैं ।

श्रीपर्वतं शिरस्थाने केदारन्तु ललाटके ।
वाराणसी महाप्राज्ञ भ्रुवोर्घ्राणस्य मध्यमे ॥
कुरुक्षेत्रं कुचस्थाने प्रयागं हृत्सरोरुहे ।
चिदम्बरं तु हृन्मध्ये आधारे कमलालयम् ॥

शिरमें श्रीशैल क्षेत्र है, ललाटमें केदार क्षेत्र है और हे श्रेष्ठ बुद्धिवाले ! भृकुटी और नासिकाके बीचमें काशी क्षेत्र है, स्तन (छाती) में कुरुक्षेत्र और हृदय-कमलमें प्रयागक्षेत्र है, हृदयके बीचमें चिदम्बर क्षेत्र और मूलाधारमें लक्ष्मीजीका स्थान है । यदि यह शंका हो कि मूलाधारमें तो गणपतिजीका स्थान है ? तो कहीं लक्ष्मीजी गणेशजीकी भी स्त्री कहीगई हैं वह लक्ष्मीविनायक नाम करके गाणपत्योंमें पूजनीय है ।

त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहतः ।
मेरुं संवेष्टय सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्त्तते ॥
जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्र संशयः ॥

त्रैलोक्यमें जो चराचर वस्तु हैं वह सब इसी शरीरमें मेरुके आश्रय होके सर्वत्र अपने २ व्यवहारको करते हैं जो कोई यह सब जानता है वह योगी है इसमें संदेह नहीं इससे योगाभ्यास अवश्य करना चाहिये कि जिसमें ये सब लाभ प्राप्त हों और कालभी लजितहो देखिये इसी कालके भयसे ब्रह्मादिक देवताओंने पवनका अभ्यास किया है। यथा—

ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः ।
अभूवन्नन्तकभयात्तस्मात्पवनमभ्यसेत् ॥

ब्रह्मा आदि देवता भी काल जीतनेके लिये प्राणवायुके अभ्यासमें सावधान रहे इससे प्राणवायुके जीतनेका अभ्यास अवश्य करे । प्राणायाम करते २ जब प्राणवायु सुषुम्नामें प्रवेश करता है तब मनकी स्थिरता प्राप्त होती है, इससे जो कोई योगका अभ्यास करे वह जहांतक सुषुम्नामें प्राणका संचार न हो तहां तक न छोडे कारण कि विना सुषुम्नामें प्रवेश हुए उसको मनकी स्थिरताका क्या स्वाद मिलेगा? और जब तक उसको स्वाद प्राप्त नहीं होगा तब तक उसका चित्त योगमें पूर्ण रीतिसे नहीं लगेगा इस लिये सुषुम्नाके प्रवेशतक अभ्यास अवश्य करे और यदि प्रवेश होनेके अनंतर दैवसंयोगसे अभ्यास छूट जायगा तो उसको योगका आनन्द तो स्मरण रहेगा ।

मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ।
यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी ॥

प्राणवायुका सुषुम्नाके बीचमें चलने पर मनकी स्थिरता होजाती है वह जो मनका भलीप्रकार स्थिर होजाना है उसको ही मनोन्मनी अवस्था कहतेहैं ।

विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते ।
सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥

विधिपूर्वक अर्थात् आसन आदिसे युक्त शनैः प्राणायामोंसे नाडियोंके समूहको अच्छी तरह शुद्ध होने पर इडा और पिंगलाके बीचमें जो सुषुम्ना नाडी स्थित है उसके मुखको अच्छे प्रकारसे छेदन (तोड) करके मुखमें सुखसे प्राणवायु प्रवेश करता है । क्योंकि सुषुम्ना नाडी कफ आदि बंधनोंसे ढपी रहती है प्राणायाम करते २ वह मार्ग शुद्ध होजाताहै । इस वास्ते आलस्यका परित्याग कर प्राणवायुकी आराधना सदा करना चाहिये ।

अब योगमार्ग लिखताहूं ।

इसमें एक तो अष्टाङ्ग योग और दूसरा कोई षडङ्ग योग कहते हैं ।

पतञ्जलिः-

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि ।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि यह आठ अंग योगके हैं । यम नियमको छोडकर शेष छः षडङ्ग कहाते हैं ।

योगाङ्गानुष्ठानादऽशुचिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।

योगके आठ अंगोंके साधनसे क्रम २ करके मलिनताका नाश होकर ज्ञानका प्रकाश होता हुआ विवेकख्यातिकी बढती होती है अर्थात् शुद्ध ज्ञान प्राप्त होता है ।

अहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः ।

किसी जीवको नहीं मारना, सच्चा बोलना, चोरी कभी नहीं करना और न चोरी करनेको उपदेश देना, न मनमें लाना, वीर्य (कामदेव) की रक्षा सदैव करना और किसी प्रकार धनादिकी इच्छा नहीं करना इसको यम कहतेहै । इनका फल ऐसा है कि हिंसा न करनेसे कोई भी मनुष्य, पशु, पक्षी, व्याघ्र, सर्पादि उसको भय नहीं देते अर्थात् उसको देखते ही शांत होजातेहैं और न उसको भय माळूम होताहै । सत्य बोलनेसे वाक्यसिद्धि होजातीहै अर्थात् जो कुछ वह कहताहै सब सत्य होताहै । चोरी न करनेसे वह सबका प्यारा होजाताहै और जो कुछ द्रव्यादिकी कभी इच्छा करताहै वह सब वस्तु आपसे आप ही प्राप्त होतीहैं । वीर्यकी रक्षा करनेसे अर्थात् स्वप्नमेंभी वीर्यपात न होनेसे वह पुरुष बलीसे बली होताहै स्वरूपवान् होताहै और मन उसका सदैव स्थिर रहताहै और अजर अमरताको प्राप्त होताहै । धनादिकी इच्छा न करनेसे अर्थात् विषयसे रहित होनेसे उसको पूर्वजन्मका ज्ञान होताहै ।

शौचसन्तोषतपस्स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः

आचार धर्म पालन करना, प्राप्तवस्तु और अप्राप्त वस्तु दोनोंमें तृप्त रहना अर्थात् मिलने पर हर्ष नहीं और न मिलनेका शोक नहीं, जप, व्रत, तीर्थ निमित्त क्लेशका सहन करना, वेद पढना पढाना, मोक्षशास्त्रमें तत्पर रहना, और ईश्वरकी भक्ति करना इसको नियम कहतेहैं । इनका माहात्म्य

ऐसा है कि शौचके साधनसे सत्त्व बुद्धि, मनकी शुद्धता, एकाग्रता, इन्द्रियोंका जय और आत्माका दर्शन होताहै। सन्तोषसे उत्तम सुख मिलताहै अर्थात् वासनाही दुःखादिका मूल है उससे रहित होजाता है। तपसे शरीर सिद्धि और इंद्रियोंकी सिद्धि होतीहै अर्थात् शरीरमें जो रोगादिका भय है वह नष्ट होजाता है और इन्द्रियद्वारा दूरदृष्टिका लाभ अर्थात्, श्रवणसे दूरकी भी बात सुननेमें आतीहै और नेत्रसे दूरतक देखसकताहै ऐसे सब इंद्रियोंकी सिद्धि होती है। स्वाध्यायसे इष्टदेवताका दर्शन होताहै और मोक्षके प्राप्त करानेवाले योगी-जनोंका दर्शन और मोक्ष प्राप्त होताहै। और ईश्वरकी भक्ति करनेसे समाधिका लाभ अर्थात् कैवल्यपद प्राप्त होताहै। यह बात स्मरण रहे कि यह सब लाभ योगीहीको प्राप्त होतेहैं और उक्त साधन योगी ही करताहै।

अन्यच्च यमः-

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः।
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश॥

किसी जीवको न मारना, और न दुःखदायी वचन बोलना, सच्चा बोलना चोरी नहीं करना, वीर्य (कामदेव) की रक्षा करना, किसीके दुःख देने पर भी क्रोध नहीं करना, धीरज रखना, दुःखीकी रक्षा करना, नम्रता और अल्पाहार अर्थात् बहुत भोजन नहीं करना यह दश यम हैं।

विशेषभोजननिषेधः। मनुः-

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥

अधिक भोजन करनेसे अनारोग्यता और आयुष्यका नाश होताहै; वह स्वर्गका विरोधी है अर्थात् यज्ञ, जप आदिमें वायुके विकारसे बैठा नहीं जाता है उपाधि करनेसे स्वर्गका भी विरोधी है, अपवित्र और लोकमें निंदित है इससे विशेष भोजन न करे।

नियमाः-

तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।
सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ह्रीमती च जपो हुतम् ॥
नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः ।

तप, संतोष, देवतामें भाव रखना, दान देना, ईश्वरकी पूजा अर्थात् मूर्तिपूजन करना, गुरु और वेदांतके वाक्योंको सुनना, लज्जा अर्थात् लोकापवादको भी बचाना, बुद्धि शुद्ध रखना, और जप होम करना ये दश नियम योगशास्त्रके पंडितोंने कहेहैं ।

आसनमाह पतञ्जलिः ।

स्थिरसुखमासनम् ।

जिससे स्थिरताका सुख हो अर्थात् जहां तक इच्छा हो एकही आसनसे बैठा रहे क्लेश कुछभी न हो उसको आसन कहते हैं । आसन सिद्ध होनेसे योगी शीत, उष्ण, सुख, दुःखसे रहित होता है, मनको वशीभूत करलेताहै और सब रोग नष्ट होजातेहैं "आसनं विजितं येन जितं तेन जगत्त्रयम्" जिसने आसनको जीत लिया है उसने तीनों लोकोंको जीत रक्खा है ।

चतुराशीतिलक्षाणामेकैकं समुदाहृतम् ।
ततः शिवेन पीठानां षोडशोनं शतं कृतम् ॥

चौरासी लक्ष आसनोंमें श्रीमहादेव स्वामीने चौरासी आसन सार रक्खे हैं । हठयोग प्रदीपिका ग्रन्थमें आत्माराम योगीने सोलह आसन रक्खेहैं और भी योगके ग्रन्थोंमें कहीं कुछ न्यूनताऽधिक माने हैं परन्तु योगके विशेष प्रयोजनीय आसन अल्प ही हैं, ग्रन्थोंकी सम्मतिसे अवश्य प्रयोजनीय आसनोंको लिखता हूँ ।

स्वस्तिकासनम् ।

जानूर्वोरंतरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे ।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तु प्रचक्षते ॥

जानु अर्थात् गांठोंके बीचमें दोनों पाओं (पगतली) को लगाकर सीधा शरीर करके सावधान बैठना उसे स्वस्तिकासन कहतेहैं।

बद्धपद्मासनम् ।

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम्। अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-देतद्व्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते ॥

बायीं जांघके ऊपर दहिना पांव (चरण तरवा) रखके तदनुसार बांया पांव दहिने जांघके ऊपर रक्खे । पुनः पृष्ट भागसे एक हाथ घुमाके एक चरणके अंगूठेको पकडे तदनुसार दूसरा हाथ घुमाकर दूसरे चरणके अंगूठेको दृढ पकडे, चिबुक (डाढी) को हृदयके समीप दृढतासे लगाके नासिकाके अग्रभागको देखे यह बद्धपद्मासन हुआ । यह योगियोंकेसम्पूर्ण व्याधियोंको नष्ट करता है, सब प्रकारके उदररोग नाश हो जातेहैं । हाथोंको न घुमाकर दोनों हाथोंको जानुपर उत्तान रखनेसे पद्मासन होताहै परन्तु शेष पूर्ववत् रक्खे ।

सिद्धासनम् ।

योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-न्मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् । स्थाणुः संयमितेंद्रियोऽचलदृशा पश्येद्भ्रुवोरंतरं ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥

गुदा और लिंगका जो मध्य भाग (योनिस्थान) है वहां बायें पांवकी एडी (पार्ष्णि) लगावे और दूसरा पांव लिंगके ऊपरी भागपर रक्खै और हृदयके समीप भागमें डाढी (चिबुक) दृढतासे लगाकर निश्चल मनसे अचल दृष्टिसे

---

१ केवल इसी आसनका अभ्यास करनेसे और इसी आसनसे प्राणवायुके शनैः शनैः अभ्यास करनेसे ब्रह्मरंध्रमें वायु पहुँचतीहै (समाधि लगजातीहै) परन्तु विना गुरुके भय है ।

भ्रूमध्यको देखता रहै यह मोक्षके किवाडका खोलनेवाला सिद्धोंने सिद्धासन कहा है इसीको वज्रासन, मुक्तासन भी कहते हैं ।

उग्रासनम् ।

प्रसार्य पादौ भुवि दंडरूपौ दोर्भ्यां पदाग्रद्वितयं गृहीत्वा । जानूपरि न्यस्तललाटदेशो वसेदिदं पश्चिमतानमाहुः ॥

दोनों पावोंको पृथ्वीमें दण्डाके समान फैलाकर दोनों हाथोंसे दोनों पांवोंके अंगूठेको पकडकर गांठ (जानु) के ऊपर शिर रक्खै परन्तु पांव पृथ्वीमें चिपटे रहें किंचित् भी न उठे रहें इसको पश्चिमतान वा उग्रासन कहतेहैं । इस आसनके करनेसे प्राण सुषुम्नामें प्रवेश करताहै यह आसनोंमें मुख्य आसन है, इससे क्षुधा लगतीहै, रोगका अभाव करताहै, उदरके सब रोगोंको नष्ट करताहै, वायु स्थिर होताहै अजीर्णको नाश करताहै । इसी आसन पर कुछ लोग प्राणायामभी करतेहैं परन्तु मेरी समझमें ठीक नहीं है इसमें रोगका भय है। अबलत्ता इस पर जितना काल स्वयं पूरक रेचक मंद २ होताहुआ स्थिर रहेगा उतना ही लाभ है अर्थात् प्राण सुषुम्नामें प्रवेश करेगा; चित्तकी स्थिरता की वृद्धि होगी, चित्त बहुधा शांत रहा करेगा ।

मयूरासनम् ।

धरामवष्टभ्य करद्वयेन तत्कूर्परस्थापितनाभिपार्श्वः । उच्चासनो दंडवदुत्थितः स्यान्मायूरमेतत्प्रवदन्ति पीठम् ॥

दोनों हाथोंको भूमिमें स्थापित करके हाथोंके गांठों (मणिबन्ध) को मिलाकर नाभिमें वा पार्श्वमें लगाके उसीके आधार पर दंडके समान उठा हुआ उच्चासन होताहै इसी आसनको मायूर (मोर) योगिजन कहतेहैं । इस आसनके करनेसे गुल्म, जलोदर, तिल्ली आदि उदररोग सब नष्ट हो जातेहैं । वात पित्त कफ, आलस्य आदि दोष शमन होतेहै और कैसा भी अन्न

जो पचने योग्य न हो उसको भस्म करके जठराग्निको प्रदीप्त करता है और नादको भी उत्पन्न करताहै ।

सिंहासनम् ।

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् । दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके ॥ हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वांगुलीः संप्रसार्य च । व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ॥ सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिपुंगवैः । बंधत्रितयसंधानं कुरुते चासनोत्तमम् ॥

अंडकोश (वृषण) के नीचे सीवनी नाडीके दोनों पार्श्व भागोंमें क्रमसे गुल्फोंको लगावे । अर्थात् दक्षिण पार्श्वमें वामगुल्फको और वाम पार्श्वमें दक्षिणगुल्फको लगाके सावधान हो बैठे और दोनों जानुओंके ऊपर दोनों हाथकी अंगुलियोंको फैलाकर स्थापित करै और मुख अच्छी तरह प्रसारित (खोलना-वाना) कर जीभको बाहर निकाल बडी २ आँखोंसे नासिकाके अग्रभागको देखे । योगियोंमें जो श्रेष्ठ उसका यह सिंहासन पूजित होताहै— यह सम्पूर्ण आसनोंमें श्रेष्ठ है इसके अभ्यास करनेसे तीनों बन्ध अर्थात् मूल-बन्ध, जालन्धरबन्ध और उड्डीयानबन्ध आपही साध्य होजातेहैं । ये तीन बन्ध ठीक होजानेसे योग अवश्य सिद्ध होताहै ।

मत्स्येन्द्रासनम् ।

वामोरुमूलार्पितदक्षपादं जानोर्बहिर्वेष्टितवामपादम् । प्रगृह्य तिष्ठेत्परिवर्तितांगः श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात् ॥

वाम जंघाके मूलमें दक्षिणपादको रखकर और जानुसे बाहर वामपादको हाथमें लपेटकर (पकडकर) और वामभागसे पीठकी तरफ मुखको करके जिस आसनमें टिके वह मत्स्येन्द्रनाथका कहा मत्स्येन्द्रासन होताहै । इसी

प्रकार दक्षिण जंघाके मूलमें वामपादादि क्रमसे करे । परन्तु यह आसन विना देखे नहीं आता , इस आसनके अभ्याससे सब रोग नष्ट होजाते हैं कुण्डलिनी जागृत होती है बिन्दुकी स्थिरता होतीहै और भी बहुत गुण हैं। समग्र आसनोंमें सिद्धासन सबसे श्रेष्ठ है केवल इसी आसनके अभ्याससे जिज्ञासुका कार्य सिद्ध होता है। इस आसनके अभ्यास करनेसे ७२००० बहत्तर सहस्र नाडियोंका मल शुद्ध होजाताहै । इसपर केवल कुम्भकका अभ्यास करनेसे मूलबंध, उड्डीयानबन्ध, जालन्धरबन्ध यह तीनों कुछ कालमें स्वयं होजाते हैं और योगीको ये तीन मुख्य हैं ।

आत्मध्यायी मिताहारी यावद्द्वादशवत्सरान् ।
सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात् ॥

आत्माके ध्यानका कर्त्ता और मिताहारी (पुष्ट कारक मधुर आहार कट्वम्लादिवर्जित) होकर बारहवर्ष पर्यन्त सदैव सिद्धासनका अभ्यास करनेसे योगी योगकी सिद्धिको प्राप्त होता है "नासनं सिद्धसदृशं" परन्तु आसनको दृढ लगाके एक प्रहरसे कम न बैठे ।

षट्क्रियाप्रकार ।

जिन पुरुषोंको कफ वात पित्तकी अधिकतासे शरीरमें स्थूलता (मोटापन) हो उनको क्रिया करना आवश्यक है और जिनका शरीर कृश (पतला) और वातादिककी अधिकतासे युक्त न हो उनको थोडे दिन तक क्रिया करना चाहिये और जब कफादि विकारोंकी शुद्धता समझ पडे तब प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये क्योंकि विना क्रिया किये नाडियोंके मल अर्थात् वात पित्त कफादिकी शुद्धता नहीं होती और बिना मल शुद्धिके प्राणायाम शुद्ध नहीं होता इससे क्रिया करना आवश्यक है। किसी आचार्यके मतसे प्राणायाम करते २ नाडियोंके मल शुद्ध होजाते हैं परन्तु पहिले कुछ कालतक क्रिया कर लेनेसे प्राणायाम प्रारम्भ करना उत्तम पक्ष है और जो लोग केवल क्रियाही करते हैं, प्राणायाम प्रत्याहारादिका क्रम न उन्हें माद्धम है और न किसीसे जानकर करते हैं उनका काल व्यर्थही समझना चाहिये ।

मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः ।
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत् ॥

जबतक नाडी मलसे व्याप्त है तबतक प्राण मध्यग अर्थात् सुषुम्ना मार्गसे नहीं चल सकता किन्तु मलशुद्धि होनेपर ही सुषुम्ना नाडीमें प्रवेश करेगा और जब मल नाडियोंमें विद्यमान है तब उन्मनीभाव कहां ? पुनः मोक्षरूप कार्यकी सिद्धि कैसे होसकती है ।

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥

मलसे व्याप्त सम्पूर्ण नाडियोंका समूह जब शुद्धिको प्राप्त होताहै तभी योगी प्राणवायुके रोकनेमें समर्थ होताहै ।

मेदःश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ।
अन्यस्तु न चरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥

जिस पुरुषके मेदा और श्लेष्मा (कफ) अधिक हो वह पुरुष पहिले षट्क्रियाका अभ्यास करे और जिसको कफादिकी अधिकता न हो वह दोषोंकी समानतासे न करे ।

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा ।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते ॥

धौति १ बस्ति २ नेति ३ त्राटक ४ नौलिक ५ (नौली) और कपाल-भाति ६ यह छः क्रिया बुद्धिमानोंने योगमार्गमें कही हैं ।

धौतिः ।

चतुरंगुलविस्तारं हस्तपंचदशायतम् ।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ॥

चार अंगुलका चौडा और पन्द्रह हाथका लम्बा वस्त्र, गीला करके गुरू-पदेशसे धीरे २ ग्रास (निगले—खावे) करे । अभ्यास करनेसे चार अंगुलसे

द्वादश अंगुलतक चौडा और पन्द्रह हाथसे तीस हाथ तक लम्बा ग्रासकर सकता है बल्कि इससे भी अधिक अभ्यासी लोग करते हैं परन्तु वस्त्र दर्दरा हो क्योंकि बारीक (सूक्ष्म—पतला) वस्त्र होनेसे उदरमें ग्रन्थि पडजाती है पीछे मुखसे निकालनेमें कष्ट होता है । कुछ अभ्यासी लोग वस्त्रको ग्रासकर पीछे एकबारही वमन कर देतेहैं परन्तु इसमें कुछ अर्थ नहीं । इस धोतीके करनेसे कास, श्वास, प्लीहा, वीस प्रकारके कुष्ठ और कफरोग नष्ट होते हैं ।

बस्तिः ।

ग्रजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ।
आधारकुंचनं कुर्यात्क्षालनं बस्तिकर्म तत् ॥

नदीमें जाके नाभिप्रमाण जलमें उत्कटासनसे बैठे अर्थात् दोनों पैरोंकी एँडियों (पार्ष्णि) पर चूतड (नितम्ब) रखकर अंगुलियोंके आधारसे बैठना, पश्चात् गुदाको बार २ आकुञ्चन करे (सकोडे) उससे जल भीतर जाता है उस जलको नौली कर्मसे चलाकर निकाल दे इसको बस्तिकर्म कहते हैं । और कोई बांसकी नली कुछ गुदामें प्रवेश करके कुछ बाहर रखके जल खींचते हैं । परन्तु अभ्यासी (साधु) उदरमें जो दो नल हैं उनको प्रथम उठानेका अभ्यास करते हैं अनन्तर फिरानेका अभ्यास करके उसी मार्गसे गुदाद्वारा जल खींचते और बहिर्गत करते हैं इस क्रियाके करनेसे गुल्म, प्लीहा, जलोदर, वात पित्त कफसे उत्पन्न रोग सब नष्ट होजाते हैं, जठराग्नि प्रदीप्त होती है, मन प्रसन्न रहता है और भी बहुत गुण हैं (परन्तु इस क्रियाका करनेवाला पुरुष बहुधा रोगयुक्त ही देखनेमें आया (बिरलाही कोई साध्य हुआ)

इससे शंख पछाड उत्तम होता है अर्थात् शौच (मलत्याग) के पहिले यथेष्ट जलको पीकर उदरको घुमावे (फेरे) पीछे मलत्याग करनेको जावे इसी तरह नित्य अभ्यास करते २ कुछ कालमें जल सहित मल गिर पडता है शरीर स्वयं विकार रहित स्वच्छ होजाता है ।

नेतिः ।

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ।
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥

एक वीता प्रमाण चिकना सूत्र ले नासिकासे प्रवेश करके मुखसे निकाले इसको सिद्धोंने नेती कहा है। वीताप्रमाण (बारह अंगुल) सूतकी पतली रस्सी (रज्जु) १९–२०–२९ तन्तु (सूत्र) प्रमाणकी बनाके (दृढ करनेके वास्ते मोम लगा देवे) उसको नासिकासे छोड मुखसे निकालके दो चार बार फेरे पुनः द्वितीय नासिकासे करे। इसप्रकार नित्य करनेसे शिरके सब रोग नष्ट होजाते हैं उपनेत्र (चश्मा) लगाना नहीं पडता। नासिकाका कफ नष्ट होजाता है और प्राणायाम सरलतासे होताहै। कोई २ नासिकाके प्रथम छिद्रसे प्रवेश कर दूसरे छिद्रसे निकालते हैं।

त्राटकम्।

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः।
अश्रुसंपातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्।

सूक्ष्म लक्ष्य अर्थात् एक छोटी (बारीक–चमकीली) वस्तु रखकर एकाग्र चित्तसे निश्चल दृष्टि (पलकको न फिराना) लगाकर जबतक आंसू न गिरें तबतक देखे इसके अभ्यास करनेसे नेत्रके रोग सब नष्ट होजाते हैं। तन्द्रा आलस्य आदिका नाश होजाताहै और चित्तमें एकाग्रता प्राप्त होतीहै।

नौलिः।

अमंदावर्तवेगेन तुंदं सव्यापसव्यतः।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्षते॥

उदरको वेगसे जलभ्रमरकी तरह सव्य असव्य (बायें दाहिने) घुमावें इसको सिद्धोंने नौली कहा है और उदरमें जो दो नल हैं उनको उठाके दक्षिण वाम भागसे फेरे यह एक प्रकार है। इस नौली कर्मके करनेसे अग्नि-दीपन और वात आदि दोष शमन होतेहैं शरीर हलका हो जाताहै वायु सुषुम्नामें प्रवेश करताहै चित्तका अवलम्बन होताहै। यह कर्म हठयोगमें श्रेष्ठ है।

कपालभातिः।

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी॥

लोहकारकी भस्त्रा (धौंकनी) के समान नासिकासे रेचक पूरक बार २ जोरसे दक्षिण वाम करके करे इस क्रियासे कफका नाश होताहै वायुकी स्थिरता होतीहै शिरका भारीपन जाता रहताहै ।

यह षट्क्रियायें जो कहीं उनमें धोती, नेती, नौली अत्यन्त उपयोगी है और एक ब्रह्मदण्ड—ब्रह्मदांतन नाम करके विख्यात है। सूतकी रस्सी कनिष्टिका सदृश स्थूल (मोटी) सवा हाथकी लम्बी बनाके मोम लगावे अनन्तर क्रम १ से मुखमें प्रवेश करे नाभि तक पहुंचावे दो चार बार प्रवेश करे और निकाले इसके करनेसे पित्त, कफ और अन्य विकार भी मुखसे गिर पडते हैं, अपानका उत्थान भी होता है, और एक कुञ्जल क्रिया करके विदित है मुखसे यथेष्ट जल पीकर थोडे कालमें वमन (उलटी) करदेवे इसमें अभ्यासी लोग बडा दो दो घडा जल पीजातेहैं पुनः वमन कर देते हैं, वमन करनेसे पित्तादि विकार बहिर्गत होजाते है । और एक गणेश क्रिया करके प्रकाशित है मल बहिर्गत होजाने पर गुदामें अंगुली प्रवेश कर चक्रोंको मलसे स्वच्छ करे अर्थात् जलसे धोवे इससे बवासीर आदि गुदाके रोग नष्ट होजाते हैं। परन्तु कुछ लोग अंगुली प्रवेश करते २ हस्त प्रवेश करने लग जाते हैं और कुछ लोग मल बहिर्गत होनेके पूर्वहीसे अंगुली द्वाराही मल निकालतेहैं, यह सब अज्ञानता है। इससे रोगोंकी वृद्धि ही होती है अर्थ कुछ नहीं निकलता इसलिये यह क्रिया करना सर्वथा वृथा है। "इन ऊपर लिखे हुए षट्क्रियादिकोंमें कई प्रकारके भेद हैं"[1] परन्तु जो पुरुष क्रिया ही करते २ दिन बिताते हैं उनका परिश्रम मात्रही फल है। गणेशक्रिया और वस्तिक्रिया रोगोंको उत्पन्न करती है अतः धोती, नेती, नौली वा ब्रह्मदांतन और शंखपछाड इनका अभ्यास करना ठीक है क्योंकि इतना रोगका भय इनमें नहीं है जैसा कि गणेशक्रियादिकमें है। यह अभ्यास गुरुके सामने करना उत्तम है ।

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ॥

---

१ क्रियादिकोंका भेद देखना हो तो घेरंडसंहिता देखिये ।

धोती आदि षट्कर्मके करनेसे स्थूलता, कफादिक मलविकार जिस पुरुषके दूर होगये हों वह प्राणायामका अभ्यास करे तो अनायास अर्थात् थोडे परिश्रम से प्राणायाम सिद्ध होता है । यदि षट्कर्मोंको न करके प्राणायामही का अभ्यास करे तो बहुत परिश्रम करनेसे प्राणायाम सिद्ध होताहै एतदर्थ क्रियाओंको अवश्य करना चाहिये ।

प्राणायामप्रकारः । पतञ्जलिः-

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।

आसनमें स्थित होकर श्वास (पूरक) तथा प्रश्वासों (रेचक) की गतिका रोकना प्राणायाम है । इसमें दीर्घ और सूक्ष्म करके दो भेद हैं अर्थात् प्रथमाऽरंभमें प्राणवायुकी चलनेकी गति विशेष रहती है जब साधक पूरक कुंभक और रेचकके क्रमसे अभ्यास करता हुआ शुद्ध कुंभकको साध्य करता है तब प्राणवायुकी गति सूक्ष्म होजाती है और अज्ञानरूपी मलका नाश होकर शुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति होती है और यही समाधिका अधिकारी है ।

अथासने दृढे योगी वशी हितमिताशनः ।
गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान्समभ्यसेत् ॥

इसके अनन्तर आसनकी दृढतासे इन्द्रियां जीती हैं जिसने और मिताहारमें तत्पर ऐसा योगी गुरुके उपदेश किये हुए मार्गसे प्राणायाम अभ्यास करे । क्योंकि विना गुरुकी शिक्षा प्राप्त किये कृतकृत्यता नहीं होती ।

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥

प्राणवायुके चलायमान होनेसे चित्तभी चलायमान होताहै और प्राणवायुके निश्चल होनेसे योगी स्थाणुत्व अर्थात् स्थिर और दीर्घ काल तक जीताहै तिससे प्राणवायुका निरोध अर्थात् प्राणायाम करे ।

मनोऽचिरात्स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः ।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम् ॥

श्वास जीतनेवाले योगीका मन थोडेही दिनमें निर्मल होजाताहै जैसे पवन और अग्निसे संतत सुवर्ण मल रहित (शुद्ध) होजाता है ।

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते ।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥

जबतक प्राणवायु शरीरमें स्थित है तभी तक जीवन कहाजाताहै क्योंकि देह प्राणके संयोगको ही जीवन कहते हैं और देहसे प्राण वायुका निकलना मरण कहाजाताहै इससे जीवनके लिये प्राणवायुका निरोध करे ।

यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निराकुलम् ।
यावद् दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥

जबतक प्राणवायु शरीरमें बद्ध (रुका) है और चित्त विक्षेप रहित व सावधान है और दृष्टि भ्रूके मध्यमें अन्तःकरणकी वृत्ति है तावत्काल पर्यन्त कालसे किस प्रकार भय हो सकता है अर्थात् नहीं होता ।

खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा ।
साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥

योगीको कोई खा नहीं सकता है न कोई कर्म बाध सकता न कोई उसे साध सकता जो योगी समाधिसे युक्त है । यह सब गुण प्राणायाममें ही हैं जो पुरुष शुद्धतासे प्राणायाम करताहै उसकी वायु स्थिरताको प्राप्त होतीहै स्थिरतासे चित्त अवलंबन होताहै चित्तकी एकाग्रतासे समाधि होती है और समाधि ही भुक्ति मुक्तिका स्थान है ।

कुम्भकभेदाः ।

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्टकुंभकाः ॥

प्राणायाम आठ प्रकारका है नाम–सूर्यभेदन १ उज्जायी २ सीत्कारी ३ शीतली ४ भस्त्रिका ५ भ्रामरी ६ मूर्च्छा ७ प्लाविनी ८ ये आठ प्रकारके कुम्भक प्राणायाम जानने ।

सूर्यभेदनम् ।

आसने सुखदे योगी बद्ध्वा चैवासनं ततः ।
दक्षनाड्या समाकृष्य बहिस्थं पवनं शनैः ॥
आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुंभयेत् ।
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्पवनं शनैः ॥

पद्मासन वा सिद्धासनको योगी सुखसे लगाके दहिनी नाडी (पिंगला) से बाहरके पवनको धीरे २ पूरक करके नखाग्रसे लेकर केशों पर्यन्त जबतक निरोध होय अर्थात् संपूर्ण शरीरमें पवन रुक जाय तबतक कुम्भक करे । पुनः धीरे २ वामनाडी (इडा) से रेचक करे ॥ इस सूर्यभेदन प्राणायाममें जब २ पूरक किया जायगा तब २ दहिनी नाडीसे ही किया जायगा और रेचक वामसे, यह इसका क्रम है । परन्तु धीरे धीरे वायुकी वृद्धि करे कारण कि शीघ्रता करनेसे रोगोत्पत्ति होतीहै, इस प्रकारका प्राणायाम मस्तकके समग्र रोग और अस्सी प्रकारके वातरोगोंको नाश करताहै, उदरमें जो कृमि पड हों उनको नष्ट करताहै ।

उज्जायी ।

मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ।
यथा लगति कंठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ॥
पूर्ववत्कुंभयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ।
श्लेष्मदोषहरं कंठे देहानलविवर्धनम् ॥

मुहको बंद करके इडा पिंगला नाडीसे शनैः २ इस प्रकार पवनका आकर्षण (खींचे) करे जिसप्रकार वह पवन कंठसे हृदयपर्यन्त शब्द करता हुआ लगे । पुनः सूर्यभेदनके समान कुम्भक करके वाम नाडीसे रेचक धीरे २ करे । इस प्रकारके प्राणायाममें कंठ से वायु खींचना वामसे छोडना— वारंवारका भी यही क्रम है परन्तु मुखसे वायु कभी भी न छोडै, मुखसे

रेचक नहीं होता । इस प्राणायामसे कण्ठके कफदोष नष्ट होते हैं, जठराग्नि प्रदीप्त होतीहै शरीरके धातु रोग सब नष्ट होजाते हैं ।

सीत्कारी ।

सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृंभिकाम् ।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥

दोनों ओठोंके मध्यमें जिह्वा लगाके सीत्कार करता हुआ पूरक करे यथेष्ट कुम्भक करके दोनों नासिकासे श्वास बराबर निकालता हुआ रेचक करे । इस प्रकार कुछ काल अभ्यास करनेसे वह पुरुष कामदेवके सदृश होजाताहै, अर्थात् कांतिमान् सौन्दर्यता होजातीहै, देहका बल बढता है, क्षुधा, तृषा, आलस्य नहीं लगती अन्य भी बहुत गुण हैं ।

शीतला ।

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुंभसाधनम् ।
शनकैर्घ्राणरंध्राभ्यां रेचयेत्पवनं सुधीः ॥

ओठके बाहर जिह्वाको निकाल कर पक्षीके चोंच सदृश करके धीरे २ वायुको आकर्षण (पूरक) करे पूर्ववत् सदृश कुम्भक करके दोनों नासिकाके छिद्रोंसे धीरे २ रेचक करे (छोडे) परन्तु दोनों नासिकाके छिद्रोंसे वायु बराबर निकले इस प्राणायामके करनेसे गुल्म, प्लीहा आदि रोग ज्वर, पित्त, क्षुधा, तृषा और सर्प आदिका विष इन सबोंको शीतली प्राणायाम नष्ट करताहै । गर्म (उष्ण) प्रकृतिवालेको अत्यन्त उपयोगी है । विशेष अभ्यास करनेसे बिगडा हुआ रक्त शुद्ध होजाता है ।

काकचंच्वा पिबेद्वायुं संध्ययोरुभयोरपि ।
कुंडलिन्या मुखे ध्यात्वा क्षयरोगस्य शांतये ॥
दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिस्तथा स्याद्दर्शनं खलु ॥

कौवेकी चोंचकी तरह जीभ निकाल कर कुंडलिनीका ध्यान करता हुआ दोनों संध्याओं (प्रातः सायं) में जो वायु पान करता है उसका

ज्वररोग नाश होजाता है । दूरका शब्द सुनाई देता है दूरकी वस्तु देख पडतीहै और सूक्ष्म दर्शन होता है ।

भस्त्रिका ।

सम्यक् पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरं सुधीः ।
मुखं संयम्य यत्नेन घ्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥
यथा लगति हृत्कंठे कपालावधि सस्वनम् ।
वेगेन पूरयेच्चापि हृत्पद्मावधि मारुतम् ॥
पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनःपुनः ।
यथैव लोहकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया ।
यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत् ॥
विधिवत्कुंभकं कृत्वा रेचयेदिडयानिलम् ।
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥

सुखपूर्वक पद्मासन लगाकर जिसमें ग्रीवा उदर बराबर हों बुद्धिमान् पुरुष मुखको वन्द करके नासिकाके द्वारा पूरक रेचक को करे, पूरक रेचक इस प्रकारके वेगसे शब्द सहित करे कि हृदय, कंठ, कपाल (ललाट–मस्तक–शिर) पर्यन्त लगे और हृदयके कमल पर्यन्त वायुका पूरक वारंवार करे । इसी प्रकार प्राण वायुको वारंवार वेगसे पूरक रेचक करे जैसे लोहकार भस्त्रा (धौंकनी) को चलाताहै तैसे पवनको शरीरमें बुद्धिसे चलावे जब शरीरमें श्रम (मेहनत–थकना) हो तब सूर्यनाडीसे पूरक करे विधिपूर्वक कुम्भक करके वाम नाडीसे रेचक कर पुनः वामसे पूरक, दक्षिणसे रेचक करै । इसका क्रम मतांतरसे ऐसा भी है कि एकही नासिकाके छिद्रसे पूरक रेचक दोनों जोर २ शब्दसे करे अन्तमें इसी छिद्रसे पूरक कर यथेष्ट कुम्भक करके दूसरे छिद्रसे रेचक करे पुनः दूसरे छिद्रसे पूरक रेचक तदनुसार करके पूरक कुंभक रेचक करे ।

दूसरा प्रकार ।

एक छिद्रसे पूरक करता जावे दूसरे छिद्रसे रेचक, श्रम होजानेपर पूरक, कुम्भक, रेचक तदनुसार लोम विलोम करे । इस भस्त्रिकाके करनेसे वात, पित्त और कफका नाश होताहै जठराग्निकी वृद्धि होती अर्थात् क्षुधा लगतीहै और सर्वोपरि गुण इसमें यह है कि कुंडलिनी जो योग की जड (मूल) है वह जागृत होतीहै सुषुम्ना नाडी जो कफसे ढकी हुई है शुद्ध होजातीहै अर्थात् जो प्राणायामका करने वाला भस्त्राका अभ्यास करेगा उसको अवश्य प्राणायाम सिद्ध होगा ।

शेष प्राणायाम—भ्रामरी, मूर्च्छा, प्लाविनी इन तीनों कुंभकोंसे योगीका कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता किन्तु कौतुक मात्र है, जिनको अवलोकन करना हो वह योगके ग्रन्थोंमें देखलें अपरंच श्रेष्ठ प्राणायाम चन्द्रसूर्य नाडीका लोम विलोम ही है इस लोम विलोम प्राणायामके करनेसे जन्मजन्मांतरके कल्मष नाश होजातेहैं ।

प्राणायामो भवत्येवं पातकेन्धनपावकः ।
भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा ॥

इसप्रकारके प्राणायाम करनेसे जैसे पातकरूपी काष्ठको भस्म करनेवाला अग्नि होताहै तैसेही संसाररूपी समुद्रसे तारने वाला बडा पुल योगियोंने प्राणायामको कहाहै । इसी लोम विलोम प्राणायामके करनेसे अपान वायुका उत्थान होताहै वह अपान प्राणवायुसे मिलकर कुंडलिनीको जागृत करताहै जिसके आधार जीव ब्रह्मरन्ध्रको गमन करताहै अर्थात् इसी महामायाकी कृपासे समाधि लगतीहै और इस प्राणायामके दो भेद हैं एक पूरक रेचक कुम्भकयुक्त प्राणायाम दूसरा केवल कुम्भकका प्राणायाम इनमें प्रथम पूरक रेचकयुक्त कुम्भकका अभ्यास करे । अनन्तर केवल कुंभकका अभ्यास करे । जब पूरक रेचकके विना कुम्भक दीर्घकाल पर्यन्त ठहरने लगे अर्थात् सुखपूर्वक यथेच्छ काल-पर्यन्त वायु रुकी रहे तब वह प्रत्याहारादिका अधिकारी होताहै और सिद्धियोंकी स्फूर्तियां (रंगत) होने लगतीहैं—चित्तमें आनन्दही आनन्द भासित होताहै । और कहाहै कि—

न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
शक्तः केवलकुंभेन यथेष्टं वायुधारणात् ॥

उस केवल कुम्भक प्राणायाम करनेवालोंको तीनों लोकमें कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है जो इच्छानुसार वायुको धारण करता है कारण कि जब शुद्ध कुम्भक होने लगताहै तब अपान वायुका उत्थान हो कुण्डलिनीका उत्थान होताहै इस महामायाके जागृत होनेसे सुषुम्ना नाडी कफसे रहित होजातीहै जब सुषुम्ना नाडी शुद्ध हुई तब प्रत्याहारादि सहजहीमें सिद्ध होते हैं। और अभ्यास करते २ जब नाडी शुद्ध होतीहै तब बाह्य (बाहर) में ये चिह्न दर्शित होते हैं।

वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले। अरोगता बिंदुजयोऽग्निदीपनं नाडी-विशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्॥

शरीर दुबला (कृश) मुखमें प्रसन्नता (कांति) नादकी प्रकटता अर्थात् नादका शब्द शुद्ध सुननेमें आवे, दोनों आखोंमें निर्मलता, रोग रहित, वीर्यका स्तम्भन और क्षुधाकी वृद्धि ये हठयोगीके चिह्न बाहरमें नाडी शुद्ध होने पर दिखाई देते हैं।

समकायः सुगन्धिश्च सुकांतिः स्वरसाधकः।

शरीर टेढा भी हो तो सीधा होजाता है, सुगन्धि होने लगती है, कांति-मान् और वायुका साधन होजाता है।

प्राणायाम करनेका क्रम।

सूर्य्योदयसे पहिले उठकर शौच और दन्तधावनसे निवृत्त हो शुद्धतासे भस्म धारण कर सुखसे कोमल आसन पर बैठकर अर्थात् कुशासन मृगचर्म उसके ऊपर सुंदर वस्त्रका आसन रखकर बैठे तदनन्तर प्राणायामके लिये विधिपूर्वक संकल्प करके शेषजीका स्मरण करे यथा—

मणिभ्राजतफणसहस्रविवृतविश्वंभरामंडलाया-नंताय नागराजाय नमः।

---

१ मार्कण्डेयपुराणे—"अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं गंधः शुभो मूत्रपुरीषमल्पम्। कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिह्नम्॥"

और गणेश गुरु आदिका स्मरण कर सिद्धोंको नमस्कार करे यथा—

श्रीआदिनाथ, मत्स्येन्द्र, शाबरानंद, भैरवाः ।
चौरङ्गी, मीन, गोरक्ष, विरूपाक्ष, बिलेशयाः ॥
मंथानो, भैरवो, योगी सिद्धिर्बुद्धश्च, कंथडिः ।
कोरंटकः, सुरानंदः, सिद्धपादश्च, चर्पटिः ॥
कानेरी, पूज्यपादश्च, नित्यनाथो, निरञ्जनः ॥
कपाली, विन्दुनाथश्च, काकचंडीश्वराह्वयः ॥
अल्लामः, प्रभुदेवश्च, घोड़ा, चोली, च टिंटिणिः ।
भानुकी, नारदेवश्च, खंडः, कापालिकस्तथा ॥
इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः ॥
खंडयित्वा कालदंडं ब्रह्मांडे विचरन्ति ते ॥

इन सिद्धोंको नमस्कार कर पद्मासन लगाके प्राणायाम करे परन्तु मयूरासन, उग्रासनादि यह पहिलेही करलेवे, सावधान हो चित्तको एकाग्र कर शरीर सीधा करके दृष्टि भ्रूमध्यमें करे, दहिने हाथके अंगूठेसे नासिकाके दहिने छिद्रको दाबकर धीरे २ बायें छिद्रसे पूरक करे (वायुको चढावे, खींचे, आकर्षण करे) और गुदाको आकुंचन करता हुआ क्रमः २ से गर्दनको झुकाता जावे पूरकके अन्तमें डाढी (चिबुक) छातीसे लगजावे पुनः कनिष्ठिका अनामिकासे बायें छिद्रको दाबकर पूरक का चतुर्गुण (चौगुना) कुम्भक करे (स्तम्भन रोके) अनन्तर अंगुष्ठको छोड धीरे २ दहिने छिद्रसे पूरकके द्विगुण (दूना) संख्याप्रमाण उस रुकी हुई श्वासको रेचक करे (छोडै) और नाभिके अधोभागको क्रम २ से दाबता जावे और गर्दनको उठाता जावे । पुनः उसी वायुको खंडित न करके उसी दक्षिण छिद्रसे पूरक कुम्भक करके बायें छिद्रसे तदनुसार रेचक करे । पुनः वामसे पूरक कुम्भक रेचकादि यथाक्रमसे वायुको न खंडित करता हुआ लोम विलोम प्रथम दिन छः वा दश प्राणायाम प्रणवध्वनिसे करे ।

**रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः ।
प्राणायामो भवेत्त्रेधा मात्राद्वादशसंयुतः ॥**

रेचक पूरक कुम्भक भेद करके प्रणवका उच्चारण होता हुआ बारह-मात्रा प्रमाण तीन प्रकारका प्राणायाम होता है । यह बारहवार प्रणवका जप करताहुआ पूरक और चतुर्गुण अर्थात् ४८ का कुम्भक २४ का रेचक जानना और मतांतर से ।

इडया पवनं पिब षोडशभिश्चतुरोत्तरषष्टिकमौदरकम् । त्यज पिंगलया शनकैः शनकैर्दशभिर्दशभिर्दशभिर्द्व्यधिकैः ॥

इडा (वामनाडी) से सोलहवार करके पूरक, चौंसठ वारसे कुम्भक और पिंगला (दहिनी नाडी) से बत्तीस बार प्रणव करके रेचक होताहै । इसी क्रमसे करता हुआ बढाता जावे (वृद्धि करे) इसी तरह ८० अस्सी वा ८४ चौरासी तक बढावे और प्राणायाम चार काल करे । प्रथम तो सूर्य्योदयसे पहिले आरंभ करे, द्वितीय मध्याह्नमें, तृतीय अभ्यास करके तब सायंसंध्या करे और चतुर्थ अर्द्धरात्रमें यह चार काल करना चाहिये । यथा—

**प्रातर्मध्यंदिने सायमर्धरात्रे च कुंभकान् ।
शनैरशीतिपर्य्यंतं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥**

---

१ वायुपुराणे—"ततस्त्वापूरयेद्देहं ओंकारेण समाहितः । अथोङ्कारमयो योगी न क्षरेत्त्वक्षरी भवेत् ॥" मार्कण्डेयपुराणे—निमेषोन्मेषणे मात्रा कालो लघ्वक्षरस्तथा । प्राणायामस्य संख्यार्थं स्मृतो द्वादशमात्रिकः ॥ योगरहस्ये—ओमित्येकाक्षरं मात्रां प्रवदंति मनीषिणः । तालत्रयं तथा केचिन्मात्रासंज्ञां प्रचक्षते ॥"

२ योगतत्त्वोपनिषदि—"इडया वायुमारोप्य शनैः षोडशमात्रया । कुम्भयेत्पूरितं पश्चाच्चतुःषष्ट्या तु मात्रया ॥ रेचयेत्पिंगलानाड्या द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः ।" देवीभागवते—"इडयाकर्षयेद्वायुं बाह्यं षोडशमात्रया । धारयेत्पूरितं योगी चतुःषष्ट्या तु मात्रया । सुषुम्नामध्यगं सम्यग्द्वात्रिंशन्मात्रया शनैः ॥"

यदि कदाचित् चार काल न साध सके तो त्रिकाल वा दो काल अवश्य करे। द्वादश मात्राका प्राणायाम कनिष्ठ (छोटा) होताहै इस प्राणायामके करनेसे शरीरमें प्रस्वेद (पसीना) आताहै। चौवीस मात्राका प्राणायाम मध्यम कहाता है इससे शरीरमें कंप (घूमना—हिलना) होताहै और छत्तीस मात्राका प्राणायाम उत्तम होता है इससे वायु ब्रह्मरंध्रमें ठहरती है अर्थात् पहुँचती है। यथा—

प्रथमे[1] द्वादशी मात्रा मध्यमे द्विगुणा मता।
उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः॥
कनीयसि भवेत्स्वेदः कंपो भवति मध्यमे।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबंधयेत्॥

जिसमें कुछ कम ४२ विपल काल (समय) लगे वह कनिष्ठ प्राणायाम और मध्यम प्राणायाम ८४ विपलका और उत्तम प्राणायाम १२६ विपलका होताहै, बन्धपूर्वक अर्थात् जालंधरबन्ध, मूलबन्ध, उड्डीयानबन्ध, (यह कह आया हूं अर्थात् प्राणायामके समय प्रथम गर्दन झुकाना छातीसे लगाना यह जालन्धरबन्ध हुआ, गुदाका संकोच मूलबन्ध और रेचकमें नाभिका अधोभाग दाबना यह उड्डीयानबन्ध हुआ) सवा सौ विपल पर्यन्त प्राणायामकी स्थिरता होजाय तब प्राण ब्रह्मरन्ध्रमें चला जाता है, ब्रह्मरन्ध्रमें गया प्राण जब २५ पल (१० मिनट) पर्यन्त ठहर जाय तब प्रत्याहार होताहै और जब पांच घटिका (२ घंटा) पर्यन्त ठहर जाय तब धारणा होतीहै। और जब ६० घटी (२४ घंटा) पर्यन्त ठहर जाय तब ध्यान होता है और जब प्राण ब्रह्मरन्ध्रमें १२ दिन तक रुक जाय तब समाधि होतीहै।

पूरक जहांतक होसके धीरे धीरे ही करना चाहिये कदाचित् वेगसे हुआ तो कुछ दोष नहीं परन्तु रेचक तो कभी भी वेगसे न करे क्योंकि इससे बलकी

---

१ मार्कण्डेयपुराणे—लघुर्द्वादशमात्रस्तु द्विगुणः स तु मध्यमः।त्रिगुणाभिस्तु मात्राभिरुत्तमः परिकीर्त्तितः॥" घेरंडसंहितायाम्—"अधमाज्जायते घर्मो मेरुकं पंच मध्यमात्। उत्तमाद्भूमित्यागस्त्रिविधं सिद्धिलक्षणम्॥"

हानि होतीहै और रोग भी उत्पन्न होजाते हैं यदि कुम्भक प्रयत्नसे स्थिर किया जाय तो बहुत गुण और बल देताहै और शिथिल होनेसे अल्पगुण अर्थात् उपाधि करताहै इस वास्ते प्राणायाम करनेमें शीघ्रता न करे । यथा-

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैःशनैः ।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हंति साधकम् ॥

जैसे जंगलके पशु सिंह, हाथी, बाघ आदि धीरे २ सेवा करनेसे वश होजातेहैं तैसेही वायुकी सेवा करनेसे अर्थात् शनैः २ प्राणायाम करनेसे वायु वशीभूत हो आनन्द देताहै । और विपरीत अभ्यास अर्थात् शीघ्रता करनेसे साधककी हानि होतीहै । शुद्ध प्राणायाम करनेसे सब रोग नष्ट होजातेहैं । शरीर हलका रहताहै, बलकी वृद्धि होतीहै देहमें अरुणता (सुर्खी) आजातीहै और मन प्रसन्न रहताहै शीघ्रता करनेसे, मिताहारके[1] बिगडनेसे, नाना प्रकारके रोग, श्वास, खांसी, मूर्च्छा, ज्वर, पसलीमें पीडा, मन्दाग्नि, रक्तविकार और नासिकाका पर्दा भी फट जाताहै ।

लोम विलोम प्राणायामके अनन्तर उज्जायी, सीत्कारी, भस्त्रिकाका अभ्यास करे परन्तु भस्त्रा पद्मासनसेही करे, प्राणायाम होजाने पर नादानुसंधान करे अर्थात् कानमें जो शब्द सुनाई देवे उसको एकाग्रचित्तसे श्रवण करे (प्राणायाम करते २ स्वयं शब्द होने लगताहै किसीको थोडे ही दिनमें और किसीको कालान्तरमें) और जब अन्न भोजन किया हुआ पचन होजाय तब प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये । प्रमाणसे भोजन करनेवालेको छः घण्टेमें अन्न पच जाताहै ।

द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत् ।
वायोः संचारणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥

उदरके दो भाग अन्नसे पूर्ण करे और एक भागको जलसे पूर्ण करै और चौथे भागको वायुके चलनेके लिये शेष रक्खे । परन्तु भोजन तर पदार्थ

---

१ मिताहारं विना यस्तु योगारंभं तु कारयेत् । नानारोगो भवेत्तस्य किंचिद्योगो न सिद्ध्यति ॥ शुद्धं सुमधुरं स्निग्धमुदरार्द्धविवर्जितम् । भुज्यते सुरसं प्रीत्या मिताहारमिमं विदुः ॥

(स्निग्ध) करे जिससे शरीरमें पुष्टता हो और किसी प्रकारका विकार न करे, भोजनके अनन्तर योगशास्त्रका अवलोकन करना चाहिये, इससे चित्त दूसरी ओर नहीं जाता क्योंकि कार्यकी सिद्धि तभी होतीहै जब अहर्निश (रात्रि दिन) एकही वस्तु पर लक्ष्य रहे, भोजनके पश्चात् इलायची लौंगका सेवन करे यदि तांबूल खानेकी इच्छा हो तो चूना रहित खावे । लवणको योगी अवश्य त्याग करे और प्राणायाम वहां करना चाहिये जहां किसी प्रकारका कर्णमें शब्द सुनाई न दे इसलिये कर्णमुद्रा भी बना लेवे अर्थात् कोमल कपडेमें कपास (तूल—रुई) रखकर कानके छिद्रमें कुछ चला जाय (प्रवेश) कुछ रह जाय ऐसा बनाके उसको डोरासे (सूतकी पतली रस्सी—रज्जु) बांध लेवे प्राणायाम करते समय कानोंमें छोड लेवे इससे शब्दकी रुकावट रहती है, प्राणायाम करते समयमें जो कोई अचानक (एकाएकी) आके जोरसे बोलने लगे वा लडने लगे तो उस समय जीधडक (घबराना—व्याकुलता) उठती है बल्कि प्राण निकलने का भय रहताहै इसलिये शब्दको अवश्य बचावे (ये सब नियम जो प्राणायाम विशेष करतेहैं अर्थात् समाधि—राजयोगके अपेक्षित हैं उनके लिये हैं) और जब उत्तम प्राणायाम करनेकी विशेष सामर्थ्य होजातीहै अर्थात् कुम्भककी स्थिरता होने लगती है उस समयमें अपान वायुका उद्गार (उत्थान) होता है अपानका उत्थान (उठना) होनेसे आसन भी ऊपर को उठता है अर्थात् पृथ्वीको छोड देताहै, इस करके योगी पद्मासनका अभ्यास करे क्योंकि पद्मासन छूटता नहीं दूसरे प्रकारका आसन उठनेसे छूट जाता है, आसन छूट जाने पर चोट लग जातीहै गिर पडता है, मूर्च्छा आजातीहै, प्राण निकलनेका भय रहता है, परन्तु यह प्रसंग तब होगा जब अच्छे प्रकार से ब्रह्मचर्य्य व्रत पालन करेगा अर्थात् इन्द्रियोंकी एकाग्रता और वीर्यपात न होना यही ब्रह्मचर्यका सारांश है, जिस पुरुषका स्वप्नमें भी वीर्यपात न होगा और मिताहार युक्त प्राणायाम करता रहेगा उसको गुरु कृपासे अवश्य प्राणायाम सिद्ध होजायगा अर्थात् समाधि लगेगी, यह निश्चय है । प्राणायाम करते समय शरीर टेढा (बांका—झुका—हुआ) न क

और प्राणायाम करनेके अनन्तर जहां तक कि वायुकी स्थिरता न होजाय तहांतक बोले नहीं, अभ्यास करते समय पूरक कुम्भक[१] रेचककी गिनती (संख्या) न भूले और जो प्राणायाममें पसीना (प्रस्वेद) आवे तो प्राणायामके अनन्तर उस प्रस्वेदको मर्दन करे इससे शरीर हलका हो जाताहै । यथा–

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ।
दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ॥

मुद्राप्रकरणम् ।

अतः अब मुद्राओंको लिखताहूं इन मुद्राओंके करनेसे योगीको शीघ्र समाधिकी प्राप्ति होतीहै और सिद्धियोंका अनुभव होने लगता है अन्य भी बहुत गुण हैं विशेष करके कुंडलिनीके उठानेका प्रयोजन है क्योंकि कुंडलिनी ही योगका सारभूत है जहांतक इसका उत्थान नहीं होता तहां तक समाधि नहीं हो सकती है ।

मुद्राओंके नाम ।

महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी ।
उड्डयानं मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः ॥

---

१ यह प्राणायामका क्रम जो कहा गया है वह शास्त्रोक्त है, परन्तु महात्मा (अभ्यासी) लोग इसको बहिरंग कहतेहैं, अंतरंग ऐसा है कि कंठद्वारा भीतरका भीतरही पूरक कुंभक रेचक करना । इसमें संख्या करना नहीं पडता । यह अंतरंग विषय लिखने लायक नहींहै, यह सद्गुरुके समीप अच्छी तरह समझके अभ्यास करना चाहिये । कई साधु जन इसी प्राक्रियाको करतेहैं । इस अंतरंग क्रियाका यदि कोई सत्पुरुष पूर्ण अधिकारी मिल जाय तो उसके पास अभ्यास करनेसे शीघ्र कार्य होता है, परन्तु प्रथम जब आपही सात्विकवृत्तिसे अधिकारी होगा तब वह भी मिल जाँगे । बहिरंग जो प्राणायाम कहागयाहै, उसमें कुछ विघ्न नहीं है जो कार्य धैर्यसे देरमें होताहै वह पुष्ट होताहै और कोई महात्मा पूरक रेचक ही को बढातेहैं और कोई कुंभककी जगह रेचकही बढातेहैं ऐसे और कई एक महात्माओंके भेद हैं ।

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥

१ महामुद्रा, २ महाबन्ध, ३ महावेध, ४ खेचरी, ५ उड्डीयान, ६ मूलबन्ध, ७ जालन्धरबन्ध, ८ विपरीत करणी, ९ वज्रोली और १० शक्ति-चालन ये उक्त दशमुद्रा वृद्ध अवस्था और मरणको नष्ट करती हैं । आगे इनके भेद लिखता हूं ।

महामुद्रा ।

पादमूलेन वामेन योनिं संपीडय दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥
कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ।
यथा दंडहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥

बायें पांवकी एंडी (पार्ष्णि) से गुदा और लिंगके मध्यभागको अच्छी तरहसे दबावे और दहिने पाँवको सीधा फैला करके अंगूठेको दोनों हाथकी तर्जनी (अंगूठेके पासकी अंगुली) से दृढ (जोरसे) पकडे और कण्ठमें जालन्धरबन्ध [आगे लिखूंगा] करके वायुको ऊपरही धारण करे (रोके) इस प्रकार अभ्यास करनेसे जैसे सर्प दंडके मारनेसे सीधा होजाताहै ऐसे ही कुण्डलिनी जो मूलाधारमें साढे तीन आवेष्टन करके स्वयम्भूलिंगमें वेष्टित (लिपटी हुई) है वह जागृत होतीहै अर्थात् वेष्टनको छोड सीधी होतीहै तब इडा, पिंगला दोनों नाडियोंका प्रवाह बन्द होजाता है कारण कि कुण्ड-लिनीके उत्थानसे प्राण सुषुम्ना नाडीमें प्रवेश करता है ।

ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
महामुद्रां च तेनव वदंति विबुधोत्तमाः ॥

वह ऊपर धारण कीहुई वायुको धीरे २ रेचन करे (छोडे) वेगसे नहीं क्योंकि शीघ्र छोडनेसे बलकी हानि होतीहै इससे ही देवताओंमें उत्तम इसको महामुद्रा कहतेहै [अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूप पांचों महा-

क्लेश इस मुद्राके करनेसे नष्ट होजातेहैं अर्थात् महाक्लेशोंके नष्ट करनेसे ही इसका देवताओंने महामुद्रा नाम रक्खा है]

चंद्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत् ।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥

इस प्रकार चन्द्रांग (वाममाग) का अभ्यास करके सूर्यांग (दक्षिण भाग) का अभ्यास करे और जितना काल चन्द्रांगमें लगे उतनाही काल सूर्यांगमें लगाना चाहिये, चन्द्रांग, सूर्यांगका भेद ऐसा है कि वामपादका मूल योनिमें दाबना, दहिना फैलाना, अंगूठेको तर्जनियोंसे पकडना इत्यादि यह चन्द्रांग है । दक्षिण पादका मूल योनिमें दाबना और वामपाद फैलाना इत्यादि सूर्यांग है । इस प्रकार अभ्यास करनेवालेके गुदा और उदरके सब रोग नष्ट होतेहैं ।

महाबन्धः ।

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥
पूरयित्वा ततो वायुं हृदयं चिबुकं दृढम् ।
निष्पीडच वायुमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥

बायें पादकी एंडीको योनिस्थान (गुदा लिंगका मध्यभाग) में लगावे और वाम जंघाके ऊपर दक्षिण पादको रखकर बैठे अनन्तर वायुको पूरण करके हृदयमें डाढी दृढतासे लगावे और योनि स्थानको आकुंचन (संकोच) करके मनको मध्य नाडीके विषे प्रवेश करे ।

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ॥

पुनः उस पूर्ण कीहुई वायुको यथाशक्ति धारण करके धीरे २ वायुको रेचन करे इसप्रकार वाम अंगमें अच्छी तरह अभ्यास करके दक्षिणांगमें अभ्यास करे परन्तु जितना वाम भागमें अभ्यास करे उतनाही दक्षिणांगमें

करे । इस मुद्राके अभ्यासमे इडा पिंगला और सुषुम्नाका संगम भ्रूमध्यमें होता है जहां शिवजीका स्थानरूप केदार है—वहांसे ब्रह्मरंध्रको जाना होताहै ।

महावेध ।

महाबंधको करके अर्थात वामपादकी एंडी योनिस्थानमें और वामजंघाके ऊपर दक्षिण पादको रख कर वायुको पूरक करके डाढी (चिबुक) हृदयमें लगावे तदनन्तर—

समहस्तयुगौ भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥

दोनों हाथोंके तलको भूमिमें अच्छीतरह स्थापित करके स्फिच (चूतड-नितम्ब) को उठावे और छोडे ऐसा धीरे २ अभ्यास करनेसे प्राणवायु इडा पिंगलाको छोड सुषुम्नामें प्रवेश करती है । विना इस वेधके किये महामुद्रा, महाबंधका फल निष्फल है इसलिये इसको अवश्य करना चाहिये परन्तु इसको प्रहर २ में करना उचित है । इस मुद्राके अभ्याससे—

चक्रमध्यस्थिता देवाः कम्पन्ते वायुताडनात् ।
कुंडल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते ॥

शरीरस्थ चक्रमें जो गणेशादि देवता हैं वह इस वायुके ताडनसे कम्पित होते अर्थात् चक्ररंध्र (षट्चक्रोंका छिद्र जिसमार्गसे जीव ब्रह्मरंध्र को जाता है यह जीव वायुरूपही है) को छोड देतेहैं तव वायुका प्रवेश होताहै । और कुंडलिनी ब्रह्मस्थानमें लय होती है इससे इसको अवश्य करना चाहिये और वृद्ध अवस्थामें चर्मका सिकुडना, बालोंका श्वेतपना, (सफेदी) और शिरका हिलना ये सव नष्ट होजाते हैं और समग्र पापका पुंज [समूह] दहन होजाताहै ।

खेचरी ।

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवतु खेचरी ॥

कपालके मध्यमें जो छिद्र है उसमें उलटी हुई जिह्वाका प्रवेश होजाय और भ्रुकुटिके मध्यमें दृष्टिका प्रवेश होजाय तो वह खेचरी मुद्रा होतीहै अर्थात् जिह्वाको कपाल छिद्रमें लगाके भ्रूमध्यका अवलोकन खेचरी मुद्रा होतीहै। इस मुद्राका अभ्यासी पुरुष प्रथम जिह्वाको वढावे अर्थात् जब प्रातःकाल दंतधावन करचुके पश्चात् जिह्वाके अग्रको दोनों हाथोंकी अंगुलियोंसे धीरे २ दुहे जैसे गौ दुही जाती है। और वाम दक्षिण भागमें हिलावे और सेंहुड (स्नुहीपत्र) के पत्तेकी तरह शस्त्र [पत्तेकी तरह लोहेका हथियार] बनवाकर आठवें २ दिन जिह्वाके नीचे शिराको बाल (केश) प्रमाण छेदन करे और सैंधव, हरडे (हरीतकी) के चूर्णको उसी शिरामें लगाया करे–(कोई छेदन नहीं करते हैं योंही औषधियोंसे वढाते हैं इस प्रकार करनेसे छः महीनेमें जिह्वा बढकर उपयोगमें आने लगती है अर्थात् तालुमूलमें जो छिद्र है जिससे अमृत झरा करता है वहां जिह्वा लगानेसे जिह्वामें अमृत आने लगताहै, बिना जिह्वा वढाये (वर्धन) तालुमूलमें नहीं पहुंच सकती। परीक्षा यह है कि जब अपनी नासिकामें जिह्वा निकालके लगानेसे सुखपूर्वक स्पर्श करे तब जिह्वा छिद्रमें अवश्य पहुंचेगी तब जिह्वाको उलट करके उस तालुमूलमें जहां इडा, पिंगला और सुषुम्नाके तीन छिद्र हैं (मतांतरसे पांच छिद्र हैं) तहां लगावे, जिह्वाके अग्रसे घर्षण (घिसे) करता रहे, तब उस सुषुम्नाके छिद्रसे जो अमृत झरा करताहै वह प्राप्त होगा। प्रथम अभ्यासमें उसका स्वाद।

सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्य तुल्या तथा।

क्षार पुनः कटु (मिर्चकी तरह) पुनः अम्ल (खट्टा) पुनः दूधकी तरह स्वाद पश्चात् मधु (सहत) अनन्तर घृतकी तरह स्वाद मिलने लगताहै, जब घृतका स्वाद आने लगा तब जानना चाहिये कि खेचरीमुद्रा सिद्ध होगई। जब खेचरीमुद्रा सिद्ध होगई हो तो।

न रोगो मरणं तंद्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥

उसको रोग मरण और अन्तःकरणकी तमोगुणी वृत्तिरूप तन्द्रा और निद्रा क्षुधा (भूख) तृषा (प्यास) और चित्तकी तमोगुणी अवस्था रूप मूर्छा रोग ये सब नहीं होते, वह रोगसे पीडित नहीं होता, न कर्मसे लिप्त होता और न कालसे बांधा जाताहै । अपरञ्च इस मुद्राका बडा माहात्म्य है इससे अधिक माहात्म्य किसीका भी नहीं है । इस मुद्राके सिद्ध होनेसे सब प्रकारकी सिद्धि प्राप्त होती है वह केवल इसी मुद्राके अभ्याससे ही जीवन्मुक्त होताहै, उसके शरीरपर कांति सदा बनी रहतीहै, शोकको नहीं प्राप्त होता, सर्पादिकका विष नहीं प्रवेश करताहै (विशेष देखना हो तो योगके ग्रन्थोंको अवलोकन करो) ।

उड्डीयानम् ।

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥

पेटमें नाभिके ऊपर भागको और निचले भागको इस प्रकार तान (आकर्षण) करे कि जिसमें वे दोनों भाग पृष्ठमें लग जायँ यह नाभिके ऊर्ध्व अधोभागका तान उड्डीयान नामका बन्ध होता है और यह बन्ध मृत्युरूप हस्तीका सिंहरूप नाशक है ।

मूलबन्धः ।

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोऽभिधीयते ॥

एंडीसे योनिस्थानको अच्छी तरहसे दबाकर गुदाका संकोच करे और अपानवायुको ऊपरको आकर्षण करे यह मूलबन्ध कहाता है । दूसरा प्रकार—ऐसा है कि वामपादकी एंडीको योनिस्थानमें दृढतासे लगाके दक्षिणपादकी एंडीको लिंगके ऊपर लगावे । तीसरा—वामपादकी एंडीको गुदामें दृढतासे

लगाके दहिने पांवकी एंडीको लिङ्ग और वृषणके बीचमें लगावे इसको मूलबंध कहतेहैं । इस मुद्राका बारम्बार अभ्यास करनेसे अपानवायुका उत्थान होता है, अधोगामी अपान जब ऊर्ध्वगामी होकर अग्निमंडलमें पहुंच जाता है उस समय अपान वायुसे ताडित कीहुई जो त्रिकोणाकार नाभिके नीचे जठराग्निकी शिखा [ज्वाला] है वह बढ जाती है । तब अग्नि और अपान ये दोनों बढी हुई ज्वालासे ऊर्ध्वगतिसे प्राणमें पहुंच जाते हैं तिस प्राणवायुके समागमसे देहमें उत्पन्न हुई जठराग्नि अत्यन्त प्रज्वलित होजातीहै उस अग्निके अत्यन्त दीपनसे भली प्रकार तप्यमान हुई कुंडलिनी शक्ति सुखपूर्वक जागृत होजातीहै, अनन्तर सुषुम्ना नाडीके मध्यमें संचार करती है, सुषुम्नाके मध्यमें कुंडलिनीका संचार यही समाधिका लक्षण है इस करके मूलबंधका करना अत्यन्त उपयोगी है, परन्तु इसमें यथार्थ अभ्यास न करनेसे रोग भी होताहै । परीक्षा यह है कि मल बकरी (अजा) की तरह होने लगे तब जानना चाहिये कि मूलबंध ठीक नहीं करते बना और जब मल बराबर हो क्षुधा लगती जाय, शरीर हलका बना रहे, मन प्रसन्न रहा करे तब ठीक जानना । समग्र योगके कामोंमें शीघ्रता न करे शीघ्रताही रोगका मूल है ।

जालंधरबन्धः ।

कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बंधो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥

कंठके बिल [छिद्र] का संकोच करके चार अंगुलके अन्तर पर हृदयके समीपमें डाढीको दृढतासे स्थापन करै वह जालंधरबंध कहाता है । यह बंध वृद्धावस्था और मृत्युका नाश करनेवाला है । इस बंधके करनेसे जो चन्द्रामृत झरताहै उसकी नाभिमें जो जठराग्नि स्थित है वह ग्रहण करलेती है तब वह रुक जाता है और वा ुका कोप नहीं होता अर्थात् अन्य नाडियोंमें वायुका गमन नहीं होता और केवल इसही बंधका अभ्यास करनेसे समाधि भी होती है परन्तु इसमें गुरु लक्ष्यका काम है, ये तीनों अर्थात् उड्डीयानबंध, मूलबंध और जालंधरबन्ध योगाभ्यासीके वास्ते बडे उपयोगी हैं, मुख्य काम इन्हींसे होता है ।

विपरीत करणी ।

भूतले स्वशिरो दत्त्वा खे नयेच्चरणद्वयम् ।
विपरीतकृता चैषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥

साधक अपने शिरको भूमिमें स्थापित करके दोनों चरणोंको ऊपर आकाश में निरालम्ब स्थिर करे, यह विपरीत करणी मुद्रा सब तंत्रोंमें छिपी हुई है (अर्थात् प्रकाश नहीं करे तो योगी मृत्युको जीत लेता है)–इसमें भी अमृतकी धारा रुक जातीहै और क्षुधाकी वृद्धि अधिक होती है, इस मुद्राका अभ्यासी घृत–दुग्ध अच्छी तरह सेवन करे और प्रातःकाल ही अभ्यास करे, इससे बालोंका पकना और वृद्धापन दूर होता है ।

वज्रोली

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥
यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे ।
शनैःशनैः प्रकुर्वीत वायुं संचारकारणात् ।

जो योगाभ्यासी वज्रोली मुद्राको अपने अनुभवसे जानताहै वह योगी योगशास्त्रमें कहे हुए नियमोंके विना अपनी इच्छाके अनुसार व्यवहार करता हुआ भी अणिमा आदि सिद्धियोंका भोक्ता है । उस वज्रोलीकी सिद्धिमें जिस किसी निर्धन पुरुषको दुर्लभ जो दो वस्तु हैं उनको मैं कहता हूं, उन दोनोंमें एक दूध है और दूसरी वशमें रहनेवाली स्त्री है । लिङ्गके छिद्रमें वायुके संचार करनेके लिये उत्तम नालसे धीरे २ यत्न पूर्वक फूत्कारको करे ।

वज्रोलीका क्रम ऐसा है कि सीसेकी शलाई (शलाका) लिंगमें प्रवेश करनेके योग्य चौदह अंगुलकी बनवा कर लिंगमें प्रवेश करनेका अभ्यास करे पहिले दिन एक अंगुल दूसरे दिन दो तीसरे दिन तीन अंगुल प्रवेश करे इसी

क्रमसे वृद्धि करता हुआ बारह अंगुल तक प्रवेश करे इतनेमें मार्ग शुद्ध होजाता है। पुनः उसी प्रकारकी चौदह अंगुलकी ऐसी सलाई बनवावे जो दो अंगुल टेढी हो और ऊर्ध्वमुखी हो परन्तु यह शलाका पोली रहे इसको भी बारह अंगुल लिंगके छिद्रमें प्रवेश करै, टेढा और ऊर्ध्वमुख जो दो अंगुल मात्र है उसको बाहर रक्खे। पुनः सुनारके अग्निधमनी [धौंकनी] के नालकी तरह नालको लेकर उस नालके अग्रभागको लिंगमें प्रवेश किये बारह अंगुलके नालका टेढा और ऊर्ध्वमुख जो दो अंगुल है उसके मध्यमें प्रवेश करके फूत्कार करे (फूंके) तिससे अच्छी तरह लिंगके मार्गकी शुद्धि होतीहै। तब वायुके खींचने छोडनेका अभ्यास करे। पुनः लिंगसे जल आकर्षण करनेका अभ्यास करे जलके आकर्षणकी सिद्धि होनेपर दूधके खींचनेका अभ्यास करे, दूध सिद्ध होने पर तैलका अभ्यास करे; यह सिद्ध होने पर पारद (पारा) के खींचनेका अभ्यास करे जब पारदको शुद्ध रीतिसे आकर्षण करनेकी शक्ति होगई तब।

नारीभगे पतद्बिंदुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितं च निजं बिंदुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥

नारीके भगमें पडते (गिरते) हुए बिन्दु (वीर्य) के अभ्याससे ऊपरको आकर्षण करे अर्थात् पडनेसे पूर्व ही ऊपरको खींच ले यदि पतन (गिरना) से पूर्व बिन्दुका आकर्षण न होसके तो पतित हुआ बिन्दुका आकर्षण करे। चलित हुआ अपना बिन्दु और स्त्रीका रज इन दोनोंका आकर्षण ऊपरको करके रक्षा करे अभिप्राय यह है कि स्त्रीसे भोग करते समय अपने वीर्यको आकर्षण किये रहे जब स्त्रीका रज पतित होनेको हो तभी अभ्याससे रजको खींच ले यदि अपना ही बिन्दु गिरनेको हो तो तात्कालिक ही अपानवायुको उत्थान करके आकर्षण शक्तिसे ऊपरको आकर्षण करले जिस योगीका अभ्यास सिद्ध होजाय तो वह पुरुष सब सिद्धियोंका अधिकारी होजाता है और दीर्घसे दीर्घ काल पर्यन्त जीता रहता है। यदि इसका अभ्यास शाक्त लोग करें तो बहुत ही उत्तम है क्योंकि यह भोगसे ही मुक्ति कहते हैं।

एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥

जो योगी बिन्दुकी भली प्रकार रक्षा करताहै वह योगका ज्ञाता योगी मृत्युको जीतताहै क्योंकि बिन्दुके पतनसे ही मरण और बिन्दुकी रक्षासे ही जीवन होताहै इससे बिन्दुकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये परन्तु वर्तमान कालमें सब लोगोंने बिन्दुपात (वीर्य गिराना, कामदेव) करनाही श्रेष्ठ समझा है यह कैसी भूल है ।

शक्तिचालनम् ।

कुटिलाङ्गी कुंडलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी ।
कुंडल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥
उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥

१ कुटिलांगी, २ कुण्डलिनी, ३ भुजंगी, ४ शक्ति, ५ ईश्वरी, ६ कुण्डली, ७ अरुन्धती ये सात शब्द पर्यायवाचक हैं । जैसे पुरुष किवाडोंके तालाको बल करके कुंजी (ताली—चाभी) से खोलते हैं तिसी प्रकार योगी भी हठयोगके अभ्याससे कुंडलिनी मुद्राके द्वारसे अर्थात् मोक्षके दाता सुषुम्नाके मार्गको भेदन करताहै । यह कुण्डलिनी मूलाधारसे ऊपर योनिस्थान जिसका पीछे मुख है उसी स्थानमें कन्द (लिंग इन्द्रियसे थोडा ऊपर) है उसी स्थानमें सर्पाकार सोतीहै इसको साधक भली प्रकार यत्न करके उत्थान (उठावे) करे ।

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ॥

वज्रासन लगाके अनन्तर गुल्फोंके कुछेक ऊपर भागमें चरणोंको हाथोंसे दृढ पकड कर नाभिके अधोभागमें कन्दको पीडित करे अर्थात् नाभिके अधोभागमें एंडीकी चोट धीरे २ लगावे अनन्तर उसी वज्रासन (सिद्धासन) से

स्थित हो मन्त्राको करे इससे कुण्डलिनी जागृत होतीहै, प्रातः और सायंकालमें आधा २ प्रहर इस क्रमसे अभ्यास करनेसे ४४ चवालिसवें दिनमें कुण्डलिनीका उत्थान होताहै परन्तु साधक मिताहार साधन—ब्रह्मचर्यव्रत परित्याग न करे। यह शक्तिका उत्थान प्राणायाम करते २ जब अपान वायुका उत्थान होताहै तब यह ईश्वरी आपही उठतीहै। (इसका उपाय महात्माओंके पास कुछ भिन्न ही रहताहै परन्तु संकेतवश नहीं लिखा गया) यह कुंडलिनी मूलाधारमें जो स्वयम्भूलिंग है उस लिङ्गमें साढे तीन आवेष्टन करके लिपटी हुई है और जहाँ उसका मुख है वहीं ब्रह्मरन्ध्रका छिद्र है बिना इसके उठे योगकी सिद्धि नहीं होती क्योंकि यह ईश्वरी ही योगका मूल है।

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ॥

जिस योगीने शक्ति चलायमान करली है वह योगी अणिमादि सिद्धियोंका पात्र होजाताहै। इसका उत्थान होनेसे ७२००० सहस्र नाडियोंका मल शुद्ध होताहै, जो पुरुष इस महामायाके भेदको जानताहै वह सिद्धपुरुष कहाता है इसमें सन्देह नहीं, यह कुण्डलिनी कमलनालके तन्तु (सूत) सदृश है और अत्यन्त सूक्ष्म प्रकाशसे युक्त है इसके उत्थान होनेसे शरीर हलका मालूम होताहै. कुछ. नशासा बना रहताहै। इसके उठानेका उपाय प्राणायाम और मुद्रा है अथवा भावना किया करै, भावना करते २ अनुभव होने लगताहै, परन्तु इसकी समझ सद्गुरुके समीपसे ही ठीक होती है। यहां इन दश मुद्राओंका कथन मैंने संक्षेपसे कियाहै जिनको विशेष देखना हो वह योगके ग्रंथोंको देखैं।

प्रत्याहारः। पतञ्जलिः—

स्वविषयाऽसंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥

विषयोंसे चित्तके निवृत्त होनेमें जैसा चित्तका स्वरूप होताहै वैसाही इन्द्रियोंकी एकाग्रता होना प्रत्याहार है।

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् ।
यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥

यथा तृतीयकालस्थो रविः प्रत्याहरेत्प्रभाम् ।
तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं तथा ॥

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द ये पांच विषय हैं इनमें घ्राण जिह्वा, चक्षु, त्वक्, कर्ण इन पांच ज्ञानेन्द्रियोंके कर्म होतेहैं अर्थात् उक्त ज्ञानेन्द्रियोंके उक्त विषय क्रमसे है, आसन और प्राणायाम सिद्ध करके जिस इन्द्रियका जो विषय है उसे दूसरेके समीप भावना कर क्रमशः धीरे २ त्याग करना अर्थात् इन्द्रियसे उसके विषयका अनुभव करके पुनः इन्द्रियोंको विषयसे अलग करना प्रत्याहार होताहै । दिनके प्रातः, मध्याह्न, सायं इन तीन भागोंसे तीन काल होतेहैं, जैसे सायंकालमें सूर्य अपनी कांतिको क्रमसे हरण करताहै ऐसेही योगीभी तीसरे अंग (१ आसन, २ प्राणायाम, ३ प्रत्याहार) प्रत्याहारमें मानस विकारमें मनको विषय सम्बन्धसे छुटावे ।

अङ्गमध्ये यथाङ्गानि कूर्मः संकोचयेद्ध्रुवम् ।
योगी प्रत्याहरेदेवमिन्द्रियाणि तथात्मनि ॥

जैसे कछुआ अपने शिर पैर आदि अङ्गोंको संकोच कर अपने ही भीतर छिपा लेताहै ऐसेही योगी भी इन्द्रियोंको विषयोंसे रोक कर आत्मामें उनकी वृत्तियोंको आसक्त करे । वायुके २९ पल अर्थात् १० मिनट तक निर्विघ्न ठहरनेको प्रत्याहार कहतेहैं । जब वायु निर्विघ्न ठहरतीहै तब चित्त किसी प्रकारसे चलायमान नहीं होता, यह निश्चय है और दूसरेके देखनेसे वा अपने ही देखनेसे बाहरमें ऐसा मालूम होताहै कि वायु नहीं है अर्थात् पेट (उदर) किंचित् भी फूलता पचकता नहीं जब इतना अधिकार होगया तब जानना चाहिये कि अब वायु ऊपरको गमन करेगी परन्तु इसमें सद्गुरुका प्रयोजन है । यह क्रम १२ दिनकी समाधि लगानेका है ।

याममात्रं यदा पूर्णं भवेदभ्यासयोगतः ।
एकवारं प्रकुर्वीत तदा योगी च कुम्भकम् ॥

दंडाष्टकं यदा वायुर्निश्चलो योगिनो भवेत् ।
स्वसामर्थ्यात्तदांगुष्ठं तिष्ठेद्वातुलवत्सुधीः ॥

जब एक वारमें पूर्ण एक प्रहर तक योगीके अभ्याससे कुम्भक स्थिर रहेगा अर्थात् आठ घडी तक योगीका वायु निश्चल रहे तब वह अपने सामर्थ्यसे अंगुष्ठमात्रके बलसे अचल अबोधवत् खडा रह सकता है प्रत्याहारसे यह अभिप्राय है कि जिस पुरुषको प्रत्याहार साध्य होजायगा तो उसके चित्तकी वृत्ति स्थिर होजायगी और वायुका निरोध सुखपूर्वक होजायगा, एक प्रहर वायु स्थिर होनेसे सिद्धियोंके अनुभव होने लगतेहैं ।

धारणा । पतञ्जलिः-

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥

हृदयादि स्थानोंमें चित्तको बांधना अर्थात् पांच घडी (२ घंटा) तक एकाग्र करना धारणा कहाती है ।

आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः ।
प्रत्याहारेण संपन्नो धारणां च समभ्यसेत् ॥

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार इनका अभ्यास स्थिर करके धारणाका अभ्यास करे ।

हृदये पंचभूतानां धारणा च पृथक्पृथक् ।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा साभिधीयते ॥

हृदयमें मन, प्राणवायुको निश्चल करके पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश संज्ञक पंचभूतोंको अलग २ धारण करना धारणा कहातीहै ।

या पृथ्वी हरितालहेमरुचिरा पीता लकारान्विता
संयुक्ता कमलासनेन हि चतुष्कोणा हृदिस्थापिनी॥
प्राणांस्तत्र विलीय पंचघटिकं चितान्विताधारये-
देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्याद्ध्रुवो धारणा॥

जो पृथ्वी हरिताल अथवा सुवर्णके समान सुन्दर पीतवर्ण अधिष्ठातृदेवता ब्रह्मा सहित चौकोना करके बीचमें (लं) बीज युक्त है इस प्रकार पृथ्वी-तत्त्वको हृदयमें ध्यान करके भावना करे चित्त सहित प्राणोंको लीन करके पांच घटी तक स्तम्भन करनेवाली धारणा होतीहै इस धारणाका सर्वदा अभ्यास करनेसे पृथ्वीतत्त्व अपने वशमें होजाता है। एवं कुन्दपुष्पके समान श्वेतवर्ण अधिष्ठातृदेवता विष्णु सहित अर्धचन्द्राकारके मध्यमें (वं) बीज अमृतरूप जलतत्त्वको विशुद्ध चक्रमें (कंठ) ध्यान करके भावना करे चित्त और प्राणोंको लीन करके पांच घटी पर्यन्त धारणा करना यह जल स्तम्भन करनेवाली वारुणी धारणा है इसके अभ्यास करनेसे कालकूट विष भी शरीरमें प्रवेश नहीं करता। बीरबहूटी (इन्द्रगोप) के समान रक्तवर्ण अधिष्ठातृदेवता रुद्रसहित त्रिकोणाकारके मध्यमें (रं) बीज तेजोरूप अग्नितत्त्वको तालुस्थानमें भावना करे चित्त प्राणोंको लीन करके पांच घटी पर्यन्त वैश्वानरी धारणा होतीहै इसके अभ्याससे योगी अग्निका जीतनेवाला होताहै। कज्जलके पुंज समान अतिनील वर्ण अधिष्ठातृदेवता ईश्वर सहित वर्तुलाकार (गोला) के मध्यमें (यं) बीज वायुतत्त्वको भ्रूमध्यमें भावना करे चित्त सहित प्राणोंको लीन करके पांच घटी पर्य्यन्त वायुतत्त्वकी धारणा होती है इसके अभ्याससे योगीको आकाशमें गमनकरनेकी शक्ति होती है। निर्मल जलके समान वर्ण अधिष्ठातृदेवता सदाशिव सहित वर्तुलाकारके मध्यमें (हं) बीज आकाशतत्त्वको ब्रह्मरन्ध्रमें भावना करे, चित्त सहित प्राणोंको लीन करके पांच घटी पर्यन्त स्थिर रहना यह नभोधारणा मोक्षरूपी द्वारके खोलनेमें चतुर है इसके अभ्याससे मोक्षद्वार खुल जाताहै।

कर्मणा मनसा वाचा धारणाः पञ्च दुर्लभाः।
विहाय सततं योगी सर्वदुःखैः प्रमुच्यते ॥

कर्म (अनुष्ठान) से मनके चिन्तनसे वचन शास्त्राज्ञाके प्रमाण माननेसे निरूपण करके पाचों धारणाओंको जो स्थिराभ्यास करता है वह समस्त दुःखोंसे निवृत्त होजाता है। धारणासे यह अभिप्राय है कि प्रत्याहार अर्थात् १० मिनट (२५ पल) तक जब वायु स्थिर होने लगे तब

गुरूपदेशमार्गसे वायुको ऊपर चढाना इसका नाम धारणा है और धारणा पांच घटीकी होतीहै ।

धारणा पंचनाडीभिर्ध्यानं च षष्टिनाडिभिः ॥

जब पांच घटी तक वायुकी स्थिरता हो तब उक्त क्रमसे भूतोंकी भावना होतीहै और इसमें बहुत प्रकारके विघ्न होतेहैं अर्थात् जिस समय चित्त एकाग्र करके धारणाका अभ्यास योगी करने लगताहै तब उसी कालमें यक्षिणियां (डाकिनी) अपने रूपको दर्शित कर मोहित करतीहैं अथवा भय देतीहैं (इनका रूप अन्तरदृष्टिसे ही मालूम होताहै परन्तु योगी इनके रूपको न देखे और न भय माने) और पांच घटी तक जब वायु ठहरने लगता है तब योगीको आनन्द मालूम होताहै, सिद्धोंका दर्शन होताहै, वायुको ऊपर चढा-नेका मार्ग मालूम होने लगताहै, इतना अभ्यास जब दृढ होगया तब ध्यान (चक्रोंके भेदन) का अधिकारी होताहै वह ध्यान ६० घटी (२४ घं०) का होताहै ।

ध्यानम् । पतञ्जलिः-

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।

ध्येयपदार्थमें चित्तकी एकाग्रता होना ध्यान है अर्थात् शरीरमें जो षट् चक्र हैं उनमें २४ घंटे तक चित्तको ठहराना ।

स्मृत्येव सर्वचिन्तायां धातुरेकः प्रपद्यते ।
यच्चित्ते निर्मला चिन्ता तद्धि ध्यानं प्रचक्षते ॥

(स्मृ) यह धातु चिन्ता सामान्यवाचक है सो चित्तको योग शास्त्रोक्त प्रकारसे निर्मल करके आत्मतत्त्वका स्मरण करना ध्यान कहाता है ।

अन्तश्चेतो बहिश्चक्षुरधः स्थाप्य सुखासनः ।
कुण्डलिन्या समायुक्तं ध्यात्वा मुच्येत किल्बिषात्॥

पद्मासन लगाय शरीर सीधा कर आधारादिचक्रोंमें अन्तःकरण (मन) लगाय नासिकाके अग्रमें दृष्टि वा भ्रूमध्यमें लगाके निश्चल हो कुंडलिनी सहित ध्येय वस्तुका ध्यान करना इससे योगी सब पापोंसे मुक्त होजाताहै ।

आधारचक्रम् ।

कुलाभिधं सुवर्णाभं स्वयम्भूलिङ्गसङ्गतम् ।
द्विरण्डो यत्र सिद्धोस्ति डाकिनी यत्र देवता ॥
तत्पद्ममध्यगा योनिस्तत्र कुण्डलिनी स्थिता ।
तस्या ऊर्ध्वे स्फुरत्तेजः कामबीजं भ्रमन्मतम् ॥
यः करोति सदा ध्यानं मूलाधरं विचक्षणः ।
तस्य स्याद्दार्दुरी सिद्धिर्भूमित्यागक्रमेण वै ॥
परिस्फुरत्वादि सान्तं चतुर्वर्णं चतुर्दलम् ॥

इस कमलका नाम कुल है यह सुवर्णके समान कांति और स्वयम्भूलिंगसे युक्त है उस पद्ममें द्विरण्ड नामक सिद्ध और डाकिनी अधिष्ठातृ और गणेश देवता हैं उस पद्मके मध्यमें योनि है उस योनिमें कुंडलिनीकी स्थिति है और उस कुंडलिनीके ऊपर तेजस्वरूप कामबीज भ्रमण (घूमना—फिरना) करता है जो बुद्धिमान् पुरुष इस मूलाधार पद्मका सर्वदा ध्यान करतेहैं उनको दार्दुरी वृत्ति अर्थात् मेंढककी तरह उछलना सिद्ध होता है और क्रमसे भूमिको त्यागके ऊपर उठता है यह पद्म परम प्रकाशमान व से स तक अर्थात् व श ष स इन चार वर्णोंसे चार दलोंयुक्त करके शोभितहै । इस मूलाधारके ध्यान करनेसे शरीरमें कांति, जठराग्निकी वृद्धि, आरोग्यता, मन्त्रसिद्धि इत्यादिकोंका लाभ होताहै ।

स्वाधिष्ठानचक्रम् ।

द्वितीयं तु सरोजञ्च लिङ्गमूले व्यवस्थितम् ।
वादि लान्तं च षड्वर्णं परिभास्वरषड्दलम् ॥
स्वाधिष्ठानाभिधं तत्तु पंकजं शोणरूपकम् ।
बाणाख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति देवी यत्रास्ति राकिणी ॥

दूसरा पद्म जो लिंगमूलमें स्थित है वह व से ल तक अर्थात् व भ म य र ल यह छः वर्णों करके युक्त और छः दलोंसे शोभित है इस रक्तवर्ण पद्मका नाम स्वाधिष्ठान है इस स्थानमें बाण नामक सिद्ध—राकिणी देवी अधिष्ठात्री और ब्रह्मा देवता हैं।

विविधञ्चाश्रुतं शास्त्रं निःशङ्को वै वदेद्ध्रुवम्।
सर्वरोगविनिर्मुक्तो लोके चरति निर्भयः॥

अनेकों शास्त्र जो कभी श्रवण नहीं किये हों उनको भी इस पद्मके ध्यानके प्रभावसे निःसन्देह कहेगा अर्थात् स्मरणशक्ति अधिक रहेगी और सब रोगोंसे मुक्त होके आनन्दपूर्वक संसारमें विचरेगा, सिद्धियोंका अनुभव होने लगताहै अन्य बहुत गुण हैं।

मणिपूरचक्रम्।

तृतीयं पङ्कजं नाभौ मणिपूरकसंज्ञकम्।
दशारं डादि फान्तार्णं शोभितं हेमवर्णकम्॥
रुद्राख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति सर्वमङ्गलदायकः।
तत्रस्था लाकिनीनाम्नी देवी परमधार्मिका॥

मणिपूरक नाम तीसरा पद्म जो नाभिस्थलमें है वह हेम (सुवर्ण) वर्ण दशदल करके शोभित है और ड से फ तक अर्थात् ड ढ ण त थ द ध न प फ यह दशवर्ण से युक्त है और उस स्थानमें सर्व मंगलदाता रुद्र नामक सिद्ध लाकिनी देवी अधिष्ठात्री और विष्णु देवता हैं।

तस्मिन्ध्यानं सदा योगी करोति मणिपूरके।
तस्य पातालसिद्धिः स्यान्निरन्तरसुखावहा॥
ईप्सितं च भवेल्लोके दुःखरोगविनाशनम्।
कालस्य वञ्चनञ्चापि परदेहप्रवेशनम्॥

जो साधक इस मणिपूर चक्रका सदा ध्यान करताहै उसको पाताल-सिद्धि जो सब सुखको देनेवाली है वह प्राप्त होती है और उसका दुःखरोग

विनाश होके सकल मनोरथ सिद्ध होतेहैं, कालको जीतनेमें सामर्थ होती है और परकायप्रवेश करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है ।

अनाहतचक्रम् ।

हृदयेऽनाहतं नाम चतुर्थं पंकजं भवेत् ।
कादिठान्तार्णसंस्थानं द्वादशारसमन्वितम् ॥
अतिशोणं वायुबीजं प्रसादस्थानमीरितम् ।
सिद्धः पिनाकी यत्रास्ते काकिनी यत्र देवता ॥
एतस्मिन्सततं ध्यानं हृत्पाथोजे करोति यः ।
क्षुभ्यन्ते तस्य कान्ता वै कामार्ता दिव्ययोषितः॥

हृदयस्थानमें जो अनाहत नामक चतुर्थ पद्म है वह क से ठ तक अर्थात् क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ बारह वर्ण और बारह दलसे युक्त है अतिउज्ज्वल रक्तवर्णसे शोभायमान है और वह प्रसन्न स्थान वायुका बीज अर्थात् प्राणवायुका आधार है, जिस पद्ममें पिनाकी सिद्ध काकिनी देवी अधिष्ठात्री और सदाशिव देवता हैं उस हृदयस्थ पद्ममें जो ध्यान करताहै उसके समीप कामसे पीडित सुन्दर स्त्री अप्सरा आदि मोहित होजातीहैं (यह विघ्न करनेवाली हैं, साधक इधर लक्ष्य कदापि नहीं देवे यदि समाधिकी इच्छा है तो)।

ज्ञानञ्चाप्रतिम तस्य त्रिकालविषयम्भवेत् ।
दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिः स्वेच्छया खगतां व्रजेत् ॥

उस साधकको अपूर्व ज्ञान उत्पन्न होताहै भूत, वर्तमान, भविष्य तीनों कालोंका ज्ञान होताहै दूर का शब्द सुनाई देताहै, दूरकी वस्तु दिखाई देती है और अपनी इच्छासे आकाशमें गमन करनेको समर्थ होताहै, सिद्धोंके दर्शन होतेहैं और अन्य भी बहुत गुण हैं ।

विशुद्धचक्रम् ।

कंठस्थानस्थितं पद्मं विशुद्धं नाम पञ्चमम् ।

सुहेमाभं स्वरोपेतं षोडशस्वरसंयुतम् ॥
छगलाण्डोऽस्ति सिद्धोत्र शाकिनी चाधिदेवता ॥

कंठ स्थान (गला) में जो पांचवां विशुद्ध नामक कमल है वह सुवर्णके समान कांतिसे शोभित है और अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः इन षोडश स्वरोंसे षोडश दल युक्त हैं, छगलांड सिद्ध शाकिनी देवी अधिष्टात्री और जीवात्मा देवता इस स्थानमें विराजमान हैं।

ध्यानं करोति यो नित्यं स योगीश्वरपंडितः।
किन्त्वस्य योगिनोऽन्यत्र विशुद्धाख्ये सरोरुहे ॥
चतुर्वेदा विभासन्ते सरहस्या निधेरिव ॥

जो पुरुष इस चक्रका नित्य ध्यान करता है वह योगीश्वर पंडित है और इस विशुद्ध पद्ममें उस पुरुषको चारों वेद रहस्य सहित समुद्रके रत्नवत् प्रकाश होतेहैं इस चक्रके ध्यानमें बहुत गुण हैं।

आज्ञाचक्रम्।

आज्ञापद्मं भ्रुवोर्मध्ये हक्षोपेतं द्विपत्रकम्।
शुक्लाभं तन्महाकालः सिद्धो देव्यत्र हाकिनी ॥

भ्रुकुटीके बीचमें जो आज्ञापद्म (कमल) है उसमें हं क्षं दो बीज हैं सुन्दर श्वेतवर्ण दो पत्ते हैं उस स्थानमें महाकाल नामक सिद्ध हाकिनी देवी अधिष्ठात्री और परमात्मा देवता है।

शरच्चन्द्रनिभं तत्राक्षरबीजं विजृंभितम्।
पुमान्परमहंसोऽयं यज्ज्ञात्वा नावसीदति ॥
तत्र देवः परं तेजः सर्वतन्त्रेषु मंत्रिणः।
चिन्तयित्वा परां सिद्धिं लभते नात्र संशयः ॥

उस आज्ञा पद्मके बीचमें शरदचंद्रके समान परम तेज चन्द्रबीज अर्थात् ॐ बीज विराजमान है इसके ज्ञान होनेसे परमहंस पुरुषको कभी नहीं कष्ट

होता। इस परम तेजका प्रकाश सब तन्त्रों करके गोपित है इसके चिन्तन-मात्रसे अवश्य परम सिद्धि प्राप्त होतीहै ।

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते ॥
ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते ॥

दोनों भ्रुकुटियोंके मध्यमें कल्याणरूप आत्माका स्थान है उस शिव वा आत्मामें मन लीन होताहै अर्थात् मनकी वृत्तिका प्रवाह शिवाकार होजाताहै वह तुर्यपद अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिसे परे चौथा पद जानना उस पदमें मृत्यु नहीं है ।

सुषुम्ना मेरुणायातो ब्रह्मरंध्रं यतोऽस्ति वै ।
ततश्चैषा परावृत्त्या तदाज्ञापद्मदक्षिणे ॥
वामनासापुटं याति गंगेति परिगीयते ।
तदाकारा पिंगलापि तदाज्ञाकमलोत्तरे ॥
दक्षनासापुटे याति प्रोक्तास्माभिरसीति वै ॥

सुषुम्ना नाडी मेरुदंड द्वारा जहां ब्रह्मरन्ध्र है उस स्थानमें गई है और इडा नाडी सुषुम्नाके अपर आवृतसे आज्ञाचक्रके दक्षिणभागमें होके वामनासा पुटको गई है इसको गंगा कहतेहैं और इडा नाडीके समान पिंगला भी चक्रके वामभागसे दहिने नासापुटको गई है, इससे हे पार्वति ! इस पिंगलाको हमने असी कहा है अर्थात् गङ्गा और असीके मध्यमें जैसा मेरा काशी क्षेत्र है तद्वत् आज्ञाचक्रमें मेरा निवास है ।

आज्ञापद्ममिदं प्रोक्तं यत्र देवो महेश्वरः ।
पीठत्रयं ततश्चोर्ध्वं निरुक्तं योगचिन्तकैः ॥
तद्विन्दुनादशक्त्याख्यं भालपद्मव्यवस्थितम् ॥

इस स्थानमें महेश्वर देवता है इसको आज्ञापद्म कहतेहैं । योगचिन्तक लोग कहतेहैं कि इस पद्मके ऊपर पीठत्रयकी स्थिति है अर्थात् नाद, विंदु और शक्ति यह तीनों इस भालपद्ममें विराजमान हैं और यही त्रिवेणीसंगम कहाताहै ।

इडा गंगा पुरा प्रोक्ता पिंगला चार्कपुत्रिका।
मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां संगोतिदुर्लभः॥

इडा, गङ्गा और पिंगला यमुना है मध्यमें सुषुम्ना सरस्वती है यह त्रिवेणी संगम कहागया है इसका स्नान अतिदुर्लभ है।

सिताऽसिते संगमे यो मनसा स्नानमाचरेत्।
सर्वपापविनिर्मुक्तो याति ब्रह्म सनातनम्॥

इस इडा, पिंगलाके संगममें साधक मानसिक (स्नान ध्यान करना यही मानसिक स्नान है) करनेसे सब पापोंसे मुक्त होके सनातन ब्रह्ममें लय हो जाताहै।

मृत्युकाले प्लुतं देहं त्रिवेण्याः सलिले यदा।
विचिन्त्य यस्त्यजेत्प्राणान्सदा मोक्षमवाप्नुयात्॥

मृत्युके समयमें साधक जो यह चिन्तन करै कि मेरा शरीर त्रिवेणीके सलिल (जल) में मग्न है अर्थात् सावधान हो ध्यान करे तो उसी क्षण प्राणको त्यागके मोक्षको प्राप्त होगा, उस स्थानमें श्रीसदाशिवजी ज्योतिस्वरूप करके लिंगरूपी विराजमान हैं, जो कोई इस चक्रका ध्यान दृढ करलेवे उसको त्रैलोक्यमें कुछ दुर्लभ नहीं है यह भ्रूमध्य ही समाधिका रूप है, इसका माहात्म्य बहुत है।

चक्रोंका ध्यान २४ घण्टे (एक दिन रात्रि) तक अर्थात् इतनी देर तक वायु ठहरे उसको ध्यान कहतेहैं-(इसीको चक्रभेदन कहते हैं-) धारणाके अनन्तर गुरुमुख द्वारा जब वायु ऊपरके चक्रोंको भेदन करती हुई आज्ञाचक्रको उल्लंघन करके ब्रह्मरन्ध्रको प्राप्त होतीहै उसीको समाधि कहतेहैं वहां क्षुधा तृषादि सब नष्ट होजातीहैं।

---

१ श्रुतिः-"सिताऽसिते सरिते यत्र संगते तत्राऽऽप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति। ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासोऽमृतत्वं भजन्ते॥" अर्थ-जिस स्थानमें श्वेत और श्याम वर्णवाली नदियोंका संगम है वहां स्नान करनेवाले स्वर्गको जातेहैं और जो वहां शरीर त्यागतेहैं वे पुरुष मोक्षको प्राप्त होतेहैं।

समाधिनिरूपणम् । पतञ्जलिः-

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥

स्वरूप शून्य होनेके समान ध्यान ही मात्र प्रकाशित होना समाधि है अर्थात् ध्यानमें षट्चक्राधिदेवताका दर्शन होताहै और समाधिमें कुछ रूप नहीं दीखता आनन्दाकार रहताहै विशेष यह है कि षट्चक्रोंको भेदन करके ब्रह्मरन्ध्रमें चित्त १२ दिन अथवा यथाकाल पर्यन्त ठहरना ।

धारणा पंचनाडीभिर्ध्यानं च षष्टिनाडिभिः ।
दिनद्वादशकेन स्यात्समाधिः प्राणसंयमात् ॥

प्राणवायुके व्यापारको पांच घडी तक रोकना धारणा कहाती है ऐसे ६० घडी का ध्यान और बारह दिन रात्रिपर्यन्त प्राणवायुके रोकनेसे समाधि कहाती है ।

सलिले सैंधवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥
यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ।
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ॥
तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः ।
प्रनष्टसर्वसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥

जैसे सैंधव लवण जलका संयोग होनेसे जलके संग एकताको प्राप्त होजाता है तिसी प्रकारसे आत्मामें धारण किया हुआ मन आत्माकार होनेसे आत्मरूपको प्राप्त हो जाताहै उसी आत्मा मनकी एकताको समाधि कहतेहैं । जब प्राणके प्रवाहकी गति और मनका भी लय होजाताहै उस समयमें हुई जो समरसता (निर्द्वन्द्वता) उसको समाधि कहतेहैं । जीवात्मा और परमात्मा इन दोनोंकी एकतारूपको ही समता कहतेहैं और उस समय नष्ट हुए हैं सम्पूर्ण संकल्प जिसमें उसको समाधि कहतेहैं । समाधिमें स्थित पुरुषको काल नहीं भक्षण करता ।

बाध्यते न स कालेन लिप्यते न स कर्मणा ।
साध्यते न च केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥

जब योगी समाधिमें स्थिर होजाताहै तब उसको मृत्युका भय नहीं होता अर्थात् उस पर कालका वश नहीं चलता, पाप पुण्यरूप कर्मबंधनोंमें लिप्त नहीं होता और कोई विषयवासनामें लगाय नहीं सकता, न कोई उसे यन्त्र मन्त्र आदिसे साध सकताहै क्योंकि उस समाधिके समय क्लेशकी निवृत्ति होतीहै ।

पतञ्जलिः-ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ।

न गन्धं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम् ।
नात्मानं च परस्वं च योगी युक्तः समाधिना ॥

समाधिमें स्थित योगीको गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द इन पांच विषयोंका बोध नहीं होता, वह अपना पराया कुछ नहीं जानता, जीवात्मा परमात्माको एकही मानताहै अर्थात् समाधिमें जब साधक प्राप्त हुआ तब उसको आनन्द ही आनन्द भासताहै वहां द्वैतपक्ष नहीं मालूम होता अर्थात् अद्वितीय होजानेसे क्षुधा तृषादि, मानापमान सुख दुःख शीत उष्णादिका भान नहीं रहता क्योंकि ये सब बाधक द्वैतके हैं । आज्ञाचक्रसे ब्रह्मरन्ध्रमें जानेके दो मार्ग हैं वह गुरुमुखसेही प्राप्त होने योग्य हैं अत्यन्त गुप्त होनेसे लिखना उचित नहीं समझा जाता एतदर्थ नहीं लिखा गया ।

अत ऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम् ।
ब्रह्माण्डाख्यस्य देहस्य बाह्ये तिष्ठति मुक्तिदम् ॥
कैलासो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति ।
अकुलाख्योऽविनाशी च क्षयवृद्धिविवर्जितः ॥

तालुके ऊपर भागमें सुन्दर सहस्रदलका कमल है यह कमल मुक्तिका दाता ब्रह्मांडरूपी शरीरके बाहर अर्थात् शरीरके ऊपर अन्तमें स्थित (शिखाके पास) है इसी कमलको कैलास कहतेहैं इसी स्थानमें महेश्वरकी स्थिति है यह ईश्वर निराकुल, अविनाशी और क्षय वृद्धि रहित है ।

तस्माद्गलितपीयूषं पिबेद्योगी निरन्तरम् ।
मृत्योर्मृत्युं विधायाशु कुलं जित्वा सरोरुहे ॥
अत्र कुंडलिनी शक्तिर्लयं याति कुलाभिधा ।
तदा चतुर्विधा सृष्टिर्लीयते परमात्मनि ॥

सहस्रदल कमलसे जो अमृत स्रवता (गिरता-झरता) है उसको योगी निरन्तर पान करताहै वह योगी मृत्युको जीत करके चिरंजीवी होजाताहै और वहां सहस्रदल कमलमें कुलरूपा (आधार चक्रमें रहनेवाली) कुण्डलिनी शक्ति लय होजातीहै तब यह चतुर्विध सृष्टि भी परमात्मामें लय होजातीहै ।

यज्ज्ञात्वा प्राप्य विषयं चित्तवृत्तिर्विलीयते ।
तस्मिन्परिश्रमं योगी करोति निरपेक्षकः ॥

इस सहस्रदल कमलके ज्ञान होनेसे चित्तवृत्तिका लय होजाताहै अर्थात् वासनाका नाश होजाताहै इसलिये इसके ज्ञानार्थ योगी कांक्षा (कामना) रहित होके अभ्यास करे।

अभिप्राय यह है कि जो समाधि जिसको राजयोग कहतेहैं उसकी प्राप्त्यर्थ अवश्य परिश्रम करना चाहिये क्योंकि इसीसे सायुज्यमुक्ति और कालकी वंचना होतीहै और इसीसे ही आठ सिद्धियोंका सहजमें लाभ अवश्य होताहै। सिद्धियोंके नाम-१ अणिमा, २ महिमा, ३ गारेमा, ४ लघिमा, ५ प्राप्ति, ६ प्राकाम्य, ७ ईशता, ८ वशिता ये आठ सिद्धियां हैं।

निरूपण ।

(१ अणिमा)-इच्छा होते ही परमाणुरूप होजाना, (२ महिमा) आकाशवत् स्थूल (मोटा, बडा) होना, (३ गारेमा) लघु पदार्थका भी पर्वत (पहाड) आदिके समान भारी होजाना, (४ लघिमा) पर्वतादिके समान भारी होके हलका होजाना, (५ प्राप्ति) सम्पूर्ण पदार्थोंके समीप पहुंचना जैसे कि भूमि पर स्थित योगी अंगुलीके अग्रसे चन्द्रमाका स्पर्श कर ले, (६ प्राकाम्य) जलके समान भूमिमें प्रवेश होजाय और निकल आवे, (७ ईशता)

पांचों महाभूत और उनसे उत्पन्न भौतिक पदार्थ इनकी उत्पत्ति और प्रलय करनेकी सामर्थ्य हो, (८ वशिता) भौतिक पदार्थोंको अपने आधीन करना ये आठ सिद्धियां और परकायप्रवेशादि निधियोंका योगाभ्यासी इच्छानुसार आनन्दानुभव लेता हुआ त्रैलोक्यमें विचरता सायुज्य मुक्तिको प्राप्त होताहै और यदि योगकी पूर्णरीतिसे सिद्धि न हुई तो भी वह जीवन पर्यन्त मर्यादापूर्वक सुखी, रोगसे रहित, कांतियुक्त रहताहै और अन्तमें स्वर्गोंका सुख भोग के पुनः वासनानुसार उत्तम कुल भाग्यवानके यहां या ऋपिवत् कुलमें जन्म ले अभ्यास करताहै ।

अभिप्राय यह है कि योगका अभ्यासी किसी प्रकारसे नष्ट नहीं होता, अन्य उपासनाओंसे यह उपासना अति उत्तम श्रेयस्कर है । सकामी निष्कामी दोनोंको उपयोगी है इसका माहात्म्य वर्णन करने योग्य नहीं है । अर्थात्—

यंयं चिन्तयते कामं तंतं प्राप्नोति निश्चितम् ।

इससे अवश्य इस विद्याको किसी सद्गुरुके समीप समझ करके अभ्यास करना चाहिये, इसका अभ्यास गृहस्थाश्रमी सुखसे करे परन्तु ऋतुकालाभिगामी हो । यह ब्रह्मरन्ध्रकी बंदनाको ग्रन्थोंमें बहुत प्रकारसे वर्णन किया है परन्तु मैंने विस्तार भयसे नहीं लिखा क्योंकि जो पुरुष अभ्यास करेगा उसीको आनन्द प्राप्त होगा ।

नादानुसन्धानम् ।

नादानुसंधानसमाधिभाजां योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम् । आनन्दमेकं वचसामगम्यं जानाति तं श्रीगुरुनाथ एकः ॥

अनाहत ध्वनिरूप जो नाद है उसके स्मरणसे चित्तकी एकाग्रतारूप जो समाधि है उसके कर्ता जो योगीश्वर हैं उनके हृदयमें बढताहुआ वाणीसे परे जो प्रसिद्ध मुख्य आनन्द होताहै वह श्रीयुत गुरुस्वामी ही जानतेहैं अर्थात् यह नादानुसंधान गुरुसे ही प्राप्त होताहै ।

कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोति ध्वनिं मुनिः।
तत्र चित्तं स्थिरीकुर्याद्यावत्स्थिरपदं व्रजेत् ॥

योगी हाथोंके अंगूठोंको कर्णोंके छिद्रोंमें लगाकर जिस अनाहतध्वनि (शब्द) को सुनता है उस ध्वनिमें स्थिरभी चित्तको तबतक स्थिर करे जबतक तुर्यावस्थारूप स्थिरपदको प्राप्त न हो।

विजितो भवतीह तेन वायुः सहजो यस्य समुत्थितः प्रणादः"

जिस योगीके देहमें स्वाभाविक नाद भली प्रकार उठताहै वह वायुको जीत लेताहै ॥

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्।
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः ॥

प्रथम अभ्यासमें अनेक प्रकारका महान् नाद सुना जाताहै और उसके अनन्तर अभ्यासके होनेपर सूक्ष्म २ (बारीक) शब्द सुना जाताहै। यथा—

आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसंभवाः।
मध्ये मर्दलशंखोत्था घंटाकाहलजास्तथा ॥
अन्ते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमरनिस्वनाः।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः ॥

प्रथम २ जब प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्रमें गमन करताहै तब उस समयमें समुद्र, मेघ (बद्दल), भेरी (नगाडा) झांझके शब्द समान शब्द सुने जातेहैं और मध्यमें अर्थात् सुषुम्नामें प्राणवायुकी स्थिरताके अनन्तर मृदंग, शंख इनके समान और घण्टा और काहल नामके जो बाजे हैं इनके शब्दके समान शब्द सुने जातेहैं अनन्तर ब्रह्मरन्ध्रमें प्राणकी स्थिरता होनेके पश्चात् किंकिणी, बांसुरी, वीणा भंवरोंके शब्दकी तरह शब्द सुने जातेहैं इस प्रकार देहके मध्यमें अनेकों प्रकारका शब्द सुनाई देता है।

महति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ ।
तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥

मेघ, भेरी आदिका जो महान् शब्द है उसके समान शब्द सुनने पर भी उन शब्दोंमें सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म जो नाद है उसका चिन्तन करे। इसी प्रकार एकसे एकका सूक्ष्म सुनता जावे सुनते २ मन नादरूप होजाताहै अर्थात् किसी प्रकारकी वासना उस समय मनमें नहीं आती अतः मन संकल्प रहित हो जाताहै इसीको लय कहतेहैं।

मकरंदं पिबन्भृङ्गो गंधं नापेक्षते यथा ।
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्नहि कांक्षते ॥

जैसे पुष्पोंके रसका पान करता हुआ भ्रमर पुष्पके गन्धकी इच्छा नहीं करता है तैसे ही नादमें आसक्त हुआ चित्त भी विषयोंकी इच्छा नहीं करता, यह निश्चय है इससे सावधान होकर प्रथम चित्तको एकाग्र करके नादको श्रवण करे। पुनः वह नाद आप ही मनको बांध लेता है।

नादोऽतरङ्गसारङ्गबन्धने वागुरायते ।
अन्तरङ्गकुरङ्गस्य वधे व्याधायतेऽपि च ॥

जैसे व्याध मृगबन्धनके जालमें मृगको हतता है इसी प्रकार अपनेमें आसक्त हुए मनको नाद भी हतता है अर्थात् मनके जो संकल्प विकल्पादिक धर्म हैं वे नष्ट होजातेहैं। और जैसे घोडा मेखमें (खूंटा—लोहदंड जहां बांधा जाता हो) बांधनेसे चंचलताका परित्याग करदेता है ऐसे नादके श्रवणसे मन। और जैसे गंधकमें पारा घोटनेसे एकरूप होजाताहै अर्थात् पारा नष्ट होजाताहै इसी प्रकार पारदरूपी मन गंधकरूपी नादमें नष्ट होजाताहै और जैसे काष्ठमें जलाई हुई अग्नि ज्वालाको त्याग कर काष्ठके संग शांत होजाती है तिसी प्रकार नादमें चित्त लगानेसे चित्त अपनी चंचलताको छोड लय होजाता है। यथा—

---

१ योगरहस्ये—"बद्धं तु नादबंधेन मनः संत्यज्य चापलम्। प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा ॥"

काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति ।
नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते ॥

इससे योगी नाद अवश्य श्रवण करे क्योंकि नादके श्रवणसे ही समाधि होजाती है ।

यत्किंचिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा ।
यस्तत्त्वांतो निराकारः स एव परमेश्वरः ॥

जो कुछ नादरूपसे सुना जाताहै वह शक्तिही है और जिसमें तत्त्वोंका लय होताहै वह निराकार परमेश्वर है ।

सदा नादानुसंधानात्क्षीयंते पापसंचयाः ।
निरंजने विलीयेते निश्चितं चित्तमारुतौ ॥[१]

सदैव नादके सुननेसे पापोंके समूह नष्ट होजातेहैं और निर्गुण चैतन्यमें, चित्त और पवन ये दोनों अवश्य लीन हो जातेहैं, जब लीन होगये तब बाहर के शंखादि शब्द सुनाई नहीं देते, इसीको उन्मनी अवस्था (समाधिका रूप) कहतेहैं अभिप्राय यह है कि नादके सुननेसे चित्त अवश्य लय हो जाताहै चित्तकी स्थिरता ही उत्तम तप, उत्तम पुण्य, और उत्तम विद्या आदि कहा जाताहै अर्थात् जितने उपाय वेद शास्त्र पुराणादिमें कहे हैं उनका सारांश चित्तकी स्थिरताका है इससे उचित है कि चित्तको एकाग्र करे ।

योगसिद्धलक्षणम्[२] ।

फलिष्यतीति विश्वासः सिद्धेः प्रथमलक्षणम् ।
द्वितीयं श्रद्धया युक्तं तृतीयं गुरुपूजनम् ॥

१ वाराहोपनिषदि–"सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा । नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥"

२ मार्कंडेयपुराणे–"समाहितो ब्रह्मपरोऽप्रमादी शुचिस्तथैकान्तरतिर्यतेन्द्रियः । समाप्नुयाद्योगमिमं महात्मा विमुक्तिमाप्नोति ततः स्वयोगतः ॥" भागवते–"जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः । मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठंति सिद्धयः ॥"

चतुर्थं समताभावं पंचमेन्द्रियनिग्रहम्।
षष्ठं च प्रमिताहारं सप्तमं नैव विद्यते॥

योगसिद्धिका प्रथम लक्षण यह है कि मैं जो गुरूपदेशसे योगाभ्यास करता हूँ वह अवश्य सिद्ध होगा ऐसा विश्वास करे, दूसरे श्रद्धायुक्त, तीसरे गुरुकी सेवामें रहे, चौथे प्राणिमात्रमें समता (दुष्टबुद्धि न करना) रक्खे, पांचवे इन्द्रियोंको विषयोंसे रोके, छठे मिताहार भोजन करे (दो भाग अन्नसे, तीसरा जलसे और चौथा भाग उदरमें वायुके संचारार्थ रक्खे यह मिताहार है) यह छः लक्षण योगसिद्धिके कहे हैं सातवां नहीं है।

गोधूमशालियवषाष्टिकशोभनान्नं क्षीराज्यखंड-नवनीतसितामधूनि। शुंठीपटोलकफलादिक-पंचशाकं मुद्गादिदिव्यमुदकं च यमीन्द्रपथ्यम्॥

गेहूँ, चावल साठी चावल (यह दो महीनेमें होताहै) और पवित्र अन्न (श्यामाक—नीवार आदि) दूध, घी, खांड, मक्खन (लोनी—नैनू) मिसरी मधु (सहत) सोंठ—परवल आदि सुन्दर भाजी, मूंग, अरहर निर्दोष जल, यह योगियोंके पथ्य हैं। इनके सेवनसे रोग नहीं होता इससे योगाभ्यासीको उचित है कि भोजनका नियम अवश्य करे क्योंकि जैसा शुद्ध अन्न खाया जायगा वैसीही बुद्धि भी स्वच्छ होगी।

योगविनाशकः।

आम्लरूक्षं तथा तीक्ष्णं लवणं सार्षपं कटु।
बहुलं भ्रमणं प्रातःस्नानं तैलं विदाहकम्॥
स्तेयाहिंसाजनद्वेषश्चाहंकारमनार्जवम्।
उपवासमसत्यं च मोहं च प्राणिपीडनम्॥
स्त्रीसङ्गमग्निसेवां च बह्वालापं प्रियाप्रियम्।
अतीवभोजनं योगी त्यजेदेतानि निश्चितम्॥

खट्टा (इम्ली आदि) रूखा, तीक्ष्ण (मिर्च, आदि), लवण, सरसों, कडुआ वस्तु (तांत) बहुत घूमना, प्रातःकालका स्नान, शरीरमें तेल लगाना, सोने (सुवर्ण) की चोरी, जीवोंकी हिंसा, सबसे द्वेष, अहंकार, किसीसे प्रेम न रखना , उपवास (लंघन) करना, झूंठ बोलना, दूसरेको पीडा देना स्त्रीसंग अग्निका सेवन प्रिय अप्रिय बहुत बोलना बहुत भोजन करना ये सब योगी अवश्य त्याग दे क्योंकि ये योगमें विघ्न करनेवाले हैं ।

मठलक्षणम् ।

अल्पद्वारमरंध्रगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतं
सम्यग्गोमयसांद्रलिप्तममलं निःशेषजंतूज्झितम् ।
बाह्ये मंडपवेदिकूपरुचिरं प्राकारसंवेष्टितं
प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः॥

जिसका छोटा तो द्वार हो, जिसमें गवाक्षादि छिद्र गढे बिल न हों, न बहुत ऊँचा नीचा विस्तार हो, जो चिकने गोमयसे अच्छे प्रकार लिपा हो, स्वच्छ हो, जिसमें कोई जीव न हों, जो बाहर मंडप, वेदी और कूपसे शोभित हो और जिसके चारों तरफ भीत (पनाह) हो यह योगमठका लक्षण हठ-योगके अभ्यासकर्ता सिद्धोंने कहा है । मतान्तरसे ऐसा भी है कि बगीचेके बीचमें सुन्दर मन्दिर हो चित्रादिककी रचना हो, तीर्थ, नदी, पर्वत, वृक्ष समीपमें हों किसी सत्पुरुषका सत्सङ्ग हो, इत्यादि लक्षण कहे हैं ।

सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे ।
धनुःप्रमाणपर्यन्तं शिलाजलविवर्जिते ॥
एकांते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ॥

जहां सुन्दर राज्य हो, धर्मवान् देश हो, सुखसे भिक्षा मिलती हो, किसी प्रकार चोर व्याघ्रादिकका भय न हो, उस स्थानमें चार हाथके प्रमाणमें पत्थर अग्नि, जलको छोड एकांतमें योगी छोटासा मठ बनाकर रहे । "सुराज्ये धार्मिके" इत्यादिसे यह अभिप्राय है कि सुराज्यमें प्रजा भी दयालु और धर्मा-

न्मा होतीहै इससे भिक्षा दूध घी आदिकी अच्छे प्रकार मिलतीहै, और उसको कोई सताता नहीं ।

अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ।

अभ्यासके आरम्भमें योगीको यथेष्ट घी दूध चाहिये कारण कि विना घी दूधके वह प्राणायामादिका अभ्यास शुद्ध नहीं होता और धर्म्मात्माका अन्न भी चित्तमें विकार नहीं करता ।

एवंविधे मठे स्थित्वा सर्वचिन्ताविवर्जितः ।
गुरूपदिष्टमार्गेण योगमेव समभ्यसेत् ॥

सम्पूर्ण चिन्ताओंसे रहित इस प्रकारके मठमें स्थित होकर गुरुके उपदेश किये हुए मार्गसे योगाभ्यास करे ।

युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा ।
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतंद्रितः ॥

युवा (जवान) हो या वृद्ध (बुढापा) हो या अतिवृद्ध हो या रोगी हो या दुबला (कमजोर) हो अभ्याससेही सिद्धिको प्राप्त होताहै परन्तु सम्पूर्ण योगके अंगोंमें आलस्य न कर अर्थात् आसन प्राणायामादिका क्लेश न मानके अभ्यास करता जावे । क्योंकि अभ्यास ही मुख्य है ।

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् ।
न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ॥

योगांगोंके करनेमें जो युक्त है उस पुरुषको ही योगकी सिद्धि होतीहै और जो योगके अंगोंको नहीं करता अर्थात् राजयोगहीको बका करताहै अभ्यास करनेकी क्रियाको नहीं करता उसको योगकी सिद्धि नहीं होती । यदि कोई ग्रन्थही देखते २ सिद्धि चाहे तो उसको योग कदापि सिद्ध नहीं हो सक्ता है ।

पीठानि कुंभकाश्चित्रा दिव्यानि करणानि च ।
सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि ॥

पूर्वोक्त आसन और अनेक प्रकारके कुम्भक प्राणायाम दिव्य करण (विपरीतकर्णी) महामुद्रा आदि ये सम्पूर्ण हठयोगके अभ्यासमें राजयोगके फल पर्यन्त करने योग्य हैं अर्थात् ये राजयोगमें प्रकृष्ट उपकारक हैं क्योंकि जो प्रकृष्ट उपकारक हैं वही कारण होतेहैं । अभिप्राय यह है कि हठयोगही राजयोगके प्राप्त्यर्थ सुगम उपाय है प्रथम ऋषि लोग वायुकाही साधनकर समाधिस्थ होते रहे जिससे वाक्‌सिद्धि होती रही, सब राजा लोग भय करते रहे परन्तु अब तो भाइयोंने व्यायाम (कुश्ती दंड मुद्गर आदि) ही जिससे कामादिककी वृद्धि और चित्तमें उन्मत्तता हो उसीको दृढ प्रिय कररक्खा है प्रथमारम्भ उसीका होताहै और प्राणायामका करना सन्ध्यासमयमें भी शुद्ध करना उचित नहीं समझते । बल्कि किसी किसीको तो ज्ञानही नहीं है कि प्राणायाम किस रूपका है और जो कोई कुछ जानते भी हैं तो वे गायत्री मंत्रका पाठ तीन बार कर लेना ही प्राणायामके फलको मान लेते हैं । देखिये यह कैसी अज्ञानता है कि अपने गृहकी विद्या जिसके प्रतापसे निर्भय हो संसारमें सुखपूर्वक गृहस्थाश्रममें वा त्यागी होकर विचरें और लोग भी मर्यादाको मानें, उसको दुःखदायीसी मान लिया है, हठयोगका नाम सुनते ही मानो ग्रसा चाहता है । परन्तु इसमें किसीका दोष नहीं क्योंकि "विनाशकाले विपरीतबुद्धिः" विनाशकालमें बुद्धि विपरीत होती है ।

अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः ।
अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः ॥

संपूर्ण तापोंसे तपायमान मनुष्योंका आश्रय मठरूप और सम्पूर्ण योगियोंका आधार (आश्रय) कमठ (कच्छप) रूप हठयोग है ।

हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ।
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता ॥

योगसिद्धिका अभिलाषी योगी हठविद्याको भले प्रकार गुप्त रक्खे क्योंकि गुप्त रखनेसे यह विद्या वीर्यवाली और प्रकाश करनेसे वीर्यरहित होतीहै । अभिप्राय यह है कि जो पुरुष योगकी सिद्धि चाहे वह पुरुष न तो किसीसे

कहे कि हम योगाभ्यास करते हैं और न कभी दिखावे, ऐसा गुप्त रखनेसे साधकका कार्य कुछ न कुछ सिद्धही होताहै और योगका आनन्द मालूम होने लगता है। जो पुरुष योगसिद्धिकी इच्छा करे वह आलस्य कभी भी न करे, न बहुतसी बातें करे, न मंत्र तन्त्रोंके साधनमें रहे, न औषध जडी बूटीके चक्करमें पडे क्योंकि ये विघ्न करनेवाले हैं, इससे उक्त लक्षणके क्रमसे अभ्यास करे परन्तु गुरूपदेश ले अभ्यास करे क्योंकि जो विना गुरुके अधिक अभ्यास करताहै वह धोखा खाताहै और जिससे यह विद्या प्राप्त करे उसीको देवता समझे, सेवा करनेमें तत्पर रहे और विश्वास रक्खे कि इनका वाक्य हमको अवश्यही फलरूप होगा कारण कि वर्तमान कालमें गुरुके न माननेसे ही दुर्बुद्धि होरहीहै इससे गुरुकी सेवा करनाही सब प्रकारसे श्रेयस्कर है।

यह कई एक योगाभ्यासके ग्रन्थोंके संमतसे थोडेमें ही लिखा गया है और बहुतसी बातें कहीं २ अनुभवकी भी लिखी गई हैं जो साधकोंको उपयोगी होसक्ती हैं। शिवार्पणम्॥ शांतिःशांतिःशांतिः॥

इति योगाभ्यासप्रकरणम्।

अथ ग्रंथविवरणम्।
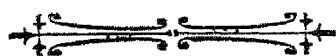
ॐकारं पितृरूपेण गायत्रीं मातरं तथा।
पितरौ यो न जानाति ब्राह्मणः सोऽन्यवीर्यजः॥

ओंकाररूपी पिता और गायत्रीरूपी माताको जो ब्राह्मण नहीं जानता है वह वर्णसंकर है।

इस योगसन्ध्यानामक ग्रंथमें उक्त माता पिताका वर्णन है जिसमें प्रथम पिताका वर्णन दो प्रकरणोंमें करके तीसरेमें माताका वर्णन है। वह ओंकार-रूपी पिता कैसा है।

श्रुतिः ।

ॐमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकारमेव यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ।

ओं यह जो अक्षर है वह संसारमें जो कुछ "वस्तु" है वह सब ओंकार ही है, वह जाननेयोग्य है, भूत वर्तमान और भविष्यकाल भी ओंकार ही है इससे उपरांत तीनों कालसे परे जो तुरीय वह भी ओंकार ही है ।

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपंचोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥

एक मात्रासे अनन्तमात्राओंका प्रतिपादन जो ओंकारमें सगुणरूपमें कियाहै अब उसको निर्गुणमें श्रुतिका ऐसा कथन है कि वह ओंकार मात्रारहित है, पुनः तुरीयाऽवस्थारूप अर्थात् जिससे परे दूसरी अवस्था नहीं है, पुनः इन्द्रिय मन बुद्धिसे नहीं जानने योग्य अर्थात् निदिध्यासनद्वारा अन्तःकरणसे बोध होनेवाला, पुनः संसाररूपी जो प्रपञ्च उसका नाश करनेवाला अर्थात् अविद्याके कारण जो जीवमें ब्रह्मसे भिन्नताकी ग्रंथि है उससे छुटानेवाला, पुनः कल्याणरूप अर्थात् जो प्राणी अन्तःकरणकी शुद्धिसे उपासना करता है उसको परमानन्दकी प्राप्ति करादेताहै । पुनः जिससे श्रेष्ठ कोई नहीं अर्थात् सर्वदा आप ही आप विद्यमान ऐसा जो ओंकार उसको जो कोई आत्मामें आरोप करके आत्माको जानताहै वही जानताहै ।

यह ओंकार द्वारा परब्रह्मकी प्राप्ति कैसे होतीहै उसका कथन—

---

१ वाशिष्ठलैंगपुराणे—"जितेन्द्रियो जितक्रोधो वाग्यतः स्वस्तिकासनः । पर्वताग्रे नदीतीरे गुहायां वा शिवालये ॥ १ ॥ अन्येषु बुद्धिरम्येषु स्थानेष्वव्यग्रतो मुने । प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि शाकमूलफलाशनः ॥ २ ॥ भिक्षाहारोथवाचार्यः स्मृत्वा साम्बं त्रियम्बकम् । प्रणम्य मनसा मन्त्रं प्रणवाख्यं जपेद्द्विजः ॥ ३ ॥

अमृतनादोपनिषदि-

ॐकारं रथमारुह्य विष्णुं कृत्वाऽथ सारथिम् ।
ब्रह्मलोकपदान्वेषी रुद्राराधनतत्परः ॥ १ ॥
तावद्रथेन गंतव्यं यावद्रथपथि स्थितः ।
स्थाता रथपतिस्थानं रथमुत्सृज्य गच्छति ॥ २ ॥

ओंकाररूपी रथपर सवार हो विष्णुको सारथी बनाके ब्रह्मलोकका जानेवाला (खोज करनेवाला वा इच्छा करनेवाला) रुद्रकी आराधना करे। रथके द्वारा वहांतक जाना चाहिये जहांतक रथका रस्ता है जब रथके स्वामीका स्थान प्राप्त हुआ तो रथको छोडकर स्वामीमें जा मिले। अभिप्राय यह है कि शुद्ध सतोगुणी वृत्तिसे ओंकारका जप, ध्यान करता हुआ परब्रह्मका खोज करनेवाला अहंभावकी उपासना करे अर्थात् अहं ब्रह्मास्मिका अधिकारी हो। ओंकारका जप ध्यान कहांतक करे कि जहांतक "अहं ब्रह्मास्मि" अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूं ऐसी स्थिति न हो वहां तक और जब उक्त स्थिति होजावे अर्थात् द्वैत भावकी ग्रंथि निवृत्त होजावे तब ओंकारका जप ध्यान छोड देवे। जब अद्वैत पदकी प्राप्ति होगई पुनः वह क्यों किसका स्मरण करेगा?-

अमृतबिन्दूपनिषदि-

अष्टाङ्गं च चतुष्पादं त्रिस्थानं पञ्चदैवतम् ।
ॐकारं यो न जानाति ब्राह्मणो न भवेत्तु सः ॥ १ ॥
ॐकारप्रभवा देवा ॐकारप्रभवाः स्वराः ।
ॐकारप्रभवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ २ ॥

---

१ शुकरहस्योपनिषदि-"स्वतः पूर्णः परात्मा च ब्रह्मशब्देन वर्णितः । अस्मितैक्यपरामर्शस्तेन ब्रह्मभवाम्यहम् ॥" वि. चू. "अहं ब्रह्मेति विज्ञानात्कल्पकोटिशतार्जितम् । संचितं विलयं याति प्रबोधात्स्वप्नकर्मवत् ॥ १ ॥"

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि ये जिसके आठ अंग हैं। अथवा चार वर्ण और चार आश्रम ये आठ अंग हैं और अकार, उकार, मकार और अर्द्धमात्रा जिसके चार पद हैं। अथवा चारों वेद जिसके पद हैं और हृदय, कंठ, ब्रह्मरन्ध्र जिनके तीन स्थान हैं। अथवा भूर्भुवः स्वः ये तीन लोक जिसके स्थान हैं और शिव विष्णु, देवी, सूर्य और गणपति जिसके ये पांच देवता हैं। अथवा "ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः" ये पांच देवता हैं। ऐसे ओंकारको जो नहीं जानता वह ब्राह्मण नहीं हैं। अभिप्राय यह है कि अष्टांगयोग द्वारा ओंकारके चारों पदोंको तीनों स्थानोंमें जो पांच देवताओंको एकात्मभाव अद्वैत स्वरूप करके नहीं जानता अर्थात् जिसको अद्वैत पदका बोध नहीं हुआ वह ब्राह्मण ही नहीं है। ओंकारहीसे सब देवता उत्पन्न हुए ओंकारसे इडा पिंगला, सुषुम्ना आदि स्वर अथवा जिस करके वेद उच्चारण होताहै अथवा सामगायनादि स्वर उत्पन्न हुए हैं। अर्थात् त्रैलोक्यमें जो चर अचर हैं वह सब ओंकारहीसे उत्पन्न हुए हैं। इन वचनोंसे यह सिद्ध होताहै कि त्रैलोक्यमें जो कुछ है वह सब ओंकार ही है और सगुण "अपर ब्रह्म" निर्गुण "परब्रह्म" भी ओंकारही है।

इति ग्रन्थविवरणम्।

अथ साधनोपायः।

ऐसा ओंकाररूप पिताको वर्णन करके अब थोडा साधनोपाय कथन करताहूं। जिसे पहिले भी कह आया हूं।

साधकको चाहिये कि प्रथम मतवादको अर्थात् जो यह अहंकार और द्वेष रहता है कि मैं शैव हूं, वैष्णव हूं, शाक्त हूँ जिसको मैं भजताहूं वही श्रेष्ठ है, शेष निंदनीयहैं ऐसा समझ कर निन्दामें तत्पर होजाना, इस विवादको छोडे और वर्तमान कालमें जिन बुधजनोंने वादाविवाद खंडन मंडन करना ही विद्याका लाभ, अपना कल्याण और देशोपकार समझ रक्खाहै,

उनकी: संगति, उनके कल्पित ग्रन्थोंके अवलोकनका त्याग करे क्योंकि वे मननशील निदिध्यासी नहीं हैं, विना निदिध्यासके यथार्थ ब्रह्मका बोध नहीं होता और शास्त्रके रचनेवाले तो तपस्वी महर्षि थे उन्होंने आपसके ग्रन्थोंमें विरोध नहीं माना है किन्तु अपनी २ःबुद्धिके अनुसार ब्रह्मका प्रतिपादन किया है। "एके सत्पुरुषा बहुधा वदंति" जैसा पतंजलिने योगाभ्यास करके ब्रह्मकी प्राप्ति कही, महर्षि कपिलने प्रकृति पुरुषका निर्णय करते हुए ज्ञानद्वारा, जैमिनिने कर्म यज्ञादि द्वारा, गौतम, कणादने पदार्थ द्रव्यादि विवरण कहा और व्यासजीने द्वैतका भ्रम निवृत्तकर अद्वैतरूप ब्रह्मप्रतिपादन किया इसमें विचार किया जाय तो कुछ विरोध नहीं है क्योंकि महत्पुरुषोंकी वंदना अनेकों प्रकारसे होतीहै परन्तु इसका यथार्थ भेद मतवादियोंसे स्पष्ट नहीं होता क्योंकि उनका तो खंडन मंडन करना ही पुरुषार्थ है इससे जिज्ञासु पुरुष मतवादी ग्रन्थोंकी तरफ कभी भी ध्यान न देवे क्योंकि इनसे बुद्धिमें अनेक प्रकारका विघ्न उत्पन्न होताहै।

किसी सत्पुरुषके समीप ब्रह्मबोधक ग्रन्थको अध्ययन अथवा यथार्थ श्रवण कर विचारशील हो एकान्तमें अभ्यास करे। पुनः जब कभी चित्तमें किसी प्रकारकी शंका उत्पन्न होजावे तो सन्देह निवृत्त करले, किसी प्रकारकी इच्छा न करे। यदि किसी तरहकी कल्पना तीर्थादिक करनेकी हो तो जितना होनेके लायक हो वह करले परन्तु ऐसी कल्पना न करे कि आयुष्य पूरी होजाय और कल्पना न पूरी हो क्योंकि ये बंधनके मूल हैं। कटुम्ल पदार्थोंको त्यागदे इनसे चित्तमें चंचलता रहतीहै, आहार इतना करे जितना तीन घण्टोंमें अथवा छः घण्टोंमें अवश्य पचन होजाय, प्रयोजनमात्र भाषण करे, विशेष निद्रा न ले और जो कुछ निद्रा लेवे वह भी असावधानीसे न हो, अभ्यासकी तरफ आठ पहर दृष्टि रहे, अमीरोंकी संगतसे बचा रहे, द्रव्यको जहांतक हो क्रम २ से त्यागदे, स्त्रियोंके हावभावोंसे निराला रहे, इनका किसी कालमें किसी प्रकारसे स्मरण न करे, वीर्यकी रक्षा जिस तरह हो स्वप्नमें भी करता रहे, वीर्यपात मनकी चञ्चलतासे और कटुम्ल उष्ण पदार्थोंके सेवनसे होताहै। जिन २ वस्तुओंसे क्रोध उत्पन्नहो उनको त्यागदे, स्थानादिके प्रपञ्चमें न पडे, आसन पर

२ ही भोजन आजाया करेगा तभी करेंगे नहीं तो नहीं ऐसा हठ अभ्यासी पुरुष न करे सुखसे आजाय तो अच्छाही है नहीं तो भोजनमात्रका भिक्षादि द्वारा प्रबन्ध करले अथवा जडी बूटी मालूम हो तो उससे निर्वाह करले, किसीको हठ करके क्लेश न दे, शाप आशीर्वाद देनेकी कल्पनाको छोडे, परमार्थकी[१] तरफ भी दृष्टि न देवे, आलस्य किसी कालमें न करे, निर्भय रहे क्योंकि मनुष्य मनुष्यकी सेवा करनेसे अज्ञानवश हो निर्भय रहता है और सर्वव्यापी, सबका प्रेरक, उत्पत्ति, स्थिति, लयका करनेवाला, विश्वम्भर, प्राणिमात्रका भुक्ति मुक्तिका दाता है उसका स्मरण तीनों कालमें जो करताहै उसको किसका भय है। उससे परे दूसरा कौन है ऐसा सर्वदा चित्तमें रखकर किसीसे भय न माने, निर्द्वंद्व रहे, सुख वा दुःख प्रारब्धाऽनुसार जो प्राप्त होजाय उसको हर्ष विषाद न करता हुआ भोगले, यह संसार दुःखका मूल है ऐसी सर्वदा भावना रक्खे क्योंकि त्रैलोक्यमें कोई सुखी नहीं है। जैसा सांख्ये–"कुत्रापि कोऽपि सुखीति" इस त्रैलोक्यमें देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि किसी प्राणीको किसी कालमें किंचित् सुखका लाभ होताहै। "तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निक्षिपन्ते विवेचकाः" परन्तु वह भी मिठाईमें विष मिला हुआ सरीखा जिसके भक्षणका परिणाम मृत्युरूपी दुःख है ऐसा खानेमें सुख परिणाममें दुःख समझकर विवेकी पुरुष (वैराग्यवान विचारशील ब्रह्मवेत्ता) उसको भी दुःख ही समझतेहैं। वैराग्यमें मस्त रहे क्योंकि वैराग्यकी धारणासे ज्ञान पुष्ट होता

---

१ "धन्योऽस्ति को योहि परोपकारी" और भी परमार्थके विषयमें बहुत सी वंदना हैं परन्तु साधकके वास्ते यह बाह्य परमार्थ चित्तकी चंचलताका मूल है और चित्तको निश्चल रखनेके वास्ते ही सब प्रकारसे उपाय किया जाताहै इससे मुमुक्षु जिज्ञासु इसमें भी न पडे क्योंकि जिसका चित्त ब्रह्मविचारमें अल्पकाल भी स्थित होताहै उस पुण्यके समान कोई भी पुण्य नहीं है यह आभ्यन्तरीय परमार्थ है "स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले दत्ताऽपि सर्वाऽवनिर्यज्ञानां च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च संपूजिताः। संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात्" ॥ १ ॥ तथा च "ये हि वृत्तिं विहायैनां ब्रह्माख्यां पावनीं पराम्। वृथैव ते तु जीवन्ति पशुभिश्च समा नराः ॥ १ ॥"

है; जडी बूटी रसायनादि दवाइयोंके चक्करमें पडना, लडका लडकी देना यह भी अभ्यासीको महाव्याधि है इससे अलग रहे। मेरा अभ्यास अच्छा है मैं सिद्ध हूँ ऐसी कल्पना न करे, दूसरे साधु (महात्मा) की निन्दा भी न करे क्योंकि संसारमें अनेकों प्रकारके पुरुष हैं परमात्मा सभीमें वास करताहै एतदर्थ समदृष्टि रखना यही धर्म है. किसी जीवकी हिंसा न करे न उपदेश दे, मन्त्रतन्त्रोंकी तरफ चित्तको न जानेदे, परमात्माका स्मरण करनेसे चित्त लगानेसे वह प्राणी कर्मः दु:खको प्राप्त नहीं होसकता ऐसी दृढता रक्खे और हम परमात्माकी प्राप्ति के लिये परिश्रम कर रहे हैं कष्ट उठा रहे हैं न जाने प्राप्त हों या न हों, ऐसा संशय कभी न करे, अवश्य प्राप्त होंगे। यदि संचितकी प्रबलता है तो थोडे ही दिनोंमें प्राप्त होंगे और नहीं तो चिरकालमें प्राप्त होंगे क्योंकि पतञ्जलि:—"स तु दीर्घकालनैरन्तर्य्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः" वह श्रद्धा पूर्वक चिरकाल पर्यन्त निरंतर अभ्यास करनेसे प्राप्त होताहै। अतः मरण-पर्यंत अभ्यास करे क्योंकि देहान्त तक अभ्यास करता जायगा तो मरण समयमें शुद्ध बुद्धि रहेगी। श्रुतिः "यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" जैसा इस लोकमें मनुष्य कल्पना वा ध्यान करता है वैसाही मरणके पश्चात् उसको प्राप्त होता है। इससे अभ्यासीको घबडाना नही चाहिये। धीरजको न छोडै न किसीसे शत्रुता न मित्रता करै किन्तु उदासीन भावसे रहे। मन जिस वस्तुकी इच्छा करे वह कदापि न करे इन्द्रियां जिधरको जाने लगें विचार द्वारा उधरसे ही हटावे, अच्छे पदार्थ खानेकी इच्छा हो तो उस समय न दे जब इच्छा न हो तब आगे रख दे, नींद आवे तो हठात् न सोवे, नींद नहीं आती है तब सोनेकी इच्छा करे अर्थात् सब प्रकारसे मन इंद्रियोंको तोडे क्योंकि इन्हींके द्वारा सब दोष होते हैं, आप साक्षिमात्र अलग रहे कारण कि जितने यह सुख दु:खादि धर्म हैं वह अन्त:करणादिकोंके हैं उन धर्मोंको अपने ऊपर आरोप करके दु:ख उठाना यह कितनी भूल है ऐसी भावना रक्खे।

---

१ श्रुतिः—"पराञ्चि खानि व्यतृणत्" बाहर जानेवाली इंद्रियोंका हनन करे।

साधकको चाहिये कि निर्जन जगहमें जाकर कुटी या गुफामें बैठ कर रात्रिके समय सावधान चित्तसे बैठे और कुछभी स्मरण न करे। जो स्वयं कल्पना उत्पन्न हो अथवा किसी प्रकारका शब्द सुनाई दे, उसको अनुभव करे, कि यह कल्पना सत्त्व, रज, तम किस गुणकी है मिश्रित है या भिन्न २ है। परंतु कल्पना होतेही विचार करनेमें न लग जाय, किंतु समझ ले और चित्तको कहीं जाने न दे। श्वास कहांसे उत्पन्न होती है ऐसा लक्ष्य रक्खे शब्द सुनाई दे तो ख्याल करे कि बाहरसे शब्द आता है या अन्दरसे, ऐसा रात्रिभर सावधान चित्तसे निरीक्षण किया करे इससे कुछ कालमें आपसे आप गुणोंका भेद, तत्त्वोंका भेद, नाडियोंका भेद, (सुषुम्ना, कुण्डलिनी) शब्दोंका भेद सब माॡम होने लगेगा लेकिन चिरकालतक आलस्य न करे परिश्रम करे। और जब अनुभवका आनंद आनेलगेगा तब वह आपही किसीसे व्योहार करनेकी इच्छा नहीं करेगा और क्रम२ से अभ्यासकी दृढता होनेसे महात्माओंके दर्शन भी होते जायंगे। यह किंचित् सूचना मात्र लिखदिया है अभ्यास करनेसे बहुतसे परमात्माविषयक अनुभव दर्शित होंगे जिसका आनंद वा शंका समाधान वह पुरुष आप ही करेगा। उस रात्रिके लक्ष्यको दिनमें चलते फिरते बैठते सोते मनन किया करे क्योंकि मननसे बहुत लाभ होताहै।

विशेषकथनम्। मैत्रेय्युपनिषदि-

देहो देवालयः प्रोक्तः सजीवः केवलः शिवः।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत् ॥

शरीरको देवमंदिर कल्पना किया उसमें वास करनेवाला जो जीव वही स्वयं शिव है, मोहादिकके कारण ब्रह्मसे मैं भिन्न हूं ऐसा जो अज्ञान उसको साधनसे निर्माल्य (देवताके ऊपर चढाहुआ पुष्प बिल्वपत्रादि) समझ त्याग कर अहंभाव अर्थात् वह शिवरूप मैं ही हूँ ऐसी स्थिति धारण करे (यही पूजा

---

१ पैङ्गलश्रुतिः-"सर्वज्ञेशो मायालेशसमन्वितो व्यष्टिदेहं प्रविश्य तया मोहितो जीवत्वमगमच्छरीरत्रयतादात्म्यात्कर्तृत्वभोक्तृत्वमगमज्जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्छामरणधर्मयुक्तो घटीयन्त्रवदुद्विग्नो जातो मृत इव कुलालचक्रन्यायेन परिभ्रमतीति।"

करै) अथवा अजपाक्रमसे अर्थात् 'सोऽहं हंसः' इस क्रमसे पूरक रचक द्वारा अष्ट पहर लक्ष्य रक्खे । इसका अभ्यास बहुत उत्तम है बहुतसे महात्मागण इसमें आरूढ हैं । कुछ गृहस्थ लोग भी सवेरे ही (प्रातःकाल) संकल्प करके ही सिद्धि मानतेहै परन्तु इसका लक्ष्य महात्माओंके पास भिन्न ही रहताहै यह उपासना परब्रह्म प्राप्तिकी है ।

अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः ।
स्नानं मनोमलत्यागः शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥

समदृष्टि करके सर्वत्र देखना यही ज्ञान है । अर्थात् प्राणिमात्रमें परमात्मा एकरससे स्थित है, कौन श्रेष्ठ है कौन नेष्ट है "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" यह सब जगत् निश्चय करके ब्रह्म है "इदं सर्वं यदयमात्मा" समग्र यह जो संसार है वह यह आत्मा है, ऐसा भेदरहित समझना यही ज्ञान है, किसी प्रकारकी वासना न उत्पन्न होना यही ध्यान है । मनके संकल्प विकल्प जो धर्म जिनसे अनेक प्रकारके सुख दुःखकी प्राप्ति होतीहै ऐसा जो विकार वह त्याग करे अर्थात् साधनसे मनको विषयोंकी तरफ न जाने दे, इन्द्रियोंको रोकना यही आचार है ।

ब्रह्मामृतं पिबेद्भैक्षमाचरेद्देहरक्षणे ।
वसेदेकान्तिको भूत्वा चैकान्ते द्वैतवर्जिते ॥
इत्येवमाचरेद्धीमान्स एवं मुक्तिमाप्नुयात् ॥

शरीरकी अन्नादिकसे रक्षा करताहुआ परमात्माके अनुभव वा ध्यानरूपी अमृतको पान करते आचरण करे । अद्वैतपक्षका आश्रित होता हुआ अकेला एकांतमें वास करे, इस प्रकारसे जो बुद्धिमान् आचरण धारण करता है उसको मुक्ति प्राप्त होती है ।

जिस पुरुषको वायुद्वारा आराधना करना हो वह जैसा वायुकी आराधना करनेका नियम योगप्रकरणमें कहाहै अथवा वायुके अभ्यासी पुरुषसे आज्ञा ले

---

१ "मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव । भावनामखिलां त्यक्त्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव ॥ १ ॥ सुशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः । जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा ॥ २ ॥"

जैसा कहे वैसा अभ्यास करे, परन्तु यह निश्चय है कि जैसा २ अभ्यास बढता जायगा तदनुसार उसको सत्पुरुष भी मिलते जांयगे कि जिससे उसको अभ्यासकी दृढता होती जावेगी ।

परन्तु यह बात याद रहे कि कोई विरलाही सुमाताका पुत्र योगविद्याकी आराधना कर सिंहवत् गर्जना करता हुआ त्रैलोक्यमें विचरेगा, यह वही योग-विद्या है कि जिसके प्रतापसे नारदादि महर्षि कहलाये और भी गोरक्षनाथादि अभी विचर रहेहैं हाल वर्तमान कालमें जंगल, पहाडोंमें अच्छे २ योगीगण विशेष उमरवाले विद्यमान हैं जिनको कालका भय ही नहीं है और कल्पना उत्पन्न होनेपर दूसरा शरीर धारण कर भोगोंको भोगकर पुनः स्वस्थानमें पूर्व शरीर धारण कर योगमें स्थित होतेहैं, परन्तु जो योगी कल्पना करताहै उसको श्रेष्ठ योगी जिनको कभी कल्पना नहीं उत्पन्न होती जो निर्विकल्प समाधिमें बैठे हुए हैं वे हलकापन (लघुता) समझतेहैं अर्थात् अभी बालककी बुद्धिकी तरह चञ्चलता बनीहुई है क्योंकि जब परमात्माका आनन्द प्राप्त हुआ तब संसारी जो तुच्छ भोग उसकी तरफ चंचलता क्यों करना, कल्पना करना यही अधःपात-का चिह्न है। इस हठयोग (वायुके आराधक) की वंदना कहांतक की जाय अकथनीय है जो पुरुष कष्टको सुख मानता हुआ आलस्यरहित चंचलता को छोड परिश्रमसे सद्गुरुकी सेवा करेगा वही आनन्दका भागी होगा परन्तु यह लोग न ख्याल करें कि ऐसे सत्पुरुष नहीं हैं होते तो दिखलाई न देते ? यह समझ अत्यन्त अज्ञानकी है, काम क्रोध आदिके लपेटेमें पडे हुए, काम-नाओंकी थैली लिये हुएको घर बैठेही बैठे अथवा भटकते हुएको कहीं सत्पु-रुष मिलतेहैं ? उनको अपना अधिकारी जानकर साक्षात् यमदेव स्वयं दर्शन देतेहैं । भला कहिये तो जो काम क्रोध अहंकार तृष्णादिका शत्रु योग है उसकी गठरी कमरमें बांध रक्खी है फिर काम क्रोध आदि अपने विनाशक योगीके पास कैसे जाने देंगे, दर्शन कैसे हो ? जब विद्या, धन, बलादिका अभिमान त्याग कर नम्रता पूर्वक ईश्वरसे प्रार्थना करताहुआ सतोगुणी वृत्तिसे जब कुछ ईश्वरका नाम स्मरण करे तब सद्गुरुकी प्राप्ति होतीहै ।

जो पुरुष ऊपर लिखी बातोंकी धारणा करेगा वह अवश्य परमानन्दको प्राप्त होगा॥

यह वायुकी उपासना जो है वह प्राणदेवकी उपासना है, यह प्राणही अनेक रूप होकर प्राणिमात्रमें विद्यमान हैं इन्हींसे सबका जीवन मरण है और "एकोऽहं बहु स्याम्" "तदैक्षत बहु स्याम्" यह श्रुतियां इन्हींके ऊपर हैं तथा च श्रुतिः "स प्राणमसृजत" उस परमात्माने प्रथम प्राणको उत्पन्न किया अर्थात् सब देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणियोंका जीवन रूप होकर आप ही प्राणरूपसे प्रकट हुआ क्योंकि श्रुतिः—"प्राणो ब्रह्मैव" प्राण ब्रह्मही है।

यह प्राण अपान व्यान आदि भेद करके बहुत प्रकारका है बहत्तर हजार नाडियां तथा मतांतरसे अधिक भी शाखायें सब प्राणहीसे हैं, यही सृष्टिके कर्ता हर्ता हैं इसीसे समग्र प्राणी पशु पक्षी पर्यंत अन्य किसी देवताको यदा कदा पूजन तथा हवन करताहै, परन्तु प्राणब्रह्मको ज्ञान अज्ञानसे नित्य ही मुखद्वारा ग्रासरूप हवन अत्यन्त श्रद्धासे करताहै और जहां तक होसकताहै दुःखकी हालतमें भी रक्षारूपी स्मरण सावधानीसे लक्ष्य (ख्याल) रखताहै यहां तक कि सिद्ध अवस्था (पूर्णज्ञान) को प्राप्त हुआ भी कुछ न कुछ प्राणरूप अग्निस्वरूपको हवन करता रहता है इसीसे यह अद्वितीय ब्रह्म है कि जिसकी पूजा ज्ञान अज्ञानरूप दोनों प्रकारसे होती है क्योंकि वह दोनों प्रकारके प्राणियोंमें समरूपसे निवास करतेहैं, ऐसा हरएक प्रकारसे ब्रह्मरूप निश्चय करके योगीजन वायुरूपसे आराधना करतेहैं क्योंकि वह प्राणवायु स्वरूप ही है निर्गमप्रवेश (जाना आना) यही व्यापार है इसी करके बहुतसे वायु आराधक महात्मा पूरक और रेचकको ही करतेहैं जाने आनेमें जो समय जाताहै उसीको कुंभक मानतेहैं। और कुछ महात्मा पूरकसे द्विगुण कुम्भक और कुंभकसे द्विगुण रेचकको स्वीकार करतेहैं क्योंकि प्राण पूर्वस्थानसे च्युत (गिरा-छूटा) हुआ है तो फैलता ही गया इससे रेचक (छूटना) विशेष होना ऐसा उनका सम्मत है ऐसा आभ्यन्तरी तथा बाहरी प्राणायाम करके और भी भेद हैं। कुछ प्राण उपासक छान्दोग्य उपनिषद्द्वारा पांच आहुति विधियुक्त नियमसे "ॐ प्राणाय स्वाहा ॐ अपानाय स्वाहा ॐ व्यानाय स्वाहा ॐ उदानाय स्वाहा ॐ समानाय स्वाहा" इस क्रमानुसार हविष्यान्न वस्तुसे आमळे प्रमाण ग्रास दांतोंसे न स्पर्श होता हुआ जिह्वाद्वारा करतेहैं जिसका फल चिरकाल पर्यंत स्वर्गादिका वास है।

अपरंच पूरक, कुंभक, रेचकका यह अभिप्राय है कि योनिस्थानमें प्रवेश होना कुछ काल रहना पुनः निकलना तथा अच्छे बुरे कर्मोंको करके तदनुसार स्वर्ग वा नरकको जाना वहां कुछ काल पर्यंत सुख तथा दुःखको भोगना पुनः आके कर्मानुसार योनियोंमें भ्रमण करना यही पूरकादिसे सूचित है (प्रवेश पू० स्थिरता कुं० निकलना रेचक) अथवा स्वर्गादि पर्यन्त जाना पुनः लौटना पुनः जाना पुनः आना यही क्रम प्राण द्वारा रेचक पूरक करके विदित है । जहां तक आना जाना लगा है वह दुःख ही है एतदर्थ अचल स्थितिके वास्ते प्राणोपासना प्राणायामके क्रमसे उपासनीय है क्योंकि विना प्राणायामके प्राणकी स्थिरता होना दुर्लभ है और स्वरोदय-वालोंने भी ऐसा कहा है कि प्राणकी स्वाभाविक संचार गति बारह अंगुल है वह अभ्याससे ज्यों २ कम होती जाती है त्यों २ सुखसे सिद्धियोंका लाभ और चित्तकी चंचलता शांत होती है कारण कि चित्त और वायुकी गति एक-रूप है और परिश्रम करते २ ईश्वर सद्गुरुकी कृपासे जब प्राणकी गति निश्चल होजाती है अर्थात् कुछभी गमागम नहीं होता उसीको समाधि, तुरीय, अमर, अमृतत्व, कालनाशक, परमानंद और उन्मनी तथा मनोन्मनी अवस्था कहतेहैं । फिर वह प्राणी ब्रह्मरूप ही होजाता है इसलिये वायुरूप प्राणोपासना की जाती है क्योंकि वायुकी आराधनामें यह गुण है कि प्राणायाम करते २ आपसे आप ही वायु तथा चित्तकी स्थिरता होती है और ज्यों २ वायु चित्त की स्थिरता होगी त्यों २ दृढ वैराग्य तथा उत्कृष्ट ज्ञानकी उत्पत्ति होती जायगी और तत् त्वं की माया, अविद्या उपाधि क्रमक्रमसे नष्ट होती हुई असिपदका अधिकार प्राप्त होगा । शम् ॥

ग्रन्थकर्ताकृत ओंकारका भजन ।

तारं सूत पुकारं प्रणवहि । टेक ॥ एक अजन्मा अ-लख निरंजन निराकार श्रुति धारम् । गुणातीत तुरिया पद भासित सोइ माया अवतारम् ॥ १ ॥ तत् त्वं रूप विकार विनाशन अचल शुद्धि मतिसारम् ।

अष्ट अंग चतुपाद परेशं भुक्ति मुक्ति दातारम् ॥ २ ॥ त्रिगुणरूप त्रय ताप निवारण त्र्यक्षर भव भय हारम् । नाम लेत अघ कटत अहर्निशि हरि ॐ हरि ओंकारम् ॥ ३ ॥ नाम सदाशिव मिलत नारायण चेतन ब्रह्मविचारम् । ब्रह्म चारि हरिहर पद सेवत शिव शिव करत पुकारम् ॥ ४ ॥ प्रणवहि तारं सूत पुकारम् ॥

॥ इति साधनोपायः॥

अथ सन्ध्याप्रकरणम् ।
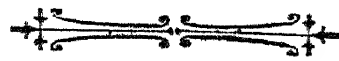
तत्रादौ ब्राह्मणलक्षणम् ।

योगस्तपो दमो दानं सत्यं शौचं दया श्रुतम् ।
विद्याविज्ञानमास्तिक्यमेतद्ब्राह्मणलक्षणम् ॥

(योगः) चित्तवृत्तिनिरोधः प्राणायामो वा कर्त्तव्यः।

चित्तवृत्तिको रोकना, या प्राणायाम करना यह योग कहलाता है । मुख्य करके ब्राह्मणको योगाभ्यास साधन करना यह प्रथम लक्षण है इसीसे पूर्वमें ऋषि लोग योगाभ्यास प्रथम ही करते रहे और इसी विद्याके नष्ट होनेसे ब्राह्मणोंका तेजोंश जाता रहा ।

(तपः) स्वधर्मानुष्ठानमेव तपः वा कृच्छ्रचांद्रायणादिव्रतं तपः ।

स्वधर्ममें तत्पर रहना अथवा कृच्छ्रचांद्रायणादि व्रत करना (इसमें शरीर सूख जाताहै) ब्राह्मणका मुख्य धर्म सन्ध्या गायत्रीका जप और वेदाध्ययन है । ''स्वधर्मे निधनं श्रेयः''

(दमः) बाह्येन्द्रियनिग्रहः ।

नेत्र कर्णादि इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना ।

(दानं) स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वापादनं वा सुपात्रेभ्यो दीयते यत्तद्दानम् ।

किसी वस्तुसे अपना अधिकार हटाकर दूसरेका स्वामित्व (मालिकपन) कर देना वही दान है अथवा सुपात्रको जो दिया जाय वही दान है । ब्राह्मण-को दान लेने और देनेका भी अधिकार है चाहे दरिद्री क्यों न हो, पर्वादिक पर वित्तानुसार अवश्य देना चाहिये (जैसा द्वार पर अतिथिके आनेसे अवश्य सत्कार करे)

"दानमेकं कलौ युगे" "धनेन किं यो न ददाति याचके"

वह धन कैसा जो भिक्षुकको न दियागया ।

(सत्यम्) याथातथ्यं वाक्यं सत्यम् ।

जैसी बात हो वैसी कह देना सत्य कहाता है ।

न हि सत्यात्परोधर्मो नानृतात्पातकं परम् ।
न हि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात्सत्यं समाचरेत् ॥

सत्यके बराबर कोई धर्म नहीं और झूंठ बोलनेके बराबर कोई पाप नहीं और सत्यके समान कोई ज्ञान नहीं इस लिये सदा सत्य बोलना चाहिये ।

समूलं वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति ।
इति श्रुतेः ॥

जो झूंठ बोलता है वह जड सहित सूखजाता है ।

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥

---

१ देवीभागवते-"सत्यं न सत्यं खलु यत्र हिंसा दयान्वितं चानृतमेव सत्यम् । हितं नराणां भवतीह येन तदेव सत्यं न तथाऽन्यथैव" ॥ १ ॥

सत्य बोले परन्तु प्रिय सत्य बोले और जो प्रिय नहीं ऐसा सत्य भी न बोले झूठी प्रिय भी न बोले अर्थात् झूंठी बात तो है परन्तु सुननेवालेको प्रिय है तो उसे भी न कहे यह सनातन धर्म है।

स्त्रीषु नर्मविवाहेषु वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे।
गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्॥

स्त्रियोंके विषयमें, हास्य (हंसी ठट्ठा) में विवाहमें वृत्ति (जीविका) के वास्ते प्राणके संकटमें, गौ ब्राह्मणके लिये और झूंठ बोलनेसे किसीका प्राण बच जाय तो जीवहिंसामें झूंठ बोलनेसे दोष नहीं होता।

(शौचम्) बाह्याभ्यन्तरशुद्धिः।

बाहर भीतरसे पवित्रता

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति॥

शरीर जलसे शुद्ध होताहै, मन सत्यसे, जीव विद्या और तपसे और बुद्धि ज्ञानसे शुद्ध होतीहै। बाह्य आचार मल मूत्रकी शुद्धि स्नान और आभ्यन्तर आचार—मनसे किसीका अनिष्ट नहीं देखना, काम, क्रोधको शांत रखना और योग्याभ्यासीका आभ्यन्तर आचार षट्क्रिया है। आचार धर्म ब्राह्मणको अवश्य पालन करना चाहिये इससे शरीर आरोग्य और मन प्रसन्न रहताहै।

(दया) दीनेषु अनुकंपा दया

दूसरेको दुःखी देखकर दुःख निवृत्त करनेमें उद्यत होना दयाहै।

---

१ देवीभा०—"आचाराल्लभते चायुराचाराल्लभते प्रजाः। आचारादन्नमक्षय्यमाचारो हंति पातकम्॥ १॥ आचारः परमो धर्मो नृणां कल्याणकारकः। इह लोके सुखी भूत्वा परत्र लभते सुखम्॥ २॥ आचारो द्विविधः प्रोक्तः शास्त्रीयो लौकिकस्तथा। उभावपि प्रकर्तव्यौ न त्याज्यौ शुभमिच्छता॥ ३॥ यस्त्वाचारविहीनोऽत्र वर्तते द्विजसत्तमः। स शूद्रवद्बहिष्कार्यो यथा शूद्रस्तथैव सः" ॥ ४॥ तथा च "आचारहीनं न पुनंति वेदाः॥"

आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ।

अपने दुःखके समान दूसरोंका भी दुःख जानना दया है अथवा परोपकार करना । "धन्योस्ति को यो हि परोपकारी"

अष्टादशपुराणानां व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ।

अठारह पुराणोंमें व्यासजीने दो वचन सारांश रक्खे, पहला तो परोपकारके समान कोई पुण्य नहीं और दूसरा दुःख देनेके समान कोई पाप नहीं । "सर्वप्राणिदया तीर्थमुपकारो महामखः"

(श्रुतम्) विद्वज्जननिकटे सद्वार्ताश्रवणम् ।

सत्पुरुषोंके निकट अच्छे वाक्य सुनना और सुनकर विचार करके स्मरण रखना

श्रुतेन किं यो न च धर्ममाचरेत् ।

वह सुनना किस कामका जो धर्मपर न आरूढ हुआ ।

(विद्या) वेदाऽध्ययनम् ।

परिश्रम करके वेद—शास्त्र पढना वृथा काल नहीं बिताना "विद्याविहीनः पशुः"

(विज्ञानम्) वैराग्यचिन्तनम्, विविधज्ञानम्, विशेषज्ञानम् ।

वैराग्यका चिन्तन करना, अनेक प्रकारका ज्ञान रखना तत्त्वको जानना ।

(आस्तिक्यम्) गुरुवेदान्तवाक्येषु विश्वासः ।

गुरु और वेदांतके वचनोंमें प्रीति रखना, स्वधर्ममें स्थित रहना, जहां तक काम क्रोधादि शमन न हों तहांतक कर्म उपासनाका त्याग नहीं करना, देवतामें अप्रीति नहीं लाना ये सब ब्राह्मणके लक्षण हैं ।

सन्ध्योपासनशीलश्च सौम्यचित्तो दृढव्रतः ।
ऋतुकालाभिगामी स्यादेतद्ब्राह्मणलक्षणम् ॥

सन्ध्योपासनमें कुशलता, सरलस्वभाव, दृढव्रत अर्थात् सत् आचरणको नियमसे करनेवाला और ऋतु समयमें ही स्वस्त्री सेवन करना यह ब्राह्मणके लक्षण हैं। ये लक्षण ब्राह्मणमें होनेसे ब्राह्मणकी अप्रतिष्ठा कहीं नहीं होती और कांति, शीलता, शांतता, बाह्य (बाहर) में भासित होतीहै इस तरहके लक्षणोंसे युक्त ब्राह्मणको सभी मान कर सकते हैं और जो ब्राह्मण (अन्य भी कोई) स्वस्त्रीको परित्याग कर परस्त्रीसे प्रीति रखता है वह नष्टताको ही प्राप्त होता जाताहै। जैसा कहा है—

योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादिद्रव्येषु मायारचितेषु मूढः। प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्धिः पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः॥

स्त्रियोंके सुवर्णाभूषण और वस्त्रादि वस्तुओंमें जो कि मायासे रची गई हैं उन सबोंमें जो प्रलोभित चित्त मूर्ख मनुष्य भोग करनेकी बुद्धिसे आसक्त होताहै वह नष्टदृष्टि दीपकमें पांखी (पतंगा) के समान नष्ट होताहै और भी कहा है—

आवर्तः संशयानामविनयभवनं पत्तनं साहसानां दोषाणां सन्निधानं कपटशतमयं क्षेत्रमप्रत्ययानाम्। स्वर्गद्वारस्य विघ्नं नरकपुरमुखं सर्वमायाकरण्डं स्त्रीरत्नं केन सृष्टं विषममृतमयं प्राणिनां मोहपाशः॥

सब सन्देहोंका भंवर, अविनयका घर, साहसोंका शहर, दोष भरे सैकडों कपटोंसे युक्त, अविश्वासका खेत, स्वर्गद्वारका विघ्न, नरकपुरका मुख, सब मायाका डिब्बा यह स्त्रीरत्न अमृतमय विष है प्राणियोंके मोहकी फांसी है। स्कान्दे—

१ भागवते—"शरत्पद्मोत्सवं वक्त्रं वचश्च श्रवणामृतम्। हृदयं क्षुरधाराभं स्त्रीणां को वेद चेष्टितम्॥"

परदारोपभोगेन यत्पापं समुपार्जितम् ।
न तत्क्षालयितुं शक्यं प्रायश्चित्तशतैरपि ॥

दूसरेकी स्त्रीके सङ्ग भोग करनेसे जो पाप इकट्ठा होताहै वह पाप सैकडों प्रायश्चित्त करनेसे भी नहीं नष्ट होता । और भी कपिलऋषिने अपनी माताके प्रति कहा है कि योगी कभी भी स्त्रीसंग न करे ।

सङ्गं न कुर्यात्प्रमदासु जातु योगस्य पारं पर-मारुरुक्षुः। मत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो वदन्ति यां निरयद्वारमस्य ॥

योगके पार जानेवाला जीव कभी भी स्त्रीका संग न करे, मेरी सेवा करके ईश्वरकी प्राप्ति होतीहै योगिराज स्त्रीको नरकका द्वार कहतेहैं । अभिप्राय यह है कि परस्त्री गमन जो करताहै उसकी सब प्रकारसे हानि होतीहै बुद्धिमें तमोगुण सर्वदा वर्त्तमान रहताहै, मलिनताका त्याग नहीं होता, चाहे शास्त्री क्यों न हो और जो ब्राह्मण स्वस्त्रीसे ही प्रीति और सन्ध्योपासनमें तत्पर रहताहै उसकी बुद्धि सदा निर्मल बनी रहतीहै, कभी दुःखी नहीं प्रतीत होता कारण कि सन्ध्याका बडा माहात्म्य है यथा—

याज्ञवल्क्यः ।

यावन्तोऽस्यां पृथिव्यां हि विकर्मस्थास्तु वै द्विजाः ।
तेषांवै पावनार्थाय सन्ध्या सृष्टा स्वयम्भुवा ॥

इस पृथिवीमें जितने द्विजाति दुराचारी हैं उन्हींके शुद्ध करनेके लिये ब्रह्माने स्वयं सन्ध्याको उत्पन्न किया है ।

निशायां वा दिवा वापि यदज्ञानकृतं भवेत् ।
त्रिकालसन्ध्याकरणात्तत्सर्वं हि प्रणश्यति ॥

---

१ "किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन श्रुतेन च । किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम्" देवीभागवते—"अशुचिः स्त्रीजितः शुद्धयेच्चितादहनकालतः । न गृह्णंतीच्छया तस्य पितरः पिंडतर्पणम् । न गृह्णंतीव देवाश्च तस्य पुष्पजलादिकम् ॥"

रात्रिमें अथवा दिनमें अज्ञानतासे जो पाप होजावे वह त्रिकाल (तीनों काल) सन्ध्या करनेसे सब नाश होजाताहै ।

शातातपः ।

सन्ध्यामुपासते ये तु सततं शंसितव्रताः ।
विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम् ॥

जो लोग नियम पूर्वक नित्य ही संध्योपासन करते हैं वे निष्पाप होकर निरामय ब्रह्मलोकको प्राप्त होतेहैं ।

सन्ध्याऽभावे दोषाः (मरीचिः)।

सन्ध्या येन न विज्ञाता सन्ध्या येनानुपासिता ।
जीवमानो भवेच्छूद्रो मृतः श्वा चाऽभिजायते ॥

जो सन्ध्याको नहीं जानता जो सन्ध्याकी उपासना नहीं करता वह जीता हुआ शूद्रके समान और मरने पर कुत्ता होताहै ।

व्यासः ।

तस्मान्नित्यं प्रकर्तव्यं सन्ध्योपासनमुत्तमम् ।
तदभावेऽन्यकर्मादावधिकारी भवेन्नहि ॥

इस करके सन्ध्योपासन उत्तम कर्म नित्य करे विना इसके किये दूसरे कर्मका अधिकारी नहीं होता ।

भरद्वाजः ।

सन्ध्योपासनहीनो यो न योग्यः सर्वकर्मसु ।
तस्मादुपास्य विधिना सन्ध्यामन्यक्रियाश्चरेत् ॥

जो पुरुष सन्ध्या नहीं करता वह किसी कर्मका अधिकारी नहीं होताहै इससे पहिले सन्ध्या विधिसहित करे तब दूसरे कर्मको करे ।

---

१ बृहन्नारदीये—"ये द्विजा अभिभाषन्ते त्यक्तसंध्यादिकर्मणाम् । ते यान्ति नरकान्घोरान्यावदाचन्द्रतारकम् ॥" २ दे० भा०—"संध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु । यदन्यत्कुरुते कर्म न तस्य फलभाग्भवेत् ॥"

यमः ।

एतत्सन्ध्यात्रयं प्रोक्तं ब्राह्मण्यं यत्र चेष्टितम् ।
यस्य नास्त्यादरस्तत्र न स ब्राह्मण उच्यते ॥

ये तीन सन्ध्या जो कही गई हैं वे ब्राह्मणके मुख्य कर्म हैं इनको जो ब्राह्मण आदर पूर्वक नहीं करता उसको ब्राह्मण नहीं कहना चाहिये अर्थात् कैसा भी कार्य हो तो भी सन्ध्याको न छोडना चाहिये क्योंकि सन्ध्याविहीन मनुष्य ब्रह्मत्वसे हीन होजाताहै ।

विश्वामित्रकल्पे-

विप्रो वृक्षस्तस्य मूलं च सन्ध्या वेदाः शाखा धर्मकर्माणि पत्रम् । तस्मान्मूलं यत्नतो रक्षणीयं छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम् ।

विप्ररूपी वृक्षका मूल तो सन्ध्या है वेद डालियां हैं और धर्म कर्म आदि पत्ते हैं इससे मूल (जड) की रक्षा यत्नपूर्वक करना चाहिये क्योंकि जडके सूखनेसे डाली पत्ते आदि नहीं रहते इसलिये ब्राह्मणको उचित है कि सन्ध्याका परित्याग कभी भी न करे ।

स्वकाले सेविता नित्यं सन्ध्या कामदुघा भवेत् ।
अकाले सेविता सा च सन्ध्या वन्ध्या वधूरिव ॥

जो ब्राह्मण संध्याके कहे हुए कालमें सन्ध्या करताहै उसकी सन्ध्या कामधेनुके समान फल देनेवाली होतीहै और जो समय पर सन्ध्या नहीं करता उसकी सन्ध्या वन्ध्या स्त्रीके समान है ।

प्रातःसन्ध्यां सनक्षत्रां मध्यमां स्नानकर्मणि ।
सादित्यां पश्चिमां सन्ध्यामुपासीत यथाविधि ॥

---

१ "उदया त्प्राक्तनी संध्या घटिकात्रयमुच्यते । सायं सन्ध्या त्रिघटिका अस्तादुपरि भास्वतः ॥"

प्रातःकालकी सन्ध्या तारे देखते हुए (सूर्योदयसे दो घडी पहिले), मध्याह्नकी मध्याह्न स्नानके अनन्तर और सायं सन्ध्या सूर्य सहित करना चाहिये। अथवा प्रहररात्रितक परन्तु प्रमाण कालका संगम तीन ३ घडीका कहाहै।

उदयास्तमयादूर्ध्वं यावत्स्याद्घटिकात्रयम्।
तावत्सन्ध्यामुपासीत प्रायश्चित्तमतः परम्॥
कालातिक्रमणे जाते चतुर्थार्घं प्रदापयेत्।
अथवाष्टशतं देवीं जप्त्वादौ तां समाचरेत्॥

उदयसे और अस्तसे ऊपर तीन घडी तक संध्या करना चाहिये इससे अधिक कालमें संध्या करनेसे प्रायश्चित्त होताहै सन्ध्याका समय थोडा बीतने पर सूर्यको चौथा अर्घ देवे और जो अधिक समय बीत गया हो तो एक सौ आठ १०८ वार गायत्रीका जप कर सन्ध्या प्रारम्भ करे और विशेष बात यह है कि जो काल बीत गया हो तो इस मन्त्रसे कालका आकर्षण कर लेवे।

ॐ ऋचम्वाचम्प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्प्राणम्प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये व्वागोजः-सहौजो मयि प्राणापानौ।

यदि कार्यके कारणसे प्रातःकाल, मध्याह्न काल बीत जावे पश्चात् साव-काश मिले तब स्नान करके शुद्ध हो प्रथम प्रातःसन्ध्या अनन्तर मध्याह्न संध्या करके तब सायं सन्ध्या करे।

सूतके सन्ध्याविचारः (ग्रन्थान्तरे)–

सर्वकर्म परित्यज्य सूतके मृतके तथा।
न त्यजेन्मानसीं सन्ध्यां न त्यजेच्छिवपूजनम्॥

"सूतके" (पुत्रादिके होने पर) मृतक (पितादिके मरने पर) में सब कर्मका त्याग कर देवे परन्तु मानसी सन्ध्या और शिवपूजन न त्याग करे। अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण सन्ध्याका परित्याग कभी न करे। यदि अधिकसे अधिक भी काल बीत गया हो तो भी सन्ध्या करे, कर्मका नाश नहीं

करना चाहिये और मार्गमें शकट (गाडी) आदि पर भी मानसी सन्ध्या समय आने पर कर लेना उचित है । "दूषितोप्याचरेद्धर्ममिति वचनात्" और अपरार्कमें पुलस्त्यका वचन है-

सन्ध्यामिष्टिं चरुं होमं यावज्जीवं समाचरेत् ।
न त्यजेत्सूतके वापि त्यजन् गच्छेदधो द्विजः ॥

सन्ध्या और अग्निहोत्र (इष्टि चरु होम यह अग्निहोत्रके अंग हैं) जबतक शरीरमें प्राण है तबतक न छोडे, छोडनेसे ब्राह्मण अधोगति (नरक) को प्राप्त होताहै ।

देवीभागवते-

यावज्जीवनपर्यंतं त्रिसंध्यां यः करोति च ।
स च सूर्यसमो विप्रस्तेजसा तपसा सदा ॥
न गृह्णंति सुराः पूजां पितरः पिण्डतर्पणम् ।
स्वेच्छया च द्विजातेश्च त्रिसन्ध्यारहितस्य च ॥

जो ब्राह्मण जीवनपर्यन्त त्रिकाल सन्ध्या करताहै वह सदा तपके प्रभावसे सूर्यके समान तेजस्वी होताहै । और जो ब्राह्मण तीनों कालकी सन्ध्या नहीं करता उसकी कीहुई पूजाको देवता और पिंड तर्पणको पितर इच्छापूर्वक नहीं लेते हैं ।

इक्षुरापः पयो मूलं तांबूलं फलमौषधम् ।
भक्षयित्वापि कर्तव्याः स्नानदानादिकाः क्रियाः ॥

ऊख (गन्ना), जल, दूध, कन्दमूल, पान, फल और औषध (दवा) इनको भक्षण करने पर भी स्नान दान आदि शुभकर्म करना योग्य है ।

ब्राह्ममुहूर्तः ।

रात्रेः पश्चिमयामस्य मुहूर्तो यस्तृतीयकः ।
स ब्राह्म इति विज्ञेयो विहितः स प्रबोधने ॥

---

१ दे० भा०-"तत्पादपद्मरजसा सद्यः पूता वसुन्धरा । जीवन्मुक्तः स तेजस्वी सन्ध्यापूतो हि यो द्विजः ॥"

रात्रिके चौथे पहरका तीसरा मुहूर्त ब्राह्म कहाताहै उसमें उठना चाहिये।

देवीभागवत–

पंचपंच उषःकालः सप्त पञ्चारुणोदयः।
अष्ट पञ्च भवेत्प्रातः शेषः सूर्योदयः स्मृतः॥

पचपन घडीके उपरांत उषःकाल होताहै सत्तावन घडीके उपरांत अरुणोदय अठावन घडी पर प्रभात और शेषमें सूर्योदय होताहै।

प्रातःस्नानं सनक्षत्रं सन्ध्या नक्षत्रसंयुता।
होमः प्रागुदयाद्भानोर्गायत्र्यास्तु ततो जपः॥

प्रातःस्नान और सन्ध्या ताराओंके रहते ही करे और सूर्योदयसे पहिले हवन करे तदनन्तर गायत्रीका जप करना उचित है।

प्रातर्मध्याह्नयोः स्नानं[1] वानप्रस्थगृहस्थयोः।
यतेस्त्रिषवणं प्रोक्तं सकृत्तु ब्रह्मचारिणः॥

वानप्रस्थ और गृहस्थ प्रातः और मध्याह्नमें स्नान करैं और संन्यासीको तीनों काल और ब्रह्मचारीको केवल एकही बार स्नान करना उचित है। यदि ब्रह्मचारी त्रिकाल स्नान करे तो दोष नहीं।

स्नानं[2] विधाय नद्यादौ किंवा तप्तोदकेन च।
मन्त्रस्नानं च वा कृत्वा प्रातःसन्ध्यां समाचरेत॥

नदी आदिके शीतल जलसे स्नान करे अथवा गरम जलसे स्नान करे यदि ज्वरादिके कारणसे स्नान न कर सके अथवा विशेष जल न प्राप्त हो तो हाथ

---

१ दे० भा०–अगम्यागमनात्पापं यच्च पापं प्रतिग्रहात्। रहस्याचरितं पापं मुच्यते स्नानकर्मणा॥"

२ जाबालिः–"अशक्तावशिरस्कं च स्नानमस्य विधीयते। आर्द्रेण वाससा वापि मार्जनं दैहिकं स्मृतम्॥ अशक्तेन शरीरेण यः स्नानं कुरुते द्विजः। आत्मघातसमं पापमशस्त्रवध उच्यते॥"

पांव धोके मन्त्र पढके जलसे शरीर मार्जन करके प्रातःकालकी सन्ध्या करे। आपोहिष्ठेत्यादि मन्त्रोंसे मन्त्रस्नान, दश गायत्री पढकर मार्जन करनेसे गायत्री-स्नान, और "अग्निरिति भस्म०" इस मन्त्रसे अथवा द्वादश वार ओंकार पढ कर भस्म लगानेसे उत्तम भस्मस्नान होता है।

देवीभागवते-

जलस्नाने त्वशक्तश्च भस्मस्नानं समाचरेत्।
प्रक्षाल्य पादौ हस्तौ च शिरश्चेशानमन्त्रतः॥

यदि किसी कारणसे जलसे स्नान न करसके तो ईशानमन्त्रसे हाथ पांव और शिरको धोकर भस्मसे स्नान करे अर्थात् विभूति लगाले।

त्रिकालसन्ध्यानामानि (व्यासः)-

गायत्री नाम पूर्वाह्णे सावित्री मध्यमे दिने।
सरस्वती च सायाह्ने एवं सन्ध्या त्रिधा मता॥

सन्ध्याका प्रातःकालमें गायत्री, मध्याह्नमें सावित्री और सायंकालमें सरस्वती नाम है।

सन्ध्योपयोगिपात्राणि (मरीचिः)-

गोकर्णाकृतिवत्पात्रं ताम्रं रौप्यं च हाटकम्।
जलं तत्र विनिक्षिप्य सन्ध्योपासनमाचरेत्॥

सुवर्ण, चांदी अथवा तांबेका पात्र गौके कानकी तरह बनवा कर उसे सन्ध्योपासनके काममें लावे।

जलाऽभावेऽर्घ्यविचारः (अग्निस्मृतौ)-

जलाऽभावे महामार्गे बन्धने त्वशुचावपि।
उभयोः सन्ध्ययोः काले रजसैवार्घ्यमुच्यते॥

जहां पर जल न मिले, बडा रस्ता चलनेमें, बन्धनमें और अपवित्रतामें दोनों सन्ध्याओंविषे धूल (रज-धूर) सेही अर्घ देवे।

हेमाद्रौ देवलः-

यज्ञोपवीते द्वे धार्ये श्रौते स्मार्ते च कर्मणि ।
तृतीयमुत्तरीयार्थे वस्त्रालाभे तदिष्यते ॥

श्रुति और स्मृतिमें कहे हुए कार्मोके करनेमें दो जनेऊ पहिरना चाहिये यदि अंगौछा न हो तो उसकी जगहमें एक जनेऊ और धारण करे ।

मार्कण्डेयपुराणे-

नैकवस्त्रं च भुंजीत न कुर्यादेवतार्चनम् ।

एक वस्त्रसे भोजन और देवपूजन न करे ।

ॐकारं पितृरूपेण गायत्रीं मातरं तथा ।
पितरौ यो न जानाति ब्राह्मणः सोन्यवीर्यजः ॥
गायत्री वेदजननी गायत्री लोकपावनी ।
न गायत्र्याः परं जप्यमेतद्विज्ञानमुच्यते ॥
गायत्रीं तु परित्यज्य ह्यन्यमन्त्रमुपासते ।
सुसिद्धान्नं परित्यज्य भिक्षामटति दुर्मतिः ॥

ओंकार यह पितारूप है तैसे ही माता गायत्री है जो ब्राह्मण पिता माता को अर्थात् ओंकार और गायत्रीको नहीं जानता वह वर्णसंकर है। गायत्री वेदकी माता है और गायत्री लोगोंको पवित्र करनेवाली है और गायत्रीसे अधिक जपनेका मन्त्र कोई नहीं है इसीको ज्ञान विज्ञान कहतेहैं । जो ब्राह्मण गायत्री मन्त्रको छोडकर दूसरे मन्त्रकी उपासना करता है वह ऐसा दुर्बुद्धि है जैसे कोई बने हुए भोजनको छोडकर भिक्षा मांगताहै ।

विहाय तान्तु गायत्रीं विष्णूपास्तिपरायणः ।
शिवोपास्तिरतो विप्रो नरकं याति सर्वथा ॥

जो ब्राह्मण गायत्रीका जप छोडकर केवल विष्णु अथवा शिवकी उपासनामें तत्पर होताहै वह सब तरहसे नरकहीमें जाताहै ।

सहस्रं परमां देवीं शतं मध्यां दशावराम् ।
गायत्रीं वै जपेन्नित्यं जपयज्ञः स कीर्त्तितः ॥

निरन्तर एक सहस्र (हजार) गायत्री का जप परम श्रेष्ठ है एक सौ ..ध्यम और दश वार कनिष्ठ पक्ष का जप है इसीको जपयज्ञ कहते हैं ।

सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।

जितने यज्ञ हैं वे सब गायत्री जपके सोलह भागोंमेंसे एक भागके भी समान नहीं हैं ।

एकपादो जपेदूर्ध्वबाहू रुद्ध्वा निराश्रयः ।
नक्तमश्नन्हविष्यान्नं वत्सरादृषितामियात् ॥
गीरमोघा भवेदेव जप्त्वा संवत्सरद्वयम् ॥
त्रिवत्सरं जपेदेवं भवेत्त्रैकालदर्शनम् ॥

एक पांवसे खडा होकर ऊपरको भुजा उठाये हाथ जोडकर निराश्रय प्राणको रोक कर जप करे रात्रिको हविष्यान्न खाता हुआ वर्ष दिनमें ऋषिताको प्राप्त होताहै, दो वर्ष इस प्रकार जपनेसे सत्य वाणी होती है, तीन वर्ष जपनेसे त्रिकालदर्शी होता है ।

तंत्रे पाद्मेपि-

अष्टोत्तरशता माला तत्र स्यादुत्तमोत्तमा ।
शतसंख्योत्तमा माला पञ्चाशन्मध्यमा मता ॥
चतुःपंचाशतो यद्वा अधमा सप्तविंशतिः ।
अधमा पंचविंशत्या यदि स्याच्छतनिर्मिता ॥

१०८ एक सौ आठ अथवा १०० सौ दानेकी माला उत्तम और ५० वा ५४ दाने की मध्यम और २७ वा २५ दाने (गुरिया -मनिया) की माला अधम कहातीहै ।

मालाग्रथनप्रकारः । देवीभागवते-

अक्षसूत्रं प्रकर्तव्यं गोपुच्छवलयाकृति ।
वक्रं वक्रेण संयोज्य पुच्छं पुच्छेन योजयेत् ॥
मेरुमूर्ध्वमुखं कुर्यात्तदूर्ध्वं नागपाशकम् ।
एवं संग्रथिता माला मन्त्रसिद्धिप्रदायिनी ॥

रुद्राक्षकी मालाके सूत्रमें जैसा गऊके पूंछमें गोल२गांठ रहतीहैं ऐसी ढाई२ गांठ प्रति दानोंके बीचमें लगाता जाय और रुद्राक्षके दानोंका मुख मुखसे और पुच्छ पुच्छसे मिले रहें । सुमेरुका मुख ऊपर रहे और उसके ऊपर सर्प जिस आकृतिसे बैठता है ऐसी ग्रंथि लगावे इस प्रकार पुही हुई माला मन्त्रकी सिद्धिको देतीहै ।

पंचाशदक्षराण्यत्रानुलोमप्रतिलोमतः ।
इत्येवं स्थापयेत्स्पष्टं न कस्मैचित्प्रदर्शयेत् ॥

पचास ५० अक्षर अ से क्ष तक होतेहैं इसको सीधे उलटे क्रमसे स्थापित करके जप करे परन्तु गुप्त रक्खे किसीको दिखावे नहीं जैसे प्रथम मन्त्र बोले पुनः अं पुनः मंत्र पुनः आं इसी क्रमसे क्षं तक उच्चारण करे अनन्तर विलोम अर्थात् मन्त्र बोलके पुनः क्षं बोले, पुनः मंत्र, पुनः हं, पुनः मंत्र, पुनः सं, इत्यादि क्रमसे अ तक पूरा करे । इसप्रकार शत संख्याकी माला हुई । यदि अष्टोत्तर शत वर्णोंसे जपना हो तो इसी क्रमसे शत पूरे होने पर अं, कं, चं, टं, तं, पं, यं, शं, वर्गके आदि अक्षरोंको ग्रहण करे । यह मातृकामाला वर्णमाला करके विख्यात है इस माला पर जपनेसे मंत्र अवश्य सिद्ध होताहै और भुक्ति मुक्तिका दाता है ॥ इसका माहात्म्य गायत्रीस्तवराजमें ऐसा कहा है ।

आदिक्षादि सबिन्दुयुक्तसहितं मेरुक्षकारान्तकं
व्यस्ताव्यस्तसमस्तवर्गसहितं पूर्णं शताष्टोत्तरम् ।
गायत्रीं जपतां त्रिकालसहितां नित्यं स नैमित्तिकी-
मेवं जाप्यफलं शिवेन कथितं सद्भोगमोक्षप्रदम् ॥

वर्णैर्विन्यस्तया यस्तु क्रियते मालया जपः ।
एकवारेण तस्यैव पुरश्चर्या कृता भवेत् ॥

इन वर्णोंकी माला कल्पना करके जो किया जाताहै वह एक ही बारमें उसका पुरश्चरण होजाताहै क्योंकि मन्त्रसहित वर्णोंके जपका माहात्म्य तंत्रोंमें विशेष कहा है । यथा योगतत्त्वोपनिषदि–

मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत ।
क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम् ॥

मातृकासे मिलाहुआ मंत्रका जप जो बारह वर्ष तक करे तो उसको क्रमसे अणिमादिसिद्धियोंकी प्राप्ति हो ।

आसनविशेषः ।

सव्यपार्ष्णिं गुदे स्थाप्य दक्षिणं च ध्वजोपरि ।
योनिमुद्राबन्ध एष भवेदासनमुत्तमम् ॥

बायें चरणकी एंडी (पार्ष्णि) गुदा स्थान पर लगावे और दहिना चरण उपस्थ (लिंग) के ऊपर रख कर बैठे यह आसनोंमें उत्तम योनिबन्ध आसन कहाताहै । यह सिद्धासनका भेद है ।

योनिमुद्रासने स्थित्वा प्रजपेद्यः समाहितः
य कंचिदपि वा मन्त्रं तस्य स्युः सर्वसिद्धयः ॥
छिन्ना रुद्धाः स्तम्भिताश्च मिलिता मूर्च्छितास्तथा।
सुप्ता मत्ता हीनवीर्या दग्धाः प्रत्यार्थिपक्षगाः ॥
बाला यौवनमन्त्राश्च वृद्धा मत्ताश्च ये मताः ।
योनिमुद्रासने स्थित्वा मन्त्रानेवं विधाञ्जपेत् ॥
तस्य सिद्ध्यन्ति ते मन्त्रा नान्यथा तु कथंचन ॥

यदि इस योनिमुद्रासन पर बैठ कर किसी मन्त्रका जप करै तो वह अवश्य सिद्ध होताहै। छिन्न, रुद्ध, स्तम्भित आदि किसी प्रकारका भी दूषित मन्त्र क्यों न हो पर यदि योनिमुद्रासन पर स्थित होकर विधानसे उसका जप करे तो अवश्य वह मन्त्र सिद्ध होताहै दूसरे प्रकारसे नहीं। और भी योगके ग्रन्थोंमें इस योनिमुद्राका माहात्म्य अधिक वर्णन किया है अर्थात् सब सिद्धियुक्त आत्माका दर्शन होताहै आसन लिखनेका अभिप्राय यह है कि विना आसनकी दृढतासे कुछ काल तक बैठा नहीं जाता और न चित्त लगताहै, चंचलता बनी रहती है तब मन्त्र सिद्ध कहांसे होगा। आसनकी दृढतासे चंचलता (उद्वेग) का नाश होताहै और चित्तमें एकाग्रता होती है।

कालनियमः (पाद्मे)—

ब्राह्मं मुहूर्त्तमारभ्यामध्याह्नं प्रजपेन्मनुम्।
अत ऊर्ध्वं कृते जाप्ये विनाशाय भवेद्ध्रुवम्॥
पुरश्चर्याविधावेवं सर्वकाम्यफलेष्वपि।
नित्ये नैमित्तिके वापि तपश्चर्यासु वा पुनः॥
सर्वदैव जपः कार्यो न दोषस्तत्र कश्चन॥

ब्राह्ममुहूर्त्त अर्थात् प्रहर रात्रि शेष रहे तबसे लेकर मध्याह्नपर्यंत जप करना श्रेष्ठ है, इसके अनन्तर जप करे तो कर्ताका नाश होताहै यह सम्पूर्ण कार्योंके अनुष्ठानका क्रम है। नित्य नैमित्तिक तपश्चर्याका नियम नहीं है अर्थात् दिन प्रतिका अनुष्ठान चाहे जबतक जितनी इच्छा हो जप करता रहे उसमें कुछ दोष नहीं होता। और अनुष्ठानमें जपका क्रम ऐसा है।

प्रारम्भदिनमारभ्य समाप्तिदिवसावधि।
न न्यूनं नातिरिक्तं च जपं कुर्य्याद्दिनेदिने॥

प्रारम्भके दिनसे लेके समाप्तिके दिन तक ऐसा प्रतिदिन जप करै कि कम और अधिक न हो।

भूशय्या ब्रह्मचारित्वं मौनचर्या तथैव च ।
नित्यत्रिषवणं स्नानं क्षुद्रकर्मविवर्जनम् ॥
नित्यपूजानित्यदानमानन्दस्तुतिकीर्तनम् ।
नैमित्तिकार्चनं चैव विश्वासो गुरुदेवयोः ॥
जपनिष्ठा द्वादशैते धर्माः स्युर्मन्त्रसिद्धिदाः ॥

१ पृथ्वीमें सोना, २ ब्रह्मचर्य्यसे रहना, ३ प्रयोजन मात्र बोलना, ४ नित्य तीनों काल स्नान करना, ५ नीच कामोंको न करना, ६ नित्य पूजा करना, ७ वित्तानुसार नित्य दान देना, ८ आनन्द हो स्तुति करना,९ इष्टदेवका भजन गाना, १० पर्वादिमें देवपूजन करना, ११ गुरुकी सेवा करना वा ध्यान करना, १२ देवतामें विश्वास रखना अर्थात् देवता अवश्य कृपा करेगा ऐसी भावना रखना ये बारह जपनिष्ठ धर्म मन्त्रसिद्धिको देतेहैं ।

जपनियमः (याज्ञवल्क्यः)-

जपस्येह विधिं वक्ष्ये यथाकार्यं विधानतः ।
नांगं कुर्वन्नापि हसन्न पार्श्वमवलोकयन् ॥
नापाश्रितो न जल्पंश्च न प्रावृतशिरास्तथा ।
न पदा पादमाक्रम्य न चैव हि तथा करौ ॥
नैवंविधं जपं कुर्यान्न च संश्रावयञ्जपेत् ।
तिष्ठंश्चेद्वीक्ष्यमाणोऽर्कमासीनः प्राङ्मुखो जपेत् ॥

याज्ञवल्क्य ऋषि जपकी विधि कहतेहैं कि जप करनेके समय न चले, न हिले, न हंसे, न इधर उधर देखे, न किसी वस्तुकी तकिया लगावे, न किसीसे बात करे, न शिरको ढांके, और न पांवसे पांव (पाद) को दबावे, वैसेही हाथसे हाथको न दबावे । इस ऊपर कहे हुए प्रकारसे जप न करे और जपके मन्त्रको दूसरा न सुन सके । यदि खडा होके जप करे तो सूर्यनारायणकी ओर (तरफ़) देखे और बैठ कर जप करे तो पूर्वको मुख करके बैठे और भी नियम

इसी ग्रन्थमें ऐसे हैं कि शिर, ग्रीवा (गर्दन) को न हिलावे, दांतोंको न प्रकाशित करे, गीले वस्त्र (आर्द्र) और एक वस्त्र पहिने हुए व नीचे वस्त्र और पुराने मैले वस्त्र धारण किये हुए जप न करे और मन्त्रजपकी संख्या करता जावे।

मनोमध्ये स्थितो मंत्रो मंत्रमध्ये स्थितं मनः ।
मनोमन्त्रसमायुक्तमेतद्धि जपलक्षणम् ॥

मनमें मन्त्र और मन्त्रमें मन रहै इसप्रकार मन और मन्त्रका एक साथ योग करके जप करना चाहिये अर्थात् चित्त एकाग्र करके जप करे ।

पञ्चदश्यां–

नियमेन जपं कुर्यादकृतौ प्रत्यवायतः ।
अन्यथाकरणेऽनर्थः स्वरवर्णविपर्ययात् ॥

नियमसे जप करे न करनेमें दोष है और अन्यथा करनेमें स्वरवर्णके विपर्ययसे अनर्थ होताहै अर्थात् स्पष्ट उच्चारण करके जप करे शुद्ध रीतिसे उच्चारण न करनेसे वृत्रासुरकी तरह हानि होतीहै ।

विश्वामित्रः ।

शनैरुच्चारयेन्मन्त्रमीषदोष्ठौ च चालयेत् ।
अपरैर्न श्रुतः किंचित्स उपांशुर्जपः स्मृतः ॥

जीभ और ओष्ठोंको हिलाता हुआ धीरे २ मन्त्रको जपे परन्तु दूसरेको सुनाई न दे उसको उपांशु जप कहतेहैं । और मनहीमें मन्त्रका स्पष्ट उच्चारण करे वह मानसिक जप है और इसी क्रमसे वचनद्वारा उच्चारण करनेको वाचिक जप कहतेहैं परन्तु जो जप चित्त एकाग्र कर मन्त्रके अर्थको चिन्तन करता हुआ होताहै या जपाऽधिपति देवताका ध्यान करता हुआ होता है वही जप श्रेष्ठ है ।

कात्यायनः ।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सन्ध्योपासनकं विधिम् ।
अनर्हः कर्मणां विप्रः सन्ध्याहीनो यतः स्मृतः ॥

इसके अनन्तर मैं संध्योपासनकी विधि कहूंगा क्योंकि सन्ध्यासे हीन विप्र सब कर्मोंमें अयोग्य ही होताहै ।

सांख्यायनगृह्ये ।

अरण्ये समित्पाणिः सन्ध्यामुपास्ते नित्यं वाग्यतः उत्तरपराभिमुखोन्वष्टमदिशमानक्षत्रदर्शनात् । अतिक्रान्तायां महाव्याहृतीः स्वस्त्ययनान्यपि जप्त्वा । एवम्प्रातःप्राङ्मुखस्तिष्ठन्नामण्डलदर्शनात्॥

यज्ञोपवीत धारण किया हुआ पुरुष वन (जंगल—एकांत स्थान नदी तट देवालय) में कुशा हाथमें लिये हुए नित्यही वार्तालापको छोडकर उत्तर पश्चिम अर्थात् वायुकोणकी ओर मुख किये हुए ताराओंके उदय पर्यन्त सायंकाल सन्ध्याकी उपासना करे। यदि सन्ध्याकाल बीत गया हो तो महाव्याहृति गायत्री और स्वस्तिवाचन मन्त्रोंको जप कर सन्ध्योपासन करे। ऐसेही प्रातःकाल पूर्व दिशाकी ओर मुख किये हुए सूर्योदय पर्यन्त सन्ध्योपासन करे। अब आगे सन्ध्याका अनुक्रम कहके सन्ध्या करनेकी विधि लिखूंगा ।

सन्ध्या करनेका अनुक्रम ।

स्नान करके धोया हुआ वस्त्र पहिन कर एक उपवस्त्र (दुपट्टा—अंगोछा) ले, आसन पर बैठ सावधान हो सन्ध्या करे। प्रथम भस्म लगावे, आचमन कर, रुद्राक्ष पहिने, कुश पवित्री धारण कर, हृदयादि शुद्ध करे। अनन्तर संकल्प करके, आसनशुद्धि करता हुआ उक्त प्रमाणसे चुटैया (शिखा) बांधे पश्चात् यथाविधि भूतशुद्धि कर कलशशुद्धि (जलको उक्त मार्गसे अभिमंत्रण) करे अनन्तर "ऋतं च सत्यं" मन्त्रसे तीन आचमन कर प्राणायामका विनियोग करता हुआ, प्राणायाम करे। पुनः "सूर्य्यश्च" इस मन्त्रसे तीन आचमन कर, "आपोहिष्ठा" इत्यादि मन्त्रसे मार्जन करे पश्चात् "द्रुपदादिव" मन्त्रको तीन बार पढ जल शिर पर छोड, पुनः "ऋतं च सत्यं" मन्त्रसे अघमर्षण (नासिकामें जल लगाना) करे। तदनन्तर "अन्तश्चरसि" मन्त्रसे आचमन कर (यहां एक ही आचमन करना चाहिये, ऐसा मेरेको स्मरण है) सूर्य भगवान्को जल,

चन्दन, अक्षत, पुष्प सहित तीन अर्घ्य देवे। पश्चात् दो या सात प्रदक्षिणा कर सूर्यका उपस्थान (स्तुति) उक्त ४ मन्त्रोंसे करे, अनन्तर बैठकर गायत्री मन्त्रसे दो प्राणायाम कर, न्यास करता हुआ, गायत्री मन्त्र जपनेके निमित्त विनियोग करे पश्चात् "तेजोसि" मन्त्रसे आवाहन कर, "गायत्र्येकपदी" मन्त्रसे गायत्रीका उपस्थान करे। पुनः शापमोचन करके, २४ मुद्राओंको कर, गायत्री मन्त्रसे तीन आचमन करता हुआ सावधान हो यथाशक्ति जप करे। जपके अनन्तर गोमुखी शिर पर रख, तीन आचमन कर, आठों मुद्राओंको करे। अनन्तर गुह्यातिगुह्य वाक्यसे जल छोड, गायत्रीमन्त्रसे षडङ्गन्यास करे। पश्चात् गोमुखी शिर परसे उतार, "एकचक्रो" मन्त्रसे सूर्यकी स्तुति करे। अनन्तर जल लेकर सन्ध्या कर्मका अर्पण करे। पश्चात् विसर्जन करके शिखाकी ग्रन्थिको छोड के पुनः बांध लेवे। अनन्तर लघु प्राणायाम कर कवचादिका पाठ करना हो तो करे। उठते समय आसनके नीचे जल छोडकर मृत्तिका (मिट्टी) ललाटमें किंचित् लगा लेवे या स्पर्श करे।

॥ इति सन्ध्याऽनुक्रम ॥

अथ सन्ध्याप्रारम्भः।

आदिशक्ते जगन्मातर्भक्तानुग्रहकारिणि।
सर्वत्र व्यापिकेऽनंते श्रीसन्ध्ये ते नमोस्तु ते॥
श्रुतिः-अहरहः सन्ध्यामुपासीत।

नित्य प्रति सन्ध्यावन्दन करे।

यथोक्तस्नानानन्तरं धौतं वस्त्रं परिधायोपवस्त्रं गृहीत्वानन्तरं कृष्णाजिने[1] वा कुशासने वा ऊर्णासने

---

१ कृष्णाजिने भवेन्मुक्तिः ज्ञानवृद्धिः कुशासने। सर्वान्कामानवाप्नोति मनुष्यः कम्बलासने॥

शुचिस्थले स्वस्तिकादौ वासनविधिना प्राङ्मुख उपविश्य पश्चात्सन्ध्योपासनमारभेत् ॥

स्नान करके शुद्ध सूखा वस्त्र पहिन अंगौछा ले मृगचर्म या कुशासन या ऊनके आसनपर बैठ पूर्व या उत्तर मुख हो सन्ध्या करे ।

तत्रादौ भस्मधारणमन्त्रः ।[१]

ॐ अग्निरिति भस्म : वायुरिति भस्म जलमिति भस्म स्थलमिति भस्म व्योमेति भस्म सर्व ७७

---

१ (पाद्मे) वीर्यमग्नेर्यतो भस्म वीर्यवान्भस्मसंयुत: । भस्मस्नानरतो विप्रो भस्मशायी जितेन्द्रियः ॥ सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवसायुज्यमाप्नुयात् ।

यह भस्म अग्निका वीर्य है इस करके पक्षपात रहित हो सबको भस्म धारण करना उचित है चाहे वैष्णव, शैवादि कोई भी हो क्योंकि विना अग्निके किसीका भी निर्वाह नहीं होता जैसा कि कोई पर्वादिक आने पर कुछ न कुछ हवन करना ही पडताहै उस समय हवनके अन्तमें ललाटादिमें भस्म अवश्य धारण करना पडता है (त्र्यायुषं जमदग्नेरिति ललाटेति) तब सन्ध्यामें क्यों न धारण करना और देखिये कि जब पाक (रसोई) होताहै तब सब पदार्थोंमें भस्म (अग्निवीर्य) उड २ के पडतीहै अर्थात् कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जिसमें भस्म न पडती हो वह पदार्थ भक्षण किया जाताहै फिर सन्ध्यामें क्यों न लगाना, इसमें पक्षपात कुछ नहीं है । हां, सन्ध्याके पश्चात् देवार्चन करके जो चन्दन देवताका उच्छिष्ट (शेष) बचा हो उसको संप्रदायाऽनुसार त्रिपुण्ड्र वा ऊर्ध्वपुंड्र धारण करे–"प्रातः ससलिलं भस्म मध्याह्ने गन्धमिश्रितम् । सायाह्ने निर्जलं भस्म एवं भस्म विलेपयेत् ॥" देवीभा० ए०–"यथोपवीतरहितैः सन्ध्या न क्रियते द्विजैः ॥ तथा सन्ध्या न कर्त्तव्या विभूतिरहितैरपि । अग्निरित्यादिभिर्मंत्रैः षड्भिः शुद्धेन भस्मना ॥ सर्वांगोद्धूलनं कुर्याच्छिरोव्रतसमाह्वयम् ॥ एतच्छिरोव्रतं कुर्यात्सन्ध्याकालेषु सादरम् ॥" (कात्यायनः) "श्राद्धे यज्ञे जपे होमे वैश्वदेवे सुरार्चने । धृतत्रिपुण्ड्रः पूतात्मा मृत्युं जयति मानवः ॥ मध्यांगुलित्रयेणैव स्वदक्षिणकरस्य च ॥ त्रिपुण्ड्रं धारयेद्विद्वान् सर्वकल्मषनाशनम् ॥ (भविष्यपुराणे)– "सत्यं शौचं तपो होमस्तीर्थदेवादिपूजनम् । तस्य व्यर्थमिदं सर्वं यस्त्रिपुण्ड्रं न धारयेत् ॥" स्कान्दे–"अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैर्भस्मनोद्धूलनं तथा । त्रिपुण्ड्रधारणं साक्षाद्ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम् ॥"

ह वा इदं भस्म मन एतानि चक्षूꣳषि भस्मानि ॥
ॐ प्रसद्य भस्मना योनिमपश्चपृथिवीमग्ने सꣳसृज्य मातृभिष्ट्वञ्ज्योतिष्मानपुनरासदः–
ॐ भवाय नमः ललाटे । ॐ शर्वाय नमः हृदि । ॐ रुद्राय नमः कंठे । ॐ पशुपतये नमः दक्षिणबाहौ । ॐ उग्राय नमः वामबाहौ । ॐ महादेवाय नमः पृष्ठे । ॐ भीमाय नमः शिरसि । ॐ ईशाय नमः गुह्ये ।

एतैर्मन्त्रैर्ललाटाद्यङ्गेषु भस्म धारयेत् ।

इस मन्त्रसे ललाट आदि अंगोंमें भस्म लगावे ।

भस्मोद्धूलितहस्तेन त्रिराचम्य ।

भस्म लगे हुए हाथसे तीन आचमन गायत्रीसे करके अंगूठेकी जड से ओंठको पोंछकर नासिका और दहिने कानको जलसे स्पर्श करे परन्तु आचमन ऐसा करे कि दहिने हाथमें जल ले कनिष्ठिका अंगुष्ठको छोड और बायें हाथकी तर्जनीको लगाके तब आचमन करे यह आचमनकी मुद्रा है ।

आचमनमन्त्राः[1] ।

ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं स्वाहा ॐ भर्गो देवस्य धीमहि

१ श्रौताचमनम्–त्रिवारं जलप्राशनं त्रिपदया गायत्र्या आपोहिष्ठेत्यादिजल्पनं सप्तव्याहृतीनामुच्चारणम् । अंते च गायत्रीशिरःपाठः (देव्याः पादैस्त्रिभिः पीत्वेति विश्वामित्रकल्पे) स्नात्वा पीत्वा क्षुते सुप्ते भुक्त्वा रथ्याप्रसर्पणे । आचान्तः पुनराचामेद्वाससी परिधाय च ॥ दक्षिणेनोदकं पेयं दक्षं वामेन संस्पृशेत् । तावन्न शुध्यते तोयं यावद्वामेन युज्यते ॥ (नागदेवः)–संहताङ्गुलिना तोयं गृहीत्वा पाणिना द्विजः । मुक्ताङ्गुष्ठकनिष्ठेन शेषेणाचमनं चरेत् ॥ दक्षिणे च स्थितं तोयं तर्जन्या सव्यपाणिनः । तत्तोयं संस्पृशेद्यस्तु सोमपानसमं स्मृतम् ॥ "आचमनार्थे शीतोदकं ग्राह्यम्" गोकर्णाऽकृतिहस्तेन माषमात्रं जलं पिबेत् ॥ (याज्ञवल्क्यः) त्रिः प्राश्यापो द्विरुन्मृज्य खान्यद्भिः समुपस्पृशेत् ॥

स्वाहा ॐ धियो यो नः प्रचोदयात् स्वाहा ॥

इसके अनन्तर कण्ठमें रुद्राक्ष पहिने।

मंत्राः[1] ॥ ॐ अघोरह्रैं अघोरतरङ्ह्रौं ह्रीं नमस्ते रुद्राक्षरूपाय ह्रैं फट् स्वाहा ॐ ब्रह्मा मुखे विष्णु मध्ये कंठे रुद्रः समाचरेत्। रोमे रोमे च देवानां रुद्रदेव नमोस्तु ते। वा, त्र्यम्बकं यजामहेति मानस्तोकेन मंत्रेण वा धारयेत् ॥

इसके अनन्तर आगे लिखे हुए मन्त्रसे कुश पवित्र धारण करे।

मन्त्राः[2] ॥ ॐ पवित्रेस्थो वैष्णव्यो सवितुर्वः प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य यत्कामः पुनस्तच्छकेयम्।

---

१ (स्कान्दे)—केवलानपि रुद्राक्षान्यथालाभं बिभर्ति यः। तं न स्पृशंति पापानि तमांसीव विभावसुम् ॥ (दे० भा०) अहो रुद्राक्षमाहात्म्यं मया वक्तुं न शक्यते। तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कुर्याद्रुद्राक्षधारणम् ॥ १ ॥ रुद्राक्षालंकृता ये च ते वै भागवतोत्तमाः। रुद्राक्षधारणाच्छ्रेष्ठं न किंचिदपि विद्यते ॥ २ ॥ (पाद्मे) नरो भस्मसमायुक्तो रुद्राक्षान्यस्तु धारयेत्। महापापैरपि स्पृष्टो मुच्यते नात्र संशयः ॥

२ (मार्कण्डेयः)—चतुर्भिर्दर्भपिंजूलैर्ब्राह्मणस्य पवित्रकम्। एकैकन्यूनमुद्दिष्टं वर्णे वर्णे यथाक्रमम् ॥ (हारीतः) उभयत्र स्थितैर्दर्भैः समाचमति यो द्विजः। सोमपानं फलं तस्य भुक्त्वा यज्ञफलं भवेत् ॥ स्नाने होमे जपे दाने स्वाध्याये पितृकर्मणि। करौ सदर्भौ कुर्वीत तथा सन्ध्याभिवादने ॥ यथा वज्रं सुरेन्द्रस्य यथा चक्रं हरेस्तथा। त्रिशूलं च त्रिनेत्रस्य ब्राह्मणस्य पवित्रकम् ॥ कुशाः काशाः शरा दूर्वा यवगोधूमबिल्वजाः। सुवर्णं रजतं ताम्रं दश दर्भाः प्रकीर्तिताः ॥ यह कुश पवित्र करताहै इसको धारण करनेसे जल तीर्थरूप होजाताहै उच्छिष्टादिका भेद नहीं रहता। (व्यासः) कुशैः पूतं भवेत्स्नानं कुशेनोपस्पृशेज्जलम्। कुशेन चोद्धृतं तोयं सोमपानेन संमितम्-त्याज्यकुशाः—अपूता गर्भिता दर्भा ये चान्ये छेदिता नखैः। मार्गजा अग्निदग्धाश्च कुशान् यत्नेन वर्जयेत् ॥

इस मन्त्र से पवित्री पहिन कर बाएं हाथमें तीनसे अधिक और दहिने हाथमें पवित्री सहित तीन कुश लेवे अनन्तर हृदयादि पवित्र करे। यथा—

ॐ विष्णुर्विष्णुः ॐ वाग्वाक्। ॐ प्राणःप्राणः।
ॐ चक्षुश्चक्षुः । ॐ श्रोत्रंश्रोत्रम् । ॐ नाभिः ।
ॐ हृदयम्। ॐ कण्ठः। ॐ मुखम्। ॐ शिरः।
ॐ शिखा। ॐ बाहुभ्याम् । यशोबलम्।

इन स्थनोंको स्पर्श करे।

अपवित्रः पवित्रो वेत्यस्य वामदेव ऋषिः। गायत्री छन्दः। विष्णुर्देवता। हृदि पवित्रकरणे विनियोगः।
ॐ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥
ॐ भूः पुनातु शिरसि। ॐ भुवः पुनातु नेत्रयोः।
ॐ स्वः पुनातु कण्ठे। ॐ महः पुनातु हृदये।
ॐ जनःपुनातु नाभ्याम्। ॐ तपः पुनातु पादयोः।
ॐ सत्यं पुनातु पुनः शिरसि ॐ खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र॥

इन मन्त्रोंसे शरीरके ऊपर कुशासे जल छिडके इसके अनन्तर सन्ध्या करनेके लिये संकल्प करे। यथा—

संकल्पः—आदौ तिथिवारादि उच्चार्य्य ममोपात्तदुरितक्षयद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं प्रातःसन्ध्योपासनमहं करिष्ये। "पुनर्भूशुद्धयादिप्रयोगःकर्तव्यः"

इसके अनन्तर पृथ्वी शुद्ध करे (आसनशुद्धि) यथा—

नमस्कारः। दक्षिणे ॐ सरस्वत्यै नमः। ॐ शंखनिधये नमः। वामभागे ॐ लक्ष्म्यै नमः। ॐ पद्मनिधये नमः॥ आसनम्[1] ॥ पृथ्वि त्वयेति मन्त्रस्य मेरुपृष्ठ ऋषिः। सुतलं छन्दः। कूर्मो देवता। पृथिवी बीजम्। आकाशः शक्तिः। अन्तरिक्षं कीलकम्। आसने विनियोगः॥

ॐ पृथ्वि त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता।
त्वं च धारय मां देवि पवित्रं कुरु चासनम्॥

इस मन्त्रको पढ कर आसनके नीचे जल छिडके या हस्तसे स्पर्श करे।

प्रार्थना। ॐ विश्वशक्त्यै नमः। ॐ महाशक्त्यै नमः। ॐ कूर्मासनाय नमः। ॐ योगासनाय नमः। ॐ अनन्तासनाय नमः। ॐ विमलासनाय नमः। मध्ये। ॐ परमसुखासनाय नमः। ॐ भूर्भुवः स्वः आत्मासनाय नमः॥ अनेन मन्त्रेण पुष्पादिना आत्मनः आसनदानम्। ततो गायत्र्या शिखां[3] बद्ध्वा।

---

१ (व्यासः) कौशेयं कम्बलं चैव आसनं पट्टमेव च। दारुजं तालपत्रं वा आसनं परिकल्पयेत्॥ २ (व्यासः) अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च। योऽध्यापयेद्याजयेद्वा पापीयाञ्जायते तु सः॥

३ स्मृत्वा चोंकारगायत्रीं निबध्नीयाच्छिखां तथा। स्नाने दाने जपे होमे सन्ध्यायां देवतार्चने। शिखाग्रन्थिं विना कर्म न कुर्याद्वै कदाचन॥ आसने शयने सङ्गे भोजने दन्तधावने। शिखामुक्तिं सदा कुर्यादित्येतन्मनुरब्रवीत्॥ परन्तु खल्वाटने कुशकी शिखा बनाना। (संस्कारभास्करे) खल्वाटादिकदोषेण विशिखश्चेन्नरो भवेत्। कौशीं तदा धारयीत ब्रह्मग्रंथियुतां शिखाम्।

इस मन्त्रसे गन्धाक्षत पुष्प आसनके वीच भागपर छिडके । इसके अनन्तर— गायत्रीसे चुटैया बांधे दूसरा भी मन्त्र बोले । यथा—

चिद्रूपिणि महामाये दिव्यतेजःसमन्विते ।
तिष्ठ देवि शिखाबन्धे तेजोवृद्धिं कुरुष्व मे ॥

अनन्तर दिग्बन्धन करे । यथा—

अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भूमिसंस्थिताः ।
ये भूता विघ्नकर्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया ॥
अपक्रामन्तु भूतानि पिशाचाः सर्वतो दिशम् ।
सर्वेषामविरोधेन ब्रह्मकर्म समारभे ।
तीक्ष्णदंष्ट्र महाकाय कल्पान्तदहनोपम ॥
भैरवाय नमस्तुभ्यमनुज्ञां दातुमर्हसि ।

इसके अनन्तर आगे लिखे हुए मन्त्रसे अपने चारों तरफ तीन ताल वजाके चुटकी बजावे । यथा—

सर्वभूतनिवारकाय शार्ङ्गाय सशराय सुदर्शनायास्त्र-राजाय हुं फट् स्वाहा । ततः स्वदक्षिणभागे— ॐ गुरुभ्यो नमः । ॐ परमगुरुभ्यो नमः । ॐ परमेष्ठिगुरुभ्यो नमः । ॐ पूर्वसिद्धेभ्यो नमः । ॐ आचार्येभ्यो नमः । (स्ववामभागे) ॐ गणेशाय नमः । ॐ दुर्गायै नमः । ॐ क्षेत्रपालाय नमः । ॐ योगिनीभ्यो नमः।ॐ क्षेत्रेशाय नमः ॥

ऊपर लिखे हुए नामोंसे अपने दक्षिण वामभागमें गंधाक्षत पुष्पसे पूजन करे "अपसर्पन्तु०" इस मन्त्रसे बायें पादकी एडी (पार्ष्णि) से तीन बार भूमिमें ताडन (मारना—प्रहार) करे अनन्तर भूतशुद्धि । यथा—

भूरसीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । मातृका देवता । प्रस्तारपंक्तिश्छन्दः । भूशुद्धौ विनियोगः ।

अनन्तर भूमिमें हाथ रखकर आगे लिखे हुए मन्त्रको पढे ।

ॐ भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्श्वधाया विश्श्वस्य भुवनस्य धर्त्त्री पृथिवीं य्यच्छ पृथिवीन्दृꣳ ह पृथिवीम्माहिꣳसीः ।

तदनन्तर भैरवको नमस्कार करे-

यो भूतानामित्यस्य कौण्डिन्य ऋषिः। अनुष्टुप्छंदः। नारायणो देवता । भैरवनमस्कारे विनियोगः ।

ॐ यो भूतानामधिपतिर्यस्मिँल्लोकाऽअधिश्रिताः। यऽईशे महतो महाꣳस्तेन गृह्णामि त्वा महं गृह्णामि त्वामहम् ।

इति आसनक्रमः[1] ।

अथ भूतशुद्धिः[2] ।

स्वाङ्के उत्तानौ करौ कृत्वा संमीलितनयनयोर्मू-

---

१ यह आसनका क्रम सारांश लिखा गया है गायत्रीके अनुष्ठानवालेको या अन्य प्रकारके अनुष्ठान करनेवालेको अत्यन्त उपयोगी है जिससे इतना आसनका क्रम न होसके तो वह 'पृथिवीत्वयेत्यारभ्य पवित्रं कुरु चासनम्' पर्यन्त ही तक कर लेवे ।

२ भूतशुद्धिं विना देवि नाचमनं च सिद्धिदम् । प्राणायामं ततः प्रोक्तं तस्माद्भूतविशोधनम् ।। भूतशुद्धि बिना किये आचमन करनेको भी अधिकार नहीं है जिन पुरुषोंसे न होसके वे युग्म (दो) प्राणायाम करके तब सन्ध्या या अन्य कर्मका प्रारम्भ करें परन्तु देवार्चनमें तो अवश्य करना चाहिये ।। देवो भूत्वा यजेद्देवं नादेवो देवमर्च्चयेत् । देवार्चायोग्यताप्राप्त्यै भूतशुद्धिं समाचरेत् ।। भूतशुद्धिके सदृश दूसरा कर्म कुछ नहीं है क्योंकि यह योगमार्ग है विना योगसे अन्तःकरणकी शुद्धि, जीवात्मा परमात्माका योग नहीं होता । विना साधन किये स्वाद नहीं मिलता । केवल पाठही करनेसे अन्तःकरणका भ्रम नहीं निवृत्त होता ।

लाधारात् कुंडलिनीं विषतंतुतनीयसीं तडित्कोटिप्रभां सोमसूर्याग्निरूपिणीं हुमिति सचेतनां विधाय सुषुम्नामार्गेणोत्थाप्य हृदम्बुजे हंस इति जीवेन सह ब्रह्मरन्ध्रांतः परमशिवे संयोज्य पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशश्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थशब्दस्पर्शरूपरसगन्धब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवनिवृत्तिकलाप्रतिष्ठचकलाविद्याकलाशीतिकलाशात्यतीताकलाप्रकृतिमनोबुद्धचहङ्कारवचनादानगमनविसर्गानन्देतितत्त्वानि तत्र लीनानि विचिन्त्य भुवं जले, जलमग्नौ, अग्निं वायौ वायुमाकाशे, आकाशमहङ्कारे, अहंकारम्महतत्त्वे, महतत्त्वं प्रकृतौ, प्रकृतिमात्मनि विप्रलाप्य वामकुक्षिस्थपापं ध्यायेत् ।

ब्रह्महत्याशिरःस्कन्धं स्वर्णस्तेयभुजद्वयम् ।
सुरापानं च हृदयं गुरुतल्पकटिद्वयम् ॥
तत्संसर्गपदद्वन्दमङ्गप्रत्यङ्गपातकम् ।
खड्गचर्मधरं क्रुद्धमधश्चक्रं स्मरेत्ततः ॥

यमिति वायुबीजं कृष्णवर्णं वा मनसि विचिन्त्य तस्य षोडशवारजपेन पूरकं, तस्य चतुष्षष्टिवारजपेन कुम्भकं, तस्य द्वात्रिंशद्वारजपेन पापं संशोष्य दक्षनासया रेचनं कुर्यात् । रमिति वह्निबीजं रक्तवर्णं दक्षनसि विचिन्त्य तस्य षोडशवारजपेन

पूरकं, तस्य चतुःषष्टिवारजपेन कुम्भकं कृत्वा स-देहं पापं संदह्य तस्य द्वात्रिंशद्वारजपेन तद्भस्मना रेचयेत् ॥ ठमिति चन्द्रबीजे ललाटे विचिन्त्य तस्य षोडशवारजपेन वामनासया पूरयेत् वमिति वरुणबीजं शुक्लवर्णं विचिन्त्य तस्य चतुष्षष्टिवारं जपेन कुम्भकं कृत्वा तदुद्भवामृतेन प्लावयेत्, लमिति पृथिवीबीजं पीतवर्णं विचिन्त्य तस्य द्वात्रिंशद्वारजपेन दक्षनासया रेचयेत् । सोहमिति कुण्डलिनीं जीवेन सह तेनैव मार्गेण स्वस्थाने समा-नयेत्ततस्तत्त्वानि च क्रमेण स्वस्थाने समानयेत् । इति । संक्षेपतो भूतशुद्धिः[1] ॥ ततो जलपूरितकल-शोपरि हस्तौ संस्थाप्य ब्रूयात्[2] ।

इसके अनन्तर कलश (जलपात्र) में तीर्थोंका आवाहन करे, जलपात्र (लोटा) के ऊपर हाथ रखकर आगे लिखे हुए मन्त्रोंको बोले--

१ यह भूतशुद्धि संक्षेपमें लिखी गई, स्वाङ्कसे समानयेत् पर्यन्त उच्चारण करनेमें जो जो विषय कहा है उसको साधक शनैः शनैः क्रमसे भावना किया करै करते २ कुछकालमें इसका अनुभव भासित होने लगताहै तब इसका स्वाद मालूम होगा । यदि शीघ्रताकी इच्छा हो तो गुरुके समीप कुछ काल अभ्यास करे तब इसका आनन्द अच्छे प्रकारसे मालूम होगा परन्तु इसका स्वाद शीघ्रकारी आलसी पुरुषोंको नहीं मिल सकता । २ कलशमें तीर्थोंका आवाहन करनेको यदि कोई पुरुष कहै कि क्या देवपूजा करनाहै ? तो क्या सन्ध्या किसी देवपूजासे कम है ? कि जिसमें जल ही प्रधान है अर्थात् कहीं आचमन कहीं मार्जन और कहीं अर्घ्यादिक हैं ये सब कर्म जलसे ही होतेहैं, और इन्हीसे शरीरके बाह्याभ्यन्तरके मल दूर होतेहैं, इससे जलशुद्धि अवश्य ही करना चाहिये विना जलशुद्धिके कोई भी कर्मकांड सिद्ध नहीं होता । यदि सब न होसके तो गायत्रीसे जल अभिमंत्रित करलेवे और नदीतट पर सन्ध्या करना होवे तो वहां भी गायत्रीसे जल अभिमंत्रित करलेवे यह कर्मकांडकी मर्यादा है ।

यथा-सर्वे समुद्राः सरितस्तीर्थानि जलदा नदाः।
आयान्तु मम शान्त्यर्थं दुरितक्षयकारकाः॥
कलशस्य मुखे विष्णुः कण्ठे रुद्रः समाश्रितः।
मूले तस्य स्थितो ब्रह्मा मध्ये मातृगणाः स्मृताः॥
कुक्षौ तु सागराः सर्वे सप्तद्वीपा वसुन्धरा।
ऋग्वेदोथ यजुर्वेदः सामवेदो ह्यथर्वणः॥
अङ्गैश्च सहिताः सर्वे कलशं तु समाश्रिताः॥

इत्यावाह्य वरुणमावाहयेत्।

ॐ तत्वायामि ब्रह्मणाव्वन्दमानस्तदाशास्ते यज-मानो हविर्ब्भिः। अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुश ᳪ समानऽआयुः प्रमोषीः-

अस्मिन्कलशे वरुणं साङ्गं सपरिवारं सायुधं सश-क्तिकमावाहयामि। कलशदेवताभ्यो नमः। गन्धा-क्षतपुष्पाणि समर्पयामि। धेनुमुद्रां प्रदर्श्य-

इस आवाहित जलसे शरीर पर मार्जन करके सन्ध्या कर्मका आरम्भ करे अर्थात् आगे लिखे हुए मन्त्रोंसे आचमनादिक करे। प्रथम आचमनका मन्त्र यह है।

विनियोगः।

अघमर्षणसूक्तस्याघमर्षण ऋषिः। अनुष्टुप्छन्दः भाववृतो देवता। अश्वमेधावभृथे विनियोगः॥

मन्त्रः।

ॐ ऋतञ्च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः समुद्रादर्णवादधि

संवत्सरो अजायत अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्व्वमकल्पयत् दिवञ्च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ।

इस मन्त्रको पढकर तीन आचमन करे अनन्तर विनियोग करके प्राणायाम करे। यथा–

विनियोगः ।

ॐकारस्य ब्रह्मा ऋषिर्गायत्री छन्दोऽग्निर्देवता शुक्लो वर्णः सर्वकर्मारम्भे विनियोगः ।

सप्तव्याहृतीनां प्रजापतिऋषिर्गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपंक्तित्रिष्टुब्जगत्यश्छन्दांस्यग्निवाय्वादित्यबृहस्पतिवरुणेन्द्रविश्वदेवा देवता अनादिष्टप्रायश्चित्ते प्राणायामे विनियोगः ॥ गायत्र्या विश्वामित्र ऋषिर्गायत्रीछन्दः सविता देवता अग्निर्मुखमुपनयने प्राणायामे विनियोगः ।

शिरसः प्रजापतिऋषिस्त्रिपदा गायत्रीच्छन्दो ब्रह्माग्निवायुसूर्य्या देवता प्राणायामे विनियोगः ।

जहां कहीं विनियोग शब्द आवे वहां जल छोड देवे ।

---

१ (आपस्तम्बः) अकार्यकरणे चैव अभक्षस्य च भक्षणे । अघमर्षणसूक्तेन पीत्वाऽपः शुद्ध्यते द्विजः ॥ (मनुः) यथाऽश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापनोदनः । तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापप्रणाशनम् ॥

प्राणायाममन्त्र।

ॐ भूः ॐभुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यम् ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॐ आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् ॥

१ पद्मासन या स्वस्तिकासनसे बैठकर सावधानतासे शरीरको सीधा कर आंख मूंद (नयनोन्मीलित) नासिकाके दहिने छिद्रको दहिने हाथके अंगूठासे दाबकर वामनासिकाके छिद्रसे धीरे २ श्वासको खींचे श्यामवर्ण चतुर्भुज विष्णु भगवानका ध्यान नाभिदेशमें करता हुआ श्वास पूरे होते होते तीन बार मनमें मन्त्रका उच्चारण करे। अनन्तर अनामिका मध्यमासे बायें छिद्रको भी दाबकर उसी खींची हुई श्वासको रोककर हृदयमें कमलासन पर बैठे हुए रक्त वर्ण चतुर्मुख ब्रह्माजीको ध्यान करता हुआ उसी मन्त्रको पुनः तीन बार उच्चारण करे। अनन्तर उस रुकी हुई श्वासको अंगूठेको क्रमसे छोड दहिने छिद्रसे धीरे २ माथे (ललाट) में श्वेतवर्ण त्रिनेत्र श्रीशिवजी महाराजका ध्यान करता हुआ तीन बार मन्त्रका उच्चारण करते २ छोडे (यह एक प्राणायाम हुआ) परन्तु प्राणायाम दोसे कम न करना चाहिये। पुनः दहिने छिद्रसे उसी श्वासको खंडित न करके पहिलेकी तरह खींचे (पूरक) पुनः रोक वामसे छोडे यह प्राणायामका क्रम है अधिक करना हो तो श्वासको खंडित न करके लोम विलोम क्रमसे करता जावे ॥ सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह । त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥ दह्यमानोऽनुतापेन कृत्वा पापानि मानवः । शोचमानस्त्वहोरात्रं प्राणायामैर्विशुद्ध्यति ॥ यथा पर्वतधातूनां दोषान्हरति पावकः । एवमन्तर्गतं पापं प्राणायामेन दह्यते ॥ (कात्यायनः)—दक्षिणे रेचयेद्वायुं वामेन पूरितोदरम् । कुम्भकेन जपं कुर्यात्प्राणायामो भवेदिति ॥ बाह्यवायोरन्तःप्रवेशनं पूरकः । प्रवेशितस्य धारणं कुम्भकः । धृतस्य बहिर्निःसारणं रेचकः । (प्र०पारिजाते) पञ्चांगुलीभिर्नासाग्रं पीडयेत्प्रणवेन वै । मुद्रेयं सर्वपापघ्नी वानप्रस्थगृहस्थयोः ॥ कनिष्ठानामिकांगुष्ठैर्यतेश्च ब्रह्मचारिणः । "यह योग विषयक है"—पांचों अंगुलियोंसे नासिकाको दाब अर्थात् वायुको न खींचे (पूरक) न छोडे (रेचक) शुद्ध कुम्भक कर प्रणवका जप करे "कालस्य नियमो नास्ति" सामर्थ्यपर्यन्तं धारणं कर्तव्यमेव पापघ्नी मुद्रा ॥ (अगस्त्यः) प्राणायामैर्विना यद्यत्कृतं कर्म निरर्थकम् । अतो यत्नेन कर्तव्यः प्राणायामः शुभार्थिना ॥

प्राणायामके अनन्तर आगे लिखे हुए मन्त्रसे तीन आचमन करे।

विनियोगः।

सूर्यश्चमेति ब्रह्मा ऋषिः। प्रकृतिश्छन्दः। सूर्यो देवता। अपामुपस्पर्शने विनियोगः।

मन्त्रः।

ॐ सूर्य्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्तां यद्रात्र्या पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना रात्रिस्तदवलुम्पतु यत्किञ्चिद्दुरितं मयि इदमहं माममृतयोनौ सूर्य्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा॥

इसके अनन्तर कुशसे मन्त्रोंके सात भागोंसे शिर पर आठवेंसे भूमि पर पुनः नववेंसे शिर पर मार्जन करे। यथा—

विनियोगः।

आपोहिष्ठेत्यादित्र्यृचस्य सिन्धुद्वीप ऋषिः। गायत्रीच्छन्दः। आपो देवता। मार्जने विनियोगः।

---

१ देवीभा०—"तत आचमनं कृत्वा सूर्यश्चेति पिबेदपः। अन्तःकरणसंभिन्नं पापं तस्य विनश्यति॥"

२ (छ०प०) रक्षार्थं वारिणात्मानं परिक्षिप्य समन्ततः। शिरसो मार्जनं कुर्यात्कुशैः सोदकबिन्दुभिः। (अङ्गिराः)—मार्जनं तर्पणं श्राद्धं न कुर्याद्वारिधारया। कुर्याच्चेद्वारिधाराभिस्तत्सर्वं निष्फलं भवेत्॥ (याज्ञवल्क्यः) सर्वतीर्थाऽभिषेकं च ह्यूर्ध्वं संमार्जनाद्भवेत्। अधोभागे विसृष्टाभिरसुरा यान्ति संक्षयम्॥ (नारायणोपनिषदि) ये ब्राह्मणास्त्रिसुपर्णं पठन्ति ते सोमम्प्राप्नुवन्ति। भ्रूणहत्यां वा एते घ्नन्ति आसहस्रात्पंक्तिं पुनन्ति। (देवीभा०) "नश्येदघं मार्जनेन संवत्सरसमुद्भवम्।" ऋग्विधाने—नवप्रणवयुक्तेन आपोहिष्ठेत्यृचेन तु। संवत्सरकृतं पापं मार्जनान्ते विनश्यति॥"

मन्त्रः ।

ॐ आपोहिष्ठामयोभुवः १ ॐ तानऊर्जेदधातन २ ॐ महेरणाय चक्षसे ३ ॐ यो वः शिवतमो रसः ४ ॐ तस्य भाजयतेह नः ॐ उशतीरिव मातरः ६ ॐ तस्मा अरङ्गमामवः ७ ॐ यस्य क्षयाय जिन्वथ ८ ॐ आपोजनयथा च नः ९ ।

इसके अनन्तर हाथमें जल ले "द्रुपदादि" मन्त्रको तीन वार पढ कर उस जलको शिरपर छोडे परन्तु तीसरी वारमें मन्त्रका अन्त होते दूसरे हाथसे जलको ढाँप तब शिर पर छोडे । यथा—

विनियोगः ।

द्रुपदादिवेतिकोकिलो राजपुत्र ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । आपो देवता । सौत्रामण्यवभृथे विनियोगः ।

मन्त्रः ।

ॐ द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव । पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः ।

इसके अनन्तर हाथमें जल ले नासिकामें लगाके मन्त्रको तीन बार या एक बार मनसे उच्चारण करता हुआ नासिकाके दहिने छिद्रसे वायुको खींचे अनन्तर उस वायुको वाम छिद्रसे पाप बहिर्गत हुआ ऐसा स्मरण करता हुआ छोड़े । पुनः उस जलको न देखकर वाम भागमें पटक (छोड) दे यदि जलको भी वायुके संग खींच बामसे छोडे तो उत्तम पक्ष है (ऐसा होसकता है, कुछ लोग करते भी हैं) ।

---

१ (याज्ञवल्क्यः) पुण्या अपः समादाय त्रिःपठेद्द्रुपदादिवम् । ततोयं मूर्ध्नि विन्यस्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ द्रुपदा नाम सा देवी यजुर्वेदे प्रतिष्ठिता । अन्तर्जले वर्त्य मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥

विनियोगः ।

अघमर्षणसूक्तस्याघमर्षण ऋषिः। अनुष्टुप्छन्दः।
भाववृतो देवता। अश्वमेधावभृथे विनियोगः ।

मन्त्रः ।

ॐ ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ततो
रात्रिरजायत ततः समुद्रोऽअर्णवः समुद्रादर्णवा-
दधि संवत्सरो अजायत अहोरात्राणि विदधद्विश्व-
स्य मिषतो वशी सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्व्व-
मकल्पयत् दिवञ्च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥

इसके अनन्तर आगे लिखे हुए मन्त्रसे आचमन करे ।

विनियोगः ।

अन्तश्चरसीति तिरश्चीनऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः ।
आपो देवता । अपामुपस्पर्शने विनियोगः ॥

मन्त्रः ।

ॐ अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतो मुखः।
त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कार आपो ज्योती रसोऽमृतम् ।

इसके अनन्तर गन्धाक्षतपुष्प सहित सूर्यनारायणको गायत्री पढकर ३ अर्घ्य देवे परन्तु तर्जनी अंगूठेको अंजलीमें स्पर्श न करे ।

विनियोगः ।

ॐ महाव्याहृतीनां परमेष्ठी प्रजापतिऋषिः । गा-

---

१ (शौनकः)—उद्धृत्य दक्षिणे हस्ते जलं गोकर्णवत्कृते । निष्कास्य नासिकाग्रे तु पाप्मानं पुरुषं स्मरेत् ॥ ऋतञ्चेति त्र्यृचं वापि द्रुपदां वा जपेदृचम् । दक्षनासापुटेनैव पाप्मानमपसारयेत् ॥ तज्जलं नावलोक्याथ वामभागे क्षितौ क्षिपेत् । (कात्यायनः) करेणोद्धृत्य सलिलं घ्राणमासज्य तत्र च ॥ जपेदानियताः सर्वांस्त्रिः सकृद्वाघमर्षणम् ॥

यत्र्युष्णिगनुष्टुभश्छन्दांसि । अग्निवाय्वादित्या देवताः । गायत्र्या विश्वामित्रऋषिः। गायत्रीछन्दः । सविता देवता । सूर्यार्घ्यदाने विनियोगः ।

अर्घ्यमन्त्रः ।

ओँभूर्भुवः स्वः ओँ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ओं ।

इसके अनन्तर दो या सात प्रदक्षिणा[2] करके एक पैरसे हाथ जोड़ या अञ्जलि करके आगे लिखे हुए मन्त्रसे सूर्यका उपस्थान (स्तुति) करे । (कहीं उद-

---

१ (व्यासः) कराभ्यां तोयमादाय गायत्र्या चाभिमन्त्रितम् । आदित्याभिमुखस्तिष्ठं-स्त्रिरूर्ध्वं सन्ध्ययोः क्षिपेत् ॥ सकृदेव तु मध्याह्ने क्षेपणीयं द्विजातिभिः । (संग्रहे)— गायत्रीं शिरसा हीनां महाव्याहृतिपूर्विकाम्॥प्रणवाढ्यां जपंस्तिष्ठन् क्षिपेद्वाञ्जलित्रयम् ॥ (कात्यायनः)—उत्थायार्कं प्रतिप्रोहेत्त्रिकेनांजलिनाम्भसा । देवीभागवते—"उत्थाय तु ततः पादौ द्वौ समौ सन्नियोजयेत् । जलाञ्जलिं गृहीत्वा तु तर्जन्यंगुष्ठवर्जितम् ॥ वीक्ष्य भानुं क्षिपेद्वारि गायत्र्या चाभिमंत्रितम् । त्रिवारं मुनिशार्दूल विधिरेषोर्घमोचने ॥ ततः प्रदक्षिणां कुर्यादसावादित्यमंत्रतः ॥" (अन्यच्च) प्रातर्मध्याह्नयोः सन्ध्यां तिष्ठन्नेव समापयेत् । उपविश्य तु सायाह्ने जले ह्यर्घ्यं न निक्षिपेत् ॥ एकं वाहननाशाय द्वितीयं शस्त्रनाशनम् ॥ असुराणां वधार्थाय तृतीयार्घ्यं विदुर्बुधाः । वायुपुराणे—"ओंकारब्रह्मसंयुक्तं गायत्र्या चाभिमंत्रितम् । तेन दह्यंति ते दैत्या वज्रभूतेन वारिणा ॥" तैत्तरीयश्रुतिः—ता आपो वज्रीभूतास्तानि रक्षांसि मंदेहारुणे द्वीपे प्रक्षिपन्ति ॥" (अर्घ्यमुद्रा—संग्रहे) मुक्तहस्तेन दातव्यं मुद्रां तत्र न कारयेत् । तर्जन्यंगुष्ठयोगे तु राक्षसी मुद्रिका स्मृता । राक्षसी मुद्रिकार्घ्येचेत्तत्तोयं रुधिरं भवेत् ॥ द्वौ पादौ तु समौ कृत्वा पूरयेदुदकाञ्जलीन् । गोशृङ्गमात्रमुत्क्रम्य जलमध्ये जलं क्षिपेत् ॥ (तीनों अर्घ्यका विनियोग, न्यास, ध्यान, मंत्र अन्य प्रकारका तंत्रोक्त मेरे पास है परन्तु संकेतके कारण लिख नहीं सकता । ब्रह्मपुराणे—यावन्न दीयते चार्घो भास्कराय निवेदितः । तावन्न पूजयेद्विष्णुं शंकरं च महेश्वरीम् ॥

२ एका चण्ड्या रवेः सप्त तिस्रः कार्या विनायके । हरेश्चतस्रः कर्तव्या शिवस्यार्धप्रदक्षिणा ॥ (बह्वृचपरिशिष्टे) एकां विनायके कुर्याद्द्वे सूर्ये तिस्र ईश्वरे । चतस्रः केशवे कुर्यात्सप्ताश्वत्थे प्रदक्षिणाः ॥

स्थानके अनन्तर प्रदक्षिणा करना कहा है और कहीं गायत्री जपके पश्चात् प्रदक्षिणा कही है)

[१]विनियोगः ।

उद्वयमित्यस्य हिरण्यस्तूपऋषिः । गायत्री छन्दः । सूर्यो देवता । सूर्योपस्थाने विनियोगः ।

उदुत्यमित्यस्य प्रस्कण्वऋषिः। गायत्रीछन्दः । सूर्यो वता । सूर्योपस्थाने विनियोगः ।

चित्रमित्यस्य कौत्सऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । सूर्यो देवता । सूर्योपस्थाने विनियोगः ।

तच्चक्षुरित्यक्षरातीतपुरउष्णिक् छन्दः । दध्यङ्ङा-थर्वण ऋषिः । सूर्यो देवता । सूर्योपस्थाने विनियोगः ।

मन्त्रः ।

ओ३म् उद्वयं तमसस्परिस्वः परिपश्यन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्यमगन्मज्ज्योतिरुत्तमम् ।

ओ३म् उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्यम् ।

---

१ (याज्ञवल्क्यः) गायत्र्यास्तु जपं कृत्वा पूर्वं चैव यथाविधि । उपस्थानं स्वकैर्मन्त्रैरादित्यस्य तु कारयेत् । उदुत्यं चित्रं देवानामुद्वयन्तमसस्परि । तच्चक्षुर्देव इति च एकचक्रेति वैधि च ॥ उदगादित्ययं मंत्र आकृष्णेनेति वै ऋचा । तृप्तात्मा संप्रयुञ्जीत शक्त्यान्यानि जपेत्सदा ॥ सन्ध्याद्वयेप्युपस्थानमेवमाहुर्मनीषिणः । मध्याह्ने उदये चैव विभ्राडादीच्छया भवेत् ॥ तदसंयुक्तपार्ष्णिर्वा एकपादो द्विपादपि । जपेत्कृताञ्जलिर्वाऽपि ऊर्ध्वबाहुरथापि वा ॥(अत्रिः) आदित्योपस्थानादिह कृतैश्च पापैः प्रमुच्यते । अन्यच्च—"हस्ताभ्यां स्वस्तिकं कृत्वा प्रातस्तिष्ठेद्दिवाकरम् । मध्याह्ने तु ऊर्ध्वबाहुं सायं मुकुलितौ करौ ॥"

ॐ चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुण-स्याग्नेः आप्राद्यावापृथिवी अन्तरिक्षँ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।

ॐ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतँ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।

इसके अनन्तर बैठकर आगे लिखे हुए क्रमसे गायत्रीका न्यास[1] करे।

ॐ भूः अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ॐ भुवः तर्जनीभ्यां नमः। ॐ स्वः मध्यमाभ्यां नमः। ॐ तत्सवितुर्वरे-ण्यम् अनामिकाभ्यां नमः। ॐ भर्गो देवस्य धीमहि कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ॐ धियो यो नः प्रचोद-यात् करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः। ॐ भूः हृदयाय नमः। ॐ भुवः शिरसे स्वाहा। ॐ स्वः शिखायै वषट्। ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं कवचाय हुम्। ॐ भर्गो देवस्य धीमहि नेत्रत्रयाय वौषट् ॐ धियो यो नः प्रचोदयात् अस्त्राय फट्। अथाक्षरन्यासः। ॐ तकारं पादांगुष्ठयोः, ॐ सकारं गुल्फयोः, ॐ विकारं जंघयोः, ॐ तुकारं जान्वोः। ॐ वकारं

---

१ (तन्त्रान्तरे)—न्यासेन नितरां देहे आस्यमन्त्राक्षराणि च। मन्त्राक्रान्तिर्जपान्नि-त्यं साधकः सिद्धिमाप्नुयात्॥ न्यासं विना कृता मन्त्रक्रियाः सर्वा विनिष्फलाः। तस्मा-न्न्यासः प्रकर्त्तव्यो मन्त्रागतफलेप्सुभिः॥

ऊर्वोः, ॐ रेकारं गुह्ये, ॐ णिकारं लिङ्गे, ॐ यकारं कट्याम्, ॐ भकारं नाभौ, ॐ गोंकारं उदरे, ॐ देकारं स्तनयोः, ॐ वकारं हृदये, ॐ स्यकारं कंठे , ॐ धीकारं मुखे ॐ मकारं तालुदेशे, ॐ हिकारं नासिकाग्रे, ॐ धिकारं नेत्रयोः ॐ योकारं भ्रुवोर्मध्ये, ॐ द्वितीययोकारं ललाटे, ॐ नःकारं पूर्वमुखे, ॐ प्रकारं दक्षिणमुखे, ॐ चोकारं पश्चिममुखे, ॐ दकारं उत्तरमुखे, ॐ याकारं मूर्ध्नि, ॐ व्यञ्जनतकारं व्यापकं सर्वतो न्यसेत् ।

इसके अनन्तर गायत्रीके जपनिमित्त आगे लिखे हुए क्रमसे विनियोग करे ।

विनियोगः ।

ॐकारस्य ब्रह्मा ऋषिः ।गायत्रीछन्दः । अग्निर्देवता । शुक्लो वर्णः । जपे विनियोगः ।

त्रिव्याहृतीनां प्रजापतिऋषिः । गायत्र्युष्णिगनुष्टुभश्छन्दांसि । अग्निवाय्वादित्या देवताः । जपे विनियोगः ।

तत्सवितुरित्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । गायत्री छन्दः । सविता देवता । वायव्यं बीजम् । चतुर्थं शक्तिः । पंचविंशतिर्व्यञ्जनानि कीलकम् । चतुर्थं पदम् । प्रणवः अग्निमुखम् । ब्रह्मा शिरः । विष्णुर्हृदयम् । रुद्रः कवचम् । परमात्मा शरीरम् ।

श्वेतो वर्णः । सांख्यायनगोत्राः । षट् स्वराः । सरस्वती जिह्वा । पिङ्गाक्षी त्रिपदा गायत्री । अशेषपापक्षयार्थे जपे विनियोगः ।

इसके अनन्तर हाथमें पुष्प ले या हाथ जोड कर आगे लिखे हुए रूपको ध्यान करे ।

ध्यानम् ।

मुक्ताविद्रुमहेमनीलधवलच्छायैर्मुखैस्त्रीक्षणै-
र्युक्तामिन्दुनिबद्धरत्नमुकुटां तत्त्वात्मवर्णात्मिकाम् ।
गायत्रीं वरदाभयांकुशकशाः शुभ्रं कपालं गुणं
शंखं चक्रमथारविन्दयुगलं हस्तैर्वहन्तीं भजे ॥

इसके अनन्तर गायत्रीका आवाहन करे ।

विनियोगः ।

तेजोसीति देवा ऋषयः । शुक्रं दैवतम् । गायत्रीच्छन्दो गायत्र्यावाहने विनियोगः ।

मन्त्रः ।

ॐ तेजोसि शुक्रमस्यमृतमसि धामनामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि ।

इसके अनन्तर आगे लिखे हुए मन्त्रसे उपस्थान करे ।

विनियोगः ।

तुरीयपदस्य विमल ऋषिः । परमात्मा देवता गायत्री छन्दः । गायत्र्युपस्थाने विनियोगः ।

---

१ देवता न च संतुष्टा सर्वदा संमुखी भवेत् । अंगुष्ठौ निक्षिपेत्सेयं मुद्रा त्वावाहनी मता ॥ संग्रथ्य निक्षिपेत्सेयं मुद्रा त्वावाहनी स्मृता ॥

मन्त्रः ।

ॐ गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि नहि पद्यसे नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परो रजसे सावदोम् ।

इसके अनन्तर आगे लिखे हुए क्रमसे शापमोचन करे ।

अस्य श्रीब्रह्मशापविमोचनमन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिः । गायत्री छन्दः । गायत्रीशक्तिर्देवता । ब्रह्मशापविमोचनार्थे जपे विनियोगः ॥

गायत्रीं ब्रह्मेत्युपासीत यद्रूपं ब्रह्मविदो विदुः तां पश्यन्ति धीराः सुमनसा वाचमग्रतः ॐ वेदान्तनाथाय विद्महे हिरण्यगर्भाय धीमहि तन्नो ब्रह्म प्रचोदयात् । ॐ देवी गायत्री त्वं ब्रह्म शापाद्विमुक्ता भव ॥

अस्य श्रीवशिष्ठशापविमोचनमन्त्रस्य निग्रहानुग्रहकर्ता वशिष्ठ ऋषिः । वशिष्ठानुगृहीता गायत्रीशक्तिर्देवता । विश्वोद्भवा गायत्री छन्दः । वशिष्ठशापविमोचनार्थे जपे विनियोगः ।

ॐ सोहमर्कमयं ज्योतिरात्मज्योतिरहं शिवः । आत्मज्योतिरहं शुक्रः सर्वज्योती रसोस्म्यहम् ।

---

१ शापयुक्ता तु गायत्री सफला न कदाचन । शापादुत्तारिता सा तु भुक्तिमुक्तिफलप्रदा ॥ मतान्तरसे शापमोचनके अनेक भेद हैं परन्तु मुख्यतया तीन हैं । यथा—(देवीभा०) "ब्रह्मशापस्ततो विश्वामित्रस्य च तथैव च । वशिष्ठशाप इत्येतात्रिविध शापलक्षणम् ॥"

ॐ देवि गायत्रि त्वं वशिष्ठशापाद्विमुक्ता भव ॥
अस्य श्रीविश्वामित्रशापविमोचनमन्त्रस्य नूतन-
सृष्टिकर्ता विश्वामित्र ऋषिः। विश्वामित्रानुगृहीता
गायत्री शक्तिर्देवता। वाग्देहा गायत्रीछन्दः। विश्वा-
मित्रशापविमोचनार्थे जपे विनियोगः। गायत्रीं
भजाम्यग्निमुखीं विश्वगर्भां यदुद्भवाः। देवाश्चक्रिरे
विश्वसृष्टिं तां कल्याणीमिष्टकरीं प्रपद्ये यन्मुखा
न्निसृतोऽखिलवेदगर्भः। ॐ देवि गायत्रि त्वं विश्वा-
मित्रशापाद्विमुक्ता भव ॥

इसके अनन्तर २४ मुद्रा करे।

मुद्राः।

सुमुखं १ संपुटं २ चैव विततं विस्तृतं ३
तथा ॥ एक ४ द्वि ५ त्रिमुखं ६ चैव चतुः ७
पञ्चमुखं ८ तथा ॥ षण्मुखाऽ ९ धोमुखं १०
चैव व्यापकाञ्जलिकं ११ तथा ॥ शकटं १२
यमपाशं १३ च ग्रंथितं १४ चोन्मुखोन्मुखम् ॥
१५ प्रलंबं १६ मुष्टिकं १७ चैव मत्स्यः १८
कूर्म १९ वराहकौ ॥ २० सिंहाक्रांतं २१ महा-
क्रातं २२ मुद्गरं २३ पल्लवं २४ तथा ॥ एता मुद्राश्च-
तुर्विंशज्जपादौ परिकीर्त्तिताः ॥

१ एता मुद्रा न जानाति गायत्री निष्फला भवेत्। देवीभा०—न जातु दर्शयेन्मुद्रा महाजनसमागमें। क्षुभ्यन्ति देवतास्तस्य निष्फलं च भवेदिति ॥

इन मुद्राओंको करके अनन्तर गायत्रीसे तीन आचमन करे। यथा–

ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं स्वाहा । ॐ भर्गो देवस्य धीमहि स्वाहा । ॐ धियो यो नः प्रचोदयात् स्वाहा ।

इस क्रमसे तीन आचमन करके अनन्तर सावधान हो रुद्राक्षकी[२] माला गोमुखीमें स्थापित या वस्त्रसे आच्छादित (ढांप–मूंद) कर मन्त्रके अर्थको समझता हुआ तीनों पदोंको भिन्न २ उच्चारण करता एकाग्र चित्तसे पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख होकर गायत्रीका जप करे। चाहे कोई काल हो।

गायत्रीजपस्वरूपम् ।

ॐ भूर्भुवः स्वः ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् । ॐ ॥

---

१ (शंखः)–कुशमयासनासीनः कुशोत्तरीयवान् कुशपवित्रपाणिः प्राङ्मुखः सूर्याभिमुखो वा अक्षमालामादाय देवताध्यायी जपं कुर्यात् ।

२ अतिस्थूलोऽतिसूक्ष्मश्च स्फुटितो भंगुरिर्लघुः । भिन्नः पुरा धृतो जीर्णो रुद्राक्षो वरदः स्मृतः ॥ (स्कान्दे) रुद्राक्षमालया जप्तो मन्त्रोनन्तफलप्रदः । अनामिकादिद्वयं पर्व कनिष्ठादिक्रमेण च । तर्जनीमूलपर्यन्तं करमाला प्रकीर्तिता ॥ शक्तेः करमाला–सनत्कुमारसंहितायाम्–"पर्वद्वयमनामायाः परिवर्तेन वै क्रमात् । पर्वत्रयं मध्यमायास्तर्जन्येकं समाहरेत् ॥ अंगुल्यग्रेषु यज्जप्तं यज्जप्तं मेरुलंघने । असंख्यातं तु यज्जप्तं तत्सर्वं निष्फलं भवेत्॥"(आ.का.)–मध्यमादिद्वयं पर्व जपकाले तु वर्जयेत् । तं वै मेरुं विजानीयात्कथितं ब्रह्मणा पुरा ॥ गुरुं प्रकाशयेद्धीमान्मन्त्रं नैव प्रकाशयेत् । अक्षमालां च मुद्रां च गुरुं नैव प्रदर्शयेत् ॥ अर्थात् माला और मुद्राको यत्नसे गुप्त रक्खै इसी वास्ते गोमुखीमें या कपडेसे ढांपके माला रखना चाहिये । गुरु अपना बतलावे परन्तु मन्त्र किसीसे न बतलावे । और माला, मुद्राको इस तरह गुप्त रक्खे कि गुरु भी न देखे (यतः मन्त्रस्य पुंस्त्वं मालायाः स्त्रीत्वं च तयोः संयोगो रहस्येव भवति)

३ (स्मृत्यन्तरे)–सम्पुटैकषडोङ्कारा गायत्री त्रिविधा मता । तत्रैकप्रणवा ग्राह्या गृहस्थैर्ब्रह्मचारिभिः ॥ गृहस्थो ब्रह्मचारी च प्रणवाद्यामिमां जपेत् । अन्ते यः प्रणवं कुर्यान्नासौ वृद्धिमवाप्नुयात् ॥ सम्पुटां च षडोंकारां गायत्रीं च जपेद्यतिः ।–

यथाशक्ति जप करके तीन मालासे कम कभी भी ब्राह्मण जप न करे। अनन्तर गोमुखी शिरपर रख गायत्रीसे तीन आचमन करके आठ मुद्रा करे।

मुद्राः ।

सुरभि १ र्ज्ञान २ वैराग्यं ३ योनिः ४ शंखो ५ थ पङ्कजम् ६ ॥ लिङ्ग ७ निर्वाण ८ मुद्रेति जपान्तेष्टौ प्रदर्शयेत् ॥

इन मुद्राओंको करके हाथमें जल ले आगे लिखे हुए वाक्यसे जल छोड देवे।

गुह्यातिगुह्यगोप्त्री त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम् ।
सिद्धिर्भवतु मे देवि त्वत्प्रसादान्महेश्वरि ॥

इसके अनन्तर गायत्रीसे षडंगन्यास करे पश्चात् गोमुखी शिर परसे उतार कर सूर्यको आगे लिखे हुए मन्त्रसे नमस्कार करे ।

एकचक्र इत्यस्य नारायणऋषिः । उष्णिक् छन्दः । सूर्यो देवता । सूर्यनमस्कारे विनियोगः ।

एकचक्रो रथो यस्य दिव्यः कनकभूषितः ।
स मे भवतु सुप्रीतः पद्महस्तो दिवाकरः ॥

—(गायत्रीपंचाङ्गे)—धर्मशास्त्रपुराणेषु इतिहासेषु सुव्रत । पंचप्रणवसंयुक्तां जपेदित्यनुशासनम् ॥(विश्वामित्रकल्पे)—ओंकारं पूर्वमुच्चार्य भूर्भुवस्वस्तथैव च । गायत्रीं प्रणवान्तां च मध्ये त्रिप्रणवां तथा ॥ (मनुः) ओंकारः पूर्वमुच्चार्यो भूर्भुवस्वस्तथैव च । गायत्रीं प्रणवश्चान्ते जप एवमुदाहृतः ॥ प्रणवो भूर्भुवःस्वश्च पुनः प्रणवसंयुतम् । अन्त्योंकारसमायुक्तं मन्यन्ते कवयोऽपरे ॥ (तीन प्रणव लगाके गायत्रीका जप करना यह बहुतोंका सम्मत है) दे०—भा० "संपुटैका षडोंकारा भवेत्सा ऊर्ध्वरेतसाम् । गृहस्थो ब्रह्मचारी वा मोक्षार्थी तुरीयां जपेत् ॥ तुरीयपादो गायत्र्याः परोरजसे सावदोम् ॥ भिन्नपादा तु गायत्री ब्रह्महत्याप्रणाशिनी । अभिन्नपादा गायत्री ब्रह्महत्यां प्रयच्छति ॥ अच्छिन्नपादगायत्रीजपं कुर्वन्ति ये द्विजाः । अधोमुखाश्च तिष्ठन्ति कल्पकोटिशतानि च ॥

ॐ गायत्र्यै नमः । ॐ सावित्र्यै नमः। ॐसन्ध्यायै नमः । ॐ सरस्वत्यै नमः । ॐ दिग्देवताभ्यो नमः ।

इसके अनन्तर हस्तमें जल लेकर अर्पण करे (जल छोडे)

अनेन प्रातःसन्ध्याङ्गभूतेनामुकसंख्याकेन अथवा यथाशक्ति गायत्रीमन्त्रजपाख्येन कर्मणा श्रीभगवान् ब्रह्मस्वरूपी सूर्यनारायणः प्रीयतां तत्सद्ब्रह्मार्पणमस्तु ॥

पश्चात् विसर्जन करे । यथा—

उत्तमे शिखरे इत्यस्य कश्यप ऋषिः । अनुष्टुप्छंदः । सन्ध्या देवता । सन्ध्याविसर्जने विनियोगः ।

ॐ उत्तमे शिखरे देवी भूम्यां पर्वतमूर्द्धनि ।
ब्राह्मणेभ्योऽभ्यनुज्ञाता गच्छ देवि यथासुखम् ॥
स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्ती पवने द्विजाता । आयुः पृथिव्यां द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा प्रयातु ब्रह्मलोकम् ॥

अनन्तर शिखाकी ग्रन्थि (चुटैयाकी गांठ) छोड देवे ।

मन्त्रः ।

ब्रह्मशापसहस्राणि रुद्रशूलशतानि च ।
विष्णुचक्रसहस्रेण शिखामुक्तिं करोम्यहम् ॥

इस मन्त्रसे ग्रंथिको छोड पुनः बद्ध (बांध) कर लेवे कुश पवित्रका त्याग करे । गायत्री कवचादिका पाठ करना हो तो इच्छानुसार पाठ करे । अनन्तर जब आसनसे उठना हो तो आसनके नीचे जल छोडकर वहांकी मृत्तिका माथेमें

१ ये दोनों मन्त्र नारायण उपनिषद्के हैं ।

लगालेवे न लगानेसे इन्द्र जपको हर लेताहै । "यस्मिन्स्थाने जपं कृत्वा शक्रो हरति तज्जपम् । तन्मृदा लक्ष्म कुर्वीत ललाटे तिलकाकृति ।" इति प्रातः-कृत्यम् (सन्ध्या) ।

त्रिकालगायत्रीध्यानम् । (प्रातः)

ब्रह्माणी चतुराननाक्षवलया कुम्भस्तनी स्रुक्स्रुचं
बिभ्राणारुणकांतिरिन्दुवदनासृग्रूपिणी बालिका ।
हंसारोहणकेलिरंबरमणेबिम्बाश्रिता भूतिदा
गायत्री हृदि भाविता भवतु नः संपत्समृद्ध्यै सदा १॥

(मध्याह्ने)

रुद्राणी नवयौवना त्रिनयना वैयाघ्रचर्माम्बरा
खट्वांगत्रिशिखाक्षसूत्रवलया भूत्यै श्रियै चास्तु नः ।
विद्युद्दामजटाकलापविलसद्बालेन्दुमौलिर्मुदा
सावित्री वृषवाहना शिवतनुर्ध्येया यजूरूपिणी॥२॥

(सायम्)

ध्येया सा च सरस्वती भगवती पीताम्बरालंकृता
श्यामातन्वि जयादिभिः परिलसद्गात्राञ्चिता वैष्णवी ।
तार्क्ष्यस्था म [illegible] षोज्ज्वला
हस्तालम्बितशंखचक्रसुगदा भूत्यै श्रियै चास्तु नः३॥

(मध्याह्न और सायंकाल)

मध्याह्न और सायंकालमें सब कर्म प्रातःसन्ध्याके सदृश ही करना चाहिये केवल संकल्प और प्राणायामके अनन्तर आचमनका जो मन्त्र है "सूर्यश्चमा-मन्युश्च" इसकी जगह–मध्यान्ह कालमें "आपः पुनन्तु" और सायंकालमें "अग्निश्च" मन्त्रसे आचमन करे शेष पूर्ववत् है। और जिसको ध्यान त्रिकालका

भिन्न भिन्न करना हो तो वे ध्यानकी जगह ध्यान बदल देवें। मध्याह्नमें एक अर्घ्य देवे सायं प्रातः तीन तीन।

मध्याह्नाचमनम्।

आपः पुनन्त्विवति मन्त्रस्य नारायण ऋषिः।गायत्री छन्दः।आपो देवता। आचमने विनियोगः। ॐ आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथिवी पूता पुनातु मां पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मपूता पुनातु माम्। यदुच्छिष्टमभोज्यं च यद्वा दुश्चरितं मम। सर्वं पुनन्तु मामापोसतां च प्रतिग्रहꣳ स्वाहा। इति मध्याह्नाचमनम्।

सायाह्नाचमनम्।

अग्निश्चमेति रुद्र ऋषिः।प्रकृतिश्छन्दः।अग्निर्देवता। आचमने विनियोगः।

ॐ अग्निश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्तां यदह्ना पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना अहस्तदवलुम्पतु यत्किंचिद्दुरितं मयि इदमहं माममृतयोनौ सत्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा॥ इति सायमाचमनम्।

कात्यायनादिपरिशिष्टसूत्रोक्तसंक्षेपतस्त्रिकाल-सन्ध्याप्रयोगः।

(का० प० सूत्रे)

उत्तीर्य धौते वाससी परिधाय मृदोरुकरौ प्रक्षा-

स्याचम्य त्रिरायम्यासून्पुष्पाण्यम्बुमिश्राण्यूर्ध्वं क्षिप्तोर्ध्वबाहुः सूर्यमुदीक्षन्नुद्वयमुदुत्यं चित्रं तच्चक्षु-रिति गायत्र्या च यथाशक्ति ।

(पा० गृ० सूत्रे)

वाक् प्राणश्चक्षुःश्रोत्रं यशोबलमिति त्र्यायुषाणि करोति।

आदौ भस्मधारणम् । ॐ त्र्यायुषं जमदग्नेः—ललाटे। कश्यपस्य त्र्यायुषम्—ग्रीवायाम् । यद्देवेषु त्र्यायु-षम्—दक्षिणांसे । तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्—हृदये ।

अनन्तरमाचमनम् ।

ॐ आमागन्यशसासꣳसृज वर्चसा तं मा कुरु प्रियं प्रजानामधिपतिं पशूनामरिष्टं तनूनाम् ।

इस मन्त्रसे तीन आचमन करे (ततः प्राणायामः)

ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यं ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॐ आपो ज्योती रसो-मृतं ब्रह्मभूर्भुवः स्वरोम् ॥ एवं त्रिवारं प्राणायामः कर्तव्यः ।

अर्थात् पूरकमें तीन, कुम्भकमें तीन, रेचकमें तीन बार उच्चारण करे ।

न्यासः ॥ वाङ्म आस्येस्तु—मुखं कराग्रेण स्पृशेत् । नसोर्मे प्राणोस्तु—तर्जन्यंगुष्ठाभ्यां नासारन्ध्रद्वयं स्पृशेत् । अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु—अनामिकांगुष्ठाभ्यां चक्षुर्द्वयं स्पृशेत् । कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु—मध्यमांगु-

ष्ठाभ्यां उभयकर्णौ स्पृशेत् । बाह्वोर्मे बलमस्तु-कराग्रेण बाहुद्वयं स्पृशेत् । ऊर्वोर्मे ओजोऽस्तु-युगपद्धस्तेनोरू स्पृशेत् । अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह- शिरःप्रभृतिपादान्तानि सर्वाङ्गान्युभाभ्यां हस्ताभ्यामालभेत् ।

(इस क्रमसे न्यास करे, अनन्तर-)

सङ्कल्पः-ॐ तत्सत्परमेश्वरप्रीत्यर्थं प्रातःसन्ध्योपासनमहं करिष्ये ॥ अनन्तरमर्घ्यम् । सुपुष्पाण्यम्बुमिश्राण्यूर्ध्वं प्रक्षिप्य ।

ॐ भूर्भुवः स्वः ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् । सवित्रे नमः ।

इस प्रकार पुष्प जल मिलाकर गायत्रीसे तीन अर्घ्य देवे । "सूर्योपस्थानम्" खडे होकर हाथ उठाके मन्त्र बोले ।

मन्त्रः ।

ॐ उद्वयं तमसस्परिस्वः पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रासूर्यमगन्मज्योतिरुत्तमम् ।

उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय

ॐ चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्ष ँ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।

ॐ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् पश्येम शरदः शतञ्जीवेम शरदः शतᳬशृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥

(गायत्रीमन्त्रजपः)

इसके अनन्तर बैठकर यथाशक्ति गायत्रीका जप करे।

जपान्ते उपस्थानम्। ॐ विभ्राड् बृहत्० १७ ऋचः ॐ सहस्रशीर्षा० १६ ऋचः । ॐ यज्जाग्रतो० ६ ऋचः। ॐ यदेतन्मण्डलं तपति० १२ ऋचः । वा १ ऋग्। इत्युपस्थाय प्रदक्षिणीकृत्य नमस्कृत्योपविशेत्।

अर्थात् इसप्रकार खडे होकर उपस्थान कर प्रदक्षिणा करे, नमस्कार करके बैठ जावे अनन्तर हाथमें जल लेकर अर्पण करे।

अनेन यथाशक्ति गायत्रीजपादिकृतेन ब्रह्मस्वरूपी सविता देवता प्रीयताम् ॐ तत्सद्ब्रह्मार्पणमस्तु ॥ इति कात्यायनादिपरिशिष्टसूत्रोक्तत्रिकालसन्ध्याप्रयोगः समाप्तः ॥

इसमें ध्यान आवाहन नहीं है इससे इसी क्रमसे तीनों कालमें करना चाहिये। यह सन्ध्या संक्षेपसे प्रमाणसहित लिखी गई, जिन पुरुषोंसे विस्तारसे न होसके वे इस प्रमाणसे करें ।

गायत्रीस्वरूपम् ।

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।

चतुर्विंशत्यक्षराणि ।

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
त	त्स	वि	तु	र्व	रे	णि	यं	भ	र्गो	दे	व	स्य	धी

१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
म	हि	धि	यो	यो	नः	प्र	चो	द	यात् ।

पदच्छेदः ।

तत् सवितुः वरेण्यम् भर्गः देवस्य धीमहि धियः यः नः प्रचोदयात् ।

अन्वयः ।

३	१	४	५	२	६	९	७	८
तत्सवितु	र्वरेण्यं	भर्गो	देवस्य	धीमहि	धियो	यो	नः	

१०

प्रचोदयात् ॥

सवितुः कर्म्मणि जगतां प्रवर्तकस्य देवस्य दिव्य-गुणवतो भगवतस्तत्प्रत्यक्षं प्रसिद्धं वा वरेण्यं सर्वा-

१ यह गायत्रीका अर्थ प्रयोजनमात्र लिखा गया है क्योंकि इस मूल प्रकृति महामायाकी आराधना (जप) करनेसे आपसे आप ही (स्वयं) उत्तम बोध होजाताहै दिव्यदृष्टि होजातीहै सिद्धियोंकी स्फूर्तियां होने लगतीहैं, मूर्ख भी सुबोध पंडित होजाताहै, लोगोंमें मान्यवर हो जाताहै । इससे पदोंको अलग २ कर चित्तकी सावधानतासे जप करना चाहिये, चंचलता करनेमें कुछ गुण नहीं है ।

वरकं सर्वतश्श्रेष्ठं वा भर्गोज्योतिर्धीमहि ध्यायेम यो भगवानादित्यो नोस्माकं धियः प्रज्ञाः प्रचोदयात् प्रेरयेत् ॥

लोगोंको कर्ममें लगानेवाले दिव्य गुणयुक्त भगवान्‌की इस सर्वप्रसिद्ध प्रत्यक्ष ज्योतिका ध्यान करें जो भगवान् सूर्यरूपसे हम लोगोंकी बुद्धिको अच्छे कार्मोंमें लगातेहैं ।

विशेषमहिमा ।

गायत्री वा इदꣳ सर्वभूतं यदिदं किञ्च वाग्वै गायत्री येयं पृथिवी यदिदं शरीरं यदस्मिन्पुरुषे हृदयमिमे प्राणाः सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री इति ॥

यह सब उत्पन्न प्राणी जो कुछ स्थावर वा जंगम हैं वह सब गायत्री ही है, वाणी गायत्री ही है जो यह पृथवी है जो यह शरीर है जो इस पुरुषमें हृदय है, जो ये प्राण हैं वह यह चार पदवाली छः विधकी गायत्री है ।

संक्षेपतः यज्ञोपवीतधारणविधिः ।

प्रथम आचमन करके प्राणायाम करे अनन्तर इस कल्पनासे संकल्प करे ।

मम श्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठानसिद्ध्यर्थं संस्कारपूर्वकनवीनयज्ञोपवीतधारणमहं करिष्ये ।

इस प्रकार संकल्प करके यज्ञोपवीत (जनेऊ) को प्रक्षालन करे (धोय डाले) अनन्तर दश गायत्रीसे यज्ञोपवीतपर मार्जन करके नव तन्तुका आवाहन करे ।

---

१ छा० उ०–"अथ यदतः परोदिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेषु अनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं गाव तद्यदिदमस्मिन्नंतःपुरुषोज्योतिः ॥" अर्थ–इस दिवलोक (स्वर्गलोक) से जो परंज्योति विश्वसे ऊपरवालोंमें अर्थात् सब विश्व संसारके ऊपर उत्तम लोकोंमें जो ऐसे हैं कि उनसे अधिक श्रेष्ठ नहींहै उनमें प्रकाशित होता है वह यही है जो इस पुरुषमें अन्तर्ज्योति है। अभिप्राय यह है कि वह परंज्योति ब्रह्मरूप ही है ।

ॐ ॐकारं प्रथमतन्तौ न्यसामि । ॐ अग्निं द्वितीय-तन्तौ न्यसामि । ॐ नागान् तृतीयतन्तौ न्यसामि । ॐ सोमं चतुर्थतन्तौ न्यसामि । ॐ पितॄन्पंचम-तन्तौ न्यसामि । ॐ प्रजापतिं षष्ठत० ॐ वायुं सप्तमतन्तौ न्यसामि । ॐ सूर्यमष्टमत० ॐ विश्वान् देवान् नवमतंतौ न्यसामि ॥

पश्चात् ग्रन्थि (गांठ) में ब्रह्मा विष्णु महेशका आवाहन करे । पश्चात् "ॐ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तात्" इस मन्त्र से सूर्यको दिखावे पश्चात् यज्ञोपवीतका पूजन करे वा (मानसोपचारैः सम्पूज्य) ध्यान करे ।

यत्सहजं वित्रं कार्पाससूत्रोद्भवं ब्रह्मसूत्रम् । ब्रह्मत्वसिद्धये च यशःप्रकाशं जपस्य सिद्धिं कुरु ब्रह्मसूत्रम् ॥

पश्चात् विनियोग करे ।

यज्ञोपवीतमिति मन्त्रस्य परमेष्ठी ऋषिः लिङ्गोक्ता देवता त्रिष्टुप्छन्दः यज्ञोपवीतधारणे विनियोगः ॥ ॐ यज्ञोपवीतम्परमम्पवित्रम्प्रजापतेर्यत्सहजम्पुर-स्तात् ॥ आयुष्यमग्र्यम्प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीत-म्बलमस्तु तेजः ॥ ॐ यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि ॥

इस मन्त्रका पढ आचमन करके जनेऊ पृथक् २ धारण करे। पुनः आचमन कर यथाशक्ति गायत्रीका जप कर शिरसे त्याग करे ।

मन्त्रः ।

एतावद्दिनपर्यन्तं ब्रह्म त्वं धारितं मया ॥
जीर्णत्वात्त्वत्परित्यागो गच्छ सूत्र यथासुखम् ॥

इस मन्त्रसे निकाल कर जलमें प्रवाह करे । पश्चात् गायत्री जपका अर्पण करे । यथा—

अनेन नवयज्ञोपवीतधारणार्थं कृतेन यथाशक्ति गायत्रीजपकर्मणा श्रीसविता देवता प्रीयतां तत्सद्ब्रह्मार्पणमस्तु ॥

अथ वैश्वदेवप्रयोगः ।

आचम्य प्राणानायम्य संकल्पः—

आचमन प्राणायाम करके संकल्प करे । यथा—

अद्य पूर्वोच्चारित एवंगुणविशेषणविशिष्टे शुभपुण्यतिथौ मम गृहे पञ्चसूनाजनितसकलदोषपरिहारपूर्वकं नित्यकर्मानुष्ठानसिद्धिद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं पञ्चमहायज्ञैरहं यक्ष्ये ॥

इसप्रकार संकल्प करके "पवित्रेस्थोवै०" इस मन्त्रसे अनामिकामें कुश पवित्र धारण करके जिस अग्निसे पाक (रसोई) हुआ हो उस अग्निको ले उसमेंसे—

"हुं फट्" इति मन्त्रेण क्रव्यादांशमग्निं नैर्ऋत्यां दिशि क्षिपेत् ।

उक्त मन्त्र बोलकर थोडी अग्नि निकालकर नैर्ऋतकोणमें फेंक दे । अनन्तर—

ॐ अन्वग्निरूषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः अनुसूर्यस्य पुरुत्रा च रश्मीननुद्यावा पृथिवी ऽआततन्थ ॥

इस मन्त्रसे अग्निको ले "कुण्डे वा स्थण्डिले अग्निं संस्थाप्य" कुण्ड हो वा वेदी हो उसपर स्थापन (रखना) करता हुआ ।

ॐपृष्टो दिवि पृष्टो अग्निः पृथिव्यां पृष्टो विश्वा

ओषधीराविवेश । वैश्वानरः सहसा पृष्टो अग्निः स नो दिवा सरिषस्यातु नक्तम् ॥

इस मन्त्रको बोले । पश्चात्-

अग्निं वेणुधमन्या प्रबोधयेत् ।

बांसकी पूपली या हाथके अधारसे फूंके ।

तत्र मन्त्राः ।

ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं० । ॐ ताँ सवितुर्व्वरेण्यस्य चित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्वजन्यां जामस्य कण्वो अदुहत्प्रपीनाँ सहस्रधारां पयसामहीं गाम् । ॐ विश्वानि देव सवितुर्दुरितानि परासुव यद्भद्रन्तं न आसुव ॥

अनन्तर अग्निका ध्यान करे । यथा-

चत्वारि शृङ्गात्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासोऽस्य । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आविवेश । ॐ एषोहदेवः प्रदिशो नु सर्वाः पूर्वोह जातः स उ गर्भे अन्तः । स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः।मुखं यः सर्वदेवानां हव्यभुक्कव्यभुक्तथा । पितॄणां च नमस्तस्मै विष्णवे पावकात्मने॥ "पावकनाम्ने वैश्वानरायनमः"

ध्यान करके "पावकनाम्ने०" इस मन्त्रसे अग्निका पंचोपचार पूजन करे (पूजन द्रव्यसे या जलसेही) अनन्तर आगेके मन्त्रसे जल छोडे ।

अग्ने शांडिल्यगोत्र मेषध्वज प्राङ्मुख संमुखोभव। ततः प्रदक्षिणमग्निं पर्युक्ष्य इतरथा तदावृत्तिः मध्य-

मानामिकांगुष्ठैर्घृतप्रोक्षितौदनस्य बदरीफलप्रमाणा आहुतीर्जुहुयात् ॥

अग्निको जलसे पर्युक्षण (जल चारों तरफ धाराकी तरह छोडना) करके बेरके फल समान आहुति देवे।

ॐ भूः स्वाहा इदमग्नये १ ॐ भुवः स्वाहा इदं वायवे २ ॐ स्वः स्वाहा इदं सूर्याय ३ ॐ भूर्भुवः स्वः स्वाहा इदं प्रजापतये ४ ॐ देवकृतस्यैनसो वै यजनमसि स्वाहा इदमग्नये ५ ॐ मनुष्यकृतस्यैनसो वै यजनमसि स्वाहा इदमग्नये ६ ॐ पितृकृतस्यैनसो वै यजनमसि स्वाहा इदम० ७ ॐआत्मकृतस्यैनसो वै यजनमसि स्वाहा इदमग्नये ८ॐ एनसऽएनसो वै यजनमसि स्वाहा इदम० ९ यच्चाहमेनो विद्वांश्चकार यच्चाविद्वांस्तस्यै सर्वस्यैनसो वै यजनमसि स्वाहा इदम० १० ॐ प्रजापतये स्वाहा इदं प्रजापतये ११ ॐ अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा इदमग्नये स्विष्टकृते १२।

इस प्रकार द्वादश आहुति करके गृहमें जो देव हों तो उनको नैवेद्य दिखावे। अनन्तर—

"वितस्तिमात्रम् उदकेन मण्डलं कृत्वा तदुपरि बलिहरणं कुर्यात्"

जलसे बीता प्रमाण मण्डल बनाके उसपर बली (भाग—ग्रास) लगावे परन्तु जहां पितृकी बलि है वहां अपसव्य होके देवे। पश्चात् हाथ धोके सव्य हो जिस पात्रमें बलि दिया उस पात्रको धोके वायव्य कोणमें छोड देवे यही निर्णेजन है।

ईशान्याम्
२ ॐ विधात्रे नमः

१० ॐ उदीच्यै
दिशे नमः
६ ॐ वायवे नमः

१७ ॐ भूतानां च पतये नमः
१६ ॐ उषसे नमः
१५ ॐ विश्वेभ्यो भूतेभ्यो नमः
१४ ॐ विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः

२० ॐ हन्त ते सनका-
दिमनुष्येभ्यो नमः

वायव्ये
१९ ॐ यक्ष्मैतत्ते निर्णेजनं
(पात्रं प्रक्षाल्य क्षिपेत्)
सकृद् गायत्रीं जपेत्

७ ॐ प्राच्यै दिशे नमः
३ ॐ वायवे नमः

१३ ॐ सूर्याय नमः
१२ ॐ अंतरिक्षाय नमः
११ ॐ ब्रह्मणे नमः

५ ॐ वायवे नमः
९ ॐ पश्चिमायै दिशे नमः

आग्नेय्याम्
१ ॐ धात्रे नमः

८ ॐ दक्षिणायै दिशे नमः
४ ॐ वायवे नमः

अपसव्यम्
१८ ॐ पितृभ्यः स्वधा
नमः

मण्डलके बाहर पांच ग्रास देवे ।

सुरभिर्वैष्णवी माता नित्यं विष्णुपदे स्थिता । गोग्रासं तु मया दत्तं सुरभे प्रतिगृह्यताम् । इदं गोभ्यः १ द्वौ श्वानौ श्यामशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ । ताभ्यामन्नं प्रदास्यामि रक्षेतां पथि मां सदा ॥ इदं श्वभ्याम् २ यमोसि यमदूतोसि वायसोसि महामते । अहोरात्रकृतं पापं बलिं भक्षतु वायसः । इदं वायसेभ्यः ३ देवा मनुष्याः पशवो वयांसि सिद्धाश्च यक्षोरगदैत्यसंघाः ॥ प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ता ये चान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम् ॥ इदं देवादिभ्यः ४ पिपीलिकाकीटपतंगकाद्या बुभुक्षिताः कर्मनियोगबद्धाः । प्रयान्तु ते तृप्तिमिदं मयान्नं तेभ्योऽवसृष्टं सुखिनो भवन्तु ॥ इदं पिपीलिकाकीटपतंगेभ्यो०५॥

इन वाक्योंसे पांचोंको बलि (ग्रास) देवे । अनन्तर—

ॐ त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
यद्देवेषु त्र्यायुषन्तन्नोऽअस्तु त्र्यायुषम् ।

इस मन्त्रसे भस्म लगावे । पुनः विसर्जन करे । यथा—

गच्छगच्छ सुरश्रेष्ठ स्वस्थाने परमेश्वर ।
यत्र ब्रह्मादयो देवास्तत्र गच्छ हुताशन ॥

ॐ यज्ञ यज्ञङ्गच्छ यज्ञपतिङ्गच्छ स्वां य्योनिङ्गच्छ स्वाहा एष ते यज्ञो यज्ञपते सह सूक्तवाकः सर्व्ववीरस्तं जुषस्व स्वाहा ॥

इस मन्त्रसे विसर्जनकरके कुशपवित्रका त्यागकरे—अनन्तर अर्पण करे। यथा—

अनेन वैश्वदेवाख्येन कर्मणा श्रीयज्ञनारायणस्वरूपी परमेश्वरः प्रीयताम्। ॐ तत्सद्ब्रह्मार्पणमस्तु ॥

पश्चात् अर्पित बलिको गौको देवे और जो श्वान वा कौवा आदिकी है वह श्वान कौवे आदिको देवे। पश्चात् हाथ पांव धोकर भोजन करे।

वैश्वदेवे अग्निविचारः। (छन्दोगपरिशिष्टे)

यस्मिन्नग्नौ भवेत्पाको वैश्वदेवस्तु तत्र वै।

(अङ्गिराः)

शालाग्नौ च पचेदन्नं लौकिके वापि नित्यशः।
यस्मिन्नग्नौ पचेदन्नं तस्मिन्होमो विधीयते ॥

अग्निहोत्रके अग्निसे पाक करे चाहे लौकिक अग्निसे करे परन्तु जिस अग्निसे पाक करे उसी ही अग्निमें वैश्वदेव करना चाहिये।

वैश्वदेवे हवनीयद्रव्यविचारः। (विश्वामित्रकल्पे)

फलैर्दधिघृतैः कुर्यान्मूलशाकोदकादिभिः।
अलाभे येन केनापि काष्ठैर्मूलतृणादिभिः ॥
जुहुयात्सर्पिषाऽभ्यक्तं तैलक्षारविवर्जितम्।
संकल्पयेद्यमाहारं तेनाग्नौ जुहुयादपि ॥

फल, दही, घी, मूल (शकरकन्द, जमीकन्द, रतालू,) शाक और जल आदिसे वैश्वदेव करे न मिलने पर काष्ठ, पत्ता आदिको ही घीमें मिलाके अग्निमें आहुति देवे परन्तु तेल और क्षारके वस्तु न मिलावे, वर्जित वस्तु छोडकर जो भोजन करना वही अग्निमें आहुति देना चाहिये।

कोद्रवं चणकं माषं मसूरंच कुलत्थकम्।
क्षारं च लवणं चैव वैश्वदेवे विवर्जयेत् ॥

कोदव, चना, उरद, मसुरी, कुलथी और नोन आदि क्षार वस्तु वैश्वदेवमें न लगावे अर्थात् इनकी आहुति न देवे।

पट्टकेन भवेद् व्याधिः शूर्पेण धननाशनम् ।
पाणिना मृत्युमाप्नोति कर्मसिद्धिर्मुखेन तु ॥

पत्तेसे अग्नि न जलावे (फूके) रोग होताहै, सूपसे धनका नाश, हाथसे मृत्यु और बांसकी पोपलीके आधार मुखसे सिद्धि होतीहै ।

पंच सूना गृहस्थस्य चुल्लीपेषण्युपस्करी ।
कण्डनी चोदकुम्भी च तासां पापस्य शान्तये ॥

गृहस्थके यहां चूल्हा पोतने आदिमें पीसनेमें कूटनेमें झाडू देनेमें और जलपात्रादि इन पांचोंमें जीवहत्या नित्य होतीहै इसके शान्त्यर्थ वैश्वदेव करना चाहिये।

गीतायाम् ।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचंत्यात्मकारणात् ॥

जो यज्ञसे बचा हुआ भोजन करतेहैं वे सब पापोंसे छूट जातेहैं और बिना वैश्वदेव किये ही भोजन करते हैं वे पाप ही भोजन करतेहैं ।

देवीभा०—अकृत्वा वैश्वदेवं तु यो भुंक्ते मूढधीर्द्विजः।
स मूढो नरकं याति कालसूत्रमवाक्शिराः ॥

जो मूर्ख द्विज विना बलिवैश्वदेव किये भोजन करताहै वह मूर्ख नीचा शिर होके कालसूत्र नाम नरकमें जाताहै ।

पाराशरः—वैश्वदेवविहीना ये आतिथ्येन बहिष्कृताः।
सर्वे ते नरकं यान्ति काकयोनिं व्रजंति च ॥

जो वैश्वदेव नहीं करते और अतिथियोंका तिरस्कार करतेहैं वे सब नरकमें जातेहैं और कौवेकी योनिमें जन्म लेतेहैं ।

इससे वैश्वदेव अवश्य करना चाहिये। इस वैश्वदेवका बडा माहात्म्य है इसके करनेसे गृहस्थ सब पापोंसे छूट जाताहै और यह कर्म विना प्रयास ही लक्ष्य देनेसे होसकताहै, इसे अवश्य करना चाहिये ।

योगसन्ध्याचिकीर्षूणां मनोरञ्जनकारिका ।
वर्णिता वर्णिना सम्यग्योगसन्ध्या मयोत्तमा ॥
राकेशरसधर्मोर्वीसम्मिते वैक्रमेऽब्दके ।
तपसीने च राकायां सत्कृतिः पूर्णतामिता ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य-श्रीमच्छङ्कराचार्य्याऽनुगृहीतशृङ्गेरीमठाम्नायि-सर्वगुणसंपन्न-धर्म्ममूर्त्तिदानाग्रणीश्रीमज्जगन्नाथचैतन्यब्रह्मचारिणां पादाब्जसेविना अष्टाङ्गयोगसमुल्लसित-श्रीसदाशिवनारायण-ब्रह्मचारिणा विरचितेयं सन्ध्या समाप्ता । शिवः शिवं कुर्यात् ।

ग्रंथकर्ता कृत गायत्रीका भजन ।

श्रीविद्या गायत्री माता जपै तुमारा नाम । जगमें ॥ टेक ॥ सत् चित् रूप प्रधान सनातनि अजा प्रकृति श्रुति धाम । दारुण भव भय हारिणि ईश्वरि गिरा उमा तनु श्याम ॥ १ ॥ शिवा वराभयदायिनि अंबे मायापति धर बाम । बसत चराचर जीव मातुमें सृजति हरति यह काम ॥ २ ॥ नारायणि नरनारि स्वरूपिणि सकल जपत तव नाम । राजहंसपर शोभित रमणी मेरु शिखर पर ठाम ॥ ३ ॥ यक्ष राज सब सुरसे सेवित ध्यान धरत सब याम । र्णाक्षररूप ऋषिनसे वंदित घटघटमें अभिराम ॥ ४ ॥ चैतन ब्रह्मचारि पद गावत पदपदमें धरि नाम । सावित्री प्रति प्रणवौं पुनि पुनि मति मति मति दे माम ॥ ५ ॥ समाप्तोऽयं ग्रंथः ॥

ॐ

श्रीयोगकल्पद्रुमः

अयं

श्रीमत्परमहंसस्वामिब्रह्मानन्दविरचितः

सच

भगीरथात्मज हरिप्रसादेन

मुंबय्यां

" गणपत कृष्णाजी " मुद्रणालये मुद्रापितः ।

द्वितीयावृत्ति.

शकाब्दाः १८१६.

मूल्यम् १ रुपया.

पुस्तक मिलनेका ठिकाना.

मुंबई—हरिप्रसाद भगीरथजीका पुस्त-
कालय कालकादेवीरोड़ रामवाड़ी.

मुंबईमें-कालकादेवीरोड़ पण्डित ज्येष्ठा-
राम मुकुंदजीके दुकानपर मिलेगा.

कानपूरमें-हनुमानदास बृजवल्लभदास
ठिकाणा चौकमें कोतवालिकेपास.

ॐ

॥ अथश्रीशंकराष्टकम् ॥

(गीतिच्छन्दः)

शीर्षजटागणभारं गरलाहारंसमस्तसंहारम् ॥
कैलासाद्रिविहारं पारंभववारिधेरहंवंदे ॥ १ ॥
चन्द्रकलोज्ज्वलभालं कंठव्यालंजगत्त्रयीपालम् ॥
कृतनृतमस्तकमालं कालंकालस्यकोमलंवंदे ॥ २ ॥
कोपेक्षणहतकामं स्वात्मारामंनगेन्द्रजावामम् ॥
संसृतिशोकविरामं श्यामंकंठेनकारणंवंदे ॥ ३ ॥
कटितटविलसितनागं खंडितयागंमहाद्भुतत्यागम् ॥
विगतविषयरसरागं भागंयज्ञेषुबिभ्रतंवंदे ॥ ४ ॥
त्रिपुरादिकदनुजांतं गिरिजाकांतंसदैवसंशांतम् ॥
लीलाविजितकृतांतं भांतंस्वांतेषुदेहिनांवंदे ॥ ५ ॥
करतलकलितपिनाकं विगतजराकंसुकर्मणांपाकम् ॥
परपदनीतवराकं नाकंगमपूगवंदितंवंदे ॥ ६ ॥
सुरसरिदाप्लुतकेशं त्रिदशकुलेशंहृदालयावेशम् ॥
व्यपगतसकलक्लेशं देशंसर्वेष्टसंपदांवंदे ॥ ७ ॥
भूतिविभूषितकायं दुस्तरमायंविवर्जितापायम् ॥
प्रमथसमूहसहायं सायंप्रातर्निरंतरंवंदे ॥ ८ ॥
यस्तुपदाष्टकमेतद्ब्रह्मानंदेननिर्मितंनित्यम् ॥
पठतिसमाहितचेताः प्राप्नोत्यंतेसशैवमेवपदम् ॥ ९ ॥
इतिश्रीपरमहंसस्वामिब्रह्मानंदविरचितंश्रीशंकराष्टकम् ॥

प्रस्तावना.

ॐ सर्व महाशय सज्जनोंकूं विदित हो के इस जगत्में मोक्षके अर्थ अनेक प्रकारके मत प्रसिद्ध हैं। तिन सर्वमेंसें आस्तिकविद्वानोंकूं वेदान्त औ योग यह दो मत सादर संमत हैं। तिन दोनोंमेंभी गूढाशय विद्वानोंकूं एक योगमतहि अतीव अभिमत है। काहेतें यद्यपि वेदांतशास्त्रोक्त निश्चयसें जीवकी सर्वबंधनोंसें मुक्ति होवेहै तथापि यावत्पर्यंत केवल ज्ञानीका विद्यमान शरीरके साथ संबंध होवेहै तबपर्यंत क्षुधापिपासा शीतोष्णादिक द्वंद्वोंकी बाधा अनिवार्य है यह वार्ता सामवेदकी छांदोग्य-उपनिषत्मेंभी कथन करीहै " न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति " अर्थ० जबपर्यंत जीवात्माका शरीरके साथ संबंध होवेहै तबपर्यंत सुखदुःखके अनुभवका निवारण नहि होय सकैहै इति ॥ औ जो योगयुक्त पुरुष होवेहै तिसकूं तो सशरीर होनेतेंभी उक्त द्वंद्वोंकी बाधा नहि संभवेहै काहेतें योगाभ्याससें प्रारब्धकर्मकाभी जय होवेहै ॥ तथा प्रायेण योगाभ्यासके विना अधिकारी पुरुषोंकूं सम्यक् प्रकारसें आत्मतत्त्वका अपरोक्षानुभवभी नहि होवेहै यह वार्ता इस कालके ज्ञानियोंविषे प्रसिद्धहीहै। यद्यपि वह लोक अपणेमुखसें कहतेहैं हमारेकूं अपरोक्षानुभवहै तथापि तिनकी चपल वृत्ति औ गृहपुत्रादिकोंविषे आसक्ति तथा विषयलंपटतासें उक्त वार्ताकी अनुमानद्वारा सिद्धि होवेहै।काहेतें जिसपुरुषने अमृतका पान किया होवेहै तिसकी सविष अन्न भक्षण करणेमें प्रवृत्ति नहि होवेहै। यातें जीवन्मुक्ति औ अपरोक्षानुभवका असाधारण हेतु जो योगाभ्यास है तिसके अर्थहि ज्ञानी औ अज्ञानी सर्व पुरुषोंकुं

प्रयत्न करणा योग्यहै ॥ सो यद्यपि इस कालविषे योगाभ्यासके अनुष्ठान करणे औ बतलानेहारे योगीजन बहुत दुर्लभहैं औ विना गुरुके योगक्रियाकी सिद्धि होनीभी अत्यंत कठिन है ॥ तथापि यह उक्त कथन इन्द्रियाराम औ आलसी पुरुषोंकाहै ॥ काहेतें "शरीरनिरपेक्षस्य दक्षस्य व्यवसायिनः ॥ बुद्धिप्रारब्धकार्यस्य नास्ति किंचन दुष्करम्" अर्थ जो पुरुष अपणे शरीरसेंभी निरपेक्ष औ चतुर तथा दृढनिश्चयवान् औ विचारपूर्वक कार्यका आरंभ करणेहारा होवेहै तिसकूं इस जगत्में कोई वस्तुभी दुष्कर नहि होवेहै अर्थात् सर्वहि सुकर होवेहैं इति ॥ यातें उक्तलक्षणोंकरके युक्त पुरुषकूं केवल शास्त्रके विचारसेंभी प्रयत्नपूर्वक योगकी सिद्धि संभवेहै तथा "नावेदविन्मनुते तं बृहंतं, विद्या गुरूणां गुरुः," इत्यादिक श्रुतिस्मृतिवाक्योंमेंभी परंपरासें शास्त्रकूंहि गुरुपणा प्रतिपादन कीयाहै यातें आस्तिक विवेकी जानोंकूं शास्त्रकूंहि परम गुरु मानकर तिसके अनुसार योगाभ्यास करणा योग्यहै ॥ जो शास्त्र औ गुरु दोनोंकी सहायता होवे तौ अत्युत्तम वार्ता है सो योगशास्त्रकूं दुर्विज्ञेयसंस्कृतभाषाविषे गुंफित होनेतें सर्व अधिकारी पुरुषोंके उपयोगमें आना कठिणथा यातें हमने तिसके सर्व अर्थकूं इस ग्रंथविषे हिंदुस्थानीय भाषामें स्फुट कियाहै ॥ सो इस ग्रंथमें भाषा वाचनेहारे पुरुषोंकूं अनुपयोगी होनेतें सूत्रभूत मूलश्लोक केवल पचीस २५ रखेहैं औ जो जो तिनमें विशेष उपयोगी वार्ता हैं सो सर्वहि टीकाविषे विस्तारपूर्वक निरूपण करीहैं॥ औ अल्पबुद्धीवाले पुरुषोंके हृदयमें शीघ्रहि पद पदार्थके आरूढ होनेके अर्थ मूलश्लोक तथा प्रामाणिक श्रुतिस्मृतिपुराणवाक्योंका गोल अर्थ कीयाहै ॥ तथा दुःसाध्य औ शरीरके क्लेशदेनेहारा जो हठयोगहै तिसका विशेषकरके निरूपण नहि कीया औ सुसाध्य तथा सुखदायक जो यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, इसभेदसें अष्ट अंगरूप राजयोग है तिस-

काहि विशेषकरके पातंजलदर्शन, याज्ञवल्क्यसंहिता, शिवसंहिता, खेचरीपटल, योगबीज, अमनस्कखंड, गोरक्षशतकादिक ग्रंथोंके अनुसार वर्णन कियाहै ॥ सो सर्व विचारणेसें मालुम होजावेगा यातें मोक्षविषे अत्यंत उपयोगी जानकरके विवेकी जनोंकूं अवश्यमेव इस ग्रंथका आदिसें लेकर अंतपर्यंत विचारद्वारा दुर्लभ लाभ लेना योग्यहै यहि हमारे प्रयासकी सफलता है ॥ सो यह ग्रंथ केचित् महाशंकर गोवर्धनादिक सद्गृहस्थोंकी प्रार्थनासें भावनगरमें नवीन निर्माण कीया गयाहै ॥ सो जो परिशोधनकरके छपानेसेंभी इसमें किसीस्थलविषे अक्षर वा मात्रा पडगयाहै सो ग्रंथके अंतमें शुद्धिपत्रविषे देखकर औ अपणीबुद्धिसें विद्वानोंकूं स्वयमेव शोधलेना उचितहै ॥ इति विज्ञापनम् ॥

द० स्वामी ब्रह्मानन्दजी.

सूचीपत्रम् ।

ॐ गं गणपतये नमः ।

अथ श्रीयोगकल्पद्रुमप्रारम्भः।
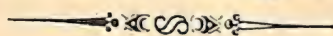
मङ्गलम् ।

॥ वंशस्थं वृत्तम् ॥

प्रणम्य योगीन्द्रहृदंघ्रिपंकजं
महेश्वरं शेषमुखानृषींस्तथा ॥
ब्रवीमि योगागमसारमद्भुतं
सुसाधकाक्लेशविबोधसिद्धये ॥ १ ॥

ॐतत्सत्परमात्मने नमः ॥ सर्व मुमुक्षु जनोंके हितार्थ निर्विकल्पसमाधिकी प्राप्तिद्वारा कैवल्य (मोक्ष) पदके देनेहारे सर्व योगशास्त्रका सारभूत ' योगकल्पद्रुम ' नामक ग्रंथकी निष्प्रत्यूह परिसमाप्तिके अर्थ तथा वृद्धव्यवहारसें औ वेदकी आज्ञासें कर्तव्यताकूं प्राप्त भया जो मंगलाचरण तिसकूं प्रथम अपणे हृदयमें आचरण करके पुना शिष्यशिक्षाके अर्थ ग्रंथके आदिमें कथन करेहै ॥ यह वार्ता श्रुतिमें भी कथन करीहै " समाप्तिकामो मंगलमाचरेत् " अर्थ यह ॥ ग्रंथकी निर्विघ्न समाप्तिकी कामनावान् पुरुष आदिमें मंगलाचरण करे

इति ॥ तथा सांख्यसूत्रोंमें कपिल देवजीने भी कहाहै " मंगलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनात् श्रुतितश्चेति " अर्थ० शिष्ट पुरुषोंकरके आचरण करणेसें तथा ग्रंथकी निर्विघ्न समाप्तिरूप फलके देखनेसें औ उक्त श्रुतिकी आज्ञासें ग्रंथके आदिमें मंगलाचरण करणा योग्य है इति ॥ सो मंगल आशीर्वादरूप वस्तुनिर्देशरूप नमस्काररूप इस भेदसें तीन प्रकारका होवेहै तिनमेंसें इस स्थलविषे नमस्काररूप मंगलाचरण करेहैं ॥ प्रणम्येति ॥ सनक सनन्दन नारदादिक योगीन्द्रोंके हृदयमें चरणकमलहैं जिनके ऐसे जो "महेश्वर" कहिये महादेव अथवा विष्णु भगवान्हैं तथा योगशास्त्रके आचार्य जो शेष भगवान्का अवतार पतंजलि ऋषिहैं औ तिसके अनुसार जो योगके प्रतिपादन करणेहारे याज्ञवल्क्य 'व्यास' वसिष्ठ 'शुकदेव' मत्स्येन्द्र गोरक्षादिक ऋषि तथा योगी जन हैं तिन सर्वोंकूं नम्रतापूर्वक नमस्कार करके विवेक वैराग्यादिक साधनसंपन्न औ दुर्विज्ञेय गीर्वाण भाषामें अकुशल जो साधकजन हैं तिनकूं अनायाससेंहि योगरहस्यके बोधकी सिद्धिके अर्थ 'पातंजलदर्शन' याज्ञवल्क्यसंहिता शिवसंहिता योगवासिष्ठ योगबीज 'अमनस्ककखंड' खेचरीपटल हठयोगप्रदीपिका गोरक्षशतक इत्यादिक जो योगके प्रतिपादक ग्रंथ हैं तिन सर्वोंका अति अद्भुत जो रहस्य है तिसकूं अपणी बुद्धिके अनुसार आकर्षण करके इस ग्रंथविषे ग्रंथकार प्रतिपादन करेहैं इति ॥ तथा

मूल श्लोकविषे जो 'योगागमसारं' यह पद है तिसकरके सर्व योगशास्त्रका सारभूत जो निर्विकल्प समाधिकी प्राप्तिद्वारा जीवब्रह्मकी एकता है सो इस ग्रंथका विषय कथन किया है ॥ तथा 'विबोधसिद्धये' यह जो पद है तिसकरके निर्विकल्प-समाधिकी प्राप्ति होनेतें अविद्या आदिक सर्व क्लेशोंकी निवृत्तिद्वारा जो परमानन्दस्वरूप आत्माकी प्राप्ति है सो इस ग्रंथका प्रयोजन कथन किया है ॥ तथा 'सुसाधक' यह जो पद है तिसकरके विवेक वैराग्य अपरिग्रह वाचानिरोध उत्साह धैर्य इत्यादिक योगके साधनोंकरके संपन्न जो साधक पुरुष है सो इस ग्रंथका अधिकारी कथन किया है ॥ तथा विषय औ ग्रंथका जो परस्पर संबंध है सो प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावसंबंध है ॥ तथा योग औ अधिकारीका जो संबंध है सो प्राप्यप्रापकभावसंबंध है ॥ औ योगचर्याके ज्ञानका औ ग्रंथका जो संबंध है सो जन्यजनकभावसंबंध है ॥ इनतें आदिलेकर अन्यभी संबंध जान लेने इस प्रकार विवेकी जनोंकी ग्रंथविषे प्रवृत्तिके अर्थ ग्रंथकारने यह चारि अनुबंध सूचन किये हैं काहेतें विना अनुबंधोंके जाननेसें विवेकी पुरुषकी ग्रंथविषे प्रवृत्ति संभवे नहि इति ॥ १ ॥ इस प्रकार मंगलाचरण औ ग्रंथके अनुबंधोंकूं निरूपण करके अब साधक पुरुषकी श्रद्धा उत्पादन करणेके अर्थ योगकूं कल्पवृक्षरूपसें वर्णन करेहैं ॥

वसंततिलका वृत्तम् ॥

हृद्भवो निगमबोधसुमूलको द्वि-
स्कन्धः षडुन्नतलतश्च यमादिपर्णः॥
ध्यानादिपुष्पललितश्च विमोक्षसस्यः[1]
सर्वार्थदो जयति योगसुरद्रुमोयम्॥२॥

हृदिति ॥ योगरूप एक कल्पवृक्ष है सो जैसे कल्पवृक्ष पृथिवीविषे आविर्भावकूं प्राप्त होवे है तैसेहि योगरूप कल्पवृक्ष चित्तरूप पृथिवीविषे आविर्भावकूं प्राप्त होवे है औ जैसे कल्पवृक्षके विस्तारका हेतु मूल होवे है तैसेहि ' ब्रह्मबिंदु उपनिषत् ' ' अमृतबिन्दु उपनिषत् ' ध्यानबिंदु उपनिषत् ' ' योगशिखा उपनिषत् ' ' योगतत्त्व उपनिषत् ' ' क्षुरिका उपनिषत् ' ' श्वेताश्वतर उपनिषत् ' इत्यादिक जो योगके प्रतिपादन करणेहारा वेदका भाग है तथा तिसके अनुसार जो ' पातंजलदर्शन ' याज्ञवल्क्यसंहिता आदिक ग्रंथ हैं तिनके रहस्यका पठन अथवा गुरुमुखद्वारा श्रवण करणेतें जो सम्यक् प्रकारसें बोध है सोई योगरूप कल्पवृक्षके विस्तारका हेतुमूल है ॥ काहेतें योगरहस्यके सम्यक् बोधसें विना तिसके अनुष्ठानमें प्रवृत्ति संभवे नहि ॥ औ जैसे कल्पवृक्षके

---

१ वृक्षादीनां फलं सस्यमित्यमरः ॥

शाखा पत्रादिकोंके आश्रयभूत स्कंध होवेहैं तैसेही योग-
रूप कल्पवृक्षके वैराग्य औ अभ्यास यह दो स्कंध हैं॥ औ
जैसे कल्पवृक्षकी शाखा होवेहैं तैसेहि योगरूप कल्पवृक्षकी उ-
त्साह साहस धैर्य तत्त्वज्ञान निश्चय जनसंगपरित्याग यह षट्
विस्तृत शाखा हैं काहेतें जैसें शाखाविना वृक्षकी सिद्धि नहीं हो-
वेहै तैसेहि इन षट्केविना योगकी सिद्धि नहिं होवेहै तिनमें
विषयप्रवाहपतितचित्तके निरोध करणेविषे जो उद्यम है तिसका
नाम उत्साह है॥तथा आयुषकूं विजलीके चमत्कारकी न्याई क्ष-
णभंगुर जानकरके शीघ्रहि योगके अंगोंके अनुष्ठानविषे जो प्र-
वृत्ति है तिसका नाम साहस है॥तथा विघ्नोंकरके पुना पुना च-
लायमान करणेतेंभी "शरीरं पातयामि कार्यं साधयामि"
इस प्रकारके दृढ निश्चयपूर्वक जो सिद्धिपर्यंत अभ्यासका
परित्याग नहि करणा है तिसका नाम धैर्य है ॥ तथा यह
वार्ता मेरे करके साध्य है औ यह असाध्य है इस प्रकारका
जो योगविषयक यथार्थज्ञान है तिसका नाम तत्त्वज्ञान है ॥
तथा शास्त्र औ गुरुके वाक्यविषे जो दृढ विश्वास है ति-
सका नाम निश्चय है ॥ तथा योगाभ्यासके विरोधि विषयी
पुरुषोंके संसर्गके परित्याग करणेका नाम जनसंगपरित्याग
है इति ॥ यह सर्व वार्ता हठयोगप्रदीपिकाविषेभी कथन
करी है "उत्साहात्साहसाद्धैर्यात्तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात् । जन-
संगपरित्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति" ॥ अर्थ० उत्साह,

साहस, धैर्य, तत्त्वज्ञान, निश्चय, जनसंगपरित्याग, इन षट् साधनोंकरकेहि योगकी सिद्धि होवे है इति ॥ तथा योगवासिष्ठमेंभी कहाहै—

" उद्यमः साहसं धैर्यं बलं बुद्धिः पराक्रमम् "

" षडिमे यस्य तिष्ठन्ति स सर्वं प्राप्नुयात् पुमान् "

अर्थ० उत्साह, साहस, धैर्य, बल बुद्धि, पराक्रम, यह षट् जिस पुरुषके दृढ होवेहैं सो पुरुष सर्व कार्योंकूं सिद्ध करसके है इति॥तथा जैसे कल्पवृक्षके पत्र होवेहैं तैसेहि योगरूप कल्पवृक्षके यम, नियम, आसन,प्राणायाम, प्रत्याहाररूप पत्र हैं काहेतें जैसे पत्रोंकरके वृक्षकी रक्षा होवे है तैसेहि यमनियमादिकोंकरके योगकी रक्षा होवेहै ॥ औ जैसे कल्पवृक्ष पुष्पोंकरके शोभायमान होवेहै तैसेहि योगरूप कल्पवृक्षके ध्यानधारणा समाधिरूप पुष्प हैं औ जैसे कल्पवृक्षविषे फल होवेहैं तैसेहि योगरूप कल्पवृक्षका सर्व क्लेशोंकी निवृत्तिद्वारा परमानंदकी प्राप्तिरूप कैवल्यमोक्षरूप फल है काहेतें जैसे वृक्षारोपण जलसिंचनादिक प्रयास फलकी प्राप्तिके अर्थ होवेहै तैसेहि प्राणायामप्रत्याहारादिकरूप योगाभ्यासका परिश्रम परमानंदकी प्राप्तिके निमित्तहि होवेहै ॥ औ जैसे कल्पवृक्ष स्वाश्रितपुरुषोंकूं सर्व वांछित पदार्थोंकी प्राप्ति करेहै तैसेहि योगरूप कल्पवृक्ष योगीजनोंकूं आकाशगमन परकायप्रवेशादिक सर्व वांछितसिद्धियोंकी प्राप्ति करेहै ॥ औ जैसे कल्पवृक्ष वटपी-

पलाादिक सर्व वृक्षोंसें उत्कृष्टतासें वर्तताहै तैसेहि योगरूप कल्पवृक्ष न्याय मीमांसा सांख्यादिक सर्वमतरूप अन्यवृक्षोंसें उत्कृष्टतासें वर्तता है इति ॥ तथा हठयोगप्रदीपिकामेंभी योगकूं कल्पलतारूपता कथन करीहै

"सत्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभिः"
"उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्रवर्त्तते"

अर्थ० योगाभ्यासकरके वशीभूत किया हुया चित्त तो बीजस्थानीय है काहेतें चित्तहि बीजकी न्याइं समाधिरूप अंकुरसें परिणामकूं प्राप्त होवेहै ॥ तथा हठयोग क्षेत्ररूप है काहेतें जैसे क्षेत्रमें बीज स्थित किया हुया अंकुरभावकूं प्राप्त होवेहै तैसेहि हठयोगमें स्थित कियाहुया चित्त राजयोगरूप अंकुरभावकूं प्राप्त होवेहै ॥ तथा पर वैराग्यरूप जल है काहेतें जैसे जलके सिंचन करणेतें लताकी पुष्टी होवेहै तैसेहि पर वैराग्यसें योगाभ्यासकी पुष्टि होवेहै ॥ इन तीनोंकरकें समाधिरूप कल्पलताकी शीघ्रहि वृद्धि होवेहै इति ॥ २ ॥ पूर्वश्लोकविषे योगरूप कल्पवृक्षके जो वैराग्य औ अभ्यासरूप दो स्कंध कथन कियेहैं तिनके विना योगकी सिद्धि नहि होवेहै यह वार्ता कथन करेहैं ॥

इन्द्रवंशा वृत्तम् ॥

आवृत्त्य रागौ पुरुषांडजन्मनः
पक्षौ वदन्तीह समाधिवित्तमाः ॥

योगाततताकाशसुखाधिरोहणं
नूनं तयोर्नान्यतरेण सिद्ध्यति ॥ ३ ॥

आवृत्तीति ॥ अर्थ० समाधिके जाननेहारे योगीलोक साधक पुरुषरूप पक्षीके अभ्यास औ वैराग्य यह दोनों पक्ष कथन करते हैं काहेतें जैसे विस्तृत आकाशविषे एक पक्षकरके पक्षीकी सुखपूर्वक गति नहि होवेहै तैसेहि योगरूप जो विस्तृत आकाश है तिसविषे केवल अभ्यास औ केवल वैराग्यकरके साधकरूप पक्षीकी सुखपूर्वक गति नहि होवेहै किंतु जैसे पक्षीका दोनों पक्षोंकरके आकाशविषे सुखपूर्वक आरोहण होवेहै तैसेहि साधकपुरुषका अभ्यास औ वैराग्य इन दोनोंकरकेहि योगविषे सुखपूर्वक आरोहण होवेहै काहेतें जैसे चिरकालसें चलेहुये नदीके वेग निरोध करणेविषे एक तो मृत्तिकाआदिक क्षेपणकरके अग्रभागसें निरोध करणा औ पुना पीछले भागसें एक नहर निकासकर अभिमत देशविषे प्राप्त करणा यह दो उपाय होवे हैं तैसेहि चित्तरूप नदीका अनादिकालसें जो संसारके सन्मुख प्रवाह चल रहाहै तिसके निरोध करणेविषेभी एक तो मृत्तिकाआदिक

क्षेपणरूप दृढ वैराग्यकरके अग्रभागसें निरोध करणा औ पुना नहररूप अभ्यासकरके अभिमतदेशरूप आत्मपदविषे प्राप्त करणा यह दो उपाय होवेहैं ॥ यह वार्ता योगसूत्रोंमें पतंजलिनेभी कथन करीहै ॥ " अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः " अर्थ० चित्तकी वृत्तियोंका अभ्यास औ वैराग्यकरकेहि निरोध होवे है इति ॥ तथा गीतामें भगवान्‌नेभी कहाहै " अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते " अर्थ० हे अर्जुन अभ्यास औ वैराग्य करकेहि अत्यंत चपल मनका निरोध होवै है ॥ इति ॥ तथा सांख्यसूत्रोंमें कपिलदेवजीनेभी कहाहै " वैराग्यादभ्यासाच्च " अर्थ० वैराग्य औ अभ्यासकरकेहि योगकी सिद्धि होवेहै इति ॥ ३ ॥ इस प्रकार वैराग्य औ अभ्यासकूं योगकी सिद्धिविषे मुख्य हेतुता कथन करके अब तिनमेंसें प्रथम वैराग्यका लक्षण कथन करेहैं ॥

द्रुतविलंबितं वृत्तम् ॥

जनननाशजरोग्रवनेचरं
त्रिविधतापकुकंटकसंकुलम् ॥
उपरमेत तृषोग्रदवानलं
जगदरण्यमवेक्ष्य सुधीरधीः ॥ ४ ॥

जननेति ॥ संसाररूप एक गहन वन है सो जैसे वनविषे क्षुद्र जीवोंके भक्षण करणेहारे सिंहव्याघ्रांदिक भयंकर वनचर निवास करते हैं तैसेहि संसाररूप वनविषे योगाभ्यासकरके शून्य जो क्षुद्र जीव हैं तिनके भक्षण करणेहारे जन्ममरणजरारूप भयंकर वनचर निवास करते हैं यहां जन्ममरण जरा यह शीत उष्ण क्षुधा तृषा हर्ष शोकरूप षट् ऊर्मियोंकेभी उपलक्षण हैं ॥ औ जैसे वनविषे ऋजुमार्गसें भ्रष्ट हुये पुरुषके पादादिक अवयवोंकूं वेधन करणेहारे अति तीक्ष्णकंटक होवेहैं तैसेहि संसाररूप वनविषे योगाभ्यासरूप ऋजुमार्गसें भ्रष्ट हुये पुरुषके अवयवोंकूं वेधन करणेहारे तापरूप तीक्ष्ण कंटक हैं ॥ सो ताप आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक इस भेदसें तीन प्रकारके हैं ॥ तिनमें कफ पित्त वातके विकारकरके जो शरीरविषे व्यथा होवेहै तिसका नाम आध्यात्मिक ताप है औ अतिशीत वात घर्म वृष्टि ग्रह आदिकोंकरके जो शरीरमें पीडा होवेहै तिसका नाम आधिदैविक ताप है ॥ तथा सिंह व्याघ्र सर्पादिकोंकरके जो शरीरविषे दुःख होवेहै तिसका नाम आधिभौतिक ताप है ॥ तथा जैसे वनविषे वृक्षोंके जलानेहारा वेणुवोंके परस्पर संघर्षणसें उत्पन्न भया दावानल होवेहै तैसेहि संसाररूप वनविषे मनुष्य दैत्य देवता आदिक जीवरूप वृक्षोंके जलानेहारा विषय औ इंद्रियोंके परस्पर संसर्गरूप संघ-

र्षणसें उत्पन्न भया तृष्णारूप दावानल है॥सो जैसे ऋजुमार्गद्वारा अपणे ग्रामकूं जानेहारा कुशल पथिक जन उक्तप्रकारके भयानक वनकूं देखकर वैराग्यकूं प्राप्त होवेहै अर्थात् दूरसेंहि तिसका परिवर्जन करेहै तैसेहि योगाभ्यासरूप ऋजुमार्गद्वारा कैवल्यमोक्षरूप अपणे ग्रामकूं जानेहारे मुमुक्षु पुरुषरूप पथिककूं संसाररूप भयंकर वनकूं विचारदृष्टिसें देखकर वैराग्यकूं प्राप्त होना योग्य है ॥ सो वैराग्य पर औ अपर इस भेदसें दो प्रकारका है ॥ तिनमें पुना अपर वैराग्य यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय, वशीकार, इस भेदसें च्यारि प्रकारका है ॥ तिनमें इस जगत्विषे क्या वस्तु सार है औ क्या असार है यह वार्ता गुरु औ शास्त्रद्वारा जाननी चाहिये इस प्रकारका जो चित्तविषे उद्योग होनाहै तिसका नाम यतमानवैराग्य है ॥ औ अपणे चित्तमें प्रथम जो कामक्रोधादिक दोष थे तिनमेंसें कितनेक निवृत्त भयेहैं औ कितनेक अवशेष रहेहैं इस प्रकार विवेचन करके अवशेष रहे दोषोंकी निवृत्तिके अर्थ जो प्रयत्न करणा है तिसका नाम व्यतिरेक वैराग्य है ॥ तथा इसलोक औ परलोकके विषयोंके अर्थ जो प्रवृत्ति है तिसकूं दुःखरूप जानकर बाह्यसें परित्याग करणेतें अनंतर हृदयमें जो विषयोंकी सूक्ष्म अभिलाषाका सद्भाव होता है तिसका नाम एकेन्द्रिय वैराग्य है ॥ तथा इस लोक औ परलोकके विषयोंकी अभिलाषाकाभी जो हृ-

दृयसें परित्याग करणा है तिसका नाम वशीकारवैराग्य है ॥ औ संप्रज्ञातसमाधिके अभ्यासकरके विवेकख्याति[1]के प्राप्त भयेतें त्रिगुणात्मक सर्वप्रपंचके व्यवहारोंसें जो उपरामता है तिसका नाम परवैराग्य है ॥ तिनमेंसें अपरवैराग्य तो संप्रज्ञातसमाधिका अंतरंग साधन है औ परवैराग्य असंप्रज्ञातका अंतरंग साधन है ॥ इस प्रकारके वैराग्यकरके युक्त पुरुषकाहि योगाभ्यासविषे अधिकार है अन्य पुरुषका नहि यह वार्ता वायुसंहितामेंभी कथन करीहै "दृष्टे तथानुश्रविके विरक्तं विषयं मनः ॥ यस्य तस्याधिकारोऽस्मिन्योगे नान्यस्य कस्यचित्" अर्थ० स्रक् चंदन वनिता पुत्र गृह क्षेत्रादिक जो दृष्ट विषय हैं औ वेदोक्त जो स्वर्गादिक विषय हैं तिन सर्वसेंहि जिस पुरुषका चित्त विरागकूं प्राप्त भयाहै तिसकाहि इस योगाभ्यासमें अधिकार है दूसरेका नहि इति " तथा सुरेश्वराचार्यनेभी कहाहै "

"इहामुत्र विरक्तस्य संसारं प्रजिहासतः"
"जिज्ञासोरेव कस्यापि योगेस्मिन्नधिकारिता"

अर्थ० इस लोक औ परलोकके विषयोंसें विरक्त औ जन्ममरणरूप संसारकी निवृत्तिकी इच्छावान् जो जिज्ञासु पुरुष है सो चाहे किसी वर्णविषेभी होवे तो तिसका यो-

---

१ पुरुष औ प्रकृतिका जो भिन्न भिन्न ज्ञान है तिसका नाम विवेकख्याति है ॥

गाभ्यासमें अधिकार है इति ॥ तथा हठयोगप्रदीपिकाकी टीकाविषेभी कहाहै " जिताक्षाय शांताय सक्ताय मुक्तौ विहीनाय दोषैरसक्ताय भुक्तौ ॥ अहीनाय दोषेतरैरुक्तकर्त्रे प्रदेयो न देयो हठश्चेतरस्मै " ॥ अर्थ० जो पुरुष जितेन्द्रिय औ शांतचित्त तथा मोक्षकी उत्कट इच्छावान् औ कामक्रोधादिक दोषोंकरके रहित तथा भोगोंसें विरक्त औ यमनियमादिक गुणोंकरके युक्त तथा यथोक्तकारी होवे तिसकूंहि योगका उपदेश करणा योग्य है अन्य पुरुषकूं नहि इति ॥ तथा सामवेदके छांदोग्य ब्राह्मणमेंभी कहाहै " विद्याह वै ब्राह्मणमाजगाम शेवधिस्तेहमस्मि त्वं मां पालय अनर्हते मानिने नैव मां दा गोपाय मां श्रेयसी तथाहमस्मीति " अर्थ० एक समयविषे विद्या स्त्रीकारूप धारण करके किसी विद्वान् ब्राह्मणके पास जायकर कहने लगी हे ब्रह्मन् मैं तेरी निधिरूप हूं तूं मेरी रक्षा कर वैराग्य आर्जवादिक साधनोंकरके रहित जो अनधिकारी पुरुष है तिसकेप्रति मेरेकूं मत दान कर तो मैं तेरेकूं अधिक फलदायक होवोंगी अर्थात् आर्जवता वैराग्य आदिक गुणोंकरके युक्त अधिकारी पुरुषके प्रतिहि मेरेकूं दान कर इति ॥ यातें योगविद्याकी प्राप्तिविषे मुख्य साधन जो वैराग्य है सो साधकपुरुषकूं अवश्यही संपादन करणा योग्य है काहेतें वैराग्ययुक्त पुरुषकूंहि समाधिकी सिद्धि होवेहै ॥ यह वार्ता सांख्यसूत्रोंमें कपिलदेवजीनेंभी कथन क-

रीहै "विरक्तस्य तत्सिद्धिः" अर्थ॰ वैराग्यवान् पुरुषकूंहि योगकी सिद्धि होवेहै इति ॥ तथा योगसूत्रोंमें पतंजलिनेभी कहाहै "तीव्रवेगानामासन्नः" अर्थ॰ तीव्रवैराग्यकरके युक्त पुरुषोंकूंहि शीघ्र योगकी सिद्धि होवेहै इति ॥ सो वैराग्य शरीर, स्त्री, धन, पुत्र, गृह आदिकोंविषे दोषदृष्टिके हुयेविना यथार्थ उत्पन्न नहि होवेहै काहेतें जिस कालविषे जिस वस्तुविषे पुरुषकी दोषदृष्टि होवेहै तिसहि कालविषे तिसतें वैराग्यकूं प्राप्त होवेहै यातें मुमुक्षु पुरुषकूं प्रथम उक्त पदार्थोंविषे दोषदृष्टिहि संपादन करणी योग्य है ॥ सो तिनमें शरीरके दोष तो विष्णुपुराणमें कथन कियेहैं "मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ ॥ देहे चेत् प्रीतिमान्मूढो भविता नरकेपि सा" अर्थ॰ हे मूढ पुरुष मांस, रुधिर, पूय, विष्ठा, मूत्र नाडी, मज्जा, अस्थि, इत्यादिक मलिन पदार्थोंके समूहरूप शरीरविषे जो तूं प्रीति करताहै तो उक्त पदार्थोंकरके युक्त जो नरक है तिसमेंभी तेरी प्रीति होनी चाहिये इति ॥ तथा यजुर्वेदकी मैत्रायणी शाखाविषेभी कहाहै "भगवन्नस्थिचर्मस्नायुमज्जामांसशुक्रशोणितश्लेष्माश्रुदूषिकादूषिते विण्मूत्रवातपित्तसंघाते दुर्गंधे निःसारेस्मिन् शरीरे किं कामोपभोगैरिति" अर्थ॰ हे भगवन् अस्थि, चर्म, स्नायु, मज्जा, मांस, शुक्र, शोणित, श्लेष्मादिक दूषणोंकरके दूषित औ विष्ठा, मूत्र, वात, पित्तादिकोंके

समूहभूत तथा निःसार दुर्गंधियुक्त इस शरीरमें हमारेकूं भोगोंसें क्या प्रयोजन है इति ॥ तथा स्त्रीके दोष योगवासिष्ठविषे वैराग्यप्रकरणमें रामचंद्रजीनें निरूपण कियेहैं " मांसपांचालिकायास्तु यंत्रलोलेंगपंजरे ॥ स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्यः स्त्रियः किमिव शोभनम् ॥ त्वङ्मांसरक्तबाष्पांबु पृथक्कृत्वा विलोचने ॥ समालोकय रम्यं चेत् किं मुधा परिमुह्यसि" अर्थ० स्नायु मज्जा अस्थि आदिकोंके संचयरूप स्तनादिक ग्रंथियोंकरके युक्त जो मांसकी पुतलीरूप स्त्री है तिसके यंत्रकी न्याईं चंचल अवयवोंके समूहरूप शरीरविषे क्या पदार्थ रमणीय है अर्थात् कोईभी रमणीय नहि " तथा हे मूढपुरुष तूं स्त्रीके शरीरमें त्वचा, मांस, रुधिर, अश्रु, नेत्रादिक पदार्थोंकूं पृथक् पृथक् करके अवलोकन कर जो तिनमें क्या वस्तु सुंदर है नहि तो काहेको व्यर्थहि मोहकूं प्राप्त तोताहै इति ॥ तथा धनके दोष पंचदशीमें विद्यारण्यस्वामीने कथन कियेहैं "अर्थानामर्जने क्लेशस्तथैव परिपालने ॥ नष्टे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् क्लेशकारिणः" अर्थ० प्रथम तो धनके संचय करणेमेंहि पराधीनताआदिक अनेक क्लेशोंकी प्राप्ति होवेहै पुनः तिसके रक्षण करणेविषेभी रात्रीजागरणादिक अनेक दुःख होवेहैं तथा तिसके व्यय अथवा नाश होनेसें तो अत्यंतही क्लेश होवेहैं इसप्रकार सर्वदाहि दुःख देनेहारे धनकूं धिक्कार

हैं औ तिसके संग्रह करणेहारे पुरुषोंकूंभी धिक्कार है इति"
तथा पुत्रके दोषभी पंचदशीमेंहि निरूपण कियेहैं

" अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम् ॥
लब्धोपि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते ॥
जातस्य ग्रहरोगादि कुमारस्य च मूर्खता ॥
उपनीतेप्यविद्यत्वमनुद्वाहश्च पंडिते ॥
पुनश्च परदारादि दारिद्र्यं च कुटुंबिनः ॥
पित्रोर्दुःखस्य नास्त्यंतो धनी चेन्म्रियते तदा ॥"

अर्थ० प्रथम तो पुत्रकी अप्राप्तिकालविषे मंत्र, यंत्र, पीपलपूजनादिक प्रयत्नोंकरके मातापिताकू अनेकहि क्लेश होवेहैं औ प्राप्तिके अनंतर जो गर्भपात होयजावे तौभी क्लेश होवेहैं औ पुना तिसके जन्मकालविषेभी अत्यंत पीडा होवेहै तथा जन्मके पश्चात् शनैश्चरादिक ग्रहोंकी बाधा औ दंतपतन शीतला आदिक रोगोंकरके दुःख होवेहै पुना कुमारअवस्थाविषे मूर्खतासें दुःख होवेहै पुना उपनयन करणेतें पश्चात् अविद्यावान् होनेसें दुःख होवेहै औ विद्वान्के हुयेभी पुना विवाहसेंविना क्लेश होवेहै तथा विवाहके हुयेभी पुना परस्त्रीगमनादिकोंकरके दुःख होवेहै औ पुना कुटुंबवान् होनेतें दरिद्रीपणेसें क्लेश होवेहै औ जो धनवान् होवे तो तिसके मरणेसें दुःख होवेहै इस प्रकारसें मातापिताकूं मरणपर्यंतभी दुःखका अंत नहि होवेहै इति ॥ तथा गृहके दोष भागव-

तके एकादशस्कंधमें राजा यदुकेप्रति दत्तात्रेयजीने कथन कि-येहैं "गृहारंभो हि दुःखाय न सुखाय कदाचन ॥ सर्पः पर-कृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते" अर्थ० हे राजन् गृहका आरंभ करणा केवल दुःखकाहि हेतु है, काहेतें जो पुरुष गृह बनाता है सोई तिसके वृद्धिह्रासादिकजन्य क्लेशका अनुभव करेहै औ जो गृहका आरंभ नहि करणा है सोई परम सुखका हेतु है, काहेतें जैसे सर्प अन्यरचित गृहविषे निवास करके सु-खकूं प्राप्त होवेहै तैसेहि विरक्त पुरुषभी अन्यरचित गुहा-आदिक स्थानोंमें निवास करके सुखकूं प्राप्त होवेहै इति ॥ इसहि प्रकार अनुक्त मित्र क्षेत्रादिक पदार्थोंविषेभी यथा-योग्य दोष जानलेने इति ॥ ४ ॥ इस प्रकार योगरूप कल्प-वृक्षके एक स्कंधका निरूपण करके अब दूसरा स्कंधरूप जो अभ्यासहै तिसकूं वर्णन करे हैं ॥

द्रुतविलंबितं वृत्तम् ॥

समपहाय तु दोषदृशाखिलं
विजनदेशगतो गतसाध्वसः ॥
समुपकल्प्य शुभासनमात्मनो
दृढमतिः क्रमशस्तु समभ्यसेत् ॥ ५ ॥

२

समपहायेति ॥ "समपहाय तु दोषदृशाखिलं" कहिये पूर्वश्लोकोक्त रीतिसें सर्व स्त्रीधनादिकोंविषे दोष देखकर मुमुक्षु पुरुषकूं सर्वकाहि परित्याग करणा योग्य है, यह वार्ता पंचदशीमेंभी कथन करीहै "संगी हि बाधते लोके निःसंगः सुखमश्नुते ॥ तस्मात्संगः परित्याज्यः सर्वदा सुखमिच्छता" अर्थ० जो पुरुष स्त्रीपुत्रादिकोंविषे आसक्त हुया तिनका परित्याग नहि करेहै सोई तिनके हानिवृद्धि औ उत्पत्तिनाशादिकजन्य क्लेशकूं प्राप्त होवेहै औ जो आसक्तिकरके रहित भया तिन सर्वका परित्याग करेहै सो समाधिजन्य परम सुखका अनुभव करेहै यातें जिस पुरुषकूं परमसुखकी इच्छा है तिसकूं सर्वदाहि सर्वके संगका परित्याग करणा चाहिये इति ॥ तथा श्रुतिमेंभी कहाहै "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः" अर्थः० यज्ञादिक कर्मकरके औ प्रजाकरके तथा विपुल धनकरकेभी मोक्षकी प्राप्ति नहि होवेहै किंतु एक त्यागकरकेहि केचित् ऋषिलोक मोक्षकूं प्राप्त होते भयेहैं इति ॥ औ जो सर्वके त्याग करणेसें विना परिवारयुक्त यहविषेहि योगसिद्धिकी वांछा करेहै सो मूर्ख है, यह वार्ता अन्य ग्रंथमेंभी कथन करीहै "मातुरंकगतो बालो गृहीतुं चंद्रमिच्छति ॥ यथा योगं तथा योगी संत्यागेन विनाऽबुधः" अर्थ० जैसे माताके अंकमें स्थितभया मूढ बालक चंद्रमाके

पकडनेकी वांछा करेहै तैसेहि जो साधक पुरुष सर्वके परित्याग कियेतेंविना योगसिद्धिकी वांछा करेहै सोभी बालककी न्याई मूर्खहि है इति ॥ यातें "विजनदेशगतः" कहिये साधककूं सर्व स्त्रीपुत्रादिकोंका परित्याग करके निर्जन औ पवित्र देशविषे जायकर निवास करणा चाहिये, यह वार्ता कृष्णयजुर्वेदकी श्वेताश्वतर उपनिषत्मेंभी कथन करीहै "समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ॥ मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्" ॥

अर्थ० सर्वतरफसें समान औ पवित्र तथा कंकर अग्नि वालुका शब्द जलाश्रयादिकोंकरके वर्जित औ अत्यंत वायुकरके रहित जो गुहाआदिक सुंदर औ मनके अनुकूल स्थान होवे तहांहि जायकर साधक पुरुषकूं योगाभ्यास करणा योग्य है इति ॥ तथा याज्ञवल्क्यसंहितामेंभी कहाहै ॥

"तपोवनं सुसंप्राप्य फलमूलोदकान्वितम्"
तत्र रम्ये शुचौ देशे ब्रह्मघोषसमन्विते ॥
स्वधर्मनिरतैः शांतैर्ब्रह्मविद्भिः समाश्रिते ॥
वारिभिश्च सुसंपन्नैः पुष्पैर्नानाविधैर्युते ॥
फलमूलैश्च संपूर्णे सर्वकामफलप्रदे ॥
देवाश्रमे वा नद्यां वा ग्रामे वा नगरेऽथवा ॥
सुशोभनं मठं कृत्वा सर्वरक्षासमन्वितम् ॥

त्रिकालस्नानसंयुक्तः स्वधर्मनिरतः सदा ॥
वेदांतश्रवणं कुर्वन् तस्मिन् योगं समभ्यसेत् ॥

अर्थ० नानाप्रकारके कंद मूल फल औ विमल जलाशय औ वेदध्वनिकरके युक्त तथा स्वधर्मविषे तत्पर ब्रह्मवेत्ता तपस्वियोंकरके अधिष्ठित औ सरोवरोंविषे नानाप्रकारके पुष्पोंकरके शोभायमान तथा सर्व ऋतुवोंके फलमूलोंकरके संपूर्ण तपोवन अथवा गंगादिक नदीके तीर वा देवालयादिक जो रमणीय औ पवित्र देश हैं तहांहि साधक पुरुषकूं जायकर सर्वप्रकारकी रक्षाकरके युक्त सुंदर मठ बनायकर त्रिकाल स्नानकरके युक्त होयकर औ वेदांतशास्त्रका श्रवण करते हुये योगाभ्यास करणा योग्य है इति ॥ सो योगाभ्यासके योग्य मठका लक्षण हठयोगप्रदीपिकाविषे कथन कियाहै "अल्पद्वारमरंध्रगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतं सम्यग्गोमयसांद्रलिप्तममलं निःशेषजंतूज्झितम् ॥ बाह्ये मंडपवेदिकूपरुचिरं प्राकारसंवेष्टितं प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः ॥" अर्थ अल्पद्वारवान् औ गर्तविवरादिकोंकरके वर्जित तथा न अतिऊंचा औ न अतिनीचे तथा सम्यक्प्रकारसें गोबरादिकोंकरके लिपायमान औ स्वच्छ तथा सर्व मूषकादिक जंतुवोंकरके रहित औ बाह्यसें मंडपवेदिकूपादिकोंकरके रमणीय तथा च्यारि तरफमें भित्तिकरके वे-

ष्ठित जो स्थान है तिसकूंहि योगीलोकोंने योगाभ्यसके योग्य कथन किया है इति॥तथा नंदिकेश्वरपुराणमेंभी कहाहैं॥

मंदिरं रम्यविन्यासं मनोज्ञं गंधवासितम् ॥
धूमामोदादिसुरभि कुसुमोत्करमंडितम् ॥
मुनितीर्थनदीवृक्षपद्मिनीशैलशोभितम् ॥
चित्रकर्मनिबद्धं च चित्रभेदविचित्रितम् ॥
कुर्याद्योगगृहं धीमान् सुरम्यं शुभवर्त्मना ॥
दृष्ट्वा चित्रगतान् शांतान् मुनीन् याति मनः शमम् ॥
सिद्धान् दृष्ट्वा चित्रगतान् मतिरभ्युद्यमे भवेत् ॥
मध्ये योगगृहस्याथ लिखेत् संसारमंडलम् ॥
श्मशानं च महाघोरं नरकांश्च लिखेत् क्वचित् ॥
तान् दृष्ट्वा भीषणाकारान् संसारे सारवार्जिते ॥
अनवसादो भवति योगी सिद्ध्यभिलाषुकः ॥

अर्थ० मनोहर औ सुंदर विन्यासकरके युक्त औ धूपादिकसुगंधियोंकरके सुगंधित तथा नानाप्रकारके पुष्पोंकरके युक्त वृक्षोंसें शोभायमान औ मुनियोंके निवास नदी वृक्ष पर्वतादिकोंके समीप तथा स्वच्छ मार्गोंकरके युक्त औ मध्यसें योगीजनोंकी शांत मूर्तियोंकरके चित्रित होवे जिनकूं देखकरके साधक पुरुषकूं योगविषे विश्वास औ उत्साह उत्पन्न

१ रचना. २ आश्रयस्थान.

होवे तथा तिस मठमें किसी स्थलविषे संसारमंडल औ श्मशान तथा घोर नरकोंके चित्रभी लिखेहोवें जिन भयंकराकारोंके देखनेसें योगसिद्धिकी अभिलाषावान् योगी इस-निःसार संसारचक्रसें उपरामताकूं प्राप्त भया योगाभ्यासविषे अप्रमत्त होवेहै इति ॥ इस प्रकारके मठविषे "गतसाध्वसः" कहिये साधक पुरुषकूं सर्पव्याघ्रादिकोंके भयतें रहित होयकर निवास करणा चाहिये, काहेतें अपणे प्रारब्धकर्मसें विना सर्पव्याघ्रादिक कोईभी इस पुरुषकूं किंचित्मात्रभी दुःख नहि देसकैहै, यह वार्ता भागवतके सप्तम स्कंधमेंभी कथन करीहै "पथि च्युतं तिष्ठति दिष्टरक्षितं गृहे स्थितं तद्विहतं विनश्यति ॥ जीवत्यनाथोपि तदीक्षितो वने गृहेपि गुप्तोऽस्य हतो न जीवति"

अर्थ० मार्गविषे पतितभईभी वस्तु प्रारब्धकर्मकरके रक्षित रहती है औ जो प्रारब्धमें नहि हो तो अतियत्नसें घरमें रखी हुईभी नाशकूं प्राप्त होवे है तथा प्रारब्ध कर्मकरके रक्षण किया हुया अनाथ पुरुषभी सर्पव्याघ्रादिकोंकरके संकुल गह्वर वनविषेभी जीवता रहताहै औ प्रारब्धकर्मकरके हनन किया हुया तो सर्व तरफसें रक्षाकरके युक्त स्थानविषे स्थितभयाभी मृत्युकूं प्राप्त होवेहै इति ॥ तथा भर्तृहरिनेभी नीतिशतकमें कहाहै "वने रणे शत्रुजलाग्नि-

मध्ये महार्णवे पर्वतमस्तके वा ॥ सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा रक्षंति पुण्यानि पुरा कृतानि" अर्थ० गहन वन औ शत्रुवोंके मध्यमें तथा गंभीर जल औ प्रज्वलित अग्नि- विषे तथा महासमुद्र औ पर्वतके शिखरमें तथा रात्रिविषे शयनकाल औ विषभक्षणादिकजन्य प्रमादकालविषे तथा विकट मार्गमेंभी पूर्व अनुष्ठान कियेहुये अपणे सुकृत- कर्महि इस जीवकी रक्षा करतेहैं इति ॥ तथा महाभार- तके मोक्षपर्वमेंभी कहाहै "नाकाले म्रियते जंतुर्विद्धः शरशतैरपि ॥ तृणाग्रेणापि संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति" अर्थ० अनेक तीक्ष्ण बाणोंकरके वेधन कियाहुयाभी पुरुष विना कालसें मृत्युकूं नहि प्राप्त होवेहै औ कालके प्राप्त भये तो शुष्क तृणके अग्रभागकरके हनन कियाहुयाभी नहि जीवेहै इति ॥ किंच साधनपुरुषकूं निर्जनदेशमें भोजना- च्छादनादिकोंकी चिंताभी नहि करणी चाहिये, काहेतें शरीरका पोषण तो प्रारब्धकर्महि करणेहारा है, यह वार्ता विवेकचूडामणिमें शंकराचार्यनेभी कथन करीहै "प्रारब्धं पुष्यति वपुरिति निश्चित्य निश्चलः ॥ धैर्यमालंब्य यत्नेन तत्वा- भ्यासं समाचरेत्" अर्थ० प्रारब्धकर्महि इस शरीरका पो- षण करेगा इस प्रकारका दृढ निश्चय करके औ परम धर्यका- अवलंबन करके शास्त्रोक्त प्रयत्नसें आत्मतत्त्वका अभ्यास करणा

योग्य है इति ॥ तथा भागवतके सप्तमस्कंधविषेभी कहाहै "स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे" अर्थ० जिस ईश्वरने कृमि-आदिकोंकरके युक्त माताके उदरमें अधोमुख इस शरीरका रक्षण कियाहै सोई अबभी करेगा इति ॥ तथा गीताके नवमाध्यायविषे भगवान्नेभी कहाहै "अनन्याश्चिंतयंतो मां ये जनाः पर्युपासते ॥ तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यम्" अर्थ० हे अर्जुन जो पुरुष मेरेहि आश्रय होयकर योगाभ्यासद्वारा मेरी निरंतर उपासना औ चिंतन करतेहैं तिन नित्ययुक्त पुरुषोंका मैं स्वयमेव योग[1]क्षेम वहन करताहूं इति ॥ इस प्रकार भय तथा चिंतादिकोंका परित्याग करके "समुपकल्प्य शुभासनं" कहिये पूर्वोक्तलक्षणमठविषे दर्भ मृगचर्मादिकोंकरके कोमल आसन बनानाचाहिये, यह वार्ता गीताके षष्ठाध्यायविषेभी कथन करीहै–

"नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्"

अर्थ० प्रथम तो दर्भ बिछावे तिसपर मृगचर्म पुना तिसके ऊपर निर्मल वस्त्र विछावे इस प्रकारसें नतो अतिऊंचा औ न अतिनीचा आसन बनानाचाहिये इति ॥ सो यह आसन "आत्मनः" कहिये अपणा होनाचाहिये दूसरेका नहि,

१ अप्राप्तवस्तुकी प्राप्ति करणेका नाम योग है औ प्राप्तवस्तुकी रक्षा करणेका नाम क्षेम है.

काहेतें दूसरेके आसनपर यथेष्ट अभ्यास नहि संभवेहै किंतु तिसके अधीन रहना पडताहै,यह वार्ताभी गीताके षष्ठाध्याय-मेंहि कथन करीहै "शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः" अर्थ० साधकपुरुषकूं पूर्वोक्त पवित्रदेशविषे अपणा स्थिर आ-सन करणा चाहिये दूसरेके आसनपर योगाभ्यास नहि करणा चाहिये इति ॥ तथा मनुस्मृतिमेंभी कहाहै "सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ॥ एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः" अर्थ० यावत्मात्र पराधीनता है सो सर्वहि दुःखका हेतु है औ यावत्मात्र स्वतंत्रता है सो सर्वहि सुखका हेतु है विवेकी-पुरुषकूं संक्षेपसें यहि सुखदुःखका लक्षण जानना चाहिये इति ॥ तथा "दृढमतिः" कहिये मरणपर्यंतका निश्चयकरके योगाभ्यास करणा चाहिये दिवस औ मासोंकरके योगसिद्धि-की वांछा नहि करणा चाहिये इस वार्तापर जीवन्मुक्तिप्रकरण-विषे विद्यारण्यस्वामीने एक दृष्टांत लिखाहै । सो जैसे किसी एक ब्राह्मणने आपणे पुत्रकूं वेदाध्ययन करणेके अर्थ किसी अन्य ग्राममें भेजा सो जब तिसकूं गये हुये षट् दिवस व्य-तीत भये तो सो ब्राह्मण अपणी स्त्रीकेप्रति कहने लगा हे प्रिये वेद तो लोकविषे च्यारिहि प्रसिद्ध हैं औ हमारे पुत्रकूं गमन किये तो आज षट् दिवस व्यतीत होगयेहैं इतना वि-लंब किस कारणसें हुया इति ॥ सो जैसे इस प्रकारकी इ-

च्छावान् ब्राह्मण मूर्ख था तैसेहि जो साधक कितनेक दि-
वस अथवा मासोंविषे योगसिद्धिकी वांछा करेहै सोभी मू
र्खहि है इति ॥ तथा पतंजलिनेभी योगसूत्रोंमें कहाहै
"सतु दीर्घकालनैरंतर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः" अर्थ०
सो अभ्यास दीर्घकाल औ निरंतर तथा आदरपूर्वक सेवन
किया हुयाहि दृढ अवस्थाकूं प्राप्त होवेहै इति ॥ तथा योगवा-
सिष्ठके उपशमप्रकरणमें वसिष्ठजीनेभी कहाहै " जन्मांतरचि-
राभ्यस्ता राम संसारसंस्थितिः ॥ सा चिराभ्यासयोगेन वि-
ना न क्षीयते क्वचित् " अर्थ० हे रामचंद्र जन्मजन्मांतरोंविषे
दीर्घकालसें जो संसारकी वासनाका अभ्यास होय रहाहै
सो दीर्घकालपर्यंत योगाभ्यास कियेतें विना अन्य किसी
उपायकरके क्षीण नहि होवेहै इति ॥ इस स्थलविषे एक लौ-
किक इतिहास है सो संक्षेपसें यहां लिखेहैं ॥ जैसे कोई एक
ब्राह्मण रामचंद्रजीका अत्यंत भक्त था सो एक समयविषे दु-
र्भिक्षकरके पीडित भया एकाकी परदेशकूं गमन करता भया तो
मार्गमें एक म्लेच्छोंका ग्राम आया सो जिस कालविषे भिक्षा-
के अर्थ तिस ग्राममें ब्राह्मणने प्रवेश किया तो तिन म्लेच्छोंने
पकडकर बलात्कारसें तिसकी शिखा औ यज्ञोपवीत उतारक-
रके अपणी जातिमें मिलाय लिया औ अपणी जातिके सर्व
कर्म तिसकूं पढाय दिये परंतु जिस कालविषे सो ब्राह्मण

तिन म्लेच्छोंके साथ मिलकर निमाज पढकर दोनों हाथ खु-
लेकरके दवा मांगे तो तिसके मुखसें या खुदाके स्थलमें या
रामजी ऐसा शब्द निकसे तो एक दिवस तिन म्लेच्छोंने क्रो-
धकरके कहा हे दुष्ट अब तो तुं हमारे मतमें मिलगयाहै पुना
काहेको रामका नाम लेताहै तो तिस ब्राह्मण म्लेच्छने कहा,
हे मित्रो चालीस वर्षपर्यंत मैं ब्राह्मण रह्याहुं औ अब तीन
च्यारि मासमें तुमारी जातिविषे मिलाहुं सो चालीस वर्षसें
रामशब्दने मेरे हृदयमें प्रवेश किया हुयाहै यातें किसप्रका-
रसें सो शीघ्रहि निकस सकैहै इति ॥ तैसेहि अनेक जन्मज-
न्मांतरोंसें संसारकी वासनाओंका जो हृदयविषे प्रवेश होय-
रहाहै सो किस प्रकारसें तिनकी अल्पकालके योगाभ्यासक-
रके निवृत्ति होयसकैहै ॥ यातें साधक पुरुषकूं चिरकालपर्यं-
तहि अभ्यास करणा योग्यहै ॥ तथा "क्रमशः" कहिये
प्रथम यम पश्चात् नियम तदनंतर आसन तिसके पीछे प्राणा-
याम पश्चात् प्रत्याहार तदनंतर धारणा तिसके पश्चात् ध्यान
तदनंतर समाधि इस क्रमसें "समभ्यसेत्" कहिये वक्ष्यमाण
रीतिसें उक्त योगके अष्ट अंगोंका अभ्यास करना चाहिये क्र-
मसेंविना नहि, काहेतें जैसे सीढीकेविना पुरुष गृहके ऊपरभा-
गविषे आरोहण नहि करसकैहै तैसेहि साधक पुरुष यमनि-
यमादिकरूप सीढीकेविना निर्विकल्पसमाधिरूप गृहके ऊपरभा-

गविषे आरोहण करणेकूं समर्थ नहि होवेहै ॥ तथा योगभाष्यविषे व्यासजीनेभी कहाहै—

"योगेन योगो ज्ञातव्यो योगाद्योगः प्रवर्तते ॥
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगी रमते चिरम् ॥"

अर्थ० योगकी प्रथम भूमिकासें दूसरी भूमिका जाननी चाहिये अर्थात् प्रथम भूमिकाके जय हुये पश्चात् दूसरीका आरंभ करणा चाहिये काहेतें प्रथम भूमिकाके जय हुयेतें अनंतरहि दूसरीभूमिकाविषे साधककी प्रवृत्ति होवेहै इस प्रकार भूमिका जय क्रमसें जो योगमें अप्रमत्त होवेहै सोई योगी चिरकालपर्यंत पृथिवीविषे रमण करेहै अर्थात् योगसिद्धिकी प्राप्तिद्वारा चिरंजीवी होयकर विचरेहै इति ॥ यातें साधक पुरुषकूं उक्तक्रमसेंहि योगाभ्यास करणा योग्य है सो अभ्यासका लक्षण योगसूत्रोंमें पतंजलिने कथन कियाहै "तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः" अर्थ० निर्विकल्पसमाधिकी स्थितिके अर्थ जो योगके अंगोका वारंवार आवर्तन करणाहै तिसका नाम अभ्यास है इति ॥ ५ ॥

शंका ॥ पूर्वोक्त श्लोकविषे तुमने कहा जो मुमुक्षु पुरुषकूं एकांतदेशविषे मठ बनायकर तिसमें आसन जमायकरके यमनियमादिक क्रमसें योगाभ्यासकरणा योग्यहै सो वार्ता अन्यथासिद्ध है, काहेतें कृष्णयजुर्वेदकी श्वेताश्वतर उपनिषत्में कहाहै

"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय" अर्थ० तिस ब्रह्मके जाननेसें हि यह अधिकारी पुरुष मोक्षकूं प्राप्त होवेहै ब्रह्मज्ञानकेविना मोक्षके अर्थ कोई दूसरा उपाय नहिहै इति ॥ तथा तहांहि षष्ठाध्यायविषेभी कहाहै "यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यंति मानवाः ॥ तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यांतो भविष्यति" अर्थ० जिस कालविषे मनुष्य आकाशकूं चर्मकी न्याई आवेष्टन करलेवेंगे तिस कालमें विना ब्रह्मज्ञानसें जन्ममरणरूप संसारदुःखकीभी निवृत्ति होजावेगी अर्थात् जैसे मनुष्य आकाशकूं कदाचित्भी आवेष्टन नहि करसकैंहैं तैसेहि ब्रह्मज्ञानसें विना कदाचित्भी संसारदुःखकी निवृत्ती नहि होवेहै इति ॥ तथा अन्यस्मृतिमेंभी कहाहै "ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते" अर्थ० ब्रह्मज्ञानसेंहि कैवल्यमोक्षकी प्राप्ति होवेहै जिसकरके मुमुक्षु पुरुष सर्वबंधनोंसें मुक्त होवेहै इति ॥ तथा विवेकचूडामणिविषे शंकराचार्यनेभी कथन कियाहै "नान्योस्ति पंथा भवबन्धमुक्तेर्विना स्वतत्त्वावगमं मुमुक्षोः" अर्थ० मुमुक्षुपुरुषकूं आत्मतत्त्वके बोधविना मोक्षके अर्थ दूसरा कोई मार्ग नहिहै इति ॥ तथा गीताके चतुर्थाध्यायविषे भगवान्नेभी कहाहै "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ॥ सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते" अर्थ० हे अर्जुन ब्रह्मज्ञानकें समान

इस जगत्विषे दूसरा कोई पदार्थ पवित्र नहिहै ॥ तथा श्रुति स्मृतिविहित जो यज्ञादिक कर्म हैं तिन सर्वकाहि ज्ञानके- विषे अंतर्भाव होवेहै इति ॥ इत्यादिक अनेक श्रुतिस्मृति- योंविषे केवल ब्रह्मज्ञानकूहि मोक्षकी हेतुता कथन करीहै सो ज्ञान उपनिषदादिक वेदांतवाक्योंके श्रवणकरणेतें होवेहै अन्यथा नहि, यह वार्ता यजुर्वेदकी बृहदारण्यक उपनिषत्में याज्ञवल्क्यनेभी कथन करीहै "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" अर्थ० हे शाकल्य मैं तेरेसें उपनिषत्विषे प्रतिपादन किया जो पुरुष है तिसकूं पूछताहूं इति ॥ तो तुम चिरकाल औ अ- त्यंत प्रयासकरके साध्य तथा अनेक विघ्नोंकरके युक्त जो योगाभ्यास है तिसकूं काहेतें विधान करतेहो ॥ किंच "एते न योगः प्रत्युक्तः" इस शारीरकसूत्रविषे महर्षि व्यास औ तिसके ऊपर भाष्यकरणेहारे शंकराचार्यने योगका खंडन कियाहै यातेंभी तुमारा कथन अयुक्त है ॥ इस प्र- कारकी शंकाके भयेतें समाधान कहेहैं ॥

इन्द्रवंशा वृत्तम् ॥

ज्ञानं वदन्तीह विमोक्षकारणं
तज्जायते नैव विलोलचेतसि ॥

लौल्यं न योगेन विना प्रशाम्यति
तस्मात्तदर्थं हि यतेत साधकः ॥६॥

ज्ञानमिति ॥ यद्यपि ब्रह्मज्ञानहि मोक्षकी प्राप्तिमें कारण है अन्य साधन नहि यह जो पूर्वोक्त श्रुतिस्मृतियोंका कथन है सो यथार्थ है तथापि चित्तकी एकाग्रताके हुयेविना केवल वेदांत श्रवणकरणेतें तिस ज्ञानकी प्राप्ति होवे नहि काहेतें जैसे जिस कालविषे जल वायुकरके चलायमान होवेहै तो तिसविषे मुखका आभास स्पष्ट नहि प्रतीत होवेहै तैसेहि जिस कालविषे नानाप्रकारके संकल्पविकल्परूप वायुकरके बुद्धिरूप जल क्षोभायमान अर्थात् चंचल होवेहै तो आत्मारूप मुखका संशय औ विपरीत भावनासें रहित स्पष्टबोध नहि होवेहै ॥ यह वार्ता यजुर्वेदकी कठउपनिषन्‌मेंभी निरूपण करीहै "दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" अर्थ० यह आत्मा सूक्ष्मदर्शी विद्वान् पुरुषोंकरके सूक्ष्मबुद्धिके अग्रभागसेंहि देखा जावेहै स्थूलबुद्धिकरके नहि काहेतें जैसे सूचिकाके छिद्रविषे सूक्ष्म तागाकाहि प्रवेश संभवेहै जल निकासनेकी स्थूलरज्जुका नहि औ जैसे अतलसादिक सूक्ष्मवस्त्रके सीवनेमें सूक्ष्म सूचिकाहि उपयोगी होवेहै क्षेत्रके आकर्षण करणेहारा फाला नहि तैसेहि आत्मत-

त्वके प्रतिबिंब ग्रहण करणेविषे सूक्ष्मबुद्धिहि समर्थ होवेहै स्थूल नहि ॥ तिनमें नानाप्रकारके संकल्पविकल्पोंकरके चंचल जो बुद्धि है सो स्थूल कहियेहै औ जो एकाग्र बुद्धि है तिसका नाम सूक्ष्म है ॥ सो बुद्धिकी चंचलताका अभाव विना योगाभ्यासके नहि होवेहै किंतु योगाभ्यासकरकेहि होवेहै, यह वार्ता ध्यानदीपमें पंचदशीकारनेभी कथन करीहै "योगो मुख्यस्ततस्तेषां धीदर्पस्तेन नश्यति" अर्थ० जिन मुमुक्षुपुरुषोंका चित्त नानाप्रकारके संकल्पविकल्पोंकरके चंचल है तिनकूं योगाभ्यासहि चित्तकी एकाग्रताविषे मुख्य साधन है काहेतें योगाभ्यासकरकेहि बुद्धिकी चंचलताका नाश होवेहै इति ॥ शंका ॥ योगाभ्यासके विना जप, तप, यज्ञ, उपवास, उपासना आदिक अन्य उपायोंकरकेभी शुद्धिद्वारा बुद्धिकी एकाग्रता संभवेहै तो योगाभ्यासका क्या प्रयोजन है ॥ समाधान ॥ यद्यपि जप, तप, उपासना आदिकोंकरकेभी बुद्धिकी एकाग्रता संभवेहै तथापि जिस प्रकारसें योगाभ्यासकरके बुद्धिकी शीघ्र एकाग्रता होवेहै तैसे अन्य उपायोंकरके नहि होवेहै काहेतें सर्व जप, तप, यज्ञादिकोंसें योगाभ्यासकूं अधिक फलकी हेतुता है, यह वार्ता अथर्ववेदकी अथर्वशिखाउपनिषत्मेंभी कथन करीहै "क्षणमेकमास्थाय क्रतुशत-

स्यापि फलमवाप्नोति ” अर्थ० एकक्षणमात्रभी समाधिविषे स्थित भया योगी सौ अश्वमेधयज्ञके फलकूं प्राप्त होवेहै इति ॥ तथा अत्रिसंहितामेंभी कहाहै “योगात्संप्राप्यते ज्ञानं योगाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ योगः परंतपो ज्ञेयस्तस्माद्युक्तः समभ्य-सेत् ॥ न च तीव्रेण तपसा न स्वाध्यायैर्न चेज्यया ॥ गतिं गंतुं द्विजाः शक्ता योगात्संप्राप्नुवंति याम्” अर्थ० योगकरके-हि ज्ञानकी प्राप्ति होवेहै औ योगसेंहि धर्मकी प्राप्ति होवेहै तथा योगहि परम तप है यातें सर्वदाहि योगका अभ्यास करणा योग्य है ॥ तथा योगाभ्यासकरके जिस गतिकी प्राप्ति होवेहै सो तीव्र तपकरके औ मंत्रोंके जप करके तथा यज्ञोंके अनुष्ठान करणेसेंभी तिस गतिकूं द्विजलोक प्राप्त होनेमें समर्थ नहि होवेहैं इति ॥ तथा याज्ञवल्क्यसंहितामें-भी कहाहै “इज्याचारदमाहिंसातपःस्वाध्यायकर्मणाम् ॥ अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्” अर्थ० इज्या, आचार, इन्द्रियोंका दमन, अहिंसा, तप, वेदाध्ययन, इ-त्यादिक सर्व कर्मोंसें योगाभ्यासकरके जो आत्माका साक्षा-त्कार करणा है सो परमधर्म है इति ॥ किं च योगाभ्यासके विना केवल वेदांतवाक्योंके श्रवण करणेतें ज्ञानकी भी प्राप्ति नहि होवेहै यह वार्ता दक्षस्मृतिविषे भी कथन करीहै ॥

१—१०२ शंभरयज्ञ.

३

"स्वसवद्यहि तद्ब्रह्म कुमारीस्त्रीसुखं यथा ॥ अयोगी नैव जानाति जात्यंधो हि घटं यथा" अर्थ० जैसे यौवनावस्थाकी स्त्री पतिके संभोगजन्य सुखकूं आपहि अनुभव करेहै तैसेहि सो ब्रह्मानन्दका स्वयमेव योगीलोकहि अनुभव करतेहैं ॥ औ जैसे जन्मसें अंध पुरुषकूं घटके स्वरूपका ज्ञान नहि होवेहै तैसेहि अयोगी लोक तिस ब्रह्मकूं नहि जानसकैहैं इति ॥ तथा कपिलदेवजीनेभी सांख्यसूत्रोंमें कहाहै "नोपदेशश्रवणेऽपि कृतकृत्यता परामर्षादृते विरोचनवत्" अर्थ० विना अभ्यासके केवल उपदेशश्रवणमात्रकरके हि कृतकृत्यताकी प्राप्ति नहि होवेहै काहेतें दैत्योंके पति विरोचनकूं ब्रह्मासें उपदेश श्रवणकरणेतेंभी ज्ञानकी प्राप्ति नहि होती भयीहै इति ॥ तथा श्रुतिमेंभी कहाहै "अथ तद्दर्शनाभ्युपाये योगः" "अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" अर्थ० तिस आत्माके साक्षात्करणेमें एक योगहि उपाय है दूसरा नहि ॥ तथा योगाभ्यासद्वाराहि तिस आत्मादेवकूं जानकर धीर पुरुष हर्षशोककरके उपलक्षित जन्ममरणरूप संसारका परित्याग करेहै इति ॥ किंच ज्ञानका फलभूत जो मोक्ष है तिसकीभी योगाभ्यासकेविना प्राप्ति नहि होवेहै किंतु योगाभ्यासकरकेहि होवेहै, यह वार्ता कृष्णयजुर्वेदकी श्वेताश्वतरउपनिषत्मेंभी कहीहै "त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं श-

रीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य ॥ ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत वि-
द्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि" अर्थ० शिर ग्रीवा औ
कटी इन तीनोंकूं स्तब्ध करके औ शरीरकूं अचल धारण क-
रके तथा चक्षु आदिक इन्द्रियोंकूं मनसें नियमन करके ॐ-
काररूप नौकाद्वारा योगीपुरुष हर्ष शोक जन्ममरणादिक
भयरूप सर्व नदियोंकूं तरजावेहै इति ॥ तथा स्कंदपुराण-
मेंभी कहाहै—

"आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्च योगादृते नहि ॥
स च योगश्चिरं कालमभ्यासादेव सिद्ध्यति"

अर्थ० यद्यपि आत्मज्ञानकरकेहि मोक्षकी प्राप्ति होवेहै
परंतु सो ज्ञान विना योगके नहि उत्पन्न होवेहै औ तिस
योगकी चिरकालपर्यंत अभ्यास करणेसेंहि सिद्धि होवेहै
इति ॥ तथा कूर्मपुराणमें महादेवजीनेभी कहाहै "योगाग्नि-
र्दहति क्षिप्रमशेषं पापपंजरम् ॥ प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्नि-
र्वाणमृच्छति" अर्थ० प्रथम योगरूप अग्नि सर्व पापोंके समूहकूं
भस्म करेहै पश्चात् शुद्ध भये अंतःकरणमें ज्ञानकी उत्पत्ति
होवेहै तदनंतर कैवल्यमोक्षकी प्राप्ति होवेहै इति ॥ तथा यो-
गवासिष्ठमें भी कहाहै "दुःसहा राम संसारविषवेगा विषू-
चिका ॥ योगगारुडमंत्रेण पावनेनोपशाम्यति" अर्थ० हे राम
चंद्रजी यह संसाररूप विषविषूचिकाका वेग बडा दुःसह है सो

योगरूप गरुडके मंत्र करके शांतिकूं प्राप्त होवेहै अन्यथा नहि इति ॥ तथा गरुडपुराणमेंभी कहाहै "भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम्" अर्थ० जन्ममरणरूप संसारके तापकरके तप्त भये पुरुषोंकूं योगाभ्यासहि परम औषधरूप है इति॥ तथा विवेकचूडामणिविषे शंकराचार्यनेभी कहाहै—

"समाहिता ये प्रविलाप्य बाह्यं श्रोत्रादि चेतस्त्वमहं चिदात्मनि ॥ त एक मुक्ता भवपाशबंधनैर्नान्ये तु पारोक्ष्यकथाभिधायिनः" अर्थ० जो पुरुष घटपटादिक बाह्य प्रपंच तथा श्रोत्रादिक इन्द्रिय चित्त त्वं अहं आदिक आंतर प्रपंचकूं चिदात्मा साक्षीविषे विलयकरके समाधिस्थ होवेहै सोई पुरुष जन्ममरणरूप संसारके बंधनोंसें मोक्षकूं प्राप्त होवेहैं औ जो केवल परोक्ष आत्मतत्वके वक्ता औ श्रोता हैं सो नहि प्राप्त होवेहैं इति ॥ तथा पंचदशीमें विद्यारण्यस्वामीनेभी कहाहै "वाक्यमप्रतिबंधं सत्प्राक् परोक्षावभासते ॥ करामलकवद्बोधमपरोक्षं प्रसूयते" अर्थ० समाधिकालविषे मलविक्षेप प्रारब्धादिक दोषोंकरके अप्रतिबंधित भया तत्त्वमस्यादिक महावाक्य समाधिसें पूर्वपरोक्ष प्रतीत भये आत्मतत्वविषे करामलककी न्याईं अपरोक्ष ज्ञानका जनक होवेहै इति ॥ इस प्रसंगपर योगबीजनामा ग्रंथमें महादेव औ पार्वतीजीका संवाद लिखाहै सो संक्षेपसें यहां दिखावेहैं

पार्वत्युवाच

"ज्ञानादेव हि मोक्षं च वदंति ज्ञानिनः सदा ॥
न कथं सिद्धयोगेन योगः किं मोक्षदो भवेत्"

अर्थ० पार्वतीने प्रश्न किया हे ईश्वर केवल ज्ञानकरकेंहि मोक्षकी प्राप्ति होवेहै अन्य साधनकरके नहि ऐसे सर्वहि ज्ञानी लोक कथन करतेहैं तो तुम सिद्ध भये योगकूंहि किस प्रकारसें मोक्षका देनेहारा कथन करतेहो इति ॥

ईश्वरउवाच

"ज्ञानेनैवहि मोक्षं च तेषां वाक्यं तु नान्यथा ॥
सर्वे वदंति खड्गेन जयो भवति तर्हि किम् ॥
विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात् ॥
तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत् ॥

अर्थ० हे प्रिये केवल ज्ञानसेंहि मोक्षकी प्राप्ति होवेहै अन्य साधनसें नहि, यद्यपि यह तिनका कथन यथार्थ है तथापि जैसे सर्व लोक कहतेहैं जो खड्गसें शत्रुका पराजय होवेहै तो इतना कहनेसें क्या हुया सो जैसे युद्ध औ बलसें विना केवल खड्गकरके शत्रुका पराजय नहि होवेहै तैसेहि योगके विना केवल ज्ञानकरके मोक्षकी प्राप्ति नहि होवेहै इति ॥ तथा अन्य श्लोककरकेभी तहांहि कहाहै"ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा धर्मज्ञोपि जितेन्द्रियः । विनायोगेन देवोपि न मोक्षं लभते प्रिये

अर्थ० हे प्रिये ज्ञाननिष्ठ होवे अथवा विरक्त होवे चाहे सर्व धर्मोंके जाननेहारा होवे अथवा सर्व इन्द्रियोंके जीतनेहारा होवे किंच देवताभी होवे तो विना योगाभ्यासके मोक्षपदकूं नहि प्राप्त होवेहै इति ॥ शंका ॥ तुमने कहा जो योगाभ्यासके विना अपरोक्षज्ञानकी औ तिसके फलभूत कैवल्यमोक्षकी प्राप्ति नहि होवेहै सो वार्ता असंभव है काहेतें जनक प्रतर्दनादिकोंकूं विनाहि योगाभ्यासके केवल वेदांतवाक्योंके श्रवणमात्रसेंहि अपरोक्षज्ञानकी प्राप्ति पुराणादिकोंविषे श्रवणमें आवेहै ॥ समाधान ॥ जनकादिकोंकूंभी पूर्वजन्मविषे अनुष्ठान किये हुये योगाभ्यासके संस्कारोंसेंहि ज्ञानकी प्राप्ति होती भयीहै केवल वेदांतश्रवणसें नहि यह वार्ता पुराणोंमेंभी निरूपण करीहै—

"जैगीषव्यो यथा विप्रो यथा चैवासितादयः ॥
क्षत्रिया जनकाद्यास्तु तुलाधारादयो विशः ॥
धर्मव्याधादयः सप्तशूद्राः पैलवकादयः ॥
मैत्रेयी सुलभा गार्गी शांडिली च तपस्विनी ॥
एते चान्ये च बहवो नीचयोनिगता अपि ॥
ज्ञाननिष्ठां परां प्राप्ताः पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः ॥"

अर्थ०जैगीषव्य औ असित इत्यादिक ब्राह्मण तथा जनकादिक क्षत्रिय औ तुलाधारादिक वैश्य तथा धर्मव्याध

औ पैलवकादिक सप्तशूद्र तथा मैत्रेयी सुलभा गार्गी शांडिली आदिक स्त्रियां इनतें आदिलेकर अन्यभी अनेकहि नीचयोनियोंमें स्थित भये हनुमान् जांबवानादिक जो परमज्ञाननिष्ठाकूं प्राप्त होते भयेहैं सो सर्वहि पूर्वजन्मविषे अनुष्ठान कियेहुये अपणे योगाभ्यासके संस्कारोंकरकेहि प्राप्त होते भयेहैं इति ॥ किंच यजुर्वेदकी बृहदारण्यकउपनिषत्में लिखाहै "तदेव सक्तः सहकर्मणैति लिंगं मनो यत्र निषक्तमस्य" अर्थ० अंतकालविषे इस पुरुषका मन जिस वस्तुविषे आसक्त होवेहै तिसही वस्तुकूं सहित कर्मोंके प्राप्त होवेहै इति ॥ तथा गीताके अष्टमाध्यायविषेभी कहा है—

"यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यंते कलेवरम् ॥
तं तमेवैति कौंतेय सदा तद्भावभावितः ॥"

अर्थ० हे अर्जुन देहके अवसानकालविषे यह पुरुष जिसजिसपदार्थका स्मरण करता हुआ शरीरका परित्याग करेहै तिस तिस पदार्थकूंहि सर्वदा तिसकी भावनाकरके युक्त भया प्राप्त होवेहै इति यातें मृत्युकालकी अत्यंत व्यथाकरके मूर्छित भये योगहीन केवल ज्ञानी पुरुषकूं अहं ब्रह्मास्मि इस प्रकारकी स्मृति नहि संभवेहै यह वार्ता योगबीजमें महादेवजीनेभी कथन करीहै—

"पिपोलिका यदा लग्ना देहे ध्यानाद्विमुच्यते ॥
असौ किं वृश्चिकैर्दष्टो देहांते वा कथं स्मरेत्"

अर्थ० हे देवि योगहीन पुरुषके शरीरसाथ जिस कालविषे एक पिपोलिकाकाभी स्पर्श होवेहै तौ तिसही कालविषे सो ध्यानसें व्युत्थानकूं प्राप्त होवैहै तो देहके अंतकालविषे जब अनेक वृश्चिकोंके काटनेसमान व्यथाकूं प्राप्त हेवेगा तो तिस कालविषे कैसे स्मरण करेगा इति ॥ औ योगयुक्त पुरुषको तो स्वेच्छा मृत्यु होवेहै यातें तिसकूं अंतकालविषेभी स्मृति संभवेहै ॥ तथा योगवासिष्ठमेंभी उद्दालक वीतहव्य शुकदेवादिकोंकूं स्वेच्छानुसार शरीरके परित्याग करणेसेंही मोक्षपदकी प्राप्ति कथन करीहै ॥ तथा यजुर्वेदकी कठउपनिषत्मेंभी कहाहै "शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका ॥ तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवंति" अर्थ० एकसौ औ एक हृदयकी मुख्य नाडी हैं तिनमेंसें सुषुम्नानामक एक नाडी मस्तकमें ब्रह्मरंध्रपर्यंत गईहै तिस नाडीद्वारा जो पुरुष प्राणोंकूं ब्रह्मरंध्र भेदन करके परित्याग करेहै सोई मोक्षकूं प्राप्त होवेहै औ जिस पुरुषके प्राण मुख नासिका आदिक द्वारोंसें निर्गमन करेहैं सो सर्प

१ कीडी.

पशु मनुष्य पक्षी आदिक योनियोंकूं प्राप्त होवेहै इति ॥ तथा गीताके अष्टमाध्यायमेंभी कहाहै—

"प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्यायुक्तो योगबलेन चैव। भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्"

अर्थ० हे अर्जुन जो पुरुष मरणकालविषे मेरी भक्ति औ मनकी एकाग्रता करके युक्त भया योगबलकरके भ्रुवोंके मध्यप्रवेशद्वारा ब्रह्मरंध्रकूं भेदन करके प्राणोंका परित्याग करेहै सो परम दिव्य पुरुष जो परब्रह्म है तिसकूं प्राप्त होवेहै अर्थात् मोक्षकूं प्राप्त होवेहै इति ॥ तथा महाभारतके मोक्षपर्वविषे भीष्मपितामहने युधिष्ठिरकेप्रतिभी कहाहै—

"यथा चानिमिषाः स्थूला जालं भित्वा पुनर्जलम् ॥
प्रविशंति यथा योगास्तत्पदं वीतकल्मषाः ॥
यथैव वागुरां छित्वा बलवंतो यथा मृगाः ॥
प्राप्नुयुर्विमलं मार्गं विमुक्ताः सर्वबंधनैः ॥
अबलाश्च मृगा राजन् वागुरासु तथा परे ॥
विनश्यंति न संदेहस्तद्वद्योगबलादृते" ॥

अर्थ० हे राजन् जिस प्रकारसें स्थूल मगर मच्छ बलसें जालकूं भेदन करके पुनः अपणे निवासस्थान जलविषे प्रवेश करतेहैं तैसेहि योगी लोक प्रारब्धकर्मरूप जालकूं योगरूप बलसें भेदन करके सर्व पापोंसें रहित भये पुनः अपने निवा-

सस्थान ब्रह्मविषे एकीभावकूं प्राप्त होवेहैं ॥ तथा जैसे बल-वान् मृग जालकूं भेदन करके सर्व बंधनोंसे मुक्त हुए अभि-मत विमल मार्गकूं प्राप्त होवेहैं औ जो बलसें हीन होवेहैं सो जालविषेहि बंधनकूं प्राप्त भये मृत्युकूं प्राप्त होवेहैं तैसेहि जो पुरुष तो योगरूप बलकरके युक्त हैं सो प्रारब्धकर्मरूप जालकूं भेदन करके देहादिक सर्व बंधनोंसें रहित भये ब्रह्म-भावरूप अभिमत विमल मार्गकूं प्राप्त होवेहैं औ जो योगरू-बलकरके हीन हैं सो कर्मरूप जालमेंहि पतित भये नानाप्र-कारकी योनियोंविषे भ्रमणरूप मृत्युकूं प्राप्त होवेहैं इति ॥ किंच ज्ञानसेंभी प्रबल जो प्रारब्धकर्म है तिससेंभी योगा-भ्यास प्रबल है, काहेतें योगाभ्यास करके प्रारब्धकर्मका निरोध होवेहै, यह वार्ता विष्णुधर्मविषेभी कथन करीहै—

"स्वदेहारंभकस्यापि कर्मणः संक्षयावरः ॥
यो योगः पृथिवीपाल शृणु तस्यापि लक्षणम्"

अर्थ० हे राजन् अपणे शरीरके आरंभण करणेहारे प्रा-रब्धकर्मकेभी क्षय करणेहारा जो योग है तिसका लक्षण तूं श्रवण कर इति ॥ तथा गीताके आरंभविषे मधुसूदनस्वा-मीनेभी कहाहै "सा बलवती सर्वतः संयमेनोपशाम्यति" अर्थ०सो प्रारब्धकर्मकी वासना सर्वसें प्रबल है परंतु धारणा

ध्यान समाधिरूप जो संयम है तिसकरके शांतिकूं प्राप्त हो-
वेहै इति ॥ इसहि कारणसें योगी एक शरीरसें अनेक शरी-
रोंकूं एक कालविषेहि निर्माण करणेमें समर्थ होवेहै, यह वार्त्ता
महाभारतके मोक्षपर्वविषे भीष्मपितामहनेभी निरूपण करीहै

"आत्मनां च सहस्राणि बहूनि भरतर्षभ ॥
योगः कुर्याद्बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत् ॥
प्राप्नुयाद्विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत् ॥
संहरेच्च पुनस्तात सूर्यस्तेजो गुणानिव ॥"

अर्थ०हे राजन् योगबलकूं प्राप्त भया योगी अपणे एक
शरीरसें हजारों शरीरोंकूं निर्माण करेहै औ तिन सर्वसेंहि
पृथिवीविषे विचरेहै तिनमेसें केचित् शरीरोंकरके तो नाना-
प्रकारके भोगोंकुं भोगेहै औ केचित् शरीरोंकरके उग्र तपका
आचरण करेहै पुना अपणी इच्छाके अनुसार जैसे अस्त
होनेके कालविषे सूर्य भगवान् अपणी सर्व रश्मियोंका संहार
करेहैं तैसेहि अपणे सर्व शरीरोंका योगीलोक संहार करके
एकाकीहि स्थित होवेहैं इति ॥ औ जो तुमने पूर्व कहा "ए-
तेन योगः प्रत्युक्तः" इस शारीरकसूत्रविषे महर्षि व्यास
तथा भाष्यकारने योगका खंडन कियाहै सो वार्ताभी वि-
चारसें विनाहि तुमने कथन करीहै काहेतें इस सूत्रविषे जो

योगका खंडन कियाहै सो ईश्वर तटस्थहै औ प्रकृति स्वतंत्र जगत्का कारण होवेहै तथा जीवसें ईश्वर भिन्न है इत्यादिक जो वेदांतमतके विरुद्ध योगशास्त्रका सिद्धांत है तिसकाहि खंडन कियाहै यम नियमादिकरूप अष्टांगयोगका नहि यह वार्ता नारायणतीर्थनेभी निरूपण करीहै "स्वातंत्र्यसत्यत्वमुखं प्रधाने सत्यं च चिद्भेदगतं च वाक्यैः ॥ व्यासो निराचष्टतभावनाख्यं योगं स्वयं निर्मितब्रह्मसूत्रैः"

"अपि चात्मपदं योगं व्याकरोन्मतिमान् स्वयम्"॥
भाष्यादिषु ततस्तत्र आचार्यप्रमुखैर्मतः ॥
मतो योगो भगवता गीतायामधिकोन्यतः ॥
कृतः शुक्रादिभिस्तस्मादत्र संतोतिसादराः ॥

अर्थ०योगशास्त्रविषे जो प्रकृतिका सत्यपणा औ स्वतंत्रपणा तथा जीवका ईश्वरसें पृथक्पणा औ नानापणा मानाहै तिसकाहि अपणे निर्माण कीयेहुये शारीरकसूत्रोंविषे व्यासजीने खंडन कीयाहै भावनारूप जो यम नियमादिपूर्वसमाधियोग है तिसका नहि" किंच योगभाष्यादिक स्थलोंविषे आत्मपदके देनेहारे योगकी तो स्वयमेवहि व्यासजीने व्याख्या करीहै तातें शंकराचार्यादिकोंनेभी योगका अंगीकार कियाहै तथा गीताविषे भगवान्नेभी "तपस्विभ्यो-

धिको योगी" इत्यादिक वाक्योंमें योगकूंहि सर्वसें अधिक मानाहै, तथा शुकदेव याज्ञवल्क्यादिक महा ज्ञानियोंनेभी योगका अनुष्ठान कियाहै यातें सर्व महात्मा पुरुषोंकूंभी सहित आदरके योगाभ्यासविषे प्रवृत्त होना योग्य है इति ॥ किंच यह वार्ता लोकविषे प्रसिद्ध है कि जिस वस्तुका जो श्रेष्ठ पुरुष प्रीतिपूर्वक सेवन करताहै सो तिस वस्तुकी निंदामें प्रवृत्त नहिं होवेहै सो सूत्रकार औ भाष्यकार यह दोनोंहि महायोगी हुयेहैं तिनमें व्यासजीका योगीपणा तो सर्वलोकविषे प्रसिद्धही है औ शंकराचार्यका योगीपणा दिग्विजयविषे मंडनमिश्रके संवादादिक स्थलोंमें प्रसिद्ध है काहेतें आकाशमार्गसें मंडनमिश्रके गृहविषे प्रवेश करणा औ राजाअमरकके शरीरमें प्रवेश करणा इत्यादिक अद्भुत कर्म योगशक्तिसें विना कैसे संभवेहैं ॥ तथा योगतारावलीनामा ग्रंथविषे स्वयमेवहि शंकराचार्यने कथन कियाहै "सिद्धिं तथा विधमनोविलये समर्थां श्रीशैलशृंगकुहरेषु कदोपलभ्ये॥गात्रं तथा वनलताः परिवेष्टयंति कर्णौ तथा विरचयंति खगाश्च नीडम्" अर्थ० श्रीशैलकी कंदरोंविषे मनके विलय करणेहारी समाधिरूप सिद्धिकूं मैं कब प्राप्त होऊंगा औ समाधिविषे स्थित भये मेरे शरीरकं वनकी लता कब वेष्टन करेंगी तथा मेरे कानविषे वृक्षका छिद्र जानकरके वनके पक्षी कब आलय

करेंगे इति ॥ किंच च्यारि वेदोंमें कौनसी ऐसी उपनिषत् है जिसविषे योगका प्रतिपादन नहि कीयाहै किंतु सर्व उपनिषदोंमें कहिं संक्षेप कहिं विस्तारकरके योगका निरूपण कियाहै सो विस्तारके भयसें यहां तिन उपनिषदोंके उदाहरण नहि दिखायेहैं जिसकी इच्छा हो सो तहां देखलेवे॥तथा जगत् विषे कौनसा ऐसा मत है जो अष्टांगयोगकूं नहि अंगीकार करेहै किंतु सर्वहि अर्हत कापाल बौद्ध वैशेषिक नैयायिक शैव वैष्णव शाक्त सांख्य योगादिक मत अंगीकार करेहैं यद्यपि तिनके मतोंविषे प्रमेयपदार्थ भिन्नभिन्न निरूपण कियेहैं तथापि मोक्षका साधनभूत जो यम नियमादिकरूप अष्टांगयोग है सो तो सर्वके मतमें एकहि प्रकारका मानाहै ॥ तथा कौनसा ऐसा पूर्वऋषि अथवा मुनि हुवाहै जो योगाभ्यासकेविना सिद्धिकूं प्राप्त होता भयाहै किंतु जितनेक सनत्कुमार नारद पराशर याज्ञवल्य वसिष्ठादिक सिद्धिकूं प्राप्त भयेहैं सो सर्वहि योगाभ्यासकरके प्राप्त भयेहैं औ जो कोई वर्तमानजन्मविषे योगसेविना सिद्धिकूं प्राप्त हुयेहैं सो भी पूर्वजन्मविषे अनुष्ठान किये हुए योगाभ्यासके प्रतापकरकेहि हुयेहैं यह वार्ता पूर्वहि कथन करि आयेहैं यातें व्यासजी औ शंकराचार्यने योगका खंडन कियाहै यह तुमारा कथन केवल साहसमात्रहि है ॥ किंच "न निन्दा निंद्यं

निन्दतुं प्रवर्तते अपि तु विधेयस्तोतुम् ” अर्थ० एक दूसरेके मतमें जो एक दूसरेके मतकी निंदा है तिसका दूसरे मतके खंडन करणेमें तात्पर्य नहीहै किंतु प्रसंगपतित जो वार्ताहै तिसकी स्तुति करणेविषेहि तात्पर्य है यातें मुमुक्षु पुरुषकूं सर्व अन्य क्रियाका परित्याग करके परम पुरुषार्थरूप जो योग है तिसके अर्थहि प्रयत्न करणा योग्य है यह वार्ता मातंगनामा ऋषिनेभी कथन करीहै “अग्निष्टोमादिकान् सर्वान् विहाय द्विजसत्तमः ॥ योगाभ्यासरतः शान्तः परं ब्रह्माधिगच्छति” अर्थ० अग्निष्टोमादिक सर्वकार्मोंका परित्याग करके केवल योगाभ्यासविषे निरंतर आसक्त भया शांत मुमुक्षु पुरुष परम ब्रह्मकूं प्राप्त होवेहै अर्थात् मोक्षपदकूं प्राप्त होवेहै इति ॥ ६ ॥ इस प्रकारसें योगकूं परमपदप्राप्तिकी हेतुता निरूपण करके अब तिस योगके जो अवांतर भेद हैं सो कथन करेहैं ॥

वंशस्थ वृत्तम् ॥

हठो लयो मांत्रिकराजसंज्ञितौ
चतुर्विधं योगमबालिशा विदुः ॥
त्रयोपि राजोपगता भवन्त्यत-
स्तदर्थमेवेह यतेत कोविदः ॥ ७ ॥

हठ इति ॥ सो योग हठयोग, लययोग, मंत्रयोग, राजयोग इसभेदसें च्यारिप्रकारका है यह वार्ता योगबीजमें महादेवजीनेभी कथन करी है "मंत्रो हठो लयो राजा योगोयं भूमिकाक्रमात् ॥ एक एव महादेवि चतुर्धा संप्रकीर्त्यते ॥"

अर्थ०हे महादेवि एकहि योग हठयोग, लययोग, मंत्रयोग राजयोग इसप्रकार अवांतरभेदसें च्यारिप्रकारका कहियेहै इति ॥ तिनमें प्रथम हठयोगका लक्षण गोरक्षनाथने कथन कियाहै—

"हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते ॥
सूर्यचन्द्रमसो योगात् हठयोगो निगद्यते" ॥

अर्थ० हकार सूर्यका नाम है औ ठकार चन्द्रमाकी संज्ञा है तिन दोनोंका जो योग अर्थात् एकीभाव है तिसका नाम हठयोग है इति ॥ तात्पर्य यह हृदयदेशमें सूर्यका निवास है औ नासिकाके अग्र द्वादश अंगुलपर चंद्रमाका स्थान है काहेतें जब हृदयसें स्पर्शकरके प्राणवायु बाह्यनिर्गमन करताहै तो उष्ण होवेहै औ जब चन्द्रमाके स्थानसें स्पर्शकरके अभ्यंतर आताहै तो शीतल होवेहै,यातें हृदय औ नासिकाके बाह्यदेशमें सूर्य औ चंद्रमाका अनुमान होवेहै तथा योगवासिष्ठके निर्वाणप्रकरणमें काकभुशुंडनेभी कहाहै "द्वादशांगुलपर्यंते नासाग्रे संस्थितं विधुम् ॥ हृदये भास्करं देवं यः पश्यति स पश्यति"

अर्थ० नासिकाके बाह्य द्वादश अंगुलपर्यंत देशविषे चंद्रमाकी स्थिति है औ हृदयदेशविषे सूर्यका स्थान है सो जो योगीपुरुष तिन दोनोंकूं योगकलासें देखताहै सोई सम्यक् प्रकारसें देखताहै इति ॥ इस प्रकारसें प्राण औ अपानके साथ सूर्य औ चंद्रमाका संबंध होनेतें प्राण औ अपानकीभी क्रमसें सूर्य औ चंद्रमासंज्ञा होवेहै सो जिसकालविषे प्राणायामके अभ्यासकरके प्राण औ अपानकी गतिका निरोध होवेहै तो सूर्य औ चंद्रमाकी एकता होवेहै तिसका नाम हठयोग है औ जो नाडी शुद्धि,मुद्राभ्यास,कुंडलिनीबोध, षट्चक्रभेदन इत्यादिक हठयोगके अवांतर भेदहैं तिनकी आगे उपयोगी स्थलोंविषे व्याख्या करेगें ॥ तथा प्राणायामादिक क्रमसें विनाहि शांभवीमुद्राके अभ्यासपूर्वक शून्यकी भावनासें एकवारहि जो संकल्पसें रहित होयकर मनका विलय करणाहै तिसका नाम लययोगहै। यह वार्ता अमनस्कखंडविषे वामदेवके प्रति महादेवजीनेभी कथन करीहै.

"दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्यात् वायुः स्थिरो यस्य विना निरोधात् ॥ चित्तं स्थिरं यस्य विनावलंबात् स एव योगी स गुरुः स सेव्यः" अर्थ० नासाके अग्रभागादिक देशोंविषे लगानेसें विनाहि जिसकी दृष्टि स्थिरहै औ रेचकादिक प्राणायामके अभ्याससें विनाहि जिसके प्राण-

वायुका निरोधहै तथा षट्चक्रादिक अवलंबनोसेंविना-हि जिसका चित्त एकाग्र है सोई पुरुष योगी औ सर्वका गुरु तथा सेवनेयोग्य है इति ॥ तथा तिस शांभवीमुद्राका लक्षणभी तहांहि महादेवजीने कथन किया हे "अंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ॥ सा भवेच्छांभवी मुद्रा सर्वतंत्रेषु गोपिता"

अर्थ० चित्तवृत्तिके लक्ष्यकूं शरीरके अभ्यंतरकरके अर्द्ध-खुलेहुये नेत्रोंकी दृष्टिकूं जो नासिकाके अग्रभागविषे एकटक स्थापनकरके स्थित होना है तिसका नाम शांभवीमुद्रा है सो यह मुद्रा सर्वशास्त्रोंमें गुप्त है इति ॥ तथा मंत्रयोगका लक्ष-णभी योगबीजविषे महादेवजीनेहि कथन किया है,

"हकारेण बहिर्याति सकारेण पुनर्विशेत्" ।
हंसहंसेति मंत्रोयं जीवो जपति सर्वदा ॥
गुरुवाक्यात्सुषुम्नायां विपरीतो भवेज्जपः ।
सोहंसोहमिति प्राप्तो मंत्रयोगः स उच्यते ॥

अर्थ० हे पार्वति हकारकरके यह श्वासबहिर्निर्गमन करे है औ सकारकरके पुना अभ्यंतर प्रवेश करे है इसप्रकारसें हंसहंस इसमंत्रका सर्वदाहि यह जीव जप करे है परंतु जानता-नहि सो गुरुमुखद्वारा तिसकी विधिके जाननेसें सुषुम्नानाडी-

विषे हंसहंसके उलटानेसें सोहंसोहं जप होवे है तिसका नाम मंत्रयोग है इति ॥ सो जपकी संख्याभी महादेवजीनेहि कथन करीहै,

"एकविंशतिसाहस्रं षट्शताधिकमीश्वरि ।
प्रत्यहं जपते प्राणी हंस इत्यक्षरद्वयम्" ॥

अर्थ० हे ईश्वरि एकविंशतिसहस्र औ षट्सौ अधिक हंसमंत्रका नित्यं प्रति सर्वप्राणी जप करते हैं इति ॥ सो तिस जपका आधारादिकचक्रोंमें स्थित जो गणेशादिक देवता हैं तिनकूं नित्यप्रति क्रमसें अर्पण करणा चाहिये ॥ सो अर्पणकी विधि गरुडपुराणमें विष्णुभगवान्‌ने गरुडकेप्रति कथन करी है सो संक्षेपसें यहां दिखावे हैं,

"आधारं तु चतुर्दलानलसमं वासांतवर्णाश्रयं ।
स्वाधिष्ठानमपि प्रभाकरसमं बालांतषट्पत्रकम् ॥
रक्ताभं मणिपूरकं दशदलं डाद्यं फकारांतकं ।
पत्रैर्द्वादशभिस्त्वनाहतपुरं हैमं कठांतावृतम् ॥
पत्रैः सस्वरषोडशैः शशधरज्योतिर्विशुद्धांबुजं ।
हंक्षेत्यक्षरयुग्मकं द्वयदलं रक्ताभमात्रांबुजम् ॥
तस्मादूर्ध्वगतं प्रभासितमिदं पद्मं सहस्रच्छदं ।

१–२१६००

सत्यानन्दमयं सदाचिन्मयं ज्योतिर्मयं शाश्वतम् ॥
गणेशं च विधिं विष्णुं शिवं जीवं गुरुं ततः ।
व्यापकं च परं ब्रह्म क्रमाच्चक्रेषु चिंतयेत् ॥
षट्शतं गणनाथाय षट्सहस्रं तु वेधसे ।
षट्सहस्रं च हरये षट्सहस्रं हराय च ॥
जीवात्मने सहस्रं च सहस्रं गुरवे तथा ।
चिदात्मने सहस्रं च जपसंख्यां निवेदयेत् ॥"

अर्थ० प्रथम गुदा औ लिंगके मध्यदेशमें वंकारसें लेकर सकारपर्यंत च्यारि अक्षरोंकरके अंकितभये च्यारि दलोंकरके युक्त औ अग्निके वर्णसमान आधारचक्र है ॥ तथा दूसरा लिंगके उपर गुह्यदेशविषे बंकारसें लेकर लकारपर्यंत षट् अक्षरोंकरके अंकितभये षट् दलोंकरके युक्त औ सूर्यके वर्णसमान स्वाधिष्ठानचक्र है ॥ तथा तीसरा नाभिदेशविषे डंकारसें लेकर फकारपर्यंत दश अक्षरोंकरके अंकितभये दशदलोंकरके युक्त औ रक्तवर्ण मणिपूरचक्र है तथा हृदयदेशविषे कंकारसें लेकर ठकारपर्यंत द्वादशअक्षरोंकरके अंकितभये द्वादशदलोंकरके युक्त औ सुवर्णके वर्णसमान अनाहतचक्र है ॥

---

१ वं शं षं सं. २ बं भं मं यं रं लं. ३ डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं.
४ कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं.

तथा कंठदेशमें अंसेंलेकर अः पर्यंत षोडशस्वरोंकरके अंकितभये षोडशदलोंकरके युक्त औ चंद्रमाके वर्णसमान विशुद्धचक्र है ॥ तथा भ्रुवोंके मध्यदेशविषे । हंकार औ क्षकार इन दोनों अक्षरोंकरके अंकितभये दोदलोंकरके युक्त औ रक्तवर्ण आज्ञाचक्र है ॥ तथा तिसके ऊपर दृशमद्वारविषे निरंतरहि सच्चिदानंद ज्योतिःस्वरूप सहस्रदलोंकरके युक्त शुद्धस्फटिकवर्णकेसमान ब्रह्मरंध्रचक्र है ॥ सो तिनमें प्रथमचक्रमें गणेश औ दूसरेविषे ब्रह्मा तथा तीसरेमें विष्णु औ चतुर्थविषे महादेव तथा पंचममें जीवात्मा औ षष्ठविषे गुरु तथा सप्तममें व्यापकपरब्रह्म इसक्रमसें सहित शक्ति औ वाहनोंके सप्तचक्रोंविषे सप्तदेवतोंका पुष्पचंदनादि समर्पणपूर्वक एकाग्रचित्त होयके ध्यानकरके पश्चात् पूर्वोक्त एकविंशतिसहस्र औ षट्सौ जपसें प्रथम षट्सौ ६०० गणेशजीकूं समर्पण करणा चाहिये औ पुना षट्सहस्र ६००० ब्रह्माकूं अर्पण करणा चहिये पुना षट्सहस्र ६०००विष्णुकूं अर्पण करणा चाहिये तथा षट्सहस्र ६००० महादेवजीकूं अर्पण करणा चाहिये तथा एकसहस्र १०००जीवात्माकूं अर्पण करणा चहिये पुना एकसहस्र १००० गुरुकूं समर्पण करणा चाहिये तथा एकसहस्र १००० परब्रह्मकूं

---

१ अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं ऌं ॡं एं ऐं ओं औं अं अः २ हं, क्षं,

समर्पण करणा चाहिये इसप्रकारसें नित्यं प्रति एकाग्रचित्तसें समर्पण करणेहारे ब्रह्मचर्यादिक साधनसंपन्न साधकपुरुषकूं एककोटी १०००००००निर्विघ्न जपके संपूर्णभयेतें अनंतर ईश्वरके अनुग्रहसें दशप्रकारका नाद् श्रवणमें आवेहै यह वार्ता अथर्ववेद्की हंसउपनिषत्‌मेंभी कथन करीहै "स एव जपकोट्या नाद्मनुभवति" अर्थ० सो साधक पुरुष हंसमंत्रके कोटी जप समर्पण करणेतें अनंतर नाद्का अनुभव करेहै इति ॥ सो तिस नाद्के लक्षणभी तहांहि कथन कियेहैं "नादो दशविधो जायते चिणीति प्रथमः चिंचिणीति द्वितीयः घंटानादस्तृतीयः शंखनादश्चतुर्थः पंचमस्तंत्रीनादः षष्ठस्तालनादः सप्तमो वेणुनादः अष्टमो मृदङ्गनादः नवमो भेरीनादः दशमो मेघनादः नवमं परित्यज्य दशममेवाभ्यसेत्" अर्थ० प्रथम तो चिणी दूसरा चिंचिणी तीसरा घंटावत् चतुर्थ शंखवत् पंचम वीणावत् षष्ठ तालवत् सप्तम वंसीवत् अष्टम मृदंगवत् नवम भेरीवत् दशम मेघवत् इस प्रकारसें हंसमंत्रके साधक पुरुषकूं उक्त संख्याके पूर्ण होनेतें अनंतर दश प्रकारका नाद श्रवणमें आवेहै तिनमेंसें नव प्रकारके नाद्का परित्याग करके ब्रह्मभावकी प्राप्तिका साधनभूत जो दशम मेघनाद् है तिसकाहि सर्वदा मुमुक्षुपुरुषकूं अभ्यास करणा योग्यहै इति ॥ तथा तिस दशप्रकारके नादके फलभी तहांहि कथन कियेहैं ॥

"प्रथमे चिंचिणीगात्रं द्वितीये गात्रभंजनम् ।
तृतीये खेदनं याति चतुर्थे कंपते शिरः ॥
पंचमे स्त्रवते तालु षष्ठेऽमृतनिषेवणम् ।
सप्तते गूढविज्ञानं परा वाचा तथाष्टमे ॥
अदृश्यं नवमे देहं दिव्यं चक्षुस्तथा मलम् ।
दशमे परमं ब्रह्म भवेद्ब्रह्मात्मसन्निधौ ॥

तस्मिन् मनो विलीयते मनसि संकल्पविकल्पे दग्धे पुण्यपापे सदाशिवः शक्त्यात्मा सर्वत्रावस्थितः स्वयंज्योतिः शुद्धोबुद्धो नित्यो निरंजनः प्रकाशत इति"

अर्थ० प्रथम नादके श्रवणकालमें सर्व अंगोंविषे चिंचिणीको न्यांई शब्दकी प्रतीति होवेहे औ दूसरेमें शरीरके अंग टूटनेकी न्यांई होवेहै तथा तीसरेविषे चित्तमें खिन्नता होवेहै औ चतुर्थमें शिर कंपताहै तथा पंचमविषे तालु श्रवताहै औ षष्ठेमें अमृतका पान होवेहै तथा सप्तममें गुह्यपदार्थोंका ज्ञान होवेहै औ अष्टमविषे परावाचाकी प्राप्ती होवेहै तथा नवममें दिव्यदृष्टि औ अंतर्द्धानकी शक्ति होवेहै औ दशममें तो परब्रह्मस्वरूपहि होवेहै ॥ इस प्रकार ब्रह्मके साथ एकीभाव होनेतें मनका विलय होवेहै मनके लीन भयेतें सर्व संकल्पविकल्पोंका क्षय होवेहै संकल्पविकल्पोंके क्षय होनेतें जन्मजन्मांतरोंविषे संचित किये हुये पुण्यपापोंका नाश होवेहै पुण्यपापोंके नाश

होनेतें अनंतर साधक पुरुष शिवशक्तिस्वरूप भया सर्वव्यापक स्वयंज्योति शुद्ध बुद्ध नित्य निरंजन ब्रह्मरूप होयकरके प्रकाशताहै अर्थात् कैवल्यमोक्षपदविषे स्थित होवेहै इति ॥ सो यह मंत्रयोग गुरुमुखसें ग्रहण कियेविना सिद्धिका हेतु नहि होवेहै यातें साधक पुरुषोंकूं गुरुमुखद्वाराहि इसका अभ्यास करणा योग्य है इति ॥ तथा राजयोगका लक्षण योगसूत्रोंमें पतंजलिने कथन कियाहै "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" अर्थ० पांच प्रकारकी चित्तवृत्तियोंका जो निरोध करणा है तिसका नाम राजयोग है इति ॥ सो तिन वृत्तियोंके नाम औ लक्षणभी पतंजलिनेहि कथन कियेहे "प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः" अर्थ० प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, इस भेदसें पांच प्रकारकी चित्तकी वृत्तियां हैं इति ॥ तिनमें "प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि" अर्थ० प्रत्यक्षप्रमाण, अनुमानप्रमाण, आगमप्रमाण, इस भेदसें प्रमाण तीन प्रकारके हैं ॥ तिनमें विषय औ इन्द्रियोंके सन्निकर्षसें घटपटादिक विषयोंका जो विशेषरूपकरके ज्ञान है तिसकूं प्रत्यक्षप्रमाण कहतेहैं ॥ औ धूमादिक लिंगकरके दूरदेशस्थ वह्नि आदिक पदार्थोंका सामान्यसें जो ज्ञान है तिसका नाम अनुमान प्रमाण है ॥ तथा यथार्थवक्ता पुरुषका जो वाक्य है सो आगमप्रमाण कहियेहै ॥ औ अन्य नैया-

यिकादिक शास्त्रोंमें जो कहिं अधिक वा न्यून प्रमाण मानेहैं सो इन तोनोंके अंतर्भूतहि जान लेने इति ॥ तथा "विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठितम्" अर्थ० रजतादिकोंसे भिन्न शुक्ति आदिक पदार्थोंमें जो रजतादिकोंका ज्ञान है तिसका नाम विपर्यय है इति ॥ तथा "शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" अर्थ० शब्दजन्य ज्ञानका अनुपाती होवे औ वस्तुसें शून्य होवे तिसका नाम विकल्प है अर्थात् अविद्यमान भेदवाले पदार्थविषे जो भेदका आरोपण करके कथनहै सो विकल्प कहियेहै ॥ जैसे "पुरुषका चेतनपणा स्वरूप है" तो यहां जब चेतनपणाहि पुरुष हुया तो पुरुषका चेतनपणा स्वरूप है यह कथन कैसे संभवेहै परंतु इस प्रकारके कथनसें पुरुष औ चेतनपणेका भेदसें ज्ञान होवेहै जैसे देवदत्तकी गौ इस कथनसें देवदत्त औ गौका भेदसें ज्ञान होवेहै इति ॥ तथा "अभावप्रत्ययालंबनावृत्तिर्निद्रा" अर्थ० सर्व बाह्य विषयोंके आकरोंसें रहित होयकर तमोगुण करके युक्त जो चित्तवृत्तिकी स्थिति है तिसका नाम निद्रा है ॥ निद्रासें जागकरके पुरुष कहताहै आज मैं बहुत सुखसें शयन करता भयाहुं सो इस प्रकारकी स्मृति विनासुखके अनुभवसें संभवे नहि यातें निद्राभी एक प्रकारकी चित्तकी वृत्तिहि है ॥ तथा "अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः" अर्थ० प्रत्यक्षादिक

प्रमाणकरके अनुभव किये हुये पदार्थका जो अन्यकालविषे संस्कारद्वारा स्मरण होवेहै तिसका नाम स्मृति है ॥ सो इन पांच वृत्तियोंविषेहि सर्व चित्तकी वृत्तियोंका अंतर्भाव है इति॥ सो "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" इस पूर्वोक्त सूत्रविषे सर्व वृत्तियोंका ग्रहण नहि कियाहै किंतु सामान्यसें चित्तवृत्तियोंके निरोधकूं योगरूपता कथन करीहै यातें एकाग्रवृत्तिकरके युक्त जो संप्रज्ञातसमाधि है सोभी योगहि कहियेहै औ जिसमें सर्व वृत्तियोंका निरोध होवेहै सो असंप्रज्ञात कहियेहै इस प्रकारसें संप्रज्ञात औ असंप्रज्ञात जो दो प्रकारकी समाधि है तिसका नाम राजयोग है। यह वार्ता सिद्ध भयी औ जो प्रत्याहार धारणा ध्यानादिक राजयोगके अवांतर भेद हैं सो आगे निरूपण करेंगे ॥ सो पूर्वोक्त "हठयोग" लययोग "मंत्रयोग" इन तीनोंका इस राजयोगकेविषेहि अंतर्भाव होवेहै ॥ काहेतें तिनमें प्राण औ अपानकी एकतारूप जो हठ योग है सो राजयोगसेंभी चित्तकी वृत्तियोंके निरोध होनेतें प्राणोंका स्वतेहि निरोध होय जावेहै जिस प्रकारसें मनके निरोध होनेतें स्वतेहि प्राणोंका निरोध होवेहै सो वार्ता आगे चतुर्दश श्लोककी टीकाविषे विस्तारसें कथन करेंगे ॥ औ जो आसनादिक हठयोगके अवांतर भेद हैं सो तो प्रत्यक्षहि राजयोगके साथ मिलते हैं यातें हठयोगका राज-

योगविषेहि अंतर्भाव है इति ॥ तथा स्वात्मा रामयोगीनेभी हठयोगप्रदीपिकाविषे कहाहै "पीठानि कुंभकाश्चित्रा दिव्यानि करणानि च ॥ सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि" अर्थ० यावत्मात्र हठयोगके पद्मादिक आसन औ सूर्यभेदनादिक विचित्र कुंभक तथा नानाप्रकारकी खेचरी आदिक दिव्य मुद्रा हैं तिन सर्वका राजयोगकी प्राप्तिहि फल है इति ॥ तथा शांभवी मुद्राके अभ्यासपूर्वक एकवारहि चित्तका निरोधरूप जो लय योग है तिसकाभी राजयोगकेविषे अंतर्भाव है । काहेतें राजयोगरूप असंप्रज्ञातसमाधिकालविषे सर्व वृत्तियोंके निरोध होनेतें स्वतेहि चित्तका लय होवेहै इति ॥ तथा हंसमंत्रके चिरकाल अनुष्ठान करणेसें नादके श्रवणद्वारा चित्तके विलयका हेतुभूत जो मंत्रयोग है तिसकाभी राजयोगविषेहि समावेश है काहेतें संप्रज्ञातसमाधिविषेभी प्राणकेचिरकाल निरोध होनेतें नादका श्रवण होवेहै यातें तिसके श्रवणद्वारा तहांभी चित्तका विलय होवेहै ॥ तथा अन्य जो क्रियायोग, उत्पत्तियोग, औषधियोग, इत्यादिक योग हैं तिन सर्वकाभी राजयोगविषेहि अंतर्भाव है काहेतें तिनमें "तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः" अर्थ० अनशनादिक तप करणा वेदाध्ययन करणा ईश्वरका आराधन करणा यह क्रियायोग है सो इस

कातो वक्ष्यमाण राजयोगके यमनियमरूप अंगोंमेंहि अंतर्भा-वहै ॥ औ उत्पत्तियोग व्यास, वसिष्ठ, सनत्कुमार, वामदेव, नारद, कपिलदेव, दत्तात्रेयादिकोंकूं हुयाहै अर्थात् सो ज-न्मसेंहि योगी हुयेहैं सो तिस उत्पत्तियोगकीभी पूर्वजन्मविषे अनुष्ठान किये राजयोगके प्रभावसेंहि प्राप्ति होवे है यातें ति-सकाभी राजयोगविषेहि अंतर्भाव है ॥ तथा सिद्ध भये पारदा-दिक दिव्य औषधिके भक्षण करणेतेंभी योग सिद्धिकी प्राप्ति होवेहै सोभी पूर्वजन्मकृत राजयोगकाहि फल है यातें तिसका-भी राजयोगविषेहि समावेश है ॥ इस प्रकारसें सर्व योगोंका राजा जो राजयोग है तिसके अर्थहि साधक पुरुषकूं प्रयत्न करणा योग्यहै । यह वार्ता अमनस्कखंडमें महादेवजीनेभी कथन करीहै—

"राजत्वात् सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः"
राजंतं दीप्यमानं तं परमात्मानमव्ययम् ।
प्रापयेद्देहिनां यस्तु राजयोगः स कीर्तितः ॥

अर्थ० हठयोग लययोगादिक सर्व योगोंका राजा होनेतें इसका नाम राजयोग है तथा "राजंतं" कहिये स्वयंप्रकाश औ अविनाशी परमात्माकी साधक पुरुषकूं प्राप्ति करेहै यातेंभी इसकूं राजयोग कहतेहैं इति ॥ ७ ॥ इस प्रकार सर्व योगों-

सें राजयोगकी अधिकता निरूपण करके अब जो तिसके यम नियमादिक अवांतर भेदहैं तिनका निरूपण करेहैं ॥

वंशस्थं वृत्तम्.

जगुस्तदङ्गाष्टकमुत्तमाशया
यमादिसंज्ञं यमिवर्यसेवितम् ॥
समासतस्तस्य फलं च लक्षणं
वदामि वृद्धर्षिमतानुरोधतः ॥ ८ ॥

जगुरिति ॥ तिस राजयोगके परंपरासें योगी जनोंकरके अनुष्ठित किये हुये यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान, समाधि, इस भेदसें अष्ट अंग ऋषिलोकोंने कथन कियेहैं ॥ तथा पतंजलिनेभी योगसूत्रोंमें कहाहै "यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि" इस सूत्रका अर्थ ऊपर कहे अर्थके अंतर्भूतहि है इति ॥ तथा याज्ञवल्क्यसंहितामेंभी कहाहै "यमश्च नियमश्चैव आसनं च तथैव च ॥ प्राणायामस्तथा गार्गि प्रत्याहारश्च धारणा ॥ ध्यानं समाधिरेतानि योगांगानि वरानने" अर्थ० हे सुंदर मुखवाली गार्गि यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, इस भेदसें योगके अष्ट

अंग हैं इति ॥ औ "प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा ॥ तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते"

अर्थ०प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क समाधि, इस भेदसें योगके षट् अंग हैं इति ॥ इस अमृतबिंदुउपनिषत्के वाक्यमें जो योगके षट् अंग कथन कियेहैं सो दूसरे अंगोंकेभी उपलक्षण जान लेने नहि तो उक्त सूत्र औ याज्ञवल्क्यके वाक्यसाथ विरोध होवेगा ॥ सो तिन अष्टप्रकारके अंगोंके जो स्वरूप हैं औ जो तिनके अनुष्ठान करणेतें फल होवेहैं औ चकारसें जो तिनके अनुष्ठानमें हेतु[1] हैं सो पतंजलि, याज्ञवल्क्यादिक वृद्ध ऋषियोंके मतके अनुसार ग्रंथकार संक्षेपसें यहां निरूपण करेहैं इति ॥८॥ इस प्रकार प्रतिज्ञा करके अब योगका प्रथम अंग जो यमहै तिसका लक्षण कथन करेहैं॥

वंशस्थं वृत्तम्.

अहिंसनं सत्यमचौर्यमार्जवं
क्षमा धृतिश्शौचमुपस्थनिग्रहः ॥

१ यद्यपि मूलश्लोकोंमें हेतु स्पष्टकरके नहि दिखाये हैं तथापि पूर्वयोगके अंगोंकूं उत्तरउत्तर अंगोंमें हेतुता जानलेनी, औ टीकामें तो क्वचित् क्वचित् दिखायेभी है,

मिताशनं दीनजनानुकंपनं
यमा दशैते मुनिवर्यसंमताः ॥ १ ॥

अहिंसनमिति ॥ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, आर्जव, क्षमा, धैर्य, शौच, ब्रह्मचर्य, मिताहार, दीनजनोंपर दया, इस भेदसें श्रेष्ठ मुनिलोकोंने दश प्रकारके यम मानें हैं ॥ तिनमें मन वाणी औ शरीरकरके कदाचित् किसी प्रकारसें जो किसी प्राणीकूं-भी क्लेश नहि उपजावना है तिसका नाम अहिंसा है॥यह वार्ता याज्ञवल्कयसंहितामेंभी कथन करीहै "कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ॥ अक्लेशजननं प्रोक्तं न हिंसात्वेन योगिभिः"

अर्थ० सर्वदाहि सर्व प्राणियोंकूं जो मन वचन औ शरीरकरके क्लेशकी उत्पत्ति नहि करणी है तिसका नाम अहिंसा है इति ॥ सर्व योगके अंगोंके अनुष्ठानमें मूलभूत होनेतें यहां अहिंसाका प्रथम ग्रहण कियाहै ॥ तथा महाभारतके मोक्षपर्वविषेभी कहाहै " यथा नागपदेन्यानि पदानि पदगामिनाम् ॥ सर्वाण्येवापिधीयंते पदजातानि कौंजरे ॥ एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपि धीयते" अर्थ० जिस प्रकार हस्तीके पादविषे पाद करके चलनेहारे सर्व प्राणियोंके पाद अंतर्भूत होवेहैं तैसेहि यज्ञ तप दानादिक सर्वहि धर्म औ अर्थ अ-

हिंसाकेविषे अंतर्भूत होवेहैं इति ॥ तथा जैसे देखा होवे अथवा अनुमानसें निश्चय किया होवे तथा आप्त पुरुषके मुखसें श्रवण किया होवे औ सर्व भूतोंके हितका कारण होवे तैसाहि जो भाषण करणा है तिसका नाम सत्य है ॥ यह वार्ता याज्ञवल्क्यसंहितामेंभी कथन करीहै ॥ "सत्यं भूतहितं प्रोक्तं नायथार्थाभिभाषणम्" अर्थ० सर्व भूतोंका हितकारी औ यथार्थ जो भाषण करणा है तिसका नाम सत्य है इति॥ तथा मनुस्मृतिके चतुर्थाध्यायविषेभी कहाहै " सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ॥ प्रियं च नानृतं ब्रूयादिति धर्मः सनातनः" अर्थ० सत्य होवे औ प्रिय होवे सो वाक्य भाषण करणा चाहिये जो सत्य होवे औ प्रिय नहि होवे सो नहि करना चाहिये अर्थात् तहां मौनहि करणा उचित है औ जो सत्य होवे औ प्रियभी होवे सोई वाक्य भाषण करणा चाहिये यहि पुरातन धर्म है इति ॥ तथा महाभारतके मोक्षपर्वविषेभी कहाहै " अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः सत्यं वदेत् व्याहृतं तद्द्वितीयम् ॥ धर्मं वदेत् व्याहृतं तत्तृतीयं प्रियं वदेत् व्याहृतं तच्चतुर्थम् " अर्थ० प्रथम तो भाषण करणेतें मौन धारण करणा उत्तम है औ मौनसें सत्य भाषण करणा श्रेष्ठ है तथा केवल सत्य भाषण करणेसें धर्मसहित सत्य भाषण करणा उत्तम है तिसतेंभी सत्य औ प्रिय भा-

षण करणा अति श्रेष्ठ है इति ॥ किंच यह सत्य भाषण करणाहि परम धर्म है यह वार्ताभी तहांहि देवतोंकेप्रति हंसपक्षीने कथन करीहै " सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥ न पावनतमं किंचित् सत्यादध्यगमं क्वचित् " अर्थ० हे देवता सत्यहि स्वर्गविषे आरोहण करणेकी सीढी है औ जैसे घोर समुद्रके पार करणेहारी नौका होवेहै तैसेहि संसाररूप घोर समुद्रके पार करणेमें सत्यरूप नौका है तथा मैंने सर्वहि धर्मोंका मंथन किया परंतु सत्यसें परे दूसरा कोइ पवित्र नहि देखनेमें आया इति ॥ तथा तहांहि अन्य स्थलविषेभी कहाहै "अश्वमेधसहस्राणि सत्यं च तुलया धृतम् ॥ अश्वमेधसहस्राणां सत्यमेव विशिष्यते" अर्थ० सहस्र अश्वमेधयज्ञ औ सत्य यह दोनों तुलामें धरकर देखे तो सहस्रअश्वमेधोंसें सत्यहि विशेष होता भया इति ॥ तथा अथर्ववेदकी मुंडकउपनिषद्मेंभी कहाहै "सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पंथा विततो देवयानः" अर्थ० सर्वत्र सत्यकाहि जय होवेहै असत्यका नहि औ सत्यकरकेहि उपासक लोक देवयानमार्गविषे गमन करतेहैं इति ॥ तथा सत्यविना आत्माका साक्षात्कारभी नहि होवेहै, यह वार्ताभी तहांहि कथन करीहै " सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा "

अर्थ० सत्यरूप तपकरकेहि इस आत्माकी प्राप्ति होवेहै

इति ॥ किंच सत्यहि परम तप है, यह वार्ता महाभारतके मोक्षपर्वविषेभी कथन करीहै "नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः" अर्थ० विद्याके समान दूसरा नेत्र नहि है औ सत्यके समान दूसरा तप नहिहै इति ॥ तथा भर्तृहरिनेभी कहाहै "सत्यं चेत्तपसा च किं" अर्थ० हे पुरुष जो तुं सर्वदाहि सत्य भाषण करताहै तो तप करणेसें क्या प्रयोजन है अर्थात् सत्यहि परमतप है इति ॥ सो यह सत्य भाषण किया हुया जो किसी प्राणीके क्लेशका हेतु होवे तो असत्यके समानहि होवेहै, यह वार्ता योगभाष्यविषे व्यासजीनेभी कथन करीहै "यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत् पापमेव भवेत्तेन तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्"

अर्थ० जो वाणी सत्य भाषण करी हुयीभी किसी प्राणीके क्लेशका हेतु होवे तो सो सत्य नहि होवेहै किंतु तिसके भाषण करणेसें वक्ता पुरुषकूं पापकीहि उत्पत्ति होवेहै यातें विवेकी पुरुषकूं सर्वत्र विचार करके सर्व प्राणियोंके हित करणेहारी औ सत्य वाणीहि भाषण करणी योग्य है इति ॥ तथा कपट करके औ स्वामीकी अनुज्ञासें विना जो किसीके पदार्थका ग्रहण नहि करणाहै तिसका नाम अस्तेय है यह वार्ता याज्ञवल्क्यसंहितामेंभी कथन करीहै

"कर्मणा मनसा वाचा परद्रव्येषु निस्पृहा ।
अस्तेयमिति संप्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः"

अर्थ० मन वाणी औ शरीर करके पराये द्रव्योंविषे जो निस्पृह है तिसकूं तत्त्वदर्शि ऋषि लोक अस्तेय कहतेहैं इति ॥ तथा सर्व भूतोंमें जो मन वाणी औ शरीरकरके नम्रभाव है तिसका नाम आर्जव है, यह वार्ताभी तहांहि कथन करीहै

"विहितेषु तदन्येषु मनोवाक्कायकर्मणाम् ।
प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा एकरूपत्वमार्जवम्" ॥

अर्थ० उक्त जो अहिंसा आदिक कर्म हैं औ वक्ष्यमाण जो ब्रह्मचर्यादिक कर्म हैं तिनकी सिद्धि असिद्धिमें मन वाणी शरीर करके जो एकरूपता है अर्थात् सत्य भाषणादिजन्य सिद्धिविषे अभिमानकूं नहि प्राप्त होना औ असिद्धिविषे खेदकूं नहि प्राप्त होना तिसका नाम आर्जव है ॥ तथा दुष्ट पुरुषोंके ताडन अपमान औ कटु वचनोंका जो सहन करणा है तिसका नाम क्षमा है, यह वार्ताभी तहांहि कथन करीहै

"प्रियाप्रियेषु सर्वेषु समत्वं यच्छरीरिणाम् ।
क्षमा सैवेति विद्वद्भिर्गदिता वेदवादिभिः" ॥

अर्थ० प्रिय तथा अप्रिय भाषण करणेहारे सर्व पुरुषोंमें जो राग द्वेषतें रहितपणा है तिसकूं वेदवादी मुनिलोक क्षमा कथन

करतेहैं इति ॥ तथा महाभारतके मोक्षपर्वविषेभी कहाहै " परश्चेदेनमतिवादबाणैर्भृशं विद्धयेच्छम एवेह कार्यः ॥ संरोष्यमाणः प्रतिहृष्यते यः स आदत्ते सुकृतं वै परस्य" अर्थ० इस साधककूं जो कोई पुरुष दुर्वचनरूप बाणोंकरके अत्यंतभी वेधन करे तो क्षमाहि करणा चाहिये काहेतें जो पुरुष अन्य पुरुषोंकरके पीडन किया हुया उलटा हर्षकूं प्राप्त होवेहै सो तिन पीडन करणेहारे जनोंके सर्व सुकृतोंका ग्रहण करलेवेहै इति ॥ तथा मनुस्मृतिमेंभी कहाहै " सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुद्ध्यते ॥ सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमंता विनश्यति" अर्थ० अवमानकूं प्राप्त भया पुरुष सुखसें शयन करेहै औ सुखसेंहि जागताहै औ सुखसेहि पृथिवीविषे विचरता है परंतु तिसके अपमान करणेहारा पुरुष धनपुत्रादिकोंके सहित विनाशकूं प्राप्त होवेहै इति ॥ यातें सर्वदा क्षमाहि करणी चाहिये । तथा सुभाषितरत्नभांडागारमेंभी कहाहै " क्षमाशस्त्रं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति ॥ अतृणे पतितो वन्हिः स्वयमेवोपशाम्यति" अर्थ० जिस पुरुषके हाथमें क्षमारूप शस्त्र है तिसका शत्रु क्या करसकैहैं काहेतें जैसे तृणोंकरके रहित देशविषे पतित भया अग्नि स्वतेहि शांत होवेहै तैसेहि क्षमावान् पुरुषके शत्रुवोंका क्रोध आपहि शांत होय जावेहै इति, तथा वृद्धगौतमसंहितामेंभी कहाहै

"क्षमाऽहिंसा क्षमा धर्मः क्षमा चेन्द्रियनिग्रहः ।
क्षमा दया क्षमा यज्ञः क्षमा धैर्यमुदाहृतम् ॥
क्षमावान् प्राप्नुयात् स्वर्गं क्षमावान् प्राप्नुयाद्यशः ।
क्षमावान् प्राप्नुयान्मोक्षं क्षमावांस्तीर्थमुच्यते" ॥

अर्थ० क्षमाहि अहिंसारूप है औ क्षमाहि परम धर्म है तथा क्षमाहि इन्द्रियोंका निग्रहरूप है औ क्षमाहि दयारूप है तथा क्षमाहि यज्ञ औ धैर्यरूप है तथा क्षमावान् पुरुषहि स्वर्ग औ यशकूं प्राप्त होवेहै तथा क्षमावान्हि मोक्षकूं प्राप्त होवेहै औ क्षमावान्हि तीर्थस्वरूप होवेहै इति ॥ किंच योगी पुरुषकूं तो जानकरकेभी अपना अपमान करावना चाहिये काहेतें लोकविषे बहुत सन्मान होनेतें योगका विनाश होवेहै यह वार्ता अन्यस्मृतिमेंभी कहीहै "असन्मानात्तपोवृद्धिः सन्मानात्तु तपःक्षयः ॥ अर्चितः पूजितो विप्रो दुग्धा गौरिव सीदति" अर्थ० योगी पुरुषका लोकविषे अपमान होनेतें योगरूप तपकी वृद्धि होवेहै औ सन्मान पूजा होनेतें तपका क्षय होवेहैं काहेतें जैसे गोपाल घास तृणादिक देकरके गौका दुग्ध दोहन करलेवेहैं तैसेहि संसारीलोकरूप गोपाल तपस्वीरूप गौकूं अन्नवस्त्रादिकरूप घास तृण देकरके तिसके तपरूप दुग्धका दोहन करलेतेहैं इति ॥ यातें योगी

पुरुषकूं इस प्रकारसें विचरणा चाहिये जिसकरके लोक स-न्मान नहि करें, यह वार्ता अन्यस्मृतिमेंभी कथन करीहै

"तथाचेरत वै योगी सतां धर्ममदूषयन् ।
जना यथावमन्येरन् गच्छेयुर्नैव संगतिम्" ॥

अर्थ० योगी पुरुषकूं मदिरापान परस्त्रीगमनादिकोंका परित्यागरूप जो सत्पुरुषोंका धर्म है तिसका अनतिक्रमण करके ऐसे कुवेषादिक धारण करके विचरणा चाहिये जिससें कोई पुरुषभी तिसका सन्मान नहिं करे किंतु उलटा अपमान करें औ कोई तिसके समीप नहि आवे इति ॥ औ जो अपमान करणेहारे पुरुषोंपर क्रोध करेहै तिसके सर्वंहि जपतपादिकोंका नाश होवेहै यह वार्ता महाभारतके मोक्षपर्वविषेभी कथन करीहै "यत्क्रोधनो यजति च यद्ददाति यद्वा तपस्तप्यति यज्जुहोति ॥ वैवस्वतस्तद्धरतेऽस्य सर्वं मोघः श्रमो भवतिहि क्रोधनस्य" ॥ अर्थ० क्रोध करणेहारा पुरुष जो यज्ञ औ दान तथा तप अथवा होमादिक कर्म करेहै तिन सर्वके फलका यमराजा हरण करलेवेहै यातें क्रोधी पुरुषका यज्ञ तप आदिक सर्व परिश्रम व्यर्थहि होवेहै इति ॥ तथा अन्य स्मृतिमेंभी कहाहै "अपकारिणि कोपश्चेत् कोपे कोपः कथं न ते ॥ धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रसह्य परिपंथिनि" अर्थ० हे मूढ पुरुष जो तुं थोडेसे अपकार करणेहारे पुरुषपर क्रोध करताहै

तो धर्म अर्थ काम मोक्ष इन च्यारि पुरुषार्थोंकी सिद्धिविषे महा प्रतिबंधकरूप जो तेरा महान् अपकारी क्रोध है तिसपर तुं काहेको क्रोध नहि करता इति ॥ यातें विवेकी पुरुषकूं सर्वदा क्षमाहि करणी योग्यहै ॥ तथा अनेकप्रकारके विघ्नोंके होनेतेंभी जो अभ्यासका परित्याग नहि करणाहै तिसका नाम धैर्य है यह वार्ता भर्तृहरिने नीतिशतकमेंभी कथन करी है "आरभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः प्रारभ्य विघ्नविहता विरमंति मध्याः ॥ विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यामानाः प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजंति" अर्थ० जो पुरुष विघ्नोंके भयकरके प्रथमसेंहि अभ्यासका आरंभ नहि करेहैं सो अधम कहिये है औ जो अभ्यासकाप्रारंभकरके पुना विघ्नोंकरके पीडित भये परित्याग करेहैं सो मध्यम हैं तथा जो वारंवार विघ्नोंकरके परिपीडन किये हुयेभी अभ्यासका परित्याग नहिं करते सोई पुरुष उत्तम हैं इति ॥ तथा सुभाषितरत्नभांडागारमेंभी कहाहै

"घृष्टं घृष्टं पुनरपि पुनश्चन्दनं चारुगन्धं ।
छिन्नं छिन्नं पुनरपि पुनः स्वादु चैवेक्षुकांडम् ॥
दग्धं दग्धं पुनरपि पुनः कांचनं कांतवर्णं ।
न प्राणांते प्रकृतिविकृतिर्जायते सज्जनानाम् ॥

अर्थ० जैसे वारंवार संघर्षण किया हुयाभी चंदन सुगं-

घिकूंहि देवेहै औ जैसे वारंवार छेदन किया हुआभी इक्षुका खंड स्वादुहि होवेहै तथा जैसे वारंवार दग्ध किया हुयाभी कांचन सुंदररूप होवेहै तैसेहि वारंवार विघ्नोंकरके पीडित भये सज्जनोंका प्राणांतकालविषेभी स्वभाव विपर्यय नहि होवेहै इति ॥ तथा शौचका लक्षण याज्ञवल्क्यसंहितामें कथन कियाहै "शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यंतरं तथा ॥ मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं मनःशुद्धिस्तथांतरम् ॥" अर्थ० बाह्यशौच औ आभ्यंतरशौच इस भेदसें शौच दो प्रकारका है तिनमें मृत्तिका जलादिकोंकरके जो शरीरका मलक्षालन करणा है तिसका नाम बाह्यशौच है औ प्राणायामादिकोंकरके जो मनकी शुद्धि करणी है तिसका नाम आभ्यंतरशौच है इति॥ औ "मनःशौचं कर्मशौचं कुलशौचं च भारत ॥ शरीरशौचं वाक्शौचं शौचं पंचविधं स्मृतम्" अर्थ० मनका शौच, कर्मका शौच, कुलका शौच, शरीरका शौच, वाचाका शौच, इस भेदसें शौच पांच प्रकारका है इति ॥ इस वृद्धगौतमस्मृतिके वाक्यविषे जो पांच प्रकारका शौच निरूपण कियाहै तिसका उक्तशरीरशौच औ मनशौचकेविषेहि अंतर्भाव है ॥ तिनमें कुलशौचका तो शरीरशौचकेविषे अंतर्भाव है काहेतें जो कुलसें ब्राह्मण होवे औ शरीरकरके सर्वदाहि अपवित्र रहे तो सो ब्राह्मण नहि किंतु शूद्रके तुल्यहि होवेहै, यह वार्ता अन्यस्मृ-

तिमेंभी कथन करीहै" त्रिकालस्नानहीनो नः संध्योपासनवर्जितः ॥ स विप्रः शूद्रतुल्योहि सर्वकर्मबहिष्कृतः" अर्थ० जो ब्राह्मण त्रिकालस्नान औ संध्याकी उपासनाकरके वर्जित है सो शूद्रके तुल्य होवेहै औ यज्ञादिक सर्व कर्मोंविषे अनधिकारी होवेहै इति ॥ तथा कर्मशौच औ वाचाशौचका मनशौचकेविषे अंतर्भाव है काहेतें जो मनहि शुद्ध न हुया तो अन्य शुभकर्मोंसें क्या होवेहै, यह वार्ता वृद्धगौतमसंहितामेंभी कथन करीहै

"त्रिदंडधारणं मौनं जटाधारणमुंडनम् ।
वल्कलाजिनसर्वांशो व्रतचर्याभिषेचनम् ॥
अग्निहोत्रं वने वासः स्वाध्यायो ध्यानसंस्क्रिया ।
सर्वाण्येतानि वै मिथ्या यदि भावो न निर्मलः" ॥

अर्थ० त्रिदंड ग्रहण करणा मौन धारण करणा जटा धारण करणा शिरका मुंडन करावना वल्कल अथवा मृगचर्म पहरणा दिगंबर रहना व्रतोंका आचरण करणा तीर्थोंविषे स्नान करणा अग्निहोत्र करणा वनविषे निवास करणा वेदाध्ययन करणा ध्यान करणा इत्यादिक जो शुभकर्म हैं सो जिस पुरुषका मन श्रद्धादिक गुणोंकरके निर्मल नहि है तिसके सर्वहि व्यर्थ होवेहैं इति ॥ तथा मनकी

शुद्धिविना वाचाकी शुद्धिभी नहि संभवेहै काहेतें जिस पुरुषका मनहि अशुद्ध है तिसकी वाचा कैसे शुद्ध होवेगी, यह वार्ता श्रुतिमेंभी कथन करीहै "यद्धि मनसा ध्यायति तद्धि वाचा वदति" अर्थ० जो वार्ता प्रथम पुरुषके मनमें होवेहै सोई वाचाकरके कथन करेहै इति ॥ यातें कर्मशौच औ वाचाशौचका मनशौचकेविषेहि अंतर्भाव है ॥ तथा सर्वदाहि मन वाणी औ शरीरकरके स्त्रीसंगमका जो वर्जन करणाहै तिसका नाम ब्रह्मचर्य है, यह वार्ता याज्ञवल्क्यसंहितामेंभी कथन करीहै "कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा ॥ सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते" अर्थ० शरीर मन औ वाणीकरके सर्व अवस्था औ सर्व कालविषे जो मैथुनका परित्याग करणा है तिसका नाम ब्रह्मचर्य है इति ॥ सो तिस मैथुनके अष्ट अंग हैं तिन सर्वके लक्षण दक्षसंहितामें कथन कियेहैं "ब्रह्मचर्यं यदा रक्षेदष्टधा लक्षणं पृथक्"

"स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ।
एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदंति मनीषिणः ॥
न ध्यातव्यं न वक्तव्यं न कर्तव्यं कदाच न ।
एतैः सर्वैर्विनिर्मुक्तो यतिर्भवति नेतरः ॥"

अर्थ० स्त्रीका मनमें स्मरण करणा औ मुखसें कीर्तन करणा तथा तिसके साथ हासविलास करणा औ एकांतमें भाषण करना तथा तिसके भोगका मनविषे संकल्प करणा पुना भोगका निश्चय करणा तथा भोग करणा इस भेदसें मैथुनके अष्ट अंग बुद्धिमान् मुनि लोकोंने कथन किये हैं इन सर्वकरकेहि जो पुरुष रहित होवेहै सोई ब्रह्मचारी औ यति कहियेहै दूसरा नहि यातें साधक पुरुषकूं किसी कालविषेभी मैथुनका मनमें स्मरण औ मुखसें भाषण तथा शरीरकरके संपादन नहि करणा चाहिये इति ॥ तथा अन्यस्मृतिमेंभी कहाहै "न संभाषेत् स्त्रियं कांचित् पूर्वदृष्टां च न स्मरेत् ॥ कथां च वर्जयेत्तासां न पश्येत् लिखितामपि" अर्थ० ब्रह्मचारी पुरुषकूं किसी स्त्रीके साथ संभाषण करणा नहि चाहिये औ जो कवी पूर्वकालविषे किसी स्थलमें सुंदर स्त्री देखी होवे तो हृदयमें तिसका स्मरणभी नहि करणा चाहिये तथा परस्पर स्त्रियोंकी कथाभी नहि करणी चाहिये किंच स्त्रीकी चित्रित मूर्तिभी नहि देखनी चाहिये इति ॥ सो इस ब्रह्मचर्यकेविना कदाचित्भी योगकी सिद्धि नहि होवेहै, यह वार्ता अमृतसिद्धिनामक ग्रंथमेंभी कथन करीहै

"असिद्धं तं विजानीयान्नरमब्रह्मचारिणम् ।
जरामरणसंकीर्णं सर्वक्लेशसमाश्रयम्" ॥

अर्थ० जो पुरुष ब्रह्मचारी नहिहै सो कदाचित्भी सिद्धिकूं नहि प्राप्त होवेहै यातें तिसकूं असिद्धहि जानना चाहिये काहेतें सो सर्वदाहि जन्ममरणादिक क्लेशोंकरके युक्त होवेहै इति ॥ तथा विनाब्रह्मचर्यके चित्तकी एकाग्रताभी नहि होवेहै यह वार्ताभी तहांहि कथन करीहै "बिन्दुश्चलति यस्यांगे चित्तं तस्यैव चंचलम्" अर्थ० जिस पुरुषके इन्द्रियद्वारा वीर्य चलायमान रहताहै तिसका चित्तभी सर्वदाहि चलायमान रहताहै इति ॥ किंच इस ब्रह्मचर्यकेविषेहि सर्व धर्म अंतर्भूत होवेहैं यह वार्ता सामवेदकी छांदोग्य उपनिषत्मेंभी कथन करीहै "अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दते, अथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येष्ट्वाऽऽत्मानमनुविन्दते, अथ यत् सत्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राणं विन्दतेऽथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवामात्मानमनुविद्यमनुते" अर्थ० जिसकूं कर्मकांडीलोक यज्ञ कहतेहैं सो ब्रह्मचर्यहि है काहेतें ब्रह्मचर्यकरकेहि ज्ञाता पुरुष यज्ञके फलभूत ब्रह्मलोककूं प्राप्त होवेहैं औ जिसकूं इष्ट कहतेहैं सोभी ब्रह्मचर्यहि है काहेतें ब्रह्मचर्यसेंहि ईश्वरका यजन करके अधिकारी पुरुष आत्माकूं प्राप्त

होवेहैं तथा जिसकूं सत्रायण[1] कहतेहैं सोभी ब्रह्मचर्यहि है काहेतें ब्रह्मचर्यकरके युक्त भयाहि पुरुष अपणे आत्माको जन्ममरणरूप संसारसें रक्षा करेहै तथा जिसकूं मौन कहतेहैं सोभी ब्रह्मचर्यहि है काहेतें ब्रह्मचर्यकरकेहि यह अधिकारी पुरुष अपणे स्वरूपकूं जानकरके हृदयमें मनन करेहै इति ॥ यातें साधक पुरुषकूं योगाभ्यासकी सिद्धिविषे परम साधनभूत ब्रह्मचर्यसें कदाचित्‌भी मांसकी पुतलीके कटाक्षोंसें मोहित होयकरके स्खलित नहि होना चाहिये इति ॥ तथा मिताहारका लक्षण हठयोगप्रदीपिकामें निरूपण कियाहै ॥

"सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः ।
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते" ॥

अर्थ० स्निग्ध औ मधुर भोजनका उदरका चतुर्थ भाग खाली रखकरके ईश्वरकी प्रीतिके अर्थ जो आहार करणा है तिसका नाम मिताहार है इति ॥ तथा पूर्वाचार्योंनेभी कहाहै

"द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत् ।
वायोः संचारणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत्" ॥

---

१ जो वैदिक कर्म बहुत यजमानोंकरके अनुष्ठान किया जावैहै तिसका नाम सत्रायण है.

अर्थ० उदरके दो भाग तो अन्न शाकादिकोंसें औ एक भाग जलसें पूर्ण करणा चाहिये तथा चतुर्थ एक भाग प्राणोंके संचारके अर्थ बाकी रखना चाहिये इति ॥ तथा अमृतबिंदुउपनिषत्‌विषेभी कहाहै "अत्याहारमनाहारं नित्यं योगी विवर्जयेत्" अर्थ० क्षुधासें अत्यंत अधिक औ अतिअल्प आहारका योगीकूं सर्वदाहि वर्जन करणा चाहिये इति ॥ तथा गीताके षष्ठाध्यायविषेभी कहाहै "नात्यश्नतस्तु योगोस्ति न चैकांतमनश्नतः" अर्थ० अत्यंत अधिक तथा किंचित्‌भी भोजन नहि करणेसें योगकी सिद्धि नहि होवेहै किंतु युक्ताहार करणेसेंहि सिद्धि होवेहै इति ॥ तथा याज्ञवल्क्यसंहितामेंभी कहाहै "अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशारण्यवासिनाम्॥द्वात्रिंशत्तु गृहस्थस्य नियतं ब्रह्मचारिणाम्" अर्थ० संन्यासीकूं अन्नके अष्ट ग्रास भक्षण करणे चाहिये औ वानप्रस्थकूं षोडश ग्रास भक्षण करणे चाहिये तथा गृहस्थोकूं बत्तीस ग्रास भक्षण करणे चाहिये औ ब्रह्मचारीकूं मिताहार अर्थात् चतुर्विंशति ग्रास भक्षण करणे चाहिये इति ॥ सो अन्नभी योगीकूं स्निग्धहि भोजन करणा चाहिये तीक्ष्ण कटुआदिक नहि । यह वार्ता हठयोगप्रदीपिकामेंभी कथन करीहै "पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम् ॥ मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत्" अर्थ० योगी

पुरुषकूं पुष्टिकारक औ मधुर तथा स्निग्ध औ गव्य तथा शरीरकी धातुवोंके पोषण करणेहारा औ मनकरके अभिलषित तथा शास्त्रविहित जो भोजन है सोई भक्षण करणा योग्य है इति ॥ तथा स्कंदपुराणमेंभी कहाहै "त्यजेत् कट्वम्ललवणं क्षीरभोजी सदा भवेत्" अर्थ० मिरचीआदिक कटु औ निंबुआदिक खट्टा तथा अतिलवणयुक्त भोजनका परित्यागकरके अभ्यासी पुरुषकूं सर्वदा क्षीरकाहि भोजन करणा योग्य है इति ॥ औ "कणानां भक्षणे युक्तः पिण्याकस्य च भारत ॥ स्नेहानां वर्जने युक्तो योगी बलमवाप्नुयात् ॥ भुंजानो यावकं रूक्षं दीर्घकालमरिंदम ॥ एकाहारो विशुद्धात्मा योगी बलमवाप्नुयात्" अर्थ० कण औ पिण्याक[1]के भक्षण करणेसें औ घृतादि स्नेहोंके वर्जनमें युक्त भया योगी शीघ्रहि सिद्धिकूं प्राप्त होवेहै ॥ तथा दीर्घकालपर्यंत यवोंके रूक्षे सक्तुवोंके भक्षण करणेसें अथवा सर्वदा दिवसमें एकवार भोजन करणेतें योगी शीघ्रहि सिद्धिकूं प्राप्त होवेहै इति ॥ इन महाभारतके मोक्षपर्वके वाक्योंविषे जो योगी पुरुषकूं रूक्षे अन्न भक्षण करणेका विधान कियाहै सो प्राणजय कियेतें अनंतर जानना प्राणायामके अभ्यासकालविषे नहि काहेतें प्राणायामके अभ्यास करणेतें सर्व शरीरका शोषण होवेहै यातें तिस

1 तिलके मोदक.

कालमें तो अवश्यहि साधक पुरुषकूं क्षीरादिक स्निग्ध भोजनहि करणा चाहिये, यह वार्ता शिवसंहिताविषेभी कथन करीहै

"अभ्यासकाले प्रथमं कुर्यात् क्षीराज्यभोजनम् ।
ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तादृङ्नियमग्रहः" ॥

अर्थ० प्राणायामके अभ्यासकालमें प्रथमहि दुग्धघृतादिकयुक्त स्निग्ध भोजन करणा चाहिये औ प्राणायामके दृढ होनेसें अनंतर तो स्निग्ध भोजनका कुछ नियम नहिंहै इति ॥ तथा मन वाणी औ शरीरकरके सर्व दीन प्राणियोंके ऊपर जो अनुग्रह करणा है तिसका नाम दयाहै ॥ यह वार्ता याज्ञवल्क्यसंहितामेंभी कथन करीहै "दया सर्वेषु भूतेषु सर्वत्रानुग्रहः स्मृतः" अर्थ० सर्वदाहि सर्वभूतोंपर जो अनुग्रह करणा है तिसका नाम दया है इति ॥ तथा अन्य स्मृतिमेंभी कहाहै "प्राणा यथात्मनोभीष्टा भूतानामपि ते तथा ॥ आत्मौपम्येन भूतानां दयां कुर्वंतु मानवाः" अर्थ० जैसे पुरुषकूं अपणे प्राण प्रिय हैं तैसेहि पशु पक्षी आदिक सर्वप्राणियोंकूंभी प्रिय हैं औ जैसे अपणेकूं सुखदुःख होवेहै तैसेहि तिनकूंभी सुखदुःखका अनुभव होवेहै यातें विवेकी पुरुषोंकूं अपणेतुल्य जानकर सर्व प्राणियोंपर दयाहि करणी

योग्य है इति ॥ तथा वसिष्ठसंहितामेंभी कहाहै "उपवासात्पर भैक्षं दयादानाद्विशिष्यते" अर्थ० उपवासकरणेसें भिक्षाका अन्न भक्षण करणा श्रेष्ठ है औ दान करणेंसे दया करणी श्रेष्ठ है इति, तथा पूर्वाचार्योंनेंभी निरूपण कियाहै "सर्वत्र सुखिनः संतु सर्वे संतु निरामयः ॥ सर्वे भद्राणि पश्यंतु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात्" अर्थ० इस संसारविषे सर्वहि प्राणी सुखकूं प्राप्त होवो औ सर्वहि दुःखसें रहित नीरोग होवो तथा सर्वहि कल्याणकूं प्राप्त होवो कोईभी क्लेशकूं नहि प्राप्त होवो इस प्रकार सर्वदाहि सर्व प्राणियोंपर हृदयकरके अनुकंपा करणी योग्य है इति ॥ तथा तिस दयालु पुरुषपर सर्वभूत प्राणीभी दया करतेहैं, यह वार्ता वसिष्ठसंहितामेंभी कथन करीहै "अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा चरति यो द्विजः ॥ तस्यापि सर्वभूतेभ्यो न भयं जातु विद्यते" अर्थ० जो पुरुष सर्वभूतोंकूं अभयदान देकर विचरताहै तिसकूंभी सर्व भूतोंसें कदाचित् भय नहिं होवेहै इति ॥ सो यह दया योगाभ्यासीकूं तो सामान्यसेंहि करणी चाहियें काहेतें अत्यंत दयाकरके दुःखी पुरुषोंके दुःखकी निवृत्तिमें प्रवृत्त भया योगी योगसें भ्रष्ट होवेहै जैसे राजा भरत मृगीके बच्चेपर अत्यंत दया करणेतें योगसें भ्रष्ट होता भयाहै यह वार्ता भागवतमें प्रसिद्ध है ॥ किंच इस जगत्में अनेकहि जीव

दुःखी हैं तो सो दयालु पुरुष तिनमेंसें किसकिसका दुःख निवृत्त करेगा, यह वार्ता योगवासिष्ठके उपशमप्रकरणमेंभी कथन करीहै "यः प्रवृत्तः कुबुद्धीनां दयावान् दुःखमार्जने ॥ स्वगतच्छत्रनिर्मृष्टसूर्यांशुः खिद्यते नभः" अर्थ० जो पुरुष अज्ञानी जीवोंपर दयावान् होयकरके तिनके दुःखोंकी निवृत्ती करणेमें प्रवृत्त होवेहै सो अपणे हाथमें स्थित छत्रकरके सर्व आकाशकूं सूर्यकी किरणोंसें रहित करणेके अर्थ परिश्रम करताहै अर्थात् जैसे तिसका परिश्रम व्यर्थ है तैसेहि सर्व जीवोंके दुःखकी निवृत्तिके अर्थ दयालु पुरुषका परिश्रम व्यर्थहि है काहेतें जैसे एक छत्रकरके सर्वआकाशकूं सूर्यकी-किरणोंसें रहित करणा असंभव है तैसेहि एक दयालु पुरुषकरके सर्व अज्ञानी जीवोंके दुःखोंकी निवृत्ति होनी असंभव है इति ॥ यातें अत्यंत दया नहि करणी चाहिये औ अत्यंत उपेक्षाभी नहिं करणी चाहिये किंतु सर्वत्रहि सामान्यसें वर्त्तना चाहिये यह वार्ता शंकराचार्यनेभी कहीहै "जनकृपानैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम्" अर्थ० हे मुमुक्षु पुरुषो तुम अत्यंत दया औ निष्ठुरताका परित्यागकरके सर्वत्र सामान्यसें वर्तो इति ॥ यह दश प्रकारके यमोंके लक्षण हैं इति ॥ ॥ इस प्रकारसें दश प्रकारके यमोंकी व्याख्या करके अब योगका दूसरा अंग जो नियम है तिसके लक्षणकूं निरूपण करेहैं ॥

"वंशस्थं वृत्तम्"

जपस्तपो दानमथागमश्रुति-
स्तथास्तिकत्वं व्रतमीश्वरार्चनम् ॥
यथाप्तितोषो मतिरप्यपत्रपा
बुधैर्दशैते नियमाः समीरिताः ॥ १० ॥

जप इति ॥ जप, तप, दान, वेदांतशास्त्रका श्रवण, आस्तिकभाव, व्रत, ईश्वरपूजन, यथालाभमें संतोष, मति[1] लज्जा, इस भेदसें नियमभी पूर्वाचार्योंने दश प्रकारके कथन कियेहैं तथा याज्ञवल्क्यसंहितामेंभी कहाहै "यमश्च नियमश्चैव दशधा संप्रकीर्तितः" अर्थ० यम औ नियम यह दश दश प्रकारके हैं इति ॥ औ "अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः" इन पतंजलिके सूत्रोंविषे जो यम नियम पांच पांच प्रकारके निरूपण कियेहैं सो दूसरे पांच पांचोंकेभी उपलक्षण जानलेने नहि तो उक्त याज्ञवल्क्यके वाक्यसाथ विरोध होवेगा तिनमें गुरुमुखद्वारा ग्रहणकरके गायत्री प्रणवादिक पवित्र मंत्रोंका अथवा वेदका जो अध्ययन करणा है तिसका नाम

---

१ श्रद्धा.

जपहै, यह वार्ता याज्ञवल्क्यसंहितामेंभी कथन करीहै "गुरुणा चोपदिष्टोपि वेदबाह्यविवर्जितः ॥ विधिनोक्तेन मार्गेण मंत्राभ्यासो जपः स्मृतः ॥ अधीत्य वेदं सूत्रं वा पुराणं वेतिहासकम् ॥ एतेष्वभ्यसतस्तस्य अभ्यासेन जपः स्मृतः" अर्थ० वेदोक्त मंत्रका गुरुमुखद्वारा ग्रहणकरके विधिपूर्वक जो आवर्तन करणा है तिसका नाम जप है" तथा गुरुमुखद्वारा अध्ययनकरके वेद, ब्रह्मसूत्र, पुराण, इतिहासादिक सत्शास्त्रोंका जो अभ्यास करणा है सोभी जप कहियेहै इति ॥ सो जप वाचिक जप, मानस जप इस भेदसें दो प्रकारका है पुनः सोभी दो दो प्रकारका है तिनमें उच्चैः औ उपांशु[1] यह दो भेद वाचिक जपके हैं तथा ध्यानरहित औ ध्यानयुक्त यह दो भेद मानस जपके हैं तिन च्यारोंमें ध्यानयुक्त मानस जप उत्तम है, यह वार्ता याज्ञवल्क्यसंहितामेंभी कथन करीहै "उच्चैर्जपादुपांशुस्तु सहस्रगुण उच्यते ॥ मानश्च तथोपांशोः सहस्रगुण उच्यते ॥ मानसाच्च तथा ध्यानं सहस्रगुणमुच्यते" अर्थ० उच्चैः जप करणेसें शनैः शनैः करणा सहस्रगुण अधिक फलका हेतु होवेहै औ शनैः शनैः करणेसें मनविषे करणा सहस्रगुण अधिक होवेहै तथा केवल मनविषे

---

१ शनैः शनैः जपकरणेका नाम उपांशुजप है.

करणेतें एकाग्र मनसें करणा सहस्रगुण अधिक होवेहै इति ॥ सो मंत्रके ऋषि छंद औ देवता तथा न्यासकूं जानकरकेहि जप करणा चाहिये जानेविना नहि. काहेतें ऋषि देवता आदिकोंके जानेसेंविना जप करणेसें यथोक्तफलकी प्राप्ति नहि होवेहै, यह वार्ताभी याज्ञवल्क्यसंहितामेंहि कथन करीहै

"ऋषिं छन्दोधिदैवं च ध्यायन् मंत्रस्य सत्तमे ।

यस्तु मंत्रं जपेद्गार्गि तदेव हि फलप्रदम्" ॥

अर्थ० हे गार्गि जो पुरुष मंत्रके ऋषि छंद औ देवताके स्मरणपूर्वक जप करताहै तिसकूंहि यथोक्तफलकी प्राप्ति होवेहै अन्यकूं नहि इति ॥ तथा मंत्रके अर्थकूंभी जानना चाहिये, यह वार्ता वृद्धहारीतसंहितामेंभी कथन करी है

"इत्थं संचिंत्य मंत्रार्थं जपेन्मंत्रमतंद्रितः ।

अविदित्वा मनोरर्थं जपेत् प्रयतमानसः ।

न स सिद्धिमवाप्नोति स्वरूपं च न विन्दते" ॥

अर्थ० इस प्रकारसें साधक पुरुषकूं आलस्यसें रहित होयकरके मंत्रके अर्थकूं चिंतन करते हुये जप करणा योग्यहै औ मंत्रके अर्थकूं जानेसेंविना जो एकाग्र मनकरकेभी जप करे तो सो मंत्रकी सिद्धि औ उपास्यदेवताके स्वरूपकूं प्राप्त नहि होवेहै इति ॥ तथा सामवेदकी छांदोग्यउपनिषत्मेंभी कहाहै "य-

देव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" अर्थ० जो पुरुष मंत्रके अर्थ औ रहस्यकूं जानकर श्रद्धापूर्वक तिसका जप करताहै तिसहिकूं अधिक फलकी प्राप्ति होवेहै अन्यकूं नहि इति ॥ किंच यह जपरूप यज्ञहि सर्व यज्ञोंसें श्रेष्ठ है, यह वार्ता गीताके दशमाध्यायविषे भगवान्नेभी कथन करीहै "यज्ञानां जपयज्ञोस्मि" अर्थ० हे अर्जुन ज्योतिष्टोमादि सर्वयज्ञोंमें जपरूप यज्ञ मेरा स्वरूप है इति ॥ तथा मनुस्मृतिके द्वितीयाध्यायविषेभी कहाहै

"ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हंति षोडशीम्" ॥

अर्थ० वैश्वदेवहोम, बलिदान, नित्यश्राद्ध, अतिथिभोजन यह जो च्यारि प्रकारके पाकयज्ञ हैं औ दर्शपौर्णमासादिक जो विधियज्ञ हैं सो सर्वहि जपरूप यज्ञके सोलमा भागके समानभी नहि होवेहैं इति ॥ सो इस कालविषे जितनी जपकी संख्या होवे तिसतें चतुर्गुण अधिक करणा चाहिये यह वार्ता मंत्रशास्त्रमेंभी कहीहै "कलौ संख्या चतुर्गुणा" अर्थ० कलियुगमें मंत्रकी संख्यासें चतुर्गुण जप अधिक करणा चाहिये इति ॥ औ जो विधिपूर्वक अनुष्ठान करणेतेंभी मंत्रकी सिद्धि नहि होवे तो तिसमें प्रतिग्रह आदिक प्रतिबंधक जानना, यह वार्ता महादेवजीनेभी कथन करीहै

"जिह्वा दग्धा परान्नेन हस्तौ दग्धौ प्रतिग्रहात् ।
परस्त्रीभिर्मनो दग्धं कथं सिद्धिर्वरानने" ॥

अर्थ॰ हे पार्वति जिस पुरुषकी जिह्वा तो पराये अन्न भक्षणकरके दग्ध होवेहै औ हस्त दान लेनेकरके दग्ध होवेहै तथा परस्त्रियोंके चिंतनकरके मन दग्ध होवेहै तिसकूं किस प्रकारसें मंत्रकी सिद्धि प्राप्त हो सकेहै इति ॥ यहि कारण तप आदिकोंकी असिद्धिविषेभी जानलेना ॥ तथा तपका लक्षण याज्ञवल्क्यसंहितामें निरूपण कियाहै

"विधिनोक्तेन मार्गेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः ।
शरीरशोषणं प्राहुस्तपसां तप उत्तमम् ॥

अर्थ॰ धर्मशास्त्रोक्तविधिपूर्वक कृच्छ्रचांद्रायणादिक व्रतोंकरके जो शरीरका शोषण करणाहै सोई सर्व तपोंसें उत्तम तप कहियेहै इति ॥ यह वार्ता महाभारतमेंभी कथन करी है "तपो नानशनात्परम्" अर्थ॰ अनशनतें परे दूसरा कोई तप नहि है इति ॥ ग्रीष्मऋतुमें पंचाग्नि तपना शरदृऋतुमें कंठपर्यंत जलविषे स्थित होना वर्षाऋतुमें मैदानमें रहना इंगितमौन[1] अथवा काष्ठमौन[2] धारण करणा इत्यादि तिस त-

१ मौन धारणकरके पश्चात् नेत्रादिकोंसें जो सैनत करणी है तिसका नाम इंगितमौन है। २ औ जो सैनतभी नहि करणी है तिसका नाम काष्ठमौन है।

पके अवांतर भेद हैं ॥ सो तप करणेतें विना योगकी सिद्धि नहि होवेहै, यह वार्ता योगभाष्यमें व्यासजीनेभी कथन करीहै "नातपस्विनो योगः सिद्ध्यति" अर्थ० जो पुरुष तपकरके वर्जित है तिसकूं योगकी सिद्धि नहि होवेहै इति तथा मनुस्मृतिके एकादशे अध्यायविषेभी कहाहै

"औषधान्यगदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः ।
तपसैव प्रसिद्ध्यंति तपस्तेषां हि साधनम्" ॥

अर्थ० रसायनादिक औषधियां औ शरीरकी अरोगता तथा वेदादिक विद्या औ आकाशगमन अमृतपानादिक जो विविधप्रकारकी देवतोंकी स्थिति हैं इत्यादिक सर्व कार्य तपकरकेहि सिद्ध होवेहैं काहेतें तपहि तिनकी सिद्धिविषे परम साधनभूत है इति ॥ तथा विष्णुस्मृतिमें पृथिवीकेप्रति विष्णु भगवान्नेभी कहाहै॥

"यद्दुश्चरं यद्दुरापं यद्दूरं यच्च दुष्करम् ।
सर्वं तत्तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥
तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं जगत् ।
तपोमध्यं तपोन्तं च तपसा च तथावृतम्" ॥

अर्थ० हे देवि पर्वतादिक जो दुर्गम स्थान हैं औ आकाशगमनादिक जो दुष्प्राप्य सिद्धियां हैं तथा सुमेरु आदिक

जो दूरदेश हैं औ समुद्रपानादिक जो दुष्कर कर्म हैं सो स-
र्वेहि तपकरके सिद्ध होवेहैं, यह वार्ता अगस्त्यादिक महर्षियों-
विषे विख्यातहि है सो तिस तपका कोईभी अतिक्रमण न-
हि करसकेहै अर्थात् इस जगत्में ऐसा कोई पदार्थ नहिहै
जो तपकरके नहि प्राप्त होसकेहै तथा देवता मनुष्य दैत्यादिक
जंतुवोंकरके संकुल जो यह सर्व चराचर जगत् है तिसकोभी
तपकरकेहि उत्पत्ति स्थिति औ विनाश होवेहै तथा तपकर-
केहि यह जगत् सर्वतरफसें आवृत होय रहाहै इति ॥ तथा
भागवतके द्वितीयस्कंधमेंभी लिखाहै

"स चिंतयन् द्व्यक्षरमेकदांभ-
स्युपाश्रृणोद्विर्गदितं वचो विभुः ।
स्पर्शेषु यत् षोडशमेकाविंशं
निष्किंचनानां नृप यद्धनं विदुः" ॥

अर्थ० सृष्टिके आदिकालविषे विष्णुभगवानकी नाभिसें
उत्पन्न भये कमलमें स्थित भया ब्रह्मा जगत्की रचना कर-
णेमें असमर्थ हुया चिंतन करताथा तो एक समयविषे कका-
रसें लेकरके मकारपर्यंत जो स्पर्शसंज्ञावाले अक्षर हैं तिनमें-
सें सोलमा औ एकीशवांअर्थात् तप तप इस प्रकारसें दो
अक्षरोंकूं दोवार श्रवण करता भया । तात्पर्य यह हे ब्रह्मा

जो तुं तप करेगा तो सृष्टिकी उत्पत्ति करणेमें समर्थ होवेगा इति ॥ सो तप सात्विकतप, राजसतप, तामसतप, इस भेदसें तीन प्रकारका है सो तिन तीनोंके लक्षण गीताके सप्तदशे अध्यायविषे भगवान्ने कथन कियेहैं तिनमें

"श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते" ॥

अर्थ० हे अर्जुन जो विवेकी पुरुष फलकी कामनाकरके रहित भये परम श्रद्धापूर्वक पूर्वोक्तलक्षण तपका आचरण करतेहैं सो सात्विकपत कहियेहै इति ॥ तथा

"सत्कारमानपूजार्थं तपो दंभेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्" ॥

अर्थ० जो पुरुष जगत्विषे अपणे सत्कार मान पूजादिकोंके अर्थ दंभपूर्वक तप करतेहैं सो राजस तप कहियेहै सो तप चलायमान् औ अध्रुव होवेहै अर्थात् तिसका परलोकविषे कुछभी फल नहि होवेहै इति ॥ तथा

"मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्" ॥

अर्थ० जो मूढ पुरुष शरीरकूं अत्यंत पीडा देकर हठपूर्वक तप करतेहैं अथवा किसीके मारण उच्चाटनके अर्थ कर-

तेहै सो तामस तप कहियेहै इति ॥ यातें मुमुक्षु पुरुषकूं तो अंतःकरणकी शुद्धिद्वारा मोक्षपदके देनेहारे सात्विक तपकाहि आचरण करणा योग्य है ॥ तथा दानका लक्षणभी याज्ञवल्क्यसंहितामेंहि निरूपण कियाहै

"न्यायार्जितधनं चापि विधिवद्यत्प्रदीयते ।
अर्थिभ्यः श्रद्धया युक्तं दानमेतदुदाहृतम्" ॥

अर्थ० स्वधर्मके अनुसार न्यायपूर्वक संचित कियेहुये द्रव्यका विधिवत् श्रद्धाकरके जो याचकोंकेप्रति समर्पण करणा है तिसका नाम दान है इति ॥ सो दान करणेयोग्य पदार्थ बृहस्पतिसंहितामें कथन कियेहैं

"अग्नेरपत्यं प्रथमं हिरण्यं
भूर्वैष्णवी सूर्यसुताश्च गावः ।
लोकास्त्रयस्तेन भवंति दत्ता
यः कांचनं गां च महीं च दद्यात्" ॥

अर्थ० अग्निदेवताका प्रथमपुत्र सुवर्ण है औ पृथिवी विष्णुकी पुत्री है तथा गौ सूर्यकी पुत्री है यातें जिस पुरुषने सुवर्ण पृथिवी औ गौका दान कियाहै तिसने मानो त्रिलोकीकाहि दान करलिया इति ॥ तिनसेंभी अन्नका दान करणा अति उत्तम है, यह वार्ता संवर्त्तसंहितामेंभी कथन करीहै

"सर्वेषामेव दानानामन्नदानं परं स्मृतम् ।
सर्वेषामेव जंतूनां यतस्तज्जीवितं फलम् ।
यस्मादन्नात् प्रजाः सर्वाः कल्पे कल्पेऽसृजत् प्रभुः ।
तस्मादन्नात्परं दानं न भूतं न भविष्यति" ॥

अर्थ० सर्व दानोंमेंसें अन्नका दान ऋषिलोकोंने उत्तम कथन कियाहै काहेतें जिस कारणतें अन्नकरकेहि सर्वप्राणियोंका जीवन होवेहै ॥ तथा अन्नकरकेहि कल्पकल्पके आदिविषे ब्रह्मा सर्व प्रजाकी उत्पत्ति करेहै यातेंभी अन्नसें परे दूसरा कोई दान न हुयाहै औ न होवेहिगा इति ॥ सो यह दान सुपात्रकेप्रतिहि देना चाहिये कुपात्रकेप्रति नहि, काहेतें कुपात्रविषे दान कियाहुया निष्फल होवेहै, यह वार्ता वृद्धगौतमसंहितामें युधिष्ठिरके प्रति कृष्णभगवान्‌नेभी कथन करीहै

"अपात्रेभ्यस्तु दत्तानि दानानि सुबहून्यपि ।
वृथा भवंति राजेन्द्र भस्मन्याज्याहुतिर्यथा" ॥

अर्थ०हे राजेंद्र अपात्रोंकेप्रति विपुल दान दियेहुयेभी भस्मविषे घृतकी आहुतिकी न्यांई व्यर्थहि होवेहैं इति ॥ किंच दानकरकेहि द्रव्यकी रक्षा होवेहै अन्यथा नहि, यह वार्ता अमरकोशकी टीकामेंभी लिखीहै

"उपार्जितानां वित्तानां दानमेव हि रक्षणम् ।
तडागोदरसंस्थानां परिवाहा इवांभसाम्" ॥

अर्थ०जैसे तलावविषे स्थित भये जलकी झरणेद्वारा प्र-स्रवणकरके कृमि दुर्गंधि आदिकोंसे रक्षा होवेहै तैसेहि सं-चित कियेहुये द्रव्योंकी दानकरणेतेंहि चोर, राजा, अग्नि, आदिकोंसें रक्षा होवेहै इति ॥ तथा अन्य ग्रंथमेंभी कहाहै

"चत्वारो धनदायादा धर्माग्निनृपतस्कराः ।
ज्येष्ठस्य त्ववमानेन कुप्यंति सोदरास्त्रयः" ॥

अर्थ० संचित कियेहुये द्रव्यके धर्म, अग्नि, राजा, चोर यह च्यारि भागी होवेहैं तिन च्यारोंमें धर्म बडा भाई है सो तिसके अपमान करणेतें अर्थात् दान नहि करणेतें दूसरे तीनों भाई कोपकूं प्राप्त होतेहैं अर्थात् जातो अग्निसें जल-जावेहै जातो राजा दंडकरके आकर्षण करेहै अथवा चोर ह-रण करलेवेहै इति ॥ यातें द्रव्यकी रक्षाकेअर्थभी अवश्यहि दान करणा योग्य है ॥ किंच सत्पुरुषोंका जो द्रव्यसंचय होवेहै सो दानके अर्थहि होवेहै इति ॥ यह वार्ता पूर्वाचार्यों-नेंभी कथन करीहै

"पिबंति नद्यः स्वयमेव नोदकं
स्वयं न खादंति फलानि वृक्षाः ।
धाराधरो वर्षति नात्महेतवे
परोपकाराय सतां विभूतयः" ॥

अर्थ० जैसे जलकरके पूर्ण गंगाआदिक नदियां वहतीहैं

सो अपणे जलपानके अर्थ नही वहती किंतु तीरके रहनेहारे अन्यपुरुष पशु पक्षि आदिकोंके जलपान करनेके अर्थही वहती है औ जैसे आम्रादिक वृक्ष अनेक फलोंकूं धारण करतेहै सो अपणे भक्षण करणेके अर्थ नहि किंतु अन्य पुरुष पक्षी आदिकोंके भक्षण करणेवास्ते धारण करतेहैं तथा जैसे मेघ वर्षाऋतुविषे जलकी वर्षा करेहै सो अपणे लाभके अर्थ नहि करेहै किंतु अन्य पुरुष पशुआदिकोंके अर्थहि करेहै तैसेहि अनेक व्यापारोंकरके सत्पुरुष जो द्रव्यका संचय करतेहैं सो अपणे उपभोगके अर्थ नहि करते किंतु परोपकार अर्थात् सत्पात्रोंविषें दान करणेके अर्थहि करतेहैं इति ॥ किंच दान करकेहि पुरुष महत् पदकूं प्राप्त होवेहै यह वार्ता पराशरस्मृतिमेंभी कथन करीहै

"दानेन प्राप्यते स्वर्गो दानेन सुखमश्नुते ।
इहामुत्र च दानेन पूज्यो भवति मानवः" ॥

अर्थ० दानकरकेहि यह पुरुष स्वर्गकूं प्राप्त होवेहै औ दानकरकेहि परम सुखकूं प्राप्त होवेहै तथा इस लोक औ परलोकविषे दानकरके यह पुरुष पूज्य होवेहै इति ॥ तथा मोक्षकी प्राप्तिभी दानसेंहि होवेहै, यह वार्ता यजुर्वेदकी बृहदारण्यक उपनिषन्मेंभी कथन करीहै "रातेर्दातुः परायणम्"

अर्थ० सो परमात्मा द्रव्यके दानकरणेहारे पुरुषोंका परायण है अर्थात् जो पुरुष द्रव्यका दान करणेहारा है तिसकूंहि अंतःकरणकी शुद्धिद्वारा परमपदकी प्राप्ति होवेहै इति ॥ सो दान उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ, इस भेदसें तीन प्रकारका है तिन तीनोंके लक्षण पराशरस्मृतिविषे कथन कियेहै

"अभिगम्योत्तमं दानमाहूतं चैव मध्यमम् ।
अधमं याच्यमानं स्यात् सेवादानं तु निष्फलम्" ॥

अर्थ० धनार्थी पात्रके गृहविषे आप जायकर जो दान देनाहै तिसका नाम उत्तम दान है औ अपणे गृहविषे बुलायकर जो दान देनाहै सो मध्यम दान कहियेहै तथा याचते हुये अर्थीकूं जो दान देनाहै सो कनिष्ठ दान है औ जो सेवा करणेहारेकूं दान देनाहै सो तो निष्फलहि होवेहै इति ॥ पुना सो दान सात्विक, राजस, तामस इस भेदसें तीन प्रकारका है तिन तीनोंके लक्षण गीताके सप्तदशे अध्यायमें भगवान्ने अर्जुनकेप्रति कथन कियेहैं तिनमें

"दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम्" ॥

अर्थ०हमारेकूं दान करणा उचितहि है ऐसी बुद्धिपूर्वक कुरुक्षेत्रादि पवित्र देश औ सूर्यग्रहणादिक कालविषे वेदा-

ध्ययनआदिक सद्गुणोंकरके युक्त अनुपकारी विप्रकूं फ-लकी कामनासें रहित होयकर विधिवत् जो दान करणाहै तिसका नाम सात्विक दान है ॥ तथा

"यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्" ॥

अर्थ० इतना द्रव्य व्यय होजावेगा इसप्रकार चित्तमें क्लेशकरके औ देशकालादिकोंका विचार नहि करके फलकी कामनापूर्वक अपणेऊपर उपकार करणेहारे पुरुषकूं केवल लोकविषे यशके अर्थ जो दान करणा है सो राजस दान कहियेहै ॥ तथा

"अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्" ॥

अर्थ० अपवित्रदेशविषे औ सूतकादिककालविषे असत्का-र औ अवज्ञापूर्वक कुपात्रपुरुषकेप्रति जो दान करणा है तिसका नाम तामस दान है इति ॥ किंच हमारेपास विपुल द्रव्य नहिहै यातें हम किसप्रकारसें दान करें ऐसा नहि जानना चाहिये किंतु यथाशक्तिहि दान करणा योग्य है काहेतें जो धनी पुरुषकूं विपुल दानकरके फलकी प्राप्ति होवेहै सोई दरिद्री पुरुषकूं अल्पदानकरके प्राप्त होवेहै ॥

इस प्रसंगपर महाभारतके आश्वमेधिकपर्वविषे एक इतिहास लिखाहै सो संक्षेपसें यहां लिखेहैं ॥ सो जैसे जिस कालविषे राजा युधिष्ठिर अश्वमेधयज्ञकी समाप्तिके अनंतर स्नानकरके सर्व ऋषिमुनियोंकरके संस्तुत भया सिंहासनपर बैठा था तो इतनेमें अर्ध सुवर्णके शरीरवाला एक नकुल[1] आयकर सर्व सभाके समक्ष कहता भया हे राजन्, यह तेरा यज्ञ कुरुक्षेत्र-निवासी ब्राह्मणके तुल्य नहि भयाहै तूं काहेतें वृथा अभिमान करताहै, जब इस प्रकार नकुलने मनुष्यभाषामें विस्मयकारक वचन कहा तो सर्व ब्राह्मण तिसके समीप जायकर पूछने लगे हे नकुल, जो जो महान् यज्ञ पृथिवीविषे होताहै तहां तहां हम अवश्य गमन करतेहैं सो हमनें इस समयमें जिस प्रकारका विधपूर्वक युधिष्ठिरका यज्ञ संपूर्ण हुयाहै ऐसा अन्य कोई नहि देखाहै औ श्रवणभी नहि कियाहै यातें जो तैनें कोई देखा अथवा श्रवण किया होवे तो हमारेप्रति यथार्थ कथन कर, जब इस प्रकारसें तिन ब्राह्मणोंने कहा तो नकुल कहने लगा हे विप्रो, मैं आदिसेंलेकर अंतपर्यंत तुमारेआगे वर्णन करताहुं तुम एकाग्रमनकरके श्रवण करो, कुरुक्षेत्रमें उंछवृत्तिवाला[2] सहितपरिवारके एक

---

१ नोलिया. २ क्षेत्रादिस्थलोंसे अन्नके कणके चुगकरके भोजन करणेको उंछवृत्ति कहते हैं.

शुक्लवृत्तनामा ब्राह्मण निवास करताथा सो कपोतप-
क्षीकी न्यांई चुग चुगकरके अन्नके कणके संचय क-
रताथा औ तीसरे दिवस पीछे एकवार तिन कण-
कोंके सक्तु बनायकरके भक्षण करताथा औ जो कदाचित्
तीसरा दिवस चूकजावे तो पुना षट्दिवसके अनंतर भक्ष-
ण करताथा इस प्रकारसें सहितपरिवारके तिसका नियम
था तो एक समये दुर्भिक्षके पडनेसें तिसकूं तीन दिवसमेंभी
भक्षण करणे योग्य कणकोंकी प्राप्ति नहि होतीभयी तो दू-
सरे तीन दिवसभी उपवासहि रहा पुना जब षट्दिवसके
अनंतर कणकोंके सक्तु बनायकर च्यारि भागकरके सहित
परीवारके भक्षण करणे लगा तो इतनमें वनमेंसें एक तपस्वी
अतिथिने आयकर भोजनकी याचना करी तब ब्राह्मणने
अतिथिकूं देखतेहि सत्कारपूर्वक किंचित्भी मनविषे खेदकूं
नहि प्राप्तहोयकर अपणे भागके सक्तुवोंका द्रोण तिसकूं
समर्पण करदिया तो सो अतिथिने प्रसन्नतापूर्वक भक्षण
करलिया परंतु तिसकी तृप्ति नहि होती भयी तो सो ब्रा-
ह्मण विचार करणे लगा इतनेमें तिसकी स्त्रीने कहा हे
स्वामिन्, तुम शोच काहेको करतेहो यह जो मेरे भागका
द्रोण है सो इस अतिथिकूं अर्पण करदेवो तो ब्राह्मण
कहनेलगा हे प्रिये, तूं षट्दिवससें क्षुधातुर है औ तेरा

शरीरभी वृद्धावस्थाकरके कृश होय गयाहै सो तुं अपणे भाग-कूं देकर किस प्रकारसें प्राणोंकूं धारण करेगी इत्यादिक वाक्योंकरके तिस ब्राह्मणने बहुत कहा तोभी सो स्त्री धैर्यसें चलायमान नहि होती भई तो तिसने सो अपणी स्त्रीका भागभी तिस अतिथिकूं अर्पण करदिया तोभी सो तृप्तिकूं प्राप्त नहिं होता भया तब पुना अपणे पिताकूं चिंतातुर देखकर तिसका पुत्र कहनेलगा हे पिता, यह मेरा भाग इस अतिथिकं समर्पण करदेवो तो ब्राह्मणने कहा हे पुत्र, तेरी कुमारअवस्था है औ इस अवस्थामें पुरुषकूं क्षुधाभी विशेष लगतीहै औ षट्दिवससें तेरा उपवास है यातें यह द्रोण देकरके तूं किस प्रकारसें जीवेगा इत्यादिक वचनोंसेंभी जब वो धैर्यसें चलायमान नहि होताभया तो ब्राह्मणने तिसका भागभी अतिथिके प्रति समर्पण करदिया तिसके भक्षण करणेसेंभी तिसकी तृप्ति नहि होतीभयी तो पुना अपणे श्वशुरकूं शोकातुर देखकर तिसकी स्नुषा[1] कहनेलगी हे पिता, यह मेरा भाग इस अतिथीकूं समर्पण करदेवो तो ब्राह्मणने कहा हे पुत्रि, तेरा शरीर अतिकोमल है औ स्त्रियोंकूं पुरुषसें द्विगुणी क्षुधा लगती है औ तैनें पिताके गृहविषे बहुत सुख भोगेहैं याते तुं षट्दिवससें क्षुधातुर भयी अपणे भागकूं अ-

१ पुत्रकी स्त्री.

र्पणकरके किस प्रकारसें जीवेगी इत्यादिक वचनोंके कहनेसें-
भी जब सो धैर्यसें चलायमान नहि होतीभयी तो ब्राह्मणने
तिसका भागभी अतिथिकेप्रति समर्पण करदिया तो सो ति-
सकूंभी भक्षण करजाताभया परंतु तिन च्यारोंकेहि मनमें
किंचित्मात्रभी ग्लानि नहि होतीभयी किंतु अतिथिकी तृप्ति
होनेसें अपणेकूं कृतार्थ मानते भये इस प्रकारसें सो ऋषि
तिनका धैर्य औ उदारता देखकर बहुत प्रसन्नताकूं प्राप्त
भया इतनेमें आकाशमें दुंदुभियांके शब्द होने लगे औ पुष्पों-
की वृष्टि तिनके ऊपर पडने लगी औ इन्द्रादिक देवता आय-
कर तिन च्यारोंकूंहि विमानपर बैठायकरके स्वर्गकूं लेजातेभ-
ये औ सो ऋषिभी अंतर्धान होयगया तो पश्चात् हे ब्राह्मणो,
मैं मध्यान्हकी उष्णताकरके तप्त भया अपणे बिलसें निक-
सकर जिस स्थलविषे तिस अतिथिके पान करनेसें पृथिवीपर
जल पतित भयाथा तहां जायकर लोटा तो तत्कालहि तिस
जलके औ सक्तुवोंके कणकोंके स्पर्शसें मेरा अर्ध शरीर कां-
चनमय होजाताभया तो तिसतें अनंतर मैं जहां जहां महान्
यज्ञतप दानादिक श्रवण करताहूं तहां तहांहि जायकर लोट-
ताहूं औ तुमारीभी सर्व यज्ञवाटिकामें लोटाहूं परंतु मेरे शरीरका
दूसरा अर्ध भाग सुवर्णका नहि हुयाहै यातें मैं सत्य कहताहूं
जो तुमारा यज्ञ तिस कुरुक्षेत्रनिवासी ब्राह्मणके तुल्य नहि

भयाहै इति ॥ यातें श्रद्धापूर्वक अल्पदान किया हुयाभी महत् फलका हेतु होवेहै इति ॥ तथा वेदांतश्रवणका लक्षण याज्ञवल्क्यसंहितामें कथन कियाहै

"वेदांतश्रवणं प्रोक्तं सिद्धांतश्रवणं बुधैः" ॥

अर्थ० उपनिषदादिकरूप सिद्धांतवाक्योंके विधिपूर्वक श्रवण करणेका नाम वेदांतश्रवण है इति ॥ तथा आस्तिक्यका लक्षणभी तहांहि निरूपण कियाहै

"धर्माधर्मेषु विश्वासो यस्तदास्तिक्यमुच्यते" ॥

अर्थ० शास्त्रोक्त धर्म औ अधर्मविषे जो विश्वास है सो आस्तिक्य कहियेहै इति ॥ किंच आस्तिक पुरुषकाहि योगाभ्यासादिक सर्व शुभकर्मोंमें अधिकार है नास्तिकका नहिं, यह वार्ता मनुस्मृतिके द्वितीयाध्यायविषेभी कथन करीहै

"योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः" ॥

अर्थ० धर्म औ अधर्मके बोधक जो श्रुतिस्मृतिरूप मूल प्रमाण हैं तिनका "वेदवाक्यमप्रमाणं वाक्यत्वात् विप्रलंभकवाक्यवत्" अर्थ० वेदकावाक्य अप्रमाण है काहेतें वाक्य होनेतें विप्रलंभकवाक्यकी न्यांई ॥ इत्यादिक अनुकूल

१ वंचक.

तर्कोंकूं आश्रय करके जो पुरुष अनादर करेहै सो वेदकी निंदा करणेहारा नास्तिक विद्वान् पुरुषोंकरके सर्व कर्मोंसें बाहिर करणेयोग्य है अर्थात् तिसके साथ कुछभी खानपान विवाह आदिक क्रिया नहि करणी चाहिये इति ॥ तथा धर्मशास्त्रोक्त विधिपूर्वक कृच्छ्रचांद्रायण आदिक व्रतोंका जो आचरण करणा है तिसका नाम व्रत है तिनमें कृच्छ्रव्रतका लक्षण मनुस्मृतिके एकादशे अध्यायविषे कथन कियाहै

"त्र्यहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यादयाचितम् ॥
त्र्यहं परं च नाश्नीयात्प्राजापत्यं चरन् द्विजः ॥"

अर्थ० जो द्विजाति पुरुष प्राजापत्यनाम कृच्छ्रव्रत करणेकी इच्छावान् होवे सो प्रथमके तीन दिवस तो प्रातःकालविषे अर्थात् दिनके भोजनकालविषे एकवार भोजन करे औ दूसरे तीन दिवस रात्रीविषे एकवार भोजन करे तथा तीसरे तीन दिवस मांगेसें विनाहि जो अन्न आय प्राप्त होवे तिसकूं भक्षण करे औ चतुर्थे तीन दिवस केवल उपवास करे इस प्रकारसें द्वादश दिवसके व्रत पालनेसें प्राजापत्यनाम कृच्छ्रव्रत होवेहै इति ॥ सांतपनकृच्छ्र, अतिकृच्छ्र, तप्तकृच्छ्र, पराककृच्छ्र, यह च्यारि तिसके अवांतर भेद हैं इनके विशेष प्रकार मनुस्मृतिमें लिखे हैं तहां देखलेने, तथा चान्द्रायणव्रतका लक्षणभी तहांहि कथन कियाहै

"एकैकं ह्रासयेत्पिंडं कृष्णे शुक्ले च वर्धयेत् ॥
उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चांद्रायणं स्मृतम् ॥"

अर्थ० पूर्णमासीसें लेकर चतुर्दशीपर्यंत कृष्णपक्षविषे एक एक ग्रास घटावता जाना औ अमावास्यामें उपवास करणा पुना एकमसें लेकर पूर्णमासीपर्यंत शुक्लपक्षविषे एक एक ग्रास अधिक करते जाना इस प्रकारसें त्रिकालस्नानपूर्वक एकमासपर्यंत व्रत करणेसें पिपीलिकामध्यमनामा चांद्रायणव्रत होवेहै इति ॥ तथा यवमध्यम, यतिचांद्रायण, शिशुचांद्रायण, यह तीन तिसके अवांतर भेद हैं तिनके लक्षणभी तहांहि कथन कियेहैं यहां विस्तारके भयसें नहि लिखे ॥ सो तिस भक्षणयोग्य ग्रासका परिमाण पराशरस्मृतिमें कथन कियाहै

"कुक्कुटांडप्रमाणं च यावांश्च प्रविशेन्मुखम् ॥
एतं ग्रासं विजानीयात् शुद्ध्यर्थं व्रत शोधनम् ॥"

अर्थ० कुक्कुटपक्षीके अंडेके समान अथवा जितना अपणे मुखमें सुखपूर्वक प्रवेश होयसके तिसकूं व्रतकी शुद्धिके अर्थ ग्रास जानना चाहिये इति ॥ तथा जो अन्यभी एकादशी आदिक अनेकप्रकारकेहि व्रत हैं सोभी इनके अंतर्भूतहि जानलेने ॥ इन व्रतोंकरकेहि सर्व पापोंका क्षालन होवेहै, यह वार्ता मनुस्मृतिविषेभी कथन करीहै ।

"एतैर्व्रतैरपोहेयुर्महापातकिनो मलम् ॥"

अर्थ० इन उक्त व्रतोंकरके महापापीपुरुषोंकेभी पापरूप मलका क्षालन होवेहै इति ॥ तथा ईश्वरपूजनका लक्षण याज्ञवल्क्यसंहितामें कथन कियाहै

"यदासन्नस्वभावेन विष्णुं वा रुद्रमेव वा ॥
यथाशक्त्यर्चयेन् भक्त्या एतदीश्वरपूजनम् ॥
रागाद्यपेतं हृदयं वागदुष्टानृतादिभिः ॥
हिंसादिरहितः काय एतदीश्वरपूजनम् ॥"

अर्थ० विष्णुजीका अथवा महादेवजीका एकाग्रचित्तकरके यथाशक्ति पुष्पादिकोंसें जो अर्चन करणा है तिसका नाम ईश्वरपूजन है तथा जिस पुरुषका मन तो रागकामक्रोधादिक दोषोंसें रहित है औ वाणी असत्यभाषण कपटयुक्तभाषणादिकोंसें दूषित नहिहै तथा शरीर हिंसा परस्त्रीगमनादिकोंकरके दूषित नहिहै सोभी ईश्वरका पूजन है अर्थात् मनवाणीशरीरकी जो शुद्धि है सोई ईश्वरका परम पूजन है यह वार्ता महाभारतके मोक्षपर्वविषेभी कथन करीहै

"यस्य वाङ्मनसी गुप्ते सम्यक्प्रणिहिते सदा ॥
वेदास्तपश्च त्यागश्च स इदं सर्वमाप्नुयात् ॥"

अर्थ० जिस पुरुषके वाचा औ मन यह दोनों सम्यक्प्रका-

रसें काम, लोभ, परका अनिष्टचिंतन, औ असत्यभाषणादि-कोंसें रक्षण किये हुये हैं तिस पुरुषकूंहि वेदाध्ययन, तप, त्याग, ईश्वरपूजनादिक सर्व कर्मोंका यथोक्त फल प्राप्त होवेहै इति ॥ तथा अन्य स्थलमेंभी मोक्षपर्वविषेहि कथन कियाहै "वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं विधित्सावेगमुदरोपस्थवेगम् ॥ एतान् वेगान् यो विषहेदुदीर्णांस्तं मन्येहं ब्राह्मणं वै मुनिं च ॥"

अर्थ० अनृतादिक भाषणरूप जो वाचाका वेग है औ कामादिक जो मनका वेग है तथा जो क्रोधका वेग है औ जो विधित्साका वेग है तथा मिष्टान्नभोजनोंविषे रुचिरूप जो उदरका वेग है औ स्त्रीसंगमकी अभिलाषारूप जो उ-पस्थका वेग है इन सर्व महावेगोंकूं जो पुरुष सहन करेहै तिसहिकूं हम ब्राह्मण औ मुनि मानतेहैं दूसरेकूं नहि इति ॥ सो यह ईश्वरपूजन शुद्धमनकरकेहि करणा चाहिये, केवल पुष्पादिकोंसें नहि, यह वार्ता शंकराचार्यनेभी कथन करीहै

"गभीरे कासारे विशति विजने घोरविपिने
विशाले शैले च भ्रमति कुसुमार्थं जडमतिः ॥
समर्प्यैकं चेतः सरसिजमुमानाथ भवते
सुखेनैव स्थातुं जन इह न जानाति किमहो ॥"

अर्थ० हे महादेव आपकूं समर्पण करणेयोग्य पुष्पोंके

अर्थ अविवेकी पुरुष निर्जन वन औ गहन तडागविषेभी प्रवेश करतेहैं तथा विकट पर्वतपरभी आरोहण करतेहैं परतु अपणे समीपहि स्थित जो प्रेमरूप सुगंधिकरके युक्त मनरूप सुंदर कमल हैं तिसकूं सुखसेंहि आपकेविषे अर्पण करके स्थित नहि होतेहैं यह बडे आश्चर्यकी वार्ता है इति ॥ तथा प्रारब्धकर्मके अनुसार जिस प्रकारका अन्नवस्त्रादिक शास्त्रोक्त भोग आय प्राप्त होवे तिसहीमें जो तृप्ति माननी है तिसका नाम संतोष है ॥ सो यह संतोषहि योगीलोकोंका परम धन है, यह वार्ता पूर्वाचार्योंनेभी कहीहै

"सर्पाः पिबंति पवनं न च दुर्बलास्ते
शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिनो भवंति ॥
कंदैः फलैर्मुनिवरा गमयंति कालं
संतोष एव पुरुषस्य परं निधानम् ॥"

अर्थ॰ अजगर केवल पवनकाहि आहार करतेहैं परंतु दुर्बल नहि होतेहैं औ वनके रहनेहारे हस्ती शुष्क पत्रतृणादिकोंके भक्षण करणेतेंहि बलवान् औ पुष्ट होतेहैं तथा श्रेष्ठ मुनि ऋषि तपस्वी लोक कंदमूलफलोंकरकेहि सर्व आयुषका निर्गमन करदेतेहैं यातें यह जानाजावेहै जो पुरुषकी संतोषहि परम निधि है इति ॥ तथा मनुस्मृतिमेंभी कहाहै

"संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत् ॥
संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥"

अर्थ० सर्व सुखोंका मूल संतोष है औ सर्व दुःखोंका मूल तृष्णा है यातें जो पुरुष सर्व सुखकी इच्छा करेहै तिसकूं प्रमादसेंरहित होयकरके परम संतोषहि करणा चाहिये इति ॥ तथा योगवासिष्ठमेंभी कहाहै

"संतोषैश्वर्यसुखिनां चिरं विश्रांतचेतसाम् ॥
साम्राज्यमपि शांतानां जरत्तृणलवायते ॥"

अर्थ० जो पुरुष संतोषरूप परम ऐश्वर्यकरके सुखी औ विश्रांतचित्त हैं तिनकूं चक्रवर्ती राज्यका सुखभी शुष्कतृणके समान तुच्छ प्रतीत होवेहै इति ॥ यातें साधक पुरुषकूं अनायासमें प्राप्त जो भिक्षादिक भोजन औ निवास करणेकूं गुहा आदिक स्थान हैं तिनहीमें संतोष करणा योग्य है भोजनादिकोंके अर्थ धनीलोकोंके अधीन नहि होना चाहिये, यह वार्ता भागवतके द्वितीयस्कंधमें शुकदेवजीनेभी कथन करीहै

"सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासै-
र्बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम् ॥
सत्यंजलौ किं पुरुधान्नपात्र्या
दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः ॥"

अर्थ० ईश्वरनिर्मित पृथिवीरूप विस्तृत शय्याके होनेतें अन्य पलंग आदिक शय्याके अर्थ काहेको प्रयास करणा चाहिये औ अपणी स्थूल भुजारूप सिरानेके होनेतें अन्य कार्पासादिनिर्मित सिरानोसें क्या प्रयोजन है तथा ईश्वरके दिये हुये अपणे दोनों हस्तरूप पात्रके होनेसें पुना अन्य कलशादिक पात्रोंसें क्या प्रयोजन है औ दशों दिशा तथा वल्कल मृगचर्मादिक वस्त्रोंके होनेसें अन्य रेशम आदिक वस्त्रोंसें क्या कार्य है इति ॥ तथा भर्तृहरिनेभी वैराग्यशतकमें कहाहै

"गंगातरंगकणशीकरशीतलानि
विद्याधराध्युषितचारुशिलातलानि ॥
स्थानानि किं हिमवतः प्रलयं गतानि
यत्सावमानपरपिंडरता मनुष्याः ॥"

अर्थ० गंगाजीके तरंगके कणकोंकरके शीतल औ विद्याधरोंकरके सेवित जो हिमालय पर्वतविषे गुहाआदिक सुंदर स्थान हैं सो इस कालमें क्या नष्ट होगयेहैं, जो विवेकी पुरुषभी सहित अपमानके स्थानादिकोंके अर्थ धनीलोकोंकी अधीनता करतेहैं इति ॥ यद्यपि यह भर्तृहरिका कहना यथार्थ है तथापि इस कालविषे अन्नकेविना शरीरकी स्थिति नहि संभवेहै, यह वार्ता पराशरसंहितामेंभी कथन करीहै

"कृते चास्थिगताः प्राणास्त्रेतायां मांससंस्थिताः ॥
द्वापरे रुधिरं यावत् कलावन्नादिषु स्थिताः ॥"

अर्थ० सतयुगमें प्राणोंकी अस्थियोंविषे स्थिति थी अर्थात् जबपर्यंत शरीरमें अस्थियां रहती थीं तबपर्यंत प्राण शरीरका परित्याग नहिकरतेथे औ त्रेतायुगमें मांसके आश्रय प्राण रहतेथे तथा पुना द्वापरयुगमें जबपर्यंत शरीरविषे रुधिर रहताथा तबपर्यंत प्राणन हि निकसतेथे औ इस समय कलियुगमें तो अन्नकरके हि प्राणोंकी स्थिति होवेहै आदिशब्दसें दुग्धादिकोंका ग्रहण जानना इति ॥ औ जो पूर्वकालविषे पृथिवीसें कंदमूलादिक निकसतेथे सोभी पापके प्रभावसें इस कालविषे सम्यक्प्रकारसें नहि मिलतेहैं यह वार्ता सुभाषितरत्नभांडागारमेंभी कथन करीहै

"धर्मः प्रव्रजितस्तपः प्रचलितं सत्यं च दूरे गतं
पृथ्वी मंदफला नराः कपटिनो वित्तं च पापार्जितम् ॥
राजानोऽर्थपरा न रक्षणपरा नीचा महत्वं गताः
साधुः सीदति दुर्जनः प्रभवति प्राप्ते कलौ दुर्युगे ॥"

अर्थ० जिस कालसें कलियुगका आगमन भयाहै तबसेंहि स्वस्वकुलका धर्म जो वेदाध्ययनादिक था सो लोकोंने परित्याग करदिया अर्थात् लोभके वशीभूत होयकरके ब्राह्म-

णभी शूद्रोंकी सेवामें तत्पर होयरहेहैं ॥ औ कृच्छ्रचांद्रायण आदिक व्रतोंका आचरणरूप जो तप था सोभी नष्ट होगयाहै तथा सत्यभाषण करणा तो अनेक योजनोंपर दूरहि चला गयाहै औ पृथिवीसें जो मधुर रसदायक कंद मूल फल निकसतेथे सोभी मंद पड गयेहैं तथा पुरुषभी बहुलतासें कपटी होगयेहैं औ द्रव्यकाभी पापकरकेंहि संचय होवेहै तथा राजाभी लोभके वश भये प्रजाकूं पीडन करतेहैं रक्षामें तत्पर नहिहैं औ जो नीच पुरुष थे सो महत्ताकूं प्राप्त होगयेहैं तथा जो निष्कपट साधु पुरुष हैं सो क्लेशकूं भोगतेहैं औ जो कपटी दुष्ट पुरुष हैं सो मोदपूर्वक विचरते हैं इति ॥ यातें पृथिवीविषे कंदमूलोंकी न्यूनता होनेतें औ प्राणोंकूं अन्नके आधार होनेतें इस समयविषे तो साधक पुरुषकूं किसी पवित्र ग्रामके समीपहि नदीके किनारे अथवा देवालये वा उपवनविषेहि निवास करणा चाहिये, यह वार्ता मनुस्मृतिके षष्ठाध्यायविषेभी कथन करीहै "ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्" अर्थ० त्यागी पुरुषकूं अन्नके अर्थ ग्रामका आश्रय करणा चाहिये इति ॥ इस प्रकारसें ग्रामका आश्रयकरकेभी सर्वदा एकके गृहविषेहि भोजन नहि करणा चाहिये किंतु भिक्षावृत्तिसेंहि शरीरका निर्वाह चलाना योग्य है, यह वार्ता अत्रिसंहितामेंभी कथन करीहै

"चरेन्माधुकरीं वृत्तिमपि म्लेच्छकुलादपि ॥
एकान्नं न तु भोक्तव्यं बृहस्पतिकुलादपि ॥"

अर्थ० म्लेच्छके गृहसें अर्थात् शूद्रके गृहसेंभी भिक्षाका आचरण करलेना चाहिये परंतु बृहस्पतिकी कुलकाभी पवित्र ब्राह्मण होवे तोभी तिस एकका हि सर्वदा अन्न नहि भक्षण करणा चाहिये इति ॥ तथा मनुस्मृतिके द्वितीयाध्यायमेंभी कहाहै

"भैक्षेण वर्त्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेद्व्रती ॥
भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता ॥"

अर्थ० ब्रह्मचर्यादिक व्रतके आचरण करणेहारा जो पुरुष है तिसकूं सर्वदा एकका अन्न नहि भक्षण करणा चाहिये किंतु भिक्षावृत्तिसेंहि वर्तना योग्य है काहेतें व्रती पुरुषकूं भिक्षावृत्ति उपवासके तुल्य ऋषिलोकोंने कथन करीहै इति ॥ तथा वसिष्ठसंहितामेंभी कहाहै

"उपवासात्परं भैक्षं दयादानाद्विशिष्यते"

अर्थ० दान करणेसें दया करणी अधिक है औ उपवास करणेसें भिक्षाका आहार करणा श्रेष्ठ है इति ॥ तथा भर्तृहरिनेभी वैराग्यशतकमें कहाहै

"भिक्षाहारमदैन्यमप्रतिहतं भीतिच्छिदं सर्वदा
दुर्मात्सर्यमदाभिमानमथनं दुःखौघविध्वंसनम् ॥
सर्वत्रान्वयमप्रयत्नसुलभं साधुप्रियं पावनं
शंभोः सत्रमवार्यमक्षयनिधिं शंसंति योगीश्वराः ॥"

अर्थ० भिक्षाका जो आहार है सो दीनताकरके रहित औ अप्रतिहत है अर्थात् कोईभी तिसमें विघ्न नहि करसकैहै तथा भयके छेदन करणेहारा है काहेतें जो एकके गृहविषेहि सर्वदा भोजन करतेहैं तिनकूंहि तिस गृहस्थके प्रतिकूलाचरण करणेसें भय होवेहै औ मात्सर्य, मद, अभिमानादिकोंकेभी मथन करणेहारा है काहेतें जब हस्तविषे झोलीहि पकडलीया तो अभिमानादिक कैसे संभवेहैं ॥ तथा दुःखोंके समूहकूंभी नाश करेहै काहेतें क्षुधासें अधिक अन्नके भक्षण करणेसेंहि अजीर्णादिक सर्व रोगोंकी उत्पत्ति होवेहै सो अधिक भक्षण रसदायक अन्नके विना संभवता नहि औ भिक्षामें विशेषकरके रसदायक अन्नकी प्राप्ति नहि होवेहै यातें रोगोंकी उत्पत्ति नहि होवेहै ॥ तथा प्रयत्नसें विनाहि सुलभ औ विरक्त साधुजनोंकूं अत्यंत प्रिय तथा सोमपानके समान पवित्र है तथा अवार्य कहिये कोईभी तिसका वारण नहि करसकैहै ऐसा जो अक्षयनिधिरूप महादेवजीके यज्ञसमान भिक्षाका

अन्न है तिसकी योगीश्वरलोकभी स्तुति करतेहैं इति ॥ औ जो पूर्व नवमश्लोककी टीकाविषे योगाभ्यासीकूं स्निग्ध अन्न भक्षण करणा कथन कियाहै सो तो हठयोगके अभ्यासकालमें जानना, अभ्यासके परिपक्व हुये पीछे सो नियम नहि है औ जो अत्यंत वृद्ध अथवा रोगग्रस्त अथवा अभ्यासके परिश्रमसें अतिकृश शरीर होवे तो एकके अन्न भक्षण करणेसेंभी दोष नहि होवेहै परंतु आपत्कालसें विना राजाका अन्न तो त्यागी पुरुषकूं कदाचित्भी भक्षण नहि करणा चाहिये, काहेतें तिसका अन्न अत्यंत अपवित्र होवेहै, यह वार्ता मनुस्मृतिके चतुर्थाध्यायविषेभी कथन करीहै

"दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः ॥
दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः ॥"

अर्थ० दश कसाईके समान एक तेली होवेहै औ दश तेलियोंके समान एक कलाल होवेहै तथा दश कलालोंके समान एक वेश्या होवेहै औ दश वेश्याके समान एक राजा होवेहै यातें तिसका अन्न अतीव अपवित्र होवेहै इति ॥ तथा मतिका लक्षण याज्ञवल्क्यसंहितामें कथन कियाहै

"विहितेषु च सर्वेषु श्रद्धा या सा मतिर्भवेत् ॥"

अर्थ० वेदविहित जो यज्ञ तप दान योगादिक कर्म हैं

तिनविषे जो असंभावनासें रहित श्रद्धा है तिसका नाम मति है इति ॥ किंच श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान किया हुयाहि योगाभ्यास फलदायक होवेहै, यह वार्ता योगसूत्रोंमें पतंजलीनेभी कथन करीहै

"श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥"

अर्थ० केचित् देवता आदिकोंकूं तो जन्मसेंहि योगकी सिद्धि होवेहै औ मनुष्योंकूं तो श्रद्धा वीर्य स्मृति प्रज्ञा इनके अनुष्ठानपूर्वकहि योगकी सिद्धि होवेहै अर्थात् प्रथम श्रद्धा होवे तो अभ्यास करणेमें उत्साहरूप वीर्य होवेहै वीर्यके अनंतर एकसें दूसरी भूमिकाविषयक स्मृति होवेहै तिसके अनंतर चित्तका समाधानरूप समाधि होवेहै समाधिके अनंतर विवेकख्यातिरूप प्रज्ञा होवेहै तिसतें पश्चात् संप्रज्ञातसमाधि होवेहै तिसतें अनंतर असंप्रज्ञातसमाधिकी सिद्धि होवेहै इस प्रकार परंपरासें योगकी सिद्धिविषे श्रद्धाहि मूलकारण है इति ॥ तथा शिवसंहितामेंभी कहाहै

"फलिष्यतीति विश्वासः सिद्धेः प्रथमलक्षणम् ॥"

अर्थ० यह योगाभ्यास अवश्यमेव फलदायक होवेगा इस प्रकारका जो दृढ विश्वास है सोई योगकी सिद्धिका प्रथम लक्षण है इति ॥ तथा महाभारतके मोक्षपर्वविषेभी कहाहै

"वाग्वृद्धं त्रायते श्रद्धा मनोवृद्धं च भारत ॥
श्रद्धावृद्धं वाङ्मनसी न कर्म त्रातुमर्हति ॥"

अर्थ० हे राजन्, जो जपादिक कर्म वाचाकरके भ्रष्ट होवे औ मनकरकेभी भ्रष्ट होवे तो तिसका श्रद्धा रक्षण करेहै औ जो कर्म श्रद्धाकरके भ्रष्ट होवेहै तो तिसका वाचा औ मन कदाचित् रक्षण करणेमें समर्थ नहि होवेहैं इति ॥ तथा गीताके सप्तदशे अध्यायमेंभी कहाहै

" अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ॥
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥"

अर्थ० हे अर्जुन श्रद्धासेंविना यह पुरुष जो होम दान तप आदिक कर्म करेहै सो तिस कर्मका इस लोक औ परलोकविषे किंचित्भी फल नहि होवेहै किंतु असत् कहिये व्यर्थहि होवेहै इति ॥ तथा लज्जाका लक्षणभी याज्ञवल्क्यसंहितामेंहि कथन कियाहै

" वेदलौकिकमार्गेषु कुत्सितं कर्म यद्भवेत् ॥
तस्मिन् भवति या ह्रीस्तु लज्जा सैवेति कीर्तिता ॥"

अर्थ० वेदविषे औ लोकविषे जो परस्त्रीगमन मदिरापानादिक निंदित कर्म हैं तिनके करणेमें लोकापवादसें जो भय करणा है तिसका नाम लज्जा है इति ॥ यह दश प्रकारसें

नियमोंके लक्षण हैं इति ॥ इस प्रकारसें यमनियमोंके सेवन करणेविषे प्रतिबंधकरूप जो हृदयमें कुतर्क स्फुरें तो तिनका साधककूं विवेकसें निवारण करणा योग्य है, यह वार्ता योगसूत्रोंमें पतंजलिनेभी निरूपण करीहै

"एतेषां यमनियमानां वितर्कबाधने प्रतिपक्षभानवम् ॥"

अर्थ० इन पूर्वोक्त यमनियमोंके सेवन करणेसें इस अपकारी पुरुषकूं मारणा चाहिये, परस्त्रीभी गमन करणी चाहिये, मांसादिकभी भक्षण करणा चाहिये, पराये द्रव्यकाभी हरण करलेना चाहिये, इत्यादिक जो कुतर्क हृदयमें स्फुरण होवें तो तिनका विचारकरके निवारण करणा योग्य है सो विचारका प्रकार उक्तसूत्रके भाष्यमें व्यासजीने दिखाया है "घोरेषु संसारांगारेषु पच्यमानेन मया शरणमुपागतः सर्वभूताभयप्रदानेन योगधर्मः स खल्वहं त्यक्त्वा वितर्कान् पुनस्तानाददानस्तुल्यः श्ववृत्तेनेति भावयेत् तथा श्वा वांतावलेही तथा त्यक्तस्य पुनराददान इति ॥" अर्थ० कीट पतंग सर्प आदिक घोर योनियोंविषे नानाप्रकारके क्लेशरूप अंगारोंविषे चिरकालसें जलतेहुयेने मैंने किसी पूर्वले सुकृतकरके इस जन्मविषे सर्वभूतोंके अभयदानपूर्वक यह योगाभ्यासका आश्रय लियाहै सो मैं सर्व विषयोंका

परित्याग करके पुना जो तिनका सेवन करोंगा तो श्वानके तुल्यहि होवूंगा काहेतें श्वानहि परित्याग करी हुयी अपणी वांतकूं[1] पुना भक्षण करेहै इस प्रकारसें चिंतन करणा चाहिये इति ॥ १० ॥ इस प्रकारसें यमनंनियमोंके लक्षण वर्णन करके अब तिनके फलोंकूं निरूपण करेहैं ॥

"वंशस्थं वृत्तम्"

स्खलत्यसौ नैव यदा कथंचना-
चलाशयोऽहिंसनमुख्यशीलतः ॥
तदा तु तज्जानि फलान्युपाश्नुते-
ऽविरोधमुख्यान्यचिरादुदारधीः ॥११॥

स्खलतीति ॥ जिस कालविषे उदारबुद्धिवाला यह साधक पुरुष दृढ निश्चयकरके युक्त भया पूर्वोक्त अहिंसा आदिकरूप यमनियमोंसें किसी प्रकारसें कदाचित्भी चलायमान नहि होवेहै, तात्पर्य यह धर्मशास्त्रमें गुरुके कार्य अर्थ औ अपणे प्राणोंकी रक्षाके अर्थ इत्यादिक पांच स्थलोंमें जो असत्यभाषण करणेकी अनुज्ञा करीहै औ देवता पितृब्राह्मणादिकोंके निमित्त यज्ञादिक स्थलोंमें जो पशु आदिकोंकी हिंसाका विधान

---

१ वमन।

कियाहै तथा यज्ञसंपूर्तिके अर्थ जो कदर्य वैश्यादिकोंके द्रव्यका बलात्कारसे हरण करणा कथन कियाहै औ तीन रात्रीके उपवास होनेतें जो एक दिवसके भक्षण करणे योग्य अन्नकी चोरीकी अनुज्ञा करीहै इत्यादिक स्थलोंविषेभी जो अपणे अहिंसा आदिक व्रतोंका परित्याग नहि करेहै तो पश्चात् जो पुरुष अहिंसा आदिकजन्य जो अविरोधता आदिक फल हैं तिनका अनुभव करेहै, यह वार्ता योगसूत्रोंमें पतंजलिनेभी कथन करीहै

"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥"

अर्थ० जिस कालविषे चिरकाल अनुष्ठान करणेसें अहिंसा व्रतकी स्थिरता होवेहै तो तिस पुरुषके समीप सर्व प्राणियोंका जो स्वाभाविक वैर है सो नहि रहता अर्थात् जिस स्थलविषे सो पुरुष निवास करताहै तो तहां प्राप्त भये नकुल, सर्प, मूषक, मंजार, मृग, सिंह, गरुड, सर्प, इत्यादिक जो स्वाभाविक परस्पर विरोधि जंतु हैं सो सर्वेहि विरोधका परित्याग करके एकत्रहि रमतेहैं इति ॥ तथा योगवासिष्ठके उपशमप्रकरणमेंभी कथन कियाहै

"समसंविद्विलासाढ्ये यद्यदायति देहके ॥
हिंस्रचेतः पतत्याशु समतामेति तत्तदा ॥
योगिदेहसमीपात्तु गत्वा प्राप्नोति हिंस्रताम् ॥"

अर्थ० सर्वविषे आत्मरूपसें समान दृष्टिवाले अहिंसक योगीके शरीरविषे जिस कालविषे सिंहादिक हिंस्र जंतुवोंका चित्त भक्षण करणे अर्थ प्रवृत्त होवेहै तो तिसके समीप जानेसें समभावकूं प्राप्त होय जावेहैं औ जब योगीकी देहसें दूर जावेहै तो पुना अपणे पूर्वले हिंस्र स्वभावकूं प्राप्त होवेहैं इति ॥ यातें पूर्वकालविषे ऋषिलोक जो गव्हर वनोंविषे निर्भय निवास करतेथे तिसमें अहिंसाकी स्थिरताहि कारण थी ॥ तथा सत्यका फलभी योगसूत्रोंमेंहि कथन कियाहै

"सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥"

अर्थ० जिस कालविषे चिरकालपर्यंत पालन करणेसें सत्यभाषण व्रतकी स्थिरता होवेहै तो तिस पुरुषका वाक्य क्रियाजन्य फलका आश्रयभूत होवेहै अर्थात् जो जो यज्ञ तप दानादिक शुभक्रियाकरके औ कपट लोभ असत्यभाषण हिंसा मदिरापान परस्त्रीगमनादिक अशुभ क्रियाकरके पुरुषकूं स्वर्गनरकादिक फलोंकी प्राप्ति होवेहै सो सो तिस योगीपुरुषके वर शापरूप वचनकरकेहि होवेहै इति ॥ तथा अस्तेयका फलभी तहांहि कथन कियाहै

"अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥"

अर्थ० जिस कालविषे चिराभ्याससें अस्तेयव्रतकी स्थिरता होवेहै तो दशोंदिशाविषे जो दिव्य मुक्ताफलादिक रत्न हैं

सो सर्वहि तिस पुरुषके समीप आयकर स्थित होवेहैं अ-र्थात् श्रद्धालुलोक तिसकेप्रति भेटाकरेहैं इति ॥ तथा ब्रह्मच-र्यका फलभी तहांहि कथन कियाहै

"ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः"

अर्थ० ब्रह्मचर्यके स्थिर होनेतें वीर्यका लाभ होवेहै अ-र्थात् सो पुरुष जो जो जप तप आदिक क्रिया करेहै सो सो वीर्यवती होवेहै, तथा तिसके मन औ इन्द्रियोंकी शक्ति प्रक-र्षताकूं प्राप्त होवेहै तथा आप सिद्ध भया साधकोंके हृदयमें ज्ञानधारण करणेमें समर्थ होवेहै इति ॥ तथा अपरिग्रहका फलभी तहांहि निरूपण कियाहै "अपरिग्रहस्थैर्ये जन्म कथं तासां बोधः"

अर्थ० पंचम श्लोकविषे निरूपण किया जो सर्व गृह स्त्री पुत्रादिकोंका परित्याग तिसके चिरकालविषे स्थिर भयेतें जन्मकथाओंका संबोध होवेहै अर्थात् पूर्वजन्मविषे मैं कौन था औ क्या क्या कर्म मैंने कियेहैं तथा इस शरीरके अनंतर मैं कौन होवूंगा औ क्या कर्म करोंगा इस प्रकारसें जिस काल-विषे एकाग्रचित्त होयकरके योगी भावना करेहै तो उक्तवृत्तां-तोंकूं यथार्थ जान लेवेहै ॥ इस स्थलविषे केवल स्त्रीधनादिकों-काहि परित्याग नहि जानना किंतु शरीरकी अहंममताकाभी

परित्याग करणा चाहिये, काहेतें शरीरविषे अध्यास होनेतें तिसके अनुकूल व्यवहारोंविषे प्रवृत्त भये बहिर्मुख योगीकूं उक्त ज्ञानका प्रादुर्भाव नहि होवेहै इति ॥ तथा शौचका फलभी तहांहि कथन कियाहै "शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः" अर्थ० शौचके स्थिर भयेतें योगीकूं अपणे शरीरविषे ग्लानि उत्पन्न होवेहै, काहेतें वारंवार मृज्जलादिकोंकरके शरीरकी शुद्धि करणेसेंभी पुना अपवित्रका अपवित्रहि रहताहै औ अन्य पुरुषोंके शरीरोंसेभी असंसर्ग होवेहै, काहेतें जब सम्यक्प्रकारसें मृत्जलादिकोंकरके क्षालन कियेहुयेभी अपणे शरीरविषे ग्लानि होवेहै तो अत्यंत अपवित्र जो अन्य संसारी लोकोंके शरीर हैं तिनके साथ किस प्रकारसें तिसका संसर्ग होवेगा इति ॥ किंच "सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च"

अर्थ० शौचकी स्थिरताके होनेतें 'सत्वशुद्धि' कहिये रजोगुण औ तमोगुणकरके चित्तका अनभिभव होना औ 'सौमनस्यं' कहिये सत्वगुणकी अधिकताकरके चित्तकी प्रसन्नता होनी तथा 'ऐकाग्र्यं' कहिये ध्येयवस्तुविषे चित्तकी वृत्तिका सदृश प्रवाह होना औ 'इन्द्रियजयः' कहिये विषयोंकी अभिमुखताका परित्यागकरके चक्षु आदिक इन्द्रियोंकी चित्तके अनुकूल स्थिति होनी 'आत्मदर्शनयोग्यत्वं' क-

हिये चित्तका विवेकख्यातिके अभिमुख होना अर्थात् शौचसें सत्वशुद्धि होवेहै सत्वशुद्धिसें चित्तकी प्रसन्नता होवेहै तिसतें अनंतर एकाग्रता होवेहै पश्चात् इन्द्रियोंका जय होवेहै तिसतें अनंतर आत्मदर्शनकी योग्यता होवेहै इसप्रकारसें इन सर्वकी प्राप्तिविषे शौचहि हेतुभूत है इति ॥ तथा संतोषका फलभी तहांहि कथन कियाहै ॥

"संतोषादनुत्तमसुखलाभः" अर्थ० संतोषकी स्थिरताके होनेसें साधककूं अनुत्तम सुखका लाभ होवेहै इति ॥ तथा इस सूत्रके भाष्यमें व्यासजीनेभी कहाहै

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ॥
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥"

अर्थ० जो इस लोकके स्त्रीधनादिक सर्व विषयोंकी प्राप्तिकरके सुख होवेहै औ जो स्वर्गलोकके अप्सरादिक दिव्य विषयोंकी प्राप्तिकरके सुख होवेहै सो सर्वहि संतोषजन्य सुखके सोलमां भागके समानभी नहि होवेहै इति ॥ तथा तपका फलभी तहांहि कथन कियाहै ॥

"कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥"

अर्थ० दीर्घकालपर्यंत अनुष्ठान करणेसें तपकी स्थिरताके भयेतें शरीर औ चक्षुआदिक इन्द्रियोंकी शुद्धिके होनेतें

अणिमा, लघिमा, महिमा, आदिक जो शरीरकी सिद्धियां हैं औ दूरश्रवण, दिव्यदृष्टि आदिक जो इन्द्रियोंकी सिद्धियां हैं तिनकी प्राप्ति होवेहै इति ॥ तथा जपका फलभी तहांहि कथन कियाहै "स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः" अर्थ० गायत्री आदिक पवित्र मंत्रोंके दीर्घकालपर्यंत पूर्वोक्त विधिसें जप करणेसें इष्ट देवताका संप्रयोग होवेहै अर्थात् देवता औ सिद्धोंका समागम होवेहै इति ॥ तथा उक्त सूत्रके भाष्यविषे व्यासजीनेभी कहाहै "देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छंति कार्ये चास्य वर्त्तंत इति ॥" अर्थ० जप करणेहारे पुरुषका दर्शन करणेके अर्थ देवता ऋषि औ सिद्धभी आगमन करतेहैं औ तिसके साथ वार्तालाप वरदानादिक कार्यभी करतेहैं इति ॥ तथा ईश्वरपूजनका फलभी तहांहि निरूपण कियाहै "समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्" चिरकालपर्यंत चित्तरूप पुष्पके समर्पणपूर्वक ईश्वरके पूजन करणेसें प्रयासके विनाहि समाधिकी सिद्धि होवेहै जिसकरके साधककूं सर्व वांछित पदार्थोंकी प्राप्ति होवेहै इति ॥ यह यमनियमोंके फल हैं ॥ औ जो इस स्थलमें अनुक्त अवशेष रहे क्षमा धृति आर्जवादिक यमनियम हैं तिन सर्वका परंपरासें समाधिकी सिद्धिहि फल जानलेना इति ॥ ११ ॥

इस प्रकारसें यमनियमोंके फल निरूपण करके अब योगका तृतीय अंग जो आसन है तिसका वर्णन करेहैं ॥

"इन्द्रवंशा वृत्तम्"

पीठान्यनल्पानि वदन्ति योगिन-
स्तेषां चतुष्कं तु तथोत्तमोत्तमम् ॥
तत्रापि यत्स्थैर्यसुखावहं भवे-
त्तच्चैव योगेप्सुरिहाभ्यसेत्सदा ॥ १२ ॥

पीठानीति ॥ शरीरकी स्थिरता औ सुखके हेतु जो आसन हैं तिनके योगीलोकोंने अनेकहि भेद कथन कियेहैं सो तिन सर्वके भेदोंकूं महायोगी जो महादेवजी हैं सोई जानतेहैं, यह वार्ता गोरक्षशतकमेंभी कथन करीहै

"आसनानि च तावंति यावंत्यो जीवजातयः ॥
एतेषामखिलान् भेदान्विजानाति महेश्वरः ॥
चतुरशीतिलक्षाणि एकैकं समुदाहृतम् ।
ततः शिवेन पीठानां षोडशोनं शतं कृतम् ॥"

अर्थ० जितनी चौरासी लक्ष जीवजाति हैं तितने प्रकारकेहि आसन हैं सो तिन सर्वके भेदोंकूं महादेवजीहि जानतेहैं

सो चौरासी लक्ष आसनोंमेंसे महादेवजीने चौरासी आसन मुख्य कियेहैं इति ॥ पुना तिन चौरासी आसनोंमेंभी स्वात्माराम योगीने च्यारि आसन मुख्य कथन कियेहैं सो तिन च्यारोंके नाम औ लक्षण हठयोगप्रदीपिकाविषे निरूपण किहेहैं

"चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च ।
तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम् ॥
सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ॥"

अर्थ० चौरासी लक्ष आसनोंमेंसें जो मुख्य चौरासी आसन महादेवजीने कथन कियेहैं तिनमेंसेंभी श्रेष्ठ जो सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन, भद्रासन यह च्यारि आसन हैं तिनके पृथक् पृथक् लक्षण हम कथन करतेहैं इति ॥ तिनमें

"योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
न्मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ॥
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्येद्भ्रुवोरंतरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥"

अर्थ० वामपादकी एडीकूं गुदा औ लिंगके मध्यदेशविषे स्थापन करणा औ दक्षिणपादकी एडीकूं लिंगके ऊपरदेशमें स्थापन करणा तथा मुखकी ठोडीकूं हृदयके समीप-

देशविषे लगाना औ सर्व इन्द्रियोंकूं वशीभूतकरके स्थाणु-की न्यांई अचल होयकर बैठना तथा दृष्टिकूं भ्रूवोंके मध्य-देशविषे लगाना इसकूं मोक्षद्वारके कपाट भेदनकरणेहारा सिद्धासन योगीलोक कथन करतेहैं इति ॥ तथा

"वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढाम् ।
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते ॥"

अर्थ० दहने पादकूं वाम ऊरूपर औ वामपादकूं दहने ऊरूपर स्थापन करे औ शरीरके पश्चिम भागसें दोनों हाथोंकूं फेरकरके दोनों पादके अंगुष्ठोंकूं दृढ ग्रहण करे तथा हृदयदेशके समीप मुखकी ठोडीकूं जमावे औ नासाके अग्रभागविषे दृष्टि रखे यह योगीलोकोंकी सर्व व्याधियोंके नाश करणेहारा पद्मासन कहियेहै इति ॥ तथा

"गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥
दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके ।
हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वांगुलीः संप्रसार्य च ॥
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ।
सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिपुंगवैः ॥"

अर्थ० वृषणके नीचे सीवनीके दक्षिण देशमें वामपादके गुल्फकूं स्थापन करे औ वामभागविषे दक्षिणपादके गुल्फकूं लगावे तथा जानुवोंके ऊपर अपणी अंगुली फैलायकरके दोनों हाथ स्थापन करे तथा मुखकूं खोलकर औ जिह्वाकूं बाहिर निकासकरके नासाके अग्रभागविषे दृष्टि लगायकर एकाग्रचित्तसें स्थित होवे यह योगीलोकोंकरके पूजित सिंहासन कहियेहै इति ॥ तथा

"गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।
सव्यगुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे ॥
पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बध्वा सुनिश्चलम् ।
भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविनाशनम् ॥"

अर्थ० वृषणके नीचे सीवनीके वामभागमें वामपादका गुल्फ स्थापन करे औ दक्षिणभागविषे दक्षिणपादका गुल्फ स्थापन करे तथा पार्श्वके समीप आये जो पाद तिन दोनोंकूं हाथोंसें दृढ जोडकरके स्थित होवे यह सर्व रोगोंके नाश करणेहारा भद्रासन कहियेहै इति ॥ इन उक्त च्यारी आसनोंमेंभी जो अपणे शरीरकी स्थिरता औ सुखका हेतु होवे तिसकाहि साधककूं सर्वदा अभ्यास करणा योग्य है परंतु

---

१ अंडकोश. २ यहां गुल्फकरके एडीका ग्रहण जानना.

विशेषकरके योगाभ्यासविषे सिद्धासन औ पद्मासन यह दोहि उपयोगी हैं औ स्वात्मारराम योगीने तो तिनमेंभी एक सिद्धासनहि उत्तम कथन कियाहै ॥

"मुख्यं सर्वासनेष्वेकं सिद्धाः सिद्धासनं विदुः ।
चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत् ॥"

अर्थ० योगीलोक सर्व आसनोंमें एक सिद्धासनकूंहि मुख्य जानते हैं यातें साधक पुरुषकूं चौरासी प्रकारके आसनोंमेंभी मुख्य जो सिद्धासन है तिसहिका विशेषकरके अभ्यास करणा योग्य है, तात्पर्य यह है कि हठयोगके अभ्यासमें सिद्धासनकी प्रधानता है औ राजयोगके अभ्यासमें पद्मासनकी प्रधानता है सो स्वात्मारामने हठयोगके अभिप्रायसे सिद्धासनकी प्रधानता कथन करीहै इति ॥ १२ ॥
इस प्रकार संक्षेपसें आसनोंके लक्षण निरूपण करके अब तिसके फलकूं वर्णन करेहैं ॥

(द्रुतविलंवितं वृत्तम्)

अनलसत्वमुपस्थबलक्षयो-
ऽनिलनिरोधपटुत्वमनूर्मिता ॥

पवनमंथरताप्युपजायते
स्थिरमतेरिह पीठजयाद्ध्रुवम् ॥ १३ ॥

अनलसत्वमिति ॥ चिरकालके अभ्यास करणेसें जिस कालविषे आसनका जय होवेहै तो 'अनलसत्वं' कहिये योगाभ्यासविषे महाप्रतिबंधक जो आलस्य है तिसकी निवृत्ति होवेहै ॥ औ 'उपस्थबलक्षयः' कहिये उपस्थ इन्द्रियका जो बल है तिसकीभी क्षीणता होवेहै काहेतें लिंग औ गुदाके मध्यदेशविषे जो सीवनीकी नाडी है तिसद्वाराहि वीर्यका निर्गमन औ उपस्थके बलकी वृद्धि होवेहै सो जिस कालविषे सिद्धादिक आसनकरके सीवनीका दबाव होवेहै तो उपस्थ इन्द्रियका बल क्षीण होय जावेहै ॥ तथा 'अनिलनिरोधपटुत्वं' कहिये अनिल जो प्राणवायु है तिसके निरोध करणेमेंभी सामर्थ्य होवेहै काहेतें चलने औ शयनकालविषे प्राणोंकी गतिका निरोध नहि संभवेहै ॥ तथा 'अनूर्मिता' कहिये क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, राग, द्वेष, यह जो षट् ऊर्मियां हैं तिनकीभी पीडा नहि होवेहै काहेतें चलने फिरनेसेंह विशेषिकरके क्षुधा पिपासा आदिकोंकी वृद्धि होवेहै इति ॥ यह वार्ता योगसूत्रोंमें पतंजलिनेभी कथन करीहै "ततो द्वंद्वानभिघातः" अर्थ० आसनके जय

होनेतें पश्चात् साधक पुरुषकूं शीतोष्णादिक द्वंद्वोंकी बाधा नहि होवेहै इति ॥ तथा (पवनमंथरता) कहिये प्राणवायुकी गतिभी मंद मंद होवेहै काहेतें जैसें चलनेकाल अथवा पर्वतादिकोंपर आरोहणकालविषे प्राणोंकी शीघ्र गति होवेहै तैसे बैठनेकालविषे नहि होवेहै इति॥औ जो मयूरासन, पश्चिमतानासन, मत्स्येन्द्रासन, शवासन इत्यादिक आसनोंके अजीर्णादिक रोगशांतिआदिक अवांतर फल हैं सो हठयोगप्रदीपिकाविषे विस्तारपूर्वक कथन कियेहैं तहां देखलेने, यहां विस्तारके भयसें नहि लिखेहैं ॥ किंच योगकी सिद्धिभी आसनके जय करणेतेंहि होवेहै काहेतें जो पुरुष दो अथवा तीन मुहूर्त एक आसनसें बैठहि नहि सकैहै सो योगाभ्यास करणेमें कैसे समर्थ होवेगा ॥ यह वार्ता शारीरकसूत्रोंमें व्यासजीनेभी कथन करीहै "आसीनः संभवात्" अर्थ० आसन लगायकर बैठनेसेंहि योगाभ्यास करणा योग्यहै काहेतें आसन लगायकर बैठनेसेंहि योगकी सिद्धि संभवेहै इति ॥ सो तिस आसनकी सर्व प्रयत्नोंके शिथिलकरणेसें औ शेषनागजीके स्मरण करणेसेंहि शीघ्र सिद्धि होवेहै यह वार्ता योगसूत्रोंमें पतंजलिनेभी निरूपण करीहै "प्रयत्नशैथिल्यानंतसमापत्तिभ्याम्" अर्थ० तीर्थयात्रादिक वैदिक लौकिक सर्व प्रयत्नोंके शिथिल करणेसें औ शेषभगवान्के ध्यानकरकेहि आसनकी सिद्धि होवेहै

इति ॥ तथा हठयोगप्रदीपिकाकी टीकाविषेभी लिखाहै "अनंतं प्रणमेद्देवं नागेशं पीठसिद्धये" अर्थ० आसनकी सिद्धिके अर्थ साधक पुरुषकूं प्रथम सर्व नागोंका ईश्वर जो शेषभगवान् है तिसकूं नमस्कार करणा योग्य है इति तथा नमस्कार करणेका मंत्रभी तहांहि कथन कियाहै "मणिभ्राजत् फणासहस्रविधृतविश्वंभरामंडलायानंताय नागराजाय नमः" अर्थ० हे दिव्यमणियोंकरके प्रकाश्यमान सहस्रफणोंपर सर्व पृथिवीमंडलके धारण करणेहारे सर्व नागोंके राजा अनंतजी आपके प्रति मेरी वारंवार नमस्कार होवो ॥ १३ ॥ इस प्रकारसें आसनजयका फल निरूपण करके अब योगका चतुर्थ अंग जो प्राणायाम है तिसका लक्षण कथन करेहैं ॥

(वंशस्थं वृत्तम्)

ततोऽनिलायामचतुष्कमभ्यसे-
दहर्निशं रेचकमुख्यसंज्ञकम् ॥
क्रियाभिराशुद्धतनुर्मितक्रियः
शनैश्शनैर्देशिकवाक्यचोदितः ॥ १४ ॥

तत इति ॥ 'ततः' कहिये आसनजयके अनंतर स्वगुरु गणेश महादेवादिकोंकूं नमस्कार करके प्राणायामका अ-

भ्यास करणा चाहिये काहेतें गणेशादिकोंकूं नमस्कार कियेतें विना प्राणायामकी निर्विघ्नसिद्धि नहि होवेहै, यह वार्ता कूर्मपुराणमें महादेवजीनेभी कथन करीहै ॥

"नमस्कृत्वाथ योगीन्द्रान् सशिष्यांश्च विनायकम् ।
गुरुं चैवाथ मां योगी युंजीत सुसमाहितः ॥
न सिध्यति महायोगी मदीयाराधनं विना ॥"

अर्थ० हे पार्वति, सहितशिष्योंके जो गोरक्षादिक योगीश्वर हैं औ सर्व विघ्नोंके नाश करता जो विनायकहैं औ योगविद्याका अध्यापक जो आपणा गुरु है तथा सर्व योगकी सिद्धिके दाता जो हम हैं तिन सर्वकूं आदिविषे नमस्कार करकेहि साधक पुरुषकूं प्राणायामका अभ्यास करणा चाहिये औ जो हमारे आराधन कियेतें विनाहि अभ्यास करेहै सो यद्यपि महायोगीराजभी होवे तो सिद्धिकूं नहि प्राप्त होवेहै इति सो प्राणायाम रेचक, पूरक, सहितकुंभक, केवलकुंभक, इस भेदसें च्यारि प्रकारका है तिनमें प्रथम तीनों के लक्षण अथर्ववेदकी अमृतबिंदुउपनिषत्‌में निरूपण कियेहैं

"उत्क्षिप्य वायुमाकाशं शून्यं कृत्वा निरात्मकम् ।
शून्यभावेन युंजीयाद्रेचकस्येति लक्षणम् ॥"

अर्थ० उदरगत सर्व प्राणवायुका नासापुटद्वारा बहिर

विरेचनकरके आकाशविषे निश्चल धारण करे औ शरीरकूं वायुसें रहितकरके शून्यभावसें स्थित होवे यह रेचक प्राणायामका लक्षण है इति ॥ तथा "वक्रेणोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः । एवं वायुर्गृहीतव्यः पूरकस्येति लक्षणम् ॥"

अर्थ० जैसे मुखरूप कमलकी नालकरके पुरुष पानीका आकर्षण करेहै तैसेहि बाह्यस्थित प्राणवायुकूं मुखसें अथवा नासाद्वारा अभ्यंतर आकर्षणकरके प्राणोंकी नीचै ऊपर गतिका जो निरोध करणा है तिसका नाम पूरक प्राणायाम है इति ॥ तथा "नोच्छ्वसेन्न च निःश्वसेन्नैव गात्राणि चालयेत् । एवं तावन्नियुंजीत कुंभकस्येति लक्षणम् ॥" अर्थ० प्रथम रेचक अथवा पूरकसें प्राणोंका निरोधकरके पश्चात् रेचक पूरकसेंरहित होयकर शरीरके सर्व अवयवोंकूं अचल धारण करे इस प्रकारसें जो प्राणवायुका संयमन करणा है तिसका नाम सहितकुंभकप्राणायाम है ॥ औ चतुर्थ जो केवल कुंभक है तिसका लक्षण याज्ञवल्क्यसंहितामें कथन कियाहै

"रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ।
प्राणायामोयमित्युक्तः स वै केवलकुंभकः ॥"

अर्थ० न रेचक करणा औ न पूरक करणा किंतु नासापुटोंमें स्थित प्राणवायुका एकवारहि जो सुखपूर्वक तहांहि

निरोध करणा है तिसका नाम केवल कुंभकप्राणायाम है इति ॥ सो जबपर्यंत यह केवल कुंभक नहि सिद्ध होवे तबपर्यंत सहितकुंभककाहि अभ्यास करणा चाहिये, यह वार्ताभी तहांहि कथन करीहै "यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहित अभ्यसेत् ॥" अर्थ० जबपर्यंत केवल कुंभककी सिद्धि नहि होवे तबपर्यंतहि सहितकुंभकका अभ्यास करणा योग्य है केवल कुंभककी सिद्धिके अनंतर नहि इति ॥ सो इस केवल कुंभकसेंहि समाधिकी शीघ्र सिद्धि होवेहै, यह वार्ताभी तहांहि कथन करीहै ॥

"केवले कुंभके सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ।
न तस्य दुर्लभं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥"

अर्थ० रेचकपूरककरके वर्जित जो केवल कुंभक है तिसकी सिद्धिके भयेतें योगी पुरुषकूं त्रैलोक्यविषे किंचित् वस्तुभी दुर्लभ नहि होवेहै अर्थात् समाधि आदिक सर्वहि सुलभ होवेहै इति ॥ पुना यह कुंभक अवांतर भेदसें अष्टप्रकारका है सो तिन सबके नाम औ लक्षण हठयोगप्रदीपिकाविषे निरूपण कियेहैं ॥

"सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा ॥
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लावनीत्यष्ट कुंभकाः ॥"

अर्थ० सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा, प्लावनी, इस, भेदसें कुंभक अष्टप्रकारके हैं इति ॥ तिनमें

"दक्षनाड्या समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः ।
आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुंभयेत् ॥
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्पवनं सुधीः ।
पुनःपुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम् ॥"

अर्थ० बाह्यस्थवायुकूं प्रथम दक्षिण नासापुटसें शनैः शनैः अभ्यंतर आकर्षणकरके शिखासें लेकर नखपर्यंत सर्व शरीरविषे यथाशक्ति कुंभक करे पश्चात् वामनासापुटसें शनैः शनैः रेचन करे इसका नाम सूर्यभेदनकुंभक है सो यहि वारंवार करणे योग्य है इति ॥ तथा

"मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ।
यथा लगति कंठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ॥
पूर्ववत्कुंभयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ।
गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुंभकम् ॥"

अर्थ० मुखकूं बंद करके जिस प्रकार सहित शब्दके कंठसें हृदयपर्यंत प्राणवायु स्पर्श करे तैसेहि पूर्वोक्त प्रकारसें दक्षिणनासापुटद्वारा आकर्षण करे पश्चात् यथाशक्ति कुंभक-

करके वामनासापुटद्वारा रेचन करे इसका नाम उज्जायीकुं-भक है सो यह चलते बैठते सर्वकालविषेहि करणेयोग्य है इति ॥ तथा

"सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृंभिकाम् ।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥"

अर्थ० सीत्कारपूर्वक मुखसें वायुका आकर्षण करे पुना यथाशक्ति कुंभककरके नासाद्वारा रेचन करे इसका नाम सीत्कारीकुंभक है इसके अभ्यास करणेतें योगी कामदेवके समान सौंदर्यकरके युक्त होवेहै इति ॥ तथा

"जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत् कुंभसाधनम् ।
शनकैर्घ्राणरंध्राभ्यां रेचयेत् पवनं सुधीः ।
विषाणि शीतली नाम कुंभिकेयं निहंति हि ॥"

अर्थ० काकचंचुकी न्यांई जिह्वाकूं मुखसें किंचित् बाहिर निकासकरके बाह्यस्थित वायुकूं अभ्यंतर आकर्षण करे, तथा पूर्वोक्त प्रकारसें यथाशक्ति कुंभककरके पश्चात् नासापुटोंसें शनैःशनैः रेचन करे यह शीतलीकुंभककहिये है इसके चिरकाल अभ्यास करणेसें सर्वप्रकारके विषोंका शरीरविषे असर नहि होवेहै इति ॥ तथा

"पुनर्विरेचयेत् तद्वत् पूरयेच्च पुनःपुनः ।
यथैव लोहकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥

तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत् पवनं शनैः ।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुंभकं त्विदम् ॥"

अर्थ० मुखकूं बंदकरके जैसे लोहकार भस्त्राकूं चलावताहै तैसेहि अपणे शरीरमें स्थित जो प्राणवायु है तिसकूं एक नासाद्वारसें रेचन करे पुना दुसरे नासाद्वारसें शीघ्रहि पूरक करे पुना रेचक करे पुना शीघ्र पूरक करे जिस पुटसें रेचक करे तिसहिसें पूरक करे इसप्रकार वारंवार रेचकपूरक करतेहुये जिस कालमें परिश्रम होवे तो दक्षिणनासापुटसें पूरक करे पश्चात् यथाशक्ति कुंभककरके वामनासापुटसें रेचक करे पुना पूर्ववत्हि रेचक पूरक करे इसका नाम भस्त्रिकाकुंभकहै सो सर्वकुंभकोंसें यहि विशेषकरके करणा योग्य है इति ॥ तथा "वेगात् घोषं पूरकं भृंगनादं भृंगीनादं रेचकं मंदमंदम् । योगीन्द्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानंदलीला" ॥ अर्थ० जैसे भ्रमरका शब्द होवेहै तैसेहि गुंजारसहित वामनासापुटसें वायुका पूरक करे पश्चात् यथाशक्ति कुंभककरके जैसे भ्रमरीका शब्द होवेहै तैसेही मध्यमगुंजारसहित दक्षिणनासापुटसें शनैशनै रेचक करे इसका नाम भ्रामरीकुंभक है इसके अभ्यास करणेसें योगीन्द्र लोकोंके हृदयमें कोई अद्भुत आनंदकी लीला होवेहै इति ॥

---

१ अग्निके धमनकरणेकी चर्मकी मसक ।

तथा "पूरकांते गाढतरं बध्वा जालंधरं शनैः । रेचयेन्मूर्च्छ-नाख्येयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा" ॥ अर्थ० पूरक करणेतें प-श्चात् वक्ष्यमाण जालंधरबंधकूं कंठमें दृढ स्थापन करे पश्चात् यथाशक्ति कुंभककरके प्राणवायुकूं नासापुटोंसें शनै शनै रेचक करे इसका नाम मूर्च्छाकुंभक है इसके अभ्यास करणे-तें मनकी मूर्च्छाद्वारा आनंदकी प्राप्ति होवेहै इति ॥ तथा

"अंतः प्रवर्तितोदारमारुता पूरितोदरः ॥
पयस्यगाधेपि सुखात् प्लवते पद्मपत्रवत् ॥"

अर्थ० बाह्यस्थितवायुकूं उदरपूर्तिपर्यंत पूरक करणेसें योगी लोक अगाधजलविषे कमलपत्रकी न्यांई ऊपर तरेहै सो प्ला-वनीकुंभक कहियेहै इति ॥ यह अष्टकुंभकोंके लक्षण हैं ॥ पुनः कनिष्ठ, मध्यम, उत्तम इसभेदसें कुंभक तीन प्रकारके है तिन तीनोंके लक्षण याज्ञवल्क्यसंहितामें कथन कियेहैं

"प्रस्वेदजनको यस्तु प्राणायामेषु सोधमः ॥
कम्पे च मध्यमः प्रोक्त उत्थाने चोत्तमो भवेत् ॥"

अर्थ० जिसकालविषे प्राणके कुंभक करणेसें शरीर-विषे प्रस्वेद[1]की उत्पत्ति होवेहै सो कनिष्ठकुंभक कहिये औ जिस कालविषे कुंभककरणेसें शरीरविषे कंप होवेहै तिसका नाम मध्यमकुंभक है तथा जिसकालविषे कुंभककरणेसें पृथि-

---

१ पसीना ।

वीसें किंचित् ऊपर शरीरका उत्थान होवेहै सो उत्तमकुंभक कहियेहै इति ॥ सो यह प्राणका कुंभक संख्यापूर्वक करणेसें हि वृद्धिकूं प्राप्त होवेहै तिस संख्याका लक्षण पूर्वाचार्योंने कथन कियाहै

"इडया पिब पवनं षोडशभि-
श्चतुरुत्तरषष्टिकमौदरकम् ॥
त्यज पिंगलया शनकैः शनकै-
र्दशभिर्दशभिर्दशभिर्व्द्यधिकैः ॥"

अर्थ० इडा जो वामनासापुटकी नाडी है तिसद्वारा षोडशमात्राकरके प्राणवायुका पूरक करे औ चौसठमात्रापर्यंत तिसका उदरविषे कुंभक करे तथा बत्तीसमात्राके पिंगला जो दक्षिणनासापुटकी नाडी है तिसद्वारा रेचक करे अर्थात् जितनी मात्राकरके प्राणका पूरक होवे तिसतें चतुर्गुणीमात्रापर्यंत कुंभक करणा चाहिये औ कुंभककी संख्यासें अर्धमात्रोंकरके रेचक करणा चाहिये काहेतें शीघ्र रेचक करणेतें शरीरके बलकी हानि होवेहै इति ॥ सो तिस मात्राका लक्षण स्कंदपुराणमें कथन कियाहै

"जानुं प्रदक्षिणीकुर्यान्न द्रुतं न विलंबितम् ॥
प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते ॥"

अर्थ० न तो शीघ्रतासें औ न विलंबसें जानुकी हस्तसें

प्रदक्षिणाकरके पश्चात् एक चुटकी देवे इतने कालकी मात्रा संज्ञा है इति ॥ अन्यभी मात्राके बहुत भेद हैं सो विस्तारके भयसें यहां नहि दिखाये हैं ॥ इस प्रकारसहित संख्याके साधकपुरुषकूं अष्टप्रहरमें च्यारिवार प्राणायामका अभ्यास करणा चाहिये यह वार्ता स्वात्मारामयोगीनेभी कथन करीहै

"प्रातर्मध्यंदिने सायमर्धरात्रे च कुंभकान् ॥
शनैरशीतिपर्यंतं चतुर्वारं समभ्यसेन् ॥"

अर्थ० प्रातःकाल, मध्यान्हकाल, सायंकाल, अर्धरात्रीमें इन च्यारीकालोंविषे असी असी प्राणायाम करणे चाहिये अर्थात् अष्टप्रहरामें ३२० प्राणायाम करणे चाहिये इति ॥ सो यह प्राणायाम देवताके ध्यानपूर्वकहि करणा चाहिये नहीं तो निर्विघ्नसिद्ध होना बहुत कठिन है सो ध्यानका प्रकार अथर्ववेदकी ध्यानबिंदुउपनिषत्में निरूपण किया है

"अतसीपुष्पसंकाशं नाभिस्थाने प्रतिष्ठितम् ॥
चतुर्भुजं महावीरं पूरकेण विचिंतयेत् ॥"

अर्थ० प्राणके पूरककालविषे नाभिदेशमें अतसीपुष्पके समान नीलवर्ण औ चतुर्भुजोंकरके युक्त तथा शंखचक्रादिक आयुधोंकरके शोभायमान औ लक्ष्मीकरके समन्वित विष्णु भगवान्का ध्यान करणा चाहिये इति ॥ तथा

"कुंभकेन हृदि स्थाने चिंतयेत् कमलासनम् ॥
ब्रह्माणं रक्तगौरांगं चतुर्वक्त्रं पितामहम् ॥

अर्थ० प्राणके कुंभकसमयविषे हृदयस्थानमें चतुर्मुखोंकरके युक्त औ रक्तवर्ण कमलासन सर्वके पितामह ब्रह्माका ध्यान करे इति ॥ तथा

"रेचकेन तु विद्याच्च ललाटस्थं त्रिलोचनम् ।
शुद्धस्फटिकसंकाशं निष्कलं पापनाशनम् ॥"

अर्थ० प्राणके रेचककालविषे ललाटदेशमें शुद्धस्फटिकमणिके समान गौरवर्णकरके युक्त औ सर्वपापोंके नाश करणेहारे सर्वकालसें अतीत त्रिलोचनमहादेवका ध्यान करे इति॥ इस प्रकार देवताके ध्यानविषे मनके स्थिर होनेतें प्राणका स्वतेहि निरोध होयजावे है काहेतें प्राण औ मनकी परस्पर तॅदात्मता है, यह वार्ता हठयोगप्रदीपिकाविषेभी कथन करीहै

"दुग्धांबुवत्संमिलतावुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि ।
यतो मरुत्तत्र मनःप्रवृत्तिर्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः ॥"

अर्थ० जैसे दुग्ध औ जल मिलकर एकरूप होयजावेहैं तैसेहि मन औ प्राण दोनों एकस्वरूप हैं सो जिसकालविषे प्राणका स्फुरण होवेहै तो मनकाभी स्फुरण होवेहै औ जिसकालविषे मनका स्फुरण होवेहै तो प्राणकाभी स्फुरण

---

१ एकरूपता ।

होवेहै इस प्रकारसें तिन दोनोंकी तुल्यहि क्रिया है इति ॥ सो तिन दोनोंमेंसें एकके निरोध करणेसें दूसरेकाभी निरोध होयजावेहै यह वार्ता अमनस्कखंडविषे महादेवजीनेभी निरूपण करी है

"प्राणो यत्र विलीयेत मनस्तत्र विलीयते ।
मनो विलीयते यत्र प्राणस्तत्र विलीयते ॥"

अर्थ० हे वामदेव, जिस कालविषे प्राणवायुका विलय होवेहै तो मनकाभी विलय होवेहै औ जिसकालविषे मनका विलय होवेहै तो प्राणवायुकाभी विलय[1] होवेहै इति ॥ तिन दोनोंमेंभी मनका निरोध करणा सुकर है यह वार्ताभी तहांहि कथन करीहै

"तत्राप्यसाध्यः पवनस्य नाशः
षडङ्गयोगस्य निषेवणेन ॥
मनोविनाशस्तु गुरुप्रसादा-
न्निमेषमात्रेण सुसाध्य एव ॥"

अर्थ० तिन दोनोंमेंभी प्राणवायुका षडंगयोगके अभ्यास-करके निरोध करणा असाध्य अर्थात् दुःसाध्य है औ मनका

---

१ सुषुप्तिकालमेंतो अपणे कारणविषे विलीन होनेतें मनका अभाव-हि होयजावेहै यातें तिनकी सहचारताके अभाव होनेतें प्राणका विलय नहि होवेहै ॥

निरोध करणा तो गुरुउक्त षट्चक्रादिकोंविषे धारणारूप युक्तिसें निमेषमात्र अर्थात् अल्पकालविषेहि सुसाध्य है इति॥ यातें साधक पुरुषकूं प्राणायामके अभ्यासकालविषे उक्तदेवतोंका ध्यानकरके मनका निरोधभी अवश्य संपादन करणा योग्य है ॥ तथा प्राणके निरोध करणेमें शीघ्रताभी नहि करणी चाहिये किंतु शनैःशनैहि निरोध करणा चाहिये यह वार्ता हठयोगप्रदीपिकाविषेभी कथन करीहै

"यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैःशनैः ।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हंति साधकम् ॥
युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ।
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥"

अर्थ० जैसे वनके विचरणेहारे सिंह, हस्ति, व्याघ्रादिक क्रूर जंतु शनैशनै उपायपूर्वक वशीभूत होतेहैं औ जो उपायसें विना तिनकूं शीघ्रहि पकडने जाताहै सो नाशकूं प्राप्त होवेहै तैसेहि प्राणवायुभी प्राणायामादिक उपायपूर्वक शनैःशनैहि वशीभूत होवेहै नहि तो कासश्वासादिक रोगोंकी उत्पत्तिद्वारा उलटा साधकपुरुषका नाश करे है ॥ यातें युक्तिपूर्वकहि प्राणका रेचन करे औ युक्तिपूर्वकहि पूरक करे तथा युक्तिपूर्वकहि कुंभक करे काहेतें युक्तिपूर्वक शनैःशनैः करणेसेंहि प्राणवायुके जयरूप सिद्धिकी प्राप्ति होवेहै इति ॥ तथा हठयोगप्रदीपिकाकी टीकाविषेभी लिखा है

"हठान्निरुद्धः प्राणोयं रोमकूपेषु निःसरेत् ।
देहं विदारयत्येष कुष्ठादि जनयत्यपि ॥
ततः प्रत्यायितव्योसौ क्रमेणारण्यहस्तिवत् ॥"

अर्थ० केवल हठकरके अत्यंत निरोध कियाहुया प्राणवायु रोमछिद्रोंसें निकसजावेहै तिसके रोमद्वारा निकसनेतें शरीरविषे कुष्ठादिरोगोंकी उत्पत्ति होवेहै यातें गुरुमुखद्वारा युक्तिपूर्वक वनके हस्ती सिंहादिकोंकी न्यांई शनैः शनैहि प्राणकूं वशीभूतकरणा योग्यहै इति ॥ पूर्वोक्त यमनियम औ आसनके अनुष्ठानकालमें विशेषकरके गुरुकी अपेक्षा नहि होवेहै परंतु प्राणायामके अभ्यासकालमें तो अवश्यमेव गुरुकी अपेक्षा चाहिये । यह वार्ता योगबीजमें महादेवजीनेंभी कथन करीहै

"मरुज्जयो यस्य सिद्धस्तं सेवेत गुरुं सदा ।
गुरुवक्त्रप्रसादेन कुर्यात्प्राणजयं बुधः ॥"

अर्थ० हे पार्वति साधककूं जिस गुरुके प्राणजय सिद्ध हुया होवे तिसहिकी सर्वदा सेवा करणी चाहिये औ जिसप्रकारसें सो प्राणजय करणेकी विधि बतावे तैसेहि अभ्यास करे इति ॥ तथा अमनस्कखंडमेंभी महादेवजीनेहि कहाहै

"वेदांततर्कोक्तिभिरागमैश्च
नानाविधैः शास्त्रकदंबकैश्च ॥

ध्यानादिभिः सत्करणैर्न गम्य-
श्चिंतामणिर्ह्येकगुरुं विहाय ॥”

अर्थ० हे वामदेव, योगाभ्यासी गुरुकेविना वेदांत, तर्क, योग, मीमांसा, आदिक शास्त्रोंके पठनकरणेसें तथा अन्य जो नानाप्रकारके पुराणादिक ग्रंथसमूह हैं तिनके अवलोकन करणेसें तथा स्वबुद्धिकरके अनुष्ठान किये ध्यान, आसन, प्राणायामादिक उपायोंकरकेभी योगरूप चिंतामणिकी प्राप्ति नहि होवेहै इति ॥ तथा स्कंदपुराणमेंभी कहाहै

“आचार्याद्योगसर्वस्वमवाप्य स्थिरधीः स्वयम् ।
यथोक्तं लभते तेन प्राप्नोत्यपि च निर्वृतिम् ॥”

अर्थ० प्रथमसें आचार्यके मुखद्वारा योगचर्याका सर्व रहस्य जानकरकेहि पश्चात् अभ्यासद्वारा पुरुष स्वयमेव सिद्धि औ आनंदकूं प्राप्त होवेहै इति ॥ तथा सामवेदकी छांदोग्य उपनिषत्‌मेंभी कहाहै “आचार्यवान् पुरुषो वेद” अर्थ० आचार्यवान् पुरुषहि यथार्थयोगके रहस्यकूं जानैहै इति ॥ सो केवल गुरुके समीप जानेसें योगकी प्राप्ति नहि होवेहै किंतु चिरकालपर्यंत सेवा करणेसेंहि होवेहै, यह वार्ता कृष्णयजुर्वेदकी श्वेताश्वतरउपनिषत्‌मेंभी कहीहै

“यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशंते महात्मनः ॥”

अर्थ० जिस पुरुषकी ईश्वरविषे परमभक्ति होवेहै औ ईश्वरकी न्यांई गुरुमेंभी परमशक्ति होवेहै तिसकूंहि योगरहस्यके प्रतिपादन करणेहारी श्रुतियोंके अर्थोंका सम्यक्प्रकारसें बोध होवेहै इति ॥ तथा मनुस्मृतिके द्वितीयाध्यायमेंभी कहाहै

"यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥"

अर्थ०जैसे कुद्दालकरके पृथिवीकूं खोदतेखोदते पुरुष निर्मल जलकूं प्राप्त होवेहै तैसेहि जितनी गुरुके हृदयविषे योगादिक विद्या होवेहै सो सर्वहि सेवा करतेकरते साधककूं प्राप्त होयजावेहै इति ॥ तथा सांख्यसूत्रोंमें कपिलदेवजीनेभी कहाहै

"प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि
कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात्तद्वत् ॥ "

अर्थ० जैसे ब्रह्मचर्यकरके युक्तभये इन्द्रकूं नम्रभावसें ब्रह्माकी शरण जानेकरके चिरकालसें सिद्धिकी प्राप्ति होती भयी है तैसेहि ब्रह्मचर्ययुक्त पुरुषकूं नम्रभावसें गुरुकी शरण जानेसेंहि चिरकाल सेवाद्वारा योगकी सिद्धि होवेहै इति ॥ शंका ॥ भागवतके एकादशे स्कंधमें लिखाहै

"समुद्धरंति ह्यात्मानमात्मनैवाशुभाशयात् ।
आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः ॥"

अर्थ० यह पुरुषविशेषकरके आपहि अपणा गुरु होवेहै काहेतें अपणे विचारकरकेहि आत्माका अशुभ संसारसें उद्धार करेहै इति ॥ तथा योगवासिष्ठके निर्वाणप्रकरणमेंभी कहाहै

"उपदेशक्रमो राम व्यवस्थामात्रपालनम् ।
ज्ञप्तेस्तु कारणं शुद्धा शिष्यप्रज्ञैव राघव ॥"

अर्थ० हे रामचंद्र, गुरुशिष्यका जो उपदेशक्रम है सो तो केवल शास्त्रकी मर्यादापालनेके अर्थ है परंतु ज्ञानकी उत्पत्तिविषे तो शिष्यकी शुद्धप्रज्ञाहि कारण होवेहै इति ॥ तथा गीताके षष्ठाध्यायविषे भगवान्नेभी कहाहै "उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्" अर्थ० हे अर्जुन, अपणे आत्माका आपसेंहि उद्धार करणा चाहिये संसारचक्रमें भ्रमावना नहि चाहिये इति ॥ तथा ऋग्वेदकी ऐतरेयउपनिषत्की "गर्भे एवैतच्छयानो वामदेव उवाच" इस श्रुतिमें वामदेवकूं गर्भविषेहि ज्ञानकी प्राप्ति कथन करीहै ॥ तथा अन्यभी अष्टावक्र जडभरतादिकोंकूं विनाहि गुरुउपदेशसें ज्ञानकी प्राप्ति पुराणादिकोंमें श्रवण होवेहै यातें तुमने जो पूर्वकहा गुरुसेंविना योगरहस्यका बोध नहि होवेहै सो वार्ता असंभव है ॥ समाधान ॥ यद्यपि तुमारा कहना यथार्थ है तथापि योगाभ्यासविषे तो गुरुकी अवश्यकता है औ

जो तुमने भागवत, योगवासिष्ठ औ गीताके वाक्य प्रमाण दीयेहैं तिनका तो अत्यंत शुद्ध अंतःकरणपुरुषपरहि विधान है सो अत्यंत अंतःकरणकी शुद्धि उपासनादिकोंसें होवे है औ तिन उपासनाआदिकोंका गुरुमुखसें विना यथार्थ बोध होवे नहीं यातेंभी बोधविषे परंपरासें गुरुकूंहि कारणता है ॥ औ दूसरा तिन वाक्योंका यह अभिप्राय है साधककूं केवल गुरुके आश्रयहि नहि रहना चाहिये किंतु कुछ अपणा पुरुषार्थभी करणा चाहिये काहेतें गुरु तो केवल मार्गकूंहि बतावे है परंतु तहां चलकर जाना तो साधककेहि अधीन होवेहै ॥ औ जो तुमने कहा वामदेव जडभरतादिक जन्मसेंहि बोधसंपन्न हुयेहैं सोभी पूर्वजन्मविषे सनकादिकोंके उपदेशद्वाराहि बोधसंपन्न हुयेहैं, यह वार्ता आत्मपुराणादिकोंविषे प्रसिद्ध है ॥ औ जो गुरुकेविना कथंचित् शास्त्रअवलोकनद्वारा मेधावान् पुरुषकूं योगरहस्यका यथार्थ बोध होयभी जावे तो तिसके अनुष्ठानसें यथोक्तफलकी प्राप्ति नहि होवेहै, यह वार्ता सामवेदकी छांदोग्यउपनिषत्मेंभी कथन करीहै "आचार्याद्धयैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति" अर्थ० गुरुमुखद्वारा ज्ञात भयी विद्याहि यथेष्टफलकी प्राप्ति करे है इति ॥ तथा शिवसंहितामेंभी कहाहै

"भवेद्वीर्यवती विद्या गुरुवक्त्रसमुद्भवा ।
अन्यथा फलहीना स्यान्निर्वीर्याप्यतिदुःखदा ॥"

अर्थ० हे पार्वति, गुरुमुखसें निकसीहुयी विद्याही वीर्यवती होवेहै औ अन्यथा तो फलसें हीन औ वीर्यसें रहित तथा अतिक्लेशके देनेहारी होवेहै इति ॥ तथा गीताके षोडशमे अध्यायविषे भगवान्नेभी कहाहै

"यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥"

अर्थ० हे अर्जुन, गुरुमुखसेंहि विद्याका ग्रहण करणा इसप्रकारकी जो धर्मशास्त्रकी विधि है तिसका परित्यागकरके अपणी इच्छाके अनुसारहि जो पुरुष किसीकार्यका अनुष्ठान करेहै सो तिस अनुष्ठानजन्य फल औ सुख तथा परमगतिकूं नहि प्राप्त होवेहै इति ॥ इसप्रकारसें गुरुमुखद्वारा प्राणायामकी यथार्थविधि जानकरके 'मितक्रियः' कहिये सर्वक्रियाके संयमनपूर्वकहि अभ्यास करणा योग्य है इति ॥ सो क्रियाका संयम गीताके षष्ठाध्यायविषे भववान्‌ने कथन कियाहै

"युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥"

अर्थ० जो साधक पूर्वोक्तप्रकारसें युक्तिपूर्वक आहार करताहै औ युक्तिपूर्वकहि गमनादिक व्यवहार करता है अर्थात् एकादशीआदिक उपवास करणा शरदृऋतुमें प्रातः-कालविषे शीतल जलसें स्नान करणा, शिरपर भार उ-ठावना, अग्नि तापना, बहुत सोवना अत्यंत जागरण करणा इत्यादिक जो प्राणकी शीघ्रगतिके हेतु कार्य हैं तिन सर्वका परित्यागकरके मितभोजन, शरदृऋतुमें उष्ण-जलसें स्नान, स्वल्प निद्रा, स्वल्प गमन, स्वल्प भाषण, इ-त्यादिक जो प्राणकी गतिके शिथिल करणेहारे कार्योंका से-वन करताहै तिस पुरुषकूंहि सर्व दुःखोंके नाश करणेहारे योगकी सिद्धि होवे है इति ॥ तथा गोरक्षशतकमेंभी कहाहै

"वर्जयेद्दुर्जनप्रांतं वह्निस्त्रीपथसेवनम् ।
प्रातःस्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं तथा ॥"

अर्थ० साधककूं प्राणायामके अभ्यासकालविषे दुर्जनका संसर्ग, अग्नितापन, स्त्रीगमन, पंथगमन, प्रातःस्नान, उपवासा-दिक शरीरके क्लेशदेनेहारी विधि, इन सर्वका परित्याग क-रणा चाहिये इति ॥ तथा अथर्ववेदकी अमृतबिंदुउपनिषत्-मेंभी कहाहै

"भयं क्रोधमथालस्यमतिस्वप्नातिजागरम् ।
अत्याहारमनाहारं नित्यं योगी विवर्जयेत् ॥"

अर्थ० भय, क्रोध, आलस्य, अतिस्वप्न, अतिजागरण, अतिभोजन, अतिउपवास, इन सर्वकार्योंका योगीपुरुषकूं नित्यहि वर्जन करणा चाहिये इति ॥ तथा हठयोगप्रदीपिकाविषेभी कहाहै

"अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः ।
जनसंगश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ॥"

अर्थ० अतिभोजन करणा, बहुत प्रयास करणा, बहुत भाषण करणा, उपवासादिक नियमका ग्रहण करणा, संसारीलोकोंका संसर्ग करणा, विषयोंविषे लोलुपता करणी, इन षट्कार्योंकरके योगाभ्यासका विनाश होवे है इति ॥ यातें सर्वक्रिया युक्तिपूर्वकहि करणी चाहिये ॥ तथा "क्रियाभिराशुद्धतनुः" कहिये उक्तप्राणायामके अभ्याससें प्रथम षट्क्रियाकरके अपणे शरीरकी शुद्धि करणी चाहिये काहेतें शरीरकी शुद्धि कियेविना सम्यक्प्रकारसें प्राणका निरोध नहि होवेहै ॥ सो तिन षट्क्रियाके नाम औ लक्षण हठयोगप्रदीपिकाविषे निरूपण कियेहैं

"धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा ।
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते ॥ "

अर्थ० धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि, कपालभाति, इसभेदसें षट्प्रकारकी क्रिया हैं इति ॥ तिनमें

"चतुरंगुलविस्तारं हस्तपंचदशायतम् ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ॥
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत् ॥"

अर्थ० च्यारि अंगुल चौडा औ पंदरा हस्त लंबा सूक्ष्म वस्त्र लेकर गुरुउक्तरीतिसें उष्णजल अथवा दुग्धसें आर्द्र करके शनैशनै मुखद्वारा भोजनकी न्यांई गिलजावे औ पुना नौलिकर्मकरके शनैशनै बाहिर निकासलेवे इसका नाम धौतिक्रिया है ॥ तात्पर्य यह उक्तप्रकारसें एकहाथपरिमाण नित्यंप्रति गिले जब पंदरा दिवसमें सर्व गिलजावे तो तिसका एक किनारा मुखकी दहनीतरफ दांतोंमें दबाय रखे पश्चात् दो अथवा तीन पलके अनंतर वक्ष्ययमाण नौलिकर्मकरके मुखकूं अत्यंत खोलकर शनैशनै बाहिर निकासकरके क्षालन करलेवे इति ॥ इस क्रियाके चिरकाल अभ्यास करणेसें कास, श्वास, प्लीह, जलोदर, कुष्ठ, इत्यादिक कफजन्य विंशतिरोगोंकी निवृत्ति होवेहै ॥ तथा

"नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ।
आधाराकुंचनं कुर्यात् क्षालनं बस्तिकर्म तत् ॥"

अर्थ० गुदाद्वारमें बांसकी नलकी प्रवेशकरके नाभिपर्यंत निर्मलजलविषे उत्कटासनसे बैठकर गुदाद्वारसें काजल ऊ-

र्ध्व आकर्षण करे पश्चात् नौलीकर्मकरके तिसका परित्याग करे इसका नाम बस्तिक्रिया है इति ॥ तात्पर्य यह, कनिष्ठिका अंगुलिके प्रवेशयोग्य षट्अंगुललंबी कोमलबांसकी नलकी लेकर गुदाद्वारमें च्यारि अंगुल प्रवेशकरके दो अंगुल बाहिर रखे पश्चात् नाभिपर्यंत स्वच्छजलविषे उत्कट[1] आसनसें बैठकरके नौलिक्रियासें उदरके नलोंकूं उत्थापन करके अपानवायुके ऊर्ध्वआकर्षणद्वारा जलका आकर्षण करे पश्चात् नौलिकर्मकरके सर्व जलका परित्याग करे औ जो किंचित्मात्र जल उदरमें रहजावे तो मयूरासनकरके निकास देवे तो बस्तिकर्म सिद्ध होवेहै इस प्रकारसें कोईदिन अभ्यास करे तो पश्चात् विनानलकीसेंभी जलका आकर्षण होवेहै इति ॥ इस क्रियाके अभ्यास करणेतें वात, पित्त कफजन्य जितने गुल्म प्लीह अजीर्णादिक रोग होवेहैं तिन सर्वका नाश होवेहै औ धातुकी वृद्धि तथा इन्द्रिय औ मनकी स्वच्छता औ शरीरविषे कांति तथा जठरानलकी वृद्धि होवेहै इति ॥ तथा

"सूत्रं वितस्तिसुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ।
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥"

---

१ शौचकालकी न्यांई ॥

अर्थ० एकवितस्तिपरिमाण कोमल सूत्र लेकर नासाद्वार-विषे प्रवेश करे पश्चात् मुखसें बाहिर निकासलेवे इसका नाम नेतिक्रिया है ॥ तात्पर्य यह ॥ वस्त्र सीवनेका सूक्ष्म तागा लेकर जितना अपणी नासिकाविषे प्रवेशकरसके तितनाहि वीस अथवा पचीसगुणितकरके स्थूल करे तिसमेंसें एक बा-लिस्तपरिमाण अग्रभागसें गुंथनकरके ऊपर मोम लगायकर स्निग्ध करे औ पीछले भागसें एक बालिस्त खुलाहि रहने देवे पश्चात् तिसकूं अग्रभागसे नग्न करके शनैः शनै नासाद्वारमें प्रवेश करे सो जब कंठके साथ स्पर्श करे तो मुखमें दहने हस्तकी अंगुलि प्रवेशकरके शनैःशनै बाहिर निकासलेवे जब गुंथन कियाहुया भाग मुखसें बाहिर आयजावे तो नासिका-विषे स्थित जो तागाका पीछला भाग तिसकूं दूसरे हाथसें पकडकरके दो अथवा तीन वार एक दूसरी तरफ फिरावे प-श्चात् शनेःशनै मुखसें बाहिर निकासलेवे तो नेतिक्रिया सिद्ध होवेहै इति ॥ इसक्रियाके अभ्यास करणेसें कपालकी शुद्धि औ नेत्रोंकी दृष्टि सूक्ष्म होवेहै, तथा शिरका रोग, नेत्ररोग, कर्णरोग, अर्थात् जितने कंठसें ऊपर रोग होवेहैं तिन सर्वकी निवृत्ति होवेहै इति ॥ तथा

"निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ।
अश्रुसंपातपर्यंतमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥"

अर्थ० दोनोंनेत्र खुलेकरके जबपर्यंत अश्रुपात नहि होवे तबपर्यंत एकटक सूक्ष्मदृष्टिसें नासिकाके अग्रभागविषे देखता रहे इसका नाम आचार्यलोक त्राटकक्रिया कहतेहैं इति ॥ इस क्रियाके अभ्यास करणेसें नेत्रके रोग औ आलस्य निद्रादिकोंकी निवृत्ति होवेहै ॥ तथा

"अमंदावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः ।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते ॥"

अर्थ० ग्रीवाकूं नीचेकरके दोनोंहाथ जानवोंपर धरे पश्चात् प्राणके रेचकपूर्वक उदरके दोनोंनलोंकूं उत्थापनकरके शीघ्रतासें वारंवार दहनी वामीतरफ फिरावे इसकूं सिद्धलोक नौलिक्रिया कथन करतेहैं इति ॥ इस क्रियाके अभ्यास करणेसें जठरानलकी वृद्धि औ उदरगत सर्वरोगोंकी निवृत्ति होवेहै ॥ तथा इसकरकेहि धौति औ बस्तिक्रियाभी सिद्ध होवेहै औ इस क्रियासे विना कुंडलिनीका बोध होनाभी अत्यंत कठिन होवेहै यातें यह क्रिया योगाभ्यासीको अवश्य करणी योग्य है ॥ तथा

"भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषिणी ॥"

अर्थ० लोहकारकी भस्त्राकी न्यांई शीघ्रशीघ्र जो प्राणका रेचक पूरक करणाहै तिसका नाम कपालभातिक्रिया है इति॥

इस क्रियाके अभ्यास करणेसैं सर्व प्रकारके कफजन्य दोषोंका शोषण होवेहै ॥ यह षट्क्रियाके लक्षण हैं ॥ इन क्रियासैं प्रथम शरीरकी शुद्धिकरके प्राणायाम करणेसैं शीघ्रहि प्राणोंका निरोध होवेहै तथा शरीर हलका औ मन स्वच्छ होवेहै इति ॥ जिस पुरुषके शरीरविषे मेद, श्लेष्म अधिक होवे सो इन षट्क्रियाका आचरण करे दूसरा नहि काहेतें वात, पित्त, कफ, तीनो धातुवोंके समान होते जो उक्तषट्क्रियाका आचरण करे तो कफके शोषण होनेतें वातपित्तकी अधिकतासैं शरीरविषे ज्वरादिकरोगोंकी उत्पत्ति होवेहै ॥ औ केचित् याज्ञवल्क्यादिक आचार्य तो केवल प्राणायामके अभ्याससैंहि शरीरकी शुद्धि मानते हैं उक्त षट्क्रिया तिसकूं संमत नहिहैं परंतु जिस पुरुषके शरीरविषे श्लेष्मकी अधिकता होवेहै तिसकूं तो अवश्यमेव करणी चाहिये इति ॥ १४ ॥ इस प्रकारसैं प्राणायामका लक्षण औ तिसके अवांतर भेद तथा तिसकी उपयोगी षट्क्रियाका निरूपण करके अब तिसके फलकूं वर्णन करेहैं ॥

"वंशस्थं वृत्तम्"

शिराविशुद्धिर्जठरानलोन्नति-
स्तथाक्षदोषापचयोऽगलाघवम् ॥

सुशक्तिबोधो मनसश्च योग्यता
विधारणा स्वस्य ततोभिजायते॥१५॥

शिरेति ॥ 'ततः' कहिये पूर्वोक्तप्रकारसें सांगोपांग प्राणायामके चिरकालपर्यंत अभ्यास करणेसें 'अस्य' कहिये इस साधकपुरुषकी 'शिराविशुद्धि' कहिये शरीरविषे जो इडा-पिंगला आदिक नाडियां हैं तिनकी शुद्धि होवे है, यह वार्ता हठयोगप्रदीपिकाविषेभी कहीहै

"प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचयेत्
पीत्वा पिंगलया समीरणमथो बध्वा त्यजेद्वामया ॥
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिनाऽभ्यासं सदा तन्वतां
शुद्धा नाडिगणा भवंति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥"

अर्थ० प्रथम इडाद्वारसें प्राणवायुका पूरक करे पश्चात् यथाशक्ति कुंभककरके पिंगलाद्वारसें रेचक करे पुना पिंगलासें पूरककरके यथाशक्ति कुंभकके अनंतर इडाद्वारसें रेचक करे इस प्रकारसें चंद्रमारूप इडा औ सूर्यरूप पिंगलाद्वारा प्राणायामके अभ्यास करणेतें तीन मासके अनंतर योगीलोकोंकी सर्वनाडियां शुद्ध होवे हैं इति ॥ तथा याज्ञवल्क्यसंहितामेंभी कहाहै

"नाडी शुद्धिमवाप्नोति पृथक् चिन्होपलक्षिताम् ॥"

अर्थ० उक्तप्राणायामके अभ्यास करणेसें साधकपुरुष बाह्यके चिह्नोंकरके उपलक्षित भयी नाडियोंकी शुद्धिकूं प्राप्त होवेहै इति ॥ सो बाह्यके चिन्हभी तहांहि कथन कियेहैं

"शरीरलघुता दीप्तिर्वन्हेर्जठरवर्तिनः ॥
नादाभिव्यक्तिरित्येतत् चिह्नं तत्सिद्धिसूचकम् ॥"

अर्थ० जिसकालविषे सर्वनाडियोंकी शुद्धि होवेहै तो शरीरकी लघुता औ जठरानलकी वृद्धि तथा नादका श्रवण यह चिन्ह होवेहैं इति ॥ किंच नाडीशुद्धिके हुयेहि सम्यक्प्रकारसें प्राणका निरोध होवेहै, यह वार्ता हठयोगप्रदीपिकामेंभी कथन करीहै

"शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥"

अर्थ० जिसकालविषे कफादिकोंसें वेष्टित जो नाडीचक्र है तिसकी शुद्धि होवेहै तिसकालविषेहि योगी प्राणका चिरकाल निरोध करणेमें समर्थ होवेहै इति ॥ तिन नाडियोंकी संख्या अथर्ववेदकी प्रश्नउपनिषत्में कथन करीहै

"अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां
द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवंति ॥"

अर्थ० इस शरीरमें एकसौ नाडी मुख्य हैं तिन एकएकमेंसें

सौ सौ शाखानाडी निकसी हैं पुना तिन शाखानाडियोंमेंसें एकएक नाडीसें बहत्तर बहत्तर हजार उपशाखा नाडी निकसीहैं इति ॥ औ जो

"द्वासप्ततिसहस्राणि प्रतिनाडीषु तैतिलम्"

अर्थ० जैसे मस्तकका आधार कपोलदेश है तैसेहि बहत्तर हजार नाडियोंका सुषुम्नानाडी आधारभूत है इति ॥ इस अथर्ववेदकी क्षुरिकाउपनिषत्के वाक्यमें जो नाडियोंकी बहत्तर हजार संख्या कथन करी है सो स्थूलनाडियोंके अभिप्रायसें जानना नहिं तो उक्तप्रश्न उपनिषत्के वाक्यसाथ विरोध होवेगा ॥ सो अत्यंत सूक्ष्म[1]होनेतें उदरके विदारण करणेसेंभी तिन सर्वकी प्रतीति नहि होवेहै ॥ सो तिन सर्वनाडियोंमें दशनाडी प्रधान हैं तिन सर्वके नाम गोरक्षशतकमें लिखेहैं

"इडा च पिंगला चैव सुषुम्नाथ तृतीयका ।
गांधारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ॥
अलंबुषा कुहूश्चैव शंखिनी दशमी स्मृता ।
एतन्नाडीमयं चक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा ॥"

अर्थ० इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गांधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा,

---

१ सर्व मिलकरके नाडियोंकी संख्या ७२, ७२, १०, २०१, है ।

यशस्विनी, अलंवुषा, कुहूः, शंखिनी यह दश प्रधाननाडियोंका चक्र सर्वदाहि योगिलोकोंकूं जानना योग्य है इति ॥ तथा तिनके स्थानभी तहांहि कथन कियेहैं

"इडा वामे स्थिता भागे दक्षिणे पिंगला तथा ।
सुषुम्ना मध्यदेशे तु गांधारी वामचक्षुषि ॥
दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे ।
यशस्विनी वामकर्णे वदने चाप्यलंवुषा ॥
कुहूश्च लिंगदेशे तु मूलाधारे च शंखिनी ।
एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठंति दश नाडयः ॥"

अर्थ० नासाके वामपुटमें इडानाम नाडीका स्थान है औ दक्षिणपुटमें पिंगलाकी स्थिति है तथा मध्यदेशमें सुषुम्ना रहती है औ वामनेत्रविषे गांधारीका निवास है औ दक्षिण नेत्रमें हस्तिजिह्वाका वासस्थान है तथा दक्षिणकर्णविषे पूषाकी स्थिति है औ वामकर्णमें यशस्विनीका वास है तथा मुखमें अलंवुषाका स्थान है औ लिंगदेशमें कुहूका निवास है त ा मूलाधारमें शंखिनीका स्थान है इसप्रकारसें यह मुख्य दशनाडियां अपणे अपणे द्वारकूं आश्रयकरके शरीरविषे निवास करतीहैं इति ॥ तिन दशमेंभी इडा, पिंगला, सुषुम्ना, यह तीन नाडी श्रेष्ठ हैं तिनमेंभी एक सुषुम्ना श्रेष्ठ है यह वार्ता याज्ञवल्क्यसंहितामेंभी कथन करी है

"तासां मुख्यतमास्तिस्त्रस्तिसृष्वेकोत्तमोत्तमा ।
मुक्तिमार्गे तु सा प्रोक्ता सुषुम्ना विश्वधारिणी ॥"

अर्थ० पूर्वोक्त सर्वनाडियोंमें उक्त तीन नाडी श्रेष्ठ हैं पुना तिनमेंभी एक सुषुम्ना मुख्य है काहेतें सर्वनाडियोंका आधारभूत एक सुषुम्नाहि योगीलोकोंकूं मोक्षविषे द्वारभूत होवेहै इति ॥ तिन सुषुम्नाआदिक सर्व नाडियोंका मूलस्थान कंद है, यह वार्ता गोरक्षशतकविषेभी कथन करी है

"ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कंदयोनिः खगांडवत् ।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्त्राणां द्विसप्ततिः ॥"

अर्थ० लिंगदेशसें ऊपर औ नाभिसें किंचित् नीचे कंदका स्थान है सो कंदहि पूर्वोक्त सर्वनाडियोंका उत्पत्तिस्थान है तहांसेंहि सर्वनाडियोंकी उत्पत्ति होवेहै इति ॥ तथा याज्ञवल्क्यसंहितामेंभी कहाहै

"कंदस्थानं मनुष्याणां देमहध्यान्नवांगुलम् ।
चतुरंगुलविस्तारमायामं च तथाविधम् ॥
अंडाकृतिवदाकारं भूषितं च त्वगादिभिः ॥"

अर्थ० मनुष्योंके लिंग औ गुदाके वीचमें जो देहका मध्यभाग सीवनी है तिसतें नवअंगुल ऊपर नाभिके अधोभागविषे कंदका स्थान है सो कंद च्यारि अंगुल लंबा औ

च्यारि अंगुल चौडा है तथा कुक्कुटके अंडाके समान तिसकी आकृति औ रंग है तथा च्यारि तरफसें त्वचा औ कफआदिकोंकरके वेष्टित है इति ॥ तिस कंदके मध्यदेशविषे सुषुम्नानाडीका मूलस्थान है, यह वार्ताभी तहांहि याज्ञवल्क्यने कथन करी है

"कंदस्य मध्यमे गार्गि सुषुम्ना संप्रतिष्ठिता ।
पृष्ठमध्यस्थितेनास्थ्ना सह मूर्धानमागता ॥"

अर्थ० हे गार्गि कंदके मध्यभागविषे सुषुम्नानाडीकी स्थिति है सो पृष्ठभागसें मेरुदंडद्वारा ब्रह्मरंध्रपर्यंत गई है इति ॥ यहां यह रहस्य है ॥ सुषुम्नाकंदके मध्यभागसें उठकर आधारचक्रमें आवे है आधारसें स्वाधिष्ठानचक्रविषे आवे है तहांसें मणिपूरचक्रमें आवे है तिसतें ऊर्ध्व अनाहतचक्रमें आवेहै तहांसें कंठचक्रमें आवेहैं, तहांसें सुषुम्नाके पश्चिम औ पूर्व इसभेदसें दो मार्ग हैं तिनमें पश्चिम मार्ग तो ग्रीवाके पृष्ठभागविषे स्थित जो मेरुदंड है तिसके द्वारा ब्रह्मरंध्रविषे जावे है ॥ औ पूर्वमार्ग भ्रूमध्यविषे जो आज्ञाचक्र है तिसके द्वारा ब्रह्मरंध्रकूं जावेहै ॥ तिनदोनोंमें पश्चिममार्ग उत्तम है यह वार्ता अथर्ववेदकी योगशिखाउपनिषत्मेंभी कथन करी है

"द्वितीयं सुषुम्नाद्वारं परिशुद्धं विसर्पति ॥"

अर्थ० योगचर्यामें कुशल जो योगी है सो सुषुम्नाका द्वि-

तीय जो परिशुद्धकहिये निर्मल पश्चिमद्वार है तिसमेंहि प्राण-कालके सहित प्रवेश करे हैं इति ॥ तथा हठयोगप्रदीपिका-मेंभी कहाहै "वाहयेत् पश्चिमे पथि" अर्थ० योगीकूं सुषु-म्नाके पश्चिममार्गसेंहि ब्रह्मरंध्रविषे प्राणोंकूं वहनकरणा चाहि-ये इति ॥ इसस्थलमें विशेष वार्ता गुरुमुखसें जाननी योग्य है अत्यंत गोप्य होनेतें नहि लिखी है ॥ सो तिन उक्त चक्रों-कूं क्रमसें भेदनकरकेहि योगी प्राणोंकूं दशमद्वारमें लेजानेकूं समर्थ होवेहै इति ॥ सो पूर्वोक्त प्राणायामके अभ्यासकरके नाडीचक्रके शुद्धहोनेतेंहि सुषुम्नाविषे प्राणका प्रवेश होवे है यह वार्ता हठयोगप्रदीपिकाविषेभी कथन करी है

"विधिवत् प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते ।
सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥"

अर्थ० विधिपूर्वक प्राणायामके अभ्यासकरके नाडीच-क्रके शुद्ध होनेतें सुषुम्नाका मुखभेदनकरके प्राण सुखसेंहि दशमे द्वारमें प्रवेश करे है इति, तथा 'जठरानलोन्नतिः' कहिये पूर्वोक्तप्राणायामके अभ्यास करणेतें उदरमें स्थित जो जठराग्नि है तिसकीभी वृद्धि होवेहै ॥ तथा 'अक्षदोषापचयः' कहिये चक्षुआदिक इन्द्रियोंके जो पापरूप दोष हैं तिनकीभी निवृत्ति होवेहै यह वार्तावेदकी अमृतबिंदु उप-निषत्मेंभी निरूपण करी है

"यथा पर्वतधातूनां दह्यंते धमनान्मलाः ॥
तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यंते प्राणनिग्रहात् ॥"

अर्थ० जैसे सुवर्णादिक धातुवोंका मल अग्निमें धमन करणेसें जलजावे है तैसेंहि प्राणायामके अभ्यास करणेसें सर्व इन्द्रियोंकरके कियेहुये पापोंका विनाश होवे है इति ॥ तथा संवर्तसंहितामेंभी कहाहै ॥

"मानसं वाचिकं पापं कायेनैव तु यत्कृतम् ।
तत्सर्वं नश्यते तूर्णं प्राणायामत्रये कृते ॥"

अर्थ० पूर्वोक्तप्रकारसें प्रणवादिकमंत्रका जप औ देवताके ध्यानसहित तीनवार प्राणायाम करणेसेंभी जितने मानस, वाचिक, औ कायिक पाप होवेहैं तिनका शीघ्रहि विनाश होवेहै इति ॥ तथा याज्ञवल्क्यसंहितामेंभी कहाहै

"नित्यमेव प्रकुर्वीत प्राणायामांस्तु षोडश ।
अपि भ्रूणहनं मासात् पुनंत्यहरहः कृताः ॥
ऋतुत्रयात् पुनंत्येवं जन्मांतरकृताद्घात् ।
संवत्सराद्ब्रह्मवधात्तस्मान्नित्यं समभ्यसेत् ॥"

अर्थ० पूर्वोक्तप्रकारसें नित्यंप्रति मासपर्यंत षोडश प्राणायाम करणेसें भ्रूणहत्याजन्य पापकी निवृत्ति होवेहै औ षट्

---

१ गर्भमेंहि बालककी हत्याकरणेका नाम भ्रूणहत्या है ।

मासपर्यंत करणेतें जन्मांतरोंविषे कियेहुये अज्ञातपापोंकी निवृत्ति होवे है तथा एकवर्षपर्यंत करणेसें ब्रह्महत्याजन्य पापकी निवृत्ति होवे है इसकारणसें पुरुषकूं नित्यहि प्राणायामका अभ्यास करणा योग्य है इति ॥ तथा "अंगलाघवं" कहिये प्राणायामके अभ्यास करणेसें शरीरकीभी लघुता होवेहै, यह वार्ता याज्ञवल्क्यसंहितामेंभी कथन करी है

"धारणं कुर्वतस्तस्य वह्निस्थाने प्रभंजनम् ।
देहश्च लघुतां याति जठराग्निश्च वर्धते ॥"

अर्थ० प्राणायामके अभ्याससें उदरविषे प्राणके संयमन करणेसें जठरानलकी वृद्धि औ शरीरकी लघुता होवे है इति ॥ तथा कृष्णयजुर्वेदकी श्वेताश्वतरउपनिषत्‌मेंभी कथन किया है इति ॥ "लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वम्" अर्थ० प्राणायामके अभ्यास करणेतें योगीके शरीरविषे लघुता औ अरोगता होवे है तथा विषयोंविषे जो इन्द्रियोंकी लोलुपता है तिसकीभी निवृत्ति होवेहै इति ॥ तथा 'सुशक्तिबोधः' कहिये पूर्वोक्तप्राणायामके अभ्यास करणेसें कुंडलिनीनाडीकाभी उत्थान होवे है सो कुंडलिनीशक्ति पूर्वोक्त सुषुम्नानाडीके द्वारकूं अपणे मुखसें रोधनकरके कंदके उपरिभागमें स्थित है यह वार्ता हठयोगप्रदीपिकाविषेभी कथन करी है

"कंदोर्ध्वे कुंडलीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।
बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥"

अर्थ० कंदके उपरिभागविषे कुंडलिनीशक्ति शयनकर रही है सो जो योगीलोक तिसका उत्थापन करतेहैं सो मोक्षकूं प्राप्त होतेहैं औ जो मूढलोक नहि करते हैं तिनकूं बंधनका कारण होवे है तथा जो योगीपुरुष तिस कुंडलिनीके जगानेकी युक्ति जानता है सोई योगकलाकूं यथार्थ जानता है इति ॥ तथा याज्ञवल्क्यसंहितामेंभी कहाहै

"शिरां समावेष्ट्य मुखेन मध्ये
स्वपुच्छमास्येन निगृह्य सम्यक् ॥
नाभौ सदा तिष्ठति कुंडली सा
धिया समाधाय निबोधयेत्ताम् ॥"

अर्थ० सुषुम्नानाडीकूं अपणे शरीरसें आवेष्टनकरके औ सांडेतीन[१] वल देकर अपणी पुच्छकूं मुखसें सम्यक्प्रकार ग्रहणकरके नाभिके अधोभागविषे सर्वदाहि कुंडलीशक्ति स्थित होय रही है इसीकारणसें पुरुषके प्राण सुषुम्नाविषे प्रवेशनहि करसकते याते प्राणकूं दशमे द्वारविषे लेजानेकी इच्छावान् साधकपुरुषकूं युक्तिपूर्वक तिस स्थलमें प्राणोंका निरो-

१ कितनेक योगके ग्रंथमें सप्तवलभी कथन कियेहैं परंतु बहुत स्थलोंमें साडेतीनहि कथन कियेहैं ।

धकरके तिसकूं तहांसें चलायमान करणा योग्यहै इति ॥ सो तिसका उत्थान बंधपूर्वक प्राणायाम करणेसें होवे है सो बंध उड्डियानबंध, जालंधरबंध, मूलबंध, इसभेदसें तीन प्रकारके हैं सो तिन तीनोंके लक्षण हठयोगप्रदोपिकाविषे स्वात्मारामयोगीने निरूपण करे हैं ॥ तिनमें

"उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डियानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी ॥"

अर्थ० प्राणके रेचकपूर्वक उदरकूं पश्चिमकी तरफ आकर्षणकरके नाभिदेशकूं किंचित् ऊर्ध्व आकर्षण करे यह मृत्युरूप मातंगके जय करणेविषे सिंहरूप उड्डियानबंधकहिये है इति ॥ तथा

"कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बंधो जालंधराख्योयं जरामृत्युविनाशकः ॥"

अर्थ० कंठका संकोचकरके ठोडीकूं हृदयके समीप दृढकरके लगावे यह जरा औ मृत्युके नाशकरणेहारा जालंधरबंध है इति ॥ तथा

"पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोभिधीयते ॥"

अर्थ० सिद्धासनपूर्वक वामपादकी एडीसें गुदा औ लिंगके

मध्यभागमें जो योनिस्थानहै तिसकूं पीडनकरके अपानवायुके ऊर्ध्व आकर्षणद्वारा गुदाद्वारका आकुंचन करे इसका नाम मूलबंध है इति ॥ तिनमें उड्डियानबंध तो प्राणके रेचनकालविषे करणा चाहिये औ जालंधरबंध प्राणके कुंभकसमये करणा चाहिये तथा मूलबंध प्राणके पूरककालविषे करणा चाहिये ॥ इस प्रकारसें तीनबंधयुक्त प्राणायाम करणेसेंहिं कुंडलिनी-शक्तिका बोध होवेहै ॥ तात्पर्य यह ॥ उड्डियान औ मूलबं-धकरणेतें अपानवायुका ऊर्ध्व आकर्षण होवे है औ जालं-धरबंधकरके प्राणवायुका अधो आकर्षण होवेहै तो प्राण औ अपानकी एकताके होनेतें जठरानल अत्यंत प्रदीप्त होवेहै पश्चात् तिस अग्निकी उष्णताकरके व्याकुल भयी कुंडलिनी सुषुम्नाके मुखका परित्यागकरके जैसे दंडकरके ताडन करी हुयी नागनी ऋजु होयकरके बिलमें प्रवेश करे है तैसेहि सो कुंडलिनीशक्ति सरल होयकरके सुषुम्नाविषे प्रवेशकरके ऊर्ध्व ब्रह्मरंध्रकूं गमन करे है पश्चात् सुषुम्नाद्वारके खुले होनेतें प्राणभी तिसके पीछे प्रवेशकरके ब्रह्मरंध्रकूं गमन करे है इसप्रकारसें कुंडलिनीके बोधपूर्वक प्राणवायुके ब्रह्मरंध्रविषे प्रवेश होनेतें अनंतर आकर्षणकी युक्तिसें सर्वशरीरका प्राण एकत्र होकर क्रमसें ब्रह्मरंध्रविषे स्थितिकूं प्राप्त होवेहै तहां विशेषस्थिति होनेतें समाधि होवेहै सो आकर्षण युक्ति गुरु

मुखसे जाननी योग्य है तथा यह सर्व वार्ता योगतारावली-विषे शंकराचार्यनेभी कथन करी है

"उड्डियानजालंधरमूलबंधैरुन्निद्रितायामुरगांगनायाम् ।
प्रत्यङ्मुखेन प्रविशन् सुषुम्नांगमागमौ मुंचति गंधवाहः ॥"

अर्थ० उड्डियानबंध, जालंधरबंध, मूलबंध, इन तीनबंध-पूर्वक प्राणायामके अभ्यास करणेतें कुंडलिनीका बोध होवे है पश्चात् सुषुम्नाके अनंतर प्रवेशद्वारा ब्रह्मरंध्रमें जानेमें प्राणवायुका पुना गमन आगमन नहि होवे है अर्थात् तहांहि स्थितिकूं प्राप्त होवे है इति ॥ तथा याज्ञवल्क्यसंहितामेंभी कहाहै

"बोधं गते चक्रिणि नाभिमध्ये
प्राणास्तु संभूय कलेवरेस्मिन् ॥
चरंति सर्वे सह वह्निनैव
तंतौ यथा जंतुगतिस्तथैव ॥"

अर्थ० नाभिके अधोभागविषे जो कुंडलिनीशक्ति है सो जब उक्तप्रकारसें बोधकूं प्राप्त होवे है तो जैसे ऊर्णनाभि[1] नामा जंतु तंतुपर आरोहण करे है तैसेहि सर्वप्राण एकीभूत होयकरके सहित अग्निके सुषुम्नाद्वारा ब्रह्मरंध्रविषे आरोहण-करते हैं इति ॥ तथा 'विधारणात्तु' कहिये पूर्वोक्तप्राणा-

१ मकडी·

यामके अभ्यासकरणेसें अष्टादशम श्लोककी व्याख्याविषे वक्ष्यमाण जो धारण हैं तिनके विषेभी 'मनसश्च योग्यता' कहिये मलविक्षेपसें रहित भये साधक पुरुषके मनकी योग्यता होवे है यह वार्ता योगसूत्रोंमें पतंजलिनेभी कथन करी है "धारणासु च योग्यता मनसः ॥" अर्थ० प्राणायामके अभ्यास करणेतें धारणाविषे मनकी योग्यता होवे है काहेतें प्राणायामके अभ्याससें पूर्व रजोतमोंके कार्य मलविक्षेपकरके संकलितभये मनकी धारणाविषे स्थिति नहि होवै है इति ॥ १५ ॥ इसप्रकारसें प्राणायामका फल वर्णनकरके अब योगका पंचम अंग जो प्रत्याहार है तिसका लक्षण निरूपण करेहैं ॥

(इंन्द्रवंशावृत्तम्)

भोगोन्मुखाक्षौघनिवर्त्तनं सदा-
ऽसंसर्गतो दोषदृशा च दीर्घया ॥
संस्थापनं यच्च मनोनुरोधतो
योगस्य तत्पंचममंगमीरितम् ॥ १६ ॥

भोगोन्मुखेति ॥ शब्द, स्पर्श, रूपआदिक विषयोंके सन्मुख जो श्रोत्रादिक इन्द्रियसमूहका अनादिकालसें स्वाभा-

विकहि प्रीतिपूर्वक प्रवाह होय रहाहै तिसका सर्वकालविषे विषयोंके असंसर्ग औ तिनविषे दीर्घ दोषदृष्टिपूर्वक निवारणकरके चित्तके अनुकूल जो तिन इन्द्रियोंका स्थापन करणा है सोई योगका पंचम अंगरूप प्रत्याहार कहियेहै इति यह वार्ता योगसूत्रोंमें पतंजलिनेभी कथन करी है

"स्वविषयासंप्रयोगे चित्तानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः॥"

अर्थ० स्वस्वविषयोंके संबंधके अभावसें श्रोत्रादिक इंद्रियोंकी जो चित्तके अनुसार स्थिति है अर्थात् चित्तके निरोध करणेसें स्वतेहि जो इन्द्रियोंका निरोध होना है तिसका नाम प्रत्याहार है इति ॥ तथा याज्ञवल्क्यसंहितामेंभी कहाहै

"इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः ।
बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥"

अर्थ० स्वभावसेंहि जो श्रोत्रादिक इन्द्रिय शब्दादिक विषयोंविषे विचरती हैं तिनका विवेकरूप बलकरके जो विषयोंसें निवारण करणा है तिसका नाम प्रत्याहार है इति ॥ तथा शंखसंहितामेंभी कहाहै "संहारश्चेन्द्रियाणां च प्रत्याहारः स उच्यते" इसवाक्यका अर्थ ऊपर कहे अर्थके अंतर्भूतहि है इति ॥ सो इस प्रत्याहारमें उक्तदोषदृष्टि औ विषयोंके संसर्गका परित्याग यह दोनोंहि हेतु हैं काहेतें प्रथम

दोषदृष्टिकरके हुयेविना विषयोंका परित्याग संभवे नहि ॥ सो दोषदृष्टिभी दीर्घ कहिये सर्वदाहि करणी चाहिये काहेतें क्षणिक दोषदृष्टिकरके विषयोंसें इन्द्रियोंका प्रत्याहार नहि होसके है यह वार्ता पूर्वाचार्योंनेभी कथन करीहै

"भोजनांते श्मशानांते मैथुनांते च या मतिः ।
सा मतिः सर्वदा चेत्स्यात्को न मुच्येत बंधनात् ॥"

अर्थ० इस पुरुषकी भोजनके अंतमें जो बुद्धि होवे है औ जो श्मशानके अंतविषे होवेहै तथा जो बुद्धि मैथुनकर्मके अंतमें होवेहै ऐसीहि बुद्धि जो सर्वकालविषे रहे तो कौन पुरुष संसारबंधनतें मोक्षकूं नहि प्राप्त होवे अर्थात् सर्वहि होय जावें इति ॥ यातें साधकपुरुषकूं विषयोंविषे दीर्घदोषदृष्टिहि करणी योग्य है ॥ सो दोषदृष्टिका प्रकार योगवासिष्ठके उपशमप्रकरणविषे वीतहव्यमुनिने दिखायाहै

"कुरंगालिपतंगेभमीनास्त्वेकैकशो हताः ।
सर्वैर्युक्तैरनर्थैस्तु व्याप्तस्याज्ञ कुतः सुखम् ॥"

अर्थ० हे मूढचित्त कुरंग एक श्रोत्र इन्द्रियका विषय जो शब्दहै तिसके अर्थ वीणाका शब्द सुनकरके मोहित भया व्याधके वशीभूत होयकर मृत्यूकूं प्राप्त होवेहै ॥ औ भ्रमरभी एक नासिकाइन्द्रियका विषय जो सुगंधि है

तिसके अर्थ रात्रीमें कमलके संकुचित होनेतें मृत्युकूं प्राप्त होवेहै तथा पतंगभी एक चक्षुइन्द्रियका विषय जो रूप है तिसके अर्थ दीपकविषे भया मृत्युकूं प्राप्त होवेहै औ हस्ती एक त्वचाइन्द्रियका विषय जो स्पर्शहै तिसके अर्थ हस्तिनीके पीछे गर्तविषे पतित होयकरके नाशकूं प्राप्त होवेहै तथा मत्स्यभी एक जिह्वाइन्द्रियका विषय जो रसहै तिसके अर्थ लोहकुंडीका भक्षणकरके मृत्युकूं प्राप्त होवेहै इसप्रकारसें यह पांचहि एकएक इन्द्रियके अर्थ नाशकूं प्राप्त होवेहै तो तुं पांचों अनर्थोंकरके युक्त भया किसप्रकारसें सुखी होवेगा इति ॥ इसप्रकार दोषदृष्टिसें विषयोंका परित्यागकरके पुनः कदाचित्भी तिनका संसर्ग नाह करणा चाहिये काहेतें विषयोंके संबंधकरके महात्मा पुरुषोंका चित्तभी चलायमान होवेहै यह वार्ता पूर्वाचार्योंनेभी कथन करीहै

"मनोहराणां भोज्यानां युवतीनां च वाससाम् ।
वित्तस्यापि च सान्निध्याच्चलेच्चितं सतामपि ॥"

अर्थ० मनके हरण करणेहारे सुन्दर जो पायसादिक भोजन औ युवाअवस्थायुक्त स्त्रियां तथा पट्टआदिकोंके वस्त्र औ सुवर्णादिक द्रव्य हैं तिनके संसर्गसें महात्मापुरुषोंका चित्तभी चलायमान होवे है तो अन्य साधकपुरुषकी क्या वार्ता

कहनी है इति ॥ तथा सौभरि, परासर, विश्वामित्र, ऋष्यशृंग इत्यादिक ऋषिभी स्त्रीरूपविषयके संसर्गकरकेहि तपसें भ्रष्ट होतेभयेहै यह वार्ता पुराणोंमें प्रसिद्धहि है ॥ यातें प्रत्याहार करणेहारे पुरुषकूं कदाचित्भी विषयोंकी सन्निधि नहि करणी चाहिये ॥ यह वार्ता मनुस्मृतिविषेभी कथन करीहै

"अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च ।
ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्त्तयेत् ॥"

अर्थ० शब्दादिक विषयोंकरके हरण करीहुयी जो श्रोत्रादिक इन्द्रियां है तिनकूं साधक पुरुष अल्पअन्नके भक्षण करणेतें औ एकांतविषे निवासकरके निवारण करे इति ॥ किंच मन औ विषयोंकूं आत्मश्वरूप जाननेसेंभी इन्द्रियोंका प्रत्याहार होवेहै यह वार्ता अथर्ववेदकी अमृतबिंदुउपनिषत्मेंभी कथन करी है

"शब्दादिविषयाः पंच मनश्चैवातिचंचलम् ।
चिंतयेदात्मनो रश्मीन् प्रत्याहारः स उच्यते ॥"

अर्थ० शब्दादिक जो पांच विषय हैं अतिचंचल जो मन है तिनसर्वकूं आत्मारूप सूर्यकी किरणारूपसें चिंतन करे इसका नामभी प्रत्याहार है इति ॥ तथा याज्ञवल्क्यसंहितामेंभी कहा है

"जगत् यद्दृश्यते सर्वं पश्येदात्मानमात्मनि ॥
प्रत्याहारः स च प्रोक्तो योगविद्भिर्महात्मभिः ॥"

अर्थ० यावत्पर्यंत चराचरजगत् दृष्टि औ श्रवणमें आवेहै तिस सर्वकूं अपणे हृदयमें आत्मस्वरूपसें देखे इसकूं योगचर्याके जाननेहारे महात्मालोक प्रत्याहार कहते हैं इति ॥ तथा गोरक्षशतकमें कहाहै ॥

"यं यं शृणोति कर्णाभ्यांप्रियं प्रियमेव वा ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥
अस्पर्शमथवा स्पर्शं यं यं स्पृशति चर्मणा ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥
अमेध्यमथवा मेध्यं यं यं पश्यति चक्षुषा ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥
अलौण्यमथवा लौण्यं यं यं स्पृशति जिह्वया ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥
अगंधमथवा गंधं यं यं जिघ्रति नासया ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥
अंगमध्ये यथांगानि कूर्मः संकोचयेत् ध्रुवम् ।
योगी प्रत्याहरेदेवमिन्द्रियाणि तथात्मनि ॥"

अर्थ० प्रिय अथवा अप्रिय जो जो पदार्थ श्रोत्रइन्द्रियसें श्रवण करेहै तिसतिसकूं आत्मारूप जानकरके योगी श्रोत्रइ-

न्द्रियका प्रत्याहार करेहै ॥ औ कोमल अथवा कठिन जो जो त्वचाइन्द्रियकरके स्पर्श करेहै तिसतिसकूंभी आत्मस्वरूप जानकरके योगी त्वचाइन्द्रियका प्रत्याहार करेहै ॥ तथा सुरूप अथवा कुरूप जो जो पदार्थ नेत्रइन्द्रियकरके देखेहै तिसतिसकूंभी आत्मस्वरूप जानकरके योगी नेत्रइन्द्रियका प्रत्याहार करेहै ॥ तथा स्वादु अथवा अस्वादु जो जो जिह्वाइन्द्रियकरके रस लेवेहै तिसतिसकूंभी आत्मस्वरूप जानकरकै योगी जिह्वाइंद्रियका प्रत्याहार करेहै ॥ तथा सुगंध अथवा दुर्गंध जो जो नासिकाइन्द्रियसें सूंघेहै तिसतिसकूंभी आत्मस्वरूप जानकरके योगीघ्राणइन्द्रियका प्रत्याहार करेहै ॥ सो जैसें कूर्म अपणे हस्तपादादिक अवयवोंका उदरविषे संकोच करेहै वैसेहि योगपुरुष उक्तप्रकारसें श्रोत्रादिक इन्द्रियोंका आत्मस्वरूपविषे प्रत्याहार करे इति ॥ औ याज्ञवल्क्यसंहिताविषे तो प्रत्याहारका दूसरा लक्षणभी कियाहै सोभी प्रसंगसें यहां निरूपण करेहैं

"पादांगुष्ठौ च गुल्फौ च जंघामध्यौ तथैव च ।
चित्योर्मूलं च जान्वोश्च मध्ये चोरूभयस्य च ॥
पायुमूलं ततः पश्चात् देहमध्यं च मेढ्रकम् ।
नाभिश्च हृदयं गार्गि कंठकूपस्तथैव च ॥
तालुमूलं च नासाया मूलं चाक्ष्णोश्च मंडले ।

भ्रुवोर्मध्यं ललाटं च मूर्द्धा च मुनिपुंगवे ॥
स्थानेष्वेतेषु मनसा वायुमारोप्य धारयेत् ।
स्थानात् स्थानं समाकृष्य प्रत्याहारपरायणः ॥"

अर्थ० हे गार्गि दो पादके अंगुष्ठ, दो पादके गुल्फ, दो जंघाके मध्यदेश, दो चित्योंके मूलदेश, दो जानुवोंके मध्यदेश, दो ऊरुके मध्यदेश, एक गुदाका मूलदेश, एक देहका मध्यदेश, एक लिंगका मूलदेश, एक नाभिदेश, एक हृदयदेश, एक कंठकूप, एक तालुका मूलदेश, एक नासिकाका मूलदेश, दो नेत्रोंके मंडल, एक भ्रुवोंका मध्यदेश, एक ललाटदेश, एक ब्रह्मरंध्र इसभेदसें शरीरविषे पचीस मर्मस्थान हैं ॥ सो इन स्थानोंमें मनके सहित प्राणवायुका धारण करके प्रत्याहार करणेहारा योगी एकस्थानसें दूसरेमें दूसरेसें तीसरेमें इसप्रकार क्रमसें प्राणका ऊर्ध्व आकर्षण करे अर्थात् प्रथमपादके अंगुष्ठविषे प्राणका निरोध करके पश्चात् गुल्फोंमें लावे औ गुल्फोंसें जंघाके मध्यदेशमें लावे इसी प्रकार उक्तसर्वदेशोंसें ऊर्ध्वऊर्ध्व प्राणका आकर्षणकरके ब्रह्मरंध्रविषे लावे ॥ इसप्रकार प्राणवायुका ब्रह्मरंध्रपर्यंत ऊर्ध्व आकर्षणकरके पश्चात् यथेच्छा तहां स्थित होयकर पुना प्राणोंका नीचे आकर्षण करे सो नीचे उतारणेका प्रकारभी तहांहि कथन किया है ॥

"व्योमरन्ध्रात्समाकृष्य ललाटे धारयेत् पुनः ।
ललाटाद्वायुमाकृष्य भ्रुवोर्मध्ये निरोधयेत् ॥
भ्रुवोर्मध्यात्तु जिह्वाया मूले प्राणं निरोधयेत् ।
जिह्वामूलात्समाकृष्य कंठकूपे विधारयेत् ॥
कंठकूपात्तु हृन्मध्ये हृदयान्नाभिमध्यमे ।
नाभिमध्यात्पुनर्मेढ्रे मेढ्राद्वन्ह्यालये ततः ॥
देहमध्याद्गुदे गार्गि गुदादेवोरुमूलके ।
ऊरुमुलात्तयोर्मध्ये तस्माज्जानौ निरोधयेत् ॥
चितिमूले च तं तस्माज्जंघयोर्मध्यमे ततः ।
जंघामध्यात्तमाकृष्य गुल्फमुले निरोधयेत् ॥
गुल्फादंगुष्ठयोर्गार्गि पादयोस्तन्निरोधयेत् ।
स्थानात्स्थानं समाकृष्य यंत्रवत् धारयेत् सुधीः ॥
सर्वपापविशुद्धात्मा जीवेदाचन्द्रतारकम् ।
एतत्तु योगसिद्ध्यर्थमगस्त्येनापि कीर्तितम् ॥
प्रत्याहारेषु सर्वेषु प्रशस्तमिति योगिभिः ॥" इति ॥

अर्थ० उक्तरीतिसें प्राणोंकूं ब्रह्मरंध्रपर्यंत ऊर्ध्व आकर्षण-करके पुना ब्रह्मरंध्रसें नीचे ललाटदेशमें लावे ललाटसें नीचे आकर्षणकरके भ्रुवोंके मध्यविषे लावे भ्रुवोंके मध्यदेशसें जिह्वाके मूलमें लावे तहांसें आकर्षणकरके कंठकूपविषे लावे

कंठकूपसें हृदयदेशमें लावे हृदयसें नाभिचक्रविषे लावे पुना तहांसें लिंगके मूलमें लावे लिंगके मूलसें अग्निका स्थान जो लिंग औ गुदाके मध्यदेशविषे सीवनी है तिसमें लावे तहांसें गुदाद्वारविषे लावे गुदाद्वारसें उरुके मूलदेशविषे लावे तहांसें ऊरुके मध्यदेशमें लावे ऊरुके मध्यसें जानुवोंके मध्यमें लावे तहांसें चितियोंके मूलमें निरोध करे पुना तहांसें जंघाके मध्यदेशविषे लावे जंघाके मध्यसें गुल्फोंविषे लावे पुना गुल्फोंसें आकर्षणकरके पादके अंगुष्ठविषे निरोध करे ॥ इसप्रकार एकसें दूसरे स्थानमें प्राणवायुका आकर्षणकरके पादके अंगुष्ठविषे स्थापन करणेहारा योगी सर्वपापोंसें रहित भया जबपर्यंत चंद्रमा औ तारोंकी आकाशविषे स्थिति होवेहै ॥ तबपर्यंत जीवता है अर्थात् तिसका स्वेच्छानुसार मृत्यु होवे है ॥ सो सर्वप्रत्याहारोंमें शीघ्रहि योगकी सिद्धिके अर्थ यह प्रत्याहार अगस्त्यऋषिनेभी प्रशस्त कथन किया है यातें योगीलोकोंकूं यहि सिद्धकरणा चाहिये इति ॥ सो यह प्राणका ऊर्ध्व औ अधोआकर्षणरूप जो प्रत्याहार है सो हठयोगविषयक जानना औ जो श्रोत्रादिकइन्द्रियोंका निग्रहरूप प्रत्याहार पूर्व कथन किया है सो राजयोगविषयक जानना इति ॥ १६ ॥ इसप्रकारसें प्रत्याहारका लक्षण औ तिसके अवांतरभेद निरूपणकरके अब तिसका फल कथन करेहैं ॥

"वंशस्थं वृत्तम्"

सुरप्रसादो मनसः प्रसन्नता
तपःप्रवृद्धिस्त्वपि दैन्यसंक्षयः ॥
द्रुतं प्रवेशश्च तथैव संयमे
जितेन्द्रियस्येह किलोपजायते ॥ १७॥

सुर इति ॥ 'सुरप्रसादः' कहिये पूर्वोक्तप्रकारसैं जिस पुरुषने स्वस्वविषयोंसैं निवारणकरके श्रोत्रादिक इन्द्रियोंकूं अपणे वशीभूत किया है तिसपर विष्णु, शंकरादिक देवतोंका प्रसाद अर्थात् प्रसन्नता होवेहै ॥ इन्द्रियलंपट पुरुषपर देवताकी प्रसन्नता औ सन्निधि नहि होवे है यह वार्ता महाभारतके मोक्षपर्वविषेभी कथन करी है ॥

"शिश्नोदरे ये निरताः सदैव
स्तेना नरा वाक्परुषाश्च नित्यम् ॥
अपेतदोषानपि तान् विदित्वा
दूराद्देवाः संपरिवर्जयंति ॥
सत्यव्रता ये तु नराः कृतज्ञा
धर्मे रतास्तैः सह संभजंते ॥"

अर्थ० जो पुरुष सर्वदाहि शिश्न औ उदरके परायण औ चोर तथा सर्वके प्रति क्रूरवचनोंके भाषण करणेहारे हैं ॥ सो यद्यपि प्रायश्चित्तकरके दोषोंतें रहितभी होवें तोभी देवतालोक तिनकी सन्निधि नहि करतेहैं किंतु दूरसेंहि तिनका परिवर्जन करतेहैं ॥ औ जो सर्वदा सत्यभाषण करणेहारे औ कृतज्ञ तथा स्वधर्मविषे निरत पुरुष हैं तिनके साथहि देवतालोक संभाषणादिक व्यवहार करतेहैं इति॥इसी कारणसें स्वधर्मनिरत, सत्यवादी, औ जितेन्द्रिय जो राजाशिबि, नल, अर्जुन,युधिष्ठिरादिक पुरुष थे तिनके पास कुबेर इन्द्रादिक देवता औ नारदादिक महर्षियोंका आगमन औ संभाषणादिक व्यवहार पुराणोंमें श्रवण होवेहै अन्य पापीपुरुषोंके साथ नहि ॥ तथा 'मनसः प्रसन्नता' कहिये इन्द्रियजित पुरुषका मनभी सर्वदा प्रसन्न रहताहै काहेतें इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति होनेतें तिनके उपार्जनादिकोंविषे प्रवृत्त भयाहि मन सर्वदा क्लेशकरके व्याकुल रहताहै औ इन्द्रियजितपुरुषकी उपार्जनादिक प्रवृत्तिके अभाव होनेतें सर्वदाहि निर्मलजलकी न्यांई तिसका मन स्वच्छ रहताहै ॥ तथा 'तपःप्रवृद्धिः' कहिये इन्द्रियजितपुरुषका तपभी दिनदिनप्रति वृद्धिकूं प्राप्त होवेहै काहेतें इन्द्रियोंका निग्रह करणाहि परम तप है, यह वार्ता अन्यस्मृतिविषेभी कथन करी है

"मनसश्चेन्द्रियाणां च नियहः परमं तपः ।
तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते ॥"

अर्थ० मन औ इन्द्रियोंका जो स्वस्वविषयोंसें निग्रह करणा है सोई परम तप है औ सोई सर्वधर्मोंसें श्रेष्ठ औ परमधर्म है इति ॥ तात्पर्य यह ॥ जितेन्द्रियपुरुष जोजो जपतपआदिक क्रिया करेहै सोईसोई क्रिया यथोक्तफलकी प्राप्ति करे है, यह वार्ता मनुस्मृतिके द्वितीयाध्यायविषेभी कथन करी है

"वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान् संसाधयेदर्थानाक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥"

अर्थ० सर्व इन्द्रियोंकूं वशीभूतकरके औ मनकूंभी संयमनकरके तथा अन्नादिक योग[1]सें शरीरका रक्षणकरता हुया साधकपुरुष सर्वकार्योंकी सिद्धिकूं प्राप्त होवे है इति ॥ औ जो अजितेन्द्रिय पुरुष है तिसकूं यथोक्तफलकी प्राप्ति नहि होवेहै यह वार्ताभी तहांहि कथन करी है

"वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
नैवाजितेन्द्रियस्येह सिद्धिं गच्छंति कर्हिचित् ॥"

अर्थ० जो पुरुष जितेन्द्रिय नहि है तिसकूं वेदाध्ययन,

---

१ उपाय.

त्याग, यज्ञ, नियम, तप, आदिकर्मोंकी कदाचित्भी सिद्धि नहि प्राप्त होवे है इति ॥ किंच पांच इन्द्रियोंमेंसें एक इन्द्रियकी उपेक्षा करणेतेंभी जपादिकोंकी सिद्धि नहि होवे है तो जिसके पांचोंहि वशीभूत नहि है तिसकी तो क्याहि वार्ता कहनी है ॥ यह वार्ताभी तहांहि मनुस्मृतिमें कथन करी है

"इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनाऽस्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥"

अर्थ० श्रोत्रादिक इन्द्रियोंमेंसें जो एक इन्द्रियकाभी क्षरण होवे है तो तिसकरके जैसे छिद्रयुक्त मसकसें सर्वदाहि जल क्षरता रहता है तैसेहि तिसपुरुषके सर्वहि प्रज्ञासाध्य जपतपादिक क्षरजातेहैं इति ॥ तथा 'अपि दैन्यसंक्षयः' कहिये इन्द्रियोंके जयकरणेसें दीनताकाभी क्षय होवेहै काहेतें अजितेन्द्रियपुरुषहि स्त्रीआदिक विषयोंविषे प्रसक्त भया तिनके उपार्जनरक्षणादिकोंके अर्थ राजादिक धनीपुरुषोंकी दीनता करता है ॥ यह वार्ता वैराग्यशतकमें भर्तृहरिनेभी कथन करीहै

"दीनादीनमुखैः सदैव शिशुकैराकृष्टजीर्णाम्बरा
क्रोशद्भिः क्षुधितैर्नरैर्न विधुरा दृश्येत चेद्गेहिनी ॥
याच्ञाभंगभयेन गद्गदगलत्त्रुट्यद्विलीनाक्षरं
को देहीति वदेत् स्वदग्धजठरस्यार्थे मनस्वी जनः॥"

अर्थ० दीनोंसेंभी दीन मुखवाले क्षुधाकरके पीडित भये औ रुदन करतेहुये बालकोंकरके जीर्णवस्त्रसें आकर्षणकरीहुयी अपणी स्त्री जो इस पुरुषकरके नहि देखनेमें आवे तो याञ्चाभंगके भयकरके गद्गद्कंठसें टूटे औ विलीन अक्षरोंकरके युक्त जो देहि इसप्रकारकी दीनवाणी है तिसकूं केवल अपणे उदरपूरण करणेके अर्थ कौन विवेकी पुरुष धनी पुरुषोंके आगे कथन करे है अर्थात् कोईभी नहि करे है तात्पर्य यह अजितेन्द्रिय पुरुषहि भोगके साधन स्त्रीगृहादिकोंविषे आसक्त भया उक्तप्रकारकी स्त्रीकूं देखकरके तिनके पोषण करणेके अर्थ उक्तप्रकारकी दीनवाणी धनीलोकोंके आगे कथन करे है इति ॥ तथा अन्यत्र भी कहाहै

"जिह्वोपस्थादिकार्पण्याद्गृहपालायते जनः ॥"

अर्थ० यह पुरुष जिह्वा औ उपस्थादिक इन्द्रियोंके विषयोंमें लोलुप भया श्वानकी तुल्यताकूं प्राप्त होवे है इति तथा 'द्रुतं प्रवेशश्च तथैव संयमे' कहिये इन्द्रियोंके जय करणेसें साधकपुरुषका योगका मुख्य साधन जो धारणा, ध्यान, समाधिरूप वक्ष्यमाण संयम है तिसमेंभी द्रुत प्रवेश होवेहै अर्थात् शीघ्रहि योगकी सिद्धि होवे है ॥ यह वार्ता यजुर्वेदकी कठउपनिषत्‌मेंभी कथन करी है

"तां योगमिति मन्यंते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ॥"

अर्थ० श्रोत्रादिक सर्वइन्द्रियोंकूं निरोधकरके जो स्थिर धारण करणा है तिसकूंहि ऋषिलोक योग मानतेहैं इति ॥ तथा महाभारतविषेभी कहाहै

"एष योगविधिः कृत्स्नो यावदिन्द्रियधारणम् ।
एष मूलं हि तपसः कृत्स्नस्य नरकस्य च ॥"

अर्थ० श्रोत्रादिक इन्द्रियोंका जो वशीभूत करणा है यहि सर्वयोगकी विधिहै औ यहि सर्व तपका मूल है औ जो तिनका निग्रह नहि करणा है सोई नरकका मूल है इति ॥ तथा अन्यश्लोककरकेभी तहांहि कथन किया है

"इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं यत्स्वर्गनरकावुभौ ।
निगृहीतविसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय च ॥"

अर्थ० पुरुषके इन्द्रियहि स्वर्ग औ नरकरूप हैं तिनमें जो निग्रह करीहुयी इन्द्रियां हैं सो तो स्वर्गका हेतु हैं औ जो विषयोंमें छोडी हुयी हैं सो नरकका हेतु हैं इति ॥ किंच जितेन्द्रियपुरुषहि निर्विघ्न मोक्षपदकूं प्राप्त होवे है, यह वार्ताभी तहांहि कथन करी है

"रथः शरीरं पुरुषस्य दृष्ट-
मात्मा नियंतेन्द्रियाण्याहुरश्वान् ॥
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वै-
र्दान्तैः स्वयं याति रथीव धीरः ॥"

अर्थ० इस पुरुषका शरीर तो रथके समान है औ आत्मा जो बुद्धि है सो इसका नियंता कहिये सारथी है तथा आत्मारूप मध्यमें अधिष्ठाता पुरुष है औ चक्षुआदिकइन्द्रिय इसके अश्व हैं ॥ सो जैसे शिक्षितभये अश्वोंका दमन करके अप्रमत्त भया कुशल सारथी रथके अधिष्ठाताकूं निर्विघ्न अभिमतदेशकूं प्राप्त करे है तैसेहि उपवास, प्राणायाम, एकांतवास, आदिकोंकरके शिक्षित भये इन्द्रियोंका दमनकरके आलस्यादिक प्रमादसें रहित भया बुद्धिरूप कुशलसारथी आत्मारूप अधिष्ठाता पुरुषकूं अभिमतदेशरूप मोक्षपदकूं निर्विघ्न प्राप्त करे है इति ॥ १७ ॥ इसप्रकारसें प्रत्याहारका फल निरूपण करके अब योगका षष्ठा अंग जो धारणा है तिसका लक्षण वर्णन करे हैं

(वंशस्थं वृत्तम्)

हृदादिदेशेषु विकृष्य सर्वतो
विधारणं यन्मनसोऽस्थिरात्मनः ॥
मुहुर्मुहुर्धैर्यमिहावलंब्य वै
सुधारणा सा विबुधैरुदीरिता ॥ १८ ॥

हृदिति ॥ आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक, इस

भेदसें धारणाकरणेके देश तीन प्रकारके हैं ॥ तिनमें हृदय-चक्र, नाभिचक्र, आधारचक्र, कंठकूप, जिह्वाका अग्रभाग, नासिकाका अग्रभाग, लंबिका, तालु, भ्रुवोंका मध्यदेश, इत्यादिक जो शरीरके देश हैं सो आध्यात्मिक देश कहिये हैं औ सूर्यमंडल, चंद्रमा, ध्रुवादिकनक्षत्र, इत्यादिक आधिदैविक देश कहियेहैं ॥ तथा मणि, रत्न, दीपक वृक्षकी शाखा शालग्रामादिक देवताकी मूर्ति इत्यादिक आधिभौतिक देश हैं ॥ सो इन देशोंमेंसें किसीएक देशविषे नानाप्रकारके व्यवहारोंमें आसक्त जो अत्यंत चंचलस्वरूप मन है तिसकूं प्रयत्नसें सर्व तरफसे आकर्षण करके स्थापन करे ॥ औ जो स्थापन कियाहुया किसी विषयकी तरफ जावे तो तहांसें निवारणा करके पुनः धारणादेशमें लावे इसप्रकार परमधैर्यका आश्रय करके विषयोंमें निवारणकरके वारंवार धारणादेशमें लावे ॥ यह वार्ता गीताके षष्ठाध्यायविषे भगवान्नेभी कथन करी है

"यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥"

अर्थ० हे अर्जुन । धारणादेशका परित्याग करके जहांजहां यह अत्यंत चंचल मन जावे तहांतहांसेंहि दोषदृष्टिपूर्वक प्रयत्नसें निग्रह करके तिसकूं आत्माविषे लगावे इति ॥ वि-

षयोंसें निवारण करके वारंवार चित्तकूं धारणादेशमें लावनेमें खेदकूं नहि प्राप्त होना चाहिये किंतु उत्साहपूर्वकहि तिसका निग्रह करणा चाहिये, यह वार्ता मांडूक्यउपनिषत्की कारिकाविषे गौडपादाचार्यनेभी कथन करी है

"उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिंदुना ।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥"

अर्थ० इस श्लोकविषे एक पुरातन इतिहास है सो संक्षेपसें यहां लिखे हैं ॥ सो जैसे एक टिट्टिभनामा पक्षी सहितस्त्री के समुद्रके तीरपर निवास करता था तो जिसकालविषे तिसकी स्त्री गर्भवती भयी तो कहने लगी हे स्वामिन्, मैं गर्भवती भयीहूं यातें हमारेकूं अंडे देनेके अर्थ समुद्रके तीरसें दूर किसी शुष्कस्थलविषे जायकर निवास करणा योग्य है ॥ तो टिट्टिभने कहा, हे प्रिये, तूं भयका परित्यागकरके इसी स्थलमेंहि अंडे उतारदे समुद्रकी क्या शक्ति है जो हमारे अंडोंकूं अपणे जलमें डुबायसकै ॥ इस प्रकार जब वारंवार कहनेसेंभी टिट्टिभने नहि माना तो तिसकी स्त्रीने तहांहि अंडे उतारदिये तो कितनेक दिवसोंके अनंतर इससमाचारकूं जानकर समुद्रने मनमें उपहासपूर्वक अपणे जलकी एक लहरीसें तिन सर्व अंडोंका आहरण करलिया जब इसप्रकारसें समुद्रने तिस टिट्टिभके अंडोंका आहरण करलिया

तो सो पक्षी अत्यंत कोपकूं प्राप्त होयकर सर्व समुद्रके शोषण करणेके अर्थ दृढ व्यवसायकरके अपणी चंचुमें एक कशाका तृण ग्रहणकरके तिसके अग्रभागसें समुद्रमेंसें एक जलकी बिंदु लेलेकर बाहिर जायकरके क्षेपण करणे लगा जब इसप्रकार करते करते कितनाक काल हुया तो तिसकूं अत्यंत दुःखी देखकर तिसकी स्त्री औ सर्व बांधवलोक आयकरके कहने लगे हे मूर्ख, कहां लक्षयोजनविस्तृत समुद्र औ कहां तुं अल्पपक्षी यातें तूं इस असंभवव्यवसायका परित्याग करदे इत्यादिक अनेक शिक्षावाक्यों कहनेसेंभी सो टिट्टिभ अपणे धैर्यसें चलायमान नहि होता भया किंतु उलटा अपणी स्त्री औ बांधवोंकूं अनेक प्रकारके शिक्षावचन कहकरके अपणी सहायमें ले लेताभया तो सर्वबांधवोंके सहित पूर्ववत् जलका समुद्रसें बाहिर क्षेपण करणे लगा ऐसे करते करते जब कितनाक काल व्यतीत भया तो दैवयोगसें फिरतेफिरते तहां अत्यंत कृपालु नारदमुनिजी आयगये तो तिन पक्षियोंकुं अत्यंत दुःखित देखकर नारदजीनेभी तिस असाध्यकार्यसें बहुतप्रकार तिसकूं निवारण किया परंतु तोभी सो टिट्टिभ अपणे धैर्यसें चलायमान नहि होताभया तो इसप्रकारसें तिसका दृढ निश्चय देखकरके नारदजीने वैकुंठमें जायकर गरु-

१ निश्चय.

डकूं कहा हे सर्वपक्षियोंके राजा इसकालमें पृथिवीलोकविषे तेरे सजातिपक्षियोंकी समुद्रने अवज्ञा करीहै सो मानो तेरीहि अवज्ञा है यातें तेरेकूं तहां जायकरके तिनकी रक्षा करणा उचित है जब इसप्रकार नारदजीने कहा तो अत्यंत कोपायमान होयकरके गरुडभगवान् शीघ्रहि तहां आयकर अपणे विस्तृतपक्षोंसें समुद्रका शोषण करणे लगा तो समुद्रने भयभीत होयकरके तिस टिट्टिभके अंडे तत्कालहि निकासकर तीरपर रखदिये ॥ तैसेहि जो साधकरूप टिट्टिभ मनके निग्रहरूप समुद्रके शोषण करणेविषे लौकिक वैदिक सर्व व्यवहारोंके परित्यागपूर्वक दृढप्रयत्न औ व्यवसायसें प्रवृत्त होवे है तो भक्तिरूप नारदकरके प्रेरित भया ईश्वररूप गरुड तिसकी अवश्यमेव सहाय करे है इति ॥ यातें साधकपुरुषकूं विषयोंसें निवारणकरके वारंवार मनकूं धारणादेशविषे लावनेमें खेद नहि करणा चाहिये ॥ औ जो साधक धारणादेशका परित्यागकरके अन्यत्र गये हुये चित्तकी उपेक्षा करताहै अर्थात् तहांसें निवारण नहि करेहै तिसकी धारणा निष्फल होवेहै यह वार्ता महाभारतके मोक्षपर्वविषेभी कथन करीहै

"विपन्ना धारणास्तात नयंति न शुभां गतिम् ।
नेतृहीना यथा नावः पुरुषानर्णवे नृप ॥"

अर्थ०हे राजन प्रमादसें करीहुयी धारणा साधककूं शुभ

गति जो योगकी सिद्धि है तिसकी प्राप्ति नहि करेहै काहेतें जैसे समुद्रविषे कर्णधारकेविना नौका पुरुषोंकूं पार नहि करसकैहै तैसेहि धारणारूप नौका चित्तरूप कर्णधारकी स्थितिके विना साधक पुरुषोंकूं संसाररूप समुद्रसें पार नहि करेहै इति ॥ औ जो प्रमादसें रहित भया चित्तकूं जहां तहांसें निरोधकरके धारणा करेहै सो धारणाजन्य फलकूं शीघ्रहि प्राप्त होवेहै, यहवार्ताभी तहांहि कथन करीहै

"यस्तु तिष्ठति कौंतेय धारणासु यथाविधि ।
मरणं जन्म दुःखं च सुखं च स विमुंचति ॥"

अर्थ० हे राजन्, जो पुरुष शास्त्रोक्त विधिपूर्वक अप्रमत्त होयकर धारणाका अभ्यास करेहै सो निर्विकल्प समाधिकी प्राप्तिद्वारा जन्ममरण सुखदुःखादिक सर्व क्लेशोंसें विमुक्त होवेहै इति ॥ सो यह धारणा एकचित्त होयकर करणी बहुत कठिन है यह वार्ताभी तहांहि कथन करीहै

"सुस्थेयं क्षुरधारासु निशितासु महीपते ।
धारणासु तु योगस्य दुःस्थेयमकृतात्मभिः ॥"

अर्थ० हे युधिष्ठिर, अत्यंत तीक्ष्ण क्षुरकी धारापर स्थित होना सुगम है परंतु विक्षिप्तचित्तवाले पुरुषोंकूं पूर्वोक्त योग धा-

---

मल्लाह.

रणाविषे स्थित होना बहुत कठिन है इति ॥ यातें साधककूं अत्यंत प्रयत्नकरकेहि चित्तकूं धारणादेशविषे स्थापन करणा योग्य है यह वार्ताभी तहांहि कथन करीहै

"स्नेहपूर्णे यथा पात्रे मन आधाय निश्चलम् ।
पुरुषो युक्त आरोहेत्सोपानं युक्तमानसः ॥"

अर्थ०जैसे तैलकरके पूर्ण पात्रकूं हस्तविषे ग्रहणकरके एकाग्रमनसें पुरुष सीढीपर आरोहण करेहै तैसेही योगीपुरुष धारणाविषे एकाग्र मन लगायकरके निर्विकल्पसमाधिविषे आरोहण करेहै इति ॥ सो यह धारणा स्वशरीरमें स्थित पांचमहाभूतोंविषेभी होवेहै सो तिसका प्रकार याज्ञवल्क्यसंहितामें निरूपण कियाहै सोभी प्रसंगसें यहां दिखावेहैं

"भूमिरापस्तथा तेजो वायुराकाश एव च ।
एतेषु पंचभूतेषु धारणा पंचधेष्यते ॥
पादादि जानुपर्यंतं पृथ्वीस्थानं प्रकीर्तितम् ।
आजान्वोर्नाभिपर्यंतमपां स्थानं प्रकीर्तितम् ॥
आनाभेर्हृदयांतं च वन्हिस्थानमुदाहृतम् ।
आहृन्मध्याद्भ्रुवोर्मध्यं यावद्वायुस्थलं स्मृतम् ॥
आभ्रूमध्यात्तु मूर्द्धांतं यावदाकाशमिष्यते ॥"

अर्थ०भूमि, जल, तेज, वायु, आकाश, इन पांच महाभूतोंमें पांच प्रकारकी धारणा होवेहै तिनमें पादसें लेकर

जानुपर्यंत पृथिवीतत्वका स्थान है औ जानुसें लेकर नाभि-पर्यंत जलतत्वका स्थान है तथा नाभिसें लेकर हृदयपर्यंत अग्नितत्वका स्थान है औ हृदयसें लेकर भ्रुवोंके मध्यदेशपर्यंत वायुतत्वका स्थान है तथा भ्रुवोंके मध्यदेशसें लेकर ब्रह्मरंध्रपर्यंत आकाशतत्वका स्थान है ॥ सो इन पांच तत्वोंमें देवता औ बीजके सहित धारणा करणी चाहिये तिनमें प्रथम

"पृथिव्यां वायुमास्थाय लकारेण समन्वितम् ।
ध्यायेच्चतुर्भुजाकारं ब्रह्माणं सृष्टिकारणम् ॥
धारयेत् पंचघटिकाः सर्वरोगैः प्रमुच्यते ॥"

अर्थ० पृथ्वीस्थानविषे प्राणवायुका धारण करके लं बीज-के सहित चतुर्भुजाकरके युक्त औ सृष्टिकी उत्पति करणेहारे ब्रह्माका ध्यान करे इस प्रकार पंच घटिकापर्यंत धारणा करणेसें योगीके शरीरगत सर्व रोगोंका नाश औ पृथिवी-तत्वका जय होवेहै इति ॥ तथा

"वारुणे वायुमारोप्य वकारेण समन्वितम् ।
स्मरन्नारायणं सौम्यं चतुर्बाहुं शुचिस्मितम् ॥
शुद्धस्फटिकसंकाशं पीतवाससमच्युतम् ।
धारयेत् पंचघटिकाः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥"

अर्थ० जलके स्थानविषे प्राणवायुका निरोधकरके वं बीज-

केसहित चतुर्भुजावान् औ शुद्धस्फटिकमणिके समान वर्ण तथा पीतवस्त्रोंकरके शोभायमान औ मंद मंद हास्य करते- हुये सुंदरमूर्ति नारायणजीका ध्यान करे इस प्रकार पांच घटिकापर्यंत धारणा करणेसें सर्व पापोंका विनाश औ जल- तत्वका जय होवेहै इति ॥ तथा

"वन्हौ चानिलमारोप्य रेफाक्षरसमन्वितम् ।
त्र्यक्षं च वरदं रुद्रं तरुणादित्यसन्निभम् ॥
भस्मोद्धूलितसर्वांगं सुप्रसन्नमनुस्मरेत् ।
धारयेत् पंचघटिका वह्निनाऽसौ न दह्यते ॥"

अर्थ० अग्निके स्थानमें प्राणवायुका धारणकरके रं बीज- के सहित त्रिलोचन औ तरुणादित्यके समान प्रकाश- वान् तथा प्रसन्नमुख औ सर्व अंगोंमें भस्म धारण कियेहुये महारुद्रका ध्यान करे ॥ इस सकार पांच घटिकापर्यंत धारणा करणेसें सो साधक पुरुष अग्निकरके दग्ध नहि होवेहै अ- र्थात् अग्नितत्वका जय होवेहै इति ॥ तथा

"मारुतं मारुतस्थाने यकारेण समन्वितम् ।
चिंतयेच्चेश्वरं शांतं सर्वज्ञं सर्वकारणम् ॥
धारयेत् पंचघटिका वायुवद्व्योमगो भवेत् ॥"

अर्थ० वायुके स्थानविषे प्राणवायुका निरोध करके यं बीजके सहित सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् शांत सर्वव्यापक सर्वके

कारण ईश्वरका ध्यान करे इस प्रकार पांच घटिकापर्यंत धारणा करणेसें योगी वायुकी न्यांई आकाशमें गमन करेहै अर्थात् वायुतत्वका जय होवेहै इति ॥ तथा

"आकाशे वायुमारोप्य हकारोपरि शंकरम् ।
बिन्दुरूपं महादेवं व्योमाकारं सदाशिवम् ॥
शुद्धस्फटिकसंकाशं बालेन्दुधृममौलिनम् ।
पंचवक्रयुतं सौम्यं दशबाहुं त्रिलोचनम् ॥
सर्वायुधोद्यतकरं सर्वाभरणभूषितम् ।
उमार्द्धदेहं वरदं सर्वकारणकारणम् ॥
चिंतयेन्मनसा नित्यं मुहूर्तमपि धारयेत् ।
स एव मुक्त इत्युक्तस्तांत्रिकेष्वपि शिक्षितैः ॥"

अर्थ० आकाशके स्थानविषे हं बीजके सहित प्राणवायुका स्थापन करके तिसके ऊपर ॐकारकी अर्द्धमात्रारूप आकाशकीन्यांई व्यापक औ शुद्धस्फटिकके समान गौरवर्ण तथा मस्तकविषे बालचंद्रमा औ पांच मुख दश भुजा तथा एक एक मुखमें तीन तीन नेत्र औ हस्तोंमें खड्ग शूल पिनाक आदिक आयुध औ सर्व प्रकारके भूषणोंकरके विभूषित तथा अर्द्धांगमें पार्वतीकरके युक्त जो सर्वकारणोंकेभी कारण महादेव हैं तिनका ध्यान करे इस प्रकार एक मुहूर्तभी धारणा करे तो सो पुरुष मुक्तस्वरूप होवेहै औ आकाशतत्वका-

भी जय होवेहै इति ॥ यह पांच महाभूतोंकी धारणाकी विधि है ॥ इस प्रकारसें धारणाद्वारा पांच महाभूतोंके जय होनेतें योगी अमरभावकूं प्राप्त होवेहै यह वार्ता शिवसंहितामेंभी कथन करीहै

"मेधावी पंचभूतानां धारणां यः समभ्यसेत् ।
ब्रह्मशतगतेनापि मृत्युस्तस्य न विद्यते ॥"

अर्थ॰ जो मेधावी योगीपुरुष पूर्वोक्त प्रकारसें पांच महाभूतोंकी धारणाका अभ्यास करता है सो पांच महाभूतोंके जय होनेतें सौ ब्रह्माके चले जानेसेंभी तिसकी मृत्यु नहि होवेहै इति ॥ सो इन उक्त धारणाविषे सर्वतरफसें निग्रहपूर्वक स्थापनकरके मनकूं एकाग्र करणा चाहिये ॥ किंच पतंजलिऋषिने योगसूत्रोंमें मनके निग्रह करणेके अर्थ अन्यभी उपाय कथन कियेहैं ॥ सोभी संक्षेपसें यहां दिखावेहैं

"विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबंधनी॥"

अर्थ॰ विषयवती प्रवृति उत्पन्न भयीभी मनकी स्थिरतामें कारण होवेहै, तात्पर्य यह ॥ जिह्वाके अग्रभागविषे चित्तकी एकाग्र धारणा करणेसें अल्पकालविषेहि साधक पुरुषकूं दिव्यरसकी उपलब्धि होवेहै औ जिह्वाके मध्यदेशविषे धारणा करणेसें दिव्यस्पर्शकी उपलब्धि होवेहै तथा जिह्वाके मूलदेशविषे धारणा करणेसें दिव्यशब्दकी उपलब्धि होवेहै औ

तालुविषे धारणा करणेसें दिव्यरूपका अनुभव होवेहै तथा नासिकाके अग्रभागविषे धारणा करणेसें दिव्यगंधकी उपलब्धि होवेहै ॥ इस प्रकारसें जिस कालविषे पांच दिव्यविषयोंका साक्षात्कार होवेहै तिसका नाम विषयवती प्रवृत्ति है ॥ सो इन विषयोंके सात्क्षात्कार होनेसें तिनमें आसक्त भया मन बाह्यमुखताका परित्याग करके तहांहि स्थिरभावकूं प्राप्त होवेहै इति ॥ सो यद्यपि यह पतंजलिमहर्षिका कथन सत्यहि है काहेतें तिसकूं सवज्ञ औ सत्यवक्ता होनेतें तथापि जबपर्यंत उक्त पांच विषयोंमेंसें साधककूं एकका भी साक्षात्कार नहि होवेहै तबपर्यंत तिसका दृढ विश्वास नहि होवेहै ॥ औ जो एकका भी साक्षात्कार होवेहै तो यावत्पर्यंत वक्ष्यमाण अणिमादिक ऐश्वर्यसें लेकर कैवल्यमोक्षपर्यंत योगका फल है तिस सर्वमें दृढ विश्वास उत्पन्न होवेहै औ दृढ विश्वासके होनेतेंहि शीघ्र योगकी सिद्धि होवेहै यातें दृढ विश्वासकी उत्पत्तिके अर्थ साधक पुरुषकूं उक्त विषयोंमेंसें एक अथवा दोका अवश्यहि धारणाद्वारा साक्षात्कार करणा योग्य है इति ॥ अथवा "विशोका वा ज्योतिष्मती"

अर्थ०शोकसें रहित जो ज्योतिष्मती प्रवृत्ति है सोभी उत्पन्न भयी चित्तकी स्थिरताका हेतु होवेहै तात्पर्य यह ॥ हृदयकमलमें कल्लोलसें रहित क्षीरसागरकी न्यांई चित्तसत्वकी

भावना करणेसें सूय चंद्रमा अथवा तारा वा मणिकी न्यांई हृदयदेशमें तेजःपुंजकी उपलब्धि होवेहै काहेतें चित्तसत्वकूं तेजोमय होनेतें ॥ यह वार्ता कृष्णयजुर्वेदकी श्वेताश्वतरउपनिषत्‌मेंभी कथन करीहै

"नीहारधूमार्कानलानिलानां
खद्योतविद्युत्स्फटिकशशिनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि
ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥"

अर्थ० जिसकालविषे योगाभ्यास करणेमें नीहार, धूम, सूर्य, अग्नि, वायु, विद्युत्, खद्योत, स्फटिकमणि, चंद्रमा, इत्यादिक रूपोंकी हृदयदेशविषे उपलब्धि होवेहै तो पश्चात् समाधिद्वारा शीघ्रहि ब्रह्मका साक्षात्कार होवेहै इति ॥ तथा योगवासिष्ठके उपशमप्रकरणविषे उद्दालकमुनिके आख्यानमेंभी कथन कियाहै "तमस्युपरते स्वांते तेजःपुंजं ददर्श सः ।" अर्थ० धारणा करके तमके नष्ट होनेतें पश्चात सो उद्दालकमुनि अपणे हृदयमें तेजका पुंज देखता भया इति ॥ इस प्रकारसें जिस कालविषे योगीकूं हृदयदेशविषे तेजःपुंजका साक्षात्कार होवेहै तो किंचित्‌मात्रभी शोक नहि रहेहै यातें तिसका नाम विशोका ज्योतिष्मतीप्रवृत्ति है इसके साक्षात्कार हुयेभी चित्तकी स्थिरता होवेहै इति ॥

इसीकूं योगीलोक आत्मसाक्षात्कार कहतेहैं ॥ अथवा "स्वप्ननिद्राज्ञानालंबनं वा" अर्थ० वेदांतशास्त्रके श्रवणपूर्वक सर्व जगत्‌विषे स्वप्नकी न्यांई औ सुषुप्तिकी न्यांई ज्ञानका आलंबन करे अर्थात् इस सर्व जगत्‌कूं स्वप्नके तुल्य अथवा सर्व तरफसें संसुप्त शून्यकी न्यांई देखे इति ॥ यह वार्ता योगवार्तिकमेंभी कथन करीहै

"दीर्घस्वप्नमिमं विद्धि दीर्घं वा चित्तविभ्रमम् ।
चराचरं लय इव प्रसुप्तमिह पश्यताम् ॥

अर्थ० इस चराचर सर्व जगत्‌कूं दीर्घ कालका स्वप्न अथवा चित्तका विभ्रम जाने अथवा प्रलयकालकी न्यांई सर्व तरफसें शून्यवत् प्रसुप्त भया देखे इति ॥ इस प्रकारकी धारणा करणेसेंभी चित्तकी स्थिरता होवेहै इति ॥ अथवा "यथाभिमतध्यानाद्वा" अर्थ० विष्णु महादेवादिक जो ध्येय देवता हैं तिनमेंसें जो अपणा इष्ट देव होवे तिसहीका ध्यान करे तिसकरकेभी मनकी स्थिरता होवेहै इति ॥ तथा "ईश्वरप्रणिधानाद्वा" अर्थ० सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् प्रकृतिका नियंता अव्यक्त जो ईश्वर है तिसका आराधन करणेसेंभी चित्तकी स्थिरता होवेहै ॥ सो ईश्वरका लक्षणभी तहांहि पतंजलिने कथन कियाहै "क्लेशकर्मविपाकाशयैरप-

रामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" अर्थ० अविद्या, अस्मिता[1], राग, द्वेष, अभिनिवेश[2], यह जो पांच प्रकारके क्लेश हैं औ शुभाशुभ जो द्विविध कर्म हैं तथा तिन कर्मोंके जो सुखदुःखरूप फल हैं औ तिन सुखदुःखोंके जो संस्कार हैं तिन सर्वकरके वर्जित जो सर्वसें उत्कृष्ट पुरुष है तिसका नाम ईश्वर है इति ॥ यद्यपि परमार्थदृष्टिसें सर्व जीवोंका आत्माभी उक्त क्लेशकर्मादिकोंकरके वर्जित है तथापि जैसे सेनाविषे वर्तमान जय पराजयका राजामें आरोपण होवेहै तैसेहि अंतःकरणगत क्लेशकर्मादिकोंका आत्माविषे आरोपण होवेहै औ ईश्वरमें तो शुद्धसत्वमय उपाधि होनेतें क्लेशकर्मादिकोंका आरोपणभी नहि संभवेहै यातें ईश्वर सर्वसें उत्कृष्ट पुरुष है ॥ औ जो कोई कहे मुक्त पुरुषोंविषेभी क्लेशकर्मादिकोंके आरोपणका अभाव होनेतें सोभी ईश्वर होवेंगे यह वार्ताभी संभवे नहि, काहेतें मुक्त पुरुषोंविषे भूत बंधकोटिका सद्भाव होवेहै औ नित्यमुक्त सर्वज्ञ ईश्वरमें तो भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालविषेभी बंधपणा संभवता नहि यातें मुक्त पुरुषोंकूंभी ईश्वरता संभवे नहि ॥

---

१ अंतःकरण औ पुरुषके भिन्न अविवेकसें जो अहंकर्ता, अहंभोक्ता इसप्रकारकी वृत्तिविशेष है तिसका नाम अस्मिता है.
२ मृत्यूका भय.

औ जो कथंचित् कोई दूसरा ईश्वर सिद्धभी करोगे तो जगत्की व्यवस्था नहि संभवेगी काहेतें एक कालविषेहि एक ईश्वरने इच्छा करी जो अग्नि उष्ण होवे औ दूसरेने करी अग्नि शीतल होवे तो जो दोनोंमेसें एककी इच्छा पूर्ण होवे तो दूसरेकूं ईश्वरपणा संभवे नहि औ जो दोनोंकी इच्छा पूर्ण होवे तो उष्णत्व, शीतलत्व, धर्मोंकूं परस्पर विरुद्ध होनेतें अग्निकी स्वरूपसिद्धिहि नहि होवेगी इस प्रकार सर्व जगत्हि व्यवस्थासें रहित भया नाशकूं प्राप्त होवेगा ॥ औ जो दोनोंकी मिलकरके एकहि इच्छा मानोगे तो अन्योन्याश्रयदोषकी प्राप्ति औ ईश्वरकी स्वतंत्रताका विघात होवेगा औ जब ईश्वरकी स्वतंत्रताका विघात हुया तो ईश्वरको स्वतंत्रताकी प्रतिपादन करणेहारी जो अनेकहि श्रुतिस्मृतियां हैं तिनकूं व्यर्थापत्ति होवेगी यातें ईश्वर एक, स्वतंत्र, सर्वज्ञ, नित्यमुक्त है यह वार्ता सिद्ध भयी ॥ तथा कृष्णयजुर्वेदकी श्वेताश्वतरउपनिषत्मेंभी कहाहै

"तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्तात्
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥
न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके

न चेशता नैव च तस्य लिङ्गम् ॥
सकारणं करणकाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥"

अर्थ० जो देव ईश्वर जो ब्रह्मादिक हैं तिनकाभी महान् ईश्वर है औ देवता जो इन्द्रादिक हैं तिनकाभी परम दैवत है तथा कश्यप, दक्ष आदिक जो प्रजापति हैं तिनकाभी पति है औ कार्य प्रपंचसें परे जो प्रकृति है तिसतेंभी परे है तिस देवकूं हम ऋषिलोक जानतेहैं" तथा इस जगत्विषे तिसका अन्य कोई पति औ प्रेरणा करणेहारा नहिंहै तथा तिसकी कोई प्रत्यक्ष व्यक्तिभी नहिहै औ सोई सर्व जगत्का कारण है तथा चक्षुआदि करणोंका अधिपति जो जीवात्मा है तिसकाभी अधिपति है इसी कारणसें तिसका कोई अन्य जनक औ अधिपति नहि है इति ॥ सो तिस ईश्वरके आराधन करणेका विधानभी योगसूत्रोंमें कथन कियाहै "तस्य वाचकः प्रणवः" अर्थ० तिस ईश्वरका वाचक अर्थात् नाम प्रणव कहिये ॐकार है औ ईश्वर तिसका वाच्य है ॥ यह वार्ता याज्ञवल्क्यनेंभी कथन करीहै

"अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः ।
तस्योंकारः स्मृतो नाम तेनाहूतः प्रसीदति ॥"

अर्थ० अदृष्टविग्रह औ मनोमय तथा भावकरके ग्राह्य

जो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर है तिसका ॐकार नाम है सो जैसे नामकरके बुलाया हुया पुरुष समीप आवेहै तैसेहि ॐकारके जप करणेसें ईश्वरकी सन्निधि औ प्रसन्नता होवेहै इति सो यह ईश्वर औ प्रणवका वाच्यवाचकभावसंबंध अनादि है किसी करके नवीन नहि किया जावेहै किंतु सं-केत करके तिसका प्रकाश होवेहै जैसे पितापुत्रका प्रथम विद्यमान संबंधका पश्चात् लोकोंकरके यह इसका पिता है यह पुत्र है इस प्रकारसें प्रकाश होवेहै ॥ "तज्जपस्तदर्थभा-वनम्" अर्थ० तिस प्रणवका विधिपूर्वक जो जप औ तिस-के अर्थका चिंतन करणा है सो ईश्वरका परम आराधन है तिनमें जपकी विधि तो पूर्वहि निरूपण करि आयेहैं औ ॐ कारका अर्थ अनेक प्रकारसें श्रुतिस्मृतियोंविषे निरूपण कि-याहै परंतु तिन सर्वमें अथर्ववेदकी मांडूक्यउपनिषत्में जो अर्थ कथन कियाहै सोई सर्व आचार्योंकूं संमत है सो संक्षेपसें यहां दिखावेहैं ॥ अकार, उकार, मकार, अर्धमात्रा, इस भेद-सें ॐकारकी च्यारि मात्रा हैं तिनमें जाग्रतअवस्था, विश्व, विराट, यह तीनों अकारका अर्थ है औ स्वप्नावस्था, तैजस हिरण्यगर्भ, यह तीनों उकारका अर्थ है तथा सुषुप्तिअवस्था, प्राज्ञ, ईश्वर यह तीनों मकारका अर्थ है औ तुरीयावस्था, साक्षी, ब्रह्म, यह तीनों अर्द्धमात्राका अर्थ है अर्धमात्रकूं

अमात्र ॐकारभी कहेतेहैं ॥ इस प्रकारसें चारों मात्रोंका अर्थचिंतन करके पश्चात् अकारका उकारमें औ उकारका मकारविषे तथा मकारका अमात्र ॐकारमें लय चिंतन करे यह ॐकारके अर्थका विधान है औ जो इसका विशेषविधान है सो विचारसागर अथवा सुरेश्वराचार्यकृत पंचीकरणविषे देखलेना ॥ सो यद्यपि योगभाष्यकारने प्रणवका इस प्रकारसें अर्थ नहि कियाहै तथापि उक्तप्रकारसें अभेदचिंतन करणाहि ईश्वरका परम आराधन है काहेतें "द्वितीयाद्वै भयं भवति" इत्यादिक श्रुतियोंविषे भेददर्शी पुरुषकूं भय प्रतिपादन कियाहै ॥ सो यह प्रणवहि सर्व मंत्रोंमें श्रेष्ठ मंत्र है, यह वार्ता पराशरस्मृतिविषेभी कथन करीहै ॥

"सर्वेषां जपसूक्तानामृचां च यजुषां तथा ।
साम्नां चैकाक्षरादीनां गायत्री परमो जपः ॥
तस्याश्चैव तु ॐकारो ब्राह्मणाय उपासतः ॥"

अर्थ० यावत्मात्र च्यारि वेदोंविषे जप, सूक्त, ऋचा, यजुः एकाक्षरादिक साम हैं तिन सर्वविषे गायत्रीमंत्र उत्तम है पुना गायत्रीसेंभी ब्राह्मण[1]करके उपासित किया हुया

---

१. यहां ब्राह्मणशब्द वैदिकसंस्कारयुक्त क्षत्रिय औ वैश्यकाभी उपलक्षण जानना औ शूद्रकोतो प्रणववर्जित शिवपंचाक्षर अथवा नारायणाष्टाक्षर मंत्रकाहि जप करणा चाहिये क्युंकि शूद्रका प्रणवजपमें अधिकार नहिहै ॥

ॐकारमंत्र उत्तम है इति ॥ किंच ॐकारहि सर्व वेदोंका सार है, यह वार्ता सामवेदकी छांदोग्यउपनिषत्‌मेंभी कथन करीहै

"प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत् तेभ्योभितप्तेभ्यस्त्र-
यीविद्यासंप्रास्रवत्तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ता-
या एतान्यक्षराणि संप्रास्रवंत भूर्भुवःस्वरिति
तान्यभितपत्तेभ्योभितप्तेभ्य ॐकारः संप्रा-
स्रवत्तद्यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि संतृणान्ये-
वमोंकारेण सर्वा वाक् संतृणा ॐकार एवेदꣳसर्वम्"

अर्थ० प्रजाका पति जो ब्रह्मा है सो जगत्‌के आदिकाल-विषे तीनों लोकोंकूं उत्पन्न करके तिनकूं सारदृष्टिसें मंथन कर-ता भया तो तिनके मंथन करणेसें तिनमेंसें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, यह तीन वेद निकसे पुना तिन तीनों वेदोंकूं मंथन करता भया तिनके मंथन करणेसें भूः, भुवः, स्वः, यह तीन व्याहृतियां निकसी, पुना तिनकूंभी मंथन करता भया तिनके मंथन करणेसें ॐ यह एक अक्षर निकसा सो जैसे शंकुक[1] रके सर्व वृक्षोंके पत्र ओतप्रोत होतेहैं तैसेंहि इस ॐकारकरके सर्व वाचा ओतप्रोत होय रही है औ वाचाविषे सर्व जगत् ओतप्रोत है काहेतें वाचाविना किसी पदार्थकीभी सिद्धि

१ रेखा.

नहि होवेहै यातें ॐकारहिं सर्व जगत्रूप है इति ॥ तथा इसप्रकारसें ॐकारका जप औ अर्थचिंतन करणेका फलभी योगसूत्रोंमें हि कथन कियाहै

"ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोप्यंतरायाभावश्च"

अर्थ० उक्तप्रकारसें प्रणवका जप औ अर्थचिंतनकरणेसें प्रत्यक्चेतन जो अंतरात्मा है तिसका साक्षात्कार होवेहै यह वार्ता योगवासिष्ठके उपशमप्रकरणविषेभी कथन करीहै "ॐकारोच्चारितो येन तेनाप्तं परमं पदम्" अर्थ० जिस पुरुषने विधिवत् ॐकारका उच्चारण किया है सोई परमपदकूं प्राप्त होता भया है इति ॥ तथा अथर्ववेदकी प्रश्न उपनिषत्मेंभी कहाहै "एतद्वै सत्यकाम परंचापरं च ब्रह्मयदोंकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति" अर्थ० हे सत्यकाम यह ॐकारहि पर औ अपर ब्रह्मरूप है यातें उपासकपुरुष इसहिकरके पर अथवा अपर ब्रह्मकूं प्राप्त होतेहैं तिनमें जो निष्काम होवेहैं सो तो ज्ञानकी प्राप्तिद्वारा यहांहि मोक्षकूं प्राप्त होतेहैं औ जो सकाम होवेहैं सो ब्रह्मलोकमें जायकर कल्पके अंतविषे ब्रह्माके साथ मोक्षकूं प्राप्त होतेहैं इति ॥ तथा "अंतरायाभावः" कहिये ॐकारके जप औ अर्थचिंतन करणेसें योगा-

१ संधिरार्षः

भ्यासविषे जो विघ्न होवेहै तिनकीभी निवृत्ति होवेहै ॥ सो-
तिन विघ्नोंके नामभी योगसूत्रोंमेंहि निरूपण कीयेहैं

"व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रांतिदर्शना
लब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेंतरायाः"

अर्थ० व्याध, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अवि-
रति, भ्रांतिदशन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व, इसभेद-
सें चित्तके विक्षिप्तकरणेहारे नवप्रकारके विघ्न हैं ॥ तिनमें वा-
तपित्तादिक धातुवोंकी विषमताकरके जो शरीरविषे ज्वरा-
दिक रोग होवेहै तिसका नाम व्याधिहै ॥ औ चित्तकी जो
अकमण्यता कहिये योगाभ्यासरूप कर्मविषे अप्रवृत्ति है तिस-
का नाम स्त्यान है ॥ तथा योगाभ्यास करणा योग्यहै अ-
थवा नहि इसप्रकारकी उभयकोटी आलंबन करणेहारी जो
चित्तकी वृत्ति है तिसका नाम संशय है ॥ औ समाधिके
साधनोंविषे जो उदासीनता है तिसकूं प्रमाद कहतेहैं ॥ तथा
योगाभ्यासविषे प्रवृत्तिके अभावका हेतु जो शरीर औ म-
नका गुरुत्व है सो आलस्य कहिये है ॥ औ चित्तविषे जो
स्त्रीआदिक विषयोंकी अभिलाषाहै तिसका नाम अविरति है
तथा योगके साधनविषे असाधनबुद्धि औ असाधनविषे जो
साधनबुद्धि है तिसका नाम भ्रांतिदर्शन है ॥ औ व्यवहार-
प्रसक्तिआदिक किसी निमित्तकरके जो योगभूमिकाकी अ-

प्राप्ति है तिसका नाम अलब्धभूमिकत्व है ॥ तथा योगभूमि-
काकी प्राप्ति भयेतें अनंतर जो तिसविषे चित्तकी अप्रतिष्ठा
है सो अनवस्थितत्व कहियेहै ॥ इसप्रकारसें यह सर्वहि चि-
त्तकी एकाग्रताविषे विरोधि होनेतें विघ्नरूप हैं इति ॥ सो
पूर्वोक्तप्रकारसें ॐकारके जपद्वारा ईश्वरके आराधन करणेसें
तिन सबकी निवृत्ति होवेहै तो पश्चात् निराकुल भया चित्त
धारणादेशविषे स्थिरभावकूं प्राप्त होवेहै इति ॥ यातें योगी
पुरुषकूं सर्वविघ्नोंके नाशपूर्वक समाधिकी सिद्धिविषे हेतुभूत
जो ईश्वरका आराधन है सो अवश्यहि करणा योग्य है का-
हेतें ईश्वरके अनुग्रहकरकेहि यह पुरुष सिद्धिकूं प्राप्त होवेहै
यह वार्ता श्रुतिमेंभी कथन करीहै "एष उह्येव साधु कर्म कारय-
ति तं तमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीशते" अर्थ० यह ईश्वरहि जिस
पुरुषकूं ऊर्ध्वलोकोंविषे लेजानेकी इच्छा करताहै तिससें शु-
भकर्माचरण करावताहै इति ॥ तथा शारीरकसूत्रोंमें व्यासजी-
नेभी कहाहै "परात्तु तच्छ्रुतेः" अर्थ० यह जीव इश्वरके अ-
धीन भयाहि शुभाशुभकर्मविषे प्रवृत्त होवेहै काहेतें इसवार्ता
विषे उक्त श्रुतिके प्रमाण होनेतें इति ॥ तथा गीताके अष्टा-
दशाध्यायविषे भगवानूनेभी कहाहै

"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्"

अर्थ० हे अर्जुन तुं तिस एक ईश्वरकीहि शरणकूं प्राप्त-होहु काहेतें तिस ईश्वरके अनुग्रहकरकेहि तुं परम शांति औ अचल स्थानकूं प्राप्त होवेगा इति ॥ शंका ॥ तुमने जो कहा साधक पुरुषकूं ईश्वरका आराधन करणा चाहिये सो वार्ता असंभव है काहेतें अनेक श्रुति स्मृतियोंविषे जीव औ ईश्वरकूं एकरूपता कथन करीहै ॥ समाधान ॥ यद्यपि परमार्थदृष्टिसें जीव ईश्वरसें अभिन्नहि है तथापि जीवकूं ईश्वरका अवश्य-मेव आराधन करणा योग्य है, यह वार्ता षट्पदीविषे शंकराचार्यनेभी कथन करीहै

"सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः ॥"

अर्थ०हे सर्व जगत्के नाथ ईश्वर, यद्यपि तुमारे औ ह-मारेमें जो भेद था सो तो ज्ञानकी प्राप्ति होनेतें नाशकूं प्राप्त होगयाहै तथापि मैं तुमारा हुं तुम हमारे नहि–काहेतें जैसे यद्यपि जलरूपसें समुद्र औ तरंग एकहि होतेहैं तथापि तिन-में तरंगहि समुद्रका होवेहै समुद्र तरंगका कहींभी नहि होवेहै इति याते ईश्वरका आराधन ज्ञानवानकाभी करणा उचित है ॥ १८ ॥ इस प्रकारसें धारणाका लक्षण औ तिसका उपयोगी ईश्वरका आराधन निरूपण करके अब योगका सप्तम अंग जो ध्यान है तिसका लक्षण वर्णन करेहैं ॥

॥ इन्द्रवंशा वृत्तम् ॥

वृत्त्येकतानत्वमखंडितं तु य-
त्तत्रान्यसंकल्पविकल्पजालकैः ॥
तैलस्य धारेव समाधिगोपुरं
ध्यानं तदेवाहुरदीनचेतसः ॥ १८ ॥

वृत्त्येकतानत्वमिति ॥ तत्र कहिये तिस पूर्वोक्त धारणादेशविषेहि नानाप्रकारके अन्य संकल्पविकल्पोंकरके अखंडित जो चित्तवृत्तिका तैलधारकी न्यांई 'एकतानत्व' कहिये सदृशप्रवाह है तिसकूं उदारचित्तवाले योगीजन समाधिका द्वारभूत ध्यान कहतेहैं ॥ इति तथा योगसूत्रोंमें पतंजलिनेभी कहाहै "तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" अर्थ० तिस धारणादेशमेंहि अन्यवृत्तियोंकरके अनिश्रित जो चित्तवृत्तिका सदृश प्रवाह है तिसका नाम ध्यान है इति ॥ सो ध्यान सगुण औ निर्गुण इस भेदसें दो प्रकारका है तिनमें पुना विष्णुध्यान, अग्निध्यान, सूर्यध्यान, भ्रूध्यान, पुरुषध्यान, इस भेदसें सगुणध्यान पांच प्रकारका है सो तिन सर्वके लक्षण

---

१ द्वारं गोपुरं द्वारीति मेदिनी.

याज्ञवल्क्यसंहितामें कथन कियेहैं सो यहां प्रसंगसें निरूपण करेहैं ॥ तिनमें

"हृत्पद्मेऽष्टदलोपेते कन्दमध्यात्समुत्थिते ।
द्वादशांगुलनालेऽस्मिंश्चतुरंगुलवन्मुखे ॥
प्राणायामैर्विकसिते केशरान्वितकार्णिके ।
वासुदेवं जगद्योनिं नारायणमजं विभुम् ॥
चतुर्भुजमुदारांगं शंखचक्रगदाधरम् ।
किरीटकेयूरधरं पद्मपत्रनिभेक्षणम् ॥
श्रीवत्सवक्षसं श्रीशं पूर्णचन्द्रनिभाननम् ।
नीलोत्पलदलाभासं सुप्रसन्नं शुचिस्मितम् ॥
शुद्धस्फटिकसंकाशं पीतवाससमच्युतम् ।
पद्मस्थस्वपदद्वंद्वं परमात्मानमव्ययम् ॥
प्रभाभिर्भासयद्रूपं परितः पुरुषोत्तमम् ।
मनसालोक्य देवेशं सर्वभूतहृदि स्थितम् ॥
सोहमात्मेति विज्ञानं सगुणं ध्यानमुच्यते ॥"

अर्थ कंदस्थानसें द्वादश अंगुलपरिमाण ऊर्ध्वकूं है नाल जिसकी औ च्यारि अंगुल मध्यसे विस्तारवान् तथा रेचक-प्राणायामके अभ्यासकरके विकासकूं प्राप्त भया जो अष्ट द-लोंकरके युक्त हृदयकमल है तिसविषे सर्व जगत्के कारण-भूत अजन्मा औ व्यापक चतुर्भुजावान् उदार अंग तथा

शंख चक्र गदा पद्म हस्तोंविषे धारण किये हुये किरीटके-यूरादिक भूषणोंकरके शोभायमान औ नील पंकजके समान श्यामवर्ण तथा प्रसन्न औ मंदमंदहास्यकरके युक्त है मुख जिनका तथा शुद्धस्फटिक मणियोंके समान है प्रभा जि-नकी औ पीत वस्त्रोंकरके युक्त तथा कमलके समान कोमल हैं चरण जिनके औ अपणे तेजकी किरणोंकरके सर्व तरफसें प्रकाशमान है स्वरूप जिनका ऐसे जो सर्वभूतोंके हृदयमें स्थित लक्ष्मीके पति पुरुषोत्तम विष्णु भगवान् हैं सो मैंहि हुं इस प्रकारसें जो एकाग्रचित्त होयकरके अभेद चिंतन करणा है सो सगुणध्यान कहियेहै इसहिका नाम विष्णुध्यान है इति इसीप्रकार शैवलोकोंको पूर्वोक्तपंचमहाभूतधारणा प्रसंगविषे कथन विधिसें महादेवजीका ध्यान करणा चाहिये ॥ तथा

"हृत्सरोरुहमध्येस्मिन् प्रकृत्यात्मककर्णिके ।
अष्टैश्वर्यदलोपेते विकारमयकेसरे ॥
ज्ञाननाले बृहत्कन्दे प्राणायामप्रबोधिते ॥
विश्वार्चिषं महावह्निं ज्वलन्तं विश्वतोमुखम् ॥
वैश्वानरं जगद्योनिं शिखानां बीजमीश्वरम् ॥
तापयंतं स्वकं देहमापादतलमस्तकम् ।
निर्वातदीपवत्तस्मिन् दीपितं हव्यवाहनम् ॥
दृष्ट्वा तस्य शिखा मध्ये परमात्मानमक्षरम् ।

नीलतोयदमध्यस्थविद्युल्लेखेव राजितम् ॥
नीवारशूकवद्रूपं पीताभं सर्वकारणम् ।
ज्ञात्वा वैश्वानरं देवं सोहमात्मेति या मतिः ॥
स गुणेषूत्तमं ह्येतत् ध्यानं योगविदो विदुरिति ॥"

अर्थ॰ प्रकृतिरूप है कर्णिका जिसकी औ अणिमादिक अष्टसिद्धिरूप हैं अष्टपत्र जिसके तथा षोडशविकाररूप हैं केसर जिसमें औ ज्ञानरूप है नाल जिसकी तथा महत्तत्त्वरूप है कंद जिसका औ रेचकप्राणायामके अभ्यासकरके विकसित है मुख जिसका ऐसा जो हृदयकमलहै तिसविषे अनेक किरणोंकरके युक्त औ च्यारितर्फसें प्रकाशमान तथा सर्वजगत्का कारणभूत औ शिखायोंका बीजभूत तथा पादतलसें लेकर मस्तकपर्यंत जो अपणे शरीरकूं तपायमानकर रहाहै औ निर्वातदेशविषे स्थित दीपककी न्यांई अचलशिखावान् ऐसा जो वैश्वानरनामा महाअग्नि है तिसकी शिखाके मध्यमें जैसे नीलमेघके बीच विद्युत्की रेखा होवेहै तैसेहि अक्षरपरमात्माकूं देखकरके नीवारके अग्रभागके समान पीतवर्ण औ सर्वजगत्का कारणभूत जो अग्निहै तिसका सो मैंहि हुं इसप्रकारसें हृदयदेशमें जो अभेदचिंतन करणा है तिसकूं

१ धान्यविशेष.

सर्व सगुणध्यानोंमें उत्तम ध्यान योगीलोक जानतेहैं यह अग्निध्यान है इति ॥ तथा

"अथवा मंडलं पश्येदादित्यस्य महामनाः ।
आत्मानं सर्वजगतः पुरुषं हेमरूपिणम् ॥
हिरण्यश्मश्रुकेशं च हिरण्मयनखं हरिम् ।
पद्मासनं चतुर्वक्त्रं सृष्टिस्थित्यंतकारणम् ॥
ब्रह्मासनस्थितं सौम्यं प्रबुद्धकमलासनम् ।
भासयन्तं जगत्सर्वं दृष्ट्वा लोकैकसाक्षिणम् ।
सोहमात्मेति या बुद्धिः सा च ध्यानेषु शस्यते ॥"

अर्थ० अथवा पूर्वोक्त लक्षण हृदयाकाशविषे सुवर्णमय श्मश्रु केश औ नखोंकरके शोभायमान तथा पद्मासनसें स्थित औ चतुर्मुख तथा सर्वजगत्की उत्पत्ति, स्थिति औ नाशका कारणभूत तथा विकसित भये कमलविषे ब्रह्मासन लगायकर विराजमान औ अतीव सौंदर्यकरके युक्त तथा सर्वजगत्के प्रकाशकरणेहारा औ सर्वलोकका साक्षीभूत ऐसा जो सर्व जगतका आत्मारूप सुवर्णमयपुरुष सूर्य भगवान् है तिनका मंडलाकारसें सो मैंहि हुं इसप्रकारसें जो अभेदचिंतन करणा है तिसका नाम सूर्यध्यान है यहि सर्व ध्यानोंमें प्रशस्त ध्यान है इति ॥ तथा

---

१. दाढीमूछेके बाल.

"भ्रुवोर्मध्येऽतरात्मानं भारूपं सर्वकारणम् ।
स्थाणुवन्मूर्ध्निपर्यंतं देहमध्यात्समुत्थितम् ॥
जगत्कारणमव्यक्तं ज्वलन्तममितौजसम् ।
मनसालोक्य सोहंस्यामित्येतद्ध्यानमुत्तमम् ॥"

अर्थ० भ्रुवोंके मध्यदेशविषे देहके मध्यभागसें लेकर मस्तकपर्यंत स्थाणुकी न्यांई स्थित औ सर्वतरफसें प्रकाशमान तथा सर्व जगत्का कारणभूत औ अमित प्रतापवान् ऐसा जो अंतरात्मा है तिसका तेजोबिंबस्वरूपसें एकाग्र मनकरके सो मैंहि हुं इसप्रकारसें जो अभेद चिंतन करणा है तिसका नाम भ्रूध्यान है यहि सर्व ध्यानोंमेसें उत्तम ध्यान है इति ॥ तथा

"उन्निद्रहृदयांभोजे सोममंडलमध्यमे ।
स्वात्मानं मंडलाकारं भोक्तृरूपिणमक्षरम् ॥
सुधारसं विमुंचद्भिश्शशिरश्मिभिरावृतम् ।
सहस्रच्छदसंयुक्तात् शिरःपद्मादधोमुखात् ॥
निर्गतामृतधाराभिः सहस्राभिः समंततः ।
प्लावितं पुरुषं तत्र चिंतयेत्तु समाहितः ॥
तेनामृतरसेनैव सांगोपांगकलेवरम् ।
अहमेव परंब्रह्म सच्चिदानंदलक्षणम् ॥"

"एवं ध्यानामृतं कुर्वन् षण्मासान्मृत्युजिद्भवेत् ।
वत्सरान्मुक्त एव स्याज्जीवन्नपि न संशयः ॥"

अर्थ० पूर्वोक्त लक्षण विकसित भये हृदयकमलमें चंद्रमंडलके मध्यदेशविषे सहस्रदलोंकरके युक्त औ अधोमुख जो दशम द्वारमें पद्म है तिसतें निकसकर नीचे पतित भयी जो अनेकहि अमृतकी धारा तिनकरके प्लावित औ सुधारसकूं सिंचन करतीहुयी चंद्रमाकी किरणोंकरके सर्वतरफसें आवृत तथा अमृतके सिंचनसें सांगोपांग पुष्ट तेजोमय शरीरकरके युक्त ऐसा जो भोक्तारूप पुरुष है तिसका मंडलाकारसें सो मैंहि सच्चिदानंद परब्रह्मरूप हुं इस प्रकारसें जो अभेदचिंतन करणा है तिसका नाम पुरुषध्यान है ॥ इस ध्यानके करणेसें साधक पुरुष षट् मासके अनंतर मृत्युकूं जय करलेवेहै औ जो वर्षपर्यंत करे तो जीवताहि मुक्तस्वरूप होवेहै इस वार्तामें संशय नहि इति ॥ यह पांच प्रकारके सगुण ध्यानके लक्षण हैं ॥ तथा निर्गुण ध्यान तो एकहि प्रकारका है तिसका लक्षणभी तहांहि कथन कियाहै ॥

"एकं ज्योतिर्मयं शुद्धं सर्वगं व्योमवद्दृढम् ।
अनंतमचलं नित्यमादिमध्यांतवर्जितम् ॥
स्थूलं सूक्ष्ममनाकाशसमवर्णमचाक्षुषम् ।
न रसं न च गंधाख्यमप्रमेयमनामयम् ॥

आनंदमजरं नित्यं सदसत् सर्वकारणम् ।
सर्वाधारं जगद्रूपममूर्तमजमव्ययम् ॥
अदृश्यं दृश्यमंतस्थं बहिःस्थं सर्वतोमुखम् ।
सर्वदृक् सर्वतः पादं सर्वस्पृक् सर्वतः करम् ॥
ब्रह्मब्रह्ममयोहं स्यामिति यद्वेदनं भवेत् ।
तदेतन्निर्गुणं ध्यानं ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ॥"

अर्थ० एक, ज्योतिर्मय, शुद्ध, आकाशकी न्यांई सर्वगत, दृढ, अनंत, अचल, नित्य, आदिमध्यअंतकरके वर्जित, स्थूल, सूक्ष्म, अनाकाश, असवर्ण, अरूप, अरस, अगंध, अप्रमेय, अनामय, आनंदस्वरूप, अजर, नित्य, सत्असत्स्वरूप, सर्व जगत्का कारण, सर्वका अधिष्ठान, सर्वजगत्रूप, अमूर्त, अजन्मा, अविनाशी, अज्ञानी जनोंकरके अदृश्य, ज्ञानी जनोंकरके दृश्य, सर्वके अंतर औ बाहिर स्थित, सर्वतरफसें मुखवाला, सर्वतरफसें नेत्रवाला, सर्वतरफसें पादवाला, सर्वतरफसें त्वचावाला, सर्वतरफसें हस्तवाला, इन सर्वविशेषणोंकरके उपलक्षित जो सच्चिदानंदस्वरूप ब्रह्म है तिसका मैं ब्रह्मस्वरूपहि हुं, इस प्रकारसें जो एकाग्रचित्त होयकरके चिंतन करणा है तिसकूं प्रकृतिसेंभी महत् जो ब्रह्म है तिसके जाननेहारे योगेश्वर लोक निर्गुणध्यान कहतेहैं इति ॥ तथा योगके ग्रंथोंमें अन्यभी अनेक प्रकारके ध्यान

कथन कियेहैं परंतु तिन सर्वमें यह उक्त षट् ध्यान उत्तम हैं यह वार्ताभी तहांहि याज्ञवल्क्यने कथन करीहै

"अन्यान्यपि बहून्याहुर्ध्यानानि मुनिपुंगवाः ।
मुख्यान्येतानि चैतेभ्यो जघन्यानीतराणि तु ॥"

अर्थ० उक्त ध्यानोंसें अन्यभी अनेक प्रकारके ध्यान मुनिलोकोनें कथन कियेहैं परंतु तिन सर्वमें यह षट् ध्यानहि मुख्य हैं दूसरे सर्वहि इनसें नीचे हैं इति ॥ सो इस ध्यानकरकेहि सर्व पापोंका विनाश होवेहै, यह वार्ता अथर्ववेदकी ध्यानबिंदुउपनिषत्मेंभी कथन करीहै

"यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं योजनान् बहून् ।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कथंचन ॥"

अर्थ० जो पर्वतके समान ऊंचे औ अनेक योजनपर्यंत विस्तृतभी पाप होवें तो ध्यान करणेतें तिन सर्वका भेदन होवेहै अन्य उपायकरके नहि इति ॥ सर्व पापोंके क्षय होनेतें अनंतर चित्तकी शुद्धि होवेहै अर्थात् मलविक्षेपका हेतु जो रजो औ तमोगुण है तिनका तिरोभाव होवेहै, यह वार्ता विवेकचूडामणिविषे शंकाराचार्यनेभी कथन करीहै

"यथा सुवर्णं पटुपाकशोधितं
त्यक्त्वा मलं स्वात्मगुणं समृच्छति ।

तथा मनः सत्वरजस्तमोमलं
ध्यानेन संत्यज्य समेति तत्त्वम् ॥"

अर्थ० जिस प्रकार क्षारादिक पाक करके शुद्ध किया हुया सुवर्ण मलका परित्याग करके अपणे उज्ज्वलत्व गुणकूं प्राप्त होवैहै तैसेहि ध्यानकरके शुद्ध भया मन सत्वगुणके अभिभव करणेहारी जो रजोतमोगुणरूप मल है तिसका परित्याग करके तत्त्व जो अपणा स्वरूप शुद्ध सत्वगुण है तिसकूं प्राप्त होवैहै इति ॥ किं च ध्यानकरकेहि आत्मतत्त्वका साक्षात्कार होवैहै, यह वार्ता ध्यानबिंदु उपनित्मेंभी कथन करीहै

"स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥"

अर्थ० शरीरकरके उपलक्षित अपणे मनकूं नीचेकी लकडी औ प्रणवकूं ऊपरकी लकडी करके सो जैसे दो लकडीके मंथन करणेतें अग्निकी प्रकटता होवैहै तैसेहि ध्यानरूप मंथनके अभ्याससें परमात्मा देवका साक्षात्कार करणा योग्य है इति ॥ तथा अथर्ववेदकी मुंडकउपनिषत्मेंभी कहाहै

"ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः"

अर्थ० ध्यान करणेहारा पुरुषहि चित्तकी शुद्धिके अनंतर तिस निष्कल परमात्माका साक्षात्कार करेहै इति ॥ तथा

ध्यानहि बंध औ मोक्षका हेतु है, यह वार्ता याज्ञवल्क्यनेभी कथन करीहै "ध्यानमेव हि जंतूनां कारणं बंधमोक्षयोः"

अर्थ० सर्व जंतुवोकूं ध्यानहि बंध औ मोक्षका कारण होवेहै अर्थात् उपेक्षित किया हुया बंधका कारण होवेहै औ सत्कारपूर्वक सेवन किया हुया मोक्षका कारण होवेहै इति॥ यातें यह ध्यान सर्व जंतुवोंकूंहि करणा योग्यहैं यह वार्ता सामवेदकी छांदोग्य उपनिषत्में नारदजीकेप्रति सनत्कुमारजीनेभी कथन करीहै "ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवांतरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायंतीवापो ध्यायंतीव पर्वता ध्यायंतीव देवमनुष्यास्तस्माद्य इह मनुष्याणां महतां प्राप्नुवंति ध्यानापादांशा इहैव ते भवंत्यथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानापादांशा इहैव ते भवंति ध्यानमुपासस्वेति"

अर्थ० पृथिवी ध्यान करतेकी न्यांई है औ अंतरिक्षभी ध्यान करतेकी न्यांई है तथा आकाशभी ध्यान करतेकी न्यांई है औ जलभी ध्यान करतेकी न्यांई हैं तथा पर्वतभी ध्यान करतेकी न्यांई हैं औ देवताभी ध्यान करतेकी न्यांई हैं तथा शमदमादिक युक्त जो श्रेष्ठ मनुष्य हैं सोभी ध्यान करतेकी न्यांई हैं यातें इस लोकविषे जो जो पुरुष द्रव्य विद्या आदिकोंकरके महत्ताकूं प्राप्त होतेहैं सो सर्वध्यानके फलकी एक

अंश करकेहि होतेहैं औ जो क्षुद्र तथा कलह करणेहारे औ पराये दोषोंकूं परोक्ष कथन करणेहारे तथा सन्मुख निंदा करणेहारे पुरुष हैं सो सर्वहि ध्यानके अभाव करकेहि होते हैं औ जो इस लोकविषे प्रभुतावान् हैं सो सर्वहि ध्यानके फलकी एक अंशकरकेहि होतेहैं यातें हे नारद तुं ध्यानकी उपासना कर इति ॥ १९ ॥ इस प्रकारसें ध्यानका लक्षण निरूपण करके अब योगका अष्टम अंग जो समाधि है तिसका लक्षण वर्णन करेहैं ॥

॥ इन्द्रवंशा वृत्तम् ॥

ध्येयस्वरूपोपगतं यदा मनो
विस्मृत्य चात्मानमथावतिष्ठते ॥
संकल्पपूगापगतं तमन्तिमं
योगस्य सन्तोऽवयवं प्रचक्षते ॥२०॥

ध्येयेति ॥ जिस कालविषे ध्येय वस्तुके स्वरूपकूं प्राप्त भया मन अपणे मननत्वस्वरूपका परित्याग करके औ सर्व प्रकारके संकल्पविकल्पोंसें रहित होयकर केवल ध्येय वस्तुके स्वरूपसेंहि स्थित होवेहै तिसकूं महात्मा योगीलोक, योगका अष्टम अंगरूप समाधि कथन करतेहैं यह वार्ता योगसूत्रोंमें पतंजलि-

नेभी कथन करीहै "तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः" अर्थ० तिसहि ध्येयालंबनप्रत्ययकी अपणे ध्येयालंबनस्वरूपका परित्याग करके ध्येय वस्तुके स्वरूपसेंहि जो स्थिति है तिसका नाम समाधि है इति ॥ तथा अथर्ववेदकी अमृतबिंदु उपनिषत्‌मेंभी कहाहै "यं लब्ध्वाप्यवमन्येत समाधिः परिकीर्तितः" अर्थ० जिस कालविषे ध्येय पदार्थके स्वरूपकूं प्राप्त भया मन आपणा अवमान करेहै अर्थात् अपणे स्वरूपका परित्याग करके ध्येय पदार्थके आकारसेंहि स्थिति होवेहै सो समाधि कहिहै इति ॥ तथा याज्ञवल्क्यसंहितामेंभी कहाहै

"सरित्पतौ निविष्टांबु यथाऽभिन्नं लयंत्वियात् ।
तथा भिन्नं मनस्तत्र समाधिं सममाप्नुयात्"

अर्थ० जैसे समुद्रविषे प्रवेशकूं प्राप्त भया जलका बिंदु समुद्रके साथ अभिन्न हुया स्थित होवेहै तैसेहि जिस कालविषे ध्येय वस्तुमें प्रवेशकूं प्राप्त भया मन ध्येय वस्तुसें अभिन्न होयकर स्थित होवेहै तो समसमाधिकूं प्राप्त होवेहै इति ॥ तथा हठयोगप्रदीपिकाविषेभी कहाहै

"सलिले सैंधवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥"

अर्थ० जैसे जलविषे स्थित भया लवण जलके संबंधसें

अपणे स्वरूपका परित्याग करके जलरूपहि होय जावेहै तैसेहि आत्माविषे स्थित भया मन जिसकालविषे अपणे मनत्वस्वरूपका परित्याग करके आत्माके साथ एकताकूं प्राप्त होवेहै तिसकूं समाधि कहतेहैं इति ॥ २० ॥ इस प्रकारसें समाधिका लक्षण निरूपण करके अब संयमका लक्षण औ फल कथन करेहैं ॥

(इन्द्रवंशा वृत्तम्)

एतत्त्रयं संयममाहुरुत्तमा ।
योगस्य मुख्यं करणं सुदुर्गमम् ॥
सिद्ध्याऽस्य सिद्ध्योघमिहाश्नुतेंजसा ।
योगंविशत्यप्यचिरं महाशयः ॥ २१ ॥

एतत्त्रयमिति ॥ पूर्व कथन किये जो धारणा ध्यान समाधि तिन तीनोंकूं योगशास्त्रके जाननेहारे उत्तम पुरुष संयम कहतेहैं तात्पर्य यह ॥ जो यह तीनों न्यारे न्यारे विषयमें किये जावें तो इनका नाम धारणा ध्यान समाधि होवेहै औ जो क्रमसें तीनों एकहि विषयमें किये जावें तो तिनका नाम संयम होवेहै यह वार्ता योगसूत्रोंमें पतंजलिनेभी कथन करीहै "त्रयमेकत्र संयमः" अर्थ० धारणा ध्यान समाधि यह

तीनों एक आलंबनमें किये हुये संयम संज्ञाकूं प्राप्त होवेहैं इति ॥ सो यह संयमहि योगका मुख्य साधन है, यह वार्ताभी तहांहि कथन करीहै "त्रयमंतरंगं पूर्वेभ्यः" अर्थ० धारणा ध्यान समाधिरूप जो संयम है सो पूर्वोक्त यम नियमादिकोंसें संप्रज्ञात समाधिका अंतरंग कहिये मुख्य साधन है इति ॥ सो इस संयमकी प्राप्ति बहुत क्लेशकरके होवेहै काहेतें इसके अभ्यास करणेविषे विघ्नोंकी बहुलता होवेहै ॥ तथा अथर्ववेदकी तेजोबिंदुउपनिषत्‌मेंभी कहाहै

"दुःसाध्यं च दुराराध्यं दुष्प्रेक्ष्यं च दुराश्रयम् ।
दुर्लक्ष्यं दुस्तरं ध्यानं मुनीनां च मनीषिणाम् ॥"

अर्थ० यह ध्यानोपलक्षित संयम महाबुद्धिवाले मुनिलोकोंकरकेभी क्लेशसें सिद्ध होवेहै औ क्लेशकरकेहि इसका आवर्त्तन होवेहै तथा इसका यथार्थ ज्ञानभी क्लेशकरकेहि होवेहै औ इसका आश्रय जो हृदयादिक देश हैं सोभी दुर्विज्ञेय हैं तथा इसकी लक्ष्यविषे स्थिति होनीभी क्लेशकरकेहि होवेहै तथा इसकी सांगोपांग फलप्राप्तिपर्यंत निर्विघ्न परिसमाप्ति होनीभी बहुत कठिन है इति ॥ तथा योगशिखाउपनिषतमेंभी कहाहै

"जन्मान्तरसहस्रेषु यदा नाश्नाति किल्बिषम् ।
तदा पश्यति योगेन संसारच्छेदनं परम् ॥"

अर्थ० अनेक जन्मांतरोंविषे अभ्यास करतेहुये जिस कालमें किंचिन्भी पाप नहि रहेहै तोभी यह साधक पुरुष संयमरूप योगकी प्राप्तिद्वारा जन्ममरणरूप संसारके छेदन करणेहारे आत्मतत्त्वका निर्विकल्पसमाधिविषे साक्षात्कार करेहै इति ॥ सो जिस कालविषे तिस संयमकी सर्व विघ्नोंकरके रहित सिद्धि होवेहै तो पश्चात् योगीपुरुष शीघ्रहि अणिमादिक सर्व सिद्धियोंके समूहकूं प्राप्त होवेहै ॥ यह वार्ता भागवतके एकादशे स्कंधविषे उद्धवकेप्रति कृष्णजीनेभी कथन करीहै

"जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः ।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठंति सिद्धयः"

अर्थ० हे उद्धव, जो पुरुष पूर्वोक्त प्रत्याहारकी विधिसें जितेन्द्रिय औ प्राणायामकी विधिसें जितश्वास है तथा धारणा ध्यान समाधिरूप संयम करके युक्त कहिये एकाग्र चित्त है औ मेरेविषे चित्तकूं धारण करेहै तिस योगीकूं सर्व सिद्धियां आयकर प्राप्त होवेहैं इति ॥ सो जिस जिस विषयमें संयम करणेसें जिस जिस सिद्धिकी प्राप्ति होवेहै सो सर्व प्रकार योगशास्त्रके तीसरे पादविषे पतंजलिनें विस्तारसें निरूपण कियाहै सो प्रसंगसें यहां दिखावेहैं ॥ तिनमें "परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्" अर्थ० तीनप्रकारके प-

१९

रिणामोंविषे संयमकरणेसें योगीकूं अतीत औ अनागत पदार्थोंका ज्ञान प्रादुर्भूत होवेहै, तात्पर्य यह यावत् मात्र त्रिगुणोंके कार्य पदार्थ हैं तिन सर्वके धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम, अवस्थापरिणाम, इस भेदसें तीन परिणाम होतेहैं ॥ तिनमें स्थित भये धर्मीविषे पूर्व धर्मके तिरोभाव होनेतें अन्य धर्मका जो प्रादुर्भाव होनाहै तिसका नाम धर्मपरिणाम है सो जैसे मृत्तिकारूप धर्मीविषे पिंडरूप पूर्वधर्मके तिरोभाव होनेतें घटरूप अन्यधर्मका प्रादुर्भाव होवेहै ॥ तथा तिसहि घटके अनागत अध्वके तिरोभाव होनेतें वर्तमान अध्वका जो प्रादुर्भाव होनाहै तिसका नाम लक्षणपरिणाम है ॥ तिसहि घटकी नूतन अवस्थाके तिरोभाव होनेतें जीर्ण अवस्थाका जो प्रादुर्भाव होनाहै तिसका नाम अवस्थापरिणाम है ॥ ऐसे धर्मीका धर्मोंसें औ धर्मोंका लक्षणोंसें औ लक्षणोंका अवस्थाकरके परिणाम होवेहै इस प्रकार जितने त्रिगुणोंके कार्य पदार्थ हैं सो सर्वदाहि परिणामकूं प्राप्त होते रहतेहैं ॥ सो इस धर्मीविषे यह धर्म औ यह लक्षण तथा यह अवस्था अनागत अध्वका परित्याग करके औ वर्तमान अध्वके व्यापारकी समाप्ति करके अतीत अध्वकूं प्रवेश करेहै ॥ इस प्रकारसें जिस कालविषे सर्व विक्षेपका परिहार करके योगी पुरुष तिन तीनों परिणामोंविषे पूर्वोक्त धारणा ध्यान समाधिरूप

संयम करेहै तो तिसकूं सर्व अतीत औ अनागत पदार्थोंका साक्षात्कार होवेहै इति ॥ तात्पर्य यह ॥ पांच महाभूतोंके सत्वगुणका कार्य होनेतें मन दर्पणकी न्यांई अत्यंत स्वच्छ पदार्थ है सो जैसे जिस कालविषे दर्पणकी रज आदिक मलकरके स्वच्छता आवृत होवेहै तो तिस कालविषे पदार्थके प्रतिबिंबकूं सम्यक् प्रकारसें ग्रहण नहि करसकेहै तैसेहि रजोतमोजन्य विक्षेपरूप मलकरके आच्छादित भया मन अतीतानागतादिक ज्ञानविषे समर्थ नहि होवेहै औ जिस कालविषे योगके अंगोंके अनुष्ठान करणेसें रजोतमोंकी निवृत्तिद्वारा सर्व विक्षेपोंकी निवृत्ति होवेहै तो अपणे सत्वगुण स्वच्छरूपमें स्थित भया मन संयमद्वारा सर्व अतीतानागतादिक ज्ञानमें समर्थ होवेहै इति ॥ तथा

"शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्सं-
करस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥"

अर्थ० शब्द, औ अर्थ, तथा प्रत्यय, इन तीनोंका एक दूसरेके साथ अध्यास होनेतें संकर है, तात्पर्य यह, पद औ वाक्यरूप जो शब्द है तथा जाति गुण क्रिया आदिकरूप जो अर्थ है औ विषयाकार बुद्धिकी वृत्तिरूप जो प्रत्यय है सो इन तीनोंका जो एकरूपसें ग्रहण है तिसका नाम अध्यास है सो अध्यास करके तिन तीनोंका परस्पर संकरप-

णा है काहेतें जैसे किसी उत्तम पुरुषने मध्यम पुरुषके प्रति कहा गामानय, अर्थात् तूं गौकूं लेआव तो इस स्थलमें सो मध्यमपुरुष गोत्वजाति अविच्छिन्न जो सास्नादिमत्पिंडरूप अर्थ है औ तिस अर्थका वाचक जो गौ यह शब्द है तथा इस शब्दद्वारा तिस अर्थके ग्रहण करणेहारा जो बुद्धिकी वृत्तिविशेषरूप ज्ञान है तिन तीनोंकूं अभिन्नहि निश्चय करेहै ॥ तथा यह अर्थ क्या है यह शब्द क्या है यह ज्ञान क्या है ऐसे पूछा हुया गौ है इस रीतिसें अर्थ शब्द औ ज्ञानकूं अभिन्नहि कथन करेहै इस प्रकार लौकिकव्यवहारसें अर्थ शब्द औ ज्ञानका संकर अर्थात् मिश्रीभाव है ॥ सो जिस कालविषे योगी तिन तीनोंके विभागविषे संयम करेहै अर्थात् गौ अर्थ भिन्न है औ शब्द भिन्न है तथा गौ यह ज्ञान भिन्न है इस प्रकारसें न्यारा न्यारा जानकरके तिनमें पूर्वोक्तलक्षण संयम करेहै तो मृग पक्षी सर्पादिक सर्व प्राणियोंके शब्दका तिसकूं ज्ञान होवेहै अर्थात् सर्व प्राणियोंकी भाषा समझ जावेहै इति ॥ तथा "संस्कार साक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्" अर्थ० संस्कारोंके साक्षात्करणेसें पूर्वजन्मोका ज्ञान होवेहै तात्पर्य यह ॥ चित्तके वासनारूप जो संस्कार हैं सो दो प्रकारके हैं तिनमें केचित् तो स्मृतिमात्र फलके जनक होवेहैं औ केचित् जाति, आयुष

भोग, रूप फलके जनक होवेहैं तिन द्विविध संस्कारोंमें जिस कालविषे योगी संयम करेहै अर्थात् इस प्रकार मैंने अमुक अर्थ अनुभव कियाथा इस प्रकारसें अमुक क्रिया करीथी इस प्रकारसें पूर्ववृत्तांतका अनुसंधान करताहुया दृढभावनाके वशतें सर्व अतीत वृत्तांतका स्मरण करके क्रमसें पूर्व जन्मोंके वृत्तांतकाभी साक्षात्कार करेहै इति ॥ तथा "प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्" अर्थ० पराये प्रत्ययके संयम करणेसें परपुरुषके चित्तका ज्ञान होवेहै तात्पर्य यह ॥ किसी मुखप्रसन्नता आदिक लिंगसें पराये चित्तकी वृत्तिकूं ग्रहण करके योगी जिस कालविषे तिसमें संयम करेहै तो पराये चित्तमें रहनेहारी सर्व वार्ताकूं जान लेवेहै इति ॥ तथा "कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तंभेचक्षुः प्रकाशासंयोगेन्तर्द्धानम्" अर्थ० शरीरके रूपविषे संयम करणेसें रूपकी चक्षुकरके ग्राह्यत्व जो शक्ति है तिसका स्तंभन होवेहै पश्चात् लोकोंके नेत्रोंकरके शरीरके रूपका अग्रहण होनेतें योगी अंतर्द्धान होवेहै अर्थात् सो सर्वकूं देखेहै औ तिसकूं तिसकी इच्छाके विना कोईभी नहि देखसकेहै इति ॥ यहि न्याय योगीके शब्द स्पर्शादिकोंके अंतर्द्धानमेंभी जानलेना ॥ तथा "सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत् संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा"

अर्थ० शरीरका प्रारब्धकर्म सोपक्रम, निरुपक्रम, इस

भेदसें द्विप्रकारका है तिनमें जो शीघ्रहि फल देनेमें सन्मुख होवेहै सो सोपक्रम कहियेहै जैसे आर्द्र वस्त्र धूपमें प्रसारण किया हुया शीघ्रहि शुष्क होवेहै ॥ औ जो चिरकालसें फलका जनक होवेहै सो निरुपक्रम कहियेहै जैसे सोई आर्द्रवस्त्र संकुचित भया छायाविषे चिरकालसें शुष्क होवे है ॥ तिस दोप्रकारके कर्मोंविषे जिसकालमें योगी कौनसा मेरा कर्म शीघ्र फलदायक है औ कौनसा विलंबसें फलदायक है इसप्रकारसें संयम करे है तो दृढभावनाके वशतें तिसकूं अपणे मृत्युकालका ज्ञान होवेहै अर्थात् अमुकदेश औ अमुककाल तथा अमुकनिमित्तसें मेरा शरीर पतित होवेगा यह सर्व वार्ता जानलेवेहै ॥ अथवा अरिष्टोंसेंभी योगीकूं अपणे मृत्युकालका ज्ञान होवेहै सो अरिष्ट आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक इसभेदसें तीनप्रकारके हैं । तिनमें कानके बंदकरणेसें शब्दका नहि श्रवण होना औ पराये नेत्रकी पुतलीविषे अपणे मस्तकका नहि देखना तथा नासाका अग्रभाग औ जिह्वाके अग्रभागका नहि देखना तथा अंधकारमें नेत्रोंके भ्रमण करणेसें ज्योतिका नहि देखना इत्यादिक आध्यात्मिक अरिष्ट हैं ॥ औ अचानकहि यमराजके दूतोंकूं देखना औ अपणे मरेहुये बांधवोंकूं देखना इत्यादिक आधिभौतिक अरिष्ट हैं ॥ तथा अकस्मात् सिद्धोंका

औ स्वर्गका देखना तथा सूर्यमंडलमें छिद्र देखना औ अरु-धतिताराका नहि देखना इत्यादिक आधिदैविक अरिष्ट हैं ॥ इन अरिष्टोंसेंभी योगीकूं अपणे मृत्युकालका ज्ञान होवेहै ॥ यद्यपि अयोगी पुरुषोंकूंभी उक्त अरिष्टोंसें मृत्युकालका ज्ञान होवे है तथापि सो ज्ञान तिनविषे कदाचित् व्यभिचारीभी होवे है औ योगीविषे तो सर्वदा अव्यभिचारीहि होवेहै इति, तथा "मैत्र्यादिषु बलानि" अर्थ० मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, यह च्यारिप्रकारकी भावना हैं तिनमें अपणे समान ऐश्वर्यवान् पुरुषके साथ जो मित्रता करणी है तिसका नाम मैत्रि है औ दुःखी जनोंपर जो कृपा करणी है तिसकूं करुणा कहते हैं ॥ तथा अपणेसें अधिक ऐश्वर्यवान् पुरुषकूं देखकर जो प्रसन्न होना है तिसका नाम मुदिता है ॥ औ दुष्टपुरुषोंके साथ भाषणादिक सर्वव्यवहारका जो वर्जन क-रणा है तिसका नाम उपेक्षा है ॥ सो इन च्यारिप्रकारकी भावनाविषे जिसकालमें योगी संयम करेहै तो तिनके बलकूं प्राप्त होवे है अर्थात् सर्व समानऐश्वर्यवाले पुरुष तिसके साथ मित्रता करते हैं औ सर्व दुःखीपुरुष तिसपर करुणा करते हैं अर्थात् मन, वाणी शरीरकरके तिसका भला इच्छते हैं ॥ तथा सर्व महान् पुरुष तिसकूं देखकर प्रसन्न होते हैं औ सर्व दुष्ट पुरुष तिसकी उपेक्षा करते हैं इति ॥ तथा "बलेषु

हस्तिबलादीनि" अर्थ० जिसकालविषे योगी हस्ति, सिंह, वायु, गरुड, हनुमानादिकोंके बलविषे संयम करेहै तो तिसके शरीरविषे तिसतिसका बल प्रादुर्भूत होवेहै इति ॥ तथा "प्रवृत्त्या लोकन्यासात् सूक्ष्म व्यवहितविप्रकृष्टार्थज्ञानम्" अर्थ० पूर्व[1] धारणा प्रसंगविषे कथनकरी जो ज्योतिष्मती प्रवृत्ति है तिसके प्रकाशकूं जिसजिस परमाणु आदिक सूक्ष्म अथवा पृथिवीके तले पातालादिक व्यवहित अथवा सुमेरु आदिक विप्रकृष्ट पदार्थमें जिस कालविषे योगी प्रक्षेपण करेहै तो संयमसें विनाहि तिसतिस पदार्थका साक्षात्कार होवेहै इति तथा "भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्" अर्थ० जिसकालविषे योगी दृढभावनाकरके सूर्यमंडलविषे संयम करे है तो भूः, भुवः, स्वः, महः, जन, तप, सत्य, यह जो सप्तभुवन हैं तथा तिनमें स्थित जो नानाप्रकारकी रचनाविशेषहैं तिन सर्वका योगीकूं साक्षात्कार होवेहै ॥ तात्पर्य यह ॥ धारणादिक अभ्यासकरके स्फटिकमणिकी न्यांई निर्मल भया योगीका मन जिस पदार्थविषे जुडताहै तो तिसहिका स्वरूप होयजावे है तो पश्चात् तिस पदार्थके जो गुण होवेहैं सो सर्वहि योगीके मनमें आयजाते हैं ॥ यह वार्ताभी पतंजलिनेहि कथन करीहै "क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदंजन-

---

१ पृष्ठ १८३ पंक्तिः ३ विषे.

तासमापत्तिः” अर्थ० जिसकालविषे अभ्यासकी पाटवतासें चित्त स्फटिकमणिकी न्यांई निर्मल होवे है तो जैसे तिसतिस उपाधिके वशतें स्फटिकमणि तिसतिस आकारसें प्रतीत होवेहै तैसेहि निर्मल भया मन ग्राह्य जो आकाशादिक पांच महाभूतहैं औ ग्रहण जो चक्षुआदिक इन्द्रिय हैं तथा गृहीता जो प्रमाता पुरुष है तिनके विषे योजना किया-हुया तिनमें एकाग्रता औ तिनके साथ एकभावकूं प्राप्त होवेहै इति ॥ तथा विवेकचूडामणिमें शंकराचार्यनेभी कहाहै

“क्रियान्तरासक्तिमपास्य कीटको
ध्यायन्नलित्वं ह्यलिभावमृच्छति ॥
तथैव योगी परमात्मतत्त्वं
ध्यात्वा समायाति तदेकनिष्ठताम् ॥”

अर्थ० जिस प्रकार कीट जंतुविशेष सर्व अन्य क्रियाकी आसक्तिका परित्याग करके भ्रमरका ध्यान करताहुया भ्रमरके स्वरूपकूं प्राप्त होवेहै तैसेहि योगीका मनभी परमात्म-तत्त्वका ध्यान करणेसें एकनिष्ठता कहिये ध्यान करके पर-मात्मस्वरूपकूं प्राप्त होवेहै इति ॥ तथा पंचदशीमेंभी कहाहै

“मूषासिक्तं यथा ताम्रं तन्निभं जायते तथा ।
रूपादीन्व्याप्नुवच्चित्तं तन्निभं दृश्यते ध्रुवम् ॥”

अर्थ० जिसप्रकार पिघलाहुया ताम्र संचाविषे डालनेसें

तिसके आकारकूं प्राप्त होवेहै तैसेहि रूपादिक विषयोंकूं व्याप्त करताहुया चित्त तिस तिसके आकारसेंहि देखनेमें आवेहै इति ॥ यातें सूर्यादिक पदार्थोंमें संयम करणेसें भुवनज्ञानादिक सिद्धियोंकी प्राप्ति योगी पुरुषकूं संभवेहै इति ॥ तथा

"चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्" अर्थ० जिस कालविषे योगी चंद्रमंडलविषे संयम करेहै तो यावत् मात्र तारागणोंकी व्यवस्था है तिस सर्वका साक्षात्कार होवेहै अर्थात् इस तारेका यहां स्थान है इस प्रकारकी इसकी रचना है सो सर्वेहि जान लेवेहै इति ॥ सूर्यके प्रकाशकरके क्षीण तेज भये तारोंका सूर्यमंडलमें संयम करणेसें साक्षात्कार नहि होवेहै यातें तिनके साक्षात्कार करणेके अर्थ यह चन्द्रमंडलका न्यारा संयम कथन कियाहै इति ॥ तथा "ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्" अर्थ० सर्व ताराचक्रका स्तंभभूत जो उत्तरदिशामें स्थित ध्रुव नामा स्थिर नक्षत्र है तिसविषे संयम करणेसें योगीकूं सर्व तारोंकी गतिका ज्ञान होवेहै अर्थात् यह तारा यह ग्रह अमुकराशीकूं प्राप्त भया है औ यह ग्रह इतने कालमें अमुक राशी तथा अमुक नक्षत्रकूं प्राप्त होवेगा इस प्रकारसें ज्योतिषशास्त्रोक्त सर्व कालज्ञानकी प्राप्ति योगीकूं होवेहै इति ॥ तथा "नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्" अर्थ० मणिपूरक नामा नाभिचक्रविषे संयम करणेसें कायव्यूहका ज्ञान होवेहै, तात्पर्य यह ॥ शरीरविषे

वात, पित्त, श्लेष्म, यह तीन दोष हैं औ त्वचा, रुधिर, मांस, नाडी, अस्थि, मज्जा, शुक्र, यह सप्त धातु हैं इनमें पूर्व पूर्व शरीरके बाह्य हैं औ उत्तर उत्तर अभ्यंतर हैं सो नाभिचक्रकूं सर्व शरीरका मध्यदेश औ सर्व तरफ प्रसरी हुयी नाडी आदिक धातुवोंका मूलभूत होनेतें तिसमें संयम करनेसें सर्व शरीरकी रचनाका अंतरसें योगीकूं साक्षात्कार होवेहै, जैसे दीपकसें गृहकी सर्व रचनाका साक्षात्कार होवेहै इति ॥ तथा "कंठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः" अर्थ० कंठमें जो गर्ताकार प्रदेशहै तिसका नाम कंठकूप है तिसके साथ प्राण औ अपानके स्पर्श होनेतेंहि क्षुधापिपासाकी अधिकता होवेहै सो जिस कालविषे योगी तिस कंठकूपविषे संयम करेहै तो क्षुधापिपासाकी निवृत्ति होवेहै इति ॥ यह वार्ता शिवसंहितामेंभी कहीहै

"योगी पद्मासने तिष्ठेत् कंठकूपे यदा स्मरन् ।
जिह्वां कृत्वा तालु मूले क्षुत्पिपासा निवर्तते ॥"

अर्थ० हे पार्वति जिस कालविषे पद्मासनसें स्थित भया योगी अपणी जिह्वाकूं तालुके मूलमें लगायकरके कंठकूपविषे चित्तकूं धारण करेहै तो तिसकी क्षुधापिपासा निवृत्त होय जावेहै इति तथा "कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्" अर्थ० कंठकूपके अधोभागविषे हृदयदेशके समीप एक कूर्माकार नाडीहै तिसमें

संयम करणेसें योगीका चित्त औ शरीर स्थिरभावकूं प्राप्त होवेहै अर्थात् कोईभी तिसकूं ध्यानसें चलायमान नहि करसकैहै इति ॥ यह वार्ताभी शिवसंहितामें कथन करीहै

"कंठकूपादधः स्थाने कूर्मनाड्यस्ति शोभना ।
तस्मिन् योगी मनो दत्वा चित्तस्थैर्यं लभेत् भृशम् ॥"

अर्थ० कंठकूपसें नीचे एक कूर्माकार सुंदर नाडी है तिस विषे मनकूं धारण करणेसें योगी अत्यंत चित्तकी स्थिरताकूं प्राप्त होवेहै इति तथा "मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्" अर्थ० मूर्धस्थान ब्रह्मरंध्रमें सर्व शरीरके तेजका एकीभाव है सो जैसे एक स्थलविषे स्थित भया दीपक सर्व गृहकूं प्रकाशेहै तैसेहि ब्रह्मरंध्रमें स्थित भया तेज सर्व शरीरकूं प्रकाशताहै जितनी शरीरमें उष्णता है सो सर्व तिस तेजके प्रतापसेंहि है जिस कालविषे योगी तिस तेजविषे संयम करेहै तो जितने पृथिवी औ अंतरिक्षविषे विचरणेहारे सिद्धलोक हैं तिन सर्वका दर्शन होवेहै औ तिनके साथ वार्तालापादिक व्यवहारभी होवेहै इति ॥ तथा "प्रातिभाद्वासर्वम्"

अर्थ० जैसे सूर्यके उदयकालमें प्रथम पूर्वदिशाविषे प्रकाश होवेहै तैसेहि वक्ष्यमाण विवेकज ज्ञानके उदयकालमें प्रथम योगीके मनविषे सर्व पदार्थोंकूं विषय करणेहारा प्रातिभनाम ज्ञान उत्पन्न होवेहै तिस ज्ञान करके तत् तत् संयममें

विनाहि योगीकूं सर्व व्यवहित विप्रकृष्टादिक अज्ञात पदार्थोंका साक्षात्कार होवैहै इति ॥ तथा "हृदये चित्तसंवित्" अर्थ॰ वामस्तनके समीप एक कदलीपुष्पकी न्यांई अधोमुख औ अष्टदलोंकरके युक्त हृदयनामा प्रदेश है, तिसके मध्यदेशमें चित्तका निवासस्थान है, यद्यपि शरीरविषे नखसें लेकर शिखापर्यंत चित्तका निवास है तथापि विशेष करके चित्तका हृदयपद्महि निवासस्थान है, यह वार्ता अथर्ववेदकी योगशिखाउपनिषत्मेंभी कथन करी है

"हृदि स्थाने स्थितं पद्मं तच्च पद्ममधोमुखम् ।
ऊर्ध्वनालमधो बिन्दु तस्य मध्ये स्थितं मनः ॥"

अर्थ॰ हृदयस्थानविषे एक अष्टदलोंकरके युक्त पद्म है तिसकी नाल ऊर्ध्व औ पत्र नीचेकूं हैं तिस पद्मके मध्यदेशविषे मनकी स्थिति है इति ॥ तिस चित्तके स्थान हृदयमें संयम करणेसें योगीकूं चित्तका साक्षात्कार होवैहै अर्थात् स्वचित्तगत यावत्मात्र अनेक जन्मांतरोंकी वासना होवैहैं तिन सर्वका साक्षात्कार होवैहै इति ॥ तथा

"सत्वपुरुषयोरत्यंतासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो ।
भोगः परार्थत्वात् स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् ॥"

अर्थ॰ प्रकृतिका कार्य जो बुद्धि है औ तिसका अधिष्ठाता जो पुरुष है सो विचारदृष्टिसें जडत्व, चेतत्व, भोग्यत्व, भो-

कृत्व आदिक विरुद्ध धर्मोंकरके युक्त होनेतें परस्पर अत्यंत भिन्न हैं तिन दोनोंके भिन्न भिन्नका जो अविवेक है सोई सुखदुःखके अनुभवरूप भोगका हेतु है औ तिस भोगका भोक्ता पुरुष है काहेतें बुद्धिकीतो पुरुषके भोगके निमित्तहि प्रवृत्ति होवेहै यातें सो भोग परार्थ कहियेहै औ जिसकालविषे स्वार्थ कहिये सर्व अहंकारके परित्याग होनेसें बुद्धिवृत्तिविषे पुरुषकी छाया प्रतिबिंबित होवेहै तिसमें संयम करणेसें योगीकूं बुद्धिसें भिन्न पुरुषविषयक ज्ञान उत्पन्न होवेहै अर्थात् उक्त प्रकारके अपणेकूं आलंबन करणेहारे बुद्धिनिष्ठ ज्ञानकूं पुरुष प्रकाशेहै काहेतें पुरुषकूं स्वयंप्रकाश होनेतें ज्ञानकी विषयता संभवे नहि तथा बृहदारण्यक उपनिषत्‌मेंभी कहाहै "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" अर्थ० अरे मैत्रेपि, सर्वका ज्ञाता जो आत्मा है तिसकूं किस साधनकरके कौन जाने इति ॥

"ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायंते ॥"

अर्थ० इस उक्त प्रकारसें पुरुषविषयक ज्ञानकी उत्पत्ति होनेतें योगीकूं व्युथानकालमेंभी पूर्वोक्त प्रातिभज्ञानसें सर्व सूक्ष्मादिक पदार्थोंका साक्षात्कार होवेहै औ दिव्य शब्दज्ञान, दिव्य स्पर्शज्ञान, दिव्य रूपज्ञान, दिव्य रसज्ञा-

न, दिव्य गंधज्ञान, यह पांच ज्ञानइन्द्रियोंके पांच दिव्य विषयोंकाभी साक्षात्कार होवेहै इति तथा

"बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसं-
वेदना चित्तस्य परशरीरावेशः ॥"

अर्थ० व्यापकचित्त औ पुरुषकी संकोचद्वारा शरीरविषे स्थितिका हेतु जो पूर्वकृत प्रारब्धकर्म है सो बंधका कारण कहियेहै अर्थात् सोई चित्त औ पुरुषकूं एक शरीरविषे बांधेहै सो योगाभ्यासके बलसें तिस कर्मके शिथिल होनेतें औ हृदयदेशमें चक्षु आदिक इन्द्रियद्वारा जो चित्तका बाह्यविषयोंविषे तथा शरीरके अंतर मनोवहा नाडियोंविषे जो संचार होवेहै तिसके योगबलसें सम्यक् प्रकार जाननेसें योगीके चित्तका पराये शरीरविषे प्रवेश होवेहै चित्तके प्रवेश हुये पश्चात् प्राण औ इन्द्रियोंकाभी प्रवेश होवेहै ॥ जैसे जहां मधुकरराजा जावेहै तहांहि अन्य सर्व मक्षिकाभी जाती हैं ॥ तात्पर्य यह ॥ जिस कालविषे योगी प्राणकलाकरके रहित भये अन्यके शरीरविषे अपणे चित्तकी योजना करेहै तो अभ्यासके बलसें एकाग्र भये चित्तकि तहांहि स्थिति होय जावेहै तो पश्चात् निराश्रय भये प्राणादिकभी मनके पीछे तिस शरीरमें प्रवेश करजातेहैं काहेतें मनकूं एक शरीरविषे बंधन करणेहारा जो कर्म था तिसकि तो अभ्यासके बलसें प्रथमहि शिथिलता होय

जावेहै शिथिल होनेतें पुना सो कर्म मनकूं बंधन करणेमें समर्थ नहि होवेहै यातें निर्विघ्नहि योगीका परशरीरमें प्रवेश होवेहै इति ॥ तथा योगवासिष्ठके निर्वाणप्रकरणविषे परशरी- रमें प्रवेश करणेका अन्यभी प्रकार कथन कियाहै

"मुखाद्बहिर्द्वादशांते रेचकाभ्यासयुक्तितः ।
प्राणे चिरं स्थितिं नीते प्रविशत्यपरां पुरीम् ॥"

अर्थ० पूर्वोक्त रेचक प्राणायामके अभ्यासकी युक्तिकरके नासिकाके बाह्य द्वादश अंगुलपर्यंत चिरकाल प्राणके कुंभक् करणेसें योगी दूसरेके शरीरमें प्रवेश करेहै अर्थात् मन औ प्राणकूं एकस्वरूप होनेतें प्राणके बाह्य स्थित होनेतें मनकीभी बाह्यस्थिति होवेहै तो पश्चात् योगीका परके शरीरविषे प्रवेश होवेहै इति यह हठयोगकि रीतिसे प्रवेश जानना ॥ किंच जीवते हुये पर शरीरमेंभी भूतादिकोंकी न्यांई योगीका प्रवेश होवेहै सो जैसे जीवके शरीरविषे भूत प्रवेश करके तिसकी पुर्यष्टकाकूं अवरोधन करके तिस शरीरसें आपहि सर्व भो- गोंका अनुभव करेहै तैसेहि योगोभी करेहै औ जहां यो- गीके शरीरविषे अन्य योगीका प्रवेश होवेहै तो तहां तिसकूं भोगकी प्राप्ति नहि होवेहै किंतु परस्पर तिनका वि- वाद होवेहै जैसे जनक सुलभा आदिकोंका हुयाहै इति ॥ तथा "उदानजयाज्जलपंककंटकादिष्वसंग उत्क्रांतिश्च" अर्थ०

शरीरंविषे प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, इस भेदसें प्राण पांच प्रकारके हैं ॥ तिनमें हृदयदेशसें लेकर नासिकाके बाहिर द्वादश अंगुलपर्यंत जो गमन करेहै तिसका नाम प्राण है औ नाभिसें लेकर पादके अंगुष्ठपर्यंत जिसकी गति है तिसका नाम अपान है तथा शरीरकी सर्व नाडियों-विषे जो संचार करेहै सो व्यान कहिये है औ नाभिदेशकूं प-रिवेष्टन करके स्थितभया भुक्त अन्नकूं जो समभाग करेहै तिस-का नाम समान है तथा कंठदेशसें लेकर शिखापर्यंत जिसका संचार है तिसका नाम उदान है ॥ तिनमे सर्व प्राणोंका मूलभूत जो उदान है तिसके संयमद्वारा जय करणेसें शरीरकी पृथि-वीसें किंचित् ऊर्ध्व स्थिति होवेहै तो महानदी आदिक ज-लविषे औ गहरे कीचडमेंभी योगीका शरीर डूबता नहि तथा तीक्ष्ण कंटकोंके ऊपरि चलनेसेंभी पादादिक अवय-वोंका वेधन नहि होवेहै अर्थात् अपणी इच्छासें जलादिकों-विषे डूबभी जावेहै औ ऊपरभी आय जावेहै इति ॥ तथा "समानजयाज्ज्वलनम्" अर्थ० नाभिके समीप जठराग्निका स्थान है औ तहांहि तिस अग्निकूं वेष्टन करके समान वायु स्थि-तहै तो संयमद्वारा तिस समानवायुके जय करणेसें अग्निकी ज्वाला निरावरण होनेतें अत्यंत वृद्धिकूं प्राप्त होवेहै तो तिस करके योगीका शरीर अत्यंत तेजस्वी होनेतें ज्वलते हुयेकी

न्यांई प्रतीत होवेहै अथवा तिसकी इच्छा होवे तो दग्धभी होय जावेहै जैसे दक्षप्रजापतिके यज्ञविषे पार्वतीने अपणे शरीरकूं योगाग्निसें दग्ध करदियाथा इति ॥ तथा

"श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद्दिव्यश्रोत्रम्"

अर्थ० श्रोत्रइन्द्रिय औ आकाशका जो परस्पर देशदेशिभावसंबंध है तिसमें संयम करणेसें योगीकूं दिव्यश्रोत्रकी प्राप्ति होवेहै अर्थात् यावत् मात्र सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्ट आकाशमंडलविषे शब्द होतेहैं तिन सर्वकूंहि योगी श्रवण करेहै इति ॥ तथा "कायाकाशयोः संबन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्" अर्थ० जहां जहां इस शरीरकी स्थिति होवेहै तहां तहांहि आकाश तिसकूं अवकाश देवेहै यातें शरीर औ आकाशका परस्पर संबंध है तिस संबंधविषे संयम करणेसें औ तूल आदिक अति लघु पदार्थविषे समापत्ति अर्थात् तन्मयीभावना करणेसें योगी लघुभावकूं प्राप्त होवेहै पश्चात् अपणी रुचिसें जल अथवा मकडीके जाल अथवा सूर्यकी रश्मियोंविषे विहार करता हुया यथेष्ट आकाशविषे गमनागमन करैहै इति ॥ तथा "बहिरकल्पितावृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः" अर्थ० मनकी वृत्ति कल्पिता औ अकल्पिता इस भेदसें द्विप्रकारकी होवेहै तिनमें चन्द्रमा, तारा, मणि आदिक बाह्यपदार्थोंमें चित्तकी धारणा करणे-

सें किंचित् शरीर औ किंचित् बाह्यपदार्थमें जो मनकी स्थिति है तिसका नाम कल्पितावृत्ति है औ जो दीर्घकालके अभ्यासके पाटवसें शरीका परित्याग करके केवल बाह्यपदार्थविषेहि मनकी स्थिति होनीहै तिसका नाम अकल्पितावृत्ति है इसीके सिद्ध होनेतें योगीका परशरीरमें प्रवेश होवेहै सो इस प्रकार जिस कालविषे शरीरका अभिमान त्याग करके मनकी शरीरसें बाह्यस्थिति होवेहै तो सर्वज्ञताका प्रतिबंधक जो रजोतमोजन्य आवरण है तिसका क्षय होवेहै इति तथा "स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्वसंयमाद्भूतजयः"

अर्थ० आकाशादिक जो पांच महाभूत हैं तिनकी स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय, अर्थवत्त्व, इस भेदतें पांच अवस्था हैं तिनमें यह जो दृश्यमान भूतोंके आकार हैं सो स्थूल अवस्था कहियेहै औ तिनमें कार्यरूपसें स्थित जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, यह पांच विषय हैं सो स्वरूप अवस्था कहियेहै तथा तिनमें कारणरूपसें स्थित जो शब्दतन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गंधतन्मात्रा, यह जो पांच तन्मात्रा हैं सो भूतोंकी सूक्ष्म अवस्था हैं औ तिनविषे सत्व, रजो, तमो, इन तीन गुणोंका जो व्यापकपणा है तिसका नाम अन्वयअवस्था है तथा तिनमें स्थित जो पुरुषके भोग औ मोक्ष संपादन करणेकी शक्ति है तिसका नाम अ-

र्थवत्त्यअवस्था है सो तिन पांच महाभूतोंकी अवस्थाविषे अनुक्रमसें संयम करणेसें योगीकूं पांच महाभूतोंके स्वरूपका दर्शन औ तिनका जय होवेहै अर्थात् जैसे गौ वत्साके अनुसारी होवेहै तैसेहि पांच महाभूत तिस योगीके अनुसारी होय जातेहैं तिस कालविषे यद्यपि सो योगी अग्निकूं शीतल औ जलकूं उष्ण करसकैहै तथापि ईश्वरकी इच्छा प्रबल होनेतें उक्त वार्तामें तिसकी प्रवृत्तिहि नहि होवेहै इति ॥ "ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च" अर्थ० इस उक्त प्रकार पांच महाभूतोंके जय होनेतें अनंतर योगी पुरुषकूं "अणिमादिप्रादुर्भावः" कहिये अणिमादिक सिद्धियोंकी प्राप्ति होवेहै ॥ सो सिद्धियां अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व, इस भेदसें अष्ट प्रकारका हैं ॥ तिनमें अणुके समान सूक्ष्म होजानेका नाम अणिमासिद्धि है औ विराट्के समान स्थूल होजानेका नाम महिमासिद्धि है तथा तूलपिंडके समान लघु होजानेका नाम लघिमासिद्धि है औ पर्वतके समान गुरु होजानेका नाम गरिमासिद्धि है तथा अंगुलीके अग्रभागसें चंद्रमा तारा आदिकोंके स्पर्श करणेकी शक्तिका नाम प्राप्तिसिद्धि है औ सर्व कामनाकी प्राप्ति अर्थात् सत्यसंकल्पताका नाम प्राकाम्यसिद्धि है तथा पराये शरीर औ अंतःकरणके प्रे-

रण करणेको शक्तिका नाम ईशत्वसिद्धि है औ सर्व प्रा-
णियोंके वशीभूत करणेकी शक्तिका नाम वशित्वसिद्धि
है इस प्रकारसें यह अष्ट महासिद्धियां हैं औ भागवतादि-
कोंमें जो अष्टादश औ कहीं पंचविंशति सिद्धियां कथन क-
रीहैं तिन सर्वका इन अष्टकेविषेहि अंतर्भाव जानलेना ॥ तथा
(कायसंपत्) कहिये रूप, लावण्य, बल, वज्रकी न्यांई क-
ठिनता, यह जो शरीरकी संपत् हैं तिनकोभी योगीकूं प्राप्ति हो-
वेहै तथा तिन संपदोंका 'अनभिघातः' कहिये किसी काल-
विषेभी विघात नहि होवेहै अर्थात् जल तिसके शरीरकूं गि-
लाता नहि अग्नि दहन नहि करेहै, वायु शोषण नहि करेहै,
पृथिवी जीर्ण नहि करेहै इति ॥ तथा "ग्रहणस्वरूपास्मिता-
न्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः" अर्थ० श्रोत्रादिक इन्द्रि-
योंकी ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय, अर्थवत्त्व, इस भे-
दसें पांच अवस्था हैं तिनमें शब्दादिक विषयोंके सन्मुख जो इ-
न्द्रियोंकी वृत्ति है तिसका नाम ग्रहणअवस्था है औ घटपटा-
दिक पदार्थोंका सामान्यसें जो प्रकाश करणा है तिसका
नाम स्वरूप अवस्था है तथा सर्व इन्द्रियोंका अहंकारके अनु-
सार जो वर्तना है तिसका नाम अस्मिता अवस्था है, औ ति-
नमें सत्व रजो तमो इन तीनों गुणोंका जो अन्वयपणा है
सो अन्वय अवस्था कहिये है तथा तिनमें पुरुषके भोग औ

मोक्ष संपादन करणेकी जो शक्ति है सो अर्थवत्त्व अवस्था कहिये है ॥ सो तिन पांच इन्द्रियोंकी पांच अवस्थाविषे अनुक्रमसें संयम करणेसें योगीकूं इन्द्रियोंके स्वरूपका दर्शन औ तिनका जय होवेहै अर्थात् सर्व इन्द्रिय तिसके वशीभूत होवेहैं इति ॥ "ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च" अर्थ० उक्त प्रकारसें इन्द्रियोंके जय होनेतें अनंतर "मनोजवित्वं" कहिये योगीके शरीरकी मनके समान गति होवेहै अर्थात् जैसे मन संकल्पद्वारा एक क्षणमें लक्षों योजनोंपर गमन करेहै तैसेहि योगीका शरीर गमन करेहै तथा 'विकरणभावः' कहिये शरीरसें विनाहि देश, काल, विषयोंविषे इन्द्रियोंकी वृत्तिका लाभ होना अर्थात् गोलकोंकी अपेक्षासें विनाहि योगीके अभिमत देशकालविषे स्वस्वकार्य करणेविषे इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति होवेहै ॥ तथा 'प्रधानजयः' कहिये सर्व कार्यप्रपंचके सहित प्रकृतिकाभी जय होवेहै इति ॥ इन तीन सिद्धियोंका नाम योगशास्त्रमें मधुप्रतीक कहतेहैं काहेतें जैसे मधुके एक देशसेंभी स्वादकी प्राप्ति होवेहै तैसेहि इन एकएकसिद्धिमेंभी योगीकूं स्वाद अर्थात् स्वतंत्रताजन्य परमानंदकी प्राप्ति होवेहै इति ॥ तथा "सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च" अर्थ० रजोतमोरूप मलकरके रहित शुद्ध सत्व-

मय जो बुद्धिका परिणामविशेष है तिसमें संयम करणेसें योगोकूं सत्व औ पुरुषकी अन्यताख्याति अर्थात् त्रिगुणस्वरूप बुद्धि अन्य है औ तिसका अधिष्ठाता गुणातीत पुरुष भिन्न है इस प्रकारका साक्षात्कार होवेहै तो पश्चात् गुणोंके कर्तृत्व भावके शिथिल होनेतें तहांहि संयममें स्थित भये योगीकूं सर्व त्रिगुणात्मक प्रपंचका अधिष्ठातापणा औ सर्वज्ञतापणा होवेहै अर्थात् सर्व पदार्थोंके आक्रमण करणेविषे स्वामीकी न्यांई सामर्थ्य होवेहै औ शांत उदित व्यपदेश्य धर्मोंकरके स्थित जो तीत गुण हैं तिनका यथार्थ ज्ञान होवेहै इसका नाम योगशास्त्रमें विशोका सिद्धि है अर्थात् इस सिद्धिकी प्राप्तिसें सर्वज्ञ भया योगी सर्व शोकोंकरके वर्जित होवेहै इति ॥ तथा "स्थान्युपनिमंत्रणे संगस्मयाकररणं पुनरनिष्टप्रसंगात्" अर्थ० प्रवृत्तज्योतिः, ऋतंभरप्रज्ञः, भूतेन्द्रियजयी अतिक्रांतभावनोयः, इस भेदसें च्यारि प्रकारके योगी होवेहैं ॥ तिनमें जो प्रथमहि अभ्यासमें प्रवृत्त भया पूर्वोक्त ज्योतिका हृदयविषे अवलोकन करेहै सो प्रवृत ज्योति कहियेहै औ जिसकूं अभ्यासकी बहुलतासें ऋतंभरा नामा प्र-

---

१ जिस प्रज्ञाकरके सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्ट सर्व पदार्थोंका एक कालविषेहि योगीकूं स्फुट साक्षात्कार होवेहै तिसका नाम ऋतंभरा है.

ज्ञाकी प्राप्ति होवेहै सो ऋतंभरप्रज्ञ कहियेहै तथा जिसके पांच भूत औ पांच इन्द्रिय वशीभूत होवेहैं तिसका नाम भूतेन्द्रियजयी है औ जो विशोका नाम सिद्धिकूं प्राप्त भया कृतकृत्य होयकर स्थित होवेहै सो अतिक्रांत भावनीय कहियेहै ॥ सो तिनमें चतुर्थ योगीकी सप्त प्रकारकी प्रांत-भूमिका होवेहै तिनमें अंतकी मधुमती नाम भूमिकाके साक्षात्करण कालमें योगीकूं देवता निमंत्रण करतेहै अर्थात् दिव्य अप्सरा, विमान, वस्त्र, अमृतादिक पदार्थोंके सहित आयकर योगीकूं कहतेहैं हे महाराज, इस विमनपर आरोहण करो इस सुंदर अप्सराकेसाथ नंदनवनादिकोंमें विहार क्रीडा करो इस शरीरके अजर अमर पुष्ट करणेहारे अमृतका पान करो इस सर्व रोगोंके विनाश करणेहारी दिव्य औषधिका भक्षण करो इत्यादिक प्रार्थना करके योगीकूं चलायमान करतेहैं ॥ यह वार्ता योगवासिष्ठके उपशम प्रकरणमें उद्दालकमुनिके आख्यानविषेभी लिखीहै ।

"आरुह्येदं विमानं त्वमेहि त्रैविष्टपं पुरम् ।
स्वर्ग एव हि सीमान्तो जगत्संभोगसंपदाम् ॥
आकल्पमुचितान् भुंक्ष्व भोगानभिमतान्विभो ।
स्वर्गादिफलभोगार्थमेवाशेषतपःक्रियाः ॥

हारचामरधारिण्यो विद्याधरवरांगनाः ।
पश्येमास्त्वामुपासीनाः करिण्यः करिणं यथेति ॥”

अर्थ० जिस कालविषे विंध्याचलकी गुहामें उद्दालकमुनि समाधिमें स्थित होता भया तो आकाशविषे सहित अप्सरा आदिक स्वर्गकी विभूतिके देवता आयकर कहने लगे हे उ-द्दालक तुं इस दिव्य विमानपर आरूढ होयकरके हमारे स्व-र्गमें आव काहेतें स्वर्गहि सर्व जगत्की संपदोंका सीमांत है औ हे विभो कल्पपर्यंत अपणी इच्छाके अनुसार अभिमत भोगोंकूं तूं भोग काहेतें स्वर्गादिक सुखकी प्राप्तिके अर्थहि सर्व जप तपादिक क्रियाका अनुष्ठान होवेहै तथा हे उद्दालक जैसे हस्तीकी हस्तियां मिलकरके च्यारि तरफसें उपा-सना करतीहै तैसेहि मंदार, पारिजातके पुष्पोंकरके गुंफित कियेहुये हार औ चंद्रबिंबकी न्यांई उज्ज्वल चामरोंकूं को-मल हस्तोंविषे धारण करके सेवा करणेमें उद्यत तेरे अग्र-भागविषे स्थित जो विद्याधरोंकी सुन्दर ललना हैं ति-नकूं तुं देख औ तिनकी नमस्कार तो अंगीकार कर इस प्रका-रसें देवतोंकरके वारंवार प्रार्थना कियाहुयाभी सो उद्दालक मुनि तिनकी तरफ नहि देखता भया इति ॥ सो इस प्रकार उद्दालकमुनिकी न्यांई योगी पुरुषकूं देवतोंकेसाथ संग क-हिये प्रीति नहि करणी चाहिये किंतु तिनकी उपेक्षाहि क-

रणी योग्य है काहेतें जो तिनके साथ संग करेगा तो अप्स-रा आदिक अल्पफलविषे लोभायमान भया कैवल्य मोक्षरूप म-हाफलसें भ्रष्ट होवेगा ॥ इस प्रकार संग नहि करके स्मय कहिये मेरी देवताभी प्रार्थना करतेहै इस प्रकारका चित्तमें अ-भिमानभी नहि करणा चाहिये, काहेतें अभिमान करणेसें अपणेकूं कृतकृत्य मानेहै तो समाधिविषे प्रमाद होनेतें तिस-का अधोपतन होवेहै, यह वार्ता विवेकचूडामणिविषे शंकरा-चार्यनेभी कथन करीहै

"लक्ष्यच्युतं चेद्यदि चित्तमीष-
द्बहिर्मुखं सन्निपतेद्यतस्ततः ॥
प्रमादतः प्रच्युतकेलिकंदुकः
सोपानपंक्तौ पतितो यथा तथा ॥"

अर्थ० प्रमादकरके समाधिके लक्ष्यसें किंचिन्मात्रभी जो स्खलित भया चित्त बहिर्मुख होयकर जहां तहां धावन करेहै तो जैसे क्रीडाका कंदुक पर्वतकी सीढीकी पंक्तिविषे पतित भ-या नीचेतें नीचे भूमिविषे पतित होवेहै तैसेहि समाधिसें भ्रष्ट भया योगीका चित्त नीचेसें नीचे भोगवासनारूप भूमिविषे पतित होवेहै इति ॥ यातें देवतोंकी प्रार्थनासें योगीकूं अभि-मानभी नहि करणा चाहिये इति ॥ यहि न्याय इस लोकके राजा आदिक धनी पुरुषोंके संगमेंभी जानलेना ॥ तथा

"क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्"

अर्थ० संवत्सर, ऋतु, मास, दिवस, प्रहरादिकरूप जो काल है तिसकी अंतिम अवस्थाका नाम क्षण है सो क्षण औ तिसके क्रमविषे अर्थात् यह इससें पूर्व क्षण है यह इससें उत्तर क्षण है इस प्रकार जिस कालविषे योगी संयम करेहै तो तिसकूं विवेकजन्य ज्ञानकी प्राप्ति होवेहै जिसकी प्रथम अवस्था प्रातिभनामज्ञान पूर्व कथन कियाहै सो इस विवेक-जन्य ज्ञानसेंहि जाति, लक्षण, देश, करके मिश्रित परमाणु आदिक अत्यंत सूक्ष्म पदार्थोंकाभी भेदसें ज्ञान होवेहै औ म-हत्तत्त्वादिक सर्व सूक्ष्म पदार्थोंका साक्षात्कार होवेहै इति ॥
"तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्"
अर्थ० पूर्वोक्त संयमके बलसें अंतकी भूमिकामें योगीकूं जो ज्ञान होवेहै तिसका नाम विवेकजज्ञान है सो 'तारकं' क-हिये अगाध संसाररूप समुद्रसें योगीकूं तारण करेहै औ 'स-र्वविषयं' कहिये महत्तत्त्वादिक जितने स्थूलसूक्ष्मादिक पदा-र्थ हैं सो सर्वहि तिस ज्ञानके अपरोक्षविषय होवेहैं तथा 'स-र्वथाविषयं' कहिये स्थूलसूक्ष्मादिक भेदकरके तिस तिस परिणामसें सर्वप्रकारसें स्थित जो तत्त्व हैं तिन सर्वकूं सो ज्ञान विषय करेहै औ 'अक्रमं' कहिये एकवारहि करतलविषे

बिल्वफलकी न्यांई स्फुट सर्व पदार्थोंकू विषय करेहै इति ॥ इस ज्ञानकी प्राप्ति होनेतें योगी ईश्वरके समान सर्वज्ञ औ स्वतंत्र होवेहै इति ॥ तथा "योगं विशत्यप्यचिरं महाशयः" कहिये पूर्वोक्त संयमके सिद्ध होनेतें संप्रज्ञात औ असंप्रज्ञात समाधिरूप जो योग है तिसमेंभी योगी पुरुषका शीघ्रहि प्रवेश होवेहै इति ॥ २१ ॥ इस प्रकारसें संयमके लक्षण औ फलका निरूपण करके अब पूर्वोक्त यमनियमादिक अष्ट अंगोंका अंगीभूत जो समाधि है तिसका लक्षण कथन करेहैं सो समाधि संप्रज्ञात औ असंप्राज्ञात इस भेदसें द्विप्रकारका है तिनमें प्रथम संप्रज्ञात समाधिका लक्षण वर्णन करेहैं ॥

(इन्द्रवंशा वृत्तम्)

वैराग्यमाश्रित्य परं तथेश्वरा
ध्यानेन विघ्नानखिलाञ्जयेद्यमी ॥
संक्षिप्य चेतःपरमात्मसद्मनि
संचिन्तयेदेकमथोत्तमाक्षरम् ॥ २२ ॥

वैराग्यमिति ॥पूर्व निरूपण करी जो अनेक प्रकारकी सिद्धियां सो मोक्ष उपयोगी समाधिविषे विघ्नरूप हैं यह वार्ता योगसूत्रोंमें पतंजलिनेभी कथन करीहै "ते समाधावुपसर्गा-

व्युत्थाने सिद्धयः" अर्थ० पूर्वोक्त जो परकायप्रवेशनादिक व्युत्थानकालकी सिद्धियां हैं सो मोक्षउपयोगी समाधिविषे उपसर्ग कहिये विघ्नरूप हैं इति ॥ तथा भागवतके एकादशस्कंधमें भगवान्‌ने उद्धवके प्रतिभी कथन करीहै

"अंतरायान्वदत्येता युंजतो योगमुत्तमम् ।
मया संपद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः ॥"

अर्थ० हे उद्धव यह जो पूर्वोक्त अणिमादिक सिद्धियां हैं सो उत्तम योग अर्थात् निर्विकल्पसमाधिद्वारा मेरेकूं प्राप्त होनेकी वांछावान् योगीके कालक्षेपण करणेहारे अंतराय कहिये विघ्नरूप हैं इति ॥ तथा योगवासिष्ठके निर्वाणप्रकरणमेंभी कहाहै

"द्रव्यमंत्रक्रियाकालशक्तयः साधुसिद्धिदाः ।
परमात्मपदप्राप्तौ नोपकुर्वंति काश्चन ॥"

अर्थ० हे रामचंद्र, द्रव्य, मंत्र, क्रिया, कालजन्य जो साधककूं फल देनेहारी अणिमादिक सिद्धियां हैं सो परमात्मपद कहिये कैवल्यमोक्षकी प्राप्तिविषे तिनमेंसें कोईभी उपकार अर्थात् सहायता नहि करेहैं किंतु उलटा परमात्मपदकी प्राप्तिमें विघ्नकारक होवेहैं इति ॥ सो इस प्रकार सर्व सिद्धियोंकूं संसारबंधनकी मुक्तिविषे विघ्नरूप जानकर मुमुक्षु योगी पुरुषकूं परम वैराग्यका आश्रय करके औ मोक्ष-

पद्की निर्विघ्न प्राप्ति करणेहारे सर्वशक्तिमान् ईश्वरके आराधनसें तिन सर्व विघ्नोंका जय करणा योग्य है, काहेतें परवैराग्यपूर्वक ईश्वरकी आराधनासेंहि निर्विघ्न समाधिद्वारा मोक्षपद्की प्राप्ति होवेहै, यह वार्ता आत्मपुराणके एकादशाध्यायमेंभी कथन करीहै

"ॐकारोत्र रथः स्वस्य परमात्माथ सारथिः ।
विष्णुस्तेन गंतव्यो ब्रह्मलोकः परोथवा ॥"

अर्थ० ॐकार अर्थात् ॐकारकी उपासनारूप समाधि तो जीवका रथ है औ विष्णुपरमात्मा अर्थात् ईश्वररूप रथके चलानेहारा सारथि है सो जैसे द्रव्यप्रदानादिकोंसें प्रसन्न भया सारथि रथीपुरुषकूं अभिमतदेशविषे निर्विघ्न प्राप्त करेहै तैसेहि आराधनकरके प्रसन्न भया ईश्वररूप सारथि जीवरूप रथीकूं समाधिरूप रथद्वारा क्रममोक्ष अथवा सद्योमोक्षरूप अभिमतदेशविषे निर्विघ्न प्राप्त करेहै इति ॥ इस प्रकारपर वैराग्य औ ईश्वरके ध्यानसें सर्व विघ्नोंकूं जय करके पश्चात् 'परमात्मसद्मनि' कहिये परमात्माका स्थानभूत जो हृदयपद्म है तिसमें अपणे चित्तकूं स्थापन करे ॥ यद्यपि परमात्मा सर्वत्र व्यापक है तथापि विशेषकरके तिसकी उपलब्धि हृदयपद्ममेंहि होवेहै काहेतें हृदयमें चित्तका स्थान है औ चित्तविषेहि परमात्माका प्रतिबिंब होवेहै ॥ इस प्रकार

सर्व तरफसें निरोधपूर्वक चित्तकूं हृदयपद्ममें स्थापन करके सर्व अक्षरोंमें उत्तम अक्षर जो एक ॐकार है तिसका अर्थात् प्रणवका वाच्य जो परमात्मा है तिसका चिंतन करे अर्थात् तिसमेंहि चित्तकूं एकाग्र करे ॥ इसका नाम संप्रज्ञात समाधि है ॥ सो इस समाधिके भेद योगसूत्रोंमें पतंजलिने निरूपण कियेहैं "वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् संप्रज्ञातः" अर्थ० वितर्कानुगत विचारानुगत आनंदानुगत अस्मितानुगत, इस भेदसें संप्रज्ञातसमाधि च्यारि प्रकारका है तिनमें वितर्कानुगत पुना सवितर्क निर्वितर्क इस भेदसें दो-प्रकारका है तिनमें जिस कालविषे स्थूल पांचमहाभूत औ पांच ज्ञानेन्द्रियरूप आलंबनमें पूर्वापरके अनुसंधानपूर्वक शब्द, अर्थ, ज्ञानकी विभाग करके प्रतीतिके होते जो समाधि होवेहै तिसका नाम सवितर्कसमाधि है औ तिसहि आलंबनविषे पूर्वापरके अनुसंधानक अभावपूर्वक शब्द, अर्थ, ज्ञानकी विभाग करके अप्रतीतिके होते जो समाधि होवेहै तिसका नाम निर्वितर्कसमाधि है ॥ तथा विचारानुगतभी सविचार, निर्विचार, इस भेदसें दो प्रकारका है ॥ तिनमें सूक्ष्मपंचभूततन्मात्रा औ अंतःकरणरूप आलंबनविषे जिस कालमें पूर्वापरके अनुसंधानपूर्वक देश, काल, धर्मके विभागकी प्रतीतिके होते जो समाधि होवेहै तिसका नाम सविचारसमा-

धि है ॥ औ तिसहि आलंबनविषे पूर्वापरके अनुसंधानके अभावपूर्वक देश काल धर्मादिकोंकी विभागसें अप्रतीतिके होते जो समाधि होवेहै तिसका नाम निर्विचारसमाधि है ॥ यह च्यारि प्रकारका ग्राह्यविषयक समाधि कहियेहै ॥ तथा आनंदानुगत औ अस्मितानुगत तो एक एक प्रकारकाहि है तिनमें जिस कालविषे रजोतमोंकी लेश करके अनुविद्ध अंतःकरण सत्वरूप आलंबनविषे समाधि होवेहै तो तिस कालमें चितिशक्तिके गौणभाव होनेतें औ सुख तथा प्रकाशस्वरूप अंतःकरणसत्वकी प्रधानता होनेतें योगीकूं जो परमानंदकी प्राप्ति होवेहै तिसका नाम आनंदानुगत समाधि है ॥ जो योगी तिसहि आनंदविषे कृतकृत्यता मानकरके तिसतें परे प्रधान औ पुरुषकूं नहि देखतेहैं तिनकी योगशास्त्रमें विदेहसंज्ञा होवेहै यह ग्रहणविषयक समाधि कहियेहै ॥ तथा जिस कालमें रजोतमोकी लेशकरके अननुविद्ध अंतःकरणके शुद्ध सत्वरूप आलंबनविषे समाधि होवेहै तिसकालविषे ग्रहणस्वरूप अंतःकरणसत्वके गौणभाव होनेतें चितिशक्तिकी प्रधानता होवेहै इस प्रकार सत्तामात्र अवशेषचित्तविषे जो समाधि होवेहै तिसका नाम अस्मितानुगतसमाधि है ॥ जो योगी इस सत्तामात्रविषेहि कृतकृत्यता मानकर तिसतें परे शुद्ध पुरुषकूं नहि देखतेहैं तिनकी प्रकृति लयसंज्ञा

होवेहै ॥ औ जो योगी अंतःकरणसत्वसें परे परमपुरुषकूं जानकरके तिसहि आलंबनमें समाधि करतेहैं सोई विवेकख्यातिकी प्राप्तिद्वारा कैवल्यमोक्षपदके भागी होतेहैं ॥ औ तिनकी विमुक्तसंज्ञा होवेहै ॥ यह जो पुरुषविषयक समाधि है सो ग्रहीतृविषयक कहियेहै इति ॥ यह च्यारि प्रकारके संप्रज्ञातसमाधिके लक्षण हैं ॥ औ इन समाधियोंके जो भूतजय, इन्द्रियजय, आदिक फलविशेष हैं सो तो पूर्वहि संयमके फलनिरूपणविषे कथन करि आयेहैं काहेतें संयम औ संप्रज्ञातसमाधिविषे विशेष अंतराय नहिहै किंतु संयमकूं चिंतारूप होनेतें तिसमें ध्येयवस्तुका स्फुटभान नहि होवेहै औ संप्रज्ञातसमाधिविषे तो साक्षात्कारके उदय होनेतें ध्येयवस्तुके स्वरूपका स्फुटभान होवेहै इतनाहि संयम औ संप्रज्ञातका भेद है इति ॥ २२ ॥ इस प्रकारसें संप्रज्ञातसमाधिका लक्षण औ तिसके अवांतर भेदोंका निरूपण करके अब सर्व साधनोंका फलभूत जो असंप्रज्ञातसमाधि है तिसका लक्षण वर्णन करेहैं ॥

॥ इन्द्रवंशा वृत्तम् ॥

संविश्य योगं परमं तु धीरधी-
रेकत्वमानीय तथात्मचेतसोः ॥

प्रोत्सार्य संकल्पविकल्पसंचयं
किंचित्स्मरेन्नैव ततस्त्वतन्द्रितः ॥२३॥

संविश्येति ॥ इस प्रकार संप्रज्ञातसमाधिकी सिद्धिभयेतें अनंतर परमयोग जो निर्विकल्पसमाधि है तिसमें चित्तका प्रवेश करके अर्थात् नेति नेति इस प्रकारकी भावनासें सर्व आलंबनोंका परित्याग करके चित्तकूं निरालंबस्थित करे इस प्रकार वृत्तिसें रहित भये चित्तकी आत्माके साथ एकता अर्थात् आत्माविषे चित्तका विलय करे सो मनके विलय करणेकी रीति यजुर्वेदकी कठउपनिषत्में कथन करीहै

"यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ।"

अर्थ० बुद्धिमान् जो योगी पुरुष है सो वाचा[1]इन्द्रियकूं प्रत्याहारकी विधिसें मनविषे विलय करे अर्थात् भाषण जपादिकोंका परित्याग करके केवल मनके व्यापारसें मूक पुरुषकी न्यांई स्थित होवे पश्चात् मनकूं 'ज्ञानआत्मनि' कहिये विशेषाहंकार[2]विषे विलय करे अर्थात् मनके संकल्पविकल्परूप व्यापारका परित्याग करके केवल अहंभावमात्रसें

---

१ यहां वाचा श्रोत्रादिक इन्द्रियोंकाभी उपलक्षण जानना.
२ व्यष्टिपरिच्छिन्न अहंकार.

स्थित होवे ॥ पुना अहंभावकूं "महति आत्मनि" कहिये सामान्याहंकार[1]विषे विलय करे अर्थात् शरीरादिकोंका अभिमान परित्याग करके तंद्रावान् पुरुषकी न्यांई सामान्याहंकारमें स्थित होवे ॥ पुना सामान्याहंकारकूं 'शांतआत्मनि' कहिये सर्व विकल्पोंकरके शून्य जो साक्षी आत्मा है तिसविषे विलय करे अर्थात् सामान्याहंकारका परित्याग करके केवल आत्मस्वरूपसेंहि स्थित होवे इति ॥ तथा विवेकचूडामणिमें शंकराचार्यनेभी कहाहै ॥

"वाचं नियच्छात्मनि तं नियच्छ
बुद्धौ धियं यच्छ च बुद्धिसाक्षिणि ।
तं चापि पूर्णात्मनि निर्विकल्पे
विलाप्य शांतिं परमां भजस्व ॥"

अर्थ० हे शिष्य वाचाकूं मनमें मनकूं बुद्धिमें बुद्धिकूं साक्षीआत्माविषे साक्षी आत्माकूं पूर्ण औ सर्व कलनासें रहित परमात्माविषे विलय करके निर्विकल्पसमाधिरूप परम शांतिकूं प्राप्त होहु इति ॥ तथा याज्ञवल्क्यनेभी कहाहै

"आत्ममध्ये मनः कुर्यादात्मानं परमात्मनि ।
परमात्मा स्वयं भूत्वा न किंचिदपि चिंतयेत्"

---

१ समष्टिअंहकार.

अर्थ० निर्विकल्पसमाविषे स्थित होनेकी वांछावान् योगी मनकूं साक्षीआत्माविषे विलय करे औ साक्षीकूं परमात्माविषे विलय करे पश्चात् स्वयमेव परमात्मस्वरूप होयकर सर्व चिंताका परित्याग करके स्थित होवे इति ॥ इस प्रकार क्रमसें शनै शनै सर्व संकल्पविकल्पके संचयका मूलसें उत्पाटन करके किंचित्‌भी स्मरण नहि करे यह वार्ता गीताके षष्ठाध्यायविषे भगवान्‌नेभी कथन करीहै

"संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समंततः ॥
शनैःशनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥"

अर्थ० हे अर्जुन, विवेकयुक्त मनसें सर्व इन्द्रियोंकूं वशीभूत करके औ संकल्पसें उत्पन्न होनेहारी सर्व कामनाके सर्व तरफसें परित्यागपूर्वक धैर्ययुक्त बुद्धिसें मनकूं आत्माविषे स्थित करके पश्चात् किंचित्‌मात्रभी चिंतन नहि करे इति ॥ तथा 'अतन्द्रितः' कहिये अप्रमत्त होयकर मनका विलय करे काहेतें निर्विकल्पसमाधिकालविषे कदाचित् चित्त सुषुप्तिकी न्यांई तमोगुणकरके आवृत भया लीन होवेहै तो तिसकूं सूक्ष्मबुद्धिसें जानकर लयसें प्रबोध करणा चाहिये,

यह वार्ता मांडूक्य उपनिषत्की कारिकाविषे गौडपादाचार्य-नेभी कथन करीहै

"लये संबोधयेच्चितं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः ।
सकषायं विजानीयात् समप्राप्तं न चालयेत्"

अर्थ० उक्त लयअवस्थाविषे प्राप्त भये चित्तकूं 'संबोधयेत्' कहिये तिस अवस्थासें प्रयत्नकरके बोधन करे औ जो व्युत्थानकालके संस्कारोंसें कदाचित् चित्त विक्षिप्त होवे तो 'शमयेत्' कहिये तिसकूं तहांहि आत्मतत्त्वविषे विलय करे औ जो कदाचित् कषाययुक्त[1] होवे तो तिसकूं सूक्ष्मबुद्धिसें जानकर प्रयत्नसें कषायसें निवृत्त करे इस प्रकार लय, विक्षेप, कषाय, इन तीनोंकरके रहित भया चित्त जिस कालविषे 'समप्राप्तं' कहिये आत्मपदविषे स्थितिकूं प्राप्त होवे तो पुना तहांसें चालन नहि करे अर्थात् किंचित्भी संकल्पविकल्प नहि करे इति ॥ इस प्रकार किंचित्भी संकल्पविकल्पके नहि करणेसें चित्त स्वयमेवहि आत्मतत्त्वविषे लीन होय जावे है यह वार्ता श्रुतिविषेभी कथन करी है

"यथा निरिन्धनो वह्निः स्वममेवोपशाम्यति ॥
तथा वृत्तिक्षयाच्चितं स्वयोनावुपशाम्यति"

अर्थ० जिस प्रकार इन्धनसें रहित भया अग्नि स्वयमेव

---

१ रागद्वेषादिकोंकी वासनाका नाम कषाय है.

शांत होय जावेहै तैसेहि संकल्पविकल्पोंसें रहित भया चित्त स्वयमेवहि अपणे अधिष्ठानरूप आत्माविषे विलय होवेहै इति ॥ तथा हठयोगप्रदीपिकामेंभी कहाहै

"कर्पूरमनलेयद्वत्सैन्धवं सलिले यथा ।
तथा संधीयमानं च मनस्तत्वे विलीयते"

अर्थ० जैसे अग्निविषे कर्पूर औ जलविषे लवण क्षेपण किया हुया विलयकूं प्राप्त होवेहै तैसेहि आत्माविषे संयोजन किया हुया चित्त विलयकूं प्राप्त होवेहै इति ॥ इस प्रकार जिस कालविषे विलयकूं प्राप्त होयकर मन केवल संप्रज्ञात-समाधिके संस्कारोंकरके युक्त भया स्थित होवेहै तिसका नाम असंप्रज्ञातसमाधि है ॥ यह वार्ता योगसूत्रोंमें पतंजलि-नेभी कथन करीहै "विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशे-षोऽन्यः" अर्थ० नेति नेति इस प्रकारका सर्व आलंबनोंसें उपरामताका कारण जो प्रत्यय अर्थात् चित्तकी वृत्तिविशेष है तिसके अभ्यास कहिये पुना पुना आवृत्तिपूर्वक औ सं-प्रज्ञातसमाधिके संकारोंकरके युक्त जो चित्तकी निरुद्धाव-स्था है तिसका नाम असंप्रज्ञात समाधि है इसीकूं निर्विक-ल्पसमाधिभी कहतेहैं इति ॥ सो इस अवस्थाविषे स्थित भया योगी शून्यके समान होवेहै, यह वार्ता हठयोगप्रदापिकाविषे-भी निरूपण करीहै

"अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यः कुंभ इवांबरे ।
अन्तःपूर्णो बहिःपूर्ण पूर्णः कुंभ इवार्णवे ॥"

अर्थ० जैसे आकाशविषे स्थित भया घट अंतर औ बाहिरसेंभी शून्य होवेहै तैसेहि निर्विकल्पसमाधिविषे स्थित भया योगी सर्व संकल्पविकल्पोंके विलय होनेतें अंतर औ बाह्यसेंभी शून्य होवेहै तथा जैसे समुद्रविषे निमग्न भया घट अंतर औ बाह्यसेंभी पूर्ण होवेहै तैसेहि चित्तके विलय होनेतें योगी आत्मस्वरूपकरके अंतर औ बाह्यसेंभी पूर्ण होवेहै इति ॥ इस प्रकारकी जो मनकी स्थिति है सोई परमपद है, यह वार्ता अथर्ववेदकी ब्रह्मबिन्दुउपनिषत्‌मेंभी कथन करीहै

"निरस्तविषयासङ्गं संनिरुद्धं मनो हृदि ।
यदा यात्युन्मनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥"

अर्थ० सर्व विषयाकारताका परित्याग करके हृदयपंकजमें संनिरुद्ध भया चित्त जिस कालविषे उन्मनीभाव अर्थात् विलयभावकूं प्राप्त होवेहै तिस कालकी जो स्थिति है सोई परमपद है इति ॥ २३ ॥ इस प्रकार असंप्रज्ञातसमाधिका लक्षण निरूपण करके अब तिसके फलकूं वर्णन करेहैं ॥

॥ इन्द्रवंशा वृत्तम् ॥

इत्थं परानन्दपदार्पिताशयो
योगी विलूनाखिलकर्मबन्धनः ॥

स्वैरश्चिरं संविचरत्युदारधी-
रत्रैव वाऽमुत्र विमुच्यतेऽथवा ॥ २४ ॥

इत्थमिति ॥ इत्थं कहिये पूर्वोक्त प्रकारसें निर्विकल्पसमाधिविषे स्थित भया योगी परमानंदका अनुभव करेहै यद्यपि परमानंदके अनुभव करणेहारी मनकी सर्व वृत्तियांका तिस कालविषे विलय होवेहै तथापि जैसे सुषुप्ति अवस्थाविषे मनके विलय होनेतेंभी अविद्याकी सूक्ष्मवृत्तियोंकरके आनंदका अनुभव होवेहै तैसेहि समाधिविषेभी चित्तकी सूक्ष्म अवस्थाकरके समाधिकालीन सुखका अनुभव संभवेहै ॥ औ जो असंप्रज्ञातसमाधिविषे आनंदका अनुभव नहि मानें तो समाधिसें व्युत्थित भये योगीकूं तिस आनंदकी स्मृति नहि होनी चाहिये औ स्मृति तो होवेहै ॥ किं च जैसे सुषुप्तिविषे चित्तका अत्यंत विलय होवेहै तैसे असंप्रज्ञातसमाधिविषे नहि होवेहै, यह वार्ता गौडपादाचार्यनेभी कथन करीहै

"लीयते हि सुषुप्तौ तन्निगृहीतं न लीयते"

अर्थ० जैसे सुषुप्तिअस्थाविषे मनका अत्यंत विलय होवेहै तैसे निर्विकल्पसमाधिविषे निरोध किये हुये चित्तका विलय नहि होवेहै काहेतें कार्यका स्वकारणविषेहि अत्यंत विलय होवेहै यातें सुषुप्तिविषे अज्ञानरूप स्वकारणविषे

मनका अत्यंत विलय संभवेहै औ समाधिविषे तो अज्ञानरूप स्वकारणके अभाव होनेतैं चित्तका अत्यंत विलय नहि होवेहै किंतु सूक्ष्म अवस्थासे चित्तकी स्थिति होवेहै तिसकरकेहि असंप्रज्ञातसमाधिजन्य परमानंदका योगीकूं अनुभव संभवेहै ॥ तथा श्रुतिविषेभी यह वार्ता कथन करीहै

"समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥"

अर्थ० निर्विकल्पसमाधिकरके लयविक्षेपरूप मलसें रहित भये चित्तकूं आत्माकेसाथ एकीभाव करणेतें जो आनंद होवेहै सो तिस कालविषे वाचाकरके कथन नहि किया जावेहै किंतु योगीलोक अपणे अंतःकरणकरकेहि तिस परमानंदका अनुभव करतेहैं इति ॥ तथा विवेकचूडामणिविषेभी कहाहै

"बुद्धिर्विनष्टा गलिता प्रवृत्तिर्ब्रह्मात्मनोरेकतयाधिगत्या ।
इदं न जानेप्यनिदं न जाने किंवा कियद्वा सुखमस्त्यपारम् ॥"

अर्थ० कोई एक शिष्य निर्विकल्पसमाधिसें व्युत्थानकूं प्राप्त होयकर अपणे गुरुके पास जायकरके कहने लगा हे गुरो निर्विकल्पसमाधिविषे ब्रह्मात्माका एकत्वभाव होनेतें

मेरी बुद्धि विलयकूं प्राप्त होगई औ सर्व प्रवृत्ति अर्थात् संकल्पविकल्पभी नष्ट होगये तथा यह है यह नहि इस प्रकार मैं किंचित् मात्रभी नहि जानता भया किंतु कुछक औ कितनाक अर्थात् वाचाकरके अवाच्य अपार सुखका मैं अनुभव करता भया हुं इति ॥ तथा गीताके षष्ठाध्यायविषे भगवान्नेभी कहाहै ॥

"सुखमात्यंतिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥"

अर्थ० निर्विकल्पसमाधिविषे स्थित भया योगी इन्द्रियोंके अगोचर अर्थात् केवल सूक्ष्म बुद्धिकरके ग्राह्य आत्यंतिक सुखका अनुभव करेहै तिस सुखविषे स्थित भया योगी मकरंदका पान करतेहुये भृंगकी न्यांई समाधिसें चलायमान नहि होवेहै औ जिस परमानंदकूं प्राप्त होयकर योगी पुना तिसतें परे अधिक लाभ कुछ नहि मानेहै तिस सुखविषे निमग्न भया योगी बडे बडे शीत, वात, वर्षा, आतप, आदिक उपद्रव औ सिंहादिक वनचरोंके भयानक शब्दोंकरकेभी चलायमान नहि होवेहै इति ॥ यह वार्ता योग-

वासिष्ठके निर्वाणप्रकरणविषे राजा शिखिध्वजके आख्यानमेंभी निरूपण करीहै

"निर्विकल्पसमाधिस्थं तत्रापश्यन्महीपतिम् ॥
राजानं तावदेतस्माद्बोधयामि परात्पदात् ॥
इति संचिंत्य चूडाला सिंहनादं चकार सा ॥
भूयो भूयः प्रभोरग्रे वनेचरभयप्रदम् ॥
न चचाल तदा राम यदा नादेन तेन सः ॥
भूयो भूयः कृतेनापि तदा सान्तं व्यचालयत् ॥
चालितः पातितोप्येष तदा नो बुबुधे बुधः"

अर्थ० एक समये चूडाला नाम राणी अपणे पति शिखिध्वज नाम राजाकूं वनमें निर्विकल्पसमाधिविषे स्थित भयेकूं देखकर ऐसा विचार करती भयी इस राजाकूं इस परम समाधिसें परीक्षाके अर्थ मैं जगावों इस प्रकार चिंतन करके सो चूडाला योगसिद्धिके बलसें राजाके अग्रभागविषे वारंवार मृगादिक वनचरोंकूं भय देनेहारे सिंहकी न्यांई भयानक शब्दकूं करती भयी तो सो राजा निर्विकल्पसमाधिके आनंदविषे निमग्न भया चलायमान नहि होता भया इस प्रकार जब वारंवार महान् शब्द करनेसेंभी राजा नहि चलायमान भया तो पश्चात् तिसकी ग्रीवाके समीप देशकूं हस्तोंसें पकडकर इधर उधर आकर्षण करती भयी परंतु इस

प्रकार चलायमान किया औ पृथिवीपर क्षेपण कियाहुयाभी सो शिखिध्वजराजा परमानंदविषे निमग्न भया प्रबोधकूं नहि प्राप्त होता भया इति ॥ तथा "योगी विलूनाखिलकर्मबन्धनः" कहिये इस प्रकार निर्विकल्पसमाधिके आनंदकूं प्राप्त भये योगीके सर्वहि जन्मजन्मांतरोंविषे अनुष्ठित किये हुये शुभाशुभ कर्मरूप बंधनोंका मूलसेंहि छेदन होवेहै यह वार्ता कूर्मपुराणमें महादेवजीनेभी कथन करीहै "योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपंजरम्" अर्थ० हे पार्वति योगरूप अग्नि सर्व पापसमूहका दहन करेहै इति ॥ शंका ॥ तुमने कहा निर्विकल्प समाधिकी प्राप्ति भयेतें योगीके सर्व कर्मोंका मूलसें छेदन होवेहै सो वार्ता असंभव है काहेतें

"क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ॥"

इत्यादिक अनेक श्रुतिस्मृतियोंविषे ज्ञानरूप अग्निकरकेहि सर्व कर्मोंका नाश कथन कियाहै ॥ समाधान ॥ यद्यपि अनेक श्रुतिस्मृतियोंविषे ज्ञानसेंहि कर्मोंका विनाश कथन कियाहै तथापि जैसे ज्ञानसें कर्मोंका विनाश होवेहै तैसेहि निर्विकल्पसमाधिसेंभी होवेहै काहेतें समाधिकूं, ज्ञानसेंभी प्रबल होनेतें यह वार्ता पूर्वहि षष्ठे श्लोककी व्याख्याविषे नि-

रूपण करि आये हैं तथा गीताविषे भगवान्नेभी कहाहै "ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते"

"तपस्विभ्योधिको योगी ज्ञानिभ्योपि मतोधिकः।"

अर्थ० हे अर्जुन, ज्ञानसैंभी ध्यान अर्थात् योग विशेष है तथा अति उग्र तप करणेहारोंसें औ ज्ञानियोंसैंभी योगी अधिक मानाहै इति ॥ किंच निर्विकल्पसमाधिविषे चित्तके अत्यंत शुद्ध होनेतें आत्मतत्त्वका करामलकवत् स्फुट साक्षात्कार होवेहै यातें योगीके सर्व कर्मोंका नाश संभवेहै ॥ तथा विवेकचूडामणिविषे शंकराचार्यनेभी कहाहै

"समाधिनानेन समस्तवासना-
ग्रंथेर्विमोक्षोऽखिलकर्मनाशः ।
अंतर्बहिः सर्वत एव सर्वदा
स्वरूपविस्फूर्तिरयत्नतः स्यात् ॥"

अर्थ० इसपूर्वोक्त निर्विकल्पसमाधिकरके समस्त वासनारूप ग्रंथियोंका भेदन होवेहै औ सर्वशुभाशुभ कर्मोंकाभी विनाश होवेहै तथा अंतःकरणके अत्यंत स्वच्छ होनेतें यत्नसें विनाहि आत्मस्वरूपका अंतरबाहिर विस्फुरण होवेहै इति ॥ तथा योगसूत्रोंमें पतंजलिनेभी कहाहै " ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः" अर्थ० निर्विकल्पसमाधिविषे आत्मतत्त्वके स्फुट

अवबोध होनेतैं योगीके अविद्या आदिक क्लेश औ शुभाशुभ कर्मोंकी निवृत्ति होवैहै इति ॥ तथा महाभारतके मोक्षपर्वविषे भीष्मपितामहनेभी कहाहै

"स शीघ्रमचलप्रख्यं दग्ध्वा कर्म शुभाशुभम् ।
उत्तमं योगमास्थाय यदीच्छति विमुच्यते ॥"

अर्थ० हे युधिष्ठिर, सो योगी उत्तम योगरूप निर्विकल्प समाधिविषे स्थित होयकर शीघ्रहि पर्वतके समान अनेक जन्मांतरोंविषे संचय किये हुये शुभाशुभ कर्मोंकूं योगाग्निसैं दग्ध करके अपणी इच्छाके अनुसार कैवल्यमोक्षपदकूं प्राप्त होवैहै इति ॥ तथा पंचदशीमैंभी कहाहै

"अनादाविह संसारे संचिताः कर्मकोटयः ।
अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मो विवर्धते ॥
अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते ।
समूलोन्मूलते पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये ॥"

अर्थ० इस निर्विकल्पसमाधिकरके अनादिकालसैं अनेक जन्मांतरोंविषे जो कोटियों शुभाशुभ कर्मसंचय किये होवैहैं सो सर्वहि विनाकूं प्राप्त होय जावैहैं औ जितनी तिन कर्मोंकी शुभाशुभ वासना होवैहैं तिन सर्वकाभी क्षय होवैहै तथा जो पुण्यपापरूप कर्मोंके संचय होवैहै सोभी सहित मूलके विनाशकूं प्राप्त होवैहैं इति ॥ इस प्रकार सर्व बंधनोंसैं

रहित भये योगीकी जो तिस कालविषे विदेहमुक्त होनेकी इच्छा नहि होवे तो "स्वैरश्विरं संविचरत्युदारधीः" कहिये उदारबुद्धिमान् सो योगी व्युत्थानकालविषे संयमद्वारा सर्व चराचरजगत्विषे स्वतंत्र होयकर विचरता है अर्थात् नारदादिकोंकी न्यांई स्वर्ग पाताल अंतरिक्षादिक लोकोंविषे तिसका कोईभी निरोध नहि करसकैहै, यह वार्ता पुराणादिकोंविषे तहां तहां योगियोंके प्रसंगोंविषे प्रसिद्धहीहै ॥ तथा योगवासिष्ठके निर्वाणप्रकरणमें चूडालाके आख्यानविषेभी कथन कियाहै

श्रीवसिष्ठ उवाच.

"अणिमादिगुणैश्वर्ययुक्ता सा नृपभामिनी ।
एवं बभूव चूडाला घनाभ्यासवती सती ॥
जगामाकाशमार्गेण विवेशांबुधिकोटरम् ।
चचार वसुधापीठं गंगेवामलशीतला ॥
आकाशगामिनी श्यामा विद्युत्प्रारंभभूषणा ।
बभ्राम मेघमालेव गिरिमाला महीतले ॥
काष्ठं तृणोपलं भूतं खं वातमनलं जलम् ॥
निर्विघ्नमविशत्सर्वं तंतुर्मुक्ताफलं यथा ॥
मेरोरुपरि श्रृंगाणि लोकपालपुराणि च ॥
दिग्व्योमोदररन्ध्राणि विजहार यथासुखम् ॥

तिर्यग्भूतपिशाचाद्यैः सहनागामरासुरैः ॥
विद्याधराप्सरःसिद्धैर्व्यवहारं चकार सा ॥"

अर्थ० हे रामचंद्र, इस प्रकार चिरकालके अभ्यास करणेसें शिखिध्वज राजाकी भार्या चूडाला अणिमादिक सर्व सीद्धियोंके ऐश्वर्यकरके संपन्न होयकर आकाशविषे विचरकरके समुद्रके कोटर अर्थात् मध्यदेशविषे प्रवेश करती भयी पुना तहांसें निकसकर जैसे गंगा पृथिवीविषे निर्मल भयी गमन करेहै तैसेहि रागद्वेषरूप मलसें रहित भयी सो चूडाला पृथिवीमंडलविषे विचरती भयी पुना श्यामसुंदररूप औ विजुलीके चमत्कारके समान उज्ज्वल आभूषणोंकरके लसती हुयी मेघमालाकी न्यांई आकाशविषे औ पर्वतोंके[1] समूहकी न्यांई पृथिवीविषे भ्रमण करती भयी ॥ पुना काष्ठ तृण शिला, भूत, आकाश, वायु, अग्नि, जल, इन सर्वकेविषे जैसे मुक्ताफलमें सूक्ष्म तंतु प्रवेश करेहै तैसेहि निर्विघ्न प्रवेश करजाती भयी ॥ पुना सुमेरुपर्वके शृंगोंपर औ इन्द्रादिक लोकपालोंकी पुरियांविषे तथा दशों दिशा औ आकाशके छिद्रोंमेंभी सुखपूर्वक विचरती भयी ॥ पुना तिर्यक्, भूत, पिशाच, नाग, देवता, दैत्य, विद्याधर, अप्सरा, सिद्धादिकोंके साथभी नानाप्रकारके व्यवहार करती भयी इति ॥

---

१ इन्द्रकरके पक्ष छेदन करणेके प्रथम पर्वतभी चलते औ उडतेथे.

किंच महादेवादिक ईश्वरोंमेंभी योगी प्रवेश करसकैहै, यह वार्ता महाभारतके मोक्षपर्वविषे भीष्मपितामहनेभी कथन करीहै "परं हि तद्ब्रह्ममयं महात्मन् ब्रह्माणमीशं वरदं च विष्णुम् ।
भवं च धर्मं च षडाननं च यद्ब्रह्मपुत्रांश्च महानुभवान् ॥
ताराधिपं खे विमलं सतारं विश्वांश्च देवानुरगान् पितॄंश्च ।
परस्परं प्राप्य महान्महात्मा विशेत योगी न चिराद्विमुक्तः॥"

अर्थ० हे युधिष्ठिर सर्व योगकलाकी सिद्धिकूं प्राप्त भया योगी परब्रह्मरूप सर्व जगत्के ईश्वर ब्रह्मामें औ सर्व प्रार्थित वरोंके देनेहारे विष्णुभगवान्विषे तथा महादेव औ धर्मराज तथा षडानन औ महानुभावकरके युक्त ब्रह्माके पुत्र सनकादिकोंविषे तथा आकाशविषे स्वच्छ चंद्रमा औ तारोंविषे तथा इन्द्रादिक सर्व देवता औ वासुकि आदिक नागोंविषे तथा अर्यमादिक पितरोंविषेभी संयमद्वारा परस्पर एक भावकूं प्राप्त भया महात्मा योगी निर्विघ्न शीघ्रहि प्रवेश करैहै इति ॥ किंच इस ब्रह्मांडकूं भेदन करके बाह्य गमन करणेमेंभी योगी समर्थ होवेहै, यह वार्ता योगवासिष्ठमें तृतीयप्रकरणविषे लीलाके इतिहासमें प्रसिद्धहै तथा भागवतके द्वितीयस्कंदविषेभी कहा है

"योगेश्वराणां गतिमाहुरंत-
र्बहिस्त्रिलोक्याः पवनांतरात्मनाम् ॥

न कर्मभिस्तां गतिमाप्नुवंति
विद्यातपोयोगसमाधिभाजाम् ॥"

अर्थ० हे राजन् प्राणोंकूं जय करके पवनप्रधान सूक्ष्म शरीरसें विचरणेहारे योगीश्वरोंका त्रैलोक्य अर्थात् ब्रह्मांडके अंतर औ बाह्यभी गमन होवेहै यह जो उपासना औ तप करके युक्त समाधिके अभ्यासवाले योगीपुरुषोंकी गति है तिसकी यज्ञादिक कर्मोंकरके प्राप्ति नहि होवेहै इति ॥ किंच इस प्रकार स्वतंत्र विचरणेहारे योगीकूं सर्व चराचर जगत्के भक्षण करणेहारे कालभगवान्काभी त्रास नहि होवेहै, यह वार्ता महाभारतके मोक्षपर्वविषेभी कथन करीहै

"न यमो नान्तकः क्रुद्धो न मृत्युर्भीमविक्रमः ।
ईश ते नृपते सर्वे योगस्यामिततेजसः ॥"

अर्थ० हे राजन् अमित प्रभाववान् योगीकूं यम[1]राज औ क्रोधकूं प्राप्त भया काल[2]भगवान् तथा भयानक विक्रमवाला मृत्यु[3]भी वशीभूत करणेमें समर्थ नहि होवेहै इति ॥ जिस प्रकारसें योगीकूं कालभी वशीभूत नहि करसकैहै सो प्रकार

---

१ धर्मराजका नाम यम है। २ औ वर्ष मासादिकोंकरके आयुषके क्षपण करणेहारी जो देवताविशेष है तिसका नाम काल है। ३ औ शरीरसें प्राणोंके वियोग करणेहारी देवताका नाम मृत्यु है यह यम काल औ मृत्युका भेद है.

खेचरीपटलविषे महादेवजीने पार्वतीकेप्रति कथन कियाहै सो प्रसंगसें यहां दिखावेहैं ॥

"यदि वंचितुमुद्युक्तः कालं कालविभागवित् ।"
कालस्तु यावद्व्रजति तावत्तत्र सुखं वसेत् ॥
ब्रह्मद्वारार्गलस्याधो देहं कालप्रयोजनम् ॥
तस्मादूर्ध्वपदं देहं नहि कालप्रयोजनम् ।
यदा देव्यात्मनः कालमतिक्रान्तं प्रपश्यति ॥
तदा ब्रह्मार्गलं भित्वा शक्तिं मूलपदं नयेत् ।
शक्तिदेहप्रसूतं तु स्वजीवं चेन्द्रियैः सह ॥
तत्तत् कर्मणि संयोज्य स्वस्थदेहः सुखंचरेत् ।
अनेन देवि योगेन वंचयेत्कालमागतम्" ॥

अर्थ० शरीरसें प्राणोंके वियोग करणेहारे कालके आगमन समयकूं संयमद्वारा जानकरके योगी जो कालकूं वंचन करणा चाहे तो पूर्वोक्त प्राणके प्रत्याहारकी रीतिसें मूलाधारचक्रसें कूंडलिनी शक्तिके सहित अपणे प्राण औ मनकूं षट्चक्रभेदन करके ब्रह्मरंध्रविषे लावे पश्चात् जबपर्यंत सो काल आयकर पीछे लोट नहि जावे तबपर्यंत तहां ब्रह्मरंध्रमेंहि सुखपूर्वक निवास करे तो काल आयकर पीछे लोट जावेहै काहेतें ब्रह्मरंध्रसें नीचे स्थित भये जीवकूंहीं काल अपणे वशीभूत करणेमें समर्थ होवेहै औ देहके ऊर्ध्व अर्थात् ब्रह्मरंध्रविषे

स्थित भये जीवकूं काल वशीभूत नहि करसकैहै यह आदिसेंहि देवकी नेत है इस प्रकार ब्रह्मरंध्रमें स्थित भया योगी जिस कालविषे कुंडलिनी शक्तिके प्रतापसें अपणे कालकूं पीछे लोट गया देखे तो ब्रह्मरंध्रकूं भेदन करके अर्थात् परित्याग करके प्राणोंकेसहित कुंडलिनी शक्तिकूं नीचे क्रमसें मूलाधारविषे लायकर स्थित करे पुना अपणे प्राण औ जीवसहित इन्द्रियोंकूं शक्तीके शरीरसें भिन्न करके तिनकूं स्वस्वस्थानविषे स्थापन करे पश्चात् स्वस्थदेह कहिये चिरंजीवी होयकरके स्वतंत्र भया विचरण करे हे पार्वति इस प्रकारके योगकरके आये हुये कालकूं योगी वंचन करे इति ॥ इसप्रकार कालादिकोंके भयसें रहित होयकर चिरकापर्यंत स्वतंत्र विचरता भया योगी जिस कालविषे सर्व व्यवहारोंसें उपरामताकूं प्राप्त भया विदेहमुक्त होनेकी इच्छा करेहै तो यहांहि ब्रह्मरंध्रविषे प्राणोंके निरोधपूर्वक परमपदकूं प्राप्त होवेहै ॥ सो जिस प्रकार योगी विदेहमुक्त होवेहै सो प्रकारभी खेचरीपटलविषेहि महादेवजीने कथन कियाहै ॥

"यदा तु योगिनो बुद्धिस्त्यक्तुं देहमिमं भवेत् ।"
तदा स्थिरासनो भूत्वा मूलाच्छक्तिं समुज्ज्वलाम् ॥
सूर्यकोटिप्रतीकाशां भावयेच्चिरमात्मनि ।
आपादतलपर्यंतं प्रसृतं जीवमात्मनः ॥

संहृत्य क्रमयोगेन मूलाधारपदं नयेत् ।
तत्र कुंडलिनीं शक्तिं संवर्त्तानलसन्निभाम् ॥
जीवं निजं चेन्द्रियाणि ग्रसन्तीं चिन्तयेद्धिया ।
संप्राप्य कुंभकावस्थां तडिज्ज्वलनभासुराम् ॥
मूलाधाराद्यतिर्देवि स्वाधिष्ठानपदं नयेत् ।
तत्रस्थं जीवमखिलं ग्रसन्तीं चिन्तयेद्व्रती ॥
तडित्कोटिप्रतीकाशां तस्मादुन्नीय सत्वरम् ।
मणिपूरपदं प्राप्य तत्र पूर्ववदाचरेत् ॥
तत्र स्थित्वा क्षणं देवि पूर्ववद्योगमार्गवित् ।
अनाहतं नयेद्योगी तत्र पूर्ववदाचरेत् ॥
उन्नीय तु पुनः पद्मे षोडशारे निवेशयेत् ।
तत्रापि चिंतयेद्देवि पूर्ववद्योगमार्गवित् ॥
उन्नीय तस्माद् भ्रूमध्ये नीरक्षीरं ग्रसेत् पुनः ।
मनसा सह वागीश्या भित्वा ब्रह्मार्गलं क्षणात् ॥
परामृतमहांभोधौ विश्रान्तिं तत्र कारयेत् ।
तत्रस्थं परमं देवं शिवं परमकारणम् ॥
शक्त्या सह समायोज्य तयोरैक्यं विभावयेत् ।
एवं तत्त्वे परे शान्तः शिवे लीनः शिवायते ॥"

अर्थ० हे देवि जिस कालविषे योगीकी इस पांचभौतिक देहकूं परित्याग करके विदेहमुक्त होनेकी इच्छा होवे तो एकां-

तद्देशविषे सिद्धासनकूं स्थिर लगायकर मूलाधारचक्रविषे कोटिसूर्यके समान प्रभाकरके ज्वलती भयी पूर्वोक्त कुंडलिनी शक्तिका चिरकालपर्यंत मनकरके चिंतन करे, पुना मूलाधारसें लेकर पादतलपर्यंत प्रसरा हुया जो आपणा जीवात्मा है तिसकूं षोडशमें श्लोककी टीकाविषे निरूपण किये प्राणोंके प्रत्याहारकी रीतिसें सहित प्राणोंके आकर्षण करके मूलाधारचक्रविषे लावे पश्चात् तहां स्थित जो प्रलयकालकी अग्निके समान प्रकाशकरके युक्त कुंडलिनी शक्ति तिसकूं प्राण औ इन्द्रियोंके सहित अपणे जीवकूं ग्रसन करती हुयी चिंतन करे अर्थात् पादतलसें प्राणोंके सहित जीवात्माकूं आकर्षण करके मूलाधारविषे स्थित भयी उक्त कुंडलिनीके साथ एकीभूत करे ॥ इस प्रकार तहां किंचित् विश्राम करके पुना तहांसें तडित्के समान तेजयुक्त कुंडलिनी शक्तिकूं ग्रास किये हुये प्राण औ जीवात्माके सहित ऊपर स्वाधिष्ठानचक्रविषे लायकर मूलाधारसें लेकर स्वाधिष्ठानपर्यंत प्रसरे हुये जीवकूं सहित प्राणोंके ग्रसन करती हुयी चिंतन करे ॥ तहां किंचित् विश्राम करके पुना कोटिविद्युत्के समान प्रकाशयुक्त कुंडलिनीकूं ग्रास किये हुये प्राण औ जीवात्माके सहित शीघ्रहि मणिपूरचक्रविषे लायकर मणिपूरसें लेकर स्वाधिष्ठानपर्यंत प्रसरे हुये जीवात्माका सहित प्राणोंके

ग्रसन करती हुयी चिंतन करे ॥ तहां किंचित् विश्राम करके पुना तिसतें ऊपर ग्रास किये प्राण औ जीवात्माके सहित प्रकाशमान शक्तिकूं अनाहत चक्रविषे लायकर अनाहतचक्रसें लेकर मणिपूरपर्यंत प्रसरे हुये जीवात्माका सहित प्राणोंके ग्रसन करती हुयो चिंतन करे ॥ तहां किंचित् विश्रामकरके पुना तिसतें ऊपर ग्रास किये हुये जीव औ प्राणोंके सहित शक्तिकूं षोडश अरोंकरके युक्त विशुद्धचक्रविषे लायकर विशुद्धचक्रसें लेकर अनाहतचक्रपर्यंत प्रसरे हुये जीवात्माकूं सहित प्राणोंके ग्रास करती हुयी चिंतन करे ॥ तहां किंचित् विश्राम करके पुना तिसतें ऊपर ग्रास किये हुये जीव औ प्राणोंके सहित शक्तिकूं भ्रुवोंकेमध्ये आज्ञाचक्रविषे लायकर "नीरक्षीरं ग्रसेत्" कहिये जैसे हंसपक्षी नीरसे क्षीरकूं पृथक् करके भक्षण करेहै तैसेहि शरीररूप नीरसें जीवात्मारूप क्षीरकूं पृथक् करके ग्रसन करती हुयी चिंतन करे ॥ तहां किंचित् विश्राम करके पुना तिसतें ऊपर ग्रास किये हुये जीव औ प्राणोंके सहित कुंडलिनीकूं ब्रह्मरंध्रका द्वार भेदन करके परमानंदरूप अमृतके समुद्र सहस्रदलपंकजमें लायकर विश्रांतिकूं प्राप्त करे पश्चात् तिस ब्रह्मरंध्रमें पुर्यष्टकाविषे अधिष्ठानरूपसें स्थित जो सर्व जगत्का हेतुभूत परम शिवस्वरूप साक्षी आत्मा है तिसकेसाथ

ग्रास किये हुये चिदाभासरूप जीवात्मा औ प्राणोंके सहित कुं-
डलिनीशक्तिकी एकता चिंतन करे अर्थात् पुर्यष्टकाके सहित
चिदाभासकूं साक्षी आत्माविषे विलय करे तात्पर्य यह कुंड-
लिनी शक्ति औ जीवात्मा तथा पुर्यष्टकाकूं साक्षीरूप अधिष्ठा-
नविषे कल्पित जानकर तिनविषे अहंप्रत्ययका परित्याग कर-
के साक्षीविषे अहंप्रत्यय करे पुना साक्षी आत्माकूं परिपूर्ण
नित्यशुद्ध सच्चिदानंदस्वरूप परब्रह्मविषे विलय करे अर्थात् सर्व
वासनाओंसें रहित भया पुर्यष्टकावच्छिन्न भावका परित्याग
करके सर्वगत नित्यशुद्ध सामान्य संवित् स्वरूपसें स्थित होवे ॥
इस प्रकारसें सर्वगत शिवस्वरूप परमतत्व सामान्यसंवित्‌विषे
एकीभावकूं प्राप्त भया योगी शिवस्वरूपहि होय जावेहै
तात्पर्य यह उक्त प्रकारसें स्थूल सूक्ष्म शरीरके अभिमानका
परित्याग करके ब्रह्मभावसें स्थित भये योगीकी पुना व्यु-
त्थानके अभाव होनेतें जैसे तंतूके टूटनेसें सर्व मणियां नि-
राधार भयी विखर जावेहैं तैसेहि वासनारूप तंतुके टूटनेसें
निराधार भयी योगीकी पुर्यष्टका ब्रह्मरंध्रविषेहि विखर जा-
वेहै अर्थात् स्थूल सूक्ष्म शरीरकी अंतःकरणादिक सर्व सा-
मग्री स्वस्वकारणविषे एकीभावकूं प्राप्त होवेहै । यह सर्व वार्ता
योगवासिष्ठविषे उद्दालकवीतहव्यादिकोंके इतिहासोंविषेभी

---

१ न तस्य प्राणा उत्क्रामन्तीति श्रुतेः.

प्रसिद्ध है ॥ तथा अथर्ववेदकी मुंडकउपनिषत्‌मेंभी कथन कियाहै

> "गताः कलाः पंचदशप्रतिष्ठा
> देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ॥
> कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा
> परेऽव्यये सर्व एकीभवंति ॥"

अर्थ० जिस कालविषे ज्ञानयुक्त योगी विदेहमोक्षकूं प्राप्त होवेहै तो प्राणादिक जो पंचदश कला हैं सो प्रतिष्ठा कहिये स्वस्वकारणविषे लीन होय जावेहैं औ चक्षुआदिक गोलकों स्थित जो देवता अर्थात् इन्द्रिय हैं सोभी स्वस्व-अधिष्ठानभूत सूर्यादिक देवतोंविषे एकीभावकूं प्राप्त होवेहैं तथा शुभाशुभ कर्म औ जीवात्माका निर्विकार जो परब्रह्म है तिसकेसाथ एकीभाव होवेहै इति ॥ औ जो योगकलासें रहित केवल ज्ञानीकी[1] विदेहमोक्ष होवेहै तो तिसकी पुर्यष्टका-काभी उक्त प्रकारसेंहि भेदन होवेहै परंतु तिनमें इतनी विशेषता है केवल ज्ञानीकी प्रारब्धकर्मके भोगकरके क्षीण भयेतें अनंतर हृदयदेशविषेहि पुर्यष्टकाका भेदन होवेहै औ योगयुक्त ज्ञानीकी तो प्रारब्धकर्मके क्षयकी अपेक्षासें विनाहि इच्छाके अनुसार स्वतंत्र ब्रह्मरंध्रविषे पुर्यष्टकाका भेदन होवेहै ॥ तथा

१ वेदांतमतके अनुसारसें यह कथन जानना.

“अमुत्र विमुच्यतेथवा” कहिये जो योगीकी यहां विदेहमुक्त होनेकी इच्छा नहि होवे किंतु ब्रह्मलोकविषे गमन करणेकी इच्छा होवे तो तहांहि जायकर कल्पपर्यंत ब्रह्मलोकके दिव्य भोगकूं भोगकरके ब्रह्माकेसाथहि विदेहमुक्तिकूं प्राप्त होवेहै ॥ सो योगीके ब्रह्मलोकविषे गमन करणेका प्रकार भागवतके द्वितीय स्कंधविषे शुकदेवजीने राजापरिक्षतकेप्रति कथन कियाहै

> “यदि प्रयास्यन्नृप पारमेष्ठ्यं
> वैहायसानामुत यद्विहारम् ।
> अष्टाधिपत्यं गुणसन्निवाये
> सहैव गच्छेन्मनसेन्द्रियैश्च ॥”

अर्थ० हे नृप पूर्वोक्त प्रकारसें षट्चक्रोंकूं भेदन करके ब्रह्मरंध्रविषे स्थित भये योगीकी जो ब्रह्मलोक अथवा अष्टसिद्धियोंके ऐश्वर्यकरके युक्त स्वर्गलोकविषे अथवा ब्रह्मांडके अंतर अथवा बाह्य अन्य किसीलोकविषे गमन करणेकी इच्छा होवे तो पुर्यष्टकाके अभिमानका परित्याग नहि करे किंतु प्राणोंके ऊर्ध्व आकर्षणद्वारा ब्रह्मरंध्रका भेदन करक पुर्यष्टकाके सहितहि गमन करे इति ॥ इस प्रकारसें ब्रह्मरंध्रकूं भेदन करके ब्रह्मलोकविषे प्राप्त भये योगीकी पुना इस

जन्ममरणरूप घोर संसारचक्रविषे आवृत्ति नहि होवेहै यह वार्ता अथर्ववेदकी अमृतबिंदुउपनिषत्‌मेंभी कथन करीहै

"यस्यैष मंडलं भित्वा मारुतो याति मूर्द्धतः ।
यत्र कुत्र म्रियेद्वापि न स भूयोभिजायते"

अर्थ० जिसका प्राणवायु ब्रह्मरंध्रमंडलकूं भेदन करके मूर्द्धासें ऊर्ध्व गमन करेहै सो पुरुष जिस तिस देशविषेभी मृत्युकूं प्राप्त भया पुना इस संसारविषे जन्मकं नहि प्राप्त होवेहै इति ॥ तथा अथर्ववेदकी संन्यासउपनिषत्‌मेंभी कहाहै

"अथायं मूर्द्धानमस्य देहैषागतिर्गतिमतां ये प्राप्य
परमां गतिं भूयस्तेन निवर्त्तंते परात्परमवस्थानात्"

अर्थ० जिस कालविषे यह प्राणवायु मूर्द्धाकूं 'अस्य' कहिये[1] क्षेपण अर्थात् भेदन करके 'देह' कहिये[2] समष्टि वायुके-साथ एकीभाव होनेतें उपचयकूं प्राप्त भया ब्रह्मलोकविषे गमन करेहै सोई गतिवाले योगी पुरुषोंकी परम गति है सो जो पुरुष इस परम गतिकूं प्राप्त होयकर ब्रह्मलोक-विषे गमन करतेहैं सो पुना तिस परमस्थानसें निवर्तते नहि इति ॥ तथा यजुर्वेदकी कठउपनिषन्‌मेंभी कहाहै "तयोर्ध्व-मायन्नमृतत्वमेति" अर्थ० सुषुम्ना नाडीद्वारा ब्रह्मरंध्रविषे प्राणोंकूं लायकर जो पुरुष ऊर्ध्वकूं प्राणोंका परित्याग करेहै

---

१ असु क्षेपणे. २ दिह उपचये.

सो ब्रह्मलोकविषे जायकर मोक्षपदकूं प्राप्त होवेहै इति ॥ तथा अथर्ववेदकी क्षुरिका उपनिषत्मेंभी कहाहै

"पाशं छित्वा यथा हंसो निर्विशंकः खमुत्क्रमेत् ।
छिन्नपाशस्तथा जीवः संसारं तरते तदा ॥"

अर्थ० जैसे बलवान् हंसपक्षी जालकूं भेदन करके आकाशविषे निराशंक होयकर विचरेहै तैसेहि योगरूप बलकरके योगी पुरुष शरीररूप जालकूं ब्रह्मरंध्रद्वारा भेदन करके जन्ममरणरूप संसारसमुद्रकूं तरजावेहै इति ॥ तथा शारीरकसूत्रोंमें व्यासजीनेभी कहाहै "अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्" अर्थ० उक्त श्रुतियोंके प्रमाण होनेतें ब्रह्मलोकविषे गये हुये योगीकी पुना इस संसारमें आवृत्ति नहि होवेहै किंतु कल्पके अंतमें तिस योगीका ब्रह्माके साथहि कैवल्यमोक्ष होवेहै इति ॥ यह वार्ता अथर्ववेदकी मुंडकउपनिषत्विषेभी कथन करीहै "ते ब्रह्मलोकेषु परांतकाले परामृताः परिमुच्यंति सर्वे" अर्थ० जो योगीलोक ब्रह्मलोकविषे जातेहैं सो सर्वहि कल्पके अंतमें परब्रह्मस्वरूप हुये ब्रह्माके साथहि कैवल्यमोक्षकूं प्राप्त होवेहैं इति ॥ तथा शारीरकसूत्रोंमें व्यासजीनेभी कहाहै "कार्यात्यते तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्" अर्थ० ब्रह्मलोकविषे प्राप्त भये योगीका कल्पके अंतविषे ब्रह्मलोकके विनाश होनेतें तिसके अधिपति ब्रह्माके

साथ कैवल्य मोक्ष होवेहै काहेतें यह उक्त वार्ता "एतस्मा-ज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते" इत्यादिक श्रुतियों-विषे अभिधान करणेतें इति ॥ तथा स्मृतिमेंभी कहाहै

"ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे ।
परस्यांते कृतात्मानः प्रविशंति परं पदम् ॥"

अर्थ० इस स्मृतिका अर्थ उक्त श्रुति औ सूत्रके अंतर्भूतहि है इति ॥ किंच तिस योगीके माता पिताभी कृतार्थ होय जावेहैं यह वार्ता ब्रह्मवैवर्तपुराणमेंभी कथन करीहै

"कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत् ।
जायते योगवान् यत्र दत्तमक्षयतां व्रजेत् ॥"

अर्थ० जिनके गृहविषे योगीपुरुषका जन्म होवेहै तिन मातापिताकाभी उद्धार होवेहै औ जिस कुलविषे होवेहै सो कुलभी पावन होय जावेहै तथा जिस देशविषे होवेहै सो देशभी धन्यवादके योग्य होवेहै औ जो जो वस्तु तिस योगीके प्रति श्रद्धालुभक्तलोक समर्पण करेहैं सो सो अक्षय फलके देनेहारो होवेहै इति ॥ तथा तिसकी अन्नवस्त्रादिकोंसें सेवा

---

१ ब्रह्मलोकविषे प्राप्त भया पुरुष स्थूलप्रपंचसें परे जो जीवघन कहिये हिरण्यगर्भ है तिसतें परे शरीररूप पुरविषे शयन करणेहारा जो परमात्मा है तिसकूं देखेहैं अर्थात् ब्रह्मज्ञानद्वारा कैवल्यमोक्षकूं प्राप्त होवेहै इति यह इस श्रुतिका अर्थ है ॥

करणेहारे पुरुषोंकाभी कल्याण होवेहै यह वार्ता दक्षसंहितामेंभी कथन करीहै

"योगारंभपरिश्रांतं यस्तु भोजयते यतिं ।
निखिलं भोजितं तेन त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥"

अर्थ० योगके अभ्यास करके परिश्रमकूं प्राप्तभये योगीकूं जो पुरुष भोजन करावेहै तो मानो तिसने सचराचर तीनलोकोंकोहि भोजन कराय दिया इति ॥ तथा अमनस्कखंडविषे महादेवजीनेभी वामदेवकेप्रति कहाहै

"दर्शनादर्चनादस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः ।
अज्ञा मुक्तिपदं यान्ति किं पुनस्तत्परायणः ॥"

अर्थ० हे वामदेव तिस योगीके दर्शन औ श्रद्धापूर्वक पूजन करणेहारे अज्ञानीभी अंःतकरणकी शुद्धिद्वारा एकविंशति कुलोंके सहित मोक्ष पदकूं प्राप्त होवेहैं तो जो पुरुष सर्वदाहि योगाभ्यासमें तत्पर रहताहै तिसकी तो क्याहि वार्ता कथन करणी है इति ॥ किंच सो योगी सर्वकरके वंदना करणे योग्य होवेहै, यह वार्ताभी तहांहि महादेवजीने कथन करीहै

"अंतर्योगं बहिर्योगं यो विजानाति तत्त्वतः ।
त्वया मयाप्यसौ वंद्यः शेषैर्वंद्यस्तु किं पुनः ॥"

अर्थ०हे वामदेव जो पुरुष सम्यक् प्रकारसें अंतर योग जो राजयोगहै बाह्य योग जो हठ योगहै तिसकूं जानता है अ-र्थात् तिसका अनुष्ठान करताहै सो तेरे औ मेरे करकेभी वं-दना करणेयोग्य है तो अन्य पुरुषोंकरके वंदना करणेयोग्य है इसमें क्या वार्ता कथन करणीहै इति ॥ इस प्रकारसें म-हत्पदकी प्राप्तिके हेतुभूत योगाभ्यासका परित्याग करके जो पुरुष अन्य कार्योंविषे आसक्त भये सर्व आयुषकूं वृथाहि क्षपण करतेहैं तिनतें परे दूसरा कौन अभागी है इति ॥ २४ ॥ इसप्रकारसे योगकूं सांगोपांग निरूपण करके अब ग्रंथका उपसं-हार करते हुये इस ग्रंथके अध्ययनका फल निरूमण करेहैं ॥

(द्रुतविलंबितं वृत्तम्)

परमयोगरहस्यमितीरितं
परमहंसजनेन समासतः ॥
पठति यश्च समाचरतीह वै
पतति जातु स नोग्रभवार्णवे ॥ २५ ॥

परमेति ॥ यह जो पंचविंशति श्लोकात्मक परमयोग-रहस्यका बोधक "योगकल्पद्रुम" नामक ग्रंथ है सो सहित

टीकाके परमहंस स्वामी ब्रह्मानंदजीने कथन कियाहै सो जो अधिकारी पुरुष इस ग्रथकूं आदितें लेकर अंतपर्यंत अध्ययन करेगा तथा ग्रंथोक्त योगरहस्यका विधिपूर्वक क्रमसें अनुष्ठान करेगा सो पुरुष कदाचित्भी इस जन्ममरणरूप घोर संसारसमुद्रविषे नहि पतित होवेगा अर्थात् निर्विकल्पसमाधिकी प्राप्तिद्वारा कैवल्यमोक्षपदकूं प्राप्त होवेगा इति ॥

जलजबन्धुसुतारिजयावहं
पवनजानुजतातमदापहम् ॥
रविसुतात्मजसोदरसोदरी
सुपुलिने किल केलिरतं भजे ॥

"समाप्तिमगदमयं ग्रंथः"

इति श्रीमत्परमहंसस्वामिब्रह्मानन्दविरचितो योगकल्पद्रुमः

संपूर्णः ॥

लावणी.

करोहरिकाभजनजन्मयहवारवारफिरनहिआता
दिनदिनपलपल, क्षणक्षणनलिनीदलजललवचंचलजाता ॥ टेक
बाल्यपणेकेलिरसरसयोयौवनललनारसराता
वृद्धभयो, चिंतानलजलयोपलयोढलयोसबगाता ॥
मालालेकरचलेभजनकोजलेभवनजलखोदाता
मणिकाफेरे, मनचहुंफेरेहेरेमर्कटकेभ्राता ॥ १ ॥ दिनदिन०
कोटिपापकरकरधनसंचयडरमरणेकाविसराता
जिनकेकारण, करतदुरितनरसंगतेरेकोइनहिंआता ॥
यहसबपांथसमागमजानोभ्राततातकांतामाता
जगमेंजीवन, जानसुजानसमानपाणिजलचलजाता॥ २॥ दि०
पुनरपिमरणंपुनरपिजननंपुनरपिजननीजठराता
विनाहरीके, भजनकुजननरकानलजलविनजलजाता ॥
गेररत्नबहुकामतमामनिकामकाचपरललचाता
गयादावनहि, आवपुनर्नरमरकरमूरखपछताता ॥ ३ ॥ दिन०
गर्भवासकाकालसंभालहवालबालक्यूंविसराता
भोगचोगकी, आशापाशमायाकेमूरखफसजाता ॥
ब्रह्मानन्दकेवाकमनाकचलाकजबीदिलमेंलाता
पाशमायाकी, तोरमरोरसजोरगगनतलचलजाता ॥ ४॥ दिन०

गजल.

विनाहरिकेभजनमुफतजन्मगँवाया दुनियांकीमौजमेंफिरेसदा-
हिभुलाया ॥ टेक ॥
यहवारवारदेहमनुजकानमिलेगा डालीसेंटूटागुलनगुलिस्तांमें
खिलेगा ॥
दिनचारपांचकेलियेक्याढंगजमाया विनाहरिके० ॥ १ ॥
जिनकोंतुमानताहैमेरेहैंयहपियारे वहुछोडकरतुझेजंगलमेंघरको-
सिधारें
परलोकमेंनतेरेकोईहोतसहाया विनाहरिके० ॥ २ ॥
मोहकीमदिराकोपीकेमरणभूलया चूसचूसविषयरसकूंफिरत-
फूलया
जबतकनचूहेकोंबिलीनेमुखमेंउठाया विनाहरिके० ॥ ३ ॥
कहतेहैंब्रह्मानंदब्रह्मानंदलीजिये सदाहरिकाभजनदिलोजांसें.
कीजिये
करणेसेंजिसकेफिरनकोईलोटकेआया विनाहरिके० ॥ ४ ॥

गजल.

मानमानमानकह्यामानलेमेरा जानजानजानरूपजानलेतेरा०
॥ टेक ॥
जानेविनास्वरूपकेमिटेनगमकवी कहतेहैंवेदवारवारबातयह-
सवी ॥
हुशियारहोनिहारयारडारमैंमेरा मानमानमान० ॥ १ ॥

जाताहैदेखनेजिसेकाशीद्वुवारका मुकानहैबदनमेंतेरेउसहियारका

लेकनविनाविचारकेकिसीनेनहेरा मानमानमान० ॥ २ ॥

जोनैनकाभीनैनबैनकाभीबैनहै जिसकेविनाशरीरमेंनपलकचैनहै ॥

पिछानलेवखूबसोस्वरूहैतेरा मानमानमान० ॥ ३ ॥

कहतेहैंब्रह्मानंदब्रह्मानंदतुंसही बातयहपुराणवेदग्रंथमेंकही

विचारदेखमिटेजन्ममरणकाफेरा मानमानमान० ॥ ४ ॥

गजल.

गाफिलतुंजागदेखक्यातेरास्वरूपहै किसवास्तेपडाजन्ममरणकेकूपहै ॥ टेक ॥

यहदेहगेहनाशवानहैनहितेरा वृथाभिमानजालमेंफिरेकहांघेरा

तुंतोसदाविनाशसेंपरेअनूपहै गाफिलतु० ॥ १ ॥

भेददृष्टिकोनजबीदीनहोगया स्वभावआपणेसेंआपहीनहोगया

विचारदेखएकतुंभूंपनकाभूपहै गाफिलतु० ॥ २ ॥

तेरेप्रकाशसेंशरीरचित्तचेतता तुंदेहतीनदृश्यकूंसदाहैदेखता

द्रष्टानहिहोताहैकवीदृश्यरूपहै गाफिलतु० ॥ ३ ॥

कहतेहैब्रह्मानंदब्रह्मानंदपाईये इसबातकोविचारसदादिलमेंलाईये

जिस्सेंपडेंनफेरजन्ममरणकूपहै गाफिलतु० ॥ ४ ॥

श्री ।

॥ चतुश्लोकीभागवतप्रारंभः ॥

श्रीगणेशायनमः ॥ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ ॥ ज्ञानंपर मगुह्यंमे यद्विज्ञानसमन्वितम् ॥ सरहस्यंतदंगंचगृहाणगदितं मया ॥ १ ॥ यावानहंयथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः ॥ तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तुतेमदनुग्रहात् ॥ २ ॥ अहमेवासमेवाग्रे ना-न्यद्यत्सदसत्परं ॥ पश्चादहंयदेतच्चयोऽवशिष्येतसोऽस्म्यहम् ॥ ॥ ३ ॥ ऋतेर्थंयत्प्रतीयेत नप्रतीयेतचात्मनि ॥ तद्विद्यादात्म नोमायां यथाभासोयथातमः ॥ ४ ॥ यथामहांतिभूतानिभूतेषू च्चावचेष्वनु ॥ प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथातेषुनतेष्वहम् ॥ ५ ॥ एतावदेवजिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः ॥ अन्वयव्यतिरेका भ्यां यःस्यात्सर्वत्रसर्वदा ॥ ६ ॥ एतन्मतंसमातिष्ठपरमेणस माधिना ॥ भवान्कल्पविकल्पेषु नविमुह्यतिकर्हिचित् ॥ ७ ॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टादशसाहस्र्यांसंहितायांवैया सिक्यांद्वितीयस्कंधेभगवद्ब्रह्मसंवादे चतुःश्लोकीभागवतंसमा-प्तम् ॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥ ॥ श्रीरस्तु ॥ ॥ ॥

॥ इति चतुःश्लोकीभागवतं समाप्तम् ॥

ॐ

॥ अथ श्रीमदानंदगिर्यष्टकम् ॥

(वंशस्थंवृत्तम्)

यदंघ्रिमूलंभजतांनिरंतरं । नृणांजराजन्मभवंमहाभयम् ॥
विलीयतेभानुकरैस्तमोयथा । सदातमानंदगिरिंनमाम्यहम् ॥ १ ॥
वचोमृतैर्यस्यजनस्यसत्वरं । प्रयातितापत्रयमेवसंक्षयम् ॥
परोपकारैकपरायणंमुदा । सदातमानंदगिरिं० ॥ २ ॥
विराजतेयस्यगलेक्षमालिका । विभातिभूतिर्विमलाचमस्तके ॥
करेचपानीययुतःकमंडलुः । सदातमानंदगिरिं० ॥ ३ ॥
समस्तशास्त्रार्थविचारपारगं । परात्मबोधेननिरस्तसंशयम् ॥
मुमुक्षुपूगार्चितपादपंकजं । सदातमानंदगिरिं० ॥ ४ ॥
शिशौचवृद्धेचतथैवपंडिते । निरक्षरेमित्रजनेचवैरिणि ॥
समापतिर्यस्यमहात्मनोनिशं । सदातमानंदगिरिं० ॥ ५ ॥
यमादियोगांगरतंतताशयं । यतीन्द्रयोगीन्द्रनरेन्द्रवंदितम् ॥
विमुक्तकामादिविकारसंचयं । सदातमानंदगिरिं० ॥ ६ ॥
जितासनाहारमपारबोधकं । समस्तसंसारविहारवर्जितम् ॥
स्वरूपनिष्ठापरितुष्टमानसं । सदातमानंदगिरिं० ॥ ७ ॥
निराशिषंनिर्विषयंनिरामयं । निरंतरंस्तोत्रजपादितत्परम् ॥
भवाब्धिमज्जज्जनपारतारकं । सदातमानंदगिरिंनमाम्यहम् ॥८॥
इदंसदानंदगिरेर्महात्मनः । पठेन्नरोयस्तुपवित्रमष्टकम् ॥
विधूयपापोपचयंचिरंतनं । चिरंचिदानंदपदेमहीयते ॥ ९ ॥

इति श्रीपरमहंसस्वामिब्रह्मानंदविरचितं श्रीमदानंदगिर्यष्टकं

॥ संपूर्णम् ॥

(अथशुद्धिपत्रम्)
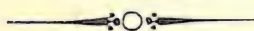
पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
१	१५	करेहे	करेहैं
५	२१	षड्भि	षड्भि
११	२०	होताहै	होनाहै
१२	९	विषयं	विषये
१४	३	कहाहे	कहाहै
१५	२०	होवेहैं	होवेहै
१८	१७	यहविषे	ग्रहविषे
२१	४	धूमामोदादि	धूपामोदादि
२३	१३	साधनपुरुषकूं	साधकपुरुषकूं
२३	१९	धर्यका	धैर्यका
३५	१८	विषवेगा	विषवेग
३६	१०	होवेहे	होवेहैं
४२	१३	संज्ञयावरः	संज्ञयावहः
४३	१६	होवेहैं	होवेहै
४४	७	निराचष्टत	निराचष्टन
४४	११	शुक्रादिभि	शुक्रादिभि
४७	९	सर्वकार्मोंका	सर्वकर्मोंका
५७	१५	आकरोंसें	आकारोंसें
६३	९	प्रोक्तंनहिंसात्वेन	प्रोक्तमहिंसात्वेन
६४	१२	करना	कहना

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
६८	१७	सकेहैं	सकेहै
६९	१६	होवेहैं	होवेहै
७१	११	है	हैं
७३	१	हीनोनः	हीनोयः
७७	१६	तौयेनैकं	तोयेनैकं
८१	१	पर	परं
८२	४	सूर्यांशुः	सूर्यांशु
८५	१४	विन्द्रते	विन्दते
९५	५	क्रियेहै	क्रियेहैं
९९	११	वो	सो
१०१	१५	रूष	रूप
१०३	१८	हिव्रतहै	व्रतहैं
१०६	४	कमहैं	कमलहै
११८	६	जोपुरुष	सोपुरुष
११९	५	जावेहै	जावेहैं
१२०	११	सं बोधः	संबोधः
१२०	१४	कथाओंका	कथंताका
१२६	६	दृढाम्	दृढम्
१२९	१७	फिरनेसेंह	फिरनेसेंहि
१२९	१७	विशेषि	विशेष
१३१	६	विवृत	विधृत
१३२	१३	योगीराज	योगिराज
१३४	५	अभ्यसेत्	मभ्यसेत्

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
१३६	१७	असर	बाधा
१३८	१२	प्रकारकेहै	प्रकारकेहैं
१३९	११	मात्राके	मात्रा करके
१४०	१०	अष्टप्रहरा	अष्टप्रहर
१४१	१०	सर्वकाल	सर्वकला
१४६	२	परमशक्ति	परमभक्ति
१४८	१७	आचार्याध्यैत्र	आचार्याध्येव
१४९	१८	योग्यहैइति	योग्यहै
१५२	६	गिलजाघे	गिलजावे
१५२	१९	काजल	जलका
१६१	१४	देमहध्या	देहमध्या
१६२	१३	आवेहैं	आवेहै
१६३	२	काल	कला
१६३	१९	वेदकी	अथर्ववेदकी
१६४	६	संवर्तसंहिता	संवर्तसंहिता
१६६	१९	ग्रंथमें	ग्रंथोंमें
१७०	२	धारणहैं	धारणाहैं
१७२	१	दृष्टिकरके	दृष्टिके
१७३	३	दीपकत्रिषे भया	दीपकविषे पतित भया
१७३	९	होवेहै	होवेहैं
१७४	३	भयेहै	भयेहैं
१७४	१७	अनिचंचल	औ अतिचंचल
१७८	६	में कहाहै	मेंभी कहाहै

पृष्ठम	पंक्ति	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
१७५	१७	कूर्म	कूर्मः
१७६	१२	योगपुरुष	योगिपुरुष
१८४	१२	जिव्होपस्थादि	औपस्थ्यजैव्ह्य
१८९	९	वाक्यों	वाक्योंके
१९६	६	ब्रह्मशत	शतब्रह्मा
२०२	२	करणका	करणा
२०७	१	होविहै	होवेहैं
२०७	५	व्याध	व्याधि
२०८	१२	तमेभ्यो	यमेभ्यो
२०९	१७	ज्ञानवानका	ज्ञानवानको
२१०	१२	अनिश्रित	अमिश्रित
२१४	१६	जगत	जगत्
२१७	३	मंतस्थ	मंतःस्थं
२१८	४	चैतेभ्यो	वैतेभ्यो
२२०	७	सामवेदको	सामवेदकी
२२०	१०	महतां	महत्तां
२२२	७	आपणा	अपणा
२३१	१	अरुधती	अरुंधती
२३२	२०	पृष्ठ १८६ पंक्ति ३	पृष्ठ १८७ पंक्ति १७
२३७	२०	चेतत्व	चेतनत्व
२३९	४	वेदनायितस्प	वेदनाचित्तस्य
२३९	१७	चितकि	चित्तकी
२३९	२०	तिसकि	तिसकी

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
२४०	१२	हठयोगकि	हठयोगकी
२४३	३	शरीका	शरीरका
२४७	९	तीतगुण	तीनगुण
२४९	११	हस्तियां	हस्तिनियां
२४९	१२	करतीहै	करतीहैं
२५०	४	करतेहै	करतेहैं
२५३	४	करीहै	कियाहै
२५५	१४	अनुसंधानक	अनुसंधानके
२६१	१७	स्वममे	स्त्रयमे
२६२	१९	प्रदापिका	प्रदीपिका
२७०	१७	त्रिनाकूं	विनाशकूं
२७०	१९	होवेहै	होवेहैं
२८१	१०	गोलकों	गोलकोंमें
२८२	४	भोगकूं	भोगोंकूं
२८५	१०	योगमान्	योगवान्
२८८	२	ग्रथकूं	ग्रंथकूं

गीतगोविन्द-सटीक-भाषा टीका

सब सज्जनोंको विदित होकी यह गीतगोविन्द संस्कृत टीका और भाषाटीका सहित छपवायके तैयार किया है. विशेष उत्तमता यह है कि ऐसी भाषाटीका अबतक इसकी कहीं नहीं बनीथी. क्योंकि इसके मूलपर अन्वयके अंक लगाके फिर वेही अंक भाषाटीकामेंभी लगादिये हैं कि जिससे विद्यार्थी लोगोंको और साहित्यके रसिकोंको देखनेसे और टीका मूलके अंक मिलानेसे भलीभांति न्यारा २ शब्दार्थ मालुम होगा. विशेष प्रसंशा कहांतक लिखें क्योंकि यह "गीतगोविन्द" रसिकशिरोमणि श्रीकृष्णचन्द्र आनन्द-कन्दके रास—विलासका रहस्य और गायन शिरोमणि है. सो महात्मा सारग्राहो पुरुषोंसे यही प्रार्थना है कि एकवार मंगाके देखें जब मालुम होगा. की० १ रु. ८० ४ आ०

दुर्गा (सप्तशती) भाषाटीका.

प्रगट हो कि अनेक महाशयोंकी प्रार्थनासे हमने यह दुर्गापाठकी सरल ललित मनोहर भाषाटीका बनवायके छपवाया है. क्योंकि बिना अर्थज्ञान पाठ करनेका फलही नहीं है. इसमें प्रमाण—गीती शीघ्री शिरःकंपी तथा लिखितपाठकः ॥ अनर्थज्ञोऽल्पकंठश्च षडेते पाठकाधमाः ॥ १ ॥ इत्यादि बहुत वचन हैं यह पुस्तक सबके रखने लायक है. इसकी विशेष प्रसंशा यह है कि परम शुद्ध तो अर्थ है और मूलभी बहुत शुद्धकिया गया है. अनेक प्रकारके पाठभेद अलग २ लिखे हैं. और कवच, अर्गला, कीलक, देवीसूक्त, रात्रिसूक्त, जिस विधिसे पाठ किया जाता है उसीक्रमसे छपाया है. अनेक वेदकी ऋचावोंसे विभूषित और शतचंडी प्रयोगविधि हवनविधि और दुर्गाशापविमोचन इत्यादि विधि ऐसी उत्तम २ हैं कि जो अन्य दुर्गापाठोंमें अबतक नहीं छपी हैं. विशेष प्रसंशा कहांतक लिखें इसकी महिमा तो देखनेसेही मालुम होगी. क्योंकि इस पुस्तकके देखनेसे पाठकजनोंको कोई विधि किसीसे पूछनी न होगी. किंतु सब विधि यथाक्रमसे इसीमें लिखीहुई है. की० रु० १। ट० ४ आ०

योगदर्शन

खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन

बम्बई-४

योगदर्शनम्

श्रीमहर्षिपतञ्जलिप्रणीतम्

बाँदामण्डलान्तर्गततेरहीत्याख्यग्रामवासिश्रीमत्प्यारेलालात्मज-
श्रीमत्प्रभुदयालुकृत-दोहा हिन्दीटीकासहितम्

खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई प्रकाशन

भूमिका

सत्य ज्ञानरूप परमात्माको प्रणाम करनेके अनन्तर; जो मनुष्य संस्कृत नहीं जानते व शास्त्रपठनमें समर्थ नहीं हैं उनके विद्यालाभ और यह विदित होनेके लिये कि, किसी समयमें इस आर्य्यावर्त देशमें कैसे कैसे विद्वान् सज्जन महात्मा थे और अब यह आर्य्यावर्त कैसी दशामें प्राप्त है; उन विद्वानोंके ग्रंथोंको देखकर पूर्व कालमें इस देशमें विद्वान् व धर्मवान् पुरुषोंकी अधिकता जानकर अब भी सत्पुरुष सत्संग व विद्यामें रुचिको बढ़ाकर सत्संग व विद्याके गुण व फलका उपदेश कर फिर इस देशको धर्म व विद्याकी वृद्धिसे सुशोभित कर; इस कारणसे, पूर्व कालमें महर्षि पतंजलि ऋषिने जिसे योगविषयक दर्शनको सूत्रोंमें ऐसी अत्युत्तम रीतिसे वर्णन किया है कि जिसके ज्ञान व योगसाधनसे श्रद्धालु साधकको परम सुख मोक्ष प्राप्त होनेके योग्य है व सम्पूर्ण दुःख व बन्ध छूट जाता है। उस उत्तम शास्त्रके सूत्रोंके भाष्यको यथामति सरल देश भाषामें वर्णन करता हूँ। इस ग्रन्थमें प्रथम मूल सूत्र संस्कृतमें और अर्थ भाषामें वर्णन किया गया है। यह ग्रंथ ज्ञाता धर्मवान् श्रद्धालु गुणग्राहकोंको अति प्रिय व उत्तम विदित होगा, अधर्मवान् अश्रद्धालु विषयी मनुष्योंको चाहे प्रिय न हो इससे प्रार्थना है कि विद्वान् श्रद्धालु सज्जन अवश्य इस ग्रन्थको ग्रहण करें व जो कहीं भूल होय वह सज्जन महात्मा कृपा करके शुद्ध कर लेवें, और इसका "कापीराइट" श्रीवेंकटेश्वर यन्त्रालयाध्यक्ष "खेमराज श्रीकृष्णदास" के समर्पण किया गया है, अतएव और कोई महाशय इसके छापनेका इरादा न करें।

सज्जनोंका कृपापात्र–

प्रभुदयाल
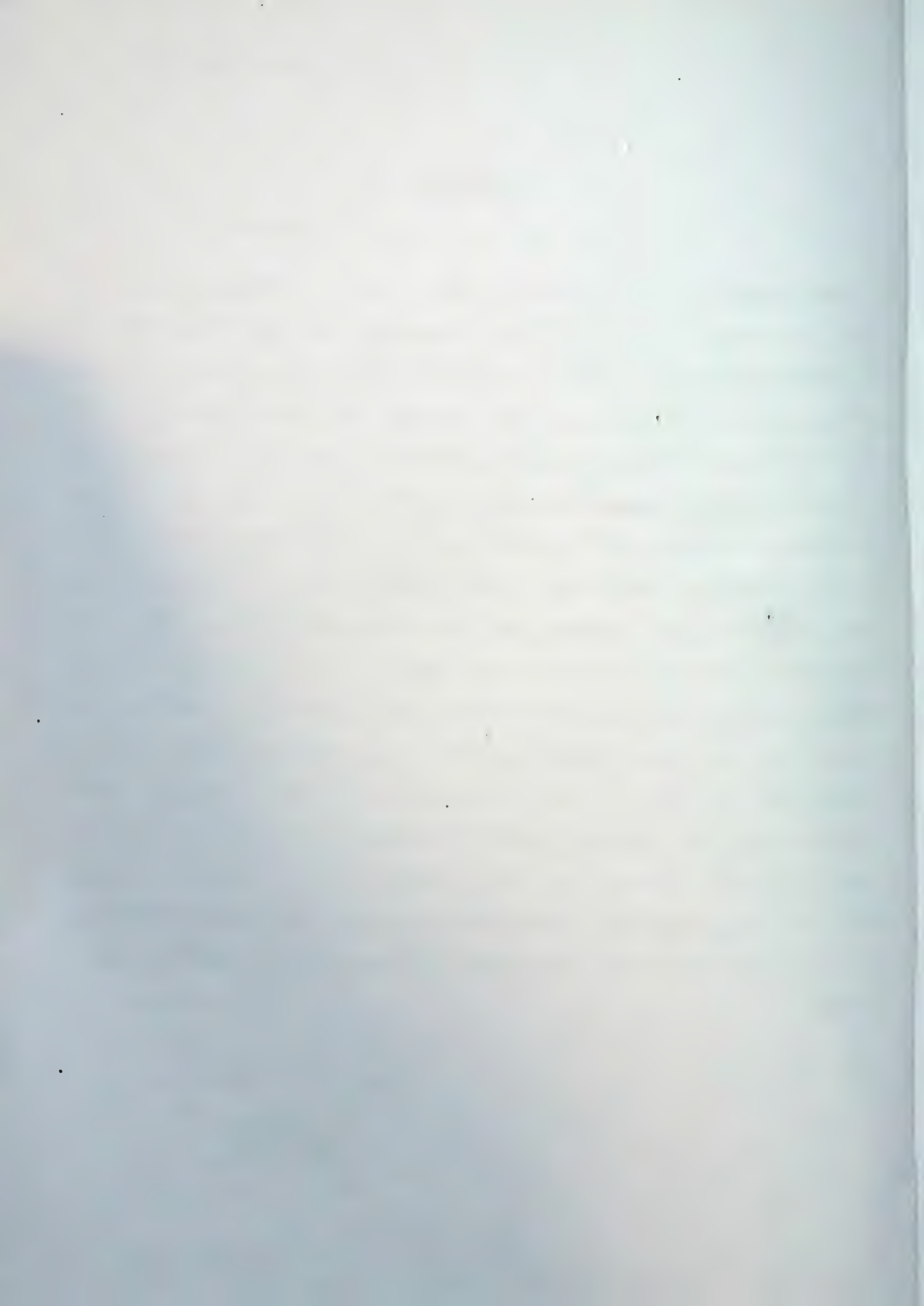
ॐ परमात्मने नमः

महर्षि पतञ्जलिप्रणीत–

योगदर्शन

हिन्दीटीकासहित

समाधि पादः ॥ १ ॥

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

अथ योगशिक्षा वा उपदेशको आरंभ करते हैं।

दो० –अथ मंगल और योग कह, जानहु वृत्तिनिरोध ।
अनुशासनतें जानिये, प्रतिपादन चितबोध ॥ १ ॥

योगकी शिक्षा वा योगके उपदेशको आरंभ करते हैं. यह सूत्रका अर्थ है सो आरंभ करते हैं. यह सूत्रमें शेष है. भावसे क्रियाका आक्षेप किया जाता है. महात्मा पतंजलिजीने अथ शब्दसे शास्त्रका आरंभ किया है. अथ शब्द मंगलवाचक है. इससे प्रथम सूत्रके आदिमें शास्त्रके आरंभमें रक्खा है. योग अनुशासनमें प्रथम अधिकारी, विषय, सम्बन्ध, व फल, यह अनुबंधचतुष्टय जानना उचित है. आत्माके जाननेकी इच्छा करनेवालेको जिज्ञासु कहते हैं. जो जिज्ञासु हैं वही इस शास्त्रके विषयका अधिकारी है, योग इसका विषय है, योग धारणमें अधिकारीके चित्तकी जो प्रवृत्ति है वह सम्बंध है, और मोक्ष फल है ॥ १ ॥

अब शास्त्रके विषयका लक्षण वर्णन करते हैं :–

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

चित्तकी वृत्तियोंका निरोध योग है ॥ २ ॥

दो०–चितकी वृत्तिनिरोधको, योग कहत मुनिराय ।
करत योग अभ्यासके, चितनिरोधको पाय ॥ २ ॥

चित्तवृत्तियोंका निरोध (रोकना रूप) योग दो प्रकारका है, संप्रज्ञात व असंप्रज्ञात, चित्तकी वृत्तियोंके प्रवृत्त होने व निरोध होनेके अवस्था भेदसे चित्तकी पांच भूमि अर्थात् पंचस्थान हैं, क्षिप्त, मूढ विक्षिप्त, एकाग्र व निरुद्ध । जब चित्त रजोगुणसे अति चंचल होता है वह क्षिप्त, जब चित्तमें तमोगुणसे निद्रा व मूढ़ता होतीहै वह मूढ़, जो अत्यंत चलायमान चित्त है व किसी समयमें स्थिर भी हो जाता

है वह विक्षिप्त कहा जाता है, क्षिप्त व मूढ अवस्थामें योगकी गंध भी नहीं होती. विक्षिप्तमें कहीं कहीं योग होता है, एकाग्रमें अर्थात् सत्त्वगुणप्रधान जो एक विषयमें स्थित चित्त है उसमें रजोगुण तमोगुण वृत्तियोंके निरोध व सात्त्विक वृत्ति विशेष रूप संप्रज्ञात योग होता है, वेदस्मृतिके प्रमाणसे संप्रज्ञात योगमें ज्ञाताको जो परोक्ष (अदृष्ट) अर्थ है वह साक्षात् होता है, साक्षात् होनेसे क्लेशका नाश होता है. अविद्या आदि क्लेश (जिनका वर्णन आगे किया जायगा) नाश होने से कर्मका नाश होता है, तब सात्त्विक वृत्तियेंभी निरोध होनेसे व संस्कारमात्र शेष रहनेसे सम्पूर्ण चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होता है अर्थात् सब चित्तकी वृत्तियां रुक जाती हैं. निरोध शब्दका अर्थ रुकजाना है, निरुद्ध चित्तसे असंप्रज्ञात योग होता है, दोनों प्रकारके योगका साधारण लक्षण सूत्रमें यह कहा है कि चित्तकी वृत्तियोंका निरोध योग है. (शंका) एक चित्तका अनेक भूमि किस हेतुसे कही हैं? (उत्तर) चित्तके त्रिगुणात्मक होनेसे चित्त ज्ञान सुख आदि शीलता वृत्ति गुण आदि मत्ता आलस्य दैन्य आदि मत्तासे सत्त्व, रज, तम गुण होताहै, सत्त्वगुण कुछ कम व रज तम जब बराबर होते हैं तब सत्त्व गुणसे चित्त ध्यानमें प्रवृत्त हुआ जो तमोगुणसे ध्यानको जोड़कर रजोगुणसे अनेक हैं कामना करते विषय प्रिय होता है वह विक्षिप्त है, जब तमोगुण प्रधान मूढ़ होता है तब अकल्याण अधर्म अज्ञान अवैराग्य अनैश्वर्य्यको प्राप्त होता है अज्ञान शब्दसे भ्रम निद्रा अर्थका भी ग्रहण यहां मूढ़ होनेके लक्षणमें जानना चाहिये. रजोगुण प्रधान क्षिप्त होता है इस प्रकारके तीन गुण होनेके कारणसे त्रिगुणात्मक चित्त क्षिप्त मूढ़ सबके साधारण होते हैं. विक्षिप्त प्रथम योगियोंका चित्त होता है योगी चार प्रकारके होते हैं प्रथम कल्पिक मधुभूमिक प्रज्ञाज्योति अतिक्रांति भावनीय तिनके लक्षण यह हैं—प्रथम सत्त्वगुण प्रधान रजोगुण तमोगुण युक्त होता है, द्वितीय एकाग्र संप्रज्ञात योगसे उत्पन्न सिद्धिसे योगीका चित्त धर्मज्ञान वैराग्य ऐश्वर्यको प्राप्त होता है, तृतीय जब रजोगुण तमोगुण मलसे स्वच्छ शुद्ध सत्त्व चित्त होताहै तब विवेकख्याति द्वारा पुरुषमात्रका ध्यान पुरुष धर्मबुद्धिसे करता है जब ध्यान करनेवाला ध्यानमें दृढ होकर अनेक प्रकारके विषय देखने पर भी अशुद्ध नाशमान निश्चय करके तत्त्वगुण विचारयुक्त विवेकख्यातिमेंसे भी चित्त शक्तिको रोकता वा निरोध करता है, संस्कार मात्र रहजाता है वह चतुर्थ अतिक्रांति भावनीय योगकी अवस्था है सोई असंप्रज्ञात योग वा समाधि है. इसमें केवल शुद्ध चेतनरूपमें मग्न होकर अन्य विषयोंको नहीं जानता सम्पूर्ण विषय सुख दुःख मोह शून्य होता है ।। २ ।।

जो यह शंका हो कि बुद्धिवृत्ति पुरुषका स्वभाव है वृत्ति निरोध होनेसे स्वभाव भिन्न कैसे पुरुषकी स्थिति हो सक्ती है? इसका समाधान अब सूत्रमें वर्णन करते हैं :—

तदा द्रष्टुस्स्वरूपेवस्थानम् ॥ ३ ॥

तब द्रष्टाका स्वरूपमें ही स्थान है ॥ ३ ॥

दो०–तब द्रष्टा निज रूपमें, कर स्थित सुख मान ।

पुनि न भ्रमत चित अनत कहु, निज स्वरूप पहिचान ॥ ३ ॥

अभिप्राय यह है कि जब चित्तके शांत घोर मूढ़ सब वृत्तियोंका निरोध हो जाता है तब द्रष्टा जो देखनेवाला चिदात्मा है उसकी स्वाभाविक रूपमें स्थिति होती है. बुद्धिवृत्तियां पुरुषका स्वभाव नहीं है किस प्रकारसे सब वृत्तियोंके निरोध होनेमें पुरुषका शुद्ध स्वाभाविकरूप प्राप्त होता है जैसे जपाकुसुम (गोडहरका फूल) के दूर हो जानेपर स्फटिकका शुद्ध रूप होजाता है अथवा सब वृत्तियों के निरोध हो जाने पर द्रष्टा जो साक्षी ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञ परमेश्वर है उसके स्वरूप मात्रामें समाधि में योगीकी स्थिति होती है ॥ ३ ॥

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

वृत्तिसारूप्य इतरमें ॥ ४ ॥

दो०–वृत्तिनिरोध न होत जब, द्रष्टा वृत्तिस्वरूप ।

इतर अत्र ते जानिये, पृथक रहत निज रूप ॥ ४ ॥

इतरमें (अन्यमें) अर्थात् निरोधसे भिन्न जो व्युत्थान (वृत्तियोंके न रुकने की अवस्था) आदि वृत्तियां हैं उनहीके रूपभावमें पुरुष अपनेको मानता है कि, शांत हूं, मूढ़ हूं, दुःखी हूं.' व्युत्थान अवस्थामें ऐसा मानना केवल भ्रम है, इससे स्वभाव से आत्मा पतित नहीं होता जैसा जपाकुसुमके समीप होनेके समयमें स्फटिकमें अरुणता (ललाई) दीख पड़ती है, परंतु उसकी स्वाभाविक शुक्लता दूर नहीं होजाती निरोध में मुक्ति व व्युत्थान में बंध है, यह पूर्व व पर दोनों सूत्रोंका आशय है ॥ ४ ॥

अब निरोध करनेके योग्य वृत्तियां कै प्रकारकी हैं यह वर्णन करते हैं :–

वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

वृत्तियां क्लिष्ट अक्लिष्ट रूप पांच प्रकारकी हैं ॥ ५ ॥

दो०–वृत्ती पांच प्रकारकी, क्लिष्टाक्लिष्ट बखान ।

तिहि निरोधते होत है, योगशक्ति बलवान ॥ ५ ॥

जो वृत्तियां राग द्वेष आदि क्लेशके कारण होकर बंधफल करनेवाली होती हैं अर्थात् सब जीवोंको प्रमाण आदिक वृत्तियोंसे जाने हुए अर्थोंमें राग द्वेष मोह द्वारा कर्म कराके सुख दुःखमें बांधती हैं वह क्लिष्ट हैं और जो मोक्षफल देनेवाली हैं वह वृत्तियां अक्लिष्ट कही जाती हैं. अक्लिष्ट वृत्तियां वैराग्य अभ्याससे क्लिष्ट वृत्तियोंके प्रवाहमें बहे जाते प्राणियोंको अपनेसे उत्पन्न अक्लिष्ट संस्कारोंको बारंबार

अभ्यासमे बढ़ाकर क्लिष्ट संस्कारको रोकती हैं. क्लिष्ट वृत्तियां प्रवाहका निरोध (रोक) करके पर वैराग्यसे आप भी निरुद्ध हो जाती हैं अर्थात् शांत हो जाती हैं, तब संस्कार मात्र रहे हुए चित्तकी मुक्ति होती है ।। ५ ।।

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ।। ६ ।।

प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा स्मृति यह वृत्तियां हैं ।। ६ ।।

दो०–प्रमाण विपर्य्य विकल्प, और निद्रा स्मृति जान ।
पांच भेद चितवृत्तिकर, मुनिवर करत बखान ।। ६ ।।

अर्थात् यह चित्तकी पांच वृत्तियाँ हैं ।। ६ ।।

तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ।। ७ ।।

प्रत्यक्ष अनुमान आगम ये प्रमाण हैं ।। ७ ।।

दो०–प्रत्यक्ष अनुमान और, आगम तीन प्रमाण ।
इनते जान्यो जात है, सत्यासत्य विधान ।। ७ ।।

जिस वृत्तिसे प्रमाण (निश्चयात्मक बोध) की प्राप्ति होती है अर्थात् जिससे 'यह वस्तु यथार्थ इस प्रकारसे है' यह ज्ञान होता है उसकी प्रमाण संज्ञा है उस प्रमाण के तीन भेद हैं प्रथम प्रत्यक्ष, इन्द्रिय व अर्थके सन्निकर्ष (व्यवधानरहित संयोग) से उत्पन्न व व्यभिचार दोषरहित ज्ञानकी धारण करनेवाली चित्तकी वृत्ति 'प्रत्यक्ष' प्रमाण है. प्रत्यक्षद्वारा अप्रत्यक्षका जिसका प्रत्यक्षके साथ सम्बन्धसे जानना अनुमान वृत्ति है यथा–धूम देखकर प्रत्यक्ष धूम द्वारा अप्रत्यक्ष अग्निकी व्याप्ति सम्बन्धसे जानना कि जहां अग्नि होती है वहीं ऐसा धूम जैसा प्रत्यक्ष हो रहा है होता है. यथार्थ अनुमान यथार्थ व्याप्तिके ज्ञानसे होता है, साध्य साधनका किसी धर्म विशेषके साथ सम्बन्ध रहना व्याप्ति है, ऐसे सम्बन्ध होनेके ज्ञानको व्याप्ति ज्ञान कहते हैं. यथा धूम व अग्निके सम्बन्ध होनेके ज्ञानसे विशेष रूपसे धूमको देखकर यह निश्चय करना कि जहां ऐसा धूम होता है विना अग्निके नहीं होता, इस व्याप्ति ज्ञानसे धूमके प्रत्यक्ष होनेसे अप्रत्यक्ष अग्निका जानना अनुमान है. जो यह संशय हो कि दूरसे पर्वत धूलि कुहिर धूम सदृश दीख पड़ते हैं उनमें अग्निका अनुमान होना चाहिये तो इसका उत्तर यह है कि, ऐसा नहीं हो सक्ता है, क्योंकि अनुमानका मूल प्रत्यक्ष है. पूर्व प्रत्यक्ष द्वारा अनुमान होता है. प्रत्यक्ष जो विकार दोषसंयुक्त हुआ तो अनुमान भी मिथ्या हो जाता है इसी से प्रत्यक्षके लक्षणमें कहा है कि इन्द्रिय व अर्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न दोष भ्रम-रहित ज्ञान प्रत्यक्ष है. जो दूर होनके हेतुसे अथवा इन्द्रियमें विकार दोष होने आदि अन्य कारणसे भ्रामिक ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष नहीं है. इससे उक्त लक्षणमें दोषापत्ति नहीं है असत् प्रत्यक्षसे व्याप्ति स्थापन मिथ्या है व तन्मूलक अर्थात् उसके द्वारा जो अनुमान होता है वह भी मिथ्या है वा होता है आप्तनाम भ्रमरहित साक्षात् पदार्थका

ज्ञाता सत्यवादी जो अपने दृष्ट वा अनुमित अर्थका उपदेश करै उस अर्थको आप्तके कहे हुए शब्दोंसे जानना व उसको प्रमाण मानना 'आगम' प्रमाण है. यथा आप्त ईश्वर प्रणीत मानकर वेद आगम प्रमाण माना जाता है ॥ ७ ॥

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठितम् ॥ ८ ॥

मिथ्याज्ञान जो पदार्थ स्वरूपसे प्रतिष्ठित विरुद्ध अर्थात् बुद्धिमें स्थित हो वह विपर्यय है ॥ ८ ॥

दो०–जैसो जौन पदार्थ है, तस नहिं भासत सोइ ।
मिथ्या ज्ञानप्रभावते, ज्ञान विपर्य्यय होइ ॥ ८ ॥

जो यह तर्क किया जाय कि यथा विपर्यय अनेक विषयमें प्रतिष्ठाशून्य है तथा विकल्प भी है इस संदेह अतिव्याप्ति (लक्ष्यसे भिन्न वस्तुमें लक्षणकी प्राप्ति) के निवृत्त होनेके अर्थ मिथ्याशब्द सूत्रमें कहा है. तात्पर्य यह है कि, जब पदार्थके होनेमें असत्यता नहीं, परंतु उसके ज्ञानमें दोष है अर्थात् जैसा सत्यरूप पदार्थ है वैसा ज्ञान न होकर उसके विरुद्ध होता है. यथा–आत्मा नित्य चेतनरूप है उसको भ्रमसे अनित्य जड़ मानना. रस्सीको अन्धकारमें सर्प जानना. आत्मा व रस्सीका होना असत्य नहीं है. ज्ञान होनेमें मिथ्यात्व है. अनिन्य होना व सर्पका होना यह मिथ्याज्ञान विपर्य्यय है. विकल्पमें जिस पदार्थका भ्रमसे स्वीकार (अंगीकार) होता है वह पदार्थही मिथ्या होता है, न केवल ज्ञान ॥ ८ ॥

यही सूत्रमें वर्णन करते हैं :–

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥

शब्दज्ञान अनुसार वस्तुका शून्य विकल्प ॥ ९ ॥

दो०–शब्द श्रवणते होत है, वस्तुशून्यको ज्ञान ।
मुनिवर ताहि विकल्प कह, लेउ, सत्य जिय मान ॥ ९ ॥

मनुष्यके सींग सुनकर मानलेना विकल्प है. यद्यपि मनुष्य सत्य है सींग, सत्य हैं; परन्तु मनुष्यका सींग सत्य नहीं है, ऐसा जानकर भी किसीके कथन से वा लेखसे प्रमाण विरुद्ध मानना विकल्प है. तथा चेतनरूप पुरुष है यह जानकर विना प्रमाण परीक्षा पुरुषमें चैतन्य भेद मानना विकल्प है इत्यादि ॥ ९ ॥

अभावप्रत्ययालंबना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

अभावज्ञानको अवलम्बन करनेवाली वृत्ति निद्रा है ॥ १० ॥

दो०–अखिल वस्तुको ज्ञान जय, रहत नहीं चितमाँहि ।
आश्रयज्ञानअभावके, निद्रावृत्ति कहाँहि ॥ १० ॥

अभावमें जो हेतु है वह अभाव हेतु है. जाग्रत् स्वप्न वृत्तियोंके अभावका हेतु

तमोगुण होता है; इससे अभावप्रत्यय वा अभाव हेतुसे अभिप्राय तमोगुणसे है, क्योंकि प्रथम तमोगुणके आधिक्यसे पुरुष जब स्वप्नको प्राप्त होता है, तब जाग्रत्की वृत्तियोंका अभाव होता है, उससेभी अधिक तमोगुण आश्रित हो स्वप्नवृत्तिके अभाव होनेपर सुषुप्ति अवस्थाको प्राप्त होता है, ऐसे अभाव हेतु तमोगुणको अवलंबन करनेवाली वृत्ति निद्रा है. अब शंका यह है, कि वृत्तिविषय सम्बन्धमें विपर्यय आदिक का अनुकथन होते आया है सम्बन्धहीसे जैसे विपर्यय आदिमें विना वृत्ति शब्दके वृत्तिके कहनेका बोध होता है. निद्राकी वृत्ति होनेका ज्ञान साधारण था वृत्ति शब्द रखनेका क्या प्रयोजन था ज्ञानका अभाव निद्रा है यह कहना यथार्थ था इसका उत्तर यह है कि, ज्ञानका अभाव निद्रा माननेमें दोषकी प्राप्ति है इससे चित्तके अभाव वृत्तिमात्र जानने व ज्ञान अभाव माननेवालोंके मत खण्डन करनेके अर्थ वृत्ति पद रक्खा है. तात्पर्य यह है कि, ज्ञानके अभावका हेतु अज्ञान अवलंबन विषय निद्रा नहीं है. केवल चित्तवृत्तिके अभावके हेतु तमोगुणको अवलंबन वा धारण करनेवाली निद्रा है, क्योंकि जो ज्ञानके अभावको निद्रा मानें तो सत्वगुण वृत्तिको स्वप्नमें प्राप्त हो उठकर 'बहुत सुखसे मैं सोया' अथवा रज तम वृत्तिसे कुस्वप्नको प्राप्त होनेसे उठकर 'बहुत दुःख सोनेमें रहा' अथवा अत्यंत तमके आधिक्यसे घोर निद्रासे उठकर यह कहना कि 'ऐसा सोया कि कुछ स्मरण नहीं रहा' ऐसा ज्ञान न होना चाहिये; क्योंकि यह बुद्धि वा ज्ञानका धर्म है ॥ १० ॥

अनुभूतविषयाऽसंप्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

अनुभूत विषयमें जो अस्तेय है वह स्मृति है ॥ ११ ॥

दो०—पूरवमें जो जो विषय, करत रहे अनुभूत ।
तिनको पुनि चितमें उदय, स्मृति कहत सुपूत ॥ ११ ॥

जो पूर्वमें अर्थात् भूतकालमें हो गया है वह ज्ञानमें प्राप्त हुआ है उस चित्त-वृत्तिस्थ बोध संस्कारसे उत्पन्न अनुभव अर्थात् पूर्वसे जो ज्ञानविषय चित्तमें प्राप्त है उसके फिर उदय करनेवाली वृत्तिको स्मृति कहते हैं. 'असंप्रमोष' पद रखनेका क्या प्रयोजन था ? अनुभूत विषयका ग्रहण स्मृति है यही कहनेसे प्रयोजन सिद्ध होता है. उत्तर यह है कि, संप्रमोष नाम स्तेय अर्थात् हरविषय वा पदार्थको अपना ऐसा ग्रहण करनेको कहते हैं. जैसे कोई अनुभूति विषयको अपने स्मरणमें नहीं है उसको यथा पुत्रके स्मृति मूल अनुभव विषयको पिता का व किसी अन्यके स्मृति विषयका अन्यका अपना ऐसा निश्चय कर लेना संप्रमोष है. संप्रमोष जिसमें न हो वह असंप्रमोष है. अभिप्राय यह है कि, अपने चित्तमें प्राप्त बोधके संस्कारसे जो अनुभव विषयकी वृत्ति है वह स्मृति है. पर स्मृतिसे अंगीकार करलेना स्मृति नहीं है. 'असंप्रमोष' पदके

न रखनेसे परस्मृति मूलक अनुभव विषयके ग्रहणका भी संभ्रम रहता है, इससे 'असंप्रमोष' पद रक्खा है. जो यह शंका हो कि जो अनुभूत नहीं है वह भी स्वप्न में यथा अपने शरीरमें हाथीके शरीरका स्मरण व बोध होता है यह भी स्मृति है, तो यह जानना चाहिये कि यह स्मृति नहीं है यह विपर्यय है जिसका लक्षण पूर्वही वर्णन किया गया है।। ११ ।।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।। १२।।

अभ्यास व वैराग्यसे तिन वृत्तियोंका निरोध होता है ।। १२ ।।

दो०–अभ्यास और वैराग्यते, वृत्ती होत निरोध ।
वृत्तीके अवरोधतें, होत आत्मकर बोध ।। १२ ।।

इन सब वृत्तियोंका–कि जिनका ऊपर वर्णन हुआ है–अभ्यास व वैराग्यसे निरोध होता है ।। १२ ।।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ।। १३ ।।

तिसमें स्थितिमें यत्न करना अभ्यास है ।। १३ ।।

दो०–निरोधादि थितके निमित, यत्न कह्यो अभ्यास ।
अनुष्ठान कर यत्नको, आत्मा करत प्रकास ।। १३ ।।

तिसमें वृत्तियोंके निरोधमें अर्थात् वृत्तियोंके निरोधके उपायमें रजोगुण–तमोगुण–शून्य चित्तकी एकाग्रतामें स्थिति होना अर्थात् ठहरना उस स्थितिमें साधन यम नियम आदिमें प्रयत्न करना अभ्यास है ।। १३ ।।

जो यह संशय हो कि अनिश्चित कालसे प्रबल राजस तामस वृत्ति विरुद्ध संस्कार करके कुंठित अभ्याससे स्थिति नहीं हो सकती इसके समाधान के अर्थ आगे सूत्रमें दृढ होनेका उपाय जिससे स्थिति हो वर्णन करते हैं :–

स तु दीर्घकालनैरंतर्य्यसत्कारसेवितो दृढभूमिः ।। १४ ।।

सो तो दीर्घकालतक निरंतर सत्कारसे सेवित दृढ भूमि होता है ।।१४।।

दो०–नैरंतर सत्कारयुत, सेवित दीरघ काल ।
दृढभूमी तब जानिये, होय अभ्यास विशाल ।। १४ ।।

इस उपरोक्त शंका निवारणके अर्थ कि राजस तामस वृत्ति व्युत्थान संस्कारसे अभ्यास कैसे हो सकता है ? सूत्रमें 'तु' शब्द कहा है कि नहीं अभ्यास तो दृढ होता है किस प्रकारसे दृढ़ होता है ? दीर्घकालतक निरंतर तप ब्रह्मचर्य विद्या श्रद्धारूप सत्कारसे सेवित होनेसे दृढ होकर स्थितिके योग्य होता है. व्युत्थान संस्कार फिर उसको बाधा नहीं करते. सत्कार तप ब्रह्मचर्य विद्या श्रद्धाको कहते हैं. इसमें यह श्रुति प्रमाण है सत्कार विषयमें कहा है "अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्य्येण श्रद्धया । विद्ययाऽऽ-

त्मानमन्विष्येति'' अर्थ उत्तरोक्त तप करके ब्रह्मचर्य करके श्रद्धा करके विद्या करके अर्थात् तप ब्रह्मचर्य श्रद्धा व विद्याद्वारा आत्माको खोजकर ।। १४ ।।

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ।। १५ ।।

दृष्ट व आनुश्रविक (वैदिक पौराणिक) विषयके तृष्णारहितको वशीकार संज्ञा वैराग्य होता है ।। १५ ।।

दो०—जौन जोन देखे सुने, इहामुत्रके भोग ।
तिनकी तृष्णाते रहित, वशीकार समयोग ।। १५ ।।

चार प्रकारका वैराग्य क्रमसे होता है; यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय व वशीकार संज्ञा अर्थात् चार प्रकारसे वैराग्य चित्तमें प्राप्त होता है. प्रथम जिस जिस भोगकी चित्तमें प्रीति है उनमें इन्द्रिय प्रवृत्त करनेवालेका जो भोगसे संतोष धारण करके त्याग करनेका यत्न करना है उसको यतमान वैराग्य कहते हैं । फिर कुछसे संतुष्ट होकर त्याग करनेको व्यतिरेक संज्ञा वैराग्य कहते हैं. फिर सब संसारी भोगमें इन्द्रिय प्रवृत्त करनेसे मनसे उदासीन हो त्यागनेको एकेन्द्रिय वैराग्य कहते हैं इसके पश्चात् जहांतक स्त्री अन्नपान आदि सुख जो देखे जाते हैं व गुरुवाक्यसे सुने व वेदमें वर्णित स्वर्ग आदि दिव्य व अदिव्य सुख विषयमें नाश परिताप ईर्ष्या दोषोंको अभ्याससे साक्षात् करके उनमें उदासीनता धारण करके मनको वशकर तृष्णा त्याग करनेको वशीकार संज्ञा वैराग्य कहते हैं ।। १५ ।।

अपर वैराग्यको कहकर अब पर वैराग्यको वर्णन करते हैं :—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ।। १६ ।।

पुरुषख्यातिसे उससे पर अर्थात् वशीकार संज्ञा वैराग्यसे अधिक गुण वैतृष्ण्य नामक पर वैराग्य होता है ।। १६ ।।

दो०—निजस्वरूपके ज्ञानते, गुणतृष्णा मिट जात ।
प्रकटत परवैराग्य तब, पुरुष भिन्न दिखरात ।। १६ ।।

सूत्रका अभिप्राय यह है कि, जिन योगके अंगोंका आगे वर्णन किया जायगा उन योगके अंगोंके अनुष्ठानसे अतिशुद्धतारहित चित्तके विषयोंमें दोष देखनेसे वशीकारसंज्ञक (नामक) वैराग्यके होनेमें गुरु व शास्त्रसे उपदेश की गई जो पुरुष ख्याति धर्ममेघ[1] नामक है उसके अभ्यास ध्यान रूपसे रजोगुण तमोगुण मलरहित चित्त सत्त्वगुणमात्र शेष अति प्रसन्न होता है यह अतिशुद्धचित्त होनेका धर्म है प्रसन्नता धर्ममेघ पुरुषकी उत्तर मर्य्यादा है. उसके फल वशीकार संज्ञासे पर (उत्कृष्ट) जो रजोगुण तमोगुण सत्त्वगुणोंके विषयोंकी तृष्णासे रहित होता है उसको गुण वैतृष्ण

१ पुरुषधर्मका ज्ञान जिसमें हो उसकी धर्ममेघ संज्ञा है. संस्कृत में इसका अर्थ इस प्रकारसे जानना चाहिये "कैवल्यफलरूपमशुक्लमकृष्णं धर्मविशेषं मेहतीति सिंचतीति धर्ममेघः ।"

संज्ञक परवैराग्य कहते हैं. इसीको मोक्षका हेतु व इसके उदय होनेसे सम्पूर्ण क्लेश व कर्माशयसे रहित पुरुष कृतार्थ होता है यह योगीजन कहते हैं इससे यह अभिप्राय नहीं है कि अपने ज्ञान आनन्द स्वाभाविक गुणसे वैराग्य होना कहा है, किन्तु रजोगुण तमोगुण दूर होनेके पश्चात् सत्त्वगुण रह जाता है उससे जो उत्पन्न प्रसन्नता है उससे भी वैराग्य होनेसे (त्रिगुण मात्र सबसे वैराग्य होनेसे) व केवल आत्मानन्द वा ब्रह्मानन्दमें मग्न होनेसे तात्पर्य्य है; क्योंकि त्रिगुण विषयजन्म सुख सब नाशवान् अनित्य है इससे उनमें विराग होना ही उचित है ।। १६ ।।

अब वैराग्य अभ्याससे साध्य संप्रज्ञात व असंप्रज्ञात योगको क्रमसे वर्णन करते हैं :–

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञातः ।। १७ ।।

वितर्क विचार आनन्दअस्मितारूप अनुगमसे संप्रज्ञात योग होता है ।। १७ ।।

दो०–वितर्क विचार आनन्द और, अस्मितादि चहुँ रूप ।
संप्रज्ञात विरागके, जानहु चार स्वरूप ।। १७ ।।

बितर्क, विचार, आनन्द व अस्मितारूप प्राप्त भेदसे चार प्रकारका संप्रज्ञात योग होता है. जैसे निशाना लगानेवाला प्रथम बड़े निशानेमें बान चलानेका अभ्यास करता है. पश्चात् उससे छोटेमें इस प्रकारसे जहाँतक सूक्ष्ममें उसको अभीष्ट है वहाँतक क्रमसे अभ्यास करता है. इसी प्रकारसे योगी प्रथम अतिसूक्ष्ममें चित्त स्थिर करनेको समर्थ न होकर स्थूलका ध्यान करके साक्षात् करता है. जैसे–सूर्य्य आदि किसी साकार पदार्थका ध्यान करके साक्षात् करना. इसको 'वितर्क' योग कहते हैं. इसी वितर्कमें स्थूलके ध्यानके अभिप्रायसे बहुत आचार्य्य राम कृष्ण विष्णु आदिके रूपके ध्यानको ग्रहण करते हैं. यह ध्यान योगीको मुख्य अभीष्ट नहीं है, परन्तु जैसे प्रथम घट वा अन्य, कोई बड़े पदार्थमें निशाना लगाना सीखनेके अर्थ उपयोगी (सहायक) है इसी प्रकारके स्थूल ध्यान अभीष्ट ध्यानका उपयोगी है इसके पश्चात् अर्थात् स्थूलके साक्षात् करनेके पश्चात् स्थूलके कारणरूप सूक्ष्म पांच मात्रा रूप रस गंध, स्पर्श शब्द इनको ध्यान करके साक्षात् करनेको 'विचार' योग कहते हैं. यथा–सूर्य्यके आकारको छोड़कर तेजमात्र रूपका ध्यान करना इत्यादि प्रथम जो वितर्क है वह स्थूल सूक्ष्म इन्द्रिय अस्मिता चतुर्विषयक है अर्थात् चार विषय रूप हैं. व विचार तीन सूक्ष्म इन्द्रिय अस्मिता विषयक है, तिस पीछे स्थूल इन्द्रियोंका जो ज्ञानके प्रकाशके हेतु होनेसे सत्त्वरूप है ध्यान करके साक्षात् करना 'आनन्द' योग है. यह इन्द्रिय अस्मिता द्विविषयक है. इन्द्रियोंके साक्षात् करनेके पश्चात् इन्द्रियोंकी कारणबुद्धि जो ग्रहण करनेवाले पुरुषके साथ एकभावको प्राप्त है वह 'अस्मिता' है ध्यानसे उसके साक्षात् करनेको अस्मिता योग कहते हैं. इस प्रकारसे सवितर्क सविचार

सानन्द व सास्मिता ये चार भेद संप्रज्ञात योगके हैं. भोगविषयमें इन्द्रिय सवितर्क त्रिगुणात्मक चित्त सविचार अहंकार सानन्द महत्तत्त्व सास्मिता कहे गये हैं. 'मैं हूं' ऐसा विषयग्राहक अन्तःकरण अहंकार है. सत्तामात्र महत्तत्त्वमें लीन सत्तामात्र अवभासक अस्मिता है. यह दोनोंका भेद है, इनका धारण करनेवाला पुरुष है । १७ ॥

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

विराम प्रत्ययका अभ्यास है पूर्वमें जिसके ऐसा संस्कार शेष अन्य अर्थात् असंप्रज्ञात योग है ॥ १८ ॥

दो०–पूर्व कथित जो भावना, तिनके होत अभाव ।
संस्कारके शेषते, असम्प्रज्ञात कहाव ॥ १८ ॥

विराम जो वृत्तियोंका अभाव है उसका प्रत्यय (कारण) वैराग्य है इससे विराम प्रत्यय वैराग्यकी संज्ञा है. वैराग्यका अभ्यास है पूर्व उपायमें जिसके ऐसा संस्कार शेष जो असंप्रज्ञातयोग है जिसमें पर वैराग्य संप्रज्ञातके संस्कारोंको भी मिटा करके अपने संस्कारोंको बाकी रखता है वही निर्बीज समाधि है; क्योंकि यह परवैराग्य संस्कारमात्र शेष (बाकी) जो असंप्रज्ञात है इसमें सब कर्मबीजका नाश हो जाता है. यह असंप्रज्ञात योग दो प्रकारका होता है, भवप्रत्यय व उपायप्रत्यय जैसा आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ १८ ।

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

विदेहप्रकृतिलयोंको भवप्रत्यय होता है ॥ १९ ॥

सो०–प्रकृतिमांहि जे लीन, सो विदेह पहिचानिये ।
जन्म मरण आधीन, भवप्रत्ययके वश भये ॥ १९ ॥

जो योगी विदेह देहसे रहित असंप्रज्ञात योगको प्राप्त प्रकृतिमें चित्तको लीन करते हैं अर्थात् प्रकृति महत्तत्त्व अहंकार पंचतन्मात्राओंमें प्रकृतिहीके आत्मा होनेकी भावना करके लीन हुए हैं, उन विदेहप्रकृतिलयोंको भवप्रत्यय असंप्रज्ञात योग होता है. अविद्यामें सम्पूर्ण जीव भव (उत्पन्न) होते हैं इससे अविद्याका नाम भव है. भव (अविद्या) है प्रत्यय (हेतु) जिसका वह भवप्रत्यय असंप्रज्ञात है. इसमें चित्त लीन होनेमें भी संस्कार शेष रहता है. चित्त संस्कार होनेसे फिर चित्तसंस्कारके उठनेमें सोये हुए चित्तके तुल्य संसारमें पतित होता है. यह मुमुक्षुओंको त्याग करनेके योग्य है ॥ १९ ॥

अब जो ग्रहणके योग्य है वह वर्णन करते हैं :—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वक इतरोंको अर्थात् मुमुक्षुओंको ॥ २० ॥

दो०–तज विदेह और प्रकृतिलय, पृथक योगिजन जोइ।
ताको श्रद्धा वीर्य और, स्मृतिसमाधितें होइ ॥ २० ॥

प्रथम सात्त्विकी श्रद्धा होती है; श्रद्धासे वीर्य अर्थात् प्रयत्न होता है; प्रयत्नसे यम नियम आदि एक एकके पर साधन करते स्मृति होती है अर्थात् ध्यान होता है. स्मृति शब्द यहां ध्यानवाचक है. ध्यानसे समाधि होता है. तिससे प्रज्ञाके अभ्याससे संप्रज्ञात योग होता है; तिससे पर वैराग्यसे मुमुक्षुओंको असंप्रज्ञात योग होता है इस प्रकार श्रद्धासे लेकर प्रज्ञापर्यन्त जे उपाय हैं तिनपूर्वक उपाय प्रत्यय होता है. यह उपाय प्राणियोंको पूर्वसंस्कारके बलसे मृदु मध्य अधिमात्र तीन प्रकारसे होता है. इसी प्रकारके योगी तीन प्रकारके होते हैं. मृदु उपाय, मध्य उपाय व अधिमात्र उपाय. तिनमें मृदु उपाय त्रिविध होता है मृदुसंवेग मध्यसंवेग व तीव्रसंवेग इसी प्रकारसे मध्य उपाय अधिमात्र उपायमें भी जानना चाहिये. इस प्रकारसे नव प्रकार के योगी होते हैं. तिनको चिर व चिरतर और क्षिप्र व क्षिप्रतर सिद्धियां प्राप्त होती हैं अर्थात् बहुत काल व और भी बहुत वा अधिक काल व जल्द व बहुत ही जल्द पूर्व संस्कारके अनुसार सिद्धियां प्राप्त होती हैं ॥ २० ॥

उपाय करनेवालोंमें किसी किसीको शीघ्र (जल्दी) सिद्धियां प्राप्त होती हैं सो आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं :–

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

तीव्रसंयोग योगियोंको समाधि ॥ २१ ॥

दो०–श्रद्धा आदिकयत्नते, तीव्र होत वैराग।
ताको फल शीघ्रही मिले, पाव मोक्षकर भाग ॥ २१ ॥

जिन योगियोंका संवेग (वैराग्य) उत्कृष्ट है, उपाय अभ्यास अधिमात्र है अर्थात् अधिक है, उनको जल्द असंप्रज्ञात समाधिकी प्राप्ति होती है व उससे जल्दी मोक्षलाभ होता है ॥ २१ ॥

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

मृदु मध्य अधिमात्र होनेसे उससे भी विशेष है ॥ २२ ॥

दो०–तीव्रवेगवैरागते, मृदुमध्याधिकमात्र।
शीघ्र शीघ्रतर शीघ्रतम, है विशेष फलदात्र ॥ २२ ॥

मृदु, मध्य व अधि ये तीनों उत्तरोत्तर एक एकसे अधिक फल देनेवाले हैं. अर्थात् मृदु तीव्र संवेग योगीके समाधिसे मध्य तीव्र संवेगको अधिक जल्द समाधि लाभ व अधिमात्र तीव्र संवेगको अत्यंत दृढ व बहुत ही जल्द समाधिलाभ होता है, यह विशेषता है, तिससे तीव्र संवेग समाधिसे अर्थात् मृदु तीव्र संवेग समाधिसे भी मध्यतीव्र संवेग आदि विशेष हैं ॥ २२ ॥

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।। २३ ।।

अथवा ईश्वर प्रणिधानसे ।। २३ ।।

दो०–अथवा ईश उपासना, शीघ्रहि मिलत समाधि ।
दृढपूर्वक धारण किये, मिटत सकल जगव्याधि ।। २३ ।।

कायिक वाचिक व मानसिक ईश्वर प्रणिधानसे अर्थात् भक्ति विशेषसे ईश्वर में चित्त लगानेसे बहुत जल्द दृढ समाधि होता है. अथवा जो कहा है. यह प्रथम जो उपाय कहा है उससे भिन्न यह दूसरा उपाय जाननेके अर्थ इस सूत्रमें कहा है ।। २३ ।।

जिस ईश्वरके प्रणिधानसे समाधिलाभ होता है उसका लक्षण क्या है ? इस विज्ञापन जनानेके अर्थ आगे सूत्रमें ईश्वरका लक्षण वर्णन करते हैं :–

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।। २४ ।।

क्लेश कर्म विपाक आशयोंसे रहित पुरुष, विशेष ईश्वर है ।। २४ ।।

दो०–क्लेशकर्मफलरहित जो, आशय सुखदुखहीन ।
असंबद्ध जो पुरुष है, ईश्वर जानहु चीन ।। २४ ।।

अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश यह पांच क्लेश व कर्मधर्म अधर्म तिनके फल फलानुकूल संस्कार आशय जो मनमें रहते हैं उसके सम्बन्धसे रहित जो पुरुष विशेष है, वह ईश्वर है. विशेषपदसे यह प्रयोजन है कि, जैसे अन्यकर्मविपाक आशय-सहित सांसारिक पुरुष हैं व क्लेश आदि भोग करते हैं, ऐसा ईश्वर नहीं है. तीनों कालमें ईश्वर क्लेश आदि सम्बन्धसे रहित है. इससे अन्यपुरुषोंसे विशेष है मुक्त-जीवोंसे भी विशेष है, क्योंकि मुक्तजीव भी पूर्वकालमें त्रिगुण बंधमें थे, वे विवेक द्वारा मुक्त हुए हैं. ईश्वर अनादि शुद्धसत्त्वात्मक त्रिकालमें अविवेक बन्धनरहित है. पुरुष विशेष कहनेसे त्रिकाल निर्बन्ध ज्ञानमय ईश्वरके होनेसे अभिप्राय है ।। २४ ।।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ।। २५ ।।

तिसमें निरतिशय ज्ञान सर्वज्ञ होनेका बीज है ।। २५ ।।

दो०–यथातथ्य सर्वज्ञता, बीज ईश कह जान ।
निरअतिशय सोइ जानिये, नून्याधिक नहिं मान ।। २५ ।।

जिससे अधिक अन्य न हो उसको निरतिशय कहते हैं. तिसमें (ईश्वरमें) जो निरतिशय ज्ञान है वह ईश्वरके सर्वज्ञ होनेका बीज है अर्थात् सर्वज्ञ होनेका ज्ञापक (जनानेवाला) है अर्थात् जिसमें निरतिशय ज्ञान है उसमें सर्वज्ञत्व है, यह जनाता है ।। २५ ।।

जो यह संशय हो कि शिव विष्णु आदिको ईश्वर मानना चाहिये इस संशय निवारणके अर्थ आगे सूत्रमें विशेषता वर्णन करते हैं :–

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

काल परिमाण रहित होनेसे पूर्ववालोंका भी गुरु है ॥ २६ ॥

दो०-कालते अवछिन्न नहिं, तिहिं कारणते ईश ।
ब्रह्मा आदिकको गुरु, गावत जाहि मुनीश ॥ २६ ॥

पूर्वमें जो शिव विष्णु आदि सिद्ध हुए हैं वह कालके अधीन हैं उत्पत्ति प्रलयको प्राप्त होते हैं. ईश्वर कालअधीन वा कालपरिमाण संयुक्त नहीं है. इससे पूर्ववाले सिद्ध शिव विष्णु आदिकोंका भी गुरु है अर्थात् उनसे भी श्रेष्ठ है ॥ २६ ॥

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

उसका वाचक प्रणव है ॥ २७ ॥

दो०-प्रणव कहत ॐकारको, है ईश्वरको नाम ।
सुमिरणते सब दुख कटत, चित्त लहत विश्राम ॥ २७ ॥

उस ईश्वरका वाचक प्रणव (ॐकार) है अर्थात् ॐ यह ईश्वरका अति उत्तम नाम है. केवल इस एक नामसे ईश्वरके अनेक नाम गुणोंका ग्रहण होता है. 'अ उ म्' ये तीन अक्षर मिलकर ॐ होता है. अकार विराट् अग्नि विष्णु आदि अर्थका वाचक है. उकारसे हिरण्यगर्भ शंकर तैजस नामोंका ग्रहण होता है. और मकारसे ईश्वर प्राप्त प्रकृति आदि नामोंका ग्रहण होता है. अब इन सबका अर्थ भाषामें वर्णन किया जाता है. ईश्वर विराट् है अर्थात् विविध प्रकारके जगत्में शोभित प्रकाशित हैं अग्नि हैं अर्थात् वेदशास्त्र ज्ञानवानोंसे सत्कार किया गया व पूजित है. विष्णु है अर्थात् सम्पूर्ण आकाशसे पृथ्वी पर्य्यन्त भूतोंमें व्यापक है. हिरण्यगर्भ अर्थात् सम्पूर्ण हिरण्य नाम तेजवान् पदार्थ सूर्य्य आदि जिसके गर्भमें अर्थात् अंतर्गत प्राप्त हैं ऐसा हिरण्यगर्भ ईश्वर है. शंकर है अर्थात् कल्याणआनंदका करनेवाला है. तैजस है अर्थात् तेजस्वरूप प्रकाशरूप है. ईश्वर है अर्थात् सम्पूर्ण ऐश्वर्यको प्राप्त है. प्राज्ञ है अर्थात् ईश्वर अतिउत्कृष्ट ज्ञानरूप है. प्रकृति है अर्थात् प्रकर्ष करके सब जगत्का उत्पन्न करनेवाला कारण है. यह सब स्तुतिवाचक नाम और अर्थका ग्रहण ॐ शब्द मात्रसे होता है. यह संक्षेप अर्थ है. इससे अधिक प्रणवका अर्थ है इससे अनेक ईश्वरके नाम व स्तुति वाचक प्रणव ईश्वरका सब नामोंमेंसे उत्तम नाम है ॥ २७ ॥

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

उसका जप उसके अर्थका भावन है ॥ २८ ॥

दो०-ओंकारजप अर्थयुत, अर्थअनुरूप स्वरूप ।
ईश्वरकी कर भावना, भारतरूप अनूप ॥ २८ ॥

उसका अर्थात् प्रणवका जप व उसका अर्थ जो ईश्वर है उसका भावन है

अर्थात् प्रणवका जप करते हुए ईश्वरकी भावना करते हुए योगीका चित्त एकाग्रता को प्राप्त होता है व एकाग्र व जप अभ्यासमें प्राप्त चित्तमें परमात्मा प्रकाशित होता है ॥ २८ ॥

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

तिससे भिन्न चेतना साक्षात्कार होता है व विघ्नोंका भी अभाव होता है ॥ २९ ॥

दो०—ईश्वरके प्रणिधानतें, होत आतमा भान ।
आन्तरीय सब विघ्नको, तब अभाव पहिचान ॥ २९ ॥

तिससे अर्थात् प्रणवके जप व ईश्वर प्रणिधानसे जैसे ईश्वर असंग ज्ञानरूप क्लेश आदि शून्य है इसी तरह जीव चेतनरूप क्लेशरहित हैं. सदृश होनेसे ईश्वरके ध्यानसे ईश्वरके अनुग्रह द्वारा जीवस्वरूप चेतन सब क्लेशोंसे भिन्न साक्षात्कार होता है व योगके विघ्नोंका भी अभाव (नाश) होता है ॥ २९ ॥

अब जो विघ्न चित्तको योगसे भ्रष्ट व पतित करते हैं उनको सूत्रमें वर्णन करते हैं :—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रांतिदर्शनालब्धभूमि-कत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

व्याधि स्त्यान संशय प्रमाद आलस्य अविरति भ्रांति दर्शन अलब्धभूमिकत्व व अनवस्थितत्व जे चित्तके भ्रष्ट करनेवाले हैं यह विघ्न हैं ॥ ३० ॥

दो०—चितविक्षेपक नव कहे, विघ्न महादुखरूप ।
योगविघ्नहू जानिये, ते डारत भवकूप ॥
व्याधिस्त्यान अरु संशय, और प्रमाद आलस्य ।
अविरति भ्रांति अरु दर्शन, अलब्धभूमिको पस्य ॥
अनवस्थित नव जानिये, विघ्न महाबलवानु ।
इनते छूटहि हरिकृपा, योगउदय जिमि भानु ॥ ३० ॥

चित्तके विक्षेप करनेवाले तो विघ्न महापापरूप हैं. योगमेंभी विघ्न डालने वाले हैं. अपने प्रभावसे संसृतिसे रहित नहीं होने देते हैं. भवसागरमें डाल देते हैं. उनका विवरण किया जाता है. वात पित्त कफ व अन्न रस इन्द्रियोंकी विषमता व्याधि है; चित्त अत्यंत चाहता है, परन्तु वह कर्म करनेको समर्थ न होना स्त्यान है; जिसमें संशय होता है उसका ग्रहण नहीं होता, इससे संशय विघ्न है; योगके अंगों के अनुष्ठान करनेमें प्रीति न होना प्रमाद है; शरीर व चित्तकी गुरुता (गरुवई) से अर्थात् शरीर व चित्तमें आरामकी इच्छासे योगमें प्रवृत्त न होना आलस्य है;

विषयकी तृष्णा अविरति है, यथार्थ रूपका ज्ञान न होना अन्य अन्य ज्ञान होना भ्रांतिदर्शन है; चित्तका समाधि भूमिमें स्थिर न होना अलब्धभूमिकत्व है; समाधि भूमिको लाभ करके चित्तका उसमें स्थिर न रहना अनवस्थितत्व है यह नव प्रकारके विघ्न हैं ।। ३० ।।

दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासविक्षेपसहभुवः ।। ३१ ।।

दुःख दौर्मनस्य अंगमेजयत्व श्वास प्रश्वास विक्षेपके साथ होते हैं ।। ३१ ।।

दो०—दुख दुर्मन और अंगजय, श्वास और प्रश्वास ।
सहकारी विक्षेपके, संगहि करत प्रकाश ।। ३१ ।।

ऊपर कहे हुए व्याधि आदिके सहकारी ये दुःख आदि भी योगके विघ्न हैं. व्याधिसे उत्पन्न शारीरिक दुःख, काम आदिसे मानसिक दुःख दोनोंसे आध्यात्मिक दुःख, व्याघ्र आदिसे उत्पन्न आधिभौतिक दुःख और ग्रहपीड़ा आदि आधिदैविक दुःख भी विघ्न हैं. इच्छाके विघातसे मनमें क्षोभ होना दौर्मनस्य (द्वेष) है; विना इच्छा अंगका कांपना अंगमेजयत्व है; तथा विना पूरक रेचक विना इच्छा निष्फल वायुका भीतर जाना श्वास, व कोष्ठके वायुका बाहर निकलना प्रश्वासविक्षेपोंके साथ यह होते हैं अर्थात विक्षिप्त चित्तमें ये दुःख दौर्मनस्य आदि होते हैं ।। ३१ ।।

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ।। ३२ ।।

तिनके नाशके अर्थ एकतत्त्वका अभ्यास करना चाहिये ।। ३२ ।।

दो०—तिनके प्रतिषेधन निमित, एक तत्त्व अभ्यास ।
ईश्वर एक उपासना, करत विघ्न सब नाश ।। ३२ ।।

तिन विघ्नोंके नाशके अर्थ एकतत्त्व जो ईश्वर उसका अभ्यास (उपास ध्यान) करना चाहिये ।। ३२ ।।

अब चित्तके शुद्ध होने व एकाग्र होनेका उपाय क्या है सो आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं :—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।। ३३ ।।

सुखी प्राणियोंमें मित्रता, दुःखी प्राणियोंमें दया, पुण्यशीलोंमें अर्थात् धर्मवानोंमें हर्ष, व अपुण्यशील अधर्मवानोंमें उदासीनता भावना करनेसे चित्तकी प्रसन्नता होती है ।। ३३ ।।

दो०—सुखिपनते मैत्री करहि, दुखिपन करुणा मूर ।
पुण्यात्माते हर्ष अरु, अघ उदास भरिपूर ।।

इहि प्रकार साधन करे, चित्त लहत आनन्द ।
सब जगसों हिलमिल रहै, पावत परमानन्द ।। ३३ ।।

सुखी प्राणियोंमें मित्रता भाव करनेसे ईर्षा मलकी निवृत्ति होती है. दुःखीमें दया अर्थात् दुःख दूर करनेकी भावना करनेसे अपकार करनेकी इच्छारूप पापमल चित्तसे दूर होता है; धर्मवानोंमें हर्ष भावना करनेसे असूया (पैलगाना) का पापमल चित्तसे दूर होता है और पापी पुरुषोंमें मध्यस्थ वृत्ति अर्थात् हर्ष शोक दोनों न करके उदासीन रहनेकी भावना करनेसे क्रोधमल चित्तसे दूर होता है. इस प्रकारसे रज तम गुण निवृत्त होनेसे उतम शुद्ध सात्त्विक धर्म प्राप्त होता है व चित्त प्रसन्न व योग अभ्यासके योग्य होता है ।। ३३ ।।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।। ३४ ।।

वा (या) प्राणके प्रच्छर्दन व विधारणसे ।। ३४ ।।

दो०—प्रछर्दन और विधारणा, प्राणवायुको जीत ।
चित स्थित और स्वस्थ कर, आनंद पावत मीत ।। ३४ ।।

मैत्री आदि जो उपाय चित्तके प्रसन्न होनेके पूर्व सूत्रमें कहा है उसमें अन्य उपाय यह भी है यह सूचन करनेके अर्थ 'वा' शब्द सूत्रमें कहा है. प्राणवायुको नासिका पुटद्वारा रेचन करना (बाहर निकालना) प्रच्छर्दन है व उसको बाहर रोक रखना विधारण है. प्रच्छर्दन व विधारण करनेसे चित्त शांत हो स्थितिको प्राप्त होता है. प्राणके जीतनेसे चित्तभी जीता जाता है. प्राणायामसे पाप दूर होते हैं. पाप दूर होनेसे चित्त स्थिर होता है ।। ३४ ।।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ।। ३५ ।।

वा विषयवती प्रवृत्ति उत्पन्न मनके स्थितिकी निबन्धन करनेवाली है ।।३५ ।।

दो०—औरों कहत उपाय अब, विषयावती सुगंधि ।।
चितकी वृत्ति निवृत्ति कर, मनको राखत बंधि ।। ३५ ।।

इस सूत्रमें भी उपायान्तर (अन्य उपाय) जाननेके अर्थ 'वा' शब्द रक्खा है. नासिकाके अग्रभागमें चित्तके संयमसे (संयम धारणा ध्यान समाधि तीनोंका समुदाय वाचक है. जैसा आगे ग्रन्थमें वर्णन किया गया है) गन्ध साक्षात्कार होता है. जिह्वाके अग्रमें संयम करनेसे दिव्य रस, मध्यमें संयमसे स्पर्श, मूलमें संयमसे शब्द साक्षात्कार होता है. यह गंध आदि विषयवती प्रवृत्ति जल्दी उत्पन्न हो विश्वासकी कारण हाकर अति सूक्ष्म ईश्वरमें मनके स्थितिको प्राप्त करती है. शास्त्रमें कहे हुए किसी अनुभवके होनेसे सूक्ष्ममें भी श्रद्धापूर्वक संयममें प्रवृत्त होता है ।। ३५ ।।

विशोका वा ज्योतिष्मती ।। ३६ ।।

विशोका वा (या) ज्योतिष्मती ।। ३६ ।।

दो०–विशोका वा ज्योतिष्मती, चित्त स्थिरकर मूल ।
दुखहर करत प्रकाश अरु, संवित प्रवृत्ति अभूल ।। ३६ ।।

हृदयमें जो अधोमुख अष्टदल हृदय रूप कमल है उसको रेचक वायुसे ऊर्ध्व मुख करके उसके बीचमें स्थित ऊर्ध्व है मुख जिसका ऐसी सुषुम्णा नाड़ीमें संयम करनेसे मनसंवित् होता है अर्थात् मनमें प्रकाश रूप साक्षात्कार होता है. वह मन सूर्य्य चन्द्र नक्षत्र मणिगणोंका जो जो तेज है उस उस रूपसे अनेक प्रकारका होता है उनका सात्त्विक ज्योति मन है. उसका कारण सात्त्विक अहंकार है. उसका भी ज्योति है. उसके ज्योतिस्स्वरूपके संयमसे संवित् होता है. वह संवित् दो प्रकारका होता है ज्योतिष्मती व विशोका, प्रकाश प्राप्त होनेसे ज्योतिष्मती संज्ञा है व दुःखशून्य होनेसे विशोका संज्ञा है. यह विशोका वा ज्योतिष्मती प्रवृत्ति उत्पन्न मनके स्थितिका हेतु होती है ।। ३६ ।।

अब अन्य हेतु मनके स्थिर होनेका वर्णन करते हैं :–

वीतरागविषयं वा चित्तम् ।। ३७ ।।

अथवा वीतरागविषय चित्त ।। ३७ ।।

दो०–अथवा रागविहीन चित, मन स्थिर करन उपाय ।
रागसहित चित होत जब, कबहुँ न थिरता पांय ।। ३७ ।।

वीतराग जो व्यास शुक आदि हैं उनका भाव (विषय) जिस चित्तका विषय है वा होता है वह स्थिर होता है अर्थात् वीतरागोंके चित्तका भाव जो विराग है वह विषय है जिस चित्तका वह स्थिर होता है अर्थात् जिस चित्तमें विराग होता है वह स्थिर होता है. चित्त रागरहित होना भी चित्तकी स्थिरताका उपाय है. रागसहित चित्त कभी स्थिर नहीं होता है यह फलितार्थ है ।। ३७ ।।

स्वप्ननिद्राज्ञानावलंबनं वा ।। ३८ ।।

या स्वप्नज्ञानावलंबन व निद्राज्ञानावलंबन योगीके चित्तके स्थिर होनेका हेतु है ।। ३८ ।।

दो०–यथा स्वप्न निद्राविषै, आलम्बन चित होय ।
मन थिरताकर विषय यह, मानहु दृढ कर सोय ।। ३८ ।।

स्वप्नमें जो अत्यंत मनोहर स्वरूप किसी देवता वा महात्माको देखे कोई प्रकाश व तेजमान पदार्थ देखे जिससे चित्त प्रसन्न हो उसमें चित्त लगाने ध्यान करनेसे चित्त स्थिर होता है अथवा निद्रा जो सुषुप्ति है जो सुख दुःखसे रहित हो, शांत रहता है, उस ज्ञानको चित्तमें धारण करे तो चित्त स्थिर होता है अर्थात् स्वप्न ज्ञानावलंबन और निद्राज्ञानावलंबनसे भी योगीका चित्त स्थिर होता है ।। ३८ ।।

यथाभिमतध्यानाद्वा ।। ३९ ।।

वा यथाभिमत ध्यानसे ।। ३९ ।।

दो०–अथवा अभिमत ध्यानते, मन निश्चलता होय ।
चित चाहै जिस वस्तुको, तिहि ध्याये थिर होय ।। ३९ ।।

जिसको चित चाहै, जिसमें प्रीति हो, उसीका ध्यान करे, जब उसमें चित्त स्थिर होजायगा तव उससे भिन्न-अन्यमें भी स्थितिको लाभ करेगा, इससे यथारुचि ध्यान करनेसे भी योगीका चित्त स्थिति पदको लाभ करता है ।। ३९ ।।

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ।। ४० ।।

परमाणु व परम महत्त्वके अंत तक इसका वशीकार है ।। ४० ।।

दो०–पूरव उक्ति उपायते, चित्त स्थिर अस होइ ।
अतिसूक्ष्म स्थूलको, सुगम्म लेत है जोइ ।। ४० ।।

सूक्ष्मके अंतमें परमाणुतक व स्थूलके अंतमें परम महत्त्व (विराट् स्वरूप) तक इसका चित्तका वशीकार है. अभिप्राय यह है कि, सूक्ष्ममें परमाणुतक व स्थूलमें महत्त्वतक चित्त स्थिति पदको लाभ करता है. अति सूक्ष्म व अति स्थूल दोनों कोटिमें जाता जो चित्त है उसका कहीं रोक न होना व कहीं रागको प्राप्त न होना, यह परवशीकार है. इस वशीकारसे योगीका चित्त परिपूर्ण होकर स्थिर होकर फिर अभ्यास व कर्मकी अपेक्षा नहीं करता ।। ४० ।।

जब चित्त स्थितिको लाभ करता है तब उसका क्या स्वरूप क्या विषय होता है यह वर्णन करते हैं :—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदंजनता समापत्तिः ।। ४१ ।।

क्षीणवृत्ति चित्तका अति स्वच्छ मणिके तुल्य ग्रहणकर्ता ग्रहण ग्राह्यमें उनमें स्थित होना उनके स्वरूपाकार होना समापत्ति है ।। ४१ ।।

दो०–क्षीणवृत्तिकर चित्त जब, स्वच्छ होत मणिरूप ।
जिहि उपाधि अनुरक्तचित, भासत तिहि अनुरूप ।।
गृहीत ग्रहण और ग्राह्यमें, जहां चित स्थित होइ ।
तिहि समान भासन लगत, समापत्ति कह सोइ ।। ४१ ।।

जब चित्तकी वृत्तियोंका नाश हो जाता है तब चित्त स्वच्छमणिरूप प्रकाशित होता है फिर जिस उपाधिमें वह चित्त लग जाता है तब उसीके तुल्य प्रतीत होने लगता है ग्रहीता जैसा अभिजात मणि अर्थात् स्वच्छ स्फटिकमणि जपाकुसुम आदिके समीप उन्हींके रक्त (लाल) आदि रंग वा रूपके सदृश भासित होता है इसी प्रकारसे

अभ्यास वैराग्य करके रजोगुण तमोगुण वृत्तियोंसे रहित चित्त मणि सत्त्वरूप स्वच्छ ग्राह्य, स्थूल सूक्ष्मभूत ग्रहणकरणरूप इन्द्रिय व ग्रहणकर्ता पुरुष इनकी आकारता को प्राप्त होता है अर्थात् इनके रूपसे भासित होता है. सूक्ष्मभूतमें उपरक्त सूक्ष्मभूत आकार स्थूलमें स्थूलस्वरूप आकार ग्रहणरूप इंद्रियोंमें इन्द्रिय आकार व ग्रहणकर्ता पुरुष अवलंबनमें उपरक्त पुरुष स्वरूपसे भासित होता है. इस प्रकारसे ग्रहीता (ग्रहण कर्ता) व ग्रहण व ग्राह्यपुरुष इन्द्रियभूतोंमें जिसमें जो स्वरूप आकार है उसमें स्थित हो उसी स्वरूप आकारसे भासित होता है अर्थात् स्वच्छचित्त जिस पदार्थमें संयम करता है उसी रूपसे आप भासित होता है. यह संप्रज्ञात योग है जो पूर्वही कहा गया है ।। ४१ ।।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ।। ४२ ।।

तिनमें शब्द अर्थ ज्ञानके विकल्पोंसे मिली हुई सवितर्का समापत्ति है ।।४२।।

सो०–शब्द अर्थ ज्ञान, पृथक् पृथक् तीनों अहैं ।
सम्मीलित त्रय जान, सवितर्का समापत्तिमें ।। ४२ ।।

समापत्ति समाधिको कहते हैं. पूर्व सूत्रमें जो ग्रहणकर्ता, ग्रहण, व ग्राह्यरूप चित्तका भासित होना समापत्ति वर्णन किया है, यही संप्रज्ञात योग है. जिसके सवितर्क सविचार सानन्द सस्मिता भेद कहे गये हैं तिनके लक्षण यहां सूत्रोंमें क्रमसे सूत्रकार वर्णन करते हैं. तिनमें प्रथम सवितर्क समापत्तिका लक्षण इस सूत्रमें कहा है कि, तिनमें समापत्तियोंमें शब्द अर्थ व ज्ञानके विकल्पोंसे मिली हुई जो समापत्ति है वह सवितर्क समापत्ति है. जैसे गौ यह संज्ञा शब्द है जिस पदार्थका वाचक गौ शब्द है वह अर्थ है. शब्द व अर्थका जो बोध होता है वह ज्ञान है. यद्यपि विकल्पसे यह तीन हैं तथापि विना विभागके इनका ग्रहण एक ऐसा गौ पदार्थका लोकमें किया जाता है. जब इनके विभाग किये जाते हैं तब शब्द आदि भिन्न भिन्न जाने जाते हैं इनको भेदरहित अर्थात् शब्द व ज्ञानके भेदरहित गौ अर्थमें समाहित चित्त योगीको समाधिमें यथा कल्पित अर्थ मात्र साक्षात्कार होता है. तथा शब्द अर्थ ज्ञानोंके विकल्पसे संकीर्ण समाधि प्रज्ञा यथा कल्पित शब्दमात्र वा ज्ञानमात्र स्वरूपसे साक्षात्कार होती है. विकल्पत्वके विशेष न होनेसे यह संकीर्णा समापत्ति सवितर्का समापत्ति कही जाती है ।। ४२ ।।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्ये वार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ।। ४३ ।।

स्मृति परिशुद्धि होनेमें स्वरूप शून्य ऐसा अर्थमात्रका भासित होना निर्वितर्का है ।। ४३ ।।

दो०–स्मृतिकी परिशुद्धितें, रहत नहीं कछु याद ।
नहिं जानत निज रूपसो, भासत अर्थ अवाद ।।

निर्वितर्कको पायकर, केवल भासत ध्येय।
ध्याता ध्यान न भास कछु, होत स्मृती हेय ।। ४३ ।।

स्मृतिकी परिशुद्धि हो जानेसे अर्थात् याददास्त व रहनेसे अपने रूपको भी नहीं जानता केवल उसको अर्थमात्र अर्थात् पदार्थमात्र भासित होता है. परिशुद्धि शब्दका अभिप्राय त्याग वा रहित होनेसे है. शब्दोंकी शक्तिरूप संकेत विकल्पित अर्थोंमें ग्रहण किया जाता है. शब्द संकेत व श्रुत व अनुमान इनका ज्ञानही विकल्प है. विकल्पकी कारण स्मृति है. जो स्मृतिरहित समाधि प्रज्ञामें उसका जो स्वरूप ग्रहणात्मक है उसमें भी शून्यके तुल्य केवल ध्येय अर्थमात्र भासित होता है, वह निर्वितर्का समापत्ति है अर्थात् जो समाधि प्रज्ञा स्मृतिरहित हो व स्मृतिके त्याग वा रहित होनेसे अपना जो स्वरूप ग्राह्य के ग्रहण करनेका है उसको त्याग करके ग्राह्यपदार्थ रूपके सदृश होती है वह निर्वितर्का समापत्ति है. सवितर्काकी अपेक्षा यह परं प्रत्यक्ष है; क्योंकि सत्य अर्थमात्र विकल्परहितका इसमें प्रत्यक्ष होता है. वह सत्य अर्थ अवयवी स्थूल पदार्थ है. कोई यह शंका करते हैं कि परमाणुपुंजसे भिन्न अवयवी नहीं है. अवयवी मानना मिथ्याज्ञान है इसका उत्तर यह है कि, जो अवयवी नहीं हैं. परमाणु-पुंजका एकत्र होना ही स्थूलरूप परिणाम है तो परमाणु कारण से कार्यरूप स्थूल होना संभव नहीं होता, क्योंकि जो स्थूल परिणाम परमाणुसे भिन्न माना जाय तो कारण कार्य सम्बन्ध नहीं रहता. जैसे पट व घटमें पटसे घट व घटसे पट होना असंभव है और जो अभिन्न (पृथक्ता वा भेदरहित) अंगीकार किया जावे तो परमाणुके सदृश सूक्ष्म अदृश्य होना चाहिये व अदृश्य होनेपर भी जहांतक अवयवी होनेका बुद्धि द्वारा अनुमान होवे वह सब मिथ्या ज्ञान है. सब मिथ्या होनेमें सब होनेका ज्ञान भी विषयके अभाव से कुछ न रहेगा. जिस २ स्थूल पदार्थकी उपलब्धि (प्रत्यक्षता) होती हैं उनके अवयवी होनेसे होती हैं तिससे अवयवी ही है. अवयवी महान् (स्थूल) होने का कारण व निर्वितर्का समापत्तिका विषय होता है. यह संक्षेपसे वर्णन किया गया ।। ४३।

अब सविचारा निर्विचारा का वर्णन करते हैं :—

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ।। ४४ ।।

इसीके समान सविचारा निर्विचारा भेदसे सूक्ष्म विषयरूप वा सूक्ष्मविषय-वाली समापत्ति व्याख्यान की गई है ।। ४४ ।।

दो०—सवितर्का निर्वितर्कसम, सविचार निर्विचार ।
स्थूला पहिली जानिये, पिछली सूक्ष्म सम्हार ।।
पंचभूत परमाणु अरु, देश काल गंधादि ।
भान होत सविचारमें, सूक्ष्म विषय अनादि ।।

निर्विचार भासत रहै, शून्य अर्थ अनुरूप ।
सब विकल्पकर रहित जो, भासहि सूक्ष्म स्वरूप ।। ४४ ।।

इसके समान अर्थात् स्थूल विषयोंके समान जैसे स्थूल विषयवाली समापत्तिके दो भेद सवितर्का व निर्वितर्का कहे गये हैं इसी प्रकारसे सूक्ष्म विषयोंमें सविचारा व निर्विचारा दो भेद हैं, यह जानना चाहिये इसमें स्लथूविषयाके तुल्य सूक्ष्मविषया समापत्ति व्याख्यान की गई है यह समझना चाहिये. यह सूत्रका अभिप्राय है. फलितार्थ इसका यह है कि, जैसे स्थूल विषयमें सवितर्का व निर्वितर्का दो भेदसे समापत्ति ध्येयमें होती है इसी प्रकारसे सूक्ष्म विषयमें अर्थात् सूक्ष्म ध्येयमें सविचारा व निर्विचारा दो भेदसे समापत्ति होती है. यथा घट आदि यह स्थूल विषय हैं, इनमें प्रत्यक्षसे देखनेमें परमाणुओंको गन्ध आदि सूक्ष्म मात्रासहित पृथिवी आदि भूतोंके पृथक् पृथक् होनेका बोध नहीं होता, विचारसे होता है, सूक्ष्म भूत जे स्थूल भूतोंको परिणाम घट आदिकोंमें उपादानरूप कारण व देशकालके अनुभवसे अवच्छिन्न (देशकालके अनुभव संयुक्त) जे परमाणु हैं उनमें जो समापत्ति है वह सविचारा कही जाती है. यथा घट आदि पदार्थोंमें जो परमाणु कारणसे उत्पन्न एक पदार्थ जाना जाता है उसमें देशकाल कार्य कारणका विचार करना पदार्थके नीचे ऊपर इधर उधर यह देश है; पदार्थके बोध होनेके समयमें वर्तमानकाल है. गन्धमात्राकी प्रधानता संयुक्त पञ्च तन्मात्राओंसे (गन्ध रस रूप स्पर्श शब्दमात्रोंसे) पृथिवीके परमाणुओंकी उत्पत्ति विचार करनेमें पञ्चतन्मात्रा कारण है; इसी प्रकारसे आप्य (जलवाले) परमाणुओं की उत्पत्ति गन्धवर्जित रसकी प्रधानता संयुक्त चार तन्मात्राओंसे; तैजस (तेजवालों) की गन्ध रसरहित रूपकी प्रधानता संयुक्त तीन मात्राओंसे; वायवीय (वायुवाले) परमाणुओंकी गन्ध रस रूप रहित स्पर्शकी प्रधानता संयुक्त दो मात्राओंसे; व नभ (आकाश) की शब्द तन्मात्रासे होनेमें जानना चाहिये. यहां उत्पत्ति होनेसे कार्यभाव होना व एक दूसरेकी अपेक्षा सूक्ष्म व स्थूल भेदसे पर अपर होनेसे अभिप्राय है यह अनेक विशेषणविशिष्ट विकल्पित परमाणुओंमें समापत्ति सविचारा है. सब विशेषण विकल्परहित प्रज्ञास्वरूपशून्यके तुल्य अर्थमात्र परमाणुओंमें जो समापत्ति है अर्थात् अर्थमात्रका समाधिप्रज्ञामें भासित होना निर्विचारा समापत्ति है ।। ४४ ।।

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्य्यवसानम् ।। ४५ ।।

सूक्ष्म विषय होनेकी अवधि (मर्य्यादा) अलिंगपर्य्यन्त है ।। ४५ ।।

दो०–सूक्ष्म विषयकी अवधिगत, जानहु प्रकृतिपर्यंत ।
प्रकृति अलिंगसमान अरु, सूक्ष्म विषयकर अंत ।। ४५ ।।

पृथिवीके परमाणुओंका तन्मात्रा गन्ध सूक्ष्म विषय है; तथा जल[illegible]णुओं

का रस, अग्निके परमाणुओंका रूप, वायुके परमाणुओंका स्पर्श, आकाशका शब्द इनसे सूक्ष्म अहंकार, अहंकारसे सूक्ष्म लिग (महत्तत्त्व) महत्तत्त्वसे सूक्ष्म अलिंग (प्रकृति व प्रधान) है, प्रधानतक सूक्ष्मताका अन्त है. प्रधानसे अधिक सूक्ष्म नहीं है. जो यह कहा जावे कि प्रधानसे अधिक पुरुष आत्मा है तो यथा प्रधान महत्तत्त्व आदिके रूपमें परिणत होता है, पुरुष नहीं होता; इससे प्रधानही सृष्टिका आदि सूक्ष्म उपादान कारण है; पुरुष नहीं है. सूक्ष्म कारणतक सूक्ष्मताके अन्तको वर्णन किया है ।।४५।।

ता एव सबीजस्समाधिः ।। ४६ ।।

वेही सबीज समाधि हैं ।।४६।।

दो०–समापत्ति जो पूर्वमें, कथन करीं हम चार ।
सोई सबीज समाधि है, जानहु सत्यविचार ।। ४६ ।।

ग्राह्य विषयमें जो पूर्वमें वर्णन की गई स्थूल अर्थमें सवितर्का निर्वितर्का व सूक्ष्म अर्थमें सविचारा निर्विचारा समापत्ति हैं वह बाह्य पदार्थके बीज संयुक्त हैं यह चारों मिलाके एक सबीज समाधि संज्ञासे कही जाती है. कोई ग्रहणकर्ता व ग्रहणमें भी विकल्प अविकल्प भेदसे असानन्दा (जिसमें आनन्द नहीं प्राप्त हुआ) व आनन्दा (जिसमें आनन्द प्राप्त हुआ) तथा आसस्मिता (अस्मितारहित) व अस्मिता चारऔर मानतेहैं अस्मिता ग्रहणकर्त्ता पुरुषको बुद्धिशक्ति द्वारा अपनाही करके मानना चाहिये जैसा आगे वर्णन किया है यह आठ समापत्ति सब सबीज समाधि हैं ।।४६।।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ।। ४७ ।।

निर्विचारके शुद्ध व स्वच्छ होनेमें प्रकाशरूप स्वाभाविकी प्रसन्नता होती है ।।४७।।

दो०–निर्विचार समाधिमें, जबहि विशारद होय ।
अधिआत्मा परिसाद और, निखलज्ञानयुत सोय ।। ४७ ।।

रजोगुणतमोगुण मलके जो ज्ञानका आवरण व अशुद्धरूप है वह दूर होजानसे बुद्धिसत्त्वका स्वच्छ व स्थिति प्रवाह होना वैशारद्य है. वज निर्विचार समाधिके वैशारद्यकी प्राप्ति होतीहै तब योगीको अध्यात्म प्रसाद होता है अर्थात् प्रकाश-स्वभाव बुद्धिसत्त्वके स्वच्छ व निर्मल होनेसे अनेक पदार्थको एक साथ विनाक्रम सूक्ष्म व स्थूलको साक्षात् करता है. जैसे पर्वतपर बैठे हुएको नीचे पृथिवीमें धरे हुए पदार्थोंका दर्शन व ज्ञान होता है जब निर्विचार समाधिमें प्रवीण हो जाता है तब आत्मा प्रसन्न होता है ।।४७।।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

तिसमें प्रज्ञाकी ऋतंभरा संज्ञा होती है ॥ ४८ ॥

दो०-अध्यात्मा परसादते, बुद्धी होत अनूप ।
ऋतंभरा प्रज्ञा सोई, शुद्धिबुद्धि अनुरूप ॥ ४८ ॥

तिसमें (वैशारद्यके प्राप्त होनेमें) निर्विचार समाधिसे जो प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि उत्पन्न होती है उसकी 'ऋतंभरा' संज्ञा है. ऋत सत्यको कहते हैं, सत्यका धारण करती है अर्थात् उसमें भ्रम अज्ञानका सर्वथा नाश होजाता है. यथार्थ सत्यज्ञान होता है, इससे 'ऋतंभरा संज्ञा है ॥ ४८ ॥

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषयाविशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥

विशेष अर्थ होनेसे श्रुतप्रज्ञा व अनुमान प्रज्ञासे भिन्न विषयरूप ऋतम्भरा है ॥ ४९ ॥

दो०-श्रवण और अनुमानते, ऋतंभरा अति भिन्न ।
प्रज्ञा अर्थ विशेषके, करत विदित सब चिह्न ॥ ४९ ॥

पूर्व सूत्रमें जो ऋतंभरा प्रज्ञा कही गई है वह श्रुतप्रज्ञा (वेदज्ञान) व अनुमान प्रज्ञा (अनुमानज्ञान) इन दोनोंसे भिन्न है; क्योंकि वेदमें जो शब्द हैं उनका संकेत विशेष ज्ञानके साथ नहीं है. आगमज्ञान सामान्य विषयक है अर्थात् जैसा शब्दके अर्थसे जाना जाता है उससे सामान्यज्ञान होता है। ऋतंभरा प्रज्ञामें विशेष सत्य ज्ञान व पदार्थ साक्षात् होता है ऐसा ज्ञान वेदअध्ययनसे नहीं होता तथा प्रत्यक्ष द्वारा सामान्य पूर्व सम्बन्धज्ञानसे जहाँ व्याप्तिकी प्राप्ति है वहाँ अनुमान होता है जहां नहीं है वहां नहीं होता तिससे श्रुत व अनुमान ज्ञान विशेषविषयक नहीं है. ऋतंभरा समाधि प्रज्ञामें प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष दूरदेश व निकटदेशमें जो पदार्थ हैं सबका सत्य ज्ञान होनेसे ऋत (सत्य) विशेष अर्थ विषय है. विशेष अर्थ होने श्रुत व अनुमान प्रज्ञा (बुद्धि वा ज्ञान) से भिन्न विषयरूप है ॥ ४९ ॥

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

तिससे उत्पन्न संस्कार अन्य संस्कारका प्रतिबंधन करनेवाला है ॥ ५० ॥

दो०-ऋतंभराते होत जो, संस्कार अति शुद्ध ।
प्रतिबंधक है अन्यको, जे संस्कार अशुद्ध ॥ ५० ॥

तिससे ऋतंभरा समाधिप्रज्ञासे उत्पन्न संस्कार अधिकार है वह अन्य व्युत्थान संस्कारका प्रतिबंधन करनेवाला (रोकनेवाला) है इस संदेह निवारणके अर्थ कि शब्द आदि विषय भोग संस्कार जो व्युत्थान अवस्थामें अति प्रबल है उससे समाधिप्रज्ञामें कैसे स्थिति होती है यह कहा है कि समाधिप्रज्ञासे उत्पन्न संस्कार व्युत्थान

संस्कारको रोकता है. वैराग्य अभ्यासकी दृढ़तासे समाधिप्रज्ञामें व्युत्थान (विषय-भोगमें इद्रिंय चलायमान वा लोलुप रहनेकी अवस्था) संस्कार क्षीण हो जाता है; बाधा नहीं करसक्ता; समाधिप्रज्ञा उसकी बाधक होती है. चित्तके दो कार्य हैं शब्द आदि विषयों का उपभोग व विवेकख्याति संप्रज्ञात योगमें निर्विचार समाधि-प्रज्ञामें क्लेश कर्माशय सहित शब्द आदि उपभोगमें प्रवृत्त जो प्रज्ञा है उसके संस्कारों का निरोध हो जाता है; विवेकख्याति संस्कार मात्र रहता हैं इससे समाधि प्रज्ञामें चित्त विषयभोगका निरादर करता है; उसमें प्रवृत्त नहीं होता ।।५०।।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ।। ५१ ।।

उसके भी निरोध होनेमें सबके निरोध होनेसे निर्बीज समाधि होता है ।।५१।।

दो०–ऋतंभरा संस्कारहू, जब निरोधको साधि ।
सब निरोधते होत है, तब निर्बीज समाधि ।।
पुनि निर्बीज समाधिते, जीवनमुक्ती होत ।
नाशत दुख उत्कर्ष सब, सुख स्वरूप लह जोत ।। ५१ ।।

उस ऋतंभराके समाधि प्रज्ञाके भी निरोध होनेमें सब समाधि प्रज्ञाकृत संस्कारों के विरोध होनेसे निर्बीज समाधि होता है अर्थात् पर वैराग्यसे संप्रज्ञात समाधि प्रज्ञाके निरोध होनेसे उसके कार्य संस्कारोंका भी निरोध हो जाता है. कारणके अभावमें कार्य्यके उत्पत्तिका अभाव होता है. वृत्तिमात्र सब संस्कारके निरोध होनेसे निर्बीज समाधि होता है. दीर्घ कालतक निरंतर साधनसे व पर वैराग्यसे उत्पन्न संस्कारसे समाधि प्रज्ञा संस्कार विवेक ख्याति व विभूति प्राप्ति आदि हैं उनका निरोध होता है. सम्पूर्ण चित्तकी वृत्तियोंके अभाव होनेसे शुद्ध आत्मा आनन्द स्वरूपमें योगी लय होता है. अब यह संशय है कि, प्रथम प्रत्यक्ष ज्ञान होता है; प्रत्यक्ष द्वारा स्मृतिसे से अनुमान आदिसे ज्ञान होता है, सब वृत्तियोंके निरोध होनेमें प्रत्यक्ष व स्मृतिका होना संभव नहीं है. प्रत्यक्ष व स्मृतिके भाव होनेसे पर वैराग्यसे उत्पन्न संस्कार आत्मा मात्र साक्षात् होनेमें क्या प्रमाण है ? उत्तर यह है कि कालक्रम अनुभव करके निरुद्ध चित्तकृत संस्कारोंका अनुमान करना चाहिये अर्थात् जैसे मुहूर्त अर्द्धयाम वा याम रात्रदिन आदि क्रमसे कालकी अधिकता होती है इसी कालक्रम अनुभवसे वैराग्य अभ्यासके उत्कृष्ट वा अधिक होनेके अनुसार एक मुहूर्त आधे पहर एक पहर आदि तक निरोध (वृत्तियोंका रुक जाना) की अधिकता होते जानेसे योगीको अति उत्कृष्ट वैराग्य व अभ्यास होनेमें अतिनिरोध हो जानेका अनुभव होता है अर्थात् घटी क्षण पहरतक निरोध होनेसे योगीको अनुमानसे यह निश्चित होता है कि, अतिवैराग्य व अभ्यासको उत्कृष्ट होनेमें अतिनिरोध होना युक्त है. इस तरह निरोधजनामक पर वैराग्यसे उत्पन्न संस्कारके होनेका प्रमाण है. निर्बीज संस्कार प्रचयमें व्युत्थान

व संप्रज्ञातसे उत्पन्न संस्कार व निरोधज संस्कारों सहित चित्त अपनी प्रकृतिमें लय होता है. चित्तके लय हो जानेसे सब वृत्तियोंका अभाव हो जाता है. निश्चल स्थिति प्राप्त होती है. चित्तके प्रलय होनेमें पुरुष स्वरूप प्रतिष्ठित (अपने तत्त्वरूपमें प्राप्त) शुद्ध मुक्त रूप होता है. अर्थात् जब ऋतंभरा प्रज्ञाका भी निरोध हो जाता है तब निर्बीज समाधि जानना चाहिये. तिस निर्बीज समाधिसे जीवन्मुक्त होता है तब दुःख सब नाश होकर सुखस्वरूप ज्योतिको पाता है ।। ५१ ।।

इति श्रीपातंजले योगशास्त्रे भाषाभाष्ये श्रीमद्धार्मिकप्यारेलालात्मज बांदामण्डलान्तर्गत तेरहीत्याख्यग्रामवासि श्रीप्रभुदयालुनिर्मितेसमाधिपादः प्रथमः समाप्तः ।। १ ।।

अथ साधनपादप्रारंभः

अब द्वितीयपादमें साधनका वर्णन करते हैं ।

तपस्स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ।। १ ।।

तपस्स्वाध्याय व ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग है ।। १ ।।

दो०-श्रीमत्पातञ्जलिचरण, शीश नाय कर जोरि ।
भाषाबंध सुछन्द कर, साधनपाद बहोरि ।।
क्रियायोगके रूप अब, जानहु तीनि अनूप ।
तप स्वाध्याय और ईशको, दृढ प्रणिधानस्वरूप ।। १ ।।

क्रियायोगके तीन रूप हैं १ तप, २ स्वाध्याय, व ३ ईश्वरप्रणिधान ब्रह्मचर्य्य, गुरुकी सेवा, सत्य वचन, अपने आश्रमधर्ममें प्रवृत्त होना, साधन क्लेश सहना, नियम व तौलसे भोजन करना इत्यादि यह तप है. शरीरका सुखाना क्लेश देना मात्र तप नहीं है; धातुकी विषमतासे योग नहीं हो सकता क्योंकि धातुकी विषमतासे रोग आदि होनेमें चित्त एकाग्र नहीं होता. योग एकाग्रही चित्तमें होता है. इससे तप आदि उपाय हैं, जिससे रोग विघ्नोंका निवारण व योगका साधन होता है. प्रणव अर्थात् ॐ वा अन्य जो पवित्र ईश्वरके नाम हैं उनका जप वा मोक्ष शास्त्रका अध्ययन स्वाध्याय है. ईश्वरमें चित्त लगाना सब क्रियाओंका ईश्वरमें समर्पण करना कर्मके फलकी इच्छा न करना ईश्वरप्रणिधान है ।। १ ।।

अब क्रिया योगसे क्या प्रयोजन है वह वर्णन करते हैं :-

समाधिभावार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ।। २ ।।

समाधिकी भावनाके अर्थ व क्लेश क्षीण करनेके अर्थ ।। २ ।।

दो०-क्रियायोग पूरण भये, सिद्धी होत समाधि ।
क्लेशहु सूक्षम होत सब, सहज मिटत जगव्याधि ।। १ ।।

क्रियायोगसे समाधि प्राप्त होती है व सब क्लेश क्षीण होते हें इसलिय तपस्स्वाध्याय ईश्वरप्रणिधानरूप क्रियायोग करना चाहिये ।। २ ।।

अब जिन क्लेशोंकी निवृत्तिके लिये क्रियायोग करनेका प्रयोजन है वह वर्णन किये जाते हैं :—

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंच क्लेशाः ।। ३ ।।

अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश यह पांच क्लेश हैं।

दो०—अविद्यास्मिता राग अरु, द्वेष महाबलवान ।
अभिनिवेश मिल पांचहूं, क्लेश सकल दुखखान ।। ३ ।।

अविद्या आदि पांच विपर्यय हैं. यह कर्मबन्धनको दृढ़ करते हैं, परिणामको स्थापन करते हें. कर्मविपाक (कर्मफल) जाति आयु भोगरूप क्लेशके कारण होते हैं; परन्तु सब क्लेशोंका मूल कारण अविद्या है. अविद्याके नाश होनेसे अस्मिता राग द्वेष आदि सब नष्ट हो जाते हैं ।। ३ ।।

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ।। ४ ।।

प्रसुप्त तनु विच्छिन्न उदाररूप उत्तरवालोंका क्षेत्र अविद्या है ।। ४ ।।

दो०—एक अविद्या छांड़िकर, अस्मितादि जो चार ।
तिनके भेद प्रसुप्ततनु, और विछिन्न उदार ।।
सो०—सब क्लेशनको मूल, एक अविद्या जानिये ।
उपजावत सब शूल, क्षेत्रनुरूप स्वरूप धरि ।। ४ ।।

पूर्व सूत्रमें अविद्या आदि पांच क्लेश वर्णन किये हें. प्रथम अविद्या उसके पश्चात् अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश. उतर नाम पश्चात्का है, इससे उत्तरवालोंसे अभिप्राय अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेशसे है यह जो अविद्याके उतर अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश हैं इन सबकी क्षेत्र अर्थात् उत्पत्तिभूमि अविद्या है, अविद्या कारण है, यह सब कार्य हें. अस्मिता आदि ऐसे हैं कि प्रसुप्ततनु विच्छिन्न व उदार हैं अर्थात् प्रसुप्ततनु विच्छिन्न व उदार भेदसे वर्तमान रहते हैं जो योगी प्रकृतिमें विवेकरहित लय होते हैं उनके क्लेश प्रसुप्त (सोये हुएके समान) रहते हैं. उनके बीजका नाश विना ब्रह्मज्ञानके योगसे नहीं होता. जैसे सुषुप्त अवस्थामें इन्द्रिय व अर्थ सबका लय रहता है, ज्ञानशक्तिमात्र चेतनमें स्थित रहती है, जागनेपर फिर सब इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण होता है; इसी प्रकारसे प्रकृतिमें लय हुए योगियों के क्लेश चित्तमें प्रसुप्त रहते हें. जब उनका अवधिकाल आता है तब फिर प्रकट व प्रवृत्त होते हें. क्रियायोगमें विरुद्धपक्षके सेवनसे अर्थात् तप आदिके धारण करने व भावनासे क्लेश तनु (क्षीण निर्बल) होते हैं अर्थात् क्रियायोग करनेवाले योगियोंके क्लेश क्षीण होते हैं परन्तु सर्वथा उनका नाश नहीं होता और विषयी पुरुषोंके क्लेश

विच्छिन्न व उदार होते हैं. यथा–जिस समयमें राग होता है उस समयमें राग उदार व क्रोध क्षीण होता है जब क्रोध उदार होता है तब राग विच्छिन्न अर्थात् क्षीण होता है अर्थात् जिसमें प्रीति होती है उसमें प्रीति होनेके समयमें क्रोध नहीं होता. जिसमें क्रोध होता है उसमें प्रीति नहीं होती. कहीं कुछ क्रोध व कुछ प्रीति दोनोंका मेल रहता है इस तरह विषयी पुरुषोंके विच्छिन्न उदाररूप क्लेश होते हैं; क्योंकि जिस सांसारिक पदार्थमें राग होता है व उसमें सुख बोध होता है उसमें भी विकार व हानि होनेसे अंतमें दुःख होता है व जिसमें द्वेष (वैर या विरुद्धबुद्धि होना) होता है उसमें वर्तमानहीमें दुःख विदित होता है. इस तरह चार प्रकारसे अस्मिता आदिकों की स्थिति होती है. जिस मुक्ति अवस्थामें विवेक व ज्ञान से इन सबका नाश होता है वह अवस्था इनसे भिन्न है ।। ४ ।।

अब अविद्या आदि प्रत्येकके लक्षण पृथक् पृथक् वर्णन करते हैं :–

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।। ५।।

अनित्य अशुचि दुःख व अनात्मामें नित्य शुचि सुख आत्मा होनेकी बुद्धि अविद्या है ।। ५ ।।

दो०–अनितमें नित मान है, और अशुचिमें शुचि जान।
दुःखहूमें सुख मानता, देह आत्मा ज्ञान।।
होत विपर्यय ज्ञान इमि, तबहि अविद्या आय।
करत रहत उत्पात नित, विन वैराग्य न जाय।। ५ ।।

अनित्य आदिमें नित्य आदि वर्णन करनेके क्रमानुसार सूत्रका अर्थ व भाव यह है कि–भ्रमसे अनित्यमें नित्य, अशुचिमें शुचि, दुःखमें सुख और अनात्मा देह में आत्माका मानना अविद्या है. ख्याति शब्द जो सूत्रमें है उसका अर्थ कथन है परन्तु यहां अभिप्राय माननेसे है क्योंकि जैसा माना जाता है वा बोध होता है वही कहा जाता है, इससे बुद्धि अर्थ रक्खा गया है. अनित्य देवता सूर्य्य आदिको नित्य मानकर उपासना अथवा स्वर्गलोक सुखको नित्य जानकर उसकी प्राप्तिके लिये साधन उपाय करना यह अनित्यमें नित्य ख्याति है. आदि उत्पत्ति स्थानसे शरीरमें यह विचार करनेसे कि, प्रथम माताके उदरमें मूत्रसंयुक्त स्थानमें माताके रुधिर व पिताके वीर्यसे उत्पन्न होता है व वर्तमानमें मल पसीना कफ मूत्र विष्ठाका स्थान है महा अशुचि व निषिद्ध बोध होता है, ऐसे अशुचि शरीरमें ऊपरके मल जलसे धोये हुए सुगंध लगाये अलंकारवती कामिनीको देखकर यह मानना कि यह चंद्रमा ऐसी अमृतके समान है स्वाद जिसके अंगस्पर्शमें, नील कमलके पत्र ऐसे हैं नेत्र जिसके, हाव भाव कटाक्ष युक्त ऐसी कामिनीके संग बड़ा सुख है. इसी तरह पुरुषमें स्त्रीका मोहित होना भी जानना चाहिये. यह अशुचिमें शुचि ख्याति है. इसीके अंतर्गत अपुण्यमें

पुण्य तथा दुःखमें सुख माननेके अंतर्गत अनर्थमें अर्थ जान लेता चाहिये दुःखमें सुख मानना यह है कि, विचारनेसे जो संसारमें सुख है वह सब दुःखरूप है; क्योंकि जो वर्तमानमें सुख बोध होता है वहपरिणाममें ताप व संस्कार दुःख या गुणवृत्तियों के विरोधसे विवेककरनेवालोंको सब दुःखही विदित होता है. इसका वर्णन विस्तार से आगे किया जायगा. ऐसा सांसारिक दुःखरूपविषयमें सुख जानना दुःखमें सुख-ख्याति है, शरीरको या मनको चेतन मानना कि, शरीर व इन्द्रियहीके संयोग विशेषसे चेतनता रहती है. संयोगमें विकार होनेसे शरीर अचेतन हो जाता है शरीरसे भिन्न आत्माका मानना मिथ्या कल्पना है. अनात्मामें आत्माख्याति है. इन भेदोंसे अविद्या चार प्रकारसे होती है. विद्याके न होनेको अविद्या कहते हैं, परंतु अविद्या कहनेसे विद्याका सर्वथा अभाव न समझना चाहिये. केवल विद्याके विपरीत या सत्यज्ञानसे भिन्न भ्रमयुक्त ज्ञान जानना चाहिये; क्योंकि जो विद्याका अभाव माना जाय तो आत्मामें विद्या वा सत्य ज्ञानका होना ही असंभव होगा ॥ ५ ॥

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

दृग्दर्शन शक्तियोंकी एकात्मता (एकही आत्मा जानना) यही अस्मिता है ॥६॥

दो०–एक और दर्शन शक्तिको, एक भाव जब होय ।
तबहि अस्मिता जानिये, देत महादुख सोय ॥
एक शक्ती है पुरुषकी, दर्शन बुद्धी जोइ ।
एक आत्म जब होत दोउ, जान अस्मिता सोइ ॥ ६ ॥

दृक्शक्ति व दर्शनशक्ति इन दोनों शक्तियोंकी एकात्मता अर्थात् एकही स्वरूप जाननेको अस्मिता कहते हैं, यही महा दुखदाई है दृक्शक्ति पुरुष है व दर्शन-शक्ति बुद्धि है. भ्रम हो जानेके कारण बुद्धि सुख दुःख व पापकर्म आदि धारण करने का व भोग्य अर्थका कारण है. व आत्मा नित्य सुखी बंधरहित है. परन्तु इन दोनोंकी एकात्मता भासित होना अर्थात् एकही होनेके समान मानकर आत्माको यह मानना कि 'मैं पापी हूं, मैं दुःखी हूं' अज्ञानवश ऐसा बोध होना अस्मिता है. भोक्ताशक्ति पुरुष व भोग्यशक्ति बुद्धि है. आत्मा शुद्ध चेतन है बुद्धि जड़ भ्रमवश अशुद्ध है इससे दोनों भिन्न आत्मा हैं, इन दोनोंको एक आत्मा जानना अस्मिता है ॥ ६ ॥

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

सुखकी अभिलाषाका नाम राग है ॥ ७ ॥

दो०–सुख अभिलाषा राग है, तामें चित बस जाय ।
तब सुखहित नाना करम, धर्मअधर्म कराय ॥ ७ ॥

जो जो सुख पूर्वकालमें प्राप्त हो चुके हैं व जिस जिस पदार्थमें यह ज्ञान हुआ है कि, इससे सुख होता है अर्थात् यह सुखका साधन वा हेतु है. ऐसे सुख व सुखसाधन-

पदार्थ जाने हुएको जो उस सुखके स्मरण होनेपर उस सुखके होनेमें तथा उस सुख-साधन पदार्थके या उसके सजातीय पदार्थके प्रत्यक्ष होनेपर सुख होनेके स्मरणसे उसमें तृष्णा वा लोभ होता है उसको राग कहते हैं. यह सूत्रका फलितार्थ है, शब्दार्थ नहीं; क्योंकि भाषामें शब्दार्थ अनुवाद करने योग्य शब्द नहीं मिले, जो यह संशय हो कि जिस सुखका स्मरण हुआ उस सुखमें जो राग होता है वह तो स्मृतिपूर्वक होता है, परन्तु प्रत्यक्ष सुख होनेमें जो राग होता है उसमें स्मृतिकी अपेक्षा नहीं होती. इसका उत्तर यह है कि, जिस पदार्थसे सुख होता है उसके प्रत्यक्ष होनेपर यह ज्ञान होनेसे कि, पूर्वमें इसी जाति वा प्रकारका पदार्थ सुखका हेतु वा सुखका देनेवाला हुआ था; इससे यह भी सुखका हेतु है इस स्मृतिपूर्वक अनुमानसे उसकी इच्छा करता है इससे व न जाने हुएमें इच्छा तृष्णा वा प्रीति न होनेसे प्रत्यक्ष हुएमें भी स्मृतिपूर्वक राग कहना युक्त है व जिस समयमें जिससे व जो सुख प्राप्त हो रहा है उसमें तृष्णा वा इच्छा न होनेसे क्योंकि इच्छा अप्राप्तवस्तुमें होती है. राग होना नहीं कह सक्ते. इससे स्मृतिपूर्वक राग कहनेमें दोष नहीं है ॥ ७ ॥

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

दो०–दुखसाधनको देखकर, होत चित्तमें क्रोध।
द्वेषरूप सो जानिये, रहत नहीं कछु बोध ॥ ८ ॥

जो जो दुःख व जिससे दुःख पूर्वकालमें प्राप्त हुआ है उसके अनुस्मृतिपूर्वक (स्मरण होनेपर) दुःखमें या उसके साधनमें जो क्रोध होता है उसको 'द्वेष' कहते हैं. क्रोधके वश हो जानेसे उस समय कुछ ज्ञान नहीं रहता है (पूर्व सूत्र के समान इस सूत्रका भी फलितार्थ वा भावार्थ लिखा गया है) ॥ ८ ॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

जो मरण त्रास स्वरसवाही अर्थात् पूर्वजन्मके अनेक बार मरनेके दुःखके अनुभवसे उत्पन्न वासनासे आपहीसे वहनेवाला अर्थात् होनेवाला अज्ञानी व विद्वान् को भी उसी प्रकारसे होता है वह अभिनिवेश है ॥ ९ ॥

दो०–विदुषनकोहू मरणभय, रहत मूर्खके तुल्य।
स्वाभाविकही जानिये, मरण त्रास बाहुल्य ॥ ९ ॥

सम्पूर्ण जीवोंको जो मरनेका त्रास (भय) है उसको अभिनिवेश कहते हैं. सब जीव सदा जीनेकी इच्छा करते हैं; मरनेसे डरते हैं. यह मरणत्रास जिस तरह मूर्खको है उसी तरह विद्वान्को भी है. जो यह संदेह होवे कि मूर्खमात्रको मरणत्रास होना यथार्थ है, विद्वान्को ज्ञानसे दूर हो जाना चाहिये तो इस संदेह निवारणके लिये मरणत्रासको स्वरसवाही कहा है. स्वरसवाही होनेसे मूर्ख व विद्वान् दोनोंमें होता है.

स्वरसवाही अर्थात् स्वाभाविक अनेक जन्मके मरण दुःखके अनुभवसे उत्पन्न हुए वासनासमूहसे वहनेवाला मरणत्रास प्रवाह है. यह जबतक असंप्रज्ञात समाधिको प्राप्त हो जीव मोक्षको नहीं प्राप्त होता तबतक सब प्राणियोंको जैसे अति मूर्खको उसी तरह विद्वान्को मरनेका भय होता है. यह मरणत्रास अभिनिवेश क्लेश है. जो यह शंका हो कि मरणत्रास स्वरसवाही नहीं है अर्थात् पूर्वजन्मके मरण दुःखके अनुभवसे स्वाभाविक अपने ही प्रवाहसे नहीं बहता अर्थात् आपहीसे नहीं होता तो स्वाभाविक आपसे होनेके हेतुमें उत्तर यह है कि, यह प्रत्यक्षसे विदित होता है कि, उत्पन्न जो बालक है जिसको वर्तमान कालमें सुनने समझनेसे कुछ ज्ञान नहीं है वह भयानक मारनेवाले पदार्थको देख वा जानकर भयको प्राप्त हो रोने वा कांपने लगता है तथा अज्ञान जन्तुओंमें मरणभय देखकर पूर्व स्मरण दुःखका स्मरण अनुमान से सिद्ध होता है. नहीं, ऐसा भय होना असंभव है; अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेशको तम मोह महामोह तामिस्र अंधतामिस्र नामसे भी कहते हैं. प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप रस व गन्ध इन आठ अनात्माओंमें आत्मबुद्धि होनेको अविद्या वा तम कहते हैं. अणिमा महिमा गरिमा लघिमा प्राप्ति प्राकाम्य ईशित्व व वशित्व इन आठ ऐश्वर्यमें अहंभाव मानना कि, मैं छोटा हूं, मैं बड़ा हूं, मैं गुरु हूं, मैं हलका हूं. यह स्मिता वा मोह है. इस मोहसे दिव्य व अदिव्य भेदसे शब्द आदि दश विषयमें प्रीति होनेको राग वा महामोह कहते हैं. इन दश विषयोंके भोग प्राप्त होनेमें जो विघ्न होते हैं उनमें द्वेष होनेको तामिस्र कहते हैं. अणिमा आदि आठ व शब्द आदि दश इन अठारह मनोरथोंके नाश होनेके भयको अभिनिवेश वा अन्धतामिस्र कहते हैं ।। ९ ।।

अब यह जानना चाहिये कि क्लेश स्थूल व सूक्ष्म होनेके भेदसे दो विधके होते हैं क्रियायोगसे क्षीण हो सूक्ष्म हो जाते हैं व विषयभोगमें स्थूल व प्रबल रहते हैं. पहले सूक्ष्म क्लेशोंके नाशका उपाय कहते हैं :–

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ।। १० ।।

ते सूक्ष्म लय होनेसे त्यागके योग्य है ।। १० ।।

दो०–क्रियायोगते होत हैं, पञ्च क्लेश अति छीन ।
असंप्रज्ञात समाधिवश, होत मूलते हीन ।। १० ।।

ते अर्थात् पूर्वमें जे पांच क्लेश प्रसुप्ततनु विच्छिन्न उदार भेदसे वर्णन किये गये हैं वह विवेक (यथार्थ आत्मज्ञान व ब्रह्मज्ञान) रहित योग अभ्यास (क्रिया-योग-अभ्यास) करनेवाले योगियोंके भी सर्वथा नष्ट नहीं होते. प्रकृतिमें लय हुए योगियों में शक्तिमात्र प्रसुप्त रूपसे जैसा पूर्वही कहा गया है बने रहते हैं फिर जब उनका अवधिकाल विशेष आता है तब फिर अपने २ विषयोंमें सन्मुख होते हैं और प्रकृति

लीन न हुए योग अभ्यास करनेवाले योगियोंमें भी विरुद्ध पक्ष जो योग अभ्यास है उससे क्लेश क्षीण व निर्बल रहते हैं, परन्तु उनका नाश नहीं होता यह जो क्लेश सूक्ष्म बीजरूप बने रहते हैं इनके त्याग होने वा नाश होनेका उपाय क्या है वह इस सूत्रमें वर्णन किया है कि तेजस्सूक्ष्मरूप क्लेश है वह लय होने से अर्थात् चित्तके लय (नाश) होनेसे त्यागके योग्य है. अन्य उपाय नहीं है; चित्तके लय होनेमें चित्तके साथही सब क्लेशोंका नाश हो जाता है. इसका अभिप्राय यह है कि, जब विवेक ख्यातिसे यथार्थ आत्मज्ञान होता है व अविद्याका अभाव होता है, तब चित्तका आत्मामें लय होता है चित्तके लय होनेमें जो क्लेश सूक्ष्म रूप बीजभावसे रहते हैं उनका भी अर्थात् सर्वथा क्लेशोंका नाश हो जाता है दुःखका लवलेश भी नहीं रहता और मोक्षके विशेष सुखको पाता है ॥ १० ॥

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

वे वृत्तियां ध्यानसे त्यागने योग्य हैं ॥ ११ ॥

दो०-क्रियायोगते सूक्ष्मकर, क्लेशवृत्ति हैं जोइ ।
प्रसंख्यानके ध्यानसों, दग्धबीजसम होइ ॥ ११ ॥

वे वृत्तियां जो स्थूल सुख दुःख मोहात्मिका हैं वे ईश्वरके ध्यानसे (ध्यान-द्वारा) त्यागने योग्य हैं जैसे लोकमें बहुत मैले वस्त्रको पहिले फींचकर धोते हैं फिर जब कुछ मैल कम हो जाता है तब साबुन लगाकर यत्नसे धोते हैं और जो मैल वस्त्र के सूतके अंतर्गत (भीतर)हो गया है उसका सर्वथा नाश वस्त्रके नाश होनेपर होता है. इसी तरह क्रियायोगसे अति सघन क्लेश विरल होते हैं अर्थात् बहुतसे कम होते हैं. फिर वह ध्यानसे क्षीण वा सूक्ष्म होते हैं व जब सूक्ष्म चित्तका नाश होता है तभी वे नाशको प्राप्त होते हैं अन्यथा नहीं होते ॥ ११ ॥

क्लेशमूलकर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

क्लेश है मूल जिसके ऐसा कर्माशय दृष्ट व अदृष्ट जन्म वेदनीय भेदसे दो प्रकारका होता है ॥ १२ ॥

दो०-आशय धर्म अधर्मको, क्लेशमूल तिहि जान ।
इहामुत्रमें जन्मप्रद, दृष्टादृष्ट प्रमान ॥ १२ ॥

धर्म अधर्म पुण्यरूप पापरूप कर्माशयसे काम क्रोध लोभ व मोह उत्पन्न होते हैं. इनके विषय जब प्राप्त नहीं होते अथवा प्राप्त होनेपर नष्ट हो जाते हैं तबही महादुःखदाई क्लेश उत्पन्न होते हैं, इसलिये कर्माशयको क्लेशोंकी मूल जानना चाहिये इसी प्रकारसे मोहादिक अर्थात् काम क्रोध लोभ मोह जितने हैं वे सब मोक्ष के बंधन और दुःखके देनेवाले हैं; कर्माशय पुण्य पापकी खान है. कर्माशय दो प्रकार का होता है एक दृष्टजन्मवेदनीय व दूसरा अदृष्टजन्मवेदनीय. दृष्टजन्मवेदनीय वह

है, जो इसी वर्तमान जन्ममें जानने योग्य हो या जाना जाय. अदृष्टजन्मवेदनीय वह हैं जो, जन्मान्तरमें जानने वा होनेके योग्य होवे, अत्यंत प्रवृत्त होनेसे मंत्र तप समाधिद्वारा ईश्वर देवता महर्षियोंके आराधनसे जो सिद्धि प्राप्त होती है वह शीघ्रही (तुरतही) फलको देती है. यह पुण्य कर्माशय है और तपस्वी महात्माओंके अपकार अनादर करने आदिमें अत्यंत प्रवृत्त होनेसे पापरूप कर्माशयसे जल्दी दण्ड फल मिलता है. यथा पुण्यकर्म ईश्वरआराधनसे ज्ञान सिद्धि विभूति वर्तमानही शरीरमें प्राप्त होती हैं व अधर्म आचरणसे क्लेश ग्लानि रोग निरादर वर्तमानही शरीरमें प्राप्त होते हैं, यह धर्माधर्म पुण्य अपुण्य रूप कर्माश दृष्टजन्म वेदनीय है. अथवा यह भी दृष्टांत हो सक्ता है कि जैसे पुण्यकर्मसे नन्दीश्वर अत्यंत मंत्र तप समाधिद्वारा ईश्वर आराधनसे वर्तमान ही शरीरमें देवता होकर दीर्घायु (बड़ी उमर) को प्राप्त हो, दिव्य भोगको लाभ किया तथा पापकर्माशयसे अपराध करनेसे महर्षिके शापसे राजा नहुष सर्पयोनिको प्राप्त हुआ यह दृष्टजन्मवेदनीय है. और अदृष्टजन्मवेदनीय यह है कि यथा धर्मसे स्वर्ग व अधर्मसे नरक शरीरके नाश होनेके अनन्तर होना आप्तवाक्य से जाना जाता है ॥ १२ ॥

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

मूल होनेमें अर्थात् मूलरूप क्लेशोंके होनेमें उसका (कर्माशयका) फल जाति (जन्म) आयु (उमर) व भोग होता है ॥ १३ ॥

दो०-क्लेशमूल धर्माधरम, तिहि विपाक फल तीन ।
जाति आयु और भोगकर, जानहि परम प्रवीन ॥ १३ ॥

क्लेश मूल होनेमें कहनेसे अभिप्राय यह है कि, क्लेशोंके मूल होने अर्थात् आदिमें कारण होनेके अनन्तर क्लेश या क्लेशोंसे उत्पन्न जो कर्माशय होता है उसका फल जन्म आयु व भोगरूप होता है, क्लेशमूलरहित कर्माशय फलआरंभक (उत्पन्न करनेवाला) नहीं होता, जैसे जो अग्निसे दग्ध नहीं होता वह छिलका सहित धान जमता है और जो छिलकारहित अथवा दग्ध (आगसे भुजा हुआ) हो जाता है वह नहीं जमता. इसी तरह क्लेशमूल कर्माशय जिसका संस्कारबीज असंप्रज्ञात समाधि व ज्ञानअग्निसे दग्ध नहीं हुआ वही जाति (जन्म) आयु व भोगरूप विपाकका कारण होता है, जातिसे देवता मनुष्य तिर्य्यक् आदि उत्कृष्ट निकृष्ट योनियां होने व आयुसे नियत न्यून अधिक कालतक देह व प्राणके संयोग रहनेसे व भोगसे इन्द्रियोंसे (इन्द्रियोंके द्वारा) विषय लाभ करने व दुःखसुख प्राप्त होनेसे अभिप्राय है यही कर्माशयके फल हैं । अब यह विचार किया जाता है, कि एक कर्म एक जन्मका कारण होता है या एक कर्म अनेक जन्मोंका कारण होता है, अथवा अनेक कर्म एक जन्मके कारण होते हैं, अर्थात् जन्मको प्राप्त करते हैं ? विचारनेसे एक एक जन्मका कारण

होना संभव नहीं होता क्योंकि अनादिकालसे पूर्व जन्मोंसे किये गये कर्मोंमेंसे जो कर्म शेष (बाकी) रहे हैं और वर्तमान कर्म जो हैं इनके फलके क्रमके नियमका अभाव सिद्ध होनेसे यह सत्य होना अंगीकार नहीं हो सक्ता, तथा एक कर्म अनेक जन्मोंका कारण मानना यथार्थ नहीं है; क्योंकि जो एक एक कर्म अनेक जन्मोंके कारण माने जावेंगे तो बाकी रहे हुए कर्मोंके फल प्राप्त होनेके लिये कोई काल नहीं हो सक्ता अर्थात् कोई समय नहीं मिल सक्ता और एक या अनेक कर्मोंका अनेक जन्मोंका कारण होना असंभव है, क्योंकि अनेक जन्म एक साथ नहीं होते, इससे एक ही साथ अनेक जन्मका कारण होना माननेके योग्य नहीं है इस तरह विचारके अनन्तर निर्णयसे यह सिद्ध होता है, कि जन्मसे लेकर मरणतकके कालमें किये हुए पाप पुण्य कर्म समूह कर्माशय विचित्र फलरूपसे अर्थात् कोई कर्म जल्द फल करनेवाले कोई विलंबसे फल करनेवाले व कोई दीर्घकालमें फल करनेवालोंसे संस्कार स्थित होता है. इस पाप पुण्य कर्माशयकी अवस्थामें जब शरीरका त्याग होता है. तब सम्पूर्ण मरण काल तक के जो कर्म हैं एक साथ मिलकर एक जन्मविशेषको करते हैं, अर्थात् सम्पूर्ण मरण समयतकके कर्मोंसे कोई जन्म विशेष होता है । उस जन्ममें पूर्वजन्मकृत कर्मोंका भोग होता है इसी तरह मुक्त होनेतक कर्म जन्मभोग संस्कार बना रहता है । और यह कर्माशय जन्म आयु भोग तीन प्रकारका फल देता है, इससे इसको त्रिविपाक कहते हैं व एक जन्म भोगके हेतु होनेसे एक भविक नामसे भी कहा जाता है. इस त्रिविपाकके दो भेद हैं; एक नियतविपाक व द्वितीय अनियतविपाक. दोनोंसे केवल नियत विपाक दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशयके एक भविक होनेका नियम है अर्थात् जिस कर्माशयका फल नियत है वही त्रिविपाकरूप एक भविक होता है । किसी जन्म विशेष आदि फलका कारण होता है । अनियत विपाक अदृष्टजन्मवेदनीय त्रिविपाकरूप एक भविक नहीं होता. अनियतविपाककी तीन तरहकी गति होती है, एक यह है कि, जो कृत पाप विशेष नहीं है अर्थात् न्यून है उसका पुण्यकर्मविशेषसे नाश हो जाता है. जैसा श्रुतिमें कहा है, कि अति शुक्लकर्मसे अर्थात् पुण्यकर्मसे कृष्णकर्म (पापकर्म) का नाश होता है. श्रुति यह है—"द्वे द्वे ह व कर्मणी वेदितव्ये पापकस्यैको राशिः पुण्यकृतोपहन्ति तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुमिहैव कर्म कवयो वेदयन्ते ।" अर्थ—पापी पुरुषके दो प्रकारके अर्थात् कृष्णशुक्ल कर्म होते हैं, उन पापी पुरुषोंके कर्मोंको पुण्यकृत् राशि अर्थात् पुण्यसमूह नाश करता है तिससे पुण्य कर्मोंके करनेकी इच्छा करो. इस संसारमें विद्वान् जन सुकृतहीको कर्म व उत्तम जानते हैं. कर्म तीन प्रकार का कहा गया है कृष्ण (पाप) व कृष्णशुक्ल (पाप व पुण्य मिला हुआ) व शुक्ल (केवल पुण्य) इससे कहा है कि, कृष्ण (पाप) व कृष्णशुक्ल (पापपुण्य) केवल पुण्यसमूहसे नाशको प्राप्त होते हैं. दूसरा यह है कि, प्रधान (मुख्य) पुण्यकर्ममें जो

न्यून पाप कर्म कुछ मिल जाता है वह प्रायश्चित्त परिहारसे नष्ट हो सक्ता है व प्रधान पुण्य कर्मको या उसके फलको बाधा नहीं कर सक्ता। तीसरा यह है कि, नियत विपाक (नियत फलदायक प्रधान कर्म) से तिरस्कारको प्राप्त जो नष्ट भी नहीं होता बीजमात्र बहुत कालतक बना रहता है वह प्रधान कर्मके विपरीत अपना कुछ फल नहीं कर सक्ता. जब अन्य निमित्तकी सहायता अपने अनुकूल पाता है तब फल करता है. इससे अर्थात् अनियत विपाकके न्यून होनेसे व पुण्य कर्म के उदयसे नष्ट हो जानेसे अथवा प्रधान कर्ममें मिल जानेमें कुछ अपना फल न कर सकने व प्रायश्चित्तके योग्य होनेसे अथवा नियतविपाक प्रधान कर्मसे तिरस्कारको प्राप्त बीजमात्र बहुत काल तक रहनेसे अनियतविपाक अदृष्टजन्म वेदनीयके एक भविक होनेका निषेध किया है व केवल नियत विपाक दृष्ट जन्म वेदनीयके एक भविक होनेका नियम कहा है इस प्रकारसे कर्म गति विचित्र व दुर्विज्ञेय (कठिनतासे जाननेके योग्यवर्णन की गई है ।। १३ ।।

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ।। १४ ।।

ते पुण्य वा पापहेतुक होनेसे आनन्द व दुःख फलवाले हैं ।। १४ ।।

दो०–जाति आयु और भोगचय, देत हर्ष परताप ।
पुण्य हर्षप्रद जानिये, पापमहादुखदाय ।। १४ ।।

जो पूर्वसूत्रमें वर्णन किये जाति आयु व भोग हैं वह जो पुण्य हेतुसे हैं अथवा होते हैं वह सुख फलवाले हैं वा होते हैं और जो पाप कर्म हेतुसे (कारणसे) हैं या होते हैं वह दुःख फलवाले हैं वा होते हैं ।। १४ ।।

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुखः मेव सर्वं विवेकिनः ।। १५ ।।

परिणाम ताप व संस्कार दुःखोंसे व गुणवत्तियोंके विरोधसे विवेकियोंको सब दुःखही है ।। १५ ।।

दो०–विषयनमें सुख लसैं, दुःखरूप सब जान ।
परिणामताप जिहि सुखमें, ताहि दुःखकर मान ।।
मूढ़नको तो विषय सब, सुखसमान कर भास ।
ज्ञानीजनको जगत सुख, दुखसम करत प्रकाश ।। १५ ।।

पूर्वमें स्थूल सूक्ष्म क्लेश वृत्तियोंको हेय (त्यागने योग्य) वर्णन किया है. अब यह संदेह होता है कि, जो पापहेतुक हैं जिनका फल दुःख है उनको हेय कहना उचित है, परन्तु जो पुण्यहेतुक हैं जिनका फल सुखभोग है उनको क्यों हेय अर्थात् त्यागने योग्य कहा है यह न कहना चाहिये, इस संदेह निवारणके लिये इस सूत्रमें

यह कहा है कि;- विवेकियोंको जिस विषयसुखको विषयी अज्ञानी पुरुष सुख समझते हैं वह सुख भी विचारनेसे दुःख ही बोध होता है, अर्थात् जितना विषयभोग सुख है वह ऐसा नहीं है कि, विचारसे दुःखरूप विदित नहोवे, इससे दुःखही है सुख मानना भ्रममात्र है. क्यों दुःख है ? यह जाननेके लिये सूत्रमें यह वर्णन किया है कि परिणामताप व संस्कारदुःखोंसे अर्थात् परिणाम दुःख व ताप दुःख व संस्कार दुःखोंसे तथा गुण वृत्तियोंके विरोधसे दुःख होनेसे विवेक करनेवालोंको सम्पूर्ण सांसारिक सुख दुःखरूपही है. अब परिणाम आदि दुःखोंके जाननेके लिये सुख व दुःखके लक्षणपूर्वक प्रत्येकका पृथक् २ वर्णन किया जाता है. प्रथम यह जानना चाहिये कि सुख (सांसारिक व विषयसुख) व दुःखके लक्षण क्या हैं लक्षण यह हैं कि भोगोंमें तृप्ति होनेसे अर्थात् तृष्णाकी निवृत्ति होनेसे जो इन्द्रियोंका शांत होना है वह सुख है. व जिसके लिये तृष्णा है उसके प्राप्त न होनेसे अथवा प्राप्त प्रियपदार्थके नाश व वियोग होनेसे तथा जो हित नहीं है या जिसमें द्वेष है उसके प्राप्त होनेसे जो इन्द्रियोंमें अशांतता व्याकुलता होती है वह दुःख है. अब परिणाम आदि दुःखोंके भेद यह हैं कि रागसे जिस विषयभोगमें प्रवृत्ति होती है उसमें भोग होनेके समयमें जो सुख विदित होता है वह अंतमें दुःख प्राप्त होनेका कारण होता है इससे विषयी पुरुषोंको अविद्या (अज्ञानता) से यद्यपि वह सुख प्रतीत होता है, परंतु विवेकदृष्टिसे परिणाममें दुःखका मूल होना जानकर योगीजन सुख होनेके अवस्था वा समयमें भी इसको क्लेशही जानते हैं यह परिणामदुःख है. परिणाम दुःखके उदाहरण यह हैं यथा रागसे विषयकी इच्छा करते हुए को जिस क्षणमें वह विषय प्राप्त होता है व तृप्ति होती है व रहती है उसी क्षण वा समयमात्रमें सुखकी स्थिति रहती है उसके निवृत्त होनेके अनन्तर फिर उसी विषय व अन्य विषयके भोगमें तृष्णा होती है. भोगके अभ्याससे तृष्णा व निवृत्ति नहीं होती, किन्तु तृष्णा अर्थात् रागकी वृद्धि होती है रागके बढ़नेसे अनेक मनोरथ होते हैं. अनेक मनोरथ करते हुएको जो मनोरथ पूर्ण नहीं होता अर्थात् इष्टपदार्थ प्राप्त नहीं होता उसमें दुःख अवश्य होता है. इस तरह विषयसुख व भोगका अभ्यास परिणाममें दुःखका हेतु (कारण) होता है और मुख्य अभिप्राय परिणाम दुःख होनेसे यह है कि, रागके बढ़नेसे मनोरथ पूर्ण होनेके लिये धर्म अधर्म कर्म करता है उससे परिणाममें संसार बंध अर्थात् जन्ममरण दुःख भोग फल प्राप्त होताहै अथवा जो विचाररहित अज्ञानसे इच्छानुसार अनुचित आचरण व विषयभोग करता है. यद्यपि उसमें भोगसमयमें उसको सुख होता है, परन्तु अंतमें वह दुःखका कारण होता है अर्थात् उससे व्याधि दण्ड आदि जन्य दुःख प्राप्त होता है यह परिणाम दुःख है अथवा जिस विषयमें भोगसमयमें सुख विदित होता है व सुखका साधन है वह अंतवान् है, उसके साथही नाश होनेका भय लगा है नाशभयसे परिणाम

में दुःखही है इत्यादि जो दुःखके साधन चेतन या अचेतन पदार्थ हैं अर्थात् दुःख देनेवाले हैं उनसे जो क्लेश होता है अथवा जो उनके नाश करने वा पीड़ा देनेमें धर्म अधर्म कर्म लोभ मोहसे कर्ता है और वह परिणाममें बंध व पीड़ाका कारण होता है यह ताप दुःख है तथा सुख भोग वा इच्छा विरुद्ध अहित पदार्थमें द्वेष होता है व उससे वर्तमानही समयमें ताप होता है व क्रोधसे उसके नाश करने व पीड़ा देने आदिमें मोहसे अनुचित आचरण करता है व उससे परिणाममें क्लेश फल प्राप्त होता है यह तापदुःख है पूर्व हुए सुख दुःखके स्मरणसे फिर किसी उस सुख या दुःख साधन पदार्थमें राग व द्वेषसे प्राप्त होने या नाश करनेके प्रयत्नमें जो पुण्य पाप कर्म कोई प्राणी करता है व उससे जन्ममरण सुख दुःखरूप कर्म फल जो तत्त्वदृष्टिसे केवल दुःखरूप है प्राप्त होता है व इसी तरह जो संस्कारसे दुःखका सोता वा प्रवाह चलता है यह संस्कार दुःख है यह दुःख योगीहीको जान पड़ते हैं. जैसे कोमल नेत्रमें ऊर्णतन्तु (ऊन) क्लेशसे विदित होता है अन्य कठोर अंगोंमें नहीं होता इसी प्रकारसे जिनके चित्त विचारकी कोमलतासे रहित कठोर हैं. ऐसे विषयासक्तोंको इन दुःखोंका ज्ञान नहीं होता. योगियोंको यह बोध होता है कि, सम्पूर्ण विषयभोग विष मिली हुई मिठाई है कि, खानेके समय में अच्छा स्वाद जान पड़ता है, परन्तु पीछे दुःख व शरीरका नाश होना यह फल होता है, इसी तरह विषय भोग करनेके समयमें सुख होता है पर अंतमें क्लेशही प्राप्त होता है. इन औपाधिक दुःखोंके वर्णन करनेके अनन्तर स्वाभाविक दुःखों को कहा है कि, गुणवृत्तियोंके विरोध से दुःख होने से सब दुःख हैं. गुणवृत्तियोंके निरोधसे दुःख होना यह है कि, सत्त्व रज व तम ये गुण हैं व सुखात्मक व दुःखात्मक व मोहात्मक प्रत्यय बोध यह आरंभ करते हैं यही इनकी वृत्तियां हैं व धर्म वैराग्य ऐश्वर्य अज्ञान अधर्म अवैराग्य (राग) अनैश्वर्य व ज्ञान यह सत्त्व आदि गुणोंके रूपभेद हैं. इन गुणवृत्तियोंके परस्पर विरोध होनेसे दुःख होता है, क्योंकि गुणवृत्तियां चंचल हैं. चलायमान होनेसे चित्तकी प्रवृत्ति कहीं अधर्ममें होती है, फिर अधर्मसे विमुख हो धर्ममें होती है ऐसे विरोधसे चित्तहीमें पश्चात्ताप ग्लानि आदिसे दुःख प्राप्त होता है तथा स्त्री मित्र आदि जिसमें प्रीति होती है व जिसको सुख साधन समझता है उसमें व अपने गुणवृत्तियोंमें विरोध होनेसे दुःख होता है; अथवा गुणवृत्तियोंके अनुसार जो मनोरथ है उसके विरुद्ध होनेमें दुःख होता है अथवा किसी अनुचित आचरणमें इच्छा होती है व दोष विचारनेसे संकोच तथा भय होनेके विरोधसे अभिलाषा पूर्ण न होनेमें दुःख होता है. इस तरह विवेक करनेवालोंको परिणाम आदि दुःखोंसे मिला हुआ सब सांसारिक सुख दुःखही है ऐसा बोध होता है इससे सांसारिक विषयसुख त्यागने योग्य है. अब यह जानना चाहिये कि, जैसे चिकित्सा शास्त्रमें रोग व रोगहेतु (रोगका कारण) और

आरोग्य व आरोग्यहेतु (आरोग्यका कारण) भैषज्यचतुष्टयका वर्णन है इसी प्रकार से इस शास्त्रमें हेय (त्यागने योग्य अर्थात् दुःख) हेय हेतु (दुःखका हेतु) मोक्ष व मोक्षके उपायका वर्णन है. दुःखमय संसार हेय है. माया व पुरुषका संयोग जो संसार का हेतु है वह हेयहेतु है; माया पुरुषके संयोगकी अत्यंत निवृत्ति होना अर्थात् दोनोंका अत्यंत वियोग होना मोक्ष है और ज्ञान मोक्षका उपाय है ।। १५ ।।

अब हेय क्या है यह आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं :—

हेयं दुःखमनागतम् ।। १६ ।।

आनेवाला दुःख हेय है ।। १६ ।।

दो०–होनहार जो दुःख हैं, ताको करहि उपाइ ।
मूलनाश तिनको करहि, पुनि प्रकटैं नहिं आइ ।। १६ ।।

जिस दुःखका भोग हो चुका वह व्यतीत होनेसे हेय नहीं हो सक्ता, जिसका भोग हो रहा है भोग समयमें उसका भी त्याग नहीं हो सक्ता है इससे जो आनेवाला दुःख है वही हेय (त्यागने योग्य) रहता है, उसका प्रथमसे मन लगाके ऐसा यत्न करना चाहिये जिसके द्वारा दुःखोंकी मूलनाश हो जाय और फिर अंकुरित न हो ।। १६ ।।

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ।। १७ ।।

द्रष्टा व दृश्यका संयोग हेयहेतु है ।। १७ ।।

दो०–पुरुष और परधानको, जो संयोग विचार ।
होत सकल अज्ञान वश, हेय हेतुको सार ।। १७ ।।

द्रष्टा जो जाननेवाला चेतन पुरुष है व दृश्य जो ज्ञेय (जानने योग्य) त्रिगुणात्मक प्रकृतिके कार्य्यभूत इन्द्रियरूप भोगके विषय हैं उनका संयोग हेय हेतु है अर्थात् दुःखका कारण है ।। १७ ।।

अब दृश्यका जैसा रूप है कहा जाता है, उसको विचार करके हृदयमें धारण करनेसे संपूर्ण दुःख मिट जाते हैं इसलिये उसका लक्षण यहां वर्णन करते हैं :–

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं
भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ।। १८ ।।

जो प्रकाशस्वभाव (ज्ञानस्वभाव) क्रियास्वभाव स्थितिस्वभावरूप अर्थात् सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण रूप भूत व इन्द्रियात्मक है और भोग व अपवर्ग (मोक्ष) के निमित्त है वह दृश्य है ।। १८ ।।

दो०–सत्व रज तम दृश्य हैं, प्रकाश क्रिया थित जान ।
भूतेन्द्रियकी आत्मा, भोग मोक्ष हित मान ।। १८ ।।

इस सूत्रमें प्रकाश शब्द का अर्थ बुद्धि वा ज्ञान है वह शील शब्द जो, संस्कृत

सूत्र वाक्यमें है उसका अर्थ स्वभाव रक्खा गया है. सत्त्व गुणका स्वभाव प्रकाश (बुद्धि) व रजोगुणका स्वभाव क्रिया है और प्रकाश व क्रिया दोनोंसे रहित होने अर्थात् अज्ञानता व जड़ताको स्थिति कहते हैं. यह स्थिति तमोगुणका स्वभाव है, इससे सत्त्वगुणको प्रकाशस्वभाव, रजोगुणको क्रियास्वभाव और तमोगुणको स्थिति-स्वभाव नामसे महर्षि सूत्रकारने वर्णन किया है. सत्त्वगुणमें कोमलता व बुद्धिस्वभाव होनेसे तापकी प्राप्ति होती है. रजोगुण ताप करनेवाला है. इन दोनोंके तप्य व तापक होनेमें तमोगुणसे मोह होता है जिससे पुरुष (आत्मा) यह मानता है कि, 'मैं तापमें हूं, मुझे यह ताप है' इत्यादि. यह तीनों गुण एक दूसरेके सम्बन्ध व सहायता सहित अविवेकीको भोगने योग्य व विवेकीको त्यागने योग्य होते हैं. जब यह तीनों गुण विभागरहित समताको प्राप्त होते हैं, एक दूसरेमें भेद होनेका ज्ञान नहीं होता. उस समय या अवस्थामें यह प्रधान या प्रकृतिशब्दसे वाच्य होते हैं अर्थात् तीनों सम होनेकी अवस्थामें एकरूप होनेसे प्रधान या प्रकृति शब्दसे एक नामसे कहे जाते हैं. ऐसा प्रकाश क्रिया और स्थिति स्वभाववाले तीनों गुणोंका समुदायरूप प्रधान जो कार्य्यरूपसे भूत व इन्द्रियात्मक है अर्थात् भूत जो पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश हैं और पांच ज्ञान इन्द्रिय व पांच अकर्मेन्द्रिय यह दश बाह्य इन्द्रिय और बुद्धि अहंकार मन चित्त अन्तःकरण इन्द्रिय हैं इन भूत व इन्द्रियात्मक है अर्थात् इन भूत व इन्द्रियोंके स्वरूपसे विद्यमान हैं और जो भोग व अपवर्गके निमित्त है अर्थात् रजोगुण तमो-गुण मिश्रित सत्त्वगुण व रजोगुण व तमोगुणसे भोगके निमित्त और सत्त्वगुणमात्र ज्ञानरूपसे अपवर्ग (मोक्ष) के निमित्त हैं वह दृश्य हैं. बुद्धिही भोग व अपवर्गका कारण है पुरुष दृश्य संयोगसे मोहमात्रमें अपनेको बंध व मोक्षमें मानता है. जो यह संदेह होवे कि, बन्ध व मोक्ष बुद्धिमें होता है. पुरुष क्यों मुक्त कहा जाता है ? इसका उत्तर यह है कि, यथा—राजाके सेवक योद्धा युद्धमें जय व पराजयको प्राप्त होते हैं व नाम राजाका कहा जाता है. तथा बुद्धिमें मोहविकारसे बन्ध व ज्ञानसे मोक्ष होनेमें पुरुष का बन्ध व मोक्ष कहा जाता है अर्थात् जब बुद्धि विकार जो रजोगुण तमोगुणकृत विषय हैं उनमें मोहित होती है तब पुरुष बद्ध कहा जाता है और जब केवल सतोगुणी ज्ञानका प्रकाश बुद्धिमें होता है तब पुरुष मोक्ष कहा जाता है ।। १८ ।।

अब गुणोंके परिणाम भेद वर्णन करते हैं :—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ।। १९ ।।

विशेष अविशेष लिङ्गमात्र और अलिङ्ग ये गुणके पर्व (परिणाम) हैं ।। १९ ।।

दो०—विशेष और अविशेष पुनि, लिंग अलिंग सुचार ।
पूर्व कथित सब गुणनके, ते परिणाम विचार ।। १९ ।।

गुणपरिणाम भेदसे चार प्रकारके होते हैं–विशेष, अविशेष, लिंगमात्र और अलिंग अब इनका पृथक् २ व्याख्यान किया जाता है. पांच भूत व ग्यारह इन्द्रियों की सृष्टि क्रिया व्यापार व स्थूलकार्य्य रूप पदार्थ होनेमें विशेषता हैं, इससे इनकी विशेष संज्ञा है अर्थात् आकाश, वायु, तेज, जल व पृथिवी यह पांच भूत शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गंध इन पांच तन्मात्राओंके विशेष स्थूल कार्य्य हैं. इसी प्रकारसे पांच ज्ञानेन्द्रिय श्रोत्र (कान), त्वचा (चमड़ा), नेत्र, जिह्वा व नासिका और पांच कर्मेन्द्रिय वाक्, हस्त, पाद, गुदा व लिंग ये दश बाह्य इन्द्रिय व ग्यारहवां अन्तर इन्द्रिय मन यह अस्मिता लक्षणरूप (अहंकार) के विशेष कार्य हैं इससे यह सोलह गुणोंके विशेष परिणाम हैं. अहंकार व पांच तन्मात्रा शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध ये छः अविशेष हैं. ये छः महत्तत्वके कार्य हैं. सत्तामात्र महतत्त्व हैं. उस सूक्ष्मरूप महत्तत्व का कार्य अहंकार व अहंकारके कार्य शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध हैं. महत्तत्वके मुख्य होनेसे यह छहों महत्तत्वके परिणाम अविशेष नामसे कहे जाते हैं. इनकी अविशेष संज्ञा इससे है कि, सूक्ष्म रूप स्थूल पदार्थोंके कारण वा प्रकृति हैं. विकाररूप स्थूल होनेमें इनकी विशेषता नहीं है अथवा इन छःसे शांत घोर व मूढ़ होनेके लक्षण विशेष नहीं होते, इससे यह अविशेष व पूर्वोक्त सोलह गुण परिणामोंमें यह लक्षण विशेष होनेसे वह विशेष कहे जाते हैं. प्रधानके आद्य (सबसे पहिले हुआ) परिणाम महत्तत्व की लिंगमात्र संज्ञा है. इसका विशेष व्याख्यान यह है कि, चेतन पुरुषके साथ प्रकृति के संयोग होनेसे जो सबसे प्रथम बुद्धिरूप परिणाम होता है उसको महत्तत्व कहते हैं. महत्तत्वही पुरुषार्थक्रिया (पुरुषार्थनिमित्त क्रिया) में समर्थ होता है. जबतक महत्तत्व परिणाम नहीं होता तबतक प्रकृति पुरुषार्थक्रिया (सृष्टि रचना) में समर्थ नहीं हो सक्ती. महत्तत्वके परिणाम वा विकार अविशेष व अविशेषोंके विकार विशेष क्रमसे सृष्टिकी उत्पत्तिमें होते हैं व लय होनेके समयमें इसी विरुद्ध क्रमसे अर्थात् कार्य वा विकाररूप परिणाम अपने अपने कारणोंमें लयको प्राप्त होकर क्रमसे महत्तत्वमें लीन होते हैं. महत्तत्वसहित फिर सब प्रकृतिमें लीन होते हैं. सूक्ष्मरूप प्रकृतिका केवल अस्तित्वमात्र अनुमानसे सिद्ध होता है; क्योंकि विना कुछ प्रकृतिरूप सत माननेके असतसे कुछ संभव नहीं है. परंतु उपादान होने मात्रसे प्रकृतिको कारणत्व माना जाता है. स्वाधीनतासे कार्य उत्पन्न करनेमें कारण नहीं है. पुरुषार्थक्रियामें महत्तत्वके समर्थ होने व कार्य्य (विकार) रूप परिणामोंमें सबसे प्रथम परिणाम व कार्य लिग मात्र होने व उसके अनन्तर अन्य परिणामों (कार्य्यों) से वृद्धि क्रम होनेसे महत्तत्वकी लिंगमात्र संज्ञा है. प्रकृतिके सूक्ष्म सामग्रीरूप मात्रसे रहने व पुरुषके संयोगसे विना महत्तत्व परिणामके हुए किसी कार्यका कारण वा कार्यलिंग न होनेसे प्रकृतिकी अलिंग संज्ञा है अर्थात् प्रकृति अलिंग नामसे कही जाती है. वह गुणोंके

पूर्व (परिणाम) अवस्थाके चार भेद हैं. यह गुण सब प्रकृति (माया) के परिणाम हैं. पुरुष इनसे भिन्न है. सांख्यदर्शन प्रकृतिसे लेकर स्थूल भूतोंतक कारण व कार्य-भेदसे चौबीस गुण वर्णन किये हैं व पचीसवां पुरुषको कहा है. पचीस गुणोंका विभाग यह सत्त्व, रज, व तम इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्था अर्थात् तीनोंकी एक सम अवस्थाको प्रकृति कहते हैं. प्रकृतिको सृष्टिके उपादान कारण होनेसे मुख्य मानकर प्रधान व व्यक्त न होनेसे अव्यक्त नामसे भी कहते हैं. प्रकृतिसे महत्तत्त्व कार्य, जैसा ऊपर वर्णन किया गया है, होता है. महत्तत्त्व (बुद्धि) का अनित्य व कार्य होना इस हेतुसे सिद्ध होता है कि पुरुषार्थ (पुरुषका अर्थ वा प्रयोजन अर्थात् भोग अथवा मोक्ष) के निमित्त कारण होनेसे उत्पन्न होकर नाशको प्राप्त होता है और अवस्थान्तरमें कभी उसके (महत्तत्त्वके) विषय गौ घट आदि ज्ञात होते हैं (जाने जाते हैं) कभी नहीं, कारण मात्र व नित्यमें ऐसा होना संभव नहीं है. प्रकृतिरूप अलिंग अवस्थाका कोई कारण उत्पत्ति व विनाशका न होनेसे प्रकृति कार्यरूप नहीं है. कारणरूप नित्य है. महत्तत्त्वसे अहंकार कार्य वा परिणाम होता है. अहंकारसे पांच तन्मात्रा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध और ग्यारह इन्द्रिय दश बाह्य इन्द्रिय अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रिय व पांच कर्मेन्द्रिय व ग्यारहवां अन्तर इन्द्रिय मन और पांच तन्मात्राओंसे पांच भूत आकाश, वायु, तेज, जल व पृथिवी कार्य होते हैं. क्रमसे चौबीस गुण ये व पचीसवां पुरुष सृष्टि उत्पत्ति व वृद्धिके कारण होते हैं. जिज्ञासुओंके समझनेके लिये यहां यह अधिक वर्णन कर दिया है ।। १९ ।।

अब दृश्यका व्याख्यान करनेके अनन्तर आगे सूत्रमें द्रष्टाका वर्णन करते हैं :-

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ।। २० ।।

द्रष्टा चेतन मात्र शुद्ध है तथापि बुद्धिहीके समान
जाननेवाला वा देखनेवाला है ।। २० ।।

दो०—दृशिधर्मनतें रहित सो, द्रष्टा अतिहि विशुद्धि ।
तदपि होत प्रतिबिम्बित, मुकुरधर्म जो बुद्धि ।। २० ।।

द्रष्टा (जाननेवाला अथवा देखनेवाला) पुरुष चेतनमात्र शुद्धबुद्धिसे भिन्न है. बुद्धि पुरुषका स्वरूप नहीं है; क्योंकि बुद्धिका विषय कभी ज्ञात होता है, कभी नहीं अर्थात् जिस विषयका बुद्धिसे निश्चय या ज्ञान एक समयमें होता है वह वन नहीं रहता, अन्य समयमें नहीं होता तथा सुख दुःख मोहात्मक अर्थोंको समय समय वा क्षण क्षणमें बुद्धि ग्रहण वा निश्चय करती है. यह सुख आदि तीनों गुणोंके परिणाम होनेसे बुद्धि त्रिगुणरूप है. इन हेतुओंसे बुद्धि अनित्य वा परिणामिनी है और पुरु को संप्रज्ञात व व्युत्थान अवस्थाओंसे सदा विषय ज्ञात होनेसे और पूर्वज्ञात पदार्थोंक स्मरण या उनकी पहिचान होनेसे पुरुष सदा ज्ञाता नित्य, परिणाम (स्वरूपमें भे

होना) रहित है, परन्तु यद्यपि चेतनता या ज्ञानशक्ति मात्र पुरुषमें होने व अन्य धर्म व विकाररहित होनेसे पुरुष चेतनमात्र शुद्ध स्वरूप है और बुद्धिसे भिन्न है तथापि अविवेकसे बुद्धिसे अपनेको पृथक् न मानकर बुद्धिके समानही शब्द आदि विषयोंको जानता है और सुख दुःख मानता है ॥ २० ॥

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

उसीके अर्थ (उसीके लिये) दृश्यका आत्मा स्वरूप है ॥ २१ ॥

दो०–पुरुष भोक्ता कि निमित्त दृश्य भोगकर रूप ।
भोग करत हैं, पुरुष सब दृश्य भोग अनुरूप ॥ २१ ॥

उसी (पुरुष) के लिये दृश्यका आत्मा (स्वरूप) है अर्थात् पुरुष जो भोक्ता (भोग करनेवाला) है उसीके भोगके लिये दृश्य भोग्य (भोग करने योग्य) पदार्थ है ॥ २१ ॥

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

कृतार्थ प्रति नष्ट होनेपर भी वह अन्यप्रति साधारणत्वसे (साधारण होनेसे) न नहीं होता ॥ २२ ॥

दो०–दृश्य हेतु हैं भोगको, अरु अपवर्गहु जान ।
नष्ट दृश्य कृतार्थ जनते, दृश्य नष्ट नहिं मान ॥
ज्ञानीके दृशनाशते, दृश्य नाश नहिं होय ।
अज्ञानी जनके विशें, बनो रहत है तोय ॥ २२ ॥

कृतार्थ जो मुक्त है उन प्रति दृश्यके नष्ट होनेपर भी वह दृश्य (प्रधान) अन्य प्रति अर्थात् जो कृतार्थ नहीं हैं उनके प्रति नष्ट नहीं होता फलितार्थ इसका यह है कि, पुरुष अनेक हैं इससे जो मुक्त पुरुषका दृष्य संयोग नष्ट भी हो जाता है तो भी अन्य जो संसारी पुरुष है उसमें दृश्यका संयोग बना रहता है उससे दृश्य संयोगका नाश नहीं होता. क्यों नहीं होता ? साधारण होने या बने रहनेसे अर्थात् अविद्यासे जो पुरुष व दृश्य (प्रधान वा माया) का संयोग है उसके साधारण बने रहनेसे; क्योंकि बिना तत्त्वज्ञान जो उसके नाशका कारण है वह साधारण रूपसे बना रहता है. केवल कृतार्थ पुरुषों प्रति तत्त्वज्ञान होनेसे नाशको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

अपने व स्वामी दोनोंकी शक्तियोंके स्वरूपोंकी उपलब्धि (प्राप्ति) का हेतु संयोग है ॥ २३ ॥

दो०–बुद्धीको अरु पुरुषको, जो अनादि संयोग ।
अज्ञानीको भोग प्रद, मोक्षज्ञानके योग ॥

अज्ञानी वश दृश्यके, भूलत अपनो रूप।
भोगत जगके भोग सब, परे रहत भवकूप।।
ज्ञानी अपने ज्ञानसों, भोग त्यागि निज रूप।
पहिचानत निज रूपको, पावत मोक्षस्वरूप।। २३ ।।

दृश्य (प्रधान) की अपनी शक्ति जो जड़तासे भोग्य मात्र होनेकी योग्यता है व स्वामी (पुरुष) की शक्ति जो चेतनतासे भोक्ता (भोग करनेवाला) होनेकी योग्यता है इन दोनोंके स्वरूपोंका प्राप्तिका हेतु (कारण) संयोग है; क्योंकि जबतक पुरुष व प्रधानका संयोग नहीं होता तबतक पुरुष भोक्ता व प्रधान भोग्य नहीं हो सक्ता. पुरुष प्रधान (प्रकृति) के साथ भोगके लिये संयुक्त होकर भोग करता है. इससे संयोगही पुरुषके भोक्ता व प्रधानके भोग्यका हेतु है. सारांश इतनाहीं जानकर सरल व संक्षेप वर्णन किया है. अन्य टीकाकारोंने शब्दार्थमें कुछ अधिक कल्पना करके अधिक व्याख्यान किया है; परन्तु यहां उसके वर्णनकी आवश्यकता व उससे विशेष फल न समझकर छोड़ दिया है क्योंकि सूत्रकारने आपही वह सब आगे सूत्रमें वर्णन कर दिया है।। २३ ।।

तस्य हेतुरविद्या ।। २४ ।।

उसका हेतु अविद्या है।। २४ ।।

दोहा–दृश्य पुरुष संयोग कर, हेतु अविद्या जान।
ज्ञान प्राप्तिते होत है, तिहि संयोग विहान।। २४ ।।

उसका (संयोगका) हेय (कारण) अविद्या अर्थात् मिथ्या ज्ञान है. विपर्य (विपरीत) ज्ञान अर्थात् अनित्यको नित्य अशुचिको शुचि, दुःखको सुख और अनात्माको आत्मा जानना मिथ्याज्ञान वा अविद्या है. अविद्याकी वासना सहित चित्त प्रलयमें प्रधानमें लीन होकर उत्पत्तिकालमें फिर प्रत्येक पुरुषमें सत्त्वगुणसे उत्पन्न होता है. विना चित्तके लय हुए पर मोक्ष नहीं होता. फिर संसारमें पतित होता है व चित्तपर वैराग्यसे लय होता है. जबतक अविद्यासे राग आदिका संस्कार बना रहता है तबतक संसारबन्ध नहीं छूटता संयोगसे अविवेकीको बंध व विवेकीको मोक्ष प्राप्त होता है।। २४ ।।

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ।। २५ ।।

उसके (अविद्याके) अभावसे संयोगका अभाव होना (दुःखनाश) है वही चेतनपुरुषका मोक्ष है।। २५ ।।

दो०–पुनि अज्ञान अभावते, हान होत संयोग।
हानि ताहि पहिचानिये, केवल आत्मसुभोग।। २५ ।।

यद्यपि पुरुष आत्मा अपने निज स्वरूपसे मुक्त व विकाररहित हैं, परंतु अविद्या (मिथ्याज्ञान) से दृश्यके संयोग होनेसे बन्ध व दुःखको प्राप्त होता है. अविद्याके अभाव होनेसे उससे हुआ जो संयोग है उसका अभाव (नाश) होता है. यही हान अर्थात् दुःखका नाश है; क्योंकि दृश्यका संयोगही दुःखरूप है. जब पुरुष प्रधान वा दृश्यसे भिन्न हो जाता है तब भोगरहित हो जाता है और जबतक संयुक्त रहता है तबतक भोगमें व उसके फलमें परिणाम ताप आदि उक्त दुःखोंसे दुःखही होता है. दुःखका नाश होनाही पुरुषका कैवल्य संज्ञक मोक्ष है ।। २५ ।।

अब दुःख तथा सर्वथा संयोगको हेतु व हेतुमत्को अभेद मानकर हेय (त्यागने योग्य) अविद्याको हेयहेतु और संयोगके अभावको हान वर्णन करनेके अनन्तर हानके उपायको आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं :–

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ।। २६ ।।

मिथ्याज्ञानरहित विवेकख्याति हानका उपाय है ।। २६ ।।

दो०–ज्ञानविपर्ययरहित जो, हुइ विवेक निज रूप ।
हानयत्न मुनिवर कहत, मानहु ज्ञान स्वरूप ।। २६ ।।

पुरुष जो प्रधानके कार्यरूप परिणामिनी अनित्य बुद्धिको, जो अपनेसे भिन्न है उसको अपना आत्मा (स्वरूप) मानता है और बुद्धिमें प्राप्त हुए सुख दुःखमें यह मानता है कि 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूं' यह मिथ्या ज्ञान है. इसके विरुद्ध पुरुष (आत्मा) का सत्यज्ञानसे यह निर्णय करना कि 'मैं बुद्धि व दृश्य पदार्थसे भिन्न हूं' यह विवेकख्याति है, मिथ्याज्ञानरहित जो ऐसी विवेकख्याति है उससे पर वैराग्यपूर्वक चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होता है और क्लेश निवृत्त होते हैं. इससे मिथ्याज्ञानरहित विवेक हानका (दुःखके नाश होनेका) उपाय है. सम्पूर्ण दुःखोंसे छूटनाही मोक्ष है. इससे यही मोक्षके प्राप्त होनेका उपाय है. पुरुषका बुद्धिसे भिन्न होना व बुद्धिसे रहित होना जो इस शास्त्रमें कहा है. इसमें जो यह संदेह होवे या जो यह संदेह करते हैं कि बुद्धि ज्ञानही है. बुद्धि रहित पुरुषके माननेमें पुरुषको अचेतन मानना होगा. बुद्धिरहित पुरुष कैसे हो सक्ता है ? इसका उत्तर यह है कि, कार्यरूप परिणामिनी बुद्धि अर्थात् जो त्रिगुणात्मिका भोग व विवेकरूप परिणामित (परिणामको प्राप्त) बुद्धि है उससे रहित होना कहा है. उसके निवृत्त होनेसे मोक्ष होता है; क्योंकि रजोगुणसे भोगमें प्रीति, तमोगुणसे मोह व सत्त्वगुणसे विवेकरूप बुद्धि होती है. इस विवेकरूपहीको दर्शन व ज्ञान नामसे कहते हैं व यही मोक्षका हेतु होती है और इसके अभावरूप रजोगुण तमोगुणात्मिका बुद्धि (बोध) को अदर्शन वा मिथ्याज्ञान कहते हैं, यह दुख व बंधका हेतु होती है. इस त्रिगुणात्मिक बोधको बुद्धि वा प्रत्यय शब्दसे कहा है

और जो पुरुषकी नित्य ज्ञानशक्ति है उस ज्ञानशक्तिस्वरूप बुद्धिकी निवृत्ति होनेका नहीं कहा. यह मोक्षमें भी बनी रहती है इससे पुरुषको मोक्षसुखके ज्ञान होने व पुरुषके चेतन होनेमें दोष नहीं आता. केवल शब्दके नियत अर्थ व भाव न जाननेसे भ्रम होता है ।। २६ ।।

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ।। २७ ।।

उसकी (विवेकी वा) ज्ञानीकी (प्रज्ञा) विवेकरूप बुद्धि (सात प्रकारकी प्रांतभूमि) उत्कृष्ट अंत अवस्थावाली होती है अर्थात् विवेकवान् योगीके प्रज्ञाकी सात प्रकारकी उत्कृष्ट अंत अवस्था होती है ।। २७ ।।

दो०—ता विवेकअख्यातिकी, प्रज्ञाभूमी सात ।
प्रान्तभूमिहू जानिये, तिनहिं गनावत भ्रात ।। २७ ।।

विवेकीके प्रज्ञाकी सात प्रकारकी प्रान्त भूमि अर्थात् उत्कृष्ट अंत अवस्था होती हैं. एक, जैसा वर्णन किया गया है कि परिणाम ताप संस्कार दुःखोंसे और गुण व वृत्तियोंके विरोधसे जितना प्रकृति (माया) का कार्य है सब दुःखही हैं. ऐसे दुःख को हेय (त्यागने योग्य) निश्चित होजाना कि उसमें संदेह व जाननेका अंत हो जावै. फिर अधिक जानने योग्य न समझा जावै. दूसरी, हेय हेतुओंका (द्रष्टा व दृश्यके संयोगरूप दुःख उत्पन्न करनेवाले शब्द आदि विषयोंमें राग द्वेष मोह कारणोंका) अति क्षीण हो जाना, तीसरी, सम्प्रज्ञात समाधिअवस्थामें योगीको यह दृढ़ निश्चित हो जाना, कि निरोधसमाधि असम्प्रज्ञात समाधिसे हान (दुःखोंका नाश) हो सकता है. और चौथी, विवेकख्याति जो हानका उपाय है उसका अतिभावित होना अर्थात् दृढ़ व सिद्ध किया जाना यह चार कार्य विमुक्तिरूप हैं और तीन चित्तविमुक्तिरूप हैं. एक, भोगोंमें प्रवर्त्त रहनेके अनन्तर चित्तका भोगोंसे उदासीन होकर मोक्षके लिये यत्न करनेमें प्रवृत्त होना. दूसरी, अविद्याके नाश होनेसे बुद्धिके गुणोंका अपने अपने कारणोंमें लय होकर कारणसहित नाशको प्राप्त होना और अविद्याकारणके अभावसे फिर उनका उत्पन्न न होना और तीसरी, जीते हुए गुणसम्बन्धसे रहित हो ज्ञानीका निर्मल मुक्तारूप होना. इन सात रूपसे विवेक होनेका उपाय होना सिद्धि होना है ।। २७ ।।

विना साधन सिद्धि नहीं होती है इससे अब आगे साधन वर्णन करने का आरंभ करते हैं :—

योगांगानुष्ठानादशुचिक्षये ज्ञानदीप्तिर्विवेकख्यातेः ।। २८ ।।

योगके अंगोंके अनुष्ठानसे अशुचि (विषयभोग वा अज्ञान) के नाश होनेसे या विवेकख्यातिसे ज्ञानकी दीप्ति बढ़ती है ।। २८ ।।

दो०—योगअंग साधन किये, अशुची सब मिट जात।
विवेकख्यातिको पायकर, ज्ञानप्रदीप दिखात ॥ २८ ॥

योगके अंगोंके अनुष्ठानसे अशुचिका अर्थात् विषयभोग व विषयप्रीतिका नाश होता है. अशुद्धिके नाश होनेसे ज्ञानकी दीप्ति (प्रकाश) बढ़ती है. जैसे अनुष्ठान वा साधनकी अधिकता होती जाती है वैसेही क्रमसे अशुद्धिकी क्षीणता होती जाती है, जैसे अशुद्धिकी क्षीणता होती जाती है उस क्रमसे ज्ञानकी दीप्ति बढ़ती है अथवा विवेकख्यातिसे अर्थात् गुणों व पुरुषके स्वरूपके विज्ञान (विशेषज्ञान) से ज्ञानकी दीप्ति बढ़ती है. 'आ' शब्द जो सूत्रमें 'विवेक' शब्दके पूर्व है वह विकल्प अर्थवाचक है. योगके अंगोंका अनुष्ठान अशुद्धिके वियोग (नाश) का कारण है जैसे कुठार मूलसे वृक्षके वियोग (जुदा कर देने) का कारण है, और योगांगोंका अनुष्ठान विवेककी प्राप्तिका कारण है. जैसे धर्म सुखकी प्राप्तिका कारण है. कारण कै प्रकारके होते हैं, यह जाननेके लिये कारणोंके भेद वर्णन करते हैं. कारण नव प्रकारके होते हैं—उत्पत्ति, स्थिति, अभिव्यक्ति, विकार, प्रत्यय, प्राप्ति, वियोग, अन्यत्व व धृति यथा—मन ज्ञानका उत्पत्ति कारण है; पुरुषार्थता मनकी स्थितिका कारण है; आहार शरीरके स्थितिका कारण है इत्यादि. प्रकाश रूपकी अभिव्यक्ति (प्रकट होने) का कारण है; तथा रूपज्ञान रूपकी अभिव्यक्तिका कारण है; पंचमस्वर सुन्दरता आदि एकाग्र हुए मनके विकारके कारण हैं अर्थात् मनमें विकार उत्पन्न करनेके कारण हैं. तथा अग्निमें जो चीज पकाई जाती है उसका विकार कारण है. धूम (धुवाँ) का ज्ञान अग्निका प्रत्यय कारण है अर्थात् अग्निके प्रत्यय (ज्ञान) होनेका कारण है. योगके अंगोंका अनुष्ठान विवेकख्यातिकी प्राप्तिका कारण वही अशुद्धका वियोग कारण है; सोनार गहनोंका अन्यत्व कारण है; शरीर इन्द्रियोंका धृति कारण है अर्थात् धारण करनेका कारण है. इसी प्रकारसे यह नव कारण अन्य पदार्थोंमें योजित करने व विचारने योग्य हैं. उक्त प्रकारसे योगके अंगोंका अनुष्ठान अशुद्धिके नाशका व विवेककी प्राप्तिका दो प्रकारका कारण होना विदित होता है ॥ २८ ॥

अब योगके अंगोंको वर्णन करते हैं :—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अंग हैं ॥ २९ ॥

सो०—यम नियमासन साधि, प्राणायाम प्रतिहार अरु।
धारण ध्यान समाधि, अष्ट कहे अंग योगके ॥ २९ ॥

ये योगके आठ अंग हैं इनके अनुष्ठान विधिका यथाक्रमसे वर्णन किया जाता है ॥ २९ ॥

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये यम हैं ॥ ३० ॥

दो०–अहिंसा सत्य अस्तेय पुनि, ब्रह्मचर्य जिय जान ।
अपरिग्रह सब पांच मिल, यमस्वरूप पहिचान ॥ ३० ॥

सब कालमें सब प्राणियोंके साथ वैर न रखना व किसी प्राणीका वध न करना अहिंसा है. वैर करना यह मानसिक हिंसा व वध करना कर्म हिंसा है. इन दोनोंका त्याग करना अहिंसा धर्म है. मन व इन्द्रियोंसे जैसा जाना जाय या जैसा अपने ज्ञानमें होवैं छलरहित वैसा ही कहना सत्य है, परन्तु यह सब प्राणियोंके हितके लिये है परके घात वा तापके लिये सत्य नहीं है. परको ताप देनेवाला या अहित करनेवाला जो सत्य है वह पाप है; परके द्रव्यको विना उसकी आज्ञा न अनुचित रीतिसे गुप्त ग्रहण न करना व मनसे ऐसे ग्रहणकी इच्छा न करना अस्तेय है; उपस्थ इन्द्रिय (लिंग) को वश रखना जिससे काम उदय होनेका संभव हो ऐसे आचरण यथा स्त्रियोंके रूप देखनेमें चित्त लगाना, स्त्रियोंसे हँसी वार्ता करना, अंगका स्पर्श करना आदिका त्यागना ब्रह्मचर्य है; विषयोंके संचय करनेमें, निंदित परिग्रह दोष होने तथा रक्षा करनेमें व नाश होने व संग होनेमें और राग बढ़ने व हिंसा होनेमें दोषोंको जानकर उनका अंगीकार न करना अपरिग्रह है अर्थात् जो पदार्थ रागको बढ़ाता है उसको दोपरूप और परिग्रहरूप जान उनमें इच्छाका न करना अपरिग्रह जानना चाहिये ये पांचों यमके भेद लक्षणोंसहित समझकर कहे गये हैं ॥ ३० ॥

एते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥३१॥

जो अहिंसा अथवा अहिंसा आदि यम जाति देश काल और समयोंसे अवच्छिन्न न हों अर्थात् जाति देश काल व समय विशेषके नियम व परिणाम युक्त न हों उनका सम्पूर्ण भूमि सब प्राणी सब काल और सब देशमें परिपालन करना महाव्रत है ॥३१॥

सो०–अनहिंसादिक पांच, जाति देश और काल विन ।
समयरहित यह पांच, सार्वभौम और महाव्रत ॥ ३१ ॥

गौ व मनुष्यको न मारना चाहिये, मत्स्य छेरी बकरा आदि मारनेमें दोष नहीं है, यह जात्यवच्छिन्न अहिंसा है । तीर्थदेश में हिंसा न करना चाहिये, अन्यत्र करनेमें दोष नहीं ऐसा मानना देशवच्छिन्न अहिंसा है, व्रत श्राद्ध आदि पुण्य दिनमें हिंसा न करूंगा यह कालावच्छिन्न और यज्ञमें देवताके लिये हिंसा करूंगा यह अन्यथा नहीं यह समयावच्छिन्न अहिंसा है, इस प्रकारसे जो जाति आदिकोंके साथ अवच्छिन्न

न हो ऐसे अहिंसाधर्मको पालन करना अर्थात् ऐसा जानकर कि किसी प्राणीको वध करना व दुःख देना उचित नहीं है. सब स्थान व सब कालमें हिंसा पाप है. सर्वथा हिंसाको त्यागना महाव्रत है. इसीके समान जाति, देश, काल, व समयविशेषके नियम-रहित सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहके अनुष्ठान व पालन करनेको महाव्रत जानना चाहिये ।। ३१ ।।

शौचसंतोषतपस्स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।। ३२ ।।

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वरप्रणिधान ये नियम हैं ।।३२।।

दो०–शौच और संतोष तप, स्वाध्याय ईश्वरध्यान ।
पांच नियम मुनिवर कहे, मानहु सत्य प्रमान ।। ३२ ।।

शौच पवित्रताको कहते हैं. पवित्रता दो प्रकारकी होती है, एक बाहरकी व दूसरी भीतरकी. मिट्टी व जलसे बाहरके अंगोंको शुद्ध करना, स्वच्छ वस्त्र धारण करना, ग्रास संख्यासे सूक्ष्म भोजन करना, जिससे मल और आलस्यकी वृद्धि न होवे यह बाहरकी पवित्रता है. सत्य भाषण, विद्याभ्यास, सत्संग, धर्माचरणसे असत्य मान मद ईर्षा मलसे चित्तको शुद्ध करना यह अंतर (भीतर) की 'पवित्रता' है. अपने प्राणरक्षा मात्रके लिये जो आवश्यक है उससे अधिक अन्न धन वस्त्र आदिकी इच्छा न करना 'संतोष' है. क्षुधा पिपासा शीत उष्ण सहना कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रत करना व अन्य धर्माचरण व शुभगुणोंके आचरणसे आत्मा (मन) को तप्त सुवर्णके समान निर्मल करना 'तप' है. मोक्षविद्या विधायक वेदशास्त्रका पढ़ना या प्रणवका जप करना 'स्वाध्याय' है. सब कर्म प्राण आत्मा ईश्वरमें समर्पण करना ईश्वरप्रणिधान है अर्थात् सर्व कर्मों व शुभधर्मोंके फलको ईश्वरमें समर्पण करना और ध्यान करके चित्तको स्थिर करना 'ईश्वरप्रणिधान' है. चाहै शय्यामें आराम करता चाहै आसनमें बैठा चाहै मार्गमें चलता हो जो स्वस्थ चित्त सम्पूर्ण कुतर्क जालसे रहित हैं और संसार बीजके नाश करनेवाले ज्ञानको प्राप्त है वह दोषरहित व नित्यमुक्त है ।। ३२ ।।

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ।। ३३ ।।

कुतर्कके बाधा करनेमें प्रतिपक्ष (विरुद्धपक्ष) की भावना करना चाहिये ।। ३३ ।।

दो०–जो संयम और नियमते, चित्त होय विपरीति ।
तो तिनके प्रतिपक्षकी, भावन कर चित जीति ।। ३३ ।।

जब मनमें कुतर्क हो तब उसके निवृत्त होनेके लिये विरुद्ध पक्ष जो विचार है उसकी भावना करना चाहिये. यथा–जब ऐसे वितर्क-कुतर्क उत्पन्न होवैं कि इसने मेरी हानि की है इसको मार डालूंगा. अपने प्रयोजन सिद्ध होने या दूसरेकी हानिके लिये,

यह बात झूंठ कहूंगा, इसका धन ले लूंगा इसकी सुन्दरी स्त्रीके साथ भोग करूंगा ऐसे अधर्माचरणोंकी इच्छारूप प्रबल वितर्कोंसे जब हृदयको बाधा होवे तब इस प्रकारसे वितर्कोंके प्रतिपक्षरूप अर्थात् शत्रुरूप विचार व विरागकी भावना करें कि मैं महा अधम हूं जो ऐसे घोर संसारमें पच करके बहुत काल अधर्म व कुकर्ममें वृथा व्यतीत करके गुरुकृपासे अच्छे संस्कारसे भगवत् शरणको प्राप्त हुआ हूं. सब प्राणियों के अभयपदको देनेवाला योग धर्म है, उस प्राप्त योगधर्मको छोड़कर फिर कुतर्क दुष्ट वासनामें पतित होता हूं वा हो रहा हूँ यह त्यागने योग्य है. धर्मसे उत्तम कुछ नहीं है; उसकी दृढ़ता मुख्य है, इस प्रकारसे मनको स्थिर व दृढ़ करना चाहिये ।। ३३।।

अब आगे सूत्रमें प्रतिपक्षभावनाको स्पष्ट वर्णन करते हैं :-

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ।। ३४ ।।

लोभ क्रोध मोहपूर्वक मृदु मध्य अधिमात्रा संयुक्त (किये गये) कारित (कराये गये) अनुमोदित (अच्छे समझे गये) हिंसा आदि वितर्क अनन्त दुःख व अज्ञान फलवाले हैं ऐसा विचार करना प्रतिपक्षभावन (प्रतिपक्षकी भावना करना है) ।। ३४ ।।

दो०—लोभ क्रोध और मोह ये, न्यून्याधिक जस होत ।
हिंसा आदि वितर्क तस, मृदु मध्यादि उदोत ।।
आप करे और अन्यकी, प्रेरणकृत जो होइ ।
प्रथम मान अनुमोदिता, दुख अनंत फल सोइ ।।
हिंसा आदिकसे कबहुँ, होत न सुख लवलेश ।
क्लेश रहत है सर्वदा, कर प्रतिपक्ष विशेष ।। ३४ ।।

हिंसा आदि अधर्म आचरण कृत (किये गये) कारित (दूसरेसे कराये गये) अनुमोदित (अच्छे समझे गये) यह सब वितर्क हैं. मांस व चर्मके लिये मारना लोभपूर्वक हिंसा है. इसने हमारा अपकार (नुकसान) किया है इस द्वेषसे मारना क्रोधपूर्वक हिंसा है. बलिदानमें इस मोह (अज्ञान) से मारना कि, इससे धर्म व स्वर्ग प्राप्त होगा मोहपूर्वक हिंसा है. अब कृत कारित और अनुमोदित इन तीनोंमेंसे पृथक् पृथक् प्रत्येकके लोभ क्रोध और मोहपूर्वक होनेसे अर्थात् एक २ के तीन तीन भेद होनेसे हिंसा नवप्रकारकी होती है. फिर लोभ क्रोध मोहोंमें मृदुमात्रा (थोड़ा) होना मध्यमात्रा (न बहुत कम होना न बहुत अधिक होना) तीव्रमात्रा (अधिक होना) यह तीन भेद होनेसे नव प्रकारमें एक एकमें तीन तीन भेद हो जानेसे सत्ताईस २७ भेद होते हैं. मृदु मध्य और तीव्र मात्राओंमें भी एक एकमें तीन तीन भेद होनेसे अर्थात्

मृदुमें मृदु मृदु, मृदु मध्य, मृदु तीव्र, ये तीन; मध्यमें—मृदु मध्य, मध्य मध्य, मध्य तीव्र, यह तीन और तीव्रमें—मृदु तीव्र, मध्य तीव्र, तीव्र तीव्र, ये तीन भेद होनेसे सत्ताईस भेदोंमें फिर एक एकमें तीन तीन भेद हो जानेसे इक्यासी ८१ भेद होते हैं. फिर असंख्य प्राणियोंके भेद होनेसे नियम विकल्प समुच्चय भेदसे अधिक भेद हो जाते हैं. इसी हिंसाके समान असत्य आदिके भेद समझना चाहिये. यह वितर्क नरक आदि दुःख स्थावर आदि योगियोंमें प्राप्त होने. अज्ञानके हेतु होनेसे अनन्त दुःख व अज्ञान फलके करनेवाले हैं ऐसा वितर्कोंके विरुद्ध विचारना प्रतिपक्ष भावन है, जैसे वध करनेवाला जिसको मारता है प्रथम उसको निर्बल व अपने अधीन करता है फिर हथियारसे काटकर दुःख देता है और प्राणरहित करता है उसी तरह निर्बल करनेसे वध करनेवालेके इन्द्रिय व शरीर परिणाममें निर्बल होते हैं; निर्बल होनेसे बल क्षीण व पराधीन होता है; दुख देनेसे नरक तिर्य्यंक् योनि और प्रेत आदि योनिमें प्राप्त होता है. दुःख भोग करता है, प्राणरहित करनेसे आयु क्षीण होती है. जन्मान्तरमें जो किसी पुण्यसे सुखको प्राप्त हुआ तो सुख भोगके लिये आयु थोड़ी होती है. इसी प्रकारसे असत्य आदिसे परका अपकार और अधर्म करनेसे अनेक दुःखरूप फल होते हैं. इससे बुद्धिमान् विचारद्वारा देखें हिंसादिक दुःखकी खान है. इनका फल अज्ञानकृत अनन्त दुःखही है. लोभ क्रोध और मोहके वश होकर अपने सुखके लिये पराया अहित करता है सो इससे पहले तो चित्त प्रसन्न होता है परन्तु अंतमें सब सुख नष्ट होकर अनन्त दुःख प्राप्त होता है सो जो सुख चाहे वह दृढ़ करके हिंसादिक सब वितर्कोंको विचारद्वारा त्यागके मोक्षसुखके यत्नमें लगा रहे ॥ ३४ ॥

अब यम नियमके साधनसे क्या फल है या होता है वह वर्णन करते हैं :—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

अहिंसाकी प्रतिष्ठामें (दृढ़ स्थितिमें) अर्थात् इस प्रकारसे चित्तमें अहिंसाकी दृढ़ स्थिति होनेमें कि फिर कभी हिंसाका भाव उदय न होय उसके समीपमें (अहिंसामें दृढ़ता रखनेवाले योगीके समीपमें) वैरका त्याग होता है ॥ ३५ ॥

दो०—हिंसा जो नहिं करत हैं, तिनको फल अस होइ ।
तिनसों वैर न करहि कोउ, जगत् जीव जो कोइ ॥ ३५ ॥

जो योगी हिंसाको कर्मसे व मनसे सर्वथा त्याग देता है उसके हृदयसे वैरभाव दूर हो जाता है, किन्तु उसके संग व समीपमें अन्य जीवोंका वैरभाव छूट जाता है. अर्थात् व्याघ्र गौ, भैंसा घोड़ा, मूसा बिल्ली, सर्प न्योला आदि एक दूसरेसे वैरभाव त्याग देते हैं ॥ ३५ ॥

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

सत्यकी प्रतिष्ठामें क्रिया व फलका आश्रयत्व (आश्रय होना) सिद्ध होता है अर्थात् योगीके वाक् व मनोरथ क्रिया व फलके आश्रय होते हें ।। ३६ ।।

दो०—सत्य वचन बोलत सदा, झूठ न चितमें लाव ।
अति अमोघ वाणी लहै, वचन सिद्धि कहँ पाव ।। ३६ ।।

जब धार्मिक मनुष्य निश्चय करके केवल सत्यही मानता और कहता है तब वह जो जो योग्य काम करता व करना चाहता है वह सब सफल हो जाते हैं. सम्पूर्ण क्रिया व फल उसके वचन व इच्छामें आश्रित होते हैं अर्थात् उसके सब मनोरथ व वचन पूर्ण व सत्य होते हैं. उस योगीके वचनसे अन्यको सुख व मनोरथ प्राप्त होता हैं. उसका वचन मिथ्या नहीं होता ।। ३६ ।।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।। ३७ ।।

चोरी न करनेकी प्रतिष्ठामें सब दिशा व स्थान रत्नस्थान होते हैं।।३७।।

दो०—तनसों चोरी करहि नहि, मनहूमें नहि लाइ ।
जहँ चाहै, तहँ मिलत हैं, स्वयं रत्न सब आइ ।। ३७ ।।

जब साधन करनेवाला मनुष्य शुद्ध मनसे सर्वथा चोरीको त्याग देता है तब उसको सब स्थानमें वांछित रत्न व उत्तम पदार्थ प्राप्त होने लगते हैं ।। ३७ ।।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ।। ३८ ।।

ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठामें सामर्थ्य प्राप्त होता है ।। ३८ ।।

दो०—ब्रह्मचर्य धारण किये, बल अरु वीर्य दृढ़ाय ।
अणिमादिक सिद्धीनकों, सहज लेत सो पाय ।। ३८ ।।

ब्रह्मचर्य साधनमें अर्थात् उपस्थ (लिंग) इन्द्रियके संयम रखनेसे यानी व्यभिचार न करनेसे विद्या पठन पाठन युक्त शुद्धचित्त कामवर्जित होनेसे शरीर व बुद्धिका बल बढ़ता है और सिद्धियां प्राप्त होती हैं ।। ३८ ।।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ।। ३९ ।।

अपरिग्रहकी दृढ़ता होनेमें अर्थात् विषयसे रहित होनेमें अपने अपने जन्मान्तरके भेदोंका ज्ञान या विचार होता है ।। ३९ ।।

दो०—अपरिग्रह थिर होत जब, लहत ज्ञान निज कर्म ।
तीन कालके जन्मको, पावत ज्ञान अभर्म ।। ३९ ।।

जब मनुष्य सब विषयोंको त्यागकर सर्वथा जितेन्द्रिय होता है तब मैं कौन था ? कहाँसे आया हूं ? कौन हूं ? कहाँ जाऊंगा ? भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालमें जन्मान्तरका विचार और क्या करनेसे मेरा कल्याण होगा, यह ज्ञान उसके चित्तमें स्थिर होता है ।। ३९ ।।

शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः ।। ४० ।।

शौचसे अपने अङ्गोंमें घृणा और परके अङ्गोंके साथ संयोग करनेकी मति न होती है ।। ४० ।।

दो०–पूरण शुचिकी प्राप्तिते, होत घृणा निज काय ।
पर अंग शुद्ध अशुद्ध कर, कबहुँ न संग कराय ।। ४० ।।

पूर्वही जैसा शौच वर्णन किया है उस प्रकारसे शौच (पवित्रता) में दृढ़ता होनेसे जब शौच करनेपर भी अपने शरीर व शरीरके अवयवोंमें मलिनता रहते अर्थात् वाहिर भीतर मल संयोग रहते देखता है, सर्वथा शुद्ध नहीं होते तब औरोंके शरीर मलसे भरे जानकर योगी दूसरेसे अपने शरीर मिलानेमें संकोच व घृणा करके सदा अलग रहता है यह बाह्य शौचका फल है ।। ४० ।।

अब अन्तरशौचके फलको वर्णन करते हैं :–

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ।।४१।।

और सत्त्व (बुद्धि या अंतःकरण) की शुद्धि सौमनस्य (मनकी प्रसन्नता) ऐकाग्र्य इन्द्रियोंका जीतना आत्मज्ञानके योग्य होनेका फल होता है ।। ४१ ।।

दो०–मैत्रियादिते होत है, रागादिककी हानि ।
रागहानिते होत पुनि, सत्त्वशुद्धि जिय जानि ।।
सत्त्वशुद्धिते स्वच्छता, चित्त स्थितहू जान ।
चित्तकी स्थिरता भये, इन्द्रिय सब वश मान ।।
इन्द्रियके वशिकारते, होत योग्यता पर्म ।
आत्माको दर्शन करत, पुनि लहत कछु शर्म ।। ४१ ।।

शौचसे, क्रमसे सत्त्वशुद्धि अर्थात् रजोगुण व तमोगुणके कार्यरूप ईर्षा आदि मल दूर हो जानेसे जब सत्त्वगुणरूप अंतःकरण शुद्ध होता है, तब मनकी प्रसन्नता होती है. उसके अनन्तर चित्तका ऐकाग्र्य होता है. चित्तके ऐकाग्र्य होनेसे योगी इन्द्रियोंको जीतता है. इन्द्रियोंके चीतनेसे आत्मज्ञानके योग्य होता है, यह अनन्तर शौचका फल है. अन्तरीय शुचि जब प्राप्त होती है तब अज्ञान और अज्ञानके कार्य नष्ट होके ज्ञानका प्रकाश हो जाता है इसीको पूर्ण शुचि कहते हैं ।। ४१ ।।

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ।। ४२ ।।

संतोषसे जिससे उत्तम अन्य सुख नहीं है ऐसा सुख प्राप्त होता है ।। ४२ ।।

दो० –होत सकल संतोषते, अति उत्तम सुख जोइ ।
प्राप्त होत है विनहि भ्रम, संशय करो न कोइ ।। ४२ ।।

संतोषसे तृष्णाके नाश होनेसे अति उत्तम सुख होता है. महात्माओंने कहा

है कि जो काम आदि और बड़े बड़े सुख संसारमें हैं वे सब दोषयुक्त हैं. तृष्णाके नाश होनेसे जो निर्दोष सुख है अन्य सुख उसके सोलहवीं कलाको नहीं तुलते ।। ४२ ।।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुचिक्षयात्तपसः ।। ४३ ।।

तपसे अशुचिके (अशुद्धिके) होनेसे शरीर
व इन्द्रियोंकी सिद्धि होती है ।। ४३ ।।

दो० –तपते रज तम अशुचि सब, सहज होत है दूर ।
काया और इन्द्रीनकी, सिद्धि पाय भरपूर ।। ४३ ।।

तपसे अशुद्धिका नाश होता है और अशुद्धि अर्थात् आवरणरूप अज्ञानके नाश होनेसे शरीर व इन्द्रियोंकी सिद्धि प्राप्त होती है शरीर सिद्धि अर्थात् अणिमादिक सिद्धि और दूर देश का देखना व दूर देशके शब्दका सुनना आदि इन्द्रियसिद्धिकी प्राप्ति होती है ।। ४३ ।।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ।। ४४ ।।

स्वाध्यायसे इष्ट देवताका संप्रयोग होता है ।। ४४ ।।

दो० –स्वाध्यायकी पूर्णता, इष्ट देवको देखि ।
हुई अभीष्टहु सिद्धि सब, देव आप तिहि पेखि ।। ४४ ।।

स्वाध्यायसे अर्थात् इष्ट मंत्रके जपके जो इष्ट देवता है उसका संप्रयोग (साथ) अर्थात् इष्ट देवताका दर्शन होता है और इष्ट देवता उपासकके सब कार्य सिद्ध करने में सहायक रहता है, अथवा इष्ट देवतासे यहाँ मुख्य परमात्माका ग्रहण है अर्थात् स्वाध्याय प्रणवके जप व आत्मनिरूपणसे परमात्माके साथ संयोग होता है. फिर परमात्माके अनुग्रहकी सहायता और अपने आत्माके सत्याचरण पुरुषार्थ प्रेमके संयोगसे जीव मुक्तिको प्राप्त होता है ।। ४४ ।।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ।। ४५ ।।

ईश्वरप्रणिधानसे समाधिकी सिद्धि होती है ।। ४५ ।।

दो० –ईश्वरके प्रणिधानते, होत समाधी सिद्ध ।
संप्रज्ञात समाधिकी, लगी रहत सब रिद्ध ।। ४५ ।।

ईश्वरमें सव भाव समर्पण करनेसे योगी सुगमतासे समाधिको प्राप्त होता है ।। ४५ ।।

तत्र स्थिरसुखमासनम् ।। ४६ ।।

जिसमें सुखसूर्वक शरीर व आत्मा स्थिर हो वह आसन है ।। ४६ ।।

दो० –स्थिर सुख जासों मिलै, आसन ताको नाम ।
पद्मासन वीरासन, भद्रासन सुखधाम ।। ४६ ।।

जिसमें आत्मा व शरीर स्थिर अर्थात् निश्चल हो व सुख हो वह आसन है. आसन बहुत प्रकारके हैं यथा पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिक, दण्डासन, सोपाश्रय, पर्यंक, क्रौंचनिषंदन, हस्तिनिषन्दन, समसंस्थन, स्थिर सुख आदि पद्मासनमें बायाँ चरण सिकोरकर दाहिनी जांघके ऊपर रक्खा जाता है व दाहिना चरण बायें जांघके ऊपर इसी प्रकारसे अन्य भद्रासन आदिके पृथक् पृथक् विधान व स्वरूपका वर्णन है; परन्तु सब आसनोंके वर्णन करनेकी तथा उनके साधन करनेकी आवश्यकता नहीं है. पद्मासन साधारण व प्रसिद्ध है और प्रयोजनके लिये अच्छा है. महात्मा सूत्रकारके मतानुसार इन आसनोंमेसे किसी आसन अथवा जिस प्रकारसे रुचि हो उस प्रकारसे बैठे क्योंकि मुख्य प्रयोजन यह है कि जिसमें सुखपूर्वक शरीर व आत्मा स्थिर हो वही आसन है ॥ ४६ ॥

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

प्रयत्नकी शिथिलता व अनन्तमें चित्त लगाने (एकाग्र करने) से आसनजित् होता है ॥ ४७ ॥

दो० –सहज चेष्टा देहकी, करत शेषसम काय।
निश्चल करहि शरीर तब, आसन सिध हुए जाय ॥ ४७ ॥

शरीरका कांपना, चित्तका एकाग्र (स्थिर) न रहना अनेक विषयोंमें दौड़ना यह साधारण शरीरका प्रयत्न व चित्तकी अवस्था है. यह शरीरका साधारण चलायमान होना है, उसको साधनकी दृढ़तासे शिथिल करना कि, जिससे निश्चल होय. शरीरमें कंप न हो व अनन्त जो परमेश्वर है उसमें समापत्तिसे अर्थात् दृढ़ चित्तको लगानेसे जिससे विषयवासनामें दौड़कर एक स्थान व आसन साधनसे उच्चाटन हो आसन सिद्ध होता है. प्रयत्नकी शिथिलता व अनन्तमें समापत्ति (एकाग्र चित्त करना) ये दो आसनजित् होनेके उपाय हैं ॥ ४७ ॥

ततो द्वन्द्वाभिघातः ॥ ४८ ॥

उससे (आसनजित् होनेसे) द्वन्द्वोंसे बाधा नहीं होती ॥ ४८ ॥

दो० –आसनकी सिद्धी लहे, द्वन्द्व करत नहिं घात ।
शीत उष्ण दुखसुख कछू, व्यापत नहिं तिहि गात ॥ ४८ ॥

जब योगी आसनजित् होता है अर्थात् आसनमें दृढ़ता प्राप्त कर लेता है तब उसको द्वन्द्वोंसे अर्थात् शीत उष्णता आदिसे शरीरमें बाधा नहीं होती और बाधा न होनेसे ध्यान वा समाधिमें विक्षेप नहीं होता है ॥ ४८ ॥

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

उसमें (आसनमें) स्थित होकर श्वास व प्रश्वासोंकी गतिका रोकना प्राणायाम है ।। ४९ ।।

दो० –जब आसनजित होत तब, श्वास और प्रश्वास ।
गति अभाव तिहि होत हैं, प्राणायाम प्रकाश ।। ४९ ।।

जो वायु बाहिरसे भीतरको आता है उसको श्वास व जो भीतरसे बाहिरको जाता है उसको प्रश्वास कहते हैं. दोनोंके आने जानेको रोकना प्राणायाम है. बाहिरके वायुको भीतर भरनेको पूरक व भीतरके वायुको बाहिर निकालने वा छोड़नेको रेचक व रोक रखनेको कुंभक कहते हैं. श्वाससे बाहिरके वायुको भीतर खेंचकर थाँभना श्वास प्रश्वासका रोकना अथवा भीतरके वायुको बाहिर निकालकर श्वास प्रश्वासका रोकना प्राणायाम हैं ।। ४९ ।।

बाह्याभ्यन्तरस्तंभवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ।।५०।।

बाह्य आभ्यन्तर स्तंभवृत्तियाँ हैं जिसकी ऐसा प्राणायाम देश काल संख्याओंसे दीर्घ व सूक्ष्म विदित होता है ।। ५० ।।

दो० –बाह्यवृत्ति अरु अंतर, स्तंभवृत्ति जिय जान ।
प्राणायाम विभेदत्रय, लेहु तिने पहिचान ।। ५० ।।

प्रश्वासपूर्वक वायुकी गतिका अभाव होना अर्थात् रुकना बाह्यवृत्ति, श्वासपूर्वक वायुकी गतिका अभाव आभ्यन्तर वृत्ति और दोनोंका अभाव स्तंभवृत्ति ये तीन हैं वृत्तियां जिसकी ऐसा जो प्राणायाम है, वह देश काल संख्याओंसे दीर्घसे सूक्ष्म होना विदित होता है. इस सूत्रमें पूर्व सूत्रसे प्राणायाम शब्दकी अनुवृत्ति आती है अर्थात् पूर्व सूत्रके सम्बन्धसे इसमें प्राणायामशब्दका ग्रहण होता है. बाह्य, आभ्यंतर, व स्तंभवृत्ति तथा दीर्घ व सूक्ष्म यह प्राणायामके विशेषण हैं. देश काल व संख्याओंसे दीर्घका सूक्ष्म विदित होना यह है कि रेचकका बाह्य देश विषय है व पूरक कुम्भकोंका अन्तर देश विषय है, इससे देशशब्दसे बाहिर व भीतरसे वायुके भरने व निकालनेके देशोंका ग्रहण होता है । कालसे क्षणोंसे लेकर घटी पहर दिन आदि परिमाणसे प्राणायाममें कालकी अधिकता होते जानेसे अभिप्राय है अर्थात् प्रथम कुछ क्षणोंतक प्राणायाम करना, फिर अधिक समर्थ होनेसे उससे अधिक देरतक करना, इसी तरह दिन पक्ष मास आदि तक अभ्यास बढ़ाना. प्रणवके छत्तीस संख्यातक प्रश्वासपूर्वक प्रथम स्तंभन करना फिर मन्द मन्द श्वास लेना अथवा बारह संख्यातक श्वास भरना व बत्तीसतक स्तंभन करना व बीसतक प्रश्वास निकालना फिर अधिक बढ़ाकर सोलह संख्यातक अर्थात् सोलह बार प्रणव (ॐ शब्द) के उच्चारणतक श्वासको धीरे धीरे खींचकर भरना व चौंसठतक स्तंभ करना व बत्तीसतक धीरे धीरे प्रश्वाससे बाहर निकलना. फिर जैसा अभ्याससे सामर्थ्य

बढ़ता जाय अधिक करना. इन देश काल संख्याओंके परिमाणसे प्राणायाम साधनमें वायुके रोकनेकी शक्तिकी अधिकता होती जाती है. अभ्याससे रोकनेकी शक्ति अधिक होनेके अनुसार प्राणवायु दीर्घसे सूक्ष्मरूप होता जाता है अर्थात् जैसे तपे हुए पत्थरमें जो जलका बिन्दु (अर्थात् बूंद) पड़ता है वह चारों तरफसे संकुचित होता व सूखता जाता है व संकुचित होते हुए सूक्ष्म होता जाता है. इसी तरह अभ्यास किये जानेसे अधिक वहनेवाला अधिक देश व कालसे व्यापित होनेसे दीर्घ वायु रुककर शरीरही मात्रामें सूक्ष्म होकर रह जाता है. यह प्राणवायुका दीर्घरूपसे सूक्ष्म होना है. संख्यामें कोई तीन बार हाथसे जानुके छूनेके कालको मात्रा संज्ञा मानकर मात्राओंकी संख्या प्राणायाम साधनमें कहते हैं, परंतु प्रणवके उच्चारणको मानना व प्रणवके उच्चारणकी संख्यासे प्राणायामका विधान उत्तम जानकर प्रणवकी संख्याको प्राणायामकी संख्या विधानमें वर्णन किया है ।। ५० ।।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ।। ५१ ।।

बाह्याभ्यन्तर विषयआक्षेपी चौथा प्राणायाम है अर्थात् बाह्य विषय व आभ्यन्तर विषयमें आक्षेप पूर्वक (अवरोपण पूर्वक) जो वायुकी गतिका अवरोध (रोकना) है वह वह चौथा प्राणायाम है ।। ५१ ।।

दो० —रेचक पूरक दोउनको, आक्षेपी जो कोइ ।
चौथो प्राणायाम सो, कुम्भक जानो सोइ ।। ५१ ।।

देश, काल, व संख्याओंसे बाह्य विषय और आभ्यन्तर विषयमें जो वायुके आक्षेप (आरोपण) हैं इन दोनों आक्षेपपूर्वक क्रमसे वायुकी गतिके रोकनेको बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी नामक चौथा प्राणायाम कहते हैं. अब इसमें यह संदेह होता है कि स्तंभवृत्ति जो तीसरा प्राणायाम कहा है वह भी वायुकी गतिको रोकना ही है इससे तीसरेसे विशेष चौथा नहीं है जो पृथक् माना जाय. इसका उत्तर यह है कि, क्रमरहित एकही बार रोकनेको तीसरा प्राणायाम कहा है और बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी वह है कि, क्रमसे प्रणव वा मात्राकी संख्यासहित बाह्य देशमें वायुको निकाले व इसी तरहसे क्रमसे आभ्यन्तर (भीतर) देशमें वायुको भरे इस प्रकारसे क्रमसे प्रथम रेचक व पूरक करके वायुको बाहर व भीतर जितना रोक सकै रोके फिर अभ्याससे रोकनेमें समर्थ होकर बाहर व भीतर जाने व आनेकी गतिको रोककर जबतक स्तंभन कर सकै. स्तंभन करै इस विशेषतासे तीसरेसे भिन्न है अर्थात् इसमें देश काल व संख्याओंके क्रमका आलोचन है. तीसरेमें क्रमका आलोचन (ख्याल) नहीं है एकही बार रोक देनेका विधान है. चारों प्राणायामोंका संक्षिप्त व स्पष्ट वर्णन इस तरह समझना चाहिये कि, जब भीतरसे बाहरको प्रश्वास निकले तब उसको बाहरही

रोक देवे यह प्रथम प्राणायाम है. बाहरसे भीतरको श्वास आवै तब उसको जितना रोक सकें उतना भीतर ही रोक देवै यह दूसरा है. तीसरा स्तंभवृत्ति वह है कि न वायुको बाहर निकाले न बाहरसे भीतरको ले जाय. जितनी देरतक रोक सकें ज्यों-का त्यों रोक देय. चौथा वह है कि थोडा थोड़ा क्रमसे वायुको बाहर निकालकर रोकै. इसी प्रकारसे क्रमसे भीतरको ले जायकर रोकै फिर बाहर व भीतरकी गतिको क्रम व यत्नसे रोक करके स्तंभन करै. ये चार प्रकारके प्रणायाम हैं ।।५१।।

अब प्राणायामका फल वर्णन करते हैं –

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ।। ५२ ।।

उससे प्रकाश (ज्ञान) का आवरण क्षीण होता है ।। ५२ ।।

दो० –प्राणायामप्रयोगते, होत विवेक प्रकाश ।
तब आवरण अज्ञान तम, सहज होत सब नाश ।। ५२ ।।

उससे अर्थात् प्राणायामके अभ्याससे प्रकाश जो विवेकज ज्ञान है उसका आवरण अर्थात् छिपानेवाला मोह वा अज्ञान जो मायाजाल रूप अधर्म कर्म व संसार-बंधनका हेतु है वह क्षीण होता है. प्राणायाम परम तप है कि जिससे पाप मल दूर होता है व ज्ञानदीप्तिका प्रकाश आत्मसाक्षात्कारसे परमानंद होता है ।। ५२ ।।

धारणासु च योग्यता मनसः ।। ५३ ।।

दो० –मन स्थिरकर हेतु है, प्राणायाम विशुद्ध ।
तिहि निश्चल कर धारणा, भ्रमत नहीं कहुँ बुद्धि ।। ५३ ।।

मन स्थिरका कारण प्राणायाम है तिससे निश्चल धारणा होती है और फिर बुद्धि कहीं नहीं भ्रमती है ।। ५३ ।।

स्वविषयाऽसंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।। ५४ ।।

विषयोंसे चित्तके अपने निवृत्त होनेमें चित्त स्वरूपके अनुकारके समान इन्द्रियोंका होना प्रत्याहार है ।। ५४ ।।

दो० –इन्द्रिय अपने विषयसों, होत रहित अति स्वच्छ ।
चित स्वरूप सम होत तब, प्रत्याहार प्रत्यक्ष ।। ५४ ।।

अपने विषयोंसे चित्तके निवृत्त होनेमें अर्थात् राग द्वेष मोह होने योग्य शब्द आदि विषयोंमें जो साधारण चित्त प्रवृत्त रहता है साधन विशेषसे इन शब्द आदि विषयोंसे उसके निवृत्त होने व एक ध्येय पदार्थमें स्थिर होनेमें उसी चित्त स्वरूपके अनुसार (समान आकार) अर्थात् तसबीर या छायाके समान इन्द्रियोंका भी विषयोंसे निवृत्त होकर एकाग्र होना प्रत्याहार है. अभिप्राय यह है कि जैसे मक्षिका मधुकर-

राजके चलनेमें चलती व स्थिर होनेमें स्थिर होती है. इसी प्रकारसे इन्द्रियोंका सर्वथा चित्तके अधीन होजाना, चित्तके रोकनेसे उनका रुक जाना और उनके रोकने के लिये अन्य उपायकी आवश्यकता न होना प्रत्याहार है ।। ५४ ।।

अब प्रत्याहारका फल वर्णन करते हैं –

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ।। ५५ ।।

उससे इन्द्रियोंकी परम वश्यता (अत्यन्त वश होना) होती है ।। ५५ ।।

दो० –प्रत्याहार जब होत हैं, पूर्ण महाबलवान् ।
इन्द्रिय सहजहि होत वश, यह निश्चय जिय जान ।। ५५ ।।

उससे अर्थात् प्रत्याहारसे यह फल होता है कि, इन्द्रियोंकी अत्यन्त अधीनता हो जाती है. इन्द्रियोंके अधीन हो जानेसे योगी जितेन्द्रिय होकर जहाँ अपने चित्तको ठहराना चाहै वहां ठहरा सकता है व जिससे निवृत्त किया चाहै उससे निवृत्त कर सकता है, अब संदेह यह है कि; अपरम वश्यता (जो परम वश्यता न हो) क्या है कि जिसकी अपेक्षा परम वश्यता कहा है क्योंकि विना अपरमके परम, विना न्यूनके अधिक और विना छोटेको बड़ा इत्यादिका व्यवहार नहीं हो सक्ता. उत्तर यह है कि, शब्द आदि विषयोंका धर्म विरुद्ध सेवन न करना अर्थात् रूपमें मोहित होने व असत्य निरर्थक वार्ता सुननेसे तुच्छ विषयोंमें अनुचित स्पर्शभोगकी इच्छा होनेमें विचार करके मन व इन्द्रियोंको वश्य रखना, अधर्माचरण न करना, अपरम (न्यून) वश्यता है. इसकी अपेक्षा प्रत्याहार का फलरूप सर्वथा इन्द्रियोंका चित्तके अधीन होना परम वश्यता कहना युक्त है ।। ५५ ।।

इति श्रीपातंजले योगशास्त्रे भाषामध्ये श्रीमद्धार्मिकप्यारेलालात्मज बांदामण्डलान्तर्गततेरही-त्याख्यग्रामवासि श्रीप्रभुदयालुनिर्मिते साधननिदर्शनं नाम द्वितीयः पादः ।। २ ।।

अथ विभूतिपादः ।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।। १ ।।

चित्तको किसी देशमें बांधना धारणा है ।। १ ।।

दो० –एकदेशमें चित्तको, बंधन दृढ़ कर होइ ।
डिगहि नहीं तिहु कालमें, कहत धारणा सोइ ।। १ ।।

नाभिचक्रमें या हृदयकमलमें या मस्तकमें या नासिकाके या जिह्वाके अग्रभागमें चित्तकी चंचलतासे रोककर बांधना अर्थात् स्थिर करना व ओंकारका जप करना व उसके अर्थसे ईश्वरका विचार करना धारणा है. अर्थात् शरीरके किसी

अवयव या बाह्य विषयमें चित्तकी वृत्तिसे ऐसा बांधना कि जिससे एकाग्र होकर उस देशमात्रमें रहै. इधर उधर अन्यत्र न जाय इसको 'धारणा' कहते हैं ।। १ ।।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।। २ ।।

उसमें (धारणामें) प्रत्यय (बुद्धि वा चित्त) की एकाग्रता अर्थात् ध्येय-पदार्थही मात्रमें चित्तका मग्न रहना अन्य विषयमें न जाना ध्यान है ।। २ ।।

दो० –जौन विषयकी धारणा, चितमें करहि बनाय ।
ताहि त्याग जित जाय नहिं, सो दृढ़ ध्यान कहाय ।। २ ।।

धारणाके पश्चात् ध्यान होता है इससे यह कहा है कि, उसमें अर्थात् धारणा में जिस देश विशेषमें चित्त लगाया गया है उसी ध्येयमें (जिसका ध्यान है करता है उसमें) प्रत्यय (बुद्धि) का एकाग्र हो जाना ध्येयसे भिन्न अन्य विषयमें न जाना ध्यान है ।। २ ।।

अब सब अंगोंका फलरूप जो समाधि है उसका वर्णन किया जाता है :

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।। ३ ।।

स्वरूप शून्य होनेके समान उसीका अर्थात् ध्यानहीका अर्थ मात्र (ध्येयाकार) भासित होना समाधि है ।। ३ ।।

दो० –रहत भेद किंचित् नहीं, चित हुइ ध्येयाकार ।
लक्षण पूर्ण समाधिके, मुनिवर कहे विचार ।। ३ ।।

ध्यानही जब अर्थमात्र रूपसे अर्थात् ध्येयके आकारसे भाषित होता है, ध्यान करनेसे ऐसा प्रत्यक्ष होता है यह भेदबुद्धि नहीं रहती ध्यानका स्वरूप शून्यके समान विदित होता है तब 'समाधि' कहा जाता है, अर्थात् जब ध्येय (इष्ट स्वरूप) के प्रेम व ध्यानमें अति मग्न होनेसे ध्यान करनेका अथवा ध्येयसे ध्याताको अपने भिन्न होने-का ज्ञान न रहै अर्थात् यह ज्ञान न हो कि, मैं किसीका ध्यान करता हूं इससे ध्यान में ऐसा देखता हूं यही बोध हो कि यही साक्षात् स्वरूप है ऐसा विदित होना 'समाधि' है. ध्यान और समाधिमें इतनाही भेद है कि ध्यानमें ध्यान करनेवालेको अपना व जिसका ध्यान करता है उसका और ध्यान करनेका तीनोंका ज्ञान रहता है. समाधिमें तीनोंके भेदका अभाव हो जाता है. केवल ध्येयही मात्र भासित होता है ।। ३ ।।

त्रयमेकत्र संयमः ।। ४ ।।

एकमें तीनोंका होना संयम है ।। ४ ।।

सो० –धारण ध्यान समाधि, तीनोंके संयोगको ।
संयम नाम अबाधि, एक नाम ते ज्ञानत्रय ।। ४ ।।

एकही विषयमें धारणा ध्यान व समाधि इन तीनोंके होनेको 'संयम' कहते

हैं. गौरव त्यागके लिये व एकही नामसे तीनोंका बोध होनेके लिये तीनोंका एक नाम 'संयम' यह योगशास्त्रमें माना है. क्योंकि इन तीनोंके सिद्ध होनेसे अनेक प्रकारकी सिद्धियोंका आगे वर्णन है. प्रत्येकमें बारंबार तीन नामोंके लिखनेमें शब्दोंके अधिक लिखनेकी आवश्यकता होनेसे गौरवकी प्राप्ति होती और उससे कुछ फल नहीं होता है ।। ४ ।।

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ।। ५ ।।

उसके जयसे समाधिप्रज्ञाका प्रकाश होता है ।। ५ ।।

दो ०–संयमके जय होतही, प्रज्ञा करत प्रकाश ।
ताते दृढ़ संयम करै, होत सकल भ्रम नाश ।। ५ ।।

उसके जयसे अर्थात् संयमके जीतनेसे समाधिप्रज्ञा (समाधिकी बुद्धि वा समाधि-ज्ञान) का निर्मल प्रकाश होता है जैसे जैसे संयम स्थिर अर्थात् दृढ़ होता जाता हैं उसी क्रमसे समाधि प्रज्ञा निर्मल प्रकाशित होती जाती है ।। ५ ।।

तस्य भूमिषु विनियोगः ।। ६ ।।

उसका (संयमका) भूमियोंमें विनियोग (सम्बन्ध) है ।। ६ ।।

सो० –संयमका संयोग, करहि भूमि सवितर्कमें ।
प्रज्ञा होत निरोग, चित लागत वैराग्य तब ।। ६ ।।

संयमका भूमियोंमें विनियोग है. स्थूल व सूक्ष्म पदार्थोंमें क्रमसे संप्रज्ञात योगकी जो चार अवस्था सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा, और निर्विचारा नामसे कही गई हैं वेही भूमि हैं. क्रमसे प्रथम स्थूल भूमियोंको संयमसे जीतकर फिर उनके अनन्तर सूक्ष्म भूमियोंके जीतनेकी इच्छा करै और प्रयत्नसे जीते. प्रथम विना स्थूलके साक्षात् किये सूक्ष्मके साक्षात् करनेको समर्थ नहीं हो सक्ता यह अभिप्राय है ।।६।।

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ।। ७ ।।

पूर्ववालोंसे यह तीन अन्तरंग हैं ।। ७ ।।

दो० –धारण ध्यान समाधित्रय, अंतरअंग सबीज ।
इन तीनोंके पूर्व यम, ते बहिरंग अछीज ।। ७ ।।

पूर्व पादमें वर्णन किये गये जो यम आदि पांच हैं उनकी अपेक्षा धारणा ध्यान व समाधि ये तीन सम्प्रज्ञात समाधिके अन्तरंग हैं और यम आदि पांच बहिरंग हैं. बहिरंग कहनेसे अभिप्राय यह है कि बाहरके अथवा दूरके अंग हैं व यह तीनों समान विषय (एकही विषयवाले) होनेसे अन्तरके वा विशेष निकटके अंग हैं इससे अंतरंग हैं ।। ७ ।।

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ।। ८ ।।

वह भी निर्बीजके अर्थात् असम्प्रज्ञातसमाधिके बहिरङ्ग हैं ॥ ८ ॥

दो० —तदपि धारणा ध्यान अरु, पुनि समाधि ये तीन ।
बहिरंग निर्बीजके, कहत विवेकी चीन ॥ ८ ॥

सबीज जो सम्प्रज्ञात समाधि है उसके यम आदि पांच बहिरंग हैं और धारणा आदि तीन अन्तरङ्ग हैं. यह पूर्व सूत्रमें कहा है. यह तीन जो सम्प्रज्ञातके अन्तरंग हैं. यह भी निर्बीज समाधिके अर्थात् असम्मज्ञात समाधिके बहिरंग हैं. क्योंकि सब वृत्तियोंके निरोध व परवैराग्यरूप असम्प्रज्ञातमें विना समय समाधि रहती है धारणा आदि की अपेक्षा नहीं होती इससे असम्प्रज्ञातमें धारणादि भी बहिरंग हैं ॥ ८ ॥

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

व्युत्थान व निरोध संस्कारोंका क्षय व उदय होता है निरोध क्षणमें जो चित्त का अन्वय (योग) है वह निरोधका परिणाम है ॥ ९ ॥

दो० —व्युत्थानके संस्कार सब, होत व्यतीत निरोध ।
प्रकट होत संस्कार सब, जब निरोध कृत बोध ॥
यह परिणाम निरोधकर, वर्णो महामुनीश ।
चितसम्मेलन होत जब, जानहु बिस्वा बीस ॥ ९ ॥

चित्तकी वृत्तियां जब विषयोंमें प्रवृत्त व चंचल रहती हैं तब वह व्युत्थान अवस्थान कहलाता है. असम्प्रज्ञातकी अपेक्षा सम्प्रज्ञात समाधि भी (उसमें चित्त-वृत्तियोंका सर्वथा लय नहीं होता इससे) व्युत्थान है. उसका जब पर वैराग्य होनेसे निरोध होता है वह निरोध असम्प्रज्ञात है. निरोध समाधिमें (असम्प्रज्ञात समाधि व्युत्थान संस्कारका क्षय (नाश) व निरोध संस्कारका उदय होता है. उस निरोध क्षणमें जो चित्तका सब वृत्तियोंके रुक जानेके साथ अन्वय (योग) है वह निरोध परिणाम है. अब यह संदेह हो सक्ता है कि व्युत्थान संस्कारके क्षय होनेहीसे निरोध संस्कारका उदय होजायगा. निरोध संस्कारके पृथक् कहनेकी आवश्यकता नहीं है. इसका उत्तर यह है कि संदेह भ्रमरूप हैं व्युत्थान व निरोध पृथक् पदार्थ हैं; क्योंकि विषय व उसके भोगकी वृत्ति निवृत्त हो जानेपर भी बहुतकाल पीछे उसका स्मरण व उसके भोगकी इच्छा होती है, इससे निरोध संस्कारका उदय रहना जिससे प्रवृत्ति-रूप व्युत्थानका रोक बना रहै, आवश्यक व पृथक् पदार्थ व उपासनीय है ॥ ९ ॥

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

उसकी प्रशांतवाहिता अवस्था अर्थात् सदा शांत बने रहनेकी अवस्था संस्कारसे होती है ॥ १० ॥

दो० -हुइ निरोध संस्कारते, ताको शांति प्रवाह।
पुनि न ग्रहत व्युत्थानचित, सदा रहत इक ठाह ॥ १० ॥

उसकी अर्थात् चित्तकी शांत रहनेकी अवस्था निरोध संस्कारसे होती है. निरोध संस्कारके प्रबल व दृढ़ होनेसे व व्युत्थान संस्कारके सर्वथा क्षय होनेसे निरोध संस्कारके सदा स्थिर रहनेसे चित्त परम शांत दशामें रहता है ॥ १० ॥

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

सर्वार्थता व एकाग्रताका क्षय व उदय होना चित्तका समाधिपरिणाम है ॥ ११ ॥

दो० -सम्प्रज्ञात समाधिमें, चितभ्रम नानाअर्थ।
ताहि कहत सर्वार्थता, क्षयव्युत्थानसमर्थ।
उदय होय एकाग्रता, चितसर्वारथहीन।
तब समाधिपरिणाम तुम, जानहु मुनि कह दीन ॥ ११ ॥

असम्प्रज्ञात समाधिमें चित्तके परिणाम अवस्थाको वर्णन करनेके अनन्तर सम्प्रज्ञात समाधिमें चित्तकी परिणाम अवस्थाको इस सूत्रमें वर्णन किया है कि चित्तकी सर्वार्थताका अर्थात् चित्तका जो नाना प्रकारके सब अर्थोंमें गमन है उसका क्षय होना व एकाग्रताका उदय होना अर्थात् केवल ध्येय विषयमें चित्तका स्थिर होना चित्तका समाधि (सम्प्रज्ञात समाधि) परिणाम है ॥ ११ ॥

ततः पुनः शांतोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः ॥१२॥

उससे (समाधिसे) फिर शांत व उदित प्रत्ययोंका एक समान होना चित्तकी एकाग्रताका परिणाम है ॥ १२ ॥

दो० -एकाग्रता समाधिमें, पुनि पुनि भासत सोइ।
जाको ध्यायो चित्तमें, अन्य न भासत कोइ ॥ १२ ॥

शांत प्रत्यय (बुद्धिवृत्ति वा ज्ञान) अर्थात् जो प्रत्यय होगया औरउदित जो हो गयेके पश्चात् उसीके समान अन्य उदय हुआ इन दोनों प्रत्ययोंका चित्तमें समाधिके अंत होने वा भ्रष्ट होनेतक विना क्रम बोध होनेके एकही समान विदित होना वा रहना चित्तकी एकाग्रताका परिणाम है अर्थात् चित्तके एकाग्र होनेका फल है ॥ १२ ॥

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

इसीके समान भूत व इन्द्रियोंमें धर्मलक्षण व अवस्था परिणामोंको व्याख्यात (व्याख्यान किये गये) समझना चाहिये ॥ १३ ॥

दो० -जैसे चित परिणाम त्रय, तैसे भूत इन्द्रीय।
धर्म लक्षण और आयुको, मानो अपने जीव ॥ १३ ॥

वर्तमान और अतीतकालके संबंधसे घट आदिके नये पुराने होनेके ज्ञानका नाम अवस्थापरिणाम है. इसी प्रकार निरोधलक्षणमें निरोध संस्कार बलवान् और व्युत्थानसंस्कार पुराने तथा दुर्बल जानने चाहिये यह बलवान् व निर्बल होना अवस्था-परिणाम है धर्मोंका धर्मसे धर्मोंके लक्षणसे लक्षणका अवस्थासे परिणाम होता है इस प्रकारसे तीन परिणाम जानने चाहिये. तीनों कालमें धर्मी एकरस रहता है और धर्म बार बार बदला करता है जैसे चित्त परिणाम वर्णन किया गया है इसी प्रकारसे भूत जो पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश हैं और इन्द्रियोंमें धर्म लक्षण व अवस्था परिणामोंका होना जानना चाहिये. धर्मीमें जो पदार्थ आश्रित रहता है अथवा जिसके होनेकी धर्मी (द्रव्य) में शक्ति या योग्यता हैं, उसको धर्म कहते हैं और धर्मके बदलने को अर्थात् स्थित द्रव्यके पूर्वधर्मके निवृत्त होनेपर अन्यधर्म उत्पन्न होनेको परिणाम कहते हैं जैसे मिट्टीके पिण्डरूप धर्मके नाश होनेपर घटरूप धर्म उत्पन्न होता है इसी प्रकारसे चित्तके व्युत्थान धर्मके नाश होनेपर निरोध धर्म प्रकट होता है, यह धर्म परिणाम है. और यह कार्यरूप है. काल भेद होनेको लक्षणपरिणाम कहते हैं. लक्षण परिणाममें अनागत अध्वा, वर्तमान अध्वा और अतीत अध्वा ये तीन भेद होते हैं. अध्वाशब्दका अर्थ यहां कालका है. अनागत अध्वासे भविष्यत्काल व वर्तमानसे वर्तमान और अतीतसे भूतकाल जानना चाहिये. धर्मका प्रथम न प्राप्त होना अनागत अध्वा है. धर्मका वर्तमान होना वर्तमान अध्वा है और वर्तमान होकर निवृत्त होना अतीत अध्वा है। यह लक्षणपरिणाम है। अनागत लक्षण वर्तमान व अतीत धर्मोंसे भिन्न होना विदित होता है. तथा वर्तमान अनागत व अतीतसे और अतीत अनागत व वर्तमानसे इसी प्रकारसे व्युत्थानमें निरोधका अनागत अध्वा है. निरोधके वर्तमान में व्युत्थानका अतीत अध्वा और व्युत्थान तथा निरोध के वर्तमानमें वर्तमान अध्वाका होना लक्षण परिणाम है. वर्तमान और अतीत कालके संबंधसे व रूप भेदसे घट नये आदिके नये पुराने होनेका ज्ञान अवस्था परिणाम है. अथवा निरोध लक्षणमें निरोध संस्कार बलवान् व व्युत्थान संस्कार दुर्बल होते हैं. यह बलवान् व निर्बल होना अवस्था परिणाम है, धर्मीका धर्मोंसे (धर्मद्वारा) धर्मोंका लक्षणसे लक्षणका अवस्थासे परिणाम होता है. इस प्रकारसे धर्म धर्मी भेदसे धर्मलक्षण अवस्थारूप तीन तरहका परिणाम होता है. तीनों कालमें धर्मी स्वरूपमात्र एकही रहता है. धर्मीमें जो वर्तमान धर्म है उसीका अतीत व अनागतमें अन्यथा भाव होता है. धर्मी (द्रव्य) का नहीं होता. जैसे सुवर्णका कोई आभूषण तोड़कर अन्य प्रकारका आभूषण बनानेसे दूसरे तरहका आकार भूषण होता है व दूसरा नाम कहा जाता है; परंतु सुवर्ण द्रव्यका अन्य भाव नहीं होता. कोई यह शंका करते हैं कि यह कहना कि धर्मी में अन्यथा भाव नहीं होता, धर्ममें होता है, यह यथार्थ नहीं है; क्योंकि धर्मोंसे भिन्न

धर्मी वा द्रव्य कुछ नहीं है आकार रूप आदि धर्म व अवस्थाभेदसे जो पदार्थ होता है वही कोई नाम विशेषसे कहा जाता है. धर्मी नामसे नहीं कहा जाता. यथा सुवर्णमें जो जो रूप आकार आदि प्रत्यक्षसे विदित होते हैं सब धर्म हैं. इन धर्मोंके परिणामसे जो अन्य आभूषण वा भाजन बनता है वह नाम विशेषसे कहा जाता है; सुवर्ण नामसे नहीं कहा जाता और रूप आकार आदि धर्मोंसे भिन्न धर्मीका रहना सिद्ध नहीं होता. इससे पूर्वापर अवस्था धर्मभेदसे धर्मोंके स्वरूपमें भेद हो जानेसे अनेक पदार्थ होते हैं. धर्मोंके समूह व अवस्था विशेषसे पृथक् (भिन्न) धर्मी कुछ नहीं मानना चाहिये. इसका उत्तर यह है कि यह शंका युक्त नहीं है; क्योंकि ऐसा मानना इस हेतुसे ऐकान्तिक अर्थात् दोषरहित सर्वथा यथार्थ नहीं हो सक्ता कि जो विना धर्मीके धर्ममात्र ही माना जावे तो धर्मोंके परिणाम होनेसे व्यक्तिरूप कार्य विशेष होते हैं. और कार्यरूप व परिणामी (वदलनेवाले) धर्म सब अनित्य विदित होते हैं इससे तीनों लोकोंका नाश व असत् होना मानना होगा. जो यह कहा जाय कि असत् व अनित्यही मानेंगे क्या दोष है तो अनित्यता माननेमें भी ऐकान्तिक न होनेका दोष है अर्थात् सर्वथा विनाश व अभावको भी नहीं मान सक्ते; क्योंकि जो असत् है उससे कोई कार्य वा पदार्थ अथवा क्रियाका होना संभव नहीं है. विना सत्कारणके कुछ कार्य नहीं हो सक्ता. जगत्में ऐसे पदार्थ जो प्रत्यक्षके विषय हैं व क्रियाका होना विदित होता है इससे इन कार्य पदार्थोंका कारण द्रव्य वा धर्मी जो धर्मोंके परिणाम होने (वदलने) पर भी धर्मोंका आश्रयरूप बना रहता है. सत् व मानने योग्य है (प्रश्न) जो धर्मीका नाश नहीं होता तो घटको चूर्ण कर डालने व पीस डालने व उसके अणु वायुमें उड़जाने तथा अग्निमें जल जानेपर धर्मी कुछ नहीं रहता और जो रहता है तो उसका प्रत्यक्ष होना चाहिये सो नहीं होता (उत्तर) नाश होनेपर भी धर्मी रहता है. सूक्ष्म होनेके कारणसे चाहे साक्षात् नहीं दीख पड़ता, परंतु धर्मीका नाश नहीं होता यह अनुमानसे सिद्ध होता है. केवल धर्मोंका परिणाम होता है. वर्तमान धर्मोंका अतीत (नष्ट) हो जाना जैसे ऊपर सुवर्ण भाजन व कुण्डल आदि आभूषण बननेमें कहा गया है लक्षण-परिणाम है. वर्त्तमान धर्मोंके न रहनेपर भी धर्मी अन्य धर्मोंसहित बना रहता है (प्रश्न) जब धर्म अतीत लक्षण सहित होता है तब वर्तमान अनागत संयुक्त नहीं होता; जब अनागत संयुक्त होता है तब अतीत व वर्त्तमान संयुक्त नहीं होता. जब वर्त्तमान संयुक्त होता है तब अतीत अनागत संयुक्त नहीं होता. धर्ममें तीनों लक्षणोंका योग होनेसे तीनोंको एक संगमी होना चाहिये और जो नहीं होते तो तीनोंका मानना यथार्थ नहीं है. (उत्तर) धर्ममें तीनकाल सम्बंधी तीन लक्षणका होना यथार्थ है. वर्तमान हीसे अतीत अनागत कालका होना धर्ममें सिद्ध होता है; क्योंकि सअत्की उत्पत्ति व सत्का नाश नहीं होता. धर्मीमें धर्मके सत् होनेपर लक्षणभेद भी कहने योग्य हैं.

वर्त्तमान समयमें अतीत व अनागतका होना आवश्यक नहीं है. जैसे राग क्रोध यह चित्तके धर्म हैं परन्तु रागकालमें क्रोध व क्रोधकालमें राग विद्यमान नहीं होता इसी तरह तीनों लक्षणोंका एक कालमें होना संभव नहीं है. वे क्रमसे होते हैं यह धर्मके तीन अध्वा (त्रिकाल सम्बन्ध) हैं, धर्मीके नहीं हैं. धर्म तीन अध्वाओंसे लक्षित व अलक्षित अवस्थामें प्राप्त होकर द्रव्यभेदरहित अवस्था भेद मात्रसे अन्य अन्य भावसे देख पड़ते हैं. जैसे एकही स्त्री माता कन्या भगिनी व पत्नी भावसे स्थान व अवस्था भेदसे कही जाती है. जो यह संशय हो कि धर्मीको नित्य मानना और उसके नाश होनेमें अवस्था परिणाम मानना युक्त नहीं है. उत्तर यह है कि धर्मीके नित्य होनेपर भी धर्मोंके प्रकट व अप्रकट होनेकी विचित्रतासे धर्मीका उत्पन्न होना व नाश होना कहा जाता व माना जाता है ॥ १३ ॥

शान्तोदितोऽव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

जो शांत[1] उदित और अव्यपदेश्य धर्मोंमें अर्थात् भूत वर्तमान और भविष्यत् धर्मोंमें अन्वयी है अर्थात् सामान्य विशेष रूपसे रहनेवाला सब धर्मोंका सम्बन्धी है वह धर्मी है ॥ १४ ॥

सो० —तीन कालके मांहि, धर्मी अनुगत धर्मके ।
कबहुँ न सो बिलगाहि, जैसे घटते मृत्तिका ॥ १४ ॥

जो भूत वर्तमान और भविष्यत् धर्मोंमें सामान्य व विशेषरूपसे अन्वयी है अर्थात् जिसका सम्बन्ध किसी कालवाले धर्मोंसे भिन्न नहीं होता ऐसा धर्मोंका सम्बन्धी है, वह धर्मी है. (प्रश्न) जो धर्मी न माना जावे तो क्या हानि ? (उत्तर) जो धर्मी को न माने अन्वय (धर्मीका सम्बन्ध) रहित धर्ममात्रही माना जावे तो भोगका अभाव होना चाहिये; क्योंकि धर्मोंके परिणाम होनेपर औरके ज्ञानसे किये हुए कर्मोंके फल भोग करनेका और दूसरा अधिकारी नहीं हो सक्ता. तथा स्मृतिका अभाव हो जाना चाहिये अर्थात् जो धर्म अतीत (व्यतीत) हो गये उनके समयमें जो

---

१ शांत शब्दका अर्थ व्यापारसे निवृत्त होजानेका है. जो हो जाता है वही भूत कहा जाता है. इससे शांत शब्दका अर्थ भूत व उदित शब्दका अर्थ उदयको प्राप्त है इसके अर्थसे वर्तमानकाल होने का बोध होता है इससे उदित शब्दका अर्थ वर्तमान साधारणसे विदित होता है; परन्तु अव्यपदेश्य शब्द जो भविष्यत् अर्थवाचक सूत्रमें कहा है उसके अर्थके साथ भविष्यत् कालका सम्बन्ध ज्ञात न होनेसे सन्देह होता है; क्योंकि अव्यपदेश्य उसको कहते हैं जो कहने योग्य न हो. इसका समाधान यह है कि पृथिवी आदि धर्मियोंमें विशेष रूप आकार आदि उनके धर्म जो वर्तमानमें प्रकट नहीं हैं परन्तु उनसे प्रकट होनेके योग्य हैं वह भी शक्तिरूपसे उनमें स्थित हैं; क्योंकि जो न हों तो वायुसे घट न बन सकनेके समान कभी उनसे वह प्रकट न हो सके परन्तु जबतक नहीं होते तबतक वे कहने योग्य नहीं होते इससे होनेवाले (भविष्यत्) धर्मोंको अव्यपदेश्य नामसे कहा है ।

जाना गया उसका ज्ञान अव वर्तमान धर्मोंमें न होना चाहिये; क्योंकि औरके देखे या जाने हुएका स्मरण औरके नहीं होता, पूर्व देखे या जाने हुए वस्तुके स्मरणसे यह विदित होता है कि धर्मोंके अन्यथा हो जानेपर भी जो स्मरण करता है वह अन्वयी धर्मी है. अन्वय रहित धर्मही मात्र नहीं है यह धर्मधर्मीभेद चेतनमें तथा जड़ पदार्थ में दोनोंमें विचारने व निश्चय करने योग्य है ।। १४ ।।

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ।। १५ ।।

क्रमका अन्य होना परिणामके अन्य होनेमें हेतु (कारण) है ।। १५ ।।

दो० –क्रमकी जो है अन्यता, हेतु अन्य परिणाम ।

दृढ़ कर जानहु चित्तमें, दृष्टादृष्ट सुनाम ।। १५ ।।

यह संशय निवारणके लिये कि एक धर्मीमें एकही परिणाम होना चाहिये. बहुत परिणामोंके होनेमें क्या कारण है ? सूत्रमें यह वर्णन किया है कि क्रमका अन्य होना परिणामके अन्य होनेका हेतु है अर्थात् क्रमका और और होते जाना परिणामके और और होने अर्थात् बहुत परिणामोंके होनेका कारण है जैसे मिट्टीका पिण्ड, मिट्टीके कपाल, मिट्टीके कण आदि एकही मिट्टीके क्रमभेद होने पर पिण्ड घट आदि बहुत परिणाम हो जाते हैं पूर्वसे अपर अवस्थामें होनेको समनन्तर कहते हैं. जो जिसके धर्मका समनन्तर है वह उसका क्रम कहा जाता है यथा–पिण्डसे घटका होना यह धर्म परिणामका क्रम है. घटके अनागत भावसे (भविष्यत् भावसे) वर्तमान भाव क्रम है और पिण्डके वर्तमान भावसे अतीत भाव क्रम है यह लक्षणपरिणामके क्रम हैं, अतीत भूतका क्रम नहीं होता, क्योंकि उसमें पूर्व भाव नहीं है उससे पूर्व होनेका अभाव है घटका नयेसे पुराना होना अवस्था परिणामका क्रम है, यह धर्म लक्षण-विशिष्ट तीसरा परिणाम है. चित्तके परिणाम दो प्रकारके हैं, एक परिदृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष जैसे काम सुख आदि, दूसरे अपरिदृष्ट अर्थात् अप्रत्यक्ष या परोक्ष जो आगम प्रमाण व अनुमानसे जाने जाते हैं. अपरिदृष्ट सात तरहका होता है; एक निरोध अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि अवस्था जिसमें सब वृत्तियोंका निरोध होता है. दूसरा कर्म (पुण्य व पाप) जिसका सुख दुःख भोग होनेसे अनुमान द्वारा और शास्त्रसे प्रमाण होता है. तीसरा संस्कार जिसका स्मृतिसे अनुमान होता है. चौथा परिणाम तो चित्तके चंचल व त्रिगुणरूप होनेसे प्रति क्षणमें अनुमान किया जाता है. पांचवें सजीवन जो श्वास प्रश्वास प्राणधारणसे अनुमान किया जाता है. छठवां चेष्टा क्रिया सातवां शक्ति जो कार्योंकी सूक्ष्म अवस्था रूप चित्तका धर्म है व स्थूल कार्योंसे उसके कारणरूप होनेका अनुमान होता है ।। १५ ।।

अब संयमके फलको वर्णन करते हैं–

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ।। १६ ।।

तीन परिणामोंके संयमसे अतीत व अनागत (भूत व भविष्यत्) का ज्ञान होता है ।।१६ ।।

दो०—धर्मलक्षणा आयुमें, संयम दृढ़ कर जोइ ।
भूत अनागत ज्ञानको, सहजहि पावत सोइ ।। १६ ।।

धारणा ध्यान व समाधि इन तीनोंके होनेको 'संयम' कहते हैं संयमके साधन से धर्म लक्षण व अवस्था तीन परिणामोंको साक्षात होजाने से रजोगुण व तमोगुण रूप मल दूर होकर व सत्त्वगुणका प्रकाश उदय हो जाता है और तिससे भूत व भविष्यत्का ज्ञान होता है ।। १६ ।।

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्सङ्करस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ।। १७ ।।

शब्द अर्थ व प्रत्ययों (बोध) के परस्परका अध्यास रूप (स्मरण स्वभाववाला) संकेतसे जो परस्परका अति योग (मेल) है उसके अतिविभाग (भेद) के संयमसे सब प्राणियोंके शब्दका ज्ञान होता है ।। १७ ।।

दो० —शब्द अर्थ और ज्ञानको, भावहेतु संकेत ।
ताके भेदाभेदमें, संयम कर चित देत ।।
दृढ़कर संयमके किये, होत शब्दकर ज्ञान ।
प्राणिमात्रके शब्दमें, होत अर्थको भान ।। १७ ।।

शब्द अर्थ व ज्ञानके परस्परका स्मरण स्वभाव या हेतुरूप एक संकेत विशेष शब्द व अर्थोंके साथ हैं जिससे कि शब्दाविशेषके सुननेसे उसके अर्थविशेषका स्मरण व ज्ञान होता है और इन तीनोंमें ऐसा मेल वा योग है कि इनका परस्पर पृथक् होना विदित नहीं होता यथा गौ शब्द गौ अर्थ और 'यह गौ है' इस ज्ञानके होनेमें तीनके पृथक् होनेका बोध नहीं होता है. ऐसे इन तीनोंके योगके विभागको इस प्रकारसे योगी संयम करे कि शब्दका अर्थके साथ केवल माने हुए संकेतका कि इस अर्थविशेष (पदार्थ) का यह नाम है, सम्बंध है और कुछ योग नहीं है; क्योंकि शब्द आकाश का गुण (धर्म) है. व श्रोत्र इन्द्रियका विषय है; व मुखद्वारा उर, कण्ठ, जिह्वा, मूल, दन्त, नाक, ओंठ और तालु इन आठ स्थानोंसे ध्वनि परिणामसे बने हुए अक्षरोंका उच्चार होता है और कई अक्षरोंसे मिला हुआ एक पद वा नाम होता है. उस पदके उच्चारण करनेमें पूर्व पूर्वके अक्षर उत्तरवाले अक्षरके उच्चारण करते नाश होते जाते हैं. ऐसे अक्षरोंसे अर्थके साथ योग नहीं होसकता, न अर्थके वाचक हैं तथा अक्षरों के मेलसे बना हुआ पद भी अंतवर्ण (अक्षर) के उच्चार समाप्त होतेही नष्ट हो

जानेसे अर्थवाचन नहीं है. न उसका आपसे कुछ योग होना अंगीकार हो सक्ता है, इससे शब्द अर्थसे भिन्न है. गौ शब्द सुननेसे जो गौ अर्थका ज्ञान होता है वह शब्द व अर्थ दोनोंसे भिन्न है, क्योंकि जो गौ शब्द व गौ शब्दवाच्य अर्थका संकेत नहीं जानता उसको गौ शब्दसे गौका ज्ञान नहीं होता. इससे शब्दसे भिन्न है और जो जनता है कि यह गौ है उसके नाश होनेपर भी उसके स्वरूपको स्मरणसे जानता है, इससे अर्थसे भिन्न है इस प्रकारसे विभाग तथा शब्द अर्थ व ज्ञानके लक्षण व कर्ता क्रिया कारक नाम आख्यातोंके विभागमें संयम करनेसे संयमी योगी पशु पक्षी आदि सब प्राणियों के शब्दको जानता है कि यह इस अर्थको कहते हैं. कर्ता क्रिया कारक नाम आख्यातके भेद वर्णन करनेसे कुछ लाभ न समझकर संक्षेपसे ही वर्णन किया है; क्योंकि यह व्याकरणका विषय है और व्याकरण जाननेवालोंके समझने योग्य व उन्हींको उपयोगी हो सक्ता है. भाषा जाननेवालोंको उससे कुछ फल नहीं होता ।। १७ ।।

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ।। १८ ।।

संस्कारोंके साक्षात् करनेसे पूर्वजन्मका ज्ञान होता है ।। १८ ।।

दो० –संस्कार संयम किये, साक्षात्कार प्रधान ।
तबही पूरव जन्मकी, जाति होत सब भान ।।
जैसे जैगीषव्य ऋषि, साक्षात्कार संस्कार ।
दस कल्पनकी योनि निज, जानी सुगम विचार ।। १८ ।।

दो प्रकारके संस्कार एक वासनारूप ज्ञानसे उत्पन्न स्मृतिके हेतु तथा अविद्या संस्कार अविद्या आदि पूर्वोक्त (पहिले कहे हुए) क्लेशोंके हेतु दूसरे धर्म अधर्मरूप जन्म आयु और भोगके हेतु पूर्व जन्मोंमें हुए निरोध शक्ति व जीवन धर्मवाले चित्तके धर्म हैं. यह संस्कार जो अप्रत्यक्ष है वेद प्रमाण और अनुमानसे जाने जाते हैं. इनमें संयम करनेसे संस्कार साक्षात् करनेको योगी समर्थ होता है और विना देश काल निमित्त रूपोंके अनुभव इनका साक्षात्कार नहीं होता. इससे देश काल अनुभवसहित संयमसे संस्कारोंके साक्षात् करनेसे पूर्व जन्मका ज्ञान होता है. इसी प्रकारसे परके संस्कार साक्षात् करनेसे संयमी (योगी) को परके पूर्वजन्मका ज्ञान होता है. यहां संस्कार साक्षात् करनेमें जैगीषव्य ऋषिका आख्यान (इतिहास) जाननेको योग्य है. उसको यहां वर्णन करते हैं–महात्मा जैगीषव्य ऋषिको संस्कार साक्षात् करनेसे दशकल्पमें जो देवता मनुष्य तिर्यक् योनियोंमें उनके जन्म हुए थे उन सबका ज्ञान विवेकज ज्ञानसे उदय हुआ. उनसे आटव्य ऋषिने पूंछा कि 'हे भगवन् ! नाना प्रकारके जन्म जो देव मनुष्य तिर्यक् योनियोंमें आप दशकल्पमें धारण किया और गर्भसे उत्पन्न होनेका दुःख भोग करते देव आदि योनियोंमें सुख व दुःख भोग किया

है, इनमेंसे सुख या दुःख क्या अधिक प्राप्त हुआ और सुख किस योनिमें है ?' जैगीषव्यने कहा कि 'जितनी योनियोंमें मैं बारंबार उत्पन्न हुआ उनमें नरक तिर्यक् योनि में तो दुःख अधिकही है, परन्तु ऐंसा किसी योनि देवता आदिमें नहीं हुआ जिसमें दुःख न प्राप्त हुआ हो, सब योनियोंमें दुःख है. आटव्यने कहा कि, 'प्रकृतिवश करने से जो सिद्धियां प्राप्त होती हैं जिससे संकल्प वा इच्छामात्रहीसे दिव्य भोग प्राप्त होते हैं वह भी दुःख है ?' जैगीषव्यने कहा कि 'लौकिक सुखकी अपेक्षा प्रकृति वश करनेसे सिद्धियोंके प्राप्त होनेसे जो सुख होता है वह अतिसुख है; परन्तु मोक्षकी अपेक्षा वह भी दुःख है; क्योंकि दुःखरूप जो तृष्णातन्तु है वह नहीं टूटता तृष्णातन्तु के टूटनेसे अर्थात् सर्वथा तृष्णाके निवृत्त हो जानेसे मुक्त पुरुष प्रसन्न होकर अति उत्तम सुखको प्राप्त होता है अर्थात् केवल मोक्षही सुखरूप है ।। १८ ।।

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ।। १९ ।।

प्रत्यय (चित्तकी वृत्ति) के संयमसे परके चित्तका ज्ञान होता है ।। १९ ।।

दो० –परके चितकी वृत्तिमें, कर संयम चित साध ।
परके चितके ज्ञानको, पावत तब निर्बाध ।। १९ ।।

प्रत्ययके संयमसे प्रत्यय साक्षात् करनेसे परके चित्तका ज्ञान होता है, परन्तु चित्तकी वृत्तिमात्रका ज्ञान प्रत्ययके संयमसे होता है. चित्तके आलम्बनका ज्ञान नहीं होता अर्थात् चित्त रागको प्राप्त है इत्यादि चित्तकी वृत्तियां मात्रका ज्ञान होता है. प्रत्ययमात्रके संयमसे यह विदित नहीं हो सकता कि चित्त किस विषयमें स्थित है; क्योंकि विषयका संयम नहीं किया गया वृत्तिमात्रके संयमसे पर चित्तकी वृत्तियोंका ज्ञान होता है ।। १९ ।।

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ।। २० ।।

योगीके दूसरेके मनका सामान्य ज्ञान होना ।। २० ।।

दो० –काया और स्वरूपमें, संयम दृढ़ कर होय ।
ताहि ग्रहणकी शक्ति जो, रोकहि मुनिवर सोय ।।
परको नेत्रप्रकाश जब, परत न योगी काय ।
नहिं देखत तब रूपको, अंतर्धान कहाय ।। २० ।।

योगी यदि यह जानना चाहै कि अमुक मनुष्यका मन कैसी अवस्थामें है, तो इतना मात्र जान सकता है कि किसी आधारमें लगा हुआ है, परन्तु यह नहीं जान सक्ता कि अमुक विषयमें आसक्त है. क्योंकि दूसरेके ज्ञानका आलम्बन योगीके चित्तका आश्रय नहीं है केवल दूसरेका सामांन्य ज्ञानमात्र आलम्बन है ।। २० ।

कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तंभे चक्षुःप्रकाशासंप्रयोगेन्तर्द्धानम् ।।२१।

शरीररूपमें संयमसे उसकी ग्राह्य शक्तिके रोकनेपर नेत्रके प्रकाशका विषय न होनेसे अर्थात् नेत्रके प्रकाशका योगीके शरीरके साथ योग न होनेसे अन्तर्धान होता है ॥ २१ ॥

दो० –ज्ञान होत परचित्तको, परचित संयम देत ।
विषयन कर संयम नहीं, चित्त विषय नहिं लेत ॥
परचितमें संयम किये, होत ज्ञान परचित्त ।
विषयनके संयम भये, ज्ञानविषयकर नित्त ॥
कर आलंबनचित्त जिह, तिहँकर उपजत ज्ञान ।
चितते परचित ज्ञान लह, विषय विषयकर मान ॥ २१ ॥

शरीरके रूपमें संयमसे उसकी ग्राह्य शक्ति जो अन्यके नेत्रोंसे देखा जाता है उसके रोकनेपर नेत्रके प्रकाशका विषय न होनेसे योगीको अंतर्द्धानकी शक्ति प्राप्त होती है. इसी प्रकारसे शब्द स्पर्श रस गंधोंमें संयम करनेसे और उनकी ग्राह्य शक्तियों के रोकनेसे कर्ण जिह्वा त्वचा नासिका इन्द्रियोंके ज्ञानका शब्द आदिकोंके साथ योग न होनेसे शब्द आदिका अंतर्द्धान होता है अर्थात योगीको रोकनेसे दूसरेके शब्द आदिका ज्ञान नहीं होता ॥ २१ ॥

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरां-
तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥

सोपक्रम व निरुपक्रम भेदसे दो प्रकारका जो कर्म है उसके संयमसे अथवा अरिष्टोंसे मरनेका ज्ञान होता है ॥ २२ ॥

दो० –सोपक्रम निरुपक्रम, कर्म कहे द्वे भांति ।
संयम तिनमें करत ही, अपनो मरण दिखात ॥
सोपक्रमते शीघ्रही, निरुपक्रमकर देर ।
अथवा तीन अरिष्टतें, मरणज्ञानको हेर ॥ २२ ॥

कर्म दो प्रकारके होते हैं, एक वह जिनका फल जल्द होता है जैसे भीगा हुआ कपड़ा घाममें फैलाया हुआ जल्द सूखता है उनको 'सोपक्रम' कहते हैं. दूसरे जिनका फल बहुत काल पीछे होता है जैसे लपेटा हुआ भीगा कपड़ा छायामें देरसे सूखता है उनको 'निरुपक्रम' कहते हैं. इन कर्मोंके संयमसे मरनेका ज्ञान होता है. सूत्रमें जो एक वचन कहा है कि कर्मके संयमसे मरनेका ज्ञान होता है उसका अभिप्राय यह है कि दोनों प्रकारके अनेक कर्म जो जन्मसे लेकर मरनेतक होते हैं उन सब कर्मोंका समुदाय-रूप एक सामान्य कर्म जिसको पूर्वमें (पहिले) एकभविक नामसे जन्म और आयुका कारण होना वर्णन किया है उन सब कर्मोंके समुदायरूप एकभविकको यह कहा है

कि उसके संयमसे मरनेका ज्ञान होता है और अरिष्टोंसे भी मरनेका ज्ञान होता है. अरिष्टोंसे मरनेका ज्ञान अयोगियोंको सब मनुष्योंको होता है और हो सक्ता है अरिष्ट तीन प्रकारके होते हैं—आध्यात्मिक जैसे कानोंके छिद्र अंगुलीसे बंद करनेसे जो प्राणवायुका शब्द सुन पड़ता है उसका न सुनना. दूसरे आधिभौतिक यमदूतोंका अथवा मरे हुए पितरोंका अकस्मात् देखना. तीसरे आधिदैविक अकस्मात् स्वर्ग वा सिद्धोंका देखना इत्यादि अरिष्टोंसे मरनेका ज्ञान होता है ।। २२ ।।

मैत्र्यादिषु बलानि ।। २३ ।।

मित्रता आदिमें बल होते हैं ।। २३ ।।

दो० —मैत्री आदिकमें किये, संयम दृढ़कर साध ।
बल बाढ़त ताको विपुल, मिटत सकल जगव्याधि ।। २३ ।।

मैत्री, करुणा व मुदिता इनमें संयम करनेसे मित्रता आदि बल योगीको प्राप्त होते हैं. प्राणियोंमें सुहृद्भावना करनेसे मित्रता बल दुःखित प्राणियोंमें करुणा (दया) भाव करनेसे करुणा बल, धर्मवान् पुरुषोंमें आनन्दभाव रखनेसे मुदिता (आनन्द होना) बल योगियोंको प्राप्त होता है. चित्तकी भावनासे समाधि होती है. अधर्मीमें योगीके चित्तकी उदासीनता रहती है. इससे संयम न होनेसे कुछ बल नहीं होता ।। २३ ।।

बलेषु हस्तिबलादीनि ।। २४ ।।

बलोंमें (बलोंमें संयम करनेसे) हाथीके बल आदि होते हैं ।। २४ ।।

दो० —बलमें संयमके किये, हस्तीसम बल हो ।
गरुड़ वायुबलमें करे, तिनसमही बल सोय ।। २४ ।।

बलोंमें संयम करनेसे हाथी आदिके समान बल योगीमें प्राप्त होते हैं अर्थात् हाथीके बलमें संयम करनेसे हाथीका बल; गरुड़के बलमें संयम करनेसे गरुड़के समान बल, वायुके बलमें संयम करनेसे वायुके समान बल होता है इत्यादि ।। २४ ।।

प्रवृत्त्या लोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ।। २५ ।।

प्रवृत्तिके प्रकाशको प्रेरणा करनेसे सूक्ष्म व्यवहित (जो किसीके आड़में है) और दूरका ज्ञान होता है ।। २५ ।।

दो ०—प्रथम पादमें जो कही, ज्योतिष्मती प्रवृत्ति ।
ताको कर व्यवहार सब, सूक्ष्म भासत चित्त ।। २५ ।।

ज्योतिष्मती प्रवृत्ति जो पहिले वर्णन की गई है उसका प्रकाश उसकी ज्योति है. उसको योगी संयमसे जीतकर सूक्ष्ममें या जो वस्तु किसीके व्यवधान (आड़) से छिपी है उसमें या दूर देशमें प्रेरणा करनेसे सूक्ष्म आदिकोंको जानता है. सूक्ष्म जैसे

परमाणु आदि व्यवहित पृथिवीमें गड़ा हुआ धन आदिको जानता है और दूर जैसे मेरु आदि पर्वतमें रसायन हैं उनको जानता है ॥ २५ ॥

भुवनज्ञानं सूर्य्ये संयमात् ॥ २६ ॥

सूर्य्यमें संयम करनेसे भुवनका ज्ञान होता है ॥ २६ ॥

दो० –सूरजमें संयम करत, भुवन ज्ञान त्रय होय।
लोक चतुर्दश नरक सब, दीख परत जस जोय ॥ २६ ॥

सुषुम्णा नाड़ी द्वारा अपने हृदय व आकाशमें एकरूप तेजोमय अपने तेज व किरणोंसे भूलोक भुवर्लोक व स्वर्लोक और सब भुवनोंका प्रकाश करनेवाला जो सूर्य है. उसके संयमसे योगीको सव भुवनोंका ज्ञान होता है; सब भुवन साक्षात् होते हैं अर्थात् दीखने लगते हैं. भुवन कौन कौन हैं और उनका क्या व्याख्यान है इसके वर्णन करनेको सूत्रके साथ कुछ प्रयोजनविशेष नहीं है. भुवनोंके वर्णनमें वहुत विस्तार होगा; यहांतक कि एक अन्य ग्रंथकी रचना हो जाना संभव है इससे नहीं लिखा; सब भुवनोंका ज्ञान सूर्यमें संयम करनेसे होता है यह सूत्रका मुख्य अर्थ लिखा गया है. भुवनोंका व्याख्यान श्रीव्यासजीकृत भाष्य वा अन्य ग्रन्थोंसे जानना चाहिये ॥ २६ ॥

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

चन्द्रमें (चन्द्रमें संयम करनेसे) ताराव्यूह (तारोंकी रचना)का ज्ञान होता है ॥ २७ ॥

दो० –चंद्रामें संयम किये, होत व्यूहकर ज्ञान।
जहँ जहँ तारा वसत है, लेत सबहि पहिचान ॥ २७ ॥

चन्द्रमामें संयम करनेसे तारामण्डल वा तारोंकी रचनाका ज्ञान होता है. यहां यह सन्देह होता है, कि जब सूर्यके संयमसे सव भुवनोंका ज्ञान पृथक् होता है तो ताराव्यूहका भी हो जायगा; चन्द्रके संयमका वर्णन करनेसे क्या प्रयोजन था ? उत्तर यह है कि सूर्य्यके प्रकाशमें तारागणोंका प्रकाश मलिन होनेसे वह विदित नहीं होता, इससे ताराव्यूहका ज्ञान होनेके लिये यहां चन्द्रमामें संयम करनेको कहा है ॥ २७ ॥

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

ध्रुवमें संयम करनेसे उनकी गतिका ज्ञान होता है ॥ २८ ॥

दो० –ध्रुव निश्चलकी ज्योतिमें, संयम कर मुनि कोइ।
तारागणकी चालको, सुगम लेत सो जोइ ॥ २८ ॥

ध्रुवमें संयम साधन करनेसे उनकी अर्थात् उक्त तारागणोंकी गतिका ज्ञान होता है ॥ २८ ॥

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ।।२९ ।।

नाभिचक्रमें संयम साधनसे कायव्यूह (शरीरकी रचना) का ज्ञान होता है ।।२९।।

दो० –नाभिचक्रमें योगिजन, संयम कर चितलाय ।
कायव्यूहको ज्ञान सब, प्रकट होत जिय आय ।। २९ ।।

नाभिचक्रमें संयम साधन करनेसे शरीरकी रचना जो वात, पित्त, कफ, त्वचा, लोहू, मांस, अस्थि (हड्डी), मज्जा (चरबी), वीर्य आदि धातुओंसे संयुक्त है उसका ज्ञान होता है ।। २९ ।।

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ।। ३० ।।

कण्ठकूपमें संयमसे भूंख पियासकी निवृत्ति होती है ।। ३० ।।

दो० –कंठकूप संयम करे, भूख प्यास नहिं होत ।
उदर रहत परिपूर्ण तब, होत बंद तिहिं सोत ।। ३० ।।

जिह्वाके नीचे तन्तु तन्तुके नीचे कण्ठ व कण्ठके नीचे कूप हैं उसमें सयम सिद्ध होनेसे भूंख व पियासकी निवृत्ति होती है ।। ३० ।।

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ।। ३१ ।।

कूर्मनाड़ीमें संयम करनेसे स्थिरता होती है ।। ३१ ।।

दो० –नाभिमाहिं जे कूर्म हैं, तामें संयम देत ।
पूरण स्थिरता चित्तकी, स्वाभाविक गहि लेत ।। ३१ ।।

कूपके नीचे हृदयमें कूर्मनाड़ी अर्थात् कछुआके आकार (रूप) नाड़ी है उसमें संयम साधनसे स्थिरता प्राप्त होती है ।। ३१ ।।

मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ।। ३२ ।।

मूर्द्धं ज्योतिमें सिद्धोंका दर्शन होता है ।। ३२ ।।

दो० –मूर्धामें इक ज्योति है, तिहि संयम कर लेत ।
तीन लोकके सिद्ध सब, आय दर्श तिहिं देत ।। ३२ ।।

शिर कपालके (भीतर) छिद्र है वह प्रकाशमान ज्योतिरूप है, उसको मूर्द्ध-ज्योति कहते हैं, उसको सुषुम्णा नाड़ी भी कहते हैं, उसमें संयम करनेसे पृथिवी और आकाशमें जो सिद्ध विचरते हैं व दृष्टिमें नहीं आते वे प्रत्यक्ष होते हैं अर्थात् योगीको उनका दर्शन होता है ।। ३२ ।।

प्रातिभाद्वा सर्वम् ।। ३३ ।।

अथवा प्रातिभसे सब ज्ञान होता है ।। ३३ ।।

दो० –अथवा प्रातिभ ज्ञानते, पुरुष होत सर्वज्ञ ।
तीन काल तिहुँ लोकमें, सबको जानत सुज्ञ ।। ३३ ।।

विवेकजज्ञान (विवेकसे उत्पन्न ज्ञान) संसारसे तारनेवाला है इससे उसकी तारक संज्ञा (नाम) है और उसीको प्रातिभ भी कहते हैं. वह प्रातिभ अर्थात् विवेकज ज्ञानके पूर्वरूपमें ऐसा प्रकाश होता है जैसे सूर्यमण्डलके उदय होनेमें अंधकार निवृत्त होनेसे प्रकाश होता है. ऐसे प्रातिभ ज्ञानके उत्पन्न होनेसे भी संयमी सम्पूर्ण पदार्थको जानता है,'वा' शब्दसे यह अभिप्राय है कि, पूर्वमें बहुत प्रकारके संयम नाना प्रकारके ज्ञान उदय होनेके लिये कहे हैं. इससे यह कहा है कि पूर्व कहे हुए अनेक संयमोंसे जो अनेक पदार्थोंका ज्ञान होता है वह संपूर्ण इस प्रातिभ ज्ञानके उदयसे भी होता है ॥ ३३ ॥

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

हृदयमें चित्तका ज्ञान होता है ॥ ३४ ॥

दो० –हृदयमध्य जो कमल है, कर संयम यह नीत ।
सो प्रकाश चितमें करै, धारत ध्यान प्रतीत ॥ ३४ ॥

हृदयशब्दसे हृदयमें जो कमल है वह अधोमुख है उसको ग्रहण करना चाहिये उसके विज्ञानके लिये संयम करनेसे (संयम सिद्ध होनेमें) चित्तका ज्ञान होता है ॥३४॥

[1]सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

अत्यंत भिन्न बुद्धि व आत्माका भेद रहित एक बोध होना भोग है। यह भोग परके लिये (निमित्त) होनेसे स्वार्थ (अपने) में संयम करनेसे आत्माका ज्ञान होता है ॥ ३५ ॥

दो० –पुरुष विलग है बुद्धिते, भोगत है सब बुद्धि ।
पैं भासत दोउ एकसे, भासत अज्ञ विरुद्ध ॥
बुद्धि पुरुष दोउ भिन्न है, पैं अभेद कर भान ।
भोगधर्म हैं बुद्धिके, पुरुष अर्थ सो जान ॥
तासे भोगहु जानिये, पुरुष निमित उत्कर्ष ।
ताहि त्यागकर स्वार्थमें, संयम पुरुष प्रदर्श ॥
जब जानत या भेदको, आत्मज्ञान तब जान ।
रज तम कर पाखंड सब, मिटत आत्मकर ज्ञान ॥ ३५ ॥

बुद्धि भोग्य (भोग करने योग्य) व आत्मा भोक्ता (भोग करनेवाला) होनेसे दोनों अति भिन्न हैं इन दोनोंका विशेष (भेद) अज्ञानसे बोध न होना अर्थात् एकही बोध होना भोग है और यह भोगपर (अन्य) जो दृश्यरूप बुद्धि है उसके लिये है

---

१ सत्त्वका अर्थ बुद्धि व पुरुषका अर्थ आत्मा जानना चाहिये ।

अर्थात् दुःख सुखका भोग बुद्धिको होता है. आत्मा अज्ञानसे अपनेको दुःखी सुखी और मूढ़ मानता है ऐसा माननाही भोग है. ऐसा न मानकर सुखदुःख परके निमित्त अर्थात् बुद्धिके निमित्त होनेसे अपने लिये न जानकर अपनेको जो ज्ञानस्वभाव बुद्धिसे भिन्न जानना है उसमें संयम साधन करनेसे आत्मज्ञान होता है अर्थात् आत्मस्वरूप साक्षात् होता है ।। ३५ ।।

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ताजायन्ते ।। ३६ ।।

उससे (आत्मज्ञानसे) प्रातिभ श्रावणवेद (स्पर्श) आदर्श (रूप) आस्वाद वार्ता गंध उत्पन्न होते हैं ।। ३६ ।।

दो० –स्वारथमें संयम किये, पावत सब ऐश्वर्य ।
प्रातिभ श्रावण वेदना, रूप गंध रस वर्य ।। ३६ ।।

आत्मज्ञान (विवेकसे उत्पन्न ज्ञान) से पूर्वोक्त (पहिले वर्णन किया हुआ) प्रातिभज्ञान अर्थात् ज्ञानका परम प्रकाश होता है. प्रातिभके होनेसे प्रातिभश्रावण (दिव्य श्रावण) अर्थात् दूर देशमें हुए शब्दोंका श्रावण प्रातिभवेदन होता है अर्थात् जो परोक्ष दूर देशमें या अति सूक्ष्म पदार्थ है. उसके स्पर्शको जानना इसी प्रकारसे प्रातिभ आदर्शसे दिव्यरूप, आस्वादसे दिव्यरस, वार्तासे दिव्य गंधज्ञान होनेसे प्रयोजन है अर्थात् आत्मज्ञान होनेसे सूक्ष्म व्यवहित (किसीके अन्तर वा आड़में प्राप्त) दूर देशमें विद्यमान भूत और भविष्यत् शब्द स्पर्श रूप रस व गंधोंका ज्ञान नित्य योगीको होता है ।। ३६ ।।

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ।। ३७ ।।

वह समाधिमें विघ्न व व्युत्थान अवस्थामें सिद्धियां होती हैं ।। ३७ ।।

दो० –पूर्व उक्ति ऐश्वर्य सब, विघ्न समाधी जान ।
पै व्युत्थान समाधिमें, है सब सिद्धि समान ।। ३७ ।।

प्रातिभ ज्ञानसे जो दिव्यश्रवण आदि होते हैं उनके प्राप्त होनेसे कृतार्थ होना न समझना चाहिये; क्योंकि वह दिव्यश्रवण आदि समाधि अवस्थामें जिससे मोक्ष प्राप्त होनेका प्रयोजन है सब विघ्न व व्युत्थान अवस्थामें सिद्धियां समझे जाते व कहे जाते हैं अर्थात् ये सब सिद्धियां समाधिमें विघ्न करती हैं इसलिये परमानन्दमोक्ष के चाहनेवाले योगी इन सिद्धियोंका त्याग कर देते हैं और इनके फंदेमें नहीं पड़ते हैं ।। ३७ ।।

बंधकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ।। ३८ ।।

बंध कारण शिथिल होनेसे व प्रचार संवेदनसे चित्तका परशरीरमें प्रवेश होता है ।। ३८ ।।

दो० –धर्म और अधर्मको, बंधन कारण जान।
संयमते तिनका करै, शिथिल शक्ति जिय मान ।। ३८ ।।
सो० –पुनि कर नाडीज्ञान, जिहि मारग चित गवन कर।
परकायासें जान, चित्त करत परिवेश पुनि ।। ३८ ।।

सब जगह प्राप्त होनेवाला व रहनेवाला चित्त है, उसका एक शरीर मात्रमें स्थित रहना बंध है और इस बंधके कारण धर्म अधर्म कर्म हैं इनकी शिथिलता समाधिबलसे होती है इन बंधोंके कारणोंके शिथिल होनेसे और प्रचारसंवेदनसे अर्थात् प्रचार जो चित्तके गमन आगमनकी नाड़ी हैं उनके यथार्थ ज्ञान होनेसे योगी चित्तको अपने शरीरसे निकालकर दूसरेके शरीरमें प्रविष्ट कर देता है, चित्तके प्रवेश करनेमें चित्तके साथही सब इन्द्रियां भी दूसरेके शरीरमें प्रवेश करती हैं ।। ३८ ।।

उदानजयाज्जलपंककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ।। ३९ ।।

उदानके जीतनेसे जल कीच काँटा आदिमें असंग (मेल रहित) और इच्छा-मरण (अपनी इच्छा अनुसार मरनेवाला) होता है ।। ३९ ।।

दो० –उदानवायूके विजय, गवन करत आकाश।
जलकंटक औ पंकपर, थल इव चालन जात ।। ३९ ।।

शरीरमें पांच वायु हैं–प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इन सबमें प्राण मुख्य है, उसका स्थान हृदय है अर्थात् प्राणवायु हृदयमें रहता है. इसी तरह अपानका स्थान गुदा, समानका स्थान नाभि, उदानका कण्ठ व व्यानका सब शरीर है अर्थात् व्यान सब शरीरमें रहता है. उदानको संयमसे जीतनेसे योगी जल कीच कांटा आदिके ऊपर चलता है और जल कांटा आदि योगीके शरीरमें नहीं छू जाते और अपनी इच्छासे योगी अपने शरीरको त्याग करता है ।। ३९ ।।

समानजयाज्ज्वलनम् ।। ४० ।।

समानके जीतनेसे ज्वलन (तेज) होता है ।। ४० ।।

दो० –जो समान जीतहि पुरुष, तो हुइ अग्नि स्वरूप।
तम नाशत सब चित्तकर, करत प्रकाश अनूप ।। ४० ।।

समान वायुको जीतने (वश करने) से अग्निके समान तेजवान् होता है ।।४०।।

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यश्रोत्रम् ।। ४१ ।।

श्रोत्र (कान) व आकाश दोनोंके सम्बन्धमें संयम करनेसे दिव्य श्रोत्र होता है ।। ४१ ।।

दो० –श्रोत्र और आकाशमें, संयम कर जो कोइ ।
सूक्ष्म शब्दहू सुन परत, दिव्य श्रोत्र हुइ सोइ ॥ ४१ ॥

शब्द अकाशका गुण है और श्रोत्र इंद्रिय उसका कारण है अर्थात् श्रोत्र इन्द्रिय से शब्द सुना जाता है. शब्द और श्रोत्रका आधार आकाश है इससे श्रोत्र इन्द्रिय और आकाशका सम्बन्ध है, इन दोनोंके सम्बन्धसे संयम करनेसे योगीका दिव्य श्रोत्र होता है अर्थात् श्रोत्र इंद्रिय दिव्य होता है. दिव्य होनेसे योगी निकट व दूर सब स्थानों के शब्दोंको सुनता है. पहिले स्वार्थमें संयमसे दिव्य श्रोत्र आदिका होना वर्णन किया है. यहाँ श्रोत्र इन्द्रिय व उसका सम्बन्धी आकाश भूतके साथ जो सम्बन्ध है उसके संयमसे दिव्य श्रोत होना कहा है. इसी प्रकारसे एक एक इन्द्रिय व उसके कार्य भूतके संयमसे एक एक इन्द्रियके दिव्य होनेकी सिद्धि प्राप्त होना समझना चाहिये अर्थात् त्वक् (चमड़ा) व वायु नेत्र व तेज रसना (जिह्वा) व जल नासिका व गन्धोंके सम्बन्धमें संयम करनेसे दिव्य त्वचा आदि इन्द्रियोंका होना समझना चाहिये ॥४१॥

कायाकाशयोस्सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥४२॥

शरीर व आकाशके सम्बन्धमें संयमसे और लघु तूल
आदिमें समाधि होनेसे आकाशका गमन होता है ॥ ४२ ॥

दो० –काया औ आकाशको, कर संयम लघु तूल ।
करत गवन आकाशसो, तनक होत नहिं भूल ॥ ४२ ॥

शरीर व आकाशके सम्बन्धमें संयम सिद्ध करके लघुतूल (रुई) आदिसे लेकर परमाणुतकमें समाधि सिद्ध करनेसे सम्बन्धके वश करनेसे योगी लघु वा हलका होता है. लघु होनेसे हलकापनसे प्रथम पदसे जलमें चलता है. फिर सूर्यकी किरणोंमें विहार करता है इसके पश्चात् इच्छापूर्वक आकाशमें उड़ता है ॥ ४२ ॥

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

अकल्पिता महाविदेह जो बाहरकी वृत्ति है उससे प्रकाशके आवरणका क्षय
(नाश) होता है ॥ ४३ ॥

दो० –महाविदेहा जानिये, वृत्ती बहिर शरीर ।
सब आवरण नाश कर, बुद्धि प्रकाश गँभीर ॥ ४३ ॥

शरीरसे बाहर मनकी वृत्तिके लाभ करनेको विदेह धारणा कहते हैं. जो इस कल्पनासे बाहर देशमें धारणा की जाती है कि शरीरमें स्थित मन वृत्ति मात्रसे बाहर हो जाता है व बाहर प्रवृत्त होता है उसको कल्पिता विदेहा कहते हैं और जो विना शरीरकी अपेक्षा मन बाहरही है उसीकी वृत्ति बाहर होती है. ऐसी धारणकी जाती है, उसको अकल्पिता महाविदेहा कहते हैं. कल्पिताको प्रथम सिद्ध करके कल्पिताके

द्वारा योगी अकल्पिता महाविदेहाको साधन करता है, अकल्पिता महाविदेहाको सिद्ध होनेसे योगी परके शरीरमें प्रवेश करता है और उससे प्रकाश जो चित्तका स्वभाव है उसके आवरण (रोक) जो क्लेश व कर्म फल हैं उनका क्षय होता है. अविद्या आदि क्लेशोंके क्षय होनेसे आवरणरहित योगीका चित्त इच्छा अनुसार विहार करता है ॥४३॥

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः ॥ ४४ ॥

स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय व अर्थवत्त्वोंमें संयम करनेसे भूतोंको जीतता है अर्थात् सब भूत योगीके वश हो जाते हैं ॥ ४४ ॥

दो० –आकाशादिक भूतकी, पांच अवस्था जोइ ।
स्थूल रूप अरु सूक्षम, अन्वयार्थवत सोइ ॥
इहिमें संयम करत जब, भूत विजय तब होते ।
पावत सिद्धि अमित सो, दिव्य होत चित जोत ॥ ४४ ॥

पृथिवी आदि भूतोंके स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व यह पांच प्रकारके रूप भेद होते हैं. स्थूल आदिकोंका निदर्शन यह है कि पार्थिव (पृथिवी-वाले) गन्ध रस रूप स्पर्श शब्द ये पांच हैं. आप्य (जलवाले) गन्ध छोड़कर रस आदि चार, तैजस (तेजवाले) गन्ध व रस छोड़कर रूप आदि तीन, वायवीय (वायु वाले) गन्ध रस व रूप छोड़कर दो. आकाशीय (आकाशवाला) गन्ध आदि चार छोड़कर शब्दमात्र होनेसे पार्थिव आदि शब्द आदि एक एकका अधिक व न्यून सम्बन्ध होनेसे एक दूसरेसे विशेष (भेदयुक्त) हैं. शब्द आदिकोंके साथ रहनेवाले जो और पार्थिव आदि धर्म हैं उनका विभाग यह है. आकार गरू होना, रूक्ष होना, रंग स्थिर होना, कठिनता, सबसे भोग्य होना यह पार्थिव धर्म है. स्नेह (चिकनाई) सूक्ष्मता, प्रकाश, शुक्लता (सफेदी), वहना, गरू होना, शीत होना, रक्षा, पवित्रता, मिलाना यह आप्य (जलके वा जलवाले) के धर्म हैं. ऊपरको जाना, पचाना, जलाना (भस्म करना), प्रकाश करना, हलका होना, पतला व पवित्र करना यह तैजस (तेजवाले) हैं. चलना, पवित्रता, फेंकना, प्रेरणा, बल, रूक्ष होना यह वायवी (वायु) के हैं. सर्व गति होना (सब जगह प्राप्त होना या रहना), रचना व आकार-रहित होना, रोक न होना यह आकाशीय (आकाशके) धर्म हैं. इन धर्मोंके भेदसे पृथिवी आदि एक दूसरे विलक्षण व भिन्न हैं. आकार आदि भी सामान्य व विशेष रूपसे होते हैं. यथा–गौ घट आकार आदि होना यह पार्थिव शब्द आदि और आकार आदि स्थूल शब्द (नाम) से कहे जाते हैं. यह स्थूल भूतोंका प्रथम रूप है; सामान्य

रूपसे पृथिवीका मूर्तिरूप जलका स्नेहरूप तेजका उष्ण (गरम होना) वा[1]युका वहनशील (वहनेवाला) और आकाशका सर्वगत होना स्वरूपशब्दसे कहा जाता है. यह स्वरूप पृथिवी आदि भूतोंका दूसरा रूप है इस सामान्यके शब्द आदि विशेष रूपसे होते हैं. शब्द आदिकोंके विशेषरूप होनेका वर्णन प्रथम लिख दिया गया है. द्रव्यका स्वरूप सामान्य व विशेषका समुदाय और समूहमें विशेषरूप होता है. यथा— शरीर, वृक्ष, यूथ, वन आदि समूहके दो भेद हैं. एक जो अनेक पृथक् २ व्यक्तियोंसे युक्त समूहरूप एक माना जाता है यथा अनेक वृक्षोंसे युत वन व अनेक ब्राह्मण आदि से युत एक ब्राह्मण आदिकोंका यूथ (जमात) कहा जाता है. इसको युत सिद्धावयव कहते हैं. दूसरा जो पृथिवी आदि अवयवोंका संघात (मेल) रूप विना अन्य व्यक्तिके योग एक एकका ज्ञान होता है. जैसे शरीर वृक्ष आदि इसको अयुत सिद्धावयव कहते हैं. यह स्वरूपका भेद वर्णन किया गया. भूतोंके कारणरूप (सूक्ष्मरूप) परमाणु और उनमें प्राप्त शब्द स्पर्श रूप रस गंध सूक्ष्म शब्दसे कहे जाते हैं यह भूतोंका तीसरा रूप है. सत्त्व रज तम इन तीनों गुणोंको जिनका कार्यरूप होनेका स्वभाव है अन्वय कहते हैं यह चौथा रूप है. सत्त्व गुण आदि व उनके कार्योंका भोग व अपवर्गके निमित्त होना अर्थवत्त्व है यह पांचवां रूप है. इन भूतोंके पांच कार्य स्वरूप स्थूल आदिमें क्रमसे संयम करनेसे योगी भूतोंके स्वरूपको यथार्थ रूपसे जानता है और भूतोंको जीत लेता है जैसे वत्सके पीछे गाय स्नेहवश जाती है इसी प्रकारसे योगीके संकल्प अनुसार पृथिवी आदि भूतोंके कार्य होते हैं ।। ४४ ।।

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ।। ४५ ।।

उससे (भूतोंके जीतनेसे) अणिमादिकोंकी उत्पत्ति व काय सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है और उनके धर्मोंसे अर्थात् भूतोंके धर्मोंसे बाधा भी नहीं होती ।। ४५ ।।

दो० —पंच भूतकी विजयते, सिद्धी आवत धाय ।
अणिमादिक सिद्धि आठहू, अरु स्वरूप अधिकाय ।। ४५ ।।

स्थूल आदिके संयमसे भूतोंका जीतना जो वर्णन किया है उससे अणिमादि आठ सिद्धियां उत्पन्न होती हैं. अर्थात् प्राप्त होती हैं. स्थूलमें संयम करनेसे चार सिद्धियां होती हैं. एक अणिमा अर्थात् बड़े स्वरूपसे सूक्ष्म हो जाना. दूसरी लघिमा अर्थात् बड़ा शरीर होनेपर भी अति हलका होकर आकाशमें उड़ना व विहार करना. तीसरी महिमा अर्थात् बहुत भारी स्वरूप धारण करना. चौथी प्राप्ति अर्थात् पृथिवी में बैठे हुए अंगुलीके अग्रभागसे चन्द्रको स्पर्श करना आदि स्वरूपके संयमसे प्राकाम्य-सिद्धि होती है अर्थात् योगी जलमें प्रवेश करनेके समान अपनी इच्छासे भूमिके भीतर

---

१ तृण आदिको प्रेरण करके वायु चलता है अर्थात् उड़ाता है स्थानान्तरको ले जाता है और शरीरको चलाता है इससे वायुमें प्रेरणा धर्म है.

प्रवेश करता है. सूक्ष्म विषयमें संयम जीतने (सिद्ध करने) से वशित्व होता है, अर्थात् पृथिवी आदि भूतोंसे और गौ घट आदि भौतिकोंमें स्वाधीन होता है. अन्वय में संयमाजित् होनेसे ईशित्व होता है, अर्थात् भौतिक (भूतोंसे उत्पन्न) पदार्थोंके उत्पन्न व उनके नाश व उनकी रचना करनेमें समर्थ होता है और अर्थवत्त्वमें संयम सिद्ध करनेसे यत्र कामावसायित्व सत्य संकलपता सिद्धि होती है अर्थात् जो संकल्प करता है उसी प्रकारसे भूतकी प्रकृतियोंसे कार्य होते हैं परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि ईश्वररचित सृष्टि कार्यके विरुद्ध कार्य योगी कर सक्ता है अर्थात् उनको चन्द्रमा कर देने आदिमें समर्थ होता है. जो योग्य कार्य हैं उनको योगी अपने संकल्पसे कर सक्ता है यह आठ सिद्धियां प्राप्त होती हैं. कार्यसम्पत्तिको आगे सूत्रमें वर्णन किया है उससे यहां उसके व्याख्यानकी आवश्यकता नहीं है. पृथिवी आदि भूतोंके धर्म जो मूर्तिमान् होनेसे रोक करना आदि हैं उनसे योगीको बाधा नहीं होती अर्थात् योगी शिलाके भीतर प्रवेश करता है, शिला आदि उसके प्रवेश करनेमें रोक नहीं कर सक्ते, तथा जल भिगा नहीं सक्ता अग्नि भस्म नहीं कर सक्ता वायु उड़ा नहीं सक्ता और आकाश यद्यपि किसीका आचरण (छिपानेवाला) नहीं होता यथापि योगी अति सूक्ष्म हो आकाशमें छिप जाता है देख नहीं पड़ता ।। ४५ ।।

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ।। ४६ ।।

सब अङ्गोंकी सुन्दरता बल व वज्रके समान अंगोंकी रचना दृढ़ होना कायसम्पत्ति है ।। ४६ ।।

दो० —कायाकी संपति यह, रूप कांति बल जान ।
वज्रसमान शरीर कर, चार रूप पहिचान ।। ४६ ।।

अति सुन्दर होना बल होना वज्रके समान शरीरके अवयव व जोड़ोंका कठिन होना कायसम्पत् है. यह उक्त (कहे हुए) स्थूल आदिमें संयम करनेसे भूतोंके जीतनेसे प्राप्त होता है ।। ४६ ।।

ग्रहणस्वरूपाऽस्मिताऽन्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ।। ४७ ।।

ग्रहण स्वरूप अस्मिता अन्वय व अर्थवत्त्वमें संयम करनेसे इन्द्रियोंसे जीत होती है अर्थात् इन्द्रियोंको जीतता है ।। ४७ ।।

दो० —ग्रहणरूप अरु अस्मिता, अन्वयार्थवत रूप ।
इनमें संयमके किये, इन्द्रियविजय अनूप ।। ४७ ।।

इन्द्रियोंके पांच प्रकारके रूप भेद हैं उनका विवरण यह है सामान्य व विशेष स्वरूपसे विद्यमान रहनेवाले शब्द स्पर्श रूप रस गंध ग्राह्य हैं इनमें श्रवण आदि इंद्रियोंकी वृत्तियोंका होना ग्रहण है यह इन्द्रियोंका एक रूप है. ज्ञान है स्वभाव

जिसका ऐसी बुद्धि है उसके सामान्य व विशेषोंके [1]अयुत सिद्धावयव भेदको प्राप्त समूहरूप द्रव्य इन्द्रिय है यह इन्द्रियका स्वरूप इन्द्रियका दूसरा रूप है. अस्मिता (अहंकार) सामान्य रूपके विशेष रूप इन्द्रिय है यह अस्मितारूप होना इन्द्रियोंका तीसरा रूप है. अहंकार संयुक्त इन्द्रियां ज्ञानक्रिया और स्थिति स्वभाववाले जो सत्त्वगुण रजोगुण व तमोगुण हैं उनके परिणाम हैं यह इन्द्रियोंका अन्वयरूप चौथा रूप है. गुणोंमें जो गुणोंके अनुसार पुरुषार्थका होना है यह अर्थवत्त्वसंज्ञक इन्द्रियोंका पांचवाँ रूप है. इन पांचों इन्द्रियरूपोंमें क्रमसे संयम करनेसे एक एकको जीतकर पांचों रूपोंके जीतनेसे योगी इन्द्रियजित् होता है सब इन्द्रियाँ उसके अधीन हो जाती हैं ॥ ४७ ॥

ततोमनोजवित्वंविकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥

उससे (इन्द्रिय जयसे) मनोजवित्व, विकरण भाव और प्रधानसे जय होता है अर्थात् योगी प्रधानको जीतता है ॥ ४८ ॥

दो० –इन्द्रियजयते होत हैं, तीन प्रभाव अरूप ।
मनजवित्व बिकर्ण अरु, जय प्रधान अनुरूप ॥ ४८ ॥

इन्द्रियजयसे (इन्द्रियोंको जीतनेसे) मनोजवित्व अर्थात् शरीरकी अतिउत्तम गति होना विकरणभाव अर्थात् विना देहसम्बंध दूर देशमें प्राप्त भूत व भविष्यत् कालमें हुए व होनेवाले और अतिसूक्ष्म विषयोंका जानना प्रधानजय अर्थात् सम्पूर्ण प्रकृतिके कार्योंका वश होना यह तीन सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं इन तीन सिद्धियोंको मधुप्रतीक कहते हैं ॥ ४८ ॥

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४९ ॥

बुद्धि व पुरुषके भिन्न होनेका जिसको ज्ञान है केवल उसीको सब भावों (पदार्थों) का अधिष्ठाता होना व सबका ज्ञाता होना सिद्ध होता है ॥ ४९ ॥

दो० –प्रकृति पुरुषको ज्ञान जब, होत चित्तमें आय ।
सर्व भाव अधिपति बने, अमित ज्ञान सो पाय ॥ ४९ ॥

रजोगुण तमोगुण मल जिसके दूर हो गये हैं और विवेकसे उत्पन्न ज्ञानसे बुद्धि व आत्माके भिन्न होनेका जिसको निश्चय हो गया है और जो वशीकार संज्ञा वैराग्यमें वर्तमान है वही सब भावोंका अर्थात् प्रधान व सम्पूर्ण उसके परिणाम रूप पदार्थोंका अधिष्ठाता होता है और सब प्राणियों व पदार्थोंके अतीत अनागत और

---

१ अयुत सिद्धावयवका वर्णन पहिले ४३ सूत्रके भाष्य में हो चुका है इससे यहाँ नहीं लिखा गया उक्त सूत्रके भाष्यसे देखना चाहिये ।

वर्तमान धर्मोसहित स्थित गुणोंको जानता है इसको विशेषिका सिद्धि कहते हैं इसको प्राप्त होकर योगी सब क्लेश व बन्धनसे रहित हो पूर्णज्ञान होकर आनन्दसे विचरता है ।। ४९ ।।

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ।। ५० ।।

उसमें भी वैराग्य होनेसे दोष (क्लेश) बीजोंके नाश होनेपर कैवल्य मोक्ष होता है ।। ५० ।।

दो० –विवेकख्याति वैराग्यते, दोषबीज क्षय होत ।
नशत अविद्याबीजके, पावत मुक्ती जोत ।। ५० ।।

उसमें अर्थात् विवेकख्यातिरूप बुद्धिमें भी वैराग्य होनेसे दोषवीज जो राग द्वेष मोह कर्मफल संस्कार हैं उनके क्षय होनेसे चित्तमें परवैराग्य होता है वैराग्य होनेसे पुरुषको मोक्ष प्राप्त होता है. मोक्ष होनेमें पुरुष चेतन आनन्द स्वरूपमात्र रहता है. यह जो विवेक वृत्तिरूप सत्त्वगुणका कार्य बुद्धि है उसमें वैराग्य होना पर-वैराग्य व परवैराग्यसे मोक्ष होना वर्णन किया है इसका भाव यह है कि विवेक प्रत्यय अर्थात् विवेक वृत्ति वा विवेकरूप ज्ञान होनेसे विषयोंसे वैराग्य होता है जिस विवेक प्रत्ययसे विषयोंसे वैराग्य होता है वह सत्त्वरूप बुद्धिका धर्म है बुद्धि सत्त्वरूप प्रधान का कार्य है और त्यागने योग्य वर्णन की गई है उस पुरुष परिणाम रहित शुद्धि बुद्धिसे भिन्न है, इससे जिस विवेकबुद्धिसे विषयोंसे वैराग्य होता है उस विवेक प्रत्ययरूप बुद्धिमें भी वैराग्य होनेसे व गुणोंके वियोग होनेसे क्लेशके बीजोंका नाश होता है. क्लेश बीजोंके नाश होनेसे मुक्ति होती है मुक्ति होनेसे पुरुष फिर तीनों तापोंको भोग नहीं करता इसको संस्काराशेष सिद्धि कहते हैं ।। ५० ।।

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ।। ५१ ।।

स्थानियों (देवताओं) के उपनिमंत्रणमें फिर अनिष्ट (क्लेश) प्राप्त होनेसे संग व स्मय न करना चाहिये। । ५१ ।।

दो० –जब देवादिक आयकर, करै निमंत्रणा जासु ।
तिनसें प्रीति न करहि सो, हुए अनिष्ट पुनि तासु ।। ५१ ।।

योगमें जो विघ्न उत्पन्न होते हैं उनके निवारणके लिये यह उपदेश किया है कि स्थानियोंके उपनिमन्त्रणमें संग व स्मय न करना चाहिये इसका व्याख्यान यह है कि योगी चार प्रकारके होते हैं प्रथम कल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति और अति-क्रान्तभावनीय, प्रथम योगी संयममें प्रवृत्तमात्र परके सिद्धि आदिको नहीं जानता, दूसरा (मधुभूमिक) संप्रज्ञात योगसे ऋतंभरा प्रज्ञा अवस्थाको प्राप्त भूत व इन्द्रियों को साक्षात् करके जीतनेकी इच्छा करता है, तीसरा (प्रज्ञाज्योति) भूत व इन्द्रियों

का जीतनेवाला है अर्थात् सम्पूर्ण जो भावना किये गये हैं व जिनकी भावना करना योग्य है उनमें रक्षा बन्ध करके कृत (किये गये) व कर्तव्य (करने योग्य) का साधन करनेवाला है. चौथा (अतिक्रांतभावनीय) जीवन्मुक्त होता है जिसका केवल चित्तका लय होनाही प्रयोजन है इस अतिक्रान्तभावनीय योगीके प्रज्ञा (बुद्धि) की सात प्रकारकी प्रान्तभूमि होती है इनका व्याख्यान पूर्वही किया गया है. इनमेंसे प्रथम योगी देवता आदिसे उपनिमन्त्रण (प्रार्थना) किये जानेके योग्य नहीं होता. दूसरा मधूभूमिक जब मधुमती भूमिको साक्षात् करता है और इन्द्रियोंके जीतनेकी इच्छा करता है तब उसके सत्त्व (बुद्धि) में शुद्धता होते देखकर स्थानी अर्थात् स्थानोंके देवता स्थानोंसे उपनिमन्त्रण (आदर सत्कारके लिये बुलाना या प्रार्थना करना) करते हैं अर्थात् उत्तम उत्तम भोग दिखाकर योगीसे यह कहते हैं कि, यहां स्थित हो यहां रमण करो क्या अच्छा यह भोग है यह अति सुन्दर कन्या है क्या अच्छा रसायन है कि जिससे जरा मृत्यु नहीं होती, कैसा आकाशमें चलनेवाला विमान है कैसे कल्पवृक्ष हैं उत्तम अप्सरा हैं दिव्य कर्ण नेत्र हैं यह वज्रके समान शरीर है यह अजर अमर देवताओंके स्थान हैं ऐसा जो स्थानियोंका उपनिमंत्रण है उसमें संग व स्मय न करना चाहिये संगके दोषोंको विचारकर ऐसी भावना करै कि मैं इस घोर संसारमें बारम्वार जन्म व मरण क्लेशरूप अन्धकारमें परिवर्तमान यत्न व साधनसे क्लेश अंधकारका नाश करनेवाला योगप्रदीप जो प्रकाशित किया है उसके यह तृष्णायोनि (तृष्णाके उत्पन्न करनेवाले) विषय शत्रु हैं मैं पूर्वही इस विषयतृष्णासे ठगा गया अब ज्ञानप्रकाशको प्राप्त फिर किस तरह जरते हुए संसार अग्निमें अपने आत्माको ईंधनके समान जलाऊं जो विषयभोग स्वप्नके समान व तुच्छ कृपण जनोंसे इच्छा करने योग्य हैं उनसे बचा रहना चाहिये, इसीमें कल्याण है. इस प्रकारसे संग त्यागका निश्चय करके समाधिमें प्राप्त होय और यह मेरे योगका प्रभाव है कि देवता मेरी प्रार्थना करते हैं ऐसे अहंभाव अंधकार (अहंकार) को स्मय कहते हैं यह न करै यह योगभ्रष्ट होनेका कारण है योगभ्रष्ट होनेसे फिर अनिष्ट जो क्लेश आदि हैं उनका प्रसंग होता है अर्थात् फिर क्लेश आदि प्राप्त होते हैं इससे स्थानियोंके उपनिमन्त्रणमें संग व स्मय न करना चाहिये संग व स्मय न करनेसे दृढ़ होकर योगी समाधिको प्राप्त होता है ।। ५१ ।।

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ।। ५२ ।।

क्षण और उनके क्रमोंमें संयमसे विवेकज (विवेकसे उत्पन्न) ज्ञान होता है ।। ५२ ।।

दो० –क्षण और क्षणक्रममें करत, संयम योगी जोय ।
तिनको होत विवेक सब, ज्ञान सकल दृढ़ होय ।। ५२ ।।

नियत समय पाकर जो परमाणु चलता है व चलनेमें पूर्व देशको छोड़ता है वह उत्तरदेश (आगेकी जगह) को प्राप्त होता है यह क्षण है और इन क्षणोंका प्रवाह न रुकना क्रम है क्षणोंका और उनके क्रमोंका समूह होना जो माना जाता है अथवा भासित होता है यह यथार्थ नहीं है क्योंकि क्षणोंका समूहरूप जो मुहूर्त रात्री दिन है यह कालवस्तुसे शून्य है एक बुद्धिसे मान लेना मात्र है. भ्रमसे लोकमें वस्तुस्वरूपके समान भासित होता है क्षणोंके पूर्वसे उत्तर होनेमें अर्थात् पहिलेसे आगे चलने वा होनेमें जो एक दूसरेसे अन्तर होता जाता है इसको क्रम कहते हैं परन्तु विचारसे क्षणोंका समूहमें क्रमका कोई वस्तु होना सिद्ध नहीं क्योंकि दो क्षण एक साथ नहीं होते दोनोंका साथ होना असंभव होनेसे क्रम नहीं हो सक्ता अर्थात् पूर्वके न रहनेमें वर्तमान होता है न रहे हुएका वर्तमानके साथ संयोग नहीं हो सक्ता इससे एक एक क्षण वर्तमान है पूर्व व उत्तर क्षण कुछ नहीं है इससे क्षणोंका समाहार (संयोग) नहीं है जो हुए और होनेवाले क्षण हैं वह परिणाम संयुक्त व्याख्यान करने योग्य हैं. केवल एक वर्तमानही क्षणसे सम्पूर्ण लोक परिणामका अनुभव करता है इन क्षणोंके आरूढ़ सब धर्म हैं इन क्षणों व क्षणोंके क्रमोंमें संयम सिद्ध करनेसे क्षण व क्रम साक्षात् होते हैं साक्षात् होनेके पश्चात् विवेकजज्ञान (विवेकसे उत्पन्न ज्ञान) प्रकट होता है ।।५२ ।।

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ।। ५३ ।।

जब समान पदार्थोंमें जाति, लक्षण व देशोंसे एक दूसरेसे भेद होनेका निश्चय नहीं होता तब उससे अर्थात् विवेकज ज्ञानसे होता है ।। ५३ ।।

दो० –होत विवेकज ज्ञानते, तुल्य वस्तु कर ज्ञान ।
लक्षण जात अरु देसकर, भेद परत नहिं जान ।। ५३ ।।

लोकमें एक दूसरेसे भेद निश्चित्त होनेके तीन हेतु हैं जाति, लक्षण और देश जो दो पदार्थ देश व लक्षणमें समान हैं उनमें जाति अन्यता (एकके दूसरेसे भिन्न होना) जाननेमें हेतु होता है. यथा गौ और नील गौमें जातिसे (जातिद्वारा) भेद होनेका ज्ञान होता है और जो जाति व देशमें दो पदार्थ समान होते हैं उनमें लक्षण उनके भेद जाननेमें हेतु (कारण) होता है जैसे दो गौ जाति व देश (शरीरपरिमाण) में समान हैं उनमें लक्षण अर्थात् कृष्ण व शुक्ल (काले व सफेद) आदि रंगसे भेद विदित होता है और जो जाति व लक्षणमें तुल्य हैं उनमें देशसे भेद होनेका ज्ञान होता है. यथा दो आंवले जो जाति व लक्षणमें समान हैं उनका भेद पूर्व व उत्तर देशसे जाना जाता है और जब इन दोनों आंवलोंको जिसने प्रथम देखा है उसकी दृष्टि बचाकर पूर्वको उत्तर व उत्तरको पूर्व कर देवै तौ जाति लक्षणमें समान होने और देशका भेद न ज्ञान होनेका भेदका निश्चय नहीं होता जब जाति लक्षण व देशोंसे भेद

होना विदित नहीं होता तब योगीको विवेकजज्ञानसे भेद विदित होता है अर्थात् लोकको जाति लक्षण व देशद्वारा पदार्थोंके भेदका ज्ञान होता है व योगियोंको विना जाति लक्षण देशके विवेकज ज्ञानसे भेद होनेका निश्चय होता है ।। ५३ ।।

तारकंसर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ।। ५४ ।।

तारकज्ञान जो विवेकज ज्ञानरूप है विना क्रम उसमें सब विषयोंका ज्ञान होनेसे कोई विषय शेष (बाकी) न रहनेसे तारक सर्व विषय है अर्थात् कोई विषय रहित नहीं है ।। ५४ ।।

दो० –भवतारक सब विषयकर, ज्ञान सर्वथा होय ।
तीन कालमें क्रमरहित, ज्ञान विवेकज सोय ।। ५४ ।।

तारकसंज्ञक विवेकजज्ञान संसारसागरसे तारता है इससे तारक कहते हैं इसमें सब विषयोंका ज्ञान होता है व विना क्रम एकही क्षणमें अनेक या सब पदार्थों को जानता है कोई विषय इसमें शेष नहीं रहता इससे सर्व विषय हैं अर्थात् सब विषयोंके ज्ञान संयुक्त हैं ।। ५४ ।।

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ।। ५५ ।।

सत्त्वपुरुष दोनोंकी शुद्धि सम होनेमें मुक्ति होती है ।। ५५ ।।

दो० –बुद्धि पुरुषकी शुद्धि अरु, साम्यावस्था जोइ ।
ताहि कहत कैवल्यता, मुक्तिरूप है सोइ ।। ५५ ।।

जब रजोगुण व तमोगुण मलसे रहित शुद्धसत्त्वरूप अर्थात् सत्त्वगुणरूप बुद्धि होती है जिससे पुरुषके पृथक् (बुद्धिसे भिन्न) होने मात्रका बोध होता है व सम्पूर्ण क्लेशबीज भस्म हो जाते हैं तब पुरुषका शुद्धरूप भासित होता है और पुरुष जो अविद्या से दुःख सुख भोग करता है उस भोगका अभाव होता है यही पुरुष स्वरूपकी शुद्धि है जब इस प्रकारसे सत्त्व (बुद्धि) व पुरुषकी शुद्धि होती तब मुक्ति होती है. जिसके सत्त्व व पुरुषरूपकी शुद्धि होनेसे क्लेशबीज भस्म हो जाते हैं उसके ज्ञानमें किसी सिद्धि या विभूतिकी अपेक्षा नहीं होती सत्त्वशुद्धि होनेके द्वारा समाधिसे उत्पन्न ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं परन्तु ऐश्वर्य प्राप्त होना मुख्य प्रयोजन नहीं है. मुख्य परमार्थ यह है कि ज्ञान होनेसे अविद्याका नाश अविद्याके नाशसे क्लेशोंका नाश होता है क्लेशोंके अभाव (न रहने) से कर्म फलोंकी निवृत्ति होती है फिर पुरुषको भोग नहीं होता पुरुषस्वरूप मात्र निर्मल ज्योतिरूप रहता है यही पुरुषका कैवल्य नामक मोक्ष है ।। ५५ ।।

इति श्रीपातंजले योगशास्त्रे देशभाषाकृतभाष्ये श्रीमत्प्यारेलालात्मजबाँदामण्डलान्तर्गततेरहीत्याख्यग्रामवासि श्रीप्रभुदयालनिर्मिते विभूतिपादस्तृतीयः समाप्तः ।। ३ ।।

अथ कैवल्यपादः ४

जन्मौषधिमन्त्रतपस्समाधिजाः सिद्धयः ।। १ ।।

जन्म, औषधि, मंत्र, तप और समाधिज (समाधिसे उत्पन्न) सिद्धियां हैं ।। १ ।।

दो० –चरणकमल वंदन करों, पातंजलिमुनिकेर ।
कैवल्यपाद वर्णहु सुमिरि, मुक्ति न लावहि देर ।।
जन्मौषधि और मंत्र तप, पुनि समाधि ते जान ।
सिद्धी प्राप्ती होत हैं, कर साधन सन्मान ।। १ ।।

मनुष्य जन्ममें स्वर्गभोग फल प्राप्त होने योग्य धर्माचरण व्रत करनेसे देहत्याग करनेपर पुण्य विशेषसे देवजन्मको प्राप्त होता है देवयोनिमें होनेहीसे दिव्य देह होनेसे अणिमा आदि सिद्धियां प्राप्त होती हैं यह जन्मसिद्धि है. औषधिविशेषरूप रसायनोंके योगसे जरामरणका निवारण करना शरीरमें विशेष शक्तियोंका प्राप्त करना औषधिसिद्धि है. मंत्रोंसे (मंत्रोंके द्वारा) आकाशमें गमन करना व अणिमा आदि सिद्धियोंका प्राप्त होना मंत्रसिद्धि है. तप करनेसे इच्छाचारी होना अणिमा आदि प्राप्त होनेका जो मनोरथ हो उसका पूर्ण होना तपसिद्धि है. समाधिज सिद्धियों का जो व्याख्यान हो गया यह पांच प्रकारकी सिद्धियां होती हैं. सिद्धियोंके प्राप्त होनेसे जो योगी एक जातिसे अन्य जाति तथा रूपको धारण करता है यह और और शरीर व रूपोंका हो जाना तथा प्राणियोंका एक जन्मसे अन्य जन्ममें होना कैसे होता हैं. शरीरोंके परिणाम (बदलने) के उपादान कारणोंका न्यून अधिक होना कैसे संभव है? क्योंकि विना कारणकी विलक्षणता कार्यमें विलक्षणता वा भेद नहीं हो सक्ता. इस संदेह निवारणके लिये अन्य जाति व रूपमें प्राप्त होनेका हेतु आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ।। १ ।।

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरांत ।। २ ।।

प्रकृतिकी पूर्णतासे जात्यन्तरमें (और जाति वा जन्ममें) परिणाम होता है ।। २ ।।

दो० –प्रकृतिके पूरण भये, जात्यन्तरको पाय ।
होत पृथक परिणामसों, जन्मांतरमें जाय ।। २ ।।

शरीर व इन्द्रियोंके एक जातिसे दूसरी जातिमें परिणाम होनेको जात्यन्तर परिणाम कहते हैं. जैसे मनुष्यजातिमें परिणत (परिणामको प्राप्त) जो शरीर व इन्द्रिय हैं उनका देवता व तिर्य्यंग् योनिमें परिणाम होना जात्यन्तर परिणाम है. यह परिणाम प्रकृतिके आपूर (पूर्णता) से होता है. पृथिवी आदि जो भूत हैं यह शरीर

की प्रकृति है और अस्मिता इंद्रियोंकी प्रकृति है इन प्रकृतियोंका कारणरूपसे कार्य-रूप अवयवोंके आकारमें भरने वा प्रवेश करनेको आपूर कहते हैं, इस प्रकृत्यापूर अर्थात् प्रकृतिकी पूर्णतासे जात्यन्तरमें (दूसरे रूप व आकारमें) परिणाम होता है. अव शंका यह है कि यह प्रकृत्यापूर धर्म आदि निमित्त (कारण) की अपेक्षा करता है कि विना धर्म आदिकी अपेक्षा आपही प्रवृत्त होता है. इसका समाधान यह है कि धर्म आदि निमित्तकी अपेक्षा करता है अर्थात् विना धर्म आदि निमित्तके नहीं होता ईश्वर नियम अनुसार धर्मसे अधर्मके निरास (खण्डित वा नष्ट) हो जानेसे अर्थात् देवयोनि उत्तम जातिमें प्राप्त होनेके प्रतिबंधक (रोक) अधर्मोंके नाश होनेसे प्रकृति आपही देवयोनिरूप परिणाम होनेमें प्रवृत्त होती है तथा अतिशय पापसे पापके रोकनेवाले पुण्यके दूर होनेसे पाप निमित्तसे तिर्यग्योनि आदिमें प्रकृतिका परिणाम होता है. इसका दृष्टांत आगे सूत्रमें वर्णन किया है ॥ २ ॥

निमित्तमप्रयोजक प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

निमित्त प्रकृतियोंका प्रयोजक (प्रवृत्त करनेवाला) नहीं है उससे
आवरण भेदमात्र (केवल आड़का दूर कर देना)
क्षेत्रिक (खेतवाले) के समान होता है ॥ ३ ॥

दो० –प्रकृति प्रयोजक धर्म नहिं, केवल अहै निमित्त ।
पै तासे कृषिकार सम, नाशत बंधप्रक्रित्त ॥ ३ ॥

धर्म आदि निमित्त प्रकृतियों (कारणों) के प्रयोजक (प्रवर्त करनेवाले) नहीं होते क्योंकि धर्म आदि प्रकृतिके कार्य हैं कार्य कारणका प्रवर्तक नहीं होता जैसे विना कुम्हारके उत्पन्न होनेवाला या उत्पन्न हुआ घट अपने कारण मिट्टी चक्र (चाक) दण्ड जल आदिकोंका स्वतंत्र (आपसे) प्रवर्तक नहीं होता क्योंकि घटकी उत्पत्ति उसके कारणोंके अधीन है कारण घटके अधीन नहीं है घटके कारणोंका स्वतंत्र प्रवर्तक कुम्हार है. इसी प्रकारसे प्रकृतियोंका स्वतंत्र प्रवर्तक ईश्वर है धर्म आदि परिणामके निमित्त हैं प्रकृतियोंके प्रयोजक अर्थात् प्रेरणा वा प्रवर्त करनेवाले नहीं हैं निमित्तसे केवल क्षेत्रिक (खेतवाले) के समान वरणभेद (आवरणका निवारण) होता है अर्थात् जैसे खेती करनेवाला खेतमें जल भर जानेपर उसके रोकनेवाली जो ऊंची वा आड़की मिट्टी है उसको दूर करता है उसके दूर होनेसे जल विना किसीकी प्रेरणा उस क्षेत्रसे आपही निकलकर अन्य क्षेत्रको जाकर भरता है. इसी प्रकारसे धर्म जब ईश्वर नियम अनुसार अधर्मको जो देवजाति आदि उत्तम गतिके प्राप्त होनेका आवरण (आड़ वा रोक) है निवारण करता है तब प्रकृति आपही देवजाति आदिपरिणाममें प्रवृत्त होती है और धर्म जो दुर्गतिका आवरण है जब अधर्मसे दूर किया जाता है तब प्रकृति आपही तिर्य्यग्योनि आदिमें प्रवृत्त होती है। अब यह

संदेह होता है कि जब योगी बहुत शरीरोंको धारण करता है तब उसका चित्त एकही होता है या बहुत होते हैं. इसका समाधान आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ।। ३ ।।

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ।। ४ ।।

अस्मितामात्रसे निर्माण चित्त होते हैं ।।४।।

दो० –होत अस्मितामात्रते, संज्ञाचित निर्माण ।
योगी निर्मित चित्तको, योगप्रभावप्रमाण ।। ४ ।।

योग प्रभावसे बनाये गये चित्तका नाम निर्माण चित्त है । योगी अस्मितामात्रसे निर्माण चित्तोंको अपने संकल्पमात्रसे निर्मित करता अर्थात् बनाता है इन निर्माण चित्तोंसे योगीके बनाये हुए सब शरीर चित्त संयुक्त होते हैं । अब इस संदेहका समाधान कि बहुत चित्तोंके भिन्न भिन्न अभिप्राय होनेसे योगीको भोगकी सिद्धि नहीं हो सक्ती आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ।। ४ ।।

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ।। ५ ।।

प्रवृत्तिभेदमें एकचित्त अनेकोंका प्रवृत्त करनेवाला है ।।५।।

दो० –प्रवृतिभेदते अन्य चित, प्रेरण करहि सु एक ।
पूर्व सिद्ध चित प्रेरण, आज्ञा करत अनेक ।। ५ ।।

अनेक चित्त जो योगी निर्माण करता है उन सबका प्रवर्तक नायक अपने भोगके अनुकूल प्रवृत्तिविशेषका नियामक एक चित्त विशेष निर्मित करता है उसके द्वारा इच्छाके अनुसार भोगमें प्रवृत्ति होती है अर्थात् अनेक चित्तोंके प्रवृत्तिभेदमें एक मुख्य चित्त जो सब चित्तोंका प्रवर्तक योगी निर्माण करता है । उससे सब भोगोंमें प्रवृत्त होता है ।। ५ ।।

तत्र ध्यानजमनाशयम् ।। ६ ।।

उनमें ध्यानसे उत्पन्न अनाशय है ।।६।।

सो० –तिन पांचोंके माहिं, ध्यानजन्म जो चित्त है ।
ताहि वासना नाहिं, सर्वाशयते रहित सो ।। ६ ।।

जन्म औषध, मन्त्र, तप और समाधि इन पांचोंसे जो सिद्धचित्त हैं उनमेंसे जो ध्यानसे उत्पन्न चित्त है वही अनाशय है अर्थात् उसकी आशय जो नाना प्रकारकी वासना राग आदि हैं उनमें प्रवृत्ति नहीं होती आशयोंसे रहित होनेसे वही मोक्षके योग्य है वा होता है ।।६।।

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ।। ७ ।।

अशुक्ल अकृष्ण कर्म योगीका व तीन प्रकारका औरोंका होता है ।।७।।

दो० –कर्म अशुक्ल अकृष्ण दोऊ, योगीजनके जान ।
कृष्णाकृष्ण अरु शुक्लतम, अन्य जननके मान ।। ७ ।।

कर्म चार प्रकारके होते हैं एक कृष्णकर्म अर्थात् पापकर्म यथा हिंसा व्यभिचार आदि, शुक्लकर्म अर्थात् पुण्यकर्म यथा तप स्वाध्याय ध्यान आदि, तीसरे शुक्ल व कृष्णकर्म अर्थात् पाप व पुण्य मिले हुए यथा परपीडा व अनुग्रह आदिका समूह, चौथे अशुक्ल अकृष्ण अर्थात् पाप व पुण्य दोनोंसे रहित यह चौथा फलकी इच्छा रहित ईश्वर समर्पित संन्यासी क्लेश क्षीण योगीका कर्म है और पूर्वोक्त तीन प्रकारके कर्म और संसारी विषयी प्राणियोंके होते हैं ।।७।।

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ।। ८ ।।

उससे (उक्त त्रिविध कर्मसे) उसके विपाकके समान गुण वा योग्य गुणरूपही वासनाओंकी प्रकटता होती है ।।८।।

दो० –त्रिविध कर्मके पाकते, गुण उपजत हैं जोइ ।
तिहि गुण योग्य स्वरूपकी, प्रकट वासना होइ ।। ८ ।।

उससे अर्थात् त्रिविध कर्मसे इसके विपाक (फल देनेके योग्य होनेकी अवस्था) के समान वा योग्य गुणरूपही वासनाओंकी प्रकटता होती है अर्थात् जिस जातिके कर्मका जो विपाक (फल देने योग्य होनेकी अवस्था) है उसके योग्य वा समान गुणरूप जो वासना कर्मविपाकमें सोये हुएके समान प्राप्त रहती हैं उन्हींकी प्रकटता होती है अर्थात् दैवकर्म (उत्तर कर्म) परिपाकको प्राप्त नारक (नरकवाली) तिर्य्यङ मनुष्य वासनाओं की प्रकटताका निमित्त नहीं होता है किन्तु दैवकर्म विपाकके अनुगुण जो वासना हैं उन्हींके प्रगट होनेका निमित्त होता है अर्थात् दैवकर्म विपाकके योग्यही गुणरूप वासना प्रकट होती हैं. इसी प्रकारसे नारक तिर्य्यङ मनुष्योंके कर्मोंके विपाकके अनुगुणही वासनाओंका प्रकट होना जानना चाहिये क्योंकि दैवकर्मका दिव्यभोग फल होना योग्य है नरक भोग वासना आदिके प्रकट होनेमें दिव्यभोगका संयोग नहीं हो सकता तथा नरक व मनुष्य भोगमें दिव्य स्वर्गभोग वासनाओंका होना संभव नहीं है क्योंकि उनकी प्रकटतामें नरकभोग आदिका होना योग्य नहीं है इससे जिस जातिवाले कर्मका जो विपाक है उसीके योग्य गुणरूप वा योग्य गुणवाली वासनाओंकी प्रकटता होती है अन्यथा नहीं यह सिद्ध होता है ।।८।।

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्य्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ।। ९ ।।

स्मृति व संस्कारके एकरूप होनेसे जिनके बीचमें अनेक जाति, देश व कालगत हो जाते हैं उनका भी अन्तर नहीं होता अर्थात् जाति देश व काल भेद हो जानेपर भी उनमें अन्तर (भेद) नहीं होता ॥९॥

दो०--स्मृति अरु संस्कार सम, ताते अंतर नाहिं।
जाति देश और काल सब, पूरब जाय समाहिं ॥ ९ ॥

कर्मविपाकके समान गुणरूप वासनाओंका प्रकट होना जो वर्णन किया है उसमें यह निश्चय होना चाहिये कि जैसे व्यतीत हुए पूर्वदिन (कल्ह) के पश्चात् जो आजका वर्तमान दिन है उसमें पूर्वदिनका स्मरण होना संभव है. बहुत दिन जिसके बीचमें व्यतीत हो गये हैं उसका स्मरण होना संभव नहीं है. इसी प्रकारसे जिस जन्मके पश्चात् दूसरा जन्म होता है व उसके बीचमें और जन्म आदि व्यतीत नहीं होते उसी पूर्व जन्मकी वासनाकी प्रकटता होती है वा उस पूर्व जन्मका स्मरण होता है अथवा बहुत जन्म आदि बीचमें व्यतीत हो जानेपर भी बहुत काल पूर्व हुए जन्मकी वासनाकी प्रकटता होती है यह निश्चय होनेके लिये सूत्रमें यह कहा है कि स्मृति व संस्कारके एकरूप होनेसे अर्थात् समान रूप होनेसे जाति, देश व कालसे व्यवहित (अन्तरको प्राप्त) जो वासना हैं उनका भी फलसे (यथार्थरूपसे) अन्तर (पृथक्ता वा भेद) नहीं होता इसका एक दृष्टांत उपलक्षणमात्रके लिये इस प्रकारसे जान लेना चाहिये, यथा किसी कालमें बिलारकी वासना हुई और बीचमें अनेक जन्म देश व कालका व्यवधान हो गया परंतु फिर भी जिस कर्मका बिलारका जन्म होना फल हैं उसके विपाकसे उस विपाकके समान वा योग्य गुणवाली बिलारहीकी वासनाकी प्रकटता होती है इसी प्रकारसे और भी उत्तम, मध्यम व निकृष्ट वासनाओंका होना जानना चाहिये. क्योंकि जैसे पूर्वमें अनुभव होते हैं उसी प्रकारके संस्कार चित्तमें स्थित होते हैं और वह संस्कार कर्म व वासनारूप होते हैं. जैसी वासना होती है वैसी स्मृति होती है. जाति, देश व कालसे व्यवधानको प्राप्त संस्कारोंसे स्मृति होती है. स्मृतिसे फिर संस्कार होते हैं. यह स्मृति व संस्कार कर्माशय व चित्तवृत्तिके लाभवशसे प्रकट होते हैं, इससे जिन वासनाओंमें जाति देश व कालसे व्यवधान भी होता है उनमें भी उनके निमित्त व नैमित्तिक भाव बने रहनेसे (कारण कार्य भाव संबंध रहनेसे) भेद नहीं होता. संस्कार कारणरूप व स्मृति कार्यरूप है कारण व कार्यका अभेद भाव मानकर अथवा दोनोंका समान विषयमें संबंध होनेसे स्मृति व संस्कारका एकरूप (समानरूप) होना कहा है. क्योंकि जिस कर्मजातिका जो विपाक है उसी सजातीय कर्मके विपाकहीके समान वा योग्य गुण-

वाली संस्कार व स्मृतिरूप वासनाओंके होनेका नियम है. विजातीय कर्मका विपाक विजातीय वासनाओंके होने वा उदय होनेका निमित्त (हेतु) नहीं होता ।।९।।

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ।। १० ।।

आशिषके नित्य होनेसे उनका अनादि होना भी सिद्ध होता है ।।१०।।

दो०–आशिषाको कहत मुनि, नित्य जान सतरूप ।
तिहि कारणते वासना, है अनादि अनुरूप ।। १० ।।

वासनाओंका अन्तर न होना जो वर्णन किया है उससे अधिक वासनाओंके अनादि भी होनेके वर्णनमें यह कहा है कि आशिष (होने वा बने रहनेकी प्रार्थना) के नित्य होनेसे उनका (वासनाओंका) अनादि होना भी सिद्ध होता है अर्थात् मैं सदा बना रहूं मरूं नहीं ऐसा आशिष अर्थात् प्रार्थनारूप अभिलाषा व त्रास नित्य होनेसे वासनाओंका अनादि होना विदित होता है क्योंकि जो उत्पन्नमात्र बालक है उसमें कंप होना व उसके मुखकी आकृति बिगड़ना यह भयके चिह्न देखनेसे द्वेष व दुःखकी स्मृति व मरण त्रासके अनुमान होनेसे व वर्तमान जन्ममें द्वेष दुःखके अनुभव होनेका कारण संभव होनेसे जन्मान्तर (दूसरे पूर्वजन्म) होने व वासनाओंके अनादि होनेका ज्ञान होता है. जो यह कहा जाय कि उत्पन्न बालकमें मुखकी आकृतिका बिगड़ना कांपना मुसक्याना दुःख व सुखके निमित्तोंके स्मरणसे नहीं होते कमल आदिके संकोच व विकाशके समान स्वाभाविक हैं तो कमल आदिका संकोच (सिकुड़ना) विकाश (फूलना) भी अग्नि आदिमें गरमी आदि होनेके समान निमित्तरहित स्वाभाविक नहीं है क्योंकि निमित्त विशेष होते हैं परंतु जिन निमित्तोंसे कमल आदिके संकोच विकाश आदि होते हैं उनसे व उनके समान बालकका कांपना रोना मुसक्याना आदि होते हैं उनसे व उनके समान बालकका कांपना रोना मुसक्याना आदि नहीं होते किन्तु जैसे हम लोगोंको भय सुख दुःख होनेमें मुख व शरीरके आकार होते हैं उसी प्रकारसे होनेसे बालकको पूर्व जन्ममें हुए सुख दुःखके स्मरण होनेका अनुमान होता है, अब यह सन्देह है कि देह आत्मा नहीं है आत्मा अनादि मरण-त्रासरहित है इससे आत्मामें स्वाभाविक मरणत्रास नहीं हो सकता यह मरण-त्रास किसको होता है? उत्तर–मरणत्रास चित्तको होता है चित्त निमित्तवशसे अनादि वासनाओंसे बंधा है कोई वासनाओंको प्राप्त होकर पुरुषके भोगके लिये प्रवृत्त होता है छोटे व बड़े देह परिणाममात्रमें चित्तका संकोच विकाश होना घट व महलमें प्रदीपके प्रकाशके संकोच विकाश होनेके समान है. धर्म आदि निमित्तकी अपेक्षासे इस विभुरूप चित्तका वत्तिमात्रसे शरीरमात्रसे संकोच विकाश होता है

निमित्त दो विधका होता है. बाह्य व आध्यात्मिक, शरीर आदि साधनकी अपेक्षा जिसमें है वह बाह्य है. स्तुति, दान, वन्दन आदि चित्तमात्रके अधीन जो श्रद्धारूप है. वह अध्यात्मिक है. अब अनादि वासनाओंकी निवृत्ति किस तरह होती है उसका आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ।।१०।।

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ।। ११ ।।

हेतु, फल, आश्रय व आलम्बनोंसे संगहीत होनेसे इनके अभाव होनेमें उनका अभाव होता है ।।११।।

दो० –हेतु और फल आश्रय, आलंबनके नाश ।
नष्ट होत सब वासना, फरत न फेर प्रकाश ।। ११ ।।

हेतु आदिके उदाहरण ये हैं यथा धर्मसे सुख, अधर्मसे दुःख, सुखसे राग और दुःखसे द्वेष होता है. इससे धर्म आदि सुख आदिके हेतु (कारण) हैं राग द्वेपसे प्रयत्न होता है उससे किसीपर अनुग्रह करता है किसी पर क्रोध करके उसको नाश करता है ऐसा करनेसे फिर धर्म अधर्म, सुख दुःख, राग व द्वेष होते हैं इन सबका मूल हेतु अविद्या है जिसमें आश्रित होकर जो उत्पन्न होता है वह उसका फल है, यथा धर्म आदिके सुख भोग आदि फल हैं भोग अधिकार संयुक्त मन आश्रय है, क्योंकि मनमें ये सब आश्रित रहते हैं, जिसके सन्मुख होनेसे जो वासना प्रकट होती है वह उस वासनाका आलम्बन है यथा कामिनी काम उत्पन्न होनेकी आलम्बन है इत्यादि इससे रूप आदि विषय आलम्बन हैं इन हेतु फल आश्रय आलंबनोंसे (आलम्बनोंके साथ) सब वासना संगृहीत हैं इससे इनके अभाव होनेसे इनमें आश्रित जो वासना है उनका भी अभाव होता है ।।११।।

अब यह संशय होताहै कि असत्का भाव व सत्का नाश नहीं होता फिर सत् वासनाओंका अभाव कैसे होगा इसका समाधान आगे वर्णन करते हैं :—

अतीतानागतस्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ।। १२ ।।

धर्मोंके अध्वभेद होनेसे अतीत अनागत स्वरूपसे है ।।१२।।

दो० –भूत अनागत वस्तु सब, विद्यमान निजरूप ।
धर्म कालके भेदते, नहिं विरोध अनुरूप ।। १२ ।।

असत्का संभव (उत्पन्न होना) व सत्का विनाश नहीं होना यह माननेके लिये इस अभिप्रायसे कि जो सत् धर्म है उन्हींका अध्वभेद मात्रसे उदय व नाश होना

समझना चाहिये, सूत्रमें यह कहा है कि धर्मोंके अध्वभेद होनेसे [1]अतीत व अनागत स्वरूपसे (अपने रूपसे) है अर्थात जो ऐसा माना जाय कि अतीत अनागत सत् नहीं हैं तो ऐसा मानना यथार्थ नहीं है क्योंकि जो अतीत अनागत, न होते तो निर्विषय (शून्यरूप) अतीत व अनागतका ज्ञान उत्पन्न न होता और बिना अतीत अनागत (भूत व भविष्यत्) भेदके वर्तमान होनेका भी ज्ञान न होता इससे अतीत अनागत स्वरूपसे सत् है और भोग प्राप्त करनेवाले अथवा मोक्ष प्राप्त करनेवाले कर्मोंके फल प्राप्त होनेकी इच्छा की जाती है, जो असत् है तो धर्म आदिके उद्देशसे उत्तम अनुष्ठान योग्य नहीं मानना चाहिये, क्योंकि जो सत् है वही फलका निमित्त होता है व हो सक्ता है, अनेक धर्म स्वभाववाला जो धर्मी है उसके अंग भेदसे उससे धर्म होते हैं जिस प्रकारसे वर्तमान व्यक्ति विशेषको प्राप्त द्रव्य है इस प्रकारसे अतीत अनागत नहीं है, अनागत अपने व्यङ्गस्वरूपसे प्रात होता है और अतीत अपने पूर्वमें हुए स्वरूपसे व्यतीत होता है ।।१२।।

जो यह संशय हो कि जो अतीत अनागत वर्तमानके समान व्यक्तिविशेष संयुक्त नहीं है तो उनका स्वरूप क्या है ? इसका समाधान आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं :—

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ।। १३ ।।

वह व्यक्त व सूक्ष्मरूप गुणात्मा (गुण स्वरूपवाले) हैं ।।१३।।

सो० —ते सूक्षम अरु व्यक्त, गुण आत्मा तिहिं जानिये ।
वर्तमान है व्यक्त, भूत भविष्यति सूक्ष्म अति ।। १३ ।।

तीन अध्वावाले जो धर्म हैं, उनमेंसे वर्तमान व्यक्तरूप है और अतीत अनागत सूक्ष्मरूप है परमार्थरूपसे तीनों गुणात्मा हैं अर्थात् गुणस्वरूप हैं. गुणोंका जो परम सूक्ष्मरूप है वह दृष्टिमें नहीं आता, अर्थात् उसका प्रत्यक्ष नहीं होता और जो दृष्टिमें आता है वह सब मायारूप तुच्छ प्रतिक्षण परिणामको प्राप्त होनेवाला क्षणविध्वंसी है. अब यह संशय है कि जैसे मिट्टी दूध सूत भिन्न भिन्न पदार्थोंका एक परिणाम नहीं होता इसी प्रकारसे बहुत गुणोंका एक परिणाम न होना चाहिये. इसका उत्तर यह है कि बहुतोंका भी एक परिणाम होता है यथा बत्ती तेलका एक दीप परिणाम होता है, लवण क्षेत्रमें फेंके गये जो गज अश्व आदिके शरीर हैं उन सबके एक लवण परिणाम होता है इत्यादि एक परिणाम होनेको आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ।।१३।।

---

१ जो हो गया है वह अतीत है जो होनेवाला है वह अनागत और जो अपने व्यापारमें आरूढ है अर्थात् होरहा है वह वर्तमान है ।

परिणामैकत्वाद्वस्तुत्वम् ।। १४ ।।

परिणाम एक होनेसे एक वस्तु होना अंगीकार होता है ।।१४।।

दो० –परिणामहुकी ऐक्यता, एकहि वस्तु कहात ।
भिन्न भिन्न अज्ञानसों, ज्ञान एक दर्शात ।। १४ ।।

ज्ञानक्रिया व स्थितिस्वभाववाले ग्रहणरूप गुणोंका कारण भावसे एक परिणाम यथा श्रोत्र (कान) इन्द्रिय आदि ग्राह्य रूप शब्द आदि विषयोंका विषय-भावसे एक परिणाम है. पार्थिव (पृथिवीके कार्य) भावसे गौ वक्ष पर्वत आदिका एक परिणाम है इसी प्रकारसे अन्यत्र जानना चाहिये अर्थात् इसी प्रकार से एक विशेष भावसे एक परिणाम होनेका ग्रहण वा अंगीकार होता है. अब कोई यह कहते हैं कि जो कुछ विदित होता है वह सब विज्ञानहीका भेद है अर्थ कुछ नहीं है क्योंकि विज्ञान (बोध) से भिन्न अर्थका होना सिद्ध नहीं होता विना अर्थके विज्ञानका होना विदित होता है. यथा स्वप्न आदिमें जो कल्पित वस्तुओंका होना भासित होता है वह ज्ञान परिकल्पना मात्र है. इसी प्रकारसे जाग्रत्में जानना चाहिये. परमार्थसे वस्तु वा अर्थ कुछ नहीं है इसके प्रतिषेधके लिये अर्थात् विज्ञानसे अर्थ पृथक् है यह प्रतिपादनके लिये विज्ञान व अर्थके भिन्न होनेका हेतु आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ।।१४।।

वस्तुसाम्येऽपि चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पंथाः ।। १५ ।।

वस्तुके सम होने (एकही होने) में भी चित्तके भेद होनेसे दोनोंका मार्ग भिन्न है अर्थात् दोनोंके स्वरूप भिन्न हैं ।।१५।।

सो० –सम वस्तु जो होंय, तोहू चितके भेदते ।
तिनके मारग दोय, भिन्न भिन्न अनुमानिये ।। १५ ।।

वस्तुके एक होनेमें भी चित्तमात्रके भेद होनेसे चित्त व वस्तुके स्वरूप भिन्न हैं दोनोंका एक होना सिद्ध नहीं होता जैसे एकही स्त्रीमें पतिको सुख सवतिको दुःख कामीको मोह ज्ञानी निष्कामको विराग होनेका ज्ञान होता है इत्यादि एकही पदार्थमें चित्तोंके भेद होते हैं. इस प्रकारसे निमित्तभेदसे एकही अर्थमें भिन्न भिन्न ज्ञान होनेसे वस्तु वह ज्ञान ग्राह्य ग्रहण भेदरहित स्वरूपसे भिन्न हैं. इसपर विज्ञानवादी यह

कहते हैं कि अर्थका पृथक् (भिन्न) मानना यथार्थ नहीं है, भोग्य होनेसे सुख आदिके समान ज्ञानके साथही अर्थ है, ज्ञानसे भिन्न अर्थ नहीं है, यदि ज्ञानसे भिन्न भी होय तो जड़ होनेसे ज्ञानसे पृथक सिद्ध नहीं हो सक्ता ज्ञानहीसे जाना जाता है, इससे जिस समयतक ज्ञान होता है उसी समयमें अर्थके होनेका प्रमाण है पश्चात् प्रमाणके अभावसे अर्थ कुछ नहीं है इसके उत्तरमें अर्थके पृथक् होनेका अन्य (दूसरा) प्रमाण वर्णन करते हैं ।।१५।।

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ।। १६ ।।

एक चित्ततंत्र (चित्त अधीन) भी वस्तु नहीं है तब वह क्या प्रमाणरहित हो अर्थात् प्रमाणरहित न मानना चाहिये ।।१६।।

दो० –एक चित्त आधीन जो, वस्तु नित्यता जान ।
तो अनिष्ट तिहि चित्तके, किमि अनित्य इव मान ।।

सो० –एक चित्त आधीन, वस्तु कोउ नहिं होत है ।
तो प्रमाणते हीन, कैसे ताको मानिये ।। १६ ।।

जो एकचित्त तन्त्र अर्थात् एक चित्त अधीन ज्ञानरूपही वस्तु (अर्थ) होती तो जब घट ग्रहण करनेवाला चित्त कपड़ा आदि अन्य वस्तुमें मग्न होकर घटमें प्रवृत्त नहीं होता तब वह घट किसीको प्रत्यक्ष न होना चाहिये और जो किसी चित्तसे ग्रहण न किया जाता तो वस्तुका प्रमाणरहित असत् मानना यथार्थ होता, परंतु ऐसा नहीं होता क्योंकि जिस वस्तुका एक चित्तमें बोध नहीं होता वह दूसरे चित्तसे जाना जाता है इससे वस्तुको प्रमाणरहित न मानना चाहिये और जो यही माना जाय कि जिसमें चित्त प्रवृत्त होता है वही अर्थमात्र सत् व प्रमाणयुक्त है तो जिस जिसका व्याप्यव्यापक संबंध है उसमें संबंधवाले पदार्थका अवयवसे अवयवी आदिका ज्ञान न होना चाहिये. यद्यपि जो जो (पहिले) का भाग है वह मध्य व परभागसे व्याप्त है अथवा मध्य व परभागके साथ संबंधको प्राप्त है, परंतु उक्त हेतुसे जब चित्तसे पहिले भागका ज्ञान होवे तब मध्य व परभाग नहीं है ऐसा सिद्ध होता है और ऐसा मानना चाहिये, क्योंकि जो चित्तसे अज्ञात है अर्थात् ग्रहण नहीं

किया गया वह प्रमाणरहित असत् है अर्थात् नेत्रद्वारा उदरमात्रके ज्ञान होनेके समयमें पृष्टि नहीं है इसी प्रकारसे पृष्टि देखनेके समय वा ऊपरके परमाणु मात्र दृष्ट होनेमें व्याप्यव्यापक संबंधके अभावसे उदर भी कुछ नहीं है ऐसा मानना होगा परंतु ऐसा अंगीकार नहीं होता क्योंकि यह अनुभव ज्ञानविरुद्ध व अयुक्त है इससे चित्ततन्त्र अर्थ (वस्तु) नहीं है अर्थ स्वतंत्र है और चित्त स्वतंत्र है दोनोंके संबंधसे जो बोध होता है वह पुरुषका भोग है ।।१६।।

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तुज्ञाताज्ञातम् ।। १७ ।।

चित्तके उसके (वस्तुविषयके) उपरागका अपेक्षी (अपेक्षा रखनेवाला) होनेसे वस्तु[1] ज्ञात व अज्ञात होती है ।।१७।।

दो० –वस्तुके उपरागते, होत वस्तूको ज्ञान ।
चित्तअपेक्षा जासुमें, तासु ज्ञान नहिं आन ।। १७ ।।

वस्तुका ज्ञान होनेके लिये चित्तका वस्तुके साथ उपराग होनेकी अपेक्षा रहती है जिस वस्तुके साथ चित्त उपरागयुक्त होता है उसको जानता है अन्यको नहीं. अयस्कान्त मणि अर्थात् चुम्बकके समान वस्तु वा विषय है जैसे जड़ चुम्बक लोहेको अपनी तरफ खींचता है इसी प्रकारसे जो विषय वा वस्तु चित्तको आकर्षण करके अपने उपराग (प्रीति वा अभिलाषा) युक्त करती है अर्थात् जिस वस्तुके साथ चित्त उपरागयुक्त इन्द्रिय द्वारा संबंधको प्राप्त होता है वह ज्ञात होती है उससे पृथक् (भिन्न) अज्ञात रहती है वस्तुके ज्ञात और अज्ञात होनेसे चित्तका परिणामी (बदलनेवाला) होना सिद्ध होता है ।।१७।।

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ।। १८ ।।

उसके प्रभुके परिणामी न होनेसे चित्तकी वृत्तियां सदा ज्ञात होती हैं ।।१८।।

---

१ यद्यपि स्वतु शब्द नपुंसकलिंग है और नपुंसकलिंगका व्यवहार पुंल्लिगके समान होता है परन्तु वस्तुको संप्रति प्रचलित भाषामें स्त्रीके समान कहते हैं इससे स्त्रीलिंगकी क्रिया भाषामें रक्खी है ।

दो० —परिणामी नहिं चित्त प्रभु, सदा जान चितवृत्ति ।
परिणामी प्रभु होत यदि, तो कस ज्ञानप्रवृत्ति ।। १८ ।।

जो चित्तके समान प्रभु पुरुष है उसका परिणाम होता तो चित्तकी वृत्तियाँ जो उसके विषय हैं वह शब्द आदि विषयोंके समान ज्ञात व अज्ञात होतीं परंतु चित्तकी वृत्तियों वा चित्तके सदा ज्ञात होनेसे उसके (चित्तके) प्रभु पुरुषके परिणामी न होनेका अनुमान होता है क्योंकि जो प्रभु परिणामको प्राप्त होता तो चित्तके सदा ज्ञात होनेकी उपलब्धि न होती. पुरुष परिणामरहित है, इससे वह सादा मन वा चित्तको जानता है अर्थात् जो पुरुष परिणामको प्राप्त होता तो भूतकालमें भोगको प्राप्त हुए विषयको स्मरण न कर सक्ता क्योंकि जिस पुरुषने भोग किया था वह न रहता तथा अपने चित्तकी वृत्तियोंको सदा न जान सक्ता. भूतकालके विषयोंके स्मरण व सदा वृत्तियोंके ज्ञात होनेसे पुरुषका परिणाम नहीं होता यह सिद्ध होता है ।।१८।।

अब यह जाननेके लिये कि चित्त अग्निके समान अपनेही प्रकाशसे प्रकाशित होता है वा नहीं इसका सिद्धान्त आगे वर्णन करते हैं :—

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ।। १९ ।।

दृश्य होनेसे वह अपने प्रकाशसे प्रकाशित नहीं होता ।।१९।।

दो० –स्वयं प्रकाश न जानिये, चित्त दृश्यको रूप ।
दृश प्रकाशको देत हैं, पुरुषप्रकाशस्वरूप ।। १९ ।।

जैसे अन्य इन्द्रिय व शब्द आदि दृश्य होनेसे आपसे प्रकाशित नहीं होते इसी प्रकारसे दृश्य होनेसे वह अर्थात् उक्त चित्त वा मन आपसे प्रकाशित नहीं होता उसका प्रकाशक पुरुष है, अग्निके समान अपने प्रकाशसे प्रकाशित होनेका दृष्टांत चित्तमें युक्त नहीं है, ज्ञान रूप प्रकाश विना प्रकाश्य व प्रकाशक (ज्ञाता व ज्ञेय) के संबंध नहीं होता. यह प्रकाश क्रियारूप है क्रिया विना कर्ता करण व कर्मके नहीं होती. यथा पकानेकी क्रिया विना पकानेवाले व अग्नि व तण्डुल (चावल) आदिके नहीं होती इसी प्रकारसे जीवोंको अपने चित्त वा बुद्धिके व्यापार व प्रकाश्य (ज्ञेय)

वस्तुके संयोगहीसे ऐसा बोध होता है कि मैं क्रोधको प्राप्त हूं मैं डरता हूं मैं आनंदको प्राप्त हूं इसमें मेरी प्रीति है इसमें मेरा द्वेष है इत्यादि ।।१९।।

एकसमये चोभयानवधारणम् ।। २० ।।

और एक समयमें दोनोंका धारण नहीं होता ।।२०।।

दो० –एक कालमें होत नहीं, युग पदार्थको ज्ञान ।
तैसेहि आत्मा चित्तको, होत न दोऊ भान ।। २० ।।

एक समयमें अपने व परके रूपका धारण नहीं होता इसमें भी भेद होना प्रतीत होता है अर्थात् अपने स्वरूप (आत्मज्ञान) व परस्वरूप (चित्त व विषयका ज्ञान) एक समयमें एकही व्यापारसे नहीं होता जब अविद्यासे चित्तमें प्राप्त क्रोध आदिको अपनेमें मानता है तब अपने स्वरूपको नहीं जानता और विवेकसे अपनेको जानता है इससे प्रकाशक प्रकाश्य और व्यापार भेद होना विदित होता है ।।२०।।

चित्तान्तरदृश्यत्वे बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ।। २१ ।।

अन्य चित्तके दृश्य (ज्ञेय) होनेमें बुद्धिसे बुद्धिका अतिप्रसंग व स्मृतिसंकर (स्मृतियोंका मेल) होता है ।।२१।।

दो० –अन्य चित्तते अन्यको, माने जो कहुँ ग्राह्य ।
चित्त चित्तको संग अति, स्मृतियोग कहाय ।। २१ ।।

जो चित्तसे भिन्न कोई पदार्थ न माना जाय चित्तही दृष्टा (ज्ञाता) व चित्तही दृश्य (ज्ञेय) अंगीकार किया जाय अर्थात् एक चित्त द्रष्टा व अन्य चित्त दृश्य माना जाय तो नीलाकार वा नीलरूप चित्त व जिस किसी चित्तका दृश्य है व नीलरूप होनेकी बुद्धि सब चित्त रूपही हैं इससे बुद्धिरूप चित्तका भी अन्य बुद्धिसे ग्रहण किया जाना मानना चाहिये. तथा वह अन्य बुद्धिसे और वह भी अन्य बुद्धिसे इस प्रकारसे सम धर्मवाली बुद्धियों वा समधर्म व सजातीय चित्तोंका दूसरेसे ग्रहण किया जाना अंगीकार करते जानेमें अनवस्था दोष होने से कोई एक विशेष ग्राहक अन्तवाला चित्त होनेका प्रमाण नहीं हो सकता. ग्राहकचित्त व ग्राह्य चित्तके यथार्थ

निश्चय होनेसे घरमें घट देखा वा नहीं इस संशयसे देखनेका प्रमाण होना संभव नहीं है और अर्थ व निश्चयके भिन्न होनेका निश्चय होनेसे ज्ञान चित्तोंका निश्चय न होना अर्थोंके निश्चय न होनेका कारण होनेसे अनंत बुद्धियों (ज्ञानों) का अति प्रसंग और अनंत चित्तोंके अनुभवमें अनन्त स्मृतियोंका संकर (मेल) प्राप्त होगा. अनन्तके ग्रहण करनेमें कोई एक समर्थ न होनेसे ग्राहकका अभाव होगा ग्राहकके अभाव से यह नील चित्त स्मृति है यह पीत चित्त स्मृति है यह विभाव नहीं हो सक्ता, इससे ग्राह्य व ग्राहकके असंभव होनेसे कोई चित्तसे पृथक् चेतन पुरुष चित्तका स्वामी भोक्ता होना विदित होता है ।।२१।।

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ।। २२ ।।

चिति शक्ति जो अप्रतिसंक्रमा (परिणाम रहित) है उसका उसके आकारमें प्राप्त होनेमें अर्थात् बुद्धिके आकार (रूप) में प्राप्त होनेमें अपनी बुद्धिका संवेदन (जानना) कहा जाता है ।।२२।।

दो० –इन्द्रिनके संचारते, पुरुष रहित जब होइ ।
निज स्वरूप अनुरूपसों, लखत बुद्धिको सोइ ।। २२ ।।

पुरुषकी जो चिति (ज्ञानरूप) भोक्ता होनेकी शक्ति अप्रतिसंक्रम है अर्थात् परिणामरहित है उसका जो बुद्धिके आकारको प्राप्त होना है अर्थात् क्रियासे अनेक परिणामको प्राप्त होनेवाली जो बुद्धि है उसके समान भासित होना है यही पुरुषके अपनी बुद्धिका संवेदन कहा जाता है अर्थात् यही विशेषणरहित बुद्धि वृत्तिरूप पुरुषकी ज्ञानवृत्ति कही जाती है. यद्यपि चिति शक्तिके बुद्धि आकार होनेमें कोई टीकाकार जलमें चन्द्रके प्रतिबिम्ब भासित होनेके समान उपमा देते हैं परंतु यह युक्त नहीं है क्योंकि प्रतिबिम्ब मूर्तिमान् साकार पदार्थमें होता है. चिति व बुद्धि निराकार पदार्थ हैं इससे सूत्रमें जो आकारशब्द है वह समरूप वा समभाव होनेके अर्थमें समझना चाहिये. निराकार आकाशका जलमें भासित होनेके समान जो चिति व बुद्धिकी उपमा दी जावे तो ग्रहण योग्य हो सक्ती है ।।२२।।

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ।। २३ ।।

द्रष्टा व दृश्यसे उपरक्त (रागको प्राप्त) चित्त सर्वार्थ है अर्थात् सब अर्थरूप है ।।२३।।

दो० –द्रष्टृ दृश्य उपरक्त चित्त, सर्वारथ जिहि नाम ।
स्फटिकासम तिहि रूप हैं, जस रंग तस हुए ज्ञान ।। २३ ।।

चेतन पुरुष द्रष्टा है शब्द स्पर्श आदि विषय अचेतन दृश्य हैं ये सब चेतन अचेतन चित्तके विषय होते हैं इसमेंसे जिसमें चित्त उपरक्त होता है वा जिसके साथ संबंधसंयुक्त होता है उसीके आकारसे भासित होता है इससे चित्त सर्व अर्थरूप है जब चित्त द्रष्टा (पुरुष) से उपरक्त होता है तब द्रष्टाके आकारसे भासित होता है इन्द्रिय आदिके द्वारा जब दृश्यसे उपरक्त होता है तब दु.ख सुख भोगरूप दृश्य-रूपसे भासित होता है जैसे स्फटिक मणिमें जिस राग वा रूपका आभास पड़ता है उसी रूपसे भासित होती है इसी प्रकारसे चित्तको समझना चाहिये. यद्यपि चित्त व स्फटिक मणिकी उपमामें साकार आकार होनेसे अयोग्य होनेकी शंका हो सक्ती है परंतु तत्त्वरूपसे न होने व अयथार्थ भासित होनेमात्रमें साधर्म्य भानकर अंगीकार करना चाहिये एक अंशमें जिससे उपमाका प्रयोजन हो सम धर्म होनेसे उपमाका यथार्थ होना मान लिया जाता है, अब चेतना व अचेतन स्वरूपको प्राप्त चित्तके स्वरूपमें बहुत भ्रमको प्राप्त है। कोई चित्तहीको चेतन मानते हैं, कोई चित्तही मात्रको सब मानते हैं यथा कोई वैनाशिक बाह्य अर्थको भी मानते हैं, कोई विज्ञानही मात्रको मानते हैं और अर्थ कुछ नहीं है, यह कहते हैं परंतु यह यथार्थ नहीं है चित्त भोग्य है व भोक्ता पुरुष उससे पृथक् है जैसा कि पूर्वही वर्णन हो चुका है ।।२३।।

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ।। २४ ।।

वह असंख्येय वासनाओंसे विचित्र भी संहत्यकारित्वसे परके निमित्त है।।२४।।

दो० –इन्द्रियके संबंधते, पुरुष रहित पर अर्थ ।
अमित वासना चित्र चित, लखि भ्रम तावत व्यर्थ ।।

गृहस्वामी गृह वसत जिमि, भोगत चित्रित भोग।
सो पदार्थते भिन्न जिम, देह पुरुष संयोग ॥ २४ ॥

वह अर्थात् चित्त असंख्येय वासनाओंसे विचित्र भी है तथापि संहत्यकारित्व जो देह व इन्द्रियोंका मेल है उससे पर जो पुरुष है उसके भोग व अपवर्गके निमित्त है, अपने भोगके निमित्त नहीं है व पुरुष संहत्यकारित्वसे रहित है नित्य शुद्ध ज्ञान-मय है, जैसे गृहस्वामी गृहमें प्राप्त सम्पूर्ण चित्र विचित्र पदार्थोंको भोग करता है परंतु सब पदार्थोंसे भिन्न होता है इसी प्रकारसे सुख दुःख रूप भोग व अपवर्गका भोग करनेवाला पुरुष सब इन्द्रिय व विषयोंसे पृथक् है ।।२४।।

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ।। २५ ।।

विशेष दर्शी (ज्ञानी) को आत्माभावकी भावना होना निवृत्ति है ।।२५।।

सो० –दीर्घ ज्ञानते जान, आत्मभावकी भावना।
तब प्रवृत्तिकी हान, पावत पुरुष निवृत्तिसुख ।। २५ ।।

जैसें वर्षा होनेमें तृण व अंकुरके जमनेसे तृण अंकुरके बीजके सत्ताका अनु-मान होता है इसी प्रकारसे जिसको मोक्ष मार्गके सुननेसे आनंद अश्रुपात व रोमहर्ष होय उसमें विशेष दर्शन अर्थात् जो विवेक, अज्ञान, मोक्ष प्राप्त करनेवाला व सब क्लेश कर्मसे निवृत्त करनेवाला है उसके सत्ताका अर्थात् उसके विद्यमान होनेका अनुमान किया जाता है. विशेष दर्शी (ज्ञानी) को आत्मभावकी भावना होना क्लेश व कर्मकी निवत्तिरूप है उसके होनेसे संपूर्ण क्लेश व कर्म निवृत्त हो जाते हैं. आत्म-भावकी भावनासे इस निर्णयमें रुचि होती है कि मैं कौन था ? कैसा था ? यह क्या है ? किस प्रकारसे है ? मैं कौन होऊंगा और कैसे किस दशामें हूंगा ? यह विचार व भावना विशेष दर्शीको निवृत्त करती है क्योंकि चित्तहीका विचित्र परिणाम होता है. पुरुष अविद्याके नाश हो जानेमें चित्तके धर्मोसे रहित शुद्ध स्वरूप होता है।।२५।।

तदा विवेकनिम्नंकैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ।। २६ ।।

तब कैवल्य (मोक्ष) के पूर्वही चित्त विवेकनिम्न (विवेकसे गंभीर) होता है अर्थात् पूर्ण विवेकयुक्त होता है ।।२६।।

दो० –जैसे गरुआ होत चित, विषयभोगको थाय।
तैसेहि नासत कर्मके, निवृतिज्ञान गरुआय ।। २६ ।।

अब ज्ञानी विषय वासनाओं रहित आत्मभावकी भावनासे कर्मसे निवृत्त होता है तब उसका चित्त जो विषयभोगमें आसक्त अज्ञान निम्न था वह मोक्ष होनेसे पहिले विवेकजज्ञान (विवेकसे उत्पन्न) निम्न होता है अर्थात् पूर्ण विवेकज्ञानमें निश्चल स्थिर वा आश्रित होता है ।।२६।।

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ।। २७ ।।

उसके छिद्रोंमें अर्थात् विवेक भेद होनेके क्षणों वा समयोंमें संस्कारोंसे अन्य प्रत्यय होते हैं ।। २७।।

दो० –जो विवेक निश्चल नहीं, रहत छिद्रता माँहि।
संस्कारते पलट पुनि, मैं अरु मोर कहाँहि ।।
भेदरहित चित थिर भये, छिद्र रहत नहिं कोइ।
होत भेद विज्ञानकृत, छिद्र लहत अति सोइ ।। २७ ।।

विवेक निम्न चित्तमें विवेकमें भेद होनेके समयोंमें पूर्व संस्कारोंसे (व्युत्थान संस्कारोंसे) मैं हूं यह मेरा है मैं जानता हूं मैं नहीं जानता अज्ञानी हूं इत्यादि ऐसे अन्य प्रत्यय उत्पन्न होते हैं ।।२७।।

हानमेषां क्लेशवदुक्तम्।। २८ ।।

इनका हान (नाश) क्लेशोंके समान कहा गया है ।।२८।।

सो०–संस्कारकी हान, क्लेशनाशसम कहत मुनि।
पक्व होत जब ज्ञान, नसत क्लेश व्युत्थान सब ।। २८ ।।

जिस ज्ञानीका विवेक परिपक्व हो गया है उसके व्युत्थान संस्कार क्षीण हो जानेसे अन्य प्रत्ययोंके अर्थात् फिर क्लेश व व्युत्थान प्रत्ययोंके उत्पन्न करनेको समर्थ नहीं होते इससे यह कहा है कि इनका अर्थात् जिनका बीज नष्ट हो गया है ऐसे पूर्व व्युत्थान संस्कारोंका नाश क्लेशोंके समान कहा गया है अर्थात् जैसे विवेक छिद्रोंमें उत्पन्न हुए भी क्लेश अन्य संस्कारको उत्पन्न नहीं करते इसी प्रकारसे व्युत्थान संस्कार भी अन्य संस्कारको उत्पन्न नहीं करते. जो सब तत्त्वों व पुरुषको यथार्थरूपसे जाननेका विवेक स्वरूपसे ज्ञान है उसको प्रसंख्यान कहते हैं. प्रसंख्यानको व्युत्थान संस्कारोंके निरोधका उपाय वर्णन करके अब प्रसंख्यानके भी निरोधका उपाय वर्णन करते हैं ।।२८।।

प्रसंख्यानेप्यकुसीदस्य सर्व्वथाविवेकख्यातेधर्म्ममेघः समाधिः।।२९।।

प्रसंख्यानमें अकुसीदको अर्थात् कुत्सित विषय प्रीतिसे रहितको सर्वथा विवेक ख्यातिसे धर्ममेध समाधि होती है ।।२९।।

सो० –प्रसंख्यानको पाय, इच्छा नहिं जिहिं सिद्धिकी ।
कुत्सित विषय विहाय, विवेकख्यातिते सर्वथा ।।
पावत फल कैवल्य, कर्म अशुक्ल अकृष्णकर ।
धर्ममेधसमतुल्य, लहै समाधिक अक्षयसुख ।। २९ ।।

प्रसंख्यान ज्ञानमेंभी जो अकुसीद है अर्थात् जो प्रसंख्यानमें प्राप्त सिद्धि आदिकोंकी इच्छा नहीं करता उनको भी अंतवान् जानकर कुत्सित विषय प्रीतिसे रहित है उसको सर्वथा विवेक ख्यातिसे धर्ममेध[1] समाधि जिसमें केवल अशुक्ल अकृष्ण धर्म व जिसका कैवल्य फल है ऐसी समाधि प्राप्त होती है और संस्कार बीजके नाश होजानेसे फिर अन्य प्रत्ययकी उत्पत्ति नहीं होती ।।२९।।

---

१ कैवल्यफलरूपमशुक्लाकृष्णधर्मं मेघतीति धर्ममेघः ।

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

उससे क्लेश कर्मकी निवृत्ति होती है ॥३०॥

दो० –धर्ममेधसमाधिते, होत क्लेशकी हान ।
जन्ममरणके दुःखते, सहज निवृत्ती जान ॥ ३० ॥

उससे धर्ममेध समाधि लाभ होनेसे संपूर्ण क्लेश कर्मकी निवृत्ति हो जाती है अर्थात् क्लेशके मूल कर्माशयका नाश हो जाता है. क्लेश कर्मके निवृत्त होनेसे ज्ञानी जीवन्मुक्त होता है फिर उसका जन्म नहीं होता क्योंकि उत्पन्न होनेका कारण अज्ञान व कर्माशयका नाश होता है कारणके नाश होनेसे कायरूपजन्मका नाश होता है अर्थात् फिर जन्मकी प्राप्ति नहीं होती ॥३०॥

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

तब संपूर्ण क्लेश कर्मरूप आवरण मलसे रहित योगीका ज्ञान अनंत होता है ज्ञानके अनन्त होनेसे ज्ञेय (जाननेके योग्य) जो संपूर्ण पदार्थ हैं वह अल्प जान पड़ते हैं ॥३१॥

दो० –तब सब मल आवर्ण कर, होत नाश अति शुद्ध ।
पावत ज्ञान अनंतके, ज्ञेय अल्पसम बुद्ध ॥ ३१ ॥

अर्थ स्पष्ट है ॥३१॥

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३२ ॥

उससे कृतार्थ गुणोंके परिणाम क्रमकी समाप्ति होती है ॥३२॥

दो० –धर्ममेधसमाधिके, उदय भये पर तात ।
गुणकृतार्थता पाप कर, क्रमपरिणाम नसात ॥
गुणप्रवृत्तिसों होत हैं, भोग मोक्ष दुखःसुख ।
भोग अनंतर ज्ञानते, जीवनमुक्ति सुमुख्य ॥

सो० –मुक्तिअवस्था पाय, गुणकृतार्थ हुइ रहत नांहि ।
गुण अस्थिर न रहाय, पुनि प्रवृत्ति नांहि कर सकहिं ॥ ३२ ॥

उससे धर्ममेध समाधिके उदय होनेसे कृतार्थ गुणोंके परिणाम क्रमकी समाप्ति होती है अर्थात् जिस ज्ञानी प्रति गुण कृतार्थ हो चुके हैं उस ज्ञानी प्रति फिर गुण प्रवृत्त नहीं होते. अभिप्राय यह है कि भोग व अपवर्गके निमित्त गुणोंकी प्रवृत्ति होती है. जिस ज्ञानीको भोग होनेसे अनंतर विवेक वैराग्यसे जीवन्मुक्त होनेकी अवस्था प्राप्त हुई उस ज्ञानीमें कृतार्थ हो जानेसे फिर क्षणभर भी गुण स्थिर नहीं हो सक्ते अर्थात् अंत होनेकी अवस्थाको प्राप्त हो फिर उसमें प्रवृत्त नहीं होते ॥३२॥

क्षणप्रतियोगी परिणामापरांतनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

क्षण प्रतियोगी अर्थात् जिसमें पूर्व पूर्वक्षणोंके अभाव होनेके पश्चात् अन्य अन्य उत्तरक्षणोंके होनेका संबंध रहता है वह क्रम परिणामके अंतसे ग्रहणके योग्य है ॥३३॥

सो० –क्षण प्रति है सयोग, पूरवते उत्तर क्षणहु ।
अहै ग्रहणके योग, क्रम परिणामपर्यंतलों ॥ ३३ ॥

परिणामका क्रम परिणामके अंतसे ग्रहण योग्य है यह कहनेका अभिप्राय यह है कि, अंतमें जो परिणाम विशेषका प्रत्यक्ष होता है उससे पूर्व क्षणसे पर क्षण बदलते जानेके क्रमका बोध होता है. जैसे प्रयत्नसे रक्खे जानेपर भी नये वस्त्रका कालान्तरमें पुराना हो जाना विदित होता है यह पुराना परिणामका अंत है इससे यह अनुमान किया जाता है कि इस पुराना होनेके प्रत्यक्ष होनेसे पहिले भी क्षण क्षणमें सूक्ष्म सूक्ष्म पुरानता जो प्रत्यक्ष नहीं हुई होती गई है बहुत वा स्थूल होनेमें अब विदित हुई है वा होती है इसी प्रकारसे स्थूलसे सूक्ष्म होनेमें क्षण क्षण प्रति सूक्ष्मरूपसे कुछ कुछ सूक्ष्मता होनेका व अधिक होनेपर उसके प्रत्यक्ष होनेका व सूक्ष्मसे स्थूल होने आदिमें क्षण क्षणमें सूक्ष्मरूप कुछ कुछ स्थूलता होते जाने व अंतमें स्थूलता अधिक होनेपर उसके प्रत्यक्ष होनेका अनुमान किया जाता है. जैसे स्थूल

शरीरका भोजनकी न्यूनता वा अन्य कारणसे जो कृश (दुबला) होना व लघु बालकको मास वा वर्षके पश्चात् देखनेमें जो उसके शरीरका बढ़ना विदित होता हैं उसका प्रत्यक्ष होनेहीके समयमें होना अनुभवसे सिद्ध नहीं होता पूर्वहीसे जो क्षण क्षण प्रतिदिन आदिमें न्यूनता व अधिकता होती है वह स्थूल होनेपर बिदित होती है. सूक्ष्मरूप होनेसे क्षण क्षण व दिन दिन प्रति जो बालकके शरीरमें युवा अवस्था पर्य्यन्त वृद्धि होती है वह क्षण क्षण व दिन दिन प्रति विदित नहीं होती. यह सूक्ष्म रूपसे क्षण क्षण परिणाम होते जाना क्रम है अर्थात् परिणामका क्रम है. यह परिणाम नित्य है जो यह संशय हो कि, क्षण क्षणमें रूपान्तर होनेसे नित्य कैसे हो सक्ता है ? इसका उत्तर यह है कि, नित्यता दो प्रकारकी है एक कूटस्थ नित्यता जो एक रस परिणाम रहित होनेकी नित्यता है दूसरी परिणाम नित्यता पुरुषको कूटस्थ नित्यता है बुद्धि आदि गुण धर्मोंको परिणाम नित्यता है, परिणामको प्राप्त हो जानेपर भी जिसमें तत्त्वका नाश नहीं होता वह नित्य कहा जाता है पुरुष व गुण दोनोंके तत्त्वके नाश न होनेसे दोनों नित्य हैं. अब यह प्रश्न उदय होता है कि स्थिति व गतिके साथ गुणोंमें वर्तमान जो यह संसार है. इसके क्रमकी समाप्ति है अथवा नहीं ? यह प्रश्न अवचनीय है, प्रश्नके तीन प्रकारके भेदोंमेंसे एक यह अवचनीय है. वे तीन यह हैं एक एकान्त वचनीय जिसका उत्तर एकही प्रकारका होता है. दूसरा विभज्य वचनीय जिसका उत्तर विभागसे कहने योग्य होता है. तीसरा अवचनीय जिसका उत्तर एकान्त रूपसे एक प्रकारसे कहने योग्य नहीं होता जैसे क्या सब जगत् जो उत्पन्न है मरेगा ? उत्तर सब मरेगा, यह एकान्त वचनीय है क्या जो जो मरेगा सब उत्पन्न होगा ? उत्तर केवल जिसको ज्ञान उदय हुआ है व तृष्णारहित हो गया है वह उत्पन्न न होगा अन्य उत्पन्न होगा. तथा मनुष्य जाति उत्तम है वा नहीं ? उत्तर मनुष्य जाति पशुओंसे उत्तम है देवता व ऋषियोंसे उत्तम नहीं है यह विभज्य वचनीय है. यह संसार अन्तवान् है ? वा अनन्त है ? यह अवचनीय है क्योंकि दोमेंसे

एक विशेष कहने योग्य नहीं है परंतु आगम प्रमाण (शब्द प्रमाण) से इसका उत्तर यह है कि; ज्ञानीको संसार क्रमकी समाप्ति है अर्थात् ज्ञानीको संसार अन्तको प्राप्त होता है अज्ञानीको नहीं होता, ज्ञानी संसार क्रमके समाप्त होनेपर अर्थात् संसारके अंत होनेपर मुक्त हो कैवल्य पदको प्राप्त होता है ॥३३॥

अव कैवल्यका क्या लक्षण है आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं:-

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ ३४ ॥

पुरुषार्थसे शून्य गुणोंका लय होना. अथवा चितिशक्तिमात्र कैवल्य स्वरूपकी प्रतिष्ठा (अवस्था) है ॥३४॥

दो० —पुरुषार्थकी शून्यता, त्रिगुणादिक लय जान।
शेष रहत है शक्ति चित, तब कैवल्य बखान ॥ ३४ ॥

पुरुषार्थ जो मोक्ष है उससे शून्य भोग अपवर्गके अर्थ कार्य कारणात्मक जो प्रकृतिरूप त्रिगुण व महत्तत्त्व आदि कार्य गुण हैं उनका क्रमसे सबका लय हो जाना अथवा बुद्धि सम्बंध रहित केवल आत्माकी शक्तिमात्र अपने शुद्ध ज्ञान आनंदस्वरूप अवस्थामें ईश्वरमें समाधि सिद्ध होनेसे जीवका प्राप्त होना कैवल्य (मोक्ष) है. जो यह संशय हो कि ईश्वरमें समाधि सिद्ध होनेसे इस अर्थका ग्रहण सूत्र शब्दसे पृथक् (भिन्न) कहांसे होता है? तो पूर्वही पुरुषार्थ सिद्ध होनेके लिये अष्टांग योगके वर्णनमें ईश्वर उपासना ईश्वर प्रणिधानको वर्णन किया है उस सम्बंधसे ग्रहण करना युक्त है ईश्वर अनुग्रहसे शुद्ध रूप होकर ईश्वरमें प्राप्त हो जीव नित्य आनंदको प्राप्त होता है इसी प्रयोजनसे ईश्वर उपासना व ईश्वर प्रणिधानका विधान है ॥३४॥

इति श्रीपातंजले योगशास्त्रे श्रीमद्धार्मिकप्यारेलालात्मजतेरहीत्याख्यग्रामवासिश्रीमच्छास्त्रवित्प्रभुदयालुनिर्मितार्य्यभाषाभाष्ये कैवल्यपादश्चतुर्थः समाप्तः ॥ ४ ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

हमारे प्रकाशनों की अधिक जानकारी व खरीद के लिये हमारे निजी स्थान :

खेमराज श्रीकृष्णदास
अध्यक्ष : श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,
९१/१०९, खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग,
७ वी खेतवाडी बॅक रोड कार्नर,
मुंबई - ४०० ००४.
दूरभाष/फैक्स-०२२-२३८५७४५६.

खेमराज श्रीकृष्णदास
६६, हडपसर इण्डस्ट्रियल इस्टेट,
पुणे - ४११ ०१३.
दूरभाष-०२०-२६८७१०२५.
फैक्स -०२०-२६८७४९०७.

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,
लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस व बुक डिपो
श्रीलक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस बिल्डींग,
जूना छापाखाना गली, अहिल्याबाई चौक,
कल्याण, जि. ठाणे, महाराष्ट्र - ४२१ ३०१
दूरभाष/फैक्स- ०२५१-२२०९०६१.

खेमराज श्रीकृष्णदास
चौक, वाराणसी (उ.प्र.) २२१ ००१.
दूरभाष - ०५४२-२४२००७८

KHEMRAJ SHRIKRISHNADASS

शंकराचार्य कृत

योगतारावली

[हिन्दी अनुवाद और विशद व्याख्या के साथ]

रामशंकर भट्टाचार्य

प्रकाशक

भारतीय विद्या प्रकाशन

वाराणसी दिल्ली

शंकराचार्यकृत

योगतारावली

[हिन्दी अनुवाद और विशद व्याख्या के साथ]

अनुवादक तथा व्याख्याकार

रामशंकर भट्टाचार्य

(एम. ए ; पीएच-डी॰; व्याकरणाचार्य)

Co editor : Encyclopedia of Indian Philosophies
(Vols. on Samkhya & Yoga);
Editor : Purana, All-India Kasiraj Trust.
Varanasi

प्रकाशक

भारतीय विद्या प्रकाशन
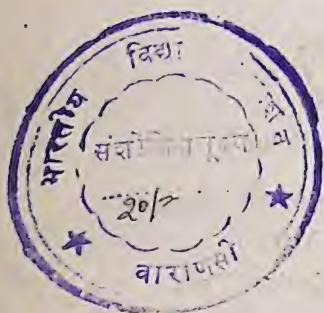
वाराणसी दिल्ली

YOGATĀRĀVALĪ

with Hindi Translations & Notes and a Preface

Ram Shankar Bhattacharya

M.A.; Ph.D.; Vyakaranacharya

Co-editor : Encyclopedia of Indian Philosophies
(Vols. on Samkhya & Yoga);
Editor : Purana, All-India Kasiraj Trust,
VARANASI

BHARATIYA VIDYA PRAKASAN
VARANASI DELHI

प्राक्कथन

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ।।

राजयोग का प्रतिपादक श्लोकबद्ध योगतारावली[1]-नामक ग्रन्थ योगाभ्यासियों में अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। इस ग्रन्थ को शंकराचार्य द्वारा विरचित माना जाता है। यही कारण है कि विभिन्न प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित शाङ्करग्रन्थावलियों में यह ग्रन्थ अवश्य संयोजित रहता है। पृथक् रूप से इस ग्रन्थ का प्रकाशन कदाचित् ही देखा जाता है।

यह खेद का विषय है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित विषय यद्यपि अत्यन्त उच्चकोटि का है तथा इसकी भाषा भी कहीं-कहीं व्याख्या की अपेक्षा रखती है, तथापि इसकी कोई प्राचीन संस्कृत टीका प्रचलित नहीं है, जबकि शंकराचार्यकृत दार्शनिक-विचार-बहुल दक्षिणामूर्ति-स्तोत्र की टीका

---

१. 'तारावली' शब्द का तात्पर्य विज्ञेय है। ताराओं की संख्या २७ हैं। यदि ग्रन्थ के मुख्य श्लोक २७ हों तो 'तारा' शब्द का प्रयोग ग्रन्थ-नाम में किया जा सकता है (१–२ गौण श्लोक भी ऐसे नामवाले ग्रन्थों में कभी-कभी रहते हैं)। तारा की तरह नक्षत्र शब्द भी प्रयुक्त होता है। 'शिवपञ्चाक्षर-नक्षत्रमाला' (शंकराचार्यकृत) में २७ श्लोक हैं (२७ मुक्ताओं से जो माला बनती है, वह नक्षत्रमाला कहलाती है, यह ज्ञातव्य है)।

उनके शिष्य सुरेश्वराचार्य ने, वेदान्तकेशरी की टीका आनन्दगिरि ने तथा निर्वाणदशक की टीका मधुसूदन सरस्वती ने लिखी है। टीका न रहने के कारण इस ग्रन्थ के कुछ वाक्यों का तात्पर्य समझने में कठिनता होती है। ग्रन्थगत श्लोकों का मुद्रित पाठ भी सर्वत्र शुद्ध प्रतीत नहीं होता। विभिन्न संस्करणों में श्लोकों के अनेक पाठान्तर दृष्ट होते हैं। अतः प्राचीन हस्त-लेखों के आधार पर इस ग्रन्थ का एक शुद्धपाठयुत संस्करण प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत होता है। शुद्ध पाठों के विना अर्थनिर्धारण करना सुकर नहीं है।

इस ग्रन्थ के जो एक-दो व्याख्या-ग्रन्थ (हिन्दी-बंगला में) प्रचलित हैं, वे बहुत ही साधारण कोटि के हैं। इनमें न पाठों पर उचित विचार किया गया है और न शब्दों के विवक्षित तात्पर्य के निर्धारण के लिए उचित प्रयास किया गया है। प्रस्तुत व्याख्या में योगतारावली में प्रयुक्त शब्दों के विवक्षित अर्थों का निर्धारण योगग्रन्थों के आधार पर करने की चेष्टा की गई है तथा कौन पाठ संगत है, इस पर भी विचार किया गया है। हम समझते हैं कि हठयोगप्रदीपिका की ज्योत्स्नाटीका की तरह एक टीका इस ग्रन्थ के लिए भी आवश्यक है। कोई अभ्यासशील विद्वान् योगी यदि इस कार्य को करें तो हम सब उपकृत होंगे।

शङ्कराचार्य इस ग्रन्थ के लेखक हैं—इस प्रसिद्धि में हमें पर्याप्त संशय है। इस ग्रन्थ का उद्धरण प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों में नहीं मिलता; अट्ठारवीं शती के शाक्त भास्कर आचार्य (द्र० १७ श्लोक की व्याख्या) तथा १६-१७ वीं शती के योगी शिवानन्द (द्र० ६ श्लोक की व्याख्या) के द्वारा इस ग्रन्थ के वाक्य उद्धृत हुये हैं। किंच शंकर-संप्रदाय के किसी आचार्य के द्वारा अथवा हठयोगादि योगप्रस्थानों के किसी आचार्य के द्वारा इस ग्रन्थ की टीका न लिखा जाना इसकी शंकरकर्तृकता में दृढ़ संशय उत्पन्न करता है। यह भी देखा जाता है कि इस ग्रन्थ का वाक्य 'नन्दिकेश्वरकृत तारावली' के नाम से उद्धृत किया गया है (द्र० ६ श्लोक

की व्याख्या)। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि इस ग्रन्थ को शंकर-विरचित मानना संशयास्पद है।

यदि नन्दिकेश्वर नामक किसी आचार्य के द्वारा यह ग्रन्थ विरचित हो तब भी इस प्रश्न का समाधान ढूँढना होगा कि क्यों यह ग्रन्थ शंकराचार्य की कृति के रूप में प्रसिद्ध हुआ ? नन्दिकेश्वर का परिचय भी निर्धारणीय है। पुराणों में जिस शिलाद ऋषि के पुत्र नन्दिकेश्वर का चरित है[2] (जिनका मानव शरीर जीवित अवस्था में ही दैव शरीर में परिणत हो गया था; द्र० व्यासभाष्य २।१२-१३) वे इस ग्रन्थ के रचयिता हैं, ऐसा मानने का कोई आधार नहीं है।

ग्रन्थकार ने श्रीशैल (श्रीपर्वत) में निवास करने की उत्कट इच्छा व्यक्त की है (श्लोक २८)। लेखक का दक्षिणभारत का निवासी होना इससे ज्ञापित होता है।

प्रस्तुत संस्करण का मुख्य वैशिष्ट्य यह है कि हमने श्लोकों के अर्थनिर्धारण में कहीं भी निराधार कल्पना का आश्रय नहीं लिया तथा व्याख्या में अनावश्यक विस्तार भी नहीं किया। श्लोक-प्रयुक्त शब्दों का अर्थ अन्यान्य योगग्रन्थों के आधार पर ही किया गया है—यह सहृदय पाठक देख सकते हैं। व्याख्या में जो सामग्री संकलित की गई है उसके आधार पर पाठक स्वयं भी श्लोकों के अर्थों का निर्धारण करने में समर्थ होंगे—ऐसा हम समझते हैं; साथ ही हम यह भी चाहते हैं कि पाठक स्वयं हमारी व्याख्या की युक्तायुक्तत्व की परीक्षा करें। हमें यह कहने में कोई भी संकोच नहीं है कि ग्रन्थोक्त कुछ विषय सर्वथा स्पष्ट नहीं हैं। इस

---

२. द्र० शिवपु० ३।६ अ०; स्कन्दपु० केदारखण्ड ५।१११-१२३; स्कन्दपु० काशीखण्ड ११।१०६; वराहपु० १४४।१६७; वराहपु० २१३।६९-७१; कूर्मपु० १।४३।१२८; २।४१।१७-४२। विशद विवरण के लिए मेरा 'Nandin–a yogin' शीर्षक निबन्ध (Journal of the Yoga Institute, Bombay, Vol. XXVII. 8 में प्रकाशित) पठनीय है।

अस्पष्टता का एक हेतु है—श्लोकों के अशुद्ध पाठ--यह कहना अनुचित नहीं होगा। यह भी निवेदनीय है कि हम चूँकि स्थूलरूप से योग का मनन-मात्र करते हैं, अतः अयोग्यता के कारण भी हमारी व्याख्या में कहीं-कहीं भ्रान्ति हो सकती है।

पाठकों की सुविधा के लिए एक 'शब्दसूची' भी ग्रन्थान्त में दी गई है। पाठक देखेंगे कि ग्रन्थगत कई शब्द विरल-प्रयुक्त हैं। हठसंकेतचन्द्रिका, हठतत्त्वकौमुदी (सुन्दरदेवकृत) आदि विस्तृत ग्रन्थों के प्रकाशन होने पर इन शब्दों के अर्थों को समझने में सुविधा होगी। इति

गुरुपूर्णिमा

रामशंकर भट्टाचार्य

११-७-१९८७

डी० ३८/८ हौजकटोरा, वाराणसी

PREFACE

The Yogatārāvalī deals with some practices of both Haṭhayoga and Rājayoga. Though the work is in 29 verses, yet almost all important practices are mentioned in it. In a few places necessary details have also been given in brief.

A synopsis of these verses is given below :

(Verse 1) Obeisance to Haṭhayoga.

(2) The *nādānusandhāna* concentration is said to be the highest of all *layas* (obsorption).

(3) Divine experience to be realized by the practitioner whose nerves have been purified.

(4) The dissolution of the mind into the feet of Viṣṇu by means of the *nādānusandhāna* (listening to the inner sound).

(5) Efficacy of the three *bandhas* namely Jālandhara, Uddiyāna and Mūla.

(6) The rise of Kuṇḍalī (Coiled Energy) and its entering the Suṣumnā nerve.

(7) Drinking of nector issuing from the moon heated by the fire coming out from the Suṣumnā nerve.

(8) Practice of Kevala-kumbhaka (the stoppage of breath called Kevala) which checks the flow of external knowledge.

(9-10) The developed stage of Kevala kumbhaka; absence of inhalation and exhalation in this *kumbhaka*.

(11-12) The state in which the vital air gets dissolved in Viṣṇu's feet.

(13) The rise of the state that transcends all functions of sense organs.

(14-16) Characteristics of the perfected stage of Rājayoga.

(17) Description of the stage called Manonmanī (fixedness of mind).

(18) Characteristics of yogins attaining to the state of Manonmanī.

(19) Chief means of acquiring the Unmanī state (steadiness of mind).

(20) Characteristics of the mind that can attain to peace.

(21-22) External as well as internal signs or characteristics of persons established in the Amanaska mudrā.

(23) Intense longing of a practitioner to acpuire the Amanaska state.

(24) The rise of *Yoganidrā* (yogic sleep) and its results.

(25-26) Qualifications of a person capable of attaining to yogic sleep and the divine pleasure to be d rived from it.

(27) Persons who are bereft of all knowledge of objects.

(28) Longing of a practitioner of higher stage to acquire *siddhi* and to reside in the cave of the Śrīparvata.

(29) The state in which a practitioner listens to divine sounds,

The authorship of the work is usually ascribed to the great Advaita teacher Śaṅkarācārya. There are however strong grounds to hold that this ascription is not beyond doubt. The work had not been commented on by any of the direct or indirect disciples of Śaṅkarācāry, nor has it been commented on by any teacher of minor yoga schools. Moreover the work does not seem to have beenl quoted by any teacher who lived before the fifteenth century. All these tend to show that the work belongs to a much later date. It is quite reasonable to hold that the work was composed by one of those later Śaṅkarācāryas who were proficient in Haṭha and Rāja yogas.

There is a difficulty in accepting this view also, for the work was ascribed to Nandikeśvara by Śivānanda (in his Yogacintāmaṇi, p. 15), one of the authorities on yoga. It is difficult to explain this change in authorship. Even if we accept the authorship of Nandikeśva a, it is difficult to identify him. Historically it is impossible to take this Nandikeśvara as the same as the Puranic Nandin or Nandikeśvara (the son of the sage Śilāda), who assumed a *daiva śarīra* (divine body) through the grace of Śiva. A Nandikeśvara is said to have composed a commentary (in verse) on the fourteen Pratyāhāra sūtras of Paninian grammar. The identification of these two Nandikeśvaras is still to be proved.

It is a pity that the present work has no ancient Sanskrit commentary. There are, however, a few translations and commentaries in Hindi and Bengali. These commentaries neither try to determine the intended inporte of the important expressions of the text, nor take into consideration the variant readings found in the different printed editions of the text. Though we have tried to

explain the expressions of the text with the help of the available works on Haṭhayoga and Rājayoga, yet we do not hesitate to declare that the significance of some of the expressions remains still to be determined.

The work, we believe, will delight all lovers of yoga and inspire them to run on the path of yoga with undivided attention.

R. S. Bhattacharya

योगतारावली

वन्दे गुरूणां चरणारविन्दे
सन्दर्शितस्वात्मसुखावबोधे ।
जनस्य ये जाङ्गलिकायमाने[1]
संसारहालाहलमोहशान्त्यै ॥१॥

[१. निःश्रेयसे माङ्गलिकायमाने (पाठा०)]

अनुवाद—संसाररूपी विष (के पान) से उत्पन्न मोह की शान्ति के लिए गुरुदेव के जो दो चरणकमल (लोगों में) विषवैद्य की तरह आचरण करते हैं अर्थात् गुरु के चरण संसारमोह का नाश करते हैं), आत्मसुखबोध के दर्शक उन दो चरणों की वन्दना करता हूँ ।

व्याख्या—गुरु शब्द में जो बहुवचन है वह या तो स्वीय गुरु के प्रति गौरव-प्रदर्शन के लिए है अथवा वह परम्परागत सभी गुरुओं के लिए है। योगाभ्यास के लिए गुरु-उपदेश की अत्यन्त आवश्यकता होती है । यही कारण है कि योग के ग्रन्थों में 'गुरु-उपदिष्ट मार्ग' आदि शब्द प्रायः प्रयुक्त होते हैं । गुरु-महिमा के लिए ह० यो० प्र० १।१४ की ज्योत्स्ना टीका द्रष्टव्य है ।

सन्द···बोधे—'चरणारविन्दे' का विशेषण । सन्दर्शित हुआ है स्वात्म-सुख-अवबोध जिनके द्वारा वे (दो चरण) ।

जाङ्गलिक = विषवैद्य; अमरकोश १।८।१४ में जाङ्गुलिक शब्द है, पर जाङ्गलिक शब्द का भी अन्य कोशों में उल्लेख मिलता है । काशीखण्ड आदि में जाङ्गुलिक शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

तृतीय चरण का पाठान्तर है—निःश्रेयसे माङ्गलिकायमाने' । यह पाठ सगत

हो सकता है। ये दो पद 'चरणारविन्दे' के विशेषण हैं। निःश्रेयस = निश्चित श्रेयोरूप। माङ्गलिकायमान = माङ्गलिक की तरह आचरण करने वाले।

हालाहल = विष। पुराणों में कहा गया है कि हिमालय पर्वतस्य हलाहला-नदी के तीर में यह विष उत्पन्न होता है।

सदाशिवोक्तानि सपादलक्ष-
लयावधानानि च सन्ति[1] लोके।
नादानुसन्धानसमाधिमेकं
मन्यामहे मान्यतमं[2] लयानाम्[3] ॥२॥

[१. वसन्ति लोके (पाठा०) २. अन्यतमम् (पाठा०); यह भ्रष्ट पाठ है। ३ इस श्लोक का अनुरूप श्लोक ह० यो० प्र० में है—श्री आदिनाथेन सपादकोटि-लयप्रकाराः कथिता जयन्ति। नादानुसन्धानकमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् (४।६६); 'नादानुसन्धानसमाधि' शब्द ४।१८ में प्रयुक्त हुआ है।]

अनुवाद—सदाशिव के द्वारा प्रोक्त एक लाख पच्चीस हजार लययोग इस लोक में हैं। इन सब लयों में एकमात्र नादानुसन्धान-समाधि (नादानु-सन्धान-पूर्वक या नादानुसन्धान से युक्त समाधि) को (हम) सर्वोच्च लय के रूप में समझते हैं (नादानुसन्धान के विषय में श्लोक ४ द्र०)।

व्याख्या—शिव को सभी योगों के मूल वक्ता के रूप में मानने की भी एक प्रसिद्ध परम्परा है। लययोग के श्लोकोक्त भेदों की उपपत्ति गुरु-परम्परा से जाननी चाहिये—बहिरङ्ग आलोचना से यह ज्ञातव्य नहीं है। ज्योत्स्नाटीका में कहा गया है—श्री आदिनाथोक्तसपादकोटिसमाधिप्रकारेषु (४।२)। इस योग के अनन्तकोटि भेद हैं—यह भी कहीं कहीं कहा गया है। साधन-क्रिया के कौशल-भेद से ये भेद होते हैं—यह ज्ञातव्य है।

लययोग योग का अवान्तर भेद है। प्राचीन परम्परा में योग के चार भेद माने गये हैं—मन्त्र, लय, हठ तथा राजा (द्र० शिवपु० ७।२।३७।९, लिङ्गपु० २।५५।७ आदि)। योगतत्त्वोपनिषद् २२-२३, दत्तात्रेय-संहिता (प्राणतोषिणी तन्त्र, पु० ४३९-४४० में उद्धृत) आदि में इस योग का विशिष्ट विवरण द्रष्टव्य है[1]। योगकर्णिका, पु० १४३-१४४ भी द्रष्टव्य है।

नादानुसन्धान का अर्थ है—अनाहतध्वनि का अनुचिन्तन। इस 'अनुसन्धान' शब्द का प्रयोग अमनस्कयोग २।१४ में भी मिलता है। नादानुसन्धान को श्रेष्ठ लय मानना हठयोग का एक प्रतिष्ठित मत है—न नादसदृशो लयः (ह० यो० प्र० १।४३)। 'लय' का तात्पर्य 'लयहेतु' से है—नाद चित्तलय का सर्वश्रेष्ठ हेतु है। ह० यो० प्र० ४।६६-१०२ में नादानुसंधान का सविशेष विवरण द्रष्टव्य है।

लयावधान = लय के प्रति अवधान। इस लय के विषय में ह० यो० प्र० ४।३१-३४ द्रष्टव्य है। लय का सर्वोच्च रूप मनोलय है, पर पहले प्राणलय करणीय है। मनोलय के कारण विषय-विस्मृति (विषय ज्ञान का संस्कार न रहने के कारण) होती है (४।३४)। यह लय उसको होता है, जिसके श्वास-प्रश्वास रुद्ध हो गये हैं (योग-शास्त्रोक्त उपायविशेष के द्वारा—अन्य किसी अशास्त्रीय उपाय से नहीं), शब्दादि का ग्रहण रुद्ध हो गया है और शारीरिक क्रियाये स्तम्भित हो गई हैं—'निर्जीवः काष्ठवत् तिष्ठेल् लयस्थश्चाभिधीयते'। योगचिन्तामणि पु० २५५-२५६ में लयस्थ योगी के लक्षण द्रष्टव्य हैं। लयस्थ योगी के विशद वर्णन के लिए तथा लयाभ्यास के फल आदि के लिए गोरक्षकृत अमनस्क-योग (१।३७ से अध्यायान्त पर्यन्त) द्रष्टव्य है।

---

१. द्र० क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरैक्यं यदा भवेत्। तदैक्ये साधिते देवि चित्तं याति विलीनताम्॥ पवनः स्थैर्यमायाति लययोगोदये सति। (योगबीज)। लययोगेऽपि, नवस्वेव चक्रेषु मरुन्मनसोर्लयो लययोग इत्युच्यते (योग-चिन्तामणि, पृ० १३)।

सरेच-पूरैरनिलस्य कुम्भैः[1]
सर्वासु नाडीसु विशोधितासु ।
अनाहतादम्बुरुहादुदेति
स्वात्मावगम्यः स्वयमेव बोधः[2] ॥३॥

[१. कुम्भे (पाठा०)--यह अपपाठ है। २. अनाहताख्यो बहुभिः प्रकारैरन्तः प्रवर्तेत सदा निनादः (पाठा०)—अनाहत नामक नाद अनेक प्रकारों से अन्तःकरण में सदा उदित रहता है ।]

अनुवाद--वायु के पूरक, रेचक और कुम्भक के द्वारा जब नाडियाँ विशोधित मलहीन हो जाती हैं, तब अनाहत नामक पद्म (चक्र) से वह बोध स्वयं ही उदित होता है जो अपने द्वारा ही ज्ञेय है (अर्थात् दूसरे किसी के द्वारा ज्ञात नहो हो सकता) ।

व्याख्या--यहाँ रेचक, पूरक और कुम्भक के द्वारा जिस नाडीशुद्धि की बात कही गई है उसका स्वरूप है -योगविरोधी मल का दूरीकरण जिसके कुछ बाह्य फल शरीर में भो दृष्ट होते हैं। नाडीशुद्धि होने पर सप्राण शरीर आत्मज्ञान के अभ्यास के लिए समर्थ होता है तथा सूक्ष्म मानस अनुभूतियों का उदय होने पर उसके वेग का धारण कर सकता है।[1] हठयोग के ग्रन्थों में प्राणायाम का विशेष विवरण द्रष्टव्य है। सामान्यतः कहा जा सकता है कि बाह्य वायु का प्रयत्नविशेष से ग्रहण करना पूरक है। पूरित वायु का बन्ध-पूर्वक निरोध करना कुम्भक (कुम्भ शब्द भी प्रयुक्त होता है) है। कुम्भक के

---

१. द्र० यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् । नादाभिव्यक्तिरारोग्यं भवेत् नाडीविशोधनात् ॥ (काशीखण्ड); यदा नाडीविशुद्धिः स्यात् तदा चिह्नानि योगिनः । जायन्ते यानि देहे वै तानि मे गदतः शृणु । शरीर-लघुता दीप्तिर्जठराग्निविवर्धनम् । कृशत्वं च शरीरस्य तदा जायेत निश्चितम् ॥ (दत्तात्रेय)।

बाद प्रयत्न-विशेष से वायु का रेचन (=बहिर्निःसारण) रेचक है। पूरणादि नाना प्रकार से किये जाते हैं।

योग में नाडियों की संख्या ७२००० मानी गई है (ह० यो० प्र० १-३९; ३।१२३) तथा ज्ञानसंकलिनी-तन्त्र ७७। इस मत का मूल श्रुति में है (प्रश्न० ३।६)। ये नाडियाँ हृदय से सर्वतोगामी होकर पूरे शरीर में व्याप्त रहती हैं।

आहत (=अभिघात से उत्पन्न) न होने के कारण यह ध्वनि 'अनाहतनाद' कहलाता है। यह प्रधानतः अनाहत चक्र में उदित होता है। पहले पहल यह दक्षिणकर्ण में सुना जाता है (ऐसा ही प्रतीत होता है); बाद में पूरे शरीर में ऊर्ध्वगतिमान् धारा की तरह ज्ञात होता है। इस अनाहत के द्वारा ही कुण्डलिनी को ब्रह्मरन्ध्र में लाया जाता है। नाद यहाँ बिन्दुरूप से परिणत होता है—ऐसा योगियों का कहना है। (द्र० घेरण्डसंहिता उप० ५)।

नादानुसन्धान नमोऽस्तु तुभ्यं
त्वां मन्महे तत्त्वपदं लयानाम्[1]।
भवत्प्रसादात् पवनेन साकं
विलीयते विष्णुपदे मनो मे ॥४॥

[१. त्वां साधनं तत्त्वपदस्य जाने (पाठा०)—अर्थात् तुम तत्त्वपद का साधन हो—ऐसा मैं जानता हूँ]

अनुवाद—हे नादानुसन्धान, तुम्हे नमस्कार है। लयों में तुम ही तत्त्व-पद हो—ऐसा हम समझते हैं। तुम्हारी प्रसन्नता (=स्वच्छता, निर्मलता) होने पर वायु (=प्राणवायु) के साथ मेरा मन विष्णुपद में विलीन होता है।

व्याख्या—नादानुसन्धान के लिए ह० यो० प्र० ४।६६-६८ तथा घेरण्ड-संहिता उप० ५ द्रष्टव्य है। इसका निकट सम्बन्ध राजयोग से है। चित्तलय में

नाद की हेतुता योगशास्त्र में स्पष्टतया कथित हुई है। (द्र० ह० यो० प्र० ४।८१, ४।९८)।

तत्त्वपदं लयानाम्—तत्स्वरूप जो पद वह तत्त्वपद। तत्त्व=वस्तु का अनारोपित रूप[1]। पद=योगियों द्वारा गम्य (पद्यते गम्यते योगिभिः)।

'प्राणवायु के साथ मन का विष्णुपद में लीन होना' हठयोग का प्रसिद्ध मत है—यन्मनो विलयं याति तद् विष्णोः परमं पदम् (घेरण्ड० ५।८२); ह० यो० प्र० ४।२९ में प्राण और मन के लय के विषय से सम्बन्धित कार्यकारणपरम्परा कही गई है।

[1]जालन्धरौड्यानकमूलबान्धन्
जल्पन्ति कण्ठोदरपायुमूले[2]।
बन्धत्रयेऽस्मिन् परिचीयमाने
बन्धः कुतो दारुणकालपाशैः ॥५॥

[१. जालन्धरोड्डयन (पाठा०) इस पाठ में छन्दोभङ्ग होता है। २. पायुमूलान् (पाठा०)—इस पाठ में 'पायुमूलान्' शब्द 'जालन्धरोड्डयानकमूलबन्धान्' शब्द का विशेषण होगा और अर्थ होगा—कण्ठ, उदर और पायु जिनके मूल हैं, वे। क्या जालन्धरबन्ध को कण्ठमूलक कहना उचित है? इसी प्रकार क्या ओड्डयानकबन्ध और मूलबन्ध को यथाक्रम उदरमूलक और पायुमूलक कहना उचित है?]

---

१. यद्धि यस्य नान्यापेक्षं स्वरूपं तत् तस्य तत्त्वम्; यद् अन्यापेक्षं न तत् तत्त्वमन्याभावेऽभावात् (तै० उप० २।८ का भाष्य)। सभी घटों का तत्त्व है—मृत्। द्र० प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी ३।१।२ (तस्य भावस्तत्त्वमिति······अबरूपत्वं च)। तुल० महाभाष्य के 'किं पुनस्तत्त्वं (५।१।११९) वाक्य पर कैयट की व्याख्या—एकाकारबुद्धिनिमित्तम् (प्रदीप)

अनुवाद—(योगीगण) कहते हैं कि कण्ठ, उदर और पायुमूल में (यथाक्रम जालन्धरबन्ध, ओड्डयानबन्ध एवं मूलबन्ध का अभ्यास करना चाहिये। ये तीन बन्ध यदि भलीभाँति ज्ञात (अर्थात् अनुष्ठित हो तो दुःखदायी कालपाश के द्वारा वन्धन कैसे हो सकता है ? (अर्थात् बन्धन नहीं हो सकता) ?

व्याख्या—श्लोकगत ओड्डयानक (जालन्धर + ओड्डयानक) शब्द जिस बन्ध को कहता है उसके नाम में एकरूपता नहीं मिलती। ह० यो० प्र० २।४५ में उड्डियानक शब्द है ('क' स्वार्थ में तद्धित प्रत्यय है)। प्रस्तुत ग्रन्थ के श्लोक ६ में उड्डीन या ओड्डयान शब्द है। कहीं कहीं उड्डीयन और उड्डीयान' शब्द प्रयुक्त हुये हैं। यह निश्चित है कि यह शब्द 'उद + डी (ङ्)' से निष्पन्न है; इसका 'उड्डियान' रूप ही संगत प्रतीत होता है। उड्डियान का नामान्तर 'आकर्षणबन्ध' है।

उड्डीयान--तस्मादुड्डीयनाख्योऽयम्-ह० यो० प्र० ३।५५—ज्योत्स्ना--'उत्पूर्वात् डीङ् विहायसा गतौ इत्यस्मात् करणे ल्युट्'। पर इस नियम से उद + डी + अन (ल्युट्) = उड्डयन' होगा, उड्डीयन' (३।५५ में प्रयुक्त) नहीं होगा। अतः उड्डीयन शब्द के लिए पृथक् प्रयत्न करना होगा।

ह० यो० प्र० ३।५६—उड्डीनं कुरुते यस्मात्…उड्डीयानं तदेव स्यात्। उड्डीन शब्द कर्णपर्व ४१।२६ में प्रयुक्त है तथा व्याकरणग्रन्थ में भी है (द्र० काश० धातु० १।५५९)।

उड्डियान—इसके बहुत प्रयोग हैं। (ह० यो० प्र० ३।७४; २।४५ (उड्डियानक); २।४७ टीका (उड्डियान)।

योगशास्त्र में नाना प्रकार के बन्ध कहे गये हैं, जिनमें जालन्धर (नामान्तर कण्ठमुद्रा,) उड्डियान तथा मूल प्रसिद्धतम हैं। इनके विवरण के लिए ह० यो० प्र०, घेरण्डसंहिता आदि द्रष्टव्य हैं।

कालपाश--कालरूपी पाश; पाश वह जिससे किसको बाँधा जा सके। द्र० ह० यो० प्र० ३।२४ (कालपाशमहाबन्ध……)।

ओड्याणं-जालन्धर-मूलबन्धै
रुन्निद्रितायामुरगाङ्गनायाम् ।
प्रत्यङ्मुखत्वात् प्रविशन् सुषुम्नां
गमागमौ मुञ्चति गन्धवाहः[१] ।।६।।

[१. उड्डीन० (पाठा०) । २. योगचिन्तामणि में यह श्लोक (उड्डीन-जाल.... प्रत्यग् विमुञ्चन्....) नन्दिकेश्वरकृत-तारावली ग्रन्थ के नाम से उद्धृत किया गया है (पृ० १५)]

अनुवाद—ओडयाण (=उड्डियान), जालन्धर तथा मूल नामक बन्धों के द्वारा भुजगी (=सर्पाकृति कुलकुण्डली) के जागरित होने पर गन्धवाहक अर्थात् वायु प्रत्यङ्मुख (=अधोमुख) होकर सुषुम्ना में प्रविष्ट होता है और गमन-आगमन-क्रिया को छोड़ देता है (अर्थात् निश्चल हो जाता है) ।

व्याख्या—वायु की प्रत्यङ्मुखगति को कभी-कभी पराङ्मुख गति भी कहा जाता है (ज्योत्नाटीका ३।३७) । मूलाधार को सुषुम्नामुख माना जाता है—सुषुम्नामुखं मूलाधार एवोक्तम (योगचिन्ता०, पृ० १११) ।

चूँकि कुण्डली, कुण्डलिनी या कुलकुण्डलिनी सर्पाकृतिवाली मानी गई है अतः 'उरग-अङ्गना' (सर्पस्त्री, सर्पकन्या) शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

प्राणवायु का अधोमुख गमन ह० यो० प्र० १।४८ में कथित हुआ है । (पूरितं न्यञ्चन् प्राणम; द्र० टीका) । इस ग्रन्थ में श्लोकोक्त मत का समर्थन मिलता है । (३।७४—प्राण का पश्चिमपथ=सुषुम्ना मार्ग में ले जाना) । 'वायु का सुषुम्ना में प्रवेश' योगियों का अन्यतम महत्त्वपूर्ण अभ्यास है (ह० यो० प्र० ४।१९) ।

प्राणवायु उपायविशेष से निश्चल होकर रह सकता है । शारीरकभाष्य में इस विषय में एक मार्मिक वाक्य मिलता है—यथा च लोके प्राणापानादिषु

प्राणभेदेषु प्राणायामेन निरुद्धेषु कारणमात्रेण रूपेण वर्तमानेषु जीवनमात्रं कार्यं निर्वर्त्यते नाकुञ्चन-प्रसारणादिकं कार्यान्तरम् (२।१।२०)।

उत्थापिताधारहुताशनोल्कैर्
आकुञ्चनैः शश्वदपानवायोः[१]।
सन्तापिताच्[२] चन्द्रमसः स्रवन्तीं
पीयूषधारां पिबतीह धन्यः॥७॥

[१. अपानवायौ (पाठा०)—यह भ्रष्ट पाठ है। सन्तापिते; संप्रापिते (पाठा०)]

अनुवाद—अपान वायु का निरन्तर (बारबार) आकुञ्चन होने के कारण आधार (मूलाधार चक्र) से जो अग्नि की शिखा निर्गत होती है, उससे चन्द्र सन्तापित होता है। इस सन्तापित चन्द्र से क्षरित सुधा का पान जो साधक करता है, वह इस लोक में धन्य है।

व्याख्या—मूलाधार-स्थित अग्नि—ह० यो० प्र० ३।६६ से इस अग्नि की सत्ता ज्ञात होती है। यह अग्नि जाठरअग्नि का ही विकसित रूप है (द्र० ज्योत्स्ना-टीका)। जठराग्नि के इस विकास में समान वायु का पर्याप्त सहयोग रहता है। यही कारण है कि योगी का शरीर जलता हुआ-सा प्रतीत होता है; द्र० समानजयाज् ज्वलनम् (योगसू० ३।४०); प्रज्वलन्निव लक्ष्यते योगी (भास्वती)।

मूलाधारस्थित अग्नि की उल्का (=शिखा) का स्पष्ट उल्लेख योगियाज्ञ० १२।१ में मिलता है (शिखां समालोकय पावकस्य)। अपानवायु का जो आकुञ्चन है, वह वस्तुतः मूलाधार का आकुञ्चन है; द्र० अधस्तात कुञ्चनेनाशु... (ह० यो० प्र० २।४६)। अपानवायु का आकुञ्चन ह० यो० प्र० ३।६२-६३ में उक्त हुआ है।

'सन्तापित चन्द्र' क्या है—यह श्लोक में नहीं कहा गया। चन्द्र या सोम (शरीरस्थ) का उल्लेख हठयोग-ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से मिलता है। मुख्य चन्द्र सहस्रारपद्म में स्थित है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी चन्द्रस्थिति का उल्लेख मिलता है—तालुमूलस्थ चन्द्र (ह० यो० प्र० ३।७७; योगबीज ५७-५८); नासाग्रस्थ चन्द्र (घेरण्ड० ५।४३), भ्रूमध्यस्थ चन्द्र (ज्योत्स्नाटीका ४।६४); हृदयकमलस्थ चन्द्र (योगियाज्ञ० ९।३५-३६)। इन चन्द्रों से भी अमृत का क्षरण होता है (ये सब गौण चन्द्र हैं)। सुधा अमृत या पीयूष के लिए कहीं कहीं 'सार' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है (ह० यो० प्र० ३।४९)। यह सुधा अग्नि में गिर कर नष्ट हो जाती है। अभ्यास-विशेष से सुधा का पतन बन्द किया जा सकता है। यह सुधापान वस्तुतः पीना रूप क्रिया (जो लोक में प्रसिद्ध है) नहीं है--यह ध्यानविशेष-साध्य है। यही कारण है कि कहीं कहीं 'ध्यायन चन्द्रमसम्' कहा गया है।

इस अमृत का पान करने से कुछ अदभुत शक्तियाँ प्राप्त होती हैं; इसी दृष्टि में 'धन्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ लम्बिकोर्ध्वस्थितचन्द्ररस का पान करने वालों के प्रति तक्षकनाग का विष भी व्यर्थ हो जाता है (ह० यो० प्र० ३।४५)।

बन्धत्रयाभ्यासविपाकजातां
विवर्जितां रेचक-पूरकाभ्याम्।
विशोषयन्तीं[1] विषयप्रवाहं
विद्यां भजे केवलकुम्भरूपाम्॥८॥

[१. विशेषयन्तीं (पाठा०) =विषयप्रवाह की शुद्धिकारिणी]

अनुवाद--उपर्युक्त तीन बन्धों के अभ्यास से उत्पन्न होने वाली केवल कुम्भक रूप विद्या का भजन (=ऐकान्तिक अभ्यास) मैं करता हूं। यह केवल कुम्भक रूप विद्या रेचक-पूरक से वर्जित है तथा विषय-प्रवाह की शोषणकारिणी है।

व्याख्या—'केवल' एक विशेष प्रकार के कुम्भक का नाम है। इस कुम्भक के विषय में यहाँ जो कहा गया है, वह सहेतुक है। वह हेतु है--मनोन्मनी अवस्था के साथ इस कुम्भक का निकटतम सम्बन्ध (द्र० घेरण्ड० ५।८१)। 'केवल' कुम्भक की महत्ता 'केवले कुम्भके सिद्धे किं न सिध्यति भूतले' (घेरण्ड० ५।९६) वाक्य जानी जाती है।

हठयोग में 'बन्धत्रय' से मूल उड्डीयान-जालन्धर नामक तीन बन्ध गृहीत होते हैं (द्र० ह० यो० प्र० १।४२ टीका।

यहाँ 'केवल' कुम्भक के विषय में विशिष्ट सूचना दी गई है। पहली बात यह है कि दीर्घकाल पर्यन्त बन्धत्रय का अभ्यास करने के बाद ही इस कुम्भक का अभ्यास करना चाहिये। दूसरी बात यह है कि प्रयत्नपूर्वक रेचक करने के बाद अथवा पूरक करने के बाद यह अनुष्ठेय नहीं—रेचक-पूरक पर ध्यान न देकर इस कुम्भक का अभ्यास किया जाता है—'रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद् वायु-धारणम्' यह हठयोगीय वाक्य इस कुम्भक का परिचायक है। यह कुम्भक विषय-प्रवाह का शोषक है अर्थात् विषय-सम्पर्क से इन्द्रिय में जो चाञ्चल्य होता है, वह चाञ्चल्य इस कुम्भक की अवस्था में नहीं होता।

'केवल' कुम्भक के लिए द्र० ह० यो० प्र० २।७२-७४; १।४३।

अनाहते चेतसि सावधानैर्
अभ्यासशूरै[१]रनुभूयमाना।
संस्तम्भितश्वासमनःप्रचारा
सा जृम्भते केवलकुम्भकश्रीः ।९॥

[१. सूरैः (पाठा०)--यह अपपाठ है]

अनुवाद--जब चित्त अनाहत चक्र में स्थिर हो जाता है तब श्वास और मन की क्रियायें स्तम्भित हो जाती हैं। इस अवस्था में 'केवल कुम्भक' का उत्कर्ष प्रकटित होता है। इस उत्कर्ष का अनुभव सावधान अभ्यासदक्ष साधक कर सकते हैं।

व्याख्या--'सावधान' और 'अभ्यासशूर'--ये दो साभिप्राय विशेषण हैं। 'अव+धा' का अर्थ होता है--अन्तर्निमग्न; अतः अवधान का अर्थ होगा--एक-आलम्बन परायणता।

'स्तम्भित अवस्था' नाश की अवस्था नहीं है--यह अच्छी तरह से ज्ञातव्य है।

'प्रचार' का अर्थ है--भ्रमण, गमनागमन, प्रवृत्ति। यहाँ 'क्रिया' अर्थ करना उचित है।

केवल कुम्भक में श्वासरोध के साथ-साथ मन का भी रोध होता है--यह ग्रन्थकार का कहना है। प्रकृत बात यह है कि श्वासरोध मनोरोध का अवश्य सहायक होता है--यदि वह रोध वैराग्यादिपूर्वक हो; अन्यथा केवल श्वासरोध पूर्वक मनोरोध योग की दृष्टि में विशेष लाभप्रद नहीं होता।

सहस्रशः सन्तु हठेषु कुम्भाः
संभाव्यते केवलकुम्भ एव।
कुम्भोत्तमे यत्र तु रेचपूरौ
प्राणस्य न प्राकृतवैकृताख्यौ ॥१०॥

अनुवाद—हठयोग के ग्रन्थों में यद्यपि सहस्र प्रकार के कुम्भकों का उल्लेख है, तथापि 'केवल' कुम्भक की श्रेष्ठता मानी गई है। कारण यह है कि इस श्रेष्ठ कुम्भक में प्राण (बाह्य वायु) के रेचक (अपर नाम 'प्राकृत' तथा पूरक (अपर नाम 'वैकृत') का अस्तित्व नहीं रहता।

व्याख्या--'हठ' शब्द हठयोग को भी कहता है (हठात् हठयोगात्, ज्योत्स्ना ३।५१। हठयोग शब्द से हठयोग-ग्रन्थ या हठयोगसंप्रदाय रूप अर्थ लेना असंगत नहीं है। 'हठेषु' में जो बहुवचन है उसकी सगति इस दृष्टि से हो जाती है। 'संभाव्यते' में जो 'सम्+भू' धातु है उससे गौरव या समादर का अतिशय होना ज्ञापित होता है।

चूंकि हठ का लक्षण है—प्राणापानयोरैक्यलक्षणः प्राणायामो हठयोगः (ह० यो० प्र० १।१ की टीका), इसलिये हठशास्त्र में कुम्भक की नियत सत्ता स्वाभाविक रूप से स्वीकार्य होता है।

प्राणायाम के भेद से कुम्भक के भेद होते हैं (हठयोग में प्राणायाम के सूर्यभेद आदि आठ भेद इसी दृष्टि से होते हैं); अतः आठ प्रकार के कुम्भक हुये (द्र० घेरण्ड० ५।१६ 'अष्ट कुम्भकाः')। प्रसंगतः यह ज्ञातव्य है कि देवल ने सात प्रकार का कुम्भक माना है (द्र० योगचिन्ता० पृ० १८)।

त्रिकूटनाम्नि स्तिमितेऽन्तरङ्गे
खे स्तम्भिते केवलकुम्भकेन[१]।
प्राणानिलो भानु-शशाङ्क नाड्यो
विहाय सद्यो वलयं प्रयाति ॥११॥

[१. त्रिकूटनाम्नि तिमिरेऽन्तरे खे स्तम्भं गते केवलकुम्भ एव (पाठा०)। इसका अर्थ है—आन्तर शून्य में स्थित त्रिकूट नामक तिमिर में वायु के स्तम्भित (कुम्भक के द्वारा) होने पर 'केवल' कुम्भक वर्तमान रहता है। यह अर्थ कुछ अस्पष्ट है।]

अनुवाद--त्रिकूट नामक अन्तःस्थित शून्य देश जब केवल कुम्भक के द्वारा स्तम्भित हो जाता है, तब प्राणवायु सूर्यनाडी (पिङ्गला) और चन्द्रनाडी (इडा) को छोड़कर तत्काल ही लीन हो जाता है।

व्याख्या--त्रिकूट नामक आन्तर शून्य देश चक्रविशेष है, लयोपयोगी नौ चक्रों के विवरण में इसका उल्लेख मिलता है—ब्रह्मचक्र (मूलाधार में), स्वाधिष्ठानचक्र, नाभिचक्र, हृच्चक्र, कण्ठ-चक्र, तालुचक्र (घण्टिकामूल), भ्रूचक्र, निर्वाणचक्र (ब्रह्मरन्ध्र में), त्रिकूटचक्र (यह ब्रह्मचक्र के ऊपर है; पूर्णगिरि के पृष्ठ में) (द्र० योगचिन्ता० पृ० १२०-१२१; सौभाग्यलक्ष्मी-

उप० ३।१-९)। नाथयोग में इन नौ चक्रों की विशेष चर्चा है (सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति, द्वितीय उपदेश; शान्तिपर्व ३१६।११ टीका)।[१] ब्रह्मबिन्दु-उपनिषद् में भी त्रिकूट का उल्लेख है (७०)। यह तीन नाडियों का संयोगस्थल भ्रूमध्य है। उपर्युक्त त्रिकूट इससे भिन्न है।

प्राणलय = प्राणका स्थैर्य अर्थात् गति का अभाव। प्राण जब तक ब्रह्मरन्ध्र में नहीं पहुँचता है तब तक यह लय संभव नहीं होता (द्र० ज्योत्स्नाटीका ३।७५)।

प्रत्याहृतः केवलकुम्भकेन
प्रबुद्धकुण्डल्युपभुक्तशेषः[१] ।
प्राणः प्रतीचीनपथेन मन्दं
विलीयते विष्णुपदान्तराले[२] ॥१२॥

[१. प्रभुक्तकुण्डल्यु…(पाठा०); कुण्डली के प्रभुक्त विशेषण का कोई सार्थक्य प्रतीत नहीं होता। २. विष्णुपदे मनो मे (पाठा०)—इस पाठ को मानने पर 'विलीयते' क्रिया के दो कर्ता (प्राण तथा मन) मानने होंगे, जो अनुचित है।]

अनुवाद—प्रबुद्ध (= जागरित) कुलकुण्डलिनी के द्वारा उपभोग के बाद प्राण का जो अंश अवशिष्ट रहता है, वह कुम्भक के द्वारा प्रत्याहृत

---

१. यहाँ 'तदुक्तं शिवयोगे' कहकर नौ चक्रों के प्रतिपादक कुछ श्लोक उद्धृत किये गये हैं। शान्तिपर्व के श्लोक में 'द्वादशैव तु चोदनाः' कहा गया है। इन १२ चोदनाओं की व्याख्या नीलकण्ठ इस प्रकार करते हैं—(नवचक्र विवरण के बाद) "एता नव चोदना वायुनिग्रहगर्भिताः। ततः शून्यात् परं समष्टिकार्ये मनो धारयेत् ततः कारणे ततो निष्कले इति तिस्र इति द्वादश चोदनाः"।

(=संयत) होकर प्रतीचीन मार्ग (=अधोमार्ग) से धीरे-धीरे विष्णु के दो पदों के अन्तराल में (=विष्णुपद में) लीन हो जाता है।

व्याख्या--हठयोग के ग्रन्थों में 'प्राण का विष्णुपद में लय होना' कहा गया है--समीरणे विष्णुपदे निविष्टे (योगियाज्ञ० १२।२९)। इसी प्रकार मन का (सप्राण मन का) विष्णुपद में लय भी कहा गया है--मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् (ह० यो० प्र० ४।१००)। परवैराग्य के द्वारा मन का वृत्तिशून्य होकर संस्कारशेष अवस्था में रहना ही मन का यह लय है। अनाहतध्वनि, ज्योतिर्धारणा मनोलय एवं विष्णु के परमपद के विषय में घेरण्डसंहिता का यह कथन साधकों के लिए परम उपादेय है--ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर् ज्योतिरन्तर्गतं मनः। तन्मनो विलयं याति तद् विष्णोः परमं पदम् ॥ (५।८०)।

निरङ्कुशानां श्वसनोद्गमानां
निरोधनैः केवलकुम्भकाख्यैः।
उदेति सर्वेन्द्रियवृत्तिशून्यो
मरुल्लयः कोऽपि महामतीनाम् ॥१३॥

[स्वपनोद (पाठा०)--यह भ्रष्ट पाठ है।]

अनुवाद—केवल कुम्भक के द्वारा श्वासवायु की अबाध ऊर्ध्वगति के जो बहुविध निरोध होते हैं, उनसे महामतियों (=प्रज्ञावान् योगियों) में जो अनिर्वचनीय वायुलय उद्भूत होता है, वह सभी इन्द्रियवृत्तियों से शून्य है।

व्याख्या--'निरोधन' शब्द में जो बहुवचन है उससे ज्ञात होता है कि निरोध के अवान्तर भेद हैं (ये भेद कुम्भक द्वारा कृत होते हैं)। बाह्य दृष्टि से (अर्थात् शारीरिक लक्षणों से) ये भेद जाने नहीं जा सकते।

श्वसन = वायु = श्वासक्रिया-संबद्ध वायु। साधारण लोगों में इस वायु पर कोई वशीकार देखा नहीं जाता; यही वायु की निरङ्कुशता है।

इन्द्रियवृत्ति-शून्य मरुत (= प्राणवायु) का लय अर्थात् पञ्च प्राणों की सर्वविध क्रियाओं का न होना। इस अवस्था में शरीर जीवित ही रहता है, यद्यपि बाह्यदृष्टि से (अर्थात् चिकित्साशास्त्र की दृष्टि से) मृत प्रतीत होता है। निरोध चूँकि सात्त्विकता, निरायास तथा सुखपूर्वक होता है, अतः रोधकाल में शरीर धातुयें विकृत नहीं हो जातीं; वे स्तम्भित अवस्था (suspended animation) की स्थिति में रहती हैं।

न दृष्टिलक्ष्याणि न चित्तबन्धो
न देशकालौ न च वातुरोधः।
न धारणाध्यानपरिश्रमो वा
समेधमाने सति राजयोगे॥ १४॥

अनुवाद--राजयोग जब सम्यक् रूप से विकसित हो जाता है तब न लक्ष्यों पर दृष्टियों को स्थिर रखना पड़ता है (अर्थात् स्थिर रखने की चेष्टा नहीं करनी पड़ती), न चित्तबन्ध की आवश्यकता रहती है, न वायुरोध की आवश्यकता रहती है और न धारणा एवं ध्यान के लिए श्रम करना पड़ता है।

व्याख्या--'दृष्टियों' का विवरण हठशास्त्र में मिलता है।

न देशकालौ—देश और काल से इसका तात्पर्य नहीं है। योगसूत्र (२।५०) में जो देशकालपरिदृष्टि कही गई है, वही इसका लक्ष्य है।

राजयोग—योगसूत्र (१।१८) का जो असंप्रज्ञात योग है (जिसमें वृत्तियाँ पूर्णतः नहीं रहतीं; केवल संस्कार रहता है) वही राजयोग है—यह कई आचार्यों का कहना है—असंप्रज्ञातो निरालम्बो निर्बीजो राजयोगो निरोधश्चैते असंप्रज्ञातस्य प्रसिद्धाः पर्यायाः (ज्योत्स्नाटीका ४।७)। 'निर्विकल्प' शब्द भी

इस प्रसंग में प्रयुक्त होता है—वृत्यन्तर-निरोधपूर्वक--आत्मगोचरधारावाहिक-निर्विकल्पकवृत्ती राजयोगः (ज्योत्स्ना ३।१२६); अयं निर्बीज इति, निर्विकल्प इति, निरालम्ब इति, राजयोग इति चोच्यते (योगचिन्ता०, पृ० ६)। चूँकि इस अवस्था में आत्मगोचर धारावाहिक निर्विकल्पक वृत्ति रहती है, अतः 'चित्तस्य एकाग्रतैव राजयोगः' कहा गया है (ज्योत्स्नाटीका ४।७७)। यह तुर्यावस्था-नामक है (ज्योत्स्ना ४।८०)।

राजयोग की सिद्धि के लिए हठ-लय-मन्त्र रूप तीन योग हैं—यह योगियों का कहना है (ह० यो० प्र० ४।१०३)।

अशेष[1]दृश्योज्झितदृङ्मयानाम्
अवस्थितानामिह राजयोगे।
न जागरो नापि सुषुप्तिभावो
न जीवितं नो मरणं विचित्रम्[2] ॥१५॥

[१. अशेषदृश्योर्जितदृग्जयानां (पाठा०)--'अशेषदृश्योर्जितदृगजय = अशेषदृश्य के द्वारा ऊर्जित जो दृक् (=आत्मा, द्रष्टा), उसकी जयें'--इस अर्थ की कोई भी संगति नहीं है। ऊर्जित=शक्तिशाली, प्रबल, प्रशस्यतर, विशिष्ट। 'अशेषदृश्योर्जित दृग्जय है जिनकी वे—यह अर्थ भी संगत प्रतीत नहीं होता।

२. मरणं न चित्तम् (पाठा०)--न मरण और न चित्त ही रहता है।]

अनुवाद--जो राजयोग में अवस्थित होते हैं वे अशेष दृश्य के परिहार होने के कारण ब्रह्ममय हो जाते हैं। इनमें न जाग्रत अवस्था और न सुषुप्ति अवस्था होती है; न जीवन होता है और न मरण। यह एक विचित्र स्थिति है।

अहं-ममत्वादि विहाय सर्वं
श्रीराजयोगे स्थिरमानसानाम्।

न द्रष्टृता[1] नास्ति च दृश्यभावः
सा जृम्भते केवलसंविदेव ॥१६॥

[१. दृश्यता (पाठा०)--यह पाठ असंगत है क्योंकि दृश्यता और दृश्य-भाव (जो शब्द यहीं प्रयुक्त हुआ है) एक ही पदार्थ है।]

अनुवाद--जो अहंकार और ममत्व की बुद्धि का त्याग करके महान् राजयोग में स्थिरचित्त हो चुके हैं, ऐसे लोगों में दर्शक-भाव तथा दृश्य-भाव नहीं रहते; (उस अवस्था में) केवल संविद् (ज्ञानमात्र) प्रकाशित होती है।

व्याख्या--श्रीयुक्तराजयोग=श्रीराजयोग। 'श्री' का प्रयोग करके राजयोग की गौरवित–महिमान्वित स्थिति दिखाई गई है। 'श्री' का ऐसा प्रयोग शाम्भवी मुद्रा के साथ भी देखा जाता है (श्री शाम्भव्या, ह० यो० प्र० ४।३८)।

ममत्व--'ममता' शब्द पर भास्कर कहते हैं--ममशब्दो विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययं ममेदमित्याकारकबुद्धिपरम्। सा च भेदघटितसंबन्धं स्वःसतो विषयी करोति (ललितासहस्रनामभाष्य, पृ० ६४)।

नेत्रे ययो[1]न्मेषनिमेषशून्ये
वायुर्यया[2] वर्जितरेच-पूरः।
मनश्च संकल्पविकल्पशून्यं
मनोन्मनी सा मयि सन्निधत्ताम्[3] ॥१७॥

[१. यथोन्मेष (पाठा०)--यह पाठ असंगत है क्योंकि 'तथा' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है।

२. यथा (पाठा०) पूर्ववत् असंगत। श्लोक में उपमा देने का कोई आग्रह नहीं है--यह द्रष्टव्य है।

३. शाक्त भास्कर ने इस श्लोक को 'योगशास्त्रे मुद्राविशेषस्य संज्ञा' कहकर उद्धृत किया है (निमेषमुक्ते-पाठ है; पृ० ६८) ।]

अनुवाद--जिस मनोन्मनी अवस्था (मन का उन्मनीभाव) के द्वारा (अर्थात् जिसका अधिगम होने के कारण) दोनो नेत्र उन्मेष-निमेष-हीन हो जाते हैं, रेचक और पूरक रूप वायु (वायुक्रिया) स्तब्ध हो जाता है तथा मन भी संकल्प एवं विकल्प से रहित हो जाता है वह (उन्मनी भाव) मुझमें आविर्भूत हो ।

व्याख्या--'यया' का संबन्ध 'मनोन्मन्या' से है (चतुर्थ चरण में मनोन्मनी शब्द है ।) मनोन्मनी की स्थिति का आविर्भाव होने पर योगी के नेत्र, प्राणवायु और मन किस स्थिति में रहते हैं --यह यहाँ दिखाया गया है ।

उन्मेष = पक्ष्मसंयोग का विश्लेष--आँख का खोलना । निमेष = अक्षिपक्ष्म का संयोग (आँख का मूँदना) (ज्योत्स्नाटीका ४।३९) ।

'रेचक-पूरकहीन वायु' का तात्पर्य उस अवस्था से है जिसमें श्वासक्रिया पूर्णतः अवरुद्ध हो जाती है, पर प्राणी जीवित रहता है क्योंकि निरोधबल का क्षय होने पर प्राणी व्युत्थित होता है । विकल्प को प्रायः संशय कहा जाता है (प्रश्नोप० ६।६ भा०) ।

मनोन्मनी--प्राणवायु का सुषुम्नामध्य में संचार होने पर मन का सम्यक् स्थैर्य (= अभीष्ट ध्येयाकारवृत्तिमात्र का प्रवाह) होता है । मन का यह स्थिरीभवन ही 'मनोन्मनी' कहलाता है (ह० यो० प्र० २।४२; ४।२०) । मन का उन्मन होना = मन के द्वारा विषयमनन न होना । मनोन्मनी के लिए कभी कभी उन्मनी शब्द भी प्रयुक्त होता है । इसको 'तुर्यावस्था' भी कहा जाता है (ज्योत्स्नाटीका ४।६४) । समल शरीर में यह अवस्था होती नहीं है । उन्मनी के लिए ह० यो० प्र० ४।८०, १०४, १०६; ब्रह्मबिन्दु ४; उत्तरगीता २।४९ द्र० ।

चित्तेन्द्रियाणां चिरनिग्रहेण

श्वासप्रचारे शमिते यमीन्द्राः ।

निवात[2]दीपा इव निश्चलाङ्गा[1]
मनोन्मनी-मग्नधियो भवन्ति[4]॥१७॥

[१. समस्ते (पाठा०) अर्थात् समस्ते श्वासप्रचारे। इस पाठ में 'भवन्ति' क्रिया का कोई विशेष्य—कर्ता—नहीं रह जाता तथा 'निश्चलाङ्गाः' विशेषण के साथ 'योगिनः' का अध्याहार करना पड़ता है।

२. निर्वात (पाठा०)।

३. निवातदीपैरिव निश्चलाङ्गैः (पाठा०)—निवात दीपों की तरह निश्चलअङ्गों के द्वारा। यह अर्थ हो सकता है, पर बहुत संगत नहीं जंचता।

४. मनोन्मनी सा मयि सन्निधत्ताम् (पाठा०)। इस पाठ में अर्थ संगत नहीं होता। यह वाक्य १७ वें श्लोक का चतुर्थ चरण है। लिपिकर के अनवधान से यह अंश यहाँ पुनः लिखित हो गया है—ऐसा प्रतीत होता है।]

अनुवाद –चित्त और इन्द्रिय के दीर्घकालीन निग्रह के कारण श्वास-क्रिया निरुद्ध हो जाती है। ऐसी स्थिति में श्रेष्ठ योगी निवातस्थ दीपो की तरह निश्चलाङ्ग हो जाते हैं तथा उनकी बुद्धि मनोन्मनी-नामक अवस्था में मग्न हो जाती है।

व्याख्या—'चिरनिग्रह' अर्थात् दीर्घकालव्यापी निरोध। निरोध में क्रम-विकास देखा जाता है (तुल० योगो हि प्रभवाप्ययौ, कठ० २।३।११)। निरोध संस्कार की वृद्धि (जो निरोधजनक क्रिया बार-बार करने से होता है) से निरोध-अवस्था की वृद्धि होती है। चित्त का निरोध होने पर श्वास-प्रश्वास स्वतः अवरुद्ध हो जाते हैं—यह जानना चाहिये।

यहाँ 'श्वास-प्रचार' से वायु का नासिका द्वारा ग्रहण-त्याग (अर्थात् श्वास-निश्वास) विवक्षित है। श्वास=नासा में बाह्य वायु का प्रवेश; निश्वास=अन्तःस्थित वायु का बहिः निःसारण (ज्योत्स्ना ४।३१; निश्वास

के लिए प्रश्वास शब्द बहुत्र प्रयुक्त हुआ है)। तुल० अजस्रनिश्वासो रेचनम् (देवल का वाक्य, मोक्षकाण्ड पृ० १७ में उद्धृत)।

यद्यपि सभी संस्करणों में निर्वात शब्द दृष्ट होता है, पर प्रकृत शब्द निवात है; द्र० गीता ६।१९ 'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता'। किसी स्थान में आँधी आने से पहले वायु की अल्पता के कारण वायु का जो स्थिर भाव लक्षित होता है, अथवा अन्य कारणों से भी जो ऐसा स्थिर भाव होता है, वह निवात है। निवात वायु का सर्वथा अभाव नहीं है क्योंकि वायु न रहने पर दीप जल ही नहीं सकता—यह ज्ञातव्य है।

उन्मन्यवस्थाधिगमाय[1] विद्व-
न्नुपायमेकं तव निर्दिशामि।
पश्यन्नुदासीनदृशा प्रपञ्चं
संकल्पमुन्मूलय सावधानः ॥१९॥

[१. उन्मन्यवस्थामधिगम्य (पाठा०)--यह भ्रष्ट पाठ है। 'अधिगम्य' के साथ 'निर्दिशामि' का अन्वय नहीं हो सकता। दोनों क्रियाओं के कर्ता भिन्न हैं, अतः ल्यबन्त 'अधिगम्य' का प्रयोग असंगत ही है।]

अनुवाद--हे विद्वान (=अध्यात्मविद्या के ज्ञाता), उन्मनी-नामक अवस्था की प्राप्ति के लिए आपको एक उपाय का निर्देश करता हूँ; आप उदासीन दृष्टि से इस प्रपञ्च को देखते हुये सावधान होकर इस प्रपञ्च का उन्मूलन करें।

व्याख्या--उन्मनी–अवस्था का अधिगम प्राणवायु के सुषुम्ना-वाहिनी होने पर होता है (ज्योत्स्नाटीका ४।२०); इस अवस्था में योगी स्वरूप-स्थित होता है (ज्योत्स्नाटीका ४।२१) उन्मनी-अवस्था को मन का लय भी कहा जाता है। मन का लय = मन का आत्माकार होना (ज्योत्स्नाटीका ४।५९)।

प्रपञ्च शब्द का अर्थ है--विस्तृत दृश्य। इस शब्द से 'प्रतिक्षण-परिणामी अनित्य, सीमाहीन विचित्र विषय' समझा जाता है।

उदासीन दृष्टि का अभिप्राय है— आसक्तिहीन अर्थात् राग द्वेष-हीन दृष्टि। 'उद्'-उपसर्ग से ऊर्ध्वभाव द्योतित होता है; यह ऊर्ध्वस्थता तभी सम्भव है जब विषयज्ञाता जीव अपनी सत्ता को विषयसत्ता से पृथक् समझे। इस प्रकार समझना तभी सम्भव होता है जब राग-द्वेष से प्रभावित न होकर प्रपञ्च को देखने की शक्ति ही, प्रपञ्च का ज्ञानपूर्वक व्यवहार करने की सामर्थ्य हो। भ्रूमध्य दृष्टि का अभ्यास इस उदासीन भाव का सहायक है।

संकल्प का मूल स्वरूप है—चित्त में कल्पित या स्मृत किसी क्रिया में अस्मिता का प्रयोग। यह सभी कामों(=कामनाओं) का मूल है कामों का उच्छेद संकल्पवर्जन से ही सम्भव है—'संकल्पप्रभवान् कामान् त्यक्त्वा सर्वानशेषतः' (गीता ६।२४); 'संकल्पात् कामः संभवति' (मोक्षकाण्ड पृ. ८१ में उद्धृत हारीत-वाक्य), 'काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे'; 'कामं संकल्पवर्जनात्' (शान्तिपर्व ३०१।५६) आदि वाक्य इस प्रसंग में स्मरणीय हैं। रागादि संकल्पनिमित्तक हैं—यह न्यायसूत्र (३।१।२६) में कहा गया है। सूत्र-व्याख्याकारों के अनुसार 'संकल्प' आकाङ्क्षाविशेष, मिथ्याज्ञानविशेष, अशोभन को शोभन समझना रूप कल्पना (जो भ्रम ही है) है।

सावधान = अवधान के साथ। आत्म-विस्मृति न होना, दूसरे शब्दों में 'अपने द्रष्टृ-भाव को लक्ष्य करते रहना' अवधान है।

प्रसह्य संकल्पपरम्पराणां
संछेदने[1] सन्ततसावधानम्[2]।
आलम्बनाशादपचीयमानं[3]
शनैः शनैः शान्तिमुपैति चेतः ॥२०॥

१. संभेदने (पाठ०)--यह पाठ भी संगत है।

२. सावधानः (पाठा०)। 'सावधानः' पाठ करने पर इस श्लोक के

उत्तरार्ध के साथ इसका अन्वय नहीं हो सकता और पूर्वार्ध का वाक्य असंपूर्ण रह जाता है। 'सावधानः' का अन्वय १९ वें श्लोक के उत्तरार्ध के साथ हो सकता है; पर क्या ऐसा करना उचित होगा ?

३. अपनीयमानम् (पाठा०)। 'अपनीयमानं चेतः' कहने का कोई सार्थक्य नहीं है, अतः यह पाठ असंगत है। आलम्बनादावपचीयमाने (पाठा०)— आलम्बनादि के ह्रास या क्षय होने पर। आलम्बन का ग्रहण और त्याग होते हैं; यह त्याग वस्तुतः ह्रास नहीं है, अतः यह पाठ भी संगत नहीं प्रतीत होता।]

अनुवाद--जो चित्त संकल्पों की धारा का बलपूर्वक छेदन करने में निरन्तर सावधान (स्मृतियुक्त) है तथा आलम्बन के नाश के कारण अपचययुक्त क्षयशील (अर्थात् विक्षेपहीन, विषय-लोलताशून्य) है, वह धीरे-धीरे शान्ति को प्राप्त होता है।

व्याख्या--शान्त चित्त के विषय में निम्नोक्त श्रौत उपमा द्रष्टव्य है— यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति। तथा वृत्तिक्षयाच् चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥ (मैत्रायणी आर० ६।३४)। संकल्प-छेदन = संकल्प न करना।

निश्वासलोपैर्निभृतैः[1] शरीरैर्
नेत्राम्बुजैरर्धनिमीलितैश्च[2] ।
आविर्भवन्तीममनस्कमुद्राम्[3]
आलोकयामो मुनिपुङ्गवानाम् ॥२१॥

[१. विधूतैः (पाठा०)। ऐसा प्रतीत होता है कि जब 'निभृतैः' पाठ का सार्थक्य अज्ञात-सा हो गया तब यह पाठ कल्पित किया गया।

२. नेत्राञ्जनैरर्धनिमीलितैश्च (पाठा०)। यह पाठ भ्रष्ट है क्योंकि नेत्र का अञ्जन अर्धनिमीलित नहीं हो सकता।

३. आविर्भवन्तीह मनस्कमुद्राम् (पाठा०)। इसका पदच्छेद 'आविर्भवन्ति इह' करने पर कोई संगति नहीं होती। 'आविर्भवन्ती इह' करके पद

'आविर्भवन्ती' विशेषण का कोई विशेष्य नहीं मिलता। 'मनस्क' नामक कोई मुद्रा भी नहीं है। अतः यह पाठ शुद्ध नहीं है।]

अनुवाद--निश्वास का लोप, शरीर की विस्पन्दता तथा नेत्रपद्मों का अर्धनिमीलन होने पर श्रेष्ठ मुनियों में जो अमनस्क मुद्रा का आविर्भाव होता है, हम उसका दर्शन करते हैं।

व्याख्या--अमनस्क भाव में स्थित व्यक्ति के स्वरूप के विषय में अमनस्क-योग २।८१-९१ विशेषतः द्रष्टव्य है।

'निश्वास का लोप' से पूर्ण श्वासक्रिया का लोप समझना चाहिये। वायु-ग्रहण रूप निश्वास (ज्योत्स्नाटीका ४।११२) नहीं होगा तो वायु का बहिः निःसारणरूप उच्छ्वास (या प्रश्वास) भी नहीं होगा। (निःश्वास शब्द भी क्वचित् प्रयुक्त होता है निश्वास के लिए; निःश्वासो निःसारणम्, योगचिन्ता० पृ० १७६)। 'निश्वासलोपैः' आदि शब्दों में जो तृतीया है वह 'इत्थम्भूतलक्षणे' (अष्टा० २।३।२१) सूत्र से है। निश्वासलोप आदि ज्ञापक हेतु हैं।

शरीर का विशेषण 'निभृत' दिया गया है। निश्चल, निष्कम्प, स्थिर अर्थों में निभृत शब्द का प्रयोग प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है (कुमारसंभव ३।४२; शाकुन्तल १।८)। प्राणस्थैर्य से शारीरिक स्थैर्य भी होता है; मन की स्थिरता प्राण की स्थिरता का हेतु है।

आत्मस्थ होने पर नेत्र की अर्धनिमीलित स्थिति होती है (ह० यो० प्र० ४।४१)। प्रयत्नशून्यता(=निरायाम)-पूर्वक स्थैर्य होने पर ऐसा ही होता है—यह ज्ञातव्य है।

अमी यमीन्द्राः[1] सहजामनस्का[2]
देहे ममत्वे[3] शिथिलायमाने।
मनोऽतिगं मारुतवृत्तिशून्यं
गच्छन्ति भावं गगनावशेषम्[4] ॥२२॥

। १. अमी हि चेन्द्राः (पाठा०) इन्द्राः शब्द का कोई स्वारस्य नहीं है; यह भ्रष्ट पाठ है ।

२ सहजामनस्कात् (पाठा०)—सहज-अमनस्क के कारण । पर तब भाव-प्रधान निर्देश मानकर अमनस्क से अमनस्कत्व रूप अर्थ लेना होगा ।

३. ममत्वम् (पाठा०)—यह लिपिकर-प्रमादजनित पाठ है। अहंममत्वे (पाठा०)—इस पाठ में जो एकवचन है वह सुसंगत नहीं है ।

४. मनोगतिं मारुतवृत्तिशून्यां गच्छन्त्यगम्यां गमनावशेषाम् (पाठा०)—जो वायुवृत्तिहीन गमनावशेष अगम्य मनोगति है, उसको प्राप्त करते हैं। मनोगति का 'मन का चरम लक्ष्य' अर्थ करके तथा 'अगम्या' का 'दुष्प्रापा' अर्थ करके इस पाठ को भी संगत माना जा सकता है। पर 'गमनावशेषा' का तात्पर्य क्या होगा ? ।

अनुवाद—सहज (=स्वाभाविक) अमनस्क अवस्था प्राप्त होने के कारण देह में ममत्व जिनका शिथिल हो गया है, ऐसे श्रेष्ठ योगी मन का अगोचर तथा वायुवृत्ति (=प्राण) से शून्य आकाशमात्ररूप (असीम) भाव को प्राप्त करते हैं ।

व्याख्या—अमनस्क का विशेषण सहज (सह+ज) है। यह विशेषण बहुत ही प्रसिद्ध है। इसका तात्पर्य निरायासता से है—प्रयत्न के विना उदित होना—स्वयमेव उत्पद्यते—'उत्पद्यते निरायासात् स्वयमेवोन्मनी (ह० यो० प्र० ४।४१) ।

भाव के तीन विशेषण हैं (१) मनोतिग, (२) मारुतवृत्तिशून्य तथा (३) गगनावशेष। मनोऽतिग = मन की वृत्ति का अतिक्रमण करने वाला अर्थात मन का अगोचर ।

मारुतवृत्ति-शून्य = प्राणवायु की वृत्तियों (=क्रियाओं) से विरहित। प्राण की क्रियायें प्रसिद्ध हैं। प्राण पाँच रूपों में अपने को विभक्त करके शरीर

का विधारण (=निर्माण वर्धन, पोषण) करता है। ये पाँच रूप हैं--प्राण, उदान, व्यान, समान तथा अपान। हठयोग के ग्रन्थों मे इन पांचों की क्रियाओं का विशद विवरण मिलता है।

गगनाविशेष—गगन=आकाश। आकाश जिस प्रकार अमूर्त तथा बाधाहीन है, यह भाव उसी प्रकार का है--यह अभिप्राय है[1]; तुल० शून्य, अतिशून्य, महाशून्य (ह० यो० प्र० ४।७१-७४)।

निवर्तयन्तीं निखिलेन्द्रियाणि[1]
प्रवर्तयन्तीं परमात्मयोगम् ।
संविन्मयीं तां सहजामवस्थां
कदा गमिष्यामि गतान्यभावः[2] ।२३।।

[१. निभृतेन्द्रियाणाम (पाठा०)--भ्रष्ट पाठ है, क्योंकि षष्ठीविभक्ति का का कोई स्वारस्य नहीं है।

२. गतान्यभागः (पाठा०)=गत हुआ है अन्य भाग जिसका, वह (बहुव्रीहि)। यह मैं (अहम्) का विशेषण है। इस विशेषण की सगति नहीं है।]

अनुवाद—सभी इन्द्रियों को निवृत्त करने वाली, परमात्मयोग की प्रवर्तिका तथा संविन्मयी उस सहज अवस्था को कब मै अन्य भावों को छोड़ कर प्राप्त करूँगा।

---

१. 'आकाश-सदृश' होने पर भी वस्तुतः आकाश की तरह बहुयोजनव्यापी नहीं है। उपमा जिसकी विवक्षा के लिए दी जाती है, उसका ही ग्रहण करना चाहिए द्र०—'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्य इत्यपि प्रसिद्धमहत्त्वेन आकाशेन उपमानं क्रियते निरतिशयमहत्त्वाय, नाकाशसमत्वाय। यथेषुरिव सविता धावति इति क्षिप्रगतित्वाय उच्यते, नेषुतुल्यगतित्वाय तद्वत्' (शारीरकभाष्य २।३।७)।

व्याख्या--परमात्मयोग--परमात्मा के साथ संयोग। 'आत्मयोग' शब्द भी योगग्रन्थों में प्रयुक्त होता है। तुल० अध्यात्मयोग (कठ-उप० १।२।१२)। योग=चित्त का किसी अभीष्ट पर समाधान (=समाहित होना)।

प्रत्यग्विमर्शातिशयेन पुंसां
प्राचीनसंगेषु[1] पलायितेषु।
प्रादुर्भवेत्काचिदजाड्यनिद्रा[2]
प्रपञ्चचिन्तां परिवर्जयन्ती[3] ॥२४॥

[१ प्राचीनगन्धेषु (पाठा०)। 'संबन्ध' 'सम्पर्क' 'संयोग' अर्थ में गन्ध शब्द का उल्लेख कोशों में मिलता है; पर संग अर्थ में इसका प्रयोग शायद ही कहीं मिलता हो।

२ प्रादुर्भवत् क्वापि न जाड्यनिद्रा पाठा०)— भ्रष्ट पाठ। 'क्वापि' की कोई संगति नहीं है।

३. प्रपञ्च एको विलयं प्रयाति (पाठा०)--यदि यह मूल पाठ हो तो इसे एक स्वतन्त्र वाक्य मानना होगा। प्रपञ्च का 'एक' विशेषण क्यों दिया गया—यह विचारणीय है। प्रपञ्च का विलय होना शास्त्रसंमत है।]

अनुवाद—प्रत्यगात्मसंबन्धी विमर्श के अतिशय के कारण जीवों की प्राक्तन विषयासक्ति हट जाती है (नष्ट हो जाती है)। ऐसा होने पर एक प्रकार की अजाड्यनिद्रा का आविर्भाव होता है तो प्रपञ्च विषयक चिन्तन का परित्याग-कारिणी है।

अनुवाद--प्रत्यक् (प्रति + अञ्चधातु + क्विप् प्रत्यय) शब्द की प्रायेण दो व्याख्यायें की जाती हैं--(१) प्रत्येक वस्तु में अनुस्यूत; (२) विपरीत भाव का ज्ञाता। आत्मा में प्रत्यक्शब्द उपर्युक्त दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है (यथायोग्य स्थलों में); कहीं कहीं स्पष्टता के लिए प्रत्यगात्मा या प्रत्यक्-चेतन शब्द भी प्रयुक्त होता है।

अजाड्यनिद्रा—निद्रा (=सुषुप्ति) तमोगुण-प्रधान है—प्रस्वापनं तु तमसा (भागवत ११।२५।२०)। श्लोकोक्त निद्रा जाड्यहीन है, अर्थात् तत्त्वतः यह निद्रा नहीं है। निद्रा का बाह्य सादृश्य मात्र इसमें है, अतः निद्रा शब्द का प्रयोग किया गया है। निद्रा की स्थिरता, आयासहीनता एवं विश्रान्ति –इस 'निद्रा' में भी हैं; साथ ही इसमें आत्मबोध अनावृत रहता है, अतः यह अजाड्यनिद्रा है। इसका नामान्तर 'योगनिद्रा' है। यह निद्रा जाग्रत्-स्वप्न से विलक्षण है--यह स्पष्टतया जानना चाहिये। 'प्रादुर्भवेत्' में प्रादुस् अव्यय है जो प्राकाश्यवाचक है (गणरत्न० १।१५)--प्रादुर्भवेत्=प्रकाशितो भवेत्।

योगनिद्रा में मनोगति आत्माभिमुख ही रहती है; अतः 'प्रपञ्चचिन्तां-परिवर्जयन्ती' कहा गया हैं। निद्रा के विभिन्न भेदों के लिए मेरा 'निद्रा या सुषुप्ति' ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

विच्छिन्नसंकल्पविकल्पमूले
निःशेषनिर्मूलितकर्मजाले।
निरन्तराभ्यासनितान्तभद्रा[1]
सा जृम्भते[2] योगिनि योगनिद्रा ॥२५॥

[१. निरन्तराभ्यासिनि नित्यभद्रे (पाठा०)। इस पाठ में इन दोनों पदों को 'योगिनि' का विशेषण मानना होगा। यह विशेषण असंगत नहीं है, पर हमारी दृष्टि में योगनिद्रा के विशेषण के रूप में 'निरन्तराभ्यासनितान्तभद्रा' का उल्लेख करना अधिक समीचीन है।

२. विराजते (पाठा०)]

अनुवाद—जिन योगी में संकल्प और विकल्प का मूल नष्ट हो गया है तथा जिसके सभी कर्म पूर्णतया समूल नष्ट हो गये हैं उनमें निरन्तर-अभ्यास-हेतुक नित्यमङ्गलकारिणी योगनिद्रा प्रकाशित होती है।

व्याख्या –'निर्मूलितकर्मजाल' कहने का तात्पर्य है—प्रारब्धकर्म का भी निर्मूल होना। देहारम्भक कर्म का भी नाश योग से होता है, यह ज्योत्स्नाटीका (३।८२) में [विष्णुधर्मपुराण (यह अमुद्रित है) का वाक्य उद्धृत कर] प्रतिपादित हुआ है। कर्मनाश-सम्बन्धी विशेष विचार के लिए विज्ञानभिक्षुकृत सांख्यसार का प्रथम परिच्छेद द्रष्टव्य है।

विश्रान्तिमासाद्य तुरीयतत्त्वे[1]
विश्वाद्यवस्था-त्रितयोपरिस्थे[2] ।
संविन्मयीं कामपि सर्वकालं
निद्रां सखे[3] निर्विश निर्विकल्पाम् ।।२६।।

[१. तुरीयतल्पे (पाठा०) (तल्प = शय्या)। प्रतीत होता है कि 'विश्रान्ति' शब्द को देखकर किसी ने तल्प शब्द का प्रयोग कर दिया है। 'तत्त्व' पाठ ही उचित है, क्योंकि वही 'विश्वाद्यवस्थात्रित्रयोपरिस्थ' है।

२. सर्वकालाम् (पाठा०)। इस पाठ को मानने पर यह 'निद्राम्' का विशेषण होगा ('संविन्मयीम्' की तरह), जिसकी कोई आवश्यकता नहीं है। क्रियाविशेषण के रूप में 'सर्वकालम्'-पाठ अधिक संगत है।

३. भज (पाठा०)। इस पाठ में दो क्रियापद (भज तथा निर्विश) होते हैं, जिनकी कोई सार्थकता नहीं है। इस पाठ में छन्दोदोष भी होता है।]

अनुवाद--हे सखा, विश्व आदि तीन अवस्थाओं के अतीत तुरीय तत्त्व मे विश्राम लाभ करके (अर्थात् उसमें संस्थित होकर) निर्विकल्प, संवित्मयी एवं अनिर्वचनीय अवस्था रूप निद्रा (अर्थात् योगनिद्रा) के सुख का सदैव अनुभव करो।

व्याख्या--आत्मा को तुरीय मानने की परम्परा बहुत प्राचीन है (तुरीय= चतुर्थ)। माण्डूक्य उपनिषद् (३–७) में स्थूल-सूक्ष्म क्रम से आत्मभाव को चार भागों में बाँटा गया है--विश्व (जाग्रत्-अवस्था-सम्बन्धी),

तैजस (स्वप्न-अवस्था-सम्बन्धी), प्राज्ञ (सुषुप्ति-अवस्था-सम्बंधी) तथा तुरीय (स्वरूपस्थ-आत्म-सम्बन्धी) ।

तुरीयतत्त्व का निर्देश ह० यो० प्र० ४।४८ में है तुरीय-स्थिति शिवरूप ईश्वर की है अथवा सुखरूप आत्मा की है। आत्माकार या शिवाकार वृत्ति ही इस अवस्था में रहती है, अतः इसमें चित्त के वैषयिक चाञ्चल्य का सर्वथा अभाव हो जाता है—यह मृत्यु या काल की अतीत स्थिति है।

योगनिद्रा की स्थिति विकल्पहीन है अर्थात् आत्मविषयक कोई भी भ्रान्त धारणा इस अवस्था में नहीं रहती।

प्रकाशमाने परमात्मभानौ
नश्यत्यविद्यातिमिरे समस्ते।
अहो बुधा निर्मलदृष्टयोऽपि
किञ्चिन्न पश्यन्ति जगत् समग्रम् ।।२७।।

अनुवाद—अहो ! परमात्मा-रूप सूर्य का उदय तथा अविद्या रूप पूर्ण अन्धकार का नाश होने पर विद्वान् (=आत्मज्ञ) निर्मलदृष्टियुक्त होने पर भी समस्त जगत् में कुछ भी नहीं देख पाते हैं।

व्याख्या—हठयोग के प्रतिपादक ग्रन्थों में परमात्मा शब्द प्रयुक्त होता है—द्र० ह० यो० प्र० ४।१०१; योगियाज्ञवल्क्य ९।१०।

परमात्मा सबका प्रकाशक (निर्विकार रूप से) है, इसलिये भानु का दृष्टान्त दिया गया। तुल० तस्य भासा सर्वमिदं विभाति (श्वेताश्व० ६।१४)। अन्धकार के कारण वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो पाता; अविद्या के कारण वस्तु का तत्त्वज्ञान नहीं होता, इसलिये अविद्या के साथ तिमिर (=अन्धकार) का प्रयोग पूर्वाचार्य करते हैं। इस श्लोक से यह ध्वनित होता है कि दर्शन-क्रिया के लिए सूर्यालोक, अन्धकारनाश तथा दृष्टिशक्ति—ये तीन आवश्यक हैं।

किञ्चिन्न पश्यन्ति--जगत् सत्ता का कोई ज्ञान उनमें नहीं रहता--यह इस वाक्य से जाना जाता है।

सिद्धिं तथाविधमनोविलयां[1] समाधौ
श्रीशैलश्रृङ्गकुहरेषु कदोपलप्स्ये[2]।
गात्रं यदा[3] मम लताः[4] परिवेष्टयन्ति
कर्णौ यदा[5] विरचयन्ति[6] खगाश्च नीडम् ॥२८॥

[१. समर्थाम् (पाठा०)--इस विशेषण का कोई स्वारस्य नहीं है।

२. कदोपलभ्ये पाठा०)। यह भ्रष्ट पाठ है।

३ कदा पाठा०)। इस पाठ में भी अर्थसंगति होती है। २, ३, ४ चरणों में 'कदा' पाठ मानकर 'कब ऐसी ऐसी स्थिति होगी' यह अर्थ किया जा सकता है।

४. गात्रे यथामरलताः पाठा०)--यह अशुद्ध पाठ है।

५. द्र० टि० ३।

६. विरचन्ति (पाठा०)। इस पाठ में छन्दोदोष होता है तथा यह व्याकरणदुष्ट शब्द है।

अनुवाद--(साधक स्वयं को कह रहे हैं) श्री शैलपर्वत की गुहा में रह कर कब मैं समाधि में मनोलयकारिणी सिद्धि को प्राप्त करूँगा ? जब लतायें मेरे शरीर का वेष्टन करेंगी तथा पक्षियाँ मेरे कान में नीडों का निर्माण करेंगी (तब उपर्युक्त सिद्धि मुझे प्राप्त होगी)।

व्याख्या--लता द्वारा गात्रवेष्टन तथा कर्ण में नीडनिर्माण--एकासन में दीर्घकाल पर्यन्त निश्चल रूप से अवस्थान करने पर ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है। इतिहासपुराण में ऐसी स्थिति का वर्णन मिलता है।[1]

---

१. जटाटवीकोटरान्ताः कृतनीडाण्डजाश्च ये। १९। लताप्रतानैः परितो वेष्टितावयवाश्च ये। शस्यानि च प्ररूढानि यदङ्गेषु चिरस्थितिः॥ ३० (काशीखण्ड अ० २२); द्र० शान्तिपर्व २६१।१३-३७ में वर्णित जाजलि का तपश्चरण।

श्रीशैलपर्वत---करनाल जिले के अन्तर्गत कृष्णा नदी के दक्षिण तीर में; कृष्णा-स्टेशन से ५० मील। यहाँ द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में अन्यतम लिङ्ग विद्यमान है। यह योगिजन-निवास के रूप में प्रसिद्ध है।

ब्रह्मरन्ध्रगते वायौ गिरेः प्रस्रवणं भवेत्।
शृणोति श्रवणातीतं नादं मुक्तिर्न संशयः[1] ॥२९॥

[१. कई संस्करणों में यह श्लोक नहीं मिलता। इसके प्रक्षिप्त होने की सम्भावना है। प्रस्तुत ग्रन्थ उपजाति-छन्द में रचित है। २८ वें श्लोक में अन्य छन्द (वसन्तलिक) का व्यवहार है, जिससे ज्ञात होता है कि यह इस ग्रन्थ का अन्तिम श्लोक है। २८ वें श्लोक का भाव भी ऐसा है कि इसके बाद अभ्यास के विषय में कुछ कहने के लिए रह नहीं जाता।]

अनुवाद—वायुके ब्रह्मरन्ध्र मे स्थिर होने पर गिर का प्रस्रवण होता है (गिरि से धारा निकलती है), इस अवस्था में श्रवणातीत (=अश्राव्य) नाद सुना जाता है, अतः मुक्ति होती है—इसम काई संशय नहीं है।

व्याख्या—ब्रह्मरन्ध्र—आधुनिक शारीर शास्त्र में यह anterior fontanelle कहलाता है; भेलसंहिता में इसे शिरस्तालु कहा गया है। शरीर में कई छिद्र (रन्ध्र) हैं; जिनमें ब्रह्मरन्ध्र दशम है--यह आयुर्वेदीय मत प्रसिद्ध है (दशमं रन्ध्रं मस्तके चोक्तम्। तद् ब्रह्मरन्ध्रमित्याहुरेके; एतानि नव स्रोतांसि नराणां बहिर्मुखानि भवन्ति, दशमं मस्तके प्रच्छन्नम्—शाङ्गधर पर आढमल्ल की टीका)। वायु की ब्रह्मरन्ध्र की ओर गति के विषय में ब्रह्मानन्द का वाक्य मननीय है—कुण्डलिनीबोधे सुषुम्नामार्गेण प्राणो ब्रह्मरन्ध्रं गच्छति; तत्र गते चित्तस्थैर्यं भवन्ति, चित्तस्थैर्ये संयमाद आत्मसाक्षात्कारो भवति (ज्योत्स्ना १।४८)। प्राणायामाभ्यास की तृतीय अवस्था (जिसको 'उत्तम' कहा जाता है) में प्राण ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचता है (ज्योत्स्नाटीका २।१२)।

गिरिप्रस्रवण--यह 'गिरि' क्या है, यह स्पष्ट नहीं है। संभवतः यह भ्रष्ट

पाठ है। योगियाज्ञवल्क्य में 'गिरिप्रस्रवणं यथा' कहकर गिरिप्रस्रवण की उपमा दी गई है--गिरिप्रस्रवण को एक घटना के रूप में नहीं कहा गया (आमूर्ध्नो वर्तते नादो वीणादण्डवदुत्थितः। शङ्खध्वनिनिभस्त्वादौ मध्ये मेघध्वनिर्यथा ॥५७। व्योमरन्ध्रगते नादे गिरिप्रस्रवणं यथा, ६।५७-५८ क०)। तुल० मेरुशृङ्गे स्थितश्चन्द्रो द्विरष्टकलयान्वितः। अहर्निशं त्वसौ आत्मसुधां वर्षत्यधोमुखः। (योगचिन्ता० पृ० १०७ में उद्धृत अमृतसिद्धि-नामक योगग्रन्थ का वाक्य)। क्या गिरि = पूर्णगिरि है ? (द्र० योगचि० पृ० १२२)।

जो ध्वनि आघातजन्य नहीं होती वह इस शास्त्र में नाद कहलाती है (नाद = अनाहतध्वनि; ज्योत्स्नाटीका ३।६४ ।[1]

नमो योगाय योगेश्वराय च

---

१. निम्नोक्त श्लोक कुछ संस्करणों में अन्तिम श्लोक के रूप में पठित हुआ है—

विचरतु मतिरेषा निर्विकल्पे समाधौ
कुचकलसयुगे वा कृष्णसारेक्षणानाम्।
चरतु जडमते वा सज्जनानां मते वा
मतिकृतगुणदोषा मां विभुं न स्पृशन्ति।

[अवश्य ही यह श्लोक अर्वाचीन काल में संयोजित हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय से श्लोकोक्त दृष्टि की संगति नहीं है]

परिशिष्ट

योगतारावली तथा उसकी व्याख्या में प्रयुक्त प्रमुखशब्दों की सूची

(शब्द के बाद दी गई संख्या ग्रन्थगत श्लोक की संख्या है)

हमारे अन्य महत्वपूर्ण प्रकाशन

1. सांख्यदर्शन : विज्ञानभिक्षुभाष्य व हिन्दी अनुवाद सहित सम्पादक—रामशंकरभट्टाचार्य, चतुर्थ संस्करण 50.00
2. कातंत्र व्याकरण : सम्पादक—आर० एस० सैनी 150.00
3. व्याकरणभूषणम्-सम्पूर्ण-सम्पादक—विद्यानिवासमिश्र 150.00
4. हिन्दूधर्म : मानसिंह 60.00
5. श्रमण संस्कृति का दार्शनिक विवेचन—जगदीशदत्त दीक्षित 60.00
6. ताराभक्ति सुधार्णव : आर्थर एँवालान 200.00
7. योगिनो तंत्र : विश्वनारायण शास्त्री 125.00
8. ईशानशिवगुरूदेव पद्धति—पं० टी० गणपतिशास्त्री चार भाग में सम्पूर्ण 800.00
9. धर्म का उद्भव और विकास—तुलसीराम शर्मा 100.00
10. ईशावास्योपनिषद् - शांकरभाष्य तथा विस्तृत हिन्दी अनुवाद सहित—शशि तिवारी 40.00

भारतीय विद्या प्रकाशन

1. यू० बी० जवाहर नगर, बैंग्लोरोड़ दिल्ली-7

पो० बा० 1108, कचोड़ी गली वाराणसी-1

बृहद्योगसोपान

हिन्दीटीकासहित
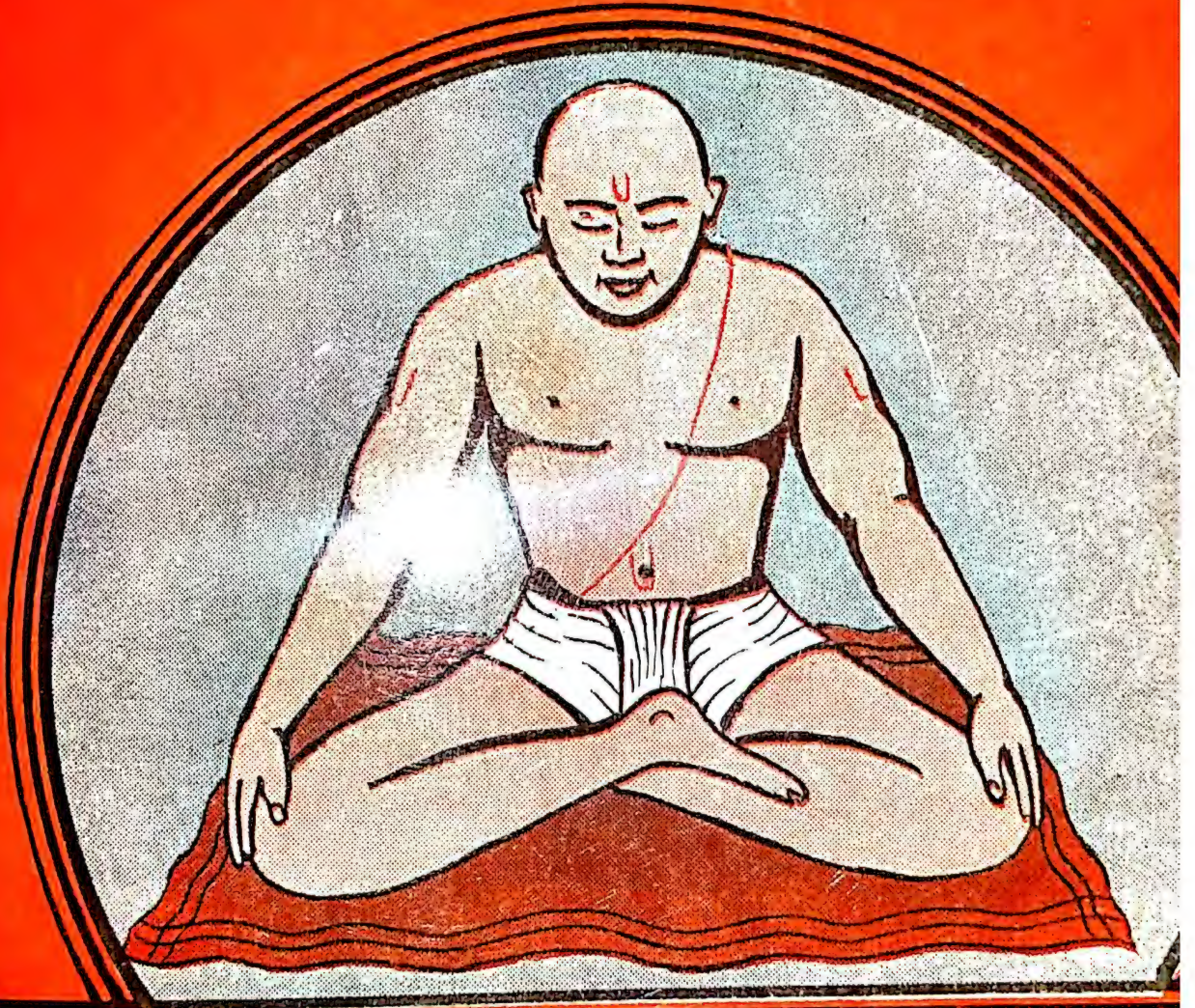
खेमराज श्रीकृष्णदास
प्रकाशन
बम्बई

श्रीः

बृहद्योगसोपान

हिन्दीटीकासहित

★

लेखक :
प्रतापगढ़प्रान्तान्तर्गत भँवरी (पूरे तिलकदास)
ग्रामनिवासी पं० रामनरेश मिश्र शास्त्री

मुद्रक एवं प्रकाशक:
खेमराज श्रीकृष्णदास,
अध्यक्ष : श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,
खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग, मुंबई - ४०० ००४.

श्रीः

प्रथम वक्तव्य

यह संसार क्या है, इसके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है, हम कौन हैं, यह दृश्यमान सारा प्रपञ्च क्या है, इसका सूत्रधार कौन है, अथवा यह संसार चक्र अपने आप ही चल रहा है? इत्यादि विचिकित्साओंका तथ्यरूपसे बता देना–समझा देना दर्शनशास्त्रका मुख्य ध्येय है। पूर्व और पश्चिमके प्राचीन एवं अर्वाचीन समस्त दर्शन-साहित्यका मुख्यतः आलोच्य विषय यही रहा है और अब भी है।

उपरोक्त जिन समस्याओंके हल करनेका भार दर्शन-शास्त्रने लिया है वे बड़ी व्यापक हैं, दुर्बोध हैं, अपरिमेय हैं और विचारणीय हैं। उक्त विचिकिसाओंका यथार्थतः विवेचन हो जाना सारे संसारकी समस्त उलझनोंका विवेचन कहा जा सकता है। कारण कि यह संसार क्या है, इसके साथ प्राणियोंका सम्बन्ध क्या है, प्रत्येक पदार्थ क्षण क्षणमें क्यों परिणमित हुआ करता है? आदि विषयोंका वास्तविक ज्ञान हो जाना ही तो सारे प्रपञ्चका जानना कहा जाता है। इतने बड़े विवेचनका महान् उत्तरदायित्वका भार दर्शनशास्त्रके शिरपर है और होना भी चाहिये। क्योंकि एक दर्शनशास्त्र ही ऐसा है जो पर्दोंकी ओटमें छिपे हुए सारे रहस्यको मानव-समाज के सामने प्रकट कर देता है, समझा देता है और परिणामी हृदय पटलों पर विश्वासकी प्रतिमा प्रतिष्ठित कर देता है।

प्राच्य और प्राचीन दर्शन शास्त्रके मुख्य छः विभाग हैं–१ योग, २ सांख्य, ३ पूर्वमीमांसा, ४ उत्तरमीमांसा (वेदान्त), ५ न्याय और ६ वैशेषिक। इन छहोंमें दो दो का परस्पर जोड़ा माना जाता है, जैसे–योग और सांख्यका, वेदान्त और मीमांसाका तथा न्याय और वैशेषिकका इन सबोंको साधारण दृष्टिसे देखा जाय तो इनके द्वारा निश्चित होता है कि यह संसार तीन श्रेणियोंमें विभक्त है–१ प्रकृति, २ जीव, ३ ईश्वर।

(१) प्रकृति–उसे कहना चाहिये जो चर्मचक्षुओं द्वारा दीखनेवाले इस महान् जगत को उत्पन्न करती है। यानी यह स्थूलरूप संसार ही प्रकृति शब्दसे सम्बोधित होता है। यह प्रकृति जड़ है और त्रिगुणात्मक है।

(२) जीव – संसारका वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभाग है जो प्राणियोंके अन्दर पायी जाने-वाली चेतनाशक्ति कही जाती है। इसी चेतनाशक्तिके द्वारा प्राणिमात्र जीवित कहे जाते हैं और विविध प्रकारके व्यापार कर पाते हैं। इसके विना पृथ्वी आदि जड़ भूतों के सम्मेलन से बना हुआ यह स्थूल शरीर बेकाम हो जाता है, चेष्टारहित हो जाता है और नष्ट भी हो जाता है।

(३) ईश्वर–संसारका वह तीसरा विभाग है जो उक्त दोनोंसे 'परे' है। यही जगन्नि-यन्ता या संसारका सूत्रधार माना जाता है, परन्तु साधारण श्रेणीके व्यक्ति इस 'परे पदार्थका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर सकते इसलिये इसकी सत्ता सबसे अधिक विवादग्रस्त है। यद्यपि इस भौतिक जगत्में कोई कोई दार्शनिक या विज्ञानवेत्ता ऐसे हो गये हैं जो ईश्वरको नहीं मनाते और निरीश्वरवादी कहलाते हैं, पर तो भी आस्तिक सम्प्रदायको एक ऐसी विशेष शक्तिकका मानना अन्ततोगत्वा अनिवार्य हो जाता है जो जीवात्मा शक्तिको परेशान करके दूर बैठा

देती है–विवश कर देती है और अपनेसे अतिरिक्त एक दूसरी शक्तिको माननेके लिये बाध्य कर देती है। फलतः जो निरीश्वरवादी कहलाते हैं उन्हें छोड़कर सभी दार्शनिक ईश्वरशक्ति को मानते हैं।

इस तरह इस संसारके 'प्रकृति-जीव ईश्वर' इस विभागत्रयकी मीमांसाके लिये दर्शन-साहित्यकी सृष्टि हुई है और इसीकी विवेचनामें समाप्ति भी हो जाती है। उक्त षडदर्शनोंमेंसे 'योग-दर्शन' इस पुस्तकका विषय है इसीलिये इसे 'बृहद् योगसोपान' इस अन्वर्थ नामकी उपलब्धि हुई है और इसका सहयोगी है 'सांख्य-दर्शन।' सांख्य और योगके मुख्य मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार हैं —

योग और सांख्य दोनों ही इस संसारको प्रकृतिका परिणाम मानते हैं तथा प्रकृतिका स्वरूप भी एकसा ही मानते हैं। सांख्य मतानुसार सन्दिग्ध विरक्त मनुष्य अधिकारी है, किन्तु योग एकाग्र चित्तवालेको अधिकारी मानता है। सांख्यने १ अव्यक्त, १ महान्, १ अहंकार, ५ महाभूत, ५ तन्मात्रा और ११ इंद्रियां ये २४ तत्त्व माने हैं। पर योगने एक ईश्वरतत्त्व और मानकर २५ तत्त्व माने हैं। सांख्य तो ईश्वरको साकार माननेकी कोई आवश्यकता नहीं समझता किन्तु योग समाधि प्राप्त करनेके लिये साकार भी मानना है। सांख्य जीव' को चैतन्य, विभु, अनेक व असंग और भोक्ता मानता है और योग इन विभूतियोंके साथ साथ उसे 'कर्ता भी मानता है। सांख्य-मतने संसारका कारण केवल त्रिगुणात्मक प्रकृतिको माना है और योगिक मतने प्रकृतिके साथ साथ ईश्वरको भी प्रेरकरूपसे कारण माना है। सांख्य और योग दोनों परिणामवादी हैं, एवं द्वैतवादी भी। दोनों प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीनों प्रमाणोंके मनानेवाले हैं। सांख्य 'त्वं' पदार्थका शोधक है और योग चित्तैकाग्र्य' का शोधक है। सांख्य ज्ञानकाण्ड है और योग उपासनाकाण्ड है।

इस प्रकार ये दोनों दार्शनिक प्रायः एक पथपर चलनेवाले हैं। यही कारण है कि योग-शास्त्रको 'सेश्वर-सांख्य' कहा जाता है। योगके साथ सांख्यकी मित्रताका परिचय भगवान श्रीकृष्णचन्द्रन भी इन अक्षरोंमें दिया है :—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥

सांख्य और योग इन दोनोंमेंसे किसी भी एकका अनुष्ठान किया जाय पर फलमें अन्तर नहीं पड़ सकता। इसलिये इन दोनोंको जो लोग पृथक्फलक समझते या बताते हैं वे पंडित नहीं कहे जा सकते।

---

१ दार्शनिकोंके यहां – १ विवर्तवाद, २ परिणामवाद, और ३ आरंभवाद; ये तीन मत माने गये हैं। (१) रज्जुमें सर्पकी प्रतीति होना 'विवर्त' कहा जता है और (२) दूधसे दही बन जाना 'परिणाम' है। एवं (३) पाषाण आदि अनेक पदार्थोंको इकट्ठा कर एक इमारत खड़ी कर देना 'आरंभ' कहाता है।

उक्त मतोंमेंसे न्याय, वैशेषिक और पूर्वमीमांसा तो आरंभ-वाद मानते हैं और वेदांत विवर्त वाद मानता है। किंतु योग और सांख्य परिणाम-वाद मानते हैं।

सारांश यह कि —

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।

जो पदवी सांख्यवालेको मिल सकती है वही योगवालेको प्राप्त होगी इसमें सन्देह नहीं, पर इन दोनोंकी एकताके रहस्यको यथार्थरूपसे जानना ज्ञानियोंका ही काम है ।

परन्तु पहले कहा जा चुका है कि सांख्य ज्ञानवादी है और योग कर्मवादी है । बिना कर्म या उपासनाके मोक्षकी उपलब्धि नहीं हो सकती यह बात हम ९ वें प्रकरणके अन्तमें मोक्षके निरूपणमें व्यक्त कर चुके हैं, फलतः यही इतनी योग और सांख्यमें विषमता है । इसी विषमता से सांख्यके लिये ऐसी परिस्थिति उपस्थित की है कि जिसके कारणसांख्य सिद्धान्तको हानि उठानी पड़ी और योगका साम्राज्य आजतक अक्षुण्ण बना हुआ है तथा भविष्यमें रहेगा भी । वास्तवमें यदि पक्षपातरहित दृष्टिसे देखा जाय तो योगदर्शन सभी दर्शनोंकी अपेक्षा विशेष शक्तिशाली, उपकारक एवं व्यापक है । योगके वैशिष्टचमें यहां अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उपोद्घात प्रकरणमें लिखा जा चुका है तो भी सिद्धान्तस्वरूप शिवसंहिताका एक श्लोक उद्धृत करते हैं :—

आलोक्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं योगशास्त्रं परं मतम् ।।

जिस योगशास्त्रका इतना बड़ा महत्त्व है कि जो समस्त दार्शनिक क्षेत्रोंका एक सम्राट कहा जाता है उसके आदि निर्माता कौन हैं ? इस विषयमें निश्चितरूपसे यही कहा जा सकता है कि योगके प्रथम आचार्य हिरण्यगर्भ हैं, फिर इनके पीछे वार्षगण्य और याज्ञवल्क्य आदि हुए हैं किन्तु योगसूत्रके रचयिता श्रीपतञ्जलिजीने जो योगशास्त्रकी पताकाको इतना ऊँचा उठा दिया है कि इसकी छत्रछायाके सामने अन्य सभी दार्शनिकोंकी छत्र-छाया संकुचित हो जाती है । कहा जाता है कि पहले योग और सांख्यकी परस्पर बड़ी भिन्नता थी, पर 'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।" इस आप्त वचनकी सार्थकता पूर्णतया श्रीपतञ्जलिजीने ही की है । अस्तु, जो कुछ भी हो, परन्तु यह निश्चित बात है कि योगतत्त्वका असली सिद्धान्त योगसूत्रद्वारा ही परिस्फुट हुआ है ।

श्रीपतञ्जलिजी कब हुए, इनका ठीक ठीक जन्मकाल क्या था ? इत्यादि बातें विवाद-ग्रस्त हैं, कोई कुछ कहता है तो कोई कुछ, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ये व्यासदेवजीसे पहले हुए हैं, क्योंकि योगसूत्रपर व्यासदेवकृत भाष्य सबके सामने है ।

श्रीपतञ्जलिजीका आचार्यत्व

इनका आचार्यत्व केवल योगशास्त्र ही तक सीमित रहा हो यह बात नहीं है किन्तु ये तीन विषयके श्रेष्ठ आचार्य हो गये हैं । यानी ये एक योग ही क्या, प्रत्युत व्याकरण और ज्योतिषके भी आचार्य माने जाते हैं इस विषयमें अनेक मत मतान्तर हैं, पर अन्तमें यही कहा जा सकता है कि ये ही योगसूत्रके रचयिता पतञ्जलिजी राजमृगांक (वैद्यक) और महा-भाष्य (व्याकरण) के भी निर्माता हैं ।

तभी तो —

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां,
मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।

योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां,
पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ।।

यह योग पढ़नेवालोंमें परम्परागत श्लोक प्रसिद्ध है कि 'जिन्होंने योगशास्त्र द्वारा चित्तके, व्याकरणभाष्य द्वारा वचनके और वैद्यक द्वारा शरीरके दोषोंको दूर कर दिया है उन पतञ्जलिजीको करबद्ध नमस्कार है ।' वास्तवमें इन्हें चित्त, वचन और शरीर, इन तीनोंके दोषोंको दूर करना था और इसीसे इन्होंने तीन ग्रन्थ यानी योगसूत्र चित्तकी शुद्धिके लिये, महाभाष्य वचनकी शुद्धिके लिये और वैद्यकग्रन्थ शरीरके मल दूर करनेके लिये लिखे हैं, यह निश्चित सिद्धान्त है ।

प्रस्तुत पुस्तकका संकलन श्रीपतञ्जलिजीके बनाये हुए योगसूत्रकी प्रधानतामें हुआ है और जिन २ ग्रन्थोंसे मूलपाठ लिया गया है उन सबके स्थान स्थानपर नाम निर्दिष्ट कर दिये गये ह । इस छोटी सी पुस्तक-मंजूषामें योगसम्बन्धी सभी ज्ञातव्य विषयोंका सरल रीतिसे समावेश है । शब्दावलियोंमें पूर्णतया इस बातका ध्यान रखा गया है कि कठिन शब्दोंका प्रयोग न होने पाये जिससे यह सर्वसाधारणके उपयोगकी चीज बन सके, पर इसके द्वारा जनताको कितना लाभ हो सकेगा यह तो जनताकी गतिविधिपर ही निर्भर है । अथवा यों कहिये कि कालचक्रके गर्भमें है । इसको सर्वांग सुन्दर बनानका यथासाध्य प्रयत्न किया गया है, पर सर्वांश में इसका संकलन उत्तम हुआ यह नहीं कहा जा सकता, कारण यह है कि एक तो "भ्रम होना" मानवमात्रके लिय नैसर्गिक नियम है, दूसरे पुस्तकको स्थूलकाय रूपमें देखना अभीष्ट न था । अस्तु, यदि इसकी ओर जनताकी अभिरुचि हुई तो द्वितीय संस्करणमें और भी अधिक उपादेय बनानेका प्रयत्न किया जायगा ।

संक्षेपमें इस पुस्तकके लिखनेका परम उद्देश यही है कि इस राष्ट्र विप्लव युगमें पुनः यौगिक नियमोंका प्रत्येक मानवीय मानसमें सुस्थिर आवास हो जिससे अपने अपने परम पुरुषार्थरूप चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की प्राप्ति हो सके । मतलब यह कि प्रस्तुत पुस्तकमें ब्रह्मचर्य और आसन, प्राणायाम आदि अनेक हितकारी साधनोंका उल्लेख किया गया है, इसलिये ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सुख-समृद्धिके चाहनेवाले मानव-समाजको इसे अवश्य अवलोकन करना चाहिये, साथ ही उसके अनुसार आचरण करनेके लिये भरसक प्रयत्न भी करना चाहिये अन्यथा अवलोकन हाथीके स्नानके समान व्यर्थ हो जाता है ।

इसके संकलन करनेमें जिन जिन ग्रन्थकारों, टीकाकारोंके लेखोंसे सहायता मिली है उनके लिये सादर श्रद्धाञ्जलियां समर्पित करता हूं । साथ ही उन श्रद्धेय व्याकरण पोष्टाचार्य पं० श्रीकृष्ण शास्त्रीजीका भी कृतज्ञ हूं जिनसे जहां कहीं सन्दिग्ध स्थलोंपर सत्परामर्श कर लिया करता था । इसमें जो जो 'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः" इस न्यायानुसार त्रुटियां रह गयी हों उन्हें सहृदय पाठकजन सँभाल लें यही नम्र निवेदन है ।

अन्तमें मैं उन स्व. श्रीमान् सेठ 'रावसाहब' श्री रंगनाथ जी और स्व. श्रीमान् सेठ श्री-निवासजीको कोटिशः हार्दिक शुभाशीर्वाद एवं धन्यवाद देता हूं—जो स्व० श्रीमान् सेठ 'धर्मरत्न' खेमराज श्रीकृष्णदासजीके आत्मज—सुयोग्य सन्तान हैं, जिन्होंने इस पुस्तकके लिखनेकी मुझे आज्ञा प्रदान की है । इसका पुनर्मुद्रणादि सर्वाधिकार इन्हीं दोनों श्रेष्ठिवर्यों को सादर समर्पित है, फलतः इसके प्रकाशनका विचार दूसरे प्रकाशक कदापि न करें ।

श्रावण कृष्ण ८ मंगलवार,
सं० १९९२, ता. २३-७-३५ बम्बई.

रामनरेश मिश्र.

श्री :

अथ बृहद्योगसोपानकी विषयानुक्रमणिका

इति अनुक्रमणिका

श्रीः

श्रीबृहद्योगसोपानम्

हिन्दीटीकासहितम्

उपद्घात प्रकरण

[1]मङ्गलाचरण

यो योगेशो योगगम्यः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
तं कृष्णं सततं वन्दे देहिनां योगसिद्धये ।। १ ।।
श्रीमत्पतञ्जलिप्रोक्त--योगशास्त्रमहोदधेः ।
पद्यानि मौक्तिकानीव कानिचिद्विचिनोम्यहम् ।। २ ।।
नृ-भाषासूत्रयोगेन हारं कुर्वे यथाविधि ।
यं धृत्वा शाश्वतीं कान्ति यन्तु लोके मुमुक्षवः ।। ३ ।।
मिश्र-रामनरेशेन श्रीशिवनाथ-सूनुना ।
वितन्यते बृहद्योग-सोपानं पुरुषार्थदम् ।। ४ ।।

मैं समस्त मानव-गणको योग-मार्ग द्वारा सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त होनेके लिये उस सच्चिदानन्द स्वरूपकी वन्दना करता हूँ जो योगसाधनमार्ग तय करने पर प्राप्त होने वाला योगेश 'कृष्ण' कहाता है ।। १ ।। कृष्णचन्द्रकी वन्दनापूर्वक आज मैं महर्षि श्रीपतञ्जलिजीसे उत्पन्न हुए योगशास्त्र समुद्रसे मोतियोंकी तरह कुछ पद्योंका विचयन (संग्रह) और उनको नृभाषा (हिन्दी) रूपी सूत्रमें यथाविधि गुथकर पुरुषार्थ-प्रदान करनेवाला वह अमूल्य हार बना रहा हूँ कि जिसे मुमुक्षु जिज्ञासु जन अवलोकन करतेही सरलतापूर्वक अपने अपने कण्ठ अथवा हृदयमें धारण कर उस शाश्वतिक स्थानमें जाकर विराजमान हो जाया करेंगे जहां द्वन्द्वपदार्थका सर्वथा अत्यन्ताभाव रहता है ।। ३ ।। ४ ।।

योगी अथवा योग-रूपका, एकमात्र जो ईश ।
योग-कर्मसे मिलनेवाला, जो सच्चा जगदीश ।।
जो सच्चिदानन्द-वपु-धारी, लीला-कारी एक ।
उसी कृष्णकी करूँ वन्दना, निश दिनबार अनेक ।। १ ।।

---

[1] यह नमस्कारात्मक और वस्तु-निर्देशात्मक चार पद्यों द्वारा मंगलाचरणका निरूपण धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस चतुर्वर्गकी प्राप्तिकी ओर संकेत करता है ।

उसकी कृपा-कटाक्ष-कोरसे, देही देखे जायँ।
उसकी प्रखर-प्रभा द्वारा नर, ज्ञान-रत्न पा जायँ॥
उन रत्नोंका 'हार' बनावें, विधि-पूर्वक नर-मात्र।
निज निज उरमें धार, सभी जन, बनें योगके पात्र॥ २॥

दीख पड़े प्रत्येक पात्रमें, योग-तत्त्वका रूप।
पा जाये प्रत्येक पात्र, फिर, योग–रूपका भूप॥
अपना भुप वही तो है, जो कहलाया ,दधि-चोर'।
वही 'प्रेम' से फिर मिल जाये, आकर अपनी ओर॥ ३॥

—'प्रेम'

अनुबन्ध चतुष्टय

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्।
यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यते॥
ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
ग्रन्थादौ तेन वक्तव्यः सम्बंधः सप्रयोजनः॥ ५॥

जबतक शास्त्र–सम्बन्धी ही नहीं, बल्कि किसी भी कार्यके करनेका प्रयोजन नहीं निश्चितहो जाता तबतक कोई भी कार्य करनेमें प्रवृत्त नहीं होता। इसलिये ज्ञातार्थ और ज्ञात–सम्बन्ध सुननेके लिये श्रोतागण प्रवृत्त होते हैं अतः ग्रन्थके आदिमें प्रयोजन सहित सम्बन्ध आदिका निरूपण करना चाहिये॥ ५॥

उपरोक्त सिद्धान्तानुसार इस संग्रहात्मक ग्रन्थका भी प्रयोजन आदि अनुबन्ध सर्व प्रथम लिखता हूँ :—

विषय–निरूपण

जीव और ब्रह्म की एकता प्राप्त होनेके लिये निर्विकल्प समाधिका प्राप्त होना परमपुरुषार्थ कहाता है और उस समाधिका उत्तम मार्ग बता देना इस ग्रन्थका 'विषय' है।

शंका–एक तो प्रकृतिजन्य जितने कार्य हैं, सबके सब परिणामी हुआ करते हैं और यह चित्त प्रकृतिका कार्य होनेके कारण प्रत्येक क्षणमें परिणामित होता रहता है। यह व्यासदेवजीने भी माना है। इसलिये पवनसे भी अत्यन्त अधिक चञ्चल चित्त द्वारा निर्विकल्प समाधिकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? दूसरे कदाचित् चित्त रुकने भी लग जाय; पर अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभि-

निवेश इन पांचों *क्लेशोंसे युक्त, एवं एक देशमें रहनेवाले जीवका और उक्त क्लेशोंसे रहित सर्वव्यापक ब्रह्मकी एकता (मेल) कैसे हो सकती है? कारण यह है कि परस्पर विरुद्ध पदार्थोंकी एकता अथवा मित्रता नहीं हुआ करती। इसलिये इस ग्रन्थका विषय उपयोगी नहीं है?

समाधान—यद्यपि यह चित्त इतना चञ्चल और उद्दण्ड है कि इस घोड़े पर लगाम पकड़कर सवारी करना असम्भव-सा प्रतीत होता है, पर उपयुक्त क्रिया और अभ्यास ऐसी वस्तु हैं कि इनके बलसे एक न एक दिन अवश्य इसपर सवार होकर विचारशील मनुष्य अपने अभीष्ट स्थानपर पहुँच सकता है। इस विषयमें इससे बढ़कर दूसरा उदाहरण नहीं मिल सकता कि जो सरकस आदि स्थानोंमें व्याघ्र, ऋच्छ आदि हिंसक जीव कठपुतलीकी तरह स्टेजपर नाचा करते हैं। यह केवल प्रयत्न और अभ्यासका ही फल है, अन्यथा संभव नहीं था। इसलिये यदि विहित उपायोंका अवलम्बनपूर्वक अभ्यास किया जायगा तो अवश्य यह चित्त स्थिर हो सकता है और अभ्यासकी परिपक्वावस्थामें निर्विकल्प समाधिकी प्राप्ति हो सकती है। हां इतनी बात तो अवश्य है कि मनुष्य एकही जन्म में समाधि—अवस्थापककी योग्यता हो जाय इतना अभ्यास प्रायः नहीं कर सकता। तभी तो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने गीतामें कहा है कि—"अनेकजन्मससिद्ध-स्ततो याति परां गतिम्।" अनेक जन्मोंमें सिद्ध होनेपर मुक्ति प्राप्त होती है यानी निर्विकल्प समाधिकी उपलब्धि होती है।

चाहे कोई भी कार्य हो, यदि श्रद्धापूर्वक समुचित प्रयत्न न किया जायगा तो कभी भी कार्य—सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये विचारशील मनुष्यको उचित है कि निर्विकल्प समाधिकी प्राप्तिके लिये सतत प्रयत्न करे।

इस समाधिको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्नकी दो धाराएं होती हैं—एक तो अभ्यास और दूसरी विरक्ति। इस ग्रन्थमें चित्तके निरोधके लिये जो उपाय

(गीतिका छन्द)

हैं क्लेश पांच प्रकारः—पहला है 'अविद्या' नामका।
है दूसरा वह 'अस्मिता' जो हेतु है मलि-वामका॥
है तीसरा वह 'राग' जिसका जन्म है सुखके लिये।
वह 'द्वेष' चौथा, जीवको, है दुःख देनेके लिये॥ १॥
फिर 'अभिनिवेश' कहा गया, जो मृत्यु-भयके त्राससे।
रहता डराता है सभी को, "देहके ही नाशसे"॥
इन पांच क्लेशों को हटाना, मनुजके पुरुषार्थ हैं।
इनको हटाकर ही विवेकी, साधते परमार्थ हैं॥ —'प्रेम,

बताये जायँगे उनका अभ्यास और विषयोंमे वैराग्य रखना; इन दो उपायोंसे चित्त निरोध–भावको प्राप्त होकर एकाग्र होजाता है तथा अपनी क्षिप्त, मूढ और विक्षिप्त अवस्थाओंको त्याग देता है। महर्षि पतञ्जलिजीने भी यही कहा है कि– "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।" अभ्यास और वैराग्यद्वारा चित्त (मन) का निरोध होता है। सांख्यकारको भी यही अभिमत है–"वैराग्यादभ्यासाच्च।" और श्रीकृष्णचन्द्रका भी अर्जुनके प्रति यही उपदेश है कि–"अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते।।" हे अर्जुन ! अभ्यास तथा वैराग्य करके मनका निरोध करना चाहिये। चित्त-निरोधके लिये चित्त-निरोधके साधनोंको करना 'अभ्यास'[१] कहाता है। इस लोक और परलोकके विषयाभोगोंमें दोष–दृष्टि-पूर्वक उदासीन रहना ,वैराग्य' कहा है।

वैराग्यके दो भेद हैं–एक 'परवैराग्य' और दूसरा 'अपरवैराग्य'। पहलेमे तो गुणवैतृष्ण्य तथा दूसरेम विषयवैतृष्ण्य होता है। संप्रज्ञात समाधिके अभ्यास सें पुरुषप्रकृतिका ज्ञान होकर सुख, दु:ख और मोक्षरूप परिणाम पानेवाले अन्त: करणमें से सत्त्व–रज–तम गुणमें तृष्णारहित होना परवैराग्य कहाता है और इस लोक तथा परलोकके दिव्य, अदिव्य शब्दादि विषयोंमें तृष्णाका न होना अपर वैराग्य कहा जाता है। अपर वैराग्यके अवान्तर भेद और भी चार हैं :–१ यतमान, २ व्यतिरेक, ३ एकेन्द्रिय और ४ वशीकार।

(१) इस संसारमें सार, एवं असाररूप वस्तु कौन २ सी हैं? यह बात शास्त्र तथा सद्‌गुरुद्वारा जाननेके लिये मनमें जो इच्छा उत्पन्न होती है उसके अनुसार प्रयत्न करना 'यतमानवैराग्य' कहाता है। (२) इस यतमान वैराग्यके निरन्तर अभ्याससे साधकके चित्तमें जो काम, क्रोध आदि दोष स्थित रहते हैं वे इतनी मात्राम निवृत्त हुए और अभी इतनी मात्रामें अवशिष्ट हैं इस प्रकारका विवेक हो जानेपर शेषमात्राओंकी निवृत्तिके लिये अन्त:करणकी स्थितिका नाम 'व्यतिरेकवैराग्य' हैं। (३) ऐहलौकिक और पाललौकिक विषयोंकी प्रवृत्तिका परिणाम फल दु:खस्वरूप ही है ऐसा जानकर बाहरसे विषय–प्रवृत्ति के त्यागने पर भी हृदयमें सूक्ष्मरूपसे विषयाभिलाषकी जो इच्छा रहती है उसे 'एकेन्द्रिय वैराग्य' कहते हैं। इसमें मान (प्रतिष्ठा) की तृष्णा भी अङ्कुररूपसे रहती है। और (४) लौकिक तथा पारलौकिक प्रतिष्ठा आदि सूक्ष्म विषयाभिलाषाओं की चित्तमेंसे निवृत्ति हो जाना 'शशीकारवैराज्य' कहाता है। इस वैराग्यकी

---

१ दोहा–"चित्त-निरोधताके लिये, यम–नियमादिक–योग।
करना ही 'अभ्यास' है, कहते हैं बुध लोग।" –'प्रेम'

प्राप्ति हो जाने पर साधक–,विषय मेरे अधीन हैं, मैं विषयोंके अधीन नहीं हूं' ऐसा समझने लग जाता है ।

परन्तु अभ्यास और वैराग्य दोनों साथ २ अनुष्ठित किये जायँगे तभी चित्त–निरोधरूप फल उत्पन्न हो सकेगा, क्योंकि जैसे–"आपोहिष्टा०" इत्यादि तीन ऋचाओंमेंसे एक ऋचा आज, दूसरी कल, तीसरी परसों; इस तरह एक २ के उच्चारणसे यथाविधि मार्जन नहीं कहा जा सकता, किन्तु जब तीनोंका एक समय उच्चारण किया जायगा तभी वैदिक रीतिसे मार्जन कहा जायगा । अथवा जैसे आज जंघा पर्यन्त, कल कटि पर्यन्त, परसों कंठ पर्यन्त, एवं फिर अगले दिन केवल शिर; इस क्रमसे शरीर धोनेसे पूरा स्नान नहीं कहा जा सकता ऐसे ही अभ्यास और वैराग्य दोनों एक साथ न किये जायँगे तो चित्तनिरोधका साधन नहीं हो सकते ।

अथवा यों समझिये कि जैसे–समुद्रकी ओर बहती हुई नदीको रोककर जब सस्य (खेती) सींचनेके लिये जल ले जाना है तो एक दृढ़ (मजबूत) सेतु (पुल) बाँधनेकी आवश्वकता होती है और खेतोंतक जल पहुँचनेके लिये 'नहर' (ACANL) खोदना पड़ता है, ऐसे ही विषयरूप समुद्रकी ओर बहते हुए चित्त अथवा मनको रोकनेके लिये वैराग्यरूपी बाँध और नहररूपी अभ्यासके बलसे चित्त स्थिर होकर आत्मचिन्तनरूप खेतमें पहुँच जाता है ।

यदि कोई शंका करे कि 'अनिश्चित कालसे राजस और तामस वृत्तिवाले व्युत्थान संहकारसे कुण्ठित हुए चित्तको रोकनेके लिये अभ्यास नहीं हो सकता' तो ऐसी शंकाका उत्थान करते महामहिम श्रीपञ्जलिजी स्वयं लिखते हैं :–

"स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढभूमिः ।"

तप, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धारूप सत्कारसे दीर्घकालपर्यन्त सेवन करते करते अभ्यास दृढ़भूमिको प्राप्त हो जाता है । यही भगवती श्रुतिने भी बताया है कि –

"अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्य..."

तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा एवं विद्या द्वारा आत्माको अन्वेषण करके मुक्त होना चाहिये ।

इस तरह वादीकी उस शंकाका उत्तर दे दिया गया जो 'चित्त अत्यन्त चञ्चल होनेके कारण निर्विकल्प समाधि नहीं हो सकती' यह कहा था । अब उसका उत्तर दिया जाता है जो वादीने जीवात्मा और परमात्माको परस्पर विरुद्ध वताकर दोनोंकी एकताका खण्डन किया है :–

जैसे रज्जुमें सर्प, सीपीमें रौप्य इत्यादि अज्ञानवश भासते हैं ऐसे ही वादीको जीवात्मा और परमात्मा पृथक् पृथक् दो वस्तु भास रही हैं । परन्तु वास्त-

विक बात यह नहीं है। इसके लिये यह एक ही दृष्टान्त कह देना पर्याप्त होगा कि जिस प्रकार घट, मठ आदि उपाधियों द्वारा अद्वितीय महाकाशमें घटाकाश एवं मठाकाश भेद प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार अन्तःकरणकी उपाधियों द्वारा जीवात्मा और परमात्माकी भिन्नता यानी अनेकरूपता तथा एकदेशीयता प्रतीत होती है, वास्तविक भिन्नता नहीं है। जैसे सूर्यकी किरण सूर्यसे भिन्न नहीं होती ऐसे ही परमात्मासे जीवात्मा भिन्न नहीं है। जैसे आकाशस्थ एक ही सूर्य अनेक घटों में अनेक भासता है, परन्तु जब घटको चारों ओरसे फोड़ दिया जाता है तो वही एक आकाशस्थ ही सूर्य शेष रहता है यानी घटगत सूर्य आकाशस्थ हो जाता है ऐसे ही अन्तःकरणकी उपाधियोंके अभाव होनेपर जीवात्मा भी परमात्मा में मिल जाता है। इसलिये इस ग्रन्थका विषय परम पुरुषार्थदायक होनेके कारण सर्वथा उपयुक्त एवं परम आदरणीय है।

शंका-यदि समस्त प्राणियोंमें एक ही चेतन है तो सभी को सुख, दुःख आदिकी प्रतीति समान होनी चाहिये, क्योंकि चेतनकी अवस्थामें ही सुखादिकों का भान होता है उसके अभावमें केवल शरीर रह जाने पर नहीं होता, इसलिये एक ही चेतनमें विविध प्रकारके धर्म नहीं होने चाहिये ?

समाधान—सुख अथवा दुःखकी प्रतीति होना अन्तःकरणका धर्म है और अन्तःकरण प्रत्येक शरीरमें भिन्न भिन्न हुआ करते हैं। इसलिये एक प्राणीके सुख या दुःख होनेकी प्रतीति दूसरे प्राणीको नहीं होती। और 'चेतन एक ही है यह बात महाकाश तथा घटाकाशके दृष्टान्तसे निर्विवाद जाननी चाहिये।

प्रयोजनका निरूपण

निर्विकल्प समाधिकी प्राप्ति होकर दैहिक, दैविक और भौतिक दुःखों, की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति होना, एवं परमानन्दकी नित्यप्राप्ति होना इस ग्रन्थका 'प्रयोजन' है। यद्यपि त्रिविध दुःखोंकी निवृत्तिके लिये आयुर्वेद धनुर्वेद, नीतिशास्त्र और मंत्रशास्त्र आदि अनेक उपाय बताये गये हैं, परन्तु एक तो कर्म–बन्धनोंसे जकड़े हुए प्राणी उन समस्त उपायों को कर नहीं सकते, दूसरे कदाचित् कर भी सकें तो उनसे अवश्य ही और सदाके लिये दुःखों की निवृत्ति हो जाती हो ऐसा नियम नहीं है। कारण यह है कि जहांतक इस भौतिक शरीरका सम्बन्ध है वहां तक थोड़े जन्मोंके सुकर्मों द्वारा त्रिविध तापोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती हो यह सम्भव भी नहीं है। क्योंकि यह 'शरीर' पुण्य-तथा पापका फल है और पुण्य पापको दूर बहा देना साधारण पुरुषार्थका और एक जन्मका काम नहीं है। विना उक्त दोनोंके दूर हुए यदि कोई चाहे कि मैं संसारवन्धनसे छूट जाऊँ तो उसकी चाह केवल शश-शृंगके समान ही है। इसी-

लिये तो पण्डितराज महाकवि जगन्नाथजीने अपनी अन्तिम अवस्थामें चारों ओरसे निराश होकर व्यापक ब्रह्मसे संसार-बन्धन टूटने के लिये निम्नलिखित पत्र लिखकर प्रार्थना की है :—

पातकप्रचयवन्मम तावत्,
पुण्य-पुञ्जमपि नाथ ! लुनीहि ।
काञ्चनीमपि लौहमयीं वा,
शृंखलां प्रति पदे न विशेषः ।। ६ ।।

हे नाथ ! (ब्रह्म !) जैसे आपकी इस सेवकके ऊपर ऐसी कृपादृष्टि हुई कि जिसके द्वारा अब यह अपनेको निष्पाप समझता है वैसेही यह भी होना चाहिये कि मुझमें जो कुछ पुण्यका अंश शेष हो वह भी दूर होजाय अथवा नष्ट हो जाय। क्योंकि भगवन् ! जब कि आप विना दोनोंके निवृत्त हुए इस जीवको ससारसे निवृत्त करते ही नहीं तो क्यों नहीं पापकी तरह इसे भी दूर भगा देते ? अर्थात् जबतक पुण्यका हिस्सा तनिक भी शेष रहेगा तो उसी तरह मैं बन्धनमें पड़ा रहूंगा जैसे स्वर्गस्थ प्राणी अपने सात्त्विक पुण्य-फलको हजम करके फिर द्वन्द्व-जनित संसार-बन्धनरूप फलको खानेके लिये विवश करके ढकेला जाता है। और वह फिर संसार में आकर छूटनेका मार्ग भूलकर बन्धनकी ओरही अधिकाधिक बढता जाता है। इस तरह यह जीव अनन्तकालतक पाप और पुण्यके प्रवाहमें पड़कर संसारसागरमें गोता खाता रहता हैं। आशययह कि जिस तरह शरीरकी कान्ति अथवा सुख देनेवाला सुवर्ण (सोना) होता है, पर वही सुवर्णयदि हथकडीके (Hand cuffs) रूपमें परिणत हो जाता है तो बांध उसी तरह रखता है जैसे लोहमय हथकडी बाँधे रहती है, इसी तरह लोहरूपी पाप और सुवर्णरूपी पुण्य दोनों समान बन्धनकारक हैं, इसलिये अब दोनोंको दूर हटाकर मुझे मोक्ष-दान दीजिये ।। ६ ।।

इस कथनसे स्पष्ट सिद्ध हो गया कि बिना पाप और पुण्य इन दोनोंकी निवृत्ति हुए मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। इसलिये यहांपर जिज्ञासु जनोंके हितार्थ पाप और पुण्यकी उत्पत्तिका दिग्दर्शन कराता हुआ संसारजन्य सुख अथवा सुखाभासका विवेचन लिखता हूं :—

पुण्य और पापकी उत्पत्ति राग–द्वेषसे होती है। पूर्वार्जित, एवं प्रस्तुत-शरीरसंपादित पुण्य–पाप–जनित फलोंके भोग चुकने पर भी रागद्वेषके कारण फिर दूसरे नये पुण्य अथवा पाप उपस्थित हो जाया करते हैं। इसलिये पाप और पुण्यके जनक 'राग-द्वेष' ही हैं। इन राग-द्वेषकी उत्पत्ति अनुकूल ज्ञान

और प्रतिकूल ज्ञानसे हुआ करती है। जिस वस्तुमें अनुकूलपनेका ज्ञान होता है उसमें 'राग' होता है एवं जिसमें प्रतिकूलपनेका ज्ञान होता है उसमें 'द्वेष' होता है। अनुकूल और प्रतिकूल पनेकी उत्पत्ति भेद ज्ञानसे होती है। क्योंकि अनुकूलपना और प्रतिकूलपना उसी वस्तुमें होती है जो अपने से भिन्न होती है। जैसे अपनी स्त्री अथवा अन्य जिस किसी पर अपना पूर्ण ममत्व होता है वह भोजन आदि कार्य करता है और असावधानी या अन्य किसी कारणवश त्रुटि हो जाती है तो उसपर अपनी प्रकृति एवं शक्तिके अनुसार क्रोधका वार करने लग जाता है, परन्तु जब स्वयं अपने हाथसे कुछ काम बिगड़ जाता है, तो क्रोध प्रकट करने की कौन कहे? यह माया—बन्धनमें जकड़ा हुआ प्राणी-तनिक भी अपने मनमें लज्जा या ग्लानि नहीं मानता कि यह कार्य मेरी मूर्खताके कारण हुआ है। किन्तु उलटा यह सोचकर पूर्णतया शान्ति-भावको प्राप्त हो जाता है कि—"भूल अथवा असावधानी प्राणी-मात्रसे हुआ करती है इसलिये मुझसे भी हो गयी तो क्या हानि है?" मतलब यह है कि राग-द्वेषका प्रयोग उसी वस्तुमें किया जाता है जो अपनेसे भिन्न होती है, यह प्राकृतिक नियम है। इस भेद ज्ञानकी निवृत्ति तभी हो सकती है जब अपने स्वरूपका ज्ञान हो जाय। और अपने स्वरूपका सच्चा ज्ञान तभी होता है जब सद्गुरु के बताये हुए योग मार्गकी ओर श्रद्धापूर्वक बढ़नेके लिये सतत प्रयत्न किया जाय।

जब यौगिक क्रियाओं द्वारा साधक समाधि अवस्थाको प्राप्त हो जाता है तो उसे ही वास्तविक सुखका भान यानी अक्षय और अनन्त सुखका लाभ होता है। यद्यपि जिस समय इन्द्रियां अपने अपने अभीष्ट विषयोंको ग्रहण करती हैं तो उस समय में भी सुखकी प्रतीति होती है, परन्तु वह सच्चा सुख नहीं है। किन्तु जब इन्द्रियोंको अपने विषयकी प्राप्ति होती है तो उस समय उतने परिमित कालके लिये अन्तःकरणकी वृत्तियाँ रुककर विषयाकार हो जाती हैं तो मनकी चंचलता दूर होकर एकाग्र हो जाती है और उसकी आत्मामें आनन्द-स्वभावका प्रतिबिंब पड़नेसे आनन्दका अनुभव होने लग जाता है, पर उसे सुख न कहकर 'सुखाभास' कहना चाहिये। कारण यह है कि यदि वह वास्तविक सुख होता तो परिणामी (नष्ट) न होता,; क्योंकि जिसे आनन्द कहते हैं वह तो नित्य है। और वही ब्रह्म अथवा ब्रह्मानन्द कहाता है। इसीका दूसरा नाम सच्चिदानन्द भी है। इसी सच्चिदानन्दकी प्राप्ति होनेके लिये उपाय अथवा क्रियाएँ इस ग्रंथ द्वारा जानी जाती हैं। इसलिये इसके बनानेका प्रयोजन उप युक्त यानी परम पुरुषार्थ—दायक है।

यद्यपि योगके विषयमें पातञ्जलिगयो सूत्र, याज्ञवल्क्यसंहिता, शिव-

संहिता, योगवासिष्ठ, हठयोगप्रदीपिका और गोरक्षपद्धति आदि अनेक ग्रन्थ इस समय प्रस्तुत हैं, परन्तु एक तो उनका क्रम संदर्भ और प्रतिपादन शैली इस ढंगकी नहीं है कि सर्वसाधारण जन आसानीसे समझ जायँ और दूसरे उक्त ग्रन्थोंकी टीका टिप्पणियाँ भी ऐसी नहीं हैं कि उनके द्वारा थोड़े पढ़े लिखे मुमुक्षु जन सरलताके साथ पूर्णलाभ उठा सकें। इसलिये योगके विविध ग्रन्थोंका विचारपूर्वक अवलोकन करके उन्हींमेंसे उचित ढंग से मूलका संग्रह करके प्रचलित शुद्ध हिन्दी भाषामें अपनी बुद्धिके अनुसार टीका बनाकर सर्वसाधारण लोगोंके हितार्थ उपस्थित करना इस संग्रहका प्रयोजन सफल होगा ऐसी मुझे पूर्ण आशा है।। ६ ।।

अधिकारी-निरूपण

दृष्टे तथाऽऽनुश्रविके विरक्तं विषये मनः।
यस्य तस्याधिकारोऽस्मिन्योगे नान्यस्यकस्यचित् ।। ७ ।।

दृष्ट विषय (सुगन्धित फूलों की माला, चंदन, स्त्री, पुत्र घर आदि) और आनुश्रविक विषम (स्वर्गीयसुख यानी नंदन वनमें विहार, अमृतपान तथा अप्सराओंके साथ क्रीड़ा आदि) में जिसका मन विरक्त है वही इस योग ग्रंथका अथवा योगसाधनका अधिकारी है, दूसरा नहीं।। ७ ।।

श्रीसुरेश्वराचार्यने भी विरक्तको ही अधिकारी बताया है :—

इहामुत्र विरक्तस्य संसारं प्रजिहासतः।
जिज्ञासोरेव कस्यापि योगेऽस्मिन्नधिकारिता ।। ८ ।।

इस लोक तथा परलोकके विषयोंमें विरक्त, जन्ममरणरूप संसारके निवृत्त होनेके लिये उत्तम उपाय चाहनेवाला और आत्मतत्त्व जाननेकी इच्छा रखनेवाला ही इस योगमें अधिकारीपनेका दावा कर सकता है, अन्य नहीं ।।८।।

सम्बन्धका निरूपण

योगरूप विषय और इस ग्रंथका प्रतिपाद्य–प्रतिपादकता सम्बन्ध है, अर्थात् प्रतिपादन करने योग्य जो योगका विषय है उसे यह ग्रन्थ प्रतिपादन करता है और योग तथा अधिकारीका प्राप्य–प्रापकता संबन्ध है। योगज्ञान और इस ग्रन्थका जन्य–जनकभाव संबंध है। एवं अधिकारी और योगरूप विषयका साधक–साध्यभाव संबंभ है। ऐसे ही इसके अन्य संबंध भी जानने चाहिये ।।

योगका महत्त्व

आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्च योगादृते नहि ।
सच योगश्चिरंकालमभ्यासादेव सिद्ध्यति ।। ९ ।।

यद्यपि आत्मज्ञानद्वारा मुक्ति पा जाना अटल सिद्धान्त है, परन्तु बिना योगसाधन किये ही मोक्ष हो जाता हो ऐसा नहीं है, क्योंकि योगके विना आत्म-ज्ञान होता ही नहीं। और वह योग चिरकाल पर्यन्त साधनसे सिद्ध होता है। इसीसे तो भगवान् कृष्णचंद्रने कहा है कि—"अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।" योगसाधन करते २ अनेक जन्मोंमें कहीं जाकर मोक्षपद प्राप्त होता है॥ ९॥

योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपञ्जरम्।
प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति॥ १०॥

योगरूप अग्निद्वारा समस्त पाप मूलसहित नष्ट हो जाते हैं और योगाग्निमें दग्ध होकर धौंके हूए हुए सुवर्णके समान निर्मल ज्ञान प्रकट हो आता है; जिसके प्रभावसे संसारबन्धन टूटकर मोक्ष मिल जाता है, गरुड पुराणमें व्यासदेवने इसे औषधरूपमें बताया है, जैसे—"भवतापेन तप्तानां व्यासदेवने इसे औषधरूपमें बताया है, जैसे—"भवतापेन तप्तानां योगोऽपि परमौषधम्।" संसारके त्रिविधतापोंसे तप्त हुए मनुष्योंके लिये योगसाधन एक अचूक औषध है॥ १०॥

योगकी प्रशंसामें दक्षस्मृतिकार दृष्टान्तपूर्वक उपमालंकारसे अलंकृत कर यों कहते हैं:—

स्वसंवेद्यं हि तद्ब्रह्म कुमारी स्त्रीसु यथा।
अयोगी नैव जानाति जात्यन्धो हि यथाघटम्॥ ११॥

विना योगसाधनवाला मनुष्य उस ब्रह्मानन्दको इस प्रकार नहीं जान सकता जैसे कुमारी (बालिका) पुरुष-संसर्ग-जन्य सुखको नहीं जानती, एवं जैसे जन्मान्ध पुरुष नेत्रोंद्वारा घटको नहीं पहचान सकता॥ ११॥

योगिराज श्रीकृष्णचन्द्रने भी तो अर्जुनसे यही कहा है कि—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुना॥ १२॥

ह अर्जुन! तपस्वी, ज्ञानी और कर्मकाण्डियोंकी अपेक्षा योगी जन ही अधिक महत्त्ववाले होते हैं इसलिये तू योगी बन जा। इस कथनसे स्वर्गीय आदि सुखोंके देनेवाले अग्निष्टोम आदि कर्मकाण्डोंका योगद्वारा खण्डन इसलिये किया गया कि वे सुखचिरस्थायी नहीं होते, क्योंकि—"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।" पुण्य क्षीण हो जानेपर फिर मृत्युलोकमें जन्म लेना पड़ता है और योगियोंको फिर संसार-सागरमें डूबनेका अवसर नहीं उपस्थित होता॥ १२

शंकरजी और पार्वतीजीके संवादरूपसे योगका महत्त्व योगबीजग्रंथमें इस प्रकार लिखा है कि :—

ज्ञानादेव हि मोक्षं च वदन्ति ज्ञानिनः सदा ।
न कश्चित् सिद्धयोगेन योगः किं मोक्षदो भवेत् ॥ १३ ॥

किसी समय पार्वतीने प्रश्न किया कि महाराज ! ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त होता है ऐसा ज्ञानियोंका अटल सिद्धान्त है और श्रुति भी कहती है कि— ,,ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।'' विना ज्ञानके मोक्ष नहीं होता । हे प्रभो ! यदि ज्ञानसे ही मोक्ष होता है तो योग कैसे मोक्ष देनेवाला हो सकता है ? ॥ १३ ॥

ईश्वर उवाच—

ज्ञानेनैव हि मोक्षं च तेषां वाक्यं तु नान्यथा ।
सर्वे वदन्ति खड्गेन जयो भवति तर्हि किम् ॥ ४ ॥
विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात् ।
तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत् ॥ १५ ॥
ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः ।
विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये ! ॥ १६ ॥

तब शंकरजीने कहा कि हे प्रिये ! ज्ञानसे मोक्ष होता है यह लोगोंका कहना सत्य है, परन्तु जैसे 'तलवारसे जय प्राप्त होती है' इस सर्वविदित जन-श्रुतिसे क्या यह समझ लेना चाहिये कि विना बाहुबल और युद्धके ही जयलक्ष्मी मिल जाती है ? नहीं नहीं, किन्तु इस कथनमें यह अर्थ अंतर्भूत रहता है कि, अपने बाहुबलसे परस्पर लड़ भिड़कर ही जयलक्ष्मी प्राप्त होती है। ऐसे ही योगरहित ज्ञानसे मोक्ष हो जाता है ऐसा नहीं कहा जा सकता इसलिये चाहे ज्ञाननिष्ठ, विरक्त, धर्मज्ञ, केवल जितेन्द्रिय अथवा देव ही—क्यों न हो, पर विना योगके मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता ॥ १४–१६ ॥

यदि कहो कि योगाभ्यासके विना ही जनकादिकोंने अपरोक्ष ज्ञानकी प्राप्ति कर ली, अतः मोक्ष होनेमें योगाभ्यास कारण नहीं है ? तो यह कहना उचित नहीं क्योंकि—

जैगीषव्यो यथा विप्रो यथा चैवासितादयः ।
क्षत्रिया जनकाद्यास्तु तुलाधारादयो विशः ॥ १७ ॥
धर्मवाधादयस्सप्त शूद्राः पैलवकादयः ।
मैत्रेयी सुलभा गार्गी शाण्डिली च तपस्विनी ॥ १८ ॥

एते चान्ये च बहवो नीचयोनिगता अपि ।
ज्ञाननिष्ठां परां प्राप्ताः पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः ।। १९ ।।

जैगीषव्य और असित आदि ब्राह्मण, जनक आदि क्षत्रिय, तुलाधार आदि वैश्य, धर्मव्याध और पैलवक आदि शूद्र; एवं मैत्रेयी, सुलभा, गार्गी तथा तपस्विनी शाण्डिली आदि स्त्रियाँ; इसी प्रकार दूसरे और भी नीच योनिमें जन्म लेकर योगके विना केवल—ज्ञान द्वारा ही मुक्त हुए हैं, परन्तु उन सबोंने पूर्वार्जित योगाभ्यासके बलसे ही ज्ञाननिष्ठ होकर मुक्ति प्राप्त की है, अन्यथा सम्भव न थी ।। १७–१९ ।।

उपरोक्त कथनसे यह भी सिद्ध हो गया कि योगसाधनमें मनुष्यमात्रको अधिकार है, तभी तो :—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीशूद्राणां च पावनम् ।
शान्तये कर्मणामन्यद्योगान्नास्ति विमुक्तये ।। २० ।।

महर्षि मतंगजी कहते हैं कि शुभ और अशुभ कर्मोंके दूर करनेके लिये यानी संसार–बंधनसे छूटनेके लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और स्त्रियोंको— योग ही एक साधन है, क्योंकि इसके सिवा दूसरे और साधन ऐसे नहीं हैं जो परम शान्तिवाले सच्चे सुखकी प्राप्ति करा दें यानी मुक्त कर दें ।। २० ।

योगसाधनमें अवस्थाकी उपेक्षा

युवावृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा ।
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतन्द्रितः ।। २१ ।।

चाहे, युवा, बुड्ढा, अत्यन्त बुड्ढा, रोगी अथवा निर्बल ही क्यों न हो परन्तु यदि समस्त योगके नियमोंको ध्यानमें रखकर अभ्यास करे तो (अवश्य) सिद्धि प्राप्त होती है । तात्पर्य यह कि योगाभ्यासके लिये अवस्थाका कोई नियम नहीं है, किन्तु सावधानी और श्रद्धाकी आवश्यकता अवश्य है ।। २१ ।।

योग सीखनेमें गुरुकी आवश्यकता

प्रशान्तचित्तस्य जितेन्द्रियस्य
गुणान्वितस्याऽऽगुरुसेविनश्च ।
नूनं भवेद्योगसमस्तसिद्धि—
र्नान्येतरासक्तजनस्य कस्य ।। २२ ।।

योगरहस्यमें लिखा है कि—जो प्रशान्त चित्त, जितेन्द्रिय, गुणी, एवं अच्छे प्रकार गुरुकी सेवा करनेवाला होता है उसीको योग–सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, अन्यविषयासक्तोंको नहीं । इस श्लोकमें "गुणान्वितस्याऽऽगुरु-

सेविनश्च'' जो 'आ' (समन्तात्) शब्द रखा है उसका आशय यह कि विना अच्छीतरह सद्गुरुकी सेवा किये योगसाधन नहीं हो सकता। ऐसा ही मुण्डकोपनिषद्में भी लिखा है--''तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।'' गुरुके उपयोगमें आनेवाली वस्तु समिध हाथमें लेकर नम्रतापूर्वक विशेष ज्ञानके लिये (परमपदके प्राप्त्यर्थ) वेद--शास्त्र संपन्न ब्रह्मनिष्ठ (तपस्वी) दयालु गुरुकी शरणमें जाना चाहिये। क्योंकि सद्गुरुकी प्रसन्नतासे ही आत्मदर्शनका लाभ होता है। इस पर महात्मा कपिल देवजीने कहा है कि-''अनेकजन्मसंस्कारात् सद्गुरुः सेव्यते बुधः। संतुष्टः श्रीगुरुर्देव आत्मरूपं प्रदर्शयेत्॥'' यदि अनेक जन्मोंका पुण्य-फल उदय हो तभी उन सच्चे गुरुओंके सेवन करने का सौभाग्य प्राप्त होता है-जो प्रसन्न होनेपर आत्मरूपका साक्षात्कार करा देते हैं॥ २२॥

गुरुसे योग और योगसे सिद्धि

गुरुप्रसादाल्लभते योगमष्टाङ्गसंयुतम्।
शिवप्रसादाल्लभते योगसिद्धिं च शाश्वतीम्॥ २३॥

प्रथम गुरुकी कृपासे अष्टाङ्गयोग प्राप्त होता है, फिर शिवजीकी कृपासे अविनाशी योग-सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। श्रुतिने भी कहा है कि ''आचार्यवान्पुरुषो वेद।'' आत्म तत्त्वको वही पुरुष जान सकता है जो आचार्य (गुरु) वाला होता है॥ २३॥

योगसाधनमें सहायक

उत्साहात्साहसाद्धैर्यात्तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात्।
जनसंगपरित्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति॥ २४॥

मनमें उत्साह, साहस, धीरता, तत्त्वज्ञान अर्थात् योगसाधनसे मोक्ष पदकी प्राप्ति होगी ऐसी भावना, निश्चय (दृढ प्रतिज्ञा) और विषयी लोगोंकी संगतिका त्याग; ये छः योगसाधनमें सिद्धता देनेवाले सहायक हैं॥ २४॥

योगाभ्यासके शत्रु

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः।
जनसंगश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति॥ २५॥

१ अधिक भोजन, २ अधिक परिश्रम, ३ बहुत बोलना, ४ नियमग्रह अर्थात् ठंढे जलसे प्रातःकाल स्नान, एवं रात्रिमें ही भोजन आदिका नियम, ५ मनुष्योंका संसर्ग, और ६ मनकी चंचलता; ये छः योगाभ्यासके विनाशक हैं, इनसे साधकको सदा सावधान रहना चाहिये। और ''वह्निस्त्रीपथिसेवा-

नामादौ वर्जनमाचरेत् ।'' अग्निसेवन (सेंकना), स्त्रियोंका सहवास (एकान्त स्थानमें संभाषण आदि) और मार्गका चलना, ;इन्हें सर्वथा त्याग करना चाहिये ।। २५ ।।

त्यागके बिना योगसाधन चाहनेवाले मनुष्योंको शास्त्रकारोंने 'अबुध' कहकर संबोधित किया है :—

मातुरङ्कगतो बालो ग्रहीतुं चन्द्रमिच्छति ।
यथा योगं तथा योगी संत्यागेन विनाऽबुधः ।। २६ ।।

मूर्ख लोग बिना त्याग किये ही योगसाधनकी इच्छा इस प्रकार करते हैं कि जैसे माताकी गोदमें बैठा हुआ अज्ञ बालक चन्द्रमाको पकडना चाहता है। अर्थात् जैसे आकाशस्थ चन्द्रमाका ग्रहण बालकके लिये निरा असम्भव है ऐसे ही जनसंगके त्यागविना योग साधन भी असम्भव है। यही स्कन्दपुराण में भी लिखा है कि—"संगी ही बाध्यते लोके निस्संगःसुखमश्नुते । तेन संगः परित्याज्यः सर्वदा सुखमिच्छता ।।" इस लोकमें संगवाला पुरुष निश्चय ही दुःख पाता है और निस्संग रहने पर सुख मिलता है, इसलिये सुखकी इच्छा करनेवालेको चाहिये कि जनसंगका परित्याग करे ।। २६ ।।

योगाभ्यास करनेवालेको निम्नलिखित बातोंपर भी ध्यान देना आवश्यक है :—

नातितृप्तः क्षुधार्तो वा न विण्मूत्रादिबाधितः ।
नाध्वखिन्नो नचिन्तार्तो योगं युञ्जीतयोगवित् ।। २७ ।।

अति तृप्त अवस्थामें, क्षुधार्त अवस्थामें, मलमूत्रकी उत्सुकतामें और-मार्ग चलनेके कारण खिन्न अवस्थामें, और चिन्ताग्रस्त अवस्थामें चित्तको योगमें नहीं जोड़ना चाहिये ।। २७ ।।

योगाभ्यास करनेमें बाधाएँ

आलस्यं प्रथमं विघ्न उपभोगो द्वितीयकः ।
कीर्तिस्तृतीयकः प्रोक्त औदासीन्यं चतुर्थकः ।। २८ ।।
विघ्नाश्चत्वार एवं हि प्राप्नुवन्ति पुनः पुनः ।
तस्मात्प्रबलधैर्येण योगी विघ्नान्निवारयेत् ।। २९ ।।

योगाभ्यास करनेमें मुख्यचार बाधाएँ हुआ करती हैं, जैसे—१ आलस्य २ विषयोपभोग, ३ कीर्ति (बड़ाई) और ४ उदासीनता, इसलिये साधकोंको चाहिये कि इन चार विघ्नोंको धैर्यपूर्वक प्रबल प्रयत्नों द्वारा दूर हटा दें ।।२८–२९।

योगाभ्यासके लिये देश और स्थान

सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे ।
धनुःप्रमाणपर्यन्तं शिलाग्निजलवर्जिते ।।
एकान्ते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ।। ३० ।।

जिस देशका राजा सात्त्विक विचारवाला, एवं शुद्ध आचरणवाला हो और जिस देशके मनुष्य धार्मिक हों, जहाँ चोर, व्याघ्र, सर्प आदिका उपद्रव न हो ऐसे देशमें साधकको चाहिये कि विधिपूर्वक मठ बनाकर निवास करे और अपने आसनसे चार २ हाथपर्यन्त मठके चारों ओर पत्थर अग्नि और जल न रहने पाये। क्योंकि इनसे वात, पित्त, और कफकी विषमता बढ़कर शरीरमें अनेक ब्याधियां उत्पन्न हो जाया करती हैं ।। ३० ।।

योगाभ्यासके लिये मठ

अल्पद्वारमरन्ध्रगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतं
सम्यग्गोमयसान्द्रलिप्तममलं निश्शेषजन्तूज्झितम् ।
बाह्ये मंडपवेदिकूपरुचिरं प्राकार---संवेष्टितं
प्रोक्तं योगमठस्थलक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः ।। ३१ ।।

—हठयोग.

जिसका द्वार छोटा हो, एवं जिसमें गवाक्षादि छिद्र गड्ढे और बिल न हों; अधिक ऊँचा तथा नीचा न हो, जिसके बाहर उचित स्थानमें मंडप, वेदिका और कूप या बावड़ी स्वच्छ बनी हों; गौके गोबरसे अच्छे प्रकार लीपा हुआ पवित्र तथा मच्छड़ आदि जहरीले जन्तुओंसे रहित, एवं जिसके चारों तरफ प्राकार (चहार-दिवाल) शोभायमान हो ऐसा मठका लक्षण हठयोगके अभ्यास करनेवाले महात्माओंने बताया है ।। ३१ ।।

योगाभ्यासमें कालनिर्णय

वसन्ते वापि शरदि योगारम्भं समाचरेत् ।
तदा योगो भवेत्सिद्धो विनायासेन कथ्यते ।। ३२ ।।

वसन्त अथवा शरद ऋतुमें योगाभ्यासका आरम्भ करनेसे निर्विघ्नताके साथ सिद्धता प्राप्त हो जाती है, इसलिये इन दो ऋतुओंमेंसे किसी एकमें योगारम्भ करना चाहिये ।। ३२ ।।

हेमन्ते शिशिरे ग्रीष्मे वर्षायां च ऋतौ तथा ।
योगारम्भं न कुर्वीत कृतो योगो हि रोगदः ।। ३३ ।।

हेमन्त, शिशिर, ग्रीष्म और वर्षा [1]ऋतुमें योगाभ्यासका आरम्भ नहीं करना चाहिये, क्योंकि इन ऋतुओंमें आरम्भ करनेसे योगसिद्धि न होकर रोग-सिद्धि हो जाती है। उपरोक्त दोनों श्लोक घेरण्डसंहिताके हैं ।। ३३ ।।

योगाभ्यासमें योग्य भोजन

शाल्यन्नं यवपिण्डं वा गोधूमपिण्डकं तथा ।
मुद्गं माषं चणकादि शुभ्रं च तुषवर्जितम् ।। ३४ ।।

अन्न—घेरण्डसंहिताकारने लिखा है कि जो कोई योगाभ्यास करना चाहे उसे शालि(चावल), यव और गेहूँ, मूंग, उड़द, अथवा चनेको विधि-पूर्वक स्वच्छताके साथ बनाकर स्वल्प भोजन करना चाहिये ।। ३४ ।।

पटोलं पनसं मानं कंकोलं च सुकाशकम् ।
द्राढिका कर्कटीरम्भोदुम्बरीकंटकंटकम् ।। ३५ ।।

शाक —परवल, कटहर, कंकोल, करेला, अरबी, कांकड़ी, केला, गूलर और चौलाईका शाक योगाभ्यासियोंको खाना चाहिये। भोजनके विषयमें विशेष जानना हो तो घेरण्डसंहिताका अवलोकन करना चाहिये ।। ३५ ।।

योगाभ्यासमें घी-दूधकी आवश्यकता

अभ्यासकाले प्रथमे शस्त्रं क्षीराज्यभोजनम् ।
ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तादृङ् नियमग्रहः ।। ३६ ।।

अभ्यासके आरम्भकालमें साधकको घी और दूधका सेवन विशेष रूपसे करना चाहिये, क्योंकि विना घी दूधके प्राणायामादि क्रियाओंमें कठिनता हो जाती है, परन्तु पूर्णतया अभ्यास हो जानेपर यह नियम नहीं है। सारांश यह कि किसी भी धर्मात्माके यहाँसे उक्त अन्नोंमेंसे किसी सात्त्विक अन्नको लेकर पवित्रतापूर्वक बनाकर घी दूधकी अधिकताके साथ परिमित मात्रामें भोजन करे ।। ३६ ।।

योगाभ्यासमें निषिद्ध भोजन

अम्लं रूक्षं तथा तीक्ष्णं लवणं सार्षपं कटु ।। ३७ ।।

---

१ ऋतुका निर्णय–"मृगादिराशिद्वयभानुभोगात्, षट्चर्तवःस्युः शिशिरो वसन्तः। ग्रीष्मश्च वर्षा च शरत्तथैव हेमन्तनामा कथितश्च षष्ठः।।" जब मकर और कुम्भराशिपर सूर्य आते हैं तो शिशिर, मीन तथा मेषमें वसन्त, वृष और मिथुनमें ग्रीष्म, कर्क तथा सिंहमें वर्षा, कन्या और तुलामें शरद्, एवं वृश्चिक तथा धनुमें हेमन्त ऋतु कहाती है। इस विषय में किसी-किसी आचार्यका मतभेद भी है, परन्तु जहां जिसका जैसा मन्तव्य हो वहां उसको वैसा ही मानना चाहिये।

खट्टा— (इमली आदि), रुखा, तीक्ष्ण (मिर्च आदि), नमक, सरसोंका तेल आदि और कड़ुआ, इन पदार्थों का सेवन साधक को नहीं करना चाहिये ।। ३७ ।।

भोजनादिका समय

अनिलेऽर्कप्रवेशे च भोक्तव्यं योगिभिः सदा ।
वायौ प्रविष्टे शशिनि शयीत साधकोत्तमः ।। ३८ ।।

उत्तम साधकको दाहिने स्वरके चलते हुए भोजन और बायां स्वर चलने पर शयन करना चाहिये । यह शिवसंहिताका वचन है ।। ३८ ।।

योगसिद्धिमें कारण

न वेषधारणं सिद्धेः कारणं नच तत्कथा ।
क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः ।। ३९ ।।
क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् ।
न शास्त्रपठनादेव योगसिद्धिः प्रजायते ।। ४० ।।

योगसिद्धि होनेमें न तो योगियोंका सा वेष धारण कर लेना कारण है और न योगविषयक ग्रन्थोंका पढ़ लेना ही कारण है; किन्तु योगकी विहित क्रियाओंका करना मुख्य कारण है। इसलिये गुरु और शास्त्रों द्वारा विधिको समझकर क्रियात्मक कार्य करना चाहिये । आशय यह है कि जैसे–विद्यार्थी गुरुमुखसे शब्द सुनकर पुनः उसे मनन, चिन्तन न करे तो वह भूल जाता है और सुनना निरर्थक हो जाता है वैसे ही यदि समस्त योगविषयक ज्ञान सद्गुरु या शास्त्रद्वारा सीखकर फिर उसके आशय के अनुसार मनुष्य क्रियात्मक कार्य न करे तो योगसिद्धियाँ नहीं प्राप्त हो सकतीं, इसलिये योग विषयका अध्ययन व्यर्थ हो जाता है ।। ३९–४० ।।

योगके चार भेद

मन्त्रयोगो लयश्चापि राजयोगस्तथैव च ।
हठयोगोऽपि वै तत्र चतुर्धा संप्रकीर्तितः ।। ४१ ।।

मंत्रयोग, लययोग, राजयोग और हठयोग, इन भेदोंसे योग चार प्रकारका होता है ।। ४१ ।।

इस ग्रन्थमें हठ योग प्रधान रूपसे है और शेष तीनोंका वर्णन संक्षेप यथाक्रम निम्नलिखिद है :—

मंत्रयोगका निरूपण

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।
हंसहंसेति मन्त्रोऽयं जीवो जपति सर्वदा ।। ४२ ।।

गुरुवाक्यात्सुषुम्णायां विपरीतो भवेज्जपः ।
सोऽहं सोऽहमितिप्राप्तो मंत्रयोगः स उच्चते ।। ४३ ।।

योगबीजमें मंत्रयोगका लक्षण इस प्रकार लिखा है कि शरीरके अन्दरसे जो वायु बाहरको निकलती है वह हकारके साथ और जो भीतर प्रविष्ट होती है वह सकारके साथ । इस तरह यह जीव सदैव 'हं सः' इस मंत्रका जप करता रहता है । परन्तु जब सद्गुरुकी कृपा एवं अपने अभ्यास द्वारा प्राण और अपान वायु परस्पर मिलकर सुषुम्णा (वक्ष्यमाण) नाडीमें प्रविष्ट होती हैं तो "हं सः" ये दोनों अक्षर उलटकर 'सोऽहं' के रूपमें परिणत हो जाते हैं, यही 'मंत्रयोग' कहता है ।। ४२–४३ ।।

समस्त मनुष्य आरोग्यावस्थामें चौबीस घंटेके अन्दर २१६०० 'हं सः' मंत्रका स्वभावसे ही उच्चारण करता रहता है । यह बात योगिराज ईश्वरने भी कही है, जैसे :—

एकविंशतिसाहस्त्रं षट्शताधिकमीश्वरि ।
प्रत्यहं जपते प्राणी हंस इत्यक्षरद्वयम् ।। ४४ ।।

—योगबीज

हे ईश्वरि ! यह प्राणी प्रतिदिन यानी प्रत्येक रात दिनमें २१६०० वार 'ह सः' इन दो अक्षरोंको जपता रहता है ।। ४४ ।।

साधकको उक्त दो अक्षरोंको उलट कर 'सोऽहं मंत्र बनाकर कुण्डलिनीके उत्थानकी भावना कर मूलाधारमें वृत्ति द्वारा पहुँचकर गणेशजीका पूजन करना चाहिये और रात दिनके मंत्रोंमेंसे ६०० अजपामंत्र अर्पण करना चाहिये । इसका विवेचन गरुडपुराणम यों लिखा है :—

आधारं तु चतुर्दलानलसमं वासान्तवर्णाश्रयं,
स्वाधिष्ठानमपि प्रभाकरसमं बालान्तषट्पत्रकम् ।
रक्ताभं मणिपूरकं दश दलं डाद्यं फकारान्तकं,
पत्रैर्द्वादशभिस्त्वनाहतपुरं हैमंकठान्तावृतम् ।। ४५ ।।
पत्रैः सस्वरषोडशैः शशधरज्योतिर्विशुद्धाम्बुजम्,
हंसेत्यक्षरयुग्मकं द्वय-दलं रक्ताभमात्राम्बुजम्, ।
तस्मादूर्ध्वगतं प्रभासितमदः पद्मं सहस्त्रच्छदम्,
सत्यानन्दमयं विभूतिविलसज्ज्योतिर्मयं शाश्वतम् ।। ४६ ।।
गणेशं च विधिं विष्णुं शिवं जीवं गुरुं ततः ।
व्यापकं च परं ब्रह्म क्रमाच्चक्रेषु चिन्तयेत् ।। ४७ ।।

षट्शतं गणनाथाय षट्सहस्रं तु वेधसे।
षट्सहस्रं च हरये षट्सहस्रं हराय च ॥ ४८ ॥
जीवात्मने सहस्रं च सहस्रं गुरवे तथा।
चिदात्मने सहस्रं च जपसंख्या निवेदयेत् ॥ ४९ ॥

आधारचक्र--(१) गुदास्थानमें वकारसे लेकर सकारपर्यन्त यानी वं, शं, षं, सं, इन चार अक्षरोंसे युक्त, अग्निके समान देदीप्यमान चार-दलवाला त्रिकोणाकार पहला चक्र है। इसके अधिष्ठाता 'ब्रह्मा' हैं।

स्वाधिष्ठान चक्र--(२) लिङ्ग (योनि) के मूलमें बं, भं, मं, यं, रं, लं, इन छः अक्षरोंके साथ सूर्यके समान प्रकाशित प्रवालके अंकुरकी तरह छः दलवाला दूसरा चक्र है। इसके अधिदेव 'विष्णु' हैं।

मणिपूरक--(३) नाभिस्थानमें डकारसे लेकर फकार तक अर्थात् डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं, फं, इन अक्षरों सहित लालवर्णके कमलकी तरह बारह दलवाला तीसरा चक्र है। इसके अधिनायक 'विष्णु' हैं।

अनाहतचक्र--(४) हृदयप्रदेशमें ककारसे ठकार पर्यन्त यानी कं, खं, गं, घं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ठं, इन वर्णोंसे युक्त सुवर्णके समान कान्तिधारी बारह दलवाला वर्तुलाकार चौथा चक्र है। इसके अधिष्ठाता 'शंकर' हैं।

विशुद्धचक्र--(५) कंठस्थानमें अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं, ऋं, ॠं, लृं, ॡं एं ऐं, ओं, औं, अं, अः इन सोलह अक्षरों सहित चंद्रमा सदृश कांतिमान सोलह दलवाला वर्तुलाकार पाचवाँ चक्र है। जिसके अधिनायक 'रुद्र' हैं।

आज्ञाचक्र--(६) दोनों भ्रुकुटियोंके मध्यभागमें हं और क्षं, इन दो अक्षरों से युक्त लाल कमलके समान कान्तिधारी, कुछ लंबा और गोल दो दलवाला छठा चक्र है। इसके अधिष्ठाता 'महेश्वर' हैं। इन्हीं चक्रोंकी 'षट्-चक्र' संज्ञा है।

इनके ऊपर शुद्धस्फटिकमणिके समान देदीप्यमान कमलके समान वर्तुलाकार हजार दलवाला सातवां 'अजरामर' अथवा 'ब्रह्माण्ड' चक्र है। इसके अधिदेव 'श्रीगुरु' हैं। इन चक्रोंमें यथाक्रम चक्रके अधिनायकोंका ध्यान धरकर २१६०० जपमें से ६०० गणेशको, ६००० ब्रह्माको, ६००० विष्णुके लिये, ६००० शंकरको, १००० जीवात्माको, १००० गुरुके लिये और १००० चिदात्माके लिये प्रतिदिन अर्पण करना चाहिये ॥ ४५-४९ ॥

लययोगका निरूपण

उपरोक्त रीतिसे प्रतिदिन जपसंख्या अर्पण करते करते कुछ दिनमें ब्रह्मचर्य आदि साधन-संपन्न साधककी जपसंख्या एक करोड़ तक पहुँच जाती है।

उस अवस्थामें साधकको यथाक्रम दश प्रकारके नादोंकी प्रतीति होने लगती है। हंसोपनिषद्में भी यही लिखा है कि—"स एव जपकोटचानादमनुभवति।" यम–नियमवाले साधककी जपसंख्या जब एक करोड़ पर्यन्त होने लगती है तो वह साधक नादका अनुभव करने लग जाता है।

दशप्रकारके नाद—मेंसे सर्वप्रथम (१) तम्बूराकासा शब्द सुनायी पड़ता है, फिर (२) चिंचिणी, (३) घंटा, (४) शंख, (५) वीणा, (६) ताल, (७) वंशी, (८) मृदंगा, (९) भेरी और (१०) मेघगर्जनाके समान शब्द यथाक्रम सुननेमें आते हैं। अभ्यास करते करते जब मेघनादके शब्दका अनुभव होने लगता है तो उसी नादके अंदर विराजमान प्रकाशस्वरूप ब्रह्मका साक्षात्कार होता है।

नादकी अवस्थाएं

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ॥ ५० ॥

जैसे हठयोग आदिकी अवस्थाएँ हुआ करती हैं वैसे ही इस नादकी भी चार अवस्थाएँ होती हैं। जैसे—१ आरम्भावस्था, २ घटावस्था, ३ परिचयावास्था और ४ निश्पत्त्यवस्था। नादकी आरम्भावस्थामें हृदयमें रहनेवाली ब्रह्मग्रन्थिके भेदन करनेकी योग्यता प्राप्त होती है। घटावस्थामें कण्ठगत विष्णुग्रन्थिके भेदनकी शक्ति होती है। और परिचयावस्थामें भ्रुकुटिगत रुद्रग्रन्थिके भेदन करनेवाली शक्ति प्राप्त होती है। एवं निष्पत्त्यवस्थामें सब ग्रन्थियोंको भेद कर ब्रह्मरन्ध्रमें जाकर नादकी स्थिरता होती है और वहीं उस नादके मध्य ज्योतिस्वरूप परब्रह्मका और प्राणवायुका यानी जीवात्म का साक्षात्कार होता है।

नादानुसन्धान करनेके लिये वक्ष्यमाण षण्मुखीमुद्रा लगानी चाहिये। यानी षण्मुखी मुद्रा लगाकर चित्तको स्थिर कर नादका अनुभव करना चाहिये। अभ्यास करते करते जब नादकी अन्तिम अवस्था प्राप्त हो जाय तब उसी नादके अन्दर मनको विलीन करके ब्रह्मानन्दका अनुभव करता रहे। इस अन्तिम नादके मध्य जिस साधकका मन विलीन हो जाता है वह उसी तरह अन्य लौकिक शब्दादि विषयोंकी इच्छा नहीं करता, जैसे भ्रमर पुष्प-रसके सिवाय दूसरे रस आदि विषयोंकी अपेक्षा नहीं करता। इस नादमें विलीन होकर मन अपनी चाञ्चल्य वृत्तियोंको त्यागकर इस प्रकार स्थिर होकर बैठा रहता है जैसे पंख कट जाने पर पक्षी एक ही स्थानपर–पड़ा रहता है। इसी नादमें मनके लीन हो जानेका नाम 'लय-योग' है। यह विषयरूप जंगलमें मदमस्त होकर

विचरने वालेमनको अपने वशमें उसीप्रकार रखे रहता है जिस प्रकार लोहका अंकुश मतवाले हाथीको ववसमें किये रहता है। इसलिये यह लययोग मोक्ष देनेवाला है ।। ५० ।।

श्री–आदि नाथेन सपादकोटि,––
लयप्रकाराः कथिता जयन्ति ।
नादानुसन्धानकमेकमेव
मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ।। ५१ ।।

गोरखनाथजी कहते हैं कि यद्यपि श्रीशंकरजी लययोगका प्रकार सवा करोड़ बताते हैं 'पर हमलोग तो लययोग सिद्ध होनेके लिये एक नादानुसन्धानको ही मुख्य मानते हैं ।। ५१ ।।

लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लयलक्षणम् ?
अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषयविस्मृतिः ।। ५२ ।।

–हठयोगप्रदीपिका.

लययोगकी सिद्धावस्थामें शब्द आदि विषयोंकी विस्मृति हो जाती है और मनकी सारी वृत्तियोंका अभाव होजाता है यही 'लय–योग' का लक्षण है ।। ५० ।।

राजयोगका निरूपण

चित्तकी अनात्माकार वृत्तियोंके निरोधका नाम 'राजयोग' है। इसका लक्षण श्रीपतञ्जलि जी महाराजने इनशब्दों में लिखा है :––

योगश्चित्तवृत्ति–निरोधः । योग. १ पा. २ सू. ।।

चित्तकी पाँच प्रकारकी वृत्तियोंका निरोध होना 'राजयोग' कहाता है। यह योग दो प्रकारका है––एक संप्रज्ञात और दूसरा असंप्रज्ञात । चित्तकी एकाग्र अवस्थामें जो योग होता है वह 'संप्रज्ञात' योग कहाता है और चित्तकी निरुद्धावस्थामें होनेवाला योग असंप्रज्ञात' कहाता है।

चित्तकी अवस्थाएँ––पाँच हैं। जैसे १ क्षिप्त, २ मूढ़ ३ विक्षिप्त, ४ एकाग्र और ५ निरुद्ध। (१) जिस अवस्थामें चित्तकी वृत्तियाँ विविध संसारी विषयोंमें भ्रमण किया करती हैं वही 'क्षिप्तावस्था' कही जाती है। (२) जिसमें निद्रा, आलस्य आदि कारणोंसे चित्तमें कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान न रहे उसे 'मूढावस्था' कहते हैं। (३) जिसमें चित्तकी वृत्तियाँ किसी समय तो सत्कर्म योगमें लगी रहें और फिर कुछ देरमें उचटकर दूसरे विषयमें लग जाया करें तो वही 'विक्षिप्तावस्था' कही जाती है। (४) जवचित्तकी

वृत्तियाँ सारे विषयोंसे हटकर किसी एक विहित लक्ष्यमें लग जाती हैं तो उसे 'एकाग्रावस्था' कहते हैं। और (५) जब समस्त चित्त-वृत्तियाँ बाह्य एवं आभ्यन्तरके सभी विषयोंमें चेष्टा रहित होकर स्थिर हो जाया करें उसे 'निरुद्धावस्था' कहते हैं। पहलेकी चार अवस्थाओंमें सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणका यथोचित संसर्ग रहता है और पांचवीं अवस्थामें इन गुणोंका केवल संस्कारमात्र यानी सूक्ष्म रूप ही शेष रह जाता है। जब इन पांचों प्रकारकी वृत्तियोंसे रहित होकर, चित्त आत्माकार हो जाया करे तो उसे ही 'राज-योग' अथवा 'निर्विकल्प-समाधि' कहते हैं।

हठयोगका निरूपण

हठयोगप्रदीपिकाके रचयिता श्रीस्वात्मारामजी लिखते हैं कि—"केवलं राजरोगाय हठविद्योपदिश्यते।" विना हठयोगके राजयोगकी प्राप्ति नहीं होती इसलिये हठयोगका उपदेश किया जाता है। इस अपनी बातकी पुष्टिमें आप उदाहरण देते हैं:—

श्री—आदिनाथमत्स्येन्द्र—शाबरानन्दभैरवाः ।।
चौरङ्गीमीनगोरक्ष—विरूपाक्षबिलेशयाः ।। ५३ ।।

यह हठयोगका ही प्रभाव है जो श्रीआदिनाथ (शिवजी) [1]मत्स्येन्द्र, शाबर, आनन्दभैरव, चौरंगी, मीननाथ, गोरक्ष (गोरखनाथ), विरूपाक्ष और बिलेशय संसारमें जीवन्मुक्त होकर सर्वदा विराजमान रहते हैं ।। ५३ ।।

मंथानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धिश्च कंथडिः ।
कोरण्टकः सुरानन्दः सिद्धिपादश्च चर्पटिः ।। ५४ ।।
कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरञ्जनः ।
कपाली बिन्दुनाथश्च काकचण्डीश्वराह्वयः ।। ५५ ।।
अल्लामः प्रभुदेवश्च घोडाचोली च टिंटिणिः ।
भानुकी नारदेवश्च खण्डः कापालिकस्तथा ।। ५६ ।।

---

१ इन महात्माके विषयमें ऐसी किंवदन्ती है कि किसी समय श्रीशंकरजी निर्जन स्थानमें किसी एक जलाशयके निकट बैठकर जगन्माता पार्वतीजीको योगका उपदेश करते थे और उस जलाशयके किनारे जलमें बैठा हुआ कोई मत्स्य योगोपदेश सुन रहा था। उस योगमंत्रके सुननेमें उसका मन इस प्रकार एकाग्र होगया था कि वह समाधिस्थ योगीकी तरह स्थिर—काय होकर बैठा था। उसकी ऐसी दशा देखकर कृपालु श्रीशंकरजीने उसके शरीर पर जलका सिंचन अपने कर—कमलों द्वारा किया। उसी जल सिंचनसे वह मत्स्य सिद्ध होकर 'मत्सेन्द्र—नाथ' नामक योगिराज हुआ है।

इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः ।
खण्डयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरंति हि ।। ५७ ।।

मंथान, भैरव, योगी, सिद्धि, बुद्धि, कंथडि, कोरंटक, सुरानन्ह, सिद्धिपाद,
और भी—
चर्पटि, कानेरी, पूज्यपाद, नित्यनाथनिरंजन, कपाली, बिन्दुनाथ, काकचंडीश्वर, अल्लाम, प्रभुदेव, घोडाचोली, टिंटिणि, भानुकी, नारदेव, खण्ड, कापालिक और तारानाथ आदि महात्मा इसी हठयोगके प्रभावसे कालदंडका खंडन करके निखिल ब्रह्माण्डमें निर्द्वन्द्वता पूर्वक, विचरते रहते हैं ।। ५४–५७ ।।

इसलिये—

अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः ।
अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः ।। ५८ ।।

आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तापोंसे तपे हुए मनुष्योंको सुखसे रहनेके लिये यह हठयोग उत्तम घर है । अर्थात् व्याघ्र, एवं सर्प आदिसे उत्पन्न हुए दुःखको 'आधिभौतिक' कहते हैं तथा सूर्य आदि ग्रहोंसे उत्पन्न हुए दुःखको ,आधिदैविक' और विविध व्याधियोंसे शारीरिक, एवं काम, क्रोध आदिकों से होनेवाले मानसिक दुःखोंका नाम "आध्यात्मिक" है । इन त्रिविध तापोंसे तप्तोंको हठयोग इस प्रकार सुखदायी है—जैसे कठोर धर्म (ऊष्मा) से तप्त हुए प्राणियोंको शीतल छायावाला सुन्दर घर । और जैसे निखिल विश्वका आधार कमठ (कूर्म) भगवान् हैं वैसे ही यह सम्पूर्ण योगियोंका आधारस्वरूप हठयोग है । इसलिये इस योगके समस्त अंगप्रत्यंगोंका वर्णन विशेष रूपसे लिखता हूँ ।। ५८ ।।

हठयोगके अङ्ग ।

यमोऽथनियमश्चैव आसनं तु तृतीयकम् ।
प्राणायामश्चतुर्थः स्यात्प्रत्याहारस्तु पञ्चमः ।।
धारणाथ तथा ध्यानं समाधिस्त्वष्टकं मतम् ।। ५९ ।।

इस योगके आठ अंग होते हैं—१ यम, २ नियम, ३ आसन, ४ प्राणायाम,

---

१ गोरक्षपद्धतिमें हठयोगके केवल छः अंग लिखे हैं :—
"आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट् ।।"
१ आसन, २ प्राणायाम, ३ प्रत्याहार, ४ धारणा, ५ ध्यान और ६ समाधि ये छः योगाङ्ग हैं । केवल छः अंग माननेका कारण यह है कि यम और नियम तो साधारण गृहस्थ–

५ प्रत्याहार, ६ धारणा, ७ ध्यान और ८ समाधि । इन प्रत्येकके लक्षण आदि पृथक् २ प्रकरणोंमें यथाक्रम लिखे जाते हैं ।। ५९ ।।

इति श्रीपण्डित-शिवनाथशर्मात्मज-पं० रामनरेश-मिश्र 'प्रेम' विरचिते बृहद्योग-सोपाने भाषाटीकायुते उपोद्घातप्रकरणं समाप्तम् ।। १ ।।

अथ प्रथमसोपान प्रकरण

यमका निरूपण

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः ।
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश ।। १ ।।

१ अहिंसा, २ सत्य, ३ अस्तेय, ४ ब्रह्मचर्य, ५ क्षमा, ६ धृति, ७ दया, आर्जव, ९ मिताहार और १० शौच ये दशप्रकारके ,यम' कहाते हैं ।। १ ।।

–मात्रके धर्म हैं।यानी गार्हस्थ्य जीवनमें भी यम–नियमपूर्वक रहनेका महर्षियोंने आदेश दिया है और दूरदर्शी विचारशील मनुष्य रहते भी हैं । ये दोनों गृहस्थाश्रमसे भिन्न योगके अंग नहीं हैं, इसलिये आसनसे लेकर समाधितक ही हठयोगके छः अंग होते हैं । यद्यपि गार्हस्थ्य जीवनमें ब्रह्मचर्यका परिपालन सर्वथा नहीं हो पाता, अतएव सर्वांशमें यमका पालन असंभव है, परन्तु वेदविहित पद्धतिसे व्याही हुई अपनी पाणिगृहीतीके साथ उचित–देश, कालमें सहवास करनेसे ब्रह्मचर्यका खंडन नहीं होता । तभी तो ।।"आ सीता मरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी यो धर्म एकपत्नीनां कांक्षन्ती तमनुत्तमम् ।।" जिस धर्मसे उत्तम दूसरा धर्म नहीं है ऐसे श्रुति स्मृति प्रतिपादित विधानसे प्राप्त हुए एकपति की पत्नीके धर्मकी पालती हुई सीता आजीवन ब्रह्मचारिणी थी, यह मनुका कथन संगत होता है । अन्यथा श्रीसीताजीके लव और कुश पुत्र होते हुए उन्हें मनुजी ब्रह्मचारिणी कैसे कहते ?

१ योगाचार्य श्रीपतञ्जलिजी ने यमके पांच ही भेद माने हैं । जैसे "अहिंसासत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" १ अहिंसा, २ सत्य, ३ अस्तेय,–४ ब्रह्मचर्य और ५ अपरिग्रह । इन्होंने क्षमा और दयाका अहिंसामें, आर्जव (सरलता) का सत्यमें, एवं धैर्य और मिताहारके विना ब्रह्मचर्यका परिपालन नहीं हो सकता इसलिये इन दोनोंको ब्रह्मचर्यमें अन्तर्भाव मान लिया है । श्रीव्यासजीने श्रीमद्भागवतके एकादशस्कन्धके १९ वें अध्यायमें बारह प्रकारके यम लिखे हैं :– "अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसंचयः ।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम् ।।
शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धातिथ्यं मदर्चनम् ।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम् ।।
एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः ।।"

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असंग, लज्जा, अपरिग्रह, आस्तिकता, ब्रह्मचर्य मौन, स्थिरता क्षमा और अभय, ये बारह यम कहाते हैं । एवं अन्तः शौच, बाह्यशौच, तप, तप, होम, गुरु और वेदान्त वाक्यमें श्रद्धा, अतिथिसेवा, मूर्तिपूजन, तीर्थयात्रा, परोपकार, संतोष और गुरुकी सेवा ये बारह नियम कहाते हैं ।

इन सबके लक्षण निम्नलिखित प्रकार हैं :—

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ।
अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसात्वेन योगिभिः ।। २ ।।

(१) **अहिंसा**—कर्म, मन और वाणी द्वारा किसी भी जीवको किसी भी प्रकारका कष्ट न पहुँचाना 'अहिंसा'[1] कहाती है। हिंसा तीन प्रकारकी होती है—१ कृता, २ कारिता और ३ अनुमोदिता। कृता स्वयं करना, कारिता दूसरे द्वारा करवा देना, अनुमोदिता पापकर्मको देखकर अथवा सुनकर प्रशंसापूर्वक यों कह देना कि 'वाह! आपने अच्छा किया! यही करना चाहिये और ऐसे ही करो।' इनमें मृदु मध्य और तीव्र भेद करके और भी तीन भेद होते हैं। इसी तरह हिंसाके और भी अनेकों भेद हैं। सारांश-यह कि अपने शरीरसे ऐसे काम न होने पायें कि जिनसे किसी भी छोटे अथवा बड़े प्राणीको कष्ट पहुँचे। मनमें ऐसी बातका चिंतन नहीं होना चाहिये कि जो हिंसात्मक हो। और वाणी द्वारा ऐसे वचन न निकलने पायें जिनसे दूसरे किसी प्राणीके मन में आघात पहुँचे। इस प्रकारकी सभी हिंसाओंके त्याग हो जाने पर साधकके अन्तःकरणसे वैर-भाव निकल जाता है और उस साधकका सारा संसार सच्चा मित्र बन जाता है। फिर तो उसे कहीं किसीसे भी भय नहीं प्राप्त होता। यथार्थ रीतिसे अहिंसा धर्मके पालन करनेवालेकेविषयमें भगवान् कृष्णचन्द्रने स्वयं अर्जुनसे कहा है कि—"यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।।" हे अर्जुन! जिस प्राणी द्वारा न तो दूसरे प्राणियोंको कभी भयकी शंका उत्पन्न हो और न वही किसी दूसरे प्राणीसे डरता हो ऐसा हर्ष, अमर्ष (ईर्ष्या) और भयसे रहित प्राणी मुझे (परम) प्रिय है।। २ ।।

सत्यं भूतहितं प्रोक्तं नायथार्थाभिभाषणम् ।। ३ ।।

(२) **सत्य**—जिसमें जीवात्माओंका हित निहित हो और जिसमें लेशमात्र भी झूठ न मिली हो उसे 'सत्य' कहते हैं। यानी प्रत्यक्ष, अनुमान

१—"तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा भूतानामनभिद्रोहः ।।" —व्यासभाष्य,

(छन्द गीतिका)

मनसे, वचनसे, कर्मसे, दुख दे किसीको भी नहीं।
डरता रहे यों सर्वदा, 'अघ हो न यह मुझसे कहीं ।।
पाते नहीं सुख वे कभी, जो हैं सताते औरको।
मिलती भला कब शान्ति है ? पल एक, डाकूचोरको ।। — दिनेश.

और शब्दप्रमाणसे अन्तः–करणमें जो सच्चा निश्चय ज्ञान हो उसे निष्कपट भावसे कह देना सत्य है।। ३ ।।

परन्तु —

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ।। ४ ।।

—मनुस्मृति.

सत्य तो बोलना चाहिये, पर सत्य ऐसा नहीं होना चाहिये जो अप्रिय हो और प्रिय भी ऐसा ही बोलना चाहिये जो सत्यसे शून्य न हो। क्योंकि कानेको काना कहना यद्यपि सत्य है; पर अप्रिय होनेके कारण कानेके अन्तःकरणमें आघात पहुँचता है इसलिये वह हिंसारूप हो जाता है।ऐसे ही जिस प्रिय वचनमें झूठ मिली होती है वह सुननेमें तो प्रिय अवश्य लगती है। पर सुननेवालेको उससे परिणाममें दुःख प्राप्त होता है इसलिये वह भी हिंसात्मक हो जाता है। और सत्य–धर्मका उपदेश उस अहिंसाकी रक्षाके लिये है जो योगमार्ग अथवा मोक्षमार्गके दूसरे अङ्गका पहला अंग है। यद्यपि—"हितं मनोहारि सुदुर्लभं वचः ।।" प्रिय और हितकर वचनका बोलना अत्यन्त कठिन है, परन्तु कदाचित् ऐसा अवसर उपस्थित हो कि सत्य और प्रिय इन दोनोंमें से एकका विच्छेद होना चाहता है तो उस समय मौन धारण कर लेना ही उत्तम मार्ग है।

सत्यवादका सिद्धान्त यह है कि शब्दोच्चार समयानुसार चाहे जैसा हो, पर उसका आन्तरिक भाव सत्यसे संयुक्त अवश्य होना चाहिये। जैसे ३–४, ५–२, अथवा ३–६ इत्यादि सात ही होते हैं, साढे सात या पौने सात नहीं हो सकते। और यदि कोई कहे कि अमुक व्यक्ति लाहौरमें है और उसे यह भी मालूम है कि उस व्यक्तिने आजीवन लाहौरका मुखतक नहीं देखा, तो भी जानबूझकर कह देना 'झूठ' है। परन्तु यदि वास्तवमें वह लाहौरमें रहता है, उस समय यद्यपि कलकत्ते चला गया है, पर वक्ताके ज्ञानमें लाहौरका रहना सत्य है इसलिये यह 'असत्य' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष देखा हुआ, सुना हुआ, अथवा अनुमान किया हुआ निष्कपट भावसे कह देना ही तो 'सत्य' का लक्षण है। और जिस वाक्यका शब्दोच्चार यथार्थ हो, पर उसका अभिप्राय यथार्थ न हो तो वह कथन सत्य नहीं कहा जा सकता। जैसे–कोई कहे कि 'मैं एक पैसा नहीं चुराता' और वह केवल एक पैसा नहीं चुराता किन्तु। तोडेके तोडे रुपये चुराता है तो यह वाक्य सत्य नहीं माना जा सकता, प्रत्युत महान् असत्य कहा जाता है। क्योंकि यह तो लोगोंके मनका समाधान करके सरासर सत्य–धर्मको धोखा देना है।। ४ ।।

'सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः'
"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा" ॥ ५ ॥

—मं० ५।३।१.

सत्यका महत्त्व— सत्यवादीकी ही जय होती है, असत्यवादीकी नहीं। सत्यधारी प्राणीके लिये देवयान मार्ग सदा प्रस्तुत रहता है और सत्यरूप तपस्या द्वारा प्राणी परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है ॥ ५ ॥

इसलिये—

नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात्सत्यं समाचरेत् ॥ ६ ॥

सत्यवचनके समान कोई धर्म नहीं है और झूठ बोलनेके समान दूसरा पाप नहीं है। यहाँ तक कि जिस ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है वह ज्ञान भी सत्यकी समता नहीं रखता। इसलिये सदैव सत्य बोलना * चाहिये। झूठके विषयमें भगवती श्रुति कहती है कि—"समूलं वा एषा परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति।' जो झूठ[1] बोलता है वह मूल सहित नष्ट हो जाता है ॥ ६ ॥

कर्मणा मनसा वाचा परद्रव्येषु निःस्पृहः।
अस्तेयमिति संप्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ ७ ॥

—याज्ञवल्क्य.

(३) **अस्तेय**—कर्म, मन, वाणी द्वारा गुप्तरूपसे किसी दूसरेके द्रव्योंकी इच्छा न करना यानी जिस वस्तुका जो स्वामी हो उसकी अनुमति विना अपने उपयोगमें न लेना 'अस्तेय' कहाता है। कदाचित् अनायास ही किसी दूसरे का द्रव्य हाथ लग जाय तो उसके स्वामीका पता लगाकर पहुँचा दे। यदि किसी तरह पता न लगे तो अपने प्रदेशके अधिकारी द्वारा उस वस्तुकी यथोचित व्यवस्था करा दे ॥ ७ ॥

(छन्दगीतिका)

* जितना हृदयमें सत्य, उतना ही उसे मैं प्राप्त हूँ।
है रूप मेरा सत्य ही, मैं सत्यमें ही व्याप्त हूँ॥
सच्चे पुरुषको स्वप्नमें भी, दुःख होता है नहीं।
दुख-फल फले क्यों झूठके, जो बीज बोता है नहीं॥

—दिनेश.

१—"स्त्रीषु:नर्मविवाहेषु वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे।
गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्वाज्जुगुप्सितम्॥"

स्त्रियोंके विषयमें, परिहासमें, विवाहमें, जीविका-रक्षक और प्राणसंकटमें, गौ और ब्राह्मणके रक्षणमें, एवं किसी भी प्राणीके प्राण जाते हों उनके रक्षणके लिये झूठ बोलनेमें पाप नहीं होता।

फल--यह होता है कि "अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थापनम्। योग--२ पा० ३७ सू०।" जब मनुष्य शुद्धमनसे चोरी करना त्याग देता है तो उसे सब स्थानोंमें अपनी इच्छाके अनुकूल सब प्रकारके रत्न * अर्थात् उत्तम पदार्थ अपने आप ही प्राप्त होने लगते हैं ।। ७ ।।

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा ।
सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ।। ८ ।।

-याज्ञ-वल्क्यसंहिता.

(४) **ब्रह्मचर्य**--वह कहाता है जिसमें कर्म, मन और वाणी द्वारा प्रत्येक अवस्थामें सदा सब जगह मैथुनका त्याग होता है ।। ८ ।।

यह ब्रह्मचर्यका सामान्य लक्षण हुआ, अब इसका विशेष लक्षण दिखाते हैं:--

मैथुनस्याप्रवृत्तिर्हि मनोवाक्कायकर्मणा ।
ब्रह्मचर्यमिति प्रोक्तं यतीनां ब्रह्मचारिणाम् ।।
तथा वैखानसानां च विदाराणां विशेषतः ।। ९ ।।

ब्रह्मचर्यके दो भेद हैं--१ मुख्य ब्रह्मचर्य और २ गौण ब्रह्मचर्य। जिसमें अविच्छिन्न सर्वदा बिन्दुका अथवा रजका पतन नहीं होता वह 'मुख्य-ब्रह्मचर्य' कहाता है और जिसमें संयमपूर्वक वेदकी आज्ञावश कभी कभी बिन्दु या शुद्ध रजकापतन भी होता हो वह 'गौण-ब्रह्मचर्य' कहा जाता है 'सर्वत्र सर्वदा वीर्य-तत्त्वका पतन न होना' यानी कर्म, मन, वाणी द्वारा मैथुन--कर्ममें सर्वदा अप्रवृत्त होना-संन्यासी, वैखानस और अविवाहितोंके लिये ब्रह्मचर्य कहाता है। इसीको' मुख्य-ब्रह्मचर्य' भी कहते हैं ।। ९ ।।

और--

सदाराणां गृहस्थानां तथैव च वदामि वः ।
यथाविधि स्वदारेषु निवृत्तिश्चान्यतः सदा ।।
मनसा कर्मणा वाचा ब्रह्मचर्यमिति स्मृतम् ।। १० ।।

जिसमें अपनी विवाहिता स्त्रीके साथ "ऋतौ भार्यामुपेयात्।" इस श्रुति भगवतीकी आज्ञाके अनुसार योग्य समय समय पर वीर्य या रजका पतन

---

* दोहा-तनुसों चोरी करहि नहिं, मनहूमें नहिं लाइ।
जहँ चाहै तहँ मिलत है, स्वयं रत्न सब आइ।।"
-प्रभुदयालु.

भी होता है वह गृहस्थोंके लिये 'ब्रह्मचर्य' कहा गया है। इसीका नाम 'गौणब्रह्मचर्य' है ।। १० ।।

योगदर्शनके भाष्यकार महर्षि श्रीव्यासजी थोडे अक्षरोंमें ही उपरोक्त दोनों भेदोंका लक्षण कर रहे हैं उसे भी देखिये—

ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः ।। ११ ।।

—व्यास.

गुप्तेन्द्रिय रूप उपस्थका दृढ निग्रह होना यानी जननेन्द्रिय द्वारा होनेवाले विषयसुखका संयमपूर्वक त्यागना 'ब्रह्मचर्य' कहाता है। इस लक्षणमें 'संयम' शब्दका प्रयोग बड़े ही महत्त्वका है, उसीके बलसे संन्यासी और गृहस्थ दोनोंके लिये ब्रह्मचर्यका लक्षण प्रतिपादित होता है। शब्दकल्पद्रुममें लिखा है कि ''व्रताद्यङ्गपूर्वदिनकर्तव्याचारः संयमः'' किसी भी व्रतमें व्रतकी सिद्धताके लिये प्रथमकर्तव्य नियमका पालन करना 'संयम' कहाता है। जैसे श्राद्ध आदि कर्तव्याचारके सिद्ध्यर्थ पूर्व दिनमें 'एकभुक्त' रहना आदि, ऐसे ही निर्विकल्प समाधिके प्राप्त्यर्थ पूज्य पितामह 'भीष्म' जीके समान आजीवन वीर्यपतन न होने देना संन्यासी, वैखानस, अथवा अविवाहितोंके लिये 'ब्रह्मचर्य' का लक्षण सिद्ध हो गया। एवं गार्हस्थ्य धर्म संपन्न होनेके लिये परायी स्त्रियोंका सर्वथा त्याग करके स्वकीयाके साथ ऋतुकालमें संसर्ग करनेपर कभी कभी वीर्य और रजका परस्पर पतन होना सपत्नीकोंके लिये भी ब्रह्मचर्यका लक्षण सिद्ध हो गया। इस तरह ब्रह्मचर्यके दोनों भेदोंका लक्षण अल्पाक्षरोंमें ही कहा कहा गया है ।। ११ ।।

ब्रह्मचर्यके प्रथम लक्षणमें जो 'कर्म, मन, वाणीसे मैथुनका त्याग करना' लिखा है वह केवल ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिये ही कहा गया है। अन्यथा मैथुनका त्याग ही ब्रह्मचर्यका लक्षण पर्याप्त था। मनसे चिन्तन करनेपर कामका प्रादुर्भाव होता है और कामके प्राकट्यमें विषयसुखके लिये कार्य रूपमें परिणत होनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। ऐसे ही अपनी मित्र-मंडलीमें वाणी द्वारा कथन करनेसे भी मनमें कामका प्राकट्य होकर विषयकी ओर जाना पड़ जाता है। इसलिये पूर्ण ब्रह्मचर्य निभानेके लिये साधकोंको चाहिये कि कामोद्दीपक वस्तुओंके देखने सुननेका अवसर उपस्थित न होने दें। यानी शृङ्गाररसप्रधान पुस्तकोंका अवलोकन, अथवा शृङ्गाररसवाली कविताका कहना, सुनना आदि त्याग दें।

ब्रह्मचर्य सिद्ध होनेके लिये निम्नलिखित बातोंपर साधकको अवश्य ध्यान देना चाहिये :—

ब्रह्मचर्यं सदा रक्षेदष्टधा लक्षणं पृथक् ।
स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।। १२ ।।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।। १३ ।।
न ध्यातव्यं न वक्तव्यं न कर्तव्यं कदाचन ।
एतैः सर्वैर्विनिर्मुक्तः यतिर्भवति नेतरः ।। १४ ।।

—दक्षसंहिता.

सर्वदैव ब्रह्मचर्यका रक्षण करना चाहे तो आठ नियमोंका अवश्य पालन करे । वे आठ नियम ये हैं— १ रागपूर्वक स्त्रीका स्मरण करना, २ स्त्रीसंबन्धी बातें करना, ३ स्त्रियोंके साथ खेलना, ४ उन्हें रागपूर्वक देखना, ५ उनके साथ एकान्तमें वार्तालाप करना, ६ उपभोग करनेके लिये संकल्प करना, ७ साक्षात्कार होनेके लिये निश्चय करना और ८ संभोग करना । ये ही आठ मैथुनके अंग भी कहाते हैं । इन आठोंके त्यागनेवाला ही संन्यासी होता है, दूसरा नहीं ।।१२–१४ ।।

इन्हें त्याग देने पर ही ब्रह्मचर्य हो सकता है अन्यथा संभव नहीं है, क्योंकि :—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ।। १५ ।।

—मनुस्मृति.

इन्द्रियोंका वेग इतना प्रबल होता है कि बड़े-बड़े विद्वानोंके भी छक्के छूट जाया करते हैं। इसलिये दूरदर्शी (मतिमान्) मनुष्योंको चाहिये कि चाहे अपनी बहिन, बेटी अथवा माता ही क्यों न हो, परन्तु एकान्तस्थानमें इनके भी साथ न बैठे ।। १५ ।।

और भी—

स्त्रीरत्नं ध्यातमात्रं तु ब्रह्मणोऽपि मनो हरेत् ।
किं पुनश्चेतरेषां तु विषयेच्छानुवर्तिनाम् ।। १६ ।।

सुन्दर स्त्रियाँ चिन्तनमात्रसे ही ब्रह्मा जैसे योगियोंके भी मन हरण कर लेती हैं तो इतर जो विषय—सुखके सच्चे उपासक हैं उनके मन हरण करनेमें कब चूक सकती हैं ? यानी—"सुर, मुनि जनको मोहहीं, को है बपुरा आन ?" ।। १६ ।।

इसलिये—

स्त्रीरत्नं मोहनं सृष्टं दृष्टमाशीविषोपमम् ।
यदीच्छेदात्मनः श्रेयो मनसापि न चिन्तयेत् ।। १७ ।।

—योगरसायन.

यदि अपना कल्याण चाहे तो मनसे भी स्त्रियोंका चिन्तन न करे । क्योंकि जितना इनमें ऊपरी भावुकताकी झलक होती है उससे बहुत अधिक इनके अन्दर वह विष भरा हुआ होता है जिसके कारण विविधप्रकारकी आधियां और व्याधियाँ प्राणीके पीछे लगी रहती हैं । इसीलिये तो स्त्रियोंको जहरीले सांपोंकी उपमा दी जाती है ।। १७ ।।

ब्रह्मचर्य धारण— करनेसे क्या क्या लाभ होता है ? इस विषयमें वेद और शास्त्रोंमें प्रकरणके प्रकरण प्रस्तुत हैं, एवं इस समय प्राचीन और अर्वा-चीन सत्कवियों तथा लेखकोंके लिखे हुए अनेक ग्रन्थ उपस्थित हैं, इसलिये विशेष न लिखकर केवल योगदर्शनका एक सूत्र उद्धृत करता हूँ :—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां विर्यलाभः ।। २ पा० ३८ सू० ।। १८ ।।

ब्रह्मचर्य[1]की प्रतिष्ठामें वीर्य यानी पराक्रमकी प्राप्ति होती है । शरीरमें वीर्य ही एक मुख्य तत्त्व है कि जिसके प्रभावसे मनुष्य विविध सिद्धियां प्राप्त कर लेते हैं । जिसमें जितनी मात्रामें वीर्य रहता उतनी ही उसमें शक्ति होती है । इस विषयमें और अधिक न कहकर केवल इतना ही कह देना पर्याप्त है कि संसारका सारा व्यापार एक वीर्यपर ही निर्भर है ।। १८ ।।

प्रियाप्रियेषु सर्वेषु समत्वं यच्छरीरिणाम् ।
क्षमा सैवेति विद्वद्भिर्गदिता वेदवादिभिः ।। १९ ।।

(५) क्षमा—प्रिय और अप्रिय करनेवाले समस्त प्राणियोंमें राग द्वेषका न होना 'क्षमा' कहाती है । यानी प्रिय और अप्रिय दोनोंको समान सम-

---

(छन्द—गीतिका)

१—"कटते कठिन बंधन सकल, इस ब्रह्मचर्य-कुठारसे ।
कटता दुखोंका वन गहन, इसकी प्रखरतर धारसे ।।
सब साधनोंका एक यह, साधन शिरोमणि है अहा !
सारे व्रतोंमें एक ही यह, पुण्य-व्रत बस है महा ।।
इसके बिना नीरस शिथिल, निहस्सार निर्बल हैं सभी ।
भूपति बिना सचिवादि क्या, सत्ता निजी रखते कभी ?
इहलोक वा परलोक - गति, निर्भर इसीपर सर्वदा ।
सब सम्पदाओंसे यही बढ़कर जगत्‌में सम्पदा ।।" —दिनेश

झना ही क्षमा है ऐसा वेदवादियोंका सिद्धान्त है। अथवा यों समझिये कि जैसे कोई दण्डनीय कार्य कर चुका हो और उसे उचित दण्ड न देना क्षमा है॥ १९॥

क्षमाऽहिंसा क्षमा धर्मः क्षमा चेन्द्रियनिग्रहः।
क्षमा दया क्षमा यज्ञः क्षमा धैर्यमुदाहृतम्॥ २०॥

प्रिय और अप्रिय दोनों अवस्थाओंमें जिसकी चित्तवृत्तियां समान रहती हैं उस क्षमाशील प्राणीसे हिंसा नहीं हो पायेगी इसलिये क्षमाके अन्दर अहिंसा धर्म सदा अटल रहता है। इसीसे क्षमाका नाम अहिंसा है और इसीका नाम धर्म, इन्द्रियनिग्रह, दया, यज्ञ तथा धैर्य भी है॥ २०॥

इसलिये—

क्षमावान् प्राप्नुयात्स्वर्गं क्षमावान्प्राप्नुयाद्यशः।
क्षमावान्प्रायान्मोक्षं क्षमावाँस्तीर्थमुच्यते॥ २१॥

—वृद्धगौतम.

क्षमावान् प्राणीको स्वर्गीय[1] सुख, यश और यहाँ तक कि अन्तमें मोक्ष-सुख भी प्राप्त हो जाता है। इसीलिये क्षमावान् तीर्थस्वरूप कहाता है॥ २१॥

और—

क्षमा खड्गं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति।
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति॥ २२॥

जिस प्रकार तृण रहित स्थानपर अग्नि पहुँचकर अपने आप ही शान्त हो जाती है उसी प्रकार क्षमारूपी तलवार[2] जिसके हाथ में रहती है उसे दुष्टसे भी दुष्ट लोग नहीं सता सकते। इसलिये अपना कल्याण चाहनेवालेको अवश्य क्षमाशील बनना चाहिये॥ २२॥

(छंद गीतिका)

१—"नरका सहज भूषण 'क्षमा' पावन सुहावन सर्वदा।
तुलती न इसके सामने संसारकी सब सम्पदा॥
होकर सबल सब भांति, फिर भी दोष परके भूलना।
करना क्षमा करके दया, है स्वर्ग-झूले झूलना॥"
—दिनेश.

(सिंहावलोकन)

२—"कर है जिहिके तलवार सखे! तिहिको अरिते न कछू डर है।
डर है तब ही जब नीति नहीं, बिनु नीति सही यमको घर है॥
डर है यमको दुख-दाव समान, जहाँ नितहू तनु-ताप रहै।
पर है तनु-ताप तहाँ तब लौं जब लौं नहिं टेरत 'शंकर' है॥"
—'प्रेम'

अर्थहानौ च बन्धूनां वियोगे चाप्यसंपदि ।
तयोः प्राप्तौ च सर्वत्र चित्तस्य स्थापनं धृतिः ।। २३ ।।

(६) **धृति**— उस पदार्थका नाम है कि जिसके प्रभावसे अर्थहानि और अपने प्रिय पुत्रादिके वियोग एवं बिल्कुल निर्धन अवस्थामें भी मनुष्यके चित्तमें कुछ घबड़ाहट नहीं होने पाती, इससे वह प्राणी आनन्दपूर्वक बैठा रहता है। सारांश यह कि जिसके हृदयमें 'धृति' का सदा निवास रहता है वह सुख अथवा दुःख किसी भी अवस्थामें हो, पर उकताकर अर्थका अनर्थ नहीं कर सकता। इसलिये मनुष्यको धैर्य (धृति) वान् होना चाहिये।[१] ।। २३ ।।

यत्नादपि परक्लेशं हर्तुं वा हृदि जायते ।
इच्छा भूमिसुरश्रेष्ठ ! सा दया परिकीर्तिता ।। २४ ।।

(७) **दया**—श्रद्धापूर्वक दूसरोंके क्लेशोंको दूर करनेके लिये उपाय करनेकी जो इच्छा उत्पन्न होती है उसीका नाम 'दया'[२] है ।। २४ ।।

अथवा—

परे वा बन्धुवर्गे च मित्रे द्वेष्टरि वा सदा ।
आत्मवद्वर्तितव्यं हि दयैषां परिकीर्तिता। ।। २५ ।।

—पद्मपुराण.

दूसरेके या अपने प्रिय कुटुंबोंके साथ, मित्र और शत्रुके साथ सदा आत्मीय जनोंके साथ जैसा समान व्यवहार करना 'दया' कहाती है। विचारशील मनुष्य सच्चे हृदयसे ऐसा समझते हैं कि जैसे मुझे अपने प्राण प्यारे हैं वैसे ही पशु पक्षी आदिकोंको भी अपने अपने प्राण प्यारे हैं और जैसे रोग, शोक आदि अवस्थाओंमें मुझे कष्ट होता है वैसे ही अन्य प्राणियोंको भी होता है इसलिये वे समस्त प्राणियोंको अपने तुल्य ही समझते हैं। इतना ही क्यों , वे संसार में प्राणिमात्र सुखी रहें ऐसी प्रतिक्षण कामना भी करते रहते हैं और सबोंके दुःख छूटनेके

१—"जीवन-समरमें सर्वदा धीरज-कवच धारण किये।
कटिबद्ध हो जो बढ रहे, उत्साहकी सेना लिये ।।
निजकृत पुरातन कर्म-फलके बाण हँस हँस खा रहे ।।
सचमुच वही नर मुक्ति-जयकी ओर बढते जा रहे ।।" —दिनेश

(भगवान् श्रीकपिलदेवजीके श्रीमुखद्वारा)

२—"लखकर दुखी जन दीन, जिसका है हृदय न पसीजता।
मुझको रिझाना चाहता, कैसे भला मैं रीझता ? ।।
जिसके हृदयमें है दया, करता उसी पर मैं दया।
कर दूं सुलभ उसको सभी, सुख दूं उसे मैं नित नया।" —दिनेश

लिये प्रयत्न भी। इसी तरहका बर्ताव सभी मनुष्योंको करना चाहिये। क्योंकि जिसके हृदयमें दया-भाव सदैव टिका रहता है वह सारे संसारको अपने वशमें कर लेता है। कारण यह है कि दयावान् प्राणीसे किसी भी जीवको किसी प्रकारका कष्ट नहीं हो पाता इसलिये सभी उसके सच्चे मित्र जैसे बने रहते हैं ॥ २५ ॥

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा एकरूपत्वमार्जवम् ॥ २६ ॥

(८) **आर्जव**—प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गमें यानी प्रपञ्च तथा परमार्थमें चित्तकी वृत्तियोंका समान रहना "आर्जव' कहाता है। साधकोंको चाहिये कि कर्म, मन, वाणी, द्वारा अपनी विहित कार्योंमें प्रवृत्ति और निषिद्ध कार्योंमें निवृत्ति देखकर मनमें अभिमान न करें एवं सबके साथ सरलता पूर्वक ही वर्ताव रखें। [2]सरलता धारण कर लेनेपर मनसे कुटिलता दूर हो जाती है तो सारा संसार अपना हो जाता है ॥ २६ ॥

शुद्धं सुमधुरं स्निग्धमुदरार्धविवर्जितम् ।
भुज्यते सुरसं प्रीत्या मिताहारमिमं विदुः ॥ २७ ॥

(९) **मिताहार**—शुद्ध, मधुर और स्निग्ध पदार्थों सहित रसीले पदार्थका रुचिपूर्वक आधापेट खाना 'मिताहार' कहाता है।

प्रश्न—यहाँ यह स्वाभाविक ही शंकाका उत्थान हो सकता है कि विना पूर्ण भोजन हुए चित्त, मन अथवा अन्तःकरण स्वस्थ नहीं रह सकता और विना स्वस्थ चित्त हुए मनुष्य कोई काम कर ही नहीं सकता। इस विषयका प्रतिपादन करनेवाला यह श्लोक संस्कृत साहित्यमें प्रसिद्ध है कि

(छन्द गीतिका)

१—"मनमें कुटिलता तनिक भी आने न दे ऋजु-भावसे।
बन जाय सारी सृष्टिमें प्रेमी सभीका चावसे ॥
प्रेमी हुआ जब लोकका, 'त्रयलोकनाथ' उसे तभी।
इस लोकके आवागमनसे मुक्त करते हैं, कभी ॥" —प्रेम

२—"मनमें कहीं भी बाँकपन रहने न दे, लघुता गहे।
सबके दृगोंमें बस रहे, सबके उरोंमें गँस रहे ॥
मेरे रिझानेका अहो! बस, सरल साधन है यही।
पहले रिझाए विश्वको, मेरा रिझाना कुछ नहीं ॥
जो एक भी लघुजीवके उरमें नहीं है खटकता।
आते हुए मुझतक उसे कोई नहीं फिर अटकता ॥
मुझको रिझानेके लिये, साधन 'सरलता' है सही।
वह पा मुझे सकता नहीं, जिसमें सरलता है नहीं ॥' —दिनेश

कि—"काव्येन हन्यते शास्त्रं काव्यं नाटचेन हन्यते। नाटचं तु स्त्रीविलासेन स्त्रीविलासो 'बुभुक्षया'।" काव्य द्वारा तो शास्त्रके सिद्धान्तो पर आघात पहुँचता है और नाटच-कलाके सामने काव्य को भी संकोच करना पड़ता है। एवं स्त्रियोंके वक्र कटाक्षो द्वारा नाटच भी फीका पड जाता है, और आगे तो प्रिय पाठको ! फिर वही है कि जब भूख लगती है तो किसीकी भी दाल नहीं गलने पाती। कहनेका आशय यह कि आधापेट खानेसे भूख तो बनी ही रहेगी, इसलिये अन्नदेवका चिन्तन होगा, या आत्मदेव अथवा अन्य देवका ?, नहीं, उस समय तो सबसे अधिक अन्नदेव ही जँचेंगे। इस तरह यह निश्चित बात है कि भूख लगी रहनेपर योगसाधन नहीं हो सकता ?

उत्तर—आधापेट खानेका यह मतलब नहीं है कि भूखाही रह जाया करे। किन्तु बात ऐसी है कि—"अन्नेन पूरयेदर्धं तोयेन तु तृतीयकम्। उदरस्य तुरीयांशं संरक्षेद्वायुरक्षणे॥" उदरका आधाभाग तो सात्त्विक, स्निन्ध, बलकारक और मधुर अन्न खाकर पूर्ण करे तथा तीसरा भाग जलसे पूर्ण करे। एवं चौथे भागको इसलिये खाली रखे रहना चाहिये जिससे शरीरस्थ वायुका संचार उचितरीतिसे हुआ करे॥ २७॥

कदाचित्—

मिताहारं विना यस्तु योगारम्भं तु कारयेत्।
नानारोगो भवेत्तस्य किंचिद्योगो न सिद्धयति॥ २८॥

मिताहारके विना ही कोई योगसाधन करने लग जाता है तो वह योग—सिद्धिके बदले रोग—सिद्धि पा जाता है यानी रोगी बन बैठता है॥ २८॥

शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
मृज्जलाभ्यां हि बाह्यं तु मनःशुद्धिस्तथान्तरम्॥ २९॥

(१०) शौच—दो प्रकारका होता है—एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। मिट्टी और जल आदिसे जो शुद्धिकी जाती है वह 'बाह्य-शुद्धि' कहाती

---

१ किसी किसीके मतमें पांच प्रकारका शौच माना गया है, यथा :—

"मनःशौचं कर्मशौचं कुलशौचं च भारत।
शरीरशौचं वाक्शौचं शौचं पञ्चविधं स्मृतम्॥" —वृद्धगौतम

हे भारत ! १ मनकी पवित्रता, २ कर्मकी पवित्रता, ३ कुलकी पवित्रता, ४ शरीरकी पवित्रता और ५ वाणीकी पवित्रता, ये शौचके पांच भेद होते हैं। इस तरह पांच प्रकारका भेद माननेमें यद्यपि भिन्नता होनी चाहिये, पर कुलशौच और शरीरशौचको बाह्यमें, एवं कर्मशौच, वाणीशौच और मनशौचको आभ्यन्तरमें अन्तर्भाव मानकर दो ही भेदमें पांचों गतार्थ हो जाते हैं, इसलिये दोनों आचार्योंके मन्तव्यमें अन्तर नहीं है।

है और जो मनकी शुद्धि होती है वह 'आभ्यन्तर-शुद्धि' कहाती है ।। २९ ।।

इस लक्षणमें यद्यपि बाह्य शुद्धिके लिये साधनका प्रतिपादन कर दिया गया है; पर मनकी शुद्धिके विषयमें कुछ भी नहीं कहा । इसलिये आप दूसरा श्लोक लिखते हैं :—

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ।। ३० ।।

—याज्ञवल्क्य.

'जल' से तो शरीरका बाहरी भाग शुद्ध होता है और 'सत्य' से मनकी शुद्धि होती है यानी शरीरका आन्तरिक भाग शुद्ध होता है । एवं विद्या और तप द्वारा जीवात्माकी शुद्धि होती है तथा तत्त्वज्ञानसे बुद्धिकी शुद्धि होती है है ।। ३० ।।

दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और सार्वकालिक पूर्ण सुखकी प्राप्ति बाह्यशुद्धि द्वारा नहीं हो सकती । तभी तो :—

आत्मा[1] नदी संयमपुण्य-तीर्था,
सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र !
न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ।। ३१ ।।

कविवर विष्णुशर्माने लिखा है कि—यह आत्मा ही नदी है, इसमें संयमपूर्वक जो पुण्य कर्म किये जाते हैं वे ही इसे तीर्थरूप किये रहते हैं । और सत्यव्रत धारण करना ही इसमें जल है । एवं सरलस्वभाव ही इसके तट हैं और प्राणियोंकी ओर सदा दयाभावका रहना इस आत्मा नदीकी लहरियाँ हैं । हे युधिष्ठिर ! इस प्रकारकी नदीमें प्रतिदिन स्नान करोगे तभी अन्तरात्मा शुद्ध हो सकती है, अन्यथा जल आदि द्वारा ऊपरी स्नानसे नहीं हो सकती । इसलिये बाह्यशौचके साथ साथ आन्तरिक स्नान अवश्य होना चाहिये ।। ३१ ।।

इति श्रीपण्डित शिवनाथशर्मात्मज-पं० रामनरेशमिश्र 'प्रेम' विरचिते भाषाटीकायुते बृहद्योगसोपाने प्रथमसोपान-प्रकरणं समाप्तम् ।।

१—यह श्लोक महाभारत शान्तिपर्व राजधर्म ९ वें अध्यायके ३३ वें पद्यका अविकल अनुवाद है, यथा :—

"आत्मा नदी भारत ! पुण्य-तीर्था;
सत्योदका धृति-कूला दयोर्मिः ।
तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा,
पुण्यो ह्यात्मा नित्यमम्भोऽम्भ एव ।।"

अथ द्वितीय सोपान प्रकरण

नियमका निरूपण

तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।
सिद्धान्तवाक्य श्रवणं ह्रीर्मतिश्च जपो हुतम् ।।
नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः ।। १ ।।

—याज्ञवल्क्य.

योगशास्त्रमें निपुण महर्षियोंने यमके दश भेद माने हैं— १ तप, २ सन्तोष, ३ आस्तिक्य, ४ दान, ५ ईश्वरपूजन, ६ सिद्धान्तवाक्यश्रवण, ७ ह्री, ८ मति, ९ जप और १० हुत ।। १ ।।

नियमके भेदका लक्षण यथाक्रम निम्नलिखित हैं:—

विधिनोक्तेन मार्गेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः ।
शरीरशोषणं—प्राहुस्तपसां तप उत्तमम् ।। २ ।।

१) तप—विधिपूर्वक शास्त्रीय मार्गसे कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रतों द्वारा शरीरको सुखाना 'तप' कहाता है।

महाराज श्रीव्यासदेवने तपका लक्षण इस प्रकार लिखा है :—

तपः—द्वन्द्वसहनम् । द्वन्द्वाश्च जिघासा-पिपासे,
शीतोष्णे, स्थानासने, काष्ठमौनाकारमौने च,
व्रतानि चैषां यथायागं कृच्छ्रचान्द्रायणसान्तपनादीनि ।

द्वन्द्वका सहन कर लेना 'तपका' लक्षण है। और परस्पर संबन्धित दो वस्तुओंका नाम 'द्वन्द्व' है। जैसे—क्षुधा—प्यास ठंढा—गर्म, स्थान—आसन, काष्ठमौन—'आकारमौन और कृच्छ्र चान्द्रायण, सान्तपन आदि व्रत। व्यास भाष्यके वृत्तिकार वाचस्पति मिश्रने, काष्ठमौन और आकारमौनका अर्थ-

---

१ योगदर्शनमें पांच प्रकारका ही नियमलिखा है :—

"शौचसंतोषतपस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।।" —श्रीपतञ्जलि

शौच, संतोष, तप स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान, ये पांच नियम कहा हैं। यद्यपि इनके और श्रीयाज्ञवल्क्यके नियमके लक्षणमें संख्या, नाम आदि उपाधियोंका वैषम्य है, इसलिये भिन्नता होनी चाहिये, पर यह बात नहीं हैं, क्योंकि याज्ञवल्क्य जो अनेक नाम और लक्षण मानकर दश भेद मानते हैं उन्हें श्रीपतञ्जलिजी पांचमें ही अन्तर्भाव मानकर गतार्थ कर लिये हैं। जैसे—दान, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति और हुतको शौचमें तथा आस्तिक्यको तपमें। इसी तरह जपके स्थानमें 'स्वाध्याय' और ईश्वरपूजनके स्थानमें 'ईश्वरप्रणिधान' शब्दका प्रयोग किये हैं।

लिखा है कि —"काष्ठमौनमिङ्गितेनापि स्वाभिप्रायाप्रकाशनम्। अवचन मात्रमाकारमौनम् ।।" किसी भी अङ्ग संकेतसे अपने अभिप्रायको जनतामें अथवा कहीं भी जनताके प्रकाशमें न आने देना 'काष्ठमौन' कहाता है और वाणी द्वारा प्रकाशित न करना ,आकारमौन' कहा जाता है। सारांश यह कि कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रतोंको यथाशक्ति क्रमशः करते करते ऐसी अवस्था प्राप्त कर ले कि शरदी गर्मी आदि द्वन्द्वों द्वारा अन्तःकरणको दुःखकी प्रतीतिका होना मिटजाय। परन्तु ऐसा तभी हो सकता है जब योगसाधन करते २कुम्भक प्राणायाम सिद्ध हो जाता है। क्योंकि केवल प्राणायाममें ही एक ऐसी शक्ति निहित है जो भूख, प्यास और शीत, उष्ण आदि दुःखदायी शत्रुओंको पराजित कर अन्तःकरणको सुखात्मक विजयश्री दिला सकती है ।। २ ।।

भगवान् कृष्णचन्दजीने अर्जुनके प्रति त्रिविध पदार्थोंका प्रतिपादन करते हुए गीतामें श्रीमुखसे ,तप' का भी त्रैविध्य बताया है। तयथा :—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजन शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्चते ।। ३ ।।

(१) देवता, ब्राह्मण, गुरु और प्राज्ञ (तत्त्ववेत्ताओं) का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा 'शारीरक' तप कहाता है ।। ३ ।।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङमयं तप उच्यते ।। ४ ।।

(२) किसीके भी मनको उद्वेग न करनेवाला सत्य, प्रिय और हितकारी भाषण तथा वेदाभ्यासको 'वाचनिक' तप कहते हैं ।। ४ ।।

मनःप्रसाद सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्यतत्तपो मानसमुच्यत ।। ५ ।।

(३) मनको प्रसन्न रखना, सौम्य—भावसे रहना मौन रहना, अपने मनको वशमें रखना और हृदयमें निष्कपटभाव का रहना 'मानसिक' तप कहा गया है ।। ५ ।।

फल यह होता है कि :—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुचिक्षयात्तपसः ।। ६ ।।

—योगदर्शन.

तप[१]से जब शरीरगत पाप दूर हो जाते हैं तो शरीर और इन्द्रियोंको

१—"तप–गर्भमें सर्वस्व है, तपके विना कुछ है नहीं।
तपता तरणि तपमय तथा तपपर टिकी है यह मही ।।
तपके विना सफलता मिल कभी सकती नहीं।
माया, तपस्वी वीरको है स्वप्नमें तकती नहीं ।।" —विनेश

सिद्धता प्राप्त होती है। यानी शरीरसिद्धिसे तो अणिमादिक सिद्धियां मिलती हैं और इन्द्रियसिद्धिसे दूर देशके देखने तथा सुनने आदिकी शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।। ६ ।।

और--

औषधान्यगदो विद्या दैवी च विविधा स्थितिः ।
तपसैव प्रसिद्धचन्ति तपस्तेषां हि साधनम् ।। ७ ।।

--मनुस्मृति.

रसायनादि औषध, शरीरकी नीरोगता, वेदादिक विद्या और आकाश-गमन आदि अनेक प्रकारकी विभूतियाँ तप द्वारा ही प्राप्त होती हैं। यानी सारी सिद्धियोंके लिये एक तप ही साधन है।। ७७ ।।

यदृच्छालाभतो नित्यं मनः पूतं सहेदिति ।
आधींस्तानृषयः प्राहुः संतोषं सुखलक्षणम् ।। ८ ।।

(२) **सन्तोष**--ईश्वरीय इच्छासे अपने कर्मानुसार जो कुछ थोड़ा बहुत अन्न, वस्त्र आदि पदार्थ मिल जाय उसीमें प्रसन्न मन रहना और समस्त मानसिक दुःखोंको हर्षपूर्वक सहन करना 'संतोष' कहाता है।। ८ ।।

योगदर्शनके भाष्यकार श्रीव्यासदेवजी सन्तोषका लक्षण इस प्रकार लिखते हैं :--

'संनिहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा संतोषः ।। ९ ।।

इसका अर्थ वृत्तिकार श्रीवाचस्पतिजी मिश्र लिखते हैं कि--"प्राण-त्राणमात्रहेतोरधिकस्यानुपादित्सा, प्रागेव स्वीकरणपरित्यागादिति शेषः ।।" जितने पदार्थसे पांचभौतिक शरीरमें प्राणदेव विना घबड़ाहटके रह सकें उतनेसे अधिक लेनेकी इच्छाका न होना 'संतोष' कहाता है। यदि पहलेसे ही परिग्रहका त्याग कर दे तो यह संतोष अनायास ही सिद्ध हो जाता है। इसलिये परिग्रहका त्याग करना चाहिये ।। ९ ।।

फल--जिसके हृदयमें सन्तोष आ जाता है उसे उस अनुत्तम[२] सुखका लाभ होता है जो सदा सुखी बनाये रखता है। माना कि बहुतेरे सुख ऐसे हैं

(गीतिका)

१--"संतोष धनके तुल्य क्या धन और है संसारमें ?
आता न संतोषी कभी, चिन्ता-कुठारी मारमें ।।
जो कुछ मिले श्रम-दैवसे, संतुष्ट उसमें ही रहे ।
वह कामनाओंके थपेड़े फिर भला कैसे सहे ?" ।। --दिनेश

२--"संतोषादनुत्तमसुखलाभः ।" --यो० २ पा० ४२ सू०

जो विविध प्रकारके सुख अथवा आनन्दका अनुभव प्रत्यक्ष दिखाते हैं, पर वह सुख कुछ और ही है जो सन्तोषी जनोंको होता है। उसका अनुभव और उससे लाभ वे ही लोग जान सकते हैं जो सच्चे सन्तोषी होते हैं।

धर्माधर्मेषु विश्वासो यस्तदास्तिक्यमुच्यते ॥१०॥

—याज्ञवल्क्य.

(३) **आस्तिक्य**—धर्म (विहितकर्म) और अधर्म (निषिद्धकर्म) में विश्वास किंवा श्रद्धा रहनेका नाम 'आस्तिक्य' है। आशय यह कि 'गुरुवेदान्त-वाक्येषु विश्वासः श्रद्धा।' सद्गुरु एवं सच्छास्त्र द्वारा निश्चित ज्ञानमें प्रेम-पूर्वक विश्वास रखकर उसीके अनुसार बर्ताव रखना आस्तिक्य कहाता है।

संसारमें जितने विविधप्रकारके व्यवहार चल रहे हैं वे सबके सब विश्वास पर ही निर्भर हैं। यदि विश्वास हट जाये तो कोई किसीको बाततक न पूछे। जैसे—जब यह पूरा विश्वास स्थिर हो जाता है कि प्रिय पुत्रके शरीरमें से प्राण पखेरू चल बसे तभी उसको जलाने अथवा जलमें फेंकने देता है, इसके विपरीत वह कभी भी जलाने या फेंकनेकी इच्छा न करेगा। इस विषयमें और अधिक न लिखकर केवल इतना ही लिख देना पर्याप्त है कि यदि विश्वास न हो तो कोई भोजन तक भी न करे। यानी जब तक यह विश्वास नहीं हो लेता कि यह पदार्थ मुझे पुष्ट करेगा, एवं मेरा 'भक्ष्य' है तबतक उसके खानेकी इच्छा कोई नहीं करता। मतलब यह कि चाहे योगसाधन हो किंवा और कोई कार्य हो, विना विश्वास हुए कुछ भी नहीं हो सकता। इसलिये योगसाधनकी इच्छा रखनेवाले प्राणियोंको चाहिये कि गुरु तथा वेदान्त वाक्यमें विश्वास रखें ॥ १० ॥

न्यायार्जितं धनं चापि ह्यर्थिभ्यो यत्प्रदीयते।
दयया श्रद्धया युक्तं दानमेतत्प्रकीर्तितम् ॥ ११ ॥

—याज्ञवल्क्य.

(४) **दान**— न्यायपूर्वक पैदा किये हुये पदार्थों का योग्य सत्पात्रोंको देना 'दान' कहाता है॥ ११ ॥

भगवान् कृष्णचन्द्रजीने दानका त्रैविध्य बताते हुए दानका असली रहस्य अर्जुनको समझाया है :—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
दशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ १२ ॥

सात्त्विक—जिससे अपना किसी प्रकारका स्वार्थ न हो ऐसे सत्पात्र[१]को

१—जो तप और वेद-शास्त्रसंपन्न हो वही 'सत्पात्र' कहाता है।

देश (कुरुक्षेत्र आदि तीर्थों) में और काल (ग्रहण, संक्रांति आदि (में न्यायार्जित द्रव्यका देना 'सात्त्विक–दान' कहाता है ।। १२ ।।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ।। १३ ।।

राजस––कभी इसके द्वारा मुझे अमुकप्रकारका उपकार होगा ऐसा समझकर, किंवा स्वर्गादिकामनाके उद्देश्यसे जो अमंगल द्रव्यका दान होता है वह 'राजस-दान' कहाता है ।। १३ ।।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ।। १४ ।।

––भगवद्गीता.

तामस––अपवित्र स्थानमें, अशौच समयमें, ऐसे ही अपात्र––विट नट, नर्तकी आदिको जो दान दिया जाता है और जो देश, काल, एवं पात्रता होते हुए भी अपमानपूर्वक दिया जाता है वह 'तामस––दान' कहाता है ।। १४ ।।

इन त्रिविध दानोंमेंसे सात्त्विकदान ही सच्चा सुख देनेवाला होता है। पर आजकल तो शायद ही कहीं किसीसे सात्त्विकदान होता होगा, अधिकांशमें राजस, और तामस की ही भरमार है। अस्तु, यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है समस्त पदार्थोंमेंसे कौनसे पदार्थका दान अधिक महत्त्व रखता है? :––

सर्वेषामेव दानानामन्नदानं परं स्मृतम् ।
सर्वेषामेव जन्तूनां यतस्तज्जीवितं फलम् ।। १५ ।।

––संवर्तसंहिता.

समस्त दानोंमें एक 'अन्न–दान' ही ऐसा श्रेष्ठ है जिसकी समता दूसरे दान नहीं कर सकते, क्योंकि अन्नसे ही प्राणियोंका जीवन होता है और जीवन द्वारा ही भुक्ति, अथवा विषयानुरक्ति आदि क्रियाएँ संपन्न होती हैं ।। १५ ।।

इसीसे तो :––

यस्मादन्नात्प्रजाः सर्वाः कल्पे कल्पेऽसृजत्प्रभुः ।
तस्मादन्नात्परं दानं न भूतं न भविष्यति ।। १६ ।।

संहिताकार इसी बातको फिर दुहराते हैं कि जगन्नियन्ता भगवान् प्रत्येक

(गीतिका।)

१––"तन, मन वचन से सर्वदा सत्-दान करना श्रेष्ठ है।
लख काल, थल अनुकूल सब सत्पात्र–दान यथेष्ट है ।।
धनका तथा संमानका, शुभ अन्न, रक्षण प्राणका।
विद्या, अभय, सबमें बड़ा है––'दान आत्म–ज्ञानका' ।।" ––दिनेश

कल्पमें अन्नद्वारा ही सारी प्रजाओंका निर्माण करते हैं इसलिये अन्नसे बढ़कर दूसरा दान न हुआ है, न है और न होगा ।। १६ ।।

अन्तमें दानके विषयमें केवल इतना ही कहना है कि अपनी अपनी शक्तिके अनुसार, एवं अपने अपने धर्मके अनुकूल सभीको दान करना चाहिये। अन्यथा :—

चत्वारो धनदायादा धर्माग्निनृपतस्कराः ।
ज्येष्ठस्य त्ववमानेन कुप्यन्ति सोदरास्त्रयः ।। १७ ।।

जिस धर्मके आधार पर सारी सृष्टिके प्रपंचकी स्थिति है उसके सहोदर भाई जो तीन और हैं वे अनेक प्रकारके कष्ट उपस्थित करने लग जाते हैं, जिनका नाम १ अग्नि, २ नृप (राजा) और ३ तस्कर (चोर) है। आशय यह कि जब अपने अपने धर्मके अनुसार यथाशक्ति समय समयपर दान नहीं दिया जाता तो अपने आप ही ऐसे ऐसे काम बन जाया करते हैं कि जिनसे राजा दण्डस्वरूपमें संपत्तिका हरण कर लेता है, अथवा चोर लोग चुरा ले जाते हैं। इसके अतिरिक्त कदाचित् धर्मकी अधिक हानि देखकर सबसे छोटे भाई जिनका नाम अग्नि है, आगये तो रही सही सब निबटाकर क्षणमात्रमें चल देते हैं। स तरह दान-धर्मके न होनेसे मनुष्यके पीछे विविध प्रकारकी आधियाँ और व्याधियाँ लगी रहती हैं, इसलिये सभीको यथाशक्ति दान करना चाहिये ।।१७।।

यदासन्नस्वभावेन विष्णुं वा रुद्रमेव वा ।
यथाशक्त्यर्चयेद्भक्त्या ह्येतदीश्वरपूजनम् ।। १८ ।।

--याज्ञवल्क्य.

(५) **ईश्वरपूजन**---मनमें ईश्वरका अस्तित्व मानकर विष्णु, शंकर अथवा किसी भी एक अपने अभीष्ट देवका प्रेमपूर्वक यथाशक्ति पूजन करना ईश्वरपूजन' कहाता है। विश्वाससे जब साकार मूर्तिकी अर्चना की जाती है तभी निराकार ब्रह्मका और जीवका साक्षात्कार होता है, परन्तु आजकल बहुतेरे नयी रोशनीके बाबू लोग मूर्तिपूजनके खण्डनमें ही रातदिन पच पचकर मरा करते हैं। करें क्या, इस विषयमें इन आधुनिक सभ्यतामें रँगे हुए लोगोंका वास्तविक दोष नहीं है, यह सब दोष वर्तमान शिक्षाप्रणालीका है जो इन्हें दिनोंदिन अधिकाधिक पतनकी ओर ढकेले जा रही है। यदि इन्हें विदेशीय शिक्षा द्वारा बाल्यकालसे ही धर्मकर्मकी ओरसे तिलाञ्जलि न दिला दी जाती तो इस तरह सुधारके नामपर अर्थका अनर्थ न होने पाता। इसलिये अब अपने भावी सन्तानोंको संस्कृत साहित्यका अध्ययन, एवं शुद्ध सनातन धर्मकी शिक्षा देनेका प्रयत्न सभी विचारशील मनुष्योंको करना चाहिये ताकि वे समुचित मार्गपर चलकर ऐहलौकिक तथा पारलौकिक सुखके भोक्ता बन सकें ।।

सिद्धान्तश्रवणं प्रोक्तं वेदान्तश्रवणं बुधैः ॥ २० ॥

(६) **सिद्धान्तश्रवण**—पण्डितोंने वेदान्त विषयक ग्रन्थोंके सुननेका नाम 'सिद्धान्तश्रवण' बताया है। यद्यपि सिद्धान्तश्रवणका वाच्यार्थ वेदान्तश्रवण नहीं होता क्योंकि सबके सिद्धान्त भिन्न २ हुआ करते हैं, परन्तु मुक्तिमार्गके लिये एक वेदांतश्रवण ही उपयोगी है इसलिये वेदान्तश्रवण ही अर्थ होता है ॥ २० ॥

वेदलौकिकमार्गेषु कुत्सितं कर्म यद्भवेत् ।
तस्मिन्भवति या लज्जा ह्रीस्तु सैव प्रकीर्तिता ॥ २१ ॥

(७) ह्री—वैदिक अथवा लौकिक मार्गमें अनुचित कर्म हो जानेके कारण मनमें जो लज्जा उत्पन्न होती है उसे 'ह्री' कहते हैं ॥ २१ ॥

विहितेषु च कार्येषु श्रद्धा या सा मतिर्भवेत् ॥ २२ ॥

(८) **मति**—विहित कर्मोंके करनेकी जो मनमें श्रद्धा उत्पन्न होती है उसे 'मति' कहते हैं। यानी वेदविहित योगादि सत्कर्मोंके विषयमें जो संशय विपर्यय रहित श्रद्धा है वही ,मति' कहाती है ॥ २२ ॥

गुरुणा चोपदिष्टोऽपि वेदबाह्यविवर्जितः ।
विधिनोक्तेन मार्गेण मन्त्राभ्यासो जपः स्मृतः ॥ २३॥

—याज्ञवल्क्य.

(९) **¹जप**—वेदोक्त मन्त्रोंको सद्गुरु द्वारा सीखकर उनका अभ्यास करना 'जप' कहाता है ॥ २३ ॥

और भी—

अधीत्य वेदं सूत्रं वा पुराणं वेतिहासकम् ।
एतेष्वभ्यसतस्तस्य अभ्यासेन जपः स्मृतः ॥ २४ ॥

श्रीगुरु द्वारा वेद, ब्रह्मसूत्र, पुराण अथवा महाभारत इतिहास आदि सच्छास्त्रोंका अध्ययनपूर्वक अभ्यास करना भी जप कहाता है ॥ २४ ॥

योगसूत्रकारने जपके स्थानपर 'स्वाध्याय' माना है और उसका लक्षण व्यासदेवने इस प्रकार लिखा है :—

(श्रीकपिलदेवजीके श्रीमुख द्वारा)

१—"जपके कवचको सर्वदा निज चित्तपर धारण करे।
जपके प्रखरतर खड्गसे मन शत्रुको वारण करे ॥
सम्पत्तिमें आपत्तिमें मम नाम जपना चाहिये।
सब काल सब ही ठौर बस जपको न तजना चाहिये ॥"

—दिनेश.

मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा ।। २५ ।।

—व्यास.

मोक्षपद दिलानेवाले शास्त्रोंका पढ़ना (अभ्यास करना) अथवा ओंकारका जप करना 'स्वाध्याय' कहाता है।। २५ ।।

जपका साधारण नियम यह है कि :—

जपस्येह विधिं वक्ष्ये यथाकार्यं विधानतः ।
नाङ्गं कम्पन्नापि हसन्न पार्श्वमवलोकयेत् ।। २६ ।।

—याज्ञवल्क्य.

जप करते समय न तो मार्ग चले और न शरीर कँपाये, एवं हँसना तथा अपनी अगल बगल (इधर उधर) देखना भी नहीं चाहिये ।। २६ ।।

और—

नापाश्रितो न जल्पंश्च न प्रावृतशिरास्तथा ।
न पदा पदमाक्रम्य न चैव हि तथा करौ ।। २७ ।।
नैवंविधं जपं कुर्यान्न च संश्रावयन् जपेत् ।

—याज्ञवल्क्य.

जप करते समय यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि न तो किसी वस्तुके सहारे बैठकर जप करे और न किसी किसीसे बीच बीचमें बात ही किया करे। ऐसे ही न तो उस समय किसी अँगौछे, उपरने आदिसे शिर ढके रहे और न परस्पर दोनों पैरों अथवा हाथोंका संघर्षण ही किया करे। जप करते समय अपने उपास्य मंत्रका उच्चारण इस प्रकार होना चाहिये कि पार्श्ववर्ती लोग कुछ भी न सुन सकें। यदि खडे होकर जप करना चाहे तो सूर्यनारायणके सामने खड़ा होकर उनकी ओर मनका लक्ष पहुँचाते हुए अभीष्ट मंत्रका जप करे। और बैठकर जपना हो तो पूर्व (अथवा उत्तर) दिशाकी ओर मुख करके जप करे ।। २७—२८ ।।

एवं—

नियमेन जपं कुर्यादकृतौ प्रत्यवायतः ।
अन्यथाकरणेऽनर्थः स्वरवर्णविपर्ययात् ।। २९ ।।

—पंचदशी.

जप नियमसे करना चाहिये और न करनेसे प्रत्यवाय (दुःख) होता है है इसलिये अवश्य करना चाहिये। जपमें इस बातकी बड़ी सावधानी रखनी होती है कि कहीं मंत्रके स्वर और वर्णके उच्चारण ऐसे न हो जायँ कि अपने

अपने नियमसे विपरीत होते हों। क्योंकि स्वर अथवा वर्णके उच्चारण सनियम न होनेसे अनर्थकारी परिणाम होता है॥

ऐसे ही और भी लिखा है—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा,
मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति,
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥ ३०॥

—पाणिनीयशिक्षा.

मन्त्र यदि स्वर अथवा वर्णके नियमसे विरुद्ध उच्चरित होता है तो वह अपने अर्थको न सिद्धकर अपने शत्रुका कार्य सिद्ध कर देता है। उदाहरण— जैसे 'इन्द्र-शत्रुर्विवर्धस्व।' इस मंत्रके जप करते समय स्वरका उच्चारण सनियम न होनेके कारण ही तो उलटी घटना घटी थी बात यह हुई कि मंत्रका जप तो वृत्रासुरकी ओरसे होता था और ऊहित मंत्र था—'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व।' इस यौगिक मन्त्रमें अन्तोदात्त स्वर उच्चरित होना चाहिये था, जिससे कि 'इन्द्रस्य शमयिना शातयिता भव' यह अर्थ सिद्ध होता, परन्तु उच्चारण हुआ आद्योदात्तका। इसलिये—'इन्द्र एव वृत्रस्य शातयिता सम्पन्नः।' यानी उलटा इन्द्रदेव ही वृत्रासुरके घातक सिद्ध हुए। अतः—जप करनेवालोंको चाहिये कि जप प्रारम्भ करनेके पहले वे मन्त्रोंके वर्ण और स्वर—उच्चारणके नियम अपने सद्गुरुसे ध्यान धरकर अवश्य सीख लें; अन्यथा मन्त्रका जप अभीष्ट फलदायी नहीं हो सकता। यही कारण है कि आज वर्तमान समयमें जो श्रद्धालु सज्जन लोग अनुष्ठानादि कर्म करते कराते हैं उनसे कल्याण होनेके स्थान पर शिरपर वज्रपात होने लगते हैं। कारण यह है कि प्रायः आजकल न तो मन्त्रोंके उच्चारण करनेके समस्त नियमोंके जाननेवाले ही हैं और जो जाननेवाले हैं भी वे सनियम करते ही नहीं और सबसे बड़ी बात यह भी है कि अब श्रद्धापूर्वक सनियम 'मंत्र—जप' करानेवाले भी नहीं रह गये। इस अवस्थामें जब कि मंत्रका जप सनियम किये ही नहीं जाते तो वे करने और करानेवालोंके अनुकूल फलके देनेवाले कैसे हो सकते हैं? यहाँ यह स्पष्ट कह देना सबका सारांश है कि आज भी यदि करने और करानेवाले साधक अपने अपने नियमों को रखकर मंत्रका जप करें अथवा करायें तो अवश्य शुभफलके भागी बन सकते हैं॥ ३०॥

मन्त्रजपके विषयमें—

नोच्चजपं च संकुर्यात् रहः कुर्यादतन्द्रितः।

समाहितमनास्तूष्णीं मनसा वापि चिन्तयेत् ।। ३१ ।।

—अग्निपुराण.

अग्निपुराण में भी लिखा है कि एकान्तमें निरालस्य होकर (आसनपर बैठकर) सावधानीके साथ धीरे धीरे मन लगाकर जप करना चाहिये ।। ३१ ।।

उपांशु जपका महत्त्व—

शनैरुच्चारयेन्मन्त्रमीषदोष्ठौ च चालयेत् ।

अपरैर्न श्रुतः किंचित्स उपांशुर्जपः स्मृतः ।। ३२ ।।

—विश्वामित्र.

विश्वामित्रजीने लिखा है कि–जीभ और ओठोंको हिलाता हुआ धीरे धीरे मन्त्रका जप इस प्रकार करना चाहिये कि दूसरा कोई कुछ भी न सुन सके। इसीका नाम 'उपांशु' है ।। ३२ ।।

जपमें उत्तरोत्तर फलाधिक्य—

उच्चैर्जपादुपांशुस्तु सहस्रगुण उच्यते ।

मानसश्च तथोपांशोः सहस्रगुण उच्यते ।।

मानसाच्च तथा ध्यानं सहस्रगुणमुच्यते ।। ३३ ।।

जिसे पार्श्ववर्ती जन सुन जायें ऐसे जपकी अपेक्षा हजार गुना अधिक फल देनेवाला 'उपांशु' जप होता है और उपांशुसे हजार गुना अधिक फल 'मानस' जप द्वारा होता है। और मानस जपसे भी हजार गुना अधिक फल 'ध्यान' से प्राप्त होता है। आशय यह कि जितनी मात्रामें चित्तवृत्तियां तदाकार होती हैं उतनी ही मात्रामें फल भी प्राप्त होता है। उपांशु जपकी अपेक्षा मानस जपमें चित्तकी वृत्तियोंका अधिक संकोच होता है। इसीसे अधिक फल भी होता है। ऐसे ही मानस जपकी अपेक्षा ध्यानमें तदाकारताकी मात्रा अधिक रहती है इस लिये ध्यानमें अधिक फल मिलता है।

उपरोक्त कथनसे यह सिद्ध हो गया कि जप चाहे सकाम हो अथवा निष्काम, पर चित्त--वृत्तियोंका एकाग्र होना परम आवश्यक है, क्योंकि जबतक चित्त एकाग्र करके मंत्राधिष्ठातृ देवका चिन्तन करते हुए सनियम मंत्रका उच्चारण नहीं किया जाता तब तक अच्छे फलका लाभ कदापि नहीं हो सकता। हाँ, यह हो सकता है कि मंत्रके अधिनायक देवका यथोचित सत्कार न होनेके कारण उनकी उलटी दृष्टिसे उलटा और भी कुछ अनर्थ होने लग जाय। इसलिये कर्ता और कारयिता दोनों यदि अपने अपने कल्याणके इच्छुक हों तो उन्हें चाहिये कि सनिगम मंत्र—जप होनेका प्रयत्न करें। अन्यथा पुण्यका हिस्सा नहींके बराबर होकर पापकेही विशेष हिस्सेमें आ जाते हैं। अस्तु, यहाँ

कहनेका सारांश——यही है कि मंत्र और मंत्र-जप सच्चे होते हैं, पर कर्ता और कारयिता सच्चे नहीं होते। इसीसे दोनोंका कल्याण नहीं होता ।। ३३ ।

हुतं हुताशनस्योक्तं समिधाद्यैः प्रतर्पणम् ।। ३४ ।।

(१०) हुत——अग्निदेवको समिध आदि पदार्थों द्वारा तृप्त करना 'हुत' कहाता है। इन लक्षणमें यौगिक और लौकिक दोनों अग्नियोंमें हवन करनेकी बात बता दी गई है। यौगिक हवनमें तो मनसहित दशों इन्द्रियोंको शब्दादि विषयोंकी ओरसे हटाकर ब्रह्मरूप अग्निमें समिधरूपसे हवन होता है और लौकिक हवनमें यव, तिल, घृत आदि समिधोंका हवन प्रत्यक्ष अग्निमें होता है। लक्षणमें यौगिक अथवा लौकिक विशेषण हुताशन और समिधमें नहीं हैं इसलिये दोनों अर्थ सिद्ध होते हैं ।। ३४ ।।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
अदित्याज्जायतेवृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।। ३५ ।।

हवनसे लाभ——यह होता है कि अग्निमें हवन करनेसे सूर्यनारायण प्रसन्न हो जाते हैं इसलिये वे पानी बरसाते हैं। उसी पानीके बरसनेसे अन्न उत्पन्न होता है और अन्नसे सारी प्रजाओंका रक्षण होता है ।। ३५ ।।

प्रकरणका उपसंहार ।

एते यमाः सनियमाः पञ्च पञ्च प्रकीर्तिताः ।
विशिष्टफलदाः काम्या निष्कामानां विमुक्तिदाः ।।

इस तरह उपोद्घात प्रकरणके बाद प्रथम और द्वितीय सोपान जो 'पञ्च-पञ्च' पांच पांच, अथवा दश-दश भेदवाले यम तथा नियमका निरूपण किया गया है वह सविधि अनुष्ठित होनेपर कामनावालोंके लिये काम्यफलको देनेवाला है और निष्काम जनोंको मुक्ति देनेवाला है ।। ३६ ।।

इति श्रीपण्डित शिवनाथशर्मात्मज-पं० रामनरेशमिश्र 'प्रेम' विरचिते भाषाटीकायुते बृहद्योगसोपाने द्वितीयसोपान-प्रकरणं समाप्तम् ।।

अथ तृतीयसोपान प्रकरण

आसनका लक्षण

स्थिरसुखमासनम् ।। १ ।।

——योगदर्शन

जिस तरह बैठनेमें शरीरकी स्थिरता सुखपूर्वक रहे उसे 'आसान' कहते हैं। इसके अनेक भेद हैं, परन्तु योगाचार्य सूत्रकारके कथनानुसार किसी भी

आसनसे अपनी रुचिके अनुकूल बैठना चाहिये, क्योंकि जिसमें मनको शरीरमें पीडा आदिकी प्रतीति न हो वही आसन कहाता है ॥ १ ॥

आसनकी संख्या

आसनानि समस्तानि यावन्तो जीवजन्तवः ।
चतुरशीतिलक्षाणि, शिवेन कथितानि वै ॥ २ ॥
तेषां मध्ये विशिष्टानि षोडशोनं शतं कृतम् ।
तेषां मध्ये मर्त्यलोके द्वात्रिंशदासनं शुभम् ॥ ३ ॥

—घेरण्डसंहिता.

संसारमें जितने जीव जन्तु हैं उतने ही आसन भी होते हैं, इसीलिये पहिले तो श्रीशंकरजीने चौरासी लाख आसनोंका निरूपण किया था; पर उनमेंसे उन्होंने चौरासी आसन मुख्यरूपसे वर्णन किये हैं और उनमें भी बत्तीस आसन विशेष लाभकारक हैं ॥ २ ॥ ३ ॥

बत्तीस आसनों के फलसहित लक्षण निम्नलिखित हैं।—

सिद्धं पद्मं तथा भद्रं मुक्तं वज्रं च स्वस्तिकम् ।
सिंहं च गोमुखं वीरं धनुरासनमेव च ॥ ४ ॥
मृतं गुप्तं तथा मत्स्यं मत्स्येन्द्रासनकं तथा ।
गोरक्ष पश्चिमोत्तानमुत्कटं संकटं तथा ॥ ५ ॥
मयूरं कुक्कुटं कूर्मं तथा चोत्तानकूर्मकम् ।
उत्तान-मण्डुकं वृक्षं मण्डूकं गरुडं वृषम् ॥ ६ ॥
शलभं मकरं तूष्ट्रं भुजङ्गं चैव योगकम् ।
मर्त्यलोके सिद्धिदानि द्वात्रिंशदासनानि हि ॥ ७ ॥

इस मृत्युलोकमें योगसाधन—मार्गके उपयोगी बत्तीस आसनोंके नाम ये हैं —१ सिद्धासन, २ पद्मासन, ३ भद्रासन, ४ मुक्तासन, ५ वज्रासन, ६ स्वस्तिकासन, ७ सिंहासन, ८ गोमुखासन, ९ वीरासन, १० धनुरासन, ११ मृतासन, १२ गुप्तासन, १३ मत्स्यासन, १४ मत्स्येन्द्रासन, १५ गोरक्षासन, १६ पश्चिमोत्तानासन, १७ उत्कटासन, १८ संकटासन, १९ मयूरासन, २० कुक्कुटासन, २१ कूर्मासन, २२ उत्तानकूर्मासन, २३ उत्तानमण्डूकासन, २४

---

१ हठयोगप्रदीपिकामें महात्मा स्वात्मारामजीने सोलह आसन लिखे हैं और गोरक्ष-पद्धतिने केवल दो ही आसनोंको उपयोगी माना है। ऐसे ही और भी योगके ग्रन्थोंमें कहीं कुछ न्यूनाधिक माने हैं, परन्तु घेरण्डसंहिताकारने जो बत्तीस आसनोंका उल्लेख किया है, उनका ही उद्धरण इस ग्रन्थमें किया गया है।

वृक्षासन, २५ मण्डूकासन, २६ गरुडासन, २७ वृषासन, २८ शलभासन, २९ मकरासन, ३० उष्ट्रासन, ३१ भुजङ्गासन, और ३२ योगासन ।। ४–७ ।।

(१) सिद्धासनका लक्षण

योनिस्थानमनङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
न्मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ।
स्थाणुः संयतमिन्द्रियोऽचलदृशा पश्येद्भ्रुवोरन्तरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ।। ८ ।।

गुदा और लिंगके मध्यभाग (योनिस्थान) में वायें पैरकी एंड़ी लगाकर दाहिने पैरको लिंग (योनि) के ऊपरी भागपर रखे और हृदयके समीप भागमें दृढ़तापूर्वक हनु (ठोड़ी) को स्थिर कर इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे हटाकर निश्चल दृष्टिसे भ्रुकुटिके मध्यभागको देखता रहे। इसीका नाम महर्षियोंने 'सिद्धासन' रखा है। इसके प्रभावसे मोक्षस्थानमें जो मायाका किवाड़ लगा रहता है वह खुल जाता है ।। ८ ।।

चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत् ।
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम् ।। ९ ।।

फल—चौरासी लक्ष आसनोंमेंसे मुख्य २ अधिक उपयोगी चौरासी आसनोंका निरूपण श्रीशंकरजीने किया है, पर उनमें यह सिद्धासन अधिक

लाभकारक है, क्योंकि इसके प्रभावसे शरीरगत बहत्तर हजार नाड़ियोंका शोधन हो जाता है। जब तक नाडियोंका शोधन नहीं हो लेता तबतक प्राणायामादि क्रियाएँ नहीं संपन्न हो सकतीं और इस आसनसे नाडियाँ शुद्ध हो जाती हैं इसलिये यह मोक्षदायक है ॥ ९ ॥

(२) पद्मासनका लक्षण
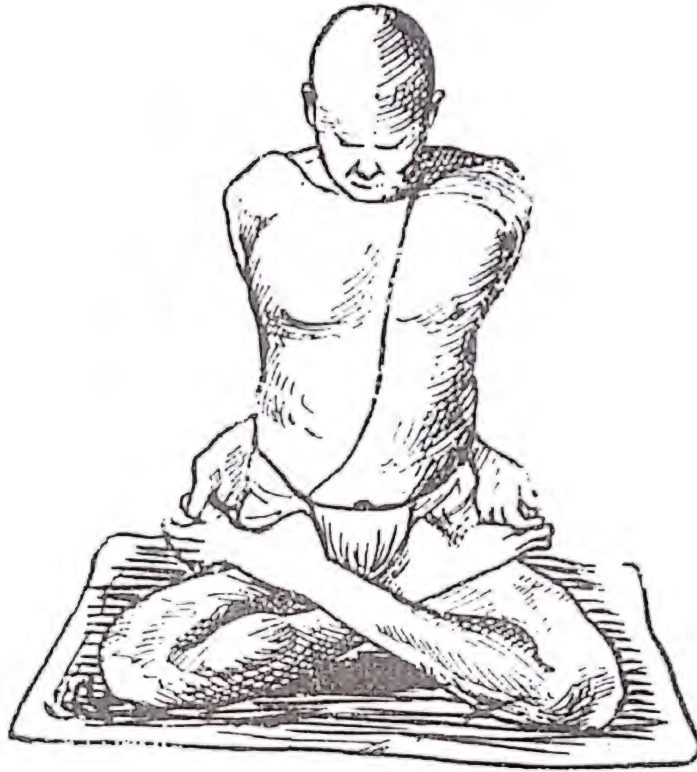
वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा,
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ।
अङ्गुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविकारनाशनपरं पद्मासनं प्रोच्यते ॥ १० ॥

वाम जंघाके मूलमें दाहिना पैर और दाहिनी जंघाके मूलमें बायाँ पैर उत्तान करके दृढ स्थापित कर दे। फिर पीठकी ओरसे हाथोंको ले जाकर दोनों पैरोंके अँगूठोंको पकड़ ले और चिबुक (ठोडी) को हृदयस्थल पर स्थापित करके नासिकाके अग्रभागको देखता रहे। इस प्रकारके आसनका नाम 'पद्मासन' है।

फल—यह होता है कि पद्मासनके लगानेसे शरीर नीरोग होता है और प्राणायामकी क्रियाओंमें सहायता मिलती है ॥ १० ॥

(३) भद्रासनका लक्षण

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेण समाहितः ।
पदाङ्गुष्ठे कराभ्यां च धृत्वा च पृष्ठदेशतः ।। ११ ।।
जालन्धरं समासाद्य नासाग्रमवलोकयेत् ।
भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविनाशकम् ।। १२ ।।

—घेरण्डसं०

अंडकोशको उलटकर उसके नीचे दोनों एड़ियोंको रख दे, फिर दोनों हाथोंको पीठकी ओरसे लेजाकर दोनों पैरोंके अँगूठोंको दृढ पकड़ ले। और (वक्ष्यमाण) जालंधर बन्धको लगाकर नासिकाके अग्रभागको देखता रहे। इस तरहके आसनको 'भद्रासन,'[1] कहते हैं।

फल—इससे यह मिलता है कि इस आसनको लगाकर सो जानेपर स्वप्न-दोष नहीं हो पाता। और इसके प्रभावसे शरीरगत समस्त रोगोंका नाश होता है।। ११ ।।-१२ ।।

(४) मुक्तासनका लक्षण

पायुमूले वामगुल्फं दक्षगुल्फं तथोपरि ।
शिरोग्रीवासमं कार्यं मुक्तासनमिदं शुभम् ।।१३ ।।

---

१ हठयोगप्रदीपिकाकारके मतसे 'भद्रासन' और 'गोरक्षासन' एक ही है पर घेरण्ड-संहिताकार दो मानते हैं। वास्तवमें दो भेद मानना भी चाहिये, क्योंकि जब भद्रासनका लक्षण दो प्रकारका श्रीस्वात्मारामजी लिखकर दोनोंको एक बताते हैं तो उन दोनों लक्षणोंका पृथक् पृथक् नामकरण कर देना यानी एकको भद्रासन, एकको गोरक्षासन कहना क्या अनुचित है?।

बाया एंड़ीको गुदाके मूलस लगाकर उसके ऊपर दाहिनी एंड़ी दृढा स्थापित कर दे और शिर तथा कंठ निश्चल समान (सीधा) रखे। इसका नाम 'मुक्तासन' है और यह योगसाधकोंको लाभकारक है ॥ १३ ॥

(५) वज्रासनका लक्षण।

जङ्घाभ्यां वज्रवत्कृत्वा गुदपार्श्वे पदावुभौ।
वज्रासनं भवेदेतद्योगिनां सिद्धिदायकम् ॥ १४ ॥

दोनों जंघाओंको वज्रके समान करके दोनोंपैरोंके तलवोंको गुदाके

पार्श्वभागमें रखकर बैठनेका नाम 'वज्रासन' है। यह योगियोंको सिद्धिदायक है।। १४।।

(६) स्वस्तिकासनका लक्षण

जानूर्वोरन्तरे कृत्वा योगी पादतले उभे।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते।। १५।।

जानु और ऊरुके बीच दोनों पैरोंके तलवोंको लगा दे और दोनों हाथोंके तलवोंको दोनों जानुओं पर स्थास्थापित कर शरीरको सीधा करके बैठे तो इसीका नाम 'स्वस्तिकासन' है।। १५।।

(७) सिंहासनका लक्षण

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्।
दक्षिणे सव्यगुल्फं च दक्षगुल्फं तु सव्यके।। १६।।

हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वांगुलीः संप्रसार्य च।
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः।। १७।।

सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिपुंगवैः।।
बन्धत्रितयसंधानं कुरुते चासनोत्तमम्।। १८।।

हठयोग प्रदीपिकामें लिखा है कि—दोनों गुल्फोंको अण्डकोशके नीचे सीवनी नाडीके दोनों पार्श्वभागोंमें लगाये, यानी दाहिने पार्श्वमें वाम गुल्फको, एवं बायें पार्श्वमें दाहिने गुल्फको लगाये। फिर दोनों हाथोंकी अँगुलियोंको पसारकर जंघाओंपर रखे और चञ्चल चलायमान जिह्वावाले मुखको फैलाकर बड़ी सावधानीके साथ अपनी नासिकाके अग्रभागको देखे। इस प्रकारके आसनको 'सिंहासन' कहते हैं। यह वक्ष्यमाण तीनों बन्धोंको सिद्ध करनेवाला है इसलिये सब आसनोंमें उत्तम माना गया है॥ १६-१८॥

(८) गोमुखासनका लक्षण

असव्ये पृष्ठपार्श्वे तु वामगुल्मं नियोजयेत् ।
सव्ये सव्यं तथा गुल्मं गोमुखं गोमुखाकृतेः ।। १९ ।।
ऊर्ध्वतो दक्षिणं हस्तं पृष्ठदेशे नयेत्तथा ।।
अधस्तात्सव्यहस्तं तु तर्जन्या तर्जनीं भ्रियात् ।। २० ।।

दाहिने पृष्ठपार्श्व (चूतड़) के नीचे बायें पैरके गुल्फ (गाँठ) को और बाँयें पृष्ठपार्श्वके नीचे दाहिने पैरके गुल्फको रखकर तथा दाहिने हाथको शिरकी ओरसे, एवं बाँयें हाथको नीचेकी ओरसे पीठपर ले जाकर दाहिनी तर्जनी (अँगूठेके बगलवाली अँगुली) से बायीं तर्जनीको दृढ़तापूर्वक पकड़ ले। इस प्रकारके आसनको गौके मुखके समान होनेके कारण 'गोमुखासन' कहते हैं।

फल—इस आसन द्वारा अपान वायु ऊर्ध्वगामी होता है और प्राणवायु अधोगामी होता है। एवं चित्तको शान्ति प्राप्त होती है ।। १९ ।। २० ।।

(९) वीरासनका लक्षण
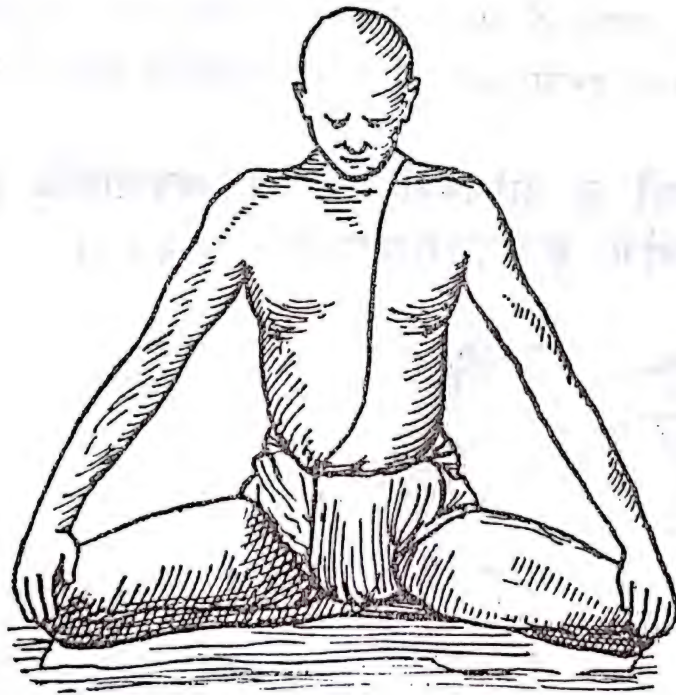
एकपादमथैकस्मिन्विन्यसेदूरुमध्यमे ।
इतरस्मिंस्तथा पश्चाद्वीरासनमितीरितम् ।। २१ ।।

दाहिना पैर बांयीं जंघापर और बायें पैरको दाहिनी जंघापर रखकर दोनों हाथोंको घुटनोंपर रखे। गोरक्षसंहिताकार इसे 'वीरासन' कहते हैं ।। २१ ।।

(१०) धनुरासनका लक्षण
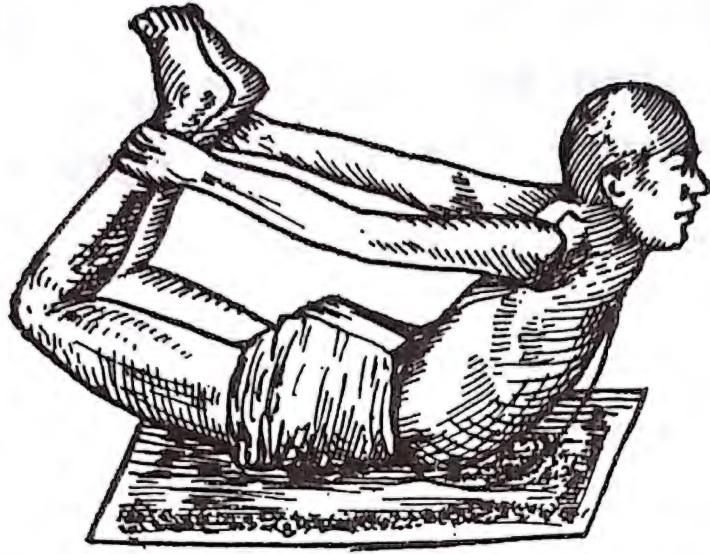
प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ करौ च पृष्ठे धृतपादयुग्मम् ।
कृत्वा धनुस्तुल्यविवर्तिताङ्गं निधाय योगी धनुरासनं तत् ।।२२।।

जमीनमें दोनों पैर फैलाकर पट होकर दंडाकार लेट जाय और घुटनों परसे दोनों पैर मोडकर दोनों हाथोंको पीठकी ओरसे ले जाकर पैरोंको पकड़ ले। यह धनुषके समान हो जाता है इसलिये 'धनुरासन' कहाता है ।। २२ ।।

इसका दूसरा प्रकार भी किसी आचार्यने कहा है, उसे भी अवलोकन करिये :—

पादांगुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि ।
धनुराकर्षणं कुर्याद्धनुरासनमुच्यते ।। २३ ।।
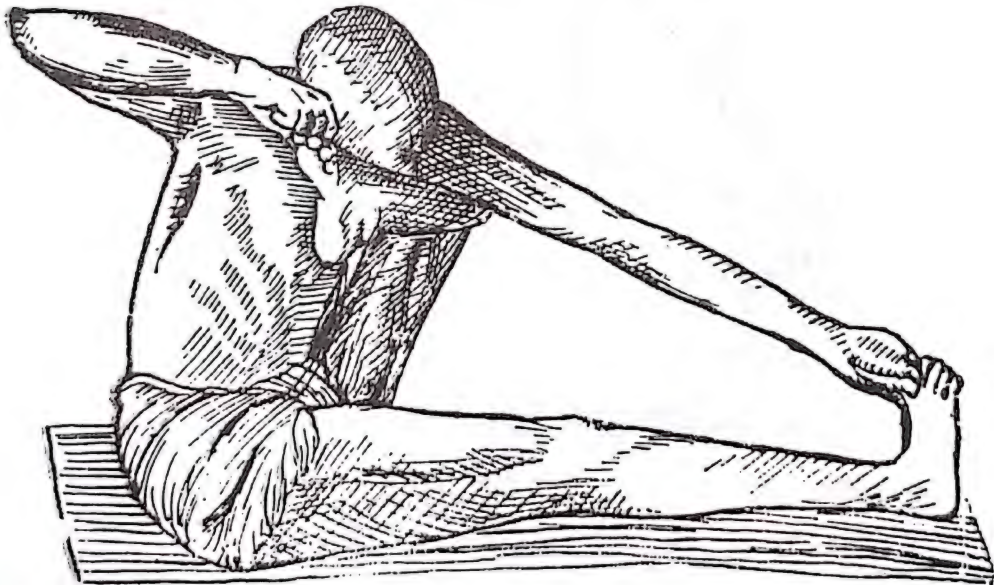
बांयें पैरके अँगूठेको दाहिने कानके समीप ले जाकर दाहिने हाथ की अंगुलियोंसे पकड़ ले और दाहिने पैरकों दंडेके समान फैलाकर बांयें हाथ से

अंगूठेको दृढ पकड़े रहे। यह धनुषपर बाण रखकर कानतक खींचनेके समान हो जाता है इसलिये 'धनुरासन' कहाता है॥ २३॥

(११) मृतासनका लक्षण
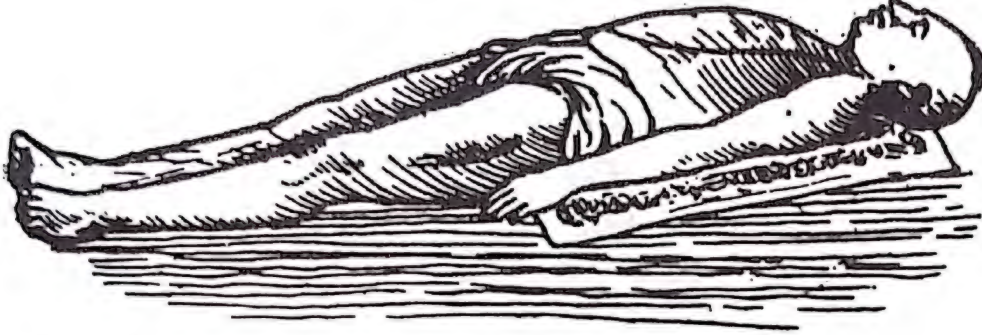
उत्तानं शववद्भूमौ शयनं तु शवासनम।
शवासनं श्रमहरं चित्तविश्रान्तिकारकम्॥ २४॥

भूमिपर उत्तान (चित्त) मुरदेके समान दण्डाकार लेट जानेका नाम 'शवासन' अथवा 'मृतासन' है। किसी किसी आचार्यके मतमें इसीका नाम 'प्रेतासन' 'शान्तिप्रदासन' और 'शयनासन' भी है।

फल—यह आसन शरीरके थकावटको दूर करनेवाला, एवं चित्तको विश्राम (सुख) देनेवाला है॥ २४॥

(१२) गुप्तासनका लक्षण

जानुनोरन्तरे पादौ कृत्वा पादौ च गोपयेत्।
पादोपरि तु संस्थाप्य गुदं गुप्तासनं विदुः॥ २५॥

दोनों घुटनोंके बीच दोनों पैरोंको रखकर पैरोंके ऊपर गुदाको रखकर बैठनेका नाम 'गुप्तासन' कहा गया है। इसमें दोनों पैर गुप्त रहते हैं अर्थात् नहीं दीखते इसलिये यह 'गुप्तासन' कहाता है॥ २५॥

(१३) मत्स्यासनका लक्षण
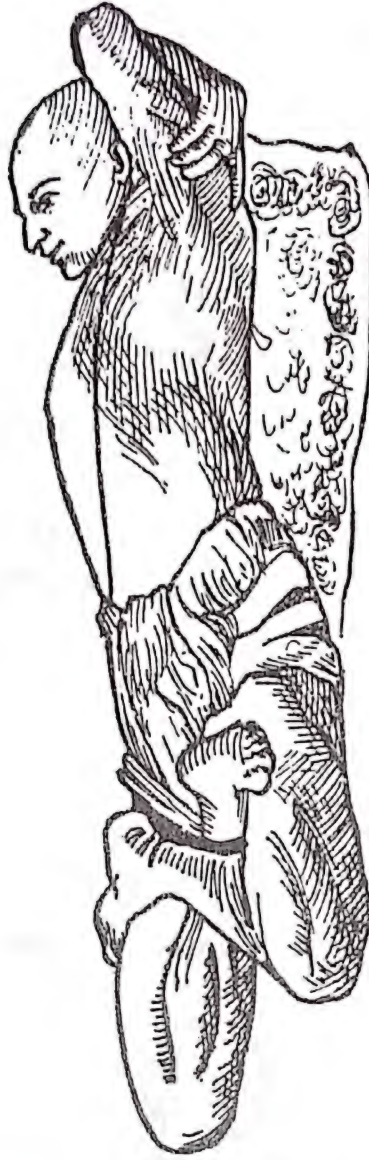
मुक्तपद्मासनं कृत्वा उत्तानशयनं चरेत् ।
कूर्पराभ्यां शिरो वेष्टय मत्स्यासनं तु रोगहृत् ।। २६ ।।

मुक्त पद्मासन लगाकर दोनों कोपड़ोंसे शिरको वेष्टन (बांध) कर उत्तान होकर लेट जानेपर 'मत्स्यासन' कहाता है। यह समस्त रोगोंको हटानेवाला है ।। २६ ।।

(१४) मत्स्येन्द्रासनका लक्षण

वामोरुमूलार्पितदक्षपादं जानोर्बहिर्वेष्टितवामपादम् ।
प्रगृह्यतिष्ठेत्परिवर्तिताङ्गः श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात् ।।२७।।

बायीं जंघाके मूलमें दाहिने पैरको रखकर जानुके बाहर बायें पैरपर हाथधर वामभागसे पीठकी ओर मुख करके बैठनेका नाम 'मत्स्येन्द्रासन' है।

फल—इस आसनके अभ्याससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है और रोग बहुत ही असाध्य क्यों न हों परन्तु उनके खण्डन करनेके लिये यह रामबाण ही है। इसके अतिरिक्त इसमें यह भी गुण है कि कुण्डलिनी शक्तिका जागरण होकर मस्तिष्कमें अमोघ आनन्द देनेवाला अमृत स्थिर हो जाता है ॥ २७ ॥

(१५) गोरक्षासनका लक्षण

जानूर्वोरन्तरे पादवुत्तानाव्यक्तसंस्थितौ ।
गुल्फौ चासाद्य हस्ताभ्यामुत्तानाभ्यां प्रयत्नतः ॥ २८ ।॥

कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा नासाग्रमवलोकयेत् ।
गोरक्षासनमित्याह योगिनां सिद्धिकारणम् ॥ २९ ॥

दोनों जंघाओं और पिंडुरियोंके बीच दोनों पैरोंको उत्तान करके गुप्त भावसे रखे। फिर पीठकी ओरसे चित्त हाथोंसे गुल्फोंको सावधानतासे पकड़कर कण्ठको सिकोड़ करके नासिकाके अग्रभागको देखता रहे। यह योगसाधकोंको सिद्धि देनेवाला 'गोरक्षासन' कहाता है॥ २८–२९ ॥

(१६) पश्चिमोत्तानासनका लक्षण

प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ
दोर्भ्यां पदाग्रद्वितयं गृहीत्वा ॥
जानूपरि न्यस्तललाटदेशो,
वसेदिदं पश्चिमतानमाहुः ॥ ३० ॥

—हठयोगप्रदीपिका.

भूमिपर दोनों पैरोंको दण्डाकार फैलाकर दोनों हाथोंसे पैरोंके अँगूठोंको पकड़ ले, और जानुओंके ऊपर मस्तकको रख दे। इस प्रकारके आसनका नाम 'पश्चिमोत्तान' है॥ ३० ॥

१ शिवसंहिताने इसे 'उग्रासन' बताया है।

इति पश्चिमतानमासनाग्र्यं
पवनं पश्चिमवाहिनं करोति ।
उदयं जठरानलस्य कुर्या-
दुदरे कार्श्यमरोगतां च पुंसाम् ।। ३१ ।।

फल—इस आसनसे प्राणवायुका सुषुम्णानाडीमें वहन होता है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है, उदरका मध्यभाग कृश होता है और नीरोगता प्राप्त होती है ।। ३१ ।।

(१८) उत्कटासनका लक्षण

अङ्गुष्ठाभ्यामवष्टभ्य धरांगुल्फे च खे गतौ ।
तत्रोपरि गुदं न्यस्य विज्ञेयमुत्कटासनम् ।। ३२ ।।

दोनों पैरोंके अंगूठोंको भूमिपर टिका दे और दोनों एड़ियोंको ऊपरको उठाकर उनपर गुदाको दृढ़ स्थापित कर दे। इस आसनका नाम 'उत्कटासन' है ।। ३२ ।।

(१८) संकटासनका लक्षण

वामपादं चितेर्मूलं संन्यस्य धरणीतले ।
पाददण्डेन याम्येन वेष्टयेद्वामपादकम् ।।
जानुयुग्मे करौ युग्मावेतत्तु संकटासनम् ।। ३३ ।।

बायें पैरके अँगूठेको भूमिपर रखकर दाहिने पैरसे बायें पैरको लपेटकर इस प्रकार बैठा रहे कि सारे शरीरका भार उस एक अँगूठेपर ही निर्भर रहे और दोनों हथेलियोंको सीधा जानुओंपर रख ले इस तरहके आसनको 'संकटासन' कहते हैं ।। ३३ ।।

(१९) मयूरासनका लक्षण
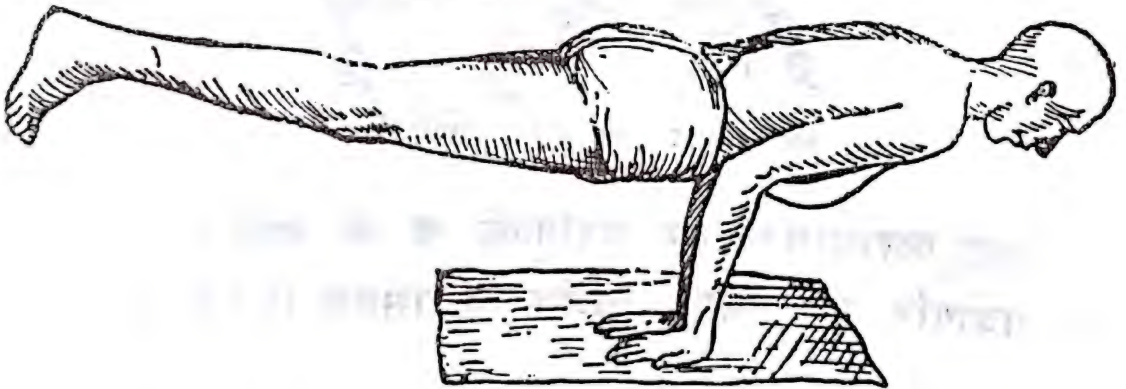
धरामवष्टभ्य करद्वयेन,
तत्कूर्परस्थापितनाभिपार्श्वः ।

उच्चासनो दण्डवदुत्थितः खे,

मायूरमेतत्प्रवदन्ति पीठम् ॥ ३४ ॥

दोनों हाथोंके तलुओंको भूमिपर टेककर दोनों कोपरोंको नाभिकी बगलमें दृढ़ स्थापित कर दे और दोनों पैरोंको फैलाकर ऊंचे आसनसे दण्डेके समान आकाशमें देहको उठाये रहे। इस प्रकारके आसनका नाम 'मयूरासन' है॥ ३४ ॥

मायूरं हरते शीघ्रं रोगान्गुल्मोदरादिकान् ।

हन्त्येतद्विषजां बाधां जठराग्निप्रवर्धनम् ॥ ३५ ॥

फल—इस मयूरासनके अभ्याससे एक गुल्म ही नहीं किन्तु समस्त उदरसम्बन्धी रोग नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि यह जठराग्निको इतना प्रबल कर देता है कि कालकूट जैसे विष भीउस अग्निमें पड़कर निःसत्त्व हो जाता है ॥३५॥

(२०) कुक्कुटासनका लक्षण

पद्मासनं समासाद्य जानूर्वोरन्तरे करौ ।

कूर्पराभ्यां समासीनो उच्चस्थः कुक्कुटासनम् ॥ ३६ ॥

पहले पद्मासन लगाकर फिर दोनों जंघाओं और पिंडुरियोंके बीचमें दोनों हाथोंको कोहनी तक नीचेकी ओर ले जाकर भूमिपर दोनों हथेलियोंको टेक दे और उन्हींके आधारस्थिर होकर बैठा रहे। इसे 'कुक्कुटासन' कहते हैं॥ ३६ ॥

(२१) कूर्मासनका लक्षण

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेण समाहितौ ।
ऋजुकायशिरोग्रीवं कूर्मासनमितीरितम् ।। ३७ ।।

दोनों गुल्फों (गाँठों) को अण्डकोशके नीचे बड़ी सावधानीसे उलटकर दृढ स्थिर रखकर दोनों जानुओंको जमीनपर टेककर बैठ जाय और दोनों हथेलियोंके पृष्ठ भागको दोनों काँखोंमें लगाकर शेष शरीरसे सीधा होकर बैठा रहे यह आसन कूर्म (कछुहे) के समान होनेके कारण 'कूर्मासन' कहलाता है ।। ३७ ।।

दूसरा प्रकार

कुक्कुटासनमध्यास्य उरो भूमौ निधाय च ।
ऊर्ध्वं कृत्वा शिरश्चैव पुरोभागे विलोकयेत् ।। ३८ ।।
हस्तद्वयं विनिस्सार्य कुक्षिमध्ये निधापयेत् ।
कूर्पराभ्यां स्पृशेज्जानु कर्मासनमिदं शुभम् ।। ३९ ।।

पहले कुक्कुटासनको लगाकर अपनी छातीको भूमिमें लिभेड़कर शिर ऊँचाकर ले और सामनेकी ओर देखता रहे। फिर दोनों जानुओंके बीचस हाथोंको निकालकर बायीं हथेलीको बायीं कूखमें और दाहिनी हथेलीको दाहिनी कूखमें लगाकर दोनों कोहनियोंको जानुपर दृढ स्थिर कर दे। किसी एक महात्माके मतमें इस प्रकारका भी 'कूर्मासन' होता है।। ३८–३९ ।।

(२२) उत्तानकूर्मासनका लक्षण

कुक्कुटासनबन्धस्थं कराभ्यां धृतकन्धरम् ।
पीठं कूर्मवदुत्थानमेतदुत्तानकूर्मकम ।। ४० ।।

पहले कुक्कुटासनको लगाकर फिर दोनों हाथोंसे दृढतापूर्वक कन्धेको पकड़कर कछुहेकी तरह उत्तान हो जाने पर "उत्तानकूर्मासन" हो जाता है ।। ४० ।।

(२३) उत्तानमण्डूकासनका लक्षण

मण्डूकासनमध्यास्य कूर्पराभ्यां धृतं शिरः ।
भवेद्भेकवदुत्तानमेतदुत्तानमण्डुकम् ।। ४१ ।।
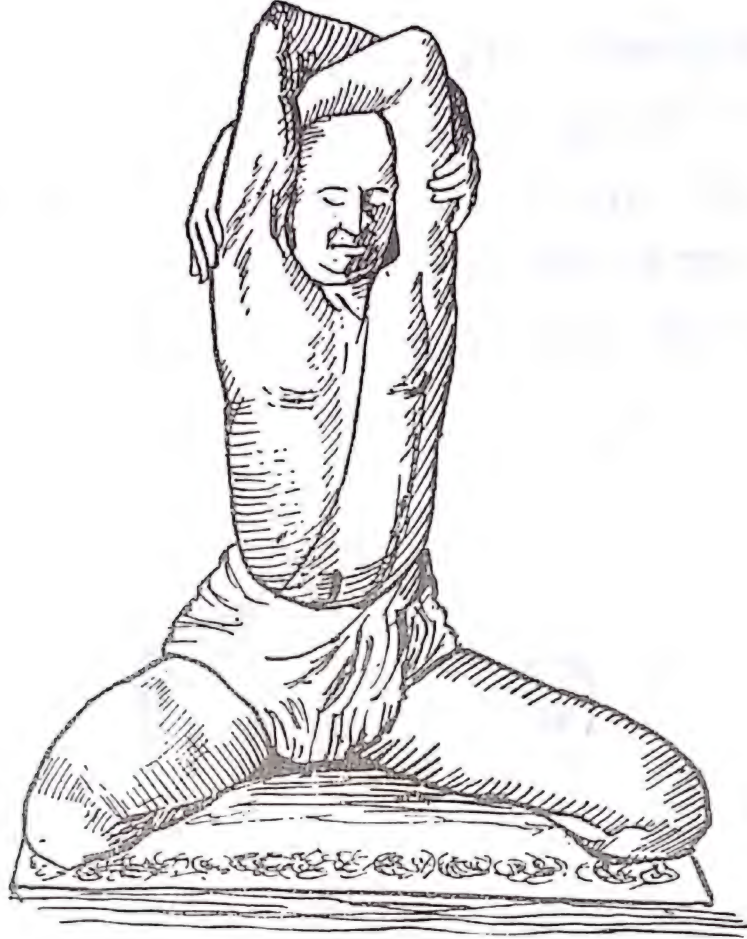
मण्डूकासनको लगाकर कुहनियोंको शिरपर धरकर दाहिने हाथसे बायें और बायें हाथसे दाहिने भुजदण्डोंको पकड कर उत्तान हो जाय। इससे साधक उत्तान मण्डूकसा हो जाता है, अतः यह 'उत्तानमण्डूकासन' कहाता है ।। ४१ ।।

(२४) वृक्षासनका लक्षण

वामोरुमूलदेशे च याम्यं पादं निधाय च।
तिष्ठेत्तु वृक्षवद्भूमौ वृक्षासनमिदं विदुः ।। ४२ ।।

बायीं जंघाके मूलपर दाहिने पैरको रखकर (दोनों हाथोंको जोड़कर) एक ही पैरके सहारे सीधा होकर जमीनपर वृक्षोंके समान खडे रहना 'वृक्षासन' कहलाता है ॥ ४२ ॥

इसीका भेद एक और है, उसका लक्षण इस प्रकार है :—

दोनों हथेलियोंको सीधा शिरके ऊपर लगाकर शिरको भूमिपर दृढ़ कर दे और दोनों पैरोंको मोड़कर गुदाकी ओर ले जाकर टिका दे। इसका नाम "अर्धवृक्षासन" है।

(२५) मण्डूकासनका लक्षण

पृष्ठदेशे पादतलावंगुष्ठे द्वे च संस्पृशेत् ।
जानुयुग्मं पुरस्कृत्य साधयेन्मण्डुकासनम् ॥ ४३ ॥

दोनों पैरोंके तलुओंको पीठकी ओर ले जाकर उनके दोनों अँगूठोंको

परस्पर भिड़ा दे और दोनों जंघाओंको अपने सामने रखकर उनपर सीधे दोनों हाथोंको धरकर दृढ़तासे बैठा रहे। इस आसनसे साधक मेढकके समान हो जाता है इसलिये यह 'मण्डूकासन' कहलाता है ॥ ४३ ॥

(२६) गरुडासनका लक्षण

जंघारुभ्यां धरां पीडच स्थिरकायो द्विजानुतः ।
जानूपरि करं युग्मं गरुडासनमुच्यते ।। ४४ ।।

दोनों जंघाओं और जानुओंको भूमिमें लगाकर फिर दोनों हाथोंको जानुओंपर रखकर उन जानुओंके सहारे दृढ़ स्थिर रहे यही 'गरुडासन' कहाता है। इस आसनसे साधक गरुड पक्षीके समान दीख पडता है ।। ४४ ।।

(२७) वृषासनका लक्षण

याम्यगुल्फे पायुमूलं वामभागे पदेतरम् ।
विपरीतं स्पृशेद्भूमिं वृषासनमिदं भवेत् ।। ४५ ।।

दाहिने गुल्फके ऊपर गुदामार्गको रखकर उसके बायें भागमें वाम पैरको उलटा करके इस प्रकार स्थिर करे कि भूमिपर टिका रहे। यह आसन बैठे हुए बैलके समान होता है, इसलिये 'वृषासन' कहाता है ।। ४५ ।।

(२८) शलभासनका लक्षण

अधस्तु शेते करयुग्मवक्षाः
पाण्योस्तलाभ्यां पृथिवीं प्रपीड्य ।
पाण्योस्तलाभ्यां पृथिवीं प्रपीड्य ।
पादौ ख ऊर्ध्वं च वितस्तिमात्रं
वदन्ति पीठं शलभं मुनीन्द्राः ।। ४६ ।।

दोनों हथेलियोंको भूमिपर धरकर उन्हींके सहारे वक्षस्थल आदि अंगोंको टिकाकर दोनों पैरोंको परस्पर भिड़ाकर दंडेके समान सीधा जमीनसे इतना उठा रहे कि एक बिलस्त (बीता) का अन्तर रहे। इस प्रकारके आसनको मुनिवरोंने 'शलभासन' कहा है, क्योंकि इससे साधक शलभ (टीड़ी) के आकारवाला हो जाता है ।। ४६ ।।

(२९) मकरासनका लक्षण
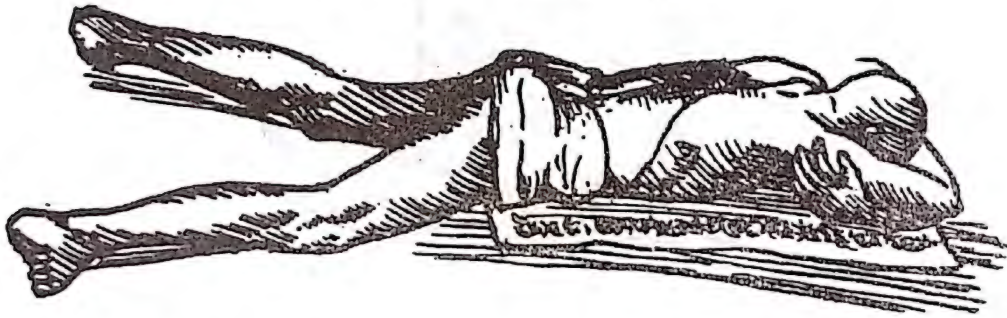
अधश्च शेते हृदयं निधाय
भूमौ च पादौ तु प्रसार्यमाणौ ।
शीर्षं च धृत्वा करदण्डयुग्मं
देहाग्निकारं मकरासनं तत् ।। ४८ ।।

दोनों पैर भूमिपर दंडाकार इस प्रकार फैलाये कि परस्पर एकमें एक न मिले रहें और दोनों हाथोंको शिरपर धरकर बायें हाथसे दाहिने भुजदण्डको,

एवं दाहिने हाथसे बायें भुजदण्डको पकड़ ले। इस प्रकार करनेसे 'मकरासन नामक आसन होता है। इसका स्वरूप मकर (मगर) के समान होता है और यह जठराग्निको बढ़ानेवाला है॥ ४७॥

(३०) उष्ट्रासनका लक्षण
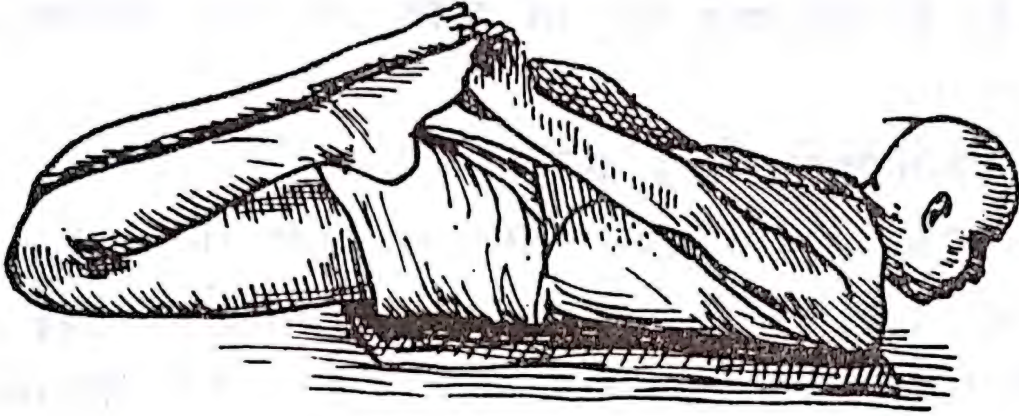
पदद्वयं व्यस्तमधश्च शेते पृष्ठे निधायापि धृतं कराभ्याम्।
आकुञ्चयेच्चैव हृदास्यमूर्ध्वमुष्ट्रं क्षुधादीन्हरते वदन्ति॥४८॥

पट होकर छातीके बल भूमिपर लेट जाय, फिर दोनों पैरोंको उलट कर पीठपर रख दे और दोनों हाथोंको पीठ परसे लेजाकर पैरोंके अंगूठोंको पकड़ ले। फिर उदर (पेट) एवं मुखको भूमिपरसे ऊँचा कर ले। इस तरहके आसनको 'उष्ट्रासन' कहते हैं। यह भूंख और प्यासको रोकनेवाला है इसलिये इससे योगसाधनमें बड़ी सहायता मिलती है, ऐसा सब योगिराजोंका सिद्धान्त है॥ ४८॥

(३१) भुजंगासनका लक्षण
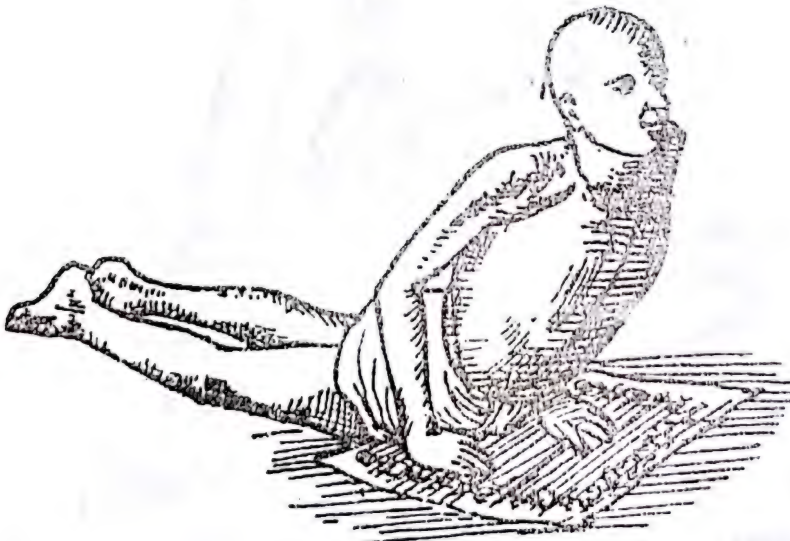
अङ्गुष्ठौनाभिपर्यन्तमधो भूमौ तु विन्यसेत् ।
करतलाभ्यां धरां धृत्वा शीर्षमूर्ध्वं भुजङ्गवत् ॥ ४९ ॥

पैरके अँगूठेसे लेकर नाभितक दंडाकार भूमिपर लेट जाय और दोनों हथेलियोंको उदरके समीप ले जाकर भूमिमें दृढ स्थिर कर दे और सर्पोंके समान शिरको ऊँचा उठाये रहे। इस प्रकारके आसनको 'भुजंगासन' कहते हैं ॥ ४९ ॥

देहाग्निर्वर्धते नित्यं सर्वरोगविनाशनम् ।
जागर्ति भुजगी देवी भुजगासनसाधनात् ॥ ५० ॥

फल—यह दिनों दिन जठराग्निको बढ़ानेवाला है इसी लिये समस्त रोगोंका विनाशक है। और इसमें यह बड़ा भारी गुण है कि यह वक्ष्यमाण कुण्डलिनी शक्तिको जागृत कर देता है, इसलिये योगमार्गमें सफलता मिलती है ॥ ५० ॥

(३२) योगासनका लक्षण

उत्तानौ चरणौ कृत्वा संस्थाप्य जानुकोपरि ।
आसनोपरि संस्थाप्य उत्तानं करयुग्मकम् ॥ ५१ ॥

पूरकैर्वायुमाकृष्य नासाग्रमवलोकयेत् ।
योगासनं भवेदेतद्योगिनां योगसाधकम् ।। ५२ ।।

दोनों पैरोंको उलटा करके दोनों जंघाओंपर रखे और दोनों हाथ चित्त करके आसनके ऊपर रखे। फिर पूरक प्राणायाम द्वारा बाहरसे वायुको खींचकर रोक रखे, यानी कुम्भक करे। और अपनी नासिकाका अग्रभाग देखता रहे। इस तरह आसन लगाकर त्रिविध प्राणायाम करनेका नाम 'योगासन' है। योगासन तभी कहा जा सकता है जब आसनके साथ साथ प्राणायाम भी किया जाता है, अन्यथा योगासन नहीं कहा जा सकता। इसलिये तो "पूरकैर्वायु-माकृश्य......" यह लक्षणके साथ संमिलित किया गया है * ।। ५१-५२ ।।

उपसंहार

आसनोंके अभ्यासके शरीरगत वायुकी गतिका मन्दापन, निरालस्यता उत्साहकी वृद्धि, शरीरकी नीरोगता होती है और क्षुधा, पिपासा आदिकी बाधाएँ दूर होती है, इसलिये मुमुक्षुजनोंको सर्व प्रथम आसनोंका अभ्यास करना चाहिये।

इति श्रीपण्डित-शिवनाथशर्मात्मज-पं० रामनरेश-मिश्र 'प्रेम' विरचिते भाषाटीकायुते बृहद्योगसोपाने तृतीयसोपानप्रकरणं समाप्तम् ।।

अथ चतुर्थ सोपान प्रकरण

आसनके बाद प्राणायामका विधान

अथासने दृढो योगी वशी हितमिताशनः ।
गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान्समभ्यसेत् ।। १ ।।

—हठयोगप्रदीपिका.

जब साधकको आसनकी क्रियाओंमें निपुणता प्राप्त हो जाय तब जिते-न्द्रिय और समुचित मिताहारी होकर गुरुके बताये हुए क्रमसे प्राणायामका अभ्यास करे ।। १ ।।

*** उक्त बत्तीस आसनोंमेंसे सर्वोत्तम दो ही हैं—एक तो 'पद्मासन' और दूसरा 'सिद्धासन'। (१) पद्मासन तो उन ब्रह्मचारियों के लिये विशेष हितकर है जो गार्हस्थ्य-जीवनमें रहते हुए योग, ज्ञान, एवं उपासनाके पहलूको बढ़ानेके लिये और योगी सन्तान उत्पन्न करनेके लिये इच्छा रखते हों। इस आसनसे उपस्थ इंद्रियका दमन तो हो जाता है, पर बेकाम नहीं हो पाती और (२) सिद्धासन उन लोगोंके हितकर है जो वानप्रस्थ, संन्यासी और अविवाहित हों, क्योंकि इसके अभ्याससे उपस्थेंद्रिय बिलकुल बेकाम हो जाती है।**

यद्यपि प्राणायामके बाद प्राणायामका विधान श्रीस्वात्मारामजीने लिखा है, परन्तु अधिक स्थूलकायवाले मनुष्योंको आसन लगानेमें बडी कठिनता होती है, अतः स्थौल्य दोष दूर करनेके लिये प्राणायामसे पहले 'षट्कर्मों' का निरूपण लिखता हूँ, क्योंकि—

मेदःश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥ २ ॥

—हठयोग.

जिस साधकका मेद एवं श्लेष्मा बढ़ गये हों उन्हें पहले षट्कर्मोंका अभ्यास करना चाहिये। परन्तु जिसमें उक्त दोष न हों उसे इनके करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है॥ २॥

षट्कर्मकी उपयोगिता

षट्कर्म-निर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकाः ।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ॥ ३ ॥

षट्कर्मों द्वारा जिसके शरीरसे स्थौल्य और कफजनित दोष दूर हो जाते हैं वह बडी आसानीसे प्राणायामको सिद्ध कर लेता है इसलिये षट्कर्मोंकी आवश्यकता है॥ ३॥

षट्कर्मोंके नाम

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा ।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते ॥ ४ ॥

—हठयोगप्रदीपिका.

१ धौति, २ बस्ति, ३ नेति, ४ त्राटक, ५ नौलिकर्म और ६ कपालभाति; ये छः 'षट्कर्म' कहाते हैं॥ ४॥

(१) धौतिकर्मका निरूपण

अन्तर्धौतिर्दन्त-धौतिर्हृद्धौतिर्मूलशोधनम् ।
धौतिं चतुर्विधां कृत्वा घटं कुर्वन्ति निर्मलम् ॥ ५ ॥

—घेरण्डसहिता

धौतिकर्मके चार भेद हैं—१ अन्तधौति, २ दन्तधौति, ३ हृद्धौति और ४ मूलशोधन। इन चार प्रकारकी धौतियों द्वारा शरीर मलरहित हो जाता है॥ ५॥

वातसारं वारिसारं वह्निसारं बहिष्कृतम् ।
घटस्य निर्मलार्थाय ह्यन्तर्धौतिश्चतुर्विधा ॥ ६ ॥

(१) **अन्तर्धौति** — में भी चार भेद हैं — (क) वातसार, (ख) वारिसार, (ग) वह्निसार और (घ) बहिष्कृत। इन सबके लक्षण यथाकर्म हैं ॥ ६ ॥

काकचञ्चुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः।
चालयेदुदरं पश्चाद्वर्त्मना रेचयेच्छनैः ॥ ७ ॥

(क) **वातसार** — अपने मुखको कौवेकी चोंचके समान करके यानी दोनों होठोंको सिकोडकर धीरे धीरे वायुका पान करे। फिर वायुको पेटके अन्दर चारों ओर संचालित करके धीरे ही धीरे उसे बाहर निकाल दे। यह 'वातसारधौति'[1] कहाती है। इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है इसलिये रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ ७ ॥

आकण्ठं पूरयेद्वारि वक्त्रेण च पिबेच्छनैः।
चालयेदुदरे चैव ह्युदराद्रेचयेदधः ॥ ८ ॥

(ख) **वारिसार** —उसे कहते हैं जिसमें मुख द्वारा धीरे धीरे जल पीकर कण्ठतक भर लिया जाता है। फिर उदरमें चारों तरफ संचालित करके गुदामार्ग द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है। इससे देह निर्मल हो जाती है, यहाँ तक कि देव—देहके समान दिव्य बन जाती है ॥ ८ ॥

नाभिग्रन्थिं मेरुपृष्ठे शतवारं च कारयेत्।
अग्निसारमियं धौतिर्योगिनां योगसिद्धिदा ॥ ९ ॥

(ग) **वह्निसार** —नाभिकी गांठको मेरुपृष्ठमें शत १०० वार लगाये, यानी अपने उदरको इस प्रकार वारंवार फुलाये और पिचकाये कि नाभिग्रन्थि जाकर पीठमें लग जाया करे। इस तरहके कृत्यको 'वन्हिसार' कहते हैं। यह जठराग्निको दीप्त कर उदरके समस्त रोगोंको नष्ट करती है ॥ ९ ॥

काकीमुद्रां शोधयित्वा पूरयेदुदरं महत्।
धारयेदर्धयामं तु अधोमार्गेण चालयेत् ॥ १० ॥

(घ) **बहिष्कृत**—कौवेकी चोंचके समान मुख बनाकर इतनी मात्रामें वायुका पान करे कि पेट भर जाय। फिर उस वायुको डेढ़ घंटे तक पेटमें धारण किये रहे, पीछे गुदामार्गसे बाहर निकाल दे। इसे 'बहिष्कृत–धौति' कहते हैं। इससे नाडियाँ शुद्ध हो जाती हैं, पर इसे तबतक नहीं करना चाहिये जबतक आधे घंटे तक वायुके रोकनेका अभ्यास न कर ले ॥ १० ॥

---

१ इसीका नाम 'काकीमुद्रा' भी है।

[1]जिह्वामूलं दन्तमूलं रन्ध्रं च कर्णयुग्मयोः ।
कपालरन्ध्रं पञ्चैते दन्तधौतिं प्रचक्षते ॥ ११ ॥

(२) दन्तधौति—भी चार प्रकारकी होती र—(क) दन्तमूल, (ख) जिह्वामूल, (ग) कर्णरन्ध्र और (घ) कपालरन्ध्र ॥ ११ ॥

खादिरेण रसेनान्यैः शुष्कमृत्तिकयाथवा ।
मार्जयेद्दन्तमूलं च यावत्किल्बिषमाहरेत् ॥ १२ ॥

(क) दन्तमूल—खैरका रस, सूखी मिट्टी, अथवा अन्य किसी औषधविशेषसे दांतोंकी जड़को अच्छे प्रकार साफ करना चाहिये। यह 'दन्तमूल—धौति' कहाती है ॥ १२ ॥

तर्जनीमध्यमानामेत्यङ्गुलित्रययोगतः ।
वेशयेग्दलमध्ये तु मार्जयेल्लम्बिकाजडम् ॥
शनैः शनैर्मार्जयित्वा कफदोषं निवारयेत् ॥ १३ ॥

(ख) जिह्वामूल—तर्जनी, मध्यमा और अनामिका उंगलियोंको गलेके भीतर डालकर जीभको जड़तक बारम्बार घिसे। इस तरह धीरे धीरे कफके दोषको बाहर निकालदे ॥ १३ ॥

तर्जन्यनामिकायोगान्मार्जयेत्कर्णरन्ध्रयोः ।
नित्यमभ्यासयोगेन नादान्तरं प्रकाशते ॥ १४ ॥

(ग) कर्णरन्ध्र—तर्जनी और अनामिका उंगलियोंके योगसे दोनों कानोंके छिद्रोंको प्रतिदिन साफ करे। इसे 'कर्णरंध्रधौति' कहते हैं। इसके करनेसे एक प्रकारका नाद प्रकट होता है ॥ १४ ॥

निद्रान्ते भोजनान्ते च दिवान्ते च दिने दिने ।
बद्धाङ्गुष्ठेन दक्षेण मार्जयेद्भालरन्ध्रकम् ॥
नाडी निर्मलतां याति दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ १५ ॥

(घ) कपालरन्ध्र—शयन करके उठनेपर, भोजनके अन्तमें और सूर्यास्तके बाद शिरके बीचके गढेको दाहिने हाथके अँगूठे द्वारा जलसे प्रतिदिन साफ करे। इसका नाम 'कपालरन्ध्रधौति' है। इसके करनेसे नाडियां स्वच्छ हो जाती हैं और दृष्टि दिव्य (साफ) रहती है ॥ १५ ॥

हृद्धौतिं त्रिविधा कुर्याद्दण्डवमन-वाससा ॥ १६ ॥

---

१ छन्दोभङ्गके भयसे जिह्वामूलका उपादान प्रथम हुआ है, पर दन्तमूल पहले होना चाहिये।

(३) हृद्धौति —के तीन भेद हैं — (क) दण्डधौति, (ख) वमनधौति और (ग) वासोधौति ।। १६ ।।

रम्भादण्डं हरिद्रााया वेत्रदण्डं तथैव च ।
हृन्मध्ये चालयित्वा तु पुनःप्रत्याहरेच्छनैः ।। १७ ।।
कफपित्तं तथा क्लेदं रेचयेदूर्ध्ववर्त्मना ।
दण्डधौतिविधानेन हृद्रोगं नाशयेद्ध्रुवम् ।। १८ ।।

(क) **दण्डधौति**—केलेके दण्ड, हलदीके दण्ड, अथवा चिकने वेतके दण्डको धीरे धीरे हृदयस्थलमें प्रविष्ट कर दे । फिर हृदयके चारों तरफ घुमाकर युक्तिपूर्वक बाहर निकाल ले । इस दण्डधौतिके करनेसे कफ, पित्त और क्लेद यानी उकलाहट आदि विकारी मल बाहर निकल आते हैं इसलिये हृदयके समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं।। १७–१८ ।।

भोजनान्ते पिबेद्वारि आकण्ठं पूर्णितं सुधीः ।
ऊर्ध्वदृष्टिं क्षणं कृत्वा तज्जलं वमयेत्पुनः ।।
नित्यमभ्यासयोगेन कफपित्तं निवारयेत् ।। १९ ।।

(ख) **वमनधौति** — बुद्धिमान् साधकको चाहिये कि भोजन करनेक बाद कण्ठ पर्यन्त पानी पीकर भर ले, फिर थोड़ी देरतक ऊपरकी ओर देखकर उस पानीको मुखद्वारा बाहर निकाल दे । इस प्रकारकी क्रियासे कफदोष और पित्तदोष दूर होते हैं।। १९ ।।

चतुरंगुलविस्तारं हस्तपञ्च दशायतम् ।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ।।
पुनः प्रत्याहरेच्चैव कथितं धौतिकर्म तत् ।। २० ।।

(ग) **वासोधौति**—चार अंगुल चौड़ा और पन्दरह हाथ, दश हाथ, अथवा कमसे कम पाँच हाथका बारीक वस्त्र किंचित् उष्ण (गर्म) जलसे भिगोकर गुरुके बताये हुए क्रमसे अर्थात् पहले दिन एक हाथ, दूसरे दिन दो हाथ, तीसरे दिन तीन हाथ, किंवा इससे न्यून या ज्यादा युक्तिपूर्वक धीरे धीरे निगल जाय । फिर उसे धीरे ही धीरे बाहर निकाल दे । पर वस्त्र निगलते समय इस बातका ध्यान रहे कि वस्त्रका पिछला किनारा दाँतोंसे न छूटने पाये, क्योंकि ऐसा न करनेसे कदाचित् सब वस्त्र कण्ठके नीचे चला जायगा तो फिर बाहर निकालना कठिन हो जायगा । इस प्रकार अभ्यास करते करते चार अंगुलसे लेकर बाहर अंगुलतक चौंडा और पाँच हाथसे लेकर तीस हाथ

तक लम्बा, अथवा इससे भी अधिक वस्त्र साधक निगल जाया करते हैं। निगलनेवाला वस्त्र कुछ खरदरा होना चाहिये, क्योंकि अत्यन्त बारीक होनेके कारण उदरमें जानेपर उसमें गाँठ पड़ जाती है तो बाहर निकालनेमें कष्ट होता है। इसे 'वासोधौति' कहते हैं। इस क्रियाके द्वारा गुल्म, ज्वर, प्लीहा कुष्ठ एवं कफ-पित्तजन्य सारे विकार नष्ट होते हैं। इसे भोजनके पहले ही करना चाहिये। २०॥

अपानक्रूरता तावद्यावन्मूलं न शोधयेत्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मूलशोधनमाचरेत्॥ २१॥

(४) **मूलशोधन**—जबतक मूलशोधन नहीं हो जाता तबतक अपान-मार्गकी क्रूरता यानी गुदाका कडापन नहीं दूर होता, इसलिये प्रयत्नपूर्वक मूलशोधन करना चाहिये॥ २१॥

पीतमूलस्य दण्डेन मध्यमाङ्गुलिनापि वा।
यत्नेन क्षालयेद्गुह्यं वारिणा च पुनःपुनः॥ २२॥

विधि—कच्ची हल्दीकी जड़से अथवा बीचकी अँगुलीसे यत्नपूर्वक बारम्बार जल द्वारा गुदामार्गको साफ करे। इसे 'मूलशोधन' कहते हैं और कोई कोई इसीको 'गणेशक्रिया' भी कहते हैं॥ २२॥

वारयेत्कोष्ठकाठिन्यमामाजीर्णं निवारयेत्।
कारणं कान्तिपुष्ट्योश्च वह्निमण्डलदीपनम्॥ २३॥

फल—इस क्रिया द्वारा उदरगत काठिन्य दूर हो जाता है और आम-जनित, एवं अजीर्णजनित रोग नहीं उत्पन्न होने पाते, इसलिये शरीरकी पुष्टि तथा कान्ति होती है। यह जठराग्निको प्रदीप्त करनेवाला है इसीसे इसके द्वारा उदरगत विकार नहीं हो पाते॥ २३॥

(२) बस्तिका निरूपण

जलबस्तिः शुष्कबस्तिर्बस्तिः स्यामद्द्विविधास्मृता।
जलबस्तिं जले कुर्याच्छुष्कबस्तिं सदा क्षितौ॥ २४॥

वस्तिकर्मके दो भेद हैं—एक तो जलवस्ति और दूसरा शुष्कवस्ति॥२४॥ दोनों वस्तियोंके लक्षण निम्नलिखित हैं:—

नाभिदघ्नजले पायुं न्यस्तनालोत्कटासनः।
आधारकुञ्चनं कुर्याच्छालनं बस्तिकर्म तत्॥ २५॥

(१) **जलवस्ति**—किसी बड़े पात्रमें नाभि पर्यन्त ठंढा जल भरवाकर अथवा नदी तालाव आदिमें जाकर उत्कटासन लगाकर बैठ जाय। और गुदा—

मार्गका आकुञ्चन और प्रसारण करे, यानी उसी जलके अन्दर उत्कटासनसे बैठा हुआ साधक अपनी गुदाको इस प्रकार सिकोड़े और फैलाये कि जैसे अश्व आदि मूत्रत्यागके बाद किया करते हैं। इसे 'जलवस्ति' कहते हैं और इसीका नाम 'छालन-कर्म' भी है ॥ २५ ॥

प्रमेहं च उदावर्तं क्रूरवायुं निवारयेत् ।
भवेत्स्वच्छन्ददेहश्च कामदेवसमो भवेत् ॥ २६ ॥

फल—इससे प्रमेह, उदावर्त्त, कोष्ठकी क्रूरता आदि रोग दूर हो जाते हैं और देह अपनी काबूमें रहती है। कामदेवके समान साधक सुन्दर होता है ॥ २६ ॥

पश्चिमोत्तानतो वस्तिं चालयित्वा शनैरधः ।
अश्विनीमुद्रया पायोराकुञ्चनप्रसारणम् ॥ २७ ॥

(२) स्थलवस्ति अथवा शुष्कवस्ति—की क्रिया इस प्रकार है कि भूमिपर उत्तान होकर लेट जाय, फिर जिसमें गुदामार्गका आकुञ्चन और प्रसारण होता है ऐसी अश्विनीमुद्रा द्वारा धीरे २ वस्तिका चालन करे ॥ २७ ॥

एवमभ्यासयोगेन कोष्ठ-दोषं न विद्यते ।
विवर्धयेज्जाठराग्निमामवातं विनाशयेत् ॥ २८ ॥

फल—इस वस्तिके अभ्याससे जठराग्नि प्रदीप्त होकर उदरगत आम-वात आदि रोगोंको नष्ट कर देती है ॥ २८ ॥

(३) नेतिका निरूपण ।

सूत्रं वितस्तिमात्रं तु सुस्निग्धं ग्रन्थिवर्जितम् ।
गुरूपदिष्टमार्गेण नासारन्ध्रे प्रवेशयेत् ॥ २९ ॥
मुखान्निष्काशयेच्चैव नेतिं सिद्धाः प्रचक्षते ।
निहन्तिमास्तकान्रोगान्दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ३० ॥

—योगरहस्य.

एक बिलस्ति प्रमाण (बारह अङ्गुल) की पतली एवं जिसमें गाँठ न हो ऐसी सूतकी रस्सी लेकर उसमें मोम आदि लगाकर चिकनी एवं दृढ बना ले। उसे गुरुके बताये हुए क्रमसे नासिकाके छिद्रमें डालकर मुख द्वारा निकाल ले। इसी तरह पृथक् पृथक् दोनों नासिका छिद्रों द्वारा प्रविष्ट कर मुख द्वारा निकाल लिया करे। इस प्रकारकी क्रियाको 'नेति' कहते हैं। इसके करनेसे मस्तकके रोग नष्ट हो जाते हैं और नेत्रोंकी दर्शन शक्ति दिव्य रहती है। और इस क्रियासे यह भी लाभ होता है कि प्राणायाम करनेमें बड़ी सुगमताके साथ वायुका आरोह और अवरोह होता है ॥ २९–३० ॥

(४) नौलिकर्मका निरूपण।

अमन्दावर्तभेदेन तुन्दं सव्यापसव्यतः।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते ॥ ३१ ॥

—हठयोगप्रदीपिका.

अपने कन्धेको नवाकर प्रबल वेगसे पेटको जलभ्रमरकी तरह बाँये और दाहिने वारंवार घुमाये। इसे सिद्ध लोग 'नौलिकर्म' कहते हैं ॥ ३१ ॥

मन्दाग्निसंदीपनपाचनादि—
संधाषिकानन्दकरी सदैव।
अशेषदोषामयशोषणी च,
हठक्रियामौलिरियं च नौलिः ॥ ३२ ॥

फल—यह नौलिकर्म जठराग्निको प्रदीप्त करके भुक्त पदार्थोंका पाचन रेचन आदि क्रियाओंका संपादन भलीभाँति कर देता है और यह शरीरगत समस्त वात-पित्तजन्य रोगोंको नष्ट करके साधकको सुखी बनाये रखता है इसलिये इस नौलिकर्मको आचार्योंने हठयोग क्रियामें उत्तम माना है ॥ ३२ ॥

(५) त्राटकका निरूपण

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः।
अश्रुसंपातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥ ३३ ॥

एकाग्रचित्तसे दृष्टिको स्थिर करके किसी भी सूक्ष्म लक्ष्यपर इकटक तबतक देखते रहना चाहिये जबतक आँसू न गिरने लग जायँ। इसका नाम 'त्राटक' है ॥ ३३ ॥

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम्
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ॥ ३४ ॥

—हठयोगप्रदीपिका.

फल—यह त्राटक नेत्रके रोगोंको नष्ट करनेवाला है और तन्द्राको अदृश्य (दूर) करनेमें तो यह मानो किवाड ही है। यह सुवर्णकी पिटारीकी तरह गोपनीय है ॥ ३४ ॥

(६) कपालभातिका निरूपण

वातक्रमव्युत्क्रमाभ्यां शीत्क्रमेण विशेषतः।
भालभातिं त्रिधा कुर्यात्कफदोषं निवारयेत् ॥ ३५ ॥

—घेरण्डसंहिता.

साधकोंको चाहिये कि—१ वातक्रम, २ व्युत्क्रम और ३ शीत्क्रम, इन तीन भेदोंवाली [1]कपालभातिको करके कफजनित विकारोंको दूर हटायें ॥३५॥

इडया पूरयेद्वायुं पुनः पिङ्गलया त्यजेत् ।
पूरयेद्वा पिङ्गलया पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥ ३५ ॥

(१) **वातक्रम**—इडा नाडी द्वारा वायु खींचना और पिङ्गला नाडी द्वारा बाहर निकाल देना चाहिये। ऐसे ही पहले पिङ्गला द्वारा खींचे और इडा द्वारा निकाल दे। इस तरह अनुलोम और विलोम रीतिसे वायुके आरोहावरोहका नाम ,वातक्रम–कपालभाति' है। इस क्रियाके द्वारा कफजन्य रोग नहीं हो पाते॥ ३६ ॥

नासाभ्यां जलमाकृष्य पुनर्वक्त्रेण रेचयेत् ।
पायं पायं व्युत्क्रमेण श्लेष्मदोषं निवारयेत् ॥ ३७ ॥

(२) **व्युत्क्रम**—नासिकाके दोनों छिद्रों द्वारा जलको मुख द्वारा बाहर निकाल दे। इसे भी अनुलोम और विलोम रीतिसे करना चाहियें। इसका फल वही है जो वातक्रमका है॥ ३७ ॥

शीत्कृत्य पीत्वा वक्त्रेण नासानालैर्विरेचयेत् ।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवसमो भवेत् ॥ ३८ ॥

(३) **शीत्क्रम**—मुखसे शीत्कार कर (सुर–सुर करके) जल खींचना और नासिकाके छिद्रों द्वारा निकाल देना 'शीत्क्रम–कपालभाति' कहाती है।

फल—यह होता है कि पूर्णतया इसका अभ्यास हो जानेपर साधक कामदेवके समान सुन्दर होता है। उक्त षट्कर्मों द्वारा बाह्य और आन्तरिक नाडियोंकी शुद्धि साधकोंको करनी चाहिये पर इनका अभ्यास गुरुके सामने ही होना चाहिये। प्राचीन कालमें भारतवासी जब इन्हें करते थे तो अनेक प्रकारकी व्याधियोंसे बचे रहते थे, इसलिये प्रायः हकीम–डाक्टरोंके शिकार नहीं बनते थे। इन षट्कर्मोंमेंसे धौत्ति, नेति और नौलिकर्म बहुत ही उपयोगी हैं॥ ३८ ॥

इस तरह षट्कर्मोंका निरूपण कर अब शरीरगत नाड़ियोंका परिचय इसलिये यहाँ आवश्यक है कि प्राणायाम क्रियाओंमें इन्हीं नाडियों द्वारा काम लिया जाता है :—

सार्धलक्षत्रयं नाड्यः संति देहान्तरे नृणाम् ।
प्रधानभूता नाड्यस्तु तासु मुख्याश्चतुर्दश ॥ ३९ ॥

१—"भस्त्रा वल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषिणी ॥" —श्रीस्वात्मारामजी.

सुषुम्णेडा पिङ्गला च गान्धारी हस्तिजिह्विका ।
कुहू सरस्वती पूषा शंखिनी च पयस्विनी ।। ४० ।।
वारुणालम्बुषा चैत्र विश्वोदरी यशस्विनी ।
एतासु तिस्रो मुख्याः स्युः पिङ्गलेडासुषुम्णिका ।। ४१ ।।

—शिवसंहिता.

इस शरीरपंजरमें साढ़े तीन लाख नाडियाँ हैं, पर उनमें प्रधानरूपसे चौदह हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं— २१ सुषुम्णा, २ इड़ा, ३ पिंगला, ४ गान्धारी, ५ हस्तिजिह्वका, ६ कुहू, ७ सरस्वती, ८ पूषा, ९ शंखिनी, १० पयस्विनी, ११ वारुणा, १२ अलम्बुषा, १३ विश्वोदरी और १४ यशस्विनी। इन चौदहमें भी तीन नाडियाँ मुख्य हैं— १ इडा, २ पिङ्गला और ३ सुषुम्णा ।। ३९–४१ ।।

इडानाम्नी तु या नाडी वाममार्गे व्यवस्थिता ।
सुषुम्णायां समाश्लिष्य दक्षनासापुटे गती ।। ४२ ।।

(१) **इडा**[1]—उस नाडीका नाम है जो सुषुम्णाको स्पर्श करती हुई दाहिनीनासिकाके दक्षिणद्वारको गई है ।। ४२ ।।

पिङ्गला नाम या नाडी दक्षमार्गे व्यवस्थिता ।
सुषुम्णा सा समाश्लिष्य वामनासापुटे गता ।। ४३ ।।

(२) **पिङ्गला**[2]—उसे कहते हैं जो सुषुम्णाका आधार लेती हुई नासिकाके वामद्वारको गई है ।। ४३ ।।

इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्णा या भवेत् खलु ।
षट्स्थानेषु च षट्शक्ति षट्पदं योगिनो विदुः ।। ४४ ।।

(३) **सुषुम्णा**[3]—उस नाडीको कहते हैं जो इडा और पिंगला नाडीके बीचमें स्तम्भस्वरूपसे रहती है । इस सुषुम्णाके सहारे छः शक्तियाँ रहती हैं, जिनके नाम येय् हैं—डाकिनी, हाकिनी, काकिनी, लाकिनी, राकिनी, और शाकिनी । इन्हीं छ. स्थानोंमें आधार आदि षट्चक्र हैं जिनका वर्णन उपोद्घात प्रकरणमें लिख चुका हूँ । इन सबका पूर्ण परिचय योगी लोगोंको ही होता है, लिखने और कहने सुननेमें नहीं आ सकता ।। ४४ ।।

---

१ इसका दूसरा नाम 'गंगा' है और देवता चन्द्र हैं, अथवा इडाका नाम ही चन्द्र है । २ इसका नाम 'यमुना' और 'सूर्य –नाडी' भी है । ३ इसे 'सरस्वती' और 'अग्निनाडी भी कहते हैं ।

तिसृष्वेका सुषुम्णैव मुख्या सा योगिवल्लभा ।
अन्यास्तदाश्रयं कृत्वा नाड्यः सन्ति हि देहिनाम् ।। ४५ ।।

—शिवसंहिता.

उक्त तीन नाडियोंमें भी योगियोंने एक वही नाडी मुख्य मानी है जो सुषुम्णा कहाती है । क्योंकि इसीके आधार समस्त नाडियोंकी स्थिति है । इसी नाडीके मध्यमें जब प्राण और अपान वायु दोनों मिल जाती हैं तो कुण्डलिनी शक्तिको जागृत करके प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्रमें प्रविष्ट होकर ब्रह्मानन्दका अनुभव करने लग जाता है ।। ४५ ।।

इसी सुषुष्णाके मार्गमें सोती हुई उस कुण्डलिनी शक्ति का परिचय यहाँपर इसलिये लिख देना आवश्यक है कि प्राणायामादि क्रियाओं द्वारा जब इसका जागरण किया जाता है तभी ब्रह्मानन्दका लाभ होता है :—

तत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली परदेवता ।
सार्धत्रिकारा कुटिला सुषुम्णामार्गसंस्थिता ।। ४६ ।।

उपोद्धात प्रकरणमें लिखे हुए आधारचक्रमें साढे तीन आवृत्ति करके सर्पिणीकी तरह कुण्डली बाँधकर, पूछको अपने मुखमें रखकर स्थित रहती है । इसका तेज बिजलीके समान चमकीला होता है और यह सुषुम्णा नाडीके मार्गमें विराजमान रहती है ।। ४६ ।।

ऐसा ही और भी लिखा है :—

येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ।। ४७ ।।

—गोरक्षपद्धति.

जिस मार्ग (सुषुम्णा) द्वारा जन्ममरण रूप दुःख दूर करनेवाला अखंड ब्रह्मानन्द पद मिलता है उस मार्गको रोककर यह कुण्डलिनी सोती रहती है ।। ४७ ।।

इस प्रकार नाडियोंके प्रसंगमें कुण्डलिनी शयक्ति का थोडासा परिचय लिखकर अब मैं—"नाडी शुद्धिं च तत्पश्चात्प्राणायाम् च साधयेत् ।।" 'नाडीशुद्धिके वाद प्राणायाम करना चाहिये' इस कथनानुसार प्राणायामके लक्षण आदि विषयोंका निरूपण लिखता हूँ :—

प्राणायामका लक्षण

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः[1] प्राणायामः ।।

—योगदर्शन.

---

१. दोहा—"श्वास और प्रश्वासकी, गतिका तब विच्छेद–
होता है जब साध ले, आसन सभी अखेद ।।" —'प्रेम'

जब ठीक आसन लग जाया करे तो प्राणायाम करना चाहिये। पद्मासन आदि आसनोंमेंसे किसी एक आसनको लगाकर श्वास और प्रश्वासोंका रोकना 'प्राणायाम[१]' कहाता है ।। ४७ ।।

सूत्रपर व्यासभाष्य :—

सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः ।

कोष्ठ्यस्य वायोर्निस्सारणं प्रश्वासः ।

तयोर्गतिविच्छेदः उभयाभावः प्राणायामः ।।

वायुको बाहरकी ओरसे भीतरको खींचना 'श्वास' कहाता है। एवं उदरके अन्दर गई हुई वायुको बाहर निकालना 'प्रश्वास' कहाता है। और प्राणायाम उसका नाम है जिसमें श्वास और प्रश्वास दोनोंकी गतिका अभाव होता है ।।

इस लक्षणसे यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्राणायाम तीन प्रकारका होता है, क्योंकि पूरक, रेचक और कुंभक इन त्रिविध प्राणायामोंमें श्वास, प्रश्वास और उभयाभाव ही तो होता है। तद्यथा :—

प्राणायामः शरीरस्थ वायोस्तद्वन्निरोधनम् ।

आचार्याणां तु केषांचिद्रेचकपूरककुंभकैः ।। ४९ ।।

शरीरगत वायुकी गतिविधिका निरोध होना प्राणायाम कहाता है और किसी किसी आचार्योंके मतमें प्राणायाममें पूरक, रेचक और कुम्भक ये तीन भेद होते हैं ।। ४९ ।।

सूत्रकारके लक्षणपर विचार :—

रेचकपूरककुम्भकेष्वस्ति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद

इति प्राणायामसामान्यलक्षणमेतदिति ।

तथाहि—'यत्र बाह्यो वायुराचम्यान्तर्धार्यते

पूरके, तत्रास्ति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः ।

यत्रापि कोष्ठ्यो वायुर्विरिच्य बहिर्धार्यते रेचके,

तत्रास्ति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः ।।

एवं कुम्भकेऽपीति ।

तदेतद्भाष्येणोच्यते—'सत्यासन जय' इति ।

—श्रीवाचस्पति.

---

१. प्राणायाम शब्दका वाच्यार्थ भी यही होता है—'प्राणः स्वदेहजो वायुरायामस्तन्निरोधनम् ।' शरीर के अन्दर जो वायु रहती है उसके आयाम यानी निरोधका नाम 'प्राणायाम' है।

'रेचक' पूरक और कुम्भक में श्वास और प्रश्वासकी गतिका अभाव होना' यह प्राणायामका सामान्य लक्षण है। और इन तीनोंमें श्वास, प्रश्वासकी गतिका भी अभाव रहता है।

जैसे--जिस पूरकमें बाहरसे वायुका पान किया जाता है, उसमें श्वास प्रश्वासकी गतिका विच्छेद रहता है और जिसमें उदरगत वायुका बाहर निर्गमन होता है ऐसे रेचकमें भी श्वास, प्रश्वासकी गतिका विच्छेद होता है। इसी प्रकारजिसमें दोनोंका अभाव रहता है ऐसे कुम्भकमें भी वायुकी गतिका विच्छेद होता है, यह बात भाष्य द्वारा बता दी गयी है।

शंका---यद्यपि कुम्भकमें श्वास, प्रश्वासकी गतिका अभाव रहता है, पर पूरक और रेचकमें श्वास तथा प्रश्वासकी गतिका विच्छेद नहीं होता, किन्तु वायुकी गति वर्तमान रहती है इसलिये सूत्रकारका लक्षण ठीक नहीं है। क्योंकि रेचक और पूरकमें लक्षण नहीं संघटित होता इसलिये अव्याप्ति दोष आता है ?

उत्तर— यह वादीका कथन सत्य है, परन्तु लक्षणका शाब्दबोध इस प्रकार होता है कि--"स्वाभाविकश्वासप्रश्वासरूपविशिष्टाभाव." स्वाभाविक श्वास और प्रश्वासकी गतिका अभाव प्राणायाम कहाता है। इस तरह 'स्वाभाविक' शब्द और जोड़ देनेसे कुछ दोष नहीं आता। क्योंकि स्वाभाविक वायु-गति का अभाव तो तीनोंमें रहता है।

प्राणायामका चातुर्विध्य

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकाल-
संख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ।। ५० ।।

—योगदर्शन.

१ बाह्य, २ आभ्यन्तर और ३ स्तम्भ हैं वृत्तियाँ जिसकी ऐसा प्राणायाम देश, काल और संख्याओं द्वारा दीर्घसे सूक्ष्म हो जाता है वही (४) चौथा प्राणायाम कहाता है।

तद्यथा :—

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ।। ५० ।।

—योगदर्शन.

श्वास और प्रश्वासके विषयावधारणसे कुछ दिनोंमें दृढ भूमि होनेपर दोनोंके आक्षेपपूर्वक गतिका अभाव होता है यानी अभ्यासकी परिपक्वावस्थामें उक्त देश काल आदि विषयोंसे रहित वायुका निरोध होता है इसलिये वह चौथा प्राणायाम कहाता है।

जिस तरह सूत्रकार प्राणायामका चातुर्विध्य मानते हैं उसी तरह अन्य आचार्य भी मानते हैं। यथा :—

सहितः केवलश्चेति कुम्भकस्तु द्विधा भवेत् ।
रेचकात्पूरकाच्चैव सहितः कुम्भकः स्मृतः ।
आभ्यां विरहितः कुम्भः केवलो ह्युपजायते ।। ५१ ।।

कुम्भक प्राणायाम दो प्रकारका है—एक सहितकुम्भक और दूसरा रहित कुम्भक। (१) जिसमें रेचक और पूरक होते हैं उसे 'सहितकुम्भक' कहते हैं और (२) जिसमें दोनोंका अभाव रहता है उसे 'रहितकुम्भक' कहते हैं, इस तरह चार भेद हो जाते हैं।। ५१ ।।

और—

सहितो द्विविधः प्रोक्तः प्राणायामं समाचरेत् ।
सगर्भो बीजमुच्चार्य निर्गर्भो बीजवर्जितः ।। ५२ ।।

सहित कुम्भकके भी दो भेद हैं—१ सगर्भ और २ निर्गर्भ। (१) जो बीज सहित होता है वह 'सगर्भ' कहाता है और (२) जो विना बीजमन्त्रके होता है वह 'निर्गर्भ' कहाता है।। ५२।।

कुम्भकके और भी आठ भेद होते हैं :—

सूर्यभेदनमुज्जायी शीतकारी शीतली तथा ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्टकुम्भकाः ।। ५३ ।।

१ सूर्यभेदन, २ उज्जायी, ३ शीत्कारी, ४ शीतली , ५ भस्त्रिका, ६ भ्रामरी, ७ मूर्छा और ८ प्लाविनी; ये कुम्भकके आठ भेद हैं।। ५३ ।।

कथितं सहितं कुम्भं सूर्यभेदनकं शृणु ।
पूरयेत्सूर्यनाड्या च यथाशक्ति बहिर्मरुत् ।। ५४ ।।
धारयेद्बहुयत्नेन कुम्भकेन जलन्धरैः ।
स्यात्स्वेदो नखकेशेषु तावत्कुर्वन्तु कुम्भकम् ।। ५५ ।।

(१) **सूर्यभेदन**—वक्ष्यमाण जालन्धर बन्ध लगाकर दाहिनी नासिकासे श्वासको खींचकर यथाशक्ति उदरमें धारण किये रहे। इस तरह यत्नपूर्वक कुम्भक यानी वायुको पेटमें धारण तबतक किये रहे जबतक नख और केशोंके छिद्रोंमें पसीना न आजाय।। ५४ ।। ५५ ।।

कुम्भकः सूर्यभेदस्तु जरामृत्युविनाशकः ।
बोधयेत्कुण्डलीं शक्तिं देहानलविवर्धनः ।। ५६ ।।

फल—सूर्यभेदन संज्ञक कुम्भक करनेसे कुण्डलिनी शक्तिका जागरण होता है और जठराग्निकी अभिवृद्धि होती है।। ५६ ।।

नासाभ्यां वायुमाकृष्य वायुं वक्त्रेण धारयेत् ।
हृद्गलाभ्यां समाकृष्य मुखमध्ये च धारयेत् ।। ५७ ।।

(२) **उज्जायीकुम्भक**--नासिकाके छिद्रों द्वारा अनुलोम और विलोम रीतिसे बाहरसे वायुको खींचकर मुखमें धारण करे। फिर मुखसे ले जाकर कण्ठमें धारण करे। ऐसे ही कण्ठसे ले जाकर वायुको हृदयमें धारण करे। फिर यथाक्रम हृदयसे कंठमें, कण्ठसे मुखमें और मुखसे बाहर वायुको निकाल दे। इस प्रकारकी क्रियाको 'उज्जायीकुम्भक' कहते हैं ।। ५७ ।।

उज्जायीकुम्भकं कृत्वा सर्वकार्याणि साधयेत् ।
न भवेत्कफरोगं च क्रूरवायुरजीर्णकम् ।। ५८ ।।

फल—यह होता है कि इस उज्जायीकुम्भक द्वारा कफ रोग, वायुप्रकोप और अजीर्ण नहीं हो पाते। इसके द्वारा सब कार्योंका साधन करना चाहिये ।।५८।।

शीतकां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृम्भिकाम् ।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ।। ५९ ।।

—हठयोगप्रदीपिका.

(३) **शीतकारी**--दोनों ओठोंके मध्यमें लगी हुई, जिह्वासे शीत्कार हुआ मुख द्वारा कुम्भक करे, और नासिकाके छिद्रों द्वारा रेचक करे। इसे 'शीत्कारी-कुम्भक' कहते हैं और इसके अभ्याससे साधक कामदेवके समान कान्तिमान् हो जाता है।। ५९ ।।

जिह्वया वायुमाकृष्य उदरे पूरयेच्छनैः ।।
क्षणं च कुम्भकं कृत्वा नासाभ्यां रेचयेत्पुनः ।। ६० ।।

(४) **शीतलीकुम्भक**--जिह्वाके द्वारा बाहरसे वायुको खींचकर उदरमें भर दे और अपने अभ्यासानुसार कुम्भक करके नासिकाके दोनों छिद्रों द्वारा बाहर निकाल दे। यह 'शीतलीकुम्भक' कहाता है। फल इसका वही होता है जो उज्जायीका है।। ६० ।।

भस्त्रेव लोहकाराणां संभ्रमेत्तु यथाक्रमम् ।
तथा वायुं च नासाभ्यामुभाभ्यां चालयेच्छनैः ।। ६१ ।।

(५) **भस्त्रिकाकुम्भक** — उसे कहते हैं जिसमें लुहारकी धमनीकी तरह वारंवार वायुको खींचकर कुम्भकके साथ साथ नासिकाके छिद्रों द्वारा वायु बाहर निकाल दी जाती है। इसे श्रीस्वात्मारामजी 'कपाल-भाति' कहते हैं, जिसका उल्लेख षट्कर्मोंके निरूपणमें किया जा चुका है। इसके करनेसे शरीर नीरोग रहता है।। ६१ ।।

अर्धरात्रिगते योगी जन्तूनां शब्दवर्जिते ।
कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां कुर्यात्पूरककुम्भकम् ।। ६२ ।।

(६) **भ्रामरीकुम्भक**—उस समय जीवजन्तुओंके शब्दका अभाव रहता है इसलिये आधीरातके समय विधिवत् आसनपर बैठकर दोनों कानोंमें अँगुलिओंको लगाकर पूरकपूर्वक कुम्भक करे। इसमें भ्रमरीके शब्दकी तरह कानोंको मूंद लेनेपर शब्द सुनायी पड़ता है इसीसे इसे 'भ्रामरीकुम्भक' कहते हैं। यह नादयुक्त क्रिया 'लय-योग' की है, जिसका दिग्दर्शन उपोद्घात प्रकरणमें लिखा ज चुका है। इस विषयमें विशेष जानना हो तो योगरहस्य आदि ग्रन्थोंका अवलोकन करना चाहिये ।। ६२ ।।

पूरकान्ते गाढतरं बद्धा जालन्धरं शनैः ।
रेचयेन्मूर्छनाख्येयं मनो मूर्च्छा सुखप्रदा ।। ६३ ।।
—हठयोगप्रदीपिका.

(७) **मूर्च्छाकुम्भक**—पूरक होनेके बाद अत्यन्त दृढतासे जालन्धर-बन्ध लगाकर कुम्भक करे। फिर धीरे धीरे वायुका रेचन कर दे इसे 'मूर्च्छा कुम्भक' कहते हैं। इसके द्वारा मनकी मूर्च्छा होती है इसलिये साधकोंको सुखदायक है ।। ६३ ।।

अन्तःप्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः ।
पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत् ।। ६४ ।।
—हठयोग.

(८) **प्लाविनीकुम्भक**—उसका नाम है जिसमें पूरक द्वारा शरीरके अन्दर बहुत अधिक मात्रमें वायु भर ली जाती है और फिर कुम्भक किया जाता है। जिससे साधक अगाध जलमें इस तरह सुखपूर्वक तैरता रहता है जैसे कमलका पत्ता। इस कुम्भकके सिद्ध कर लेने पर साधकको जलकी ओरसे कुछ भी भय नहीं होता ।।

घेरण्डसंहिताकार कुम्भकका आठवाँ भेद 'प्लाविनी' न मानकर 'केवली-कुम्भक' मानते हैं, जिसका लक्षण प्रत्येक श्वास और प्रश्वासके साथ साथ यथाक्रम 'हं, सः' उच्चारण करते हुए पूरक, रेचक करना है। यही 'सगर्भ' अथवा 'सबीज' कुम्भक कहाता है ।। ६४ ।।

यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत् ।।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणात् ।। ६५ ।।

सहितकुम्भकका अभ्यास तभीतक करना चाहिये जब तक रेचक और पूरकके विना कुम्भक न होने लग जाय। यानी जब विना पूरकके ही एकाएकी

वायुके धारण करनेकी शक्ति हो जाय तो फिर सहितकुम्भकके करने की कोई आवश्यकता नहीं है ।।

महर्षि श्रीपतञ्जलि जी और याज्ञवल्क्य आदि आचार्योंने जो चार प्रकारका प्राणायाम बताया है उसका वास्तविक भेद यह है कि प्राणायाममें तो पूरक, कुंभक, रेचक, ये तीन ही भेद हैं, किन्तु पूरक, रेचकके विना जब कुम्भक करनेकी शक्ति साधकको हो जाती है तो वही प्राणायामकी परिपक्वावस्था कही जाती है। इसीको प्राणायामका चौथा भेद कहते हैं। इसी प्राणायामकी सिद्धावस्थाको सूत्रकार — "बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः" कहते हैं और अन्य आचार्य 'केवल-कुम्भक' कहते हैं ।। ६५ ।।

प्राणायाम कितनी मात्राकी होती है ? इसका निरूपण इस प्रकार है :—

मात्राका विवेचन

चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रं चैव वायसः ।
शिखी रौति त्रिमात्रं तु नकुलस्त्वर्धमात्रकम् ।। ६६ ।।

—पाणिनीयशिक्षा.

नौलेका शब्द आधा मात्राका, नीलकण्ठका शब्द एक मात्रा, कौवेका दो मात्राका और मयूर (मोर) का शब्द तीन मात्राका होता है ।। ६६ ।।

अथवा—

जानु प्रदक्षिणी कुर्यान्न द्रुतं न विलम्बितम् ।
प्रदद्याच्छोटिकां[1] यावत्तावन्मात्रेति गीयते ।। ६७ ।।

—स्कन्दपुराण.

न तो बहुत जलदी और न बहुत देरमें जानुकी प्रदक्षिणाके साथ साथ अँगूठ और अनामिका अँगुलीको मिलाकर एक वार बजानेमें जितना समय लगता है उसे एक 'मात्रा' कहते हैं ।। ६७ ।।

किंवा—

ओमित्येकाक्षरं मात्रां प्रवदन्ति मनीषिणः ।
तालत्रयं तथा केचिन्मात्रासंज्ञां प्रचक्षते ।। ६८ ।।

—योगरहस्य.

जितने समयमें 'ओ३म्' शब्दका ठीक २ उच्चारण होता है वही प्राणायामकी एक मात्रा होती है। या तीन बार ताली बजानेमें जितना काल

---

१ "अङ्गुष्ठामध्यमाङ्गुलिसंघर्षजनितः शब्दश्छोटिकेत्युच्यते" अगूंठे और मध्यमा अँगुलीके संघर्षसे यानी दोनोंको मिलाकर बजानेसे जो शब्द होता है उसे 'छोटिका' कहते हैं ।

लगता है वह एक मात्रा है। योगचिन्तामणिमें—'सोते हुए मनुष्य के श्वास और प्रश्वासके एक बार जाने, आनेमें जितना समय लगता है वही प्राणायामकी मात्रा होती है' यह लिखा है ॥ ६८ ॥

प्राणायाममें मात्रा

प्राणायामस्य मानं तु मात्रा द्वादशकं स्मृतम्।
नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्धात ईरितः ॥ ६९ ॥
मध्यमस्तु द्विरुद्धातश्चतुर्विंशतिमात्रकः।
मुख्यस्तुयस्त्रिरुद्धातः षट्त्रिंशन्मात्र उच्यते ॥ ७० ॥

—लिङ्गपुराण.

बारह मात्राका प्राणायाम निम्नश्रेणीका है। इसी बारह मात्रा पर्यन्तको एक 'उद्धात'[1] कहते हैं। एक उद्धातवाला प्राणायाम निकृष्ट, दोका मध्यम और तीन उद्धातका उत्तम होता है। इस उत्तम प्राणायाममें ३६ मात्राएं व्यतीत हो जाती हैं ॥ ६९–७० ॥

प्रथमे द्वादशी मात्रा मध्यमे द्विगुणा मता।
उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः ॥ ७१ ॥

—गोरक्षपद्धति

द्वादश मात्रात्मक प्राणायाम कनिष्ठ, २४ मात्राका मध्यम और ३६ मात्राका उत्तम होता है। अथवा लगातार बारह बारह मात्रा पर्यन्त पूरकत्रय करनेसे कनिष्ठ, चौबिस २ से मध्यम और छत्तीस २ मात्रासे उत्तम कोटिका जानना चाहिये ॥ ७१ ॥

इसी तरह और भी देखिये:—

कनिष्ठ, मध्यम और उत्तमका लक्षण।

अधमे चोद्यते घर्मः कम्पो भवति मध्यमे।
उत्तिष्ठत्युत्तमे योगी ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ७२ ॥

—गोरक्षपद्धति.

कनिष्ठ प्राणायाममें तो पसीना हो आता है और मध्यममें कम्प होता है। तथा उत्तम प्राणायाममें योनिका आधारचक्र ऊपरको उठने लगता है। यही उत्तम आदिकी पहचान है ॥ ७२ ॥

१—"प्राणेनोत्सर्प्यमाणेन अपानः पीड्यते यदा।
गत्वा चोर्ध्वं निवर्तेत एतदुद्घातलक्षणम् ॥"

ऊपरसे आती हुई प्राणवायु अपानवायुको पीडित करके फिर ऊपरको आ जाय इसीका नाम 'उद्घात' है।

आरम्भावस्थामें सर्वप्रथम प्राणायाम किस रीतिसे करना चाहिये यह घेरण्डसंहितामें लिखा है :—

पूरकान्तं कुम्भकान्तं धार्यं नासापुटद्वयम् ।
कनिष्ठानामिकाङ्गुष्ठैस्तर्जनीं मध्यमां विना ।। ७३ ।।

जबतक पूरक न पूरा हो जाय तबतक दाहिने अँगूठेसे दाहिने नासापुटको दबाये रहे और पूरकके हो जानेपर कनिष्ठा तथा अनामिका अँगुलीको परस्पर भिड़ाकर बायें नासापुटगको भी दबा ले। फिर कुम्भकके अन्तमें अँगूठेको नासापुटपरसे हटाकर रेचक करे। किन्तु इस बातका ध्यान रहे कि नासिका-पुटपर तर्जनी और मध्यमा अँगुली न लगने पायें। इसी तरह अनुलोम और विलोम रीतिसे भी करना चाहिये। यह रीति प्रथमावस्थाकी है मध्यम और उत्तम अवस्थाकी नहीं ।। ७३ ।।

वैदिक और तान्त्रिक भेद

पूरणादिरेचनान्तः प्राणायामस्तु वैदिकः ।
रेचनादिपूरणान्तः प्राणायामो हि तान्त्रिकः ।। ७४ ।।

—गोरक्ष.

जिसमें पहले पूरक करके रेचक किया जाता है उसे 'वैदिक-प्राणायाम' कहते हैं और जो रेचक करके पूरक किया जाता है उसे 'तान्त्रिक—प्राणायाम' कहते हैं ।। ७४ ।।

प्राणायामका प्रयोजन

चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत् ।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ।। ७५ ।।

—गोरक्ष.

प्राणवायुके निःश्वासोच्छ्वास होते रहते बिन्दु भी चलायमान रहता है और उनके बन्द हो जानेपर बिन्दु स्थिर हो जाता है, जब प्राणायाम द्वारा प्राणवायु स्थिर हो जाता है तो साधक स्थाणुभावको प्राप्त होकर दीर्घजीवी होता है इसलिये प्राणायाम करना चाहिये ।। ७५ ।।

और भी—

प्राणायामात्खेचरत्वं प्राणायामादरोगिता ।
प्राणायामाच्छक्तिबोधः प्राणायामान्मनोन्मनी ।।
आनन्दो जायते चित्ते प्राणायामी सुखी भवेत् ।। ७६ ।।

प्राणायाम द्वारा साधकको आकाशमार्गमें गमन करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। जिससे वह आकाशमें पक्षियोंकी तरह उड़ सकता है और उन्मनी-

शक्ति का जागरण होता है। इसीलिये साधकके चित्तमें सच्चे आनन्दकी प्रतीति होती है और वह सुखी रहता है ॥ ७६ ॥

प्राणायामका फल

ततःक्षीयते प्रकाशावरणम्[१] ॥ ७७ ॥

—योगदर्शन.

प्राणायाम करनेसे प्रकाश (ज्ञान) का आवरण क्षीण हो जाता है। यानी प्रकाश स्वरूप ब्रह्मज्ञानको ढकनेवाला ढकना हट जाता है इसलिये ब्रह्म ज्ञानका साक्षात्कार होता है ॥ ७७ ॥

प्राणायाम द्वारा जिस प्राण वायुका निरोध किया जाता है उसके कितने भेद हैं? यह भी अवलोकन करिये :—

प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः ।
नागः कूर्मोऽथ कृकलो देवदत्तो धनञ्जयः ॥ ७८ ॥

शरीरके अन्दर दश वायु हैं, जिनके नाम ये हैं—१ प्राण, २ अपान ३ समान, ४ उदान, ५ व्यान, ६ नाग, ७ कूर्म, ८ कृकल, ९ देवदत्त और १०, धनञ्जय ॥ ७८ ॥

हृदि प्राणो वसेन्नित्यमपानो गुह्यमण्डले ।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः ॥ ७९ ॥
व्यानः सर्वशरीरे तु प्रधानाः पञ्चवायवः ।
प्राणाद्या इति विख्याता नागाद्याः पञ्चवायवः ॥ ८० ॥

—गोरक्ष.

(१) **प्राणवायु**—हृदयमें रहकर श्वास, प्रश्वासको भीतर और बाहर निकालती, एवं अन्न पानादिकोंको परिपक्व बनाती है। (२) अपानवायु—मूलाधारमें रहकर मलमूत्रको बाहर निकालती है। (३) समानवायु—नाभिमंडलमें रहकर शरीरको यथास्थान रखनेका काम करती है। (४) उदान वायु—कण्ठमें रहकर शरीरकी वृद्धि करती है। और (५) व्यानवायु—समस्त शरीरमें घूमकर ग्रहण तथा त्याग आदि अंगधर्म कराती रहती है। यद्यपि कहनेको दश वायु हैं, परन्तु मुख्य ये ही पाँच हैं ॥ ७९–८० ॥

इन पाँचोंके अतिरिक्त जो और पाँच बतायी गयी हैं उनके कार्य निम्न-लिखित हैं :—

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः ।
कृकलः क्षुतकृज्ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ॥ ८१ ॥

---

१ दोहा—"**प्राणायाम प्रयोगते, होत विवेक प्रकाश ।**
तब आवरन अज्ञानतम, होत सहज ही नाश ॥" **—प्रभुदयालु.**

न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनञ्जयः ।
एते सर्वासु नाडीषु भ्रमन्ते जीवरूपिणः ।। ८२ ।।

—गोरक्ष.

(१) समय समय पर डकारका आना नागवायुका कार्य है (२) नेत्रोंका पलक लगाना खोलना कूर्मवायुका (३) छींकोंका आना कृकलवायुका- (४) जँभाईका आना देवदत्तवायुका कार्य है। और (५) धनञ्जयवायु उसका नाम है जो शरीरभरमें भ्रमण किया करती है। यह वायु मृतशरीरमें भी यानी अन्य वायुओंके निकल जानेपर भी शरीरमें चार घड़ीतक और स्थिर रहती है।

उक्त अनेक नामवाली वायु शरीरगत समस्त नाडियोंमें जीवरूपसे भ्रमण किया करती है इसीको 'जीव' भी कहते हैं। यद्यपि अविद्यावच्छिन्न जीवका घूमना फिरना नहीं होना चाहिये, तो भी जलके हिलनेसे जैसे चंद्रमा हिलतासा दीख पड़ता है ऐसे ही व्यवहार दशामें वायुरूपसे घूमना, यानी दश प्रकारकी उपाधि जीव चैतन्यमें आरोपित होता है, पर वास्तवमें ऐसा नहीं है।। ८१-८२ ।।

उपरोक्त दश प्रकारकी वायुमेंसे पहले की पांच मुख्य मानी गयी हैं पर प्राणायाम क्रियामें दो ही वायुका प्राधान्य है—एक तो प्राणवायु और दूसरी अपानवायु। जब आसन आदि साधनसंपन्न साधक ऊपरसे प्राणवायुको उदरकी ओर ले आता है और गुह्यस्थानकी ओरसे अपान वायुको ऊपरकी ओर खींचता है तब दोनों (प्राण, अपान) वायु बीचमें परस्पर टकराकर सुषुम्णानाडीके मध्यमें प्रविष्ट होकर कुण्डलिनी शक्तिको जगाती हैं और अन्तमें जगाकर ही मानती हैं। उस कुण्डलिनीके जागृत होनेपर प्राणवायुको ब्रह्मरन्ध्रमें जान मिलता है और ब्रह्मरन्ध्रमें प्राणवायु जाकर ब्रह्मानन्दका साक्षात्कार कर अनुत्तम सुखकी प्राप्ति करता है। इसलिये मुख्य दो ही वायु हैं।

उक्त कुण्डलिनीके विषयमें महात्मा श्रीस्वात्मारामजीने यों लिखा है :—

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली ।। ८३ ।।

वन एवं पर्वतों सहित पृथ्वीको जैसे शेष नाग अपने मस्तकोंपर धारण किये रहते हैं वैसे ही योगके समस्त उपायोंका आधार कुण्डलिनी शक्ति है।

यही कारण है कि उसके बोध विना योगसम्बन्धी समस्त उपाय अधूरे रह जाते हैं ।। ८३ ।।

कुण्डलिनीके जागृत होनेके लिये आपने लिखा है कि मुद्राओंका अभ्यास करना चाहिये।

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जार्गात कुण्डली।
तदासर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपिच ।। ८४ ।।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ।। ८५ ।।

——हठयोगप्रदीपिका.

गुरुकी कृपा एवं अपने अभ्यासबलसे जब कुण्डली शक्तिका जागरण होता है तब समस्त पद्म यानी षट्चक्र विकसित हो जाते हैं और ब्रह्म आदि ग्रन्थियाँ भी खुल जाती हैं। इसलिये उस कुण्डलिनीको जो ब्रह्मद्वारको रोके हुंए सो रही है जगाना हो तो प्रयत्नपूर्वक मुद्राओंका अभ्यास करना चाहिये ।। ८४-८५ ।।

मुद्राओंका लक्षणसहित वर्णन निम्नलिखित है:—

मुद्राओंके भेद

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धो महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।। ८६ ।।
विपरीतकरी योनिर्वज्राणी शक्तिधारिणी ।
ताडागी माण्डवी मुद्रा शाम्भवी पंचधारिणी ।। ८७ ।।
अश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजंगिनी ।
पंचविंशतिसंख्याका मुद्राः प्रोक्ता महर्षिभिः ।। ८८ ।।

घेरण्डसंहिताकार पच्चीस प्रकारकी मुद्रा लिखते हैं कि——१ महामुद्रा २ नभोमुद्रा, ३ उड्डीयानबन्ध, ४ जलन्धरबन्ध, ५ मूलबन्ध, ६ महाबन्ध, ७ महावेध, ८ खेचरी, ९ विपरीतकरणी, १० योनिमुद्रा, ११ वज्राणी, १२ शक्तिधारिणी, १३ ताडागी, १४ माण्डवी, १५ शाम्भवी, १६ पार्थिवधारिणी, १७ आम्भसीधारिणी, १८ वैश्वानरीधारिणी, १९ वायवीधारिणी २० नभोधारिणी, २१ अश्विनी, २२ पाशिनी, २३ काकी, २४ मातङ्गी और २५ भुजंगिनी, इन भेदोंसे मुद्राके पच्चीस नाम महर्षियोंने बताये हैं ।। ८६-८८ ।।

(१) महामुद्राकी विधि

पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य यत्नतो दृढम् ।
याम्यपादं प्रसार्याथ करैर्धृतपदाङ्गुलिः ।। ८९ ।।
कण्ठसंकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत् ।
महामुद्राभिधा एषा कथ्यते चैव सूरिभिः ।। ९० ।।
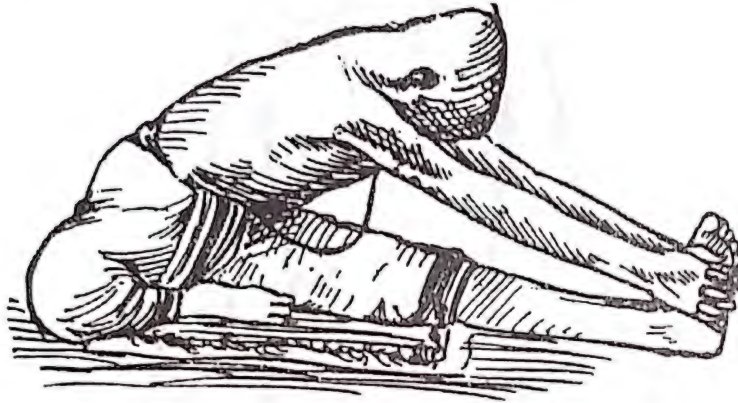
बायें पैरकी एडीको गुदा और लिङ्गके मध्यभागमें दृढ लगाकर दाहिने पैरको दण्डाकार फैलाकर एड़ी भूमिपर रख दे, फिर दोनों हाथोंकी अँगुलियोंको परस्पर भिड़ाकर दाहिने पैरकी अँगुलियोंको पकड ले और कंठको सिकोड कर भौंहोंके मध्यभागको निश्चल दृष्टिसे देखता रहे । इस प्रकारकी क्रियाका नाम महात्माओंने 'महामुद्रा' बताया है । इसका अभ्यास अनुलोम और विलोम रीतिसे अर्थात् बायें अंगसे करके उसी तरह दाहिने अंगसे भी करना चाहिये । इस मुद्राके लगानेका फल यह होता है कि—"ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् । तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ।।" इडा और पिंगला नाडीको त्यागकर प्राणवायुको कुंडलीके पास सरलतासे पहुँचानेके लिये सुषुम्णा नाडीवाला मार्ग उपस्थित हो जाता है, इसलिये कुंडलीके जगानेका अनुकूल अवसर प्राप्त हो जाता है ।। ८९–९० ।।

(२) नभोमुद्राकी विधि

यत्रतत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा ।
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा धारयेत्पवनं शनैः ।।
नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी ।। ९१ ।।

जब कभी साधकको इच्छा हो तब ऊपरको जीभ निकाल कर धीरे २ वायुको खींचकर कुम्भक करे । यह समस्त रोगोंके नाश करनेवाली 'नभोमुद्रा' नामक मुद्रा कहाती है ।। ९१ ।।

(३) उड्डीयान बन्ध

उदरे पश्चिमं तानं नाभिरूर्ध्वं तु कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातंगकेसरी ।। ९२ ।।

दोनों जानुओंको मोड़कर पैरोंके तलुओंको परस्पर भिडाकर उसीके सहारे बैठ जाय । फिर उदरगत नाभिचक्रके नीचे तथा ऊपरके भाग का आकर्षण इस प्रकार करे कि दोनों भाग जाकर पृष्ठभागमें लग जायँ । इसमें नाभिके ऊपरी और निचले भागका तनाव होता है, इस तनावसे सुषुम्णा नाडीके मध्य जानेके लिये प्राणवायुका मार्ग जो अवरुद्ध रहता है वह अनुकूल हो जाता है, अत एव सुखपूर्वक सुषुम्णाकी ओर प्राण–पक्षी उड जाता है, इसी लिये इस बन्धका अन्वर्थ नाम 'उड्डीयान[1]' रखा गया है । यह बन्ध दृढ अभ्यस्त हो जाने पर मृत्युरूप मतवाले हाथीके साथ सिंहकासा व्यवहार करता है और बूढोंको भी जवान बना देता है ।। ९२ ।।

(४) जालन्धर बन्ध

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशनः ।। ९३ ।।

—हठयोगप्रदीपिका.

१—'सुषुम्णायामुड्डीयतेऽनेन बद्धः प्राण इत्युड्डीयनम् । 'डीङ्' विहायसा गतौ' इत्यस्मात्करणे ल्युट ।' करणेमें डी धातुसे ल्युट् प्रत्यय होकरयह शब्द सिद्ध होता है और जिसके द्वारा बँधा हुआ प्राण सुषुम्णामें जाता है, यही इसका वाच्यार्थ है ।

कंठको सिकोडकर अपने चिबुक (ठोढी) को हृदयकी ओर लेजाकर इस प्रकार दृढ स्थापित कर दे कि हृदयसे ठोढीका अन्तर केवल चार अंगुलका रहे। यह बन्ध जाल यानी नाडियोंके समूहको बाँधे रहता है, अथवा कपाल-कुहरसे गिरकर नीचे जाकर जठराग्निको मन्द कर देनेवाले जलबिन्दुका बन्धन किये रहता है इसलिये इसका अन्वर्थ नाम 'जालन्धर[१]' कहा गया है। नाडियोंके बँधे रहनेसे कुपित वायु नाडियोंमें जाकर किसी तरहका विकार नहीं उत्पन्न करने पाती और जलबन्धनसे जठराग्नि कभी मन्द नहीं होने पाती, जिससे साधकको यह लाभ होता है कि मृत्युभय, बूढ़ापन, रोग एवं आलस्य आदि उपद्रवोंसे छुटकारा मिल जाता है। इसमें कंठका जो संकोचन किया जाता है उसका यह भी फल होता है कि इडा और पिंगला नाडियोंके स्तम्भन होनेके कारण सुषुम्णामें जानेके लिये प्राणको सहजमें ही रास्ता खुल जाता है—जिसका फल कुण्डलीका बोधन होता है।। ९३ ।।

(५) मूलबन्ध

प्रार्ष्णिभागेन संपीडय योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोभिधीयते ।। ९४ ।।

—हठयोगप्रदीपिका.

दाहिनी अथवा बाईं एडीको गुदा और लिङ्गके मध्यभागमें दृढ़ लगाकर गुदामार्गके आकुञ्चन द्वारा अधोगत अपान वायुको ऊपरकी ओर ले जाय। इस मूल (गुदा) के आकुञ्चनसे अपान वायुका ऊर्ध्वगमन होकर प्राणके साथ संयोग होता है, दोनोंको सुषुम्णा नाडीमें जानेका अवसर मिलता है, इसका नाम 'मूलबन्ध' है। इस बन्धके लक्षणमें योगबीजकारने 'अश्वकी तरह बार-बार आकुञ्चन करे' इतना विशेष लिखा है, बाकी सब समान है। इसके करनेसे जब अपान और प्राणवायु परस्पर मिलकर सुषुम्णामें प्रविष्ट होती हैं तो नाद और बिन्दुका भी मिलाप हो जाता है। जिसका फल यह होता है कि साधक नीरोग रहकर योगसिद्धि प्राप्त करता है।। ९४ ।।

(६) महाबन्ध मुद्रा

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ।। ९५ ।।

---

१ जाल = समूह (नाडीसमूह)। जाल = जल संबन्धी (जलबिन्दु) जालं + धरतीति विग्रहः।

पुरयित्वा ततो वायुं हृदयं चिबुकं दृढम् ।
निष्पीड्य पायुमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत् ।। ९६ ।।

बायें पैरकी एडीको गुदा और लिङ्गके मध्यमागमें लगाकर बायीं जंघाके ऊपर दाहिने पैरको रखकर दृढतापूर्वक बैठ जाय । फिर जालन्धर बन्ध लगाकर अर्थात् कण्ठको संकुचित कर ठोढीको चार अंगुलका बीच रखकर हृदयके सामने दृढ़ स्थापित कर पूरक प्राणायाम करे । और गुदाका आकुञ्चन यानी मूलबन्ध करके मनको मध्यनाडीमें प्रविष्ट करे । फिर उस पूरक द्वारा उदरमें गयी हुई वायुका यथाशक्ति धारण कर धीरे २ रेचन करे । जबतक अनुलोम, विलोमसे इस क्रियाका अभ्यास न हो जाय तबतक युक्तिपूर्वक अभ्यास करता रहे । 'महाबन्धःमुद्रा' से गंगा, यमुना और सरस्वती नामवाली नाडियोंका संगम होता है, एवं मन शिवस्थानमें जा पहुँचता है ।। ९५-९६ ।।

जैसे रूपलावण्य संयुक्त युवावस्थावाली स्त्री विना पुरुषके निष्फल रहती है ऐसे ही महावेधके विना महाबंध और महामुद्रा भी व्यर्थ हो जाती हैं, इसलिये जिज्ञासुओंके निमित्त घेरण्डसंहितासे यहाँ पर उसका लक्षण उद्धृत करता हूँ --

(७) महावेध

महाबन्धं समास्थाय उड्डानकुम्भकं चरेत् ।
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः ।। ९७ ।।
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ।। ९८ ।।

महावंधको करके उड्डानबन्धपूर्वक कुम्भक करना चाहिये, परन्तु कुम्भक करते हुए इस बातका ध्यान अवश्य रहे कि दोनों हाथोंके तलुओंको भूमिमें लगाकर नितम्बको ऊपर और नीचे धीरे २ युक्तिपूर्वक उठाये और छोड़े । इस तरह करनेसे इड़ा पिंगला नाडियोंको छोडकर वायु सुषुम्णामें प्रवेश करती है ।। ९७-९८ ।।

(८) खेचरीमुद्राका लक्षण

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ।। ९९ ।।

महात्मा स्वात्मारामजी खेचरी मुद्राका निरूपण इसप्रकार लिखते हैं कि--कपालके कुहर (छिद्र) में उलट देनेपर जिह्वा यदि प्रविष्ट हो जाय,

एवं भ्रुकुटियोंके मध्यमें दृष्टिका प्रवेश हो जाय तो इसीका नाम 'खेचरी-मुद्रा' है ।। ९९ ।।

जिह्वाका प्रवेश कपाल--कुहरमें किस क्रियासे होने लगता है यह भी स्वयं कहते हैं--

खेचरीसिद्धिके उपाय

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ।
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ।। १०० ।।

जबतक जिह्वा इतने परिमाणमें न बढ़ जाय कि भ्रुकुटीके मध्यमभागको छू लिया करे, तबतक जिह्वा बढ़ाने के लिये १ दोहन, २ चालन और ३ छेदन; ये तीन क्रियाएँ करनी चाहिये ।

इन क्रियाओंकी रीति इस प्रकार है :—

(१) प्रातःकाल जब दन्तधावन कर चुके तब जीभमें मक्खन लगाकर उसे दोनों हाथोंकी अँगुलियोंसे धीरे २ इस तरह दुहे कि जैसे गौ दुही जाती है । इसे 'दोहन' कहते हैं। (२) अँगूठे और तर्जनी अँगुलीसे जिह्वाको पकड़कर चारों तरफ उलटफेर कर हिलाइये। इसीका नाम 'चालन' है। और (३) सेंहुड़ (स्नुही पत्र) के आकारवाले तीक्ष्ण शस्त्रसे आठवें आठवें दिन जिह्वाके नीचे जो शिरा रहती है उसे जितने आयामका वाल (रोम) होता है उतने परिमाणमें छेदन करे। इसीको ,छेदन' कहते हैं। छेदनके बाद उसी घावपर सैंधव, नमक, अथवा कत्था और हरडका चूर्ण घिसना चाहिये। कोई २ तो तो छेदन न करके केवल औषध द्वारा ही काम लेते हैं। जो साधक छेदन करते हैं उन्हें प्रत्येक अठवड़ेमें क्रमशः थोड़ी २ घावकी मात्रा बढ़ाते जाना चाहिये । जैसे—पहले अठवाड़ेमें वालप्रमाण घाव हो तो दूसरे में इससे कुछ अधिक होन चाहिये। उपरोक्त रीतिसे छः महीनेतक लगातार करते करते जिह्वा बढ़कर उपयोगमें आने लगती है, यानी जिह्वाकी लम्बाई इतनी हो जाती है किभ्रूम-ध्यको अच्छे प्रकार छू सकती है। तब साधकको चाहिये कि जिह्वाको उलटकर कपालकुहरमें प्रविष्ट करे वहाँ तीनों नाड़ियोंके जो छिद्र रहते हैं उनमें सुषुम्णाके छिद्रसे जो अमृत बिन्दु टपकता रहता है उसे जिह्वाग्रसे पान करे ।। १०० ।।

इस अमृत बिन्दुके पानसे साधक निरामय होकर अजर, अमर हो जाता है। तथा :—

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा रसस्पर्शिनी,
सक्षाराकटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।

व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं,
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ।। १०१ ।।

—हठयोगप्रदीपिका

जब पूर्वोक्त क्रियाओं द्वारा जिह्वा कपालकुहरमें जाती है तो सर्व प्रथम लवणके समान स्वाद प्रतीत होता है, एवं फिर क्रमशः कडुआ, अम्ल और दूध मधु, घीका स्वाद आने लगता है। यदि घीका स्वाद आने लग जाय तो समझ लेना चाहिये कि खेचरी मुद्रा सिद्ध हो गयी। इस मुद्रासे चंद्र (वाम), नाडीगत अमृतबिन्दु (जिसे 'अमरवारुणी' भी कहते हैं) पान करनेको मिलने लग जाता है इसलिये जरा, मरण, शत्रुसे भय और रोगोंसे छुटकारा मिल जाता है तथा अणिमा आदि अष्टसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।। १०१ ।।

इसकी प्रशंसामें और भी लिखा है कि :—

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः ।। १०२ ।।

गो शब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ।। १०३ ।।

—हठयोगप्रदीपिका.

जो साधक प्रतिदिन तालुके समीप ऊर्ध्वविरमें जिह्वाको प्रविष्ट करके अमरवारुणीका पान करता है उसे ही स्वात्मारामजी कुलीन मानते हैं, हैं, अन्य इतरोंको कुलघातक बताते है, क्योंकि इसके विना वे योगसिद्धि मानते ही नहीं ।। १०२–१०३ ।।

(९) विपरीत करणीमुद्रा

नाभिमूले वसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः ।
अमृतं ग्रहते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नरः ।। १०४ ।।

ऊर्ध्वं च गमयेत्सूर्यं चन्द्रं च अध आनयेत् ।
विपरीतकरी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।। १०५ ।।

भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मे समाहितः
ऊर्ध्वपादो दृढीभूत्वा विपरीतकरी मता ।। २० ।।

—घेरण्डसंहिता.
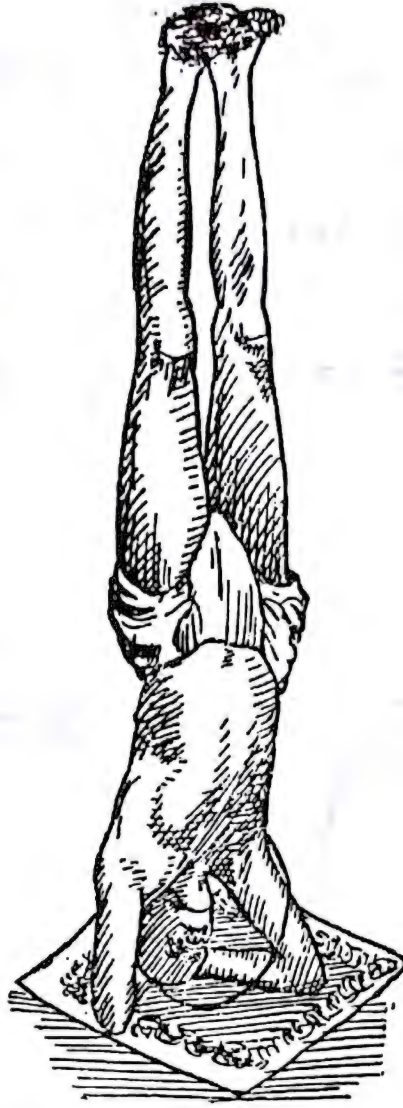
नाभिके मूलमें सूर्यनाडीका निवास है और तालुमूलमें चन्द्रनाडीका स्थान है। जब चंद्रगत अमृतको अपने तेजसे सूर्य पान कर जाता है तो मनुष्य किसी न किसी दिन मरणावस्थाको प्राप्त हो जाता है इसलिये 'विपरीतकरणी' मुद्रा करनी चाहिये। इसकी क्रिया इस तरह है कि––जिसपर शिर सुखपूर्वक टिक सके ऐसी कपड़ेकी गिडुरी बनाकर उस पर शिरको दृढ स्थापित कर दोनों हाथोंको शिरकी दोनों ओर लगा ले, और दोनों पैर दंडाकार सीधा ऊपरको उठाये रहे। इस क्रियामें चन्द्र नीचे और सूर्य ऊपर हो जाता है यानी ऊपर का नीचे एवं नीचेका ऊपर होता है, अतएव इस मुद्राका अन्वर्थ नाम 'विपरीत–करिणी' है। इसके करनेसे त्वचाका सिकुड़ना और बालोंका श्वेत होना नहीं होता, अर्थात् वृद्धावस्था नहीं आने पाती। इतनाही नहीं, किन्तु निरंतर एक प्रहर पर्यन्त इस क्रियाके करनेवाला मनुष्य मृत्युको भी जीत लेता है। परन्तु खेचरी मुद्राके सामने इसका महत्त्व नहीं के बराबर है; क्योंकि इसे साधकर जो काम सिद्ध करना है वह पूर्णतया उसीसे होता है, इससे नहीं ॥ १०४–१०६ ॥

(१०) योनिमुद्रा

सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नसोमुखम् ।
अङ्गुष्ठतर्जनीमध्यानामिकाभिश्च साधयेत् ।। १०७ ।।
प्राणंसंकृष्य काकीभिरपाने योजयेत्ततः ।
षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुं हंसं मनुना सुधीः ।।
चैतन्यमानयद्देवीं निद्रिता या भुजङ्गिनी ।। १०८ ।।

—घेरण्डसंहिता.

पहले सिद्धासन लगाकर दोनों अँगूठोंसे दोनों कानोंको, दोनों तर्जनियोंसे नेत्रोंको, दोनों मध्यमाओंसे दोनों नाकके छिद्रोंको और दोनों अनामिका एवं कनिष्ठिकाओंसे दोनों ओठोंको बन्द करके काकी मुद्रा द्वारा अर्थात् जिह्वाको कौवेकी चोंचके समान बनाकर उसके द्वारा प्राणवायुको खींचकर अधोगत अपान वायुके साथ उसका मेलन कर दे। फिर क्रमशः षट्चक्रगत ज्योतिके ध्यानपूर्वक 'हूं' हंसः' इन अक्षरोंको जपता हुआ परस्पर मिली हुई वायुओंको ऊपर लेजाकर सोती हुई कुण्डलीको जगा दे। इस प्रकारकी क्रियाको 'योनिमुद्रा' कहते हैं और इसीका नाम 'षण्मुखी-मुद्रा' भी है ।। १०७–१०८ ।।

(११) वज्रोलीमुद्रा

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ।। १०९ ।।

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ११० ॥
स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ १११ ॥

वज्रोली मुद्राके सिद्ध करनेमें दो वस्तुओंकी नितान्त आवश्यकता है, एक तो दूध और दूसरी अपने वशमें रहनेवाली स्त्री; विना इनके यह मुद्रा नहीं की जाती। लिङ्गके छिद्रमें वायुके संचार करनेके लिये उत्तम नालसे धीरे धीरे यत्नपूर्वक फूत्कार करना चाहिये।

वज्रोलीका क्रम इस प्रकार है कि—शीशेकी शलाका (शलाई) लिङ्गके छिद्रमें प्रवेश करनेके योग्य चौदह अंगुलकी बनवाकर उसमें प्रवेश करनेका अभ्यास क्रमशः धीरे २ बढ़ाये। जैसे— पहले दिन एक अंगुल, दूसरे दिन दो, तीसरे दिन तीन, इस प्रकार बढ़ाते २ बारह अंगुलतक प्रविष्ट करनी चाहिये। इतना होने लगे तब चौदह अंगुलकी ऐसी सलाई बनवाये– जो दो अंगुल डेढी और ऊर्ध्वमुखी हो। परंतु यह शलाका पोली होनी चाहिये। इसे भी दो अंगुलवाले टेढ़े भागको बाहर रखकर छिद्रमें प्रविष्ट कर दे। फिर सुनारकी धमनीके समानवाली धमनीसे उस शलाकामें लगाकर फूत्कार करे (फूंके)। ऐसा करनेसे लिंगके मार्गकी अच्छी तरह शुद्धि हो जाती है, तब लिंग द्वारा वायुका खींचना और छोड़ना बड़ी आसानीसे पर्याप्त मात्रामें होने लगता है। इस तरह उक्त अभ्यासके सिद्ध होनेपर साधक अपने लिंगछिद्रसे सर्वप्रथम जल खींचनेका अभ्यास करे, कुछ दिनोंके बाद दूधका आकर्षण करे, एवं फिर तेल और तेलके बाद पारा खींचने लग जाय।

जब शुद्ध रीतिसे पारेके आकर्षणकी शक्ति हो जाय तो–"नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्। चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्।" स्त्रीकी योनिमें गिरे हुए वीर्यबिन्दुके आकर्षणका अभ्यास करे। अर्थात् संभोगकी अन्तिम अवस्थामें वीर्य पतनोन्मुख होने लगे तो उसे इस प्रकार ऊपरको आकर्षित करे कि योनिमें न गिरने पाये। कदाचित् वीर्य गिर ही पड़े तो योनिमेंसे उसे पूर्वोक्त क्रियाके अभ्यास बलसे ऊपरको खींच ले।

इस क्रियाको सिद्ध करके साधक लोग स्त्रीसे सहवास करते हुए अपने वीर्यको मुद्राकी शक्तिसे गिरने नहीं देते, और स्त्रीके रजको मुद्रा– बलसे ऊपरको खींचकर अपना मस्तिष्क भरापुरा कर लेते हैं। फल यह होता है कि स्त्रीभोगजन्य विपत्तियाँ फिर उन्हें नहीं भोगनी पड़तीं। और उक्तक्रियासे

वे अपने वीर्यकी रक्षा कर अजर अमर बन जाते हैं। क्योंकि–'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'। वीर्यके पतनसे ही देहका पात होता है, अन्यथा नहीं। इस मुद्राको वही कर सकता है जो प्राण और मनको वशमें कर लेता है।। है।। १०९–१११ ।।

अब इसके आगे शक्तिधारिणा आदि शेष मुद्राओंका उल्लेख नहीं करूँगा, दश मुद्राएँ मुख्य हैं उनका सविस्तर निरूपण कर दिया गया है। इन्हीं दश-मुद्राओंको श्रीस्वात्मारामजीने भी लिखा है। और इन्ही मुद्राओं द्वारा कुण्ड-लिनीका जारण होता है जिससे साधकको सिद्धता प्राप्त होती है।।

प्रकरणका उपसंहार

प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः।
कुम्भके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ।। ११२ ।।
न तस्य दुर्लभं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते।
शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात् ।। ११३ ।।

रेचक और पूरकके विना जो कुम्भक होता है उसीको 'केवल कुम्भक' अथवा 'प्राणायाम[1]' कहना चाहिये। जो मनुष्य उक्त दोनोंके विना कुम्भक कर सकता है यानी प्राणायामको सिद्ध कर लेता है उसे तीनों लोकोंमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो न प्राप्त हो सके। इसी कुम्भककी सिद्धावस्थासे साधक प्रत्याहार करने लग जाता है।। ११२–११३ ।।

इति श्रीपण्डित शिवनाथशर्मात्मज–पं० रामनरेशमिश्र 'प्रेम' विरचिते भाषाटीकायुते बृहद्योगसोपाने चतुर्थसोपान-प्रकरणं समाप्तम् ।।

पंचम सापोन प्रकरण

प्रत्याहारका निरूपण

"मुझे निरन्तर सुख ही सुख मिला करे, दुःख किसी भी कालमें न उप स्थित हो" ऐसी इच्छाका होना अन्तः–करणका स्वाभाविक धर्म है। इसलिये प्रत्यक्ष सुख देनेवाले विषयोंकी शरण जाना भी चित्तका स्वाभाविक हो जाता है, क्योंकि दृष्ट पदार्थको त्यागकर अदृष्ट पदार्थकी ओर जानेमें अनेक तरहकी बाधाएँ उपस्थित हो जाया करती हैं। जिसके कारण पहले तो अदृष्टकी कल्पना करना ही दुर्लभ हो जाता है, दूसरे उसकी कल्पना करके उस ओर

---

१ प्राणायामके विषयमें विशेष जाननेकी इच्छा हो तो हठयोगप्रदीपिका का अवलोकन करना चाहिये।

आने भी लगे तो काम, क्रोध, मोह, आदि शत्रुओंके ऐसे कठिन वार पड़ने लगते हैं कि उन्हें आत्म लसे प्रयत्न द्वारा रोकना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने अर्जुनके प्रति तीन प्रकारका सुख बताते हुए कहा है :—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।। १ ।।

—भगवद्गीता.

विषयेन्द्रियके संयोगसे जो सुखका भान होता है वह पहले अमृतके समान प्रिय अवश्य लगता है परन्तु अन्तमें वह विषके रूपमें परिणत हो जाता है और जीवात्माके लिये बड़ी भारी हानि पहुँचाता है। तमोगुण और रजोगुणके आधिपत्यमें विषयसुखकी इच्छा प्रबल होकर बलात् अपनी ओर खींचे रहती है और सत्त्वगुणकी प्रभुतामें अदृष्ट सुखकी कल्पना तथा उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न (उपाय) करनेका सौभाग्य प्राप्त होता है ।। १ ।।

गत चार प्रकरणोंमें जो अदृष्ट सुखकी ओर जानेके लिये सोपान-मार्ग बताये गये हैं उनपर कटिबद्ध होकर चलनेके लिये जो युक्तियाँ अथवा क्रियाएँ कही गई हैं उन्हें यथाक्रम अभ्यास द्वारा सिद्ध कर लेनेपर विषयसु खकी ओर घृणासी उत्पन्न हो आती है, इसलिये चारों ओरसे हटकर एकाग्र होनेकी योग्यता मनको प्राप्त हो जाती है। ऐसी अवस्थामें ही प्रत्याहार करनेकी मनुष्यमें योग्यता होती है। इसलिये पूर्वाचार्योंने प्रत्याहारको पाँचवाँ स्थान देना उचित समझा है। कारण यह है कि विना कुम्भक प्राणायाम सिद्ध हुए अपने अपने विषयोंमें अनुरक्त इन्द्रियोंका प्रत्याहार करना यानी रोकना वास्तवमें नहीं हो सकता। इसलिये प्राणायामके बाद ही प्रत्याहारको स्थान पाना उचित था। अत एव प्राणायाम प्रकरणके बाद प्रत्याहार प्रकरणका निरूपण करता हूँ :—

प्रत्याहारका लक्षण

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः ।
बलदाकर्षणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ।। २ ।।

—याज्ञवल्क्य.

स्वभावतः अपने अपने विषयोंमें विचरण करती हुई इन्द्रियोंका बलपूर्वक एकाएकी आकर्षण (खींचना) 'प्रत्याहार' कहाता है ।। २ ।।

अथवा—

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपा-
नुकार इवेन्द्रियाणां प्रात्याहारः ।। ३ ।।

—योगदर्शन २ पा. ५४ सू.

विषयोंसे चित्तके निवृत्त होनेमें जैसा चित्तका स्वरूप होता है वैसा ही इन्द्रियोंकी एकाग्रता होना 'प्रत्याहार' होता है ।। ३ ।।

मात्रा—

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् ।
यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ।। ४ ।।
यथा तृतीयकालस्थो रविः प्रत्याहरेत्प्रभाम् ।
तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं तथा ।। ५ ।।

—गोरक्षपद्धति.

घ्राण, जिह्वा, चक्षु, त्वक् और कर्ण, इन पाँच इन्द्रियोंके जो गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, एवं शब्द; ये पांच विषय हैं उन्हें यथाक्रम साधनों द्वारा धीरे २ त्याग करना यानी इन्द्रियोंसे उनके विषयोंका अनुभव करके फिर विषयोंसे इन्द्रियोंको हटाना 'प्रत्याहार' कहाता है। जैसे संध्या समयमें सूर्य अपनी किरणोंको क्रमशः अपहरण कर लेता है ऐसे ही योगके तीसरे अङ्ग (आसन) में स्थित होने, एवं प्राणायाम सिद्ध कर लेने पर अपने मानसिक विकारोंको यानी विषयोंकी ओरसे मनको हटाकर स्वरूपकी ओर लगाना प्रत्याहार कहा जाता है ।। ४–५ ।।

अङ्गमध्ये यथाङ्गानि कूर्मः संकोचयेद्ध्रुवम् ।
योगी प्रत्याहरेदेवमिन्द्रियाणि तथात्मनि ।। ६ ।।

—गोरक्षपद्धति.

जैसे कछुआ अपने शिर, पैर आदि अङ्गोंको सिकोड़कर अपने भीतर छिपा लेता है वैसे ही योगीको भी चाहिये कि अपनी इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर उनकी वृत्तियोंको आत्मामें अनुरक्त करे। जब १० मिनट तक वायुको नर्विघ्नताके साथ ठहरना हो सके तभी प्रत्याहार करनेकी योग्यता समझनी चाहिये अन्यथा नहीं। उत्तर समयतक जब वायु ठहरने लगती है तो चित्तका चांचल्य नष्ट्रप्राय हो जाता है। जब साधक ऐसी अवस्थापर पहुँच जाता है और जिस समय वायुका प्रत्याहार करता है तो बाहर लोगोंके देखनेमें यही

मालूम होता है कि इस शरीरसे वायु निकल गया है। जब ऐसा होने लगे तो जान लेना चाहिये कि प्रत्याहार सिद्ध होगया और प्राणवायुका ऊर्ध्वगमन हो सकेगा ।। ६।।

इसकी उपयोगिता — 'स्वभावतः अपने अपने विषयोंमें आसक्त होकर विचरनेवाली इन्द्रियोंका रोकना' प्रत्याहारका लक्षण बताया गया है। अभ्यास द्वारा धीरे धीरे इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लेने पर द्वन्द्व–जनित पापोंके भोगनेसे छुटकारा मिल जाता है। जैसे–सुन्दर स्त्री, सोने, चांदी आदिके आभूषण, स्वच्छ चिकने विचित्र वस्त्र, इसी तरह और भी अनेक मोहक वस्तुओंके देखनेकी इच्छा जिसके मनमें निवृत्त हो जाती है वह संसारी पदार्थोंको भले ही अपने चर्मचक्षुओंसे देखता रहे, पर देखनेके परिणाम फलके बन्धनमें नहीं हो सकता। ऐसे ही अन्य इन्द्रियोंके विषयमें भी जानना चाहिये।

विषय–सुखोंमें आसक्त होकर हि जीव अपना बड़ा भारी अहित कर रहा है। इस विषयमें निम्नलिखित श्लोक सिद्ध है :—

कुरङ्गमातङ्ग–पतङ्ग–भृङ्ग–
मीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च ।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते,
यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ।। ७ ।।

हरिन, हाथी, पतंग(पाँखी), भ्रमर और मछली; ये प्रत्येक एक ही एक इन्द्रियमें आसक्त होनेके कारण मारे गये अथवा मारे जाते हैं तो जो प्राणी या मनुष्य पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त रहता है वह यदि मारा जाय तो क्या आश्चर्य है। मतलब यह कि विषयासक्त जीवोंको किसी तरह भी वास्तविक सुख नहीं मिल सकता। इसलिये विषय–सुखका त्याग ही स्थायी सुखका साधन होता है। इसीसे तो ब्रह्मा, शिव, नारद और वशिष्ठ आदिकोंने विषय–सुखको ठुकराकर योगके प्रत्येक सोपान पर ही यथायोग्य समय समय पर दृढ़ स्थिर होकर अक्षयकीर्ति एवं अनन्त सुखका लाभ उठाया है। इसलिये विचारशील प्राणियोंको कर्तव्य ही नहीं, बल्कि परमपुरुषार्थ है कि अनन्त सुखकी प्राप्तिके लिये क्षणिक विषयसुखोंको त्यागकर योग–मार्गकी ओर जानेके लिये भरसक प्रयत्न करें।। ७ ।।

इति श्रीपण्डित शिवनाथशर्मात्मज–पं० रामनरेशमिश्र 'प्रेम' विरचिते भाषाटीकायुत बृहद्योगसोपाने पंचम–प्रकरणं समाप्तम्

षष्ठ सोपान प्रकरण

धारणाका निरूपण

आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः ।
प्रत्याहारेण सम्पन्नो धारणां च समभ्यसेत् ।। १ ।।

—गोरक्षपद्धति.

आसन, प्राणायाम और प्रत्याहारका अभ्यास दृढ स्थिर करके धारणाका अभ्यास करना चाहिये ।। १ ।।

धारणाका लक्षण ।

हृदये पञ्चभूतानां धारणा च पृथक् पृथक् ।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा साभिधीयते ।। २ ।।

—गोरक्षपद्धति.

हृदयमें मनको और पृथ्वी, जल, तेज वायु तथा आकाश इन पाँच महाभूतोंको पृथक् २ स्थानोंमें धारण करना 'धारणा' कहाती है ।। २ ।।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।। ३ ।।

—योगदर्शन —३ पा० १ सू०

किसी योग्य ध्येय देशमें चित्तको एकाग्र करना 'धारणा' कही जाती है ।। ३ ।।

धारणाके लक्षणमें जो पञ्चतत्त्वोंका अलग २ धारण करना कहा गया है उसका विवरण निम्नलिखित प्रकार है :—

पैरसे लेकर जानुपर्य्यन्त पृथ्वी तत्त्वका स्थान है, जानुसे नाभितक जल-तत्त्वका स्थान है, नाभिसे हृदय तक अग्नितत्त्वका स्थान है, हृदयसे भ्रूमध्यतक वायुतत्त्वका स्थान है और भ्रूमध्यसे ब्रह्मरन्ध्रतक आकाशतत्त्वका स्थान है।

पृथ्वी स्थान—के विषे प्राणवायुको धारण कर 'लं' बीजसहित चतु-र्भुजाकार, सृष्टिकी रचना करनेवाले ब्रह्माका ध्यान धरकर "धारणा पंच-नाडीभिः" इस कथनानुसार पाँच घड़ीतक धारणा करनेसे साधकके शरीरमें रहनेवाले सब प्रकारके रोग नष्ट हो जाते हैं और पृथ्वी तत्त्व उसके वशमें हो जाता है ।

जलस्थान—के विषे प्राणवायुका निरोध करके 'वं' बीजके साथ नारायणकी चतुर्भुजाकार मूर्तिका अनुभव करे। चित्त और प्राणको लय करके पाँच घटी पर्यन्त धारणकरनेसे जलस्तम्भन करनेवाली 'वारुणी' शक्तिकी

---

१ दोहा—"किसी देशमें चित्तको, बंधन दृढतर होइ ।
डिगाहि नाहिं, निश्चल रहै, समुझु 'धारणा 'सोइ ।"

उपलब्धि होती है, यानी जलतत्त्व वशमें हो जाता है। इस धारणाके सिद्ध हो जाने पर साधकके लिये जलके ऊपर भूमिपर जैसे चलना तो बायां हाथका खेल ही होता है, किन्तु साधकके शरीरमें प्रविष्ट हुआ कालकूट विष कुछ भी नहीं बिगाड कर सकता।

अग्निस्थान--में प्राण वायुको रोककर 'रं' बीजके सहित त्रिनेत्रधारी, तरुणादित्यके समान तेजस्वी श्रीशंकरजीका ध्यान धरकर अनुभव करे। इस प्रकार पाँच घटी पर्यन्त करनेसे 'वैश्वानरी' शक्ति साधकके वशमें हो जाती है। इसलिए उसको कहीं भी और किसी भी स्थानमें अग्नि द्वारा जलने आदिका कुछ भय नहीं रहता। बल्कि साधकमें यह शक्ति हो आती है कि विना अग्निके ही सारी वस्तुओंको वह जला सकता है।

वायुस्थान—में प्राणवायुको रोककर 'यं' बीजके सहित सर्वव्यापक, सर्वान्तिर्यामी, शान्तस्वरूप, सर्वशक्तिमान् त्रैकालद्रष्टा ईश्वर (विष्णु) के स्वरूपका अनुभव करे। इस स्थानपर पाँच घटी तक अविच्छिन्न वायुके दृढ स्थिर होनेपर 'वायवी' शक्ति वशमें हो जाती है। फल यह होता है कि साधकको आकाश–मार्गमें गमन करनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है। जिसके प्रभावसे वह किसी भी अपने अभीष्ट स्थानपर पक्षीकी तरह उड़कर चला जाया करता है। और वस्तुमात्र ही क्या, सारे जगत्को कुम्भारकी चाककी तरह घुमा सकता है।

आकाशस्थान--में प्राणवायुको स्तम्भित कर 'हं' बीजके सहित आकाश-स्वरूप श्रीशंकरजीके स्वरूपका चिन्तन करे। पाँच घटी तक इस स्थानपर वायु स्थिर होने लगती है तो 'नभोधारणा' शक्ति पर साधकका अधिकार हो जाता है, यानी आकाश–तत्त्व वशमें हो जाता है। इस धारणाके सिद्ध हो जाने पर मोक्षका मार्ग खुल जाता है और समस्त रसोंके शोषण करनेकी शक्ति हो आती है।

जब पाँच घटी पर्यन्त धारणा होने लगती है तो भूतोंकी भावना होती है। परन्तु जिस समय चित्तको एकाग्र करके साधक धारणाका अभ्यास करता है तो उस समयमें अनेक प्रकारकी बाधाएँ उपस्थित हुआ करती हैं। जैसे–यक्षिणी (डाकिनी) आदि अपना अपना मनोहर रूप दिखाकर मोहित करना चाहती हैं, अथवा सिह व्याघ्र जैसे विकराल स्वरूप दिखाकर डर उपजाते हैं। इन यक्षिणियोंका स्वरूप अन्तर्दृष्टिसे ही दीख पड़ता है। इसलिये साधकको चाहिये कि इनकी कुचेष्टाओंसे न तो मोहित होकर अनर्थ कर बैठे और न कुछ भय ही माने। किन्तु अटल होकर अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ता चला जाय और यह

विश्वास रखे रहे कि ये सब उपाधियाँ योग–भङ्ग करनेके लिये दैवी माया हैं, वास्तवमें स्वप्नके समान मिथ्या ही हैं।

उक्त पाँचों प्रकारकी धारणाओंके सिद्ध हो जाने पर साधकको सत्-चित्त–आनन्दका अनुभव होने लगता है और सिद्धोंका दर्शन भी। ऐसी अवस्थाके प्राप्त होने पर ही साधक ध्यान करनेका अधिकारी होता है और षट्चक्रों के भेदन करनेकी योग्यता पाता है।

विना एकाग्र–चित्त हुए धारणाका अभ्यास नहीं हो सकता। इस पर योगवासिष्ठमें इस प्रकार लिखा है :—

सुस्थेयं क्षुरधारासु निशितासु महीपते।
धारणासु तु योगस्य दुःस्थेयमकृतात्मभिः ॥ ४ ॥

अत्यन्त तीक्ष्ण (चोखी) क्षुरेकी धारपर कदाचित सुखपूर्वक भले ही स्थिर रह सके परन्तु विक्षिप्त चित्तवाला मनुष्य योगकी धारणाको सिद्ध कर ले यह नहीं हो सकता इसलिये प्रमादको त्यागकर गुरुके बताये हुए मार्गपर दृढ़तापूर्वक चलकर पंचविध धारणाओंको सिद्ध करे ॥ ४ ॥

धारणाका महत्त्व।

यस्तु तिष्ठति कौन्तेय! धारणासु यथाविधि।
मरणं जन्म दुःखं च सुखं च स विमुञ्चति ॥ ५ ॥

—मोक्षधर्म.

हे कौन्तेय! जो मनुष्य विधिपूर्वक यौगिक धारणाको अभ्यास द्वारा सिद्ध कर लेता है वह संसारमें जन्म, मरण, सुख और दुःखको समूल नष्ट कर देता है। अर्थात् उसे फिर वारंवार जन्म लेने और मरनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती तथा दुःखमय क्षणिक सुखोंके थपड़े नहीं सहने पडते। किन्तु मोक्ष-धाममें जानेके लिये अकंटक राजमार्ग प्रस्तुत (तैयार) रहता है ॥ ५ ॥

इति श्रीपण्डित शिवनाथशर्मात्मज–पं० रामनरेशमिश्र 'प्रेम' विरचिते भाषाटीकायुते बृहद्योगसोपाने षष्ठसोपान–प्रकरणं समाप्तम्।

अथ सप्तम सोपान प्रकरण

ध्यानका निरूपण

धारणा पञ्च नाडीभिर्ध्यानं च षष्टिनाडिभिः ॥"

'पाँच घटी पर्यन्त आधारादि चक्रोंमें मनको लय करके प्राणवायुके रोकनेका नाम धारणा है' यह मैं गत प्रकरणमें लिख चुका हूँ, अब उस ध्यानका निरूपण लिखता हूँ— जिसकी सिद्धावस्थाका परिमाण ६० दण्ड यानी २४ घंटे होते हैं :—

ध्यानका लक्षण

तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम् ।। १ ।।

–योगदर्शन ३ पाद. २ सू.

(तत्र) धारणामें (प्रत्यय) बुद्धि अथवा चित्तकी (एकता) एकाग्रताका नाम 'ध्यान' है। अर्थात् धारणाकी अपेक्षा अधिक काल पर्यन्त इष्ट ध्येयके विषे चित्तकी वृत्तियोंका एकाग्र होना ध्यान कहाता है। यानी यहाँ पाँच घटी पर्यन्त ध्येय पदार्थमें निरवच्छिन्न चित्त-वृत्तियोंका एकत्र होना धारणा कही जाती है वहाँ यदि चौबीस घंटे तक निरवच्छिन्न तदाकार रहे तो वही ध्यान कहा जायगा ।। १ ।।

अथवा––

स्मृत्येव सर्वचिन्तायां धातुरेकः प्रपद्यते ।
यश्चित्ते निर्मला चिन्ता तद्धि ध्यानं प्रचक्षते ।। २ ।।

–गोरक्षपद्धति.

साधारण चिन्ताका वाचक 'स्मृ चिन्तायाम्' यह धातु है। और किसी भी ध्येय पदार्थको लक्ष्यमें रखकर चिन्तन करते रहना ध्यान शब्दका वाच्यार्थ है।

चित्तमें निर्मल यानी जिसमें किसी तरहका विकार न हो ऐसी चिन्ताका होना 'ध्यान' कहाता है। सूत्रकारके लक्षणमें और इस लक्षणमें केवल इतना ही भेद है कि कितने काल पर्यन्त चिन्तन करते रहना ध्यान कहा जाता है? यह बात इस लक्षणमें नहीं है और सूत्रमें 'तत्र' शब्दसे कालका भी बोधन हो जाता है ।। २ ।।

ध्यानका द्वैविध्य

द्विविधं भवति ध्यानं स-कलं निष्कलं तथा ।
स–कलं चर्याभेदेन निष्कलं निर्गुणं भवेत् ।। ३ ।।

–गोरक्षपद्धति.

सगुण और निर्गुण भेदसे ध्यान दो प्रकारका होता है आगम और निगममें बताये हुए लक्षणसे यानी राम, कृष्णआदिकोंके चतुर्भुजाकार, श्यामवर्ण, शंख चक्रादि आयुधवाले स्वरूपका ध्यान करना 'सगुण–ध्यान' कहाता है और एकान्तस्थानमें बैठकर स्वस्तिक अथवा पद्म आदि आसनोंको लगाकर उपोद्धात प्रकरणमें बताये हुए आधारादि चक्रोंमें प्राणवायुको रोककर जिसमें किसी प्रकारका मल नहीं होता ऐसे ज्योतिस्वरूपका ध्यान करना 'निर्गुण ध्यान' कहाता है ।। ३ ।।

---

१ "ध्यै चिन्तायाम्" इस धातुसे भावमें ल्युट् प्रत्य होकर ध्यान शब्द निष्पन्न होता है।

शरीरके अन्दर योगियोंके लिये ध्यान करनेके मुख्य सात (७) स्थान हैं :—

गुदं मेढ्रं च नाभिश्च हृत्पद्मं च तदूर्ध्वतः ।
घण्टिकालम्बिकास्थानं भ्रूमध्यं च नभोबिलम् ।।
कथितानि नवैतानि ध्यानस्थानानि योगिभिः ।। ४ ।।

—गोरक्षपद्धति.

गुद (मूलाधार) १, मेढ्र (स्वाधिष्ठान) २, नाभि (मणिपूरक) ३, हृत्पद्म (अनाहत) ४, तदूर्ध्व (विशुद्ध) ५, आज्ञाचक्र ६, और नभोबिल (ब्रह्मरंध्र) ७, ये सात ध्यानके स्थान हैं ।। ४ ।।

आधारं प्रथमं चक्रं स्वर्णाभं च चतुर्दलम् ।
कुण्डलिन्या समायुक्तं ध्यात्वा मुच्येत किल्बिषैः ।। ५ ।।

(१) सुवर्णके समान वर्णवाला चार दलवाले कमलकी तरह अधार चक्र है। इसकी कर्णिकामें विराजमान शिवलिंगके शिरपर साढे तीन आवृत्ति करके बैठी हुई कुण्डलिनी शक्ति है। चक्रमें सगुण अथवा निर्गुणका ध्यान करनेसे साधक समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है ।। ५ ।।

स्वाधिष्ठाने च षट्पत्रे सन्माणिक्यसमप्रभे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा योगी सुखीभवेत् ।। ६ ।।

(२) उत्तम मणिके समान देदीप्यमान छः दलवाले स्वाधिष्ठानचक्रमें नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि लगाकर सगुण या निर्गुण ज्योतिस्वरूप आत्माका ध्यान करनेसे साधकको सच्चे सुखका अनुभव होता है ।। ६ ।।

तरुणादित्यसंकाशे चक्रे च मणिपूरके ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा संक्षोपयेज्जगत् ।। ७ ।।

(३) प्रचण्डतेजवाले सूर्यके समान प्रदीप्त तीसरा मणिपूरक चक्र है। नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि रखकर इस चक्रमें सगुण अथवा निर्गुण आत्मतत्त्वका ध्यान करके साधक संपूर्ण जगत् क्षोभित कर सकता है ।। ७ ।।

हृदाकाशे स्थितं शम्भुं प्रचण्डरवितेजसम् ।
नासाग्रे दृष्टिमाधाय ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ।। ८ ।।

(४) हृदयरूप आकाशमें चौथा अनाहत चक्र है। उसकी बारह कर्णिकाओं के मध्य प्रचण्ड सूर्यकी तरह तेजस्वी श्रीशम्भुका ध्यान नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि जमाकर करनेसे साधक ब्रह्ममय होजाता है ।। ८ ।।

सततं घण्टिकामध्ये विशुद्धे दीपकप्रभे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ।। ९ ।।

(५) कंठस्थानमें विराजमान विशुद्धचक्रमें परम प्रकाशस्वरूप आत्माका ध्यान नासिकाग्रमें दृष्टि स्थिरकर करनेसे साधक ब्रह्ममय हो जाता है ।। ९ ।।

भ्रुवोरन्तर्गतं देवं सन्माणिक्यशिखोपमम् ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वानन्दमयो भवेत् ।। १० ।।

(३) दोनों भौंहोंके मध्यमें स्थित जो आज्ञाचक्र है उसमें मणिकी शिखा समान प्रदीप्त निर्गुण अथवा सगुण आत्माका ध्यान नासिकाग्रमें दृष्टि रखकर करनेसे साधक आनंदमय हो जाता है ।। १० ।।

आकाशे यत्र शब्दः स्यात्तदाज्ञाचक्रमुच्यते ।
तत्रात्मानं शिवं ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात् ।। ११ ।।

जिस स्थानमें अनहद नाद होता रहता है ऐसा वह आकाश तत्त्व स्थान मनका स्थान है । वही भ्रू मध्यमें आज्ञाचक्र कहाता है । इस चक्रमें शिव स्वरूप आत्माका ध्यान करके साधक मुक्त हो जाता है ।। ११ ।।

निर्मलं गगनाकारं मरीचिजलसन्निभम् ।
आत्मानं सर्वगं ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात् ।। १२ ।।

(७) आज्ञा चक्रके ऊपर शून्यस्थानमें अजरामर चक्र (ब्रह्मरन्ध्र) है । उस स्थानमें निर्मल आकाशकी तरह मरीचिकाके जलसमान, सर्वव्यापक तेजस्वरूप आत्माका ध्यान करके साधक संसार-बन्धनसे छूटकर मुक्त हो जाता है ।। १२ ।।

एषु ब्रह्मात्मकं तेजः शिवज्योतिरनुत्तमम् ।
ध्यात्वाज्ञात्वाविमुक्तः स्यादिति गोरक्षभाषितम् ।। १३ ।।

इन स्थानोंमें अभ्यास द्वारा यथाक्रम कल्याणकारक ज्योतिरूपका ध्यान करते हुए अपनी आत्माको अच्छे प्रकार जानकर साधक जन्म-मरणके बन्धनोंसे छूट जाता है ऐसा गोरक्षनाथजीका अटल सिद्धान्त है । प्रथमके छः चक्रोंको भेदन करके ही सातवें चक्रमें जानेकी शक्ति प्राप्त होती है ।। १३ ।।

ध्यानका महत्त्व

यथा सुवर्णं पटुपाकशोधितं
त्यक्त्वा मलं स्वात्मगुणं समृच्छति ।
तथा मनः सत्त्वरजस्तमोमलं

तथा मनः सत्त्वरजस्तमोमलं
ध्यानेन संत्यज्यसमेति तत्त्वम् ।। १४ ।।

—विवेकचूडामणि.

जिस तरह क्षार आदि पदार्थद्वारा विधिपूर्वक शोधन करने पर सुवर्ण अपने मलोंको त्यागकर उज्ज्वल स्वरूप पा जाता है इसी तरह ध्यान द्वारा सत्त्व, रज और तमोगुणके संयोगसे मलिन हुआ मन निर्मल होकर आत्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है ।। १४ ।।

क्रियान्तरासक्तिमपास्य कीटको,
ध्यायन्नलित्वं बलिभावमृच्छति ।
तथैव योगी परमात्मतत्त्वं,
ध्वात्वा समायाति तदेकनिष्ठताम् ।। १५ ।।

—विवेकचूडामणि.

जैसे अन्य क्रियाओंकी आसक्तिको छोड़कर यानी अन्य दूसरे उपायोंको न करके केवल भ्रमरपनका ही निरन्तर ध्यान करते २ कीट, पतंग आदि भ्रमरके रूपमें परिणत हो जाते हैं अर्थात् भ्रमर बन जाते हैं ऐसे ही साधक लोग भी आत्म—तत्त्वका ध्यान करते २ एकनिष्ठता यानी ईश्वररूपता पा जाते हैं। सारांश यह कि केवल एक ध्यानमें ही ऐसा गुण है कि उसके प्रभावसे यह जीवात्मा जीव-संज्ञाको त्यागकर परमात्मामें मिल जाता है। यानी मुक्त हो जाता है ।। १५ ।।

इति श्रीपण्डित—शिवनाथशर्मात्मज—पं. रामनरेश—मिश्र 'प्रेम' विरचिते भाषाटीकायुते बृहद्योगसोपाने सप्तमसोपान—प्रकरणं समाप्तम् ।।

अथ अष्टम सोपान प्रकरण ।

समाधिका निरूपण

"दिनद्वादशकेन स्यात्समाधिः प्राणसंयमात्"। जब लगातार बारह दिनतक शरीरके अन्दर प्राणवायु तदाकारवृत्तिसे ब्रह्मानन्द लेने लग जाय तो समाधि संज्ञा होती है। इसका विवेचन निम्नलिखित है :—

समाधिका लक्षण ।

सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ।। १ ।।

—हठयोग.

जैसे सेंधा नमक जलका संयोग होनेपर जलके साथ एकताको प्राप्त हो जाता है ऐसे ही आत्मामें धारण किया हुआ मन तदाकार होनेसे आत्मरूपको प्राप्त हो जाता है। इसी आत्मा और मनकी एकताका नाम 'समाधि' है ॥ १ ॥

अथवा —

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ २ ॥

योगदर्शन–३ पा. ३ सू.

(तत्-एव) गतप्रकरणमें बताया हुआ वह ध्यान ही जब (अर्थमात्र निर्भास) अर्थमात्र अर्थात् ध्येयस्वरूपमात्रका ही निरन्तर भान हो तथा (स्वरूपशून्यमिव) अपने ध्यानाकार स्वरूपसे शून्यसा दीखे तो (समाधिः) 'समाधि' कही जाती है। भावार्थ–यह कि पूर्वोक्त ध्यान ही जब अभ्यासके बलसे अपने ध्येयाकार स्वरूपको त्यागकर केवल ध्येयस्वरूपमात्रसे अवस्थित होता है तो उसे समाधि कहते हैं। जिस तरह समुद्रमें गिरा हुआ जलका बिन्दु समुद्रजलके साथ अभिन्न हो जाता है इसी तरह जब ध्येयवस्तुमें लगा हुआ मन ध्येय वस्तुसे अभिन्न हो जाय तो समझ लेना चाहिये कि अब समाधि अवस्था प्राप्त होगई। ध्यान और समाधिमें इतना ही भेद है कि ध्यानमें ध्यान करनेवालेको अपना और ध्येय वस्तुका, एवं ध्यान करनेका ज्ञान रहता है समाधिमें ये सब नहीं रहते। अर्थात् समाधिस्थ साधकको न तो ध्येयवस्तुका ही भान रहता है और न यही भान रहता है कि मैं ध्यान कर रहा हूँ। इसी तरह वह यह भी नहीं जानता कि मैं कौन हूँ ?।

पूज्यपाद श्रीगौडपादाचार्यजीने लिखा है कि—'सब दोषोंसे रहित होकर मनका ब्रह्ममें लग जाना समाधि है।' मतलब यह कि मनमें अनेक दोष रहते हैं, उन सबकी गणना–१ विक्षेप, २ लय, ३ कषाय और ४ रसास्वाद; इन चार पारिभाषिक नामोंसे की जाती है। विषयोंकी लालसासे मनका विषयोंमे घूमना 'विक्षेप' है, विषयोंमें घूमते घूमते थककर अपने कारण रूप अज्ञानमें मनका लय हो जाना 'लय' है और मन न तो विषयोंमें घूमे और न अज्ञानमें ही लय हो, एवं न ध्येयाकार ही हो, किन्तु चेष्टारहित स्तब्ध हो जाय तो इसका नाम 'कषाय' है। इन तीनों व्यापारोंसे रहित मन ब्रह्माकार न होकर ब्रह्मके आनन्दका स्वाद लेने लग जाय तो रसाऽऽस्वाद' कहाता है। जैसे शीतलपना जल नहीं है ऐसे ही ब्रह्मका आनन्द ब्रह्म नहीं है, किन्तु ब्रह्मका गुण है। जैसे केवल शीतलताकी पूर्ण मात्रामें जलको नहीं पीसकता ऐसे ही ब्रह्मके आनन्दमें ही लीन होनेवाला ब्रह्मका यथार्थ अनुभव नहीं कर सकता। इसलिये साधकको

उचित है कि ब्रह्मके आनन्दका स्वाद लेनेमें ही न पड़ा रहे, किन्तु ब्रह्माकारवृत्ति करनेका प्रयत्न करे।

विषयोंमें दोष--दर्शनसे और ब्रह्म ही केवल सुखरूप है, अन्यमें वास्तविक सुख नहीं है ऐसी भावना करनेसे विक्षेप दोष दूर होता है, निद्रादोष दूर करने और युक्त आहार विहार करनेसे लय दोष दूर होता है, चित्तकी परीक्षा करनेसे कषाय दोष दूर होता है और असंग रहनेसे रसाऽऽस्वाद दोष दूर होता है। इस प्रकार जब चित्तमें विक्षेप न हो और सुखका स्वाद भी न हो किन्तु सम ब्रह्ममें स्थिर हो तब अपने चित्तको स्थिर करके ब्रह्माकार रखे। इसको समाधि कहते हैं॥ २॥

सविकल्प और निर्विकल्प भेदसे समाधि दो प्रकारकी है :--

सविकल्प--जिसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानरूपी त्रिकुटीके लयकी अपेक्षा-सहित एक अद्वितीय वस्तुमें नियमित काल पर्यन्त चित्तकी वृत्तियोंकी तदाकार रूपसे स्थिति होती है वह 'सविकल्प-समाधि' कहाती है। इसमें द्वैतभावके रहते हुए भी अद्वैतपनेका भान इस प्रकार होता है--जैसे मिट्टीके घट शराव आदि के स्वरूपका भान होते हुए भी मिट्टीका भान होता है अर्थात् यह शराव मृत्तिका--मय ही है उससे भिन्न नहीं है, यह ज्ञान दृढ रहता है।

निर्विकल्प--समाधिमें ज्ञाता, ज्ञानादि भेदके लयकी अपेक्षारहित अद्वितीय वस्तुमें तदाकार रूपसे अत्यन्त एकीभावपूर्वक चित्तकी वृत्तियोंकी स्थिति वहुत समय पर्यन्त होती है। इस समाधिमें द्वैतपनेका बिल्कुल अभाव होता है। जिस तरह जलमें मिला हुआ नमक जलसे भिन्न नहीं भासता इसी प्रकार अद्वितीय ध्येय वस्तुमें तदाकार स्थित हुई चित्तकी वृत्तिमें द्वैतपनेका भान नहीं भासता, किन्तु अद्वितीय वस्तुमात्र ही भासती है। यद्यपि सुषुप्ति और समाधि, इन दोनोंमें चित्तकी वृत्तियोंका भान न होना बराबर होता है, परन्तु सुषुप्तिमें चित्त-वृत्तिका असद्भाव रहता है और समाधिमें वृत्तिका सद्भाव रहता है, यही इतना दोनोंमें भेद है।

योगाचार्योंने जो सविकल्प और निर्विकल्प नाम कहकर दो प्रकारकी समाधि मानी है वह केवल समाधिकी प्रथम और अन्तिम अवस्थाका भेद है, न कि समाधिके दो भेद हैं, क्योंकि समाधिका जो लक्षण है उससे स्पष्ट विदित होता है कि आद्यन्त अवस्थाको ही लेकर समाधिका दो भेद मान लिया गया है। आशय यह कि जव ध्यानकी सिद्धावस्था हो जाती है यानी चौबीस घंटे तक ध्येय वस्तुमें मन तदाकार होकर दृढ स्थिर होने लगता है उस समय ध्याता,

ध्येय और ध्यानका भान होते हुए चित्तकी वृत्ति एकीभावसे स्थित रहती है। यही ध्यानकी अन्तिम अवस्था या सिद्धावस्था कहाती है और यही समाधिकी प्रथम अवस्था कही जा सकती है। अभ्यास बलसे जब ध्याता, ध्येयादि अथवा ज्ञाता, ज्ञेयादिका भान निवृत्त होकर बहुतकालके लिये वृत्तियोंकी तदाकारता हो जाती है तो उसे ही निर्विकल्पसमाधि या असंप्रज्ञात योग कहते हैं। इसी निर्विकल्प समाधिद्वारा दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति और आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति होती है।

निर्विकल्प समाधिमें साधकके चित्तकी वृत्ति एकाग्र होकर तदाकारता किस प्रकार होती है, यह भी हठयोगप्रदीपिकाने बताया है :—

अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यः कुम्भ इवाम्बरे।
अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णःपूर्णः कुम्भ इवार्णवे ॥ ३ ॥

जिस तरह आकाशस्थ घट बाहर और भीतरसे शून्य रहता है इसी तरह निर्विकल्प समाधिमें स्थित योगी बाहर और भीतरसे शून्याकार यानी वासनारहित होता है और जिस तरह समुद्रके अन्दर गया हुआ घट बाहर एवं भीतरसे पूर्ण रहता है ऐसे ही स्वयं प्रकाश सच्चिदानन्दैकरस ब्रह्ममें निमग्न योगी सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि द्वारा बाहर और भीतर ब्रह्मरूप आनन्दसे पूर्ण रहता है। इस प्रकारकी अवस्थाको प्राप्त कर लेना ही परम पुरुषार्थ कहलाता है ॥ ३ ॥

समाधिशब्दके पर्याय

राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥ ४ ॥
अमनस्कं तथाद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम्।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥ ५ ॥

१ राजयोग, २ समाधि, ३ उन्मनी, ४ मनोन्मनी, ५ अमरत्व, ६ लय, ७ तत्त्व, ८ शून्याशून्य, ९ परंपद, १० अमनस्क, ११ अद्वैत, १२ निरालम्ब, १३ निरंजन, १४ जीवन्मुक्ति, १५ सहजा, और १६ तुर्या; ये सोलह नाम 'समाधि' के हैं ॥ ४–५ ॥

निर्विकल्प—समाधि वालोंको क्या क्या लाभ होता है? यह भी अवलोकन करिये :—

बाध्यते न स कालेन लिप्यते न स कर्मणा।
साध्यते नच केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥ ६ ॥

जब साधक समाधिमें स्थिर हो जाता है तो उसे मृत्युका भय नहीं रह जाता, यानी उस पर कालका वश नहीं चलता। और वह पाप–पुण्यरूप कर्म बन्धनोंमें नहीं बँधता। यहाँ तक कि संसारमें ऐसा कोई साधन नहीं होता जो उसे साध्य बना सके, क्योंकि निर्विकल्प समाधिकी अवस्थामें समस्त क्लेशोंका अभाव हो जाता है॥ ६॥

समाधिके सिद्ध हो जाने पर साधकके लिये सारे सृष्टि प्रपंचमें कोई वस्तु ऐसी नहीं है कि जिसकी वह इच्छा करे और वह न प्राप्त हो सके। समाधि–सिद्ध योगियोंके पीछे २ वे आठ सिद्धियाँ लगी रहती हैं जिनके प्रभावसे निम्नलिखित कार्य हुआ करते हैं :––

१ इच्छा करते ही परमाणुरूप हो जाना, २ आकाशकी तरह स्थूल (लम्बा–चौड़ा) होना, ३ लघुपदार्थका पहाड़ आदिके समान गुरु (भारी) होजाना, ४ पर्वतादिके समान भारी होनेपर भी हलका हो जाना, ५ संपूर्ण पदार्थोंके निकट पहुँच जाना, जैसे कि भूमिपर ही स्थित रहकर अपनी अगुं-लीके अग्रभागसे चन्द्रमाको छू लेना, ६ जलके समान भूमिमें प्रवेश कर जाना और फिर निकल आना, ७ पाँचों भूत और उनसे उत्पन्न होनेवाले भौतिक पदार्थोंका बनाना, बिगाड़ना या यथावस्थित रखना और ८ भौतिक पदार्थोंको अपने वशमें रखना। तभी तो पूज्यपाद श्री १००८ स्वामी शंकराचार्यजीने राजाके शरीरमें प्रविष्ट होकर अपना अभीष्ट कार्य सिद्ध किया था।

यमसे लेकर समाधितक योगके आठ अङ्ग हैं। उनके नाम तथा गुण आदिका वर्णन हो चुका। अब उस 'हंयम' शब्दका परिचय पाठकोंके समक्ष उपस्थित कर रहा हूँ जो पारिभाषिक सूत्रकी तरह धारणा, ध्यान और समाधिका बाधक है :––

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ७ ॥

–योगदर्शन–३ पा. ४ सू.

एक ही ध्येय-विषयमें धारणा, ध्यान और समाधि, इन तीनोंका होना 'संयम'[1] कहाता है। तीनोंका बोधन करनेवाला यह संयम शब्द लाघवके लिये योग–शास्त्रने माना है, क्योंकि उक्त तीनोंके फल आदिके वर्णन करनेमें बारंबार प्रत्येकमें जिससे न लिखना पडे, केवल संयम शब्दसे ही सर्वत्र काम चल जाय। फलके विषयमें बृहद् विवेचन योगदर्शनके विभूति और कैवल्य

---

१ दोहा––"धारण, ध्यान, समाधिका है, इक 'संयम' नाम।
इसी एक ही नाम से, लेना है बहु काम।" ––प्रेम.

पादमें सविस्तार लिखा हुआ है, जो जिज्ञासु जानना चाहें वे योगदर्शन देखें ।। ७ ।।

तस्य भूमिषु विनियोगः ।। ८ ।।

–यो० ३ पा० ६ सू.

संप्रज्ञात योगमें चार भूमिकाएँ बतायी गई हैं—१ सवितर्का, २ सविचारा, ३ सानन्दा और ४ सास्मिता। इन भूमिकाओंमें इस संमयका विनियोग (संबंध) है। यथाक्रम अभ्यास द्वारा स्थूल भूमिकाओंको जीतकर सूक्ष्म भूमिकाओंको जीतना चाहिये। क्योंकि विना स्थूल भूमिकाओंको वशमें किये सूक्ष्म पर अधिकार नहीं हो सकता ।। ८ ।।

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ।। ९ ।।

–यो० ३ पा. ७ सू०

यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार, ये पाँच योगके बहिरंग सोपान हैं और धारणा, ध्यान एवं समाधि, ये तीन अन्तरंग सोपान हैं। क्योंकि ये तीनों एक ही विषयवाले होनेके कारण अन्तरके यानी अयत निकटके अंग हैं इसलियें 'अन्तरङ्ग' कहलाते हैं ।। ९ ।।

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ।। १० ।।

–यो० ३ पा० ८ सू०

जैसे सबीज यानी संप्रज्ञात समाधिमें यम आदिक पाँच बहिरंग हैं वैसे ही निर्बीज (असंप्रज्ञात) समाधिमें धारणा आदि तीन ह्महिरंग हैं। क्योंकि असंप्रज्ञात समाधिमें कालका नियम नहीं रहता और धारणाआदिमें नियमिति काल होता है इसलिये बहिरंग हैं। सारांश यह कि असंप्रज्ञात या निर्विकल्प समाधिकी अपेक्षा योगके सभी अङ्ग अथवा सोपान बहिरंग हैं ।। १० ।।

अब उस मोक्ष अथवा कैवल्यका लक्षण लिखता हूँ जो निर्विकल्प-समाधि द्वारा प्राप्त होता है :—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः—
कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ।। ११ ।।

–योगदर्शन.

पुरुषार्थ—शून्य गुणोंका प्रसव बन्द हो जाना, अथवा चितिशक्तिका अपने स्वरूपमें स्थित हो जाना ,कैवल्य' कहाता है। इसीका नाम 'अपवर्ग'

और 'मोक्ष' भी है। पुरुष और प्रकृतिका अलग अलग हो जाना, यानी प्रकृति-के नष्ट होने पर पुरुषका अकेला रह जाना ही कैवल्य है जो साधक विवेक और समाधि द्वारा अपने कर्मोंके संस्कार नष्ट कर देता है और हां, ऐसा कर देता है कि चित्तसे उनका नामोनिशान मिटा देता है वह स्वच्छस्फटिक मणिके समान अपने सत्त्वगुणमें चमकने लग जाता है। इस अवस्थामें उसे ईश्वर कहना चाहिये, क्योंकि वह जीवात्माकी कोटिसे पृथक् होकर परमात्मा हो जाता है

यौगिक मतमें पुरुष और प्रकृतिका संयोग सारे प्रपंचके प्राकट्यका कारण माना गया है और इनका संयोग अविद्याजन्य बताया गया है। अविद्याके नष्ट होनेपर दोनोंका वियोग हो जाता है, यानी अविद्या नष्ट होकर पुरुष अकेला रह जाता है। इसी अवस्थाका नाम कैवल्य है। कैवल्यप्राप्तिके लिये योग और सांख्य दोनोंका सिद्धान्त एकसा ही है—योग तो निर्विकल्प समाधि द्वारा मोक्ष मानता है और सांख्य प्रकृति–पुरुष–विवेक द्वारा मानता है ॥ ११ ॥

कैवल्य पथपर नैयायिकोंका अभिमत इस प्रकार है :—

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयव-
तर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजाति-
निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसासिद्धिः ॥ १२ ॥

—न्यायदर्शन.

१ प्रमाण, २ प्रमेय, ३ संशय, ४ प्रयोजन, ५ दृष्टान्त, ६ सिद्धान्त, ७ अवयव, ८ तर्क, ९ निर्णय, १० वाद, ११ जल्प, १२ वितण्डा, १३ हेत्वाभास, १४ छल, १५ जाति और १६ निग्रहस्थान; इन सोलह पदार्थोंके तत्त्वज्ञान द्वारा मोक्ष होता है ॥ १२ ॥

क्या ज्योंही उक्त पदार्थोंका ज्ञान हुआ कि मोक्ष मिल जाता है, यह बात है? तो इस पर सूत्रकार कहते हैं कि नहीं, ऐसा नहीं है, किन्तु :—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरो-
त्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्गः ॥ १३ ॥

तत्त्वज्ञानसे तो मिथ्याज्ञानका नाश होता है और उसके नाश होने पर दोष दूर होते हैं। दोषोंके न रहनेपर प्रवृत्तिकी निवृत्ति हो जाती है और प्रवृ-त्तिके न होने से फिर जन्म नहीं लेना पड़ता। जन्म लेनेसे जब छुटकारा हो जाता है तो समस्त दुःखोंसे भी छुटकारा मिल जाता है। यह दुःखोंका अत्य-न्ताभाव ही 'मोक्ष' कहलाता है।

मिथ्याज्ञान––अनेक प्रकारके हुआ करते हैं, जैसे नास्तिकों की तरह यह मान लेना कि आत्मा कोई पदार्थ ही नहीं है, ऐसे ही अनात्माको आत्मा समझ लेना, दुःखमय पदार्थमें सुख समझना, अनित्यवस्तुको नित्य मान लेना आदि विपरीत रीतिसे वस्तुज्ञानका नाम मिथ्याज्ञान है, यानी तत्त्वज्ञानके विरोधी ज्ञानको मिथ्याज्ञान कहना चाहिये। इस मिथ्याज्ञान द्वारा भुलाया हुआ मानवसमाज न जाने क्या क्या अनर्थ करता रहता है, कराता रहता है और उसका फल भी भोगता रहता है। मनुष्य यदि थोड़ा भी विवेकदृष्टिसे काम ले तो सहजमें ही यह बात ध्यानमें आजाती है कि चोर चोरी करता है, पकड़ा जाता है, बदनाम होता है, हां अन्तमें जेलमें जाकर असह्य वेदना भी सहता है इत्यादि उदाहरणोंके देखते हुए, समझते हुए यदि चोरी-जैसे कामोंकी ओरसे निवृत्ति नहीं हो पाती तो इसका सारा श्रेय उस मिथ्या ज्ञानको ही है। इसे यदि दूसरे शब्दोंमें कहें तो कह सकते हैं कि एक मिथ्याज्ञान ही सारे फसादकी जड़ है, विना इसकी निवृत्ति हुए मोक्ष या अपवर्गकी ओर नहीं जाने मिलता ।। १३ ।।

वैशेषिकका मुक्तिपथ इस प्रकार है :––

धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्यगुणकर्मसामान्य-
विशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैध-
र्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ।। १४ ।।

–वैशेषिकदर्शन.

साधर्म्य और वैधर्म्यसे धर्मविशेष द्वारा उत्पन्नहो नेवाले जो द्रव्य, गुण कर्म सामान्य, विशेष तथा समवाय नामक छः पदार्थ हैं उनके तत्त्वज्ञानसे मोक्ष प्राप्त होता है।

इनके यहाँ परमात्माके साक्षात्कारको मोक्षका कारण माना गया है और उसका साक्षात्कार श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा बताया गया है। वैदिक विधानपूर्वक ईश्वरविषयक शास्त्रोंका सुनना 'श्रवण' कहाता है और सुनी हुई वस्तुके याथात्म्यको विचार लेना 'मनन' कहाता है। वस्तुके याथात्म्य तहतक पहुँचनेके लिये अनुमानकी आवश्यकता होती है और वह अनुमान व्याप्तिज्ञानके अधीन है, क्योंकि विना हेतुसे साध्यको बाँधे अन्दाजा लग नहीं सकता। यह व्याप्तिज्ञान यथार्थ ज्ञानकी अपेक्षा रखता है, विना पदार्थोंके यथावत् ज्ञानके व्याप्तिज्ञान होना नितान्त असंभव है।

पदार्थोंके यथावत् ज्ञानके लिये वैशेषिक दर्शनकी सृष्टि हुई है। उसमें द्रव्य, गुण आदि छः पदार्थोंका विवेचन करके अनुमिति सिद्धिके तहतक पहुँचा देनेका मार्ग दिव्य दिखा दिया गया है। पदार्थोंका विवेचन व्याप्तिज्ञानमें सुविधा करनेके लिये किया है ताकि 'अनुमान' हो सके, जिसके द्वारा ,मनन' पक्का होकर ईश्वरके साक्षात्कारका कारण बन जाय।

वैशेषिकोंने जो 'श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे परमेश्वरका साक्षात्कार होकर मोक्ष मिल जाता है' यह बताया है, इस विषयमें श्रीदिनकर भट्टने श्रुतिका भी प्रमाण दिया है। तद्यथा—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।' यह आत्मा साक्षात्कार करने योग्य है, किन्तु साक्षात्कार होनेके लिये श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना होता है।

उपरोक्त कथनानुसार नैयायिकोंके यहाँ तो प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थोंके तत्त्वज्ञान द्वारा मोक्षकी सिद्धि मानते हैं और वैशेषिकोंके दरबारमें द्रव्य गुण आदि छः पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मोक्ष होता है यह निर्धारित करते हैं। एकने तत्त्वज्ञानमें पदार्थ ज्ञानका उपयोग माना है तो दूसरेने व्याप्ति ज्ञानमें। इस तरह इन दोनों दार्शनिकोंकी एकसी प्रक्रिया चलती है॥ १४॥

महाराज श्री १००८ शंकराचार्यजी 'आत्मैकत्वविद्या' के ज्ञान द्वारा मोक्ष मानते हैं। इन्होंने अपनी भाष्यभूमिकामें स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि—'आत्मैकत्व विद्यासे मिथ्याज्ञानकी सदाके लिये निवृत्ति हो जाती है तब समस्त अनर्थोंकी निवृत्ति अपने आप ही हो जाती है, अर्थात् मोक्षमिल जाता है।'

इनके यहाँ 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करने पर आत्मैकत्वविद्याका ज्ञान होता है और निदिध्यासनकी सिद्धावस्था में निर्विकल्प समाधिकी उपलब्धि होती है, जिससे अन्तःकरणकी सारी वासनाएँ सदाके लिये दूर हट जाती हैं। तब तो फिर सुख और दुःखदेनेवाले पुण्य और पापकर्मोंकी भी निवृत्ति हो जाती और पुण्य, पापके निवृत्त हो जाने पर मोक्ष—धाममें रहनेके लिये जीवात्माको अधिकार मिल जाता है, यानी यह जीवात्मा मोक्षपद प्राप्त कर लेता है।

इस तरह प्रत्येक दार्शनिक या वैज्ञानिकने अपने अपने मन्तव्यके अनुकूल मोक्ष माना है, पर ध्यान रहे कि तत्त्वज्ञान चाहे किसी भी दार्शनिकका बताया हुआ हो, किन्तु जबतक तत्त्वज्ञानके श्रवण और मननके बाद निदिध्यासन नहीं सिद्ध किया जायगा तबतक मोक्ष—धामके फाटकपर पहुँचना वास्तवमें नहीं हो सकता॥

इस कथनकी पुष्टिमें महात्मा वशिष्ठजीने इसप्रकार बताया है :—

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यते शाश्वती गतिः ।। १५ ।।

योगवाशिष्ठ.

कहना न होगा कि इस संसारका अथवा इसमें रहकर किसी भी कार्य–सिद्धिका संपादन 'द्वन्द्व' की छत्र छायासे ही हुआ है, होता है और होता भी रहेगा। जिसकी जिस तरहसे उत्पत्ति होती है उसी तरह उसकी गति, मति आदि भी होनी चाहिये इसीसे होती भी है। यही कारण है कि प्राणियोंकी रचनाके सारे विभाग द्वन्द्व (दो) रूप ही रहते हैं। द्वन्द्वजनित पदार्थोंमेंसे एक इसी उदाहरणसे मोक्षका विषय स्पष्ट विदित होता जाता है कि जैसे जब आकाशमें पक्षी उड़ने लगता है या उड़ता रहता है तो अपने दोनों पक्षों (पंखों) का सहारा लेता है, अन्यथा वह तनिक भी नहीं उड़ सकता, ऐसे ही मोक्षके विषयमें भी समझना चाहिये, यानी मनुष्यके लिये मोक्ष तभी संभव हो सकता है जब ज्ञान और कर्म दोनोंका आश्रय लिया जाय। सच्ची बात तो यह है कि विना कर्मके तत्त्वज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान ही नहीं हो सकता। इसीसे तो भगवान् कृष्णचन्द्रने 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' ब्रह्मका उद्भव यानी ब्रह्मका साक्षात्कार कर्म द्वारा होता है, यह अर्जुनके लिये क्या, सारे संसार के लिये उपदेश दिया है।।

कर्म, उपासना और ज्ञान; इनका बोध वेदसे ही होता है वेद ही कर्म करनेका उपदेश देता है, क्योंकि मूलरूप कर्मके पुष्ट हुए विना ज्ञान रूपी फल कैसे उत्पन्न हो सकता है? इस कर्मरूप वृक्षका सिंचन ही अनुत्तम लाभदायक ज्ञानरूपी फलको देनेवाला है। इसलिये कर्म द्वारा अन्तःकरण शुद्ध करके उपासनापूर्वक तत्त्वज्ञान अथवा आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिये। तभी तो–'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।' लिखा है।। १५ ।।

यद्यपि इस वैज्ञानिक युगमें कुछ लोग ऐसे हुए हैं और अब भी हैं, जो कि आस्तिक तो हैं, पर हैं निराकारवादी। ये लोग साकारकी उपासनासे घृणा करते हैं, साकारकी उपासना करनेवालोंको अज्ञ (मूर्ख) कहते हैं, हेय समझते हैं और अपनी शक्तिके अनुसार उपासकोंके साथ वैरपनेकी आन भी निभाते हैं। हां, ये लोग ऐसा क्यों करते हैं, क्यों समझते हैं? इस प्रकारका प्रश्न किया जाय तो इसका उत्तर यही हो सकता है कि ऐसे करनेवाले, माननेवाले भूले हुए हैं, प्रकृति नटीके दरबारमें मुग्ध होकर मूढ हो गये हैं और प्राक्तनकर्मोंके

कठिन बन्धनोंसे जकड़े हुए हैं। नहीं तो इस तरह ये न कर सकते और न मान सकते। इस प्रकारके माननेवालोंके लिये यह एक ही दृष्टान्त या प्रत्यक्ष प्रमाण पर्याप्त है कि जैसे—सेना विभागमें जब मनुष्य भरती होता है तो उसे सर्व-प्रथम शारीरिक व्यायामोंके साथ साथ अस्त्र (बन्दूक आदि) का अभ्यास करनेके लिये स्थूल वस्तुपर ही निशाना लगवाया जाता है, न कि सूक्ष्म, या सूक्ष्मतर पर। कारण यह है कि आरम्भावस्थामें सूक्ष्म वस्तुपर निशाना लग ही नहीं सकता, किन्तु अभ्यास करते करते कुछ दिनमें स्थूलसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर पर आसानीसे लग जाया करता है। इसी तरह निर्गुण ब्रह्मके साक्षात्कार करने के लिये पहले सगुणोपासनाकी आज्ञा वेद और शास्त्रोंने दी है, कि जिससे सगुण–रूपमें अभ्यास दृढ हो जाय, और निर्गुण ब्रह्मका साक्षात्कार हो सके। अन्यथा ब्रह्म या आत्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकेगा।

तद्यथा :—

शर्करा जलसंयुक्ता शर्करात्वं हि गच्छति।
सगुणं ध्यायतो नित्यं निर्गुणत्वं यतथोच्यते ।। १६ ।।

जैसे जिस समय शक्कर जलके साथ मिल जाती है तो वह शक्करपनेको प्राप्त हो जाती है; यानी अपने सूक्ष्म रूपको पा जाती है ऐसे ही सगुण ब्रह्मका प्रतिदिन ध्यान करते करते यह आत्मा निर्गुणपनेको[1] पा लेता है ।। १६ ।।

इसलिये—

सगुणोपासनाभिस्तु चित्तैकाग्र्ययं विधाय च।
मोक्षमार्गं व्रजेज्जीवो मुक्तो भवति नान्यथा ।। १७ ।।

सगुण ब्रह्म अथवा राम, कृष्ण आदि किसी भी अपने आराध्य देवकी उपासना द्वारा चित्तको एकाग्र करके मोक्षधामको जाना चाहिये, अन्यथा यह जीव मुक्त नहीं हो सकता ।। १७ ।।

वह ब्रह्म संसारी प्राणियोंको उद्धार करनेके लिये अनेक नामोंसे प्रसिद्ध है। हमारे प्राचीन आचार्योंका यह अटल सिद्धान्त है कि इन अनेक नामोंसे दर्शन शास्त्रके द्वारा समर्थित उस एक ब्रह्मका ही प्रतिपादन किया जाता है।

---

१ चौपाई—"जो गुणरहित सगुण सो कैसे ?
जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे ।।
फूले कमल सोह सर कैसे ?
निर्गुण ब्रह्म सगुण भये जैसे ।।" तुलसीदास.

यथा :—

एतमेके वदन्त्यग्निमनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्मशाश्वतम् ।। १८ ।।

—मनुस्मृति.

उस परमात्माको कोई अग्नि कहता है, और कोई प्रजापति कहता है तो कोई इन्द्र । कोई प्राण कहता है तो कोई शाश्वत ब्रह्म । यानी इन सब नामोंसे उस एक परमात्माका ही निर्देश किया गया है ।। १८ ।।

ऐसा ही वेदोंमें भी लिखा है, यथा :—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निराहुरथो दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्राःबहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः ।। १९ ।।

—ऋग्वेद.

उस एक परमात्माको ही विद्वान् लोग इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि आदि अनेक नामोंसे कहते हैं और उस एक आत्मा—ईश्वरकी ही अनेक नामों वैदिक साहित्यमें स्तुति की गयी है। तात्पर्य यह कि किसी भी नाम—रूपकी श्रद्धापूर्वक उपासना अवश्य करनी चाहिये, अन्यथा ब्रह्मको प्राप्त कर लेना, यानी मोक्ष प्राप्त होना ख-पुष्पके समान असम्भव ही है ।। १९ ।।

इस तरह योगकी अन्तिम अवस्थातक यानी निर्विकल्प समाधि द्वारा मोक्षप्राप्ति तकका निरूपण लिखकर लेखनसमाप्तिके वर्ष आदिका उल्लेख कर ग्रन्थ समाप्त करता हूँ :—

वर्षे विक्रमभूपतेर्युगनवाङ्कोर्वीमिते माधवे,
शुक्लेशुक्रदिनेविभावसुतिथौसंपूरितं लेखनम् ।।
द्वन्द्वाऽऽघातनिवृत्तये मुनिवरैः श्रीयोगमार्गो करः,
प्रोक्तस्तत्रनिदर्शितं सुखकरंसोपानमष्टात्मकम् ।। २० ।।
यद्यप्यस्य कृते विशेषरचना सम्यक्कृता पूर्वजैः,
किन्त्वस्मिन्विषयेविवेकसहितंसारल्यभावैर्युतम् ।।
'हिन्दी'-वाग्भवकं विबोधजनकं नास्त्येककंपुस्तकम्,
ह्येत्थं 'प्रेम' धिया विचार्य रचितं श्रीयोगसोपानकम् ।। २१ ।।

श्रीसंवत् १९९२ विक्रम, वैशाख शुक्ल प्रतिपद, शुक्रवारको इस 'बृहद्योगसोपान' नामक पुस्तकका लेखन समाप्त हुआ। द्वन्द्वजनित दुःख और

क्षणिक सुखोंकी निवृत्तिके लिये अर्थात् संसार—बन्धनसे छूटकर मुक्त होनेके लिये हमारे प्राचीन महर्षियोंने केवल एक योग–साधन ही सर्वश्रेष्ठ बताया है। इस योगसाधनके मार्गको बतानेवाले ग्रन्थ प्राचीन एवं अर्वाचीन भाषामें अनेक–प्रकारके इस समय प्रस्तुत हैं, परन्तु हिन्दीमें ऐसी पुस्तकका आजतक अभाव ही रहा कि जिसमें योगकी सारी बातें सरल रीतिसे बता दी गई हों। इसलिये मैंने इस 'बृहद्-योगसोपान' ग्रंथका संग्रहात्मक निर्माण किया है ।। २०–२१ ।।

इति प्रतापगढ़प्रान्तान्तर्गत–भँवरी (पूरे तिलकदास) ग्राम निवासि–
श्री पं० शिवनाथ शर्मात्मज पं० रामनरेश मिश्र 'प्रेम' विरचिते
बृहद्योगसोपानेऽष्टमसोपान–प्रकरणं समाप्तम् ।

❋

घेरण्ड संहिता

भाषानुवाद सहिता

भाष्यकारः
ब्रह्मलीन राष्ट्रगुरू श्री १००८ श्री स्वामीजी महाराज

श्री पीताम्बरा पीठ
दतिया (म.प्र.)

अनन्त विभूषित श्री स्वामी जी महाराज, दतिया (म.प्र.)

ब्रह्मानन्दं परम सुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिम्, द्वंद्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादि लक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधी साक्षिभूतम्, भावातीतं त्रिगुण रहितं सद्गुरु तं नमामि।।

प्रकाशकीय

श्री पीताम्बरा - पीठ देश की न केवल एक महत्वपूर्ण आध्यात्मिक संस्था है जो गत 30 वर्षों से निर्बल और निरीह मानवता को आध्यात्मिक साधनों से सशक्त बनाकर कल्याण मार्ग की ओर प्रवृत्त करती रही है; अपितु वैदिक साहित्य एवं संस्कृति की प्रतिनिधि है,जिसका उद्देश्य पीठ के संस्थापक पूज्यपाद श्री 1008 श्री स्वामीजी महाराज की संरक्षता में संस्कृताध्यापन एवं संस्कृत-ग्रन्थों के प्रकाशन द्वारा, संस्कृत प्रचार एवं प्रसार करके संस्कृत एवं संस्कृति का संवर्धन करना है।

पीठ द्वारा संपादित अन्य महत्वपूर्ण कार्यों के समान प्रकाशन कार्य भी विशेष महत्व का है। प्राचीन साहित्य के संरक्षण एवं संवर्धन की पूज्यपाद की इच्छा सदैव रही है; जिसके फलस्वरूप लगभग 25 वर्ष पूर्व से ग्रन्थ-प्रणयन एवं प्रकाशन का कार्य सुचारू रूप से सम्पन्न होता आ रहा है। अद्यावधि श्री पीताम्बरा - पीठ द्वारा अनेक महत्वपूर्ण एवं मौलिक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। इस प्रकाशन माला में तन्त्र, उपनिषद, दर्शन, योग आदि विविध विषयों की श्रेष्ठ मणियाँ गुम्फित हो चुकी है।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन श्री पीताम्बरा - संस्कृत परिषद् की ओर से किया जा रहा है। श्री पीताम्बरा - संस्कृत - परिषद्, पीठ की एक महत्वपूर्ण संस्था है। इसकी स्थापना पूज्य श्री महाराज जी की प्रेरणा से संस्कृत के प्रचार एवं प्रसार के लिए दिनांक 25-5-60 को की गयी थी। तभी से यह संस्था संस्कृत-सेवा में सम्यक् रूप से संलग्न है।

प्रस्तुत योग-विषयक पुस्तक श्री घेरण्ड मुनि द्वारा विरचित 'घेरण्ड संहिता' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें श्री घेरण्ड मुनि ने अपने शिष्य चण्ड कापालि को योग का अनुशासन किया है। अन्य अनेक ऋषि मुनियों के समान श्री घेरण्ड मुनि का भी परिचय उपलब्ध नहीं है। उनके शिष्य कापालि का नाम अवश्य हठयोग के प्रसिद्ध ग्रन्थ ''हठयोग-प्रदीपिका'' में योग-प्रवर्तक आचार्यो की कोटि में आया है। घेरण्ड मुनि विरचित योग के इस ग्रन्थ में तांत्रिक-पद्धति का अनुसरण किया गया है। योग शास्त्र का यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ सुबोध भाषा में अभी तक प्रकाशित नहीं था। सर्वसाधारण के उपयोग के लिए पूज्यपाद् ने हिन्दी-टीका का प्रणयन किया

है, जिसमें यथास्थान आगम-ग्रन्थों के उद्धरणों से योग-शास्त्र के अनेक दुर्बोध स्थलों का समुचित -ज्ञान अनायास ही हो जाता है।

इस पुस्तक के प्रकाशन का समस्त व्यय-भार बम्बई निवासी श्रीयुत सेठ बालकृष्णदास पदमचन्द ने सहर्ष वहन किया हैं, तदर्थ उनके प्रति हार्दिक धन्यवाद प्रकट किया गया है।

पुस्तक को प्रकाशन की दृष्टि से पूर्ण सुन्दर बनाने में श्रीराम प्रेस झांसी के अधिष्ठाता श्री द्वारिकेश मिश्र ने जो परिश्रम पूर्वक कर्तव्य-निर्वाह किया है; तदर्थ वह भी समुचित धन्यवाद के पात्र हैं।

दतिया (म.प्र.)

मंत्री
श्री पीताम्बरा पीठ

द्वितीय संस्करण

परम पूज्य आचार्य चरणों की कृपा से योग के बहुचर्चित सुप्रसिद्ध ग्रन्थ घेरण्ड संहिता के द्वितीय संस्करण के प्रकाशन से परिषद् प्रसन्नता का अनुभव कर रही है।

भारतीय समस्त साधनाएं योग साधना से ही अनुप्राणित हैं। तन्त्र योग मिल कर ही साधना को सर्वाङ्गीण परिपूर्ण बनाते हैं। इस ग्रन्थ में दोनों का मिलन है। यह ग्रन्थ गुरू तुल्य ही पथ प्रदर्शक है। इसका सर्व प्रथम प्रकाशन यहीं से हुआ। द्वितीय संस्करण से उपादेयता स्पष्ट ही है।

समस्त व्यय भार श्री सुरेन्द्रदेव जी गौड़ एवं श्रीमती सावित्री देवी गौड़ ने सहर्ष वहन किया है। उन्हें आभार सहित शुभ कामनाएं।

साधकों की साधना समुन्नत हो ऐसी आशा है।

ब्रजनन्दन शास्त्री साहित्याचार्य
मंत्री
श्री पीताम्बरा पीठ संस्कृत परिषद
दतिया (म.प्र.)

सं. 2034
दीपमालिका

तृतीय संस्करण

प्रकाशकीय तृतीय संस्करण प्रस्तुत ग्रन्थ घेरण्ड संहिता यौगिक क्रियाओं का संग्रह है। आशा है जिज्ञासु विज्ञ पाठक इससे लाभ उठायेंगे तो संस्कृत परिषद कृत कृत्य होगी।

ॐ नारायन द्विवेदयः
शास्त्री
श्री पीताम्बरा पीठ
दतिया (म.प्र.)

सं. 2045
गंगा दशहरा

मूल्य २०–०० रुपये

प्रकाशकीय

(चतुर्थ संस्करण)

ब्रह्मलीन अनन्त श्री विभूषित पूज्यपाद आचार्य चरणों के शुभाशीर्वाद से योग के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ घेरण्ड संहिता के चतुर्थ संस्करण के प्रकाशन से पीठ परिषद प्रसन्नता का अनुभव कर रही है।

घेरण्ड मुनि विरचित योग के इस ग्रन्थ में तांत्रिक, यौगिक पद्धति का अनुसरण किया गया है। सर्वसाधारण के उपयोग के लिये पूज्यपाद जी ने हिन्दी का प्रणयन किया है जिसमें यथा स्थान तन्त्र ग्रन्थों के उद्धरणों से योग शास्त्र के अनेक दुर्बोध स्थलों का समुचित ज्ञान अनायास ही हो जाता है।

साधकों की साधना समुन्नत हो, ऐसी आशा है।

श्री पीताम्बरा पीठ संस्कृत परिषद
दतिया (म.प्र.)

गुरूपूर्णिमा 2060
रविवार, 13 जुलाई, 2003

भूमिका

भारतवर्ष में योग-विद्या का महत्व बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। आर्य-जाति के इतिहास में, प्रधान रूप में योग का विषय-विवेचन किया गया है। मनुष्य-जीवन के अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष के निरूपण में सर्वत्र ही योग की प्रधानता है। योग का प्रयोग लौकिक एवं अलौकिक भेद से दो प्रकार का माना गया है। लौकिक कार्यों की सिद्धि भी बिना मन के अवधान के नहीं होती। अलौकिक -योग के विषय में कहा गया है- ''यदयं परमोधर्मा यद् योगेनात्म दर्शनम्''- अर्थात् योग से आत्म -दर्शन करना परम धर्म है। वेद से लेकर पुराण, इतिहास आदि सभी ग्रन्थों में योग की श्रेष्ठता बताई गयी है। ऋषियों ने वेद-मंत्रों का साक्षात्कार योग-द्वारा ही किया था। यह सारा विश्व योग द्वारा ही बना हुआ है। परमाणु, प्रकृति, माया आदि तत्त्वों के योग द्वारा ही विश्व रचना हुई है; इसलिये योग का महत्व सर्वोपरि है।

उपनिषदों में इसका विषय विस्तृत रूप से बताया गया है। चार प्रकार के योगों का वर्णन योग के चार सम्प्रदायों से किया गया है। जिन्हें राज, लय, हठ एवं मंत्र के नाम से कहा जाता है। महर्षि पतञ्जलि का योग-दर्शन राजयोग के अन्तर्गत आता है। इस मत में चित्त-वृत्ति के निरोध को ही योग माना गया है। उपासना-मार्ग भी राजयोग का ही रूपान्तर है, जिसे ईश्वर प्रणिधानाद्वा सूत्र में ईश्वर प्रणिधान पद से बताया गया है। वर्तमान काल में प्रचलित शाक्त, शैव, वैष्णव आदि सम्प्रदाय 'ईश्वर प्रणिधान' नाम के योग से गृहीत होती है। इसीलिये भाष्य-कर्ता श्रीव्यासजी ने कहा

है-"प्रणिधानाद् भक्ति विशेषाद् आवर्जित ईश्वरस्तमनु गृण्हाति, अभिध्यान मात्रेण तद् अभिध्यानादपि योगिन आसन्न समाधिलाभ: फलंच भवति।" (योग.स.पा.सू.23) भोज ने भी इसकी व्याख्या इसी प्रकार की है-"प्रणिधानं भक्ति विशेष: विशिष्टमुपासनम्" -क्लेशादि से रहित ईश्वर-तत्व को अनेक नामों से शास्त्रों में कहा गया है। इसलिये उसको कोई एक संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसलिये व्यास-भाष्य में कहा गया है-"तस्य संज्ञादि विशेषत्रति - पत्तिरागमत: पर्यन्वेष्या" (व्या.भा;सा.पा.सू.25)। इसीलिये शिव, विष्णु, महाशक्ति आदि नाम तथा इनके नामों से पुराणादि की रचना करके तत्तद्भावना भावति-भक्तियोग की प्रवृत्ति, महर्षि व्यास ने ही की है।

हठयोग में 'ह' एवं 'ठ' के योग हठयोग बताया गया है। इड़ा -पिंगला नाड़ियों में प्रवाहित 'ह' एवं 'ठ' को चन्द्र एवं सूर्य के नाम से कहा जाता है, इनका ऐक्य ही हठयोग कहा जाता है। इड़ा-पिंगला के प्रवाह में मन वहिर्गति वाला रहता है। हठाभ्यास के द्वारा दोनों का ऐक्य सम्पादन करना इस योग का लक्ष्य है। जिस योग के विषय में लिखा जा रहा है, वह हठ योग के अन्तर्गत आता है। दोनों 'ह' एवं 'ठ' के ऐक्य होने पर आधार चक्र में स्थित कुण्डलिनीशक्ति का उद्बोध होकर प्राणापान की एकता द्वारा नाद-बिन्दु-कला तक षड़ाधार चक्रों का भेदन करके योगी परमतत्व का साक्षात्कार करता है। शरीर, मन इन्द्रियादि में अनेक प्रकार की मलिनता, अनेक जन्म के कर्म-जन्य संस्कारों से रहती है। बिना उसके शोधन के यह योग संभव नहीं है। इसीलिये हठयोग की क्रियाओं का उपदेश दिया गया है।

हठयोग के कई ग्रन्थ हैं, जिनमें यह विषय बताया गया है- 'हठयोग-प्रदीपिका', गोरक्ष पद्धति', शिव संहिता' आदि। हठयोग की क्रियाओं का सबसे अधिक विवरण प्रकृत 'घेरण्ड संहिता' में बताया गया है। षट्कर्म के प्रकार, आसन, मुद्रा, प्राणायाम के भेदों का ऐसा निरूपण किसी ग्रन्थ में प्राप्त नहीं होता। 'घेरण्ड संहिता' तान्त्रिक साधना के मत का ग्रन्थ है। तान्त्रिक मत से किस प्रकार समाधि -लाभ होता है, इसे ही लक्ष्य करके इसमें बताया है, क्योंकि तान्त्रिकों का योग सर्वोपरि एवं सभी प्रकार के योगों का समन्वय है। इसके षष्ठोपदेश में स्थूल-सूक्ष्म

गुरू ध्यान का प्रकार जो दिया है, वह तान्त्रिकों का है। 'पातञ्जल-दर्शन' में लय -योग एवं कुण्डलिनी -योग का निरूपण नहीं है। कुण्डलिनी-योग तान्त्रिकों की प्रधान साधना है, जिसे इस ग्रन्थ में सुन्दर रीति से बताया गया है। 'पातञ्जलि-दर्शन' में जन्मौषधि मन्त्र तप: समाधिजा: सिद्धयं सूत्र में मन्त्र से भी सिद्धि मानी गयी है। भाष्यकार ने बहुत स्थानों पर मन्त्र-सिद्धि का उल्लेख किया है। 'तस्य वाचक: प्रणव: तज्जपस्तदर्थ भावनम्' से सूत्रकार का मत मन्त्र के विषय में स्पष्ट हो जाता है। 'घेरण्ड संहिता' में आज्ञाचक्र में प्रणव का ध्यान अजपाजप एव तत्वों के मन्त्रों का उल्लेख किया गया है। गुरू-ध्यान में सभी टीकाओं में तथा मूल में द्वादशाक्षर गुरूमंत्र का ग्रहण किया गया है। प्राणायाम की साधना मुख्य होने से यह संहिता हठयोग के अन्तर्गत आती है। अन्त में हठयोग भी राजयोग में ही पर्यवसन्न है तथापि 'पातञ्जलि-योग-दर्शन' से इस संहिता का राजयोग भिन्न है। पातञ्जलि मत द्वैतवादी है एवं यह अद्वैतवादी है। जीव की सत्ता ब्रह्म सत्ता से सर्वथा भिन्न नहीं है। 'सोऽहम्' मंत्र के अनुसंधान से जीवब्रह्मभाव को प्राप्त होता है। यह भी सिद्धान्त तान्त्रिकों का ही है। इसे ही श्री गोरक्षनाथ ने 'योगबीज' एवं 'महार्थमञ्जरी' ग्रन्थों में स्वीकार किया है। कश्मीर के 'शैव-दर्शन' में भी यह सिद्धान्त (अद्वैत) माना गया है। इस ग्रन्थ में सात उपदेशों द्वारा सभी बातें कह दी गयी हैं। पहले उपदेश में महर्षि घेरण्ड ने 'चण्डकापालि' को षट्कर्म का उपदेश दिया है। दूसरे में आसन और उसके भिन्न-भिन्न प्रकार का विशद निरूपण किया है। तीसरे में मुद्रा का स्वरूप, लक्षण एवं उपयोग बताया गया है। चौथे में प्रत्याहार का विषय है। पाँचवें में स्थान, काल, मिताहार और नाड़ी -शुद्धि के पश्चात् प्राणायाम की विधि बताई गयी है। छठे में ध्यान करने की रीति एवं प्रकार बताये गये हैं। सातवें में समाधि -योग तथा उसके भेद, ध्यान, नाद, रसानन्द, लय-सिद्धियोग एवं राजयोग के भेद द्वारा बताये गये हैं।

इस प्रकार 350 श्लोकों वाले इस छोटे से ग्रन्थ में सभी योगों का स्वरूप बता दिया गया है। इस ग्रन्थ की प्रतिपादन-शैली सरल, सुबोध एवं साधक के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इस पर अनेक टीकाएं हुई हैं। पण्डित रामस्वरूप जी की हिन्दी टीका सुन्दर एवं प्रामाणिक है। एक इंगलिश टीका 'अडियार थियोसोफिकल

सोसायटी' से निकली है; जो कि अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के लिए उपयोगी है। इन अनेक टीकाओं का विचार करके संक्षेप में यह टीका तान्त्रिक उद्धरणों के साथ लिखी गयी है। उद्धरण प्राय: वही हैं, जिन्हें पं. रामस्वरूप जी ने भी लिया है। केवल अनुपयोगी विस्तार छोड़ दिया गया है।

आशा है, इस टीका द्वारा साधकों को अपनी साधना में सहायता मिलेगी।

जैन-धर्म में भी योगाभ्यास माना जाता है। आचार्य हेमचन्द्र सूरी ने अपने योगशास्त्र नामक ग्रन्थ के पञ्चमप्रकाश में प्राणायामयोग का क्रम दिया है, तथापि घेरण्ड संहिता में बतायी बातों से बहुत ही न्यून हैं। इस योग शास्त्र से यम, नियम, ध्यान, समाधि का ही विशेष विवरण किया गया है। पंचतत्वों की धारणा का निर्देश भी किया गया है। जैन मत में नाभसी धारणा नहीं मानी गयी है। स्वरोदय का विषय भी इस योग में दिया गया है। नाड़ी-शुद्धि, बिन्दु-ज्ञान आदि बतायें गये हैं। पीछे से मन्त्र योग पर भी निर्देश किया गया है। महात्मा गौतम बुद्ध ने यद्यपि हठयोग पर अरूचि बतायी है, तथापि प्रसिद्ध बौद्ध के योग ग्रन्थ - 'विसुद्धि मग्ग' आन-पान स्मृति नाम के अभ्यास में हठयोग लिया गया है। जैन बौद्ध -योग का अनेक स्थानों पर साम्य है। आसनों का वर्णन हेमचन्द्र सूरी ने अपने ग्रन्थ के चौथे प्रकाश में दिया है; हठयोग प्रदीपिका में हठयोग की परम्परा में बुद्ध लिए गये हैं।

जैन-बुद्ध योग में मुद्राओं का स्वरूप कहीं भी नहीं बताया है। यद्यपि हठयोग का साधन इस समय लुप्त-प्राय है। क्योंकि इसकी क्रियाएं बहुत कठिन हैं। इनका ठीक-ठीक परिचय न हो तो साधन करने पर हानि की ही सम्भावना है; तथापि योग के सर्वाङ्गी स्वरूप का परिचय इसी से होता है। इसीलिए इस पर यह टीका लिखी गयी है। इसकी शुद्ध कापी करने का श्रम भी जगदीश गुप्त सुहाना एवं पं. श्रीराम तिवारी ने किया है। अत: ये दोनों सज्जन धन्यवाद के पात्र हैं। इति।

दतिया,
चैत्र शुक्ल प्रतिपदा
संवत् 2021

राष्ट्रगुरू
श्री १००८ श्री स्वामीजी महाराज

योग माहात्म्यम्

卐 卐 卐

स धा नो योग आमुवत्
स राये स पुरंध्याम्
गमद् वाजेभिरा स नः।

– ऋग्वेद 1-5-3

卐 卐

तपस्विभ्योऽधिको योगी
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी
तस्माद्योगी भवार्जुन

– श्रीमद्भगवद्गीता

卐 卐

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्वं
दीपोपमेनेह युक्त प्रपश्येत्
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः

– श्वेताश्वतर

अनुक्रमणिका

प्रथमोपदेश:

वस्तिप्रकरणम्

द्वितीयोपदेश:

आसनप्रकरणम्

तृतीयोपदेशः
मुद्राकथनम्

चतुर्थोपदेशः
प्रत्याहारः

पञ्चमोपदेशः
प्राणायामः

षष्ठोपदेश:
ध्यानयोग:

सप्तमोपदेश:
समाधियोग:

ओं

हं

यं

रं

वं

ॐ तत्सत्

घेरण्ड - संहिता

भाषानुवाद - सहिता

卐 卐

प्रथमोपदेशः

[1]आदीश्वराय प्रणमामि तस्मै, येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।
विराजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहणीव ।१।

एकदा चण्डकापालिर्गत्वाघेरण्डकुट्टिमम्।
प्रणम्य विनयाद्भक्त्या घेरण्डं परिपृच्छति ॥१॥

भावार्थ - एक समय, योगाभ्यास करने की इच्छा वाले साधक चण्डकापालि नामक अधिकारी शिष्य ने श्रीघेरण्ड मुनि की कुटी पर जाकर नम्रता पूर्वक भक्ति से उन्हें प्रणाम करके योग - विषयों को पूछा ।1।

---

1. यह श्लोक कई पुस्तकों में अधिक है।

चण्डकापालिरूवाच

घटस्थयोगं योगेश तत्त्वज्ञानस्यकारणम्।
इदानीं श्रोतुमिच्छामि योगेश्वर वद प्रभो॥२॥

भावार्थ - हे योगेश! तत्वज्ञान का कारण घटस्थयोग है, इस समय उसे ही मैं जानना चाहता हूँ। हे प्रभो, हे योगेश्वर, उसे कृपापूर्वक आप मुझसे कहें ।2।

घेरण्ड उवाच

साधुसाधुमहाबाहो यस्मात्त्वं परिपृच्छसि।
कथयामि च ते वत्स सावधानोऽवधारय ॥३॥

भावार्थ - हे महाबाहो चण्ड, मैं तुम्हारे इस प्रश्न के लिए अनेक साधुवाद देता हूँ। हे प्रिय! इस विषय को तुम सुनना चाहते हो, उसे मैं कहता हूँ; सावधानी पूर्वक सुनो ।3।

नास्तिमायासमं पापं नास्ति योगात्परं बलम्।
नास्तिज्ञानात्परोबन्धुर्नाहङ्कारात्परोरिपुः ॥४॥

भावार्थ - माया के बराबर कोई पाप नहीं हैं, ज्ञान के समान कोई बन्धु नहीं है। अहंकार के तुल्य कोई बैर नहीं हैं, और योग के समान कोई अन्य बल नहीं है। ॥4॥

1- योगशास्त्र में कहा है 'प्राणापाननादबिन्दु जीवात्मपरमात्मनोः । मिलित्वा घटते यस्मात्तस्माद् वै घट उच्यते'। अर्थात् प्राण, अपान, नाद, बिन्दु जीव और परमात्मा के मिलन से जो घटता (बनता) है, इसलिए इसे घट या शरीर कहते हैं। इन घटस्थ (शरीरस्थ) योगों का वर्णन घटस्थयोग कहलाता है।

अभ्यासात् कादिवर्णानां यथाशास्त्राणि बोधयेत्।
तथायोगंसमासाद्य तत्त्वज्ञानं च लभ्यते ॥५॥

भावार्थ - जैसे ककार आदि वर्णों का क्रम से अभ्यास करने से समस्त शास्त्रों का ज्ञान हो जाता है; उसी प्रकार योगाभ्यास करने से तत्त्वज्ञान हो जाता है। यह योगशास्त्र की महत्वपूर्ण सूचना है। ।।5।।

सुकृतैर्दुष्कृतैः कार्यैर्जायते प्राणिनांघटः।
घटादुत्पद्यतेकर्म घटीयन्त्रं यथाभवेत् ॥६॥
ऊर्ध्वाधोभ्रमतेयद्वत् घटीयन्त्रं गवां वशात्।
तद्वत्कर्मवशाज्जीवो भ्रमतेजन्ममृत्युभिः॥७॥

भावार्थ - पुण्य-पाप के कार्यों से प्राणियों के शरीर उत्पन्न होते हैं, शरीरों से कर्म का आविर्भाव होता है, तदनन्तर कर्म से शरीर उत्पन्न होता है। इस प्रकार जैसे सूर्य की किरणों से घटीयन्त्र की सुइयाँ ऊपर नीचे फिरा करती हैं, उसी प्रकार प्राणी भी इस संसार-चक्र में घूम रहा है; अर्थात् जन्म-मरण का क्रम इसी प्रकार अनन्तकाल तक प्रवृत्त रहता है। अथवा बैलों की गति से रहेंट जैसे ऊपर-नीचे चक्कर लगाया करता है; ऐसे ही जीव घूमा करता है। घड़ी तथा रहेंट - इन दोनों उपमानों से अर्थ संगत होता है। ।।6,7।।

आमकुम्भमिवाम्भस्थो जीर्यमाणः सदाघटः।
योगानलेनसंदह्य घटशुद्धिं समाचरेत् ॥८॥

भावार्थ - जैसे मिट्टी के कच्चे घड़े में जल भरने से घड़ा गल कर नष्ट हो जाता है। उसी को पका कर जल भरने से फिर नहीं गलता तथा जल भी नहीं निकलता; इसी तरह जीव का शरीर प्रतिदिन क्षीण हो रहा है। कच्चे घड़े की तथा शरीर की समानता है। शरीर का पक्कापन योगाग्नि द्वारा ही होता है। इसीलिए शरीर को दृढ़ करने के निमित्त योगाभ्यास करना चाहिए। ।।8।।

सप्तसाधनम्

शोधनं दृढ़ता चैव स्थैर्य धैर्य च लाघवम्।
प्रत्यक्षंच विनिर्लिप्तं घटस्थंसप्तसाधनम् ॥९॥

भावार्थ - शरीर की शुद्धि के लिए सर्वप्रथम इन सात साधनों को करना चाहिए - शोधन, दृढ़ता, स्थैर्य, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्लिप्ति। यही सात साधन कहे गये हैं ।9।

सप्तसाधन लक्षणम्

षट्कर्मणा शोधनं च आसनेनभवेद् दृढ़म्।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता ।१०।
प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनि।
समाधिना च निर्लिप्तं मुक्तिरेव न संशयः।११।

भावार्थ- षटकर्म द्वारा शोधन, आसनों से दृढ़ता, मुद्राओं से स्थिरता, प्रत्याहार से धैर्य, प्राणायाम से लाघव, ध्यान से ध्येय पदार्थ का प्रत्यक्ष दर्शन, तथा समाधि द्वारा निर्लिप्त-आसक्तिराहित्य होता है। इस क्रम से अभ्यास करने से अन्त में निश्चित रूप से मोक्ष-प्राप्ति होती है ।10,11।

दत्तात्रेय - संहिता में कहा गया है-

'यमश्चनियमश्चैव आसनं च ततः परम्।
प्राणायामश्चतुर्थः स्यात् प्रत्याहारश्चपञ्चमः॥
षष्ठीतु धारणाप्रोक्ताध्यानं सप्तममुच्यते।
समाधिरष्टमः प्रोक्तः सर्वपुण्यफलप्रदः॥
एवमष्टाङ्ग योगं च याज्ञवल्क्यादयोविदुः।'

अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि - ये आठों योगाङ्ग सभी पुण्यफलों को देने वाले हैं। इनके ज्ञाता याज्ञवल्क्यादि महर्षि

ऐसा ही कहते हैं। महर्षि पतञ्जलि का भी कथन है-

'यमनियमआसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोष्टावाङ्गानि'

निरुत्तरतन्त्र में भी कहा है-

'आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट्॥'

इस मत में यम-नियम को योगाङ्ग में नहीं माना है। आदियामल में ध्यान दो प्रकार का है-

'ध्यानं तु द्विविधं प्रोक्तं स्थूलसूक्ष्मविवेकतः।
स्थूलं मन्त्रमयंविद्धि सूक्ष्मं तु मन्त्रवर्जितम्॥'

अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म भेद से ध्यान दो प्रकार का है। मंत्रजप के साथ स्थूल तथा जप-रहित को सूक्ष्म कहते है। निरूत्तरतन्त्र में प्राणायाम से लेकर समाधि-पर्यन्त योगाङ्गों का अनुष्ठान इस प्रकार बताया गया हैं-

'प्राणायामो द्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः।
प्रत्याहारोद्विषट्केन जायते धारणा शुभा॥
धारणाद्वादशप्रोक्तं ध्यानं ध्यानविशारदैः।
ध्यानं द्वादशकैरेवसमाधिरभिधीयते॥
यत्समाधौपरंज्योतिरन्तरं विश्वतोमुखम्।'

अर्थात् बारह प्राणायाम से प्रत्याहार की सिद्धि होती है, बारह प्रत्याहार से धारणा होती है, बारह धारणा से ध्यान और बारह ध्यान से समाधि पूर्ण होती है। समाधि-साधना होने पर हृदय के अन्दर परम ज्योति प्रकट होती है। आदियामल में कहा है-

'प्राणायामस्त्रिधा चेति बहुधा प्रथमं श्रृणु।
आसने प्राणसंयामे न शक्ताः सुकुमारकाः॥
महापुण्य प्रभावेण शक्यते तु महात्मनाम्।
ईडांशशि प्रभां ध्यात्वामन्देन्दुना तु पूरयेत्॥'

ममाज्योतिर्मयोभूत्वा वायुपूर्णकलेवरः।
शक्ति भासं तु संत्रास्य, रेचयेद् वायुमार्हितः॥
पिङ्गलामर्कवर्णतु त्यजेद् बुद्ध्वा शनैः शनैः।
अयं पतङ्गकाष्ठाग्निप्रत्याशेन पुनः पुनः॥

अर्थात् प्राणायाम के तीन भेद है। आसन अनेक हैं, इनका साधन दुर्बलों से नहीं हो सकता, महात्मा-पुण्यात्मा ही इसे कर सकते हैं। बायें नथुने से धीरे-धीरे वायु पूर्ण रुप से भरने पर यथा शक्ति कुम्भक करे तदनन्तर दाहिने नथुने से वायु का रेचन करें; इस प्रकार करने से देह-ज्योति विशिष्ट और वायु द्वारा परिपूर्ण रहता है। पुराणों में भी कहा है-

'शान्तिः सन्तोष आहारनिद्राल्पं मनसोदमः।
शून्यान्तःकरणं चेति यमा इति प्रकीर्तिताः॥
दूरं त्यत्त्वा तु चापल्यं मनःस्थैर्यं विधाय च।
एकत्र मेलनं नित्यं प्राणमात्रेण सामतिः॥
सदोदासीनभावस्तु सर्वत्रेच्छाविवर्जनम्।
यथालाभेन सन्तुष्टः परमेश्वरमानसः॥
मानदान परित्याग एतत्तु नियमाइति।
आसनानि च तावन्ति यावन्तो जीवजन्तवः॥
कृत्वाकलेवरं शुद्धं कुर्यांद्यत्नैर्महात्मना।
मनोनिवार्य संसारविषये च तथैव हि॥
मनोविकार भावं च त्यक्त्वा शून्यमयोभवेत्।
प्रत्याहारोभवत्येष सर्वानन्दचमत्कृतः॥
समाधिनिश्चला बुद्धिः श्वासोच्छ्वासादि वर्जिता।'

अर्थात् शान्ति, संतोष, भोजन, निद्रा का कम होना, चित्त का दमन और अन्तःकरण की शून्यता - इन सबको ही यम बहते हैं। चंचलता का त्याग, मनःस्थैर्य निरन्तर उदासीनता, सकल विषयों में अनिच्छा, यथालाभ में सन्तोष, परमेश्वर में एकाग्रता और मान-दान आदि का त्याग - ये सब नियम हैं। जिस प्रकार जीव अनन्त हैं; ऐसे ही आसन भी अनेक है। प्रयत्न पूर्वक शरीर को विशुद्ध करना, चित्त के विकारों का त्याग, विषयों से चित्त को हटाना, माया-वासना शून्य

होना-प्रत्याहार है। योग के बल से श्वासोच्छ्वास-रहित निश्चल -बुद्धि होना समाधि कहलाती है। ब्रह्मयामल में कहा है-

'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो यत्प्रत्याहरतेस्फुटम्।
योगीकुम्भकमास्थाय प्रत्याहारः स उच्यते॥'

अर्थात् कुम्भक द्वारा इन्द्रियों को स्व स्व विषयों से हटाना प्रत्याहार कहलाता है। और भी कहा है-

'अहिंसासत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्य क्षमाधृतिः।
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश॥
तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वर पूजनम्।
सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपोहुतम्।
नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्र विशारदैः॥

इत्यादि प्रमाण योगशास्त्र के महत्व में, विभिन्न शास्त्रों के बताये गये। अब प्रवृत्त विषय को कहते हैं।

षट्कर्म

धौतिर्वस्तिस्तथानेति लौलिकी त्राटकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्॥१२॥

भावार्थ - धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक और कपालभाति इन छः कर्मो का आचरण योगी को करना चाहिए ॥12॥

योग के अन्य ग्रन्थों में कहा है-

'धौतिश्चगजकरणी च वस्ती लौलितिस्तथा।
कपालभातिर्नेतिश्च षट्कर्माणि महेश्वरि।
मेदश्लेष्माधिकः पूर्वषट्कर्माणि समाचरेत्।
अन्यथानाचरेस्तानि दोषाणां समभावतः॥'

अर्थात् धौति, गजकरणी, वस्ति, नौली, कपालभाति और नेति हे महेश्वरी! ये षट्कर्म कहे जाते हैं। इन्हें गोपनीय रूप में ही करना चाहिए। यदि शरीर में कफ-पित्त आदि दोष न हों तो इन्हें करे।

पंचामरा योगः

'नेतियोगं हि सिद्धानां महाकफविनाशनम्।
दण्डियोगं प्रवक्ष्यामि हृदयग्रन्थिभेदनम्।।
धौतियोगं ततः पश्चात् सर्वमलविनाशनम्।
वस्तियोगं हि परमं सर्वाङ्गोदर चालनम्।।
क्षालनं परमं योगं नाड़ीनांक्षालनंस्मृतम्।
एवं पञ्चामरायोगं योगिनामिति गोचरम्।।'

अर्थात् नेतियोग से श्लेष्म दूर होता है। दण्डियोग से हृदय की गाँठ खुल जाती है, धौतियोग से मलसमूह नष्ट होता है। वस्ति से सब अंग परिचालित होते हैं और क्षालनयोग से नाड़ियों का क्षालन होता है। इसे पंचामरायोग कहते हैं। इस योग का साधन योगी को अवश्य करना चाहिए।

धौतिः

अन्तर्धौतिर्दन्तधौतिर्हृद्धौतिर्मूलशोधनम्।
धौतिं चतुर्विधां कृत्वा घटं कुर्वन्ति निर्मलम् ।१३।

भावार्थ - धौतिकर्म चार प्रकार का है, अन्तर्धौति, दन्तधौति, हृद्धौति और मूलशोधन-इन्हें करके योगी शरीर को निर्मल करते है। ।।3।

अन्तर्धौतिः

वातसारं वारिसारं वह्निसारं वहिष्कृतम्।
घटस्थनिर्मलार्थाय अन्तर्धौतिश्चतुर्विधा। ।१४।

भावार्थ - वातसार, वारिसार, वह्निसार और वहिष्कृति- ये चार प्रकार की अन्तर्धौति हैं। शरीर को निर्मल करने के लिए इन्हें करना चाहिए ।।4।

वातसारः

काकचन्चुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः।
चालयेदुदरं पश्चाद् वर्त्मना रेचयेच्छनैः १५।
वातसारं परं गोप्यं देहनिर्मल कारणम्।
सर्वरोगक्षयकरं देहानलविवर्धकम् ।१६।

भावार्थ - कौवे की चोंच की तरह दोनों ओठों को बनाकर धीरे-धीरे वायु का पान करे। पूरी तरह पान करने पर उदर में परिचालित कर-कर पश्चात् रेचन करे, इसे वातसार कहते हैं। यह वातसार गोपनीय क्रिया है। इसके द्वारा देह निर्मल होती है और समस्त रोग नष्ट होकर जठराग्नि तीव्र होती है ।।15,16।

इसे ही तन्त्र-ग्रन्थों में इस प्रकार कहा है-

'काकचंच्वा पिवेद् वायुं शीतलं वा विचक्षणः।
प्राणायाम विधानज्ञः स भवेद्मुक्तिभाजनः।
सरसं यः पिवेद् वायुं प्रत्यहं विधिना सुधीः।।
नश्यन्ति योगिनस्तस्य श्रमदाहजरामयः।
काकचंच्वा पिवेद् वायुं सन्ध्ययोरुभयोरपि।।
कुण्डलिन्या मुखेध्यात्वा क्षयरोगस्यशान्तये।
अहर्निशं पिबेद् योगी काकचन्च्वा विचक्षणः।।
दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिस्तथास्याद्दर्शनं खलु।'

अर्थात् जो योगी काकचंचु के समान मुख करके, वायु का दोनों सन्ध्याओं में पान करता है; उसे श्रम, दाह, जरा रोग आदि नहीं सताते। दूरदृष्टि, दूर का श्रवण आदि सिद्धियाँ भी उसे मिल जाती हैं। वायु-पान कर, कुण्डलिनी शक्ति में भर गयी है; ऐसा ध्यान करने से क्षय रोग भी निवृत्त हो जाता है, इत्यादि।

वारिसार

आकण्ठं पूरयेद्वारि वक्त्रेणचपिबेच्छनैः।
चालयेदुदरेणैव चोदराद्रेचयेदधः ।१७।
वारिसारं परं गोप्यं देहनिर्मलकारणम्।
साधयेत्तत्प्रयत्नेन देवदेहं प्रपद्यते ।१८।
बारिसारं परां धौतिं साधयेद् यः प्रयत्नतः।
मलदेहं शोधयित्वा देवदेहं प्रपद्यते ।१९।

भावार्थ - शनैः शनैः मुख से जल पीकर कण्ठपर्यन्त् पेट भरे, फिर उसे चला कर अधोमार्ग से निकाल देना चाहिये। यह वारिसार शरीर को निर्मल करने वाली परम गोपनीय क्रिया है। जो इसे प्रयत्न विशेष से करते हैं वे देवताओं की सी देह प्राप्त करते हैं। जो प्रयत्न से इस वारिसार धौति को विधिवत् करते हैं: वे मलिन शरीर को शुद्ध करके देव-शरीर को प्राप्त करते हैं ।17,18,19।

अग्निसार

नाभिग्रन्थिं मेरूपृष्ठे शतवारं च कारयेत्।
अग्निसारमयो धौतिर्योगिनांयोगसिद्धिदा।
उदरामयजं त्यक्त्वा जठराग्नि विवर्धयेत् ।२०।

भावार्थ - निश्वास बन्द करके मेरूपृष्ठ में नाभि को सौ बार लगाने से अग्निसार धौति होती है, इसके करने से पेट के रोग नष्ट होते हैं और जठराग्नि तीव्र होती है ।20।

एषाधौतिः परा गोप्या देवानामपि दुर्लभा।
केवलं धौतिमात्रेण देवदेहं भवेद् ध्रुवम् ।२१।

भावार्थ- यह धौति देवताओं को भी दुर्लभ और परम गोपनीय है। केवल इसी के करने से देवताओं का सा शरीर हो जाता है; यह निश्चय तथ्य है ।21।

बहिष्कृतधौतिः

काकीमुद्रां शोधयित्वा पूरयेदुदरं महत्।
धारयेदर्धयामं तु चालयेदधोवर्त्मना।
एषाधौतिः परा गोप्या न प्रकाश्या कदाचन ।२२।

भावार्थ - काकचंचु मुद्रा बना कर, वायु को पीकर पेट में भरना चाहिए। उस भरे हुए वायु को डेढ़ घंटे रोक कर अधोमार्ग से चला कर निकाल देने को बहिष्कृत धौति कहते हैं। यह धौति परम गोपनीय है ।22।

प्रक्षालनम्

नाभिमग्नो जले स्थित्वा शक्तिनाडीं विसर्जयेत्।
कराभ्यां क्षालयेन्नाडी यावन्मलविसर्जनम्।
तावत् प्रक्षाल्य नाड़ीं च उदरे वेशयेत पुनः ।२३।
इदं प्रक्षालनं गोप्यं देवानामपि दुर्लभम्।
केवलं धौतिमात्रेण देवदेहो भवेद् ध्रुवम् ।२४।

भावार्थ - नाभिपर्यन्त जल में खड़े होकर शक्ति-नाड़ी (त्रिवली) को बाहर करके, उसे धोकर पूर्णरीति से साफ कर, फिर हाथों से घी लगाकर उन नाड़ियों को पुनः उदर में रख ले। यह प्रक्षालन देवताओं को भी दुर्लभ है। इस धौति के द्वारा सर्वथा देवतुल्य शरीर हो जाता है यह निश्चय है ।23,24।

तन्त्रों में इस विषय पर कहा गया है-

'स चावश्यं क्षालनं च कुर्यान्नाड्यादिशोधने।
नेग्नीयोगमार्गेण नाडीक्षालन तत्परः॥
भवत्येव महाकालो राजराजेश्वरो यथा।
केवलं प्राणवायोश्च धारणात्क्षालनं भवेत्॥
विनाक्षालनयोगेन देह शुद्धिर्नजायते।
क्षालनं नाडिकादीनां श्लेष्मपित्त निवारणम्॥

अर्थात्- योगी को नाड़ी का शोधन और क्षालन करना चाहिए। जो नेग्नीयोग से नाड़ियों का क्षालन करते है; वे महाकाल और राजराजेश्वर के तुल्य हो जाते हैं। केवल प्राण के धारण से क्षालन योग होता है। क्षालन के बिना देहशुद्धि नहीं होती। कफ-पित्तादि दोष भी इससे नष्ट हो जाते हैं।

यामार्ध धारणाशक्तिं यावन्नसाधयेन्नरः।
बहिष्कृतमहद्धौतिस्तावच्चैव न जायते ।२५।

भावार्थ - साधक जब तक डेढ़ घंटे तक पेट में वायु रोकने की सामर्थ्य न प्राप्त कर ले तब तक इस बहिष्कृत धौति को न करे ।25।

दन्तधौतिः

दन्तमूलं जिह्वामूलं रन्ध्रं च कर्णयुग्मयोः।
कपालरन्ध्रं पञ्चैते दन्तधौति विधीयते ।२६।

भावार्थ - दन्तमूलधौति, जिह्वामूलधौति, कर्णरन्ध्रधौति, और कपालरन्ध्रधौति, ये पाँच प्रकार की दन्तधौति हैं ।26।

दन्तमूलधौतिः

खादिरेण रसेनाथ मृदाचैव विशुद्धया।
मार्जयेद्दन्तमूलं च यावत् किल्विषमाहरेत् ।२७।
दन्तमूलं पराधौतिर्योगिनां योगसाधने।
नित्यं कुर्यात् प्रभाते च दन्तरक्षाययोगवित् ।२८।

भावार्थ - खैर के रस अथवा शुद्ध मिट्टी से जब तक मैल न छूटे तब तक दांतों की जड़ों का मार्जन करें। योगवेंता को अपने दाँतों के रक्षार्थ नित्य प्रति प्रात:काल इस धौति को करना चाहिए। योग साधन में यह दन्तधौति मुख्य कर्म है ।27,28।

जिह्वाशोधनम्

अथातः संप्रवक्ष्यामि जिह्वाशोधन कारणम्।
जरामरणरोगादीन् नाशयेद् दीर्घलम्बिका ।२९।

भावार्थ - अब जिह्वा-शोधन का कारण कहता हूँ। यह दीर्घ-लम्बिकायोग जरामरण-रोगादि को नष्ट कर देता है ।29।

जिह्वामूलधौति प्रयोगः

तर्जनीमध्यमानामा अंगुलित्रययोगतः।
वेशयेद् गलमध्ये तु मार्जयेल्लाम्बिकाजड़म्।
शनैः शनैः मार्जयित्वा कफदोषं निवारयेत् ।३०।

भावार्थ- तर्जनी, मध्यमा, अनामिका इन तीनों अंगुलियों को गले के बीच में डाल कर जिह्वामूल को साफ करे। बार-बार ऐसा करने से श्लेष्म -दोष नष्ट होता है ।30।

मार्जयेन्नवनीतेनदोहयेच्च पुनः पुनः।
तदग्रं लोहयन्त्रेण कर्षयित्वा शनैः शनैः ।३१।
नित्यं कुर्यात्प्रयत्नेन रवेरूदयकेऽस्तके।
एवं कृते च नित्येलम्बिका दीर्घतां ब्रजेत् ।३२।

भावार्थ - बार-बार मक्खन से जीभ को मार्जन कर, दुहकर, चिमटी से बार-बार बाहर खींचे। नित्य प्रातः समय और सायंकाल इस धौति का अभ्यास करे; ऐसा करने से जिह्वा लम्बी होती है ।31,32।

कर्णधौतिः

तर्जन्यनामिकायोगान् मार्जयेत्कर्णरन्ध्रयोः।
नित्यमभ्यासयोगेन नादान्तरं प्रकाशयेत् ।३३।

भावार्थ - तर्जनी, अनामिका के योग से दोनों कानों के रन्ध्र को नित्य शुद्ध करे। प्रतिदिन ऐसा अभ्यास करने से एक प्रकार का नाद व्यक्त होता है ।33।

कपालरन्ध्र प्रयोगः

वृद्धांगुष्ठेन दक्षेणमार्जयेद् भालरन्ध्रकम्।
एवमभ्यासयोगेन कफदोषं निवारयेत् ।३४।
नाड़ीनिर्मलतां याति दिव्यदृष्टिः प्रजायते।
निद्रान्ते भोजनान्ते च दिवान्ते च दिने दिने ।३५।

भावार्थ - दाहिने हाथ के अँगूठे से कपालरन्ध्र का मार्जन करे। इस धौति के अभ्यास से कफ-दोष नष्ट होता है; नाड़ी निर्मल होती है। प्रातः, भोजनोपरान्त मध्यान्ह में तथा सायंकाल में - त्रिकाल इसका अभ्यास करना चाहिए ।34,35

हृद्धौति

हृद्धौतिं त्रिविधां कुर्याद् दण्डवमनवाससा ।३६।

भावार्थ - दण्डधौति, वमनधौति और वासधौति - इस प्रकार इसके तीन भेद हैं ।36।

दण्डधौतिः

रम्भादण्डं हरिद्रादण्डं वेत्रदण्डं तथैव च।
हृन्मध्ये चालयित्वा तु पुनः प्रत्याहरेच्छनैः ।३७।
कफपित्तं तथा क्लेदं रेचयेदूर्ध्ववर्त्मना।
दण्डधौतिविधानेन हृद्रोगं नाशयेद् ध्रुवम् ।३८।

भावार्थ - केले के सारभाग का दण्ड, हरिद्रा का दण्ड और वेत का दण्ड हृदय के मध्य में बार-बार प्रवेश करके, शनैः शनैः निकाले; इसे दण्डधौति कह

हैं। इसके अभ्यास से कफ-पित्त और क्लेद मुख द्वार से बाहर निकल जाता है तथा हृद्रोग नष्ट हो जाते हैं; यह निश्चित है ।37, 38।

वमनधौतिः

भोजनान्ते पिवेद्वरि चाकण्ठं पूरितंसुधीः।
ऊर्ध्वदृष्टिक्षणंकृत्वा तज्जलंवमयेत्पुनः।
नित्यमभ्यास योगेनकफपित्तं निवारयेत् ।३९।

भावार्थ - बुद्धिमान साधक आहार के अन्त में कण्ठ तक जल पीवे और क्षण भर बाद ऊपर को दृष्टि कर, उसे वमन करना चाहिए। ऐसा करने से कफ-पित्त निवृत्त होते हैं ।39।

वासोधौति

चतुरंगुलविस्तारं सूक्ष्मवस्त्रं शनैर्ग्रसेत्।
पुनः प्रत्याहरेदेतत् प्रोच्यते धौतिकर्मतत् ।४०।
गुल्म ज्वरप्लीहा कुष्ठं कफपित्तं विनश्यति।
आरोग्यं वलपुष्टिश्च भवेत्तस्य दिने दिने ।४१।

भावार्थ - चार अंगुल चौड़ी कपड़े की पट्टी को धीरे-धीरे निगले। लम्बाई एक-एक हाथ से आरम्भ करे, पन्द्रह हाथ होना चाहिए। पुनः इसे निकालना चाहिए। उष्ण जल से यह कार्य करना हितकर है; इसे वस्त्रधौति कहते हैं। इसके अभ्यास से गुल्म, ज्वर, प्लीहा, कुष्ठ, कफ, पित्त दोष आदि का ध्वंस होता है। आरोग्य, बल और पुष्टि की प्रतिदिन वृद्धि होती है ।40,41।

इस विषय में गृहयामल में कहा है-

'चतुरंगुल विस्तारं हस्त पंच दशेनतु।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्ते वस्त्रे शनैर्ग्रसेत्।।'

ततः प्रत्याहरेच्चैतत् क्षालनं धौतिकर्म तत्।
श्वासः कासः प्लीहा कुष्ठं कफरोगश्चविंशतिः।
धौतिकर्मप्रसादेन शुध्यन्ते च न संशयः।

इसका अर्थ उपरोक्त श्लोकार्थ से अभिन्न ही है। रूद्रयामल में भी इसी प्रक
कहा है-

'सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं वस्त्रं द्वात्रिंशद् हस्तमानतः।
एक हस्तक्रमेणैव यः करोति शनैः शनैः॥
यावत्द्वात्रिंशदहस्तं च तावत्कालं क्रियांचरेत्।
एतत्क्रिया प्रयोगेन योगीभवति तत्क्षणात्॥
क्रमेणमन्त्रसिद्धिः स्यात् कालजालवशंनयेत्।

वत्तीस हाथ लम्बा, चार अंगुल चौड़ा बारीक कपड़ा, एक-एक हाथ करके प
निगल जाय; उसे फिर क्रम से धीरे-धीरे निकाले। ऐसा करने से कफादि दोष न
होते हैं और मन्त्रसिद्धि होती है तथा मृत्यु के भय से रोगी मुक्त हो जाता है। उ
धौति कर्मो में यही प्रधान है; इसलिए हठयोग-प्रदीपिका में इसे ही केवल मा
है ।41।

मूलशोधनम्

अपानक्रूरतातावद्यावन्मूलं न शोधयेत्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मूलशोधनमाचरेत् ।४२।
पीतमूलस्थदण्डेनमध्यमांगुलिनापि वा।
यत्नेनक्षालयेद्गुह्यं वारिणा च पुनः पुनः ।४३।
वारयेत् कोष्ठकाठिन्यमामाजीर्ण निवारयेत्।
कारणं कान्तिपुष्ट्यौश्च दीपनं वह्निमण्डलम् ।४४।

भावार्थ - जब तक मूलशोधन न हो, तब तक अपान की क्रूरता रहती
है; इसलिए प्रयत्नपूर्वक गुह्यक्षालन करना चाहिए। हरिद्रा की जड़ या बीच
अंगुली द्वारा जल के साथ यत्नपूर्वक गुह्यप्रक्षालन करना चाहिये। मूलशोधन
कोष्ठ की कठिनता आँव-अजीर्णता दूर होती है, जठरानल बढ़ता है ।42,43,4

वस्तिप्रकरणम्

जलवस्तिः शुष्कवस्तिर्वस्तिः स्याद् द्विविधा स्मृता।
जलवस्ति जले कुर्यात् शुष्कवस्ति सदा क्षितौ ।४५।

भावार्थ - जलवस्ति और शुष्कवस्ति के नाम से वस्ति दो प्रकार की हैं। जलवस्ति जल में तथा शुष्कवस्ति स्थल में करना चाहिए ।45।

जलवस्तिः

नाभिमग्नजले पायुं न्यस्तवानुत्कटासनम्।
आकुंचनं प्रसारं च जलवस्ति समाचरेत् ।४६।

भावार्थ - नाभिपर्यन्त जल में उत्कटासन से बैठकर गुह्यप्रदेश का आकुञ्चन एवं प्रसारण करने को जलवस्ति कहते हैं ।46।

अन्यत्र कहा है-

'नाभिनिम्न जले वायुं न्यस्तनालोत्कटासनः।
आधारात् मज्जनं कुर्यात् क्षालनं वस्तिकर्म तत्।।
गुल्मप्लीहोदरीरोग वातपित्तकफोद्भवाः।
वस्तिकर्म प्रभावेण सर्वरोगक्षयो भवेत्।।

अर्थात्- नाभिपर्यन्त जल में द्वादशांगुल नल गुह्य प्रदेश में रखे जिससे जल खींचकर जल को बाहर निकालने से मल की शुद्धि होती है। इसके करने से गुल्म, प्लीहा, उदरी, वात, पित्त, श्लेष्म से होने वाले रोग नष्ट होते हैं।

प्रमेहंच उदावर्त क्रूरवायुं निवारयेत्।
भवेत् स्वच्छन्ददेहश्च कामदेव समो भवेत् ।४७।

भावार्थ - जल वस्ति करने से प्रमेह उदावर्त और क्रूर वायु नष्ट हो जाता है और कामदेव के समान सुन्दर शरीर हो जाता है। ।47।

स्थलवस्तिः

वस्ति पश्चिमोत्तानेन चालयित्वा शनैरधः।
अश्विनीमुद्रया पायुमाकुञ्चयेत् प्रसारयेत् ।४८।

भावार्थ - अश्विनीमुद्रा द्वारा गुदेन्द्रिय का आकुञ्चन-प्रसारणं करे। पश्चिमोत्तान आसन से बैठकर अधोभाग की वस्ति को चलावे, इस प्रकार स्थलवस्ति कहते है। इसी को जलवस्ति भी कहते हैं ।48।

एवमभ्यासयोगेन कोष्ठदोषो न विद्यते।
विवर्धयेज्जठराग्नि आमवातं विनाशयेत् ।४९।

भावार्थ - जलवस्ति का साधन करने से कोष्ठदोष और आमवात नष्ट हो जाते हैं तथा जठराग्नि दीप्त होती है ।49।

नेतियोग:

वितस्तिमात्रं सूक्ष्मसूत्रं नासानाले प्रवेशयेत्।
मुखान्निर्गमयेत्पश्चात् प्रोच्यते नेतिकर्मतत् ।५०।
साधनान्नेतियोगस्य खेचरीसिद्धमाप्नुयात्।
कफदोषा विनश्यन्ति दिव्यदृष्टि: प्रजायते ।५१।

भावार्थ - आधे हाथ का डोरा नासिका में डालकर मुंह से निकालने से नेतिकर्म होता है। इसके साधन से खेचरी सिद्धि होती है; कफदोष नष्ट होकर दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है ।50,51।

योग के अन्य ग्रन्थों में कहा है-

'सूत्रं वितस्तिमात्रं तु नासानाले प्रवेशयेत्।
मुखेन गमयेच्चैषा नेति: स्यात् परमेश्वरि॥
कपालवेधिनीकाष्ठा दिव्यदृष्टिप्रदायिनी।
य ऊर्ध्व जायते रोगोनयत्याशु च तंनति:॥

अर्थात्- एक बिलस्तमात्र डोरा नासिका में डालकर मुख से निकालने पर, हे परमेश्वरि, नेतिकर्म सिद्धि होता है, इससे सिर के समस्त रोग नष्ट होते हैं और दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है।

लौलिकीयोग:

अमन्दवेगंतुं दं च भ्रामयेदुभपाश्र्वयो:।
सर्वरोगान्निहन्तीह देहानलविवर्धनम् ।५२।

भावार्थ - प्रबल वेग से पेट को दोनों पाश्वों में घुमावे, इस को लौलिकी य नौलि कहते है। इससे सभी रोग नष्ट होते हैं और जठराग्नि बढ़ जाती है ।52।

त्राटकम्

निमेषोन्मेषकं त्यक्त्वा सूक्ष्मलक्ष्यं निरीक्षयेत्।
पतन्ति यवदश्रूणि त्राटकं प्रोच्यते बुधैः ।५३।

भावार्थ - जब तक आँसुओं का पतन न हो तब तक बिना पलक बन्द किये किसी लक्ष्य को देखते रहने का नाम त्राटक है ।53।

एवमभ्यासयोगेन शाम्भवी जायतेध्रुवम्।
नेत्रदोषा विनश्यन्ति दिव्यदृष्टिः प्रजायते ।५४।

भावार्थ - त्राटक का अभ्यास करने से शाम्भवी सिद्ध होती है नेत्र रोग नष्ट होते हैं और दिव्यदृष्टि प्राप्त हो जाती है। ।54।

कपालभातिः

वातक्रमेण व्युत्क्रमेण, शीतक्रमेण विशेषतः।
भालभाति त्रिधाकुर्यात् कफदोषं निवारयेत् ।५५।

भावार्थ - कपालभाति तीन प्रकार की है- वातक्रम कपालभाति, व्युत्क्रम कपालभाति और शीतक्रम कपालभाति। कपालभाति के साधन से कफ-दोष नष्ट हो जाता है ।55।

वातक्रम कपालभातिः

इडयापूरयेद् वायुं रेचयेत् पिगलां पुनः।
पिंगलयापूरयित्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ।५६।
पूरकं रेचकं कृत्वा वेगेन न तु चालयेत्।
एवमभ्यासयोगेन कफदोषं निवारयेत् ।५७।

भावार्थ - इडा से वायु भर कर पिगला से रेचन करे और दाहिने स्वर से पूर्ण करके वाम स्वर (इडा) से रेचन करे। इन दोनों क्रियाओं के करने में शीघ्रता न करे। इसका साधन करने से कफ नष्ट होता है। इसे वातक्रम कपालभाति कहते हैं ।56,57।

व्युत्क्रम कपालभातिः

नासाभ्यां जलमाकृष्य पुनर्वक्त्रेण रेचयेत्।
पायंपायं व्युत्क्रमेण श्लेष्मदोषं निवारयेत् ।५८।

भावार्थ - नाक के दोनों नथुनों से जल खींचे और उसे मुख से निकाल दे तथा मुख से जल खींचकर नाक से निकाले, इसको व्युत्क्रम कपालभाति कहते हैं। इससे कफ-दोष नष्ट होता है ।58।

शीत्क्रम कपालभातिः

शीत्कृत्यपीत्वा वक्त्रेण नासानालैविवर्जयेत्।
एवमभ्यास योगेन कामदेवसमोभवेत ।५९।
न जायते च वार्धक्यं जरा नैव प्रजायते।
भवेत् स्वच्छन्द देहश्च कफदोषं निवारयेत् ।६०।

भावार्थ - मुख द्वारा शीत्कार करके जल ले और नथुनों से निकाल दे, इसे शीत्क्रम कपालभाति कहते हैं। इसका अभ्यास करने से काम के समान सुन्दर होकर वार्धक्य जीर्णता से योगी बच जाता है। शरीर स्वस्थ तथा कफ-दोष नष्ट हो जाता है ।59,60।

।।प्रथमोपदेशः समाप्तः।।

द्वितीयोपदेशः

卐 卐

आसन प्रकरणम्

घेरण्ड उवाच

आसनानि समस्तानि यावन्तो जीव जन्तवः।
चतुरशीति लक्षाणि शिवेनाभिहितानि च ।१।
तेषां मध्ये विशिष्टानि षोडशोनं शतं कृतम्।
तेषां मध्ये मर्त्यलोके द्वात्रिंशदासनं शुभम् ।२।

भावार्थ - महर्षि घेरण्ड बोले - संसार में जितने जीवजन्तु हैं, उतने ही आसन भी है, पहले श्री शंकर ने चौरासी लाख आसन कहे हैं, उनमें चौरासी श्रेष्ठ हैं और मनुष्य लोक में उन चौरासी में से बत्तीस ही आसन मंगलप्रद हैं ।1, 2।

आसनभेदाः

सिद्धं पद्मं तथा भद्रं मुक्तं वज्रं च स्वस्तिकम्।
सिंह च गोमुखं वीरं धनुरासनमेव च ।३।
मृतं गुप्तं तथा मत्स्यं मत्स्येन्द्रासनमेव च।
गोरक्षं पश्चिमोत्तानं उत्कटं संकटं तथा ।४।

मयूरं कुक्कुटं कूर्म तथा चोत्तानकूर्मकम्।
उत्तानमण्डुकं वृक्षं मण्डूकं गरूडं वृषम् ।५।
शालभं मकरं उष्ट्रं भुजंगं योगमासनम्।
द्वात्रिंशदासनानि तु मर्त्ये सिद्धिप्रदानि च ।६।

भावार्थ - सिद्धासन, पद्मासन, भद्रासन, मुक्तासन, स्वस्तिक, सिंहासन, सिंह, गोमुख, वीर, धनुरासन, मृतासन, गुप्त, मत्स्य, मत्स्येन्द्रासन, गोरक्षासन, पश्चिमोत्तान, उत्कट, संकट, मयूर, कुक्कुट, कूर्म, उत्तानकूर्म, उत्तान मंडूक, वृक्षासन, मंडूकासन, वृषभ, शलभ, मकर, उष्ट्र, भुजङ्गासन और योगासन। मनुष्य लोक में उपरोक्त बत्तीस आसन ही सिद्धिप्रद हैं । 3,4,5,6।

अन्यत्र आसनों के विषय में कहा है -

'चतुरशीत्यासनानि सन्ति नानाविधानि च।
तेभ्यश्चतुष्कामादाय मयोक्तानि ब्रवीम्यहम्।।
सिद्धासनं पद्मासनं चोग्रकं चैवस्वस्तिकम्।

अर्थात् आसन चौरासी हैं उनमें सिद्ध, पद्म, उग्र और स्वस्तिक ही सर्वश्रेष्ठ हैं।

सिद्धासनम्

योनिस्थानकमंध्रिमूल घटिकं सम्पीड्यगुल्फेतरम्,
मेढ्रेसंप्रणिधाय तं तु चिबुकं कृत्वाहृदिस्थापिनम्,
स्थाणुः स यमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन् भ्रुवोरन्तरम्,
मोक्षं चैव विधीयते फलकरं सिद्धासनं प्रोच्यते ।७।

भावार्थ - जितेन्द्रिय साधक एक पैर की एड़ी को अण्डकोश और गुदा के बीच में लगावे, और दूसरी को लिंगमूल में रक्खे, ठोड़ी को हृदय में लगावे, फिर स्थिर और सीधा रह कर अचल दृष्टि होकर भ्रूमध्य का अवलोकन करे; इसे सिद्धासन कहते हैं। इसके अभ्यास से मोक्षलाभ होता है ।7।

इसकी प्रशंसा में अन्यत्र कहा है –

'येनाभ्यास वशाच्छीघ्रं योगनिष्पत्तिमाप्नुयात्।
सिद्धासनं सदासेव्यं पवनाभ्यासिभिः परम्॥
येन संसार मुत्सज्य लभ्यते परमागतिः।
नातः परतरं गुह्यमासनं विद्यतेभुवि॥'

अर्थात् सिद्धासन के अभ्यास से शीघ्र सिद्धि होती है। इसके बराबर कोई दूसरा आसन नहीं है। इससे संसार का त्याग और मोक्ष मिलता है। पवनाभ्यासी को इसका अभ्यास सदा करना चाहिए। इसका अनुष्ठान और प्रकार से भी होता है। यथा –

योनिं संपीड्ययत्नेन पादमूलेन साधकः।
मेढ्रोपरि पादमूलं विन्यसेद्योगवित्सदा॥
ऊर्ध्वं निरीक्ष्य भ्रूमध्यं निश्चलोनियतेन्द्रियः।
विशेदवक्रकायऽश्च रहस्युद्वेगवर्जितः॥
एतत् सिद्धासनं प्रोक्तं सिद्धानांच शुभप्रदम्।'

अर्थात् साधक एक पैर की एड़ी योनि स्थान में लगावे, दूसरी को लिंगमूल में लगाकर भ्रूमध्य में दृष्टि को स्थिर करे, नियतेन्द्रिय, उद्वेगशून्य सरल देह होकर रहे। इसे योगियों के लिए शुभपद सिद्धासन कहते हैं।

पद्मासनम्

वामोरूपरि दक्षिणं हि चरणं संस्थाप्यवामं तथा,
दक्षोरूपरिपश्चिमेन विधिना कृत्वा कराभ्यां दृढ़म्।
अंगुष्ठे हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेत्,
एतद्व्याधि विनाश कारणपरं पद्मासनं प्रोच्यते ।८।

भावार्थ – बायाँ चरण दाहिनी जाँघ पर तथा दाहिना पाँव बायीं जाँघ पर रख कर व्युत्क्रम रीति से हाथों को पीठ पर ले जाकर दाहिने हाथ से बायाँ अंगूठा और बायें से दाहिने पाँव का अंगूठा दृढ़ता से पकड़कर ठोड़ी को हृदय पर लगाकर

नासिका का अग्रभाग देखे, इसके अभ्यास से सभी रोग नष्ट होते हैं। इसे पद्मासन कहते हैं ।8।

तन्त्रों में इस विषय पर कहा गया है-

'पद्मासने स्थितो योगी प्राणापानविधानतः।
पूरयेत्सविमुक्तः स्यात् सत्यं सत्यं हि पार्वति।।
दुर्लभं येनकेनापि धीमतालभ्यते परम्।
अनुष्ठाने कृते प्राणः समश्चलति तत्क्षणात्।।
भवेदभ्यासने सम्यक् साधकस्य न संशयः ।८।

अर्थात् पद्मासन में स्थित योगी प्राणापान के विधान द्वारा पूरक रेचक, कुम्भकादि को करे, ऐसा करने से योगी मुक्त हो जाता है। अभ्यास काल में समरूप से प्राण का प्रवाह होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।8।

भद्रासनम्

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेण समाहितः।
पादांगुष्ठं कराभ्यां च धृत्वा च पृष्ठदेशतः।।
जालंधरं समासाद्य नासाग्रमवलोकयन्।
भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविनाशकम् ।९।

भावार्थ - दोनों एड़ियों को अण्डकोशों के नीचे उलटकर रखे, पीठ की तरफ से पद्मासन की तरह दोनों अंगूठों को पकड़े। जालंधर-बन्ध की स्थिति में होकर नासाग्र भाग को देखे, इसे भद्रासन कहते हैं, इसका अभ्यास होने से सब रोग नष्ट होते हैं ।9।

मुक्तासनम्

पायु मूले बामगुल्फं दक्षगुल्फं तथोपरि।
शिरोग्रीवासमं कार्यं मुक्तासनं तु सिद्धिदम् ।१०।

भावार्थ - बायीं एड़ी गुदा की जड़ में लगाकर उसके ऊपर दाहिनी एड़ी रक्खे और मस्तक -ग्रीवा को समभाव से रख, देह को सीधा करके बैठे; इसका नाम मुक्तासन है, इससे योगी सिद्धि -लाभ करता है ।।10।

वज्रासनम्

जंघाभ्यां वज्रवत् कृत्वा गुदपार्श्वे दपावुभौ।
वज्रासनं भवेदेतत् योगिनां सिद्धिदायकम् ।११।

भावार्थ - दोनों जांघों को वज्र के समान कठोर करके दोनों पैरों को गुदा के दोनों ओर लगाने से व्रजासन सिद्ध होता है। इससे योगियों को सिद्धि प्राप्त होती है ।।11।

स्वस्तिकासनम्

जानूर्वोन्तरं कृत्वा योगीपादतले उभे।
ऋजुकाय: समासीन: स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ।१२।

भावार्थ - दोनों जांघों और घुटनों के मध्य में दोनों पादतलों (तलवों) को रख कर त्रिकोणाकार आसन बाँधना तथा सरल भाव से बैठने को स्वस्तिकासन कहते हैं ।।12।

इसका भिन्न प्रकार ऐसा बताया गया है-

'जानूर्वोरन्तरे सभ्यग् धृत्वा पादतले उभे।
ऋजुकाय: सुखासीन: स्वस्तिकं तत् प्रचक्षते।।
अनेन विधिना योगी साधयेन मारूतं सुधी:।
देहेन क्रमते व्याधिस्तस्य वायुश्चसिध्यति।।
स्वस्तिकं योगिभिर्गोप्यं सुस्यीकरणमुत्तमम्।'

इसका अर्थ ऊपर के समान ही स्पष्ट है।

सिंहासनम्

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेणोर्ध्वतांगतौ।
चितिमूलोभूमिसंस्थः कृत्वा च जानुनोपरि।
व्यक्तवक्त्रो जलध्रं च नासाग्रमवलोकयेत्।
सिंहासनं भवेदेतत्सर्व व्याधिविनाशकम् ।१३।

भावार्थ - दोनों एड़ियों को उलट-पुलट कर अंडकोशों के नीचे लगाकर जालन्धर -बन्ध से भ्रूमध्य में दृष्टि करके, अथवा नासाग्र में दृष्टि लगाकर देखे; इसे सिंहासन कहते हैं। इससे सब रोग नष्ट होते हैं ।13।

जालन्धर - बन्ध का लक्षण ऐसा है-

'बध्वागलशिरोजालं हृदये चिवुकं न्यसेत्।
बन्धोजालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः॥'

अर्थात् गले की नसों को संकुचित करके ठोड़ी को हृदय में लगाने को जालन्धर-बन्ध कहते हैं।

गोमुखासनम्

पादौ च भूमौ संस्थाप्य पृष्ठपार्श्वे निवेशयेत्।
थिरकायं समासाद्य गोमुखं गोमुखाकृतिः ।१४।

भावार्थ - भूमि पर दोनों पाँवों को रखकर, पीठ के बगलों में लगाकर शरीर को सीधा करके गोमुख के समान मुख उन्नत करके बैठने का नाम गोमुखासन है ।14।

वीरासनम्

एकपादमथैकस्मिन् विन्यसेदुरूसंस्थितम्।
इतरस्मिन्स्तथापश्चाद् वीरासनमितिस्मृतम् ।१५।

भावार्थ - एक जाँघ पर एक चरण रखकर दूसरे चरण को पीछे की ओर निकाल दे, इसको वीरासन कहते हैं ।15।

धनुरासनम्

प्रसार्य पादौ भुविदण्डरूपौ करौ च पृष्ठे धृतपादयुग्मम्।
कृत्वाधनुस्तुल्यविवर्तितांगं निगद्ययोगी धनुरासनं तत् ।१६।

भावार्थ - दोनों पैरों को पृथ्वी में सीधे फैलाकर, दोनों हाथों को पीठ की तरफ करके दोनों चरणों को पकड़ ले, शरीर को ठीक धनुष की तरह रखे; योगीश्वर इसे धनुरासन कहते हैं ।16।

मृतासनम्

उत्तानशववद्भूमौ शयानं तु शवासनम्।
शवासनं श्रमहरं चित्तविश्रान्तिकारणम् ।१७।

भावार्थ - मुर्दे के समान सर्वांग शिथिल करके भूमि में लेटने का नाम मृतासन है। इसको ही शवासन कहते हैं, इससे श्रम दूर होता है और चित्त प्रसन्न होता है ।17।

गुप्तासनम्

जानुनोरन्तरे पादौ कृत्वा पादौ च गोपयेत्।
पादोपरि च संस्थाप्य गुदंगुप्तासनं विदुः ।१८।

भावार्थ - दोनों घुटनों के मध्य भाग में दोनों पैरों को गुप्त भाव से रक्खे, उन पैरों में गुह्य प्रदेश को रख ले, इसे गुप्तासन कहते हैं ।18।

मत्स्यासनम्

मुक्त पद्मासनं कृत्वा उत्तानशयनं चरेत्।
कूर्पराभ्यां शिरोवेष्ट्य मत्स्यासनं तु रोगहा ।१९।

भावार्थ - मुक्त पद्मासन करके हाथ की कोहनियों से शिर को लपेट क
चित्त लेटने को मत्स्यासन कहते हैं। इससे रोग दूर होते हैं ।।19।

पश्चिमोत्तानासनम्

प्रसार्यपादौभुविदण्डरूपौ सन्यस्तभालश्चितियुग्भमध्ये।
यत्नेन पादौ च धृतौ कराभ्यां योगीन्द्र पीठं पश्चिमोत्तानमातुः ।२०।

भावार्थ - दोनों पाँवों को पृथ्वी में दण्ड के समान सरल भाव से फैलाक
यत्न से दोनों पाँवों के अंगूठों को पकड़े और दोनों जंघों पर शिर को धर दे, इसे
पश्चिमोत्तानासन कहते हैं ।20।

अन्य ग्रन्थों में इसे ही उग्रासन कहा है-

'विस्तीर्यपादयुगलं परस्परमसंयुतम्।
स्वहस्ताभ्यां दृढं धृत्वा जानू परि शिरोन्यसेत्।।

देहावसादनाशनं पश्चिमोत्तानसंज्ञकम्।
य एतदासनं श्रेष्ठं प्रत्यहं साधयेत् सुधीः।।

वायुः पश्चिममार्गेण तस्य चरित निश्चितम्।
एतदभ्यासकानां च सर्वसिद्धिश्चजायते।।

तस्माद् योगीयत्नतो वै साधयेत् सिद्धिसाधकः।
गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्यकस्यचित्।।
येनशीघ्रं मरूत्सिद्धिर्भवेद् दुःखौघहारिणी।'

अर्थात् दोनों पावों को अलग-अलग फैलाकर, दोनों अँगूठों को हाथों से मजबूती से पकड़कर जानुओं को शिर पर रखने से अग्नि दीप्त होती है; देह का आल्सय नष्ट होता है। इस पश्चिमोत्तान को जो साधक करते हैं, उनका वायु पश्चिम मार्ग में प्रवाहित होता है; सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसलिए योगी इसका साधन करे, इससे मरूत्सिद्धि होती है। इसका गोपन करना चाहिये।

मत्स्येन्द्रासनम्

उदरं पश्चिमाभासं कृत्वा तिष्ठति यत्नतः।
निम्नांगवामपादं हि दक्षजानूपरिन्यसेत्।।
तत्रयाम्यं कूर्परं च याम्ये करे च वक्त्रकम्।
भ्रुवोर्मध्येगतां दृष्टिं पीठंमात्स्येन्द्रमुच्यते ।२१।

भावार्थ - पेट को पीठ के समान सरल भाव से रखकर यत्नपूर्वक बाएं पाँव को नबाकर दाहिनी जाँघ पर रखे, उस पर दाहिनी कोहिनी रखे, मस्तक के मध्य को दृष्टि से निरीक्षण करे; इसे मत्स्येन्द्रासन कहते हैं ।21।

गोरक्षासनम्

जानूर्वोरन्तरे पादौ उत्तानाव्यक्तसंस्थितौ।
गुल्फौ चाच्छाद्य हस्ताभ्यामुत्तानाभ्यां प्रयत्नतः।।
कंठ संकोचनं कृत्वा नासाग्रमवलोकयेत्।
गोरक्षासनमित्याहुर्योगिनांसिद्धिकारणम् ।२२।

भावार्थ - दोनों घुटने जाँघों के बीच में उत्तान गुप्त रूप से रखे। दोनों हाथों से दोनों एड़ियों को पकड़े, कण्ठ को संकोच कर नासाग्र को देखे; इसे योगियों की सिद्धिप्रद गोरक्षासन कहते हैं ।22।

उत्कटासनम्

अंगुष्ठाभ्यामवष्टभ्य धरां गुल्फे च खे गतौ।
तत्रौपरि गुदं न्यस्य विज्ञेयमुत्कटासनम् ।२३।

भावार्थ - चरणों के अंगूठों को भूमि में टेक कर दोनों एड़ियों को निरालम्ब कर, ऊपर को उठा दे। गुह्य स्थान को एड़ियों पर रखें; इसे उत्कटासन कहते हैं ।23।

संकटासनम्

वामपादंचितेर्मूलं संन्यस्य धरणीतले।
पाददण्डेनयोगेन वेष्टयेद् वामपादकम्।
जानुयुग्मेकरौ युग्ममेतत्तु संकटासनम् ।२४।

भावार्थ - बायाँ पाँव और घुटना पृथ्वी में रखकर दाहिनी चरण से बायें पाँ को लपेट कर दोनों घुटनों पर दोनों हाथों को रक्खें, इसका नाम संकटासन है ।24

मयूरासनम्

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यां
तत्कूर्परे स्थापित नाभिपार्श्वम्।
उच्चासनो दण्डवदुत्थितः खे
मायूरमेतं प्रवदन्ति पीठम् ।२५।

भावार्थ - दोनों हाथों की हथेलियों को भूमि में टेक कर दोनों कोहिनयों क दोनों पार्श्वों में लगावे। दोनों पाँवों को पीछे की ओर डण्डे के समान खड़ा कर दे इसको मयूरासन कहते हैं ।25।

कुक्कुटासनम्

पद्मासनं समासाद्य जानूर्वोरन्तरे करौ।
कूर्पराभ्यां समासीनो मञ्चस्थः कुक्कुटासनम् ।२६।

भावार्थ - मुक्त पद्मासन से बैठकर दोनों जाँघ और घुटनों के मध्य दोनों हाथ को करके मंच की तरह उठने-बैठने को कुक्कुटासन कहते हैं ।26।

कूर्मासनम्

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेण समाहितौ।
ऋजुकाय शिरोग्रीवं कूर्मासनमितीरितम् ।२७।

भावार्थ - अण्डकोषों के नीचे दोनों एड़ियों को उलट-पुलट कर रखने को तथा देह, शिर और गर्दन को सीधा करके बैठने को कूर्मासन कहते हैं ।27।

उत्तानकूर्मासनम्

कुक्कुटासन बन्धस्थं कराभ्यां धृतकन्धरम्।
पीठं कूर्मवदुत्तानमेतदुत्तानकूर्मकम् ।२८।

भावार्थ - कुक्कुटासन करके दोनों हाथों से कन्धों को पकड़ लेना और कछुए की तरह उत्तान हो जाना; इसको उत्तानकूर्मासन कहते हैं ।28।

उत्तानमण्डूकासनम्

मण्डूकासनमध्यस्थं कूर्पराभ्यां धृतं शिरः।
एतद्भेकवदुत्तानमेतदुत्तानमण्डूकम् ।२९।

भावार्थ - मण्डूकासन करके कुहनी से मस्तक को धारण करना और मण्डूक की तरह उत्तान होने का नाम उत्तान मण्डूकासन है ।29।

वृक्षासनम्

वामोरूमूलदेशे च याम्यापादं निधायतु।
तिष्ठेत्तु वृक्षवद् भूमौ वृक्षासनमिदं विदुः ।३०।

भावार्थ - दाहिना पाँव बायीं जांघ की जड़ से रखकर, वृक्ष के **समान** खड़े होने को वृक्षासन कहते हैं ।30।

मण्डूकासनम्

पादतलौ पृष्ठदेशे अंगुष्ठे द्वे च संस्पृशेत्।
जानुयुग्मं पुरस्कृत्य साधयेन्मण्डुकासनम् ।३१।

भावार्थ - दोनों पांवों की पीठ को ओर ले जाकर मिलावे, अंगूठों के मिल
पर दोनों घुटनों को आगे रक्खें; इसे मण्डूकासन कहते हैं ।31।

गरूड़ासनम्

जंघोरूभ्यां धरां पीड्य स्थिरकायो द्विजानुना।
जानूपरिकरं युग्मं गरूड़ासनमुच्यते ।३२।

भावार्थ - दोनों जाँघ और दोनों घुटनों से पृथ्वी दबावे और शरीर को स्थि
करे। दोनों घुटनों पर दोनों हाथ रखकर बैठे; इसे गरूड़ासन कहते हैं ।32।

वृषासनम्

याम्यगुल्फे पादमूले वामभागे पदेतरम्।
विपरीर्तस्पृशेद् भूमिं वृषासनमिदं भवेत् ।३३।

भावार्थ - दाहिनी एड़ी पर गुदा को रक्खे उसके वाम भाग से दूसरे पैर क
फिराकर रक्खे और भूमि को स्पर्श करे; इसे वृषासन कहते हैं ।33।

शलभासनम्

अध्यास्य शेते कर युग्मं वक्षे
भूमिमवष्टभ्यकरयोस्तलाभ्याम्।
पादौ च शून्ये च वितस्तिचाध्र्वं
वदन्ति पीठंशलभं मुनीन्द्राः ।३४।

भावार्थ - नीचे मुख करके लेट जाय, दोनों हाथों को वक्षःस्थल के नीचे रखकर हथेली को पृथ्वी पर टेके और दोनों पाँवों को बालिस्त भर ऊपर उठा हुआ रखे; इसे शलभासन कहते हैं ।34।

लने

मकरासनम्

अध्यास्य शेते हृदयं निधाय,
भूमौ च पादौ च प्रसार्यमाणौ।
शिरश्च धृत्वा करदण्डयुग्मे,
देहाग्निकारं मकरासनं तत् ।३५।

स्थिर

भावार्थ - नीचे को मुख करके लेटे, हृदय को पृथ्वी से लगाकर पैरों को फैला दे, दोनों हाथों से मस्तक को लगा लें; इसका नाम मकरासन है। यह अग्नि को बढ़ाता है ।35।

उष्ट्रासनम्

अध्यास्य शेते पदयुग्मव्यस्तं,
पृष्ठे निधायापि धृतं कराभ्याम्।
आकुञ्चयेत् सभ्यगुदरास्य गाढ़म्,
उष्ट्रं च पीठं यतयो वै वदन्ति ।३६।

को

भावार्थ - नीचे को मुंह करके लेटे और पैरों को उलट कर पीठ पर रक्खे फिर दोनों हाथों से पैरों को पकड़कर मुंह और पैरों को दृढ़ता से सकोड़े; इसे उष्ट्रासन कहते हैं ।36।

भुजंगासनम्

अंगुष्ठनाभिपर्यन्तमधौभूमौविनिन्यसेत्।
करतलाभ्यांधरां धृत्वा उर्ध्वशीर्ष फणीवहि।।

देहाग्निवर्धते नित्यं सर्वरोग विनाशनम्।
जागर्ति भुजगी देवी भुजंगासन साधनात् ।३७।

भावार्थ - नाभि से लेकर चरण के अंगूठे तक शरीर को नीचे भूमि पर रक्खे, हथेलियों को जमीन पर टेक कर सर्प की तरह शिर को ऊंचा करे, इसको भुजङ्गासन कहते हैं। इससे सब रोग दूर होते हैं, जठराग्नि बढ़ती है और इससे कुण्डलिनी भी जाग जाती है। ।37।

योगासनम्

उत्तानौ चरणौ कृत्वा संस्थाप्य जानुनोपरि।
आसनोपरि संस्थाप्य उत्तानं करयुग्मकम्।।
पूरकैर्वायुमाकृष्य नासाग्रमवलोकयेत्।
योगासनं भवेदेतद् योगिनां योगसाधनम् ।३८।

भावार्थ - दोनों चरण उत्तान करके दोनों घुटनों पर रक्खे, दोनों हाथों को चित्त करके आसन पर रखे, फिर पूरक के द्वारा वायु को खींचकर कुम्भक करता हुआ नासाग्र भाग को देखे; इसका नाम योगासन है। योगी को इसे अवश्य करना चाहिए ।38।

卐 卐 卐

।। द्वितीयोपदेशः समाप्तः ।।

तृतीयोपदेशः

卐 卐 卐

मुद्राकथनम्

श्री घरेण्ड उवाच

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी ।१।
विपरीतकारिणी योनिः वज्रोली शक्तिचालिनी ।
तडागीमाण्डवीमुद्रा शाम्भवीपञ्चधारणा ।२।
आश्विनी पाशिनी काकी मातंगी च भुजंगिनी।
पञ्चविंशति मुद्रावै सिद्धिदाश्चेहयोगिनाम् ।३।

भावार्थ - घेरण्ड ऋषि कहने लगे, महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जालन्धर, मूलबन्ध, महाबेध, खेचरी, विपरीतकरिणी, योनिवज्रोली, शक्तिचालिनी, तड़ागी, माण्डवी, शाम्भवी, पंचधारणा, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगी और भुजङ्गिनी - ये पच्चीस मुद्राएँ योगियों को सिद्धि देने वाली हैं ।1,2,3।

इस विषय पर तन्त्रों में कहा है-

'सशैलबनधात्रीणां यथा धारोहि नायकः।
सर्वेषांहठतन्त्राणां तथा धाराहि कुण्डली।।

सुप्तागुरूप्रसादेन यथा जागर्ति कुण्डली।
तदापद्मानि सर्वाणि भिद्यन्तेग्रन्थयोऽपिच॥
प्राणस्यशून्यपदवी तदा राजपथायते।
यदाचितं विनालम्बं तदाकालस्यबन्धनम्॥
तस्मात्सर्व प्रयत्नेन प्रबोधायितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्ता मुद्राभ्यासं समाचरेत्॥

अर्थात् जैसे शेषराज सशल वन-पृथ्वी आदि सभी के आधार है, उसी तरह हठ तथा तन्त्र का आधार कुण्डलिनी महाशक्ति है। श्री गुरू की कृपा से जब कुण्डलिनी जागती है, तब षट्चक्र तथा तीनों ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। प्राण की शून्य पदवी हो जाती है। बिना आलम्ब के ही चित्त स्थिर हो जाता है। इसलिए परमेश्वरी कुण्डलिनी को जगाने के लिए मुद्राभ्यास करना चाहिए।

मुद्राफलकथनम्

मुद्राणां पटलं देवि कथितं तव संनिधौ।
येनविज्ञातमात्रेण सर्वसिद्धिः प्रजायते ।४।
गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्यकस्यचित्।
प्रीतिदं योगिनां चैव दुर्लभं मरूतामपि ।५।

भावार्थ - श्री महादेव ने कहा है कि हे देवि मैंने मुद्राओं का विषय कहा जिनके ज्ञान से सभी सिद्धियाँ मिलती हैं। यह ज्ञान परम गुह्य है, हर-एक को नहीं कहना। ये मुद्राएँ योगियों को परम प्रिय ओर देवताओं को भी दुर्लभ हैं । 4,5,।

अन्य ग्रन्थों में भी मुद्राओं के विषय पर कहा है-

'मुद्राणां दशकं ह्येत्तद्व्याधिमृत्युविनाशकम्।
देवेशि कथितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम्॥
बल्लभं योगिनामेतद्दुर्लभं मरूतामपि।

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम्॥
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा।'

अर्थात् ये दश मुद्राएँ व्याधि रोग को नष्ट करने वाली है। अणिमादि सिद्धियाँ देती हैं। ये योगी तथा देवताओं को भी प्रिय हैं; इन्हें रत्न की पेटी की तरह रखना चाहिए।

महामुद्रा

पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढयत्नतः।
याम्यपादं प्रसार्याथ करेधृत पदांगुलः ।६।
कण्ठ संकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत्।
महामुद्राभिधामुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः ।७।

भावार्थ - गुह्यप्रदेश को दृढ़तापूर्वक बायीं एड़ी से दबावें और दाहिने पैर को फैलाकर हाथ से पैर की अंगुलियों को पकड़े और कण्ठ को सिकोड़ कर भौंहों के बीच के स्थान को देखे; इसे महामुद्रा कहते हैं ।6,7।

ग्रहयामल में इसे यों कहा गया है-

'पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणे।
पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढ़म्॥
कण्ठेवक्त्रं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः।
यथादण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते॥
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसाभवेत्।
तदासामरणावस्था जायते द्विपुटाश्रिता।
तदाशनैःशनैः रेवरेचयेतं नवेगतः।
इयं खलुमहामुद्रा तवस्नेहात् प्रकाश्यते॥

अर्थात् योनिप्रदेश को बायीं एड़ी से दबाकर, दक्षिण पाँव को फैलाकर, मुंह को दोनों हाथों से पकड़े, कण्ठ में सकोड़ कुम्भक करके वायु को रोके। इस मुद्रा का अभ्यास करने से, दण्ड से आहत सर्प जैसे दण्ड के समान खड़ा हो जाता है;

ऐसे ही कुण्डलिनी भी सरल भाव को धारण कर लेती है। तदनन्तर कुम्भक की भरी वायु को धीरे-धीरे निकाल दे; इसे ही महामुद्रा कहते हैं। और भी कहा है-

'अनेनविधिनायोगी मन्दभाग्योऽपि सिध्यति।
सर्वांसामेवनाडीनां चालनं विन्दुमारणम्।
जारणं तु कषायाय पातकानां विनाशकम्।
सर्वं रोगोपशमनं जठराग्निविवर्धनम्।।
बपुषः कान्तिममलां जरामृत्यु विनाशनम्।
वाञ्छितार्थ फलं सौख्यमिन्द्रियाणां च मारणाम्।।
एतदुक्तानि सर्वाणि योगारूढस्य योंगिनः।
भवेदभ्यासतोवश्यं नात्रकार्य विचारणा।।
गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते।
यांतु प्राप्यभवाम्भोधेः पारंगच्छन्ति योगिनः।।
मुद्राकामदुधाह्येषा साधकानांमयोदिता।
गुप्तचारेण कर्त्तव्या न देयायस्यकस्यचित्।।

ग्रहयामल में कहा गया है-

'महाक्लेशादयो दोषः क्षीयन्ते मरणादयः।
महामुद्रातु तेनैव समाख्याता महेश्वरि।।
चन्द्रांगेन समभ्यस्य सूर्यांगेन समभ्यसेत्।
यावत्संख्याभवेत्तस्या ततः संख्यां विसर्जयेत्।।
नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपिनीरसाः।
अभिभुक्तं विषंघोरं पीयूषमपि जीर्यति।।
क्षयकुष्ट गुदावर्त गुदप्लीहा पुरोगमाः।
तस्यदोषाः क्षयंयान्ति महामुद्रां च योभ्यसेत्।।
कथितेयं महामुद्रा जरामरण नाशिनी।
गोपनीया प्रयत्नेन न देयायस्यकस्यचित्।।

अर्थात् महाक्लेशादि और मरणादि दोष, महामुद्रा के आचरण से नष्ट होते हैं। चन्द्रस्वर से अभ्यास करके सूर्यांग से निश्चित संख्या पर्यन्त अभ्यास करने से

पथ्य-अपथ्य विषादि भी भक्षण करने पर पच जाते हैं। क्षयादि रोग महामुद्रा के अभ्यास से नष्ट होते हैं। जरामरण के नाश वाली यह महामुद्रा है। इसे गोपनीय रखना चाहिए।

नभोमुद्रा

यत्र-तत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा।
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरोभूत्वाधारयेत्पवनं सदा ।८।
नभोमुद्राभवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी।

भावार्थ - . योगी निरन्तर सब कामों में स्थिर ऊर्ध्वजिह्व होकर कुम्भक द्वारा वायु को रोके। इसको नभोमुद्रा कहते हैं, इससे योगी के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं।8।

उड्डीयानबन्ध

उदरे पश्चिमे तानं नाभेरुर्ध्वन्तुकारयेत्।९।
उड्डीयानं कुरुतेयत् तदविश्रान्त महाखगः।
उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातंग केशरी।१०।

भावार्थ - नाभि के ऊपर के भाग और पश्चिम द्वार को उदर के समभाव में संकोच करे अर्थात् उदर के अधोभाग में स्थिर गुह्यादि चक्र की सब नाड़ियों को नाभि के ऊपर को उठावे- इसका ही नाम उड्डीयान बन्ध हैं यह बन्ध मृत्युरूप हाथी के लिए सिंह के समान है ।9,10।

अन्यत्र उड्डीयान का फल ऐसा भी लिखा है-

'नित्यंयः कुरूतेयोगी चतुर्वारं दिने-दिने।
तस्यनाभेस्तु शुद्धिः स्याद्येनशुद्धोभवेन्मरूत्।।
षणमासमभ्यसेद् योगी मृत्युं जयति निश्चितम्।
तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिश्चजायते।।

रोगाणां संक्षयश्चापि योगिनां भवति ध्रुवम्।
गुरौर्लब्ध्वातु यत्नेन साधयेच्चविचक्षणः॥
निर्जनेसुस्थिते देशे बन्धं परम दुर्लभम्।

अर्थात् दिन में चार बार इस उड्डीयान-बन्ध को जो करता है, उसकी नाभि-शुद्धि और मरूत्-शुद्धि होती है। छः मास तक इसका अभ्यास करने से मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है। इसके अभ्यास से जठराग्नि तीव्र होती है, शरीर पुष्ट कर रस संचार होता है। इसका उपदेश प्राप्त कर एकान्त में अभ्यास करना चाहिए। दत्तात्रेय संहिता में कहा है-

'अभ्यसेद्यस्तु सत्त्वस्थो वृद्धोऽपि तरूणायते।
षणमासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः॥'

अर्थात् उड्डीयान के अभ्यास से बूढ़ा भी जवान हो जाता है। छः महीने के अभ्यास से अवश्य मृत्यु पर विजय होती है।

समग्राद् बन्धनाद्ध्येतदुड्डीयानं विशिष्यत।
उड्डीयाने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ।११।

भावार्थ - जितने बन्ध हैं उनमें उड्डीयान प्रधान है। इसके अभ्यास से मुक्ति अनायास ही हो जाती है ।।11।।

जालंधर बन्ध

कण्ठ संकोचनं कृत्वा चिवुकं हृदयेन्यसेत्।
जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्।
जालन्धरं महामुद्रामृत्योश्चक्षय कारिणीं ।१२।

भावार्थ - कण्ठ को संकोच कर, हृदय पर ठोड़ी को रखकर जालन्धर बन्ध होता है। इससे सोलह तरह का आधार - बन्ध होता है और यह मृत्यु को पराजित करता है ।12।

ग्रहयामल में कहा है-

'कण्ठमाकुञ्चयहृदये स्थापयेतु चिवुकं दृढ़म्।
बन्धोजालन्धराख्योऽयममृता व्ययकारकः॥'

अर्थात् कण्ठ को संकोच कर, ठोड़ी को दृढ़ता के साथ हृदय पर रक्खे। इसे जालन्धर-बन्ध कहते हैं। इसके द्वारा शरीरस्थ अमृत निरन्तर परिपूर्ण रहता है।

सिद्धं जालन्धरं बन्धं योगिनां सिद्धिदायकम्।
षण्मासमभ्यसेद्यो हि स सिद्धो नात्र संशयः ।१३।

भावार्थ - यह जालन्धर - बन्ध योगियों को सिद्धि प्रदान करता है। इसके छः महीने के अभ्यास से योगी सिद्ध हो जाता है ।13।
अन्य ग्रंथों में कहा है-

'बन्धनानेन पीयूषंस्वयं पिबति बुद्धिमान्।
अमरत्वं च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये॥
जालन्धर बन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः।
अभ्यासः क्रियते नित्यं योगिनासिद्धिमिच्छता॥'

अर्थात् इस जालन्धर-बन्ध से योगी अमृत पान करता है और इससे अमृतत्व प्राप्त कर योगी भुवन-त्रय में विचरता है। इसलिए योग-सिद्धि चाहने वाले को इसका अभ्यास सदैव करना चाहिए।

मूलबन्ध

पार्ष्णिना वामपादस्त योनिमाकुञ्चयेत्ततः।
नाभिग्रंथिमेरूदण्डे संपीड्य यत्नतः सुधीः ।१४।
मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढ़बन्धं समाचरेत्।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते ।१५।

भावार्थ - बायीं एड़ी से गुह्यप्रदेश की सिकोड़े और यत्नतः मेरूदण्ड में नाभिग्रन्थि को लगाकर दबावे तथा दाहिनी एड़ी से उपस्थ को दृढ़ता के साथ दाब कर रक्खे; इसको मूलबन्ध कहते हैं। इससे बुढ़ापा दूर हो जाता है। 14,15।

'पादमूलेन सम्पीड्य गुदमार्गं सुयंत्रितम्
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्व समभ्यसेत्॥
कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः।'

अर्थात् गुह्यप्रदेश को गुल्फ (एड़ी) से दबाकर भली भांति बांधे हुए अपान वायु को बल के साथ धीरे-धीरे ऊपर को खींचे, इसका नाम मूलबन्ध है। यह बुढ़ापा तथा मृत्यु को हटाता है।

संसार समुद्रं तर्त्तुमभिलषति यः पुमान्।
विजनेषु गुप्तो भूत्वा मुद्रामेनां समभ्यसेत् ।१६।
अभ्यासाद् बन्धनस्यास्य मरूत्सिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्।
साधयेद्यत्नतो तर्हि मौनी तु विजितालसः ।१७।

भावार्थ - जो संसार से तरना चाहते हैं, वे निर्जन में छिपकर इस मुद्रा का अभ्यास करें। इसका अभ्यास करने से निश्चय ही मरूत्-सिद्धि होती है। अतएव आलस्यरहित मौनी होकर यत्नपूर्वक इसका अभ्यास करना चाहिए ।16,17।

इस मूलबन्ध से योनिमुद्रा की सिद्धि होती है। इसके प्रसाद से साधक आकाश में उड़ता है।

महाबन्धः

वामपादस्य गुल्फे तु पायुमूलं निरोधयेत्।
दक्षपादेन तद् गुल्फे सम्पीड्य यत्नतः सुधीः ।१८।

शनैः शनैश्चलयेत् पार्ष्णि योनिमाकुञ्चयेच्छनैः।
जालन्धरे धारयेत्प्राणं महाबन्धोनिगद्यते ।१९।

भावार्थ - बायीं एड़ी से गुदामूल का निरोध करके, दाहिने पैर से यत्नपूर्वक बायीं एड़ी को दबाता हुआ धीरे-धीरे गुह्यदेश को चलावे और धीरे-धीरे गुह्यदेश को सिकोड़े तथा जालन्धर - बन्ध से प्राण वायु को धारण करे, इसका नाम महाबन्ध है ।18,19।

तन्त्रों में इस प्रकार कहा है-

'ततः प्रसारितपादो विन्यस्यतमूरूपरि।
गुदायोनिं समाकुञ्च्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम्॥
योजयित्वासमानेन कृत्वाप्राणमधोमुखम्।
बन्धयेदूदरेऽत्यर्थ प्राणापानाभ्यां यः सुधीः॥
कथितोऽयं महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदर्शकः।'

अर्थ उक्त श्लोक के अनुकूल ही है।

महाबन्धः परोबन्धो जरामरणनाशनः।
प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत् सर्ववाञ्छितम् ।२०।

भावार्थ - यह महावन्ध सब मुद्राओं में श्रेष्ठ है। यह जरा मृत्यु को दूर करती है, इसके प्रभाव से सभी मनोरथ सिद्ध होते हैं।20।

महावेधः

रूपयौवन लावण्यं नारीणां पुरूषं बिना।
मूलबन्ध महाबन्धो महावेधं विना यथा ।२१।
महाबन्धं समासाद्य उड्डीनकुम्भकं चरेत्।
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धि दायकः ।२२।

भावार्थ - पुरूष के बिना जैसे स्त्री का रूप यौवन और लावण्य व्यर्थ है, ऐसे ही महावेध के बिना मूलबन्ध और महाबन्ध निष्फल है। प्रथम महाबन्धमुद्रा का अभ्यास कर उड्डीयान-बन्ध कर कुम्भक से वायु को रोके, इसे महावेध कहते हैं ।22।

महाबन्धमूलबन्धौ महावेधसमन्वितौ।
प्रत्यहं कुरूतेयस्तु स योगीयोगवित्तमः ।२३।
न च मृत्यु भयं तस्य न जरा तस्य विद्यते।
गोपनीयः प्रयत्नेन वेधोऽयं योगिपुंगवैः ।२४।

भावार्थ - जो योगी प्रतिदिन महावेध के साथ महाबन्ध और मूलबन्ध का आचरण करते हैं, वे योगी योगियों में श्रेष्ठ हो जाते हैं; मृत्यु बुढ़ापा उन पर आक्रामण नहीं करता। यह परमगुह्य है, इसे गुप्त रखना चाहिए ।23,24।

खेचरी मुद्रा

जिह्वाधोनाड़ीं संछिन्नां रसनां चालयेत् सदा।
दोहयेन्नवनीतेन लोहयन्त्रेण कर्षयेत् ।२५।
एवं नित्यं समाभ्यासाल्लम्बिकादीर्घतां व्रजेत्।
यावद्गच्छेद्भ्रुवोर्मध्ये तथा गच्छति खेचरी ।२६।
रसनां तालुमध्ये तु शनैः शनैः प्रवेशयेत्।
कपालकुहरेजिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोर्मध्येगता दृष्टिर्मुद्राभवति खेचरी ।२७।

भावार्थ - जिह्वा के नीचे, जिह्वा और उसकी जड़ को मिलाने वाली जो नाड़ी है, उसको छेदता हुआ निरन्तर रसना के अग्र भाग को परिचालित करे, प्रतिदिन ऐसा करने से जिह्वा बड़ी हो जाती है। क्रम से अभ्यास द्वारा जिह्वा को इतना लम्बा करे कि वह भौंह के मध्य तक पहुंच जाय, जिह्वा को क्रमशः तालुमूल में ले जाय, तालु के बीच के गड्ढे को कपाल-कुहर कहते हैं। जिह्वा को इस कपाल-कुहर

के मध्य में ऊपर को उल्टी करके ले जाय और दोनों भौंहों के मध्य-स्थल को देखता रहे; इसे खेचरी मुद्रा कहते हैं ।25,26,27।

शास्त्रान्तर में खेचरी मुद्रा का वर्णन इस प्रकार भी है-

'भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टि विधायसुदृढ़ां सुधीः।
उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जिते॥
लाम्बिकोर्ध्वस्थितेगतंलां रसनां विपरीतगाम्।
संयोजयेत्प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः॥
मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरागतः।'

अर्थ उक्त श्लोकों के अनुसार ही है।

न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते।
न च रोगो जरामृत्युर्देवदेहं प्रपद्यते ।२८।

नाग्निनादह्यतेगात्रं न शोषयति मारूतः।
न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुङ्गमः ।२९।

लावण्यं च भवेद् गात्रे समाधिर्जायते ध्रुवम्।
कपाल वक्त्रसंयोगे रसना रसमाप्नुयात् ।३०।

नाना रससमुद्भूतमानन्दं च दिने-दिने।
आदौ लवणक्षारं च ततस्तिक्त कषायकम् ।३१।

नवनीतं घृतं क्षीरं दधितक्रमधूनि च।
द्राक्षा रसं च पीयूषं जायते रसनोदकम् ।३२।

भावार्थ - खेचरी के अभ्यासी को मूर्च्छा, क्षुधा और प्यास नहीं सताते, न आलस्य आता है। रोग, बुढ़ापा और मौत का भय नहीं रहता। शरीर देव तुल्य हो जाता है। खेचरी-अभ्यासी को अग्नि नहीं जला सकती, न वायु सुखा सकता, न

जल भिगा सकता, न सर्प काटता है। शरीर में लावण्य (सौन्दर्य) आता है। समाधि-सिद्धि होती है। कपाल और रसना के योग होने पर अनेक रस पैदा होते हैं। जो इसका अभ्यास करते हैं उनकी जिह्वा से विलक्षण रस का संचार होता है। नये-नये आनंद उत्पन्न होते है। पहले-पहल लवण, पश्चात् क्षाररस, फिर तिक्त, फिर कषाय, इसके बाद मक्खन, घी, दूध, दही-मट्ठा, मधु (शहद), दाख, अमृत आदि स्वादिष्ट रसों का आविर्भाव होता है ।28,29,30,31,32।

विपरीतकरिणी मुद्रा

नाभिमूलेवसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः।
अमृतं ग्रसते मृत्युस्ततो मृत्युवशो नरः ।३३।
ऊर्ध्वं च जायते सूर्यचन्द्र च अध आनयेत्।
विपरीतकरीमुद्रा सर्वतन्त्रेषुगोपिता ।३४।
भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मा समाहितः।
ऊर्ध्वपादः स्थिरोभूत्वा विपरीतकरीमता ।३५।

भावार्थ - नाभि में सूर्य नाड़ी और तालुमूल में चन्द्र नाड़ी है। सहस्रार में सुधा-धारा प्रवाह होता है। सूर्य नाड़ी के अमृत पान से जीव मरता है। यदि चन्द्र नाड़ी से उसे पीले तो मृत्यु का भय नहीं रहता। इसलिए सूर्य नाड़ी को ऊपर तथा चन्द्र नाड़ी को नीचे कर लेना चाहिए। इस विपरीतकरिणी को करने से उक्त बात सिद्ध होती है। शिर को पृथ्वी में लगा कर दोनों हाथों को टेक ले, दोनों पाँवों को ऊपर उठा कुम्भक द्वारा वायु रोके-इसे ही विपरीतकरिणी कहते हैं ।33,34,35।

मुद्रैयं साधिता नित्यं जरां मृत्युं च नाशयेत्।
ससिद्धः सर्वलोकेषु प्रलयेऽपि न सीदति।३६।

भावार्थ - इस मुद्रा के अभ्यास से जरा-मृत्यु नष्ट होते हैं। इसका अभ्यासी सब लोकों में सिद्ध होकर प्रलय में भी दुखी नहीं होता ।36।

योनिमुद्रा

सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्न सोमुखम्।
अंगुष्ठ तर्जनी मध्यानामाभिश्चैव साधयेत् ।३७।

काकीभिः प्राणं संकृष्य अपाने योजयेत् ततः।
षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हूं हंसमनुना सुधीः ।३८।

चैतमन्यमानयेद् देवीं निद्रितां यां भुजङ्गिनीम्।
जीवेन सहितांशक्ति समुत्थाप्यकराम्बुजे ।३९।

शक्तिमयः स्वयंभूत्वा परशिवेन संगमम्।
नाना सुखं विहारं च चिन्तयेत् परमं सुखम्।४०।

शिव शक्ति समायोगादेकान्तेभुविभावयेत्।
आनन्दं च स्वयं भूत्वा अहं ब्रह्मेति सम्भवेत्।४१।

भावार्थ - सिद्धासन से बैठकर दोनों हाथ के अंगूठों से कानों की, दोनों तर्जनी से नेत्रों को, मध्यमा से मुंह को तथा अनामिका से नाक निरूद्ध करे। प्राण को काकीमुद्रा से खींचता हुआ अपान से मिला दे। देहस्थ षट्चक्रों का ध्यान करता हुआ 'हूं' या 'हंस' इन दोनों मन्त्रों से कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर जीवात्मा को उसके साथ सहस्रार में ले जावे; उस समय ऐसी भावना करे कि 'मैं शिव के साथ शक्तिमय होकर परम सुखमय विहार कर रहा हूं। शिवशक्ति के योग से ही आनन्दमय ब्रह्म हूं'- इसे योनिमुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा गोपनीय तथा देवताओं को भी दुर्लभ है। इसका अभ्यास करके साधक सिद्धि प्राप्त करता है और अनायास ही समाधिस्थ हो जाता है ।37,38,39,40,41।

ब्रह्महाभ्रूणहाचैव सुरापीगुरूतल्पगः।
एतैपापैर्नलिप्येत योनिमुद्रा निबन्धनात् ।४२।

यानि पापानि घोराणि उपपापानि यानिच।
तानिसर्वाणि नश्यन्ति योनिमुद्रानिबन्धनात् ।४३।
तस्मादभ्यासनं कुर्याद्यदि मुक्ति समिच्छति ।४४।

भावार्थ - योनिमुद्रा के साधन से ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या, मद्यपान, गुरूदारागमन आदि पापों से रहित हो जाता है। पृथ्वी के समस्त महापातक उपपातक योनिमुद्रा के बांधने से नष्ट हो जाते हैं; इसलिए मुक्ति चाहने वालों को इसका अभ्यास करना योग्य है ।42,43,44।

शास्त्रान्तर्गत योनिमुद्रा

आदौपूरकयोगेन स्वाधारेपूरयेन्मनः।
गुदमेढ्रान्तरे योगिस्तमांकुञ्च्य प्रवर्तते।
ब्रह्मयोनि गतंध्यात्वा कामंबन्धूकसन्निमम्॥
सूर्यकोटि प्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलं।
तस्योर्ध्वेतु शिखासूक्ष्मा चिद्रूपापरमाकला॥
तत्रापिहितमात्मामेकीभूतं विचिन्तयेत्।
गच्छन्ति ब्रह्म मार्गेण सिद्धित्रयक्रमेणवै॥
अमृतं तद्विसर्गस्थं परमानन्द लक्षणम्।
श्वेतरक्तं तेजसाढ्यं सुधाधाराप्रवर्षणम्॥
पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत् कुलम्।
पुनरेव कुलं गच्छेन्मात्रा योगेन नान्यथा।
सा च प्राणसमाख्याताह्यस्मिन् तन्त्रे मयोदिता।
पुनः प्रलीयते तस्यां कालाग्न्यादिशि वात्मकम्॥
योनिमुद्रापरा ह्येषाबन्धतस्याः प्रकीर्तितः।
तस्यास्तुबन्धमात्रेण तन्नास्ति यत्र साधयेत्॥

अर्थात् पहले-पहल पूरक के प्रभाव से मूलाधार वायु को पूर्ण करे। गुदा से उपस्थपर्यन्त योनिदेश कहा जाता है। इसी के संकोच से योनि-मुद्रा होती है। ब्रह्मयोनि में लाल बन्धूक पुष्प सदृश काम का ध्यान, कोटि सूर्य के सदृश कान्तिमान तथा कोटिचन्द्र के समान शीतल रूप में करें।

इसके अनन्तर अग्नि के लपट के सदृश महाशक्ति का चिंतन करें, जो सूक्ष्म चैतन्य परमात्मा के साथ सूक्ष्म रूप में जीव के साथ एक होती है। जीव ब्रह्म मार्ग से सुषुम्नाछिद्र द्वारा गमन करता है। सहस्रार में कुन्डलिनी शिव के साथ मिलकर रहती है, वहां से अमृतधारा टपकती है। ऊपर उठकर जीव कुलामृत का पान कर मूलाधार की ब्रह्मयोनि में जाकर घुस जाता है। इस प्रकार जीव प्राणायाम से गमनागमन करता है। इसे तीन बार करने से मूलाधार पद्म में ब्रह्मयोनि गत कुण्डलिनी परमात्मा की प्राणस्वरूपिणी होकर रहती है। पुनः यह जीवात्मा कालाग्नि आदि शिवात्मक ब्रह्मयोनि मे लीन रूप से उसकी चिंता होती है। इसे ही योनिमुद्रा कहते हैं। इसके प्रभाव से समस्त कामों की सिद्धि होती है। यह मुद्रा सर्वश्रेष्ठ है।

वज्राली मुद्रा

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्याम् ऊर्ध्व क्षिपेत्पादयुगंशिरःखे।
शक्तिप्रबोधाय चिरजीवनाय वज्रालिमुद्रा कवयो वदन्ति।४५।

भावार्थ - दोनों हाथों को पृथ्वी पर स्थिर भाव से टेक कर दोनों पैरों और मस्तक को आकाश में उठा देने को वज्राली मुद्रा कहते हैं। इससे बल-संचार तथा दीर्घ-जीवन प्राप्त होता है।45।

अयं योगो योगश्रेष्ठो योगिनां मुक्तिकारणम्।
अयंहितप्रदोयोगो योगिनां सिद्धिदायकः ।४६।

एतद्योगप्रसादेन विन्दुसिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्।
सिद्धेविन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले ।४७।

भोगेन महता युक्तो यदि मुद्रा समाचरेत्।
तथापि सकलासिद्धिस्तस्य भवतिनिश्चितम् ।४८।

भावार्थ - यह योग मुद्रा में श्रेष्ठ, मुक्ति का कारण, परम उपकारी सिद्धिप्रद है। इससे बिन्दु सिद्धि, ऊर्ध्वरेतस्त्व सिद्धि होकर वीर्यपात नहीं होता, विन्दु सिद्धि

होने पर कौन सा कार्य नहीं हो सकता। भोगियों को इसे करने से नि:संदेह सभी सिद्धियां मिलती हैं। 46,.47, 48

शक्तिचालिनी मुद्रा

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता।
शयिता भुजगाकारा सार्ध त्रिवलयान्विता:।४९।

यावत् सा निद्रिता देहे तावज्जीवो पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत्।५०।

उद्घांटयेत् कपाटं च यथाकुञ्चिकयाहठात्।
कुण्डलिन्या प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत् ।५१।

नाभिं सम्वेष्ट्य वस्त्रेण न च नग्नो वहि: स्थित:।
गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत्।५२।

भावार्थ - मूलाधार में कुण्डलिनी सार्ध त्रिवलय होकर सर्पिणी के रूप में सोयी हुई है। उसकी सुप्तावस्था में योगी अज्ञ अवस्था में रहता है। जैसे चाभी से ताला खुलता है; इसी तरह कुण्डलिनी के जागरण से ब्रह्मरन्ध्र खुलता है। नाभि को वस्त्र से लपेट कर एकान्त स्थान में शक्चिालिनी मुद्रा का अभ्यास करें। नग्नावस्था में बाहर इसका साधन नहीं करना चाहिए। 49,50,51,52।

वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरंगुलम्।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्वर लक्षणम्।५३।

एवमम्वरयुक्तं च कटिसूत्रेणयोजयेत्।
भस्मनागात्र संलिप्तं सिद्धासनं समाचरेत्।५४।

नासाभ्यां प्राणामाकृष्य अपानेयोजयेदवलात्।
तावदाकुञ्चयेद् गुह्यं शनैरश्वनिमुद्रया ।५५।

यावद्गच्छेत् सुषुम्नायां वायुः प्रकाश्येत् हठात्।
तदा वायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी।५६।

वद्धश्वासस्ततोभूत्वा उर्ध्वमार्ग प्रपद्यते।
शक्तोर्विनाचालनेन योनिमुद्रा न सिध्यति।५७।

भावार्थ - बालिश्त भर चौड़ा, चार अंगुल लम्बा सफेद मुलायम वस्त्र नाभि पर रख कर कटिसूत्र में बांध दें। शरीर में भस्म लेपन कर, सिद्धासन पर बैठाकर, प्राण को खींच कर अपान से युक्त करें। जब तक सुषुम्ना द्वार से वायु गमन करती हुई प्रकाशित न हो, तब तक अश्विनी मुद्रा से गुह्य का संकोच करता रहे। इस प्रकार श्वास रुकने से कुम्भक के प्रभाव से सर्पाकार कुण्डलिनी जागकर ऊपर मार्ग में खड़ी हो जाती है, अर्थात् सहस्रार में परमात्मा के साथ मिल जाती है। इस शक्ति चालिनी मुद्रा के बिना योनि मुद्रा सिद्ध नहीं होती। 53,54,55,56,57।

आदौ चालनमभ्यस्य योनिमुद्रां समभ्यसेत्।
इतिते कथितं चण्डकापाले शक्तिचालनम्।५८।

गोपनीयं प्रयत्नेन दिने-दिने समभ्यसेत्।
मुद्रेयं परमागोप्याजरामरणनाशिनी।५९।

तस्मादभ्यासनं कार्य योगिभिः सिद्धिकांक्षिभिः।
नित्यं योऽभ्यसतेयोगी सिद्धिस्तस्य करेस्थिता।
तस्यविग्रहसिद्धिः स्याद् रोगाणां संक्षयो भवेत्।६०।

भावार्थ - चालिनी के बाद ही योनिमुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। हे चण्डकापाले! इस प्रकार शक्तिचालिनी मुद्रा को मैंने कहा। इसे यत्नपूर्वक रखना और प्रतिदिन अभ्यास करना। जो योगी इसका अभ्यास करता है उसे सिद्धियां प्राप्त होती हैं। विग्रह-सिद्धि हो जाती है और रोग नष्ट हो जाते हैं।

तंत्रों में दूसरी तरह भी यह मुद्रा कही गयी है –

'आधारे कमले गुप्तां चालयेत् कुण्डलीं दृढ़ाम्।
अपान वायुमारुह्य वलादाकृष्य बुद्धिमान्।।
शक्तिचालन मुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी।'

अर्थात कुन्डलिनीशक्ति आधार कमल में सो रही है, उसे जगाकर बलपूर्वक अपान वायु को खींचे। यही शक्तिचालिनी मुद्रा है; यह सर्वशक्ति देने वाली हें 58, 59, 60।

ताड़ागी मुद्रा

उत्तरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा च तडागाकृतिम्।
ताडागी सा परामुद्रा जरामृत्यु विनाशिनी।६१।

भावार्थ – पश्चिमोत्तान आसन से बैठकर पेट को तड़ाग के समान करने को ताड़ागी मुद्रा कहते हैं। इससे जरामृत्यु नष्ट हो जाती है।61।

माण्डुकी मुद्रा

मुखं समुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत्।
शनैर्ग्रसेदमृतं तां माण्डूकीं मुद्रिकां विदुः।६२।

वलितं पलितं नैव जायते नित्ययौवनम्।
न केशे जायते पाको यः कुर्यान्नित्यमाण्डुकीम्।६३।

भावार्थ मुंह बंद कर तालु में जिह्वा को घुमाने और जिह्वा से शनै-शनै सहस्रदल से टपकते हुए अमृत का पान करे, इसे माण्डुकी मुद्रा कहते हैं। इसके अभ्यास से वलिपलित, झुर्री तथा सफेद बाल का होना दूर हो जाता है। 62, 63।

शाम्भवीमुद्रा

नेत्राञ्जनं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत्।
साभवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषुगोपिता।६४।
वेदशास्त्र पुराणानि सामान्य गणिका इव।
इयन्तु शाम्भवीमुद्रा गुप्ताकुलवधूरिव।६५।

स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम्
स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ति शाभ्भवीम्।६६।
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वरः।
शाम्भवीं यो विजानाति स च ब्रह्म न चान्यथा।६७।

भावार्थ - भ्रूयुगल के बीच में दृष्टि को स्थिर कर, एकाग्र मन से चिंता योग पूर्वक परमात्मा का दर्शन करें; इसे शाम्भवीमुद्रा कहते हैं। यह सब तंत्रों में गुप्त रूप से कही गयी है। वेदादि शास्त्र सामान्य गणिका की तरह प्रकाशित है, परन्तु यह शाम्भवी मुद्रा कुलवधू की तरह परम गोपनीय है। जो इसका अभ्यास करता है वह आदिनाथ है, वह नारायण तथा सृष्टिकर्ता ब्रह्म स्वरूप है। मैं सत्य कहता हूं, शाम्भवी को जानने वाला साक्षात् ब्रह्म स्वरूप ही है। 64, 65, 66, 67।

पञ्चधारणामुद्रा

कथिता शाम्भवी मुद्रा शृणुष्व पञ्चधारणाम्।
धारणानि समामाद्य किं न सिध्यतिभूतले।६८।

अनेन नरदेहेन स्वर्गेषुगमनागमम्।
मनोगतिर्भवेत्तस्य खेचरत्वं न चान्यथा।६९।

भावार्थ - शाम्भवी मुद्रा कही गयी, अब पञ्चधारणा कहते हैं। इन पांचों धारणाओं के सिद्ध होने पर ऐसा कोई भी कार्य नहीं है जो सिद्ध न हो सके। इन धारणाओं की सिद्धि होने से मनुष्य शरीर से ही स्वर्ग में आना-जाना होता है। मनुष्य

इससे मनोगति और खेचरीत्व को पा सकता है। 68,69।

पार्थिवीधारणा

यत्तत्वं हरितालदेश रचितं भौमं लकारान्वितं,
वेदास्तंकमलासनेन सहितम्कृत्वाहृदिस्थापिनम्।

प्राणांस्तत्रविनीय पंचघटिकां चिन्तान्वितां धारये-
देषास्तंभकरीं ध्रुवंक्षितिजयं कुर्यादधोधारणाम्।७०।

भावार्थ - पृथ्वी तत्व का वर्ण हरताल के समान है। वीज 'लँ', चौकोन आकृति, ब्रह्मदेवता है। योग बल से इसे उदय कर हृदय में धारण कर, दो घंटे प्राण के निरोध-पूर्वक, कुम्भक करें; इसे पार्थिवी मुद्रा कहते हैं। इसे ही अधोधारणा-मुद्रा भी कहते हैं। इसके सिद्ध होने पर योगी पृथ्वी जय होता है। अर्थात् पृथ्वी सम्बन्धी घटना से उसकी मृत्यु नहीं होती ।70।

पार्थिवीधारणामुद्रां य करोति हि नित्यशः।
मृत्युञ्जयः स्वयं सोऽपि स सिद्धो विचरेद्भुवि।७१।

भावार्थ - जो इस पार्थिवीधारणा को करता है वह मृत्यु को जीतकर, सिद्ध होकर पृथ्वी में विचरता है।71।
तंत्रों में इसे अन्य प्रकार से भी कहा है -

'पृथिवीधारणां वक्ष्ये पार्थिवेभ्योभयापहाम्।
नाभेरधो गुदस्योर्ध्वं घटिकां पंचधारयेत्।।

वायुं ततो भवेत् पृथिवी धारणां तद्भयापहाम्।
पृथिवीसम्भवात् तस्य न मृत्युयोगिनी भवेत्।'

इस पद्य में मूलाधार से वायु-धारण कहा गया है, यह विशेष है और सब लक्षण एक से हैं।

आम्भसीधारणामुद्रा

शंखेन्दु प्रतिमं च कुन्दधवलं तत्त्वं किलालं शुभं।
तत्पीयूष बकार बीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना।

प्राणांस्तत्रविनीयपंचघटिकां चिन्तान्विता धारयेत्।
एषा दुःसहतापपापहरिणी स्यादाम्भसी धारणा।७२।

भावार्थ - जल का वर्ण शंख, चन्द्र, कुन्द के समान शुभ्र है। बकार इसका बीज है, विष्णु देवता। योग-बल से हृदय में इसे उदय कर, प्राण को, एकाग्र चित्त से पांच घड़ी कुम्भक द्वारा धारण करे- इसे आम्भसी धारणा कहते हैं। इसके अभ्यास से जल से मृत्यु नहीं होती। असह्य संसार-पीड़ा नष्ट होती है। इसका दूसरा लक्षण ऐसा भी है -

'नाभिस्थाने ततो वायुं धारयेत् पंचघंटिकाम्।
ततो जललयंनास्ति जलमृत्युर्नयोगिनः॥'

इस लक्षण में नाभि स्थान में वायु-धारण कहना विशेष है ।72।

आम्भसीं परमां मुद्रा यो जानाति स योगवित्।
जले च गंभीरे घोरे मरणं तस्यनोभवेत्।७३।
इयं तु परमा मुद्रा गोपनीया प्रयत्नतः।
प्रकाशात् सिद्धि हानिः स्यात् सत्यं वच्मिच तत्वतः।७४।

भावार्थ - आम्भसी धारणा मुद्रा का वेत्ता योगी, भीषण गंभीर जल में पड़कर भी नहीं मरता। यह मुद्रा सब मुद्राओं में मुख्य है; इसका यत्न से गोपन करे मैं यह सत्य कहता हूं। इसे प्रकाशित करने से सिद्धि की हानि होती है।73,74।

आग्नेयीधारणामुद्रा

तन्नाभिस्थितमिन्द्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणान्वितं,
तत्त्वं वह्निमयं प्रदीप्तमरुणं रुद्रेणयत्सिद्धिदम्।
प्राणांस्तत्रविनीयपञ्चघटिकां चिन्तान्वितां धारये-
देषा कालगभीरभीतिहरिणी वैश्वानरीधारणा।७५।

भावार्थ - नाभि में अग्नि का वास है। इसका वर्ण इन्द्रगोप कीड़े के तुल्य है, अर्थात् लाल रंग है। रकार इसका बीज है, आकृति त्रिकोण है, रुद्र इसका देवता है। यह तत्व तेज:पुञ्जमय दीप्तिमान और सिद्धिप्रद है। योग से उदय कर चित्त के एकाग्र से पाँच घड़ी तक कुम्भक करके, प्राण को धारण करें- इसे आग्नेयीधारणा कहते हैं। इसके अभ्यास होने पर काल-भय नष्ट हो जाता है और इसके अभ्यासी की अग्नि से मृत्यु नहीं होती।75।

इसे और प्रकार से भी कहते हैं-

'नाभ्यूर्ध्वमण्डले वायुं धारयेत् पंचघटिकाम्।
आग्नेयीधारणा सेयं न मृत्युस्तस्य वह्निना।।
नदह्यते शरीरं हि प्रक्षिप्ते वह्नि कुन्डके।'

अर्थात् नाभि के ऊर्ध्व में पाँच घड़ी कुम्भक करके वायु धारण करे, इसे आग्नेयी धारणा कहते हैं। इसके अभ्यास से अग्नि से मृत्यु नहीं होती। यदि साधक को जलते हुए अग्नि-कुण्ड में भी डाल दें, तो वह नहीं जलता।

प्रदीप्ते ज्वलिते वह्नौ पतितो यदि साधक:।
एन्तमुद्राप्रसादेन स जीवति न मृत्युभाक्।७६।

भावार्थ - यदि साधक प्रदीप्त अग्नि में भी गिर जाए, तो भी इस मुद्रा के प्रभाव से जीवित रहेगा।76।

वायवीयधारणा

यद्भिन्नाञ्जनपुञ्जसन्निभमिदंधूम्रावभासं परे,
तत्त्वंसत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता।

प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकां चिन्तान्वितां धारयेत्।
एषाखेगमनं करोति यामिमांस्याद् वायवीधारणा।७७।

भावार्थ - घुटे हुए अंजन और धुएं के समान कृष्ण वर्ण। यकार बीज और देवता ईश्वर है। यह वायु तत्व सत्व गुणमय है। योग से इसके उदय होने पर एकाग्र मन से कुम्भक कर दो घण्टे तक प्राण को धारण करने से, वायवीयधारणा होती है। इसके अभ्यास होने पर वायु से मृत्यु नहीं होती और साधक को आकाश-गमन प्राप्त होता है।

इसका दूसरा लक्षण ऐसा भी है -

'नाभिभ्रुवोर्मध्ये तु प्रादेशद्वयसम्मिते।
धारयेत् पंचघटिकां वायुं सैवहिवायवी।।'

नाभि और भ्रूमध्य में दो बालिश्त स्थान में, कुम्भक द्वारा पांच घटिका वायु धारण करने से, यह वायवी धारणा होती है, इसका साधन सब विपत्तियों का विनाशक है।77।

इयं तु परमा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।
वायुनाम्रियतेनापि खे च गति प्रदायिनी।७८।

शठायभक्तिहीनाय न देया यस्यकस्यचित्।
दत्तेचसिद्धिहानिः स्यात् सत्यं वच्मिच चण्डते।७९।

भावार्थ - यह मुद्रा जरा मृत्यु को दूर करती है। वायु से साधक की मृत्यु नहीं होती और आकाशगति प्राप्त होती है। भक्तिहीन शठ को इसे नहीं बताना चाहिये। हे चण्ड! ऐसा करने पर सिद्धि की हानि होती है, यह मैं सत्य कहता हूं। 78,79।

आकाशीधारणा

यत्सिद्धौवर शुद्धवारिसदृशं व्योमं परंभासितं,
तत्त्वंदेवसदाशिवेन सहितं बीजं हकारान्वितम्।

प्राणांस्तत्रविनीय पंचघटिकां चिन्तान्वितां धारयेत्,
एतां मोक्षकपाटभेदनकरीं कुर्यान्नभोधारणाम्।८०।

भावार्थ – आकाश तत्व का वर्ण विशुद्ध सागर जल सदृश है। सदाशिव देवता, हकार बीज है। प्राण संयम पूर्वक पांच घड़ी तक कुम्भक करने से इसकी सिद्धि होती है। इसकी सिद्धि से देवत्व और मुक्ति प्राप्त होती है।

'भ्रू मध्यादुपरिष्टात् धारयेत् पंचनाडिकाम्।
वायुं योगी प्रयत्नेन आकाशी धारणा शुभा।।
आकाश धारणां कुर्वन् मृत्युं जयति तत्त्वतः।
यत्रयत्रस्थितो योगी सुखमत्यन्तमश्नुते।'

यह मुद्रा पांच घड़ी तक भ्रूमध्य के ऊपर कुम्भक करने से होती है। इसे आकाशीधारणा कहते हैं। इससे मृत्यु को भी जीता जा सकता है। वासानुसार योगी को सौख्यवृद्धि होती है।80।

आकाशीधारणा मुद्रां यो वेत्ति स योगवित्।
न मृत्युर्जायते तस्य प्रलयेऽपि न सीदति।८१।

भावार्थ – जो योगवेता आकाशीधारणा को जानता है उसकी मृत्यु नहीं होती है। प्रलय में भी उसे खेद नहीं होता।81।

इस पंचधारणा की प्रशंसा योग ग्रन्थों में इस प्रकार की गयी है –

'मेधावीपंचभूतानां धारणांयः समभ्यसेत्।
शतब्रह्मागतेनापि मृत्युस्तस्य नविद्यते।।
एवं च धारणाः पंच कुर्याद् योगी विधानतः।
ततोदृढ़ शरीरस्यमृत्युस्यस्य न जायते।
इत्येवं पञ्चभूतानां धारणांयः समभ्यसेत्।।
ब्रह्मणः प्रलये चापिमृत्युस्तस्य न विद्यते।'

इसका अर्थ स्पष्ट है

आश्विनीमुद्रा

आकुंञ्चयेद् गुदाद्वारं प्रकाशयेत् पुनः पुनः।
साभवेदाश्विनीमुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी।८२।
आश्विनीपरमामुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी।
वलपुष्टिकरीचैव अकालमरणंहरेत्।८३।

भावार्थ- बारबार गुह्येन्द्रिय का संकोच-प्रसारण करने को आश्विनी मुद्रा कहते हैं। इससे कुण्डलिनी जागती है, गुह्य रोग नष्ट होते हैं। बल पुष्टि की प्राप्ति होती है। और असमय की मौत टल जाती है। 82,83।

पाशिनीमुद्रा

कण्ठपृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवद् दृढ़बन्धनम्।
सा एव पाशिनीमुद्रा शक्तिप्रवोधकारिणी।८४।
पाशिनी महतीमुद्रा बलपुष्टि विधायिनी।
साधिनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकांक्षिभिः।८५।

भावार्थ- दोनों पाँवों को पाश की तरह गले में दृढ़ रूप से बाँधे, इसे पाशिनी कहते हैं। यह शक्ति को जगाती है। यह श्रेष्ठ मुद्रा है, बल पुष्टि चाहने वाले योगी को यत्नपूर्वक इसकी साधना करनी चाहिए। 84,85।

काकीमुद्रा

काकचञ्चु वदास्येन पिवेद् वायुं शनैः शनैः।
काकी मुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी।८६।
काकीमुद्रा परामुद्रा सर्वतन्त्रेषुगोपिता।
अस्याः प्रसाद मात्रेण काकवन्नीरुजो भवेत्।८७।

भावार्थ- कौए की तरह चोंच (as a pipe) के समान मुँह को, जिह्वा निकाल कर बनावे। पुन: धीरे-धीरे वायु का पान करे- इसे काकीमुद्रा कहते हैं। इससे सभी रोग नष्ट होते हैं। यह परम गोपनीय मुद्रा है, इसके करने से योगी कौए के समान सर्वदा नीरोग रहता है।86,87।

मातंगिनीमुद्रा

कण्ठमग्ने जले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत्।
मुखान्निर्गमयेत् पश्चात् पुनर्वक्त्रेण चाहरेत्।८८।

नासाभ्यां रेचयेत् पश्चात् कुर्यादेवं पुनः-पुनः।
मातङ्गिनी परामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।८९।

विरले निर्जने देशे स्थित्वा चैकाग्रमानसः।
कुर्यान्मातङ्गिनी मुद्रां मातङ्ग इव जायते।९०।

यत्र-यत्र स्थितो योगी सुखमत्यन्तमश्नुते।
तस्मात् सर्व प्रयत्नेन साधयेत् मुद्रिकामिमाम्।९१।

भावार्थ- कण्ठ तक जल में खड़े होकर, नासिका के दोनों छेदों से जल खींचे और मुँह से निकाले; इसे बारम्बार करने से मातङ्गिनीं मुद्रा होती है। इससे जरामृत्यु का आक्रमण नहीं होता। निर्जनस्थान में बैठकर एकाग्रचित्त से इसे करे। इसके सिद्ध

होने से साधक हाथी के समान बली हो जाता है। इसके प्रभाव से योगी सर्वदा सुखी रहता है। अतः यत्नपूर्वक इस मुद्रा का साधन करें। 88, 89, 90, 91।

भुजंगिनी मुद्रा

वक्त्रंकिंचित् सुप्रसार्यं चानिलं गलयापिवेत्।
साभवेद्भुजंगिनीमुद्रा जरा मृत्यु विनाशिनी।९२।
यावच्ख उदरेरोगमजीर्णादिविशेषतः।
तत्सर्वनाशयेदाशु यत्रमुद्रा भुजङ्गिनी।९३।

भावार्थ- मुख को फैलाकर गले से वायु को पिए- इसे ही भुजङ्गिनी मुद्रा कहते हैं। इससे बुढ़ापा-मृत्यु दूर होते हैं। उदर के अजीर्णादि रोग इसके अभ्यास से नष्ट होते हैं।92,93।

माहात्म्यम्

इदं तु मुद्रा पटलं कथितं चण्डकापाले।
वल्लभंसर्वसिद्धानां जरामरणनाशकम्।९४।

शठायभक्तिहीनाय न देयं यस्यकस्यचित्।
गोपनीयं प्रयत्नेन दुर्लभं मरुतामपि।९५।

ऋजवेशान्तचित्ताय गुरुभक्तिपराय च।
कुलीनाय प्रदातव्यं भोगमुक्ति प्रदायकम्।९६।

मुद्राणां पटलं ह्येतत् सर्वव्याधि विनाशकम्।
नित्यमभ्यासशीलस्य जठराग्निविविर्धनम्।९७।

तस्य न जायते मृत्युर्नास्य वार्धक्यमायते।
न चाग्निजलमयं तस्य वायोरपिकुतोभयम्।९८।

कासः श्वासः प्लीहा श्लेष्मरोगाश्चविंशतिः।
मुद्राणां साधनाच्चैव विनश्यन्ति न संशयः।९९।

वहुनाकिमिहोक्तेनसारं वच्मि च चण्ड! ते।
नास्तिमुद्रा समंकिञ्चित् सिद्धिदंक्षितिमण्डले।१००।

भावार्थ- हे चण्डकापाले! यह मुद्रापटल जरा-मरण का नाश करने वाला, सब सिद्धों का प्रिय, तुम्हें बताया गया। इसे शठ भक्तिहीन जिस किसी को नहीं देना, देवताओं को भी दुर्लभ हैं इसकी प्रयत्न पूर्वक रक्षा करना। सरल, शान्त गुरुभक्तियुक्त कुलीन अधिकारी को ही, भुक्ति-मुक्ति प्रद इस योग को देना चाहिए। मुद्राओं का यह पटल सब रोगों का नाशक है। इसका जो नित्य पाठ करेगा उसकी जठराग्नि बढ़ेगी। उसकी मृत्यु-बुढ़ापा नहीं होगा। अग्नि, जल का भय उसे नहीं होगा। वायु का भय तो होगा ही कैसे। कास-श्वास प्लीहा श्लेष्म रोग जो बीस प्रकार के हैं; मुद्रा के साधन से नष्ट हो जाते हैं। हे चण्ड! बहुत कहाँ तक कहें मुद्राओं के समान पृथ्वी में कोई भी सिद्धिप्रद साधन नहीं है। 94 से 100 पर्यन्त।

卐 卐 卐

।तृतीयोपदेशः समाप्तः।।

चतुर्थोपदेशः

卐 卐

प्रत्याहारः

घेरण्ड-उवाच

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि प्रत्याहारमनुत्तमम्।
यस्य विज्ञान मात्रेण कामादिरिपुनाशनम्।१।

भावार्थ- हे चण्ड! अब प्रत्याहार का वर्णन करता हूं, जिसके करने से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य--ये छः शत्रु नष्ट होते हैं।1।

यतो-यतो मनश्चरति चाञ्चल्यवशतः सदा।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशंनयेत्।२।

भावार्थ- चंचल मन जहाँ-जहाँ विचरे उसे वहाँ-वहाँ से लौटाकर आत्मा के वश में लावे।2।

पुरस्कारं तिरस्कारं सुश्राव्यंदुःश्रुतं तथा।
मनस्तस्मान्नियम्यैतदात्मन्येव वशंनयेत्।३।

भावार्थ- तिरस्कार-पुरस्कार, सुनने योग्य तथा अयोग्य की तरफ से मन को हटाकर आत्म-वश करे।3।

सुगन्धौ वापि दुर्गन्धो घ्राणेषुजायतेमनः।
तस्मात् प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशंनयेत्।४।

मधुराम्लकतिक्तादिरसान्याति यदामनः।
तदाप्रत्याहरेत्तेभ्य आत्मन्येव वशंनयेत्।५।

भावार्थ- सुगन्ध दुर्गन्ध से भी मन को हटावे, मीठा, खट्टा, तीखा आदि रसों में मन चांचल्य हो तो उसे वहां से लौटाकर आत्मा में लगावे; इसे प्रत्याहार कहते हैं।4,5।

।।चतुर्थोपदेशः समाप्तः।।

पञ्चमोपदेशः

卐 卐

प्राणायामः

घेरण्ड उवाच

अथातः संप्रवक्ष्यामि प्राणायामस्य यद् विधिम्।
यस्य साधनमात्रेण देवतुल्योभवेन्नरः।१।
आदौ स्थानं तथा कालं मिताहारं तथा परम्।
नाड़ीशुद्धिश्च तत् पश्चात् प्राणायामंच साधयेत्।२।

भावार्थ- अब प्राणायाम की विधि कहता हूँ, जिसके साधन से मनुष्य देवतुल्य हो जाता है। पहले-पहले स्थान तथा काल, मिताहार तथा नाड़ी शुद्धि करनी चाहिए। इन चारों के सिद्ध होने पर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।1,2।

स्थान निर्णयः

दूरदेशे तथारण्ये राजधान्यां तथान्तिके।
योगारम्भं न कुर्वीत कृतेच सिद्धिहाभवेत्।३।
अविश्वासंदूरदेशे अरण्येरक्षिवर्जितम्।
लोकाकुले प्रकाशश्चतस्मात् त्रीणिविवर्जयेत्।४।

भावार्थ- दूर देश में अविश्वास होता है, अरण्य में रक्षक-शून्य, जन समूह में प्रकाश होने का भय होता है। अतः इन तीनों स्थानों का परित्याग करना चाहिए।3,4।

सुदेशेधार्मिके राज्ये सुभक्ष्ये निरुपद्रवे।
कुटीं तत्र विनिर्माय प्राचीरैः परिवेष्टिताम्।५।

वापीकूपतड़ागं च प्राचीन मध्यवर्ति च।
नात्युच्चं नातिनीचं कुटीरं कीटवर्जितम्।६।

सम्यग्गोमयालिप्तं च कुटीरं तत्रनिर्मितम्।
एवं स्थानेषु गुप्तेषु प्राणायामं समभ्यसेत्।७।

भावार्थ- सुन्दर धार्मिक राज्य में, खाद्य पदार्थों की जहाँ सुलभता हो, ऐसे उपद्रव रहितदेश में कुटी बनाकर, चहार दीवार बनावे, जिसके अन्दरूनी भाग में तालाब, कुवां आदि भी हो। वह कुटी न बहुत नीची न बहुत ऊँची ही हो। गोबर से लिपी हुयी हो, कोई जानवर उसमें न हो; ऐसे गुप्त स्थान में प्राणायाम का अभ्यास करे।5,6,7।

काल निर्णयः

हेमन्तेशिशिरे ग्रीष्मे वर्षायां च ऋतौतथा।
योगारम्भं न कुर्वीत कृते योगोहि रोगदः।८।

वसन्ते शरदिप्रोक्तं योगारम्भं समाचरेत्।
तथा योगी भवेत् सिद्धी रोगान्मुक्तो भवेत् ध्रुवम्।९।

भावार्थ- हेमन्त, शिशिर, ग्रीष्म और वर्षा ऋतुओं में योगारम्भ न करे, इनके करने से रोग उत्पन्न करता है। वसन्त-शरद में ही योगाभ्यास करें, इनमें करने से सिद्धि तथा रोग निवृत्ति होती है।8,9।

चैत्रादि फाल्गुनान्ते माघादि फाल्गुनान्तिके।
द्वौ-द्वौ मासौ ऋतुभागौ अनुभावश्चतुश्चतुः।१०।
वसन्तश्चैत्र वैशाखौ ज्येष्ठाषाढ़ौ च ग्रीष्मकः।

वर्षा श्रावण भाद्राभ्यां शरदाश्विन कार्तिकौ।
मार्गपौषौ च हेमन्तः शिशिरोमाघफाल्गुनौ।११।

भावार्थ-चैत्र से लेकर फाल्गुन तक बारह मास, इनमें दो-दो मास की 6 ऋतुएँ होती हैं। माघ से लेकर दूसरे फाल्गुन तक चौदह मास होते हैं दो-दो मास की एक-एक ऋतु तथा चार-चार मास की भी अनुभूति होती है। चैत्र-वैसाख बसन्त, ज्येष्ठ-आषाढ़ ग्रीष्म, श्रावण, भादों वर्षा, कुंवार-कार्तिक शरद, अगहन-पौष हेमन्त और माघ-फाल्गुन शिशिर कहलाते है।10,11।

अनुभावं प्रवक्ष्यामि ऋतूनां च मयोदितम्।
माघादि माघवान्तेषु वसन्तानुभवस्तथा।१२।

चैत्रादिचाषाढान्तं च निदाघानुभवश्चतुः
आषाढ़ादिचाश्विनान्तं च प्रावृषानुभवश्चतुः।१३।

भाद्रादिमार्गशीर्षान्तं शरदानुभवश्चतुः।
कार्तिकादिमाघमासान्ते हेमन्तानुभवश्चतुः।१४।

वसन्ते वापिशरदि योगारम्भं समाचरेत्।
तदायोगीभवेत्सिद्धो विनायासेन कथ्यते।१५।

भावार्थ- माघ से लेकर वैसाख पर्यन्त वसन्त का अनुभव होता है। चैत्र आषाढ़ तक ग्रीष्म, आषाढ़ से कुंवार तक बर्षा, भादों से अगहन तक शरद, कार्तिक से माघ तक शीत् का अनुभव होता है। वसन्त और शरद ऋतु में योगारम्भ करे तब योग सिद्ध होता है। 12,13,14,15।

मिताहारः

मिताहारं विनायस्तु योगारम्भं तु कारयेत्।
नानारोगाभवन्त्यस्य किंचिद्योगो न सिध्यति।१६।

भावार्थ- जो मिताहार न करके योगारम्भ करता है; उसको नाना रोग उत्पन्न होते हैं। उसका योग सिद्ध नहीं होता।16।

शाल्यन्नं यवपिंड वा गोधूमपिंडकं तथा।
मुद्गं माषचणकादि शुभ्रं च तुषवर्जितम्।१७।

पटोलं पनसं मानं कंकोलं च शुकाशकम्।
द्राढ़िका कर्कटी रम्भोदुम्वरी कंट कंटकम्।१८।

आमरम्भावालरम्भा रम्भादण्डं च मूलकम्।
वार्ताकी मूलकं ऋद्धि योगी भक्षणमाचरेत्।१९।

वालशाकं कालशाकं तथा पटोलपत्रकम्।
पंचशाकं प्रशंसीयात् वास्तुकं हिलमोचिकाम्।२०।

शुद्धं सुमधरं स्निग्धं उदरार्धविवर्जितम्।
भुज्यते सुरसं प्रीत्या मिताहारमिमं विदुः।२१।

भावार्थ- योगी चावल, जौ का सत्तू, गेहूं का आटा, मूंग, उड़द, चना आदि साफ भूसीरहित करके खावे। परवल, कटहल, मानकन्द, शीतलचीनी, करेला, कन्दुर, अरहर, ककड़ी,केला, गूलर और चौराई आदि का शाक खावे। कच्चा, पक्का, केले के गुच्छे का दण्ड, उसकी जड़, बैंगन, ऋद्धि इन्हें खावे। कच्चा शाक, सामयिक शाक, परवल के पत्ते, बथुआ और हुरहुर ये पाँच शाक खावे। निर्मल, सुमधुर और स्निग्ध सुरस द्रव्य से, सन्तोष के साथ आधे पेट को भरे, आधे को खाली रक्खे- इसे मिताहार कहते हैं।17 से 21।

अनेन पूरयेदर्धं तोयेन तु तृतीयकम्।
उदंरस्य तृतीयाशं संरक्षेद् वायुचारणे।२२।

भावार्थ- उदर के आधे भाग को अन्न से भरे, तीसरे को जल से, चौथे को वायु संचार के लिए रिक्त रक्खे।22।

अब इसके आगे त्याग करने की बातें बताते हैं।

निषिद्ध आहार

कट्वम्ले लवणं तिक्तं भ्रष्टं च दधितक्रकम्।
शाकोत्कटं तथामद्यं तालं च पनसंतथा।२३।

कुलंत्थं मसूरं पाण्डुं कूष्माण्डं शाकदण्डकम्।
तुम्वीकोल कपित्थं च कंटविल्वपलाशकम्।२४।

कदम्वं जम्वीरं लिम्वं लकुचं लशुनं विषम्।
कामरङ्ग प्रियालं च हिंगुशाल्मलिकेमुकम्।२५।

भावार्थ- कड़ुआ, अम्ल, लवण, तिक्त ये चार रस वाली चीजें, भुनी हुई चीजें, दही-मट्ठा, शक्कर, शाक, पेठा, शाकदण्ड घीयाबेर, कैथ, काँटेदार बेल, ढाक, कदम्ब के फूल, जम्वीरी, लकुच, लहसुन, विष, कमरख, प्याज, हींग, सेमर गोभी-इनका योगारम्भ के समय सेवन न करे। 23,24,25।

योगारम्भे वर्जयेत् पथस्त्रीवह्नि सेवनम्।
नवनीतंघृतंक्षीरं गुडशक्रादिचैक्षवम्।
द्राक्षातु नवनीधात्रीं रसमम्लं विवर्जितम्।
पञ्चरम्भा नारिकेलं दाडिमंमशिवांरसम्।२६।

भावार्थ- योगारम्भ के समय मार्गश्रम, स्त्री-सेवन, अग्नि से तापना आदि का परित्याग करे। मक्खन, घी, गुड़, ईख से निर्मित शक्कर, पाँच प्रकार के केले, नारियल, अनार, सौंफ, नोनियाँ, आंवले और अम्लरस वाली वस्तुऐं न खावे।26।

एलां जातिलवङ्गं च पौरुषं जम्बुजाम्बुलम्।
हरीतकीं च खर्जूरं योगी भक्षणमाचरेत्।२७।

लघुपाकं प्रियंस्निग्धं तथा धातुप्रपोषणम्।
मनोऽभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत्।२८।

भावार्थ- इलायची, जायफल, लोंग, तेजोदायक पदार्थ, जामुन, कटजामुन, हरें, खर्जूर-इन्हें खावे। सरलता से पचने वाले, चिकने, धातु पौष्टिक, मन के अनुकूल पदार्थ को योगी सेवन करे। 27, 28।

काठिन्यं दुरितं पूतिमुष्णं पर्युषितं तथा।
अतिशीतं चातिचोग्रं भक्ष्यं योगीविवर्जयेत्।२९।

प्रातः स्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं विना।
एकाहारं निराहारं यामान्ते च न कारयेत्।३०।

भावार्थ- कड़ी चीज खाने से पाप-वासना-जनक दुर्गन्ध, अति-उष्ण, बासी-ठंडा और उग्र भोजन-इनका त्याग करे। शरीर को कष्ट पहुंचाना, प्रातःस्नान, उपवास, एकाहार, एक पहर बाद भोजन करना इन बातों को योगी छोड़ दे।29,30।

एवं विधिविधानेन प्राणायामं समाचरेत्।
आरम्भे प्रथमं कुर्यात् क्षीराज्यं नित्य भोजनम्।
मध्यान्हे चैव सायान्हे भोजनद्वयमाचरेत्।३१।

भावार्थ- इस प्रकार नियमानुकूल प्राणायाम का अभ्यास करे। प्राणायाम करने से पहिले प्रतिदिन घी और दूध का सेवन करे। मध्याह्न एवं सायं दो ही बार भोजन करें।31।

नाड़ी शुद्धिः

कुशासने मृगाजिने व्याघ्राजिने च कम्वले।
स्थलासनेसमासीनः प्राङमुखोवाप्युदङ मुखः।
नाड़ीशुद्धिं समासाद्य प्राणायामं समभ्यसेत्।३२।

भावार्थ- कुशासन, मृग, ब्याघ्र, कम्बल, स्थल इनमें से कोई आसन पर पूर्वमुख या उत्तरमुख स्थित होकर नाड़ी-शुद्धि करके प्राणायाम का साधन करे।32।

चण्डकापालिरुवाच

नाड़ीशुद्धिंकथं कुर्यान्नाड़ीशुद्धिश्च कीदृशी।
तत्सर्वं श्रोतुमिच्छामि तद्वदस्वदंयानिधे।३३।

भावार्थ- चण्डकापालि ने घेरण्ड मुनि से पूंछा कि नाड़ी-शुद्धि कैसे करना चाहिए। उसका स्वरूप क्या है? इसे विस्तार से सुनना चाहता हूँ; उसे आप कहें।33।

घेरण्ड उवाच

मलाकुलासुनाड़ीसु मारुतो नैवगच्छति।
प्राणायामः कथं सिद्धस्तत्त्वज्ञानं कथं भवेत्।३४।
नाड़ीशुद्धिर्द्विधाप्रोक्ता समनुर्निर्मनुस्तथा।
वीजेन समनुं कुर्यान्निर्मनुँ धौतिकर्मणा।३५।

धौतिकर्मपुराप्रोक्तं षट्कर्मसाधनं यथा।
श्रुणुष्व समनुं चण्ड नाड़ीशुद्धिंयथाभवेत्।३६।

भावार्थ- मल से भरी हुई नाड़ियों में पवन का प्रवाह नहीं होता। फिर प्राणायाम साधन कैसा, और तत्वज्ञान ही कैसे हो, इसलिए पहले नाड़ी-शोधन करना चाहिए। नाड़ी शोधन समनु और निर्मनु भेद से दो प्रकार का है। बीज मन्त्र से जो नाड़ी शोधन होता है- उसे समनु और धौति-कर्म से होने वाले शोधन को निर्मनु कहते हैं। धौति कर्म का पहिले निरूपण किया जा चुका है। समनु नाड़ी-शुद्धि को सुनो।34,35,36,।

उपविश्यासने योगी पद्मासनमाचरेत्।
गुर्वादिन्यासनं कुर्याद्यथैव गुरुभाषितम्।३७।

नाड़ीशुद्धिं प्रकुर्वीत प्राणायामविशुद्धये।
वायुवीजं ततोध्यात्वा धूम्रवर्ण सतैजसम्।३८।

चन्द्रेणपूरयेद्वायुं वीजैः षोडशकैः सुधीः।
चतुःषष्ट्यामात्रया च कुम्भकेनैव धारयेत्।
द्वाविंशन्मात्रयावायुं सूर्यनाड्या च रेचयेत्।३९।

भावार्थ- पद्मासन से बैठकर गुर्वादिन्यास करे। गुरु की आज्ञा से प्राणायाम के साधन के लिए नाड़ी शुद्धि करे। फिर वायु-बीज 'यँ' का ध्यान करे। इसे सोलह बार जपता हुआ बायीं नासिका से वायु को खींचें ध्यान के समय इस वायु-बीज को तेजोमय धूम्रवर्ण का मानना चाहिए। पूरक के बाद चौंसठ बार जपने से कुम्भक करे, बत्तीस बार जपता हुआ, दाहिनी नासिका से रेचक करे। 37 से 39।

नाभिमूलाद्वह्निमुत्थाप्य धारयेत्तेजोवनीयुतम्।
वह्निवीजषोडशेन सूर्यनाडया च पूरयेत्।४०।

चतुः षष्ट्या मात्रया च कुम्भकेनैवधारयेत्।
द्वात्रिशन्मात्रयावायुं चन्द्रनाडया च रेचयेत्।४१।

भावार्थ- नाभि में अग्नितत्व को उदित कर 'लँ' युक्त पृथिवी तत्त्व को मिलाकर ध्यान करें। षोडशमात्रा 'रँ' बीज का ध्यान कर दाहिने नासापुट को भरे, चौंसठ मात्रा से कुम्भक करे, बत्तीस मात्रा से जप करता हुआ रेचक करे।40,41।

नासाग्रेशशधृग्विम्बे ध्यात्वा ज्योत्स्नासमन्वितम्।
हं वीजषोडशेनैव इड्यापूरयेन्मरुत्।४२।

चतुःषष्ट्या मात्रया च वं वीजेनैवधारयेत्।
अमृतं प्लावितं ध्यात्वा नाड़ीधौतिं विभावयेत्।४३।

भावार्थ- नासिका के अग्रदेश में चन्द्रबिम्ब के ध्यान पूर्वक 'हँ' बीज को सोलह मात्रा से जप करे, और वामनासिका से 'यँ' बीज वायु को भरे, पुनः 'वँ' बीज-इस बीज से चौंसठ बार बोलता हुआ, सुषुम्ना नाड़ी में कुम्भक द्वारा वायु धारण करें। नासिकाग्र से अमृत टपक रहा है, उससे शरीर की सभी नाड़ियाँ धुल रही हैं। इस प्रकार ध्यान करके 'लँ' बीज का बत्तीस बार जपता हुआ भरे हुए वायु को दक्षिण नासा से रेचक करे।42,43।

एवं विधां नाड़ीशुद्धिं कृत्वा नाड़ी विशोधयेत्।
दृढ़ोभूत्वासनं कृत्वा प्राणायामं समाचरेत्।४४।

भावार्थ- इस प्रकार नाड़ी शुद्धि से नाड़ी का शोधन करके आसन पर दृढ़ता से बैठकर प्राणायाम का अभ्यास करे।44।

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायीशीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली चाष्टकुम्भकाः।४५।

भावार्थ- सहित, सूर्यभेद, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली कुम्भक, ये आठ कुम्भक हैं।45।

सहितो द्विविधः प्रोक्तः प्राणायामं समाचरेत।
सगर्भोंवीजमुच्चार्य निगर्भों वीजवर्जितः।४६।

भावार्थ- सहित कुम्भक दो प्रकार का है, जो बीज मन्त्र के साथ कुम्भक होता है, उसे सगर्भ तथा बीजमन्त्र रहित को निगर्भ कुम्भक कहते हैं।46।

प्राणायामं सगर्भं हि प्रथमं कथयामिते।
सुखासने चोपविश्य प्राङ्मुखोवाप्युदङ्मुखः।
ध्यायेद् विधिं रजोगुण्यं रक्तवर्णमवर्णकम्।४७।

भावार्थ- सगर्भ प्राणायाम की विधि प्रथम कहता हूं, सुनो, पूर्वमुख या उत्तरमुख होकर, सुख पूर्वक आसन पर बैठकर ब्रह्मा का ध्यान करें, ब्रह्मा लालवर्ण आकार रूपी और रजोगुण युक्त है।47।

इडया पूरयेद्वायुं मात्रया षोडशैः सुधीः।
पूरकान्ते कुम्भकान्ते कर्त्तव्यस्तूड्डीनकः।४८।

सत्वमयं हरिं ध्यात्वा उकारं कृष्णवर्णकम्।
चतुःषट्या मात्रया च कुम्भकेनैव धारयेत्।४९।

तमोमयं शिवं ध्यात्वा मकारंशुक्लवर्णकम्।
द्वात्रिंशन्मात्रया चैव रेचयेद् विधिनापुनः।५०।

भावार्थ- बायें नासापुट से 'अँ' बीज को सोलह बार जपता हुआ वायु भरे, कुम्भक के पूर्व और पूरक के अन्त में उड्डीयान बन्ध करे। फिर सत्त्वगुण युक्त उंकार बीज कृष्णरूप हरि का ध्यान कर चौंसठ बार जप करता हुआ कुम्भक करे। तमोगुणी मकार रूपी शिव के ध्यान के साथ 'मँ' बीज को बत्तीस बार जपता हुआ रेचक करे।48,49,50।

पुनः पिंगलयापूर्व कुम्भकेनैव धारयेत्।
इडयारेचयेत् पश्चात् तद्वीजेन यथाक्रमः।५१।

अनुलोमविलोमेन वारं वारं च साधयेत्।
पूरकान्ते कुम्भकान्ते धृतनाशापुटद्वयम्।
कनिष्ठिकानामिकांगुष्ठैस्तर्जनीमध्यमांविना।५२।

भावार्थ- फिर दाहिने स्वर से पूरक आदि उक्त रीति से करके कुम्भक करे, एवं बायीं से रेचक करे। इस प्रकार अनुलोम विलोम रीति से करता हुआ, तर्जनी, मध्यमा इन अंगुलियों को न लगावे। अर्थात् बाम नासिका को कनिष्ठिका और अनामिका से और दक्षिण नासिका को केवल अंगूठे से पकड़े।51,52।

निगर्भः

प्राणायामं निगर्भं तु विनावीजेन जायते।
एकादिशतपर्यन्तं पूरककुम्भकरेचनम्।५३।

उत्तमा विंशति मात्रा षोडशी मध्यमा तथा।
अधमा द्वादशी मात्रा प्राणायामास्त्रिधामताः।५४।

अधमाज्जायते धर्म मेरुकम्पं च मध्यमात्।
उत्तमाद् भूमित्यागं च त्रिविधं सिद्धिलक्षणम्।५५।

भावार्थ- बिना बीज मन्त्र के निगर्भ प्राणायाम होता है। पूरक-कुम्भक, रेचक इन तीन अङ्ग वाले प्राणायाम की एक से सौ तक मात्राएँ हैं। पूरक एक गुण मात्रा, रेचक द्विगुण मात्रा, कुम्भक चतुर्गुण मात्रा का होता है। इसी प्रकार उत्तम प्राणायाम बीस मात्रा का, सोलह का मध्यम, बारह का अधम है। उत्तम के साधन में पूरक 20 मात्रा का, कुम्भक 80 मात्रा का, रेचक 40 का है। ऐसा ही मध्यम अधम है। अर्थात् सोलह और बारह के हिसाब से करना चाहिए। अधम के साधन में पसीना आता है, मध्यम के साधन में मेरुकम्पन होता है। उत्तम में भूमि त्यागकर आकाश

में विचरता है। पसीना, मेरुकम्प और भूमित्याग, ये तीनों सिद्धि-लक्षण हैं। 53,54,55।

प्राणायामात् खेचरत्वं प्राणायामाद् रोगनाशनम्।
प्राणायामाद् बोधयेच्छक्तिं प्राणायामान्मनोन्मनी।
आनंदोजायते चित्ते प्राणायामी सुखी भवेत्।५६।

भावार्थ- प्राणायाम साधन से आकाश-गमन, रोग की निवृत्ति तथा कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है। जो प्राणायाम का साधन करता है, उसके चित्त में अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है और वह सुखी रहता है।56।

सूर्यभेदः

घेरण्ड उवाच

कथितं सहितं कुम्भं सूर्यभेदनकं श्रृणु।
पूरयेत् सूर्यनाड्या च यथा शक्ति बहिर्मरुत्।५७।

धारयेत् वहुयत्नेन कुम्भकेन जलन्धरैः।
यावत्स्वेदनखकेशाभ्यां तावत्कुर्यात् हि कुम्भकम्।५८।

भावार्थ- घेरण्ड मुनि ने कहा, हे चण्ड! सहित कुम्भक कह चुका। अब सूर्यभेद कहता हूं, सुनो, पहले जालन्धर-बन्ध से दक्षिण नासिका से वायु भरे, अति यत्न से कुम्भक करके इसे धारण करे। जब तक पैर से केश पर्यन्त पसीना न आ जावे, तब तक कुम्भक द्वारा वायु को धारण करे।57।58।

प्राणोऽपानः समानश्च व्यानोदानौ तथैव च।
नागः कूर्मः कृकरो देवदत्तो धनंजयः।५९।

हृदिप्राणो वहेन्नित्यं अपानो गुदमण्डले।
समानो नाभिदेशेतु उदानः कण्ठमध्यमः।६०।

व्यानो व्याप्य शरीरे तु प्रधानाः पंचवायवः।
प्राणाद्याः पंच विख्याता नागाद्याः पंचवायवः।६१।

तेषामपि च पंचानां स्थानानि च वदाम्यहम्।
उद्गारे नाग आख्यातः कूर्मस्तून्मीलनेस्मृतः।६२।

कृकरःक्षुत्कृतेज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे।
न जहाति मृतेक्वापि सर्वव्यापी धनञ्जयः।६३।

नागोगृह्णाति चैतन्यं कूर्मश्चवनिमेषणम्।
क्षुत्तृट् कृकरश्चैव चतुर्थेन तु जृम्भणम्।६४।
भवेत् धनञ्जयाच्छब्दं क्षणमात्रं न निःसरेत्।

भावार्थ- प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, नाग, कूर्म, कृकर, दैवदत्त, धनञ्जय, ये दश प्राण हैं। हृदय में प्राण, गुदा में अपान, नाभि में समान, कण्ठ में उदान, सारे शरीर में व्यान, ये पांचों प्राण प्रसिद्ध हैं। नागादि भी प्राण कहे जाते हैं। इन्हें उपप्राण कहते हैं। उद्गार में नाग, उन्मीलन में कूर्म, क्षुधा में कृकर, जँभाई में देवदत्त, मरने पर भी जो शरीर त्याग नहीं करता उसे धनञ्जय कहते हैं। नाग से चेतनता, कूर्म से निमेषण, क्षुधा-तृषा कृकर से, देवदत्त से जँभाई, धनञ्जय से शब्द होता है। यदि क्षण मात्र भी वह न निकले।59 से 64।

सर्वेते सूर्यसम्भिन्ना नाभिमूलात्समुद्धरेत्।
इडयारेचयेत् पश्चात् धैर्येणाखण्डवेगतः।६५।

पुनः सूर्येणचाकृष्य कुम्भयित्वा यथाविधि।
रेचयित्वा प्रसाधयेत् क्रमेणच पुनः-पुनः।६६।

कुम्भकः सूर्यभेदश्च जरामृत्युविनाशकः।
बोधयेत् कुण्डलीं शक्तिं देहानल विवर्धनम्।६७।
इतिते कथितं चण्डं सूर्यभेदनमुत्तमम्।

भावार्थ- कुम्भक करते समय उक्त प्राणादि वायुओं को पिंगला नाड़ी से विभिन्न कर नाभि-मूल देश से समान वायु को उठावे, फिर धैर्य पूर्व बाम नासा से रेचन करे। पुनः दक्षिण नासापुट से वायु भर, सुषुम्ना से कुम्भक कर, वाम नासा से रेचन करे; बारम्बार इसे करे- इसे ही सूर्यभेद कहते हैं। यह कुम्भक जरा-मृत्यु को नष्ट करता है। इससे कुण्डली शक्ति जागती है और देहस्थ अग्नि उठती हैं। हे चण्ड, इस प्रकार सूर्य भेद नामक उत्तम कुम्भक तुम्हें बताया। 65,66,67।

उज्जायीकुम्भकः

नासाभ्यां वायुमाकृष्य वायुं वक्त्रेण धारयेत्।
हृद्गलाभ्यां समाकृष्य मुखमध्ये च धारयेत्।६८।

मुखं प्रक्षाल्य संबन्धं कुर्याज्जालन्धरं ततः।
अशक्तिकुम्भकं कृत्वा धारयेदविरोधतः।६९।

उज्जायी कुम्भकं कृत्वा सर्वकार्याणि साधयेत्।
न भवेत् कफरोगं च क्रूरवायुरजीर्णकम्।७०।

आमवातं क्षयं कासं ज्वर प्लीहा न विद्यते।
जरामृत्युविनाशाय चोज्जायीसाधयेन्नरः।७१।

भावार्थ- बाहर रहे हुए वायु को नासिका-द्वय से खींचकर, अन्तस्थ वायु को हृदय, गले से खींचकर, कुम्भक योग द्वारा भीतर धारण करे। मुख प्रक्षालन कर जालन्धर मुद्रा को बांधकर निर्विघ्न रीति से शक्ति के अनुसार धारण करे। इसे उज्जायी कुम्भक कहते हैं। इससे सर्वकर्म सिद्ध होते हैं। श्लेष्म रोग, दुष्ट वायु, अजीर्ण, आमवात, क्षय, कास, जवर, प्लीहा ये सब रोग दूर होते हैं। जो व्यक्ति जरा-व्याधि को पराजित करना चाहता है- उसे उज्जायी कुम्भक का अभ्यास अवश्य करना चाहिए।68 से 71।

शीतलीकुम्भकः

जिह्वयावायुमाकृष्य उदरे पूरयेच्छनैः।
क्षणं च कुम्भकं कृत्वा नासाभ्यां रेचयेत् पुनः।७२।

सर्वदा साधयेद्योगीशीतली कुम्भक शुभम्।
अजीर्ण कफपित्तं च नैव देहे प्रजायते।७३।

भावार्थ- जिह्वा द्वारा वायु को खींचकर पेट को वायु से पूर्ण करदे, फिर कुछ समय तक कुम्भक योग से वायु को धारण कर दोनों नासापुट से निकाल दे, इसे शीतली कहते हैं। साधक को इसका अनुष्ठान करना चाहिए। इसके साधन से अजीर्ण, कफ और पित्त से उत्पन्न हुए सब रोग नष्ट हो जाते हैं।72,73।

भस्त्रिकाकुम्भकः

भस्त्रैव लौहकारणां यथाक्रमेण सम्भ्रमेत्।
ततो वायुः च नासाभ्यामुभाभ्यां चालयेच्छनैः।७४।

एवं विंशतिवर च कृत्वा कुर्याच्चा कुम्भकम्।
तदन्ते चालयेद्वायुः पूर्वोक्तं च यथाविधि।७५।

त्रिवारं साधयेदेनंभस्त्रिका कुभकं सुधीः।
न च रोगं न च क्लेशमारोग्यं च दिने-दिने।७६।

भावार्थ- जैसे लोहार धोंकनी द्वारा वायु भरता है। उसी तरह नासिका द्वारा वायु को पेट में भर, धीरे-धीरे पेट में चालित करे। इस प्रकार बीस बार करके कुम्भक कर, वायु को धारण करें। फिर लोहार की धोंकनी से जैसे वायु निकलती है, वैसे ही नासिका से वायु को निकाले इसे ही भस्त्रिका कुम्भक कहते हैं। इसी प्रकार यथानियम तीन बार करे, इसके प्रभाव से किसी प्रकार की व्याधि नहीं होती। आरोग्य दिन-दिन बढ़ता।74,75,76।

भ्रामरीकुम्भकः

अर्धरात्रिगतेयोगी जन्तूनांशब्दवर्जिते।
कर्णौपिधाय हस्ताभ्यां कुर्यात् पूरक कुम्भकम्।७७।

श्रृणुयाद् दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतंशुभम्।
प्रथमं झिंझिनाद च वंशीनादं ततः परम्।७८।

मेघझर्झरभ्रमरीघंटा कास्यं ततः परम्।
तुरीभेरी मृदङ्गादि निनादानक दुंदुभिः।७९।

एवं नानाविधं नादं जायते नित्यमभ्यसात।
अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य योध्वनिः।८०।

ध्वनेरन्तर्गतज्योतिर्ज्योत्तिरन्तर्गतं मनः।
तन्मनोविलयंयाति तद्विष्णोः परमं पदम्।८१।
एवं च भ्रामरी सिद्धिः समाधि सिद्धिमाप्नुयात्।

भावार्थ- आधीरात होने पर जब किसी जीव का शब्द न सुनाई दे, तब ऐसे स्थान में जाकर योगी अपने हाथों से दोनों कानों को बन्द करके पूरक-कुम्भक का अनुष्ठान करे। ऐसा करने से साधक को दाहिने कान में नाना प्रकार के शब्द सुनायी देते हैं। पहले झींगुर का शब्द, इसके बाद वंशीनाद, फिर मेघ, फिर झर्झर, बाजे की ध्वनि, फिर भ्रमर की ध्वनि, फिर घण्टा, फिर काँसे के पात्र, तुरही, भेरी, मृदङ्ग और नगाड़ा का शब्द सुनायी देता है। हृदय में द्वादश दल कमल में होने वाले शब्द की प्रतिध्वनि सुनायी देती है। निमीलित नेत्र से हृदय में द्वादशदल कमल की प्रतिध्वनि के बीच ज्योति का निरीक्षण करता है। यह ज्योति ही ब्रह्म है। इसमें योगी का मन लय होकर उसे विष्णु का परमपद प्राप्त होता है। इस प्रकार भ्रामरी मुद्रा सिद्ध होती है। इसके सिद्ध होने पर समाधि सिद्ध होती है।77 से 81।

मूर्च्छाकुम्भकः

मुखेन कुम्भकं कृत्वा मनश्च भ्रूवोरन्तरम्।
सन्त्यज्य विषयान् सर्वान् मनोमूर्च्छासुखप्रदम्।
आत्मनि मनसो योगादानन्दो जायते ध्रुवम्।८२।

भावार्थ- पहिले मुख से, पूर्व कहे हुए कुम्भक करके, विषयों से मन को हटाकर भ्रूमध्य में स्थित आज्ञाचक्र में मन को लगाकर, इस पद्म में स्थित परमात्मा में लय करदे-इसे मूर्च्छा कहते हैं। इस कुम्भक से आनन्द लाभ होता है।82।

केवलीकुम्भकः

हंकारेण वहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
षट् शतानिदिवारात्रौ सहस्राणियेक विंशतिः।
अजपानाम गायत्रीं जीवोजपति सर्वदा।८३।

भावार्थ- श्वास के निकलने पर 'हँ' प्रवेश पर सकार इस तरह 21600 संख्या में होते हैं। इसी हंस या सोहं को अजपा नाम गायत्री कहते हैं, इसे जीव बराबर जपता रहता हैं। यह संख्या दिन रात की है। 83।

मूलाधारे यथा हंसस्तथाहि हृदिपंकजे।
तथानासापुटे द्वन्द्वे त्रिविधं संगमागमम्।८४।

षण्णवत्यंगुलीमानं शरीरं कर्मरूपकम्।
देहाद्वहिर्गतोवायुः स्वभावो द्वादशांगुलिः।८५।

गायने षोडशांगुल्यं भोजने विंशतिस्तथा।
चतुर्विंशांगुलिर्मार्गे निद्रायां त्रिशदंगुलिः।
मैथुने षट्त्रिंशदुक्तं व्यायामे च ततोऽधिकम्।८६।

भावार्थ- मूलाधार, हृदय पद्म एवं नासापुट में, इन तीनों स्थानों में हंस स्वरूप अजपा का जप होता है, क्योंकि इन तीनों स्थानों में वायु का आना-जाना होता है। स्थूल शरीर का परिमाण 96 अंगुल का है। स्वाभाविक वर्हिगत वायु की गति बारह अंगुल है। यही गति गायन में सोलह अंगुल, भोजन में बीस, मार्ग चलने में चौबीस, निद्रा में तीस, मैथुन में छत्तीस और व्यायाम में इससे भी अधिक हो जाती है।84,85,86।

स्वभावेऽस्यगते न्यूनं परमायुः प्रवर्धते।
आयुःक्षयोऽधिके प्रोक्तो मरुतोचान्तरादगते।८७।

तस्मात्प्राणे स्थिते देहे मरणं नैव जायते।
वायुनाघट सम्बन्धे भवेत् केवलकुम्भकः।८८।

यावज्जीवोजपेन्मन्त्रमजपासंख्यकेवलम्।
अद्यावधिधृतं संख्या विभ्रमं केवली कृते।८९।

अतएव हि कर्त्तव्यः केवलीकुम्भको नरैः।
केवली चाजपासंख्या द्विगुणाच्च मनोन्मनो।९०।

भावार्थ- स्वाभाविक प्राण की गति द्वादश अंगुल की होती है। यदि इससे कम गति हो तो आयु बढ़ जाती है। बारह अंगुल से अधिक होने पर आयु क्षीण हो जाती हैं। जब तक शरीर में प्राण वायु रहता है, तब तक मृत्यु नहीं होती। कुम्भक अभ्यास से प्राणवायु को ही मुख्य जानना चाहिए। जीव का शरीर जब तक रहे, केवली करके परिमित्त संख्या में अजपा मन्त्र जपे। केवली करने पर (21600) गति संख्या में कमी हो जाती है और आयु बढ़ जाती है। अतः इसे अवश्य करना चाहिए। अजपा की संख्या से दुगुनी करे, तो चित्त में बड़ा आनन्द होता है।87 से 90।

नासाभ्यां वायुमाकृष्य केवलं कुम्भकं चरेत्।
एकादिकचतुःषष्टि धारयेत् प्रथमे दिने।९१।

केवलीमष्टधा कुर्याद् यामे-यामे दिने-दिने।
अथवा पञ्चधा कुर्याद् यथातत्कथयामि ते।९२।

प्रातर्मध्याह्नसयाह्ने मध्यैरात्रिचतुर्थके।
त्रिसन्ध्यमथवा कुर्यात् सममाने दिने दिने।९३।

पञ्च वारं दिने वृद्धिर्वारैकं च दिने तथा।
अजपापरिमाणं च यावत् सिद्धिः प्रजायते।९४।

प्राणायामं केवलीं च तदावदति योगवित्।
कुम्भके केवली सिद्धौ किं न सिध्यति भूतले।९५।

भावार्थ- नासापुटों से वायु को खींचकर केवल कुम्भक का अनुष्ठान करे। पहले दिन इस कुम्भक का साधन करने पर चौंसठ बार तक, श्वास प्रश्वास वायु को धारण करे। इस कुम्भक को आठ प्रहर में रोज आठ बार अभ्यास करें। अर्थात प्रातः, मध्याह्न, सायं और रात्रि के शेष भाग में इसका साधन करें। अथवा प्रातः, मध्याह्न, सायं इन तीनों कालों में समान संख्या में साधे। जब तक यह कुम्भक सिद्ध न हो तब तक अजपा के साथ, प्रमाण से पांच बार के क्रम से बढ़ाता जाय।91,92,93,94,95

卐 卐 卐

।पञ्चमोपदेशः समाप्तः।।

षष्ठोपदेशः

卐 卐

ध्यानयोगः

घेरण्ड-उवाच

स्थूलं ज्योतिस्तथासूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः।
स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं तथा।
सूक्ष्मं विन्दुमयं ब्रह्मकुण्डली पर देवता।१।

भावार्थ- ध्यान तीन प्रकार का होता है- स्थूल ध्यान, ज्योतिर्ध्यान और सूक्ष्म ध्यान। जिसमें मूर्ति, इष्ट देवता अथवा गुरु का चिंतन हो उसे स्थूल और जिसमें तेजोमय ब्रह्म या शक्ति की भावना हो उसे ज्योतिर्ध्यान कहते हैं। जिस ध्यान द्वारा विन्दुमय ब्रह्म कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान हो उसे सूक्ष्म ध्यान कहते हैं।।।

स्थूलध्यानम्

स्वकीयहृदयेध्यायेत् सुधासागरमुत्तमम्।
तन्मध्ये रत्नद्वीपं तु सुरत्नवालुकामयम्।२।

चतुर्दिक्षुन्नीपतरू वहुपुष्पसमन्वितः।
नीपोपवन संकूले वेष्टितं परिखा इव।३।

मालती मल्लिका जातीकेशरैश्चम्पकैस्तथा।
पारिजातैः स्थूलैः पद्मैर्गन्धामोदितदिङ्मुखैः।४।

भावार्थ- नेत्र बन्द करके अपने हृदय में सुधा-सागर का ध्यान करे। उसके मध्य में रत्नमय द्वीप का तथा वह द्वीप रत्नमयी बालुका से शोभा दे रहा है। उसके चारों ओर कदम्ब वृक्षों से शोभा हो रही है, पुष्पों के खिलने से वृक्ष शोभित हो रहे हैं। कदम्ब वन के चारों ओर मालती, चमेली, केशर, चम्पा, पारिजात, पद्म से इस द्वीप की खाई बनी है तथा इनके सुगन्ध से चारों दिशाएं मँहक रही है।। 2,3,4।

तन्मध्ये संस्मरेद्योगी कल्पवृक्षं मनोहरम्।
चतुः शाखचतुर्वेदं नित्य पुष्पफलान्वितम्।५।

भ्रमराःकोकिलास्तत्र गुंजन्तिनिगदन्ति च।
ध्यायेत्तत्रस्थिरोभूत्वा महामाणिक्यमण्डपम्।६।

तन्मध्येतुस्मरेद्योगी पर्यङ्कं सुमनोहरम्।
तत्रेष्टदेवतांध्यायेद् यद्ध्यानंगुरुभाषितम्।७।

यस्यदेवस्ययद्रूपं यथा भूषण वाहनम्।
तद्रूपं ध्यायते नित्यं स्थूलध्यानमिदं विदुः।८।

भावार्थ- योगी ऐसा चिन्तन करे। कि उस वन के मध्य भाग में एक कल्प वृक्ष है, उसकी चार शाखाएं हैं, वे चतुर्वेदमय हैं। तत्काल उत्पन्न पुष्प फलों से वे सब शोभित हैं उन पर भ्रमर गुँजार कर रहे हैं। कोकिल शाखाओं पर बैठकर कुहू-कुहू शब्द कर, मन को लुब्ध कर लेती हैं। इस कल्पवृक्ष के नीचे महामाणिक्य जटित एक रत्न-मण्डित मण्डप परम शोभा दे रहा है। उसके बीच में मनोहर 'पलंग' बिछ रहा है, उस पर इष्टदेव विराज रहे हैं। गुरुदेव जैसा उपदेश दिए हों उसी के अनुकूल योगी भूषण वाहन आदि का ध्यान करे- इसे स्थूल ध्यान कहते हैं।5 से 8।

प्रकारान्तरेणस्थूलध्यानम्

सहस्रारे महापद्मे कर्णिकायां विचिन्तयेत्।
विलग्नसहितं पद्मं द्वादशैर्दलसंयुतम्।९।

शुक्लवर्णं महातेजो द्वादशैर्वीजभासितम्।
ह स क्ष म ल व र यूं ह स ख फ्रें यथाक्रमम्।१०।

तन्मध्ये कर्णिकांयां तु अकथादिरेखात्रयम्।
ह ल क्ष कोण संयुक्तं प्रणवं तत्रवर्तते।११।

नाद विन्दुमयं पीठं ध्यायेत्तत्र मनोहरम्।
तत्रोपरि हंसयुग्मं पादुका तत्र वर्तते।१२।

ध्यायेत्तत्रगुरुं देवं द्विभुजं च त्रिलोचनम्।
श्वेताम्वरधरं देवं शुक्लगन्धानुलेपनम्।१३।

शुक्लपुष्पमयं माल्यं रक्तशक्तिसमन्वितम्।
एवंविध गुरोर्ध्यानात् स्थूल ध्यानं प्रसिध्यति।१४।

भावार्थ- एक प्रकार का एक और स्थूल ध्यान है। ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रार नामक सहस्र दल वाला महापद्म है, इसके मध्य में बारह दल का एक कमल है। यह शुभ्रवर्ण तथा परम तेज सम्पन्न है। इसके बारह दल में क्रमशः ह स क्ष म ल व र यूँ ह स ख फ्रें- ये बारह अक्षर लिखे हैं। उसकी कर्णिका में अ क थ इन तीन अक्षरों की तीन रेखाएं हैं। मध्य में ह ल क्ष इन त्रिकोणाकार अक्षरों मे मण्डल में 'ॐ' बना है। पुनः नादविन्दुमय एक पीठ विराजमान है। उस पीठ पर दो हंस खड़े हैं। वहीं पादुका भी है। इसी स्थल पर गुरुदेव विराजित हैं। उनकी दो भुजा हैं। शुक्ल वस्त्र पहने हैं। शुभ्र चन्दन चर्चित हैं। शुभ्र वर्ण की माला धारण किये हैं। उनके बाम भाग में रक्त वर्ण की शक्ति शोभा पा रही है। ऐसा ध्यान करने से स्थूल ध्यान सिद्ध होता है। 9 से 14।

ज्योतिर्मयध्यानम्

कथितं स्थूलध्यानं तु तेजोध्यानं श्रुणुष्वमे।
यद्ध्यानेन योगसिद्धिरात्म प्रत्यक्षमेव च।१५।
मूलाधारे कुण्डलिनी भुजगाकाररूपिणी।
जीवात्मातिष्ठति तत्र प्रदीप कलिकाकृतिः।१६।
ध्यायेत्तेजोमयं ब्रह्म तेजोध्यानात् परात्परम्।

भावार्थ- हे चण्ड! स्थूल ध्यान कहा गया; अब तेजोध्यान कहता हूं। इससे योग - सिद्धि तथा आत्म-प्रत्यक्ष होता है। मूलाधार में सर्पाकार कुण्डलिनी शक्ति हैं इस स्थान में दीप कलिकाकार में जीव रहता है। यहाँ पर ज्योति रूप ब्रह्म का ध्यान ज्योतिर्ध्यान कहा जाता है।15,16।

भ्रुवोर्मध्ये मनोर्ध्वे च यत्तेजः प्रणवात्मकम्।
ध्यायेज्ज्वालावलीयुक्तं तेजोध्यानं तदेवहि।१७।

भावार्थ- भ्रूमध्य में और मन के ऊर्ध्व भाग में 'ॐ' कार मय और शिखामालायुक्त ज्योति है। उसका ध्यान ज्योतिर्ध्यान है। इसे ही ज्योतिर्ध्यान या तेजोध्यान कहते हैं।17।

तेजोध्यानं श्रुतं चण्ड सूक्ष्मं ध्यानं वदाम्यहम्।
वहुभाग्यवशाद्यस्य कुण्डलीजागृता भवेत्।४८।
आत्मनः सहयोगेन नेत्र रन्ध्रविनिर्गता।
विहरेत् राजमार्गे च चंचलत्वान्नदृश्यते।१९।

शाम्भवीमुद्रया योगी ध्यानयोगेनसिध्यति।
सूक्ष्मध्यानमिदं गोप्यं देवानामपि दुर्लभम्।२०।

स्थूलध्यानाच्छतगुणं तेजोध्यानं प्रचक्षते।
तेजोध्यानाल्लक्षगुणं सूक्ष्मध्यानं विशिष्यते।२१।

इतिते कथितं चण्ड ध्यान योगं सुदुर्लभम्।
आत्मसाक्षाद् भवेद्यस्मात् तस्माद् ध्यानं विशिष्यते।२२।

भावार्थ- हे चण्ड, तेजोध्यान कहने के बाद सूक्ष्य ध्यान कहता हूं। सुनो, बड़े भाग्य से साधक की कुण्डली जाग्रत होती है। आत्मा के साथ मिलकर नेत्ररन्ध्र से निकलकर ऊर्ध्वभागस्थ राजमार्ग नामक स्थल में घूमती है। घूमते समय सूक्ष्मत्व चंचलत्व के कारण उसे देखना कठिन होता है। योगी शाम्भवो मुद्रा के अभ्यास द्वारा कुण्डलिनी का ध्यान करे, इसे ही सूक्ष्म ध्यान कहते हैं। यह गोपनीय और देवताओं को भी दुर्लभ है। स्थूल से ज्योति ध्यान सौ गुना श्रेष्ठ है। ज्योतिध्यान से सूक्ष्मध्यान लाख गुना श्रेष्ठ है। हे चण्ड, यह दुर्लभ ध्यान-योग तुम्हें सुनाया, इससे आत्मासाक्षात्कार तथा ध्यानसिद्धि होती है।18 से 22।

卐 卐 卐

।।षष्ठोपदेशः समाप्तः।।

सप्तमोपदेशः

卐 卐

समाधियोगः

घेरण्य उवाच

समाधिश्च परंयोगं बहुभाग्येन लभ्यते।
गुरोः कृपा प्रसादेन प्राप्यते गुरु भक्तितः।१।

विद्या प्रतीतिः स्वगुरुप्रतीतिरात्मप्रतीतिर्मनसः प्रबोधः।
दिने दिने यस्यभवेत् सयोगी सुशोमनाभ्यासमुपैत्तिसद्यः।२।

भावार्थ- हे चण्ड, समाधि सब से बड़ा योग है। बड़े भाग्योदय होने पर वह गुरु-भक्ति एवं उनकी कृपा से ही प्राप्त है। विद्या की प्रतीति, स्वगुरु की प्रतीति और आत्मा की प्रतीति एवं मन का प्रबोध जिसको दिन-दिन बढ़ता है- वही योगी समाधि-योग-साधन के अभ्यास का अधिकारी होता है।1,2।

घटाद्भिन्नमनः कृत्वा ऐक्यंकुर्यात्परात्मनि।
समाधिं तद्विजानीयाद् मुक्त संज्ञोदशादिभिः।३।

अहं ब्रह्म न चान्योस्मि ब्रह्मैवाहं नशोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्त स्वभाववान्।४।

भावार्थ- मन को शरीर से पृथ्क करके परमात्मा में लगावे, ऐसा करके योगी मुक्त हो जाता है। मैं ब्रह्म से भिन्न नहीं हूं। मैं ब्रह्म ही हूँ, शोक युक्त नहीं हूं। मैं सच्चिदानन्दरूप नित्यमुक्त स्वभाव वाला हूं। 3,4।

शाम्भव्य चैवखेचर्या भ्रामर्या योनिमुद्रया।
ध्यानं नादं रसानन्दं लयसिद्धिश्चतुर्विधा।५।

पंचधाभक्तियोगेन मनोमूर्च्छाच षड्विधा।
षड्विधोऽयं राजयोगः प्रत्येकमवधारयेत्।६।

भावार्थ- समाधि-योग छः प्रकार का है- ध्यानयोग-समाधि, नादयोग-समाधि रसानन्दयोग-समाधि, लयसिद्धि-योग-समाधि, भक्ति-योग-समाधि और राजयोग-समाधि। शाम्भवी मुद्रा से ध्यान योग की खेचरी से नादयोग की, भ्रामरी से रसानन्द की, योग-मुद्रा से लययोग, भक्ति से सिद्धि-योग, मनोमूर्च्छा से भक्ति योग-समाधि एवं कुम्भक से राजयोग समाधि होती है।5,6।

ध्यानयोगसमाधिः

शाम्भवीं मुद्रिकां कृत्वा आत्मप्रत्यक्षमानयेत्।
बिन्दुब्रह्म सकृद्दृष्ट्वा मनस्तत्र नयोजयेत्।७।

खमध्ये कुरुचात्मानं आत्ममध्ये च खं कुरु।
आत्मनं खमयं दृष्ट्या न किंचिदपि वाध्यते।८।
सदानन्दमयो भूत्वा समाधिस्थोभवेन्नरः।

भावार्थ- शाम्भवी के अनुष्ठान से पहले आत्म-प्रत्यक्ष करे, फिर विन्दुमय ब्रह्म का प्रत्यक्ष करता हुआ, विन्दु में मन को लगावे, शिर में स्थित ब्रह्मलोकमय आकाश के मध्य में आत्मा को लावे, फिर उस आकाश को जीव में लय करें, जीव को परमात्मा में लय करें, इससे नित्यानन्द मुक्त हो जाए। इसे ही ध्यान-योग कहते हैं।7,8।

नादयोगसमाधिः

साधनात् खेचरीमुद्रा रसनोर्ध्वगतासदा।
तदासमाधिसिद्धिः स्याद् हित्वा साधारणक्रियाम्।९।

भावार्थ- खेचरी-मुद्रा का अनुष्ठान करके रसना को ऊपर रक्खे इससे साधारण क्रियाएँ छूटकर समाधि-सिद्धि होती है। इससे नादयोग समाधि सिद्धि होती है।9।

रसानन्दयोगसमाधिः

अनिलं मन्दवेगेन भ्रामरी कुम्भकं चरेत्।
मन्दं मन्दरेचयेद् वायुं भृङ्गनादं ततोभवेत्।१०।

अन्तःस्थं भ्रामरीनादं श्रुत्वा तत्र मनोनयेत्।
समाधिर्जायते तत्र आनन्दः सोहमित्युत।११।

भावार्थ- भ्रामरी करके धीरे-धीरे श्वास को निकाल दे, इस योग को करते समय देह के अन्दर भ्रमर समान गुंजार होता है। जहां यह नाद हो वहीं पर मन लगावे, इसे रसानन्द-योग-समाधि कहते हैं। इसके द्वारा 'सोऽहं' ज्ञान होता है और योगी सदैव आनन्द में रहता है।10,11।

लयसिद्धियोगसमाधिः

योनिमुद्रा समासाद्य स्वयं शक्तिमयोभवेत्।
सुश्रृंगाररसेनैव विहरेत् परमात्मनि।१२।

आनन्दमयः सम्भूय ऐक्यं ब्रह्मणि संभवेत्।
अहं ब्रह्मेति वाद्वैतं समाधिस्तेनजायते।१३।

भावार्थ- योनि मुद्रा करता हुआ योगी अपने में शक्ति भावना, परमात्मा में पुरुष भावना करे। पुनश्चं मेरा तथा परमात्मा का शक्ति पुरुषमय-बिहार हो रहा है-ऐसी भावना करे। आनन्द मय एकता प्राप्त कर ब्रह्म में 'मैं अद्वैत ब्रह्म हूं' ऐसा चिन्तन करे, इससे समाधि होती है। इसे लयसिद्धि योग-समाधि कहते हैं। 12,13।

भक्तियोगसमाधिः

स्वकीय हृदये ध्यायेदिष्टदेव स्वरूपकम्।
चिन्तयेद् भक्तियोगेन परमाह्लाद पूर्वकम्।१४।

आनन्दाश्रु पुलकेन दशाभावः प्रजायते।
समाधिः सम्भवत्तेन सम्भवेच्चमनोन्मनी।१५।

भावार्थ- अपने हृदय से परमाह्लाद पूर्वक भक्तियोग से इष्ट देव के स्वरूप का चिन्तन करे, इससे आनन्दाश्रु बहने लगते हैं। शरीर पुलकित होता है। इससे मन अचेत और एकाग्र हो जाता है। ब्रह्म साक्षात्कार होता है। इसे भक्तियोग-समाधि कहते हैं। 14,15।

राजयोगसमाधिः

मनोमूर्च्छा समासाद्य मन आत्मनियोजयेत्।
परात्मनः समायोगात् समाधि समवाप्नुयात्।१६।

भावार्थ- मनोमूर्च्छा कुम्भक के अभ्यास से मन को ब्रह्म में एकाग्र करे। इस प्रकार परमात्मा के योग से राजयोग-समाधि होती है।16।

समाधियोगमाहात्म्यम्

इतितेकथितंचण्ड समाधि मुक्ति लक्षणम्।
राजयोगः समाधिः स्यादेकात्मन्येव साधनम्।१७।
उन्मनी सहजावस्था सर्वेचैकार्थवाचकाः।

भावार्थ- हे चण्ड! इस प्रकार मैंने मुक्ति देने वाली समाधि कही। एकात्मा में साधन से राजयोग-समाधि होती हैं। उन्मनी सहजावस्था ये सब नाम समाधि के ही हैं।17।

जले विष्णुः स्थले विष्णु र्विष्णुः पर्वतमस्तके।
ज्वालामालाकुले विष्णुःसर्व विष्णुमयं जगत्।१८।

भूचराः खेचराश्चामी यावन्तो जीवजन्तवः।
वृक्षगुल्मलतावल्लीस्तृणाद्यवारि पर्वताः।१९।

सर्व ब्रह्ममयं पश्येत् सर्व पश्यति चात्मनि।
आत्मनघटस्थ चैतन्यद्वैतं शाश्वतं पदम्।
घटाद् विभिन्न तो ज्ञात्वा वीतरागो विवासनः।२०।

भावार्थ- जल में विष्णु, स्थल में विष्णु, पर्वत शिखर में विष्णु, ज्योति में विष्णु-यह सम्पूर्ण जगत विष्णुमय है। भूचर, खेचर आदि जीव जन्तु, वृक्ष, वेल, लता, तृण, पर्वत ये सब ब्रह्मरूप हैं। योगी सब को आत्मा में तथा सब में आत्मा को देखता है। शरीर में चैतन्य सनातन आत्मा है। शरीर से भिन्न आत्मा को जानकार वीतराग वासना रहित होता है।18 से 20।

एवं विधः समाधिः स्यात् सर्वसंकल्पवर्जितः।
स्वदेहे पुत्रदारादिबान्धवेषु धनादिषु।२१।

सर्वेषु निर्ममोभूत्वा समाधिसमवाप्नुयात्।
तत्त्वं लयामृतं गोप्यं शिवोक्तं विविधानि च।२२।

वाचां संक्षेपमादाय कथितं मुक्ति लक्षणम्।
इतिते कथितं चण्ड समाधिर्दुर्लभः परः।२३।
यज्ज्ञात्वान पुनर्जन्म जायते भूमिमण्डले।

भावार्थ- अपने देह में, पुत्र वान्धवादि धनादि में निर्ममत्व हो कर समाधि को प्राप्त करे। इस प्रकार सब संकल्पों से रहित समाधि होती है। लयामृत-यह तत्त्व शिव से कहा हुआ संक्षेप में मुक्ति का लक्षण कहा गया। हे चण्ड! यह दुर्लभ समाधि मैंने तुम्हें बतायी जिसे जानकर फिर पुनर्जन्म नहीं होता।21 से 23।

卐 卐 卐

श्री घेरण्ड-संहिता समाप्तः॥

क्रम.	पुस्तक का नाम		मूल्य
1.	श्री गुरुपूजन पद्धति	(संस्कृत)	10.00
2.	रेणुका तन्त्रम्	(संस्कृत)	15.00
3.	श्री विद्यारत्न सूत्रम्	(संस्कृत)	5.00
4.	माण्डूकोपनिषद्	(हिन्दी)	5.00
5.	तारा कर्पूर राज स्तोत्रम्	(हिन्दी)	5.00
6.	त्रिपुरा महिम्न स्तोत्रम्	(हिन्दी)	15.00
7.	पीताम्बरा अर्चन पद्धति	(संस्कृत)	10.00
8.	दर्शन शास्त्र संग्रह	(हिन्दी)	15.00
9.	अथर्ववेदिय ज्योतिष	(हिन्दी)	10.00
10.	योग विज्ञान I	(हिन्दी)	30.00
11.	योग विज्ञान II	(हिन्दी)	20.00
12.	लेख संग्रह	(हिन्दी)	30.00
13.	लेख संग्रह	(अंग्रेजी)	40.00
14.	ललिता सहस्त्रनाम (भास्करभाष्य)	(संस्कृत)	40.00
15.	*सिद्धान्त रहस्य (पंचस्थ)	(हिन्दी)	15.00
16.	सिद्धान्त रहस्य	(अंग्रेजी)	10.00
17.	सिद्धान्त रहस्य	(मराठी)	10.00
18.	बगलामुखी रहस्य	(संस्कृत)	60.00
19.	भैरव सर्वस्व	(संस्कृत)	75.00
20.	भैरव विज्ञान	(हिन्दी)	25.00
21.	नारदीय शिक्षा	(हिन्दी)	8.00
22.	*हनुमत् उपासना	(संस्कृत)	18.00
23.	*केपोनिषद्	(हिन्दी)	5.00
24.	*ईषावास्योपनिषद	(हिन्दी)	5.00

*उपलब्ध नहीं है।

क्रम.	पुस्तक का नाम		मूल्य
25.	कठोपनिषद्	(हिन्दी)	20.00
26.	मुण्डकोपनिषद्	(हिन्दी)	10.00
27.	प्रश्नोपनिषद्	(हिन्दी)	10.00
28.	प्रश्नोपनिषद्	(अंग्रेजी)	10.00
29.	प्रश्नोपनिषद्	(संस्कृत)	5.00
30.	वेदारन्त प्रबोध	(हिन्दी/संस्कृत)	15.00
31.	ईश्वर गीता	(हिन्दी)	20.00
32.	सिद्धान्त रहस्य	(संस्कृत)	10.00
33.	वैदिक उपदेश	(हिन्दी)	20.00
34.	वैदिक उपदेश	(अंग्रेजी)	25.00
35.	स्वरोदय विज्ञान	(हिन्दी)	15.00
36.	पुरश्चरण पद्धति	(हिन्दी)	10.00
37.	चिद्विलास	(हिन्दी/संस्कृत)	10.00
38.	*चिद्विलास	(अंग्रेजी सजिल्द)	10.00
39.	चिद्विलास	(अंग्रेजी अजिल्द)	10.00
40.	घेरंडसंहिता	(हिन्दी/संस्कृत)	20.00
41.	*धूमवती सपर्याणव	(संस्कृत)	20.00
42.	वातूलनाथ सूत्र	(हिन्दी/संस्कृत)	5.00
43.	शिव सूत्र भक्ति सूत्र	(संस्कृत)	10.00
44.	योग दर्शन	(अंग्रेजी)	10.00
45.	योग दर्शन	(संस्कृत)	5.00
46.	महात्रिपुरसुन्दरी पूजा	(हिन्दी/संस्कृत)	20.00
47.	सप्तविंशति रहस्य	(संस्कृत)	20.00
48.	काली कर्पूर स्तोत्रम	(हिन्दी/संस्कृत)	10.00

*उपलब्ध नहीं है।

क्रम.	पुस्तक का नाम		मूल्य
49.	देवी सहस्त्रनाभ संग्रह II	(संस्कृत)	15.00
50.	वरिवस्या रहस्य	(हिन्दी)	15.00
51.	गुरु तत्व एवं पादुका पंचक	(हिन्दी)	20.00
52.	सौन्दर्य लहरी स्तोत्र (ललिता)	(सं.)	5.00
53.	*महागणपति तर्पण	(संस्कृत)	5.00
54.	*गुरुनवरत्न माला	(संस्कृत)	5.00
55.	निगमागम समन्वय	(हिन्दी)	20.00
56.	*शाक्य सौरभ (ज्ञानखण्ड)I	(हिन्दी)	15.00
57.	*शाक्त सौरभ (ज्ञानखण्ड)II	(हिन्दी)	20.00
58.	मातृकाचक्रविवेक	(हिन्दी)	45.00
59.	कामकला विलास	(संस्कृत)	15.00
60.	*सौन्दर्स लहरी (लक्ष्मीधरी)	(संस्कृत)	25.00
61.	ज्योतिषतत्व विवेक	(हिन्दी)	120.00
62.	*स्वामी चरित्र चिंतामणि	(हिन्दी)	50.00
63.	*स्वामी कथासार	(हिन्दी)	60.00
64.	स्वामी स्मृति ग्रन्थ	(हिन्दी)	151.00
65.	तान्त्रिक पंञ्चांग	(संस्कृत)	15.00
66.	शरभ तंत्र	(संस्कृत)	13.00
67.	महाविद्या चतुष्टय	(संस्कृत)	20.00
68.	पञ्चस्तवी	(संस्कृत)	5.00
69.	तीर्थ भारतम्	(पद्य)	20.00
70.	सौन्दर्य लहरी (डिंडिम)	(संस्कृत)	18.00
71.	*दार्शनिक चिंतन और शाक्त सिद्धान्त	(हिन्दी)	20.00

*उपलब्ध नहीं है।

क्रम.	पुस्तक का नाम		मूल्य
72.	*दार्श. चंतन और शाक्त सिद्धान्त	(अंग्रेजी)	मुद्रणाधीन
73.	ललिता सहस्त्रनाभ स्तोत्र	(मूल)	11.00
74.	*पराप्रवेशिका	(हिन्दी)	2.00
75.	दुर्लभ स्तोत्र	(संस्कृत)	10.00
76.	पीताम्बरा चालीसा	(हिन्दी)	2.00
77.	परश्चरण	(पद्य)	5.00
78.	पञ्चोपनिषद्	(संस्कृत)	15.00
79.	लघुस्तव राज	(हिन्दी/संस्कृत)	15.00
80.	गुरु पादुका प्रसाद	(हिन्दी)	2.00
81.	गुरु महिमा स्तवन	(हिन्दी)	2.00
82.	*शाक्त तंत्र साधना	(हिन्दी)	50.00

*उपलब्ध नहीं है।

श्री 1008 श्री स्वामी जी कृत अन्य रचनायें

❖	Vaidik Upadesh (English)	25-00
❖	Chida Vilasa (English)	10/-Bound 10-00
1.	श्री बंगलामुखी रहस्य	60-00
2.	पञ्चोपनिषद् (प्रकाश भाष्य)	15.00
3.	प्रश्नोपनिषद् (प्रकाश भाष्य)	5.00
4.	सौन्दर्य लहरी (डिण्डिम भाष्य)	18.00
5.	शिवसूत्रं भक्ति सूत्रञ्च	5.00
6.	नारदीय शिक्षा (संस्कृत टीका)	8.00
7.	घेरण्ड संहिता (भाषानुवाद सहित)	20.00
9.	ईश्वर-गीता (भाषानुवाद सहित)	20.00
10.	वैदिक उपदेश (हिन्दी)	20.00
11.	पुरश्चरण पद्धति	10.00
12.	अथर्ववेदाङ्ग ज्योतिष (भाषानुवाद सहित)	10.00
13.	वेदान्त प्रबोध (सानुवाद)	15.00
15.	लेख-संग्रह (हिन्दी)	30.00
16.	सिद्धान्त-रहस्य (हिन्दी)	यंत्रस्थ 15.00
17.	त्रिपुरा-महिम्न स्तोत्र (भाषानुवाद)	15.00
18.	तान्त्रिक पञ्चाङ्ग	15.00
19.	पञ्चस्तवी	5.00
20.	महात्रिपुर सुन्दरी पूजा पद्धति	20.00
21.	श्री चिद्विलास (श्री विद्या रहस्य)	10.00
22.	श्री परश्चरण	5.00
23.	सप्तविंशति रहस्य	20.00
24.	स्वरोदयविज्ञान	यंत्रस्थ 20.00

श्री पीताम्बरा पीठ

दतिया (म.प्र.)

घेरण्ड संहिता

(योगशास्त्र)

खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन - बम्बई.

श्रीः

ऋषिवरघेरण्डयोगीश्वरविरचिता

घेरण्डसंहिता

(योगशास्त्रम्)

श्रीमथुरास्थदक्षगोत्रोद्भवचातुर्वेदिशर्मश्री ५ पंडितकल्याण-
चन्द्रात्मजराधाचन्द्रभिषग्विरचितव्रजभाषाभाष्य-
नामकव्रजभाषानुवादविभूषिता

खेमराज श्रीकृष्णदास, प्रकाशन बम्बई.

श्रीः

प्रस्तावना

एक चंडकापालि नामक भूपतिने जगत्के हितार्थ एक समय सर्व ऋषिशिरोमणि योगेश्वर श्रीमहाराज घेरण्डजीकी कुटीमें जाकर कहा कि, हे प्रभो! आप कृपाकरके मुझको योगशास्त्रका उपदेश करो. यह राजाके वचन सुनकर हर्षपूर्वक कृपानिधि बोले कि, हे राजन्! मैं तोको महागुप्त जो योग है ताकों सर्व विधिसहित कहो हों तामें सप्त उपदेश हैं तामें सर्व योगवर्णन कियो और बहुत ललित मनोहर श्लोकोंमें कह्यो यह ग्रंथ आजतक प्रसिद्ध नहीं है और व्याकरणरहितोंको तो महादुर्लभ है परंतु यह ग्रंथ मुक्तरूप तथा आकाशादि गमन स्वदेहसों देवेवारो है यह देखकर श्रीमथुराजी निवासी चारों संप्रदायि वामन राजादिके गुरु बड़े चौबे श्री १०८ पंडितवर्य कल्याण-चंद्रात्मज राधाचंद्र भिषग्वरने व्रजभाषाभाष्य नामक व्रजभाषाटीका कर मोको दीनी मैंने सर्वोपयोगी तथा योगाभिलाषियोंके हितार्थ अपने निज लक्ष्मीवेंकटेश्वर छापखानेमें बहुत सचिक्कण ग्लेज कागजपर टाइपमे छाप प्रकाशित कर आपके दृष्टिगोचर किया है.

अब सर्व विद्वद्वरोंसे मेरी प्रार्थना है कि इसे मंगाकर योगाभ्याससे अपना मनमलीन निकाल अपना २ जन्म सफल करलें.

आपका कृपाभिलाषी–

गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास,

"लक्ष्मीवेंकटेश्वर" छापखाना,

कल्याण--बंबई.

श्रीः

विषयानुक्रमणिका

इति विषयानुक्रमणिका ।

ॐ हरिं वंदे ।

घेरण्डसंहिता

(योगशास्त्रम्)

भाषानुवादसंहिता

एकदा चण्डकापालिर्गत्वा घेरण्डकुट्टिमम् ।
प्रणम्य विनयात् भक्त्या घेरण्डं परिपृच्छति ।।१।।
नत्वा कुंजविहारिणं व्रजवधूवक्त्रांबुजस्वादकं
श्रीनारायणपादपद्मयुगलं वन्दे द्विरेफो ह्यहम् ।
घेरण्डेन कृता च योगसुलभा ज्ञानप्रदा भाष्यते
टीका तद्व्रजभाषया सुकविना श्रीराधिकाब्जेन या ।।

अर्थ—एक समय चण्डकापालि (नामक कोई एक योगाभिलाषी) घेरण्ड (नामक एक बड़े योगीश्वर) की कुटी (स्थान) को गयौ और विनयपूर्वक भक्तिसहित प्रणाम (नमस्कार) करके घेरण्ड (ऋषि) से पूंछने लग्यौ ।।१।।

घटस्थयोगं योगेश तत्त्वज्ञानस्य कारणम् ।
इदानीं श्रोतुमिच्छामि योगीश्वर वद प्रभो ।।२।।

हे योगेश (योगियोंके मालिक) ! तत्त्वज्ञानका कारण घटस्थ (शरीरस्थ) योग है सो या समय मेरी इच्छा वाके सुनवेको हुई है हे योगेश्वर ! हे प्रभो ! आप कृपा करके उसे मोसों कहौ ।।२।।

घेरण्ड उवाच

साधु साधु महाबाहो यस्मात्त्वं परिपृच्छसि ।
कथयामि हे ते वत्स सावधानाऽवधारय ।।३।।

घेरण्ड ऋषि बोले कि, हे महाबाहो (अर्थात् वाहुबलशालिन् क्षत्रिय वंशभूषण) ! जो तुमने मोसों पूछौ तासों मैं तुमको साधुवाद (अर्थात् धन्य-

वाद) देता हूं हे वत्स (बालक)! मैं तोसों कहों हौं ताहिसे ते सावधान होके सुन और धारण कर ॥३॥

नास्ति मायासमं पापं नास्ति योगात्परं बलम् ।
नास्ति ज्ञानात्परो बंधुर्नाहङ्कारात्परो रिपुः ॥४॥

माया (झूठ) के समान कोई पाप नहीं है और योगके परे कोई बल नहीं है और ज्ञानसों परे कोई बंधु (भाई) नहीं है और अहंकारके समान कोई वैरी है नहीं ॥४॥

अभ्यासात्कादिवर्णानि यथाशास्त्राणि बोधयेत् ।
तथा योगं समासाद्य तत्त्वज्ञानं च लभ्यते ॥५॥

जैसे अभ्यास करते करते ककारादि वर्ण (अक्षर) जान पड़े हैं और उनके परिचयके पीछे बहुत भांतिके शास्त्रोंमें बोध हो जाता है याही प्रकार योगके अभ्यास करते करते तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाता है ॥५॥

सुकृतैर्दुष्कृतैः कार्यैर्जायते प्राणिनां घटः ।
घटादुत्पद्यते कर्म घटीयंत्रं यथा भ्रमेत् ॥६॥
ऊर्ध्वाधो भ्रमते यद्वत् घटीयंत्रं गवां वशात् ।
तद्वत् कर्मवशाज्जीवो भ्रमते जन्ममृत्युभिः ॥७॥

भले और बुरे काम करवेसों प्राणियोंका अंग उत्पन्न होता है और वा शरीरसे फिर काम (कर्म) उत्पन्न होता है जैसे कि घटीयंत्र उलट पलट कभी नीचे कभी ऊंचेको ओर कलोंके वश हो घूमता है इसी भांति उत्तम मध्यम अधम कर्मोंके वश हो वह जीवभी जन्म और मृत्युके फेरमें पड़ा घूमता है तो फिर किस उपायसे वह मिट सकता है ॥६॥७॥

इसपर दृष्टांत देते हैं-

आमं कुम्भमिवाम्भस्थो जीर्यमाणः सदा घटः ।
योगानलेन संदह्य घटशुद्धिं समाचरेत् ॥८॥

यह अंग ऐसा गलायमान है जैसे कच्चे घड़ेमें जल भरवेसों वह घड़ा गल जाता है परंतु जब वाको अग्निमें पकाय लेते हैं तब वह घड़ा कभी नहीं गलता इसी भांति या शरीरको योगरूपी अग्निसे अच्छी भांति पकाय के पक्की करनी चाहिये ॥८॥

सप्तसाधनम्

शोधनं दृढता चैव स्थैर्यं धैर्यं च लाघवम् ।
प्रत्यक्षं च निर्लिप्तं च घटस्थसप्तसाधनम् ॥९॥

घेरण्ड ऋषि कहते हैं कि, योगाभ्यास करनेवालेको शरीरके सात साधन हैं। जैसे (शोधन १) देहको शुद्ध करना (दृढ़ता २) मजबूती, (स्थैर्य ३) एक समान सदा देहका स्थिर रहना, (धैर्य ४) कभी घवडाना नहीं; (लाघव ५) हलकापन, (प्रत्यक्ष ६) आंख आदि इन्द्रियोंसे देखना छूना आदि, (निर्लिप्त ७) सब चीजका व्यौहार वर्त्तना परंतु सबसे अलग रहना ॥९॥

षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद्दृढम् ।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता ॥१०॥
प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनि ।
समाधिना निर्लिप्तं च मुक्तिरेव न संशयः ॥११॥

शोधन छः कर्मोंसे होता है। आसनोंसे दृढ़ता होती है। मुद्राओंसे स्थिरता होती है। प्रत्याहारसे धैर्य होता है। प्राणायामसे लाघवता (हलकापन) होता है। ध्यानसे अपने आत्मामें जो चाहे प्रत्यक्ष हो जाता है। इसी प्रकार साधनोंसे अन्तमें अवश्य मुक्ति हो जाती है इसमें कुछ संशय नहीं है ॥१०॥११॥

अब उन सातों साधनोंमें प्रथम शोधन जो छः कर्मोंसे होता है उन षट्कर्मोंको कहते हैं–

षट्कर्माणि

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिर्लौलिकी त्राटकं तथा ।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत् ॥१२॥

इन छः कर्मोंसे शोधन होता है वे ये हैं। धौती १) (बस्ति २) (नेति ३) (लौलिकी ४) (त्राटक ५) (कपालभाति ६) ॥१२॥

धौतिः

अन्तर्धौतिर्दन्तधौतिर्हृद्धौतिर्मूलशोधनम् ।
धौतिं चतुर्विधां कृत्वा घटं कुर्वन्ति निर्मलम् ॥१३॥

धौति चार प्रकारकी है एक तो अन्तर्धौति अर्थात् (अंगके भीतर साफ करना) दूसरी दन्तधौति (दांतोंको) स्वच्छ करना तीसरी हृद्धौति

(हृदयको निर्मल करना) चौथे मूल शोधन अर्थात् (नाभिको झक्क करना) या प्रकारकी धौतिसों अंगको निर्मल (मलरहित) करना चाहिये ॥१३॥

अंतर्द्धौति:

वातसारं वारिसारं वह्निसारं बहिष्कृतम् ।
घटस्य निर्मलार्थाय अन्तर्द्धौतिश्चतुर्विधा ॥१४॥

अंतर्द्धौतिभी चार प्रकारकी हैं एक तो वातसार (वायुकों त्यागनों) दूसरे वारिसार (जलको त्यागनों) तीसरे वह्निसार) (अग्निसार आगे कहेंगे) चौथे वहिष्कृत (यहभी) आगे कहेंगे) यह जो घट (अंगके निर्मल अर्थात् शुद्धि करनेकी) चार प्रकारकी अंतर्द्धौति हैं तिनमें पहले वातसार कहे हैं ॥१४॥

वातसार:

काकचञ्चुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः ।
चालयेदुदरं पश्चाद्वर्त्मना रेचयेच्छनैः ॥१५॥

अपने मुखकों कऊआकी चोंचके आकार (समान) करके अर्थात् दोनों ओठोंको सिकोड़के धीरें धीरें वायुको पीकर पेटमें वाकों चलाय अर्थात् (फिराकर) फिर धीरें धीरें वाको मुखसों निकरे याकों वातसार कहें हैं ॥१५॥

वातसारफलम्

वातसारं परं गोप्यं देहनिर्मलकारणम् ।
सर्वरोगक्षयकरं देहानलविवर्द्धनम् ॥१६॥

अब वातसारको फल कहे हैं-वातसार यह परम (बहुत) गोप्य (गुप्त) है और देह निर्मल (शुद्धि) करवेवारो हैं और सबरे रोगनकों क्षय (नाश) करे है और देहकी अग्निकों बढायवेवारो है ॥१६॥

वारिसार:

आकण्ठं पूरयेद्वारि वक्त्रेण च पिबेच्छनैः ।
चालयेदुदरेणैव चोदराद्रेचयेदधः ॥१७॥

मुखसों धीरें धीरें कंठतक पानी पीकर फिर वाकों पेटमें फिरावें और नीचे गुदा (गांड) सो निकार देवे याकों वारिसार कहें हैं ॥१७॥

वारिसारफलम्

वारिसारं परं गोप्यं देहनिर्मलकारकम् ।
साधयेत्तं प्रयत्नेन देवदेहं प्रपद्यते ॥१८॥

वारिसार भी बहुत गुप्त है और यह देहकों निर्मल (शुद्ध) करवेवारों है याकों वड़े यत्नसों साधन करवेसों देवदेह प्राप्त होय है ॥१८॥

नाभिग्रन्थि मेरुपृष्ठे शतवारं च कारयेत् ।
अग्निसारमियं धौतिर्योगिनां योगसिद्धिदा ॥१९॥
उदरामयजं त्यक्त्वा जठराग्निं विवर्द्धयेत् ।
एषा धौतिः परा गोप्या देवानामपि दुर्ल्लभा ।
केवलं धौतिमात्रेण देवदेहं भवेद्ध्रुवम् ॥२०॥

टूंडीकी गांठको सौवार मेरुपृष्ठमें लगावे अर्थात् (पेटकों ऐसा फुलावे ग्वलावे) कि नाभि घुसाकर पीठकी हड्डीमें लगानों यह अग्निसार धौति कही जाय है जो योगियोंकों सिद्धिकी देवेवारी है ॥१९॥ और यह पेटके रोगनकों दूर करे और जठराग्निकों बढ़ावे है और यह धौति बहुत गुप्त है अर्थात् (बहुत कठिन है) और देवताकोभी दुर्ल्लभ है अर्थात् (देवतानकोंभी नहीं मिलै) और केवल याही धौतिके साधनमात्रसों देवदेह हो जाय है ॥२०॥

बहिष्कृतधौतिः

काकीमुद्रां शोधयित्वा पूरयेदुदरं महत् ॥२१॥
धारयेदर्द्धयामंतु चालयेदधोवर्त्मना ।
एषा धौतिःपरा गोप्या न प्रकाश्या कदाचन ॥२२॥

पहिले कौवाकी चोंचके समान मुख करके ऐसी वायु पान करे, जासों पेट भरजाइ ॥२१॥ फिर वा पवनके डेढ घंटा पेटमें रखि पाछें गुदा (गांड़) के द्वारा बाहर निकारे यह भी धौति बहुत कठिन है याकों काऊककों जाहिर न करनी ।२२।

प्रक्षालनम्

नाभिमग्नो जले स्थित्वा शक्तिनाडीं विसर्जयेत् ।
कराभ्यां क्षालयेन्नाडींयावन्मलविसर्जनम् ॥२३॥
तावत्प्रक्षाल्य नाडीं च उदरे वेशयेत्पुनः ।

(हृदयको निर्मल करना) चौथे मूल शोधन अर्थात् (नाभिको झक्क करना) या प्रकारकी धौतिसों अंगको निर्मल (मलरहित) करना चाहिये ।।१३।।

अंतर्द्धौतिः

वातसारं वारिसारं वह्निसारं बहिष्कृतम् ।
घटस्य निर्मलार्थाय अन्तर्द्धौतिश्चतुर्विधा ।।१४।।

अंतर्द्धौतिभी चार प्रकारकी हैं एक तो वातसार (वायुकों त्यागनों). दूसरे वारिसार (जलको त्यागनों) तीसरे बह्निसार) (अग्निसार आगे कहेंगे) चौथे वहिष्कृत (यहभी) आगे कहेंगे) यह जो घट (अंगके निर्मल अर्थात् शुद्धि करनेकी) चार प्रकारकी अंतर्द्धौति हैं तिनमें पहले वातसार कहे हैं ।।१४।।

वातसारः

काकचञ्चुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः ।
चालयेदुदरं पश्चाद्वर्त्मना रेचयेच्छनैः ।।१५।।

अपने मुखकों कऊआकी चोंचके आकार (समान) करके अर्थात् दोनों ओठोंको सिकोड़के धीरें धीरें वायुको पीकर पेटमें वाकों चलाय अर्थात् (फिराकर) फिर धीरें धीरें वाको मुखसों निकरे याकों वातसार कहें हैं ।।१५।।

वातसारफलम्

वातसारं परं गोप्यं देहनिर्मलकारणम् ।
सर्वरोगक्षयकरं देहानलविवर्द्धनम् ।।१६।।

अब वात्सारको फल कहे हैं–वातसार यह परम (बहुत) गोप्य (गुप्त) है और देह निर्मल (शुद्धि) करवेवारो हैं और सबरे रोगनकों क्षय (नाश) करे है और देहकी अग्निकों बढायवेवारौ है ।।१६।।

वारिसारः

आकण्ठं पूरयेद्वारि वक्त्रेण च पिबेच्छनैः ।
चालयेदुदरेणैव चोदराद्रेचयेदधः ।।१७।।

मुखसों धीरें धीरें कंठतक पानी पीकर फिर वाकों पेटमें फिरावें और वाकों गुदा (गांड) सो निकार देवे याकों वारिसार कहें हैं ।।१७।।

वारिसारफलम्

वारिसारं परं गोप्यं देहनिर्मलकारकम् ।
साधयेत्तं प्रयत्नेन देवदेहं प्रपद्यते ॥१८॥

वारिसार भी बहुत गुप्त है और यह देहकों निर्मल (शुद्ध) करवेवारों है याकों बड़े यत्नसों साधन करवेसों देवदेह प्राप्त होय है ॥१८॥

नाभिग्रन्थि मेरुपृष्ठे शतवारं च कारयेत् ।
अग्निसारमियं धौतिर्योगिनां योगसिद्धिदा ॥१९॥
उदरामयजं त्यक्त्वा जठराग्निं विवर्द्धयेत् ।
एषा धौतिः परा गोप्या देवानामपि दुर्ल्लभा ।
केवलं धौतिमात्रेण देवदेहं भवेद्ध्रुवम् ॥२०॥

टूंडीकी गांठको सौवार मेरुपृष्ठमें लगावे अर्थात् (पेटकों ऐसा फुलावै खलावे) कि नाभि घुसाकर पीठकी हड्डीमें लगानों यह अग्निसार धौति कही जाय है जो योगियोंकों सिद्धिकी देवेवारी है ॥१९॥ और यह पेटके रोगनकों दूर करे और जठराग्निकों बढ़ावे है और यह धौति बहुत गुप्त है अर्थात् (बहुत कठिन है) और देवताकोभी दुर्ल्लभ है अर्थात् (देवतानकोंभी नहीं मिलै) और केवल याही धौतिके साधनमात्रसों देवदेह हो जाय है ॥२०॥

बहिष्कृतधौतिः

काकीमुद्रां शोधयित्वा पूरयेदुदरं महत् ॥२१॥
धारयेदर्द्धयामं तु चालयेदधोवर्त्मना ।
एषा धौतिःपरा गोप्या न प्रकाश्या कदाचन ॥२२॥

पहिले कौवाकी चोंचके समान मुख करके ऐसी वायु पान करे, जासों पेट भरजाइ ॥२१॥ फिर वा पवनके डेढ घंटा पेटमें रखि पाछें गुदा (गांड़) के द्वारा बाहर निकारे यह भी धौति बहुत कठिन है याकों काऊककों जाहिर न करनी ।२२।

प्रक्षालनम्

नाभिमग्नो जले स्थित्वा शक्तिनाडीं विसर्जयेत् ।
कराभ्यां क्षालयेन्नाड़ीं यावन्मलविसर्जनम् ॥२३॥
तावत्प्रक्षाल्य नाडीं च उदरे वेशयेत्पुनः ।

इदं प्रक्षालनं गोप्यं देवानामपि दुर्ल्लभम् ।
केवलं धौतिमात्रेण देवदेहो भवेद्ध्रुवम् ।।२४।।

नाभि (टूंडी) डूब जाय ऐसे गहरे जलमें ठाडो हैकें शक्तिनाडी (त्रिवली) कों वाहर करके जवतक मल दूर न होई तवतक बहुत धोवें शुचि भये पीछें फिर पेटके भीतर बैठार दे या प्रक्षालनकी विधि बड़ी कठिन है और देवतानको भी दुर्लभ है और याके वल धौति मात्रसेही निश्चय देवदेह होजाइ है ।।२३।।२४।।

वहिष्कृतधौतिप्रयोगः

यामार्द्धं धारणं शक्ति यावन्न धारयेन्नरः ।
बहिष्कृतमहद्धौतिस्तावच्चैव न जायते ।।२५।।

जवतक साधक आधे पहरतक स्वास न रोक सकै तवतक यह महाधौतिको धारण न करै । क्योंकि उस शक्तिके विना अधम होनेका भय रहता है ।।२५।।

दन्तधौतिः

दन्तमूलं जिह्वामूलं रन्ध्रं च कर्णयुग्मयोः ।
कपालरन्ध्रं पञ्चैते दन्तधौतिं विधीयते ।।२६।।

दन्तधौति पांच तरहकी हैं जैसे (दातोंकी जड़को धोना १) (जीभकी जडकों धोना २) (कानके दोनों छेदोंको धोना ३–४) (तथा कपालके छेद को धोना ५) ।।२६।।

दन्तमूलधौतिः

खादिरेण रसेनाथ मृत्तिकया च शुष्कया ।
मार्जयेद्दन्तमूलं च यावत्किल्बिषमाहरेत् ।।२७।।

खैर रससों अथवा विशुद्ध सूखी माटीसों दांतोंकी जडकौ झक्क करे और जबतक मैल न दूर होइ तबतक कुल्ला कर कर फिर फिर झक्क करै ।।२७।।

दन्तमलधौतिफलम्

दन्तमूलं परा धौतिर्योगिनां योगसाधने ।
नित्यं कुर्यात्प्रभाते च दन्तरक्षाय योगवित् ।
दन्तमूलं धारणादिकार्येषु योगिनां मतम् ।।२८।।

योगियोंके योगसे साधनमें दन्तमल धौति (अर्थात् दांतका धोना) सबसे

उत्तम काम है। यासों योगके जाननेवाले नर नित्यप्रति प्रातः समय दांतोंकी रक्षा के लिये इस दातौन आदि विधिको करना योगियोंका मुख्य काम है ॥२८॥

जिह्वाशोधनम्

अथातः संप्रवक्ष्यामि जिह्वाशोधनकारणम् ।
जरामरणरोगादीन् नाशयेद्दीर्घलम्बिका ॥२९॥

दन्तशोधनके पीछे जिह्वा (जीभ) शोधन कहे हैं। जिह्वाके शोधनसों जीभ लंबी होइ है और तासों जरा (बुढ़ापा) अर्थात् मौत तथा और सब रोग दूर हो जाइ हैं ॥२९॥

जिह्वामूलधौतिः

तर्जनी मध्यमा नामा अङ्गुलित्रययोगतः ।
वेशयेद्गलमध्ये तु मार्जयेल्लम्बिकाजडम् ।
शनैः शनैर्मार्जयित्वा कफदोषं निवारयेत् ॥३०॥

(तर्जनी) अंगुठाके पासकी अंगुली मध्यमा (बीचकी अंगुली) अनामिका (छोटी अंगुलीके पासकी) ये तीन अंगुलियोंका गलेके भीतर बसेरके जीभकी जड़ (मूल) तब बार बार घिसे और धीरें धीरें जो कुछ कफका दोष होय उसको निकाल गेरे और यह कफके दोषको दूर करैं हैं ॥३०॥

मार्जयेन्नवनीतेन दोहयेच्च पुनः पुनः ।
तदग्रं लोहयंत्रेण कर्षयित्वा शनैः शनैः ॥३१॥

फिर माखनको जीभमें लगाकर रोजही रोज बार बार दुहे और पीछे लोहेके चीमटासों उस जीभका अग्रभाग पकड़कें धीरें धीरें रोज खेंचौ करै ॥३१॥

नित्यं कुर्यात्प्रयत्नेन रवेरुदयकेऽस्तके ।
एवं कृते च नित्ये च लम्बिका दीर्घतां व्रजेत् ॥३२॥

प्रतिदिन सूर्यके उदय और अस्तसमयमें यह धौति ताको अभ्यास करै यदि इसी प्रकार नित्तही नित्त यह विधि करी जाय तो जीभ लंबी हो जायगी ॥३२॥

कर्णधौतिः

तर्जन्यनामिकायोगान्मार्जयेत्कर्णरन्ध्रयोः ॥
नित्यमभ्यासयोगेन नादान्तरं प्रकाशयेत् ॥३३॥

तर्जनी (अंगूठाके पासकी अंगुली) और अनामिका (छोटी अंगुलीके पासकी अंगुली) के योगसों कानोंके दोनों छेदोंको प्रतिदिन शुद्ध करै तौ एक भांतिका विशुद्ध नाद प्रगट हुवा करता है ॥३३॥

कपालरंध्रशोधनम्

बद्धाङ्गुष्ठेन दक्षेण मार्जयेद्भालरन्ध्रकम् ।
एवमभ्यासयोगेन कफदोषं निवारयेत् ॥३४॥
नाडी निर्मलतां याति दिव्यदृष्टिः प्रजायते ।
निद्रान्ते भोजनान्ते च दिवान्ते च दिने दिने ॥३५॥

दहने हाथके अंगूठेके द्वारा प्रतिदिन सोयके उठै तव और भोजनके अंतमें और सूर्यास्तके समयमें कपालरंध्र अर्थात् शिरके बीचमें जो गढेला है उसे जलहीसों साफ करै और या प्रकारके अभ्याससों भीतर कफताके दोष नाश हो जाय हैं। और नाडियां निर्मल हो जाती हैं और दृष्टि (निगाह) दिव्य (साफ) हो जाती है ॥३४॥३५॥

हृद्धौतिं त्रिविधं कुर्याद्दण्डवमनवाससा ॥३६॥

हृद्धौति अर्थात् हृदयको झक्का करनेकी विधि तीन तरहकी है (दंड-धौति १) (वमनधौति २) (वासधौति ३) ॥३६॥

रम्भादण्डं हरिद्राया वेत्रदण्डं तथैव च ।
हृन्मध्ये चालयित्वा तु पुनः प्रत्याहरेच्छनैः ॥३७॥

केलाके वीचकों जो (सारभाग वाकौ दंडा) वा हरदीको दंडा अथवा चीकने वेतको दंडा वनायके हृदयके बीच धीरें धीरें प्रवेश करके फिर धीरें धीरें वाहर निकारे याको हृद्धौति कहते हैं ॥३७॥

दण्डधौतिः

कफपित्तं तथा क्लेदं रेचयेदूर्ध्ववर्त्मना ।
दण्डधौतिविधानेन हृद्रोगं नाशयेद्ध्रुवम् ॥३८॥

इस दंडधौतिके करवेसों कफ और पित्त तथा क्लेद (उकलाहट) आदि विकारी मल मुखके द्वारा हृदयसों निकाल बाहर होते हैं जासों हृदयके समस्त रोग निश्चय नाश होय जाय हैं ॥३८॥

वमनधौतिः

भोजनान्ते पिबेद्वारि चाकण्ठं पूरितं सुधीः ॥३९॥
ऊर्ध्वदृष्टिं क्षणं कृत्वा तज्जलं वमयेत्पुनः ।
नित्यमभ्यासयोगेन कफपित्तं निवारयेत् ॥४०॥

बुद्धिमान् पुरुष भोजनके अंतमें कंठतक जल पीलेवे फिर थोड़ी देरतक ऊपरकी ओर देखते रहै फिर थोड़ी देरसे वा जलको वमन करदेवे इसीको वमनधौति कहते हैं। इस वमन धौतिका जो प्रतिदिन अभ्यास करवेसों कफ और पित्तके (दोषोंको) दूर करे है ॥३९॥४०॥

वासधौतिः

चतुरङ्गुलविस्तारं सूक्ष्मवस्त्रं शनैर्गिलेत् ।
पुनः प्रत्याहरेदेतत् प्रोच्यते धौतिकर्मकम् ॥४१॥

चार अंगुलका चौड़ा और (कमसों कम पांच हाथ) लम्बा महीन कपड़ा लेकर धीरे धीरे निगल जाये फिर वाकों धीरे धीरे निकाल बाहर करै इसको वासधौति कहते हैं ॥४१॥

वासधौतिफलम्

गुल्मज्वरप्लीहकुष्ठं कफपित्तं विनश्यति ।
आरोग्यं बलपुष्टिश्च भवेत्तस्य दिने दिने ॥४२॥

वासधौतिके अभ्यास करनेसे गुल्मरोग ज्वररोग प्लीहरोग कुष्ठरोग तथा कफ और पित्तके रोगोंको नाश करता है और आरोग्य रखता तथा बल पुष्टाई (अंगसुख) दिन प्रति दिन देता है ॥४२॥

मूलशोधनम्

अपानक्रूरता तावद्यावन्मूलं न शोधयेत् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मूलशोधनमाचरेत् ॥४३॥

जबतक मूल शोधन (अर्थात् गुदाके द्वारा) साफ नहीं होता तबतक अपानकी क्रूरता अर्थात् (करड़ापन बना रहता है) और गुदाके वायु (पवन) कष्टसे निकलता है। इससे सब प्रकारके यत्नकर मूलशोधन करना चाहिये।४३।

पीतमूलस्य दण्डेन मध्यमाङ्गुलिनापि वा ।
यत्नेन क्षालयेत् गुह्यं वारिणा च पुनः पुनः ॥४४॥

कच्चो हरदी की जड़से वा मध्यमा (वीचकी) अंगुलीसे बार बार यत्नके सहित जलद्वारा गुदाका द्वारा साफ करना चाहिये ।।४४।।

वारयेत्कोष्ठकाठिन्यमामाजीर्णं निवारयेत् ।
कारणं कान्तिपुष्टयोश्च दीपनं वह्निमण्डलम् ।।४५।।

मूलशोधनके द्वारा कोठें कठिन (अर्थात् पेटके भीतरको करडापन) तथा आमकी अजीर्णता दूर हो जाय है और कांति (तेज) कौं करवेवारौ तथा पुष्टता देहमें देवेवारो तथा जठराग्निकों बढ़ायवेवारो है ।।४५।।

वस्तिप्रकरणम्

जलबस्तिः शुष्कबस्तिर्बस्तिःस्याद्द्विविधा स्मृता ।
जलबस्तिं जले कुर्याच्छुष्कबस्तिं सदा क्षितौ ।।४६।।

वस्ति (कर्म) दो प्रकारकी है जलवस्ति और शुष्क (सूखी) बस्ति जलवस्ति तौ जलसों होई है और शुष्क बस्ति थलमें साधन करनी चाहिये ।।४६।।

जलवस्तिविधिः

नाभिमग्नजले पायुं न्यस्तवानुत्कटासनम् ।
आकुञ्चनं प्रसारं च जलबस्तिं समाचरेत् ।।४७।।

टूंडी डूब जाय इतने जलमें वैठकर उत्कट आसन (आगे कहेंगे) वैठकर गुदादेश कों सकोड़े और फैलावे इसको जलबस्ति कहते हैं ।।४७।।

जलबस्तिफलम्

प्रमेहं च उदावर्तं क्रूरवायुं निवारयेत् ।
भवेत् स्वच्छन्ददेहश्च कामदेवसमो भवेत् ।।४८।।

जलबस्तिके साधनसे प्रमेहरोग उदावर्तरोग क्रूरवायु (कुपित पवन) इनको दूर करै और देह (अंग) अपनेही काबूमें रहे और कामदेवके समान रूपवान् हो जाता है ।।४८।।

स्थलवस्तिविधिः

बस्तिं पश्चिमोत्तानेन चालयित्वा शनैरधः ।
अश्विनीमुद्रया पायुं माकुंचयेत्प्रसारयेत् ।।४९।।

थलहीमें पीठकी ओर उत्तान होकर पड़ै और क्रमशः गुदा के द्वारको

चलावै इसी भांति अश्विनीमुद्रा (जो आगे कहेंगे) उसके द्वारा गुदाको सकोड़ और फैलावे (चौड़ी) करै ऐसा करनेसे थलबस्ति साधी जाय ।।४९।।

स्थलवस्तिफलम्

एवमभ्यासयोगेन कोष्ठदोषं न विद्यते ।
विवर्द्धयेज्जाठराग्निमामवातं विनाशयेत् ।।५०।।

इसी भांति थलवस्तिके साधन करवेसों कोष्ठ (कोठे) में दोष (वात) पित्त कफादि नहीं रहते और (उदरमें) जठराग्नि है वह बढ़ जाती है और आमवातरोग भी नाश होई है ।।५०।।

नेतिविधिः

वितस्तिमानं सूक्ष्मसूत्रं नासानाले प्रवेशयेत् ।
मुखान्निर्वमयेत्पश्चात् प्रोच्यते नेतिकर्मकम् ।।५१।।

बीताभरका महीन डोरा नाकके छेदोंमें होकर डालै पीछे उसको मुखके द्वारा निकासा करै। इसको नेतिकर्म कहते हैं ।।५१।।

नेतिफल

साधनान्नेति कर्माणि खेचरीं सिद्धिमाप्नुयात् ।
कफदोषं विनश्यन्ति दिव्यदृष्टिः प्रजायते ।।५२।।

नेतिकर्मके साधन करनेसो खेचरी (आकाशको जानेआने) की सिद्धि हो जाती है और कफके दोषको नाश करे है और दिव्यदृष्टि (अर्थात् न दीखती चीज भी) देखसके ।।५२।।

लौलिकीविधि

अमन्दवेगे तुन्दं च भ्रामयेदुभपार्श्वयोः ।
सर्वरोगान्निहन्तीह देहानलविवर्द्धनम् ।।५३।।

अति प्रबल वेगसों पेटकों दोनों बगल घुमावे इसीका नाम लौलिकी योग है यह सब भांतिके रोगोंको नाश करै है और देहस्थ जो अग्नि है ताकों बढ़ावै है अर्थात् अन्नको पचावै है ।।५३।।

त्रोटकविधि

निमेषोन्मेषकं त्यक्त्वा सूक्ष्मलक्ष्यं निरीक्षयेत् ।
पतंति यावदाश्रूणि त्रोटकं प्रोच्यते बुधैः ।।५४।।

पलकका भाँजना बंद करके किसी छोटी चीजकी ओर जबतक कि आंसू न गिरें इकटक देखता रहै याहीको बुद्धिमान् त्रोटक योग कहते हैं ।।५४।।

त्रोटकफलम्

एवमभ्यासयोगेन शाम्भवी जायते ध्रुवम् ।
नेत्ररोगा विनश्यन्ति दिव्यदृष्टिः प्रजायते ।।५५।।

इसी प्रकार त्रोटक (योग) के अभ्यास करवेसों शांभवी (मुद्रा) सिद्धि हो जाय है और नेत्रके सब रोगनकों नाश करे हैं और दिव्यदृष्टि होय है ।।५५।।

कपालभातिविधिः

वातक्रमेण व्युत्क्रमेण शीत्क्रमेण विशेषतः ।
भालभातिं त्रिधा कुर्यात् कफदोषं निवारयेत् ।।५६।।

कपालभाति योग तीन प्रकारका है। (वातक्रम) (व्युत्क्रम) और (शीत्क्रम) साधनसों कफके सबरे रोग नाश होय हैं ।।५६।।

वातक्रमकपालभातिः

इडया पूरयेद्वायुं रेचयेत् पिङ्गलां पुनः ।
पूरयेद्वा पिङ्गलया पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ।।५७।।

इडा अर्थात् (नाकके वायें छेद) के द्वारा पवनको खैंचके भरै और पिंगला अर्थात् (दहने नाकके छेदसों) निकारै याही प्रकार दहने नाकके छेदसों पवन भरकर फिर वायें छेदसों निकार देवे। इसे रातक्रमकपालभाति कहें हैं ।।५७।।

पूरकं रेचकं कृत्वा वेगेन न तु चालयेत् ।
एवमभ्यासयोगेन कफदोषं निवारयेत् ।।५८।।

जब पूरक अयवा रेचक अर्थात् श्वास खैंचे और निकारे तब जल्दी न करै क्रमसों धीरें धीर साधै ऐसे अभ्यास (योग) करनसों कफके दोष दूर करै है ५८।।

व्युत्क्रमकपालभातिः

नासाभ्यां जलमाकृष्य पुनर्वक्त्रेण रेचयेत् ।
पायं पायं व्युत्क्रमेण श्लेष्मदोषं निवारयेत् ।।५९।।

दोनों नाकके छेदोंसे जलको खैंचकर फिर मुखकी राहसों गेरतो जाय और मुखकी राहसेभी जल पीपीके फिर जल नाककी राह गेर तौ जाय इसको व्युत्क्रम कपालभाति कहते हैं और कफके सबरे दोषोंको दूर करै है ।।५९।।

शीत्क्रमकपालभातिः

शीत्कृत्य पीत्वा वक्त्रेण नासानालैर्विरेचयेत् ।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवसमो भवेत् ॥६०॥
न जायते च वार्द्धक्यं जरा नैव प्रजायते ।
भवेत् स्वच्छंददेहश्च कफदोषं निवारयेत् ॥६१॥

इति श्रीघेरण्डसंहितायां महर्षिघेरण्डनृपचण्डकापालिसंवादे षट्कर्मसाधनं नाम प्रथमोपदेशः ॥१॥

मुखसों शीत्कार कर (सुर सुर) कर पानी पीनों और वाकों नाकके छेदासे गिराय देवे इसको शीत्क्रम कपालभाति कहते हैं। या प्रकार योगाभ्यास करवेसो मनुष्य कामदेवके समान (कांतिवारो) हो जाय। और बुढ़ापेकी निर्बलता शरीरमें नहीं आइ सकै और देह अपने काबूमें रहे है और कफके सब दोषनकों दूर करै है ॥६०–६१॥

इति श्रीघेरण्डसंहितायां चारों संप्रदायि वामन राजादिक गुरु बड़े चौवे श्री ५ कल्याणचंदात्मज राधाचन्द कल्पित ब्रज भाष्यभाषानुवादसहित षट्कर्मसाधनं नाम प्रथमोपदेशः ॥१॥

द्वितीयोपदेशः २

अथासनविधिमाह

आसनानि समस्तानि यावन्तो जीवजन्तवः ।
चतुरशीतिलक्षाणि शिवेन कथितं पुरा॥१॥
तेषां मध्ये विशिष्टानि षोडशोनं शतं कृतम् ।
तेषां मध्ये मर्त्यलोके द्वात्रिंशदासनं शुभम् ॥२॥

घेरण्ड महाराजने कह्यौ कि धरतीमें जितने जीवजन्तु हैं उतनेही आसन हैं और शास्त्रकारोंने अखीर दर्जा चौराशी लाख योनि संख्या ठहराई है याहीसों प्रथम शिव (महादेव) जीने चौरासी लाख आसन कहे हैं परंतु उनमें चौराशि सौ, और कमसे कम चौरासि आसन श्रेष्ठ हैं उनमेंसों भी केवल बत्तीस आसन मनुष्यलोकके लिये अच्छे हैं ॥१॥२॥

अथासनभेदाः

सिद्धं पद्मं तथा भद्रं मुक्तं वज्रं च स्वस्तिकम् ।
सिंहं च गोमुखं वीरं धनुरासनमेव च ॥३॥
मृतं गुप्तं तथा मत्स्यं मत्स्येन्द्रासनमेव च ।
गोरक्षं पश्चिमोत्तानं उत्कटं संकटं संकटं तथा ॥४॥
मयूरं कुक्कुटं कूर्मं तथा चोत्तानकूर्मकम् ।
उत्तानमण्डुकं वृक्षं मण्डूकं गरुडं वृषम् ॥५॥
शलभं मकरं उष्ट्रं भुजङ्गं च योगासनम् ।
द्वात्रिंशदासनानि तु मर्त्यलोके च सिद्धिदम् ॥६॥

सिद्धासन १, पद्मासन २, भद्रासन ३, मुक्तासन ४, वज्रासन ५, स्वस्तिकासन ६, सिंहासन ७, गोमुखासन ८, वीरासन ९. धनुरासन १०, मृतासन ११, गुप्तासन १२, मत्स्यासन १३, मत्स्येंद्रासन १४, गोरक्षासन, १५, पश्चिमोत्तानासन १६, उत्कटासन १७, संकटासन १८, मयूरासन १९, कुक्कुटासन २०, कूर्मासन २१, उत्तानकूर्मासन २२, उत्तानमण्डूकासन २३, वृक्षासन २४, मंडूकासन २५, गरुडासन २६, वृषभासन २७, शलभासन २८, मकरासन २९, उष्ट्रासन ३०, भुजंगासन ३१, योगासन ३२ ये बत्तीस आसन मनुष्यलोकके लिये सिद्धि देनेवाले हैं ॥ ३–६ ॥

सिद्धासनविधिः

योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटिकं संपीड्य गुल्फेतरं
मेढ्रे संप्रणिधाय तं तु चिबुकं कृत्वा हृदि स्थायिनम् ।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन्भ्रुवोरन्तरं ।
मोक्षं चैव विधीयते फलकरं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥७॥

जितेंद्रिय साधक पांयकी एड़ीको योनिस्थान (अंडकोश) के नीचे भिड़ावै और फिर दूसरी एड़ी (गुल्फ) लिंगके ऊपर धरै फिर डाढ़ीको छातीमें लगावै फिर इंद्रियनको (रोक) साधकर अर्थात् एक ध्यानमें रखकर दृष्टिको एकजगहमें राख कर भौंहके बीचके स्थानकों देखे या प्रकार करवेसों सिद्धासन कह्यो जाय है और यह आसन (मोक्ष) फल तथा सर्व सुखको देनेवारो है ॥७॥

पद्मासनविधिः

वामोरूपरि दक्षिणं हि चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना कृत्वा कराभ्यां दृढम् ।
अंगुष्ठे हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेत्
एतद्व्याधिविनाशकारणपरं पद्मासनं चोच्यते ॥८॥

दहने पांयको बांई जांघपर धर और दाहनी जांघपर बायो पांय धरकर और पीछेकी ओरसे दांये हाथसो दांये पांयके अंगूठाको और बांये हाथसों बांये पांयके अंगूठाको गाढौ पकरे या भांति डाढी (गुल्फ) छातीपर धरकर नाकके अग्र (आगे) के भावको देखे। याको नाम पद्मासन है। यह आसन सबरी व्याधि (रोग) निकों नाश करै है ॥८॥

भद्रासनविधिः

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेण समाहितः ।
पदाङ्गुष्ठे कराभ्यां च धृत्वा च पृष्ठदेशतः ॥९॥
जालन्धरं समासाद्य नासाग्रमवलोकयेत् ।
भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविनाशकम् ॥१०॥

दोनों एडी अंडकोशको नीचे उलटके धरे फिर पीठकी ओरसे दोनों हाथोंसे दोनों पांयनिके अंगूठानको पकरै और जालंधरबंध (आगे कहेंगे) करके नाकके आगेके भागको ध्यान कर देखे इसका नाम (भद्रासन) है और यह आसन सबरे रोगनिकौ नाश करै॥९॥१०॥

मुक्तासनविधिः

पायमूले वामगुल्फं दक्षगुल्फं तथोपरि ।
शिरोग्रीवासमं कायं मुक्तासनं तु सिद्धिदम् ॥११॥

बाईं एड़ी गुदाकी जड़में लगावे वाहीके ऊपर दांई एड़ी राखै और शिर कंठ समानभाव राखै बिलकुल हलने न पावै और सीधे होकर बैठे इसको मुक्तासन कहते हैं। यह आसन (साधकको) सिद्धि (सब भांति) की देवे वारौ है ॥११॥

वज्रासनविधिः

जङ्घाभ्यां वज्रवत्कृत्वा गुदपार्श्वे पदावुभौ ।
वज्रासनं भवेदेतत् योगिनां सिद्धिदायकम् ॥१२॥

दोनों जांघोंकों वज्रके आकार (समान) करके पीछे गुदाके दोनों तरफ दोऊ पांय भिड़ावैं । इसको वज्रासन कहते हैं । यह आसन योगियोंको सिद्धिका देवेवारो है ॥१२॥

स्वस्तिकासनविधिः

जानूर्वोरन्तरे कृत्वा योगी पादतले उभे ।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥१३॥

दोनों पींडुरी दोनों जांघोंके बीच करके दोनों पांयनिको तलभी उसीके मध्यमें धरे और ऐंठ छोडकें सरलभाव शरीर करकें बैठै । यह स्वस्तिकासन है ॥१३॥

सिंहासनविधिः

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेणोर्ध्वतां गतः ।
चितिमूलो भूमिसंस्थःकृत्वा च जानुनोपरि ॥१४॥
व्यक्तावक्त्रो जलन्ध्रं च नासाग्रमवलोकयेत् ।
सिंहासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविनाशकम् ॥१५॥

दोनों एड़ी (गुल्फ) अंडकोश (पेलडे) के नीचे उलटकर आपसमें भिड़ायकें धरै और ऊपरकी ओर बाहर करले और दोनों पिंडुरी भूमि (धरती) में लगाय दे और पिंडुरीनिके ऊपर मुखकों खोलकर ऊंची करके जालंधरबंध (आगे कहेंगे) के आश्रयसों नासिका (नाका) के अग्रभागकों देखते रहै इसकों सिंहासन कहते हैं और याके साधनसों सर्व रोग नाशकों प्राप्त होय हैं ॥१४॥१५॥

गोमुखासनविधिः

पादौ च भूमौ संस्थाप्य पृष्ठपार्श्वे निवेशयेत् ।
स्थिरकायं समासाद्य गोमुखं गोमुखाकृतिः ॥१६॥

दोनों पांयनिकों भूमिमें जमायकें पीठकी बगलोंमें लगावै और शरीरकों ठहरायके बैठे तो यह गोमुखका आकार देख पड़ेगो इसको नाम गोमुखासन है॥१६॥

वीरासनविधिः

एकपादमथैकस्मिन् विन्यसेदूरुसंस्थिरम् ।
इतरस्मिंस्तथा पश्चाद्वीरासनमितीरितम् ।।१७।।

एक जंघाके ऊपर एक पांय धरकें दूसरो पांय पीछेकी ओर धरै इसको वीरासन कहते हैं ।।१७।।

धनुरासनविधिः

प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ करौ च पृष्ठे धृत-
पादयुग्मम् । कृत्वा धनुस्तुल्यपरिवर्तिताङ्गं निधाय योगी
धनुरासनं तत् ।।१८।।

दोनों पांय धरतीमें समान भावसें लकडियोंकी भांति फैलाय दे और दोनों हाथ पीठकी ओरसे लाकर दोनों पांयनिको पकड़े और देहकों धनुषके आकार करके और उलटे पुलटे इसको योगीलोग धनुरासन कहते हैं ।।१८।।

मृतासनविधिः

उत्तानशववद्भूमौ शयानं तु शवासनम् ।
शवासनं श्रमहरं चित्तविश्रान्तिकारणम् ।।१९।।

मरे भये मनुष्यकी तरह धरातलमें शयन करनेहीसे मृतासन होता है इसको शवासनभी कहते हैं यह आसन श्रम (परिश्रम मेहनत) कौ दूर करै है और चित्तकौ विश्राम करवेवारौ है ।।१९।।

गुप्तासनविधिः

जानुनोरन्तरे पादौ कृत्वा पादौ च गोपयेत् ।
पादोपरि च संस्थाप्य गुदं गुप्तासनं विदुः ।।२०।।

दोनों घोटुवोंके बीचमें दोनों पावोंको गुप्तभावसों राखै और दोनों पादौं पै गुदाको धरै इसकौ गुप्तासन कहते हैं ।।२०।।

मत्स्यासनविधिः

मुक्तपद्मासनं कृत्वा उत्तानशयनं चरेत् ।
कूर्पराभ्यां शिरो वेष्टच मत्स्यासनं तु रोगहा ।।२१।।

मुक्तपद्मासन लगायकें हाथसें दोनों घोटुवोंके शिरकौ लपेटे और चित्त होके सोय जावै इसको मत्स्यासन कहें हैं और यह सबरे रोगनिकों दूर करै है ॥२१॥

पश्चिमोत्तानआसनविधिः

प्रसार्य्य पादौ भुवि दण्डरूपौ संन्यस्तभालश्चि-
तियुग्ममध्ये । यत्नेन पादौ च धृतौ कराभ्यां योगीन्द्रपीठं
पश्चिमोत्तानमाहुः ॥२२॥

दोनों पांय धरतीमें लकड़ियाकी तरह फैलायके यत्नके सहित दोनों पांय हाथनिसों पकरै और दोनों जांघोंके बीच अपने शिरको धरै इसको योगींद्र (योंगीनके इंद्र) याकों पश्चिमोत्तान आसन कहें हैं ॥२२॥

मत्स्येन्द्रासनविधिः

उदरं पश्चिमाभासं कृत्वा तिष्ठति यत्नतः ।
नम्राङ्गवामपादं हि दक्षजानूपरि न्यसेत् ॥२३॥
तत्र याम्यं कूपरं च याम्यं करे वक्त्रकम् ।
भ्रुवोर्मध्ये गतां दृष्टिं पीठं मात्स्येन्द्रमुच्यते ॥२४॥

पेटको पीठकी तरह करै अर्थात् पेटको और वायें पांयको नवापके दाहने पांयकी जांघपर धरै याही भांति वायें पांयपै दाहने पांयकी एड़ी धरै। इतकों दाहने हाथपै मुखको धरै और भौंहनिको मध्यमें (दृष्टि राखे) अर्थात् देखे याकों मात्स्येंद्रासन कहैं हैं ॥२३॥२४॥

गोरक्षासनविधिः

जानूर्वोरन्तरे पादौ उत्तानाव्यक्तसंस्थितौ ।
गुल्फौ चाच्छाद्य हस्ताभ्यामुत्तानाभ्यां प्रयत्नतः ॥२५॥
कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा नासाग्रमवलोकयेत् ।
गोरक्षासनमित्याह योगिनां सिद्धिकारणम् ॥२६॥

दोनों जांघ और पींडुरीनके बीचमें दोनों पांय उत्तान करके गुप्त भावसों राखे फिर दोनों हाथनसों दोनों एड़ी पकड़ लेय ता पीछे कंठको संकुचित (सुकोड़कें) नाकके आगेके भागकों देखै याकौ गोरक्षासन कहैं हैं यह योगियोंको सिद्धिको देवेवारो है ॥२५॥२६॥

उत्कटासनविधि:

अंगुष्ठाभ्यामवष्टभ्य धरां गुल्फे च खे गतौ ।
तत्रोपरि गुदं न्यस्य विज्ञेयमुत्कटासनम् ।।२७।।

पांयकों दोनों अगूठेके बलसों भूमि (धरती) में धरके दोनों एड़ीनको निरालम्ब होके उठायदे और उन्हीं एड़ीनपै गुदाको धरे याकों उत्कटासन कहैं हैं। ।२७।।

संकटासनविधि:

वामपादं चितेर्मूलं संन्यस्य धरणीतले ।
पाददंडेन याम्येन वेष्टयेद्वामपादकम् ।
जानुयुग्मे करौ युग्ममेतत्तु संकटासनम् ।।२८।।

वांये पांय और अंगूठाकी भूमिमें लगाय दे और दांये पांयसों वांयो पांय लपेटले और फिर दोनों जांघोंपर दोनों हाथ धरै इसकौ संकटासन कहते हैं।।२८।।

मयूरासनविधि:

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यां तत्कूर्परे स्थापित-
नाभिपार्श्वम् । उच्चासनो दण्डवदुत्थितः खे मयूरमेतत्प्रवदन्ति पीठम् ।।२९।।

हाथके दोनों तलोंसे भूमिकौ धारण करै पीछे हाथकी दोनों गांठनकों नाभिके दोनों बगलोंमें धारण करनों और दोनों पांयनिको फैलायके ऊंचे आसनसे लकड़ियोंकी तरह आकाशमें देहको उठावै यह मयूरासन है ।।२९।।

कुक्कुटासन विधि:

पद्मासनं समासाद्य जानूर्वोन्तरे करौ ।
कूर्पराभ्यां समासीनो मञ्चस्थः कुक्कुटासनम् ।।३०।।

पद्मासन बैठकर दोनों जांघ और पींडुरीनके बीचमें हाथको धसेरक दोनों हाथोंकी कोन्हीनपें मंच (पलका) की तरह उठके बैठे इसको कुक्कुटासन कहैं हैं ।।३०।।

कूर्मासनविधि:

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेण समाहितौ ।
ऋजुकायशिरोग्रीवं कूर्मासनमितीरितम् ।।३१।।

दोनों एड़िनको अंडकोश (पेलडे) के नीचे उलटके धरै और शिर (माथौ) और ग्रीवा तथा शरीरको सीधे धरकर रखै इसको कूर्मासन कहैं हैं ॥३१॥

उत्तान कूर्मासनविधि:

कुक्कुटासनबंधस्थं कराभ्यां धृतकन्धरम् ।
पीठं कूर्मवदुत्तानमेतदुत्तानकूर्मकम् ॥३२॥

पहिले कुक्कुटासन (पूर्व कह चुके हैं) बांध लेय फिर दोनों हाथोंसे कंधा पकड़के कछुआकी तरह उत्तान हो जाय इसको उत्तानकूर्मासन कहैं हैं ॥३२॥

उत्तानमण्डूकासनविधि:

मण्डूकासनमध्यस्थं कूर्पराभ्यां धृतं शिरः ।
एतद्भेकवदुत्तानमेतदुत्तानमण्डुकम् ॥ ३३ ॥

मण्डूकासनमें बैठकर हाथनके टकुनानिसों माथोधारण करके उत्तान हो जावै इसहीको (घेरण्डऋषिने) उत्तानमंडूकासन कह्यो है ॥३३॥

वृक्षासनविधि:

वामोरुमूलदेशे च याम्ये पादौ निधाय तु ।
तिष्ठेत्तु वृक्षवद्भूमौ वृक्षासनमिदं विदुः ॥३४॥

दायें पांय वांई जांघकी जड़ (मल) में धरैं और समानभावसे वृक्षकी भांति (तरह) ठाडौ रहे याको वृक्षासन कहैं हैं ॥३४॥

मण्डूकासनविधि:

पृष्ठदेशे पादतलौ अङ्गुष्ठे द्वे च संस्पृशेत् ।
जानुयुग्मं पुरस्कृत्य साधयेन्मण्डुकासनम् ॥३५॥

दोनों पांय पीठकी तरफ करके उनके दोनों अंगूठे परस्पर एककौ एकसों मिलायके तथा दोनों जांघें सामनेकी ओर धरे इस आसनको मंडूकासन कहैं हैं ॥३५॥

गरुड़ासनविधि:

जंघोरुभ्यां धरां पीड्य स्थिरकायो द्विजानुनी ।
जानूपरि करं युग्मं गरुडासनमुच्यते ॥३६॥

दोनों जांघोंसे तथा दोनों पींडुरीनसौं धरतीको दवावे और दोनों पींडुरीनपै दोनों हाथ धरै इसकौ गरुड़ासन कहैं हैं ॥३६॥

वृषासनविधिः

याम्यगुल्फे पायुमूलं वामभागे पदेतरम् ।
विपरीतं स्पृशेद्भूमिं वृषासनमिदं भवेत् ।।३७।।

गुदाके द्वारको दक्षिण एड़ीके ऊपर धरके उसीके बांयें भागमें बांये पांयकों उलट करके धरै और धरतीको छीवें इसको वृषासन कहते हैं ।।३७।।

शलभासनविधिः

अधास्य शेते करयुग्मवक्ष भूमिमवष्टभ्य करयोस्तलाभ्याम् ।
पादौ च शून्ये च वितस्तिचोर्ध्वं वदन्ति पीठं शलभं मुनीन्द्राः।।३८।

नीचे मुख करके सोय जाय और वक्षस्थलमें दोनों हाथ धरके दोनों करतलोंसों माटी पकड़कर दोनों पांय शून्य भागमें विलांदभर ऊंचे राखे याको नाम शलभासन मुनिजन कहैं हैं ।।३८।।

मकरासनविधिः

अधास्य शेते हृदयं निधाय भूमौ च पादौ प्रसार्यमाणौ ।
शिरे च धृत्वा करदण्डयुग्मे देहाग्निकारंमकरासनं तत् ।।३९।।

धरतीमें पेट धर सोय जाय और नीचे मुख करके छातीको धरतीमें लगायके और दोनों पांय फैलाय दे फिर दोनों हाथनिसों माथो धारण करै याको मकरासन कहै हैं।।३९।।

उष्ट्रासनविधिः

अधास्य शेते पदयुग्मव्यस्तं पृष्ठे निधायापि धृतं कराभ्याम् ।
आकुंचयेत्सम्यगुदरास्यगाढं उष्ट्रं च पीठं योगिनो वदन्ति ।।४०।।

अधोवदन शयन करके दोनों पांय उलटके पीठकी ओर लावे पीछे दोनों हाथोंसे इन्ही पैरोंको धरके मुख और पेट दृढ़भावसों मकोड़ लेवे इसको उष्ट्रासन कहे हैं ।।४०।।

भुजंगासनविधिः

अंगुष्ठनाभिपर्य्यन्तमधोभूमौ विनिन्यसेत् ।
करतलाभ्यां धरां धृत्वा ऊर्ध्वं शीर्षं फणीव हि ।।४१।।
देहाग्निर्वर्द्धते नित्यं सर्वरोगविनाशनम् ।
जागर्ति भुजगीदेवी साधनाद् भुजगासनम् ।।४२।।

पांयके अंगूठासे लेकर नाभिपर्यंत देहकी नीची और वाएं भाग धरातलमें अच्छी तरह स्थापन करके हाथसों दोनों पंजानको धरतीमें अवलंबन करै और सर्पके फनकी तरह शिरके भागको उठावे याको भुजंगासन कहे हैं ।।४१।।४२।।

योगासनविधिः

उत्तानौ चरणौ कृत्वा संस्थाप्य जानुनोपरि ।
आसनोपरि संस्थाप्य उत्तानं करयुग्मकम् ।।४३।।
पूरकैर्वायुमाकृष्य नासाग्रमवलोकयेत् ।
योगासनं भवेदेतद् योगिनां योगसाधने ।।४४।।

इति श्रीघेरण्डसंहितायाँ ऋषिघेरण्डनृपचंडकापालिसंवादे-
द्वात्रिंशासनवर्णनं नाम द्वितीयोपदेशः ।।२।।

दोनों पांयनिको चित्त कर दोनों जांघोंके ऊपर संस्थापित करकें दोनों हाथ उत्तानभावसे आसनके ऊपर राखै पीछे पूरक (प्राणायाम) के सार द्वारा पवन खेंचकें कुंभक (डाटै) और उस समय नाकको आगेको भाग ताको देखे इसको योगासन कहते हैं ।।४३।।४४।।

इति श्रीघेरंडसंयहिताश्रीमयुरास्यदक्षगोत्रोद्भवचातुर्वेदिशर्मश्री
५ कल्याणचंदात्मजराधाचंदविरचितव्रजभाषाटीकायां
आसनवर्णनो नाम द्वितीयोपदेशः ।।२।।

तृतीयोपदेशः ३

अथ मुद्राकथनप्रकरणम्

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धो महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।।१।।
विपरीतकरी योनिर्वज्रोणी शक्तिधारिणी ।
ताडा ी माण्डवी मुद्रा शांभवी पंचधारिणी ।।२।।
अश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजङ्गिनी ।
पंचविंशतिमुद्राणि सिद्धिदानीह योगिनाम् ।।३।।

महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जलंधर, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरी, योनि, वज्राणी, शक्ति धारिणी, ताडागी, मांडवी, शांभवी, धारणामुद्रा, पांच तरहकी है। जैसे–पार्थिवीधारणा, आम्भसीधारणा, वैश्वनरीधारणा, वायवीधारणा, नभोधारणा और तापीछें अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगी, भुजंगिनी ॥ १–३॥

मुद्राणां पटलं देवि कथितं तव संनिधौ ।
येन विज्ञातमात्रेण सर्वसिद्धिः प्रजायते ॥
गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित् ।
प्रीतिदं योगिनां चैव दुर्लभं मरुतामपि ॥५॥

श्रीमहादेव गौरीसे बोले कि, हे देवि ! मैंने तेरे आगे मुद्रानिके नाम कहे हैं। इनके जानवेसोंही सब भांतिकी सिद्धिका लाभ होइ है। यह सब विषय परम गोपनीय है जिस किसीको कभी नहीं देना। क्योंकि विना प्रतिज्ञाके साधि हो नहीं सकते और कदापि वतायभी दो तो चंचल लोग दोषित करेंगे और न वन सकेंगे तो इस विद्याको झूंठी कहकर दृढ प्रतिज्ञोंकोभी नहीं देना, ये सब मुद्रा योगियोंको भी परम प्रीति देनेवाली है। यह मुद्रा देवताओंको भी दुर्लभ हैं ॥४॥५॥

महामुद्राविधिः

पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढयत्नतः ।
याम्यपादं प्रसार्याथ करे धृतपदांगुलः ॥६॥
कण्ठसंकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्यं निरीक्षयेत् ।
महामुद्राभिधा मुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः ॥७॥

गुदामूलकों वांई एडीसों वहुत ताकतसों दबावे और दांये हाथको फैलायके हाथसो पांयकी अंगुली धरै फिर कंठको सकोड़के भौंहके मध्यमें ध्यान लगा देवे इसको पंडितगण महामुद्रा कहें हैं ॥६॥७॥

मुद्राफलम्

क्षयकासं गुदावर्तं प्लीहां जीर्णज्वरं तथा ।
नाशयेत् सर्वरोगांश्च महामुद्रातिसेवनात् ॥८॥

उपरोक्त (महामुद्रा) को अधिक सेवन करवेंसों क्षयसों भई खांसी,

गुदावर्त (गुदाके चारों तर्फ वारे फोडा) तापतिल्ली और जीर्ण ज्वर (पुराना ज्वर), तथा और सब तरहसे रोग या महामुद्राके सेवनसों नाश होई है ।।८।।

नभोमुद्राविधिः

यत्र यत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा ।
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा धारयेत्पवनं सदा ।
नभोमुद्रा भवेदेषा योगिनां रोगनाशिनी ।।९।।

जब जब योगी काहू काममें लगे तब तब सर्वदाही ऊपरकी ओर जीभ करके कुंभकके द्वारा स्थिर होकर पवनको धारण किया करै यह अभ्यास सदा रखनेसे योगी समस्त रोगनिते निवृत्त होई हैं इसको नभोमुद्रा कहते हैं ।।९।।

उड्डीयानबंधविधिः

उदरे पश्चिमं तानं नाभिरूर्ध्वं तु कारयेत् ।
उड्डीयानं कुरुते यत् तद्विश्रांतं महाखगः ।
उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातंगकेसरी ।।१०।।

नाड़ीके ऊपरका भाग पश्चिमद्वारको उदरके समभावमें सिकोड़नों चाहिये अर्थात् उदरके मध्यम भागस्थ गुह्यादि चक्रस्थित नाड़ीसमूहकों नाभीके ऊपर सिकोड़के उठानों चाहिये इसको उड्डीयान बंधन कहते हैं यह उड्डीयान बंध मौतके लिये अर्थात् गजरूप मृत्युको सिंहके समान है ।।१०।।

उड्डीयानबंधफलम्

समग्राद्बन्धनादेतत् उड्डीयानं विशिष्यते ।
उड्डीयानेसमभ्यस्तेमुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ।।११।।

जितने मुद्राबंध कहे गये हैं उन सबमें यह उड्डीयान बंध बहुत उत्तम है इस उड्डीयान बंधके साधनसे आपही आप मुक्ति होई है ।।११।।

जालंधरबंधविधिः

कण्ठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत् ।
जालंधरकृते बंधे षोडशाधारबंधनम् ।
जालंधरं महामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी ।।१२।।

कंठको सकोंड करकें छातीपर डाढ़ी धरवेहीसों जालंधर बंध कह्यौ

जाय है याके साधन करवेसों सोलह भांतिके आधार बंध हुआ करते हैं यह मौतका भी नाशक है ॥१२॥

जालंधरबंधफलम्

सिद्धं जालंधरं बंधं योगिनां सिद्धिदायकम् ।
षण्मासमभ्यसेत् यो हि स सिद्धोनात्रसंशयः ॥१३॥

यह जालंधर बंध स्वयं सिद्ध है यह योगियोंको सिद्धि देवेवारो है जो बुद्धिमान् छः महीना इसका साधन करता है वह अवश्य सिद्ध हो जाता है इसमें संशय नहीं है ॥१३॥

मलबंधविधिः

पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुंचयेत्ततः ।
नाभिर्ग्रन्थि मेरुदंडं संपीड्य यत्नतः सुधीः ॥१४॥
मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढबंधं समाचरेत् ।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते ॥१५॥

बायें पांयकी एड़ीसों गुदा-प्रदेशको सिकोड़े वा पीछे टूंडीकी गाठको पीठकी हड्डीसे दवावै और उपस्थको दांये एड़ीसों मजबूत दवाके राखै इसकौ मूलबन्धन कहते हैं यह मुद्रा बुढापेंको दूर करै है ॥१४-१५ ॥

मूलबंधफलम्

संसारसागरं तर्तुमभिलषति य पुमान् ।
विरलेषु गुप्तो भूत्वा मुद्रामनां समभ्यसेत् ॥१६॥
अभ्यासाद्बंधनस्यास्य मरुत्सिद्धिर्भवेद्ध्रुवम् ।
साधयेद्यत्नतस्तर्हि मौनी तु विजितालसः ॥१७॥

जो मनुष्य संसारसागरसे पार होनेकी इच्छा करै वे एकांत स्थानमें गुप्तभावसे इस मुद्राका अभ्यास करै इस मूलबंधके अभ्याससे जरूर पवन (वायु) सिद्धि होई है इसके साधक आलसकों छोड़के मौनी हो यत्नपूर्वक इसको साधन करै ॥१६॥१७॥

महाबंधफलम्

महाबंधः परो बंधो जरामरणनाशनः ।
प्रसादादस्य बंधस्य साधयेत्सर्ववांछितम् ॥१८॥

यह महाबंध (नामकीमुद्रा) सब मुद्राओंमें श्रेष्ठ है और बुढ़ापे तथा मौतको नाश करै है इस महाबंधके प्रसादसों सब मनमाने मनोरथ पूर्ण होई है ॥१८॥

महावेधविधिः

रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरुषं विना ।
मूलबंधमहाबंधौ महावेधं विना तथा ॥१९॥
महाबंधसमासस्य उड्डानकुम्भकं चरेत् ।
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः ॥२०॥

जैसे पुरुषके विना नारीको सुंदर रूप यौवन (जवानी) तथा लावण्यता निष्फल रहती हैं। वैसेही महावेधमुद्राके विना मूलबंध तथा महाबंधभी काऊ कामके नहीं रहते। पहले महाबंध मुद्रा करै फिर उड्डीयानबंध मुद्रा करके कुंभक प्राणायामसे वायुको निरोध करवेहीसे महावेध मुद्रा कही जाती है। यह मुद्रा महावेधके द्वारा योगिजन सर्वसिद्धिकों पावे हैं ॥१९॥२०॥

महावेधफलम्

महाबंधमूलबंधौ महावेधसमन्वितौ ।
प्रत्यहं कुरुते यस्तु स योगी योगवित्तमः ॥२१॥
न मृत्युतो भयं तस्य न जरा तस्य विद्यते ।
गोपनीयः प्रयत्नेन वेधोऽयं योगिपुंगवैः ॥२२॥

जो साधक प्रतिदिन इस महावेधके सहित महाबंध और मूलबंधका साधन कियो करे हैं वे ही योगियोंमें उत्तम योग विद्याके जाननेवारे कहे जाते हैं। मौत और बुढ़ापा उनके पास कभी नहीं आय सकती। यह मुद्रा परम गुप्त रखवेके योग्य है योगीनमें श्रेष्ठ योगी इसको किसीसे नहीं कहते हैं ॥२१॥२२॥

खेचरीमुद्राविधिः

जिह्वाधो नाडीं संछिन्ना रसनां चालयेत्सदा ।
दोहहेत्नवतीतेन लोहयंत्रेण कर्षयेत् ॥ २३॥
एवं नित्यं समभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत् ।
यावद्गच्छेद्भ्रुवोर्मध्ये तथा गच्छति खेचरी ॥२४॥

रसना तालुमध्ये तु शनैः शनैः प्रवेशयेत् ।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥
भ्रुवोर्मध्ये गतां दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥२५॥

जीभके नीचे जीभकी जड़ और जीभ इन दोनोंको जो नाड़ी जोड़े रहती है उसको काट देवे और नित्यही जिह्वाके अग्रभाग और जिह्वा (जीभ) के नीचे सदा चलाया करै। और जीभको नवनीत (माखन) से दुहा करै और लोहेकी (चीमटा) सो खेंच लेय। याही प्रकार रोज करनेसे जीभ लंबी हो जाती है। क्रमसे अभ्यास करते करते जीभको इस प्रकार लंबी कर देय कि जासों दोनों भौंहोंके बीचतक पहुंच जाय। फिर उसी जीभको क्रमसे तालुके बीच ले जाय। तालु देश मध्यस्थ (गड्ढाको) कपालकुहर कहते हैं। जीभको उसी तालुके गड्ढामें ऊपरकी ओर उलटके प्रवेशित करै ता पीछे दोनों भौंहनिके मध्य (बीच) के भागको देखे याको खेचरी मुद्रा कहे हैं ॥२३॥२५॥

खेचरीमुद्राफलम्

न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते ।
न च रोगो जरा मृत्युर्देवदेहः स जायते ॥२६॥

जो मनुष्य या खेचरी मुद्राको साधन करे हैं उनको मूर्च्छा भूंख प्यास और आलस्य नहीं होई है और न रोग न बुढापो न मौत पास आवे और देवतानकीसी ताकी देह हो जाय ॥२६॥

नाग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः ।
न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुजङ्गमः ॥२७॥

और उनको आग नहीं जलाय सके पवन सुखाय नहीं सके तथा पानी न गीला कर सके तथा सांप काट नहीं सके है ॥२७॥

विपरीतकरीमुद्राविधिः

नाभिमूले वसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः ।
अमृतं ग्रसते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नरः ॥२८॥
उर्ध्वं च गमयेत्सूर्यं चन्द्रं च अध आनयेत् ।
विपरीतकरी मुद्रा सर्वतंत्रेषु गोपिता ॥२९॥

भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मे समाहितः ।
ऊर्ध्वपादः शिरो भूत्वा विपरीतकरी मता ॥३०॥

नाभिकी जड़में सूर्य (सूर्यनाड़ी) वास करै है और मुखके तलुओंकी जड़में चंद्रमा (चंद्रनाड़ी) वास करै है जब नीचेसे सूर्य अपने तेजसों खेंचवेसों देहमें रहवेवारौ अमृतको ग्रास कर लेय है तब मनुष्य मौतके वश होइ है। या लिये ऊपरकी ओंरसों सूर्यको उठानों चाहिये और नीचेकी ओरसों चन्द्रमाको ले आनों चाहिये इसका नाम विपरीत करी मुद्रा है सो सब तंत्रोंसे गुप्त है अर्थात् अंत कहुं नहीं कही गई। याकी विधि इसी तरह है कि धरतीमें माथेकों धरे और दोनों हाथनिसों धरतीको पकड़कर पांयनिको ऊपरकी ओर उठायके सीधा खड़ा करै और पूरक प्राणायामसे पवन खेंचकर कुंभकके द्वारा जहांतक ठहरे तवतक ठहरावे इसको विपरीतकरी मुद्रा कहते हैं॥२८॥३०॥

विपरीतकरीमुद्राफलम्

मुद्रेयं साधयेन्नित्यं जरां मृत्युं च नाशयेत् ।
स सिद्धः सर्वलोकेषु प्रलयेऽपि न सीदति ॥३१॥

जो मनुष्य इस मुद्राको रोज साधन करता है वह बुढ़ापा और मृत्युसे बच्यो रहे है। फिर सब लोकनिमें सिद्ध हो जाता है और प्रलय होनेपर भी अभय रहता है ॥३१॥

योनिमुद्राविधिः

सिद्धासनं समासाद्य कर्ण चक्षुर्नसो मुखम् ।
अंगुष्ठातर्जनीमध्यानामादिभिश्च साधयेत् ॥३२॥
काकीभिः प्राणसंकृष्य अपाने योजयेत्ततः ।
षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुं हंसमनुना सुधीः ॥३३॥
चैतन्यमानयेद्देवीं निद्रिता या भुजङ्गिनी ।
जीवेन सहितां शक्ति समुत्थाप्य करांबुजे ॥३४॥
शक्तिमयः स्वयं भूत्वा परं शिवेन संगमम् ।
नानासुखं विहारं च चिंतयेत्परमं सुखम् ॥३५॥
शिवशक्तिसमायोगादेकान्तं भुवि भावयेत् ।
आनंदं च स्वयं भूत्वा अहं ब्रह्मेति संभवेत् ॥३६॥

योनिमुद्रा परा गोप्या देवानामपि दुर्लभा ।
सकृत्तु लाभसंसिद्धिः समाधिस्थः स एव हि ॥३७॥

प्रथम सिद्धासनसों बैठे फिर कान आंख नाक मुख ये चारों द्वारोंको अंगूठा तर्जनी मध्यमा अनामिका इन अंगुरियनसों ढांक लेय अर्थात् कानके दोनों छेदोंको दोनों अंगुठानसों दोनों आंखनकों दोनों तर्जनीनसों दोनों नाकके छेदोंको दोनों मध्यमानसों, मुखकों दोनों अनामिकानसों दावै। फिर या मुद्रासों प्राणपवनकों खेंचै और फिर उसे अपानपवनं (अधोवायु) में मिलाय दे वाके बाद अंगमें छः चक्र है उनका ध्यान करै वाही समयमें (हुं) और (हंस) इन दो मंत्रोंसे भुजंगिनी रूप कुंडलिनी देवीकों जगावै तथा जीवात्मा सहित वा कुंडलिनीको सहस्र कमलमें उठायकें ले जावै और वह साधक या प्रकार चिंता करे मानो मैं शक्तिमय होकर शिव (आनंद) के संगप्रसंगम आसक्त होते भये परम आनंद भोग और विहार करता हूं तथा शिवशक्तिके संयोगसे मैं ही आनंदमय (ब्रह्म हूं) इसको योनिमुद्रा कहते हैं यह मुद्रा परम गोपनीय है यह देवताओंको दुर्लभ है या मुद्राको एक वार भी कोई साधन करै तौ साधनेवारौ पुरुष सिद्ध हो जाय है इसके द्वारा बहुतही शीघ्र समाधि प्राप्त होवे है ॥३२–३७॥

योनिमुद्राफलम्

ब्रह्महा भ्रूणहा चैव सुरापी गुरुतल्पगः ।
एतैः पापैर्न लिप्यंते योनिमुद्रानिबंधनात् ॥३८॥
यानि पापानि घोराणि उपपापानि यानि च ।
तानि सर्वाणि नश्यन्ति योनिमुद्रानिबंधनात् ।
तस्मादभ्यासनं कुर्याद्यदि मुक्ति समिच्छति ॥३९॥

जो जन योनिमुद्राकौ साधन करें हैं वे यदि ब्रह्मघाती (ब्राह्मणकों मारवेवारों) बालघाती वा गर्भ गिरायवेवारौ दारू पीवेवारो गुरुकी नारीसों मैथुन करवेवारौ भी होइ तौ भी पापमें नहीं सनें। और भी जो वड़े वड़े पाप हैं तथा उपपाप हैं तिन सबकों योनिमुद्राकौ बांधवेवारो नष्ट कर देय है या कारण जो मुक्तिकी इच्छा करे सो याको साधन करै ॥३८॥॥३९॥

वज्रोणिमुद्राविधिः

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यां ऊर्ध्वं क्षिपेत्पादयुगं शिरः खे ।
शक्तिप्रबोधाय चिरजीवनाय वज्रोणिमुद्रा मुनयो वदन्ति।।४०।।

दोनों हाथनिकी हथेरीसों धरतीके तलकों पकड़कें दोनों पांयनिकों ऊपर उठाय दै और मायौभी आकाशकी ओर उठा देवे केवल हाथके बल खड़ा रहै इसको मुनि (जन) वज्रोणि मुद्रा कहें हैं याके अभ्याससों अंगमें शक्ति (ताकत) आवे और सदा जिया करै अर्थात् अमर हो जावै ।।४०।।

वज्रोणिमुद्राफलम्

अयं योगे योगश्रेष्ठो योगिनां मुक्तिकारणम् ।
अयं हितप्रदो योगो योगिनां सिद्धिदायकः ।।४१।।
एतद्योगप्रसादेन बिंदुसिद्धिर्भवेद्ध्रुवम् ।
सिद्धे विंदौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले ।।४२।।
भोगेन महता युक्तो यदि मुद्रां समाचरेत् ।
तथापि सकला सिद्धिर्भवति तस्य निश्चितम् ।।४३।।

यह मुद्रा साधनरूपी योगमें सब योगोंमें अच्छा (श्रेष्ठ) है और योगियों-की मुक्ति (मोक्ष) कारण है और यह योग बहुत हितका करनेवारो है तथा योगि-योंको सब तरहकी सिद्धिको देवेवारी है । इसी योगके प्रसादसे कामसिद्धि, बिंदु जो (वीर्य) सिद्धि निश्चय होइ है अर्थात् वीर्य रुक गया और जब इस भांति महायत्नसे वीर्यसिद्धि हो गये पीछे कहो भूतलमें कौन और सिद्धि न होइगी । और सबेरे बड़े बड़े भोगोंसे युक्त पुरुष भी यदि इस मुद्राका अभ्यास करै तौ सब भांतिकी सिद्धियां जरूर उसकों मिलेंगी ।।४१-४३।।

शक्तिचालनीमुद्राविधिः

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुंडली परदेवता ।
शयिता भुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता ।।४४।।
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवं पशुर्यथा ।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत् ।।४५।।

मूलाधारमें आत्मशक्ति (आत्माकी ताकत) सबसों परे देवता कुंडलिनी सर्पके आकाश साढ़े तीन लपेटाकी गुंडरी (गोला) बांधे सोय रही है ।

जबतक वह देहमें सोती रहै है तबतक जीव पशुकी तरह अज्ञान (ज्ञानरहित) बंधो रहै है सत्य और असत्य कछु नहीं जान पड़ता तबतक चाहें कोटिप्रकार योगाभ्यास करो कभी सत्य ज्ञान नहीं होइगो ॥४४-४५॥

उद्घाटयेत्कपाटं च यथा कुंचिकया हठात् ।
कुंडलिया: प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रबोधयेत् ॥४६॥

इसी निमित्त कहा है कि जैसे तारसों बंद किवार (कपाट) तारीसे झटपट खोलके भीतर पैठ जाय याही भांति कुंडलिनीके जानेपर ब्रह्मद्वार (माथे) को प्रभेद कियो जा सके हैं (चैतन्य कियो जाय है) कि जासों सत्य और असत्यको ज्ञान होइ हैं ॥४६॥

नाभिं, संवेष्टच्च वस्त्रेण न च नग्नो बहि: स्थित: ।
गोपनीये गृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत् ॥४७॥

एक वस्त्रके द्वारा नाभिदेशको लपेटके काऊ गुप्त मकानमें बैठकर शक्तिचालनी मुद्राका अभ्यास करै किंतु नंगो ह्वैके बाहरके भागमें या योगका साधन करनों उचित है नहीं , अर्थात् यह योग नंगो ह्वैके गुप्तस्थानमें करनों चाहिये ॥४७॥

वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरङ्गुलम् ।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बरलक्षणम् ॥
एवमम्बरयुक्तं च कटिसूत्रेण योजयेत् ॥४८॥

एक बिलांद लम्बो और चार अंगुल चौड़ो कोमल (नरम) और महीन सुपेद कपड़ासों नाभिको लपेटके फिर उस वस्त्रको कमरसों बांधे ॥४८॥

भस्मना गात्रसंलिप्तं सिद्धासनं समाचरेत् ।
नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजयेद्बलात् ॥४९॥
तावदाकुञ्चयेद्गुह्यं शनैरश्विनिमुद्रया ।
यावद्गच्छेत्सुषुम्नायां वायु: प्रकाशयेद्धठात् ॥५०॥

राखसों अंगको लपेट (लेपन) करै और सिद्धासन बांधकर बैठे और नाकके दोनों छेदनसों प्राणवायु (हृदयस्थ पवन) को खैंचके बलके सहित अपानवायुके संग मिलाय दे जबतक वायु सुषुम्नानाड़ीके भीतर जायके प्रकाशित

न हो तवतक अश्विनीमुद्राके द्वारा धीरे धीरे गुह्यप्रदेश (गुदा) को सकोड़ै ।।४९।।५०।।

तदा वायुप्रबंधेन कुंभिका च भुजंगिनी ।
बद्धश्वासस्ततो भूत्वा ऊर्ध्वमार्गं प्रपद्यते ।।५१।।

याही भांति निश्वास रोकके कुंभके प्राणायाम धारण करै तौ भुजंगिनी भुजंगाकार कुंडलिनीशक्ति जागकें ऊपरकी ओर उठती है अर्थात् हजार दल कमल परमात्मामें मिल जाती है ।।५१।।

विना शक्ति चालनेन योनिमुद्रा न सिद्ध्यति ।
आदौ चालनमस्यास्तु योनिमुद्रां समभ्यसेत् ।।५२।।

विना शक्तिचालनी मुद्राके अभ्यास किये योनिमुद्रा कभी सिद्धि नहीं हो सकै है यासों पहिले या शक्तिचालनी मुद्राको अभ्यास कर ले तव योनि-मुद्राको अभ्यास करै ।।५२।।

इति ते कथितं चण्डकापाले शक्तिचालनम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन दिने दिने समभ्यसेत् ।।५३।।

घेरंड महाराज कहते हैं कि, हे चंडकापालि! तुम्हारे आगे यह मैंने मुद्रा कही जाको नाम शक्तिचालनी है यह मुद्रा यत्नसों दिन दिन अभ्यास करनो चाहिये और वह अभ्यास करनो गुप्त भावसो रहै सहसा प्रसिद्ध जाहिर न होयवे पावे ।।५३।।

शक्तिचालनीमुद्राफलम्

मुद्रेयं परमा गोप्या जरामरणनाशिनी ।
तस्मादभ्यासनं कुर्याद्योगिभिः सिद्धिकांक्षिभिः ।।५४।।

यह मुद्रा परम गुप्त है याके द्वारा बुढ़ापो और मृत्यु दोनों नष्ट हो जाय हैं याहीसों सिद्धिके चाहवेवारे योगियोंको इसका अभ्यास जरूर करनों चाहिये ।५४।

नित्यं योऽभ्यसते योगी सिद्धिस्तस्य करे स्थिता ।
तस्य विग्रहसिद्धिः स्याद्रोगाणां संक्षयो भवेत् ।।५५।।

जो योगी या मुद्राको प्रतिदिन अभ्यास करै है वाके हाथमें सिद्धि आय जाय है और उसको विग्रहसिद्धि होय है (विग्रहसिद्धि वाकों कहैं हैं

जामें विशेष ग्रहणकी शक्ति हो जाय है) अर्थात् कोई काम करै झटपट पूरो हो जाय है और वाके रोग दूर हो जाय है ।।५५।।

उदरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा च तडागाकृति ।
ताडागी सा परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ।।५६।।

पश्चिमोत्तान अर्थात् उत्तान होकर पड़े और पेटको तड़ाग (तालाव) की तरह गहरी करै और कुंभक प्राणायाम करे इसको ताडागी मुद्रा कहैं हैं यह मुद्रा एक प्रधान गिनी जाय है याके द्वारा बुढ़ापो और मौत जीती जाय है ।।५६।।

मांडूकीमुद्राविधिः

मुखं संमुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत् ।
शनैर्ग्रसेदमृतं तां मांडूकीमुद्रिकां विदुः ।।५७।।

मुखको मूंदके जीभकी जड़को तालुवेके ऊपरकी ओर चलावै और धीरे धीरे हजारदल कमल निर्गत अमृत पान करै इसको मांडूकीमुद्रा कहते हैं ।।५७।

मांडूकीमुद्राफलम्

वलितं पलितं नैव जायते नित्ययौवनम् ।
न केशे जायते पाको यःकुर्यान्नित्यमांडुकीम् ।।५८।।

मांडुकी मुद्राका नित्य अभ्यास जो कोई करै उसके अंगमें वलित (खालको सुकड़ जानों), पलित (बारनको सुपेद हो जानों) तथा मांस गलकर हाड़ मात्रको रहनों ये नहीं होंय और सदा यौवन (जवानही) बन्यो रहै (अर्थात्) मौत नहीं आवे और बाल पके नहीं (अर्थात् सुपेद नहीं होवे) ।।५८।।

शांभवीमुद्राविधिः

नेत्राञ्जनं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत् ।
सा भवेच्छांभवी मुद्रा सर्वतंत्रेषु गोपिता ।।५९।।

दोनों भौंहनिके बीचमें वा दोनों भौंहोंकोही स्थिर दृष्टिसों अवलोकन करके और मनको एक रस करके वही आत्माराम (परमात्मा) को देखै (मानों सच्चिदानंद वहीं बैठयो है) याहीको शांभवी मुद्रा कहैं हैं यह सब तंत्रोंसे गुप्त मानी गई है ।।५९।।

शांभवीमुद्राफलम्

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।
इयं तु शांभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ।।६०।।

चारों वेद छहों शास्त्र (न्यायादि यथा धर्मशास्त्र) अठारह पुराण ये सव जैसे गणिका (रंडी) लोगप्रसिद्ध रहती हैं किसीके गुप्त नहीं रहती तैसेही सामान्य वस्तु है परंतु शांभवी मुद्रा जैसे कुलवधू (अच्छे घरकी स्त्री) बड़ी यत्नसों रहैं और सहसा काउकी आंखनिके आगे नहीं आवे वैसेही यह मुद्रा जाननी ॥६०॥

स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम् ।
स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ति शांभवीम् ॥६१॥

जो मनुष्य या शांभवी मुद्राको जाने है वह आदिनाथ (सबको प्रथम स्वामी) है वही स्वयं नारायण (जीवसमूहकी जीवनशक्ति तथा रवि) है और वही जगत्को पैदा करवैवारो ब्रह्मा भी समझनो ॥६१॥

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वरः ।
शांभवीं यो विजानीयात् स च ब्रह्मा न चान्यथा ॥६२॥

जो मनुष्य या शांभवी मुद्राको जानता है वही मूर्तिमान् ब्रह्म है (परमेश्वर) है या वातको महादेवजी तीन वार (त्रिवाचा) करके सत्य कहते हैं यामें झूठ नहीं है ॥६२॥

पंचधारणमुद्रा:

कथिता शांभवी मुद्रा शृणुष्व पंचधारणम् ।
धारणानि समासाद्य किं न सिद्ध्यति भूतले ॥६३॥

घेरंड महाराज कहते हैं कि शांभवीमुद्रा तो कह आये अब हे चंडकापाली ! तुम पंचधारणा मुद्रा सुनों यह पञ्चधारणामुद्रा भी पांच प्रकारकी है जिन पांचोंके प्राप्त होयवे पै फिर भूतलमें कौन ऐसी बात है जो सिद्ध न हों अर्थात् सव सिद्ध हो जाय हैं ॥६३॥

अनेन नरदेहेन स्वर्गेषु गमनागमम् ।
मनोगतिर्भवेत्तस्य खेचरत्वं न चान्यथा ॥६४॥

ये पांच प्रकारकी धारणा मुद्रा सिद्ध होनेपर इसी नरदेहसों (विना मरे) जीतेही स्वर्गलोकमें आनो जानो हो सकै है और उस साधन करनेवालोंकी मनोगति (चाहे जहां जाय) जाय सकै है तथा खेचरत्व (आकाशमें उड़वेकी शक्ति) प्राप्त हो जाती है पांच प्रकारकी धारणा पहिले कह आये हैं पार्थिवी १, आंभसी २, वायवी ३, आग्नेयी ४, आकाशी ॥५-६४॥

पार्थिवीधारणामुद्राविधिः

यत्तत्वं हरितालदेशरचितं भौमं लकारान्वितं
वेदास्त्रंकमलासनेन सहितं कृत्वा हृदिस्थायिनम् ।
प्राणास्तत्र विनीय पंचघटिकां चितान्वितां धारये-
देषाशांभकरोभवेत्क्षितिजयं कुर्यादधोधारणा ॥६५॥

धरतीतत्त्वका वर्ण हरितालके समान पीला है या धरतीतलका बीज लकार है इसका आकार चौकोन बराबर है ब्रह्मा याके देवता हैं योगके प्रभावसे उक्त सब बीजनके सहित हृदयमें ध्यानकर स्थापित करै उस समयमें प्राण वायुको खेंच करके कुंभकके द्वारा पांच घड़ी (दो घंटा) मन न डिगने पावे धारणा किये रहै इसी स्तंभकरी (श्वास ठहरायवेवारी) क्रियाकों पार्थिवीधारणा कहते हैं याको दूसरो नाम (अधोधारणा भी है) याको धारण करवेसो धरती जीती जाय है अर्थात् धरतीसंबंधी कोई भी बाधा होई तो याके धारण करवेसों धारकको कछुआ विघ्न नहीं होता ॥६५॥

पार्थिवीधारणामुद्राफलम् ।

पार्थिवीधारणामुद्रा यः करोति तु नित्यशः ।
मृत्युञ्जयः स्वयं सोऽपि स सिद्धो विचरेद्भुवि ॥६६॥

जो नर रोज या पार्थिवी धारणामुद्राको करता है वही स्वयं मृत्युंजय हो जाता है (अर्थात् कभी नहीं मरता) और वोही सिद्धि होके धरतीमें विचर्यो करै है ॥६६॥

आम्भसीधारणामुद्राविधिः

शङ्खेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं तत्त्वं किकालं शुभं-
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकां चित्तान्वितो धारयेत्
लेषां दुःसहतापपापहरिणीस्यादांभसी धारणा ॥६७॥

जलतत्त्वका वर्ण शंख तथा चन्द्रमाकी तुल्य विमल और कुंदपुष्पकी तरह उज्ज्वल है और शोभन है और याकी अमृत संज्ञा है और वकार याको बीज है और विष्णु याके देवता हैं योगके प्रभावसों हृदयके बीच उक्त जल तत्त्वके समुदायका ध्यान करै और उसी समय प्राणपवनकों खेंचके

पांच घड़ी चित्त स्थिर करके कुम्भक प्राणायाममें स्थिर रहै याहीकों आंभसी-धारणामुद्रा कहते हैं यह मुद्रा बडे २ दुःसह ताप (त्रय) तथा पापनिकों नाश करै है ।।६७।।

अथांभसीमुद्राफलम्

आम्भसीं परमां मुद्रां यो जानाति स योगवित् ।
जले च घोरे गंभीर मरणं तस्य नो भवेत् ।।६८।।

जो साधक या आंभसीमुद्राको जानता है वही योगवित् (योगकौ साधवे-वारौ) है वह यदि महाभयानक और गंभीर (गहरे) जलमें भी पड़कर भी मौतकौ प्राप्त नहीं होइ है अर्थात् श्वाससाधनसों जलमें डूब भी नहीं सकै है ।।६८।।

इयं तु परमा मुद्रा गोपनीया प्रयत्नतः ।
प्रकाशात्सिद्धि हानिः स्यात्सत्यं वच्मि च तत्वतः ।।६९।।

यह मुद्रा बड़ी गुप्त है और यत्नसहित याकों जाहिर न करनी याके जाहिर होवेसों सिद्धि (काम) की हानि होइ है यह मैं विचारकें सांच कहों हौं ।।६९।।

आग्नेयीमुद्राविधिः

यन्नाभिस्थितमिद्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणान्वितं-
तत्त्वं तेजमयं प्रदीप्तमरुणं रुद्रेण यत्सिद्धिदम् ।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकां चित्तान्वितं धारयत्–
देषा कालगभीरभीतिहरिणी वैश्वानरी धारणा ।७०।।

अग्नितत्त्वकौ स्थान नाभिस्थल है याकौ रंग इद्रगोप (बीर बहूटी) की तरह लाल है रकार याकौ बीज है याकौ आकार त्रिकोण और रुद्र याके देवता हैं यह तत्त्व तेजका समूह है यह दीप्तमान (प्रकाशमान) और सिद्धिदायक है योगबलसों या अग्नितत्त्वकौ उदय करायकें एकाग्रचित्त हो पांच घड़ीतक कुंभकप्राणायामसे प्राणवायु (हृदयमें रहवेवारी पवन) को धारण करै इसका नाम आग्नेयी धारणा मुद्रा है याके अभ्याससों संसारका भय (डर) दूर हो जाय है और अग्निके द्वारा साधक की मृत्यु (मौत) कभी नहीं हो सकेगी ।।७०।।

आग्नेयीधारणामुद्राफलम्

प्रदीप्ते ज्वलिते वह्नौ पतितो यदि साधकः ।
एतन्मुद्राप्रसादेन स जीवति न मृत्युभाक् ॥७१॥

यदि साधक बहुत जरती भई धकधकाती आगमें गिर पड़े तौ भी या आग्नेयीधारणामुद्राके प्रसादसे जीतो रहेगो कभी मृत्युका भागी नहीं होगा ॥७१॥

वायवीधारणामुद्राविधिः

यद्भिन्नाञ्जनपुञ्जसन्निभमिदं धूम्रावभासं परं
तत्त्वं सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता ।
प्राणांस्तत्र विनीय पञ्चघटिकां चित्तान्वितां धारयेदेषा
खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा ॥७२॥

वायुतत्त्वको रंग घिस्यो भयो अंजन (सुर्मा) तथा धुएकी तरह है यकार याको बीज है और ईश्वर याको देवता है यह तत्त्व सत्त्वगुणमय है योगके प्रभावसों या वायु (पवन) तत्त्वकों उदित करायकें एकाग्रचित्त हो प्राणवायुकों खेंचकर कुंभकप्राणायामके द्वारा पांच घटीतक धारण करै इसका नाम वायवी मुद्रा है यह मुद्रा साधन करवेवारेको वायुसे कभी मृत्यु नहीं हो सकती और साधकका सामर्थ्य आकाशमें जाने आनेकी हो जाती है ॥७२॥

वायवीधारणामुद्राफलम्

इयं तु परमा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ।
वायुना म्रियते नापि खे च गतिप्रदायिनी ॥७३॥

यह मुद्रा परम श्रेष्ठ है बुढ़ापे और मौत इन दोनोंको नाश करती है और साधक वायुके किसी प्रकारके कोपसो नहीं मर सकता और यह मुद्रा आकाशगमनकी सामर्थ्यको देवेवारी है ॥७३॥

शठाय भक्तिहीनाय न देया यस्य कस्यचित् ।
दत्ते च सिद्धिहानिः स्यात्सत्यं वच्मि च चण्डते ॥७४॥

घेरण्डमहाराज बोले कि हे चंडकापालि! या मुद्राकी विधि मूर्ख तथा जाके हृदयमें भक्ति न हो ऐसेनकों कभी नहीं बतानी चाहिये और हर काऊकों नहीं देना और शठादिकनको देनेसो वतायवेवारेकों सिद्धि नहीं होइ यह तुमसे मैंने साच कहा है ॥७४॥

आकाशीधारणामुद्राविधिः

यत्सिधौ दरशुद्धवारिसदृशं व्योमं परं भासितं
तत्त्वं देवसदाशिवेन सहितं बीजं हकारान्वितम् ।
प्राणांस्तत्र विनीय पंचघटिकां चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटभेदनकरी कुर्यान्नभोधारणा ॥७५॥

आकाशतत्त्वका रंग समुद्रके विशुद्ध जलकी तरह प्रकाशित होता है सदाशिव याके देवता हैं हकार याकौ बीज है इसी आकाशतत्त्वकों सदाशिवके सहित योग प्रभावसे उदित एकाग्रमन होकर ध्यान करै और वाही समय प्राण-वायुको खेंचकर कुंभकप्राणायामसे पांच घड़ी धारण किये रहै इसीको आकाशी-धारणा कहते हैं यह मुद्रा मोक्ष (मुक्ति) के किवारनकों खोल देय है ॥७५॥

अकाशीधारणामुद्राफलम्

आकाशीधारणां मुद्रां यो वेत्ति सैव योगवित् ।
न मृत्युर्जायते तस्य प्रलये नावसीदति ॥७६॥

जो मनुष्य आकाशीमुद्राको जानता है वही निश्चय योगको जानवे-वारौ है उसकी मृत्युभी किसीसे नहीं होती है और प्रलय होनेपर भी ज्योंका त्यौं बन्यो रहै है ॥७६॥

इति पंचधारणामुद्राः

अश्विनोमुद्राविधिः

आकुंचत्येद्गुदद्वारं प्रकाशयेत्पुनः पुनः ।
सा भवेदश्विणीमुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ॥ ७७ ॥

साधक फिर फिर अपने गुदाके मुखकों सकोड़े और फैलावै याहीको नाम अश्विनीमुद्रा है यह मुद्रा शक्ति (ताकत) को बढ़ायवेवारी है ॥७७॥

अश्विनोमुद्राफलम्

अश्विनी परमा मुद्रा गुह्यरोगविनाशिनी ।
बलपुष्टिकरी चैव अकालमरणं हरेत् ॥७८॥

यह श्रेष्ठ मुद्रा अश्विनी गुदा (गांड) के सबरे रोगनको नाश करै है और बल और पुष्टिताकों बढ़ावे है और अकाल मरण (वेसमय मरवेकों) हर लेती है ॥७८॥

पाशिनीमुद्राविधिः

कण्ठे पृष्ठे क्षिपेत्पादौत्पाशवं दृढबंधने ।

सा एव पाशिनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी ॥७९॥

दोनों पांव कंठकी पीठमें डालकर जैसे पाश (रस्सा) सों बांध्यो जाय है वैसेही दृढ़ (ताकतसो) बांधै यही पाशनी मुद्रा कही जाय है यह भी शक्ति (बल) को जगावै ॥७९॥

पाशिनीमुद्राफलम्

पाशिनी महती मुद्रा बलपुष्टिविधायिनी ।

साधनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकांक्षिभिः ॥८०॥

यह पाशिनी एक बड़ी भारी मुद्रा है यह बल और पुष्टि (अंग बढ़ाना) तथा सिद्धि चाहवेवारे साधक लोग इसको जरूर बड़े यत्नसों साधन करै ॥८०॥

काकीमुद्राविधिः

काकचंचुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः ।

काकीमुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी ॥८१॥

अपने मुखकों कौआकी चोंचके तरह बनायके धीरे धीरे वायु पीवे इसका नाम काकीमुद्रा है यह सब तरहके रोगनकों दूर करै है ॥८१॥

काकीमुद्रा परा मुद्रा सर्वतंत्रेषु गोपिता ।

अस्याः प्रसादमात्रेण काकवन्नीरुजो भवेत् ॥८२॥

यह काकीमुद्रा बहुत उत्तम है और सब तंत्रनिमें गुप्त है इसके प्रसाद (प्रताप सों मनुष्य काककी तरह रोगरहित हो जाय है ॥८२॥

मातंगिनीमुद्राविधिः

कंठमग्ने जले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत् ।

मुखान्निर्गमयेत्पश्चात्पुनर्वक्त्रेण चाहरेत् ॥८३॥

नासाभ्यां रेचयेत्पश्चात् कुर्यादेवं पुनः पुनः ।

मातंगिनी परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥८४॥

कंठ (गरे) तक जलमें ठाडौ होकर पहले नाकसों जलको खैंचकें मुखसों निकार देवे तो पीछें मुखसों जल खैंचके पीछे नाकसों गेर देय नाकके दोनों छेदनसों वहाय देइ, या प्रकार वारंवार खेंचै और वेरवेर गेरै याकौ नाम मातंगिनी मुद्रा है यह मुद्रा बुढापे और मौतको नाश करै है ।।८३–८४।।

मातंगिनीमुद्राफलम्

विरले निर्जने देशे स्थित्वा चैकाग्रमानसः ।
कुर्यान्मातंगिनीं मुद्रां मातंग इव जायते ।।८५।।

साधक कहूं निर्जन वन (जहां कोई मनुष्य न हो) वहां एकाग्र चित्त कर बैठे या मातंगिनीमुद्राकों साधै तौ हाथीकी तरह वलवान् हो जाय है ।।८५।।

यत्र यत्र स्थितो योगी सुखमत्यन्तमश्नुते ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन साधयेन्मुद्रिकां पराम् ।।८६।।

या मुद्राके साधन करवेवारे योगी जहां जहां स्थिर (वैठा रहेगा वहीं वहां वहुत सुखका भागी होगा या कारण सव तरहसे जतन करके या श्रेष्ठ मुद्राकौ साधन करनो चाहिये ।।८६।।

भुजंगिनीमुद्राविधिः

वक्त्रं किंचित्सुप्रसार्य्य चानिलं गलया पिबेत् ।
सा भवेद्भुजगी मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ।।८७।।

मुखकों किंचित् थोरो फैलायके गरेके द्वारा वायु पीया करै गरेमें पवनको धक्का जोरसे लगै। इसको भुजंगिनि मुद्रा कहते हैं यह बुढापो तथा मौतको नाश करैं हैं ।।८७।।

भुजंगिनीमुद्राफलम्

यावच्च उदरे रोगमजीर्णादि विशेषतः ।
तत्सर्वं नाशयेदाशु यत्र मुद्रा भुजंगिनी ।।८८।।

जितने उदर (पेट) में रोग हैं तथा अजीर्ण आदिकोंको विशेष करके यह भुजंगिनी मुद्रा शीघ्र दूर करै ।।८८।।

सर्वमुद्राफलम्

इदं तु मुद्रापटलं कथितं चंडकापलि ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां जरामरणनाशनम् ।।८९।।

घेरंडमुनि बोले कि हे चंडकापालि! मैंने तेरे आगे यह मुद्रानको पटल कह्यो यह सबरे सिद्ध जनोंको प्रिय (प्यारा) है और बुढ़ापे तथा मौतको नाश करै है ।।८९।।

शठाय भक्तिहीनाय न देयं यस्य कस्यचित् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन दुर्लभं मरुतामपि ।।९०।।

जो मूर्ख और भक्तिहीन अर्थात् जो भक्तिवान् न हो उसको ये मुद्रा कभी नहीं देनों चाहिये और जिस तिसको भी देनी उचित नहीं है इसको यत्नसों गुप्त राखनी चाहिये ये सब मुद्रा देवतानको भी दुर्लभ हैं ।।९०।।

ऋजवे शांतचित्ताय गुरुभक्तिपराय च ।
कुलीनाय प्रदातव्यं भोगमुक्तिप्रदायकम् ।।९१।।

ये सब मुद्रा भोग (भोजनादि) मोक्ष दोनोंनको देवेवारी है यासों याकों विचार कर देनी चाहिये जैसे कि कोमल सुभाव हों शांतचित्त (चंचल मन न हो) गुरुके कहवेमें विश्वास राखता तौ होइ और अच्छे कुल (वंश) को होय ऐसेनको देनी चाहिये ।।९१।।

मुद्राणां पटलं ह्येतत्सर्वव्याधिविनाशनम् ।
नित्यमभ्यासशीलस्य जठराग्निविवर्द्धनम् ।।९२।।

यह मुद्रापटल सबरे रोगनको नाश करे है और जो नित्य अभ्यास करते हैं उसकी जठराग्नि (पेटकी अग्नि) बढ़ जाय है ।।९२।।

तस्य नो जायते मृत्युर्नास्य जरादिकं तथा ।
नाग्निजलभयं तस्य वायोरपि कुतो भयम् ।।९३।।

जो नर मुद्रासाधन करैं हैं उनको न तौ बुढ़ापो न मौत आदि न आग न पानी न पवन (वायु) कभी भय नहीं पहुंचा सकें हैं ।।९३।।

कासः श्वासः प्लीहकुष्ठं श्लेष्मरोगाश्च विंशतिः ।
मुद्राणां साधनाच्चैव विनश्यन्ति न संशयः ।।९४।।

मुद्रा साधन करवेसों कास श्वास प्लीह कोढ़ बीस तरहके कफरोग नाशको प्राप्त होते हैं ।।अर्थात् सर्व रोग जाते रहते हैं) ।।९४।।

बहुना किमिहोक्तेन सारं वच्मि च चण्ड ते ।
नास्ति मुद्रासमं किंचित् सिद्धिदं क्षितिमंडलम् ।।९५।।

इति श्रीघेरण्डसंहितायां घेरण्डचण्डकापालिसंवादे
घटस्थयोगप्रकरणे मुद्राप्रयोगो नाम तृतीयोपदेशः ।।३।।

घेरंडमहाराज कहते हैं कि हे चंडकापालि ! तोसों बहुत कहनेसे क्या है किंतु सार बात मैं कहता हूं कि जिस भूमंडल (धरतीके चारों तरफ) मुद्रा से परे कोई भी चीज सिद्धि देवेवारी नहीं हैं ।।९५।।

इति श्रीघेरण्डसंहितायां श्रीमधुपुरीयास्थदक्षगोत्रोद्भवचातुर्वेदीशर्म्म श्री ५ कल्याणचंद्रात्मजभिष्प्राधाचंद्रविरचिते व्रजभाषाभाष्यं नाम टीकायां घटस्थयोगप्रकरणे मुद्राकथनो नाम तृतीयोपदेशः ।।३।।

चतुर्थोपदेशः ४

प्रत्याहारप्रकरणम्

अथातः संप्रवक्ष्यामि प्रत्याहारकमुत्तमम् ।
यस्य विज्ञानमात्रेण कामादिरिपुनाशनम् ।।१।।

घेरंड महाराज कहते हैं कि चंडकापालि ! मुद्रा कहे पीछे अब हम तोसों प्रत्याहार उत्तम योग कहते हों याके ज्ञानमात्रसेही कामादि (क्रोध मोह मद आदि) वैर नाशको प्राप्त होते हैं ।।१।।

अतस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।।२।।

जिस विषयमें मन चंचल होके भ्रमण करै प्रत्याहारके द्वारा उस उस विषयसों मनको लौटाय दे अपने वश लानो चाहिये ।।२।।

पुरस्कारं तिरस्कारं सुश्राव्यं भावमायकम् ।
मनस्तस्मान्नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ।।३।।

चाहे आदर हो चाहें निरादर हो किसीमें मनको कभी नहीं फसानों याही प्रकार कानको अच्छा लगता शब्द हो चाहे बुरो बोले हो किसीमें मन न लगावै अपनेही वश राखै ।।३।।

सुगंधो वापि दुर्गंधो घ्राणेषु जायते मनः ।
तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥४॥

चाहैं सुगंध (अच्छी गंध) हो चाहें दुर्गंध (बुरी गंध) हो सूंघवेमें आवै और मन वारंवार चाहें तौ मनको व वहांसे लौटायकें अपने वशमें कर लेय ॥४॥

मधुराम्लकतिक्तादिरसान्याति यदा मनः ।
तस्मात् प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥५॥

इति श्रीघेरण्डसंहितायां घेरण्डचंडकापालिसंवादे प्रत्याहारप्रयोगो नाम चतुर्थोपदेशः ॥४॥

मीठो खट्टौ चरपरौ रस आदि (सब रस) (कसैलौ कडुऔ लवण हो यदि मन इन छहों रसोंकी ओर दौडे तौ उधरसे फेरकरके मनकों आत्मा (अपने) वशमें लावै इसका अभ्यास करैं याको नाम प्रत्याहार कहै है ॥५॥

इति श्रीघेरण्डसंहितायां श्रीमधुपुरीयास्थदक्षगोत्रोद्भवविद्व-द्वरशिरोमणिश्रीगुरु १०५ श्री नारायणचंद्रचरणारविंदा-नुरागिराधाचंदविरचितं व्रजभाषाभाष्यं नाम टीकायां प्रत्याहारप्रयोगो नाम चतुर्थोपदेशः ॥४॥

पञ्चमोपदेशः ५

प्राणायामप्रयोगः

अथातः संप्रवक्ष्यामि प्राणायामस्य यद्विधिम् ।
यस्य साधनमात्रेण देवतुल्यो भवेन्नरः ॥१॥

घेरंडमहाराज चंडकापालीसे कहे हैं कि प्राणायामकी विधि कहे हैं जाके साधन करवेसों नर देवतानके समान होइ जाइ है ॥१॥

आदौ स्थानं तथा कालं मिताहारं तथा परम् ।
नाडीशुद्धिं च तत्पश्चात्प्राणायामं च साधयेत् ॥२॥

प्राणायाम साधनके पहले स्थान निदान करनो चाहिये ता पीछें समय स्थापन करै एक अंदाजसों भोजन कर तापीछे प्राणायामको साधे ॥२॥

स्थाननिदानम्

दूरदेशे तथारण्ये राजधान्यां जनान्तिके ।
योगारंभं न कुर्वीत कृतो न सिद्धिदो भवेत् ।।३।।

देश (गाम) नसों दूर तथा वन (शोभायमान) में राजाके राजमें जातके वहुत नरोंके पास इतनी जगह प्राणायामरूप योगकौ साधन करनेसों सिद्धिकौ नहीं देय है ।।३।।

अविश्वासं दूरदेशे अरण्ये रक्षिवर्जितम् ।
लोकारण्ये प्रकाशश्च तस्मात् त्रीणि विवर्जयेत् ।।४।।

दूर देशमें भरोसौ न होयवेसों और वनमें रक्षा नहीं होइ सकै तासों (शहर) नगरम जाहिर होइ है तासों इन तीननकों नहीं करना अर्थात् इनकी नाईं है ।।४।।

सुदेशे धार्मिके राज्ये सुभिक्षे निरुपद्रवे ।
कृत्वा कुटीरं तत्रैकं प्राचिरैः परिवेष्टितम् ।।५।।
वापीकूपतडागं च प्राचीशादयर्वीत च ।
नात्युच्चं नातिनिम्नं च कुटीरं कीटवर्जितम् ।।६।।
सम्यग्गोमयलिप्तं च कुटीरं तत्र निर्मितम् ।
एवं स्थानेषु गुप्तेषु प्राणायामं समभ्यसेत् ।।७।।

अच्छे देशमें धर्मवान् राजाके राज्यमें अच्छे अच्छे तरहके भोजन होते हों वहां और जहां कुछु उपद्रव न हो तहां एक कुटी (मकान) बनावे वाके चारों ओर भींत आदिसे घेर देवे और वा भींतादिके भीतर कुआ बावड़ी तलाव होना चाहिये वो कुटी न तो ऊंची होइ न बहुत नीची होय और कोई जानवर वहां न होइ और गोबरसो लिपी रहे ऐसी कुटी निर्माण करे ऐसे जगह काऊकों जाहिर न हों वहां प्राणायाम साधनो चाहिये ।।५।।७।।

कालनिर्णय:

हेमंते शिशिरे ग्रीष्मे वर्षायां च ऋतौ तथा ।
योगारम्भं न कुर्वीत कृतो योगो हि रोगदः ।।८।।

हेमंतऋतु शिशिरऋतु ग्रीष्मऋतु और वर्षाऋतु इनमें जो योगकौ आरंभ कियो जाय तौ रोग पैदा करै है अर्थात् इन ऋतुनमें योगको आरंभ न करनो ।।८।।

वसंते शरदि प्रोक्तं योगारंभं समाचरेत् ।
तथा योगी भवेत्सिद्धो रोगान्मुक्तो भवेद्ध्रुवम् ॥९॥

वसंतऋतु और शरद्ऋतुमें योगको आरंभ करै इनमें जो योगारंभ करै तौ योग सिद्धि होकर सबरे रोगनसे जरूर छूटे ॥९॥

चैत्रादिफाल्गुनान्ते च माघादिफाल्गुनान्तिके ।
द्वौ द्वौ मासौ ऋतुभोगौ अनुभावश्चतुश्चतुः ॥१०॥

चैतके महीनेसो लेकें फागुनके अंततक छः ऋतु हैं तथा माहके आदिसों फागुनके अंततक दो दो महीनानमें एक एक ऋतु होइ तथा अनुमानसों दो महीना दस दस दिनकी ऋतु होय हैं ॥१०॥

वसंतश्चैत्रवैशाखौ ज्येष्ठाषाढौ च ग्रीष्मकः ।
वर्षा श्रावणभाद्राभ्यां शरदाश्विनकार्तिकौ ॥११॥

चैत वैशाख तौ वसंतऋतु है, जेठ आषाढ़ ग्रीष्म (गरमी) की ऋतुके हैं; श्रावण भादों वर्षाऋतु हैं क्वार कार्तिक शरद ऋतुके हैं, यहां हेमंत शिशिर नहीं कही ॥११॥

अनुभावं प्रवक्ष्यामि ऋतूनां च यथोदितम् ।
माघादिमाधवान्तेषु वसंतानुभवश्चतुः ॥१२॥
चैत्रादि चाषाढांतं च निदाघानुभवश्चतुः ।
आषाढादि चाश्विनांतं प्रावृषानुभवश्चतुः ॥१३॥
भाद्रादिमार्गशीर्षान्तं शरदोनुभवश्चतुः ।
कार्तिकादिमाघमासान्तं हेमंतानुभवश्चतुः ।
मार्गादिचतुरोमासान् शिशिरानुभवं विदुः ॥१४॥

माहसों वैशाखतक चार महीना वसंतऋतु अनुभव होय है फिर चैतसों आषाढ़के अंततक गीष्मऋतु अनुभव होइ है और आषाढ़सों क्वारके अंततक प्रावृष (वर्षा) अनुभव होती है, भादोंसे अगहनके अंततक शरद् अनुभव होइ है और कार्तिकसों माहके अंततक हेमंतऋतु अनुभव होइ है और अगहनसे चार महीना शिशिरऋतु अनुभव होइ है सो ये अनुभव ऋतुनको यथायोग कहत भयो ॥१२॥१४॥

वसंते वापि शरदि योगारंभं समाचरेत् ।
तथा योगो भवेत्सिद्धो विनायासेन कथ्यते ॥१५॥

वसंत अथवा शरद्में योग आरंभ करै तौ विना परिश्रम योग सिद्ध हो जायगौ ये योगीनने कह्यो है ॥१५॥

मिताहारः

मिताहारं विना यस्तु योगारंभं तु कारयेत् ।
नानारोगो भवेत्तस्य किंचिद्योगो न सिद्ध्यति ॥१६॥

जो नर अंदाज न बांधकर भोजन करै है और योगकौ आरंभ करै है वो बहुत रोगनसों व्याप्त होय है और वाको वेकहू योग (विद्या) सिद्ध नहीं होइ है ॥१६॥

शाल्यन्नं यवपिंडं वा गोधूमपिंडकं तथा ।
मुद्गं माषचणकादि शुभ्रं च तुषवर्जितम् ॥१७॥

जो कोउ योग कियो चाहें तौ वो शालि (चावल) जौकी रोटी गेहूंकी रोटी मूंग उर्द वा चनाकी दार जो खूव झक्क तुष (भूसी) रहित भोजन करै ॥१७॥

पटोलं पनसं मानं कंकोलं च शुकाशकम् ।
द्राढिकां कर्कटीरम्भोदुम्बरीकंटकंटकम् ॥१८॥

परवल कटहर कंकोल करेल आढकी (अरुई) कांकड़ी केला गूलर चौराई आदिको शाक भोजनमें काम लावे ॥१८॥

आमरंभां बालरंभां रंभादंडं च मूलकम् ।
वार्ताकीमूलकं ऋद्धि योगी भक्षणमाचरेत् ॥१९॥

आम गहर तथा कच्ची गहर केलाके गुच्छाकौ दंडा केलाकी जड़ और बैंगन मुरी ऋद्धि (औषध) इन सबके साग योगनिको खाने चाहिये ॥१९॥

बालशाकं कालशाकं तथा पटोलपत्रकम् ।
पञ्चशाकं प्रशंसीयाद्वास्तुकं हिलमोचिकाम् ॥२०॥

कोमल (कच्चो) साग अपने काल (समय) भयो साग और परवलके पत्ता ये पांच साग (योगियोंको) प्रशंसाके योग्य हैं और बथुआ तथा हिलमोचिकादि ॥२०॥

शुद्धं सुमधुरं स्निग्धं उदरार्द्धविवर्जितम् ।
भुज्यते सुरसं प्रीत्या मिताहारमिमं विदुः ॥२१॥

स्वच्छ मीठे चीकने आधे पेट अर्थात् भरपेट नहीं ऐसे भोजनकों योगी सुंदरसयुत प्रीतिकर भोजन करै याकों मित (युक्त) आहार कहें हैं ॥२१॥

अन्नेन पूरयेदर्धं तोयेन तु तृतीयकम् ।
उदरस्य तुरीयांशं संरक्षेद्वायुचारणे ॥२२॥

आधे पेट भोजन करे तीसरे (भाग) जल पीये और चौथौ हिस्सा पेटको पवनको फिरवेकों बाकी रहनेदेवे ॥२२॥

कट्वम्ललवणं तिक्तं भृष्टं च दधि तक्रकम् ।
शाकोत्कटं तथा मद्यं तालं च पनसं तथा ॥२३॥
कुलत्थं मसुरं पाण्डुं कूष्माण्डं शाकदण्डकम् ।
तुम्बीकोलकपित्थं च कण्टबिल्वपलाशकम् ॥२४॥
कदम्बं जम्बिरं बिम्बं लकुनं लशुनं विषम् ।
कामरङ्गं प्रियालं च हिंगुशाल्मलिकेमुकम् ।
योगारम्भे वर्जयेत पथ्यं स्त्रीवह्निसेवनम् ॥२५॥

कडुवौ खट्टौ नोनको चरपरौ भूजे भये (चनादि) दही मठा बुरे साग शराब (नसाकी वस्तु) छुहारे कटहर और कुलथी मसूरकी दाल पांडु (पीतकाकों साग) पेठौ मर्शाके डाठरे घीया वेर कैथ (फल) कांटेवारी वेल पलाश (ढाक) कदंबके फूल जंभीरी लकुच लहसन विष कमरख प्याज हींग शेमर केमुक (गोभी) इनको योगके आरंभमें नहीं सेवै अर्थात् वर्जित हैं और रस्तामें चलनों; पराई नारी और आगि ये भी न सेवै ॥२३–२५॥

नवनीतं घृतं क्षीरं गुडशर्कादि चैक्षवम् ।
पञ्चरम्भां नारिकेलं दाडिमं मसिवासरम् ।
द्राक्षां तु नवनीं धात्रीं रसमम्लं विवर्जितम् ॥२६॥

नवनीत (माखन) घी दूध गुड़ शक्कर आदि गांडेकी चीप पांच तरहके केला अनार सोफ और मुनक्का नोनियां आंवरे और खट्टे रस वर्जित हैं ॥२६॥

एला जातिलवङ्गं च पौरुषं जम्बु जाम्बुलम् ।
हरीतकीं च खर्जूरं योगी भक्षणमाचरेत् ॥२७॥

इलाइची चमेली वा (जावित्री) लोंग बल करवेवारी दवा जामुन और कठजामुन हरडे छहारे ये वस्तु योगीको भोजनमें लेनी चाहिये ॥२७॥

लघुपाकप्रियं स्निग्धं यथा धातुप्रपोषणम् ।
मनोभिलषितं योज्यं योगी भोजनमाचरेत् ॥२८॥

जल्दी पकवेवारी तथा मनको प्रिय चिकनी और धातुनको पालवेवारी जो मनसे अच्छे लगे उनको योगी भोजनमें लेवे ॥२८॥

काठिन्यं दुरितं पूतिमुष्णं पर्य्युषितं तथा ।
अतिशीतं चातिचोग्रं भक्ष्यं योगी विवर्जयेत् ॥२९॥

कठिन चीज बरी पाप पैदा करवेवारी चीज सड्यो वास्यौ तथा बहुत ठंडी बहुत गरम ऐसे भोजन योगीको नहीं सेवन करने चाहिये ॥२९॥

प्रातः स्नानोपवासादिकायक्लेशविधिं विना ।
एकाहारं निराहारं यामान्ते च न कारयेत् ॥३०॥

सवेरेकौ न्हान्हों उपवास (भूखों रहनों) अंगकौ दुःख देवेवारे काम और विधिरहित और एक समयही खानों तथा नहीं खानो एक प्रहर पीछें भोजन ये न करने ॥३०॥

एवं विधिविधानेन प्राणायामं समाचरेत् ।
आरंभे प्रथमं कुर्यात् क्षीराज्यं नित्यभोजनम् ।
मध्याह्ने चैव सायाह्ने भोजनद्वयमाचरेत् ॥३१॥

यही विधि विधानसों प्राणायाम करनो चाहिये पहले प्राणायाम करे तब दूध घी नित्य भोजन में पीनो चाहिये और दुपहर तथा संध्याके समय इन दोही समयमें योगी भोजन करै ॥३१॥

नाडीशुद्धिः

कुशासने मृगाजिने व्याघ्राजिने च कम्बले ।
स्थूलासने समासीनः प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः ।
नाडीशुद्धिं समासाद्य प्राणायामं समभ्यसेत् ॥३२॥

प्राणायाम साधनसों पहले नाड़ी शुद्ध करले फिर प्राणायाम साधै पूर्व कुशासनमें वा मृगछालापें वा वाघम्बरपें वा कंबलपें बैठे छोटो होय चाहे मोटौ पूर्वकी ओर मुख कर वा उत्तरकी ओर मुख करके बैठे ॥३२॥

नाडीशुद्धिं कथं कुर्यान्नाडीशुद्धिस्तु कीदृशी ।
तत्सर्वं श्रोतुमिच्छामि तद्वदस्व दयानिधे ॥३३॥

हे दयानिधे ! नाड़ीशुद्धि कौन भांति करनी चाहिये और नाड़ी शुद्धिके कहा लक्षण हैं ता सबके सुनवेकी मेरी इच्छा है सो आप ताकों कहौ ॥३३॥

मालाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव गच्छति ।
प्राणायामः कथं सिद्धिस्तत्त्वज्ञानं कथं भवेत् ।
तस्मादादौ नाडीशुद्धिं प्राणायामं ततोभ्यसेत् ॥३४॥

मालाकी तरह गुही भई नाडीनके भीतर पवन घुसके गमन नहीं कर सकै है तासों प्राणायाम कैसे सिद्धि होवै और तत्त्वज्ञानहू नहीं होय सकै है तासों पहले नाडीशुद्धि कर फिर प्राणायामकौ अभ्यास (साधन) करै ॥३४॥

नाडीशुद्धिर्द्विधा प्रोक्ता समनुर्निर्मनुस्तथा ।
बीजेन समनुं कुर्यान्निर्मनुं धौतिकर्मणा ॥३५॥

नाडीशुद्धि दो तरहसों होय है एक तौ समनु दूसरे निर्मनु कह्यौ है समनु तौ वह जो बीजमंत्रसों कीयौ जाय और धौतिकर्म (पहले कह आये) तासों करे वे सो निर्मनु नाड़ी शुद्धि कहे हैं ॥३५॥

धौतिकर्म पुरा प्रोक्तं षट्कर्मसाधने यथा ।
शृणुष्व समनुं चंड नाडीशुद्धिं यथा भवेत् ॥३६॥

हे चंडकापालि ! पहले छः कर्मके साधनमेंही धौतिकर्म कह आये और नाडीशुद्धि जैसे होई सो तू सुन ॥३६॥

उपविश्यासने योगी पद्मासनं समाचरेत् ।
गुर्वादिन्यासनं कुर्याद्यथैव गुरुभाषितम् ।
नाडीशुद्धिं प्रकुर्वीत प्राणायामविशुद्धये ॥३७॥

योगी पद्मासन लगाय करकें बैठे और गुरुआदिक न्यास कर तथा गुरुजीनें सिखायो, कह्यौ तैसे करे तौ नाड़ी शुद्धि होई है प्राणायाम शुद्धिके लिये ॥३७॥

वायुबीजं ततो ध्यात्वा धूम्रवर्णं सतेजसम् ।
चंद्रेण पूरयेद्वायुं बीजं षोडशकैः सुधीः ॥३८॥
चतुःषष्ट्या मात्रया च कुम्भकेनैव धारयेत् ।
द्वात्रिंशन्मात्रया वायुं सूर्यनाड्या च रेचयेत् ॥३९॥

तब ध्यान करे वायुबीज (यं) कौ केसौ है वायुबीजकौ वर्ण तौ ताको धूम्र (धूआं) के समान तेजसहित ये जो मंत्र है ताकौ वांए नाकके छेदसो सोलह वार जपतौ (वायुको खैंचे) और चौसठ वार जपतौ दोनों नाकके छेद बंद कर वायु (पवन) को ठहरावै ऐसे ही बत्तीस वार जपतौ नाकके दायें छेदसों वायु (पवन) को निकार दे ॥३८॥३९॥

नाभिमूलाद्वह्निमुत्थाप्य ध्यायेत्तेजोवनीयुतम् ।
वह्निबीजषोडशेन सूर्यनाड्या च पूरयेत् ॥४०॥
चतुःषष्ट्या च मात्रया कुंभकेनैव धारयेत् ।
द्वात्रिंशन्मात्रया वायुं शशिनाड्या च रेचयेत् ॥४१॥

टूंडीकी जड़ अग्नितत्त्वकी जगह है सो वाको ध्यान कर दीप्त करैं धरतीतत्त्वकों वामें मिलावै फिर अग्निबीज जो (रं) ताकौ सोलै वार जप करतौ भयौ नाकके दांये छेदसों पवनको खेंचे ऐसेही चौसठ वार (रं) जपतो भयौ दोनों सुर नाकके छेद मूंद जपतौ भयो डाटै और वत्तीसवार वायुमंत्रके बीजकौं जपतौ भयो नाकके वायें छेदसों निकास देय ॥४०॥४१॥

नासाग्रे शशिधृग्बिम्बं ध्यात्वा जोत्स्नासमन्वितम् ।
ठं बीजं षोडशेनैव इड्या पूरयेन्मरुत् ॥४२॥
चतुः षष्ट्या मात्रया च वं बीजं नैव धारयेत् ।
अमृतं प्लावितं ध्यात्वा नाडीधौतिं विभावयेत् ।
लकारेण द्वात्रिंशेन दृढं भाव्यं विरेचयेत् ॥४३॥

फिर नाकके आगेके भागमें किरणनिके सहित चंद्रको ध्यान करतौ भयौ (ठं) जो बीज है ताकों सोलै वार जप करतौ भयो नाकके वायें रंध्र (छेद) सों वायु (पवन) कों हौले हौले खेंचे और चौंसठ वार (मात्रा) जपै (वं) बीज को जपतौ भयौं (दोनों छेदनिसों रोके) और ध्यान करै कि

नाकके आगेके भागमें रहवेवारौ चंद्रविंब ताम्सों मानों अमृत गिरे है तासो अंगकी सबरी नाड़ी धुइ रही है ऐसे ध्यान कर (लं) बीज ताकों बत्तीस वार जपतौ भयो नाकके ढांये सुर (छेद) सों निकार देय ॥४२॥४३॥

एवंविधां नाडीशुद्धिं कृत्वा नाडीं विशोधयेत् ।
दृढो भूत्वासनं कृत्वा प्राणायामं समाचरेत् ॥४४॥

याही नाड़ीशुद्धिसे नाड़ीनको झक्क करके मजबूतीसों आसन मारके प्रिय प्राणायामकौ अभ्यास करनों ॥४४॥

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा केवली चाष्टकुंभिकाः ॥४५॥

आठ तरहकौ कुंभक प्राणायाम है सहित, सूर्यभेद, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा, केवली ॥४५॥

सहितो द्विविधः प्रोक्तः प्राणायामं समाचरेत् ।
सगर्भो वीर्य्यमुच्चार्य निर्गर्भो बीजवर्जितः ॥४६॥

कुंभकप्राणायाम सहित नामक दो तरहकौ है एक सगर्भ और दूसरौ निगर्भ जा कुंभकमें वीजमंत्र बोल करके साधन कर्यौ जाय वो तो सगर्भ कह्यो जाय है और जामें वीज मंत्र न वोल्यो जाय वह निर्गर्भ कह्यो जाय है ॥४६॥

प्राणायामं सगर्भं च प्रथमं कथयामि ते ।
सुखासने चोपविश्य प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः ।
ध्यायेद्विधिं रजोगुण्यं रक्तवर्णमवर्णकम् ॥४७॥

सगर्भ जो प्राणायाम है ताकों पहले कहों हों सुखासनपैं पूरवकी ओर मुख करके या उत्तरकी ओर मुख करके बैठे फिर ब्रह्माकौ ऐसे ध्यान करे मानों रजोगुणसहित लाल है रंग जाकौ और (अ) वर्ण स्वर रूप जाकौ ॥४७।

इडया पूरयेद्वायुं मात्रया षोडशैः सुधीः ।
पूरकान्ते कुंभकाद्ये कर्तव्यस्तूड्डियानकः ॥४८॥

नाकके वायें रंध्र (छेद) सों सोलह वेर जपतौ भयो (अं) या मंत्रको वायुकों खेंचै और वाही समय कुंभक (रोकवे) के पहलें पूरक (वायु खेंचवे) के पीछें उड्डीयान करनों चाहिये ॥४८॥

हरिं सत्त्वमयं ध्यात्वा उकारं कृष्णवर्णकम् ।
चतुःषष्ट्या च मात्रया कुंभकेनैव धारयेत् ॥४९॥

फिर सत्त्व (गुण) मय हरि (विष्णु) को ध्यान करै उकाररूप कारो है रंग जाको चौसठ वेर जप (मनसे) करतौ भयौ नाकके छेदनसों वायु ठेरावे ॥४९॥

तमोमयं शिवं ध्यात्वा मकारं शुक्लवर्णकम् ।
द्वात्रिंशन्मात्रया चैव रेचयेद्विधिना पुनः ॥५०॥

फिर तमो (गुण) मय शिव (महादेव) तिनकौ ध्यान करनीं और मकार जो सुपेद रंग ताकों बत्तीस वेर जपकें फिर विधिसों तथा (द्विज) निकारे (नाकको) दांये छेदसों ॥५०॥

पुनः पिङ्गलयापूर्य कुंभकेनैव धारयेत् ।
इडया रेचयेत्पश्चात्तद्बीजेन क्रमेण तु ॥५१॥

पीछें नाकके दायें छेदसों वायुकों खैंचे घडावत् दोनों छेदनसों रोकै और नाकके बांये छेदसों पवनकों निकार दे पहले जो बीज कह आये हैं तिनके क्रमसों ॥५१॥

अनुलोमविलोमेन वारं वारं च साधयेत् ।
पूरकांतं कुंभकांतं धृतं नासापुटद्वयम् ।
कनिष्ठानामिकाङ्गुष्ठैस्तर्जनीमध्यमां विना ॥५२॥

फिर वेर बेर बायें छेद (नाकके) सों खेंचे और नाकके दांयें छेदसों निकारे फिर दांये छेदसों पवन खेंचै और बायें नाकके छेदसों निकारे (और दोनों छेदसों रोकें) खेंचवेके अंततक और रोकवेके अंततक दोनों नाकके छेदनकों छोटी अंगुरिया तथा छोटीके पासकी और अंगूठा और अंगूठाके पासकी अंगुरिया इन चारोंसों नाककों पकरै ॥५२॥

प्राणायामं च निर्गर्भं विना बीजेन जायते ।
एकादिशतपर्यंतं पूरकुंभकरेचनम् ॥५३॥

निर्गर्भ जो प्राणायाम दूसरी विधि कह आये, वो विना बीज (मंत्र) के कीयो जाय है सो पूरक कुंभक रेचक ये तीन प्राणायाम मिलके एक सौ वारह मात्रातक हैं ॥५३॥

उत्तमा विंशतिर्मात्रा मात्रा षोडश मध्यमा ।
अधमा द्वादशी मात्रा प्राणायामास्त्रिधा स्मृताः ॥५४॥

उत्तम तौ बीस मात्रावारौ है और मध्यम सोलह मात्रावारौ है और अधम बारह मात्रावारौ ऐसें प्राणायाम तीन तरहकी है ॥५४॥

अधमाज्जायते धर्मं मेरुकंपं च मध्यमात् ।
उत्तमाच्च भूमित्यागस्त्रिविधंसिद्धिलक्षणम् ॥५५॥

अधम प्राणायामसों धर्म (पसीना) होइ है और मध्यम प्राणायामसों पीठ कांपवे लगजाय है और उत्तम प्राणायामसों देह धरतीसो अलग अर्थात् (आकाश में पोंचजाय ऐसें तीन तरह प्राणायामकी सिद्धिके लक्षण हैं ॥५५॥

प्राणायामात् खेचरत्वं प्राणायामाद्रोगनाशनम् ।
प्राणायामाद्बोधयेच्छक्ति प्राणायामान्मनोन्मनी ॥
आनंदो जायते चित्ते प्राणायामी सुखी भवेत् ॥५६॥

प्राणायाम साधनसों आकाशमें उड़वेकी (ताकत) प्राप्ति होइ है और प्राणायामसों प्राण (देह) के तथा (प्राणपवन) के रोग नाश होइ हैं और प्राणायामसों बोध (बुद्धि) रूप शक्ति (ताकत होइ है और प्राणायामसों ज्ञान लाभ होइ है और प्राणायामसों मनकों आनंद होइ है और प्राणायाम करवेवारौ सुखी होइ है ॥५६॥

सूर्यभेदककुंभकविधिः

कथितं सहितं कुंभं सूर्यभेदनकं शृणु ।
पूरयेत्सूर्यनाड्या च यथाशक्ति बहिर्मरुत् ॥५७॥
धारयेद्बहुयत्नेन कुंभकेन जलंधरैः ।
यावत्स्वेदो नखकेशाभ्यां तावत्कुर्वंतु कुंभकम् ॥५८॥

पहले सहित कुंभक तौ कह आये अब सूर्यभेद (प्राणायाम को सुन पहले नाककें दायें छेदसो (वायु) पवनकों खेंचै जितनी ताकत हौ तितनी ताकत हौ तितनी और जालंधर (मुद्राकों) जतनसों धारण करै और नाकके दोनों छेदसों पवनको रोकै रहै जबतक नख, वारसों पसीना न आवै तबतक धारण करै ॥५७॥५८॥

प्राणोपान: समानश्चोदानव्यानौ तथैव च ।
नाग: कूर्मश्च कृकलो देवदत्तो धनंजय: ।।५९।।

प्राण (हृदयमें रहवेवारौ पवन) अपान, समान, उदान, व्यान ये पांच तरहके पवन अंगमें रहैं हैं और नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त, धनंजय ये पांच तरहके पवन अंगसों बाहर रहें हैं ।।५९।।

हृदि प्राणो वहेन्नित्यमपानो गुदमंडले ।
समानो नाभिदेशे तु उदान: कंठमध्यग: ।।६०।।
व्यानो व्याप्य शरीरे तु प्रधाना: पंच वायव: ।
प्राणाद्या: पंच विख्याता नागाद्या: पंच वायव: ।।६१।।

प्राणपवन हृदयमें रहे है नित्य और अपान (वायु) गुदमंडलमें रहे है और समानपवन टूंडीके देशमें रहै और उदान (पवन) कंठके भीतर रहै है और व्यान (पवन) सबरे शरीरमें रहे है ये पांच वायु (पवन) प्रधान हैं और नाग आदि वायु पांचौ अप्रधान हैं ।।६०।।६१।।

तेषामपि च पंचानां स्थानान्यपि वदाम्यहम् ।
उद्गारे नाग आख्यात:कूर्मस्तून्मीलने स्मृत: ।।६२।।
कृकल: क्षुत्कृते ज्ञेयो देवदत्तो विर्जृभणे ।
न जहाति मृते क्वापि सर्वव्यापी धनंजय: ।।६३।।

वे पांचौ तरहके पवन जा जा जगह हैं वे हम कहें हैं नागनामको पवन डकार लैवेमें आवे है और कूर्मनामको पवन आंखकी पलक मी चवे खोलवेमें है और कृकर नामके पवन छीकमें है और हिचकीमें देवदत्तनामकौ पवन है सो जंभाइमें है और धनंजयनामकी पवन मरे पीछें तक अंगमें रहे है ।।६२–६३।।

नागो गृह्णाति चैतन्यं कूर्मश्चैव निमेषणम् ।
क्षुधा तृट् कृकरश्चैव चतुर्थेन तु जृम्भणम् ।
भवेद्धनञ्जयाच्छब्दं क्षणमात्रं न नि:सरेत् ।।६४।।

नाग (नामकों पवन) चैतन्यता (हुसयारी) को ग्रहण करै और कूर्म (नामकी पवन) आंखोंकी पलकोंमें रहता है और कृकर (नामकौ पवन) भूंख प्यासी और देवदत्त नामकौ (पवन) उवासीको ग्रहण करे है और

धनंजय (नामकी पवन) अंगसों एक क्षण वाहर नहीं होइ है और बोलवे (वगैरे) का काम होता है ।।६४।।

सर्वे ते सूर्यसंभिन्ना नाभिमूलात्समुद्धरेत् ।
इडया रेचयेत्पश्चाद्धैर्येणाखंडवेगतः ।।६५।।
पुनः सूर्येण चाकृष्य कुंभयित्वा यथाविधि ।
रेचयित्वा साधयेत्तु क्रमेण च पुनः पुनः ।।६६।।

सवरे सूर्यभेदक (प्राणायाम) टूंडीकी जड़सों उठायकर पीछे धीरजके संग बड़े वेगसों नाकके वांयें छेदसों पवन निकार दे फिर नाकके दांये छेदसों पवनको खेंचे और दोनों नाकके छेदसों रोके विधिसहित ऐसेही खेंचे और रोंके बेर बेर क्रमसों ।।६५—६६।।

सूर्यभेदककुंभकफलम्

कुभंकः सूर्यभेदस्तु जरामृत्युविनाशकः ।
बोधयेत्कुंडलीं शक्ति देहानलविवर्द्धनः ।
इति के कथितं चंडं सूर्यभेदनमुत्तमम् ।।६७।।

सूर्यभेदक कुंभक बुढापो तथा मौतको नाश करै है और कुंडलींशक्तिको तेज करै है और अंगस्थ अग्निको बढ़ावै है हे चंडकापालि! यह सूर्यभेदक उत्तम प्राणायाम संपूर्ण भयौ ।।६७।।

उज्जायीकुंभकविधिः

नासाभ्यां वायुमाकृष्य वायुं वक्त्रेण धारयेत् ।
हृद्गलाभ्यांसमाकृष्य मुखमध्ये च धारयेत् ।।६८।।

नाकसों पवनको खेंचकर मुखमें धरके रोके और हृदय और कंठके पवनको खेंचकर मुखके (वायुके) बीच (मिलायके) धारण करै।।६८।।

मुखं प्रक्षाल्य संवंद्य कुर्याज्जालंधरं ततः ।
आशक्ति कुंभकं कृत्वा धारयेदविरोधतः ।।६९।।

तव मुख धोयके वंदनाकरके जालंधरमुद्रा तवतक करै और कुभक-प्राणायाम (वायुको रोकनों) तवतक करै जवतक बल रहे तवतक धारण करै रहै और निकार देवे ।।६९।।

उज्जायीकुंभकफलम्

उज्जायीकुंभकं कृत्वा सर्वं कार्याणि साधयेत् ।
न भवेत्कफरोगं च क्रूरवायुरजीर्णकम् ।।७०।।
आमवातं क्षयं कासं ज्वरप्लीहा न विद्यते ।
जरामृत्युविनाशाय चोज्जायीं साधयेन्नरः ।।७१।।

उज्जयीकुंभक (प्राणायामको रोकनो) सबरे कामनकौ साधैं है और कफके रोग नहीं होइ हैं वादीको कोप तथा तापतिल्ली नहीं रहे है और बुढ़ापौ तथा मौतको नाश करै है जो मनुष्य उज्जायीकुंभक (प्राणायाम) को साधैं है ताकैं ।।७०।।७१।।

शीतलीकुंभकविधिः

जिह्वया वायुमाकृष्य उदरे पूरयेच्छनैः ।
क्षणं च कुंभकं कृत्वा नासाभ्यां रेचयेत्पुनः ।।७२।

जीभसों पवनको खेंचकर पेटमें हौले हौले भरले फिर क्षण (पलक) भर रोकके पीछे नाकसो निकार दे यह शीतलीकुंभक प्राणायामकी विधि है ।।७२।।

शीतलीकुंभकफलम्

सर्वदा साधयेद्योगी शीतलीकुंभकं शुभम् ।
अजीर्णकफपित्तं च न च तस्य प्रजायते ।।७३।।

सदाही साधनो चाहिये योगीजननकौ शुभ जो शीतलीकुंभक (प्राणायाम) सों कफ पित्त अजीर्णक रोग कभी नहीं होइ हैं ।।७३।।

भस्त्रिकाकुंभकविधिः

भस्त्रेव लोहकाराणां यथा क्रमेण संभ्रमेत् ।
तथा वायुं च नासाभ्यामुभाभ्यां चालयेच्छनैः ।।७४।।

जैसे लुहारकी धोंकनी वेर वेर वायु (पवन) को खेंचे (छोड़े) है वैसेही पवनको नाकके दोनों छेदनसों खेंचके पेटमें हौले हौले भरे ।।७४।।

एवं विंशतिवारं च कृत्वा कुर्याच्च कुंभकम् ।
तदंते चालयेद्वायुं पूर्वोक्तं च यथाविधि ।।७५।।

त्रिवारं साधयेदेनं भस्त्रिकाकुंभकं सुधीः ।
न च रोगं न च क्लेशमारोग्यं च दिने दिने ॥७६॥

ऐसे बीस वेर खेंच करके कुंभक (प्राणायाम) रोकनों पवनकों ता पीछे पहले जैसी विधिसों कह आये वैसेही वायुको निकार दे ऐसे बुद्धिमान् तीन वेर याको साधैं भस्त्रिका कुंभक नामके प्राणायामको) ताके न रोग होय न क्लेश होय और नित्यप्रति आरोग्य रह्यो आवै अर्थात् मरे नहीं ॥७५॥७६॥

भ्रामरीकुंभकविधिः

अर्द्धरात्रिगते योगी जंतूनां शब्दवर्जिते ।
कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां कुर्यात्पूरककुंभकम् ॥७७॥

जब आधी रात वीत जाय तब योगी (जन) एकांत जगह जहां जीव-जंतुकोभी बोल न सुन पड़तो होय तहां बैठ दोनों हाथनसो कान मूंदकर पूरक (खेंचनो) कुंभक रोकनौ प्राणायामको करै ॥७७॥

शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमंतर्गतं शुभम् ।
प्रथमं झिंझीनादं च वंशीनादं ततः परम् ॥७८॥
मेघझर्झरभ्रमरीघंटाकांस्यं ततः परम् ।
तुरीभेरीमृदंगादिनिनादानकदुंदुभिः ॥७९॥

भीतरका जो नाद (सुर, आवाज) है सुंदर उसको दांये कानसों सुने वह पहले झींगुरकोसों नाद (सुर) मालूम होइगौ फिर वंसीकौसो शब्द होइगौ फिर तासों परें बादरकी गर्जनासी होइगी फिर झांझकीसी आवाज आवेगी फिर भौंरीकोसो घोस होइगो और वासों परे घंटा तथा काँसेके पात्रकेसो घोष होइगौ फिर तुरईकौसो शब्द तथा भेरी मृदंग और नगाडोंकोसो घोष सुन परेगौ ॥७८–७९॥

एवं नानाविधं नादं जायते नित्यमभ्यसात् ।
अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः ॥८०॥
ध्वनेरंतर्गतं ज्योतिर्ज्योतेरंतर्गतं मनः ।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ।
एवं च भ्रामरी सिद्धिः समाधिसिद्धिमाप्नुयात् ॥८१॥

ऐसे नानातरहके राग (सुर) रोजके अभ्याससों सुनवेमें आवे हैं और वह शब्द अपने आपही होता है वा शब्दकी अद्भुत ध्वनि हैं और वाही ध्वनिसों ज्योति पैदा है और ज्योतिके अंतर्गत मन है और तव मन वामें मिल जाय है वही परम (श्रेष्ठ) भगवान् विष्णुको परम पद है ऐसी तरह भामरी (कुंभक) सों समाधिसिद्धि हो जाय है ॥८०–८१॥

जपादष्टगुणं ध्यानं ध्यानादष्टगुणं तपः ।
तपसोऽष्टगुणं गानं गानात्परतरं नहि ॥८२॥

जपसों आठगुनों (मन) ध्यानमें (लगे है) और ध्यनसों आठगुणो (मन) तपमें और तपसों आठगुणो (मन) गायवेमें, गायवेसों परें और कोई भी नहीं है ॥८२॥

मूर्च्छाकुंभकविधिः

सुखेन कुम्भकं कृत्वा मनश्च भ्रुवोन्तरम् ।
संत्यज्य विषयान्सर्वान्मनोमूर्च्छासुखप्रदम् ।
आत्मनि मनसो योगादानन्दो जायते ध्रुवम् ॥८३॥

मुखसों कुंभक (प्राणायाम) करके और मनकों भौंहनिके बीचमें (दृष्टि) द्वारा लगाय देवे और सवरे विषयनकों छोड़कें मनकों सुखके करवेवारौ मूर्च्छा-की तरह कर देवे और मनके योगसों (परमात्मा) आत्मामें (लय होयकें) जरूर आनंद होय है ॥८३॥

केवलीकुंभकविधिः

हंकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।
षट्शतानि दिवा रात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः ।
अजपां नाम गायत्रीं जीवो जपति सर्वदा ॥८४॥

श्वास पवन जव भीतरसों बाहर आवै है तब (हं) यह वर्ण बोल्यो जाय है और जबश्वास भीतरको जाय है तव (सः) वर्ण बोल्यो जाय है ये दोनों वर्ण समूह इक्कीस हजार छः सौ दिन रातमें वोले (श्वास-लिये) जाय हैं। इन दोनों वर्णोंका निदान तन्त्रकारने ऐसे कियो है कि (हं) शिव (आनंद) है और (सः) शक्ति है तासों याको अजपा नाम गायत्री कहें हैं और सबही जीव जपें हैं ॥८४॥

मूलाधारे यथा हंसस्तथा हि हृदिपङ्कजे ।
तथा नासापुटे द्वंद्वे त्रिविधं सङ्गमागमम् ।।८५।।

लिंग और गुदाके वीचमें हृदयकमल तथा नाकके दोनों छेदमें और इडापिंगला नाड़ीनमें इन तीनों जगहमें (अजपाकी अपने आप) निकसनो धसनो होयो करै है ।।८५।।

षण्णवत्यङ्गुलीमानं शरीरं कर्मरूपकम् ।
देहाद्बहिर्गतो वायुः स्वभावो द्वादशाङ्गुलिः ।।८६।।
गायने षोडशाङ्गुल्या भोजने विंशतिस्तथा ।
चतुर्विंशांगुलिः प्रस्थो निद्रायां त्रिंशदङ्गुलिः ।
मैथुने षट्त्रिंशदुक्तं व्यायामे च ततोऽधिकम् ।।८७।।

वायु छः अंगुलिके समान शरीरके कर्मको रूप है और देहसों बाहिर निकरे पीछें पवनको स्वभाव बारह अंगुलिको होइहै और गायवेमें सोलह अंगुलि और भोजनमें बीस अंगुलि और मार्ग चलवेमें चौवीस अंगुलि और नींदमें तीस अंगुलि और रति (विषय) में छत्तीस कहे और परिश्रम मो अधिक होइ है ।।८६।।८७।।

स्वभावेऽस्य गते न्यूनं परमायुः प्रवर्द्धते ।
अयुःक्षयोऽधिके प्रोक्तो मारुते चान्तराद्गते ।।८८।।

स्वभाव (अपने भाव) सों जो इनकी गति (चालनो) थोरो होइ तौ परमायु (अवस्था उमर) बढ़ै और अंतरगत पवन (श्वास) वहुत चलें तौ उमर घट जाय ऐसा योगिजन कहे हैं ।।८८।।

तस्मात्प्राणे स्थिते देहे मरणं नैव जायते ।
वायुना घटसंबंधे भवेत्केवलकुम्भकम् ।।८९।।

जवतक प्राणवायु (हृदयमें रहवेवारौ पवन) अंगमें रहे है तवतक मौत नहीं आवै है सो या अंगकी रक्षाके संबंधमें वा प्राणपवनके संग केवल कुंभक (प्राणायाम) है ।।८९।।

यावज्जीवो जपेन्मंत्रमजपासंख्यकेवलम् ।
अद्यावधि धृतं संख्याविभ्रमं केवलीकृते ॥९०॥
अत एव हि कर्तव्यः केवली कुम्भको नरैः ।
केवली चाजपासंख्या द्विगुणा च मनोन्मनी ॥९१॥

मनुष्य जवतक जीवे तवतक केवल अजपाकों संख्यावत जपतौ है जैसी पहलें संख्या कर आये तासों विभ्रम और केवली करैवे (सो सिद्धि होइ है) तासों नरोंकों केवलीही (प्राणायाम) करनों चाहिये और अजपाकों दूनी कर केवली करे तौ मन बड़ी प्रसन्न हो जाय है ॥९०॥९१॥

नासाभ्यां वायुमाकृष्य केवलं कुम्भकं चरेत् ।
एकादिकचतुःषष्ठं धारयेत्प्रथमे दिने ॥९२॥

नाक (के दोनों छेदन) सो पवन खेंचके एक खाली (रोकनों) कुंभक करै और पहले दिन जवतक (अजपा) चौसठ वेर पूरी न होई तवतक धारण करतौ रहै ॥९२॥

केवलीमष्टधा कुर्याद्यामे यामे दिने दिने ।
अथवा पञ्चधा कुर्याद्यद्वा तत्कथयामि ते ॥९३॥

पहलें कह्यौ भयो केवलीकुंभकको रोज दिनमें आठवेर करनों अथवा आठ प्रहरमें आठ वार करनों तथा प्रतिदिन पांच वार (साधन करनों चाहिये) जैसा हम कहते हैं तैसैं ॥९३॥

प्रातर्मध्याह्नसायाह्ने मध्ये रात्रिचतुर्थके ।
त्रिसंध्यमथवा कुर्यात्स समाने दिने दिने ॥९४॥

सबेरे दुपहर संध्या और आधीरातके चौथे प्रहरमें अथवा तीनों संध्यानमें ठीक २ समयपे करै रोजकी रोज (केवली प्राणायाम जो पहलें कह आये हैं सो) ॥९४॥

पञ्चवारं दिने वृद्धिवारैकं च दिने तथा ।
अजपापरिमाणं च यावत्सिद्धिः प्रजायते ॥९५॥

जबतक यह केवली कुंभक (प्राणायाम सिद्धि न होइ तबतक रोज अजपाको प्रमाण एकबेर तथा पांचवार तथा (क्रमसों) बढ़ातो जाय ॥९५॥

प्राणायामं केवलीं च तदा वदति योगवित् ।
कुम्भके केवलीसिद्धौ किं न सिध्यति भूतले ॥९६॥

इति श्रीघेरण्डसंहितायां घेरण्डचंण्डकापालिसंवादे
प्राणायामप्रयोगो नाम पंचमोपदेशः ॥५॥

जब मनुष्य केवलीकुंभक साधन कर लेय है तब योगविद्याको जानवेवारो हो जाय है केवली कुंभक सिद्धि होयवेसों धरतीमें ऐसी कोऊ चीज नहीं है जो सिद्ध नहीं होय ॥९६॥

इति श्रीघेरण्डसंहितायां श्रीमथुरास्थदक्षगोत्रोद्भवचातुर्वेदि श्री ५
कल्याणचंदात्मजराधाचंदशर्मविरचितायां व्रजभाषाभाष्य
नामक व्रजभाषाटीकायां प्राणायामप्रयोगो नाम
पंचमोपदेशः ॥५॥

षष्ठोपदेश: ६

ध्यानयोग:

स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः ।
स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं तथा ।
सूक्ष्मं बिदुमयं ब्रह्म कुण्डली परदेवता ।।१।।

अत्र ध्यानयोगको कहते हैं–तामें ध्यान तीन तरहको कह्यो है। स्थूल ध्यान (वड़ा ध्यान), ज्योतिर्ध्यान (तेजकौ ध्यान) और सूक्ष्मध्यान (छोटौ ध्यान) उदाहरण–बड़ौ ध्यान तौ मूर्तिमय होइ है तथा ज्योतिर्ध्यान तेजमय होइ है छोटौ ध्यान सबरहित ब्रह्ममय होत है तथा कुंडलीसो परे जो देवतासों होय है ।।१।।

स्थूलध्यानविधि:

स्वकीयहृदये ध्यायेत् सुधासागरमुक्तमम् ।
तन्मध्ये रत्नद्वीपं तु सुरत्नवालुकामयम् ।।२।।

उपरोक्त समाधिको साधके हृदयमें ऐसो ध्यान करै मानों अमृतकौ समुद्र है ताकें बीचमें रत्न (हीरादि) मय नामक रत्नद्वीप है और तामें रत्नमय वालुकाकी उन्नति हो रही है ।।२।।

चतुर्दिक्षु निबतरुर्बहुपुष्पसमन्वितः ।
निम्बोपवनसंकूले वेष्टितं परिखा इव ।।३।।

तामें चारों ओर नीमके पेड़ वहुत फूलोंके सहित (शोभायमान) हो रहे हैं और वा नीमके फूलनिकी शोभा मानो किलेकी खाई है ऐसी लखै।।३।।

मालती मल्लिकाजातीकेशरैश्चंपकैस्तथा ।
पारिजातैः स्थलैः पद्मैर्गंधामोदितदिङ्मुखैः ॥४॥

और मालती और मल्लिका तथा चमेली केशर तथा चंपा और बकायन स्थलकमल इनकी सुगंधसों मानों दशों दिशा महक रही हैं ॥४॥

तन्मध्ये संस्मरेद्योगी कल्पवृक्षं मनोहरम् ।
चतुःशाखाचतुर्वेदं नित्यं पुष्पफलान्वितम् ॥५॥

ताके बीचमें ऐसो ध्यान (स्मरण) योगी करे कि एक कल्पवृक्ष है कैसो है (कल्पतरु) कि मनको हरवेवारो तामें हैं चार शाखा (डारी) चारों वेद तामें नित्यकर्मादि है फल फूलसहित ॥५॥

भ्रमराः कोकिलास्तत्र गुञ्जन्ति निगदन्ति च ।
ध्यायेत्तत्र स्थिरो भूत्वा महामाणिकमंडपम् ॥६॥

तिनमें भ्रमर (कर्म) कोकिला (सज्जन साधु) पढ़ रहे हैं और उपदेश करे रहे हैं फिर वा (पेड) कल्पतरुके (नीचे) स्थिर रहकें ऐसो ध्यान करै मानों माणिक्यको मंडप है ॥६॥

तन्मध्ये तु स्मरेद्योगी पर्यङ्कं सुमनोहरम् ।
तत्रेष्टदेवतां ध्यायेद्यद्ध्यानं गुरुभाषितम् ॥७॥

तामें ऐसौ स्मरण करै कि मानों एक पलंग (रत्नमय) मनको हरवेवारौ तामें अपने इष्टदेवकौ ध्यान करे जो गुरुजीने बतायौ होई ॥७॥

यस्य देवस्य यद्रूपं यथा भूषणवाहनम् ।
तद्रूपं ध्यायते नित्यं स्थूलध्यानमिदं विदुः ॥८॥

और वा देवके वाकें रूपके समान गहने तथा असवारी जाननी वैसोही वाके रूपकौ ध्यान करै याकों स्थूलध्यान कहें हैं ॥८॥

प्रकारांतरस्थूलध्यानविधिः

सहस्रारे महापद्मे कर्णिकायां विचिंतयेत् ।
विलग्नसहितं पद्मं द्वादशैर्दलसंयुतम् ॥९॥

ब्रह्मरंध्रमें सहस्रार नामक एक सहस्र (हजार) दलकौ कमल है तहां योगी याही रूपसों ध्यान करै किंवा महाकमलकी पत्तीनके वीचमें जो कर्णिका है वाहूमें बारह पत्ताकौ कमल है ॥९॥

शुक्लवर्णं महातेजो द्वादशैर्बीजभूषितम् ।
हसक्षमलवरयूंहसखफ्रें यथाक्रमम् ॥१०॥

वो (बारह दल) कमलको सुपेद रंग है और तेजसों चमकै है और वाके बारह पत्तानमें क्रमसों यह वीज (मंत्र) दीखें हैं ह, स, क्ष, म, ल, व, र, यूं, ह, स, ख, फ्रें, यह बीजमंत्र है ॥१०॥

तन्मध्ये कर्णिकायां तु अकथादि रेखात्रयम् ।
हलक्षकोणसंयुक्तं प्रणवं तत्र वर्त्तते ॥११॥

तामें जो कर्णिका है ताकें मध्यमें अ, क, थ, ये तीन अक्षर तीन रेखा और ह, ल, क्ष, ये तीन अक्षरनसों मिले भये तथा वीचमें ॐकार विराजै है ॥११॥

नादबिंदुमयं पीठं ध्यायेत्तत्र मनोहरम् ।
तत्रोपरि हंसयुग्मं पादुका तत्र वर्त्तते ॥१२॥

योगी ऐसो ध्यान करै मानों वहां नादबिंदुमय एक मनोहर सिंहासन बिछो है तापै एक जोड़ा हंसको वैठ्यौ है और खडामहू वर्तें हैं ॥१२॥

ध्यायेत्तत्र गुरुं देवं द्विभुजं च त्रिलोचनम् ।
श्वेतांबरधरं देवं शुक्लगंधानुलेपनम् ॥१३॥

और तहां ऐसे जो गुरुदेवको ऐसौ ध्यान करै मानो दो तौ तिनकी भुजा हैं और तीन हैं आंख जिनकी सुपेद धारण किये हैं कपड़ा जिनने सुपेदही है रंग जिनकौ और शुक्लगंध कियो है लेपन ॥१३॥

शुक्लपुष्पमयं माल्यं रक्तशक्तिसमन्वितम् ।
एवंविधं गुरुं ध्यानात् स्थूलध्यानं प्रसाध्यति ॥१४॥

और फूलनकी माला पहरे हैं लाल रंगकी शक्ति तिय के संग राजें हैं और ऐसे गुरुकौ ध्यान करवेसों स्थूल ध्यान साधित होता है ॥१४॥

ज्योतिर्ध्यानविधिः

कथितं स्थूलध्यानं तु तेजोध्यानं शृणुष्व मे ।
यद्ध्यानेन योगसिद्धिरात्मप्रत्यक्षमेव च ॥१५॥

स्थूल ध्यान तौ कह्यौ अब तेजोध्यान सुन, जाके ध्यानसों योगकी सिद्धि आत्मपरमात्मा प्रगट (जाहिर) हो जाय है ॥१५॥

मूलाधारे कुंडलिनी भुजंगाकाररूपिणी ।
जीवात्मा तिष्ठति तत्र प्रदीपकलिकाकृतिः ।
ध्यायेत्तेजोमयं ब्रह्म तेजोध्यानं परात्परम् ॥१६॥

मलाधार (गुदा) और लिंगमूलके बीचकी जगहमें कुंडलिनी (शक्ति) सांपके रूप तथा आकारसी है वहांही दीयाकी जोतकी तरह जीवात्मा (परमेश्वर)

विराजमान है तामें ज्योतिर्मय (तेजसहित) जो परमेश्वर हैं ताके तेजकौ ध्यान परात्पर है ॥१६॥

प्रकारांतरेण ज्योतिर्ध्यानविधिः

भ्रुवोर्मध्ये मनोर्ध्वे च यत्तेजः प्रणवात्मकम् ।
ध्यायेज्ज्वालावलीयुक्तं तेजोध्यानं तदेव हि ॥१७॥

दोनों भौंहनके बीचमें तथा मनके ऊपर जो ॐकार मय तेजवलीयुक्त जो शिखा है वही तेजोध्यान है अर्थात् ज्योतिर्ध्यान कह्यौ जाय है ॥१७॥

सूक्ष्मध्यानविधिः

तेजोध्यानं श्रुतं चंड सूक्ष्मध्यानं वदाम्यहम् ।
बहुभाग्यवशाद्यस्य कुंडली जागृता भवेत् ॥१८॥

हे चंडकापालि ! तेजोध्यान तौ सुन्यो अब सूक्ष्मध्यान कहों हों जाकी कुंडलिनी जाग उठै है वह बड़ी भागवान् है ॥१८॥

आत्मनः सह योगेन नेत्ररंध्राद्विनिर्गता ।
विहरेद्राजमार्गे च चंचलत्वान्न दृश्यते ॥१९॥

तब वो आंखनिके छेदनसों निकसकें आत्मासो मिलकें राजमार्गमें विहार करने लगै है और ऐसी चंचल हो जाय है कि काहूको नहीं दीखै है ॥१९॥

शांभवीमुद्रया योगी ध्यानयोगेन सिध्यति ।
सूक्ष्मध्यानमिदं गोप्यं देवानामपि दुर्लभम् ॥२०॥

तब योगी शांभवीमुद्राके योगसों ध्यान करै तौ सिद्धि हो जाय है यह सूक्ष्मध्यान बड़ोही गुप्त है और देवतानकोंभी दुर्लभ है ॥२०॥

स्थूलध्यानाच्छतगुणं तेजोध्यानं प्रचक्षते ।
तेजोध्यानाल्लक्षगुणं सूक्ष्मध्यानं परात्परम् ॥२१॥

स्थूलध्यानसों सौगुनों तेजोध्यान कह्यौ जाय है और तेजोध्यानसों लाखगुनों सूक्ष्मध्यान है तथा वह ध्यान दूरसों भी दूर हैं ॥२१॥

इति ते कथितं चंड ध्यानयोगं सुदुर्लभम् ।
आत्मा साक्षाद्भवेद्यस्मात्तस्माद्ध्यानं विशिष्यते ॥२२॥

इति श्रीघेरण्डसंहितायां घेरंडचंडकापालिसंवादे घटस्थयोगे ध्यानयोगो नाम षष्ठोपदेशः ॥६॥

हे चंडकापालि! मैंने तोसों यह सुदुर्लभ ध्यानयोग कह्यौ जासो आत्मा प्रकट हो जाय हैं याहींसों ध्यानयोग सबसो जादा है ॥२२॥

इति श्रीघेरंडसंहितायां श्रीमथुरादक्षगोत्रोद्भवचातुर्वेदिशर्मश्री १०५ बड़े चौवेश्रीकल्याणचंद्रात्मजभिषग्राधाचन्द्रविचितायां व्रजभाषाभाष्य-नामव्रजभाषाटीकायां ध्यानयोगो नाम षष्ठोपदेशः ॥६॥

सप्तमोपदेशः ७

समाधियोगविधिः

समाधिं च परं योगं बहुभाग्येन लभ्यते ।
गुरोः कृपाप्रसादेन प्राप्यते गुरुभक्तितः ॥१॥

समाधियोगसौ परें कोऊ योग है नहीं और वाकों बहुत भाग्यतासों पावैं है और गुरुकी कृपा तथा भक्तिसों तथा बडे अनुग्रहसों मिलैं हैं ॥१॥

विद्याप्रतीतिः स्वगुरुप्रतीतिरात्मप्रतीतिर्मनसः प्रबोधः ।
दिनेदिनेयस्य भवेत्स योगी सुशोभनाभ्यासमुपैतिसद्यः

जाकों विद्यामें (योगमें) विश्वास होइ और अपने गुरुकी प्रतीत राखैं और आत्मामें विश्वास राखैं और मनको बोधकर राखैहैं वोही योगी रोज सुंदर अभ्यासकों प्राप्त होइ ।।२।।

घटाद्भिन्नं मनः कृत्वा ऐक्यं कृत्वा परात्मनि ।
समाधिं तद्विजानीयान्मुक्तसंज्ञो दशादिभिः ।।३।।

अंगसों अलग मन करकें (सबसो अलग) जो परमात्मा है तामें एकाग्र मन लगावै वाकों समाधि जाननी यह दश (अवस्थादि) छूट जाय अर्थात् मुक्ति हो जाय हैं ।।३।।

अहं ब्रह्म न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक् ।
सच्चिदानंदरूपोऽहं नित्यमुक्तः स्वभाववान् ।।४।।

तब ऐसो विचारे कि मानों मैंही ब्रह्म हों दूसरो कोई नहीं है शोक जो होयो करें हैं उनका भागी मैं नहीं हूं तासों मैं निश्चय ब्रह्मसों तीनों कालमें एकसम रहूं तथा सांच झूठको जानो हूं चैतन्य आनंदमय सबसों अलग अपने भावसों मुक्त हूं ।।४।।

समाधिभेदाः

शांभव्या चैव खेचर्या भ्रामर्या योनिमुद्रया ।
ध्यानं नादं रसानंदं लयसिद्धिश्चतुर्विधा ।।५।।
पंचधा भक्तियोगेन मनोमूर्च्छा च षड्विधा ।
षड्विधोयं राजयोगः प्रत्येकमवधारय ।।६।।

अब समाधियोगके भेद कहे हैं। ध्यानयोग समाधिमें शांभवीमुद्रा और (नादयोग समाधिमें खेचरीमुद्रा) और रसानंद योग समाधिमें भ्रामरी-

मुद्रा लयसिद्धियोग समाधिमें योनिमुद्रा भक्तियोगसमाधिमें यह उपरोक्त मुद्रानसों धारण करनों याही तरह राजयोगसमाधि सबरी धारण करनी ॥५॥६॥

ध्यानयोगसमाधिः

शांभवीमुद्रिकां कृत्वा आत्मप्रत्यक्षमानयेत् ।
बिंदुब्रह्म सकृद्दृष्ट्वा मनस्तत्र नियोजयेत् ॥७॥

पहले शांभवीमुद्रा (धारण) करके तब आत्माको प्रकट कर मानो फिर बिंदुमय ब्रह्मको एकदफे दर्शन कर वहीं मनकों ठहराय देवै ॥७॥

खमध्ये कुरु चात्मानं आत्ममध्ये च खं कुरु ।
आत्मानं खंमयं दृष्ट्वा न किंचिदपि बाधते ॥
सदानंदमयो भूत्वा समाधिस्थो भवेन्नरः ॥८॥

फिर माथेमें रहवेवारो ब्रह्मलोकमय आकाशके बीचमें अपने जीवात्माकौं बैठारै और याही तरह अपने जीवात्माके बीचमें माथौ धरै ब्रह्मलोकमय आकाशको भी स्थापन करै पीछे अपने जीवात्माको आकाशमें देखके वह पुरुष काहू चीजमें नेकहू न बंधे और सदा आनंदमय होयके समाधिमें बैठ जाय याकों ध्यानयोगसमाधि कहें हैं ॥८॥

नादयोगसमाधिविधिः

साधनात्खेचरी मुद्रा रसनोर्ध्वं गता सदा ।
तदा समाधिसिद्धिः स्याद्धित्वा साधारणक्रियाम् ॥९॥

खेचरीमुद्राकों साधके जीभको ऊपरकी ओर जायवेवारी करे अर्थात् तलुआके गड्ढामें अमृतकूप जो है तामें जीभ मिलायकें तब समाधिसिद्धि हो जाय है और (सबछोड़) साधारण क्रिया (याकों नादकों) साधै ॥ ९ ॥

रसानन्दसमाधिविधिः

अनिलं मंदवेगेन भ्रामरीकुंभकं चरेत् ।
मंदं विरेचयेद्वायुं भृंगनादं ततो भवेत् ॥१०॥

भ्रामरीनामक कुंभककों साध करकें धीरे धीरे वायुकों अतिमंदतासों निकार देवै याके साधवेसो देहके भीतर भौंराकी आवाज पैदा करै है ॥१०॥

अंतःस्थं भ्रामरीनादं श्रुत्वा तत्र मनो नयेत् ।
समाधिर्जायते तत्र आनंदः सोऽहमित्यतः ॥११॥

तब वहांही अपने मनकों लगाय देवे जहां वा अंतर देहमें भौंरीनाद सुने तहां तौ समाधि मिले है और वा समयके आनंदसों (सोहं) वही ब्रह्म मैं हों, यह ज्ञान ताकों नादयोग समाधि कहते हैं ॥११॥

लयसिद्धिसमाधिविधिः

योनिमुद्रां समासाद्य स्वयं शक्तिमयो भवेत् ।
सुश्रृंगाररसेनैव विहरेत्परमात्मनि ॥१२॥
आनंदमयः संभूत्वा ऐक्यं ब्रह्मणि संभवेत् ।
अहं ब्रह्मेति वाऽद्वैतं समाधिस्तेन जायते ॥१३॥

पहले योनिमुद्राकों साधके अपनेकों शक्तिमय मानके अर्थात् अपनेकों स्त्री माने पीछें मनही मनमें ऐसो माने पुरुष रूप परमात्माकें संग नारी रूप आप श्रृङ्गाररससंबंधी विहारकर रहे हैं वाके पीछे विहाररससों पैदा वा रसमें मग्न होके परब्रह्म सहित भावसों ओंकारमें मिल्यौ भयो हों याही योगके द्वारा मैं हूं ब्रह्म हों दूसरो नहीं है ऐसे जो संचार होत है इसीको समाधिलय-योग कहें हैं ॥१२॥१३॥

भक्तियोगसमाधिविधिः

स्वकीयहृदये ध्यायेदिष्टदेवस्वरूपकम् ।
चिंतयेद्भक्तियोगेन परमाह्लादपूर्वकम् ॥१४॥

आनंदाश्रुपुलकेन दशाभावः प्रजायते ।
समाधिःसंभवेत्तेन संभवेच्च मनोन्मनी ।।१५।।

अपने हृदयमें इष्टदेवके रूपको ध्यान करै और चिंतन भक्तियोगसो तथा आनंदपूर्वक और आनंदके अमुआ वहें और रोमांच खड़े हो जाँय तथा बेचेत हो जाय तथा मन एकाग्र हो जाय ताको समाधि योग कहे हैं ।।१४।।१५।।

राजयोगसमाधिविधिः

मनोमूर्च्छां समासाद्य मन आत्मनि योजयेत् ।
परमात्मनः समायोगात् समाधि समवाप्नुयात् ।।१६।।

पहले मनोमूर्च्छानामक कुंभकको साधके मनको परमात्मामें मिलाय देवे और परमात्माके संयोगसों समाधिकी प्राप्ति हो जाय है ।।१६।।

समाधियोगफलम्

इति ते कथितं चंड समाधि भुक्तिलक्षणम् ।
राजयोगः समाधिः स्यादेकात्मन्येव साधनम् ।
उन्मनी सहजावस्था सर्वे चैकात्मवाचकाः ।।१७।।

इतिशब्द विषय संपूर्ण ताकौ बोधक है हे चंडकापालि ! मैंने तोसों समाधियोगको कह्यौ जो मुक्तको रूप है योग समाधि राजयोग और उन्मनी तथा सहजावस्थामें सर्वयोगनमें एकात्मा हो साधन करै ।।१७।।

जले विष्णुः स्थले विष्णुर्विष्णुः पर्वतमस्तके ।
ज्वालामालाकुले विष्णुःसर्वं विष्णुमयं जगत् ।।।१८।

जलरूपहू विष्णु है पृथ्वीरूपहू विष्णु है पहाड़को माथौहू विष्णु है आग्नमाल (तेजपुंज) हूं विष्णु हैं और सबरो जगत् विष्णुमय है ॥१८॥

भूचराः खेचराश्चामी यावन्तो जीवजंतवः ।
वृक्षगुल्मलतावल्लीतृणाद्या वारिपर्वताः ।
सर्वं ब्रह्म विजानीयात् सर्वं पश्यति चात्मनि ॥१९॥

धरतीमें विचरवेवारे (जीव) आकाशगामी (विचरवेवारे) और सबरेही जीवजंतु हैं तथा पेड़ (गुल्म जातके वृक्ष) वेल लता और घास आदि और पानी और पर्वत इव सबको ब्रह्म जाननों और सबहीकों अपने जीवात्मामें देखनों चाहिये ॥१९॥

आत्मा घटस्थ चैतन्यमद्वैतं शाश्वतं परम् ।
घटादिभिन्नतो ज्ञात्वा वीतरागो विवासनः ॥२०॥

या अंगमें रहवेवारी चैतन्य अद्वितीय (अर्थात् याके समान दूसरी नहीं है) सर्वमय नित्य विराजमान नाशरहित ताकों अंगसों अलग मानवेसों बंधननसों मुक्त और वासनारहित होइ है ॥२०॥

एवं विधिः समाधिः स्यात् सर्वसंकल्पवर्जितः ।
स्वदेहे पुत्रदारादिबान्धवेषु धनादिषु ।
सर्वेषु निर्ममो भूत्वा समाधिं समवाप्नुयात् ॥२१॥

ऐसी विधिसों समाधिमें सबरे संकल्पनकों छोड़कें अपनी देह बेटा लुगाई आदि भाई तथा धन सबसों ममता छोड़ कर समाधिकों पावै है ॥२१॥

तत्त्वं लयामृतं गोप्यं शिवोक्तं विधितानि च ।
वाचां संक्षेपमादाय कथितं मुक्तिलक्षणम् ॥२२॥

यह गोप्य (गुप्त) तत्वलयामृत विधिसहित महादेवने कह्यौ वहुत तरह मैंने तासो (सार) संक्षेप (विस्ताररहित) लेकर कह्यौ सो मुक्तिको रूप है ॥२२॥

इति ते कथितं चण्ड समाधिर्दुर्ल्लभः परः ।
यज्ज्ञात्वा न पुनर्जन्म जायते भूमिमण्डले ॥२३॥

इति श्रीघेरण्डसंहितायां घेरण्डयोगेश्वरनृपचण्डकापालि-
संवादे समाधियोगो नाम सप्तमोपदेशः ॥७॥

इति शब्द ग्रंथ संपूर्णताको सूचक है । हे चण्डकापालि ! मैंनें तोसों दुर्ल्लभ (मिले नहीं) समाधि (योग) सो परें सो कह्यौ याके ज्ञान(जानवे) सो फिर धरतीमें जन्म नहीं होइ है ॥२३॥

इति श्रीघेरण्डसंहितायां श्रीमथुरास्थदक्षगोत्रोद्भवचतुर्वेदि-
शर्म्मश्री ५ कल्याणचंद्रात्मजराधाचंदमिषग्विरचितें व्रजभाष्यनाम-
व्रजभाषानुवादसहितः समाधियोगो नाम सप्तमोपदेशः ॥७॥

अष्टमोपदेशः ८

परिशिष्टग्रंथ :

प्रातः स्मरामि यदुनन्दनकृष्णचन्द्रं प्रातर्भजामि रघुनंदन रामचंद्रम्। प्रातर्नमामि तेजोमयसूर्यचन्द्रं प्रातः स्मरामि जगदेककृपाकरत्वम् ॥१॥ प्रातःस्मरामि-गणनायकमेव मुख्यं प्रातर्नमामि गौरीपतिमम्बुजाक्षम्। प्रातर्भजामि सुखदं जगदादिहेतुं प्रातः स्मरामि हरिमीशमजं दयालुम् ॥२॥ प्रातः स्मरामि गोपालन-तत्परं वै प्रातर्नमामि गोपीसुतनन्दलालम्। प्रातर्भजामि हरिदासिविहारिबालं-प्रातःस्मरामिराधादियुतं हि चन्द्रम् ॥३॥

इति घेरण्डसंहितायां सर्वयोगसारराधाचन्द्रशर्मकृतनवीनश्लोक-
वर्णनो नामाष्टमोपदेशः ॥८॥
समाप्तोऽयंग्रन्थः।

☆

हमारे प्रकाशनों की अधिक जानकारी व खरीद के लिये हमारे निजी स्थान :

खेमराज श्रीकृष्णदास
अध्यक्ष : श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,
९१/१०९, खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग,
७ वी खेतवाडी बॅक रोड कार्नर,
मुंबई - ४०० ००४.
दूरभाष/फैक्स-०२२-२३८५७४५६.

खेमराज श्रीकृष्णदास
६६, हडपसर इण्डस्ट्रियल इस्टेट,
पुणे - ४११ ०१३.
दूरभाष-०२०-२६८७१०२५,
फैक्स -०२०-२६८७४९०७.

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,
लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस व बुक डिपो
श्रीलक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस बिल्डींग,
जूना छापाखाना गली, अहिल्याबाई चौक,
कल्याण, जि. ठाणे, महाराष्ट्र - ४२१ ३०१
दूरभाष/फैक्स- ०२५१-२२०९०६१.

खेमराज श्रीकृष्णदास
चौक, वाराणसी (उ.प्र.) २२१ ००१.
दूरभाष - ०५४२-२४२००७८.

KHEMRAJ SHRIKRISHNADASS

॥ लक्ष्मीवेङ्कटेश्वराय नमः ॥

अथ

गोरक्षपद्धतिः ।

राजधानी-टीहरी जिला—गढवालनिवासि-
पण्डितमहीधरशर्मकृतभाषानुवादसहिता.

सा च

शास्त्रिभिः शोधयित्वा

श्रीकृष्णदासात्मज—गंगाविष्णुना
स्वकीये "लक्ष्मीवेंकटेश्वर" मुद्रणागारे
मुद्रयित्वा प्रकाशिता ।

संवत् १९५५, शके १८२०.

कल्याण—मुंबई.

प्रस्तावना.

समस्त साधनाओंका मूल योग है. तप, जप, संन्यास उपनिषत् ज्ञानआदि मोक्षहेतु अनेक हैं किंच सर्वोत्कृष्ट योगही है इसीके प्रभावसे शिव सर्वसामर्थ्य, ब्रह्मा कर्त्ता, विष्णु पालक है. इसके मुख्य-कर्त्ता शिवजीने पार्वतीजीसे कहा ब्रह्माजीके सेवन करनेपर योगि-याज्ञवल्क्यस्मृति बनी है. विष्णु (श्रीकृष्णजी) ने गीता, एवं भागवतके ग्यारहवें स्कंधमें कहाहै. इसके मुख्यआचार्य्य आदिनाथ (शिवजी) हैं. इन्हींसे नाथसंप्रदाय प्रवृत्त भया. एक समय आदिनाथ किसी द्वीपमें पार्वतीको योग सुनारहेथे वह एक मछलीने सुनकरही दिव्यज्ञान तथा दिव्यदेह पाया यही मत्स्येंद्रनाथ भये और मत्स्येंद्रनाथ शाबरनाथ (जिन्होंने साबरग्रंथ देशभाषामें बनाये हैं) आनंदभैरवनाथ, चौरंगी आदियोंसे योग पाय यथेच्छ विचरतेथे कि, एक स्थानमें हातपाँव कटेहुये चोरको देखा. उक्त महात्माओंके कृपावलोकनसे उसके हातपाँव उगआये तथा ज्ञानभी होगया मत्स्येंद्रनाथके कृपासे योग पायकर चौरंगिया नाम योगी सिद्ध विख्यात भया और मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्ष, बिलेशय, मंथानभैरव, सिद्धबुद्ध, कंथडी, कोरंटक, सुरानंद, सिद्धपाद, चर्पटी, कानेरी, पूज्यपाद, नित्यानंद, निरंजन, कपाली, बिंदुनाथ, काकचंडीश्वर, अल्लाम, प्रभुदेव, घोडाचोली, टिंटिणी, भानुकी, नारदेव, खंड, कापालिक, तारानाथ इत्यादि योग-सिद्धि पायकर योगाचार्य हुए हैं. योगहीके प्रभावसे महासिद्ध अखंडऐ-श्वर्यवान् होकर मृत्युको जीत ब्रह्मानंदमें मग्न रह ब्रह्मांडमें विचरतेहैं. इनमेंसे मुख्य मत्स्येंद्रनाथ गोरक्षनाथ योगविद्याके आचार्य भये. गोरक्षनाथने मुमुक्षुजनोंके उपकारार्थ राजयोग, हठयोग आदि बहु-विस्तार एवं बहुसाधनासाध्य जानकर, "यह गोरक्षपद्धति" नामा ग्रंथ २०० श्लोकमें सर्वसमुच्चय सारभूत प्रकट किया सर्वसाधारणके सुबोधार्थ महीधरशर्मा राजधानी टीहरी जिला गढवालनिवासीने इसका भाषानुवाद करके प्रकाशित किया.

इस ग्रंथके प्रथम मंगलाचरणसे (५) श्लोकमें विषयप्रयोजन संबंध अधिकारी कहेहैं. (१) में योगाभ्यासका फल, (१) में षडंगके नाम, (५) में आसन, (१२) में षट्चक्रनिरूपण, (८)

में दशनाडी स्थानोंसहित, (१४) में दशवायु, (१०) में शक्तिचालन, (२६) में महामुद्राआदि, (७) में प्रणवाभ्यास, प्राणायामप्रशंसा, (४) में प्राणायामका प्रकार, (८) में नाडीशोधन, इतने विषय पूर्वशतकमें. तथा (२१) में प्राणायामका विस्तार, (३०) में प्रत्याहारविधि, (९) में धारणा, (२४) में ध्यान, (१३) में समाधि, (४) में मुक्तिसोपान, योगशास्त्राभ्यासका फल इतने विषय उत्तरशतकमें कहे हैं. ऐसी यह गोरक्षपद्धति योगमार्ग जाननेवालोंको अतिउत्तम तथा सुगम है. योगमार्गका प्रयोजन सभी शास्त्रोंमें पडताहै. विशेषतः संध्या, पूजनआदि द्विजन्माओंके नित्यकर्मभी विना इसके सिद्ध नहीं होते जैसे संध्यामें प्रथम " बद्धपद्मासनो मौनी प्राणायामत्रयं चरेत् " तथा पूजनमें " स्नातः शुचिः प्राङ्मुखोपविश्य प्राणानायम्य " इत्यादि सर्वत्र विधिवचन है. यदि योग न जाने तो प्राणायाम पद्मासनआदि कहांसे जाने. इनके न जाननेसे समस्त संध्यावंदनादिसाधन निरर्थक हैं. इस समयमें बहुधा लोक नाकपर हाथ लगानेको प्राणायाम समझते हैं. पद्मासनादियोंका तो नामभी नहीं है. तब कहांसे सिद्धि होवे इसी हेतु नास्तिकलोग असिद्ध तथा पोप (ठग) आदि निंद्यशब्दोंसे अपने मुखविवरोंको दूषित करते हैं यदि योगाभ्यास करें तो सिद्धि प्रत्यक्ष होकर अपना उद्धार हो तथा दूषकोंके उन विवरोंमें मिट्टी पडे. और योगग्रंथ बहुत तथा कठिन हैं. ये २ शतक थोडेहीमें ज्ञान देते हैं इस हेतु मैंने भाषाटीका की है कि सभी सज्जन इसे देख थोडाही गुरूपदिष्ट होकर सर्वार्थसाधनयोगमार्गकी महिमा जानजायँगे. पाठकोंके सुबोधार्थ मैंने अनेक प्रसिद्ध योगग्रंथोंसे इसे बढाकर गोरक्षपद्धति करदिया. और यह ग्रंथ " लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर " छापेखानेके अधिकारी-गंगाविष्णु श्रीकृष्णदासजीको सर्व हक्कसहित देदियाहै जो यह उन्होंने आपके छापाखानेमें छापकर प्रसिद्ध किया है.

मही-

श्रीगणेशाय नमः ।

अथ

भाषानुवादसहिता

गोरक्षपद्धतिः ।

श्रीआदिनाथं स्वगुरुं हरिं मुनिं
गोरक्षशास्त्रस्य प्रणम्य योगिनम् ।
भाषाविवृत्तिं कुरुते महीधरो
योगे सुबोधः खलु जायते यया ॥ १ ॥

श्री आदिनाथ (शिवजी) तथा निजगुरु, हरिमुनि योगीको प्रणाम करके महीधरनामा गोरक्षयोगशास्त्र जो योगींद्रगोरक्षनाथने दो शतकमें शिष्योपकारार्थ बनाया है. उसकी भाषाटीका करता है. जिससे योगमार्गमें सभीको सुगमतासे बोध होता है. योगपदका अर्थ मेल है जैसे 'ह' का अर्थ सूर्य्य 'ठ' का चंद्रमा है इनके योग (मेल) को हठयोग कहतेहैं. इसीको राजयोगभी कहतेहैं, प्राण, अपानवायु जिनकी सूर्यचंद्रमा संज्ञा है, इनका ऐक्य करनेवाला जो प्राणायाम उसे हठयोग कहतेहैं ॥ १ ॥

श्रीगुरुं परमानन्दं वन्दे स्वानन्दविग्रहम् ।
यस्य सान्निध्यमात्रेण चिदानन्दायते तनुः ॥ २ ॥

शिष्यको आत्माके तत्त्वबोधनिमित्त गुरुस्वरूप धारणकर परमगुरु श्रीपरमात्माको सहस्रदलकमलमें भावनापूर्वक प्रथम ग्रंथारंभमें विघ्नविघातार्थ प्रणाम करतेहैं, कि जीवब्रह्मकी ऐक्यता योगशास्त्रका प्रयोजन है. सद्गुरुके समीप भक्तिपूर्वक रहनेसे शिष्यका पांचभौतिक शरीरभी आनंदमय होजाताहै. आनंदही परब्रह्मका रूप है जैसे श्रुतिभी कहतीहै कि "आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्" यदि ऐसा न हो तो उसकी पहछानभी नहीं होसके क्यौं कि " न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा " इत्यादि गीता । एवं वेदांतग्रंथोंमें लिखाहै कि उसका रूप तथा जन्म, मरण, मध्य और रंग चिह्न मूर्त्तिआदि कुछ नहीं है. केवल आनंदमय स्वयंप्रकाशमान है. तथा निर्विकल्प आनंदमय होजानेकोही मुक्ति कहते हैं. ऐसे परमआनंदस्वरूप परब्रह्मको (जिसका शरीरभी आनंदही है) वंदना करके ग्रंथारंभ करते हैं जिसके सांनिध्य (सम्मुख) होनेसे, अर्थात् (केवलानुभवानंद) वह आनंदात्मा परमात्मा केवल मनके मनन अनुभव विचार करनेसे अपनेही बीच पाया जाता है. न कि इतस्ततः तीर्थयात्रादि फिरनेसे, यह अनुभव केवल योगहीसे साध्य है. यह ज्ञानकी प्रथम भूमिका है. नाडीशोधन, वायुशोधन, ध्यान, धारणा आदि विना एवं गुरुकृपा विना नहीं मिलता. विना ज्ञानके मुक्ति नहीं मिलती श्रुतिभी कहतीहै कि " ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" मुक्तिपदार्थ वही आनंदमय होजाताहै. योगसे ज्ञान पायके जीवपरमात्माका एकभाव होनेमें वह आनंदस्वरूप पर-

ब्रह्म साक्षात्कार होताहै इस ज्ञानगम्यके प्रत्यक्षमात्र होनेहीसे परमचिदानंदमय आपही योगी होजाताहै. जैसे ज्ञानकी सात भूमिका हैं. ज्ञानभूमि १ विचारणा २ तनुमानसा ३ सत्त्वापत्ति ४ संसक्तिनामिका ५ पदार्थाभाविनी ६ तुर्यगा ७ ये सात हैं. विवेक वैराग्य हैं प्रथम जिसमें ऐसी तीव्र मुमुक्षारूप पहिली. श्रवणमननरूपा दूसरी. मनमें अनेक अर्थ संकल्प विकल्प उत्पन्न तथा नाश होतेहैं. इन सभीको छोडके, सत् एकार्थमें वृत्ति होनी. तनुमानसा तीसरी. ये तीन साधनभूमियें हैं इनसे जब अंतःकरण शुद्ध हो तब "अहं ब्रह्मास्मि" मैं ब्रह्म हूं ऐसा योगी कहताहै. समस्त साधन पूजनजपादिकमें "अहं ब्रह्मास्मीति चिरं भावयेत्" लिखाहै, यह भावनाविना उक्त तीन भूमिका साधे होतेही नहीं हैं इसलिये विना मार्गके कुछभी साधन नहीं होता है चौथी, सत्त्वापत्ति ज्ञानभूमि यही फलभूमि है इसमें जब योगी प्राप्त होवे तब ब्रह्मवित् कहाता है. इसी सत्त्वापत्तिभूमिमें समीपही वही जो सिद्धि उसमें आसक्त न होना, इसे असंसक्तिनाम पांचवीं ज्ञानभूमि कहतेहैं. इसमें जब योगी प्राप्त होवे तो उसे ब्रह्मविद्वर कहतेहैं. जिसमें परब्रह्मसे व्यतिरिक्त अर्थको भावना न करे वह पदार्थाभाविनी छठी ज्ञानभूमि है इसमें जब योगी प्राप्त होता है तो वह दूसरेके बोधन करनेसे मात्र प्रबुद्ध होता है. नहीं तो एकाग्रशून्याकारही रहता है उसे ब्रह्मविद्वरीयान् कहते हैं. तुर्यगा नाम सातवीं भूमि है इसमें योगी प्राप्त होनेसे ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहते हैं. इतने साधनाओंसे स्वात्माराम

चिदानंद, परमानंद, चिन्मय आदियोगी आपही होजाता है. कालरहित होता है. "अन्तर्निश्चलितात्मदीपकलिकास्वाधारबन्धादिभिर्यो योगी युगकल्पकालकलनात्तत्त्वं च जेगीयते । ज्ञानामोदमहोदधिः समभवद्यत्रादिनाथः स्वयं व्यक्ताव्यक्तगुणाधिकं तमनिशं श्रीमीननाथं भजे" जो मीननाथयोगीश्वर मूलाधारबंध, उड्डीयानबंध, जालंधरबंध आदि योगाभ्याससे हृदयकमलमें निश्चलदीपककी ज्योतिसरीखी परमात्माकी कला साक्षात्कार करके श्वास, पल, घटी, प्रहर, दिन, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, मन्वंतर, कल्प आदि निरंतर पुनः पुनः फिरनेवाला है स्वरूप जिसका ऐसे कालको तथा जलादि २५ तत्त्वोंको पहचानके योगाभ्याससे जीतता है तथा ज्ञानानंदरूपी समुद्र होकर गुप्तप्रकट अर्थात् सगुण निर्गुण होनेकी सामर्थ्य रखनेवाला आदिनाथ शिवस्वरूपकी भावना नित्य करनेके अभ्याससे; आपही साक्षात् शिव हो गया है. ऐसे योगीश्वर श्रीमीननाथको दिनरात नमस्काररूप सेवन करताहूं ॥ २ ॥

नमस्कृत्य गुरुं भक्त्या गोरक्षो ज्ञानमुत्तमम् ।
अभीष्टं योगिनां ब्रूते परमानन्दकारकम् ॥ ३ ॥

योगी गोरक्षनाथ भक्तिपूर्वक गुरुको प्रणाम करके पूर्वजन्मके योगसेवनसे इस जन्ममें पूर्णयोगमार्गका बोध देनेवाला योगशास्त्र कहते हैं. जिससे योगियोंको अभीष्ट (मनोवांछित) मिल-

ता है तथा परमयोगानंद यद्वा ब्रह्मानंद होता है. कर्म और भक्तिसे जब चित्त शुद्ध होवे तब योगशास्त्रमें अधिकारी होताहै ॥ ३ ॥

गोरक्षसंहितां वक्ति योगिनां हितकाम्यया ।
ध्रुवं यस्यावबोधेन जायते परमं पदम् ॥ ४ ॥

योगिजनोंके हितके लिये योगींद्र गोरक्षनाथ गोरक्षसंहिता नाम योगशास्त्र कहता है,जिसका बोध होनेसे योगीको (परमपद) जीवन्मुक्ति होती है यद्वा वह मिलता है जिसमें पहुँचकर पुनरावृत्ति फिर लौट आना नहीं होता ॥ ४ ॥

एतद्विमुक्तिसोपानमेतत्कालस्य वञ्चनम् ।
यद्व्यावृत्तं मनो भोगादासक्तं परमात्मनि ॥ ५ ॥

जब योगाभ्याससे मन विषयभोगोंसे हटजानेपर परमात्मा (ईश्वर) में आसक्त हो जावे तब योगी काल तथा मृत्युको जीतकर जरा (बुढापा) मृत्यु (मरण) को जीतता है मुक्तिका सोपान (सीढी) यही कर्म है, और कालकी वंचनाभी यही है ५

द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम् ॥
शमनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमाः ॥ ६ ॥

सज्जनको संबोधन करके, गोरक्षनाथ कहते हैं कि हे सत्तम श्रेष्ठजनो! वेदरूपी कल्पवृक्षके फल इस योगशास्त्रका सेवन करो जिसके शाखा (टहनियां) योगिरूपी द्विज (पक्षी) अथवा मुनिजनोंसे सेवित हैं और संसारके तीन प्रकारके ताप (क्लेशों) को शमन करताहैं ॥ ६ ॥

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट् ॥ ७ ॥

प्रथम आसन सिद्ध करके क्रमशः प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिका अभ्यास करना ये योगके छः अंग हैं इनके पृथक् विस्तार आगे कहेंगे. यमनियमसंपन्न योगीको क्रमपूर्वक अभ्यासकरके समाधिका लाभ होता है जिससे निर्विकल्प समाधिसे राजयोग सिद्ध होता है. तब चिदानंदस्वरूप आपही होके योगानंदको प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

अथासनानि ।

आसनानि च तावन्ति यावन्तो जीवजन्तवः ।
एतेषामखिलान् भेदान् विजानाति महेश्वरः ॥ ८ ॥

आसनोंका विस्तार कहते हैं कि जितने जीवमात्र अर्थात् चौराशी लक्ष योनि हैं उतनेही आसनभी उन्हींके शरीरचेष्टानुसार हैं इनके प्रत्येक भेदोंके जाननेहारे केवल शिवजी मात्र हैं और कोई नहीं जानता ॥ ८ ॥

चतुराशीतिलक्षाणामेकैकं समुदाहृतम् ।
ततः शिवेन पीठानां षोडशोनं शतं कृतम् ॥ ९ ॥

चौराशी लक्ष आसनोंके भेद मनुष्योंसे न जाने जायंगे इस प्रकार जानकर करुणामय शिवजीने सर्वसाधारणके उपकारहेतु चौराशी (८४) मात्र आसन योगशास्त्रमें प्रगट किये. यही सबमें सार हैं ॥ ९ ॥

आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम् ।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम् ॥ १० ॥

इन ८४ आसनोंमेंभी बहुतविस्तार होनेसे योगधारण करनेवालोंके उपकारहेतु दोही आसन मुख्य कहेहैं. इससे इस ग्रंथमें सुगमताके लिये सर्वसंमत एक सिद्धासन दूसरा पद्मासन सविस्तार कहा जाताहै ॥ १० ॥

योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
न्मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियो चलदृशा पश्येद्भ्रुवोरन्तरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥११॥

सर्वोत्कृष्ट दो आसनोंमेंसे प्रथम सिद्धासनकी विधि कहतेहैं कि, गुदा और लिंगके बीचमें योनि (कुंडलिनीका) स्थान है इसको वामपादकी एडीसे दृढ पीडन (दबाव) करे दाहिने पैरकी एडी लिंगके ऊपर लगाकर दबावे दोनों पैरोंकी एडियां नीचे ऊपर बराबर होजाती हैं तथा दोनों पैरोंके अंगुष्ठ जंघा और गुल्फोंके बीच नीचे छिपजाते हैं इनके दबावसे योनिस्थानके तले ऊपरके दो इंद्रिय गुदा, उपस्थ रुकजातेहैं. तदनंतर हृदयके चार अंगुल ऊपर चिबुक (ढोडी) स्थिर करे और समस्तइंद्रियोंसे हटाकर एकाग्र चित्त करे तथा दोनों नेत्रोंसे अचलदृष्टि कर भ्रुकुटि (भ्रूमध्य) देखतारहे यह मोक्षरूपी द्वार (दरवाजे) के कपाट (किंवाड) को खोलकर मोक्षमार्ग दि-

खाताहै. यद्वा जो कुंडलिनीसे रुकाहुआ सुषुम्णाद्वार उसे खोलकर मोक्षमार्ग (सुषुम्णा) के द्वारा मोक्षस्थान सहस्रदलकमकर्णिकांतर्गत परमात्मामें पहुँचानेका यत्न करता है यह सिद्धासन है ॥ ११ ॥

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ।
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविकारनाशनकरं पद्मासनं प्रोच्यते ॥१२॥

बाये ऊरु (जानुमूल) में दाहिना पैर उत्तान करके तथा दक्षिण ऊरु (जानुमूल) में वामपाद वैसेही स्थापन करके दाहिने हाथको पीठपीछे घुमायके दाहिने पैरके अँगूठेको ग्रहण करे तथा बाये हाथको पीठपीछे घुमायके दाहिने हाथ ऊपरसे लेजायकर बांये पैरके अंगुष्ठको ग्रहण करे. तब चिबुक (ढोडी)को छातीसे लगाय, दोनों नेत्रोंसे नासिकाका अग्रभाग निरंतर देखतारहे. यह योगियोंके समस्तरोगविकार नाश करनेवाला बद्धपद्मासन है ॥ १२ ॥

'प्रकारांतरसेभी पद्मासन कहाहै इसलिये मैं ग्रंथांतरमतसे मत्स्येंद्रनाथके मतकाभी लिखताहूं'—

"उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ ॥ १ ॥
नासाग्रे विन्यसेद्राजदन्तमूले तु जिह्वया ।
उत्तम्भ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः ॥ २ ॥

इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ।
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते बुधैः ॥३॥ "

ऊरु (जानुमूल) में पूर्वोक्तप्रकारसे चरण (जैसे दक्षिण ऊरुमें वाम, वाममें दक्षिणचरण, उत्तान अर्थात्, पैरोंके पीठ जानुपर लगी रहें.) स्थापन करके दोनों हाथ सीधे एडियोंके ऊपर नीचे वाम ऊपर दक्षिणहस्त रखके दृष्टि नासिकाके अग्रभागपर निश्चल रक्खे तदनंतर राजदंत (डाढों) के मूल दक्षिण वाम दोनों में जिह्वा कर ऊर्ध्वस्तंभन करे (यह जिह्वाबंध गुरुमुखसे जानना चाहिये जिह्वाबंध मूलबंधका विस्तार ५७ । ५८ श्लोकमें कहेंगे) तथा चिबुक (ढोडी) को चार अंगुल अंतर छोडकर छातीसे लगाय मंद मंद वायुको उठावे. यह मूलबंध है. (यहभी गुरुमुखबोध्य हैं) यह पद्मासन मत्स्येन्द्रनाथके मतका है. संपूर्णरोगोंको नष्ट करताहैं. जो संसारमें भाग्यहीन हैं. उनको दुर्लभ है. बुद्धिमान् एवं पुण्यवान् पुरुषोंको गुरुकृपासे मिलताहै । १ । २ । ३ ।

अथ षट्चक्रनिरूपणम् ।

षट्चक्रं षोडशाधारं द्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः १३॥

विषमवासनासे मन चंचल रहताहै रोकेसे रुकता नहीं विना मन रोके योगसिद्धि नहीं होती. मन रोकनेके लिये कुछ निमित्त (अवलंबन) अवश्य होना चाहिये. इस हेतु छः चक्र, सोलह आधार, दो लक्ष्य, पांच आकाश, ये चार प्रकार भेद (सर्व उन-

तीस) कहते हैं, कि मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा ये छः चक्र हैं इनका विस्तार आगे कहेंगे आधार सोलह हैं इनके विशेषविस्तार अतिगुह्य होनेसे श्रीगोरक्षनाथने यहां प्रगट नहीं कहे और इनके प्रकटताविना सर्वसाधारणको बोध होना असंभव है इसलिये जैसा गुरुकृपासे जाना, यहां ग्रंथान्तरीयमतसे प्रकट करता हूं.प्रथम आधार पादांगुष्ठ है इसपर एकाग्रदृष्टि करके ज्योति चैतन्य करे इससे दृष्टि स्थिर होतीहै १। दूसरा आधार मूलाधार. इसे पावोंकी एडीसे अचेतन करना इससे अग्नि दीप्त होतीहै २। तीसरा गुह्याधार. इसके संकोचविकाशके अभ्यास करनेसे अपना वायु फिरके वज्रगर्भनाडीमें प्रवेश कर बिंदुचक्रमें जाताहै इससे शुक्रस्तंभन एवं (वज्रोली) रेत योनिमें पात न करके पुनः आकोचनक्रमसे वज्रनाडीद्वारा बिंदुस्थानमें प्राप्त करनेकी सामर्थ्य होती है ३।४। पंचम उड्डीयानबंध आधार है. पश्चिमतान आसन बांधके गुदाको संकोचन करे इससे मल मूत्र कृमिका नाश होताहै ५। छठा नाभिमंडलाधार. जिसमें चैतन्य ज्योतिःस्वरूपका ध्यान करनेसे एवं प्रणवके जपसे नाद उत्पन्न होता है ६। सातवां हृदयाधार. इसमें प्राणवायुको रोध करनेसे हृदयकमल विकासित होता है ७। आठवां कंठाधार. इसमें ढोडी हृदयपर दृढ लगायके ध्यान करे तो इडा पिंगलामें वहताहुआ वायु स्थिर होता है ८। नवम क्षुद्रघंटीकाधार. कंठमूल है इसमें जो दो लिंगाकार ऊपरसे लटकती हैं उनतक जिह्वा पहुंचावे तो ब्रह्मरंध्रमें चंद्रमंडलसे वहताहुआ अमृतरस मिलता है ९। दशम

जिह्वामूलाधार. इसमें खेचरीमुद्राके प्रकारसे जिह्वाग्रसे मथन करे तो खेचरीसिद्धि होती है १०। ग्यारहवां जिह्वाका अधोभागाधार. जिसमें जिह्वाग्रसे मथन करके दिव्यकविताशक्ति होतीहै ११ । बारहवां ऊर्ध्वदंत मूलाधार. जिसमें जिह्वाग्रस्थापनके अभ्याससे रोगशांति होती है १२ । तेरहवां नासिकाग्राधार. जिसमें दृष्टि स्थिर करनेसे मन स्थिर होता है १३ । चौदहवां नासिकामूलाधार. जिसमें दृष्टि स्थिर करनेसे छः महीनेके निरंतर अभ्यासकरके ज्योति प्रत्यक्ष होती है १४ । पंद्रहवां भ्रूमध्याधार. जिसमें दृष्टि अचलदृष्टिके अभ्यास करके सूर्यकिरणोंके समान ज्योति प्रकाश होती है इसी अभ्यासके दृढ होनेपर सूर्य्याकाशमें मनका लय होता है १५ । सोलहवां नेत्राधार. जिनके मूलमें अंगुलिसे मीचतेमें वर्तुलाकार बिंदुसमान इंद्रधनुषके समान रंगकी ज्योति है इस ज्योतिके देखनेका अभ्यासकरके ज्योति प्रत्यक्ष होतीहै १६ ये सोलह आधार हैं. अथवा मूलाधार १ स्वाधिष्ठान २ मणिपूर ३ अनाहत ४ विशुद्ध५ आज्ञाचक्र ६ बिंदु ७ अर्द्धेंदु ८ रोधिनी ९ नाद १० नादांत ११ शक्ति १२ व्यापिका १३ समनी १४ रोधिनी १५ध्रुवमंडल १६ ये सोलह (१६) आधार हैं ब्रह्म तथा अपनेमें अभेद समझकर भावना करनेसे सिद्धि होती है अब दो लक्ष्य कहते हैं ये दो प्रकार बाह्य आभ्यंतरीय हैं देखनेके उपयोगी नासिका तथा भ्रूमध्य इत्यादि बाह्यलक्ष्य हैं मूलाधारचक्र, हृदयकमल इत्यादि आभ्यंतरलक्ष्य हैं. अथ पांच आकाश इस प्रकार

हैं कि प्रथम श्वेतवर्ण ज्योतिरूप आकाश है इसके भीतर रक्त-वर्ण ज्योतिरूप प्रकाश है इसके भीतर धूम्रवर्ण ज्योतिरूप महा-काश है इसके भीतर नीलवर्ण ज्योतिस्वरूप तत्त्वाकाश है इसके भीतर विद्युत् (बिजुली) के वर्णका ज्योतिस्वरूप सूर्या-काश है ये पांच आकाश हैं इतने ६ चक्र १६ आधार ३ लक्ष्य ५ आकाश शरीरमें हैं इन्हें जो योगी नहीं पहचानता उसको योगसिद्धि नहीं होती ॥ १३ ॥

एकस्तम्भं नवद्वारं गृहं पञ्चाधिदैवतम् ।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः ॥१४॥

शरीरस्तंभरूपी गृह है इसमें सकलवासनाओंका आश्रय मन है यही खंभारूप होकर समस्तशरीरको थामे रहताहै जिस-के मुख १ नेत्र २ नासिका २ कर्ण २ गुह्य १ लिंग १ ये ९ द्वार हैं तथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश पंचतत्त्वोंके ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव अधिदेवता हैं ऐसे शरीररू-पी गृहको जो योगाभ्यासी नहीं जानता वह योगसिद्धि कैसे प्रासकताहै ॥ १४ ॥

चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षड्दलम् ।
नाभौ दशदलं पद्मं सूर्यसंख्यादलं हृदि ॥ १५ ॥
कण्ठे स्यात् षोडशदलं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा ।
सहस्रदलमाख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथे ॥ १६ ॥

षट्चक्रोंके पृथक् वर्णन है कि प्रथम मूलाधारचक्र गुदद्वारमें

पीले वर्णका अधोमुख कमल है जिसके ४ दलोंमें व, श, ष, स, बीज शोभित हैं आठों दिशामें आठ शूलोंसे वेष्टित पीतवर्ण मध्य कर्णिकामें चतुष्कोण भूमंडलके भीतर, हाथीके ऊपर आरूढ जिसके पार्श्व (बगल) में (लं) बीज है और चार हाथ चार मुखका ब्रह्मा कोटिसूर्य्यसमान प्रकाशमान एवं डाकिनीशक्तिसे युक्त है वहीं देदीप्यमान त्रिकोणाकार कामाख्य पीठ है तिसके मध्य-में पश्चिममुख स्वयंभू लिंग है उसके बीचमें बिजुली समान च-मकवाली साढे तीन फेरे (वृत्त) से वेष्टित होकर, सुषुम्णाके द्वा-रको रोकके सोया हुआ सर्प जैसी कुण्डलिनी महाशक्ति है जैसे पृथ्वीका आधार शेष तैसेही शरीरका आधार यह है विना इसके जागे और उपाय योगके व्यर्थ हैं. इसलिये प्रथम इसका बोधन करना मुख्य है १ । दूसरा स्वाधिष्ठानचक्र. लिंगमूलमें रक्तवर्ण ऊर्ध्वमुख षड्दल ब, भ, म, य, र, ल इन ६ वर्णोंसे शोभित कमल है शुक्रवर्ण कर्णिकामें अर्द्धचंद्राकार जलमंडल है इसके बीचमें (वं) बीज है जिसके पार्श्व (बगल) में श्रीवत्सकौस्तुभ पीतांबर वनमालाओंसे शोभित चतुर्भुज विष्णु शाकिनशक्ति-सहित हैं २।तीसरा मणिपूरचक्र. नाभिमूलमें नीलवर्ण ऊर्ध्वमुख दशदल कमल ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ इन १० व-र्णोंसे शोभित है मध्यकर्णिकामें स्वस्तिकाकार तेजोमंडल है. इसके मध्यमें सूर्यके समान तेजधारी मेषवाहन (रं) बीज चतुर्भु-ज है इसके पार्श्वमें रक्तवर्ण विभूतिभूषित, नीलवर्ण, चतुर्भुज लाकिनीशक्तिसहित महारुद्र हैं ३। चौथा अनाहतचक्र. हृदयमें

द्वादशदलकमल ऊर्ध्वमुख क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ ट, ठ इन १२ बीजोंसे शोभित है उसके कर्णिकामें धूम्रवर्ण, षट्कोण वायुमंडलके मध्यमें धूम्रवर्ण, चतुर्बाहु, कृष्णमृगवाहन (यं) बीज है. इसके पार्श्वमें अभयमुद्रा धारण करके काकिनीशक्तिसहित ईश्वर हैं कर्णिकाके त्रिकोणमें सुवर्णवर्ण बाणलिंग है यह पूर्णागिरि पीठ कहाता है ४। पांचवां विशुद्धचक्र. कंठस्थानमें रक्तवर्ण, ऊर्ध्वमुख, षोडशदलकमल अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः इन १६ वर्णोंसे शोभित है स्फटिकवर्णकर्णिकामें वर्तुलाकार आकाशमंडल जिसमें निष्कलंक पूर्णचंद्रमा है इसके मध्यमें श्वेतहाथी वाहन, पाश, अभय, वर, अंकुश, धारण करता आकाश बीज (हं) इसके पार्श्वमें शाकिनीशक्तिसहित सदाशिव हैं यह जालंधरपीठ कहाता है ५। छठा आज्ञाचक्र. भ्रूमध्यमें श्वेतवर्ण ऊर्ध्वमुख द्विदल ह, क्ष, इन २ बीजोंसे शोभित कमल है इसके कर्णिकामें हाकिनीशक्तिसहित शिव है कर्णिकाके त्रिकोणमें, इतरलिंग नामा शिवलिंग है यही मनका स्थान है उड्डीयानभी इसीको कहते हैं ६। इसके ऊपर सहस्रदलकमल ब्रह्मरंध्रमें श्वेतवर्ण पूर्णचंद्रसमान मुख परमानंदस्वरूप ह, ळ, क्ष इन ३ वर्णोंसे शोभित है त्रिकोणकर्णिकामें पूर्णचंद्रमंडल जिसके मध्यमें बिजुलीके समान चमकीला परमानंदरूप देदीप्यमान ज्योति है इसमें चिदानंदस्वरूप परमशिव विराजमान हैं इनके पार्श्वमें सहस्रसूर्यके समान तेजधारी प्रबोधस्वरूप अर्धचंद्राकार निर्वाणकला

विराजमान है. इसके बीचमें कोटिसूर्यसमान तेजधारी रोम-समान सूक्ष्म निर्वाणशक्ति विराजमान है इनके मध्यमें मन तथा वचनसे अगम्य केवल योगसे गम्य चिदानंदस्वरूपसे पर क्या अतिपर परम शिवपद है जिसको परब्रह्मपद कहते हैं विराजमान हैं जिसके निमेषोन्मेष अर्थात् पलक खोलने मीचनेमें सृष्टि उत्पन्न और नष्ट होती है ॥ १५ ॥ १६ ॥

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते ॥ १७ ॥

पहिला मूलाधार स्वाधिष्ठान इन दो चक्रोंके बीचमें योनि-स्थान है यही कामरूप पीठ है. अर्थात् मूलाधारके कर्णिकामें कामरूप पीठ है ॥ १७ ॥

आधाराख्ये गुदस्थाने पङ्कजं च चतुर्दलम् ।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता॥१८॥

मूलाधार (गुदा) में जो चतुर्दलकमल विख्यात है उसके मध्यमें त्रिकोणाकार योनि है जिसकी वंदना समस्त सिद्धजन क-रते हैं पंचाशत् वर्णसे बनी हुई कामाख्या पीठ कहाती है॥ १८॥

योनिमध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखस्थितम् ।
मस्तके मणिवद्विम्बं यो जानाति स योगवित्॥१९॥

पूर्वोक्त त्रिकोणाकारयोनिमें सुषुम्णाद्वारके संमुख स्वयंभू नाम करके जो महालिंग है उसके शिरमें मणिके समान देदीप्य-मान बिंब है यही कुंडलिनी जीवाधार शरीराधार मोक्षद्वार है इसे जो सम्यक् प्रकारसे जानता है उसे योगवित् कहते हैं॥ १९॥

तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ।
त्रिकोणं तत्पुरं वह्नेरधो मेढ्रात्प्रतिष्ठितम् ॥ २० ॥

मेढ्र (लिंगस्थान) से नीचे मूलाधारकर्णिकामें रहता तपे हुए सुवर्णके समान वर्ण, एवं बिजुर्लीके समान चमकदमकवाला जो त्रिकोण है वही कालाग्निका स्थान है ॥ २० ॥

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।
तस्मिन् दृष्टे महायोगे यातायातान्न विन्दते ॥ २१ ॥

इसी त्रिकोणविषय समाधिमें अनंत विश्व (संसार) में व्याप्त होनेहारी परमज्योति प्रकट होती है वही कालाग्निका रूप है जब योगी ध्यान, धारणा, समाधिकरके उक्त ज्योतिको देखने लगता है तो उसको जन्ममरण नहीं होते अर्थात् अजरामर हो जाता है ॥ २१ ॥

स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः ।
स्वाधिष्ठानाश्रयादस्मान्मेढ्रमेवाभिधीयते ॥ २२ ॥

स्वशब्द प्राण (हंस) का बोधक है इसका आश्रय स्वाधिष्ठान (लिंगमूल) है प्राणका अधिष्ठान होनेसे इसेही मेढ्र कहा जाता है ॥२२॥

तन्तुना मणिवत्प्रोतो यत्र कन्दः सुषुम्णया ।
तन्नाभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ॥ २३ ॥

नाभिमें एक कंद है. जिससे सर्वांगव्यापिनी सिरा (नसें) निकली हैं जैसे १० नसें ऊपरको हैं जो शब्द, रस, गंध, श्वास, जृंभा, क्षुधा, तृषा, डकार, नेत्रदृष्टि, धारणा (मगजशक्ति),

इन दश कामोंको अपने २ स्थानोंमें दीपन करती हैं तथा १० नसें नीचेको हैं वात, मूत्र, मल, शुक्र, अन्न, पान, रसको नीचे पहुँचाना इनका काम है और चार जिनकी तिर्छी गति है. दो दाहिने बगल दो बायें बगल होकर अगणित सूक्ष्मशाखा बनके सर्वांगमें जालेके नाईं रोमरोम प्रति पूरित हैं उन्हींके मुखोंसे प्रस्वेद देहके बाहर रोमोंमें होके आता है. तथा उन्हींके मार्गोंसे लेप, मर्दनादि पदार्थ भीतर प्रवेश करते हैं. इस प्रकारका नाभिकंद जैसे सूत्रमें मणि पिरोया रहता है ऐसेही सुषुम्णानाडीमें पिरोया है इसे नाभिमंडलस्थ मणिपूरचक्र कहते हैं ॥ २३ ॥

द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपापविवर्जिते ।
तावज्जीवो भ्रमत्येव यावत्तत्त्वं न विन्दति ॥ २४ ॥

हृदयमें द्वादशदल अनाहत चक्र है जिसमें तत्त्वातीत (सत्त्वरजस्तमोगुणरहित) जीव है गुणातीत होनेसे पुण्यपापसेभी रहित है परंतु जब तत्त्वकी पहिचान योगाभ्याससे हो जावे तब ये गुण जीवमें आते हैं विना तत्त्वज्ञान जीव संसृतिमें भ्रमणही करता रहता है ॥ २४ ॥

अथ दशनाडीवर्णनम् ।

ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दो योनिः खगाण्डवत् ।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ॥ २५ ॥

लिंगमूलसे ऊपर नाभिके कुछ नीचे कंदके सदृश समस्त नाडियोंका मूल (उत्पत्तिस्थान) पक्षिके अंडेके समान आकार-

वाला है इससे बहत्तर (७२) हजार नाडी ऊपर नीचे तिर्छी होकर सर्वांग व्याप्त है ॥ २५ ॥

तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृताः ।
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृताः॥२६॥

उक्त ७२ हजार नाडियोंमें मुख्य बहत्तरही हैं इनमेंभी प्राणवाहिनी (वायु चलानेहारी) प्रधान दशही नाडी हैं॥२६॥

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च तृतीयका ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ॥२७॥
अलम्बुषा कुहूश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता ।
एतन्नाडीमयं चक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा ॥ २८ ॥

इडा १ पिंगला २ सुषुम्णा ३ गांधारी ४ हस्तिजिह्वा ५ पूषा ६ यशस्विनी ७ अलंबुषा ८ कुहू ९ शंखिनी १० ये उक्त मुख्यनाडियोंके नाम हैं. यह नाडीमय चक्र योगाभ्यासीको अवश्य जानने योग्य है तदनंतर इन नाडियोंमें चलनेवाले वायुको जानना तब प्राणायामसे नाडीशोधन होता है॥२७॥२८॥

इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे स्थिता ।
सुषुम्णा मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि ॥ २९ ॥
दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे ।
यशस्विनी वामकर्णे ह्यानने चाप्यलम्बुषा ॥ ३० ॥

नासिकाके वामभागमें इडा, दक्षिणभागमें पिंगला नाडी बहती है इनके मध्यमें सुषुम्णा नाडी रहती है इन तीनोंकी जड

मूलाधारचक्रकी कर्णिकाका त्रिकोण है. जिसके वामकोणसे इडा, दक्षिणकोणसे पिंगला और पश्चिमकोणसे सुषुम्णा नाडी उत्पन्न हुई है ये तीनों नाडी उक्तचक्रको अंकमाल किये हैं अपने २ ओरके नासिका छिद्रसे वहती है मध्य सुषुम्णा मूलाधारसे ब्रह्मरंध्रपर्यंत है अन्य नाडी उक्तचक्रके कंदसे उत्पन्न होकर प्रत्येक रंध्रमें है जैसे वामनेत्रमें गांधारी, दक्षिण नेत्रमें हस्तिजिह्वा, दक्षिणकर्णमें पूषा, वामकर्णमें यशस्विनी, मुखमें अलंबुषा हैं ॥ २९ ॥ ३० ॥

कुहूश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने च शङ्खिनी ।
एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ति दश नाडयः ॥ ३१ ॥

लिंगदेशमें कुहू, मूलस्थानमें शंखिनी ये दो उस कंदसे अधोमुख होकर नीचेको गई है और ऊर्ध्वमुख होकर ऊपरको हैं इस प्रकार ये दश नाडी प्राणवायुके एक एक मार्गमें आश्रय करके स्थित हैं ॥ ३१ ॥

इडापिङ्गलासुषुम्णाः प्राणमार्गे समाश्रिताः ।
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ॥ ३२ ॥

चंद्रमा, सूर्य और अग्नि हैं देवता जिनके ऐसी इडा, पिंगला, सुषुम्णा ये तीन नाडी प्राणवायुके मार्ग हैं ॥ ३२ ॥

अथ दश वायवः ।

प्राणोपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः ।
नागः कूर्मोऽथ कृकलो देवदत्तो धनंजयः ॥ ३३ ॥

प्राण १ अपान २ समान ३ उदान ४ व्यान ५ नाग ६ कूर्म ७ कृकल ८ देवदत्त ९ धनंजय १० ये दश वायु शरीरमें हैं ॥ ३३ ॥

हृदि प्राणो वसेन्नित्यमपानो गुदमण्डले ।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यतः ॥ ३४ ॥
व्यानो व्यापी शरीरेषु प्रधानाः पञ्च वायवः ।
प्राणाद्याः पञ्च विख्याता नागाद्याः पञ्च वायवः॥३५॥

प्राणवायु हृदयमें रहकर श्वास बाहर भीतर निकलता तथा अन्नपानादिकोंका परिपाक करता है १ अपानवायु मूलाधारमें मलमूत्र बाहर निकालनेका काम करता है २ समानवायु नाभिमें रसको शुष्क अर्थात् यथास्थान रखनेका काम करता है ३ उदानवायु कंठमें रहकर शरीरकी वृद्धि करता है ४ व्यानवायु सर्वशरीरमें लेना, छोडनाआदि अंगधर्म कराता है ५ वायु तो १० हैं परंतु इनमें प्रधान ये पांचहीं हैं शिवयोगशास्त्रके मतसे मुख, नासिका, हृदय, नाभिमें कुंडलिनीके चारों ओर तथा पादांगुष्ठमें सर्वदा प्राणवायु रहता है १ गुह्य, लिंग, ऊरु, जानु, उदर, पेडू, कटि, नाभि इनमें अपानवायु रहता है २ कर्ण, नेत्र, कंठ, नाक, मुख, कपोल, मणिबंधमें व्यानवायु रहता है ३ सर्वसंधि तथा हाथ पैरोंमें उदानवायु रहता है ४ उदराग्निके कलाको लेकर सर्वांगमें समानवायु रहता है ५ इस कारणसे प्राणादि पांच वायु प्रधान हैं नागादि पांच वायुका कर्म जो चर्म एवं हड्डीमें रहकर जो करते हैं आगे कहते हैं॥ ३४ ॥ ३५ ॥

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः ।
कृकरः क्षुतकृज्ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ॥ ३६ ॥

उद्गार (डकार) निकालना नागवायुका कर्म है नेत्रोंके पलक लगाना खोलना कूर्मवायुका तथा छींक करना कृकरवायुका, जृंभा देवदत्तवायुका कर्म है ॥ ३६ ॥

न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापि धनंजयः ।
एते सर्वासु नाडीषु भ्रमन्ते जीवरूपिणः ॥ ३७ ॥

और धनंजयवायु सर्वशरीरमें व्याप्त रहता है मृतशरीरमेंभी रहता है अर्थात् मरेमेंभी चार घटीपर्यंत यह शरीरहीमें रहता है इस प्रकार ये दश वायु आपही जीवके अभ्याससे कल्पित होकर सुखदुःखका संबंध जीवको कराते हैं मैं सुखी हूं उत मैं दुःखी हूं इत्यादि व्यवहारमय जीवकी उपाधि लिंगशरीरमें होनेसे आपही जीवरूप होकर समस्त नाडियोंमें फिरता रहता है यद्यपि अविद्यावच्छिन्न चैतन्य जीवही है तो इसका घूमना फिरना असंभव है तथापि जैसे चंद्रमा तो कंपायमान नहीं है परंतु उसका प्रतिबिंब जलमें जिस समय हो उस समय उस जलको हिलाया जाय तो चंद्रबिंब हिलता दीख पडता है ऐसेही व्यवहारसे दश वायुओंका घूमना तथा इनहीकी उपाधि जीवचैतन्यमें आरोपित करते हैं ॥ ३७ ॥

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्छलति कन्दुकः ।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति ॥ ३८ ॥

जैसे कंदुक (गेंद) हाथसे भूमिपर ताडनकरके स्वतः उछ-लता है, तैसेही प्राणवायुके स्थान (हृदय) में अपानवायु तथा अपानवायुके स्थान (गुदा) में प्राणवायुके प्राप्त होनेमें अपा-नवायु जीवको आकर्षण करके एकत्र स्थित नहीं रहने देता जै-से गेंद खेलनेवालेके वशमें गेंद रहता है ऐसेही अविद्या (माया)-के वशमें जीव रहता है ॥ ३८ ॥

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च धावति ।
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते ॥ ३९ ॥

जीवकारणसे जीवात्मा प्राणअपानवायुके आधीन है उसी कारणसे इडा और पिंगला नाडीके द्वारा गिरके नीचे मूलाधार-पर्यंत ऊपर मुख नासिकाछिद्रपर्यंत फिरताही रहता है इसके अ-तिचंचल होनेसे इतना कठिन है कि प्राणापानवायुके साधनविना वायु नहीं जीता जाता इसके जीते विना हृदयकमलमें ध्यान न-हीं होता ॥ ३९ ॥

रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः ।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते ॥ ४० ॥

जैसे बाजपक्षीके पैरमें डोरी बांधके हिलाके छोड देने-पर उडजाता एवं खींचनेपर फिर हाथमें आ जाता है ऐसेही मायाके अंश सत्त्वरजतमोगुणके वासनासे बँधा हुआ जीव बुद्धि-की लीन हुएमें उपाधिरहित शुद्धब्रह्म हो गया हो तौभी प्राणापा-नवायुकरके फिर खींचा जाता है जाग्रत्अवस्थामें फिर प्रबुद्ध हु-एकी वृत्ति विषयमें पुनः जीवभावको प्राप्त किया जाता है॥ ४० ॥

अपानः कर्षति प्राणं प्राणोपानं च कर्षति ।
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ संयोजयति योगवित् ॥ ४१॥

ऊपरसे आज्ञाचक्रगत प्राणवायु नीचे मूलाधारस्थित अपान-वायुको तथा मूलाधारगत अपानवायु आज्ञाचक्रस्थ प्राणवायुको परस्पर अपने २ ओर आकर्षण करते हैं योगाभ्यासी पुरुष प्राणायामसे इनहींको जोडकर योग (जोडना) कहते हैं इसी योग जोडनेको हठयोग कहते हैं जो सूर्यचंद्रमा ऐक्य कहाते हैं॥ ४१॥

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥ ४२ ॥
षट् शतानि त्वहोरात्रे सहस्राण्येकविंशतिः ।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥ ४३ ॥

प्राणवायु सारूप्यको प्राप्त हो रहा चिदाभास जीव हकार-करके स्वाधिष्ठानचक्रसे उत्पन्न होता है और सकारकरके मूलाधारादि चक्रमें प्रवेश करता है एवंप्रकार ' हंस ' मंत्र (अजपागायत्री) का जप जीव नित्य करताही रहता है अर्थात् श्वास बाहर निकलनेमें हकार भीतर प्रवेश होनेमें सकार उच्चारण होता है सूर्य्योदयसे पुनः सूर्यास्तपर्यंत ६० घटीमें इस मंत्रकी जपसंख्या२१६०० होती है इतना जप जीव स्वतः करता है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ।
अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४४ ॥

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥ ४८ ॥

यह योगियोंको मोक्ष देनेवाली अजपा नाम गायत्री है इसके संकल्पमात्रसे योगी समस्तपापोंसे छूट जाता है संकल्पकी विधि यह है कि सूर्योदयसे पहिलेही शयनसे उठकर शुद्धवस्त्र पहन हाथ, पैर, मुख प्रक्षालन कर शुद्धआसनमें बैठ आचमन करके संकल्पकल्पना इस प्रकार करना कि अद्येह पूर्वद्युरहोरात्रचरितनासापुटनिःसृतोच्छ्वासनिःश्वासात्मकषट्शताधिकैकविंशतिसहस्रसंख्याकाजपागायत्रीजपं मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरानाहतविशुद्धाज्ञाचक्रब्रह्मरन्ध्रस्थितेभ्यो गणपतिब्रह्मविष्णुरुद्रजीवगुरुपरमात्मभ्यः सिद्धिसरस्वतीलक्ष्मीगौरीप्राणशक्तिज्ञानशक्तिचिच्छक्तिसमेतेभ्यो यथासंख्यं षट्शतं, षट्सहस्रं, षट्सहस्रं, सहस्रमेकं, सहस्रमेकं, सहस्रमेकम् अजपागायत्रीजपं प्रत्येकं निवेदयामि इति निवेद्य । पुनरद्य प्रातःकालमारभ्य द्वितीयप्रातःकालपर्यन्तं नासापुटनिःसृतोच्छ्वासनिःश्वासात्मकं षट्शताधिकैकविंशतिसहस्रसंख्याकमजपागायत्रीजपमहोरात्रेणाहं करिष्ये इति जायमानजपसंकल्पं कृत्वा स्वकृत्यमाचरेत् इस अजपाके समान जीवब्रह्मका अभेद कहनेवाला और कोई मंत्र नहीं है यह अल्पश्रममें उत्तम फल देनेवाला है इसके समान और जप नहीं. क्योंकि प्रातःकाल संकल्पमात्र करना है उपरांत खाते पीते चलते उठते बैठते सोते सर्वदा सब अवस्थाओंमें उक्त जप आपसे होताही रहता है और अद्वैतानुभव करानेवाला उसके

समान अन्य कोई ज्ञानशास्त्र पहिलेभी नहीं था और पीछे होनेवालाभी नहीं है ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी ।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥ ४६ ॥

कुंडलिनी महाशक्तिसे उत्पन्न हो रही. तथा प्राणवायुको धारण करनेवाली यही अजपा गायत्री है. जीवात्माकी शक्ति प्राणविद्यास्वरूपभी यही है इसी कारण महाविद्याभी इसको कहते हैं इसे जो योगी पहिचान सके वही योगशास्त्राभ्यासका तात्पर्य जानता है ॥ ४६ ॥

अथ शक्तिचालनम् ।

कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥ ४७ ॥

अब कुंडलिनीके भेद खोलने निमित्त एवं उसकी अधिकता प्रकट करनेके लिये कुंडलिनीका और प्रकारभी स्थान कहते हैं कि समस्त ७२००० नाडियोंका उत्पत्तिस्थान पूर्वोक्त कंद है इसके ऊपर मणिपूरचक्र कर्णिकामें आठ वृतकरके वेष्टित हो रही कुंडलिनीशक्ति ब्रह्मरंध्रद्वारके मुखको रोकके सर्वदा रहती है ॥ ४७ ॥

येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ ४८ ॥
प्रबुद्धा बुद्धियोगेन मनसा मरुता सह ।
सूचीवं गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥ ४९ ॥

जिस मार्ग (सुषुम्णा) करके जन्ममरणके दुःख हरण करनेवाला अखंड ब्रह्मानंदपद मिलता है उस मार्गको रोकके सोई हुई कुंडलिनी प्राणवायुके धौंकने (उत्तेजन करने) से कालाग्निके ज्योतिके संबंधसे प्रबुद्ध (जाग्रत) होकर मन एवं प्राणवायुके सहित होके सुषुम्णानामा मध्यनाडीसे ऊपरको जाती है जैसे सूची (सुई) अपनेपर पिरोये तागेसहित होनेसे वस्त्रके अनेक सूत्रोंके मध्यमें प्राप्त होती है. तैसे आपही सृष्टि उत्पन्न करके षट्चक्र तथा उनके देवताप्रभृति सकलप्रपंचको उल्लंघन करके ऊपर सहस्रदलकमलके सन्मुख होकर जाती है ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

प्रसुप्तभुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा ।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥ ५० ॥

सोते सर्पके समान कुंडलिनी अपानवायुसे धमित (धौंकी गयी) जो मूलाधारमें रहनेवाली कालाग्निज्योतिके संबंधसे प्रबोध पायके अतिवेग (जोर) से चलते हुए सर्पके समान कुटिलगति होकर कमलनालके तंतु (सूत्र) समान सूक्ष्म ज्योतिर्मयस्वरूप होकर सुषुम्णामार्गसे ऊपरको जाती है ॥ ५० ॥

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥ ५१ ॥

जैसे कूंची (चावी) से ताला खुलकर कपाट (कवाड) खुल जाते हैं तैसेही कुंडलिनीकरके मोक्षद्वार सुषुम्णाके मुखको

योगी अभ्याससे खोले जिससे कि कुंडलिनीके प्रबोधविना कुंडलिनीका द्वार खुलता नहीं ॥ ५१ ॥

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनम् ।
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानं च तच्चेतसि ॥
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितम् ।
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावादतः ॥५२॥

दोनों हाथ संपुटित करके (अंजली बांधके) दोनों कूर्पर (बाहुमध्यभाग) हृदयमें दृढ स्थापन करके पद्मासन करे चिबुक (ठोडी) हृदयमें दृढतर लगायके अर्थात् जालंधरबंध करके ज्योतिःस्वरूपका ध्यान करे केवल कुंभकप्राणायाम अधोद्वार रोकके करे प्राणायामसे कुंभितवायुको अपानवायुसे एकत्व करके यथाशक्ति कुंभक करे पुनः रेचकप्राणायाम (जिसमें वायु अतिमंद २ निकला) करे इस प्रकारसे कुंडलिनीका बोध होता है तथा योगीको अपरिमित ज्ञान मिलता है. कुंडलिनीको प्रबोध करनेवाली शक्ति चालनमुद्रा यही होती है परंतु प्राणायामके अभ्याससे प्राणापानवायुको वशवर्ती करके इस मुद्राका बहुत कालपर्यंत अभ्यास करना होता है ॥ ५२ ॥

अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमसञ्जातवारिणा ।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ॥ ५३ ॥
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्य्या विचारणा ॥५४॥

शक्तिचालनमुद्राके अभ्यासके नियम कहते हैं कि प्राणायामादिकर्मसे जो अंगोंमें स्वेद (पसीना) आता है उससे अंगमर्दन करे लवण और खट्टा ये दो रस न खावे केवल दुग्धान्न खाया करे भोजनभी एक प्रमाणसे करे ब्रह्मचर्य रक्खे कामक्रोधसे रहित रहे त्यागवान् होवे योगाभ्यासका मात्र अभ्यास रक्खे इस प्रकार नियममें रहकर योगाभ्याससे शक्तिचालनमुद्राका अभ्यास करे एकवर्ष ऊपर जब इच्छा करे तभी कुंडलिनीके अभ्युत्थानकी सामर्थ्य होतीहै इसमें सिद्धि होती है वा नहीं ऐसा संदेह न करना अभ्याससे अवश्यमेव सिद्धि होती है॥५३॥५४॥

सुस्निग्धो मधुराहारी चतुर्थांशविवर्जितः ।
भुञ्जते स्वरसं प्रीत्यै मिताहारी स उच्यते ॥ ५५ ॥

मिताहारके लक्षण कहते हैं स्निग्ध (सचिक्कण) मीठा भोजन करे अम्ल (खट्टा) और लवणवर्जित करे दो भाग अन्न एक भाग जल खावे चौथा भाग उदरमें वायुसंचारके लिये छोड देवे. देवताको निवेदन करके दुग्धान्न भोजन करे इस प्रकार विधि करनेहारा योगी मिताहारी कहाता है ॥ ५५ ॥

कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिः शुभमोक्षप्रदायिनी ।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥ ५६॥

कंदके ऊपर मणिपुरचक्रके कर्णिकामें ८ फेरे वेष्टित होकर कुंडलाकार कुंडलिनी शक्ति है. यह मूर्खजनोंको वारंवार जन्ममरणरूप बंधन देती है और योगाभ्यास जाननेवालेको श-

क्तिचालनका अभ्यास जन्ममरणरूप बंधन छुटायके मोक्ष देती है ॥ ५८ ॥

अथ शक्तिचालनविधौ ग्रन्थान्तरे विशेषः ।

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरंडा तपस्विनी ।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १ ॥

शक्तिचालनमें ग्रंथांतरमतसे कुछ विशेष कहते हैं कि, गंगा-यमुनाके बीच तपस्विनी बालरंडा बलात्कारकरके कुंडलिनीको ग्रहण करे तो विष्णुके परमपद (ब्रह्मांड) में प्राप्त करती है ॥ १ ॥

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी ।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली ॥ २ ॥

इडा भगवती वामश्वासा नाडी ऐश्वर्य्यादिसंपन्न गंगा, दक्षिणश्वासा पिंगलानाम्नी यमुना है इनके मध्यनाडी सुषुम्णा बालरंडा है ॥ २ ॥

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम् ।
श्वेतं तु मृदुलं प्रोक्तं वेष्टितं वरलक्षणम् ॥ ३ ॥

मूलस्थानसे वितस्तिमात्र ऊपर नाभि एवं मेढ्रके मध्यमें नवांगुल विस्तार, चार अंगुल आयाम, पक्षीके अंडाकार, श्वे-तरंग कोमल वस्त्रवेष्टित जैसा कंद है ॥ ३ ॥

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ॥ ४ ॥

वज्रासनकरके हाथोंसे पैरोंकी एडी पकड कंदस्थानमें दृढ लगाय पीडन करे ॥ ४ ॥

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम्।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत्॥ ५॥

योगी वज्रासनमें बैठ कुंडलीको शक्तिचालनमुद्रासे चलायमान करे तब भस्त्रा नाम कुंभक कर कुंडलिनीशक्तिको शीघ्र प्रबोधित करे॥ ५॥

भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः॥ ६॥

नाभिस्थान (सूर्य) को आकुंचन कर कुंडलीको चलावे इसका अभ्यास सिद्ध हो जाय तो मृत्युके मुखमें पड गया हो तौभी उसकी मृत्यु न होवे॥ ६॥

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित्सुषुम्णायां समुद्गता॥ ७॥

चार घडीपर्यंत निर्भय होकर शक्तिचालन करे तो कुंडलिनी कछुक सुषुम्णामें ऊपरको उठती है॥ ७॥

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्णाया मुखं ध्रुवम्।
जहाति तस्मात्प्राणोयं सुषुम्णां व्रजति स्वतः॥ ८॥

इससे कुंडलिनी (जो सुषुम्णा रोक बैठी है) सुषुम्णाके द्वारको छोड देती है तब प्राणवायु आपही सुषुम्णामें प्रवेश करता है॥ ८॥

तस्मात्सञ्चालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम्।
तस्याः सञ्चालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते॥ ९॥

इससे नित्यप्रति सुषुम्णाद्वारमें सोती कुंडलिनीको चलावे तो योगी सर्व रोगोंसे छूट जावे ॥ ९ ॥

येन सञ्चालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ १० ॥

जिस योगीने शक्तिचालन किया वह अणिमादि सिद्धियोंका पात्र होता है और विशेष माहात्म्य क्या कहा जाय वह काल (मृत्यु) को सहजहीं जीत लेता है ॥ १० ॥

कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ।
एवमभ्यस्यतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ ११ ॥

जो यमी नित्य कुंडली चलायके भस्त्राकुंभकका अभ्यास विशेषकरके करता है तो उसको यमका भय नहीं होता ॥ ११ ॥

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥ १२ ॥

योगियोंको दृढाभ्याससे आसन प्राणायाम महामुद्रादि करके मध्यनाडी (सुषुम्णा) सरल हो जाती है ॥ १२ ॥

अथ महामुद्रा ।

महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डीयानं जलंधरम् ।
मूलबन्धञ्च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनः ॥ ५७ ॥

महामुद्रा १ खेचरीमुद्रा २ उड्डीयानबंध ३ जालंधर ४ मूलबंध ५ इनको करके शक्तिचालन करे तौ योगी मुक्तिभाजन होता है शक्ति चली वा नहीं इसके जाननेका प्रमाण यह है कि

जैसे शरीरमें पिपीलिका (चींटी) चलनेमें उसकी गतिसे ज्ञात होता है कि कुछ जीव चलता है ऐसेही सुषुम्णामें वायु जब चलने लगता है तो शक्ति चलायमान हो गयी जानना शक्तिचालनमुद्राके पीछेभी उक्त ५ मुद्रा करनी योग्य हैं ॥ ५७ ॥

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा
हस्ताभ्यामनुधारयेत् प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ।
आपूर्य्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्धा शनै रेचये-
देषा व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते ५८.

महामुद्राकी विधि कहते हैं कि हृदयमें चिबुक जोरसे धारण करके वामपादकी एडीसे योनिस्थानको अत्यंत दृढ करके अचेते दहिना पाद लंबा करके दोनों हाथोंसे पादमध्यभाग पकडके दृढ रोके तब पेटमें पूरक विधिसे वायु भरे कुछ काल यथाशक्ति कुंभक करके मंद मंद वायुको रेचन करे. यह योगिजनको समस्त रोगनाशक महामुद्रा कही है ॥ ५८ ॥

चन्द्राङ्गेन समभ्यस्य सूर्याङ्गेनाभ्यसेत्पुनः ।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥५९॥

इस महामुद्राके अभ्यासमें प्रथम वामांगसे अभ्यास करके पीछे दाहिने अंगसे करे तैसेही प्राणायामभी करता रहे जब दोनों ओरके अभ्याससे प्राणायामकी मात्रा बराबर हो जाय तब मुद्रा छोडनी तबतक उक्त अभ्यास करता रहना ॥ ५९ ॥

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यंते ॥ ६० ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
रोगास्तस्य क्षयं यान्ति महामुद्रां च योऽभ्यसेत्॥६१॥
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ ६२॥

जब महामुद्राका अभ्यास दृढ हो जाय तो, पथ्यापथ्यविचार कुछ नहीं रहता. मिष्ट, लवण, तिक्तआदियोंका स्वाद कुछ नहीं रहता. जो (घृत, सहद बराबर मिलायके कृत्रिमविष होता है) संयोगविरुद्धवस्तु वा घोरविषभी खावे तो अमृतके समान प-चि जाता है तथा उदावर्त, गुल्म, अजीर्ण, क्षय, कुष्ठ आदि रोग समस्त शांत हो जाते हैं. इसके अभ्यासीको महासिद्धि देनेहारी यह महामुद्रा कही है इसे बडे यत्नसे गुप्त रखना प्रकाश करनेसे सामर्थ्यहीन होती है इस हेतु अनधिकारी, अयोग्य पुरुष, शठ, दांभिकआदि जैसे कैसेको न देना ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

' इसका विस्तार ग्रंथांतरसे पाठकोंके सुबोधार्थ लिखते हैं- '

पादमूलेन वामेन योनिं संपीडच दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ १ ॥

वामपादकी एडीसे गुदा और शिश्नके मध्यमें योनिस्थानको रोकके दाहिना पैर लंबा पृथ्वीमें फैलाय जैसे एडी भूमिमें रहे और अंगुली ऊंची दंडकेसे नाईं रहे. तब हाथोंके अंगुष्ठ और तर्जनीसे दक्षिणपादांगुष्ठ पकडके धारण करे ॥ १ ॥

कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ।
यथा दण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥ २ ॥

तदनंतर कंठमें जालंधरबंध करके वायुको ऊपर सुषुम्णामें धारण करे इससे मूलबंधभी हो जाता है जहां योनिस्थानको पीडन और जिह्वाबंध करके मूलबंध हो जाता है ॥ २ ॥

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ ३ ॥

जैसे सर्प दंडके प्रहारसे दंडाकार हो जाता है ऐसेही कुंडलिनी शक्तिभी कुटिलताको छोडकर इस मुद्रासे सरल हो जाती है और कुंडलिनीके बोधसे सुषुम्णामें वायुका प्रवेश होता है तब दोनोंको प्राणके वियोगसे इडा पिंगला हैं आश्रय जिसके ऐसी मरणावस्था होती है ॥ ३ ॥

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ ४ ॥
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ।
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः ॥ ५ ॥

तदनंतर शनैः शनैः रेचन करे वेगसे करनेमें बलहानि होती है इससे महामुद्राआदि नाथादि महासिद्धोंने दिखाई है इसके अभ्याससे महाक्लेश, अविद्या, राग, द्वेषादिक, शोकमोहादिदोष क्षीण होतेहैं तथा जरामरणभी नहीं होते इससे ज्ञानिजन इसे महामुद्रा कहते हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत् ।
यावत्तुल्यं भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ ६ ॥

इसका क्रम कहते हैं कि (चंद्रांग) वामभागमे अभ्यास कर सूर्य्यांग (दक्षिणभाग) में अभ्यास करे और वामांगाभ्यासके पीछे जबलौं वामांगमें कुंभककी संख्या समान हो तबलौं अ-भ्यास करे जब संख्या समान हो तब महामुद्रा विसर्जन करे इस-में यह क्रम है कि वामपादकी एडीको योनिस्थानमें लगाय दा-हिना पाद लंबा फैलाय अंगुष्ठको हाथके अंगुष्ठ तर्जनीसे पकड-के अभ्यास करे यह वामांगाभ्यास है इससे पूरित जो वायु सो वामांगमें स्थित रहता है फिर दक्षिणपादको समेट तिसकी एडी योनिमें लगाय वामपाद लंबा फैलाय अंगुष्ठको हाथके अंगुष्ठ तर्जनीसे पकडके अभ्यास करे इसे दक्षिणांगाभ्यास कहते हैं इससे पूरित वायु दक्षिणांगहीमें रहता है ॥ ६ ॥

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥ ७ ॥

गुण कहते हैं कि महामुद्राके अभ्यासको पथ्यापथ्यविचार नहीं है कटु, अम्लादि समस्त रसादिक जो खाय वही पच जावे नीर-स, बासी, पर्युषित सब पचे. तथा दुर्जर घोर विष आदिभी अमृतके नाई पच जावे ॥ ७ ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योभ्यसेत् ॥८॥

जो पुरुष महामुद्राका अभ्यास करे उसे क्षयरोग, कुष्ठ, गुल्म-रोग, अजीर्ण, ज्वर, प्रमेह, उदररोगआदि कभी न होवें ॥ ८ ॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ ९ ॥

और उस अभ्यासीको अणिमादि महासिद्धि देनेहारी यह महामुद्रा कही है इसे गुप्त रखना अर्थात् अनधिकारीको न देना ॥ ९ ॥

अथ खेचरीमुद्रा ।

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ६३ ॥

खेचरीमुद्राकी विधि कहते हैं कि,जिह्वाको उलटी फिरायके कंठमूलमें जो छिद्र (लिगुलिग्या) याने क्षुद्रघंटिका है उसमें प्रवेश कराना तदनंतर भ्रूमध्यमें निश्चल दृष्टि स्थिर करना इसे खेचरीमुद्रा कहते हैं ॥ ६३ ॥

न रोगान्मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न मूर्च्छा तु भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥६४॥

जो योगी गुरूपदिष्ट मार्गकरके छेदन, दोहन, कर्षण (ये कर्म आगे कहेंगे .) प्रकारसे खेचरीमुद्राको बहुतकालपर्यंत अभ्यास करता है उसके रोग, निद्रा, क्षुधा, तृषा, मूर्छा और मरणतुल्य कष्ट दूर होतेहैं ॥ ६४ ॥

पीड्यते न च शोकेन न च लिप्येत कर्मणा ।
बाध्यते न स केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥६५॥

जो योगी खेचरीमुद्रा जानके उत अभ्यास करके सिद्धि

करता है वह शोकसे पीडित नहीं होता. कर्मके फलमें बंधन नहीं पाता और काल मृत्यु आदियोंसेभी बाधा नहीं पाता ॥६५॥

चित्तं चलति नो यस्माज्जिह्वा चरति खेचरी ।
तेनेयं खेचरी सिद्धा सर्वसिद्धैर्नमस्कृता ॥ ६६ ॥

जिस कारण तहां परब्रह्मविषये एकाग्र होकर मन बुद्धि चित्तशून्यविषे फिरता है तथा जिह्वाभी कंठमूल छिद्राकाशमें रहके ब्रह्मरंध्रांतर्गत चंद्रकलामृतका पान करती है इस हेतुसे मनबुद्धिके विषयबंधन निवारण करनेहारी खेचरी मुद्रा समस्त सिद्धजनोंसे अत्यंत पूजित (नमस्य) है ॥ ६६ ॥

बिन्दुमूलं शरीराणां शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः ।
भावयन्ति शरीराणामापादतलमस्तकम् ॥ ६७ ॥

शरीरका मूल (कारण) बिंदु है इससे शरीरकी रक्षा है. पादसे शिरपर्यंत समस्त नाडीजाल बिंदुसे सेचन हो रहा है इसी हेतु उक्तनाडी सजीव स्वकर्मसामर्थ्य रहती हैं अर्थात् समस्त नाडी बिंदुके आधारमें हैं ॥ ६७ ॥

खेचर्य्या मुद्रया येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च॥६८॥

जिस योगीने कंठनालके छिद्रलंबिकाके ऊपर आकाशविषें खेचरीमुद्रासे रोक लिया तो चंद्रामृत रुकनेसे उस योगीको कामिनी (स्त्री) आलिंगन करे तौभी उसका मन चलायमान नहीं होता तथा बिंदु नहीं गिरता है॥ ६८ ॥

यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्योर्भयं कुतः ।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ॥ ६९ ॥

जबलौं देहमें बिंदु स्थिर है. तावत् मृत्युकी भय नहीं होती बिंदुका स्थान व्योमचक्र है इससे कालकी गति नहीं है. जबलौं खेचरीमुद्रा दृढ है तबलौं बिंदु व्योमचक्रसे नहीं गिरता. इसके स्वस्थानस्थ रहनेमें कालका वश नहीं चलता ॥ ६९ ॥

चलितोपि यदा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं हृते शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया ॥ ७० ॥

कदाचित् एकाग्र न होनेसे बिंदु उत्तरके नाभिस्थान सूर्य्यमंडलमें पहुँच गया तो योनिमुद्राकरके कुंडलिनीशक्तिको ऊपर उठायके उसके आघातसे उक्त बिंदु पुनः ऊपर लौटके अपनेही स्थानमें प्राप्त होकर स्थिर रहता है ॥ ७० ॥

स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा ।
पाण्डुरः शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यो महारजः ॥ ७१ ॥

उक्त बिंदु दो प्रकारका होता है एक तो पांडुरवर्ण जिसे शुक्र कहते हैं दूसरा (लोहित) रक्तवर्ण इसे महारज कहते हैं ॥ ७१ ॥

सिन्दूरद्रवसंकाशं नाभिस्थाने स्थितं रजः ।
शशिस्थाने स्थितो बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ७२॥

तैल मिलायके सिंदूर (हिंगुल) का द्रव (रस) के समान रज सूर्यस्थान नाभिमंडलमें रहता है तथा बिंदु (वीर्य) चंद्रमाके स्थान कंठदेश षोडशारचक्रमें स्थिर रहता है इन दोनोंका ऐक्य अत्यंत दुर्लभ है ॥ ७२ ॥

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिश्चन्द्रो बिन्दू रजो रविः ।
अनयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥ ७३ ॥

बिंदु शिव रज शक्ति है, इनके एक होनेमें योगसिद्धि होकर परमपद मिलता है चंद्रमा सूर्यका (प्राणवायु अपानवायुका जीवात्मा परमात्माका) ऐक्य करना यही हठयोगपदका अर्थ है ॥ ७३ ॥

वायुना शक्तिचारेण प्रेरितं तु यदा रजः ।
याति बिन्दोः सहैकत्वं भवेद्दिव्यं वपुस्ततः ॥ ७४ ॥

शक्तिचालनविधिसे वायुकरके जब रज बिंदुके साथ ऐक्यको प्राप्त होता है तब शरीर दिव्य हो जाता है अर्थात् उसे अग्नि जलाती नहीं शस्त्रसे कटता नहीं ॥ ७४ ॥

शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्य्येण संयुतम् ।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ॥ ७५ ॥

शुक्र बिंदुरूप हो चंद्रमासे मिला और रज रक्तरूप होकर सूर्य्यसे मिला इनके समरसैकत्व (चंद्रसूर्य्यस्वरूप बिंदुरजके समरसत्वभाव) को जो योगी जानता है वह योगवित् कहाता है चंद्रमा एवं सूर्यको योगको योग कहाते हैं ॥ ७५ ॥

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्य्ययोः ।
रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते ॥ ७६ ॥

नाडीजालके शोधनसे; इनमें रहनेवाले वात-पित्त-कफादि रोगोंका हरण होता है. चंद्रसूर्यके चालनसे इनके एकत्र होनेमें खाया अन्न, पिया जल इनका शोषण होता है ऐसा महामुद्राका

फल है अर्थात् इस मुद्राकरके नाडीजालका शोधन चंद्रसूर्य-का चालन रसोंका शोषण होता है ॥ ७६ ॥

ग्रन्थान्तरे खेचरीमुद्राविधिः ।

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्द्धयेत्तावत् ।
यावद्भ्रूमध्यं तु स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥ १ ॥

जिह्वा खेचरीयोग्य करनेकी विधि ग्रंथांतरसे कहते हैं कि छेदन-चालन-दोहनकर्मसे जिह्वा बढती है, छेदन आगे कहेंगे, चालन यह है कि अंगुष्ठ और तर्जनीसे जिह्वाको हिलाते रहना, दोहन दोनों हाथोंके अंगुष्ठ तर्जनीसे जैसे गौके थनको दुहे ऐसे खींचखींचके जिह्वाको लंबी करे जबतक बाहर निकल-कर भ्रुकुटीको स्पर्श न करे तबतक यह विधि करता रहे ॥ १ ॥

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ २ ॥

छेदन कहते हैं कि थूहरके पत्रके समान अति तीक्ष्ण, सचिक्कण निर्मल शस्त्रसे जिह्वाके नीचेको नसको रोममात्र छेदन करे ॥ २ ॥

ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३ ॥

तिसके पीछे सेंधा नमक और हरडका चूर्ण छेदित स्थानपर मले, परंतु योगीको लवणनिषेध है इसलिये लवणके स्थान खदिर (कत्था) से कार्य्य करना योग्य है ऐसे सायंप्रातः सात दिन करके फिर पूर्वोक्त विधिसे रोममात्र काटे पुनः उक्त औषधी लगाता रहे ॥ ३ ॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलशिरा बन्धः प्रणश्यति ॥ ४ ॥

ऐसे छः महीनेपर्यंत नित्य युक्तिसे करे तो जिह्वामूलकी नाडी जो जिह्वाको कपालकुहरमें पहुंचानेसे रोकती है वह सुख-पूर्वक कट जाती है ॥ ४ ॥

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।
सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ५ ॥

जिह्वाको तिर्छी करके तीनों नाडियोंका मार्ग जो कपाल-छिद्र उसमें योजित करे यह खेचरीमुद्रा है इसीको व्योमचक्रभी कहते हैं ॥ ५ ॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ६ ॥

तालुके ऊपर छिद्रमें जिह्वाप्रवेश करके एक घडीमात्र खेचरी मुद्रा स्थिर रहे तो योगीको सर्प विच्छूआदियोंका विष न लगे और बुढापा, रोग, मृत्युको जीते वलीपलित (जो बुढापेमें चर्म ढीला होकर सलवटें पडती हैं) न होवें ॥ ६ ॥

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्द्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ७ ॥

तालुके ऊपर छिद्रके सन्मुख जिह्वा लगाय स्थिरकरके भ्रू-मध्यगत चंद्रमासे निकले अमृतका पान जो योगी करे वह १ पक्ष (१५) दिनमें मृत्युको निःसंदेह जीत लेता है यह निश्चय है ॥ ७ ॥

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरे यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ८ ॥

और जिस योगीका शरीर नित्य उक्त चंद्रामृतकरके पूर्ण हो जाय तो तक्षकनागभी उसे डसे तौभी विष न लगे. दुःख न होवे ॥ ८ ॥

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्तिं च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ॥ ९ ॥

जैसे अग्नि काष्ठको एवं दीपक तेलसहित बत्तीको नहीं छोडता तैसेही चंद्रामृतपूरित देहको जीव कदापि नहीं छोडता॥९॥

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ॥ १० ॥

आचार्य कहते हैं कि जो योगी नित्य गोमांस भक्षण एवं अमरवारुणी पान करे तो उसे हम उत्तमकुलमें उत्पन्न समझते हैं अन्यथा कुयोगी, कुलनाशक हैं सत्कुलमें उत्पन्न हुएभी तो उनका जन्म व्यर्थ है ॥ १० ॥

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ११ ॥

इस गोमांसशब्दका अर्थ कहते हैं कि गोशब्दकरके यहां जिह्वाका बोधक है जिह्वाको कपालछिद्रमें प्रवेश करनेको गोमांस भक्षण कहते हैं. यह महापातकोंका नाश करता है॥११॥

जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः सा स्यादमरवारुणी ॥१२॥

अमरवारुणीका अर्थ है कि तालुके ऊपर छिद्रमें जिह्वाक प्रवेश उष्मा (गर्मी) से भ्रुकुटिके भीतर वामभागस्थित चंद्रामृत द्रवित होकर जिह्वाग्रमें प्राप्त होता है इसे अमरवारुणीपान कहते हैं ॥ १२ ॥

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा सरस्यन्दिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोद्गीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ॥ १३ ॥

जब पूर्वोक्तकर्मोंसे जिह्वा बढायके उक्त विधिसे चंद्रामृत पान करने लगती है तो मुखमें लवणसहित मरिचादि, चिंचा-फलादि, दूध, मधु, घृतके आदि स्वाद आपसे ज्ञात होते हैं तब योगीके रोग तथा वृद्धावस्थाका नाश होता है शस्त्र (जो अपने-को काटने आया) का निवारण होता है आठों सिद्धि मिलती हैं देवभाव मिलता है सिद्धांगनाओंके आकर्षणकी सामर्थ्य हो-ती है ॥ १३ ॥

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन् ।
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति १४

जिह्वाको कपालछिद्रमें लगाय मुख विपरीतकरणीके तरह ऊंचा कर कुंडलिनीके ध्यानसहित प्राणायामसे भ्रुकुटीमध्य

द्विदलकमलके नीचे कंठस्थ षोडशदलकमलमें हृदययोगसे प्राप्त जो निर्मलधारामय तरंगसहित चंद्रामृतरस है इसे जो योगी पान करे उसको ज्वरादिरोग न होते तथा कमलके गाभेकासा कोमल शरीर होकर बहुतकालपर्यंत जीवे ॥ १४ ॥

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं
तस्मिन्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ।
चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ॥ १५॥

मेरुपर्वतसदृश सबसे ऊंची सुषुम्णाके उपरीभागमें स्थित चंद्रामृतरूप जल जिसमें स्थित है ऐसे छिद्रमें सत्त्वगुणात्मा बुद्धि करके आत्मतत्त्व है और गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदासंज्ञक इडा, पिंगला, सुषुम्णा, गांधारी आदि नाडियोंका उक्तविवरमें मुख है इनके द्वारा चन्द्रमंडलागत अमृत व्यर्थ चले जानेसे शरीर जरामृत्युको प्राप्त होता है इसलिये प्रथम कह आये हैं कि सुकरण नाम खेचरीमुद्रा करके चंद्रामृत व्यर्थ स्रवित नहीं होनेसे मृत्यु नहीं होती. इस मुद्राके विना देहकी सिद्धि, लावण्य, बल, वज्रसमान दृढ शरीर नहीं होते ॥ १५ ॥

सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्रोतःसमन्वितम् ।
तिष्ठते खेचरीमुद्रा तस्मिन् शून्ये निरञ्जने ॥ १६ ॥

इडा १ पिंगला २ सुषुम्णा ३ गांधारी ४ हस्तिजिह्वा ५ इनका प्रवाह ऊपरको है सो इनके प्रवाहसंयुक्त आत्माको सा-

क्षात् प्रकट रहनेवाला विवर है सो अविद्या एवं अविद्याके कार्य्य शोक, मोहादि दूर होते हैं जिसमें ऐसे विवरमें खेचरी मुद्रा स्थित होती है ॥ १६ ॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ॥ १७ ॥

समस्त बीजोंमें मुख्य सृष्टिरूप एक प्रमाण वह है समस्तदेवताओंमें भगवान् मुख्य है तैसेही समस्त मुद्राओंमें खेचरी मुख्य है ॥ १७ ॥

उड्यानं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगम् ।
उड्डीयानं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ७७ ॥

जिस कारण उड्डियानबंधसे रुका प्राणवायु कहींभी विश्राम न करके उडके जैसा सुषुम्णामें गति करता है उसी कारण तहां मृत्युरूपी गजके ऊपर सिंह जैसा यही बंध कहाता है ॥ ७७ ॥

उदरात्पश्चिमे भागे अधो नाभेर्निगद्यते ।
उड्डियानो ह्ययं बन्धस्तत्र बन्धो निगद्यते ॥ ७८ ॥

उड्डीयानबंधका स्थान कहते हैं कि उदरसे पश्चिम और नाभिसे नीचे इस बंधका स्थान योगी कहते हैं इसलिये यह बंध उसी स्थानमें करना योग्य है ॥ ७८ ॥

ग्रन्थान्तरे ।

उदरे पश्चिमं स्थानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ १ ॥

नाभीका ऊपरला तथा नीचला भाग उदरमें लग जांय ऐसे पेटके पीछे खींचे इसे उड्डीयानबंध कहते हैं मृत्युरूपी गजको निवृत्त करनेके लिये सिंहसमान है ॥ १ ॥

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोपि तरुणायते ॥ २ ॥

हितोपदेशकर्त्ता गुरुकरके सहजस्वभाव कहा गया ऐसे इस बंधको निरंतर अभ्यास करे तो वृद्धभी तरुण हो जावे ॥ २ ॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि स्थानं कुर्यात्प्रयत्नतः ।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ३ ॥

नाभीऊर्ध्वाध भागोंको खींचकर पीठमें लगावे. ऐसे इस बंधको छः महीनेपर्यंत निरंतर अभ्यास करे तो निस्संदेह मृत्युको जीते ॥ ३ ॥

सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ।
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥४॥

संपूर्ण बंधोंमें उड्डीयानबंध उत्तम है यह दृढ हो जाय तो स्वभावसिद्ध मुक्ति होती है. इसके करनेसे पक्षियोंकेसी गतिकरके सुषुम्णाद्वारा प्राण मस्तिष्कमें ले जानेसे समाधिमें मोक्ष होता है यही स्वाभाविकी मुक्ति है ॥ ४ ॥

बध्नाति हि शिरोजालं नाधो याति नभोजलम् ।
ततो जालंधरो बन्धो कण्ठदुःखौघनाशनः ॥ ७९ ॥

जालंधरबंध कहते हैं कि यह बंध कंठस्थानमें होता है अनेक रोगोंको हरता है शरीरस्थ नाडीजालका बंधन करता है व्योम-

चक्रस्थ चंद्रकलामृतको कपालकुहरसे नीचे नहीं गिरने देता इ-स कारण वह जालंधरबंध कहा है ॥ ७९ ॥

जालंधरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ८० ॥

कंठका संकोचन करके प्राणवायुकी गतिको रोकना जा-लंधर बंध है इससे चंद्रकलामृत गिरके सूर्यरूप अग्निमें नहीं पडता एवं वायु कदाचित् विरुद्ध नहीं होता ॥ ८० ॥

ग्रन्थान्तरे ।

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ १ ॥

ग्रंथांतरसे जालंधरबंध कहते हैं कि कंठ नीचे नवाय हृदयके चार अंगुल अंतर ढोडी लगाय दृढ स्थापन करे यह जा-लंधरबंध वृद्धावस्था तथा मृत्युनाशक है ॥ १ ॥

कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेद्दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ॥ २ ॥

दृढ संकोचनमात्र करके इडा पिंगला दोनहूं नाडी स्तंभित होती हैं कंठस्थानमें जो विशुद्धनामा चक्र है वह अंगुष्ठादि ब्रह्म-रंध्रांत षोडश आधारोंका मध्यम चक्र है इन १६ आधारोंका वर्णन पूर्व १३ श्लोकके टीकामें कर आये हैं ॥ २ ॥

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डीयानं तु कारयेत् ।
इडां च पिङ्गलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥ ३ ॥

नाभिको पश्चिमतानरूप उड्डीयानबंध करे और कंठ नमाय जालंधरबंधसे इडा पिंगला नाडीनको स्तंभन करे तदनंतर पश्चिममार्ग सुषुम्णामें प्राणवायुको प्राप्त करे ॥ ३ ॥

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ४ ॥

इस विधिसे वायुकी गति बंद होकर प्राणवायु स्थिर होकर ब्रह्मरंध्रमें स्थित रहता है. इसे प्राणलय कहते हैं इससे मृत्यु, जरा, रोग, देहकी त्रिवली, श्वेतरोगता, मूर्छा आलस्यादिक, नहीं होते हैं ॥ ४ ॥

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ ५ ॥

मूलबंध १ उड्डीयानबंध २ जालंधरबंध ३ ये श्रेष्ठ हैं मत्स्येंद्रादि महासिद्ध वसिष्ठादिमुनि इन्हें सेवन करते हैं हठके उपायोंके सिद्धिको प्रगट करते हैं इससे गोरक्षादि सिद्ध इन्हें जानते हैं ॥ ५ ॥

यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥ ६ ॥

तालुके मूलमें स्थित दिव्यरूप चंद्रमासे कछुक अमृत स्रवित होता है उसे नाभिस्थित अग्निरूप सूर्य ग्रास कर लेता है तब देहको वृद्धावस्था होती है ॥ ६ ॥

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७ ॥

इस प्रकरणमें उक्तसूर्यके मुखवंचना अर्थात् जिससे उक्त अमृत सूर्यके मुखमें न पडे यह युक्ति कही है तथा विपरीतकरणी मुद्राभी (जो आगे कहेंगे) इसके उपयोगी है ये सर्व गुरुमुखसे जाने जाते हैं विना गुरु कोटीसंख्याक शास्त्रके अर्थमेंभी न जाने जाते ॥ ७ ॥

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो विधीयते ॥ ८१ ॥

अपानवायु ऊपर खींचके प्राणवायुसे योजित करना. पादकी एडीसे गुदा, एवं लिंगके मध्य योनिस्थानको दृढ अचेतके गुदद्वारको दृढ संकुचित करना जिससे अपानवायु बाहर न निकसे इस प्रकार मूलबंध होता है ॥ ८१ ॥

अपानप्राणयोरैक्यात् क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोपि सततं मूलबन्धनात् ॥ ८२ ॥

अपान और प्राणवायुका ऐक्य कर जो निरंतर मूलबंधका अभ्यास करता है उसके मल मूत्र क्षय होते हैं. और बूढाभी जवान हो जाता है ॥ ८२ ॥

'गोरक्षसंहितामें दशमुद्राओंमेंसे महामुद्रा १ खेचरी २ उड्डीयान ३ जालंधरबंध ४ मूलबंध ५ मुख्य कही हैं अन्य महाबंध १ महावेध २ विपरीतकरणीमुद्रा ३ वज्रोली ४ शक्तिचालन ५ ये पांच इसी शतकमें साधारणप्रकार पूर्वही कह आये हैं तथापि विशेष प्रकटताके लिये मैं उन्हें ग्रंथांतरमतसेभी लिखता हूं'—

तत्र प्रथमं महाबन्धः ।

पार्ष्णिवामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १ ॥

वामपादकी एडीसे योनिस्थानको रोधके दक्षिणपाद उसके ऊपर स्थापन करे अर्थात् मूलबंधकरके ॥ १ ॥

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढम् ।
निष्पीड्य वायुमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥ २ ॥

तब जालंधरबंधकरके वायुको पूरकर मनको मध्यनाडी सुषुम्णामें प्रवृत्त करे ॥ २ ॥

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥ ३ ॥

यथाशक्ति कुंभक करके मंद २ रेचन करे ऐसेही वामांगमें अभ्यास करे दोनों अंगोंके अभ्यासकी संख्या समान करे ॥ ३ ॥

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः ॥ ४ ॥

यह समस्त नाडियोंकी ऊपरकी गतिरोधक महासिद्धिदायक महाबंध है॥ ४ ॥

कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः ।
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ ५ ॥

मृत्युपाशको काटनेवाला है, इडा, पिंगला, सुषुम्णा तीनोंके सगम (त्रिवेणी) धारणकर मनको (केदार) भ्रुकुटी शिवस्थानमें प्राप्त करे ॥ ५ ॥

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ ६ ॥

जैसे कांति, गुण, शोभायुक्त स्त्री पुरुष विना व्यर्थ है ऐसेही महावेधविना महामुद्रा और महाबंध निष्फल हैं इसलिये अब महावेध कहते हैं ॥ ६ ॥

अथ महावेधः ।

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ।
वायूनां गतिमावृत्य निवृतं कण्ठमुद्रया ॥ १ ॥

एकाग्रबुद्धि करके योगि महावेध इस प्रकार करे कि, नासापुटसे पूरक करके जालंधर बंधकर वायुकी ऊर्ध्वगतिको रोक कुंभक करे ॥ १ ॥

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ २ ॥

दोनहूं हाथोंके हथेलीसमान पृथ्वीमें धरके पादकी एडी योनिस्थानमें दृढ लगाय हाथोंके सहारे पृथ्वीसे कुछेक शरीर उठावे (परंतु जैसे मूलबंध मुद्रा न खुले) फिर मंद मंद पृथ्वीके अपने शरीरासन स्फिचको ताडन करे इससे वायु इडा-पिंगलाको उल्लंघन कर सुषुम्णामें प्राप्त होता है इस मुद्रामें स्वानुभवसे तथा हरिगुरूपदिष्ट मार्गसे कहता हूं कि शरीर पृथ्वीसे उठायकर पृथ्वीमें ताडन करनेमें उक्त मुद्रा दृढ नहीं रह सकती यदि बलसे रक्खाभी तो मूलबंध बिगड जाता है इससे सुगम तो पद्मासन-

से यह कार्य्य सुखपूर्वक होता है औरभी सुभीता यह है कि हा-
थोंके जोरसे शरीर उठानेमें मूलबंध सुगमताहीसे होता है ॥२॥

सोमसूर्याग्निसंबन्धो जायते चामृताय वै ।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ ३ ॥

इस विधिसे सूर्यचंद्रमा अध्यात्मका इडा पिंगला सुषुम्णा-
का संयोग मोक्षके हेतु हैं ऐसे होनेमें मरा हुआ जैसा मृतावस्था
होती है तब नासिकापुटमें मंद २ रेचन करे ॥ ३ ॥

महावेधोयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ ४ ॥

इस महावेधके अभ्यास करनेसे अणिमादि अष्टसिद्धि मि-
लती हैं (वली) बुढापेमें मुखपर सलवटें पडनी (पलित) बाल
श्वेत होने (कंप) बुढापेमें शरीर कांपना ये उक्त अभ्यासीको
नहीं होते ॥ ४ ॥

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ५ ॥

ये महामुद्रा, महाबंध, महावेध, गोप्य हैं बुढापे तथा मृत्युको
दूर करते हैं जाठराग्निको बढाते हैं अष्टसिद्धि देती हैं ॥ ५ ॥

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ।
पुण्यं संभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ।
सम्यक्छिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ६ ॥

आठों प्रहरमें ८ ही वार इनका अभ्यास करे ये पु-
ण्यको बढाते हैं पापसमूहको वज्रके समान सूंकते हैं शि-

क्षावान् पुरुषको इस प्रकार दिन २ प्रहर २ में थोडा २ करके अभ्यास करना योग्य है ॥ ६ ॥

अथ विपरीतकरणमुद्रा।

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ १ ॥

अब विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं कि, ऊपरको नाभि नीचे तालुकरके नाभिस्थ सूर्य ऊपरको भ्रुकुटिस्थ चंद्रमा नीचेको हो जाता है इससे चंद्रामृत सूर्य्यरूप अग्निमें नहीं पडने पाता यह विपरीतकरणीमुद्रा है यहां ग्रंथकर्त्ताने उदाहरण कुछेक लिखकर लिखा गुरुलक्ष्यपर निर्भर छोड दिया। इसलिये मैं (भाषाकार) अपने अनुभव एवं हरिगुरूपदिष्टमार्गसे लिखता हूं कि, दोनहूं पैरोंसे पद्मासन बांधकर दोनहूं हाथ और शिर (चोटी) पृथ्वी लगाय, उक्त पद्मासनको ऊपर अंतरिक्षमें खडा करे अभ्यास हुएमें कभी तो उस पद्मासनको खोल पांव आकाशमें लंबे करे कभी फेर वैसेहीमें पद्मासन करे हाथ और शिरके सहारे उलटा खडा रहे तब यह मुद्रा होगी अभ्याससे सुगम हो जाती है॥ १॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्द्धिनी।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥ २ ॥

जो इस मुद्राका नित्य अभ्यास करता है उसकी जठराग्नि बढती है, उस साधकको आहार बहुत (यथेच्छ) करना चाहिये ॥ २ ॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ ३ ॥

इस मुद्राका अभ्यासी यदि भोजन अल्प करे तो जाठराग्नि प्रज्वलित होकर देहको फूकती है. अब क्रिया है कि पहिले दिन शिर पृथ्वीमें रखकर पैर ऊपरको क्षणमात्र करे ॥ ३ ॥

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥ ४ ॥

फिर प्रतिदिन एक एक क्षण बढायके अभ्याससे साधे तो सिद्धि भयेमें वली पलित छः महीनेसे दूर हो जाते हैं जो प्रतिदिन एक२ प्रहरपर्यंत इसको करता है वह कालमृत्युको जीतता है४॥

अथ वज्रोली ।

स्वेच्छया वर्तमानोपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥१॥

अब वज्रोली मुद्रा कहते हैं कि जो योगोक्त नियम नहीं जानता हुआभी अपनी इच्छासे वज्रोलीको जाने वह अणिमा सिद्धि पाता है ॥ १ ॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ २ ॥

इस मुद्रामें हरकिसीको दो वस्तु दुर्लभ हैं विशेषतः ये २ अवश्य चाहिये. वज्रोल्यर्थ संगमोत्तर दुग्धपान, एवं वशवर्तिनी स्त्री २ उपयोगी हैं ॥ २ ॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषोप्यथवा नारी वज्रोलीं सिद्धिमाप्नुयात् ॥ ३ ॥

संगमकरके मंद मंद क्षरितवीर्यको इंद्रियसंकोचनकरके ऊपर खेंचनेके अभ्यास सिद्ध हुएमें वज्रोलीमुद्राकी सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ३ ॥

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ४ ॥

इसकी पूर्वांगक्रिया कहे हैं कि चांदी वा कांचकी १४ अंगुल खोखरी शलाका सच्छिद्र करे जो १२ अंगुल सरल २अंगुल तिरछी रहे उसे लिंगछिद्रमें प्रतिदिन२।२ अंगुल प्रवेश कर एक किनारेसे फूंककर वायु प्रवेश करते २ बारह दिनमें २४ अंगुल प्रवेश करे इससे इंद्रियमार्ग शुद्ध होता है तब इस मार्गसे जलके आकर्षणका अभ्यास करे अभ्यास सिद्ध हुएमें वीर्यका आकर्षण करे तो सिद्धि होतीहै. जिसको खेचरी एवं प्राणजय सिद्ध हों उसको वज्रोली सिद्धि होती है ॥ ४ ॥

नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ५ ॥

स्त्रीसंयोगमें जब बिंदु (वीर्य) शरीरसे चलायमान होतेभी उसे उक्ताभ्याससे ऊपरको खींच लेवे अथवा जब भगमें गिर पडे तब स्त्रीके रजसहित बिंदुको आकर्षण कर ऊपरको चढायकर स्थापन करे ॥ ५ ॥

एवं संरक्षयेद्विन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥ ६ ॥

याप्रकार जो बिंदुकी रक्षा करता है सो योगी मृत्युको जीतता है बिंदुके पतनसे मृत्यु उसकी रक्षासे अमरत्व होते हैं उसलिये इस विधिसे बिंदुको स्थापन करे ॥ ६ ॥

सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद्विन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥ ७ ॥

उक्त अभ्यासीके शरीरमें बिंदुधारणसे सुगंधि प्रकट होती है और जबलौं देहमें बिंदु स्थित है तबलौं कालभय नहीं होता ॥ ७ ॥

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ८ ॥

वीर्य चित्तके आधीन है. चित्तके चलायमान होनेसे वीर्य चलायमान और स्थिरतासे स्थिर होता है एवं शुक्रके आधीन जीवित है. इससे स्थिरतासे जीवित स्थिर और चलायमान होनेसे मरण होता है, इसलिये शुक्र और मनकी रक्षा करनी मुख्य है ८

ऋतुमत्या रजोप्येवं बीजं बिन्दुं च रक्षयेत् ।
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ ९ ॥

ऐसेही रजोवती स्त्रीके रजको बिंदुसहित आकर्षणके ऊपरको खींचके स्थापन करे ऐसे वज्रोलीका अभ्यास करनेवाला योगवेत्ता होता है ॥ ९ ॥

'एक प्रकारके भेद वज्रोलीके सहजोली, अमरोलीभी हैं अतः प्रथम सहजोली कहते हैं'—

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ।
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ १ ॥

जो वज्रोलीके फल वही सहजोली, अमरोलीकेभी हैं इसलिये येभी उसीके भेद हैं. गोवरके (कंडे) गोपट्ठे जलायके भस्म जलमें मिलावे ॥ १ ॥

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वाङ्गलेपनम् ।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥ २ ॥

वज्रोली अर्थ मैथुन करके क्षणमात्र सुखसे वैठके व्यवाय व्यापार छोडके उक्त भस्म जलमें मिलाय स्त्रीपुरुष अपने २ सर्वांग लेपन करे ॥ २ ॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोपि मुक्तिदः ॥ ३ ॥

यह मत्स्येंद्रादि योगीश्वरोंने सहजोली कही है यह योग शुभकारक है. अन्यत्र साधनाओंमें जहां भोग तहां मोक्ष नहीं जहां मोक्ष तहां भोग नहीं इस मुद्राके अभ्यासमें भोगसहित मोक्षभी है ॥ ३ ॥

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ।
निर्मत्सराणां सिद्ध्येत नतु मत्सरशालिनाम् ॥ ४ ॥

जो योगी पुण्यवान्, धैर्यवान्, तत्त्वदर्शी और निर्मत्सरी है उनको सिद्ध होता है जो मत्सरी (अन्यशुभद्वेषी) है उनको सफल नहीं होता ॥ ४ ॥

'अब दूसरा भेद व अमरोली कहते हैं'–

पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां
विहाय निःसारतयान्त्यधाराम् ।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा
कापालिके खण्डमतेऽमरोली ॥ १ ॥

शिवांबुके प्रथमधारा पित्तके उष्णतासे तथा अंत्यधारा निःसारतासे त्यागकर निर्विकार मध्यधाराको ग्रहण कर सेवन करते हैं यह योगाभिमत कापालिकी क्रिया है इसे अमरोली कहते हैं यद्वा (कापालिक) कनफटे जोगियोंका (जिसे खंडमत कहते हैं) यह कर्म विशेषतः इष्ट है ॥ १ ॥

अमरीयं पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने ।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥ २ ॥

जो पुरुष अमरवारुणी (जो खेचरी प्रकरणमें कही है) का पान करते हैं एवं नासभी अमरवारुणीका लेते हैं तथा प्रतिदिन वज्रोलीका अभ्यास करें सोही कापालिकी अमरोली कही है२॥

अभ्यासान्निःसृता चान्द्री विभूत्या सह मिश्रयेत् ।
धारयेदुत्तमाङ्गेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ३ ॥

अमरोलीके अभ्याससे निःसृत चंद्रसुधाको पूर्वोक्त भस्ममें मिलायके उत्तमअंग–मस्तक, नेत्र, स्कंध, हृदय, भुजादिमें धारण करे तो भूत, भविष्य, वर्तमान देखनेयोग्य दिव्यदृष्टि हो जाती है ॥ ३ ॥

अथ स्त्रीणां वज्रोली ।

पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात् ।
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥ १ ॥

अब स्त्रियोंको वज्रोलीसाधन कहते हैं कि, जो स्त्री अभ्यासकी चतुराईसे पुरुषके बिंदुको खींचके अपने रजकी वज्रोलीमुद्रा करके रक्षा करे वहभी योगिनी कहाती है ॥ १ ॥

तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ।
तस्याः शरीरे नादश्च बिन्दुता मे न गच्छति ॥ २ ॥

उसके रजका नाश (पतन) निस्संदेह अल्पभी नहीं होता तथा शरीरमें नादभी उत्पन्न होता है चंद्ररूप बिंदु सूर्यरूप रजके बाहर संयोगसे सृष्टि (गर्भ) होती है जब अभ्याससे भीतरही योग होय तो योगसिद्धि होती है परमपद मिलता है इनके संयोगमें समस्त देवता स्थित रहते हैं ॥ २ ॥

स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥ ३ ॥

रज, बिंदु वज्रोलीके अभ्याससे देहमें प्राप्त होनेपर सर्व सिद्धि देते हैं ॥ ३ ॥

रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम् ॥ ४ ॥

जो स्त्री भगको आकुंचन करते करते रजको ऊपर शरीरमें चढाय रक्षा करे वह योगिनी होती है भूत, भविष्य, वर्तमान जाने अंतरिक्षमें बीच रहनेहारी वैमानिकगति मिलती है ॥ ४ ॥

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेपि मुक्तिदः ॥ ५ ॥

वज्रोलीके अभ्यासयोगसे (देहसिद्धि) रूप, लावण्य, बल वज्रसंहननभाव मिलते हैं. यह योग पुण्य देनेवाला तथा विषयभोग भोगनेमेंभी मुक्ति देता है ॥ ५ ॥

'इनमें दशम शक्तिचालनमुद्रा प्रथम अजपा गायत्रीके उपरांत कह आये हैं. अब इन १० का माहात्म्य कहते हैं'—

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना ।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥ १ ॥

ये दश १० मुद्रा आदिनाथ शिवने कही हैं इनमें एक एक मुद्रा योगीको अणिमादि देनेवारी हैं ॥ १ ॥

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ।
स एव श्रीगुरुस्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥ २ ॥

जो योगियोंको (सांप्रदायिक) गुरुपरंपराप्राप्त इन मुद्राओंका उपदेश देवे वही सर्व गुरुनते श्रेष्ठ, स्वामी, साक्षात् ईश्वर है ॥ २ ॥

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
अणिमादिगुणैः सार्द्धं लभते कालवञ्चनम् ॥ ३ ॥

इनके उपदेशकर्त्ता गुरुके आसन, कुंभक, आहार, विहार, चेष्टादि वाक्योंमें आदरपूर्वक ग्रहण कर तत्पर रहे तो अणिमादि सिद्धियोंको जीतकर कालमृत्युको जीते ॥ ३ ॥

अथ प्रणवाभ्यासः ।

पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः ।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोङ्कारमव्ययम् ॥ ८३ ॥

अब प्रणवके अभ्यासकी विधि कहते हैं कि एकांत स्थलमें बैठकर दृढ पद्मासन बांधके शरीर कंठ शिर सम (सरल) करके नासाग्रदृष्टि निरंतर करके प्रणव जप करे ॥ ८३ ॥

भूर्भुवःस्वरिमे लोकाः सोमसूर्य्याग्निदेवताः ।
यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति ॥८४॥

जिस प्रणवके अकार उकार मकार तीन वर्णमें भूः १ भुवः २ स्वः ३ ये लोक चंद्रमा १ सूर्य २ अग्नि ३ देवता रहते हैं वह प्रणव परमकारणरूप ज्योतिर्मय चैतन्य ॐकारस्वरूप है ॥ ८४ ॥

त्रयः कालास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयः स्वराः ।
त्रयो देवाः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति॥८५॥

जिस प्रणवमें भूत, वर्तमान, भविष्य ३ काल ऋक्, यजुः, साम तीनहूं वेद. स्वर्ग, मृत्यु, पाताल ३ लोक. उदात्त, अनुदात्त स्वरित ३ स्वर. ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर तीन देवता रहते हैं. वह प्रणव (ॐकार) स्वरूप परंब्रह्म ज्योतिस्वरूप है ॥ ८५ ॥

क्रिया इच्छा तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी ।
त्रिधा शक्तिः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति॥८६॥

जिस प्रणवके अ, उ, म, तीन मात्रा ॐक्रिया, इच्छा,

ज्ञान, शक्ति भेदोंकरके ब्रह्माणी, रुद्राणी, वैष्णवी ये शक्ति रहती हैं सो प्रणव ओंकारस्वरूप परब्रह्मज्योति है ॥ ८६ ॥

अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुसंज्ञकः ।
त्रिधा मात्रा स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति॥८७॥

त्रिलोकात्मा अकार उकार और बिंदुस्वरूप मकार तीनहूं मात्रा रहती हैं जिसमें ऐसा ब्रह्मज्योतिस्वरूप प्रणव है ॥८७ ॥

वचसा तज्जपेद्बीजं वपुषा तत्समभ्यसेत् ।
मनसा तत्स्मरेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८८ ॥

इस प्रणवको सकल जगत्कारण भूतभावना करके वचनसे जप करना शरीरसे सिद्धासनादिसे सगुणब्रह्मकी भावना करके प्रणवार्थ समझ अभ्यास करना तथा मनसे परंब्रह्मस्वरूप प्रकाश चैतन्य समझके सर्वदा स्मरण करना ॥ ८८ ॥

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि योजयेत्प्रणवं सदा ।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ ८९ ॥

जो योगी बाह्याभ्यंतर शौचयुक्त वा बाह्यशौचमात्र यद्वा जैसे तैसे होकर प्रणवका अर्थ समझ अभ्याससे जप करता है उसको शारीरकपाप स्पर्श नहीं करते. जैसे कमलदल जलमें रहता है परंतु जल उसके पत्रको स्पर्श नहीं कर सकता ऐसेही उक्त विधिका प्रणवाभ्यासीभी निर्लेप रहता है ॥ ८९ ॥

अथ प्राणायामप्रकारः ।

चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत् ।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत्॥९०॥

प्राणवायुके निश्वासोच्छ्वास होते रहतेमें बिंदुभी चलायमान होता है जो प्राणवायु स्थिर होगा तो बिंदु स्थिर हो जाता है जब प्राणायामसे प्राणवायु स्थिर हो गया तो योगी चिरकाल योगाभ्याससे समर्थ होता है दीर्घजीवी तथा ईश (शिव) भावको प्राप्त हो जाता है. इसलिये योगीको वायुनिरोध करना मुख्य है॥९०॥

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवं न मुञ्चति ।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥९१॥

जबलौं शरीरमें वायु स्थिर रहता है तबलौं जीव शरीरको नहीं छोडता जब प्राणवायु शरीरसे निकल जाता है तो उसी अवस्थाको मरण कहते हैं जीवन मरण प्राणवायुके आधीन है इसलिये प्राणवायुका रोधन अवश्य विधिसे करना चाहिये ॥९१॥

यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निरामयम् ।
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥ ९२ ॥

जबतक प्राणवायु कुंभकसे देहमें स्थिर है तथा जबतक चित्त विषयवासना त्याग अन्तःकरण ईश्वराकार निर्विकार है और जबतक भ्रूमध्यमें दृष्टि निश्चल है तबतक कालकी भय नहीं होती है ॥ ९२ ॥

अतः कालभयाद्ब्रह्मा प्राणायामपरायणः ।
योगिनो मुनयश्चैव ततो वायुं निरोधयेत ॥ ९३ ॥

जिस कारण जीवनमरण प्राणवायुके आधीन है इसी हेतु ब्रह्मा एवं सनकादिक सिद्ध, दत्तात्रेयादि मुनि, प्राणायामके सा-

धनमें तत्पर हैं अन्य योगियोंकोभी इस अभ्याससे कालकी भ-
य नहीं होती इस हेतु प्राणायाम साधन करना योग्य है ॥१३॥

षट्त्रिंशदंगुलो हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः ।
वामे दक्षिणमार्गेण ततः प्राणोऽभिधीयते ॥ १४ ॥

प्राणवायु अपानवायुरूप हंस इडापिंगलाके मार्गसे छत्तीस अंगुल बाहर निकलता है इस हेतु 'बहिः प्रयाणं कुरुते प्राणः' उक्तवायु प्राण कहाता है प्राणापानवायुरूप हंस है और नहीं१४

शुद्धिमेति यदा सर्वनाडीचक्रं मलाकुलम् ।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥ १५ ॥

जब शरीरके मलसे व्याप्त नाडीजाल, नाडीशोधन प्राणायामके प्रभावसे शोधके शुद्ध निर्मल होता है तब योगाभ्यासोपयोगी प्राणवायुको थामनेकी सामर्थ्य योगीको होती है अन्यथा नहीं ॥ १५ ॥

अथ नाडीशोधनप्राणायामविधिः ।

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ।
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्य्येण रेचयेत् ॥ १६ ॥

नाडीशोधन करनेवाले प्राणायामकी विधि कहते हैं कि एकांतमें स्थूल और कोमल आसनमें बैठकर पद्मासन बांधे तब चन्द्र-नाडी (इडा) से १२ संख्या प्रणव जप करते मन्दमन्द पूरक तथा १६ संख्यासे दोनहूं ओर थामके कुंभकमें चन्द्रमण्डलका ध्यान करना और १० संख्यासे सूर्यनाडी (पिंगला) से मन्द मन्द रेचन करे यह चन्द्रांग (वामांग) प्राणायाम है ॥१६॥

अमृतदधिसंकाशं गोक्षीरधवलोपमम् ।
ध्यात्वा चन्द्रमसो बिम्बं प्राणायामी सुखी भवेत्॥९७॥

चन्द्रांगप्राणायाममें दधि, दुग्ध, समान अतिशुक्लवर्ण अमृत-स्वरूप चन्द्रमाका कंठ तथा नाभिमें ध्यान करनेसे आनन्दका अनुभव होकर सुख मिलता है ॥ ९७ ॥

दक्षिणे श्वासमाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ।
कुम्भयित्वा विधानेन पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥ ९८ ॥

सूर्यनाडी (पिंगलामार्ग) से प्राणवायु १२ संख्यासे प्रणवजपसहित पूरकके १६ संख्यासे कुंभकमें आदित्यमंडलका ध्यान करना और १० संख्यासे प्रणवजप करके चंद्रनाडी (इडामार्ग) से मंद २ रेचन करना यह दक्षिणांग (सूर्यांग) प्राणायाम है ॥ ९८ ॥

प्रज्वलज्ज्वलनज्वालापुञ्जमादित्यमण्डलम् ।
ध्यात्वा नाभिस्थितं योगी प्राणायामी सुखी भवेत्९९

सूर्य्यांग प्राणायाममें कुंभकविषये जाज्वल्यमान अग्निज्वालासमुदायसमान अग्निमय सूर्य्यमंडलको अपने नाभिकमलमें ध्यानकरके जो योगी प्राणायाम करे तो आनंद पाता है ॥९९॥

प्राणांश्चेदिडयापि चेत्परिमितं भूयोन्यया रेचयेत्
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्धा त्यजेद्वामया ।
सूर्य्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिम्बद्वयं ध्यायतां
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥

उक्त ४ श्लोकका अर्थ सूक्ष्मसे पुनः कहते हैं कि यदि प्राणवायुको वामनासपुटसे १२ प्रणव जपसे पूरक १६ जपसे चंद्रमंडल ध्यानसहित कुंभक और १० जपसे रेचन सूर्यनाडीसे करना यह एक प्राणायाम हुवा पुनः दक्षिण नाडीसे १२ जपि पूरक १६ से सूर्यमंडल ध्यानसहित कुंभक और १० से रेचन करना दूसरा प्राणायाम हुवा पुनः वामसे पूरक दक्षिणसे रेचक करके तीसरा प्राणायाम हुवा इसी प्रकार चंद्रांग पूरकके कुंभकमें चंद्रबिंब प्राणवायुस्वरूपका और सूर्य्यांग पूरकके कुंभकमें सूर्य्यबिंब अपानवायुस्वरूपका ध्यान करनेवाले योगीके समस्त नाडीजाल तीन महीने उपरांत शुद्ध (निर्मल) होते हैं यह नाडीशोधनका उत्तम प्रकार कहा है जो संयमसे रहके धौती १ नेति २ नौली ३ वस्ती ४ त्राटक ५ भस्त्रा ६ षट्कर्ममें परिश्रम न करे तौभी इनही प्राणायामोंके अभ्याससे उनका उक्तकृत्य संपादित हो जाता है जैसे कहाभी है कि "प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति । आचार्य्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न संमतम् ॥ " अर्थात् प्राणायामहीसे नाडीमल शुद्ध हो जाता है इसलिये याज्ञवल्क्यादियोंके अन्य धौत्यादि षट्कर्म संमत नहींहै ॥ १०० ॥

ग्रन्थान्तरे ।

प्रातर्मध्यंदिनं सायमर्द्धरात्रे च कुम्भकान् ।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ १ ॥

अरुणोदयसे सूर्योदयपर्यंत ३ घटी प्रातःकाल दिनके पांच विभाग कर मध्यभाग मध्याह्न, सूर्यास्तसे ३ घटी आगे पीछे सायं संध्याकाल और अर्द्धरात्रिमें २ मुहूर्त्त निशीथ काल होता है इन चारोंमें प्रत्येकमें ८० । ८० प्राणायाम करना अर्द्धरात्रिमें न कर सके, तीनों कालमें अवश्य अभ्यास करना. चारों समयके ३२० और ३ समयके २४० प्राणायाम होते हैं॥ १॥

कनीयसि भवेत् स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबन्धयेत् ॥ २ ॥

जिसमें प्रस्वेद आवे वह कनिष्ठ, जिसमें कंप हो वह मध्यम है, जिसमें वायु ब्रह्मरंध्रमें प्राप्त हो सो उत्तम कहाता है इससे योगी निरंतर वायुका अभ्यास करे और कुछ कम ४२ विपल कुंभक रहे सो कनिष्ठ, ८४ से मध्यम, १२५ में उत्तम प्राणायाम काल कहते हैं जब प्राणायाम स्थिर हो जाय तब प्राण ब्रह्मरंध्रको प्राप्त होता है तहां २५ विपला स्थिर रहे तब प्रत्याहार २५ पलापर्यंत रहे तो धारणा तथा ६ घटी रहे तो ध्यान और बारह दिन रहे तो समाधि होती है ॥ २ ॥

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ।
दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ॥ ३ ॥

प्राणायामश्रमसे जो पसीना आवे उसे सर्वांगमें खूब मले इससे गात्र लघु और दृढ होते हैं अर्थात् जडताका अभाव होता है ॥ ३ ॥

अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ।
ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ॥ ४ ॥

अभ्यासकालमें दूध, घृत भोजन करे जब केवल कुंभका-भ्यास दृढ हो जाय तब उक्तनियमका कुछ आग्रह नहीं ॥४॥

यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि बाह्यतः ।
कायस्य कृशता कान्तिस्तदा जायेत निश्चितम् ॥५॥

जब नाडीशुद्धि हो जाती है तो बाहर चिह्न देहकी कृशता, कांतिवर्द्धनआदि निश्चय देखनेमें आते हैं बहुतकालसम कुंभक धारण करनेसे जाठराग्निप्रदीप्ति, नादकी प्रकटता और निरोगिता होती है ये सर्व नाडीशुद्धिके गुण हैं ॥ ५ ॥

यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधने ॥ १०१॥

इति गोरक्षशास्त्रे प्रथमशतकम् ॥ १ ॥

नाडिशोधन हुयेमें अपने समझेयोग्य मंत्र-जप-कालपर्यंत प्राणवायुके धारणसामर्थ्य होती है उदराग्नि प्रदीप्त स्पष्टतर नादका श्रवण और नैरुज्यता होती है ॥ १०१ ॥

इति महीधरकृतायां गोरक्षयोगशास्त्रभाषायां ससंग्रहायां योगाङ्गपूर्वाभ्यासविधिः ॥ १ ॥

अथ

गोरक्षपद्धतिः ।

द्वितीयं शतकम् ।

'जो पूर्व १०० श्लोकके टीकामें लिखा गया है कि धौती-आदि ६ कर्मका कार्य प्राणायामसे हो जाता है इन्हे न करे परंतु किसी २ आचार्योंका यहभी मत है कि'—

मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥

जिसका मेद और श्लेष्मा अधिक हों उसको प्राणायामसाधनमें अत्यंत कष्टसेभी अभ्यास दृढ नहीं होता इसलिये उनको प्रथम षट्कर्म करके तब प्राणायामका अभ्यास करना योग्य है इसलिये षट्कर्मविधि कहते हैं.

तत्रादौ धौतिः ।

चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम् ।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ॥ १ ॥

चार अंगुल चौडी, पंद्रह हाथ लंबी, बारीक वस्त्र (पगडी) की पट्टी थोडे गरमजलमें भिगोय मुखसे पहिले दिन एक हाथ, दूसरे दिन दो हाथ, तीसरे दिन तीन एवं क्रमसे १५ दिनमें पूरी गुरूपदिष्टमार्गसे निगल जावे ॥ १ ॥

पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत् ।
कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः ।
धौतिकर्मप्रभावेण प्रयान्त्येव न संशयः ॥ २ ॥

उक्त वस्त्र पिछला किनारा मुखमें दांतोंसे दाब ओठोंसे ल-गाय नौलीकर्म करे इससे छातीमें लगा वस्त्र उदर (अंतडि) में पहुँच साफ करता है तब थोडा २ बाहर निकाल डाले यह धौ-तिकर्म है कास, श्वास, प्लीहा, कुष्ठादि, विषरोग, वीस प्रकारके कफरोग इस धौतिकर्मके प्रभावसे निस्संदेह नाश हो जाते हैं॥ २॥

अथ बस्तिः ।

नाभिदघ्ने जले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात्क्षालनं बस्तिकर्म तत् ॥ १ ॥

अब बस्तिकर्म कहते हैं कि नाभिमात्र जलमें उत्कटासन बैठकर छः अंगुल लंबी और अंगुल प्रवेशयोग्य छिद्रवाली बांसकी नली चार अंगुल गुदामें प्रवेशकर गुदा आकुंचन करके पेटमें जल चढाय नौलीकर्म करके बाहर छोड देवे यह बस्तिकर्म है. धौती बस्ति विना भोजन किये करने न चाहिये तथा इनके उपरांत शीघ्र भोजन करना योग्य है ॥ १ ॥

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः ।
बस्तिकर्मप्रभावेण क्षीयन्ते सकलामयाः ॥ २ ॥

बस्तिकर्मसे गुल्म, प्लीह, जलोदर, वात, पित्त, कफसे उत्पन्न सर्वरोग नाश होते हैं ॥ २ ॥

धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं
दद्याच्च कान्तिं दहनप्रदीप्तिम् ।
अशेषदोषोपचयं निहन्या-
दभ्यस्यमानं जलबस्तिकर्म ॥ ३ ॥

जलमें बस्तिकर्मके अभ्याससे शरीरके सप्त धातु रस १ रुधिर २ मांस ३ मेद ४ अस्थि ५ मज्जा ६ शुक्र ७ तथा पांच ज्ञानेंद्रिय पांच कर्मेंद्रिय और अंतःकरण मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, ताप, विक्षेप, शोकादि, मोह, गौरव, आवरण, दीनता, राजसतामसका धर्म सभी निवृत्त होते हैं. प्रसन्नता कांति, बढती है. जठराग्नि दीप्त होती है.वातादि समस्त दोषोंको दूरकर नीरोगिता होती है ॥ ३ ॥

अथ नेतिः ।

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ।
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥ १ ॥

अब नेतिकर्म कहते हैं कि एक बालिस्त मुलायम, एवं ग्रंथिरहित सूत्रका एक किनारा नासिकाके एक पुटमें प्रवेश कर दूसरे पुटको बंदकर पूरक करे जब कुछ सूत्र ऊपर चढे तब मुखश्वास छोडकर सूत्र बाहर निकाले तब एक नारा मुखके बाहर दूसरा नासिकाके बाहर दोनहूंको हाथोंसे पकड शनैः शनैः चलाता रहे इसे नेतिकर्म सिद्धजन कहते हैं ॥ १ ॥

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च ॥ २ ॥

यह क्रिया कपोल तथा नासिकादियोंके मल दूर कर सूक्ष्मपदार्थदर्शी दिव्यदृष्टि देती है और जत्रू (कंठमूल) स्थानसे ऊपरके समस्त रोगसमूहको शीघ्र शांत करती है ॥ २ ॥

अथ त्राटकम् ।

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ।
अश्रुसंपातपर्यन्तमाचार्य्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥ १ ॥

अब त्राटक कहते हैं कि एकाग्र दृष्टिसे कुछ सूक्ष्म वस्तुको जबलौं नेत्रोंमें पानी न आवे निरंतर देखता रहे. नेत्रोंमें जल आनेपर छोड देवे इसे मत्स्येंद्रादि त्राटक कहते हैं. मैं (भाषाकार) समझता हूं कि सूक्ष्म वस्तुके स्थानमें प्रथम नासाग्र अभ्यास होनेपर भ्रूमध्य देखे तो औरभी अच्छे गुण शीघ्र होंगे ॥ १ ॥

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम् ।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ॥ २ ॥

यह त्राटककर्म नेत्ररोगनाशक, बल बढानेवाला, आलस्यनिद्रादियोंका कपाट (केवाड) है तंद्रा और तमोगुणी चित्तवृत्तिके क्रोधादिकोंको दूर करता है जैसे सुवर्णकी पिटारीको यत्नसे रखते हैं ऐसेही इस कर्मकोभी गोप्य रक्खे ॥ २ ॥

अथ नौलिः ।

अमन्दावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः ।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते ॥ १ ॥

अब नौलिकर्म कहते हैं कि दोनहूं कंधा नीचे नवाय उदरको दक्षिणवामभागकरके जलके भ्रमर (भौंरे) के नाई घुमावे इसे सिद्धलोग नौलि कहते हैं. अनुभवसिद्ध यहभी है कि दक्षिणवामभागसे घुमायके अभ्यास हुयेमें नीचे ऊपरकोभी चरखीके समान उदरानलको घुमाना चाहिये ॥ १ ॥

मन्दाग्निसंदीपनपाचनादिसंधापिकानन्दकरी सदैव ।
अशेषदोषामयशोषिणी च हठक्रियामौलिरियं हि नौलिः२

यह क्रिया मंदाग्निको बढाय भोजन किये अन्नादिकोंको शीघ्र परिपाक करनेवाली, समस्त वातादिरोगोंको सुखानेवाली, आनंदको देनेवाली, धौत्यादि सर्व कर्मोंमें (श्रेष्ठ) मुकुट है धौति, बस्ति, इन दो क्रियाओंमें नौलि कहनी होती है इस लिये यहां नौलिकी विधि कही है ॥ २ ॥

अथ कपालभातिः ।

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ॥ १ ॥

अब कपालभातिकर्म कहे कि लुहारकी धौंकनी (खाल)-के नाईं शीघ्र शीघ्र रेचन जो रेचकपूरक करे इसे कपालभाति कहते हैं इससे वीस प्रकारके कफरोग दूर होते हैं ॥ १ ॥

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ॥ २ ॥

उक्त षट्कर्मोंकरके स्थूलभाव कफदोष मलपित्तादि दूर हो जाते हैं तब प्राणायाम करे तो विनाश्रमही योगसिद्धि होती है ॥ २ ॥

उदरगतपदार्थमुद्वमन्ति पवनमपानमुदीर्य्य कण्ठनाले । क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा गजकरिणीति निगद्यते हठज्ञैः ॥ ३ ॥

अब गजकरणीमुद्राभी प्रसंगसे कहते हैं कि, अपानवायुको कंठनालमें चढाय उदरगत भुक्तपीतअन्न जलादियोंको निकाले इस अभ्याससेभी नाडिचक्र अपने आधीन (वशीभूत) होता है इसे हठज्ञ योगी गजकरणी कहते हैं ॥ ३ ॥

अथ उत्तरार्द्धग्रन्थः ।

'पूर्वोक्त प्रकारोंसे नाडिशोधन हुयेमें यम, नियम, आसन साधके षट्चक्र षोडशाधारका कर्म जानकर नाडिजाल नाडिगत वायु ज्ञात हुयेमें चन्द्रतारानुकूल शुभदिन शुभ मुहूर्तमें लग्ननवांशादि शुभ साधके एकांतस्थलमें श्रीगुरु गोरक्ष; गणेशका पूजन मंगलपाठ स्वस्त्ययन कराय योगाभ्यासोपदेशक श्रीगुरुको आराधनसे संतुष्ट कर उन्हीके आज्ञासे योगाभ्यासको आरंभ करना इसमें प्रथम प्राणायामका विस्तार कहते हैं '—

प्राणो देहे स्थितो वायुरपानस्य निरोधनात् ।
एकश्वसनमात्रेणोद्घाटयेद्गगने गतिम् ॥ १ ॥

प्राणवायु जो देहमें स्थित है और मूलाधारस्थित अपानवायुको ऊपर उठाय रोधकर एकही श्वासमें कुंडलीकरके रुका हुआ सुषुम्णाद्वारको खोलके सुषुम्णानाडिके चिदाकाशमें ऊर्ध्वगति कराता है सो प्राणायाम सुगम होता है ॥ १ ॥

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः ।
प्राणायामो भवेत्रेधा मात्राद्वादशसंयुतः ॥ २ ॥

रेचक, पूरक, कुंभकके भेदकरके प्राणायाम तीन प्रकारका होता है. बाहरके वायुको अभ्यंतर प्रवेश करना पूरक. वायुको भीतरही रोकना कुंभक. रुद्धवायुको बाहर निकालना रेचक होता है प्रणवका स्मरण करनेवाला प्राणायाम है ब्राह्मणको प्रणवका क्षत्रिय वैश्यको एकाक्षर मंत्रजपका अधिकार है पूरकमें अकारका स्मरणपूर्वक १२ प्रणव जपके चंद्रनाडीसे पूरक उकारके स्मरणपूर्वक चन्द्रमण्डलका ध्यान सहित १६ प्रणवजपसे कुंभक और मकारके ध्यानपूर्वक १० प्रणवजपसे रेचक करना. यह एक प्राणायाम होता है ॥ २ ॥

मात्राद्वादशसंयुक्तौ दिवाकरनिशाकरौ ।
दोषजालमपघ्नन्तौ ज्ञातव्यौ योगिभिः सदा ॥ ३ ॥

प्राणायामके अभ्यास करने २ यदि संयम पूरा न पहुँचे तो नाडी मलिन हो जाती है इसलिये पुनः नाडीशोधन प्राणायाम कहते हैं कि चंद्रांग, सूर्य्यांग, प्राणायाम, प्राणापानवायुसंयुक्त १२ प्रणवमात्राकरके पूरक चंद्रमंडल-सूर्य्यमंडलध्यानयुक्त १६ मात्राकरके कुंभक और १० मात्रासे रेचक करके चंद्रसूर्य नाडी मलको नाश करते हैं ऐसा योगियोंने जानना ॥ ३ ॥

पूरके द्वादशी कुर्यात्कुम्भके षोडशी भवेत् ।
रेचके दश ॐकाराः प्राणायामः स उच्यते ॥ ४ ॥
प्रथमे द्वादशी मात्रा मध्यमे द्विगुणा मता ।
उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः ॥ ५ ॥

पूरकमें १२, कुंभकमें १६, रेचकमें १०, मात्रा प्रणवकी यह प्राणायामप्रकार कनिष्ठ है. इससे द्विगुण अर्थात् पू० २४, कुं० ३२, रे० २०, यह मध्यम और पू० ३६, कुं० ४८, रे० ३० यह उत्तम प्राणायाम है ॥ ४ ॥ ५ ॥

अधमे चोद्यते घर्मः कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तिष्ठत्युत्तमे योगी ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ६ ॥

कनिष्ठप्राणायाममें प्रस्वेद (पसीना) होती है. मध्यममें कंप होता है. उत्तममें योनिका आधार उठता है. इसलिये प्राणायामका अभ्यास करना मुख्य है ॥ ६ ॥

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम् ।
भ्रूमध्ये दृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत् ॥ ७ ॥
ऊर्ध्वमाकृष्य चापानवायुं प्राणे नियोजयेत् ।
ऊर्ध्वमानीयते शक्त्या सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ८ ॥

प्राणायामकी विधि कहते हैं कि एकांतस्थलमें मोटे दलवाला कोमलकंबलादि आसनमें पद्मासन बांधके बैठकर श्रीगुरु एवं शिवको प्रणाम करे अमृत स्रवित हो रहा, ऐसे चंद्रबिंबका ध्यान भ्रूमध्यकरके दोनहूं दृष्टि भ्रूमध्यमें स्थापन करे तदनंतर ब्राह्मण प्रणवका क्षत्रिय वैश्य ओम् इति एकाक्षरमंत्रका पूर्वोक्त मात्राके प्रकारसे पूरक, कुंभक, रेचक, प्राणायाम, चंद्रांग, सूर्यांग, प्रकारकरके निरंतर करता रहे मूलाधार संकोचनपूर्वक अपानवायुको ऊपर खींचके प्राणवायुसे ऐक्य करे तब अपानवायुमिलित प्राणवायुको शक्तिचालनमुद्रासे उठाई-

गई कुंडलिनीको सुषुम्णामार्गसे ऊपरको चढावे इतने विधि करनेसे योगी समस्तपापोंसे निर्मुक्त हो जाता है ॥ ७ ॥ ८ ॥

द्वाराणां नवकं निरुद्ध्य मरुतं पीत्वा दृढं धारितं
नीत्वाकाशमपानवह्निसहितं शक्त्या समुच्चालितम् ।
आत्मस्थानयुतस्त्वनेन विधिवद्विन्यस्य मूर्ध्नि ध्रुवं
यावत्तिष्ठति तावदेव महतां संघेन संस्तूयते ॥ ९ ॥

केवल कुंभकप्राणायामका प्रकार कहते हैं कि षण्मुखीकरके पूरकवायुसे उदर पूर्ण करके ऊपरके ७ नीचेके २ इन नव द्वारोंको रोकके मूलाधारगत कालाग्नि अपानवायुसहित शक्तिचालनप्रकारसे प्रबुद्ध हो रही कुंडलिनीको ऊपरको उठाय आज्ञाचक्रसे ऊपर उक्तवायुसे पूर्ण करके स्थिर करे सहस्रकमलमें रहते परमात्माका ध्यानसे ज्योतिः प्रत्यक्ष करके यावत्कालसम योगी निश्चल होकर परमात्माका ध्यान करता है, यही काल योगीका मोक्षसम है. आत्मध्यानतत्पर योगीश्वर सिद्ध इस योगीकी धन्यवादपूर्वक स्तुति करते हैं यही परम फल योगका है ॥ ९ ॥

प्राणायामो भवत्येवं पातकेन्धनपावकः ।
भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा ॥ १० ॥

इस प्रकारका नित्य निरंतर अभ्याससे प्राणायाम करना अनेक पातकरूपी काष्ठको भस्म करनेवाला अग्नि होता है. संसाररूपी समुद्रसे तारनेवाला महासेतु (बडा पूल) योगिजनोंकरके यही प्राणायाम कहा जाता है ॥ १० ॥

आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुञ्चति ॥ ११ ॥

पश्चिमतानआदि आसनोंसे शरीरके अशेष रोग नाश होते हैं प्राणायामसे समस्त पातक और प्रत्याहारते मानसिक अनेक विकार नष्ट होते हैं ॥ ११ ॥

धारणाभिमतो धैर्य्यं ध्यानाच्चैतन्यमद्भुतम् ।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम्॥१२॥

धारणासे मनमें धैर्य्य बढने उत्तर उत्तम ज्ञान मिलता है ध्यानसे अद्भुत चैतन्य सर्वशारीरक ज्ञान मिलता है समाधिसे अभिमान त्याग होकर जिसमें पुण्य-पाप लिप्त नहीं होते ऐसा कैवल्य मोक्ष मिलता है ॥ १२ ॥

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ।
प्रत्याहारद्विषट्केन ज्ञायते धारणा शुभा ॥ १३ ॥
धारणा द्वादश प्रोक्ता ध्यानाद्ध्यानविशारदैः ।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥ १४ ॥

बारह प्राणायाम करके प्रत्याहारके फल देनेवाला प्रत्याहार (१२) प्रत्याहार (१४४ प्राणायाम) का धारणाका फल देनेवारी धारणा (१२) धारणा (१७२८ प्राणायाम) का प्राणायामरूप ध्यान (१२) ध्यान (२०७३६ प्राणायाम) का प्राणायामरूप समाधि होती है ॥ १३ ॥ १४ ॥

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।
तस्मिन् दृष्टे क्रिया कर्म यातायातं न विद्यते ॥१५॥

समाधिका स्वरूप कहते हैं. मूलाधारचक्र चतुर्दल कमल कर्णिकामें सुषुम्णाद्वारके संमुख स्वयंभूलिंगके शिरमें देदीप्यमान बिंब है बिंदुस्वरूप कुंडलिनीका है यह दीप्यमान बिंब समाधिमें अंत न मिलनेवाला, समस्त जगत् व्याप्त करनेवाला उत्तम ज्योति कालाग्निस्वरूप प्रगट होता है इसके दर्शन, समाधिद्वारा मिलनेसे जन्ममरण नहीं होते कर्ममें लिप्त नहीं होता कैवल्यका अनुभव हो जाता है ॥ १५ ॥

संबद्धासनमेढ्रमङ्घ्रियुगलं कर्णाक्षिनासापुटा-
द्वाराण्यङ्गुलिभिर्नियम्य पवनं वक्रेण संपूरितम् ।
ध्यात्वा वक्षसि वह्न्यपानसहितं मूर्ध्नि स्थितं धारये-
देवं याति विशेषतत्त्वसमतां योगीश्वरस्तन्मयः॥१६॥

समाधिकी प्रक्रिया दिखाते हैं प्रथम सिद्धासन बांधके दोनहूं हाथोंके अंगुष्ठोंसे दोनहूं कर्णछिद्र, तर्जनियोंसे नेत्र, मध्यमाओंसे नासिका और अनामिका २ कनिष्ठिका २ से मुख रोकके अधिमुखद्वारसे पूरित करके मूलाधारमें रहनेवाला अग्नि तथा अपानवायुसहित प्राणवायुको हृदयकमलमें धारण कर ऊपरको चढाय सहस्रदल कमलमें धारण करना इस प्रकार समाधिके अभ्यास करनेवाला योगी अपानवायुसंमिलित प्राणवायुमय होकर सर्वद्रष्टा साक्षिभूत अंतरात्माके तुल्यताको प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

गगनं पवने प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान् ।
घण्टादीनां प्रवाद्यानां तदा सिद्धिरदूरतः ॥ १७ ॥

उक्त प्रकारसे प्राणवायु जब (गगन) सहस्रदल कमलमें प्राप्त हो जाय तो घंटा नगारे आदि वाद्योंके ध्वनि प्रकट होती है इस चिह्नके मिलनेपर योगसिद्धि समीप है जानना ॥ १७ ॥

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगस्य संभवः ॥ १८ ॥

यथायोग्य निरंतराभ्यस्त प्राणायामसे सब रोग क्षय होता है ऐसेही अविधि विच्छिन्नाभ्यासादि प्राणायामसे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं ॥ १८ ॥

हिक्का कासस्तथा श्वासः शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ।
भवन्ति विविधा रोगा पवनस्य व्यतिक्रमात् ॥१९॥

अयुक्त प्राणायामाभ्याससे वायु विरुद्ध होकर हिचकी, कास, श्वास, शिरःपीडा, कर्णशूल, नेत्रव्यथाआदि रोग उत्पन्न करता है ॥ १९ ॥

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः ।
अन्यथा हन्ति योक्तारं तथा वायुरसेवितः ॥ २० ॥

जैसे सिंह, व्याघ्र, गज इत्यादि दुष्ट जंतु मंदमंदकरके उनके अनुकूल क्रमक्रमसे करके पालकके वशमें रहते हैं तथापि किसी समय थोडाभी उनमें विरोध होनेमें अपनेही पालकको मार डालते हैं तैसेही पवनभी युक्तअभ्याससे वशवर्ती होता है अयुक्तअभ्याससे रोगादिकोंकरके अभ्यासीको अनिष्ट हो जाता है ॥ २० ॥

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत्।
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिरदूरतः॥ २१॥

वायु शनैः शनैः रेचन करना जैसे नासाछिद्रके सामने रुईका फोहा रक्खा हुआ न उडे ऐसेही शनैः शनैः पूरकभी करना युक्त युक्त पूरक करना जिससे चित्तोद्वेग श्वासोत्कटता न होवे थोडेसे क्रम सहनयोग्य बढावना उचित है इससे सिद्धि नजदीक मिलती है॥ २१॥

अथ ग्रन्थान्तरे प्राणायामभेदाः।

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः।
सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मतः॥ १॥

ग्रंथांतरसे प्राणायामके भेद कहते हैं कि (प्राण) शरीरांतर्गत वायुके रोधको प्राणायाम कहते हैं इसके रेचक, पूरक कुंभक ३ भेद हैं भीतरसे वायु बाहर छोडना रेचक, बाहरसे वायु उदरमें पूर्ण करना पूरक और पूरितवायुको घटवत् धारण करना कुंभक कहाता है कुंभकके भी केवल एवंसहित दो भेद हैं वे केवल योगियोंके संमत हैं और सहितभी दो प्रकारका है एक रेचकपूर्वक दूसरा कुंभकपूर्वक पहिला रेचकप्राणायामसे दूसरा पूरकप्राणायामसे भिन्न नहीं है इनके पूरे भेद प्राणायाम प्रकरणसे जानने॥ १॥

यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत्।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम्॥ २॥

जबलौं केवल कुंभककी सिद्धि हो तबलौं सहितकुंभक सू-

ध्यांग प्राणायामसे करके सुषुम्णानके भेदनके पीछे उसके भीतर घटकासा शब्द हो तब केवल कुंभक सिद्ध होता है तदनंतर १०। १० बढायके ८० पर्यंत करे सामर्थ्य हो तो अधिक करे रेचक तथा पूरककोभी छोडके वायुधारण करना उसे केवल कुंभक कहते हैं ॥ २ ॥

प्राणायामोयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ।
कुम्भके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ॥ ३ ॥

प्राणायाम जो कहा शुद्ध तो केवल कुंभकही है. अन्य प्रकार नाडीशोधनार्थ हैं रेचकपूरकरहित केवल कुंभकके सिद्ध हो जानेमें ॥ ३ ॥

न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात् ॥ ४ ॥

योगीको तीनहूं लोकमें कुछभी दुर्लभ नहींहै जब केवल कुंभकके सामर्थ्य होनेसे यथेच्छ (असंख्य)वायु धारण करे॥४॥

राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ।
कुम्भकात्कुण्डलीबोधः कुण्डलीबोधतो भवेत् ॥५॥

इस विधिसे निस्संदेह राजयोगपद प्राप्त होता है कुंभकके अभ्याससे आधारशक्ति (कुंडलिनी) बोध होता है इससे निद्रा आलस्यादि मिटते हैं ॥ ५ ॥

अनर्गला सुषुम्णा च हठसिद्धिश्च जायते ।
हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठः ।
न सिद्ध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत् ॥ ६॥

और सुषुम्णाके कफादि मल दूर होते हैं तब हठसिद्धि (मोक्ष) होता है. हठयोग विना राजयोग सिद्धि राजयोग विना हठयोग-सिद्धि नहीं होती इसलिये दोनहूंका अभ्यास करना ॥ ६ ॥

कुम्भकप्राणरोधान्ते कुर्य्याच्चित्तं निराश्रयम् ।
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ॥ ७ ॥

कुंभकसे प्राण संरोधके अंत्यमें चित्तको आश्रयरहित करे इस प्रकारके अभ्यासयोगकरके राजयोगपदको प्राप्त होता है॥ ७॥

वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता ।
नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ॥
आरोग्यता बिन्दुजयोग्निदीपनं ।
नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ॥ ८ ॥

हठयोगसिद्धि जब होती है तो देहमें कृशता, मुखमें प्रसन्नता, नादकी प्रकटता, नेत्रोंकी निर्मलता, नीरोगिता, धातुका जय, उदरमें जठराग्निकी वृद्धि, नाडियोंकी शुद्धि ये लक्षण होते हैं॥ ८॥

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् ।
यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥ २२ ॥

अब प्रत्याहार कहते हैं रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द ये पांच विषय हैं इनमें चक्षु, जिह्वा, घ्राण, त्वक्, कर्ण, इन पांच ज्ञानेंद्रियोंके कर्म होते हैं अर्थात् उक्त ज्ञानेंद्रियोंके उक्त विषय क्रमसे हैं आसन, प्राणायाम सिद्धि करके जिस इंद्रियका जो विषय है उसे दूसरेके समीप भावना कर क्रमशः शनैः शनैः त्याग

करना अर्थात् इंद्रियसे उसके विषयका अनुभवकरके फेर इंद्रियोंको विषयसे अलग करना प्रत्याहार कहाता है ॥ २२ ॥

यथा तृतीयकालस्थो रविः प्रत्याहरेत्प्रभाम् ।
तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं तथा ॥२३॥

दिनके प्रातः, मध्याह्न, सायं ये तीन भागसे तीन काल होते हैं. जैसे (तीसरे) सायंकालमें सूर्य्य अपनी (प्रभा) कांतिको क्रमशः हरण करता है ऐसेही योगीभी तीसरे अंग (आसन १ प्राणायाम २ प्रत्याहार ३) प्रत्याहारमें मानसविकार (विषय) में मनके अभिनिवेशको हरण करना अर्थात् विषयसंबंधसे चित्तको छुटाना ॥ २३ ॥

अङ्गमध्ये यथाङ्गानि कूर्मः संकोचयेद्ध्रुवम् ।
योगी प्रत्याहरेदेवमिन्द्रियाणि तथात्मनि ॥ २४ ॥

जैसे कूर्म (कछुवा) अपने शिर पैर आदि अंगोंको संकोचन कर अपनेही भीतर छिपाय देता है.अंग तो उसीमें रहते हैं परंतु न हुयेके तुल्य हो जाते हैं ऐसेही योगीनेभी इंद्रियोंको विषयोंसे विमुख कर आत्मामें उनकी वृत्तियोंको थाम लेना अर्थात् इंद्रियोंको उनके विषयोंमें आसक्त न होने देना विषयोंसे तृप्त जैसा मानकर इंद्रियोंको अपने भीतर अंतरात्मामें आसक्त करना ॥ २४ ॥

यं यं शृणोति कर्णाभ्यामप्रियं प्रियमेव वा ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २५ ॥

अगन्धमथवा गन्धं यं यं जिघ्रति नासिका ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २६ ॥
अमेध्यमथवा मेध्यं यं यं पश्यति चक्षुषा ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २७ ॥
अस्पृश्यमथवा स्पृश्यं यं यं स्पृशति चर्मणा ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २८ ॥
लवण्यमलवण्यं वा यं यं रसति जिह्वया ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २९ ॥

कर्णसे मधुर वा कठोर जैसे शब्दोंको सुनता है ऐसे मनभी कर्णद्वारा शब्दमें आसक्त होता है योगीजन उक्त शब्दोंकोभी यह्भी आत्माही है, समझ वह मनमें निश्चय कर मनको उक्त शब्द विषसे प्रत्याग्रहण करे अर्थात् शब्दको विषय मानके जो मनमें ससंभ्रम शब्द सुननेका भ्रम होता है उस भ्रमसे मनको उसे मिथ्या (विनाशी) जानकर मनको उससे हटावे जैसे (रज्जु) रस्सीमें सर्पका एवं स्थाणु वृक्ष प्रस्तरादिकोंमें मनुष्य भूतादि भ्रांति होती है तैसेही अखंडानंदस्वरूप आत्मचैतन्यमें संसार यद्वा देह है कहकर बुद्धि भ्रांतिकरके कल्पना करती है वस्तुतः आत्मतत्त्वातिरिक्त कुछभी नहीं है इस कारण संपूर्ण जगत् आत्मस्वरूप है ऐसेही शब्दादि उक्त विषयोंकोभी आत्माही है भावनापूर्वक निश्चय करके बाहर भीतर अद्वैतानंदस्वरूप आत्मासे अन्य कोई नहीं है ऐसी धारणा स्थिर करके शब्दादि विषयोंको चलायमान हुएमेंभी उन्हें आत्मा माने विषय न माने

नासिकासे सुगंध वा दुर्गंध जो सूंघता है उसे आत्माही है निश्चय करके नासिकाकी वृत्ति जो गंधद्वारा मनको लुभाय भ्रममें डालती है उसे हटावे नेत्रेंद्रियसे जो जो पवित्र वा अपवित्र पदार्थ देखता है उन्हेंभी आत्माही है निश्चयकर रूपविषयसे मिथ्याभ्रम छोडके नेत्रेंद्रियवृत्तिको उक्त विषयसे हटावे त्वगिंद्रियसे मृदु वा कठोर तप्त वा शीत आदि जिस२ पदार्थको स्पर्श करता है उसे-भी आत्माही है भावना निश्चयकर त्वगिंद्रि प्रवृत्ति जो स्पर्शसुखमें मनको लुभाती है उसको हटावे जिह्वासे सलोना, अलोना, मिष्ट, कटुक आदि जिन२रसोंको चखता है उन्हें आत्माही समझकर जिह्वाकी वृत्तिको हटावे इस प्रकार योगी प्रत्याहारके अभ्यास करके पंचेंद्रियवृत्तियोंको अपने २ विषयोंसे हटाय आत्मतत्त्वमें स्थिर करना जब प्रत्याहार सिद्ध हो जाता है तो योगी कानोंसे सुने मधुरशब्दके तुल्य मानता है कोईभी इसके चित्तको अपनी ओर नहीं ले जाय सकते. ऐसेही नेत्रोंसे देवता वा पिशाच, मनुष्य वा कुत्ता, ब्राह्मण वा चांडाल, गौ वा गदहा इत्यादि सभीको तुल्य देखता है. नासिकासे कस्तूरी आदि सुगंधी वा पुरीषादि दुर्गंधियोंसे तुल्य सुख मानता है त्वचासे अग्नि वा जल षोडशीस्त्री कुच वा कृपाण (आरे) की धारा आदिकोंके स्पर्शसे तुल्य सुख मानता है और जिह्वासे मीठा वा कडुवा, तप्त वा शीत, तीक्ष्ण (मिर्च) वा दूध, मिट्टी, रेत, गोबर वा हलुवा, पूडीआदिकोंको तुल्य स्वादिष्ठ मानता है ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

चन्द्रामृतमयीं धारां प्रत्याहरति भास्करः ।

यत्प्रत्याहरणं तस्याः प्रत्याहारः स उच्यते ॥ ३० ॥

प्रत्याहारकी विधि कहनेउपरांत केवल हठयोगहीसेभी प्रत्याहारकी विधि कहते हैं कि, षोडशदल कमलकार्णिकास्थित चंद्रबिंबसे जो अमृतधारा गिरती है उसे नाभिकमलस्थित सूर्य्य ग्रासकर लेता है.तो उक्त धाराको विपरीतकरिणीमुद्रा करके सूर्यसे हटाय अपने मुखमें पारे. इसे प्रत्याहार कहते हैं ॥ ३० ॥

एका स्त्री भुज्यते द्वाभ्यामागता चन्द्रमण्डलात् ।
तृतीयो यः पुनस्ताभ्यां स भवेदजरामरः ॥ ३१ ॥

एका स्त्री पदसे कंठस्थानगत चंद्रमासे निकसी अमृतधाराका बोधन है (द्वाभ्यां) पदसे सूर्य्यचंद्रमाका बोध है तृतीयपदसे आप (योगी) है उक्त अमृतधारा कंठ एवं नाभिगत चंद्रसूर्य्यसे भोग करती है इसको तीसरा (आप) स्वयं विपरीतकरणीमूद्रा करके उक्त चंद्रसूर्यसे बचायकर भोग करे तो अजरामर होता है ॥ ३१ ॥

नाभिदेशे वसत्येको भास्करो दहनात्मकः ।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमाः ॥ ३२ ॥

अग्निमय एक सूर्य्य नाभिमें निवास करता है अमृतात्मक चंद्रमा विशुद्धचक्रमें रहता है ॥ ३२ ॥

वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः ।
ज्ञातव्या करणी तत्र यया पीयूषमाप्यते ॥ ३३ ॥

विशुद्धचक्रमें रहकर अधोमुख चंद्रमा अमृतधारा वर्षाता है उस धाराको नाभिस्थित ऊर्ध्वमुख सूर्य्य पी लेता है योगीकरके

उक्त सूर्य्यको वंचनकर उक्त अमृतधाराको अपने मुखमें प्राप्त किया जाता है उसे विपरीतकरणी जानना ॥ ३३ ॥

ऊर्ध्वं नाभिरधस्तालुरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ३४ ॥

जो नाभिगत सूर्य्यको ऊपर (तालु) विशुद्धगत चंद्रमाको नीचे करे यह विपरीतकरणी गुरुमुखहीसे जानी जाती है॥ ३४ ॥

लिखनेसे नहीं किंतु सुबोध योगियोंको इतना औरभी स्मरण कराते हैं कि यह मुद्रा प्राणायाम योग एवं खेचरीमुद्रासाधनके उपरांत इन्हींसे सुगम हो जाती है ॥

त्रिधा बद्धो वृषो यत्र रोरवीति महास्वनः ।
अनाहतं च तच्चक्रं हृदये योगिनो विदुः ॥ ३५ ॥

तीन फेरा रस्सियोंसे बँधा वृषभ जैसे पराधीन होकर शब्द करता है ऐसेही अनाहतचक्रमें सत्त्व-रज-तमोगुणस्वरूप मायाविषै प्रतिबिंबित हो रहा जीव परा-पश्यंति-मध्यमाविषै प्रतिबिंबित हो रहा जीव परा-पश्यंति-मध्यमाके क्रमसे हृदयमध्यमें नाद-सहित होकर निरंतर शब्द करता है अनाहतचक्रको हृदयमें योगिजन जानते हैं ॥ ३५ ॥

अनाहतमतिक्रम्य चाक्रम्य मणिपूरकम् ।
प्राप्ते प्राणे महापद्मं योगी स्वममृतायते ॥ ३६ ॥

खेचरीमुद्राकरके अमृतपानको सूचित करते हैं कि प्राणापानवायुको एकत्व कर मणिपूर अनाहतचक्रोंको उल्लंघन करके

महापद्म (ब्रह्मस्थान) को प्राप्त करके योगीका अमृतमय शरीर उक्तामृतपानसे हो जाता है ॥ ३६ ॥

ऊर्ध्वं षोडशपत्रपद्मगलितं प्रायादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां निधाय विधिवच्छक्तिं परां चिन्तयेत् ।
तत्कल्लोलकलाजलं सुविमलं जिह्वाकुलं यः पिबे-
न्निर्दोषः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ॥३७॥

उक्त प्रकारकरके ब्रह्मस्थानपर्यंत प्राणवायुको पूर्णकर जो योगी शिरमें रहते सहस्रदल कमलसे विशुद्धचक्रमें गिरती वेला प्राणवायुको ऊपर चढाय नासिका ऊर्ध्वविवरमें प्राप्त करे ऊर्ध्व विवरमें जिह्वा प्रवेश कर अपना मुखभी ऊपरको करके सहस्रदलकमलमें प्राणवायुसहित प्राप्त हुई कुंडलिनीका ध्यान करता कुंडलिनीका सहस्रदलमें प्रवेश होतेही जो अमृताकार तरंग निकलता है उसका लेशभूत अतिनिर्मल जिह्वाके मथनसे निकले हुए अमृतको पान करे वह योगी अतिसुकुमार शरीर पायके समस्त रोगदुःखोंसे रहित होकर बहुतकालपर्यंत जीवित रहता है ॥ ३७ ॥

काकचंचुवदास्येन शीतलं सलिलं पिबेत् ।
प्राणापानविधानेन योगी भवति निर्जरः ॥ ३८ ॥

अपानवायुको उठाय अपानवायुके साथ ऐक्य करनेवाले प्रकारसे काक (कौवे) कासा चोंच मुखकर शीतल सलिल (बाह्यवायु) को जो योगी पूरक (पूर्ण) करता है वह वृद्धाव-स्थासे रहित होता है अर्थात् सर्वदा युवाही रहता है ॥ ३८ ॥

रसना तालुमूलेन यः प्राणमनिलं पिबेत् ।
अब्दार्द्धेन भवेत्तस्य सर्वरोगस्य संक्षयः ॥ ३९ ॥

जिह्वाके सहायकरके तालुमूलसे जो विवर (छिद्र) हैं इसकरके जो योगी प्राणवायुको पूर्ण (पूरित) करता है उसके छः महीनेके अभ्याससे समस्त रोगोंका नाश होता है ॥ ३९ ॥

विशुद्धे पञ्चमे चक्रे ध्यात्वासौ सकलामृतम् ।
उन्मार्गेण हृतं याति वञ्चयित्वा मुखं रवेः ॥ ४० ॥

पांचवां विशुद्धचक्र (जो कंठमें रहता है) में चंद्रकलामृतका ध्यानकरके क्रमसे ऊपरको हरण करता हुआ सूर्यके मुखके वंचनकर योगीके मुखमें उक्त चंद्रकलामृत पडता है इस प्रकार जिह्वाद्वारा उदरमें प्राप्त होकर योगीके जरा रोगादियोंको हर लेता है ॥ ४० ॥

विशब्देन स्मृतो हंसो नैर्मल्यं शुद्धिरुच्यते ।
अतः कण्ठे विशुद्धाख्यं चक्रं चक्रविदो विदुः॥ ४१ ॥

'वि' शब्द हंसका और 'शुद्ध' शब्द निर्मलका बोधक है कंठमें अत्यंत निर्मल विशुद्धनामा चक्र है यह सर्वोत्कृष्ट है चक्रोंके तत्त्व जाननेवाले योगी जानते हैं ॥ ४१ ॥

अमृतं कन्दरे कृत्वा नासान्तसुषिरे क्रमात् ।
स्वयमुच्चालितं याति वर्जयित्वा मुखं रवेः ॥ ४२ ॥

विशुद्धचक्रस्थ चंद्रकलामृतको अपानवायुसहित प्राणवायुको ऊपर चलायके लंबिका ऊर्ध्वविवरमें प्रवेश (पूर्ण) कर

क्रमसे नासिकाके ऊपर विवरमें पहुंचानेसे नाभिसूर्य्यके मुख (जो अमृतको भस्म करता है) को वंचन (छलन) करके उ-कामृत उदरमें अन्नके समान पहुँचता है ॥ ४२ ॥

बद्धं सोमकलाजलं सुविमलं कण्ठस्थलादूर्ध्वतो
नासान्ते सुषिरे नयेच्च गगनद्वारान्ततः सर्वतः ।
ऊर्ध्वास्यो भुवि सन्निपत्य नितरामुत्तानपादः पिबे-
देवं यः कुरुते जितेन्द्रियगणो नैवास्ति तस्य क्षयः४३

कंठसे ऊपर निर्मल चंद्रकलामृतको पूर्वोक्त विधिसे रोकके नासा ऊर्ध्वविवरमें पूरित करे तब सर्वद्वारोंको रोकके (गगन) आज्ञाचक्रमें प्राणापानवायुसहित पूरण करके ऊर्ध्वमुख होकर भूमिमें उत्तान लेटकर पैरोंकोभी उत्तान करके जितेंद्रिय होकर उक्तामृतपान करना जो योगी निरंतर इस विधिको करता है उसका क्षय (मृत्यु) नहीं होती ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वं जिह्वां स्थिरीकृत्य सोमपानं करोति यः ।
मासार्द्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ४४ ॥

जिह्वाको ऊपर लंबी करके ऊपर स्थिर करके जो योगी अमृतपान करता है उस अभ्यासीको एकही पक्ष (१५ दिन) में मृत्यु जीतनेकी सामर्थ्य होती है इसमें संदेह नहीं ॥ ४४ ॥

बद्धं मूलबिलं येन तेन विघ्नो विदारितः ।
अजरामरमाप्नोति यथा पञ्चमुखो हरः ॥ ४५ ॥

जिस योगीने (मूलबंध) मूलद्वार रोका उसने जरामरणादि विघ्नका नाश कर लिया, इस हेतु जरामरणयुक्त देहमें आ-

त्मभावको छोडकर जरामरणरहित शुद्ध आत्मभावको प्राप्त होता है जैसे पंचवक्त्र सदाशिव देहाहंकार जरामरणादिरहित विराजमान है ऐसेही उक्त अभ्यासीभी होता है ॥ ४५ ॥

संपीड्य रसनाग्रेण राजदन्तबिलं महत् ।
ध्यात्वामृतमयीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत् ॥ ४६ ॥

जो जिह्वाग्रसे राजदंतके बिल (रंध्र) को अचेतन (पीडन) कर अमृतमयी वागीश्वरी देवीके ध्यानका अभ्यास करता है तो अभ्यास सिद्ध होनेपर छः महीनेमें विचित्र कवितासामर्थ्य कवि हो जाता है ॥ ४६ ॥

सर्वाधाराणि बध्नाति तदूर्ध्वं धारितं महत् ।
न मुञ्चत्यमृतं कोपि स पन्थाः पञ्च धारणाः ॥४७॥

जिह्वाग्रसे पीडनकर राजदंतके छिद्रको रोकनेसे समस्त नाडियोंके मुख रुक जाते हैं. ऊपरके रुकनेसे अमृतधारा गिरके अन्यत्र नहीं गिर सकती पंच धारणाके अभ्यासी योगीकोभी जैसे इसीमें चंद्रमासे निस्सरित अमृतका हरण प्रत्याहार कहा है तैसेही अमृतको लंबिकाके ऊर्ध्वविवरमें धारणा करना यह धारणा होती है ॥ ४७ ॥

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा रसस्यन्दिनी।
सक्षारं कटुकाम्लदुग्धसदृशं मध्वाज्यतुल्यं तथा ॥
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शास्त्राङ्गमोद्गीरणम् ।
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम्॥४८

जिह्वाको लंबिकाके निरंतर चुंबनाभ्यास करनेवाले योगीको कभी लवण, कभी चरपरा, कभी खट्टा, कभी दूधसा, कभी सहतकासा, कभी घीकासा स्वाद जिह्वामें अनुभव होते हैं ये लक्षण जब अभ्यास सिद्ध हुएमें होने लगते हैं तब योगीके व्याधि (रोग) नाश होतेहैं, वृद्धावस्थाका निवारण होता है, शास्त्रके व्याख्यान करनेका सामर्थ्य विनापढेभी होता है, अमृतमय शरीर होकर अष्ट सिद्धि मिलती हैं स्मरणमात्रसे सिद्ध गंधर्व, नागादिकन्याओंके आकर्षण करनेका सामर्थ्य होता है ॥ ४८ ॥

अमृतापूर्णदेहस्य योगिनो द्वित्रिवत्सरात् ।
ऊर्ध्वं प्रवर्तते रेतोप्यणिमादिगुणोदयः ॥ ४९ ॥

उक्त प्रत्याहारका फल कहते हैं कि उक्त प्रकारसे अमृतसे परिपूर्ण जब देह योगीका हो जाता है तो २ । ३ वर्ष अभ्याससे वीर्य (रेत) ऊपरको चढ जाता है ऊर्ध्वरेता होकर कदाचित्‌भी वीर्य्य स्खलित नहीं होता एवं अणिमादि सिद्धि उदय होती हैं ॥ ४९ ॥

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्तिं च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णदेहं देही न मुञ्चति ॥ ५० ॥

जैसे अग्नि शुष्ककाष्ठ एवं दीपक तैलवर्तिको समग्र भस्म किये विना नहीं छोडता तैसेही जीवात्माभी चंद्रकलामृतसे पूर्ण हुए योगीके शरीरको कदापि नहीं छोडता ॥ ५० ॥

नित्यं सोमकलापूर्णशरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ५१ ॥

जिस योगीका शरीर नित्य सोमकलामृतसे पूर्ण रहता है उसे तक्षकनागभी डसे (काटे) तोभी शरीरमें विष नहीं फैलता ॥ ५१ ॥

इति प्रत्याहारप्रकरणम् ।

'अब ९ श्लोकोंसे धारणाका विस्तार कहते हैं'—

आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः ।
प्रत्याहारेण संपन्नो धारणां च समभ्यसेत् ॥ ५२ ॥

आसनका साधन प्राणायामका साधन प्रत्याहारका अभ्यास स्थिर करके इंद्रियवृत्तियोंको रोकनेके सामर्थ्य हुएमें धारणका अभ्यास करना ॥ ५२ ॥

हृदये पञ्चभूतानां धारणा च पृथक् पृथक् ।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा साभिधीयते ॥ ५३ ॥

हृदयमें मन एवं प्राणवायुको निश्चल करके पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाशसंज्ञक पंच भूतोंको पृथक् पृथक् संधार करना धारणा कहाती है ॥ ५३ ॥

या पृथ्वी हरितालहेमरुचिरा पीता लकारान्विता
संयुक्ता कमलासनेन हि चतुष्कोणा हृदि स्थायिनी ।
प्राणांस्तत्र विलीय पञ्चघटिकं चिन्तान्वितान्धारये-
देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्याद्भुवो धारणा ५४

पहिले पृथ्वीधारणा कहते हैं कि जो पृथ्वी हरिताल यद्वा सुवर्णसमान रमणीयवर्ण अधिष्ठातृदेवता ब्रह्मासहित चतुष्कोणा-

कार मध्यमें (लं) बीजयुक्त है इस (लं) पृथ्वीतत्त्वको हृद-यमें ध्यान करके भावना करना उक्त भूमंडलमें आपभी लीन होना चित्तसहित प्राणको लीन करके पांच (५) घटीपर्यंत स्तंभन करनेवाली धारणा होती है इस धारणाके सर्वदा अभ्यास करनेसे पृथ्वीतत्त्व अपने वशवर्त्ती होता है ॥ ५४ ॥

अर्द्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठेम्बुतत्त्वं स्थितं
यत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्च घटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा दुःसहकालकूटदहनी स्याद्वारुणी धारणा ॥५५॥

वारुणी (जल) धारणा कहते हैं कि अर्धचंद्राकार कुंदपु-ष्पसमान श्वेतवर्ण अमृतरूप (वं) बीजमध्यसहित अधिष्ठातृदे-वता विष्णुसहित जलतत्त्वको विशुद्धचक्रमें ध्यान करना उक्त जलतत्त्वमें आपभी लीन होकर चित्तसहित प्राणको लीन कराय पांच घटीपर्यंत धारणा करना यह जलस्तंभन करनेवाली वारु-णीधारणा है इसके सर्वदा अभ्यास करनेसे कालकूट विषकाभी भस्म हो जाता है विषका असर शरीरमें नहीं होता ॥ ५५ ॥

यत्तालुस्थितमिन्द्रगोपसदृशं तत्त्वं त्रिकोणानलं
तेजो रेफयुतं प्रवालरुचिरं रुद्रेण सत्सङ्गतम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारये-
देषा वह्निजयं सदा वितनुते वैश्वानरी धारणा ॥५६॥

आग्नेयी धारणा कहते हैं कि इंद्रगोप (वीरबहूटी कीडे) के

सदृश रक्तवर्ण त्रिकोणाकार प्रवाल (मूंगा) समान रमणीय तेजोरूप (रं)बीजमध्य शोभित अधिष्ठातृदेवता रुद्रसहित आग्नेयतत्त्वको तालुस्थानमें भावनाकरके उक्त अग्नितत्त्वमें आपभी लीन होकर चित्तसहित प्राणको लीन कराय पांच घटीपर्यंत तन्मय होना वैश्वानरी धारणा होती है इसके सर्वदा सेवन करनेसे योगी अग्निको जीतनेवाला होता है अग्नि उसको दाह नहीं करता ५६

यद्भिन्नाञ्जनपुञ्जसन्निभमिदं स्यूतं भ्रुवोरन्तरे
तत्त्वं वायुमयं यकारसहितं तत्रेश्वरो देवता ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारये-
देषा खे गमनं करोति यमिनः स्याद्वायवी धारणा ५७

वायवी धारणा कहते हैं कि वर्तुलाकार कज्जलके पुंजसमान अतिनीलवर्ण (यं) बीजसहित अधिष्ठातृदेवता ईश्वरसहित वायुतत्वको भ्रूमध्यमें ध्यानकर उक्त वायुतत्वमें आपभी लीन हो या चित्तसहित प्राणको लीन कर पांच घटीपर्यंत स्थिर रखना यह वायुतत्वकी धारणा है इस धारणाके नित्य अभ्यास करनेसे आकाशमें गति होती है ॥ ५७ ॥

आकाशं सुविशुद्धवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रस्थितं
तन्नादेन सदाशिवेन सहितं तत्त्वं हकारान्वितम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटपाटनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ॥ ५८॥

नभोधारणा कहते हैं कि वर्तुलाकार निर्मलजलसमान वर्ण (हं) बीजसहित अधिष्ठातृदेवता सदाशिवसहित आकाशतत्त्व-

को ब्रह्मरंध्रमें ध्यान करना इस तत्वमें आपभी लीन हो चित्त-सहित प्राणको लीन कर पांच घटीपर्यंत स्थिर रखना यह नभो-धारणा मोक्षरूपी द्वारके खोलनेमें चतुर है इसके नित्य अभ्यास करनेसे मोक्षद्वार खुल जाता है ॥५८॥

स्तम्भिनी द्राविणी चैव दहनी भ्रामिणी तथा ।
शोषिणी च भवत्येषा भूतानां पञ्च धारणाः ॥ ५९ ॥

पृथ्वीधारणाके अभ्यास दृढ हुएमें जलपवनादि स्तंभनसामर्थ्य होती है वारुणीधारणाके अभ्यास दृढ हुएमें समस्तद्रव्यमात्र-को द्रव (जल)समान करनेकी सामर्थ्य होती है एवं आग्नेयी-से विना अग्निही वस्तुमात्रको जलानेकी सामर्थ्य होती है वायु-धारणासे वस्तुमात्र किंवा समस्त जगत्को घुमानेकी सामर्थ्य होती है नभोधारणासे सर्व शोषण सामर्थ्य होती है ये पंच धार-णाओंकी साधारण क्रियायें हैं ॥ ५९ ॥

कर्मणा मनसा वाचा धारणाः पञ्च दुर्लभाः ।
विज्ञाय सततं योगी सर्वदुःखैः प्रमुच्यते ॥ ६० ॥

कर्म (अनुष्ठान) से मनके चिंतनसे वचन शास्त्राज्ञाके प्रमाण माननेसे निरूपण कर पांचों धारणाओंको स्थिराभ्यास करता है वह समस्त दुःखोंसे मुक्त होता है ॥ ६० ॥

इति धारणाः ।

स्मृत्येव सर्वचिन्तायां धातुरेकः प्रपद्यते ।
यच्चित्ते निर्मला चिन्ता तद्धि ध्यानं प्रचक्षते ॥ ६१ ॥

'स्मृ' यह धातु चिंतासामान्यवाचक है सो चित्तमें योगशास्त्रोक्तप्रकारसे निर्मलांतरकरके आत्मतत्वका स्मरण करना ध्यान कहाता है ॥ ६१ ॥

द्विविधं भवति ध्यानं सकलं निष्कलं तथा ।
सकलं चर्य्याभेदेन निष्कलं निर्गुणं भवेत् ॥ ६२ ॥

यह ध्यान सगुण, निर्गुण भेदसे दो प्रकार है जैसे श्यामवर्ण चतुर्बाहु वनमालामुकुटकुंडलपीतांबरधारी विष्णुका ध्यान करना सगुणध्यान है ॥ ६२ ॥

अन्तश्चेतो बहिश्चक्षुरधः स्थाप्य सुखासनः ।
कुण्डलिन्या समायुक्तं ध्यात्वा मुच्येत किल्बिषात् ६३

एकांत पवित्रस्थानमें बैठके पद्मासन वा स्वस्तिकासन बांध शरीर सरल बनाय आधारादिचक्रोंमें अंतःकरण (मन) लगाय नासाग्रदृष्टि देकर निश्चल एकाग्र होकर कुंडलिनीसहित ध्येयवस्तुका ध्यान करना इससे योगी समस्तपापोंसे निर्मुक्त होता है यह ध्यानमुद्रा है ॥ ६३ ॥

आधारं प्रथमं चक्रं स्वर्णाभं च चतुर्दलम् ।
कुण्डलिन्या समायुक्तं ध्यात्वा मुच्येत किल्बिषैः ६४

योगिजनोंके ध्यान करनेयोग्य वनस्थान है इनमें प्रथम मूलाधारचक्र सुवर्णवर्ण चतुर्दल कमल है इसके कर्णिकामें स्वयंभूलिंगके शिरमें बिंबाकार साढे तीन वृत्तवेष्टित हो रही कुंडलिनीसहित इस चक्रके ध्यान करनेसे समस्त पापोंसे निर्मुक्त होता है ॥ ६४ ॥

स्वाधिष्ठाने च षट्पत्रे सन्माणिक्यसमप्रभे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा योगी सुखी भवेत्॥६५॥

द्वितीय स्वाधिष्ठानचक्र रक्तवर्ण षट्दलकमलकर्णिकामें सगुण वा निर्गुण ज्योतिःस्वरूप आत्माको नासाग्रदृष्टि करके ध्यान करनेसे योगी आनंदावस्थाको प्राप्त होता है ॥ ६५ ॥

तरुणादित्यसंकाशे चक्रे च मणिपूरके ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा संक्षोभयेज्जगत् ॥ ६६ ॥

तृतीय मणिपूरचक्र उदय होते सूर्य्यमंडलसमान रक्तवर्ण कमलकर्णिकामें सगुण वा निर्गुण ज्योतीरूप आत्माको नासाग्रदृष्टिकरके ध्यान करनेसे योगी समस्त जगत्क्षोभ करनेकी सामर्थ्य पाता है ॥ ६६ ॥

हृदाकाशे स्थितं शम्भुं प्रचण्डरवितेजसम् ।
नासाग्रे दृष्टिमाधाय ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥ ६७ ॥

चतुर्थ हृदयरूप आकाश अनाहतचक्रकर्णिकामें रहते प्रचंड तेजवान् सूर्य्यसमान तेजस्वी बाणलिंग (शिव) का ध्यान नासाग्रदृष्टि देकर करनेसे योगी ब्रह्ममय होता है ॥ ६७ ॥

विद्युत्प्रभे च हृत्पद्मे प्राणायामविभेदतः ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥ ६८ ॥

ऐसेही विद्युत् (विजुरी) समान प्रभायुक्त हृदयकमल कर्णिकामें उक्त प्रकारसे नासाग्रदृष्टि देकर सगुण वा निर्गुण ज्योतिःस्वरूप आत्माके ध्यान करनेसे योगी ब्रह्ममय (जीवन्मुक्त) होता है ॥ ६८ ॥

सततं घण्टिकामध्ये विशुद्धे दीपकप्रभे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥ ६९ ॥

कंठस्थानमें दीपज्योतिसमान कांतिमान् विशुद्धचक्रमें नासाग्रदृष्टिकरके सगुण निर्गुण वा ज्योतिःस्वरूप आत्माके ध्यान करनेसे योगी अमर (मरणरहित) होता है ॥ ६९ ॥

भ्रुवोरन्तर्गतं देवं सन्माणिक्यशिखोपमम् ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वानन्दमयो भवेत् ॥ ७० ॥

भ्रूमध्ये आज्ञाचक्रमें माणिकशिखा (चूनीकी सूक्ष्म चमक) समान रक्तवर्ण आत्माको नासाग्रदृष्टि देकर ध्यान करनेसे योगी समस्त दुःखरहित आनंदमय होता है ॥ ७० ॥

ध्यायन्नीलनिभं नित्यं भ्रूमध्ये परमेश्वरम् ।
आत्मानं विजितप्राणो योगी योगमवाप्नुयात् ॥७१॥

आज्ञाचक्रमें नीलवर्ण शिवपरमात्माका ध्यान प्राणायाम प्रकार करके करनेसे योगी जीवात्मा परमात्माके ऐक्यको पाता है ॥ ७१ ॥

निर्गुणं च शिवं शान्तं गगने विश्वतोमुखम् ।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥ ७२ ॥

आज्ञाचक्रमें निर्गुणरूप, शांत, विश्वव्यापक, शिवके नासाग्रदृष्टि देकर ध्यान करनेसे जीवभावको देनेवाले गुणधर्मसे रहित होता है अर्थात् जीवभावका स्मरणमात्रभी नहीं रहता ॥ ७२ ॥

आकाशे यत्र शब्दः स्यात्तदाज्ञाचक्रमुच्यते ।
तत्रात्मानं शिवं ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात्॥७३॥

जिस तत्त्वमें नाद प्रकट होता है ऐसा आकाशतत्त्वस्थान मनका स्थान है सोही भ्रूमध्यमें आज्ञाचक्र कहाता है इसमें रहते सदाशिवरूप आत्माके ध्यान करनेसे योगी कैवल्य मुक्ति पाता है ॥ ७३ ॥

निर्मलं गगनाकारं मरीचिजलसन्निभम् ।
आत्मानं सर्वगं ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात् ॥७४॥

आज्ञाचक्र ऊपर शून्यस्थानमें करनेयोग्य ध्यान कहते हैं कि, स्वरूपको आच्छादित करनेवाला, मलिनसंबंधसे रहित, आकाशसमान, एकाकार, सर्वव्यापक, प्रकाशमान तेज स्वरूपके ध्यान करनेसे योगी मुक्तिको प्राप्त होता है ॥ ७४ ॥

गुदं मेढ्रं च नाभिश्च हृत्पद्मं च तदूर्ध्वतः ।
घण्टिका लम्बिकास्थानं भ्रूमध्ये च नभोबिलम् ॥७५॥

ध्यानमुक्त नव(९) स्थानोंको पुनः स्मरण करते हैं कि, गुदा (मूलाधार) १ मेढ्र (स्वाधिष्ठान) २ नाभि (मणिपूर) ३ हृत्पद्म (अनाहत) ४ तदूर्ध्व (विशुद्ध) ५ घंटिकाका मूल ६ लंबिकाका स्थान ७ आज्ञाचक्र ८ इसके ऊपरका शून्यस्थान ९ ये नव ध्यानयोग्य स्थान हैं ॥ ७५ ॥

कथितानि नवैतानि ध्यानस्थानानि योगिभिः ।
उपाधितत्त्वमुक्तानि कुर्वन्त्यष्टगुणोदयम् ॥ ७६ ॥

योगियोंने उक्त नव (९) स्थान ध्यानोपयोगी कहे हैं इन्हें उपाधि अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश पांच तत्वों-

करके सहित करनेसे अणिमादि अष्टसिद्धियोंका उदय होता है ॥ ७६ ॥

एषु ब्रह्मात्मकं तेजः शिवज्योतिरनुत्तमम् ।
ध्यात्वा ज्ञात्वा विमुक्तः स्यादिति गोरक्षभाषितम् ७७

उक्त नव (९) स्थानोंमें सर्वोत्कृष्ट शिव अनाहत आज्ञाचक्रोंमें उक्त प्रकारसे साकार सगुणस्वरूपको अथवा निराकार निर्गुणब्रह्मको भावना करके उक्त स्थानोंमें ध्यान करनेसे योगी संसारसे मुक्त होकर पुनर्जन्ममरणरूप संतापसे छूटता है यह श्रीगोरक्षनाथ प्रतिज्ञा करके कहते हैं इसमें संशय न मानना ॥ ७७ ॥

नाभौ संयम्य चित्तं पवनगतिमधो रोधयत्संप्रयत्ना-
दाकुञ्च्यापानमूलं हुतवहसदृशं तन्तुवत्सूक्ष्मरूपम् ।
तद्बद्ध्वा हृत्सरोजे तदनु दलणके तालके ब्रह्मरन्ध्रे
भित्त्वा ते यान्ति शून्यं प्रविशति गगने यत्र देवो महेशः ॥

चित्त (अंतःकरण) को मणिपूरचक्रमें स्थिर करके अपानद्वारको बडे प्रयत्नसे संकोच विकाश कर अपानवायुको अधोगतिको रोकके ऊपरको उठाय मन एवं प्राणवायुसे ऐक्य करे सूत्रके समान सूक्ष्म अग्निसमान देदीप्यमान ज्योतिःस्वरूपको उक्त ऐक्यविषये चिंतन करनेसे उक्त ज्योति नाभि चक्रको वेधनकर हृदयकमलमें पहुँचता है पुनः अभ्यास सिद्ध हो तो हृदयकमलको वेधकर ब्रह्मरन्ध्रमें पहुँचता है इसी विधिसे योगियोंके शरीरत्यागसमयमें वही ज्योतिःस्वरूप ब्रह्मरन्ध्रको

भेदनकर परमशिव शून्याकार चिदाकाशमें प्रवेश कर परब्रह्ममें लीन हो जाता है ॥ ७८ ॥

नाभौ शुभ्रारविन्दं तदुपरि विमलं मण्डलं चण्डरश्मेः
संसारस्यैकरूपां त्रिभुवनजननीं धर्मदात्रीं नराणाम् ।
तस्मिन्मध्ये त्रिमार्गे त्रितयतनुधरां छिन्नमस्तां प्रशस्तां
तां वन्दे ज्ञानरूपां मरणभयहरां योगिनीज्ञानमुद्राम् ॥

मणिपूरचक्रमें शुक्लवर्ण कमल चिंतनपूर्वक उसके मध्यमें निर्मल सूर्य्यमंडलका ध्यान करना इस मंडलके मध्यमें सत्त्व रज तम त्रिगुणरूप उपाधिभेदसे तीन प्रकारको प्राप्त हो रहा सुषुम्णा-नाडीके द्वारमें संसारके कारणरूपा त्रैलोक्यके उत्पन्न करनेहारी जन्ममरणोपाधिग्रस्त मनुष्योंको उपासनामार्गसे मोक्षरूप परमधर्म देनेहारी त्रिगुणरूप हो रही ज्ञानस्वरूपिणी जिसकी स्तुति ब्रह्मादिदेवता सनकादि सिद्ध करते हैं तथा योगमात्रसे गम्या, ज्ञानमात्र उपाधिसे हो रही छिन्नमस्ता नाडीस्वरूप भासमान हो रही कुंडलिनीको स्तुति (अभिवादन) करता हूं इस प्रकार योगी छिन्नमस्ता महाविद्यारूप कुंडलिनीकी वंदना करे ॥ ७९ ॥

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च ।
एकस्य ध्यानयोगस्य तुलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥८०॥

सहस्रों अश्वमेध सैकडों वाजपेय यज्ञोंका फलभी केवल सात्त्विक एक ध्यानावस्थाका सोलहवें अंश (भाग) के समान नहीं है अर्थात् यज्ञादि साधनाओंमेंभी श्रेष्ठ ध्यानयोग है ॥८०॥

इति ध्यानप्रकरणम् ।

उपाधिश्च तथा तत्त्वं द्वयमेतदुदाहृतम् ।
उपाधिः प्रोच्यते वर्णस्तत्त्वमात्माभिधीयते ॥ ८१ ॥

अब १५ श्लोकमें समाधिविधि कहते हैं. आत्माके प्रकाश होनेवालेको उपाधि तथा आत्मचैतन्यको तत्त्व कहते हैं उपाधि और तत्व ये दोनों मुख विचार्य्य हैं उपाधि प्रणवरूप वर्ण ॐ मूं हैं तत्व आत्मा कहाता है ॥ ८१ ॥

उपाधेरन्यथा ज्ञानतत्त्वसंस्थितिरन्यथा ।
समस्तोपाधिविध्वंसी सदाभ्यासेन जायते ॥ ८२ ॥

उपाधिसे यथार्थ वैषयिक अन्यही हैं अर्थात् विपरीत बोधक है जैसे स्फटिक तो स्वच्छ श्वेतमात्र है परंतु लाल, पीला, नीला आदि रंग उपाधि संबंधसे उसी रंगकासा समान होता है तैसेही शरीरमें निर्विकार शुद्ध आत्मा विषयवासनाओंके संसर्गसे "अहं सुखी" "अहं दुःखी" इत्यादि भासमान होता है जब अपनी निर्मलबुद्धिसे उपाधि पृथक् माने तब आत्मस्वरूपका यथार्थज्ञान होता है जैसे रक्तादिरंगमें स्फटिकभी वैसा होता है परंतु बुद्धिसे जो न कि स्फटिक तो शुक्लही है परंतु रक्तादि रंगोपाधिविकारसे मिथ्या रंग देखा जाता है तैसेही इंद्रियधर्मोंसे आत्माभी जीवात्मा यथार्थज्ञानसे अद्वैतानंदस्वरूप है सुखदुःखका इसमें संबंध नहीं है ऐसा ज्ञान योगाभ्याससे होता है. तब योगी उपाधिजाल विनाश करनेमें समर्थ होता है ॥ ८२ ॥

शब्दादीनां च तन्मात्रं यावत्कर्णादिषु स्थितम् ।
तावदेवं स्मृतं ध्यानं समाधिः स्यादतः परम् ॥८३॥

ध्यान एवं समाधिका अवस्थाभेद प्रकट कहते हैं कि ध्यानावस्थामें स्थिर रहते योगीके कर्णादि इंद्रियोंविषे शब्दादि विषयोंका सूक्ष्मभाग जबलौं उपलभ्यमान होता है. तभीलौं ध्यानावस्था कहाती है जब आत्मामें पंचेंद्रियवृत्ति लीन हो जांय तब आत्मामें अर्थमात्रका भान रहनेवाली अवस्था समाधि कहाती है ॥८३॥

धारणा पञ्चनाडीभिर्ध्यानं च षष्टिनाडिभिः।
दिनद्वादशकेन स्यात्समाधिः प्राणसंयमात् ॥ ८४ ॥

ध्यानधारणा समाधिका प्रमाण कहते हैं कि प्राणवायुके व्यापार रोकनेमें पांच घटीपर्यंत धारणा कहाती है ऐसेही ६० घटीसे ध्यान और बारह (१२) अहोरात्रपर्यंत प्राणवायुके व्यापार निरंतर रोकनेसे समाधि कहाती है ॥ ८४ ॥

यत्सर्वं द्वन्द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः।
समस्तनष्टसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥ ८५ ॥

दृष्टांतसहित समाधिका स्वरूप कहते हैं कि भूंख प्यास, शीत उष्ण, सुख दुःख इत्यादि द्वंद्व कहाते हैं इनसे पीडा न होने तथा इनसे अपनेको उद्वेग न होनेका ऐक्य है इस अवस्थाको पायके जीवात्मा परमात्माका कारणमात्ररूपसे ऐक्य जानना समस्त मानसीतरंगोंसे रहित समाधि होती है ॥ ८५ ॥

अम्बुसैन्धवयोरैक्यं यथा भवति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिः सोऽभिधीयते ॥ ८६ ॥

जीवात्मापरमात्माका तथा आत्मा और मनका ऐक्य न हुएमें सिद्धि नहीं होती अतएव दृष्टांतसहित कहते हैं कि जैसे जलमें सेंधानोन (सैंधव) देनेसे दोनोंका ऐक्य दीखता है तैसेही मन बाह्यविषयोंसे विमुख अंतर्मुख होकर आत्माकारवृत्ति होनेसे आत्मा और मनका ऐक्य होता है ऐसे जीवात्मापरमात्माके ऐक्यको समाधि कहते हैं ॥ ८६ ॥

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ।
यदा समरसत्वं च समाधिः सोभिधीयते ॥ ८७ ॥

मन एवं प्राणको एकत्र करके स्थिर होकर आत्माके भावना करनेवाले योगीका जब प्राणवायु आत्माहीमें लीन होता है तब अंतःकरणभी लीन होता है जल तथा सैंधवकीसी जीवात्मापरमात्माकी ऐक्यता (अभिन्नस्वरूपता) होती है इसीको समाधि कहते हैं ॥ ८७ ॥

न गन्धं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम् ।
नात्मानं न परस्वं च योगी युक्तः समाधिना ॥ ८८ ॥

योगीके समाधिमें रहनेकी अवस्था कहते हैं कि जो योगी समाधिमें एकत्वको प्राप्त हो जाता है तो सर्व इंद्रियगण मनमें लीनताको प्राप्त होकर गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द इन पांच विषयोंको नहीं जानता कोई वस्तुमात्र अपना वा पराया कुछ नहीं जानता जीवात्मा तथा परमात्माको अलग नहीं मानता एकही समझता है इसप्रकार ध्यानमें एकाग्र होनेसे और किसी प्रकार ज्ञान नहीं होता ॥ ८८ ॥

अभेद्यः सर्वशास्त्राणामवध्यः सर्वदेहिनाम् ।
अग्राह्यो मन्त्रयन्त्राणां योगी युक्तः समाधिना ॥८९॥

जब योगी उक्त विधिसे समाधियुक्त हो जाता है तो समस्त शस्त्रोंसे अभेद्य (न कटने योग्य) होता है देही (मनुष्य) सिंह गज, व्याघ्रआदियोंसे अवध्य नहीं मार जाता मंत्र यंत्र मारणमोहनादि प्रयोग (जादू) भी उसपर नहीं चलता ॥ ८९ ॥

बाध्यते न स कालेन लिप्यते न स कर्मणा ।
साध्यते न च केनापि योगी युक्तः समाधिना॥९०॥

जब योगी समाधिमें स्थिर हो जाता है तो उसको जरा (बुढापा) एवं मरण (मृत्यु) पीडन नहीं कर सकते अर्थात् अजरामर हो जाता है उसपर कालका वश नहीं चलता पापपुण्य हैं हेतु जिसके ऐसे कर्मबंधनोंसे लिप्त नहीं होता और कोई उसे विषयवासनामें नहीं लगाय सकता किसीके साधनमें यह नहीं आता ॥ ९० ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ ९१ ॥

मिताहारयुक्त व्यवहारमें रहकर जो योगी समस्तकर्मोंमें युक्त रहता है और निद्रा जागरणभी युक्त रखता है अर्थात् कोई कामभी अयुक्त (अति) नहीं करता पूर्वोक्त क्रियाओंमें सावधान रहता है उसका योग दुःखनाशक कहाता है ॥ ९१ ॥

निराद्यन्तं निरालम्बं निष्प्रपञ्चं निरामयम् ।
निराश्रयं निराकारं तत्त्वं जानाति योगवित् ॥९२ ॥

जब योगी उक्त विधिसे समाधिमें स्थिर हो जाता है तब परमतत्व जिसका आद्यंत (जन्ममरण) नहीं किसीके आलंबन (निमित्तमें) नहीं मायाआदि किसीके आश्रयमें नहीं द्वैतकल्पनामें नहीं है जन्ममरणादि दुःखमें नहीं ऐसे जीवात्मा परमात्माके ऐक्य हो रहे आत्मस्वरूप तत्वको जानता है ॥ ९२ ॥

निर्मलं निश्चलं नित्यं निष्क्रियं निर्गुणं महत् ।
व्योमविज्ञानमानन्दब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ॥ ९३ ॥

निर्मल (कर्मके फल वासनारूप मलसे रहित) निश्चल (चेष्टारहित) नित्य (परिणामरहित) निष्क्रिय (सर्वव्यापारशून्य) निर्गुण (सत्वादिगुणरहित) महत् (जिसका परिमाण नहीं किया जाता ऐसे) व्योम (चिदाकाशस्वरूप) विज्ञान (बोधस्वरूप) आनंद ब्रह्म (अद्वैतानंदस्वरूप) ब्रह्मको ब्रह्मवित् (योगी) जानते हैं ॥ ९३ ॥

हेतुदृष्टान्तनिर्मुक्तं मनोबुद्ध्योरगोचरम् ।
व्योम विज्ञानमानन्दं तत्त्वं तत्त्वविदो विदुः ॥ ९४ ॥

साक्षात्कारताके लिये हेतु एवं दृष्टांतसे रहित तथा मन एवं बुद्धिकरके अगम्य चिदाकाशस्वरूप, बोधस्वरूप अद्वैतानंदस्वरूप तत्त्व (ब्रह्म) को ब्रह्मज्ञानी योगी जानते हैं ॥ ९४ ॥

निरातङ्के निरालम्बे निराधारे निरामये ।
योगी योगविधानेन परे ब्रह्मणि लीयते ॥ ९५ ॥

योगाभ्यासी पुरुष षडंगयोगको पूर्वोक्तविधिसे अभ्यास क-

रके जन्ममरणादि दुःखके स्पर्श न होनेवाले अवलंबनरहित एवं जिसको कोई आधार नहीं अनिर्वचनीय रोगादिरहित परब्रह्ममें लीन होता है अर्थात् सायुज्यपदको प्राप्त होता है॥९५॥

यथा घृते घृतं क्षिप्तं घृतमेव हि जायते ।
क्षीरे क्षीरं यथा योगी तत्त्वमेव हि जायते ॥ ९६ ॥

जैसे घृतमें घृत मिलायके घृत तथा दुग्धमें दुग्ध मिलायके दुग्धही होता है तैसेही तत्वस्वरूप परब्रह्ममें योगाभ्यास करके लीन होता हुआ योगीभी परब्रह्मस्वरूप सायुज्यको प्राप्त होता है तात्पर्य यह कि जीव और परब्रह्मका सांसारिकदशामें उपाधिकरके भेद हुएमेंभी उपाधि नष्ट होकर दोनों चिद्रूप होकर ऐक्यताको प्राप्त होता है ॥ ९६ ॥

दुग्धे क्षीरं घृते सर्पिरग्नौ वह्निरिवार्पितः ।
तन्मयत्वं व्रजत्येवं योगी लीनः परे पदे ॥ ९७ ॥

जैसे दुग्धमें दुग्ध घृतमें घृत दीपमें दीप मिलायके उन दोनोंका ऐक्य हो जाता है तैसेही योगीके आत्मा परब्रह्ममें लीन होकर परब्रह्ममय हो जाता है आत्मा परमात्मा एकही है परंच उपाधिभेदसे पृथक् मानते हैं जब अभ्याससे उपाधिरहित होता है तब उनकी ऐक्यता आपही प्रकट होती है ॥ ९७ ॥

भवभयहरं नृणां मुक्तिसोपानसंज्ञकम् ।
गुह्याद्गुह्यतरं गुह्यं गोरक्षेण प्रकाशितम् ॥ ९८ ॥

योगाभ्यास करनेवालोंके जन्ममरणादि भय हरनेवाला मुक्तिद्वारमें जानेके लिये सोपान (सीढी) संज्ञक एवं धर्म, अर्थ,

काम देनेवाला गुप्तसेभी अतिगुप्त यह योगशास्त्र श्रीगोरक्षनाथने योगियोंपर कृपा करके संसारमें प्रकट किया ॥ ९८ ॥

गोरक्षसंहितामेतां योगभूतां जनः पठेत् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो योगसिद्धिं लभेद् ध्रुवम् ॥ ९९ ॥

पूर्वोक्तप्रकारसे यहांपर्यंत मुक्तिसोपान अन्वयार्थ संज्ञक गोरक्षसंहिता योगशास्त्रको जो मनुष्य भक्तिपूर्वक पढता है वह समस्त पातकोंसे निर्मुक्त होकर निश्चय योगसिद्धिको प्राप्त होता है ॥ ९९ ॥

योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
यत्स्वयं चादिनाथस्य निर्गतं वदनाम्बुजात् ॥१००॥

जो जन योगशास्त्रको नित्य पढते हैं उन्हें और विस्तारशास्त्रोंसे क्या करना है योगशास्त्रका उक्त फल यथोक्त प्रत्यक्ष मिलता है क्योंकि यह शास्त्र आदिनाथ (शिवजी)ने स्वयं हृदयकमलमें अनुभूत होकर मुखकमलसे प्रकट किया इसके अनुभवसिद्ध होनेसे अतिप्रामाणिक है ॥ १०० ॥

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिलं दत्ता द्विजेभ्यो धरा
यज्ञानां च हुतं सहस्रमयुतं देवाश्च संपूजिताः ।
स्वाद्वन्नेन सुतर्पिताश्च पितरः स्वर्गं च नीताः पुनः
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि प्राप्नोति धैर्यं मनः १०१

इति श्रीगोरक्षयोगशास्त्रे मुक्तिसोपानसंज्ञके
उत्तरशतकं संपूर्णम् ॥ २ ॥

साक्षात् मोक्षके प्रतिपादन करनेवाले योगशास्त्रको जो पढते हैं वे कृतकृत्य हो जाते हैं जिसका मन ब्रह्मज्ञानविचारमें ब्रह्म-ध्यानविषय क्षणमात्रभी धैर्य्यसे स्थिर होता है उसने गंगा, प्रयाग, पुष्करादि समस्त तीर्थोंके जलोंमें स्नान कर लिया समस्त पृथ्वी-का दान सत्पात्र ब्राह्मणको दे दिया सहस्र किंवा अयुत अश्व-मेध वाजपेयादि महायज्ञ कर लिये ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि स-मस्त देवता विधिपूर्वक पूजित कर लिये स्वादिष्टअन्नसे पितर तृप्त करके स्वर्गभी पठाये दिये अर्थात् तीर्थस्नान, उक्त वस्तुओंसे जो जो फल मिलते हैं वे समस्त आत्मचिंतनरूप योगाभ्यासमे तत्क्षणमात्र हो जाते हैं ॥ १०१ ॥

इति महीधरकृतायां गोरक्षसंहिताभाषायां माही-
धर्य्यामुत्तरशतकं परिपूर्णम् ॥ २ ॥

श्रीनाथीकृपया मया विरचिता भाषा स्वबुद्ध्याल्पया
सर्वेषामुपकारिणी बुधजनाः शब्दार्थसंधायिनः ।
भाषा इत्यवहेलनं कुरुत नो योगो हि न ज्ञायते
शब्दार्थैर्विविधैर्यतो हठयुगादीन् वीक्ष्य विस्तारिता ॥१॥

भाषाकारकी प्रस्तावना है कि मैंने श्रीनाथ (आदिनाथ) महादेवस्वरूप श्रीगुरु यद्वा श्रीनाथ (लक्ष्मीपति विष्णु) की कृपासे सर्वसाधारणके उपकारार्थ अपनी अल्पबुद्धिसे इस योग-शास्त्र गोरक्षसंहिताकी भाषाटीका की है इसे देख न्यायव्याक-रणादि जाननेवाले बुधजन ' भाषा है ' ऐसा कहकर अवहे-लन (अनादर) न करे यतः यह निश्चय है कि योगमार्गका बोध

अनेक प्रकारके शब्दार्थ एवं शास्त्रार्थ तर्कवितर्कादि करनेसे नहीं होता यह केवल गुरुलभ्य है कोई पंडित चाहे कि अपने पांडित्यके बलसे श्लोकार्थ करे तो यह प्रयोजन कदापि नहीं होता प्रथम गुरुलक्ष्य करके स्वानुभवसिद्ध करनेहीसे इसका ज्ञान होता है इसलिये गुरुप्रसादोत्तर हठप्रदीपादि ग्रंथ देखके यह ग्रंथ बढा दिया तथा भावार्थभी यथामति प्रकट कर दिया ॥ १ ॥

वसुवेदाङ्कभू (१९४८) संज्ञे वत्सरे मासि बाहुले ।
महीधरेतिनाम्नेयं टीहर्य्यां निर्मिता शुभा ॥ २ ॥

वैक्रमीसंवत् १९४८ के कार्तिकमासमें महीधरशर्म्म सुंदर यह भाषा राजधानी टीहरीमें रची ॥ २ ॥

हरिशर्ममुनियोंगी गुरुलब्धकृपोदयः ।
शोधनं पुस्तकस्यास्याकरोन्मत्यनुसारतः ॥ ३ ॥

निजगुरुकृपासे पाया है उदय (योगचन्द्रिका प्रादुर्भाव) जिसने ऐसे हरिशर्मा योगीने इस पुस्तकका स्वबुद्ध्यनुसार संशोधन किया ॥ ३ ॥

इति गोरक्षपद्धतिः समाप्ता.

पुस्तक मिलनेका ठिकाना—
गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,
"लक्ष्मीवेंकटेश्वर" छापाखाना,
कल्याण—मुंबई.

वेदान्तग्रन्थाः ।

नाम	की.रु.आ.	ट.म.रु.आ.
११ शारीरक (शाङ्करभाष्य) रत्नप्रभा-टीका व्यासाधिकरणमाला और भक्तिसूत्र सभाष्य अक्षर बडा....	१०—०	१—०
१२ पंचदशी पं० मिहिरचंदकृत अत्युत्तम भाषाटीका सहित ...	४—०	०—८
१३ ब्रह्मसूत्र शारीरक भाषाटीका........	१॥—०	०—३
१४ गीता चिद्घनानन्दस्वामिकृत गूढार्थदीपिका मूल अन्वय पदच्छेदसहित भा. टी.	७—०	१—०
१५ गीताश्लोकार्थदीपिका. अतिउत्तम टिप्पणीसहित तैयार है गीता वाक्यार्थबोधिनी और गीता अमृत-तरंगिणीसेही अच्छी बनी है........	१—४	०—३
१६ गाती आनन्दगिरिकृतभाषाटीकासह	३-०	०—६
१७ गीता भाषाटीका अन्वय दोहासहित	१—४	०—३
१८ गीतारामानुजभाष्य	२—०	०—४
१९ गीता भाषाटीका	०—१४	०—२
१० पञ्चदशी सटीक......................	२—८	०—४
२१ प्रश्नोत्तररत्नमाला..................	०—२	०—॥
२२ प्रश्नोत्तरी भाषाटीका	०—२	०—॥
२३ अध्यात्मप्रदीपिका	०—४	०—॥
२४ निर्वाणाष्टकं सटीकम्...............	०—२	०—२

	नाम.	की.रु.आ.	ट.म.रु.आ.
२५	सिद्धान्तचन्द्रिका सटीक वेदान्त	०—८	०—१
२६	प्रश्नोत्तरप्रकाश	०—४	०—॥
२७	हरिमीडेस्तोत्र सटीक	०—१४	०—२
२८	द्वादशमहावाक्यविवरण	०—४	०—॥
२९	त्रोटकसटीक	०—१०	०—१
३०	गोविंदनामगीता	०—८	०—१
३१	हठयोगप्रदीपिका भाषाटीका....	१—८	०—४
३२	शिवस्वरोदय भाषाटीका	०—१०	०—२
३३	शिवसंहिता योगशास्त्र भाषाटीका	१—०	०—२
३४	वेदान्तरामायण भाषाटीका	१—८	०—४
३५	अष्टावक्रगीता भाषाटीका ...	१—०	०—॥
३६	श्रीरामगीता भाषाटीका पदप्रकाशिका अनुवादसमुच्चय और विषमपदी सहित	०—८	०—१
३७	अपरोक्षानुभूति संस्कृतटीका भाषाटीका सहित	०—१०	०—१
३८	वेदान्तग्रन्थपञ्चक वाक्यप्रदीपः वाक्यसुधारसः हस्तामलकः नीर्वाणपञ्चकं मनिषापञ्चकं इमे सटीकाः	०—८	०—१
३९	वेदस्तुति भाषाटीका	०—८	०—१
४०	रामगीता मूल	०—२	०—॥
४१	श्रीमद्भगवद्गीता पञ्चरत्न अक्षरमोटा गुटका रेशमी अतिउत्तम ७ पंक्ती	१—८	०—४

	नाम.	की.रु.आ.	ट.म.रु.आ.
४२	तथा ८ पंक्तीवाला	१—४	०—३
४३	पञ्चरत्न अक्षरवडा खुला पाना संची छोटी	१—८	०—३
४४	पञ्चरत्न अक्षरवडा लम्बी संची खुली	१—०	०—३
४५	गीता श्रीधरीटीकासहित	१—०	०—३
४६	गीता वडे अक्षरकी १६ पेजी गु.	१—०	०—२
४७	गीता वडे अक्षरकी खुली	०—१२	०—२
४८	गीता गुटका विष्णुसहस्रनामसहित	०—८	०—१
४९	" पञ्चरत्न और एकादशरत्न	०—१२	०—२
५०	" पञ्चरत्न द्वादशरत्न	०—१०	०—१॥
५१	" पञ्चरत्न नवरत्न पाकिट बुक	०—७	०—१
५२	पञ्चरत्न बुकफेसन सप्तरत्न	०—१२	०—२
५३	पंचरत्न भाषाटीका सहित बडा	२—०	०—४
५४	पंचरत्न गीता गुटका भा० टी०	१—०	०—२
५५	केवल गीता भा० टी० पाकेटबुक	०—८	०—१
५६	विज्ञानगीता कविकेशवदासकृत	०—८	०—१
५७	पाण्डवगीता भाषाटीका.........	०—३	०—॥
५८	पाण्डवगीता मूल मध्यम.........	०—१॥	०—॥
५९	कपिलगीता भाषाटीका	०—६	०—१
६०	जीवन्मुक्त गीता भा० टी० ...	०—१	०—॥
६१	गीता गुटका पाकिट बुक...........	०—५	०—१
६२	शिवगीता भाषाटीकासहित.......	०—१२	०—२

शिवस्वरोदय

(हिन्दी टीका सहित)

खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन, बम्बई

श्रीः

शिवस्वरोदय

(शिवपार्वतीसंवाद)

महामहोपाध्याय पं० मिहिरचन्द्रकृत
भाषाटीकासहित

खेमराज श्रीकृष्णदास,
अध्यक्ष—श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,
मुंबई ४.

संस्करण : मई २०१९, संवत् २०७६

मूल्य : ४५ रुपये मात्र

मुद्रक एवं प्रकाशक:
खेमराज श्रीकृष्णदास,™
अध्यक्ष : श्रीवेंकटेश्वर प्रेस,
खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग,
मुंबई - ४०० ००४.

Printers & Publishers :
Khemraj Shrikrishnadass Prop: Shri Venkateshwar Press, Khemraj Shrikrishnadass Marg, 7th Khetwadi, Mumbai - 400 004.

Web Site : http://www.Khe-shri.com
Email : khemraj@vsnl.com

Printed by Sanjay Bajaj For M/s.Khemraj Shrikrishnadass Proprietors Shri Venkateshwar Press, Mumbai-400 004, at their Shri Venkateshwar Press, 66 Hadapsar Industrial Estate, Pune 411 013

भूमिका

दोहा–अष्टसिद्धिनवनिधिमिलत, मिलतमोक्षसुखखानि ।
अव्याहतगतिहू मिलत, शिवस्वरोदय जानि ।।

यद्यपि यश, कीर्ति धन, धाम, मोक्ष मिलनेके अनेक साधन हैं और साधक लोग निज बल, बुद्धि, ज्ञान, ध्यान, धर्म, कर्मद्वारा भवसागर पार होते हैं, पर किस गति को प्राप्त होते हैं यह अदेख भविष्यत् वाणी सदा सन्देह मेघको वर्षातीसी रहती है जिससे प्रायः समयान्तरमें अनेक धर्म कर्म पन्थ चले हैं और नित्य नवीन चलते जाते हैं । वास्तवमें सत्य और माननेके योग्य वही वस्तु है जिसमें प्रत्यक्ष गुण प्रगट हों; अतः यह जो पुस्तक "शिवस्वरोदय" उमा महेश्वर संवाद तत्त्वज्ञानकी है, इसके द्वारा अवश्य ही बहुतों ने जीवन सफल किया. तत्त्व, श्वास, नाड़ी, प्राणायाम कर सिद्ध बन साक्षात् परमेश्वरका उदाहरण कर दिखाया है. संस्कृतमें भी इस अलभ्य पदार्थका मिलना गहुत दुर्लभ था, परन्तु हमने बडे परिश्रमसे संस्कृतकी अत्यन्त शुद्ध पुस्तकसे सबके सुगमार्थ भाषांतर कराया है. यद्यपि कायिक, मानसिक, वाचिक क्रिया तो प्रत्येकके पीछे लगी है और लगना सम्भव भी है परन्तु सो भी यह केवल कायिक ही क्रियासे नरराज क्या देवराज तक बना देता है. जिनको इस आसार संसारमें बेशुमार सुख उठाना हो. वे अवश्य इंसकी उचित गुरुकी भक्ति निज शक्तिसे शारीरिक सुरदुर्लभ सुख भोगकर अन्तमें निजेच्छासे आनन्दपुरमें विचरे ।

खेमराज श्रीकृष्णदास,
अध्यक्ष–"श्रीवेङ्कटेश्वर" प्रेस
बम्बई ४.

श्रीगणेशाय नमः

अथ शिवस्वरोदयकी अनुक्रमणिका

इति श्री शिवस्वरोदयकी अनुक्रमणिका समाप्त

श्रीः

शिवस्वरोदयः

हिन्दी टीकासमेतः

महेश्वरं नमस्कृत्य शैलजां गणनायकम् ।
गुरुं च परमात्मानं भजे संसारतारणम् ।। १ ।।

महादेव, पार्वती, गणेश, गुरु और संसारपार करनेवाले परमात्माको जता हूँ अर्थात् प्रणाम आदिसे उनका सेवन करता हूं ।। १ ।।

देव्युवाच

देवदेव महादेव कृपां कृत्वा ममोपरि ।
सर्वसिद्धिकरं ज्ञानं कथयस्व मम प्रभो ।। २ ।।

पार्वती कहती हैं कि देवताओंके देव ! हे प्रभो ! मेरे ऊपर कृपा करके संपूर्ण सिद्धियों के करनेवाले ज्ञानको मेरे लिये कहो ।। २ ।।

कथं ब्रह्माण्डमुत्पन्नं कथं वा परिवर्तते ।
कथं विलीयते देव वद ब्रह्माण्डनिर्णयम् ।। ३ ।।

देव ! यह ब्रह्माण्ड कैसे उत्पन्न होता है और किस प्रकार इसकी पालना होती है और कैसे इसका प्रलय होता है इस ब्रह्माण्डके निर्णयको मुझसे कहो ।।३।।

ईश्वर उवाच

तत्त्वाद्ब्रह्माण्डमुत्पन्नं तत्त्वेन परिवर्तते ।
तत्त्वे विलीयते देवि तत्त्वाद्ब्रह्माण्डनिर्णयः ।। ४ ।।

महादेव बोले–हे देवि ! यह ब्रह्माण्ड तत्त्वोंसे उत्पन्न होता है और तत्त्वों से ही इसकी पालना होती है और तत्त्वोंमें ही लीन होजाता है। इससे तत्त्वोंमे ही इसका निर्णय समझो ॥ ४ ॥

देव्युवाच

तत्त्वमेव परं मूलं निश्चितं तत्त्ववादिभिः
तत्त्वस्वरूपं किं देव तत्त्वमेव प्रकाशय ॥ ५ ॥

पार्वती बोलीं–कि, तत्त्ववादियोंने ब्रह्माण्डका मूल तत्त्वको ही निश्चित किया है इससे हे देव तत्त्वका स्वरूप क्या है ? सो मेरे प्रति आपही प्रगट करें ॥५ ॥

ईश्वर उवाच

निरञ्जनो निराकार एको देवो महेश्वरः ।
तस्मादाकाशमुत्पन्नमाकाशाद्वायुसंभवः ॥ ६ ॥

महादेव बोले–कि मायारहित, निराकार एक देव परमेश्वर है उससे आकाश पैदा हुआ और आकाशसे वायु उत्पन्न हुआ ॥ ६ ॥

वायोस्तेजस्ततश्चापस्ततः पृथ्वीसमुद्भवः
एतानि पञ्चतत्वानि विस्तीर्णानि च पंचधा ॥ ७ ॥

वायुसे तेज, तेजसे जल और जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुई। ये पांच तत्त्व, एक एकके प्रति पाच प्रकारसे विस्तारको प्राप्त होते हैं अर्थात् पंचीकरण करनेसे पच्चीस तत्त्व होते हैं ॥ ७ ॥

तेभ्यो ब्रह्माण्डमुत्पन्नं तैरेव परिवर्त्तते ।
विलीयते च तत्रैव तत्रैव रमते पुनः ॥ ८ ॥

इनसे ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है और इन्हींसे ब्रह्माण्डकी पालना होती है और इन्हींमें लीन होकर फिर सूक्ष्मरूपसे बना रहता है ॥ ८ ॥

पञ्चतत्त्वये देहे पञ्चातत्त्वानि सुन्दरि ।
सूक्ष्मरूपेण वर्त्तन्ते ज्ञायन्तेतत्त्वयोगिभिः ॥ ९ ॥

हे सुन्दरि ! पांच तत्त्वोंसे पैदा हुए देहमें ये पांच तत्त्व सूक्ष्मरूपसे वर्तते हैं, उनको तत्त्वोंके ज्ञाता योगी जन जानते हैं ॥ ९ ॥

अथ स्वरं प्रवक्ष्यामि शरीरस्थस्वरोदयम् ।
हंसचारस्वरूपेण भवेज्ज्ञानं त्रिकालजम् ॥ १० ॥

अब शरीरके विषे स्थित स्वरोंकी उत्पत्ति है जिससे ऐसे जो आकार आदि स्वर उनको कहता हूँ जिनके ज्ञानसे हंसचार रूपसे भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालोंका ज्ञान होता है ॥ १० ॥

गुह्याद्गुह्यतरं सारमुपकारप्रकाशनम् ।
इदं स्वरोदयं ज्ञानं ज्ञानानां मस्तके मणिः ॥ ११ ॥

यह स्वरोदय ज्ञान जितनी गोप्य व छिपी वस्तु है उनमें गुप्त सार उप कारोंका प्रकाशक है और सब ज्ञानोंका शिरोमणि है ॥ ११ ॥

सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं ज्ञानं सुबोधं सत्यप्रत्ययम् ।
आश्चर्यं नास्तिके लोकं आधारंत्वास्तिकेजने ॥ १२ ॥

यह स्वरोदयज्ञान भलीप्रकार जानने योग्य और प्रतीतिको करता है जो जन नास्तिक हैं उनको आश्चर्य दीखता है और जो आस्तिक हैं उनका आधार है ॥ १२ ॥

अथ शिष्यलक्षणम्

शान्ते शुद्धे सदाचारे गुरुभक्त्यैकमानसे ।
दृढचित्ते कृतज्ञे च देयं चैव स्वरोदयम् ॥ १३ ॥

शान्तस्वभाव, शुद्ध, उत्तम आचरणशील, गुरुकी भक्तिमें जिसका मन और दृढचित्त, किये उपकारोंका ज्ञाता ऐसे शिष्यको ही स्वरोदय देना ॥ १३ ॥

दुष्टे च दुर्जने क्रुद्धे नास्तिके गुरुतल्पगे ।
हीनसत्त्वे दुराचारे स्वरज्ञानं न दीयते ॥ १४ ॥

जो दुष्ट, दुर्जन, क्रोधी, नास्तिक गुरुस्त्रीगामी अधीर और दुराचारी हो उसको स्वरका ज्ञान न दे ॥ १४ ॥

शृणु त्वं कथितं देवि देहस्थं ज्ञानमुत्तमम् ।
येन विज्ञानमात्रेण सर्वज्ञत्वं प्रणीयते ॥ १५ ॥

हे देवि ! तू मेरे कहे हुए देहमें स्थित उत्तम ज्ञानको सुन, जिसके ज्ञान मात्रसे ही सर्वज्ञ हो जाता है ॥ १५ ॥

स्वरे वेदाश्च शास्त्राणि स्वरे गान्धर्वमुत्तमम् ।
स्वरे च सर्वं त्रैलोक्यं स्वरमात्मस्वरूपकम् ॥ १६ ॥

सम्पूर्ण वेद, शास्त्र और उत्तम गांधर्व (गान विद्या) और सम्पूर्ण त्रिलोकी ये सब स्वरमें ही हैं और स्वर ही आत्मस्वरूप है ॥ १६ ॥

स्वरहीनश्च दैवज्ञो नाथहीनं यथा गृहम् ।
शास्त्रहीनं यथा वक्त्रं शिरोहीनं च यद्वपुः ॥ १७ ॥

स्वरके ज्ञानसे हीन ज्योतिषी और स्वामीसे हीन घर, शास्त्रसे हीन मुख और शिरसे हीन देह शोभित नहीं होते ॥ १७ ॥

नादीभेदं तथा प्राणतत्त्वभेदं तथैव च ।
सुषुम्नामिश्रभेदं च यो जानाति समुक्तिगः ॥ १८ ॥

जो मनुष्य नाड़ी प्राण तत्त्व और सुषुम्ना आदि मिश्रित तीन नाडियोंके भेदको जानता है वह मुक्तिको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

साकारे वा निराकारे शुभं वायुबलात्कृतम् ।
कथयन्ति शुभं केचित्स्वरज्ञानं वरानने ।। १९ ।।

साकार (व्यावहारिक) वा निराकार (परमार्थिक) में वायु (स्वर) के बलसे शुभ होता है और हे पार्वति ! कोई यह कहते हैं कि, स्वरके ही ज्ञानसे शुभ होता है ।। १९ ।।

ब्रह्माण्डखण्डपिण्डाद्याः स्वरेणैव हि निर्मिताः ।।
सृष्टिसंहारकर्त्ता च स्वरः साक्षान्महेश्वरः ।। २० ।।

ब्रह्माण्डके खंड और पिंड आदि स्वरके ही रचे हैं, सृष्टि और संहारका कर्त्ता साक्षात् महेश्वर (शिव) रूप स्वर ही है ।। २० ।।

स्वरज्ञानात्परं गुह्यं स्वरज्ञानात्परं धनम् ।
स्वरज्ञानात्परं ज्ञानं नवा दृष्टं नवा श्रुतम् ।। २१ ।।

स्वरके ज्ञानसे परे गुण, स्वरके ज्ञानके परे धन, स्वरके ज्ञानसे परे ज्ञान न देखा है और न सुना है ।। २१ ।।

शत्रुं हन्यात्स्वरबले तथा मित्रसमागमः ।
लक्ष्मीप्राप्तिः स्वरबले कीर्तिः स्वरबले सुखम् ।। २२ ।।

स्वरका बल हो तो शत्रुको हने और मित्रका समागम, लक्ष्मीकी प्राप्ति कीर्ति, सुख स्वरके ही बलसे होते हैं ।। २२ ।।

कन्याप्राप्तिः स्वरबले स्वरतो राजदर्शनम् ।
स्वरेण देवतासिद्धिः स्वरेण क्षितिपो वशः ।। २३ ।।

कन्याकी प्राप्ति (विवाह) और राजाका दर्शन देवताकी सिद्धि और राजाका वशमें होना स्वरसे ही होते हैं ।। २३ ।।

स्वरेण गम्यते देशो भोज्यं स्वरबले तथा ।
लघु दीर्घं स्वरबले मलं चैव निवारयेत् ।। २४ ।।

स्वरके ही बलसे देशाटन होता है और स्वरके ही बलसे भोजन, स्वरके ही बल से लघुशंका और मलका त्याग होता है ।। २४ ।।

सर्वशास्त्रपुराणादि स्मृतिवेदांगपूर्वकम् ।
स्वरज्ञानात्परं तत्त्वं नास्तिकिंचिद्वरानने ।। २५ ।।

हे वरानने ! संपूर्ण शास्त्र और पुराणादि स्मृति और वेदांग आदि ये सब स्वरज्ञानसे परे तत्त्व नहीं है ।। २५ ।।

नामरूपादिकाः सर्वे मिथ्या सर्वेषु विभ्रमः ।
अज्ञानमोहिता मूढा यावत्तत्त्वं न विद्यते ।। २६ ।।

जबतक तत्त्वका ज्ञान नहीं होता तबतक नाम रूप आदि भ्रम मिथ्या हैं और मूढजनोंको मोह भी तबतक ही है ।। २६ ।।

इदं स्वरोदयं शास्त्रं सर्वशास्त्रोत्तमोत्तमम् ।
आत्मघटप्रकाशार्थं प्रदीपकलिकोपमम् ।। २७ ।।

यह स्वरोदय शास्त्र सम्पूर्ण उत्तम शास्त्रोंमें उत्तम है और आत्मरूपी घटके प्रकाशार्थ दीपककी कलिका (कली) के समान है ।। २७ ।।

यस्मै कस्मै परस्मै वा न प्रोक्तं प्रश्नहेतवे ।
तस्मादेतस्वयं ज्ञेयमात्मनोवाऽऽत्मनात्मनि ।। २८ ।।

यह स्वरोदय प्रश्न करनेसे जिस किसीको नहीं कहना किन्तु अपने लिये ही देहमें अपनी बुद्धिसे स्वयं जानना ।। २८ ।।

न तिथिर्न च नक्षत्रं न वारो ग्रहदेवता ।
न च विष्टिर्व्यंतीपातो वैधृत्याद्यास्तथैव च ।। २९ ।।

इस स्वरोदयमें तिथि नक्षत्र वार ग्रह देवता भद्रा व्यतीपात वैधृति आदिका दोष नहीं है ॥ २९ ॥

कुयोगो नास्त्यतो देवि भविता वा कदाचन ।
प्राप्ते स्वरबले शुद्धे सर्वमेव शुभं फलम् ॥ ३० ॥

हे देवि ! इसमें कोई कुयोग नहीं है और न कभी होगा, जब स्वरका शुद्ध बल प्राप्त हो तब सम्पूर्ण फल शुभ ही होता है ॥ ३० ॥

देहमध्ये स्थिता नाड्यो बहुरूपाः सुविस्तरात् ।
ज्ञातव्याश्च बुधैर्नित्यं स्वदेहज्ञानहेतवः ॥ ३१ ॥

देहके मध्यमें अनेक रूप और विस्तारवाली बहुतसी नाडी स्थित ह वे सब अपने देहके ज्ञानार्थ विद्वानोंको जानना चाहिये ॥ ३१ ॥

नाभिस्थानगकंदोर्ध्वमंकुराइव निर्गताः ।
द्विसप्ततिसहस्राणी देहमध्ये व्यवस्थिताः ॥ ३२ ॥

नाभिस्थानके कन्दसे ऊपर अंकुरके समान निकसी है और देहके मध्य में ७२००० बहत्तर सहस्र नाडी स्थित हैं ॥ ३२ ॥

नाडीस्था कुण्डलीशक्तिर्भुजङ्गाकारशायिनी ।
ततो दशोर्ध्वगा नाड्योदशैवाधः प्रतिष्ठिताः ॥ ३३ ॥

नाडीमें स्थित और सर्पके समान होती हुई कुंडली शक्ति है उससे ऊपर को गयी हुई दश नाडी हैं और दश ही नीचेको गई है ॥ ३३ ॥

द्वे द्वे तिर्यग्गते नाड्यौ चतुर्विंशतिसंख्यया ।
प्रधाना दश नाड्यस्तु दश वायुप्रवाहकाः ॥ ३४ ॥

दो दो नाडी तिरछी गई हैं ये चौवीस नाडी हैं उनमें दश नाडी प्रधान हैं और दश वायुके प्रवाहको करती हैं ॥ ३४ ॥

तिर्यगूर्ध्वास्तथा नाड्यो वायुदेहसमन्विताः ।
चक्रवत्संस्थिता देहे सर्वाः प्राणसमाश्रिताः ।। ३५ ।।

तिरछी, ऊपर और नीचे स्थित वायु और देहके आश्रित सब नाडी देहमें चक्रके समान स्थित हैं और सब प्राणके अधीन हैं ।। ३५ ।।

तासां मध्ये दश श्रेष्ठा दशानां तिस्र उत्तमाः ।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयिका ।। ३६ ।।

उन नाडियोंमें दश नाडी श्रेष्ठ हैं और उन दशोंमें ये तीन उत्तम हैं इडा, पिंगला और तीसरी सुषुम्ना ।। ३६ ।।

गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ।
अलम्बुषा कुहूश्चैव शंखिनी दशमी तथा ।। ३७ ।।

गांधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशश्विनी, अलंबुषा, कुहू और दशवीं शंखिनी जाननी ।। ३७ ।।

इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे स्मृता ।
सुषुम्ना मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि ।। ३८ ।।

इडा नाडी वामभागमें, पिंगला दक्षिणभागमें और सुषुम्ना मध्यदेशमें और गांधारी वाम नेत्रमें जाननी ।। ३८ ।।

दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे ।
यशस्विनी वामकर्णे आनने चाप्यलम्बुषा ।। ३९ ।।

दक्षिण नेत्रमें हस्तिजिह्वा और दक्षिण कर्णमें पूषा, वामकर्णमें यशस्विनी और मुखमें अलम्बुषा जाननी ।। ३९ ।।

कुहूश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने तु शंखिनी ।
एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ति दश नाडिकाः ।। ४० ।।

लिंगदेशमें कुहू और गुदास्थानमें शंखिनी जाननी । इस प्रकार शरीरके दश द्वारोंमें दश नाडी टिकती है ।। ४०।।

पिङ्गलेडा सुषुम्ना च प्राणमार्गे समाश्रिताः ।
एताहि दश नाड्यस्तु देहमध्ये व्यवस्थिताः ।।४१ ।।

पिंगला, इडा, सुषुम्ना ये तीनों प्राणमार्गमें आश्रित हैं ये दश नाडी देहके मध्यमें स्थित हैं ।। ४१ ।।

नामानि नाडिकानां तु वातानां तु वदाम्यहम् ।
प्राणोऽपानः समानश्च उदानोव्यान एव च ।। ४२ ।।

नाडियोंके आश्रय जो वायु हैं उनके जो नाम हैं उन्हें कहता हूं प्राण अपान, समान, उदान और व्यान ।। ४२।।

नागः कूर्मोऽथ कृकलो देवदत्तो धनञ्जयः ।
हृदि प्राणो वसेन्नित्यमपानो गुदमण्डले ।। ४३ ।।

नाग, कूर्म कृकल, देवदत्त तथा धनंजय और प्राणवायु हृदयमें और अपान वायु गुदामण्डलमें सदैव वसती है ।। ४३ ।।

समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः ।
व्यानो व्यापी शरीरेषु प्रधाना दश वायवः ।। ४४ ।।

समान नाभिदेशमें, कण्ठके मध्यमें उदान और सब शरीरमें व्यापी व्यान वायु होती है ये दश वायु प्रधान हैं ।। ४४ ।।

प्राणाद्याः पञ्च विख्याता नागाद्याः पञ्च वायवः ।
तेषामपि च पञ्चानां स्थानानि च वदाम्यहम् ।। ४५ ।।

पांच प्राण आदि और पांच नाग आदि हैं, उन नाग आदि पांचोंके भी मैं स्थान कहता हूं ।। ४५ ।।

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः ।
कृकलः क्षुतकृतज्ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ।। ४६ ।।

उद्गार (उगलना) में नाग वायु और नेत्रोंके उन्मीलनमें कूर्म और छीकनेमें कृकल और विजृंभण (जंभाई) में देवदत्त वायु जानना ।। ४६ ।।

न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनञ्जयः ।
एते नाडीषु सर्वासु भ्रमन्ते जीवरूपिणः ।। ४७ ।

और सर्वशरीरमें व्यापी धनंजय वायु मृतशरीरको भी नही त्यागता जीवरूप ये दश वायु सब नाडियोमें भ्रमते हैं ।। ४७।।

प्रकटं प्राणसंचारं लक्षयेद्देहमध्यतः ।
इडापिङ्गलासुषुम्नाभिर्नाडीभिस्तिसृभिबुधः ।। ४८ ।।

देहके मध्यमें जो प्रकट प्राणका संचार है उसको इडा, पिंगला सुषुम्ना इन तीन नाडियोंसे ही बुद्धिमान मनुष्य जाने ।। ४८ ।।

इडा वामे च विज्ञेया पिङ्गला दक्षिणे स्मृता ।
इडा नाडी स्थितावामाततोव्यस्ताचपिङ्गला ।। ४९ ।।

वाम भागमें इडा, दहिनेमें पिगला कही है, इडा नाडी वामरूपसे स्थित है और व्यस्त (उलटी) पिंगला स्थित है ।। ४९ ।।

इडायां तु स्थितश्चन्द्रः पिङ्गलायां च भास्करः ।
सुषुम्ना शम्भुरूपेण शम्भुर्हंसस्वरूपतः ।। ५० ।।

इडामें चन्द्रमा स्थित है और पिंगलामें सूर्य और सुषुम्ना हंस रूप से स्थित है और हंस शंभुरूपसे स्थित है ।। ५० ।।

हकारो निर्गमे प्रोक्तः सकारेण प्रवेशनम्
हकारः शिवरूपेण सकारः शक्तिरुच्यते ।। ५१ ।।

श्वासके निकसनेमें हकार कहा है और प्रवेशमें सकार, हकार शिवरूप कहा है और सकार शक्तिरूप कहा है ।। ५१ ।।

शक्तिरूपः स्थितश्चन्द्रो वामनाडीप्रवाहकः
दक्षनाडीप्रवाहश्च शम्भुरूपो दिवाकरः ।। ५२ ।।

और वामनाडीका प्रवाहक चन्द्रमा शक्तिरूपसे स्थित है और दक्षिण नाड़ीका प्रवाहक (चलानेवाला) शंभु सूर्य स्थित है ।। ५२ ।।

श्वासे सकारसंस्थे तु यद्दानं दीयते बुधैः ।
तद्दानं जीवलोकेऽस्मिन् कोटि कोटिगुणं भवेत् ।। ५३ ।।

जब श्वास सकारमें स्थित हो उस समय जो दान बुद्धिमान् मनुष्य दे वह दान इस जीवलोकमें कोटिगुना फल देता है ।। ५३ ।।

अनेन लक्षयेद्योगी चैकचित्तः समाहितः ।
सर्वमेव विजानीयान्मार्गे वै चन्द्र सूर्ययो । ५४ ।।

एकाग्रचित्त और समाहित (समाधान) योगी इसी मार्गसे देखे और चन्द्रमा और सूर्यके मार्गमें ही सबको जान ले ।। ५४ ।।

ध्यायेत्तत्त्वं स्थिरे जीवे अस्थिरे न कदाचन ।
इष्टसिद्धिर्भवेत्तस्य महालाभो जयस्तथा ।। ५५ ।।

जो मनुष्य जिस समय जीव स्थिर होय उसी समय तत्त्वका ध्यान करे, अस्थिर (चंचल) में कदाचित् न करे । उसको इष्टकी सिद्धि होती है और महान् लाभ और जय होता है ।। ५५ ।।

चन्द्रसूर्यसमभ्यासं ये कुर्वन्ति सदा नरः
अतीतानागतज्ञानं तेषां हस्तगतं भवेत् ।। ५६ ।।

जो मनुष्य सदैव चन्द्र सूर्य स्वरोंका भली प्रकार अभ्यास करते हैं उनको भूत और भविष्यत्का ज्ञान हस्तगत (प्रत्यक्ष) होता है ।। ५६ ।।

वामे चामृतरूपा स्याज्जगदाप्यायनं परम् ।
दक्षिणे चरभागेन जगदुत्पादयेत्सदा ।। ५७ ।।

वामभागकी नाड़ी (इडा) अमृतरूप और सब जगतकी पोषक होता है और दक्षिणके चर भागको पिंगला नाड़ी सदैव जगतको पैदा करती है ।।५७।।

मध्यमा भवति क्रूरा दुष्टा सर्वत्र कर्मसु ।
सर्वत्र शुभकार्येषु वामा भवति सिद्धिदा ।। ५८ ।।

और मध्यमा (सुषुम्ना) नाड़ी क्रूर और सम्पूर्ण कर्मोंमें दुष्ट होती है और वामा नाडी सम्पूर्ण शुभ कार्योंमें सिद्धि की दाता होती है ।। ५८ ।।

निर्गमे तु शुभा वामा प्रवेशे दक्षिणा शुभा ।
चन्द्रः समः सुविज्ञेयो रविस्तु विषमः सदा ।। ५९ ।।

और गमनके समयमें वामा नाडी और प्रवेशके समय दक्षिणा शुभ होती है और चन्द्रमाको सम और सूर्यको विषम सदैव जानना ।। ५९ ।।

चन्द्रः स्त्री पुरुष सूर्यश्चन्द्रो गौरोऽसितो रविः ।
चन्द्रनाडीप्रवाहेण सौम्यकार्याणि कारयेत् ।। ६० ।।

चन्द्रमा स्त्री और सूर्य पुरुष और चंद्रमा गौरवर्ण और सूर्य कृष्ण वर्ण जानना और जब चन्द्रमाकी नाडी का प्रवाह हो उस समय सौम्य कार्योंको करे ।। ६० ।।

सूर्यनाडीप्रवाहेण रौद्रकर्माणि कारयेत् ।
सुषुम्नायाः प्रवाहेण भुक्तिमुक्तिफलानि च ।। ६१ ।।

और सूर्य नाडीके प्रवाहमें रौद्र (क्रूर) कर्मोंको करावे और सुषुम्नाके प्रवाहमे भोग और मुक्ति फलके देनेवाले कार्योंको करे ।। ६१ ।।

आदौ चन्द्रः सिते पक्षे भास्करो हि सितेतरे ।
प्रतिपत्तो दिनान्याहुस्त्रीणि त्रीणि कृतोदया ।। ६२ ।।

शुक्लपक्षमें प्रथम चन्द्रमाका स्वर और कृष्णपक्षमें प्रथम सूर्यका चलता है और प्रतिपदासे लेकर तीन २ दिन चन्द्रमा और सूर्यका स्वर बलवान् होता है ।। ६२ ।।

सार्धद्विघटिके ज्ञेयः शुक्ले कृष्णे शशी रविः ।
वहत्येकदिनेनैव यथा षष्टिघटीः क्रमात् ।। ६३ ।।

और ढाई ढाई २।। घटी शुक्लपक्षमें चन्द्रमा, ढाई ढाई २ ।। घटी कृष्ण पक्षमें सूर्य एक दिनमें साठ घटी पर्यंत बहते हैं, अर्थात् दोनों स्वरोंकी क्रमसे २४ चौबीस २ आवृत्ति होती है ।। ६३ ।।

वहेयुस्तद्घटीमध्ये पञ्चतत्त्वानि निर्दिशेत् ।
प्रतिपत्तो दिनान्याहुर्विपरीते विवर्जयेत् ।। ६४ ।.

और उन प्रत्येक ढाई २।। घटियों में पांचों तत्त्व कहते है और प्रतिप्रदासे लेकर जो चन्द्रमा और सूर्यके दिन कहे है उनसे विपरीत हो अर्थात् चंद्रमाके स्वर में सूर्यका और सूर्यके समयमें चन्द्रमा का स्वर चले तो उसको वर्ज दे, क्योंकि वह अशुभ है ।। ६४ ।।

शुक्लपक्षे भवेद्वामा कृष्णपक्षे च दक्षिणा ।
जानीयात्प्रतिपत्पूर्वं योगी. तद्यतमानसः ।। ६५ ।।

शुक्लपक्षमें प्रतिपदासे लेकर प्रथम वामा और कृष्ण पक्षमें प्रथम दक्षिणा नाडीको योगी एकाग्र अन्तकरणसे जाने ।। ६५ ।।

शषांकं वारयेद्रात्रौ दिवा वारय भास्करम् ।
इत्यभ्यासरतो नित्यं स योगी नात्र संशयः ।। ६६ ।।

रात्रिके समय चन्द्र स्वरको और दिनके समय सूर्य स्वरको निवारण करे इस प्रकार अभ्यासमें जो तत्पर है वही योगी है, इसमें संशय नहीं ।।६६।।

सूर्येण बध्यते सूर्यञ्चन्द्रश्चन्द्रेण बध्यते ।
यो जानाति क्रियामेतां त्रैलोक्यं वशगं क्षणात् ।। ६७ ।।

सूर्यके स्वरसे सूर्य और चंद्रमाके स्वरसे चंद्रमा बंद होता है और जो मनुष्य इस क्रियाको जानता है उसके वशमें त्रिलोक क्षणमात्रमें होता है ।। ६७ ।।

उदयं चन्द्रमार्गेण सूर्येणास्तमनं यदि ।
तदा ते गुणसंघाता विपरीतं विवर्जयेत् ।। ६८ ।।

यदि चन्द्रमाके स्वरमें सूर्यका उदय हो और सूर्यके स्वरमें अस्त हो तो उस समय अनेक गुणोंके समूह पैदा होते हैं और इससे विपरीत (उलटा) हो तो उसको वर्ज दे ।। ६८ ।।

गुरुशुक्रबुधेन्दूनां वासरे वामनाडिका ।
सिद्धिदा सर्वकार्येषु शुक्लपक्षे विशेषतः ।। ६९ ।।

बृहस्पति, शुक्र, बुध और सोम इन वारोंमें वामनाडी सब कार्यों में सिद्धिकी दाता होती है और शुक्लपक्षमें यह हो तो और भी विशेष फल होता है ।। ६९ ।।

अर्काङ्गारकसौरीणां वासरे दक्षनाडिका ।
स्मर्त्तव्या चरकार्येषु कृष्णपक्षे विशेषतः ।। ७० ।।

आदित्य, मंगल, शनैश्चर इन वारोंमें दक्षिणनाडीका स्मरण चर कार्योंमें करना और इसका फल कृष्णपक्षमें विशेषकर होता है ।। ७० ।।

प्रथमं वहते वायुर्द्वितीयं च तथानलः ।
तृतीयं वहते भूमिश्चतुर्थं वारुणो वहेत ।। ७१ ..

प्रथम वायुतत्त्व वहता है, द्वितीय बार अग्नितत्व, तृतीयबार भूमितत्व और चतुर्थ बार वरुणतत्व बहता है और पांचवा आकाशतत्व ।। ७१ ।।

सार्द्धद्विघटिके पञ्च क्रमेणैवोदयन्ति च ।
क्रमादेकैकनाड्यां च तत्त्वानां पृथगुद्भवः ।। ७२ ।।

ढाई घटीके मध्यमें जो पूर्वोक्त पाचों तत्व क्रमसे उदय होते हैं और एक २ नाड़ीमें भी क्रमसे पृथक पांचों तत्व उदय होते है ।। ७२ ।।

अहोरात्रस्य मध्ये तु ज्ञेया द्वादशसंक्रमाः ।
वृषकर्कटकन्यालिमृगमीना निशाकरे ।। ७३ ।।

रात्रि और दिनके मध्यमें चन्द्र और सूर्यकी बारह संक्रांति जाननी, दिनमे वृष, कर्क, कन्या, वृश्चिक, मकर, मीन संक्राति चन्द्रमाकी होती हैं ।। ७३ ।।

मेषसिंहौ च कुम्भश्च तुला च मिथुनं धनम् ।
उदये दक्षिणे ज्ञेयःशुभाशुभविनिर्णयः ।। ७४ ।।

मेष, सिंह, कुम्भ, तुला, मिथुन, धन ये संक्रांति सूर्य की जाननी इस प्रकार उदय और दक्षिणके शुभ अशुभका निर्णय जानना ।। ७४ ।।

तिष्ठेत्पूर्वोत्तरे चन्द्रो भानुः पश्चिमदक्षिणे ।
दक्षनाड्याः प्रसारेतु न गच्छेद्याम्यपश्चिमे ।। ७५ ।।

पूर्व और उत्तरमें चन्द्रमा टिकता है पश्चिम और दक्षिणमें सूर्य दक्षिण नाड़ीके प्रवाह (स्वर) में दक्षिण और पश्चिममें न जाय ।। ७५ ।

वामाचारप्रवाहे तु न गच्छेत्पूर्व उत्तरे ।
परिपन्थिभयं तस्य गतोऽसौ न निवर्त्तते ।। ७६ ।।

और वाम नाडीके प्रचारमें पूर्व और उत्तरमें न जाय, जाय तो उसको शत्रुका भय होता है और जो गया वह फिर नहीं लौटता ।। ७६ ।।

तत्र तस्मान्न गन्तव्यं बुधैः सर्वहितैषिभिः ।
तदा तत्र तु संयाते मृत्युरेव न संशयः ।। ७७ ।।

इससे सबके हितैषी बुद्धिमान उस समय न जायँ, यदि उस समयमें जायँ तो मृत्यु होनेमें संदेह नहीं होता ।। ७७ ।।

शुक्लपक्षे द्वितीयायामर्के वहति चन्द्रमाः ।
दृश्यतेलाभदः पुंसां सौम्ये सौख्यं प्रजायते ।। ७८ ।।

यदि शुक्लपक्षकी द्वितीयाकेदिनसूर्यके प्रवाह में चन्द्रमा हो तो पुरुषों को लाभदायक होता है और उस समय सौम्य कार्य किया जाय तो सुख होता है ।। ७८ ।।

सूर्योदये यदा सूर्यश्चन्द्रश्चन्द्रोदये भवेत् ।
सिध्यन्ति सर्वकार्याणि दिवारात्रिगतान्यपि ।। ७९ ।।

जिस समय सूर्यके उदयमें सूर्य और चन्द्रमाके उदयमें चन्द्रमाका ही स्वर हो तो उस समय दिन वा रात्रिमे किये हुए सब काम सिद्ध होते हैं ।।७९ ।।

चन्द्रकाले यदा सूर्य सूर्यश्चन्द्रोदये भवेत् ।
उद्वेगःकलहो हानिः शुभं सर्व निवारयेत् ।। ८० ।।

जिस समय चन्द्रमाके समयमें सूर्य और सूर्य समयमें चन्द्रमा हो तब उद्वेग, कलह, हानि होते हैं और संपूर्ण शुभकी निवृत्ति होती है ।। ८० ।।

सूर्यस्य वाहे प्रवदन्ति विद्या ज्ञानं ह्यगम्यस्य
तु निश्चयेन । श्वासेन युक्तस्य तु शीतरश्मेः प्रवाहकाले
फलमन्यथा स्याद् ।। ८१ ।।

बुद्धिमान, मनुष्य सूर्यके प्रवाहमें अगम्य (जो न देखो न सुनी) वस्तुका ज्ञान निश्चयसे कहते हैं और चन्द्रमाके श्वासका प्रवाह हो तो अन्यथा फल होता है अर्थात् अगम्य वस्तुका नहीं होता ।। ८१ ।।

अथ विपरीत लक्षणम्

यदा प्रत्यूषकालेन विपरीतोदयो भवेत् ।
चन्द्रस्थाने वहत्यर्को रविस्थाने च चन्द्रमाः ।। ८२ ।।

जिस दिन प्रातःकालसे लेकर वितरीत स्वरोंका उदय हो अर्थात् चन्द्रमा के स्थानमें सूर्य और सूर्यके स्थानमें चन्द्रमा बहे उस समय यह फल जानना ।। ८२ ।।

प्रथमे मनउद्वेगं धनहानिर्द्वितीयके ।
तृतीये गमनं प्रोक्तमिष्टनाशं चतुर्थके ।। ८३ ।।

प्रथम मनका उद्वेग, दूसरे में धनकी हानि और तीसरेमें गमन और चौथेमें इष्टका नाश होता है ।। ८३ ।।

पञ्चमे राज्यविध्वंसं षष्ठे सर्वार्थनाशनम् ।
सप्तमे व्याधिदुःखानिअष्टमे मृत्युमादिशेत् ।। ८४ ।।

पांचवेमें राज्य विध्वंस और छठेमें सम्पूर्ण अर्थोंका नाश और सातवेमें व्याधि और दुःख और आठवेमें मृत्युका होना कहा है ।। ८४ ।।

कालत्रये दिनान्यष्टौ विपरीतं यदा वहेत् ।
तदा दुष्टफलं प्रोक्तं किंचिन्न्यूनं तु शोभनम् ।। ८५ ।।

प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकाल इन तीनोंकालों में यदि पूर्वोक्त विपरीत स्वरोंका उदय आठ दिनतक बराबर चले तो उस समय दुष्ट फल कहा है, यदि कुछ काम विपरीत चले तो शुभ फल जानना ।। ८५ ।।

प्रातर्मध्याह्नयोश्चन्द्रः सायंकाले दिवाकरः ।
तदा नित्यं जयो लाभो विपरीतं विवर्जयेत् ।। ८६ ।।

जिस दिन प्रातःकाल और मध्याह्नको चन्द्रमाका स्वर और सायंकालको

सूर्यका स्वर चले तो उस दिन जय और लाभ कहा है और विपरीत स्वर चले तो वर्ज दे अर्थात् अनिष्ट फल होता है ।। ८६ ।।

वाम्मे व दक्षिणे वापि यत्र संक्रमते शिवः ।
कृत्वा तत्पादमादौ च यात्रा भवति सिद्धिदा ।। ८७ ।।

यात्राके समय वाम वा दक्षिण जो स्वर चलता हो उसी चरणको प्रथम आगे रखकर यात्रा करे तो वह यात्रा सिद्धिकी दाता होती है ।। ८७ ।।

चन्द्रः समपदः कार्यो रविस्तु विषमः सदा ।
पूर्णपादं पुरस्कृत्य यात्रा भवति सिद्धिदा ।। ८८ ।।

चन्द्रमाका स्वर चलता हो तो सम पद २–४–६ आदि रखने और सूर्यका स्वर चलता हो तो विषम पद १–३–५ आदि आगे रखने इस प्रकार पूर्ण पाद आगे रखने से यात्रा सिद्धिकी दाता होती है ।। ८८ ।।

यत्रांगे वहते वायुस्तदंगकरसंतलात् ।
सुप्तोत्थितो मुखं स्पृष्ट्वा लभते वाञ्छितंफलम् ।। ८९ ।।

जिस अंगका स्वर चलता हो उसी अंगके हाथके तलसे शयनसे उठकर मनुष्य मुखका स्पर्श करे तो वांछित फलको प्राप्त होता है ।। ८९ ।।

परदत्ते तथा ग्राह्ये गृहान्निर्गमनेऽपि च ।
यदंगे वहते नाडी ग्राह्यं तेन करांघ्रिणा ।। ९० ।।

दूसरेको दान देने वा ग्रहण करनेमें वा घरसें बाहर जानेमें जिस अंगकी नाडी चलती उसी हाथ वा पैरको आगे करके वस्तु को ग्रहण करे तो ।। ९० ।।

न हानिः कलहो नैव कण्टकैर्नापि भिद्यते ।
निवर्तते सुखी चैव सर्वोपद्रववर्जितः ।। ९१ ।।

न हानि हो, न कलह हो और न कंटक (शत्रु) से बिधे और वह सर्वदा सुखी रहे और सब उपद्रवोंसे वर्जित भी रहेगा ।। ९१ ।।

गुरुबन्धुनृपामात्येष्वन्येषु शुभदायिनी ।
पूर्णांगेखलु कर्त्तव्याकार्यसिद्धिर्मनः स्थिता ।। ९२ ।।

गुरु, बंधु, राजा मंत्री आदिसे शुभ देनेवाली कार्यकी सिद्धि करनी हो तो पूर्ण हाथसे अर्थात् हाथमें कोई फल लेकर करनी, वह सिद्धि मनोवांछित फलको देती है ।। ९२ ।।

अग्निचोराधर्मधर्मा अन्येषां वादिनिग्रह ।
कर्त्तव्याः खलु रिक्तायां जयलाभसुखार्थिभिः।। ९३ ।।

अग्निका दाह, चोर, अधर्म–कार्य और धर्मकार्य-वादीको निग्रह (दंड) करना हो तो रिक्त खाली हाथसे ही जय लाभ सुखके अभिलाषी मनुष्य कार्य सिद्धिको करें ।। ९३ ।।

दूरदेशे विधातव्यं गमनं तु हिमद्युतौ ।
अभ्यर्णदेशे दीते तु कारणाविति केचन ।। ९४ ।।

कोई ऐसा कहते हैं कि दूर देशमें जाना हो तो चन्द्रमाके स्वरमें और समीप देशमें जाय तो सूर्यके स्वरमें गमन करे ।। ९४ ।।

यत्किंचित्पूर्वमुद्दिष्टं लाभादिसमरागमः ।
तत्सर्वं पूर्णनाडीषु जायते निर्विकल्पकम् ।। ९५ ।।

जो कुछ लाभ आदि प्रथम कहा है यह सब युद्धके समय तभी निःसंदेह होता है जब नाडी पूरे पूरे स्वरसे चलती हो ।। ९५ ।।

शून्यनाड्या विपर्यस्तं यत्पूर्वं प्रतिपादितम् ।
जायते नान्यथा चैव यथा सर्वज्ञभाषितम् ।। ९६ ।।

और शून्य नाडी चलती हो वह तो पूर्वोक्त फलशिव जीके कथनानुसार अन्यथा (उलटा) होता है ।। ९६ ।।

व्यवहारे खलोच्चाटे द्वेषिविद्यादिवञ्चके ।
कुपितस्वामिचोराद्ये पूर्णस्थाःस्युर्भयंकराः ।। ९७ ।।

व्यवहार दुष्ट मनुष्यका उच्चाटन वैरी विद्या आदिसे ठगना स्वामीका कोप और चौर आदि क्रूर कामोंसे पूर्ण स्वर भयके कर्ता होते हैं अर्थात् अच्छे नहीं ।। ९७ ।।

दूराध्वनि शुभश्चन्द्रो निर्विघ्नोऽभीष्टसिद्धिदः ।।
प्रवेशकार्यहेतौ च सूर्यनाडी प्रशस्यते ।। ९८ ।।

जो मनुष्य दूर मार्गमें जाना चाहे उसको चन्द्रमाका स्वर शुभ है, जो निर्विघ्न वांछितकी सिद्धि करता है और प्रवेशके कार्यमे सूर्यकी नाडी श्रेष्ठ होती है ।। ९८ ।।

अयोग्ये योग्यता नाड्या योग्यस्थानेप्ययोग्यता ।
कार्यानुबंधनो जीवो यथा रुद्रस्तथा चरेत् ।। ९९ ।।

अयोग्य कार्यमें नाडीकी योग्यता और योग्य कार्यमें अयोग्यताको कार्यका अनुबंधी जीव प्राप्त होता है इससे जैसा स्वर हो वैसा ही आचरण मनुष्य करे ।। ९९ ।।

चन्द्रवारे विषहते सूर्यो बलिवशं नयेत् ।
सुषुम्नायां भवेन्मोक्ष एको देवस्त्रिधास्थितः ।। १०० ।।

चन्द्रमाका स्वर चले तो किसीके किये अपराधको भी मनुष्य सह लेता है और सूर्यका स्वर चले तो बलवान् भी वशमें हो सकता है और सुषुम्ना नाडीका स्वर हो तो मोक्ष होता है । इस प्रकार एक देव (स्वर) तीन प्रकारसे स्थित है ।। १०० ।।

शुभान्यशुभकार्याणि क्रियन्तेऽहर्निशं यदा ।
तदाकार्यानूरोधेन कार्यं नाडीप्रचालनम् ।। १०१ ।।

जिस समय रात दिन शुभ और अशुभ किये जायं तब कार्यके अनुसार नाडीको चलावे ॥ १०१ ॥

अथ इडा

स्थिरकर्मण्यलंकारे दूराध्वगमने तथा ।
आश्रमे धर्मप्रासादे वस्तूनां संग्रहेऽपिच ॥ १०२ ॥

स्थिर कार्य, भूषण, दूर मार्गमें गमन, आश्रम, धर्मप्रासाद (मंदिर) और घरकी वस्तुओंके संग्रह (संचय) करनेमें ॥ १०२ ॥

वापीकूपतडागादेः प्रतिष्ठा स्तंभदेवयोः ।
यात्रादाने विवाहे च वस्त्रालंकारभूषणे ॥ १०३ ॥

बावड़ी कूप तालाव और देवस्तंभ इनकी प्रतिष्ठा और यात्रा दानविवाह वस्त्र अलंकार भूषण इनमें ॥ १०३ ॥

शांतिके पौष्टिके चैव दिव्यौषधिरसायने ।
स्वस्वामिदर्शने मित्रे वाणिज्ये कणसंग्रहे ॥ १०४ ॥

शांति और पुष्टिके कर्म, दिव्य औषधी रसायन अपने स्वामीके दर्शन और व्यापार और कण (अन्न) के संग्रहमें ॥ १०४ ॥

गृहप्रवेशे सेवायां कृषौ च बीजवापने ।
शुभकर्मणि संधौ च निर्गमे शुभः शशी ॥ १०५ ॥

और गृहप्रवेश सेवा खेती बीजका बोना शुभ कर्म और संधि (मेल) और गमन इनमें चन्द्रमाका स्वर (इडा) शुभ होता है ॥ १०५ ॥

विद्यारभ्यादिकार्येषु बान्धवानां च दर्शने ।
जन्ममोक्षे च धर्मे च दीक्षायां मन्त्रसाधने ॥ १०६ ॥

और विद्यारम्भ आदि कार्योंमें और बांधवोंकेदर्शनमें जन्म और मोक्षमें घर्म और यज्ञ आदिकी दीक्षा में और मन्त्रकी सिद्धमें ।। १०६ ।।

कालविज्ञानसूत्रे तु चतुष्पादगृहागमे ।
कालव्याधिचिकित्सायां स्वामिसंबोधने तथा ।। १०७ ।।

कालका ज्ञान व सूत्र और चतुष्पादों (पशुओं) के घरमें आगमनमें कालकी व्याधिकी चिकत्सामें और स्वामीके संबोधन (वुलाना) में ।। १०७ ।।

गजाश्वारोहणे धन्विगजाश्वानां च बंधने ।
परोपकरणे चैव निधीनां स्थापने तथा ।। १०८ ।।

हाथी व घोड़ेकी सवारी धनुषका धारण हाथी व घोड़ेका बांधना परका उपकार करना और निधि (खजाना) का स्थापन करना ।। १०८ ।।

गीतवाद्यादिनृत्यादौ नृत्यशास्त्रविचारणे ।
पुरग्रामनिवेशे च तिलकक्षेत्रधारणे ।। १०९ ।।

गीत वादित्र (वाजा) नृत्य और नृत्यशास्त्रका विचार पुर और ग्रामका प्रवेश और तिलक और खेतका धारण इनमें भी चन्द्र नाडी (इडा) शुभ होती है ।। १०९ ।।

आर्तिशोकविषादेषु ज्वरितेमूर्च्छितेऽपि वा ।
स्वजनस्वामिसम्बन्धे अन्नादेर्दारुसंग्रहे ।। ११० ।।

रोग शोक विषाद (उदासी) ज्वरपीडा मूर्छा अपने जन और स्वामीके सम्वन्धमें और अन्न और काठके संग्रहमें भी चन्द्रनाडी श्रेष्ठ है ।। ११० ।।

स्त्रीणां दन्तादिभूषायां वृष्टेरागमने तथा ।
गुरुपूजाविषादीनां चालने च वरानने ।। १११ ।।

स्त्रियोंको दन्त आदिक भूषण, वृष्टिका आगमन, गुरुकी पूजा और

विष आदिका चालन (बाहर निकालने) में हे पार्वती ! चन्द्रनाडी श्रेष्ठ है ।। १११ ।।

इडायां सिद्धिदं प्रोक्तं योगाभ्यासादि कर्म च ।
तत्रापि वर्जयेद्वायुं तेज आकाशमेव च ।। ११२ ।।

इडा नाडीमें योगाभ्यास आदि कर्म सिद्धिका दाता कहा है तथापि इडानाडीमें जब वायु और आकाश तत्त्व बहते हों तब इडाको भी वर्ज दे ।। ११२ ।।

सर्वकार्याणि सिद्धयन्ति दिवारात्रिगतान्यपि ।
सर्वेषु शुभकार्येषु चन्द्रचारः प्रशस्यते ।। ११३ ।।

दिन और रात्रिके सब काम इडानाडीमें सिद्धि होते हैं और सम्पूर्ण शुभ कार्योमें चन्द्रमाका चार (इडा) उत्तम होता है ।। ११३ ।।

कठिनक्रूर विद्यानां पठने पाठने तथा ।
स्त्रीसंगवेश्यागमने महानौकाधिरोहणे ।। ११४ ।।

कठिन और कूर (मारण) आदि विद्याओंके पढ़ने या पढ़ाने में, स्त्रीका संग और वेश्याके गमनमें और महानौका (जहाज) के चढ़नेमें ।। ११४ ।।

भ्रष्टकार्ये सुरापाने वीरमंत्राद्युपासने ।
विह्वलोद्ध्वंसदेशादौ विषदानेचवैरिणाम् ।। ११५ ।।

भ्रष्टकार्य, मदिराका पान, वीरमन्त्र आदिकी उपासना, विह्वल होना देशका विध्वंस और वैरियोंको विष देना इनमें और ।। ११५ ।।

शास्त्राभ्यासे च गमने मृगयापशुविक्रये ।
इष्टिकाकाष्ठपाषाणरत्नघर्षणदारणे ।। ११६ ।।

शास्त्रका अभ्यास, गमन, मृगया, पशुओंका बेचना, ईंट, काठ, पत्थर रत्न इनका घिसना और तोड़ना इसमें सूर्यनाडी (पिंगला) श्रेष्ठ है ।। ११६ ।।

गत्यभ्यासे यंत्रतंत्रे दुर्गपर्वतरोहणे ।
द्यूते चौर्ये गजाश्वादिरथसाधनवाहने ।। ११७ ।।

गमनका अभ्यास यन्त्र तन्त्र किला और पर्वत पर चढना द्यूत (जुआ और चोरी करना, हाथी घोडा रथ इनको साधना व चलाना इनमें ।।११७।।

व्यायामे मारणोच्चाटे षट्कर्मादिकसाधने ।
यक्षिणीयक्षवेतालविषभूतादि निग्रहे ।। ११८ ।।

व्यायाम (कसरत) मारण उच्चाटन षट्कर्मोंको सिद्ध करना और यक्षिणी यक्ष वेताल विष भूत आदि का निग्रह (रोकना) इनमें ।। ११८ ।।

खरोष्ट्रमहिषादीनां गजाश्वारोहणे तथा ।
नदीजलौघतरणे भेषजे लिपिलेखने ।। ११९ ।।

गधा ऊंट भैंसा हाथी घोड़ा इनपर चढना और नदीके जलवेगसे पार उतरना, औषधि करना और लीपना व लिखन इनमें ।। ११९ ।।

मारणे मोहने स्तंभे विद्वेषोच्चाटने वशे ।
पेरणे कर्षणे क्षोभे दाने च क्रयविक्रये ।। १२० ।।

मारना मोहन स्तम्भन (रोक) करना विद्वेष (वैर) करना उच्चाटन और वशमें करना प्रेरणा और खेती करना क्षोभ दान और लेन देनमें ।। १२० ।

प्रेताकर्षणविद्वेषशत्रुनिग्रहणेऽपि च ।
खड्गहस्ते वैरियुद्धे भोगे वा राजदर्शने ।
भोज्ये स्नाने व्यवहारे दीप्तकार्ये रविशुभः ।। १२१ ।।

प्रेतका आकर्षण (बुलाना), विरोध, शत्रुका निग्रह, दण्ड, खड्ग (तलवार) को हाथमें लेना, वैरीके संग युद्ध, भोग व राजाके दर्शन, भोजन व स्नान और व्यवहार, दीप्त (प्रकाशित कार्य) इनमें सूर्यनाडी (पिंगला) शुभ कही है ।। १२१ ।।

भुक्तमार्गेण मन्दाग्नौ स्त्रीणां वश्यादिकर्मणि ।
शयनंसूर्यवाहेन कर्तव्यं सर्वदा बुधैः ।। १२२ ।।

भोजनके द्वारा मन्दाग्नि करनेमें और स्त्रियोंको वशमें करना, सोना ये सब काम पंडित जन सूर्य स्वरके चलते समय करें ।। १२२ ।।

क्रूराणि सर्वकर्म्माणि चराणि विविधानि च ।
तानिसिद्धयन्ति सूर्येणनात्रकार्याविचारणा ।। १२३ ।।

सम्पूर्ण क्रूर कर्म और अनेक प्रकारके चरकर्म ये सब सूर्यकी नाडी (पिंगला) में सिद्ध होते हैं, इसमें कोई विचार नहीं करना ।। १२३ ।।

अथ सुषुम्ना

क्षणं वामे क्षणं दक्षे यदा वहति मारुतः ।
सुषुम्ना सा च विज्ञेया सर्वकार्यहरा स्मृता ।। १२४ ।।

जो पवन क्षणभर वामभाग और क्षणभर दक्षिण भागमें चले उसे सुषुम्नानाडी जाननी और सुषुम्ना सब कार्योंको हरनेवाली कही है ।। १२४ ।।

तस्यां नाड्यां स्थितो वह्निर्ज्वलते कालरूपकः ।
विषवत्तं विजानीयात्सर्वकार्यविनाशनम् ।। १२५ ।।

उस नाडीमें टिकी हुई अग्नि कालरूप जलती है उस अग्निको विष-वाली और सब कार्योंका नाशक जानना ।। १२५ ।।

दयाऽनुक्रममुल्लङ्घ्य यस्य नाडीद्वयं वहेत् ।
तदा तस्य विजानीयादशुभं नात्र संशयः ।। १२६ ।।

जब अपने-अपने स्वाभाविक क्रमका उल्लंघन करके जिस पुरुषकी दोनों नाडी चलें तब उस पुरुषका अशुभ जानना, इसमें सन्देह नहीं है ।। १२६

क्षणं वामे क्षणं दक्षे विषमं भावमादिशेत् ।
विपरीतं फलं ज्ञेयं ज्ञातव्यं च वरानने ।। १२७ ।।

क्षणभर बाम भाग और क्षणभर दक्षिण भागमें पवन चले तो उसको विषम कहे और हे पार्वती ! उसका वितरीत फल जानना ।। १२७ ।।

उभयोरेव संचारं विषवत्तं विदुर्बुधाः ।
न कुर्यात्क्रूर सौम्यानितत्सर्वं विफलं भवेत् ।। १२८ ।।

दोनों नाडियोंके संचारको विषवत् ऐसा पंडित जन कहते हैं, उसमें क्रूर और सौम्य कर्म न करे, यदि करे तो वे सब निष्फल होते हैं ।। १२८ ।।

जीविते मरणे प्रश्ने लाभालाभे जयाजये ।
विषमे विपरीते च संस्मरेज्जगदीश्वरम् ।। १२९ ।।

जीना, मरना, प्रश्न, लाभ, अलाभ, जय, पराजय, विषय और विपरीत स्वरके चलनेमें जगदीश्वरका स्मरण करे ।। १२९ ।।

ईश्वरे चिंतिते कार्यं योगाभ्यासादि कर्म च ।
अन्यत्तत्र न कर्तव्यं जयलाभसुखैषिभिः ।। १३० ।।

ईश्वरका चिन्तन करके उस समय योगाभ्यास आदि कर्म ही करना और जय लाभ सुखके अभिलाषी उस समय कोई काम न करें ।। १३० ।।

सूर्येण वहमानायां सुषुम्नायां मुहुर्मुहुः ।
शापंदद्याद्वरं दद्यात्सर्वथैव तदन्यथा ।। १३१ ।।

जब सूर्यकी नाडी सुषुम्ना वारंवार बहे तो उस समय जो शाप अथवा वर दे वह सब अन्यथा (विपरीत) होता है ।। १३१ ।।

नाडीसंक्रमणे काले तत्त्वसंगमनेऽपि च ।
शुभं किंचिन्न कर्त्तव्यं पुण्यदानादि किंचन ।। १३२ ।।

नाडीके संक्रमण (मेल) में और तत्त्वोंके संचलनमें कोई शुभ कर्म न करना और पुण्य दान आदि कर्म भी न करने ॥ १३२ ॥

विषमस्योदयो यत्र मनसाऽपि न चिन्तयेत् ।
यात्रा हानिकरी तस्य मृत्युः क्लेशो न संशयः ॥ १३३ ॥

जिस समय विषम स्वरका उदय हो तब मनसे भी किसी कार्यकी चिता न करे, जो करे तो उस मनुष्यकी यात्रा हानिकी करनेवाली होती है और मृत्यु अथवा क्लेश होता है इसमें सन्देह नहीं है ॥ १३३ ॥

पुरो वामोर्ध्वतश्चन्द्रोदक्षाधः पृष्ठतो रविः ।
पूर्णारिक्तविवेकोऽयं ज्ञातव्यो देशिकैःसदा ॥ १३४ ॥

जब प्रथम वाम स्वर और पीछे चन्द्रस्वर हो और फिर दक्षिण स्वर के पीछे सूर्य स्वरका उदय हो ये दोनों क्रम पूर्ण और रिक्त (खाली) सदैव पंडित जाने ॥ १३४ ॥

ऊर्ध्ववामाग्रतो दूतो ज्ञेयो वामपथे स्थितः ।
पृष्ठे दक्षे तथाऽधस्तात्सूर्यवाहागतः शुभः ॥ १३५ ॥

वाम स्वरसे पीछे वा पहिले यदि आता हुआ दूत वाम भाग में स्थित हो और दक्षिण स्वरके पीछे वा पहिले आता हुआ दूत दक्षिण भागमें स्थित हो तो शुभ होता है ॥ १३५ ॥

अनादिर्विषमः संधिर्निराहारो निराकुलः ।
परे सूक्ष्मे विलीयेत सा सन्ध्या सद्भिरुच्यते ॥ १३६ ॥

अनादि जो विषम सन्धि (सुषुम्ना) निराहार और निराकुल होकर परमसूक्ष्म ब्रह्ममें लीन हो जाय अर्थात् एकरस चलती हुई जिस सुषुम्ना से ब्रह्मकी प्राप्ति होजाय उस सुषुम्नाको सज्जन संध्या कहते हैं ॥ १३६ ॥

न वेदं वेद इत्याहुर्वेदो वेदो न विद्यते ।
परात्मा वेद्यते येन स वेंदो वेद उच्यते ।। १३७ ।।

पंडित जन वेदको वेद नहीं कहते और वेद वेद है भी नहीं किंतु परमातमा जिससे जाना जाय उसे ही ज्ञानियोंने वेद कहा है ।। १३७ ।।

न सन्ध्यां सन्धिरित्याहुः संध्या संधिर्निगद्यते ।
विषमः संधिगः प्राणः स संधिः संधिरुच्यते ।। १३८ ।।

सन्ध्याको पंडित जन सन्धि नहीं कहते और न संध्या सन्धि कही जा सकती है, किन्तु जब विषम सन्धिमें प्राण हो वही संधि कहाती है ।। १३८ ।।

इति नाड़ी भेदः

श्रीदेव्युवाच

देवदेव महादेव सर्वसंसारतारक ।
स्थितं त्वदीयहृदये रहस्यं वद मे प्रभो ।। १३९ ।।

पार्वती बोली–कि हे देवोंके देव ! हे महादेव ! सब संसारके तारक ! जो रहस्य (गुप्त) आपके हृदय में स्थित है, हे प्रभो ! वह मुझसे कहो ।। १३९ ।।

ईश्वर उवाच

स्वरज्ञानरहस्यात्तु न काचिच्चेष्टदेवता ।
स्वरज्ञानरतोयोगी स योगी परमो मतः । १४० ।।

महादेव बोले–कि स्वरज्ञानके रहस्यसे परे कोई इष्ट देवता नहीं है, जो योगी स्वरके ज्ञानमें रत है वही परम योगी माना है ।। १४० ।।

पञ्चतत्त्वाद्भवेत्सृष्टिस्तत्त्वे तत्त्वं प्रलीयते ।
पञ्चतत्त्वं परं तत्त्वं तत्त्वातीतं निरञ्जनम् ।। १४१ ।।

पांच तत्त्वोंसे सृष्टि होती है और तत्त्वमें ही तत्त्व लीन होता है। पांच तत्त्व ही परम तत्त्व हैं और निरंजन (ब्रह्म) तत्त्वोंसे अतीत (परे) है ॥१४१॥

तत्त्वानां नाम विज्ञेयं सिद्धियोगेन योगिभिः।
भूतानां दुष्ट चिह्नानि जानातीह स्वरोत्तमः॥ १४२॥

योगीजन सिद्धिके योगसे तत्त्वोंका नाम जाने, जो मनुष्य स्वरोंको ही उत्तम समझता है वह सब प्राणियोंके दुष्ट चिह्नोंको जान सकता है॥ १४२।

पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च।
पञ्चभूतात्मकं विश्वं यो जानाति स पूजितः॥ १४३।

जो मनुष्य पृथ्वी जल में तेज वायु और आकाश इन पञ्चभूतात्मक विश्व को जानता है वही पूजित होता है॥ १४३॥

सर्वलोकस्थजीवानां न देहो भिन्नतत्त्वकः।
भूलोकात्सत्यपर्यन्तं नाडीभेदः पृथक्पृथक्॥ १४४।

भूलोकसे सत्यलोक पर्यंत सब लोकमें स्थित जितने जीव हैं उनका देह भिन्न भिन्न तत्त्वरूप नहीं है परन्तु नाडी का भेद पृथक् पृथक् है॥ १४४॥

वामे वा दक्षिणे वाऽपि उदयाः पञ्च कीर्तिता।
अष्टधा तत्त्वविज्ञानं शृणु वक्ष्यामिसुन्दरी॥ १४५॥

वामभाग वा दक्षिण भागमें पांच २ उदय कहे हैं। हे सुन्दरी! उन तत्त्वोंका विज्ञान आठ प्रकारका मैं कहता हूं, तू सुन॥ १४५॥

प्रथमे तत्त्वसंख्यानं द्वितीये श्वाससंधयः।
तृतीये स्वरचिह्नानि चतुर्थे स्थानमेव च॥ १४६॥

प्रथम तत्त्वोंका संख्यान (गिनती), दूसरा भेद श्वासकी संधि, तीसरा स्वरोंका चिह्न, चौथा भेद स्वरोंका स्थान॥ १४६॥

पञ्चमे तस्य वर्णाश्च षष्ठे तु प्राण एव च ।
सप्तमे स्वादसंयुक्ता अष्टमे गतिलक्षणम् ।। १४७ ।।

पांचवा भेद तत्त्वोंका रंग, छठे भेदमें प्राण, सातवेमें स्वादका संयोग आठवें भेदमें गतिके लक्षण ।। १४७ ।।

एवमष्टविधं प्राणं विषुवन्तं चराचरम् ।
स्वरात्परतरं देवि नान्यथा त्वम्बुजेक्षणे ।। १४८ ।।

इस प्रकार चराचर में व्यापक आठ प्रकारका प्राण होता है । हे देवि ! स्वरसे परे अन्यथा (इतर) ज्ञान नहीं है ।। १४८ ।।

निरीक्षितव्यं यत्नेन सदा प्रत्यूषकालतः ।
कालस्य वञ्चनार्थाय कर्मकुर्वन्ति योगिन ।। १४९ ।।

प्रातःकालसे लेकर सदैव स्वरको देखना, क्योंकि योगिजन कालक्षेपके कर्मोंको करते हैं परंतु उनको स्वर और तत्त्वकी पहिचान रहती है ।। १४९ ।।

श्रुत्योरंगुष्ठकौ मध्यांगुल्यौ नासापुटद्वये ।
वदनप्रान्तके चान्यांगुलीर्दद्याच्च नेत्रयो ।। १५० ।।

कानोंमें दोनों अंगूठे और दोनों नासिकाके पुटोंमें मध्यकी दोनों अंगुली मुखके प्रान्त भाग (दोनोंमें मेल) में और नेत्रोंमे शेष अंगुली अर्थात् नेत्रोंमें तर्जनी और अनामिका और कनिष्ठा मुखप्रांतमें लगावे ।। १५० ।।

अस्यान्तस्तु पृथिव्यादितत्त्वज्ञानं भवेत्क्रमात् ।
पीतश्वेतारुणश्यामैर्बिन्दुर्भिर्निरुपाधिकम् ।।। १५१ ।।

इसके बीच पृथिवी आदि तत्त्वोंका ज्ञान क्रमसे पीत श्वेत अरुण (लाल) और श्याम बिंदुओंसे उपाधिरहित (स्पष्ट) होता है अर्थात्

पृथिवीका पीत वर्ण, जलका श्वेत, तेजका लाल, वायुका श्याम और आकाश का चित्र वर्ण होता है ।। १५१ ।।

दर्पणेन समालोक्य तत्र श्वासं विनिःक्षिपेत् ।
आकारैस्तु विजानीयात्तत्त्वभेदं विचक्षणः ।। १५२ ।।

दर्पणमे मुखको देखकर श्वासको छोडे और आकारोंको देखकर तत्त्वके भेदको पंडितजन जाने ।। १५२ ।।

चतुरस्त्रं चार्धचन्द्रं त्रिकोणं वर्तुलं स्मृतम् ।
बिंदुभिस्तु नभो ज्ञेयमाकारैस्तत्त्वलक्षणम् ।। १५३ ।।

चतुरस्त्र (चौकोर) अर्द्धचन्द्रमाकार, त्रिकोण (तिकोना वर्तुल (गोला), बिंदुओंका आकार नेत्रोंके आगे दीखे तो आकाशतत्त्वका लक्षण जानना ।। १५३ ।।

मध्ये पृथ्वी ह्यधश्चापश्चोर्ध्वं वहति चानलः ।
तिर्यग्वायुप्रवाहश्च नभो वहति संक्रमे ।। १५४ ।।

मध्यमें पृथिवी और नीचे जल और ऊपर अग्नि और तिरछा वायुका प्र वाह होता है दो स्वरोंका संक्रम चलता हो तो आकाश तत्त्वका चलना जानना ।। १५४ ।।

आपः श्वेताः क्षितिः पीता रक्तवर्णो हुताशनः ।
मारुतो नीलजीमूत आकाशः सर्ववर्णकः ।। १५५ ।।

जलोंका श्वेतवर्ण, पृथिवीका पीत, अग्निका रक्त और पवनका नील मेघवर्ण आकाश सब वर्णरूप होता है ।। १५५ ।।

अथ स्थानपरत्वसे तत्त्वज्ञान

स्कन्धद्वये स्थितो वह्निर्नाभिमूले प्रभञ्जनः ।
जानुदेशे क्षितिस्तोयं पादान्ते मस्तके नभः ।। १५६ ।।

दोनों कन्धोंपर अग्नि, नाभिके मूलमें पवन, जानुदेश (गोडे) में पृथिवी, पाद (चरण) के अन्तमें जल और मस्तकमें आकाश तत्त्व स्थित रहता है ।। १५६ ।।

अथ स्वादसे तत्त्वज्ञानप्रकार

माहेयं मधुरं स्वादे कषायं जलमेव च ।
तीक्ष्णं तेजः समीरोऽम्ल आकाशं कटुकं तथा ।। १५७ ।।

पृथिवीका स्वाद मीठा, जलका खारा, तेजका तीखा, पवनका अम्ल और आकाशका कटु (कडुआ) होता है ।। १५७ ।।

अथ गतिसे तत्त्वज्ञान

अष्टांगुलं वहेद्वायुरनिलश्चतुरंगुलम् ।
द्वादशांगुलं माहेयं वारुणं षोडशांगुलम् ।। १५८ ।।

वायुका स्वर आठ अंगुल, पवनका चार अंगुल पृथिवीका स्वर बारह अंगुल और जलका स्वर सोलह अंगुल चलता है ।। १५८ ।।

ऊर्ध्वे मृत्युरधः शान्तिस्तिर्यगुच्चाटनं तथा ।
मध्ये स्तम्भं विजानीयान्नभः सर्वत्रमध्यमम् ।। १५९ ।।

ऊर्ध्व स्वर चले तो मृत्यु और नीचा स्वर चले तो शांति, तिरछा चले तो उच्चाटन, मध्यका स्वर चले तो स्तंभ (रोकना) ये काम करे और आकाश तत्त्व सब कार्योंमे मध्यम जानना ।। १५९ ।।

पृथिव्यां स्थिरकर्माणि चरकर्माणि वारुणे ।
तेजसि क्रूरकर्माणि मारणोच्चाटनेऽनिले ।। १६० ।।

पृथिवी में स्थिर कार्य और जलमें चर कार्य और तेजमें क्रूर कार्य और मारुत (पवन) में मारण और उच्चाटन करनेसे सिद्ध होते हैं ।। १६० ।।

व्योम्नि किंचिन्न कर्तव्यमभ्यसेद्योगसेवनम् ।
शून्यता सर्वकार्येषु नात्र कार्या विचारणा ॥ १६१ ॥

आकाशमें कुछ काम न करे किन्तु योगके सेवनका अभ्यास करे और उसमें सब काम शून्य होते हैं इसमें विचार न करना ॥ १६१ ॥

पृथ्वीजलाभ्यांसिद्धिः स्यान्मृत्युर्वह्नौ क्षयोऽनिले ।
नभसो निष्फलं सर्वं ज्ञातव्यं तत्त्ववादिभिः ॥ १६२ ॥

पृथ्वी और जल तत्त्वसे सिद्धि, वह्नि तत्त्वसे मृत्यु और पवनमें क्षय (नाश) और आकाश तत्त्वसे सब काम निष्फल तत्त्व वादियोंको जानने चाहिये ॥ १६२ ॥

चिरलाभः क्षितेर्ज्ञेयस्तत्क्षणे तोयतत्त्वतः ।
हानिःस्याद्वह्निवाताभ्यांनभसोनिष्फलंभवेत् ॥ १६३ ॥

पृथ्वी तत्त्वसे अधिक लाभ हो जल तत्त्वसे तत्क्षण लाभ हो, वायु और अग्नि तत्त्वसे हानि, तथा आकाश तत्त्वसे निष्फल जानना ॥ १६३ ॥

पीतः शनैर्मध्यवाही हनुर्यावद्गुरुध्वनिः ।
कवोष्णः पार्थिवो वायुः स्थिरकार्यप्रसाधकः ॥ १६४ ॥

पीतवर्ण और शनैःशनैः वा मध्यम चलने वाला और हनु (ठोडी पर्यंत जिसका शब्द गुरु (भारी) हो और जो किं चित् उष्ण हो ऐसे पृथ्वी संबंधीवायु (स्वर) को स्थित कार्योंका साधक कहते हैं ॥ १६४ ॥

अधोवाही गुरुध्वानः शीघ्रगः शीतलः स्थितः ।
यः षोडशांगुलोवायुः सआपः शुभकर्मकृत् ॥ १६५ ॥

जो नीचेको वहे और उसकी ध्वनि गुरु हो, जो शीघ्र चले और उसकी

स्थिति शीतल हो और जो सोलह अंगुल हो ऐसे स्वर जलका होता है उसमें शुभ काम करने ।। १६५ ।।

आवर्त्तगश्चत्युष्णश्च शोणाभश्चतुरंगुलः ।
ऊर्ध्वं वाही च यः क्रूरः कर्मकारी स तैजसः ।। १६६ ।।

जो आवर्त (भौंरा) तक चले, अत्यंत उष्ण हो और लाल हो और चार अंगुल हो और ऊपरको चले वह स्वर तेजका है उसमें कूर कर्म करने ।। १६६ ।।

उष्णः शीतः कृष्णवर्णस्तिर्यग्गाम्यष्टकांगुलः ।
वायुः पवनसंज्ञस्तु चरकर्मप्रसाधकः ।।१६७ ।।

जो शीतोष्ण हो, कृष्णवर्णहो और तिरछा चले और आठ अंगुलका हो वह वायु (स्वर) पवनका है उसमें चर काम सिद्ध होते हैं ।। १६७ ।।

यः समीरः समरसः सर्वतत्त्वगुणावहः ।
अम्बरंतंविजानीयाद्योगीनां योगदायकम् ।। १६८ ।।

जो पवन (स्वर) एकरस और सब तत्त्वोंके गुणोंको बहे उस स्वरको आकाशका जाने और वही स्वर योगियोंको योगदाता होता है ।। १६८ ।।

पीतवर्णं चतुष्कोणं मधुरं मध्यमाश्रितम् ।
भोगदं पार्थिवं तत्त्वं प्रवाहे द्वादशांगुलम् ।। १६९ ।।

जिसका वर्ण पीत हो, चौकोरा हो और मधुर हो और मध्यमें बहे और जिसका बारह अंगुलका प्रवाह हो वह पृथिवीतत्त्व होता है और भोगका दाता होता है ।। १६९ ।।

श्वेतमर्धेन्दुसंकाशं स्वादुकाषायमार्द्रकम् ।
लाभकृद्वारुणं तत्त्वं प्रवाहे षोडशांगुलम् ।। १७० ।।

जिसका वर्ण श्वेत हो, अर्धचन्द्राकार हो, स्वादु हो, कसेला आर्द्र

(गीला) हो और सोलह अंगुलका जिसके प्रवाहका प्रमाण हो वह जलतत्त्व होता है और लाभको देता है ।। १७० ।।

रक्तं त्रिकोणं तीक्ष्णं च ऊर्ध्वभागप्रवाहकम् ।
दीप्तं च तैजसं तत्त्वं प्रवाहे चतुरंगुलम् ।। १७१ ।।

जिसका रंग रक्त हो और जो तिकोना हो और तीक्ष्ण हो और जिसका प्रवाह ऊपरको हो और जो प्रकाशमान हो और जिसका प्रमाण चार अंगुलका हो वह तत्त्व तेज सम्बंधी जानना ।। १७१ ।।

नीलं च वर्तुलाकारं स्वाद्वम्लं तिर्यगाश्रितम् ।
चपलं मारुतं तत्त्वं प्रवाहेष्टांगुलं स्मृतम् ।। १७२ ।।

जो नीला.गोल,स्वादमें खट्टा हो और तिरछा चलता है और जो चल हो और जिसका प्रवाह आठ अंगुलों का हो वह तत्त्व पवनसंबंधी जानना ।। १७२ ।।

वर्णाकारे स्वादवाहे अव्यक्त सर्वगामिनाम् ।
मोक्षदं नाभसं तत्त्वं सर्वकार्येषु निष्फलम् ।। १७३ ।

वर्ण आकार स्वाद प्रवाहमें जिसकी गति अव्यक्त हो अर्थात् जिसमें सबका हेलमेल पाया जाय उसे आकाशसम्बन्धी तत्त्व जानना और सब कार्यों में निष्फल होता है ।। १७३ ।।

पृथ्वी जले शुभे तत्त्वे तेजो मिश्रफलोदयम् ।
हानिमृत्युकरौ पुंसामशुभौ व्योममारुतौ ।। १७४ ।।

पृथ्वीतत्त्व और जलतत्त्व शुभ होते हैं और तेजके तत्त्वमें मिश्र (मध्यम) फल होता है और आकाश और वायुतत्त्वमें हानि व मृत्यु आदि अशुभ फल होते हैं ।। १७४ ।।

आपूर्वपश्चिमं पृथ्वी तेजश्च दक्षिणे तथा ।
वायु श्चोत्तरदिग्ज्ञेयो मध्यं कोणगतं नभः ।। १७५ ।।

पूर्वसे लेकर पश्चिम पर्यंत पृथ्वीतत्त्व और उत्तर दिशामें वायुतत्त्व और मध्यकी दिशामें आकाशतत्त्व जानना ॥ १७५ ॥

चन्द्रे पृथ्वीजले स्यातां सूर्येऽग्निर्वा यदा भवेत् ।
तदा सिद्धिर्नसन्देहः सौम्यासौम्येषुकर्मसु ॥ १७६ ॥

चन्द्रमाके स्वरमें पृथ्वी और जलतत्त्व और सूर्यके स्वरमें अग्नितत्त्व जिस समय हो उस समयमें अच्छे और बुरे कर्मोंकी सिद्धि होती है इसमें संदेह नहीं है ॥ १७६ ॥

लाभः पृथ्वीकृतोह्नि स्यान्निशायां लाभकृज्जलम् ।
वह्नौ मृत्युः क्षयोवायुर्नभः स्थानन्दहेत्क्वचित् ॥ १७७ ॥

दिनमें पृथिवी तत्त्वसे और रात्रिमें जलतत्त्वसे लाभ होता है और अग्नितत्त्वसे मृत्यु और वायुतत्त्वसे नाश और आकाशतत्त्वसे दाह भी कभी कभी हो जाता है ॥ १७७ ॥

जीवितव्ये जये लाभे कृष्यां च धनकर्मणि ।
मन्त्रार्थे युद्धप्रश्ने च गमनागमने तथा ॥ १७८ ॥

जीवन, जय, लाभ, कृषि, धनका कर्म, मन्त्रका कार्य और युद्धका कर्म, प्रश्न, गमन और आगमन इनमें पृथ्वीतत्त्व श्रेष्ठ होता है ॥ १७८ ॥

आयाति वारुणे तत्त्वे शत्रुरस्ति शुभः क्षितौ ।
प्रयातिवायुतोऽन्यत्र हानिमृत्यू नभोऽनले ॥ १७९ ॥

यदि जलका तत्त्व हो तो शत्रुका आगमन समझना और पृथ्वीतत्त्वमें शुभ होता है और वायुतत्त्व हो तो शत्रु अन्य स्थानमें चला जायगा और आकाश व अग्नितत्त्व हो तो शत्रुकी हानि व मृत्यु होगी ॥ १७९ ॥

पृथिव्यां मूलचिन्ता स्याज्जवस्य जलवातयोः ।
तेजसाधातुचिंतास्याच्छून्यमाकाशतोवदेत् ॥ १८० ॥

यदि किसीके पूछनेके समय पृथ्वीतत्त्व हो तो मूल (वृक्ष आदि) की चिंता और जल व वायु तत्त्व में जीव की चिंता और तेज के तत्त्वमें धातुचिंता समझनी और आकाश तत्त्व में शून्य कहे अर्थात् कोई भी चिंता न कहे ।। १८० ।।

पृथिव्यां बहुपादाः स्युर्द्विपदस्तोयवायुतः ।
तेजस्येव चतुष्पादौ नभसा पादवर्जितः ।। १८१ ।।

पृथ्वीतत्त्व हो तो बहुत पादोंसे गमन होता है अर्थात् बहुतों के संग गमन करेगा और जल और वायु तत्त्व हो तो दो पादोंसे (अकेला) गमन करे और तेजतत्त्व हो तो चार पादोंसे (दो-मनुष्योंसे गमन करेगा और आकाशतत्त्व हो तो पादोंसे रहित कहे अर्थात् कहीं भी न जायगा ऐसे कहे ।। १८१ ।।

कुजो वह्नी रविः पृथ्वी सौरिरापः प्रकीर्तितः ।
वायुस्थानस्थितौ राहुर्दक्षरन्ध्रप्रवावह ।। १८२ ।।

अग्नितत्त्वमें मंगल, पृथ्वीतत्त्वमें सूर्य और जलतत्त्वमें शनैश्चर और वायु तत्त्वमें राहु तब जानना यदि दक्षिण स्वर चलता हो ।। १८२ ।।

जलं चन्द्रो बुधः पृथ्वीगुरुर्वातः सितोऽनल ।
वामनाड्यांस्थिताः सर्वेसर्वकार्येषुनिश्चिताः ।। १८३ ।।

यदि वामस्वर बहता हो तो जल तत्त्वमें चन्द्रमा, पृथ्वीतत्त्वमें बुधपवन तत्त्वमें बृहस्पति और अग्नितत्त्वमें शुक्र जानना, ये संपूर्ण ग्रह सर्व कार्योंमें इन पूर्वोक्त तत्त्वोंमें निश्चयसे स्थित रहते हैं ।। १८३ ।।

पृथ्वी बुधो जलादिन्दुः शुक्रो वह्नी रविः कुजः ।
वायू राहुशनी व्योम गुरुरेवं प्रकीर्तितः ।। १८४ ।।

पृथ्वीतत्त्वमें बुध, जलतत्त्वमें चन्द्रमा और अग्नितत्त्वमें सूर्य, मंगल और वायुतत्त्वमें राहु और शनैश्चर, आकाशतत्त्वमें बृहस्पति कहा है ।। १८४ ।।

प्रवासप्रश्न आदित्ये यदि राहुर्गतोऽनिले ।
तदासौ चलितो ज्ञेयः स्थानान्तरमपेक्षते ।। १८५ ।।

यदि कोई मनुष्य परदेशमें गये हुएका प्रश्न करे और उस समय सूर्यके स्वरमें राहु स्थित हो तो यह कहे कि वह परदेशी अन्यत्र जानेके लिये उस स्थानसे चल दिया ।। १८५ ।।

आयाति वारुणे तत्त्वे तत्रैवास्ति शुभः क्षितौ ।
प्रवासी पवनेऽन्यत्र मृत्युरेवानले भवेत् ।। १८६ ।।

यदि प्रश्न करनेके समय जलतत्त्व बहता हो तो परदेशीके आगमनको कहे और पृथ्वीतत्त्व हो तो परदेशी जहां गया हो वहां ही सुखी है ऐसे कहे और वायु तत्त्व हो तो अन्य स्थान में चला गया ऐसे कहे और अग्नितत्त्व हो तो परदेशी मर गया ऐसे कहे ।। १८६ ।।

पार्थिवे मूलविज्ञानं शुभं कार्यं जले तथा ।
आग्नेयेधातुविज्ञानंव्योम्निशून्यंविनिर्दिशेत् ।। १८७ ।।

पृथ्वीतत्त्वमें मूल (वृक्ष आदि) का जानना और जलतत्त्वमें शुभकार्य, अग्नितत्त्वमें धातुओंका ज्ञान और आकाशतत्त्वमें शून्यताको कहे अर्थात् किसीके ज्ञानको न कहे ।। १८७ ।।

तुष्टिः पुष्टि रतिः क्रीडा जयहर्षौ धराजले ।
तेजोवाय्वोश्च सुप्ताक्षोज्वरकम्पः प्रवासिनः ।। १८८ ।।

यदि परदेशी के प्रश्नके समयमें पृथ्वी व जलतत्त्व हो तो संतोष पुष्टता, प्रीति, रति, क्रीडा, जय और हर्ष (आनन्द) और यदि तेज व वायुतत्त्व हो तो सोना व ज्वरसे कंप परदेशी को कहा है ।। १८८ ।।

गतायुर्मृत्युराकाशो तत्त्वस्थाने प्रकीर्तिता ।
द्वादशैताः प्रयत्नेन ज्ञातव्या देशिकैः सदा ।। १८९ ।।

यदि आकाशतत्त्व हो तो अवस्थासे रहित परदेशीकी मृत्युको कहे, ये बारह प्रश्न तत्त्वोंके स्थानमें कहे हैं, इनको पंडितजन बडे यत्नसे सदैव जाने ॥ १८९ ॥

पूर्वायां पश्चिमे याम्ये उत्तरस्यां यथाक्रमम् ।
पृथिव्यादीनि भूतानि बलिष्ठानिर्विनिर्दिशेत् ॥ १९० ॥

पूर्व, पश्चिम, और दक्षिण उत्तर इन चारों दिशाओंमें क्रमसे पृथ्वी जल तेज और वायु चारों तत्त्व बलवान् कहे ॥ १९० ॥

पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ।
पञ्चभूतात्मको देहो ज्ञातव्यश्च वरानने ॥ १९१ ॥

हे पार्वती ! पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पांचों भूतरूप ही यह देह जानना अर्थात् इन पांच भूतोंसे ही पैदा होता है ॥ १९१ ॥

अस्थि मांसं त्वचा नाडी रोमं चैव तु पञ्चमम् ।
पृथ्वी पञ्चगुणा प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भाषिम् ॥ १९२ ॥

और इस देहमें अस्थि (हाड), मांस, त्वचा; नाडी और पांचवां रोम ये पांच गुण पृथ्वीके हैं यह बात वेदांतशास्त्रके ज्ञाता ब्रह्मज्ञानी कहते हैं ॥ १९२ ॥

शुक्रशोणितमज्जा च मूत्रं लाला च पञ्चमम् ।
आपः पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भाषितम् ॥ १९३ ॥

ब्रह्मज्ञानी कहते हैं कि वीर्य, रुधिर, मज्जा, मूत्र और पांचवी लाला ये पांच गुण जलोंके कहते हैं ॥ १९३ ॥

क्षुधा तृषा तथानिद्रा कांतिरालस्यमेव च ।
तेजः पञ्चगुणं प्रोक्तं ब्रह्मज्ञानेन भाषितम् ॥ १९४ ॥

ब्रह्मज्ञानियोंका कथन है कि क्षुधा, तृषा, निद्रा कांति और आलस्य ये पांच गुण तेजके कहे हैं ।। १९४ ।।

धावनं चलनं ग्रन्थः संकोचनप्रसारणे ।
वायोः पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भाषितम् ।।१९५।।

और वेदांती कहते हैं कि दौडना, चलना, गांठ देना सकोडना व पसारना ये पांच गुण वायुके कहे हैं ।। १९५ ।।

रागद्वेषौ तथा लज्जा भयं मोहश्च पञ्चमः ।
नभः पञ्चगुणं प्रोक्तं ब्रह्मज्ञानेन भाषितम् ।। १९६ ।।

और वेदान्तशास्त्रके जाननेवालोंका कथन है कि प्रीति, वैर लज्जा, भय और मोह ये पांच गुण आकाशके इस देहमें होते हैं ।। १९६ ।।

पृथ्व्याः पलानि पञ्चाशच्चत्वारिंशत्तथाम्भसः ।
अग्नेस्त्रिशत्पुनर्वायोर्विंशतिर्नभसो दश ।। १९७ ।।

इस देहमें पृथ्वी ५० पचास पल, जल ४० चालीस पल, अग्नि ३७ सैंतीस पल, वायु २० बीस पल और आकाश १० दस पल होते हैं अर्थात् पृथ्वी आदि तत्त्वोंमे अगला २ तत्त्व क्रमसे दश पल कम होता है ।। १९७ ।।

पृथिव्यां चिरकालेन लाभश्चापः क्षणाद्भवेत् ।
जायते पवने स्वल्पः सिद्धोऽप्यग्नौ विनश्यति ।। १९८ ।।

पृथ्वीतत्त्व हो तो चिरकाल (वहुत दिनों) में लाभ और जलतत्त्व हो तो उसी क्षणमें और पवनतत्त्व हो तो थोडा लाभ होता है और अग्नितत्त्व हो तो सिद्ध हुआ भी कार्य नष्ट हो जाता है ।। १९८ ।।

पथ्व्या पञ्च ह्यपां वेदा गुणास्तेजो द्विवायुतः ।
नभस्येक गुणश्चैव तत्त्वज्ञानमिदं भवेत् ।। १९९ ।।

पृथ्वीके पांच गुण, जलोंके चार गुण, तेजके तीन गुण, वायुके दो गुण और आकाशका एक गुण जानना यही तत्त्वोंका ज्ञान होता है ॥ १९९ ॥

फूत्कारकृत्प्रस्फुटिता विदीर्णा पतिता धरा ।
ददाति सर्वकार्येषु अवस्थासदृशं फलम् ॥ २०० ॥

फूत्कारत्करनेवाली, फूटी हुई और फूटी हुई और वृथा पड़ी हुई वह पृथ्वी सब कार्योंमें अपनी अवस्थाके समान फल, देती है ॥ २०० ॥

धनिष्ठा रोहिणी ज्येष्ठाऽनुराधा श्रवणं तथा ।
अभिजिदुत्तराषाढापृथ्वीतत्त्वमुदाहृतम् ॥ २०१ ॥

धनिष्ठा, रोहिणी, ज्येष्ठा, अनुराधा, श्रवण, अभिजित् और उत्तरा-षाडा ये सात नक्षत्र पृथ्वीतत्त्व कहे हैं ॥ २०१ ॥

पूर्वाषाढा तथाऽऽश्लेषा मूलमार्द्रा च रेवती ।
उत्तराभाद्रपदा तोयतत्त्वं शत्भिषक् प्रिये ॥ २०२

पूर्वाषाढा, आश्लेषा, मूल, आर्द्रा, रेवती, उत्तराभाद्रपदा और शतभिषा ये सात नक्षत्र जलतत्त्व कहे हैं ॥ २०२ ॥

भरणी कृतिका पुष्यो मघा पूर्वा च फाल्गुनी ।
पूर्वाभाद्रपदा स्वाती तेजस्वत्त्वमिति प्रिये ॥ २०३ ॥

भरणी, कृतिका, पुष्य, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाभाद्रपदा और स्वाती ये सात नक्षत्र तेजतत्त्व हैं ॥ २०३ ॥

विशाखोत्तरफाल्गुन्यौ हस्तचित्रे पुनर्वसुः ।
अश्विनीमृगशीर्षे च वायुतत्त्वमुदाहृतम् ॥ २०४ ॥

विशाखा, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, पुनर्वसु, अश्विनी और मृगशिर ये सात नक्षत्र वायुतत्त्व कहे हैं ॥ २०४ ॥

वहन्नाडीस्थितो दूतो यत्पृच्छति शुभाशुभम् ।
तत्सर्वं सिद्धिमाप्नोति शून्ये शून्यं न संशयः ।। २०५ ।।

वहती हुई नाडीकी तरफ बैठा हुआ जो दूत शुभ वा अशुभ पूछे वह सब सिद्ध होता है और शून्य में पूछे तो शून्य होता है इसमें संदेह नही है ।। २०५ ।।

पूर्णोऽपि निर्गमश्वासे सुतत्त्वेऽपि न सिद्धिदः
सूर्यश्चन्द्रोऽथवा नृणां संग्रहे सर्वसिद्धिदः ।। २०६ ।।

पूर्ण भी सूर्यतत्त्व अथवा चन्द्रतत्त्व श्वासमें बहता हो तो सिद्धिका दात' नहीं होता यदि दोनों तत्त्वोंका संग्रह (मेल) हो तो संपूर्ण सिद्धियोंको देता है ।। २०६ ।।

तत्त्वे रामो जयं प्राप्तः सुत्त्वे च धनंजयः ।
कौरवा निहताः सर्वे युद्धे तत्त्वविपर्ययात् ।। २०७ ।।

श्रेष्ठतत्त्वमें ही रामचन्द्रकी जय हुई और श्रेष्ठ तत्त्वमें ही अर्जुनकी और तत्त्वोंके विपरीत होनेसे सपूर्ण कौरव युद्धमे मारे गये ।। २०७ ।।

जन्मान्तरीयसंस्कारात्प्रसादादथवा गुरोः ।
केषांचिज्जायते तत्त्ववासना विमलात्मनाम् ।। २०८ ।।

जन्मान्तरके संस्कारसे अथवा गुरुके प्रसादसे किन्हीं निर्मल आत्माओं को तत्त्वोंकी वासना (ज्ञान) होती है ।। २०८ ।।

लंबीजे धरणीं ध्यायेच्चतुरस्त्रां सुपीतभाम् ।
सुगन्धां स्वर्णवर्णाभां प्राप्नुयाद्देहलाघवम् ।।२०९ ।।

(लं) यह बीज पृथ्वी तत्त्वोंमें चतुरस्र (चौकोर) सुवर्णके समान प्रकाशमान पीतवर्ण, सुगन्ध ध्यान करना और ध्यानका करनेवाला कांति व देहके लाघवको प्राप्त होता है ।। २०९ ।।

वंबीजं वारुणं ध्यायेत्तत्त्वमर्द्धशशि प्रभम् ।
क्षुत्तृष्णादिसहिष्णुत्वंजलमध्ये च मज्जनम् ।। २१० ।।

(वं) यह बीज जलतत्त्वमें ध्यान करने योग्य है और अर्द्धचन्द्रके समान इसका आकार है, इसके ध्यान करनेवालेको क्षुधा और तृषाकी बाधा नहीं होती और जलमें डूबनेकी सामर्थ्य होती है अर्थात् डूबनेसे दुःख नहीं होता है ।।२१०।।

रंबीजमग्निजं ध्यायेत्त्रिकोणमरुणप्रभम् ।
बह्वन्नपानभोक्तृत्वमातपाग्निसहिष्णुता ।। २११ ।।

(रं) यह बीज अग्नितत्त्वमें तिकोना रक्त वर्णन ध्यान करने योग्य है, इसके ध्यान करनेवालेको बहुत अन्नपान भक्षण करनेकी सामर्थ्य होती है और धूप और अग्निके वेगको सह सकता है ।। २११ ।।

यंबीजं पावनं ध्यायेद्वर्तुलं श्यामलप्रभम् ।
आकाशगमनाद्यं च पक्षिवद्गमनं तथा ।। २१२ ।।

(यं) यह बीज पवनतत्त्वमें ध्यान करने योय और वर्तुल (गोल) और श्यामरंग होता है । इसका ध्यान करनेवाला आकाशमें गमन और पक्षियों के समान गमन कर सकता है ।। २१२ ।।

हंबीजं गगनं ध्यायेन्निराकारं बहुप्रभम् ।
ज्ञानं त्रिकालविषयमैश्वर्यमणिमादिकम् ।। २१३ ।।

(हं) यह बीज आकाशतत्त्वमें ध्यान करने योग्यं है, जो निराकार और अधिक कांतिवाला है, इसके ध्यान करनेवालेको त्रिकाल (भूत भविष्यत् वर्तमान) का ज्ञान और अणिमा आदि सिद्धि होती हैं ।। २१३ ।।

स्वरज्ञानी नरो यत्रधनं नास्ति ततः परम् ।
गम्यते स्वरज्ञानेन ह्यनायासं फलं भवेत् ।। २१४ ।।

जिस स्थानमें स्वरका ज्ञानी हो उससे परे और कोई धन नहीं

है, जो मनुष्य स्वरके ज्ञानसे गमन करता है उसको अनायास (विना परिश्रम) से फल मिलता है ।। २१४ ।।

श्रीदेव्युवाच

देवदेव महादेव महाज्ञानं स्वरोदयम् ।
त्रिकालविषयंचैव कथं भवति शंकर ।। २१५ ।।

पार्वती बोली–कि, हे देवताओंके देव महादेव ! हे शंकर ! यह महान् (बडा) स्वरोदयका त्रिकाल (भूत भविष्यत् वर्तमान) विषयक ज्ञान किस प्रकार होता है ।। २१५ ।।

ईश्वर उवाच

अर्थकालजयप्रश्न शुभाशुभमिति त्रिधा ।
एतत्त्रिकालविज्ञानं नान्यद्भवति सुंदरि ।। २१६ ।।

महादेव बोले–कि हे सुन्दरी ! अर्थ (प्रयोजन वा धन) भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालोंका जयप्रश्न शुभ अशुभ (पराजय आदि) का जो तीनों कालोंमें ज्ञान है उसका कारण स्वरोदय है अन्य नहीं ।। २१६ ।।

तत्त्वे शुभाशुभं कार्यं तत्त्वे जयपराजयौ ।
तत्त्वे सुभिक्षदुर्भिक्षे तत्त्वं त्रिपदमुच्यते ।। २१७ ।।

तत्त्वके ही अधीन शुभ अशुभ कार्य है और तत्त्वके अधीन जय और पराजय है तथा तत्त्वोंके ही अधीन सुभिक्ष और दुर्भिक्ष है इस प्रकार तत्त्वको ही त्रिपाद (तिनों कालोके कार्योका कर्ता) कहते है ।। २१७ ।।

श्रीदेव्युवाच

देव–देव महादेव सर्व--संसारसागरे ।
किं नराणां परं मित्रं सर्वकार्यार्थसाधकम् ।। २१८ ।।

पार्वती बोलीं :—कि हे देवताओंके देव महादेव ! इस संपूर्ण संसार समुद्रमें मनुष्योंका परम मित्र और मनुष्योंके सब कार्योंका साधन क्या है सो कहो ।। २१८ ।।

ईश्वर उवाच

प्राण एव परं मित्रं प्राण एव परः सखा ।
प्राणतुल्यः परो बन्धुर्नास्ति नास्ति वरानने ।। २१९ ।।

महादेव बोले–कि हे सुन्दरमुखी पार्वती ! प्राण ही परम मित्र है और सखा है, प्राणके समान अन्य (और) बन्धु नहीं है ।। २१९ ।।

ीदेव्युवाच

कथं प्राणस्थितो वायुर्देहः किं प्राणरूपकः ।
तत्त्वेषु संचरन्प्राणी ज्ञायते योगिभिःकथम् ।। २२० ।।

पार्वती बोलीं–कि प्राणमें वायु किस प्रकार स्थित है और क्या देह प्राणरूप है और तत्त्वोंके विषय विचरते हुए प्राणको योगिजन किस प्रकार जान जाते हैं ।। २२० ।।

श्रीशिव उवाच

कायानगरमध्यस्थो मारुतो रक्षपालकः ।
प्रवेशे दशभिः प्रोक्तो निर्गमे द्वादशांगुलः ।। २२१ ।।

शिवजी बोले–कि हे पार्वती ! इस कायारूपी नगरमें टिका हुआ प्राण-वायु रक्षपाल (चौकीदार) है और वह प्राण प्रवेशके समय दश अंगुल और निकसनेके समय बारह अंगुलका कहा है ।। २२१ ।।

गमने तु चतुर्विंशन्नेत्रवेदास्तु धावने ।
मैथुने पञ्चषष्टिश्च शयने च शतांगुलम् ।। २२२ ।।

और गमनके समय चौबीस २४ अंगुलका और धावन (दौड़ने) के समय बयालीस ४२ अंगुलका और मैथुनके समय पैंसठ ६५ अंगुलका और सोनेके समयमें सौ अंगुलका कहा है ॥ २२२ ॥

प्राणस्य तु गतिर्देवि स्वभावाद्द्वादशांगुला ।
भोजने वमने चैव गतिरष्टादशांगुला ॥ २२३ ॥

और हे देवि ! प्राणकी स्वाभाविक गति बारह अंगुल है और भोजन और वमनके समय प्राणकी गति अठारह १८ अंगुल हो जाती है ॥ २२३ ॥

एकांगुले कृते न्यूने प्राणे निष्कामता मता ।
आनन्दस्तुद्वितीये स्यात्कविशक्ति स्तृतीयके ॥ २२४ ॥

यदि प्राणकी गति एक अंगुल कम योगी कर ले तो निष्कामकी प्राप्ति होती है और दो अंगुल कम कर ले तो आनन्दकी प्राप्ति और तीन अंगुल कम करनेसे कविताकी प्राप्ति होती है ॥ २२४ ॥

वाचासिद्धिश्चतुर्थे च दूरदृष्टिस्तु पञ्चमे ।
षष्ठे त्वाकाशगमनं चंडवेगश्च सप्तमे ॥ २२५ ॥

चार अंगुल कम कर ले तो वाणीकी सिद्धि, पांच अंगुल कम कर ले तो दूरदृष्टि, छः अंगुल कम कर ले तो आकाशगमनमें शक्ति और सात अंगुल कम कर ले तो प्रचण्ड वेग हो जाता है ॥ २२५ ॥

अष्टमे सिद्धियश्चैव नवमे निधयो नव ।
दशमे दशमूर्तीश्च छाया नैकादशे भवेत् ॥ २२६ ॥

आठ अंगुल कम कर ले तो अणिमा आदि सिद्धियोंकी प्राप्ति, नौ अंगुल कम करनेसे नौ निधियोंकी प्राप्ति और दश अंगुल कम करनेसे दशों मूर्तियों (अनेकरूपों) की प्राप्ति और ग्यारह अंगुल कम होनेसे देहकी छायाका अभाव प्राप्त होता है ॥ २२६ ॥

द्वादशे हंसचारश्च गङ्गामृतरसं पिबेत् ।
आनखाग्रं प्राणपूर्णे कस्य भक्ष्यं च भोजनम् ।। २२७ ।।

बारह अंगुल प्राणकी गति कम हो जाय तो हंसगति गङ्गाजलके समान अमृत रसका पान प्राप्त होता है यदि शिखासे लेकर नख पर्यंत प्राणोंको पूर्ण योगी कर ले तो भक्ष्य और भोजन किसको अर्थात् भक्ष्य भोजनकी निवृत्ति हो जाती है ।। २२७ ।।

एवं प्राणविधिः प्रोक्तः सर्वकार्यफलप्रदः ।
जायते गुरुवाक्येन न विद्याशास्त्रकोटिभिः ।। २२८ ।।

इस प्रकार संपूर्ण कार्योंके फल देनेवाली प्राणकी विधि कही है और उसका ज्ञान गुरुके वाक्यसे होता है विद्या और कोटि भी ग्रन्थोंसे नहीं होता ।। २२८ ।।

प्रातश्चंद्रो रविः सायं यदि दैवान्न लभ्यते ।
मध्याह्नान्मध्यरात्राच्च परतस्तु प्रवर्तते ।। २२९ ।।

यदि प्रातःकाल चन्द्रस्वर और सायंकालको सूर्यस्वर दैववश न मिले तो मध्याह्न अथवा आधी रात्रिसे परे प्रवृत्त होते हैं अर्थात् मिलते हैं ।। २२९ ।।

दूरयुद्धे जयी चन्द्रः समासन्ने दिवाकरः ।
वहन्नाडचागतः पादः सर्वसिद्धिप्रदायकः ।। २३० ।।

यदि दूर देशमे युद्ध कर्तव्य हो तो चन्द्रमा का स्वर जयकारी होता है यदि बहती हुई नाड़ीके समय गमनकालमें पैर रखा जाय तो सब सिद्धियोंको देता है ।। २३० ।।

यात्रारम्भे विवाहे च प्रवेशे नगरादिके
शुभकार्याणिसिद्धिध्यन्तिचंद्रवाहेषुसर्वदा ।। २३१ ।।

यात्राके आरम्भमें, विवाह, गृह वा नगरप्रवेश आदि सम्पूर्ण शुभ कर्म चन्द्रस्वरके चारमें सदैव सिद्ध होते हैं ।। २३१ ।।

अयनतिथिदिनेशैः स्वीयतत्त्वे च युक्ते
यदि वहति कदाचिद्दैवयोगेन पुंसाम् ।
स जयति रिपुसैन्यं स्तम्भमात्रस्वरेण
प्रभवति नच विघ्नं केशवस्यापि लोके ।। २३२ ।।

अयन, तिथि. वार इनके स्वामियोंसे युक्त पुरुषोंमें अपना स्वर व तत्त्व दैवयोगसे बहे वह पुरुष शत्रुकी सेनाको स्वरके स्तंभ (रोकना) मात्रसे जीतता है और वैकुण्ठ लोकमें भी उसको विघ्न नहीं होता ।। २३२ ।।

रक्ष जीवं रक्ष जीवं जीवांगे परिधाय च ।।
जीवो जपति यो युद्धे जीवञ्जयति मेदिनीम्,।। २३३ ।।

जीव (अपने) अंगपर वस्त्रोंको पहिनकर जो जीव (जीवं रक्ष जीवं रक्ष) युद्धमें ऐसे जपता है वह पुरुष जीवता हुआ सम्पूर्ण पृथ्वीको जीतता है । ।। २३३ ।।

भूमौ जले च कर्तव्यं गमनं शान्तिकर्मसु
वह्नौ वायो प्रदीप्तेषु खे पुनर्नोभयेष्वपि ।। २३४ ।।

शांतिके कर्मोंमें पृथ्वी या जलतत्त्वमें गमन करे और प्रदीप (उग्र) कर्मोंमें अग्नि और वायुतत्त्वमें गमन करे और आकाशतत्त्वमें पूर्वोक्त दोनों प्रकारके कर्मोंमें गमन न करे ।। २३४ ।।

जीवेन शास्त्रं बध्नीयाज्जीवेनैव विकासयेत् ।
जीवेन प्रक्षिपेच्छस्त्रं युद्धे जयति सर्वदा ।। २३५ ।।

जीव स्वरमें शस्त्रको बांधे अर्थात् जिस तरफका स्वर चले उसी हाथसे

शस्त्रको धारण करे और जीव स्वरसे ही शस्त्रको खोले और जीव स्वरमें ही शस्त्रको फेंके वह मनुष्य युद्धमें सदैव जयको प्राप्त होता है ।। २३५ ।।

आकृष्य प्राणपवनं समारोहेत वाहनम् ।।
समुतरे पदं दद्यात्सर्वकार्याणि साधयेत् ।। २३६ ।।

जो मनुष्य प्राणवायुको खींचकर अश्व आदि सवारीपर चढे और पवनके घोड़ेकी रकाबमें पैर रखे वह सम्पूर्ण कार्योंको सिद्ध करेगा ।। २३६ ।।

अपूर्णे शत्रुसामग्रीं पूर्णे वा स्वबलं तथा ।
कुरुते पूर्णतत्त्वस्थो जयत्येको वसुंधराम् ।। २३७ ।

यदि अपूर्ण स्वरमें शत्रुकी सामग्री और संपूर्ण स्वरमें अपनी सामग्रीका बल हो तो पूर्ण तत्त्वमें इस प्रकार टिका हुआ पुरुष अकेला भी पृथ्वीको जीतता है ।। २३७ ।।

या नाडी वहते चाङ्गे तस्यामेवाधिदेवता
सम्मुखेऽपदिशा तेषां सर्वकार्यफलप्रदा ।। २३८ ।।

अपने अंगमे जो नाडी (स्वर) बहती हो और उसी नाडीमें उस नाडीकी देवता और उसकी दिशा सम्मुख हो तो सब कार्योंका फल देती है ।। २३८ ।।

आदौ तु क्रियते मुद्रा पश्चाद्युद्धं समाचरेत् ।
सर्पमुद्रा कृता येन तस्य सिद्धिर्न संशय ।। २३९ ।।

मनुष्य पहिले मुद्राको करे पश्चात् युद्ध करे, जो मनुष्य सर्पमुद्रा करता है उसकी सिद्धि होती है इसमें संशय नहीं ।। २३९ ।।

चन्द्रप्रवाहेऽप्यथ सूर्यवाहे
भटाः समायान्ति च योद्धुकामाः ।

समीरणस्तत्त्वविदां प्रतीतो
या शून्यता सा प्रतिकार्यनाशम् ।। २४० ।।

चन्द्रस्वरके अथवा सूर्यस्वरके चलनेके समय यदि समीरण (वायु तत्त्व) वहता हो और तत्त्वके ज्ञाताओंको बहता हुआ प्रतीत हो जाय तो युद्ध करनेके लिये भट (योद्धा) भले प्रकार आवेंगे और यदि शून्यता हो अर्थात् वायु व आकाशतत्त्व बहते हों तो कार्यका नाश होता है ।। २४० ।।

यां दिशं वहते वायुर्युद्धं तद्दिशि दापयेत् ।
जयत्येव न संदेहः शक्रोऽपि यदि चाग्रतः ।। २४१ ।।

जिस दिशाका पवनतत्त्व चलता हो उसी दिशामें युद्धके लिये सेनाको भेजें तो चाहे आगे इन्द्र भी हो तो जय होगी, इनमें सन्देह नहीं है ।। २४१ ।।

यत्र नाड्यां वहेद्वायुस्तदंगे प्राणमेव च
आकृष्य गच्छेत्कर्णान्तं जयत्येव पुरन्दरम् ।। २४२ ।।

जिस नाडीका पवनतत्त्व बहता हो उसी नाडीके पवनसे कर्णपर्यंत आकर्षण (खीच) करके गमन करे तो पुरंदर (इन्द्र)को भी जीत सकता है ।। २४२ ।।

प्रतिपक्षप्रहारेभ्यः पूर्णाङ्गं योऽभिरक्षति ।।
न तस्य रिपुभिः शक्तिर्बलिष्ठैरपि हन्यते ।। २४३ ।।

जो योधा प्रतिपक्ष (शत्रु) के प्रहारोंसे अपने संपूर्ण अंगोंकी रक्षा करता है उस योद्धाकी शक्तिको बलवान् शत्रु भी नष्ट नहीं कर सकते।। २४३ ।।

अंगुष्ठतर्जनीवंशे पादांगुष्ठे तथा ध्वनिः ।
युद्धकाले च कर्त्तव्यो लक्षयोद्धुजयो भवेद् ।। २४४ ।।

अंगूठा और तर्जनी अंगुलियोंके वंशमें और और चरणके अँगूठेमें युद्धके समय जो ध्वनि (शब्द) करे तो लक्ष योद्धाओंको जीत सकता है ।। २४४ ।।

निशाकरे रवौ चारे मध्ये यस्य समीरणः ।
स्थितो रक्षेद्दिगन्तानि जयकांक्षीगतः सदा ।। २४५ ।।

चन्द्रमा वा सूर्यके प्रवाहमें यदि वायुतत्त्व बहे तो उस समय गमन करनेवाला दिगंतोंकी रक्षा करता है और सदैव जयको पाता है ।। २४५ ।।

श्वासप्रवेशकाले तु दूतो जल्पति वांछितम् ।।
तस्यार्थः सिद्धिमायाति निर्गमेनैव सुंदरि ।। २४६ ।।

जिस मनुष्यके श्वासके प्रवेश समयमें दूत अपने मुखसे वांछित बातको कहे तो हे सुन्दरि ! गमन करते ही उस मनुष्य का अर्थ सिद्ध होता है ।। २४६ ।

लाभादीन्यपि कार्याणि पृष्टानि कीर्तितानि च ।
जीवेविशतिसिद्धयंतिहानिर्निः सरणे भवेत् ।। २४७ ।।

पूछे और कहे हुए लाभ आदि सम्पूर्ण कार्य जीव नाड़ीके प्रवेश समयम सिद्ध होते हैं और निकसनेके समय में नष्ट होते हैं ।। २४७ ।।

नरे दक्षा स्वकीया च स्त्रियां वामा प्रशस्यते ।
कुम्भकोयुद्धकालेच तिस्रोनाडयस्त्रयीगतिः ।। २४८ ।।

पुरुषोंकी अपनी दक्षिण नाड़ी और स्त्रियोंकी वाम नाडी और युद्धके समयमें कुम्भक नाडी श्रेष्ठ होती है, इस प्रकार तीन नाडी हैं और तीन ही उनकी गति हैं ।। २४८ ।।

हकारस्य सकारस्य विना भेदं स्वरः कथम् ।
सोऽहं हंसपदेनैव जीवो जयति सर्वदा ।। २४९ ।।

हकार और सकारके भेद विना स्वरज्ञान कैसे हो सकता है इससे जीव सोहं और हंस इन दो पदोंसे ही सर्वदा जयको प्राप्त होता है ।। २४९ ।।

शून्यांगं पूरितं कृत्वा जीवांगो गोपयेज्जयम् ।
जीवांगे घातमाप्नोति शून्यांगं रक्षते सदा ।। २५० ।।

शून्य अंगको पूर्ण करके जीवांगकी रक्षा करनेसे जय प्राप्त होता है, क्योंकि ज़ीवांगमें घात (नाश) को प्राप्त होता है और शून्यांग सदैव रक्षा करता है ।। २५० ।।

वामे वा यदि वा दक्षे यदि पृच्छति पृच्छकः ।
पूर्णे घातो न जायेत शून्ये घातं विनिर्दिशेत् ।। २५१ ।।

यदि प्रश्नका कर्ता वाम वा दक्षिणकी तरफ बैठा हुआ युद्धका प्रश्न करे और उस समय पूर्ण स्वर हो तो नाश न होगा और शून्य हो तो घात होगा यह कहे ।। २५१ ।।

भूतत्त्वेनोदरे घातः पदस्थानेऽम्बुना भवेत् ।
ऊरुस्थानेऽग्नित्त्वेन करस्थाने च वायुना ।। २५२ ।।

प्रश्नके समय पृथ्वीतत्त्व उदरमें हो, जलतत्त्व पैरोंमे हो, अग्नितत्त्व जंघाओंमें हो और हाथोमें वायुतत्त्व हो तो घात होगा अर्थात् शस्त्र लगेगा ।। २५२ ।।

शिरसि व्योमतत्त्वे च ज्ञातव्यो घातनिर्णयः ।
एवं पञ्चविधो घातः स्वरशास्त्रे प्रकाशितः ।। २५३ ।।

यदि आकाशतत्त्व बहता हो तो शिरमें घावका निर्णय जानना इस प्रकार स्वरशास्त्रमें पांच प्रकारका घाव प्रकाशित किया है ।। २५३ ।।

युद्धकाले यदा चन्द्रः स्थायी जयति निश्चितम् ।
यदा सूर्यप्रवाहस्तु यायी विजयते तदा ।। २५४ ।।

जब युद्धके समयमें चंद्रमाका स्वर चलता हो तो स्थायी (जिसपर चढाई की जाय) को निश्चयसे जय होगी और जो सूर्यके स्वरका प्रवाह हो तो यायी (चढ़नेवाले) की जय हो ।। २५४ ।।

जयमध्ये तु संदेहे नाडीमध्यं तु लक्षयेत् ।
सुषुम्नायां गते प्राणे समरे शत्रुसंकटः ।। २५५ ।।

जो जयके मध्यमें संदेह हो तो नाडीके मध्यमें देखे, यदि प्राणवायु सुषुम्ना नाडीमें चलना हो तो संग्राममें शत्रुको संकट हो ।। २५५ ।।

यस्या नाड्या भवेच्चारस्तां दिशं युधि संश्रयेत् ।
तदाऽसोजयमाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ।। २५६ ।।

जिस नाडीका चार (चलना) हो युद्धके समयमें उसी दिशामें खड़ा हो अर्थात् चन्द्रनाडीमें पूर्व अथवा उत्तरमें, सूर्य नाडीमें दक्षिण अथवा पश्चिम इस प्रकार वह युद्ध करनेवाला जयको प्राप्त होता है, इसमें कुछ विचार नहीं करना ।। २५६ ।।

यदि संग्रामकाले तु वामनाडी सदा वहेत् ।
स्थायिनोविजयं विद्याद्रिपुवश्योदयोऽपिच ।। २५७ ।।

यदि संग्रामके समय वाम नाडी बहती हो तो स्थायीका विजय जान और शत्रुके वशमें यायीका होना समझे ।। २५७ ।।

यदि संग्रामकाले तु सूर्यस्त व्यावृतो वहेत्
तदा यायिजयं विद्यात्सदेवासुर मानवे ।। २५८ ।।

जो संग्रामके समय सूर्यका स्वर लगातार बहता हो तो उस समय देवता राक्षस मनुष्यके युद्धमें यायीका जयको जानना ।। २५८ ।।

रणे हरति शत्रुस्तं वामायां प्रविशेन्नरः ।
स्थानं विषुवचारेण जयः सूर्येण धावता ।। २५९ ।।

जो मनुष्य वामनाडीके प्रचारमें युद्धमें प्रवेश करता है उसको संग्राममें शत्रु हर लेते हैं । और सुषुम्ना नाडीके बहते जो गमन करे उसको स्थान मिलता है अर्थात् युद्ध नहीं होता ! सूर्यस्वरके बहते गमन करे तो जयको प्राप्त होता है ।। २५९ ।।

युद्धद्वये कृते प्रश्ने पूर्णस्य प्रथमे जयः ।
रिक्ते चैवद्वितीयस्तु जयी भवति नान्यथा ।। २६० ।।

यदि एक समय युद्ध विषयकप्रश्न दो हों तो उस समय पूर्ण स्वर बहता हो तो प्रथमका जय और रिक्त स्वर बहता हो तो दूसरेका जय, अन्यथा नहीं ।। २६० ।।

पूर्णनाड़ीगतः पृष्ठे शून्यांगं च तदाग्रतः ।
शून्यस्थाने कृतः शत्रुर्म्रियते नात्र संशयः ।। २६१ ।।

यदि पूर्ब नाडीमें गया हो तो शत्रु पीठपर आवे अर्थात् शत्रु पीठ देकर भाग जांय, शून्य नाडीका अङ्ग हो तो शत्रु आगे आवे और शून्य स्थानमें किया हुआ शत्रु मरणको प्राप्त होता है इसमें संशय नहीं ।। २६१ ।।

वामचारे समं नाम यस्य तस्य जयो भवेत् ।
पृच्छको दक्षिणे भागे विजयी विषमाक्षरः ।। २६२ ।।

यदि कोई वाम भागमें बैठकर प्रश्न करे तो उसके प्रश्नके वा जिस बात को पूछे उसके समाक्षर हों तो उसका जय और विषम अक्षरवालेका पराजय होता है । यदि दक्षिण भागमें बैठकर प्रश्न करे तो विषम अक्षर वालेका जय और सम अक्षरवालेका पराजय हो ।। २६२ ।।

यदा पृच्छति चन्द्रस्य तदा सन्धानमादिशेत् ।
पृच्छेद्यदा तु सूर्यस्य तदा जानीहि विग्रहम् ।। २६३ ।।

यदि पूछनेके समयमें चन्द्रमाका स्वर चले तो संन्धि (मिलाप) को कहे, यदि सूर्यके स्वरमें प्रश्न करे तो उस समय विग्रह(लड़ाई) को जाने ।। २६३ ।।

पार्थिवे च समंयुद्धं सिद्धिर्भवति वारुणे ।
युद्धे हि तैजसो भंगो मृत्युर्वायौ नभस्यपि ।। २६४ ।।

यदि पृथ्वीतत्त्वमें युद्धका आरम्भ हो तो युद्धमें वरावरी, जलके तत्त्वमें जयकी प्राप्ति, तेजके तत्त्वमें भङ्ग (नाश) वायु और आकाशतत्त्वमें मृत्यु होती है ।। २६४ ।।

निमित्तकप्रमादाद्वा यदा न ज्ञायतेऽनिलः ।
पृच्छाकाले तदा कुर्यादिदं यत्नेनबुद्धिमान् ।। २६५ ।।

यदि किसी निमित्तसे अथवा प्रमादसे प्रश्नके समयमें दक्षिण या उत्तर स्वरका ज्ञान न हो तब बुद्धिमान् मनुष्य यत्नसे यह करे कि ।। २६५ ।।

निश्चलां धारणां कृत्वा पुष्पं हस्तान्निपातयेत् ।
पूर्णाङ्गे पुष्पपतनं शून्यं वा तत्परं भवेत् ।। २६६ ।।

निश्चल धारणा करके अपने हाथसे पुष्पको पृथ्वीपर गेरे, जो अग्रभागमें पुष्प पडे तो पूर्ण फल और दूर पडे तो शून्य फल जानना ।। २६६ ।।

तिष्ठन्नुपविशंश्चापि प्राणमाकर्षयन्निजम् ।
मनोभङ्गमकुर्वाणः सर्वकार्येषु जीवति ।। २६७ ।।

जो मनुष्य खड़ा होता और बैठता हुआ अपनी प्राणवायुको निश्चल मनसे शरीरके भीतर आकर्षण (खींचना) करता है वह सब कार्योंके विषे जीवता है अर्थात् उसके सब कार्य सिद्ध होते हैं ।। २६७ ।।

न कालो विविधं घोरं न शस्त्रं न च पन्नगाः ।
न शत्रु व्याधिचोराद्याः शून्यस्थानाशितुंक्षमाः ।। २६८ ।।

काल और अनेक प्रकारके भयानक शस्त्र, सर्प, शत्रु व्याधि और चोर आदि शून्य स्थानमें टिके ये सब मनुष्यको नाश करनेको समर्थ नहीं होते ।। २६८ ।।

जीवेन स्थापयेद्वायुं जीवेनारम्भयेत्पुनः ।
जीवेन क्रीडते नित्यं द्यूते जयति सर्वथा ।। २६९ ।।

जीव स्वरसे वायुको स्थिर करे, फिर जीवसे ही वायुका आरंभ करे, जीवसे ही द्यूतक्रीडाका आरंभ करे तो द्यूत में सर्वथा जय होती है ।। २६९ ।।

स्वरज्ञानिबलादग्रे निष्फलं कोटिधा भवेत् ।
इह लोके परत्रापि स्वरज्ञानी बली सदा ।। २७० ।।

स्वरज्ञानीके बलके आगे कोटि प्रकारके भी बल निष्फल होते है, क्योंकि स्वरका ज्ञानी इस लोकमें और परलोकमें सदैव बलवान् होता है ।। २७० ।।

दश शतायुतं लक्षं देशाधिपबलंक्वचित् ।
शतक्रतुसुरेन्द्राणां बलं कोटिगुणं भवेत् ।। २७१ '।

किसी मनुष्यको दश, किसीको शत, किसीको दश सहस्र किसीको लक्ष, किसीको देशके राज्यका बल होता है इन्द्र और ब्रह्मा आदि देवताओंको उनसे कोटिगुना बल होता है, इसी प्रकार स्वरका बल सब बलोंसे कोटिगुना है ।।२७१ ।।

देव्युवाच

परस्परं मनुष्याणां युद्धे प्रोक्तो जयस्त्वया ।
यमयुद्धे समुत्पन्ने मनुष्याणां कथं जयः ।। २७२ ।।

पार्वती बोली कि, मनुष्योंके परस्पर युद्धमें जयकी प्राप्ति आपने कही, जब यमराजके संग युद्ध हो तब मनुष्यकी किस प्रकार जय हो ।। २७२ ।।

ईश्वर उवाच

ध्यायेद्देवं स्थिरो जीवं जुहुयाज्जीवसंगमे ।
इष्टसिद्धिर्भवेत्तस्य महालाभो जयस्तथा ।। २७३ ।।

महादेव बोले–कि हे पार्वती ! जो मनुष्य स्थिर होकर देवताओंका ध्यान करे और जीवसंगम (कुम्भक) प्राणवायुमें जीवका होम करे उस मनुष्य को इष्टकी सिद्धि, महालाभ और जय प्राप्त होगा ।। २७३ ।।

निराकारात्समुत्पन्नं साकारं सकलं जगत् ।
तत्साकारं निराकारं ज्ञाने भवति तत्क्षणात् २७४ ।।

निराकार परमेश्वरसे आकारवाला सब जगत् उत्पन्न हुआ है, निराकार परमेश्वरके ज्ञानसे यह जगत् साकार (आकारवाला) उसी क्षणमें हो जाता है ।। २७४ ।।

श्रीदेव्युवाच

नरयुद्धं यमयुद्धं त्वया प्रोक्तं महेश्वर ।
इदानीं देवदेवानां वशीकरणकं वद ।। २७५ ।।

पार्वती बोली कि, हे महेश्वर ! मनुष्य और यमराजका युद्ध आपने वर्णन किया, अब देवताओंके देवोंको वशमें करना कहो ।। २७५ ।।

ईश्वर उवाच

चन्द्रं सूर्येण चाकृष्य स्थापयेज्जीवमण्डले ।
आजन्मवशगा रामा कथितेयं तपोधनैः ।। २७६ ।।

महादेव बोले–कि, स्त्रीके चन्द्रस्वरको अपने सूर्यस्वरसे आकर्षण करके अपने जीवस्वरको मंगलमें टिकावे तो स्त्री जन्मभर अपने वशमें होती है यह तपस्वियोंने कहा है,यह क्रिया अपनी विवाही स्त्रीमें ही हो सकती है ।। २७६ ।।

जीवेन गृह्यते जीवो जीवो जीवस्य दीयते ।
जीवस्थाने गतो जीवो बालाजीवातुकारकः ।। २७७ ।।

पुरुष अपने जीवस्वरसे स्त्रीके जीवस्वरको ग्रहण करे और स्त्रीके जीव-स्वरमें अपना जीवस्वर दे, इस प्रकार जीवके स्थान में गया हुआ जीव जिसका ऐसा पुरुष जन्मभरतक स्त्रीके वशमें रहता है ।। २७७ ।।

रात्र्यन्तयामवेलायां प्रसुप्ते कामिनीजने ।
ब्रह्मजीवं पिबेद्यस्तु बालाप्राणहरो नरः ।। २७८

रात्रिके पिछले पहरमें स्त्रीकी निद्राके समय जो मनुष्य ब्रह्म जीव (सुषुम्ना स्वर) को पीता है वह मनुष्य स्त्रियोंके प्राणोंको वशमें करता है ।। २७८ ।।

अष्टाक्षरं जपित्वा तु तस्मिन्काले गते सति ।
तत्क्षणं दीयते चन्द्रो मोहमायाति कामिनी ।। २७९ ।।

उस कालके व्यतीत होनेपर अष्टाक्षरमंत्रको जपकर जो पुरुष अपना चन्द्रस्वर स्त्रीको देता है तो वह कामिनी उसी क्षणमें मोहको प्राप्त होती है ।। २७९ ।।

शयने वा प्रसङ्गे वा युवत्यालिङ्गनेऽपि वा ।
यः सूर्येण पिबेच्चन्द्रं स भवेन्मकरध्वजः ।। २८० ।।

शयनके समय वा स्त्रीके संगममें अथवा स्पर्शके समय जो मनुष्य अपने सूर्यस्वरसे स्त्रीके चन्द्रस्वरको पीता है वह मनुष्य कामदेवके समान मोह करने-वाला होता है ॥ २८० ॥

शिव आलिङ्ग्यते शक्त्या प्रसंगे दक्षिणेऽपिवा ।
तत्क्षणाद्दापयेद्यस्तु मोहयेत्कामिनीशतम् ॥ २८१ ॥

यदि शिव स्वर (सूर्य) शक्ति स्वरसे (चन्द्र) स्त्रीसंगके समय मिल जाय,अथवा पुरुष अपना चन्द्रस्वर स्त्रीको दे तो पुरुष सौ कामिनियोंको मोह सकता है ॥ २८१ ॥

नव सप्त त्रयः पञ्च वारान्त्सङ्गस्तु सूर्यभे ।
चन्द्रे द्वितुर्यषट्कृत्वोवश्याभवतिकामिनी ॥ २८२

स्त्रीके चन्द्र स्वरको अपने सूर्यस्वरमें देनेके अनंतर नव ९ सात ७ तीन ३ वा पांच ५ वार संग हो जाय अथवा स्त्रीके चन्द्रस्वरमें अपना सूर्यस्वर कर दो २ चार वा छः ६ वार मिल जाय तो वह कामिनी वशमें होती है ॥ २८२ ॥

सूर्यचन्द्रौ समाकृष्य सर्पाक्रान्त्याऽधरोष्ठयोः ।
महापद्मे मुखं स्पृष्ट्वा वारंवारमिदं चरेत् ॥ २८३

अपने सूर्य और चन्द्रस्वरको सर्पकी गतिसे खींचकर अधरोष्ठोंपर स्त्रीके मुखसे अपना मुख स्पर्श करके वारंवार पूर्वोक्त प्रकारसे चन्द्र और सूर्यका मेल करे ॥ २८३ ॥

आप्राणमिति पद्मश्च यांवन्निद्रावशं गता ।
पश्चाज्जागर्ति वेलायां चोष्यते गलचक्षुषी ॥ २८४ ॥

जितने समय स्त्री निद्राके वशमें रहे तवतक पूर्वोक्त प्रकारसे स्त्रीके मुखपद्मका पान करे पीछे जागनेके समय गला व नेत्र इनका चुम्बन करे ॥ २८४ ॥

अनेन विधिना कामी वशयेत्सर्वकामिनीः ।
इदंनवाच्यमन्यस्मिन्नित्याज्ञा पारमेश्वरी ।। २८५ ।।

इसी विधिसे कामी पुरुष सब कामिनियोंको वशमें करता है, परंतु मेरी यह सच्ची आज्ञा है कि, यह वशीकरण किसी अन्यपुरुषको अर्थात् लंपटको न कहे ।। २८५ ।।

इति वशीकरणम्

अथ गर्भकरणम्

ऋतुकालभवा नारी पञ्चमेऽह्नि यदा भवेत् ।
सूर्याचन्द्रमससोर्योगे सेवनात्पुत्रसम्भवः ।। २८६ ।।

ऋतुस्नानके अनंतर जब स्त्रीको पांचवा दिन हो उस समय पुरुषका सूर्यस्वर स्त्रीका चन्द्रस्वर चलता हो तो उस समय स्त्रीके संग करनेसे पुत्रका जन्म होता है ।। २८६ ।।

शङःखवल्लीं गवां दुग्धे पृथ्व्यापो वहते यदा ।
भर्तुरेवं वदेद्वाक्यं दर्पं देहि त्रिभिर्वचः ।। २८७ ।।

जिस समय पृथ्वी और जलतत्त्व बहते हों उस समय स्त्रीको गौके दूध में शंखवल्लीको खिलावे, फिर स्त्री अपने भर्तासे तीन बार भोगकी प्रार्थना करे ।। २८७ ।।

ऋतुस्नाता पिबेन्नारी ऋतुदानं तु योजयेत् ।
रूपलावण्यसंपन्नो नरसिंहः प्रसूयते ।। २८८ ।।

जब स्त्री ऋतुस्नानके अनंतर उक्त औषधको पीले तब पुरुष ऋतुदान दे अर्थात् भोग करे तो सुरूप और पराक्रमी सुन्दर नरोंमें सिंह पैदा होता है ।। २८८ ।।

सुषुम्नासूर्यवाहेन ऋतुदानं तु योजयेत् ।
अंगहीनः पुमान्यस्तु जायतेऽत्रकुविग्रहः ।। २८९ ।।

जो मनुष्य सूर्यस्वरके प्रवाहके संग सुषुम्नास्वरके बहनेके समय ऋतुदान देता है उसके अंगहीन और कुरूप पुत्र पैदा होता है ।। २८९ ।।

विषमांके दिवारात्रौ विषमांके दिनाधिपः ।
चन्द्रनेत्राग्नितत्त्वेषु वन्ध्या पुत्रमवाप्नुयात् २९० ।। ।

ऋतुके अनंतर विषम दिनोंमें पुरुषका सूर्यस्वर दिन व रात्रिमें चले अर्थात् स्त्रीका चन्द्रस्वर चले और पृथ्वी, जल, अग्नि इन तत्त्वोंमें गर्भाधान हो तो वंध्या भी पुत्रको प्राप्त होती है ।। २९० ।।

ऋत्वारम्भे रविः पुंसां स्त्रीणां चैव सुधाकरः ।
उभयोः संगमे प्राप्तो वंध्या पुत्रमवाप्नुयात् ।। २९१ ।।

यदि ऋतुके आरम्भमे पुरुषोंका सूर्यस्वर और स्त्रीका चन्द्रस्वर चले और दोनोंका संगम हो जाय तो वंध्या स्त्री पुत्रको प्राप्त हो जाय ।। २९१ ।।

ऋत्वारम्भे रविः पुंसां शुक्रान्ते च सुधाकरः ।
अनेन क्रमयोगेन नादत्ते दैवदारुकम् ।। २९२ ।।

यदि भोगके आरंभमें पुरुषका सूर्यस्वर चले और वीर्यपातके अनंतर चन्द्रस्वर बहने लगे तो इस क्रमयोगसे स्त्री गर्भ धारण नहीं करती ।। २९२ ।।

चन्द्रनाडी यदा प्रश्ने गर्भे कन्या तदा भवेत् ।
सूर्यो भवेत्तदा पुत्रो द्वयोर्गर्भो विहन्यते ।। २९३ ।।

यदि गर्भवतीके प्रश्नके समयमें चन्द्रमाकी नाडी चले तो गर्भमें कन्या होती है और सूर्यस्वर चले तो पुत्र और दोनों स्वर चलें तो गर्भ नष्ट हो जाता है ।। २९३ ।।

पृथ्वी पुत्री जले पुत्रः कन्यका तु प्रभञ्जने ।
तेजसि गर्भपातः स्यान्नभस्यपि नपुंसकः ।। २९४ ।।

प्रश्नके समयमें पृथ्वीतत्त्व हो तो कन्या, जलतत्त्व हो तो पुत्र, वायुतत्त्व हो तो कन्या, तेजतत्त्व हो तो गर्भका पात, आकाशतत्त्व हो तो नपुसक होता है ।। २९४ ।।

चन्द्रे स्त्री पुरुषः सूर्ये मध्यमार्गे नपुंसकः ।
गर्भप्रश्ने यदा दूतः पूर्णः पुत्रः प्रजायते ।। २९५ ।।

गर्भके प्रश्नसमय चन्द्रस्वर हो तो कन्या सूर्यस्वर हो तो पुत्र, सुषम्नाका स्वर हो तो नपुंसक होता है, यदि पूछनेवाले दूतके पूर्ण अंग हों तो पुत्र पैदा होता है ।। २९५ ।।

शून्ये शून्यं युगे युग्मं गर्भपातश्च संक्रमे ।
तत्त्ववित्स विजानीयात्कथितं तत्तु सुन्दरि ।। २९६ ।।

हे सुन्दरी ! पूछनेवालेके अंग शून्य हों तो शून्य, दो स्वर चलते हों तो युग्म (दो), यदि स्वरोंके संक्रम या सुषुम्ना हों तो गर्भका पात तत्त्वोंका वेत्ता जाने ।। २९६ ।।

गर्भाधानं मारुते स्याच्च दुःखी दिक्षु ख्यातो वारुणे सौ-
ख्ययुक्तः । गर्भस्रावः स्वल्पजीवश्च वह्नौ, भोगी भव्यः
पार्थिवेनार्थयुक्तः ।। २९७ ।।

वायुतत्त्वमें गर्भाधान हो तो दुःखवाला और जलतत्त्वमें गर्भाधान हो तो दिशाओंमें विख्यात और सुखी, अग्नितत्त्वमें हो तो गर्भका पात अथवा अल्प जीवी, पृथ्वीतत्त्वमें हो तो भोगी, सुन्दर और धनवान् पुत्र पैदा होता है ।। २९७ ।।

धनवान्सौख्ययुक्तश्च भोगवानार्थसंस्थितिः ।
स्यान्नित्यंवारुणेतत्वेव्योम्निगर्भोविनश्यति ॥ २९८ ॥

जलतत्त्वमें गर्भाधान हो तो धनवान सुखी भोगवान् जिनके नित्य धन रहे ऐसा पुत्र पैदा होता है आकाशतत्त्वमें गर्भाधान हो तो गर्भ नष्ट हो जाता है ॥ २९८ ॥

माहेन्द्रे सुसुतोत्पत्तिर्वारुणे दुहिता भवेत् ।
शेषेषुगर्भहानिःस्याज्जातमात्रस्यवामृतिः ॥ २९९ ॥

पृथ्वीतत्त्वमें गर्भाधान हो तो पुत्रकी और जलतत्त्वमें रहे तो कन्याकी उत्पत्ति होती है और शेष तत्त्वमें रहे तो गर्भकी हानि वा पैदा होतेही मरण होता है ॥ २९९ ॥

रविमध्यगतश्चन्द्रश्चन्द्रमध्यगतो रविः ।
ज्ञातव्यं गुरुतः शीघ्रं न वेदशास्त्रकोटिभिः ॥ ३०० ॥

सूर्यस्वरके मध्यमें चंद्रस्वरके मध्यमें सूर्यकी गति गुरुसे शीघ्र जा ने, यह बात वेद और कोटि शास्त्रोंसे नहीं जानी जाती ॥ ३०० ॥

इति गर्भप्रकरणम्

अथ संवत्सरफलम्

चैत्रशुक्लप्रतिपदि प्रातस्तत्त्वविभेदतः ।
पश्येद्विचक्षणो योगी दक्षिणे चोत्तरायणे ॥ ३०१ ॥

चैत्रके शुक्लपक्षकी प्रतिपदाको प्रातःकालके समय तत्त्वोंके विभेदसे विचक्षण (पंडित) योगी दक्षिणायन और उत्तरायण देखे अर्थात् उस दिन के तत्त्वोंके बहनेसे वर्षभरके फलको देखे ॥ ३०१ ॥

चन्द्रोदयस्य वेलायां वहमानोऽत्र तत्त्वतः ।
पृथिव्यापस्तथा वायुः सुभिक्षं सर्वसस्यजम् ।। ३०२ ।।

चन्द्रस्वरके उदयके समय यदि पृथ्वी जल वा वायुतत्त्व चले तो खेतियोंको सुभिक्ष होता है ।। ३०२ ।।

तेजोव्योम्नोर्भयं घोरं दुर्भिक्षं कालतत्त्वतः ।
एवं तत्त्वफलं ज्ञेयं वर्षे मासे दिनेष्वपि ।। ३०३ ।।

यदि चन्द्रस्वरमें तेज और आकाशतत्त्व चलते हों तो घोर भय और दुर्भिक्ष होता है इसी प्रकार समयके तत्त्वानुसार वर्ष, मास और दिनोंमें भी सपूर्ण तत्त्वोंका फल जानना ।। ३०३ ।।

मध्यमा भवति क्रूरा दुष्टा सर्वेषु कर्मसु ।
देशभंगमहारोगक्लेशकष्टादि दुःखदा ।। ३०४ ।।

मध्यमा (सुषुम्ना) नाडी क्रूर और सब कर्मोमें दुष्ट (बुरी), देशका भंग महारोग, क्लेश कष्ट आदि अत्यन्त दुखोंको देती है ।। ३०४ ।।

मेषसंक्रान्तिवेलायां स्वरभेदं विचारयेत् ।
संवत्सरफलंब्रूयाल्लोकानां तत्त्वचिन्तकः ।। ३०५ ।।

यदि मेषकी संक्रांतिके समय स्वरके भेदको विचारे तो तत्त्वका चिंतक मनुष्य लोगोंको संवत्सरका फल कह सकता है ।। ३०५ ।।

पृथिव्यादिकतत्त्वेन दिनमासाब्दजं फलम् ।
शोभनं च यथा दुष्टंव्योममारुतवह्निभिः ।। ३०६ ।।

मेषसक्रांतिके समय पृथ्वी आदि तत्त्वोंसे दिन, मास और वर्ष का फल शोभन जाने और आकाश, पवन और अग्नितत्त्वसे दुष्ट फल जाने ।। ३०६ ।।

सुभिक्षं राष्ट्रवृद्धिः स्याद्बहुसस्या वसुन्धरा ।
बहुवृष्टिस्तथा सौख्यं पृथ्वीतत्त्वं वहेद्यदि ।। ३०७ ।।

यदि मेष सक्रांतिके दिन पृथ्वीतत्त्व चले तो सुभिक्ष देशकी वृद्धि पृथ्वीमें बहुत अन्न, बहुत वृष्टि और बहुत सुख होता है ।। ३०७ ।।

अतिवृष्टिः सुभिक्षं स्यादारोग्यं सौख्यमेव च !
बहुसस्या तथा पृथ्वी अप्तत्त्वं वैवहेद्यदि ।। ३०८ ।।

यदि जलतत्त्व उस दिंन बहता हो तो अतिवृष्टि, सुभिक्ष, आरोग्य और सुख और पृथ्वीमें बहुत खेती होती है ।। ३०८ ।।

दुर्भिक्षं राष्ट्रभङ्गः स्यादुत्पत्तिश्च विनश्यति ।
अल्पाद्दल्पतरा वृष्टिरग्नितत्त्वं वहेद्यदि ।। ३०९ ।।

यदि अग्नितत्त्व चलता हो तो दुर्भिक्ष, देशका भङ्ग और उत्पत्तिका नाश और बहुत स्वल्प वृष्टि होती है ।। ३०९ ।।

उत्पातोपद्रवा भीतिरल्पा वृद्धिः स्युरीतयः ।
मेषसंक्रान्तिवेलायां व्योमतत्त्वं वहेद्यदि ।। ३१० ।।

यदि [1]मेषसक्रांतिके समय वायुतत्त्व चलता हो तो उत्पात उपद्रव भीति अल्पवृष्टि ईति (मसे लगना आदि छः) होती हैं ।। ३१० ।।

मेषसंक्रातिवेलायां व्योमतत्त्वं वहेद्यदि ।
तत्रापि शून्यता ज्ञेयासस्यादीनां सुखस्य च ।। ३११ ।।

यदि मेपसंक्रांतिके समय आकाशतत्त्व बहता हो तो सस्य आदि और सुखकी शून्यता जाननी ।। ३११ ।।

१—"अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूपकाश्शलभाः शुकाः ।अत्यावसन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः ।।"

पूर्णप्रवेशने श्वासे सस्यं तत्त्वेन सिध्यति ।
सूर्यचंद्रेऽन्यथाभूते संग्रहः सर्वसिद्धिदः ।। ३१२ ।।

यदि श्वासका पूर्ण प्रवेश होजाय तो तत्त्वसे धान्य की सिद्धि होती है और यदि तत्त्वोंके उदयके समय सूर्य व चन्द्र स्वर विपरीत हो जाय तो और चन्द्रके योगमें सूर्य और सूर्यके योगमे चन्द्र हो तो अन्नका संग्रह सिद्धि (लाभ) को देता है ।। ३१२ ।।

विषमे वह्नितत्त्वं स्याज्जायते केवलं नभः ।
तत्कुर्याद्वस्तुसंग्राहो द्विमासे च महर्घता ।। ३१३ ।।

यदि विषम (दक्षिण) स्वरमें अग्नितत्त्व हो अथवा केवल आकाशतत्त्व हो तो उस समय वस्तुओंका संग्रह करे तो दो मासमें महर्घता (महँगापन) होगी ।। ३१३ ।।

रवौ संक्रमते नाडी चन्द्रमन्ते प्रसर्पिता ।
खनिले वह्नियोगेन रौरवं जगतीतले ।। ३१४ ।।

यदि रात्रि समय सूर्यकी नाडी बहती हो और प्रातःकालके समय चन्द्रमा की बहने लगे और उस समय आकाश पवन अग्नितत्त्व इनका योग हो तो पृथ्वी के तलपर रौरव (बडे २ अनर्थ) होते हैं ।। ३१४ ।।

इति संवत्सरप्रकरणम्

अथ रोगप्रकरणम्

महीतत्त्वे स्वरोगश्च जले च जलमातृतः ।
तेजसि खेटवाटीस्था शाकिनो पितृदोषतः ।। ३१५ ।।

यदि प्रश्नके समय पृथ्वीतत्त्व बहता हो तो स्व (प्रारब्ध) का रोग, जलतत्त्व जलता हो तो जलौका मातृकाओंका, तेजतत्त्व बहता हो तो खेट" वाटीमें रहनेवाली शाकिनी वा पितृदोष (पीडा) से रोगका होना समझना ।। ३१५ ।।

आदौशून्यगतो दूतः पश्चात्पूर्णो विशेद्यदि ।
मूर्च्छितोऽपिध्रुवं जीवेद्यदर्थं परिपृच्छति ।। ३१६ ।।

यदि पूछनेवाला दूत पहिले शून्य अंगकी तरफ आया हो और पश्चात् (पीछे) पूर्ण अगकी तरफ बैठ जाय तो मूर्च्छित भी वह रोगी निश्चय से जी जायगा जिसके लिये वह पूछता है ।। ३१६ ।।

यस्मिन्नङ्गे स्थितो जीवस्तत्रस्थः परिपृच्छति ।
तदा जीवति जीवोऽसौ यदि रोगैरुपद्रुतः ।। ३१७ ।।

यदि जिस अंगमें जीव स्थित हो उमी अंगकी तरफ बैठा हुआ प्रश्न करे तो रोगोंसे पीडित भी वह जीव अवश्य जीवेगा ।। ३१७ ।।

दक्षिणेन यदा वायुर्दूतो रौद्राक्षरो वदेत् ।
तदा जीवति जीवोऽसौ चन्द्रे समफलं भवेत् ।। ३१८ ।।

यदि वायु दक्षिणनाडीकी बहती हो और दूतके मुखसे भयानक वचन निकले तो वह जीव जीवेगा और चन्द्रस्वर हो तो समान फल होता है ।। ३१८ ।।

जीवाकारं च वा धृत्वा जीवाकारं विलोक्य च ।
जीवस्थोरजीवितप्रश्नेतस्याज्जीवितंफलम् ।। ३१९ ।।

जीवाकारको धारकर और देखकर जीवमें स्थित हुआ दूत जीनेका प्रश्न करे तो उसको जीवनका फल होता है ।। ३१९ ।।

वामचारे तथा दक्षप्रवेशे यत्र वाहने ।
तत्रस्थः पृच्छते दूतस्तस्य सिद्धिर्न संशयः ।। ३२० ।।

वामनाडी (इडा) अथवा दक्षिण नाडी (पिंगला) इन इन दोनोंके चलने वा प्रवेश करनेके समय जो दूत प्रश्न करे तो इसकी सिद्धि होती है इसमें संशय नहीं ।। ३२० ।।

प्रश्ने चाधः स्थितो जीवो नूनं जीवोहि जीवति ।
ऊर्ध्वचारस्थितो जीवो जीवो याति यमालयम् ।।३२१।।

यदि प्रश्नके समय दूत अधोभागमें स्थित हो तो वह रोगी जीव निश्चयसे जीवे, यदि जीव ऊर्ध्व भागमे स्थित हो तो यमालय में जायगा ।। ३२१ ।।

विपरीताक्षरप्रश्ने रिक्तायां पृच्छको यदि ।
विपर्ययं च विज्ञेयं विषमस्योदये सति ।। ३२२ ।।

यदि विषमनाडी (सुषुम्ना) का उदय हो और प्रश्नका कर्त्ता रिक्त नाडीमें ऐसा प्रश्न करे जिसके अक्षर विषम (१–३–५) आदि हों तो विपरीत फल जानना ।। ३२२ ।।

चन्द्रस्थाने स्थितो जीव सूर्यस्थाने तु पृच्छकः ।
तदा प्राणवियुक्तोऽसौ यदि वैद्यशतैर्वृतः ।। ३२३ ।।

यदि अपना जीव (श्वासवायु) चन्द्रमाके चारमें स्थित हो और प्रश्नकर्ता सूर्यके चारमें स्थित हो तो यह रोगी चाहे सौ वैद्योंसे युक्त हो तो भी मर जायगा ॥ ३२३ ॥

पिङ्गलायां स्थितो जीवो वामे दूतस्तु पृच्छति ।
तदाऽपि म्रियते रोगी यदि त्राता महेश्वरः ॥ ३२४ ॥

यदि जीव पिंगलामें स्थित हो और दूत वामभागमें स्थित होकर पूछे तो उस समय भी रोगी मर जायगा, चाहे महादेव भी रक्षा क्यों न करें ॥ ३२४ ॥

एकस्यभूतस्यविपर्ययेण रोगाभिभूतिर्भवतीह पुंसाम् ।
तयोर्द्वयोर्बन्धुहृद्विपत्तिः पक्षक्षये व्यत्ययतो मृतिः स्यात् ॥ ३२५ ॥

एक भूत, (तत्त्व) के विपरीत होनेसे भी पुरुषोंके रोग तिरस्कार कर देते हैं और दो तत्त्वोंके विपरीत होनेसे बन्धु और मित्रोंसे विपत्ति होती है, यदि दो पक्ष और (एक मास) तक व्यत्यय चला जाय तो मृत्यु होती है ॥ ३२५ ॥

इति रोगप्रकरणम्

अथ कालप्रकरणम्

मासादौ चैव पक्षादौ वत्सरादौ यथाक्रमम् ।
क्षयकालं परीक्षेत वायुचारवशात्सुधीः ॥ ३२६ ॥

मास पक्ष, और वर्ष इन तीनोंके क्रमसे आदिमें विद्वान् मनुष्य वायुके प्रचारवशसे क्षय (मरण) के समयकी परीक्षा करे ॥ ३२६ ॥

पञ्चभूतात्मकं दीपं शिवस्नेहेन सिञ्चितम् ।
रक्षयेत्सूर्यवातेन प्राणी जीवः स्थिरोभवेत् ॥ ३२७ ॥

इस पंचभूतात्मक दीप (देह) को शिवरूप स्नेह (तेल) से सींच कर सूर्यरूप पवनसे जो प्राणी रक्षा करता है उसका जीव स्थिर होता है ।। ३२७ ।।

मारुतं बन्धयित्वा तु सूर्यं बन्धयते यदि ।
अभ्यासाज्जीवते जीवः सूर्यकालेऽपि वञ्चिते ।। ३२८ ।।

जो मध्य प्राणवायुको बांधकर दिन भर सूर्यस्वर का बंचन करता है इस प्रकार अभ्यासके बलसे सूर्यकालका बन्धन करके वह जीव जी सकता है ।। ३२८ ।।

गगनात्स्रवते चन्द्रः कायपद्मानि सिञ्चयेत् ।
कर्मयोगसदाभ्यासैरमरः शशिसंश्रयात् ।। ३२९ ।।

आकाशमें गमन करनेसे चन्द्रमाकी किरण नीचे गिरकर देहरूपी कमलों को सींचती है, इस प्रकार कर्म योगसे योगी चन्द्रमाका आश्रय लेनेसे अभ्यास के द्वारा अमर हो जाता है ।। ३२९ ।।

शशांक वारयेद्रात्रौ दिवा वार्यो दिवाकरः ।
इत्यभ्यासरतो नित्यं सयोगी नात्रसंशयः ।। ३३० ।।

जो रात्रिमें चन्द्रस्वरका और दिनमें सूर्य स्वरका निवारण करता है, इसप्रकार अभ्यासमें तत्पर वह योगी ही योगी है, इसमें सन्देह नहीं है ।। ३३० ।।

अहोरात्रे यदैकत्र वहते यस्य मारुतः ।
तदा तस्य भवेन्मृत्युः संपूर्णे वत्सरत्रये ।। ३३१ ।।

जिस् मनुष्यकी प्राणवायु (श्वास) अहोरात्रभर एक स्थानमें ही बहता रहे तव उस मनुष्यकी मृत्यु तीन वर्षमें हो जायगी ।। ३३१ ।।

अहोरात्रद्वयं यस्य पिंगलायां सदा गतिः
तस्य वर्षद्वयं प्रोक्तं जीवितं तत्त्ववेदिभिः ।। ३३२ ।।

जिस मनुष्यके श्वासकी गति दो अहोरात्र पिंगलामें रहे तत्त्वके ज्ञाताओंने उस मनुष्यका जीवन दो वर्षका कहा है ।। ३३२ ।।

त्रिरात्रं वहते यस्य वायुरेकपुटे स्थितः
तदा संवत्सरायुस्तं प्रवदंति मनीषिणः ।। ३३३ ।।

जिस मनुष्य का प्राणवायु तीन रात्रितक एक ही नासिकाके पुटमें स्थिर होकर चले तो विद्वान् मनुष्य उसकी अवस्था एक वर्ष की कहते हैं ।।३३३ ।।

रात्रौ चन्द्रो दिवा सूर्यो वहेद्यस्य निरन्तरम् ।
जानीयात्तस्यवैमृत्युः षण्मासाभ्यंतरेभवेत् ।। ३३४ ।।

जिस मनुष्यका रात्रिमे चन्द्रस्वर और दिनमें सूर्यस्वर निरन्तर वहे उस मनुष्यकी छः महीनेके भीतर मृत्यु होती है ।। ३३४ ।।

लक्ष्यं लक्षितलक्षणेन सलिले भानुर्यदा दृश्यते
क्षीणो दक्षिणपश्चिमोत्तरपुरः षट्त्रिद्विमासैकतः ।
मध्यं छिद्रमिदं भवेद्दशदिनं धूमाकुलं तद्दिने सर्वज्ञैरपि भाषितं
मुनिवरैरायुः प्रमाणंस्फुटम् ।। ३३५ ।।

जिस मनुष्यको जलके विषे, सूर्यका प्रतिबिंब क्षीण (कटा हुआ) क्रमसे दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और पूर्वमें दीखे वह छः तीन ३ दो २ एक १ मास जीवेगा अर्थात्, दक्षिणमें जिसको कटा दीखे उसकी छः ६ और पश्चिममें तीन ३, उत्तरमें २, पूर्वमें एक मासकी अवस्था समझनी यदि प्रतिबिंबके मध्यमें छिद्र

दीखे तो दश दिनकी अवस्था जाननी. यदि सम्पूर्ण प्रतिबिंबमे धूमसा प्रतीत होतो उसी दिन मृत्यु जाननी यह सर्वज्ञ मुनिवरोंने अवस्थाका प्रकट प्रमाण कहा है ।। ३३५ ।।

दूतः कृष्णकषायकृष्णवसनो दन्तक्षतो मुण्डितस्तैलाभ्यक्त-शरीररज्जुककरो दीनोऽश्रुपूर्णोत्तरः । भस्माङ्गारकपालपाशमुसली सूर्यास्त-सायाति यः काली शून्यपदस्थितो गदयुतः कालानल स्यादृतः ।। ३३६ ।।

यदि प्रश्न करनेवाला दूत काले भगवे वस्त्र धारण कर अथवा दूतके दांतोंमें घाव हो, मुण्डितहो, तैलाभ्यंग किये हो हाथमें रस्सी लिये हो, दीन हो, अश्रुपूर्ण अर्थात् उत्तर देनेमें अश्रुयुक्त अस्फुटवचन और भस्म, अंगार, कपाल, मुसल ये जिसके हाथमे हों जो सूर्यास्तके समय आवे और जिसके पैर शून्य हों इतने प्रकारका दूत पूछनेको आवे तो रोगी कालको प्राप्त होगा ऐसा जाने । ३३६

अकस्माच्चित्तविकृतिरकस्मात्पुरुषोत्तमः ।
अकस्मादिन्द्रियोत्पातः सन्निपाताग्रलक्षणम् ।। ३३७ ।।

जिस रोगीके चित्तमें अकस्मात् विकार हो जाय और अकस्मात् उत्तर हो जाय और अकस्मात् इंद्रियोंमें उत्पात होजाय ये संन्निपातके पूर्व लक्षण जानने ।। ३३७ ।।

शरीरं शीतलं यस्य प्रकृतिर्विकृता भवेत् ।
तदरिष्टं समासेन व्यासतस्तु निबोध मे ।। ३३८ ।।

जिसका शरीर शीतल हो, प्रकृतिमें विकार हो तो संक्षेपमें अरिष्ट जानना और मेरे सकाशसे विस्तारसे श्रवण कर ।। ३३८ ।।

दुष्टशब्देषु रमतेऽशुद्धशब्देष चाप्यति
पश्चात्ताप भवेदस्य तस्य मृत्युर्न संशयः ।। ३३९ ।।

जो मनुष्य बुरे बुरे शब्दोंको कहे और जो अशुद्ध शब्दोंको कहे और पीछेसे पश्चात्ताप करे उसकी मृत्यु होगी इसमें संशय नहीं ।। ३३९ ।।

हुंकारः शीतलो यस्य फूत्कारो वह्निसन्निभः ।
महावैद्यो भवेत्तस्य तस्य मृत्युर्भवेद्ध्रुवम् ।। ३४० ।।

जिसका हुंकार शीतल हो और फूत्कार अग्निके समान हो उसकी चाहे महान् वैद्य रक्षा करे तो भी निश्चयसे मृत्यु होगी ।। ३४० ।।

जिह्वां विष्णुपदं ध्रुवं सुरपदं सन्मातृकामंडलमेतान्येव-मरुन्धतीममृतगुं शुक्रं ध्रुवं वा क्षणम् । एतेष्वेकपि स्फुटं न पुरुषः पश्येत्पुरः प्रेषितः सोऽवश्यं विशतीह कालवदनं संवत्सरादूर्ध्वतः ।। ३४१ ।।

जो मनुष्य जीभ (जिह्वा), आकाश, ध्रुव, देव, मार्ग, मातृकाओंका मण्डल, अरुंधती, चन्द्रमा शुक्र, अगस्ति इनमेंसे एकको भी स्पष्ट कहनेसे न देखे वह रोगी अवश्य वर्षके अनंतर कालके मुखमें जायगा ।। ३४१ ।।

अरश्मिबिम्बं सूर्यस्य वह्नेः शीतांशुमालिनः ।
दृष्ट्वैकादशमासायुर्नरश्चोर्ध्वं न जीवति ।। ३४२ ।।

जिस मनुष्यको सूर्य चन्द्रमाके प्रतिबिंब और अग्नि इनके किरण प्रतीत न हों उस मनुष्यकी अवस्था ग्यारह मासकी जाननी ।। ३४२ ।।

वाप्यां पुरीषमूत्राणि सुवर्णं रजतं तथा ।
प्रत्यक्षमथवा स्वप्ने दश मासान्न जीवति ।। ३४३ ।।

जिस मनुष्यको स्वप्नमें अथवा जाग्रत अवस्थामें बावडीमें मल, मूत्र, सुवर्ण चांदी दीखे वह दश माससे परे नहीं जीवेगा ।। ३४३ ।।

क्वचित्पश्यति यो दीपं सुवर्णं च कषान्वितम् ।
विरूपाणि च भूतानि नव मासान्न जीवति ।। ३४४ ।।

जो मनुष्य कभी कभी दीपकको अथवा कसोटीको लगाया हुआ सुवर्ण और संपूर्ण भूतोंको विपरीत देखे वह नौ महीनेसे परे नहीं जीवेगा ।। ३४४ ।।

सस्थूलाङ्गोऽपि कृशः कृशोऽपि सहसा स्थूलत्वमालभ्यते,
प्राप्तो वा कनकप्रभां यदि भवेत्क्रूरोऽपिकृष्णच्छविः ।
शरो भीरुसुधीरधर्मनिपुणः शान्तो विकारी पुमानित्येवं
प्रकृती प्रयाति चलनं मासाष्टकं जीवति ।। ३४५ ।।

जिस मनुष्यकी प्रकृति (स्वभाव) इस प्रकार चलायमान हो जाय कि स्थूल हो तो एकदम कृश हो जाय और कृश हो तो एकदम स्थूल हो जाय और क्रूर वा कृष्णवर्ण होकर सुवर्ण समान कांतिवाला हो जाय, शूरवीर होकर भीरु हो जाय, धार्मिक होकर अधर्मी हो जाय और शांत होकर चञ्चल हो जाय तो वह मनुष्य आठ महीने जीवेगा ।। ३४५ ।।

पीडा भवेत्पाणितले च जिह्वामूले तथा स्याद्रु-
धिरं च कृष्णम् । विद्धं न च ग्लायति यत्र
दृष्टया जीवेन्मनुष्यः स हि सप्तमासम् ।। ३४६ ।।

जिस मनुष्यके हाथके तलवेपर पीडा हो, जिह्वाके मूलमें रुधिर काला हो जाय और जिसके गात्रमें टोचनेसे दुःख न हो वह मनुष्य सात मास जीवेगा ।। ३४६ ।।

मध्यांगुलीनां त्रितयं न वक्रं रोगं विना शुष्यति यस्य कण्ठ । मुहुर्मुहुः प्रश्नवशेन जाड्यात्षड्भिः स मासैः प्रलयं प्रयाति ।। ३४७ ।।

जिस मनुष्य की बीचकी तीन अंगुली न मुड़ें और रोगके बिना ही कंठ सूख जाय जिसको बारंबार पूछनेसे जड़ता हो अर्थात् पूर्वापरका अनुसंधान न रहे वह मनुष्य छः महीनेमें मरणको प्राप्त हो जायगा ।। ३४७ ।।

न यस्य स्मरणंकिञ्चिद्विद्यते स्तनचर्मणि । सोऽवश्यंपञ्चमे मासि स्कन्धारूढो भविष्यति ।। ३४८ ।।

जिस मनुष्यके स्तनोंके चाममें शून्यता हो जाय वह मनुष्य पांचवें महीने में चार मनुष्योंके कांधेपर अवश्य चढेगा (मरेगा) ।। ३४८ ।।

यस्य न स्फुरति ज्योति पीडचते नयनद्वयम् ।।
मरणं तस्य निर्दिष्टं चतुर्थे मासि निश्चितम् ।। ३४९ ।।

जिस मनुष्यके नेत्रोंकी ज्योति (प्रकाश) न हो और दोनों नेत्रोंमें पीड़ा हो उस मनुष्यका मरण चौथे मासमें अवश्य कहा है ।। ३४९ ।।

दन्ताश्च वृषणौ यस्य न किञ्चिदपि पीडचते ।
तृतीयं मासगावश्यं कालाज्ञायां भवेन्नरः ।। ३५० ।।

जिस मनुष्यके दांत और अण्डकोशमें दबानेसे पीड़ा कुछ भी न हो वह तीसरे महीनेमें कालकी आज्ञामें पहुंचेगा ।। ३५० ।।

कालो दूरस्थितो वापि येनोपायेन लक्ष्यते ।
तं वदामि समासेन यथाऽऽदिष्टंशिवागमे ।। ३५१ ।।

दूर पर स्थित भी काल जिस उपायसे देखा जाय उस उपाय को शिवशास्त्रके अनुसार सँक्षेपसे कहता हूं ॥ ३५१ ॥

एकान्तं विजनं गत्वा कृत्वाऽऽदित्यं च पृष्ठतः ।
निरीक्षयेन्निजच्छायां कण्ठदेशे समाहितः ।। ३५२ ।।

एकांत विजन वनमें जाकर और सूर्यको पीठपर करके अपनी छायाको सावधानीसे कंठदेशमें देखे ।। ३५२ ।।

ततश्चाकाशमीक्षेत ह्रीं परब्रह्मणे नमः
अष्टोत्तरशतं जप्त्वा ततः पश्यति शंकरम् ।। ३५३ ।।

फिर आकाशको देख और "ह्रीं परब्रह्मणे नमः" इस मंत्रको १०८ बार जप करे तो वह मनुष्य शिवजीको देखेगा ।। ३५३ ।।

शुद्धस्फटिकसंकाशं नानारूपधरं हरम् । षण्मासाभ्यासयोगेन भूचरणांपतिर्भवेत् ।। वर्षद्वयेन तेनाथ कर्त्ता हर्त्तास्वयंप्रभुः ।।३५४ ।।

जिन शिवजीका रूप शुद्धस्फटिक तुल्य है और जो नानारूप को धारते हैं इस प्रकार छः महीने अभ्यास करनेसे भूचरों (प्राणियों) का राजा होता है और दो वर्ष अभ्यास करनेसे कर्त्ता, हर्त्ता स्वयंप्रभु हो जाता है ।। ३५४ ।।

त्रिकालज्ञत्वमाप्नोति परमानन्दमेव च ।
सतताभ्यासयोगेन नास्ति किंचित्सुदुर्लभम् ।। ३५५ ।।

और निरन्तर अभ्यास करनेसे भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालोंका ज्ञान और परम आनन्दको प्राप्त होता है और उसको कोई वस्तु दुर्लभ नहीं होती ।। ३५५ ।।

तद्रूपं कृष्णवर्ण यः पश्यति व्योम्नि निर्मले ।
षणमासान्मृत्युमाप्नोति स योगी नात्रसंशयः ।। ३५६ ।।

जिस योगीको निर्मल आकाशमे वह शिवजीका रूप कृष्णवर्ण दीखे वह योगी छः महीनेमे मृत्युको प्राप्त होगा इसमें संशय नहीं ।। ३५६ ।।

पीते व्याधिर्भयं रक्ते नीले हानिं विनिर्दिशेत् ।
नानावर्णोऽथ चेत्तस्मिन्सिद्धश्चगीयते महान् ।। ३५७ ।।

पीला दीखे तो व्याधि. लाल दीखे तो भय, नीला दीखे तो हानि होती है, यदि उसमें नाना वर्ण दीखे तो योगी सिद्धियोंको प्राप्त होता है ।। ३५७ ।।

पदे गुल्फे च जठरे विनाशः क्रमशो भवेत् ।
विनश्यतो यदा बाहू स्वयं तु म्रियते ध्रुवम् ।। ३५८ ।।

यदि छायामें पैर गुल्फ (टकने) पेट ये न दीखें अथवा भुजा न दीखे तो निश्चयसे योगी मृत्युको प्राप्त होगा ।। ३५८ ।।

वामबाहुस्तथा भार्या नश्येतेति न संशयः ।
दक्षिणे बन्धुनाशो हि मृत्युं मासंविनिर्दिशेत् ।। ३५९ ।।

यदि वामभुजा न दीखे तो भार्या नष्ट होगी इसमें संशय नहीं दक्षिण भुजा न दीखे तो बन्धुओंका नाश होगा और एक मासमें अपनी मृत्यु होगी ।। ३५९ ।।

अशिरोमासमरणं विनाजंघे दिनाष्टकम् । अष्टाभिः
स्कन्धनाशेन च्छायालोपेन तत्क्षणात् ।। ३६० ।।

शिर न दीखे तो मासभर, जंघा न दीखे तो आठ दिनमे, कन्धे न दीखे तो आठ दिनमें, सर्वथा छाया न दीखे तो उसी क्षणमें मृत्यु जाननी ।। ३६० ।।

प्रातः पृष्ठगते रवौ च निमिषाच्छायाऽङ्गुलिश्चाधरं दृष्ट्वाऽर्द्धेन मृतिस्त्वनन्तरमहो छायां नरः पश्यति । तत्कर्णांसकरास्य पार्श्वहृदया भावेक्षणार्धात्स्वयं दिङ्मूढो हि नरः शिरोविगमतो मासांस्तु षड् जीवति ।। ३६१ ।।

जो प्रातःकालके समय सूर्यको पीठकी तरफ करके छायापुरुष की अंगुली और ओठ न दीखे तो निमिषिमात्रमें और फिर छायाको और अपन को न देखे तो आधे निमिषमें मृत्यु होगी और छायाके कान, कन्धे, हाथ, मुख पार्श्व, हृदय न दीखें तो आधे क्षणमें मृत्यु हो और छायापुरुषका शिर न दीखे और स्वयं दिशाओंका ज्ञान न रहे तो मनुष्य छः महीने जीवेगा ।। ३६१ ।।

एकादिषोडशाहानि यदि भानुर्निरन्तरम् ।
वहेद्यस्य च वै मृत्युः शेषाहेन च मासिके ।। ३६२ ।।

जिस मनुष्यका एक एक दिनसे सोलह दिन पर्यंत नियमसे सूर्यस्वर ही चला रहे उस मनुष्यकी मृत्यु पन्द्रह दिनके भीतर हो जायगी ।। ३६२ ।।

संपूर्णं बहते सूर्यचन्द्रमा नैव दृश्यते । पक्षेण जायते मृत्युः कालज्ञानेन भाषितम् ।। ३६३ ।।

जिस मनुष्यका निरन्तर सूर्यस्वर ही बहता रहे और चन्द्रस्वर कभी न दीखे तो उस मनुष्यकी मृत्यु पन्द्रह दिनके भीतर हो जायगी ।। ३६३ ।।

मूत्रं पुरीषं वायुश्च समकालं प्रवर्त्तते । तदाऽसौ चलितो ज्ञेयो दशाहे म्रियते ध्रुवम् ।। ३६४ ।।

जिस मनुष्यके मूत्र मल वायु एक बार निकसे उसको चला-चली कर जाने वह दश दिनमे अवश्य मर जायेगा ।। ३६४ ।।

सम्पूर्ण वहते चन्द्रः सूर्यो नैव च दृश्यते ।
मासेन जायते मृत्युः कालज्ञेनानुभाषितम् ।। ३६५ ।।

जिस मनुष्यका बराबर चन्द्रस्वर वहता है और सूर्यस्वर एक बार भी न दीखे वह मनुष्य एक मासमें मर जायगा यह कालके ज्ञानियोंने कहा है ।। ३६५ ।।

अरुंधतीं ध्रुवं चैव विष्णोस्त्रीणि पदानि च ।
आयुर्हीना न पश्यन्ति चतुर्थं मातृमंण्डलम् ।। ३६६ ।।

अरुन्धती, ध्रुव, विष्णुके तीन पद, चौथा मातृमण्डल इनको जो न देखें उन्हें आयुसे हीन समझना चाहिये ।। ३३६ ।।

अरुन्धतीं भवेज्जिह्वा ध्रुवो नासाग्रमेव च ।
ध्रुवौ विष्णुपदं ज्ञेयं तारकं मातृमण्डलम् ।। ३६७ ।।

जिह्वाको अरुन्धती, नासिकाके अग्र भागको ध्रुव, भ्रुकुटियोंको विष्णु पद और तारकाओंको मातृमण्डल, कहते हैं ।। ३६७ ।।

नव भ्रुवं सप्त घोषं पञ्च तारां त्रिनासिकाम् ।
जिह्वामेकदिनं प्रोक्तं म्रियते मानवो ध्रुवम् ।। ३६८ ।।

जो भ्रुकुटी न देखे तो ९ दिनमें, कानोंका शब्द न सुने तो सात दिनमें, तारा न दीखे तो तीन दिनमें, जिह्वा, न दीखे तो एक दिनमें मनुष्यका निश्चयसे मरण कहा है ।। ३६८ ।।

कोणावक्ष्णोरंगुलिभ्यांकिञ्चित्पीड्य निरीक्षयेत् ।
यदा न दृश्यते बिन्दुर्दशाहेन भवेन्मृतः ।। ३६९ ।।

नेत्रोंके कोनोंको अंगुलियोंसे कुछ दबाकर देखे यदि दबानेसे तेजकी विंदु न दीखे तो जान लो कि दश दिनमें मर जायगा ।। ३६९ ।।

तीर्थस्नानेन दानेन तपसा सुकृतेन च ।
जपैर्ध्यानेन योगेन जायते कालवञ्चना ।। ३७० ।।

तीर्थोंके स्नान, दान, तप, सुकृत, जप, ध्यान, योग इनसे कालकी वंचना हो जाती है अर्थात् आया हुआ भी काल टल जाता है ।। ३७० ।।

शरीरं नाशयन्त्येते दोषा धातुमलास्तथा ।
समस्तु वायुर्विज्ञेयो बलतेजोविवर्धनः ।। ३७१ ।।

धातु और मल आदि ये दोष शरीरको नष्ट करदेते हैं और वायुकी समानता बल और तेज बढ़ानेवाली होती है ।। ३७१ ।।

रक्षणीयस्ततो देहो यतो धर्मादिसाधनम् । योगाभ्यासात्समायान्ति साधु याप्यास्तु साध्यताम् ।। असाध्याजीवितंघ्नन्तिन-तत्रास्तिप्रतिक्रिया ।। ३७२ ।।

इससे उस देहकी रक्षा करनी जो धर्म आदिका साधन है, योगाभ्यास ही जयरूप हो जाता है और योगसे असाध्य साध्य हो जाता है, जो योगाभ्यास न हो तो कष्टसाधक मर जाते हैं, उसका कोई प्रतीकार (इलाज) अन्य नहीं ।। ३७२

येषां हृदि स्फुरति शाश्वतमद्वितीयं । तेजस्तमोनिव
हनाशकरं रहस्यम् । तेषामखण्डशशिरम्यसुकांतिभा
जां स्वप्नोऽपि नो भवति कालभयं नराणाम् ।। ३७३ ।।

जिन मनुष्योंके हृदयमें अनादि, अद्वितीय, अन्धकारके समूह का नाश करनेवाला और गोपनीय तेज (शिवस्वरोदयका ज्ञान) फुरता है, अखंड चन्द्रमाके समान रमणीय है कांति जिसकी ऐसे उन मनुष्योंको स्वप्नमें भी कालका भय नहीं होता ।। ३७३ ।।

इडा गंगेति विज्ञेया पिङ्गला यमुना नदी । मध्ये सरस्वतीं विद्यात्प्रयागादिसमस्तथा ।। ३७४ ।।

इड़ा नाड़ी गंगा और पिंगला नाडी यमुना नदी जाननी और मध्यकी (सुषुम्ना) सरस्वती इन तीन नाडियोंके संगमको प्रयागके समान समझना ।। ३७४ ।।

आदौ साधनमाख्यातं सद्यः प्रत्ययकारकम् ।
बद्धपद्मासनो योगी बन्धयेदुड्डियानकम् ।। ३७५ ।।

प्रथम साधनको ही शीघ्र प्रतीतिका कारण कहा है इससे योगी पद्मासन को बांधकर उडियानक नाम आसनको बांधे अर्थात् अपानकी गतिको ऊपर करके नाभिरध्रके समीप लावे ।। ३७५ ।।

पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकश्च तृतीयकः ।
ज्ञातव्यो योगिभिर्नित्यं देहसंशुद्धिहेतवे ।। ३७६ ।।

योगी जन अपने देहकी भले प्रकारसे शुद्धिके लिये पूरक. कुंभक, रेचक इन तीनों प्राणायामोंको जाने ।। ३७६ ।।

पूरकः कुरुते वृद्धिं धातुसाम्यं तथैव च ।
कुम्भके स्तम्भनं कुर्याज्जीवरक्षाविवर्द्धनम् ।। ३७७ ।

उन तीनोंमें पूरक प्राणायाम (बाहरकी वायुको भी खींचना) वृष्टिमें देहको सीचता है और संपूर्ण धातुओंको समान करता है और कुंभक प्राणायाम (बाहरभीतरकी वायुको स्थिर रखना) देहकी धातुओंको स्तंभन (जहांकी तहां रखना) करता है और जीवकी रक्षाको बढ़ाता है ।। ३७७ ।।

रेचको हरते पापं कुर्याद्योगपदं व्रजेत् ।
पश्चात्संग्रामवत्तिष्ठेल्लयबन्धं च कारयेत् ।। ३७८ ।।

रेचक प्राणायाम (भीतरकी वायु बाहर निकालना) पापको हरता है इस प्रकार जो प्राणायाम करता है वह योगपदको प्राप्त होता है फिर जो योगी समान रूपसे टिकता है, वह लयबंधको कर सकता है अर्थात् मृत्युको रोक सकता है ।। ३७८ ।।

कुम्भयेत्सहजं वायुं यथाशक्ति प्रकल्पयेत् ।
रेचयेच्चन्द्रमार्गेण सूर्येणापूरयेत्सुधीः ।। ३७९ ।।

स्वाभाविक वायुको अपनी शक्तिके अनुसार कुंभक प्राणायाम से रोके चन्द्रस्वरसे रेचक करे और सूर्यस्वरसे पूरक प्राणायामको बुद्धिमान् मनुष्य करे ।। ३७९ ।।

चन्द्र पिबति सूर्यश्च सूर्य पिबति चन्द्रमाः ।
अन्योन्यकालभावेन जीवेदाचन्द्रतारकम् ।। ३८० ।।

जिसके चन्द्रस्वरको सूर्यस्वर और सूर्यस्वरको चन्द्रस्वर परस्पर समय समय पीवें वह चन्द्रमा और तारोंकी स्थिति पर्यंत जीवेगा ।। ३८० ।।

स्वीयाङ्गे वहते नाडी तन्नाडीरोधनं कुरु
मुखबन्धममुञ्चन्वै पवनं जायते युवा ।। ३८१ ।।

जो योगी अपने अंगमें जो नाड़ी बहती हो उसको रोककर और अपने मुखको बांधकर मुखसे पवनको न निकलने दे, वह योगी वृद्ध अवस्थासे युवा अवस्था को प्राप्त होता है ।। ३८१ ।।

मुखनासाक्षिकर्णान्तानंगुलीभिर्निरोधयेत् ।
तत्त्वोदयमितिज्ञेयं षण्मुखीकरणंप्रियम् ।। ३८२ ।।

मुख, नासिका, नेत्र, कान इनको अपनी अंगुलियोंसे रोके, इसीको तत्त्वोदय षण्मुखीकरण और प्रिय जानना ।। ३८२ ।।

तस्य रूपं गतिः स्वादो मण्डलं लक्षणं त्विदम् ।
स वेत्ति मानवो लोके संसर्गादपि मार्गवित् ।। ३८३ ।।

उसका रूप यह है कि वह योगी तत्त्वोंका रूप गति स्वाद मंडल लक्षण इन सबको जगत्में जानता है और तत्त्वोंके हेलमेलमें पृथक् २ मार्गको जान सकता है ।। ३८३ ।।

निराशो निष्कलो योगी न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।
वासनामुन्मनां कृत्वा कालं जयति लीलया ।। ३८४ ।।

आशारहित और शुद्धरूप योगी किसी वस्तुकी चिंता न करे और वासनाओंके त्यागसे लीला (अनायास) से कालको जीतता है ।। ३८४ ।।

विश्वस्य वेदिका शक्तिर्नेत्राभ्यां परिदृश्यते ।
तत्रस्थं तु मनो यस्य याममात्रं भवेदिह ।। ३८५ ।।

सब विश्वके जाननेकी शक्ति नेत्रोंसे दीखती है, उस शक्तिके विषे जिस योगीका मन एक प्रहर मात्र टिके ।। ३८५ ।।

तस्यायुर्वर्धते नित्यं घटिकात्रयमानतः।
शिवेनोक्तं पुरा तन्त्रे सिद्धस्य गुणगह्वरे ।। ३८६ ।।

उस योगीकी अवस्था प्रतिदिन तीन तीन घटिकाके प्रमाणसे बढ़ती है, यह बात गुणवान् सिद्धोके तंत्रशास्त्रमे शिवजी ने कही है ।। ३८६ ।।

बद्ध्वा पद्मासनं ये गुदगतपवनं सन्निरुद्ध्यामुमुच्चैस्तं तस्यापानरन्ध्रक्रमजितमनिलं प्राणशक्त्या निरुद्ध्य एकीभूतं सुषुम्ना विवरमुपगतं ब्रह्मरन्ध्रे च नीत्वा निक्षिप्याकाशमार्ग शिव चरणरता यान्ति ते केऽपि धन्याः ।। ३८७ ।।

योगी पद्मासनको बांधकर गुदामें स्थित पवन (अपान) को रोककर उसको उंचेको लेजायें और अपने रंध्रमें जीते स्थिर हुए उसको प्राणशक्तिके संग रोककर दोनोंकी एकता करे, जब वे दोनों एक हो जायें और सुषुम्ना नाड़ी के रंध्रमें पहुँचे जावे फिर ब्रह्मरंध्रमें ले जाकर आकाशमार्गमें छोड़ दें, इस प्रकार शिवजीके चरणोंमे रत जो कोई योगी जाते (मरते) हैं वे धन्य हैं ।। ३८७ ।।

एतज्जानाति योगी य एतत्पठति नित्यशः।
सर्वदुःखविनिर्मुक्तो लभते वाञ्छितं फलम् ।। ३८८ ।।

जो योगी इसको जानता है और नित्य पढ़ता है संपूर्ण दुःखोंसे रहित वह योगी वांछित फलको प्राप्त होता है ।। ३८८ ।।

स्वरज्ञानं नरे यत्र लक्ष्मीः पदतले भवेत्।
सर्वत्र च शरीरेऽपि सुखं तस्य सदा भवेत् ।। ३८९ ।।

जिस मनुष्यको स्वरका ज्ञान है उसके चरणोंके नीचे लक्ष्मी है और उसके शरीरमें और जहां वह जाय वहां उसको सुख होता है ।। ३८९ ।।

प्रणवः सर्ववेदानां ब्राह्मणे भास्करो यथा ।
मृत्युलोके तथा पूज्यः स्वरज्ञानी पुमानपि ।। ३९० ।।

संपूर्ण वेदोंमें जैसे ओंकार और ब्राह्मणोंमें जैसा सूर्य पूज्य है इस प्रकार मृत्युलोकमे स्वरज्ञानी पुरुष भी पूज्य है ।। ३९० ।।

नाडीत्रयं विजानाति तत्त्वज्ञानं तथैव च ।
नैव तेन भवेत्तुल्यं लक्षेकोटिरसायनम् ।। ३९१ ।।

जो मनुष्य पूर्वोक्त तीनों नाड़ियोंको जानता है और जिसको तत्त्वका ज्ञान है उसके तुल्य लक्षकोटि रसायन नहीं है ।। ३९१ ।।

एकाक्षरप्रदातारं नाडीभेदविवेचकम्। पृथिव्यांनास्तितद्द्रव्यं यद्दत्त्वा चानृणी भवेत् ।। ३९२ ।।

नाड़ीभेदका विवेचन करनेवाला जो एक अक्षर भी दे दे पृथिवीमें वह द्रव्य नही है जिसको देकर अनृणी हो जाय अर्थात् उसका बदला दे सके ।। ३९२ ।।

स्वरतत्त्वं तथा युद्धं देवि वश्यं स्त्रियस्तथा ।
गर्भाधानं च रोगश्च कलार्द्धेनैवमुच्यते ।। ३९३ ।।

स्वरका तत्त्व युद्ध और स्त्रियोंका वशीकरण गर्भाधान और रोग से सब आधी कला (घटी) से इस प्रकार कहे जाते हैं ३९३ ।।

एवं प्रवोततं लोके प्रसिद्धं सिद्धयोगिभिः ।
चन्द्रार्कग्रहणे जाप्यं पठतां सिद्धिदायकम् ।। ३९४ ।।

इस प्रकार यह स्वरोदय लोकमें प्रवृत्त हुआ और योगिजनोंने प्रसिद्ध किया, इसको चन्द्र सूर्यके ग्रहणमें जो जपता है वा पढ़ता है उसको संपूर्ण सिद्धियां देता है ।। ३९४ ।।

स्वस्थाने तु समासीनो निद्रां चाहारमल्पकम् ।
चिंतयेत्परमात्मानं यो वेद स भविष्यति ।। ३९५ ।

जो अपने स्थानपर बैठा रहे निद्रा व भोजन अल्प करे और परमात्माकी चिंता करे और जाने वह मनुष्य स्वरका ज्ञानी हो जायगा ।। ३९५ ।।

इति श्रीउमामहेश्वरसंवादे भाषाटीकासमेतं
शिवस्वरोदयज्ञानं संपूर्णम्

मीमांसा–योग–सांख्य विषयक अन्य प्रकाशन

घेरण्ड संहिता : हिन्दी टीका सहित

पातंजल योगदर्शन : मूलसूत्र, दोहा तथा हिन्दी टीका सहित

त्रिन्दु योग : (राजयोग का प्रारम्भिक ग्रन्थ)
हिन्दी टीका सहित

योग संध्या: अष्टाग योग मे कुशल श्री सदाशिव नारायण ब्रह्मचारी निर्मित हिन्दी टीका सहित, योगाभ्यासियों के लिये परमोपयोगी

वृहद्योगसोपान : (प० रामनरेश मिश्र विरचित) इसमें यम, नियम, प्राणायाम, आदि सचित्र अष्टांग योग का विस्तारपूर्वक वर्णन है। योग के आर्षग्रन्थों से संगृहीत मूल पाठ और हिन्दी टीका सहित

शिव संहिता : काशी निवासी गोस्वामी श्री रामचरणपुरी कृत हिन्दी टीका सहित

सर्व शिरोमणि सिद्धान्तसार: (हिन्दी में) अलवर निवासी योगमार्ग निपुण श्री स्वामी आनन्द मंगलजीका अनुभव बाह्य प्रकाशोंमें

सहज प्रकाश : श्री स्वामी चरणदासजीकी बहिन सहजोबाई कृत

सांख्य दर्शन : (कपिलदेवजीकृत) श्री प्रभुदयालजीकृत हिन्दी-टीका सहित

हठयोग प्रदीपिका : (सान्ताराम योगीन्द्र विरचिता) श्रीयुत ब्रह्मानन्द विरचित संस्कृत टीका तथा पं० मिहिर चन्द्रकृत हिन्दी टीकासहित

ज्ञानस्वरोदयः श्रीस्वामी चरणदासजीकृत

॥ श्रीः ॥

शिवसंहिता.

(भाषाटीकासहिता.)

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकयोगिराजश्री ६ स्वामिस्वयंप्रकाशानन्दसरस्वतीनामाज्ञानुसारेण गोस्वामिश्रीरामचरणपुरीकृतेन भाषानुवादेन सहिता ।

सेयं

खेमराज श्रीकृष्णदासश्रेष्ठिना

मुम्बय्यां

स्वकीये "श्रीवेङ्कटेश्वर" (स्टीम) यन्त्रालये

मुद्रयित्वा प्रकाशं नीता.

श्रावण संवत् १९६०, शके १८२५.

प्रस्तावना.

सर्व मोक्षकांक्षी महापुरुषोंको विदित होय कि, यह "शिवसंहिता" नामक ग्रंथ जो संसारके उपकारार्थ पूर्व श्रीपार्वतीजीके प्रश्नोत्तर योगमार्गउत्पत्तिकर्त्ता श्रीशिवजीने कृपापूर्वक योगोपदेश किया सो यह ग्रंथ योगाभ्यासी जनोंको अति उपकारक है इस हेतुसे कि, श्रीशिवजीने इसमें ब्रह्मज्ञान और हठयोगक्रिया राजयोगसहित उत्तम सरलरीतिसे उपदेश किया है इसको परिश्रमसे लाभ करके योगाभ्यासी और मोक्षकांक्षी जनोंके उपकारार्थ श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकयोगीराज श्री ६ स्वामी स्वयंप्रकाशानन्दसरस्वतीजीके साधक शिष्य काशीनिवासी गोस्वामी रामचरणपुरीजीके द्वारा भाषानुवाद कराय अब तीसरी वार शुद्ध करके निज "श्रीवेङ्कटेश्वर" (स्टीम्) मुद्रायन्त्रालयमें मुद्रित कर प्रसिद्ध किया। अब सर्व शास्त्रवेत्ता बुद्धिमान् जनोंसे प्रार्थना है कि, इस ग्रंथके मूल वा टीकामें जहां कहीं दृष्टिदोषसे अशुद्ध रहा होय उसको कृपापूर्वक सुधारदें.

भवदीय शुभाकांक्षी–

खेमराज श्रीकृष्णदास,

"श्रीवेङ्कटेश्वर" यन्त्रालयाध्यक्ष–मुंबई.

शिवसंहितास्थविषयानुक्रमणिका ।

इत्यनुक्रमणिका ।

ओ ३ म्

श्रीगणेशाय नमः ।

अथ शिवसंहिता ।

मंगलाचरणम् ।

विघ्नहरण गणनाथजी, बुद्धिगेह तुअ माहिं ॥
विघ्न बुद्धि दोनों विकल, नशत जात जगमाहिं ॥ १ ॥
बुद्धिराज दीजे हमें, बुद्धि पुत्र गौरीश ॥
योगयुक्ति भाषा करौं, धरि गुरुआज्ञा शीश ॥ २ ॥
शिव आलयमें जायके, होत जीव भवपार ॥
पाय कृपा गुरु शम्भुकी, भञ्जन चहौं केंवार ॥ ३ ॥
गौरी अब मोहिं दीजिए, अनुशासन सुत जानि ॥
शिवभाषित भाषा रचौं, छूटौं भवभ्रम जानि ॥ ४ ॥
फिर नहिं आवौं जगतमें, योग युक्ति सब जानि ॥
मातु कृपा मोपर करहु, शिक्षहुंदेहुमोहिंज्ञान ॥ ५ ॥
नाम हमारोहै नहीं, नहीं कर्म गुण त्रास ॥
मातु पुकारत पै अहौं, रामचरणपुरि दास ॥ ६ ॥

श्लोक-यंज्ञातुमेवयतिनो मतिपूर्वमेतत्
संसारसृत्वरकलत्रसुतादिसर्वम् ॥
त्यक्त्वासमाधिविधिमेवसमाश्रयन्ते
वन्देकमप्यहमजङ्गदादिबीजम् ॥ १ ॥

शिवसंहिता

भाषाटीका ।
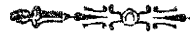
प्रथमपटलः ।

मूलम्-एकंज्ञानं नित्यमाद्यन्तशून्यं नान्यत् किञ्चिद्वर्त्तते वस्तु सत्यम् ॥ यद्भेदोऽस्मि न्निन्द्रियोपाधिना वै ज्ञानस्यायं भासते नान्यथैव ॥ १ ॥

टीका-केवल एक ज्ञान नित्य आदि अन्तरहित है ज्ञानसे अलग अन्य कोई वस्तु सत्य संसारमें वर्त्तमान नहीं है केवल इन्द्रियोपाधिद्वारा संसार जो भिन्न भिन्न बोध होताहै सो यह ज्ञानमात्रही प्रकाश होता है और कुछ नहीं है अर्थात् ज्ञानसे भिन्न कुछ नहीं है ॥ १ ॥

मूलम्-अथ भक्तानुरक्तोऽहं वक्ष्ये योगानुशासनम् ॥ ईश्वरः सर्वभूतानामात्ममुक्तिप्रदायकः ॥ २ ॥ त्यक्त्वा विवादशीलानां मतं दुर्ज्ञानहेतुकम् ॥ आत्मज्ञानाय भूतानामनन्यगतिचेतसाम् ॥ ३ ॥

टीका-सर्व प्राणिमात्रके ईश्वर आत्ममुक्तिप्रदायक भक्तवत्सल जिन मनुष्योंको सिवाय आत्मज्ञानके अन्य गति नहीं है उनके हेतु कृपापूर्वक योगोप-

दश करतेहैं विवादशील लोगोंका मत दुर्ज्ञानका हेतु है यह त्यागनेके योग्य है ॥ २ ॥ ॥ ३ ॥

मूलम्–सत्यं केचित्प्रशंसन्ति तपः शौचं तथापरे ॥ क्षमां केचित्प्रशंसंति तथैव शमार्जवम्॥४॥ केचिद्दानं प्रशंसन्ति पितृकर्म तथापरे ॥ केचित्कर्म प्रशंसन्ति केचिद्वैराग्यमुत्तमम् ॥ ५ ॥

टीका–कोई सत्यकी प्रशंसा करते हैं, कोई तपस्याकी, कोई शौचाचारकी, कोई क्षमाकी प्रशंसा, कोई समताकी, कोई सरलताकी, कोई दानकी प्रशंसा, कोई पितृकर्मकी, कोई सकाम उपासनाकी, कोई पुरुष वैराग्यको उत्तम कहतेहैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

मूलम्–केचिद्गृहस्थकर्माणि प्रशंसन्ति विचक्षणाः ॥ अग्निहोत्रादिकं कर्म तथा केचित्परं विदुः ॥ ६ ॥ मन्त्रयोगं प्रशंसन्ति केचित्तीर्थानुसेवनम् ॥ एवं बहूनुपायांस्तु प्रवदन्ति विमुक्तये ॥ ७ ॥

टीका–कोई पुरुष गृहस्थकर्मकी प्रशंसा करते हैं, कोई बुद्धिमान् पुरुष अग्निहोत्रादिक कर्मकी प्रशंसा करतेहैं कोई मंत्रादिक कोई तीर्थसेवन करना मुख्य

समझते हैं इसी प्रकार मनुष्य बहुतसे उपाय मुक्तिके हेतु अपने मतिके अनुसार करते हैं ॥ ६ ॥ ७ ॥

मूलम्—एवं व्यवसिता लोके कृत्याकृत्यविदो जनाः ॥ व्यामोहमेव गच्छंति विमुक्ताः पापकर्मभिः ॥ ८ ॥ एतन्मतावलम्बी यो लब्ध्वा दुरितपुण्यके ॥ भ्रमतीत्यवशः सोऽत्र जन्ममृत्युपरम्पराम् ॥ ९ ॥

टीका—इसीतरह विधिनिषेध कर्मके जाननेवाले लोग पापकर्मसे रहित होके मोहमेंही पड़तेहैं और जो मनुष्य पुण्यपापका अनुष्ठान पहिले जो मत कहा है उसके आसरे होके करते हैं उसका फल यह होता है कि, मनुष्य वारंवार संसारमें जनमता और मरता है अर्थात् शुभाशुभ कर्म करनेसे कदापि मोक्ष नहीं होता परन्तु शुभकर्म करनेसे केवल चित्तकी शुद्धि होतीहै ॥ ८ ॥ ९ ॥

मूलम्—अन्यैर्मतिमतां श्रेष्ठैर्गुप्तालोकनतत्परैः ॥ आत्मानो बहवः प्रोक्ता नित्याः सर्वगतास्तथा ॥ १० ॥ यद्यत्प्रत्यक्षविषयं तदन्यन्नास्ति चक्षते ॥ कुतः स्वर्गादयः सन्तीत्यन्ये निश्चितमानसाः ॥ ११ ॥

टीका-कोई कोई बुद्धिमान् गुप्तशास्त्रके जाननेमें तत्पर अर्थात् गूढदर्शी बहुत आत्मा नित्य और सर्वव्यापक कहते हैं बहुत प्रत्यक्षवादी यह कहते हैं कि, जो वस्तु प्रत्यक्ष देखनेमें आताहै वही सत्य है और कुछ नहीं है जिनकी बुद्धि स्वर्गादिकके न माननेमें निश्चित है ॥ १० ॥ ११ ॥

मूलं-ज्ञानप्रवाह इत्यन्ये शून्यं केचित्परं विदुः ॥ द्वावेव तत्त्वं मन्यन्तेऽपरे प्रकृतिपूरुषौ ॥ १२ ॥

टीका-कोई मनुष्य कहते हैं कि, सिवाय ज्ञानधाराके और कुछ नहीं है जो वस्तु संसारमें वर्तमान देखने या सुननेमें आती है या किसी प्रकारसे उसका होना निश्चय होताहै वह सब ज्ञानही है कोई पुरुष यही जानता है कि, सिवाय शून्यके और कुछ नहीं है इसीतरह कोई मनुष्य प्रकृतिपुरुष दोनोंको तत्त्व मानते हैं ॥ १२ ॥

मूलम्-अत्यन्तभिन्नमतयः परमार्थपराङ्मुखाः ॥ एवमन्ये तु संचिन्त्य यथामति यथाश्रुतम् ॥ १३ ॥ निरीश्वरमिदं प्राहुः सेश्वरञ्च तथापरे ॥ वदन्ति विविधैर्भेदैः सुयुक्त्याति स्थिाकातराः ॥ १४ ॥

टीका-बहुतसे परमार्थसे बहिर्मुख जिनकी भिन्न भिन्न मति है अपने मतिके अनुसार कर्मोंको मानते और करते हैं कोई कहते हैं कि, ईश्वर नहीं है इसीतरह बहुत लोग कहते हैं कि, यह संसार बिना ईश्वरके नहीं है अर्थात् ईश्वरहीसे है यही निश्चय जानते हैं अपनी युक्तिसे बहुत २ भेद कहते और उसमें स्थिरतासे तत्पर रहते हैं ॥ १३ ॥ १४ ॥

मूलम्-एते चान्ये च मुनिभिः संज्ञाभेदाः पृथग्विधाः ॥ शास्त्रेषु कथिता ह्येते लोकव्यामोहकारकाः॥१५॥एतद्विवादशीलानां मतं वक्तुं न शक्यते ॥ भ्रमन्त्यस्मिञ्जनाः सर्वे मुक्तिमार्गबहिष्कृताः ॥ १६ ॥

टीका-ऐसे बहुत मुनिलोगोंने नानाप्रकारके मत शास्त्रमें स्थापन किये हैं यह संसारके मोह भ्रममें पड़नेका हेतु है अर्थात् शास्त्रमें बहुतप्रकारके मत देखनेसे मनुष्यके चित्तमें भ्रम उत्पन्न होता है उस भ्रमका फल यह है कि, अपनी बुद्धिके अनुसार कोई एक मत ग्रहण करके मरणपर्यंत उसमें तत्पर मनुष्य रहताहै परंतु अमृत लाभ नहीं होता ऐसे विवादशील लोगोंका मत वर्णन करनेको हम शक्य नहीं हैं ।

मुक्तिमार्गसे विमुख होके सब मनुष्य संसारमें भ्रमण करते हैं ॥ १५ ॥ १६ ॥

मूलम्-आलोक्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ॥ इदमेकं सुनिष्पन्नं योगशास्त्रं परं मतम् ॥ १७ ॥

टीका-श्रीमहादेवजी कहते हैं कि, सब शास्त्रोंको देखके और वारंवार विचारके यह निश्चित हुआ कि, एक यह योगशास्त्र उत्तम परमसंमत है अर्थात् यह सबसे उत्तम है तात्पर्य यह है कि, ऐसे मतको छोड़कर जिसकी प्रशंसा ईश्वर अपने मुखारविन्दसे करते हैं और जिसके ग्रहण करनेसे ब्रह्म करामलकवत् जानपडता है मनुष्य विक्षिप्तके तरह इधर उधर चित्तको दौड़ाते हैं और बहुत लोग यह विचारते हैं कि, यह बड़ा कठिन है आश्चर्यकी बात है कि, मनुष्यशरीरसे जब ऐसा उत्तम श्रम न होगा तो जान पडता है कि, रोगादिकसे शरीरके नाश होनेसे पीछे फिर जब पशुका जन्म होगा तब कुछ ईश्वरके जाननेमें श्रम करेंगे ॥ १७ ॥

मूलम्-यस्मिञ्ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति निश्चितम् ॥ तस्मिन्परिश्रमः कार्यः किमन्यच्छास्त्रभाषितम् ॥ १८ ॥

टीका-निश्चय जिसके जाननेसे सब संसार जाना जाता है ऐसे योगशास्त्रके जाननेमें परिश्रम करना अवश्य उचितहै फिर अन्य शास्त्र जो कहेहैं उनका क्या प्रयोजन है अर्थात् कुछ प्रयोजन नहीं तात्पर्य यह है कि, पंडित लोग वृथा विवाद करके जो लोग सुमार्गमें जानेकी इच्छा करतेहैं उनको भी भ्रष्ट कर देते हैं ॥ १८ ॥

मूलम्-योगशास्त्रमिदं गोप्यमस्माभिः परिभाषितम् ॥ सुभक्ताय प्रदातव्यं त्रैलोक्ये च महात्मने ॥ १९ ॥

टीका-यह योगशास्त्र जो हमने कहाहै सो परम गोपनीय है यह त्रैलोक्यमें महात्मा और अच्छे भक्त जनोंको देना उचित है तात्पर्य यह है कि, विना ईश्वरके भक्तिके यह शुभकर्म सिद्ध नहीं होता न उधर चित्तकी वृत्ति जातीहै इस हेतुसे अभक्तजनोंको देना उचित नहींहै ॥ १९ ॥

मूलम्-कर्मकाण्डं ज्ञानकाण्डमिति वेदो द्विधा मतः ॥ भवति द्विविधो भेदो ज्ञानकाण्डस्य कर्मणः ॥ २० ॥ द्विविधः कर्मकाण्डः स्यान्निषेधविधिपूर्वकः ॥ निषिद्धकर्मकरणे पापं भवति निश्चितम् ॥ विधिं-

ना कर्मकरणे पुण्यं भवति निश्चितम् ॥ २१ ॥

टीका-कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड वेदके दो मत हैं इसमेंभी दो दो भेद कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें भये हैं ॥ २० ॥ उस कर्मकाण्डमें दो प्रकार हैं एक निषेध दूसरा विधि तहां निषेध कर्म करनेसे निश्चय पाप होता है विहित कर्म करनेसे निश्चय करके पुण्य होताहै ॥ २१ ॥

मूलम्-त्रिविधो विधिकूटःस्यान्नित्यनैमित्ति-
काम्यतः॥नित्येऽकृते किल्बिषं स्यात्का-
म्ये नैमित्तिके फलम् ॥ २२ ॥

टीका-विधि कर्ममें तीन प्रकारका भेद कहाहै नित्य १ नैमित्तिक २ सकाम ३ नित्यकर्म संध्या देवार्चन आदि न करनेसे पाप होता है सकाम अर्थात् जो कर्म फलके इच्छासे किया जाताहै और नैमित्तिक जो तीर्थों में पर्वादिकमें स्नानादिक करते हैं इनके न करनेसे पाप नहीं होता परन्तु करनेसे फल होताहै ॥ २२ ॥

मूलं-द्विविधन्तु फलं ज्ञेयं स्वर्गो नरक एव
च ॥ स्वर्गो नानाविधश्चैव नरकोपि तथा
भवेत् ॥ २३ ॥

टीका-फल दो प्रकारका होताहै स्वर्ग और नरक स्वर्ग नानाप्रकारका है ऐसेही नरकभी बहुत प्रकारका

है तात्पर्य यह है कि, जैसा जो मनुष्य शुभाशुभ कर्म करता है वैसेही नरक वा स्वर्गमें जाताहै ॥ २३ ॥

मूलम्—पुण्यकर्माणि वै स्वर्गो नरकः पापकर्मणि ॥ कर्मबंधमयी सृष्टिर्नान्यथा भवति ध्रुवम् ॥ २४ ॥

टीका—पुण्यकर्म करनेसे स्वर्गमें जाताहै और पापकर्मसे नरकमें जाताहै. संसार कर्मसे निश्चय करके बंधाहै दूसरा हेतु नहीं है तात्पर्य यह है कि, जो ईश्वरको जानके कर्माकर्मसे अपनेको रहित समझेगा वह इस बंधसे छूटजायगा ॥ २४ ॥

मूलम्—जन्तुभिश्चानुभूयंते स्वर्गे नानासुखानि च ॥ नानाविधानि दुःखानि नरके दुःसहानि वै ॥ २५ ॥

टीका—प्राणी स्वर्गमें नानाप्रकारके सुखका अनुभव करता है ऐसेही वहुत प्रकारके दुःसह दुःख नरकमें भी भोगता है ॥ २५ ॥

मूलम्—पापकर्मवशाद्दुःखंपुण्यकर्मवशात्सुखं तस्मात्सुखार्थी विविधं पुण्यं प्रकुरुते ध्रुवं२६

टीका—पापकर्म करनेसे दुःख होता है और पुण्यकर्म करनेसे सुख होताहै इस हेतुसे निश्चय करके सुखार्थी पुरुष नानाप्रकारके पुण्य करते हैं ॥ २६ ॥

मूलम्–पापभोगावसाने तु पुनर्जन्म भवे-
त्खलु ॥ पुण्यभोगावसाने तु नान्यथा
भवति ध्रुवम् ॥ २७ ॥

टीका–पापका फल भोगनेके पीछे अवश्य फिर जन्म होताहै ऐसेही पुण्यफल भोगनेके अंतमें निश्चय फिर जन्म होता है अन्यथा नहीं होता ॥ २७ ॥

मूलम्–स्वर्गेऽपि दुःखसंभोगः परस्त्रीदर्शना-
द्ध्रुवम् ॥ ततो दुःखमिदं सर्वं भवेन्नास्त्यत्र
संशयः ॥ २८ ॥

टीका–स्वर्गमेंभी दुःखहैं इस कारणसे कि, उस स्थानमें परस्त्रीका दर्शन अवश्य होताहै उसकी अप्राप्तिमें मानसिक व्यथा उत्पन्न होती है अन्य भी राग द्वेषादि बहुतसे कारण हैं कि, प्राणीके चित्तको स्वर्गमें भी स्थिर नहीं रहने देते इस हेतुसे संसारमें सिवाय दुःखके सुख नहीं है ॥ २८ ॥

मूलम्–तत्कर्मकल्पकैः प्रोक्तं पुण्यंपापमि-
ति द्विधा ॥ पुण्यपापमयो बन्धो देहिनां
भवति क्रमात् ॥ २९ ॥

टीका–बुद्धिमान् लोगोंने पुंण्य और पाप दोप्रकारक

कर्म कहाहै इसी पुण्य पापसे शरीर बंधायमान है अर्थात् वारंवार शरीरधारण करनेका कारण है ॥ २९ ॥

मूलम्–इहामुत्र फलद्वेषी सफलं कर्म संत्यजेत् ॥ नित्यनैमित्तिके संगं त्यक्त्वा योगे प्रवर्तते ॥ ३० ॥

टीका–इस लोकका भोग वा परलोकके फलकी इच्छा और नित्य नैमित्तिक आदि कर्मोंको फलसहित त्यागके योगाभ्यास अर्थात् परब्रह्मके विचारमें महात्मा जनोंके तत्पर रहना उचित है ॥ ३० ॥

मूलं–कर्मकाण्डस्य माहात्म्यं ज्ञात्वा योगी त्यजेत्सुधीः ॥ पुण्यपापद्वयं त्यक्त्वा ज्ञानकाण्डे प्रवर्तते ॥ ३१ ॥

टीका– कर्मकाण्डके माहात्म्यको जानके योगीको उचितहै कि, पुण्य पाप दोनोंको तृणवत् विचारके त्याग दे और ज्ञानकाण्डमें तत्पर होरहे ॥ ३१ ॥

मूलम्--आत्मा वारे च श्रोतव्यो मंतव्य इति यच्छ्रुतिः ॥ सा सेव्या तत्प्रयत्नेन मुक्तिदा हेतुदायिनी ॥ ३२ ॥

टीका– यह श्रुतिका वाक्य है कि, आत्माको सुनो और आत्माको मनन करो अर्थात् जो कुछ

है सो आत्माही है सो श्रुति मुक्तिकी देनेवाली है यत्न करके सेवनके योग्य है ॥ ३२ ॥

मूलम्-दुरितेषु च पुण्येषु यो धीवृत्तिं प्रचोदयात् ॥ सोऽहं प्रवर्तते मत्तो जगत्सर्वं चराचरम् ॥ ३३ ॥ सर्वं च दृश्यते मत्तः सर्वं च मयि लीयते ॥ न तद्भिन्नोऽहमस्मीह मद्भिन्नो न तु किंचन ॥ ३४ ॥

टीका—पाप पुण्य दोनोंमें समानरूपकी बुद्धिको जो वृत्ति प्रेरणा करती है सो हम हैं और हमसेही सब जगत् चराचर उत्पन्न है ॥ ३३ ॥ और जो देख पड़ताहै वह सब हम हैं हममेंही सब लीन होताहै न वह हमसे भिन्न है न हम उससे किंचित्मात्र भिन्न हैं तात्पर्य यह है कि, वह आत्मा जिससे यह जगत् उत्पन्नहै हमसे भिन्न नहीं है इस हेतुसे इस संसारके स्थिति संहार कर्त्ता हम हैं ऐसी वृत्ति योगीकी रहती है ॥ ३४ ॥

मूलम्--जलपूर्णेष्वसंख्येषु शरावेषु यथा भवेत् ॥ एकस्य भात्यसंख्यत्वं तद्भेदोऽत्र न दृश्यते ॥ ३५ ॥ उपाधिषु शरावेषु या संख्या वर्तते परा ॥ सा संख्या भवति यथा रवौ चात्मनि तत्तथा ॥ ३६ ॥

टीका–जलसे भरा असंख्य शराव अर्थात् मृत्तिका आदिके पात्रमें एक सूर्यका अनेक प्रतिबिंब देख-पडता है वास्तवमें भेद नहीं है जो भेद देख-पडता है वह शरावके संख्याका भेद है ॥ ३६ ॥ जिस प्रकारसे शरावके संख्यासे सूर्यमें भेद जान पडता है उसी प्रकार मायाकी उपाधिसे संसार भिन्न भिन्न जान पडता है वस्तुतः केवल एक ब्रह्म है ॥३६॥

मूलम्–यथैकः कल्पकः स्वप्ने नानाविधतयेष्यते ॥ जागरेऽपि तथाप्येकस्तथैव बहुधा जगत् ॥ ३७ ॥

टीका–जैसे स्वप्न अवस्थामें एकसे अनेक कल्पना होतीहै निद्राच्युत होजानेपर कुछ नहीं रहता उसी प्रकार मायाके आवरणसे अनेक संसार जान पडता है जब ज्ञानरूपी खड्गसे मायाका पटल कटजाता है तब सिवाय शुद्धब्रह्मके और कुछ नहीं रहजाता ॥ ३७ ॥

मूलम्-सर्पबुद्धिर्यथा रज्जौ शुक्तौ वा रजतभ्रमः ॥३८॥ तद्वदेवमिदं विश्वं विवृतं परमात्मनि ॥ रज्जुज्ञानाद्यथा सर्पो मिथ्यारूपो निवर्तते ॥ ३९ ॥ आत्मज्ञानात्तथा याति मिथ्याभूतमिदं जगत् ॥ रौप्यभ्रान्तिरियं याति शुक्तिज्ञानाद्यथा खलु ४०

टीका—रस्सीमें सर्पकी भ्रान्ति और सीपीमें चाँदीकी भ्रान्ति होतीहै ॥३८॥उसी प्रकार शुद्धब्रह्ममें संसारकी झूँठी भ्रान्ति होती है रस्सीके ज्ञान होनेसे झूँठे सर्पका अभाव होजाता है॥३९॥ उसी तरह आत्मज्ञान होनेसे यह संसार नहीं रहजाता सीपीकोभी अच्छी तरह निश्चय जानलेनेसे चाँदीकी भ्रांति दूर होती है ॥ ४० ॥

मूलम्-जगद्भ्रान्तिरियं याति चात्मज्ञानाद्य-
था तथा ॥ यथा रज्जूरगभ्रान्तिर्भवेद्भे-
दवशाज्जगत् ॥ ४१ ॥ तथा जगदिदं
भ्रांतिरध्यासकल्पनाज्जगत् ॥ आत्मज्ञा-
नाद्यथा नास्ति रज्जुज्ञानाद्भुजङ्गमः ॥४२॥

टीका—वैसेही आत्मज्ञान होनेसे जगत्की भ्रान्ति दूर होती है जैसे रस्सीमें सर्पकी भ्रांति होतीहै ॥ ४१ ॥ उसी तरह आत्मामें अध्यास कल्पनामात्र जगत्की भ्रांति है रज्जुवत् ज्ञान होनेसे फिर जगत्का तीनों कालसे अभाव हो जाताहै ॥ ४२ ॥

मूलम्-यथा दोषवशाच्छुक्लः पीतोभवति ना-
न्यथा ॥ अज्ञानदोषादात्मापि जगद्भवति
दुस्त्यजम् ॥ ४३ ॥ दोषनाशे यथा शुक्लो

[illegible] रोगिणा स्वयम्॥ शुक्लज्ञानात्तथाऽ-
ज्ञाननाशादात्मा तथा कृतः ॥ ४४ ॥

टीका-जैसे मनुष्यको कवलकी व्याधि अर्थात् पित्तादिकके दोषसे सब वस्तु निश्चय पीतवर्ण देख पड़ता है उसी प्रकार अज्ञानरूपी दोषसे शुद्ध आत्मा नहीं प्रतीत होताहै परन्तु यह झूँठा संसार देख पड़ता है ऐसा अज्ञान बड़े कष्टसे दूर होताहै जैसे पित्तादिक दोषके नाश होनेसे फिर यथार्थ देखपडता है उसी प्रकार अज्ञान दूर होनेसे शुद्धब्रह्म निर्विकार जानपडता है तात्पर्य यहहै कि, मनुष्यके पीछे एक अज्ञान की व्याधि बहुत बडी लगी है इसकी औषधि आत्मज्ञान है यह बात निश्चय है कि, व्याधि विना औषधिके दूर नहीं होती ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

मूलम्-कालत्रयेपि न यथा रज्जुःसर्पो भवे-
दिति ॥ तथात्मा न भवेद्विश्वं गुणातीतो
निरञ्जनः ॥ ४५ ॥

टीका-जिस तरह रस्सी तीनों कालमें सर्प नहीं हो सकती उसी तरह आत्माभी तीनों कालमें कदापि संसार नहीं हो सक्ता अर्थात् नहीं है इस हेतुसे कि, आत्मा गुणातीत है अर्थात् गुणसे रहित है ॥ ४५ ॥

मूलम्-आगमाऽपायिनोऽनित्यानाश्यत्वेने-
श्वरादयः ॥ आत्मबोधेन केनापि शास्त्रा-
देतद्विनिश्चितम् ॥ ४६ ॥

टीका—वह शास्त्र जिसमें आत्मबोधका निरूपण किया है उससे निश्चय है कि, इंद्रादि देवताभी जो ईश्वर कहे जाते हैं नित्यभावसे रहित हैं अर्थात् उनकाभी जनन मरण होताहै ॥ ४६ ॥

मूलम्—यथा वातवशात्सिन्धावुत्पन्नाः फेन-
बुद्बुदाः ॥ तथात्मनि समुद्भूतं संसारं
क्षणभंगुरम् ॥ ४७ ॥

टीका—जैसे वायुकी उपाधिसे समुद्रमें फेन और बुद्बुदे उत्पन्न होते हैं क्षणभरमें फिर उसीमें लय होजाते हैं तैसेही आत्मासे संसार मायाकी उपाधिसे क्षण-भंगी उत्पन्न होताहै फिर उसीमें लय होजाताहै ॥ ४७ ॥

मूलम्—अभेदो भासते नित्यं वस्तुभेदो न
भासते ॥ द्विधात्रिधादिभेदोऽयं भ्रमत्वे
पर्यवस्यति ॥ ४८ ॥

टीका—परमात्माका संसारसे सदा अभेद है और किसी वस्तुमें भेद नहीं है एक दो तीन ऐसा जो वस्तु का भेद जानपडताहै वह भ्रमका कारण है ॥ ४८ ॥

मूलम्--यद्भूतं यच्च भाव्यं वै मूर्तामूर्तं तथैव च ॥ सर्वमेव जगदिदं विवृतं परमात्मनि ॥ ४९ ॥

टीका-- जो भया है और जो होगा मूर्तिमान् वा अमूर्तिमान् यह सब जगत् आत्मासे मिलाहै अर्थात् उससे भिन्न नहीं है ॥ ४९ ॥

मूलम्--कल्पकैः कल्पिता विद्या मिथ्या जाता मृषात्मिका ॥ एतन्मूलं जगदिदं कथं सत्यं भविष्यति ॥ ५० ॥

टीका--यह संसार मिथ्याभूत अविद्याकल्पनासे कल्पित भया है बडे आश्चर्यकी बात है कि, जिसकी जड मिथ्या है वह आप कब सत्य होसक्ता है अर्थात् सब झूँठ है ॥ ५० ॥ .

मूलं--चैतन्यात्सर्वमुत्पन्नं जगदेतच्चराचरम् ॥ तस्मात्सर्वं परित्यज्य चैतन्यं त समाश्रयेत् ॥ ५१ ॥

टीका--केवल एक चैतन्य ब्रह्मसे जरायुज, अंडज, स्वेदज, उद्भिज्ज आदि सकल चराचर संसार उत्पन्न भया है इस हेतुसे सबको त्यागिके केवल उसी एक

चैतन्य आत्माके आसरे होना उचित है क्यों कि वही चैतन्य सबका कारण है ॥ ५१ ॥

मूलम्—घटस्याभ्यंतरे बाह्ये यथाकाशं प्रवर्तते ॥ तथात्माभ्यंतरे बाह्ये ब्रह्मांडस्य प्रवर्तते ॥ ५२ ॥

टीका—जैसे घटके भीतर बाहर आकाश व्याप्त है वैसेही इस ब्रह्माण्डके भीतर बाहर आत्मा परिपूर्ण व्याप्त है ॥ ५२ ॥

मूलम्—सततं सर्वभूतेषु यथाकाशं प्रवर्तते॥ तथात्माभ्यंतरे बाह्ये ब्रह्मांडस्य प्रवर्तते ॥ ५३ ॥ वर्तते सर्वभूतेषु यथाकाशं समंततः ॥ तथात्माभ्यंतरे बाह्ये कार्यवर्गेषु नित्यशः ॥ ५४ ॥

टीका—जिसप्रकार आकाश सब चराचरमें व्याप्त है उसीतरह आत्माभी इस जगत्में व्याप्त है अर्थात् आकाशवत् सब वस्तुमें आत्मा परिपूर्ण व्याप्त है॥५३॥ ५४॥

मूलम्—असंलग्नं यथाकाशं मिथ्याभूतेषु पंचसु ॥ असंलग्नस्तथात्मा तु कार्यवर्गेषु नान्यथा ॥ ५५ ॥

टीका—जिसतरह आकाश सब वस्तुमें मिला है और सबसे अलग है उसीतरह परमात्मा सब वस्तु चराचरमें व्याप्त है और सबसे अलग है ॥ ५५ ॥

मूलम्—ईश्वरादिजगत्सर्वमात्मव्याप्यं समन्ततः ॥ एकोऽस्ति सच्चिदानंदः पूर्णो द्वैतविवर्जितः ॥ ५६ ॥

टीका—ब्रह्मा आदि सब जगत्में वही एक आत्मा परिपूर्ण व्याप्त है वह एक सच्चिदानन्दपरिपूर्ण द्वैतरहित है अर्थात् दूसरा कुछ नहीं है ॥ ५६ ॥

मूलम्—यस्मात्प्रकाशको नास्ति स्वप्रकाशो भवेत्ततः ॥ स्वप्रकाशो यतस्तस्मादात्मा ज्योतिःस्वरूपकः ॥ ५७ ॥

टीका—जिसका कोई प्रकाशक नहीं है वह आपही प्रकाशमान है जो आपही प्रकाशमान है वह आत्मा ज्योतिःस्वरूप है ॥ ५७ ॥

मूलम्—अवच्छिन्नो यतो नास्ति देशकालस्वरूपतः ॥ आत्मनः सर्वथा तस्मादात्मा पूर्णो भवेत्खलु ॥ ५८ ॥

टीका—देश करके वा कालके प्रमाणसे वह परिच्छिन्न नहीं है अर्थात् उसका इयत्तापरिमाण नहीं है न

उसमें कालका नियम है इस हेतुसे आत्मा सर्वथा निश्चय परिपूर्ण है ॥ ५८ ॥

मूलम्–यस्मान्न विद्यते नाशः पंचभूतैर्वृथात्मकैः॥ तस्मादात्मा भवेन्नित्यस्तन्नाशो न भवेत्खलु ॥ ५९॥

टीका–यह जो मिथ्या पंचभूत हैं इनसे उसका नाश नहीं है इस कारणसे आत्मा नित्य है और यह निश्चय है कि उसका कभी नाश नहीं होता ॥ ५९ ॥

मूलम्--यस्मात्तदन्यो नास्तीह तस्मादेकोऽस्ति सर्वदा॥यस्मात्तदन्यो मिथ्या स्यादात्मा सत्यो भवेत्खलु ॥६० ॥

टीका–जब दूसरा कुछ नहीं है तो एक वही सर्वदा अद्वैत है जब उसके सिवाय अर्थात् उससे अन्य सब मिथ्या है तो वही एक शुद्ध आत्मा सत्य है ॥ ६० ॥

मूलम्--अविद्याभूते संसारे दुःखनाशे सुखं यतः ॥ ज्ञानादाद्यंतशून्यं स्यात्तस्मादात्मा भवेत्सुखम् ॥ ६१ ॥

टीका–यह संसार अविद्यासे उत्पन्न भया है इसमें दुःखका नाश होनेपर सुख होता है और ज्ञानसे

दुःखका आदि अंत शून्य है इस हेतुसे निश्चय आत्मा सुखस्वरूप है ॥ ६१ ॥

मूलम्-यस्मान्नाशितमज्ञानं ज्ञानेन विश्वकारणम् ॥ तस्मादात्मा भवेज्ज्ञानं ज्ञानं तस्मात्सनातनम् ॥ ६२ ॥

टीका-जिसकरके अज्ञान नाश होताहै और यह जान पडताहै कि अज्ञानही संसारका कारण है सोई आत्मज्ञान है और ज्ञानही नित्य है ॥ ६२ ॥

मूलम्-कालतो विविधं विश्वं यदा चैव भवेदिदम् ॥ तदेकोऽस्ति स एवात्मा कल्पनापथवर्जितः ॥ ६३ ॥

टीका-काल पायके अनेक प्रकारका संसार उत्पन्न होताहै, सो वह एक आत्मा है वह कल्पनापथवर्जित है अर्थात् कल्पना नहीं होसक्ती ॥ ६३ ॥

मूलम्-बाह्यानि सर्वभूतानि विनाशं यान्ति कालतः ॥ यतो वाचो निवर्त्तंते आत्मा द्वैतविवर्जितः ॥ ६४ ॥

टीका-आत्मासे जो अतिरिक्त वस्तु उत्पन्न है वह काल पायके नाश होजाती हैं आत्मा द्वैतरहित है,

अर्थात् एक है इसका वर्णन नहीं होसक्ता तात्पर्य यह है कि यावत् वस्तु उत्पन्न होती है उसको काल खाजाताहै परन्तु आत्मामें कालकाभी नाश होजाताहै ॥६४॥

मूलम्--न खं वायुर्न चाग्निश्च न जलं पृथिवी न च ॥ नैतत्कार्यं नेश्वरादि पूर्णैकात्मा भवेत्खलु ॥ ६५ ॥

टीका–वह आकाश नहीं है इस हेतुसे कि उसमें शब्द नहीं है वायु नहीं है क्यों कि उसमें स्पर्श नहीं है अग्नि नहीं है काहेसे कि उसमें तेजभाव नहीं है जल नहीं है क्यों कि उसमें रस नहीं है वह पृथ्वी नहीं है क्यों कि गन्धरहित है वह कार्य नहीं है क्यों कि उसका कारण नहीं है वह ब्रह्मा इंद्र आदि ईश्वर नहीं है इस हेतुसे कि उसका नाश नहीं होता अर्थात् वह आत्मा न आकाश न वायु न अग्नि न जल न पृथ्वी कुछ नहीं है निश्चय केवल एक परिपूर्णब्रह्म है ॥ ६५ ॥

मूलम्--आत्मानमात्मनो योगी पश्यत्यात्मनि निश्चितम् ॥ सर्वसंकल्पसंन्यासी त्यक्तमिथ्याभवग्रहः ॥ ६६ ॥

टीका–यह मिथ्यासंसाररूपी गृहको त्यागके सर्व

संकल्पसे रहित होके योगी आत्मासे आत्माको आत्मामें देखता है ॥ ६६ ॥

मूलम्--आत्मनात्मनि चात्मानं दृष्ट्वानन्तं सुखात्मकम्॥विस्मृत्य विश्वं रमते समाधेस्तीव्रतस्तथा ॥ ६७ ॥

टीका-संसार विस्मृति करके अर्थात् भुलाके आत्मासे आत्माको आत्मारूप होके देखता और आत्माके आनन्द सुखरूपी तीव्रसमाधिमें योगी रमण करता है ॥ ६७ ॥

मूलम्--मायैव विश्वजननी नान्या तत्त्वधिया परा ॥ यदा नाशं समायाति विश्वं नास्ति तदा खलु ॥ ६८ ॥

टीका-माया संसारकी माता है अर्थात् मायासेही संसार उत्पन्न भयाहै यह निश्चय है कि दुसरा हेतु इस जगत्के उत्पत्तिका नहीं है ज्ञान करके इस मायाके नाश होनेसे संसारका अभाव निश्चय जानपडताहै॥६८॥

मूलम्-हेयं सर्वमिदं यस्य मायाविलसितं यतः ॥ ततो न प्रीतिविषयस्तनुवित्तसुखात्मकः ॥ ६९ ॥

टीका-यह जूँठा मायाका प्रपंच विषयसुख धन शरीर है इनमें प्रीति करना उचित नहीं है यह सब त्यागनेके योग्य है ॥ ६९ ॥

मूलम्-अरिर्मित्रमुदासीनस्त्रिविधं स्यादिदं जगत् ॥ व्यवहारेषु नियतं दृश्यते नान्यथा पुनः ॥ ७० ॥

टीका-शत्रु मित्र उदासीनता यही तीन प्रकारके व्यवहारका प्रवाह इस संसारमें निश्चय देखपड़ता है॥७०॥

मूलम्-प्रियाप्रियादिभेदस्तु वस्तुषु नियतः स्फुटम् ॥ आत्मोपाधिवशादेवं भवेत्पुत्रादि नान्यथा ॥७१॥ मायाविलसितं विश्वं ज्ञात्वैवं श्रुतियुक्तितः ॥ अध्यारोपापवादाभ्यां लयं कुर्वन्ति योगिनः ॥ ७२ ॥

टीका-और प्रिय अप्रिय यही दो भेदसे जगत् बँधा है ॥ आत्माके उपाधिसे पिता पुत्रादि होतेहैं यह जगत् मायासे विलसितहै यह श्रुति प्रमाणसे जानके योगी लोग अध्यारोप अपवादसे आत्मामें लय करतेहैं अर्थात् शुद्धचैतन्यका मनन करते हैं ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

मूलम्-कर्मजन्यं विश्वमिदं नत्वकर्मणि

वेदना ॥ निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पूरुषः ॥ ७३ ॥

टीका--इस जगत्की स्थिति कर्मसे है अर्थात् सुख दुःख जन्म मरण आदि क्लेशोंका कारण कर्मही है अकर्म होजानेसे फिर कुछ दुःख नहीं है यावत् मायाके उपाधिको जब पुरुष जीतके उससे रहित होजाताहै ॥ ७३ ॥

मूलम्–तदा विजयतेऽखंडज्ञानरूपी निरंजनः ॥ स हि कामयते पुरुषः सृजते च प्रजाः स्वयम् ॥ ७४ ॥

टीका--तब अखंडज्ञानरूपी निरंजनका भान होताहै ॥ आत्मा अपने इच्छासे जगत् सृजता अर्थात् उत्पन्न करता है ॥ ७४ ॥

मूलम्–अविद्या भासते यस्मात्तस्मान्मिथ्या स्वभावतः ॥ शुद्धे ब्रह्मणि संबद्धो विद्यया सहजो भवेत् ॥ ७५ ॥

टीका–यह इच्छा अविद्याका कार्य है अविद्या नाम मिथ्याका है तो जब इच्छाही मिथ्या मायासे उत्पन्न है तो उस इच्छाका कार्य कब सत्य होसक्ताहै तात्पर्य यह है कि, मायाके उपाधिसे आत्माका यह इच्छाभूत

संसार मनोराज्यवत् है. जैसे मनुष्यका मनोराज्य मिथ्या है, उसी प्रकार आत्माका इच्छाभूत यह जगत्‌भी मिथ्याहै शुद्धब्रह्ममें ज्ञानरूपी विद्याका संबन्ध है ॥७५॥

मूलम्–ब्रह्मतेजोंऽशतो याति तत आभासते नभः ॥ तस्मात्प्रकाशते वायुर्वायोरग्निस्ततो जलम् ॥ ७६ ॥ प्रकाशते ततः पृथ्वी कल्पनेयं स्थिता सति ॥ आकाशाद्वायुराकाशपवनादग्निसंभवः ॥ ७७ ॥

टीका–उस ब्रह्मके तेजअंशसे आकाश उत्पन्नभया, आकाशसे वायु उत्पन्न भया, वायुसे अग्नि उत्पन्न भया अग्निसे जल भया, जलसे पृथ्वी उत्पन्न भई, यह कल्पना है आकाशसे वायु उत्पन्न भया और आकाश वायुसे तेज उत्पन्न भया ॥ ७६ ॥ ७७ ॥

मूलम्–खवाताग्नेर्जलं व्योमवाताग्निवारितोमही ॥ खंशब्दलक्षणं वायुश्चंचलः स्पर्शलक्षणः ॥ ७८ ॥ स्याद्रूपलक्षणं तेजः सलिलं रसलक्षणम् ॥ गन्धलक्षणिका पृथ्वी नान्यथा भवति ध्रुवम् ॥ ७९ ॥

विशेषगुणाः प्रस्फुरंति यतः शास्त्रादि-
निर्णयः ॥ शब्दैकगुणमाकाशं द्विगुणो
वायुरुच्यते॥ ८० ॥तथैव त्रिगुणं तेजो भ-
वन्त्यापश्चतुर्गुणाः ॥ शब्दः स्पर्शश्च रूपं
च रसो गन्धस्तथैव च ॥८१॥ एतत्पंच-
गुणा पृथ्वी कल्पकैः कल्प्यतेऽधुना॥चक्षु-
षा गृह्यते रूपं गन्धो घ्राणेन गृह्यते॥८२॥

टीका–और आकाश वायु अग्निसे जल उत्पन्न भया और इन चारोंसे पृथ्वी उत्पन्न भई, शब्दगुण आकाश-काहै और स्पर्श गुण वायुका है, रूपगुण तेजका है, रसगुण जलका है और पृथ्वीका गुण गंध है. इन पांच तत्त्वोंमें यह गुण जो ऊपर कहा है विशेष है यह शास्त्रसे निर्णय भयाहै अन्यथा नहीं है निश्चय है कि, आकाशमें एक शब्द गुणहै, वायुमें दो गुण हैं, अग्निमें तीन गुण हैं और जलमें चार गुण हैं, पृथ्वीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, यह पांचों गुण कल्पित हैं नेत्र रूपको ग्रहण करताहै और नासिका गंध ग्रहण करती है ॥ ७८ ॥ ७९ ॥ ८० ॥ ८१ ॥ ८२ ॥

मूलम्–रसो रसनया स्पर्शस्त्वचा संगृह्यते

परम्॥श्रोत्रेण गृह्यते शब्दो नियतं भाति नान्यथा ॥ ८३ ॥

टीका-और जिह्वासे रस ग्रहण होताहै और स्पर्श त्वचा अर्थात् शरीरके चर्मसे ग्रहण होताहै वा बोध होताहै और शब्द कर्णसे ग्रहण होता है यह निश्चयहै इसमें अन्यथा नहीं है ॥ ८३ ॥

मूलम्-चैतन्यात्सर्वमुत्पन्नं जगदेतच्चराचरम् ॥ अस्तिचेत्कल्पनेयं स्यान्नास्ति चेदस्ति चिन्मयम् ॥ ८४ ॥

टीका-सब जगत् चराचर उसी एक चैतन्यसे उत्पन्न भयाहै यदि संसार सत्य मानाजाय तो इस प्रकारसे कल्पना भईहै और जो संसारका अभावहै अर्थात् नहीं है तो वही एक चैतन्य आत्माहै और कुछ नहीं है ॥ ८४ ॥

मूलम्-पृथ्वी शीर्णा जले मग्ना जलं मग्नञ्च तेजसि ॥ लीनं वायौ तथा तेजो व्योम्नि वातो लयं ययौ ॥ ८५ ॥

टीका-पृथ्वी जलमें मग्न अर्थात् लय होजाती है जल

अग्निमें लयभावको प्राप्त होताहै और अग्नि वायुमें लय होजाताहै और वायु आकाशमें लीन होजाताहै ॥ ८५ ॥

मूलम्–अविद्यायां महाकाशो लीयते परमे पदे ॥ विक्षेपावरणाशक्तिर्दुरन्ता दुःखरूपिणी॥८६॥जडरूपा महामाया रजःसत्त्वतमोगुणा ॥ सा मायावरणाशक्त्यावृताविज्ञानरूपिणी ॥ ८७ ॥

टीका–और आकाश अविद्यामें लयभावको प्राप्त होजाताहै और यह अविद्या मायाभी परमपदको पहुँच जाती है अर्थात् आत्मामें लय होजातीहै. तात्पर्य यह है कि, जो उत्पन्न भयाहै उसका अवश्य नाशहै. ईश्वरकी यह दो शक्ति विक्षेप और आवरण हैं, इनका अंत नहींहैं यह महामाया दुःखरूपिणीमें रज, सत्त्व, तम, तीनों गुण हैं समय समयपर इन गुणोंको धारण कर लेतीहै सो माया आवरणशक्ति ज्ञानको आवृत करके अर्थात् छिपाके अज्ञानरूपिणी होजातीहै ॥ ८६ ॥ ८७ ॥

मूलम्–दर्शयेज्जगदाकारं तं विक्षेपस्वभावतः॥तमोगुणाधिकाविद्या या सा दुर्गा भवेत्स्वयम्॥८८॥ईश्वरं तदुपहितं चैतन्यं तद-

भूद्भुवम्॥सत्त्वाधिका च या विद्या लक्ष्मीः स्याद्दिव्यरूपिणी॥८९॥चैतन्यं तदुपहितं विष्णुर्भवति नान्यथा ॥ रजोगुणाधिका विद्या ज्ञेया सा वै सरस्वती ॥ यश्चित्स्वरूपो भवति ब्रह्मातदुपधारकः॥९०॥

टीका–और संसारके आकारको देखातीहै यह विक्षेप करना उसका स्वभाव है माया जब तमोगुण धारण करतीहै तब दुर्गारूप होके चैतन्य ईश्वरको उत्पन्न करतीहै और जब सतोगुणको धारण करतीहै तब लक्ष्मी रूप होके चैतन्य जो विष्णु हैं उनको उत्पन्न करतीहै जब रजोगुणको धारण करतीहै तब सरस्वतीरूप होके चैतन्य जो ब्रह्मा हैं उनको उत्पन्न करतीहै अर्थात् सबके उत्पत्तिका कारण यही जगन्माता महामाया है ॥ ८८ ॥ ८९ ॥ ९० ॥

मूलम्–ईशाद्याः सकला देवा दृश्यन्ते परमात्मनि ॥ शरीरादिजडं सर्वं सा विद्या तत्तथा तथा॥९१॥एवंरूपेण कल्पन्ते कल्पका विश्वसम्भवम्॥तत्त्वातत्त्वं भवंतीहकल्पनान्येन-मोदिता ॥ ९२ ॥

टीका–हमारे आदि सकल देवता उसी एक परमात्मामें देख पड़ते हैं और शरीरआदि सब जड पदार्थ उसी एक विद्या अर्थात् आत्मामें भिन्न भिन्न जान पड़तेहैं इसी तरह बुद्धिमान् लोगोंने संसारके स्थितिकी कल्पना कियाहै कि, तत्त्व अतत्त्व दोनों भयाहै अर्थात् आत्मासेही सब सृष्टिकी उत्पत्ति केवल कल्पनामात्रहै और कुछ किसीने कहा नहीं है ॥ ९१ ॥ ९२ ॥

मूलम्–प्रमेयत्वादिरूपेण सर्वं वस्तु प्रकाश्यते॥तथैव वस्तुनास्त्येव भासको वर्तकः परः ॥९३॥स्वरूपत्वेन रूपेण स्वरूपं वस्तु भाष्यते ॥ विशेषशब्दोपादाने भेदो भवति नान्यथा ॥ ९४ ॥

टीका–प्रमेयरूप . अर्थात् यावत् वस्तु संसारमें दृश्यमान हैं वह सबके प्रकाशका कारण वही एक आत्मा है उपाधिभेदसे भिन्न भिन्न स्वरूपदे खपड़ता है विशेष करके नामभेदसे भेद है अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय दोनों वहीहै और कुछ नहीं है ॥ ९३ ॥ ९४ ॥

मूलम्–एकः सत्तापूरितानन्दरूपः पूर्णो व्यापी वर्त्तते नास्ति किञ्चित्॥एतज्ज्ञानं

यः करोत्येव नित्यं मुक्तः स स्यान्मृत्युसंसारदुःखात् ॥ ९५ ॥

टीका-एक सत्तामात्र पूरित आनन्दस्वरूप परिपूर्ण व्यापी सर्वदा वर्त्तमानहै और दूसरा कुछ नहीं है ऐसा ज्ञान जिसको है और सर्वदा वह यही मनन करताहै सो मुक्त है अर्थात् संसारके जन्ममरणआदि दुःखसे वह रहित है ॥ ९५ ॥

मूलम्-यस्यारोपापवादाभ्यां यत्र सर्वे लयं गताः ॥ स एको वर्तते नान्यत्तच्चित्तेनावधार्यते ॥ ९६ ॥

टीका-जहां ज्ञानद्वारा संसारके कार्योंका लय होजाता है अर्थात् उससे अभेद होजाते हैं उसी एक सर्वदा वर्तमान आत्मामें मनको लय करे अर्थात् आत्माकाही ध्यान धारण करे ॥ ९६ ॥

मूलम्-पितुरन्नमयात्कोशाज्जायते पूर्वकर्मणः ॥ शरीरं वै जडं दुःखं स्वप्राग्भोगाय सुन्दरम् ॥ ९७ ॥

टीका-पूर्वकर्मके अनुसार प्राणी पिताके अन्नमय कोशसे दुःख भोगनेके कारण जड शरीर सुन्दर भोगरूप उत्पन्न होताहै ॥ ९७ ॥

मूलम्–मांसास्थिस्नायुमज्जादिनिर्मितं भोगमन्दिरम् ॥ केवलं दुःखभोगाय नाडीसंततिगुंफितम् ॥ ९८ ॥

टीका–मांस अस्थि स्नायु मज्जा आदि नाडियोंसे बँधाहुआ यह भोगमन्दिर अर्थात् शरीर केवल दुःखका कारण है, तात्पर्य यह है कि, ऐसा शरीर जिसके उत्पत्ति स्थितिके स्मरण करनेसे घृणा होतीहै उसमें व्यर्थ मनुष्य मायामें फँसके मोह और अभिमान करताहै ॥९८॥

मूलम्--पारमेष्ठ्यमिदं गात्रं पंचभूतविनिर्मितम्॥ब्रह्माण्डसंज्ञकं दुःखसुखभोगाय कल्पितम् ॥ ९९ ॥

टीका--यह शरीर ब्रह्माके द्वारा पंचभूतसे निर्मित ब्रह्मांडसंज्ञा सुख दुःख भोगनेके हेतु कल्पितहै ॥९९ ॥

मूलम्--बिन्दुः शिवो रजः शक्तिरुभयोर्मिलनात्स्वयम् ॥ स्वप्नभूतानि जायन्ते स्वशक्त्या जडरूपया ॥ १०० ॥

टीका–शिवरूप बिन्दु और शक्तिरूप रज इन दोनोंके संबन्धसे ईश्वरकी शक्ति जडरूपा महामाया अपनी प्रभुतासे शरीरोंको उत्पन्न करती है ॥ १०० ॥

मूलम्–तत्पञ्चीकरणात्स्थूलान्यसंख्यानि चराचरम् ॥ ब्रह्मांडस्थानि वस्तूनि यत्र जीवोऽस्तिकर्मभिः ॥ १०१ ॥ तद्भूतपञ्च-कात्सर्वं भोगाय जीवसंज्ञिता ॥ १०२ ॥

टीका–उसी पंचीकरणसे अनेक स्थूल वस्तु इस संसारमें चराचर उत्पन्न होती हैं यह जीवभी अपने कर्मके अनुसार भोग भोगनेके हेतु उसी पांच भूतसे जीवसंज्ञा करके प्रगट होता है ॥ १०१ ॥ १०२ ॥

मूलम्–पूर्वकर्मानुरोधेन करोमि घटनामहं॥ अजडः सर्वभूतान्वै जडास्थित्या भुनक्ति तान् ॥ १०३ ॥

टीका–ईश्वर कहते हैं कि, प्राणीको पूर्व कर्मके अनु-सार हम उत्पन्न करतेहैं और सर्व, भूतोंसे हम अजड अर्थात् भिन्न और अविनाशी हैं परंतु जडरूप होके सब-को हम खाजाते हैं अर्थात् सबका नाश करतेहैं ॥१०३॥

मूलम्–जडात्स्वकर्मभिर्बद्धो जीवाख्यो वि-विधो भवेत् ॥ भोगायोत्पद्यते कर्म ब्रह्मां-डाख्ये पुनः पुनः॥जीवश्च लीयते भोगाव-साने च स्वकर्मणः ॥ १०४ ॥

टीका-जीव अपने कर्ममें बंधके नाना प्रकारके जड शरीर धारण करता है और अपने कर्मके फल भोगनेके हेतु संसारमें वारंवार उत्पन्न होता है और सब कर्मोंके अवसानमें अर्थात् जब ज्ञानद्वारा सब कर्मोंसे रहित होजाता है तब उसी ज्ञानस्वरूप आत्मामें लय होजाताहै ॥ १०४ ॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे लयप्रकरणे भाषाटीकायां प्रथमः पटलः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयपटलः ।

मूलम्-देहेऽस्मिन्वर्तते मेरुःसप्तद्वीपसमन्वितः॥सरितःसागराः शैलाःक्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः॥१॥ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ॥ पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठदेवताः ॥ २ ॥

टीका-प्राणीके इस शरीरमें सप्तद्वीपसहित सुमेरु है और नदी समुद्रआदि पर्वत और क्षेत्र क्षेत्रपाल ऋषि मुनि और सब नक्षत्र ग्रह पुण्यतीर्थ और पीठ देवता आदि सब इसी शरीरमें वर्तमान हैं । तात्पर्य यह है कि, मनुष्य तीर्थोंमें स्नान दर्शनके हेतु भटकता फिरता है, परंतु इस शरीरस्थ तीर्थ और देवताको नहीं जानता न

मनको शुद्ध करके उनके जाननेमें प्रयास करताहै॥ १॥२॥

मूलम्--सृष्टिसंहारकर्तारौ भ्रमन्तौ शशि-भास्करौ॥नभो वायुश्च वह्निश्च जलं पृथ्वी तथैव च ॥ ३ ॥

टीका-सृष्टिके स्थिति संहारके कर्ता चन्द्रमा और सूर्य इस शरीरमें भ्रमण करते हैं और आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, अर्थात् पांचों तत्त्व सर्वदा शरीरमें वर्तमान रहतेहैं. तात्पर्य यह है कि, सब इसी शरीरमें हैं परंतु विना गुरुकी कृपाके देख नहींपड़ते ॥ ३ ॥

मूलम्--त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहतः ॥ मेरुं संवेष्टय सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्तते ॥ जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्र संशयः ॥ ४ ॥

टीका-जो त्रैलोक्यमें चराचर वस्तु हैं सो सब इसी शरीरमें मेरुके आश्रय होके सर्वत्र अपने २ व्यवहार को वर्तते हैं जो मनुष्य यह सब जानताहै सो योगी है इसमें संशय नहीं है॥ ४॥

मूलम्-ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे यथादेशं व्यवस्थितः ॥ मेरुशृंगे सुधारश्मिर्बहिरष्टकलायुतः ॥ ५ ॥

टीका—यह शरीर ब्रह्माण्डसंज्ञकहै जिस तरह संसारमें सब देश और सुमेरु पर्वतहै उसी तरह शरीरमें मेरु है उसके ऊपर सुधाकर अर्थात् चन्द्रमा आठ कलासे स्थितहै ॥ ५ ॥

मूलम्—वर्ततेऽहर्निशं सोऽपि सुधांवर्षत्यधोमुखः ॥ ६॥ ततोऽमृतं द्विधाभूतं याति सूक्ष्मं यथा च वै ॥ इडामार्गेण पुष्ट्यर्थं याति मन्दाकिनीजलम्॥पुष्णाति सकलं देहमिडामार्गेण निश्चितम् ॥ ७ ॥

टीका—सोई चन्द्रमा रात्रि दिवस अधोमुख होके अमृतकी वर्षा करते हैं वह अमृत सूक्ष्म दो भाग होजाता है सो मन्दाकिनीके जलके समान देहके रक्षार्थ इडा जो वामनाडी है उसके रन्ध्रसे सकल शरीरको पोषण करता है ॥ ६ ॥ ७ ॥

मूलम्—एष पीयूषरश्मिर्हि वामपार्श्वे व्यवस्थितः ॥ ८ ॥ अपरः शुद्धदुग्धाभो हठात्कर्षति मण्डलात् ॥ रन्ध्रमार्गेण सृष्ट्यर्थं मेरौ संयाति चन्द्रमाः ॥ ९ ॥

टीका—वही सुधाकिरण संयुक्त इडा नाडीकी स्थिति वामभागमें है और शुद्ध दूधके समान मेरुमें चन्द्रम

प्रसन्नतापूर्वक अपने मण्डलसे इडाके रन्ध्रमार्गसे आयके देहीका पोषण करते हैं॥ ८ ॥ ९ ॥

मूलम्–मेरुमूले स्थितः सूर्यः कलाद्वादशसंयुतः ॥ दक्षिणे पथि रश्मिभिर्वहत्यूर्ध्वं प्रजापतिः ॥ १० ॥

टीका–मेरुदण्डके मूलमें अर्थात् नीचे बारह कलासंयुक्त सूर्य स्थित हैं दक्षिणपथ अर्थात् पिङ्गलानाडी द्वारा प्रजापति स्वरूपकी गति ऊपरको है ॥ १० ॥

मूलम्–पीयूषरश्मिनिर्यासं धातूंश्च ग्रसति ध्रुवम् ॥ समीरमण्डले सूर्यो भ्रमते सर्वविग्रहे ॥ ११ ॥

टीका–सूर्य अमृतधातुको अपने किरण शक्तिसे ग्रास करजातेहैं और वायुमण्डलके साथ सब शरीरमें भ्रमण करतेहैं ॥ ११ ॥

मूलम्–एषा सूर्यपरामूर्तिर्निर्वाणं दक्षिणे पथि ॥ वहते लग्नयोगेन सृष्टिसंहारकारकः ॥ १२ ॥

टीका–यह सूर्यकी अपर निर्वाण मूर्ति है अर्थात् पिङ्गलानाडी दक्षिणभागमें स्थितहै सूर्य सृष्टिसंहार करता लग्नयोगसे नाडीद्वारा प्रवाह करतेहैं ॥ १२ ॥

मूलम्–सार्धलक्षत्रयं नाड्यः सन्ति देहान्तरे नृणाम् ॥ प्रधानभूता नाड्यस्तु तासु मुख्याश्चतुर्दश ॥ १३ ॥ सुषुम्णेडा पिंगला च गांधारी हस्तिजिह्विका ॥ कुहूः सरस्वती पूषा शंखिनी च पयस्विनी ॥१४॥ वारुणालम्बुसा चैव विश्वोदरी यशस्विनी ॥ एतासु तिस्रो मुख्याः स्युः पिङ्गलेडा सुषुम्णिका ॥ १५ ॥

टीका–शरीरमें बहुत नाडी हैं परंतु उनमें प्रधान नाडी साढेतीन लक्षहैं उनमेंसे मुख्य यह चौदह नाडी हैं १ सुषुम्णा २ इडा ३ पिङ्गला ४ गान्धारी ५ हस्तिजिह्वा ६ कुहू ७ सरस्वती ८ पूषा ९ शंखिनी १० पयस्विनी ११ वारुणा १२ अलंबुसा १३ विश्वोदरी १४ यशस्विनी इन चौदहमें भी तीन नाडी मुख्यहैं इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा ॥ १३ ॥१४ ॥ १५ ॥

मूलम्–तिसृष्वेका सुषुम्णैव मुख्या सा योगिवल्लभा ॥ अन्यास्तदाश्रयं कृत्वा नाड्यः सन्ति हि देहिनाम् ॥ १६ ॥

टीका–इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा इन तीन नाडियोंमें

भी एकही सुषुम्णा मुख्य है इस कारणसे कि, परमपदकी दाताहै योगी लोगोंको हितकारी है अन्य नाडी उसके आश्रय शरीरमें रहती हैं ॥ १६ ॥

मूलम्--नाड्यस्तु ता अधोवदनाःपद्मतन्तु-
निभाः स्थिताः ॥ पृष्ठवंशं समाश्रित्य
सोमसूर्याग्निरूपिणी ॥ १७ ॥

टीका—यह तीनों नाडी अधोवदनाहैं अर्थात् नीचेको मुख कमलतन्तुके सदृश हैं और चन्द्र सूर्य अग्निके समान हैं अर्थात् इडा चन्द्ररूप और पिङ्गला सूर्यरूप और सुषुम्णा अग्निरूप है यह तीनों नाडी मेरुदंडके आश्रय स्थित हैं ॥ १७ ॥

मूलम्--तासां मध्ये गता नाडी चित्रा सा
मम वल्लभा ॥ ब्रह्मरन्ध्रञ्च तत्रैव सूक्ष्मा-
त्सूक्ष्मतरं शुभम् ॥ १८ ॥

टीका—उन तीनों नाडियोंके मध्यमें जो चित्रा नाडी है वह हमको प्रिय है उसी स्थानमें बहुत सूक्ष्म ब्रह्मरंध्र शोभायमान है ॥ १८ ॥

मूलम्–पञ्चवर्णोज्ज्वला शुद्धा सुषुम्णा
मध्यचारिणी ॥ देहस्योपाधिरूपा सा
सुषुम्णा मध्यरूपिणी ॥ १९ ॥

टीका—वह चित्रानाडी पंचवर्ण अतिउज्ज्वल शुद्ध है और देहके उपाधिका कारणभी वही सुषुम्णान्तर्गता अर्थात् चित्रा नाडी है. तात्पर्य यह है कि, आत्मस्वरूप वही है ॥ १९ ॥

मूलम्—दिव्यमार्गमिदं प्रोक्तममृतानन्दकारकम् ॥ ध्यानमात्रेण योगींद्रो दुरितौघं विनाशयेत् ॥ २० ॥

टीका—यह मार्ग बहुत श्रेष्ठ अमृतानन्दकारक मुक्तिका दाता हमने कहा है जिसके ध्यानमात्रसे योगी लोगोंके पापका समूह नाश होजाताहै ॥ २० ॥

मूलम्—गुदात्तु द्व्यंगुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यंगुलादधः ॥ चतुरंगुलविस्तारमाधारं वर्तते समम् ॥ २१ ॥

टीका—गुदासे दो अंगुल ऊपर और मेढ्रसे दो अंगुल नीचे मध्यमें चार अंगुल विस्तार आधारपद्म है ॥ २१ ॥

मूलम्—तस्मिन्नाधारपद्मे च कर्णिकायां सुशोभना ॥ त्रिकोणा वर्त्तते योनिः सर्वतंत्रेषु गोपिता ॥ २२ ॥

टीका—उस आधारपद्मके कर्णिकामें अर्थात् डंडीमें

त्रिकोण योनि है यह योनि सब तंत्रों करके गोपित है अर्थात् इसके प्रकाशकरनेकी आज्ञा किसी शास्त्रमें नहीं है ॥ २२ ॥

मूलम्–तत्र विद्युल्लताकारा कुण्डली परदेवता ॥ सार्द्धत्रिकरा कुटिला सुषुम्णा मार्ग संस्थिता ॥ २३ ॥

टीका–उसी स्थानमें कुण्डलिनी देवता साढेतीन हात कुटिला अर्थात् टेढी जिसकी प्रभा विद्युत्के समान है सुषुम्णाके मार्गमें स्थित है ॥ २३ ॥

मूलम्–जगत्संसृष्टिरूपा सा निर्माणे सततोद्यता ॥ वाचामवाच्या वाग्देवी सदा देवैर्नमस्कृता ॥ २४ ॥

टीका–सोई कुण्डलिनी जगत्के बहुत प्रकारसे उत्साहपूर्वक रचना करनेकी रूप है और वाग्देवी है अर्थात् उसीसे वाक्यका उच्चारण होताहै इस कुण्डलिनी देवीको देवतालोग नमस्कार करते हैं ॥ २४ ॥

मूलम्–इडानाम्नी तु या नाडी वाममार्गे व्यवस्थिता ॥ सुषुम्णायां समाश्लिष्य दक्षनासापुटे गता ॥ २५ ॥

टीका–जो इडा नाम नाड़ी वामभागमें है वह सु-

षुम्णाको आवृत करती हुई अर्थात् उससे मिलीहुई नासिकाके दक्षिणद्वारको गई है ॥ २५ ॥

मूलम्--पिङ्गला नाम या नाडी दक्षमार्गे व्यवस्थिता ॥ सुषुम्णा सा समाश्लिष्य वामनासापुटे गता ॥२६ ॥

टीका--दक्षिणमार्गमें जो पिङ्गला नाडी है वह सुषुम्णाके आसरे होके नासिकाके वामद्वारको गई है॥२६॥

मूलम्--इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्णा या भवेत्खलु ॥ षट्स्थानेषु च षट्शक्तिं षट्पद्मं योगिनो विदुः ॥ २७ ॥

टीका--इडा पिङ्गलाके मध्यमें सुषुम्णा है इस सुषुम्णाके छः स्थानमें छः शक्ति हैं इनके नाम यह हैं डाकिनी, हाकिनी, काकिनी, लाकिनी; राकिनी, शाकिनी, और इन्हीं छः स्थानोंमें छः पद्म हैं उनके नाम यह हैं आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा यह अपने ज्ञानसे योगी लोग जानते हैं ॥ २७ ॥

मूलम्--पंचस्थानं सुषुम्णाया नामानि स्युर्बहूनि च ॥ प्रयोजनवशात्तानि ज्ञातानीह शास्त्रतः ॥ २८ ॥

टीका--सुषुम्णाके पांच स्थान हैं उनके नाम बहुत हैं प्रयोजनसे शास्त्रकरके जाना जाताहै ॥ २८ ॥

मूलम्--अन्या याऽस्त्यपरा नाडी मूलाधारात्समुत्थिताः॥रसनामेढ्रनयनं पादांगुष्ठे च श्रोत्रकम् ॥ २९ ॥ कुक्षिकक्षांगुष्ठकर्णं सर्वांगं पायुकुक्षिकम्॥लब्ध्वाताँ वै निवर्तन्ते यथादेशसमुद्भवाः ॥ ३० ॥

टीका--और अन्य नाडी मूलाधारसे उठीहैं और जिह्वा, मेढ्र, नेत्र, पादका अङ्गुष्ठ, कर्ण, कुक्षि, कक्ष, हस्ताङ्गुष्ठ, पायु, उपस्थ, इन सब अङ्गोंमें इनका अन्त भयाहै अर्थात् मूलाधारसे उत्पन्न होके अपने अपने स्थानमें जाके निवृत्त होगई हैं ॥ २९ ॥ ३० ॥

मूलम्--एताभ्य एव नाडीभ्यः शाखोपशाखतः क्रमात् ॥ सार्धलक्षत्रयं जातं यथाभागं व्यवस्थितम् ॥३१॥ एता भोगवहा नाड्यो वायुसञ्चारदक्षकाः ॥ ओतप्रोताः सुसंव्याप्य तिष्ठन्त्यस्मिन्कलेवरे ॥ ३२ ॥

टीका--इन्हीं नाडियोंमेंसे शाखोपशाख क्रमसे साढेतीनलक्ष नाडी उत्पन्न होके अपने अपने स्थानमें स्थित हैं यह सब भोगवहांनाडी वायुके संचारमें

दक्षहैं ओतप्रोत अर्थात् संयोग वियोगसे इस शरीरमें व्याप्त हैं ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

मूलम्--सूर्यमण्डलमध्यस्थः कलाद्वादश-
संयुतः॥बस्तिदेशे ज्वलद्वह्निर्वर्तते चान्न-
पाचकः ॥ ३३ ॥ वैश्वानराग्निरेषो वै मम
तेजोंशसम्भवः ॥ करोति विविधं पाकं
प्राणिनां देहमास्थितः ॥ ३४ ॥

टीका–द्वादशकलासंयुक्त सूर्यमण्डलके मध्यमें प्रज्वलित अग्नि है सो बस्तिदेशमें अन्नका पाचन करती है वह वैश्वानर अग्नि हमारे तेजसे उत्पन्न है प्राणीके शरीरमें स्थित होकर नाना प्रकारका पाक करती है ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

मूलम्-- आयुःप्रदायको वह्निर्बलं पुष्टिं द-
दाति सः ॥ शरीरपाटवञ्चापि ध्वस्तरोग
समुद्भवः ॥ ३५ ॥

टीका–सो वैश्वानर अग्नि आयु, बल और पुष्टता और शरीरमें कान्तिका देनेवाला है और यावत् रोगोंको नाश करनेवाला है ॥ ३६ ॥

मूलम्–तस्माद्वैश्वानराग्निञ्च प्रज्वाल्य वि-

धिवत्सुधीः ॥ तस्मिन्नन्नं हुनेद्योगी प्रत्यहं गुरुशिक्षया ॥ ३६ ॥

टीका–इस वैश्वानर अग्निको गुरुके शिक्षापूर्वक प्रज्वलित करके नित्य उसमें अन्नका होम करै अर्थात् भोजन करै ॥ ३६ ॥

मूलम्--ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे स्थानानि स्युर्बहूनि च ॥ मयोक्तानि प्रधानानि ज्ञातव्यानीह शास्त्रके ॥३७॥ नानाप्रकारनामानि स्थानानि विविधानि च ॥ वर्तन्ते विग्रहे तानि कथितुं नैव शक्यते ॥ ३८॥

टीका–यह शरीर ब्रह्माण्डसंज्ञक है इसमें बहुत स्थान हैं हमने प्रधान प्रधान स्थान कहे हैं ये शास्त्रसे जाने जाते हैं बहुत प्रकारके स्थान और नाम उन स्थानोंके हैं जो इस शरीरमें वर्तमानहैं उनके वर्णन करनेको हम शक्य नहींहै अर्थात् बहुत विस्तारहै उसके कहनेमें व्यर्थ परिश्रम है ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

मूलम्–इत्थं प्रकल्पिते देहे जीवो वसति सर्व्वगः ॥ अनादिवासनामालाऽलंकृतः कर्मशृङ्खलः ॥ ३९ ॥

टीका–इसी तरह शरीर कल्पित है और जीव पूर्व-

वासनारूपी बेडीमें फँसके मालाके तरह घूमा करता है ॥ ३९ ॥

मूलम्--नानाविधगुणोपेतः सर्वव्यापारकारकः ॥ पूर्वार्जितानि कर्माणि भुनक्ति विविधानि च ॥ ४० ॥

टीका—सोई जीव नानाप्रकारके गुण ग्रहण करताहै और संसारमें बहुत प्रकारके व्यापार करताहै यह सब पूर्वार्जित शुभाशुभ कर्मके फल भोगताहै ॥ ४० ॥

मूलम्--यद्यत्संदृश्यते लोके सर्वं तत्कर्मसम्भवम् ॥ सर्वः कर्मानुसारेण जन्तुर्भोगान्भुनक्ति वै ॥ ४१ ॥

टीका—जो जो शुभाशुभ कर्म संसारमें देखपडताहै वह सबका आदिकारण कर्महीहै प्राणीमात्र अपने कर्मके अनुसार भोग भोगता है ॥ ४१ ॥

मूलम्--ये ये कामादयो दोषाः सुखदुःखप्रदायकाः॥ ते ते सर्वे प्रवर्तन्ते जीवकर्मानुसारतः ॥ ४२ ॥

टीका—जो जो काम क्रोध आदिसे सुख दुःख होताहै सो सब जीवके कर्महीके अनुसार वर्तताहै ॥ ४२ ॥

मूलम्--पुण्योपरक्तचैतन्ये प्राणान्प्रीणाति केवलम् ॥ बाह्ये पुण्यमयं प्राप्य भोज्यवस्तु स्वयम्भवेत् ॥ ४३ ॥

टीका--पुण्यकर्मके अनुष्ठान करनेसे प्राणीको सुख होता है और बाह्य वस्तु श्रेष्ठ भोजनआदि नानाप्रकारकी वस्तु आपही मिल जातीहै ॥ ४३ ॥

मूलम्--ततः कर्मबलात्पुंसः सुखं वा दुःखमेव च ॥ पापोपरक्तचैतन्यं नैव तिष्ठति निश्चितम् ॥४४॥ न तद्भिन्नो भवेत्सोऽपि तद्भिन्नो न तु किञ्चन ॥ मायोपहितचैतन्यात्सर्वं वस्तु प्रजायते ॥ ४५ ॥

टीका--यह प्राणी अपने कर्मके बलसे सुख वा दुःख भोगताहै, जीव जब पापमें आसक्त होताहै तब दुःख भोगताहै, फिर उसको सुखलाभ नहीं होता. जीव अपने कर्मके अनुसार सुख वा दुःख भोगताहै इसमें भिन्नता नहीं है अर्थात् कर्ता भोक्तामें भेद नहीं. चैतन्य आत्मा जब मायोपहित होताहै तब सब वस्तु उत्पन्न होताहै ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

मूलम्--यथाकालेपि भोगाय जन्तूनां विवि-

धोद्भवः ॥ यथा दोषवशाच्छुक्तौ रजता-
रोपणं भवेत् ॥ तथा स्वकर्मदोषाद्वै ब्रह्म-
ण्यारोप्यते जगत् ॥ ४६ ॥

टीका—जैसा काल भोगके हेतु निश्चय रहता है उसमें प्राणी नानाप्रकारसे भोग भोगनेके लिये उत्पन्न होताहै जैसे नेत्रके विकारके कारणसे सीपीमें चाँदीका आरोप होताहै वैसेही अपने कर्मके दोषसे प्राणी ब्रह्ममें मिथ्या जगत्का आरोप करताहै ॥ ४६ ॥

मूलम्—सवासनाभ्रमोत्पन्नोन्मूलनातिस-
मर्थनम् ॥ उत्पन्नश्चेदीदृशं स्याज्ज्ञानं
मोक्षप्रसाधनम् ॥ ४७ ॥

टीका—वासनासे भ्रम उत्पन्न होताहै जबतक वासनाकी जड नहीं जाती तबतक कदापि भ्रम दूर नहीं होता इसी तरह जब ज्ञान उत्पन्न होताहै तब कुछ नहीं रह जाता इस हेतुसे ज्ञानही मोक्षका साधन है ॥ ४७ ॥

मूलम्—साक्षाद्वैशेषदृष्टिस्तु साक्षात्कारिणि
विभ्रमे ॥ करणं नान्यथा युक्त्या सत्यं
सत्यं मयोदितम् ॥ ४८ ॥

टीका—विशेष करके दृष्टिसे साक्षात् जो देखपड-

ताहै वही साक्षात् भ्रमका कारणहै अर्थात् इसी साक्षा-त्में मनुष्य फँसाहै मायाके आवरणसे बुद्धि आगे नहीं जाती और दूसरा कारण कुछ नहीं है यह हम सत्य कहते हैं ॥ ४८ ॥

मूलम्--साक्षात्कारिभ्रमे साक्षात्साक्षा-त्कारिणि नाशयेत् ॥ सो हि नास्तीति संसारे भ्रमो नैव निवर्तते ॥ ४९ ॥

टीका—यह साक्षात् घटपट आदिका भ्रम ब्रह्मके प्रत्यक्ष होनेसे नाश होताहै विना आत्माके प्रत्यक्ष भये ब्रह्म संसारमें नहीं है यह भ्रम निवृत्त नहीं होता ॥ ४९ ॥

मूलम्—मिथ्याज्ञाननिवृत्तिस्तु विशेषदर्शना-द्भवेत् ॥ अन्यथा न निवृत्तिः स्याद्दृश्य-ते रजतभ्रमः ॥ ५० ॥

टीका—यह मिथ्या संसारका ज्ञान आत्माका विशे-ष दर्शन होनेसे निवृत्त होता है और किसीप्रकार इस अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती. जैसे सीपीमें चाँदीका भ्रम विना सीपीके निश्चय भये दूर नहीं होता ॥ ५० ॥

मूलम्—यावन्नोत्पद्यते ज्ञानं साक्षात्कारे निरञ्जने ॥ तावत्सर्वाणि भूतानि दृश्य-न्ते विविधानि च ॥ ५१ ॥

टीका-जबतक आत्माका साक्षात्कार ज्ञान नहीं होता तबतक सब प्राणी संसार आदि नाना प्रकारके देखपडते हैं ॥ ५१ ॥

मूलम्-यदा कर्मार्जितं देहं निर्वाणे साधनं भवेत् ॥ तदा शरीरवहनं सफलं स्यान्न चान्यथा ॥ ५२ ॥

टीका-जो यह कर्मार्जित शरीर है इससे निर्वाण अर्थात् आत्मज्ञानका साधन होय तब इसका जन्म और स्थिति सुफल है नहीं तो व्यर्थ है. तात्पर्य यह है कि, जिस मनुष्यको आत्मज्ञान नहीं हुआ या इस विषयका उसने साधन नहीं किया उसका जन्म केवल माताके दुःख देने और पृथ्वीपर भारके हेतु भया॥५२॥

मूलम्-यादृशी वासना मूला वर्त्तते जीवसंगिनी ॥ तादृशं वहते जन्तुः कृत्याकृत्यविधौ भ्रमम् ॥ ५३ ॥

टीका-जैसी वासना जीवके संग रहती है वैसेही प्राणी शुभाशुभ कर्म भ्रमके वश होके करताहै और उसी वासनासे उत्पन्न और नाश होता रहताहै ॥ ५३ ॥

मूलम्-संसारसागरं तर्त्तुं यदीच्छेद्योगसाधकः ॥ कृत्वा वर्णाश्रमं कर्म फलवर्जं तदाचरेत् ॥ ५४ ॥

टीका-योगसाधक यदि संसारसे तरनेकी इच्छा करे तो यावत् वर्णाश्रमका कर्म फलरहित करना उचित है ॥ ५४ ॥

मूलम्-विषयासक्तपुरुषा विषयेषु सुखेप्सवः ॥ वाचाभिरुद्धनिर्वाणा वर्तन्ते पापकर्मणि ॥ ५५ ॥

टीका-विषयासक्त पुरुष सुख और विषयकी इच्छामें सर्वदा रहते हैं और पापकर्ममें ऐसे तत्पर रहते हैं कि, वाक्यभी उनका परमार्थ विषयमें रुद्ध रहता है अर्थात् मोक्षका साधन तो बहुत दूर है परन्तु परमार्थकी चर्चासेभी उनको ज्वर चढ़ताहै ॥ ५५ ॥

मूलम्-आत्मानमात्मना पश्यन्न किञ्चिदिह पश्यति॥तदा कर्मपरित्यागे न दोषोऽस्ति मतं मम ॥ ५६ ॥

टीका-जब ज्ञानी आत्मासे आत्माको देखे और सब वस्तुका अभाव जानपडे तब कर्मको त्यागदेनेमें कुछ दोष नहीं है यह हमारा मतहै ऐसा श्रीशिवजी जगन्माता पार्वतीजीसे कहते हैं ॥ ५६ ॥

मूलम्-कामादयो विलीयन्ते ज्ञानादेव न चान्यथा ॥ अभावे सर्वतत्त्वानां स्वयं तत्त्वं प्रकाशते ॥ ५७ ॥

टीका—ज्ञानमें काम क्रोधादि सकल पदार्थ लय होजाते हैं इसमें अन्यथा नहीं है, जब स्वयंतत्त्व अर्थात् आत्मज्ञान प्रकाश होताहै तब सब तत्त्वोंका अभाव होजाताहै ॥ ६७ ॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे योगप्रकथने तत्त्वज्ञानोपदेशो नाम द्वितीयः पटलः ॥ २ ॥

अथ तृतीयपटलः ।

मूलम्—हृद्यस्ति पङ्कजं दिव्यं दिव्यलिङ्गेन भूषितम् ॥ कादिठान्ताक्षरोपेतं द्वादशार्णविभूषितम् ॥ १ ॥

टीका—प्राणीके हृदयस्थानमें एक पद्म सुन्दर दिव्यलिङ्गसे शोभायमानहै यह पद्म क-से-ठ-तक द्वादश वर्ण करके शोभित है अर्थात् क-ख-ग-घ-ङ-च-छ-ज-झ-ञ-ट-ठ ॥ १ ॥

मूलम्—प्राणो वसति तत्रैव वासनाभिरलंकृतः ॥ अनादिकर्मसंश्लिष्टः प्राप्याहङ्कारसंयुतः ॥ २ ॥

टीका—उसी पद्ममें प्राणकी स्थितिहै और अनादि कर्म अहंकारसंयुक्त वासनासे अलंकृतहै ॥ २ ॥

मूलम्--प्राणस्य वृत्तिभेदेन नामानि विविधानि च ॥ वर्तन्ते तानि सर्वाणि कथितुं नैव शक्यते ॥ ३ ॥

टीका--प्राणके वृत्तिभेदसे जो इस शरीरमें वायु वर्तमान हैं उनके बहुतप्रकारके नाम हैं जिनके वर्णन करनेको हम शक्य नहीं हैं अर्थात् यहां उनके वर्णन का प्रयोजन नहीं है ॥ ३ ॥

मूलम्--प्राणोऽपानः समानश्चोदानो व्यानश्च पञ्चमः ॥ नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः॥ ४ ॥दशनामानिमुख्यानि मयोक्तानीह शास्त्रके ॥ कुर्वन्तितेऽत्रकार्याणि प्रेरितानि स्वकर्मभिः ॥ ५ ॥

टीका--प्राणके मुख्य भेदोंका नाम प्राण, अपान, समान, उदान, पांचवां व्यान और नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त, धनञ्जय, यह दश वायु मुख्य हैं हम शास्त्रप्रमाणसे कहते हैं शरीरमें यह वायु अपने कर्मसे प्रेरित होके कार्य करते हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

मूलम्--अत्रापि वायवः पञ्च मुख्याः स्युर्दशतः पुनः ॥ तत्रापि श्रेष्ठकर्त्तारौ प्राणापानौ मयोदितौ ॥ ६ ॥

टीका-वह दश वायुमें पांच मुख्य हैं फिर उनमेंभी निश्चय करके श्रेष्ठ करता श्रीमहादेवजी कहते हैं कि, हमने प्राण और अपानको कहाहै ॥ ६ ॥

मूलम्-हृदि प्राणोगुदेऽपानः समानोनाभिमण्डले ॥ उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः ॥ ७ ॥ नागादिवायवः पञ्च कुर्वन्ति ते च विग्रहे ॥ उद्गारोन्मीलनंक्षुत्तृड्जृम्भा हिक्का च पञ्चमः ॥ ८ ॥

टीका-हृदयस्थानमें प्राणकी स्थिति है और गुदामें अपान और नाभिमण्डलमें समान और कण्ठमें उदान और व्यान सब शरीरमें व्याप्तहै और नाग आदि जो पांच वायु हैं वह शरीरमें डकार, हिचकी, जँभाई, क्षुधा, पिपासा, उन्मीलन अर्थात् निद्रासे जाग्रत् होनेके समय जो नेत्रके खुलनेका हेतु है यह सब कार्य करतेहैं ॥ ७ ॥ ८ ॥

मूलम्-अनेन विधिना यो वै ब्रह्माण्डं वेत्ति विग्रहम् ॥ सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥ ९ ॥

टीका-इस विधानसे जो पहिले कहा है शरीरको जो मनुष्य ब्रह्माण्ड जानता है वह सर्व पापोंसे मुक्त होके

परमगतिको प्राप्त होताहै अर्थात् मोक्ष होताहै ॥ ९ ॥

मूलम्--अधुना कथयिष्यामि क्षिप्रं योगस्य सिद्धये ॥ यज्ज्ञात्वा नावसीदन्ति योगिनो योगसाधने ॥ १० ॥

टीका-अब जो हम कहते हैं इस विधिसे बहुत शीघ्र योग सिद्ध होता है और इसके जान लेनेसे योगीको योगसाधनमें कष्ट नहीं होता ॥ १० ॥

मूलम्--भवेद्वीर्यवती विद्या गुरुवक्त्रसमुद्भवा॥ अन्यथा फलहीना स्यान्निर्वीर्याप्यतिदुःखदा ॥ ११ ॥

टीका-जो विद्या गुरुके मुखसे सुनी वा जानी जाती है वह वीर्यवती होतीहै और अन्य प्रकारसे विद्या फलहीन निर्वीर्या और अतिदुःखकी देनेवाली होती है. तात्पर्य यह है कि, योगविद्या वा अन्यविद्या भलेप्रकार गुरुसे जानकरके करना उचित है जो लोक पुस्तकसे वा किसीको करते देखते योगादिक क्रिया आरम्भ करदेते हैं उनका कल्याण नहीं होता यथार्थ न जाननेसे कष्टही होताहै ॥ ११ ॥

मूलम्--गुरुं सन्तोष्य यत्नेन ये वै विद्यामुपासते ॥ अवलम्बेन विद्यायास्तस्याः फलमवाप्नुयुः ॥ १२ ॥

टीका—गुरुको सब तरहसे प्रसन्न करके जो विद्या मिलतीहै उस विद्याका फल शीघ्र होताहै अर्थात् थोडे कालमें सिद्ध होजातीहै ॥ १२ ॥

मूलम्--गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो नसंशयः ॥ कर्मणा मनसा वाचा तस्मात्सर्वैः प्रसेव्यते ॥१३॥ गुरुप्रसादतः सर्वं लभ्यते शुभमात्मनः ॥ तस्मात्सेव्यो गुरुर्नित्यमन्यथा न शुभं भवेत् ॥ १४॥ प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा स्पृष्ट्वा सव्येन पाणिना ॥ अष्टांगेन नमस्कुर्याद्गुरुपादसरोरुहम्॥१५॥

टीका—गुरु पिता और गुरु माता और गुरु देवता है इसमें संशय नहीं है इस हेतुसे गुरुको कर्मसे मनसे वाक्यसे सब प्रकारसे सेवा करना उचितहै गुरुके प्रसादसे आत्माका सब शुभ होजाता है. इसलिये गुरुकी नित्य सेवा करना उचित है. दूसरी तरह शुभ नहीं है गुरुको तीन प्रदक्षिणा करके दक्षिण हाथसे स्पर्श करके गुरुके चरणकमलमें साष्टांग नमस्कार करना उचित है ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

मूलम्—श्रद्धयात्मवतां पुंसां सिद्धिर्भवति नान्यथा ॥ अन्यषाञ्च न सिद्धिः स्यात्तस्माद्यत्नेन साधयेत् ॥ १६ ॥

टीका—जिस पुरुषको श्रद्धा है उसको निश्चय करके विद्या सिद्ध होती है दूसरेको नहीं होती. इस हेतुसे साधकको उचित है कि यत्नसे साधन करे ॥ १६ ॥

मूलम्--न भवेत्संगयुक्तानां तथाऽविश्वासिनामपि ॥ गुरुपूजाविहीनानां तथा च बहुसंगिनाम् ॥१७॥ मिथ्यावादरतानां च तथा निष्ठुरभाषिणाम् ॥ गुरुसन्तोषहीनानां न सिद्धिः स्यात्कदाचन ॥ १८ ॥

टीका—जिस पुरुषका किसी व्यवहारी मनुष्यसे अतिसङ्ग है उसको योगविद्या सिद्ध नहीं होती ऐसेही अविश्वासी और जो गुरुपूजासे हीन हैं और जिनका बहुत लोगोंसे संग है और वह लोग जो झूठ और कठोर वचन बोला करते हैं और वह लोग जो गुरुको प्रसन्न नहीं करते इन लोगोंको. कदापि सिद्धि नहीं होती ॥ १७ ॥ १८ ॥

मूलम्--फलिष्यतीति विश्वासः सिद्धेः प्रथमलक्षणम्॥ द्वितीयं श्रद्धया युक्तं तृतीयं गुरुपूजनम्॥१९॥चतुर्थं समताभावं पञ्चमेन्द्रियनिग्रहम् ॥ षष्ठं च प्रमिताहारं सप्तमं नैव विद्यते ॥ २० ॥

टीका–योगसिद्धि होनेका प्रथम लक्षण यह है कि, उसके सिद्धिमें विश्वास हो दूसरे श्रद्धायुक्त तीसरे गुरु-पूजारत हो चौथे प्राणीमात्रमें समताभाव रक्खे पांचवें इन्द्रियोंका निग्रह रहे छठवें परिमित भोजन करै यह छः लक्षण योगसिद्धिके हैं और सातवाँ नहीं है ॥१९॥२०॥

मूलम्–योगोपदेशं संप्राप्य लब्ध्वा योगविदं गुरुम् ॥ गुरूपदिष्टविधिना धिया निश्चित्य साधयेत् ॥ २१ ॥

टीका–योगवेत्ता गुरुसे योग उपदेश लेके जिस विधिसे गुरु उपदेश करे उस विधिसे बुद्धि निश्चय करके साधन करे ॥ २१ ॥

मूलम्–सुशोभने मठे योगी पद्मासनसमन्वितः ॥ आसनोपरि संविश्य पवनाभ्यासमाचरेत् ॥ २२ ॥

टीका–उपद्रवरहित सुन्दर स्वच्छ और उसका सूक्ष्म रन्ध्र होय उस मठमें पद्मासनसंयुक्त आसनपर बैठके योगी पवनका अभ्यास करे ॥ २२ ॥

मूलम्–समकायः प्राञ्जलिश्च प्रणम्य च गुरून् सुधीः॥दक्षे वामे च विघ्नेशं क्षेत्रपालांबिकां पुनः ॥ २३ ॥

टीका–समकायः अर्थात् सीधा शरीर करके हाथ जोडके गुरुको प्रणाम करे और दक्षिण वामभागमें गणेशजीको प्रणाम करे और क्षेत्रपाल और जगन्माता देवीको प्रणाम करना उचित है ॥ २३ ॥

मूलम्--ततश्च दक्षाङ्गुष्ठेन निरुद्ध्य पिंगलां सुधीः ॥ इडया पूरयेद्वायुं यथाशक्त्या तु कुम्भयेत् ॥ २४ ॥ ततस्त्यक्त्वा पिंगलया शनैरेव न वेगतः ॥ पुनः पिंगलयाऽऽपूर्य यथाशक्त्या तु कुम्भयेत्॥२५॥इडया रेचयेद्वायुं न वेगेन शनैःशनैः॥इदं योगविधानेन कुर्याद्विंशतिकुम्भकान् ॥ सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः प्रत्यहं विगतालसः ॥२६॥

टीका–इसके पश्चात् दहिने हाथके अंगुष्ठसे पिंगलाको रोककरके इडासे वायुपूरक करे अर्थात् ग्राह्य करे और यथाशक्ति वायुको रोके फिर पिंगलासे शनैः शनैः रेचक अर्थात् वायुको बाहरकरे इसीप्रकार फिर पिंगलासे पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करे फिर इडासे धीरे धीरे रेचक करे वेगसे कदापि न करे इस योगविधानसे बीस कुम्भक करे और सर्वद्वन्द्वसे रहित होजाय अर्थात् एकाकार वृत्ति रक्खे और नित्य आलस्यको त्याग करके अभ्यास करे ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥

मूलम्–प्रातःकाले च मध्याह्ने सूर्यास्ते चार्द्धरात्रके ॥ कुर्यादेवं चतुर्वारं कालेष्वेतेषु कुम्भकान् ॥ २७ ॥

टीका–पूर्वोक्त विधिसे प्रातःकाल और मध्याह्नमें और सायंकालमें और अर्द्धरात्रिमें इसीतरह चार बार नित्य कुम्भक करना उचित है ॥ २७ ॥

मूलम्–इत्थं मासत्रयं कुर्यादनालस्यो दिने दिने ॥ ततो नाडीविशुद्धिः स्यादविलम्बेन निश्चितम् ॥ २८ ॥

टीका–इसीप्रकार आलस्यको छोडकरके तीन मास नित्यकरे तो उस पुरुषकी नाडी बहुत शीघ्र शुद्ध होजाय यह निश्चय है ॥ २८ ॥

मूलम्–यदा तु नाडीशुद्धिः स्याद्योगिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ तदा विध्वस्तदोषश्च भवेदारम्भसम्भवः ॥ २९ ॥

टीका–तत्त्वदर्शी योगीकी जब नाडी शुद्ध होगी तब सर्व दोषका नाश होगा और आरम्भका सम्भव होगा ॥ २९ ॥

मूलम्–चिह्नानि योगिनो देहे दृश्यन्ते नाडिशुद्धितः ॥ कथ्यन्ते तु समस्तान्यङ्गानि संक्षेपतो मया ॥ ३० ॥

टीका–नाडी शुद्ध होनेपर जो योगीके शरीरमें चिह्न देखपडतेहैं उन सबको हम संक्षेपसे वर्णन करते हैं ॥ ३० ॥

मूलम्–समकायः सुगन्धिश्चसुकान्तिःस्वर-साधकः ॥३१॥ आरम्भघटकश्चैव यथा परिचयस्तदा ॥ निष्पत्तिः सर्वयोगेषु योगावस्था भवन्ति ताः ॥ ३२ ॥

टीका–जब योगीकी नाडी शुद्ध होगी तब समकाय होजायगा अर्थात् न स्थूल न कृश न वक्र रहेगा और शरीरमें सुगंधिसंयुक्त अच्छी कान्ति अर्थात् तेज रहेगा और वायुस्वरका साधन होजायगा और आरम्भका लक्षण जान पडेगा और सब योगका ज्ञान होजायगा इसको योगावस्था कहते हैं ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

मूलम्–आरम्भःकथितोऽस्माभिरधुना वा-युसिद्धये ॥ अपरः कथ्यते पश्चात्सर्वदुः-खौघनाशनः ॥ ३३ ॥

टीका–अभी जो हमने कहा है सो प्राणवायु सिद्ध होनेके आरम्भमें यह चिह्न होता है और इसके पीछे जो सर्व दुःखका नाश होता है सो कहते हैं ॥ ३३ ॥

मूलम्–प्रौढवह्निःसुभोगी च सुखीसर्वाङ्गसु-

न्दरः ॥ संपूर्णहृदयो योगी सर्वोत्साहब-
लान्वितः ॥ जायते योगिनोऽवश्यमेत-
त्सर्वं कलेवरे ॥ ३४ ॥

टीका–साधकके शरीरमें जठराग्नि विशेष प्रज्वलित होगी और सर्व अङ्ग सुन्दर सुखपूर्वक सुन्दर भोजन करेगा और बलसंयुक्त सर्व उत्साहसे हृदय योगीका प्रसन्न रहेगा इतने गुण योगीके शरीरमें अवश्य होंगे ॥ ३४

मूलम्–अथ वर्ज्यं प्रवक्ष्यामि योगविघ्नकरं
परम् ॥ येन संसारदुःखाब्धिं तीर्त्वा या-
स्यन्ति योगिनः ॥ ३५ ॥

टीका–अब जो योगमें विघ्न हैं उनको हम कहते हैं जिनको त्यागके यह संसाररूपी जो दुःखका समुद्र है योगी उसके पार होजाताहै ॥ ३५ ॥

मूलम्–आम्लं रूक्षं तथा तीक्ष्णंलवणंसार्ष-
पं कटुम्॥बहुलं भ्रमणं प्रातः स्नानं तैल-
विदाहकम्॥३६॥स्तेयं हिंसां जनद्वेषञ्चा-
हङ्कारमनार्जवम्॥उपवासमसत्यञ्चमोह-
ञ्च प्राणिपीडनम् ॥३७॥ स्त्रीसङ्गमग्निसेवां
च बह्वालापं प्रियाप्रियम्॥अतीव भोजनं
योगी त्यजेदेतानि निश्चित ॥ ३८ ॥

टीका—खट्टा रूखा तीक्ष्ण लोन सरसों कडुआ बहुत भ्रमण करना प्रातःकाल स्नान शरीरमें तेल मर्दन करना ॥ ३६ ॥ स्वर्णआदिककी चोरी हिंसा मनुष्यसे द्वेष व अहंकार अनार्जव अर्थात् मनुष्यसे प्रेम न रखना, उपवास, झूठ, ममता, प्राणीको पीडा देना॥३७॥ स्त्रीका सङ्ग, अग्निसेवन, प्रिय, अप्रिय, बहुत बोलना, बहुत भोजन करना योगीको उचित है कि, यह सब अवश्य त्यागदे ॥ ३८ ॥

मूलम्—उपायं च प्रवक्ष्यामि क्षिप्रं योगस्य सिद्धये ॥ गोपनीयं साधकानां येन सिद्धिर्भवेत्खलु ॥ ३९ ॥

टीका—अब हम बहुत शीघ्र योग सिद्ध होनेका उपाय कहते हैं इसको गोप्य रखनेसे साधकको योग निश्चय सिद्ध होजायगा ॥ ३९ ॥

मूलम्—घृतं क्षीरं च मिष्टान्नं ताम्बूलं चूर्णवर्जितम्॥कर्पूरं निष्ठुरं मिष्टं सुमठं सूक्ष्मवस्त्रकम् ॥४०॥ सिद्धान्तश्रवणं नित्यं वैराग्यगृहसेवनम् ॥ नामसङ्कीर्तनं विष्णोः सुनादश्रवणं परम् ॥४१॥ धृतिः क्षमा तपः शौचं ह्रीर्मतिर्गुरुसेवनम् ॥ सदैतानि परं योगी नियमेन समाचरेत् ॥ ४२ ॥

टीका-घृत दूध मधुर पदार्थ ताम्बूल कर्पूरवासित चूर्णरहित, कठोर शब्दरहित मधुर बोलना, सुन्दर सूक्ष्मरन्ध्रके स्थानमें रहना, सूक्ष्म वस्त्र अर्थात् महीन और थोडा वस्त्र धारण करे नित्य सिद्धांत अर्थात् वेदान्त श्रवण करे और वैराग्यसे गृहमें रहे ईश्वरका स्मरण करे अच्छा शब्द श्रवण करे धैर्य क्षमा तप शौच लज्जा गुरुकी सेवा योगी सदैव इसप्रकार नियमसंयुक्त रहे तो कल्याण होगा ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

मूलम्-अनिलेऽर्कप्रवेशे च भोक्तव्यं योगिभिः सदा ॥ वायौ प्रविष्टे शशिनि शयनं साधकोत्तमैः ॥ ४३ ॥

टीका-जब सूर्यनाडी अर्थात् पिंगलानाडीका प्रवाह रहे तब योगी सदैव भोजन करे और जब चन्द्र अर्थात् इडानाडीसे वायुका प्रवाह रहे तब साधकके प्रति शयन करना उचित है ॥ ४३ ॥

मूलम्--सद्यो भुक्तेऽपि क्षुधिते नाभ्यासः क्रियते बुधैः ॥ अभ्यासकाले प्रथमं कुर्यात्क्षीराज्यभोजनम् ॥ ४४ ॥

टीका-भोजन करके तुरंत उसी समय अथवा जब क्षुधित होय तब साधक कदापि अभ्यास न करे और अभ्यास कालमें प्रथम दूध घृत भोजन करे ॥ ४४ ॥

मूलम्-ततोऽभ्यासे स्थिरीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ॥ ४५ ॥ अभ्यासिना विभोक्तव्यं स्तोकं स्तोकमनेकधा ॥ पूर्वोक्तकाले कुर्यात्तु कुम्भकान्प्रतिवासरे ॥ ४६ ॥

टीका-जब अभ्यास स्थिर होजाय तब पूर्वोक्त नियमका कुछ प्रयोजन नहीं है ॥ ४५ ॥ और अभ्यासीको उचित है कि, थोडा थोडा कईबार भोजनकरे और जिसप्रकार पहिले कहा है उसीतरह नित्य कुम्भक करे॥४६॥

मूलम्-ततो यथेष्टा शक्तिः स्याद्योगिनो वायुधारणे ॥ यथेष्टं धारणाद्वायोः कुम्भकः सिद्ध्यति ध्रुवम् ॥ केवले कुम्भके सिद्धे किं न स्यादिह योगिनः ॥ ४७ ॥

टीका-योगीको वायु धारण करनेकी शक्ति इच्छाके अनुसार होजायगी. जब इच्छानुसार धारणशक्ति होजायगी तब कुंभक निश्चय सिद्ध होगा और केवल कुम्भक सिद्ध होनेसे योगी क्या नहीं करसकता अर्थात् सब सिद्ध करसकता है ॥ ४७ ॥

मूलम्-स्वेदःसंजायते देहे योगिनः प्रथमोद्यमे ॥ ४८ ॥ यदा संजायते स्वेदो मर्दनं

कारयेत्सुधीः ॥ अन्यथा विग्रहे धातुर्नष्टो भवति योगिनः ॥ ४९ ॥

टीका–योगीके शरीरमें प्रथम स्वेद अर्थात् पसीना उत्पन्न होता है जब स्वेद उत्पन्न होय तो उसको शरीरमें मर्दन करे अन्यथा अर्थात् मर्दन न करनेसे योगीके शरीरका धातु नष्ट होजाता है ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

मूलम्–द्वितीये हि भवेत्कम्पो दार्दुरी मध्यमे मतः ॥ ततोऽधिकतराभ्यासाद्गगनेचरसाधकः ॥ ५० ॥

टीका–दूसरे भूमिकामें कंप होताहै तीसरेमें दार्दुरीवृत्ति होती है अर्थात् आसन उठता है फिर भूमिपर आमजाता है उससे अधिक अभ्यास होनेसे योगी गगनमें स्वेच्छाचारी होजाताहै ॥ ५० ॥

मूलम्–योगी पद्मासनस्थोऽपि भुवमुत्सृज्य वर्तते॥ वायुसिद्धिस्तदा ज्ञेया संसारध्वान्तनाशिनी ॥ ५१ ॥

टीका–योगी पद्मासनस्थ होके पृथ्वीको त्यागके आकाशमें स्थिर रहे तब जाने कि, संसारके अन्धकार नाश करनेवाली वायु सिद्ध होगई ॥ ५१ ॥

मूलम्–तावत्कालं प्रकुर्वीत योगोक्तनियम-

ग्रहम् ॥ अल्पनिद्रा पुरीषं च स्तोकं मूत्रं च जायते ॥ ५२ ॥

टीका—उस कालतक योगके हेतु पूर्वोक्त नियम करना उचित है जबतक वायु न सिद्ध होय और योगीको थोड़ी निद्रा और थोड़ा मलमूत्र होता है ॥ ५२॥

मूलम्—अरोगित्वमदीनत्वं योगिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥स्वेदो लाला कृमिश्चैव सर्वथैव न जायते ॥ ५३ ॥ कफपित्तानिलाश्चैव साधकस्य कलेवरे ॥ तस्मिन्काले साधकस्य भोज्येष्वनियमग्रहः ॥ ५४ ॥

टीका—तत्त्वदर्शी योगीको कायिक वा मानसिक व्यथा उत्पन्न नहीं होती और स्वेद लाला कृमिआदि उत्पन्न नहीं होते और साधकके शरीरमें कफ पित्त वातका दोषभी नहीं होता पूर्वोक्त कालतक साधक भोजन आदिका नियम करे ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

मूलम्—अत्यल्पं बहुधा भुक्त्वा योगी न व्यथते हि सः॥अथाभ्यासवशाद्योगी भूचरीं सिद्धिमाप्नुयात् ॥ यथाददुरजन्तूनां गतिः स्यात्पाणिताडनात् ॥ ५५ ॥

टीका—योगीको बहुत थोड़ा या विशेष भोजन क-

रनेसे कष्ट न होगा और योगीको अभ्याससे भूचरी सिद्धि होजायगी जैसे दर्दुरजन्तु पाणि ताडन करनेसे पृथ्वीपर उड्डान करताहै उसी प्रकार योगीभी पृथ्वीपर उड्डान करता है ॥ ५५ ॥

मूलम्--सन्त्यत्र बहवो विघ्ना दारुणा दुर्निवारणाः ॥ तथापि साधयेद्योगी प्राणैः कंठगतैरपि ॥ ५६ ॥

टीका--इस योगसाधनमें बहुत दारुण विघ्न होते हैं जिसका निवारण बहुत कठिन है. परन्तु साधकको उचित है कि, यदि कंठगतभी प्राण होजाँय तोभी साधन न छोड़े ॥ ५६ ॥

मूलम्--ततो रहस्युपाविष्टः साधकः संयतेन्द्रियः॥प्रणवं प्रजपेद्दीर्घं विघ्नानां नाशहेतवे ॥ ५७ ॥

टीका-साधकको उचित है कि, विघ्नोंके नाशके हेतु इन्द्रियोंके संयममें अर्थात् उनके कार्यको रोकके विधिपूर्वक एकान्तमें बैठके दीर्घमात्रासे अर्थात् स्पष्ट अक्षरके उच्चारणसे प्रणवका जप करे ॥ ५७ ॥

मूलम्--पूर्वार्जितानि कर्माणि प्राणायामेन निश्चितम् ॥ नाशयेत्साधको धीमानिह लोकोद्भवानि च ॥ ५८ ॥

टीका–पूर्वार्जित कर्म और जो इस जन्ममें किया है यह दोनोंके फलको बुद्धिमान् साधक प्राणायामसे निश्चय है कि, नाश करदेता है ॥ ५८ ॥

मूलम्–पूर्वार्जितानि पापानि पुण्यानि विविधानि च ॥ नाशयेत्षोडशप्राणायामेन योगिपुंगवः ॥ ५९ ॥

टीका–श्रेष्ठयोगी पूर्वार्जित नानाप्रकारका पाप और पुण्य केवल सोलह प्राणायामसे नाश करदेताहै ॥ ५९ ॥

मूलम्–पापतूलचयानाहोप्रलयेत्प्रलयाग्निना ॥ ततः पापविनिर्मुक्तः पश्चात्पुण्यानि नाशयेत् ॥ ६० ॥

टीका–साधक पाप राशिको तूलके समान प्राणायामरूपी अग्निसे प्रलय करदेताहै अर्थात् जलादेताहै. इसप्रकारसे मुक्तहोके पश्चात् पुण्यकोभी उसी अग्निमें नाश करदेताहै ॥ ६० ॥

मूलम्–प्राणायामेन योगीन्द्रो लब्ध्वैश्वर्याष्टकानि वै ॥ पापपुण्योदधिं तीर्त्वा त्रैलोक्यचरतामियात् ॥ ६१ ॥

टीका–योगी प्राणायामके प्रभावसे आठ ऐश्वर्य

जिसको अष्टसिद्धि कहते हैं अर्थात् अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशिता और वशिता प्राप्त करता है अब इन आठों सिद्धिके लक्षण कहते हैं योगीका शरीर इच्छामात्रसे परमाणुवत् होजाय उसको अणिमा कहते हैं और योगी इच्छापूर्वक प्रकृतिको अपनेमें करके आकाशवत् स्थूल होजाय उसको महिमा कहतेहैं और अति हलके शरीरका पर्वतके समान भारी होजाना उसको गरिमा कहते हैं और बहुत भारी पर्वतके समानको रुईके सदृश होजाना इसको लघिमा कहते हैं और सर्व पदार्थ इच्छामात्रसे योगीके समीप होजाय उसको प्राप्ति कहते हैं और दृश्यादृश्य अर्थात् कभी देख पडे कभी न देखपडे इसको प्राकाम्य कहतेहैं और भूत भविष्य पदार्थको जन्म मरणकी रचना करनेमें समर्थ होय उसको ईशिता कहते हैं और भूत भविष्य वर्तमान पदार्थको इच्छा से अपने आधीन करलेना इसको वशित्वसिद्धि कहते हैं और योगी पाप पुण्यके समुद्रको तरके अपनी इच्छा पूर्वक त्रैलोक्यमें विचरताहै ॥ ६१ ॥

मूलम्--ततोऽभ्यासक्रमेणैव घटिकात्रितयं भवेत् ॥ येन स्यात्सकलासिद्धिर्योगिनः स्वेप्सिता ध्रुवम् ॥ ६२ ॥

टीका–पूर्वोक्त क्रमसे प्राणायाम जब तीन घडीतक स्थिर होजायगा तब योगीको उसके इच्छाके अनुसार सब सिद्ध होजायगा यह निश्चय है ॥ ६२ ॥

मूलम्–वाक्सिद्धिः कामचारित्वं दूरदृष्टिस्तथैव च ॥ दूरश्रुतिः सूक्ष्मदृष्टिः परकायप्रवेशनम् ॥६३॥ विण्मूत्रलेपने स्वर्णमदृश्यकरणं तथा ॥ भवन्त्येतानि सर्वाणि खेचरत्वं च योगिनाम् ॥६४॥

टीका–वाक्यसिद्धी स्वेच्छाचारी दूरदृष्टी दूर शब्द श्रवण अतिसूक्ष्म दर्शन दूसरेके शरीरमें प्रवेश करनेकी शक्ति होय और योगी अन्यधातुमें अपने मल मूत्र लेपनमात्रसे स्वर्ण करे और योगीको अदृश्य होजानेकी शक्ति और आकाशमें गमन करनेकी सिद्धि यह सब योगीको कुम्भक सिद्ध होजानेसे स्वयं सिद्ध होजायगा इसमें संशय नहीं है ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

मूलम्–यदा भवेद्घटावस्था पवनाभ्यासने परा ॥ तदा संसारचक्रेऽस्मिंस्तन्नास्ति यन्न साधयेत् ॥ ६५ ॥

टीका–जब योगींकी घटावस्था होगी अर्थात् उसमें

योगकी घटना होगी तब यह संसारचक्र योगीको कुछ असाध्य न रहैगा ॥ ६५ ॥

मूलम्–प्राणापाननादबिंदुजीवात्मपरमात्मनः ॥ मिलित्वा घटते यस्मात्तस्माद्वै घट उच्यते ॥ ६६ ॥

टीका–प्राण अपान नाद बिन्दु जीव आत्मा और परमात्मा इनको एकत्र घटना होनेसे इसको घटावस्था कहते हैं ॥ ६६ ॥

मूलम्–याममात्रं यदा धर्त्तुं समर्थः स्यात्तदाद्भुतः ॥ प्रत्याहारस्तदैव स्यान्नांतरा भवति ध्रुवम् ॥ ६७ ॥

टीका–एक प्रहर मात्र जब वायु धारण करनेकी सामर्थ्य होगी तब अद्भुत प्रत्याहारकी शक्ति होगी और साधनसे न होगी निश्चय है ॥ ६७ ॥

मूलम्–यं यं जानाति योगीन्द्रस्तं तमात्मेति भावयेत् ॥ यैरिन्द्रियैर्यद्विधानस्तदिन्द्रियजयो भवेत् ॥ ६८ ॥

टीका–योगी जो जो पदार्थ जाने सो सो पदार्थमें आत्माकाही भावना करे जो इंद्रियसे जिस पदार्थका बोध होगा उस पदार्थमें वही आत्मभावनासे वह इंद्रिय

जय हो जायगी अर्थात् जैसे नेत्रसे रूपका बोध होताहै तो जब रूपमें आत्मभावना होगी तब उस भावनासे चक्षु इन्द्रिय रूपमें कदापि आसक्त न होगी जब वह आसक्त न भई तब वह इन्द्रिय आपही जय होगई ॥६८॥

मूलम्–याममात्रं यदा पूर्णं भवेदभ्यासयोगतः॥एकवारं प्रकुर्वीत तदा योगी च कुम्भकम्॥६९॥दण्डाष्टकं यदा वायुर्निश्चलो योगिनो भवेत् ॥ स्वसामर्थ्यात्तदांगुष्ठे तिष्ठद्वातुलवत्सुधीः ॥ ७० ॥

टीका–जब एकवारमें पूर्ण एक प्रहरतक योगीका अभ्याससे कुम्भक स्थिर रहेगा अर्थात् आठ घडीतक योगीका वायु निश्चल रहे तब वह अपने सामर्थ्यसे अङ्गुष्ठमात्रके बलसे अचल अबोधवत् खडा रहसक्ता है अर्थात् यह सामर्थ्य भी योगीको होगी और अपने सामर्थ्यको गोप्य रखनेके हेतु विक्षिप्तकी चेष्टा योगी दिखलावैगा ॥ ६९ ॥ ७० ॥

मूलम्–ततःपरिचयावस्था योगिनोऽभ्यासतो भवेत् ॥यदा वायुश्चंद्रसूर्यं त्यक्त्वा तिष्ठति निश्चलम् ॥ ७१ ॥ वायुः परिचितो वायुः सुषुम्ना व्योम्नि संचरेत् ॥

टीका—इस अन्तरमें योगीकी अभ्याससे परिचया-वस्था होगी जब वायु इडा पिङ्गलाको त्यागके निश्चल स्थिर रहेगा ॥ ७१ ॥ तब परिचित होके सुषुम्नाके रन्ध्रसे प्राणवायु आकाशको गमन करेगा ॥

मूलम्—क्रियाशक्तिं गृहीत्वैव चक्रान्भित्त्वा सुनिश्चितम् ॥ ७२ ॥ यदा परिचयावस्था भवेदभ्यासयोगतः ॥ त्रिकूटं कर्मणां योगी तदा पश्यति निश्चितम् ॥ ७३ ॥

टीका—क्रियाशक्तिको ग्रहण करके योगी निश्चय सब चक्रको वेधेगा ॥७२॥ और जब योग अभ्याससे परिचया वस्था होगी तब त्रिकूट कर्मोंको योगी निश्चय देखेगा तात्पर्य यह है कि, जब योगीका पूर्वोक्त अभ्यास सिद्ध होजायगा तब त्रिकूट अर्थात् आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक मानसिक दुःखको आध्यात्मिक कहते हैं और भूत पिशाचादिसे जो कष्ट होता है उसको आधिभौतिक कहते हैं और देवता आदिसे जो कर्मानुसार कष्ट होताहै उसको आधिदैविक कहते हैं यह त्रिकूटकर्मोंका ज्ञान योगीको होजाता है ॥ ७३ ॥

मूलम्—ततश्चकर्मकूटानि प्रणवेन विनाशयेत् ॥ स योगी कर्मभोगाय कायव्यूहं समाचरेत् ॥ ७४ ॥

टीका-इस कर्मकूटको योगी प्रणवद्वारा नाश कर-देताहै और यदि पूर्वकृत कर्मफल भोगनेकी इच्छा करे तो अपने इच्छानुसार इसी जन्ममें इसी शरीरसे भोगलेगा ॥ ७४ ॥

मूलम्--अस्मिन्कालेमहायोगी पंचधा धा-
रणं चरेत् ॥ येन भूरादिसिद्धिः स्यात्ततो
भूतभयापहा॥७५॥आधारे घटिकाः पंच-
लिंगस्थाने तथैव च ॥ तदूर्ध्वं घटिकाः
पञ्च नाभिहृन्मध्यके तथा ॥७६॥ भ्रूम-
ध्योर्ध्वं तथा पंच घटिका धारयेत्सुधीः ॥
तथा भूरादिना नष्टो योगीन्द्रो न भवे
त्खलु ॥ ७७ ॥

टीका-जिसकालमें महायोगी पञ्चधाधारणा सिद्ध करलेगा तब यह पञ्चभूत सिद्ध होजायँगे और इनसे कोई कष्टका भय नहोगा. अब धारणाका निर्णय करतेहैं कि, आधारचक्रमें पांचघडी वायू धारणकरे इसी क्रमसे स्वाधिष्ठान मणिपूर अनाहत विशुद्ध आज्ञाचक्रमें अर्थात् गुदा लिङ्ग नाभि हृदय कंठ भृकुटीके मध्यमें ऊपर कहेहुए प्रमाणसे वायु धारणकरेगा तो योगी पञ्च भूतसे निश्चय नाश न होगा ॥ ७५ ॥ ७६ ॥ ७७ ॥

मूलम्-मेधावी सर्वभूतानां धारणां यः समभ्यसेत् ॥ शतब्रह्ममृतेनापि मृत्युस्तस्य न विद्यते ॥ ७८ ॥

टीका-बुद्धिमान् योगी अभ्याससे पञ्चभूतकी धारणा करेगा तो यदि एकशत ब्रह्माभी मृत्युको प्राप्त होंगे तबभी उसकी मृत्यु न होगी ॥ ७८ ॥

मूलम्-ततोऽभ्यासक्रमेणैव निष्पत्तिर्योगिनो भवेत् ॥ अनादिकर्मबीजानि येन तीर्त्वाऽमृतं पिबेत् ॥ ७९ ॥

टीका-इस अभ्यासक्रमसे योगीको ज्ञान होता है और अनादिकर्म बीजको तरके अर्थात् नाश करके योगी अमृतपान करताहै ॥ ७९ ॥

मूलम्-यदा निष्पत्तिर्भवति समाधेः स्वेन कर्मणा ॥ जीवन्मुक्तस्य शांतस्य भवेद्धीरस्य योगिनः ॥ ८० ॥ यदा निष्पत्तिसंपन्नः समाधिःस्वेच्छया भवेत् ॥ ८१ ॥ गृहीत्वा चेतनां वायुः क्रियाशक्तिं च वेगवान् ॥ सर्वांश्चक्रान्विजित्वा च ज्ञानशक्तौ विलीयते ॥ ८२ ॥

टीका–जब अपने अभ्यासकर्मसे योगीको समाधी-का ज्ञान होगा तब जीवन्मुक्त शान्त होके योगीको ज्ञानसम्पन्न स्वेच्छासमाधी होगी और मन वायु क्रिया-शक्तिसहित सर्व चक्रोंको वेधके ज्ञानशक्तीमें लीन हो-जायगा ॥ ८० ॥ ८१ ॥ ८२ ॥

मूलम्–इदानीं क्लेशहान्यर्थं वक्तव्यं वायु-साधनम् ॥ येन संसारचक्रेऽस्मिन्रोगहा-निर्भवेद्ध्रुवम् ॥ ८३ ॥

टीका–हे देवि ! अब क्लेशहानीके अर्थ वायुसाधन कहते हैं जिससे इस संसारचक्रमें निश्चय रोगादिक नाश होजाय और साधकको कष्ट न हो ॥ ८३ ॥

मूलम्–रसनां तालुमूले यः स्थापयित्वा विचक्षणः॥पिबेत्प्राणानिलं तस्य रोगाणां संक्षयो भवेत् ॥ ८४ ॥

टीका–जिह्वाको तालुके मूलमें स्थितकरके बुद्धि-मान साधक यदि प्राणवायुको पान करे तो उसके सर्व रोगोंका नाश होजायगा ॥ ८४ ॥

मूलम्–काकचंच्वा पिबेद्वायुं शीतलं यो वि-चक्षणः ॥ प्राणापानविधानज्ञः स भवे-न्मुक्तिभाजनः ॥ ८५ ॥

टीका-जो बुद्धिमान साधक प्राण अपानके विधानका ज्ञाता काकचञ्चू अर्थात् अधरको काकके चोंचके समान लम्बा करके शीतल वायु पान करता है सो योगी मुक्तिभाजन है अर्थात् मुक्तिपात्र है ॥ ८५ ॥

मूलम्--सरसं यः पिबेद्वायुं प्रत्यहं विधिना सुधीः ॥नश्यंति योगिनस्तस्य श्रमदाहजरामयाः ॥ ८६ ॥

टीका-जो साधक नित्य विधानपूर्वक रससहित वायुपान करता है उसके सर्व रोग और श्रम दाह जरा अर्थात् वृद्धावस्थादि नाश होजाते हैं अर्थात् यह सब उसके समीप नहीं आते ॥ ८६ ॥

मूलम्--रसनामूर्ध्वगांकृत्वा यश्चन्द्रे सलिलं पिबेत् ॥ मासमात्रेण योगीन्द्रो मृत्युं जयति निश्चितम् ॥ ८७ ॥

टीका-जो योगी जिह्वाको ऊपर करके चंद्रमासे विगलित सुधारसको पान करताहै सो योगी एक मासमें निश्चय मृत्युको जीत लेता है इस जगह जिह्वा ऊपर करनेसे तात्पर्य खेचरी मुद्रासे है सो खेचरीमुद्रा गुरु मुखसे जानना उचितहै ॥ ८७ ॥

मूलम्--राजदंतबिलं गाढं संपीडय विधिना

पिबेत् ॥ ध्यात्वा कुण्डलिनीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत् ॥ ८८ ॥

टीका—जो साधक राजदन्तको नीचेके दांतसे दबायके उसके रन्ध्रद्वारा विधिसे वायुपान करे और उस कालमें कुण्डलिनी देवीका ध्यान करेगा तो निश्चय छः मासमें कवि होगा ॥ ८८ ॥

मूलम्--काकचंच्वा पिबेद्वायुं सन्ध्ययोरुभयोरपि ॥ कुण्डलिन्या मुखे ध्यात्वा क्षयरोगस्य शान्तये ॥ ८९ ॥

टीका—पूर्वोक्त काकचञ्चूसे विधिसे दोनों सन्ध्यामें जो कुण्डलनीकी मुखका ध्यान करके वायुपान करेगा उसका क्षयरोग नाश होजायगा ॥ ८९ ॥

मूलम्--अहर्निशं पिबेद्योगी काकचंच्वा विचक्षणः ॥ पिबेत्प्राणानिलं तस्य रोगाणां संक्षयो भवेत् ॥ दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिस्तथा स्याद्दर्शनं खलु ॥ ९० ॥

टीका—जो योगी बुद्धिमान् रात्रि दिवस काकचञ्चूसे प्राणवायु पान करतेहैं उनके रोगोंका नाश होजाताहै और दूरका शब्द श्रवण होताहै और दूरकी वस्तु देख पडती है तथा निश्चय सूक्ष्म दर्शन होताहै॥९०॥

मूलम्--दन्तैर्दन्तान्समापीडय पिबेद्वायुं शनैः शनैः ॥ ऊर्ध्वजिह्वः सुमेधावी मृत्युं जयति सोऽचिरात् ॥ ९१ ॥

टीका-जो बुद्धिमान् दांतसे दांतको पीडित करके धीरे धीरे वायुपान करेगा और जिह्वा ऊपर करके अमृतपान करेगा सो शीघ्र मृत्युको जीतलेगा ॥ ९१ ॥

मूलम्-षण्मासमात्रमभ्यासं यः करोति दिनेदिने ॥ सर्वपापविनिर्मुक्तो रोगान्नाशयते हि सः ॥ ९२ ॥ संवत्सरकृताभ्यासान्मृत्युं जयति निश्चितम्॥ तस्मादतिप्रयत्नेन साधयेद्योगसाधकः ॥९३॥ वर्षत्रयकृताऽभ्यासाद्भैरवो भवति ध्रुवम् ॥ अणिमादिगुणाल्लब्ध्वा जितभूतगणः स्वयम् ॥ ९४ ॥

टीका-जो पहिले कहेहुए अभ्यासको नित्य छः मास करे तो सब रोगोंका नाश होजायगा और सब पापसे मुक्त होजाय और उसी अभ्यासको एकवर्ष करे तो मृत्युको निश्चय जीतले इस हेतुसे साधक इस क्रियाका यत्न करके अवश्य साधन करे और यदि इसका अभ्यास तीनवर्ष करे तो निश्चय भैरव होजाय और

अष्टसिद्धिका लाभ होय और सर्व भूतगण आपही वश में होजाय ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥

मूलम्–रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति ॥ क्षणेन मुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ १५ ॥

टीका–योगीकी जिह्वा यदि क्षणमात्र ऊपर स्थिर होजाय तो उसी क्षणसे सर्वव्याधि और वृद्धावस्था और मृत्युका नाश होजाय. तात्पर्य यह है कि, खेचरीमुद्रासे किञ्चित्मात्र भी अमृतपान करलेगा तो उसकी मृत्यु न होगी ॥ १५ ॥

मूलम्–रसनां प्राणसंयुक्तां पीड्यमानां विचिंतयेत् ॥ न तस्य जायते मृत्युः सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥ १६ ॥

टीका–जिह्वाको प्राणसहित पीडित करके जो पुरुष ब्रह्मरन्ध्रमें ध्यानसंयुक्त स्थिर करेगा. हेदेवी ! हम वारंवार कहतेहैं कि, निश्चय उसकी मृत्यु न होगी ॥ १६ ॥

मूलम्–एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥ न क्षुधा न तृषा निद्रा नैव मूर्च्छा प्रजायते ॥ १७ ॥

टीका–इस योगअभ्याससे जो पहिले कहाहै वह

पुरुष दूसरा कामदेव होजायगा अर्थात् कामदेवके समान शोभितहोगा और उसको क्षुधा तृषा निद्रा मूर्च्छा कभी न उत्पन्न होगी ॥ ९७ ॥

मूलम्–अनेनैव विधानेन योगीन्द्रोऽवनिमण्डले ॥ भवेत्स्वच्छन्दचारी च सर्वापत्परिवर्जितः ॥ ९८ ॥ न तस्य पुनरावृत्तिर्मोदते ससुरैरपि ॥ पुण्यपापैर्न लिप्येत एतदाचरणेन सः ॥ ९९ ॥

टीका–इस विधानसे योगी संसारमें सर्व दुःखसे रहित होके स्वेच्छाचारी होजायगा और इस आचरणसे योगी पुण्यपापमें लिप्त नहीं होगा न फिर संसारमें उसका जन्म होगा और देवतोंके साथ आनन्दपूर्वक विचरेगा ॥ ९८ ॥ ९९ ॥

मूलम्–चतुरशीत्यासनानि सन्ति नानाविधानि च ॥ १०० ॥ तेभ्यश्चतुष्कमादाय मयोक्तानि ब्रवीम्यहम् ॥ सिद्धासनं ततः पद्मासनश्चोग्रं च स्वस्तिकम् ॥ १०१ ॥

टीका–बहुत प्रकारके चौऱ्याशी आसनहैं उनमें उत्तम जो चार आसन हैं उनको हम कहतेहैं, सिद्धासन, पद्मासन, उग्रासन, स्वस्तिकासन. तात्पर्य यह है कि, और

आसन करनेसे नाडी शुद्ध होतीहै परन्तु यह चार आ-
सनसे वायु धारण करके बैठनेमें कष्ट नहीं होता और
प्रधान नाडी शीघ्र वश होजाती है॥ १०० ॥ १०१ ॥

मूलम्—योनिं संपीड्य यत्नेन पादमूलेन सा-
धकः ॥ मेढ्रोपरि पादमूलं विन्यसेद्योग-
वित्सदा ॥ १०२ ॥ ऊर्ध्वं निरीक्ष्य भ्रूम-
ध्यं निश्चलः संयतेन्द्रियः ॥ विशेषोऽवक्र
कायश्च रहस्युद्वेगवर्जितः ॥ एतत्सिद्धा-
सनं ज्ञेयं सिद्धानां सिद्धिदायकम् ॥१०३॥

टीका—योगवेत्ता साधक पादमूल अर्थात् एडीसे
योनिस्थानको पीडित करे और दूसरे पादके एडीको
मेढ्र अर्थात् लिंगके मूलस्थानपर रक्खे और ऊपर
भ्रूके मध्यमें निश्चल दृष्टि रक्खे जितेन्द्रियपुरुष विशेष
सीधा शरीर करके विधानपूर्वक वेगवर्जित सावधान
होके बैठे इसको सिद्धासन कहते हैं यह आसन सिद्धों-
को सिद्धि देनेवालाहै ॥ १०२ ॥ १०३ ॥

मूलम्—येनाभ्यासवशाच्छीघ्रं योगनिष्पत्ति
माप्नुयात् ॥ सिद्धासनं सदा सेव्यं पवना-
भ्यासिना परम् ॥ १०४ ॥

टीका—इस अभ्याससे जो पहिले कहाहै शीघ्र योग-

का ज्ञान होताहै इस हेतुसे यह सिद्धासन पवनाभ्यासीको सदा सेवनेके योग्यहै ॥ १०४ ॥

मूलम्-येन संसारमुत्सृज्य लभते परमां गतिम् ॥१०५॥ नातः परतरं गुह्यमासनं विद्यते भुवि ॥ येनानुध्यानमात्रेण योगी पापाद्विमुच्यते ॥ १०६ ॥

टीका-इस सिद्धासनके प्रभावसे साधक संसारको छोडके परमगतिको पाताहै और इससे उत्तम वा गोप्य संसारमें दूसरा आसन नहीं है जिसके ध्यानमात्रसे योगी सर्व पापसे मुक्त होजाताहै ॥ १०५॥ १०६॥

मूलम्-उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ॥ ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा तु तादृशौ ॥ १०७ ॥ नासाग्रे विन्यसेद्दृष्टिं दन्तमूलञ्च जिह्वया ॥ उत्तोल्य चिबुकं वक्ष उत्थाप्य पवनं शनैः ॥१०८॥ यथाशक्त्या समाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः॥ यथा शक्त्यैव पश्चात्तु रेचयेदविरोधतः ॥ १०९ ॥ इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ॥ दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते परम् ॥ ११० ॥

टीका—दोनों चरणोंको उत्तान करके यत्नसे ऊरू अर्थात् जंघापर रक्खे उसीप्रकार दोनों हाथको सीधा करके ऊरूके मध्यमें रक्खे और नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि और दांतके मूलमें जिह्वा स्थितकरे और वक्ष अर्थात् हृदयस्थानपर चिबुक अर्थात् ठोडी स्थापन करे और अपानवायुको उठाके प्राणको शनैःशनैः यथाशक्ति पूरक करके धारणाकरे पश्चात् धीरे धीरे रेचक अर्थात् वायुको त्यागदे इसको पद्मासन कहतेहैं यह सर्व व्याधिका नाशक है यह आसन बहुत दुर्लभहै परंतु कोई बुद्धिमान् साधकको प्राप्त होताहै ॥१०७॥१०८॥१०९॥११०॥

मूलम्—अनुष्ठाने कृते प्राणः समश्चलति तत्क्षणात् ॥ भवेदभ्यासने सम्यक्साधकस्य न संशयः ॥ १११ ॥

टीका—पूर्वोक्त अनुष्ठान करनेसे उसी समय प्राण सम होके सुषुम्णामें प्रवेश करेगा अभ्याससे साधकका वायु सम होजायगा इसमें संशय नहीं ॥ १११ ॥

मूलम्—पद्मासने स्थितो योगी प्राणापान विधानतः ॥ पूरयेत्स विमुक्तः स्यात्सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥ ११२ ॥

टीका—ईश्वर श्रीपार्वतीजीसे कहते हैं कि पद्मासन-

स्थित योगी प्राण अपानके विधानसे वायु पूरण करेगा सो संसारबन्धसे मुक्तहोजायगा इसमें संशय नहीं है हम सत्य कहते हैं ॥ ११२ ॥

मूलम्--प्रसार्य चरणद्वन्द्वं परस्परमसंयुतं। स्वपाणिभ्यां दृढं धृत्वा जानूपरि शिरो न्यसेत् ॥ ११३ ॥ आसनोग्रमिदं प्रोक्तं भवेदनिलदीपनम् ॥ देहावसानहरणं पश्चिमोत्तानसंज्ञकम् ॥११४॥ यएतदासनं श्रेष्ठं प्रत्यहं साधयेत्सुधीः ॥ वायुः पश्चिममार्गेण तस्य सञ्चरति ध्रुवम् ॥ ११५ ॥

टीका-दोनों चरणोंको संग परस्पर लम्बाकरके दोनों हाथोंसे बलसे धरे और जानु पर शिरको स्थितकरे उसको उग्रासन कहतेहैं, और पश्चिमतान भी संज्ञा है इससे वायुदीपन होताहै और मृत्युका नाशकरता है यह सब आसनोंमें श्रेष्ठ है और बुद्धिमान् इसको नित्य साधन करे तो उसका वायु पश्चिम मार्गसे अवश्य सञ्चार करेगा ॥ ११३ ॥ ११४ ॥ ११५ ॥

मूलम्--एतदभ्यासशीलानां सर्वसिद्धिः प्रजायते ॥ तस्माद्योगी प्रयत्नेन साधयेत्सिद्धमात्मनः ॥ ११६ ॥

टीका—ऐसे पूर्वोक्त अभ्यासमें जो लोग तत्परहैं उनको सर्व सिद्धि उत्पन्न होती है. इस हेतुसे यत्न करके योगी आत्माके सिद्धहोनेकी साधना करे ॥ ११६ ॥

मूलम्-गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्यकस्यचित् ॥ येन शीघ्रं मरुत्सिद्धिर्भवेद्दुःखौघनाशिनी ॥ ११७ ॥

टीका—यह आसन जो पहिले कहा है यत्नसे गोपनीयहै सबको देना उचित नहीं है परंतु अधिकारीको देना योग्यहै इससे बहुत शीघ्र वायु सिद्ध होजाताहै और यह सिद्धि दुःखके समूहको नाश करनेवाली है ॥ ११७ ॥

मूलम्—जानूर्वोरन्तरे सम्यग्धृत्वा पादतले उभे ॥ समकायः सुखासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥ ११८ ॥ अनेन विधिना योगी मारुतं साधयेत्सुधीः ॥ देहे न क्रमते व्याधिस्तस्य वायुश्च सिध्यति ॥ ११९ ॥ सुखासनमिदं प्रोक्तं सर्वदुःखप्रणाशनम् ॥ स्वस्तिकं योगिभिर्गोप्यं स्वस्तीकरणमुत्तमम् ॥ १२० ॥

टीका—जानु और. ऊरूके मध्यमें बराबर पादको

ऊपर नीचे धरे और समकाय अर्थात् बराबर शरीर करके सुखपूर्वक बैठे उसको स्वस्तिकासन कहतेहैं. इस विधानसे बुद्धिमान् योगी वायुका साधनकरे तौ उसके शरीरमें व्याधी प्रवेश नहीं करती और उसको वायु सिद्धहोजातीहै इसको सुखासन कहतेहैं यह सर्वदुःखका नाशक है यह स्वस्तिकासन योगी लोगोंको गोप्य रखना उचितहै इसकारणसे की उत्तम कल्याणका कारकहै ॥ ११८ ॥ ११९ ॥ १२० ॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे योगाभ्यासतत्त्वकथनं नाम तृतीयः पटलः समाप्तः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थपटलः ।

मूलम्–आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे पूरयेन्मनः ॥ गुदमेढ्रान्तरे योनिस्तामाकुंच्य प्रवर्तते ॥ १ ॥

टीका–पहिले पूरक योगविधानसे आधारपद्ममें वायुको मन सहित पूरक करके स्थित करे और गुदामेढ्के मध्यमें जो योनिस्थान है उसको यत्नसे आकुञ्चन करनेमें प्रवृत्तहोय ॥ १ ॥

मूलम्–ब्रह्मयोनिगतं ध्यात्वा कामं कन्दुकसन्निभम्॥सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटि-

सुशीतलम् ॥२॥ तस्योर्ध्वं तु शिखासूक्ष्मा चिद्रूपा परमाकला ॥ तया सहितमात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत् ॥ ३ ॥

टीका—ब्रह्मयोनिके मध्यमें कामपुष्प अर्थात् कामबाणके समान कोटिसूर्यके सदृश प्रकाश और कोटि चन्द्रमाके समान शीतल कामदेवका ध्यान करे और उसके ऊर्ध्व भागमें सूक्ष्म ज्योति शिखा चैतन्यस्वरूपा परमाशक्तिसहित एक परमात्माका चिन्तन करै ॥ २ ॥ ३ ॥

मूलम्—गच्छतिब्रह्ममार्गेण लिंगत्रयक्रमेण वै॥ सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम्॥४॥अमृतं तद्धि स्वर्गस्थं परमानन्दलक्षणम्॥श्वेतरक्तं तेजसाढ्यं सुधाधाराप्रवर्षिणम् ॥ ५ ॥ पीत्वा कुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत्कुलम् ॥

टीका—उसी ब्रह्मयोनिसे जीव सुषुम्णा रन्ध्रद्वारा क्रमसे तीन लिङ्ग अर्थात् स्थूल सूक्ष्म कारणस्वरूपसे प्रस्थान करताहै और स्वर्गस्थ अमृत परम आनन्दका लक्षण श्वेत रक्त वर्ण कोटि सूर्यके सदृश तेज प्रकाश और कोटि चन्द्रमाके समान शीतल सुधाधारा-

वर्षी दिव्यकुलामृतको पान करके फिर योनिमंडल-
में स्थित होजाताहै ॥ ४ ॥ ५ ॥

मूलम्-पुनरेव कुलं गच्छेन्मात्रायोगेन ना-
न्यथा ॥ सा च प्राणसमाख्याता ह्यस्मि-
स्तन्त्रे मयोदिता ॥ ६ ॥

टीका-फिर ब्रह्मयोनिसे प्राणायामयोग करके प्राण
कुलमंडलमें जाताहै इस तंत्रमें जो हमने कहाहै हे देवी !
उस ब्रह्मयोनिको प्राणके समान कहते हैं ॥ ६ ॥

मूलम्-पुनःप्रलीयते तस्यां कालाग्न्यादि-
शिवात्मकम् ॥ ७ ॥ योनिमुद्रा पराह्येषा
बन्धस्तस्याः प्रकीर्तितः ॥ तस्यास्तु
बन्धमात्रेण तन्नास्ति यन्न साधयेत् ॥ ८ ॥

टीका- फिर तीसरे बार काल अग्नि आदि शिवा-
त्मक जीव प्रस्थानपूर्वक चंद्रमण्डलमें दिव्य अमृत-
पान करके फिर ब्रह्मयोनिमें लय होजाता है हे देवी !
इस बन्धको योनिमुद्रा कहते हैं केवल बन्धमात्रसे
संसारमें असाध्य कोई वस्तु नहीं है अर्थात् सब सिद्ध
होसक्ताहै ॥ ७ ॥ ८ ॥

मूलम्-छिन्नरूपास्तु ये मन्त्राः कीलिताः
स्तंभिताश्च ये ॥ दग्धा मन्त्राः शिरोहीना

मलिनास्तु तिरस्कृताः ॥ ९ ॥ मन्दा बालास्तथा वृद्धाः प्रौढा यौवनगर्विताः ॥ भेदिनो भ्रमसंयुक्ताः सप्ताहं मूर्च्छिताश्च ये ॥ १० ॥ अरिपक्षे स्थिता ये च निर्वीर्याः सत्त्ववर्जिताः॥ तथा सत्त्वेन हीनाश्च खण्डिताः शतधाकृताः ॥ ११ ॥ विधानेन च संयुक्ताः प्रभवन्त्यचिरेण तु ॥ सिद्धिमोक्षप्रदाः सर्वे गुरुणा विनियोजिताः ॥ १२ ॥ यद्यदुच्चरते योगी मंत्ररूपं शुभाशुभम्॥ तत्सिद्धिं समवाप्नोति योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ १३ ॥ दीक्षयित्वा विधानेन अभिषिच्य सहस्रधा ॥ ततो मंत्राधिकारार्थमेषा मुद्रा प्रकीर्तिता ॥ १४ ॥

टीका-जो मन्त्र छिन्नरूप हैं और कीलित हैं स्तम्भित हैं और जो मन्त्र दग्ध हैं शिरहीन हैं मलीन हैं और जिनका अनादर है और मन्द हैं बाल हैं वृद्धहैं प्रौढहैं और जो यौवनगर्वित हैं और भेदितहैं भ्रमसंयुक्त हैं सप्ताहसे मूर्च्छित हैं और जो शत्रुके पक्षमें हैं निर्वीर्य हैं

सत्वरहित हैं खण्डितहैं सो खण्ड होगएहैं इस विधिसे युक्त होके साधन करनेसे शीघ्र प्रकर्ष करके सिद्ध होजायगा गुरुशिक्षासे सब सिद्ध और मोक्षप्रद होजाताहै योगीसे जो मन्त्र शुभ वा अशुभरूप उच्चारण होताहै सो सब योनिमुद्राके बन्धनमात्रसे सिद्ध होजाताहै विधानपूर्वक मंत्रके अधिकारार्थ गुरुको उचितहै कि इस योनिमुद्राके दीक्षाका अभिषेक सहस्रधा शिष्यको करे ॥९॥ १० ॥११॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥

मूलम्–ब्रह्महत्यासहस्राणि त्रैलोक्यमपि घातयेत् ॥ नासौ लिप्यति पापेन योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ १५ ॥

टीका–यदि एक सहस्र ब्रह्महत्याकरके और त्रैलोक्यकाभी घात करदे अर्थात् प्राणिमात्रका नाश करदे तो भी वह इस योनिमुद्राके बन्धमात्रसे पापमें लिप्त न होगा अर्थात् उसको पाप नलगेगा ॥ १५ ॥

मूलम्–गुरुहा च सुरापी च स्तेयी च गुरुतल्पगः ॥ एतैः पापैर्न बध्येत योनिमुद्रानिबन्धनात् ॥ १६ ॥

टीका–गुरुघातक मद्यपाई चोर गुरुकी शय्यामें रमण करनेवाला ऐसे अनेक पातकसेभी साधक योनिमुद्राके बन्धप्रभावसे बन्धायमान नहोगा ॥ १६ ॥

मूलम्-तस्मादभ्यसनं नित्यं कर्तव्यं मोक्ष-
कांक्षिभिः ॥ अभ्यासाज्जायते सिद्धिर-
भ्यासान्मोक्षमाप्नुयात् ॥ १७ ॥

टीका-इस हेतुसे मोक्षकांक्षीको उचित है कि, नित्य अभ्यास करे अभ्याससे सिद्धि होती है और अभ्यासही-से मुक्ति प्राप्त होती है॥ १७ ॥

मूलम्-संविदं लभतेऽभ्यासाद्योगोभ्यासात्प्र-
वर्तते ॥ मुद्राणां सिद्धिरभ्यासादभ्यासा-
द्वायुसाधनम् ॥१८ ॥ कालवञ्चनमभ्या-
सात्तथा मृत्युञ्जयो भवेत् ॥ वाक्सिद्धिः
कामचारित्वं भवेदभ्यासयोगतः ॥१९॥

टीका-अभ्याससे ज्ञान प्राप्त होताहै और अभ्याससे योगमें प्रवृत्ति होती है और अभ्याससे मुद्रा सिद्ध होती हैं और अभ्याससे वायुका साधन होताहै और अभ्याससे मनुष्य कालसे बचताहै और अभ्याससे मृत्युंजय होजाताहै और अभ्यासयोगसे वाक्यसिद्धि और मनुष्य इच्छाचारी होजाताहै. तात्पर्य यह है कि, सब वस्तुके सिद्धिका कारण अभ्यास है. इस हेतुसे आ-लस्यको छोडके जिस वस्तुमें मनुष्य अभ्यासकरेगा वह अवश्य सिद्ध होजायगा ॥ १८ ॥ १९ ॥

मूलम्--योनिमुद्रा परं गोप्या न देया यस्य कस्यचित् ॥ सर्वथा नैव दातव्या प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥ २० ॥

टीका—यह योनिमुद्रा परमगोपनीय है अनधिकारीको कदापि न दे यह सर्वथा देनेके योग्य नहीं है यदि कण्ठगत प्राण होजायँ तो भी देना उचित नहीं है ॥२०॥

मूलम्--अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परम् ॥ गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम् ॥ २१ ॥

टीका—हे देवी! अब जो योग कहेंगे वह परमसिद्धिका देनेवाला है सिद्ध लोगोंको इस परम दुर्लभ योगको गोप्य रखना उचितहै ॥ २१ ॥

मूलम्--सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ॥ तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोपि च ॥ २२ ॥

टीका—गुरुके प्रसादसे निद्रिता कुण्डलिनी देवी जब जागृत होती है तब सर्व पद्म और सर्व ग्रंथी वेधित हो जाती हैं अर्थात् सुषुम्णा रन्ध्रद्वारा प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्रपर्यंत संचार करने लगजाताहै ॥ २२ ॥

मूलम्—तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्व-

रीम् ॥ ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं स
माचरेत् ॥ २३ ॥

टीका–इसकारणसे यत्नपूर्वक ब्रह्मरन्ध्रके मुखमें जो ईश्वरी कुण्डलिनी देवी शयन करती हैं उनको उठानेके अर्थ मुद्राका अभ्यास उचित है ॥ २३ ॥

मूलम्–महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खे-
चरी ॥ जालंधरो मूलबंधो विपरीतकृति-
स्तथा ॥२४॥ उड्डानं चैव वज्रोली दशमे
शक्तिचालनम् ॥ इदं हि मुद्रादशकं मुद्रा
णामुत्तमोत्तमम् ॥ २५ ॥

टीका–अब उत्तम मुद्राबन्ध वेध कहते हैं महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरीमुद्रा, जालन्धरबन्ध, मूल-बन्ध, विपरीतकरणीमुद्रा, उड्डानबन्ध, वज्रोलीमुद्रा और दशवीं शक्तिचालनमुद्रा, यह दशों मुद्रा सबमें अतिउत्तम हैं ॥ २४ ॥ २५ ॥

अथ महामुद्राकथनम् ।

मूलम्–महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तन्त्रेऽस्मिन्मम-
मवल्लभे ॥ यां प्राप्य सिद्धाः सिद्धिं च
कपिलाद्याः पुरा गताः ॥ २६ ॥

टीका—हे प्रिये पार्वती ! इस तन्त्रमें महामुद्रा जो हम कहतेहैं इसको लाभ करके पूर्व कपिलआदिक सिद्ध-वरको सिद्धि प्राप्त भई ॥ २६ ॥

मूलम्--अपसव्येन संपीडच पादमूलेन सादरम् ॥ गुरूपदेशतो योनिं गुदमेढ्रान्तरालगाम् ॥२७॥सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणियुगेन वै ॥ नवद्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि ॥ २८ ॥ चित्तं चित्तपथे दत्त्वा प्रभवेद्वायुसाधनम् ॥ महामुद्रा भवेदेषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥ २९ ॥वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेनाभ्यसेत्पुनः ॥ प्राणायामं समं कृत्वा योगी नियतमानसः ॥ ३० ॥

टीका—वामपादके एडीसे गुदा और मेढ्रके मध्यमें जो योनि है उसको आदरसहित गुरुके उपदेशपूर्वक पीडितकरे अर्थात् दबावे और दक्षिणपाद प्रसारके अर्थात् लम्बा करके दोनों हाथोंसे धरे और नवद्वारोंको रोक करके चिबुक अर्थात् ठोडीको हृदयपर स्थित करे और चित्तवृत्तिको चैतन्यमें स्थिर करके वायुका साधन करना उचित है यह महामुद्रा सर्वतन्त्रोंके प्रमाणसे गो-

प्यहै पहिले वामांगसे अभ्यास करके फिर दक्षिण अं-
गसे अभ्यास करे योगी स्थिरबुद्धिको उचित है कि, इस
प्रकारसे प्राणायामको समकरे ॥२७॥२८॥२९॥३०॥

मूलम्--अनेन विधिना योगी मन्दभाग्यो-
पि सिध्यति॥ सर्वासामेव नाडीनां चालनं
बिन्दुमारणम् ॥३१॥जीवनन्तु कषायस्य
पातकानां विनाशनम् ॥ कुण्डलीतापनं
वायोर्ब्रह्मरन्ध्रप्रवेशनम् ॥ ३२ ॥ सर्वरो-
गोपशमनं जठराग्निविवर्धनम् ॥ वपुषा
कान्तिममलांजरामृत्युविनाशनम्॥३३॥
वांछितार्थफलं सौख्यमिन्द्रियाणाञ्च मा-
रणम् ॥एतदुक्तानि सर्वाणि योगारूढस्य
योगिनः ॥ ३४ ॥ भवेदभ्यासतोऽवश्यं
नात्र कार्या विचारणा ॥

टीका—इस विधानसे मन्दभाग्य योगीभी सिद्ध होजा-
यगा और इस महामुद्राके प्रभावसे सर्व नाडीका च-
लन सिद्ध होजायगा और बिन्दु स्थिर होगा और जी-
वनको आकर्षित रक्खेगा और सर्व पातकका नाश हो-
जायगा और कुण्डलिनीको हठात् उठाय वायुको ब्रह्मर-
न्ध्रमें प्रवेश करेगा और जठराग्नि प्रज्वलित होके सर्वरो-

गोंका नाश करदेगा और शरीरमें सुन्दर कान्ति होगी और वृद्धावस्थासहित मृत्युका नाश होजायगा और सुखसहित वाञ्छित फल लाभ होगा और इन्द्रियोंका निग्रह रहेगा यह सब जो कहा है सो योगारूढ योगीको अभ्याससे वश होजाताहै इसमें संशय नहीं है निश्चय है ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

मूलम्—गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ॥ यां तु प्राप्य भवाम्भोधेः पारं गच्छन्ति योगिनः ॥ ३५ ॥

टीका—हेसुरपूजिते देवी ! यह मुद्रा यत्न करके गोपनीय है योगीलोग इसको लाभ करके संसाररूपी समुद्रके पार होजाते हैं ॥ ३५ ॥

मूलम्—मुद्रा कामदुघा ह्येषा साधकानां मयोदिता ॥ गुप्ताचारेण कर्त्तव्या न देया यस्य कस्यचित् ॥ ३६ ॥

टीका—हेदेवी ! यह मुद्रा जो हमने कही है साधकोंको कामधेनुरूप है अर्थात् वाञ्छितफलकी दाता है इसको गुप्त करके अभ्यास करना उचित है और सबको अर्थात् अनधिकारीको देना उचित नहीं है ॥ ३६ ॥

अथ महाबन्धकथनम् ।

मूलम्—ततः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरू-

परि ॥ ३७ ॥ गुदयोनिं समाकुंच्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम् ॥ योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम् ॥ ३८ ॥ बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानेन यः सुधीः ॥ कथितोऽयं महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः ॥ ॥ ३९ ॥ नाडीजालाद्रसव्यूहो मूर्धानं याति योगिनः ॥ उभाभ्यां साधयेत्पद्भ्यामेकैकं सुप्रयत्नतः ॥ ४० ॥

टीका—तदनन्तर पादको प्रसारके अर्थात् फैलाके दक्षिणचरणको वाम ऊरूपर स्थित करके और गुदा और योनिको आकुञ्चन करके अपानको ऊर्ध्व करके समानवायुके साथ सम्बन्ध करके और प्राणवायुको अधोमुख करे यह बन्ध प्राण अपानके ऊर्द्धगतिके हेतु बुद्धिमान् साधकके प्रति कहाहै और यह महाबन्ध सिद्धिमार्गका दाता है और योगीलोगोंके नाडियोंका रससमूह इस बन्धसे ऊपरको गमन करताहै यह दोनों मुद्रा और बन्ध एक एकको दोनों अंगसे यत्न करके करना उचितहै ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

मूलम्—भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्नामध्यसङ्गतः ॥ अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबन्धोऽस्थि-

पञ्जरे ॥ ४१ ॥ संपूर्णहृदयो योगी भव-
न्त्येतानि योगिनः ॥ बन्धेनानेन योगी-
न्द्रः साधयेत्सर्वमीप्सितम् ॥ ४२ ॥

टीका–अभ्याससे प्राणवायु सुषुम्णाके मध्यमें स्थित होगा और इस महाबंधके प्रभावसे शरीर पुष्ट रहैगा और आस्थिपंजर और शरीरका सब बन्ध दृढ अर्थात् बलिष्ठ होजायगा और योगीका हृदय सन्तोषसे पूर्ण और आनन्दित रहेगा. यह सब योगीको इस महा-बन्धके प्रभावसे स्वयं लाभ होजायगा और इसी बन्धके साधनसे योगी अपनी इच्छाके अनुसार सब सिद्ध करलेगा ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

अथ महावेधकथनम् ।

मूलम्--अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवने-
श्वरि॥महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य
वायुना ॥ स्फिचौ संताडयेद्धीमान्वेधो-
ऽयं कीर्तितो मया ॥ ४३ ॥

टीका–हे त्रिभुवनेश्वरी ! अपान और प्राणको एक करके महावेधस्थित योगी उदरको वायुसे पूर्ण करके बुद्धिमान् दोनों स्फिच अर्थात् पार्श्वको ताडन करे इसको हमने वेध कहा है ॥ ४३ ॥

मूलम्—वेधेनानेन संविध्य वायुनायोगिपुंगवः ॥ ग्रंथिं सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मग्रंथिं भिनत्त्यसौ ॥ ४४ ॥

टीका—बुद्धिमान् योगी इस वेधद्वारा वायुसे सर्व ग्रन्थीको वेधन करके सुषुम्णारन्ध्रद्वारा ब्रह्मग्रंथीको भेदन करताहै ॥ ४४ ॥

मूलम्—यःकरोति सदाभ्यासं महावेधं सुगोपितम् ॥ वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामरण नाशिनी ॥ ४५ ॥

टीका—जो मनुष्य इस उत्तम महावेधको गोपित करके सर्वदा अभ्यास करेगा उसकी जरामरण नाशिनी वायुसिद्धि होजायगी ॥ ४५ ॥

मूलम्—चक्रमध्ये स्थिता देवाः कम्पन्ति वायुताडनात् ॥ कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते ॥ ४६ ॥

टीका—शरीरस्थ चक्रमें जो देवता हैं वह वायुके ताडनसे कम्पायमान होते हैं और महामाया कुण्डलिनी देवी कैलास अर्थात् ब्रह्मस्थानमें लय होती है तात्पर्य यह है कि, चक्रस्थित देवता अर्थात् गणेशजी, ब्रह्मा, विष्णु, महादेवजी, मायाधीश ज्योतिस्वरूप ईश्वर क्रमसे

आधार,स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञाच-क्रमें जो स्थित हैं वायुके वेगसे चक्ररन्ध्रको छोडदेते हैं तब वायुका प्रवेश होताहै इसहेतुसे यह महावेध अवश्य करना उचित है ॥ ४६ ॥

मूलम्–महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ तस्माद्योगी प्रयत्नेन करोति त्रितयं क्रमात् ॥ ४७ ॥

टीका–महामुद्रा और महाबन्ध विना वेधके निष्फल हैं अर्थात् वेध न करनेसे मुद्रा और बन्धका कुछ फल नहोगा इसहेतुसे योगीको उचित है कि, यत्नपूर्वक क्रमसे मुद्रा, बन्ध, वेध तीनोंका अभ्यास करे ॥ ४७ ॥

मूलम्–एतत्त्रयं प्रयत्नेन चतुर्वारं करोति यः ॥ षण्मासाभ्यन्तरं मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ४८ ॥

टीका-जो यह मुद्रा बन्ध वेध तीनोंका अभ्यास यत्न करके रात्रि दिवसमें चारवार करेगा सो छःमासमें निश्चय मृत्युको जीतलेगा इसमें संशय नहीं है ॥४८॥

मूलम्–एतत्त्रयस्य माहात्म्यं सिद्धो जानाति नेतरः ॥ यज्ज्ञात्वा साधकाः सर्वे सिद्धिं सम्यग्लभन्ति वै ॥ ४९ ॥

टीका–यह तीनोंके माहात्म्यको सिद्धलोक जानते हैं इतरलोग अर्थात् सांसारिक मनुष्य नहीं जानते इसके जानलेनेसे साधकलोगोंको सर्वसिद्धिलाभ होती है ॥४९॥

मूलम्--गोपनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धि-मीप्सुभिः ॥ अन्यथा च न सिद्धिः स्यान्मुद्राणामेष निश्चयः ॥ ५० ॥

टीका–सिद्धिकांक्षी साधकको उचित है कि, यह सब मुद्राको यत्नपूर्वक गोप्य रक्खे इनको प्रकाश करनेसे कदापि सिद्धि नहोगी यह निश्चय है ॥ ५० ॥

अथ खेचरीमुद्राकथनम् ।

मूलम्–भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढां सुधीः ॥ ५१ ॥ उपविश्यासने वज्रे नानो-पद्रववर्जितः ॥ लम्बिकोर्ध्वं स्थिते गर्ते रसनां विपरीतगाम् ॥ ५२ ॥ संयोजये-त्प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः ॥ मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः ॥५३॥

टीका–बुद्धिमान् साधक दोनों भ्रू अर्थात् भ्रुकुटी-के मध्यमें दृढ करके दृष्टिको स्थिर करके और नाना-उपद्रवरहित होके वज्रासन अर्थात् सिद्धासनसे स्थित होयके जिह्वाको विपरीत अर्थात् ऊपर सुधाकूप स्वरूप

तालूविवरमें यत्नसे बुद्धिमान् साधक संयोजित करे अर्थात् संबन्धकरे हेपार्वती ! भक्तोंके प्रति हमने प्रकाश करके यह खेचरीमुद्रा कही है ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

मूलम्-सिद्धीनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकप्रिया ॥ निरन्तरकृताभ्यासात्पीयूषं प्रत्यहं पिबेत् ॥ तेन विग्रहसिद्धिः स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ५४ ॥

टीका-यह खेचरीमुद्रा सर्वसिद्धिकी माता है और हेदेवी ! हमको प्राणसेभी अधिक प्रिय है जो निरंतर इसके अभ्याससे नित्य अमृतपान करताहै उस कारणसे शरीर सिद्ध होजाताहै अर्थात् नाश नहीं होता और मृत्युरूप हस्तीको यह खेचरीरूपी सिंह हन्ताहै ॥ ५४ ॥

मूलम्-अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ॥ खेचरी यस्य शुद्धा तु स शुद्धो नात्र संशयः ॥ ५५ ॥

टीका-अपवित्र होय वा पवित्र होय अथवा किसी अवस्थामें होय जिसको यह खेचरीमुद्रा सिद्ध है वह सर्वदा शुद्ध है इसमें संशय नहीं है ॥ ५५ ॥

मूलम्--क्षणार्धं कुरुते यस्तु तीर्त्वा पापमहार्णवम् ॥ दिव्यभोगान्प्रभुक्त्वा च सत्कुले स प्रजायते ॥ ५६ ॥

टीका—जो इस खेचरीमुद्राको क्षणार्धभी करेगा वह महापापसागरके पार होके सुखपूर्वक स्वर्गका भोग भोगेगा पश्चात् उत्तमकुलमें उसका जन्म होगा ॥५६॥

मूलम्—मुद्रैषा खेचरी यस्तु स्वस्थचित्तो ह्यतन्द्रितः ॥ शतब्रह्मगतेनापि क्षणार्धं मन्यते हि सः ॥ ५७ ॥

टीका—जो मनुष्य इस खेचरीमुद्राको स्वस्थचित्त ब्रह्मपरायणहोके करेगा उसको यदि शतब्रह्माभी गत भावको प्राप्तहों क्षणार्ध प्रतीत होगा ॥ ५७ ॥

मूलम्—गुरूपदेशतो मुद्रां यो वेत्ति खेचरी-मिमाम् ॥ नानापापरतो धीमान्स याति परमां गतिम् ॥ ५८ ॥

टीका—गुरूपदेशसे जिसको यह खेचरीमुद्रा लाभ होगी वह यदि नानापापरत होगा तो भी बुद्धिमान् साधक परमगतिको प्राप्तहोगा अर्थात् मोक्ष होजा-यगा ॥ ५८ ॥

मूलम्—सा प्राणसदृशी मुद्रा यस्मिन्क-स्मिन्न दीयते ॥ प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते ॥ ५९ ॥

टीका—हे सुरपूजिते पार्वती ! यह खेचरीमुद्रा प्राणके

बराबर है सामान्य मनुष्यको देना उचित नहीं है इस मुद्राको यत्न करके गोपित रखनेमें कल्याण है ॥ ५९ ॥

अथ जालन्धरबन्ध ।

मूलम्–बद्ध्वागलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत् ॥ बन्धो जालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः ॥ ६० ॥ नाभिस्थवह्निर्जन्तूनां सहस्रकमलच्युतम् ॥ पिबेत्पीयूषविस्तारं तदर्थं बन्धयेदिमम् ॥ ६१ ॥

टीका–गुरूपदेशद्वारा गलशिराजालको बांधके चिबुक अर्थात् ठोडीको हृदयमें स्थित करे इसको जालन्धरबन्ध कहते हैं यह देवतोंकोभी दुर्लभ है नाभीस्थित जीव जठरानल सहस्रदल कमलसे जो अमृत स्रवताहै उसको पान करजाताहै इस हेतुसे यह जालन्धरबन्ध करना उचित है तात्पर्य यह है कि, नाभिस्थित सूर्य अमृतको पान करजाते हैं इसीकारणसे मृत्यु होतीहै इस जालन्धरबन्धके करनेसे चंद्रमण्डलच्युत अमृत सूर्यमण्डलमें नहीं जाता योगी आपही पान करके चिरंजीव रहताहै ॥ ६० ॥ ६१ ॥

मूलम्–बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिबति बुद्धिमान् ॥ अमरत्वञ्च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये ॥ ६२ ॥

टीका–इस जालन्धरबन्धके प्रभावसे बुद्धिमान् योगी स्वयं अमृत पान करताहै और अमरत्वको पाय-के तीनोंलोकमें आनन्दपूर्वक विचरता है ॥ ६२ ॥

मूलम्–जालन्धरो बन्ध एष सिद्धानां सि-द्धिदायकः॥ अभ्यासः क्रियते नित्यं यो-गिना सिद्धिमिच्छता ॥ ६३ ॥

टीका–यह जालन्धरबन्ध सिद्धोंको सिद्धिदेनेवाला है इस कारणसे सिद्धिकांक्षी योगीको इसका नित्य अ-भ्यास करना उचित है ॥ ॥ ६३ ॥

अथ मूलबन्धः ।

मूलम्–पादमूलेन संपीडय गुदमार्गेषु य-न्त्रितम् ॥६४॥ बलादपानमाकृष्य क्रमा-दूर्ध्वं सुचारयेत्॥ कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः ॥ ६५ ॥

टीका–पादमूल अर्थात् एडीसे गुदामार्गको आकु-ञ्चन करके पीडितकरे और बलसे अपानवायुको आक-र्षण करके ऊर्ध्वको लेजाय अर्थात् प्राणके साथ सम्बन्धकरे इसको मूलबन्ध कहतेहैं यहबन्ध जरा मरणका नाश करनेवाला ह ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

मूलम्–अपानप्राणयोरैक्यं प्रकरोत्यधि-

कल्पितम् ॥ बन्धेनानेन सुतरां योनिमुद्रा प्रसिद्ध्यति ॥ ६६ ॥

टीका-इस कल्पितबन्धसे अपान और प्राणको एक करे और इसी मूलबन्धके प्रभावसे योनिमुद्रा आपही सिद्ध होजायगी ॥ ६६ ॥

मूलम्-सिद्धायां योनिमुद्रायां किं न सिध्यति भूतले ॥ बन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितानिलः ॥ पद्मासने स्थितो योगी भुवमुत्सृज्य वर्तते ॥ ६७ ॥

टीका-योनिमुद्राके सिद्ध होनेसे सिद्धलोगोंको इस संसारमें सब सिद्ध होसक्ताहै इस मूलबन्धके प्रसादसे वायुको योगी जीतके पद्मासनस्थित होके भूमिको त्याग देगा और आकाशमें गमन करेगा ॥ ६७ ॥

मूलम्-सुगुप्ते निर्जने देशे बन्धमेनं समभ्यसेत् ॥ संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेद्योगिपुंगवः ॥ ६८ ॥

टीका-पवित्र योगी यदि संसारसागरसे पार होनेकी इच्छा करे तो निर्जनदेश और गुप्तस्थानमें इस मूलबन्धका अभ्यास करना उचित है ॥ ६८ ॥

अथ विपरीतकरणी मुद्रा ।

मूलम्-भूतले स्वशिरो दत्त्वा खे नयेच्चरणद्वं

यम् ॥ विपरीतकृतिश्चैषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ६९ ॥

टीका—साधक अपने शिरको भूमिपर धरे और दोनों चरणोंको ऊपर आकाशमें निरालम्ब स्थिर करे यह विपरीतकरणी मुद्रा सर्वतन्त्रोंकरके गोपित है अर्थात् प्रकाश करने योग्य नहीं है ॥ ६९ ॥

मूलम्—एतद्यः कुरुते नित्यमभ्यासं याममात्रतः ॥ मृत्युं जयति योगीशः प्रलये नापि सीदति ॥ ७० ॥

टीका—इसप्रकारसे इस मुद्राका अभ्यास नित्य एक प्रहर करे तो योगी निश्चय मृत्युको जीतलेगा और प्रलयमेंभी उसको कुछ कष्ट न होगा ॥ ७० ॥

मूलम्—कुरुतेऽमृतपानं यः सिद्धानां समतामियात् ॥ स सेव्यः सर्वलोकानां बन्धमेनं करोति यः ॥ ७१ ॥

टीका—जो पुरुष शरीरस्थअमृतपान करता है उसको सिद्धोंकी समता प्राप्त होती है और इस मुद्राबन्धको जो करताहै वह सर्वलोकमें पूजनीय है ॥ ७१ ॥

मूलम्—नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत् ॥ उड्डयानबंध एष स्यात्सर्वदुः-

खौघनाशनः ॥ ७२ ॥ उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ॥ उड्डयानाख्योऽत्र बन्धोयं मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ७३ ॥

टीका—नाभिसे ऊपर और नीचेको आकुञ्चन करे इसको उड्डयानबन्ध कहते हैं यह दुःखके समूहको नाशकरनेवाला है उदरको पीछे आकर्षण करे और नाभिसे ऊपर भागमें आकुञ्चन करे यह उड्डयानबन्ध है और मृत्युरूपी मातङ्गका नाशकरनेवाला यह बंधरूपी सिंह है ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

मूलम्—नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने॥ तस्य नाभेस्तु शुद्धिः स्याद्येन सिद्धो भवेन्मरुत् ॥ ७४ ॥

टीका—जो योगी नित्य इस बंधको चारवार अभ्यास करेगा उसका नाभिचक्र शुद्ध होके वायु सिद्ध होजायगा ॥ ७४ ॥

मूलम्—षण्मासमभ्यसन्योगी मृत्युं जयति निश्चितम् ॥ तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिः प्रजायते ॥ ७५ ॥

टीका—योगी यदि छः मास इस बंधका अभ्यास करे तो निश्चय मृत्युको जीतलेगा और उसका जठरा-

नल विशेष प्रज्वलित होगा और रसकी वृद्धि उत्पन्न होगी ॥ ७५ ॥

मूलम्-अनेन सुतरां सिद्धिर्विग्रहस्य प्रजायते ॥ रोगाणां संक्षयश्चापि योगिनो भवति ध्रुवम् ॥ ७६ ॥

टीका-इस उड्डयानबंधके प्रभावसे योगीका शरीर आपही सिद्ध हो जायगा अर्थात् अमर होजायगा और सर्व रोगोंका निश्चय क्षय होजायगा ॥ ७६ ॥

मूलम्-गुरोर्लब्ध्वा प्रयत्नेन साधयेत्तु विचक्षणः ॥ निर्जने सुस्थिते देशे बन्धं परमदुर्लभम् ॥ ७७ ॥

टीका-गुरुसे यत्नपूर्वक इस परमदुर्लभ बन्धको लाभ करके बुद्धिमान् साधक एकांतस्थानमें स्वस्थचित्त होके साधन करे ॥ ७७ ॥

अथ वज्रोलीमुद्रा।

मूलम्-वज्रोलीं कथयिष्यामि संसारध्वान्तनाशिनीम् ॥ स्वभक्तेभ्यः समासेन गुह्याद्गुह्यतमामपि ॥ ७८ ॥

टीका-हे देवी! संसारतमनाशिनी परमगोपनीय वज्रोली मुद्रा भक्तलोगोंके प्रति हम कहते हैं ॥ ७८ ॥

मूलम्–स्वेच्छया वर्तमानोपि योगोक्तनिय-
मैर्विना॥ मुक्तो भवति गार्हस्थो वज्रोल्य-
भ्यासयोगतः ॥ ७९ ॥

टीका–गृहस्थ अपनी इच्छापूर्वक गृहमें भोग करे-
गा और योगमें जो नियम कहा है उसके विना इस व-
ज्रोलीमुद्राके योग अभ्याससे मुक्त होजायगा ॥ ७९ ॥

मूलम्–वज्रोल्यभ्यासयोगोऽयं भोगयुक्ते-
पि मुक्तिदः ॥ तस्मादतिप्रयत्नेन कर्त-
व्यो योगिभिः सदा ॥ ८० ॥

टीका–यह वज्रोलीका योगअभ्यास भोगयुक्त म-
नुष्योंके प्रति मुक्तिका दाता है इसकारणसे अतियत्न
करके सर्वदा योगीको अभ्यास करना उचित है ॥ ८० ॥

मूलम्–आदौ रजः स्त्रियो योन्या यत्नेन वि-
धिवत्सुधीः ॥ आकुंच्य लिंगनालेन स्व-
शरीरे प्रवेशयेत् ॥ ८१ ॥ स्वकं बिंदुञ्च स-
म्बन्ध्य लिंगचालनमाचरेत् ॥ दैवाच्चल-
ति चेदूर्ध्वं निबद्धो योनिमुद्रया ॥ ८२ ॥
वाममार्गेऽपि तद्बिन्दुं नीत्वा लिङ्गं निवार-
येत् ॥ क्षणमात्रं योनितो यः पुमांश्चालन-

माचरेत् ॥ ८३ ॥ गुरूपदेशतो योगी हुंहु-ङ्कारेण योनितः ॥ अपानवायुमाकुंच्य बलादाकृष्य तद्रजः ॥ ८४ ॥

टीका–प्रथम बुद्धिमान् साधक यत्न करके विधान पूर्वक स्त्रीके योनिसे रजको लिङ्गनालमें आकर्षण क-रके अपने शरीरमें प्रवेश करे और अपने विन्दुको नि-रोध करके लिङ्ग चालनकरे यदि दैवात् विन्दु अपने स्थानसे चले तो योनिमुद्रासे निरोध करके ऊपरको आकर्षण करे और उस विन्दुको वामभागमें स्थित क-रके क्षणमात्र लिङ्गचालन निवारण करे फिर गुरूपदे-शद्वारा योगी हुंहुंकार शब्द उच्चरणपूर्वक योनिमें लिङ्ग चालन करे और बलसे अपानवायुको आकुञ्चन करके स्त्रीके रजको आकर्षण करे इसको वज्रोली मुद्रा कहते हैं ॥ ८१ ॥ ८२ ॥ ८३ ॥ ८४ ॥

मूलम्–अनेन विधिना योगी क्षिप्रं योगस्य सिद्धये ॥ गव्यभुक्कुरुते योगी गुरुपा-दाब्जपूर्वकः ॥ ८५ ॥

टीका–इस विधानसे योगीको शीघ्र योग सिद्ध हो-गा और गुरुपादपद्मपूजक योगी शरीरस्थ अमृतपान करेगा ॥ ८५ ॥

मूलम्–बिन्दुर्विधुमयो ज्ञेयो रजः सूर्यमयस्तथा ॥ उभयोर्मेलनं कार्यं स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥ ८६ ॥

टीका–बिन्दुरूपी चन्द्र और रजरूपी सूर्य यह जानकर दोनोंका सम्बन्ध करके अपने शरीरमें प्रवेश करना उचित है ॥ ८६ ॥

मूलम्–अहं बिन्दू रजः शक्तिरुभयोर्मेलनं यदा ॥ योगिनां साधनावस्था भवेद्दिव्यं वपुस्तदा ॥ ८७ ॥

टीका–यदि शिवरूपी बिन्दु और रजरूपी शक्ति यह दोनोंका सम्बन्ध होगा तब योगीका साधनसे दिव्य शरीर अर्थात् देवतोंके समान शरीर होगा तात्पर्य यह है कि शिवशक्ति अर्थात् माया ईश्वरके सम्बन्ध वा मायाको ईश्वरमें लय करनेसे जिसको अध्यारोप अपवाद कहते हैं योगी मोक्ष होता है अभिप्राय यह है कि, रजबिन्दुका सम्बन्ध जिस साधकको सिद्ध होजाताहै वह मुक्त है ॥ ८७ ॥

मूलम्–मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणे ॥ तस्मादतिप्रयत्नेन कुरुते बिन्दुधारणम् ॥ ८८ ॥

टीका-बिन्दुपात होनेसे मृत्यु होती है और बिन्दुके धारणसे प्राणी जीवताहै इस कारणसे यत्नसे बिन्दुको धारण रखना उचित है ॥ ८८ ॥

मूलम्-जायते म्रियते लोके बिन्दुना नात्र संशयः ॥ एतज्ज्ञात्वा सदा योगी बिन्दुधारणमाचरेत् ॥ ८९ ॥

टीका-प्राणीका जन्म मरण बिन्दुसे होताहै इसमें संशय नहीं है. इस हेतुसे इसको विचारके योगीको उचित है कि, बिन्दुको सर्वदा धारण रक्खे ॥ ८९ ॥

मूलम्-सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले ॥ यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशो भवेत् ॥ ९० ॥

टीका--हे पार्वती ! यत्नपूर्वक बिन्दुके सिद्ध होनेसे संसारमें क्या नहीं सिद्ध होसक्ता अर्थात् सब सिद्ध हो सक्ताहै इसीके प्रसादसे हमारी ऐसी महिमा है ॥ ९० ॥

मूलम्-बिन्दुः करोति सर्वेषां सुखं दुःखञ्च संस्थितः ॥ संसारिणां विमूढानां जरामरणशालिनाम् ॥ ९१ ॥ अयंच शांकरो योगो योगिनामुत्तमोत्तमः ॥ ९२ ॥

टीका-बिन्दु संसारी मनुष्योंके सुख और दुःखका

कारण है और मूढलोगोंके मूढताका और जरामरण शील लोगोंका अर्थात् सबका यही विन्दु हेतु है योगी लोगोंके प्रति यह हमारा उत्तम योग है ॥ ९१ ॥ ९२ ॥

मूलम्–अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति भोगयुक्तोऽपि मानवः ॥ सकलः साधितार्थोऽपि सिद्धो भवति भूतले ॥ ९३ ॥

टीका–भोगयुक्त मनुष्योंकोभी अभ्याससे सिद्धि प्राप्त होतीहै और सकल वाञ्छितफल संसारमें सिद्ध होजाते हैं ॥ ९३ ॥

मूलम्–भुक्त्वा भोगानशेषान् वै योगेनानेन निश्चितम् ॥ अनेन सकला सिद्धिर्योगिनां भवति ध्रुवम् ॥ सुखभोगेन महता तस्मादेनं समभ्यसेत् ॥ ९४ ॥

टीका–इस योगअभ्यासद्वारा निश्चय अशेषभोग भोगनेसे सुखी होगा और योगीलोगोंको इस वज्रोलीमुद्रासे सकल सिद्धी अवश्य प्राप्तहोती हैं और महानसुख भोगते हुए यह साधना सिद्ध होगी इसलिये इसका अभ्यास करना उचित है ॥ ९४ ॥

मूलम्–सहजोल्यमरोली च वज्रोल्या भेदतो भवेत् ॥ येन केन प्रकारेण बिन्दुं योगी प्रधारयेत् ॥ ९५ ॥

टीका—वज्रोलीके भेदसे सहजोली और अमरोली मुद्राकी संज्ञा है योगीको उचित है कि सबप्रकारसे बिन्दुको धारण करे ॥ ९५ ॥

मूलम्-दैवाच्चलति चेद्वेगे मेलनं चन्द्रसूर्ययोः ॥ अमरोलिरियं प्रोक्ता लिंगनालेन शोषयेत् ॥ ९६ ॥

टीका—यदि हठात् वेगवश बिन्दु चले और रजबिन्दुका सम्बन्ध होजाय तो इसको अमरोली कहते हैं परंतु लिङ्गनालद्वारा रजबिन्दु दोनोंको शोषण करे ॥ ९६ ॥

मूलम्--गतं बिन्दुं स्वकं योगी बन्धयेद्योनिमुद्रया ॥ सहजोलिरियं प्रोक्ता सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ ९७ ॥

टीका—निजबिन्दु चलायमान होय तो योगी योनिमुद्राके बन्धसे अवरोध करे इसको सहजोली कहते हैं यह सर्वतन्त्रों करके गोपनीय है ॥ ९७ ॥

मूलम्--संज्ञाभेदाद्भवेद्भेदः कार्यं तुल्यगतिर्यदि ॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन साध्यते योगिभिः सदा ॥ ९८ ॥

टीका—यदि कार्य एक समान है परन्तु संज्ञासे अमरोली और सहजोली दो भेद भया है इस हेतुसे

योगीको उचित है कि, यह दोनों अमरोली और सहजो-
लीका यत्नपूर्वक सर्वदा साधन करे ॥ ९८ ॥

मूलम्–अयं योगो मया प्रोक्तो भक्तानां स्नेहतः प्रिये ॥ गोपनीयः प्रयत्नेन न देयो यस्य कस्यचित् ॥ ९९ ॥

टीका–हे प्रिये पार्वती! हम भक्तोंपर प्रेम करके यह योग जो कहा है यत्नपूर्वक गोपनीय है सामान्य मनुष्यको कदापि देना उचित नहीं है ॥ ९९ ॥

मूलम्–एतद्गुह्यतमं गुह्यं न भूतं न भविष्यति ॥ तस्मादेतत्प्रयत्नेन गोपनीयं सदा बुधैः ॥ १०० ॥

टीका–इस वज्रोलीमुद्रासे अधिक गोपनीय न कुछ भया है न होगा. इसकारणसे बुद्धिमान साधकको यत्नपूर्वक इसको गोप्य रखना उचित है ॥ १०० ॥

मूलम्–स्वमूत्रोत्सर्गकाले यो बलादाकृष्य वायुना ॥ स्तोकं स्तोकं त्यजेन्मूत्रमूर्द्ध्वमाकृष्य तत्पुनः ॥ १०१ ॥ गुरूपदिष्टमार्गेण प्रत्यहं यः समाचरेत ॥ बिन्दुसिद्धिर्भवेत्तस्य महासिद्धिप्रदायिका ॥ १०२ ॥

टीका—गुरूके उपदेशपूर्वक सर्वदा मूत्रत्यागनेके समय बलकरके वायुसे आकर्षणपूर्वक थोडा थोडा मूत्र त्यागकरे फिर ऊपरको आकर्षण करे तो उसका बिन्दु सिद्ध होजायगा यह बिन्दुकी सिद्धी महासिद्धीकी दाता है अर्थात् परमपदको प्राप्त करती है ॥ १०१ ॥ १०२ ॥

मूलम्—षण्मासमभ्यसेद्यो वै प्रत्यहं गुरुशिक्षया ॥ शतांगनेपि भोगेपि तस्य बिन्दुर्न नश्यति ॥ १०३ ॥

टीका—गुरूके शिक्षापूर्वक योगी यदि छः मास नित्य इसका अभ्यासकरे तो शत स्त्रीसे भोगकरेगा तो भी उसका बिन्दुपात नहोगा ॥ १०३ ॥

मूलम्—सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिद्ध्यति पार्वति ॥ ईशत्वं यत्प्रसादेन ममापि दुर्लभं भवेत् ॥ १०४ ॥

टीका—हेपार्वती ! जब महायत्नसे बिन्दु सिद्ध होजायगा तब क्या नहीं सिद्धहोगा अर्थात् सब सिद्ध होजायगा इसके प्रसादसे यह दुर्लभ ईशत्व हमको प्राप्त भयाहै ॥ १०४ ॥

अथ शक्तिचालनमुद्रा ।

मूलम्—आधारकमले सुप्तां चालयेत्कुण्ड-

लीं दृढाम्॥ अपानवायुमारुह्य बलादाकृ-
ष्य बुद्धिमान् ॥ १०५ ॥ शक्तिचालनमु-
द्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी ॥ १०६ ॥

टीका–आधारकमलमें घोर निद्रित कुण्डलिनीको बुद्धिमान् अपानवायुपर आरूढहोके आकर्षणपूर्वक हठात् चलावे अर्थात् भ्रमावे यह शक्तिचालनमुद्रा सर्वशक्तिकी दाता है ॥ १०५ ॥ १०६ ॥

मूलम्–शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं यः स-
माचरेत् ॥ आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां
च विनाशनम् ॥ १०७ ॥

टीका–यह शक्तिचालनमुद्रा जो प्रतिदिन करे तो उसके आयुकी वृद्धी होगी और सर्वरोगोंका इस मुद्राके प्रभावसे नाश होजायगा ॥ १०७ ॥

मूलम्–विहाय निद्रां भुजगी स्वयमूर्ध्वं
भवेत्खलु ॥ तस्मादभ्यासनं कार्यं योगि-
ना सिद्धिमिच्छता ॥ १०८ ॥

टीका–इस शक्तिचालनके साधनसे कुण्डलिनी निद्राको त्यागके आपही ऊर्ध्वगामी होजायगी यह निश्चय है. इस हेतुसे सिद्धिकी इच्छा करनेवाले योगीको उचित है कि, इसका अभ्यास करे ॥ १०८ ॥

मूलम्–यः करोति सदाभ्यासं शक्तिचाल-
नमुत्तमम् ॥ येन विग्रहसिद्धिः स्यादणि-
मादिगुणप्रदा ॥ गुरूपदेशविधिना तस्य
मृत्युभयं कुतः ॥ १०९ ॥

टीका–यदि इस उत्तमशक्तिचालनमुद्राका सदा अभ्यासकरे तो उसका शरीर सिद्ध अर्थात् अमर हो- जायगा और यह मुद्रा अणिमादिक सिद्धिकी दाता है. गुरूके उपदेशपूर्वक विधानसे जो इसका अभ्यास करे तो उसको मृत्युका भय नहीं है ॥ १०९ ॥

मूलम्–मुहूर्तद्वयपर्यन्तं विधिना शक्ति-
चालनम् ॥११०॥ यः करोति प्रयत्नेन त-
स्य सिद्धिरदूरतः ॥ युक्तासनेन कर्तव्यं
योगिभिः शक्तिचालनम् ॥ १११ ॥

टीका–जो विधानपूर्वक यत्नसे यदि दोमुहूर्तपर्यंत शक्तिचालन करे तो उसको सर्वसिद्धिकी प्राप्ति होगी. योगीको उचित है कि, गुरूके उपदेशानुसार योगासनसे युक्त होके शक्तिचालनका अभ्यास करे ॥११०॥१११॥

मूलम्–एतत्सुमुद्रादशकं न भूतं न भविष्य-
ति ॥ एकैकाभ्यासने सिद्धिः सिद्धो भव-
ति नान्यथा ॥ ११२ ॥

टीका—हे पार्वती! यह दशमुद्रा जो हमने कहा है इसके समान न कुछ भया है न होगा इसके एक एकके अभ्यास सिद्ध होनेसे साधक सिद्ध होजायगा ॥ ११२ ॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे मुद्राकथनं नाम चतुर्थपटलः समाप्तः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमः पटलः ।

मूलम्—श्रीदेव्युवाच ॥ ब्रूहि मे वाक्यमीशान परमार्थधियं प्रति॥ ये विघ्नाः सन्ति लोकानां वद मे प्रिय शङ्कर ॥ १ ॥

टीका—श्रीपार्वतीजी कहती है कि, हे ईश्वर! हे प्रिय शङ्कर ! योगाभ्यासी लोगोंके प्रति जो विघ्न संसारमें हैं सो भक्तोंपर कृपा करके हमको कहो ॥ १ ॥

मूलम्—ईश्वर उवाच ॥ शृणु देवि प्रवक्ष्यामि यथा विघ्नाः स्थिताः सदा ॥ मुक्तिं प्रति नराणाञ्च भोगः परमबन्धनः ॥ २ ॥

टीका—श्रीईश्वर कहते हैं कि, हे देवी! योगसाधनमें जो विघ्न हैं सो हम कहते हैं सुनो मनुष्योंके मुक्तिके प्रति भोग परमबन्धन है ॥ २ ॥

अथ भोगरूपयोगविघ्नविद्याकथनम् ॥

मूलम्—नारी शय्यासनं वस्त्रं धनमस्यं विड-

म्बनम्॥ ताम्बूलभक्षयानानि राज्यैश्वर्य-
विभूतयः ॥३॥हैमं रौप्यं तथा ताम्रं रत्न-
श्चागुरुधेनवः॥पाण्डित्यं वेदशास्त्राणि नृ-
त्यं गीतं विभूषणम् ॥४॥ वंशी वीणा मृद-
ङ्गाश्च गजेंद्रश्चाश्ववाहनम् ॥ दारापत्यानि
विषया विघ्ना एते प्रकीर्तिताः॥ भोगरूपा
इमे विघ्ना धर्मरूपानिमाञ्छृणु ॥ ५ ॥

टीका—नारीसंसर्ग शय्या उत्तमआसन वस्त्र धन यह सब मोक्षके प्रति विडम्बना हैं ताम्बूलसेवन रथ शिबिका आदि सवारी राजऐश्वर्य भोग स्वर्ण रजत ताम्र अनेकप्रकारके रत्न गोधन आदिका संग्रह पाण्डित्य करना वेदशास्त्रमें तर्क करना नृत्य गीत भूषण वंशी वीणा मृदङ्गादिक वाद्य बजाना गज अश्व आदि वाहन स्त्री पुत्र केवल गुरूकी सेवा छोडके हे पार्वती यह जो कहा है सो भोगरूप विघ्न है अब धर्मरूप विघ्न कहतेहैं श्रवण करो ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

अथ धर्मरूपयोगविघ्नकथनम् ।

मूलम्—स्नानं पूजाविधिर्होमं तथा मोक्ष-
मयी स्थितिः ॥ व्रतोपवासनियममौ-

नमिन्द्रियनिग्रहः॥६॥ध्येयो ध्यानं तथा मन्त्रो दानं ख्यातिर्दिशासु च ॥ वापीकूपतडागादिप्रासादारामकल्पना ॥७॥ यज्ञं चान्द्रायणं कृच्छ्रं तीर्थानि विविधानि च॥ दृश्यन्ते च इमे विघ्ना धर्मरूपेण संस्थिताः ॥ ८ ॥

टीका–स्नानविधि पूजा होम और सुखपूर्वक स्थिति व्रत उपवास नियम मौन इन्द्रियनिग्रह ध्येय किसीका ध्यान करना मन्त्र जप दान सर्वत्र प्रसिद्धहोना बावडी कूप तालाव मंदिर बगीचाआदिक बनवाना यज्ञ करना पापक्षयके हेतु चांद्रायण कृच्छ्र व्रत करना तीर्थों में भ्रमण करना यह सब धर्मरूप विघ्न हैं॥ ६॥ ७॥ ८॥

अथ ज्ञानरूपविघ्नकथनम् ।

मूलम्–यत्तु विघ्नंभवेज्ज्ञानं कथयामि वरानने ॥ ९ ॥ गोमुखं स्वासनं कृत्वा धौतिप्रक्षालनं च तत् ॥ नाडीसञ्चारविज्ञानं प्रत्याहारनिरोधनम्॥१०॥ कुक्षिसंचालनं क्षिप्रं प्रवेश इन्द्रियाध्वना ॥ नाडीकर्माणि कल्याणि भोजनं श्रूयतांमम ॥११॥

टीका–हे देवी ! हे वरानने ! अब ज्ञानरूप विघ्न कहतेहैं

सुनो—अन्तःशुद्धिके अर्थ गोमुखके सदृश वस्त्र भक्षण करके तब धौति प्रक्षालन करना अर्थात् धौतियोग करना नाडीचालनका ज्ञान वायुका प्रत्याहार निरोध करना कुण्डलिनीके बोधार्थ उदरको भ्रमावना इन्द्रिय-द्वारा शीघ्र प्रवेश नाडीकर्म अर्थात् नाडीशुद्धिके हेतु आहारीय विचार यह सब ज्ञानरूप विघ्न हैं हेदेवी क-ल्याणी ! नाडीशुद्धिके अर्थ जो भोजनविधि है सो हम कहतेहैं सुनो ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥

मूलम्--नवधातुरसं छिन्धि शुण्ठिकास्ता-डयेत्पुनः ॥ एककालं समाधिः स्याल्लिं-गभूतमिदं शृणु ॥ १२ ॥

टीका—नवीन रससहित भोजन वस्तु और शुण्ठी-चूर्ण भोजनकरे इससे शीघ्र समाधि होजायगी. हे देवी ! अब उसका चिह्न कहतेहैं सुनो ॥ १२ ॥

मूलम्—सङ्गमं गच्छ साधूनां सङ्कोचं भज दुर्जनात् ॥ प्रवेशनिर्गमे वायोर्गुरुलक्षं विलोकयेत् ॥ १३ ॥

टीका—साधुके सङ्गकी अभिलाषा और दुर्जनसे अ-लग रहनेका विचार रखना और वायुके प्रवेश निर्गममें और वायुके निरोध समय मात्रासे गुरुलघुके विचा-रार्थ संख्या करना ॥ १३ ॥

मूलम्–पिण्डस्थं रूपसंस्थञ्च रूपस्थं रूप-
वर्जितम् ॥ ब्रह्मैतस्मिन्मतावस्था हृदयञ्च
प्रशाम्यति ॥ इत्येते कथिता विघ्ना ज्ञान-
रूपे व्यवस्थिताः ॥ १४ ॥

टीका–शरीरस्थरूपका विचार रखना और रूप कु-
रूपका निर्णय करना और यह जगत् ब्रह्म है ऐसे वि-
चारसे हृदयमें स्थिरता रखना. हेपार्वती ! यह जो कहा
है सो सब ज्ञानरूप विघ्न हैं ॥ १४ ॥

अथ चतुर्विधयोगकथनम् ।

मूलम्–मन्त्रयोगोहठश्चैवलययोगस्तृतीय-
कः ॥ चतुर्थो राजयोगः स्यात्स द्विधा
भाववर्जितः ॥ १५ ॥

टीका–योग चार प्रकारका है–मन्त्रयोग, हठयोग,
और तीसरा लययोग और चौथा राजयोग है. यह राज-
योग द्वैतभावसे रहित है अर्थात् राजयोग सिद्धहो
जानेसे जीव ईश्वरमें लयहोजाता है और कुछ बोध नहीं
होता ॥ १६ ॥

मूलम्–चतुर्धा साधको ज्ञेयो मृदुमध्याधि-
मात्रकाः ॥ अधिमात्रतमः श्रेष्ठो भवा-
ब्धौ लंघनक्षमः ॥ १६ ॥

टीका—यह योगचतुष्टयके साधकभी चार प्रकारके होते हैं अर्थात् मृदु मध्यम अधिमात्र और अधिमात्रतम यह अधिमात्रतम साधक सबमें श्रेष्ठ है एही साधक संसाररूपी समुद्रके पार होनेमें समर्थ होताहै॥१६॥

अथ मृदुसाधकलक्षणम् ।

मूलम्--मन्दोत्साही सुसंमूढो व्याधिस्थो गुरुदूषकः ॥ लोभी पापमतिश्चैव बह्वाशी वनिताश्रयः ॥ १७ ॥ चपलः कातरो रोगी पराधीनोऽतिनिष्ठुरः ॥ मन्दाचारो मन्दवीर्यो ज्ञातव्यो मृदुमानवः ॥ १८ ॥ द्वादशाब्दे भवेत्सिद्धिरेतस्य यत्नतः परम् ॥ मन्त्रयोगाधिकारी स ज्ञातव्यो गुरुणा ध्रुवम् ॥ १९ ॥

टीका—अब मृदुसाधकलक्षण कहते हैं मन्द उत्साही मूढचित्त व्याधिग्रसित गुरुनिन्दक लोभी जिसकी सर्वदा पापबुद्धि रहै बहुत भोजन करनेवाला स्त्रीके वशमें हो चञ्चल हो कातर हो रोगी हो पराधीन हो कठोर बोलनेवाला हो जिसके मन्द कर्म हों मंदवीर्यवाला हो ऐसे पुरुषको मृदु मानव कहते हैं यह मन्त्रयोगका अधिकारी है यत्नकरनेसे और गुरुकी कृपासे इसकोभी

बारह वर्षमें सिद्धि प्राप्त होगी ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

मूलम्–समबुद्धिः क्षमायुक्तः पुण्यकांक्षी प्रियँव्वदः॥ मध्यस्थः सर्वकार्येषु सामान्यः स्यान्न संशयः ॥ २० ॥ एतज्ज्ञात्वैव गुरुभिर्दीयते मुक्तितो लयः ॥ २१ ॥

टीका–अब मध्यसाधकलक्षण कहतेहैं–सामान्य बुद्धि हो क्षमावानहो पुण्यकर्म करनेमें इच्छा रखताहो प्रिय बोलताहो सर्वकार्यमें मध्यस्थ रहताहो अर्थात् न हर्ष न विषाद इसको मध्यसाधक कहतेहैं यह निश्चय है गुरु इसको विचारके मुक्तिमार्ग जो लययोग है उसका उपदेश करे ॥ २० ॥ २१ ॥

अथ अधिमात्रसाधकलक्षणम् ।

मूलम्–स्थिरबुद्धिर्लये युक्तः स्वाधीनो वीर्यवानपि ॥ महाशयो दयायुक्तः क्षमावान् सत्यवानपि ॥२२॥ शूरो वयःस्थः श्रद्धावान् गुरुपादाब्जपूजकः ॥ योगाभ्यासरतश्चैव ज्ञातव्यश्चाधिमात्रकः ॥ २३ ॥ एतस्य सिद्धिः षड्वर्षैर्भवेदभ्यासयोगतः ॥ एतस्मै दीयते धीरो हठयोगश्च साङ्गतः ॥ २४ ॥

टीका–अब अधिमात्र साधक लक्षण कहतेहैं स्थिर

बुद्धि हो लययोगमें समर्थहो स्वतन्त्र हो अर्थात् किसीके आधीन न हो वीर्यवान हो महाशय हो दयावान हो क्षमावान हो सत्यवादी हो शूर हो समाधियोगमें श्रद्धा हो गुरुपादपद्मपूजक हो योगाभ्यासरत हो ऐसे गुणवाले पुरुषको अधिमात्र कहतेहैं योगाभ्याससे ऐसे पुरुषको छःवर्षमें सिद्धि प्राप्त होगी. गुरुको उचित है कि, ऐसे धीर पुरुषको अङ्गसहित हठयोगका उपदेश करे ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥

अथ अधिमात्रतमसाधकलक्षणम् ।

मूलम्–महावीर्यान्वितोत्साही मनोज्ञः शौर्यवानपि॥ शास्त्रज्ञोऽभ्यासशीलश्च निर्मोहश्च निराकुलः ॥ २५ ॥ नवयौवनसम्पन्नो मिताहारी जितेंद्रियः ॥ निर्भयश्च शुचिर्दक्षो दाता सर्वजनाश्रयः ॥२६॥ अधिकारी स्थिरो धीमान् यथेच्छावास्थितः क्षमी॥ सुशीलो धर्मचारी च गुप्तचेष्टः प्रियँव्वदः ॥ २७ ॥ शास्त्रविश्वाससम्पन्नो देवतागुरुपूजकः ॥ जनसंगविरक्तश्च महाव्याधिविवर्जितः ॥ २८ ॥ अधिमात्रतमो ज्ञेयःसर्वयोगस्य साधकः ॥ त्रिभिः

सँव्वत्सरैः सिद्धिरेतस्य नात्र संशयः ॥ सर्वयोगाधिकारी स नात्र कार्या विचा-रणा ॥ २९ ॥

टीका–महावीर्यवान् उत्साहयुक्त स्वरूपवान् शूरतासम्पन्न शास्त्रज्ञ अभ्यासशील अर्थात् श्रुतिधर मोहसे हीन आकुलतारहित अर्थात् सावधान नवीन यौवनसम्पन्न अर्थात् तरुण प्रमाणभोजी जितेन्द्रिय निर्भय पवित्रआचार सर्वकर्ममें निपुण दानशील शरणागतपालक स्थिरचित्त बुद्धिमान् सन्तोषयुक्त क्षमावान् शीलवान् धार्मिक कर्मोंको गोप्य रखनेवाला प्रियसत्यवादी शास्त्रमें विश्वास देवता और गुरुपूजक जनसङ्गरहित महाव्याधिरहित ऐसे गुण जिसमें हो वह अधिमात्रतम है और सर्व योगका साधक है इसको तीनवर्षमें सिद्धि प्राप्त होगी इसमें संशय नहीं है. यह सर्वयोगका अधिकारी है ऐसे पुरुषको गुरु समस्त योगका उपदेश करदें इसमें विचारका कुछ प्रयोजन नहीं है ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

अथ प्रतीकोपासनम् ।

मूलम्–प्रतीकोपासना कार्या दृष्टादृष्टफल-प्रदा ॥ पुनाति दर्शनादत्र नात्र कार्या विचारणा ॥ ३० ॥

टीका–अब प्रतीकउपासना कहतेहैं प्रतीकउपासनासे दृष्टादृष्टफल लाभ होताहै और उसके दर्शनसे मनुष्य पवित्र होताहै इसमें संशय नहीं है ॥ ३० ॥

मूलम्–गाढातपे स्वप्रतिबिम्बितेश्वरं निरीक्ष्य विस्फारितलोचनद्वयम् ॥ यदा नभः पश्यति स्वप्रतीकं नभोङ्गणे तत्क्षणमेव पश्यति ॥ ३१ ॥

टीका–गाढआतपमें अर्थात् गहरेधूपमें स्वईश्वरका प्रतिबिम्ब नेत्रास्थिरकरके देखे जब अपने छायाका प्रतिबिम्ब शून्यमें देखपडे तब ऊपर आकाशमें अपना प्रतिबिम्ब अवश्य देखेगा ॥ ३१ ॥

मूलम्–प्रत्यहं पश्यते यो वै स्वप्रतीकं नभोङ्गणे॥आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य न मृत्युः स्यात्कदाचन ॥ ३२ ॥

टीका–जो नित्य आकाशमें स्वप्रतीक अर्थात् अपना प्रतिबिम्ब देखेगा उसके आयुकी वृद्धि होगी और उसकी मृत्यु कभी न होगी अर्थात् चिरंजीवी हो जायगा ॥ ३२ ॥

मूलम्–यदापश्यतिसम्पूर्णंस्वप्रतीकंनभो-

ङ्गणे ॥ तदा जयं सभायाञ्च युद्धे निर्जित्य सञ्चरेत् ॥ ३३ ॥

टीका–जब सम्पूर्ण अपना प्रतिबिम्ब आकाशमें देखे तब सभामें उसकी जय होय और युद्धमें शत्रुको जीतलेगा ॥ ३३ ॥

मूलम्–यः करोति सदाभ्यासं चात्मानं वन्दते परम् ॥ पूर्णानन्दैकपुरुषं स्वप्रतीकप्रसादतः ॥ ३४ ॥

टीका–जो सर्वदा स्वप्रतीक उपासनाका अभ्यास करे तो उसको आत्माकी प्राप्ति होगी और उसी स्वप्रतीकके प्रसादसे पूर्णानन्द स्वरूप अर्थात् आत्माका दर्शन होगा. तात्पर्य यह है कि जब हृदयाकाशमें अपने स्वरूपका अनुभव होगा तब आत्माकी परम ज्योतिका प्रकाश होगा ॥ ३४ ॥

मूलम्–यात्राकाले विवाहे च शुभे कर्माणि सङ्कटे ॥ पापक्षये पुण्यवृद्धौ प्रतीकोपासनञ्चरेत् ॥ ३५ ॥

टीका–यात्राकालमें और विवाहके समयमें और शुभकर्ममें और पापक्षयमें और पुण्यवृद्धिके अर्थ स्वप्रतीक अर्थात् अपने प्रतिबिम्बका दर्शन करे तो सर्वदा कल्याण होगा ॥ ३५ ॥

मूलम्--निरन्तरकृताभ्यासादन्तरे पश्यति ध्रुवम् ॥ तदा मुक्तिमवाप्नोति योगी नियतमानसः ॥ ३६ ॥

टीका—सर्वदा प्रतीकोपासनाके अभ्यास करनेसे निश्चय हृदयाकाशमें अपना प्रतिबिंब भान होगा तब निश्चयआत्मा योगीको मुक्ति प्राप्त होगी ॥ ३६ ॥

मूलम्--अंगुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्यां द्विलोचने ॥ नासारन्ध्रे च मध्याभ्यामनामाभ्यां मुखं दृढम् ॥ ३७ ॥ निरुध्य मारुतं योगी यदैव कुरुते भृशम् ॥ तदा तत्क्षणमात्मानं ज्योतीरूपं स पश्यति ३८

टीका—दोनों अंगुष्ठसे दोनों कर्ण बंद करे और दोनों तर्जनीसे दोनों नेत्रोंको बंद करे और दोनों मध्यमा अंगुलीसे दोनों नासारंध्रको बंद करे और दोनों अनामिका अंगुली और कनिष्ठासे मुखको बंद करे यदि इसप्रकार योगी वायुको निरोध करके इसका वारंवार अभ्यास करे तो आत्मा ज्योतिस्वरूपका हृदयाकाशमें भान होगा ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

मूलम्--तत्तेजो दृश्यते येन क्षणमात्रं निराकुलम् ॥ सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥ ३९ ॥

टीका—आत्माका यह परमतेज जो पुरुष स्थिरचित्त होके क्षणमात्रभी देखेगा वह सर्वपापसे मुक्त होके परमगतिको प्राप्तहोगा ॥ ३९ ॥

मूलम्—निरन्तरकृताभ्यासाद्योगीविगतकल्मषः ॥ सर्वदेहादि विस्मृत्य तदभिन्नः स्वयं गतः ॥ ४० ॥

टीका—निरंतर जो योगी शुद्धचित्त होके यह प्रतीकोपासनाका अभ्यास करेगा वह सर्व देहादिकमेंसे रहित होके आत्मासे अभिन्न होजायगा अर्थात् आत्मास्वरूप होजायगा ॥ ४० ॥

मूलम्—यः करोति सदाभ्यासं गुप्ताचारेण मानवः॥ स वै ब्रह्मविलीनः स्यात्पापकर्मरतो यदि ॥ ४१ ॥

टीका—जो मनुष्य गुप्ताचारसे इसका सर्वदा अभ्यास करताहै सो यदि पापकर्मरतभी हो तथापि उसका मोक्ष होगा ॥ ४१ ॥

मूलम्—गोपनीयः प्रयत्नेन सद्यः प्रत्ययकारकः ॥ निर्वाणदायको लोके योगोयं मम वल्लभः ॥ नादः संजायते तस्य क्रमेणाभ्यासतश्च यः ॥ ४२ ॥

टीका—जो इसका अभ्यास करेगा उसको क्रमसे नाद उत्पन्न होगा. हेदेवी ! यह प्रतीकोपासना निर्वाण योगका दाता है इससेहतुसे हमको अतिप्रिय है यह शीघ्र फलदाता है इसको यत्नसे गोप्य रखना उचित है ॥ ४२ ॥

मूलम्--मत्तभृङ्गवेणुवीणासदृशः प्रथमोध्वनिः ॥ ४३ ॥ एवमभ्यासतः पश्चात् संसारध्वान्तनाशनम् ॥ घण्टानादसमः पश्चात् ध्वनिर्मेघरवोपमः ॥ ४४ ॥ ध्वनौ तस्मिन्मनो दत्त्वा यदा तिष्ठति निर्भरः ॥ तदा संजायते तस्य लयस्य मम वल्लभे ॥ ४५॥

टीका—योगअभ्यासद्वारा प्रथम मत्त भ्रमरकी नाईं शब्द और वेणु और वीणाके समान शब्द उत्पन्न होगा इसी तरह संसारतम नाशक योगअभ्याससे फिर घंटानाद समान शब्द होगा. फिर मेघ गर्जनके समान ध्वनि होगी. हे प्रिये पार्वती ! उस ध्वनिमें यदि मन निश्चल स्थित हो जाय तब मोक्षका दाता लय उत्पन्न होगा ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

मूलम्--तत्र नादे यदा चित्तं रमते योगिनो भृशम् ॥ विस्मृत्य सकलं बाह्यं नादेन सह शाम्यति ॥ ४६ ॥

टीका–जब योगीका चित्त उस नादमें निरंतर रमणकरेगा तब सकल विषयसे स्मरणरहित होके चित्त समाधिमें लय होजायगा ॥ ४६ ॥

मूलम्–एतदभ्यासयोगेन जित्वा सम्यग्गुणान्बहून् ॥ सर्वारम्भपरित्यागी चिदाकाशे विलीयते ॥ ४७ ॥

टीका–इसीप्रकार योगअभ्यासद्वारा सर्व गुणोंको जीतके और सब कार्योंके आरंभको त्यागके योगी आनंदपूर्वक चैतन्यस्वरूप हृदयाकाशमें लय होजायगा ॥ ४७ ॥

मूलम्–नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भसदृशं बलम् ॥ न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः ॥ ४८ ॥

टीका–हेदेवी ! सिद्धासनके समान कोई और आसन नहीं है और न कुम्भकके समान कोई बल है और न खेचरीके समान कोई मुद्रा है और न नादके समान कोई दूसरा लय है ॥ ४८ ॥

अथ मूलाधारपद्मविवरणम् ।

मूलम्–इदानीं कथयिष्यामि मुक्तस्यानुभवं

प्रिये ॥ यज्ज्ञात्वा लभते मुक्तिं पापयुक्तो-
पि साधकः ॥ ४९ ॥

टीका–हेप्रिये पार्वती ! अब मुक्तिका अनुभव तुमसे कहतेहैं जिसके ज्ञानसे पापयुक्त साधकभी मुक्तिलाभ करताहै ॥ ४९ ॥

मूलम्–समभ्यर्च्येश्वरं सम्यक्कृत्वा च
योगमुत्तमम् ॥ गृह्णीयात्सुस्थितो भूत्वा
गुरुं सन्तोष्य बुद्धिमान् ॥ ५० ॥

टीका–योगाकांक्षी साधक सम्यक्प्रकारसे ईश्वरकी पूजा करके स्वस्थचित्तसे योगासनपर बैठके बुद्धिमान् गुरुको सर्वप्रकारसे प्रसन्न करके यह उत्तम योग ग्रहणकरे ॥ ५० ॥

मूलम्–जीवादि सकलं वस्तु दत्त्वा योग-
विदं गुरुम्॥ सन्तोष्यादिप्रयत्नेन योगोयं
गृह्यते बुधैः ॥ ५१ ॥

टीका–बुद्धिमान् साधक जीवादि सकल पदार्थ योगविद् गुरुके अर्पण करके उनके प्रसन्नतापूर्वक यत्न करके यह योग ग्रहण करते हैं ॥ ५१ ॥

मूलम्–विप्रान्सन्तोष्य मेधावी नानामं-
गलसंयुतः ॥ ममालये शुचिर्भूत्वा गृह्णी-
याच्छुभमात्मनः ॥ ५२ ॥

टीका—योगग्रहणके समय बुद्धिमान् साधक ब्राह्मणको सन्तोष करके अर्थात् द्रव्यादिक प्रदानपूर्वक प्रसन्न करके अनेक आशीर्वाद श्रवण करके पवित्रता से शिवमंदिरमें बैठके आत्माके अर्थ जो यह शुभयोग है इसको ग्रहणकरे ॥ ५२ ॥

मूलम्–संन्यस्यानेन विधिना प्राक्तनं विग्रहादिकम् ॥ भूत्वा दिव्यवपुर्योगी गृह्णीयाद्वक्ष्यमाणकम् ॥ ५३ ॥

टीका—साधक इस विधानसे पूर्व शरीर गुरुकी कृपासे त्यागके दिव्य शरीर होके जो आगे कहेंगे वह योग ग्रहण करे. तात्पर्य यह है कि, योगग्रहणके समयसे साधकका शरीर दिव्य होजाताहै व्याधि और अज्ञानका शरीर नहीं रहजाता इस हेतुसे योगग्रहणके समय साधक यह चिंतनकरे कि, पूर्व शरीरको हमने त्यागके दिव्यशरीर धारण किया ॥ ५३ ॥

मूलम्–पद्मासनस्थितो योगी जनसंगविवर्जितः ॥ विज्ञाननाडीद्वितयमङ्गुलीभ्यां निरोधयेत् ॥ ५४ ॥

टीका—योगी संगरहित पद्मासनमें स्थित होके दोनों विज्ञाननाडी अर्थात् इडा और पिंगलाको दो अंगुलीसे निरोध करे ॥ ५४ ॥

मूलम्–सिद्धेस्तदाविर्भवति सुखरूपी निरञ्जनः ॥ तस्मिन्परिश्रमः कार्यो येन सिद्धो भवेत्खलु ॥ ५५ ॥

टीका–यह योग सिद्ध होनेसे साधकके हृदयमें सुखरूपी निरंजन परब्रह्म चैतन्यस्वरूपका प्रकाशहोगा इस हेतुसे यह योगमें साधकको परिश्रम कर्तव्य है, इससे निश्चय यह योग सिद्ध होजायगा ॥ ५५ ॥

मूलम्–यः करोति सदाभ्यासं तस्य सिद्धिर्न दूरतः ॥ वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य क्रमादेव न संशयः ॥ ५६ ॥

टीका–जो मनुष्य इस योगका सर्वदा अभ्यास करेगा उसको सर्वसिद्धि प्राप्त होगी और निश्चय आपही क्रमसे वायु सिद्ध होजायगा ॥ ५६ ॥

मूलम्–सकृद्यः कुरुते योगी पापौघं नाशयेद्ध्रुवम् ॥ तस्य स्यान्मध्यमे वायोः प्रवेशो नात्र संशयः ॥ ५७ ॥

टीका–जो योगी प्रतिदिन एकवार यह अभ्यास करे तो उसके सर्व पापोंका नाश होजायगा और उसका प्राणवायु निश्चय सुषुम्णामें प्रवेश करेगा ॥ ५७ ॥

मूलम्–एतदभ्यासशीलो यः स योगी देव-

पूजितः ॥ अणिमादिगुणाँल्लब्ध्वा विचरे-द्भुवनत्रये ॥ ५८ ॥

टीका-यह अभ्यासशील योगी देवतोंसे पूजित है और अणिमादिक सिद्धि लाभ करके तीनों लोकमें इच्छापूर्वक विचरेगा ॥ ५८ ॥

मूलम्-यो यथास्यानिलाभ्यासात्तद्भवेत्त-स्य विग्रहः ॥ तिष्ठेदात्मनि मेधावी संयुतः क्रीडते भृशम् ॥ ५९ ॥

टीका-जिस प्रकार वायुका अभ्यास करेगा उसी तरह साधकका शरीर सिद्ध हो जायगा और बुद्धिमान पुरुष आत्मामें स्थितहोके सर्वदा क्रीडा करेगा ॥ ५९ ॥

मूलम्-एतद्योगं परं गोप्यं न देयं यस्य कस्यचित् ॥ यःप्रमाणैः समायुक्तस्तमेव कथ्यते ध्रुवम् ॥ ६० ॥

टीका-यह योग परमगोपनीयहै अनधिकारीको कदापि देनेके योग्य नहीं है परन्तु प्रमाणयुक्त अर्थात् पूर्वोक्त लक्षणयुक्त साधकको अवश्य देना उचितहै॥६०॥

मूलम्-योगी पद्मासने तिष्ठेत्कण्ठकूपे य-दा स्मरन्॥जिह्वां कृत्वा तालुमूले क्षुत्पि-पासा निवर्तते ॥ ६१ ॥

टीका—पद्मासनस्थित योगी जब कण्ठकूपका स्मरण अर्थात् उस स्थानमें मनको लय करके जिह्वा-को तालुमूलमें स्थित करेगा तब क्षुधा और पिपासा-से रहित हो जायगा ॥ ६१ ॥

मूलम्—कण्ठकूपादधः स्थाने कूर्मनाड्य-स्ति शोभना॥ तस्मिन् योगी मनो दत्त्वा चित्तस्थैर्यं लभेद्भृशम् ॥ ६२ ॥

टीका—कंठकूपके नीचे कूर्मनाडी शोभित है उस नाडीमें योगी मनको स्थिर करके अत्यंत चित्तकी स्थिरता पावेगा ॥ ६२ ॥

मूलम्—शिरःकपाले रुद्राक्षं विवरं चिन्तये-द्यदा ॥तदा ज्योतिःप्रकाशः स्याद्विद्युत्पु-ञ्जसमप्रभः ॥६३॥ एतच्चिन्तनमात्रेण पा-पानां संक्षयो भवेत् ॥ दुराचारोऽपि पुरुषो लभते परमं पदम् ॥ ६४ ॥

टीका—शिर कपालमें जो रुद्राक्ष विवर है उसमें यदि चिंतना करे तो विद्युत्पुञ्जके समान आत्मज्यो-तिका प्रकाश होगा और इसके चिन्तनमात्रसे योगीका सर्व पाप नष्ट होजायगा. यदि दुराचारमेंभी जो पुरुष आसक्त है वहभी परमगतिको प्राप्त होगा ॥६३॥ ६४ ॥

मूलम्--अहर्निशं यदा चिन्तां तत्करोति विचक्षणः ॥ सिद्धानां दर्शनं तस्य भाषणञ्च भवेद्ध्रुवम् ॥ ६५ ॥

टीका--जो बुद्धिमान् साधक रात्रि दिवस यह चिन्तवन करते हैं उनको सिद्धलोगोंका अवश्य दर्शन और उनसे भाषण होताहै ॥ ६५ ॥

मूलम्--तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् भुञ्जन् ध्यायेच्छून्यमहर्निशम् ॥ तदाकाशमयो योगी चिदाकाशे विलीयते ॥ ६६ ॥

टीका--जो पुरुष चलते बैठते सोते भोजन करते रात्रिदिवस यह ध्यान करते हैं सो आकाशस्वरूप योगी चिदाकाश अर्थात् परमात्मामें लय होजाते हैं ॥ ६६ ॥

मूलम्--एतज्ज्ञानं सदा कार्यं योगिना सिद्धिमिच्छता ॥ निरन्तरकृताभ्यासान्मम तुल्यो भवेद्ध्रुवम् ॥ एतज्ज्ञानबलाद्योगी सर्वेषां वल्लभो भवेत् ॥ ६७ ॥

टीका--सिद्धिकांक्षी योगीको इस ध्यानका सर्वदा अभ्यास करना उचित है सर्वदा अभ्यास करनेसे हे पार्वती! हमारे तुल्य होजायगा निश्चय, इस ज्ञानबलसे योगी सबको अर्थात् त्रैलोक्यको प्रिय होजाताहै ॥ ६७ ॥

मूलम्-सर्वान् भूतान् जयं कृत्वा निराशी-
रपरिग्रहः ॥ ६८ ॥ नासाग्रे दृश्यते येन
पद्मासनगतेन वै ॥ मनसो मरणं तस्य
खेचरत्वं प्रसिद्धयति ॥ ६९ ॥

टीका-योगी सर्व भूतोंको जय करके और क्षुधा और इच्छाको जीतके पद्मासनसे स्थितहोके जो नासाग्रमें देखता है उसका मन स्थिर होजाताहै तब खेचरत्व सिद्धहोताहै ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

मूलम्-ज्योतिः पश्यति योगीन्द्रः शुद्धं
शुद्धाचलोपमम् ॥ तत्राभ्यासबलेनैव
स्वयं तद्रक्षको भवेत् ॥ ७० ॥

टीका-शुद्ध अचलके समान परमज्योति योगी देखताहै तब अभ्यासबलसे आपही उसका रक्षक होताहै अर्थात् ज्योतिर्मय होता है ॥ ७० ॥

मूलम्-उत्तानशयने भूमौ सुप्त्वा ध्यायन्नि-
रन्तरम् ॥सद्यः श्रमविनाशाय स्वयं योगी
विचक्षणः ॥७१ ॥ शिरः पश्चात्तु भागस्य
ध्याने मृत्युञ्जयो भवेत् ॥ भ्रूमध्ये दृष्टि-
मात्रेण ह्यपरः परिकीर्तितः ॥ ७२ ॥

टीका-बुद्धिमान् योगी भूमिमें उत्तानशयन करके निरन्तर ध्यान करे तो तत्काल आपही श्रमका नाश होजायगा और शिरके पृष्ठभागका ध्यान करनेसे योगी मृत्युका जीतनेवाला होजायगा और भ्रूके मध्यमें जो दृष्टिमात्रसे फल होताहै सो हेदेवि ! हम पहले कह-चुके हैं ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

मूलम्-चतुर्विधस्य चान्नस्य रसस्त्रेधा वि-
भज्यते ॥तत्र सारतमो लिंगदेहस्य परि-
पोषकः ॥ ७३ ॥ सप्तधातुमयं पिण्डमे-
ति पुष्णाति मध्यगः ॥ याति विण्मूत्र-
रूपेण तृतीयः सप्ततो बहिः ॥७४॥ आ-
द्यभागद्वयं नाड्यः प्रोक्तास्ताः सकला
अपि ॥ पोषयन्ति वपुर्वायुमापादतल-
मस्तकम् ॥ ७५ ॥

टीका-चार विधि अन्नभोजन करनेसे तीनप्रकार-का रस उत्पन्नहोताहै उसमें जो प्रथम सारभूत रस है वह लिङ्गशरीरको पोषण करता है और जो दूसरा रस है वह सप्तधातुमय पिण्डको पोषण करताहै और तीसरा रस सप्तधातुके बाहर मल मूत्ररूप है पहिले जो दोभाग रस कहाहै वही सकल नाडीरूप है और

पादसे लेकर मस्तकपर्यंत शरीरके वायुका पोषणक-
रते हैं ॥ ७३ ॥ ७४ ॥ ७५ ॥

मूलम्–नाडीभिराभिः सर्वाभिर्वायुः सञ्चर-
ते यदा ॥ तदैवान्नरसो देहे साम्येनेह प्रव-
र्त्तते ॥ ७६ ॥

टीका–जब सब नाडीके साथ वायु चलताहै तब
अन्नका रस शरीरमें समभावसे प्रवृत्त होता है ॥ ७६ ॥

मूलम्–चतुर्दशानां तत्रेह व्यापारे मुख्य-
भागतः ॥ ता अनुग्रत्वहीनाश्च प्राणस-
ञ्चारनाडिकाः ॥ ७७ ॥

टीका–सर्व नाडियोंमें पूर्वोक्त चौदह नाडी शरीर-
के मुख्य व्यापारको करतीहैं यह प्राण सञ्चार करने-
वाली चौदह नाडीमें परस्पर कोई किसीसे न्यून
अधिक नहीं है ॥ ७७ ॥

मूलम्–गुदाद्व्यंगुलतश्चोर्ध्वं मेढ्रैकांगुलत-
स्त्वधः ॥ एवञ्चास्ति समं कन्दं समता
चतुरंगुलम् ॥ ७८ ॥

टीका–गुदासे दो अङ्गुल ऊपर और मेढ्र अर्थात्
लिङ्गमूलसे एक अंगुल नीचे चार अंगुल विस्तारक-
न्दका प्रमाण है॥ ७८ ॥

मूलम्-पश्चिमाभिमुखी योनिर्गुदमेढ्रान्त-
रालगा ॥ तत्र कन्दं समाख्यातं तत्रास्ति
कुण्डली सदा ॥ ७९ ॥ संवेष्ट्य सकला
नाडीः सार्द्धत्रिकुटिलाकृतिः ॥ मुखे निवे-
श्य सा पुच्छं सुषुम्णाविवरे स्थिता॥८०॥

टीका-गुदा और मेढ्रके मध्यमें जो योनि है वह पश्चिमाभिमुखी अर्थात् पीछेको मुख है उसी स्थानमें कन्दहै और उसी स्थानमें सर्वदा कुण्डलनीकी स्थिति है यह कुण्डलनी सकल नाडीको घेरके साढे तीन फेरा कुटिल आकृतिसे अपने मुखमें पुच्छको लेके सुषुम्णा विवरमें स्थित है ॥ ७९ ॥ ८० ॥

मूलम्-सुप्ता नागोपमा ह्येषा स्फुरन्ती
प्रभया स्वया ॥ अहिवत्सन्धिसंस्थाना
वाग्देवी बीजसंज्ञिका ॥ ८१ ॥

टीका-यह कुण्डलिनी सर्पके समान निद्रिता अपनी प्रभासे प्रकाशमान है और सर्पके सदृश संधि-में स्थित है और वाग्देवी है अर्थात् कुण्डलिनीहीसे वाक्य उच्चारण होताहै और बीज संज्ञक है अर्थात् सं-सारकी बीज है ॥ ८१ ॥

मूलम्-ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निर्मला स्वर्ण

भास्वरा॥सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयप्रसूतिका ॥ ८२ ॥

टीका--यह कुण्डलिनी देवी ईश्वरकी शक्तिमें तप्त स्वर्णके समान निर्मल तेजप्रभा है और सत्व, रज, तम, यह तीनों गुणकी माता है ॥ ८२ ॥

मूलम्--तत्र बन्धूकपुष्पाभं कामबीजं प्रकीर्तितम् ॥ कलहेमसमं योगे प्रयुक्ताक्षररूपिणम् ॥ ८३ ॥

टीका--जिस स्थानमें कुण्डलिनी है उसी स्थानमें बन्धूकपुष्पके समान रक्तवर्ण कामबीजकी स्थिति कहीगई है वह कामबीज तप्तस्वर्णके समान स्वरूपयोगयुक्तद्वारा चिंतनीय है ॥ ८३ ॥

मूलम्--सुषुम्णापि च संश्लिष्टा बीजं तत्र वरं स्थितम्॥शरच्चंद्रनिभंतेजस्स्वयमेतत्स्फुरत्स्थितम्॥८४ ॥सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ॥ एतत्त्रयं मिलित्वैव देवी त्रिपुरभैरवी ॥बीजसंज्ञं परंतेजस्तदेव परिकीर्तितम् ॥ ८५ ॥

टीका--जिस स्थानमें कुण्डलिनी स्थित है सुषुम्णा उसी स्थानमें कामबीजके साथ स्थित है और वह बीज

शरच्चन्द्रके समान प्रकाशमान तेज है और वह आप-ही कोटि सूर्यके समान प्रकाश और कोटिचंद्रके समान शीतल है यह तीनों मिलके अर्थात् कुण्डलिनी सुषुम्णा, बीजकुण्डलिनीका नाम त्रिपुरभैरवी देवी है यह कुण्ड-लिनी परमतेजमानहै और उसकी बीजसंज्ञाहै॥८४॥८५॥

मूलम्--क्रियाविज्ञानशक्तिभ्यां युतं यत्प-रितो भ्रमत्॥८६॥ उत्तिष्ठद्विशतस्त्वम्भः सूक्ष्मं शोणशिखायुतम्॥योनिस्थं तत्परं तेजः स्वयंभूलिंगसंज्ञितम् ॥ ८७ ॥

टीका–वह बीज क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्तिसे युक्त होके शरीरमें भ्रमण करताहै और कभी ऊर्ध्वगामी हो-ताहै और कभी जलमें प्रवेश करताहै और सूक्ष्म प्रज्व-लित अग्निके समान शिखायुत परमतेजवीर्यकी स्थिति योनिस्थानमें है और स्वयम्भू लिङ्गसंज्ञा है॥८६॥८७॥

मूलम्--आधारपद्ममेतद्धि योनिर्यस्यास्ति कन्दतः ॥ परिस्फुरद्वादिसान्तच्चतुर्वर्णं चतुर्दलम् ॥ ८८ ॥

टीका–यह जो कहाहै इसको आधारपद्म कहते हैं और इस पद्मके मूलमें योनिकी स्थितिहै यह पद्म परम प्रकाशमान-व-से स-तक, अर्थात् व-श-ष-स चारवर्ण और चारदल करके शोभित है ॥ ८८ ॥

मूलम्-कुलाभिधं सुवर्णाभं स्वयम्भूलिङ्गसंगतम् ॥ द्विरण्डो यत्र सिद्धोस्ति डाकिनी यत्र देवता ॥८९॥ तत्पद्ममध्यगा योनिस्तत्र कुण्डलिनी स्थिता ॥ तस्याऊर्ध्वे स्फुरत्तेजः कामबीजं भ्रमन्मतम् ॥ ९०॥ यः करोति सदा ध्यानं मूलाधारे विचक्षणः ॥ तस्य स्याद्दार्दुरी सिद्धिर्भूमित्यागक्रमेण वै ॥ ९१ ॥

टीका-यह कमल कुलाभिध है अर्थात् कुलनाम है और स्वर्णके समान कांतिहै और स्वयंभूलिङ्गसे युक्त है और उस पद्ममें द्विरण्डनामक सिद्ध और डाकिनी देवता अधिष्ठात्री है और गणेश देवता है और उस पद्मके मध्यमें योनि है उस योनिमें कुण्डलिनीकी स्थितिहै और उस कुण्डलिनीके ऊपर दीप्तिमान् तेजस्वरूप कामबीज भ्रमण करताहै जो बुद्धिमान् पुरुष इस मूलाधार पद्मका सर्वदा ध्यान करते हैं उनको दार्दुरी वृत्ति सिद्ध होती है और क्रमसे भूमिको त्यागके आकाशगमन करते हैं ॥ ८९ ॥ ९० ॥ ९१ ॥

मूलम्-वपुषः कांन्तिरुत्कृष्टा जठराग्निविव-

र्धनम् ॥ आरोग्यञ्च पटुत्वञ्च सर्वज्ञत्वञ्च जायते ॥ ९२ ॥

टीका-यह ध्यान करनेसे शरीरमें उत्तम कांति होती है और जठराग्नि वर्धित होताहै और शरीर आरोग्य रहताहै और पटुता और सर्वज्ञता अर्थात् सर्व वस्तुका ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ९२ ॥

मूलम्-भूतं भव्यं भविष्यञ्च वेत्ति सर्वं सकारणम् ॥ अश्रुतान्यपि शास्त्राणि सरहस्यं वदेद्ध्रुवम् ॥ ९३ ॥

टीका-फिर भूत, भविष्य, वर्तमान तीनोंकाल और सर्व वस्तुके कारणका ज्ञान होताहै और जो शास्त्र कभी श्रवण नहीं कियाहै उसको रहस्यसहित व्याख्या करनेकी शक्ति निश्चय उत्पन्न होती है ॥ ९३ ॥

मूलम्-वक्त्रे सरस्वती देवी सदा नृत्यति निर्भरम् ॥ मन्त्रसिद्धिर्भवेत्तस्य जपादेव न संशयः ॥ ९४ ॥

टीका--योगीके मुखमें सर्वदा निरंतर सरस्वती देवी नृत्य करती है और योगीकी जपमात्रसे मन्त्रादिकी सिद्धि होती है इसमें संशय नहीं है ॥ ९४ ॥

मूलम्-जरामरणदुःखौघान्नाशयति गुरोर्व-

चः ॥इदं ध्यानं सदा कार्यं पवनाभ्यासि-
ना परम् ॥ ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो मु-
च्यते सर्वकिल्बिषात् ॥ ९५ ॥

टीका–गुरुका वचन जरा मृत्यु आदि जो दुःखका समूह है उसको नाश करदेताहै पवनाभ्यासी साधकको यह परमध्यान सर्वदा करनेके योग्य है ध्यानमात्रसे योगीन्द्र सर्वपापसे मुक्त होजाताहै ॥ ९५ ॥

मूलम्--मूलपद्मं यदा ध्यायेद्योगी स्वायं-
म्भुलिङ्गकम् ॥ तदा तत्क्षणमात्रेण पापौ-
घं नाशयेद्ध्रुवम् ॥ ९६ ॥

टीका–योगी जब मूलाधार पद्म स्वयम्भूलिङ्गसंयुक्तका ध्यानकरे तो उसीक्षण निश्चय पापके समूहका नाश करदेगा ॥ ९६ ॥

मूलम्–यं यं कामयते चित्ते तं तं फलमवा-
प्नुयात् ॥ निरन्तरकृताभ्यासात्तं पश्यति
विमुक्तिदम् ॥९७॥ बहिरभ्यन्तरे श्रेष्ठं पू-
जनीयं प्रयत्नतः ॥ ततः श्रेष्ठतमं ह्येतन्ना-
न्यदस्ति मतं मम ॥ ९८ ॥

टीका--जो साधक मूलाधार पद्मका ध्यान करते हैं वह अपने चित्तमें जोजो वस्तुकी इच्छा करते हैं सो सो

सर्व वस्तु उनको प्राप्त होती हैं और सर्वदा यत्नपूर्वक यह अभ्यास करनेसे बाहर भीतर श्रेष्ठ पूजनीय मुक्तिदायी परमात्माको देखते हैं हे पार्वति ! इससे श्रेष्ठतम दूसरा योग नहीं है यह हमारा मतहै ॥ ९७ ॥ ९८ ॥

मूलम्—आत्मसंस्थं शिवं त्यक्त्वा बहिःस्थं यः समर्चयेत् ॥ हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य भ्रमते जीविताशया ॥ ९९ ॥

टीका—मनुष्य शरीरस्थ शिवको त्यागके बाहरके देवताको पूजते हैं जैसे हाथके पिंडको त्यागके जीवके रक्षार्थ अन्य पिंडके हेतु लोग भ्रमण करतेहैं ॥ ९९ ॥

मूलम्—आत्मलिंगार्चनं कुर्यादनालस्यं दिने दिने ॥ तस्य स्यात्सकलासिद्धिर्नात्र कार्या विचारणा ॥१००॥ निरन्तरकृताभ्यासात्षण्मासैः सिद्धिमाप्नुयात् ॥ तस्य वायुप्रवेशोपि सुषुम्णायाम्भवेद्ध्रुवम् ॥ ॥ १०१ ॥ मनोजयञ्च लभते वायुबिन्दुविधारणात् ॥ ऐहिकामुष्मिकीसिद्धिर्भवेन्नैवात्र संशयः ॥ १०२ ॥

टीका—जो आलस्यको त्यागके शरीरस्थ परमात्माका नित्य पूजन करेगा उसको सकलसिद्धि प्राप्त-

होगी इसमें संशय नहीं है यदि इसका अभ्यास निरन्तर करे तो छःमासमें सिद्धि प्राप्तहोगी और उसके सुषुम्णानाडीमें निश्चय वायु प्रवेश करेगा और मनको जीतलेगा और वायु बिन्दुका धारण सिद्धहोगा और इसलोक और परलोककी सिद्धि प्राप्त होगी इसमें संशय नहीं है ॥ १०० ॥ १०१ ॥ १०२ ॥

अथ स्वाधिष्ठानचक्रविवरणम्।

मूलम्—द्वितीयन्तु सरोजञ्च लिंगमूले व्यवस्थितम्॥बादिलान्तं च षड्वर्ण परिभास्वरषड्दलम् ॥ १०३ ॥ स्वाधिष्ठानाभिधं तत्तु पंकजं शोणरूपकम्॥ बाणाख्यो यत्रसिद्धोऽस्ति देवी यत्रास्ति राकिणी १०४

टीका—दूसरा पद्म जो लिङ्गमूलमें स्थितहै वह- व से लतक- अर्थात्-व-भ-म-य-र-ल-यह-छःवर्णोंकरके युक्त है और छः दलसे शोभितहै-यह रक्तवर्णपद्मका नाम स्वाधिष्ठानहै और इस स्थानमें बाणनामक सिद्ध और राकिणी देवी अधिष्ठात्रीहै और ब्रह्मा देवता हैं॥१०३॥१०४॥

मूलम्—यो ध्यायाति सदा दिव्यं स्वाधिष्ठानारविन्दकम् ॥ तस्य कामाङ्गनाः सर्वा भजंन्ते काममोहिताः ॥ १०५ ॥

टीका—जो पुरुष यह दिव्य स्वाधिष्ठानपद्मका सर्वदा ध्यान करते हैं उनको कामरूपिणी स्त्री कामसे मोहित होके भजतीहैं अर्थात् सेवा करती हैं ॥ १०५ ॥

मूलम्—विविधश्चाश्रुतं शास्त्रं निःशङ्को वै वदेद्ध्रुवम् ॥ सर्वरोगविनिर्मुक्तो लोके चरति निर्भयः ॥ १०६ ॥

टीका—विविधशास्त्र जो कभी श्रवण नहीं किय हो उसकोभी इस पद्मके ध्यानके प्रभावसे निःशंक कहेगा और सर्वरोगसे मुक्तहोके आनन्दपूर्वक संसारमें विचरेगा ॥ १०६ ॥

मूलम्—मरणं खाद्यते तेन स केनापि न खाद्यते ॥ तस्य स्यात्परमा सिद्धिरणिमादिगुणप्रदा ॥१०७॥ वायुः सञ्चरते देहे रसवृद्धिर्भवेद्ध्रुवम् ॥ आकाशपङ्कजगलत्पीयूषमपि वर्द्धते ॥ १०८ ॥

टीका—यह साधक मृत्युको नाश करदेताहै और वह किसीसे नष्ट नहीं होता और उस साधकको गुण देनेवाली अणिमादि सिद्धि प्राप्त होती हैं और उसके शरीरमें वायु संचार करताहै अर्थात् सुषुम्णामें प्रवेश करताहै और निश्चय रसकी वृद्धि होतीहै और सह-

स्रदलकमलसे जो अमृत स्रवताहै उसकी वृद्धि होती है ॥ १०७ ॥ १०८ ॥

अथ मणिपूरचक्रविवरणम् ।

मूलम्—तृतीयं पङ्कजं नाभौ मणिपूरकसंज्ञकम् ॥ दशारंडादिफान्तार्णं शोभितं हेमवर्णकम् ॥ १०९ ॥ रुद्राख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति सर्वमङ्गलदायकः ॥ तत्रस्था लाकिनीनाम्नी देवी परमधार्मिका ॥ ११० ॥

टीका—मणिपूरनामक तीसरा पद्म जो नाभिस्थलमें है वह हेमवर्ण दशदलकरके शोभितहै और-ड-से फ-तक अर्थात् ड-ढ-ण-त-थ-द-ध-न-प-फ-यह दश-वर्णसे युक्त है और उस स्थानमें सर्वमंगलदाता रुद्रनामक सिद्ध और लाकिनी देवी अधिष्ठात्री और विष्णुदेवता हैं ॥ १०९ ॥ ११० ॥

मूलम्—तस्मिन् ध्यानं सदा योगी करोति मणिपूरके ॥ तस्य पातालसिद्धिः स्यान्निरन्तरसुखावहा ॥१११॥ ईप्सितञ्च भवेल्लोके दुःखरोगविनाशनम् ॥ कालस्य वञ्चनञ्चापि परदेहप्रवेशनम् ॥ ११२ ॥

टीका—जो साधक इस मणिपूरचक्रको सर्वदा ध्या-

न करतेहैं सो सर्वसिद्धिदात्री जो पातालसिद्धि है उसको लाभ करते हैं और उनका दुःख रोगविनाश होके सकल मनोरथ सिद्ध होते हैं और कालको निरादर कर देतेहैं और परदेहमें प्रवेश करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है ॥ १११ ॥ ११२ ॥

मूलम्–जाम्बूनदादिकरणं सिद्धानां दर्शनं भवेत् ॥ ओषधीदर्शनञ्चापि निधीनां दर्शनं भवेत् ॥ ११३ ॥

टीका–यह साधकको स्वर्णआदि रचना करनेकी शक्ति होतीहै और देवतोंका दर्शन और निधि और ओषधीका दर्शन होताहै ॥ ११३ ॥

मूलम्–हृदयेऽनाहतंनाम चतुर्थं पङ्कजं भवेत् ॥११४॥कादिठान्तार्णसंस्थानं द्वादशारसमन्वितम् ॥ अतिशोणं वायुबीजं प्रसादस्थानमीरितम् ॥ ११५ ॥

टीका–हृदयस्थानमें जो अनाहतनामक चतुर्थ पद्म है वह-क-से-ठ-तक अर्थात् क-ख-ग-घ-ङ-च-छ-ज-झ-ञ-ट-ठ-यह बारह वर्ण और बारहदलसे युक्त है और अति उज्ज्वल रक्तवर्णसे शोभायमान है और

वह प्रसन्नस्थान वायुका बीज अर्थात् प्राणवायुका आधार है ॥ ११४ ॥ ११५ ॥

मूलम्–पद्मस्थं तत्परं तेजो बाणलिंगं प्रकीर्तितम् ॥ यस्य स्मरणमात्रेण दृष्टादृष्टफलं लभेत् ॥ ११६ ॥

टीका–उस हृदयकमलमें जो परमतेज है उसीको बाणलिङ्ग कहते हैं जिसके ध्यानमात्रसे साधक इस लोक और परलोकका उत्तमफल आनंदपूर्वक लाभ करते हैं ॥ ११६ ॥

मूलम्–सिद्धः पिनाकी यत्रास्ते काकिनी यत्र देवता ॥ एतास्मिन्सततं ध्यानं हृत्पाथोजे करोति यः ॥ क्षुभ्यन्ते तस्य कान्ता वै कामार्ता दिव्ययोषितः ॥११७॥

टीका–जिस पद्ममें पिनाकी, सिद्ध और काकिनी देवी अधिष्ठात्री हैं उस हृदयस्थपद्ममें जो साधक सर्वदा ध्यान करताहै उसके समीप कामार्ता सुन्दर स्त्री अप्सरा आदि मोहित होजाती हैं ॥ ११७ ॥

मूलम्–ज्ञानञ्चाप्रतिमं तस्य त्रिकालविषयम्भवेत् ॥ दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिः स्वेच्छया खगतां व्रजेत् ॥ ११८॥

टीका-उस साधकको अपूर्वज्ञान उत्पन्न होताहै और त्रिकालदर्शी होताहै और दूरशब्द श्रवण करने और दूरकी सूक्ष्मवस्तु देखनेकी शक्ति उत्पन्न होतीहै और स्वेच्छासे आकाशमें गमन करताहै ॥ ११८ ॥

मूलम्-सिद्धानां दर्शनञ्चापि योगिनीदर्शनं तथा ॥ भवेत्खेचरसिद्धिश्च खेचराणां जयन्तथा॥११९॥यो ध्यायाति परं नित्यं बाणलिंगं द्वितीयकम् ॥ खेचरी भूचरी सिद्धिर्भवेत्तस्य न संशयः ॥ १२० ॥

टीका-जो साधक यह दूसरे परमबाणलिङ्गका नित्य ध्यान करताहै उसको देवता और योगिनीका दर्शन होताहै और आकाशमें गमन करनेकी शक्ति होजाती है और आकाशगामीसे जय प्राप्त होतीहै और खेचरी भूचरी सिद्ध होती है इसमें संशय नहीं है ॥११९ ॥१२०॥

मूलम्-एतद्ध्यानस्य माहात्म्यं कथितुं नैव शक्यते॥ ब्रह्माद्याः सकला देवा गोपायन्ति परान्त्विदम् ॥ १२१ ॥

टीका-हे देवी ! इस अनाहत पद्मके ध्यानके माहात्म्यको कोई नहीं कहसकता और इस ध्यानको ब्रह्मा आदि सकलदेवता गोप्य रखते हैं ॥ १२१ ॥

अथ विशुद्धचक्रविवरणम् ।

मूलम्—कण्ठस्थानास्थितं पद्मं विशुद्धं नामपञ्चमम् ॥ १२२ ॥ सुहेमाभं स्वरोपेतं षोडशस्वरसंयुतम् ॥ छगलाण्डोऽस्ति सिद्धोत्र शाकिनी चाधिदेवता ॥ १२३ ॥

टीका—कंठस्थानमें जो पांचवां विशुद्धनामक कमल है वह स्वर्णके समान कांतिसे शोभित है और सोलह स्वर अर्थात् अ-आ-इ-ई-उ-ऊ-ऋ-ॠ-ऌ-ॡ-ए-ऐ-ओ-औ-अं-अः-से युक्त है और छगलांड सिद्ध और शाकिनीदेवी अधिष्ठात्री और जीवात्मा देवता इस स्थानमें सदा विराजमान है ॥ १२२ ॥ १२३ ॥

मूलम्—ध्यानं करोति यो नित्यं स योगीश्वरपण्डितः॥ किन्त्वस्य योगिनोऽन्यत्र विशुद्धाख्ये सरोरुहे ॥ चतुर्वेदा विभासन्ते सरहस्या निधेरिव ॥ १२४ ॥

टीका—जो पुरुष इस विशुद्धपद्मका नित्य ध्यान करतेहैं सो योगीश्वर पंडित हैं और इस विशुद्धपद्ममें उस पुरुषको चारोंवेद रहस्यसहित समुद्रके रत्नवत् प्रकाश होते हैं ॥ १२४ ॥

मूलम्—इह स्थाने स्थितो योगी यदा क्रोध-

वशो भवेत् ॥ तदा समस्तं त्रैलोक्यं कम्पते नात्र संशयः ॥ १२५ ॥

टीका—यह विशुद्धपद्ममें जब योगी मन और प्राणको स्थित करके यदि क्रोध करे तो अवश्य चराचर त्रैलोक्य कम्पायमान होजाय इसमें सन्देह नहीं ॥ १२५ ॥

मूलम्—इह स्थाने मनो यस्य दैवाद्याति लयं यदा ॥ तदा बाह्यं परित्यज्य स्वान्तरे रमते ध्रुवम् ॥ १२६ ॥

टीका—यह कमलमें साधकका मन दैवात् जब लय होताहै तब सकल बाह्यविषयको त्यागके योगीका मन और प्राण शरीरके अंतरहीमें निश्चय रमण करताहै ॥ १२६ ॥

मूलम्—तस्य न क्षतिमायाति स्वशरीरस्य शक्तितः ॥ संवत्सरसहस्रेऽपि वज्रातिकठिनस्य वै ॥ १२७ ॥ यदा त्यजति तद्ध्यानं योगींद्रोऽवनिमण्डले ॥ तदा वर्षसहस्राणि मन्यते तत्क्षणं कृती ॥ १२८ ॥

टीका—उस योगीका शरीर वज्रसेभी कठोर होजाताहै और उसको स्वशरीरकी शक्तिसे किसीप्रकारकी हानि नहीं होतीहै और सहस्रवर्ष समाधिके पीछे जब

उस ध्यानको छोडके योगीकी चित्तवृत्ति संसारमें आवेगी तब उस सहस्रवर्षके योगी एकक्षण व्यतीत भया मानेगा ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

अथ आज्ञाचक्रविवरणम् ।

मूलम्--आज्ञापद्मं भ्रुवोर्मध्ये हक्षोपेतं द्विपत्रकम्॥शुक्लाभं तन्महाकालः सिद्धो देव्यत्र हाकिनी ॥ १२९ ॥

टीका—भ्रूके मध्यमें जो आज्ञापद्म है उसमें हं-क्षं दो बीज हैं और सुंदर श्वेतवर्ण दो पत्र हैं और उस स्थानमें महाकाल सिद्ध है और हाकिनीदेवी अधिष्ठात्री और परमात्मा देवता है ॥ १२९ ॥

मूलम्—शरच्चंद्रनिभं तत्राक्षरबीजं विजृंभितं॥ पुमान् परमहंसोऽयं यज्ज्ञात्वा नावसीदति ॥ १३० ॥ तत्र देवः परन्तेजः सर्वतन्त्रेषु मन्त्रिणः ॥ चिन्तयित्वा परां सिद्धिं लभते नात्र संशयः ॥ १३१ ॥

टीका—उस आज्ञापद्मके मध्यमें शरच्चंद्रके समान परमतेज चंद्रबीज अर्थात् ठं बीज विराजमान है इसके ज्ञान होनेसे परमहंस पुरुषको कभी कष्ट नहीं होता यह परमतेजका प्रकाश सर्वतंत्रोंकरके गो-

पित है इसके चिंतनमात्रसे अवश्य परम सिद्धिलाभ होताहै ॥ १३० ॥ १३१ ॥

मूलम्—तुरीयं त्रितयं लिंगं तदाहं मुक्तिदायकः ॥ ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो मत्समो भवति ध्रुवम् ॥ १३२ ॥

टीका—हे पार्वती ! उस स्थानमें तुरीया तृतीयलिंग हमीं मुक्तिके दाता हैं इसके ध्यानमात्रसे योगीन्द्र निश्चय हमारे तुल्य होजायगा ॥ १३२ ॥

मूलम्—इडा हि पिंगला ख्याता वरणासीति होच्यते ॥ वाराणसी तयोर्मध्ये विश्वनाथोत्र भाषितः ॥ १३३ ॥

टीका—इस शरीरमें जो दो इडा और पिंगला नाडी हैं उनको वरणा और असी कहते हैं यह वरणा और असीके मध्यमें स्वयं विश्वनाथजी विराजमान हैं. तात्पर्य यह है कि, यह इडा और पिंगलाके मध्यमें जो स्थानहै उसीको शिवजीने वाराणसी कहाहै ॥ १३३ ॥

मूलम्—एतत्क्षेत्रस्य माहात्म्यमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ शास्त्रेषु बहुधा प्रोक्तं परं तत्त्वं सुभाषितम् ॥ १३४ ॥

टीका—यह वाराणसी क्षेत्रके माहात्म्यको तत्त्वद-

श्री ऋषिलोगोंने अनेक शास्त्रोंमें बहुत प्रकारसे परम-तत्त्व कहाहै ॥ १३४ ॥

मूलम्--सुषुम्णा मेरुणा याता ब्रह्मरन्ध्रं य-तोऽस्ति वै ॥ ततश्चैषा परावृत्त्य तदाज्ञा-पद्मदक्षिणे ॥ १३५ ॥ वामनासापुटं या-ति गंगेति परिगीयते ॥ १३६ ॥

टीका--सुषुम्णानाडी मेरुदंडद्वारा जहां ब्रह्मरन्ध्र है उस स्थानमें गई है और इडानाडी मेरुतक जायके लौटीहै और आज्ञाचक्रके दक्षिणभाग होके वामनासापु-टको गई है इसको गङ्गा कहतेहैं ॥ १३५ ॥ १३६ ॥

मूलम्--ब्रह्मरन्ध्रे हि यत्पद्मं सहस्रारं व्यव-स्थितम्॥तत्र कन्दे हि या योनिस्तस्यां च-न्द्रो व्यवस्थितः ॥१३७॥ त्रिकोणाकार-तस्तस्याः सुधा क्षरति सन्ततम्॥इडाया-ममृतं तत्र समं स्रवति चन्द्रमाः॥१३८॥ अमृतं वहति द्वारा धारारूपं निरन्तरम् ॥ वामनासापुटं याति गंगेत्युक्ता हि यो-गिभिः ॥ १३९ ॥

टीका--ब्रह्मरन्ध्रमें जो सहस्रदल पद्म है उस पद्मके कन्दमें योनि है उस योनिमें चन्द्रमा विराजमान है

और वही त्रिकोणाकार योनीसे चन्द्रविगलित अमृत सर्वदा स्रवता है सो अमृत चंद्रमासे इडानाडीद्वारा समभावसे निरन्तर धारारूप गमन करता है और उस इडानाडीकी गति वामनासापुटमें है उस हेतुसे योगी लोग इस नाडीको गंगा कहतेहैं ॥१३७॥१३८॥१३९॥

मूलम्–आज्ञापङ्कजदक्षांसाद्वामनासापुटंगता ॥ उदग्वहेति तत्रेडा गंगेति समुदाहृता ॥ १४० ॥

टीका–वह इडानाडी आज्ञापद्मके दक्षिणभागसे वामनासापुटको गमन करती है इसीको उदग्वाहिनी गंगा कहते हैं ॥ १४०॥

मूलम्–ततो द्वयोर्हि मध्ये तु वाराणसी विचिन्तयेत् ॥ तदाकारा पिंगलापि तदाज्ञाकमलोत्तरे ॥ दक्षनासापुटे याति प्रोक्तास्माभिरसीति वै ॥ १४१ ॥

टीका–यह इडा और पिङ्गलाके मध्यस्थानको वाराणसी चिन्तनाकरे और इडानाडीके समान पिङ्गलाभी उस आज्ञाकमलके वामभागसे दक्ष नासापुटको गई है इस हेतुसे हेदेवी ! इस पिङ्गलाको हमने असी कहाहै ॥ १४१ ॥

मूलम्-मूलाधारे हि यत्पद्मं चतुष्पत्रं व्यवस्थितम्॥तत्र कन्देऽस्ति या योनिस्तस्यां सूर्यो व्यवस्थितः ॥ १४२ ॥

टीका-जो मूलाधारपद्म चारदलसे युक्तहै उस कमलके कन्दमें जो योनिहै इस योनिमें सूर्य स्थितहै ॥१४२॥

मूलम्-तत्सूर्यमण्डलद्वाराद्विषं क्षरति सन्ततम्॥१४३॥पिंगलायां विषं तत्र समर्पयति तापनः ॥ विषं तत्र वहन्ती या धारारूपं निरन्तरम् ॥ दक्षनासापुटे याति कल्पितेयन्तु पूर्ववत् ॥ १४४ ॥

टीका-वही सूर्यमण्डलसे निरन्तर विष स्रवताहै और पिङ्गलाद्वारा गमन करताहै और वह विष सर्वदा धारारूप पिङ्गलानाडीसे प्रवाहित रहताहै और यह पिङ्गलानाडी दक्षिणनासापुटमें गईहै ॥ १४३ ॥१४४ ॥

मूलम्-आज्ञापङ्कजवामास्याद्दक्षनासापुटं गता ॥ उदग्वहापिंगलापि पुरासीति प्रकीर्तिता ॥ १४५ ॥

टीका-यह नाडी आज्ञाकमलके वामभागसे दक्षिण नासिकापुटको गई है इस हेतुसे यह पिङ्गलानाडीको असी कहते हैं ॥ १४५ ॥

मूलम्–आज्ञापद्मामिदं प्रोक्तं यत्र देवो महेश्वरः ॥ १४६ ॥ पीठत्रयं ततश्चोर्ध्वं निरुक्तं योगचिन्तकैः ॥ तद्विन्दुनादशक्त्याख्यं भालपद्मे व्यवस्थितम् ॥ १४७ ॥

टीका-इस स्थानमें महेश्वर देवताहै इसको आज्ञापद्म कहतेहैं और योगचिन्तक लोग कहते हैं कि, इस पद्मके ऊपर पीठत्रयकी स्थिति है अर्थात् नाद, बिंदु, शक्ति, यह तीनों इस भालपद्ममें विराजमान हैं ॥ १४६ ॥ १४७ ॥

मूलम्–यः करोति सदाध्यानमाज्ञापद्मस्य गोपितम् ॥ पूर्वजन्मकृतं कर्म विनश्येदविरोधतः ॥ १४८ ॥ ॥

टीका–जो पुरुष सर्वदा गोपित करके इस आज्ञाकमलका ध्यान करते हैं उनका पूर्वजन्मकृत कर्मफल सकल निर्विघ्न नाश होजाताहै ॥ १४८ ॥

मूलम्-इह स्थितः सदा योगी ध्यानं कुर्यान्निरन्तरम् ॥ तदा करोति प्रतिमां प्रतिजापमनर्थवत् ॥१४९॥

टीका–जब योगी यह ध्यान सर्वदा निरन्तर करे

तो उसका प्रतिमापूजन करना वा जप करना सर्वथा अनर्थवत् है ॥ १४९ ॥

मूलम्—यक्षराक्षसगन्धर्वा अप्सरोगणकिन्नराः ॥ सेवन्ते चरणौ तस्य सर्वे तस्य वशानुगाः ॥ १५० ॥

टीका—यक्ष और राक्षस और गन्धर्व और अप्सरा और किन्नर आदि सब इस ध्यानयुक्त योगीके वशमें होजाते हैं और उसके चरणकी सेवा करते हैं ॥१५०॥

मूलम्—करोति रसनां योगी प्रविष्टां विपरीतगाम्॥ लम्बिकोर्ध्वेषु गर्तेषु धृत्वा ध्यानं भयापहम् ॥ १५१ ॥ अस्मिन् स्थाने मनो यस्य क्षणार्धं वर्ततेऽचलम् ॥ तस्य सर्वाणि पापानि संक्षयं यान्ति तत्क्षणात् ॥ १५२ ॥

टीका—जो योगी विपरीतगामी जिह्वाको ऊपर तालुमूलमें प्रवेश करके यह भयनाशक आज्ञाकमलका ध्यान अर्धक्षणभी मन अचल स्थिरतापूर्वक करते हैं उनका सकल पातक उसीक्षण नाश होजाताहै ॥ १५१ ॥ १५२ ॥

मूलम्—यानि यानि हि प्रोक्तानि पंचपद्मे फ-

लानि वै ॥ तानि सर्वाणि सुतरामेतज्ज्ञा-
नाद्भवन्ति हि ॥ १५३ ॥

टीका –पंच पद्मका जो जो फल पहिले कहाहै सो सबका समस्त फल आपही इस आज्ञाकमलके ध्यान-सेही प्राप्त होजायगा ॥ १५३ ॥

मूलम्--यः करोति सदाभ्यासमाज्ञापद्मे वि-
चक्षणः ॥ वासनाया महाबन्धं तिरस्कृ-
त्य प्रमोदते ॥ १५४ ॥

टीका–जो बुद्धिमान् सर्वदा मन स्थिर करके यह आज्ञापद्मका अभ्यास करते हैं वह वासनारूपी महा-बन्धको निरादर करके आनन्द लाभ करते हैं ॥१५४॥

मूलम्–प्राणप्रयाणसमये तत्पद्मं यः स्मर-
न्सुधीः॥ त्यजेत्प्राणं स धर्मात्मा परमा-
त्मनि लीयते ॥ १५५ ॥

टीका–जो बुद्धिमान् मृत्युके समय उस आज्ञापद्म-का ध्यान करेगा सो धर्मात्मा प्राणको त्यागके परमा-त्मामें लय होजायगा ॥ १५५ ॥

मूलम्–तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् जाग्रत् यो-
ध्यानं कुरुते नरः ॥ पापकर्म विकुर्वाणो
नहि मज्जति किल्बिषे ॥ १५६ ॥

टीका-जो मनुष्य बैठे चलते जाग्रतमें स्वप्नमें सर्वदा इस कमलका ध्यान करते हैं सो यदि पापकर्म रतभी हों तोभी मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ १५६ ॥

मूलम्-राजयोगाधिकारी स्यादेतच्चिन्तनतो ध्रुवम्॥योगी बन्धाद्विनिर्मुक्तः स्वीयया प्रभया स्वयम् ॥१५७॥ द्विदलध्यानमाहात्म्यं कथितुं नैव शक्यते ॥ ब्रह्मादिदेवताश्चैव किञ्चिन्मत्तो विदन्ति ते ॥१५८॥

टीका-जो इस कमलका ध्यान करता है वह निश्चय राजयोगका अधिकारी है योगी स्वयं अपने प्रभासे सकलबन्धसे मुक्त होजाता है हे देवि ! इस द्विदलपद्मके माहात्म्यको कोई कहनेमें समर्थ नहीं है ब्रह्मा आदि देवता इस पद्मके माहात्म्यको किञ्चित् हमारे द्वारा जानते हैं ॥ १५७ ॥ १५८ ॥

मूलम्-अत ऊर्ध्वं तालुमूले सहस्रारं सरोरुहम् ॥ अस्ति यत्र सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम् ॥ १५९ ॥

टीका-इस आज्ञापद्मके ऊपर तालुमूलमें सहस्रदल कमल शोभायमान है उसी स्थानमें ब्रह्मरन्ध्रके विवरमूलमें सुषुम्णा स्थित है ॥ १५९ ॥

मूलम्—तालुमूले सुषुम्णास्य अधोवक्त्रा प्रवर्तते ॥ मूलाधारेण योन्यस्ताः सर्वनाड्यः समाश्रिताः ॥ ता बीजभूतास्तत्त्वस्य ब्रह्ममार्गप्रदायिकाः ॥ १६० ॥

टीका—वह सुषुम्णाका मुख तालुमूल अर्थात् ब्रह्मरन्ध्रमें नीचेको वर्तमान है और मूलाधारसे योनि पर्यंत जो सकल नाडी हैं वह इस तत्त्वज्ञानबीजस्वरूप ब्रह्ममार्गकी दाता सुषुम्णाके अधोवदनके अवलम्बसे स्थित हैं ॥ १६० ॥

मूलम्—तालुस्थाने च यत्पद्मं सहस्रारं पुरोदितम्॥तत्कन्दे योनिरेकास्ति पश्चिमाभिमुखी मता॥ १६१॥ तस्य मध्ये सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम् ॥ ब्रह्मरन्ध्रं तदेवोक्तमामूलाधारपङ्कजम् ॥ १६२ ॥

टीका—तालुस्थानमें जो सहस्रदल कमल कहागया है उसके कन्दमें एक योनि पश्चिमाभिमुखी है अर्थात् पीछेको मुख है उस योनिके मध्यमें जो मूलविवर है उसमें सुषुम्णा ज्ञाननाडी स्थित है हे देवी ! इसको ब्रह्मरन्ध्र और इसीको मूलाधारपद्मभी कहते हैं ॥ १६१ ॥ १६२ ॥

मूलम्—तत्रांतरन्ध्रे चिच्छक्तिः सुषुम्णा कु-

ण्डली सदा ॥१६३॥ सुषुम्णायां स्थिता नाडी चित्रास्यान्मम वल्लभे ॥ तस्यां मम मते कार्या ब्रह्मरन्ध्रादिकल्पना॥१६४॥

टीका—यह सुषुम्णानाडीके रन्ध्रमें कुण्डलिनी शक्ति सर्वदा विराजमान है वह सुषुम्णा अन्तर्गता शक्तिको चित्रानाडी कहते हैं हे प्रिये पार्वति ! हमारे मतमें इसी चित्रासे ब्रह्मरन्ध्र आदि कल्पना भई है ॥१६३॥१६४॥

मूलम्—यस्याः स्मरणमात्रेण ब्रह्मज्ञत्वं प्रजायते ॥ पापक्षयश्च भवति न भूयः पुरुषो भवेत् ॥ १६५ ॥

टीका—यह चित्रानाडीके ध्यानमात्रसे ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है और पाप क्षय होजाता है और फिर संसाररूपी बन्धमें योगी नहीं पडता अर्थात् मोक्ष होजाता है ॥ १६५ ॥

मूलम्—प्रवेशितं चलाङ्गुष्ठं मुखे स्वस्य निवेशयेत् ॥ तेनात्र न वहत्येव देहचारी समीरणः ॥ १६६ ॥

टीका—दक्षिणहाथके अङ्गुष्ठको मुखमें प्रवेश करके मुखको बन्द करलेनेसे देहचारी जो प्राणवायु है वह निश्चय स्थिर होजाता है ॥ १६६ ॥

मूलम्–तेन संसारचक्रेऽस्मिन्न भ्रमन्ते च सर्वदा॥तदर्थं ये प्रवर्तन्ते योगिनः प्राणधारणे॥१६७॥तत एवाखिला नाडी निरुद्धा चाष्टवेष्टनम्॥ इयं कुण्डलिनी शक्ती रन्ध्रं त्यजति नान्यथा ॥ १६८ ॥

टीका–यह प्राणवायुके स्थिर होजानेसे इस संसार चक्रमें सर्वदा भ्रमण करना छूटजाता है अर्थात् मोक्ष होजाता है इसहेतुसे योगी प्राणवायुके धारण करनेमें प्रवृत्त होते हैं और इसधारणसे सकलनाडी जो मल और काम क्रोधादि आठप्रकारसे बन्धनमें हैं वह खुल जाती हैं तब यह कुण्डलिनीशक्ति ब्रह्मरन्ध्रको निश्चय त्याग देती है इसके त्यागदेनेसे जीव ब्रह्मका सम्बन्ध होजाता है ॥ १६७ ॥ १६८ ॥

मूलम्–यदा पूर्णासु नाडीषु सन्निरुद्धानिलास्तदा ॥ बन्धत्यागेन कुण्डल्या मुखं रन्ध्राद्बहिर्भवेत् ॥ सुषुम्णायां सदैवायं वहेत्प्राणसमीरणः ॥ १६९ ॥

टीका–जब वायु निरोध होके सकलनाडीमें पूर्ण होजायगा तब कुण्डलिनी अपने बन्धको त्यागके ब्रह्मरन्ध्रके मुखको त्यागदेगी तब प्राणवायुका

प्रवाह सदैव सुषुम्णामें होजायगा ॥ १६९ ॥

मूलम्—मूलपद्मस्थिता योनिर्वामदक्षिण-कोणतः॥इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्णा यो-निमध्यगा ॥ १७० ॥ ब्रह्मरध्रन्तु तत्रैव सुषुम्णाधारमण्डले ॥ यो जानाति स मुक्तः स्यात्कर्मबन्धाद्विचक्षणः ॥१७१॥

टीका—मूलाधारपद्मस्थित जो योनि है उस योनिके वाम दक्षिण भागमें इडा और पिंगला नाडी स्थित हैं और दोनों नाडीके बीचमें अर्थात् योनिके मध्यमें सुषुम्णाकी स्थिति है उसी सुषुम्णाके आधारमंडलमें अर्थात् उसके मध्यमें ब्रह्मरन्ध्र है जो इसको जानता है सो बुद्धिमान् कर्मबन्धसे मुक्त है ॥ १७० ॥ १७१ ॥

मूलम्-ब्रह्मरन्ध्रमुखे तासां संगमः स्याद-संशयः॥ तस्मिन्स्नाने स्नातकानां मुक्तिः स्यादविरोधतः ॥ १७२ ॥

टीका—ब्रह्मरन्ध्रके मुखमें इन तीनों नाडीका नि-श्चय सम्बन्ध है इसमें स्नान करनेसे ज्ञानीलोगोंको मुक्तिलाभ होगी ॥ १७२ ॥

मूलम्—गंगायमुनयोर्मध्ये वहत्येषा सरस्व-ती ॥तासां तु संगमे स्नात्वा धन्यो याति परांगतिम् ॥ १७३ ॥

टीका– गंगा यमुनाके मध्यमें सरस्वतीका प्रवाह है यह त्रिवेणीसंगममें स्नान करनेसे मनुष्य परमगतिको प्राप्त होता है ॥ १७३ ॥

मूलम्-इडा गंगा पुरा प्रोक्ता पिंगला चार्कपुत्रिका ॥ मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां संगोऽतिदुर्लभः ॥ १७४ ॥

टीका–इडा गंगा है और पिंगला यमुना है और मध्यमें सुषुम्णा सरस्वती है यह त्रिवेणी संगम कहा गया है इसका स्नान अतिदुर्लभ है ॥ १७४ ॥

मूलम्–सितासिते संगमे यो मनसा स्नानमाचरेत् ॥ सर्वपापविनिर्मुक्तो याति ब्रह्मसनातनम् ॥ १७५ ॥

टीका–यह इडा और पिंगलाके संगममें मानसिक स्नान करनेसे साधक सर्व पापसे मुक्त होके सनातन ब्रह्ममें लय होजाताहै ॥ १७५ ॥

मूलम्–त्रिवेण्यां संगमे यो वै पितृकर्म समाचरेत् ॥ तारयित्वा पितॄन्सर्वान्स याति परमां गतिम् ॥ १७६ ॥

टीका–जो पुरुष इस त्रिवेणीसंगममें पितृकर्मका

अनुष्ठान करते हैं वह सर्व पितृकुलको तारके परम गतिको लाभ करते हैं ॥ १७६ ॥

मूलम्--नित्यं नैमित्तिकं काम्यं प्रत्यहं यः समाचरेत्॥मनसा चिन्तयित्वा तु सोऽक्षयं फलमाप्नुयात् ॥ १७७ ॥

टीका—उसी संगमस्थानमें जो साधक नित्य और नैमित्तिक और काम्य कर्मका अनुष्ठान सर्वदा मनसे चिन्तनपूर्वक करते हैं सो अक्षय फललाभ करते हैं ॥ १७७ ॥

मूलम्—सकृद्यः कुरुते स्नानं स्वर्गे सौख्यं भुनक्ति सः ॥ दग्ध्वा पापानशेषान्वै योगी शुद्धमतिः स्वयम्॥१७८॥अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोपि वा ॥स्नानाचरणमात्रेण पूतो भवति नान्यथा ॥ १७९ ॥

टीका—जो पवित्रमति योगी एकवार इस संगममें स्नान करते हैं वह सर्व पापको दग्धकरके स्वर्गका दिव्य भोग भोगते हैं और यह साधक पवित्र हो वा अपवित्र हो वा किसी अवस्थामें हो यह संगमके ध्यानरूपी स्नानमात्रसे निश्चय पवित्र होजायगा ॥ १७८॥१७९॥

मूलम्--मृत्युकाले प्लुतं देहं त्रिवेण्याःसलि-

ले यदा ॥ विचिन्त्य यस्त्यजेत्प्राणान्स तदा मोक्षमाप्नुयात् ॥ १८० ॥

टीका—मृत्युके समयमें साधक जो यह चिंतन करे कि हमारा शरीर त्रिवेणीके सलिलमें मग्न है तो उसी क्षण प्राणको त्यागके मोक्षगतिको प्राप्त होगा ॥१८०॥

मूलम्—नातः परतरं गुह्यं त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ गोप्तव्यं तत्प्रयत्नेन न व्याख्येयं कदाचन ॥ १८१ ॥

टीका—इस तीर्थसे परे त्रिभुवनमें दूसरा गुप्त तीर्थ नहीं है इसको यत्नसे गोपित रखना उचित है यह कदापि प्रकाश करनेके योग्य नहीं है ॥ १८१ ॥

मूलम्—ब्रह्मरन्ध्रे मनो दत्त्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति ॥ सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥ १८२ ॥

टीका—ब्रह्मरन्ध्रमें मन देकरके यदि क्षणार्धभी स्थिर रक्खे तो सर्वपापसे मुक्त होके साधक परमगतिको अर्थात् मोक्षको प्राप्त होजाय ॥ १८२ ॥

मूलम्—अस्मिन् लीनं मनो यस्य स योगी मयि लीयते॥ अणिमादिगुणान्भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः ॥ १८३ ॥

टीका-हे पार्वती ! इस ब्रह्मरन्ध्रमें जिसका मन लीन होय सो पुरुषोत्तम योगी अणिमादिगुणोंको भोगके इच्छापूर्वक हमारेमें लय होजायगा ॥ १८३ ॥

मूलम्-एतद्रन्ध्रध्यानमात्रेण मर्त्यः संसारे स्मिन्वल्लभो मे भवेत्सः ॥ पापान् जित्वा मुक्तिमार्गाधिकारी ज्ञानं दत्त्वा तारयत्यद्भुतं वै ॥ १८४ ॥

टीका-हे देवी ! इस ब्रह्मरन्ध्रके ध्यानमात्रसे यह संसारमें प्राणी हमको प्रिय होजाता है और पापराशिको जीतके यह साधक मुक्तिमार्गका अधिकारी होजाता है और अनेक मनुष्योंको ज्ञान उपदेश करके संसारसे परित्राण करदेता है ॥ १८४ ॥

मूलम्-चतुर्मुखादित्रिदशैरगम्यं योगिवल्लभम् ॥ प्रयत्नेन सुगोप्यं तद्ब्रह्मरन्ध्रं मयोदितम् ॥ १८५ ॥

टीका-हे देवी ! यह ब्रह्मरन्ध्रका ध्यान जो हमने कहा है इसको यत्न करके गोपित रखना उचित है यह ज्ञान योगीलोगोंको अतिप्रिय है इसका मार्ग ब्रह्मा आदि देवताओंकोभी अगम्य है ॥ १८५ ॥

मूलम्-पुरा मयोक्ता या योनिः सहस्रारे स-

रोरुहे ॥ तस्याऽधो वर्तते चन्द्रस्तद्ध्यानं क्रियते बुधैः ॥ १८६ ॥

टीका–हे देवि ! पहिले जो सहस्रदलकमलके मध्यमें योनिमण्डल हमने कहा है उस योनिके अधोभागमें चन्द्रमा स्थित हैं यह चन्द्रमण्डलका बुद्धिमान् लोग सर्वदा ध्यान करते हैं ॥ १८६ ॥

मूलम्–यस्य स्मरणमात्रेण योगीन्द्रोऽवनिमण्डले ॥ पूज्यो भवति देवानां सिद्धानां सम्मतो भवेत् ॥ १८७ ॥

टीका–इस चन्द्रमंडलके ध्यानमात्रसे योगीन्द्र संसारमें पूजनीय होजाता है और देवता और सिद्धलोगोंके तुल्य होजाता है ॥ १८७ ॥

मूलम्–शिरःकपालविवरे ध्यायेद्दुग्धमहोदधिम् ॥ तत्र स्थित्वा सहस्रारे पद्मे चन्द्रं विचिन्तयेत् ॥ १८८ ॥

टीका–शिरस्थित जो कपालविवर है उसमें क्षीर समुद्रका ध्यान करे उसी स्थानमें स्थितिपूर्वक सहस्रदलकमलमें चन्द्रमाका चिन्तन करे ॥ १८८ ॥

मूलम्–शिरःकपालविवरे द्विरष्टकलयायुतः ॥ पीयूषभानुहंसाख्यं भावयेत्तं निरं-

जनम् ॥ १८९ ॥ निरन्तरकृताभ्यासात्त्रि-
दिने पश्यति ध्रुवम्॥ दृष्टिमात्रेण पापौघं
दहत्येव स साधकः ॥ १९० ॥

टीका–वह शिरःस्थित कपालविवरमें सोलह कलासं-
युक्त अमृतकिरणसे युक्त हंससंज्ञक निरंजनका चिन्तन
करे निरन्तर तीन दिन यह अभ्यास करनेसे निरञ्जनका
साक्षात् साधकको अवश्य प्रकाश होगा सो साधकदृष्टिमा-
त्रसे सर्व पातकोंको दहन करडालेगा ॥ १८९ ॥१९०॥

मूलम्--अनागतञ्च स्फुरति चित्तशुद्धिर्भवे-
त्खलु ॥ सद्यः कृत्वापि दहति महापात-
कपञ्चकम् ॥ १९१ ॥

टीका–यह ध्यान करनेसे अनागतविषयकी स्फू-
र्ति होगी अर्थात् जो विषय कभी उत्पन्न नहीं भया है
उसकी स्फूर्ति होगी और चित्तकी शुद्धि होगी और सा-
धक ध्यानमात्रसे उसी क्षण पञ्चमहापातक दहन कर-
डालेगा ॥ १९१ ॥

मूलम्--आनुकूल्यं ग्रहा यान्ति सर्वे नश्य-
न्त्युपद्रवाः ॥ उपसर्गाः शमं यान्ति युद्धे
जयमवाप्नुयात् ॥ १९२ ॥ खेचरीभूचरी-
सिद्धिर्भवेत्क्षीरेन्दुदर्शनात् ॥ ध्यानादेव

भवेत्सर्वं नात्र कार्या विचारणा ॥ १९३ ॥ सन्तताभ्यासयोगेन सिद्धो भवति मानवः॥ सत्यं सत्यं पुनः सत्यं मम तुल्यो भवेद्ध्रुवम् ॥ योगशास्त्रं च परमं योगिनां सिद्धिदायकम् ॥ १९४ ॥

टीका–शिरःस्थचन्द्रमाका ध्यान करनेसे सर्व ग्रह अनुकूल होजाते हैं और समस्त उपद्रवका नाश होजाताहै और उपसर्ग प्रशमित होते हैं और युद्धमें जय लाभ होता है और खेचरी भूचरीकी सिद्धि प्राप्त होती है इसमें सन्देह नहीं है और निरन्तर यह योगाभ्यास करनेसे अवश्य साधक सिद्ध होजाता है हे पार्वती! हम सत्य सत्य वारंवार कहते हैं कि हमारे तुल्य होजायगा इसमें सन्देह नहीं है यह परमयोग योगीलोगोंके सिद्धिका दाता है ॥ १९२ ॥ १९३ ॥ १९४ ॥

अथ राजयोगकथनम् ।

मूलम्--अत ऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम् ॥ ब्रह्माण्डाख्यस्य देहस्य बाह्ये तिष्ठति मुक्तिदम् ॥१९५ ॥ कैलासो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति॥ अकुलाख्योऽविनाशी च क्षयवृद्धिविवर्जितः ॥ १९६ ॥

टीका-तालुके ऊपरभागमें दिव्य सहस्रदल कमल है यह कमल मुक्तिदाता ब्रह्माण्डरूपी शरीरके बाहर स्थित है अर्थात् शरीरके ऊपर अंतमें है इसी कमलको कैलास कहते हैं इसी स्थानमें महेश्वरकी स्थिति है यह ईश्वर निराकुल अविनाशी और क्षयवृद्धिरहित है ॥ १९५ ॥ १९६ ॥

मूलम्-स्थानस्यास्य ज्ञानमात्रेण नॄणां संसारेऽस्मिन्सम्भवो नैव भूयः ॥ भूतग्रामं सन्तताभ्यासयोगात्कर्तुं हर्तुं स्याच्च शक्तिः समग्रा ॥ १९७ ॥

टीका-इस स्थानके ज्ञानमात्रसे जीवका यह संसारमें फिर जन्म नहीं होता और सर्वदा यह ज्ञानयोग अभ्यास करनेसे जीवमात्रके स्थिति संहार करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है ॥ १९७ ॥

मूलम्-स्थाने परे हंसनिवासभूते कैलासनाम्नीह निविष्टचेताः॥ योगी हृतव्याधिरधःकृताधिर्वायुश्चिरं जीवति मृत्युमुक्तः१९८॥

टीका-यह कैलासनामक स्थानमें परमहंसका निवास है सो सहस्रदलकमलमें जो साधक मनको स्थिर करता है उसकी सकल व्याधि नाश होजाती है और मृत्युसे छूटके अमर होजाताहै ॥ १९८ ॥

मूलम्–चित्तवृत्तिर्यदा लीना कुलाख्ये परमेश्वरे॥तदा समाधिसाम्येन योगी निश्चलतां व्रजेत् ॥१९९॥

टीका–जब साधक यह कुलनामक ईश्वरमें चित्तको लीन करदेगा तब योगीकी समाधि निश्चल सम होजायगी ॥ १९९ ॥

मूलम्–निरन्तरकृते ध्याने जगद्विस्मरणं भवेत् ॥ तदा विचित्रसामर्थ्यं योगिनो भवति ध्रुवम् ॥ २०० ॥

टीका–यह निरन्तर ध्यान करनेसे जगत् विस्मरण होजायगा तब योगीको अवश्य विचित्र सामर्थ्य होजायगी ॥ २०० ॥

मूलम्–तस्माद्गलितपीयूषं पिबेद्योगी निरन्तरम्॥ मृत्योर्मृत्युं विधायाशु कुलं जित्वा सरोरुहे ॥ २०१ ॥ अत्र कुण्डलिनी शक्तिर्लयं याति कुलाभिधा ॥ तदा चतुर्विधा सृष्टिर्लीयते परमात्मनि ॥ २०२ ॥

टीका–सहस्रदलकमलसे जो अमृत स्रवता है उसको योगी निरन्तर पान करता है सो योगी अपने मृत्युका मृत्युविधानपूर्वक कुलसहित जय करके चिरं-

जीवी होजाता है और यही सहस्रदलकमलमें कुलरूपा कुण्डलिनी शक्तिका लय होजाता है तब यह चतुर्विध सृष्टिभी परमात्मामें लय होजाती है ॥ २०१ ॥ २०२ ॥

मूलम्--यज्ज्ञात्वा प्राप्य विषयं चित्तवृत्ति-विलीयते ॥ तस्मिन्परिश्रमं योगी करोति निरपेक्षकः ॥ २०३ ॥

टीका-यह सहस्रदलकमलके ज्ञान होनेसे अर्थात् इस विषयको प्राप्त करनेसे चित्तवृत्तिका लय होजाता है इस हेतुसे इसके ज्ञानार्थ निरपेक्षरूपसे योगी परिश्रम करे ॥ २०३ ॥

मूलम्-चित्तवृत्तिर्यदा लीना तस्मिन्योगी भवेद्ध्रुवम्॥ तदा विज्ञायतेऽखण्डज्ञानरूपो निरञ्जनः ॥ २०४ ॥

टीका-जब योगीकी चित्तवृत्ति इसमें निश्चय लय होजायगी तब अखण्ड ज्ञानरूपी निरञ्जनका प्रकाश होगा अर्थात् ज्ञान होगा ॥ २०४ ॥

मूलम्-ब्रह्मांडबाह्ये संचिंत्य स्वप्रतीकं यथोदितम् ॥ तमावेश्य महच्छून्यं चिन्तयेदविरोधतः ॥ २०५ ॥

टीका-ब्रह्माण्डके बाहर अर्थात् ब्रह्मांडरूप शरीरके

बाहर पूर्वोक्त स्वप्रतीकका चिन्तन करे उससे चित्तको स्थिर करके महत शून्यका शुद्धवृत्तिसे चिन्तन करे२०५

मूलम्--आद्यन्तमध्यशून्यं तत्कोटिसूर्यसमप्रभम् ॥ चन्द्रकोटिप्रतीकाशमभ्यस्य सिद्धिमाप्नुयात् ॥ २०६ ॥

टीका--आदि अंत मध्य शून्य यह सर्वत्र शून्यमें कोटि सूर्यके समान प्रभा और कोटिचन्द्रके समान शीतलप्रकाशके देखनेका अभ्यास करनेसे साधकको परमसिद्धि लाभ होगी ॥ २०६ ॥

मूलम्--एतद्ध्यानं सदा कुर्यादनालस्यं दिने दिने ॥ तस्य स्यात्सकला सिद्धिर्वत्सरान्नात्र संशयः ॥ २०७ ॥

टीका--जो पुरुष आलस्यको त्यागके सर्वदा प्रतिदिन इस शून्यका ध्यान करेगा उसको निश्चय एकवर्ष में सकल सिद्धि लाभ होगी ॥२०७ ॥

मूलम्--क्षणार्धं निश्चलं तत्र मनो यस्य भवेद्ध्रुवम्॥स एव योगी सद्भक्तः सर्वलोकेषु पूजितः ॥ तस्य कल्मषसङ्घातस्तत्क्षणादेव नश्यति ॥ २०८ ॥

टीका--जो साधक इस शून्यमें अर्धक्षणभी मनको

निश्चल स्थिर रक्खेगा वही निश्चय यथार्थ भक्त योगी है और वह सर्वलोकमें पूजित होता है और उसके पाप-का समूह उसी क्षण नष्ट होजाता है ॥ २०८ ॥

मूलम्-यं दृष्ट्वा न प्रवर्तंते मृत्युसंसारव-र्त्मनि॥अभ्यसेत्तं प्रयत्नेन स्वाधिष्ठानेन वर्त्मना ॥ २०९ ॥

टीका-इसके अवलोकन करनेसे मृत्युरूप जो सं-सारपथ है इसमें भ्रमण करना छूट जायगा अर्थात् जन्ममरणसे रहित होजायगा इसका अभ्यास स्वाधि-ष्ठानमार्गसे यत्न करके करना उचित है ॥ २०९ ॥

मूलम्-एतद्ध्यानस्य माहात्म्यं मया वक्तुं न शक्यते ॥ यः साधयति जानाति सोऽस्माकमपि सम्मतः ॥ २१० ॥

टीका-हे देवी ! इस शून्यके ध्यानके माहात्म्यको हम नहीं कहसकते अर्थात् बहुत विशेष है जो योगी इसका अभ्यास करते हैं सो जानते हैं और वह हमारे बराबर हैं ॥ २१० ॥

मूलम्-ध्यानादेव विजानाति विचित्रफल-सम्भवम् ॥ अणिमादिगुणोपेतो भवत्येव न संशयः ॥ २११ ॥

टीका–यह शून्यके ध्यानका विचित्र फल ध्यानसे ही जाना जाता है इसके प्रभावसे साधकको अणिमादि अष्टसिद्धि अवश्य प्राप्त होती है ॥ २११ ॥

मूलम्–राजयोगो मयाख्यातः सर्वतन्त्रेषु गोपितः ॥राजाधिराजयोगोऽयं कथयामि समासतः ॥ २१२ ॥

टीका–हे पार्वती ! यह राजयोग सर्वतन्त्रोंकरके गोपित है सो तुमसे हमने कहा है अब राजाधिराज योग विस्तारसहित कहते हैं श्रवण करो ॥ २१२ ॥

मूलम्–स्वस्तिकञ्चासनं कृत्वा सुमठे जन्तुवर्जिते ॥ गुरुं संपूज्य यत्नेन ध्यानमेतत्समाचरेत् ॥ २१३ ॥

टीका–साधक एकांतस्थान जनरहित सुन्दर मठमें यत्नपूर्वक गुरुकी पूजा करके स्वस्तिकासनसे स्थित होके यह ध्यान करे ॥ २१३ ॥

मूलम्–निरालम्बं भवेज्जीवं ज्ञात्वा वेदान्तयुक्तितः॥निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिच्चिन्तयेत्सुधीः ॥ २१४ ॥

टीका–बुद्धिमान् योगी वेदांतयुक्ति अनुसार जीवको और मनको निरालम्ब करके चिन्तन करे इसके सिवाय और कुछ चिन्तना न करे ॥ २१४ ॥

मूलम्-एतद्ध्यानान्महासिद्धिर्भवत्येव न संशयः ॥ वृत्तिहीनं मनः कृत्वा पूर्णरूपं स्वयं भवेत् ॥ २१५ ॥

टीका-इसप्रकार ध्यान करनेसे महासिद्धि उत्पन्न होगी इसमें संशय नहीं है ऐसेही मनको वृत्तिहीन करके साधक आपही पूर्ण आत्मस्वरूप होजायगा ॥ २१५ ॥

मूलम्-साधयेत्सततं यो वै सयोगी विगत-स्पृहः ॥ अहंनाम न कोप्यस्ति सर्वदा-त्मैव विद्यते ॥ २१६ ॥

टीका-जो योगी निरन्तर इसप्रकार साधन करे सो इच्छारहित है अर्थात् उसको किसी वस्तुकी इच्छा न होगी और उसके वदनसे अहंशब्द कभी उच्चारण न होगी वह सर्वदा सर्ववस्तुको आत्मस्वरूपही देखेगा ॥ २१६ ॥

मूलम्-को बन्धः कस्य वा मोक्ष एकं पश्ये-त्सदा हि सः ॥ २१७ ॥ एतत्करोति यो नित्यं स मुक्तो नात्र संशयः॥स एव योगी सद्भक्तः सर्वलोकेषु पूजितः ॥ २१८ ॥

टीका-कौन बन्ध है और क्या मोक्ष है सर्वदा एक परिपूर्ण आत्माको देखे जो योगी यह नित्य चिन्तन क-

रता है सो मुक्त है इसमें संशय नहीं है और निश्चय वही योगी सद्भक्त है और सर्वलोकमें पूजनीय है २१७॥२१८॥

मूलम्-अहमस्मीति यन्मत्वा जीवात्मपरमात्मनोः॥अहं त्वमेतदुभयं त्यक्त्वाखण्डं विचिन्तयेत् ॥२१९॥ अध्यारोपापवादाभ्यां यत्र सर्वं विलीयते ॥ तद्बीजमाश्रयेद्योगी सर्वसंगविवर्जितः ॥ २२० ॥

टीका-योगी अपनेको और जीवात्मा और परमात्माको तुल्य माने अर्थात् भेदरहित होजाय और हम और तुम यह दोनों भावको त्यागके एक अखण्ड ब्रह्मका चिन्तन करे अध्यारोपअपवादद्वारा जिसमें सर्व वस्तुका लय होजाता है योगी सर्वसङ्गसे रहित होके उसी बीजके आश्रय होजाय अर्थात् चित्तवृत्तिको आत्मामें लय करदे ॥ २१९ ॥ २२० ॥

मूलम्-अपरोक्षं चिदानन्दं पूर्णं त्यक्त्वा भ्रमाकुलाः ॥ परोक्षं चापरोक्षं च कृत्वा मूढा भ्रमन्ति वै ॥ २२१ ॥

टीका-मूढबुद्धिके मनुष्य अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष परिपूर्णब्रह्मको छोड करके भ्रममें पडके परोक्ष और अपरोक्षका रात्रि दिवस निर्णय करते फिरते हैं ॥ २२१ ॥

मूलम्–चराचरमिदं विश्वं परोक्षं यः करोति च ॥ अपरोक्षं परं ब्रह्म त्यक्तं तस्मिन् प्रलीयते ॥ २२२ ॥

टीका–जो मनुष्य यह चराचरसंसारको शास्त्रसे विवाद करके परोक्ष करते हैं और अपरोक्ष परब्रह्मको त्यागदेते हैं अर्थात् ब्रह्मभी प्राप्त नहीं होता वह अज्ञानी संसारमें लय होते हैं अर्थात् उनका मोक्ष नहीं होता है ॥ २२२ ॥

मूलम्–ज्ञानकारणमज्ञानं यथा नोत्पद्यते भृशम् ॥ अभ्यासं कुरुते योगी सदा सङ्गविवर्जितम् ॥ २२३ ॥

टीका–जिससे ज्ञान उत्पन्न होता है और अज्ञानका नाश होता है इसी योगअभ्यासको योगी सर्वदा सङ्गरहित होके अभ्यास करे ॥ २२३ ॥

मूलम्–सर्वेन्द्रियाणि संयम्य विषयेभ्यो विचक्षणः॥ विषयेभ्यः सुषुप्त्यैव तिष्ठेत्संगविवर्जितः ॥ २२४ ॥

टीका–बुद्धिमान् योगी विषयोंसे इंद्रियोंको रोकके सङ्गरहित होके विषयके त्यागमें सुषुप्तिके समान स्थिर रहते हैं ॥ २२४ ॥

मूलम्–एवमभ्यासतो नित्यं स्वप्रकाशं प्रकाशते ॥ श्रोतुं बुद्धिसमर्थार्थं निवर्तन्ते गुरोर्गिरः ॥ तदभ्यासवशादेकं स्वतो ज्ञानं प्रवर्तते ॥ २२५ ॥

टीका–इसी प्रकार नित्य अभ्यास करनेसे साधकको आपही ज्ञानका प्रकाश होगा तब गुरुके वचनकी निवृत्ति होगी अर्थात् गुरुके उपदेशका अंत हो जायगा जब इतरवाक्य श्रवण करनेकी इच्छा निवृत्त होजायगी तब यह योगअभ्यासद्वारा आपही एक अद्वैतज्ञानमें प्रवृत्ति होगी ॥ २२५ ॥

मूलम्–यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह॥ साधनादमलं ज्ञानं स्वयं स्फुरति तद्ध्रुवम् ॥ २२६ ॥

टीका–यह ब्रह्म किसी प्रकार प्राप्त नहीं होता मन वाक्यकाभी गमन नहीं है परन्तु यह योगसाधनसे आपही निर्मल ज्ञान प्रकाश होता है ॥ २२६ ॥

मूलम्–हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठः ॥ तस्मात्प्रवर्तते योगी हठे सद्गुरुमार्गतः ॥ २२७ ॥

टीका—हठयोगके विना राजयोग और राजयोगके विना हठयोग सिद्ध नहीं होता इस हेतुसे योगीको उचित है कि, योगवेत्ता सद्गुरुद्वारा हठयोगमें प्रवृत्त हो ॥ २२७ ॥

मूलम्—स्थिते देहे जीवात च योगं न श्रियते भृशम् ॥ इन्द्रियार्थोपभोगेषु स जीवति न संशयः ॥ २२८ ॥

टीका—जो मनुष्य इस शरीरसे योगका आसरा नहीं ग्रहण करते हैं वह केवल इंद्रियोंके भोग भोगनेके अर्थ संसारमें जीते हैं इसमें संशय नहीं है ॥ २२८ ॥

मूलम्—अभ्यासपाकपर्यन्तं मितान्नं स्मरणं भवेत् ॥ अन्यथा साधनं धीमान्कर्तुं पारयतीह न ॥ २२९ ॥

टीका—बुद्धिमान् साधक योगी अभ्यासके आरंभसे अभ्याससिद्धिपर्यंत मिताहारी रहे अर्थात् प्रमाणका भोजन करे अन्यथा अर्थात् अप्रमाण भोजन करनेसे योग अभ्यासके पार न होगा अर्थात सिद्ध न होगा ॥ २२९ ॥

मूलम्—अतीवसाधुसंलापं साधुसम्मतिबुद्धिमान्॥करोति पिण्डरक्षार्थं बह्वालाप-

विवर्जितः ॥२३०॥ त्याज्यते त्यज्यते स-
ङ्गं सर्वथा त्यज्यते भृशम्॥अन्यथा न ल-
भेन्मुक्तिं सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥२३१॥

टीका–बुद्धिमान् साधक सभामें साधुके समान थोडा और प्रमाण वाक्य बोले और शरीरके रक्षार्थ थोडा भोजन करे और संगको सर्व प्रकारसे तजदे कदापि किसीके संगमें लिप्त न होय हे पार्वति ! और दूसरे प्रकार कदापि मुक्ति नहीं पावेगा यह हम सर्वथा सत्य कहते हैं इसमें संशय नहीं है ॥२३० ॥ २३१ ॥

मूलम्–गुप्त्यैव क्रियतेऽभ्यासः संगं त्यक्त्वा
तदन्तरे ॥ व्यवहाराय कर्तव्यो बाह्यसं-
गो न रागतः ॥ २३२ ॥ स्वे स्वे कर्माणि
वर्तन्ते सर्वे ते कर्मसम्भवाः॥निमित्तमात्रं
करणे न दोषोस्ति कदाचन ॥ २३३ ॥

टीका–साधक संगरहित होके एकान्त स्थानमें योगसाधन करे यदि संसारी मनुष्योंसे व्यवहार वर्तनेकी इच्छा करे तो अन्तर प्रीतिरहित होके बाह्यसंग करे और अपना आश्रम धर्म कर्मभी इसी प्रकार करता रहै इस हेतुसे कि, ज्ञानादि यावत् कर्म हैं सब कर्मानुसार होते हैं फलइच्छारहित होके केवल निमित्त

मात्र कर्म करनेसे कदापि दोष नहीं है ॥२३२॥२३३॥

मूलम्—एवं निश्चित्य सुधिया गृहस्थोपि यदाचरेत् ॥ तदा सिद्धिमवाप्नोति नात्र कार्या विचारणा ॥ २३४ ॥

टीका—इसी प्रकार निश्चयबुद्धिसे यदि गृहस्थभी योगअभ्यास करे तो वह अवश्य सिद्धि लाभ करेगा इसमें संशय नहीं है ॥ २३४ ॥

मूलम्-पापपुण्यविनिर्मुक्तः परित्यक्ताङ्गसाधकः ॥यो भवेत्स विमुक्तः स्याद्गृहे तिष्ठन्सदा गृही ॥ २३५ ॥ न पापपुण्यैर्लिप्येत योगयुक्तो यदा गृही ॥ कुर्वन्नपि तदा पापान्स्वकार्यं लोकसंग्रहे ॥२३६ ॥

टीका—जो साधक पाप पुण्यसे निर्लिप्त इन्द्रियसंगत्यागी है सोई गृही साधक गृहमें रहके मुक्त है योगयुक्त गृही पाप पुण्यमें बद्ध नहीं होता यदि संसारके संग्रहमें पापभी करेगा तो वह पाप उसको स्पर्श न करेगा ॥ २३५ ॥ २३६ ॥

मूलम्—अधुना संप्रवक्ष्यामि मन्त्रसाधनमुत्तमम् ॥ ऐहिकामुष्मिकसुखं येन स्यादविरोधतः ॥ २३७ ॥

टीका-हे देवि ! अब उत्तम मन्त्रसाधन हम कहते हैं जिससे इस लोक और परलोक दोनों स्थानमें साधक आनन्दपूर्वक सुख भोगेगा ॥ २३७ ॥

मूलम्-यस्मिन्मन्त्रे वरे ज्ञाते योगसिद्धिर्भवेत्खलु ॥ योगेन साधकेन्द्रस्य सर्वैश्वर्यसुखप्रदा ॥ २३८ ॥

टीका-यह उत्तम मन्त्रके ज्ञान होनेसे निश्चय योग सिद्ध होता है साधकेन्द्रको यह योग सर्व ऐश्वर्य सुखका दाता है ॥ २३८ ॥

मूलम्-मूलाधारेऽस्ति यत्पद्मं चतुर्दलसमन्वितम् ॥ तन्मध्ये वाग्भवं बीजं विस्फुरन्तं तडित्प्रभम् ॥२३९॥ हृदये कामबीजं तु बन्धूककुसुमप्रभम् ॥ आज्ञारविन्दे शक्त्याख्यं चन्द्रकोटिसमप्रभम्॥२४०॥ बीजत्रयमिदं गोप्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥ एतन्मन्त्रत्रयं योगी साधयेत्सिद्धिसाधकः ॥ २४१ ॥

टीका-जो मूलाधार चतुर्दलसंयुक्त पद्म है उसमें विद्युतके समान प्रभायुक्त वाग्बीजकी स्थिति है और हृदयकमलमें बन्धूकपुष्पके समान प्रभायुक्त कामबी-

जकी स्थिति है और आज्ञाकमलमें कोटिचन्द्रके समान प्रभायुक्त शक्तिबीजकी स्थिति है यह बीजत्रय परम गोपनीय भोग और मुक्तिके दाता हैं यह तीनों मन्त्रका साधक योगी अवश्यसाधन करे॥२३९॥२४०॥२४१॥

मूलम्--एतन्मन्त्रं गुरोर्लब्ध्वा न द्रुतं न विलम्बितम्॥ अक्षराक्षरसन्धानं निःसन्दिग्धमना जपेत् ॥ २४२ ॥

टीका—साधक गुरुसे यह मन्त्रका उपदेश लेके धीरे धीरे अक्षर अक्षर स्पष्ट उच्चारणपूर्वक स्थिर मन होके जप करे ॥ २४२ ॥

मूलम्--तद्गतश्चैकचित्तश्च शास्त्रोक्तविधिना सुधीः॥ देव्यास्तु पुरतो लक्षं हुत्वा लक्षत्रयं जपेत् ॥ २४३ ॥

टीका—बुद्धिमान् साधक एकाग्रचित्तसे शास्त्रविधिअनुसार देवीके समीपमें एक लक्ष होम करके तीनलक्ष जप करे ॥ २४३ ॥

मूलम्--करवीरप्रसूनन्तु गुडक्षीराज्यसंयुतम् ॥ कुण्डे योन्याकृते धीमाञ्जपान्ते जुहुयात्सुधीः ॥ २४४ ॥

टीका—बुद्धिमान् साधक जपके पीछे योन्याकार-

कुण्ड बनायके कनेरपुष्पके साथ गुड और दूध और घृत मिलायके होम करे ॥ २४४ ॥

मूलम्–अनुष्ठाने कृते धीमान्पूर्वसेवा कृता भवेत् ॥ ततो ददाति कामान्वै देवी त्रिपुरभैरवी ॥ २४५ ॥

टीका–बुद्धिमान् साधक इसीप्रकार अनुष्ठानपूर्वक आराधना करके त्रिपुरभैरवी देवीको सन्तुष्ट करे तो उसको इच्छापूर्वक देवी फल देती है ॥ २४५ ॥

मूलम्–गुरुं सन्तोष्य विधिवल्लब्ध्वा मन्त्रवरोत्तमम् ॥ अनेन विधिना युक्तो मन्दभाग्योऽपि सिद्ध्यति ॥ २४६ ॥

टीका–साधक विधिपूर्वक गुरुको संतोष करके यह उत्तम मन्त्र ग्रहण करे इस विधानसंयुक्त ग्रहण करनेसे मन्दभाग्य साधकभी सिद्धि लाभ करते हैं ॥२४६॥

मूलम्–लक्षमेकं जपेद्यस्तु साधको विजितेन्द्रियः ॥ २४७ ॥ दर्शनात्तस्य क्षुभ्यन्ते योषितो मदनातुराः ॥ पतन्ति साधकस्याग्रे निर्लज्जा भयवर्जिताः ॥ २४८ ॥

टीका–योगी इन्द्रियनिग्रहपूर्वक एक लक्ष जप करे तो उसके दर्शनमात्रसे कामातुर स्त्रियें मोहित

होयके साधकके आगे निर्लज्ज और भयरहित होके गिरती हैं ॥ २४७ ॥ २४८ ॥

मूलम्--जप्तेन च द्विलक्षेण ये यस्मिन्विषये स्थिताः॥आगच्छन्ति यथातीर्थं विमुक्त-कुलविग्रहाः ॥ ददाति तस्य सर्वस्वं तस्यै-व च वशे स्थिताः ॥ २४९ ॥

टीका-यह मन्त्र दो लक्ष जप करनेसे कामिनी स्त्रियें साधकके समीप इसप्रकार आतीहैं कि, जैसे कुलीना तीर्थोंमें भय लज्जा रहित होके जाती हैं और साधकके वशमें होके अपना सर्वस्व उसको देती हैं ॥ २४९ ॥

मूलम्-त्रिभिर्लक्षैस्तथाजप्तैर्मण्डलीका स-मण्डलाः ॥ २५० ॥ वशमायान्ति ते सर्वे नात्र कार्या विचारणा॥षड्भिर्लक्षैर्महीपालं सभृत्यबलवाहनम् ॥ २५१ ॥

टीका-तीन लक्ष जप करनेसे मंडलसहित मंडल-पती राजा साधकके वशमें होजाँयगे इसमें संशय नहीं है और छः लक्ष जप करनेसे बल वाहन संयुक्त राजा साधकके वश होजायगा ॥ २५० ॥ २५१ ॥

मूलम्-लक्षैर्द्वादशभिर्जप्तैर्यक्षरक्षोरगेश्व-

राः ॥ वशमायान्ति ते सर्व आज्ञां कुर्वन्ति नित्यशः ॥ २५२ ॥

टीका—यह मन्त्र बारह लक्ष जप करनेसे यक्ष और राक्षस और पन्नग यह सब वशमें होके साधककी नित्य आज्ञा पालन करतेहैं ॥ २५२ ॥

मूलम्—त्रिपञ्चलक्षजप्तैस्तु साधकेन्द्रस्य धीमतः ॥ सिद्धविद्याधराश्चैव गन्धर्वाप्सरसांगणाः ॥ २५३ ॥ वशमायान्ति ते सर्वे नात्र कार्या विचारणा ॥ हठाच्छ्रवणविज्ञानं सर्वज्ञत्वं प्रजायते ॥ २५४ ॥

टीका—पन्द्रहलक्ष जप करनेसे सिद्ध और विद्याधर और गंधर्व और अप्सरा यह सब बुद्धिमान् साधकके वशमें होजातेहैं इसमें संदेह नहीं है और साधकको हठसे विशेष श्रवणशक्ति होगी और सर्ववस्तुका ज्ञान उत्पन्न होगा ॥ २५३ ॥ २५४ ॥

मूलम्—तथाष्टादशभिर्लक्षैर्देहेनानेन साधकः ॥ उत्तिष्ठेन्मेदिनीं त्यक्त्वा दिव्यदेहस्तु जायते ॥ भ्रमते स्वेच्छया लोके छिद्रां पश्यति मेदिनीम् ॥ २५५ ॥

टीका—जो साधक अठारह लक्ष जप करेगा वह भू-

मिको त्यागके दिव्य देह होके आकाशमार्गसे संसारमें इच्छापूर्वक भ्रमण करेगा और पृथ्वीके छिद्रोंको देखेगा अर्थात् पृथ्वीमें प्रवेश करनेके मार्ग देखेगा ॥२५५॥

मूलम्–अष्टाविंशतिभिर्लक्षैर्विद्याधरपतिर्भवेत् ॥ साधकस्तु भवेद्धीमान्कामरूपो महाबलः ॥ २५६ ॥ त्रिंशल्लक्षैस्तथाजप्तैर्ब्रह्मविष्णुसमो भवेत् ॥ रुद्रत्वं षष्टिभिर्लक्षैरमरत्वमशीतिभिः ॥ २५७॥ कोट्यैकया महायोगी लीयते परमे पदे ॥ साधकस्तु भवद्योगी त्रैलोक्ये सोऽतिदुर्लभः ॥ २५८ ॥

टीका–जो बुद्धिमान् साधक अट्ठाईस लक्ष जप करेगा वह महाबल कामरूपी और विद्याधरपति होजायगा और तीस लक्ष जप करनेसे साधक ब्रह्मा विष्णुके समान होजायगा और साठ लक्ष जप करनेसे रुद्रके समान होजायगा और अस्सी लक्ष जप करनेसे साधक सर्व भूतोंको प्रिय देव होजायगा और एककोटि जप करनेसे साधक महायोगी होयके परमपदमें लीन होजाताहै हे पार्वति ! इसप्रकार योगी त्रिभुवनमें दुर्लभहै॥२५६।२५७।२५८॥

मूलम्–त्रिपुरे त्रिपुरन्त्वेकं शिवं परमकारणम् ॥ २५९ ॥ अक्षयं तत्पदं शान्तमप्र-

मेयमनामयम् ॥ लभतेऽसौ नसन्देहोधी-
मान्सर्वमभीप्सितम् ॥ २६० ॥

टीका-हे पार्वति ! त्रिपुरस्थानमें एक शिवही परम का-
रण स्वरूप हैं उनका चरणकमल अक्षय शान्त अप्रमेय
अर्थात् प्रमाणरहित अनामय अर्थात् रोगरहित है उनका
पद बुद्धिमान् योगीलोगही इच्छापूर्वक लाभ करहते हैं
इसमें संदेह नहीं है ॥ २५९ ॥ २६० ॥

मूलम्-शिवविद्या महाविद्या गुप्ता चाग्रे महे-
श्वरी ॥ मद्भाषितमिदं शास्त्रं गोपनीयमतो
बुधैः ॥ २६१ ॥

टीका-हे महादेवि ! यह हमारी कहीहुई महाविद्या-
कोही शिवविद्या कहते हैं यह विद्या सर्वप्रकार गोपनीय
है इस योगशास्त्रको बुद्धिमान् लोग कदापि प्रकाश
नहीं करते हैं ॥ २६१ ॥

मूलम्-हठविद्या परंगोप्या योगिना सिद्धि-
मिच्छता ॥ भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या
च प्रकाशिता ॥ २६२ ॥

टीका-सिद्धिकांक्षी योगीलोग इस हठविद्याको
अतिगोपित रक्खें यह गोप्य रखनेसे वीर्यवती रहतीहै
और प्रकाश करनेसे निर्वीर्या होजातीहै ॥ २६२ ॥

मूलम्—य इदं पठते नित्यमाद्योपान्तं विचक्षणः ॥ योगसिद्धिर्भवेत्तस्य क्रमेणैव न संशयः ॥ स मोक्षं लभते धीमान्य इदं नित्यमर्चयेत् ॥ २६३ ॥

टीका—जो विद्वान् यह शिवसंहिताका नित्य आद्योपान्त पाठ करेगा उसको क्रमसे अवश्य योगसिद्धि होगी और जो बुद्धिमान् इस ग्रन्थका नित्य पूजन करेगा उसको मुक्ति लाभ होगी ॥ २६३ ॥

मूलम्—मोक्षार्थिभ्यश्च सर्वेभ्यः साधुभ्यः श्रावयेदपि॥२६४ ॥क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथम्भवेत् ॥ तस्मात्क्रिया विधानेन कर्तव्या योगिपुंगवैः ॥ २६५ ॥ यदृच्छालाभसन्तुष्टः सन्त्यक्तान्तरसंगकः॥ गृहस्थश्चाप्यनासक्तः स मुक्तो योगसाधनात् ॥ २६६ ॥

टीका—मोक्षार्थी और सर्व साधु मनुष्य उनको यह शिवसंहिताग्रंथ सुनाना. जो क्रियासे युक्त होगा उसको सिद्धि प्राप्त होगी क्रियाहीन मनुष्यको क्या होसक्ताहै अर्थात् सिद्धि लाभ नहीं होसकती विधानपूर्वक क्रियाका अनुष्ठान करे तो इच्छापूर्वक लाभसे सन्तुष्ट होगा और

जो गृहस्थ होगा और इन्द्रियोंमें आसक्त न होगा सो मनुष्य योगसाधनसे मुक्त होगा ॥ २६४ ॥ २६५ ॥ २६६ ॥

मूलम्–गृहस्थानां भवेत्सिद्धिरीश्वराणां जपेन वै ॥ योगक्रियाभियुक्तानां तस्मात्संयतते गृही ॥ २६७ ॥

टीका–योगक्रियावान् गृहस्थ लोगोंको जप करनेसे सिद्धि प्राप्तहोगी इस हेतुसे योगसाधनमें गृहस्थ मनुष्यको यत्न करना उचित है ॥ २६७ ॥

मूलम्–गेहे स्थित्वा पुत्रदारादिपूर्णः सङ्गं त्यक्त्वा चान्तरे योगमार्गे॥ सिद्धेश्चिह्नं वीक्ष्य पश्चाद् गृहस्थः क्रीडेत्सो वै सम्मतं साधयित्वा ॥ २६८ ॥

टीका–जो गृहस्थ गृहमें रहके स्त्रीपुत्रादिसे पूर्ण होके अंतरीय सबसे त्यागपूर्वक योगसाधनसे प्रवृत्त होय सो सिद्धिचिह्न अवलोकनपूर्वक साधना करके सर्वदा आनन्दमें क्रीडा करेगा ॥ २६८ ॥

इति श्रीशिवसंहितायां हरगौरीसंवादे योगशास्त्रे पंचमः पटलः समाप्तः ॥ ५ ॥ शुभम् ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

पुस्तक मिलनेका ठिकाना–

खेमराज, श्रीकृष्णदास,

"श्रीवेङ्कटेश्वर" छापाखाना, खेतवाड़ी–बंबई.

श्रीः ।

उमामहेश्वरमाहात्म्यम् ।

उमा भगवतीयेयं ब्रह्मविद्याति कीर्तिता ।
रूपयौवनसम्पन्ना वधूर्भूत्वात्र सा स्थि-
ता ॥१॥ नानाजातिवधूनां हि बिंबभूताम-
हेश्वरी ॥२॥ यस्याः प्रसादतः सर्वः स्वर्गं
मोक्षं च गच्छति॥इह लोके सुखं तद्वज्जं-
तुर्देवादिकोपि वा ॥ ३ ॥ ब्रह्मा विष्णुस्त-
था रुद्रः शक्राद्याःसर्वदेवताः ॥ कटाक्षपा-
ततो यस्या भवंति न भवंति च॥४॥पीनो-
न्नतस्तनी प्रौढजघना च कृशोदरी॥चंद्रा-
नना मीननेत्रा केशभ्रमरमंडिता ॥ ५ ॥
सर्वांगसुंदरी देवी धैर्यपुंजविनाशिनी ॥
कांचीगुणेन चित्रेण वलयांगदनूपुरैः॥६॥
हारैर्मुक्तादिसंजातैः कंठाद्याभरणैरपि ॥
मुकुटेनापि चित्रेण कुंडलाद्यैः सहस्र-
शः ॥ ७ ॥विराजिता ह्यनौपम्यरूपा भूष-
णभूषणा ॥ जननी सर्वजगतो ह्यष्टव-
र्षा चिरंतनी ॥८॥ तया समेतं पुरुषं तत्प-

तिं तद्गुणाधिकम् ॥ ब्रह्मादीनां प्रभुं नाना-
सर्वभूषणभूषितम् ॥ ९ ॥ द्वीपिचर्मावृतं
शश्वदथवापि दिगंबरम्॥भस्मोद्धूलितस-
र्वांगं ब्रह्ममूर्धौघमालिनम् ॥१०॥तथैव चं-
द्रखंडेन विराजितजटातटम् ॥ गंगाधरं
स्मरमुखं गोक्षीरधवलोज्ज्वलम् ॥ ११ ॥
कंदर्पकोटिसदृशं सूर्यकोटिसमप्रभम् ॥
सृष्टिस्थित्यंतकरणं सृष्टिस्थित्यंतवर्जि-
तम् ॥ १२ ॥ पूर्णेन्दुवदनांभोजं सूर्यसो-
माग्निवर्चसम् ॥सर्वांगसुंदरं कंबुग्रीवं चा-
तिमनोहरम् ॥ १३ ॥ आजानुबाहुं पुरुषं
नागयज्ञोपवीतिनम् ॥ पद्मासनसमासी-
नं नासाग्रन्यस्तलोचनम् ॥ १४ ॥ वाम-
देवं महादेवं गुरूणां प्रथमं गुरुम् ॥ स्वयं-
ज्योतिःस्वरूपं तमानंदात्मानमद्वयम्
॥ १५ ॥ यतो हिरण्यगर्भोयं विराजो
जनकः पुमान् ॥ जातः समस्तदेवानाम-
न्येषां च नियामकः ॥१६॥ नीलकंठम-
मुं देवं विश्वेशं पापनाशनम् ॥ हृदि पद्मे

थवा सूर्ये वह्नौ वा चंद्रमंडले ॥१७॥ कैलासादिगिरौ वापि चिंतयेद्योगमाश्रितः ॥ एवं चिंतयतस्तस्य योगिनो मानसं स्थिरम्॥१८॥ यदा जातं तदा सर्वप्रपंचरहितं शिवम् ॥ प्रपंचकरणं देवमवाङ्मनसगोचरम् ॥१९॥ प्रयाति स्वात्मना योगी पुरुषं दिव्यमद्भुतम्॥तमसः स्वात्ममोहस्य परं तेन विवर्जितम्॥२०॥साक्षिणं सर्वबुद्धीनां बुद्ध्यादिपरिवर्जितम् ॥ उमासहायो भगवान्सगुणः परिकीर्तितः॥२१॥निर्गुणश्च स एवायं न यतोन्योस्ति कश्चन॥ ब्रह्मा विष्णुस्तथा रुद्रः शक्रो देवसमन्वितः ॥ २२॥ अग्निः सूर्यस्तथा चंद्रः कालः सृष्ट्यादिकारणम्॥ एकादशेंद्रियाण्यंतःकरणं च्च चतुर्विधम्॥२३॥प्राणाः पंचमहाभूतपंचकेन समन्विताः ॥ दिशश्च प्रदिशस्तद्वदुपरिष्टादधोपि च ॥२४ ॥स्वेदजादीनि भूतानि ब्रह्मांडं च विराड्वपुः॥

विराड्हिरण्यगर्भश्च जीव ईश्वर एव च ॥२५॥ मायातत्कार्यमखिलं वर्तते सदसच्च यत् ॥ यच्च भूतं यच्च भव्यं तत्सर्वं स महेश्वरः ॥ २६ ॥

इति श्रीमदुमामहेश्वरमाहात्म्यं संपूर्णम् ।

पुस्तक मिलनेका ठिकाना.

खेमराज श्रीकृष्णदास,

श्रीवेङ्कटेश्वर छापखाना (मुंबई.)

गीतापंचरत्न नवरत्न पाकिटबुक ०–७
गीता गुटका पाकिट बुक ०–६
अष्टावक्रगीता अत्युत्तम सान्वय भाषाटीका... १–०
शिवगीता भाषाटीकासहित ०–१२
गणेशगीता भाषाटीकासहित ०–६
गीतापंचदश भाषाटीका [काश्यपगीता, शौनकगीता, अष्टावक्रगीता, नहुषगीता, सरस्वतीगीता, युधिष्ठिरगीता, बकगीता, धर्मव्याधगीता, श्रीकृष्णगीतादि] ०–१२
पाण्डवगीता भाषाटीका सह ०–३
तथा मूल ४ रत्न बड़ा अक्षर ०–२
देवीगीता भाषाटीका ०–८
अपरोक्षानुभूति संस्कृतटीका भाषाटीका सहित ०–१०
आत्मबोध भाषाटीका ०–३
तत्त्वबोध भाषाटीका ०–२
वेदांतग्रंथपंचकम् (वाक्यप्रदीपः, वाक्यसुधारसः, हस्तामलकः, निर्वाणपंचकं, मनीषापंचकं स० ०–८
वेदस्तुति भाषाटीका सह ०–८
गीता रामानुजभाष्य २–०
भगवद्गीता भावप्रकाशटीकायां ३–०
वैराग्यभास्कर भाषाटीका ०–८
सिद्धांतचंद्रिका सटीक (वेदांत) ०–८
द्वादशमहावाक्यविवरण ०–४
वेदांतरामायण भाषाटीका सह १–८
वेदान्तसंज्ञा भाषाटीका ०–८
प्रश्नोत्तरमुक्तावली भाषाटीका (वेदान्त) ... ०–३

॥ श्रीः ॥

श्रीमते रामानुजाय नमः ।

श्रीमहान्तयुगलदासनिर्मित-

योगमार्गप्रकाशिका

अर्थात्

योगरहस्यग्रन्थ ।

भाषाटीका सहित

खेमराज श्रीकृष्णदास,

"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेस-मुंबई.

भूमिका ।

इस संसारविषे मोक्षके हेतु अनेक उपाय हैं परंच समस्त साधनाओंका मूल योगाभ्यासहै क्योंकि विना चित्तकी एकाग्रता हुये कोई साधन ठीक नहीं सो चित्तकी एकाग्रता विना योगाभ्यासके नहीं होवैहै सो वार्त्ता गीताजीमें कहीहै "चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्" अर्थ–हे श्रीकृष्ण हीति निश्चय करके मन अत्यंत चंचल वा बलवान है तिस कारण मनके निरोध करनेमें केवल एक योगही श्रेष्ठतर उपाय है अन्य नहीं सो वार्ता योगसूत्रमें कथन करी है"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होना यही मुख्य योगका लक्षण तथा श्रीकृष्ण भगवान्ने गीतामें अर्जुनके प्रति कहा है"तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ॥ कर्मिभ्यश्चाधिको योगीतस्माद्योगी भवार्जुन"अर्थ–हे अर्जुन तपस्वीते वा ज्ञानीते वा कर्मीते योगाभ्यासी सबसे ही श्रेष्ठ है ताते तू योग कर, योगके सदृश अन्य नहीं । इति इससे योग सदैव सेवन करने योग्य है ब्रह्मा विष्णु महेशादिक जो बड़े बड़े महापुरुष हैं वा अन्य ऋषि लोग सो सब केवल योगके द्वारा सिद्धिकूं प्राप्त हुये हैं सो वार्ता वेद शास्त्र वा पुराणोंमें प्रसिद्ध है हम कहांतक वर्णन करैं । अब आजकल प्रायः मनुष्य केवल नाकपर हाथ छूदेनेकोही योग वा प्राणायाम समझते हैं इससे जप तप आसन प्राणायाम सिद्धि कहांसे प्राप्ति हो और ब्राह्मणत्व क्षत्रियत्व होना तो बहुतही मुशकिल है इसी हेतु नास्तिक लोग असिद्ध तथा पोप ऐसे निंद्य वचन कहते हैं यदि जाने तो प्रत्यक्ष सिद्धि द्वारा उनके मुखकूं तोड आप अपनेकूं कृतार्थ समझे और योगके ग्रंथ तो बहुत हैं परंच उन सबोंका सार सार श्रीमन्महाराजाधिराज श्रीसवाई महेंद्रप्रतापसिंह बहादुर टीकम गढ़की आज्ञानुसार श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ नृहसिंहदासजी वा श्रीमन्महंत वेदांतवर्य्य श्री १०८ स्वामी अयोध्यादासजीकी शिक्षानुसार योगक्रिया सीखकर यह योग ग्रंथ श्रीमत्परमहंस श्रीमहान् जुगलदासजीने बनाकर प्रकाशित किया भाषानुवाद सहित जो इसमें भूल वा अशुद्धि हो सो सब सज्जन जनोंकूं निवेदन है कि कृपाकर सुधार देवैं । आपका–कृपापात्र

श्रीमत्परमहंस श्रीयुत जुगलदास स्थान टीकमगढ़जुगलनिवास बाग मंदिर.

॥ श्रीः ॥

श्रीमते रामानुजाय नमः ।

योगमार्गप्रकाशिका

अर्थात्

योगरहस्य ग्रन्थ ।

भाषाटीकासमेत ।

ॐतत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

सच्चिदानंदरूपाय रामायाक्लिष्टकर्मणे ॥
संसारध्वांतनाशाय राघवाय नमोनमः ॥१॥

ॐ तत् कहैं तौन सत् कहैं सो जो अविनाशी ब्रह्म है ताके अर्थ नमस्कार करैंहै सच्चिदेति । सत् चित् आनंद सत् कहैं जो तीनकालविषे एकरस वर्त्तमान है चित् कहैं जो साक्षात् ज्ञानस्वरूप आनंद जो सुखस्वरूप एवंभूत जो अक्लिष्टकर्म श्रीरामचंद्र तिनके अर्थ नमस्कार है फेरि कैसे हैं संसारको जो मायामोहरूपी अंधकार ताके नाशकर्ता है ॥ १ ॥

रामानुजाय शांताय गुरुवे परमात्मने ॥ यो-
गेश्वराय शेषाय भूयोभूयो नमाम्यहम् ॥ २ ॥

१ नमोनमः इति पाठः साधुः ।

रामानुज जो साक्षात् शेषभगवान् शांतस्वरूप परमात्मा योगेश्वर अर्थात् योग जो ब्रह्मविद्या ताके परंपराके आचार्य्य तिनके अर्थ वारंवार नमस्कार करौं हौं ॥ २ ॥

प्रणम्य स्वामिनं देवं शरण्यं दीनवत्सलम् ॥ मुमुक्षूणां हितार्थाय योगमार्गोऽभिधीयते ॥ ३ ॥

फेरि अपने जो गुरु स्वामी शरण्य दीन वत्सल अर्थात् दीनजनोंके हितकारक तिनहिं प्रणामकरिकै मुमुक्षु जो मोक्षकी इच्छा करनहारे जन तिनके हितके अर्थ योगको जो मार्ग अर्थात् आसनप्राणायामादि जो राजजोग सो वर्णन करौंहौं ॥ ३ ॥

संसारार्णवमग्नानां ज्ञानं नौका हि विद्यते ॥ योगिनां सुलभं तत्र दुर्लभं विषयैषिणाम् ॥ ४ ॥

संसाररूपी समुद्रके विषे मग्न अर्थात् डूबनेवारे जो मनुष्य तिनको एक ज्ञानही नौकारूप उपाय है सो ज्ञान योगीजनोंकरिकै योगद्वारा शीघ्रही प्राप्त होवैहै विषयैषी अर्थात् विषयी जीव करिकै दुर्लभ है सो वार्ता ब्रह्मानंददजीने योगकल्पद्रुमग्रंथमें कथन करीहै ॥ यथा—ज्ञानं वदंतीह विमोक्षकारणं तज्जायते नैव विलोलचेतसा ॥ लौल्यं न योगेन विना प्रणश्यति तस्मात्तदर्थं हि यतेत साधकः ॥ १ ॥अर्थ—यद्यपि ब्रह्मज्ञानही मोक्षकी प्राप्तिका कारण है तथापि चित्तकी एकाग्रता हुयेविना सो ज्ञान नहीं संभवैहै सो चित्तकी एकाग्रता विनायोगाभ्यासके नहीं होवैहै तासे सदैव योग साधकपुरुषको करना उचितहै ॥ ४ ॥

ज्ञानादृते न मुक्तिस्स्याद्यद्योगेन विना नहि ॥ स च योगः पुरा प्रोक्तो ह्यभ्यासादेव सिद्ध्यति ॥ ५ ॥

ज्ञानतैं रहित मोक्ष नहीं अर्थात् नित्य नैमित्तिक जो कर्म सो केवल ज्ञानहीके अवांतर हैं सो वार्ता श्रीमत् शंकराचार्य्यने वेदांतसारविषे कथन करी है ॥ यथा— नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेनांतःकरणशुद्धिः ॥ नित्य नैमित्तिकप्रायश्चित्त उपासना इनके अनुष्ठान करनेतैं मन बुद्धि चित्त अहंकाररूपी जो अंतःकरण सो शुद्धिकूं प्राप्त होवैहै ॥ मोक्ष केवल ज्ञानही द्वारा प्राप्त है सो ज्ञान विनायोगाभ्यास नहीं संभवै काहेतें कि, चित्तकी वृत्तियां बहुत चंचल हैं तातैं बुद्धिकी एकाग्रता नहीं होवैहै यद्यपि

जपतपादिशुभकर्मकरिकै बुद्धिकी एकाग्रता होवैहै तथापि जिसप्रकार योगाभ्याससे बुद्धि शुद्धिताकूं प्राप्त होवैहै तैसी अन्य उपायोंकरिकै नहीं काहेतैं कि जप, तप, उपवास, उपासनादिक कर्म्मोंसे योगाभ्यासका अधिक फल है सो वार्ता अथर्वणवेद उपनिषद्मैं कहीहै यथा—क्षणमेकमास्थाय क्रतुशतस्य फलमवाप्नोति ॥ अर्थ--एकक्षणमात्र भी समाधिमें स्थित योगीकूं सौ यज्ञको फल प्राप्त होवैहै तथा अत्रिसंहितामें कथनकियाहै ॥ यथा--योगात्संप्राप्यते ज्ञानं योगो धर्मस्य लक्षणम् ॥ योगः परं तपो ज्ञेयः तस्माद्युक्तस्समभ्यसेत् ॥ १ ॥ न च तीव्रेण तपसा न स्वाध्यायैर्न चेज्यया ॥ गतिं गंतुं द्विजाः शक्ताः योगात्संप्राप्नुवंति याम् ॥ २ ॥ अर्थ--योगतैं ज्ञानकी प्राप्ति होवै है योगही धर्मप्राप्तिका लक्षण है तथा योगही श्रेष्ठ तप है तातैं सर्वदाही योगसाधन करना चाहिये । तथा योगाभ्यासकरिकै जो गति प्राप्त होवैहै सो तीव्र तप जप वा वेदपाठ वा यज्ञादि शुभकर्मके करनेतैं नहीं सो वार्ता याज्ञवल्क्यसंहिताविषै कथन करीहै ॥ यथा--इज्याचारदमाहिंसातपःस्वाध्यायकर्म्मणाम् ॥ अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥ १ ॥ अर्थ--पूजा आचार इंद्रियोंका दमन तप वा वेदाध्ययनादि सर्वकर्मोंसे जो योगाभ्यास करिकै आत्माका साक्षात्कारकरना सो परम धर्म है ॥ तथा दक्षस्मृतौ—सुसंवेद्यं हि तद्ब्रह्म स्त्री कुमारीसुखं यथा ॥ अयोगी नैव जानाति जात्यंधो हि यथा घटम् ॥ १ ॥ अर्थ—जैसे यौवनअवस्थाकी स्त्री पतिसंभोगजन्य सुखकूं आपहीं अनुभव करैहै तैसे ब्रह्मानंदसुखकूं स्वयं योगीही अनुभव करतेहैं अन्य नहीं जैसे जन्मांधपुरुषकूं घटके स्वरूपका बोध नहीं तैसेही अयोगी उस ब्रह्मको नहीं जानतेहैं तथा सांख्यसूत्रमें कपिलाचार्य्यनेभी कहाहै ॥ यथा—नोपदेशश्रवणेपि कृतकृत्यता परामर्शादृते विरोचनवत् ॥ अर्थ—विना योगाभ्यास केवल वेदांतश्रवणमात्रसेही कृतकृत्यता नहीं जैसे दैत्योंके पति विरोचनकूं ब्रह्मासे उपदेशश्रवण होनेपरभी ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होतीभई तथा श्रुतिमेंभी कहाहै ॥ यथा—अथ तद्दर्शनमुपायो योगः ॥ अर्थ—तिस आत्माके साक्षात्करणेमें एक योगही उपाय है ॥ तथा कूर्म्मपुराणमें महादेवजीने कहाहै ॥ यथा—योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपंजरम् ॥ प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानाग्निर्वाणमृच्छति ॥ १ ॥ अर्थ—प्रथम योगरूपाग्निकरिकै समस्तपापोंका नाश करिकै अंतःकरणशुद्धिद्वारा स्वच्छ ज्ञान प्राप्तहोवैहै ज्ञान प्राप्त भये कैवल्यपद अर्थात् मोक्षपद प्राप्त

होवैहै ॥ तथा—शिवसंहितामें शिवजीनेभी कहाहै ॥ यथा—आलोक्य सर्वशास्त्राणि सुविचार्य पुनः पुनः ॥ इदमेवं समुत्पन्नं योगशास्त्रं परं मतम्॥ १ ॥ अर्थ—श्रीमहादेवजी कहतेहैं कि, हे प्रिये मैंने सर्वशास्त्रको देखि वा विचार करि वारंवार यह निश्चित किया कि एक योग शास्त्र परममतहै इसके समान कोई अन्य मत नहीं ॥ तथा गोरक्षसंहितामें कहाहै ॥ यथा—एतद्विमुक्तिसोपानमेतत्कालस्य वंचनम् ॥ यद्यावृतं मनो भोगादासक्तं परमात्मनि ॥ १ ॥ अर्थ—जब योगाभ्याससे मन विषयोंसे हटिजाता तब ईश्वरमें प्राप्त होवैहै तब मृत्यु जराकोभी जीतकरि कालके मुखकी वंचना करैहै तिससे अवश्य मुक्तिका सोपान यही कर्म्म है इसकारण योग सर्वत्र सर्व वेद वा महात्माओंका मत है किसीने खंडन नहीं किया तिससे योग परम सेवनीय है सो योग पूर्वकालसे प्रसिद्ध है केवल अभ्यासमात्रसेही सिद्ध होवैहै ॥ ५ ॥

शक्रादिस्वर्गलोकेषु पुत्रदारागृहादिषु ॥ विरक्तस्यैव योगस्य सिद्धिर्भवति नान्यथा ॥ ६ ॥

इंद्रपदको आदिलेकरि सुरलोक कहैं जो देवलोक है तथा पुत्र दारा गृहादिविषे जो पुरुष विरक्त है तिस पुरुषकोही सम्यक् प्रकारसे योगकी सिद्धि होवैहै अन्यकूं नहीं सो

वार्त्ता योगसूत्रमें कथनकरी है ॥ यथा—विरक्तस्यैव तत्सिद्धिः ॥ अर्थ—विरक्तपुरुषहीको तिस परमात्माकी प्राप्ति होवैहै ॥ ६ ॥

प्रशांतचित्तस्य जितेंद्रियस्य गुणान्वितस्या-गुरुसेविनश्च ॥ नूनं भवेद्योगसमस्तसिद्धिर्नान्येतरासक्तजनस्य कस्मै ॥ ७ ॥

प्रशांतचित्त जितेंद्री विद्वान् सब प्रकारसे गुरुसेवी नूनं कहैं निश्चय करिकै तिस पुरुषहीको योगकी संपूर्ण सिद्धि प्राप्त होवैहै इतर जो विषयादिकोंमें आसक्त तिनको नहीं ७

एकांते विजने देशे शोभिते बहुपादपैः ॥ कुर्य्याद्योगमठं धीमान् सर्वतो भयवर्ज्जितम् ॥ ८ ॥

एकांत जो विजन देश अर्थात् बहुतसे मनुष्योंकरिकै रहित देश और वृक्षादिकनकरिकै शोभायमान ताविषे योगमठ अर्थात् कुटी वा गुफा बनावै और वनमें नहीं बनावै काहेतें कि, अन्नादिकोंकेवास्ते आनेजानेपडेगा आश्रम ग्रामके नजदीक होना चाहिये सो वार्त्ता मनुस्मृतिमें कथन करीहै यथा—ग्राममन्नार्थमाश्रमेत् ॥ अर्थ—

---

१ आसमंतात् गुरुसेवितस्य । २ एकाकीतिपाठः—साधुः ।

अन्ननिमित्त ग्रामके नजीक आश्रम करै जामें कोई सिंह व्याघ्र सर्प वायु इत्यादिकोंका भय न होवै ऐसा सुंदर स्वच्छ आश्रम बनावै ॥ ८ ॥

स्वधर्मनिरतः शांतः सर्वशौचसमन्वितः ॥
विध्युक्तकर्म्मसंयुक्तो भोगसंकल्पवर्जितः॥९॥

अपने आश्रमके धर्मविषे निरत शांत अर्थात् नहींहै चलायमान बुद्धि कहै प्रेमी हो जाकी संपूर्ण शौचकरिकै युक्त विधिपूर्वक कर्मसंयुक्त भोगादिकोंकी इच्छाकरिकै रहित ॥ ९ ॥

यमैश्च नियमैर्युक्तः सत्यधर्मपरायणः ॥
सुशोभने मठे योगी योगाभ्यासं समाचरेत् ॥ १० ॥

यमनियमसंयुक्त सत्यधर्म जो आत्मनिरूपण अर्थात् वेदांतश्रवणादि ताविषे परायण सो सुंदर मठके विषे योगी जो है सो योगाभ्यास करै ॥ १० ॥

॥ अथ योगभेदनिरूपणम् ॥

मंत्रयोगो लयश्चापि हठयोगस्तथैव च ॥
राजयोगोपि वै तत्र चतुर्द्धा संप्रकीर्तितः ॥ ११ ॥

अब आगे चारिप्रकारके भेद वर्णन करैहैं प्रथम मंत्रयोग १ तथा लययोग २ हठयोग ३ तथा राजयोग ४ इन भेदनसे चारिप्रकारका योग पूर्वाचार्य्योंने कथन कियाहै सो वार्त्ता खेचरीपटल विषे कथनकरीहै ।।यथा—मंत्रो हठो लयो राजयोगोयं भूमिकाक्रमात् ॥ १ ॥ ॥ अर्थ—मंत्रयोग हठयोग लययोग राजयोग इसतरह चारिप्रकारकी योगभूमिका है तहां प्रथम मंत्रयोग वर्णन करौंहौं ॥ ११ ॥

॥ मंत्रयोगनिरूपणम् ॥

श्वासनिष्कासकाले हि हकारं परिकीर्त्यते ॥
पुनः प्रवेशकाले च सकारः प्रोच्यते बुधैः ॥ १२ ॥

जब श्वास बाहर निष्कासकूं प्राप्त हो अर्थात् बाहर निकलै तब हकार शब्द उच्चारण करै और जब फेरि भीतरको जावै तब सकार उच्चारण करै सोई वार्त्ता अनन्यजीने कथन करीहै ॥ यथा — जब श्वासा बाहर लैआवै । तब हकारशब्द उपजावै ॥ जब श्वासा भीतर संचरै तब सकार शब्दहि उच्चरै ॥ १२ ॥

प्रातरुत्थाय मेधावी संकल्पविधिपूर्वकम् ॥
गुरूपदेशतो योगी मंत्रयोगं समाचरेत् ॥१३॥

बुद्धिमान् प्रातःकाल उठिकरिकै गुरुके उपदेशतैं विधिपूर्वक संकल्प करिकै मंत्रयोग जो है ताको सम्यक् प्रकार आचरण करै ॥ १३ ॥

एवं क्रमेण कर्तव्यमहोरात्रमविस्मरेत् ॥ सोहमात्मेति विज्ञाय न किंचिदपि चिंतयेत् ॥ १४ ॥

एवं कहे यहीप्रकार रात्रिदिवसविषे जप करै अर्थात स्मरण करतारहै अभ्यास नहीं छोडै सो वार्ता खेचरीपटलविषे कथन करीहै ॥ यथा – "बैठत चालत डोलत बोलत, श्वासा शब्द हृदयमें खोलत" इसप्रकार सदैव अभ्यास करना योग्यहै दोहा–जो पूरो सतगुरुमिलै, ज्ञान युक्ति सब देय ॥ भवसागरके जीवको, पार लगावै सोय ॥ हंस हंस इस मंत्रका सर्वदाही जप करैहैं परंतु जानते नहीं सो गुरुमुखद्वारा जानना सुषुम्नानाडीविषे हंसहंसके उलटानेसे सोहं सोहं जप होवैहै तिसका नाम मंत्रयोगहै. जब सोहं नाम सो परमात्मा मैं हौं ऐसी जानै तब कोई चिंतवन नहीं रहैहै ॥ १४ ॥

गणेशं च विधिं विष्णुं शिवं जीवं तथैव च ॥ स्वामिनं सच्चिदानंदं क्रमाच्चक्रेषु चिंतयेत् ॥ १५ ॥

जपको विधान कहैहैं गणेशंचेति। गणेश ब्रह्मा विष्णु शिव जीव (गुरु) और सच्चिदानंदब्रह्म क्रमतैं चक्रनविषे चिंतवन अर्थात् ध्यान करना चाहिये सो ध्यान वर्णन करैहैं आगे चक्रनको विधान कहैहैं ॥ १५ ॥

॥ अथ चक्राणि ॥

मूलाधारे गणेशोस्ति स्वाधिष्ठाने प्रजापतिः ॥ मणिपूरे तथा विष्णुरनाहते तथा शिवः॥१६॥

चक्र नाम तथा देवता अधिष्ठाता कहैहैं प्रथम आधारचक्र है नाम जाको ताविषे गणेशदेव विराजमान हैं॥ १ ॥ दूसरा स्वाधिष्ठान नाम चक्र ताविषे चतुर्मुखब्रह्मा विराजमान हैं तथैव तीसरे मणिपूरक नाम चक्रविषे साक्षात् विष्णु विराजमान हैं चौथे अनाहतचक्रविषे शिव विराजमान हैं ॥ १६ ॥

कंठकूपे वसेज्जीव आज्ञाचक्रे ततो गुरुः ॥ ततश्च सच्चिदानंदः शून्ये व्योम्नि हि तिष्ठति ॥ १७ ॥

पाँचवा विशुद्धनाम चक्र तथा कंठकूपभी नामधेय है, ताविषे जीव तिष्ठैहै छठवां आज्ञाचक्र ताविषे गुरु ततःकहैं ताके अनंतर सच्चिदानंद साक्षात् सबतैं परे जो आकाश ताके विषे विराजमान है॥ १७ ॥

॥ अथ ध्यानस्वरूपमाह ॥

मूले चतुर्दलोपेते वसांताक्षरसंश्रये ॥ चतुर्भुजमुदारांगं पूर्णचंद्रसमप्रभम्[1] ॥ १८ ॥

अब ध्यानका स्वरूप वर्णन करें हैं कि, मूल जो आधारचक्र ताविषे चतुर्दलयुक्त कमल चारिअक्षर वकारसे लेकर सकारपर्य्यंत व् श् ष् स् इनकरिकै शोभायमान तहाँ चतुर्भुज चारिभुजनकरिकै उदार है अंग जाको पूर्ण जो चंद्र ताकेसोशोभायमान स्वरूप इसप्रकारका ध्यान करे ॥ १८ ॥

सोहमस्मीति विज्ञाय गणेशं शक्तिसंयुतम् ॥ द्वितीये षड्दलयुते षडक्षरसमन्विते ॥१९॥

शक्ति जो देवी ताकरिकै सहित जो गणेश सो मैं हूं इसप्रकार जप ध्यान प्रथमचक्रमें करने योग्य है द्वितीय कहैं दूसरा चक्र अर्थात् कमल है सो षट् दल कहैं छै दलोंकरिकै तथा षट् अक्षर वकारसे लेकरि लकारतक वं भं मं यं रं लं इन अक्षरोंसे युक्त है ॥ १९ ॥

चतुर्मुखं चतुर्बाहुं सुप्रसन्नं शुचिस्मितम् ॥ कमंडलुधरं देवं धातारं शक्तिसंयुतम्[2] ॥ २० ॥

१ ध्यायेदितिशेषः । २ ध्यायेदितिगतेनान्वयः ।

चतुर्मुख कहैं चारिमुख चारिबाहु सुप्रसन्न शुचिस्मित कमंडलुकूं धारनकरे देव धाताहैं शक्ति जो सावित्री देवी ताकरिकै सहित शोभायमान हैं ॥ २० ॥

सोहमात्मेति विज्ञाय तद्ध्यानं हि जगत्प्रभुम् ॥ २१ ॥

सो आत्मा मैं हूँ अर्थात् सो ब्रह्मा मैं हूँ इसप्रकार अभेद चिंतवनकरना सोई ध्यानरूप है ॥ २१ ॥

मणिपूरे दशदले कंदमध्यात्समुत्थिते ॥ द्वादशांगुलनालेस्मिन्रक्ताभे केशराऽन्विते ॥ २२ ॥

मणिपूरकनाम जो चतुर्थ कमल है सो दश दलकरिकै तथा दशअक्षरोंकरिकै युक्त है डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं इनकरिकै युक्त कंदमध्यतैं समुत्थित अर्थात् उत्पन्नहै द्वादशांगुल है नाल जाकी रक्तआभा केशरान्वित है ताके विषे ॥ २२ ॥

वासुदेवं जगद्योनिं पद्मपत्रनिभेक्षणम् ॥ चतुर्भुजमुदारांगं शंखचक्रगदाभृतम् ॥ २३ ॥

वासुदेवभगवान् जगद्योनि पद्मपत्रनिभेक्षण चतुर्भुज उदार अंग हैं शंखचक्रगदाको धारण करेहैं ॥ २३ ॥

नीलोत्पलदलाभासं रमया परिसेवित-
म् ॥ प्रभाभिर्भासयद्रूपं भक्तानामभयं-
करम् ॥ २४ ॥

नीलोत्पल जो नीलकमलहै ताके दलकी नांई आभास कहैं शोभा है जिनकी, रमा जो लक्ष्मी हैं तिनकरिकै सेवित हैं प्रभा जो कांति ताकरिकै प्रकाशमान हैं स्वरूप जिनको भक्त जे हैं तिनको अभय अर्थात् मोक्षके देनेवाले हैं॥२४॥

मनसालोक्य देवेशं सर्वदेववरं हरिम् ॥
सोहमस्मीति तं मत्वा ध्यानयोगविदो
विदुः ॥ २५ ॥

एवंभूत जे देवेश विष्णु हैं सर्व जे देव तिनकेविषे वरिष्ठ हैं तिनहीको मनकरिकै चिंतमनकरै सो विष्णु मैंहौं ऐसा मानि योगीजन ध्यान कहै ॥ २५ ॥

अतः परे ह्यनाहते पद्मे द्वादशपत्रके ॥ व्याघ्र-
चर्मांबरधरं शशीव प्रियदर्शनम् ॥ २६ ॥

अतः कहैं मणिपूरकतैं परे जो अनाहतचक्र पद्म है सो द्वादशपत्रकरिकै शोभायमान द्वादशअक्षरोंकरिकै युक्त है ताविषे व्याघ्रचर्माम्बर धारण करे शशी जो चंद्रमा है ताके न्यांई हैं प्रियदर्शन जाके ॥ २६ ॥

पद्मासनसमासीनं देवेशं गिरिजायुतम् ॥ ज-
गत्संहारकर्तारमनंतबलपौरुषम् ॥ २७ ॥

पद्मासनकरिकै विराजमान देवेश गिरिजायुक्त जगत्सं-हार करनेवाले अनंत है बल पौरुष जिनको ॥ २७ ॥

अहमेवेति या बुद्धिः सा ध्यानेषु समं-
ततः ॥ २८ ॥

एवंभूत जो शिव सो मैं हूं इसप्रकार जो बुद्धि सो ध्यानके विषे संमत है ॥ २८ ॥

विशुद्धे षोडशदले षोडशाक्षरसंयुते ॥
जगत्कारणकर्त्तारं जीवात्मानं सनातनम्
॥ २९ ॥ सोहमात्मेति या बुद्धिः सा ध्या-
नेषु समंततः ॥ ३० ॥

विशुद्धनाम जो चक्र अर्थात् पद्म षोडशपत्र तथा षोड-शअक्षरोंकरिकै संयुक्त ताविषे जगत्कारणको कर्त्ता जीवात्मा सनातन ॥ २९ ॥ सो आत्मा मैं हूं या बुद्धि ध्यानके विषे संमत है ॥ ३० ॥

भ्रुवोर्मध्येंऽतरात्मानं गुरुं परमभास्वर-
म् ॥ अहमेवेति तं मत्वा हंसमित्यक्षरद्व-
यम् ॥ ३१ ॥

आज्ञाचक्र भ्रुवनके मध्यविषे अंतरात्मा कहैं व्याप्त है एवं भूत जो गुरु परमभास्वर प्रकाशमान सो मैं हूं ऐसा तं कहैं तौन गुरु हैं हंस ये दो अक्षर ताकेविषे हैं ॥ ३१ ॥

अतः परं निजं नित्यं विशुद्धं व्योमवद्दृढम् ॥ एकं ज्योतिर्मयं शांतमनंतमचलं विभुम् ॥ ३२ ॥

अतःपरं यातैं परे निज कहैं निजस्वरूप नित्य कहैं सर्वदा एकरस विशुद्ध आकाशकीनांई दृढ एक ज्योतिर्मय शांत अनंत कहैं नहीं है अंत जाको अचल विभु कहैं देदीप्यमान ॥ ३२ ॥

सर्वगं सर्वकर्त्तारममूर्तिमजमव्ययम् ॥ अहमेव परं ब्रह्म सच्चिदानंदलक्षणम् ॥ ३३ ॥

सर्वग अर्थात् सर्वांतर्य्यामी सर्वकर्त्ता अर्थात् उद्भव स्थिति संहारकर्त्ता, अमूर्त अर्थात् नहीं है तादृश मूर्ति अज कहैं जन्मरहित अव्यय नाशरहित एवंभूत जो परब्रह्म है सो एव कहैं निश्चयकारिकै सच्चिदानंदलक्षण मैं हूं ॥ ३३ ॥

षट्शतं च गणेशाय षट्सहस्रं च ब्रह्मणे॥ षट्सहस्रं च प्रभवे षट्सहस्रं शिवाय च ॥ ३४ ॥ जीवात्मने सहस्रं च सहस्रं स्वामिने तथा ॥ परमात्मने सहस्रं च जपं नित्यं समर्पयेत् ॥ ३५ ॥

षट्शत अर्थात् छै सौ ६०० गणेशजीके अर्थ तथा छै हजार ६००० ब्रह्माजीके अर्थ तथा छै हजार ६००० श्रीविष्णुभगवानके अर्थ तथा छै हजार ६००० शिवजीके अर्थ पुनः ॥ ३४ ॥ एकसहस्र १००० जीवात्माके अर्थ तथैव एक सहस्र १००० स्वामी जे श्रीगुरुजी तिनके अर्थ तथा एक हजार १००० परमात्मा जो ब्रह्म हैं तिनके अर्थ जप नित्यप्रति समर्पण करना चाहिये ॥ ३५ ॥

एकविंशतिसाहस्रं षट्शताधिकमेव च ॥ साधकस्य भवेन्नित्यं जपसंख्या हि मोक्षदा ॥ ३६ ॥

इक्कीसहजार छै सौ २१६०० इस साधकपुरुषकी जपसंख्या नित्यही होवै है सो संख्या मोक्षके देनेवाली होवैहै ॥ ३६ ॥

यदा सोहं सुषुम्नायां भासते हि स्वभावतः ॥ सर्वकर्माणि संत्यक्त्वा जीवन्मुक्तो भवेत्तदा ॥ ३७ ॥

यदा कहैं जिसकालमें इस साधकपुरुषके स्वभावतेही सोहं शब्द सुषुम्ना ब्रह्मनाडीविषे उत्पन्न होवै है उसकाल-विषेही सर्व कर्मनको त्यागकारि जीवन्मुक्त होवे है अर्थात् देहाध्यासरहित होवैहै ॥ ३७ ॥

न क्षुधा न तृषा निद्रा शीतोष्णं न तथैव च ॥ न मृत्युर्नांतकः क्रुद्धो बाधते तं च योगिनम् ॥ ३८ ॥

न क्षुधा न पिपासा न निद्रा तथा न शीत उष्ण न मृत्यु न अंतक जो काल भगवान तिस योगीको कोई बाधक नहीं अर्थात् कोई बाधा नहीं करैहै ॥ ३८ ॥

येन दृष्टं परं ब्रह्म सोहं ब्रह्मेति मन्यते ॥ किं चिंतयति निश्चिंतो निर्विकारोऽतिनि-र्मलः ॥ ३९ ॥

जापुरुषकरिकै परं ब्रह्म अर्थात् परमात्मा दृष्ट हैं सो ब्रह्म मैं हूं या बुद्धिविषे स्थित है किंचिंतयति सो कुछभी चिंतमन नहीं करैहै अर्थात् निश्चित है निर्विकारी अत्यंत निर्मल है ॥ ३९ ॥

यदज्ञानाज्जगज्जातं सदा सत्येन भासते ॥ सोहं ब्रह्मेति विज्ञाय न कांक्षति न शोचति ॥४०॥

जिस अज्ञानकरिकै जगत उत्पन्न है सो जगत् सर्वदा सत्यकरिकै नाशमान है सो ब्रह्म मैं हूं एवंभूत ज्ञानी 'न कांक्षति न शोचति' न कोई वांच्छा न शोच करै॥ ४० ॥

तदा बद्धो यदा जीवो किंचिद्वाञ्छति शोचति ॥ तदा मोक्षो यदा चित्ते न शोचति न वाञ्छति ॥ ४१ ॥

तिसकालविषे ही जीव बद्ध है जिसकालमें कुछभी वांछा वा शोच है तदा कहैं तिसकालविषेही मोक्ष है यदा जिसकालमैं चित्तविषे शोच वा वांछा कुछ नहीं है ॥४१॥

मंत्रयोगो मया चोक्तः प्रोक्तश्च मुनिभिः पुरा ॥ योगस्य च फलं किंतु ब्रह्मतुल्यं प्र-कीर्तितम् ॥ ४२ ॥

मंत्रयोग जो है सो हमकरिकै कहा जो कि पूर्वकालविषे मुनीननेभी कहाहै सो इस मंत्रयोगके फलकूं कहा वर्णन करूं यह साक्षात् ब्रह्मतुल्य है ॥ ४२ ॥

इति श्रीयोगमार्गप्रकाशिकायां मंत्रयोगवर्णनं नाम

प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥

॥ अथ लययोगः ॥

दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्याद् वायुः स्थिरो यस्य विना निरोधात् ॥ चित्तं स्थिरं यस्य विनावलंबात् स एव योगी स गुरुः स सेव्यः ॥ १ ॥

अब लययोगके लक्षण कहेंहैं विनाही नासिकाका अग्रभाग देखनेसे जाकी दृष्टि स्थिर है विनाही प्राणायामोंके वायु स्थिर है, विनाहीं अवलंबके अर्थात् षट्चक्रके ध्यान करे विनाही जिस पुरुषका चित्त स्थिर है सोई योगी वा गुरु वा सेवनीय है ॥ १ ॥

अथासनं दृढं बद्धा मुद्रां विधाय शांभवीम् ॥ सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादं सुषुम्नायां परामृशेत् ॥ २ ॥

लययोगका साधन कहेंहैं अथ कहें जा मंत्रयोगके अनंतर आसन जो सिद्धासन तथा पद्मासन है ताहि दृढ बांधिकरि शांभवी जो खेचरीमुद्रा है सो धारनकरि सुषुम्ना ब्रह्मनाडीविषे सूक्ष्मतें सूक्ष्म जो नाद ताहि श्रवण करे ॥ २ ॥

चिणीति प्रथमे नादं चिंचिणीति द्वितीयके ॥ घंटानादस्तृतीये च शंखनादश्च-

तुर्थके ॥ ३ ॥ तंत्री पंचमके नादे षष्ठे तालं प्रचक्षते ॥ वंशीवाद्यस्तथा चान्यो मृदंगस्तदनंतरम् ॥ ४ ॥ भेरीनादस्तथा तत्र दशमेऽभ्रसमो भवेत् ॥ नवमं च परित्यज्य दशमं यः समभ्यसेत् ॥ ५ ॥ भित्त्वा सर्वाणि कर्माणि चिदानंदायते ततः ॥ ६ ॥

ता नादके चिंतमनविषे प्रथम चिणी ऐसा शब्द होवैहै दूसरैं चिंचिणी तीसरे घंटा चौथे शंखनाद ॥ ३ ॥ पांचवें वीणा छठवां ताल कथन कऱ्योहै तथा सातवां वंशीवाद्य मृदंग ताके अनंतर है ॥ ४ ॥ तत्र नवमा भेरीशब्द तथ दशमें अभ्र कहें मेघसमान शब्द होवैहै नवम जो भेरी ताहि परित्यज्य अर्थात् अभ्यासकरि दशम जो नाद ताहि अभ्यास करै ॥ ५ ॥ सो संपूर्ण कर्मग्रंथि ताहि भेदनकरि ब्रह्मानंदकूं प्राप्त होवैहै ॥ ६ ॥

॥ अथ नादस्य फलम् ॥

चिंचिणी प्रथमं देहं द्वितीयं गात्रभंजनम् ॥ तृतीयं खेदनं याति चतुर्थे कंपते शिरः ॥ ७ ॥

पंचमे स्रवते तालुरमृतं दिव्यरूपिणम् ॥ भुक्त्वामृतं तथा षष्ठे वृद्धोपि तरुणो भवेत् ॥ ८ ॥

अब नादके फलकूं वर्णन करैहैं प्रथम देहविषे- चिंचिणी होवैहै तथा दूसरे गात्रटूटवेकी न्याई प्राप्त होवै तीसरे खेदकूं प्राप्त होवै तथा चतुर्थ नादविषे शिरकंपन होवैहै ॥ ७ ॥ पंचमनादविषे तालु स्रवैहै अर्थात् तालुविषे चंद्रमा तातैं अमृत दिव्यरूप स्रवैहै षष्ट नादविषे वा अमृतकूं पान करि वृद्धपुरुषभी तरुण होजाताहै ॥ ८ ॥

सप्तमे चास्ति विज्ञानं परावाचाष्टमं तथा॥ नवमं योगिनो देहे पुण्यो गंधो भवेद् ध्रुवम् ॥ ९ ॥ दशमं ब्रह्म संप्राप्य निर्वाणमधिगच्छति ॥ १० ॥

सप्तम नादविषे विज्ञान अर्थात् त्रैलोकज्ञता होवैहै तथा आठमें परावाचा अर्थात् पशुपक्षियोंकी भाषा जानिबेकूं समर्थ होवैहै नवें योगाभ्यासीकी देहविषे पुण्यगंध अर्थात् अच्छी सुगंध उत्पन्न होवैहै ॥ दशमें ब्रम्हपदकूं प्राप्तहो कर मोक्षकूं प्राप्तहोवै है ॥ ९ ॥ १० ॥

सदा नादानुसंधानात्क्षीयंते पापसंचयाः ॥ निरंजने विलीयेते निश्चितं चित्तमारुतौ ॥ ११ ॥

सदा सर्वदा नादके अनुसंधानतैं पापनके समूह नाशकूं प्राप्त होयहैं निर्गुण चैतन्यविषे निश्चयही चित्त और वायु लीन होय है ॥ ११ ॥

यथा निरिंधनो दीपो स्वयमेवोपशाम्यति ॥ तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयमेवोपशाम्यति ॥ १२ ॥

जिसप्रकार निरिंधन अर्थात् तैलवर्त्ती विना दीपक आपही आप शांत होवैहै तैसैंही गुणदोषरूप वृत्ति क्षय होनेतैं चित्त आपही आप शांतताकूं प्राप्त होयहै ॥ १२ ॥

निरंतरकृताभ्यासाद्योगी विगतकल्मषः ॥ सर्वदेहादि विस्मृत्य तदभिन्नः स्वयंगतः॥१३॥

निरंतर शुद्धचित्त होकै जो योगी नादका अनुसंधान करैगा वह देहादिकर्मसे रहित आत्मासे अभिन्न होजायगा अर्थात् आत्मस्वरूप होजायगा ॥ १३ ॥

यः करोति सदाभ्यासं गुप्ताचारेण मानवः ॥ स वै ब्रह्मविलीनं स्यात् पापकर्मरतो यदि ॥ १४ ॥

जो मनुष्य गुप्ताचारकरिकै इसका अभ्यास करैगा वह यदि पापकर्मरतभी होवै तौ उसकी मोक्ष होवैहै ॥ १४ ॥

बद्धं तु नादबंधेन मनः संत्यज्य चापलम् ॥ प्रयाति सुतरां स्थैर्य्यं छिन्नपक्षः खगो यथा ॥ १५ ॥

नादरूपी बंधनकरिकै बँधो भयो मन अपनी चंचलता छोडिदईहै जानै सो निश्चयकरि स्थिरताकूं पावै है जैसे पक्षहीन पक्षी आपहीं स्थिर होवै है ॥ १५ ॥

मकरंदं पिबन्भृंगो गंधं न त्यजते यथा ॥ शब्दासक्तं तथा चित्तं विषयान्न हि कांक्षति ॥ १६ ॥

जैसे भ्रमर पुष्परसको पानकरते हुए गंधको नहीं छोडै है तैसेही नादमें आसक्त चित्त विषयनको नहीं कांक्षा करैहै ॥ १६ ॥

न रूपं न च संस्पर्शं न गंधं न च वै रसम् ॥ नात्मानं चापरं वापि योगी मुक्तः समाधिना ॥ १७ ॥

न रूप है न स्पर्श है न गंध है न रस है न अपनी वा पराई आत्मा है केवल योगी समाधिकरिकै मुक्तहै ॥ १७ ॥

अभेद्यः सर्वशस्त्राणामशक्यः सर्वदेहिनाम् ॥ प्रनष्टश्वासनिश्वासो योगी मुक्तः समाधिना ॥ १८ ॥

सर्वशस्त्रनकरिकै अभेद्य अर्थात् वध्य नहींहैं संपूर्ण प्राणीनकरिकै अशक्य अर्थात् पराक्रमतैं रहित है प्रकर्षकरिकै नष्ट है श्वासनिश्वास जाकी ऐसो योगी समाधिकरिकै मोक्षरूप है ॥ १८ ॥

गोपनीयं प्रयत्नेन सद्यः प्रत्युपकारकः ॥ निर्वाणदायको लोके योगोऽयं मम वल्लभः ॥ १९ ॥

यह जो लययोग है सो प्रयत्नकरिकै गोपनीय है निश्चयकरिकै चित्तवृत्तियोंको नाशकारक है लोकविषे मोक्षको देनेवारो है इसहेतु यह लययोग हमको अत्यंत प्रिय है ॥ १९ ॥

लययोगोऽयमित्युक्तः सद्यो वै मोक्षदो नृणाम् ॥ यो योगेऽस्मिन्समारूढः पुरुषः कालवंचकः ॥ २० ॥

लययोगनाम जो योग हमने कहाहै सो निश्चयकरि

मनुष्योंको शीघ्रही मोक्षदाता है इस योगविषे समारूढपुरुष कालवंचक अर्थात् कालकी वंचनकरवेवारो होय है ॥ २० ॥

इति श्रीयोगमार्गप्रकाशिकायां लययोगवर्णनं नाम द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

॥ अथ हठयोगवर्णनम् ॥

जगुस्तदंगाष्टकमुत्तमाशयं यमादिसंज्ञं मुनिवर्य्यसेवितम् ॥ समासतस्तस्य फलं च लक्षणं वदामि वृद्धर्षिमतानुरोधतः ॥१॥

अब हठयोग कथन करैंहैं जिस हठयोग वा राजयोगकी परंपरातैं यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि इसभेदसे ऋषिलोगोंने गान करैंहै तथा याज्ञवल्क्यादिकरिकै सेवित हैं ता योगके समासफलकूं वा लक्षणकूं वृद्धऋषिअर्थात् याज्ञवल्क्यवशिष्ठादिकोंके मतके अनुसार वर्णन करौंहौं ॥ १ ॥

प्रात्याहारासनध्यानप्राणायामास्तथैव च ॥ धारणाऽथ समाधिश्च हठयोगेति गद्यते ॥२॥

आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि इसप्रकार षडंग हठयोगकेविषे कथन करेहैं तथा अष्टांगभी हैं ॥ २ ॥

यमश्च नियमश्चैव प्राणायामश्चतुर्थकम् ॥ तृतीयं चासनं पूर्वं प्रत्याहारस्तु पंचमम् ॥ ३ ॥ धारणाथ समाधिश्च त्वष्टकं सौख्यदायकम् ॥तत्रैव दशधांगानि यमस्य नियमस्य च ॥ ४ ॥

यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि इसप्रकार अष्टांगभी सौख्यदायक हठयोग है तहांहीकेविषे यम वा नियमके दश दश प्रकारके अंग वर्णन करेहैं ॥ ३ ॥ ४ ॥

॥ अथ यमलक्षणम् ॥

सत्यमार्जवमास्तेयमहिंसा च मिताशनम् ॥ क्षमा दया धृतिः शौचं ब्रह्मचर्य्यं परिग्रहः ॥ ५ ॥ एते च मुनिभिः पूर्वैः कथितास्तु यमा दश ॥ ६ ॥

यम निरूपण करैंहैं सत्य आर्जव अस्तेय अहिंसा मिताशन क्षमा दया धृतिः शौच ब्रह्मचर्य्यधारण इनकरिकै पूर्वकालविषे यम कहाहै ॥ ५ ॥ ६ ॥

॥ अथ नियमलक्षणम् ॥

जपस्तपो दानमथागमश्रुतिस्तथास्तिकत्वं व्रतमीश्वरार्चनम् ॥ तथाप्तितोषो मतिरप्यपत्रपा बुधैर्दशैते नियमाः समीरिताः ॥ ७ ॥

॥ अथ आसनानि ॥

तथा नियमलक्षण कहैहैं जप, तप, दान, वेदांतश्रवण, आस्तिक्य, व्रत, ईश्वरपूजन, यथालाभसंतोष, मति, लज्जा, बुध कहैं योगवेत्ता तिनने ये दश नियम कथन करेहैं तथा यमनियमके फलकूं योगसूत्रमें कथनकरैहैं "सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्" चिरकालपर्यंत सत्यवाक्य पालनकरनेसे तिसपुरुषका वाक्य सत्यही होवैहै "अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्" जिसकालविषे अस्तेयवृत्तकी दृढता होवैहै तौ सर्वदिशाओंसे मणिमुक्ताफलादि आनिकर प्राप्तहोवैहै "अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संन्निधौ वैरत्यागः" चिरकालपर्य्यंत अहिंसाव्रतपालनकरनेतैं ही तिसपुरुषके समीप वैरत्यागकर नकुलसर्प मृगसिंह आनंदपूर्वक विचरतेहैं "ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां वीर्य्यलाभः" ब्रह्मचर्य्य वृत्तके स्थिर होनेतैं जो जप तप व्रतादिकरूपक्रिया सो सब वीर्यवती होतीहैं तथा आप सिद्धभया पुरुष अन्य

साधकोंको ज्ञानोपदेश देवैहै "संतोषादनुत्तमसुखलाभः" चिरकाल संतोष धारणकरनेतैं अनुत्तम सुखका लाभ होवैहै ॥ ७ ॥

॥ अथासनानि ॥

सिद्धं च पद्मं च सिंहासनं च भद्रासनं कूर्म्ममयूरपीठम् ॥ एतानि सर्वाणि भयापहानि सर्वेषु मुख्यानि विवर्णितानि ॥ ८ ॥

आगे हठयोगका तृतीय अंग जो आसन है सो वर्णन करैहैं सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन भद्रासन, कूर्मासन, मयूरासन जो हैं सो संपूर्ण जो राजस तामसधर्मसे वातपित्तकफादिकोंकी बाधा ताहि दूरिकरिवेवारे हैं तथा संपूर्ण योगमंत्रादि तिनकेविषे येही आसन मुख्य हैं वैसे आसन तौ बहुत हैं सो वार्त्ता गोरक्षशतकविषे कथनकरीहै ॥ यथा—आसनानि च तावंति यावंत्यो जीवजातयः ॥ एतेषामखिलान्भेदान्विजानाति महेश्वरः ॥ १ ॥ अर्थ—आसन तहांतकहैं जहांतक जीवजाति हैं इनके संपूर्ण भेदनको केवल शिवजीही जानतेहैं यातैं मुख्य मुख्य आसन कहैहैं तथा साधनांशमुखतैं जानलेनो ॥ ८ ॥

चतुराशीतिपीठेषु चतुष्कं योगिनो मतम् ॥
सिद्धं पद्मं तथा भद्रं सिंहासनमितीरितम् ॥ ९ ॥

चौरासी आसन श्रीशिवजीने मुख्य वर्णन करेहैं तिनमें चारि आसन योगीजनोंके संमत हैं सिद्धासन १ पद्मासन २ भद्रासन ३ सिंहासन ४ सोई वार्त्ता योगप्रदीपिकाविषे कथनकरीहै ॥ यथा–चतुराशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च ॥ तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम् ॥ १ ॥ अर्थ–चौरासी आसन शिवजीने पूर्वकालमें कथन करेहैं तिनमें चारि आसन सारभूत ग्रहणकरि कहौंहौं "सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रंचेति चतुष्टयम्" सिद्धासन पद्मासन सिंहासन भद्रासन ये चारि आसन मुख्य हैं साधनांश गुरुमुखतैं जानलेनो ॥ ९ ॥

योनिमूले वामपादं दक्षपादं तथोपरि ॥
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिः पवनाभ्यासं समाचरेत् ॥ १० ॥ एतत्सिद्धासनं प्राहुः केचिद्वज्रासनं विदुः ॥ सिद्धासनमिदं श्रेष्ठं पूजितं योगिपुंगवैः ॥ ११ ॥

योनिस्थान कहैं लिंग और गुदाके मध्य अर्थात् लिंगतैं नीचे और गुदातैं उंचे जो योनिस्थान है, ताविषे वामपाद अर्थात् वामपादको लगावै तिस वामपादके ऊपर दक्षिणचरण स्थापित करिकै दोनों भ्रूके मध्यमें दृष्टि स्थापितकारि पवनका अभ्यास करै ॥१०॥ इसको सिद्धलोग सिद्धासन कथन करैहैं और कोई कोई वज्रासन तथा मुक्तासनभी कहते हैं यह जो सिद्धासन है सो संपूर्ण आसनकेविषे श्रेष्ठ है और संपूर्ण योगीजनकरिकै पूजित अर्थात् अभ्यास करचो जाइ है ॥ ११ ॥

॥ अथ पद्मासनम् ॥

ऊर्वोपरि सुसंस्थाप्य शुभे पादतले उभे ॥
ऋजुकायः समासीन इति पद्मासनं भवेत् ॥ १२ ॥

दोनों जंघानके ऊपर दोनों पाव धारनकरिकै ऋजु कहैं सीधाशरीरसै बैठिजावै इसप्रकार पद्मासन कहावैहै ॥१२॥

॥ अथ कुक्कुटासनलक्षणम् ॥

पद्मासनसमं बध्वा जानोरभ्यंतरे करौ ॥
उत्थाप्य वासनादूर्ध्वं कुक्कुटं तद्वदेद्बुधः ॥ १३ ॥

कुक्कुटासनबंधस्थो वायुसाधनमाचरेत् ॥
निहंति सकलान्रोगानंधकारं यथा र-
विः ॥ १४ ॥

पूर्वोक्त जो पद्मासन ताहि समान बांधिकरि दोनों हाथ जानूनके भीतर करिकै आसनतैं ऊपर उठै अर्थात् पृथ्वी छोडदे आसन बांधिरहै इसको कुक्कटासन कहते हैं, १३ कुक्कुट आसन बांधिकरि जो पुरुष वायुका साधन करै सो संपूर्ण रोगनकूं दूरि करैहै जैसे सूर्य अंधकारकूं नाशकरैहै ॥ १४ ॥

॥ अथ भद्रासनलक्षणम् ॥

सीवन्या दक्षिणे भागे दक्षगुल्फं तु धार-
येत् ॥ वामभागे वामगुल्फमिति भद्रा-
सनं भवेत् ॥ १५ ॥

सीवनीके दक्षिणभागविषे दाक्षिणगुल्फ अर्थात् दाहिने पावका टकना स्थापित करि वामभागविषे वामगुल्फ अर्थात् वामपावका टकना धारण करै इसको भद्रासन कहैहैं ॥ १५ ॥

॥ अथ सिंहासनलक्षणम् ॥

गुदं निरुध्य पादाभ्यां हस्तौ जान्वोस्तु धार-
येत् ॥ मुखं विदार्य्य नासाग्रं निरीक्षेत्सुसमा-

हितः ॥१६॥ह्येतत्सिंहासनं प्रोक्तं योगशास्त्र
विशारदैः ॥ १७ ॥

गुदा जोडै ताहि दोनों पावनकरिकै रोकै दोनों हाथ घुटुवनपर धरै और मुख फैलाय नासिकाके अग्रभागकूं अच्छीतरहसे देखै ॥ १६ ॥ इसको योगशास्त्रवारे सिंहासन कथन करैहैं यह बहुतही अच्छा आसन है ॥ १७ ॥

॥ अथ कूर्मासनलक्षणम् ॥

पद्मासनं समं स्थाप्य जान्वोरभ्यंतरे करौ ॥
ताभ्यां शिरः समाकृष्य एवं कूर्मासनं
भवेत् ॥ १८॥कूर्मो यथा निजस्थाने अंगं
संकोचयेद्ध्रुवम् ॥ तद्वत्संकोचयेद्योगी
कूर्म्मासनमतांतरे ॥ १९ ॥

पद्मासनसमान स्थापितकरि घुटुवनके अनंतर जो हात तिनकरिकै अपना जो शिर ताहि ग्रहणकरै सो कूर्मासन होवै है ॥१८॥ जैसे कूर्म्म अपने स्थानविषे अपने अंगका संकोचन करैहै तिसप्रकार योगी अपने अंगका संकोचन करै यह मतांतरकेविषे कूर्मासन होवैहै ॥ १९ ॥

॥ अथ मयूरासनलक्षणम् ॥

हस्तौ धरामभिस्पर्श्य नाभिपार्श्वे तथोपरि॥
दंडवच्च समासीनो मयूरं च प्रकीर्त्तितम्॥२०॥

दोनों हाथ पृथ्वीमें धारिकारि तिसके टिहुनीनके ऊपर नाभिपार्श्व अर्थात् पेट धारिकारि दंडवत अर्थात् सीधा शरीरकरि स्थित होवै इसको मयूरासन कहैहैं जो जठराग्निको वर्द्धनकरैहै ॥ २० ॥

॥ अथ शवासनलक्षणम् ॥

मृतवच्छयनंभूमौ श्रमे जाते शवासनम् ॥
एतत सुखकरं नित्यं श्रमाभावे न चाभ्य-
सेत् ॥ २१ ॥

मृतककी तरह पृथ्वीमें शयनकरना इसको शवासन कहैहैं यह जो आसन सो सुखकारक है जब श्रम न हो तब इसका अभ्यास नहीं करना चाहिये और आसनोंके लक्षण वा साधनांशगुरुमुखतैं जानिबेके योग्य हैं ॥ २१ ॥

अनलसत्वमुपस्थबलक्षयोऽनिलनिरोध
पटुत्वमनूर्मिता ॥ पवनमंथरताप्युपजायते
स्थिरमतेरिह पीठजयात् किल ॥ २२ ॥

चिरकालके अभ्यासकरनेसे जिसकालविषे आसनका जय होवैहै तिसकालविषे अनलसत्व कहिये योगाभ्यासविषे महाविघ्नरूप जो आलस्य ताकी निवृत्ति होवै है, और उपस्थबलक्षय कहिये लिंगेंद्रियके बलकाभी क्षय होवैहै अनिल जो प्राणवायु है तिसके निरोधकरनेमें

सामर्थ्य होवैहै तथा अनूर्मिता कहिये क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, राग, द्वेष ये षट् ऊर्म्मियां हैं सो विनाशकूं प्राप्त होवैहैं पवनमंथरता कहिये प्राणवायुकी गतिभी मंद मंद होवैहै काहेसे कि कोई श्रममें तथा गमनमें जैसी शीघ्रता तैसी बैठनेसमयमें नहीं होती तातैं स्थिरमति जो साधकपुरुष वो आसनके जय होनेसेही संपूर्ण सिद्धिको प्राप्त होवैहै ॥ २२ ॥

अथ नादानुसंधाने वाय्वभ्यासपरायणः ॥
ब्रह्मचारी जितक्रोधी त्यागी योगरतः सदा
॥ २३ ॥ मिताहारी भवेत्सिद्धो ह्यब्दादूर्ध्वं
न सशयः ॥ २४ ॥

अथ जाके अनंतर नादके अनुसंधानविषे पवनके अभ्यासविषे परायण ब्रह्मचारी जितक्रोधी त्यागी कांक्षा रहित योगका प्रेमी निरंतर ॥ २३ ॥ प्रमाणका भोजन करै इस प्रकार एकवर्षते ऊपर सिद्ध होवैहै संशय नहीं है ॥ २४ ॥ आगे प्राणायामके निमित्त प्रथम क्रिया निरूपण करैहैं ॥

॥ अथ क्रियानिरूपणम् ॥

त्राटकं नौलिकं नेतिर्धौतिर्बस्तिस्तथैव
च ॥ कपालभातिर्विख्याता षट् कर्माणि
प्रचक्षते ॥ २५ ॥

त्राटक १ नौलि २ नेति ३ धौति ४ बस्ति ५ और कपालभाति ६ ये षट्कर्म्म महात्माओंने कहेहैं इनकरिकै शरीरकी शुद्धि होवैहै ॥ २५ ॥

॥ त्राटकलक्षणम् ॥

समीपमपि दूरस्थं सूक्ष्मं लक्ष्यं विलोकयेत् ॥ अश्रुसंपातनं यावत्तावन्मुद्रां समाचरेत् ॥ २६ ॥

समीप वा दूर जो कुछ सूक्ष्म लक्ष्य उसको इकटक जब तक अश्रुपात न होवै तबतक देखै इसकर्मको योगीजन त्राटककर्म कहैहैं यह संपूर्ण रोग नेत्रके विनाशकरैहैं ॥२६॥

॥ नौलिलक्षणम् ॥

यथा नदीनां बहुतोंबुवेगादावर्त्तवेगे ह्युदरं प्रचाल्यते ॥ मंदाग्निसंदीपनका सदैव हठक्रिया मुख्यतमा च नौलिः ॥ २७ ॥

जैसे नदीनमें बहुतसे जलके वेगतें भ्रमर उत्पन्न होवैहै तैसेही बडे वेगकरिकै उदर वाम दक्षिण भ्रमावै यह क्रिया सदैव काल मंदाग्निकूं बढावनेवारी है यह संपूर्ण हठयोगविषे नौलिकर्म्म मुख्य है ॥ २७ ॥

यावन्न प्राप्यते नौलिः सदैवानंददायिनी ॥ तावत्क्रियायां षट्कर्म्म निष्फलं नैव कारयेत् ॥ २८ ॥

सदैव काल आनंदके देनेवारी जबतक नौलिक्रिया न करना हो तबतक और संपूर्ण षट् कर्म्म अर्थात् क्रिया प्राप्त निष्फल है नहीं करना चाहिये काहेतें कि इसविना कोई ठीक नहीं होवैहै ॥ २८ ॥

॥ नेतिलक्षणम् ॥

सूत्रं वितस्तिमात्रं तु सुस्निग्धं ग्रंथिवर्ज्जितम् ॥ गुरूपदिष्टमार्गेण नासारंध्रे प्रवेशयेत् ॥ २९ ॥ मुखान्निष्कासयेच्चापि नेतिं सिद्धाः प्रचक्षते ॥ निहंति मांस्तकान्रोगान् दिव्यदृष्टिकरी सदा ॥ ३० ॥

अच्छासूत्र वितस्तिमात्र ग्रंथिरहित मौममें भिगोइ गुरुके वताये मार्गकरिकै नासिकामें प्रवेशकरै फिरि मुखसे वाहर निकारै इसक्रियाको सिद्धलोग नेति कहतेहैं सो क्रिया मस्तकके रोगोंको दूरिकरनेवारी है और नेत्रनकूं दिव्यदृष्टि करनेवारीहै ॥ २९ ॥ ३० ॥

१ मस्तकभवान् ।

॥ अथधौतिलक्षणम् ॥

सूक्ष्मवस्त्रं समानीय हस्तविंशप्रमाणतः॥ चतुरंगुलविस्तारं ग्रसेदुष्णेन वारिणा ३१॥ भ्रामयित्वा जलेनव वस्त्रं निष्कासये-च्छनैः॥ युक्तं युक्तंच गृह्णीयात् युक्तं युक्तं पुनस्त्यजेत् ॥३२॥ अभ्यसेद्भोजनादूर्ध्वं भोजनांते न चाभ्यसेत्॥ श्वासकासादिका रोगाः कफवातसमुद्भवाः॥ ३३॥ कुष्ठप्लीहा तृषा मूर्च्छा भ्रमदाहज्वरामयाः॥कर्म्मणा-नेन शुद्धेन क्षीयंते सकला मलाः॥ ३४॥

अच्छा सूक्ष्म कहै महीन वस्त्र वीस हाथ लांमा चारि अं-गुल चौडा पगडीके सो टूक ग्रहण करिकै उष्णजलतैं धीरे धीरे निगले ॥३१॥ और नौलिकर्म्मकरिकै उदरमें भ्रमावै फेर धीरे धीरे बाहर निकालै युक्ति युक्तिसों तौ ग्रहण करै और युक्ति युक्तिसों फेरि छोडै इसप्रकार धौतीकर्म्म होवैहै ॥ ३२ ॥ और भोजनसे पहिले इसका अभ्यास करै भोजनकरिकै नहीं श्वास कास आदिसे कफ वाततैं उत्पन्न जे रोग ॥३३॥ वा कुष्ठ प्लीहा तृषा मूर्च्छा भ्रम दाह ज्वर आमय और संपूर्ण जे मल ते यह धौतिकर्म्मकरिकै नाशकूं प्राप्त होवैहैं ॥ ३४ ॥

॥ अथ बस्तिलक्षणम् ॥

नाभिमात्रे जले स्थित्वा गुदेनाकुंचयेज्जलम्॥ पुनः प्रचालनं कुर्य्यात् बस्तिर्दोषवि-नाशनी ॥ ३५ ॥ अशेषदोषामयशोषिणी या मंदाग्निसंदीपनिका सदैव ॥ आरोग्यता बिंदुजयप्रदायिनी बस्तिक्रिया योगमते प्रसिद्धा ॥ ३६ ॥

नाभिमात्र जलके विषे स्थित होकर गुदाके आकुंचन करिकै जलकूं आकर्षण करै फेरि पूर्वोक्त जलकरिकै भ्रमण कराय परित्याग करै यह बस्तिकर्म्म संपूर्ण दोषके नाशक-रनेवारो है ॥ ३५ ॥ संपूर्ण दोषतैं उत्पन्नभयो जो आमय अर्थात् आमाशय ताके शोषण करनेवारी और मंदाग्निको बढावनेवारी और आरोग्यताको देबेवारी बिंदुको जयकी देनेवारी ऐसी बस्ति क्रिया योगमतमें प्रसिद्ध है ॥ ३६ ॥

॥ अथ कपालभातिलक्षणम् ॥

रेचकं पूरकं चैव द्रुतं पूरकरेचकौ कपाल भातिर्विख्याता लोहकारस्य चर्म्मवत् ॥ ३७॥ मंदाग्निदीपनी चैव कफदोष विशोषणी ॥ ३८ ॥

रेचक और पूरक शीघ्रकरिकै फिरि पूरकरेचक कपालभाति है नाम जाको जैसे लुहारकी धौंकनीसे वारंवार वायु आवै जावैहै तिसप्रकारही कपालभातिक्रिया होवैहै ॥ ॥ ३७ ॥ सो कैसीहै कि मंदाग्निके वढावनेवारी संपूर्ण कफके दोषोंकूं नाशकरैहै ॥ ३८ ॥

॥ अथ गजकर्णीक्रियालक्षणम् ॥

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य यद्भुक्तं तत्परित्यजेत्॥ ॥ ३९ ॥ गजकर्णी समाख्याता वश्या नाड्यो भवेद्ध्रुवम् ॥ ४० ॥

अपानवायु जो अधोगतिवायु है ताहि ऊपर कंठनालमैं खींच जो कुछ भुक्त अर्थात् खट्टा मीठा पदार्थ खाया हुवा है ताहि परित्यजेत् नाम बाहर निकालदेय इसको कपिलाचार्य्यादिने गजकरणीक्रियाकहाहै इसक्रिया कर्म्मतैं संपूर्ण नाडी वशीभूत होवैहैं यह षट्कर्म्म करिकै पृथक् है परंतु षट्कर्म्महीके अंतर्गत कोऊ मानैहैं ॥ ३९ ॥ ४० ॥

षट्कर्म्मप्रभावेण क्षीयंते सकला मलाः॥ ब्रह्मरंध्रं ततो वायुरनायासेन गच्छति ॥ ४१ ॥ गुह्याद्गुह्यतरं दिव्यं घटशोधनकारकम् ॥ सामान्यमानुषस्यैव न देयं यस्य कस्यचित् ॥ ४२ ॥

इस षट्कर्मके प्रभावकरिकै संपूर्ण मलनका नाश होवैहै तदनंतर वायु अनायास विना श्रमकरिकै ब्रह्मरंध्र जो सुषुम्नामार्गताविषे गमनकरैहै ॥ ४१ ॥ ये षट् कर्म गुह्यते गुह्य हैं और दिव्य हैं घट जो शरीर ताके शोधनकारक हैं य किसी सामान्यमनुष्यको न देना उचित है ॥ ४२ ॥

॥ अथ समाधिवर्णनम् ॥

चित्तं न साध्यं विविधैर्विचारैर्वितर्कवादैरपि वेदवादिभिः ॥ तस्मात्तु तस्यैव हि केवलं जयः प्राणो हि विद्येत न चान्यकश्चित् ॥ ४३ ॥

नानाप्रकारके विचार तथा शास्त्रार्थादि तथा वेदश्रुति कथन करना इसकरके मनसाध्य नहीं होवैहै तिसके जय करनेमें अर्थात् वश करनेमें केवल एक प्राणवायुही समर्थ है अन्य कोई उपाय नहीं ॥ यथा—भर्तृहरिकृत ॥ भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचचला आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलीनांबुवद्भंगुरम् ॥ लोलायौवनलालना तनुभृतामित्याकलय्यद्रुतं योगे धैर्य्यसमाधिसिद्धिसुलभे बुद्धिं विधत्ते बुधाः ॥ १ ॥ अर्थ—विस्तृत मेघमें चमकतीहुई विजुलीसमान देहधारियोंका भोग चंचल है वायुसे

छिन्न भिन्न मेघजलके समान आयुभी नाशमान् है और यौवनका उमंगभी स्थिर नहीं है तातैं हे पंडितो ऐसा समझिकारि समाधिकी सिद्धिसे सुलभ जो योग तिसमें बुद्धि धारण करो ॥ ४३ ॥

॥ अथ समाधिकालः ॥

एकश्वासमयी मात्रा प्राणायामे निगद्यते ॥ अधमे द्वादश प्रोक्ता मध्यमे द्विगुणाः स्मृताः ॥ ४४ ॥ उत्तमे त्रिगुणा मात्राः प्राणायामे प्रचक्षते ॥ प्राणायामाद्विषट्केन प्रत्याहार उदाहृतः ॥ ४५ ॥ प्रत्यहाराद्विषट्केन धारणा परिकीर्तिता ॥ भवेदीश्वरसान्निध्यं ध्यानं द्वादश धारणाः ॥ ध्यानं द्वादशकं यत्स्यात्सा समाधिर्विधीयते ॥ ४६ ॥

सोवतपुरुषकी एकश्वासकूं एकमात्रा प्राणायाममें कथन करैंहैं सो प्राणायाम १२ मात्रासे अधम और चौवीस २४ से मध्यम ॥४४॥ और छत्तीस ३६ से उत्तम प्राणायाम होवैहै और १२ प्राणायामसे १ प्रत्याहार होताहै ॥ ४५ ॥ और १२ प्रत्याहारसे धारणा तथा १२

धारणासे १ ध्यान और १२ ध्यानसे एक समाधि वह अपूर्व आनंददेवेवारी है सो वार्ता गीताजीमें कहीहै ॥ यथा—यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ॥ अर्थ—जिससमाधिकूं प्राप्त हो पुरुष और लाभ अधिक नहीं मानैहै इससमाधिसुखकूं मैं कहां वर्णन करूं इसकूं तौ कोई महात्मा सम्यक् प्रकार वर्णन नहीं करिसकते जो करता वही जानता अन्य नहीं सो वार्ता दक्षस्मृतिमें कहीहै॥यथा—स्वसंवेद्यं हि तद्ब्रह्म स्त्रीकुमारीसुखं यथा अयोगी नैव जानाति जात्यंधो हि यथा घटम् ॥ १ ॥ अर्थ—सोई उसब्रह्मकूं सम्यक् प्रकार जानैहै जैसे यौवन अवस्थाकी स्त्री पतिसंभोगजन्य सुखकूं आपहीं अनुभव करैहै तैसे अयोगी उस ब्रह्मकूं नहीं जानसकते जैसे जन्मांधपुरुषकूं घटके स्वरूपका बोध प्रतीत नहीं होता॥दोहा—अज्ञानीकों जगलटौ,ज्ञानवानकूं ऐन॥अंधेकों जिमि अंधग्रह दृगवारेकों चैन ॥ ४६ ॥

॥ अथ प्राणायामः ॥

अथासने दृढीभूते सुशोभनमठे यदा ॥ गुरुं नत्वा शिवं चैव प्राणायामस्ततोभ्यसेत् ॥ ४७ ॥

प्राणायामनिरूपण कथन करैहैं सुंदर जो मठ तामें आसन बांधिकरि अपने गुरु वा योगाचार्य्य शिव जो हैं तिनाहि प्रणाम करिके अनंतर शिक्षापूर्वक प्राणायाम करै ॥ ४७ ॥

समकायः प्राञ्जलिश्च प्रणम्य च गुरून्सुधीः ॥ दक्षे वामे च विघ्नेशं क्षेत्रपालांबिकां पुनः ॥ ४८ ॥

समकाय हाथ जोडिकर गुरु जो हैं वा वाम दक्षिण विघ्नेश गणेश वा क्षेत्रपाल तथा जगन्माता पृथ्वीकूं प्रणाम करैं ॥ ४८ ॥

प्राणायामशरीरस्य वायोस्तद्वन्निरोधनम् ॥ आचार्याणां तु केषांचिद्रेचकपूरककुंभकैः ॥ ४९ ॥

अब प्राणायामको लक्षण कहैं हैं शरीरके भीतर भरेहुए वायुके निरोधकूं प्राणायाम कहैं हैं तथा कोई आचार्य्य रेचक पूरक कुंभक इनकरिके प्राणायाम कहैहैं ॥ ४९ ॥

रेचकाद्रेचकश्चैकः पूरकात्पूरको मतः ॥ सहितः केवलश्चेति कुंभकोपि द्विधा भवेत् ॥ ५० ॥

रेचक कर्म्मकरिकै रेचकपूर्वक प्राणायाम, पूरक कर्म्मकरिकै पूरकपूर्वक प्राणायाम सहितकुंभक तथा केवल कुंभक इसप्रकार कुंभककेभी दो भेद हैं ॥ ५० ॥

रेचकात् पूरकाच्चैव सहितः कुंभकः स्मृतः ॥ आभ्यां विरहितः कुंभः केवलस्योपजायते ॥ ५१ ॥

रेचक वा पूरक कर्मकरिकै जो प्राणायाम है सो सहित कुंभक जानिये रेचक वा पूरक इन करिकै रहित जो कुंभक सो केवलकूं प्राप्त करैहै अर्थात् यहीसों केवलकुंभक कहैं हैं ॥ ५१ ॥

॥ अथ कुंभकाष्टभेदाः ॥

उज्जायी शीतली भस्त्रा सीत्करी भेदनी तथा ॥ प्लावनी मूर्छिका चैते भ्रामरीत्यष्टनामकाः ॥ ५२ ॥

अब अष्टप्रकारके कुंभकभेद वर्णनकरैं हैं उज्जायी, शीतली, भस्त्रा, सीत्करी, भेदनी, प्लावनी, मूर्छिका, भ्रामरी ये अष्टनामकी कुंभकक्रियाके अष्टभेदहैं ॥ ५२ ॥

॥ उज्जायीलक्षणम् ॥

वायुमाकृष्य नाडीभ्यां पूरयेदुदरं द्रुतम् ॥ अत्यंतकुंभकं कृत्वा रेचनं तु शनैः

शनैः ॥ ५३ ॥ गुल्मप्लीहोदरान् रोगान् वातपित्तकफोद्भवान्॥उज्जायी भस्त्रिका द्वौ च कुंभकेमे निहंति हि ॥ ५४ ॥

वायु जो है ताहि दोनों नाडिनकरिकै शीघ्रतासे उदरको पूर्ण करै अत्यंत कुंभक अर्थात् बडी देरतक कुंभक करै फिर शनैः शनैः रेचक करै यह उज्जायी कुंभक है॥५३॥ यह उज्जायी कुंभक तथा भस्त्रिका कुंभक ये दोनों गुल्म तथा प्लीहा और वात पितोद्भव उदरके जे रोग हैं तिनको निश्चय हनन करते हैं ॥ ५४ ॥

॥ अथ शीतलीलक्षणम् ॥

काकचंच्वा पिबेद्वायुमेकदेशे विचक्षणः ॥ ईशत्वं प्राप्य तं योगी अब्दादूर्द्ध न संशयः ॥ ५५ ॥

एक स्थानके विषे विचक्षण जो योगी सो जिह्वाको काकचंचुकी नाईं करिकै वायुको पान करै यह शीतली कुंभक है यातैं येगी एक वर्षते ऊर्ध्व ईशत्वको प्राप्त होवै है यामें कोई संशय नहीं ॥ ५५ ॥

॥ अथ भस्त्रिकालक्षणम् ॥

चर्म्मवल्लोहकारस्य वायुं वेगेन पूरयेत्॥पुनर्विरेचयेत्तद्वत् पूरयेच्च तथाविधि ॥५६॥

लोहकारके चर्म्मकीनांई वेगकरिकै वायुको पूरण करै फिरि तिसी तरह छोडै फिरि प्रथमवत् पूरण करै ॥ ५६ ॥

आपूर्य ह्युदरं पश्चात् कुंभकं कारयेद्बुधः॥ सीत्करीत्युष्णसमये शीतली च तदैवहि ॥ ५७ ॥ भस्त्रिका सर्वदा पूज्या ब्रह्मरंध्रविभेदनी ॥ ५८ ॥

पीछे उदरको पूरण करै प्रातः बुध कुंभकको करै सो भस्त्रिका है सीत्करी और शीतली कुंभक उष्णसमयमें करीजाय है ॥ ५७ ॥ ब्रह्मरंध्रके भेदन करिबेवारी जो भस्त्रिका सो सर्वदा नाम सब समयमें पूज्य है अर्थात् सब समयमें करी जावै है ॥ ५८ ॥

जिह्वया वायुमाकृष्य कुंभकं कारयेत्सुधीः ॥ कुंभयित्वा यथाशक्ति भूयो घ्राणेन रेचयेत् ॥ ५९ ॥

जिह्वाकरिकै वायुको खींचकरि बुद्धिमान योगी कुंभककों करै यथाशक्ति कुंभक करिकै नासिकातैं रेचन करै अर्थात् वायुकूं छोडे ॥ ५९ ॥

॥ अथ सीत्करीलक्षणम् ॥

रूपलावण्यसंपन्नो योगी भवति भूतले ॥ न निद्रा न क्षुधा तस्य योगिनो बाधते भृशम् ॥ ६० ॥

यह सीत्करी कुंभक करेतैं रूप लावण्य करिकै संपन्न योगी भूतलके विषे होवैहै ताको निद्रा वा क्षुधाकी बाधा नहीं होवै है ॥ ६० ॥

॥ अथ भेदनीलक्षणम् ॥

आकेशपादपर्य्यंतं कुंभकं रोचयेत् खगम्॥ सूर्य्यनाड्या समाहृत्य बहिःस्थं पवनं सुधीः ॥ ६१ ॥

बुद्धिमान्योगी सूर्य्यनाडी करिकै बाहिरके वायुकों शीशतैं पादपर्य्यंत कुंभकरूपी जो पक्षी ताहि रोचयेत नाम धारणकरै ॥ ६१ ॥

यदा श्रमो भवेद्देहे ततो चंद्रेण रेचनम्॥ श्रमशीतहरी पुंसां जठराग्निविवर्द्धनी ॥६२॥

देहमें जो श्रम होयतौ चंद्रनाडीकरिकै वह वायुको रेचन करिदेवै सो भेदनी कुंभक है यह श्रम और शीतके हरनकरिबेवारी और जठराग्निको बढावनेवारी पुरुषनके हेतु जाननी ॥ ६२ ॥

॥ अथ प्लावनीलक्षणम् ॥

उद्गाररूपिणं प्राणं पूरयेदुदरं प्रति॥तदा जले प्यगाधे हि तिष्ठते पद्मपत्रवत् ॥ ६३ ॥

उद्गाररूपी प्राण जो पवन ताहि उदरमें पूरित करै तौ अगाध जो जल ताके विषे निश्चयकरिकै पद्मपत्रकी नाई स्थित होवै याको प्लावनी कहैं हैं ॥ ६३ ॥

॥ अथ मूर्च्छिकालक्षणम् ॥

प्राणमाकृष्य नाडीभ्यां स्थापयेच्चुबुकं हृदि ॥ मूर्छिकाकुंभकेयं तु मनोमूर्च्छा सुखप्रदा ॥ ६४ ॥

नाडीनकरिकै प्राणवायुको आकर्षणकरिकै चिबुकको हृदयके ऊपर स्थापित करै यह मूर्च्छिका कुंभक मनको मूर्च्छितकरिबेवारी और सुखप्रदा नाम सुखकी देबेवारी है ॥ ६४ ॥

॥ अथ भ्रामरीलक्षणम् ॥

पूरके भृंगवन्नादं भृङ्गीनादं विरेचने ॥ आनंदो जायते चात्र योगिनः कामरूपिणः ॥ ६५ ॥

पूरकके विषे भृंगनाद और विरेचनके विषे भृंगीनाद कामरूपी योगीको आनंद जब उत्पन्न करै तब भ्रामरी कुंभक होवैहै ॥ ६५ ॥

कामचारित्वमीशत्वं खेचरत्वं प्रयत्नतः ॥ अनेन विधिना योगी लभते वाञ्छितं फलम् ॥ ६६ ॥

याकरिकै कामचारित्व और ईशत्व तथा खेचरत्व और वांछितफल प्रयत्नपूर्वक योगीको प्राप्तहोवैं हैं ॥ ६६ ॥

इदानीं कथयिष्यामि मुक्तस्यानुभवं प्रियम् ॥ यल्लब्ध्वा लभते मुक्तिं पापयुक्तोऽपि मानवः ॥ ६७ ॥

इसकालविषे मुक्तपुरुष जे हैं तिनका जो प्रिय अनुभव तिसका वर्णन करैं हैं जिसको प्राप्तहोकरि पापयुक्त मनुष्यभी मुक्तिको प्राप्त होताहै ॥ ६७ ॥

वपुःसमत्वं दहनप्रदीप्तिः नादस्फुरत्वं वदने सुकांतिः॥ प्रशांतचित्तत्वजितेंद्रियत्वमेतानि सर्वाणि ततो भवंति ॥ ६८ ॥

शरीरकी समता अर्थात् कृशता स्थूलतातैं रहित जठराग्निकी प्रदीप्ति, नादका स्फुटभाव अर्थात् प्रकाशहोना मुखकेविषे सुकांति प्रशान्ताचित्त होना वा जितेंद्रियत्व ये संपूर्ण वायुके साधनतैं प्राप्त होवैं हैं ॥ ६८ ॥

चंद्रनाड्या समाकृष्य बहिस्थं पवनं शनैः ॥ कुंभयित्वा यथाशक्ति रविणा रेचयेत्ततः ॥ ६९ ॥ भूयः सूर्येण

चाकृष्य पूरयेदुदरं तथा ॥ विधिना कुंभकं कृत्वा ततश्चंद्रेण रेचयेत् ॥ ७० ॥

प्राणायाम कहिकरि मलशोधक प्राणायाम वर्णन करैंहैं चंद्रनाडी जो वामनाडी है ताकरिकै वायुकूं सम्यक्प्रकार आकर्षण करै फेरि यथाशक्ति कुंभक करै ततः ताके अनंतर सूर्य जो दक्षिणनाडी है ताकरिकै रेचन करै ॥ ६९ ॥ भूयः कहे फेरि सूर्य्य जो पिंगला नाडी है ताकरिकै वायुसे उदर पूर्ण करै फेरि विधिपूर्वक अर्थात् उड्यान जालंधर मूलबंध इनकरिकै कुंभककारि फेरि इडानाडीकरिकै रेचन करै ॥ ७० ॥

इडया पूरयेद्वायुं यथाशक्त्या तु कुंभयेत् ॥ ततस्त्यागः पिंगलया शनैरेव न वेगतः ॥ ७१॥

इडा जो वामनाडी ताकरिकै वायुको पूरणकरिकै यथाशक्ति कुंभक करै फेरि पिंगला जो दक्षिण नाडी ताकरिकै शनैः शनैः त्यजेत् वेगकरिकै नहीं छोडै वेगसे छोडनेमें बलहानि होवैहै ॥ ७१ ॥

यदा नाडी विशुद्धा स्यान्मलाः शुद्धिं प्रयांति च ॥ तदैव जायते योगी प्राणसं-

ग्रहणे क्षमः ॥ ७२ ॥ उत्कृष्टा खेचरी मुद्रा अवस्थायां मनोन्मनी ॥ कुंभकः केवलः श्रेष्ठो धन्यः पुण्यश्च मोक्षदः ॥ ७३ ॥

जा नाडीतैं रेचन करै ताकारिकैही पूरक करै और अतिरोधतैं धारण करै फेरि अन्यनाडीतैं रेचन करै वेगतैं नहीं करै जा कालविषे योगीकी नाडीशुद्धि अच्छीतरहसे होवैहै ताकालविषेही योगी प्राणसंग्रहणकरिबेमें समर्थ होवैहै ॥ ७२ ॥ जिसप्रकारसे संपूर्ण मुद्रानाविषे खेचरी श्रेष्ठ है, अवस्थानमें मनोन्मनी श्रेष्ठ है तिसप्रकार संपूर्ण कुंभक सूर्य्य भेदनादिकनमें केवल कुंभक श्रेष्ठ है, सो कुंभक मुद्रा धन्य है, तथा पुण्य है और मोक्षके देनेवारी है ॥ ७३ ॥

एवं क्रमेण षण्मासे केवलं प्राप्नुयाच्छुभम् ॥ कुंभके केवले प्राप्ते उपतिष्ठंति सिद्धयः ॥७४॥

पूर्व कहेहुए प्रकार रेचक पूरक, कुंभक क्रमकरिकै षट्मासविषैं आपही आप केवलकुंभक प्राप्त होवैहै ॥ ७४ ॥

॥ अथ केवलकुंभकलक्षणम् ॥

रेचनाद्रेचकश्चैव पूरकात् पूरको भवेत् ॥ आभ्यां विरहितः कुंभः केवलश्चेति कथ्य

॥ ७५ ॥ ॐमित्येकाक्षरं मात्रा प्रवदंति मनीषिणः॥ तालत्रयं तथा केचिन्मात्रासंज्ञा प्रचक्षते ॥ ७६ ॥

केवलकुंभकके लक्षण कहैहैं कि रेचक करनेसे रेचक प्राणायाम और पूरक करनेसे पूरकप्राणायाम होवैहै रेचक वा पूरक इन करिकै रहित जो कुंभक सो केवलकुंभक कहावैहै सो जबतक केवलकुंभक प्राप्त न हो तबतक रेचकपूर्वक तथा पूरकपूर्वकही अभ्यास करना चाहिये सो अभ्यास मात्राके स्मरणपूर्वक करना योग्यहै ॥ ७५ ॥ मात्रा कहैं ओं यहही एक प्रणवको योगीजन मात्रासंज्ञा कथन करैहैं तथा कोई आचार्य्य तीनतालको भी कहैहैं ॥ ७६ ॥

नीचो द्वादशकं मात्रा मध्यमो द्विगुणास्तथा॥उत्तमो त्रिगुणा मात्राः प्राणायामे निगद्यते ॥ ७७ ॥ कनिष्ठे जायते स्वेदः मध्यमे कंपते शिरः ॥ उत्तमे चास्ति चोत्थानं धूमानंदस्तथैव च ॥ ७८ ॥

सो प्राणायाम बारहमात्राको कनिष्ठ तथा चौबीसमात्राको मध्यम व छत्तीसमात्राको उत्तम होवैहै ॥ ७७ ॥ कनिष्ठ प्राणायामविषे पसीना उत्पन्न होवैहै तथा मध्यममें

शिर कांपैहै और उत्तममें आसन भूमिसे थोड़ा ऊपर उठैहै तथा मस्तकमें धूम वा चित्तको आनंद प्राप्त होवैहै ॥७८॥

प्रातःकाले च मध्याह्ने सायंकाले च
कुंभकान् ॥ कुर्यादेवं चतुर्वारं तथैव चा-
र्द्धरात्रके ॥ ७९ ॥ यदा संजायते स्वेदः
मर्दनं कारयेत्सुधीः ॥ दृढता लघुता चैव
तेन गात्रस्य जायते ॥ ८० ॥

प्रातःकाल अरुणोदयसे लेकरि सूर्योदयपर्य्यंत मध्याह्नकालमें तथा सायंकाल और अर्द्धरात्र इन चारों समय विषे कुंभकप्राणायाम करना योग्य है ॥ ७९ ॥ कनिष्ठप्राणायामविषे जो पसीना उत्पन्न होवै है ताकरिकै शरीरको मर्दन करै तासे गात्रकी दृढता वा लघुता प्राप्त होवै है ८०

वर्ज्यं चाथ प्रवक्ष्यामि योगे विघ्नकरं
परम्॥ यस्य सेवनमात्रेण योगो नश्यति
योगिनाम् ॥ ८१ ॥ कट्वम्लं लवणं रूक्षं
तीक्ष्णं सार्षपकुघृतम् ॥ प्रातःस्नानं जन
द्वेषं मोहं च प्राणिपीडनम् ॥ ८२ ॥

अब जाके अनंतर वर्जनीय वर्णन करैं हैं जाके सेवनमात्रसे योगीनको योग नष्ट होवै है ॥ ८१ ॥ कटु अम्ल

इमली इत्यादि अति लवण रूखो तीक्ष्ण सरसों पुराना घृत प्रातःकाल स्नान करना मनुष्योंसे वैरभाव रखना वा किसीस मोह करना वा हिंसा करना ॥ ८२ ॥

सेवनं पथि अग्निस्त्रीबह्वालापं प्रिया-
प्रियम् ॥ अतीव भोजनं त्याज्यं योगिभि-
स्तत्त्वदर्शिभिः ॥ ८३ ॥

मार्गका चलना अग्निका सेवन और स्त्रीका सवन करना प्रिय तथा अप्रिय बहुत बोलना अत्यंत अधिक आहार करना तत्वदर्शी योगीको अवश्य इतनी वस्तु त्यागना योग्य हैं ॥ ८३ ॥

अथोपायं प्रवक्ष्यामि क्षिप्रं योगस्य
सिद्धये ।। सुस्निग्धं मधुराहारं मिष्टान्न
तैलवार्ज्जितम् ॥ ८४ ॥ घृतं क्षीरं मधुयुतं
गव्यं धातोश्च पोषणम् ॥ मनोभिलषितं
योग्यं ताम्बूलं चूर्णवर्जितम् ॥८५॥ वेदां-
तश्रवणं नित्यमेकांतगृहसेवनम् ॥ नामसं-
कीर्तनं विष्णोर्नियमानि समाचरेत् ॥८६॥
धृतिः क्षमा दया शौचं सुस्निग्धं सूक्ष्मवस्त्र
कम् ॥ इत्येतानि सदा योगी नियमानि
समाचरेत् ॥ ८७ ॥

अब योगके शीघ्र सिद्धिके अर्थ उपाय कहेंहैं सुस्निग्ध कहें सचिक्कन मधुर कहें कोमल अशन जो बहुत सूक्ष्म ऐसा आहार करै मिष्टान्न तैलकरिकै रहित अर्थात् तैलको न होय ॥ ८४ ॥ घी दूध मधुयुक्त अर्थात् मेपरकरिकै सहित चावलको भात गव्य नैनू तथा अन्य पथ्य धातु-पोषनकरनेवारो पदार्थ रुचिपूर्वक योग्य तथा चूर्णवर्जित ताम्बूल ॥ ८५ ॥ वेदान्तश्रवण नित्य एकांतगृहसेवन ईश्वरनामसंकीर्तन इसप्रकार नेमसे रहै॥ ८६॥ धैर्य्य क्षमा दया शौच सुस्निग्ध अर्थात् अच्छा सूक्ष्म कहें थोडासा वस्त्र धारणकरै इतने कहे जो नियम हैं सो सदैव काल योगी-नकों आचारण करना योग्य है ॥ ८७ ॥

सद्यो भुक्तेऽपि नाभ्यासेः क्षुधितेऽपि न चाभ्यसेत् ॥ अनिलेऽर्कप्रवेशे च भोक्तव्यं सर्वसौख्यदम् ॥ ८८ ॥ वायौ प्रविष्टे शशिनि शयनं साधकोत्तमैः ॥ अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ॥ ८९ ॥ सुयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ॥ तस्माद्युक्तेन कर्तव्यं साधकेन समासतः॥ ९० ॥

॥ सद्य कहें भोजन करिकै तुरंत तथा जब क्षुधित हो तब कदापि अभ्यास न करना चाहिये जिस समय अनिल जो वायु अर्क जो दक्षिण श्वासामें प्रवेश करै तिससमय संपूर्ण सुखके देवेवारो भोजन करै ॥ ८८ ॥ जिससमय वायु शशि जो वामश्वासा तिसमें प्रविष्ट हो तिससमयही साधकको शयन करना चाहिये अयुक्त योगाभ्यास करिकै संपूर्ण रोग उत्पन्न होवै हैं ॥ ८९ ॥ तथा युक्तिसैंयोगाभ्यास करनेसे संपूर्ण रोगोंका नाश होवैहै तस्मात्कहें ताते साधककरिकै युक्तिसूं सम्यक्-प्रकार योग कर्त्तव्य है ॥ ९० ॥

इत्थं मासत्रयं कुर्यादनालस्यो दिनेदिने ॥ तस्य नाडी विशुद्धिस्स्याद्योगिनस्तत्त्व-दर्शिनः ॥ ९१ ॥

इसप्रकार पूर्वोक्त साधन रेचक पूरक कुंभक अनालस्य कहें आलसरहित होकर तीन महीना अभ्यास करै तिस तत्वदर्शी योगीकी नाडी विशेषकरिकै शुद्धि होवैहै ॥ ९१ ॥

देहस्य कांतिर्जठरानलोन्नतिः सुशक्ति-बोधो मनसश्च योग्यता ॥ नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्म्मले ह्येतानि चिह्नानि ततो भवन्ति ॥ ९२ ॥

अब नाडीके शुद्धिताके लक्षण वर्णन करेहैं नाडी शुद्धिके अनंतर देहकी कांति जठराग्निकूं दीपनशक्ति कुंडली है ताको बोध उत्थान होवैहै मनसः योग्यता कहैं मनको आरंभविषे विश्वास प्राप्त होवैहै नादकी प्रगटता निर्मल नेत्र ततः कहैं नाडीशुद्धिते इतने चिह्न अवश्य होवैहैं ॥ ९२ ॥

उड्यानजालंधरमूलबंधैरनिद्रतायामुरगां-गनायाम्॥ प्रत्यङ्मुखेन प्रविशन् सुषुम्नां गमागमौ मुंचति गंधवाहः ॥ ९३ ॥

उड्यान जालंधर मूलबंध मुद्रनकरिकै उरगांगना जो सर्पिणी है सो निद्राछोडि पूरवको मुख करिकै सुषुम्ना जो ब्रह्मनाडी तामैं प्रवेश करि गमन आगमन जो वायुमार्ग सो परित्याग करि समाधिस्थ होवै हैं ॥ ९३ ॥

प्राणाभ्यासे क्रमेणैव घटिकात्रितयं यदा ॥ तदा स्यात्सकला सिद्धिर्योगिन-स्तत्वदर्शिनः ॥९४॥ सूक्ष्मदृष्टिः खेचरत्वं दिव्यकायस्तथैव च ॥ दूरश्रुतिः सत्य-वाक्यं परकायप्रवेशनम् ॥ ९५ ॥ अदृश्यं कामचारित्वं भवंत्येतानि सर्वतः॥

भवेद्वीर्य्यवती गुप्ता गुरुवक्त्रसमुद्भवा ॥ अन्यथा फलहीना स्यान्निर्वीर्य्याप्यतिदुः-खदा ॥ ९६ ॥

क्रम करिकै प्राणायामके अभ्यासविषे जिसकाल प्राण-वायु तीन घडी स्थिर होवै है तिसकालविषे संपूर्ण योग-सिद्धि प्राप्त होवै है तत्वदर्शीपुरुषको ॥ ९४ ॥ सूक्ष्मदृष्टि खेचरत्व कहै आकाशविषे गमन दिव्यशरीर परशरीर विषे प्रवेश करना ॥९५॥ अदृश्य कहैं अंतर्द्धानत्व कामचारी कहैं इच्छापूर्वक विचारना इतनी संपूर्ण सिद्धियां होवैहैं गुरुके मुखकरिकै जो विद्या प्राप्त होवैहै वा गुप्त है सो विद्याही मोक्ष वा सिद्धिकी करनेवारी होवैहै नहीं तो फलहीन निर्वीर्य अतिदुःखदेनेवारी होवैहै ॥ ९६ ॥

पवनाभ्यासने योगी घटावस्थां यदा व्रजेत् ॥ तदा संसारचक्रेऽस्मिन् यन्नास्ति तन्न प्राप्नुयात् ॥ ९७ ॥

साधक पुरुष जिसकालविषे घटावस्थाको प्राप्तहो-वैहै तिसकालमें इस संसारचक्रविषे ऐसी कोई वस्तु नहीं जो प्राप्त न हो ॥ ९७ ॥

प्राणापानौ नादबिंदू जीवात्मपरमात्मनौ ॥ एकत्र घटते यस्मात् तस्माद्वै घट उच्यते ॥ ९८ ॥

प्राण और अपान नादबिंदु जीवात्मा और परमात्मा यातें एकस्थानकी घटना सो घटावस्थालक्षण होवैहै॥९८॥

याममात्रं यदा धतु शक्तिस्स्याद्वायुसाधने ॥ प्रत्याहारस्तदा प्रोक्तः साधकस्य महात्मनः ॥ ९९ ॥

एकप्रहरपर्य्यंत वायुसाधनविषे शक्ति होय जिसकालविषे तिससमयही महात्मा साधकपुरुषका प्रत्याहार होवै है सो वार्ता अन्यग्रथमेंभी लिखा है–प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारउदाहृतः॥प्रत्याहारद्विषट्केन धारणा परिकीर्तिता ॥१॥भवेदीश्वरसंगत्यै ध्यानं द्वादश धारणा ध्यानद्वादशके यत्स्यात् समाधिस्साऽभिधीयते ॥ २ ॥ अर्थ–बारह प्राणायाम करिकै १ एकप्रत्याहार होवैहै और बारह प्रत्याहारसे एक धारणा और बारह धारणासैं ध्यान १ एक तथा बारह ध्यान होनेसे १समाधि होवै है तथा प्रत्याहार वर्णन करैं हैं ॥ ९९ ॥

॥ अथ प्रत्याहारवर्णनम् ॥

रूपं रस तथा स्पर्शं शुभं वा यदि वाशुभम् ॥ सर्वमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहारेति योगवित् ॥ १०० ॥ सुगंधमथवा गंधं मेध्यामेध्यं तथैव च ॥ सर्वमात्मेति त मत्वा प्रत्याहारेति योगवित् ॥ १०१ ॥ रूपादिविषयाः पंच मनश्चैवाति चंचलम् ॥ सवमात्मति विज्ञाय प्रत्याहरेति योगवित् ॥ १०२ ॥ इंद्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः ॥ बलादाकर्षणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥ १०३ ॥

रूप रस स्पर्श अच्छा तथा बुरा सो सबको अपनी आत्मा मान योगवेत्ता प्रत्याहार करैं हैं॥१००॥ सुगंध तथा दुर्गंध पक्क तथा अपक्क सबको अपनी आत्मा मानि प्रत्याहार होवैहै अर्थात् योगवेत्ता प्रत्याहारकरैं हैं ॥ १०१ ॥ रूपआदिलेकरि पांच रूप रस गंध स्पर्श शब्द और चंचल मन सब अपनी अपनी आत्मा जानि योगवेत्ता प्रत्याहार

करै ॥ १०२ ॥ संपूर्ण इंद्री स्वभातेहीं विषयके विषे विचरतीहैं तिनको बलत आहरण करना अर्थात् विषयतैं हटाना प्रत्याहार होवह ॥ १०३ ॥

तपःप्रवृद्धिः मनसः प्रसन्नता सुरप्रसादोपि हि दैन्यसंक्षयः॥ द्रुतं प्रवशश्च तथैव संयमे जितेंद्रियस्येह किलोपजायते॥१०४॥

प्रत्याहारतैं जिसकालविषे इंद्रियजित होवैहै तिसकालविषेही संपूर्ण सिद्धि प्राप्त होवैहैं तपःप्रवृद्धिः कहिये तपकी वृद्धि होवैहै काहेतें कि, इंद्रियजित पुरुष हीको तपकी सिद्धि होवैहै सो वार्ता अन्यस्मृतिमें कथन करी है यथा—मनसश्चेंद्रियाणां च निग्रहं परमं तपः ॥ तज्जायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते॥अर्थ—मन और इंद्रीनकी जो स्वस्वविषयोंसे निग्रह करना परम तप है और सोई सर्व सधर्मोंसे श्रेष्ठ धर्म है तथा मनसःप्रसन्नता कहिये मनकूं प्रसन्नता प्राप्त होवै है औ सुरप्रसाद अर्थात् संपूर्ण देवता उसके ऊपर प्रसादकहै प्रसन्न होवैं हैं दैन्यसंक्षय जितेंद्रीपुरुषकी दीनताकाभी अभाव होवै है काहेतें कि अजितेंद्रीपुरुषहो सर्वदा स्त्रीपुत्रादिकोंके पोषण करनेके निमित्त याचना करै है सो वार्ता भागवतमें कही है यथा-

जिह्वोपस्थादिकार्पण्याद्गृहपालयते जनः॥यह पुरुष सर्वदा जिह्वा और उपस्थादि इंद्रियोंके विषयमें लोलुप भया श्वानकीनांई डोलै है तथा भर्तृहरिशतकमें भी कहा है ॥ यथा को देहीति वदेत्स्वदग्धजठरस्यार्थे मनस्वीजनः ॥ बुद्धिमान् पुरुषकोईभी अपने एक उदरके वास्ते यांचा करै अर्थात् कोई नहीं ' द्रुतं प्रवेशश्चतथैव संयमे ' इंद्रियोंके जय होनेसे साधक पुरुषको योगका जो मुख्य साधन धारणाध्यानसमाधिरूप सो शीघ्र प्राप्त होवै है यह संपूर्णवार्त्ता जितेंद्री पुरुषको निश्चय करिकै प्राप्त होवै है ॥ १०४ ॥

॥ अथधारणालक्षणम् ॥

भूमिरापस्तथा तेजो वायुराकाश वै क्रमात्॥
एतेषु पंचभूतेषु धारणा पंच कारयेत्॥१०५॥

पृथ्वी १ जल २ अग्नि ३ वायु ४ आकाश ५ इनपांच महाभूतोंमें पांचप्रकार धारणा होवै है सो करैं इसप्रकार धारणाद्वारा पांच महाभूतोंकी जय होनेसे योगी अमरभावकूं प्राप्त होवै है तथा स्वरूपवर्णन सो वार्ता शिवसंहितामें कथन करी है यथा—मेधावी पंचभूतानां धारणां यः समभ्यसेत ॥ ब्रह्मशतगतेनापि मृत्युस्तस्य न विद्यते॥१॥अर्थ जो मेधावी योगी पुरुष पूर्वोक्तप्रकारसे पांच महाभूतोंकी

धारणाका अभ्यास करता है सो पांचमहाभूतोंकी जय होनेतैं सौ ब्रह्माके चले जानेसेभी तिसकी मृत्यु नहीं होवै है ॥ १०५ ॥

॥ अथ ध्यानम् ॥

विष्णुं वैश्वानरं देवं भास्करं च तथा शिवम्॥
परमं पुरुषं दिव्यं सगुणं ध्यानमुच्यते १०६

विष्णुभगवान् वैश्वानर जो अग्नि भास्कर जे सूर्य्य तथा शिवजी परम पुरुष इसको सगुण ध्यान वर्णन करैं हैं ॥ १०६ ॥

अतः परं परं ब्रह्म अनंतबलपौरुषम् ॥ सर्वाधारं जगद्रूपमव्यक्तं पुरुषोत्तमम् ॥ १०७ ॥
सर्वकारणकर्त्तारं निर्गुणं गुणसंयुतम् ॥ सोऽहं ब्रह्मेति विज्ञाय निर्गुणं परिचक्षते ॥ १०८ ॥

अतःपरंकहिये सगुणध्यानतैं परे परब्रह्म अनंत है बलपौरुष जाको सर्वको आधार जगत्स्वरूप अव्ययनाम नाशरहित पुरुषोत्तम ॥१०७॥ संपूर्ण कारणके करनेवारे निर्गुण और गुणन करिकै संयुक्त सो ब्रह्म मैं हूं ऐसा जानि निर्गुण ध्यान कहैं हैं ॥ १०८ ॥

॥ अथ विष्णुध्यानम् ॥

हृत्पद्मेष्टदलोपेते नारायणमजं विभुम् ॥

चतुर्भुजमुदारागं पद्मपत्रनिभेक्षणम् ॥ ॥ १०९ ॥ नीलोत्पलदलाभासं शंखचक्रगदाभृतम् ॥ श्रीवत्सवक्षसं श्रीशं शशिकोटिसमप्रभम् ॥ ११० ॥ मनसालोक्य देवेशं सगुणं ध्यानमुच्यते ॥ प्रभाभिर्भासयद्रूपं वासुदेवं सनातनम् ॥ १११ ॥

हृदयपद्म अष्टदल करिकै युक्त ता पद्मविषे नारायण साक्षात् अज कहैं जन्मकरिकैरहित विभु कहैं समर्थ चारिभुजान करिकै युक्त उदार है अंग जिनको कमलपत्रसदृश है ईक्षण नेत्र जिनके ॥१०९॥ नील जो कमल ताकेसी है शरीरकी शोभा जिनकी शंख चक्र गदाको धारण करनेवारे श्रीवत्स है वक्षसके विषे जिनके लक्ष्मीजीके ईश अर्थात् स्वामी,कोटिचंद्रमासमान प्रभा जाकी॥११०॥ देवतनके ईश जो विभु हैं तिनका मनकरिकै ध्यान करना सोई सगुणध्यान होवै है प्रभा जो कांति है ताकरिकै देदीप्यमान वासुदेव जो सनातन विष्णु हैं सोई परम ध्यान है ॥ १११ ॥

॥ अथाग्निध्यानम् ॥

हृत्सरोरुहमध्ये तु तथैवाष्टदले युते ॥
वैश्वानरं महावह्निं ज्वलंतं सर्वतोमुखम्

॥ ११२ ॥ प्रभाभिर्भासयद्रूपं पीताभं सर्वकारणम् ॥ सोहमात्मेति तं ज्ञात्वा ध्यानं योगविदो विदुः ॥ ११३ ॥

तैसेही हृदयकमलविषे वैश्वानर जो महावह्नि है सो कैसा है कि, सर्वतरफसे ज्वलरहाहै मुखारविंद जाको प्रभाकरिकै भासमान है स्वरूप जाको पीतवर्ण संपूर्ण जगत्का कारण अर्थात् उत्पत्तिस्थितिलयका कारण है सो अग्निरूप आत्मा जानकरि योगीजन अग्निध्यान कहैहैं ॥ ११२ ॥ ११३ ॥

॥ अथ सूर्य्यध्यानम् ॥

अथवा मंडले तत्र भास्करस्य महात्मनः ॥ पद्मासनस्थितं देवं निर्मलं पावकोपमम् ॥ ११४ ॥ भासयंतं जगत्सर्वं सृष्टिस्थित्यंतकारणम् ॥ सोहमात्मेति तद्ध्यानं विद्वद्भिः परिकीर्तितम् ॥ ११५ ॥

अथवा ताही कमलविषे भास्कर जो श्रीसूर्य्यनारायण तिनका जो मंडल है सो देखै सो सूर्य्यनारायण कैसे हैं पद्मासनस्थ हैं निर्मल पावककी सदृश है तेज जिनको संपूर्ण जगत्को प्रकाश करनेहारे सृष्टिके स्थिति

उत्पत्ति तथा अंतके करनेवारे एवंभूत जो श्रीसूर्यनारायण सा आत्मा मैं हूं इसको सूर्य्यध्यान कहैं हैं ११४॥११५॥

॥ अथ शिवध्यानम् ॥

भ्रुवोर्मध्ये शिवं ध्यायेद्भारूपं सर्वकारणम् ॥ शुद्धस्फटिकसंकाशमुमया परिसेवितम् ॥११६॥ व्याघ्रचर्म्माम्बरधर शशीव प्रियदर्शनम् ॥ पद्मासनस्थितं देवं चिंतयेच्च सदाविभुम् ॥ ११७ ॥

भ्रूके मध्यकमलविषे भारूप अर्थात् देदीप्यमान सर्वजगत्का कारण शुद्ध जो स्फटिकमणि है ताके सदृश उमादेवीकरिकै सेवित॥११६॥व्याघ्रचर्म्माम्बरको धारण करै चंद्रमाकी नांई प्रियदर्शन पद्मासनकरिकै विराजमान एवंभूत जो देव ताहि चिंतमन करैं सो शिवध्यान अत्यंत उत्तम है ॥ ११७ ॥

भ्रूध्यानादपरं नित्यं सोममंडलमध्यमम् ॥ स्वात्मानं मंडलाकारं चिंतयेच्च विचक्षणः ॥ अहमेव परं ब्रह्म सच्चिदानंदलक्षणम् ॥ ११८ ॥

भ्रूध्यानतैं परे अपर नित्यही चंद्रमंडलविषे अपनी जो आत्मा चंद्रमंडलाकार है सो विचक्षण चिंतमन करै वह परब्रह्म सच्चिदानंदलक्षण मैं हूं यही प्रकारध्यान है॥ ११८ ॥

एव ध्यानामृतं पीत्वा मृत्युं जयति योगवित् ॥ वत्सरान्मुक्त एवासौ जीवन्नपि न जीवति ॥ ११९ ॥

यहीप्रकार ध्यानरूप अमृत अर्थात् तिसध्यानसे पतित जो अमृत सो पानकरि मृत्युको जीतैहै एकसंवत्सरविषे मोक्ष होवैहै जीवितभी नहीं जीवता अर्थात् जीवितही मोक्षहै ॥ ११९ ॥

ध्यानान्यपि बहून्याहुर्योगिनो मुनिपुंगवाः ॥ मुख्यान्येतानि चैतेभ्यो नान्यच्च भुवि विद्यते ॥ १२० ॥ एतद्ध्यानस्य माहात्म्यमृषिभिस्तत्वदर्शिभिः ॥ शास्त्रेषु बहुधा प्रोक्तं परं तत्वं सुभाषितम् ॥ १२१ ॥

पूर्वकालविषे मुनिनमें श्रेष्ठ जो योगीजन हैं सो बहुतसे प्रकार ध्यान वर्णन करैं हैं तथापि सर्वोत्कृष्ट यही ध्यान मुख्य हैं इनतैं अन्य संसारमें कोई नही हैं ॥ १२० ॥

इतनेही ध्यानका माहात्म्य तत्त्ववेत्ता ऋषिनने शास्त्रनके विषे बहुतसे प्रकारकरि कहाहै सोई परमतत्व मैंने वर्णन कियाहै ॥ १२१ ॥

अथवा यादृशी बुद्धी रामे कृष्णे तथा शिवे॥कर्तव्यमिति तद्ध्यानं या मतिः सा गतिर्भवेत् ॥ १२२ ॥ यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं योजनान्न बहून् ॥ तत्सव ध्यानयोगेन क्षणेनैव विनश्यति ॥ १२३ ॥

अथवा जिस प्रकार राम कृष्ण तथा शिव इनके विषे बुद्धि होय सोई ध्यान करना योग्य है काहेतें कि जिस प्रकार मति होवै है सोई फलीभूत होवै है ॥ १२२ ॥ जो कि पर्वतके समान बडा भारी विस्तीर्ण बहुत योजनपर्यंत पाप हो तोभी ध्यानयोगके एक क्षणमात्र साधन करिकै नाशकूं प्राप्त होवै है ॥ १२३ ॥

अथ बंधत्रयनिरूपणम् ॥

पद्मासनं समं बद्ध्वा स्थापयेच्चुबुकं हृदि ॥ जालंधरामिमं बंध मृत्युमातंगनाशनम् ॥ १२४ ॥ पादमूलेन वामेन योनिसंपी-

डच्यते बलात्॥ अपानमूर्द्ध्वमुत्थाप्य मूल-
बंधं प्रशस्यते ॥ १२५ ॥ उड्डीनं कुरुते
यस्मादविश्रांतं महाखगः ॥ उडचानं त-
मिमं बंधं सर्वदुःखहर नृणाम् ॥ १२६ ॥

मुद्रा दशप्रकारके पूर्वाचार्य्योंने कथन करीहैं तिनमेंसे मुख्य २ वर्णन करौं हौं पद्मासन जो सब सुखके देवेवारी आसन है ताहि बांधिकरि ठोढी हृदयमें लगावै यह जालंधरबंध नाम मुद्रा होवै है सो कैसी है मृत्युरूप मातंग जो हाथी ताकूं नाश करनेहारी है ॥ १२४ ॥ वामपादकी एडी करिकै लिंग और गुदा दोनोंके मध्यमें जो योनिस्थान है ताहि बलकरिकै संपीडन करै अर्थात् दाविकरि स्थितहो और अपान जो नीचेके गमन करि-बेवारो वायु ताहि ऊपर उठावै इस मुद्राको मूलबंध कहते हैं ॥ १२५ ॥ महाखग जो प्राण अपान वायु सो जातैं उड्डीन नाम है सो पश्चिममार्ग जो सुषुम्ना नाडी तामें किया जाय अन्यत्र कहीं विश्राम न पावै संपूर्ण दुःखोंका नाश करनेहारो तिसको उड्यान बंध कहते हैं ॥ १२६ ॥

बंधत्रयेण पवने प्रयाति गगने लयम् ॥ ततो
न जायते मृत्युर्जरा रोगादिकं तथा ॥ १२७ ॥

इस प्रकार जो यह बंधत्रय अर्थात् तीन बंध हैं तिन करिकै पवन गगन जो ब्रह्मरंध्र है ताविषे लयकूं प्राप्त होवैहै तातैं मृत्यु तथा बुढापा आदि रोग नहीं होवैं हैं ॥ १२७ ॥

॥ अथ खेचरीमुद्रालक्षणम् ॥

एकं सृष्टिमयं देवमेका मुद्रा च खेचरी ॥
कुंभकः केवलः श्रेष्ठः धन्यः पुण्यश्च मोक्षदः
॥ १२८ ॥ गुरुवाक्याल्लभते जिह्वा सद्य-
स्त्रिपथगामिनीम् ॥ भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिमुद्रा
भवति खेचरी ॥ १२९ ॥

जिस प्रकार सृष्टिरूप एक परमेश्वर देव हैं तैसेही सब मुद्रनविषे एक खेचरी मुद्रा है तथा सब कुंभकनविषे एक केवलकुंभकमुद्रा श्रेष्ठ है सो धन्य तथा पुण्य तथा मोक्षकी देनेहारी है ॥ १२८ ॥ गुरुके वाक्यतैं प्राप्त होत जो जिह्वा त्रिपथ जो ब्रह्मरंध्र है ताके विषे शीघ्र गमन करनेहारी तथा भृकुटीके अंतर्गत जो दृष्टि सो खेचरी मुद्रा होवै है ॥ १२९ ॥

चंद्रात्सारः प्रस्रवति ह्यमृतं दिव्यरूपिणः ॥
खेचर्या मुद्रितं येन मृत्युं जयति लीलया

॥ १३० ॥ उर्द्धजिह्वः स्थिरो भूत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठिति ॥ विषैर्विमुच्यते सर्वै-र्व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥१३१॥ न रोगो मरणं तस्य नैवालस्यं प्रजायेत ॥ क्षुधा मूर्च्छा तृषा नैव मुद्रां यो वेत्ति खेचरीम् १३२॥

चंद्रमातैं जो सार दिव्यरूप अमृतको प्रस्राव होवैहै सो जिस साधक पुरुषने खेचरीमुद्रा करिकै ढकदीनो अर्थात् पान करिलीनोहै जाने सो पुरुष लीलाकरिकै ही मृत्युको जीतबेवारो होवै है ॥ १३० ॥ ऊपर करी है जिह्वा जाने एवंभूत जो पुरुष यदि एक क्षणमात्रभी स्थित होवै तौ संपूर्ण सर्प बिच्छू आदिक तिनके विषकरिकै छूटै हैं जो पुरुष खेचरीमुद्रा भलीप्रकार जानै ताकूं न रोग न मृत्यु न आलस्य न क्षुधा पिपासा मूर्च्छा होवै है और कोई प्रकारकी बाधा नहीं होवै है ॥ १३१ ॥ १३२ ॥

वलीपलितवेषघ्नी मुद्रेयं खेचरी सदा ॥ न तस्य क्षरत बिंदुमुद्रां यो वेत्ति खेच-रीम् ॥ १३३ ॥

वलीपलित जो बुढापेकी देहका चर्म तथा कंपन ताकूं

यह खेचरी मुद्रा सदैव नाशकरनेवारी है जो पुरुष खेचरी मुद्राकू जानै ताको बिंदु जो कामदेव सो कोई कालविषे पतित नहीं होवै है ॥ १३३ ॥

चालनाद्दोहनाच्चैव च्छेदनाच्च तथैवच ॥ यावत स्पृशति भ्रूमध्ये खेचरी सिद्धितां तदा ॥१३४॥

प्रथम एक चोखा और महीन वस्त्र तासों जिह्वाकूं पकडि कर चालन करै अर्थात् दोनों तरफहिलावै पुनः गोके थनके सदृश दोहन करै पुनः छेदन करै फेरि तीक्ष्ण शस्त्रसूं जिह्वाके नीचेकी नसकूं छेदन करै सो जबतक जिह्वा वढिकरि बाहिर भृकुटीपर्य्यंत न पहुँचे तबतक अभ्यास करै जब पहुँच जाय तब खेचरी सिद्धि होय है कुछ वार्ता गुरुवाक्यसे समझलेना ॥१३४॥

जायते म्रियते लोके बिंदुना नात्र कारणम्॥ तस्मादति प्रयत्नेन बिंदुधारणमाचरे-त् ॥ १३५ ॥ मरणं बिंदुपतनं जीवनं बिंदुधारणम्॥शिवो बिंदुरजः शक्तिः शाश-सूर्यमयस्तथा ॥ उभयोर्मेलनं कार्य्यं स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥ १३६ ॥

जन्म मरण लोकविषे केवल बिंदु करिकैही होवैहै और कुछभी कारण नहीं ताते सदैवकाल अतियत्नसे

बिंदुको धारण करै ॥ १३५ ॥ बिंदुका पतन होनाही जीवका मरण होवैहै तथा बिंदुका धारण करनाही जीवन होवै है शिवरूप बिंदु रजरूप शक्ति सो शशिसूर्य्यमय अर्थात् चंद्रमारूप बिंदु सूर्य्यरूप रज होवै है सो दोनों कौ संमेलन करिकै अपने शरीरविषे प्रवेश करै सोही निश्चय करिकै मोक्षको देवैवारो होवैहै ॥ १३६ ॥

हकारः शंकरः प्रोक्तष्ठकारः शक्तिरीश्वरी ॥
उभायोर्मेलनं यस्मिन्न् हठयोगो निगद्यते १३७

तथा हठयोग लक्षण कथन करैं हैं, कि हकार करिकै शिव ठकार करिकै ईश्वरी पार्वती दोनोंनको संमेलन जाके विषे हो सोई हठयोग होवै है ॥ १३७ ॥

॥ अथ वज्रोलीमुद्रानिरूपणम् ॥

आदौ रजः स्त्रियो योन्याः यत्नेनविधिवत्सुधीः ॥ आकृष्य लिंगनालेन स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥ १३८ ॥ दैवाच्चलति चेद्वीर्य्यमूर्द्धमाकृष्य रक्षयेत्॥क्षणमात्रं योनितो यो लिंगनालं निवारयेत् ॥ १३९ ॥ पुनश्च चालनं कुर्य्यात्तस्यां योन्यां शनैः शनैः ॥ १४० ॥

वज्रोलीमुद्रा साधन कहैंहैं आदिके विषे विधिपूर्वक स्त्रीकी योनीतैं रजकूं लिंगनालकरिकै आकृष्य नाम खैंचकरिकै अपने शरीरविषे प्रवेश करै॥१३८॥ कदाचित अपना वीर्य्य चलायमान होय तो ऊपरकूं खैंचकरि रक्षण करै अर्थात् गिरनै न पावै गिरा होवै तौ क्षणमात्र लिंग योनितैं बाहिर निकाललेय ॥ १३९ ॥ फिरि कुछ देर पीछे तिस योनिमें शनैः शनैः कहै धीरे धीरे चालन करै ॥ १४० ॥

गुरूपदेशतो योगी बलादाकृष्य तद्रजः ॥ उभयोर्मेलनं कृत्वा स्वशरीरे प्रवेशयेत् ॥ ॥१४१॥ अनेनैव विधानेन सिद्धो भवति भूतले ॥ वज्रोल्यभ्यासयोगोयं भोगयुक्तेपि मोक्षदः ॥ १४२ ॥ अयं तु शांकरो योगो धीराणां तत्वदर्शिनाम् ॥ गोपनीयः प्रयत्नेन न देयो यस्य कस्यचित् ॥ १४३ ॥

गुरुके उपदेशतैं योगी बलतैं तौन जो रज ताहि आकर्षण करै दोनों जो रजबिंदु हैं तिनको एकत्र करिकै अपने शरीरविषे प्रवेश करै ॥ १४१ ॥ यही विधान करिकै योगाभ्यासी भूतलविषे सिद्ध होवैहै वज्रोलीके अभ्यासकरिकै जो योग भोगयुक्त आपिनाम निश्चय मोक्षको देवैवारो

है ॥ १४२ ॥ यह योग साक्षात् शिवजीने कथनकरचोहै सो योग धीर तथा तत्वदर्शी पुरुषनके वास्ते देयहै नहीं तो विशेषकरिकै सामान्यमनुष्यनको नहीं देना चाहिये ॥ १४३ ॥

सहजोल्यमरोली च वज्रोली भेदतो भवेत्॥
योगशास्त्रानुसारेण उभेअपिनिगद्यते १४४

सहजोली अमरोली ये जो दोई मुद्रा ते वज्रोलीके भेद हैं योगशास्त्रके अनुसारतें उभेअपि कहैं दोऊ निश्चयकरिकै निगद्यते नाम वर्णन करै हैं ॥ १४४ ॥

॥ अथ सहजोलीमुद्रालक्षणम् ॥

दैवाच्चलति चेद्वीर्य्य संप्राप्तं योनिमंडले ॥
उभयोः शोषण येन स योगी सिद्धिभाजनम्
॥ १४५ ॥ सहजोलीति मुद्रेयं ज्ञातव्या योगिभिः सदा ॥ येन केन प्रकारेण बिंदुधारणमाचरेत् ॥ १४६ ॥

जो कदाचित् स्थानतैं वीर्य चलिजावै और स्त्रीकी योनिमंडलमें प्राप्त होजावै तौ लिंगकरिकै दोनोंको शोषणकरै जाकी क्रिया इसप्रकार है कि पूर्वमें सीसेकी शलाका १४ चौदह अंगुल बनावै वह नित्य लिंगमें चालनकरै जब

१२ बारह अंगुल प्रवेश होनेलागिजाय तब चांदीकी शलाका सच्छिद्र बनवावे ताको प्रवेशकरै और फूत्कारकरिकै वायुसंचार करै फिर तिस लिंगनालकरिकै जल तथा दूध आकर्षण करै तदनंतर रजको और वीर्यको आकर्षण करै सो योगी संपूर्णसिद्धीनको पात्र है ॥ १४५ ॥ इसप्रकार इस मुद्राका नाम सहजोली है सो मुद्रा योगीजन जानैं हैं जिसाकिसीप्रकार करिकै बिंदु जो कामदेव तिसका धारण करना ॥ १४६ ॥

॥ अथ अमरोलीमुद्रालक्षणम् ॥

स्वमूत्रोत्सर्गस म मुख्यां धारां परित्यजेत् ॥
बलादाकर्षयेन्मध्यां धाराममृतरूपिणीम् ॥
॥ १४७ ॥ स्तोकं स्तोकं त्यजेत्पश्चादुपदिष्टगुरुशिक्षया ॥ एवं योगविधानेन बिंदुर्गच्छति मंडले ॥ १४८ ॥ षण्मासमभ्यसेन्नित्यं साधकः संयतेंद्रियः ॥ शतांगनाऽपि भोगेऽपि बिंदुस्तस्य न क्षुभ्यति ॥ १४९ ॥
बिंदुसिद्धिर्भवेत्तस्य जितश्वासस्य योगिनः ॥
बहुना किं प्रलापेन ह्युपतिष्ठंति सिद्धयः ॥ १५० ॥ संसारिणां विमूढानां मायामोहितचेतसाम् ॥ बिंदुर्ददाति

सर्वेषां सुखदुःखमुदारधीः ॥ १५१ ॥ अयं तु शांकरो योगो योगिनां चात्मदर्शिनाम् ॥ रागग्रस्तमनुष्याणां न तु विषयशालिनाम् ॥ १५२ ॥

निजमूत्रोत्सर्गसमयमें मुख्यधाराको त्याग करिदेवे फेरि बलकरिकै अमृतरूपिणी जो मध्यधारा ताको आकर्षण करै ॥ १४७ ॥ गुरूपदिष्ट शिक्षाकरिकै ताहि धीरे धीरे कुछ थोडी थोडी त्याग करै याप्रकार योगविधान करिकै बिंदु जो है सो मंडलके विषे प्राप्त होवै है ॥१४८॥ इंद्रियनको जीतालियो है जाने ऐसे जो साधक सो नित्य ही क्रमपूर्वक प्रकार छै महीनापर्य्यंत अभ्यास करै तौ सौ स्त्रीके साथ भोगकरनेपरभी ताको बिंदु क्षोभित नहीं होवै है ॥ १४९ ॥ यह जो जितश्वास योगी जाकी बिंदुसिद्धि होयगई ताको बहुत प्रलाप करिकै क्याहै संपूर्ण जो सिद्धि यह निश्चयकरिकै समीपमें स्थित होवैहैं ॥ १५० ॥ संसारी जे मनुष्य मायाकरिकै मोहित हैं चित्त जिनके तिनको उदारधी बिंदु जो काम है सो सुखदुःखको प्राप्त करै है ॥ १५१ ॥ यह जो अम्रोलीयोग सो साक्षात् श्रीशिवजीने प्रकाशित कियोहै सो केवल आत्मदर्शी योगीजनोंके वास्ते सुखप्राप्तकरैहै रागकरिकै ग्रस्त जे मनुष्य तिनको नहीं कैसे हैं वे मनुष्य अर्थात् विषययुक्त हैं ॥ १५२ ॥

अमरोलीतिवियं प्रोक्ता महासिद्धिप्रदायिका ॥ बिंदुधारणरक्षार्थं मुद्रा नैव च यादृशी॥१५३॥

यह महासिद्धिकी देवेवारी अमरोली मुद्रा कहीहै जाके सदृश अन्य मुद्रा बिंदुधारणकी रक्षाके अर्थ एवं नाम निश्चय करिकै नहीं है अर्थात् सर्वदा इसके समान कोई अन्य नहीं योग जप तप सबका मूल यह है ॥ १५३ ॥

गुह्याद्गुह्यतमो लोके न भूतो न भविष्यति॥ ईशत्वं यत्प्रसादेन दुर्ल्लभं प्राप्यते भुवि ॥ १५४ ॥

इस बिंदुरक्षारूप योगके समान अन्य कोई जप तप भक्ति योग नहीं संसारमें यह योग गुप्तसे गुप्त है, अर्थात् हरेकको देना उचित नहीं इस बिंदुरक्षारूप योगप्रसादसे इस संसारविषे जो दुर्लभ ईशत्व है सो प्राप्त होता है इसमें संशय नहीं ॥ १५४ ॥

॥ अथ शक्तिचालनीमुद्रालक्षणम् ॥

अपानवायुमाकृष्य चालयेत्कुंडलीं दृढाम् ॥निद्रां विहाय भुजगीं स्वयमूर्द्ध्वं व्रजेत्खलु ॥ १५५ ॥ गुरूपदेशतो नित्यं शक्तिचालनमाचरेत् ॥ आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य सिद्धो भवति भूतले ॥१५६॥ षण्मासम-

भ्यसेद्योगी प्रत्यहं गुरुशिक्षया ॥ बहुना किं प्रलापेन मुक्तो भवति बंधनात् ॥ १५७ ॥

अपानवायु जो गुदाद्वारा नीचेगमन करैहै ताहि ऊपरको खेंचिकारि दृढ जो कंडली अर्थात् सात लपेटे देकारि पूर्ण निद्राके विषे जो होरही ताहि चालयेत् अर्थात् चलावै सो निद्रा छोडि आपही ऊर्द्ध जो ब्रह्मरंध्रस्थान तामें निश्चयकरि गमन करैहै॥१५५॥ जो पुरुष गुरुके उपदेशतैं नित्यही शक्तिचालन मुद्राभ्यास करैहै ता पुरुषकी आयु वृद्धि निश्चयकरिकै होती है और संपूर्ण अणिमादिक सिद्धियां प्राप्त होकर पृथ्वीविषे सिद्धरूपहोता है ॥१५६॥ जो पुरुष इस मुद्राअभ्यासको छै महीना गुरुकी शिक्षापूर्वक निशिदिन करैहै ताकूं बहुत प्रलाप करनेसे क्या सर्व सिद्धि प्राप्त हो संसाररूप बंधनसे छूटिजावैहै ॥ १५७ ॥

॥ अथ विपरीतकरणीमुद्रालक्षणम् ॥

अधःशिरश्चोर्द्धपादमभ्यसेच्च दिनेदिने ॥ मुद्रेयं विपरीताख्या जठराग्निविवर्द्धनी ॥ १५८ ॥ नित्यमभ्यासयुक्तस्यात्याहारो बहुलोच्यते ॥ सूक्ष्माहारो यदि भवेदग्निर्दहति निश्चितम्॥१५९॥तस्मादतिप्रयत्नेन साध्यते योगिना सदा ॥ वलितं पलितं चैवषण्मासोर्द्धं न दृश्यते॥१६०॥

अधः कहैं नीचेकूं शिर ऊंचेकूं पांव करै अर्थात् पृथ्वीमें मस्तक रखकरि अंतरिक्षमें पांव करै इसतरह दिन प्रति अभ्यास करै याको विपरीतकरणीमुद्रा नाम है सो मुद्रा जठराग्निकूं अत्यंत वृद्धि करैहै ॥ १५८ ॥ जो पुरुष या मुद्राको नित्य अभ्यास करै तिस साधकपुरुषकूं बहुत आहार करना योग्य है जो कदाचित् आहार कम करै तौ जठराग्नि शरीरकूं शीघ्रही भस्म करैगा ॥ १५९ ॥ तातैं अतिप्रयत्नकरिकै यह मुद्रा योगीकरिकै साधनीय होवैहै जो इसमुद्राका अभ्यास नित्य करै ताके वली पलित चर्म केश छै महीनामें नाश होवैं हैं अर्थात् तरुणकेसे होवैंहैं तथा जराका अभाव होवैहै ॥ १६० ॥

याममात्रं यदा कर्त्तुं समर्थः स्याद्दिनेदिने॥ तदैव कुरुते योगी कालस्य मुखवंचनम् ॥ ॥१६१ ॥ गुरुप्रसादाल्लभते मुद्रेयं पापनाशनी ॥ गोपनीया विशेषेण न देया यस्य कस्यचित् ॥ १६२ ॥

अभ्यासके साधन जो नित्यप्रति एकप्रहर करिवे लगिजाय सो तेहीसमयसे कालके मुखकी वंचना करैहै ॥ १६१ ॥ यह मुद्रा केवल गुरुकी प्रसन्नतातैं सिद्ध होवैहै

यह मुद्रा पापको नाश करिवेवारी है यह विशेषकरि गोपनीय है अर्थात् अनधिकारीकूं देना योग्य नहीं ॥१६२॥

॥ अथ समाधिनिरूपणम् ॥

ध्येयस्वरूपोपगतो यदा सुधीर्विस्मृत्य चात्मानमथावतिष्ठते ॥ योगी विलूनाखिलकर्म्मबंधनैर्योगस्य तच्चाष्टकमंगमीरितम् ॥ १६३ ॥

जिसकालविषे सुधी कहैं सुंदरबुद्धिमान जो साधक पुरुष है ध्येयवस्तु जो परमात्मा है तास्वरूपकूं प्राप्त होवैहै अपनी जो देह तथा आत्माका पृथक्भाव ताहि भूलिकरि स्थित होवैहै सो योगी कैसो है कि,संपूर्ण जन्मांतरके संचित तथा वर्तमान आगामि तिनकरिकै छूटि जावैहै सो योगका अष्टम अंग जो समाधि सो होवैहै ॥ १६३ ॥

सरित्पतौ यथा चापः कर्पूरमनिले यथा॥ सलिले लवणं यद्वत्समाधिः प्राणसंयमात् ॥१६४॥ घृते घृतं यथा क्षिप्तं वह्नौ वह्निरिवार्पितः ॥ तथा भवति चैकत्वं जीवात्मपरमात्मनोः॥१६५॥अच्छेद्यः सर्वशस्त्राणामवध्यः सर्वदेहिनाम् ॥ अशक्यो यक्षगंधर्वैर्योगी मुक्तस्समाधिना ॥१६६॥

जिसप्रकार सरित्पति जो समुद्र ताविषे आप जो जल और अग्निमें कर्पूर जलमें लवण एकरूप होवैहैं तैसेही प्राणसंयम अर्थात् प्राणवायुके संयम कहैं निरोध करनेसे समाधि होवैहै ॥ १६४ ॥ जिसतरह घीके विषे घी अग्निके विषे अग्नि छोड तेही प्रकार जीवात्मा और परमात्मा एकताकूं प्राप्त होवैहैं ॥ १६५ ॥ समाधिकरिकै मुक्तरूप जो योगी सो संपूर्ण शस्त्र जे हथियार तिनतैं अच्छेद्य अर्थात् छेदो नहीं जावैहै और सर्वदेही जो जीवात्मा हैं तिनकरिकै अवध्य है तथा यक्ष गंधर्वादिक जो हैं तिनकरिकै अशक्य अर्थात् पकडिनहींसकै भावार्थ यह है कि सर्व बंधनतैं मुक्त है ॥ १६६ ॥

भित्त्वा सर्वाणि पद्मानि कुंडली वायुना हता ॥ सुखतो ब्रह्मविवरं गत्वा सुखमवाप्नुयात् ॥ १६७ ॥

जिसकालमें वायु जो उड्यान जालंधर मूलबंध मुद्रा इनके करनेसे वायुकरिकै पीडित जो कुंडली सो संपूर्ण पद्म तिनही भेदकरि सुखपूर्वक ब्रह्मरंध्र जो है ताकूं प्राप्त होकरि सुखको अर्थात् ब्रह्मानंदको प्राप्त होवैहै ॥ १६७ ॥

भक्त्यात्मका शुभा ह्येका पुनर्ज्ञानात्मकापरा ॥ ध्यानात्मका तृतीया च समाधिर्वर्ण्यतेबुधैः ॥ १६८ ॥

अब समाधिभेद वर्णन करैहैं बुद्धिमान् करिकै समाधि तीन प्रकार वर्णन करीजावैहै एक शुभ स्वरूपकहै कल्पानुरूपा भक्त्यात्मका अर्थात् सभक्ता भक्तिकरिकै युक्त उपासना ध्यानपूर्वक। तथा अपरा कहैं दूसरी ज्ञानात्मका अर्थात् निर्गुणध्यान पूर्वक । तृतीया कहैं तीसरी प्राणायामकरिकै सो ध्यानात्मका है ॥ १६८ ॥

संनियम्येंद्रियग्रामं ध्यायेद्विष्णुं सनातनम् ॥ धातारं चापि विस्मृत्य समाधिस्साभिधीयते ॥ १६९ ॥

समाधि प्राणायामद्वारा तथा केवल प्रेमपूर्वक इंद्रियनको रोकिकरि सनातन जो विष्णुपरमात्मा है तिनहि ध्यायेत् नाम ध्यानकरै सो जा काल ध्यान करते करते धातार जो ईश्वर है ताहि विस्मरण होजावै सा कहैं सो समाधिलक्षण होवैहै ॥ १६९॥

यदि देहं पृथक्कृत्य चित्तं विश्रम्य तिष्ठति॥ तदैव तु सुखी शांतो समाधिं सोऽपि गच्छति ॥ १७० ॥

पूर्व भक्तिसमाधि निरूपणकरि ज्ञानसमाधि वर्णन करहु जा कालमें देहकूं पृथक्मानिकरि चित्तमें विश्राम पाकरि स्थित हो ताकालविषे सुखी और शांत समाधिपदकूं पहुंचेहै ॥ १७० ॥

नाहं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी न जितेंद्रियः ॥ असंगो निर्विकारोऽहं विश्वसाक्षी सदा विभुः ॥ १७१ ॥ नाह कर्त्ता न वा भोक्ता स्वप्रकाशो निरंजनः ॥ अयमेव न मे बंधः समाधिमनुगच्छति ॥ १७२ ॥

विप्रकूं आदि लेकरि कोई वर्ण नहीं हूं न कोई आश्रमी अर्थात् ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ संन्यासी तथा जितेंद्री अजितेंद्री नहीं हूं, असंग निर्विकार विश्वसाक्षी सर्व ऐश्वर्य्यमान मैं हूं ॥ १७१ ॥ न भोक्ता न कर्त्ता स्वप्रकाश निरंजन मैं ही हूं जो बंधमोक्ष मेरे कोई बंधन नहीं है सो समाधिकूं प्राप्त होवै है ॥ १७२ ॥

अहो निरंजनः शांतो बोधोहं प्रकृतेः परः ॥ इति मत्वा यदा ज्ञानी समाधिमनुगच्छति ॥ १७३ ॥ बद्धो बद्धाभिमानी यो मुक्तो मुक्ताभिमान्यपि ॥ बहुना च किमुक्तेन स्वमतिं चानुगच्छति ॥ १७४ ॥

अहो निरंजन शांत प्रकृतितैं परे बोधरूप मैं ही हौं इसप्रकार मानिकरि ज्ञानी शीघ्रही समाधिकूं प्राप्त होवै है ॥ १७३ ॥ जो पुरुष अपनी इच्छाकरिकै बद्ध है सो बद्ध

होवैहै जो अपनी इच्छाके अभिमानतैं मुक्त है सो मुक्त है बहुत कथनकरनेसे क्या है यह जीव अपने मतके अनुसार गमन करैहै ॥ १७४ ॥

मुमुक्षुरिह संसारे बुभुक्षुरपि दृश्यते ॥
मोक्षभोगनिराकांक्षी विरलो हि महाशयः ॥ १७५ ॥

इस संसारमें मोक्षकी तथा भोगकी इच्छावाले जन बहुत हैं तथा मोक्ष वा भोगकी इच्छा रहित कोई महाशय विरलाही होवैहै ॥ १७५ ॥

स्खलत्यसौ नैव यदा कथंचिदभ्यासतो धारणध्यानतुर्यैः ॥ तदैव तज्ज्ञानि फलानि संयमेऽविरोधमुख्याँल्लभते जितासुः ॥ १७६ ॥ समाधिर्धारणा ध्यानं स्त्रयमेकत्र संयमः ॥ जितश्वासस्य युक्तस्य ह्युपतिष्ठंति सिद्धयः ॥ १७७ ॥

आसन प्राणायाम मुद्रादिकनकरिकै जीतलियो है प्राणवायु जाने सो जाकालकेविषे धारणा ध्यान समाधिके अभ्यासतें कोई समय स्खलित नहीं होवै है तेही समय संयमके जो जो फल आनंदके देवेवारे सो संपूर्ण आनिकर प्राप्त होवैहैं ॥ १७६ ॥ संयमलक्षण कहैहैं जिस

कालमें धारणा ध्यान समाधि एकत्र अर्थात् एकपदार्थमें आरूढ होवैं हैं सोई संयमलक्षण होवैहै अर्थात् धारणा ध्यान समाधि इन तीनोंका एक होना संयम है सो वार्त्ता योगसूत्रमें कथन करी है, यथा "त्रयमेकत्र संयमः तथा त्रयमंतरंगं पूर्वेभ्यः" जितश्वासपुरुषकूं संपूर्ण सिद्धि प्राप्त होतीहैं ॥ १७७ ॥

जितेंद्रियमनुष्यस्य सिद्धिः प्राप्नोति निश्चितम् ॥ नैवाजितेंद्रियस्यैव वेदवादरतस्य च ॥ १७८ ॥

जितेंद्री मनुष्य सिद्धिकूं निश्चय पहुँचेहै तथा अजितेंद्री विद्वानभी होय तौ भी नहीं पहुँचे ॥ १७८ ॥

अतीतानागतं ज्ञानं परिणामश्च संयमात् ॥ कूर्मनाड्यां भवेत् स्थैर्य्यं मूर्द्धनि सिद्धिदर्शनम् ॥ १७९ ॥

अतीत जो काल पूर्वमें होचुका अनागत जो जो आनेवाला है इनविषे संयमकरनेसे सर्वकर्म्मोंका ज्ञान होवैहै कि मैं कौन था क्या करता रहा और आगे क्या होगा कूर्मरूपा जो नाडी ताविषे संयमकरनेसे स्थिरता प्राप्त होवैहै अर्थात् कोईभी हिला नहींसक्ता मूर्द्धाकेविषे संयमकरनेसे संपूर्ण सिद्धीनके दर्शन तथा वार्तालाभ होवैहै ॥ १७९ ॥

ज्ञानं समस्तजगतां संयमे सूर्यमंडले ॥ रेचकाभ्यासयुक्तेन प्रविशत्यपरां पुरीम् ॥ १८० ॥ समानवाय्वा ज्वलनमुदाने गमने गतिः ॥ लावण्यं च बलं रूपं यस्मिंस्तस्मिन् सुसंयमे ॥ १८१ ॥

सूर्य्यके विषे संयमकरनेसे संपूर्ण जगत् तथा तीनों लोकका ज्ञान होवैहै रेचक प्राणायामके अभ्यास संयमकरनेपर परकायप्रवेश अर्थात् पराई देहमें प्रवेश होनेकी शक्ति होवैहै ॥ १८० ॥ समाननामकरिकै जो वायु तामें संयमकरनेसे ज्वलन अर्थात् जलतेहुएकी नाईं प्रतीति होवै इच्छा हो तौ जलभी जावै इसीको योगाग्नि कहतेहैं उदानवायुकेविषे संयमकरनेसे गमन विषे गति अर्थात् जलमें न डूबै कंटक न लगै और आकाशमार्गमें भी गमन की शक्ति हो जिस जिस पदार्थके विषे संयम करैहै सोई पदार्थरूप स्वयं आप होवैहै कामदेवविषे रूप तथा श्री हनुमान भीमादिकनविषे बल संपूर्ण सोई रूप प्राप्त होवैहै सो वार्ता अमृतबिंदु उपनिषत्विषे कथन करी है ॥१८१॥

इति श्रीयोगमार्गप्रकाशिकायां हठयोगवर्णनं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

॥ अथ राजयोगवर्णनम् ॥

मंत्रो लयो हठोपायो राजयोगाय कल्पते ॥ यो यं योगं विजानाति ह्युत्तमः सर्वयोगिनाम् ॥ १ ॥ वज्रासने स्थितो योगी मुद्रां विधाय शांभवीम् ॥ शृणुयाद्दक्षिणे श्रोत्रे सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं ध्वनिम् ॥२ ॥

इसके अनंतर राजयोग वर्णन करैहैं कि, संपूर्ण मंत्रयोग, लययोग, हठयोग इनके जो उपाय अर्थात् साधन हैं सो केवल राजयोगके अर्थ होवैहैं जो योगी राजयोगकूं अच्छी तरहसे जानै सो संपूर्ण योगिनके विषे उत्तम है ॥ १ ॥ वज्रासन जो सिद्धासन ताहि बांधिकरि शांभवीमुद्रा जो खेचरीमुद्रा ताहि धारणकरिकै दक्षिणश्रोत्र जो दक्षिण कर्ण तामें सूक्ष्मतैं सूक्ष्म ध्वनि होवैहै ताहि श्रवण करै ॥२॥

आरंभा प्रथमावस्था घटाऽवस्था द्वितीयिका ॥ तृतीया परिचर्या च निष्पात्तिश्च चतुर्थिका ॥ ३ ॥ चतुष्टयं सर्वयोगे महासिद्धिप्रदायकम् ॥ कथितुं कस्समर्थः स्यान्महासिद्धैश्च सेवितम् ॥ ४ ॥

तहां प्रथम आरंभा १ दूसरी घटा २ तीसरी परिचर्या ३ चतुर्थ निष्पात्ति ४ यह जो अवस्थाचतुष्टय है सो महान्

सिद्धि जो अणिमा महिमाकूं आदिलेकारि तिनकूं देवेवा-
रोहै ताके वर्णन करिवेम कोन समर्थ है सो महासिद्ध जो
कपिलाचार्य्यकूं आदिलेकारि श्रीशिवजी तथा मच्छेंद्रना-
थादिक तिनने सेवन कर्‌यो है ॥ ४ ॥

ब्रह्मग्रंथेर्यदा भेदोऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः॥
दिव्यदेहश्च तेजस्वी ह्यानंदं परमं व्रजेत्
॥५॥ संपूर्णहृदयः शून्यः आरंभा सा प्र-
कीर्तिता ॥ द्वितीयघटवन्नादे ज्ञानी दे-
वसमो भवेत् ॥ ६ ॥ विष्णुग्रंथिर्यदा भेदे
परमानंदसूचके ॥ ७ ॥

जिसकालविषे ब्रह्मग्रंथिका भेदन तथा अनाहत जो
ध्वनि है सो जिस यागीकरिकै सुनीजाय सो दिव्यदेह तथा
तेजवान् परम आनंदको प्राप्त होवैहै ॥ ५ ॥ संपूर्ण हृदय
आनंदकरिकै शून्य होवै जाविषे सो आरंभ अवस्था कहावैहै
॥ ६ ॥ जा कालमें विष्णुग्रंथिको भेदन होवैहै तासमय
घटकेसा शब्द होवैहै ता नाद श्रवण करते ज्ञानी देवता
समान होवैहै सो नाद परम आनंदकूं देवेवोरो है ॥ ७ ॥

रुद्रग्रंथिं यदा भित्त्वा सुखाद्विशति मारु-
तः ॥ सर्वदुःखजराव्याधिक्षुधानिद्रा वि-
नश्यति ॥८॥ निष्पत्तौ वेणुसदृशो नादश्च

परमो महान्॥यदा संजायते तत्र योगी-
श्वरसमस्तदा ॥ ९ ॥ सृष्टिसंहारकर्त्तासौ
सत्यं सत्यं न संशयः ॥राजयोगप्रभावेण
न किंचिद्दुर्लभं जगत् ॥ १० ॥

जिससमय रुद्रग्रंथि जो है ताहि भेदनकरि वायु सुखपू-
र्वक ब्रह्मरंध्रको प्राप्तहोवै तासमय संपूर्ण दुःख राग द्वेषा-
दिकन करिकै उत्पत्ति तथा जरा जो बुढापा तथा व्याधि
और क्षुधा निद्रा इत्यादि इन सबको नाशभाव प्राप्त होवै
है ॥ ८ ॥ चौथे तहां निष्पत्ति अवस्थाविषे वेणुसदृश
जो परममहान् नाद सो प्राप्त हो वाही समय योगी ईश्व-
रके सदृश अर्थात् रचना करनेमें तथा लयकरनेमें समर्थ
हो ॥ ९॥ सृष्टिके संहार तथा उत्पन्न करिवेमें अर्थात् रचि-
वेमें कोई योगी समर्थ होवैहै यह सत्य है सत्य है यामें कोई
संशय नहीं राजयोगके प्रभावकरिकै संसारमें किंचित्
मात्र दुर्ल्लभ नहीं अर्थात् कोई पदार्थकी प्राप्ति दुर्ल्लभ
नहीं आपहीतें संपूर्ण पदार्थ सिद्धिताको प्राप्त हों ॥ १० ॥

राजयोगस्य माहात्म्यं को वा शक्नोति
वर्णितुम् ॥ योगस्यास्य च कर्त्तारो विज्ञे-
यास्ते महेश्वराः ॥ ११ ॥

इस राजयोगका माहत्म्य कोई कहने नहीं सकै जो
योगाभ्यासी इसको जानते तथा करते वे महेश्वर अर्थात्
ब्रह्मा विष्णु महेशके समान समझना चाहिये ॥ ११ ॥

एवं नानाविधा मागा राजयोगपथा-
यते ॥ क्रियते राजयोगेन कालस्य-
मुखवंचनम् ॥ १२ ॥ राजयोगमजानंतः
केवलं हठधर्म्मिणः ॥ तेषामभ्यासिनां
मन्ये श्रमो हि केवलं फलम् ॥ १३ ॥

नानाप्रकारके जे संपूर्ण मार्ग अर्थात् मोक्षके मार्ग ते सब राजयोगके अर्थ होवैहैं काल जो है ताके मुखकी वंचना केवल राजयोगही करिकै होवैहै ॥ १२ ॥ जो पुरुष राजयोग जो केवल निश्चयताहि नहीं जानते केवल जप-तपादिक हठधर्म्मी हैं तिन अभ्यासीनकूं केवल श्रमही फल प्राप्तहोगा ॥ १३ ॥

केचिद्दानं प्रशंसंति केचिद्धर्म्मं तथापरे ॥
केचिद्गृहस्थकर्म्माणि केचिद्वैराग्यमुत्त-
मम् ॥ १४ ॥ अग्निहोत्रादिकं केचित् तपः
शौचं क्षमार्ज्जवम् ॥ एवं वदंति मुनयो
ह्युपायांस्तु विमुक्तये ॥ १५ ॥

कोई कोई दानकी प्रशंसा करते तैसेही कोई कर्म्मकी प्रशंसा करतेहैं, कोई गृहस्थ कर्म्मकूं अच्छा मानतेहैं कोई वैराग्यको उत्तम कहतेहैं ॥ १४ ॥ कोई अग्निहोत्रादिक

जे यज्ञादिशुभकर्म्मोंको तथा कोई तप शौच क्षमा आर्ज-वकूं अच्छा कहतेहैं येही प्रकार मुनिजनोंने मोक्षके अर्थ बहुत उपाय कहेहैं ॥ १५ ॥

एवं विवादकर्तॄणां मतं वक्तुं न शक्यते ॥
इदमेकं मया प्रोक्तं योगशास्त्रं स्वभाव-
तः ॥ १६ ॥ भक्तियोगोऽथवा ज्ञानं तपः
शौचादिकं तथा ॥ न ज्ञायतेऽस्मिन् संसारे
पृथगष्टांगयोगता ॥ १७ ॥

तथापि इनमें जो वादविवादके करवेवारे हैं तिनके मत वर्णन करिवेकूं हम समर्थ नहीं हम तो अपने अनुभवतैं एक योगशास्त्रही परम मत मानतेहैं सो वर्णन करौ हौं १६॥ भक्तियोग ज्ञान तप शौचादिक जो हैं सो इस संसारके विषे कोई अष्टांगयोगतैं बाहिर नहीं सो वार्ता वर्णनकरैहैं कि भगवानकी जो नवधा भक्ति है यथा "श्रीमद्भागवते—श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ॥ अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ १ ॥" अर्थ—कथाश्रवणकरना १ नामसं कीर्त्तन २ स्मरण ३ चरणसेवा ४ पूजन करना ५ वंदना करना ६ दास्यपन ७ सख्यभाव ८ आत्मनिवेदन ९ अर्थात् आत्मसमर्पणकरना सो इस नियमके अंगविषे अंतर्भाव है तथा समाधी योगसूत्र पतंजलिने कहाहै "ईश्वरप्रणिधा-नाद्वा" कि ईश्वरके प्रेमपूर्वक प्रणिधान अर्थात् पूजन सो

समाधि होवैहै तथा नारायणतीर्थने "प्रेमभक्तियोगस्तु ईश्वरचरणारविंदयोः प्रेमप्रवाहो अविच्छिन्नस्समाधिः" अर्थ ईश्वरके चरणारविंदविषे प्रेमप्रवाह जो है सो समाधि तब प्रेमभक्तियोग होवैहै, तातैंसर्वकाल समाधि तीनप्रकार वर्णन करिचुकेहैं ज्ञानसमाधि १ भक्तिसमाधि २ तथा कर्म्मसमाधि ३ याहीको ध्यानसमाधि वर्णनकरैहैं अर्थात् योगसे समाधिहोवेहै विना इसके अन्यप्रकार नहीं ॥१७॥

चित्तस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिंदुः स्थिरो भवेत् ॥ जायते सहजावस्था यमिनां मोक्षदायिनी ॥ १८ ॥ यावन्न गच्छेदनिलस्तदात्मकं तावन्न बिंदुः स्थिरतां प्रपद्यते॥ तावन्न ध्यानं न च रागसंक्षयस्तावन्न ज्ञानं लभते विरागवान् ॥ १९ ॥

जिसकालमें चित्त स्थिर होवैहै तब चित्तके स्थिर होनेसे वायुभी स्थिर होवैहै वायु स्थिर होनेसे सहजावस्था अर्थात् समाधि जो है सो प्राप्त होवैहै सो समाधि योगीजनोंको मोक्षकी देनेवारीहै ॥१८॥ जबतक अनिल जो वायु सो ब्रह्मरंध्र जो है ताहिको प्राप्त न हो तबतक कोई उपायसे बिंदु स्थिरताकूं प्राप्त नहीं होता जबतक बिंदु स्थिर नहीं होता तबतक रागध्यान तथा राग जो शीतोष्णादि-

कोंकी बाधा तिसका संक्षय नहीं होता और जबतक शीतोष्णादिकोंकी बाधा रहती तबतक ज्ञानकी प्राप्ति नहीं यद्यपि वैराग्यवानभी हो तौभी क्या ॥ १९ ॥

नास्ति योगसमा विद्या न नादसदृशो लयः मनोन्मनी ह्यवस्थासु यथा मुद्रासु शांभवी ॥ २० ॥

योगविद्याके समान कोई विद्या इस संसारमें नहीं नादके सदृश कोई लय नहीं अवस्थामें मनोन्मनीके समान कोई अवस्था नहीं तैसेही शांभवीमुद्राके समान कोई मुद्रा नहीं ॥ २० ॥

योगानुसन्धानसमाधिभाजां योगेश्वराणां हृदि वर्त्तमानम्॥ आनंदपूर्णं वचसा ह्यगम्यं जानाति तत् श्रीगुरुनाथ एकः ॥ २१ ॥

योगको जो अनुसंधानरूपी समाधिका पात्र है सो गेश्वर जो पूर्ण योग कर्ता हैं तिनके हृदयमें वर्तमान है प्राप्त हो रहा है आनंद करिके पूर्ण है कहे निश्चयकरि णीसे अगम्य उसको केवल एक गुरुनाथही जानते हैं हा—अज्ञानीको जगलटो, ज्ञानवानको ऐन । अंधको जेमि अंधगृह दृगवारेको चैन ॥ २१ ॥

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ॥ तथा योगेन रहितो ब्रह्मज्ञानरतोऽपि वा ॥ २२ ॥

जैसे रूप और लावण्यता करिके युक्त जो स्त्री सो पुरुषविना व्यर्थ होती है तैसेही योगाभ्यास करिकै रहित मनुष्य ब्रह्मज्ञानीभी होय तौभी व्यर्थ होवैहै ॥ २२ ॥

इति श्रीयोगमार्गप्रकाशिकायां राजयोग वर्णनं नाम चतुर्थोपदेशः ॥ ४ ॥

॥ अथ प्राणायामक्रम निरूप्यते ॥

अथाभ्यासक्रमं वक्ष्ये योगिनां सिद्धिदायकम् ॥ प्रातःकाले समुत्थाय प्रणम्य स्वगुरून् सुधीः ॥ १ ॥ विधिवच्छौचादिकं कृत्वा एकांते च मठं विशेत् ॥ सूक्ष्मरंध्रे मठे रम्ये प्रतिष्ठाप्यासनं मृदु ॥ २ ॥ गुरुं संस्मृत्य हृदये विघ्नेशं स्वेष्टदेवताम् ॥ ततस्संकल्पकं कृत्वा प्राणायामन्ततोऽभ्यसेत् ॥ ३ ॥

अब प्राणायामका क्रम निरूपण करैं हैं जाके अनंतर अर्थात् चारि प्रकार योगके अनंतर प्राणायाम अभ्यास क्रम जो है सो कहौं हौं सो क्रम योगीनकूं सिद्धिदायक है कि, प्रातःकाल अरुणोदयसे लेकरि सूर्योदयपर्य्यंत होवै है तामैं उठिकरि अपने गुरु जो आचार्य्य और माहात्मा तिनहि प्रणाम करिकै ॥ १ ॥ विधिपूर्वक शौचादिक जो क्रिया ताहि करिकै एकांतस्थानविषे जो मठ तामैं प्रवेश

करे सो मठ सूक्ष्मरंध्र अर्थात् छोटासा द्वारहो और रमणीक हो तामें मृदुकहें कोमल आसन बिछावे ॥ २ ॥ और गुरु जो है तथा गणेश देव जो है तथा इष्टदेव जो हैं तिनही हृदय विषे स्मरण करिकै ताके अनंतर संकल्प उच्चारण करिकै प्राणायाम अभ्यास करै ॥ ३ ॥

मुद्रां च विपरीताख्यां कुंभकात्पूर्वमभ्यसेत् ॥ कुंभका दशकर्तव्याः पंच वृद्धा दिनेदिने ॥ ४ ॥

और जो विपरीत करणीमुद्रा है ताहि कुंभकतैं पूर्वही करने योग्य है कुंभकतैं पश्चात् योग्य नहीं कुंभक अभ्यास कालके प्रथम दशकुंभक करना योग्य हैं फिर दिन दिन विषे पांच पांच वृद्धि करना योग्य हैं ॥ ४ ॥

सहितमभ्यसेत्तावत् यावत्कुंभं न केवलम् ॥ केवलानंतरं चैव कुर्य्याद्दश च विंशतिः ॥ ५ ॥ अभ्यासं सकलं कुर्य्यादीश्वरार्पणमादृतः ॥ मध्याह्ने च तथाभ्यासं कृत्वा भोजनमाचरेत् ॥ ६ ॥

रेचक पूरक करिकै युक्त जो सहितकुंभक जबतक केवल कुंभक प्राप्त न होय तब तक सहितकुंभकका अभ्यास करै और जबतक केवलकुंभक सिद्धहोजाय तबतक दश वा वीस

सहित कुंभक करै ॥ ५ ॥ अभ्यास संपूर्ण ईश्वरकूं आदरपू-
र्वक अर्पण करै इसी प्रकार मध्याह्नकाल विषे अभ्यास
करै और अभ्यासकूं करिकै फिरि भोजन करै ॥ ६ ॥

कुर्वीत भोजनं पथ्यमपथ्यं न कदाचन ॥
भोजनानंतरं किंचिच्छयनं सौख्यदाय-
कम् ॥ ७ ॥ सायं संध्याविधिं कृत्वा
योगं पूर्ववदाचरेत् ॥ अर्द्धरात्रे हठाभ्यासं
श्रद्धाचेद्यदि धीमतः ॥ ८ ॥

भोजन पथ्यकूं अपथ्य कोई समय न करै सो पथ्या-
पथ्य विचार पूर्वही कहिचुकेहैं भोजन करिकै सौख्यदा-
यक जो शयन है सो थोडासा [illegible]
विषे संध्यावंदन [illegible] से पूर्वका [illegible] सायंकाल
तबहीं फिर अभ्यास करै और [illegible] जो साधकपु-
रुषकी श्रद्धा होय तो अर्द्धरात्र समय हठ अभ्यास करै
इस प्रकार योगाभ्यास क्रम है सो जानना ॥ ८ ॥

॥ अथ छायापुरुषस्य विधानम् ॥

शुद्धातपे स्वदेहस्य प्रतिबिंबं विलोकयेत् ॥
भूमौ दृष्ट्वा तथा खे च प्रतीकोपासनां
चरेत् ॥ ९ ॥ योगी समभ्यसेन्नित्यं
स्वप्रतीकं यथाविधि ॥ तेन विज्ञायते सर्वं
लाभालाभौ भवाभवौ ॥ १० ॥

शुद्ध आतप जो स्वच्छ घर्म वा स्वच्छ चांदनी हो
तब अपनी देहका जो प्रतिबिंब अर्थात् छाया ताहि
विलोकयेत् कहैं देखै गर्दनविषे इस प्रकार पृथिवीमें
देखि आकाशमें देखै तौ जरूर छायापुरुष दर्शन होगा
इसमें संशय नहीं ऐसी प्रतीकउपासना करै इसको
प्रतीक उपासना कहते हैं ॥ ९ ॥ अपना जो स्वप्रतीक
अर्थात् छायापुरुष दर्शन सो योगी नित्यही देखनेका
अभ्यास करै तिस छायापुरुष दर्शनसे संपूर्ण लाभ हानि
होनी अनहोनी संपूर्ण मालूम होजाती है ॥ १० ॥

शिरश्छिन्नं तथा कंपस्तदा मृत्युर्भवेद्ध्रुवम्
॥ यदा न दृश्यते बाहुर्भ्रातृहानिस्तु
जायते ॥ ११ ॥ समस्तानि च ह्यंगानि
स्वप्रतीकेन पश्यति॥ तत्सर्वं च विजानी-
यात्तस्य हानिर्न संशयः ॥ १२ ॥

जो छायापुरुषका शिर न दिखाय तथा कांपता दीखे
तो अवश्य मृत्यु होती है और जो दक्षिण भुजा न दि-
खाय तौ बंधुकी हानि होय वाम भुजा न दिखाय तो
स्त्रीकी हानि होय ॥ ११ ॥ समस्त जो संपूर्ण अंग
छायापुरुषके हैं तिनमेंसे जो न दिखाय तो जानना चाहिये
कि तिसी अंगकी हानि होगी इसमें संशय नहीं ॥ १२ ॥

यःकरोति सदाभ्यासं गुप्ताचारेण मानुषः ॥ ईशत्वं नात्र संदेहः षण्मासेन च लभ्यते ॥ १३ ॥ विवाहे गमने चैव काले चमरणे तथा॥अवश्यमेव कर्त्तव्यं योगिभिस्तदुपासनम् ॥ १४ ॥

जो साधक सदैवकाल छायापुरुष दर्शनका अभ्यास करता है वह छे महीनोंमें ईश्वर अर्थात् महादेवके सदृश समर्थ होजायगा ॥ १३ ॥ विवाहकाल तथा यात्राकाल तथा मरणकाल इन कालनमें योगीनकरिकैं तौन उपासना अवश्य कर्तव्य है इससे सर्ववार्ता पूर्वपर जानी जाती हैं ॥ १४ ॥

सकलयोगरहस्यमितीरितं युगलदासजनेन समासतः ॥ पठति यश्चसमाचरतीह वै पतति जातु स नो हि भवार्णवे ॥ १५ ॥

संपूर्ण जो योग शास्त्रका रहस्य अर्थात् साररसो समास पूर्वक सम्यक् प्रकारसे युगलदास जो हैं तिन करिकै वर्णन कऱ्यौ है ताहि जो मनुष्य पढैं वा आचरण करैगा सो भवार्णव जो संसारसागर है तामैं पतित नहीं होगा इसमें संशय नहीं ॥ १५ ॥ इति प्राणायामक्रमः ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

खेमराज श्रीकृष्णदास, "श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेस—बंबई.

॥ श्रीः ॥

अथ राजयोगान्तर्गतः-

बिन्दुयोगः।

मुरादाबादनिवासि पण्डितज्वालाप्रसादमिश्रकृत-
भाषाटीकासमलंकृतः।

स च

खेमराज श्रीकृष्णदासश्रेष्ठिना

मुम्बय्यां

स्वकीये "श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम्-यन्त्रागारे

मुद्रयित्वा प्रकाशितः।

संवत् १९६२, शके १८२७.

भूमिका ।

मनुष्यके निमित्त यदि कोई शांतिका उपायहै तो यह योग है, इस योगविद्याके अनुष्ठानसे मनुष्यके त्रिविध ताप दूर होजातेहैं, इसके दो भेदहैं राजयोग और हठयोग, हठयोग विना गुरुके सिद्ध नहीं होता, राजयोगके अनुष्ठाता क्वचित २ प्राप्त होतेहैं, तथा इसकी श्रेणी मनुष्योंको मन इन्द्रियके जय करनेसे प्राप्त होनेलगतीहै, जिनके द्वारा यह मनुष्य परमपुरुषार्थ करताहुआ मुक्तितकको प्राप्त होसकताहै. योगशास्त्रके बहुतसे ग्रन्थ हैं जिनके सम्यक् अवलोकनसे योगशास्त्रकी महिमा विदित होतीहै, परन्तु विना अनुष्ठानके देखनेसे क्या होताहै, जबतक अनुष्ठान न होगा कोई कार्य सिद्ध न होगा, आत्माकी उन्नति अन्तःकरणमें प्रकाशकी इच्छावालोंको अवश्यही योगानुष्ठान करना चाहिये. इस समय योग २ पुकारते तो अनेक देखे जातेहैं, पर योगानुष्ठान करनेवाले कोई बिरलेही हैं, इससे जो दर्शनहैं उनका अनुष्ठान करना चाहिये, यह "बिन्दुयोग" एक छोटासा ग्रन्थ राजयोगान्तर्गतहै, इसको हम राजयोगका

भूमिका।

प्रारंभिक ग्रन्थ कहसकतेहैं, इस छोटेसे ग्रन्थके अनुशीलन और तदनुकूल आचरणसे मनुष्यकी आत्मामें अतिशय शान्ति होसकतीहै बहुत कह-नेसे क्याहै जिनको संसारके जीवनमरणरूप रोगों-का भयहै, उनके इस भयको दूर करनेके निमित्त यह योगविद्याही परमौषधिहै।

यह ग्रन्थ पुराना लिखाहुआ अप्रकाशित हमको "श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम्-यन्त्रालयाध्यक्ष सेठजी श्रीयुत खेमराज श्रीकृष्णदासजी महाशयद्वारा प्राप्त हुआ, उन्हींकी आज्ञासे इसे शुद्ध कर भाषा-टीके सहित अलंकृत कियाहै और उन्हींको सर्व स्वत्वसहित समर्पण करदियाहै।

योगशास्त्रके अनेक गहन विषय इसमें बडे सरल सुबोध लिखेहैं इसके पढने और मनन करनेसे योगशास्त्रके प्रेमियोंको बहुत कुछ लाभ होगा यह मुझे दृढ आशाहै।

९।१०।०१ } सज्जनोंका अनुगृहीत,
मुरादाबाद } पं०ज्वालाप्रसादमिश्र.

श्रीगणेशाय नमः ।

अथ राजयोगान्तर्गतः-

बिन्दुयोगः।

भाषाटीकासहितः ।

दोहा-योगाचार्य मुनीनको, प्रेमसहित शिरनाय ।
बिन्दुयोगकी अतिसरल, भाषा लिखत बनाय ॥ १ ॥

क्षमा विवेकं वैराग्यं शान्तिः सन्तोषनिष्पृहा ।
एतद्युक्तियुतो योगी क्रियायोगी निगद्यते १॥

क्षमा सत्यासत्यका ज्ञान संसारके पदार्थोंसे विराग, चित्तमें शान्ति, सन्तोष अनिच्छा जिसके हो इस्से युक्त हुआ योगी क्रियायोगी कहलाताहै १

मात्सर्यं ममता माया, हिंसा च मदगर्विता ।
कामक्रोधभयं लज्जा लोभमोहौ तथा शुचिः २॥

मत्सरता ममता (मोह) माया, हिंसा (किसी के चित्तको दुखाना) मद अभिमान, काम, क्रोध, भय, लज्जा, लोभ, मोह, पुत्रधनमें प्रीति तथा अशुचि (अपवित्रता) ॥ २ ॥

रागद्वेषौ घृणालस्यं भ्रान्तित्वं मोक्षमाश्रमः ।
यस्यैतानि च विद्यन्ते क्रियायोगी स उच्यते ३

रागद्वेष घृणा आलस्य भ्रान्ति मोक्षमें भ्रान्ति अर्थात् अविश्वास जिसमें इतनी वस्तु नहींहैं उस का नाम क्रियायोगी कहा जाताहै यदि इनके न होतेभी योगी बनै तौ वह दम्भ जानना ॥ ३ ॥

यस्यान्तःकरणे क्षमाविवेकवैराग्यशांति-
सन्तोषादीन्युत्पद्यन्ते ॥

जिसके अन्तः करणमें क्षमा विवेक वैराग्य शान्ति सन्तोष आदि प्रगट होतेहैं ॥

स एव बहुक्रियायोगी कथ्यते । कापत्यं वित्तं हिंसा तृष्णा मात्सर्यम् अहंकारः रोषः क्षयं लज्जालोभमोहा अशुचित्वं पाखंडत्वं भ्रान्तिः इन्द्रियविकारः कामः एते यस्य मनसि प्रतिदिनं न्यूना भवन्ति । स एव बहुक्रियायोगी कथ्यते ॥

वह बहुत क्रिया योगी कहाताहै, कपट धनका लोभ हिंसा तृष्णा मात्सर्य अहंकार रोष क्षय लज्जा लोभ मोह अपवित्रता पाखण्ड भ्रान्ति

इन्द्रियाविकार काम यह जिसके मनसे प्रतिदिन न्यून होतेहैं वही बहुक्रिया योगी कहा जाताहै।

इदानीं राजयोगस्य भेदाः कथ्यन्ते॥ ते के एकः सिद्धकुण्डलनीयोगः। मंत्रयोगः। अस्तु राजयोगः कथ्यते। मूलकन्दस्थाने एका तेजोरूपा महानाडी वर्त्तते। इयमेक नाडी। इडा पिंगला सुषुम्णा एतान् भेदान् प्राप्नोति। वामभागे चन्द्ररूपा इडा नाडी वर्त्तते। दक्षिणभागे सूर्यरूपा पिंगला नाडी वर्त्तते। मध्यमार्गेऽतिसूक्ष्मा पद्मिनी तंतु-समाकारा कोटिविद्युत्समप्रभा भुक्तिमुक्ति प्रदाऽस्या ज्ञानोत्पत्तौ सत्यं पुरुषः सर्वज्ञो भवति॥

अब राजयोगके भेद कहतेहैं वह कितनेहैं उनमें एक सिद्ध कुण्डलनी योग, मंत्रयोगहै, जो हो अब राजयोग कहतेहैं, मूल कन्दस्थानमें एक तेजरूपा नाडीहै यह एक नाडीहै इसमें योग करनेवाला एक योगी कहाताहै यह एक नाडीही इडा पिंगला सुषुम्णा इन तीन भेदोंको प्राप्त होतीहै वाम-भागमें चन्द्ररूपा इडा नाडी वर्ततीहै दक्षिणभागमें

सूर्यरूपा पिंगला नाडी वर्त्तीहै मध्यभागमें अति-सूक्ष्म कमलिनीके तन्तुकी समान कोटि विद्यु-तकी समान प्रभावाली भुक्ति मुक्ति दायकाहै इसमें ज्ञानोत्पत्ति होतीहै इसके योगसे पुरुष सर्वज्ञ होताहै ।

इदानीं सुषुम्णायां ज्ञानोत्पत्तावुपायाः कथ्य-न्ते ॥ आदौ चतुर्दलं मूलं चक्रं वर्त्तते । प्रथ-ममाधारचक्रं वर्त्तते । गुदास्थानं रक्तवर्णं गणेशदैवतं सिद्धिबुद्धिशक्तिमूषकवाहनम् कूर्म ऋषिः । आकुंचमुद्रा । अपानवायुः चतुर्दलेषु रजःसत्त्वतमोमनांसि । वं शं षं सं मध्यत्रिकोणे त्रिशिखात्तन्मध्ये त्रिकोणा-कारं कामपीठं वर्त्तते ॥

अब सुषुम्णामें ज्ञानउत्पत्तिके उपाय कहतेहैं आदिमें चतुर्दल मूलचक्रहै पहला आधारचक्र है गुदाके स्थानमें है लालवर्ण गणेश देवता सिद्धि बुद्धिसे शक्तिके सहित ध्यान करने योग्यहै मूषक वाहन कूर्म ऋषिहै, आकुंचन मुद्राहै, अपान वायुहै चारों दलोंमें रज सत्त्व तम मनहै वं शं षं सं अक्षर युक्तहै, मध्यत्रिकोणमें त्रिशिखायुक्त त्रिकोणके आकार कामपीठ विद्यमानहै ।

तत्पीठमध्येऽग्निशिखाकारैका मूर्तिर्वर्त्तते । तस्याः मूर्तेर्ध्यानकारणात् सकलशास्त्र काव्यनाटकादिसकलवाङ्मयं विनाभ्यासेन पुरुषस्य मनोमध्ये स्फुरति, इदानीं द्वितीयं स्वाधिष्ठानचक्रं षड्दलं उपायनपीठसंज्ञकं भवति ॥

उस शिखाके मध्यमें अग्निके शिखाकी समान प्रकाशमान एक मूर्तिहै उस मूर्तिके ध्यान करनेसे सब शास्त्र काव्यनाटकादि तथा सम्पूर्ण वाङ्मय शास्त्रादि अभ्यासके विनाही पुरुषके मनमें स्फुरायमान होतेहैं दूसरा अधिष्ठानचक्रहै वह छः दलयुक्त उपायनपीठ संज्ञावालाहै यह चक्र कमल नाडियोंद्वारा बने हुएहैं वही अक्षर रूपहै वायु और तेजके द्वारा मूर्ति और वर्ण झलकताहै ।

तन्मध्ये अतिरक्तवर्णं तेजो वर्त्तते । तस्य ध्यानात् साधकोऽतिसुन्दरो भवति । युवतीनां वल्लभो भवति । प्रतिदिनमायुर्वर्धते । तृतीये नाभिस्थाने दशदलं पद्मं वर्त्तते तन्मध्ये पंचकोणं चक्रं वर्त्तते॥तन्मध्ये एका

मूर्तिर्वर्तते । तस्यास्तेजो जिह्वया कथयितुं न शक्यते । तस्याः मूर्तेर्ध्यानकारणात्पुरुषस्य शरीरं स्थिरं भवति ॥

इसके मध्यमें अधिकतर लालवर्णका तेज वर्तताहै उसके ध्यानसे साधक अतिसुन्दर होजाता है अतियुवा और स्त्रियोंका प्यारा होताहै प्रतिदिन आयु बढतीहै, तीसरे नाभिके स्थानमें दशदलका कमलहै उसके मध्यमें पांचकोणचक्र विद्यमानहै उसके मध्यमें एक मूर्तिहै जिह्वा उसका तेज नहीं कह सकती उस मूर्तिके ध्यान करनेसे पुरुष का शरीर स्थित होताहै ।

चतुर्थं हृदयमध्ये द्वादशदलं कमलं वर्तते । अतितेजोमयत्वाद्दृष्टिगोचरं न भवति तन्मध्येऽष्टदलमधोमुखं कमलं वर्त्तते ॥ तन्मध्ये प्राणवायोः स्थानमष्टदलकमलमध्ये लिंगाकारा कर्णिका कथ्यते । तस्याः कर्णिकेति संज्ञा तत्कर्णिकामध्ये पद्मरागसमानवर्णाङ्गुष्ठप्रमाणैका पुत्तलिका वर्त्तते ॥

चौथा हृदयके मध्यमें द्वादशदलका एक कमल है वह अति तेजोमय होनेसे दृष्टिगोचर नहीं होता

उसके मध्यमें अष्टदल अधोमुख कमलहै उसीके मध्यमें प्राणवायुका स्थानहै अर्थात् अष्टदलकमल के मध्य लिङ्गाकार कर्णिकाहै उसकी कर्णिका संज्ञा है उस कर्णिकाके मध्यमें पद्मरागमणिकी समान वर्णवाली अंगुष्ठ प्रमाण एक पुत्तलीहै।

तस्या जीवसंज्ञा तस्या बलमध्यस्वरूपं कोटि जिह्वाभिर्वक्तुं नैव शक्यते। अस्या मूर्तेर्ध्यानकारणात्स्वर्गपातालाकाशमनुष्यगन्धर्वकिन्नरगुह्यकविद्याधरलोकसम्बन्धिन्यः स्त्रियोऽपि वश्या भवन्ति। इत्यत्र कथ्यते। पञ्चमं कण्ठस्थाने षोडशदलं कमलं वर्तते॥

उसीकी जीव संज्ञाहै उसका बल और स्वरूप कोटि जिह्वाभी नहीं कह सकती इस मूर्तिके ध्यान करनेसे स्वर्ग पाताल आकाश मनुष्य गन्धर्व किन्नर गुह्यक विद्याधर लोकसम्बन्धी स्त्रियें वशीभूत होतीहैं यह इसमें कहाहै। पांचवें कंठस्थानमें सोलह दलका कमल विद्यमानहै

तन्मध्ये कोटिसूर्यसमान एकः पुरुषो वर्तते। तस्य पुरुषस्य ध्यानकारणादसाध्यरोगा नश्यन्ति॥

इसमें कोटिसूर्यकी समान प्रकाशवान् एक पुरुषहै उस पुरुषके ध्यान करनेसे असाध्य रोगभी नाश होजातेहैं ।

एकसहस्रवर्षपर्यंतं स पुरुषो जीवतीदानीं षष्ठं भ्रूमध्ये आज्ञाचक्रं वर्तते । द्विदलं तन्मध्येऽग्निज्वालाकारकमलं किंचिद्वस्तु वर्तते । न स्त्री पुमान्। तस्य ध्यानकारणात्पुरुषस्य शरीरमजरामरं भवति ॥

एकसहस्र वर्षपर्यंत वह पुरुष जीताहै अब भ्रूमध्यमें छठे आज्ञाचक्रको कहतेहैं वह दो दलके मध्य में अग्निज्वालाकारकमल संयुक्त कोई वस्तु वर्तमानहै वह न स्त्रीहै न पुरुष उसके ध्यान करनेसे पुरुषका शरीर अजर अमर होताहै ।

इदानीं सप्तमं तालुमध्ये चतुःषष्टिदलं अमृतपूर्णं वर्तते । अधिकशोभायुक्तमतिश्वेतं तन्मध्ये रक्तवर्णं घांटिकासंज्ञैका कर्णिका वर्तते । तन्मध्ये भूमिः । तन्मध्ये प्रकट चन्द्रकलाऽमृतधारा भवति ।तस्याःकलाया ध्यानकारणात्तस्य समीपे मरणं नायाति । निरन्तरध्यानादमृतधारायाः सजीवो

भवति । तदा यक्ष्मरोगपित्तज्वरहृदयदाह शिरोरोगजिह्वाजडभावा नश्यन्ति । भक्षितमपि विषन्न बाधते । यद्यत्र मनः स्थिरं भवति ॥

तालुके मध्यमें चौंसठ दलवाला अमृतसे पूर्ण एक कमलहै वह अधिक शोभासे युक्तहै अतिश्वेतहै उसके मध्यमें लालवर्ण कंटिकासंज्ञक एक कर्णिकाहै उसके मध्यमें भूमिहै उसके मध्यमें प्रगट चन्द्रकला अमृतरूपहै उसके ध्यान करनेसे इस पुरुषके समीप मृत्यु नहीं आती निरन्तर ध्यान करनेसे अमृतधारा पडतीहै इससे वह सजीव रहताहै उस समय यक्ष्मरोग हृदयदाह पित्तज्वर शिरोरोग तथा जिह्वा जडभावसे रहित होतीहै वह यदि विषभक्षण करले तौभी इसको विषकी बाधा नहीं होती, यदि इसमें मन स्थिर हो जाय तौ क्या कहनाहै ।

इदानीं ब्रह्मरन्ध्रस्थानेऽष्टमं शतदलं चक्रं वर्त्तते । तस्य कमलजात्यधरणीपीठ इति संज्ञा । सिद्धपुरुषस्य स्थानम् । तन्मध्येऽग्निधूमाकाररेखाथा दृश्यादृश्यैका पुरुषस्य मूर्त्तिर्वर्त्तते । तस्यानादिर्नांतोऽस्ति । तस्या

मूर्त्तिध्यानकारणात्प्रत्यक्षं निरंतरं पुरुषस्याकाशे गमागमौ भवतः। पृथ्वीमध्ये स्थितस्यापि पृथ्वीबाधो न भवति । सकलान् प्रत्यक्षं निरंतरं पश्यति च पृथग्भवति । अतिशयेनायुर्वर्धते ।

अब ब्रह्मरंध्र स्थानमें जो आठवां सौदलका चक्रहै उसको कहतेहैं उसकी कमलजातधरनीपीठ संज्ञाहै वह सिद्ध पुरुषका स्थानहै उसके बीचमें अग्निधूमाकार रेखावत् दृश्यादृश्य एक पुरुषकी मूर्तिहै उसका आदि अन्त नहींहै उस मूर्तिके ध्यान करनेसे प्रत्यक्ष निरन्तर इस पुरुषका आकाशमें गमनागमन हो सकताहै पृथ्वीमें स्थित होकरभी इसको पृथ्वीके पदार्थोंसे बाधा नहीं होती सब वस्तुओंको निरन्तर प्रत्यक्ष देखताहै और इसकी आयु अधिकतर बढ जातीहै ।

इदानीं नवमचक्रस्य भेदाः कथ्यन्ते । तस्य महाशून्यचक्रमिति संज्ञा । तदुपर्यपरं किमपि नास्ति । तदेव महासिद्धचक्रं कथ्यते । तस्य पूर्णगिरिपीठ एतादृशं नाम। तस्य महाशून्यचक्रस्य मध्ये ऊर्ध्वमुखमति-

रक्तवर्णं सकलशोभास्पदमनेककल्याण-
पूर्णं सहस्रदलमेकं कमलं वर्त्तते । यस्य
परिमलो मनसो वचसो न गोचरः ॥ तस्य
कमलस्य मध्ये त्रिकोणरूपैका कर्णिका
वर्त्तते ।

अब नवम चक्रके भेद कहतेहैं इस चक्रकी
महाशून्य संज्ञाहै इसके ऊपर कुछभी नहीं है
इसीको महासिद्धचक्र कहतेहैं इसका पूर्णगिरि-
पीठ नामहै इस महाशून्य चक्रके मध्यमें ऊर्ध्व-
मुख अतिलालवर्ण सब शोभाका स्थान अनेक
कल्याणपूर्ण सहस्रदल एक कमलहै जिसकी गन्ध
मनवचनके अगोचरहै उसकमलके मध्यमें त्रिको-
णरूपा एक कर्णिकाहै ॥

तत्कर्णिकामध्ये सप्तदशी निरंजनरूपा
कला वर्त्तते । कोटिसूर्यसमप्रभं कलाया-
स्तेजो वर्त्तते। परमुद्भवो नास्ति । कोटिच-
न्द्रसमप्रभाशीतलं परं शीतभावो नास्ति ।
अस्याः कलाया ध्यानयोगात्साधकस्य
मनसि दुःखं न भवति । तदुपरि अनंतपर-
मानन्दस्य स्थानम्। तत्रोर्ध्वशक्तिः । एता-

ईशी संज्ञा एका कला वर्त्तते । अस्याः कलाया ध्यानकारणात् पुरुषो यदिच्छति । तस्य सुखभोगवतः स्त्रीमध्ये विलासवतः संगीतविलासवतः विनोदप्रेक्षावतः पुरुषस्य प्रतिदिनं शुक्लपक्षे चन्द्रकलावत् कला वर्द्धते । पुण्यपापेऽस्य शरीरं न स्पृशतः । निरन्तरध्यानकारणात् निजस्वरूपं प्रकाशनसामर्थ्यं भवति । दूरस्थोपि च दूरस्थवस्तु समीप इव पश्यति ॥

उस कार्णिकामें सत्रहवीं निरञ्जनरूपा एक कलाहै उस कलाका तेज कोटिसूर्यकी समानहै परन्तु इस तेजोरूपका उद्भव नहींहै इसकी प्रभा कोटिचन्द्रकी समान शीतलहै परन्तु शीतभाव नहीं है इस कलाके ध्यान करनेसे साधकके मनमें किसी प्रकारका दुःख नहीं होता इसके ऊपर अनन्त परमानन्दका स्थानहै उसमें ऊर्ध्वशक्ति निवास करतीहै इस प्रकारकी संज्ञावाली एक कलाहै इस कलाके ध्यान करनेसे पुरुष यदि इच्छा करै तो उसको सुखभोग स्त्रियोंके मध्यमें विलास संगीत विलास विनोदकी इच्छासे

विनोद प्राप्त होतेहैं इस पुरुषकी कला शुक्लपक्षके चन्द्रकी समान प्रतिदिन बढतीहै पुण्य पाप इसके शरीरको नहीं छूते कारण कि निरन्तर ध्यान करताहै अपने स्वरूपके प्रकाशकी सामर्थ्य बढ-तीहै दूरमें स्थितभी दूरकी वस्तुको समीपवत् देखताहै ॥

इदानीं सुखसाध्यो लक्ष्ययोगः कथ्यते। अस्य लक्ष्ययोगस्य पंच भेदा भवन्ति ऊर्ध्वलक्ष्यम्। अधोलक्ष्यम् । लक्ष्यम् । बाह्यलक्ष्यम् । अंतरलक्ष्यम् । प्रथममूर्ध्वलक्ष्यं कथ्यते । आकाशमध्ये दृष्टिः।कदा च मनऊर्ध्वं कृत्वा स्थापयति।एतस्य लक्षस्य दृढकरणात्परमे-श्वरस्य तेजसा सह दृष्टेरैक्यं भवति । अथ चाकाशमध्ये यःकश्चिददृष्टः पदार्थो भवति स साधकस्य दृष्टिगोचरो भवति ॥

अब सुखसाध्य लक्ष्य कहतेहैं, योगका वर्णन करतेहैं जिस लक्ष्य योगके पांच भेदहैं ऊर्ध्वलक्ष्य, अ-धोलक्ष लक्ष्य बाह्यलक्ष्य, अन्तरलक्ष्य पहले ऊर्ध्वल-क्ष्य कहतेहैं आकाशमध्यमें दृष्टि लगाये मनकोऊर्ध्व करके वहीं स्थापन करना इस लक्ष्यके दृढ करनेसे परमात्माके तेजके साथ दृष्टिकी एकता होतीहै

और आकाशमें जो कुछभी दृष्ट पदार्थहैं वह साधकके भली प्रकार दृष्टिगोचर होजातेहैं ॥

अयमेवोर्ध्वलक्ष्यः नासिकायाः उपरि द्वादशांगुलमूलपर्यन्तं दृष्टिः स्थिरा कर्त्तव्या। अथवा नासिकाया अग्रे दृष्टिः स्थिरा कर्त्तव्या। लक्षद्वयस्य दृढीकरणात् । दृष्टिः स्थिरा भवति। पवनः स्थिरो भवति। आयुर्वर्द्धते। एतद्द्वयमपि बाह्यलक्ष्यमेव भवति बाह्यांतर आकाशे शून्यलक्ष्यः कर्त्तव्यः। जाग्रद्दशायां चलनदशायां भोजनदशायां स्थितिकाले सर्वस्थाने शून्यस्य ध्यानकारणात् ॥

फिर ऊर्ध्वलक्ष्यमें नासिकाके ऊपर द्वादश अंगुल मूलपर्यन्त दृष्टि करनी चाहिये फिर नासिका के अग्रभागमें दृष्टि स्थिर करै। इन दोनों लक्ष्योंके दृढ करनेसे दृष्टि स्थिर होजातीहै पवन स्थिर होजातीहै आयु बढतीहै यह दोनोंही बाह्य लक्ष्य भीहैं बाह्य अन्तरमें आकाशहो तो शून्य लक्ष करना चाहिये जागृत दशा चलनेकी दशा भोजनदशा स्थितिके समय सब स्थानमें शून्य ध्यानके

करनेसे स्थिरता प्राप्त होतीहै कोई विकार नहीं रहताहै ॥

इदानीं राजयोगयुक्तस्य शरीरे यच्चिह्नं तत्कथ्यते । तत्सर्वत्र पूर्णो भवति । पृथिव्याः दूरे तिष्ठति । पृथिव्यां व्याप्य तिष्ठति । यस्य जन्ममरणे न स्तःसुखं न भवति।कुलं न भवति। शीतलं न भवति ।स्थानं न भवति । अथ सिद्धस्य मनोमध्य ईश्वरसंबंधी प्रकाशो निरंतरं प्रत्यक्षो भवति । स च प्रकाशो न शीतो न चोष्णो न श्वेतो न पीतो भवति । तस्य न जातिर्न किञ्चिच्चिह्नम् । अयं च निष्कलो निरंजनः अलक्ष्यश्च भवति । अथ च फलद्वंद्वे न कामिन्यादेर्यस्येच्छा न भवति॥

अब राजयोगयुक्त पुरुषके शरीरके चिह्न कहतेहैं वह अंगोंसे सर्वत्र पूर्ण होताहै पृथ्वीकी गुफामें रहताहै पृथ्वीमेंभी व्याप्त होके रहता उसके जन्म मरण नहीं होता सुख दुःख नहीं रहता कुल नहीं होता शीतल नहीं होता स्थान नहीं होता, और सिद्धके मनमें निरन्तर ईश्वरसम्बन्धी प्रकाश होता है और वह प्रकाश प्रत्यक्ष होताहै, वहप्रकाश न ठंढा

न गरम न श्वेत न पीतहै, न उसकी जाति न कोई चिह्नहै यह निष्कल (कलारहित) निरंजन और अलक्ष होताहै, और किसी प्रकारके फल तथा द्वंद्वादि, भी नहीं होते । और कामिनी आदिकीभी उसको इच्छा नहीं होती ॥

अन्यद्राजयोगस्य चिह्नं कथ्यते । यस्य राज्यादिलाभेऽपि फललाभो न भवति । हानावपि मनोमध्ये दुःखं न भवति । अथ च तृष्णा न भवति । अथ च कस्मिन् पदार्थस्योपर्यनिच्छा न भवति कस्मिन् पदार्थे मनसोनुरागो न भवति । अयमपि राजयोगः कथ्यते । अथचः यस्य मनः मुनिविद्वत्पुरुषेषु मैत्रे च समं भवति । दृष्टिश्च समा भवति । सकलपृथ्वीमध्ये गमनवतः सुखभोगवतः यस्य मनसि कर्त्तृत्वाभिमानो नास्ति । अथ च लोकमध्ये कर्तृत्वं न ज्ञापयति।सोपि राजयोगःकथ्यते॥

औरभी राजयोगके चिह्न कहतेहैं, जिसको राज्यादिके लाभमें भी कुछ फललाभ नहीं होता हानिसेभी मनके बीचमें कुछ दुःख नहीं होता ।

न कोई तृष्णा होतीहै । न किसी पदार्थमें अनिच्छा होतीहै किसी पदार्थका मनमें अनुरागभी नहीं होता. अब फिर राजयोग कहतेहैं जिसका मन मुनि विद्वान पुरुषोंमें शत्रु मित्रोंमें समान होताहै समान दृष्टि होतीहै सब पृथ्वीमें गमन करने और सुख भोगसे जिसके मन में कर्तृत्वपनका अभिमान नहीं होताहै और लोक में अपना कर्तापन विख्यात नहीं करता अर्थात् किसी कर्ममें जिसके कर्तापनका अभिमान नहींहै वहभी राजयोग कहा जाताहै उसका करनेवाला राजयोगी होताहै ॥

नवीनानि पट्टसूत्रमयधृतानि वस्त्राणि अथवा जीर्णानि छिद्राणि धृतानि कस्तूरीचन्दनलेपैर्वा कर्दमलेपेन यस्य मनसि हर्षशोकौ न स्तः। स एवात्र तिष्ठति। यस्य जन्ममरणे न स्तः सुखं न भवति।कुलं न भवति शीलं न भवति। स्थानं न भवति । राजयोगः नरमध्ये अथ च वनमध्ये युद्धे संग्राम मध्ये वा यस्य मनः भयपूर्णं वा न भवति। सोपि राजयोगः कथ्यते ॥

नवीन पट्टसूत्रके वस्त्रधारण करनेसे अथवा

पुराने फटे धारण करनेसे कस्तूरी चन्दन लेप अथवा कीचके लेपनसे जिसके मनमें हर्ष शोक नहीं होताहै जो निश्चल रहताहै जिस को जन्म मरण नहीं संसारी सुखका अनुभव नहीं कुल नहीं शील नहीं स्थान नहीं किसीकी अभि-लाषा नहीं वह राजयोगयुक्तहै मनुष्योंमें वनमें वा संग्राममें जिसका मन भयसे युक्त नहीं होता वह भी राजयोग युक्त कहा जाताहै ॥

इदानीं योगः कथ्यते। निराकारो नित्योऽभेद्यः स एतादृशः आत्मनि मनो यस्य निश्चलं तिष्ठति। तस्यात्मनः पुण्यपापस्पर्शो न भवति। उदकमध्ये स्थितस्य पद्मपत्रे यथोदकस्य स्पर्शो न भवति। तथैवात्मानि यथाकाशमध्ये पवनः स्वेच्छया भ्रमति। तथा यस्य मनः निराकारमध्ये लीनं भवति। स एव चर्यायोगः ॥

अब योग कहतेहैं निराकार नित्य अभेद्य इस प्रकारसे आत्मामें जिसका मन निश्चल होकर स्थितहै उसके आत्मामें पुण्य पापका स्पर्श नहीं होता जैसे जलमें स्थित पद्मपत्रका जलसे स्पर्श

नहींहै इसी प्रकार आत्मामें पापपुण्यका स्पर्श नहीं होता जैसे आकाशमें पवन स्वेच्छासे भ्रमतीहै इसी प्रकार जिसका मन निराकारमें लीनहै उसी का नाम चर्यायोग है ॥

इदानीं ग्रहयोगः कथ्यते । रेचकपूरककुम्भक इत्यादि प्रकारेण पवनसाधनं कर्तव्यम् । अथ च धौत्यादिषट्कर्मकारणात् शरीरस्य शुद्धिर्भवति। सूर्यनाडीमध्ये पवनः पूर्णो यदा तिष्ठति। तदा मनो निश्चलं भवति। मनसो निश्चलत्वेन आनन्दरूपं प्रत्यक्षं भासते । हठयोगकारणात् मनः शून्यमध्ये लीनं भवति । कालः समीपे नागच्छति ॥

अब ग्रहयोग कहतेहैं रेचक पूरक कुंभक इत्यादि प्रकारसे पवनका साधन करना चाहिये धोती नेती आदि षट्कर्मसे शरीरकी शुद्धि होती है सूर्यनाडीके मध्यमें जब पूर्ण पवन स्थित होताहै तब मन निश्चल होताहै मनके निश्चल होनेसे आनन्दरूप प्रत्यक्ष भासमान होताहै हठयोगके करनेसे मन शून्यमें लीन होताहै इसकारण कालके समीपमें नहीं आता ॥

इदानीं हठयोगस्य द्वितीयो भेदः कथ्यते । पादादारभ्य शिरःपर्यंतं स्वशरीरे कोटिसूर्यतेजःसमानं श्वेतं पीतं रक्तं किंचिद्वर्णं चिन्त्यते । तद्ध्यानकारणात्सकलं रोगज्वलनं भवति । आयुर्वर्धते ॥

अब हठयोगका दूसरा भेद कहतेहैं चरणोंसे लेकर शिरपर्यंत अपने शरीरमें कोटिसूर्यके तेज समान श्वेत पीत रक्त कोई वर्ण चिन्तन किया जाताहै उसके ध्यान करनेसे सब रोग नष्ट होते आयु बढतीहै ।

इदानीं ज्ञानयोगस्य लक्षणं कथ्यते । एकमेव जगत्पश्येद्विश्वावसुविभास्वरम् । अविकल्पतया युक्त्या ज्ञानयोगं समाचरेत् ॥ १ ॥

अब ज्ञानयोगका लक्षण कहतेहैं; इसप्रकारसे अग्निकी समान भासमान इस जगतको देखै तथा विकल्परहित निश्चल युक्तिसे ज्ञानयोगका आचरण करै ॥ १ ॥

यत्र यत्र स्थितो वापि सर्वज्ञानमयं जगत् । स एवं वेत्ति बोधेन सोपि ज्ञानाधिकारणात् ॥ २ ॥

जहां कहीं भी स्थिति हो इस जगत्को जो अपने बोधसे ज्ञानरूप जानताहै वहभी ज्ञानप्राप्तिका कारण है ॥ २ ॥

एकान्तं नैकदा स्वेन दृश्यते दशधा कृतः।
मूलाङ्कुरस्य चोद्दण्डाःशाखाकुण्डलपल्लवाः ३

एकान्त अर्थात् इकलाही वह निज तेजसे दश प्रकारका दीखताहै मूल अंकुरकेही सब उद्दण्ड शाखा और पल्लव कुण्डल होतेहैं ॥ ३ ॥

स्नेहपुण्यफलं बीजे विस्तरोयं स्वभावतः। तथासौ निर्मलो नित्यो निर्विकारो निरंजनः॥४॥

स्नेह पुण्यफल बीजमें स्थित है विस्तार होना उसका स्वभाव है इसीप्रकारसे यह निर्मल नित्य निर्विकार और निरंजन है जैसे बीजजलादिसे विस्तार पाताहै ऐसे आत्मा कर्मसे देहादिमें गमन करताहै ॥ ४ ॥

एकोनेकः स्वयंभूश्च धाम्ना च बहुधा स्थितः।
पंचतत्त्वमनोबुद्धिमायाहंकारविक्रियाः ॥ ५ ॥

वह स्वयंभू एकही अनेक होकर अनेकधाममें स्थित होताहै पंचतत्त्व पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश मन बुद्धि माया अहंकार विकार ॥ ५ ॥

एवं दशविधं विश्वं लोकालोकसविस्तरम् ।
एक एव न चान्योस्ति यो जानाति स तत्त्ववित् ॥ ६ ॥

इसप्रकार लोकालोकमें यह विश्वरूप दशप्रकारसे विस्तृत होरहाहै वह एकही है दूसरा नहींहै ऐसा जो जानताहै वह तत्त्वज्ञाता होताहै ॥ ६ ॥

पृथ्वीवनस्पतिपर्वतादिस्थावररूपः संसारमनुष्यहस्त्यश्वपक्षीत्यादिको जंगमरूपः संसारः ॥

पृथ्वी वनस्पति पर्वतादि स्थावररूप संसारहै मनुष्य हाथी घोडा पक्षी इत्यादि जंगमरूप संसार है ।

अथ च यो दृष्टिविषयः स दृश्य उच्यते । यो दृष्ट्या न वीक्ष्यते स अदृश्य इत्युच्यते । एवं संसारस्य स्वात्मनो भेदं दूरीकृत्यैकमेवदर्शनं स एव ज्ञानयोगः । तस्य कारणात् कालः शरीरनाशं न करोति । इदानीं तस्यभेदः कथ्यते । यथा वटबीजम् । वटरूपेण परिणतं सत् दशधा भेदं

स्वभावत एव प्राप्नोति । मूलांकुरत्वग्दण्डशाखाकलिकापल्लवपुष्पफलस्नेहा इति दश भेदान् प्राप्नोति ॥

इनमें जो दृष्टिगोचर होताहै उसको दृश्य कहतेहैं और जो दृष्टिसे नहीं दीखता उसको अदृश्य कहतेहैं। इसप्रकार संसार और आत्माके भेदको दूर करके एकही दर्शनका नाम ज्ञानयोग है उसके कारणसे कालशरीरका नाश नहीं करताहै इससमय उसका भेद कहतेहैं जैसे वटबीज वटरूपसे परिणामको प्राप्त होताहै अर्थात् यह स्वभावसेही दशभेदको प्राप्त होताहै मूल, अंकुर, त्वचा, दण्ड, शाखा, कलिका, पत्ते, फूल, फल, स्नेह यह दशभेदोंको प्राप्त होताहै।

यथा निर्मलो निर्विकारः निरंजन एक एतादृश आत्मा स्वभावादेव । पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशमनोबुद्धिमायाविकाररूपभेदान् प्राप्नोति । ज्ञानयोगप्रभावादेक एव आत्मा इति निश्चयो भवति यथैकैव पृथ्वी क्वचित्कोमलरूपा क्वचित्कठोररूपा क्वचित्परिमलरूपा क्वचित्परिमलरूपर-

हिता क्वचित्सुवर्णरूपा क्वचिद्रौप्यरूपा क्वचिद्रत्नमयी क्वचिच्च श्वेता क्वचिद्रक्ता क्वचित्पीता क्वचित्कर्बुरा क्वचिन्नानाविधरूपा क्वचिद्विषरूपा क्वचिदमृतरूपमयी स्वभावत एव भवति ॥

इसीप्रकार निर्मल निरंजन निर्विकार एक ऐसा आत्मा स्वभावसेहीहै पृथ्वी अप तेज वायु आकाश मन बुद्धि माया विकाररूप भेदोंको प्राप्त होताहै ज्ञानयोगके प्रभावसे एकही आत्माहै ऐसा निश्चय होताहै जैसे एकही पृथ्वी कहीं कोमल कहीं कठिनरूप कहीं सुगन्धित कहीं परिमल रूपरहित कहीं सुवर्णरूप कहीं रौप्यरूप कहीं रत्नमयी कहीं श्वेत कहीं रक्त कहीं पीत कहीं कबरी कहीं अनेक प्रकारकी रूपवाली कहीं विषरूप कहीं अमृतरूपवाली स्वभावसेही होतीहै ।

तथैवात्मा मनुष्यपक्षिहरिणहस्तिविद्याधरगन्धर्वकिन्नरमहापंडितमहामूर्खरोग्यरोगिक्रोधिशांतरूपः स्वभावादेव भवति । ज्ञानयोगाधिकाररूपरहितो ज्ञायते । यथा प्लक्षस्योत्पत्तिः । स्थानमेव भवति ॥

इसीप्रकार आत्मा मनुष्य, पक्षी, हरिण, हस्ती, विद्याधर, गन्धर्व, किन्नर, महापंडित, महामूर्ख, रोगी, अरोगी, क्रोधी, शान्तरूप स्वभावसेही होताहै ज्ञानयोगाधिकारसे रूपरहित जाना जाताहै जैसे पिलखन की उत्पत्ति होतीहै, स्थान एक होताहै।

अथ च फलस्य गतिर्बहुधा दृश्यते। एकं फलं पृथ्वीमध्ये पतति। शुष्कं भवति। एकस्य फलस्य मकरंदं भ्रमरः पिबति। एकस्य फलस्य मालां कामिनी तुंगकुचमंडलोपरि दधाति। एकं फलं मृतमनुष्योपरि क्षिप्यते। अयं वस्तुनः स्वभावः। तथा एकएवात्मा स्वीयभावादेवाष्टौ भोगान् भुनक्ति। के तेष्टौ भोगाः—सुवासश्च सुवस्त्रश्च सुशय्या सुनितंबिनी। सुस्थानश्चान्नपानानि अष्टौ भोगाश्च धीमताम्। पट्टसूत्रमयानि वस्त्राणि॥

और फलकी गति बहुत प्रकारकी दीखती है पृथ्वीमें एक फल पतित होताहै। शुष्क होताहै,

एक फलके मकरन्दको भौंरा पीजाताहै एकके फूलोंकी मालाको कामिनी अपने ऊंचे कुचौंके मध्यमें धारण करतीहै किसीका फल मरेहुए मनुष्योंपर बखेराजाताहै । यह वस्तुओंका स्वभाव हीहै ऐसेही एक आत्मा अपने स्वभावसे आठ भोगोंको भोगताहै वे आठ भोग येहैं सुवास, सुवस्त्र, सुशय्या सुनितम्बिनी, सुस्थान, सुअन्न, सुन्दर पान, बहु-मूल्य वस्तु यह बुद्धिमानोंके आठ भोग हैं पटसे सूतके वस्त्र लेने ।

पंचसप्ताट्टालिकायुक्तानि हर्म्याणि तेषु वासः अतिविपुला मृदुतरसुखा सुशय्या । पद्मिनी तारूण्यवती मनोहरा गुणवती तत्रोपविष्टा कांता । साधु आशनम् । अतिमूल्यश्च । मनोरममन्नं ।तथाविधं पानम् । एतेष्टौ भोगाः कथिताः ।एके दुःखं भजन्ते । भिक्षां याचन्ते॥

पचमहले सतमहले भवनोंमें निवास अतिविपुल कोमल सुखदायक शय्या पद्मिनी युवा मनोहर गुणवती स्त्रीकी प्राप्ति सुन्दर अतिमूल्यके आसन मनोरम अन्न सुन्दर पानीय यह आठ भोग कहेहैं कोई दुःख भोगतेहैं कोई भिक्षा मंगतेहैं ।

किञ्च यथा सूर्यस्य तेजः दुग्धस्य घृतमग्नेर्ज्वलनं विषान्मूर्छा तिलात्तैलम्। वृक्षाच्छाया। फलात्परिमलःकाष्ठादग्निःशर्करादिभ्यो मधुरो रसः। हिमानीभ्यः शीतमित्यादिपदार्थानां स्वभावः तथा संसारोऽपि परमेश्वरस्वरूपमध्ये तिष्ठति। परमेश्वरोऽखण्डपारिपूर्णः। इदानीं लक्ष्यं कथ्यते। नासाग्रादारभ्यांगुलचतुष्टयप्रमाणं नीलाकारं तेजः पूर्णमाकाशं लक्ष्यं कर्त्तव्यम्। अथवा नासाग्रादारभ्य षडंगुलप्रमाणं पवनतत्त्वं धूम्राकारं लक्ष्यं कर्त्तव्यम्॥

और जैसे सूर्यका तेज, दुग्धमें घृत, अग्निमें उष्णता विषमें मूर्छा तिलमें तेल वृक्षमें छाया फलमें सुगन्धि काष्ठमें अग्नि शर्करादिमें मधुर रस हिममें शीत इत्यादि पदार्थोंका स्वभाव है इसीप्रकार संसारभी परमेश्वरके स्वरूपमें स्थित होताहै परमेश्वर अखण्ड परिपूर्ण है अब लक्ष्य कहतेहैं, नासाके अग्रभागसे आरंभ करके चार अंगुल प्रमाणतक नीलाकार पूर्ण आकाश लक्ष्य करना चाहिये अथवा नासिकाके अग्रभागतक आरंभकरके छः अंगुल

प्रमाण पवनतत्त्व धूम्राकारका लक्ष्य करना चाहिये ।

अथ वा नासाग्रादारभ्य तत्त्वं द्वादशांगुलप्रमाणं पीतवर्णं पृथ्वीतत्त्वं लक्ष्यं कर्त्तव्यम् । अथवा नासाग्रादारभ्य कोटिसूर्यसमप्रभं तेजः । पूर्णमाकाशतत्त्वं लक्ष्यं कर्त्तव्यम् । आकाशमध्ये आकाशोपरि दृष्टिं कृत्वा ध्यानकारणात् ॥

अथवा नासाके अग्रभागसे आरंभ करके बारह अंगुल प्रमाण पीतवर्ण पृथ्वीतत्त्वका लक्ष्य करना चाहिये अथवा नासिकाके अग्रभागसे आरंभ करके कोटिसूर्यकी समान तेजयुक्त पूर्ण आकाशतत्त्वका लक्ष्य करना चाहिये आकाशमें आकाशपर ध्यानकारणसे दृष्टि करनी चाहिये ।

सूर्यं विना सूर्यसम्बन्धिनी सहस्रकिरणपङ्क्तीः पश्यति । अथवा शिवोपरि वृद्धं सप्तदशांगुलप्रमाणं तेजः पुंजलक्ष्यं कर्त्तव्यम्। अथवा दृष्टेरग्रे तत्परं स्वर्णाकारं पृथ्वीतत्त्वं लक्ष्यं कर्तव्यम् । उक्तानां लक्ष्याणां मध्ये यस्य कस्याप्येकस्य लक्ष्यकरणात् वलित

पलिता दूरे भवन्ति । अंगरोगाः विनौषधं दूरीभवन्ति । समग्राः शत्रवः स्वप्नेप्यमित्र-त्रायांति । सहस्रवर्षमायुर्भवति । अपठितं शास्त्रं जिह्वाग्रेणोच्चरति । एतादृशं फलं वहु-तरं भवति ॥

सूर्यविना सूर्यसंबन्धिनी सहस्रकिरण देखताहै अथवा शिवोपर वृद्ध सत्रह अंगुल प्रमाण तेजका लक्ष्य करना चाहिये अथवा दृष्टिके आगे तत्पर स्वर्णाकार पृथ्वीतत्त्वका लक्ष्य करना चाहिये उक्त लक्षणोंके मध्यमें जिसकिसी एकके लक्ष्य करनेसे वलीपलित दूर होतीहै अंगके रोग विनाही औष-धिके दूर होतेहैं सम्पूर्ण शत्रु मित्र होतेहैं सहस्रव-र्षकी आयु होतीहै, विनाही पढे शास्त्र जिह्वाग्रमें उच्चारण करताहै, इत्यादि वहुतसे फल होतेहैं ।

इदानीमन्यतरं लक्ष्यं कथ्यते । मूलकन्द-स्थाने ब्रह्मदण्डोत्पन्ना नाडी श्वेतवर्णा ब्रह्म-दण्डपर्यन्तमेका ब्रह्मनाडी वर्त्तते । ब्रह्म-नाडीमध्ये कमलतन्तुसमानाकारा कोटिसू-र्यविद्युत्समप्रभा ऊर्ध्वं चलति । एतादृश्येका मूर्त्तिर्वर्त्तते । तन्मूर्तेर्ध्यानकारणात् अष्ट-

महासिद्धयोऽणिमादयस्तस्य पुरुषस्य समी-
पमागत्य तिष्ठन्ति ॥

इससमय दूसरा लक्ष्य कहतेहैं मूलकंद स्थानमें ब्रह्मदण्डसे उत्पन्न नाडी श्वेतवर्णा ब्रह्मदण्डपर्यन्त एक ब्रह्मनाडी है ब्रह्मनाडी वर्तती है ब्रह्मनाडीके मध्यमें कमलतन्तुके समान आकारवाली कोटिसूर्यकी समान विद्युतकी समान प्रभावाली ऊर्ध्व गमन करतीहै इसप्रकारकी एक मूर्तिहै उस मूर्तिके ध्यान कारणसे अणिमादि अष्टसिद्धि पुरुषके समीप आनकर स्थित होतीहैं ।

अथ वा ललाटोपर्याकाशमध्ये शुक्लसदृशस्य तेजसो ध्यानकारणात् शरीरसम्बन्धिनः कुष्ठादयो रोगा नश्यन्ति । आयुर्वृद्धिर्भवति । भ्रुवोर्मध्येतिरिक्तवर्णस्यातिस्थूलस्य तेजसो ध्यानकारणाद्बहुलानां पार्थिवानां तत्पुरुषाणां च वल्लभो भवति । जगद्वल्लभोपि भवति । अस्य पुरुषस्यावलोकनेन सर्वेषां दृष्टिः स्थिरा भवति ॥

अथवा ललाटके ऊपर आकाशके मध्यमें शुक्लसदृश तेजके ध्यान कारणसे,शरीरसम्बन्धी कुष्ठा-

दिरोग नाश होतेहैं आयुकी वृद्धि होतीहै, भौंके मध्यमें अतिरिक्त वर्णके अतिस्थूल तेजके ध्यान कारणसे वह बडे २ राजा तथा राजपुरुषोंका प्रिय होताहै इसपुरुषकी सबके ऊपर स्थिर दृष्टि होतीहै इसके अवलोकनसे सबकी स्थिरदृष्टि होतीहै।

इदानीं शरीरमध्ये नाडीनां भेदाः कथ्यन्ते दश मुख्यनाड्यः। तन्मध्ये द्वयमिडापिंगलासंज्ञकं नासा द्वारे तिष्ठति। सुषुम्णा तालुमार्गे ब्रह्मद्वारपर्यन्तं वहाति तिष्ठति।सरस्वती मुखमध्ये तिष्ठति। गांधारी ह्यस्ति जिह्वाकर्णयोर्मध्ये वहल्यौ तिष्ठतः। पूषा लम्बुसेमा नेत्रयोर्मध्येवहल्या तिष्ठतः। शंखिनी लिंगद्वारादारभ्येडामार्गेण ब्रह्मस्थानपर्यंतं तिष्ठतीति।एतादृशनाड्यो दशसु द्वारेषु तिष्ठन्ति। अन्या द्विसप्ततिसहस्रपारिमिता नाड्यो लोम्नां मूलेषु सूक्ष्मरूपेण तिष्ठन्ति॥

इससमय शरीरके मध्यमें नाडियोंका भेद कहतेहैं, दश मुख्य नाडी हैं उनमें दो इडा पिंगला हैं नासाके द्वारे स्थित होतीहैं, सुषुम्ना तालुमार्गमें ब्रह्मरंध्रपर्यन्त वहन करतीहै स्थित होतीहै, सर-

स्वती मुखमध्यमें स्थित होतीहै गांधारीहै जिह्वा-
कर्णके मध्यमेंहै दो पहली नाडी स्थित हैं शंखिनी
लिंगद्वारसे आरंभकरके इडामार्गसे ब्रह्मस्थानप-
र्यन्त स्थित होतीहै यह नाडियें दशों द्वारोंमें स्थित
होतीहैं और दो सहस्र नाडियें रोमोंके मूलमें
सूक्ष्मरूपसे स्थित होतीहैं ।

इदानीं शरीरमध्ये वायवो दश तिष्ठन्ति ।
तेषां नामानि कार्याणि कथ्यन्ते। प्राणवायु-
र्हृदयमध्ये श्वासोच्छ्वासं करोति । अशन-
पानेच्छा भवति । गुदमध्ये समानो वायु-
र्वर्तते । सप्त समग्रा नाडीः शोषयति ।
तथा नाडीशोषणात् रुचिमुत्पाद-
यति । वह्निं दीपयति ॥ तालुमध्ये उदानो
वायुस्तिष्ठति।स वायुः रत्नं लीलति । पानीयं
पिबति । नागवायुः सर्वशरीरे वर्त्तते । तस्मा-
द्वायोः शरीरं चालयति । शोकमाप्नोति ॥

अब शरीरमें स्थित दश नाडियोंको कहतेहैं,
उनके नाम और कार्य कहतेहैं प्राणवायु हृदयके
मध्यमें श्वास उच्छ्वास करतीहै,अशनपानकी इच्छा
होतीहै, गुदामें समानवायु वर्तता है सप्त समग्र

नाडियोंको शोषताहै तथा नाडीशोषणसे रुचि उत्पन्न करताहै अग्नि दीप्त करताहै तालुके मध्यमें उदानवायु स्थित होतीहै वह वायु रत्नोंको लीलतीहै पानी पीतीहै नागवायु सबशरीरमें वर्तती है यह वायु शरीरको चलायमान करतीहै शोकको प्राप्त होतीहै।

विविलः कूर्मवायुर्नेत्रमध्ये तिष्ठति। निमेषोन्मेषं करोति । कृकलकर्ता वायुरुद्गारं करोति देवदत्तवायोः जृम्भणं भवति। धनंजयवायोः शब्द उत्पद्यते ॥

विविल कूर्मवायु नेत्रमध्यमें स्थित है निमेषोन्मेषकरातीहै कृकलवायुसे डकार होतीहै देवदत्त जंभाई लाता है धनंजयसे शब्द उत्पन्न होताहै।

इदानीं मध्यलक्ष्यं कथ्यते । श्वेतवर्णम् । अथ च पीतवर्णं रक्तवर्णं वा धूम्राकारं यन्नीलवर्णं वा अग्निशिखासदृशं विद्युत्समानं सूर्यमण्डलसदृशं अर्द्धचन्द्रसदृशं ज्वलदाकाशसमाकारं स्वशरीरपरिमितं तेजोमनोमध्ये तथ्यं कर्तव्यम् ॥ एकस्मिन् लक्ष्ये कृते सति मनोमध्ये स्थितस्य मलस्य

दाहो भवति । मनसः सत्त्वगुणप्रकाशो भव-
ति । पुरुष आनन्दमयो भूत्वा तिष्ठति ॥

अब मध्यलक्ष्य कहतेहैं श्वेतवर्ण, पीतवर्ण, रक्तवर्ण, धूम्रवर्ण, धूम्राकार, नीलवर्ण, अग्निशिखाकी समान, विद्युत्समान, सूर्यमण्डलकी सदृश, अर्द्धचन्द्रकी सदृश ज्वालित आकाशकी समान अपने शरीरके परिमित तेज मनके मध्यमें ध्यान सत्यरूप करना चाहिये एकवारही यदि उसका लक्ष्य करे तो मनके मध्यमें स्थित मलका दाह होजाताहै मनमें सत्त्वगुणका प्रकाश होताहै पुरुष आनन्दमय होकर स्थित होताहै ॥

इदानीमाकाशभेदाः कथ्यन्ते । ते आकाशः परमाकाशः महाकाशः तत्त्वाकाशः सूर्याकाशः । बाह्याभ्यन्तरे निर्मलं निराकारमाकाशलक्ष्यं कर्त्तव्यम् । ततः परं बाह्याभ्यन्तरेष्वनन्धकारसदृशं पराकाशैक्यं लक्ष्यं कर्त्तव्यम् ॥ ततः परं प्रलयकालीनज्वलद्दावानलपूर्णं बाह्याभ्यन्तरे, महाकाशलक्ष्यं कर्त्तव्यम् । ततः बाह्याभ्यन्तरे प्रकाशमानयर्सूसहितं सूर्याकाशं लक्ष्यं

कर्त्तव्यम् । एतेषां लक्ष्याणां कारणात् शरीरं रोगासंसर्गि भवति ॥ तथा वलितपलितं पुण्यं पापं च न भवति ॥

इस समय आकाशका भेद कहतेहैं उनके लक्षण भी कहतेहैं आकाश परमाकाश महाकाश तत्वाकाश सूर्याकाश बाह्यआभ्यन्तर निर्मल निराकार आकाश लक्ष्य करना चाहिये उसके उपरान्त बाह्य आभ्यन्तरमें अन्धकारकी समान पराकाशका एक एक लक्ष्य करना चाहिये उसके उपरान्त प्रलयकालीन दावानलकी समान प्रज्वलित पूर्ण बाह्य अभ्यन्तरमें महाकाशका लक्ष्य करना चाहिये फिर बाहर भीतर प्रकाशमान सूर्यके सहित सूर्याकाश लक्ष्य करना चाहिये इन लक्षणोंके कारणसे शरीर रोगरहित होताहै तथा वलीपलित पुण्यपापसे भी वह रहित होताह ॥

नवचक्रं कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपंचकम् ।
स्वदेहे यो न जानाति स योगीनामधारकः॥

नौ चक्र कलाधार तीन लक्ष व्योमपंचक वह जो कोई अपने देहमें नहीं जानताहै वह योगी नाममात्रका धारण करनेवालाहै ॥

इदानीं चक्राणामनुक्रमः कथ्यते । आधारे ब्रह्मचक्रम् । आधारोपरि लिंगमूले स्वाधिष्ठानचक्रम् । नाभौ मणिपूरकचक्रम् । हृदये अनाहतचक्रम् । कण्ठस्थाने विशुद्धिचक्रम् । षष्ठं तालुचक्रम् । भ्रुवोर्मध्ये आज्ञाचक्रम् । ब्रह्मस्थाने कालचक्रम् । नवममाकाशचक्रम् । एतत्परं शून्यम् ।

अब चक्रोंका अनुक्रम कहतेहैं. आधारमें ब्रह्मचक्र है, आधारके ऊपर लिंगमूलमें स्वाधिष्ठान चक्र है, नाभिमें मणिपूरक चक्र है, हृदयमें अनाहत चक्र है, कण्ठस्थानमें विशुद्धि चक्र ह, छटा तालुचक्रहै भौंके मध्यमें आज्ञाचक्र है ब्रह्मस्थान में कालचक्र है नौमा आकाशचक्र और उससे परे शून्यहै ॥

इदानीमाधारचक्रस्य भेदाः कथ्यन्त । पादयोरंगुष्ठे तेजसो लक्ष्यकारणात् । दृष्टिः स्थिरा भवति । द्वितीयो मूलाधारः । पादांगुष्ठस्य मूले परपादस्य पार्ष्णिः स्थाप्यते तदाग्निः प्रबलो भवति । एकः पार्ष्णिरादौ

मूलाधारे स्थाप्यते । तस्य पादस्यांगुष्ठ मूले परस्य पादस्य पार्ष्णिः स्थाप्यते। तदाग्निः प्रदीप्यते ॥ तृतीयं गुदाधारस्थानं तन्मध्ये संकोचविकासाकुंचनकारणात् पवनः स्थिरो भवति॥

अब आधार चक्रके भेद कहतेहैं, दोनों चरणोंके अंगूठेमें तेजकी स्थिति है, उसके लक्षण कारणसे दृष्टि स्थिर होतीहै, दूसरा मूलाधार है, पाद अंगुष्ठके मूलमें परपादकी पार्ष्णि स्थापन कीजातीहै तब अग्नि प्रबल होतीहै,चरणका एक भाग पहले मूलाधारमें स्थापन कियाजाताहै,उसपादके अंगुष्ठमूलमें दूसरे चरणकी एडी स्थापन करै तब अग्नि प्रदीप्त होतीहै, तीसरा गुदाधारस्थान है उसमें संकोच विकास आकुंचनके कारणसे पवन स्थिर होतीहै ॥

अन्यच्च। पुरुषस्य मरणं न भवति । चतुर्थं लिंगाधारं तन्मध्ये लिंगसंकोचनाभ्यासात् पश्चिमदण्डमध्ये प्रज्ञा नाडी भवति।तन्मध्ये पुनरभ्यासकरणान्मनःपवनयोः संचारो भवति । तयोः संचारान्मध्ये ग्रन्थित्रयं

त्रुट्यति । तत्रोटनात् पवनो ब्रह्मकमलमध्ये पूर्णो भूत्वा तिष्ठति । ततो वीर्यस्तम्भो भवति । पुरुषः सदैव युवा भवति । पंचम उड्डीयाणां स्वाधिष्ठानं तत्र बन्धनान्मलमूत्रयोर्नाशो भवति ।षष्ठो नाभ्याधारः।तस्मिन् स्थाने प्राणवायोर्निरोधात् षडपि कमलान्यूर्ध्वमुखानि विकसंति ॥

औरभी पुरुषका मरण नहीं होता, चौथा लिंगाधार है उसमें लिंगके संकोचनके अभ्याससे पश्चिमदंडके मध्यमें प्रज्ञानाडी है, उसमें फिर अभ्यासके कारणसे मन पवनका संचार होताहै उनके संचारके मध्यमें तीन ग्रंथी टूटजातीहैं इनके टूटनेसे पवन ब्रह्मकमलके मध्यमें पूर्ण होकर स्थित होताहै, तब वीर्य स्तम्भन होताहै, पुरुष सदा युवा होताहै, पांचवा उड्डीर्ण नामक स्वाधिष्ठान है,उसके बंधनसे मलमूत्रका नाश होजाताहै छठा नाभि आधार है, उसस्थानमें प्राणवायुके निरोधसे छहों कमल ऊर्ध्वमुख हो खिलते हैं ॥

अष्टमं कण्ठाधारः । तत्र जालंधरो बन्धो दीयते । तस्मिन् सतीडायां पिंगलायां

पवनः स्थिरो भवति। नवमो घंटिकाधारः। तत्र जिह्वाग्रं लग्नं भवति । ततोमृतकलाया अमृतं स्रवति। तदमृतपानात् शरीरमध्ये रोगसंचारो न भवति। दशमं ताल्वाधारः। तन्मध्ये वानंदोल्लहनं च कृत्वा लंविकाप्रवेशे सति तालुनिमग्ना जिह्वा तिष्ठति। एकादशो जिह्वाधारः। तस्मिन् जिह्वाग्रेण मन्थनं क्रियते तस्मिन् कृतेतिमधुरं पानीयं स्रवति। तदा च कवित्वच्छन्दोनाटकादिविषयज्ञानमुत्पद्यते।

आठवां कण्ठाधार है उसमें जालंधर बन्ध दिया जाताहै ऐसा होनेसे इडापिंगलामें वायु स्थिर होजाताहै, नौमा घंटिकाधार है उसमें जिह्वाग्र लग्न होताहै तब अमृतकलासे अमृत टपकताहै उस अमृतके पानसे शरीरमें रोगका संचार नहीं होता, दशवां तालु आधार है इसमें आनन्द प्राप्त करके लम्बिकामें प्रवेश होताहै ऐसा होनेसे तालुमें निमग्न होकर जिह्वा स्थित होतीहै, ग्यारहवां जिह्वा आधार है उसमें जिह्वाग्रसे मन्थन कियाजाताहै ऐसा करनेपर मधुर

जल स्रवित होताहै इससे; कवित्त छन्द नाटकादिका ज्ञान सम्यक् प्रकारसे उत्पन्न होताहै ।

तदुपरि द्वादशदन्तयोमध्ये दन्ताधारः । तस्मिन् स्थाने जिह्वाया अग्रं घटीमात्रं वलात्कारेण स्थाप्यते । तस्मिन् सति साधकस्य समग्रा रोगा नश्यन्ति ॥

इसके ऊपर बारह दन्तके मध्यमें दन्ताधारहै उसस्थानमें उस जिह्वाका अग्रभाग बलपूर्वक एक घडीभी वलात्कारसे स्थापन कियाजाय तो साधकके सम्पूर्ण रोग नाश होजातेहैं ॥

त्रयोदशो नासिकाग्राधारः । तस्मिन् लक्ष्ये कृते सति मनः स्थिरं भवति । चतुर्दशो नासामूलाधारः।तस्मिन् दृष्टेः स्थैर्यकारणात्षष्ठे मासि स्वीयन्तेजः प्रत्यक्षं भवति । तेजसः प्रत्यक्षत्वे पार्थिवं सकलं बन्धनं तुट्यति । पञ्चदशो भ्रुवोर्मध्याधारस्तस्मिन् दृष्टेः स्थिरीकरणात् कोटिकिरणाः स्फुरंति । षोडशो नेत्राधारः।अयमंगुल्यग्रेण चाल्यते । तदभ्यासात् । पृथ्वीमध्ये यत्किंचिन्तेजो

वर्त्तते। तत्सर्वं तेजो दृष्टिविषयं भवति। तद्दर्शनात्पुरुषः सर्वज्ञो भवति॥

तेरहवां नासिकाके अग्रका आधार है उसमें लक्ष्य करनेपर मन स्थिर होताहै, चौदहवां नासा मूलाधारहै उसमें दृष्टिके स्थिर करनेसे छठे महीनेमें अपना तेज प्रत्यक्ष होजाताहै तेजके प्रत्यक्ष करनेमें पार्थिव बन्धन टूटजातेहैं, पन्द्रहवां भौंके मध्यमें आधार है उसमें दृष्टि स्थिर करनेसे अनन्त किरणें स्फुरायमान होतीहैं, सोलहवां नेत्राधारहै यह अगुलीके अग्रभागसे चालित होताहै इसके अभ्याससे पृथ्वीमें जो कुछ तेज है वह सब तेज दृष्टिगोचर होताहै उसके दर्शनसे पुरुष सर्वज्ञ होता सब कुछ जानताहै॥

इदानीमष्टांगयोगविचारः कथ्यते। यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणासमाधिरिति। एतेषां लक्षणानि कथ्यन्ते। शान्तिः। षण्णामिन्द्रियाणां जयः।स्वल्पाहारः। निद्राजयः। शीतोष्णजयः। एते यमाः।नियमाःखलु चापलभावान्निवार्यस्थैर्यं स्थाप्यते। एकांते सेवनम्। प्राणिमात्रे

समा बुद्धिः । औदासीन्यं कस्यापि वस्तुन इच्छा न कर्त्तव्या यथालाभसंतोषः । परमेश्वरनाम न विस्मरणीयम् । मनोमध्ये दैन्यं कर्त्तव्यम् । इति नियमाः ॥

अब अष्टाङ्गयोगका विचार कहतेहैं यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान, समाधि यह अंगहैं इनके लक्षण कहतेहैं शान्ति-मनसहित ज्ञान इन्द्रियोंका जय करना, आहार स्वल्प, निद्राजय, शीतजय, उष्णताका जय करना यह यमहैं, इन्द्रियोंकी चपलता निवारण करके उनकी स्थिरता स्थापन करनी, एकान्त सेवन, प्राणीमात्रमें समान बुद्धि, उदासीनता अर्थात् किसी वस्तुमें इच्छा न करनी यथालाभ सन्तोष रखना, परमेश्वरके नामका न विसारना, मनमें नम्रता करनी यह नियम हैं ॥

आसनलक्षणं बहुषु ग्रन्थेषु निरूपितमस्ति तेनात्र न निरूप्यते । प्राणायामस्तु सुकुमारेण साधितुं न शक्यते अतस्तस्य नाममात्रं कथ्यते । प्रत्याहारः प्रत्यतो मनः संसारान्निवर्त्यात्मनि स्थाप्यते ॥ मनोमध्ये

ये विकारा उत्पद्यन्ते । तेपि निवारणीयाः । अनेकचमत्कारिणी बुद्धिरुत्पद्यते । सांगोपांगं ध्यानं च बहुतरं प्रागुक्तम् । तेनात्र नोच्यते ॥

आसनका लक्षण बहुतसे ग्रंथोंमें निरूपण कियाहै वह पद्मासन, भद्रासन आदि हैं प्रसिद्ध होनेके कारण यहां हम उनको निरूपण नहीं करतेहैं प्राणायाम सुकुमार अंगवाले साधन नहीं करसकते इसकारण उसका नाममात्र कहतेहैं प्रत्याहार यह कि संसारसे मन निवृत्त करके आत्मामें स्थापन कियाजाताहै मनके मध्यमें जो विकार हैं वेभी निवारण करने चाहियें अनेक चमत्कार बुद्धि उत्पन्न होतीहै ध्यान धारणादि पहले कहचुके इससे यहां नहीं लिखते ॥

इदानीं पिंडब्रह्मांडयोरैक्यमस्ति तस्मात् ब्रह्माण्डमध्ये ये पदार्थास्तेपि पिंडमध्ये सन्तीति कथ्यन्ते । पदस्तले तलं वर्त्तते । पादोपरि तलातलं वर्त्तते। गुल्फयोर्महातलं वर्त्तते । जंघामध्ये सुतलं वर्त्तते । जानुमध्ये वितलं वर्त्तते । ऊर्वोर्मध्येऽतलं वर्त्तते॥

इससमय पिंडब्रह्माण्डकी एकताहै ऐसा जाननेसे ब्रह्माण्डके मध्यमें जो पदार्थहैं वेभी पिण्डके मध्यमें हैं सो कहतेहैं पादतलमें तल चरणके ऊपर तलातल दोनों गुल्फोंमें महातल जंघाओंमें सुतल जानुमध्यमें वितल ऊरुओंके मध्यमें अतलकी भावना करनी यह क्रमसे ऊपरी भागहै ॥

इदानीं शरीरमध्ये लोकत्रयं कथ्यते । मूलाधारे भूर्लोकः । लिंगाग्रे भुवर्लोकः । लिंगमध्ये स्वर्लोकः ॥

इससमय शरीरके मध्यमें त्रिलोकीहै सो कहतेहैं मूलाधारमें भूलोक, लिंगाग्रमें भुवर्लोक और लिंगमध्यमें स्वर्लोक है ॥

इदानीमुपरितनं लोकचतुष्कं कथ्यते । पृष्ठदंडांकुरे महर्लोकः । दण्डच्छिद्रमध्ये जनलोकः । तद्दण्डनाडीमध्ये तपोलोकः । दण्डकमलमध्ये सत्यलोकः । अथ ब्रह्माण्डमध्ये चतुर्दशलोकानि स्थानानि तान्यपि पिंडे वर्त्तन्ते ।शरीरमध्ये द्वौ कुक्षी द्वे सक्थिनी वक्षःस्थलं कंठमूलं कंठमध्यं लंबिकामूलं तालुद्वारं तालुमध्यं ललाटमध्ये शृंगा-

टिका कपोलमध्ये कमलिनीमध्ये ब्रह्मरंध्र- कमलिन्यस्त्रिकूटस्थानम् ॥ एवमेकाविंशति स्थाने एकविंशतिब्रह्मांडानि वसंति ॥

इससमय तनके ऊपरीभागमें चारों लोक कहतेहैं पीठके दंडाकुरमें (बांसेमें) महर्लोक, दण्डके छिद्रमें जनलोक, उस दण्डकी नाडीमें तपोलोक, दण्डकमलके मध्यमें सत्यलोक है ब्रह्माण्डमें जो चौदह लोक और उनके स्थान हैं वहभी पिण्डमें कहतेहैं शरीरके मध्यमें दो कोख दोनों हंसली वक्षस्थल कंठमूल कंठका मध्य लम्बिका (नाडी विशेष) मूल, तालुका द्वार, तालुका मध्य, माथेमें शृंगाटिका (नाडीविशेष) कपोलमध्यमें कमलिनी मध्यमें ब्रह्मरंध्र कमलिनी त्रिकूटस्थान है इन इक्कीसस्थानमें इक्कीस ब्रह्माण्डहैं ॥

इदानीं सप्तद्वीपानि पिंडमध्ये कथ्यन्ते ॥ मज्जामध्ये जंबुद्वीपः। आस्थिमध्ये शाकद्वीपः शिरामध्ये शाल्मलिद्वीपः । मांसमध्ये कुशद्वीपः।त्वचामध्ये क्रौंचद्वीपः।शरीरस्थलोममध्ये गोमेदद्वीपः।नखमध्ये पुष्करद्वीपः॥एतानि द्वीपानि मध्ये तिष्ठन्ति ॥

अब इस पिंडमें सात द्वीप कहतेहैं मज्जा (चँरबी) में जम्बूद्वीप अस्थिमध्यमें शाकद्वीप, नाडियोंमें शाल्मलिद्वीप, मांसमें कुशद्वीप, त्वचामें क्रौंचद्वीप, नखूनोंमें पुष्करद्वीपहै, यह द्वीप इस शरीरके मध्यमें स्थित हैं ॥

इदानीं पिंडमध्ये सप्तसमुद्राः कथ्यन्ते ॥ प्रस्वेदमध्ये क्षारसमुद्रः । ललाटमध्ये क्षीरः समुद्रः । वाङ्मध्ये मधुसमुद्रः । कफमध्ये दधिसमुद्रः । मेदोमध्ये घृतसमुद्रः । रसमध्ये इक्षुरससमुद्रः । वीर्यमध्ये स्वादुसमुद्रः । पादमध्ये कूर्मस्थानम् ॥

अब शरीरमें सात समुद्र कहतेहैं पसीनेमें क्षारसमुद्र, ललाटमें क्षीरसागर, वाणीमें मधु (शहत) का समुद्र, कफमें दहीका समुद्र, मेदमें घीका समुद्र, रसमें इक्षुरसका समुद्र, वीर्यमें स्वादु जलका समुद्रहै पादके मध्यमें कूर्मस्थान है ॥

इदानीं नवद्वारेषु नवखण्डानि कथ्यन्ते ॥ मुखे भरतखंडः । नासिकयोः किन्नरखंडनरहरिखंडौः नेत्रयोः केतुमालभद्राश्वौ । कर्णयोः हिरण्मयखंडरम्यकखंडौ । गुदे कुरुखंडः लिंगे इलावृतखण्डः ॥

इससमय नौ द्वारोंमें नौ खण्ड कहतेहैं मुखमें भरतखण्ड, नासिकामें किन्नरखण्ड नरहरिखण्ड, दोनों नेत्रोंमें केतुमाल और भद्राश्वखण्ड, दोनों कानोंमें हिरण्मयखंड रम्यकखण्ड, गुदामें कुरुखण्ड, लिंगमें इलावृत खण्डहै ॥

इदानीमष्टकुलपर्वताः कथ्यन्ते।मेरुदण्डमध्ये मेरुमंदरः।ब्रह्मकपाटमध्ये कैलासः।पृष्ठमध्ये हिमाचलः।वामस्कन्धे मलयाचलः।दक्षिणस्कन्धे मन्दराचलः।दक्षिणकर्णे विन्ध्याचलः। वामकर्णे मैनाकः।ललाटमध्ये श्रीशैलः।अपरे शैलाः हस्तयोः पादयोरंगुलीनां मूलेषु वर्त्तंते॥

इससमय आठ कुलपर्वत कहतेहैं मेरुदण्ड (कमरका वांसा) में मेरुमन्दर, ब्रह्मकपाटमें कैलास, पीठमें हिमाचल,वामस्कंधमें मलयाचल, दक्षिणस्कंधमें मन्दराचल, दक्षिणकानमें विन्ध्याचल, वामकानमें मैनाक, ललाटमें श्रीपर्वत दूसरे पर्वत हाथपैरकी अंगुलियोंके मूलमें वर्ततेहैं ॥

इदानीं शरीरमध्ये नव नाड्यस्तिष्ठान्ति तन्मध्ये नवनदीनां स्थानानि वर्त्तन्ते।गंगायमुने वितस्ता चन्द्रभागा सरस्वती विपा-

शा शतह्नदा इरावती नर्मदा।अपरा नद्यो नदानि स्रोतांसि तटाकानि वापीकूपादि सप्ततिसहस्रनाडीमध्ये तिष्ठन्ति । सप्तविंशतिनक्षत्राणि द्विसप्ततिकोष्ठकाभ्यन्तरे वसंति । द्वादश राशयः । मेषः वृषः मिथुनः कर्कः सिंहः कन्या तुला वृश्चिको धनुर्मकरकुम्भमीनाः।नव ग्रहाः । आदित्यसोममंगलबुधगुरुशुक्रशनिराहुकेतवः।पंचदशतिथयोत्र मध्ये वसंति ॥

शरीरमें जो नौ नाडी हैं उनमें नौ नदियोंके स्थान हैं गंगा, यमुना, वितस्ता, चन्द्रभागा, सरस्वती, विपाशा, शतह्नदा, इरावती, नर्मदा, तथा दूसरे नदी नद हैं, यह स्रोत सरोवर बावडी कूपादि सत्तर सहस्र नाडियोंके मध्यमें स्थित हैं सत्ताईस नक्षत्र बहत्तर कोष्ठके मध्यमें निवास करतेहैं, बारह राशियें मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुंभ, मीन। नव ग्रह, रवि, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु, केतु और पन्द्रह तिथियें इसकेमध्यमें निवासकरतीहैं ॥

यथा समुद्रमध्ये लहरी वर्त्तते । तथा शरीरमध्ये कूर्म्मीनाम लहरी भवति । ऊर्म्यश्चलास्ततः चलनं भवति । तन्मध्ये समग्रं तारामण्डलं वर्त्तते । त्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवताः। बाहुरोममध्ये वसंति । हृदयरोममध्ये तक्षकः महानागः।शंखः तक्षकः।वासुकिः।अनन्तशेषः एते नागा वसंति। उदररोममध्ये अपरे नागा वसंति गुणगन्धर्वाकिन्नराप्सरो विद्याधरगुह्यकाः।शरीरमध्ये अनेकतीर्थानि वसंति॥

जैसे समुद्रके मध्यमें लहरें उठती हैं ऐसेही शरीरके मध्यमें कूर्म नाम लहरी है तरंगें जैसे चल हैं वैसे इसमें उर्मी उठतीहैं इसके मध्यमें सम्पूर्ण तारामंडल हैं तैंतीस कोटि देवता हैं यह सब बाहुके रोमोंमें निवास करतेहैं हृदयमें तक्षक है महानाग तक्षक शंख धारक वासुकी अनन्तशेष इतने नाग निवास करतेहैं उदररोममें दूसरे नाग निवास करतेहैं गुण गंधर्व किन्नर अप्सरा विद्याधर गुह्यक तथा शरीरमध्यमें अनेक तीर्थ हैं ॥

अश्रुपातमध्ये मेघमण्डलं वसति । अनंताः सिद्धयो बुद्धयश्च प्रकाशमध्ये वर्त्तन्ते । चंद्र-

सूर्यौ द्वयोर्नेत्रयोर्मध्ये वर्त्तेते। अनेकवनस्पतिगुल्मलतातृणानि जंघारोममध्ये वसंति। पुरुषस्य नृत्यदर्शनात् गीतश्रवणात्। वल्लभवस्तुनो दर्शनात्। यः आनन्द उत्पद्यते सः स्वर्गलोकः कथ्यते। रोगपीडितो दुर्जनेभ्यः पुरुषस्य यत् दुःखमुत्पद्यते तद्बहुतरं नरकं कथ्यते ॥

अश्रुपातमें मेघमंडल निवास करताहै अनन्तसिद्ध बुद्धि प्रकाशमें वर्ततीहै दोनों नेत्रोंमें चन्द्रसूर्य निवास करतेहैं अनेक वनस्पति गुल्म लता तृण जंघारोममें निवास करतेहैं पुरुषोंको नृत्यदर्शन गीतश्रवण तथा प्रियवस्तुके दर्शनसे जो आनंद होताहै वह स्वर्गलोक है रोगपीडित तथा दुर्जनोंसे जो दुःख होताहै वही बहुत नरक कहा जाताहै ॥

अथ च यत्कर्मकरणात् मनोमध्ये शंका न भवति तत्कर्म मुक्तिकारणम्। इदानीं राजयोगाच्छरीरे यादृशानि चिह्नानि भवन्ति तानि कथ्यन्ते। सकलरोगनाशः सकलपृथ्वीं पश्यति। तदनंतरं ज्ञानमुत्पद्यते ॥

समग्रा भाषा जानाति । ततः पुरुषस्य देहो वज्रमयो भवति । सर्पदंशेन मरणं न भवति । ततः पुरुषस्य बुभुक्षापिपासानिद्रोल्लताशीतोष्णता बाधां न कुर्वन्ति । वाक्सिद्धिर्भवति विद्युत्पाते काचिद्बाधापि न भवति ॥

जो कर्म करनेसे मनमें शंका नहीं होती वही कर्म मुक्तिका कारण है, अब राजयोगसे शरीरमें जो चिह्न होतेहैं सो कहतेहै सब रोगोंका नाश होताहै सब पृथ्वीका दर्शन करताहै, फिर ज्ञान उत्पन्न होताहै सम्पूर्ण भाषाओंका ज्ञाता होताहै फिर उस पुरुषका देह वज्रमय होजाताहै सर्पके काटनेसेभी उसका मरण नहीं होता, फिर उस पुरुषको भूख प्यास निद्रा वेग शीत गरमी बाधा नहीं करती, वाक्सिद्धि होतीहै, बिजलीके पातमें भी कभी उसे बाधा नहीं होती ॥

तदनंतरं पवनरूपी पुरुषो भवति । समग्रां पृथ्वीं दृष्ट्या पश्यति । अणिमाद्यष्टसिद्धिर्भवति । महापद्माद्या नव निधयः समीप आगच्छन्ति । आकाशमध्ये दशसु दिक्षु गमनागमने भवतः बलं भवति । परमेश्वरं

समीपे पश्यति । करणे हरणे सामर्थ्यं भवति ॥

इसके उपरान्त यह पुरुष पवनरूपी होजाताहै अपनी दृष्टिसे सब पृथ्वीको देखताहै अणिमादि अष्ट सिद्धि इसको प्राप्त होतीहैं महापद्मादि नव निधियें इसके समीप आतीहैं आकाशके मध्य दशों दिशामें इसका गमनागमन होताहै बल होताहै परमेश्वरको समीपमें देखताहै करण हरणका सामर्थ्य होताहै ॥

इदं गुरु भक्तेः फलं आत्ममध्ये मनसो विश्रामकरणमिच्छता पुरुषेण सद्गुरोः सेवां कृत्वा सावधानं मनः करणीयम् । अभ्यासबलात् परमप्राप्तिः । तेन स्वशिष्यमनसः स्वास्थ्यं कर्त्तव्यम् । चन्द्रसूर्य्यौ यावत्पिंडे निश्चलौ भवतः ॥

यह गुरुभक्तिका फल है आत्मामें मनके विश्रामकारणकी इच्छा करनेवाले पुरुष सद्गुरुकी सेवा करके मन सावधान करै अभ्यासके बलवान् होनेसे परम आनन्दकी प्राप्ति होतीहै इसकारण मनसे अपने शिष्यको सावधान करना चाहिये

जबतक चन्द्र सूर्य शरीरमें [दोनों नेत्र वा श्वास प्रश्वास] निश्चल हो ॥

सम्यक्स्वभावकिरणोदयचिद्विलासग्रस्तं स्वशांतिसमतां स्वयमेव याति । ग्रस्ते स्ववेगनिचये पदपिंडमैक्यं सत्यं भवेत्समरसं गुरुवत्सलां च ॥ १ ॥

सम्यक् प्रकारसे स्वभावके किरणोदयका जो चिद्विलास है, शांतिवालोंकी चंचलता स्वयंही ग्रसित होजातीहै, और वेगवान् इस पिंडके ग्रस्त होनेमें तत्कालही वह समरस गुरुवत्सलताका पात्र होताहै ॥ १ ॥

इदानीमवधूतपुरुषस्य लक्षणं कथ्यते । यस्य हस्ते धैर्यदण्डः खर्परं शून्यमासनम् । योगैश्वर्येण संपन्नः सोवधूत उदाहृतः ॥ २ ॥

अब अवधूत पुरुषका लक्षण कहतेहैं जिसके हाथमें धैर्यका दंड खर्पर (खप्पड़) शून्य आसन है वही योगऐश्वर्यसे सम्पन्न अवधूत है ॥ २ ॥

भेदाभेदौ यस्य भिक्षा भरणं जारणं तथा । एतादृशोपि पुरुषः सोवधूत उदाहृतः ॥ ३ ॥

भेद अभेद जिसकी भिच्छाहै तथा भरण और

जारणभी जिसकी भिक्षा है ऐसा पुरुष अवधूत कहाताहै ॥ ३ ॥

आत्मा ह्यकारो विज्ञेयो वकारो भववासना ।
धूतं संतापनं प्रोक्तं सोवधूतो निगद्यते ॥ ४ ॥

अकार आत्मा है वकार भववासना है धूतका अर्थ सन्ताप देना है ऐसा पुरुषही अवधूत कहा-जाताहै अर्थात जो आत्माका ज्ञान करकै संसारकी वासनाको कम्पित करताहै वह अवधूत है ॥ ४ ॥

अकारार्थो जीवभूतो वकारार्थोथ वासना ।
एतद्द्वयं जपं कुर्यात्सोवधूत उदाहृतः ॥ ५ ॥

अकारका अर्थ जीवभूत वकारका अर्थ संसा-रकी वासना इनको जो कम्पितकर जय करलेताहै उसीका नाम अवधूत है ॥ ५ ॥

यः पुरुषो द्वितीयं न पश्यति केवलं स्वस्वरूपं पश्यति सोवधूतः । अथवा यस्य मनश्चंच-लभावं न दधाति सोवधूतः कथ्यते । यन्न दृश्यते तदव्यक्तमित्युच्यते । तदव्यक्तं प्रत्यक्षेण पश्यति । यत्किंचिद्दृश्यते तत्सर्वं ग्रस्तातिमुक्तमिति ज्ञानं पश्यति । सोवधूतः कथ्यते । अवधूततनुः सोमो निराकारपदे

स्थितः। सर्वेषां दर्शनानां च स्वस्वरूपं प्रकाश्यते ॥ १ ॥ सत्यमेकमजं नित्यमनंतमक्षयं ध्रुवम्। ज्ञात्वा ह्येवं वदेद्धीमान् सत्यवादी स कथ्यते ॥ २ ॥

जो पुरुष दूसरेको नहीं देखता केवल अपने आत्माकोही देखताहै वही अवधूत है, अथवा जिसका मन चंचल नहीं है वही अवधूत है, जो नहीं दीखता वही अव्यक्त है वह उस अव्यक्तको प्रत्यक्ष देखताहै जो कुछ देखता है, वह सब प्रस्त अतिमुक्त ऐसे ज्ञानको देखताहै वही अवधूत कहाजाताहै, अवधूतका शरीर सोम है वह निराकार पदमें स्थित है, सबके दर्शनमें वह अपना स्वरूप प्रकाश करताहै ॥ १ ॥ सत्य एक अज नित्य अनन्त अक्षय ध्रुव उसको जानकर जो वैसाही कहताहै वह सत्यवादी कहाताहै ॥ २ ॥

यत्किंचिन्न पश्याति, स एको ह्येवं मनसो विजानाति नाशा न तादृशं पदार्थं ज्ञात्वा काले चेष्टा भवति। स सत्यवादी कथ्यते ॥

आत्माके सिवाय यत्किंचित भी नहीं देखता वही एक है इसप्रकार इसका मन अन्यको नहीं

जानता न कुछ आशा करताहै न ऐसे पदार्थको जानकर किसीसमय चेष्टा करताहै वही सत्य-वादीहै ॥

वास्वरे भास्वरे शक्तिः संकोचो भास्वरेपि च । तयोः संयोगकर्त्ता यः स भवेत्सत्य-योगभाक् ॥ ३ ॥

और भास्वर पदार्थमें शक्तिका संकोच करना अर्थात् ऐसे ऐश्वर्यमें भी शक्तिको काममें न लाना इन दोनोंका जो संयोग करताहै वही सत्य योग-भाक् होताहै ॥ ३ ॥

विश्वानीततया विश्वमेकमेव विराजते । संयोगो न सदा यस्य सिद्धयोगी स गद्यते४॥

जो जगतके अनेकत्व होनेपरभी एकही रूपसे विराजमान है और इस जगतसे जिसका कभी संयोग नहीं उसीका नाम सिद्धयोगी है एक देख-नेसे शोक, मोह कुछ नहीं रहता है ॥ ४ ॥

सर्वासां निजवृत्तीनां विस्मृतीर्भजते तु यः । स भवेत्सिद्धसिद्धान्तो सिद्धयोगी स गद्यते ५

जो अपने चित्तकी सब वृत्तियोंको भुलादेताहै वह मानों सिद्धिकी अन्तको पहुंचगया चित्तकी

वृत्तियोंके ही रोकनेका नाम योग है और यह जिसकी रुकजांय वही सिद्ध योगी होताहै॥ ५ ॥

उदासीनः सदा शान्तो ब्रह्मानन्दमयोपि च। यो भवेत्सिद्धयोगेन सिद्धयोगी स कथ्यते ॥ ६ ॥

सदा उदासीन और शान्तचित्त रहना चाहिये और पूर्ण ब्रह्मानंदमें जो मग्न है वही जानो सिद्ध योगको सिद्धियोंद्वारा प्राप्त हुआहै और ऐसे शान्त महात्माकोही सिद्धयोगी कहाजासक्ताहै ६

अधुना कमलानां तु शृणु संकेतमद्भुतम् । अनेकाकारभेदोत्थं कं स्वरूपात्मकं मलम्। कमलं तेन विख्यातं त्रिविधं तत्र देहगम् ॥ ७ ॥

अब कमलोंका संकेत सुनो जो अनेक आकारके भेदसे युक्त कंस्वरूपात्मक ब्रह्मसत्तायुक्त है इसी कारणसे उसको कमल कहतेहैं यह देहमें स्थित तीन प्रकारके हैं ॥ ७ ॥

अथातः कमलं कथ्यते ।

आधारकमलमस्य कमलमिति कं कस्मात्। कमात्मा तस्मात्कमलमिति संज्ञा अस्या-

धारः कमलदलस्य चतुष्टयं भवति । प्रथमं सत्त्वगुणस्य द्वितीयं राजयोगस्य तृतीयं तमोगुणः चतुर्थो दले मनस्तिष्ठाति । एतद्दलचतुष्टयं च संगादात्मा साधु करोति । तस्मिन् कमले निश्चलीकृते सति पुरुषस्य समीपे मरणं न गच्छति ॥

पहला आधार कमल है कमल क्यों कहतेहैं कम् नाम आत्माको जो प्रकाश करै इससे कमल कहतेहैं इस आधारकमलके चार दल हैं पहला दल सत्त्वगुणका, दूसरा रजोगुणी राजयोग सम्पन्न, तीसरा तमोगुणी, चौथा दल मनमें स्थित होताहै इन चार दलके संगसे जो आत्माको साधु करताहै, अर्थात् उसकमलके निश्चल करनेमें पुरुषके समीप मरण नहीं आता आशय इन गुणोंको रोकै॥

इदानीं हृदयकमलभेदाः कथ्यंते।अस्य द्वादशदलानि सिद्धपुरुषाः कथयंति । तथा द्विषशक्तिस्तृतीयलोकांतः सम्यक् समुद्रा खेचरी चिदानन्दाद्वयश्चन्द्रचंद्रिका वेतिनामान्वितः ॥

अब हृदयकमलके भेद कहतेहैं, सिद्ध पुरुष इसके बारह दल कहतेहैं, तथा द्वेष शक्ति सम्यक् लोकदर्शन, समुद्र, खेचरी, चिदानन्द, अद्वय, चन्द्र, चन्द्रिका इत्यादि इन नामोंसे युक्तहैं ॥

परमात्मना सह रश्मिपुंजप्रकाशः प्रकाशानन्दयोरैक्यं प्रकर्त्तव्यं निरन्तरं स्वयं मनसि महाज्योतिराभाति परमं पदम् ॥

परमात्माके साथ रश्मिपुंज ज्योतिका प्रकाश है प्रकाश और आनन्दकी एकता करनी चाहिये निरन्तर अपने मनसे महाज्योतिकी आभा देखना परम पद है ॥

सदोदितमनश्चन्द्रः सूर्योदयमवेक्षते । तेन ग्रस्तो मनश्चन्द्रः सोपि लिप्यः स्वयं पदे ॥

जिनका सदा उदय हुआ मन चन्द्र प्रकाशरूपी सूर्यका दर्शन करताहै और फिर मनरूपी चन्द्रमा उसीमें लय होताहै अर्थात् तब वह अपने पदमें लीन होताहै ॥

पदमेव महानाग्निर्यमे ग्रस्तं कलामयम् । एवं चन्द्रार्कवह्नीनां संकेतः परमार्थतः ॥

वह पदही महा अग्निहै, जिसमें यह कलामय चन्द्ररूपी मन लीन होताहै, तब आनन्द होताहै,

इसप्रकार चन्द्र, सूर्य और अग्निका परमार्थसे संकेत है ॥

इदानीं योगसिद्धेरनंतरमेतादृशं ज्ञानमुत्पद्यते । यदा नास्ति स्वयं कर्त्ता कारणं न कुलाकुलम् ॥अव्यक्तं न परं तत्त्वमनामा विद्यते तदा ॥ १ ॥

अब योगसिद्धिके उपरान्त ऐसा ज्ञान उत्पन्न होताहै सो कहते हैं, जिससमय यह कर्ता कारण कुल अकुल कुछ नहीं है अहंता नहीं है तब वह अव्यक्त परमतत्त्व जानाजाताहै ॥

अनामा एकः कश्चित्पुरुषो वर्त्तते । अनाम्नश्च परावरः परात्परः परं पदं परमपदात्परं शून्यं शून्यान्निरंजनमनाम्नः पंचगुणास्तेष्वनुतत्त्वमखण्डत्वमनुपर्णदलानामष्टदलानां मध्य एकं कठिनं भवति । तदष्टदलं कमलं हृदये तिष्ठति । ते उभये हृदये तिष्ठतः । प्रथमे दले शब्दास्तिष्ठन्ति । द्वितीयदले स्पर्शः । तृतीये दले रूपं तिष्ठति।चतुर्थे दले रसस्तिष्ठति । पंचमे दले

गन्धं तिष्ठति। षष्ठदले चित्तं तिष्ठति।सप्तमे दले बुद्धिस्तिष्ठति। अष्टमे दलेहंकारस्तिष्ठति। एतदष्टदलमध्ये पृथिव्याकारो वर्त्तते। अथ च तत्कमलमध्ये मुखं तिष्ठति। अस्य कमलस्य नादात्प्रकाशो भवति॥

कोई अनाम एक पुरुष है अनामके परावर परात्पर परमपद, तथा परमपदसेभी परे शून्य, शून्यसे निरंजन यह अनामके पांच गुण हैं उनमें अतनुत्व और अखण्डत्व यह दो दल मुख्य हैं। इन आठ पर्ण दलोंके मध्यमें एक कठिन है वह आठ दलका कमल हृदयमें स्थित है वे दोनोंही हृदयमें स्थित हैं पहले दलमें शब्द स्थित है, दूसरेमें स्पर्श, तीसरेमें रूप, चौथेमें रस, पांचवेंमें गन्ध, छठेमें चित्त, सातवेंमें बुद्धि, आठवें दलमें अहंकार स्थित है इन आठों दलोंमें पृथ्वीका आकार है कमलमध्यमें उसका मुख है इसकमलके नादसे प्रकाश होताहै ध्यान करनेसे इस कमलका उद्धार होताहै॥

प्रकाशानंतरं कमलमूर्ध्वमुखं भवति। तथा सूर्यप्रकाशानन्तरं तदा सरोमध्ये कमलं

विकसति । तथेदमप्यात्मा प्रकाशानन्तरमूर्ध्वमुखं विकसति । तन्मध्ये परमानन्दरूपा भूमिर्भवति । तस्याहं सोहमिति संज्ञा तस्या मध्ये स्वात्मनो ध्यानाद्दिनेदिने ह्यायुर्वर्द्धते । रोगो दूरे भवति ॥

प्रकाशके उपरान्त कमल ऊर्ध्वमुख होताहै जैसे सूर्यके विकाशसे कमल खिलजाताहै ऐसेही यहभी आत्माके प्रकाश होनेपर ऊर्ध्वमुख होकर खिलजाताहै उसके मध्यमें परमानन्दरूपा भूमि प्रकाश पातीहै उसकी हंसो हंसः ऐसी संज्ञा है उसके मध्यमें आत्माके ध्यानसे दिन २ आयु बढतीहै रोग दूर होताहै ॥

गुणाः कर्तृत्वं ज्ञातृत्वमभ्यासत्वं कलत्वं सर्वज्ञत्वं प्रकाशस्य गुणाः सकलः निष्कलः सर्वैः सह समता विश्रांतिः तत एतादृशमुत्पद्यते । आद्यः आत्मा आत्मन आकाशः आकाशाद्वायुः वायोस्तेजः तेजसो जलं जलात् पृथ्वी । अत्रात्मनः पञ्चगुणाः अग्राह्यः, अनन्तः, अवाच्यः, अगोचरः,

अप्रमेयश्च । आकाशस्य पञ्चगुणाः। प्रवेशः निष्क्रमणं, छिद्रं, शब्दाधारः, भ्रांतिनिलयत्वम् । महावायोः पञ्चगुणाः । चलनं शेषसंचारः, स्पर्शः, धूम्रवर्णता, तेजःसंचरः तेजसः पञ्चगुणाः । दहनं, ज्वालरूपं, उष्णता, रक्तो वर्णः ॥

गुण ये हैं कर्तृत्व,ज्ञातापन, अभ्यासपन, कलापन, सर्वज्ञपन,प्रकाशके गुण सम्पूर्णता,निष्कलता सबके साथ समता, विश्राम यह उत्पन्न होतेहैं । अब इस आत्मासे आकाश आकाशसे वायु वायुसे तेज तेजसे जल जलसे पृथ्वी हुईहै आत्माके पांच गुण हैं अग्राह्य, अनन्त, अवाच्य, अगोचर (इन्द्रियोंसे परे) अप्रमेय (इयत्तारहित) आकाशके पांच गुणहैं प्रवेशकरना, निकलना, छिद्र, शब्दका आधारत्व, भ्रांतिनिलय यह पांचगुण हैं।वायुके पांचगुण हैं चलना, शेषसंचार, स्पर्श, धूम्रवर्णता, तेजसंचरण । तेजके पांच गुणहैं दहन, ज्वालारूप, उष्णता रक्तवर्ण ॥

अपां पंच गुणाः । प्रवाहः शिथिलता द्रवः मधुरता श्वेतवर्णः । पृथिव्याः पंच गुणाः ।

स्थूलता साकारता कठिनता गन्धवत्ता पीतवर्णता अवयवत्वमनन्यत्वं चेति। परावरस्य पंच गुणाः—निश्चलत्वं निष्कर्मत्वं परिपूर्णत्वं व्यापकत्वमकलत्वं चेति। परमपदस्य पंच गुणाः—नित्यं निरन्तरं निराकारं निर्निकेतनं निश्चलत्वं चेति। शून्यस्य पञ्चगुणाः—लीनता घूर्णता मूर्छा उन्मनीभावः अलसत्वं चेति। निरंजनस्य पंच गुणाः—सत्या सहभावा सत्ता स्वरूपता समता चेति। इदानीं पिंडोत्पत्तिः कथ्यते॥

जलके पांच गुण हैं प्रवाह, शिथिलता द्रवता मधुरता श्वेतवर्णता पृथ्वीके पांच गुण हैं स्थूलता, साकारता, कठिनता, गंधता, पीतवर्णता अवयवत्व और अनन्यत्वभी कोई कहतेहैं। परावरके पांच गुण हैं निश्चल होना, निष्कर्मत्व होना, परिपूर्णत्व होना, व्यापक होना, अकलत्व होना। परमपदके पांच गुण हैं नित्यता, निरन्तरता, निराकारता, निर्निकेतनता, निश्चलता। शून्यके पांच गुण हैं लीनता, घूर्णता मूर्छा, उन्मनीभाव, अलसत्व। निरंजनके पांच गुण हैं सत्या,

सहभाव, सत्ता, स्वरूपता, समता । अब पिंडोत्पत्ति कहतेहैं ॥

अनादितः परमात्मा परमात्मनः परमानंदः परमानंदात्प्रबोधः प्रबोधाच्चिदुदयः चिदुदयात्प्रकाशः । तत्र परमात्मनः पंच गुणाः— अक्षयः, अभेद्यः, अच्छेद्यः, अदाह्यः, अविनाशी । परमानंदस्य पंचगुणाः—स्फुरणः,किरणः,विस्फुरणः, अहंता, हर्षवत्त्वम्। प्रबोधस्य पंच गुणाः— लयः, उल्लासः, विभासः, विचारः, प्रभा । चिदुदयस्य पंच शरीरमध्ये पंच महाभूतानि ॥

अनादिसे परमात्मा परमात्मासे परमानन्द परमानन्दसे प्रबोध प्रबोधसे चित्तका उदय चित्तके उदयसे प्रकाश होताहै, वहां परमात्माके पांच गुण हैं—अक्षय,अभेद्य, अच्छेद्य,अदाह्य,अविनाशी। परमानन्दके पांच गुण हैं स्फुरना, किरण, विस्फुरण,अहंता,हर्षता।प्रबोधके पांच गुण हैं लय, उल्लास, विभास, विचार, प्रभा । चिदुदयके पंच शरीरमें पंच महाभूत हैं ॥

तेषां गुणाः कथ्यन्ते तत्र पृथिव्या गुणाः—अस्थिमांसनाडीलोमानि वाक् । तत्रोदकगुणाः—लाला, मूत्रं, शुक्लं, रक्तं, प्रस्वेदः । तेजसो गुणाः— क्षुधा तृषा निद्रा ग्लानिः आलस्यम् । वायोर्गुणाः— धावनं मज्जनं निरोधनं प्रसारणमाकुंचनं चेति । आकाशस्य गुणाः—रागद्वेषौ भयं लज्जा मोहः । तदनंतरमेकादशीका बुद्धिरुत्पद्यते । मनोबुद्धियहंकाराश्चित्तं चैतन्यं चेति । एते पंचप्रकारा अंतःकरणस्य । मनसः ये च गुणाः संकल्पविकल्पमूर्खत्वालसता मननं चेति ॥

उनके गुण कहतेहैं उसमें पृथ्वीके गुण–अस्थि, मांस, नाडी, रोम, वाक् । उदकके–गुण लार, मूत्र, शुक्र, रक्त, पसीना । तेजके गुण–क्षुधा, तृष्णा, निद्रा, ग्लानि, आलस्य । वायुके गुण–धावन, मज्जन, निरोध, मसारण, (फैलाना) सकोडना । आकाशके गुण–भय, लज्जा, मोह । इसके उपरान्त ग्यारहवीं बुद्धि उत्पन्न होतीहै, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्र, चैत्यन्यता यह अन्तःकरणके । मनके पांच प्रकार हैं संकल्प , विकल्प, मुर्खत्व, अलसता,

मनन, यह मनके गुण कहेहैं। इनका जानना प्रत्येकको उचित है इन गुणोंके जानने और ध्यानमें रखनेसे बहुत कुछ बोध होताहै ॥

बुद्धेः पंच गुणाः। विवेको वैराग्यं शान्तिः सन्तोषः क्षमा चेति। अहंकारस्य पंच गुणाः। अहं ममेति एतस्य दुःखं स्वतंत्रता। चित्तस्य पंचगुणाः। धृतिः स्मृतिः। रागद्वेषौ मतिः। चैतन्यस्य पंचगुणाः। आर्षं विमर्शः धैर्यं चिंतनं निस्पृहत्वम्। अतः परं कुलपंचकस्य भेदाः कथ्यन्ते। सत्त्वं रजः तमः कालः जीवनम्। तत्र सत्त्वगुणाः। दया धर्मः कृपा भक्तिः श्रद्धा चेति। रजसो गुणाः। त्यागः। भोगः शृंगारः स्वार्थः। वस्तुसंग्रहश्चेति ॥

बुद्धिके पांच गुण हैं विवेक, वैराग्य, शान्ति, सन्तोष, क्षमा, अहंकारके पांच गुण हैं अहंता, ममता, प्रत्यक्ष, दुःख, स्वतंत्रता, इत्यादि चित्तके पांच गुण हैं धृति, स्मृति, राग, द्वेष मति। चैतन्यके पांच गुण हैं ऋषित्व, विचार, धीरता,

चिन्तन, ममत्वत्याग, अब कुलपंचकके भेद कहते हैं, सत्त्व, रज, तम, काल, जीवन, उसमें सत्त्वगुण दया, धर्म, कृपा, भक्ति श्रद्धा है, रजके गुण त्याग, भोग, शृंगार, स्वार्थ, वस्तुसंग्रहकरना है ॥

तमसो गुणाः विवादः कलहः शोकः बंधः वञ्चनम्।कालस्य गुणाः कलना कल्मषं भ्रान्तिः प्रसादः उन्मादः। जीवस्य गुणाः जाग्रदवस्था स्वप्नावस्था सुषुप्तावस्था तुरीयावस्था । तुरीयातीतावस्था तदनंतरमेतादृशमेकज्ञानमुत्पद्यते । इच्छा क्रिया माया प्रकृतिः । वाचा । इच्छायाः पंच गुणाः । उन्मन्यवस्था । वांछा चित्तं वेष्टनम् विभ्रमः। क्रियायाः पंच गुणाः । स्मरणं उद्यमः उद्वेगः। कार्यनिश्चयः। सत्कुलाचारत्वम् ॥

तमके गुण विवाद, कलह, शोक, बन्ध, वचन हैं कालके गुण कलना, कल्मष, भ्रांति, प्रसाद, उन्माद हैं जीवके गुण जाग्रदवस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्ति अवस्था, तुरीयावस्था तुरीयातीत अवस्था, इसके पीछे इनमें एक ज्ञान प्रगट होताहै इच्छा कार्यका करना, माया, प्रकृति, वाचा इच्छाके

पांच गुण हैं उन्मनी अवस्था, वांछा, चित्तबन्धन विभ्रम। क्रियाके पांच गुणहैं स्मरण, उद्यम, चित्तमें उद्वेग, कार्यका निश्चय, सत्कुलाचारपना॥

मायायाः पंच गुणाः। मदमात्सर्यादयः। कीर्तिः असत्यभावाः। प्रकृतेः पंच गुणाः आशा तृष्णा स्पृहा कांक्षा मिथ्यात्वम्। वाचायाः पंच गुणाः। परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी। मातृका तदनंतरमेतादृशं ज्ञानमुत्पद्यते। कर्मकारः। चन्द्रः। सूर्यः। अग्निः एतत्पंचकं प्रत्यक्षं कर्त्तव्यम् तत्र कर्मणः पंचगुणाः कामस्य गुणाः रतिः प्रीतिः क्रीडा कामना अनुस्तुता॥

मायाके पांच गुण हैं मद, मात्सर्य, अहंता, कीर्ति, असत्यभावोंकी प्राप्ति प्रकृतिके पांच गुण हैं आशा, तृष्णा, लालसा,आकांक्षा असत्यपना, वाचाके पांच गुण हैं परा, (नादरूप) पश्यन्ती, (नादसेसूक्ष्म दुर्निरूप हृदय गामिनी) मध्यमा, (योगियोंके ही दर्शनयोग्य बुद्धिमें प्राप्त वा हृदयमें उदय होनेसे मध्यमा) वैखरी, (मुखनिर्गत) मातृकावर्ण, मालात्मक, फिर इसप्रकारका

ज्ञान उत्पन्न होताहै कर्म काम और चन्द्र, सूर्य, अग्नि, यह पांचों प्रत्यक्ष करनी, चाहिये कर्मके पांच गुण हैं यही विचार कर कामके गुण रतिप्रीतिक्रीडा, कामना, अनुस्तुतिता कहेहैं ॥

इदानीं चंद्रस्य षोडशकलाः कथ्यन्ते । दल्लोला कल्लोलिनी उश्वलिनी उन्मादिनी तरंगिणी पोषयंती लंपटा लहरी लोला लेलिहाना प्रसरन्ती प्रवृत्तिः प्लुवन्ती प्रवाहा सौम्या प्रसन्ना ॥

इससमय चन्द्रमाकी षोडशकला कहते हैं दल्लोला, कल्लोलिनी, उश्वलिनी, उन्मादिनी, तरंगिणी, पोषयन्ती, लम्पटा, लहरी, लोला, लेलिहाना, प्रसरन्ती, प्रवृत्ति, प्लुवन्ती, प्रवाहा, सौम्या, प्रसन्ना यह सोलह गमनार्थनाम हैं, इसकारण इनके नाम नहीं लिखे ॥

चन्द्रस्य सप्तदशमी कला वर्त्तते तस्या नाम निवृत्तिसमेता कला कथ्यते । इदानीं सूर्यस्य कलाः कथ्यन्ते । तपनी ग्रासका उग्रा अकोचनी शोषणी प्रबोधिनी घस्मरा आकर्षिणी तुष्टिवर्द्धिनी कूर्मी रेषा किरणवती

प्रभवति सूर्यस्य त्रयोदशी कला विद्यते ।
तस्य नाम निजकलास्वप्रकाशा च ॥

चन्द्रमाकी एक सत्रहवीं कला है वह निवृत्ति है उस समेत सब सत्रह होतीहैं अब सूर्यकी कला कहतेहैं, तपनी, ग्रासिका, उग्रा, अकोचनी, शोषणी, प्रबोधिनी, घस्मरा (भक्षणकरनेवाली) आकर्षिणी, (आकर्षण करनेवाली) तुष्टिवर्द्धिनी, कूर्मी, रेखा, किरणवती, यह सूर्यकी बारह कला हैं यह कलाके प्रकाशाऽनुसार नाम हैं । तेरहवीं कला निज कला प्रकाशनामवाली है ॥

इदानीमग्निसंबंधिन्यो दश कलाः कथ्यन्ते ।
दीपिका ज्वाला विस्फुलिंगिनी प्रचंडा पाचि-
का रौद्री दाहिका रावणी । शिखावती ।अग्ने-
रेकादशी निजकला ज्योतिः संज्ञा वर्त्तते ॥

अब अग्निसम्बंधी दश कला कहतेहैं दीपिका ज्वाला, विस्फुलिंगिनी, (चिनगारीवाली) प्रचण्डा, पाचिका (पकानेवाली) रौद्री, दाहिका, रावणी, (शब्द करनेवाली) शिखावती, ग्यारहवीं निज कला, ज्योति, संज्ञा है ॥

इदानीं योगस्य माहात्म्यं कथ्यते । गुरोरनु-
ग्रहात् शास्त्रस्य पठनात् आचारकरणात्

वेदांतरहस्यश्रवणात् ध्यानकरणात् उपवासकरणात् चतुरशीत्यासने साधनात् वैराग्यस्योत्पत्तेः नैराश्ये करणात् हठयोगस्य करणात् इडापिंगलयोः पवनधारणात् महामुद्रादिदशमुद्रासाधनात् मौनकरणात् वनवासात् बहुतरक्लेशकरणात् बहुकालयंत्रमंत्रादिसाधनात्तपःकरणात् बहुतरार्पणदानात् आश्रमाचारपालनात् संन्यासग्रहणात् षड्दर्शनग्रहणात् शिरोमुंडनात् अन्योपायकरणात् योगतत्त्वं न प्राप्यते ॥

इससमय योगका माहात्म्य कहतेहैं गुरुके अनुग्रहसे शास्त्रके पढनेसे आचारके करनेसे वेदान्तके रहस्यश्रवणसे ध्यान, व्रत चौरासीआसनका साधन वैराग्यकी उत्पत्ति, निराशकाकारण, हठयोगके करने, इडा पिंगलामें पवनके धारण करने महामुद्रा तथा दशमुद्राके साधनसे मौनके कारण वनमें निवास करने साधनमें क्लेश भोगने बहुकालतक यन्त्र मन्त्र साधन तथा तप करने, सर्वस्वदानकरने, आश्रमके आचार पालन

करने, संन्यासग्रहण करने, षड्दर्शनग्रहण करने शिर मुण्डित करने तथा दूसरे शास्त्रोक्त अनेक उपायोंके करनेसे योग प्राप्त होताहै, विना साधनके योग नहीं होता वह कैसे होताहै इसपर कहतेहैं ॥

स तु योगः गुरुसेवया प्राप्यते । गुरुकृपातः पात्राणां दृढानां सत्यवादिनाम् ॥ कथनाद्दृष्टिपाताद्वा सांनिध्यादवलोकनात् । सद्गुरुप्रसादात् सम्यक् परमं पदं पाप्यते । अत एवं वचः प्रोक्तं न गुरोरधिकं परम् ॥१॥

वह तो योग गुरुसेवासे प्राप्त होताहै गुरु इन्द्रिय दमनसे विद्या विद्यार्थियोंकी आशा दृढ करनेसे कहाताहै, उन सत्यवादियोंके कथन दृष्टिपात तथा सान्निध्य (निकटता) करने तथा उनकी कृपादृष्टि से सिद्धि होतीहै। गुरुकी प्रसन्नतासे भली प्रकार परमपद प्राप्त होताहै इसी कारण यह कहागया है कि गुरुसे अधिक कुछ नहींहै ॥ १ ॥

वाङ्मात्राद्बोधदृक्पाताद्यः करोति शर्मं क्षणात् । प्रस्फुटद्भ्रांतिहृत्तोषं स्वच्छं वंदे गुरुं परम् ॥ २ ॥

जो वाणीमात्रसेही क्षणमें बोध और दृष्टिपात से शान्ति करताहै जो हृदयकी भ्रान्तिको तत्काल हरणकर सन्तोष देताहै उसपरम गुरुको प्रणाम करताहूं ॥ २ ॥

सम्यगानन्दजननः सद्गुरुः सोभिधीयते । निमेषार्द्धं वा तत्पादं यद्वाक्यादवलो-कनात् ॥ ३ ॥

जो भलीप्रकार आनंद करताहै वही गुरु कहा जाताहै निमेषमात्रभी जिनके चरण देखने वचन श्रवणकरने और कृपादृष्टिके अवलोकनसे ॥ ३ ॥

स्वात्मा स्थिरत्वमायाति तस्मै श्रीगुरवे नमः । नानाविप्लवविश्रान्तिः कथनात्कुरु ते ततः ॥४॥ सद्गुरुः स तु विज्ञेयो न तु वै प्रियजल्पकः ॥ ५ ॥

अपनी आत्मा स्थिर होजाती उस श्रीगुरुके निमित्त प्रणामहै, अपने कथनसेही जो अनेक उपद्रव शान्त करतेहैं ॥४॥ ऐसेही को गुरु जानना चाहिये प्रियवादीको नहीं जो लल्लोपत्तो करताहै५

अत एव परमपदस्य प्राप्त्यर्थं सद्गुरुः सेव्यः सर्वदा यः पुरुषः सत्यवादी भवति । निरंतरं

गुरुसेवातत्परो भवति। यस्य मनसि पापं न भवति । स्वाचाररतः स्नानादिशीलो भवति। कापट्यं न भवति यस्य वंशपरंपरा ज्ञायते। एतादृशस्य सद्गुरोः संगतिः कर्त्तव्या तेन पुरुषस्य मनः शांतिं प्राप्नोति। अथ च यस्य मनोमध्ये स्थिर आनन्द उत्पद्यते सोपि सद्गुरुः कथ्यते। कस्यापि दुःखं न दीयते। प्राणिमात्रेण सह मैत्री क्रियते कस्यापि दोषं न कथयति सोपि सद्गुरुः कथ्यते॥

इसकारण परमपदकी प्राप्तिके निमित्त सद्गुरुकी सेवा करनी चाहिये जो पुरुष सदा सत्यवादी और निरन्तर गुरुकी सेवा करताहै जिसके मनमें पाप नहीं है जो अपने आचारमें रत है जो स्नान आदिशीलहै जो कपटी नहींहै जिसके वंशकी परंपरा ज्ञात है ऐसे पुरुषको गुरुकी संगति करनी चाहिये तो उस पुरुषके मनमें शांति प्राप्त होतीहै और जिसके मनमें स्थिर आनंद प्रगट है वहभी सद्गुरु कहाजाताहै किसीको दुःख नहीं देता

प्राणीमात्रके संग मित्रता करताहै किसीका दोष प्रकाश नहीं करता वहभी सद्गुरु कहाताहै ॥

अज्ञातकुलशीलानां यतीनां ब्रह्मचारिणाम् ।
उपदेशं न गृह्णीयादन्यथा नरकं ध्रुवम् ॥

जिन यती ब्रह्मचारियोंके कुल शील न जान लिये गयेहैं तबतक उनके उपदेशको न ग्रहण करे अन्यथा नरक होगा ॥

यस्य वचासि मनासिधृते सति स्वात्मनः परमेश्वरस्यैक्यं भवति । एतादृशो मनोमध्ये निश्चयो भवति । तं सद्गुरुं विजानीयात् विकल्प एतादशो यथा समुद्रमध्ये महत्तरं कल्लोलाडम्बरम् । प्रपंचे वासना तादृशी यथोदकमध्ये महत्तरंगाः । तादृशस्य संसारसागरस्य यः स्ववाक्यनात्रा परं पारं प्रापयाति । स सद्गुरुः कथ्यते ॥

जिसके मन वचन वशीभूत हैं, जो आत्माकी परमेश्वरकी एकता कियेहैं, ऐसा जिसके मनमें निश्चय है उसीको सद्गुरु जाने और विकल्प ऐसाहै जैसे सागरमें बडी तरंग उठकर फिर उसीमें लय होजातीहै संसारमें वासनाभी सागरकी लहरकी

समान है ऐसे संसारसागरको जो अपनी ज्ञान रूपी नावसे पार करदेताहै वही सद्गुरु कहाताहै ॥

यस्य पुरुषस्य मनोऽखण्डे परमपदे लीनं भवति । यः पुरुषः स्वकुलं त्रिविधात्तापान्निवर्त्य परमे मुक्तिपदे रक्षति । एतादृशस्य पुरुषस्य श्रवणाद्दर्शनात् समग्राविघ्ना नश्यन्ति । दिनेदिने कल्याणं भवति । निष्कलंका बुद्धिरुत्पद्यते । इदं योगशास्त्रस्य रहस्यं समस्तशास्त्रप्रमेयस्य मनः यथांधकारस्य मध्ये दीपतेजः प्रविशाति । तथा शास्त्रमध्ये मनो प्रविशाति । यस्य राज्ञो मध्ये कलहो नास्ति । यस्मिन् दृष्टे देशिकत्रासो न भवति । तस्य मनः शुद्धं भवति । यस्य पृथ्व्यां वीतिर्भवति । यस्य मनोमध्ये सत्पुरुषस्य वचो विश्वासो भवति । यो राजा सदानंदरूपो भवति ॥

जिस पुरुषका मन अखण्ड परम पुरुषमें लीन होताहै जो पुरुष अपने कुलको दैहिक दैविक भौ-

तिक तीन प्रकारके तापोंसे निवृत्त करके मोक्षपदमें रक्षा करताहै ऐसे पुरुषके श्रवण दर्शनसे सम्पूर्ण विघ्न नाश होते हैं। दिन दिन कल्याण होताहै निष्कलंका बुद्धि उत्पन्न होतीहै। यह योगशास्त्रका रहस्य है। इससे सब योगका विषय प्रकाशित होजाताहै जैसे अंधकारमें दीपकका तेज प्रवेश करजाताहै, इसीप्रकार इससे शास्त्रमें मन प्रवेश होजाताहै जिस राजाके मनमें क्लेश नहीं है जिसके देखनेसे किसी ब्रह्मचारीको त्रास नहीं होता उसका मन शुद्ध होताहै जिसकी पृथ्वीमें भय नहीं ईति नहीं होतीहै जिसके मनमें सत्पुरुषके वचनका विश्वास होताहै जो राजा सदानंदरूपहै ॥

यस्य पार्श्वे प्रत्यक्षमनेकमनोहारिवस्तूनि तिष्ठंति। एतादृशस्य राज्ञ इदं योगरहस्यं कथनीयम्। न स्नेहान्न भयान्न लोभान्न मोहान्न धनाद्बलान्न मैत्रीभावान्नौदार्यान्न सौंदर्यान्न सेवनात्। सामान्याग्रे योगो न कथनीयः। यः परनिंदारतो भवति। दुराचारो भवति। दुर्मैत्र्यान्यस्य वस्तु न ददाति।

य असत्यं वदति । यो योगनिन्दां करोति । यस्य मनोमध्ये दया न भवति । यः कलहप्रियो भवति । स्वकार्यकरणे सावधानो भवति।गुरोः कार्यकरणे न दत्तचित्तो भवति । एतादृशस्याग्रे न योगः क्रियते न पठ्यते ॥

जिसके समीप प्रत्यक्ष अनेक मनोहर वस्तुएँ स्थित होतीहैं ऐसे राजाको यह योगका रहस्य कहना चाहिये,स्नेह, भय,लोभ,मोह, धन, बल, मैत्रीभाव, उदारता, सुन्दरता,सेवाके कारणसे समानतासे यह योग न कहना चाहिये । जो परनिन्दामें रत है, दुराचारी है, जो दुर्मित्र दूसरेकी वस्तु नहीं देता, जो असत्य कहता है, जो योग और योगियोंकी निन्दा करताहै, जिसके मनमें दया नहीं है जो कलहप्रिय है अपनाही कार्य करनेमें सावधान है गुरुके कार्य करनेमें दत्तचित्त नहीं होता, ऐसेके आगे न योग किया जाता न पढाजाता है ॥

शृण्वन् प्रीतादिकान् शब्दान् पश्यन् रूपं मनोहरम् । जाग्रत् स्फुरन् स्पृशन्स्पर्शमृदुप्रियम् स्वादान् मनोरमान् भ्राम्यन् देशान् ।

मनोरमान् भाषमाणः रममाणः स्वलीलया ।
भावाभावविनिर्मुक्तो सर्वग्रहविवर्जितः॥ १ ॥

प्रीति आदिके शब्दोंको सुनताहुआ मनोहर रूप देखता हुआ जाग्रत् अवस्थामें स्पर्शके योग्य मृदु प्रिय पदार्थोंको स्पर्श करता मधुर प्रिय स्वादोंको चखताहुआ मनोहर देशोंमें भ्रमण करताहुआ मनोहर शब्द बोलताहुआ सुमधुर रमताहुआ अपनी लीलासे भावाभावसे रहित तथा ग्रहादिसे निर्मुक्त हो ॥

सदानंदमयो योगी सदाभ्यासी सदा भवेत् ।
विरुद्धदुःखदे देशे विरूपेतिभयानके ॥ १ ॥

सदा आनंदमयरूप योगी सदा अभ्यासी रहै जो देश अपने विरुद्ध दुःखद अर्थात् अपने प्रतिकूल और भयानक हो ॥ १ ॥

इष्टाद्यनिष्टसंस्पर्शे रसे च लवणादिके।प्रत्यादावपि गंधे च कंकोष्णादि विवर्जयेत् ॥ २ ॥

इष्ट अनिष्टके संसर्गमें तथा लवण कटु तिक्त कषायादिके रसमें गंधादिके प्रत्यय तथा ठंडे गरम पदार्थको वर्जदेना चाहिये ॥ २ ॥

सर्वदैव सदाभ्यासः समः स्यात्सुखदुःखयोः ।
एवं योगस्य कर्म्माणि संकल्परहितानि च ३॥

सदा योगाभ्यास करै सुख दुःखमें समान रहै इसप्रकार संकल्परहित होकर सब योगके कर्म करै ॥ ३ ॥

गच्छन्नृणां च संस्पर्शात्तपः कुर्वन्न लिप्यते ।
उत्पन्नतत्त्वबोधस्य ह्युदासीनस्य सर्वदा॥४॥

जातेहुए मनुष्योंके संसर्गको त्यागे तप करता रहै लिप्त न हो जिस समय उदासीनतासे वर्तते वर्तते बोध होजाय ज्ञानका प्रकाश होजाय॥ ४ ॥

तदा दृष्टिविशेषः स्याद्विविधान्यासनानि च।
अंतःकरणजा भावा योगिनो नोपयोगिनः ५॥

तब उससमय उसकी दृष्टि विशेष होजातीहै अनेक प्रकारके आसन तथा अंतःकरणके भाव योगीको विदित होजातेहैं ॥ ५ ॥

सर्वराजपदस्थस्य निष्कलाध्यात्मवेदिनः ।
यद्यत्प्रयत्नानिःपायं तत्तत्सर्वमकारणम् ॥ ६ ॥

जो निष्कल अध्यात्मशास्त्रके ज्ञाता हैं चाहे वह सम्पूर्ण राजपदमें स्थित हैं उनके जो जो यत्न

हैं वे उनको कर्मरूप होकर बाधते नहीं किन्तु वे सब अकारण होतेहैं ॥

विलासिनीनां मनोहारिगानश्रवणात् । अतिसौंदर्यकामिनीनां रूपदर्शनात् । कस्तूरीकर्पूरयोर्गंधग्रहणात् । मनःशैत्यकारि कोमलवस्तुनः स्पर्शकारणात् । अतिमाधुर्यं चित्ते करोति । तादृशः स्वादनात् । अनेकदेशानां साध्वसाधुस्थानदर्शनात् । मित्रेण सह कोमलवचनात् । शत्रुणा सह कठिनवचनात् । यस्य मनसि हर्षो वा द्वेषो न भवति स पुरुष ईश्वरोपदेशिको ज्ञेयः ॥

स्त्रियोंके मनोहर गान श्रवण करनेसे स्त्रियोंके अतिसुन्दर रूप देखनेसे कस्तूरी कपूरकी गन्ध ग्रहण करनेसे मनकी शीतल करनेवाली कोमल वस्तुके स्पर्श करनेसे चित्तमें मधुराई करनेवाले स्वादके चाखनेसे अनेक देशोंमें साधु असाधुओंके स्थान दर्शनसे मित्रके संग कोमल अलापसे शत्रुके संग कठिन वचनसे जिसके

मनमें हर्ष वा द्वेष नहीं होता वही पुरुष ईश्वरके ज्ञानका उपदेश करनेवाला जानना चाहिये॥

स्वलीलया वदति चलति भावाभावयो-श्चित्तमुदासीनं भवति कस्यांचिद्वार्तायां हर्षविषादं न करोति यस्य मनः सहजानंदे मग्नं भवति। तेन पुरुषेण दृष्टिः स्थिरा कर्त्तव्या। आसनं दृढं कर्त्तव्यम्। पवनः स्थिरः कर्त्तव्यः। एतादृशः कश्चिन्नियमः। सिद्धस्य नोक्तः मनःपवनाभ्यां यदा सहजानंदस्वस्वरूपेण प्रकाश्यते स सहजयोगः कथ्यते। ते राजयोगमध्य इति चक्रवर्त्तिकथनम्॥

जो अपनीही लीलासे बोलता चलताहै भाव अभावमें जिसका चित्त उदासीन रहताहै किसी बातमेंभी हर्ष विषाद नहीं करताहै जिसका मन सहजानन्दमें मग्न रहताहै उसी पुरुषको स्थिर दृष्टि करनी चाहिये वही इसका अधिकारी है। दृढ आसन करना चाहिये पवन स्थिर करनी चाहिये, ऐसा कोई फिर सिद्धोंके लिये नियम

नहीं है मन पवनका जब स्वाभाविक आनंद होकर अपने स्वरूपसे प्रकाशित होताहै उसीका नाम सहजयोग है राजयोगमें वही सहजयोग है ऐसा चक्रवर्तिका कथन है ॥ इति राजयोगे चन्द्रपरमहंसपरिपूर्णपीठमाहात्म्यप्रकाशकः बिन्दुयोगः समाप्तः ॥ शुभमस्तु ॥

इति श्रीसर्वगुणसम्पन्नपंडितसुखानन्दमिश्रसूरिसुतुपण्डितज्वालाप्रसादमिश्रकृतभाषाटीकासहितो राजयोगे बिन्दुयोगः समाप्तिः ॥ शुभमस्तु ॥ श्रीरस्तु ॥

खेमराज श्रीकृष्णदास,
"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम्-यन्त्रालय-बंबई.